

ॐ सत्साराग नेमचंद दि० जैन ग्रंथमाला सोलापूर-

श्रीशिवकोटि आचार्य-विरचित.

मूलाराधना.

(अयरनाम भगवती आराधना)

श्रीअपराजितसूत्रिकृत विजयोदया टीका, और महर्षदित आशाथरकृत मूलाराधना
दर्पण, और आचार्य अमितगतिकृत संस्कृत श्लोक व भाषाटीकासहित

अनुवादक—

पं. लिनदास पार्श्वनाथ कटकुले,
न्यायतीर्थ सोलापूर.

प्रकाशक—

वर्मवीर रायजी सव्याराम दोशी,
फलटणगल्ली सोलापूर.



मुद्रक—

वंदशीथर उक्कराज पंडित

“श्रीधर” पावर प्रेस,

८६ भवानी पेठ सोलापूर.

वीरसंवत् २४६२ कार्तिक शु॥ ५ शुक्रवार

ता. १ नवंबर १९३५

*कीमत १४ रुपये.

प्रस्तावना.

—३६—

यह सदान् ग्रंथ मूलाराधना अथवा भगवती आराधना इस नाम से प्रसिद्ध है. जैसे मुनिजोंके प्रथम आचार विनियोग को मूलश्रुण कहते हैं. वैसे मोक्षप्राप्ति के लिये रत्नत्रय प्रधान कारण होनेसे उसको मूल कहते हैं. इत्येवम् मूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे उपायों को आराधना कहते हैं. इस ग्रंथमें मूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति होने के उपायोंका सविस्तर वर्णन किया है अतः इसको मूलाराधना यह अन्वय नाम दिया गया है. अत एव पं. आशा धरजीने इस ग्रंथ का मूलाराधना इस नाम से उल्लेख कर के उसके ऊपर मूलाराधनादर्पण नाम की पञ्चिका लिखी है.

प्रस्तुत ग्रंथके निर्माता ऋषियुगप शिवकोट्याचार्यजीने 'भगवती आराधना' ऐसा भी इस महान् ग्रंथ का नाम करण किया है 'आराधना भगवदी एवं भलीय वणिजदा संती' इस गायत्रीके द्वारा उपर्युक्त नामकरणका पुजाला होजाता है.

जैसे पुण्य, पूजक, पूजा और पूजा फल ऐसे चार विभाग जिनपूजन प्रविपादक ग्रंथोंमें किये गये हैं वैसे इस ग्रंथमें भी आराध्य, आराधक, आराधना और आराधनाफल इत प्रकारणोंका वर्णन आचार्यने किया है.

रत्नत्रयामाराध्यं मन्वस्त्वाराधको विशुद्धात्मा
आराधाना उपायस्तरुल्लभम्युदयभोक्षी स्तः ॥

रत्न अमूल्य चीज है और उससे इष्टपदार्थ की प्राप्ति होती है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सन्त्यक्चारित्र्य रत्न के समान अमूल्य हैं. उनसे जीवों की स्वर्गादि मोक्षान्त फल प्राप्त होते हैं अतः आचार्य इनको रत्नत्रय यह सार्थक नाम देते हैं. यह रत्नत्रय आराध्य है. निर्मल परिणामवाले मन्व जीवको आराधक कहते हैं. गृहस्थ व मुनि-वर्ग जिनके परिणाम निर्मल हैं वे इस रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते हैं अतः उनको आराधक कहते हैं. जिन उपायोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है वेसे उपायोंको आराधना कहते हैं. वैसे धार्मिकों में वासस्त्यभाव रहना, उनके अवर्णधादको इदानी धार्मिकों को कोई तकलीफ देना होगा तो—उसका निराकरण करना वगैरे उपाय करतेसे सम्यग्दर्शनादि रत्नोंकी

प्राप्ति होनी है. इस रत्नत्रय की आराधना करनेसे वाञ्छुदय और मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है. इन सब बातोंका इस ग्रंथमें वर्णन किया है.

रत्नत्रय आराध्य है वैसे तपभी आराध्य माना है परंतु उसका चारित्र्यमें अन्तर्भाव होनेसे रत्नत्रय ही आराध्य है ऐसा सिद्ध होता है. जिस ने मुखिया स्वभावको छोड़ दिया है वही चारित्र्यको धारण करता है अर्थात् अन्तर्गतादि बाल सपञ्चरण करने की प्रवृत्ति करनेवाला साधु चारित्र्यमें ब्रह्माद्युक्त होता है जिससे उसके पापोंका नाश होता है. चारित्र्यके परिणामोंको अर्थात् चित्तयादि तपोंको चारित्र्यकी वृद्धि करनेवाले होनेसे आचार्य चारित्र्यमें ही अन्तर्भूत करते हैं. यदि तपको अलग गिनया जाय तो आराध्य पदार्थ चार होते हैं.

इन चार आराध्य पदार्थोंकी आराधना उद्योगत, संयवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण इन उपायोंसे होती है. सम्यग्दर्शनादिकोंको अतिचारोंसे अलग रखना अर्थात् उनमें दोष उपपन्न न होने देना उद्योगत है. अतःसा में बारबार सम्यग्दर्शनादिकोंकी परिणति होने जाना उद्यवन कहते हैं. परीपद्धादिक प्राप्त होनेपर भी स्थिरचित्त होकर सम्यग्दर्शनादिकोंसे व्युत्पन्न न होना इसको निर्वहण कहते हैं. अन्य कार्योंमें चित्त लगनेसे यदि सम्यग्दर्शनादिकोंको विरोधित होनेपर पुनः उपायोंसे उनको पूर्ण करना इसको साधन कहते हैं. आमरण सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्दोष धारण कर अन्यजन्ममें उनको पोहोचाना निस्तरण है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और तप इन चारोंकी वज्रवि होनेके लिये उपयुक्त पापोंकी आशयकता है ही. प्रत्येक में उद्योगादिक पांच उपाय मान लेनेसे २० वीस भेद होते हैं. जतः यह आराधना उद्योगता-यिक वीस मुजानोंको धारण करनेवाली अभिरुकादेवी है ऐसा श्री अमिताभगति आचार्यने आराधनास्तवनमें वर्णन किया है यह योग्य ही है ऐसा हम समझते हैं.

इस भगवती आराधनाग्रंथमें आराधकके मरणोंका निश्चित विवेचन किया है. ऐसा वर्णन अन्यत्र इतना विस्तारयुक्त नहीं है. प्रसुप्त ग्रंथमें मरणके १७ सत्रह प्रकारोंका विवेचन है उसमें भी पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालमरण और बालबालमरण इन मरणोंमें आद्यके तीन मरण ही श्रेष्ठ गिने हैं क्योंकि इनमें समधि मरण अर्थात् सहेलना मरण सिद्ध होता है. यह सहेलना मरण रत्नत्रयकी आराधनासे युक्त होनेसे मध्यजीव इसक आश्रय लेकर संसारपंजर को तोड़कर मुक्त होते हैं.

मुखियोंके सहेलना मरणका अर्थोत्पन्न सहेलना मरणका आचार्य शिवकोटीजीने ९० चालिस अधिचारोंमें

इतना योग्य वर्णन किया है कि जिसका विवेचन सुनतेसे और वाचनेसे उनकी विशालबुद्धिके विषयमें मन साध्यार्थानंदित होता है. इस सब बातोंका अनुक्रमणिकासे खुलासा होगा.

अब हम श्रीशिवकोटि आचार्यके विषयमें थोड़ासा कथन करते हैं. प्रस्तुत ग्रंथकी २१६५ वीं गाथामें श्री शिवकोटि आचार्यने आर्य लिननंदिगणों, आर्य सर्वगुप्तगणी तथा आर्य भिन्ननंदिगणी इन आचार्योंके पास मैने श्रुत और उसके अर्थका अध्ययन किया है ऐसा उल्लेख किया है. अनंतर २१६६ वीं गाथामें पूर्वाचार्योंके बनाये हुए शालोंसे थोड़ा थोड़ा अर्थ संशुद्धीत करके इस्तरूपी पात्रमें भोजन करनेवाले अर्थोत् दिगंबर मुनि ऐसे भेने- सिवार्यने चद्र आराधना नामक महाशाला रचा है. ' इस नाम से ग्रंथकार अपना परिचय देते हैं. श्री पं. आशाधरजी ' सिवजेण शिवकोट्याचार्येण मतेति लक्षयति ' शिवज इस शब्दका शिवकोटि आचार्य ऐसा अर्थ निकालते हैं. शिवज यह शब्द नामका एक देश बतलाता है. नामैकदेशो-नाम्यपि प्रवर्तते इस नियम के अनुसार शिवकोटि आचार्य इतना पूर्ण नाम शिवज शब्दसे सूचित करते हैं ऐसा अवगत होता है. इस आराधना शालकी रचना शिवकोटि आचार्यने ही की है ऐसा ग्रंथांतरसे भी सिद्ध होता है. महापुराण के कर्ता श्री, लिनसेन आचार्य शिवकोटिके विषय में ऐसा विधान करते हैं:—

श्रीतीभूतं जगत्स्य वाचाराध्य चतुष्टयम् ॥

मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः ॥ ४९ ॥ महापुराण पर्व १ छा.

सम्पददर्शन, सत्यज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप जो चार प्रकार का मोक्षमार्ग है उसकी आराधना जिसके ध्वनितोसे भव्यजीव करके कर्मसंतापसे रहित होवे हैं अर्थात् अपने निराकुल शीत आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेते हैं वे शिवकोटि आचार्य महाराज हम लोगोंका रक्षण करें, इस श्लोकमें चार प्रकारके आराधनाओंका स्वरूप विस्तृत शिवकोटि आचार्यने मगवती आराधनामें कहा है ऐसा खुलासा होता है. अतः ' शिवज ' यह नामैकदेश शिवकोटिआचार्य का ही वाचक है ऐसा व्यक्त होता है.

शिवकोटि आचार्यने ' रत्नमाला ' नामक शावकाचार का वर्णन करनेवाला छोटसा ग्रंथ लिखा है. श्रीभुत-सागरजीने पट्टपाह्व की टीका के एक स्थलमें इस रत्नमाला का श्लोक उद्धृत किया है वह इस प्रकार—तथा चोक्तं शिवकोटिनाचार्येण—

चर्मपात्रगतं तोयं घृतं तैलं श्रवजयेत् ॥
नवनीतप्रसूनादिशकं नाद्यात्कदाचन ॥

यह रत्नमालाग्रंथ किसी भट्टारकका बनाया होगा, शिवकोट्याचार्यका नहीं है ऐसा पं. नाथुराम प्रेमीजी लिखते हैं तथा उसकी सिद्धिके लिये वे इस प्रकार कहते हैं. रत्नमाला ग्रंथमें मुनिराज इस पंचम कांडमें यज्ञ में न रहकर गांव झंझर वगैरेह स्थानोंमें जो जिनमंदिर हैं उनमें रहे ऐसा विवेचन है. और यह शिथिलाचारका विवेचन है. परंतु देसा लिखनेसे क्या शिथिलाचार हो गया यह हमें भालूम नहीं होता है. श्रीसंमतभद्राचार्य भी आचर्यों को मुनिओंके लिये यज्ञविक्रदान देना चाहिये ऐसा उपदेश करते हैं. तथा वसविका ग्रामसे दूर नहीं होनी चाहिये इत्यादि विस्तीर्ण वर्णन छुद भगवती आराधनामें भी आया है. अतः इसमें शिथिलाचारका पोषण कैसे हो गया ?

इस कलिकालके मुनिओंको समाधिभरण सध ज्ञाय इस हेतुसे शिवकोट्याचार्यजीने भक्तप्रत्याख्यान मरणका ही मुख्यतासे मागवती आराधनामें निरूपण किया है. ईगिनीभरण और पादोपगमनमरणका इस कलिकालमें निषेध किया है. अतः वसविकामें रहनेकी जो आज्ञा शिवकोटि आचार्योंने दी है वह संमतभद्रादि प्राचीन आचार्योंके ग्रंथों में भी पायी जाती है. इसमें शिथिलाचार नहीं है.

रत्नमाला ग्रंथमें नीचे लिखे दो श्लोक गृहस्थके स्नानप्रकरणमें आये हैं—

पापाणीत्स्फुटितं तोयं घटीपत्रेण ताडितम् ॥ सद्यः सन्तप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥
देवर्षीणां प्रह्लादाय स्नानाय च गृहाधीनाम् । अत्रासुकं परं वारि महातीर्थजम्पदः ॥

पापाणके ऊपर जोरसे गिरनेवाला जलप्रपातका पानी, घटीपत्रसे ताडित जल, गरम वावडियोंका जल ये प्रासुक हैं. मुनि इत जलसे शौचक्रिया कर सकते हैं. तथा इस जलमें गृहस्थ स्नान कर सकते हैं.

परंतु नाथुरामजी प्रेमी कहते हैं कि यह वर्णन किसी भट्टारक महाराजने ही किया होगा शिवकोट्याचार्यका नहीं हो सकता है. परंतु हम ऐसा कहते हैं कि यह कथन शिवकोट्याचार्योंने ही किया है और इसमें शिथिलाचार नहीं है. जैसा उपर्युक्त वर्णन शिवकोटी आचार्योंने किया है इसी प्रकारका वर्णन अमितागति आचार्योंने भी सुभाषित-रत्नसंदोह ग्रंथमें चारित्रके प्रकरणमें किया है. शिवकोटिआचार्य के समान अमितागति आचार्य भी भट्टारक नहीं थे. एकाद समय कमंडलुमें गरम जल नहीं हो तो उपरि स्नोकवर्णित जलसे मुनि शौचक्रिया कर सकते हैं.

शिवकोटि आचार्यने रत्नामालामें समन्तभद्राचार्यका थोड़े गौरवसे नामोल्लेख किया है इससे ये समन्तभद्राचार्य-
 लोको अपना गुरु मानते होंगे ऐसा सिद्ध होता है, जैसे—

स्वामी समंतभद्रो येऽहर्निशं मानसेऽभवः । तिष्ठताब्जिनराजोद्यच्छासनाशुविचंद्रमाः ॥

स्वामि समंतभद्र मेरे मनमें हमेशा निवास करते. आचार्य समन्तभद्र जैन शासनरूप समुद्रको चंद्रके
 समान घुंझिगत करनेवाले थे.

पाणितलभोजिणा सिक्खेण ऐसा भगवतों आराधनामें अपना नामोल्लेख किया है अर्थात् हस्तपात्रमें
 भोजन करनेवाले सिक्खकोट्याचार्यने यह भगवती आराधना रखी है. अर्थात् पाणितलभोजि शब्दसे उन्होंने
 अपना दिगंबर जैनयत्नित्व सूचित किया है. परंतु पं. नाथुराम प्रेमीजी इस शब्दसे यह अभिप्राय निकालते हैं कि
 उस समयके कोई मुनि पात्रमें भी भोजन करते होंगे.

परन्तु यह शंका बिल्कुल निरर्थक है. जबतक मैं सदा होकर हस्तरूपी पात्र से आहार लेने में समर्थ रहूंगा
 तबतक ही भोजन फर्कना. जब खड़ा रहनेका सामर्थ्य मेरा नष्ट होगा तब मैं आहारका त्याग करूंगा ऐसी वीक्षाले समयमें
 दि० जैन मुनि प्रतीक्षा ग्रहण करते हैं. चाहे वे स्थविरकल्पी मुनि हो चाहे जिनकल्पी मुनि हो. दोनोंके मूल्युण समान
 ही रहते हैं. दि० जैन मुनि कभी बैठकर और पात्र में आहार लेते नहीं हैं. उर्वेतांबरत्व की किसीको शंका होगी वह न
 हो इसी हेतुसे शिवकोटि आचार्यमें अपने नामके पीछे पाणितलभोजी यह विशेषण जोड़ दिया है. चतुर्थकालमें भी
 स्थविरकल्पी मुनि होते थे. परन्तु पंचमकाल में स्थविरकल्पी मुनि ही उत्पन्न होते हैं. पञ्चवृषभसंहननादि तीन उत्तम
 संहननोंके पारम्भ ही जिनकल्पी मुनि होते हैं. इन उत्तम संहननोंका सद्भाव चतुर्थकालमें ही रहता है. अन्यत्र नहीं.
 उर्वेताम्बरीके यहाँ आषेष्ठकर्म, वगैरह दशविध स्थविरकल्पाका उल्लेख होगा परंतु वह नाममात्र ही हैं. उसका
 आपराण दि. जैन मुनियोंमें ही समीचीनरूपसे पाया जाता है.

• श्रीशिवकोटी आचार्य दि. जैनवातिही थे उन्होंने अपने प्रबंधमें नम्रता, लोच, शरीरसमत्वका त्याग तथा ययूर
 पिच्छ धारण करना ये जैन यतीका उत्तम लिंग है. ऐसा लिंगाधिकारमें वर्णन किया है इससे दिगंबर और उर्वेतांबरत्व
 का भेद उस समय भी था ऐसा शक्यता है.

शिवकोटि आचार्य गृहस्थावस्थामें शिवकोटि नामके राजा थे. इनके भाईका नाम शिवायन

देता था. वे दोनों वैभवधर्मके परमोपासक थे. स्वामी समंतमद्राचार्यके उपदेशसे वे दोन भाई दैत सुनि हो गये ऐसा कामता-प्रसादजीने वीरपाठावलीमें लिखा है. आराधना कया कोणमें भी-इनकी कथा मिलती है तथा श्री नेमिदत्त फविने शिवकोटि आचार्यने भगवती आराधनाकी रचना की है ऐसा चेहेल भी किया है.

* शिवकोटी आचार्यके प्रस्तुत ग्रंथपर श्रीअपराजित सूरिकी विजयोदया टीका, श्री. पं. आशाधरजीकी मूला-राधना दर्पण टीका, शिवजीउलकी भावार्थ दीपिका टीका, है. इनमेंसे अपराजित सूरिकृत विजयोदया टीका, और पं. आशाधरजी की मूला राधना दर्पण पंजिका ये दोन टीकायें तथा श्री अमितागवि आचार्यके भगवती आराधनाके प्रलेख गद्यांका जिसमें अभिप्राय आया है ऐसे श्लोक इतने ग्रंथ इस भगवती आराधनाके साथ जोड़ दिये हैं.

विजयोदया टीका श्रीअपराजित सूरिने रची है यह टीका बहुत विस्तृत है. इसकी श्लोक संख्या लगभग सोलह हजार होगी. इनने आचार्य अपराजित सूरिकी प्रसस्ति ग्रंथ में जोड़ दी है. उस से पाठकगणको आचार्य का परिचय होगा. श्री अपराजित सूरिका ही दूसरा नाम विजयाचार्य अथवा श्रीविजय ऐसा है. पं. आशाधरजीने मूला-राधना दर्पण नामकी टीका लिखी है. उसमें अनेक शब्दोंमें 'इमां गाथां श्रीविजयो नेच्छति' अर्थात् यह गाथा श्री विजयाचार्य श्रेयक समझते हैं. 'श्रीविजयाचार्यन्तु मिथ्यात्वसेवामतिभारं नेच्छति । तथा च सर्वेषां ' मिथ्यात्वम-शब्दान् तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासौ इति नाविचरता. ' अर्थात् श्रीविजयाचार्य मिथ्यात्वकी सेवा करना यह सम्यग्दर्शनका अविचार नहीं है अर्थात् उससे तो श्रवान अर्थात् सम्यग्दर्शन नष्ट ही होता है ऐसा कहते हैं. ऐसा लिखकर अने पं. आशाधरजीने कुछ विजयोदया टीकाका उस अभिप्रायका इनका वाक्य भी दिया है. यह वाक्य इसी गैवके १५४ प्रश्नपर पाठकगण देख सकते हैं. इसही प्रकार सभी श्रीविजयके बड़े केवल ' टीकाकार ' इस शब्दका भी पं. आशाधरजी प्रयोग करते हैं. जैसे " टीकाकारस्तु ' सामान्यसूत्रे: विशेषभूमि: कर्मतया निर्दिष्टा तथा मोपेवं पुष्टमि-त्याचष्टे " यह पंक्ति १८ प्रश्न पर छपी है. इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि. श्री विजयाचार्य अन्य कोई नहीं है. श्री अपराजितसूरि ही है.

अपराजित सूरिने भगवती आराधनाकी स्वकृत टीकाका विजयोदया ऐसा नाम विधान किया है उसी प्रकार दशवैकालिक ग्रंथपर भी इन्होंने टीका रची है. और उसका नाम भी यही श्रीविजयोदया टीका ऐसा ही दिया है. इसी ग्रंथमें प्रष्ट ११९५ में खुद आचार्यजीने ' दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रयंचिता वदमादिदोया इति नेष्ट

प्रपंच्यते ' ऐसा चहेल किया है. इस तरहके प्रमाणोंसे अपराजित सूरि और श्रीविजयाचार्य एकद्वी है ऐसी हमारी धारणा है.

पं. नाथुराम प्रेसीजी इस टीकाका विनयोदया यह नाम अधिक अन्वर्थक है ऐसा समझते हैं. वे कहते हैं कि, मुनिओंके आचम्यमें विनयाचार प्रधान है अत एव इसका नाम विनयोदया होना चाहिये. परंतु यह युक्ति जोरदार नहीं है. ग्रंथकार जिस समय जिस विषयका वर्णन करते हैं उस समय उस विषयको मुख्य कर अन्य विषयको गौण कर देते हैं. अर्थात् विनयको ऐसी उन्होंने मुख्यता दी है वैसी स्वाभ्यास, वैयादृत्य वगैरह विषयोंके वर्णनमें भी मुख्यता दी है अतः जैसा विनयोदया नाम होना चाहिये वैसे इतर विषयोंकी भी प्रधानता होनेसे अन्यनामकी भी क्यों मुख्यता नहीं मानी जायगी. फिर वे कहते हैं कि यदि आचार्यका नाम श्रीविजय या तो टीकाका भी श्रीविजया ऐसा होता परंतु उसके साथ उदय शब्द जोड़ना उपयुक्त नहीं है. ऐसा कहना भी हमें युक्तियुक्त मालूम नहीं होता.

हरिचंद्र कबीने धर्मनाथ सीर्यकरका चरित्र लिखा है और उसका नाम उन्होंने ' धर्मशर्माभ्युदय ' देसा रक्खा है. इस नामसे तो अतभिज्ञ लोगों को यह काव्य है और इसमें धर्मनाथ जितेश्वरका चरित्र वर्णन किया है ऐसा बोध होना कठिन ही पड़ेगा. परंतु इस चरितके पठनसे पाठकोंको धर्म, शर्म-सुल, और अभ्युदय-स्वर्गादि संपत्ति प्राप्त होगी ऐसे विचारसे कबिते उसको उद्युक्त लंघाचौड़ा नाम दिया है और धर्मनाथ के चरितका भी बोध हो जाता है. वही प्रकार विनयोदया इस शब्दसे टीकाकार के नामके साथ पाठकोंको कर्म के ऊपर विजय और आत्मोन्नतिकी प्राप्ति होगी ऐसा अभिप्राय सूचित होता है. अतः विनयोदया यह नाम अन्वर्थक ही है. निरर्थक नहीं है. ऐसी हमारी धारणा है.

अपराजितसूरीने विस्तृत टीका लिखकर भक्त्यों को आराधना का वास्तविक स्वरूप समझा दिया है इस टीकाका मनन करनेसे वास्तविक आत्मशान्ति प्राप्त होगी.

आराधना ग्रंथपर जो टीका लिखते हैं उनको समाधिमरण की प्राप्ति होती है ऐसा श्रीवैद्यसेन आचार्यजीने सावयधम्मसंगह नामक ग्रन्थमें विधान किया है. वह इस प्रकार—

जिणभणहं कारावियहं लब्धइ सन्नि विमाणु ॥

अह टिकह आराहणहं होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥ पृष्ठ ५९ ॥

अर्थात् जो जिनमेंद्विर बतवावे हैं उनको स्वर्गमें विमानकी प्राप्ति होती है, तथा जो आराधना ग्रन्थपर दीकार्यें रचते हैं उनको समाधिमरणकी प्राप्ति होती है।

श्री अपराधितसूरिका कालनिर्णय करनेमें इस असमर्थ हैं, क्योंकि अभी इनके अखित्यकालका निर्णय इतिहासज्ञोंको भी टीका मादम नहीं हुआ है।

श्री. पं. आशाधरजी जैनधर्मप्रभावक महाकवि हो गये हैं, इनका काल विक्रमका १३ वा शतक निर्णीत है, इन्होंने अनेक जैन साहित्यके ग्रन्थ बनाये हैं, इनका साहित्य बहुत प्रौढ व गंभीर है, इनके समान उद्धट विद्वान् गुह्यार्थोंमें बहुत विरहण हुए हैं, इनका यहाँ वर्णन करनेका कारण यह है कि इन्होंने भगवती आराधना ग्रन्थपर मूला-राधनावर्णन नामकी पछिका टीका रची है, यह टीका संक्षिप्त है, इसलिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें वे 'पदप्रमेयार्थप्रकाशिकरणप्रवणे मूलाराधनावर्णने' ऐसा उल्लेख करते हैं, अर्थात् इन्होंने कठिन पदोंका खुलासा करके इनके प्रतिपाद्य विषयका निर्णय किया है, जो टीका श्लोकके अथवा गायकें संपूर्ण पदोंका खुलासा न कर कुछ पदोंका-कठिन पदों का स्पष्टीकरण करती हैं उस टीकाको पछिका या पंजिका टीका कहते हैं, सुलभ गायकोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता न होनेसे 'स्पष्टम्' इतना ही लिखकर वे आगे चले गये हैं यह टीका किस समय बनाई गई है इसका खुलासा इन्होंने प्रबंधके अन्तमें स्वप्नस्थितिमें जरूर किया होगा परंतु इस टीकाकी जो प्रति हमको मिली है उसमें प्रशस्ति पूर्ण नहीं है इससे हम खुलासा करनेमें असमर्थ हैं, पंडितजीकी टीका बहुत विद्वत्पूर्ण है, इन्होंने इस टीकामें अनेक श्लोक अन्य जैन ग्रन्थोंके विषयका खुलासा करनेके लिये दिये हैं।

भगवती आराधनापर अनेक आचार्योंने टीकायें और निबंध लिखे हैं, पंडितजीने तीन चार टीकायें तथा तीन चार निबंधोंका आशय लेकर अपनी टीका रची है, आचार्यं जयवर्द्धि, प्राकृत टीकाके कर्ता [नाम ज्ञात नहीं है] श्रीचंद्राचार्यकृत भगवती आराधनाका टिप्पणक, विद्याधरप्रतिवर्धनी नामक ग्रन्थ, विजयाचार्यकृत विजयोदया टीका, श्री अमितगत्याचार्यकृत श्लोकरूप भगवती आराधना, ऐसे अनेक ग्रंथोंका आशय लेकर प्रस्तुत टीका पंडितजीने लिखी है, इससे पंडितजीकी अन्वेषण करनेवाली बुद्धिका परिचय पाठकगण को मातृगण पड़ेगा, पंडितजीने इस महाग्रन्थके विषयोंका खूब मनन करके अपनी टीका आठ आध्यासोंमें विभक्त की है, यह टीका आठ हजार श्लोक प्रमाण होगी ऐसी हमारी धारणा है।

यह टीका विजयोदया टीकाके नीचे दी है. अर्थात् इस ग्रन्थ में प्रथमतः शिवकोट्याचार्य की गाथा अनंतर अस्मितामिति आचार्यका समानार्थक श्लोक, उदन्तर विजयोदया टीका और गुलाबनादार्पण टीका, इन के अनंतर विजयोदया टीकाका हिंदी अनुवाद ऐसा क्रम है.

भगवती आराधनाका हिंदी अनुवाद श्री. पं. सदाशुखजी का भी प्रसिद्ध हुआ है. उसमें श्री विजयोदया टीकाका उन्होंने कितनेक स्थलोंमें आशय लिया है. कितनेक स्थलोंमें इस टीका के विषयमें वे संक्षेप्युक्त हैं. उनको यह टीका श्रेयान्तराचार्य उक्त है ऐसा भ्रम हुआ है. परंतु यह कोरा भ्रम ही है. उलटा इस टीकामें श्रेयान्तरोंके आचार्य-रामादि ग्रंथों के प्रख्यापनादि प्रहण बौरेह विषयों का जोरवार खंडन है. पाठक टीका तथा उसका अनुवाद पढ़कर संतुष्टिनिवृत्त अवश्य होंगे.

आज तक किसी भी जिनयाणीभण्ड ने भगवती आराधना की संस्कृत टीकायें प्रकाशित नहीं की थी. यह न्यूनता जानकर जिनवाणीभूषण श्रीमान् चर्मवीर रावजी सखाराम दोशीने विपुल धनव्यय कर यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, इसके लिये वे अतीव धन्यवादके पात्र हैं. श्री. चर्मवीर रावसाहेब का जैन मंत्रका प्रकाशनकार्य आजकलका नहीं है. करीब तीस वर्षोंसे उन्होंने यह प्रकाशन कार्य सतत चालु रक्खा है. स्वाहादभूषण स्व. पं. फलान्या भरनाथा निटवेने प्रथमतः शालिवाहन तक १८३० में मरुपुराणका अनुवाद महाराष्ट्र भाषामें प्रसिद्ध किया, उन्होंने अस्तावनामें श्री रावजी सखाराम दोशी इन्होंने इससे इस प्रकाशनके कार्यमें दो तीन वर्षोंसे साहाय्य दिया है इस लिये वे धन्यवादके पात्र हैं ऐसा उल्लेख किया है.

परमपूज्य श्री शालिसागर आचार्यजीने इस महान् ग्रंथको प्रकाशित करने के लिये श्री. चर्मवीर रावसाहेबको प्रेरणा की थी. महाराजकी आज्ञा गुरुभक्तशिरोमणि रावसाहेबने मस्तकपर धारण कर तथा दो वर्षोंके पूर्व श्री० छुल्लक बिमलसागरजी के लग्नोत्सवमें शोलपुरमें विजयोदया टीकाका हमने यहांकी संपूर्ण हि. जैन जनता के साथ स्वाध्याय किया था. श्री. सु. विमलसागर महाराजकी भी प्रेरणासे तथा सुदृढ़ उनकी अभिरुचीसे भी यह ग्रंथ उन्होंने प्रकाशित किया है.

जैनधर्मकी प्रभावना तथा उसका सत्परस्वरूप जैन ग्रंथके प्रकाशनसे प्रगट होता है ऐसा प्रशंसनीय विचार इनके हृदयमें सदैव विराजमान है. इस विचार की प्रेरणा सतत होनेसे आज तक सैकड़ों ग्रंथोंका सेठ साहेबने प्रकाशन किया है.

सेठजीके इस प्रशंसनीय उद्योगकी कोन सहृदय मनुष्य प्रशंसा न करेगा, तथा उनको हर्षसे धन्यवाद न देगा ? प्रसुत महाम् प्रंथ सेठजीके सुवर्णजयंती अर्थात् वर्षवृद्धि महोत्सवके लिये जो श्री महावीर जिनविभवप्रतिष्ठा इस सालमें हुई उस समय थड़े समारोहके साथ प्रकाशित करनेका सेठजीका विचार था परंतु उस समय सुद्रव्यकार्य पूर्ण न हो सका इस लिये कार्त्तिक शुद्ध पंचमीके दिन इसका प्राणप्रतिष्ठापूर्वक प्रकाशन किया गया है।

इस महान् ग्रन्थके प्रकाशनके लिये पूना मांडारकर प्राच्य विद्यासंशोधक संस्थाने अपराजितसुरिकृत विजयोद्या टीकाकी दो प्रति भेज दी थी उन प्रतिपोंसे हमने प्रेसकोंपी उधार की, ये दो प्रति प्रायः छुद्र और सुकाव्य थी, इस संस्थाने ये पुस्तकें भेजकर हमको अत्यंत उपकृत किया है अतः हम उसको अन्वःकरणसे धन्यवाद देते हैं।

श्री. पे. प. सरस्वती भवन मुंबई से हमको श्रीमान् पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने मूलाराधनवर्षण पूर्वार्ध पांच आश्विन पूर्ण यह प्रंथ और श्री अमिताभगति आचार्यकृत संस्कृत श्लोकावुवादरूप भगवती आरावना ग्रन्थ देते दो प्रंथ भेजे थे, इन दो प्रंथोंका हमको अतिशय साहाय्य मिला, अमिताभगति भगवती आराधनाके प्रथमके १९ श्लोक मूल प्रंथमें नहीं थे परंतु बीसवें श्लोकसे आगे प्रंथ पूर्ण है, हमने अन्यत्र इसके प्रारंभके १९ श्लोक प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न किया था परंतु प्राप्त नहीं हुए, इन दो प्रंथोंको भेज कर हमसे पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने बहुत उपकृत किया है, ये हमेशा ऐसा साहाय्यवान हमको करते हैं अतः आपके इस अत्यंत आभार पूर्वक धन्यवाद मानते हैं।

कारंजाले मूलाराधना दर्पण पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध श्रीमंत रतनछाल नरसिंगसा राज्ज इन्होंने भेजा था परंतु पूर्वार्धमें प्रारंभका प्रथमपत्र नहीं है, चौदहवें पत्रसे १९ वें पत्रतक ६ पत्र नहीं हैं, तथा ३१ वा पत्र नहीं है, अतः हमको इस पूर्वार्धका विशेष उपयोग नहीं हुआ, नई सरस्वती भवनसे प्राप्त हुये प्रतीसे इसको पूर्ण साहाय्य हुआ, उत्तरार्धमें भी प्रारंभके दो पत्रे हैं तदन्तर तीसरे पत्रसे १९ वें पत्रतक १२ पत्र नहीं हैं, अतः उवनी टीका इस नहीं छपा सके, अनितम प्रकाशित भी पूर्ण नहीं है, अतः प्रकाशित इस पूर्ण प्रगट न कर सके।

यह पुस्तक श्रीमंत रतनछाल नरसिंगसा राज्जने भेज दी थी, मूलाराधनवर्षण की हस्तलिखित प्रति भेजकर हमपर जो उपकार उन्हीने किये हैं उनके लिये आभार मानना हम आवश्यक कर्तव्य समझते हैं और मानते हैं।

इस भगवती आरावना प्रंथका संशोधन मैंने मेरी कुछ बुद्धिके अनुसार किया है, तथा विनयोप्या टीकाक हिंदी भाषामें अनुवाद किया है, सराठी यापा मेरी मातृभाषा है, अतः इस हिंदी अनुवादमें लिंग, विभक्ति वगैरहोंक

उपाकरण शुद्ध प्रयोग न होने से बहोतसी झूठे होवाना निवारा संभवनीय है. तथा मार्यातर में भी असावबश प्रभाव रहे होंगे.

विज्ञयोदया टीकामें दशस्थितिकल्पके विषयका विवेचन करते समय अपराजित सूरीने आचारांगदि श्रुतां-वर प्रदीपोंके जो प्राकृत भाषाके श्लोक दिये हैं उनका मराठी अनुवाद करके श्री. प्रो. ए. एन. उपाध्यायजीने मेरी प्रार्थना-से भेज दिया । उसका मैंने हिंदी अनुवाद किया है अतः श्री. प्रोफेसरसाहेबका मैं अतिशय आभारी हूं.

सज्जन पाठकधर्म तथा विद्वद्गणोंको मेरी सविनय यह प्रार्थना है कि इस संशोधन, अनुवाददि कार्य में रहे हुए दोषोंका संशोधन करके मेरेको उपकृत बनावे.

जैन साहित्यकी सेवा मेरे द्वारा आजन्म होती रहे ऐसी श्रीजिनेंद्रदेवसे प्रार्थना करके मैं यह प्रस्तावना पूर्ण करता हूं.

जिनवाणीका कुछ सेवक--

जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले.

ता. १-११-३५

वीर सं० २४६२ क्रांतिक शुद्ध ५ मी.

हिंदी अनुवादके अनुसार भगवती आराधनाके मुख्य विषयोंकी सूची-

विषय

१२

विषयनाम	पृष्ठसंख्या	विषयनाम	पृष्ठसंख्या
१ मंगलपूर्वक आराधना वर्णनकी प्रतिक्रिया.	७	१५ मरणसमयमेंही रत्नत्रयाराधना करनी चाहिये ऐसी	६८
२ आराधनाका स्वरूप और यह किसको होती है.	१५	विषयकी शंकाका उत्तर.	
३ आराधनाके दो भेद.	२०	१६ सर्वत्र रत्नत्रयाराधना करना चाहिये इसका	७०
४ विध्याष्टि सम्पन्नानका आराधक नहीं है.	३०	सहस्रान्व सुलासा.	
५ चारित्राराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव.	३३	१७ अन्तर्मुखमें रत्नत्रयकी आराधना करनेसे भी मुक्ति	
६ अतिश्लेषकी अपेक्षासे चारित्राराधनामें ही इतर		मिलेगी अतः सर्वत्र रत्नत्रयाराधन क्यों करना	
आराधनाओंका अन्तर्भाव.	४२	इसका उत्तर.	८४
७ ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका चारित्राराधनामें		१८ मरणके सत्रह भेद.	९१
अन्तर्भाव	४६	१९ पांच प्रकारके मरणोंका वर्णन.	१०६
८ चारित्राराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव	५०	२० दर्शनाराधनाका वर्णन.	११९
९ यथाख्यात चारित्रका स्वरूप और फलका वर्णन	५४	२१ सम्बन्धि जीवका वर्णन.	१२२
१० दुःख दूर करना यह ज्ञानफल फल है इसका द्वाव-		२२ किनके सुप्त प्रमाणभूत माने जाते हैं.	१२६
युक्त वर्णन	५७	२३ अविचरित अर्थका निरूपण करनेवालेका लक्षण	१२८
११ कर्मका नाश होनेसे मुक्तिफल मिलता है.	५८	२४ आज्ञासम्यक्त्वीभी आराधक है.	१३०
१२ मरणसमयमें आराधनाकी विशयना करनेसे अन्त		२५ जीवद्रव्यके ऊपर अज्ञान करना चाहिये.	१३२
संसारकी प्राप्ति.	६१	२६ आज्ञावाचिकोंकाभी अज्ञान करना चाहिये.	१३५
१३ रत्नत्रयमें स्थिर होकरभी संकलेश परिणाम बलज		२७ मोक्षसा अज्ञान और बहुवसा अज्ञान करने-	
होनेसे होनेवाली हानि.	६३	नाला मिथ्यादृष्टि है.	१३८
१४ आराधनाओंका विविष्ट फल.	६६	२८ विध्याष्टिका स्वरूप.	१३९

२९ सत्यप्रधान न करनेसे होनेवाली हानि.	१४१	४३ उत्तम लिंगका विशेष वर्णन	२११
३० संसारसे दूरनेवाला मनु्य जीव कैसा विचार रतता है.	१४२	४४ अपवाद लिंगीकी शुरुवा कैसी होती है.	२२२
३१ सत्यदर्शनके पांच अधिकारोंका वर्णन.	१४६	४५ केशलोच न करने में दोष और लोचमें गुण	२२३
३२ सम्यग्दर्शनको निर्मल यननेवाले गुणोंका वर्णन	१५०	४६ सरीरसमत्वत्यागका वर्णन	२२९
३३ दर्शनविनयका वर्णन.	१५५-१६५	४७ पिच्छकासे क्या क्या कार्य करते चाहिये तथा पिच्छकाका लक्षण	२३४
३४ अग्र्य, मध्यम व उत्कृष्ट सम्यक्स्वाराधनाके स्वामी.	१७६	४८ स्निग्धचक्रका अध्ययन करनेसे प्राप्त होनेवाले सद्गुणोंका विस्तृत वर्णन	२४१
३५ जपन्य सम्यक्स्वाराधनाका प्रभाव तथा सम्यक्स्व लाभमाहात्म्य.	१७८	४९ विनयका २३ गाथाओंमें विस्तीर्ण वर्णन अर्थात् विनयके सर्व भेदोंका वर्णन	२६०
३६ मिथ्यात्वके प्रकार और उनसे होनेवाली हानि	१८१	५० समाधि अधिकारका विस्तारसे कथन	३१२
३७ मिथ्यात्वके आश्रयसे अधिसादिक गुण भी दोष होते हैं.	१८५	५१ अनियत विहारके दर्शनविशुद्ध्यादि गुणोंका वर्णन	३२५
३८ प्रतशीलपुक्त मिथ्यात्वकी भी संसारश्रमण होता है.	१८८	५२ परिणाम अधिकारका आठ गाथाओंमें वर्णन	३५२
३९ भक्तप्रत्याग्यान मरण व वसुके भेद.	१९२	५३ उपाधित्यागका ९ गाथाओंमें वर्णन	३७६
४० अर्थाधिकारता वर्णन (भक्त प्रत्याग्यान मरणके योग्य व्यक्ति)	२००	५४ भावप्रति और प्रव्यप्रितिका सविस्तर कथन	३८८
४१ भक्तप्रत्याग्यामके लिये जो अयोग्य हैं उसका वर्णन	२०४	५५ संकल्पभावनाके कंदर्पोदि भेदोंका वर्णन	३९७
४२ लिंगाधिकारका वर्णन और अपवादलिंगका वर्णन	२०७	५६ संकल्पसरहित भावनाओंका वर्णन	४०५
		५७ शाश्वत व अभ्यंतर संकल्पनाका वर्णन	४२३
		५८ अनन्यतादि बालतपोका सविस्तर वर्णन	४२५
		५९ वसतिको उपादानादिदोषोंका वर्णन	४४७
		६० निजैरेच्छु यतीके तपका वर्णन	४५६
		६१ संकल्पनाके उपायोंका वर्णन	४६८

६२	दणायसलेसनाका वर्णन	४७९	८१	श्रीच्छाधिकार	७३९
६३	एलाचार्यकी स्थापना	४९२	८२	आलोचना शुद्धयधिकार	७४३
६४	क्षमाणाधिकार	४९४	८३	सामान्यविशेषालोचनका स्वरूप	७५२
६५	गण और एडाचार्यको आपसके सम्बन्ध	४९६	८४	सहस्रपरममें शेष और शस्योद्धारमें गुण	७५८
६६	वैयाकृतके १५ शृणोंका वर्णन	५२४	८५	आलोचना का और किस स्थानमें करना योग्य है	७६८
६७	अर्थिकासंगति त्याग	५४३	८६	आलोचनाके गुण और दोषोंका स्वरूपवर्णन	७७६
६८	दुर्जनसंगति त्याग	५५३	८७	वृणोक्त चीस अतिचार कारणके प्रकारोंका वर्णन	८१५
६९	सुजनसंगतीका माहात्म्य	५५७	८८	आलोचना करने के अनंतर शुरूके कर्तव्यका वर्णन	८२१
७०	परगणचार्यधिकार	५७०	८९	योगयोग्यवस्तुतिका विचार	८३४
७१	सर्गनिरूपणाधिकार	५९०	९०	संस्तरोंका वर्णन	८४०
७२	निर्यापककाचार्यका अभ्येय करनेके लिये निकले हुए साचार्यका कार्यक्रम	५९३	९१	परिचारकोंका स्वरूप	८४७
७३	निर्यापकाचार्यके आचारत्वादि आठशृणोंका वर्णन	६०७	९२	आशेषपद्यादि कथाओंका स्वरूप	८५३
७४	वृद्धाधिकारवर्णन	६१८	९३	परिचारकोंके भिन्न भिन्न कर्तव्य	८५७
७५	अपमन्न आचार्यका आश्रय करनेसे उत्पन्न होने वाले दोषोंका वर्णन	६५९	९४	संश्लेषना करनेवाले मुनिका वर्णन सबको लेना चाहिये	८७०
७६	अवपीठक आचार्य क्षपकके दोष बाहर निकालते हैं	६९९	९५	आहार प्रकाशन प्रकरणका विवेचन	८७५
७७	उपसंपद अधिकारका वर्णन	७२५	९६	हानिप्रकरण का स्वरूपकथन	८७९
७८	श्रीक्षाधिकारका वर्णन	७३४	९७	पानकोंके प्रकारका वर्णन	८८२
७९	प्रतिलेपाधिकार	७३६	९८	तीन प्रकारके आहारोंका त्याग क्षपक करता है	८८६
८०	पुरुष्ठाधिकार	७३८	९९	चार प्रकारके संपका क्षमापण विधि वर्णन	८८९
			१००	क्षपणाधिकार वर्णन	८९१

१०१	आचार्य का क्षपकको उपदेश	८९५	१२२	मानकपाय के त्यागका विस्तीर्ण उपदेश	१२२२
१०२	मिथ्यात्व त्यागनेका उपदेश	८९८	१२३	भोगनिपटनेके त्यागका उपदेश	१२३४
१०३	मम्यक्त्यभावनाका उपदेश	९०६	१२४	अवसत्रादि मुनिओंका वर्णन	१२७०
१०४	जितभक्ति माहात्म्य वर्णन	९१३	१२५	इंद्रियकषायों की दुष्टताका उपदेश	१२८५
१०५	नमस्कार वर्णन	९१६	१२६	पांचों इंद्रियोंसे मनुष्यको दुःखदत्त होना है	१३११
१०६	ज्ञानोपयोगका वर्णन	९२३	१२७	कोपवोपत्याग वर्णन	१३१४
१०७	अहिंसा महाप्रत पालनका विस्तीर्ण उपदेश	९३२	१२८	मानदोषत्याग वर्णन	१३२३
१०८	सत्यमहाप्रतका सविस्तर विवेचन	९३२	१२९	मायावोपत्याग वर्णन	१३२७
१०९	अर्चार्थ महाप्रतके उपदेशका सविस्तर कथन	९६३	१३०	लोभदोष वर्णन	१३३०
११०	प्रसर्पण महाप्रतका वर्णन	९७९	१३१	क्रोधविजय वर्णन	१३४८
१११	श्रीकथापाठनाका उपदेश	१०२५	१३२	मानविजय वर्णन	१३५४
११२	अनुविनिर्लक्षण, देहकी अपवित्रताका वर्णन	१०५७	१३३	मायाजय वर्णन	१३५७
११३	पुद्गलेशका उपदेश	१०९७	१३४	लोभ विजयवर्णन	१३६०
११४	स्त्रीसंतर्गवर्णनका वर्णन	११०७	१३५	निद्राजयवर्णन	१३६४
११५	परिमहत्वाग महाप्रत वर्णन	११२३	१३६	निर्जरातिमित तपमें क्षपक को प्रेरणा	१३६९
११६	महाप्रतकी निरुक्ति, रात्रिमुक्ति त्यागादिक महाप्रतके संरक्षक हैं.	११८५	१३७	उपदेश सुननेपर क्षपकका वक्तव्य	१३८६
११७	मनोगुति पाण्डुतिओंका वर्णन	११७९	१३८	सारणनामक अध्यायका वर्णन	१३९०
११८	कायगुति का स्वरूप	११८३	१३९	क्षपकको पुनः उपदेश	१४०१
११९	इगोमनित्यादि पांचसमितिओंका वर्णन	११८७	१४०	परीपहसहन करनेवालोंके वधाहरण	१४१८
१२०	प्रत्येकपानोंके पांच पांच भावनाओंका वर्णन	१२०५	१४१	मरकमतिके दुःखका विचार करने के लिये क्षपकको प्रेरणा	१४२९
१२१	मायाभिप्लवाय निदान इन शक्तियोंके त्यागका उपदेश	१२१४	१४२	तिथेयगविदुःखवर्णन	१४४६
			१४३	मनुष्यगतिदुःख वर्णन	१४५३
			१४४	देवगतिदुःख वर्णन	१४५९

१४५	दर्शनीय से औपचारिकोंका वैकल्प	१४६६	१५९	अविचारमत्त त्यागवर्णन	१७६२
१४६	प्रतिष्ठाभंग करना मरणसे भी अनिष्ट है-	१४८०	१६०	इगिनीमरणका विस्तारसे वर्णन	१७७४
१४७	आहारलेपटता पांच पापोंका कारण है	१४८६	१६१	प्रायोपगमनमरणका वर्णन	१७९१
१४८	समताका वर्णन	१५०९	१६२	बालपंडितमरणका वर्णन	१७९८
१४९	आर्तध्यान और रौद्रध्यानका वर्णन	१५३१	१६३	ध्यानके बाह्य परिकरोंका वर्णन	१८०४
१५०	ध्यातका परिकर और धर्मध्यानका वर्णन	१५३४	१६४	सर्वस्वव्यापति प्रकृतिओंके क्षणका वर्णन	१८०५
१५१	अधुनादि चारह अलुमेक्षाओंका वर्णन	१५४८	१६५	अनिवृत्तबाह्य गुणस्थान से प्रकृतिओंका क्षण	
१५२	शुद्धध्यानका वर्णन	१६८१		वर्णन	१८०७
१५३	लेख्याविशुद्धिका वर्णन	१७००	१६६	केवलज्ञानका वर्णन	१८१७
१५४	आराधना और विराचनाओंके फलोंका वर्णन	१७१०	१६७	सिद्धोंके परमस्वास्थ्यका वर्णन	१८४१
१५५	अपसमादि पंच मुन्याभासोंका वर्णन	१७२९	१६८	ग्रंथकार शिवकोटयाचार्यका अन्तिम वक्तव्य	१८५०
१५६	निपद्याका वर्णन	१७३८	१६९	श्रीमदपरानित सुरिकृत प्रसस्ति	१८५४
१५७	अयोग्य संयममें क्षयकमरण होनेमें जागरणादिक		१७०	श्रीनवाशाधरसुरिकृत आराधनास्तव्यादि	१८५५
	करना चाहिये	१७४०	१७१	श्रीमदमितगति प्रसस्ति	१८६३
१५८	आराधकोंगत्याग वर्णन	१७५३	१७२	आराधनास्तव्यम्	१८६५

इति विषयसूची समाप्ता-

श्री शिवकोटि आचार्यकृत भक्तवती आराधना. इसमें अपराजितसुरिकृत संस्कृत टीका और पं. आशाधरजीकृत संस्कृत टीका और श्री अमितगति आचार्यकृत संस्कृत श्लोक और पं. श्री. जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले सोलापूरवालोंकी हिंदी टीका सहित यह ग्रन्थ छपाया गया इसके लिये जिन्होंने

सहायता दी उन महाशयोंकी शुभ नामावलि:—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

७०१ श्री पूज्य आचार्य शक्तिसागर विगनर जैन ग्रंथमाला. ५० शहा गुलाबचंद सराराम सोलापूर.

सागावावा.

७०१ श्री पूज्य आचार्य शक्तिसागर ग्रंथमाला.

५० श्री. जिनसेन भट्टारक कोल्हापुर.

५० र. लक्ष्मीसेन भट्टारक "

५० मंथभक्त शिरोमणि शेठ पुनमचंद चासीलाल मुंघई.

५० मेधा कसुरचंद मलुकरचंद अकलकोट.

५० शहा देवचंद रामचंद सोलापूर.

५० श्री. रत्नबाई देवचंद हरजगीकर.

५० मी. फेदरबाई भ. हिराचंद रामचंद वळसंगकर.

५० श्री. प्र. कंकुबाई फारजा.

५० शहा माणिकचंद अभीचंद B. A सोलापूर.

५० प्र. रंगमाबाई सोलापूर.

५० गंगुबाई पदमती करकंगकर.

५० माणिकबाई कसुरचंद निमगोंकर.

५० सौ० चतुरबाई मोठीचंद शहा.

५० शहा गुलाबचंद सराराम सोलापूर.

५० सौ० राजुबाई रावजी दोशी.

५० सौ० नवलबाई गुलाबचंद दोशी.

५० सौ० कसुरबाई वालचंद हिराचंद दोशी

५० शेठ मोठी शिबलाल मल्लुचंद पंढरपूर.

५० रा. मेधा माणिकचंद पानाचंद निमगांव

५० रा. शेठ रामचंद घनजी दावडा नातेपुले.

५० प्र. राजुबाई भ. गोतमचंद बरामती.

५० रा. काळप्पा आण्णाक्षी लेंगडे साहापुर वेळगांव

५० शा. माणिकचंद मोतीचंद आळंद

५० रा. वळवंत ग्यानोबा दोळे आळंद.

५० रा. विवराव हिराचंद शहा आळंद.

५० चोतीराम दलुचंद पंढरपूर.

५० नरसिंग घोडी चिंचवाळे शवलकरजी व श्री. जिन-

गोडा आपगोखा पाटील.

५० श्री. माणिकबाई हिराचंद जयचंद निमगांव.

- ५० श्री. कंठ्याई अ. रामचंद दोधी निमगांव.
 ५० श्री. चतुरायाई अ. मोतीचंद गांधी चिकोलीकर.
 ५० श्री. जिवराज माणिकचंद मेधा निमगांव.
 ५० शेठ नयुराम तलकचंद दोधी.
 ५० श्री. येणीचंद रामचंद मधा निमगांव.
 ५० श्री. हिराचंद दाजी सदा. ”
 ५० श्री. मेनामाई फुलचंद दोधी फलटनकर व मोतमचंद मोतीचंद करमाळेकर.
 ५० रा. शहा गुलापचंद तुरचंद आळंद.
 ५० शहा नानपद तुरचंद अ. छंद.
 ५१ शेठ लीलाचंद हेमचंद दिगेळी.
 ५० मोतीचंद हरीचंद शहा नळदुगे.
 ५१ स्व. सौ. चंद्रभागायाई दत्तात्रय मोदीकर.
 ५० मोनीपद उरगचंद फलटनकर पुता.
 ५० भाऊ नेमणा दुभगे कुर्दमाळ.
 ५० श्री. बाळुशाई अ. दलचंद दिवरेकर.
 ५० छंदनकाळ जयचंदलाळ मदारीपूर.
 ५० दुळीचंद रतनकाळ ”
 ५० श्री. अभीचंद दळुचंद शहा मुंबई.
 ५० श्री. रोडमल गेपराज सुसारी.

- ५० स्व. सौ. कंठ्याई वीरचंद कोदरजी गांधी फलटन.
 ५० श्री. शंकरलाल गांधी मुंबई.
 ५० शेठ लुणकरण मदनमोहन मुंबई.
 ५० शेठ फतेचंद दीपचंद नागपुर
 ५० सौ० चतुरायाई अ. हिराचंद अभीचंद गांधी वरमानामाद
 ५० शेठ हरीचंद खुशालचंद मोडनिय
 १०० शेठ भूपाल आप्पा जिरगे.
 ५० लक्ष्मण भरमत्वा आरबाळे सांगली
 ५० रतनबाई अ. माणिकचंद.
 १०० शिकवाई अ. मोतीचंद करजगीकर.
 ५० आथळवाई कळसकर.
 ५० मोतीचंद रावजी पराडेकर.
 ५० शेठ वनशीलाल गंगाराम मांदगांव.
 ५० शेठ धनराज गोकुळचंद कोपरगांव.
 ५० शेठ शहा परमचंद मोतीचंद करकंव.
 ५० अ. शिकवाई अ. जिवनचंद बिजापुर.
 ५० मोतीलाल ल्हीला मुंबई.
 १० श्री. अ. जिवराज गौतमचंद दोधी सोलापूर.
 ५० श्री. विहारीलाल कठनेरा जैन मुंबई.
 २५ श्री. गांधी नानचंद अभीचंद पंढरपूर.
 २५ श्री. छिळचंद रावजी कोळारी आळंद



मूलाराधना (अपरनाम-भगवती आराधना)

दीकाद्वयोपेता हिन्दीभाषानुवादसहिता च ।



अथ अपराजितसूरिकृता विजयोदया टीका । १ ।

पुनर्नयानचारिजतपसामाराधनायाः स्वरूपं, विफलत्वं, तदुपायं, साधकान्, सद्भावान्, फलं च प्रतिपादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यातो मन्त्रलं सस्य ओम्पूर्णा च प्रारब्धकार्यप्रत्युहानिराकृतौ क्षमं शुभपरिणामं विद्मता तदुपायभूतेयमपेक्षि गाय—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चतुर्विहाराहृणाफलं पते॥

वदिता अरहते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धाञ्जगत्प्रसिद्धांश्चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तान् ॥

वदित्वाहृतो वक्ष्याम्याराधनां क्रमशः ॥ १ ॥

१ सिद्धे—सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिता । अत्रान्ये कथयन्ति । “ निवृत्तविषयरामस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुगन्तसाधकस्यापराधनापिधानायोचनाधीमिदं शास्त्रं ” तस्याविघ्नप्रसिद्धयर्थमियं मन्त्रस्य कारिका गम्येति । असंयत-

सम्पन्नादिष्वयतासेयत्तमसंयताममत्तसंयतादयोऽप्याराधका एव । तस्मिन्नुच्यते निवृत्तचिप्यपरागस्य विप्राकृतसकलपरि-
ग्रहस्येति । न ह्यसंयतसम्यग्द्वेः संयतसंयतस्य ना निवृत्तचिप्यपरागता, सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति
चातुषपदं । अक्षीणायुषोऽप्याराधकतां दक्षीप्यति यत्नं । 'अणुलेभा वा सात् चारित्तविणासया इवे अस्से' ति ।

शास्त्रान्तरं पञ्चानां पुरुषाणां नमस्कारिका आरभ्यते । तत्र चार्द्धतामेवोपासनाभादौ । इह तु पुनर्द्वयेरेव नमस्कारो-
विपर्ययश्च । तस्मिन्कृतं वैयर्थ्यमिति ? अत्रोच्यते अन्यथाप्रजुत्तावस्ति कारणं । इह द्विप्रकाराः सिद्धसाधक-
भेदेन जीयाः । अर्द्धतां सिद्धानां चास्ताराधनाकलत्वात्, आचार्यदीनां भयाणां साधकानामनुमद्भावेदं शालं प्रस्तूयत
इति सिद्धानां मङ्गलयेनोपासनां युक्तं, नेतराणामधिक्रियमाणकयाचोपेयमिति भाव्यपरिहारी केर्णाचिन् । सावसन्नताविष
सङ्घेयेति । तत्र चापस्य निवेद्यतेऽयुक्ता । किमर्थं नमस्कारा क्रियते शालाविषु ? अबिप्रमसिद्धये । कथं निहन्ति
विप्रमसी ? स हि यस्तुः श्रोतुं भयेत् ? उभयस्यापि निवन्धनमन्तरायः, 'विप्रकरणमन्तरायस्य' [त. सू.] इति वक्ष्यमात् ।
पञ्चमकारोऽसी दानस्ताभमौगोपभोग्यदीर्घाणां विप्रकारणभेदेन, तत्र यस्तुर्नान्तरायस्तस्याप्यति प्रस्तूतं, किञ्चिदस्य हि
दानस्य प्रतिपादको दानान्तरायः । ज्ञानलभै सिद्धान्ति धोतुलभात्नरायस्तदास्रोते विप्रः कथं तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि
नमस्कारे, यथा वीजसलिलवधुधराधराश्मिकरसंशयाधीनजम्मा श्रद्धाचण्डुरः स्वहेतुसामान्यां भयस्यभूनायां सानिदि-
हेऽपि साहसमालादौ तथेहापि । अथैवं प्रये अन्तरायोऽगुभमप्रकृतिः । स य शुभपरिणामोन्मूलितरसप्रकर्षः स्वकार्यं
निष्पन्नार्थितं जालमिति । यथेष्टं शुभपरिणाममोभयस्योनापयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणादुरागः सर्वं प्लोपयोगी विष्ण-
निराचिकीर्षतस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिणः क्रमाश्रयणमन्याव्यं ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमाश्रयन्धनुषायानामुपायस्यै, तद्यज-
यन्नास्ति तस्य तस्योपायता तेन सर्वं पयाहर्द्धादिगोचरा गुणानुरागतास्तपुरःसरवाङ्मावकिया अनाहृतक्रमा भवन्ति ।
पाश्र्चिक्तफलप्रसाधना एकैककपा बहुशोऽपि । इमानामनुपूर्वीमन्तरैर्ज्ञेया सिद्धिः साध्यस्याव्यथा न विद्यत इति यत्र
तत्राधीयते उपायव्रजनः । यथा घटं सिंसाधयिष्यतो नृनन्दनविषवकरणवक्रारोपणादयः । युगपदेनेकवचनमवृद्धिर
संभाविन्येकस्य वस्तुनिरिति नान्तरियकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचारः । तथाहि, सिद्धं सिद्धद्वानं
डाणनगोचमनुहृगयाणमिति । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । कश्चित्तीयैष्ठत्वावि चौरस्वाभिनः एव प्रथमं नमस्कारिका ।
एतस्य सुरासुरमनुसिद्धयैर्दिदं चोदगादिकमममर्लं । पणमाणि घट्टमाणं सित्यं धम्मस्स कत्तारं ॥

एते पुन सित्तयवरे ससब्बसिद्धे विमुक्कसम्मवे । समणे य णाणंदसणचरित्तवयीरियास्यारे । इति

प्राचिदेकमघट्टेन,

रंदसदंयद्विदाणं तिसुलणदिदमधुरविसद्वक्काणमिति ।

कचिज्जीपणुण पवानाधिताहर्द्धादित्वाभिविदेशो निरूपितः "धम्मो मङ्गलमुक्किट्" मिति ।

एवं सति यच्चिन्त्ये ज्ञा विपर्ययाशङ्का ? यद्योक्तं साधकानुश्रद्धाधिकारे सिद्धात्मनमेव मङ्गलत्वनाधिकारो युक्त
इति । रदं पर्यनुयोन्योऽयं श्रुतसाधकार्यमुत यथेवं सकलस्य श्रुतस्य सामाधिकारिणोऽपि विदुषापातन्तस्यादौ मङ्गलं

कुर्यात्त्रिगणधरेः 'गमो अरहताणमित्यादिना कथं पञ्चानां मतस्कारः कृतः ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते । 'वेदित्वा अरहते' इति अहंतामुपाधानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपाधानार्थक्यं । अथैकदेशसिद्धि-
ज्ञात्वा इति पृथगुपात्ताः । आचार्यद्वयोऽपि हि गोपात्तालोपामयोक्तेः सिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धतायां अहंतामप्यादायकत्वे
सामुपादानं सख्याभ्यामविरोधमाधत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् 'जगत्प्राप्ति' जगति प्रसिद्धान् 'चतुर्विधाराधनाफलं'
चतुर्विधाराधनाफलं 'पक्षे' प्राप्तान्, वेदित्वा 'अरहते' अहंताः 'यद्यपि' अहंताः 'आराधनं' आराधनां
'कमलो' क्रमदाः ॥

सिद्धताध्वस्य अस्मारोऽर्थाः नामस्थापनाद्व्यवर्था इति । तत्र नामसिद्धः क्षाधिकं सम्यक्त्वं, ज्ञानं
रुतं, वीर्यं, सुश्रमतां, अतिनायकतीमवगाहनां, सकलयाधारहितत्वां धानयेदस्य सिद्धताध्वस्यैवतेर्निमित्तं कस्मिंश्चित्त्वयुक्तः
सिद्धताध्वः । ननु स्वल्पनिष्पत्तिः सिद्धताध्वस्य प्रयुक्तेर्निमित्तं न सम्यक्त्वोपपत्तिरिति चेत् सत्यं, व्यापनित्यादिकिञ्चिन्मूलतमरूपः,
निष्पत्तिर्निमित्तत एवैतत् पक्षः । पूर्वमाद्यश्रुतिनायपक्षया चरमशरीराधुनपक्षे य आत्मा क्षीरानुप्रविष्टोदकमिव 'संस्थान-
साधुपगतः', शरीरापायेऽपि तमात्मानं चरमशरीरात् किञ्चिन्मूलतमप्रदेशसमवस्थानं बुद्धावातोऽप्य तद्वैद-
मिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासिद्धः । सिद्धस्वरूपकाशानपश्चिन्नपरिणतिसामर्थ्याच्चासित आत्मा
आगमद्रव्यासिद्धः । नोआगमद्रव्यसिद्धलोधा हायकशरीरभावेतद्व्यतिरिक्तभेदात् । हायकशरीरसिद्धः
सिद्धमाधुतस्य शरीरं भूतं भवत् भवति वा । भवित्व्यतिशयपर्यायो जीवो भाविसिद्धः । तद्व्यतिरि-
कमर्लभति, कमर्लकर्मणो । सिद्धस्य कारणस्याभावात्सिद्धमाधुतवदितस्य रूपसिद्धशक्तमगमभावासिद्धः । क्षाधिकज्ञानवशो-
नोपगुक्तः परिप्रासाद्यानाथस्य रूपल्लिखितपक्षिघ्नरस्यो नोअगमभावासिद्धः । स इह गृह्यते । ननु सामान्यशब्दस्यान्तरेण
प्रकरणे विदोषणं याऽभिनितायैवृष्टिता दुरथगमा ! अत एव विशेषणमुपास्य चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्नोति । सम्यक्त्वं
कैवल्यज्ञानवशीं सकलकर्मचिन्मूर्ततेति चतुर्विधं, चतुर्विधाया आराधनायाः फले सत्यं तत्प्राप्तिरात्मनः सम्यक्वर्दीभावि-
रूपेण समपस्थानं । ततोऽयमर्थः- 'फलं पक्षे' इत्यस्य क्षाधिकसम्यक्त्वेकैवल्यज्ञानदर्शनविरच्यशेषकर्मविनिर्मुक्ततारूपेणाव-
स्थितमिति । जगति आसन्नसम्यक्सीयलोके क्षमीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धान् प्रतीक्षन् विदितान् । 'अरहते' इत्यत्र च
शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्था गतिः । पुष्टिव्यसेजोचायुराकाशं फालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणीत्येवं यथा । निदलमोहनीया
तथाऽऽतत्रानन्दशब्दोऽङ्गीकृतशब्दायैव संक्षामाद्यमुपपाति । अथवा 'जगत्प्राप्ति' इत्यनेनोक्तः । अनुगताथैवादर्शमिति संज्ञाया-
पया सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दायैव संक्षामाद्यमुपपाति । अथवा 'जगत्प्राप्ति' इत्यनेनोक्तः । अनुगताथैवादर्शमिति संज्ञाया-
विष्टप्रत्येयाधिगता महाभाग, नैवमितरे सिद्धाः । सर्वस्यैव हि चक्षुः कथं नित्यतीतत्वे सति अमतीतस्य कस्यचिद्भवान्
प्रसिद्धमद्रगमुपासन्नकर्ममिति गम्यते । यथाऽभिरूपस्य कस्या देवेति । तेनागममूर्त्तिः जगति प्रसिद्धतामिति । अहंतामेव
मतीतवत्पर्यमुक्तेन क्रमेण । अनधिगतप्रयोजनः श्रोता न यतते ध्ययेऽध्ययने वा । परोपकाररसपादानाय चेदं प्रस्तूपते मया,
ततः प्रयोजनं प्रकटयामीष्याह 'बोचछं जगत्प्राप्ति' इति । एतेनाराधनास्वरूपाय भग्नं प्रयोजनं शास्त्रश्रवणाद्भवतीत्यावेदितम् ।

नन्वापधानास्तरागमनं पुरगार्थः । पुरगार्थो हि प्रयोजनं, पुरपार्थश्च सुखं दुःखनिवृत्तिर्वा, न चानर्थोऽन्यतरताऽस्य । अयमस्याभिप्रायः, यो येनापधानार्थो स तदप्राप्तये लक्ष्यमुपायमधिगन्तुमुपादेयं वा यतेत । येन प्रयुक्तः क्रियायां प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, सोऽनेन प्रयुज्यते अचणादिक्लिमायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञानं प्रयोजनं भवतु, आराधना तु क्यमुपयोगिनी? सकलसुखरूपकैवल्यज्ञानपरमाव्यावाधतां जनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्तं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्नोति । ततोऽयमर्थः, अतस्तद्गानादिकलनिमित्ताराधनाऽवबोधनार्थमिदं शास्त्रमारभ्यत इति साध्यमाराधनास्तरागमनं साधनमिवं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपत्वं चोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव यापयाद्भ्यते । अग्निययभूतास्तु चतस्र आराधनाः । आहामिदं शास्त्रं प्रयोजनादिष्वयस्यमित्यन्तात्, स्यात्करणोदितमिति । एवमनया मङ्गलं प्रयोजनादिगुणं च सूचितं । 'कमसो' क्रमेण पूर्वदाढ्यनिवदितेन, परेन स्वमनोपिकाचचित्तमिदं न भवति । आसवचनानुसारितया प्रमाणमिवमाश्रयत्वं भवति । 'पुन्यसुत्तार्ण' इति वाक्यशेषोपादिर्यं लभ्यते ॥

अथ श्रीमदवाधारकृतं मूलाराधनादर्पणम् । २ ।

नत्साह्वितः प्रबोधाय मुग्धानां विपुनोन्यहम् ॥

श्रीमूलाराधनागद्वपदान्यासापरोऽर्थतः ॥ १ ॥

वज्रावी येदंयुगीनशमणोपमुद्वयानप्रवचननिष्यंदाभूतमाहुयेस्तत्र भवाद् शिषकोट्याचार्यवर्यः शिष्टाचारं प्रमाणाविर्तुं मंगलपुरातरमुपदेयं वस्तु निर्दिष्टात् श्रोतृप्रवृत्त्यंगतया च प्रयोजनादिप्रयमवबोधनम् 'सिद्धे' इत्यादि सुज्ञं चतुर्विधतिगाथानवषोढिकाप्रयमवबोधनमूत्रमासूत्रपामास ॥

एतदर्थः कथ्यते यथा-योषष्ठं वक्ष्यामि । प्रतिपादयिष्याम्यहं ग्रंथकारः । कां आराधनां ? आराध्यते सेव्यन्ते स्वार्थप्रसाधकानि त्रिवृते सम्बद्धसैनादीनि मौखसुखादिभिरनयेत्पाराधना आराध्यन्तिषु आराधककल्याणारः । उपजातसम्बन्धदर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्रतावेकगृधिरित्यर्थः ॥ तथा चोक्तम्—

रत्नत्रयमाराधनं भव्यस्तवारण्यको विभुस्त्वत्मा ॥

आराधना क्षुपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्तः ॥

तां । केन ? कमसो क्रमशः । पुन्यसुचानमित्यव्याधारात्पूर्वसूत्रक्रमेणेत्यर्थः ॥ एतेन मुख्यवर्चक्रमावातामाराधनामहं वक्ष्यामि, न स्वमनोपिकाचार्षितादिभिरुक्तं स्यात् ॥ किं कृत्वा ? चेदिचा वंशित्वा प्रणम्य स्तुत्वा वा । कान् ? सिद्धे

सिद्धान् । किंविशिष्टान् ? पते प्राप्तान् । किं तत् ? चन्द्रविहाररुणाफलं-सम्बद्धं नारायणचतुर्विध्यान्विधया आराधनायाः फलं साध्यं धार्मिकसम्बन्धकेवलखानन्दोनाति सर्वकर्मनिर्माध्वञ्चेति चतुष्टयं चद्रूपेण सम्बन्धितानित्यर्थः ॥ एतेन तन्मादिसिद्धाष्टक्यवच्छेदोद्देशोऽगममभावसिद्धाः संपृहन्ते ॥ नामादितिक्षेपोपेक्षया हि नवधा सिद्धाः संभवन्ति । फर्मनोक्तर्मणोः सिद्धत्वस्य अकारणत्वेन तद्व्यतिरिक्तस्यासंभवात् । तथाहि-नामसिद्धाः, रथापनासिद्धाः, आगमद्रव्यसिद्धाः, भाषिनोऽरीरनोऽगमद्रव्यसिद्धाः, । भवव्याकरोऽरीरनोऽगमद्रव्यसिद्धाः, भविष्यव्याकरोऽरीरनोऽगमद्रव्यसिद्धाः, भाषिनोऽगमद्रव्यसिद्धाः, आगममभावसिद्धाश्चेति ॥ अत एव सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरेवामतिशयेनादारीरत्ववशेनास्तीति 'अज्ञे आदेर' इत्यनेन अप्रत्ययेऽन्यथेतया सिद्धशब्दोऽपि न्युत्पाद्याः ॥ एवं तक्षेते धूर्तौपदिष्टयिवरादिगतादुक्तभाषयसोके केत्ताप्यनुपलब्धत्वादीयतामभेदेवा भविष्यति इति अनायासानिरासार्थमाह-युनः किंविशिष्टान् ? 'जयप्यसिद्धे' जगत्तापसप्रभ्यलोकैः समीचीनज्ञानलोपने प्रतीतान् । कतिपयजनसंयोगानित्यर्थः । एतेन लोकोत्तरत्वादिति-दुर्लभमेवकत्वमतस्तदधिगममाय ह्युत्तरां यत्नो शुमुक्छुभिः फलव्य इत्यावेद्यते । न केवलं तान्मर्दित्वा किं तर्हि 'अरुहन्ते' अर्हन्तश्च भवित्वा । अरिहन्ताद्रजोरहत्वं हनत्वा परिप्राप्तान्तचतुष्टयस्वरूपाः संतः शुक्लादिशुक्लामसिद्धयवर्ती पूजामर्हन्तीत्यर्थेन इति निरुक्तसिद्धमपि सङ्क्षेपं स्फुटीकर्तुं जयप्यसिद्धे इत्यप्यापि शोन्यः । जगल्लोकः प्रकर्षेणालोकयुक्तत्वेन साक्षात्प्रोपेय न सिद्धं निर्णीतं यैरेवमथ सदिहादिव्यवच्छेदेन भव्यैर्मगति य तेषु महाकल्याणक्षयनेषु प्रसिद्धाः प्रतीताः ये तान् लोकलोकसाक्षात्कारेणस्वदुपदेशकानुबन्धप्रतीतिञ्चेत्यर्थः ॥ अत्र सर्वे एव अर्हदाविगुणादुरागाः शुभपरिणामत्वादुभयमर्मप्रकृतीनां रसप्रकर्षयुन्यूल्य वञ्छितार्थप्रसाधनाय प्रभवन्तीति, प्रेक्षापूर्वकारिणः पूर्वोक्तार्थाः स्वस्य ज्ञानवर्तावराय, ओष्ठुणां च ज्ञानलभांवराय निराकर्तुं कामा निजमिच्छासाक्षरैरेवार्हदादीनां समस्तानां व्यस्तानां वा कामचारेण भंगलं उपाचयन्तः प्रतीकन्ते । इत्यस्य शास्त्रस्यादौ स्वपरविमर्शविपाताय प्राक् सिद्धाः पञ्चाध्याहर्हन्तो भव्यकृता नमस्कृताः । भवति यात्र श्लोकः—

नेष्टं विदन्तुं शुभमावभमरसप्रकर्षः प्रयुन्वन्तरायः ॥

तत्कामचारेण गुणानुरागजत्यादिरिष्टार्थकृद्देहादेः ॥

किंच, यो यदुगुणाधीं ग्रंथकृत् सिद्धान्प्रथमं नमस्त्रकार, तत्प्राप्त्युपायोपेक्षत्येवमुक्त्या च पञ्चाध्याहर्हन्तोऽपि । तथा चोक्तं—

अभिमतस्तद्विद्वेदप्रभुपायः सुबोधः । प्रभवति स च शास्त्रज्ञस्त्य चोत्पत्तिराज्ञात् ॥

इति भवति स पूज्यस्तदप्रसादप्रभुर्देनैदि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

अतश्च सामर्थ्यलक्ष्यत्वात् पुण्यसुखाणामिति नोक्तं ॥ तथा विप्रं मोक्षार्थिनो मुक्तात्मान एव परमार्थतो भक्त्या इत्युपदेष्टुं प्राक् सिद्धस्तुतिः कृता ॥ तथा चोक्तं—

सपत्न्यं तित्थयं अभिगच्छाद्विस्तु सुखोद्विस्त ॥

दूरतरं विध्वानं संज्वमतपसंपवसस्त ॥

तन्हा विष्णुविक्रमो विस्सेगो विन्वमो य सविद्य पुणो ॥

सिद्धेसु पुणदि भसी विध्वानं तेन पप्पोदि ॥

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो मापि कस्यचित् ॥

यावज्ज्योजनं नोक्तं तावज्ज्येन गृह्णाम् ॥

इत्यस्य शास्त्रस्य माहात्म्यप्रसिद्धये प्रयोजनमाकर्ष्यतां । येन क्रियायां प्रयुज्यते तत्प्रयोजनमिति शास्त्रज्ञवर्णादि-
क्रियायां ज्ञानेन प्रयुज्यते इति तदेव शास्त्रस्य प्रयोजनं । शास्त्रभ्रमणादेशानं भे जनिष्यत् इति हि तत्र प्रवर्तते । तदस्य
शास्त्रस्य मुख्यमाराधनास्वरूपं ज्ञानं प्रयोजनं, आनुषंगिकं तु तद्विकल्पाद्विज्ञानमपि । ज्ञानाद्वाराधनायाः स्वरूपविकल्पतनु-
पायसाधकसंज्ञापकज्ञानां पण्यमप्यनेन शास्त्रेणामिथास्यमानत्वात् ॥ भवति चात्र श्लोकः—

शास्त्रं छन्दमपिकल्पास्तदुपायः साधकस्तथा ॥

संज्ञायाः फलमित्याह ज्ञानाधाराधनाविधेः ॥

तत्परिज्ञानात्पुनः सन्धयस्त्यायाराधनायां प्रवर्तमानः सकलसुखस्वभावं केवलज्ञानं, परमावबोधत्वं च प्राप्नोतीति
परंपरया तदुभयमप्यस्य शास्त्रस्य प्रयोजनं । वस्तुतः मुख्यस्य दुःखनिवृत्तेर्वा पुरुषेणाध्यमानत्वात् तत्स्वरूपादिपदकृत्य शास्त्रस्य
चाभिधानाभिधेयभावलक्षणः संवयः । आराधनाया अनन्तज्ञानादेव साध्यसाधनभावस्वभावः । तत्रयं च 'बोच्छं आरा-
हणा' इति प्रवर्णेन सूरिणा सूचितं लक्ष्यते । ततो ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रयसमन्वितत्वात् ॥

अथ हिंदी सापानुवादः ।

सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके आराधनाका स्वरूप, इस आराधनाके विकल्प अर्थात् भेद, और उपाय, साधक, सहायक तथा आराधनाका फल इतनी बातोंका यह भगवती आराधनाशास्त्र विवेचन करेगा। अर्थात् श्रुते विषयोंका इस शास्त्रमें सुलभा किया है।

इस शास्त्रके प्रारंभमें स्वतःके तथा श्रोताओंके प्राप्त्य कार्यमें उत्पन्न होनेवाले विमोक्षके परिहारमें समर्थ ऐसा मंगल और शुभ परिणाम करनेवाले श्री शिवकोटि आचार्यजीने उसके उपायभूत यह ऊपरकी गाथा रची है।

यहाँ पर कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—पंचेंद्रियोंके विषयोंसे जिसका प्रेम बूट गया है, संपूर्ण परिग्रहोंका जिसने त्याग किया है, जिसकी आयु क्षीण हुई है, ऐसे साधकों आराधनाका विधान समझानेके लिए यह शास्त्र आचार्य महाशयने लिखा है। साधकने आराधनासाधनमें निर्विघ्ना हो यह हेतु मनमें धारणकर आचार्यने उपर्युक्त मंगलसूक्त रचा है। इस विचारसरणीका संकन आचार्य इसप्रकार करते हैं—असंयतसम्पदछटि, संयतासंयत, प्रसक्त, अप्रसक्तसंयत वगैरह गुणस्थानोंके धारक पुरुष आराधक हैं ही अतः पंचेंद्रिय विषयोंसे जो पराङ्मुख है, जिसने सर्व परिग्रह तजे हैं, तथा जिसकी आयु क्षीण हुई है ऐसे साधकके लिए यह शास्त्र रचा है यह कहना अनुचित है। क्योंकि असंयत सम्पदछटि तथा संयतासंयत जब संपूर्ण विषयोंसे विरक्त नहीं है, तथा वे सर्व परिग्रह त्यागी भी नहीं हैं, तो भी वे आराधक माने गये हैं। क्षीणायु न्याक्ति ही आराधक हो ऐसा कहना भी योग्य नहीं है। क्यों कि 'अशुलोमा या सतू चारित्तविणासया ह्ये जस' इस श्रुतिसे अधीणायु न्याक्ति भी आराधक होता है यह निश्च होता है, अर्थात् कुटुंबादिक वांछ्य जिसके चारित्र धर्मका नाश करनेके लिये उद्यमी हुए हों अथवा कोई शत्रु चारित्रसे ग्राम करनेके लिए उतारू होगया हो तो उस समय अधीणायु भी आराधक होता है। इसका आचार्य आगे सुलभा करेगे ही ।

प्रश्न—अनेक शास्त्रोंमें पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है। तथा अर्हत्परमेश्वरको प्रथम नमस्कार लिखा है परंतु इस आराधना शास्त्रमें अर्हत् और सिद्ध ऐसे दोही परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है और वह भी विपरीत प्रकारसे किया है। अर्थात् प्रथम सिद्ध परमेष्ठिको नमस्कार करनेके अनंतर अर्हत्परम देवको नमस्कार किया है, ऐसे विपरीत क्रमका क्यों आशय किया है ?

उपर—निर्परीत क्रमका आशय करनेमें यह कारण है—इस शास्त्रमें सिद्ध और साधक ऐसे दो प्रकारके जीव कहे हैं. अद्वैत और सिद्ध परमेश्वि आराधनाका फल पात्रुके हैं अतः वे सिद्ध जीव हैं. आचार्य, उपाध्याय व नाथ परमेश्वि ये तीनों भी साधक माने गये हैं. इन साधकोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना की है. अतः निर्दोषो भंगलरूपसे स्वीकार कर उनको आचार्यने प्रथम नमस्कार किया है, यह योग्यही हुआ. आचार्य यदि तीन परमेश्विओंको बंदन नहीं किया है क्योंकि वे आराधनाके अधिकारी हैं. उन्होंने आराधना फलकी प्राप्ति नहीं की है. ऐसा किसी विद्वानोंका भाष्य च परिहार है. परंतु ये दोनों भी अंतर्गत सरीखे मालूम पड़ते हैं. प्रथमतः यहाँ भाष्यकी अयुक्तता आचार्य दिखाने हैं—

शास्त्रादिकोंमें नमस्कार क्यों करते हैं ? यदि निर्विघ्न रीतीसे शास्त्रकी सिद्धि होवे इस हेतुसे नमस्कार करते हैं ऐसा कहोने तो हम आपसे ऐसा पूछते हैं कि वह कैसा विघ्नपरिहार करता है ? विघ्न श्रोताको अथवा वक्ताको होता है क्या ? विघ्न दोनोंको भी होता है तथा अन्तराय कर्म उसका कारण है. 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' ऐसा आचार्य उमास्वामीका वचन भी है. इस अन्तराय कर्मके दान, लाभ, भोग, उपभोग, व वीर्य इन पांच कार्यों में विघ्नकारण होनेसे पांच प्रकार है. जन्म वक्तमें दानांतराय कर्म उपस्थित होता है उससमय वह उसको विघ्न करता है. अर्थात् वक्ता उससमय शास्त्ररचना करनेमें असमर्थ होता है. दानान्तराय कर्म आहारदान, वसतिदादान और शास्त्रदान ऐसे तीन दानोंमें विघ्न करता है, अतः दानान्तराय कर्म ज्ञानलाभका घात करता है. श्रोताको लाभान्तराय कर्म हो तो वह शास्त्रलाभ-शास्त्रश्रवणलाभ होने नहीं देता. नमस्कार करनेपर भी यदि अन्तराय कर्म उदयमें आया हो तो शास्त्र रचना तथा श्रवणलाभ क्यों नहीं होने ? इस प्रश्नका उत्तर यह है—शाल्यंकुर उत्पन्न होनेमें शालिवृज, जल, लमीन, धूरिक किरण इवने कारण होते हैं. यह सर्व समग्री पूर्ण रहनेपर भी, यदि साल तनालादि दूध गोनूद हो तो शाल्यंकुर उत्पन्न नहीं होता. प्रकृत प्रकरणमें भी ऐसा ही समझना चाहिए. अर्थात् वक्ता और श्रोताओंने नमस्कार किया हो तो भी अन्तराय कर्म होनेसे प्रस्तुत कार्य करनेमें वे समर्थ नहीं होते हैं.

यहाँपर यदि आप ऐसा कहोने—“यद्यपि अन्तराय अशुभ कर्मप्रकृति है, परंतु शुभ परिणाम उत्पन्न होनेने उमका विघ्न करनेका उत्कट रम नष्ट हो जानेसे वह विघ्नरूपी लकार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है” तो

शुभ परिणाम मात्र ही प्रस्तुत प्रसंगमें उपयोगी होते हैं ऐसा सिद्ध हुआ. अतः सिध्दादि परमेश्वरोंके गुणोंमें अदुराग करना यह सर्व विघ्न दूर करनेके लिए आवश्यक है ऐसा सिद्ध हुआ. विद्वान् पुरुष श्राद्धप्रारंभमें अर्हदादिकोंको क्रमपूर्वक नमस्कार करते हैं. ” ऐसा आपने जो भाव्य किया था वह अयोग्यता ज्ञात होता है.

वस्तु प्राप्त होनेमें अथवा प्राप्य वस्तुका जन्म होनेमें जो कारण लगते हैं वे उपाय हैं. जहां जिस कारणसे प्राप्य वस्तु प्राप्त हो वह यहां उपाय समझना चाहिए. अतः सर्व ही अर्हदादिविषयक गुणानुराग तथा तत्पुरुषर वचन और शरीरकी चेष्टाचै क्रमयुक्त ही होती हैं ऐसा नियम नहीं है. एकेक उपाय भी इष्टफल प्राप्तिके लिये सहायक हो सकता है. ऐसे बहुतसे उपाय हैं जो एकेक भी इष्टफल प्राप्तिमें सहायक होते हैं. अतः ऐसे स्थानोंपर क्रमता आश्रय करनेकी आवश्यकता नहीं होती है.

जहां क्रमसे उपायोंका आश्रय करनेसे कार्यसिद्धि होती है वहां उपायक्रमका शरण लेना चाहिए. जैसे घट बनानेकी इच्छा हो तो मट्टीका मर्दन करना, पिंड करना, चाकपर उसको आरुढ करना वगैरे उपाय क्रमसे ही करने पड़ेंगे. अन्यथा घटोत्पत्ति न होगी. वक्ताके मुखसे एक समयमें एक ही शब्द निकलेगा. अनेक वचनोंकी प्रवृत्ति होना असंभव है. इस वास्ते शब्द क्रमसे ही मुखसे निकलेंगे. अतः नमस्कार वचनमें वक्ताकी स्वेच्छाही मुख्य रहेगी. नमस्कार विषयमें स्वेच्छाप्रवृत्ति शास्त्रोंमें प्रायः देखी गई है. यहां आचार्य उसके थोड़ेसे उदाहरण देते हैं. यथा—’ तद्भिः सिद्धार्णं टाणमणोवसुदमार्णं ’ अर्थात् जो अमुपम सुखको प्राप्त हुए, छतकृत्य, ऐसे अर्हत्परमेश्वरोंका शासन अनादि है, तथा वह सिद्धार्णोत्पत्तिसे प्रथमतः वीर तीर्थंकर को ही नमस्कार किया है. यथा—एस सुरासुर मणमिंद इति । यहां श्री कुंदकुट्टाचार्यजीने क्रमसारणका उल्लेखन किया है. पंचास्तिकाय समयसारमें सामान्यतः संपूर्ण विनिर्धारोंका सरण किया है । फाचिच् शास्त्रमें अर्हदादिकोंको नमस्कार न करके केवल जीवयुगका ही स्मरण किया है. तैम—’ धम्मो मंगलसुकिन्नमिति ’. इस तरहसे देखा गया तो नमस्कारके विषयमें अनेक प्रकार होनेसे विपरीत पना की शंका लेना व्यर्थ है ।

”साधकोंके उपर अनुग्रह करनेके लिये यह श्राद्ध है अतः इसमें सिद्धपरमेश्वरोंको ही मंगलरूपता है” ऐसा कहना भी अयुक्त है । हम यहां ऐसा पूछ सकते हैं कि—सिद्धिको चाहनेवाले साधकोंपर अनुग्रह करनेका अधिक

कार होनेसे यहां सिद्धोंको नमस्कार किया है अथवा श्रुतसाधकों पर अनुग्रह करनेका अधिकार होनेसे सिद्धोंकी वंदन किया है ? दूसरा पक्ष मानते तो भी आपका मत सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, सामाधिकसे लेकर लोक विदुत्तार पर्यंत जितना द्वादशांग है उसकी रचना गणधरोने की है, उसके प्रारंभमें गणधरोने ' नमो अरहंताणं ' इत्यादि पावयोज्यचार करके पंचपरमेष्ठिओंको नमस्कार किया है। यह भी आपके मतव्यक्त है। यतः पंचणमोकार रूप मंगलमें प्रथम अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है, अनंतर सिद्ध परमेष्ठीको किया है। परन्तु " सिद्धे जयप्पसिद्धे " इस मंगल गाथामें प्रथमतः सिद्ध परमेष्ठीको अनंतर अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है। यदि अर्हत्परमेष्ठी भी सिद्ध ही है ऐसा कहोगे, तो सिद्धपरमेष्ठिओंका ' सिद्धे जयप्पसिद्धे ' इस वाक्यसे स्मरण किया ही है फिर अर्हत्परमेष्ठीका सिद्धस्वरूपसे स्मरण करना व्यर्थ होता है।

यदि अर्हत्परमेष्ठी एकदेशसिद्ध है इस वास्ते उनको पृथक् नमस्कार किया है ऐसा कहोगे, तो आचार्यदि भी एकदेशसिद्ध हैं, उनका ग्रहण क्यों नहीं किया यह प्रश्न उपस्थित होगा। एकदेश सिद्ध होने पर अर्हंत भी आराधक हैं ही तो मी, उनका मंगलरूप समझ करके ग्रहण किया है ऐसा कहोगे तो तुम्हारा यह विवेचन विरुद्ध होगा। अतः इतने विवेचनका यहाँ यह अभिप्राय है कि, यह ग्रंथ रचनेवाले आचार्य भी शिवकोटिकी यहाँ तत्ता विवक्षा नहीं है। अतएव उन्होंने प्रथम सिद्ध परमेष्ठीको, अनंतर अर्हत्परमेष्ठीको नमस्कार किया है। यहाँ संक्षिप्त गाथार्थ इस प्रकार है—

जिन्होंने चार आराधनाओंका फल प्राप्त किया है, जो जगतमें प्रसिद्ध हुए हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी-ओंको, तथा सिद्धके समान जिनको चार आराधनाओंका फल मिला है ऐसे जगत्प्रसिद्ध अर्हत्परमदेवको भी धंदन कर मैं (श्री शिवकोट्याचार्य) क्रमशः—पूर्वीचार्य प्रणीत शास्त्रोंके अनुसार इस आराधना ग्रंथको कहता हूँ अर्थात् भगवती आराधना नामक ग्रंथकी रचना करता हूँ,

' सिद्धे जयप्पसिद्धे ' इस गाथामें जो सिद्ध शब्द आया है उसके नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव ऐसे चार अर्थ हैं, इन अर्थोंका विशेष विवेचन इस प्रकार है—

१ नाम सिद्ध—धार्मिक सम्प्रदर्शन, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सत्पत्ता, संसारावस्थामें प्राप्त न होनेवाली अवगाहन शक्ति तथा सर्व चाधाओंसे रहितपना ऐसे गुणोंकी अपेक्षा न करके सिद्धशब्दकी प्रवृत्तिके निमित्त किसी

व्याक्तिमें सिद्ध शब्दकी प्रवृत्ति होना वह नाम सिद्ध है।

श्रृंका-स्वरूपकी उत्पत्ति सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त होता है। सम्यक्त्वादिगुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्ति का निमित्त नहीं होते हैं। फिर यहांपर सम्यक्त्वादिगुणोंको सिद्ध शब्दकी प्रवृत्ति का निमित्त क्यों बताया इस चीज का उत्तर आचार्यने ऐसा दिया है—

२ ठीक है। सम्यक्त्वादि गुणोंके स्वरूपकी निष्पत्ति निमित्तसे हो जाती है, ऐसा हम मानते ही हैं। पूर्वभाव प्रकृति नबकी अपेक्षासे अर्थात् सिद्धत्व प्राप्त होनेके कालमें अन्तिम शरीरमें प्रविष्ट जो आत्मा वह दृष्टमें मिले हुं पानीके समान शरीराकार था। वही आत्मा शरीरका नाश होनेपर भी अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून आत्म-प्रदेशोंकी आकृतिसे युक्त है, ऐसा पुष्टीमें आरोपण कर 'वही यह है' ऐसा समझकर स्थापन की गई जो मूर्ति उसको स्थापना सिद्ध कहते हैं।

३ आगम द्रव्यसिद्ध-सिद्धोंका स्वरूप प्रकट करनेवाले ज्ञानकी परिणतीके साधनसे युक्त जो आत्मा उसको आगम द्रव्य सिद्ध कहते हैं। अर्थात् जिस आत्माके ज्ञानमें सिद्धोंका स्वरूप ज्ञाननेका सामर्थ्य प्राप्त हुआ है परंतु वर्तमान अवस्थामें वह सिद्धोंको नहीं जानता है, ऐसे ज्ञानसे युक्त आत्माको आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं।

४ नो आगम द्रव्य सिद्ध-इनके ज्ञातक शरीर, भावि तथा तद्व्यतिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं।
५ ज्ञातक शरीर सिद्ध-सिद्धोंके स्वरूपका प्रतिपादक ऐसे सिद्ध प्राभूत ज्ञातको ज्ञाननेवाले जीवका भूतकालीन, भाविप्राकालीन व वर्तमान कालीन जो शरीर वह सिद्ध स्वरूप ज्ञाननेमें जीवको मदत करता है अतः ऐसे त्रिकाल गोचर शरीरको ज्ञातक शरीर सिद्ध कहते हैं।

६ जिस आत्माको भविष्यकालमें सिद्धत्वपर्याय प्राप्त होगा वह आत्मा भाविसिद्ध है।

७ तद्व्यतिरिक्तसिद्ध यह भेद होता नहीं। क्योंकि, कर्म और नोकर्म ये सिद्धत्वके कारण नहीं हैं। कर्म, नोकर्म जबतक जीवके साथ रहेंगे तबतक सिद्धत्व प्राप्त नहीं होता।

८ आगम भाविसिद्ध-सिद्धप्राभूतमें जो सिद्धोंका स्वरूप लिखा है उसको वर्तमान कालमें ज्ञाननेमें उपयुक्त हुए ज्ञानको आगमभावसिद्ध कहते हैं।

९ नो आगमभावासिद्ध-स्वाधिक ज्ञान दर्शनसे युक्त, अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त हुआ, लोक शिखरमें

विराजमान जो शुद्धात्मा यह नो आगमभावसिद्धि है. यहां नो आगमभावसिद्धिको ही सिद्ध समझना चाहिए. श्रुंका-प्रकरण अथवा विशेषणके बिना सामान्य शब्दकी अभीष्टार्थमें प्रवृत्ति है यह समझना कठिन बात है. अतः सामान्य सिद्ध शब्दसे नो आगम भावसिद्धका ग्रहण यहां कैसा हो सकेगा ?

उत्तर-अतएव आचार्य महाराजने 'वस्तुविधाराधनाफलं प्राप्तान्' यह विशेषण देकर यहां नो आगमभाव सिद्धका ही ग्रहण करना योग्य है ऐसा प्रकट किया है. सम्प्रदर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, व संपूर्णकर्मरहितता यह चार आराधनाओंका फल है. अर्थात् सम्प्रदर्शनादिशुणोसे परिपूर्ण होना-तद्रूप होना यह आराधनाका फल है. फलं पने-क्षायिक सम्प्रदर्शन, केवलज्ञान, दर्शन व सर्व कर्मोसे मुक्तता ऐसे स्वरूपसे सिद्ध परमात्मा युक्त होगये है. यह आराधनाका फल उनको मिल गया.

अरहंत भी जगत्प्रसिद्ध-जगत्प्रसिद्ध है. निर्दोष स्वज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले आसन्न भव्य जीवरूप जगतमें अरहंत प्रतिदि पाजुके हैं अतः वे जगत्प्रसिद्ध हैं. अरहंते इस शब्दके अने 'च' शब्दकी योजना नहीं की है तो भी यहां समुच्चयार्थ समझ लेना. च शब्दके बिना भी समुच्चयार्थका बोध होता है. उसका उदाहरण यह है- 'पृथिव्येतजो वायुराकाशं कालो दिवात्मा मन' इति इस वाक्यमें च शब्दके बिना सर्व द्रव्योंका वैज्ञानिक मतवालोंने संग्रह किया है.

मौहीनीय कर्म नष्ट करनेसे, तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म दग्ध करनेसे जो इंद्रादिकोंके द्वारा विशिष्ट पूजाको प्राप्त हुए हैं ऐसे जिनेश्वरोंको अरहंत यह अन्यर्थ नाम प्राप्त हुआ है. जैसे सर्वनाम शब्द समस्त शब्दार्थोंकी संज्ञा हो जानेंसे अन्यर्थ है.

अथवा 'जगत्प्रसिद्धे' यह अर्हत्परमेष्ठीका विशेषण समझना चाहिए. क्योंकि गर्भ जन्मादि इतर भवकल्याण स्थानोंमें त्रैलोक्यके द्वारा वे महात्मा सेवित होते हैं. ऐसे इतर सिद्धपरमेष्ठी सेवित नहीं हैं. कोई भी वस्तु किसी प्रकारसे प्रसिद्ध होती ही है. अप्रसिद्ध ऐसी कोई वस्तु नहीं है अतः जगत्प्रसिद्धे यह अर्हन्तका विशेषण न्यय दीर्घगा. परंतु न्यय नहीं है. जैसे 'अभिरूपाय कन्या देया' रूपवाक्को कन्या देनी चाहिये ऐसा इस वाक्यका अर्थ है. परंतु रूप रहित कोई पुल्लिंग रूपगुण रहताही है अतः यह वाक्य न्यय होता है ऐसा नहीं. अभिरूप इसका अर्थ विशिष्टरूपवान् अर्थात् सुंदर पुल्लिंग ऐसा करनेसे

व्यर्थता नष्ट होती है। उभी तरह 'जगत्प्रसिद्ध' इस अर्थनिरूपके विशेषणका प्रसिद्धतम ऐसा अर्थ समझना चाहिए इस विशेषणसे अद्वैतप्रेमियोंकी ही अधिकतर प्रसिद्धि संचित की गई है।

जन्तक श्रोताओं प्रयोजनका ज्ञान नहीं तबतक यह शास्त्र श्रवण करनेमें अथवा उसका अध्ययन करनेमें प्रयत्न नहीं करेगा इस वास्ते परोपकार करनेके लिए उक्त हुवा मैं यह शास्त्र रच रहा हूँ। अतः 'मै' शब्द रचनेका प्रयोजन प्रगट करवा हूँ ऐसा आशय मनमें धारण करनेवाले आचार्य 'बोच्छं आराहणमिति' इस वाक्यसे प्रयोजन कहते हैं। आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होना यह प्रयोजन है तथा यह प्रयोजन श्रोताको इस शास्त्रके सुननेसे प्राप्त होना ऐसा अभिप्राय 'बोच्छं आराहणं' इस वाक्यसे शलकता है।

मुँका—आराधनाका स्वरूपपरिज्ञान होना यह पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थको प्रयोजन कहते हैं। सुख अथवा दुःख निवृत्तिको पुरुषार्थ कहते हैं। आराधनाका स्वरूप ज्ञान होना यह सुखरूप अथवा दुःखकी निवृत्ति एतद्वय नहीं है अतः स्वरूपावगमन प्रयोजन नहीं है। इसका सुझाव हम इस तरह करते हैं—

जो जिस प्रयोजनको चाहता है वह उसको प्राप्त करनेके लिए उसके उपाय जाननेका प्रयत्न करता है। अथवा प्राप्य वस्तु मिलनेका प्रयत्न करता है। जिसके द्वारा मनुष्य को कर कार्यमें मनुष्य मनुचं होता है उसको प्रयोजन कहते हैं। आत्मा शान्तके द्वारा शांतिश्रृंगारि क्रियाओं मनुचं होता है अतः उपयोगिनस्तुका ज्ञान होना यह प्रयोजन कह सकते हैं।

मुँका—परन्तु आराधना तो कुछ उपयोगिनी नहीं है अतः वस्तु ज्ञान कर लेना आवश्यक नहीं है। उत्तर—यह आराधना अनंत सुखरूप केवलमान च परम अव्याप्यता इन गुणोंको उत्पन्न करती है अतः यह आराधना अवश्य उपयोगी है। अतएव सिद्ध और अरहत वे महापुरुष चार प्रकारके आराधनाओंका फल प्राप्त कर चुके हैं ऐसा आचार्य कहते हैं। अनंत मानादिकल देनेवाली आराधनाका स्वरूप मन्त्रोंको जात हो जाय इस हेतुमें प्रेरित होकर आचार्य इस शास्त्रकी रचना करते हैं। यह शास्त्र आराधना स्वरूपका ज्ञान उत्पन्न करता है अतः यह साधन है तथा आराधनाजन साध्य है। शास्त्र और प्रयोजन इन दोनोंमें साध्यसाधन संबंध है यद् यद् 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तम्' इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है। यह शास्त्र चार आराधनाओंका वर्णन करता है अतः इसको अभिधायक-प्रतिपादक कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि आराधना इस शास्त्रमें वर्ण्य-अभिधेय है अतः इन

दोनों प्रतिपाद्य अभिधेयमिधायक संबंध है, अतः इस शास्त्रमें प्रयोजन, संबंध व फलनिर्देश होनेसे व्याकरणादि शास्त्रात् यह असाधना शास्त्र श्रोतृवर्गसे ग्राह्य ही है. ग्रंथकी प्रथम भाषासे मंगल व प्रयोजनादि तीन बातोंकी भी आचरण महोदयने द्वाचित किया है. यह शास्त्र पूर्वाचार्योक्तं वचनानुसार रचा गया है इस लिये यह प्रमाण है. प्रथम भाषामें 'कर्मतो' ऐसा शब्द आया है, उसका योग्य संबंध मिलानेके लिए 'पुण्यसुत्तार्ण' यह वाक्य शेष अध्याहृत लेना चाहिये.

- विमयोदया-का भाषाधना कष्ट पार ! न ह्याप्यवपरिजानेनात्मभूताधना शक्या प्रतिपत्तु इत्यरेकायामाह-

उज्जोषणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।

दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिवा ॥ २ ॥

२ उज्जोषण- उज्जोषणमुज्जवणमित्यादिकं । 'उज्जोषणं' उद्योतनं शङ्काविविरसनं सम्पत्स्वाराधना धृत-
निकल्पिते वस्तुभिः किमिदं भवेत्तु भवेदिति समुपजातायाः शङ्कायाः संशयप्रतिसंहिताया अपाकृतिः । कथं ? हेतुयत्न
आत्मवचनेन वा समुपजाताया इत्यमेवेदमिति निश्चयः । यद्यपि यस्य विरोधि यत्रोपजातं तत्र नेतरदारूपं यस्मात्ति, यथा
शीतस्पर्शान्नाग्ने शिदिशकरे उज्जाता । विरोधि च निश्चयज्ञानं संशयविराजितं यथा च नियोगतस्तद्वये तमेतरस्य तदा अवभासात्
यस्यायः कांक्षीनां स्वरूपं तद्विरासकर्म व प्रस्तावे । अभिधेयो वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदासः । यथाय-
तया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतनं । भाषणाधिरहो मलं चारिष्यस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतनं चारिष्यस्य । तत्सोऽ-
स्यमपरिणामः कलङ्कतया स्थितस्तस्यापाकृतिः संयमभावनाया सपस उद्योतनं । उत्कथं यत्नं तद्यत्नं । ननु मिथ्यार्थं सुप्रकृते-
रर्थः, मिथ्यार्थं न संयोगता । तथा हि-मुदभिधा धाना इति कथिते शुद्धेन संयुक्ता इति प्रतीयते । संयोगश्च विभिन्नयोरर्थयो-
पपत्तयोः प्राप्तिर्न च दर्शनादयोऽर्थान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकल्परूपाभावात् । तत्तर्क्यं दर्शनादिभिरात्मनो मिथ्यणमिति ? उच्यते-
विशेषवाच्योऽपि सामान्योपलक्षणतया वर्तते, यथा कांकेय्यो रक्ष्यतां सर्पिरित्यव्योपयातकसामान्यमेवार्थः । कांशब्दस्य
'प्रतीतस्तद्वत्संबन्धसामान्यमत्र यवनशब्दादिमिथेयं । असत्दर्शनादिपरिणतिरुचयर्न । निराकुले यद्वनं धारणं निर्वहणं, परी-
पद्मद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्तिः । उपयोगान्तरैरुचयर्नानिर्वहणं, परी-
साधनं । भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम् । एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थवृद्धितायां यथावसरं तत्र तत्र व्याख्या
करी । अत्रान्ये व्यत्ययते-निस्तरणशब्दः सामर्थ्यवाची स प्रत्येकं संबध्यते उद्योतनादियिरुद्योतनादीनां तद्दर्शनादिभि-
श्चतुर्भिरेव यथासंख्येन संबन्धः । उद्योतनं मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरणं अन्तिमेन दर्शनादयोरुचयर्नानि

प्रमेण । त एव पर्युयोक्त्याः । किमत्र शान्तदीनां निर्मलीकरणमिति चेत् । एवं चेदर्थोनेति किमिति संवच्यते निर्मलीकरणे ? उत्कर्णेण यवनमपि सर्वपात्रिप्यते । अनाकुलं यहनमपि साधारणं । भिद्यते यतशुचित्तसिद्धितीनां निश्चयेनानाकुलं वहनमिति ? न च निस्तृप्त्याशान्दात्सामर्थ्यं प्रतीयते । उद्योतनं सामर्थ्यं, उद्योतनं सामर्थ्यं, अविमेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उद्योतनादिदावेदुपायो, मरणकालश्च कः ? मनुष्यमवपण्यविनिशासमयो मरणकालश्चदेनोच्यते सोऽनुपातः । न तत्र भायनोक्तिः, मारणान्तिकसमुद्रति शरणमभ्यान्वात् । अत्र भायनोक्त्या मरणकालश्चदेनोच्यते सोऽनुपातः । प्रकृतश्च कथमिदं लभ्यते । भावनकालगतव्यापारकथनेनैव शास्त्रं प्रस्तुतिमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽस्तुतिवत्त्वात् । 'दं सण-
जागचरित्ततयाणमुज्जोवणमारोहणा भजिया' 'दं सणजागचरित्ततयाणुज्जवणमारोहणा' इति, इति प्रत्येकमभिसंयन्यो-
ऽत्र कार्यं । अन्यथा समासेन निर्देशो कुर्यात् ।

का आरापना करय वेत्तुयोनो सत्थाह—

मूलारा० दर्पणम्— उज्जोवणवित्थादि । दर्शनादीनां प्रत्येकमुद्योतनादिष्वेकमापना चतुर्विधा भणित ।

निर्नेति संक्षेपः ॥ तत्र उद्योतनं दर्शनादीनां निर्मलीकरणं ॥ तन्मला यथा—

दीकादयो मला दृष्टेर्यथासाक्षानिश्चयो मतेः ।

दृष्टारय भाषनात्यागस्तपसः स्वावसंयसः ॥

उज्जयणं उत्कृष्टं यवनं किञ्चन असकृत्परिणतिः । विषयार्णं परीक्षद्वारुपनिपतेऽपि निराकुलं लाभानिनिरेक्षं
या महनं पारणं । साहणं साधनं उपयोगान्तरेणान्वर्धितानां निष्पादनं । नित्यं नैमित्तिकं वा किञ्चित्कुर्वता व्यवहितस्य
सत्परदर्शनाराम्यवत्तस्य पुनरुपप्रयोगास्तत्पूर्णाकरणमित्यर्थः । गिच्छरणं भवान्तरप्रार्णं । निस्तारो मरणान्वापणमि
त्यर्थः । इतरेत्यादि । दर्शनं तत्पार्थक्यनं, ज्ञानं स्वार्थविर्णयः, चारित्रं पापपादननिमित्तक्रियोरजः, तपः इन्द्रियमन-
तोर्निष्पन्नानुष्ठानम् ॥

अथ हिंदी भाषानुवादः ।

१ आराध्यका ज्ञान होनेमें आराधनाका स्वरूप प्राप्त होता है. मतः आराधना मला चीज है तथा वह
किसको होता है ? ॥ प्रशक्ता उत्तर आचार्य कहते हैं—

उद्योतन—शंकाकांक्षादि दोषोंकी दूर करना यह उद्योतन है इसको सम्प्रस्वाराधना कहते हैं. द्वादशगोमं जीवादितत्वोंका जो स्वरूप कहा हुआ है वह यही है अथवा अन्य है ऐसी जो शंका मनमें उत्पन्न होती है—विसंको संशय भी कहते हैं उसको अपने हृदयसे दूर करना इसको उद्योतन कहते हैं. जैनसिद्धांतकी अविरुद्ध युक्तियों द्वारा और आगमवचनसे जीवादिक् यस्तुओंका यही स्वरूप है ऐसा ही है ऐसा निश्चय करके संशयादिक दोषोंको दूर करना चाहिए. जो जिसकी विरुद्ध चीज जहां उत्पन्न होती है उससे उलटी वस्तु कहाँ नहीं ॥ सक्तों जैसे शीतस्पर्शसे युक्त चंद्रमें उसकी विरुद्ध गीरोची उष्णता आने पैर नहीं जया सक्तों. संशयके विरुद्ध निश्चय है. यह जहां उत्पन्न होता है वहां संशय कैसा रहेगा ? निश्चयसे विरोध करता हुआ वह संशय विलुप्त टिक नहीं रहता. शंकाकांक्षादिक दोषोंका स्वरूप और उनकी निरसन आगे दर्शनाराधनाके प्रकरणमें आचार्य स्वयं लिखेंगे ही.

निश्चय न होना अथवा उज्झा क्षान होना यह ज्ञानका ॥१॥ है. ज्ञान निश्चय होता है तब अनिश्चय नहीं रहता है. यथार्थ यस्तुज्ञान होनेसे विपरीतता चली जाती है. यह ज्ञानका उद्योतन है. अर्थात् ज्ञानके अनिश्चय विपर्यासादि दोष दूर करना ज्ञानका उद्योतन है.

भावनाओंका त्याग होना चारित्रिका मूल है. अर्थात् भावनाओंमें तत्पर होना ही चारित्रिका उद्योतन होता है. अंतस्वयम परिणाम होना यह तपका कलंक है. संवय भावनामें तत्पर रहकर ॥२॥ कलंको हटाकर तपश्चरण निर्मल बनाना यह तपका उद्योतन है.

उपवन—उत्कृष्ट यवनं उद्यवनं अर्थात् उत्कृष्ट मिश्रण होना उपवन है. आत्माकी सम्प्रदर्शनादरूप परिणति होना उद्यवन शुद्धका अर्थ है.

शंका—उदपूर्वकं यु धातुसे उद्यवन शब्द बना है. उद्यका मिश्रण ऐसा अर्थ है. मिश्रण और संयुक्तपन दोनो समनार्थक हैं. जैसे गुडसे मिश्रित घाना है. अर्थात् गुडसंयुक्त घाना है ऐसा अभिप्राय होता है. विभिन्न पदार्थ आपसमें मिल जाना उपको संयोग कहते हैं पण्ठ सम्प्रदर्शनादिक गुण आत्मासे मिल नहीं है. आत्मा तद्वर है. वह उससे चिक्क नहीं है अर्थात् सम्प्रदर्शनादिसे भिन्न उद्यका और का नहीं है. अर्थात् सम्प्रदर्शनादिकमें उपका संयोग होना यह उद्यवनका अर्थ यहां योग्य नहीं दीखता.

उत्तर—विशेष शब्दसे जो विशिष्ट अर्थ कहा गया है वह भी उल्लङ्घनसे सामान्य अर्थ रूप से माना जाता

हे, जैने ' काकम्बो रस्यतां सर्पिः ' अर्थात् कौवासे घृतका रक्षण करो। यहाँ कौवा शब्द विशिष्टार्थवानक होने पर भी उसका उपपातक सामान्य ही अर्थ अनुभवमें आता है। अर्थात् घृतको विगाडनेवाले सब प्राणियोंका काक शब्द वाचक हो जाता है। वैया यहाँपर उचकन शब्दका सामान्य संबंध ऐसा अर्थ समझना अर्थात् चारोंपार सम्यग्दर्शन गुणोंसे आत्मा परिणत होजाना यह उचकन शब्दका अर्थ है।

निर्वहण—सम्यग्दर्शनादिगुणोंको निराकुलतासे धारण करना। अर्थात् परीपहादिक प्राप्त हो जानेपर भी व्याकुलचित्त न होकर दर्शनादि परिणतीमें तत्पर रहना, उससे च्युत न होना यह निर्वहण शब्दका अर्थ है।

साधन—अन्य कार्यके तरफ ध्यानोपयोग लगनेसे विरोहित हुए दर्शनादिपरिणामोंको उत्पन्न करना। अर्थात् निरय कार्य तथा नैमित्तिक कार्य करनेमें चित्त लगनेसे विरोहित हुए सम्यग्दर्शनादिकोमैसे किसी एकको पुनः उपायोंके प्रयोगसे संपूर्ण करना उसको साधन कहते हैं।

निस्तरण—अन्यभवमें सम्यग्दर्शनादिकोंको पोहोचाना, अर्थात् आमरण निर्दोष पालन करना जिससे ये अपने साथ अन्य जन्ममें भी आसकेंगे।

आराधना शब्द अनेकार्थमें रूढ होनेसे प्रकरणानुसार अविरुद्ध व्याख्या करनी चाहिये।

अब यहाँ दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं—निस्तरण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है। तथा इस शब्दका उद्योतन, उपपन्न इत्यादि शब्दोंके साथ संबंध करना चाहिये। तथा उद्योतनादिकोंका दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप इनके साथ यथाक्रम संबंध करना चाहिये। अर्थात् दर्शनका उद्योतके साथ, ज्ञानका उचकनके साथ, चारित्रका निर्वहणके साथ तथा तपका साधनके साथ संबंध करे। दर्शनोद्योत—पूर्वावस्थापेक्षासे भी मरणकालमें निर्विमितया सम्यग्दर्शन अधिक निर्मल करना यह दर्शनाराधना समझनी चाहिये। इत्यादिरूपसे अन्यविद्वान् व्याख्यान करते हैं, इस विवेचनपर आचार्य निम्न प्रकारसे विचार करते हैं।

यहाँ आपको ज्ञानादिकोंको निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट है ? यदि इष्ट है तो दर्शनके साथ ही उद्योतनका क्यो संबंध जोड़ने है ? अर्थात् ज्ञानादिकोंके साथ भी उद्योतका संबंध जोड़ देना चाहिये। उचकनका भी सर्वत्र साथ संबंध करना चाहिये। निर्वादि अर्थात् निराकुल धारण करना इसका भी दर्शनादिक चारोंके साथ संबंध जोड़ना

चाहिये, व्रत, गुति, सामितिओंको निश्चयसे निर्विघ्न धारण करना अर्थात् चारित्रिके साथ ही निर्वाहिका संबंध करना चाहिये ऐसा कहना अनुचित है. निस्तारण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है ऐसा आप कहते हैं परंतु उसको उद्योतन, उद्यवन, निर्विघ्न इत्यादिकोंके साथ जोड़नेसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता नहीं. मरणकालमें निर्विघ्नतया सम्यग्दर्शन निर्मल करना उसको उद्योतन कहते हैं ऐसा आप कहते हैं परंतु उज्जोवेण वगैरह शब्दोंका 'निर्विघ्नतया' ऐसा अर्थ नहीं है. आप मरण काल कोनसा समझते हैं? मनुष्यभव पर्यायका नाश होनेका जो समय उसको यदि मरणकाल समझते हो तो अयुक्त है. कारण मरणकालमें भावनाका उत्कर्ष होता नहीं. मारणान्तिक समुदातमें परिणाम मंद होते हैं. यदि मरणकाल शब्दसे भावना कालका अर्थ समझना चाहिए ऐसा कहोगे तो उसका यहां ग्रहण किया नहीं है. तथा यह अमंजुत होनेसे उसका यहां कुछ प्रयोजन नहीं है.

भावनाकालकी प्रशुचि कैसी होती है इसका विवेचन करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना हुई है अतः भावनाकालका यहां ग्रहण हो जाता है ऐसा कहोगे तो योग्य नहीं है. 'दंसणणाचरित्तवथापुज्जवणमारुहणा मणिया' इस वाक्यमें उज्जवण शब्दका प्रत्येकसे संबंध करना चाहिये 'उज्जोयणपुज्जवण' इस वाक्यमें उज्जवणादिक शब्द समाप्त रहित लिखे हैं अतः दर्शनादिकोंके साथ उद्योतनादिकका प्रत्येकका संबंध होता है ऐसा समझना अर्थात् सम्यग्दर्शनका उद्योत, ज्ञानका उद्योत, चारित्रिका उद्योत ना। तयका उद्योत. इसी तरह उद्यवननादि शब्दोंका भी सबके साथ संबंध समझना चाहिये. अन्यथा आचार्य उद्योतनादिकोंका समासपूर्वक उल्लेख कर सकते थे.

किं चतुर्विधैयाराधनेत्येवास्माक्यामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ॥
सम्मत्तम्मि य पढसा विदिया य हवे चरित्तम्मि ॥ ३ ॥

विजयोदया— उविहा समासेण दुविहा आराधणा भणिया इति पदसंबन्धः । आवरणमोक्षजयजिज्ञासा । ज्ञानदर्शनारणजयत्सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । मोक्षपराजयाद्धीतरणवेद्याः । सर्वज्ञानं सर्वदर्शनं चीतरणवेद्यानां यन्त्रे विनियन्त्रे । एतेन असत्यपचयनकारणमाधात् ग्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । यस्मिन्पुद्गलानाद्रागद्वेषाभ्यां वा प्रवृत्ते यत्नः

अवधारणायोपयोग्यताद्वयमाप्यनारकवृत्तिः । अथ च 'समासेन' संक्षेपेण 'दुविधा' द्विप्रकार 'भणित्वा' कथिता 'आराहणा' आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयत आह-समस्तमि य पदमा' अद्वानविषया प्रथमा आराधना । 'विश्विद्या य' द्वितीया च 'हृये' भवेत् 'चरितमि' चरित्रविषया आराधना । वसेनवादित्राराधनयोः प्रथमद्वितीयव्य-
पदेशः उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । केचिच्च दर्शनपरिणामोत्पत्त्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति
प्राथम्यं दर्शनाराधनायाः । असंयतसमग्रवृत्तिगुणस्थानं पूर्वं प्रमत्तसंयतार्थकं तु परमिति । अद्वानविरतिपरिणामयोर्युगपद-
व्याप्तिं प्राप्नुमः, अद्वानयतो या असंयतरथ पञ्चादिरतिरुक्तव्यायते । तद्विमुक्तये, उत्पत्त्यपेक्षयेति । असंयतसमग्रवृत्तीनां
मुक्तः प्रमो येन तदपेक्षया प्रथमद्वितीयव्यपदेशादुक्तः स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया प्रवृत्तमुत्त नान्वरीयकतया ?
'असंयतसमाप्तिद्विसंयतसंयदापमत्तसंयदा' इति वचनात् । तदेव वचनं किमर्थं कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दृष्टिसंयतासंयता इति
न तावद्वृत्तिं परिणामानां विवेकमयीक्रमः । यदि स्याथ यौगपद्यं कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दृष्टिसंयतासंयता इति
वृत्तिः । अथ नानेकं वचनमेकः प्रयोक्तुं शक्यत इति यदुत्तरिच्छादुत्तिपायी क्रमः स्वविवेकाकृतं प्राथम्यं द्वितीयता चेति
पार्थं न गुणस्थानापेक्षयेति । किं यौगपत्तदर्शनपरिणामस्यामनस्तत्प्रतिशयमुत्तराधना साऽत्र प्रत्युता । तत्र च
प्राथम्यं द्वितीयता या, तद्विमुक्तये उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । अस्त्युत्पत्त्युत्तराधना तमेवमपरे वर्णयति ।
अस्ति च साक्षे किमयमेव निश्चयः अद्विधिवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्पः संभवतीति ? भस्तीत्याहेति तत्प्रत्युक्तम्
'वैतनानाजवरिस्तदाणमारोपणा मन्त्रिणा' इत्यतीतकाळामिधानक्रियातः, प्रतीयते तास्य शाकस्य व्यापार इति ।
यद्यस्य व्यापारः शाकस्य वधमुत्तिष्ठेत् स्यात् 'अथानि' इति प्रयात् । 'द्विजवयने भणित्या उपहिता आराधना' इति
वचनात् । संक्षेपविरुपणापि तद्वेति नेह संक्षेपवाध्यम् । वस्तु गृहपत्न्यस्तं दुरवयमे मन्वदुर्जनामिति । तत्प्रत्युक्तम्
स्वपश्योपपत्तः । स संक्षेपविरुपकारः । यद्यनसंक्षेपोऽर्थसंक्षेपस्तदुभयसंक्षेपश्चेति । यद्यनसंक्षेपस्तदुभयसंक्षेपश्चेति । अत्राप्येते
जडानामिति यत्तत्वं संक्षिप्यते । तदर्थस्तु समग्रवृत्त्ययः । अनुयोगद्वारदर्शनां गृह्णामुपन्यासमकृत्या विख्यापेपन्यासः
प्रस्तुतद्वयार्थसंक्षेपः । यद्यनमिति तु गृह्णति । तस्योभयसंक्षेपः पाश्चात्यः । द्विधिवाराधनेति यद्यनसंक्षेपो नार्थसंक्षेपः ।
यान्द्वाराधना तपसश्च विद्यमानापि न यद्यनोच्यते । परमृतेनैवावयोधयितुं शक्यत इति ।

मूढारा० दर्पणम्—एवं आराधनाया भेदविरुपणद्वारेण स्वरूपं दर्शनादिविषयमेवाभातुर्विध्यं पातुमिष्यद्वर्ती
संक्षेपावर्द्धविष्यमनुशास्ति—

द्विजवयने जिनानां वीतरागसर्वकानां वचने प्रयणभूत आगमे । अयमं विस्तरकचिबिनियासावशक्तुर्वि-
धाराधनाभिहित । यथास्तद्धेपवचिन्धिपेक्षया सा द्विप्रकार कथिता । आनेन दर्शनस्य, तपसा च चारित्र्यस्य अविना-

भावात्तत्र तयोन्तर्भावनात् । तत्र एव चारित्र्यस्य संक्षेपः । स हि संक्षिप्तार्थमुक्तिवल्गुशब्दानुसङ्गाय । स्वल्पस्यो
पन्यासो वचनार्थोभयभेदाच्चेष्टा । श्लोक-

वत्रात्म्योक्त्यानुयोगादिद्वारैरर्थः प्रपञ्चयेते ॥

संक्षेप उक्ते- सौर्वत्य दिक्मानोऽभिद्वधुर्द्वयोः ॥

सम्पत्समि तत्त्वअद्वानविषये इत्यर्थः । पठ्या सम्पत्स्वाराधनाया सत्यामेव ज्ञानाराधनापूर्वकत्वेन चारि-
त्राराधनायाः संनवाए ॥

क्या आराधनाके चार ही भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी—जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं । एक सम्पत्त्वमें आराधना अर्थात् सम्पत्स्वाराधना तथा दूसरी चारित्र्यमें आराधना अर्थात् चारित्र्याराधना.

विशेष—आवरण व मोहको जीतनेसे अर्हत्परमेष्ठिको जिन कहते हैं, ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मको जीतनेसे वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुये हैं. मोहनीय कर्मको परास्त करनेसे वे रागद्वेष रहित हो चुके हैं. अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेष रहित ऐसे अर्हत्परमेश्वरके वचनको जिनवचन कहते हैं. जिनेश्वरके वचनमें असत्य वचनके कारण नहीं पाये जाते हैं अतः उनका वचन अर्थात् जिनागम प्रमाण है । वक्ता यदि अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त हो तो उससे निकला हुआ वचन असत्यवस्तुका वर्णन करनेवाला होनेसे प्रमाण नहीं है. प्रमाणरूप जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं. श्रद्धानको विषय करनेवाली पहिली आराधना है तथा दूसरी आराधना चारित्र्यको विषय करती है ।

दर्शनाराधना और चारित्र्याराधना को क्रमसे प्रथम तथा दूसरी आराधना ऐसे नाम उत्पत्ति की अपेक्षासे तथा गुणस्थानों की अपेक्षासे प्राप्त हुए हैं. आत्मा प्रथम सम्पत्त्वदर्शन परिणामसे परिणत होता है तदनंतर उत्तरकालमें उसमें चारित्र्य परिणाम उत्पन्न होता है. अतः दर्शनाराधना प्रथम कही है, असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्रथम हो जाता है, नंतर प्रमत्तसंयतादिक गुणस्थान आत्माको प्राप्त होते हैं ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं ।

श्रद्धान तथा विरति परिणामोंकी युगपत्कालमें-एकसमयमें भी उत्पत्ति होती है अर्थात् सम्पत्त्वदर्शन और चारित्र्य परिणाम एककालमें भी उत्पन्न होते हैं. अथवा श्रद्धानवान् जीवको पश्चात् भी विरतिपरिणाम हो जाते हैं ।

अतः उत्पत्तिकी अपेक्षासे प्रथमता द्वितीयता क्यों कही जाती है ? जो असंयत सम्यग्दृष्ट्यादिव है उनका अपेक्षासे क्रमघटना कैसी होगी ? जिससे उसमें प्रथम द्वितीयता आजायें, उत्पत्तिकी अपेक्षासे यदि कहोगे तो हमने उस नियममें नियम कहा ही है ।

अब आगममें जो प्रथम वचन कहे हैं और जो नंतर कहे हैं उनकी अपेक्षा लेकर हम प्रथम तथा द्वितीयकी कल्पना करते हैं क्योंकि आगममें 'असंजदसम्पादिद्वीसंयदासंयदाप्रमत्तसंयदा' ऐसा क्रमपूर्वक उल्लेख है, यह भी फइना योग्य नहीं है, हम इस विषयमें आपको ऐसा पूछते हैं कि, यह आगमका वचन क्रमका आशय लेकर क्यों प्रवृत्त हुआ है ? क्या क्रमके साथ आगम वचनका अविनाभाव है ? परिणाम क्रमसे ही होने चाहिये ऐसा नियम नहीं है, अन्यथा सम्यग्दर्शनरूप तथा विरतिरूप परिणाम एक समयमें किसी कालमें भी नहीं होंगे, परंतु एक कालमें सम्यग्दृष्टि और संयतासंयतरूप परिणाम अनुभवमें आजाते हैं, यदि एक वक्ता एक समयमें एकही शब्द बोल सफता है, अनेक शब्दोंका उच्चारण नहीं करता है अतः वक्ताके इच्छानुकूल वचन-क्रम है तो परिणामोंमें वचनकृत ही क्रमता सिद्ध हो गई गुणस्थानपेक्षया वहां क्रम नहीं रहा । यदि सम्यग्दर्शनादि परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए हैं ऐसे आत्माकी सम्यग्दर्शनादिकोमें अतिशय एकरूपता होनाही आराधना है, और ऐसी आराधनाही प्रस्तुत प्रकरणमें समझनी चाहिये और उसमें प्रथमता या द्वितीयता है ऐसा यदि कहोगे तो, उत्पत्तिकी अपेक्षासे और गुणस्थानकी अपेक्षासे प्रथमता और द्वितीयताका प्रतिपादन क्यों किया ?

दूसरे आचार्य इस सूत्रका उपोद्घात इस प्रकार लिखते हैं--इस आराधनाशस्त्रमें आराधनाके चार प्रकारही हैं ऐसा निश्चय है ? अथवा अन्य भी विकल्प यहां माना गया है ? हां दूसरा भी विकल्प है ऐसा कहोगे तो यह आपका कहना अयोग्य है, 'दंसंज्ञानचरित्तत्वाणमाराधना भणिया' अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप इन्होंकी आराधना कही है यहां भूतकालकी किया कही गई है अतः सिद्ध होता है कि यह इस शास्त्रका व्यापार नहीं है । यदि यह इस शास्त्रका व्यापार होता तो वह 'मणिया' इस शब्द प्रयोगके स्थानपर 'भण्यदित्ति' अर्थात् कहते हैं ऐसा प्रयोग करता, परंतु 'जिणववणे मणिया दुविहा आराहणा' विनागममें आराधना दो प्रकारकी कही है ऐसा वचन है अतः संक्षेपसे आराधना कहनेके लिए भी इस शास्त्रका व्यापार नहीं है, संक्षेपसे विवेचन करनेका भी व्यापार आगममेंही है,

भावात् तयोस्त्वर्थावनात् । तत एव चारित्र्यस्य संक्षेपः । स हि संक्षिप्तायुर्मविवलशिष्यानुग्रहाय । स्वल्पस्योपपत्तौ वचनार्थमयमेतावेषा । श्लोकः

यत्रात्पोकृत्यानुयोगादिद्वारैर्यः प्रपञ्चयेत् ॥

संक्षेप उक्तेः सार्धस्य दिदृग्मात्रोच्छिद्वयशुद्धयोः ॥

सम्पत्तिम् तत्त्वश्रद्धानविषये इत्यर्थः । पठमा सम्यक्त्वाराधनायां सत्यामेव ज्ञानाराधनापूर्वकत्वेन चारित्र्याराधनायाः संभवत् ॥

क्या आराधनाके चार ही भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी—जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं । एक सम्यक्त्वमें आराधना अर्थात् सम्यक्चाराधना तथा दूसरी चारित्र्यमें आराधना अर्थात् चारित्र्याराधना।

विशेष—आचरण व मोहकी जीतनेसे अहंस्वरूपेष्टिको जिन कहते हैं। ज्ञानाचरण व दर्शनाचरण कर्मकी जीतनेसे वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुये हैं। मोहनीय कर्मको परास्त करनेसे वे रागद्वेष रहित हो चुके हैं। अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेष रहित ऐसे अहंस्वरूपदेवके वचनको जिनवचन कहते हैं। जिनेश्वरके वचनमें असत्य वचनके कारण नहीं पाये जाते हैं अतः उनका वचन अर्थात् जिनागम प्रमाण है। वक्ता यदि अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त हो तो उससे निकला हुआ वचन असत्यवस्तुका वर्णन करनेवाला होनेसे प्रमाण नहीं है। प्रमाणरूप जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं। श्रद्धानकी विषय करनेवाली पहिली आराधना है तथा दूसरी आराधना चारित्र्यको विषय करती है।

दर्शनाराधना और चारित्र्याराधना को क्रमसे प्रथम तथा दूसरी आराधना ऐसे नाम उत्पत्ति की अपेक्षासे तथा गुणस्थानों की अपेक्षासे प्राप्त हुए हैं। आत्मा प्रथम सम्यग्दर्शन परिणामसे परिणत होता है तदनंतर उत्तरकालमें उसमें चारित्र्य परिणाम उत्पन्न होता है। अतः दर्शनाराधना प्रथम कही है। असंयतसम्यग्दर्शित गुणस्थान प्रथम हो जाता है, नंतर प्रमत्तसंयतादिक गुणस्थान आत्माको प्राप्त होते हैं ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं।

श्रद्धान तथा विरति परिणामोंकी शुरुपत्तकालमें—एकसमयमें भी उत्पत्ति होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन और चारित्र्य परिणाम एककालमें भी उत्पन्न होते हैं, अथवा श्रद्धानवान् जीवको पश्चात् भी विरतिपरिणाम हो जाते हैं।

आधारितं ' ह्ये ' नयेत् ' नियमा ' निश्चयेन । यस्य हि यश्चिरया शब्दा तस्य कर्तृनिद्वयज्ञाने ॥ सा भवति ॥ न हि निर्दि-
यया रुचिः प्रवर्तते । बुद्धिपरिरुद्धीतयस्तुषिण्या श्रद्धेत्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन । अत्र परा व्याख्या—आत्मनो विप-
याकारपरिणामबुद्धिर्ज्ञानं तद्वधरणल्लयोपशमजन्तम् । भूय्यावरणापममे लोयजन्मवत् । तद्वत्तिविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः
शब्दा भुक्तिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना दर्शने । न च दर्शनमोहोपशमल्लयोपशमनिमित्तं तोयाश्रयणकाभाये अलम्प्रसादयत् ।
तस्मिन्पाराध्यमाने शान्तिसिद्धिरन्यदर्थभागिनी निराश्रयधर्मस्य केवलसिद्धयभावादिति । तत्रेदं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिण-
तिरात्मनो यदि स्पष्टपूरस्तगन्धस्पर्शोष्णत्वकृता स्यात्तया च—

' अस्तमकृत्तमरांघ्रं ध्वजसं चेत्यनागुणमसदं '

इत्यनेन विरोधः । चिरद्वय नीलघोतादिपरिणामो नैकज्ञ युज्यते । एकदा आकारश्चतुर्वर्त्यसंज्ञासंगच्छ । बाह्यैक-
नीलादिष्विदानीतमपरं गितानागतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः अर्धेति या समीचीनं गदितम् चैतन्यस्य धर्मः श्रद्धा-
नम् । तदु शास्त्रे शान्तधर्मस्य श्रयोपशमयिकत्वाविनाशो कथमवस्थितिर्येनस्य । न हि धर्मिणि यिनये धर्मस्यावस्थितिः ।
चैतन्यमयिनाशि तदाश्रये तादृशेति चेत् शास्त्रस्य धर्मता नश्यति । किं च यो यस्य धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य
धर्मिणो कर्तुं धर्मान्तरस्य प्रभवति । न हि बलकायाः युक्तता कुन्द्कुम्भस्य कदम्बन । एवं मतेः प्रसन्नता भुतार्थेन
स्यात् । भुतार्थेषां प्रसन्नता मत्तेरिष्यते । एवं शान्तमेव तद्वो ब्रह्मया अथि प्रसवेर्मेद इति स्वाधिकारं का वार्ता ॥ तदथा ।
प्रत्यभाषाः प्रादुर्भूतिः प्रलयो वा ।

न हि दर्शनमोहोदयं विना दर्शनस्याभावो युज्यते । यदि स्यादर्शनमोहनीयकल्पना अचटमाना भवेत् । अथ
याथात्म्यविषया शब्दा आत्मनि प्रसिद्धकलसद्भावोर्द्धेति, तदथाये उद्गच्छति, यदि प्रतिषेधकारि किद्विषय स्यात् । आत्मनि
परिणामिनि सति किमिति । लक्ष न भवेत् ? अतपरिणामयत्वे नात्मनि कदाचिद्विषयि भवेत् । तत् अद्भुतबलसिद्ध्यासौ सह-
कारिकारणानामसाध्याप्यात्मा श्रद्धानुरूपेण न परिणमते । न तु किद्विषयतिवंधकमस्येति अत्र किं तत्सद्कारि
यत्त्वानामादुत्पत्तिः श्रद्धायाः । अन्यव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव तत्पत्तरेण हेतुता प्रतिशान्नाशत
एव कस्यचित्ता यस्तुचित्तायामनुपयोगिनीति प्रतिबंधकसद्भावानुमानमामेऽभिमतं तावदसति न गच्छते । किंचित् भुतम-
रूपितार्थविषया सत्यभावेनेति वा सर्वदम् । अवस्थादिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना किं न दर्शने ? अपर्याधिकनयि
यस्तुपापात्म्यसंस्पर्शं । अथ भुतग्रहणं समीचीनज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे भवतु । अलमतिप्रसंगेन—

" समस्तगणदंसुखवीरियसुहृदं तद्वैव अवगहणं ॥

अगुपल्लुमुज्ज्वलादमृगगुणा ह्येति सिद्धान्तं ॥ "

इत्यनेन च व्याख्या विहायते । गुणान्तरत्वेन उपन्यासादुपपत्तेः । स्वाधिकक्षायोपशमिकयोर्भेदोऽस्ति वा न
या ? यदि नास्ति भावपञ्चनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः । अथ अस्ति भेदपरिणामः ? परिणामान्तरस्य स्वरूपं न
भवति । परिणामरूपस्य परिणामिलरूपता न्याय्या ॥ यौ भिन्नप्रतिबंधकापावज्ज्वी, न तावन्त्योऽन्यस्य धर्मधर्मिणो

यथा अवाधिकेचले मिश्रमतिर्यङ्प्रकाशयन्त्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ॥ ज्ञानाराधना चारित्र्याराधनेति द्वैविध्यं कस्मात्प्रो-
प्यस्तं इत्यत्र चोद्ये प्रतिपिधानायाह—

‘जाणमारारधेतेण दंसर्णं होर भयणिज्जं’ ज्ञानराष्ट्रः सामान्यवाची संशये, विपर्ययो, समीचीने च वृत्तः ।
संशयशानं, विपर्ययशानं, सम्यग्दर्शनमिति प्रयोगदर्शनात् । ते न ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्त्वत्त्वभ्रष्टाने विपरिणमत
यवेति न नियोगोऽस्ति । मिथ्याशानपरिणतस्य तत्त्वध्रुवतया अमावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनायिनाभावित्वस्याभावात् न
ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनवर्तुं शक्येति न तथा संक्षेपाभिधानमागमे प्रसृतमिति भावार्थः । ‘जाण’ ज्ञानं ॥
‘आराधेतेण’ आराधयता । ‘दंसर्णं’ दर्शनं । ‘होदि’ भवति । ‘भयणिज्जं’ भयनीयं विकल्प्यं । अथ दंसर्णराधेन
दर्शनविषयमाराधनमुच्यते । सतोऽयमर्थः दर्शनाराधना भवत्येति भयनीयतया अविनाभावित्वाभावः सूचितः । सम्यग्दर्शने
आराधिते भवत्पराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनायां नेति भयनीयता ॥ अथवा ज्ञानाराधना चारित्र्याराधनेति च उपपद्यते
संक्षेपेण ।

ननु यस्य येनाविनाभावस्तदुक्तौ तस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता अन्यथानयनोक्तौ ज्ञानाराधन्यवत्पराधनाप्रतिपत्तिवत् ।
इदं पुनः सकृदभित्याहः—

मूलारा. दंसर्णमित्यादि—दर्शनं हि श्रद्धानं तल्लु अज्ञाने तल्लु अज्ञाने न स्यादित्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन । सतः साबूळं
सूत्रे तत्त्वश्रद्धानाराधनायां सम्यग्ज्ञानमाराधितव्यमर्थं स्यादिति । आराधितेण आराधयता उद्योतनाद्यविवक्षेपु बर्तयता ।
अथ ज्ञानाराधना चारित्र्याराधना चेति द्वैविध्यं कस्मात्प्रोप्यस्तं सूत्रे इत्यत्राह—जाणमित्यादि । ज्ञानमत्र सामान्यं ।
दंसर्णं दर्शनविषयाराधना, भयणिज्जं विकल्प्यं । इदमत्र । तात्पर्यं—सम्यग्दर्शने आराधिते सति सम्यक्त्वमाराधितं
भवति न मिथ्याज्ञाने इत्यविनाभावमाभावात् ज्ञानाराधनायां दर्शनाराधना भवत्या । ननु तर्हि सम्यग्ज्ञानाराधनोक्तौ
सम्यक्त्वमाराधना बोधविटुं शक्यते इति सा कस्मात्प्रोच्यते इति चेत् ज्ञानस्य सम्यगिति व्यपदेशे सम्यक्त्वमुल्लेखितया
माधान्याभावात् ॥

हिंदी—सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाले निबमसे ज्ञानाराधना करते हैं. परंतु ज्ञानाराधना करने
वालेको दर्शनकी आराधना होती है अथवा नहीं.

विशेष—आचार्यने दर्शनाराधनाका वर्णन किया है इससे ही ज्ञानाराधनका भी ग्रहण हो जाता है । जैसे

किन्ती मनुष्यको अग्नि लानेके लिये आज्ञा की तो वह सरानमें बिना कहे भी अग्नि लाता है. सरावमें अग्नि लावो ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती है. आधारके बिना अग्नि नहीं लासकते अतः पात्र लेकर अग्नि लावो ऐसा नहीं कहने पर भी पात्रका बोध हो ही जाता है। परंतु सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वालेको ज्ञानकी भी आराधना कैसे होगी यह समझमें नहीं आता है. इस शंकाका उत्तर यह है कि, सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दोनोंमें अविनाभाव संबंध है अर्थात् सम्यग्दर्शनकी जो व्यक्ति आराधना करेगी वह जरूर ज्ञानाराधक होती ही है.

यहां कोई आचार्य इस गाथाका संबंध ऐसा जुड़ानेका प्रयत्न करते हैं. यदि दो प्रकारकी आराधना कहने हो तो 'चतुर्विंशाराधनाफलं प्राप्ताः सिद्धाः' 'चार प्रकारकी आराधनाओंका फल निम्नोक्तो प्राप्त हुआ है' यह प्रतिज्ञा नष्ट होती है. क्योंकि आपने दर्शनाराधना और चारित्राराधना ना ऐसी दोही आराधनायें कही हैं, और प्रथम गाथामें सिद्ध परमेश्वरको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुआ ऐसी आपने प्रतिज्ञा की है. वह चरितार्थ नहीं होती यह दोष अर्थात् प्रतिज्ञाहानि नामका दोष यहां आता है. इसका उत्तर-आराधनाके दो भेद माननेसे भी दोष नहीं है. क्योंकि हमने दर्शनाराधना तथा चारित्राराधनामें क्रमसे जानाराधना और तप आराधनाका संग्रह किया है. अतः हमारी प्रतिज्ञा नष्ट नहीं होती है. प्रतिज्ञा शब्दमें आपका क्या अभिमत है ? यदि साध्यका वर्णन करना यह प्रतिज्ञा है ऐसा कहोगे तो यह योग्य नहीं है. चार प्रकारके आराधनाओंका फल निम्न परमेश्वरको प्राप्त हुआ है यह बात यहाँ साध्यरूप नहीं है. क्योंकि, जो अनिष्ट है वह वस्तु साध्य मानी जाती है. सिद्धोंको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुआ है यही बात फिरसे आचार्यने यहाँ कही है. यदि चार आराधनाओंका फल सिद्धोंको प्राप्त हो गया है ऐसा मानना यह प्रतिज्ञा है ऐसा कहोगे तो यह क्या युक्ति संमत नहीं है ? चार आराधनाओंका फल उनको प्राप्त हुआ है यह मान्य करने योग्य है इसको नकारना कैसा योग्य होगा ?

पूरे गाथामें आराधनाके चार भेद कहे हैं अब यहां उसके दो भेद आप कहते हैं यह पूर्वापर विरुद्ध नामका दोष हुआ. इसका उत्तर यह है कि, मंत्रोपये आराधनाके दो भेद हैं व विस्तृत वर्णनकी अपेक्षसे चार भेद होते हैं अतः इनमें फौजगा विशेष है ? अतः यह गाथा विरोधपरिहार करनेके लिये आचार्यने रची है ऐसा समझो.

सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेमें सम्यग्मानका आराधन अवश्य होता है. जिस पुरुषको जिस विषयकी

श्रद्धा होती है उसको यदि उस विषयमें किसी प्रकारसे अज्ञान होगा तो श्रद्धा नहीं होगी। श्रद्धा रुचि अविषयमें नहीं होती। अर्थात् पदार्थका स्वरूप समझ लेनेपर उसमें मनुष्यको श्रद्धा उत्पन्न होती है। बुद्धिके द्वारा जिस वस्तुको ज्ञान लिया वह वस्तु श्रद्धाका विषय होती है। अतः श्रद्धाका ज्ञानसे अविनाभाव है ऐसा समझना चाहिए।

इस गाथापर दूसरी व्याख्या है वह इस प्रकार है—आत्माका पदार्थाकार परिणामन होना यह ज्ञान है। जैसे भूमीका आवरण हट जानेसे पानी उत्पन्न होता है। वैसा ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे ज्ञान उपलब्ध है। ज्ञानमें जो विशुद्धि, प्रसन्नपना, अभिरुचि रहती है उसको श्रद्धा—सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह आगममें कहे हुए पदार्थोंको विषय करता है। अर्थात् आगम कथित पदार्थ सत्य है ऐसी भावनाको सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसे तलाब में कीचड़ तल्ल होनेसे पानीमें स्वच्छता दीखती है। वैसे दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय, वा क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें निर्मलता उत्पन्न होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेसे अवश्य ज्ञान प्राप्ति हो जायगी। जिसका आधार नहीं होगा उसकी सिद्धि नहीं होती है। दर्शन ज्ञानका धर्म है। ज्ञान उसका आश्रय है।

उपर्युक्त विवेचनका आचार्य संकेत करते हैं—

पदि ज्ञान विषयके आकारसे परिणमेगा तो वह स्वर्ग, रस गंध वर्णात्मक होगा। ऐसी अयस्या हो जानेपर “ज्ञान रस, रूप, गंध रहित है। वह दृष्टि गोचर नहीं होता अर्थात् अमूर्तिक है। शब्द रहित तथा आत्माका गुण है” ऐसा आगममें ज्ञानका वर्णन किया है, वह विरुद्ध होगा। तथा एक पदार्थमें विरुद्ध ऐसे नील व पीत परिणाम नहीं रह सकते हैं। एक समयमें दो आकारोंका अनुभव आवेगा। एक वाद्य पदार्थका आकार य दूसरा ज्ञानाकार ऐसे दो आकारोंका संवेदन होगा।

ज्ञानमें जो निर्मलता, प्रसन्नता अभिरुचि है उसको श्रद्धा कहना यह भी अपुक्त है। क्योंकि, श्रद्धा चैतन्यका धर्म है, वह ज्ञानका धर्म नहीं है। यदि ज्ञानका धर्म कहेगे तो क्षायोपशमिक ज्ञानका नाश हो जाने पर श्रद्धाका—सम्यग्दर्शनका भी नाश मानना पड़ेगा। धर्मीका नाश हो जानेसे धर्मका नाश होना अनिवार्य है। चैतन्य विनाश रहित है और सम्यग्दर्शन उसके आश्रयसे रहता है ऐसा यदि मानोगे तो वह ज्ञानका धर्म है ऐसा आपका कहना व्यर्थ है।

जो जिसका धर्म होता है वह उसी वस्तुका स्वरूप है ऐसा समझना चाहिये. एक वस्तुका धर्म उस वस्तुसे भिन्न पड़े अन्य वस्तुका धर्म नहीं हो सकता. बसुलाका सफेदपना कुंद पुष्पका नहीं होता है. इसी तरहसे मति-ज्ञानभी प्रयत्नता उमरुद्धी होती है यह श्रुतादि ज्ञानकी नहीं होती है. श्रुतादि ज्ञानकी प्रसन्नता सतिज्ञानकी नहीं होती है. अतः ज्ञानमें भिन्नता होनेमें उनमें रहनेवाली प्रसन्नतामें भी भिन्न भिन्नही माननी पड़ेगी. सम्यग्दर्शन ध्यायोरग्रमका धर्म मानोगे तो धार्मिक सम्यग्दर्शनकी सिद्धि नहीं होगी वह नया न उत्पन्न होगा न विनाश पावेगा.

दर्शनमोहनीय कर्मके उदय विना सम्यग्दर्शनका अभाव नहीं होता है, यदि होगा तो दर्शनमोहनीय कर्मकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है.

पदार्थके यथार्थ विपणन जो श्रद्धा होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं. वह प्रतिबंधक कारण उपस्थित होने पर उत्पन्न नहीं होता है. यदि उसका विनाश हो तो यह उत्पन्न होता है. यदि प्रतिबंधक कारण कोई न होगा और आत्मा सदा परिणमनयुक्त है ऐसा कहेगे तो सम्यग्दर्शन हमेशा क्यों न उत्पन्न होता है ? यदि आत्मा परिणमनशील नाहीं है तो कभी भी आत्मामें सम्यग्दर्शन न होगा. अतः सहकारि-कारणोंका गान्धिय न होनेमें आत्मा सम्यग्दर्शनरूप परिणत नहीं होता है. उसको जगतमें कोई भी प्रतिबंधक कारण नहीं है ऐसा यदि कहेगे तो यह युक्ति संगत नहीं है. ऐसा कोनसा सहकारिकाण है कि जिसके न होनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति नहीं होती है ? अर्थात् जिस सहकारिकाणके सञ्जावसे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिसके न होनेसे उत्पन्न नहीं होती ऐसा कोनसा सहकारिकाण है ? जगतमें पदार्थका संपूर्ण कार्यकारणभाव अन्य व्यतिरेकसे जाना जाता है. अन्यपक्षान्तरिकके बिना कोई पदार्थ किसीका कारण शानना केवल प्रतिज्ञामात्र ही है. ऐसी प्रतिज्ञा वस्तुके निष्कार मनमें कुछ भी उपपत्ती नहीं है.

आगममें प्रतिबंधक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा सुलसा है. जैसे सहकारिकाण नहीं होनेमें कार्यमिद्धि नहीं होती वैसे प्रतिबंधकका सञ्जाव होनेसे भी कार्य होता नहीं. सहकारिकाण होते हुए प्रतिबंधककारणोंका अभाव होगा तो कार्य उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं होगा. अतः प्रतिबंधकके सञ्जावमें कार्य नहीं होता है यह मानना पड़ेगा.

श्रुतमानमें जाने गये पदार्थोंपर ये पदार्थ सत्य है ऐसी श्रद्धा होना उसको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा

समझना भी अशोभ्य है, क्योंकि अब व्यादिज्ञानसे जाने गए पदार्थोंपर सत्यभावना होती है उसको भी सम्यग्दर्शन मानना चाहिये। अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान भी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ही जानते हैं अतः वहां जो सत्यभावना होती है वह भी सम्यग्दर्शन है ऐसा मानना चाहिये। यदि 'अब शुब्दसे' सर्व प्रकारके सम्यग्ज्ञानका ग्रहण होता है क्योंकि यहां श्रुत शुब्द, उपलक्षण वाची है, ऐसा कहोगे तो योग्य ही है, अतः अब इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

सम्मत्तण्ण देसण इस गाथामें सिद्धांके आठ गुणोंके नाम बताये हैं, उसमें सम्यक्त्व गुण प्रथम लिखा है परंतु आप तो सम्यग्ज्ञानका धर्म बता रहे हैं, अतः सम्यग्दर्शन आपके मतसे गुण नहीं है यह सिद्ध होता नहीं, अतः आपका कहना इस गाथाके विरुद्ध है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इसमें आप भिन्नता मानते हैं या नहीं? यदि भेद नहीं है तो पांच भावोंका वर्णन करने वाले आगमसे आपका कहना विरुद्ध होता है, यदि भेद मानोगे तो एक परिणाम दुसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता यह कथूल करना पड़ेगा, अर्थात् क्षायिक परिणाम और क्षायोपशमिक परिणाम परस्पर एक दुसरेके स्वरूप ही नहीं सकते, जितने परिणाम हैं वे परिणामीका स्वरूप होते हैं यह मानना न्यायसंगत है, अर्थात् जीव परिणामी है तथा उसके ज्ञानादिक गुण परिणाम है, परंतु ज्ञानको परिणामी मानकर सम्यग्दर्शनको उसका परिणाम स्वरूप मानना अन्याय्य है।

जो परिणाम भिन्न भिन्न प्रतिबंधक कारण नष्ट होनेसे उत्पन्न होते हैं वे अम्योन्य धर्म धर्मताको नहीं प्राप्त होते हैं, जैसे अचधि ज्ञान व केवल ज्ञान ये दोन ज्ञान अपने अपने प्रतिबंधक कारणोंका अभाव होनेसे उत्पन्न होते हैं अतः उनका अम्योन्य धर्म धर्मिभाव नहीं है वैसे ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें धर्म धर्मिभाव नहीं है।

ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ऐसी दो आराधना क्यों नहीं मानी है, ऐसे प्रश्नपर आचार्यका यह उत्तर है—
“ज्ञानकी आराधना करने वालेको सम्यग्दर्शन आराधना होती है नहीं, भी होती है।”

यहांपर ज्ञानशुब्द सामान्यवाचक भी है और संशय, विपर्यय तथा सम्यग्ज्ञानवाचक भी है, अर्थात् संशय ज्ञान, विपर्यय ज्ञान, सम्पद्ज्ञान ऐसे ज्ञानके भेद देसे जाते हैं, अतः ज्ञानमें परिणत हुआ आत्मा निश्चयसे तत्त्व श्रद्धानमें परिणत होता ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि वह भित्त्याज्ञानपरिणत हो तो उसमें तत्त्वश्रद्धाका अभाव

रहंगा. इनाने ज्ञान दर्शनका अविनाशनी है ऐसा विद नहीं होता. ज्ञानाराधनमे दर्शनाराधनाका स्वरूप नहीं जाना जाता है. इसलिए ज्ञानाराधनामें सम्बन्धनाराधना अन्तर्भूत नहीं होती है ऐसा आगममें कहा है.

सम्बन्धानही आराधनाके माथ सम्बन्धनाराधनाका अविनाशाय है. परंतु भिष्याज्ञानकी आराधनाके साथ सम्बन्धनाराधना नहीं रहती है. अतः वह भजनीय है ऐसा आचार्यने युक्तिपुक्त कहा है. सम्बन्धानके साथ अवश्य सम्बन्धन रहता है अतः सम्बन्धानमें सम्बन्धनाराधना क्यों अन्तर्भूत नहीं की गई है इसका उत्तर ऐसा है— ज्ञानको गभीरनिपत्ता प्राप्त होनेमें सम्बन्धन ही कारण है अतः उसकी मुख्यता होनेसे सम्बन्धनाराधना तथा पारिवाराधना ऐसे आराधनाके संक्षेपमे दो भेद किए हैं.

ननु च ज्ञानमन्तरेणपि दर्शनं यत्तेन, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्यत्पापको भवति । यतो ऽ विनाशायभाष्य

सुब्रह्मण्या पुण गाणं मिच्छादिद्विस्स येति अण्णाणं ।

तस्मा मिच्छादिद्वी जाणस्साराह्वो जेत्त ॥ ५ ॥

विज्ञानोदया-मुपपत्त्याः पुनः । अनेतर्धमार्गकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरित्येउरस्यविनाशविषयमलमस्तनो नयः । तथा चाप्युक्तम् । “उपनिषदादर्थपरित्येउरो नयः” इति ॥ मुप्यो नयो येषां ते मुपपत्त्याः । निरपेक्षनवविरासत्वाय मुपपत्तिदोषणम् । निरपेक्षं सर्वमा धर्मिकमेवेति ये परित्येउरास्ते विषयान्तरास्त्वयविषयस्य प्रतिषेधवर्त्मनोऽप्यस्य वस्तुनि रूपस्याभावात् । यामेवै रूपं विज्ञानोत्पत्तारूपेण दर्शयन्तः प्रत्यक्षश्च अतर्हिमस्वदिति ज्ञानं आनन्दमिति श्रुतम् । तद्दोषरहितता मुपपत्ता । तस्या दि-दृशकत्वेन अनित्यतामप्य वस्तुनः प्रत्येति ज्ञानं न तत्सर्वथा यदच्यमिदं, नित्यातिरिक्तमकृत्यत्तलकलस्य । यद्वि द्वि नित्यस्य स्यात् निरमाणानांरूपपदेतुषुर्द्वयमेनापुनस्तस्य स्यात्ततो नित्यं भवेत्येव च न भवतीति दृश्यप्रतिपत्तयः ॥ मुपपत्ता यथा दर्शं प्रतिपत्त्युक्तं ते मुपपत्त्याः । पुन पुनः । पाणं ज्ञानमित्यभिमतं परस्य । मिच्छादिद्विस्स मिथ्यादृष्टेः । येति प्रयत्ने । अन्तर्भा भवन्तं इति । न ज्ञानतान्त्रः सामान्यपायी किंतु यथार्थजिनिषितरेव ज्ञानशब्दाभिधेयति । ज्ञाप्यते मन्त्रते अर्थः परि-तिपत्त्ये येन तज्ज्ञानं । यन्मन्यमभूतं च रूपमादरायता नार्थः परित्येउयते तस्मान्न मिथ्यात्वं ज्ञानशब्दस्यार्थः, ज्ञान-मिथ्यं प्रापम् ॥ ननु य—

“ गदि र्दिव्ये च कोय लोमे येदे फत्ताय प्पणे य ॥
मंजुधरंरूपत्तेस्मा मविद्या सम्मत्तसण्णि आदारे ॥ ”

इत्यत्र ज्ञानशब्दः सामान्यपक्षी, स्वत्यं, ज्ञातिर्ज्ञानमिति व्युत्पत्तौ ज्ञा निरूपणा सामान्यशब्द इति ॥ तथा तस्मात् । मिच्छादिर्हीनं तत्त्वशब्दान्वरहितः । गणस्वरापचको ण होदिति पदघटना । ज्ञानं नापचयतीत्यर्थः ॥

अत्रापरा व्याख्या—यदुक्तं अज्ञाने दर्शनाभाव इति किं, तदज्ञानं कस्य भवतीति ? तत्र इदं सूत्रं इति । तद्वि-
पेलम् । किं तद्विज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं न सूत्रेऽस्ति । मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादाष्टिसंवीधिशानत्वमेव
अज्ञानलक्षणमित्युभयोरपि प्रतिवचनमिति विकल्प्यते । एवमपि 'तस्मात् न मिच्छादि' इति सूत्रे मिथ्यादष्टेर्ज्ञानस्यारध-
कृत्याभावेनैव सूत्रकार उपसंहरति । तत्परित्यज्यास्तुत्रितमुपलेशमिति केयं सतंयता ।

ननु च ज्ञानमर्तरेणापि दर्शनं पतते यतो मिथ्यादष्टिरपि ज्ञानस्वरापचको भवति । गतामुगतिकत्वेन लोकानां
बद्धाभावात्रैवैव प्रवृत्तिप्रतीतेरतो ज्ञानेन दर्शनस्वरापचकाभावाभावाः इत्यत्राह—

मूलारा०—दुष्टदण्डा । अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतनपरमपरिच्छेदस्वदविनाभावमिधर्मपरिच्छेदवत्प्रसूतो नयः । शुद्धाः
प्रतिपक्षतापेक्षतया निर्दोषा नया केवां प्रमाणां ते शुद्धन्यास्तोर्थकरदेवादयाः । पुण यस्यात् । पाणं परस्वरापच्यतया इदं
ज्ञानं । वेति ध्रुवते । आण्णार्णं ज्ञाकते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्त्वानां न ज्ञानमज्ञानं अयथार्थपरिच्छेदकं मिच्छेत्यर्थः ।

ज्ञानके विना यी तस्यदर्शनं होता है क्यों कि मिथ्यादष्टि श्री ज्ञानके आराधक देखे गये है. अतः ज्ञान
के साथ दर्शनका अविनाभाव नहीं है. इस आशेषका उत्तर आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थः—वस्तु अनंत धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यपना, अनित्यपना, अस्तित्व नास्तित्व,
प्रमेयत्व वगैरह अनंत धर्म हैं. आणः वस्तुको अनंत धर्मात्मक कहते हैं. ऐसे वस्तुमेंसे किसी एक धर्मको जो
मुख्यतासे जानता है तथा उससे भिन्न अविनाभावी धर्मको जो शीघ्र समझता है ऐसा जो ज्ञान उसको नय कहते
हैं. 'उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नय इति' अर्थात् युक्तिके आश्रयसे पदार्थको ज्ञान लेना उसको नय कहते हैं ऐसा
पूर्वाचार्योंने कहा है. वस्तुके एक धर्मकोही वस्तु समझनेवाला तथा वस्तुके अन्य धर्मकी जो अपेक्षा रखता नहीं
ऐसे ज्ञानको मिथ्यानय कहते हैं. जैसे वस्तु सर्वथा शणिकही है. सर्वथा नित्यही है, एकही है इत्यादि रूपसे वस्तुका
प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान मिथ्यानयरूप है. इस मिथ्या नयका निस्सन करनेके लिए आचार्योंने गाथामें 'सुद्ध
गया' ऐसा शब्द रख दिया है. मिथ्यानय प्रतिपक्षरूप धर्मकी अपेक्षा नहीं करते हैं. अर्थात् वस्तुका सर्वथा

एकान्त रूपसे विवेचन करते हैं। परंतु प्रतिपक्ष धर्मकी अपेक्षा न करनेवाला ऐसा वस्तुका स्वरूपही नहीं बन सकता। अर्थात् परस्पर प्रतिपक्षी धर्मात् सदाही युक्त रहती है। जैसे वस्तुमें एकत्व धर्म रहता है उसी तरह अनेकत्व भी धर्म रहता है। जैसे अस्तित्व धर्म वस्तुमें विद्यमान है वैसे नास्तित्व धर्मभी विद्यमान है। अतएव वस्तु इन दोनों विरुद्ध धर्मोंको अपनेमें स्थान देती हुई अपनी अनंत धर्मात्मकता जाहीर करती है। इस तरह वस्तुमें सापेक्षता है। परंतु जो ज्ञान मापेस वस्तुको निरपेक्षरूप बताता है वह ज्ञान स्रोत है। जैसे देवदत्तको जो कि जिनदत्तरूप नहीं है जिनदत्त समझना। ऐसी स्रोतता मिथ्याज्ञानमें रहती है। सत्ये सापेक्षनयमें नहीं रहती है। अतः उसको शुद्ध नय कहते हैं। मिथ्याज्ञानय वस्तुमें कृतकता धर्म दीखने पर उसको सर्वथा अनित्य ही मानने लगता है परंतु वस्तु सर्वथा अनित्य नहीं है किंतु नित्यानित्यात्मक है। यदि सर्वथा वस्तु नित्यही होती तो उसमें जो कार्य करना हो उसको अनुकूल कारण प्राप्त करनेका प्रयत्न स्पर्ध होगा। क्योंकि, कारणोंकी शक्ति होनेपर भी वस्तु पूर्वरूप छोड़कर कार्यरूपता धारण नहीं करेगी अतः वस्तु सर्वथा नित्य भी नहीं है। वस्तु नित्यानित्य है ऐसा अनुभवही योग्य है।

इस विवेचनका अभिप्राय यह है कि, साक्षात् वस्तुका अनुभव करा देनेवाले शुद्धनय जिनके है ऐसे तीर्थंकरादिक महापुरुष मिथ्यादृष्टि लोगोंके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं दिखाता है। इस वास्ते वह 'ज्ञान' इस नामको अपात्र है। उसको अज्ञान ही कहना चाहिये। यद्यपि ज्ञान शब्द सामान्यवाची होनेसे यथार्थ अर्थार्थ रूप दोनों ज्ञानोंको ज्ञान कह सकते हैं तथापि मिथ्या-दृष्टीका जो ज्ञान है वह अर्थार्थ स्वरूपको दिखातेवाला होनेसे उसके लिए प्रयुक्त ज्ञान शब्दका अर्थ अज्ञान ऐसा ही करना चाहिये।

यहां शंकाकार ऐसा कहता है—'यह ईदिये च काये' इस गायामें जो ज्ञान शब्द है उसका क्या अभिप्राय है ? क्या उसको सामान्य शब्द कहते हैं ?

उत्तर—वहां ज्ञान शब्द की 'आविर्बन्धन्य' ऐसी निश्चिन्ता है। वहां पदार्थको जानना ऐसा सामान्य अर्थ अभिमत है। मिथ्या या सच्चे ज्ञान की विपक्षा वहां नहीं है।

जो मिथ्यादृष्टि है वह तत्त्व श्रद्धानरहित होनेसे सम्यग्ज्ञानका आराधक नहीं है। ऐसा इस गायिका अभिप्राय है।

इस गाथापर कौड़ विद्वान् ऐसी व्याख्या लिखते हैं. पिछलेकें गाथाओं 'अज्ञान होनेसे दर्शनाराधनाका अभाव होता है, ऐसा जो कहा है वह अज्ञान क्या चीज है तथा वह किमको होता है? ऐसे प्रश्नका उत्तर देनेकेलिये 'सुध्दणया पुण पाणे' यह गाथा आचार्यने रची है ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं. परंतु यह उनका कहना युक्तिशून्य है. 'वह अज्ञान क्या चीज है, इस प्रश्नका मिथ्याज्ञानका लक्षण कहनेवाला उत्तर उपर्युक्त सूत्रमें आचार्यने नहीं दिया है. मिथ्यादृष्टिका जो ज्ञान है वही अज्ञान लक्षण है ऐसा दोनों प्रश्नोका उत्तर आचार्यने दिया है ऐसी आपने कल्पना की है. 'तम्हाण भिच्छदिद्वी' इस सूत्रमें मिथ्यादृष्टिजन ज्ञानके आराधक नहीं होते हैं इस अभिप्रायका ही उपसंहार किया है ऐसा समझना चाहिए, परंतु वह अभिप्राय छोड़ करके सूत्रमें न दिखाना हुआ अभिप्राय समझ लेना अवैतन्य है.

चारित्र्याराधना कथ्यते । चतुर्थ्यां आराधनतयाः प्रतिपत्तिक्रमं दर्शयचाह—

संयममाराहतेण तवो आराहिओ हवे नियमा ॥

आराहतेण तवं चारित्तं होइ भयणिज्जं ॥ ६ ॥

विजयोदया—संयममाराहतेण संयम इत्यनेन दायेन इह चारिनिमित्युच्यते । कर्मदाननिमित्तक्रियाम्य उपरम संयमः । स च चारित्तं । तथा चाप्यथायि—'कर्मदाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवत्तत्त्वचित्तिमिति' । संयमं चारित्र्यं आराधतेण आराधयता । तवो तपः । आराधितो आराधितं । इये भवेत् । नियमा अवश्यमेव । कथं ? इह अनशनं नाम अशन-
त्यागः । स च त्रिपकाटः । मनसा जुजे, मौजयामि, मौजने व्यापृतस्याजुमति करोमि । भुंजे, भुंख्व, पचने कुर्विति पचस्ता । तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिस्तधिपर्येक कायेभादानं, हस्तसंतायाः प्रवर्तने अनुमतिस्वचने कायेत । एतात्तो मनोवाक्काय-
किल्बिषां कर्मपादानकारणानां त्यागोऽनशनम् चारिन्मेव । योगनयेण वृत्तिकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां निराकृतिः
अवमोदय्यम् । तथा आशुत्तलंशतया जयो वृत्तिपरिवर्णानं । रसगोचरमाद्वर्यत्यजनं त्रिया रसपरित्यागः । कायसुखा-
भिहापत्यजनं कायकेशः । चित्तव्याकुलतापराजयो विविकशयनासनं । स्फुटापराधग्रहणत्यजनं आलोचना । स्वकृता-
दनुभयोपात्तितिवृत्तिः प्रतिकर्मणं । तदुभयोन्मनं उभार्यं । येन यत्र वा अद्युभोपयोगोऽभ्युत्तन्निराक्रिया, ततो परासनं
चित्रकः । देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः । तपोऽनशानादिकं यथा भवति चारित्तं तथोक्तमेव । असंयमजुशुष्पताद्यमेव
ममत्वादायन छेदः । मूढं पुनश्चाट्टिदादानं । श्रुत्स्वर्दानन्तचित्तिपतपसामतीचारा अद्युमनित्याः । तात्सामपोहने विनयः,
चारित्र्यस्य फलरानुमनने धैर्याबुद्ध ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकपायत्वजनरूपतया । इत्थं चारित्र्याराधनयोक्तया प्रत्येतुं शक्यता तपसा आराधना । अदनादिकं यदि नाम स्वर्कं न निगोघतोऽविरतिः प्रत्याव्यक्ता भवति । कृताशनत्यागा अपि हृदयेते असंयता इत्येत्येतसि कृताह—आराधनेति—आराधनेण आराधयता । तव तपः । चारित्र्यं सकलविरतियोगः । ह्येदि भवति । भयणिजो भजनीयः । तपस्तुलनः करोति वा न वा असंयममपरिहार इति यागत्वं । अन्नाभ्येतां व्याख्या—चारित्र्याराधनां तपस आराधनायाः सिद्धिरयदंभावीनीत्युक्तं तत्कथं ? तदिदं संयममापद्यतेनेत्यादि एवं सूत्रोपोदातः कृतः न तोषपद्यते । चारित्र्याराधनायाः तपस आराधनायाः सिद्धिर्भवतीति नोक्तं कचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्येत उक्तमिति ? 'विदियाय इवे चरित्तमि' ति वयनोक्तमिति चेन्न अशङ्क्यतेत्यात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्तं वक्तुं । अपि च भवतु तेनेकं इह तदेयोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तत्कथमिति वा युक्तं । सूत्रे चारित्र्यसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुपपत्त्यासत् ॥ प्रतिज्ञासाध्याद्विरतिपक्षे न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रसङ्गं स कथं कुन्यते व्याख्यांतरसूत्रिते प्रतिविधाने । यच्च व्याख्यानं " प्रयोदशात्मके चारित्र्ये सर्वथा प्रयतनं संयमः स च याज्ञतपःसंस्कारिताभ्यंतरतपसा विना न संभवति । तदुपकृतात्मकतासंयमसंरूपस्येति " तदप्युक्तमिति । न हि प्रयतनं संयमराज्यस्यार्थः । क्वचिदपि संयमराज्यस्य तत्राप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगातृचित्तमधिगम्यो हि शब्दार्थः । ' विदिया य इवे चरित्तमि ' इति सूत्रे चारित्र्यशब्देन सामान्यवाचिना सकल-चारित्र्यमिति किमर्थं विधेयोपपद्यते ? सर्वस्य हि सामाधिक्येभ्यश्चारित्र्यस्याराधना चारित्र्याराधना भवति । तथाहि—' पंडित-वर्गश्चिद्वमरुणं मीणकसाया मरुति केवलिनो, इत्यन्ये यथाक्यातचारित्र्याराधनमपि वक्ष्यति । संस्कारिताभ्यंतरतपसा इति वा असंबद्धं । अतरेणापि याज्ञतपोऽनुष्ठानं अंतर्मुहूर्तमात्रेणाधिगततत्तनमपानां मद्भणराजप्रभृतीनां पुण्येयस्य भगवत्परा दिव्यानां निर्योगमममगमे प्रतीतिमेव ॥

इदानीं चारित्र्याराधनोक्तौ तप आराधनायाः प्रतिपत्तिक्रमे गाथाद्वयेन दर्शयति ॥

मूलारा—संजर्म । संयमान्मनोयोगाद्यैः पापदाननिमित्तक्रियाभ्यो यमनमुपरमः संयमस्तं चारित्र्यमित्यर्थः । तयो-
रत्नप्रपाविर्भावमिच्छानिरोधस्तपोऽनदनादिकं, वदारायना चाविरतिप्रमादकपायत्वजनरूपतया चारित्र्याराधनाभिधाने सति प्रतीयत एव । चारित्तं पारित्तं सकृदाधिरातित्यागः । भवणिजं तपस्तुलनः करोति वा न वा असंयमत्वात् । कृताशनादि
त्यागानामपि कचित्तदाचिदसंयमत्वदर्शनात् ॥

अत्र चारित्र्याराधना कथंते है-इस आराधनामें चतुर्थे आराधनाक्रम-तप आराधनाका अदृष्ट कैंसा हो जाता है उसका क्रम दिखाते है.

हिंदी अर्थ—जिन्होंने द्वारा कर्मका ग्रहण होता है ऐसे मन, वचन व शरीरके द्वारा होनेवाली क्रियाओं का त्याग-परिहार करना उनको चारित्र्य कहते हैं। प्रस्तुत गाथा में जो संयम शब्द है वह चारित्र्यका वाचक है। अन्य आचार्यों भी चारित्र्यका लक्षण 'कर्मदाननिमित्तक्रियोपरयो ज्ञानवत्चारित्रं, इति' ऐसा कहा है, इसका भी अभिप्राय ऊपरके समानही है। जो चारित्र्यकी आराधना करते हैं उनको नियमसे-अवश्य तपकी भी आरधना हो जाती है। इस आराधनाका स्वरूप निम्नप्रकारसे समझना चाहिये।—

अनशन-चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना इसको अनशन कहते हैं। यह अनशन तीन प्रकारका है। मैं भोजन करूं, भोजन कराऊ, भोजन करनेवालेको अनुमति देऊ इस तरह मनमें संकल्प करना, मैं आहार लेता हूं, मैं भोजन कर, तुम एकाग्र हो ऐसा बोलना, चार प्रकारके आहारको संकल्पपूर्वक शरीरसे ग्रहण करना, हाथसे इपारा फरके दूसरोंको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त करना, आहार ग्रहण करनेके कार्यमें शरीरसे सम्मति देना ऐसी जो मन, वचन, कायकी कर्मप्रवृत्तियाँ निमित्त होनेवाली क्रियायें उनका त्याग करना उसको अनशन कहते हैं, यह चारित्र्य ही है, वृत्ति करनेवाला, दर्प उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो आहार उसका मन, वचन, कायके तीन योगोंमें त्याग करना अयमोदर्य है, अर्थात् स्वयं पेट पूर्ण भोग इतना आहार मैं ग्रहण करूँगा, कराऊँगा, करनेवालेको सम्मति प्रदान करूँगा येमं मन वचन शरीरके संकल्पका त्याग करना इसको अवमोदर्य कहते हैं, आहारकी अभिलाषाको जीतना-इतने घरोंमें, गछीमें आहार मिलेगा तो लेऊँगा इत्यादि प्रसिद्धा करके आहारा भिलाषाको जीतना इसको श्रुतिपरिसंख्यान कहते हैं, रसविषयकी लंपटताको मन वचन शरीरके संकल्पसे त्यागना रमपरित्याग नामका तप है, शरीरको सुख मिले ऐसी भावनाको त्यागना कायक्लेश तप है, चित्तमें उत्पन्न हुई व्यग्रताको भगा देना अर्थात् चित्त व्याकुल न हो इसलिये स्त्री, पशु, पण्ड विचरित एकान्त स्थानमें नौना बैठना इसको विविक्षाश्रयसन कहते हैं,

अपने द्वारा हुये अपराधोंको छिपानेकी कोशिस न करना, अपराध हो गया तो शीघ्र उसका निवेदन करना यह आलोचना तप है, स्वतःके द्वारा किये गये अशुभ योगसे परावृत्त होना अर्थात् भरे अपराध मिथ्या होवे ऐसा कह कर पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है, अपराधोंको न छिपाना तथा अशुभ योगोंसे परावृत्त होना वह तदुभय तप है, विम विम पदार्थके अनलंभने अशुभ परिणाम होते हैं उनको त्यागना अथवा उनसे स्वयं दूर होना यह चित्त

तप है, देहमेंसे ममत्व-स्नेह दूर करना कार्योत्सर्ग तप है, अनशादिकोंको तप कहते हैं, यह तप दोषोंका नाश करनेके लिए गुरुने दिया हुआ प्रायश्चित्त स्वरूप है, असंयमसे तिरस्कार उत्पन्न होवे इस लिये दीक्षाके दिन कम करना छेद तप है, पुनः दीक्षा देना उत्तमो मूल तप कहते हैं, ये सब प्रायश्चित्त तपके भेद हैं, अशुभ क्रियायें ज्ञान दर्शन चारित्र्य तप इनके अतीत हैं, इनको हटाना विनय तप है, चारित्र्यके कारणोंकी सम्मति देना इसको वैयावृत्य कहते हैं, अर्थात् जिन कारणोंसे चारित्र्यकी वृद्धि होगी ऐसे कारणोंसे सुनीचरोंकी सेवा करना, अर्थात् संयमोपकरण विष्टी, कमंडलु, ज्ञानोपकरण शास्त्र, आहार, औषध वगैरह वस्तुओंसे उपकार करना यह सब वैयावृत्य है, स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र्यकी वृद्धि करनेवाले तप हैं, जंग पूर्वादि शास्त्रोंको पढ़ना स्वाध्याय तप है, शुभ विषयमें एकाग्र चित्त करना ध्यान है, अविरति, प्रमाद, कणायोंका त्याग स्वाध्याय करनेसे तथा ध्यान करनेसे होता है इस वास्ते वे भी चारित्र्यरूप हैं, अतः सब तपोंका चारित्र्याराधनामें अन्तर्भाव होता है अतः दर्शनाराधना व चारित्र्याराधना ऐसे आराधनाके दो भेद माने हैं.

अज्ञानादिकोंका—आहारादिकोंका यद्यपि त्याग किया तो भी अविरतिका त्याग नहीं होता है क्योंकि, आहारादिकोंका त्याग करनेवाले भी असंयत दीर्घ पड़ते हैं, ऐसा आश्रय मनमें धारण कर आचार्य ऐसा कहते हैं—जो तपकी आराधना करते हैं वे चारित्र्याराधना करते हैं अथवा नहीं, अर्थात् तप करनेवाला परमेश्वर विरक्त होकर चारित्र्य धारण करनेवाला होता है अथवा नहीं भी, परंतु चारित्र्य धारण करनेवाला नियमसे चिरतिपूर्वक तप करता है अतः चारित्र्यमें तपका अन्तर्भाव होता है, परंतु तपमें उद्युक्त हुवा पुरुष असंयमका परिहार करेगा वा न करेगा.

इस गाथापर दूसरे विद्वान् आपना आगे दिखाया हुआ अधिप्राप्त प्रगट करते हैं—

“चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा कहा गया है, यह कैसा ? ऐसा प्रश्न होनेपर ‘संयममाराधनेण’ ऐसा यदोषोद्घात किया है” ऐसा जो अन्य विद्वान् कहते हैं, यह युक्ति संगत नहीं दीखता है, क्योंकि आचार्यने ‘चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि होती है’ ऐसा वाक्य सूत्रमें कहा नहीं है, तो आप उन्होंने कहा है ऐसा क्यों कहते हैं ? यदि ‘विदिया य ह्ये चरित्तमि’ इस वचनके द्वारा उन्होंने कहा है ऐसा कहोगे तो यह कहना अशब्दार्थ है, अर्थात् ‘चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि होती है’ ऐसे शब्द गाथामें नहीं हैं, शब्दोंके द्वारा जो अनुभव आवेगा उसकोही ‘कहा गया है’ ऐसा कहना चाहिये.

यदि वे कह चुके हैं तो फिर वे पुनः कैसे कहेंगे ? अतः वह कैसा ? ऐसा प्रश्न करना भी अयुक्त है । क्योंकि यज्ञमें चारित्र्य सिद्धिमें इतर आराधनासिद्धिके क्रमका उपनास-विवेचन नहीं किया है । और केवल प्रतिज्ञासे अहं तो अथवा सशय श्रुतको धस्तुका स्वरूप ज्ञान नहीं होता है । इस वास्ते वह कैसा ? ऐसा युक्तिग्रन्थ भी यहां पृथ्ना योग्य नहीं है ।

यहां संयमके विषयमें और जो विवेचन अन्य विद्वानोंने किया है वह भी योग्य नहीं दीखता—“ तेरा प्रकारके चारित्र्यमें सर्वथा प्रयत्न करना वह संयम है, यह संयम बाल्य तपसे अर्थात्तर तप जब सुसंस्कृत होता है तब प्राप्त होता है, उसके बिना होता नहीं, अतएव संयम बाल्य व अभ्यंतर तपसे सुसंस्कृत होता है ऐसा मानना होगा, ” यह संयमका स्वरूप विवेचन योग्य नहीं है, तेरा प्रकारके चारित्र्यमें प्रयत्न करना उसको संयम कहते हैं ऐसा संयम शब्दका अर्थ नहीं है, अपने जो अभिप्राय कहा है उसमें संयम शब्दका प्रयोग किया है ऐसा कहा भी हमारे देखने सुननेमें नहीं आया है, शब्दका अर्थ बार बार प्रयोग आनेसे निश्चित होता है परंतु तेरा प्रकारके चारित्र्यमें प्रयत्न करना यह संयम है ऐसा शब्दप्रयोग कहा भी आया नहीं है,

‘ विदिया य हवे चरित्तमि ’ इस सूत्रमें चारित्र्य शब्द सामान्यवाची है, परंतु आप ‘ सकलचारित्र्य ’ ऐसा चारित्र्य शब्दका विशिष्टार्थ क्यों कहते हैं ? सामायिक, छेदोपस्थापनादि समस्त चारित्र्यभेदोंको चारित्र्याराधना कहते हैं ‘ पंडितपंडितमरणं लीनकसाया मरति केवल्लिणो ’ इस सूत्रमें यथा ख्यातचारित्र्य समझना इसका आगे वर्णन करेंगे, बाल्य तपके संस्कारसे युक्त ऐसे अभ्यतर तपके बिना संयम नहीं होता है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि बाल्य तपके आचरणविना भी आदि भगवतके शिष्य भट्टनराज वगैरे भरत चक्रवर्तीके पुत्र अन्त-सुहृत्वमें रत्नत्रयको पाकर मोक्षको गये हैं ऐसा आगममें ग्रसिद्ध उल्लेख है,

ननु तपस्याद्यनिर्जैरादुक्रमेण निर्जैरादुपगच्छन्ति संति कर्मणि यदा निःशेषाण्यपगतानि भवन्ति तदा स्वात्मस्वरूपं निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य कारणं निर्जैरिव, तस्याश्च संपादकं तपस्ततो युक्तं दर्शनाराधना तप आराधना चेति विविधा आराधनेति गतिरित्यनेकायां, तपो निर्जयं मुक्तेरुपगुणं करोति सति चारित्ये सत्वरकारिणि नान्यथेति नन्दगोवि—

सम्माद्विट्ठिस्स वि अविदस्स ण तवो महागुणो होदि ॥
 जंति ॥ इत्थिण्णं चंदच्चदंगं व तं तस्स ॥ ७ ॥

पितृयोद्ध्या—सम्मादिदृष्टम् चि इत्यादिना । सम्मादिदृष्टस्य तत्त्वार्थप्रदानवतोऽपि । अविद्वत्स असंयतस्य । न तपो नयः । मदागुणो गुणशब्देनेकाग्र्येन । रूपशब्दो गुणशब्देनोच्यन्ते ऋषिधया—रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरि-
भाषाति, पृथग्व्यं, मेधोमेगमिषाणी, परत्यापत्तवचुद्धयः, सुखदुःखोच्छादितप्रयत्नादयः क्रियावद्गुणसमवायिकारणं द्रव्यं ।
स्वयन्मिष्ये गृहीताः ॥ गुणयुता ययमन नगरे इति अत्र प्रधानत्वानीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषेण वर्तते । गुणोऽनेन
युत इत्यत्र उपकारार्थं युक्तिः । एत उपकारे यतमानो शुद्धते । महागुणः उपकारोऽस्ति मदागुणं । होदि भवति । क्रिया
मेव हि भाव्येन निरेल्लो या इति यज्जनात् । न तु मयनक्रिया संन्यते । तपो ॥ भवति महोपकारमिति । एतदुक्तं मयति
कर्तृनिर्मूलनं कर्तृमयमर्थं तपः । सम्यग्दृष्टेः स्वयं तपस्य पुनरितस्य असति संबरे प्रतिसामयमुपवीचयमनकर्मसंहतेः
का युक्तिः ! तनु मयति संयमे विषा निर्जरा न निवृत्तिरिति । तपमेवमप्यभिधातुं 'सम्मादिदृष्टस्य वि भक्तवतो
भाषणापिमेतत्तप न आरितं मदागुणं होदिति' । तपमेवमेतत् आदिप्रवाधान्गविषयत्वात् इयं चोदना । अस्ति-
दिरूपनशीत्यत्र ऐतत्कारमेतरेण अभिनेय संगच्छते छिद्रा, तथा तदीयतैश्चण्योऽप्यकादिव्यतिशयनिरूपणार्थात् तस्यैव
स्वार्गन्यं निगमते । एवमिदानीति न दोषः । युतः ? यस्मात् होदि तु हस्तिगृहाणं होदि भवति । खुशाश्च पयकारार्थः
न हस्तिगृहाणमिष्येन मेधनीयः । हस्तिगृहाणमेवेति । यथा हस्ति जालोऽपि न मेधन्ये यहति पुनरपि करावर्जित
गर्गुणदलमिजनया' तद्वत्तपसा निर्गमिदपि कर्मादेः वस्तुतत्त्वात् अतएवमुनेति भव्यते । दृष्टस्तत्तत्त्वमात्रे—खुद्दु
द्वयं मेधनगंधादिकेय तद्वत्संयमदीन तपः । दृष्टतद्वयोऽयथासः क्रियार्थे इति चेत् । अवगतद्वदुततत्त्वार्थानं कर्मणो
ऽपंगमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय दृष्टिभन्तानोपन्यासः । अर्द्धित्तुतया वस्तुतत्त्वमुपादेते रजः । वेधरहितः निर्भेदा स्वाद्वय
मप्ययति नेतरा पंधतत्त्वभाषिनीति । क्रियेय मेधनगंधपादिकेय । सा हि वेधसहितो मुक्तिं वर्तयति । अत्राग्रे द्यव्यसते—
कालभेदमनोऽप्य मुक्तिमुदिति न कुरीयता प्रथम उपसर्गः । तदयुक्तं सकलकर्मण्यो हि मुक्तिः, अमुक्तिश्च कर्मणा सहमुक्तिः ;
तथागती मुक्तिः कथमादृष्टेति कर्मादापराप्रमाप्रतः मुदित्वी या मुक्तिः सा कश्च न विद्यते ? कले दत्वा प्रयत्नयामनः
कर्ममुद्वृत्तकंधाः । यज्जोक्तं यथा तु फालभेदेन वेधम्यमांसक्यते वेधनशतनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो
दृष्टांतः । दृष्टुपेक्षानिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसारं । न हि चंद्रमुषी कन्या इत्यत्र एवमादोका संभवति, सदा संपृ-
चमानं वामज्योत्स्नायाः निदानादयश्च कदाचिदेव पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलंन फलोत्पन्नानोपमेय
भाषः, वेधम्यं मृगमनोपमेययोस्मिन् अन्यथा उपमानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशयं
प्रदर्शितुमेवेगमानं प्रदृष्टं ॥ न त्वेकस्मिन्पमानव्यावृत्तकालादृष्टित्वादुपादीयते इति युक्तम् ।

ननु मुक्ते : कारणं निर्द्धेयं वत्कारणं च तपः इति सम्यक्स्वाराधना तप आराधना चेति संक्षिप्य वक्तुं युक्तं । तत्र संस्कारिणि चारित्र्ये सत्त्वेन निर्वाणानुगुणाया निर्जरायास्तपसा कर्तुं शक्यत्वात् । तदेवाह—

मूलारा—सम्मादिद्विस्स वि । तत्तअखनवतोऽपि किं पुनर्भिध्याद्वेरित्यदितायोऽपिशब्दार्थः । अविट्ठस्स हिंसादिपु
थियेयु च प्रयत्नमनस्य । महागुणो अनलोपकारं कर्मनिमूलमनमर्थमित्यर्थः । संयमहीनस्य संवराभावे प्रतिशुणमपरापर-
कर्मसंघातोपादानान्मुक्तिर्न स्यादिति भावः । एतच्चारित्रस्य आधान्याधिवक्ष्यायामेवोच्यते । यथा “ युक्तिस्तपसेव तत्तपः कार्यमि ॥”
इति तपसः प्राधान्यविशेषार्थः । तु भेदविशेषार्थो इत्यर्थे अमेदनिवक्ष्यायां वा एवार्थे । हस्तिस्नानमिव असंयतस्य तपो भवतीति
योग्यं ॥ यथा हस्ती स्नातः सन्नार्द्रतनुतया स्वकरापरितं रजो यदुत्तरमावृत्ते तथा तपसा निर्लोभकर्मशोऽसंयमापितं कर्म
पुनर्मुक्त्यादिलोपतया यदुत्तरमावृत्ते इत्यर्थः ॥ पुंरुद्धुगं व मंथनवर्मपात्रिकेव । तं तत्तपः । तस्स सन्त्यग्दृष्टेरप्यविरतस्य ।
यथा येष्वनसहभाग्युद्घटनं कुर्वन्ना आकर्षणचर्मनद्वित्रिका अभिव्यक्तस्य स्वैर्यं न करोति तथा वंघसहभाविनीं निर्जरां कुर्वन्मोऽ
संयतस्य मोक्षं न करोतीत्यर्थः । अत्र हस्तिस्नानेनापगताद्दुत्तरस्यापादनं चर्मवद्भ्रिकया च वंघसहभाविन्या निर्जराया
स्वार्ण्यामावो वृत्तते । उपमेयगताविशयफलत्वादष्टान्तान्त्वरोपन्यासस्य । ये तु पुंरुद्धिकमेति पठन्ति तेषामियं व्याख्या
पुंरुं मानकसेतिकादियौव्यं काष्ठं छिदन्ति चिकीर्षितयस्त्वदुगुणभावेन कुंततीति पुंरुदरिच्छदाकारास्तेषां कर्म व्यापारजन्य-
वद्भ्रिकया भ्रमिपरिभ्रमणं । तद्यथा सुशब्देन यथार्थेनोभयत्र संवेद्यते । शेषं पूर्ववत् ॥

निर्जरा तपके आधीन है. तथा विद्यमानकर्म इस तपके प्रभावसे क्रमसे निर्जीर्ण होता है, जब संपूर्ण कर्म
निःशेष हो जाता है तब स्वास्थ्य रूप मोक्ष प्राप्त होता है. अतः मोक्षका कारण निर्जरा ही है. वह निर्जरा तपसे
होती है. अतः दर्शनाराधना व तपआराधना ऐसी दो आराधनाओंका वर्णन करना योग्य है ऐसी श्रंका होनेपर
संस्वरको उपन्य करनेवाला चारित्र्य सहायक होनेसे हि तप श्रुत्तीकी साधक ऐसी निर्जरा उत्पन्न कर सकता है अन्यथा
नहीं ऐसा उत्तर निम्न लिखित मायामें देते हैं—

हिंदी अर्थ—जीवादि तत्त्वोंपर जिसकी श्रद्धा है ऐसे अविरत अर्थोत् असांयमी पुरुषका तप महान् उपकार
करनेवाला नहीं होता है. वह उसका तप श्राथीके स्नान समान होता है. जैसे हाथी नदीमें स्नान करता है परंतु
फिर तटपर आकर अपने संझसे सर्वांगपर धुलि फेंकता है वैसे असंयत सम्यग्दृष्टि कर्म निर्जीर्ण करता हुआ भी

असंयमके द्वारा बहुत कर्मका ग्रहण करता है. अथवा लकड़ोंको छिद्र पाढनेवाला वसी जैसा छेद पाढते समय दोरी बांधकर घुमाते हैं उस समय उसकी दोरी एक तरफसे ढिली होती हुई भी दूसरी तरफसे उसको दृढ़ बद्ध करती है वैसे सम्यग्दृष्टीका पूर्ववद् कर्म निर्जीर्ण होता हुआ उसी समय असंयम द्वारा नवीन कर्म बंध जाता है. अतः असंयत सम्यग्दृष्टीको तप आराधना नहीं होती है. इसलिये तप आराधनासे चारित्र्याधना अंतर्भूत नहीं होती है ऐसा समझना चाहिये.

विशेष—गाथाओं 'महागुणो' ऐसा शब्द है. यहाँ गुणशब्दके अनेक अर्थ होते हैं. जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श इनको भी शब्दोंमें गुणसंज्ञा है. गुणोंकी संख्या दिखानेवाला सूत्र इसप्रकार है. 'रूपसंगंधस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वबुद्धयः' सुखदुःखच्छादिप्रयत्नादयः' कचिद् गुणका ऊर्ध्वं मूल्यं ऐसा भी होता है. जैसे—'गुणीभूता वयमत्र नगरे' अर्थात् इस नगरमें हम प्रधान-मुख्य हैं. यहाँ गुण शब्दकी प्रधान अर्थमें वाचकता है. कथित् गुण शब्दका अर्थ उपकार ऐसा होता है. जैसे 'गुणोज्जेन कुतः' अर्थात् इसने उपकार किया. प्रकृत गाथाओं गुणशब्दका अर्थ उपकार ऐसा समझना चाहिये. अविरत सम्यग्दृष्टिका भी तप महागुण नहीं होता है अर्थात् वह कर्म निर्मूलन करनेके लिये समर्थ नहीं होता है. पुनः जो मिथ्यादृष्टि है उसका तप मुक्तिकेलिये कैसा कारण होगा ? उसको संवर न होनेसे प्रतिसमय नया कर्म आता ही रहेगा अतः उसको मुक्ति नहीं होगी.

शका—संयम प्राप्त भी हो गया तो भी कर्मनिर्वरा न होनेसे मुक्ति नहीं प्राप्त होगी. अथवा ऐसा भी कह सकते हैं—जिसने तपका अभ्यास किया नहीं है ऐसे सम्यग्दृष्टीको भी केवल चारित्र्य महोपकारक नहीं होता है. अर्थात् संवरसहित निर्जराको उत्पन्न नहीं करता है.

उत्तर—आपका कहना ठीक है. परंतु यहाँ चारित्र्यकी मुख्यता है अतः चारित्र्य न होनेसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी ऐसा कि, छेदनेवाले पुरुषके बिना केवल तरवार ही स्वयं छेदनकार्य नहीं करेगी परंतु तरवारकी तीक्ष्णता, काष्ठिन्य वगैरे गुणाविशेषों देखकर उसमें छेदनकार्य करनेका कर्तव्य आरोपित करके नरवार तोड़ती है ऐसा कहते हैं. वैसे चारित्र्यका वर्णन करनेकी मुख्यता होनेमें चारित्र्यके बिना तप महोपकारक संवर निर्जराका उत्पादक

नहा हात है ऐसा कह सकते हैं।
असंयत सम्यग्दृष्टिका तप हस्तिस्नानके समान है, जैसे हाथी गालावमें स्नान कर निर्मल होता है परंतु आपनी मुंडाके द्वारा धूलको शरीरपर फेककर अपनेको मलिन करता है, वद्वत् तपके द्वारा कर्मांश निर्जोण हो गया तो भी असंयमसे सम्यग्दृष्टि बहुत कर्मसमुदायको ग्रहण करता है।

आचार्य दुसरा दृष्टान्त मंथन चर्मपालिकाका देते हैं, उसका विवेचन किया है, आचार्यने दो दृष्टान्त क्यों दिये हैं ? इसका खुलासा इस प्रकार है, सम्यग्दृष्टिने पूर्वमें जितनी कर्म निर्जरा की है उससे भी अधिक कर्म उसको असंयमसे बंध जाता है, यह खुलासा करनेके लिये हस्तिस्नानका दृष्टांत दिया है, हाथी स्नानसे गीला होता है अतः बहुत धूलीका संग्रह उसके अंगपर हो जाता है, उसही प्रकारसे सम्यग्दृष्टिको बहुत कर्मबंधन होता है, जो निर्जरा बंध रहित होती है वही स्पास्थ्य अर्थात् मोक्षप्रदान करती है, परंतु बंधके साथ होनेवाली कर्म निर्जरा मुक्तिका कारण नहीं होती है इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये आचार्यने मंथन चर्मपालिकाका दृष्टान्त दिया है यह बंध सहित मुक्तिको दिखाती है,

यहां दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं—“कालभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखानेकी इच्छासे आचार्यने प्रथम उदाहरण—हस्तिस्नानका गाथामें लिखा है, ” परंतु यह उनका अभिप्राय युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि, संपूर्ण कर्मोंका नाश होना यह शुद्धि है व कर्म सदितावस्थाही अशुद्धि है जब शुद्धि है भी नहीं तो आचार्य उसको हस्तिस्नानका उदाहरण देकर भी कैसे दिखा सकेंगे, यदि कुछ कर्म नष्ट होना उसको शुद्धि या मुक्ति कहेंगे तो ऐसी शुद्धि किस प्राणीमें न मिलेगी ? अर्थात् ऐसी शुद्धि प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान है, कारण प्रत्येक प्राणीके कर्मस्कंध उसको फल दे देकर खिंचेही है, अतः ऐसी शुद्धि मिलना असंभव नहीं है, वह तो सुलभ ही है,

और भी जो उन विद्वानोंने कहा है ‘वहां कालभेदका आश्रय लेकर दो धर्म रहते हैं वहां उन धर्मोंमें भिन्नता—विरुद्धता दीखती है, परंतु कर्मबंध होना व उसकी निर्जरा होना ये दो धर्म एक समयमें होते हैं अतः ये विरुद्ध नहीं हैं, इस वास्ते यहां दुसरा दृष्टांत मंथन चर्मपालिकाका दिया है, यहां रज्जुसे मंथनदंड धेधित भी हो जाता है और मुक्त भी हो जाता है, ये दोन क्रियायें एक समयमें होती हैं

अतः इसमें वैधर्म्य नहीं है. यह कहना भी असार है. 'चंद्रसुली कन्या' इस उदाहरणमें ऐसी वैधर्म्यकी शंका उपस्थित नहीं होती. कन्याका मुख हमेशा पूर्ण ही रहता है. परंतु चंद्रकी पूर्णता कदाचित् होती है. सदा नहीं होती अतः अनुमानसे मुख और चंद्रमें साधारण धर्म-आन्वहिकत्व, सुंदरता इत्यादिका आशय लेकर उपमानोपमेय भाग रहता है. मुख और चंद्रमें वैधर्म्य है ही अन्यथा चंद्र उपमान है व मुख उपमेय है यह भेदही उत्पन्न नहीं होता. उपमेयमें विरोधता दिखानेके लिये ही उपमान प्रयुक्त होता है. उपमानको छोड़कर दूसरका ग्रहण कोई नहीं करते है. तत्पर्य—मंधनचर्मपालिका का उदाहरण देनेका कारण इतनाही यहाँ समझना चाहिये कि, अखिलसम्बन्धीका तप अंतःपमपूर्णक होनेसे कर्मबंध और निर्जराका कारण है. वैधर्म्य दिखानेके लिये आचार्यने यह उदाहरण नहीं दिया है.

सिद्धेणस्य प्रकारान्तपारव्याप्याह—

अहवा चारिताराहणाए आराहियं हवइ सब्बं ॥

आराहणाए सेसस्स चरिचाराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

विजयोपव्या—अद्वयेति । एकद्वयविसंख्येयात्संख्येयानंतरूपेण हि त्रैवी निरूपणा ॥ चरंति यांति तेन हितमिति अद्वितानिबारेण भेति चारित्र्यं, चर्यते सैव्यते सत्त्वमैरिति या चारिंत्तं सामायिकादिर्ले, तत्स्वाराधनायां सत्परिणती सत्त्वां भार्यायितं निष्पादिते । इषद्वयमिति । सर्वं सर्वं ज्ञानं वर्धनं संपन्नं, प्रकाशनात्सर्वं सर्वदा-द्वोऽन प्रयुक्तः । यथा सर्वमोदते कुले इति श्रीविद्याल्लोचनप्रकाशनादस्यं भुजिग्नियायाः कर्मवनेन प्रतीयते । एवमिहापि मुस्युपपन्नकारणां ज्ञानादीनां सामख्यनाख्यायते । चारि-नादाधनैकैत्यनेन गाथाद्वेन कथितम् (अवेयमार्तंका—कस्मादेकारयनिरूपणांराभनायाश्चाधिक-मुखेनैव ज्ञायते नाभ्यमुपेनेत्यत आह—आराधनाय आराधनायां । सेतस्त ज्ञेयस्य । ज्ञानदर्शनतत्पसं अत्यंतमस्य । चारि-सारधना । भज्जा भाज्या विकल्प्या । कथं ? असंख्यतसम्यग्यष्टिर्मवति ज्ञानदर्शनयोरापधको नेतरयोः । निष्याद्वद्विसंख्यतदा-नवाधुपतोऽपि न चारि-मातराधयति । कश्चिन्तुनः ज्ञानादीनि चारि-नमपि संपादयतीति नाविबभूवयेत्वा इतरास-नायां चारि-राधाधनाया इति न तन्मुनेनैक्ययनिरूपणेति भावः ॥ ननु ज्ञानिकृतीतरागतसम्यक्त्वराधनायां, क्षयिक-ज्ञानारा-धनायां च इतेराभाधराधना निवोगतः संभवति तत्किमुच्यते ज्ञेयाराधनायां चारि-आराधना भव्येति ? क्षयोपदा-मित्रानन्ददर्शनोपश्रवैतदुक्तं इति शेषम् । अत्रान्येषां व्याख्या “ चारि-नाराधणाय इत्यत्र चारि-यदाध्वेत सत्त्वारिजमुपात्तं । तथा सर्वदर्शनान्तराधनानिरूपितकृमामव्यवनेन प्रयत्नबुचिरूपं तस्मिन्नाराधयमाने ज्ञेयविद्विर्भन्त्येव । कथं ? सत्त्वान्तर्गतं चारित्र्यं सरक्षणं च दर्शनाद्वितं कथं हि चारि-णाधिनाभावित्वं प्रयुक्तं इति साजुपपत्ता ” । प्रतिज्ञाभागेण हि खलुमिदमव-

स्थितं, एतत्साधनाय सूत्रद्वयमुत्तरं यत्र हि सूत्रकारो तन्निबंधनं वदति । आत्मनः प्रतिज्ञातस्य तत्र व्याख्यातुरवसरो निबंधनाख्योने यत्र तु स एव वदति तत्र तद्वद व्याख्यातुमशक्यतयाव्यभिचारी व्याख्याकम आख्येषु । न चेदमनेन प्रति विधानमसूचितम् स्वयमेवोद्देशेन । ' कादृश्वभिगमकादव्यति पादूणा ह्येदि परिहारो, इत्यत्र निरूपयिष्यति यत् सत्कारः । किं च उत्तरसूत्राद्युत्तमस्या व्याख्यायां चारित्राधनामुक्तेर्नैवाराधनेति प्रतिपिपवधितं । तच्च सं-
प्रति विधान प्रतिपादयितुं कोऽयसर उत्तर माथायः । इतराधनान्तर्भावकारिण्याश्चारित्राधनाया निरूपणयां चारित्र्यस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायातेति कथमनवसर इति चेत् यथैवं दर्शनाधनायां आनाराधनामन्तर्भाव्य भवतं-
गामायां उद्भावित्यरूपं किं नोच्यते सूत्रकारेण ? खेच्छेति खेच्छ न्यायातुगाभिना शास्त्रकारणां न्यायादपैरेच्छा अयुक्ता ।

ब्रह्मर्षी परमसंक्षेपावेकधैयाराधना स्यादिति दर्शयति—

मूलारा-चारिन्नारादृणाष्ट-धरन्नि चान्ति सेन हितप्राप्तिन्नद्विजनिवारणं चेति, चर्यते सेव्यते सक्रिस्तद्विस्ति वा चारित्रं सामायिकदिक् । तत्परिणतौ सत्त्वां आराहिर्दं निष्पादितं । सत्त्वं ज्ञानं दुर्लभं तपश्च । सेसस्त ज्ञानादिन्यस्य भज्जा भाज्या विकल्पाः । तथा-असंयतसम्यग्दृष्टिर्ज्ञानवर्तनशोरावको भवति नेतरयोः । मित्रादृष्टिरनशनादितपस्युच्यतेऽपि न चारिन्माराधयति । कश्चित्सुनः ज्ञानादीनि चारित्रमपि संपादयति । धतो न ज्ञानाविमुदेनैकत्वमुक्तमाराधानया इति भाषः । एतच्च आधिक्यवीतरासम्यक्स्वात्केयलजानाच्चाभ्यन्तर बोध्यम् ॥

हिंदी अर्थ-चारित्र्य की आराधना करनेसे सर्व आराधनाओंकी आराधना होती है, परंतु दर्शनादि आराधनासे चारित्र्यकी आराधना होगी या नहीं भी होगी.

विशेषार्थ—एक, दोन, तीन, संख्यात, असंख्यात अनंत रूपसे श्री जिनेश्वरके मतमें वस्तुका वर्णन होता है। अतः वस्तुका अतिशय संश्लेष व विस्तार पूर्वक निवेचन जैन ग्रंथमें पाया जाता है। जिससे जीव हितको प्राप्त होते हैं अथवा अहितका निवारण करते हैं उसको आचार्य चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, सेवन करते हैं उसको चारित्र कहते हैं। इस चारित्रके सामायिक वगैरे भेद हैं। ऐसे चारित्रकी आराधनामें जब आत्मा तत्पर होता है तब इसमें तन्मयता होनेसे ज्ञान, दर्शन, तप ऐसी सर्व अर्थात् तीनों आराधनायें आराधी जाती हैं। अर्थात् इन तीनोंकी भी प्राप्ति होती है। यहाँ प्रकार व संपूर्णता ऐसे दो अर्थोंमें सर्व शब्दका प्रयोग किया है। जैसे 'सर्वे मोदनं धुंके' अर्थात् "भीरी वगैरे जितने आलीके भेद है उतने सर्व भेदसहित शालीका भान खाता है।" इस

वाक्यमें सर्व शब्दका प्रकार ऐसा अर्थ है. इसी तरह यहां भी शोधोपायके प्रकार जो ज्ञान, दर्शन तप हैं वे यहां 'सर्व' इस शब्दसे संगृहीत होते हैं. एक चारित्राराधनामें सब आराधनाओंका अन्तर्भाव हो जाता है.

शंका—चारित्रको मुख्यता देकर ही क्यों आराधनाका एकत्व आप दर्शति हैं ? अन्य आराधनाको मुख्यता देकर आराधनाकी एकता आपने क्यों नहीं दिखायी है ?

इस प्रश्नका उत्तर—इतर आराधना-ज्ञान, दर्शन तप इनमेंसे किसी एक आराधनाकी मुख्यता होने पर भी चारित्राराधना भाज्य ही है अर्थात् इतराराधना प्राप्त होगी परंतु चारित्राराधना प्राप्त होगी अथवा नहीं होगी, इसका सुलाला-असंयत सम्बन्धदर्शित ज्ञान और दर्शन ऐसी दोन आराधनाओंका आराधक है. जब आराधकको सम्बन्धदर्शन प्राप्त होता है तब उसके ज्ञानमें भी सम्बन्धदर्शनके साथ सम्बन्धपना प्राप्त होता है. अतएव यह सम्बन्धदर्शित दर्शन ज्ञानका आराधक है. मिथ्यादर्शित जीव अनशनादि तपोंमें लुप्त होकर भी चारित्राराधक नहीं होता. कोई सम्बन्धदर्शित जीव प्रतसहित होनेसे ज्ञानादि तीन आराधनाओंका आराधक होता है चारित्रका भी. अतः चारित्राराधनाका इतर आराधनाओंमें अधिनाभाव नहीं है. जहां चारित्राराधना है वहां चारित्रादि आराधनायें हैं ही परंतु जहां अन्य आराधनायें हैं वहां यह चारित्राराधना रहे या न रहे. अतः चारित्रकी मुख्यतासे आचार्यने सबका अन्तर्भावकरके एक चारित्राराधनाही कही है.

शंका—धार्मिकजीवितराग सम्पत्कबाराधना और धार्मिकज्ञानाराधना ऐसे दो आराधनाओंमें धार्मिकी तप और चारित्राराधनायें निधयसे अन्तर्भूत होती हैं अतः शेष आराधनाकी प्राप्ति हुई तोभी चारित्राराधना भाज्य है ऐसा क्यों कहा है.

उत्तर—शोधोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षासे हमारा उपर्युक्त कथन समझना चाहिये. अर्थात् जहां जहां धार्मिकशमिक ज्ञान व दर्शन है वहां चारित्र होता ही है ऐसा नियम नहीं है. क्योंकि धार्मिकशमिक ज्ञान व दर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे शुरू होते हैं. इस गुणस्थानमें अविरतिपरिणाम होनेसे चारित्राराधना नहीं है अतः आचार्यका कथन किन्तु अपेक्षासे है यह ध्यानमें आना होगा.

प्रकृत गाथापर अन्य विद्वानोंका आगे लिखा हुआ व्याख्यान है—चारित्राराधनाएँ “ इस गाथामें चारित्र शब्दका अर्थ संचारित्र ऐसा समझना चाहिये. सम्बन्धदर्शन युक्त व सम्बन्धज्ञान निरूपित ऐसा जो आचरण

क्रम उससे च्युत न होकर दृढ़ रहनेका जो प्रयत्न उसको चारित्र्य कहते हैं अर्थात् आगममें जो धर्माचरणके क्रमका उल्लेख किया है उसके उपर अत्रा सबकर उसका स्वरूप समझ लेनेके अनंतर उस आचरणक्रमसे च्युत न होकर उसमें दृढ़ रहना यह सचरित्रताका लक्षण है. ऐसे चारित्र्यकी आराधना करनेसे ज्ञान, दर्शन, तप इनकी आराधना अवश्य होती है. चारित्र्य सम्पन्नानका कार्य है. आर ज्ञान भी सम्पन्नदर्शनके प्रभावसे हितकारक होता है. कार्य हमेशा कारणसे अधिनामावी होता है जो जो कार्य उत्पन्न होता है वह २ कारणपूर्वक ही होता है. कारणके बिना होता ही नहीं है. चारित्र्य ज्ञान व दर्शनका कार्य है व सम्बन्धदर्शन ज्ञानके साथ अधिनामावी है, उनके बिना चारित्र्यकी उत्पत्ति होती ही नहीं. अतः चारित्र्याराधनमें सब आराधनाओंका प्रवेक्ष हो जाता है. ” यहाँ आचार्य उनके व्याख्यानकी अद्युक्तता दिखाते हैं.

आपने जो सचरित्रिके कारण और लक्षण बताये हैं उनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है. इस गाथामें तो फलतः चारित्र्य की प्रतिज्ञा ही अर्थात् नामोङ्कित ही किया है इस प्रतिज्ञाका स्पष्टीकरण और उसके कारणोंका उल्लेख ग्रंथकारने आगेकी दोन गाथाओंमें स्वयं किया है अतः उन स्थलोंमें व्याख्याकारको कारणोंका विवेचन करनेका अवसर है ऐसा ही व्याख्याक्रम आत्ममें शुद्धा जाता है ‘कादम्बिणिमक्रादप्ययि णादूण होदि परिहारो’ इस गाथामें चारित्र्यका लक्षण आचार्य कहेंगे. परंतु आपने उत्तर सत्रानुष्ठान इस व्याख्यानमें किया है. इस गाथाद्वयमें चारित्र्याराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है यह प्रतिपाद्य विषय है. इसलिये उत्तरगाथा का विषय यहाँ प्रतिपादन करनेका अनसर कैसा है ? इतर आराधनाका अन्तर्भाव अपनेमें करनेवाली चारित्र्याराधनाका निरूपण करते समय चारित्र्यके स्वरूपका वर्णन करनेके लिये उत्तर गाथा है अतः यह हमारा विवेचन ठीक है ऐसा भी आप नहीं कह सकते. अन्यथा ज्ञानाराधनाको अपनेमें प्रतिष्ठ करनेवाली दर्शनाराधना है अतः सम्बन्धदर्शन का स्वरूप वर्णन सत्रकारने क्यों नहीं किया ? यदि कहेंगे जैसा उन्होंने चाहा जैसा वर्णन किया है तो यह उत्तर योग्य नहीं है क्योंकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारकी न्यायविरुद्ध इच्छा रहना ठीक नहीं है. अतः इतने विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि आचार्य का उद्देश इतर आराधनाओंका चारित्र्याराधनामें अन्तर्भाव करना यही है. चारित्र्यका व सम्बन्धदर्शनका लक्षण लिखनेका उनका उद्देश नहीं था.

कथं चारिष्यताधनार्थां कथितायां इतत्तासां प्रतिषत्तिरयिनाभावात् तत्त्वज्ञानवर्गानाघनयोरस्त्वभावं इत्यु-
त्तरवाधायाः पूर्वादेन कथयति—

कायव्यभिगमकायव्ययसि णाऊण होइ परिहारो ॥

तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

कायत्वं कर्तव्यं । इणं इवे । आकायव्ययसि अकर्तव्यमिति । णाऊण झत्वा । हवइ भवति । परिहारो परिवर्जनं
आदिभिमिति दोषः । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञानं पूर्वं तदुत्तरफालं अकर्तव्यपरिहरणं यत्तच्च चारित्रिमिति सूत्रार्थः ॥ ननु परि-
हार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थः । तथा हि—परिहरति संप्रमित्यत्र संप्रं वर्जयतीति गम्यते । ततश्च यद्वर्जनीयं तत्परिज्ञानमेव
वर्जनमुपयुज्यते तत्त एव यत्कर्तव्यं—अकायव्ययसि णाऊण हवइ परिहारो इति, कादव्यभिगेत्यतिलिख्यमुपगम्यस्ते । कर्तव्यपरिज्ञानं
करणे यथोपयुज्यते इति ॥ अथ प्रतिषिधीयते—कादव्यभिगमसि णाऊण हवइ परिहारो इति पदवटमेकां, अकादव्यभिगमसि
णाऊण हवइ परिहारो इत्यापत्तात्तत्राचार्याः पदअट्ठवायां परिशब्दः समेताद्भाषयुक्तिः । यथा परिधावतीत्यत्र हि समंताद्भाषयतीति
गम्यते । हतल्लप्यादानमचचमः । तथाहि प्रयोगः—कविदिकां हरति—कविदिकां कमुपपदसे इति यावत् । ममसा, यच्चसा, कायेन
कर्तव्यस्य च मयरेहेतोःप्रादानं मुसिलमिति अमन्त्रेक्षपरीयद्वज्यानां उपपादानं चारित्रिमिति याव्यार्थः । आप्रययंभहेतवो
ये परिज्ञानास्ते न कर्तव्याः, न त्रिकर्त्तव्यस्तेषां परिहरणं परिपुर्जनं चारित्रिमिति संबंधनीयम् । परिहाराय एव परिज्ञानमंत-
रेणापि तत्परिहारो दृश्यते । यथा शतरजनाप्यासितं देशं परिहरति कश्चित्तत्र तेषां अथस्यानं आप्रतिपद्यमानोऽपि मार्गा-
भरणामी, एवमप्राप्त्यापि परिहार्यं परिहरेदिति विनाभावितेति चेदप्यमभिप्रायः सूत्रैः—सामान्यशाब्दा अपि विशेषमवृत्तयो
दृश्यन्ते । तथा हि—गोशब्दो गोयत्तत्त्वात्वाभावांगीकरणेन प्रयुक्तो गौर्नहंतव्या, गौस्तथा न स्याद्व्या इत्यादौ विशेषमेवोभियेयी
करोति ॥

महति गोमंढले गोपालकपासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्बुद्धा भव्येति । अत्र यास्ये गोशब्दस्तदभिज्ञेताकांक्षी
इत्यस्तिमर्तो वा प्रत्याख्ययति । एवमत्र परिहारशब्दः परिवर्जनं सामान्यगोचरोऽपि निर्यतामेकपरिहार्येतिर्ये परिहरणे
प्रयुक्तः । न च निवोगमाद्येकपरिहार्येतिर्यप्यं परिहरणं असंख्यद्वयुक्तिपरिज्ञानं विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शनं, असं-
यमाः, कथायां, अमुमाश्च योगाः प्रत्येकमेकविकल्पाः सततं परिहरणीयाः । तत्कथं परिहरेत्तजः । ननु ज्ञानचारित्रयोरवि-
नाभाविता एतेत्या । ' नाऊण होइ परिहारो ' इत्यनेन धर्मानाविनाभावितेत्याशङ्क्यामाह—तं चेव हवइ इत्यादि । तं चे
य तत्रेव धितन्यं । हवइ भवति, णाणं ज्ञानं । तं चेव य तत्रेव च हवइ भवति, सम्मतं सत्त्वध्यानं चेति सैतन्यप्रवच्यार्थो-
पनिर्दिष्टात् ज्ञानदर्शनयोरैकता स्यात्ता । ततो ज्ञानाविनाभाविता कथमेव अज्ञानस्यापि
कथितेय भवति । चारित्र्यमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनायां ' नाऊण हवइ परिहारो ' इति पूर्वं ज्ञानं
पश्चात्परिहार इति । अथ भेदोपन्यासः सूत्रकारस्य अघटमानः स्यात् । तं चेवेति ननुसकल्लिगनिर्देशश्च न स्यात् ।

सो चेयं ह्यत्र जाणं इति घकटयं भवति परिहाराख्यस्य पुष्टिगत्यात् । अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञाने सत्यकर्तव्यानां मिथ्यादर्शनं, ज्ञानं, असत्यमः, कथाया, योग इत्यमीनां परिहाराचारित्रिमित्येतद्विचित्र्यं परिहृयते 'तं चेव परिहृणं-सामान्यं चारित्र्यं, ज्ञानं दर्शनं इत्येकमेवेति । चारित्र्यापचनानामेव भेदादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लनितया चारित्र्यप्राप्तयेनेकेष्वेति सूत्रार्थः ॥

चारित्र्यप्राप्तयार्थो ज्ञानदर्शनयोरेवभावो सावदर्शयति—

कायव्यमित्यादि । अत्र द्वे पदपठने । तत्रैका । इणं गुण्यादिकं । कायव्यं कर्तव्यं संवरकारणत्वात् इति गावृण ज्ञात्वा मिश्रित्य ब्रह्मचर्यस्य । परि संमत्तान्मनोवाक्कायैर्द्वारो हरणमुपादानं कर्तव्यस्य गुप्तिसमितिथमांशुमेक्षा परीपहृज्यरूपस्य भवति ॥ कंबलिङ्गा हरतीत्यादिवात् अत्र हरतिरुपादानार्थः । द्वितीया स्त्रियं । इदं मिथ्यादर्शनादिकं अकर्तव्यं आत्मपर्यवर्धनधनत्वात् । इति मिश्रित्य रोपमानस्य परिहारः परिवर्जनं अकर्तव्यस्य मिथ्यादर्शनेन मिथ्या-ज्ञानानंयमप्रमादकपायाश्रुभयोगलक्षणस्य भवति । अत्र इणमिति उभयत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन संबंधनीयं । अकारण्यव गतीत्यत्र कुलसायां पादपूरणे वा फः । गावृणेत्यत्र परकाष्ठैककर्तृकादिति क्त्वात्तन्नासाप्यल्लघुं ब्रह्मचर्यनत्वेति । बंध नीयं । एव कर्तव्योपादानमकर्तव्यपरिवर्जनं बोधयमेव चारित्र्यं । तदेव ज्ञानदर्शनोपहितद्विधादित प्राप्तिपरिहारपरिणतं वैतन्यमेव द्रव्यार्थव्यतिरेकान्न ज्ञानं दर्शनं च भवतीत्यग्निनाभावश्चारित्र्यस्य ज्ञानदर्शनाभ्यामिति चारित्र्येऽन्वभावेस्तयोः ॥

चारित्र्यप्राप्तये कथनमे इतर आराधनाओंका ज्ञान कैसा हो जाता है इसका उत्तर अधिनाभाव ही देगा, अर्थात् अधिनाभाव होनेसे जेप आराधनाओंका चारित्र्यमें अन्तर्भाव हो जाता है, अब ज्ञान और दर्शनाका अन्तर्भाव आगेकी गाथा के पूर्णहिसे दिलाते हैं,

हिंदी अर्थ—यह करने योग्य कार्य है ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अकर्तव्य का त्याग करना यह चारित्र्य है ऐसा इस सूत्रका अर्थ है,

शंका—गाथामें परिहार शब्द है उसका त्याग करना, छोड़ना ऐसा अर्थ होता है, जैसे 'परिहरति सर्वं', इस वाक्यमें सर्वका परिहार करता है, उनसे दूर होता है, ऐसा परिहरति धनका अर्थ है, अतः जो पदार्थ वर्जन

करते योग्य है उसका ज्ञान होना ही बर्त्तनके लिये उपयुक्त है. अतः यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो अकार्य है उसको समझकर छोड़ देना यह ही चारित्र्य है. करने योग्य क्या है उसको जाननेकी कुल जरूरत नहीं है. अतः 'कादम्बमिदि गाढा हृदि परिहारो' ऐसा आचार्यका लिलना व्यर्थ है.

उत्तर—इस गाथाका पदसंबंध ऐसा समझना 'काव्यवर्णिते गाढा हृदि परिहारो' ऐसा प्रथमतः पद संबंध समझना चाहिये. 'अकादम्बमिदि गाढा हृदि परिहारो, ऐसा दूसरी चार पदसंबंध करना चाहिये.

पहिले पदसंबंधका विवेचन—परिहार इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना. परि-चारों तरफ. जैसे 'परि धारति' यहाँ समंतात् चारों तरफ, धारति दौड़ता है. ऐसा अर्थ होता है. उसी तरह परिहार शब्दमें परि इस उपसर्गका चारों तरफ ऐसा अर्थ होता है. हृद्यतुका अर्थ इस प्रकरणमें ग्रहण करना ऐसा है. अर्थात् सर्व तरफसे ग्रहण करना ऐसा परिहार शब्दका अर्थ यहाँ समझना. जैसे 'परिहरति कंचलिकां' अर्थात् कंचलको ग्रहण करता है. उसी तरह संचरको उत्पन्न करनेवाले सुति, समिति, धर्म, अनुप्रेषा, परिपहज्य ऐसे कर्तव्यको—करने योग्य कार्यको परिहरति सर्व तरफसे अर्थात् मन, वचन, क्रायसे ग्रहण करना यह चारित्र्य है. ऐसा प्रथम पदसंबंधका अर्थ है. आत्मन और गंधके कारण ऐसे कार्य अर्थात् आत्मके परिणाम कर्तव्य नहीं है उनका परिहार—त्याग करना चाहिये. अर्थात् यहाँ ऐसे अयोग्य कर्तव्यका त्याग करना चारित्र्य कहलाता है. जो पदार्थ त्याज्य है उसका ज्ञान न होने पर भी त्याग हो जाता है. जैसे कोई मनुष्य शत्रुजन जहाँ रहते हैं ऐसे देशका त्याग करता है. अर्थात् शत्रुका बड़ा अस्तित्व न जानता हुआ भी शत्रुपक्षका त्याग कर अन्य मार्गसे बला जाता है. वैसे यहाँ भी त्याज्य पदार्थका ज्ञान नहीं हो तो भी उसका त्याग करना चाहिये.

शुका—त्याज्य पदार्थको त्याज्य समझकर त्याग होता है ऐसा अभिप्राय यहाँ नहीं रहा. क्योंकि उसका स्वरूप समझे बिना भी त्याग होता है.

उत्तर—आचार्यका यह अभिप्राय है—सामान्य शब्द की भी विशेषमें प्रवृत्ति होती है—जैसे 'गौर्नन्त्या' 'गौर्न स्तृण्व्या', इस वाक्यमें मोक्ष नहीं करना चाहिये. गावको सर्वत्र नहीं करना चाहिये इन वाक्योंमें मोक्षब्द सामान्य है. परंतु विशेष अर्थमें भी इसकी प्रवृत्ति होती है. यथा—गार्दयिके समूहमें ग्वाला बैठा था उसके पास जाकर कोई मनुष्य 'मेरी गौ सेने देखी है क्या? ऐसा पूछने लगा. इस वाक्यमें मोक्षब्द विशिष्ट गावका वाचक

है ऐसा मानना पड़ेगा। इन्हीं तरह प्रकृत प्रकरणमें परिहार शब्द त्यागसामान्य को विषय करता हुआ भी नियत-निश्चित ऐसे त्याज्य विषयके त्यागमें प्रयुक्त सम्झना चाहिये। नियत ऐसे अनेक त्याज्य विषयोंका त्याग उनका चारोंबार ज्ञान हुए बिना अशक्य है। अतः त्याज्य पदार्थके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कपय, अशुभयोग ऐसे अनेक भेद हैं। तथा इनके भी अनेक विकल्प हैं। उनका सतत त्याग करना चाहिये। परंतु अनुको इसके भेद प्रभेद ज्ञात न होनेसे वह उनका कैसा त्याग करेगा ?

ईश-ज्ञानचारित्रका अविनाभाव है यह 'गादृण होदि परिहारो' इस वाक्यसे अनुभवमें आता है अर्थात् पदार्थका ज्ञान होनेके अनन्तर चारित्र होता है। परंतु अद्वानका चारित्रके साथ अविनाभाव नहीं है।

उत्तर—जो ज्ञान अथवा जो दर्शन है वे दोनों भी चैतन्यरूप होनेसे अविनाभाव युक्त ही हैं। अर्थात् चैतन्यही ज्ञान है और चैतन्यही दर्शन है। द्रव्याधिक नयसे ज्ञान और दर्शनेमें चैतन्यरूप ता होनेसे एकरूपता-अभिसम्यता है। अतः जैसा चारित्रका ज्ञानसे अविनाभाव है वैसा तन्मयदर्शनके साथ भी है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञानसे अभिन्न है। चारित्र ही ज्ञान और दर्शन है ऐसी कल्पना करनेसे पूर्वमें ज्ञान नंतर चारित्र होता है अर्थात् प्रथम वस्तुका स्वरूप वह हैय है या ब्रह्म है इसका निर्णय होता है तदनंतर ब्रह्मका स्वीकार व त्याज्यका त्याग एतत्स्वरूपी चारित्र होता है। ऐसी जो सूत्रकारकी भेद कल्पना उपर प्रदर्शित की है वह, चारित्र ही ज्ञान दर्शनमय है ऐसी कल्पनाके आगे कैसी टिकेगी। यहा विरुद्धता दोष उत्पन्न होगा तथा 'तं चेव' ऐसा जो तपुसकालिग शब्द है वह योग्य न होगा। कारण परिहार शब्दके साथ उसका संबंध आनेसे 'सो चेव ह्यद जाण' ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि परिहार शब्द पुच्छिगी है। अथवा कर्तव्य क्या चीज है, अकर्तव्य कौनसी वस्तु है इसका जब ज्ञान हो जाता है तब अकर्तव्य-मिथ्यादर्शन, ज्ञान, असंयम, कपय, और योग इनका परित्याग होना उसको चारित्र कहते हैं ऐसा माननेसे जो परिहरण सामान्य चारित्र है वही ज्ञान, चारित्र एक ही है अतः चारित्र-राधानमें ही भेद वादीको अभिसम-मान्य ऐसा जो आराधनाका प्रकार है वह अन्तर्लान हो जाता है। इस वास्ते चारित्राराधना एक ही है ऐसा ध्यार्थ सम्झना चाहिये।

चारित्र्याराधनमन्तर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनमोरेव निगदितो न तस्य आराधनाया इत्यत आह—
 चरणमि तमि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई ॥
 सो चेव जिणोंहिं तवो मणिदो असदं चरंतस्स ॥ १० ॥

विजयोद्यया-चरणमि चारित्र्ये । तमि मन्तस्मिन् । अर्कतव्यपरिहरणे । जो य उज्जमो उद्योगः । आउंजणा य उपयोगश्च । जिणेहिं तवो होदिति मणिदो इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगावेव तयो भवतीति जिनैः कृतकर्मादिपदजनयैरुक्तिमिति यावत् । कृतमुखपरिहारो हि चारित्र्ये प्रयत्नो य सुत्पातकचित्तस्ततश्च वाक्पानि तपसि चारित्र्यप्रारंभं प्रति परिकरता उपयान्तीति । तथा ॥ वक्ष्यति 'आदित्येण होदि शु सव्या सुहसीलदा परिचया' इति । तथा स्वाध्यायदशतमावसा पञ्चविधा तत्र कर्तव्यमन्त्रादिरे परिणतो भवति । तथा च वक्ष्यति 'सुदभयणए णाणं ईसणतयसंजमं च परिणमदि' इति परिणतम एव उपयोगः । 'कृतातिचार्युज्जुप्पकापुरःसरं पचनमालोचनेति' अर्कतव्यपरिहरणोपयोगः कथं न चारित्र्यं ? कृतातिचारस्य यत्नेस्तद्विचारपरराबुद्धतो योग-उपेयं वा दुष्टं कृतं चिंतितमनुभवं चेति परिणतमः प्रतिक्रमणम् । उभयं चरणोपयोगः । एवमतिचारिणिमित्रप्रक्षेपाविक्राममनसा अपगतिस्तत्र भगवतिविशेषः । इति उपयोगता विवेकश्च । दुस्त्यजशरीरमयाव्यनिष्ठुसिमेमेदं शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना ॥ च परिग्रहपरित्यगोपयोग एवेति चारित्र्यं । तपसोऽनशनपेक्षापरिकरताकैव । सातिचारं चारित्र्यमचारित्र्यमेवेति बुद्ध्या निश्चित्यायसो न्यूनतापदानं, क्रियास्व-भुत्पानाविकारासु अल्पमपरिहारेण वृत्तेष्वारिजपरिकरः । पुनः प्रवज्यादानमपि चारित्र्योपयोग एवेति । विनयस्तु पंच प्रकारः ज्ञानदर्शनविनयो ज्ञानदर्शनपरिकरतया तनुपयोगरूपतया च भगवद्दर्शनाभ्यामेवादातद्वदेव चारित्र्याराधनंतर्भावः ।

इदिविषयस्य रागद्वेषयोः कथयानां ॥ परित्यागः, अयोग्ययाकायक्रियायास्स्यामा, ईयांविषु निरुद्धया च वृत्तिव्यारिजोपयोग एवेति चारित्र्यविनयस्यान्तर्भावः । तपोऽधिके तपसि च भक्तिः, अन्तःसाधना च परेषां तपो-विनयः, तं विना सुतपसोऽभ्यासात् तपसः परिकरता । अस्य परिकरं हि तपश्चारित्र्यस्य परिकर । उपयोगो वा नान्यथासिक्ता मन्वते । असदं धरतः स्याच्छास्त्रभंतेरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा वा आराधना स्यात् कस्मात् निरूप्यते ॥ पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारि प्रयोजनमच्येष्टः सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयत्नते मान्यथा, तत्कथमित्यमाराधना व्याख्या प्रयोजिता ध्रुवणस्येत्यादांकायां, निर्वाणसुप्रस्थाव्याध्यायमकस्य पुरुषार्थ-स्वोपायत्वप्रदर्शनेन आराधनाव्याख्या तदर्थानुसुपयोगिनी इत्येतद्व्यतिपादनयोस्तत्प्रबंधः । अथवा व्यावर्णितविकल्पा या आराधना तस्यां चेष्टा कर्तव्येत्येतावत्यानामयोपरसुश्रानि, तथा चोपसंहारः 'कादृक्वा सु तदस्य आवद्विदग वेत्तिषा चेष्टा' इति ॥

चारित्र्ये तपसोऽन्वर्थावो भाव्यते ।

मूलार्थ—उज्जमो उद्यमः । आर्तव्रजणा उपयोगः अनुष्ठानमित्यर्थः । सो चेव आर्षे प्राकृते यवनान्दिव्यत्य-
यस्य बहुलं दर्शनात् । सो इत्यनेन उद्यमायोजने परमदयेते । तेन वे एव वरणयोगोपयोगावेत्यर्थः । असदं अशाठ्यं ।
चरंतरस प्रवर्तमानस्य मायादीन्मनुष्ठानं कुर्वतः इत्यर्थः । त्यक्तमुख एव हि चारित्र्ये प्रयत्ने इति । तदुच्यमस्तावाद्वाह्यं
तपो भवति तदरंभे परिकरत्वात् । चारित्र्यपरिणामोऽन्तरंगं तपो भवति । प्रायश्चित्तादीनां दुष्कृतिनिराकृतिपरत्वेन
तदुच्यतिरिक्तम् । आर्या—

रथस्तुलोऽनसुनारिभिरुत्सहते ब्रुष इत्ययं क्षिपति ॥

प्रायश्चित्तादीनां वरणेन्तर्भवति तप उभयम् ॥

दुष्टं वा—

कृतमुदयपरिहारो बाहले यन्त्रिरे

न सुखनिरतचित्तस्तो न चासं तपः स्यात् ॥

परिकर इह दृष्टोपक्रमेणात्र पापं

क्षिपति इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः ॥

चारित्र्याराधनां ज्ञान और दर्शनका ही अन्तर्भाव आपने दिखाया है तपका नहीं दिखाया इस शंकाका
उत्तर आचार्य आगे की गाथा में देते हैं—

अर्थ—चारित्र्य में जो उद्योग और उपयोग किया जाता है जिनेंद्र भगवान् उसकोही तप कहते हैं, यह
तप आराधना जिसने मायाका त्याग किया है उसको होती है, अर्थात् माया-कपटाचरणका त्याग कर चारित्र्य में
उद्योग करना तथा उसमें उपयोग लगाना यही तप है, ऐसा इस गाथाका भावार्थ है।

विशेषार्थ—अर्कतन्त्र्य अर्थात् मिथ्यात्यादिकका त्याग करने में जो प्रयत्न करना उसको यहाँ उद्योग कहते
हैं, जिसने सुखासात्तिको छोड़ा है वह ही चारित्र्य में प्रयत्न करता है, ऐसे प्रयत्नशील मुनिराजको वाह्य तप चारित्र्य-
प्रारंभ करनेके लिये सहायप्रदान करता है, अर्थात् अनशनादि वाह्य तप चारित्र्यका सहकारी परिकर है, इस वाक्य
तपके पालनेसे मुनिवर्गकी सब प्रकारकी सुसासक्ति नष्ट होती है, यही अभिप्राय “चाहिरतवेण होदि खु सव्या

सुहृत्सीलदा परिचिता ” इस गाथाके प्ररूपणमें आचार्य महाशय आगे कहेंगे. स्वाध्याय और श्रुतभाषनाके जो पांच भेद हैं उसमें जो हमेशा परिणति करता है वह चारित्र्यमें परिणत हो जाता है. श्रुतभाषनाके प्रभावसे आत्माका ज्ञान, दर्शन, तप और संयम ये पञ्चावस्थानों प्राप्त कर लेते हैं. “सुदभाववाए गाणं देसण तव संजमं च परिणमदि” इस नाथामें श्रुतभाषनाकी महती आचार्य आगे कहेंगे. ज्ञान, दर्शन, तप आदिमें परिणति होनाही उपयोग है. चारित्र्याचरण करते समय जो अतिचार होते हैं उसकी पञ्चापापूर्वक निंदा करना यह आलोचना है. आलोचनामें अकर्तव्योंका परिहार करनेमें आत्माका उपयोग लगता है अतएव ऐसे उपयोगको चारित्र्य कहना अयोग्य नहीं है. जब मुनिको चारित्र्य पालते समय दोष लगते हैं तब मन्त्र वचन योगसे मैने हा ! दुष्ट कार्य किया कराया व करने वालोंको अनुमोदन दिया, यह अयोग्य किया ऐसा उनके आत्माका परिणाम हो जाता है. और उस समय वे अविचारसे पराङ्मुख होते हैं अतः ऐसे आत्मपरिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं. आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंके मेलको उभय कहते हैं. अतिचारको कारणभूत ऐसे द्रव्य, क्षेत्र और कालादिकसे मनसे पृथक् रहना अर्थात् दीपोत्पादक द्रव्यादिकोंका मनसे अनादर करना यह विषेक है. यह भी आत्माका परिणामही है. जिसका त्याग करना कठिन है ऐसे शरीरसे ममत्व दूर करना अर्थात् यह शरीर मेरा नहीं है और न मैं शरीरका स्वामी हूँ ऐसी जो भाषना उसको श्रुत्सर्ग कहते हैं. अर्थात् परिग्रहत्यागके प्रति जो उपयोग है उसको श्रुत्सर्ग कहते हैं. यह मतिक्रमणादिरूप परिणाम चारित्र्यरूप है. अनवनादिक तप चारित्र्यके परिकर हैं ऐसा उपर कहा है. अतिबाधसहित चारित्र्य अचारित्र्य है ऐसा युद्धसे निश्चित कर आत्मामें चारित्र्यकी वृद्धि करना, बंदना करना, खड़े होना इत्यादि क्रियाओंमें असंयमका परिहार करके प्रवृत्त होना यह सव चारित्र्यका परिकर है. मुनिव्रत लेना अर्थात् दीक्षा धारण करना यह भी चारित्र्योपयोग है. विनयके पांच प्रकार हैं. ज्ञान विनय और दर्शन विनय ये ज्ञान व दर्शनके सहायक हैं. और उनके प्रति उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे ये अभिन्न हैं. पांचो इंद्रियोंके स्पर्श रसादिक विषयोंका त्याग तथा रागद्वेषका और कषायोंका त्याग इनका चारित्र्याधानामें अंतर्भाव होता है. अयोग्य वचन और शरीरकी अयोग्य चेष्टाओंका त्याग करना. जाना, चोलना, आहार लेना पदार्थोंका ग्रहण करना इत्यादि क्रियाओंमें बाधसहित श्रुति करना ये सब चारित्र्योपयोग हैं. अतः इस चारित्र्य विनयका चारित्र्यमें अंतर्भाव होता है. जो तपसे श्रेष्ठ है ऐसे मुनियोंमें तथा तपधर्मा में आदर रखना, किसीकी

अवहेलना न करना यह सब तपोविनय है, इसके बिना तपश्चरणमें श्रेष्ठता नहीं आती है, अतः यह तप आराधनाका परिकर है, तथा यह तप आराधना चारित्र्याराधनाका परिकर है, कपटका त्याग करके जो तप किया जाता है वही तप आराधना है।

इस प्रकार चार प्रकारकी, दोन प्रकारकी, एक प्रकारकी आराधना कही है, ये आराधनाके भेद अथवा समग्र आराधना कारण के बिना कहना योग्य नहीं है, क्योंकि पुरुष बुद्धिसे विचार कर कार्य करता है तथा उसका प्रयोजन किसी कार्य करनेमें सिद्ध होता दीखेगा तो वह उसको करनेके लिये प्रयत्न करता है, अथवा प्रयोजन सिद्धीके लिये उसके साधनोंका संग्रह प्रयत्नसे करता है, प्रयोजन सिद्ध होनेकी संभावना नहीं दीखनेपर वह कार्य करनेसे हट जाता है, अतः यह आराधना पुरुषको श्रवण कार्यमें कैसी उद्युक्त करेगी ? ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

किसी प्रकारकी वाधा जिसमें नहीं है ऐसा मोक्षका सुल प्राप्त कर लेना यह आत्माका इष्ट प्रयोजन है, उसके सिद्धिका उपाय यह आराधना ही है, अतः इस आराधनाका विवेचन निर्वर्णमुखेच्छु भव्योंका अवश्य उपयोगी होगा, ऐसा उद्देश मनमें धारण कर आचार्य आगेका प्रबंध कहते हैं, अथवा चार, दोन, एक ऐसे भेद जिसके ग्रंथकारने बताये हैं ऐसे इस आराधनामें मोक्षमुखेच्छु भव्योंको प्रवृत्ति करना योग्य है, इसके निरूपणके लिये यह उत्तर प्रबंध है, इसवास्ते आत्महितका अन्येषण-शोध करनेवाले भव्यात्माका मुक्तिमुखके लिये इसमें प्रवृत्ति करना अवश्य कार्य है इसलिये ग्रंथकारने “कादव्या सु तदर्थं आदिदिग्गवे-सिणा चैव” ऐसा उपसंहार किया है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीनोंमें कौन मुख्य है ऐसा प्रश्न किया जाने पर आचार्य चारित्र्य की मुख्यता दिखानेके लिये उत्तर गाथा कहते हैं ऐसा कितनेक विद्वान कहते हैं परंतु यह उनका कहना अयोग्य है,

अन्येऽन ध्याचक्षते ज्ञानदर्शनचार्त्रियेषु किं प्रधानमिति जोधे चारित्र्याधान्यरथापनायोत्तरसूत्रमिति तदयुक्तम् ।
 पाण्डस्त दंसणस्स य सारो चरणं हुवे जहासादं ॥
 चरणस्स तस्स सारो गिब्बाणमणुत्तरं भणियं ॥ ११ ॥

विजयोदया—'जाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहायवादे' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्यां प्रधानं चारित्रं इति प्रतिरूपपक्षेः । प्रयाणमपि कर्म(पापविमोक्षतास्ति वा न वा ? यदि नाल्लियुज्यते स्रविरोधः 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारिणाणि मोक्षमार्गः' इति सूत्रमयस्थितम् । अयोपयतास्ति ? परार्थतया युगलं ज्ञयणमिति का प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्र्यं चारित्रं तु न तदर्थमिति वक्तुं अयुक्तम् । ज्ञानदर्शनयोः साधारवाचसुपायतया चारित्रस्य चारित्रं तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्र्यमन्तरेण क्षायिकं ज्ञानं, क्षायिकं गीत-रागस्तम्यकवं चोपजायते । तस्मात्पूर्वोक्त एव उत्तरप्रत्यक्षममः । इदं सूत्रं यथाव्याख्याचारित्र्यस्वरूपं तत्फलं च गदितुं आयातम् । 'जाणस्स दंसणस्स य सारो' सारशब्दोऽज्ञातिशयितयुगलवचनः । तथा प्रयोगः—

पढमं च य विगलियमच्छेरेण युयणेण गदियसारमिम ।

दोसं मोत्तूण यद्धो भेक्कउ कल्लमिम किं अण्णं ॥

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्वेण पृथीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोषं मुनत्वा यत्कः किमन्यदशुक्लमिति गाथार्थः ॥

ज्ञानशुशीलयोरेतिशयितरूपं किं तन्मोहनीयजन्यकलंकपरहितं, चरणं चारित्रं । इये भवेत् । जहायवादे यथा-कृपाते । तथा चोक्तं—

"चारित्तं सत्तु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोसि निदिद्धो ॥

मोहक्खोहयिद्धणो परिणामो अप्पणो य तमो ॥"

इति ॥ "मोहो द्विचिधो वृद्धानमोहश्चारित्रमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्यं अश्रद्धानं शंकाकांक्षाविक्रिसान्ध्यद्वि-प्रशंसात्संस्तवकूपं । चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुनिमग्नं ज्ञानं दर्शने च यथाव्यावहारिकमित्युच्यते" इति सूत्रार्थः । चरणस्स चारित्रस्य, तस्स तस्य, यथाव्यावहारिकस्य । सारो अतिशयितं फलं साधवसाधनलक्षणसंयधनिमिता इये पृथी तेन साधफलं लब्धं, साधशब्दस्तु तस्यतिशयप्राप्तये । ततोऽयमर्थो जातः यथाकथयत्तारिप्रस्य फलमतिशयितमिति किं तत् निर्वाणं निर्वाणं विनाशः, तथा प्रयोगः—निर्वाणः प्रद्वेषो नष्ट इति यावत् । विनाशसामान्यमुपादाय धर्म्ममार्गो-ऽपि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्जातकर्मशातनसामर्थ्याभिधायिनः प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणां विनाशो द्विप्रकारः, कसिपयः प्रत्येयः सकलप्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमात्रे—अणुत्तरमिति न विद्यतेऽन्य-उत्तरमधिकं असमादित्यनुत्तरं । भगिदं उक्तं पक्वयण इति शेषः । अथवा ज्ञानप्रज्ञानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरिहार-यस्तत्र फलं तत्र सविहितो हेतुस्तत्तत्सारिज्जाराधनायां इत्येतदन्तर्भाव इत्यायातम् । इदं सूत्रं 'जाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं इवे जयायवादे' इति ॥ पाणिन्यादुःखहेतु तत्परिहारश्च अस्ति ज्ञाने यद्वाते वा न संभवति, कश्चिन्मनसो रजने अमीश्वर्यो पापक्रियाभिनवकर्मसंस्वरणं चिन्तननिरासं च विदधाति चरणमदो युक्तमुच्यते 'चरणस्स तस्स सारो विज्याणमशुत्तरं' इति ।

१ तपुस्तके खद्वय च फलमिति पाठः । २ सपुस्तके इतरान्वयार्थ इति ।

करनेपर दुर्जनको दोषोंके सिवाय कान्यमें और कौनसी वस्तु प्राप्त होगी ? यहां सार शब्दका उत्कृष्ट गुण ऐसा अर्थ किया है, प्रकृत विषयमें भी वही अर्थ करना योग्य है।

मोहनीय कर्मसे उत्पन्न हुए दोष जिसमें तिलमात्र भी नहीं है ऐसा यथाख्यात चारित्र ही ज्ञान और दर्शनका उत्कृष्ट स्वरूप है।

रागद्वेषरहित जो आत्माकी समावस्था उसको चारित्र कहते हैं, मोहका उदय न होनेसे परिणामोंमें जो निर्मलता पायी जाती है उसीको समावस्था कहते हैं, इस समावस्था को धर्म कहते हैं, इसीको ही चारित्र कहते हैं, इस विषयमें 'चारित्र तस्य धर्मो' यह गाथा प्रसिद्ध है—

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ऐसे मोहकर्मके दो भेद हैं, उसमें दर्शनमोहके उदयसे जीवादि तत्त्वों पर अभद्रान उत्पन्न होता है, इसके अंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टिस्तव ऐसे उत्तर भेद हैं, चारित्र मोहसे रागद्वेष होते हैं, इस दो प्रकारके मोहकर्मसे अलस ऐसा भद्रान और ज्ञान ही यथाख्यात चारित्र है, ऐसा 'जाणस्स दंसणस्स य' इस गाथाका अभिप्राय है।

यथाख्यात चारित्रका अतिशय फल निर्वाण है, निर्वाण शब्दका विनाश ऐसा अर्थ है, जैसे—“निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत्” दीप निर्वाण हुआ, नष्ट हुआ, यहां निर्वाण शब्दका सामान्य अर्थ नाश ऐसा है, तो भी प्रकृत विषयमें चारित्रमें जो कर्मनाश करनेका सामर्थ्य है उसका प्रयोग यहां निर्वाण शब्दसे किया है, अर्थात् कर्मका नाश करना यह चारित्रका फल है, कर्मका नाश दो प्रकारका है, १ थोड़े कर्मोंका नाश २ सर्व कर्मोंका नाश, 'णिब्ब्याणमणुषरं भणियं' अर्थात् अनुत्तर शब्दका निर्वाण शब्दसे संबंध होनेसे सर्व कर्मोंका नाश ही यहां अभिप्रेत—इष्ट है, यही यथाख्यातका सर्वोत्कृष्ट फल है ऐसा आगममें प्रतिपादन किया है

अथवा दुःखकी कारण ऐसी क्रियाओंका परिहार होना यह ज्ञान और श्रद्धाका फल है, जहां फल रहता है, यहां उपका कारण भी रहता है जैसे घट कार्य है तो उसके साथही मट्टी रूप कारण भी रहता है, उसी तरह जहां चारित्ररूपी फल अर्थात् दुःखोंके कारणोंका परिहार एतत्स्वरूपी फल है उस आत्मामें चारित्रके हेतुरूप अर्थात् फलको उत्पन्न करनेवाले ज्ञान और श्रद्धान भी रहतेही है, अतः चारित्राराधनामें ज्ञान और दर्शनाराधनाका अंतर्भाव होना है ऐसा सिद्ध हुआ।

जितनी पापयुक्त क्रियायें हैं वे सब दुःख उत्पन्न करती हैं इसका जब आत्माको ज्ञान हो जाता है व श्रद्धान हो जाता है तब आत्मा ऐसी दुःख कारक क्रियाओंका त्याग करता है. परंतु ज्ञान व श्रद्धान न हो तो ऐसी क्रियाओंसे आत्मा विरक्त नहीं होता. ऐसी क्रियाओंमें उसको आनंद होता है व कल्याणकारक क्रियाओंमें वह अप्रीति रखता है. जब ज्ञान दर्शन युक्त चारित्रकी आत्माको प्राप्ति होती है तब वह चारित्र नवीन कर्म आत्मामें नहीं आने देता व पूर्व बद्ध कर्मकी निर्जरा करता है. अतः इस चारित्रका उत्कृष्ट फल कर्मका पूर्ण विनाश करना ऐसा आचार्यका कहना योग्य ही है.

“ यद्वर्जानं दुःखहेतुभिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टव्यमाह—

चक्षुस्तु दंसणस्तस्य य सारो सप्यादिदोसपरिहरणं ॥

चक्षुस्तु होइं निरत्यं दददृण बिले पंडतस्त ॥ १२ ॥

विजयोव्यां—चक्षुस्तु दंसणस्तस्य य सारो इति । चक्षुस्तु चक्षुः । द्रव्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीते भिद्वै-
तिरपकरणं च तज्जन्यत्वाद्बहुपगोचरं विद्याने दर्शने तस्य संशोधितयाच्यते । ततोऽयमर्थो जायते—चक्षुर्जन्यायाः प्रतीतिः
सारो फले किं सप्यादिवोसपरिहरणं सर्पकंदजगदीनां स्पशंशान्दिकयायाः दुःखदयित्याः परिहारः सर्पविभिः संपादा-
दनाद् स्पशंभक्षणादिकः क्रियाविधेयः सर्पोदिवोप इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिवर्जनं, ततोयं वाक्यार्थः—यज्जानं
तदुज्जितराकरफलं यथा चक्षुर्जन्यसर्पोदिवोचरज्ञानं सर्पोदिवोचरज्ञानं सर्पोदिवोचरज्ञानं सर्पोदिवोचरज्ञानं सर्पोदिवोचरज्ञानं सर्पोदिवोचरज्ञानं
चक्षुर्जन्यत्वात् चक्षुःमूलं ज्ञानं । होदि भवति । विरहं निरर्थकं । ददृण इत्या आत्मा शिखारिकमप्रतः स्थितं,
विलम्बप्रणमुपलक्षणं उपधातुकारिणाम् । पंडतस्त फलतः पुरपस्य । अत्रापरा व्याख्या—ज्ञानदर्शनमाधातुमोपकारिचि-
शिप्रफलदायिचारित्रं इत्युक्तं । ननु आगमिणानिष्टमार्गोपदार्थो तदुक्तं ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातुं इति चेत् ज्ञानमार्गेण
प्रार्थयिद्धिः, यतो ज्ञानं नवोचिहीनं असत्समं । अत्र वस्तुनिष्ठप्रान्तदर्शनेन निगमयति—दंसणस्तस्य दंसणस्तस्य इति ।
ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारित्रस्यात्मोपकारिता कस्मिन्नेव निगदिता येनोक्तमित्युच्यते । अर्जतस्तु इति चैतन्मिथ्या
पापस्त दंसणस्तस्य य सारो चरणं इवे अहवापाद । इत्यतो वाक्यार्थिक ज्ञानदर्शनाभ्यां चारित्र्योपकारीत्ययं प्रत्ययो
जायते ? एवमिति तदनुभवोविरहमाचरतीत्युपपद्यते, न चैतच्छुक्तमित्युच्यते । किंच तस्य सूत्रस्य यत् प्रातनिका कृता
ज्ञानदर्शनचारित्र्येण किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यत्रा च विद्वज्जते । चरणस्तस्य तस्तस्य सारो
णिज्याणामनुसरं भणियं । इत्युक्तं चारित्र्यस्य समताकरूपस्य फलमोपकर्मापाय इत्युक्तं ॥

यज्ज्ञानं तदुःखनिराकरणफलं यथा बहुज्ञानमित्यन्वयदृष्टान्तं प्रकृते वसन्त्राट-
मूलार-यकदुस्त दैवणस-चक्षुर्ज्ञानस्य सारो फलं । सप्पादिदोसपरिहरणं । सर्पादीनां भुजंगकीटकादीनां
दोनो दुःखहेतु. रसर्शनभक्षणविरक्तिया सरस परिवर्जनं । चक्कू चक्षुर्ज्ञानं, गिरत्थं निष्फलं । बिले गर्वादबुधुपातहेती ॥

दुःखोंके कारणोंको दूर करना यह ज्ञानका फल है इसका अन्वय सिद्ध करनेके लिये आचार्य दृष्टांत
कहते हैं—

हिंदी अर्थ—नेत्र और उससे होनेवाला जो ज्ञान उसका फल सर्पदंष्ट, कंटकव्यथा इत्यादि दुःखोंका परिहार
करना यह है, परंतु जो विलादिक देसकर भी उसमें गिरता है उसका नेत्रज्ञान व्यर्थ है.

विशेषार्थ—यहाँ बहुत शब्दका अर्थ द्रव्यबहु ऐसा है, इस चक्कू निर्वृत्ति और उपकरण ऐसे दो भेद हैं.
उत्सर्पणुलके अंतर्लप्यभागप्रमाण नेत्रेद्रियावरणक्षोपक्षमविशिष्ट ऐसे आत्मप्रदेशोंकी जो नेत्राकार रचना होती है
वह चक्षुकी अत्यंतर निर्वृत्ति समझना चाहिये. नेत्राकार आत्मप्रदेशोंके उपर जो पुद्गलकी रचना होती है उसको
यात्रा निर्वृत्ति कहते हैं. निर्वृत्तिरूप चक्षुके संरक्षणके लिये जो कृष्ण शुक्र मंडल तथा पापनी यंगरे रचना है वह
उपकरण है. अर्थात् उपयुक्त निर्वृत्ति और उपकरणरूप नेत्रको द्रव्यबहु कहते हैं. इस चक्षुसे उत्पन्न होनेवाले
ज्ञानको यहाँदर्शन कहते हैं. दुःखनिराकरण करना यह ज्ञानका फल है, जैसे सर्पकंटक इत्यादि दुःखकारणोंका चक्षुसे
उत्पन्न हुआ ज्ञान, सर्पादिदंष्ट, कंटकादिव्यथाका परिहार करता है. अर्थात् ऐसे दोषोंसे मनुष्यको अलग रखना
यह नेत्रज्ञानका फल है. उसी तरह दुःखोत्पादक संसारकारणोंका परिहार करना यह सम्यग्ज्ञानका फल है.

यहाँ दूसरी व्याख्या ऐसी है. “ज्ञान और दर्शनसे भी आत्माका अधिक हित करनेवाला विशिष्टफलदायी
चारित्र्य है” ऐसा मत गार्ग्यमें कहा है, परंतु यहाँ ऐसी शंका उत्पन्न होती है—

“ज्ञान इष्ट मार्ग कोनसा और अनिष्ट मार्ग कोनसा है यह दिखाता है. अतः वह उपकार करता है ऐसा
कईना योग्य है.” यह कहना योग्य नहीं है. ज्ञानमात्रसे इष्ट सिद्धि नहीं होती. कारण प्रवृत्तिहीन ज्ञान नहींकि
समान है. जैसे नेत्रसे ज्ञान होकर भी वह यदि कुवेमें गिरते हुवे पुरुषको नहीं बचाता है तो वह व्यर्थ है.

यहां आचार्य उपर्युक्त व्याख्याकारको प्रश्न करते हैं—

“ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रिका आत्माके ऊपर अधिक उपकार है” ऐसा किस गायामें कहाँ है ? पूर्व गायामें कहाँ है ऐसा आप कहते हैं परन्तु यह आपका कइना सिद्धा है.

‘गाणस्स देसणस्स य सारो चरणं हवे जहावादि’ इस वाक्यसे ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रिही उपकारी है ऐसा अनुभव आता है क्या ? हाँ आता है ऐसा कहेमे तो वह अनुभवसे विरुद्ध होनेसे उसकी उपेक्षा करनी चाहिये. यदि वह अनुभव विरुद्ध नहीं है ऐसा कहोगे तो ‘कहा है’ ऐसा क्यों कहा ? और भी श्रुतिके कारण ऐसे ज्ञान, दर्शन और चारित्रि इन तीनोंमें कौन प्रधान है ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रधानका निरूपण करनेके लिये यह दृढ़ है ऐसा जो धीरेक आपने लिखा है वह भी आपके उपर्युक्त निरूपणसे विरुद्ध है.

कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थः दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमतं फलमित्यारेकायां प्रधानपुरुषार्थस्य भविलयाथाव्यवगमरूपस्य शुद्धस्य निर्व्ययनतयोपयोगितामाद्ये कर्मापायस्य—

गिव्याणस्स य सारो अब्बावाहं सुहं अणोवमियं ॥

कायव्वा हु तदुहं आदाहिदगवेसिणा चेह्वा ॥ १३ ॥

विजयोदया—गिव्याणस्स य सारो इति । निरयशेषकर्मापायस्य सारः फलं । अब्बावाहं कर्मजन्यसकल-दुःखापायः कारणभावे कार्यस्य अनुपपत्तेः । अणोवमियं उपमातीतं । कादव्वा कर्तव्या । चेह्वा श्रेया । तदुहं अव्यावाधसुखार्थम् । आदाहिदगवेसिणा आत्महितं धृगयता । क चेष्टा कार्या ? आराधनायां मृतावनतिचारश्चानन्दान चारित्र्यपरिणतिकार्या । कस्मात् ?

निर्वाणफलमाह—

मूलाय--अब्बावाहं निर्दुःखं दुःखदेवूनामश्रेयकर्षणं प्रश्रयात् । तत् एव अणोवमियं अणोपम्यं । त्वगौदि सुराणां कर्माधीनतया सव्यावाधत्वात् । तदुहं अव्यावाधसुखार्थं । आदाहिदगवेसिणा आत्महितवान्वेषिणा । चेह्वा अनुष्ठानं । प्रकृतत्वान्मरणे ज्ञानदर्शनचारित्र्यपरिणतिरूपमायापानयामिति योऽयं ।

‘नरपुंस तस्स सारो विव्वणमयुत्तरं भणियं’ इस सूत्रसे समस्तस्य चारित्र्यका संपूर्ण कर्मका नाश होना यह फल है ऐसा पूर्व भाष्यमें कहा है। परंतु कर्मका नाश होना यह पुरुषार्थ कैसा ? दुःखका नाश होना तथा इष्ट सुखकी प्राप्ति होना यही फल मानना योग्य है, ऐसी शंकाका आचार्य इस प्रकार उचर देते हैं—विसर्गमें विलमात्र भी पाया नहीं है ऐसे पुरुषार्थ रूपी सुखकी प्राप्ति होनेमें सर्व कर्मका नाश होना यह कारण है अतः वह उपयोगी है ऐसा विवेचन ग्रंथकार करते हैं—

हिंदी अर्थ—कर्मसे उत्पन्न हुए समस्त दुःखोंका अभाव होना यह संपूर्ण कर्मके नाशका फल है, कर्मही सर्व दुःखोंका जनक है अतः जब कर्मका पूर्ण क्षय होगा है तब दुःखका लेख भी नहीं रहता है, कारणके नाशसे फर्पका नाश होना यह योग्य ही है, अतः यह दुःखाभाव अर्थात् सुख अनुपम है उपमाराहित है, आत्महितका श्रेष्ठ करनेवाले सुखी जनको मरण मम्यमें ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें निरातिचार परिणति करना चाहिये, क्योंकि,

जह्मा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ॥

संज्वत्स पवयणत्स य सारो आराहणा तस्सा ॥ १४ ॥

विजयोदत्ता—जह्मा परमात् चरित्तसारो चारित्र्यस्य सारे क्वचिन्नापक्रियानिरुत्तो च प्रयत्नस्य चरणं प्रवृत्तिः परिणतिरिति चारित्र्यशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लघुः सारः फलमिति । भणिया कथिता । आराहणा आराधना । मृती भनतिधारतययता । पवयणम्मि श्रोत्र्यंते रष्ट्रेष्ट्रमाणागिर्येन जीवाद्यः पदार्थां मनेनास्तिन्येति प्रयत्नं सिनागम-स्मिन् । अतिशययत्तां प्रशंताया आराधनाया उपसंहारदुत्तरादेन संज्वत्स इत्यविना । संज्वत्स समस्तस्य । पवयणस्तल-जिनागमम् । नारो अतिशय । आराहणा आराधना व्याप्यर्णितरुपा । तस्सा तस्मात् । य शब्द एषकारार्थः स चाराध-मशब्दापरतो द्रष्टव्यः । आराधनैव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्या—यदिदुर्गकं फलं एतच्चारित्र्यमात्रादुक्तं विवित्त्यज्जयते इत्याह—जह्मा चरित्तसारो इति । किं पात्रनिरुक्तयो गायतां संवात्सुपयति न चेतीत्यत्र श्रोताः प्रमाणं । कस्मात् ? अतिशययत्तयापराधनागमेऽभिहितता यन्माय—

कस्तात् ?

मूलरा-चरित्तसारो चरित्रस्य जीवदवस्थायाविनिरतिचाररत्नत्रयप्रवर्तनस्य सारः फलं । आराहणा मरणे निरतिचाररत्नत्रयपरिणतिः । पवणगमि प्रकरणेण दृष्टप्रमाणाविरोधेन वक्ष्यते प्रतिपाद्यन्ते जीवादयो माया अनेन अस्मिन्नेति प्रवचनं जिनागमस्तास्मिन् । सारोऽविद्वयः । आराहणा आराधनैव च शब्दस्य एवकारार्थस्यात्र संबंधनाम् ॥

हिंदी अर्थ-अत्यंत य परोक्ष प्रमाणोंके अनुसार जीवादिक पयाथोंका जिसने अथवा जिसमें विवेचन किया है ऐसे जिनागममें ज्ञान, दर्शन और पापोंका परिहार रूपी चारित्र इव तीनोंमें जो पूर्ण उद्यमशील हुया है उसको आराधना रूप फल प्राप्त होता है. अब: संपूर्ण जिनागमनका आराधनाही सार है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट फल है.

यहां दूसरी व्याख्या ऐसी है-उपरकी गाथामें जो फल कहा है वह चारित्रमायसे मिलता है या विशिष्ट चारित्रसे ? उत्तर विशिष्ट चारित्रसे मिलता है---

अग्रा चरित्रसारो इत द्रव्यके उपर जो क्षीर्पक आपने लिखा है उसका अभिप्राय गाथाके अभिप्रायसे मिलता जुलता है या नहीं इसमें हम श्रोताओंको ही प्रमाण समझते हैं. क्योंकि आयममें आराधना सर्वोत्कृष्ट फलरूप है ऐसा कहा है.

सुचिरमपि निरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ॥

मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ विहो ॥ १५ ॥

विजयोदया-सुचिरं अतिचिरकालमपि । निरदिचारं अतिचारमंतरेण । विहरित्ता विहृत्य । क ? णाणदंसण-चरित्ते याने शब्दाने समतायां च । मरणे भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता एतन्नयपरिणामाविवनाय मिथ्यावशेन ज्ञाने ऽसंयमे परिणतो भूत्वा । अणतसंसारिओ अंततमवर्णार्थपरिवर्तने उच्यतः । विहो दृष्टः । देशेन पूर्वोक्तोक्तिफलं अनतिचाररत्नत्रयमप्युपानामपि मरणकाले ततः प्रच्युतानां मुक्त्यमात्रं संसारि चिरपरिनिष्क्रमणकथनव्याज्जन दर्शयति सूचकारः ।

कश्मादतिदणवचया मरणे आराधनगमेऽभिहितेति चेत् यस्मात्—

मूढारा-दुधिरमवि अष्टवर्षाणामूर्ध्वकोटिकात्मवि । विहरिता परिणतो भूत्वा मरणे भवपर्यायनिनाशे वर्तमान इति शेषः । विरहद्विषा-रत्नतयपरिणतिं विनाश्य मिथ्याज्ञानासंशयेषु परिणतो भूत्वेत्यर्थः । अनन्तसंसारिणो अनन्तभव पर्यायपरिवर्तने उद्यतः ॥

हिंदी अर्थ-चिरकालपर्यंत भी ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें निरतिचार प्रवृत्ति कर मनुष्यभव छोड़नेके समयमें यदि रत्नत्रय परिणामसे यह जीव अष्ट वर्षा होगा अर्थात् रत्नत्रयपरिणामोंका नाश कर मिथ्यादर्शन, ज्ञान और असंयममें परिणत होगा तो अनन्तसंसार युक्त हो जाता है अर्थात् अनन्तभवके पर्याय धारण करनेवाला होता है, जिन्होंने देशीन पूर्व कोटिकाल पर्यंत निरतिचार रत्नत्रयका पालन किया परंतु मरणसमयमें वे उससे अष्ट होगये तो उनको मुक्तिका अभाव होता है यह संसारमें चिरकाल परिभ्रमणके कथनके निमित्तसे आचार्यने दिखाया है.

भट्टपणतमिष्यात्स्य अविच्छिन्नचित्चारित्रस्यापि परीपहरतिस्वादुपगतसंक्षेपस्य महती संवृत्तिरिति भयोप-
दर्शनेन संक्षेपः परित्याज्यः इति निगदति सूत्रकारः ।

समिदीष्टु य गुचीसु य दंसणणणे य णिरदिचारणं ॥

आसादणबहुलाणं उक्खसं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अभितगदिआरा- समितिगुत्तिसंज्ञानदर्शनादित्रयेयिनाम् ॥

प्रवर्तितापवादानां जायते महदंतरम् ॥ १९ ॥

विजयोदया—समिदीष्टु य इत्यदिना अन्ये व्याचक्षते—“ उक्तस्यानन्तसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गथा, अमंतस्यानन्तविकल्पवत्त्वात् अनन्तविशेषः प्रतिपादनीयः ” अस्यां व्याख्याया उक्तस्य अंतरं होई त्वेतावदुपयुज्यते । इतरस्य पचनसंदर्भस्य अमर्थकायं प्रसज्यते इति । समिदीष्टु य सव्यगमनादिषु अयं समितिः, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु दृष्टिः समितिः । साधययोगेभ्य आत्मनो गोपने गुप्तिः । वस्तुवाचात्स्यथज्ञान दर्शने । अपेतमिथ्या-

त्यकलंकृतात्मनो चरुतुल्यवपुश्चिन्तनं मत्प्राप्तिसायोपयामिकं ज्ञानं । साधिके सति ज्ञाने आसादनाया असंभवः । मोहजन्यात्वात्संक्षेपात्, मोहस्य च केवलज्ञानोपपत्तेः प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्तं—‘मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनवर्णा-
न्तरायक्षयाच्च केवलम्’ इति । वीतरागसम्यक्त्वं च नेह श्रुतिम् । मोहप्रलयमन्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईदृशमितरेतिचारः मंदोलोक्तमनं, पदविन्यासवैशाल्यं सम्यगनालोचनम्, अन्यतचित्तादिकम् । इदं वचनं मम गदितुं युक्तं न चेति अनालोच्य भाषणं, अज्ञात्वा वा । अत एवोक्तं ‘अपुष्टो दुष्ण आलेख्य भासमानस्त अंतरे’ इति अपुष्ट धृतधर्मतया मुनिः अपुष्ट इत्युच्यते । आणसमितिप्रक्रमानभिज्ञो मौनं श्रुतीयात् रूपधेः । पयमादिको आणस-
मित्यतिचारः । उद्गमदिदेषे श्रुतिं भोजनमनुभवत यवसा, कण्ठेन वा प्रश्लेषा, तैः सहवासः, क्रियास्तु प्रवर्तनं वा यपणासमितेरतीचारः । अतएवस्य वा अनालोचनं, किमत्र अंतवः सन्ति न सति धेति दुःप्रमाणं वा भाष्यमनिक्षेपणसमित्यतिचारः । क्षापयुष्यशोधनं, मलसंपातदेधानिरूपणादि, पवनसंमिश्रशक्तिनम्रादिदूकमेण श्रुतिश्च प्रतिष्ठापनासमित्यतिचारः ॥ असमाहितचित्ततया कार्त्तिकशनिश्रुतिः सायगुहैरतिवारः । एरूपश्रुतिज्ञानं वा जन-
संचरणवैशे, अशुभप्रधानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता । आसामात्मप्रतिर्गियाभिमुखतया वा श्वराघनाव्यापृत श्वाय-
ज्ञानं । सखिचभूमौ संपतस्तु समंततः असौषु महति वा यते इतिदु, रोयाद्वा इर्पत्पूर्णा भयस्थानं निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः । कायश्रुतिरित्यसिन्ध्वे हाटीरममताया अपरितयागः कायोत्सर्गदीपो वा कायगुहैरतिचारः । रागादिसंहिता साध्याये श्रुतिर्मनोगुहैरतिचारः । शंजाकांशाधिचिकिःसात्पदष्टिमंशसांसत्तवाः सम्पददर्शनातीवाराः । प्रपक्षेष्कालभाषश्रुतिर्मन्तरेण ध्रुतस्य पठनं प्रुताविचारः । अलएवददीनां न्यूनताकरणं, अतिशुद्धिरूपं, विपरीत-
पीचां पर्येवनाविपरीताधनिरूपणा ग्रंथार्थेदीपरीत्यं अमी ज्ञानातिचाराः । उक्तातिचारियेगमो निरतिवारता चादि-
वादीनाम् । मरणकाले रक्षात्रयपरिणामाभावे दीप उक्तः ॥

रत्नत्रयसुखस्यपि मरणे परीयद्वाभाषादुपगतसंक्षेपात् महती संश्रुतिरिति भयोपदेशेन संक्षेपस्य परित्याज्यतो
वक्तुमाह—

मूढारि-नन्वेवन्तक्षान्त्वविकल्पत्वादुक्तत्वात्तत्संसारस्य प्रमाणप्रतिपातनार्थं साधेयमित्यन्ये व्यावक्षते । तदयुक्तं । तत्र क्वचित् अंतर्दं होदि एतेवाप-यात्रस्वयौपयोगित्वात् इतरस्य भवनसंदर्भस्य अन्तर्धेकत्वप्रसंगात् । पूर्व-
गाथायाः संवादगाथेयमिति तयसंविषादाः । समिदीशु-सम्यक्कृतनिरूपितक्रमेण गमनादिप्रयत्नमिति प्रवृत्तिः समितिः ।

१ एव पुस्तके अपुष्टधृतधर्मतया मुनिरपुष्ट इति पाठः

गात्र समितिषु ईर्ष्यामित्यादिषु पंचमु । शुचीषु साधययोगेभ्य व्याख्यनो गोपनं रक्षणं निवारणं युधिः तासु कायगुल्या-
दिषु विपुषु । इंतण्णोपे वरानमत्र सधमसम्पत्त्वं ज्ञानं च क्षायोपशमिकं ज्ञातं तयोरेव असावनायाः संभवान् । वीतराग
गम्यरत्नश्रायिष्ठज्ञानयोगोद्धारणायप्रभवत्वेन तदभावात् । संक्षुब्धस्य मोहजन्यत्वेन तदभावस्तत्रावर्तनात् । पिरदिचारणं
मादात्म्यापकर्षहेतुः परिणामसम्याधिष्ठातृज्ञानं । तत्र ईयसिधितेति चारो भंडालोके गमनं पदविन्यासदेशस्य सम्यग-
नालोचनं, अन्यत्र गतचित्तत्वादिकं च । भाषासमितिरेदिं भवो वक्तुं मम युक्तं न वेत्यनालोच्यज्ञात्वा या भाषण-
मित्यादिकः ॥ एरणसमितेरुद्रमादिदोषोपहतभोजनस्य भनोवाक्कायैः करणकारणानुसोदनानि, तरकादिभिः सह
संयासो वा । आदाननिक्षेपणसमितेराद्येभ्यस्य स्वाप्यस्य वा किमत्र लभ्यतः सन्ति न सन्ति वेदनालोचनं । बुध्नमाजैन
मन्नमाजैनं च । प्रतिष्ठापनासमितेः कायभूयस्यसोचनं, यत्संपादयेयानिरूपणमित्यादिकः ॥ कायगुतेरसमाहितचित्ततया
कायक्रियानियुक्तिर्जनसंयरणदेशे एकपादादिना अवस्थानमनुभयानाभितिविष्टस्य निश्चलत्वमाप्तभासश्रद्धिदिश्यामिमुल
तया तदाराधनाख्यातृत्येवावस्थानं ॥ सपितृभूम्यादौ दोषाद्वैद्यादनिश्चला स्थितिः । कायोत्सर्गे तदोषाः कायममत्वा
रथागो वेत्यादिकः । मनोगुते एगादिसहिता स्वाध्याये युधिः । धर्मेण्य शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिश्रद्धासांस्रत
यादिकः । ज्ञानस्य ब्रह्मादिदृष्टिं विनाप्ययनं, पर्यवदादीनां न्यूनाधिकत्वद्वरणं, विपरीतयोर्वोपर्येचना, विपरीतार्थनिरूपणं,
मंथार्थयोर्वैपरीत्यं, सदैवविपर्ययात्मन्यवसाया वा । समीचीनं य च क्षम्यद्वारेषु च । शुचीषु य च शब्दास्तपसि च ।
आसादाजनपुल्लणं भरणाळे वरीषहपरान्वात्समित्यदिषु पुनः पुनः संक्लेष कुर्वतां । एकसं अंतरं अर्द्धपुल्लपरिवर्तन
कालमात्रमंतर्गतं । मरणे रत्नत्रयाच्छयुगाः पुनस्तावति फाले अतिक्रान्ते तद्वर्तते इति भावः ॥

जो निष्पत्यको प्राप्त नहीं हुआ है, जिसका चारित्र्य दृढ़ है ऐसा भी मुनि परीषहके मयसे यदि संक्लेष
परिणामी होगा तो उसको दीर्घकाल तक संसारमय रहेगा अतः संक्लेष परिणामोंका त्याग करना चाहिये
ऐसा प्रयत्न करेते हैं।

हिंदी अर्थ-ईर्ष्यामितादि पांच समिति, मनोगुल्यादि पांच युधि, सम्बन्धजन और ज्ञान ऐसे
आत्महितकारक आचरणोंमें जो संक्लेष परिणाम रखते हैं, इनमें जो अविचार लगाते हैं वे मुनि दीर्घकालतक
संसारभ्रमण करते हैं।

विद्येय—यहाँ कोई आचार्य उपर्युक्त गायामें, 'अनंतसंसारिओ होदि' ऐसा शब्द आया है उसका खुलासा करनेके लिये यह गाया है ऐसा कहते हैं. अनंतसंस्थाके अनंत विकल्प होते हैं अतः उपर्युक्त अनंत संसारका प्रमाण दिखानेके लिये यह गाया है ऐसा कोई आचार्योका कथन है परन्तु यह अयुक्त है. यदि इतना ही अभिप्राय होता तो 'उक्कस्सं अंतरं होदि' इतना ही वाक्य उपयुक्त है ऐसा समझकर गायोके तीन चरण व्यर्थ है ऐसा मानना पड़ेगा. अतः पूर्व गायोका स्पष्टीकरण और सत्यताका समर्थन करनेके लिये यह गाया है अर्थात् संक्षेप परिणाम रखनेका फल दिखानेका उद्देश इस गायामें ग्रंथकर्ताने लिखा है ऐसा समझना चाहिये.

गमन, भाषण, आहार, वस्तु रखना, उठा लेना, मतभूषादिक क्षेपण करना ऐसे कार्यमें श्रुतज्ञानमें—आगममें ऐसी प्रवृत्ति करनेका वर्णन किया है वंसीहि मनुचि रखना उसको समिति कहते हैं. अर्थात् प्राणि हिंसा न हो, उनका संरक्षण हो इस तरहसे प्रवृत्ति करना वह समिति है.

मनवचनकायकी अश्रुम प्रवृत्तीसे आत्माको दूर रखना अर्थात् अश्रुम प्रवृत्तीको छोड़ देना यह गुति है. जीवादितत्वोंपर वयार्थ भ्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है. जिससे विध्यात्वदोष दृष्ट गया है ऐसे जीवको वस्तुके स्वरूपका जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है. उसके यहाँ मति, धृत, अवधि, मनः पर्यय ऐसे चार भेद मानने चाहिये. ये ज्ञानभेद क्षायोपशमिक हैं. धाविकज्ञानमें आसादना नहीं रहती है. क्योंकि, मोहजन्य संक्षेपपरिणाम और मोहफल फेवलज्ञान उत्पन्न होनेके पूर्व ही वष्ट होते हैं. 'मोहध्वज्याज्ञानदर्शनावरणान्तरायश्चायं केवलं' ऐसा सूत्रफार उमास्थामीका भी वचन है. इसवास्ते यहाँ केवलज्ञानका ग्रहण नहीं किया है. वीतराग सम्यग्दत्वका भी यहाँ ग्रहण नहीं किया है क्योंकि वह भी मोहका नाश हुये बिना होता नहीं.

ईयांसमितीके अतिचार—सूर्यके मंदप्रकाशमें गमन करना, जहाँ पांव रखना हो वह जगह नेत्रसे अच्छी तरहसे न देखना, इतर कार्यमें मन लगना इत्यादि.

मायासमितीके अतिचार—यह भाषण बोलना योग्य है अथवा नहीं इसका विचार न कर बोलना. वस्तुका स्वरूपज्ञान न होनेपर भी बोलना. ग्रंथांतरमें भी 'अपुहो दु ण मासेज्ज मासमाणस्स अनेरे' कोई मनुष्य बोल रहा है और अपनेको प्रकटण, विषय मादृश नहीं है तो बीचमें बोलना अयोग्य है. जिसने धर्मका स्वरूप सुना

नहीं अथवा धर्मस्वरूपका जिसको पूर्णतया ज्ञान नहीं है ऐसे छुनिको अपुष्ट कहते हैं। भाषासमितिका क्रम जो जानता नहीं वह मीन धारण करे ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना। इस तरह भाषासमितिके अतिचार है।

एषणासमिति के अविचार, ऐसे आधारस्त्री ग्रंथोंसा करनेवालोंके साथ रहना, प्रशंसादि कार्यमें दूसरोंको प्रवृत्त करना, उनकी प्रशंसा करना, ऐसे आधारस्त्री ग्रंथोंसा करनेवालोंके साथ रहना, प्रशंसादि कार्यमें दूसरोंको प्रवृत्त करना।

आदाननिक्षेपणसमिति के अविचार—जो चीज लेनी है अथवा रखनी है वह लेते समय अथवा रखते समय इसमें जीव है या नहीं इसका खयाल-ध्यान नहीं रखना। तथा अच्छी तरहसे जमीन व वस्तु स्वच्छ न करना।

प्रतिष्ठापन समिति के अविचार—शरीर व जमीन पिच्छिकासे न पोछना, मलमूत्रादिक जहाँ क्षेपण करना है वह स्थान न देखना।

मनकी एकाग्रता बिना शरीरकी चेष्टायें बंद करना काग शुभिका अतिचार है। जहाँ लोक भ्रमण करते हैं ऐसे स्थानमें एक पाव उपर कर खड़े रहना, एक हाथ उपर कर खड़े रहना। मनमें अशुभ संकल्प करते हुए अनिश्चल रहना। आत्माभास-शरीरादिक की शक्तियोंके सामने मानो उसकी आराधना ही कर रहे हैं इस दंगसे खड़े रहना या बैठना। सचित्त जमीनपर जहाँ कि वीज अंडुरादिक पड़े है ऐसे स्थलपर रोपते, वा दर्पसे निश्चल बैठना अथवा खड़े रहना। ये कायगुती के अतीचार हैं। कायोत्सर्गकी भी गुप्ति कहते हैं अतः शरीरसमताका त्याग न करना, किंवा कायोत्सर्गके दोषोंको न त्यागना ये भी कायगुती के अतिचार हैं। रागादिविकार सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना, मनोगुप्तिके अतिचार हैं।

दंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि मर्दसा, संस्तव ये पांच सम्यग्दर्शनके अविचार हैं। इसका सुलसा आगे आचार्य करेंगे।

द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धि, मात्र शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि इन शुद्धिओंके बिना शास्त्रका पठन करता यह भुतातिचार है। जखर, शुब्द, वाक्य, चरण इत्यादिकोंको कम करना, बढ़ाना, पीछेका संदर्भ आगे लेना, आगेका पीछे करना, निपरीत अर्थका निरूपण करना, ग्रंथ व अर्थमें विपरीतता करना ये सब ज्ञानातिचार हैं। संदेह, विपर्यय, अनध्ययसाय ये भी ज्ञानके अविचार हैं। उपर्युक्त अतिचारोंसे समितिगुण्यादिक रहित होनेसे चारित्रादिकोंमें निर्मलता आती है।

इदानींभाराधनाफलतितिशयक्यापनाथाह—

दिष्टा अणादिभिच्छादिष्टी जह्या खणेण सिद्धा य ॥

आराह्या चरितस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

चारित्राराधने सिद्धाच्चिराभित्यात्वभाविताः ॥

क्षणादृष्टा यतः सूत्रे चारित्राराधना ततः ॥ २० ॥

विशयोक्त्या—दिष्टा दयतादिकं । दिष्टा दृष्टा उपलब्धाः । अणादिभिच्छादिष्टी अनादिभिष्यादृष्टयः । भक्षणादयो राजपुत्रास्तास्मिन्नेव ग्रये प्रसतामापन्नाः अत एवानादिभिष्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः । जह्या यस्मादशनेन क्षणप्रभूणे फालक्ष्याशयाद्योपलक्षणार्थम् अभ्यया खणस्यात्यकालतया कर्मशातनस्य कर्तुमशक्यत्वात् सकलकर्मशातनपुरस्सरं सिद्धयमेव न दयात् । सिद्धा य सिद्धाश्च परिग्रामाशेषजानादिसमाधाः, अशब्देन निरस्तद्रूप भावकर्मसंहृतयश्च, दृष्टा आराधनासंयादिकाः । चरितसरस चारित्रस्य । चारित्रप्रहणं रत्नत्रयोपलक्षणं । एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येवमप्यारयानं निरस्तं । चारित्रादाराधनास्तत्रस्य नायं प्रस्तायः । आयुरंते रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रकांतं स्तौतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौतीति ।

एवं मरणसमये रत्नत्रयविराधनाया दोषं प्रकाशयेदानीं तदाराधनायाः फलतिसम्यं प्रकाशयति—

मूलारा—अणादिभिच्छादिष्टी अनादिकालं भिध्याद्योदयोद्वेफान्तिस्मिभोवयोयमनुभूय भरतस्योक्तिणः पुत्रा भूत्वा भद्रवि-
बद्धेनादयक्योर्विशालवधिकनयप्रशस्तं तयाः पुत्रद्वैतपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः खणेण अल्पकालेनैव सिद्धा य
सिद्धाः संश्रान्तं ज्ञानादिरासमाकाशान्दाजिररत्नत्रयभाषकर्मसंहृतयश्च । चरितस्स रत्नत्रयस्य । तेण तेन कारणेन
आराहणा आयुरन्ध्रे रत्नत्रयपरिणतिः । सारो सर्वोपरणानां परमावरणम् ।

मरणकालमे रत्नत्रयपरिणति न होनेसे दीर्घकालपर्यंत संसारअमण करना पडता है इस दोषका वर्णन किया. अब आराधनाके फलका माहात्म्य कहेनेके लिये ग्रंथकार कहते हैं—

।हिंदी अर्थ—चारित्र्यकी आराधना करनेवाले अनादि मिथ्यादृष्टी जीव भी अल्पकालमें संपूर्ण कर्मोंका नाश करके मुक्त हो गये ऐसा देखा गया है, अतः जीवोंको आराधनाका अपूर्व फल मिलता है, ऐसा समझना चाहिये.

माध्याह्निक—अनादिकालसे मिथ्यात्वका तीव्र उदय होनेसे अनादिकाल पर्यंत चिन्होंने नित्य निगोदपर्यायका अनुभव लिया था ऐसे नउछे तेवीस जीव निगोदपर्याय छोड़कर मरत चक्रवर्तिके मद्रविवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे. उनको आदिपुत्रानके समवसरणमें द्वादशांग वाणीका सार सुननेसे वैराग्य होगया. ये राजपुत्र इसही सबसे व्रतपर्यायको प्राप्त हुये थे. इन्होंने जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयाराधनासे अल्पकालमें ही मोक्ष लाभ किया. अर्थात् मरणसमयमें इन्होंने रत्नत्रयकी विराधना नहीं की इसलिये उनको आराधनाका उत्कृष्ट फल-मोक्ष प्राप्त हुआ. ऐसे अनादि मिथ्यादृष्टिओंका भी रत्नत्रयसे सर्व कर्म नष्ट होता है व अनेक ज्ञानादिगुणरूप सिद्धत्व प्राप्त होता है.

माध्याह्निक 'चारित्र्यस य आराहया' यह शब्द है. चारित्र्यका अर्थ यहाँ रत्नत्रय ऐसा समझना चाहिये. अतः 'चारित्र्याराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा कोई व्याख्यान करते हैं उनका खंडन हो गया. क्योंकि यहाँ चारित्र्याराधनाका महत्त्व वतानेका प्रसंग नहीं है. आयुके अंतमें रत्नत्रय परिणामकी विराधना नहीं करना चाहिये यह अभिप्राय इस ग्रंथमें कहा है. अतः 'चारित्र्याराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा व्याख्यान करना योग्य नहीं है.

'साधरस पवणरस य सारो आराहणा उक्षा' इति बहुच्यते, वस्तिश्रेय काले मरणं तस्मिन्नेव काले रजश्चपरिणतेन भास्यं दितायिना अन्यदा किमिति चारित्रे तपसि च प्रयासः क्रियते इति शिष्यशोकानुपपन्नस्यति सूत्रकारः—

जदि पवणरस सारो मरणे आराहणा हवदि विष्टा ॥
किं दाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरित्ते य ॥ १८ ॥

मृतावाराधनासारो यदि प्रवचने मनः ॥
किमिदानीं सदा यत्नश्चतुरंगे विधीयते ॥

विज्ञयोदया—अदि एतयणस्स इत्यादिना । पवणयस्स प्रवचनस्य । सारो अतिशय इति । मरणे आयुरेते । आराहणा आराधना रत्नत्रयपरिणतिः । अदि दिष्टा इति पदसंबन्धः ययुलब्ध्या । इवदि भवेत् । किंदाई निमिदानीं । सेसफाले मरणकालादन्यः कालः शेषकालस्तत्र अवदि प्रयत्नं क्रियते । न तवे तपसि । चरिसे सामायिमादिने सत्त्वयन्त्रियापरिहारात्मके । चत्तादत्तात् क्षानदर्शनयोश्च । एतदुक्तं भवति—ग्रहणकालादिषु भावित-रत्नत्रयस्यापि मरणे तदभावे यदि न सिद्धिः, अरुतभावनस्यापि मृतौ रत्नत्रयसांनिध्यादस्या सिद्धिर्यदि भवति मरण-कालपर्यन्तरत्नत्रयमेव नियोजित्विरुत्त्यापन्नं ततश्च शेषकाले प्रयासो विफल इति । अस्योत्तरं—मरणे या विरा-धना सा महर्त्ता संवृतिमावहति । अन्यदा जातायामपि विराधनायां मृतिकाले एतत्रयोपगतौ संसारोच्छिन्नसमयत्वेव ततो मरणकाले प्रयत्नः कार्य इत्यस्माभिरुपन्यस्तं । इतरकालवृत्तं तु रत्न-त्रये संवरनिर्जरयोर्घातिकर्मणां च क्षयकारणनिमित्तं इतीष्यत एव । तथा चोक्तं—‘सम्यन्ददिध्यावकविरतान्तधियोज-कदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिताः क्रमशो ऽसंख्येयगुणनिर्जराः’ इति एतेषामसंख्यावयुगुणनिर्जरा-सम्यक्दर्शनाविरगुणनिमित्तान्तरात्कथनफलता ।

अत्राह विष्णुः—

मूलारा—किं दाई किमिदानीं । सेसकोल मरणकालादन्यत्र ग्रहणशिक्षाप्रवित्सवनाभावनासेहसनाफालेखि-त्यर्थः । जविक्कादि यत्नः कियते । चरिसे थ च रुद्धावस्थाने दर्शने च । इदमत्र तात्पर्यं ग्रहणादिषु भावितेऽपि रत्नत्रये मुनावभाविने यदि सिद्धिर्न स्यादन्यदा तदभावेऽपि मरणे तत्परिणतौ सा स्वात्तदा सान्यदा मयेव भवेत् । मरणकालव-र्तिन एव रत्नत्रयस्य निर्वाणहेतुत्वापत्तेः । अत्रोच्यते—मृतौ विराधनां महर्त्ता संसृतिमावहत्यन्वदा पुनर्जातायामपि तस्यां श्रुतावाराधनायां भयोक्छेदो भवत्येव । ततो मरणे तत्र प्रयतितव्यमित्यस्माभिरुपन्यस्तम् । ग्रहणादिकालभाविनं ॥ रत्नत्रय-मन्वरमवेदस्य अष्टुपकर्मणां संवरनिर्जरयोश्चरमवेदस्य च घातिकर्मक्षयेऽपि निमित्तमित्येतेऽपि एव । तथा चोक्तं—सम्यग्द-दिभावकविरतान्तधियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिताः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ इति । तदुचोचमचोदि त्वया ।

सर्वं द्वादशांगका सार आराधना है, ऐसा आपने कहा है, अतः मरण कालमेंही हितायीं पुरुषको रत्नत्रयकी आराधना करना योग्य है, अन्य कालमें चारित्र और तपमें क्यों प्रयास किया जाता है, ऐसी शिष्यकी शंका आनेके, माथामें आचार्य प्रगट करते हैं—

हिंदी अर्थ—आगमका सार ऐसी रत्नत्रयपरिणति मरण कालमें यदि होती हुई देखी जाती है तो मरणकालसे भिन्न कालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहण, शिक्षा ग्रहण, गण पोषण, आत्म संस्कार इत्यादि कालमें चारित्र और तपश्चरणमें मयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् अनशनदिक तप, सामायिकादिक चारित्र और सम्पन्नान, सम्पद्दर्शन इन्हीं प्रवृत्ति करता व्यर्थ है. दीक्षा, शिक्षा वगैरे कालमें रत्नत्रयकी आराधना करने पर भी मरणकालमें यदि रत्नत्रयकी आराधना न हो तो सिद्धिप्राप्ति नहीं होती है. और यदि अन्यकालमें रत्नत्रयभावना नहीं की और मरणकालमें रत्नत्रयाराधनासे मोक्ष प्राप्त हो गया तो मरणकालीन रत्नत्रयही मोक्षका कारण है ऐसा सिद्ध होता है. अतः द्वैपकालमें रत्नत्रयाराधना करना निष्फलही है, प्रथम भावही है.

इस शंकाका उत्तर—मरणसमयमें रत्नत्रयकी विराधना करनेसे विराधकको दीर्घ कालवक संसारमें भ्रमण करना पड़ता है. परंतु दीक्षादि कालमें विराधना होगई हो तो भी मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जानेसे संसारका नाश हो जाता है अतः मरणकालमें रत्नत्रयमें परिणति करनी चाहिये ऐसा हमारा अभिप्राय है. इतर कालमें रत्नत्रयाराधना की तो यह विफल नहीं होती है. उससे कर्मका संवर और निर्जरा होती है. तथा याति कर्मका क्षय करनेमें यह निमित्त होनी ऐसा हम समझते हैं. “सम्पद्दिशालकविरतानंतविभोजकदर्शनमोह क्षपरोपशान्तमोहक्षपकशीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः” सम्पद्दष्टि, श्रावक, विरत इत्यादिक व्यक्तियोंको सम्पद्दर्शनादि गुणोंसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुण रूपसे निर्जरा होती है ऐसा यत्नकर उभास्याम्याचार्य कहते हैं. अतः दीक्षा शिक्षादि कालमें रत्नत्रयाराधना धर्म नहीं है. श्राविक सम्पद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यत्न तब साध्य इतर कालीनभावनासे भी प्राप्त होते हैं अतः व्यर्थ नहीं है. अतः तुम्हारे प्रश्नके अनुसार भी शंकाका परिहार करना शक्य है. यही वाच आगेके भाषाओंमें दिखते हैं—

श्राविक सभ्यपत्यं सानं चारित्रं च यत्साध्यं तदपि लभ्यताम्यत एव इतरकालवृत्त्यापि भावयता । तदेव बोधं वोपते इति चेत्तसि इत्या क्षुरिचोपातुक्षोणेपि परिहर्तुं नुम्यते इत्याचष्टे ॥

आराहणापु कञ्चे परियम्मं सन्वदा वि कायब्बं ॥

परियम्ममाविदुस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ ॥ १९ ॥

परिकर्म विधातव्यं सर्वदाराधनार्थना ॥

मुसाध्याराधना तेन भावितस्य प्रजायते ॥ २२ ॥

विष्णवेत्या—आराधनाए कळजे इति । आराधनाशब्दः सम्यग्दर्शनादिपरिणामसंसिद्धिमनाश्रितकालभेदां प्रतिपादयितुं उच्यते इति । अत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वाद् प्ररुणानुत्तेजनं तद्विरयायमेवाराधनार्थां प्रयुक्तो गृह्यते । ततोऽयमर्थः—सृष्टिकालोत्तररत्नत्रयसिद्धयर्थं परियमं परिकर्म । सन्ध्या सर्वसिद्धिप्राप्ते—प्रदूषणकालः, शिक्षाकालः, प्रतिस्वनाकालः संक्षेपनाकालश्च । सर्वशब्देन गृह्यते । करणिज्जे अचक्षुकरणीयं । कुतोऽयं नियोग इत्याक्षेप्याद्—परिकर्ममाविदस्स खु परिकरेण भावितस्यैव खु शब्दोऽवधारणार्थः । सुखसज्जा होवि सुखेन क्लेशान्तरेण साध्या भवति । का आराधना आराधना भुतिगोचरा ॥

तथापि तदनुसारेणापि परिकर्तुं शक्यते इतीवमुच्यते ।

मूळारा—आराधनाए कळजे—सृष्टिकालोत्तररत्नत्रयसंसिद्धयर्थं । परियमं—परिकरः सम्पत्कलाद्यनुष्ठानं । सन्ध्या दि—दीक्षाशिक्षागणपौषणात्मसंस्कारसंक्षेपनाकालेषु । करणिज्जं अवश्यमेव कर्तव्यम् । खु एवार्थे परिकर्मभा-वितरयैवेत्यर्थः । येन हि यत्साध्यं तेन तत्पूर्वं परिकरो नियेज्यः ।

हिंदी अर्थ—मरणसमयमें रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शनादि साधनकलापकी अवश्य प्राप्ति कर लेना चाहिये. अर्थात् दीक्षा, शिक्षा, गणपौषण, आत्मसंस्कार, संक्षेपना इत्यादिकालमें सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति कर लेना कर्तव्य है. जिसने दीक्षादिकालोंमें सम्यग्दर्शनादिको भी अच्छी भावना-अभ्यास की है उसको मरणसमयमें बिना छेड़के रत्नत्रयाधना सिद्ध होगी.

येन हि यत्साध्यं तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमुं अर्थं दृष्टान्त्येन साधयितुमुत्तरसूत्रम् । तथा च यदंति 'दृष्टान्तसिद्धान्तमयोर्विचारे साध्यं प्रसिद्धेव' इति ।

अहं रायकुलपसूओ जोगां पिचमवि कुणइ परिकम्मं ॥

तो जिवकरणो जुद्धे कम्मसमत्यो भविस्सदि हि ॥ २०

राजन्य सर्वदा योग्यां विदधानः परिश्रियाम् ॥
शक्तो जितश्रीमीश्वरः समरे जायते यथा ॥ २३ ॥

विजयोदया—जह यथा। राजकुलपक्षो राजपुत्रः। जोगं योग्यं। प्रहरणक्रियायाः परित्यगं परिक्रमं परिकरं। विजयमपि समरकालात्प्राप्तमिति विवक्ष्यते। कुण्ठि करोति। तो ततः पश्चात्। निदकरणे क्रियते रूपविशेषात् विद्वत्सदृशमिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यते कचित्करणशब्देन। अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यवतिशयितं साधकं तत्करणमिति साधकतममाश्रय्यते। क्वचित्तु विद्यासाधन्यवचनः यथा गुरुश्रु करणे इति। अत्र क्रियायाची गृहीतः। जितराजद्वय स्ववशीकरणशुचिस्तथा जितनायः स्ववशीकृतपार्षः इति गम्यते। तेनायमर्थः स्ववशीकृतक्रियः सन् बुद्धे युद्धे समरे। कर्मसमर्थो कर्मसमर्थः। कर्मदात्रो उक्तार्थः। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाथैर्ब्रह्मतत्त्वविद्याविसामर्थ्यासितानि क्रियते इति कर्माणि ज्ञानपरणादीनि। कर्तुः क्रियाया व्यापकत्वेन विनाशितमपि कर्म, यथा कर्मणि द्वितीयेति। तथा क्रियायवन्नोऽपि मस्ति, तौ कर्म करोति? कौ क्रियामित्यर्थः। इह क्रियायाची गृहीतः। सा यात्र क्रियाऽध्यवचनप्रहरणताडनादिका सस्यां, समर्थो भविस्त्विति समर्थो भविष्यामीति ॥ यो यत्तापयितुं बांछति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयत्ने, यथा रिपुनिहन्तुनामो हननकर्मोपायं भज्यदिशं करोति इत्येतायामर्थोऽन्यथा ग्राह्यता दर्शितः।

कोऽत्र दृष्टान्त इति चेदुच्यते—

मूलारा—जोगं युद्धयोग्यं। गिच्छन्मयि युद्धकालात्मात् प्रतियोग्यसन्धि। परित्यग्न श्लाघाभ्यासे। तो पश्चात्। निदकरणो स्ववशीकृतक्रियाः सन्। कर्मसमर्थो व्यपनादिकार्यश्रमः। भविस्त्विति अहं भविष्यामीति मत्वा।

जित गुरुपक्षो लो कार्यं मिद्व करना है वह उसके कारण फलापका संग्रह करे इस अर्थको दृष्टांत यलसे मिद्व करनेके लिये आगेका सूत्र है, यादी प्रतिगदीके निवादसमयमें दृष्टांतके द्वारा साध्यकी सिद्धि होती है, इस न्यायसे प्रस्तुत आराधनाकी सिद्धिके लिये आचार्य दृष्टांतप्रदर्शन करते हैं—

हिंदी अर्थ—जैसा राजपुत्र शस्त्रविद्याके साधनभूत कारणसामग्रीका नित्य अभ्यास करता है अर्थात् युद्धके पूर्वकालमें दस्तोज शस्त्रोंका अभ्यास करता है, उसके मग्रासे वह शस्त्रविद्यामें पूर्ण स्वाधीनक्रिय होता है, अर्थात्-निपुण होता है जिससे युद्धमें लक्ष्यभेद, शब्दभेदादिकार्य करनेमें वह समर्थ होता है, उसी तरह मुनि भी आराधनाओंका हमेशा अभ्यास करनेसे मरणकालमें रत्नत्रय मिद्व करेंगे,

विशेष—गाथामें जितकरणो यह शब्द है, यहाँ करण शब्दके अनेक अर्थ हैं, रूपादिविषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञान जिनसे उत्पन्न होते हैं वे करण हैं, अर्थात् करण शब्दका इन्द्रिय ऐसा अर्थ होता है, इन्द्रियोसे रूपादिक पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न होता है, कार्य उत्पन्न करनेमें फलोंको जो अतिश्रम सहायक होता है उसको भी करण अर्थात् साधकत्वम कहते हैं, जैसे देवदत्त कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटता है, कुल्हाड़ीके बिना लकड़ीका काटना देवदत्तसे असंभव है अर्थात् लकड़ी काटनेमें देवदत्तको कुल्हाड़ी अतिश्रम मदत करती है अतः यह करण साधकत्वम कहलावेगी, करण शब्दका फलों कहां कहां सामान्यक्रिया ऐसा भी अर्थ माना है, यथा डुकुञ्च करणे, प्रस्तुत प्रकरणमें करण शब्दका क्रिया ऐसा अर्थ है, 'जित' शब्दका अर्थ अपने ताथेमें रखना, पूर्णहस्तगत करना ऐसा है, जैसे—जितभार्यः स्ववशीकृतभार्यः अर्थात् जिसने पत्नीको अपने स्वाधीन रक्खा है ऐसा मनुष्य, प्रस्तुत प्रकरणमें 'जितकरणो स्ववशीकृतक्रियः' अर्थात् कुल्हाड़ीको घुमाना, लक्ष्यमेद करना इत्यादि क्रियाओंमें निपुण उसमें न चुकनेवाला ऐसा समझना चाहिये, 'कम्मसमत्थो' इस समस्त शब्दमें कम्म शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायोंके द्वारा जो ज्ञानादिक गुणोंको प्रतिबद्ध करनेके सामर्थ्यसे युक्त किये जाते हैं उनको कर्म कहते हैं, अर्थात् ज्ञानावरणादिकोको कर्म कहते हैं, कर्ताकी होनेवाली क्रियाके द्वारा जो व्याप्त होता है उसको कर्मकारक कहते हैं, कर्मकी व्याकरण शास्त्रमें द्वितीया होती है, जैसे सूत्र—'कर्मणि द्वितीया', 'घटं करोति देवदत्तः' इस वाक्यमें देवदत्त कर्तृत्व क्रियासे घटको व्यापता है, अर्थात् घट कर्तृत्वक्रियासे व्याप्य होता है, कर्म शब्दका 'क्रिया' ऐसा भी अर्थ है, यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची समझना, जैसे 'किं कर्म करोषि' 'तू कौनसा कार्य करता है?' 'कम्मसमत्थो' इसका अर्थ—छुट जाना, प्रहार करना, ठोकना इत्यादि कर्म शब्दका अभिप्राय यहाँ समझना चाहिये.

जो जिस कार्यको साधनेकी इच्छा रखता है वह उसके साधनभूत सामग्रीमें प्रथम प्रयत्न करता है, जैसे शत्रुको मारनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य मारनेकी साधन भूत शस्त्र विद्या पढ़ता है उसी तरह मुनि भी आराधनाओंका अभ्यास करके मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति कर लेते हैं.

इयः सामण्यं साधू वि कुणदिः निचमत्रि जोगपरियम् ॥

तो जिदकरणो मरणेः क्षाणसमयो भविसंति ॥ २१ ॥

आमर्धं सर्वदा कुर्वन्परिकर्म प्रजायते ॥

आन्यस्त (अभ्यस्त) करणः साधुर्धर्मान्वाचो मृतौ तथा ॥ २४ ॥

विजयोद्यथा—इय सामण्यमिति । इयः पर्यः । सामण्यं सामण्य भावो सामण्यं समता इत्यभियुक्ता विनित्यमाहुः । मयतोऽसावधिधानमत्यथौ इति आध्यायेन द्रव्यशब्दस्य ध्रुवो भिदुं तं ततो गुण उच्यते । तथा योगम्—यस्य गुणस्य प्रापाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तद्विधाने त्वत्ताविति । ततोऽत्रापि सामण्य इत्यस्य शब्दस्य अपि प्रयुक्तो किं निमित्तं गुणः समता क आधिते, मरणे, लभेऽलभे, सुखे, दुःखे, वंशुषु, रिपौ च एतेषु रागः क्रुधिः शत्रुद्वेषः श्वासमानता, तदुभयाकारणं अधिजादित्वरूपरिक्तं, समचित्तता । अर्धयाथाव्यग्राहितेन अधिजादिविषयाणां प्राप्तानो समता । अधितं नाम आणधारणं तदुभयपक्षं न ममेऽध्यायतेते, सत्यामपि तस्यां प्राणानामनवस्थानात् । नयं हि जगद्विदधति प्राणानामनरणं य च तेऽवतिष्ठते । मरणं नाम, इन्द्रियादिमाणेश्वो विगम आरमनः । तथा योक्तम् । मृदु माणस्यागे इति । त्यागो हि वियोग आरमनः सकाशात्प्राणानां पूयभ्रातः । ए चायुः भूमिना न पुत्रानां भवेत्समस्तनात् । अथ, द्रव्योऽत्रियाणां उपधातफरारिद्रव्यसंपत्ताद्भावैन्द्रियस्य चोपयोगस्य विनाशः विपश्यानाशपरणीयत्वात् । तदुदयादेव य, लब्धेऽप्रमायः । धीर्मान्वाचोऽश्वसिधियवत्प्राणहानिः । मुखस्य, नासिः कायाश्च विधाभात् केषामपि नाशयेमात् उन्मत्तासन्निध्यासहानिः । अभिमतस्य लभो खाभातरापक्षयोपशमात् । अन्तमस्तदुदयात् । मुगं नाम मीतिः सद्रव्योदयात् अभिलीयतधियसाधियात् । दुःखं तु यावत्सकमसह्येयोऽव्यहेतुकम् । वैधव्यो नाम, न नियताः सन्ति केचन, । संसृतौ परिश्रमताः उपकारणेष्टा हि ते यदि त एव धन्यवा कृता, पक्का इति किमारयः ? अरयोऽपि कर्ताविदुषणाधितानुग्रहा इति किं न-वैधवाः ? अपि च जेहस्य सर्वासंयम-मूलस्य हेतुतया सन्मांगतिवंधकादिना च त महाशयवः । किं च पुण्योदयादेव संपद्यते सकलं सुखं । सुख-हेतुपशुमादिष्वं न । विपुण्यस्य न हे, किंचिदपि कर्तुं क्षमाः । न-च-कुर्वन्ति । तथा हि—मातरं त्यजति पुत्रः ता न मुनं । तथाऽप्यलमवैद्योऽव्ये न कश्चिन्नविद्वत्पक्कारं करोति । चाला हि शत्रवो, नाभ्यंतरकर्मणि जमनि पीडमुपगतवन्ति । ह्येवंभूता सर्वत्र समविप्राता- सामण्यं । माधुं त्वि साधुरपि । कुणदि करोति । निचमपि नित्यमपि- सर्वदापि । जोगपरिकर्मम्, योगशब्दोऽनेकार्थः । 'योगनिमित्तं ग्रहणं' इत्यात्म्यप्रदेशपरिस्पंद-

१ ए पुरस्ते निधितभूतः इति पाठः ।

त्रिचिधधर्माणसहायमाचष्टे । कश्चित्संवेधमावबचनः 'अस्यानेन योग' इति । काचिद्व्यानवचनः यथा 'योगस्थित' इति । दृष्टार्थं परिगृहीतः । ततो ध्यानपरिकरं करोतीति यावत् । रागद्वेषभिर्यासांशैरिष्टं अर्थयाथास्यस्पर्शं प्रतिनिवृत्त विपर्ययतरसंचारं ज्ञानं ध्यानमियुज्यते । अभाषितसमानमाचोऽनभिधगतवस्तुसद्भावश्च ध्यातुं न क्षमते इति भावः । ते ततः पञ्चाङ्गितकरणो इत्यत्र करणशब्दः अंतःकरणे भनासि वर्तते ततोऽयमर्थः । स्ववशीकृतचित्तोऽहं मरणे प्रथपर्यायनाशनेत्यायां । ज्ञानसमर्थो ध्यानस्वैकाग्रचित्तानिरोधस्य । ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्ताध्यानविषये प्राप्नोना शुभ-
योर्नारकतियोगतिनिवर्तनप्रयणयोः । योगे परिकर्मणि सदात्मनः प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता । धर्मशुक्रयोर्निवर्तने समर्थो शूक्रः भवित्संति भविष्यामीति ॥

यो यच्चिकर्षतीति स तत्परिकर्माणि प्राक् प्रवर्तते । यथा रिपुजिघांस्तुल्लङ्घनक्रिययोग्यायामरुशिक्षावामिति दर्शयित्वा इदानीं हेतोः पक्षधर्मत्वयोजनायाह—

मूढारा—इय एवं । साम्णं अवितमरणाविषु समानस्य भावस्तात् समचरितत्वं, आमण्यं वा चारित्रमित्यर्थः । जोगपरिदग्धं सद्भावानपरिकरं तथा चोक्तं—

संतापनाः कपायाणां निमदो व्रतधारणं ॥

मनोऽक्षाणां अयश्चेति सामग्री ध्यानजन्यमनः ॥

लिट्करणो स्ववशीकृतमनाः । करणं ह्यशान्तःकरणम् । स्ववशीकृतचित्तेन्द्रिय इति वा ग्राह्यम् । ज्ञानात्मनस्तथो धर्मशुक्रज्यनिसमर्थः ॥

यही आशय आगेकी गाथा में आचार्य स्पष्ट करते हैं—

हिंदी अर्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, शत्रु, मित्र, दुःख इन चीजों में रागद्वेष रहित होना इसको समता कहते हैं, यह समता ध्यानाभ्यास करने में सहायक होती है, जो ऐसी समता हमेशा धारण करते हैं, जिन्होंने मन और इंद्रियोंको अपने आधीन रखवा है अर्थात् जो वितेंद्रिय और जितचित्त हैं वे साधु मरणसमय में दुर्गति अर्थात् तरफ तिर्यग्गतिको दूर करनेवाले ऐसे धर्म व शुक्ल ध्यान करने में समर्थ होंगे।

विशेषार्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ इत्यादिको जो आत्मा रागद्वेष रहित है उसको समान कहते

है, ऐसे ममान आत्माका जो स्वभाव उमको सामान्य अर्थात् समता कहते हैं, 'ममान' इस शब्दकी प्रवृत्ति जीवमें होनेका कारण समता है, अर्थात् जिवमें समता है उसको समान कहते हैं, जीवित मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, वंधु वंश इनमें अर्थात् जीवित, लाभ, सुख, वंधु इनमें समभाव करना और मरण, अलाभ, दुःख और शत्रु इनमें द्वेष-अप्रीति रखना यह असमानता है, इस असमानताका त्याग करना ही समता है, जीवित मरण इत्यादिको यथार्थ स्वरूप समझनाही समता है, परंतु उममें प्रीति व अप्रीति करना यह समानता नहीं है, इत्यादि प्राणोंको मारण करना यह जीवित शब्दका अर्थ है, परंतु इन्द्रियादियानोंका अस्तित्व आयुक्रमके आधीन है, यह आयु जन तक रहेंगी तब तक जीवित टिक सकता है, यह जीवित मेरे आधीन नहीं है, क्योंकि जीवितच्छा होकर भी प्राण चले जाते हैं, नर्व जगतके प्राणी हमेशा प्राण रहे ऐसी इच्छा करते हैं परंतु आयुका वियोग होनेसे प्राणोंका निर्गमन होता ही है उमको वे रोकनेमें असमर्थ हैं।

२. मरण—इन्द्रियादि प्राणोंमें आत्माका अलग हो जाना मरण है, अर्थात् प्राणोंका त्याग होना मरण है, 'मृद् प्राणरजसौ' ऐसा मृद् धातुका अर्थ है, प्राणोंका त्याग अर्थात् आत्मासे प्राणोंका वियोग होना, आत्मासे उनका अलग होना, आयुक्रम संपूर्ण चल जानेमें प्राणोंका वियोग होता है, विष, स्रव, बाण इत्यादि प्राणहारक पदार्थोंका नयोग होनेसे द्रव्येन्द्रियोषा नाश होता है, ज्ञानोपयोग दशमोपयोग ये भाव प्राण हैं, विष मृत्तादिकोंका नयोग होनेमें ज्ञानदर्शनादि आवरण कर्मका उदय होता है, जब इन कर्मोंका उदय होता है तब लब्धिका विनाश हो जाता है, वीर्यांतराय कर्मका उदय होनेसे पायबल, बचनबल, और मनोबल इनका नाश होता है, मृत्यु संद परनेमें, नाक पैद करनेमें तथा श्लेष्मादिकोंमें उच्छ्वासनिग्राम प्राण नष्ट होते हैं।

लाभान्तराय कर्मका धयोपशम होनेमें इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होती है, तथा लाभान्तरायका उदय होनेसे अलाभ होता है, प्रीतिरूप परिणामको सुख कहते हैं यह प्रीति परिणाम जीवमें साता वेदनीय कर्मके उदयसे होता है, इष्ट पदार्थ पाय होनेमें मनुष्यको आनंद होता है, अन्तरंग कारण साता वेदनीयका उदय और चहिरंग कारण इष्ट रश्मिकी प्राप्ति इन दोनोंमें जीवमें प्रीति उत्पन्न होती है।

पीडा रूप परिणामको दुःख कहते हैं, वह अमाता वेदनीय कर्मके उदयमें जीवमें प्रगट होता है, तंत्राग्रे मरण करनेमाले जीवके कोई नियत बांधन नहीं है, जिसके तपर यह जीव उपकार करता है वह

जीव उपकारकर्ता नष्ट होता है यदि जीव अपकार करे तो वही चञ्चु शत्रु हो जानेमें देर नहीं लगती, शत्रुओंके
 उपर भी यदि हम अग्रग्रह-उपकार करेंगे तो ये भी हमारे वश होते हैं, स्नेह सर्व असंयमका मूल कारण है, इस
 स्नेहके भी-यु कारण होते हैं अर्थात् चञ्चु असंयमके कारण हैं, ये वाधवगण सन्मार्गमें प्रवृत्त हुये जीवके विरोधी
 नन जाते हैं अतः ये वाधव महाशत्रु हैं ऐसा समझना, पुण्यके उदयसेही जीवकी सर्व प्रकारके सुख मिलते हैं,
 सुखदायक-वस्तुओंका उसको समग्रगम होता है परंतु पुण्यरहित जीवकी सुखदायक पदार्थोंका संयोग होने पर भी
 सुख नहीं होता है, असाता वेदनीय कर्मका उदय हो तो पुत्र माताका त्याग करता है, अथवा माता भी पुत्रको
 त्यागती है, यदि असाता वेदनीय कर्मका उदय न हो तो बाह्य-शत्रु जीवकी कुछ भी पीडा नहीं दे सकेगा, इस तरह विचार
 अंतस्ममें असाता वेदनीय कर्मका उदय न हो तो बाह्य-शत्रु जीवकी कुछ भी पीडा नहीं दे सकेगा, इस तरह विचार
 करना; यह समता है, यह सयता योगप्रतिकर्म है अर्थात् शुभध्यान और शुक्लध्यान उत्पन्न होनेमें कारण
 है, योगपरिकर्मी इस समस्त शब्दमें जो योग शब्द है उसके अनेक अर्थ हैं, जैसे-‘योगनिमित्तं ग्रहणं’ यहाँ
 मनीषर्गणा, वचनवर्गणा व कायवर्गणा इनके आश्रयसे जो आत्मप्रदेशमें वंचलता उत्पन्न होती है वह योग
 शब्दसे वाच्य होती है; योग शब्दका संबंध ऐसा भी अर्थ होता है जैसे-इसका इसके साथ योग है, अर्थात् संबंध
 है, योग शब्द काही कभी ध्यानप्राप्तक भी है, जैसे ‘योगस्थितः’ अर्थात् मुनि ध्यानमें स्थिर है, प्रस्तुत प्रकरणमें
 योगका अर्थ ध्यान ऐसा मानना चाहिये राग द्वेष, और मिथ्यात्वसे रहित, पदार्थके यथार्थ स्वरूपको स्पर्श करने-
 वाला अर्थात् जाननेवाला तथा विषयांतरसे रहित एक विषयमें ही स्थिर होनेवाला ऐसे ज्ञानको ध्यान कहते हैं,
 जिसने समताका अन्याय नहीं किया है, और जिसको वस्तुका सत्यस्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा पुरुष ध्यान
 करनेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये, जिसने अंत करण बद्ध किया है, वह मुनि मनुष्यपर्यायका नाश
 होनेके समयमें अर्थात् मरणकालमें धर्मशुक्लध्यानमें मैं समर्थ होऊंगा ऐसा समझकर दुर्मेधा समताका अभ्यास
 करता है, यद्यपि माथामें ‘उद्गाथसमस्तो’ इस समस्त शब्दमें ध्यान शब्द सामान्य ध्यानका वाचक है तथापि
 यहाँ प्रशस्त ध्यानका वाचक समझना चाहिये, अर्थात् धर्म व शुक्ल ये दोन ध्यान प्रशस्त है तथा आर्त और राद
 के दो ध्यान अशुभ हैं,

प्रज्ञोति इति पन्तुत्तरगाथायाच्ये—
 कृतपरिकरो राजपुत्रो व्ययनादिकास्तु क्रियास्तु उपगतकौतलः क्रियां ग्रहरणादिकां संपाद्य यथाफलं

जोगभाविदकरणो सच्च जेदूण जुद्धरंगमि ॥

जह सो कुमारमहो रज्जवडायं बला हरदि ॥ २२ ॥

कृतयोग्यक्रियो युद्धे जगतीपतिदेहजः ॥

आदत्ते विद्विपो जित्या यलाद्रांज्यध्वजं यथा ॥ २६ ॥

विजयोदया—जोनाभाविद इत्यनया । जोयमांविदकरणे परिकर्मणा असकृत्प्रवर्तितप्रयत्नतत्त्वमप्रहरणादिक्रियः । नाभाविग इत्यभाह धरायै प्रयुक्तः । तथा च प्रयोगः—आधूमितं भुवं धूमेन परिपूर्णमित्यर्थः । सच जेदूण जित्या । जुद्धरंगमि युद्धाय संस्तुतो देशो युद्धरंगमित्युच्यते तत्र । अह यथा । सो सो भायितायमा । कुमारमहो राजपुत्रो व्ययनादिकारणो प्राणिनां कारकतोऽप्यस्याविरोधो द्वितीयः कुमारत्वं नाम । तयोगद्रांज्यध्वजः कुमारः स एव महः । रज्जवडायो रोग्यध्वजं । बला यलात्करणे । हरदि हरति । युद्धति ।

ग्राह परिकर्मभावनायाः फलं दृष्टान्ते प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुं गाथाद्वयमोह—

मूलात्—जोगभाविदकरणो योग्यया परिकर्मणा भावितमसकृत्प्रवर्तितं करणे न्ययनाविक्रिया येन । जुद्धरंगमि युद्धार्थं मन्त्रेण देशे । रज्जवडांयं राग्यध्वजं । बला यलात्करणे । हरदि गृह्णावि प्रत्यानयतीत्यर्थः ।

जिम्ने शस्त्रविधाकी सामग्रीका खूद अम्यास क्रिया है ऐसी राजपुत्र लक्षणेधादिक क्रिया करनेमें चतुर हो जाता है और शत्रुको मारकर अथवा पकड़कर राज्यादिकका फल प्राप्त कर लेता है यह अंगिकी भाषा में आचार्य कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—लक्षणेध, ताडन, ग्रहार करना इत्यादि क्रिया करनेमें अतिशय चतुर, तरुण, पहिलवानके समान शक्तिशाली ऐसा राजपुत्र युद्ध करनेके भेदानमें शत्रुको जीतकर जैसे बलात्कासे राज्यध्वजको हरण करता है, उन्हीं तरह मुनि भी मोहरिषीको जीतकर बलात्कासे आसवनापताका हर लेता है, ऐसा आंगिकी भाषा में आचार्य कहते हैं, उपपुक्त गाथा दृष्टान्त रूप है—दार्ष्टान्तिक गाथा यहां आचार्य कहते हैं,

तह भाविदसामणो मिच्छत्तादी रिवु विजेदूण ॥

आराहणापढायं हरइ सुसंधारंगम्मि ॥ २३ ॥

साधुभविताखिओ गृहीते संस्तराहवे ॥

आराधनाचजं जित्वा मिथ्यात्वादिद्विपस्तथा ॥ २६ ॥

विजयोक्त्वा—तह भाविदसामणो इति । तह तथैव राजपुत्रकेव । भाविदसामणो भावितसमानभावः । पुनरिति नेपः । मिच्छत्तादी मिथ्यात्वात्संयमकवायाधुमयोगाः इत्येताम् । रिद्धं रिप्पुं । विजेदूण वृशं जित्वा । विजान्ते वृशार्थे प्रयुक्तः । यथा विपूजो मल्लः वृशं वृद्ध इति यावत् । अथवा विजेदूण वानाप्रकारं जित्वा यथा विजिगमिति नानाचिन्तनमिति यावत् । एकाग्रमिथ्यात्वं, संशयमिथ्यात्वं, विपर्ययमिथ्यात्वं इत्यनेकधा मिथ्यात्वं परिणामाः स्थिताः । तथैकान्तमिथ्यात्वं नाम घट्पुनो जीवनिर्लस्यमेव समत्वो न चानित्यत्वादिकं । असदुत्पत्त्या सतो निर्दोषे वा अनित्यता भवति । न वास्तव उत्पत्तिर्धेद्विश्रागनकुटुमादिकं किं नोपजायते ? असत्त्वाविशेषे चकुटुमावेर्षादेश्च घटादिकं उपजायते न विपरकुटुमादिकं इत्यनं नित्यामकं हेतुं पश्यामः । न च सद्दिनवपति, धिनाशो झलसर्प, भावाभावी हि परस्परपरिहारात्सत्तिलक्षणौ वैकर्ता यतः । न भावोऽभावो भवति, इयमसत्ये उत्पादनिरोधयोरेतावताभिलतैवावतिष्ठते इदमेकं मिथ्यात्वं एतस्य जग उच्यते—न नित्यतैव घट्पुनो रूपं, अनित्यताया अपि प्रमाणसमधिगम्ययावत् । रागद्वेषमिथ्यात्वं संशयविपर्ययादीनां भावमिति सतां पञ्चादधुमयप्रतिष्ठापितमसत्यम-
दुमयोपनीतं च सत्त्वं प्रागननुभूतानामित्यनित्यता पुद्गलद्वयस्यापि भेदावेर्षात्वंत्यपभाषः । आस्रकलादीनां रूपर-
त्वांभाषण्यपभाषाश्च प्रत्यक्षप्राज्ञोऽशक्यपण्यद्वयं, तथाजुमानशशस्त्र—यस्तत्तत्सर्वं नित्यनिश्चयात्मकं यथा घट-
स्तथा च जीवादिकं सदिति । कारणानां प्रतिनिपतजननसम्भारुपरिखात्वात् । घटादेर्जनकमिति सन्ति इत्युपर्युचिः न
खराविषणादेः । न च भेषाभाषयोर्विरोधः एकस्मिन्पुन्येकदा प्रवृत्तेः रूपरसादीनामिव । अपूर्वरूपेणासत्त्वं सति विद्यते
न वा । यगलिनं न विरोधः, न वेत्सर्वतन्मकृता । न ह्यभावो नाम भवत्प्रपञ्चः । अपि ॥ भवन्तस्तस्यैव रूपान्तरम् ।
ततोऽप्युक्तो नित्यत्वैवावगाहः इति । एवंभूतया तत्त्वश्रद्धया परमभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम् । तथा क्षणिकमेव-
सर्वं कथं कार्यकारि, यदस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहो भावशङ्कने । कार्यकारिता च न नित्यस्य । कथं तद्धि नित्यं सप्तसे-
पार्थं श्रेतेण वा कुर्वाणुगणपदेव वा ? न तावद्व्यपेक्षेण कार्यत्वमलमस्य कारणसमावसाञ्चिभ्यामशक्यराधीनत्वात् । सर्वं
कार्यप्रादुर्भूतिद्विज्ञानं सामर्थ्यत्वं सदा सन्निध्यत्वात् कुतः कार्याणां क्रमः । समर्थहेतुमत्वेऽप्यसत्ये न तत्सत्य कार्यं
स्यात् । यथा सन्तिद्विदपि यवबीजेऽनुपजायमानस्य शाल्यंशुरस्य न यवबीजकार्यता । शुनप्लुकरोति चेन् द्वितीयादी

शेषेऽर्तिविरुद्धता स्यात् न तथा दृश्यते । इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनिर्ये सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यप्यवमयो मिथ्यात्वमेव तस्य अत्र उच्यते—सत्त्वं सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे वास्तुकया नीत्या निर्याऽ-नित्यात्मके ॥ नमस्विनी कार्यकारिता । एकान्तेन क्षणिकमेव वस्तुनो यदि रूपं कार्यकारिता नास्ति । एकस्य वस्तुन एकमेव रूपं तापरमिति प्रतिज्ञानात् । पञ्चमयत्रापि चोद्यः पञ्चमिथ्यात्वजयः । संज्ञाप्रमिथ्यात्वं वस्तुसङ्ख्यानवधा-रणात्मकं तस्य जयः कथंचिदित्यान्वित्यात्मकाः सर्वे भावा इति भावनया । विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिव-र्तिन्याः स्वर्गाविकृततावसित्वानाम् । अहिंसायाश्च प्रत्यपयहेतुविति एतस्य जयः । परोक्षसोपायोपेयभावस्य अम-न्यस्यात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभावनस्तत्रावृत्तेः । आत्मनः सर्वधेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः उपेयोपायतत्पदस्य स्वयमकः आधयमीयः । फलिवादीनामसर्वप्रतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टप्रतिपत्तावुपायः । तदसर्वज्ञता दृष्टेप्रमाण निरुद्धवन्तया रथ्यापुल्लयत् । नित्यस्तु सर्वो न विद्यते । यदि स्वात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषद्वोगानुपक्रियतास्वीति मानाण्य भवेत्ततो जिनामेन हिंसाया दुःखहेतुत्वप्रतीतेर्विपर्ययमिथ्यात्वमसिद्धिः तस्य जयः भविषीतशनेन । आरा-धनापङ्कयं आराधनापताकां । हरिदि शुद्धाति । सुखधारंरंमि । शोभनसंस्कारेण उद्भवादिद्वोगानुपहतता शोभनता ॥

नूतारा—भाषित्वामनो प्राग्व्यस्तत्तमभाषः । मिच्छादी मिथ्यात्वासंयमकपथादुभयोगात् । विवेकूण भूशो-विचिपं या प्रतिहत्य । आराहणापङ्कयं आराधनैव पताका विजगत्परमैश्वर्यवित्त्वं तो मिथ्यात्वादिविशुद्धतां । यवि वा आराधनायाः पताका इन्द्रादिभिर्नित्यपूजाचैश्वर्यविशेषसंज्ञम् । सुसंयारंरंमि वद्रमादिद्वोगानुपहते संस्वरति ।

हिन्दी अर्थ—तत्प्राग्व्यस्तत्तमभाषः । मिच्छादी मिथ्यात्वासंयमकपथादुभयोगात् । विवेकूण भूशो-विचिपं या प्रतिहत्य । आराहणापङ्कयं आराधनैव पताका विजगत्परमैश्वर्यवित्त्वं तो मिथ्यात्वादिविशुद्धतां । यवि वा आराधनायाः पताका इन्द्रादिभिर्नित्यपूजाचैश्वर्यविशेषसंज्ञम् । सुसंयारंरंमि वद्रमादिद्वोगानुपहते संस्वरति ।

हिन्दी अर्थ—तत्प्राग्व्यस्तत्तमभाषः । मिच्छादी मिथ्यात्वासंयमकपथादुभयोगात् । विवेकूण भूशो-विचिपं या प्रतिहत्य । आराहणापङ्कयं आराधनैव पताका विजगत्परमैश्वर्यवित्त्वं तो मिथ्यात्वादिविशुद्धतां । यवि वा आराधनायाः पताका इन्द्रादिभिर्नित्यपूजाचैश्वर्यविशेषसंज्ञम् । सुसंयारंरंमि वद्रमादिद्वोगानुपहते संस्वरति ।

ये भी तो असत् ही है, आकाशगुण्य अमत् है तथा घटादि भी उसके समान असत् ही हैं तो आकाश गुण्य घटा-
 'दिक' अथवा 'घटादिक'से आकाश 'पुण्य' बनते हैं ऐसा मानना पड़ेगा, घटादिकसे घटादिक ही उत्पन्न होते हैं, और
 आकाशगुणादिसे आकाशगुणादिक ही बन जाते हैं ऐसा माननेमें कुछ न्यायिक कारण हमको नहीं दीखता है,
 'सत्त्वदायक' नाश होता है यह मानना भी अयोग्य है, निर्नाश असद्रूप है, अर्थात् अभाव रूप है, सत्त्व-
 'दाय' विनाशके उलटा है अर्थात् भीमरूप है, जहां मावात्मक 'पदार्थ' रहता है वहां आभावात्मक 'पदार्थ' नहीं रह
 सकता, अतः मात्रपदार्थ और अभावपदार्थ एकस्वरूपताको प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् वे भिन्न भिन्न स्वरूपके धारक
 हैं, मात्रपदार्थ कभी अभावरूप नहीं होता है, असत् पदार्थसे उत्पन्न और नाश दोनों भी 'सिद्ध' नहीं होते हैं,
 अतः नित्यता ही 'पदार्थ'का स्वरूप समझना चाहिये, पदार्थ अनित्य ही मानना यह एक मिथ्यात्व है, ऐसे
 मिथ्यात्वका संभारका अभ्यास करनेवाले मुंजिराज पराजय करते हैं.

अतः नित्यता ही वस्तुस्वरूप है ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है यह दिखाते हैं-नित्यता ही वस्तुस्वरूप है यह
 कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, आत्मामें प्रथमतः रागद्वेष, मिथ्यात्व, संशयविपर्यय वगैरे अशुद्धस्वरूपके द्योतक विकार
 दीखते हैं परंतु तंतर इसका अभाव होता है, यह सबके अनुभवमें आनेवाली बात है, यदि आत्मा सत्यथा नित्य ही मानोगे तो
 उससे रागद्वेषादिक कभी भी नष्ट होगी ही नहीं, तथा जो विकार पूर्वमें अनुभवमें आये नहीं थे वे कभी भी उत्पन्न न
 हो सकेंगे, परंतु पूर्वपर्यायका नाश और नवीन पर्यायकी उत्पत्ति प्रत्येक पदार्थमें होती हुई अनुभवमें आती है,
 अतः वस्तु नित्य माननेसे ये बातें नहीं चलेगी, मेधादिक पुद्गलद्रव्योंमें जो पूर्वक्षणमें वर्ण था वह अनंतर समयमें
 नहीं रहता दूसरा ही वर्ण नजरमें आता है, आंम्रफलादिकोंमें कंबी अंशस्थीमें हरा रंग, अर्धपक अवस्थामें लाल
 पीला रंग और पकावस्थामें पीलापना आता है यह सब प्रत्यक्ष ग्राह्य बातें हैं, इन बातोंको मानना ही पड़ेगा,
 अनुमानसे भी वस्तु कथंचित नित्यानित्यात्मक है यह सिद्ध होता है, जो जो सत्त्वदायक है वे सब नित्यानित्या-
 त्मक हैं जसा घट, अर्थात् घटके समान सभी जीवादिक पदार्थ संत है अतएव वे नित्यानित्यात्मक है,
 कारणोंमें प्रतिनियुक्त कार्य ही उत्पन्न करनेका स्वभाव है अतः उनसे विशिष्ट ही कार्य उत्पन्न होते
 हैं, जैसे मृत्पिंडसे घट ही होता है पटोत्पत्ति नहीं होती है, अतएव सब विपणादिकों घटादिक सत्त्वदायको
 उत्पत्ति नहीं होती है, अन्यमतमें मान और अभावमें परस्पर विरोध है नहीं, अर्थात् वस्तुमें एक ही समयमें

अस्तित्व और नास्तित्व दोनों भी धर्म पाये जाते हैं. जैसे वस्तुमें रूपरसादिक धर्म रहते हैं उसीतरह अपर पदार्थमें स्वरूपरसा अमान भी उसमें रहता है या नहीं ? यदि दूसरे पदार्थके स्वरूपका अभाव है ऐसा कहोगे तो भावाभावत्व एक पदार्थमें अधिकद्र रूपसे रहता है ऐसा सिद्ध हो चुका. यदि दुगरे पदार्थ का भी स्वरूप पदार्थमें मानोगे तो प्रत्येक वस्तु सर्वात्मक है ऐसा मानना पड़ेगा. घट पदार्थ स्वस्वरूपसे युक्त तो है ही परंतु घटादिस्वरूपता भी उसको आवेगी और ऐसा होनेसे यह घट ही है ऐसा कहते समयमें घट ही है ऐसा भी करनेका प्रसंग आवेगा अतः वस्तुके निश्चित स्वरूपका लोप होगा.

यस्तुमें जो अभाव माना गया है वह भावसे भिन्न है नहीं. अर्थात् भावान्तरको ही अभाव कहते हैं. वस्तु स्वस्वरूपसे जैसी भावात्मक मानी है वैसी परस्वरूपसे अभावात्मक भी मानी है अतः प्रत्येक वस्तु भावान्तरात्मक है, अतः निरूपयैकान्त्याद् अयुक्त है, ऐसी तत्त्वश्रद्धा करनेसे वस्तु नित्य ही है यह मिथ्यात्व पराजित होता है.

सर्वथा क्षणिक वस्तुमें कार्य करनेका सामर्थ्य ही नहीं रहता है. यह पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर नष्ट होती है अतः कार्य कर करेगी, क्षणिक वस्तुकी उत्पत्ति भी पूर्ण क्षणिक वस्तुसे यदि होती तो कार्यकारिता उनमें है ऐसा मान सकते थे. परंतु सर्व पूर्ण क्षणिक वस्तुओंमें कार्यकरण भाव नहीं है, तथा प्रत्येक क्षणिक वस्तु एक समयके बाद निश्चयसे यदि नष्ट होती ही है तो उसको कार्य करनेके लिये अवसर ही नहीं रहा. अतः वस्तु क्षणिक है यह मानना अयुक्तियुक्त है.

नित्य भी पदार्थ कार्य नहीं कर सकता है. वह यदि कार्य करेगा तो क्या क्रमसे करेगा अथवा एकदम करेगा ? ऐसे दो प्रश्न यहां उपस्थित होते हैं. क्रमसे कार्य उत्पन्न करेगा यह आपका कथन योग्य नहीं है, क्यों कि कार्य का जन्म होना कारण में विद्यमान जो सम्याव है उसके आधीन है और नित्य पदार्थमें कार्य उत्पन्न करनेका समाप्त सदा ही विद्यमान होनेसे सुदाही कार्य होते रहेंगे अतः कबमें क्रम कैसा रहेगा ? एकदम तब कार्य होंगे. यदि हेतुमें सामर्थ्य होवा हुआ भी कार्य न होगा तो कभी भी न होगा. अथवा वह उसका कार्य है ऐसा मानना योग्य नहीं है. जैसे वचन समीप होते हुए भी उत्पन्न न होनेवाले आलस्यकुरको यव चीज कारणरूप नहीं मानते हैं वैसे नित्यपदार्थ कार्यके प्रति कारण नहीं होगा. यदि सर्व कार्य युगपत् नित्य

पदार्थसे हो जाते हैं तो प्रथम समयमें ही उससे सब कार्य हो जानेसे द्वितीयादि समयमें वह अकिंचित्कर होगा। परंतु पदार्थ द्वितीयादि क्षणमें भी कार्य करता हुआ दृष्टिगोचर होता है अतः वह सर्वथा नित्य है ऐसा मानना अनुचित है। नित्यवस्तुमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं दीसता है वह अनित्यमें है अतः वस्तु क्षणिक ही है यह श्रद्धान करना भी मिथ्यात्व ही है। ऐसे मिथ्यात्वका समताधारक मुनि पराजय करते हैं। सर्वथा नित्य व अनित्य पदार्थमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं है परंतु कर्वाचित् नित्यानित्य पदार्थमें कार्य करनेका स्वभाव अवश्य होनेसे वह कार्य करता हुआ दीखता है, यदि क्षणिकता ही वस्तुका स्वरूप है तो वह कार्य नहीं करेगी क्योंकि उसका एक ही रूप रहेगा। उसमें पूर्वस्वरूप नष्ट होकर दुसरा स्वरूप नहीं आता है, इसी तरह नित्यमें भी समझना चाहिये।

संशय मिथ्यात्वका स्वरूप— वस्तुस्वरूपका जिसमें निश्चयही नहीं होता है उसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं अर्थात् वस्तु नित्य है ? अथवा अनित्य है ? वा नित्यानित्यात्मक है ? ऐसा अनिश्चय रहता है। ऐसे मिथ्यात्वका परामब मुनिराज वस्तु नित्यानित्यात्मक है ऐसा निश्चय करके करते हैं। जगत्के समस्त पदार्थ कर्वाचित् नित्यानित्यात्मक हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तु अपने स्वरूपको नहीं छोड़ती है, जीविका चेतन्य जीवको कभी छोड़ता नहीं है। वह हमेशा उसमें रहताही है अतः जीवको नित्य कह सकते हैं। मनुष्यत्व देवत्वादि पर्याय सदा स्थिर रहते नहीं, मनुष्यत्व नष्ट होकर जीव देव, नारकी, तिर्वच ऐसी पर्याय धारण करता है, अतः पर्यायकी अपेक्षासे वह अनित्य भी है। अतः उसको नित्यानित्य समझना योग्य है, जीवके समान अजीव— पुद्गल, घर्म, अधर्म आकाश, काल ये पदार्थ भी नित्यानित्यात्मक हैं।

विपर्यय मिथ्यात्वका स्वरूप—हिंसा दुर्गतिमें प्रमण कराती है, तथापि वह स्वर्गादि सुखके लिये कारण होती है ऐसा निश्चय ज्ञान होना यह विपर्यय मिथ्यात्व है। अहिंसा दुःख देनेमें कारण है ऐसा समझना विपरीत मिथ्यात्व है। ऐसे मिथ्यात्वका पराजय मुनि करते हैं। हिंसा स्वर्गप्राप्तिमें कारण होती है अतः हिंसा कारण है और स्वर्गप्राप्ति होना उसका कार्य है ऐसा कहना योग्य नहीं है। जिसको लोक घर्म हेतुसे मारते है उसको अत्यंत दुःख होता है। तिलमात्र भी उस प्राणीमें आंतता उस समय रहती नहीं है। अतः उस प्राणीको तथा मारनेवालेको स्वर्ग लाभ होना नितांत असंभव है। दयाधर्मादि गुणही स्वर्गादि सुखके लिये कारण होते हैं। हिंसाही यदि स्वर्गके लिये

कारण ही तो व्याघ्रादि हिंस्र प्राणीही मरणोत्तर स्वर्गादि सुखको प्राप्त होगे. अतः हिंसा स्वर्गदायिनी है यह मानना अयोग्य है.

सर्ग व मोक्षकी प्राप्तिके उपाय व स्वर्गादिक उपाय इन दोनोंका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है. अनुमानसे भी इनका स्वरूप नहीं जाना जाता है क्योंकि वह भी प्रत्यक्षके बिना उत्पन्न होता नहीं. आगमसे उपाय और उपायका ज्ञान होता है अतः आगमका आश्रय लेना ही योग्य है. वह आगम जिसने रामदेवका नाश किया है ऐसे सर्वज्ञ निनेयवर्तने रचा है. अतः वह ही स्वर्गादिके उपाय और उपाय सुखादिकका प्रतिपादन करता है.

कपिलादिक अन्यमत प्रणेताऋषि असंयोज्य थे अतः उनका आगम अदृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें उपाय ही नहीं सकता. कपिलादिकके वचन प्रत्यक्ष और अनुमादिक प्रमाणोंसे विरुद्ध है अतः वे रथ्यापुरुषके समान अप्रमाण हैं.

शब्द नित्य है यह कहना भी योग्य नहीं है यदि वे नित्य हैं तो सर्व शब्द नित्य होनेसे पुरुषोंके राग-द्वेषादि दोषोंने नै अलित होनेसे प्रमाण मानने पड़ेंगे. जिनगमसे हिंसा दुःखोत्पत्तिके लिये कारण है ऐसा अनुभव आता है अतः हिंसानो मुरका कारण समझना विपरीत मिथ्यात्व है. इस विपरीत मिथ्यात्वका सत्यज्ञानसे मुक्ति-राज परामर करते हैं. मिथ्यात्व, असंयम, फणय ऐसे शत्रुओंको जीतकर वे बलात्कारसे आराधनापताका हरण करते हैं.

चिरमभावितरत्नवर्णनामंतंशुर्तर्कालभावनानां सिद्धिरिष्यते तर्हि चिरआकयेत्यसोत्तरमाचष्टे—

पुष्पमभाविदजोगो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ॥

राण्णुगदिद्धंतो सो तं सु पमाणं ण सब्बत्थ ॥ २४ ॥

यद्यभावितायोगोऽपि कोऽप्याराधयते मुक्तिं ॥

तत्प्रमाणं न सर्वत्र स्थाणुमूलनिधानवत् ॥ २७ ॥

पुष्प पूर्ण मरणकालत् । अभाविदजोगो अभावितागिरिक्त् । आराधेज्ज आराधयेत् । किं मरणं रत्नप्रयातुगत-मयपर्यायमलयं । जदि वि यद्यपि । कोई कश्चित् । राण्णुगदिद्धंतो स्थाणुदृष्टान्तः । सो सः । तं सु तदेव । अद्वत-

परिकरस्य कस्यचिद्रत्नत्रयसमापद्यं । सत्त्वस्थ सर्वत्र । यः प्रमाणं न प्रमाणं । अर्थस्थानमव वाच्यम् ।
एवं पीठिका समाप्ता ॥

मूढारा—आराहेन्व मरणं रत्नत्रयाद्युगतं यवपर्यायप्रलयं कुर्यादित्यर्थः । खण्डगुह्यद्विष्टो सो स्थाणुदृष्टान्तः सः । तं तु । तदेव अकृतपरिकर्मणः कस्याचिन्मरणे रत्नत्रयपरिणमनं । सत्त्वस्थ सर्वत्र सर्वत्र । न प्रमाणं न प्रमाणं । यो यो जीवः स स सर्वोऽपि अकृतपरिकर एव मरणसमाधिमुपेयात् । यथा कश्चित् प्रसिद्धो जीव इति ज्योतिरभावात् ।

पूर्ववभादित्येत्यो यथव्याराधयन्मृतौ कश्चित् ॥

स्थानौ निधानलामो निवर्त्तनं नैव सर्वत्र ॥

पीठमासनमिव समस्तार्थसंग्रहस्यावारयूतत्वात् । स्तेकः

त्यक्त्वा संगं क्षुधीः सान्धयसमग्यासयमाज्जबे ।

समार्धं मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयति वा भवम् ॥

इति मूलाराधनादर्पणे पीठिकाप्रतिष्ठा ।

निन्होंने बहुतकालपर्यन्त रत्नत्रयाराधन नहीं किया है अर्थात् अन्तर्दुर्लभकालपर्यन्त ही आराधन किया है उनको भी मोक्षलाभ होगया है, जतः चिरकालरत्नत्रय भावनाकी आवश्यकता नहीं है ऐसे प्रभक्षा उच्चर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मरणकालके पूर्व अर्थात् दीक्षा, शिक्षा वगैरे समयमें रत्नत्रयके साधनभूत कारणोंका किसी जीवने आराधन नहीं किया हो परंतु मरणसमयमें उसने रत्नत्रयकी आराधना की हो तो भी यह स्थाणुदृष्टांतके समान हो गया. रत्नत्रयके माधन निना यदि किसी निरले क्षुनिको मरण समयमें रत्नत्रयाराधना होनेसे यह सार्वत्रिक नियम नहीं हो सकता. जैसे किसी निरले अंधको स्तंभसे टकरानेमें नेत्रलाग हुआ और स्तंभ पिरनेपर उसके नीचे खम्भा टूटा निधि उसको दीख पडा परंतु तमाम अंध वनाको इसी उपायसे निषिद्धाभ होगा यह समझना नितांत

भूलभरा समझना चाहिये, जब इस दृष्टांतके अनुसार स्वप्नयाशाधना मरणसमयमें किसी एकादे मनुष्यको हो गई हो तो सर्वत्र यह नियम ग्रहणभूत नहीं है.

पीठिका समाप्त.

मरणाणि सत्तरस दोसिदाणि तित्थक्कोहिं जिणवयणे ॥

तत्थ वि य पच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥ २५ ॥

विस्तरेंणागमोक्तेषु मध्ये सप्तवशास्वहम् ॥

मरणान्यत्र पंचैव कथयामि समासतः ॥ २६ ॥

विज्ञानोपपा—मरणान्यनैकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्विद्यमि । तेष्विह निरूप्याणीमानीति निरूपयितुं सत्तर सप्त मरणाणीति । मरण विद्यमो विनाश विपरिणाम इत्येकोऽयं । तच्च मरण जीवितपूर्व । जीवित विपतिरविनाशोऽयस्त्विति सिति विनाश । स्थितिपूर्वको विनाश । यदस्थितिक तत्र विवक्ष्यति यथा यथासुत । तथा च स्थितिपरिहित यस्तु क्षणिकयावितिरुक्त्य । जीवित अग्रपुरोग । अनुत्तरस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमो प्रीत्य च सर्वेषां रूपानि । प्रत्या च प्रविश्याया मरण नामोत्पन्नपर्यायविनाश । देवस्व, तिर्यक्स्व, मारकस्व, मनुष्यस्व, इत्यमीनां पर्यायानां प्रत्यक्ष इह मरणशब्दप्राप्त्य । अथवा प्राणपरित्यागो मरण । तथा चाभ्यधाधि-दृष्टं प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणप्रद्वेण अग्नि, प्राणानां धारण, जीवित । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भवप्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, गल, उ-एवास, आयुरित्येतेषां पुनर्लक्षणानि । भवप्राणा ज्ञानवर्धनचार्त्तराणि एतत्प्राणपेक्षया सिद्धानां जीवित । तथायुद्धिभेद अक्षयुर्भववायुरिति च । भवधारण भवायुर्भव शरीर तच्च ध्रियते आत्मन आयुष्कोदयेन । ततो मरणधारणमायुष्काल्य कर्म तत्रैव भवायुर्लघुचते । तथा चोक्तम्—

वेदो भयोसि उद्यदि धारित्तर लाउगेण य भवो सो ।

तो उद्यदि भवधारणमाउगकम्म भवाउत्ति ॥

इति आयुर्वर्देनैव जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन । अन्यस्यायुष उदये सति मृतिर्गुयेति पूर्वस्य आयुष्कस्य विनाशे ।

१ मृच् प्राणत्यागे इति स मुक्तके पाठ । २ स्व-आत्मनेति ।

प्रयोज्य मरेष्य आलुग उदयो नान्यथा ततो नायुःकदयोऽद्यः । एवमेकस्यायुःकर्मणः एकैव प्रकृतिदेवेकस्यायमस्त-
मानैकैकायुःकर्मणोऽतिगहनरूपामेव दृष्टिमुपैति । तदेतच्छ्रुतिमरणं ।

भरणपरणकारणपरिणतानां पुद्गलानां सैद्धान्त्यमर्थेऽप्यवस्थितिस्त्युच्यते । आत्मनः कथापरिणामः
मद्वहारी पुद्गलानां स्तिग्धतायाः । परिणामिमरणं तु तदेव पुद्गलद्रव्यं । सा सैषा स्थितिरैकार्थिकोच्चरा देशोनन्य-
स्तिग्धतासागरीमानां वाचन्तः समयास्तावद्देश उत्कर्षस्थितिः । अंतर्मुहूर्तभया परा । तस्या घोरच इव क्रमेणावस्थि-
तायाः विनाशदात्मनो भवति स्थित्यावीधिकामरणं ।

भगंतप्राप्तिरंतरोपपद्युर्गुणभवविमर्शनं तद्भवमरणं । तत्तत्तत्तथाः प्राप्तं जीवेनेति सात्वत्यं तेन तद्भवमरणं
न दुर्लभम् ।

अनुभववीथिकाभरणमुच्यते—कर्मपुद्गलानां रसः अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुषु पौडा दृक्स्थितानि-
करोण धावीन्य एव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीथिमरणं ।

मायुःसंभितानां पुद्गलानां प्रवेशा अद्यभयनिवेकादरभ्य परादिदृष्टिक्रमेणवास्यितयोय इव तेषां गलनं
प्रवेशावीथिकामरणं ।

भयधिमरणं नाम कथ्येत—यो यादशं मरणं सांप्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि भविष्यति तद्वचिमरणं ।
तद्विषयिधे देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं इति ।

तत्र सर्वावधि मरणं नाम यद्ययुर्गयाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृतिस्थितयनुभवप्रवेशौस्त्वयानुभूतमेयायुः प्रकृत्या-
दिविनिर्दिष्टं पुनर्वचनाति उच्येति च यदि तत्सर्वावधिमरणं ।

यसांप्रतमुदेत्यायुर्गयाभूतं तद्यभूतमेव यस्माति देशतो यदि तदेतावधिमरणं । एतदुक्तं भवति देशतः सर्वतो
या सादरयेन विवेचितं मरणमपधिमरणमिति । सांप्रतेन मरणेनासादयभावि यदि मरणमापंतमरणं उच्यते, आदि-
शब्देन सांप्रतं प्रागमिकं मरणमुच्यते तस्य अंतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदापंतमरणं अभिधीयते । प्रकृति
स्थित्यनुभवप्रवेशाभूतः सांप्रतमुपैति मूर्ति तत्राभूतं यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदापंतमरणं ।

यात्ममरणमुच्यते—यात्स्य मरणं यात्ममरणं, स च चालः पंचप्रकारः अक्षयकचालः, स्थवहास्यालः, जालचालः,
दर्शनचालः, चारिचाल इति । अत्यक्तः शिशुः घर्मार्थकामकार्याणि यो न वेति न च; तदाचरणसमर्थदारीः सोऽ-
क्षयकचालः । लोकवेदसमयव्यवहाराग्यो न वेति शिशुर्वास्तो व्यवहाचालः । मिथ्यादण्डयः सर्वथा तत्त्वप्रज्ञानरहिताः
दर्शनचालाः । पस्तुयाप्राप्त्यभ्यासिज्ञानन्यूनां ज्ञानचालाः । अचारियाः प्राणभृत्यारित्रचालाः । एतेषां चालानां मरणं
यात्ममरणं । एतानि च अतीते काले अनंतानि । अनंताश्च मृत्तिमिमां प्रपद्यते । इदं दर्शनचालो गृहीतः नेतरचालाः
कथं ! यस्मात्तदप्यग्रेतिरचालत्वे सत्यपि दर्शनचालात्वे सत्यपि दर्शनचालात्वे सद्भावार्थेऽतिमरणमेवेत्येते ।

दर्शनचालस्य पुनः संक्षेपतो द्विविधं मरणमिष्यते । इन्द्रया प्रवृत्तमनिच्छेति च । तथोदात्तमश्रिता धूमेन,

शरणेन, विरेण, उदकेन, मरुत्प्रयातेन उच्छ्वाससमिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, द्युधा, द्युधा, जिहोत्पादनेन, चित्वादारसेयनया याला श्रुतिं दौरन्ते, कुतश्चिन्मिच्छाजीवितपरित्यागीणिणः काले काले वा अच्यवसानादिना यन्मरणं विजीविष्योः तद्वितीयं । एतेर्वालमरणैर्दुर्गतिगमिनो भ्रियन्ते । विषयव्याप्तकबुद्धयः अज्ञानपटलावगुण्डिताः । अङ्घ्रिरससातगुण्डकाः । बहुतीमयापरमांश्रवद्वाराभ्येतानि वालमरणानि ज्ञातिजमरणव्यसनापादनक्षमाणि ॥

पंडितमरणमुच्यते—उच्यद्द्वारपंडितः, सम्यक्त्वपंडितः, अथवाऽनेकशाकाक्षः द्रुथूपदिबुद्धिगुणसमन्वितः व्यवहारपंडितः, क्षयिकेण लोच्येदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः, अथवाऽनेकशाकाक्षः द्रुथूपदिबुद्धिगुणसमन्वितः व्यवहारपंडितः, क्षयिकेण क्षयोपशमितोपशमितेन वा सम्यक्दर्शनेन परिणतः दर्शनपंडितः । मत्वादिपंचमकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणतः ज्ञान पंडितः । सामादिकच्छदोपस्थापनापरिहारमिश्रद्विसूत्रसर्गापरयथाख्यातचारित्र्येषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तश्चारित्र्यपंडितः । इह पुनर्न ज्ञानदर्शनचाटिपंडितानां अधिकांशः । व्यवहारपंडितस्य विध्याद्येः बालमरणं यथा भवति सम्यग्दृष्टे स्तत्रैव दर्शनपंडितमरणं भवति । मरुते, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिर्भेषु, बानध्वतरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च ज्ञातपंडितमरणानि च तेभ्येव । मनुष्यलोके एव कैवल्यमन परम्यज्ञानपंडितमरणं भवति ।

भोसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितारसेयतत्कार्पाणो हीनः प्रश्रुतः सोऽमिधीयेत भोसण्ण इति । तथा मरणं भोसण्णमरणमिति । भोसण्णग्रहणेन पांश्वस्था, द्यारुंदा, कुशीलाः संसृज्जास्य गृह्णन्ते । तथा चोक्तम् ॥

पासत्थो सच्छदो कुसील संसृज्जा होति भोसण्णां ॥
नं सिद्धिपच्छदो ओहीणा साधु सत्थादो ॥

के पुनस्ते ? अक्षिप्रिया, रसेण्यासक्ताः, दुःखमीरयाः तदा दुःखराताः, कयाणेषु परिणताः, संज्ञावशगाः, पाप-
धृताव्यासकारिणः, भयोदशविधासु क्रियासलसाः, सदा संकल्पितसः, भक्ते उपकरणे च प्रतिपन्नाः, निमित्तमनौषध-
योगोपजीविनः गृहस्थययावृत्त्यभराः, गुणहीना गुप्तिषु समिगिषु चानुयताः मंदसेवेया दशप्रकोरे धर्मे अकृतबुद्धयः
शान्त्यारिधाः आसना इत्युच्यते । एवंभूताः संतो श्रुत्वा वराका मवसद्वेषेषु अभ्रन्ति । दुःखानि भुक्त्वा मुक्त्वा पार्श्वस्थ-
त्वेण सुखिरे चिद्व्यान्त आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि श्रुतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंपत्स्य गलपंडितमरणं यतोऽसुप्रयत्नो बालः पंडितश्च । स्थूलकृतात्प्राणातिपातावेर्दिष्ट-
मणलक्षणं चारित्रमस्ति दर्शनं च तत्तत्चारित्र्यपटितो दर्शनपंडितश्च कुतश्चित्प्रह्लादसंयमादनिवृत्त इति चारित्र्यबालः ।
तच्च बालपंडितमरणं गर्भेषु गर्वांस्तेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति । दर्शनपंडितमरणं तु तेषु देवनारकेषु ।

सदास्यमरणं द्विपिधं यतो द्विपिधं तत्त्वं द्रव्यशाल्यं भावशाल्यमिति । मिथ्यादर्शनभायानिदानशाल्यानां कारणं
कर्म अन्यशाल्यं । द्रव्यशाल्येन सह मरणं पंचानां स्थावरानां भवति असेक्षिनां ज्ञानां च । ननु द्रव्यशाल्यं संवेज्जति
तत्किमुच्यते स्थावरप्राणमिति । भागशाल्यमिनिर्मुक्तं द्रव्यशाल्यमपेक्ष्यते । एतदुक्तं—सम्यक्त्वातिचाराणां दर्शनशाल्यत्वात्
व्यवर्तनस्य च स्थानेषु अमाल्यत्वं त्रसेषु च चिकर्षद्विषयेषु । इदमेव म्यादनमते काले इति मनतः प्रणिधानं भिद्वानं ।

न च तद्गोत्रिप्लि। मार्गस्य दूषणे, मार्गनाशने, उन्मादरूपेण, मार्गमरूपेण, मार्गस्थानां मेघकरणे मिथ्यादेशे-
 गरास्यानि।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रदास्तमप्रदास्तं भोगरुतं चेति । परिपूर्णं संयममापराधयितुकामस्य सम्प्रतरे पुनरगदिमार्गता प्रदास्तं निदानं, मानकपयग्रेस्तस्य कुलरूपादिमार्थनमनागतमयविषयं अप्रदास्तं निदानं । भगवा क्रोपायिष्टम्य स्वगपुत्रप्रमार्थना वशिष्टस्येवोपसेनोन्मूलने । एव परत्र च भोगा अपि इत्थंभूता अस्माद्वस्त-दीनान्निदिनाद्वपिमियति ॥७॥ प्रणिधानं भोगनिदानं । असंयतसम्यग्दष्टेः संयतासंयतस्य वा निदानशस्यं भगति । पार्थ-व्याकिरूपेण चिरं विहृत्य पञ्चादपि आद्योचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायादास्यं मरणं तस्य भवति । एतत्र संयते, नैवतागंयते, अदिरतमम्यगदृष्टायपि भवति ।

यलायमरणमुच्यते—पिनयेयातूर्यादाथल्लावरु, महासायोगोव्वहनाडसः, ममावधानवेत्तु, समित्तु, मुत्तिपु
ए ऋषीर्मान्दहनपरः, धर्मवितायां निद्रया घूर्णेत इय च्यानमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरणं
पलायमरणे । तस्यैकपर्वदिते, ज्ञानपंडिते, चरणपंडिते च यलायमरणमपि संभवति । ओक्षणमरणं सप्त-
मरणे च परब्रिमितिं तत्र नियमेन पलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि यलायमरणं भवति । निशाल्यः संविभो भूत्या
किं रत्नमथयुक्तस्य संसारमुपगतस्य दुर्मोयोगात्पलायमानस्य गुभस्य भायस्यानवस्थानात् ।

यत्तद्वमरणं नाम—आत्तं रौद्रे च प्रयत्नमानस्य मरणं । तत्पुनश्चतुर्थं—इन्द्रियसद्वमरणं, देवणावसद्वमरणं, कृन्नावसद्वमरणं, भोक्तावसद्वमरण इति । इन्द्रियसद्वमरणं यत् तत्पञ्चमं इन्द्रियविषयविक्षया । इन्द्रैर्नैरेक्षियः निभत्तौम्य एतेषु तत्पञ्चममरणेषु मनोप्रेषु रक्तोऽमनोप्रेषु द्विष्टो मृत्तयेति । तथा चतुःप्रकारे आधारे रक्तस्य विष्टस्य वा मरणं, पृथोक्तानां चतुर्नरावीनां मध्ये विष्टस्य रक्तस्य वा मरणं, तेषामेव रूपे संस्थाने वा रक्तस्य विष्टस्य वा मरणं, तेषामेव रूपे संस्थाने वा मरणं । इति इन्द्रियानिन्द्रियात्तयममरणविकल्पः ।

ययनायलद्वमरणं विमिदं समासतः । सातयदनायशातमरणं भसातयेदनायशातमरणं । शादीरे मानसे
या दू.ने उपयुक्तस्य मरणं दुःगयशातमरणमुच्यते । यो दुःरोन मोदमुपागतस्तस्य मरणमिति याचत । तथा शादीरे
मानसे वा पुनरु उपयुक्तस्य मरणं सनायशातमरणं ।

कपादेभिराकृत्यायदातर्मरणं यतुर्पिधं भवति । अतुर्पिधरोपो य आत्मनि पश्य उभयत्र वा मारणवशोऽपि मरणयाः भवति । तस्य क्रोधवशात्तर्मरणं भवति । मानवशात्तर्मरणमद्विधं भवति । कुलेन, रूपेन, चलेन श्रुतेन देशेयत्वेन, ज्ञानेन, मन्त्रेण, तपसा वा आत्मानमुत्कर्षतो मरणमपेक्ष्य, विद्यायां विशाले उन्नते बुले समुत्पन्नोद्भूमिति मन्व्यमानस्य मृतिः पुत्र्यमानपदात्तर्मरणम् । निरुपहतर्पेन्द्रियसमग्रग्रास्तेजस्वी मयप्रयौवनः सकलजनताचेतः समद्विद्वान् इति भययतो मृतिः रूपयदात्तर्मरणं । गुरुश्रवताधुत्पाटनक्षमोऽहं योधधानाहं, मियाणां च बलं ममान्ति इति बलान्निमानोद्धतान्मानपदात्तर्मरणं । यदुपरिपाशो यदुदासतोऽहं इति येश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरणं मानवशात्तर्मरणं । लोकदेदरमपनिदानात्पाशाधि विक्षिप्तानि इति धुतमानोन्मत्तस्य मरणं श्रुतमानवशात्तर्मरणमुच्यते । तीक्ष्णायाम वृद्धिः सर्वधामः

विहता इति प्रज्ञावशात्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे मम सर्वत्र लागो जायते इति लाभ मानं भावयतो मरणं लाभवशात्तमरणम् । तपो मयदुष्प्रियते अन्यो मत्सदृशधरणे नास्ति इति संकल्पयतस्तपोमानवशात्तं मरणं भवति । माया पंचविकल्पा निवृत्तिः, उपधिः, सातिप्रयोगः, प्रविधिः प्रतिबुध्यमिति । अतिसंधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वचना निवृत्तिः उच्यते । सद्भावं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्वैत्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिर्विज्ञिता मया । अर्थेषु विसंवादः सहस्तनिसिस्तद्रव्यापहरणं, दूषणं, प्रशंसा वा सातिप्रयोगः । प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, उन्नातिरिक्तमानं, संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया । आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगूढं प्रतिबुचनमाया । एवंविधमायावशात्तमरणं । उपकरणेषु, भक्षणक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छां मूच्छां च ग्रहंतो मरणं लोभप्रशतमरणं । हास्यरस्यरतिशोकभयशुभसुखस्वास्तीपुंश्वसकवेदे मूढमतेर्मरणं नोक्तप्रयवशात्तमरणं । नोक्तप्रयवशात्तमरणमुपगतो जायते मज्जतिर्यग्योनिषु, अमृतरेषु, कर्पूरेषु, किंविचिदेषु च मिथ्यादृष्टेरेतदेवं बालमरणं भवति । वशीकृतशत्रुगर्दभिः संयतसंयतोऽपि वशात्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपंडितं भवति वशीकृतं वा ।

अमतिविषये अननुभाते च द्वे मरणे । विष्याणसं गिबुदुमिति संश्रिते कृते प्रवर्तते । दुर्भिक्षे, कान्तारे, दुर्गच्छे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टदूषणभये, स्तेनभये, तिचंगुपत्वमं एकाकिनः सोऽनुमदाक्ये गृहमतनाशादिद्यादिरूपणे च ज्ञाते क्षयिणः पापभीरुः कर्मणसुदुष्यदुपस्थितं ज्ञात्वा तं सोऽनुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्पुण्ये साधयकरणमीदः विराधान् मरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे ज्ञाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यदुपसर्गभयनाहितः संयमाकृत्यामि ततः संयमधरो वशीकृत्यापि न वैवनामसंस्क्रियः सोऽनु उत्सहेत ततो रत्नप्रयाराधानाच्युतिर्नमेति निश्चितमतिनिर्माप्यधरणदर्शनविमुक्तः, धृतिमादः, ज्ञानसहायोऽनिदानः, अर्हन्तिके, आलोचनामासाय कृतमुक्तिः, सुलेष्टः, प्राणपाननिरोधं करोति पञ्चद्विषण्यतः मरणमुच्यते । शस्त्रप्रहणेन यद्धवति तद्विदुःशुभितुच्यते । मरणविकल्पसंभनप्रदर्शननिर्देशं सर्वत्र कर्तव्यतपोपदिश्यते । प्रायोपगमनमिनिगीमरणं भक्तप्रत्याख्यातं इत्येतान्येवोक्तमिति पूर्वपुरुषैः प्रयतितानि । एवं विदमथेन पूर्वगमादुसादि सप्तदशमरणव्याख्यामनत्रोपकास्तं ।

अथाह शिष्यः । आयुःसंज्ञकुदुल्लगलनं मरणमिष्यते तत्किञ्च सप्तदशप्रकारं । तदिह कतिधा भवद्विरभिधास्यते ? आराधनानुगतमरणस्यैवेह शास्त्रे विधेयत्वेनेष्टत्वात् । तद्वाक्ययदुसादितया सूरिदिदमाह—

मूलाया—सत्तरस सप्तदश । विषयवशे जिना इह गणधरास्तेषां वचनं तद्वचिदं सूत्रं वसिन् । अयमर्थः— न केवलं तीर्थकरैर्मरणानि सप्तपञ्च वैशितानि यावता गणधरैरपि ससूत्रं यानि तावन्त्येवोपनिबद्धानि । उत्तरवाक्ये च शाब्दोऽत्र योग्यः । तत्त्ववि तेजसि तीर्थकरोपदिष्टगणधरोपनिबदेषु सप्तपञ्चमरणेषु मध्ये पंचविचंत्संगहेन—पंचानां प्रकाराणां संक्षेपेन । एतेनैवंयुगीनविनियजनानुसारेण प्रशस्तेतररूपतया कृतेतररूपतां यतानि पंच मरणान्वदं वक्ष्यामीति

महिमा गुरोरेभ्यते । मरणं पात्राद्यभूयमानादुःपुद्गलमलनं मरणभेदस्मरणार्थमिदमागोहयमयथार्थ—

आधीचिद्वद्रूपान्ध्यापवससत्पशुभ्रष्टमृतीः ॥

निग्रामसन्धुस्तुष्टनल्लाकात्तुडिश्यमरणानि ॥ १ ॥

सिद्ध्युसिद्ध्युसिद्ध्युपदिवमृतीः सभक्तोद्भङ्गनिगिनीमरणं ॥

प्रापोपमननं पडितपडितमरणे च सप्तदश विधात् ॥ २ ॥

१ तत्र प्रतिक्रियमाणुःक्षय आधोचिद्वद्रूपं । समुद्रान्धुषु चीनीनामिय आधुःपुद्गलाणुषु रसानां प्रतिस्मयपुद्गलेषु निष्ठयनाम् । २ भुञ्जयमानादुपभ्रमसमये मरणं सद्भयमरणं ३ चादौ मरणेन पूर्वं मृतत्वाद्येनैव मरणमवधिमरणं । ४ दैतवः मर्त्यतो या प्रकृतिविधियनुमागमेदसत्तादृश्येन अवधीकृतेन विरोधित्वात् । प्रकृतिस्थित्यनुभवमर्त्येर्निर्दलतः मर्त्यतो वाग्यादसर्पेरणमार्गमरणं । आधेः प्रथममरणस्यान्तो विनाशो यस्मिन्नुत्तरमरण इति व्युत्पत्तेः । ५ भार्यानिदानमिष्यात्पल्लवमणसंक्षयमेतस्य मरणं सशतं मरणं । ६ हस्तिकलेषयादिषु प्रविश्य मरणं शूङ्गपट्टमरणं ७ प्राणनिरोध कृत्वा मरणं क्षिप्रमरणं । ८ दर्शनज्ञानचरित्राणि त्यक्त्वा मरणं व्युत्पद्यमरणं ९ पार्थिव्यलपेण मरणं पछाकामरणम् । १० दर्शनज्ञानपारित्रेण संकलनं कृत्वा मरणं संकीड्यमरणं । शेषसप्तकस्य लक्षणानि स्वपनेषाचार्योऽपे पश्यति ।

हिन्दी अर्थ—धौलितेश्वराने विनागममें मरणोंके सतरह प्रकार कहे हैं. उसमेंसे संग्रह करके मैं (शिवको व्याचार्य) पांच मरणोंका स्वरूप कहता हूँ ।

विशेषार्थ—मरण, निगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थ वाचक अर्थात् मरणके वाचक शब्द हैं. मरणके पूर्व ये प्राणीका जीवन पर्यन्त होता है अनंतर मरण पर्यन्त होता है ऐसे दो पर्याय जीवमें होते हुए देखे जाते हैं. जीवन पर्यायरेखी स्थिति, अविनाश, अग्रस्थिति ऐसे नाम हैं. जिस पदार्थकी स्थिति होती है वही पदार्थ नष्ट भी होता है. जिमसी स्थिति ही नहीं उगका नाश भी नहीं होता है. जैसे चंध्यासुतकी स्थिति नहीं है अतः उसका नाश भी नहीं है. स्थितिपहित पस्तु धनिकतादि बौद्धोंने मानी है. वे सर्वथा वस्तु धनिक मानते हैं. जीवन जन्म पूर्वक ही रहता है. जो चीज उत्पन्न हुई नहीं उमरकी स्थिति भी नहीं रहती है. अतः नाश, उत्पत्ति और धौल्य ये तीन

अवस्थायें संपूर्ण पदार्थोंकी होती हैं, ऐसी यदि प्रक्रिया मानें तो उत्पन्न हुए पर्यायका जो नाश उसकोही भरण कहना चाहिये, देवपत्नी, मनुष्यपत्नी, तिर्यक्पत्नी, और नारकपत्नी इन पर्यायोंका नाश होना यह यहाँ भरण शब्दका वाच्यार्थ है, अथवा प्राणोंका त्याग वह भरण शब्दका अर्थ है, अथवा 'मृत्यु' प्राणत्याग 'ऐसा मृ धातुका अर्थ धातुपाठमें है, उसी तरह प्राणोंको ग्रहण करना यह जन्म शब्दका अर्थ है, अर्थात् प्राण धारण करना यह जीवित है, प्राणोंके द्रव्यप्राण व भावप्राण ऐसे दो भेद हैं, स्पर्शनादिक पाँच इंद्रिया, मनोबल, वचनबल और कायबल आसोच्छ्वास और आयु ऐसे दस भेद द्रव्य प्राणोंके हैं, ये द्रव्यप्राण पुद्गलात्मक हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य ये भावप्राण हैं, भावप्राणोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें जीवित माना गया है।

आयुष्यके दो भेद हैं पहिला भेद अद्वायु और दूसरा भेद भवायु, भवधारण करना वह भवायु है, शरीरको भव कहते हैं, इस शरीरको आत्मा आयु कर्मके उदयका साहाय्य प्राप्त करके धारण करता है, अतः शरीर धारण करनेमें असमर्थ ऐसे आयुर्कर्मको भवायु कहते हैं, इस विषयमें अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं,

देहको भव कहते हैं, यह भव आयु कर्मसे धारण किया जाता है, अतः भवधारण करनेवाले आयु कर्मको भवायु ऐसा कहते हैं, आयु कर्मके उदयसे ही उसका जीवन स्थिर है, और जब प्रसृत आयु कर्मसे भिन्न अन्य आयु कर्मका उदय होता है तब यह जीव भ्रमणावस्थाको प्राप्त होता है, भरण समयमें पूर्वायुका विनाश होता है,

इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

अद्वायुके विषयमें विवेचन—अद्वा शब्दका काल ऐसा अर्थ है, और आयु शब्दसे द्रव्यकी स्थिति ऐसा अर्थ समझना चाहिये, द्रव्योंका जो स्थितिकाल उसको अद्वायु कहते हैं, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्योंका अद्वायु अनाद्यनिधन है अर्थात् द्रव्य अनादि कालसे चला आया है और वह अनंत कालतक अपने स्वरूपसे व्युत्पन्न होगा इसलिये उसको अनादि अनिधन मी कहते हैं, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जब विचार करते हैं तो अद्वायुके चार भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—१ अनाद्यनिधन २ साद्यनिधन ३ सनिधन अनादि ४ सादि सनिधनता,

चित्तन्यादिकगुण, रूपादिकगुण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व इत्यादि सामान्य घटमिष्यया द्रव्योंकी अनाद्य-

निधन स्थिति है अर्थात् उपर्युक्त धर्म द्रव्योंमें अनादिकालसे विद्यमान हैं और इनका कभी भी नाश होता नहीं। अतः इनकी अनाद्यानिधन स्थिति विद्वानोंने मानी है। जीवमें भव्यत्वगुण, अनादिकालसे है परंतु सुक्तीके समयमें उनका नाश होता है अतः यह अनादि और सनिधन है। अर्थात् वे चार बार उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं।

वैप, ह्यादिचिह्नार सादि और सनिधन हैं, अतएव वे सादि और अनिधन हैं। अद्यायुके आश्रयसे त्रैलोक्यादिक गुण सादि हैं परंतु वे कभी नष्ट नहीं होते, अतएव वे सादि और अनिधन हैं। अद्यायुके आश्रयसे अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर अद्यायुके चार भेद होते हैं, अद्यायुके आश्रयसे भवधारणरूप आयुका निरूपण होता है। आयुसंज्ञक जो कर्म हैं वे पुद्गलद्रव्यस्वरूप ही हैं, अतः आयुःस्थिति द्रव्यस्थितिसे भिन्न नहीं है।

अथवा जीव जिसका अनुभव ले रहा है ऐसे आयुसंज्ञक पुद्गल आत्मसे नष्ट होता नहीं मरण है, अतः आयुःस्थितिसे द्रव्यस्थिति अत्यंत भिन्न नहीं है। आयुःकर्म भी पुद्गल द्रव्य है अतः आयुकी स्थितीको अद्या काल-द्रव्यस्थिति ऐसा भी कह सकते हैं। आयुःकर्म नष्ट होना यह मरण है ऐसा उपर कह चुके हैं। इस मरणके तीर्थकरणोंने जिनवचनमें सतरह प्रकार कहे हैं।

शंका—तीर्थकरणोंने मरणोंके १७ प्रकार कहे हैं इतना कहनेसे भी अभिप्राय ध्यानमें आता है 'जिनवचनमें' ऐसे अधिक शब्दकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—आपकी शंका ठीक है। जिन शब्दका यहां गणघर ऐसा अर्थ समझना चाहिये, गाथामें च शब्द नहीं है तो भी उनके बिना भी समुग्यार्थ माना जाता है। यहां ऐसा संरूप करना चाहिये, तीर्थकरणोंने मरणके सतरह प्रकार कहे हैं, और गणघरोंके वचनमें अर्थात् उनके रचित सूत्रोंमें भी मरणके सतरह प्रकार कहे हैं, अतः दोनोंके वचन प्रमाण अर्थात् शंकाके स्थान नहीं है। सतरह मरणोंके नाम इस प्रकार हैं—१ आसीचिमरण २ वज्रमरण ३ अवधिमरण ४ आदि अंतियमरण ५ बालमरण ६ पंडितमरण ७ ओमणमरण ८ गालपंडित मरण ९ मज्जल्यमरण १० कलाकामरण ११ वीसदुमरण १२ विष्णुसमरण १३ गिद्धपुडुमरण १४ भक्तप्रत्याख्यान मरण १५ केवलमरण ।

आगमके अनुसार इनका संक्षेपसे यहां वर्णन करते हैं।

१ आभीचिमरण—भीचि शब्दका अर्थ 'तर्क' ऐसा होता है। तर्कके समान जो आयु कर्मका प्रतिसमय उदय आता है उसका भी यहां भीचि शब्दसे आचार्य उल्लेख करते हैं। जैसे नदी समुद्र इत्यादिको निरंतर लहरें उछलती हैं वैसे आयु कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है। अतएव उसके उदयको आभीचि कहते हैं। आयुका अनुभव तेना वह जीवित है, वह जीवित प्रति समयमें रहता है, प्रत्येक समयका जीवित नष्ट होना यह मरण है, अतः प्रति समयके मरणको भी यहां भीचि कहते हैं। आयुके अनंतर मरण भी प्रतिसमय होता रहता है अतः वह मरण 'आभीचि मरण' ऐसे नामसे प्रसिद्ध है। यह आभीचि मरण मन्व जीवोंके प्रति अनादि और सन्निधन है, मन्वको जब मोक्षमाप्ति होती है तब वह मरण नष्ट हो जाता है अतः इसको सन्निधन कहते हैं। मोक्षके पूर्वमें मन्वकी हत्या मरण या इसकी अपेक्षासे उसे अनादि भी कहते हैं, अतः वह मरण मन्वोंकी अपेक्षासे अनादि सन्निधन है।

टिप्पणी—सिद्धोंकी ही मरण नहीं है उनके जन्म मरणका नाश हो चुका है परंतु सिद्धसे व्यतिरिक्त जीवोंको हमेशा मरण है ही, सिद्ध जीवोंको मन्व भी नहीं कहना चाहिये। जिनको भविष्य कालमें सिद्धत्व पर्याप्त प्राप्त होगा उनकोही मन्व कहते हैं, सिद्धोंकी तो सिद्धत्व पर्याप्त मिल चुका है अतः उनको मन्व कहना योग्य नहीं है। सिद्धोंकी अपेक्षासे ही आभीचि मरण अनादि सन्निधन है, मन्वोंकी अपेक्षासे वह अनादि और सन्निधन ही समझना चाहिये।

उत्तर—'भविष्यजन्मनादिवं मरणं आभीचिगं सगिघणं च' अर्थात् मन्वोंका आभीचि मरण अनादि और सन्निधन है ऐसा आगममें कहा है, जिसने मन्वत्वपर्याप्त प्राप्त किया था वही यह द्रव्य है ऐसी अपेक्षासे मन्वोंका मरण अनादि सन्निधन है ऐसा कह सकते हैं, अर्थात् सिद्धोंकी भी भूतपूर्व मन्वकी अपेक्षासे मन्व कहते हैं।

अमन्वोंकी अपेक्षासे यह आभीचि मरण अनादि अनिधन है, अर्थात् प्रतिसमय उनको आयुका उदय रहता ही है, मन्वकी अपेक्षासे अथवा क्षेत्रकी अपेक्षासे यह मरण सादि कहते हैं।

आयु कर्म के चार भेद हैं, उसमें यद्यपि प्रत्येक भविष्यमें दो आयुकी सत्ता रहती है तो भी एकही आयुका उदय रहता है अर्थात् जिस भविष्यमें वह प्राणी उत्पन्न होता है उस भविके अनुकूल आयुकाही उदय होता है।

परंतु दो आयु कर्म एक साथ रह सकते हैं.

तिर्यंचाद्यु और मनुष्यायुके साथ सर्व आयुष्यकी सचा रहती है. अर्थात् तिर्यंच जीवकी देवायु, नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यंचाद्यु ऐसे आयुमेंसे कोई भी आयुका नेच हो सकता है इस लिये सर्व आयुकी सचा रहती है ऐसा आचार्य कहते हैं. इसी तरह मनुष्यायुके साथ भी—सब आयुकी सचा रहती है. देव आयु और नरकायुके साथ तिर्यंचाद्यु और मनुष्यायु की ही सचा रह सकती है. अतएव देव नारकी नहीं होता और नारकी भरकर देव नहीं होता. देव मरकर तिर्यंच अथवा मनुष्य ही होगा. नारकी भी भरकर तिर्यंच अथवा मनुष्यगतीमें ही उत्पन्न होगा.

शंका—दो आयुओं की एक मयमें सचा रहती है यह हम मानते हैं परंतु एकदम दो आयुओंका उदय होता है क्या ?

उत्तर—जिस आयुकी प्रकृति और स्थिति अनुभवमें आ रही है उसके उपर इतर आयुके नियंत्रण रहते हैं. अर्थात् पूर्वायुकी प्रकृति और स्थिती पूर्ण अनुभवमें आकर समाप्त होनेपर नंतर दूसरे आयुका उदय होता है. अतः एकदम दो आयुओंका उदय होता नहीं. आपके प्रश्नका उत्तर अन्य प्रकारसे भी दे सकते हैं—

एक जीवको पुनर्पद् दो भव अथवा दो गतिओंका संभव नहीं है. भव और गति की अपेक्षासे आयुका उदय होता रहता है. इनकी अपेक्षाका लक्षण कर आयुका कभी उदय होता नहीं ऐसा नियम है. एक आत्मामें एक ही आयु कर्म की प्रकृती का उदय एक भवमें आता है. इसलिये एक एक आयु की प्रकृति गलित होनेसे आत्मा भ्रष्टानस्याको प्राप्त होता है. इसको प्रकृतिभ्रष्ट कहते हैं.

भग्नो धारण करनेमें कारण ऐसे पुद्गलोंमें स्निग्धता रहती है अतः वे पुद्गल आत्माके प्रदेशोंमें संनद्ध होकर रहते हैं. उनको स्थिति कहते हैं. आत्मामें कषाय परिणाम है. यह पुद्गलोंमें स्निग्धता लानेमें सहकारि कारण है. स्निग्धताका उपादान कारण तो वे पुद्गल ही हैं परंतु कषाय न हो तो पुद्गलकी स्निग्धता व्यक्त होती नहीं अतः उसकी व्यक्ततामें अथवा सहस्री कारण माने गये हैं. यह पुद्गल द्रव्यकी स्थिति एक समयसे लेकर चढती है. देवोत्पत्ति नामांके जितने मय्य होते हैं उतने भेदवाली जो स्थिति है उसको उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं. अंतर्मुहूर्त परिमाणवाली स्थिति तृतीय स्थिति है. इन स्थितियोंकी तरंगोंके समान रुमरचना है. इनका

क्रममें नाश होनेसे आत्मको स्थित्यावीचिक मरण की प्राप्ति होती है.

अनुभवावीचिमरणका स्वरूप—कर्म पुद्गलोंका जो रस अनुभवमें आता है उसको अनुभव कहते हैं. यह अनुभव कर्मपुद्गलोंके परमाणुओंमें छह प्रकारकी दानि रूपतासे तथा छह प्रकारकी वृद्धिरूपतासे हीन होता और बढ़ता है. क्रमसे रहे हुए इस अनुभवका तरंगोंके समान क्रमसे नाश होता है. इसको अनुभवावीचिक मरण कहते हैं.

प्रदेशावीचि मरणका स्वरूप—आयुसंज्ञक पुद्गलोंके प्रदेश जपन्य निषेकसे प्रारंभ करके एक दो तीन इत्यादि वृद्धिक्रमसे तरंगके समान नष्ट हो जाते हैं उसको प्रदेशावीचिक मरण कहते हैं. इस तरह आबीचिकामरण का विवेचन हुआ ।

२ तद्भवमरणका स्वरूप—पूर्वमवका नाश होकर उत्तर भवकी प्राप्ति होना वह तद्भवमरण है यह मरण हम जीवने अनन्त बार प्राप्त किया है. यह मरण इस जीवको दुर्लभ नहीं है.

३ अयाधिमरणका स्वरूप—जो प्राणी जिस तरहका मरण वर्तमानकालमें प्राप्त करता है. वैसा ही मरण यदि आगे भी उसको प्राप्त हीगा तो ऐसे मरणको अयाधिमरण कहते हैं । इस मरणके देशावाधिमरण और सर्वाधिमरण ऐसे दो भेद हैं. सर्वाधिमरणका स्वरूप—प्रकृति, स्थिति, आयु और प्रदेशों सहित जो आयु वर्तमानमयमें जैसी उदयमें आती है वैसी ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बंधकर यदि उदयमें आवेगी तो उसको सर्वाधिमरण कहते हैं ।

देशाधिमरणका स्वरूप—जो आयु वर्तमानकालमें प्रकृत्यादि विशिष्ट होकर जैसी उदयमें आती है. वैसी ही आयु यदि किसी अंशमें सदृश होकर वंधेगी और आगेके कालमें—मविष्यकालमें उदयमें आवेगी तो उसको देशाधिमरण कहते हैं. अभिप्राय यह है कि कुछ अंशमें अथवा पूर्णरूपसे सादृश्य जिसमें पाया जाता है ऐसा अवधिसे विशिष्ट अर्थात् जिसमें पूर्ण सादृश्य मर्यादित हुआ है अथवा जिसमें कुछ हिस्सेमें सादृश्यकी मर्यादा है और कुछ हिस्सेमें नहीं ऐसे मरण को अवधिमरण कहते हैं ।

आद्यंतमरण—वर्तमानकालमें जैसा मरण जीवको प्राप्त हुआ है वैसा अर्थात् सद्यमरण आगे प्राप्त न होना उमको आद्यन्तमरण कहते हैं. यहां आदि शब्दसे वर्तमानकालीन प्रथम मरण ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

ऐसे मरणका उत्तर मरणमें नाश होना उसको आद्यतमरण कहते हैं। प्रकृति, स्थिति, अस्तित्व और प्रदर्शित युक्त ऐसे आपुना नाश होनेसे वर्तमानकालमें विसा मरण प्राप्त हुआ है ऐसा ही सदृश मरण आगे जीवको यदि प्राप्त न होगा तो उसको आद्यतमरण कहते हैं।

५. मालमरणका स्वरूप—मालका—अर्थात् अज्ञानी जीवका जो मरण उसको मालमरण कहते हैं। मालजीवके पांच भेद हैं। उनके नाम यथा—अव्यक्तमाल, व्यवहारमाल, ज्ञानमाल, दर्शनमाल और चारित्रमाल।

अव्यक्तमाल—अव्यक्त शब्दका अर्थ छोटा लडका ऐसा होता है। अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका स्वरूप जानता नहीं और इन चार पुरुषार्थोंका आचरण करनेमें जिसका शरीर असमर्थ है ऐसे मालको अव्यक्तमाल कहते हैं।

व्यवहार माल—लोकव्यवहार, वेदका ज्ञान, शास्त्रज्ञान, जिसको नहीं है वह व्यवहार माल है। दर्शन माल—वैश्वार्थ श्रद्धान जिनको विलकुल नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन माल हैं।

ज्ञान माल—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञान माल हैं।

चारित्र माल—चारित्रहीन प्राणीको चारित्र माल कहते हैं। ऐसे पांच मालोंका जो मरण उसको माल मरण कहते हैं। ऐसे माल मरण अनन्तवार भूतकालमें इस जीवने प्राप्त किये हैं। अनन्त जीव इस मरणको प्राप्त होते हैं। यहाँ दर्शनमालका प्रकरण ही प्रस्तुत है। इतर मालोंका विवेचन करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। सम्यग्दर्शमें इतर मालफलका सङ्ग्रह है तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे वह दर्शनपंडित कहा जाता है। अतः सम्यग्दर्शन सहित उसका मरण होनेसे उसके मरणको पंडित मरण ही कहते हैं।

दर्शनमालके मरणके संक्षेपसे दो भेद हैं। इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त।

इच्छाप्रवृत्त मरण—अग्नीसे, धूममें, शस्त्रके द्वारा, विपत्ते, पानीसे, पर्वतपरसे कूदनेसे, श्वेतोच्छ्वास रोकनेमें, अति शीतोष्णके पडनेसे शूक और प्याससे, बिज्जाको उखाड़नेसे, प्रकृतिके विरुद्ध ऐसे आहारका सेवन करनेमें, इत्यादि कारणोंमें जीवनका त्याग करनेकी इच्छासे जो प्राण त्याग करते हैं वे इच्छाप्रवृत्त मरण करनेवाले दर्शन माल हैं। योग्य कालमें अथवा अकालमें ही मरणका अभिप्राय धारण न करते हुए भी दर्शन मालोंको जो मरण आता है वह अनिच्छाप्रवृत्त मरण है। जीवकी इच्छा होते हुए भी जो मरण आता है वह

जो दुर्गतिको जानेवाले हैं, जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त हुवा है, जिनके हृदयमें अज्ञानांधकार छाया हुआ है. जो क्वादिमें आसक्त हुवे हैं, रसोंमें आसक्त हुवे हैं, और सुखका अभिमान रखते हैं अर्थात् मैं बड़ा सुखी हूं. मेरेको ही अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलते हैं, और मैं बड़ा श्रीमंत या इत्यादिक रूप तीन गारवोंसे जो युक्त हैं ऐसे जीव ऊपर करे हुए घाल मरणसे मरते हैं. इन बालमरणोंसे बहुत तीव्र पाप कर्मके आसन्न जीवमें आते हैं. ये बालमरण जरा, मरण वगैरह संकटोंमें जीवोंको फेकते हैं.

पंडित मरणका कथन करते हैं—

१ व्यवहार पंडित २ सम्पत्त्य पंडित ३ सम्यग्ज्ञान पंडित ४ चारित्र पंडित ऐसे पंडितके चार भेद हैं. लोक, वैद, समय इनके व्यवहारोंमें जो निपुण हैं वे व्यवहार पंडित हैं. अथवा जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञानकार हैं, दुःख, ध्वष, धारणादि बुद्धिके गुणोंसे जो युक्त हैं उनको व्यवहार पंडित कहते हैं.

दर्शन पंडित—जिनको श्रायिक सम्यग्दर्शन, अथवा औपद्र्यमिक सम्यग्दर्शन वा क्षायोपद्र्यमिक सम्पद्-र्शन हैं वे जीव दर्शन पंडित हैं ।

ज्ञानपंडित—मर्यादा पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जो परिणत हैं उनको ज्ञानपंडित कहते हैं ।

चारित्र पंडित—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, दूरभ्रमसांपराय, यथास्थाय ऐसे चारित्रिके पांच भेद हैं. उनमेंसे किसी एक चारित्रिके धारक जो हैं उनको चारित्र्यपंडित कहते हैं. यहाँ ज्ञानपंडित और चारित्र पंडितोंका ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि व्यवहारपंडित मिथ्यादृष्टि होता है इसलिये उसका मरण बालमरणमें समाविष्ट होता है. और ज्ञानादिपंडितोंका मरण पंडितमरणमें अन्तर्भूत होता है ऐसा समझना चाहिये. नरकमें, भवनवासिदेवोंके स्थानोंमें, स्वर्गवासिदेवोंके तथा ज्योतिर्वासिदेवोंके विषयानोंमें व्यंत्तरोंके निवास स्थानोंमें, द्वीप और समुद्रोंमें दर्शनपंडितका मरण होता है.

ज्ञानपंडितोंका मरण भी उपर्युक्त स्थानोंमें होता है परंतु जिनको मनःपर्यय प्राप्त हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित और जिनको केवलज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित इनका मनुष्य लोकमें ही मरण होता है ।

अवसन्नमरणका वर्णन—रत्नत्रयमार्गमें विहार करतेवाले श्रुतिवाक्यका संघ जिसने छोट दिया है ऐसे श्रुतिको

अनुमन कहते हैं और उसके मरणको अवसन्नमरण कहते हैं. अवसन्न शब्दसे पार्थस्य, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त ऐसे ग्रन्थ मुनिओंका भी ग्रहण होता है. इनका धर्म्म-

पार्थस्य, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न ये पाँच प्रकारके मुनि रत्नत्रयमार्गमें विहार करनेवाले मुनिओंका त्याग करते हैं. अर्थात् स्वच्छन्दसे चलते हैं. ये मुनि क्रद्धीमें आसक्त होते हैं, रसोंमें आसक्ति रखते हैं. दुःखमें डरते हैं, हवेशा सुखको चाहते हैं, कषायोंमें परिणत होकर आहारदि संज्ञाके आधीन रहते हैं. जिनमें पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुशासनोंका अभ्यास करते हैं. ३ गुप्ति ५ समिति और ५ महाव्रत ऐसे तेरह व्रतांशी क्रियाओंमें आलसी रहते हैं. इनके परिणामोंमें हवेशा संक्षेप रहा करता है. आहारके पदार्थ और पिच्छी, कर्मइत्यादिक उपकरणोंमें इनका बिच आसक्त होता है. निमित्त शास्त्र, मंत्र शास्त्र, औषध इनका कथन कर ये उपजीविका करते हैं. गृहस्थोंका वैशाधृत्य करते हैं. उत्तरगुणोंसे रहित होते हैं. गुप्ति और समितिमें ये प्रेम नहीं करते हैं. नहीं रहती हैं. इनका मन संसारदुःखोंसे भययुक्त होता नहीं है. उचम क्षमादिक दृष्टधर्मोंमें ये प्रेम नहीं करते हैं. इनके चारित्र्यमें दोष लगते हैं. ऐसे मुनिओंको अवसन्न कहते हैं. ये मुनि मरकर हजारों भवमें भ्रमण करते हुये दुःखोंको पारंवार भोगते हैं. यदि पार्थस्यरूपसे विरक्ताल विहार कर अंतमें उन्होंने अपनी बुद्धि की होगी तो वे प्रव्रत्तमरणको प्राप्त होते हैं.

जो सम्मगदष्टि होकर संयमासंयम अर्थात् अनुव्रत धारण करता है वह श्रावक बाल पंडित कहा जाता है. उपके मरण का नाम बाल पंडित मरण ऐसा है. वह श्रावक बाल और पंडितत्व ऐसे दोनों भावोंसे युक्त होनेसे इनको बाल पंडित कहते हैं. स्थूल हिसादिक पंच पापोंका त्याग इसने किया है, तथा सम्मगदर्शन का धारक भी है. अतः यह चारित्र्य पंडित और दर्शन पंडित है. परंतु यक्ष्य असंयमसे निवृत्त नहीं है, यक्ष्य हिसादि पापोंका त्यागी न होनेसे इसमें बालत्व भी है अतः इसको बालपंडित कहना अनर्थ है. यह बाल पंडित मरण गर्भिज्जपर्याप्त ऐसे लियंच और मनुष्योंमें होता है. देव और नारकी जिविमें नहीं होता. क्योंकि वे केवल दर्शन पंडित ही हैं. दण्डनपंडितमरण उपयुक्त तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकी जीव इनमें होता है.

सद्व्यमरणके दो भेद हैं क्योंकि शून्यके द्रव्यशून्य और भावशून्य ऐसे दो भेद माने हैं. मिथ्यादर्शन माया, निदान ऐसे तीन द्रव्योंकी जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारणभूत कर्मको द्रव्यशून्य कहते हैं. इनके

उदयसे जिवमें जो मायारूप, निदानरूप और मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं वे भावशून्य हैं. पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पाँच स्थावरोंके मरणको द्रव्यशून्यमरण कहते हैं. असंज्ञि ऐसे त्रस जीव भी इसी मरणसे मरते हैं.

शंका—द्रव्यशून्य सर्व त्रस स्थावर प्राणिओंमें है ही ? तो स्थावरोंमें ही यह है ऐसा आप कहते हैं यह योग्य नहीं है.

उत्तर—भावशून्यसे रहित केवल द्रव्यशून्यकी अपेक्षासे हमने ऐसा कहा है. सम्यक्सममें दर्शनशून्यसे अतिचार उत्पन्न होते हैं. सम्यग्दर्शन स्थावर जिवोंमें और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उत्पन्न होता है.

मेरेको भविष्यत्कालमें ऐसी ऐसी वस्तु मिलनी चाहिये ऐसा मनका संकल्प होना उसको निदान कहते हैं. यह असंज्ञिजीवोंमें मन न होनेसे नहीं होता है.

रत्नत्रयमार्गकी दृष्टि लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका निरूपण करना, रत्नत्रयमार्गमें चलने-वाले लोगोका बुद्धिसेद करना ये सब मिथ्यादर्शनशून्यके प्रकार हैं.

निदानके प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत ऐसे तीन भेद हैं. परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे जन्मांतरमें मेरेको पुरुषत्व प्राप्त हो, उत्तम कुल, उत्तम दृढ शरीर इत्यादि सामग्री प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करना प्रशस्तनिदान है. कपायसे प्रेरित होकर आगेके जन्ममें कुलरूपादिकोंकी प्रार्थना करना अप्रशस्तनिदान है. अथवा मोर्धांध होकर अपने शत्रुओं में उत्तर भयमें मार सकूँ ऐसी इच्छा रखना जैसे वशिष्ठमुनीने उग्रसेन राजाका नाश करनेकी इच्छा की थी. यह वशिष्ठमुनि शरकर कंस हुवा था. उसने अपने पिताका राज्य छीन लिया था और उसको कारागृहमें कैद किया था. यह अप्रशस्तनिदानका उदाहरण है.

भोग निदान—इस लोकमें तथा परलोकमें—स्वर्गादिकमें मेरेको अच्छे २ भोग इस त्रताचरणसे मिलने चाहिये ऐसा मनमें संकल्प करना वह भोगनिदान है. यह भोगनिदान असंयतसम्यग्दृष्टि व संयतासंयत अर्थात् श्रावकको होता है. ये जीव भोगनिदानसे मरते हैं. इसको भोगनिदान मरण कहते हैं.

मायाशून्यमरण—पांडस्थ, कुशील, संसक्त वगैरे अष्ट मुनीके रूपसे विहरकाल तक विहार करके जो मुनि मरणसमयमें भी दोषोंकी आलोचना किये बिना ही मरते हैं उनका वह मरण मायाशून्यमरण समझना

शारीरिक और मानसिक वेदनासे पीड़ित होकर अर्थात् उनमें एकाग्रचित्त होकर, दुःस्वप्ने मूर्छित होकर जो मरण होता है वह अस्मात्वेदनावशार्त मरण है. शारीरिक और मानसिक सुखोंमें अनुरक्त होकर जो आर्त ध्यानासे मरण होता है वह सातवेदनावशार्त मरण है.

कपायवशार्त मरण—कपायके चार भेद होनेसे इस मरणके भी चार भेद होते हैं. स्वतःमें, दुसरेमें अथवा उभयत्र उत्पन्न हुआ जो क्रोध मरणको कारण हो जाता है वह क्रोधकपायवशार्त मरण है. मानवशार्त मरण—इसके आठ भेद हैं. कुल, रूप, बल, शास्त्रज्ञान, ऐश्वर्य, लाभ, प्रज्ञा-बुद्धि व तप इनमें उत्पन्न हुए अभिमानके नजरेमें मरण होना मानवशार्त मरण है. ? विख्यात, विशाल और उत्कर्षको प्राप्त हुए कुलमें उत्पन्न हुआ है ऐसे अभिमानसे जो मरण होता है वह कुलमानवशार्त मरण है.

२ मेरी पाँचों इंद्रियां निर्व्यय हैं, मेरा शरीर संपूर्ण अवयवोंसे युक्त है, मैं तेजस्वी हूँ, नवीन यौवनसे मेरा शरीर युक्त है, मेरा सौंदर्य समस्त लोकोंके अंतःकरणको हर लेता है ऐसी भावनामें जो मरण होता है वह रूप-मानवशार्त मरण है.

३ मैं वृद्ध और पर्यंतोको भी उत्साहनेमें समर्थ हूँ, बड़े बड़े योद्धा मेरे आश्रयमें रहते हैं, बहुतसे मित्र भी मेरेको सहाय प्रदान करते हैं. ऐसा सखीय बलका अभिमान करते करते मरण होना वह बलभिमान-वशार्त मरण है.

मैं बड़े परिवारका मालिक हूँ, बहुत लोगोंपर मेरी हुकमत चलती है ऐसे ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्त होकर जो मरण होता है वह ऐश्वर्यमानवशार्त मरण है.

५ मैंने लोक व्यवहार, वेद, अनेक मत इनके सिद्धान्त शास्त्रोंका अध्ययन किया है ऐसे शास्त्रज्ञानके अभिमानमें चर होकर मरण करना यह शुतमानवशार्त मरण है.

६ मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सर्व विषयोंमें विना स्वभावटके प्रवेश करती है ऐसे बुद्ध्यभिमानके वशमें आकर मरण होना वह प्रज्ञामानवशार्त मरण है.

७ व्यापारमें मेरेको हमेशा लाभही होता है ऐसा लाभके अभिमानमें मच होकर जो मरण होता है वह लाभमानवशार्त मरण है. ८ मैं तप करता हूँ, मेरे समान तप करनेवाला कोई नहीं है ऐसे अभिमानमें आकर

जो मरण होता है वह तपोमानवदाते मरण है.

सायने पांच प्रकार है. निष्कृति, उपधि, साति प्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकृचन. १ धनके विषयमें अथवा किसी कार्यके विषयमें जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है ऐसे मनुष्यका जो फसानेका चातुर्य उसको निष्कृति कहते हैं २ अच्छे परिणामको दृक्कर धर्मके निमित्तसे चोरी चोरे दोषोंमें प्रवृत्ति करना वह उपधिसंज्ञक माया है. ३ धनके विषयमें असत्य बोलना, अपने हाथमें किसीने रखनेकेलिये द्रव्य दिया हो तो उसका कुछ हिस्सा हरण करना, दूण लगाना, अथवा प्रशंसा करना यह सातिप्रयोग साया है. ४ हीनाधिक कीमतकी सद्य वस्तुयें आपसमें मिलाना, तोल और मापके सेर पत्तेरी वगैरह साधन पदार्थ कम जादा रखकर लेन देन करना, सच्चे और झूठे पदार्थ आपसमें मिलाना. यह सब प्रणिधि माया कहते हैं. ५ आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना यह प्रतिकृचन माया है. ऐसे मायाके प्रकार करते हुए जो मरण होता है उसको मायावशात् मरण कहते हैं.

उपकरण पिछी, कर्मदुल आदिक, भक्षण-आहारके और पीनेके पदार्थ, शरीर, निवासस्थान इत्यादि-कोमैं इच्छा-ममत्व रखते हुए जो मरण होता है वह लोभवशात् मरण कहते हैं.

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, लीबेद, पुल्लवेद, नपुंसकवेद इनसे जिसकी बुद्धि मूढ़ हो गई है ऐसे मनुष्यका जो मरण वह नैकप्रपञ्चार्त मरण है.

जो प्राणी वशात् मरण को प्राप्त होते हैं वे मनुष्य और तिर्यचोंमें जन्म धारण करते हैं. तथा असुर, फंदर्पजातिके देव, किन्तिप देव इनमें वशात् मरणसे मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं. इनके इस मरणको चालमरणमें अन्तर्भूत कर सकते हैं. दर्शन पंडित भी, अविरत सम्यग्दृष्टि, और संप्रतांसंयत जीव भी वशात् मरणको प्राप्त होते हैं. उनका यह मरण बालपंडित मरण अथवा दर्शन पंडित मरण समझना चाहिये.

विप्राणममरण और गृधृष्टष्ट ऐसे नाम जिनके हैं ऐसे दो मरणोंका शास्त्रोंमें निषेध नहीं है और इनकी अनुज्ञा भी नहीं है.

दुष्कालमें, अथवा दुर्लभ्य ऐसे जंगलमें, पूर्वकालके शत्रुका भय उपस्थित हुआ हो ऐसे समयमें, दुष्ट राजाने भीति उत्पन्न हुई हो, चोरों भय उत्पन्न हुआ हो, तिर्यचका उपसर्ग हो रहा हो, एकाकी स्वयं सहन करनेमें अमर्ष होनेमें, प्रमदवतका नाश वगैरके द्वारा चास्त्रिये दोष लगनेका प्रसंग आया हो तो संसारभील,

पापोंमें डूबनेवाला, ऊर्मन्त्रा उदय इय समय उपस्थित हुआ है ऐसा जानकर उसको सहन करनेमें असमर्थ होता है, ऐसे मंत्रांतों पार पड़ने का उपाय उसको नहीं दीखता है तो भी पापकार्योंसे बड़ डरता है, आत्माका घात करनेवाले मरणोंमें भयपुक्त होता है, उपर्युक्त खारण उपस्थित हो जानेपर अथ वेप कुछल होगा क्या ऐसा वह मनमें निचार करता है—यदि मैं इस उपसर्गके भयसे पीडित हो जाऊँ तो मेरा संयम नष्ट होगा और मेरा सम्यग्दर्शन भी नष्ट होगा, इस उपसर्गसे जो वेदना हो रही है वह सहन करते समय परिणामोंमें संकेल्य होगा ही, अथ मेरी रत्ननयाराधना नष्ट होनी—न टिकेगी ऐसा जब उसको निश्चय होता है उस समय निश्चय होकर चारित्र और दर्शनमें निशुद्धता धारण कर धैर्यपुक्त होता है, ज्ञानका सहाय लेकर निदानरहित होता है, अर्हन्तके समीप आलोचना करके निशुद्ध होता है, निर्मल लेश्याधारी वह पुरुष अपने आसोझूसका निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है, ऐसे मरणको विप्राणस मरण कहते हैं,

उपर्युक्त फारण उपस्थित होनेपर शस्त्रग्रहण करके जो प्राणत्याग किया जाता है वह शुद्धपृष्ठ मरण है,

इस तरह मरणके जितने निकल्प संभवीय थे वे कहे हैं, ऐसे मरणोंसे प्राणी प्राणत्याग करते हैं, प्रायोपगमन मरण, हंगिनी मरण, और भक्तमत्याख्यान मरण ऐसे तीन मरणही उच्यते हैं, पूर्व कालीन महापुरुषोंने इनकी ही प्रशंसा चलायी है, हमने संक्षेपसे आगमका अनुमरण कृत्के सतरा प्रकारके मरणका विवेचन किया है,

पलेषु सप्तदशसु पंच मरणानि इह संक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञातेन कृता । कानि तानि पच मरणानि इत्याशङ्कार्या नामनिर्देशाच्च गाथाभाह—

पंडिपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चैव ॥

बालमरणं चतुर्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥

पंडितं पंडितादिस्थं पंडितं बालपंडितम् ॥

चतुर्थं मरणं बालं बालबालं पंचमम् ॥ २९ ॥

विजयोद्या—पंडितपंडितमरणमित्यादि । ननु भयपर्यायप्रलयो मरणं यदि श्रुते तस्य को भेदो भव-
 पर्यायस्य अनेकत्वात् मरणं तद्विनाशः कथं न भिद्यते इति । मनुष्ये पंचप्रकारताडुपपन्ना अनंतत्वात् । एक-
 जीवगतस्यापि भयपर्यायस्य नानाजीवापेक्षयां कोऽवसरः पंचत्वस्य । प्राणिनः प्राणेश्वो म्रियोगो मरणं इति
 चेन्नदेकविधमेव सामान्यतः । प्राणभेदेपेक्षेयति चेदश्वकारतापद्यते । उद्ययशक्तकर्मपुष्टलगलनं मरणं इति यदि
 मृगते प्रतिसमयं गलनाय पंचता । गुणभेदेपेक्षया जीवानपंचथा व्यवस्थाप्य तत्संबंधेन पंचविधं मरणमुच्यते ।
 अत्रान्या व्याख्या—शशास्त्रमं, प्रशास्त्रमं, ईष्यशस्त्रं, अविशिष्टं, अविशिष्टतरं इति पंडितपंडितमरणा-
 नीनि केचिदाचक्षते । पंडितसंघः प्रशास्त्रमित्यसिद्धये क प्रयुक्तो दण्डो येनैव व्याख्यायते ? किं च आश्रमांतरा-
 ननुगतं चेत् व्याख्या ।

प्रवहारे सम्प्रते पाणे खरणे य पंडिदस्त तदा ।

पंडिदमरणं भणिदं चतुर्विधं सम्प्रते हि ति ॥

इति यदा चतुःप्रकाराः पंडिता उपदिष्टाः । तेषां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शमपारिप्रेतु स
 पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यमकर्मरहितं पांडित्यं यस्य स पंडित उच्यते । श्याक्यास्तं वास्मं पांडित्यं च यस्य
 स भवति पाण्डपंडितः तस्य मरणं शालपंडितमरणं । यस्मिन् संभवति पांडित्यं चतुर्णामप्येकं आसी यातः । सर्वतो न्यूनो
 पाण्डपण्डः तस्य मरणं पाण्डपण्डमरणं ।

कानि तानि पंचमरणातीत्यनुयोगे गुणभेदेपेक्षया जीवानपंचथा व्यवस्थाप्य तत्संबंधेन मरणपंचकनिर्वेशार्थमाह-
 मूलाया—पंडिदपंडिदमरणं—भयपर्यायविनाशः । निरुक्तिगम्यस्याख्येषां लक्षणस्यावबन्धम् । तथा हि—

सुतये सम्प्रते या पाणे खरणे य पंडिदं जम्हा ॥

पंडिदमरणं भणिदं चतुर्विधं तद्विदूहि जप ॥

एवंविपचतुर्विधपंडितानां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनपारित्रस्तु स पंडितः संपूर्णं क्षायिकज्ञा-
 नातिरित्यर्थः । ततोऽन्यः पंडितः प्रमत्तसंयत्तादिः । पंडा हि रत्नत्रयपरिणता बुद्धिः संज्ञाता अत्येति पंडितः । अत एव
 संप्रवार्तयतो पाण्डपंडित इत्युच्यते । कुतश्चिदसुस्यादसंयमादनिष्टचित्वाद्वास्ततोऽन्यत्र रत्नत्रये परिणतबुद्धि-
 त्वाच्च पंडितः, बालश्रासौ पंडितश्च पाण्डपंडितः । यतश्च सर्वत्रासंयतोऽसंयतसम्यग्दृष्टित्वो यथोक्तपांडित्यवियुक्तत्वाद्वा
 इत्युच्यते । दर्शनमानद्वये सत्यपि सर्वथा चारित्र्यरहितत्वात् । अत एव मिथ्यादृष्टिर्बालाञ्च इत्युच्यते सम्यक्त्वस्याप्यभावेन
 प्राप्त्यान्यातीत्येतान् । पंडिदं पंडितमरणं संज्ञेकदेशेनापि तद्व्यवहारदर्शनात् भीमादिवत् एवमुत्तरव्यापि चोभयं ।

तत्राद्यानि त्रीणि मरणाणि सुगतिगमननियतविभित्त्वाञ्चिना खुवन्ति नेतरद्वयं तद्विषयीतत्त्वाच्च ॥ तथा चान्यसादानीय दूत्रे पठन्ति—

पंडितपंडितमरणं च पंडितं बालपंडितं चैव ॥

एवाणि विणिग मरणाणि विणा पिबं पसंसंति ॥

सतर प्रकारके मरणोंसे पांच प्रकारके मरणोंका संक्षेपसे मैं वर्णन करूंगा ऐसी ग्रंथकारने प्रतिज्ञा की है वे पांच मरण कौनसे हैं ? ऐसी शंका होनेपर मरणका नाम निर्देश करनेके लिये आचार्य गाथा कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—पंडितपंडितमरण, बालपंडितमरण, पंडितमरण, बालपंडितमरण, बालमरण और बालबालमरण ऐसे पांच मरण हैं.

निर्देशार्थ—‘ भवपर्यायश्रव्यो मरणं , मनुष्यादिभक्ते पर्यायका नाश होना वह मरण है ऐसा यदि मरणका लक्षण करोगे तो भवपर्याय अनेक प्रकारके हैं उनका नाश होना यह भी मरण है ऐसा मानना पड़ेगा. पर्यायोंका नाश और मरण इसमें कुछ विशेषता अनुभवमें न आवेगी. यदि भवपर्याय अनेक है और उन सबका ही नाश होना मरण माना जाता है अतः पर्यायका नाश और मरण इनमें अंतर है ऐसा कहोगे तो मनुष्यमें मरणके पांच प्रकारोंकी संभावना न होगी. क्योंकि एक जीवका भी भवपर्याय अनंतरूपका होता है. नावा जीवोंकी अपेक्षा वे तो मरणके पांच प्रकार नितरां सिद्ध न होंगे.

‘ प्राणिन. प्राणेश्यो वियोगो मरणं ’ प्राणोंसे प्राणीका अलग होना मरण है ऐसा यदि लक्षण करोगे तो सामान्यकी अपेक्षासे एकही मरण सिद्ध होगा. मरणके पांच प्रकार सिद्ध न होंगे. ग्रामभेदकी अपेक्षासे मरणभेद मानोगे तो मरणके दश भेद होंगे. ‘उदययासकर्मपुद्गलगलनं मरणं’ उदयमें आये हुए कर्मपुद्गलका खिरना वह मरण है ऐसा यदि कहोगे तो कर्मपुद्गल प्रतिमभयमें खिरते हैं अतः मरणके पांच प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं. गुणभेदकी अपेक्षामें जीवोंके पांच प्रकार होते हैं अतः गुणोंके संबंधसे मरणके पांच भेद हम मानते हैं ऐसा यदि कहोगे तो यह कहना संशुक्तिरु है.

यहां दूसरे विद्वान् अन्य तरहमें व्याख्या लिखते हैं—

“ पंडितपंडित मरण प्रशस्तव्य है, पंडितमरण प्रशस्ततर, बालपंडित मरण श्रेष्ठतम-योढासा प्रशस्त है. बालमरण और बालबालमरण क्रमसे अविशिष्ट और अविशिष्ट तर है ” ऐसी व्याख्या करते हैं. परंतु पंडित शब्द प्रशस्त इन अर्थमें किम प्रकरणमें प्रयुक्त किया हुआ उन्होंने देखा है ? जिससे वे ऐसा व्याख्यान करते हैं. दूसरे आगमका आशय न लेकर यह व्याख्यान किया गया है.

आगमान्तरमें व्यवहार, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें जो पंडित हैं ऐसे जीवोंका जो मरण वह पंडितमरण है ऐसा कहा है. उसके चार प्रकार हैं. जैसे-व्यवहारपंडित मरण, सम्यक्त्वपंडितमरण, ज्ञानपंडित मरण, और चारित्रपंडित मरण. व्यवहारादिक अर्थोंमें आगमान्तरमें पंडित शब्दका प्रयोग किया हुआ है. परंतु प्रशस्ततम, प्रशस्ततर वर्गोंमें अर्थोंमें प्रयोग नहीं देखा गया है.

ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें जिनका अत्यंत पांडित्य है वे पंडितपंडित हैं. इस तरहका पांडित्यका मर्कट गानादिकोंमें जिनका नहीं है अर्थात् जिनमें ज्ञानादि विषयक पांडित्य अल्प है वे पंडित हैं. जिसका विषयन पूर्वमें तर चुके हैं. बाल्य और पांडित्य जिनमें हैं वे बालपंडित है. जिनमें चार प्रकारके पांडित्योंमेंसे एक भी पांडित्य नहीं है वे बाल हैं. तथा समस्त जयन्त्य जो वह बालबाल हैं. इन सबके मरणोंको क्रमसे पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालबाल मरण ऐसे नाम हैं.

पंडिदपंडिदमरणे स्त्रीणकसाया मरंति केवलिणो ॥

विरदाविरदा जीवा मरंति तदिदयेण मरणेण ॥ २७ ॥

विज्ञातव्यमयोगानां तत्र पंडितपंडितम् ॥

वेदांसंयतजीवानां मरणं बालपंडितम् ॥ ३० ॥

विज्ञातव्यम्—पंडिदपंडिदमरणं स्त्रीणकसाया मरंति केवलिणो । सामान्यमृतेर्विशेषमृतिः कर्मतया निर्दुष्टं पंडितपंडितमरणमिति । यया गोपोंष पुष्टः । स्त्रीणकसाया कथन्ति हिंसन्ति आत्मानामिति कथायाः । कथाय-
साधनेन पनरसतीनां त्वक्षरमभूलफलक्षरस उच्यते । स यया पखादीनां वर्णमन्यथा संपादयति एवं जीवस्य क्षमा-

मार्गचार्ज्यततोपायगुणान्विनान्ध्यान्वया व्यवस्थापयंतोति क्रोधमममागलोभाः कपाया इति भण्यते । क्षीणाः कपाया येनां ते क्षीणकपायाः । द्रव्यकर्मणां कपायवेदनीयानां विनाशान्तन्मूल्य अपि भावकपायाः प्रलयमुपगता इति क्षीणकपाया इति भण्यते । केवलमवलक्षणं धर्म इन्द्रियाणि मनःप्रकाशादिकं च नापेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यगर्भाय भान्तमसमर्थं सद्यः प्रवर्तते ततोयमास्ति ते केवलिनः । यद्यपि केवलज्ञानवस्तुसामान्येन प्रवर्तते केवलशब्दस्तथापि स्वयोनोकेवलिनो मरणस्यासंभवाद्ययोगकेवलिनो ग्रहणं । अत्रान्ये क्षीणकपायाः श्रुतेकेवलिनश्चेति व्याचक्षते । तेषां तत्त्वान्यनमतमन्तसं । श्रुतशब्दमन्तरेण केवलशब्दस्य कचिदप्यगमे समस्तश्रुतजनयस्य प्रयोगदर्शनात् । प्रसिद्ध-
राज्यार्थसंभयो यदि स्यात् कंचिदप्यन्योऽर्थो व्याख्येयः स्यात् । संभवति प्रतीत्यै कथं तत्परित्यागः । अपि च पांडित्यप्रकर्षः द्वायैकज्ञानवर्दान्यादिरापेक्षस्तत्र सन्निहितो न श्रुतकेवलनि । विरदाधिरक्षा जीवाः स्थूलकृत्ता-
भ्याणतियतोऽव्यपृताः इति विरताः सूक्ष्माध्यात्मधुषेरधिरक्षाः । विरता यदि कथमधिरता अधिरताश्चेत्कथं विरताः इति विरोधाशङ्का न कार्या । विरतत्वाधिरतस्योः अर्थभेदोऽधिरतो नास्पदं यथाति । यथा द्रव्यपर्यायपेक्षे निरूपितस्यैककद्रव्याधिकरणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपपातः । अथवाऽप्रत्याख्यानावरणानां संयोजनमे-
तत्ति स्थूलाग्रामातिपातवैरितोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते । विरोधश्च नाम अनेकाधिकरणः यथा क्षीतोष्णस्पर्शादीनां । द्रव्यमवगमागधारणाजीया इति निरूप्यते । तद्विषयं तृतीयेन । मरणेण मरणेन ।
क्षिप्यन्ते । यस्तुपरिणामदृष्टिकर्मो यदि स्यात्तथा गणने क्षित्यं नित्यं वा प्रतिपदेत् । गुणक्षानापेक्षायां सम्यक्क्षि-
ध्यादधरेव तृतीयता न संयतासंयतापस्य तद्विमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणस्य तु सामान्यापेक्षायां एकत्वमेवेति न एतौयता । विरोधापेक्षायां च अतीतानां च भवतत्वावनागतानां स्वातियदुल्लसंभवात् । अबोध्यते सूत्रनिर्दि-
ष्टक्रमापेक्षया तृतीयता प्राप्ता ।

मरणानां स्वामिविशोषनिर्णयार्थं गाथात्रयं विप्रशुभरादौ प्रशस्तवत्प्रशस्तमरणद्वयनिर्देशार्थमाह—

मूलरा—पंडित्वंक्षिदमरण—पंडित् पंडितपंडितमरणेनेत्यर्थः । आपत्त्वाद्विभक्तिविपर्ययः । आपत्प्राकृते सर्वे निपयो विकल्पे इत्यभिधानात् । X टीकाकारस्तु सामान्यकृतेः विज्ञेयपशुतिः कर्मतया निर्दिष्टा तथा गोपोषं पुष्टमित्याचष्टे ।

अथवा मरंति प्राजुवन्ति इति व्याख्येयं भातृतामेकार्यत्वात् । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र व्याख्यातव्यम् । क्षीण-
कृताया—कपन्ति दिसन्ति इत्यादिनिर्वर्तकसंज्ञाप्रणैर्विजोयंत्यात्मानमिति कपाया द्रव्यकोषादयः अथवा घनस्पर्शानां
त्वग्मूलफलप्राप्तिरतो रस्तविशेषः कथायः । कपाय इव कपायः श्रोमादिः वस्त्रादीनां वर्णस्यैव जीवस्य क्षमादिगुणानां अन्य-
धात्वसंयतादृक्त्वात् । कपायशब्देन चान्न कपायोदयजनितविभक्तिकारकः कर्माव्यवहारणमात्मप्रदेशपरिस्फंदो

+ टीकाकार अपराजितमुरि.

प्राप्तः । केवलज्ञानम् मोहादिकर्मनिर्मूलव्यूलत्वेन केवलिनः क्षीणकपायत्वविशेषणस्य निष्कलत्वात् । किं मरण-
करणात् क्षीणकपाया इत्यनेन अयोगा निश्चीयते सयोगकेवलिनां मरणसंभवात् । क्षीणा विरेक्ष्यं गताः कपाया येभ्यस्ते
क्षीणकपायपेदनीयाः ततोदेव च विनाष्टतन्मूलमावकपायाः मरंति द्रव्यप्रणांस्त्यजानि । सिद्धानामपि सत्तावैतन्य
त्रोपादित्यमावमरणपरणटनलक्षणजीवस्यभावविशेषात् । तथा चोक्तम्—

असि जीवसहस्रो जल्य अभावो वि सन्वहा तस्स ॥
से होन्ति मिण्णदेहा सिद्धा बविगोवरमरीया ॥

केवलिनो करणादित्यहावनिरपेक्षतया युगपजिज्ञेस्यद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणसमर्थं ज्ञानं येषां नित्यमस्ति
वे केवलिनः । विरदादिरवा एकास्मिन्नेव समये स्थूलस्थानातिपातादेव्यादृष्टाः सूक्ष्माब्जाव्यावृत्ताः भावकाः इत्यर्थः ।
जीवाः पुरुषाः न प्रधानं । सांख्या हि प्रधानस्य मरणमिच्छन्ति । तद्वियेण बालपंडितेन ।

जिनके मरणको पंडितपंडित मरण ऐसी संज्ञा है वे पंडितपंडित कौन है ? अर्थात् पंडितपंडित किनको
कहते हैं ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—पंडितपंडित मरण, पंडितमरण और बालपंडित मरण इन तीन मरणोंकी जिनेद्र देव
नित्य प्रशंसा करते हैं, क्षीणरूपाय केमली भगवान् पंडितपंडित मरणसे मरते हैं, अर्थात् केवलीके मरणकी पंडित
पंडित ऐसी मंज्ञा है, विरतानिरत जीनके मरणको बालपंडित मरण ऐसा नाम है ।

गार्थार्थ—‘पंडितपंडितमरणं स्वीणकसाया मरंति केवलिनो’ इस वाक्यमें ‘मरंति’ इस सामान्य
मरणरूप क्रियाका ‘पंडितपंडितमरणं’ यह विशेष मरण कमरूपसे प्रतिपादन किया है, जैसा ‘गोपोपं पुष्टः’ अर्थात्
नेल जैसा पुष्ट रहता है वैसा यह आदमी पुष्ट है, जैसा यहां पुष्टिसामान्यका गोपोपं यह कर्ममरीखा विक्षेपण है उसी
तरह नामान्य मरणका ही पंडितपंडितमरण यह एक विशेष प्रकार समझना चाहिये ।

जो आत्माका घात करते हैं वे कपाय हैं, अतएव कपायशब्द की निरुक्ति आचार्य ‘कपन्ति हिंसन्ति
आत्मानमिति कपायाः’ ऐसी कहते हैं, अथवा पृथ्वीकी छाल, मूल, पत्ते और फलोंका जो रस निकलता है

उपको भी कपाय कहते हैं। वह रम जैसा वस्त्रादिकोंका वर्ण अन्यथा करता है। उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ ये कपाय जीवके उत्तम धामा, विनय, सरलपना, और निस्पृहताकी अन्यथा करते हैं, उनका नाश करते हैं। अतः इन क्रोधादिकोंका 'कपाय' यह नाम अन्वर्थक है।

कपायके द्रव्यकपाय और भाव कपाय ऐसे दो भेद हैं। क्रोध, मान, माया लोभ इन कपायवेदनीय कर्मको द्रव्यकपाय कहते हैं। और इनके उदयसे आत्माकी क्रोध मान माया लोभरूप परिणति हो जाती है वह भावकपाय है। केवली भगवान्‌के द्रव्यकपाय और भावकपाय दोनों की नष्ट हो चुके हैं अतः वे क्षीणकपाय इन अन्वर्थ नामसे युक्त हुए हैं। इंद्रियां, मन और प्रकाशादिक वस्तुओंकी अपेक्षाके बिना युगपत्-एकदम संपूर्ण द्रव्योंकी त्रिकालवर्ती पर्याप्त ज्ञाननेमें जो ज्ञान समर्थ होकर समस्त पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है वह केवल ज्ञान है। यह ज्ञान केवल अर्थात् असहाय है। इन्द्रियादिकोंकी मदद न लेकर स्वयं अपने सामर्थ्यसे पदार्थोंको जानता है अतः इसको केवल-असहाय ऐसा कहते हैं। ऐसा माहात्म्यशाली ज्ञान जिनको हैं वे मुनि केवली अर्थात् केवल जानी कहे जाते हैं। केवली यह शब्द सयोग केवली और अयोग केवली दोनोंमें रूढ है तो भी यहां केवली शब्दमें अयोगकेवलीका ही ग्रहण करना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि-सयोगकेवली गुणस्थानमें मरण नहीं होता है अतः अयोग केवलीका ही केवली शब्दसे ग्रहण होता है।

कोई २ विद्वान् केवली शब्दका अर्थ क्षीणकपाय गुणस्थानवर्ती मुनि और श्रुतकेवली ऐसा करते हैं। परंतु ऐसा अर्थ करना अयोग्य है। श्रुत शब्द केवली शब्दके पूर्वमें जोड़ देनेसे ही श्रुतकेवली ऐसा अर्थ होगा। श्रुतशब्द रक्षित केवली शब्दका किसी भी आशयमें समस्तश्रुतरूपी रत्न धारण करनेवाले श्रुतकेवलीके नियममें प्रयोग किया है ऐसा देखनेमें आया नहीं। प्रसिद्ध शब्दका अर्थ प्रकरणमें यदि असंभवरूप मात्सर्य पड़ेगा तो अन्याय की कल्पना की जा सकती है। यहां तो प्रसिद्ध अर्थ ही योग्य जंचता है। अतः श्रुतकेवली ऐसा अर्थ निकालने की अपेक्षा नहीं है, दूसरा कारण यह भी है कि, पांडित्यका प्रकर्ष केवलज्ञानियोंमें ही होता है अन्यत्र श्रुतकेवल्यादिकमें नहीं है। अतः पंडितपंडित केवली भगवान्‌को ही कहते हैं। केवली भगवान्‌में क्षाधिकज्ञान, ध्यापित दर्शन और चारित्र्य रहते हैं यह पांडित्यप्रकर्ष केवलीमें है। परंतु यह श्रुतकेवलीमें नहीं है। अतः केवली शब्दका अर्थ श्रुतकेवली ऐसा समझना योग्य नहीं है।

विरतानिरत जीयोंसे मरणको बालपंडित मरण कहते हैं. श्रावक स्थूल हिसादि पांच पापोंसे विरक्त रहते हैं अतः उनको निरत कहते हैं. ब्रह्मपापोंका वे त्याग नहीं कर सकते हैं इसलिये उनको अविरत भी कह मरते हैं.

शंका—यदि धामकोंको आप 'निरत' ऐसा कहना चाहते हो तो उनको अविरत मत कहो, यदि अविरत रहनेो तो विरत कहना अनुचित है ?

उत्तर—विरतत्व और अविरतत्वमें निगदाभेदसे विरोध नहीं. जैसे एकही पदार्थको द्रव्यापेक्षाले और पर्यायोपेक्षाले एकनमयमें नित्यानित्य समझते हैं. अर्थात् द्रव्यरूप आधारमें एक समयमें नित्य और अनित्य ऐसे दो धर्म रहते हैं. वैसे अद्रव्यारथानाश्रणीय कर्मका क्षयोपशम होनेसे मैं स्थूलपातकोंसे विरक्त हुवा हूं सूक्ष्मपातकोंसे नहीं ऐसा एकही परिणाम युगपत् उत्पन्न होता है. इसलिये विरताविरतत्वमें निरोध नहीं है. जहां एक पदार्थमें दो धर्म यदि अनुगम में आते हैं तो वहां निरोध कैसा ? विरोध अनेक आधारमें रहता है. जैसे क्षीतस्पर्श और उष्णस्पर्श एक आधार में नहीं रहता.

निरतानिरत जीय द्रव्य प्राण और भावप्राणोंके धारक है अतः वे जीव हैं. वे विरताविरत तृतीय मरणसे बालपंडित मरणमें मरते हैं. यहां तृतीय शब्द यस्तुके परिणामगणनामें यदि उपयुक्त है ऐसा कहोगे तो गणनाके समय विरतानिरतजीयको क्षिर का नित्य भी प्राप्त होगा. तृतीय शब्दसे तिसरा गुणत्वात्न ऐसा अर्थ मानोगे तो मय्यद्विमिच्याद्यदि तो तृतीयपत्ता प्राप्त होगा. नयतामयतको तीसरेपत्ता प्राप्त न होगा. अतः 'तृतीय' ऐसा कहना योग्य नहीं है. यदि मरणकी अपेक्षासे तृतीयता मानते हो तो मरण सामान्यापेक्षासे एक ही है उसको तृतीयता नहीं है. विशेषमरणापेक्षाले तृतीयता मानोगे तो भूतकालमें अनंतमरण हो चुके हैं और भविष्यत्कालमें भी बहुत होगे अतः विशेषमरणापेक्षाले भी तृतीयता सिद्ध नहीं होती.

उत्तर—युगमें कहे हुए क्रमकी अपेक्षासे मरणकी तृतीयता ग्रहण करनी चाहिये. अर्थात् पहिला मरण पंडितपंडितमरण, दुसरे मरणको पंडितमरण कहते हैं. और तिसरा मरण बालपंडित इम नामका है.

अथ के पंडितपंडिता येयां मरणं पंडितपंडितमरणं इति भण्यते इत्यारोकायामाह—
पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ॥

एदाणि तिणिण मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥ २८ ॥

निःअ्रेयससुत्तादीनां आसञ्जीकरणक्षमं ॥

आदिमं जायते तत्र प्रशस्तं मरणत्रयम् ॥ ३१ ॥

विजयोदया—पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव इति । विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीव
ब्रह्म गते जीवा इति सूत्रे रचनमपार्यकमिति चेन्नानर्थकं । मतान्तरनिवृत्तिपरत्वात् । सांख्या हि प्रकृतिधर्मतां मरण-
स्याधुपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात् । तत्तथा न, उरपाद्व्ययधौव्यात्मकत्वादात्मनः । अत्रोच्यते—पंडितपंडितमर-
णादनन्तरं पंडितमरणे तदुल्लेख्य तृतीयस्य स्वागित्वं कस्यत्वदर्शयते कमोल्लेखने प्रयोजनं याच्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टजघन्य
पंडितत्वमध्यवृत्तिर्यजितपरमिरेतदाख्यातुं उभयापयधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पंडितमरणे पशुवृत्तव्यमस्तीति तत्तत्तान्या-
सितं व्ययस्याप्य भव्यवृत्तव्यतया बालपंडितनेत्र प्राप्य व्याचष्टे ।

शंका—विरताविरतपरिणामविशेषसे ही श्रावक जीव है ऐसा समझमें आता है तो भी 'विरदाविरदा
जीवा' इसमें जीवशब्दका ग्रहण व्यर्थ है, उत्तर—जीव शब्द गार्थमें दिया है उसका उद्देश्य मतान्तर निराकरण
करनेके लिये है, सांख्य मरण प्रकृतिका धर्म है ऐसा समझते हैं, वे पुरुषको—आत्माको सर्वथा नित्य समझते
हैं, परंतु वह समझना योग्य नहीं हैं, आत्मा उत्थाद, व्यय और धौव्य इन तीन स्वरूपोंसे युक्त है अतः वह सर्वथा
नित्य नहीं है.

शंका—पंडितपंडित मरणके अनन्तर पंडितमरणका वर्णन करना योग्य था परंतु वह उल्लेखन कर तिसरे
मरणके सामी आपने क्यों बताया ? क्रमका उल्लेखन करनेमें आपका क्या हेतु है ?

उत्तर—उत्कृष्ट पंडितत्व और जघन्य पंडितत्व इनके बीचमें जो है सो भव्यम पंडितत्व है ऐसा
दिखानेके अभिप्रायसे उपर्युक्त कथन है, अर्थात् उत्तम पंडितत्व और जघन्य पंडितत्वके विवेचनसे मध्यम
पंडितत्व बिना कहे सिद्ध होगा है, अथवा पंडितमरणके विषयमें ग्रंथकार बहुत विस्तारयुक्त लिखनेवाले हैं, इस
प्राप्ते उपरको आचार्य अलग रखते हैं और थोडासा विवेचन करनेकी इच्छासे बालपंडितत्वका प्रथम आचार्यने
उल्लेख किया है.

कृतिविधं पंडितमरणं किं स्वामिकं वा इत्योक्त्यायां इयं गाथा—

प्रायोपगमणमरणं भक्तपट्टणा य इंगिणी चेव ॥

तिविहं पंडियमरणं साहुत्स जहुत्तचारिस्स ॥ २९ ॥

पादोपगमनं भक्तप्रतिज्ञामिगिणीसृति ॥

वदन्ति पंडितं त्रेधा योगिनो युक्तिचारिणः ॥ ३२ ॥

विजयोद्या—पादोपगमणमरणं इत्यादि । पदार्थयुगमयत्वं दौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमणमरणं । इतरमरणयोरेपि पादार्थयुगमनमस्तीति त्रैविध्यायुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे बहुयमाणलक्षणे कृत्तिकोपणाय प्रवर्तिते, कृत्तिके च त्रिधा उपादीयमाना शब्दयुगस्येयम् । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दयुगत्पत्तौ । क्रियमाणायामपि भग्नभक्तियाकट्यता सति गौराद्येव न महिष्यावयो भग्यते । अथवा पाउगगमणमरणं इति पाठः । भयान्तकरणप्रायोग्यं संहृतं संस्थानं वा इह प्रादोपगमणमरणमर्थ्यते । अस्त्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यथिवर्त्ये मरणं तदुच्यते पाउगगमणमरणमिति । भग्यते नेत्येते इति नक्तं, तस्य पारुणा त्यागो भक्तपट्टणा । इतरयोरेपि भक्तप्रत्याख्यानसमयेऽपि कृत्तिकेपादोपगमणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रयतते । इंगिणी शब्देन इतिहासमनो भग्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं । तिपिहं त्रिविधं विप्रकारं । पंडितमरणं कस्य तद्वदति ? साधुस्स साधोः अनुसत्चारिस्स यथा येन प्रकारेण उक्तं श्रुते तथा चरितुं सीलं यस्य साधोस्तस्येति यावत् । सदाचारः सत्यं एव जनः संवतोऽसंयतश्च लोके साधुशब्दवाच्यः, इति संपतपरिग्रहाय पयोक्तारित्वविशेषणं लुप्तम् ॥

प्रज्ञास्यवरपंडितमरणस्य भदोग्न्यरूपवन्त्सामिनं निरूपयति ।

मूलारा—पाउगगमणमरणं—पादार्थयुगमयत्वं दौकनं संघातिगंत्य योग्यदेशास्साधयणं । तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमणमरणं स्वपरिवेयवृत्त्यनिरपेक्षः प्राणत्याग उच्यते कृत्तिकेपादः । यदा पाउगगमणमरणं इति पाठस्तदा प्रायोग्यस्य भयान्तकरणयोग्यस्य मंदनस्य संसृजनस्य च गमनेन प्राप्त्या निर्वर्त्य मरणं प्रायोग्यगमनमरणं । प्रायोगमनमित्यदीदृश भग्यते प्रायस्य संन्यासयदननरमणोपगमनेन साम्बत्यात् । प्रायोग्येवमनमिति चेत्तदाख्यायते । भक्तपट्टिणा भग्यते देहसिक्त्यर्थमिति भक्तभाषा । तस्य प्रतिका प्रत्याख्यानं त्यागः । भक्तप्रतिज्ञा स्वपरिवेयवृत्त्यस्तापेक्षं मरणं । इंगिणी शब्देन इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भग्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं । अत्र नत्वं नेच्छति

केचिन् । यत्पुनः स्वयैवावृत्तितापेक्षमेव । बहुचचारिस्व । तेन प्रकारेण उक्तं श्रुते तेन चरितुं शीलं यस्य तस्य यथोक्त-
चारिणः संबन्धेत्यर्थः ।

पंडितमरणके कितने भेद है और उसके स्वामी कितने हैं ऐसी शंकाका उत्तर आगेकी गाथा

देती है—

‘हिंदी अर्थ—आगममें जिस प्रकारसे चारित्रिका वर्णन है वैसा स्वयं आचरण करना यह जिनका शील है अर्थात् आगमसे अधिकृत चारित्र जो धारण करते हैं ऐसे मुनिराजका पंडितमरण पादोपगमनमरण, भक्त प्रतिष्ठा मरण और इंगिनी मरण ऐसे तीन भेदयुक्त है, अर्थात् निरतिचार मुनिराजके मरणके भेद उपर्युक्त गाथामें तीन कहे हैं,

विशेषार्थ—पादोपगमन मरण इसका शब्दार्थ—‘पादाम्बासुपगमनं’ होकरनें मरण पादोपगमन’ अपने पावोंके द्वारा संघसे निकलकर और योग्य प्रदेशमें जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन मरण है, इस मरणको चाहनेवाले मुनिराज अपने शरीरका वेद्यवृत्त्य स्वयं भी नहीं करते हैं और इतर मुनियोंके द्वारा भी स्वशरीरकी शुश्रूषा नहीं करते हैं, ऐसे मरणको पादोपगमन मरण कहते हैं,

शंका—इतर मरणमें भी पावोंके द्वारा संघसे मुनिराज अन्यत्र चलाकर मरण करते हैं अतः इतर मरणोंको भी यही नाम प्राप्त होनेसे पंडितमरणके तीन भेद नहीं ठहरेंगे ऐसी शंकाका उत्तर इस तरह है—पादोपगमन मरण यह नाम रूडिका आश्रय लेकर (विशिष्ट मरणमें ही आचार्यने प्रयुक्त किया है, इस पादोपगमन मरणका स्वरूप आगे ग्रंथकार स्वयं कहेंगे, रूडीमें जो शब्दकी निरुक्ति-व्युत्पत्ति करते हैं उसका मतलब वह शब्द किस धातुको कोनसा प्रत्यय जोड़नेसे बन गया यह दिखानेका होता है, जैसे ‘गच्छतीति गोः’ ऐसी गो शब्दकी व्युत्पत्ति है, इसमें गमनक्रियाका कर्तृत्व इसमें व्यक्त होता है, एतन्वता गो शब्दसे माहिषी, अथ वर्गसह प्राणी गो शब्दका अर्थ नहीं माना जाता है, वैसे प्रकृत विषयमें पादोपगमन यह शब्द विशिष्ट मरणका वाचक माना जाता है, तथा वह मरण भक्तप्रतिष्ठा और हांगिनीमरणसे भिन्न ही है ऐसे सम्झना चाहिये,

अथवा गाथा में 'पालयोग्यमरण' ऐसा भी पाठ है. उसका ऐसा अभिप्राय है—भयका अंत करने ऐसे संस्थान और मंथनको प्रायोग्य कहते हैं. ऐसे संहनन और संस्थान की प्राप्ति होना यह प्रायोग्य ममन है. अर्थात् निश्चित मंथनन और निश्चित संस्थानवाला ही प्रायोग्यममन मरणका अंगिकार करता है.

भक्तप्रतिज्ञामरण—भक्त शुब्दका अर्थ आहार है और प्रतिज्ञा शुब्दका अर्थ त्याग होता है अर्थात् आहारना त्याग कर मरण करना वह भक्तप्रतिज्ञामरण है. यह मरण स्वरूपयावृत्त्य की अपेक्षामें होता है. अर्थात् इन मरणमें सहेतुनाधारक की परिचारक मुनि दुश्प्रा करते हैं तथा वह भी अपनी दुश्प्रा करता है. यद्यपि आहारना त्याग शीघ्रिनीमरण और प्रायोग्यममन मरणमें भी होता है तो भी इसको ही रुढ़ीसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं. अर्थात् स्वरूपयावृत्त्यको अपेक्षा करके जो मरण किया जाता है वह भक्तप्रतिज्ञामरण है. ऐसे विशिष्ट मरण को ही भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं.

हंगिनी मरण—स्वामिप्रायको इंगित कहते हैं. अपने अभिप्रायसे युक्त होकर स्वयं ही स्वतः की दुश्प्रा कर जो मरण किया जाता है. वह हंगिनी मरण है. परिचारक मुनिकी दुश्प्रा इसमें क्षणक मुनि चाहते नहीं है. — यथोक्त चारित्रिका पालन करनेवाले मुनिके ऐसे तीन मरण कहे हैं इन मरणोंको सामान्य रीतीसे पंडित मरण कहते हैं.

इतरयोर्गालमरणवालगालयोरित्यमयो स्वामित्यस्यनार्थमाया—

अविरदसम्मदिहो मरंति बाल्मरणे चउत्थमि ॥

मिच्छादिहो य पुणो पंचमए बाल्मरालमि ॥ ३० ॥

— तदुच्चारसे श्रवणनेवाले सब संयत अथवा अक्षयत जगतमें साधु कहे जाते हैं. परंतु यहां मुनिओंका ही मह्य होये इस हेतुसे 'उपुत्तचारिस्त' यह साधुका विशेषण करके यथोक्त चारित्र पालनेवाले मुनिका ही ग्रहण किया है.

भजते मरणं बालं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥
मिथ्यात्वाकुलितस्वान्तो बालबालमपास्तधीः ॥ ३३ ॥

विजयोदया—अविरदसम्पत्तिरिति प्रसिद्धार्थत्वाच्च व्याख्येयं । अत्रावसरे इदं चोद्यमांशस्यते । वोच्छं आराधनं कमसो इति प्रतिज्ञातं । सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति । तद्व्याख्यानमकृत्वा मरण-
विकल्पास्तस्यामिलन्ध कस्माद्विर्विद्यते । प्रस्तुतपरित्यागमयस्तुताभिधानं च न क्षम्यते विद्वांसः । अत्रोच्यते—न अप्रस्तुत
अंतरनिर्दिष्ट मरण । आराधनानुगतमरणस्येवेह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनदृष्टत्वाच्च । आराधनायाच्च आराधकमंतराणां संभवात् ।
स्वामी वा निर्विघ्न्य पथेति सूरेरभिप्रायः ॥

अमशास्याप्रशस्यतमरणद्वयस्याभिर्नौ निर्विघ्नति —

मूलारा—अविरदसम्पत्तिरिति ।

नो इद्विषयसु विरदो णो जीवे यावरे वसे वापि ॥

लो सवद्वि जिणुचं सम्पाद्वी जयिरवो सो ॥ १ ॥

मिच्छाविही य ।

मिच्छन्तं वदेत्तो जीवो विचरीवदंसणो होवि ॥

ण य धम्मं रोपेदि इ मद्धर सु रसं वहा जरिदो ॥ २ ॥

बालमरण और बालबालमरणके स्वामी कौन होते हैं यह विषय आचार्य विशद करते हैं,
हिंदी अर्थ—अचिरत सम्यग्दृष्टि जीव चौथे बालमरणसे मरते हैं अर्थात् अचिरतिसम्यग्दृष्टीके मरणको
कहते हैं, और मिथ्यादृष्टी जीव जिस मरणसे मरते हैं वह बालबाल नामका पांचवा मरणभेद है,—यहां
शंकाकार ऐसी शंका करता है—‘वोच्छं आराधना कमसो’ ग्रंथकारने ‘मैं कमसे आराधनाओंका विवेचन
करूंगा’ ऐसी प्रतिज्ञा की है, वह दर्शन आराधना और ध्यानाराधना ऐसी दो प्रकारकी है, इनका विवेचन तो
ग्रंथकारने किया ही नहीं परंतु मरणके विकल्प और उसके स्वामीओंका ही विवेचन किया है ऐसा करना अयोग्य
है, प्रस्तुत निषेधका त्याग करके अग्रस्तुत विवेचन करना बुद्धिमानोंको सहन नहीं होता है, इस शंकाका परिहार
आचार्य करते हैं—

ग्रंथकारने अप्रस्तुत विषयका विवेचन किया है, वही अप्रस्तुत नहीं है, आराधनाके साथ भरणका संबंध है, अतएव इस शास्त्रमें उनका उल्लेख आचार्यकी करना पडा है, आराधना आराधकके बिना होती नहीं, आराधक आराधनाका साथी है, अतः उसका उल्लेख करना न्यायप्राप्त ही है, इस तरह आचार्यने शंकापरिहार किया है.

अत एव प्रस्तुतं प्राथमिकं दर्शनाराधनां आवष्टे—

तत्प्रेषवसमियसमसखड्यं खवोवसमियं वा ॥

आराहंतस्स भवे सम्भत्ताराहणा पढमा ॥ ३१ ॥

सामिकीं क्षापिकीं दृष्टिं चैदिकीमपि च त्रिधा ॥

समाराधयतः पूर्वां सम्यक्त्वाराराधयेत्यते ॥ ३४ ॥

विजयोदया—तत्प्रेषवसमियसम्ममियादिना । अथवा अंतरम्कनिर्विण्डं चालभरणध्यास्यानं प्रस्तुतां प्राथमिकीं सम्यक्त्वाराराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह—तत्प्रेषवसमियसमसं । अथवा सम्यग्दर्शनमिदं इत्यत आचार्यना उक्त सर्वस्योत्थाशंका । कुतः संवेदः ? आचार्यमतमेवेन पदानामपेक्षेविषयास्तमान्यं पदानामभिधेयं । पदानुनायनानामन्य-भिर्भूतमतीत्युरत्तेन हि गमित्यतः पदाच्छुन्यां कृणां दाबटमिति या प्रतीतिः, सेटां मुंटां इति वा ज्ञायते । यद्यप्येवमल-विधकार्यभूतायां बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथं शब्दस्याभिधेयतां गंतुमुग्नहते । अमरीयमानस्यान्यथेत्ये अयमेवास्यार्थो नान्य इतीयं व्यथस्या न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु मयंते त्यागोपबन्धनोपेक्षारूपा हि लोकव्ययहस्तित्वा पुनसं प्रवर्तयितुं शक्याः प्रयुज्यते । कुपसाधनं वस्तुसंन्यते । सुपसाधनमुपादीयते । तदुभयस्यासंपादकमुपेयते । विशिष्टमेव च वस्तु सुखादीनां संपादकं । तथाहि—स्त्रीवस्त्रांघ्र्यादिकं अतिशयितमेवादातुं उत्सहन्ते । सुःप्रसाधनं चात्मनिःकटयत्वेय कंटादिकं परिजिहोषन्ति । तेन वाधेनापि तदर्थिनां तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्यं अतो विशेषः पदानामर्थः । इति साकृद्धानामनेकाभिधेययतिनां पदानामेकपदप्रयोगादि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता विशेषस्याभिधेयताहातिनः पदांतरसमयचोपे विशेषप्रतीतेरनुपवसित्वत्वात् इति ।

उक्तानामुभयं पदार्थः । पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्तेः तथाहि—न हिस्थाः प्राणिनः प्राणिस्तमान्यं परिहायेत्येन प्रतीयते । देवदत्तमानयेत्युक्ते पुरुषविशेषमावगच्छन्ति । ततो न प्रावते 'समन्तंमि य' इत्यत्र सामान्यं सम्यक्त्वं यहीतं उक्तं तद्विशेष इति तेन तत्संदेहनिवृत्तिः क्रियते । तस्य तेषु सम्यक्त्वेषु । उवसमियसमसं अनेतानुपेक्षिकोचनानामया लोभानां सम्यक्त्वमिध्यावसम्यद्विमिथ्यात्वानां च सप्तानामुपशमादुपजातं तत्त्वथद्वानं अपिशमिकं सम्यक्त्वं ।

तासमेव सप्तप्रकृतीनां श्रयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा ग्रहदा क्षयिकं दर्शनं । तासमेव कासां चिदुपगमात् अन्यथासां च श्रयादुपजात ग्रहदानं क्षयोपशमिकं । वा शब्द-प्रत्येकं संवध्यते । औपशमिकं वेत्यादिना क्रमेण । आराधयतस्स आराधयतः । हरे भवेत् । सम्मत्तारादहणा सम्यक्त्वावाचना । पदमा प्रथमा । “अधिरदसम्मादिष्टी मरति वालमरेणे” इत्युक्तं । तनाधिरतग्रहणं सम्यग्दर्शयित्वोपदेवोपात्तं । प्रतीतेन हि विशेष्येण भाव्यम् । तथाभाविप्रतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः इति ।

द्वन्द्वनाराधनायाः स्वरूपलक्षणविशेषसिद्धयर्थं स्वामिसरणविशेषावधियायेवार्त्तां प्रबुद्धां प्राथमिणीं दर्शयित्वा नामभिधत्ते —

मूला०—उच्यते तत्र । तेषु आगमप्रसिद्धेषु त्रिषु सम्यक्त्वेषु सन्धेयत्किंचिदेकमाराधयतः सम्यक्त्वावाचना भवेत् इति पश्यतः । एवमसिद्धिप्रसन्नमित्यादि अनंतानुबंधिचतुष्टयमिष्यात्वसम्यग्दिग्भ्यात्वसम्यक्त्वानां उपशमाज्जातं विपरीताभिनिर्गमविष्कृतामस्तत्पलक्षणं तत्त्वार्थग्रहणं औपशमिकं । तेषामेव ह्यथात् अयिकं । तेषामेव च पण्णासु वृथानामपलक्षणे क्षयेऽनुवृथामासना सम्भानायाद्विषयित्वलक्षणे चोपसत्वे तथा सम्यक्त्वदेशातिस्पन्देकोवये सत्युत्पन्नं सम्यक्त्वं आयोपशमिकं । श्लोकाः—

पाकादेशप्रसन्नसम्यक्तत्वं प्रकृतेरुच्यते ॥

शुभे च देवकं पण्णामगाढं मलिनं बल ॥ १ ॥

पृथगष्टिरिवात्पश्यतस्थाना करतले स्थिता ॥

स्थान एव स्थितं कंभनगाढं मेदकं तथा ॥ २ ॥

स्वकारितेऽर्द्धमेत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारितं ॥

अन्यस्यासाविति आत्मन्योद्वाच्योऽपि चेष्टते ॥ ३ ॥

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्तत्वं कर्मणः ॥

मलिनं मलसंशोभं शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ ४ ॥

लघुलक्ष्मणलालासु ललमेकमिव स्थितम् ॥

मानासमीपमिक्षेपेषु चळतीति चळं तथा ॥ ५ ॥

देवोऽग्रै प्रयुरेपोऽस्मा इत्यास्था सुहृन्नामनि ॥ ६ ॥

जीवके विना आराधना होती ही नहीं अतएव प्रथम सम्मगर्दशनाराधनाका आचार्य वर्णन करते हैं—
द्विन्दी अर्थ—वीचके युग्ममें चालमरणका वर्णन किया है, उस मरणका स्वामी सम्मगर्दशन आराधनाका आराधन करनेवाला जीव है, अतः चालमरणका सम्मगर्दशनके साथ संबंध सिद्ध है, उपश्रमसम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशायिक सम्यक्त्व इन तीन आराधनाओंमें किसी भी सम्मगर्दशनकी आराधना करनेवाला सम्यक्त्वसाधक कहा जाता है,

विशेषार्थ—यहाँ शंकाकारकी शंका यह है—सम्मगर्दशनके सर्व भेदोंकी आराधना करनेवाला सम्मगर्दशनाराधक है ? अथवा कोई एक सम्मगर्दशनकी भी आराधना करनेवाला आराधक होता है ? वहाँ ऐसी शंका क्यों होती है ऐसा कोई पूछेगा जो उसका उत्तर शंकाकारने इस तरह दिया है—आचार्योंके मतभेदसे शब्दके दो अर्थ माने गये हैं, अर्थात् कोई आचार्य शब्द सामान्य अर्थके वाचक है ऐसा कहते हैं, और दूसरे कोई आचार्य उसका विशेष अर्थ वाच्य होता है ऐसा मानते हैं, अर्थात् सम्मगर्दशन इस शब्दका सामान्य अर्थ सम्मगर्दशन सामान्य ऐसा है ऐसा किसीका मत है और विशिष्ट सम्मगर्दशन ही सम्मगर्दशन शब्दका वाच्य है ऐसे अन्य आचार्योंका मत है, अतएव हमने उपर्युक्त शंकाकी है ऐसा शंकाकारने अपनी शंकाका समर्थन किया है,

आचार्य क्रमशः दोनोंके मतोंका दिग्दर्शन करके अनंतर शब्दका अर्थ जैनमतसे क्या होता है इसका निरूपण करेंगे, प्रथमतः शब्दका सामान्य ही अर्थ है इस मतका निरूपण करते हैं—

शब्द सुनने पर अर्थसामान्यका ही अनुभव आता है, जैसे किसीने गौ लावो ऐसा वाक्य कहा इस वाक्यके सुननेसे सुननेवालेको काली गाय, चित्तकवरी गाय, वा सफेद रंगकी गाय ऐसा ज्ञान नहीं होता है, किंतु गोसामान्यका ही उसको बोध होता है, शब्दका श्रवण करनेके अनंतर जो अर्थ बुद्धीमें झलकता नहीं वह शब्दका अर्थ कैसे माना जायगा ? बुद्धीमें न झलकनेवाला भी अर्थ यदि माना जायगा तो अमुक शब्दका अमुक ही अर्थ होता है ऐसी अव्यवस्था नहीं होगी, अर्थात् शब्दशब्दका अर्थ जैसा गाय होता है वैसा घेंस, घोडा चंगरे भी

उनके अर्थ होंगे, अतः सामान्य पदार्थ ही शब्दका वाच्य होता है यह मत मानना चाहिये.

विशेष पदार्थ ही शब्दका अर्थ है ऐसे मतका विवेचन इस प्रकार है—जगतमें लोक किसी पदार्थका ग्रहण करते हैं, किसीका त्याग करते हैं और किसीकी उपेक्षा करते हैं ऐसा व्यवहार देखनेमें आता है. इस व्यवहारमें प्रवृत्ति करनेके लिये शब्दोंका प्रयोग किया जाता है. जो दुःखका कारण है वह वस्तु छोड़ते हैं, जो सुखकर होती है वह चीज लोक लेते हैं. जिससे सुख और दुःख दोनों भी उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसी चीजसे लोक उपेक्षा करते हैं अतः विशिष्ट वस्तु ही सुख या दुःखकी उत्पादक मानी जाती है. जैसे स्त्री, वस्त्र, गंध पुष्पमाला वगैरे पदार्थ विशेषपरीतीसे सुख साधक हैं ऐसा समझकर लोक इनका ग्रहण करते हैं. जो दुःखके कारण हैं ऐसे समीपस्थ फलक शत्रु वगैरह पदार्थोंका त्याग करनेकी इच्छा करते हैं. शब्दके द्वारा भी ऐसे ही पदार्थोंका विवेचन होता है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् शब्दका अर्थ सामान्यपदार्थ नहीं है किन्तु विशेष ही समझना चाहिये. अनेक पदार्थोंमें रहनेवाला साधक एक शब्दके द्वारा उल्लेखित होता है अतः शब्दका विशेष पदार्थ अर्थ नहीं है ऐसा मानना अयोग्य है. उस गौ शब्द समस्त सद्य गायोंमें प्रयुक्त होता है अतः गौ शब्दका विशेष पदार्थ वाच्य नहीं है, ऐसा कहना अयोग्य है. उस गौ शब्दका दूसरे शब्दसे जब संबंध होता है तब विशेष पदार्थका उससे अनुभव अवश्य होता है. शब्दका विशेष पदार्थ ही वाच्य है ऐसा विशेष वादियोंका मत है.

सामान्य पदार्थ और विशेष पदार्थ दोनों शब्दके द्वारा प्रतीत होते हैं ऐसा जैनियोंका मत है—उसकी सिद्धि आचार्य करते हैं—'न हिंस्याः प्राणिनः' अर्थात् 'प्राणिओंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये' इस वाक्यमें प्राणि शब्द संपूर्ण प्राणिओंका वाचक है. दूसरा वाक्य 'देवदत्तमानय' देवदत्तको लाओ यहाँ देवदत्त शब्द पुरुष विशेषका वाचक है. अर्थात् शब्द सामान्य और विशेष दोनों पदार्थोंके वाचक हैं ऐसा जैनियोंका मत है.

अतः प्रस्तुत विषयमें—सम्यक्त्वाराधनामें क्या सामान्य सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये ? अथवा उसके विशेषोंका ग्रहण करना चाहिये ? ऐसी शंका उपस्थित होती है. उसका आचार्यने इस प्रकार निरसन किया है—

सम्यग्दर्शनके उपश्रम सम्यग्दर्शन, क्षाधिक सम्यग्दर्शन और श्रयोपश्रमिक सम्यग्दर्शन ऐसे तीन भेद हैं. इनमेंसे किसी भी सम्यग्दर्शन की जो आराधना करता है उसको पहिली सम्यक्त्वाराधना होती है.

ओपश्रमिक सम्यग्दर्शन—अनंतानुबन्धि क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और

मग्नदग्निश्चाल्य ऐगे सात कर्म प्रकृतियोंका उपद्रव होनेसे जो तत्वोंके ऊपर श्रद्धान होता है उसको ओपद्रविक मग्नदग्नि कहते हैं।

धार्मिक मग्नवत्य है।

धायोपद्रविक मग्नवत्य—इन सात प्रकृतियोंमेंसे किसी प्रकृतियोंका उपद्रव और अन्य प्रकृतियोंका ध्वय होनेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह धायोपद्रविक मग्नदर्शन है।

‘अग्निरदसम्मादिही भवति चालभरणे’ ऐसा पूर्वमें कहा है, अर्थात् उनके भरणको चालभरण कहते हैं, अर्थात् मग्नदग्नि इस सामायिक शब्दमें अविरल शब्द-विशेषणरूप है और मग्नदग्नि यह शब्द विशेष्य है, यह विशेष्य प्रसिद्ध है, अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान करनेवालेको मग्नदग्नि कहते हैं यह बात सुप्रसिद्ध है, प्रसिद्ध पदार्थोंमें विशेषण विशेष्यभाव होता है।

तस्मात्कीदृशोऽभिधेयः सम्यग्दृष्टिश्चाप्येत्यति प्रशस्योत्तरमाह—

सम्मादिष्टी जीवो उवदृष्टं पक्वयणं तु सदहह ॥

सदहह असब्बायं अयाणमाणो गुरुणियोगा ॥ ३२ ॥

मग्नयते दक्षितं तत्त्वं जन्तुना शुभदृष्टिना ॥

पूर्वं ततोऽन्यथापीदमजानानेन रोच्यते ॥ ३५ ॥

पिजयोदया—सम्मादिष्टी जीवो सत्यया । अत्रैवं पदघटना ‘उवदृष्टं पक्वयणं तु सदहहि यो जीवो सो सम्मादिष्टी’ इति । उवदृष्टं उपदिष्टं कथितं । ननु उगपूर्वो निगिरुच्चारणक्रियः । तथा हि-प्रयोगः—उपदिष्टा चर्णा उच्चारिताः इति । सत्यम्, समुच्चारणमिष्टमप्ययं पतते नात्यय इत्यर्थ न निवर्धनं किञ्चित् । यथा गां चोन्निह इत्यादिषु सास्मादिमिति दृष्टप्रयोगोऽपि भोगाद्वो यागादिषु अपि वर्तते एवमिदमापीति किं न गृह्यते ? उपदिष्टमपि किं न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरपजायते सा कथमपायते । प्रायोग्यवृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । प्रोच्यन्ते जीवास्तथा पदार्था अनेनास्मिन्निति वा मग्नयते जितानाम् । अकारण्योक्तः दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधिता यस्तुवायाभ्यामुसारिता च । प्रवचनवाच्योऽर्थः साहचर्यात्प्रपञ्चनमिति संश्लेषते । तु शब्दः पक्वकारणार्थः । स च क्रियापदवाच्यस्तो द्रष्टव्यः । व्याख्याते जेनागमार्थे यः श्रद्धात्थेय न

तु श्रद्धाति ह्ययोगव्यवच्छेदः । स जीवः सम्मादिद्वी सम्मगदृष्टिगन्धवाज्य इति प्रतीतफ़ार्थकत्वमादर्शितं । सद्वह्निदि श्रद्धानं करोति । अस्तभावमपि अस्तत्वमप्यर्थं । अयाणभाणो अनवगच्छन् । किं ? विपरीतमनेनोपदिष्टमिति । गुरोर्व्याख्यातुरस्यागमार्थं इति कथनाग्नियुज्यते प्रतिपत्त्यं श्रोता अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं । सर्वश्रमणी-तत्स्यागमस्यार्थः आचार्यपरंपरया अविपरीतः श्रुतोऽथपृतध्यानेन सूरिणा उपदिष्टो गमेति सर्वशास्त्राया रुचिरस्या-लीति । आद्यारुचिरया सम्मगदृष्टिर्मधत्सेवेति भावः ।

ननु अविद्वत्सम्माद्वी ह्युक्तं तत्र कीदृग्जीवः सम्मगदृष्टिः स्यात् इति पृष्ठः सत् आचष्टे—

मूला०—पक्वणं तित्तागमः तद्वाच्योऽर्थः साहचर्योदित आह्वः । तु यकार्ये । स जीवः सम्मगदृष्टिर्भवति यः उपदिष्टं प्रवचनं श्रद्धालोकेषु लब्धः । यो ज्ञानावरणोद्भवसात्त्वयं दस्वनभानन्गुरुमियोगादसम्भार्वं भद्रसे सोऽपि तदैव सम्मगदृष्टिः स्यादित्युपदर्शनं दर्शयते ॥ असम्भार्वं असत्यमप्यर्थं प्रकृतत्वादागमपवाक्ये । अयाणभाणो मिथ्या अनेन उपदिष्टमिति अज्ञानम् । गुरुमियोगा गुरोर्व्याख्यातुर्नियोगादस्यागमपवाक्यस्य अवमर्थं इति कथनात् । निपुन्यते नियतं संनप्यते श्रोता ज्ञानेनेति नियोगः कथनं । इदमत्र तात्पर्यं—सर्वशोकस्तानमस्वार्थो गुरुपर्यक्तमेव सम्मगदृष्टोऽथपृतध्यानेनाचार्य-नोपदिष्टो वनेति सर्वज्ञाह्वया रुचिरस्यालीति आह्वारुचिरया सम्मगदृष्टित्वाद्यपेक्ष भवत्येव ॥

कोनसा जीव सम्मगदृष्टि शब्दका वाच्य होता है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—गुरुने कहे हुए आगमका अर्थात् जीवादि पदार्थोंके स्वरूप का जो भ्रमज्ञान करता है वह गुरु सम्मगदृष्टि है, गुरुके वचनोंकी प्रमाण मानकर जीवादिके असत्य स्वरूप में विश्वास रखता हुआ भी वह गुरु सम्मगदृष्टि ही है, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगमका अर्थ आचार्यपरंपरासे अविपरीत ऐसा गुरुने सुना है और हृदयमें धारण कर उसका ही उपदेख उसने मेरेको किया है ऐसा समझकर वह जीवादि पदार्थोंपर विश्वास रखता है अतः असत्यस्वरूप सत्य मानता हुआ भी वह जीव सम्मगदृष्टि ही है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है,

विशेषार्थ—गाथामें 'उपदेष्टे-उपदिष्टं' ऐसा शब्द है, वह शब्द उप पूर्वक दिष्ट धातुसे बना हुआ उच्चारण करना इस अर्थमें प्रसिद्ध है और आप इसका अर्थ 'कहा हुआ' ऐसा करते हैं परतु इस अर्थमें प्रयोगवाक्य दीखते नहीं है, 'उपदिष्टा वर्णा उच्चारिता इति' यहां उपदिष्टका अर्थ वर्ण उच्चारते गये हैं ऐसा किया है, यह

हूँ धंका अर इस का उषार सुन लीजिये—उच्चारण करना इस अर्थमें ही उपदिष्ट शब्दका प्रयोग है अन्य अर्थमें नहीं है ऐसा मित्र करनेके लिये आपके पास कुछ भी प्रमाण नहीं है।

उत्तम 'मां दोनिघ' इस वाक्यमें गोशब्दका अर्थ गाय ऐसा होता है अर्थात् गाय इस अर्थमें गोशब्द का प्रयोग जैसा होता है उसी तरह वाणी, स्वर्ग, पृथ्वी इत्यादि अर्थोंमें भी गोशब्दका प्रयोग देखा जाता है। उसी तरह उपदिष्टशब्द का प्रयोग अन्यार्थ में भी होता है। जैसे 'उपदिष्टमपि किं न वेत्ति' इस वाक्यमें उपदिष्ट शब्द 'कथित' कहा हुआ इस अर्थमें है ऐसा अनुभव आता है। इसको मानना पड़ेगा ही। जिस शब्दका जो अर्थ प्रकरणादि से योग्य मान्य होता है वही उस शब्दका अर्थ समझना चाहिये।

गाथामें जो पनयण शब्द है उसका सुलाला इस प्रकार है—जिसके द्वारा जीवादिक पदार्थ कहे जाते हैं अथवा जिसमें जीवादिक पदार्थ कहे हैं उसको प्रवचन कहते हैं अर्थात् जिनेश्वरके आगमको प्रवचन कहते हैं। प्रवचन शब्दकी निरुक्ति आचार्य इस प्रकार कहते हैं—'प्रोच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेन अस्मिन्निति वा प्रवचनं विनागमः जिनेश्वरके वचनमें प्रकल्पता अर्थात् उत्कृष्टता आनेका कारण यह है कि उनके वचन दृष्टप्रमाणोंसे अर्थात् प्रत्यक्षा-तुलानादि प्रमाणोंसे अतिरुद्ध सिद्ध होते हैं। और वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसरण करनेवाले हैं, ऐसे प्रवचनके द्वारा जो जीवादि पदार्थ कहे गये हैं उनको भी साहचर्यसे अथवा अभिधेयाभिधायकसंयय होनेसे 'प्रवचन' कह सकते हैं।

गाथामें जो तु शब्द है उसकी 'सदृह' इस क्रियापदके आगे योजना करनी चाहिये, अर्थात् विशेषित विनागमके जीवादि अर्थोंमें जो श्रद्धान करता ही है वह सम्बन्धहि है ऐसा अभिप्राय उससे व्यक्त होता है। यह सम्बन्धहि लीज अस्त्य पदार्थका भी श्रद्धान करता है परंतु यह तब तक असत्य पदार्थके उपर श्रद्धान करता है जब तक यह गुरुने मेरेको असत्य पदार्थका स्वरूप कहा है यह नहीं जानता है। जब तक वह असत्य पदार्थका श्रद्धान करता है तबतक उस गुरुने आचार्यपरंपराके अनुसार विनागमके जीवादितत्वका स्वरूप कहा है और जिनेंद्र भगवानकी आज्ञा प्रमाणभूत माननी चाहिये ऐसा भाव हृदयमें रखता है अतः उमके सम्बन्धदर्शनमें हानि नहीं है। वह मिथ्यादृष्टि नहीं गिना जाता है।

सर्वश्री आज्ञाके उपर उसका प्रेम रहता है, वह आज्ञारुचि होनेसे सम्बन्धहि ही है। ऐसा इस गाथाका भाव है।

किमेव विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

सुत्तादो तं सम्मं द्रसिज्जंतं जदा ण सदहदि ॥

सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥ ३३ ॥

ददर्यमानं यदा सम्यक् अदधाति न सूत्रतः ॥

तमर्थं स तदा जीवो मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते ॥ ३६ ॥

विलोक्य—सुत्तादो इति । सुत्तादो सुत्रात् । तं आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थं । सम्मं सम्यक् अधिपरीतरूपेण । द्रसिज्जंतं दृश्यमानं प्रकृत्यमानं अन्येन आचार्येण । जदा यदा यस्मिन्काले । ण सदहदि न अदधाति । सो चेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तः । मिच्छादिट्ठी ह्ययं मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताश्चाश्रयान्वैकल्याद् अर्थेयाधारम्या अदधानाश्च । तदो ततः । पशुवि प्रवृत्ति आरब्ध । अस्मिन्निपसृज्यतस्त्वर्थितायां अदधानावारस्येति यावत् ।

किमेव विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव नेत्याह—

भूत्तादो—सुत्तादो सूत्राग्राणधराण्यवयवमभिलमागमनाभित्येत्यर्थः । तं प्रथमगुरुरूपदेशेन मिथ्याप्रतिपन्नमर्थं सम्मं द्रसिज्जंतं अन्येन गुरुणाऽविपरीतं प्रकृत्यमाणं । सो चेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तो मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताश्चाश्रयान्वैकल्यात्प्रवृत्तिवारम्या अदधानाश्च । तदो ततः । पशुवि प्रवृत्ति आरब्ध । अस्मिन्निपसृज्यतस्त्वर्थितायां अदधानावारस्येति यावत् ।

क्या लीयादि पदार्थोक्ता विपरीत स्वरूप मानता हुवा भी यह हमेशा सम्यग्दृष्टि ही रहता है अथवा नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—‘तुमने पदार्थोंका विपरीत अर्थ जाना है उसका अद्वान छोड़ दो और हमने जो पदार्थका तत्त्वा स्वरूप कहा है उसके ऊपर अद्वान करो ।’ ऐसा आचार्यके कहने पर भी जब वह आपना आग्रह नहीं छोड़ेगा तो तबसे वह मिथ्यादृष्टि समझा जायगा, आचार्यने प्रमाणभूत ऐसे गणधरादिकोंके रचे हुए आगमसे जीवादिकोंका स्वरूप बताया था तो भी उसका उस आप्ताकाके ऊपर अद्वान नहीं रहनेसे और अर्थके यथार्थ स्वरूप पर अद्वान न होनेसे वह मिथ्यादृष्टि ही समझा जाता है ।

गुणादो तं समं दक्षि-जंतं इत्युक्तं केन रचितानि स्यान्नि प्रमाणभूतानीत्यत आह—
सुभं गणधरगायिदं तदेव पत्तेयबुद्धकहियं च ॥

सुदकेवल्लिणा कहियं अभिणदसपुव्विगाधिदं च ॥ ३४ ॥
जेयं प्रत्येकबुद्धेन गणेत्थेन निवेदितं ॥

भुतकेवल्लिना सूत्रमभिन्नदशपूर्विणा ॥ ३७ ॥

विजयोद्या—सुभं गणधरगायिदं इति । सुतं सूतं । गणशब्देन द्वादशगणा उच्यन्ते । सान्धारयति इति
गणधरा । भुगतिप्रस्थिता हि तेन रत्नप्रयोपदेशेन धार्यन्ते ते सत्त्वविधिसुपमताः । उक्तं च—

भुजितयविगुल्यगोसधिरसखलं च अक्खीणं ॥

मक्खविध इद्विपत्ता गणधरदेया जमो तेसि ॥

इति । तैः गायिदं प्रथितं संख्यं । केयलिमिगपविदं अर्थे ते हि प्रकान्ति । तथाभवायि—‘अर्थे कदन्ति अथवा
गंधं गंधंति गणधरा तेसि’ इति । तदेव तथैव । पत्तेयबुद्धगायिदं च प्रत्येकबुद्धप्रथितं च । युतशानाधरणाशुयोपशमात्
परोपदेशान्तरेणाधिगतशानातिरायाः प्रत्येकबुद्धाः । सुदकेवल्लिणा समस्तभुतधारिणा कथितं चेति । अभिन्नदसपुव्विगाधिदं
च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विषयानुप्रपादस्थाः श्रुतकविषया मद्वगियथा अंगुष्ठप्रसेनायाः प्रक्षय्यादयश्च तैरागाय रूपे
प्रवर्यं, सामर्थ्यं स्वकर्माभावात् पुरः स्थिता आसत्पत्तां किमस्माभिः कर्तव्यमिति तिष्ठति । तद्वचः श्रुत्वा न भवतीभिरसा-
क्तं मरणमस्तीति ये वदन्ति अचलितचित्तान्ते अभिन्नदशपूर्विणः । एतेषामन्यतेन प्रथितं सूत्रं प्रमाणं । प्रमाणेन केवलेन
भुतेन वा श्रुतीतमर्थं अरक्तदिष्टाः संतो यदुपदिशंति ततस्तद्वचसां प्रमाणं इति भावः । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरं अरक्त-
विषयकमुपमयं यथाः प्रमाणं । यथा पितुररक्तदिष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचरं वचः पठोये रक्ष्य इति । तथा च गणधरादीनां वचः
प्रमाणं परिदृष्टार्थगोचरं । अरक्तदिष्टवस्तुप्रमयं ।

केन रचितं सूत्रं प्रमाणं स्वादित्यनाह—

गणहरकविदं—गणा द्वादश यत्वादयो विनंदितशब्दाः । गणधराखंति दुर्गतिमार्गान्ध्याश्रद्धानादेर्विनि-
युक्त्य शिवमार्गे सम्पददर्शनादौ स्थापयन्तीति इति गणधराः सप्तविधिद्विभाता भर्माचार्याः । पत्तेयबुद्धा—यत्कं केवलं परोप-
देशान्तिरेभं भुतशानाधरणस्योपशमविदोचं प्रतीत्य बुद्धाः संभ्रातृजानाविस्मयाः प्रत्येकबुद्धाः । सुदकेवल्लिणा समस्तभुत-
धारिणा । अभिन्नदसपुव्वि—इयं पूर्वोक्ति उत्पादपूर्वादिविषयानुवादात्वात्तान्येषां सन्तीति दशपूर्विणः । अभिज्ञा विद्याभिरप्रख्या

वित्तचारित्र्यस्ते च वे दस पूर्वपञ्च । विद्यानुवादपाठे स्वयभागतद्वादशतयविद्याभिरचलितचारित्र्या इत्यर्थः ।

‘सुचदो ते सप्तं द्रसिज्जंतं’ ऐसा उपरकी गायामें चाक्य आया है परंतु प्रमाणभूत श्रौतकी रचना किन्हीं की है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

हिंदी अर्थ—गणधररचित आगमको सूत्र कहते हैं. प्रत्येकषुद्ध ऋषिओंके द्वारा रचे गये आगमको भी सूत्र कहते हैं. श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधारक आचार्योंके रचे हुए आगम ग्रंथको भी सूत्र कहते हैं.

विशेषार्थ—गणके द्वारा प्रकाश हैं. चौदापूर्वके ज्ञाता मुनि, विप्रियाश्रद्धिके धारक मुनि, अविशिष्टानी मुनि, मनःपर्यवज्ञानी मुनि, वाद करनेवाले मुनि चमेरे द्वारा गण उनको रत्नत्रयधर्मका उपदेश देकर दुर्गतीसे बचाते हैं उनको गणधर कहते हैं. गणधरोंको सात ऋद्धियां प्राप्त होती हैं. उनके नाम इसप्रकार हैं—
मुद्रि, तप, विक्रिया, औपधि, रस, बल और अक्षीण ऐसे सात ऋद्धिको प्राप्त हुए गणधरोंको भेरा नमस्कार हो गणधरोंने रचे हुए आगमको सूत्र कहते हैं. केवलियोंने कहा हुआ अर्थ गणधर प्रथित करते हैं. इस विषयमें ‘अर्थे कर्दति अरुहा गंयं गंयन्ति गणधरा तैसि’ अर्थात् केवल भगवान् जो अर्थ कहते हैं उसका गणधर देव आगममें प्रथन करते हैं. प्रत्येकषुद्ध ऋषियोंने रचे हुए श्रौतोंको भी सूत्र कहते हैं. श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे गुरुपदेशके बिना जिनको सातविध ज्ञान होता है ऐसे महर्षियोंको प्रत्येकषुद्ध कहते हैं. द्वादशान्गश्रुत ज्ञानको धारण करनेवाले महर्षियोंको श्रुतकेवल कहते हैं. उनका कदा हुआ जो आगम वह भी सूत्र है.

अभिन्नदशपूर्वके ज्ञाननेवाले आचार्योंके रचे हुए शास्त्रोंको भी सूत्र कहते हैं. दशपूर्वोंका अध्ययन करते समय विद्यानुवादमें जिनका वर्णन है ऐसी अंगुष्ठप्रसेनादि शुद्धिक विद्या व प्रज्ञप्त्यादि महाविद्या इन आचार्योंके पास आ जाती है तथा वे आपना रूप दिखाकर सामर्थ्य और अपने कार्यका स्वरूप कहती हैं. आगे खंडे होकर हे प्रभो ! हमें कोई कार्य करनेकी आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थना करती हैं. उनका मापण मुनिकर आपसे हमारा कुछ कार्य नहीं है ऐसा जो ऋषि निश्चलचित्त होकर बोलते हैं. उनको अभिन्नदशपूर्वधर महर्षि कहते हैं. उपर्युक्त कहे हुए ऋषियोंके आगमोंको सूत्र कहते हैं.

प्रत्यक्षश्रुतिक प्रमाणोंके द्वारा, केवलज्ञानके द्वारा और श्रुतज्ञानके द्वारा जाना हुआ वस्तुका स्वरूप शरीरेय

रहित होकर उपर्युक्त महर्षि प्रतिपादन करते हैं इसलिये इनके वचनोंमें प्रमाणता रहती है.

जैसे राग द्वेप छोड़कर पिता अपने लड़केको इस घटका रक्षण करो ऐसे वचन कहता है. उसका वह कहना जैसा प्रत्यक्ष गोचर है और प्रमाण है उसी तरह रागद्वेपरहित होकर प्रमाणोंके द्वारा देखा हुआ जीवादिपदार्थ का स्वरूप महर्षिओंने कहा है अतः वह प्रमाण मानना चाहिये. गणधरादिक महर्षि रागद्वेपरहित और महाज्ञानी थे. उन्होंने सब पदार्थोंका प्रमाणोंके द्वारा निर्णय किया था अतः उनके आगम प्रमाण माननेमें हर्ज नहीं है.

अथतु नमैतान् अन्यत्तेयेन प्रणीतं सूत्रं प्रमाणं तद्वर्णकपदं तु को विपरीतं करोति को वाऽविपरीतमित्येरेकाणां अविपरीतार्थक्यवकारिणो लक्षणमाहोचरया गाथया—

गिहिदृत्यो संविगो, अच्युवदेसेण संकणिज्जो हु ॥

सो चेव मंदघम्मो अच्युवदेसम्मि भजणिज्जो ॥ ३५ ॥

प्राप्तार्थव्यावहारिणः संशयते न महामनाः ॥

संशयते मंदधर्माऽसौ कुर्याणस्तत्त्वदेशानाम् ॥ ३६ ॥

विजयोदया—गिहिदृत्यो संविगो गृहीतं भातमात्कृतो ऽवधारितोऽर्थः सूत्रस्य येन सः गृहीतार्थः मन्थतस्तु प्राप्तं इति यापत् । संविगो संसारादुद्भवभावरूपात् परितोभात् भयमुपगतः । विपरीतोपदेशे रागादोपाद्या अनंतकालं संसारापरिध्रमणं मन निव्याहरे. ततो भविष्यतीति यः संभयः । अच्युवदेसे अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे । न संकणिज्जो नैवारोक्ष्यः । तु गान् एवकारार्थः । सो केव स एव स गृहीतार्थः । मंदधम्मो धर्ममाच्यवधारिजयाणी चारितं यल्लु धम्मो धम्मो जो सो समोस्सि निदिहो, इति वचनात् । ततो मंदचारिण इत्यर्थः । अच्युवदेसमिद् धृत्वा धन्याव्यामे ? भयणिज्जो भान्यः । यदि सूत्रानुसारि युक्त्यनुगतं वा तद्व्याख्यां ग्राह्यमन्यथा नेति यावत् ।

प्रमाणपरिवृष्टार्थोचरत्वेन रागद्वेपानुपद्वलकप्रभवत्वेन च वित्रादिवत्स्वव्यमाणभूतस्यापि सूत्रस्यार्थं यो यथावत्तययदि तं लक्षयति—

गीदृत्यो—सम्यग्गुरुत्वेनादवधारितसूत्रार्थः । संविगो रागाद्वा द्वेपाद्वा सूत्रार्थमन्ययोषदिसतो मम मिथ्यादृष्टेः सतोऽनंतकालं संसारे परिध्रमणं भविष्यतीति भयनापन्नः । अच्युवदेसे सूत्रार्थव्याख्यानविषये । न संकणिज्जो लु ।

नैव शङ्कनीय । चं यथायं व्याचष्टे सूत्रार्थं स तथैवेति मन्तव्यः । सो चेव शीतार्थ एव । मंदपम्नो साविचारचारित्रः ।
भयणिउजः भाव्यः । यदि सूत्रनुसारी युक्तिपुक्त वा तद्व्याख्यानं कृतो ग्राह्यं नान्यथेत्यर्थः ।

इन महर्षियोंमें किसीके भी बनाये हुए सूत्र हम प्रमाण मानते हैं, परंतु इनका अर्थका कथन करनेवालोंमें हम किसी सत्यार्थ प्रतिपादन करनेवाला समझे और किसीको न समझे ? ऐसी शंकाका निरसन करते हैं। प्रथमतः अविपरीत पदार्थका विवेचन करनेवालेका लक्षण आगेकी भाषासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—जिसने सूत्रका अर्थ समीचीनरूपसे जान लिया है, तथा जिसके अंतःकरणमें कर्मबंधरूप, द्रव्यसंसार और भावरूप फणाय, मिथ्यात्वादिरूप-भावसंसारसे मय उत्पन्न हुआ है ऐसे व्यक्तिद्वारा कहा हुआ सूत्रार्थ निःसंशयचित्त होकर प्रमाण मानना चाहिये, यदि रागभावसे अथवा क्रोधसे मैं विपरीत उपदेश करूंगा तो अनंतकालपर्यंत मिथ्यादृष्टियुक्त ऐसे भेरेको संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा ऐसा जिसके मनमें भय है उसको संविम कहते हैं, उसको दृष्टार्थके कहनेमें प्रमाणता है, परंतु जिसका चारित्र मंद है उसको सूत्रार्थनिरूपणमें प्रमाण मानना विफलनीय है, अर्थात् यदि उसका व्याख्यान सूत्रानुसार और युक्तिपुक्त हो तो ग्रहण करना चाहिये, वैया न हो तो ग्रहण करना नहीं चाहिये,

किमधिगतस्तमप्येकवचनाद्यौ मूला श्रद्धायाय स एव स सम्यग्दृष्टि, स एव सम्यक्त्वाप्राधकः इत्यारिकाया-
माह अत्योव्यस्तिति—

धम्मा धम्ममागासाणि पोगल्ला कालद्वय जीवे य ॥

आणाए सदहन्तो समत्ताराहो भणिदो ॥ ३६ ॥

सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥

आज्ञया जिननाथानां अद्वेयाः शुद्धदृष्टिना ॥ ३७ ॥

विजयोदया—धम्माधम्ममागासाणिचि-ओएणुद्वयो. स्वावस्थिताकाशदेशेवान्तर प्रतिगतिः परित्येवपायाय परप्रयोगत स्वभावतो वा विचले । अन्येषा निश्चिन्त्येति न गतिरस्ति । अनयोर्गतिपर्यायस्य याज्ञं गतिरित्युल-

संशितं गुणं धारयतीति धर्मः । तं न धारयतीत्यर्थः । यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुतायाः साधारण्यं तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य दृष्टिः । प्रतिविपलविषया रूढयः इत्युक्तमेव । अथवा स्थितेरवासीनेहेतुत्वादधर्मः । न च जीवानीनां स्थितेरवासीनेहेतुत्वमस्ति । तथैताद्युमानि असंख्यातप्रवेदौ एकतामेयोद्गच्छन्तौ सुखीनि निःक्रियो रूपादिरद्विती । आकाशं अन्तर्गदेषाण्यासितं सर्वेण अवकाशदानसामान्यमितं । पुद्गलस्तु रूपरसगंधस्पर्शवतः अणु-रूपरूपभेदाद्विविधाः । कालो निश्चयेतरविकल्पः । जीवा उपयोगालकाः । पतनार्थीन् । आणाप् आशया । आसनां सावधानं चेदं । आशयेय पदं प्रख्याति सन्तीति अद्यातव्यं भवतीति आसवचनबलेनैव अद्यानं करोति । निक्षेपनयादि-मुनेन प्रवृत्तवाधिगत्या सोऽपि सम्यक्त्यस्त्याराधकः ।

+ धर्माधर्मनभःकालपुद्गलान्जनदोशितान् ॥

आज्ञया अध्वानोऽपि दर्शनाराधको मतः ॥ ३९ ॥

किं प्रमाणाद्विदुलेन सप्रपञ्चं प्रवचनार्थमधिगम्य अध्वानः सम्यक्त्वस्याराधकः स्यादुक्तान्योऽल्पस्ति इति

अत्राह—

मूलात्ता — धम्मा इत्यादि — जीवपुद्गलयोः साधारणेन गतिनिमित्तं धर्मः । तयोरेव साधारणेन स्थितिहेतु-रपदैः । सर्वेषामवकाशवाचकं आकाशम् । रूपिणः पुद्गलाः । गतेनालक्षणाः कालः । चेतनालक्षणो जीवः । एतान्येवैव गुणपूर्वावस्थादूररूपाणि । आज्ञयापि पञ्चद्रव्याणि संधि इत्यात्मवचनपलेनापि अध्वानः सम्यक्त्वभारापयतीत्युक्तः ।

दृष्टं—

सर्वेषां युगपद्वृत्तिरिति परीणाभावगाहान्यथा—

योगाद्वर्तितदन्यलाभगगान्यात्मा त्वत्प्रत्ययाव्

सिद्धयेत्यस्य परस्य वास्त्यमुद्रतो मूर्तत्वतः पुद्गल-

तो द्रव्याणि पदेय पूर्वयगुणात्मानः कथंविदुधुषाः ॥

+ ऊपरके पेज १२८ की गाथा नं. ३६ के नीचे जो श्लोक आया है वहां यह श्लोक आना चाहिये था और आगेकी गाथा नं. ३७ के आगे गाथा नं. ३६ के नीचे वाला श्लोक आना चाहिये । गलतीसे ये उल्टे लगा गये हैं । इसलिये यह श्लोक वहांपर लगा दिया गया है । पाठक सुधार कर पढ़ेंगे ऐसी आशा है ।

सविस्तर आगमवचन और उसके अर्थको जानता हुआ जो उसके ऊपर श्रद्धा रखता है क्या वही सम्यग्-
गृहि है ? वही सम्पत्त्याराधक है ? ऐसी रांका होनेपर आचार्य अन्य भी सम्यग्गृहि होता है ऐसा आगेकी
माथामें उचर कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल, व जीव इन छह द्रव्योंको जिनेश्वरकी आज्ञासे
श्रद्धान करनेवाला आत्मा सम्पत्त्यका आराधक होता है।

नियेपार्थ—जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ जहाँ रहे हैं ऐसे आकाशप्रदेशसे प्रदेशांतरमें दूसरेके निमित्तसे
अथवा स्वभावतः गमन करते हैं। इन दो ही द्रव्योंमें क्रियावत्त्व धर्म है। परंतु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन
द्रव्योंमें क्रिया नहीं है। जिनेंद्र भगवान् इनको निष्क्रिय कहते हैं। जीव और पुद्गलद्रव्यमें एक स्थानसे दूसरे
स्थानमें गमन क्रिया होनेमें धर्मद्रव्य कारण माना गया है। अर्थात् धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व यह धर्म है। अधर्म
द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व धर्म है। इसके निमित्तसे जीव और पुद्गलमें स्थिरता आती है। यद्यपि जीव पुद्गलादि भी गतिके
लिये कारण होते हैं तो भी धर्मद्रव्यकाही यह असाधारण स्वभाव है अतः जीव पुद्गलको 'धर्म' ऐसी संज्ञा प्राप्त
नहीं होती है। रुदि नियतविषयमेंही प्रवृत्त होती है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं। धर्मद्रव्य जैसा जीवपुद्गलके गतिमें
उदासीन कारण है वैसा जीव गतिमें उदासीन नहीं है। वह दूसरेको गतिकार्यमें श्रेयक होता है। इस लिये उदासीन
रूपसे गतिहेतुत्व धर्मद्रव्यमेंही है अन्यत्र नहीं है।

अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलके स्थिरतामें उदासीन कारण है। उदासीनरूपसे स्थितीको हेतु हो जाना यह
स्वभाव अधर्मद्रव्यके सिवाय अन्यद्रव्यमें नहीं पाया जाता है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके असंख्यत प्रदेश हैं।
परंतु इनके ये प्रदेश आपसमें मिलकर एकताको प्राप्त हुये हैं। ये द्रव्य सत्त्व, निःक्रिय और रूप, रस, गंध, स्पर्श
इन गुणोंसे रहित अर्थात् अमूर्त हैं।

आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है। संपूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेका सामर्थ्य इसमें है। पुद्गल रूप, रस, गंध,
स्पर्श इन गुणोंसे युक्त रहता है। उसके अणु व संक्षेप ऐसे दो भेद हैं। कालके व्यवहारकाल व निश्चयकाल ऐसे
दो भेद हैं। जीव ज्ञान व दर्शनोपयोगमय है। ऐसे छह द्रव्योंका जिनेश्वरकी आज्ञासे जो श्रद्धान करता है वह
सम्पत्त्याराधक है। तथा जो निश्चय नय वीरदका आशय करके जीवादि पदार्थोंका स्वरूप समझकर श्रद्धान करता
है वह भी सम्पत्त्यका आराधक है।

अणिमद्वयसिद्धये नियोगतः प्रदानं फलं फलं इत्येतद्व्याख्यानयोत्तरगाथा—

संसारसमावर्णाय रुच्यद्वा सिद्धिमस्मिदा जीवा ॥

जीवणिकाया एने सदहिदन्वा हु आणाए ॥ ३७ ॥

④ सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥

आज्ञया जिननाथानां श्रद्धयाः शुद्धशुष्टिना ॥ ४० ॥

विजयोपेक्षया—संस्तारं चतुर्गुणपरिध्रमणं । समावृण्णा संमाप्ताः शोभनाशोभनशरीरमहणमोचनाभ्युपगताः । स्वयोगत्रयानीनुपपन्नायोगद्वयजनितसुरदुःखावुभयानिगताः । असत्यावरकर्मोदव्यापादितव्रतस्यावरकभावाः, विग्नममतिमानाशरणोदयेन तत्तदयोगपदमाविशेणेन च एकैद्रिया, विकलैद्रियाः, समग्रेन्द्रियाः । यथाव्यपयोसिक्कमोदयमिदं तितपइयि धर्याप्यन्तयस्मन्निने च, वृथिव्यादिगरीरभारोक्षणचतुराः, आयुताव्यमष्टतियमंजृगलायगाड्यंधमपराधीभद्रुतयः । नवदिः कलमयोदित्तमाधयोपजाततनुव्यामकपुसुखाः, अराजभिनीगीतत्तरकाः, मृग्युदुर्गदशानिदं पातचकितचेतसः संमार्तिः । छलिया पा नदमभारः । गृथिव्यादितादरसंयधतः । निजि सत्यकत्य केवलमानदोमवीचांश्यापाथत्यपरनसूक्ष्मस्यापगाढादित्यक्कापिणित्तम् । अस्मिन्ना आधिताः । अया जीयाः । ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् । जीयति प्राणाःधारयति इति जीयः । प्राणाच्छेद्रियाराव्य कर्मनियंत्योः पुद्गलसंधधारणभूतेषु कर्मस्वप्नसहस्रं न विद्यन्ते तदाः कथं निवृत्तानो जीयेनेति ? मेग वीर्य, विविधाः प्राणाः इत्यप्राणा भावप्राणाश्चेति । प्रत्यप्राणा ईद्रियाराव्यः कर्महेतुकाः । भावप्राणास्तु प्राणदशानवयवः । न ते कर्मनिमित्तकाः । कर्माभाये प्रवृत्तेः । तेन भावप्राणधारणात् जीयता न्याय्या सिक्तानां । अथवा वनेषु वृक्षप्राणधारणं पस्तु त्वेषमिति प्रत्यभिज्ञोपदेशितमेकवचनाधित्य जीवव्यपदेशः । स्वियानाम् । अथवा जीवप्राणधेनानायति न्द्रुमान् । ज्ञेयं च जीया म्युगस्वर्ध्व तादरंभयेऽपि तत्पुलक्षणादृष्टं सामान्यमाधित्य परंतत एव । यथा गच्छातीति भीतिरि म्युत्पादितोऽपि मोक्षान्योऽसत्यामपि गती स्थिता गीर्णिगणेत्यत्र परंतते । समेनेनाधुवेगोपलक्षितस्य गीयस्य मन्नापात् । एवं प्राणधारणोपलक्षितचेतस्याध्यायजीयशब्दस्य तिक्तेषु स्थितः । जीयनिकाया जीयसमूहाः । गइक्षिप्या नु भज्जतत्त्याः गय । अणान् आतामामायालाल ।

जीयाधदाने मुक्तिसुखारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थायामनुषणत्वेरिति भावः । यदि नाम घमांश्चिद्व्यापारितान् गन्तवान्कदादिधदानं नोत्पन्नं तथापि नस्तौ मिथ्याहृष्टिंशान्मोहोदयस्य अथब्दानपरिणामस्यानानधिगम्यस्याभावात् । न हि धर्मान्त्यानुत्पत्तिरत्यस्तं इति युक्तीति । अद्यानादन्यव्ययज्ञं इवमित्यमिति श्रुतानिरूपितेऽन्यथिः ।

❖ यद् शोक पत्र १२८ की ३६ वीं गाथा के नीचे गहवीसे छग गया है वस्तुतः शब्दों ही चाहिये ।

जीवद्रव्यं नियमेन अद्वयं तदश्रद्धाने मुक्तिरसृष्टिप्राप्तिर्यागाव्यप्रथासानुपपत्तेरित्यनुशासितुमाह—

समायण्णा-श्राप्ताः ओभवासोभनसरीरग्रहणमोचनाप्युचताः । छन्विह्य प्रविष्यसेवोवायुवनस्पतित्रसका-
यिकभेदेदात् । अतिसिद्धा आश्रिताः । शिकाया निकायाः समूहाः । आणाय आतानामाश्रयलात् । यद्यपि च ज्ञानावरणोदया
द्वन्द्वेदश्राने सति वच्छ्रद्धानं नोत्पद्यते तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिदर्शनमोहोदयजन्यस्य अश्रद्धानस्य क्षातल्यभेदेयविषय
स्वाभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं किं तर्हि ? श्रद्धानादन्यद्विदमित्यमिति श्रुतनिरूपितेऽर्थेऽकथिः ।

जीवद्रव्यके उपर नियमसे अश्रद्धान करना चाहिये इसके विवेचनके लिये उत्तर गाथा आचार्य कहते हैं—
हिंदी अर्थ—इस जगतमें चार गतिमें भ्रमण करनेवाले जीवोंके छह प्रकार हैं, पृथिवी, हवा, पानी, अग्नि, यनस्पति ये पांच स्थावर काय जीव हैं, इन्द्रियादि जीवोंको असंकाय जीव कहते हैं, ऐसे छह भेद संसारी जीवके हैं, जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश करके मुक्ति प्राप्त की है वे जीव सिद्ध हैं, जिन्हेंशरकी आशासे इस जीवनिर्वाणपर श्रद्धा करनी चाहिये.

विशेषार्थ—पटकायके जीव संसारमें चार गतियोंमें भ्रमण कर रहे हैं, उनको शुभाशुभ कर्मके उदयसे
छुमाछुम शरीर मिलते हैं तथा नष्ट होते हैं, कभी कभी स्वतःके मनोयोग, वचनयोग और क्तययोगसे पुण्य
कर्मबंध हो गया तो उनको सुख मिलता है, और यदि पापबंध हुआ तो दुःखानुभवमें उनको प्राप्तपर्याय स्वतन
भरनी पड़ती है, त्रसकर्मके उदयसे इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतकके प्राणियोंमें उनका जन्म होता है, और
सावरकर्मके उदयसे वे पृथिवी, हवा वगैरह प्राणियोंमें जन्म धारण करते हैं, विचित्र सविज्ञानावरणके उदयसे
और उसके खयोपशमविशेषसे उनको एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियावस्था प्राप्त होती है, पर्याप्ति नाम
कर्मके उदयसे यथायोग्य चार, पांच और छह पर्याप्ति प्राप्त होती है, यदि अपर्याप्ति नाम कर्मका उदय आवे तो
अपर्याप्ति बनते हैं, पृथिव्यादि शरीरोंको धारण करनेमें ये षण् संसारी जीव चतुर हैं, आयुनाम कर्मरूप चेडीसे
जखड़ जानेसे परापीन हो गये हैं, सचित्तयोनिरित्यादि नष्ट योगियोंसे उत्पन्न हुए शरीरमें इनकी मति आसक्त हो
गई है, जरा-श्रद्धानस्यावरूप टाकिनी इनका रूप और रक्त पीनेमें चतुर रहती है, मृत्युरूपी अनिवारणीय वज्रपातसे

इनका चित्त मययुक्त हो जाता है। ऐसे ये संसारी जीव पृथिवी, हवा, इत्यादि रूपसे छह प्रकारके हैं।
 निनको सम्पददर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतशक्ति, अव्याघातता, सहस्रता, अवगाहन, अगुरु-
 लघुता ऐसे आठगुणोंकी प्राप्तिलयी युक्ति प्राप्त हो गई है वे सिद्ध जीव हैं।

शुद्धा—जीव धातुका अर्थ प्राणधारण करना है। 'जीवति प्राणान्धायाति इति जीवः' अर्थात् जो इंद्रि-
 यादि प्राणोंको धारण करता है वह जीव है ऐसी जीव शब्दकी निश्चिति है। इंद्रियादिक प्राणोंकी उत्पत्ति कर्मसे
 होती है। परंतु सिद्धोंको कर्म नहीं है अतः सिद्धोंमें जीवत्व कैसा मानोगे ?

उत्तर—द्रव्य प्राण और भाव प्राण ऐसे प्राणोंके दो भेद हैं। इंद्रियां, आधु आसोच्छ्वास और काय बल,
 मनोबल और वचनबल ये द्रव्यप्राण हैं। ज्ञानदर्शन वगैरह भावप्राण हैं। द्रव्यप्राण कर्मसे उत्पन्न होते हैं, जैसे
 भावप्राण कर्मसे उत्पन्न नहीं होते हैं। कर्मोंका अभाव होनेपर उनका जन्म होता है। सिद्धोंको भावप्राण हैं अतः
 वे जीव हैं यह सिद्ध हो चुका, अथवा जिन्होंने संसारपथामें द्रव्यप्राण धारण किये थे वेही अब सिद्ध बने हैं ऐसे
 प्रत्यभिज्ञानसे उनमें एकत्वसिद्धि होती है इस लिये एकत्वके आधारसे हम सिद्धोंको भी जीव कह सकते हैं।
 अथवा जीव शब्दकी चेतनावान प्राणीमें रूढ़ी है। अर्थात् जीव यह शब्द रूढ़ि शब्द है। रूढ़ शब्दमें किया
 व्युत्पत्तीके लिये ही होती है। इस लिये यह किया वहां नहीं भी हो तो भी उपलक्षणसे ग्रहण किये हुए सामान्यके
 आधारमें उग शब्दकी प्रवृत्ति होती है, जैसे 'गच्छतीति गौः' इस निरुक्तिसे बनाया हुआ भी गोशब्द गमन
 किया न होनेपर भी अर्थात् पैरी हुई या खरी हुई गोमें भी प्रवृत्त होता है। क्योंकि अनित्यगमनक्रियासे युक्त
 गोत्वका गोमें सद्भाव है और गोशब्द उपलक्षणसे गोत्वका वाचक होता है, उसी तरह प्रकृत विषयमें माण
 धारणामें उपलक्षित चैतन्यके आधारमें जीव शब्दकी सिद्धिमें प्रवृत्ति होती है। संसारी और मुक्त ऐसे जीवतमूहोंपर
 जिनामासे श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा इसका अगिप्राय है, जीवके विषयमें यदि श्रद्धा नहीं हो तो श्रुतिके साधनभूत
 रत्नत्रयकी प्राप्ति करना और संसारवर्षक मिथ्यात्वदि कारणोंका त्याग करना यह सब प्रयासमग्नही होगा।

यद्यपि घर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ होनेवाली श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तो भी वह
 सम्पदधिही है, मिथ्यादृष्टि नहीं है। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान जो कि
 अज्ञानको विषय करता है वह यहां नहीं है। मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान वह अलक्षि रूप है अर्थात्

यह वस्तुस्वरूप इस तरहसे है ऐसा जो आगममें कहा गया है. उस विषयमें अलंघि होना यह मिथ्यादर्शनरूप अधदान है. और प्रकृत विषयमें ऐसी अधदा नहीं है. यहाँ जीवादिका ज्ञान नहीं है परंतु जिनेश्वरके प्रतिपादित जीवादि तत्त्व सन्धे हैं ऐसी मनमें प्रीति-रुचि उत्पन्न होती है यह विशेषता समझनी चाहिये.

अज्ञाततत्त्व प्रकाशान्तरणापि निर्दिष्ट उत्तराणां—पूर्व सर्वद्रव्यविषयशब्दानुक्तं, एकादशतित्त्वमतिपादनाय जीवद्रव्यविषया अज्ञा निकृतिता अनंतरमाधया । इह तु आत्मवादयोऽपि शब्दात्तत्त्वा इति सूच्यते—

आत्मवत्सवरणिजजरवंधो मुक्त्वो यं पुण्णपावं च ॥

तद् एव जिणाणां सद्दहिदन्वा अपरिसेसा ॥ ३८ ॥

आत्मवत् संचरं बंधं निर्जरां मोक्षमंजसा ॥

पुण्यं पापं च सद्दुष्टिः अदधाति जिनाशया ॥ ४१ ॥

येन कारणभूतेन तमपरिणामेन स परिणाम आत्मवत् । आत्मवत्प्रागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायः पुद्गलानां भासा तथैवावस्थिताः पुद्गलाः अनंतप्रदेशिभिः कर्मपर्यायं भज्यते । 'एवमिह तोवगाढ' मिति ब्रह्मण तत् किमुपपत्ते विवक्षितं । तेन तत्त्वप्रोपनिषद्वत्तत्त्वमात्सर्ग्यतत्त्वसाधनोपघातव्यः जीवपरिणामाः कर्मत्वपरिणामाः पुद्गलानां साधकत्वमया विषयशिक्षिताः आत्मवत्प्रागच्छत्येव । अथवा आत्मवत् कर्मतापरिणामाः पुद्गलानां आत्मवत् इत्युच्यते । संश्रियते संरुध्यते मिथ्या ईशनादिः परिणामो येन परिणामांतरेण सम्यग्दर्शनादिना, शुभ्यार्थिना वा स संवरः । निर्जीयते निरस्थते यथा, निर्जरेण वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्थते यथा परिणामाया निर्वरा । निर्जरं पृथग्भवनं विस्लेषणं वा कर्मणां निर्जरा । मोक्षयतेऽप्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाज्ञातचारित्र्यसंभितेन अस्त्वते स मोक्षः । विस्लेषो वा समस्तानां कर्मणां । वध्यते अस्त्वतंभीकियन्ते कर्मणोद्भव्याणि येन परिणामेन आत्मनः स वंधः । यथा वध्यते परवशतामापाद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणामेन कर्मणा तत्कर्म बंधः । पुण्यं नाम अभिमतस्य प्रापकं । पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं । इह बंधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतः न कर्म एव, पृथक् पुण्य-पापप्रदणाम् । ननु केन परिणामेन जीवपुद्गलयोर्यातर्भाव आत्मवादीनां जीवपुद्गलत्वअदानस्य पूर्वमुपपन्नत्वान्न किमर्थं मिदं सूत्रमिति श्रेयः श्रेयः । विन्यासवैधिर्यादेशनामेदं धाममवाक्येषु । ततः यदा तत्र सर्वत्र कार्यति चोदितं भवति । अधदानं न मनतापि कार्यम् ।

आश्रयदादितत्त्वं जीयदुःखयोः पर्यायविशेषत्वात्तच्छ्रद्धेत्यतस्त्वनिरूपणार्थां श्रद्धेत्यतश्चानिर्दिष्टतमपि विनयेयाशयैवे-
 विभीषणाश्च पृथक् श्रद्धेत्यतया निर्दिष्टुमाह—
 मूलात्—आसय—आश्रयन्त्यागच्छन्ति ज्ञानाश्रयणादिकर्ममात्रं तद्योग्याः अनन्तप्रदेशिनः सभानदेशस्थाः पुद्गला येन
 सिट्गगद्गोनादिना तत्प्रयोगनिष्ठवादिना वा विघ्नकारणे तेन जीवपरिणामेन स आस्रवः । अथवा आस्रवणमास्रवः ।
 पुद्गलानां कर्मत्वपरिणतिः । तथा चोक्तं—

असा कुणदि सत्त्वावं सत्यवदा पुगला स्रद्धावेहि ॥
 गच्छन्ति कर्मभावं शरणोण्यागाद्दमयगाढा ॥

शंकरः—संप्रियते निरुच्यते आस्रवो येन सन्त्ययसोनादिना, गुल्यादिना वा जीवपरिणामेन स संहरः । संहरणं
 संहरः । ज्ञानाश्रयणादिकर्मयोग्यानां पुद्गलानां तद्भावः—परिणतिनिराणं । निज्जर—निर्जीकृते आत्मप्रदेशादेकदेशेन
 पृथक् क्रियते कर्म यथा जीवपरिणामा सा । अथवा निर्जरणं निर्जरा । कर्मणामेकदेशेन संहरयः । यथो—चप्यतेऽत्यन्तंजी-
 क्रियते कर्मद्रव्याणि येन स्थितिपरिणामेन आत्मनः स यंचः । अथवा चप्यते परवशतामाश्रयते आत्मा येन स्थिति
 परिणामेन कर्मणा तत्कर्म वैयः । यदि वा यंचनं यंचः, जीवकमणोरन्योऽन्यप्रदेशादुपवेशः । मोक्षलो मोक्षयतेऽत्यन्तं
 आत्मनः पृथक् क्रियते समस्तानि कर्माणि येन संपूर्णरत्नप्रवलक्षणेनात्मपरिणामेन स मोक्षः । अथवा मोक्षयते
 विस्मियते जीवो येन नीरसीभूतेन कर्मणा । तच्छादितकलदानसामर्थ्यं कर्म मोक्षः । यदि वा मोक्षणं मोक्षः जीव
 कर्मणोरत्यंतविको विस्मयः । पुण्यशर्व—पुण्यं सद्देष्टुभायुर्नामगोत्राणि अतोऽन्यत्कर्म पापं । पुण्यगतयोर्महणादिह यंच
 शब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतो लक्षयते । न कर्म नापि यंचनक्रिया । अपरितेसा सत्तापि ।

श्रद्धाकं विपयका विवेचन प्रकारांतरसे आचार्य करते हैं—अथमतः सर्वं द्रव्य श्रद्धानक्रे विपय कहे हैं,
 अनन्तर महत्त्व दिखानेके लिये जीव द्रव्यकी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा कहा. अब प्रस्तुत याथोमे आस्रवादि
 तत्त्वोंपर भी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—आस्रव, संहर, निर्जरा, यंच, मोक्ष, पुण्य और पाप ऐसे शब्दोंके पदाश्रयोंपर भी जिनमगयानकी
 आश्रामे श्रद्धान करना चाहिये.

विशेषार्थ—आत्माके जिस परिणामसे पुद्गलद्रव्य कर्मरूप बनकर आता है उस परिणामको आस्रव कहते हैं, अर्थात् आत्मपरिणाम पुद्गलमें कर्मोवस्था उत्पन्न होनेमें निमित्त हुआ अतः आत्मपरिणामको आस्रव-भावसाक्ष्य कहते हैं। और पुद्गलकी कर्मरूप परिणतिको द्रव्यास्रव कहते हैं।

शंका - कर्मपुद्गलोंका अन्य स्थानसे आवगमन नहीं होता है, जिस आकाशप्रदेशमें आत्मा है उसी आकाशप्रदेशमें अनंतप्रदेशी पुद्गल द्रव्य भी है, और वह कर्मस्वरूप बन जाता है, 'एयस्मिन्नतोवगाढ' ऐसा कर्मपुद्गलके विषयमें आचार्य चचन करते हैं अर्थात् कर्म और आत्मा एक प्रदेष्टावगाही है ऐसा शास्त्र वचन है, इस लिये आप पुद्गलद्रव्य आत्मामें आकर कर्मरूपता धारण करता है ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर - आपको शंका ठीक है यहाँ पुद्गलद्रव्य आता है इसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये 'आगच्छति ह्यैकन्ते ज्ञानाधारणादिपपायमित्येवं ग्रहितव्यम्' अर्थात् जीवमें पुद्गल आते हैं—ज्ञानाधारणादि पर्यायको प्राप्त होते हैं, ऐसा अभिप्राय यहाँ समझना चाहिये, देशान्तरसे आकर पुद्गल कर्मवस्था धारण करते हैं ऐसा कहनेका हमारा आशय नहीं है।

अतः प्रदेष्टा, निन्दव मात्सर्पादिक जीवके परिणाम पुद्गलकीकर्मरूप परिणति होनेमें साधकतम है, अर्थात् जीवके मात्सर्पादिक परिणाम होनेसेही पुद्गल कर्मरूप होता है अन्यथा होताही नहीं, जीवपरिणाम करण रूप है, करणरूपपरिणामकी मुख्यता जब मानी जाती है तब उस परिणामकोही आस्रव कहते हैं, अथवा 'आस्रवणं कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आस्रवद्वेनोच्यते' पुद्गलोंकी कर्मरूप परिणतिमें भी आस्रव शब्दका व्यवहार किया जाता है, इसको द्रव्यास्रव कहना चाहिये।

संवर—जिस सम्यग्दर्शनादि परिणामोंसे अववा गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिपह ज्ञय इत्यादि परिणामोंसे मिथ्यादर्शनादि परिणाम रोक जाते हैं वे रोकनेवाले परिणाम संवर शब्दसे कहे जाते हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शनादि परिणाम वा गुप्त्यादिपरिणामोंको आचार्य संवर कहते हैं, उसको ही भाव संवर कहना चाहिये।

निर्जरा—आत्माके विन्न परिणामोंसे आत्मासे कर्म झट जाता है उसको निर्जरा कहो, अर्थात् आत्माके प्रदेशोंमें जो कर्मवद्द हो चुका है वह विन्न परिणामोंके द्वारा वहाँसे अलग किया जाता है ऐसे परिणामोंका नाम निर्जरा है, अथवा कर्मका आत्मासे अलग हो जाना वह भी निर्जरा है।

मोक्ष—जिसने कर्म दूर किया जाता है वह मोक्ष है अर्थात् श्वागिबन्धन, श्वागिदर्शन, यथाग्यात चारित्र्य लिनपरिणामोंसे आत्मके संपूर्ण कर्म आत्मामे दूर किये जाते हैं उनको मोक्ष-भावमोक्ष कहते अथवा संपूर्ण कर्मोंका आरामसे अलग हो जाना वह भी मोक्ष अर्थात् द्रव्यमोक्ष है.

बंध - जिस मिथ्यादर्शनादि परिणामोंसे कामर्षण द्रव्य परतंत्र किया जाता है अर्थात् जब तक उसकी स्थिति पूर्ण नहीं होती तत्तक आत्मामें उसको परतंत्र होकर रहना पड़ता है ऐसे कर्मोंको परतंत्र करनेवाले मिथ्यादर्शनादि आत्मपरिणामोंका बंध—भावबंध कहते हैं. अथवा स्थितिवंधयुक्त कर्मकेद्वारा आत्मा परतंत्र किया जाता है इस लिये कर्मोंको भी बंध कहते हैं. वह कर्म द्रव्यबंधरूप समझना चाहिये.

पुण्य—इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मोंको पुण्य कहते हैं.

पाप—अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मोंको पाप कहते हैं.

यहां बंध शब्दसे लीवके परिणामोंकाही ग्रहण किया है. कर्मका ग्रहण किया नहीं है. पाप और पुण्यका अलग ग्रहण किया है अतः उससे कर्मका ग्रहण किया है ऐसा समझना चाहिये.

शंका—आपने परिणामोंका वर्णन किया है इससे आसब, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इनका जीव व पुद्गलमें अंतर्भाज होता है. जीव और पुद्गलका पूर्ण गाथामें आपने वर्णन किया है. अतः आसवादिकोंका वर्णन करनेवाली यह खुरमाया व्यर्थही मान्य पड़ती है.

उत्तर—आपकी शंका ठीक है. शिष्योंके अभिप्राय भिन्न भिन्न हुवा करते हैं अर्थात् कोई संक्षिपलचि रहते हैं, मितीको विलार प्रिय रहता है और कोई शिष्य मध्यमकारप्रिय होते हैं. अतः वे समझ सकें ऐसे मागीरों-तत्त्व फयनकी प्रणालीका आगममें कथन है. इस लिये आचार्योंने दो तीन प्रकारोंसे जीवादि पदार्थोंका स्वरूप कहा है. यह योग्यही हुवा है. इसलिये मन्त्रोंने तत्त्व विवेचनके सर्व प्रकारोंमें श्रद्धा करनी चाहिये. थोड़ीसी भी श्रद्धा नहीं करना चाहिये.

मिथ्यादर्शिता किमल्पस्य अग्रजनेन भगति ? बहुतरं अजीयते इत्याशंका न कार्येत्येवदाचष्टे—

पदमन्त्रं च एकं पि जो न रोचेदि सुचणिहिष्ठं ॥

सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिद्वी मुणेयव्यो ॥ ३५॥

नैकमव्यक्षरं येन रोच्यते तत्त्वदर्शितम् ॥

स स्वेवं रोचमानोऽपि मिथ्यादृष्टिरसंशयम् ॥ ४२ ॥

विजयोदयः—पदमक्षरं इति । पदशब्देन पदव्यवस्थ सहकारी पदस्यार्थ उच्यते । अक्षरं च इति स्वल्पशब्दो-
पलक्षणं स्वल्पमर्थं शब्दयुते वा । जो यः । न रोचदि न रोचते । सुचनिदिह पूर्वोक्तप्रमाणनिर्देशम् । सेसं इतरश्रुताय
धुतांश । रोचतोऽपि । मिच्छादिद्वी मिथ्यादृष्टिरिति । मुनेद्वयो ज्ञातव्यः । महति कुंडे स्थितं बलपि पयो यथा विपकणि-
का दूषयति । यसमश्दानकणिका मलिनयत्यात्मनिमिति भावः ।

बहुतरं ब्रह्मतोऽल्पस्याश्रदाने किं मे मिथ्यादृष्टित्वं स्वादित्वाशा न कार्यो, बृहत्कुण्डसंभृतक्षीरस्य विप
कणिकाप्रमेयेणैव तत्त्वाश्रदानकणिकाव्यात्मनो दूष्यत्वादिति सिक्तां प्रयच्छन्नहं—

मूलाः—परं, पदस्यार्थं साहचर्योन् । अक्षरं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा ।

तत्र बहुतांशं भ्रदा करते हैं और थोड़ेकी अभ्रदा करते हैं तो हम मिथ्यादृष्टि कैसे होंगे ऐसी शंका नहीं
करना चाहिये. इसका मुलासा आचार्य करते हैं—

हिंदी अर्थ—छत्रमें फटा हुआ एक पदका अर्थ और एक अक्षरका भी अर्थ जो प्रमाण भूत मान कर
भ्रदा नहीं करता है वह घाकीके श्रुतार्थको या धुतांशको प्रमाण मानता हुआ भी मिथ्यादृष्टिही है
ऐसा समझना चाहिये. पड़े पात्रमें रक्खे हुए बहुत दूधको भी छोटीसी विपकणिका बिगाडती है. इसी तरह
अभ्रदाका छोटासा अंश भी आत्माको मलिन करता है ऐसा समझना चाहिये.

मिथ्यादृष्टिरिति शाक्तव्यमित्युक्तं स एव न क्षयते एवंलक्षण इत्याशंकायां मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थं
गाथा—

मोहोदयेण जीवो उवदृष्टं पवयणं न सदहृदि ॥

सदहृदि असम्भावं उवदृष्टं अणुवदृष्टं वा ॥ ४० ॥

जंतुमुक्तमनुक्तं वा विपरीतं तु रोचते ॥ ३३ ॥

विजयोदया—मोहोदयेणेति । मोहोदयेण न सददृष्टिं सो मिच्छादिदृष्टिः । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहो द्वांमोहनीयत्वं कर्म मयेव तुल्यधीर्गम् । यथा मयमासेत्यमानं अपाटवं प्रज्ञाया वेपरीत्यं च संपादयति ।

मिथ्यादृष्टेः किं लक्षणमित्याह—

मूलराः—मोहोदयेण—मयमिष महां मोहयति, अपाटवं वेपरीत्यं वा सो भवति, मोहते येन वा स मोहो मिथ्यात्वकर्म तस्योदयः सङ्कारिसामिथ्यादप्रविषयत्वा स्वकार्ये प्रवृत्तिः । पववर्णं वस्तुवायारम्भं । अस्तङ्गार्यं अस्तस्यं । अत्र साध्याहारत्यासूत्राणामित्थं पदपटना । सो जीवो मोहोदयेन कारणेन सच्यग्युरूपदिष्टं न अकृते सङ्गर्भं पुनः उपदिष्टमनुनविष्टं वा भवति स मिथ्यादष्टिरेष्टव्यः । तथा च मूले सूक्ष्मम्बाधवायते—

मिच्छसं वेदन्तो जीवो विपरीधरसणो होति ॥

न य धम्मं रोचेदि इ मङ्कुरं सु रत्नं जहा जरिवो ॥

‘मिच्छादिदृष्टी मुण्यत्वा’ अर्थात् अल्पभी अथवा करनेवाला मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये ऐसा आपने कहा है परंतु उसका स्वरूप हमको मात्तम नहीं है ऐसी आर्कका होनेपर आचार्य मिथ्यादृष्टिका स्वरूपनिरूपण करनेके लिये गाथा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—दर्शन मोहनीयकर्मका उदय होनेसे यह जीव कहे हुए जीवादि पदार्थोंके सचे स्वरूपपर भ्रमन करता नहीं है. परंतु जिसका स्वरूप कदा है अथवा कदा नहीं ऐसे असत्य पदार्थोंके ऊपर वह भ्रमन करता है. जैसे मदिराका पान करनेसे मनुष्यके बुद्धीमें मंदता आती है और वह पदार्थका स्वरूप उलटा जान लेता है वैसे यह दर्शनमोहनीयकर्म भी मदिराके समान शक्तिको धारण करता है. यह कर्म आत्माको मोहयुक्त करता है. इसलिये असत्य पदार्थोंको वह सत्य समझकर उसमें भ्रम करता है. अथवा पदार्थका स्वरूप जानता नहीं है.

१ सपुस्तके—मोहोदयेणेति—साध्याहारस्वात्मंश्रूणां अध्याहारेणैवं पदपटना । जो जीवो इति ।

मिच्छन् वंदंतो जीवो विवरीयंदणो होदि ॥

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ ४१ ॥

मिथ्यात्वं वेदयन्गी न तत्त्वं कुरुते रुचिम् ॥

कस्मै पित्तज्वरात्तंगी रोचते मधुरो रसः ? ॥ ४४ ॥

विजयोद्या—एवं मिथ्यात्वस्य कर्मत्वकल्पितस्य उदयः सन्निहितसहकारिणस्य स्वकार्यजनने प्रति-
पद्युक्तिसौम्येन कारणेन निरूपितं वस्तुयाथार्थं न धरते अतत्त्वं तु कथितं अकथितं ॥ धरते । यस्तु-
याथार्थान्वाधाने को दोषो येन कारणेन निरूपितं वस्तुयाथार्थं न धरते । अतत्त्वं तु कथितं अकथितं वा धरते ।

हिंदी अर्थ—मिथ्यात्व कर्मका अजुभव लेनेवाला यह जीव विपरीत श्रद्धावाला बन जाता है, उसको जैन-
धर्मका स्वरूप अच्छा मालूम नहीं होता है, जैसे ज्वरपीडित मनुष्यको मधुर भी स्वादका रस कड़ु श्रात होता है,
जब सहकारिकारणोंकी मदद मिथ्यात्व कर्मकी मिलती है तब यह अपना कार्य करनेमें कटिबद्ध होता है, अ-
र्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप वतानेपर भी जीव इस कर्मके उदयसे उसपर श्रद्धान नहीं करता है, और अतत्त्वके
ऊपर उसका स्वरूप कहो अथवा न कहो श्रद्धा हो जाती है, वस्तुके यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा होनेसे अतत्त्वमें
श्रद्धा हो जाती है यह दोष उत्पन्न होगा है.

वस्तुयाथार्थान्वाधाने को दोषो येन तत्प्रतिपक्षान्वाधानमावनाया तदपास्त्यते इत्याशंकायां अभ्रजानकृतवोपमा-
हारव्यापनार्थं गथा—

सुनिहियमिमं पवयणं असद्वहन्तेणिमेण जीवेण ॥

वालमरणाणि तीदं मदाणि काले अणंताणि ॥ ४२ ॥

अनेनाश्रद्धानेन सिनचाकयमनेकयाः ॥

वालवालमृतिः प्राप्ताः कालेऽस्तीते (यत्तोऽङ्गिना) ॥ ४५ ॥

विजयोद्या—सुनिहितमिति । सुख विहितं कृतं पूर्वोपरविरोधोपरोहितवस्तुयाथार्थान्वाधानमिहियमानकरणं ।
रसं रते । पवयणं प्रतप्तनं । असद्वहन्तेण अश्रद्धानेन । जीवेण अनेन । जीवेण जीवेन । पवमत्र पदसंबन्धः । वालमरणाणि

अनन्तानि मन्त्रानि मीने कान्ते इति । बालमरणान्यन्तानि अतीतकोष्ठे मृतानि । ननु मिथ्यादोषमरणं बालबालमरणं तत्रिक-
मुच्यते बालमरणानीति । बालत्वं नाम सामान्यं बालगोष्ठेऽपि विद्यते इति बालमरणानीत्युक्तं ।

तस्याश्रद्धाने को दोषो येन तत्सम्बन्धस्तन्मायनया निरस्यते इत्यत्राह—
मूलारा-सुविहिदं—दृष्टेष्टयिकुटं पूर्वोपरिविरोधरहितं वा । केचित्तु सुविहिद इति पठन्ति । हे सुबखि इति
इत्याख्यानयन्ति च । इमं इदं गुणसंबन्धमायातं । इगिणा अनेन स्वसंवेदनासिद्धेन । बालमरणाणि बालबालमरणाणि
बालसामान्यस्य पाठगोष्ठेऽपि विद्यमानत्वात् । घोरे अतीते । मदाणि युक्तानि प्रास्तानि वाक्यामनेकार्थत्वात् ।

यस्तुके यथार्थ स्वरूपमं श्रद्धा न करनेसे कोनसा दोष उत्पन्न होता है. कि जिसको यथार्थ श्रद्धान की
भावनाके द्वारा दूर करना पड़ता है. ऐसी शंका होनेपर अश्रद्धानसे उत्पन्न हुए दोषका माहात्म्य वर्णन करनेके
लिये उत्तर भाषा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—यह जितनाम पूर्वोपरिविरोधादिदोषरहित है. और वस्तुके यथार्थस्वरूपका ग्रहण करनेवाले
ज्ञानको उत्पन्न करता है. परंतु ऐसे आगमके ऊपर अश्रद्धान करनेसे इस जीवने अतीत कालमें-भूतकालमें अनंत
बालबालमरण किये हैं. शंका-मिथ्यादृष्टीके मरणको बालबालमरण कहते हैं और आप उसके मरणको बालमरण
कहते हैं.

उत्तर—बालत्वं नामका सामान्य धर्म बालबालमरणमें भी विद्यमान है इसलिये उसको बालमरण कहते हैं.

कीर्तयौ तर्हि मतिः कार्यं संसारमीक्षणा—

विगमंयं पञ्चयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥

इणमेव मोक्षमगोत्ति मदी कायन्विया तग्धा ॥ ४३ ॥

इदमेव वचो जैनमनुत्तममकल्मषम् ॥

निग्रंथं मोक्षवर्त्मनेति विधेया धिपणा ततः ॥ ४४ ॥

विजयोदया—विगमंयं पञ्चयणं । श्रद्धंति स्वयन्ति दीर्घाकुर्यान्ति संसारमिति ग्रंथाः । मिथ्यादृष्टौ, मिथ्या-

ज्ञानं, असंयमः, कृपायाः, अशुभयोगत्रयं चेत्यस्मी परिणामाः । मिथ्यादर्शनाधिष्णान्तं किं सम्पददर्शनं । मिथ्याप्रानाधिष्णान्तं सम्पत्प्रदानम् । असंयमात्कृपायैभ्योऽशुभयोगप्रपाञ्च निष्क्रान्तं सुचारित्रं तेन तत्प्रयत्नमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते । पञ्चयणं प्रवचनस्यैवं अभिधेयं । शृणुमेव इदमेव अशुभं न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादिति अनुसरम् । सुखसिद्धिदं सुखं परिशुद्धं । शृणुमेव इदमेव । मोक्षसमन्वोक्तिं कर्मणां निरवशेषापायस्योपाय इति । मदी बुद्धिः । क्वापि न्विषया कर्तव्या । तन्मा तस्मात् । यस्यादेवंभूतायामस्तथां मत्वा दुःखमरूपप्रतिरतीतकाळ इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ।

भगवद्व्यदोर्ध्वं तर्हि संसारभीरणानेन कीदृशी मतिः कर्तव्येत्पन्नाह —

मूढारा-पिंगंधमित्यादि-मञ्जंति वीर्यकुर्वन्ति संसारमिति भ्रंशा मिथ्यादर्शनादयः । सत्र मिथ्यादर्शना
निष्क्रान्तं सन्ध्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानात्सन्ध्यादर्शनं, असंयमकृपायाशुभयोगेभ्यश्च सन्ध्याचारित्रं निर्ग्रन्थ
शब्देनोच्यते ॥ पापयणं—पापकर्म प्रवचनस्य विनागमस्य अभिधेयं केवलप्रवचनमित्यर्थः । अन्ये तु निःसंगं प्रवचनमिति
आधानेन व्याचक्षते । शृणुमेव सुखसिद्धिदं इदमेव सुखं समन्ताभिर्दोषं सत् । अशुभं लोकोत्तमं । केवलपिण्णत्तो
धम्मो लोकोत्तमो, इति वचनात् । मदी मणिरभ्युपगमः । फादल्लिया कर्तव्या । तन्मा तस्मात् । यत् एवंविधां नति
कुर्वता जनेन लीयेत दुःखैकमये भवार्णवे धनादिकांलं भान्तमिति भावः ।

संसारसे इनेचाले मनुष्यको अपने मनमें कैसे विचार करने चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—
हिंदी अर्थ—जो संसारको गृथते हैं अर्थात् जो संसारकी रचना करते हैं, जो, संसारको दीर्घकाल तक
रहनेचाला करते हैं उनको ग्रंथ कहना चाहिये. मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान. असंयम, कृपाय, अशुभ योगत्रय अर्थात्
अशुभ मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन परिणामोंको आचार्य ग्रंथ ऐसा नाम देते हैं. मिथ्याश्रद्धा जब
बढ़ जाती है तब सम्पददर्शन उत्पन्न होता है. मिथ्याज्ञान नष्ट हो जानेसे सम्पत्ज्ञान पैदा होता है. असंयम, कृपाय
और अशुभ तीन योग इनसे रहित जो चारित्र उसको सम्पत्चारित्र कहते हैं. सम्पददर्शन, सम्पत्ज्ञान और
सम्पत्चारित्रको अर्थात् रत्नत्रयको आचार्य निर्ग्रन्थ ग्रंथ संज्ञा देते हैं. यह निर्ग्रन्थ ही अर्थात् रत्नत्रय ही जगतमें
सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है. इससे भी उत्कृष्ट पदार्थ दूसरा कोई भी नहीं है. यह पदार्थ पूर्ण निर्दोष है. यही मोक्ष
है. अर्थात् इससे ही संपूर्ण कर्मोंका नाश होगा. ऐसा मनमें युदा विचार करना चाहिये. इस तरहका नि

यदि न हो तो जैसे भूतकालमें जन्ममरणके दुःख इस जीवको भोगने पड़े थे ऐसे ही दुःख भविष्यकालमें भी अवश्य भोगने पड़ेंगे.

तथा सम्यक्त्वं निवृत्तिचारं युषोऽन्यलितं भावनीयं इत्येतदाचरे उत्तरप्रबंधेन तत्रातिचारनियोजनाद्योत्तरगाथा—
सम्मत्तादीचारा संका कंखा तद्देव विदिर्गिच्छा ॥

परविद्वटीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४४ ॥

कांकाकांक्षाच्चित्तसान्यद्विट्ठांसनसंस्नवाः ॥

सदाचारैरतीचाराः सम्यक्त्वस्य निवेदिताः ॥ ४७ ॥

विजयोपया—सम्मत्तादीचारा शब्दानस्य दोषाः । संका शंका, संदायप्रलयः किं स्विदित्यनवधारणा-
सम्प्रा । त च निश्चयमात्यथाययं दर्शने मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तद्विचारो युज्यते । संदायश्च मिथ्या-
रत्नायहति । तथाहि मिथ्यात्वेनेदेषु संशयोऽपि गणितः ।

‘संशयश्च भिन्नाहिदं भग्नमिमाहिदं च तं त्रिविधं’ इति । सत्यपि संशये सम्यक्त्वं नमस्त्येवेति
अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविद्योगमायात्, उपपेक्षुत्तभावात्, तस्य वा यदननिपुणता भासते,
तन्निर्वयकारिभूतपचनानुपलब्धे, अभाषाया, काष्ठलघेरभाषाया यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु एवं यथा
सर्वविद्या उपलब्धे तथेति शब्दार्थमिति मायतः कथं सम्यक्त्वहायिः ? एवंभूतअक्षारहितस्य को वेति किमत्र तत्त्व-
मिति अदृष्टेषु कपिलविदु सर्वज्ञतेय दुरत्यधारा, अयमेव सर्वविषयत इति आगममरणतायां को वस्तुयापात्तयानुसारी को
वा नेति संशय एवेति यत्तथायथाज्ञानं संशयस्योपपत्तीनां तत्त्वार्थमिथ्यात्वमित्युच्यते । तद्वद्वानरूपतय लक्षणं
मिथ्यात्वस्य यथा यक्ष्यति ‘तं मिच्छन् जमसदृशं तच्चाण द्वेदि भत्याण’ इति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य
मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो यागयंतरे ‘मिच्छाणागमिच्छाईक्षण मिच्छाचारित्वाद्वा पश्चिदि-
दर्शनीति’ । किं च उच्यमानां लज्जुराणाणुपुण्यादिषु किमिदं लज्जुराणः, स्थाणुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशय-
प्रलयो जायते इति ते सम्यग्दृष्टयः स्युः ।

कांक्षा मान्दर्व आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलं । यथेवं आहारे कांक्षा, लोवलङ्गंधमात्यालंकारादिषु
याऽसंयतसम्पदार्थैर्यत्तापिरतस्य वा भवति । यथा ग्रमत्तसंपत्तस्य परीणक्षकुलस्य भक्षयानादिषु कांक्षा
संभवतीति तातिचारदर्शनात् स्यात् । तथा मन्वानां सुखकांक्षा अस्त्येवमेवोच्यते न कांक्षामात्रमतीचाराः किं तु
दर्शनाद्वतादात्मनैर्यपुण्यासापसत्त आतेन पुण्येन भवेद् कुलं, रूपं, चित्तं, ली-पुनारिक्तं, शत्रुमर्दनं, लीत्वं, पुंस्त्वं
या भातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

विचिकित्सा बुगुप्त्वा मिथ्यात्वासांशमादिषु बुगुप्त्वाणां मध्विचरितिवारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया बुगुप्त्सेति मतानिचारत्वेन । रत्नत्रयणसम्पत्तौ तद्वति ॥ कोपादिनिमित्ता बुगुप्त्वा इह गृहीता । ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं याऽशोभनमिति । यस्य हि इदं भद्रं इति अज्ञानं स तस्य बुगुप्त्वां करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्या-रविर्बुज्यतेऽतिवारः ।

परदिहीण पसंसा परशब्दोऽनेकार्थवाची । नापरो ग्रामः पात्रलिप्यादित्वाद्गौ । तथा क्वचिदन्यार्थे, परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इद्यर्थे, परं धाम गतः इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । इष्टिः धृष्टा दक्षिः परा अन्या इष्टिः धृष्टा येषां ते परदृश्यः । तत्त्वदृष्ट्येषाया अतस्त्वदृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

अणायदणसेवणां चैव-अभायतने पड्विधे मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्ट्य, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारिण मिथ्याचारिप्रभृत इति तत्र मिथ्याप्रथमअज्ञानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिवासौ नातिवारता । मिथ्यादृष्टीनां तु सेवा यद् नानं तेषां । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इमेव तत्त्वमिति अज्ञानमुत्पादयामि धोऽनुगमिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभिः सह संघातः । तत्र अनुरागो वा तत्पुष्टुषिष्यां तत्सेवा । मिथ्याचारित्रं नाम मिथ्या-ज्ञानिनाचारणं तनानुष्टुप्तिर्द्रव्यभावावपेक्षया द्रव्यालानोच्येतु या सांगत्यादिकं एतेषां सम्यक्स्यतिचारणां दर्जनं ।

एवं उत्पन्नं सम्यक्स्यमतिचारपरिहारेण भाव्यमानं महत्त्वं लभते इति सम्यक्स्वातिचारान्निदिशति —

मूलार- शंका — संशयप्रत्ययः किं त्विदित्यनपधारणात्मकः । स चेद् ज्ञानावरणकर्मोदयमात्रप्रयुक्तो विवक्षितो, न मिथ्यात्मकर्मोदयानिमित्तत्वस्यैव निश्चयप्रत्ययाभयं दर्शनं प्रति महत्वोपपत्तेरंतरस्य । तस्य सहसंनोपमर्दानात्मक मिथ्यादर्शानविरूपालात्मकत्वेनाग्नें यस्त्वभाणत्वाद् । तथाहि-इदं यस्तुजातं संवेदनं यथाष्टं तथैवेति प्रतिपाद्यमानस्यैव यदा स्वस्य श्रुतज्ञानावरणक्षयोपज्ञमविशेषाभावात्, उपदेशकविरहात्तस्य वा सतोऽपि यत्नचातुर्यवैधुष्योक्तिर्नयकारि श्रुतवचनानुपलब्धेषां, कालच्छेदरभावाद्वा किमिदानीदृशं वा अन्यदन्यार्थं वा तत्त्वमिति संशयः स्यात्तदा दर्शनस्यातिचारः शक्येति व्यपदिश्यते । यदा पुनरष्टेषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा अवमेव सर्वज्ञो नेवर इति आगमशरणतायामपि आगमेषु को वस्तुयात्वात्मानुसारी को वा नेति मिथ्यात्वक्रमपाकारांत्यास्तंशयमभिविबेक्षमानस्य तत्त्वाअद्वानमुयेति । तदा संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्तत्तंशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । न च संशयोऽस्तीत्येतावतैव दर्शनस्यातीचरो धाव्यः ? किं तर्हि प्रवचन गोचरायां चलन्त्यां प्रवीतो सत्यामन्यथा लक्षणात् समदृष्टीनां रज्ज्वरगास्वर्णपुरुषादिषु किमयं रज्जुरूपं तर्पेः, स्थाणुः पुरुषो वा किमित्येनकः संशयप्रत्ययो जायते । इति निःशंकत्वं सुदुष्करं स्यात् । एषा अत्राणभयमपि शंकां केचित्दाहुः ।

मया चोष्य—अहमेको न मे कश्चिदस्ति गता जगत्रये ॥

इति व्यापिज्जोक्तमिति शङ्का विदुः पराम् ॥ ६ ॥

कंटा आकाशा । सा चेद् ग्रथितिविविधैव माहा । न तु सार्वत्रिकी, अन्यथा असंयतसम्यग्दृष्ट्यादेरपि हीनशालकारमरुपानादिकमभिलषत सम्यक्त्वमालिन्यमनुपल्येव । ततो दर्शनव्रतदानदेवार्चनतपोजनितपुण्यमाहात्म्यात्पुत्रं, रूपं, धनं, स्त्रीपुत्रादिकं, दातृमार्जनं, शीलं, पुंस्त्वं वा सातिशयं मे भूयादित्याशंसनं दर्शनस्य मलः स्यात् इति संतव्यम् ।

विदिदिग्धा—विचिकित्सा श्रुत्वा । सावि चेद् सम्यक्त्वाददीनामन्यतमे दृष्टि वा कोपादिनिमित्ता न सार्वत्रिकी, इतरथा मिज्यात्वासंयमाविज्जुन्माथा प्रवृत्तानां सम्यग्दृष्टीना सकलं कुवर्शनत्वं स्याद्यतो न तस्य दर्शनं, ज्ञानं, वरणं वा शोभनं, तद्वान्नमद्रकः इति च द्वेषपूर्विका मनोयुतिर्विचिकित्साकरो दर्शनयोग एवितव्यः ॥

परविद्विष्य परा तत्परीक्षया दृष्टेरन्या अतन्मोपर दृष्टि श्रद्धानं येषा ते परदृष्टयः मीमासकतापससाधय-
लौगतादयः । अथवा परा अनेकमपदेरन्या दृष्टयः एकान्तदृष्टय परसमया वेदन्यायशास्त्रादयः । पक्षेसा खुविर्मनो-
यमायैः सत्कारः ।

अणायदणसेवणा—आयतनं सम्यक्दर्शनादिगुणोत्तनाचार्यं सत्यति पृथक् कुर्वन्ति इति आयतनानि सम्य-
दर्शनादेशेति श्रिणि । तद्वन्मन्त्र त्रयसोऽभ्योऽन्यानि अमायतनानि षट्—मिध्यात्वं, मिध्यासातनं, मिध्याचारित्यं, मिध्यादृष्टि
मिध्यागमनी, मिध्यागारित्री येति । तस्सेषा तत्र मिज्यात्वस्य सेवा तदपरिणामयोग्यद्रव्याद्युपयोगः, सा च कुर्वन् सम्य-
फलं निर्दूल्यपत्तीति द्रव्यतो मिज्यादृष्टिरेयासौ इति कथं न सम्यक्त्वातिचारयान् । अतोऽप्य चरणं क्षतिचारी माहात्म्या
पक्षयोऽस्मत्तो विनाशो वा । धीविलयायामनु मिध्यात्वसेयामतिचारं नेच्छति । तथा च तद्वन्मन्त्रो “ मिज्यात्वमश्रुदानं
तस्सेषाया मिज्यादृष्टिरेयासौ इति मिज्यादृष्टिसेवा नाम एकान्तप्रहरणाया बहुगमनं । मिध्याज्ञातसेवने
पुनरिदमेव वन्दनमिति श्रद्धानुत्पादयामि भोक्तामिति क्रियमाणो निरपेक्षनयदर्शनोपदेशः । मिध्याज्ञानिसेवा मिध्या-
ज्ञानिभिः नह संयतस्तत्रापुरातनस्यानुचित्यं । मिध्याचारिण्येवा द्रव्यलभास्यपेक्षया मिध्याज्ञानिगमाचरणस्यानुवर्तन
मिध्याचारिण्येवा पंचामिषाधकादिषु संगत्यादिकं, एताः पंच सम्यक्त्वातिचाराः शंकादयः पंच त्याज्याः । सम्यक्त्वाग्रा-
यकैरिति सन्नेपः सामर्थ्यात्सिद्धो योऽव्ययः ।

सम्बन्धन निरतिचार और गुणोंसे उज्ज्वल करनेका अभ्यास करना चाहिये. इसका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं. प्रथमतः सम्बन्धनके अतिचारोंका वर्णन करते हैं.—

हिंदी अर्थ—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टिप्रशंसा व अनायतनसेवन ऐसे सम्बन्धनके पांच अतिचार हैं.

विशेषार्थ—वस्तुका स्वरूप यह है अथवा यह है ऐसा अनिश्चयात्मक जो ज्ञान उसको शंका कहते हैं. यह शंका निश्चयज्ञानका आश्रय करनेवाले सम्बन्धनको मलिन करती है.

शंका—यदि सम्बन्धदर्शन हो तो उसका शंका अतिचार मानना योग्य है. परंतु संशय मिथ्यापनाको धारण करता है अर्थात् संशय स्वयं मिथ्यात्व ही है. मिथ्यात्वोंके भेदोंमें आचार्योंने संशयकी भी गणना की है. 'संशयित, अभिग्राहित और अनभिग्राहित ऐसे मिथ्यात्वके तीन भेद हैं,' ऐसे आगममें उल्लेख पाये जाते हैं.

उत्तर—आपका कहना ठीक है. संशयके सद्भावमें भी सम्पत्त्व रहताही है. अतएव संशयको अतिचार-पना मानना युक्तियुक्त है. इसका स्पष्टीकरण ऐसा है—अपनेमें शुतशानावर्णीय कर्मका विशिष्टद्वयोपशम न होना, विद्वान् उपदेशकका अभाव रहना, अथवा उपदेशक होकर भी उसमें रचनचतुर्पका अभाव रहना, संशय दूर करनेवाले आगमके बचन न मिलना, अथवा उसका अभाव रहना, फललब्धिभी प्राप्ति न होना इत्यादि कारणोंसे वस्तुस्वरूपका निर्णय नहीं होता है. तो भी जैसा सर्वज्ञ विनेश्वरने वस्तुस्वरूप जाना है वह वैसाही है ऐसी में श्रद्धा रखता हूं ऐसी भावना करनेवाले भक्तके सम्बन्धनकी हानि कैसी होगी अर्थात् शंका नामके अतिचारसे उसका सम्बन्धन समल होगा परंतु नष्ट न होगा.

उपर्युक्त श्रद्धाओं जो रहित हैं वह हमेशा संशयाकुली रहता है. वास्तविक तत्त्वस्वरूप क्या है ? उसको कौन जानता है कुछ निर्णय कर नहीं सकते ऐसी उसकी मति रहती है. कपिल, बुद्ध वगैरे सर्वज्ञ थे इसका निर्णय नहीं होता है. यदि अहं सर्वज्ञ होता है कपिलादि सर्वज्ञ नहीं होते हैं ऐसा मानकर आमपके द्वारा निर्णय मानना भी वह संशयोपमिथ्यात्वी कबूल नहीं करता है. कोनसा आगम वस्तुके वचार्थस्वरूपका प्रतिपादन करता है और कोनसा नहीं यह भी निर्णय नहीं है अर्थात् आगमके विषयमें भी संशय है ऐसा संशयोपमिथ्यात्वों केहंगा. इसलिये उसकी तत्त्वके ऊपर अथवा संशयज्ञानसे सहित होनेसे यह संशय मिथ्यात्वही है. तत्त्वोंके ऊपर अथवाज्ञान होना यह

मिथ्यात्वका लक्षण है इनका आगे आचार्य विवेचन करेंगे। ॥॥ संशयमिथ्यात्वमें सच्चे तत्त्वके प्रति अरुचि भाव रहता है। यह मिथ्यात्व मिथ्याज्ञानसे भिन्न वस्तु है। 'मिच्छाणाण मिच्छादसंण मिच्छाचारिणादो पविचिदो मीति' अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र इनसे मैं विरक्त हुआ हूं, इस वाक्यसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन ये भिन्न चीजें हैं ऐसा सिद्ध होता है।

छपस्योंको भी दोरी, सर्प, सुंदर, मनुष्य इत्यादि पदार्थोंमें यह रज्जू है ? या सर्प है ? यह खूट है या मनुष्य है इत्यादि अनेक प्रकारका संशय उत्पन्न होता है। तो भी वे सम्बन्धित ही हैं। इतने विवेचनका सारांश यहाँ ऐसा ममज्ञाना चाहिये—

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे सर्वत्र संशयरूपही तत्त्वोंमें अरुचि पैदा होती है; इस अरुचिको संशयज्ञानका महाय मिलता है इसलिये इसको संशयमिथ्यात्व कहते हैं। आगमकथित जीवादिक पदार्थोंमें ज्ञानावरणकर्मके उदयमें और मम्यवस्थाप्रकृतिके उदयसे जो यह वस्तु स्वरूप है या यह है ऐसी जो बंचल मति होती है उसको शंका अतिचार कहते हैं यह अतिचार सम्बन्धदर्शनको मलिन बनाता है इस लिये यह अतिचार है। दोरी, साप, पुरुष, मूट इत्यादिकोंमें जो संशय होता है वह यदि अतिचाररूप माना जावेगा तो सम्बन्धदर्शनका निःशक्तिगंभी दुर्लभ हो जायगा।

कांशा—इष्ट पदार्थोंपर जो आसक्ती अथवा लंपटता होती है उसको कांशा कहते हैं। यह कांशा सम्बन्धदर्शनका अतिचार है।

शंका—यदि कांशाको अतिचार कहते हो तो आहारमें अभिलाषा उत्पन्न होती है, स्त्री, वस्त्र, अत्तर, पुष्पहार, अलंकारादिकोंमें असंयत सम्बन्धितिको और विरक्ताविरत अर्थात् अहिंसाद्यनुव्रत पालनेवालोंको अभिलाषा उत्पन्न होती है। छोटे गुणस्थानवर्ती सुनीकोभी जब वे क्षुधादि परीपक्षोंसे व्याकुल होते हैं तब आहारमें, पेयपदार्थोंमें अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसलिये उनके सम्बन्धदर्शनमें भी यह अतिचार उत्पन्न होगा। सगी भव्योंको सुलोंकी इच्छा रहेगी ही अतः इच्छाको अतिचार मानना युक्तियुक्त है नहीं।

उत्तर—केवल इच्छाको अतीचार हम भी मानते नहीं। किन्तु इस सम्बन्धदर्शनके प्रभावसे, दानके सामर्थ्यमें, देवपूजा और तपश्चरणके शक्तीसे भरेको जो पुण्य उत्पन्न हुआ है उससे कुल, रूप, ऐश्वर्य, स्त्री पुत्रादिक,

शत्रुका नाश, ऐसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति हो. साविश्रय स्त्रीपना, माहात्म्ययुक्त पुरुषपना मरेको प्राप्त हो ऐसी अभिलाषा रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है ऐसा यहां समझना.

विचिकित्सा - जुगुप्सा, तिरस्कार इनको यदि अतिचार कहोगे तो मिथ्यात्व, असंशय इत्यादिकोंमें जुगुप्सा-तिरस्कार होता है वह भी अतिचार है ऐसा मानना पड़ेगा.

उत्तर—यहां भी कांक्षाके समान जुगुप्साका विषय निवर्त समझना चाहिये. अर्थात् नियत विषयसंबंधी जुगुप्साही अतिचार है ऐसा समझना चाहिये.

रत्नत्रयमेंसे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयधारकोंमें कोपादिकसे जुगुप्सा होना यहां सम्यग्दर्शनका अतिचार है. इस जुगुप्साके बल होकर सम्पददृष्टि जीव अन्य भव्यके ज्ञान, दर्शन वा आचरणका तिरस्कार करता है. जिसमें ये सम्यग्दर्शनादिक निरतिचार हैं ऐसे पुरुषका वह तिरस्कार करता है. अतः ऐसी जुगुप्सासे रत्नत्रयके माहात्म्यमें अरुचि होनेसे इसको अतिचार समझना योग्य है.

परदृष्टिप्रशंसा अतिचार - यहां पर शब्दके अनेक अर्थ हैं. जैसे ' नापरोः ग्रामः पाटलिपुत्रात् पाटलिपुत्रसे और दुसरा गांव नहीं है. यहां अपर शब्द अन्य वाची है. ' परे आचार्या ' अन्ये आचार्या ' अर्थात् दूसरे आचार्य यहां ' पर ' शब्दका अर्थ ' अन्य ' ऐसा समझना. इष्टार्थमें भी पर शब्दका प्रयोग होता है जैसे परं धाम गतः अर्थात् इष्ट स्थानको वह चला गया. प्रस्तुत प्रकरणमें पर शब्द अन्यायवाची है. तत्त्वदृष्टीसे-पारमार्थिक दृष्टीसे विपरीत दृष्टि जिनकी है ऐसे सांख्य, बौद्ध, जैमिन्यादि मतके विद्वानोंको परदृष्टि कहते हैं. उनकी प्रशंसा करना यह सम्पददर्शनका मल है.

अनायतनसेवना - अनायतनके छह भेद हैं. अर्थात् मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि ज्ञान, मिथ्याज्ञान, मिथ्या ज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रवान्. इन छहोंमेंसे मिथ्यात्व अनायतनका अर्थ अतत्त्वश्रद्धान ऐसा होता है. यदि भव्य जीव मिथ्यात्वकी सेवा करेगा तो वह मिथ्यात्वही होगा, सम्यग्दर्शनही उसका नष्ट हो गया ऐसा समझना चाहिये. इसलिये ' मिथ्यात्व ' यह सम्यग्दर्शनका अतिचार नहीं है. वह अनाचार है. मिथ्यादृष्टिसेवा—मिथ्यादृष्टियोंको अच्छा समझकर उनका आदर करना. मिथ्याज्ञानसेवा—मिथ्यामतके सत्व अच्छे हैं ऐसी भावना श्रोतृवर्गके मनमें मैं उत्पन्न करूंगा ऐसा विचार करके नयाँकी अपेक्षा छोटकर मिथ्यात्वका उपदेश करना.

मिथ्याज्ञानासंवा—मिथ्याज्ञानादियौके साथ सहवास रखना, उनमें प्रेम रखना, उनका अनुसरण करना।
मिथ्याचारित्र्य—मिथ्याज्ञानिओंका आचरण देखकर वैसा स्वयं आचरण रखना, उसका अनुसरण करना। उनसे द्रव्य लाभ होगा इस अपेक्षासे उनका सहवास करना ऐसे सम्भवत्के अतिचारोंका त्याग करना चाहिये।

गुणगदर्शनचित्रशिकारिणो निरूपयति—

उवगूहणठिदिकरणं वच्छछपभावणा गुणा भणिदा ॥

सम्मत्तविसोधीण् उवगूहणकारया चडरो ॥ ४५ ॥

उपवृंहः स्थितीकारो वत्सलत्वं प्रभावना ॥

चत्वारोऽमी गुणाः प्रोक्ताः सम्यग्दर्शनचर्तुकाः ॥ ४६ ॥

विजयोदया—उवगूहणमित्यनया । उपवृंहणं नाम वृद्धेन । वृद्ध वृद्धि वृद्धाविति वचनात् । भात्यर्थानुयायी योपसर्गः इय इति । स्पष्टेनाप्राप्तयेव भोजनमाग्नीतिदायिना यस्तुयापायार्थप्रकाशानप्रणेत धर्मोपदेशेन परस्य तत्सम्यग्ज्ञान-वर्द्धने उपवृंहणं । सर्वजनविस्मयकारिणीं शतमजममुद्यमीयोजनसमितिचिचिरोपचितिसदृशं पूजां संपाद्य पुष्पैरतपो योमागुष्ठानेन वा आत्मनि अन्नादिधरीकरणम् ।

जीवाधीति इत्यपि कतसामान्यविशेषरूपाध्यासितामि उत्पादव्ययप्रोक्तव्यारम्भमिति प्रतिसमयमिति जिनः सम्यग्भाणि एवमेव तन्मयथा भद्रये विनाशं गतं । न हि विना वीतरागा विदितारितलेयसत्ता याधातव्याः कृपाप-रिगाः विपरीतमुपादिशतीति भाषकया स्थिरीकरणं अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादनं । मिथ्यात्वानभिमुपास्य सम्यग्-द्वेषस्थिरस्य मिथ्यात्वं मूलमेव तदनुभवतः कर्मोदानं, मिथ्यादर्शनाविरतिमादृक्भाया हि वंशदेतवः । तद्वृद्धेनैव चान-संवेलास्परिग्रहणं चतुस्तीतियोमिदातसहस्रेषु । सदर्शनं ॥ विचित्रायातनासंकटप्रयप्रदायिन्योर्नैकतियगतिवर्ति-न्योर्षेज्जगतीभूतं । शतमजमप्युपलोकोरन्यूनमात्ररूपयोपादिसंपत्संपानचतुरं क्रमेण निर्वोणमपि प्रयच्छति । सतो दुःपजलवादिनीं मिथ्यादिप्रिकुलरयामुल्लेख्य, प्रतिपक्षस्य जैनीं दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम् । तथा सम्यग्ज्ञानभायना-यां च प्रमादिलमळत्वं दृष्ट्वा पदमर्हौ वक्तव्यः । ज्ञानं हित्वाहितमकाशवपुः, तदंतरेण हितमजानतः कथं नान् वृत्तिरहि-तपरिहारो वा । हित्वाहितमासिपरिद्वारौ विना न सुराधिपमदुःखविम्लेयौ । तदर्थमेव ज्ञानं प्राप्तो जनः किंदयति । ततः पंचविधसाध्यायन्यागं मा कृथाः इति ज्ञाने स्थिरीकरणं । यथावा जगन्निगतसूत्रार्थनिष्पन्नस्य तत्र निष्पन्नसंपादनं । अस्-कृदाचिनात्मनः स्थिरीकरणं । चास्तिचत् प्रत्ययमानं दृष्ट्वा हित्वा हित्वासाध्यायक्रियायां प्रवर्तमाना इहैव दुःखभाजो दृश्यन्ते,

तथा परं हन्तुमुद्यतः स्वयं तेभ्य च हन्यते भ्रान्तमित्रैर्देवमुमिवादीर्णवैरे । दुःपदाय्यसद्वयं च यशसि । अलीकं लुप्यसि हैव चंजुजनस्थपि विद्वेष्योऽविश्वास्यश्च भवति किं पुनरन्यस्य । जिह्वां घोत्पादयेति मरुचा बलिनः । परत्र च मूर्कतां यास्यति इत्येवमायसंयमगतदोषं प्रत्याप्य गीरोगतां, वीर्यजीवनं, सौख्यं, प्रियवचनार्दिकं गुण-मुपदिश्य आहंसाविभ्रताचरणकलं चारित्र्ये स्थिरीकरणम् । असंयमदोषं संयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्यात्मनः स्थिरीकरणे ।

धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि चातुरागो वात्सल्यं, रत्नप्रयावरो वात्सल्यः । प्रभावना माहात्म्यप्रकाशानं रत्न-अपत्यं तद्वतां वा ।

एवमविचारनिरासेन विमुक्तस्य सम्बन्धसैनस्य वृद्धिकारिणो गुणानुपविक्षातिः—

मूढारा-उपगूहण — स्वयमकलं कस्य मार्गस्य शालाशकजनाश्रयवाच्यतानिरासः । टीकाकारास्तु उपगूहणेत्यस्य 'उपगूहणं-वर्द्धनं' मित्यर्थमफक्षयम् । तथा परस्य स्पष्टाग्राम्यभवभानः भौतिकरतस्त्वप्रकाशनपरवर्भोपदेशेन तत्त्वश्रद्धानस्कारो-करणं । सत्यं च क्षत्रानिर्मितसपवासेष्वैवैपूजाविश्लेषेण, दुर्द्धरत्वयोगानुष्ठानेन, जितेंद्रोपश्रुतक्षानाविस्मयभावनया वा श्रद्धानवर्द्धने ॥

विविकरणं स्वस्य परस्य वा सम्बन्धस्याद्यन्वतमाश्रय्यवमानस्य पुनस्तत्रैव दुःखितलावृट्टमवस्थापनम् । तथाहि—सैवात्म्यमावाह्य निष्ठात्वमभिपतंतमात्मानं स्वसंविस्था परं ॥ तद्वदुरुपाक्वेष्टाभ्यां निश्चित्येयं ब्रूयात् । ' मा स्म भोः दुस्तद्वदु लोदीति करव्यविर्णिर्णतं चारणपपरिवर्तनकार्यकृन्मिर्माणसूत्रधारे सुदुर्निवारोऽस्मिन्मिद्व्यात्वमहावैरिणि पुनर्ब्यतिपन्नः । परिष्वजस्य सरभसमर्मानंदसंदोहमुद्रयन्ती निःक्षीमसुरासर्वत्वपर्यवसानयिज्ञातां सम्यग्दृष्टिं मेयसीमिव । आ स्म विस्तरस्तात्कारचतुर्गंधियातवायाकुभानी । एवं दूषणगुणगणाविच्छरेण श्रुतज्ञानभायनाथो द्रमाधंतं वारिभ्राद्धशयन्तं त्वं परं वा पुनस्तत्रैव स्थिरिष्ठिर्यात् ।

वच्छेदः—धर्मस्येपु धेनोः स्ववत्स इव स्नेहः, स्वस्य च रत्नत्रयेऽनुरागः ॥ पहावणा-रत्नप्रयस्य तद्वतां च माहात्म्यप्रकाशनं ॥ उपगूहणकारया वृद्धिकराः अत एव सेव्या इति प्रतिपत्तव्यम् ॥

अत्र आचार्ये सम्यग्दर्शनको बुद्धिगत करनेवाले गुणोंका वर्णन करते हैं—

हिंदी अर्थ—उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वको निर्मल करनेवाले और उसको बढ़ानेवाले हैं.

विशेषार्थ—उपगृहण-उपगृहण अथवा उपग्रहण ऐसे इस गुणके दो नाम हैं. उपग्रहण इसका अर्थ बढ़ाना ऐसा होता है. 'बृह दृदि दृद्धो' इस धातुसे ग्रहण शब्दकी उत्पत्ति होती है. उप इस उपसर्गके योगसे बृह धातुका अर्थ बढ़ला नहीं है. स्पष्ट, अग्राम्य, क्लान और मनकी प्रसन्न करनेवाला, वस्तुकी यथार्थता भन्व्योके आगे दर्पणके समान दिखानेवाला, ऐसे धर्मोपदेशके द्वारा तत्त्वश्रद्धान् बढ़ाना यह उपग्रहण गुण है.

उपग्रहण—इंद्र प्रमुख देवोंके द्वारा ऐसी महत्त्वयुक्त पूजा की जाती है वैसे ही जिनपूजा करके अपनेको जिनधर्मोंमें, जिनभक्तियोंमें स्थिर करना, अथवा दुर्धर तपश्चरण या आतापनादि योग धारण करके अपने आत्मामें अद्वा गुण उत्पन्न करना इसको भी उपग्रहण कहते हैं.

स्थितिकरण—जीवादिक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मोंसे युक्त हैं अर्थात् चेतनत्व, स्पर्शोदिमन्त्र, गतिमें हेतु होना इत्यादि विशेष धर्म और अस्तित्व, वस्तुत्व, धर्मयत्न, इत्यादि सामान्य धर्मोंसे युक्त हैं. जीवादिक छहो द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, और श्रोत्र्य यह स्वरूप सदाही प्रतिसमय रहता है ऐसा जिनोपदेश है और यह निलज्जल सत्ता है ऐसी मेरी श्रद्धा है. मैं इससे उल्टी श्रद्धा धारण नहीं करूँगा. जिनेश्वर वीतराग है अर्थात् रागद्वेष, क्षुधा तृप्ति अद्वारह दोषोंसे ये पूर्ण अलिप्त हैं. उनमें संपूर्ण पदार्थ जाननेवाला ज्ञान है. अतः ये कभी भी विपरित उपदेश नहीं देते हैं. मन्व्यजीवोंका संसारसे उद्धार करनेका प्रयत्न करनेवाले जिनमगवान् क्या वस्तुका विपरित स्वरूप कहेंगे ? ऐसी भावनाओंसे अपनेको जैन धर्ममें स्थिर करना यह स्थिती करण है.

जो भव्य रत्नत्रयसे चालित हुवा हो तो उसको फिर रत्नत्रयमें स्थिर करना चाहिये, जो सम्पग्गृष्टि भव्य सम्पग्गृधर्नसे ऋट होकर मिथ्यात्वी धर्ननेके स्थितीमें आरहा हो तो फिर उसको सम्पग्गृधर्नमें स्थिर करना चाहिये.

"मिथ्यात्वही कर्मग्रहण करनेका मूल कारण है. मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग ये कर्मवंचन के कारण हैं. इन कारणोंसे जीवकी अनंत संसारमें अमण करना बढ़ता है. चौतराई लक्ष योनियोंमें इन ही कारणोंसे जीव अमण करता है. परंतु जब जीवको सम्पग्गृधर्नकी प्राप्ति होती है तब नानाप्रकारकी यातनाओंकी उत्पत्ति करनेवाली विरगति और नरकगति टल जाती है. अर्थात् सम्पग्गृधर्न धारण करनेवाला मनुष्य तिर्यचोंमें और नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता है. स्वर्गलोकके और मनुष्यलोकके अनुपम भोग, मान्यता, सौख्य चंगरह उत्कृष्ट पदार्थ

यह सम्यग्दर्शन जीवोंको अर्पण करता है, और अन्तमें यह जीवोंको मोक्ष भी प्रदान करता है, अतः दुःस्वरूपी जल विसर्गमें वहता है ऐसी मिथ्यादर्शनरूपी नदीको तू लांघकर जैनधर्मको धारण कर ” ऐसे उपदेशसे मिथ्यादर्शनसे हटा कर लोगोंको जैनधर्ममें स्थिर करना चाहिये, यह भी स्थितीकरण है,

जो भव्य सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेमें ग्रमादी और अलसी वन गया है उसको सम्यग्ज्ञानमें आने लिले हुए वचनोंसे स्थिर करना चाहिये—ज्ञान ही हित और अहितका स्वरूप दिखावेमें प्रवीण है, विना ज्ञानके मनुष्योंको हित आर उसके उपायोंका स्वरूप अवगत नहीं होता है, इसलिये वह अहितसे हटकर हितमें प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा, जबयक जीव हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार न करेगा तबतक उसको सुख न मिलेगा और वह दुःखोंसे मुक्त न होगा, सर्व विद्वान लोक सुखकी प्राप्ति के लिये और दुःख दूर करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, सुख प्राप्ति के लिये वे भव्य ! तू पांच प्रकारका स्वाध्याय कर, उसका त्याग करनेसे तेरी आत्मोन्नति नहीं होगी, ऐसे उपदेशसे उसको सम्यग्ज्ञानमें स्थिर करना चाहिये, अथवा जिसको आगमके सूत्रार्थका निश्चय नहीं हुआ हो तो उसको उसका परिज्ञान कर देना चाहिये,

सम्यग्ज्ञानका बारंबार अभ्यास करके स्वतः भी उसमें स्थिर होना चाहिये,

वारिजसे ब्रष्ट होते हुए मय्यको देखकर उसमें उसको स्थिर करनेके लिये यह उपदेश उपयुक्त है—

हिंसा, चोरी, असत्य बोलना इत्यादि पापोंमें जो मनुष्य प्रवृत्त होते हैं उनको इस लोकमेंही बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं, दूसरोंको मारनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य स्वयं दूसरोंसे मारा जाता है, जो पूर्वकालमें उसके मित्र अथवा संबंधी थे वे भी उनके वैरी बनते हैं, पाप करनेवाले मनुष्य मरकर अशुभ गतिको अपनाते हैं, पापोंसे असत्ता वेदनीय कर्म गंधता है,

जो अदमी शूद्र बोलते हैं उनके वंधुगण भी शूद्र बनते हैं, वे भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं, फिर दूसरे शूद्र अविश्वास रखनेवाले होंगे इसमें आश्चर्यही क्या है, असत्य बोलनेवालेकी जिह्वा कुट्ट चलिष्ठ लोक उस्ताइ देते हैं, शूद्र बोलनेका फल यह है कि वे परलोकमें गंए हो जाते हैं, इस तरहसे असंयमके दोष चतलाकर हिंसादिक पाप न करनेवाले मय्यगण नीरोम, दीर्घजीवी, सुंदर, प्रिय और मधुरभाषी होते हैं, प्रिय वचनदिक गुण उनको प्राप्त होते हैं, ऐसा उपदेश करना चाहिये,

अथवा असंयमके दोष और संयमके गुणोंका चार गण स्मरण कर चारिदमें स्वतःको स्थिर करना चाहिये. यह सब स्थितिकरण गुणका विवेचन हुआ.

वात्सल्य—धार्मिक लोगोंपर और माता, पिता, भ्राता इन्के ऊपर प्रेम रखना यह वात्सल्य गुण है. अथवा रत्नत्रयमें आदर करना यह भी वात्सल्य है.

प्रभावता—रत्नत्रयका और उसके धारक आचक और मुनिगणका महत्त्व बतलाना यह प्रभावना गुण है. ऐसे गुणोंसे सम्पन्न सब पुद्गल होता है.

दर्शनविनयप्रतिपत्तनार्थं साक्षाद्व्यमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेष्टय मुदे य धम्मे य साधुवगे य ॥

आयरिय उवज्झापु सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४६ ॥

सिनिशसिद्धचैत्येयु धर्मदर्शनसाधु ॥

आचार्येऽध्यापके संये श्रुते श्रुतनपोधिके ॥ ४९ ॥

विजयोपया—अरहंत इत्यादिकम् । अरिहन्ताजोइहन्ताइहस्यभावादितिशपूजाहर्वाकापिगताहर्वा-
पेक्षा नोभागमभावादहन्त इह श्रुतीताः । न मामाहन् । निमित्ताभावेऽपि पुण्याकपात्रियुक्ताहर्वापयेशः । अहंता प्रति-
विधाति सोऽप्यमिस्त्विसंबंधावर्द्ध-पदेदशर्माभि पूजातिशयार्हस्तेषु अरिहन्तादिगुणसंभवाजेह गृह्यन्ते । आगमद्वय-
द्वैतद्वैतस्वरूपवर्णनपरप्राभृतजोऽनुपुत्तास्तदर्थेऽन्यत्र व्यापृतः । आपकशरीरार्हंभ्रम सन्नास्तुतस्य त्रिकालगोचरं शरीरं ।
यस्मिन्नात्मनि अरिहन्ननावयो भविष्यति गुणाः स भव्यहन् । तीर्थकरत्तामकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्याहन् । अहंत्वावर्णेन
परप्राभृतत्वयोऽर्द्धिर्मातो सोऽद्य आगमभागाहन् । एतेषु अरिहन्तादिगुणानामभावात् वेदाहंछन्देन प्रदणम् ।

एवं नामसिद्धः अलक्षकलामस्वरूपे सिनशब्दः । यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धता । स्वापनासिद्धा
इति तत्प्रतिविधानि उच्यन्ते । ननु सशरीरस्यात्मनः प्रतिविंबं मुज्यते, अशरीराणां तु शुद्धात्मनां सिद्धानां कथं प्रतिविंब
संभवः ? पूर्वभावप्रधाननयोरपेक्षा शरीरमनुगतो य आत्मा स्वयोगकेवलीतरो वा न शरीराभिर्माकुं शक्यते । विभागे हि
शरीरप्राप्तंसात्ता न त्याग । अशरीरः संसारी चेति विवक्षेततत् । ततः शरीरसंस्थामवचिदाहमापि संस्थानवोनव
संस्थानवतोऽप्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्यात्मवत् । स एव चायं प्रतिपन्नसम्बन्धनाद्याद्युण इति स्वापनासंभवः । आगम
द्रव्यसिद्धः सिद्धप्राभृतश्च सिनशब्देनोच्यते अनुपपन्नः । सिद्धप्राभृतस्य शरीरं आपकशरीरं । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो

भाविषिदः । व्यतिरिक्तः सिद्धो न संभवति । सिद्धत्वं न कर्मकारणम् इति सकलकर्मोपायेषुका सिद्धता । पुद्गलद्रव्य-
स्य तदुपकारिणोऽसंभवाद्योक्तिसिद्धाभावः । सिद्धप्राप्त्यनुसारिष्विद्वद्वानपरिषत् आगमभाषसिद्धः । निरस्तभाव
द्रव्यकर्ममलकलङ्कः परिप्राप्तसकलक्षयिकभावः नोवागमभावसिद्धः स इदं गृहीतो न इतरे सकलमस्वरूपमादित्यभावात् ।
चेदिय सैवं प्रतिविधि इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवाहिसिद्धयोः प्रतिवियग्रहणं । अथवा मध्य
प्रक्षेपः पूर्वोत्तरानुचरस्थानपरिग्रहार्थस्तेन साधारित्यपत्तायि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणसंशयोपशमाज्जाते यस्तुपाधात्त्वमग्राहि अद्वाननुगतं युतं अंगपूर्वप्रतीर्षकमेवमिदं, तीर्थकर
श्रुतकेवल्यदिगिरारन्तितो वचनसदमौ वा, लिप्यशरधुतं वा ।

धर्मदन्वेन चरित्रं समीचीनमुच्यते । ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगतं सामार्यिकादि पञ्चविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थित
जीवधारणाव, शुभे स्थाने वा वधाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

‘ त्वंती महव अज्जव छाग्रव तव संजमो अकिञ्चणदा ॥

तद् द्वौवि धम्मचेरं सण्णे चागो य इत्त धम्मा ॥

इति सूत्रांतरनिर्गुधर्मपरिग्रहः । ज्ञोपनिमित्तसन्निधेऽपि कालुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः ।
जात्यापणिमानाद्यो मानदोषानपेक्ष्य दृष्टकार्यान्पाथयो मार्दवम् । आकृत्यन्तद्रव्यसूत्रयद्वकताभावः मार्जयमित्युच्यते ।
द्रव्येषु मर्मेदं भावमूलो व्यस्तनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवं । अक्षनादिपरित्यागात्मिका क्रिया अन्वेषित
दृष्टफला द्वादशविधा तपः । इन्द्रियविपरमयेपाभ्यां निवृत्तिरिन्द्रियसंयमः । पदजीचनिकायाभाऽकारणादपरः प्राणि
संयमः । अकिञ्चनता सकलग्रंथत्यागः । अज्ञचर्यं नयविधायकपालनं । सतां साधूनां हितभाषणं सत्यम् । संयतप्रययोग्याह्वा-
राविधानं त्यागः । एते दशधर्माः ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गः समूहः । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यप्राद्विज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाधारः ।
तत्त्वग्रन्थानपरिणामो दर्शनाधारः । पापक्रियानिगृह्यतिष्ठपरिणतिश्चरित्राधारः । अगशनादिक्रियाश्रु दृष्टित्व आचारः ।
स्वराफत्यनिगृह्यनरूपा वृत्तिज्ञानादौ वीर्योच्चारं एतेषु पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश वतंयति ते आचार्याः । रत्नत्रयेषु
उच्यता ज्ञानागमार्थं सम्यगुपदिशति ये ते उपाध्यायाः । उपेत्य वित्तयेन दौकित्या अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।

पवर्णेन प्रवचते । ननु श्रुतशब्दः प्रवचनवाची ततः पुनरुक्तता ? रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—
' गाणदंशणचरित्तमेगं पवणणमिति ' अथवा श्रुतज्ञान श्रुतमित्युक्तं पूर्वमिह तु प्रोच्यंते जीवादन्यः पदार्थो इति शब्दश्रुत-
मुच्यते । दंसणे सम्यग्दर्शने च ॥ ४६ ॥

दर्शनविशुद्धिविदुत्पर्यं तद्धिनयं गाभाद्वयेनाह—

मूलार—वेदिपप्रतिविधानि भव्ये पाठादईदानीं पंचानामपि । सुदे मावश्रुते ज्ञानात्मके । धम्मं चारित्रे,
उत्तमाधर्मादौ वा । यवर्णे रत्नत्रयेऽप्यता द्रव्यश्रुते शब्दात्मके लिख्येरे वा ॥

दर्शनविनयका विवेकत आचार्य दो गाथाओंसे करते हैं—

हिंदी अर्थ—अरहंत, सिद्ध, अर्हत् और सिद्धोंकी प्रतिमायें, श्रुतज्ञान, जिनपर्यं, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेश्वरी, रत्नत्रय, आगम और सम्मगदर्शन इनमें प्रकृति, पूजा, कलना. इनमें अन्यमयीयोंने आरोपित किये दोषोंको हटाना, इनका महत्त्व बताना, इत्यादि बातोंसे दर्शनविनय होता है.

निर्णयार्थ—खिन्हेने अरिहन्तन किया अर्थात् मोहनीय कर्मका नाश किया, रजोहन्तन अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणको नष्ट किया, रहस्यहन्तन अर्थात् अन्तराय कर्मका नाश किया तथा इन्द्रादिकोंके द्वारा जो सातिशय पूजाको प्राप्त हुए इस लिये जो नो आगमभाव निक्षेपसे अर्हन्त इस नामको प्राप्त हुए हैं उनकोही प्रकृत विषयमें अर्हत् समझना चाहिये. चार घातिकर्मोंका नाश होनेसे जिनको अर्हत्की अवस्था साक्षात् प्राप्त हो गई वेही यहाँ अर्हन्त माने हैं. केवल जो नामसे ही अर्हन्त हैं वे यहाँ अर्हन्त नहीं समझे जायेंगे. निमित्त न होनेपरभी मनुष्यके प्रयत्नसे जिसमें अर्हत् ऐसा नामकरण विधि होता है उसको नामर्हत् कहते हैं. अर्हन्त की प्रतिमामें वही यह अर्हत् है ऐसे संकल्पसे जो स्थापना की जाती है वह ' स्थापनार्हत् है. स्थापनास्व्य अर्हत् में पूजातिशय होनेपर भी अरिहन्तादि गुण अर्थात् मोहनीयादि चार घातिकर्मोंका नाश करनेका गुण नहीं है. अतः स्थापनार्हत् भी प्रकृत विषयमें उपयुक्त नहीं है. अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका जिसको अच्छा ज्ञान है परंतु उस तरफ जिसका सांप्रत उपयोग नहीं लगा है, दूसरे तरफ जिसका चित्त लगा है ऐसे पुरुषको त्रय्यनिक्षेपसे अर्हत् कहते हैं. अर्हत्के स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले विद्वानका जो त्रिकालवर्ती शरीर वह शायकशरीर अर्हत् है. जिस आराममें भाविकालमें अरिहन्तादिक अर्हन्तके गुण उत्पन्न होंगे ऐसे आत्माको सांप्रतमें अर्हत् कहना यह भावि अर्हत् है. तीर्थक्षत्रनामकर्मोंको तद्व्यतिरिक्त अर्हत् कहते हैं. अर्हन्तके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका ज्ञान जिसको है और वर्तमान कालमें वह ज्ञान अर्हत्स्वरूपका विचार कर रहा हो तो उसको आगममार्गार्हन्त कहते हैं. नो आगममार्गार्हन्तके शिवाय नामादि अर्हन्तोंमें अरिहन्तादि गुणोंका अभाव है अत एव नामादि अर्हन्तोंका यहाँ ग्रहण नहीं किया है.

सिद्धोंके भी नामसिद्ध, स्थापनासिद्ध वगैरे भेद हैं. जिसको सिद्धस्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे मनुष्यको तामसिद्ध कहते हैं. उसका सिद्ध यह नाम गुणादिनिमित्तोंके बिना केवल व्यवहारार्थ रक्खा गया है.

सिद्धोंके प्रतिचिह्नोंकी स्थापनासिद्ध कहते हैं.

यहां शंका—शरीरसहित आत्माका प्रतिविम्ब अर्थात् प्रतिमा मानना योग्य है. परंतु जिनके शरीरका अभाव है, जो शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त हो गये हैं ऐसे सिद्धोंकी प्रतिमा मानना अर्थात् प्रतिमामें सिद्धोंका आरोप करना यह कैसा न्यायसंगत है ?

उत्तर—पूर्वभावप्राप्तपनयकी अपेक्षासे सिद्धोंको प्रतिमामें स्थापन कर सकते हैं. अर्थात् जो वर्तमान कालमें सिद्ध हैं वही पूर्वकालमें शरीरसहित सयोगकेवली ये अतः उनकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेद न मानकर प्रतिमामें सिद्धोंकी स्थापना हो सकती है. सयोगकेवली अथवा इतर आत्मा शरीरसे विभिन्न नहीं होता है. यदि सयोग केवलीको देहसे विभिन्न मानोगे तो सयोगकेवलीको संसारिता नहीं हैं ऐसा मानना पड़ेगा. अशरीर माननेसे संसारी व अशरीरता यह परस्पर विरुद्ध है. अतः शरीरकी आकृतिके समान चिदात्मा भी आकृतिमान् समझना चाहिये. जैसी शरीरकी आकृति रहती है उसी तरह चिदात्मा सिद्धकी भी आकृति रहती है. इस लिये शरीरके समान चिदात्मा सिद्ध भी संस्थानवाद-आकृतिवान् है. शरीरस्य आत्मा जैसा अपना संस्थानसे अभिन्न है वैसा शुक्तरमा भी अपने संस्थानसे अभिन्न है. अतः प्रतिमामें सम्यक्त्वादि अष्ट गुणोंसे विराजमान वही सिद्ध ये हैं ऐसा संकल्प कर सकते हैं. अतः सिद्धोंमें स्थापनाका संभव होता है.

आगमद्रव्यसिद्ध—सिद्धप्राप्तके ज्ञाता परंतु संप्रति अनुपयुक्त ऐसे विद्वानको आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं. सिद्धप्राप्तके ज्ञाताका जो शरीर वह ज्ञायकशरीर है. जिसको भविष्यत्कालमें सिद्धावस्था प्राप्त होनेवाली है ऐसा आत्मा भाविसिद्ध है.

व्यतिरिक्त सिद्धकी संभावना नहीं है. क्योंकि जैसे तीर्थकरनामकर्मसे अर्हत्पर्याय प्राप्त होता है वैसे सिद्धपर्याय किसी कर्मके उदयसे होता नहीं है. वह संपूर्ण कर्मके नाशसे होता है. इसलिये व्यतिरिक्तसिद्ध यह भेद नहीं है. कोइ पुनरुद्भव भी सिद्धत्त्वपर्यायका उत्पादक है नहीं इसलिये नोकर्मसिद्ध यह भी भेद नहीं है.

सिद्धप्राप्तके अनुसार सिद्धोंका स्वरूप ज्ञानेवाले ज्ञानसे परिणत आत्माको आगमभावसिद्ध कहते हैं.

संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्ममल ध्विनका नष्ट हो चुका है. अनंतज्ञानादि सर्व ज्ञायिकभाव जिनको

प्राप्त हो गये हैं। उनको नो आत्मभाव सिद्ध कहते हैं। इसी सिद्धका प्रकृतविषयमें ग्रहण किया है। इतर सिद्धोंका ग्रहण नहीं किया है क्योंकि इतर सिद्धोंमें संपूर्णतया आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हुई है।

३ चेदिय-चैत्य अर्थात् प्रतिमा चैत्य शब्दसे प्रस्तुत प्रसंगमें अर्हत और सिद्धोंके प्रतिमाओंका ग्रहण समझना चाहिये, अथवा यह मध्यप्रश्नेप है। इसलिये पूर्वविषय और उच्च विषयक स्थापनाका यहाँ ग्रहण होता है, अर्थात् पूर्वविषय तो अरहत और सिद्ध हैं ही। उच्च विषय भुत, द्वास्त्र, धर्म, साधुपरमेष्ठी, आचार्य, साधु वगैरह हैं। इनका भी यहाँ संग्रह होता है। इनकी भी स्थापनाप्रतिमा होती है।

४ धुतज्ञान—धुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपक्षय होनेसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ग्रहण करनेवाला सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान वह धुतज्ञान है। इस ज्ञानके आचारोंगादि चारा अंग, उत्पाद पूर्वोदि चोदा पूर्व, और सामान्यिकादि बोधिस प्रकीर्णक अर्थात् अंगबाह्य ऐसे इसके भेद हैं। इसकी रचना तीर्थकर, भुतकेवली, मणपर और आरातीय आचार्य इन्होंने की है।

५ धर्म-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अनुसरण करने वाला सम्यक् चारित्र यहाँ धर्म शब्दका अर्थ है। इस धर्मके सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और यथास्वात ऐसे पाँच भेद हैं। बुद्धिबुद्धि जो जानेवाले जीवको जो धारण करता है अर्थात् उसका उद्धार करता है और शुभ शंद्वादियद्वीपर जो स्थापन करता है वह धर्म है ऐसी धर्मशब्दकी व्याख्या है, अथवा—

धर्मा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, संयम, आर्किचन्य, महाचर्य, सत्य और त्याग ऐसे दस धर्म अन्य ग्रंथमें कहे हैं उनका भी यहाँ धर्म शब्दसे संग्रह करना चाहिये।

१ क्षमा—क्रोधके निमित्त-कटुवचन, निंदा वगैरे उपस्थित होनेपर भी मनमें कटुपता उत्पन्न न होने देना। किसीके साथ अपनी मित्रता होती है तब क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी मन कटुपित न होने देना यह कुछ क्षमा नहीं समझी जाती है। अथवा अपना कार्य सिद्ध होने तक मनुष्य क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी शान्ति धारण करता है यह भी सच्ची क्षमा नहीं है। परंतु स्नेहादिकी अपेक्षाविना जो शान्तिभाव मनमें धारण करना वही क्षमा है।

२ मार्दव--जाति, कुल, तप इत्यादिका अभिमान न होना वह मार्दव है। मैं अभिमान करूँगा तो लोक

मेरे ऊपर रह होंगे अथवा मेरे ऐहिक कार्योंमें बाधा उपस्थित होगी ऐसी भीतीसे मान न करना यह सच्चा मार्ग नहीं है, किंतु मान करनेसे आत्मा पतित होता है, मानसे नीचगतिमें प्रमण करना पड़ेगा ऐसी भावना हृदयमें धारण कर मार्गधर्मका पालन करना चाहिये।

३ आर्जव—दोरीके दो छोर एकदकर खींचनेसे वह सरल होती है उसी तरह मनमेंसे कष्ट दूर करनेपर वह सरल होता है अर्थात् मनकी सरलताको आर्जव कहते हैं,

४ लायव—धनादि वस्तुओंमें ये मेरे हैं ऐसी अभिलाषबुद्धिही सर्व संकटोंमें मनुष्यको गिराती है इस समत्वको हृदयसे दूर करनाही लायव अर्थात् शौच धर्म है,

५ तप—अन्न, पान, लेख इनका त्याग करना, रसोंका त्याग करना, दाता पात्र इत्यादिकोंका नियम करना यह तप तप है, इस लोकमें अपनी कीर्ति हो, अपनेको लोक पूजे इत्यादि अभिलाषा छोड़कर बारह प्रकारका तप करना चाहिये,

६ संयम—इंद्रियोंके स्पर्शोंदि इष्ट व अनिष्ट विषयोंसे अपने मनको हटाना, इष्ट वस्तुमें रागभाव रखना, अनिष्ट वस्तुसे द्वेष करना यह इंद्रिय असंयम है, इनसे निवृत्त होना यह इंद्रियसंयम है, पंच स्थावर और असजीव इनको बाधा देनेसे विरक्त होना यह ग्राणिसंयम है,

७ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह आर्किचत्य धर्म है,

८ नष्ट प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना यह ब्रह्मचर्य है,

९ मुनि और उनके भक्त अर्थात् श्रावक इनके साथ आत्महितकर माषण बोलनायह सत्य धर्म है,

१० मुनियोंके लिये योग्य ऐसे आहार, अथवा—वसतिका और श्राव के चीजे देना यह त्याग धर्म है, ऐसे धर्मके दश भेद कहे,

जो रत्नत्रयको साधते हैं ऐसे मुनिराजको साधु कहते हैं,

१ वस्तुके यथार्थ स्वरूप जाननेवाले ज्ञानमें परिणति होना यह ज्ञानाचार है,

२ तत्त्वश्रद्धानमें परिणति होना यह दर्शनाचार है,

३ हिंसादि पांच पापकियाओंसे निरक्त होना चारित्राचार है,

४ अनशुनादि क्रियाजर्मि प्रवृत्ति रहना सप्त आचार हैं.

५ अपनी शक्तीके अनुसार ज्ञान दर्शन चारित्र्यादिकमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है.

ऊपर फरे गये पांच आचारोंमें जो स्वयं उद्युक्त होते हैं और शिष्योंको उद्युक्त करते हैं वे मुनि आचार्य कहलाते हैं.

जो रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करते हैं और जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ अर्थ शिष्योंकी अविस्मृतासे कहते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठि हैं. ' उपेत्य विनयेन दौकित्या अधीयते श्रुतमस्मादिति उपाध्याय " अर्थात् विनयसे आकर विनसे शिष्यमुनि आगमार्थका पठन करते हैं ऐसे मुनिराजको उपाध्याय परमेष्ठि कहते हैं.

प्रवचन—शंका—श्रुत शब्द प्रवचनवाची है उसका दुलसा किया गया है. प्रवचनका अर्थ श्रुत होता पुनरपि यहाँ श्रुतका ग्रहण करनेसे पुनरुक्तता दोष आया. उचर—प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ रत्नत्रय है. ' गाण दंसणचरित्तमेग पवयणं ' ऐसे आगम वाक्यसे रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं यह सिद्ध होता है. अथवा श्रुतज्ञानको श्रुत कहना चाहिये ऐसा पूर्वमें कहा है. यहाँ ' प्रोच्यंते जीवादयो येनेति ' जिनके द्वारा जीवादि पदार्थोंका विवेचन किया जाता है वह प्रवचन है अर्थात् शब्दात्मक श्रुतको यहाँ प्रवचन कहते हैं.

अर्हत्, सिद्ध, इनके और आचार्यादिकोंके प्रतिर्विब, श्रुतज्ञान, धर्म, साधुवर्ष, आचार्य, उपाध्याय, शब्द श्रुत और सम्पददर्शन इनमें भक्ति, पूजा प्रवर्त्तना वगैरे करना यह मंशेपसे दर्शन विनय है. ऐसा इस माथाका अभिप्राय है. ॥ ४६ ॥

भक्ती पूया वणजणं च गासणमवणवाटस्स ॥

आसावणपरिहसो दंसणविणजो समासेण ॥ ४७ ॥

भक्तिः पूजायशोवादी दोषावज्ञा तिरस्त्रिया ॥

समासेनैष निर्दिष्टो विनयो दर्शनाश्रयः ॥ ५० ॥

विजयोदया—का मसी पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति । पूजा द्विमकार्य द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पपूपाक्षतादिदान अर्हदादिगुणैश्च द्रव्यपूजा । वास्तुत्यागप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कार्यक्रिया च । वात्स्या गुणसत्त्वयन च भावपूजा मनसा तद्गुणानुरागः ।

यथाजगणं पर्णशब्दः क्वचिद्वृषवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिदाथा भिन्नो वर्णस-
माज्ञायः इति । क्वचित् ब्राह्मणद्वी यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिदशसि वर्णार्थो वृद्धति । तथा द्वाप्यनेतरार्थो
गृहीतः । तेन अर्धवादीनां यशोजननं विदुषां परिषदि । अन्येषामपि स्ववेदिनां दृष्टेयिस्त्वचनताग्रदर्शनेन निवेद्य
तत्संवाधिवचनतया महत्तत्प्रव्यापनं भगवतां वर्णजननम् ।

चैतन्यमानसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयमाप्तिरस्ति । यत्नमेतरेण सर्वोपपत्तु चैतन्यस्य सदा मितेः ।
विशेषरूपपरदितत्वावसथेतन्यं स्वरूपयत् । महत्तेरत्वनया युक्तिः लुपयोगिनी । किं तथा वृद्धया मुक्त्या वा फलमा-
प्तनः ? अनया विद्या फागिलमते सिद्धता बुरुणपादा । बुद्ध्यादिविशेषयुगलरहितता सिद्धताऽप्येतां । आत्मनोऽचेतनतां फल-
संचेतनोऽभिलषति । विशेषरूपद्वयं वा रूपमात्मनः सत्ता ? कैव आसाग्रहमा परशुयुगलतः बुद्ध्यादियुगलरहितत्वाद्भ्रमयत् ।
पगादिस्वेवास्नारहितं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्र चित्तमर्त्यतामाधारणरूपं । यथेकं विद्वद् यं नेतरविति तन्य
स्वभावोऽनिरूप्यः । अस्माधारणस्यरूपस्यं यच्चदसप्रथा—नयस्तामरसं । असाधारणरूपगूढ्यं च विपश्चितापिचाव-
न्यविति । एवं मत्तान्ते निरूपितानां सिद्धतामवदमानत्वाद्वाधाकारित्वात्कर्मलेपनिर्दहनसमुपजातावल्गव्याख्यमम-
वस्थिताः । अनेतमानात्मकेन सुखेन संतुष्टाः सिद्धा इति तस्माद्धारव्यकयनं सिद्धानां वर्णजननं ।

यथा धीतरागद्वेषाखिलोक्तचूलाभरणयोऽद्वाद्वयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति । तद्वदेतान्यपि
तदीयानि प्रतिविद्यानि । यास्तद्व्यालंयनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो आप्यते । यथात्मनि मनोऽनामनोऽपि यत्सात्रिप्याद्वा
गद्वेषौ स्वपुत्रसदृशदानं पुनस्त्वैतदालंयनं । एवमर्थादियुगलसुस्मरणनिर्वापनं प्रतिविद्ये । तत्पादुस्मरणं अभिनवा
शुभमहतेः संवरेण, प्रत्यप्रशुभकर्मविनो, गृहीतशुभमहत्सुभयकारि करणे, पूर्वोपासाशुभमहत्तिपदलत्सायन्दासे च क्षममिति
सकलानिमित्तपुरुषार्थसिद्धेरुत्तमा उपसानीयानीति चैत्यमहत्ताप्रकाशानं चैत्यवर्णजननमिति ।

केयलशमयदशेषजीयाविद्वष्ययाथात्म्यप्रकाशानपटु, कर्मधर्मनिर्मूलनोऽथतुभ्याप्यानचंदनमलयायमानं । स-
परसमुच्चरणनिरताविनेयजनताविचागर्हणीयं, प्रतियत्वाशुभाज्ञयं, अग्रमरुतायाः संपादकं । सकलविकलप्रत्यक्षमानरीजं,
वर्शनचरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दुःखाप्राप्तं, सुखं प्राप्तं, निनीनां चाधिपत्ये स्वापयितुं, स्वचक्रविक्रम्यामिति सकलपुषालेस्वचरणरत्नमदल्य-
कांश्चकलांलनान्यावयोः पातयितुं, सुखित्वासिनीचेतः सुमोदावर्धं, तदीयविदुःप्यादीनलोचनरागमभिवर्धयती, हर्षमर-
परवशोद्विभ्रंसांद्रोमांचंक्षुक्रमचार्गितुं, उचतां रूपद्रोभांनदिरां संपादयितुं, अतिरायितागिमाविद्युजप्रसाधनां,
सामानिकादिदुःखसद्वाशुगानोपनीतमहत्तां, सततयत्यप्रयुषवादिगितां सुभगताल्लारोहयिष्युम्, अनेकसमुद्रविद्युगण-
नामणितयुःस्थिति, मेघकुण्डपुरसारिकुलचलादिमोचरस्वेच्छविद्वारचतुरां, सुखंनपुत्रलनितेन विषाधरफठितनिविष्ट
समुद्रतकुचतटकीदालोकनस्पर्शानदिक्रियोपवीपमिनीमिषिस्वतां, श्रवणमरुतामपरेक्षे, अदिति घटयितुं, विरूपताज-
ननीतपडाकिनीनामनोचरं शोकशुकातुङ्गेचितं, पिपदापानलशिगमिद्युपपुत्रां, सेनोरीस्त्वष्ट्यपुत्रं, यममद्विपपु-

राखंडितां, भौतिवराहसमितिभिरनुह्रियतां, संक्षेपरागशरमैरनल्लसितां, म्रियम्रियोगचंडुंदरीकैरसेवितां, अमर्त्यसु-
रातरमगवभूमिं निर्वृतिं प्रापयितुं समर्थो जिनमणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथने धर्मवर्णनजननम् ॥

उचोदितम्रिययचनमुज्जरुर्भेदबुधसमितिशुलभा, हुस्ततरत्ससारस्वतचिरपरिभ्रमणवकितसेधयधुदयाः, जिनमणीता
अनित्यभ्राजनावहितचेतस्तया निरस्तशर्योदविष्णादिगोचराः, दुःखसंदिशिंपातएशाक्षमस्यापस्त्य जिनमणीता
खर्मावभायात् तमेव शरणमिष्टपगताः । ज्ञानरत्नप्रवीपमप्रकरनिर्धूलितयुवनमवनान्तर्लानाशानध्यानसंततवयः,
कर्मणामादौने, तत्कलादुभवेने, तन्निर्भूतने च धर्ममेकका पदेति कृतिविनिश्चितयाः, असाधारणचैतन्यादिलक्षणोपनीतेभे-
द्योरेषयाऽन्ये ययमितरद्वयकलापादित्यन्यताभायनायामासकाः, सुयदुःखयोरकृतादरेयाः, सदसुप्रेयोदयकर्मनिमित्तत्वेन
ममादतिसनमिमले चापेक्षते इति उपकारपकारयोरेभेव प्रणेता, आलनः शुभाशुभकर्मरोगेणे समैव स्वांतव्यात्त-
नुवचरितत्वात् । अतुमहनिग्रहयोः परे वराकाः किं कुर्वन्तीति मत्वा सज्जनपरजनयिकेनिरासुकाः, समंतादुपसर्गे
महोत्सवेत्येदीर्घैरवस्था मध्यविषयकवृत्तयः, सुतिपातादिपरीहमहापतिसत्यसंपातेऽप्यदीनासंक्षिप्तवेतोबुत्तयः,
निगुमिमुसिमुपाश्रिताः, भगवानादितगोराल्यपल्लनोपुष्कमतयः, धृतानूनप्रतकयथा, गृहीतदीर्घाष्टेष्टाः, उद्गीर्णयाना-
तिनिश्चितमंडलाभ्याः, कर्मादिपुतनासाधनोपताः साधय इति नाशुमाहात्म्यप्रकाशनं साधुवर्गवर्णजननं ।

मुकाहारपयोधरनिद्याकरवासरधीभरकल्पवटीकहादय इव प्रत्युपकाराणेपशुप्रहत्यापृताः, निर्वर्णपुरपट्टिमा-
पणसमे साने निर्वेले स्थिताः, एतादृषि विनताम्विनेयानप्रयतयन्तः, धायतातिधलज्जानपृथुल्यदशनपदमलेख्याः, कुलीना,
विनता, विमया, विमाना, विरागा, विराग्या, विमोहा, यथासि तपसि महसि याऽक्षितीया इव भूपर्णं सूर्य इति सूरिपर्ण-
जननम् ।

अधिरतधुतर्पेयापातव्यज्वाप्यवाचकाजुल्लाप्यास्यानाः, भिरस्तनिर्द्वान्दीर्घमादाः, सुचरिताः, सुशीलाः, सुमे-
धताः, इशाभापकवर्णजननं ।

रत्नप्रयालाभमदनतकाळं अयमतादिमिषमोऽपि भव्यजीवरशिनिर्वर्णपुसुपैति तल्लभे च सकलाः क्षण्यः
दुलभा इति मार्गवर्णजननं ।

मिथ्यात्यपटलपियटनपटीवसी, हस्तमैरम्यकारिणी, जशुभगतिनममतिबंधविषयिनी, मिथ्यावर्शनविरो-
धिनीति निगदं समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम् ।

सर्वकृतावीतरामते माहंति विद्येते रागादिभिरपिद्यया च अनुभताः समस्ता एव प्राणधृताः इत्यादिर्द-
तामयवर्णवदः ।

लोवल्लगंधमाह्यालंकारादिविरहितानं सिद्धानां धुलं न किंचिदतीन्द्रियाणां । तेषां समधिगतौ न नि-
बंधनमस्ति किंचिदिति सिद्धावर्णवदः ।

सकलपद्माभिर्यमर्दसेप सिद्धः इत्येतेतनस्य व्यवस्थापनामपि दारिकाणां लुप्रिमपुत्रकल्यवहतिरिव न
मुष्टपटपटसेवनेद्वचं फले लभ्यते । न. प्रतिविंबादित्वा अर्द्धादयः तदुत्पुणवैकल्यान्न प्रतिविंबातामर्द्धादिव्यमिति

चेत्तावर्णवाद् ।

पुरुषकृतत्वाद्गदादिमादिव्याप्यवदयार्थता गार्तीद्वयं वस्तु पुंसो ज्ञानगोचरं, अज्ञातं चोपविशते वचः कथं तस्यै ? गवुद्रतं च ज्ञानं कथं समीचीनमिति श्रुतावर्णवाद् ।

दुर्गन्धप्रतिषेधं स्वर्गादिकं च फले विचरते धर्म इति कथमदृष्टं धर्मीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य कार्यस्यानुक्रमोऽस्ति यथाङ्कुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्मः स्तनित्यत्यन्तरं सुखमात्मनः किं न करोति इति धर्मोऽवर्णवावः । अहिंसादिव्रतपालनोद्यताः साधवः, सूर्योऽध्यापकाश्चेष्ट्यन्ते । अहिंसाव्रतमेवैषां न जुज्यते पट्टजीयनिकायाकुले लोके धर्तमानाः कथमहिंसकाः स्युः ? केनोर्होचनाविभिः पीडयतां च कथं नारमयश्चः ? अदृष्टमात्मनो विपर्ययं, धर्मं, पापं, तत्फलं च गत्वां कथं सत्यमस्मै ? इति सत्यवर्णवाद् । एवमितरयोरेपि ।

विरुद्धानां एकत्र धर्मोपानसंभवात् विरुद्धमिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापनं न सम्यक् । तदमित्येवं समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वात्स्मृगत्प्लोक्कशब्दे, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उदरगतत्वययस्माद्रज्जुपरिद्वार इवेति प्रथक्तावर्णवाद् ।

पतेपामवर्णवादानामसंभवप्रवर्णनं । पुरुषत्वाद्द्रव्यापुरुषत्वं सर्वज्ञो दीतरागो या न भवत्यर्हन् इति साधनाननुपपन्नं । असर्वज्ञतामदीतरगतां चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथापुनरेतन्भाषात् । अस्मिन्वाद्यो न सकलवैषय्यज्ञा पुरुषत्वात्विपालयत् इति शक्यं वक्तुम् । सर्वज्ञत्वादीतरगतासिद्धिश्चाप्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते । दुःखप्रतीकाराद्यपु वस्तुपु नृदानां सुखसाधनव्यवहारः । शरीरायासमात्रप्राप्त्य, कामिनीसमागममुल्लेखं । वैकृत्यनाशनवैल्लादिभिर्न कृत्यं सिद्धिर्ना । अशरीराणां सकलदुःखापायकं सुखं अयिकलमभेनज्ञानात्मकं तेष्ववस्थितं । धृतं निवर्धनं सवधिगमे । शुभोपयोगनिमित्ताईवादीनामिव प्रतिविधानमिति न मुक्तयोत्प्रेक्षिता ॥

मूलार—भची—भाषयिष्ठुद्विद्युक्तोऽनुसारागः । पूजा पूजा सा न द्वेषा द्रव्यभावेदेवात् । तत्र द्रव्यपूजा अर्हदादिमुदिरय गंथाक्षणादिवानं । भावपूजा कायेन अभ्युत्थानप्रदाक्षिणीकरणप्रणामादिका । वाचा गुणस्तयनं । मनसा गुणानुस्मरणं ॥ वणजर्ण—विदुषां परिपदि यशोजननं गुणकीर्तनमिति यावत् । तत्र सुगतादीनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनता-प्रकाशेन तत्सर्वज्ञत्वं प्रहाप्य तत्समादिवचनतया महत्त्वप्रख्यापनमर्हतां वर्णजननं ।

एवं परमवप्रसिद्धान् सिद्धान्तोक्त विनमयेन वत्स्वरूपनिरूपणं सिद्धानां वर्णजननं । तथा हि—न तावत्संश्लोका सिद्धता पठते । चैतन्यमात्रावस्थानस्त्वे निर्वर्णे पुष्टोऽपुष्टांतिशयप्रमेयभावात् न संसारिभ्यः कचिद्विशेषस्तद्रूपमुक्तः सर्वेषामयत्नविद्धतया सत्ता सत्त्वात् । चैतन्यमात्रस्य ज्ञेयाकारपरिच्छेदे परादमुत्पत्त्य विशेषरूपरहितत्वादसत्त्वं स्तुप्यवत् । न च प्रकृत्यैवैकत्वव्युत्पत्तेरपि किञ्चित्कलमात्मनः । नापि वैशेषिकोक्तानां

ज्ञानादिगुणानां अत्यन्तोन्यूनरुचिर्भुङ्क्ता । न खलु कश्चित् स्वगुणस्य सतो विनाशाय सचेताः प्रयतते, किं
 तर्ह्येति शयाधावाय । किं पुनरेतन्वस्य विशेषलक्षणस्य चाल्पनः कथं सथा सगुणवत्, कथं चात्यन्तत्वं ? तथाहि-नासौ
 धेओपिकाभ्युपगत आत्मा आत्मदुःखादियुगलरहितत्वादभवत् । नापि बौद्धमतो निरासवचिचोत्पत्तिक्षणो मोक्षः क्षोभं क्षमते ।
 चित्तक्षणो हि रागादिवेत्तशयासगरहितो यदि प्राक्यात्साक्षवचिचक्षणानुत्पद्येत तर्हि कुतस्तस्य निरासवत्त्वं ? निरासवाच-
 स्मात्तत्सोत्पत्तौ तु तस्यापि कुतो निरावसवत्वमित्यनवगम्या । न च पूर्वेषु सर्वथा नष्टेन परो जन्येत मृतेन पित्रा पुत्रवत् ।
 नापि प्रज्ञाद्वैतवादिकल्पिवनिर्वाणे प्रमाणं । ते हि यथा घटवियदने घटाकाशमाकाशीमवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी
 पदे ब्रह्मणि लीयते इति वक्ष्यमाणवचमते । तदसत् । निस्तरीकरूपपरमब्रह्मणः कुवश्चित्प्रमाणावसिद्धत्वात्, भेदस्यैव सक-
 लप्राणिना निराबाधयोचे प्रकाशमानत्वात् । अभेदस्य तन्निरपेक्षस्य इत्येवमव्यतीतेः । एवं मत्वान्वरोक्तानां सिद्धानां अप-
 दन्नाङ्गारिसेसारकारणकर्मनिर्मूलनोन्मीलितनिर्मलनिश्चलबिम्बदाशीचिद्रूपसमवस्थानलक्षणं स्वरूपमास्थिताः अनंत-
 प्राणात्मकेन मुलेन संतुष्टाः सिद्धा इत्यादि तद्गुणकीर्तनं सिद्धवर्णजननं ।

वैत्यवर्णजननं यथा—अहंप्राणीनां शांतिरूपत्ववीतरागाध्यादिगुणानुसरणादपूर्वपापनिरोधोऽभिनवगुणरूपवर्णः,
 पुण्योदयस्फारीमाधः, नापोदयापकपेक्ष स्यात् । तत्र तत्त्वविधिदयसेनादुत्पत्ते । पुत्रसदृशदर्शनात्तद्गुणस्मरणवत् । बाह्य-
 द्रव्यालंको हि शुभोऽशुभो वा परिणतः स्यात् इष्टानिष्टार्थेसां त्रिध्यात्रागद्वेषवत् । अथवा अहंदाश्चित्तिरूपदर्शनात्तद्वृत्ति-
 र्मयते, तत्तत्र तद्गुणाः ॥ तथा चोक्तं—भूपायेपायुपत्यागी धियादमदयावरं ॥ रूपमेव तवाचष्टे धीरवोपविनिद्रम् ॥
 त्वेवमहंदादियत्तत्त्वैत्यान्यपि शुभोपयोगेहेतुवथा सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वादुपासनीयानि इति वैत्यमवधारणप्रकाशानं
 तद्वर्णजननं ।

श्रुतज्ञानं हि केवलज्ञानवद्विषयस्त्वावभासि, कर्मनिर्मूलनोद्यतशुभाध्यायानिदानं, स्वपरसमुद्धरणनिरवधिनेयजनता
 प्रार्थनीयं, प्रतिबद्धशुभासयं, अन्नमत्तवाचाः संपादकं, सकलाविमलप्रत्यक्षाज्ञानीवं, समीचीनदर्शनचरणप्रवर्तकमिति
 निरूपणं श्रुतवर्णजननं ॥

चतुर्गतिदुःखात्तातुं, निरावकाशविषयित्रीषंकालोपलब्धिं सुतं दातुं, सकलसाध्याज्यं स्वर्गोपिराज्यं पाधिकतुं,
 सुत्रेद्रनागेद्रान्पादयोः पातयितुं, समवसरणादिवाहिरंगानं वज्ञानार्जतरंगलक्ष्मीलक्षणां जीवन्मुक्तिं, सम्यक्त्वापष्टगुणलक्षणा-
 मात्यंतिकीं परमशुक्तिं च संपादयितुं सभ्यस्यो जितप्रणीत एव धर्मो नान्य इति चर्ममहिमस्यापनं धर्मवर्णजननम् ॥

रत्नत्रयं साधयतीति साधवस्त्वष्टकर्मवंधनाः, संसारमीरबोऽनित्यभाववानिरस्तवेहाद्यादराः, विनयमैकशरणा, ज्ञानार्कजोनिरस्तान्तस्तमसः, कर्मणामादाने फलादुभयत्वे च वयमेकाकिन इति कृतनिश्चयाः, स्वचैतन्यादिगुणाविधिभेदा-
पेक्षया कायादिपरद्रव्येभ्योऽन्ये पयविधि बन्धत्वभावनावर्हिताः, सुखासुखयोरङ्गादरदेषाः, सदसद्वेदोदयार्धमिष्टमनिष्टं
वापेक्ष्य स्वस्योपकारापकारयोरहभेच श्रणेतां, शुभाशुभकर्मनिर्माणे भवेव स्वातंत्र्यात्तदुपरतशक्तिकत्वादनुग्रहनिग्रहयोः परे
वराका किं कुर्वन्ति इति मत्वा स्वजनपरत्वनविधेयकनिरस्तसुकाः, सर्वतादुपसर्गोपनिषातेऽप्यचलधृतय, परीपहोद्रेकेऽप्यदीना-
भंछिष्टमनस्तस्मिन्निगुत्सस्तपस्युबताः, क्षीलतत्पराः, शुभध्यानरताः, कर्मनिर्मूलनकर्मठा इति साधुमाहात्म्यप्रकाशने
साधुवर्णजनने ॥

पंचदाचारं स्वयमाचरन्ति सिध्याभाचारयन्ति इति आचार्योः । प्रत्युपकारनिरपेक्षरोपकाराः, सुरमूढरवद्धीराः,
सर्वेशालपारदृषांतः, स्वयं भयःपथे स्थिताः, विनीतयिनेयोस्तत्र स्वापर्वतः. शुद्रदेवशुक्रजातयो, विनयसिद्धा, मानमनीविधो,
विगतरागाद्वैपमोक्षाः, शल्यव्यपेतास्तपसि, तेजसि, यदासि, तरसि, वचसि च निरौपन्या इति गुणग्रहणं सूरिणां वर्णजननम् ॥
उपेत्य विनयेन हौकित्वाऽधीयते श्रुतमेतेष्य इति वपाध्यायाः, प्रयुद्धजिनागर्गव्यथातप्याः, सुपरितचूडामणयः
पद्मर्कसुरलोतस्विनीनदीप्यनतयो, निरस्तान्निद्राद्राप्रभादाः, सुमेधसः, शिष्यमेधाशुस्वरूप्याख्याना इत्यध्यापकवर्णजननम् ॥
रत्नत्रयस्यालाभादंतकालमनावृत्तोऽपि भव्यराक्षिर्न निर्वाति तस्मात्ते न सुलभाः सर्वसंपदो दूरधारिण्यश्च
सनस्तविपश्च इत्यादिप्रवचनवर्णजननम् ॥

सिध्यात्त्वकर्मनिर्मूलनं, ज्ञाननैर्मल्यमूलं, दुर्गतिगमनप्रतिबंधनं, सुगतिद्वारोद्घाटनं इत्यादि दर्शनवर्णजननम् ॥
अवणबादस्त-असद्भूतदोषोद्भावनस्य नाशार्थं प्रकृतत्वाद्वैशदीनामेव । तद्यथा-वीतरागत्वसर्वेशत्वेऽर्हति न
विद्येते सर्वश्रानिनां रागादिभिरविषया च नित्यमनुस्यूतत्वादित्यादिर्हतामवर्णयादः ॥ सिद्धानां सुरां न किञ्चिदस्ति
सत्कारशक्तमिन्द्रादीनामाभावात् । सतोऽपि या सुरस्य तेषां नाशुभवस्त्रिमित्तानामिन्द्रियाणामतीन्द्रियतया तत्रासत्त्वा
दित्यादिः सिद्धानाम् ॥ सोऽयमर्हश्चित्यादिसत्त्वकल्पनया पाषाणादावचेतने तत्रावस्थापनायामपि कन्यकाना कृत्रिमपुनकथव-
द्भताविध न मुख्यवस्त्रूपसेवनीद्रव्यं फलमुपलभ्यते इति न प्रतिमाविषु संश्रान्ता अर्हदादयो, नापि प्रतिमदीनामर्हदादित्यमस्ति,
तद्गुणशून्यत्वात्तोऽन्यपपाषाणदिवक्त्र तेषामाराधने किंचित्फलमस्ति इत्यादिश्रैत्वानां ॥

इदमर्हितं श्रुतं पुरुषकृतत्वादसदादिमार्गव्यवयवधार्म्यं । न ह्यंगाराजन्नादितत्कालुष्योत्कर्षवृत्तस्य चित्तस्य सुत

विद्विमुद्धिरिति सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिदोषदूषिताः अत एवातीन्द्रियं वस्तु न कश्चित्त्वानाति । अस्मात् च उपविशतो षचः रात्यं, तद्भूतं च ज्ञानं सिष्यैवेत्यादिः श्रुत्यम् ॥

मीढोष्णसर्पत्वरूपपरिविरहानामस्तित्तादिपणोपेकत्र वस्तुन्यसंभक्तात् विरुद्धाभिमतयर्माधिकर्णैकवस्तुत्वापनं न सम्भ्यक्तम् । नापि तच्छूद्रानं सुगन्धोदकषट्पान्थिव्याज्ञानानुगन्तानां चरणं रज्जो सर्पप्रत्ययात्तपरिहारवत् असंस्पृशानप्येक इत्यादिः प्रयत्नस्य ॥ यदा तु प्रवचनदब्देन द्रव्यश्रुतमुच्यते । तदेवं जैनानां शास्त्रं शब्दशालाविरोधिं श्लेष्टभाषायां निबद्धं, लोकशालाप्रसिद्धत्वादिचक्षितार्थप्रतिपादनासमर्थाभित्यादिः ॥ दर्शनार्थवर्णवादस्तु रत्नत्रयावर्णवादान्तर्गत एव । दृश्यवर्णनस्योपादानं तु चिन्तितकृत्याविगोचरत्वसूचनार्थम् । अर्हदाद्यवर्णवादपरिहारस्तु यथाशालं प्रति पशब्दः ॥ आस्तावना अयस्याः ॥ अर्हदादिषु इसत्यपि भक्त्यादयः र्वचापि सन्त्यस्य विनयो साहाय्याभावकत्वात् । इति गाथाद्वयसंमार्धार्थः ॥

हिंदी अर्थ—अर्हदादिगुणोंमें प्रेम करना भक्ति है. पूजाके द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद हैं. अर्हदादिकोंके उद्देशसे गंध, गुण, धूप, अथत्तादिक समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है. तथा ऊठ करके खड़े होलाना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरे शरीरक्रिया करना, वचनसे अर्हदादिकोंके गुणोंका स्तवन करना यह भी द्रव्यपूजा है. मनसे उनके गुणोंको चिंतन करना यह भावपूजा है.

वर्णजनन—वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं. वर्ण-शुद्धादिक वर्ण, जैसे 'शुक्लवर्णमानय' अर्थात् सफेत् रंगको लाओ. वर्ण शब्दका अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है 'सिद्धो वर्णसमान्नायः' वर्णोंका समुदाय अनादि कालसे है. वर्ण शब्दका अर्थ ब्राह्मणादिक ऐसा भी है. यथा 'अत्रैव वर्णानामधिकारः' इस कार्यमें ही ब्राह्मणादिक वर्णोंका अधिकार है. यहाँपर वर्ण शब्दका 'यष्ट' ऐसा अर्थ माना जाता है. जैसे 'वर्णार्थी ददाति' यष्टकी कामनासे देता है. प्रस्तुत 'वर्णजनन' इस शब्दमें वर्ण शब्दका अर्थ यष्ट ऐसा समझना चाहिये.

अर्हदादि परमेश्विओंका विद्वानोंकी समागम यथोगान करना, उनका महत्त्व बताना इसको 'वर्णजनन' कहते हैं.

कपिल, बुद्ध, ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं थे, उनके वचन प्रत्यक्ष अनुमानादिकोंसे विरुद्ध-वाधित होते हैं ऐसा सिद्ध करके अर्हदादिकोंके वचन श्रुति और आगमसे अविरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करना, इस रीतीसे उनकी महत्त्वा

प्रकट करना यह अर्हदादिकोंके वर्णजनन है. आत्मको जब मोक्ष प्राप्त होता है तब वह अपने चैतन्यमें स्थिर होता है ऐसा सांख्य कहते हैं. मुक्तात्माका चैतन्य फक्त स्वस्वरूपको जानता है. बाह्य पदार्थको वह जानता ही नहीं- ऐसा उनका मत है. परंतु यह मत सुकीसे बाधित होता है. प्रयत्नके बिना ही सर्व आत्मामें चैतन्य सदा विराज मान है ही. वैसा ही यदि मुक्तमें भी होगा तो उसका विशेषरूप संसारी आत्म्याके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा. अर्थात् मुक्तात्म्याके चैतन्यमें कुछ अपूर्वता है नहीं ऐसा सिद्ध हो गया. जिसमें कुछ अपूर्वता नहीं रहती है वह बीज इतर वस्तुसे अपना भिन्नपना सिद्ध नहीं कर सकनेसे स्वपुण्यके समान असत् ही समझनी चाहिये ।

प्रकृतितत्त्व अचेतन होनेसे उसमें बुक्तिकी कल्पना करना फिजूल है. वह मैं वद हूं अथवा मुक्त हुई हूं ऐसा जानती ही नहीं. अतः कापिलके-सांख्यके मतमें मुक्तावस्था आत्म्याकी सिद्ध हो नहीं पावी.

शुद्ध्यादि विशेष गुणोंसे रहित मोक्ष है ऐसा वैशेषिकोंका मत है परंतु वह भी समुचित नहीं है. आत्मामें अचेतनताकी कल्पना फोन सचेतन प्राणी करेगा ? अर्थात् आत्मामें ज्ञान है यह बात बाल गोपालतक स्वीकारते हैं. यदि मुक्तावस्थामें आत्म्याका ज्ञान नष्ट हो गया तो वह अपनी सिद्धिके लिये किसका आश्रय करेगा ? अर्थात् ज्ञान यह आत्म्याका विशेष लक्षण है. उसके बिना उसकी सचा ही नष्ट हो जाती है. जैसे मस्ममें ज्ञान न होनेसे उसको कोई आत्मा नहीं कहते हैं वैसे ही मुक्तात्मा ज्ञानशून्य हो जानेसे अपना आत्मत्व खो चुके हैं ऐसा मानना पड़ेगा.

रागद्वेषादि छेदोंको उत्पन्न करनेवाला वासनाओंसे रहित जब ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त माना जाता है ऐसा बौद्धोंका मत है. यहाँ हम उनको पूछते हैं कि, यदि वह ज्ञान अत्यंत असाधारण रूप और एक ही है, दूसरे पदार्थ ज्ञानके समान असाधारणरूपके धारक नहीं है ऐसा कहोगे तो दूसरे पदार्थोंका स्वरूप वर्णन करने लायक नहीं है ऐसा निश्चित हो गया. जो जो वस्तु असाधारण स्वरूपसे रहित है वह वह आकाशपुण्यके तुल्य अभावरूप माननी पड़ेगी.

इस रीतीसे अन्यमतमें सिद्धोंका स्वरूप सिद्ध होता नहीं. अतः बाधक सकलकर्मका नाश हो जानेसे अविनाशी आत्मस्वरूपको लो प्राप्त होगये हैं वे सिद्ध परमेश्वरी हैं. वे अनंत ज्ञानरूपमुखसे नृप हुये हैं. ऐसा उनका भावितमकथन करना यह सिद्धसाध्यात्म्यजनक है.

जैसे जिनके रागद्वेष नष्ट हुये हैं जो त्रैलोक्यचूडामणि हैं ऐसे अर्हदादिक भक्त्योंको शुभोपयोग उत्पन्न होनेमें कारण हो जाते हैं, जैसे उनके प्रतिविम्बभी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं, चाहा पदार्थके आश्रयसे शुभ वा अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं, आत्मामें इष्टानिष्ट पदार्थका साविध्य होनेसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, अपने पुत्रके समानही दुसरेका सुंदर पुत्र देखनेसे अपने पुत्रकी याद आती है, इसीतरह अर्हदादिकोंके प्रतिविम्ब देखनेसे अर्हदादि परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण हो जाता है, इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवर होता है, नवीन शुभ कर्मोंका आगमन होता है, जो शुभप्रकृति ग्रहण की गई है उसमें वृद्धि होती है, पूर्वमें ग्रहण की हुई अशुभ प्रकृतियोंका इस क्रम करनेमें समर्थ होता है, इसलिये समस्त इष्टपुण्यार्थकी सिद्धि करनेमें प्रतिविम्ब हेतु होते हैं, अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिये, इस तरहसे चैत्यकी महत्ता प्रकाशित करना यह चैत्यवर्ण जनन है,

श्रुतज्ञानवर्णजनन—श्रुतज्ञान केवलज्ञानके समान संपूर्ण जीवादि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपका प्रकाशन करनेमें समर्थ है, कर्मरूपी उष्णताको नष्ट करनेके लिये उद्युक्त हुवा जो शुभ ध्यानरूपी चंदनदृक् उसको यह श्रुतज्ञान मलयपर्षितके समान है, स्वतःका और मय्यजीवांश्च उद्धार करनेमें तत्पर ऐसे विद्वान लोगोंके द्वारा यह ज्ञान जाराधने योग्य है, यह अशुभ कर्मके आस्रवोंकी उत्पत्ति होने नहीं देता है, इस श्रुतज्ञानसे आत्माका प्रमाद नष्ट होता है, सकल और विकल ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें यही कारणभूत है, सम्पन्नदर्शन और सम्पत्त्वारिज्जर्ण इससेही प्रश्रुति दिक सकती है, इस तरहसे श्रुतज्ञानके महत्त्वका कथन है,

धर्मवर्णजनन—यह जैनधर्म दुःखोंसे जीवको बचाता है, सुख देनेमें समर्थ है, नवनिधी और चौदह रत्नोंका अधिपति करता है, जिन्होंने अपने चक्ररत्नसे संपूर्ण भूगोचरी राजे, विद्याधर नृप और गणबद्ध देव वज्र किये हैं ऐसे चक्रवर्ती भी इस धर्मके प्रभावसे नष्ट होकर चरणोंपर नमस्कार करते हैं, इसके प्रभावसे इंद्र पदवी प्राप्त होती है, यह पदवी देवगनाके चित्तको लुभानेवाली है, उसके चंचलमत्स्यके तुल्य नेत्रोंमें प्रेम उत्पन्न करती है, इससे शरीरमें रोमांच उत्पन्न करती है, इस पदवीके धारक देवमें धर्मके प्रसादसे सर्व देवोंसे भी अधिक महत्त्वशाली अणिमामहिमादिक ऋद्धि प्राप्त होती है, इमेधा इंद्र तारुण्यसे युक्तही रहता है, उसका शरीर सौंदर्यरूपी लताके आरोहणके लिये यष्टीके समान होता है, इंद्रका आयुष्य अनेक, साशरोंके जलविंदुओंकी गणना

उत्पन्न रहता है, अर्थात् अनेक समुद्रोंमें जलविंदु जैसे अगणित रहते हैं वैसा इंद्रका आयुष्य अनेक सागरोपम रहता है, वह इंद्र मेरुपर्वत, कुरुधूमि [देवकुल और उत्तरकुल भोगधूमि] गंगादि महानदियां, हिमवदादि कुल पर्वत, इत्यादि स्थानोंमें सेव्छासे विहार करता है, देवानाओंके विशाल नितंब, अधरोष्ठ, कटिन, ऊंचे और विशाल ऐसे स्तनवट इन्के साथ वह क्रीडा करता है, उनको अवलोकन और स्पर्श करके बहुत आनंद लट्टता है, ऐसी सहस्रशालिनी इंद्रपदवी इस जिनधर्मके प्रसादसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है,

इस जिनधर्मके प्रसादसे मोक्षकी भी प्राप्ति होती है, कुरूपता उत्पन्न करनेवाली दृढावस्था रूप डाकिनी इस अविनाशर ज्ञानमय मोक्षके स्पृश नहीं करती है, शोकरूपी दृक् मोक्षधूमिमें प्रवेश नहीं करते हैं, यह धूमी विपत्तिरूप दानात्रीकी ज्वालाओंसे अलिस रहती है, रोगरूपी दुष्ट सर्प इन्के शरीरको दंश नहीं करते हैं, यह मोक्षधूमि यममहिषके शृंगसे अलंघित रहती है, भीतिरूपी शराबाँसे उकरी जाती नहीं है, संमलेश परिणामरूपी शरभ इसमें घास नहीं करते हैं, प्रियावियोगरूपी क्रूर व्याघ्रोंसे यह रहित है, यह अघुपम मुरुरूप रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली खनी धूमि है, ऐसी मोक्षधूमि जिनधर्मके प्रसादसे भव्य जीव पा सकते हैं, इस तरह धर्मका साहाय्यकथन करना यह धर्मवर्णनजनन है,

साधुवर्ग वर्णजनन-प्रियवचन चोलनेमें चतुर ऐसे बंधुगण दुर्मेघ दुःखलाके समान है, परंतु साधुगण इस बंधुबंधुलाको भटसे तोड़ते हैं, दुस्तर संसाररूपी भोंवरोमें चिरकालतक भ्रमण करनेसे उनका हृदय भययुक्त रहता है, हमेशा अनित्य भावनामें उनका चित्त आसक्त रहनेसे शरीर, धन, बंगरे पदार्थोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं, यह जिनधर्म ही संकटों दुःखोंसे हमारा रक्षण करता है, इसको छोड़कर दूसरा कोई भी हमको दुःखोंसे छुड़ानेवाला नहीं है ऐसा मनमें विचार कर उसके ही ग्रहणमें जाते हैं, श्रीसाधुपरमेश्वरी ज्ञानरूपी रत्नदीपककी प्रभासे जगद्गोपी ग्रहमें छिपकर बैठे हुए अज्ञानांधकारको मगाते हैं, कर्मोंको ग्रहण करना, उनके फलोंको चखना और उनको निरपूलन करना इन कार्योंमें हमको कोई सहाय्य नहीं कर सकता है, हमको ही ये कार्य करने पड़ते हैं, ऐसा अपने मनमें निश्चित करते हैं, असाधारणवैतन्य हमारा लक्षण है इससे हम इतर अजीवादि पदार्थोंसे भिन्न हैं ऐसी भावना कर इतर द्रव्योंसे वे अपनेको सर्वथा भिन्न भाते हैं, वे सुखमें आदर तथा दुःखमें द्वेष करते नहीं हैं, यदि मेरेमें मातावेदनीय कर्म होभा तो होभा तो अन्वजन मेरा आदर करेंगे यदि नहीं होभा तो मेरा वे द्वेष करेंगे अतः मैं

ही अपने ऊपर उपकार या अनुपकार करता है. दुःख या अशुभ कर्म उत्पन्न करनेमें मैं स्वतंत्र हूं. अनुग्रह और निग्रह अन्य लोक करते हैं. यह मानना औपचारिक है. ये लोक दीन हैं. ये कुछ करने धरनेमें समर्थ नहीं हैं. ऐसा विचार कर ये मेरे चेष्टागण हैं, ये मेरे शत्रु हैं. ऐसी भावनाको वे हृदयसे दूर करते हैं. बिनका सामर्थ्य अनिवार्य है ऐसे उपमर्गस्त्री सगोत्र पिरे हुए मी के विलमात्र भी घबड़ाते नहीं हैं. सुषा, वृषादिपरीपहरूपी शत्रु बड़े जोरसे आक्रमण करते हैं, तथापि वे दीन होकर मनमें संकुशयुक्त नहीं होते हैं. वे तीन गुप्तिरूपी गुप्ती-का आश्रय लेते हैं. अनशुनादितयोरस्यका पालन करनेमें उद्युक्त होते हैं. संपूर्ण महावतरूप कवचको धारणकर हाथमें शीलरूपी बाल लेते हैं. ग्गानसे याहर निकाली हुई प्यानरूपी तरवार के अपने हाथमें लेकर कर्मशत्रुकी मेना जीतते हैं. इस तरहमे साधुपरमेश्वरीका महात्म्य प्रगट करना यह साधुवर्णजनन है.

आचार्यवर्णजनन—मोतिओंका हार, मेघ, चंद्र, सूर्य, कल्पवृक्ष यंगे पदार्थ प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके ही उपकार करते हैं. आचार्यपरमेश्वरी मी उनके समान परानुग्रह करनेमें सदा उद्युक्त रहते हैं. ये निर्वाणनगरी के प्रति ले जानेवाले निरतिचार चारित्ररूपी मार्गका स्वयं अवलंबन करके नग्न हुए ऐसे शिष्यादिक भव्य जीवों को मी उन मार्गमें प्रयुक्त करते हैं. आपार्य निर्मल ज्ञान और विशालदर्शनरूपी पक्ष्मल नेत्रोंसे सब पदार्थोंको जानते हैं और देखते हैं. ये कुलीन, नग्न, निर्भय, अभिमानरहित, रागद्वेष रहित, माया, मिथ्यात्व, निदानरहित और मोहद्विहित होने हैं. कवचोंमें, तेलमें, तपमें वे अद्वितीय होते हैं. वे जगतके अद्वितीय अलंकार हैं. इस तरह आचार्यवर्णजनन समझना.

उपाध्यायवर्णजनन—उपाध्याय परमेश्वरी अच्छी तरहसे आपसके ज्ञाता होते हैं. वे जीवादि पदार्थोंका यथार्थ वर्णन करते हैं. शब्द और अर्थके वाच्यवाचक संबंधका निर्दोष विवेचन करते हैं. वे निद्रा, आलस्य और प्रमादका त्याग किये हुये हैं. निरातिचार चारित्रके धारक, शील संपन्न और सम्यग्ज्ञान संपन्न होते हैं. यह उपाध्याय वर्णजनन है.

मार्गवर्णजनन—रत्नवर्षही मोक्षका मार्ग है. इसका लाभ जीवको यदि न हो जायगा तो अनादि च अविनश्य ऐसी यह भग्यजीवराशि मोक्षपुरकी प्राप्ति नहीं कर सकेगी. जब उसका लाभ होता है तब जगतकी सर्व संपत्ति इस जीवको प्राप्त होती है. यह मार्गवर्ण जनन है.

सम्यग्दर्शन वर्णजनन—सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वपटलको नष्ट करके सम्यग्ज्ञानमें निर्मलपना लाता है, नरक !तिर्गचादि अशुभ गतिमें जानेसे रोकता है, यह मिथ्यादर्शनका शत्रु है ऐसा वर्णन करना यह सम्यग्दर्शन वर्णजनन है.

गुणवान ऐसे पंच परमोष्ठीओंमें जो दोष नहीं है वे दोष निष्कलना उसको अवर्णवाद कहते हैं. ऐसे अवर्णवादका निराकरण करनेसे दर्शनविनय होता है. अब अवर्णवादका वर्णन करते हैं—

भीतरागता और सर्वज्ञपना अहन्तमें नहीं है, जगत्में संपूर्ण प्राणी रागद्वेष और अज्ञानसे घिरे हुए ही देखे जाते हैं ऐसा कहना यह अहन्तका अवर्णवाद है.

स्त्री, वस्त्र, इत्र वगैरे सुगंधी पदार्थ, पुष्पमाला और वस्त्रालंकार येही सुखके कारण हैं. इन पदार्थोंका अभाव होनेसे सिद्धोंको सुख नहीं है. सुख इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है. परंतु सिद्धोंको स्पर्शादि इन्द्रियां नहीं हैं अतः वे सुखी नहीं हैं, ऐसा कहना यह सिद्धावर्णवाद है.

जैसे छोटी छोटी कन्यायें गुड़ी यह मेरा बालक है ऐसा व्यवहार करती हैं, परंतु जैसे साक्षात् बालक गोदमें लेनेसे उनकी सुख मिलेगा वैसे गुड़ीसे नहीं मिलता है वैसेहि वे अहन्त है वे सिद्ध परमेष्टि हैं ऐसी अचेतन पदार्थमें स्थापना करके उपासना की तो मी समवसरणमें साक्षात् विराजमान अहन्तकी पूजा करनेसे जो फल मिलता है वह नहीं मिलेगा. मूर्तिमें अर्हत् सिद्ध वगैरे पूज्य पुरुष वास नहीं करते हैं, क्योंकि उनके गुण मूर्तिमें दीखते नहीं हैं, ऐसा कहना वैत्यावर्णवाद है.

श्रुतावर्णवाद—जैसे नदीके तीरपर दस दांडिम गिरे हैं हे लड़को ! भागो ऐसा कहनेवाले पुरुषका व्राम्य जैसा असत्य है वैसे जागम मी पुरुषकृत होनेसे असत्य है अग्रमाण है. पुरुषको अतींद्रिय वस्तुओंका ज्ञान होता नहीं है. और अज्ञात वस्तुका यदि वह उपदेश करेगा तो उसके उपदेशमें प्रमाणता कैसी आवेगी ? उसके उपदेशसे लोगोंको जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह मी प्रमाण कैसा माना जायगा ? अतः आयमज्ञान प्रमाण नहीं है ऐसा कहना यह श्रुतावर्णवाद है.

धर्मावर्णवाद—धर्म दुर्गतिसे प्राणीको बचाता है, और स्वर्गादिफल देता है यह कहना ही है. ये सब बातें परोक्ष हैं, प्रत्यक्ष नहीं हैं. अतः इनके ऊपर विश्वास रखना कैसा योग्य होगा ? जिसके कारण मौजद रहते हैं वह

वस्तु उत्पन्न होती है उसी शीज होनेसे अंशुरोरपत्ति होती है; यदि धर्म सुखदायक है तो यह उत्पन्न होनेके अनंतर ही सुख क्यों उत्पन्न नहीं करता है, ऐसा कहना यह धर्मावर्णवाद है।

साधु, आचार्य और उपाध्याय ये सर्व मुनिराज आर्हिसाव्रतका गालन करते हैं ऐसा जैनलोक कहते हैं परंतु इन मुनियोंका आर्हिसाव्रत युक्तीसे सिद्ध होता नहीं। ये सर्वमुनि पांच स्थावरजीव व और त्रस जीवके समुदायमें विहार करते हैं, इसलिये ये आर्हिसक कैसे होंगे ? ये साधु केवललोक, उपवासादिके द्वारा आपने आत्माको दुःख देते हैं, इसलिये इनको आत्मवधका दोष क्यों न लगेगा। पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते नहीं है तो भी ये मुनि उनका और उनके नरक, स्वर्गादिलोकोंका वर्णन करते हैं, उनका यह विवेचन झूठा होनेसे कतस्य मोक्षमेका दोष उनसे होता है, इत्यादि कहना यह माधु अवर्णवाद है, इसी तरह आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीका भी अवर्णवाद समझना चाहिये।

प्रवचनावर्णवाद—एक वस्तुमें परस्पर विरुद्ध स्वभाव नहीं रहते हैं, तो भी एक वस्तुमें उनकी कल्पना करना यह युक्ति संगत नहीं है, जो मनुष्य एकवस्तुमें विरुद्ध स्वभाव रहते हैं ऐसी श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि उनसे श्रद्धाने विपरीत ज्ञानका अनुसरण किया है, जैसे मृगतृष्णामें की गई श्रद्धा मिथ्याज्ञानका अनुसरण करनेवाली होनेसे मिथ्या मानी जाती है, जैनलोगोंका चारित्र भी मिथ्याज्ञानका अनुसरण करता है अतः वह भी सत्ता नहीं है, दोरीमें सर्पकर्म श्रान्ति होनेसे जैसे तन्दुका त्याग हो जाता है, इस त्यागके समान ही मिथ्या-ज्ञानसे होनेवाला चारित्र भी श्रान्त है, इत्यादि कहना प्रवचनावर्णवाद है।

अन उपयुक्त अर्णवादोंका असत्यपना संक्षेपमें दिखाने हैं, अर्हन् पुल्ल होनेसे रास्तेसे जानेवाले प्रवासीके समान भवंगी और वीतराग नहीं है यह कहना असत्य है, क्योंकि असर्वक्षणना व रागद्वेषीपना इनसे पुरुषत्वका अविनाभाव नहीं है, जैनलोक भी जोगिनी, बुद्ध योगरह पुल्ल भी भेदियोंको पालनेवाले मनुष्यके समान हैं ऐसा कह सकते हैं, अर्हन् सर्वज्ञ और वीतराग है इस बातका विवेचन अन्य न्यायग्रंथोंमें होनेसे हम यहां करते नहीं, जो पदार्थ केवल दुस्व प्रतीकारार्थ ही है उनमें मूढ लोक सुखसाधनता मानते हैं, स्त्रीके साथ संभोग करना यह वास्तविक सुख नहीं है, क्योंकि स्त्रीको भोगते समय शरीरको बहुत आघातयुक्त करना पड़ता है अतः उसको सुख कहना

यह सोलह आना झट है, कुरूपताको मिटानेवाले वस्त्रादिकोंकी सिद्धपरमेश्वरीको बिलकुल आवश्यकता नहीं है, वे सिद्ध भगवान् शरीररहित हैं, अशरीर आत्मामें सकल दुःखोंका नाश होना यही सुख है, यह पूर्ण, अनंत और अनंतज्ञानात्मक है, आत्मामें रहा हुआ युतज्ञान जीवादि पदार्थोंको जाननेमें निमित्त होता है, जैसे अरुहण और आचार्योदिक शुभोपयोगके लिये कारण हैं वैसे उनके प्रतिबिंब भी शुभोपयोगके लिये कारण हैं, यह संक्षेपसे अर्वाणवादका निरसन हुआ.

एवं दंसणमाराहतो मरणे असंजदो जदि वि कोत्रि ॥

सुविमुद्धतिव्वलेस्सो परिचंससारिओ होइ ॥ ४८ ॥

मृताबाराधयजेवं निदचरिओउपि दर्शनं ॥

मकुटशुद्धलेइयाको जायते स्वल्पसंसृतिः ॥ ५१ ॥

विजयोदया—एशमितयनया माधवा असंयससयगृष्टेः सयकवमाराधयतः फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः । मैत्रंयमेव मोक्षमार्गः प्रकृतः इति । अइयानाः शंकादिकमपाकुर्वन्ति उपपंक्षणादिभिः । सम्यक्त्वस्य शुद्धिर्वाच्यन्तमीचीनं वर्धनविनायं संपादयन् । दंसणं श्रद्धाम् । आराधन्तो निष्पादयन्मरणे भावपर्ययमच्युत्तिकांते । असंजदो जदि वि यद्यप्यसंयतः । सुविमुद्धतिव्वलेस्सो कपायादुरंजिता योगचूचिलेइया, सार पोढा मयिमक्ता कृष्णनीलकायो-तत्तेजःपद्मशुक्लेइयाभवेन । तत्राश्रमलेइयानिरासार्यं सुविमुद्धयग्रहणं । तीर्थग्रहणं परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविमुद्धातीमा लेइया यस्य सुविमुद्धतीव्वलेइयाः । परिचंससारिओ अल्पबहुगतिपरिवर्तः । होइ भवति । अल्पसंसारता सम्यक्साधनायाः फलमेव दर्शिता ॥

एवंविपसम्यक्साधनायाः फलमाचष्टे—

मूला—आराहतो निष्पादयन् । सुविमुद्धतिव्वलेस्सो सुविमुद्धतीव्वलेइयाः विशुद्धा शुभा तीव्रा परिणामप्रकर्षवती लेइया कपायादुरंजिता योगप्रवृत्तिर्यस्य सः । परित्ति परिमितः । सम्यक्त्वापधनायाः स्वल्पसंसारत्वमित्यर्थः ।

अर्थ—सम्पददर्शनकी आराधना करनेवाले असंयत सम्यग्दर्शीको कोनसा फल मिलता है इसका इस मायामें आचार्यने उल्लेख किया है, उपगहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभाषना ये सम्पदग्रन्थने के चार गुण हैं इनमें सम्पदार्जन शंकादिदोषोंमें रहित हो जाता है, सम्पददर्शनमें विमुक्ति

नट जाती है. और दर्शनविनय की प्राप्ति होती है. सम्यक्सत्की आराधना करनेवाला कोई जीव यद्यपि असंयतु सम्यग्दृष्टि होगा तथापि यह निश्चुद्ध और तीव्र लेख्याका धारक होनेसे अल्पसंसारी होता है. क्रोधादि कथयोसे अनुगंजित योगिनी प्रवृत्तिसे लेख्या कहते हैं. उसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल रंगोंसे छह भेद हैं. कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेख्यायें अशुभ हैं. यहाँ उत्तर तीन लेख्याओंका ग्रहण समझना चाहिये. जिनके तीन शुभ लेख्याके तीव्र निर्मल परिणाम हैं वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनकी आराधनासे बहुगुणिते भोदा ग्रन्थ करने युक्त होता है. अल्प संसार रह जाना यह सम्यग्दर्शनाराधनाका फल है ऐसा यहाँ समझना चाहिये.

सहृदया पतियया रोचय फासंतया पवयणस्तस ॥

सयलस्त जेण पदे समत्ताहया होति ॥

रोचका जंतवो भवत्या स्पर्शकाः प्रतिपादकाः ॥

आगमस्य समस्तस्य सम्यग्दृष्ट्याराधना मततः ॥ ५२ ॥

तंवाशार्थं व्याख्यातुमिः सूत्रे पठिता गाथा यथा—

सहृदया पतियया रोचय फासंतया पवयणस्तस ॥

सयलस्त जे णरा वे सम्मत्ताहया होति ॥

मूळारा—सहृदया लब्धानकारणाः भवन्ताः पतियया ग्रीहिमन्ताः इत्येवोक्तमिति वचनेन । रोचय दक्षियुक्ताः सारस्वतोदिकया । फासंतया अनुज्ञानात् :

अर्थ—जो जीव जीवादितत्त्वोंके प्रतिपादक आगमपर मनसे श्रद्धान करते हैं, जो जिनप्रथित तत्त्व ही गमोत्कृष्ट है ऐसा वचनके द्वारा उच्चार करके श्रद्धान करते हैं. अर्थात् अन्तःकरणमें उत्पन्न हुवा श्रद्धानपरिणाम वचनके द्वारा व्यक्त करते हैं. जो चुटकीके द्वारा अर्थात् करतलघ्निके द्वारा अपना तत्त्वश्रद्धान प्रगट करते हैं. तथा जो अपना तत्त्वश्रद्धान कार्य करके—धर्मप्रभासना-जिनपूजा, दान इत्यादिके द्वारा प्रगट करते हैं. वे तत्र जीव सम्यग्दर्शनके आराधक हैं ऐसा मानना चाहिये.

तत्त्वप्रदानपरिणामः कतिभेदः किं फलं इत्यस्य प्रतिवचने— उत्तरप्रबंधः । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—
तिविहा समत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमजहणणा ॥

उक्कस्साए सिञ्झदि उक्कस्ससुसुवकलेस्साए ॥ ४९ ॥

उत्कृष्टा मध्यमा हीना सम्यक्त्वाराराधना त्रिधा ॥

उत्कृष्टलेदयया तत्र सिद्धचत्पुत्कृष्टया तथा ॥ ५३ ॥

विजयोदया—तिविहा त्रिविधा । समत्ताराहणाय सम्यक्त्वाराराधना । उक्कस्समज्झिमजहणणा उत्कृष्टमध्यम-
जयन्या चेति । तत्र उक्कस्साए उत्कृष्टया सम्यक्त्वाराराधनया । सिञ्झदि सिञ्चति निर्दुतिमुपेति । उत्कृष्टपुल्लेदययासहितया ।

सम्यक्त्वाराराधनाया भेदेनैवेदसंपूर्णं उत्कृष्टभेदत्वं फलमाचष्टे—

मूलारा—स्पष्टम् ।

तत्त्वप्रदानरूप परिणाम कितने तरहके हैं ? उनसे क्या फल मिलता है ? इसका उत्तररूप आरोका
विषय लिखते हैं. प्रथमतः सम्यक्त्वाराराधनाके भेद दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शनाराधनाके उत्कृष्टाराधना, मध्यमाराधना व जयन्याराधना ऐसे तीन भेद हैं. उत्कृष्ट
शुक्कलेदययासहित जीवको उत्कृष्ट सम्यक्त्वाराराधनाके प्रभावसे मुक्तिसुल प्राप्त होता है.

तेसा य हुंति भवत्सत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ॥

संखेज्जा ऽसंखेज्जा वा सेसा भवजहणणाए ॥ ५० ॥

भवन्त्यन्ये भवाः सप्त मध्ययां मध्यलेदयया ॥

संख्याता चाप्यसंख्याता हीनया हीनलेदयया ॥ ५४ ॥

विजयोदया—सेसा अवशिष्टाः । हुंति भवन्ति । किं भवा मनुष्यत्वादियर्थायाः । कति खल सप्त । मज्झिमाए
य सम्यक्त्वाराराधनया । सुक्कलेस्साए शुक्कलेदयया मध्यमया वर्तमानस्येत्युभाभ्यां मध्यमत्वादयस्य संवधो व्याख्येयः ।
संखेज्जा संख्याताः असंखेज्जा अपा संख्याता धा संख्या देया भवन्ति भवाः । जहणणा जयन्यारूपकत्वात् जयन्या मुक्तिमुपेतस्य ।

मूलात्—मङ्गिमास—मध्यमया इदमुपपन्नं योज्यं । तेन मध्यमशुक्लेऽश्यायी वर्तमानस्य मध्यमया सम्बन्धत्वा राधनया मुदिमुगतरयायीष्याः सातमयाः स्फुरित्यर्थः । संसेज्या इत्यादि संख्याता अवस्थिता या भवन्ति शेषा भवा अपन्यया मृतरत्नेत्यर्थः । अन्ये तु संसेज्या संखेज्या भवा य इति पठित्वा भवाश्चेत्यत्र च शब्देन ज्ञतं इति समुचित्व-
नि । यये तु या शब्दात् ।

अर्थ—मत्स्यं शुक्र लेझाका आश्रय करके जो जीव मध्यम सम्बन्धस्तराधना करते हैं वे सात भव धारण करके मोक्षको प्राप्त करते हैं, जिनमें सम्बन्धकी आराधनासे जो मरण करते हैं वे जीव संख्यात अथवा अज्ञान जन्म धारण करके मोक्ष हस्तगत करते हैं,

उत्तास्त्रिभ्यं आराधनाः कस्य भवन्ति इत्यस्योत्तरमाह माधया—

उक्तंसा केवलिणो भजिदमया सेससम्मदिणीणम् ।

अत्रिरवसम्मादिष्टिस्स संकिलिहस्स हु जहण्णा ॥ ५१ ॥

तत्र केवलिनो वर्या मध्या मा शेषसद्वशाम् ॥

असंयतस्य सद्वृष्टेर्हीनं संकिएचेतसः ॥ ५५ ॥

विज्ञापेद्या—उक्त्या सम्यक्पराधना भवति । कस्य केवलिणो केवलिनः । केवलमसहायं ग्रन् । इन्द्रियाणि, मनः, प्रकाशोपदेष्टादिकं यानेनेष्व वृत्तेः । मत्स्यस्याध्यायेः आत्मकारणत्वात्सहायत्वास्तीति केवलतत्प्राप्तः इत्यादिषु चेष अदेमिराजानोपमानापरलोपजायमानस्यैव योधस्य केवलशब्दवृत्तेः । केवलिकाश्चो यद्यपि सामान्येन केवलद्वये प्रभुत्वा स्थापनाह भयोमिकेतिप्रदणं इत्यन्यत्र मरणमाणात् ॥

उक्त्या कथं सम्यक्पराधना भवति इति चेत् इदं द्विविधं सम्यक्सं सरागलस्यस्यं धीतरागलस्यस्यं चेति । रागो द्विविधः यदन्तरागः अग्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पंचगुण्यु, प्रवचने च यत्तेमानस्त्वदुणानु रगतमक । अमरान्तो रागो द्विविधः इन्द्रियगेषु मनोनेषु जायमानः । आकायासेषु, वत्सणीति सिद्धति, सन्निरूपिते मोने, तत्तथेषु वा प्रयत्नमत्तः दृष्टिरागः इति । तत्र यदास्तरागसहितानो अर्धानं सरागसम्यग्दर्शनं । रागद्वयसहितानां क्षीणमोक्षपरणानां धीतरागसम्यग्दर्शनं । तस्याधना उत्कृष्टा सममलाभावात् । अशेषविकालोचरस्युयाथात्म्यप्रादित्यकलमान सहायितयाच ।

मन्त्रिमया मध्यमिका सम्यक्पराधना भवति । सेससम्मदिणीं उपयुजेतरवचना शेषशब्दः इति केवलि-

भ्यो येऽयेऽस्यतसम्यग्दृष्ट्यादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषसंश्लेषः ।

तत्रापराधमाह—अचिरदत्तसम्मादिद्विस्त अंत्यतसम्यग्दोहः । जहण्णा उअय्या सम्यक्त्वा राधना भवति । किं मंसस्य ! नेत्याह—संनिलिद्वस्त संनिलसस्य परीपहव्याकुलचेतसः इति यावत् ।

का सम्यक्त्वा राधना करस्य स्यादित्याह—

मृनारा—इयत्तस उत्कुट्ठा प्रशस्तेतरागात्कर्म्ममलविलयाभिरित्यवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञानसह धरितत्वाय । जर्णोदयोगकेयहिनसस्यैव मरणसंभयापरमोत्कुट्ठशुद्धेऽव्यासंस्कारव्यवहरणानुसरत्याह । पूर्वप्रयोगादविलकुला छत्रकव-
निति सूदकारवचनात् । सेसा असंछिदसम्यग्दृष्ट्यादिः । संनिलिद्वस्त परीपहव्याकुलमनसः ।

फहरीं हुरीं ये तीन आराधनायें किस जीवको प्राप्त होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं.

अर्थ—उत्कृष्ट सम्यक्त्वकी आराधना अयोगकेवलीको होती है. मध्यम सम्यग्दर्शनाराधना चाकीकै सम्यग्दृष्टी जीवोंको होती है. परंतु परीपहोंसे जिसका मन उद्धिप्त हुआ है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टीको जघन्य सम्यक्त्वा राधना प्राप्त होती है.

विशेषार्थ—असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं. शंका-ईद्रीया, मन, प्रकाश और उपदेशादिकोंका सहारा न लेकर फक्त आत्माके आश्रयसे अर्थात् य मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होते हैं. इस लिये उनको भी केवलज्ञान फ्यों नहीं कहते हो ? उत्तर—अध्यादिक ज्ञानको केवलज्ञान नहीं कहते हैं. जिसने सर्व ज्ञानावरणकर्मका नाश किया है ऐसे ज्ञानको ही केवलज्ञान यह शब्द रूढ है अन्य ज्ञानोंमें केवल शब्दकी रूढी नहीं है.

केवल शब्द सामान्यसे सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दोनोंमें प्रयुक्त है तो भी यहां केवली शब्दमें अयोग केवलीकाही ग्रहण होता है. सयोगकेवलीकी अवस्थामें मरण होताही नहीं.

केवलीका सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट कैसा ? उत्तर—सम्यग्दर्शनके सारा सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद हैं. रागके भी प्रयुक्त राग और अग्रशस्त्र राग ऐसे दो भेद हैं. पंच परमेष्टी, और जिनारागमें जो गुणानुराग उत्पन्न होता है उसको ग्रन्थस्तराग कहते हैं. अग्रशस्त्ररागसे मनोहरविषयोंमें जो मम उत्पन्न होता है वह पहिला अग्रशस्त्र राग है. और युद्ध, फणित्वादिक आत्माभास और उनके विद्वान्, उनके द्वारा प्ररूपे हुए कुमार्गी नया इमारोन्मय लोक इनके निषयमें हुआ जो अनुराग वह दुमरा अग्रशस्त्र राग है. ग्रन्थस्तरागसहित जीवोंका जो

सम्यग्दर्शन वह सराग सम्यग्दर्शन है। जिनके प्रशस्त और अशस्त दोनो ही राग नष्ट हो गये हैं अर्थात् मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म जिनका नाश हो गया है उनके सम्यग्दर्शनको वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। केवली भगवानको उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनाराधना होती है। क्योंकि संपूर्ण रागरूपी मल उनका नाश हुआ है। तथा त्रिकालवर्ती संपूर्ण पदार्थोंका अर्थस्वरूप ज्ञाननेवाला ज्ञान सम्यग्दर्शनका साधनी है। इसलिये भी केवली भगवानकी सम्यग्दर्शनाराधना सर्वोत्कृष्ट है। अविरतसम्यग्दर्शनादिका सम्यग्दर्शित जीवोंकी सम्यग्दर्शनाराधना मध्यम दर्जेकी है। जो परीप्राप्ति व्याकुलचित्त हो गये हैं ऐसे अविरत सम्यग्दर्शी जीव अवन्याराधक हैं ऐसा समझना चाहिये।

अव्यक्तसम्यक्त्वापराधनामादात्म्यं कथयति—

संस्केज्जमसंस्वेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तुणं ।

दुक्खसखयं कर्ते जे सम्मत्तेणणुमरंति ॥ ५१ ॥

संक्यातागम्यसंक्यातामनुसृत्यापि संसृतिम् ॥

मरुफालेज्जुगच्छन्तो जीवाः सिध्यन्ति दर्शनम् ॥ ५२ ॥

विजयोद्या-संस्केज्जमसंस्वेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तुणे परिभ्रम्य। दुक्खसखयं दुःखस्वयं। कर्तेति कुर्यान्ति। के जे। सम्मत्तेणणुमरंति सम्मत्तेण सह दुःखमुपयासि। नम्रियं अयम्या सम्यक्त्वापराधना तस्यां वा प्रभुसस्य संसारफलो निरूपित एव। 'संस्वेज्ज वा असंस्वेज्ज वा सेसा अहण्णाए' इति तणुमरुक्ता स्पष्टिति। न, उक्तस्याधस्यविशेषेण मृत्योऽभिधातं पुनरुक्तमिति, इह तु विदोषाभिधानमस्ति 'दुक्खसखयं कर्तवित्ति'।

जघन्यसम्यक्त्वापराधनामादात्म्यमाह—

मूढारा—गुणं वा। वा शक्यादन्तं वेत्त्यर्थः। अणुसरित्तुणं। परिभ्रम्य। अणुसरित्ता मरणे प्रतिपद्य। कर्तेति इत्थं। ॥ एतद्विशेषरथापनार्थत्वाद्भरोक्तार्थत्वेऽपि न शेषः३

जघन्य सम्यक्त्वापराधनाकी विशेषता आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जिनका सम्यक्त्वके साथ मरण होता है वे जीव संख्यात वा असंख्यातभवतक संसारदुःखोंका क्षय करके मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं।

श्रुता—इस उच्यसम्पत्त्वाधनाका काल पूर्वमे 'सखिज्वा संखिज्वा वा सेसा जहणाए' इस गाथा-धर्मे कहा है, वही अभिप्राय प्रस्तुत गायामें पुनः आप कहते हैं इस लिये यहां पुनरुक्ति दोष आता है, समाधान—आपका कहना ठीक है, कहे गये अथकीही चार बार कहना वह पुनरुक्तिदोष है, परंतु यहां सम्पत्त्वाधनाकी विशेषता कही है इस लिये पुनरुक्ति दोष नहीं है, सम्पत्त्वाधनाक दुःखोंका ध्यय करके मुक्त हो जाता है यह विशेषता इस गाथामें आचार्यने दितामी है अतः यहां पुनरुक्ति नहीं है.

सम्पत्त्वाधनाभमाहास्यनियेदगाय गाथा—

लब्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ॥

तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासड्ढा ॥ ५३ ॥

मुहुर्तमपि ये लब्ध्वा जीवा मुंचन्ति दर्शनम् ॥

नामंतामंतसंख्याता नेपामड्ढा भवस्थितिः ॥ ५७ ॥

इति बालमरणं समाप्तम् ॥

विशेषोपेक्षा—लब्धूण लब्ध्वा । सम्मत्तं तत्त्वधनं । कियत्कालं ? मुहुत्तकालमवि अंतर्मुहुर्तमात्रमपि ॥
जे ये परिपडंति सम्पत्त्वाधनाप्रचयान्ति । अन्तानुबंधिनामुद्यत् । तैसि तेषां सम्पत्त्वाधनाप्रचय
मिष्यात्यं गताना । संसारवासड्ढा संसारयसलकालोऽनंतो भवत्येवेति, तु शब्द एवकारार्थोऽत्र संबधनं नेय । अन्तानंत-
मरणं कुर्यता अन्तकालपरिधमणसद्राज्यस्वर्गं छत्तम् ॥ इति बालमरणम् ॥

मूळारा—डु एदार्थे । मुहुत्तकालं अन्तर्मुहुर्तमानं । परिवडंति । सम्पत्त्वाधनाप्रचयान्ते अन्तानुबंधिवामन्यतमो-
दयान् । अन्तानंतो । अन्ततस्तु स्यादिति भावः । अड्ढा काल । इति बालमरणं प्रकरणम् ।

सम्पत्त्वर्गै लोभका माहात्म्य कहते हैं,

अर्थ—जो जीव सम्पत्त्वर्गमको मुहुर्तकालपर्यंतभी प्राप्त करके अनंतर छोड देते हैं वे भी इस संसारमें
अन्तानंत कालपर्यंत नहीं रहते हैं, अर्थात् उनको अर्द्धशुद्धलपरिवर्तन कालतकही फिरना पडता है, इससे जादा
कालतक वे मग्नमग्न करते नहीं.

बालमग्न प्रकरण समाप्त हुआ. अब बालमग्न प्रकरणका वर्णन करते हैं.

मिव्याहृष्टैर्द्वयौनस्यमात्राण तस्यापचकः स्यात् परिणत इति त्रयोपपचकः स्याद्वितीमां शोफाम्
पाकतुमाह--

जे ण सम्मत्ताओ पब्भट्ठा ते पमाददोषेण ॥

आमन्ति दृढमवा वि ह संसारमहण्णवे भमि ॥ ५३ ॥ क्षेपकगाथा ।

जो पुण भिच्छादिष्टो दढचरिचो अदढचरिचो वा ॥

कालं करेज्ज ण ह सो कस्सह् आराहओ होदि ॥ ५५ ॥

संपत्तोऽसंपत्तो वा यो मिथ्याह्वकलुपीकृतम् ॥

विदधात्यभसः कालं कस्याप्याराधको न षः ॥ ५८ ॥

विजयोदया—ओ पुन मिच्छादिदी । यः पुन मिच्छादिद्विस्तवस्थानरहितो । यः पुनर्वचरितो भवद्वचरितो वा
 वद्वचरितो वा भवद्वचरितो वा । फलं करोज नृनिमुपेयात् । सो सः । अ खु नैव । कस्वर कस्यचिदपि । आराधनो
 आराधको भवति । सम्प्रत्यक्षेण सम्यक्त्वसम्यक्त्वादिभेदो न स्तः । इति स्तत्रये कस्यचिदपि नाप्राप्त इति ग्राह्यम् ।
 अस्या मिच्छादर्शनान्तरात्पक्षे यथासौ इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्युक्तं स्यात् ॥

अथ निष्पत्त्यादृष्टिः सद्यस्वभावात्तद्वनाशकोऽपि क्षान्त्वादिमपरिणत्या प्रियनाजस्तद्वारायकः स्वादित्याशंका-
पनोदार्थं आह—

मुञ्जारा—कस्सवि रत्तत्रयमण्ये कस्सच्चिदपि सम्भयत्वं विनान्ययोरपि धभावात् ।

मिथ्यावादि सम्पददर्शन न होनेसे सम्पददर्शनका आराधक नहीं है, तो भी ज्ञान और चारित्र्यें बड़े परिणत होनेसे उनका आराधक होगा इस शंकाको दूर करते हैं—

अर्थ-लंगतानुबंधीके उदयसे प्रभाद दोष उत्पन्न होकर जो जीव सम्यक्सत्ते प्राप्ति हो जाते हैं, अर्थात् जो मिथ्यात्वी होते हैं वे इस भयंकर संसारसमुद्रमें पडकर अनंत कालतक कुत्सितभव धारण करते हुये प्रमण करते हैं.

अर्थ-वृत्तार्थश्रद्धानरहित जो मनुष्य अर्थात् मिथ्याहृष्टी दृष्टाचारिका धारक हो अथवा क्षिथिलचारिणी

हो वह यदि मरेगा तो किसी भी आराधनाका धारक नहीं है, अभिप्राय यह है कि उसको सम्यग्दर्शन नहीं है, सो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य उसके विना उसको कैसे प्राप्त होगा ? अतः रत्नत्रयमेंसे वह किसीका भी आराधक नहीं है, यदि वह मिथ्यादर्शनादिकोका आराधक है ऐसा मानोगे तो 'ण हु सो कस्स हु आराहणे होदि' 'वह किसी भी आराधनाका आराधक नहीं है' यह वचन मिथ्या कहना पड़ेगा.

अथ हो मिथ्यादर्शियों मिथ्यात्ववान् । अथ तत्रेव मिथ्यात्वं नाम किं कतिविधं इत्यत आह—
तं मिच्छत्तं जमसद्वहणं तच्चाण होइ अरथाणं ॥

संसङ्गयमभिगृहियं अणभिगृहियं च तं तिविहं ॥ ५६ ॥

जिनैरभाणि मिथ्यात्वं तत्त्वार्योनामरोचनम् ॥

इदं सांशधिकं जंतोर्गृहीतमगृहीतकम् ॥ ५९ ॥

तत्र जीवादितत्त्वानां कथितानां जिनेश्वरैः ॥

विनिश्चयपराचीना इष्टिः सांशयिकी मत्ता ॥ ६० ॥

परोपदेशसंपन्नं गृहीतमभिधीयते ॥

निसर्गसंभवं प्राज्ञमिथ्यात्वमगृहीतकम् ॥ ६१ ॥

विज्ञयोदया—तं तत् । मिच्छत्तं मिथ्यात्वं । होदि भवति । अं यत् असद्वहणं अशब्दानं । कस्य तत्प्राप्तं अर्थानं तत्त्वार्योनामर्गोचरकानां जीवादीनां । अर्थस्य तत्त्वविशेषणमनर्थकम् । अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेष्ट । मिथ्याज्ञानोपपन्नतस्य नित्यत्वक्षणिकत्वाद्यन्तमधर्ममात्मकस्यातत्त्वरूपसंभवात् । तस्य भावस्तत्त्वं तत्पराच्यो माववचनः । भाववचनमर्थोपाच्यो वधीति । ततोऽन्योर्मिमांशचिक्करणभूतोः कथं समानाधिकरणेति न दोषः । माववद्व्यतिरेकाद्रावस्य तत्पराच्योऽर्थ एव वर्तते इति । तथा च प्रयोगः—

तत्पराच्येयत्वात् सम्यग्दर्शनमिति । अथवाव्यधिकरणेतैव । अर्थानां जीवादीनां यानि तत्त्वानि अविपरीतानि रूपाणि तेयमशब्दानं यत्तन्मिथ्यात्वं इति संवेद्य कियते । संसर्गं संशयितं किंचित्त्वमिति । तत्त्वानवधारणात्मक मंदायज्ञानमहचारि अधश्चानं संशयितं । न हि संशयितस्य तत्त्वविषयं शब्दानमस्ति इदमित्येवेति । निश्चयमस्य सद्धमपिपत्तान् शब्दानस्य । अभिगमिदिदं यदेशमिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अशब्दानं अभिगृहीतमुच्यते । एतदुक्तं भवति । न संति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण संति जीवादीनि नित्यान्वेयेति यदा परस्य भवनं श्रुत्वा

जीवादीनां सत्ये अनेकांतात्मकत्वे चोपजातं अथद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति । परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोद्घाटनप्रजायते यदथद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ॥

यद्वाग्निमध्यादृष्टिः स्यात्तन्मिथ्यात्वं किं कतिविधं चेत्यत्राह—

मूढारा—तच्छाया अर्थानां अनंतद्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां, अथवा अर्थानां यानि सत्त्वानि अपिपरीतानि रूपानि तेषां । संसद्दं किं संप्रथमायां शुक्तिर्निर्मयतायां चेत्यादि सत्त्वानवधारणात्मको दर्शनमोहोदयनिमित्तः प्रत्ययः संशयः । तेन सहचरितं सत्त्वाशद्धानं संशयितं, संशयः संजातोऽस्येति व्युत्पत्तेः । न हि संदिहानस्य तत्त्वश्रद्धानमस्ति । इदमित्येवेति निश्चयसहस्रमपित्वाचरत् । अभिग्राहिदं । परोपपेशादाभिमुख्येन स्वीकृतं परोपदेशजं इत्यर्थः । तथा हि—न संति जीवादीनि इति गृह्यण । संति वा तानि, नित्यान्वेयेत्यादि परस्वचः श्रुतवतो यदा तेषां सत्त्वे अनेकांतात्मकत्वे वा अथद्धानं स्यात्तदाभिगृहीतमित्युच्यते । तच्छुक्तं—क्रियवाद्यादिमतेर्भेदात् । ते यथा—

असिधिसर्पं किरियाणं अक्षिरियाणं च होति शुल्लसीदि ॥

सचट्टी अण्णाणी वेणइयाणं च होदि वसीत्तं ॥

अणभिमग्राहिदं परोपपेशं विनापि मिथ्यात्वोद्घाटनार्थं ।

जिसको आप मिथ्यापट्टि कहते हैं उसका क्या स्वरूप है ? तथा मिथ्यात्वके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नाका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—अनंत द्रव्यपर्यायोंसहित जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है, इस मिथ्यादर्शनेके संशयमिथ्यात्व, अभिग्रह मिथ्यात्व और अनभिग्रह मिथ्यात्व ऐसे तीन भेद हैं ।

विशेषार्थ—गामों ' तच्चाणं होइ अत्याणं ' ऐसा वाक्य है उसमें अर्थ शब्दका ' तच्च ' यह विशेषण व्यर्थ मालूम होता है, क्योंकि जीवादिक अर्थ तत्त्वरूपही रहते हैं, अतस्वरूप-मिथ्यारूप नहीं होते हैं, इस शंकाका उत्तर आचार्य देते हैं,

मिथ्याज्ञानीमोने जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्यही हैं अथवा अनित्यही हैं, एकही हैं, अनेकही हैं ऐसा उपदेश किया है, परंतु वस्तु सर्वथा नित्यादि एक एक धर्ममय है ऐसा सिद्ध नहीं होता है, अतः एकैक धर्मात्मकही वस्तुस्वरूप समझना मिथ्यात्व है, एक एक धर्मात्मक वस्तु अतत्त्व है, उससे व्यावृत्ति करनेके लिये ' तच्च ' यह विशेषण ग्रंथकारने जोड़ दिया है,

यहां तत्त्व शब्द भाववाचक है, जो पदार्थ जिस स्वरूपमें विराजमान है वह उस रूपसे रहनाही तत्त्व कहलाता है, जैसे चेतना आत्माका स्वरूप है, इसलिये हमेशा आत्मा चैतन्यस्वरूपमें रहता है, अर्थशब्द भाववाचका वाचक है, अर्थात् स्वभावको धारण करनेवाले पदार्थको भाववान् कहते हैं, तत्त्व शब्द और अर्थ शब्द ये दोनों शब्द भिन्नाधिकरणवृत्ति हैं अतः इसकी समानाधिकरणता कैसी जुड़ेगी ?

आचार्य इस शंकाका उत्तर देते हैं—भाववानसे भाव अभिन्न होता है, जीवसे चैतन्य अभिन्न है, जीव भाववान् है और चैतन्य भाव है, चैतन्य जीवसे अपृथक् है अतः दोनोंकी समानाधिकरणता जुड़ सकती है, अतः पुरल, धर्मादिक पदार्थोंमें भी अपने अपने स्वरूपसे अभिन्नता होनेसे समानाधिकरणता सिद्ध होती है,

अथवा भिन्नाधिकरणता माननेसेभी कुछ हानि नहीं है, इसलिये जीवादि पदार्थोंके जो तत्त्व अर्थात् सत्त्वा स्वरूप ऐसा अभिप्राय भिन्नाधिकरणता माननेसे सिद्ध होता है,

संशयितमिध्यात्व—जिसमें तत्त्वोंका निश्चय नहीं है ऐसे संशयज्ञानसे संव्यथ रत्ननेवाले श्रद्धानको संशयमिध्यात्व कहते हैं, जिसको पदार्थके स्वरूपका निश्चय नहीं है अर्थात् जो व्यक्ति संशययुक्त बनी है उसको जीवादिओंका स्वरूप देसा ही है अन्य नहीं है ऐसी तत्त्वविषयक सत्त्वी श्रद्धा नहीं रहती है, जीवादितत्त्वोंपर जब सत्त्वी श्रद्धा होती है तब उनका निश्चयज्ञान अवश्य रहता ही है,

अभिगृहीतमिध्यात्व—कुरलके उपदेशसे जीवादितत्त्वोंपर जो श्रद्धा पैदा होती है वह अभिगृहीतमिध्यात्व है, जीवादितत्त्व नहीं है, श्रद्धा वे अनित्य ही है, वा नित्य ही है ऐसा दूसरोंका उपदेश सुनकर जीवादिकोंके अस्तित्वमें श्रद्धा उनके अनेक धर्मोंमें श्रद्धा होती है, यह अभिगृहीतमिध्यात्व है,

अनभिगृहीतमिध्यात्व—दुसरोंके उपदेश विना ही जो श्रद्धाजन मिध्यात्व कर्मके उदयसे हो जाता है, वह अनभिगृहीतमिध्यात्व है,

मिध्यात्वतोनमादभ्यव्ययतायाह—

जे वि अहिंसादिगुणा भरणे मिच्छतत्तङ्गुणिदा होंति ॥

ते सत्ता कङ्गुगदेस्सियमदे च दुक्कं हवे अपक्खा ॥ ५७ ॥

अहिंसादिगुणाः सर्वे व्यर्थं मिथ्यात्वभाबिते ॥
कटुकैऽलाचुनि क्षीरं सफलं जायते कुतः ॥ ६२ ॥

विजयोदया—अथ हिंसा नाम प्रगल्भतः श्रान्तेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्त्वतो निवृत्तिर्प्राप्ता । अस-
न्निधानाद्विरतिः क्लृप्तम् । अथसाधनाद्विरतिरस्तेष्वं । म्रैशुनाद्विरतिर्लक्ष । ममेदं भावो मोहोदयः परिग्रहः । ततो
निवृत्तिरपरिग्रहता । एते अहिंसादयो गुणाः परिग्रामा धर्म इत्यर्थः ।

ननु सहस्रयो गुणा इति वचनात् कैतन्यायुर्हिंसादीनोभेदात्मनः सहस्रयां गुणता । हिंसादिभ्यो विरतिरि-
षामः पुनः प्रावृत्तिरिति चेत् मनुष्यान्वादिभ्यो धारितव्याया इति चेन्न गुणपर्यवश्यं मिथ्यात्वाद्भुभयोपादाने अर्थात्
जेदोपदानेमेतदथा ' गोपटीवर्धम् ' इत्युभयोक्त्यादौ पुनरुक्ततापरिहृतये स्त्रीगोशब्दाव्या इति कथनेमेकस्यैव गुण
शब्दस्य ग्रहणे धर्मेनाशयवन्तता ॥

अहिंसाप्रपञ्च ते गुणाः अहिंसादिगुणाः । मिच्छन्कटुकमिवा मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रयनेन । कटुगिदा कटुकताः
कटुकतां गताः । ह्येति भवति । कदा मरणे मरणकाले इति । अफला भवति । कस्य मिथ्यात्वकटुकताहिंसादिगुणस्यात्मनः ।
किमिव ! बुद्धेः क्षीरमिव । क्षीरमूलं ? कटुकदुःखमगदं कटुफालावृण्मताम् यथा अफलं फलरहितं । पिच्छाद्युपशान्त
प्रीतिरित्यादिकं यत्फलं क्षीरस्य प्रतीतं तेन फलेन अफलं जातम् । यथा क्षीरं भाजनयोग्येयं मिथ्यात्वस्यात्मनि स्थिता
अहिंसादिगुणा स्वसायेन फलेन अफलताः पंचानुचरविमानयासित्यं सौकतिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिव गृहीतं ।
अहिंसादयो न स्वीचितफलातिशयवदपिनः दुष्टभाजनस्थितयात् कटुकाष्ठानुपगतपयोवदिति सूत्रार्थः ॥

मिथ्यात्वमाहात्म्यं कथयति—

मूलादा—गुणा धर्मोः । मनु च सहस्रयो गुणा इति वचनात्तन्मातृत्वादीनामेवात्मता सह सदा लब्धवृत्तीनां
गुणत्वं न्याय्यं, न त्वहिंसादीनां काश्चित्कत्वेन मनुष्यादिबन्धकौधादिवद्वा तेषां धर्मोयत्तादिति चेन्न ' गुणपर्यवश्यं लब्धव्यमि-
त्वाद्भुभयोपादानेऽर्थान्तरमेदोपदानेमेतदथा गोकलीयदेमित्युभयोपादाने स्त्री गोशब्दाभ्येति कथनं । एकस्यैव तु गुणश-
ब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता । कटुगिदा कटुकिवा दूषिताः । स्वीचितफलातिशयवदनेऽन्यथाकृतसामर्थ्यो इत्यर्थः । तस्य
मिथ्यात्वकटुकताहिंसादिगुणस्यात्मनः । कटुदोदिवगदं कटुकुंभकस्थितं । कदमिति पाठे कुंभं प्रक्षिप्तमित्यर्थः । इवे
भवति । अहलं—पंचानुचरविमानवासेलं सौकान्तिकत्वाद्यभ्युदयलक्षणफलरहिताः । श्रीवित्त्वपिच्छाद्युपसमनादिकलरहितं च ॥

परोपदेशमिदमेतन् इति सप्तमके पाठः ।

मिथ्यात्वके दोषोंका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये आत्माके गुण हैं परंतु मरणसमयमें यदि ये गुण मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो कड़वी तुंवीमें रखे हुए दूधके समान व्यर्थ होते हैं, फलरहित होते हैं.

विशेषार्थ—रूपाययुक्त होकर प्राणीके श्राणोंका नाश करना हिंसा है. इस हिंसासे विरक्त हो जाना अहिंसा मानी जाती है. प्राणीको दुःख देनेवाले मापणसे विरक्त होना सत्य है. अन्यजनोंके द्वारा नहीं दी गई वस्तु ग्रहण करना अचौर्यव्रत है. मेथुनके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य है. तथा यह घनादिक भेरा है ऐसा संकल्प मोहकर्मके उदयसे होता है उसको परिग्रह कहते हैं. उससे निवृत्त होना अपरिग्रह-परिग्रहत्याग कहलाता है. ये अहिंसादिगुण आत्माके परिणाम हैं अर्थात् धर्म हैं.

शंका—गुण द्रव्यके साथ हमेशा रहते हैं. 'सहस्रवो गुणाः' ऐसा गुणके विषयमें आत्मका वचन है. चैतन्य, असृजित ये ही आत्माके गुण हैं. ये गुण कभी आत्मासे अलग नहीं होते हैं. इनको ही गुण कहना चाहिये. परंतु हिंसादिकोंसे जो विरक्तिरूप परिणाम हैं वे कदाचित्क है-अर्थात् वे परिणाम मनुष्यपना, क्रोधादिकोंके समान सदाही आत्मामें रहते नहीं हैं. अतः उनको गुण कहना योग्य नहीं.

इस शंकाका उत्तर—'गुणपर्यववद्रव्यम्' इस सूत्रमें दोनोंका ग्रहण किया है अर्थात् गुण और पर्यायिको ग्रहण किया है. यहाँ गुणशब्द उपलक्षणवाचक समझना चाहिये. अर्थात् वह क्षानादिगुणोंके समान अहिंसादिधर्मोंका भी वाचक है. जैसे 'गोपलीवर्दम्' इस शब्दसे एक ही गोका दो शब्दोंसे ग्रहण करनेसे एकको व्यर्थता अर्थात् पुनरुक्तता आती है वह दूर करनेके लिये गोशब्दका अर्थ गाय करना पड़ता है. उसी तरह 'अहिंसादि गुणा' इस वाक्याके शब्दसे यहाँ धर्ममात्रको गुण कहा है ऐसा समझना चाहिये.

कड़ु तुंवीमें रक्सा हुआ दुग्ध पिचोपश्रमन करना, माधुर्य इत्यादि गुणोंसे हाथ धो बैठना है. अर्थात् पात्र के दोपसे दूधमें जैसे अफलता आती है वैसे ही मरणकालमें अहिंसादिगुण यदि मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो उनसे आत्माको विजय वैजयपादि पंचाजुरोंमें जन्म होना, लौकांतिकदेवत्व प्राप्त होना ऐसे २ सातिशय फल प्राप्त नहीं होते हैं. मिथ्यात्व दूषित अहिंसादिकोंसे फल फलातिशय मिलता नहीं है ऐसा भी नहीं है प्रत्युत वे आत्मामें रहकर महादोषोंको भी उत्पन्न करते हैं.

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण संजुदं संतं ॥
तह भिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होति ॥ ५८ ॥

सर्वे दोषाय जायन्ते गुणा मिथ्यात्वद्वृपिताः ॥
किमौपधानि निर्घ्नानि सविषाणि न जीवितम् ॥ ६६ ॥

विजयोदया—यथा भेसजं पि इति स्पष्टतया न व्याख्यायते । भिच्छत्तविसजुदा मिथ्यात्वेन विषेण संबद्धाः गुणा पि गुणा अपि आहंसादयो गुणा अपि । दोसावहा दोषावहा संसारे विरगद्विभ्रमदोषमावहन्तीत्यर्थः । अथवा मिथ्यात्वद्वृपिताः पापानुबन्धि स्वस्वार्थमिन्द्रियसुखं दत्त्वा यद्भारंभरिमहाविपु मासकं नरके पातयन्ति इति दोषावहाः । दद्यात्समदर्शनेन श्रमनिवृत्तिः प्राप्तिस्य मिथ्यापयमादाव्याघ्र भयतीति प्रमाणन दर्शयितुं गथाद्वयमायातम् ।

न केवलं मरत्ये मिथ्यात्वद्वृपिता आहंसादयः फलाविषयास्तद्व्यति किं तर्हि दोषमपि कुर्वन्ति इत्याह—

मूलाया—आवहदि करोति । दोसावहा संसारे विरभ्रमणकारिणः । अथवा मिथ्याद्वेगुणाः पापानुबन्धि स्वस्वमिन्द्रियसुखं दत्त्वा यद्भारंभरिमहाविप्यासकं कृत्वा नरके पातयन्ति इति दोषावहाः ॥

उन दोषोंका आचार्य एवं प्रकारसे वर्णन करते हैं—

अर्थ—औपध यद्यपि गुण करनेवाला होता है तथापि वह यदि विषमिश्रित होगया हो तो वह दोषयुक्त होता है, अर्थात् उसके सेवनसे मनुष्यकी हानि होती है, उसी तरह अहंसादिगुण जब मिथ्यात्वसे युक्त होते हैं तब वे गुण होते हुए भी संसारमें दीर्घकालतक परिभ्रमण करनेवाले दोषोंको धारण करते हैं, अथवा मिथ्यादृष्टिके ये वहिस्तादिगुण पापानुबन्धी स्वल्प इन्द्रियसुखकी जीवको प्राप्ति कर देते हैं, परंतु उसको बहुत आरंभ और परिग्रहमें आसक्त करके नरकमें ले जाते हैं अतः ये मिथ्यात्वद्वृपित जाहंसादिगुण दोषोंको उत्पन्न करते हैं ऐसी समझना चाहिये, विषयिश्चित औपधसे आरोग्यका लाभ होता नहीं वेसे मिथ्यात्वयुक्त अहंसादिगुणोंसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता नहीं ऐसा समझना चाहिये,

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ॥
अण्णंतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥ ५९ ॥
निर्वृतिं संयमस्सोऽपि न सिंख्याद्वष्टिरश्नुते ॥

जवनोऽप्यन्यतो यायी किं स्वेष्टं स्थानमुच्छति ॥ ६४ ॥

पिजयोदया—इत्यनेन प्रकृतगमनसामर्थ्योद्गमणमाख्यातम् । अण्णंतो गच्छंतो इत्यनेन तन्मार्गप्रयुक्तत्वात्
एतद्वं देसययौ दर्शितः । तेन इदं देसो न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शितः । सगिच्छिदं देसं जह पुरिसो
णेव पाउणदि । इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शितः ।

सिंख्याद्वष्टिर्नैवेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गादुत्तिस्वाद्यः स्वप्राप्यस्य मार्गे न वर्तते नासौ तत्प्राप्नोति । यथा दक्षिणमधुरातः
पाटलिपुत्रं प्राप्नुमिच्छुर्नैक्षिणां विप्रां गच्छति प्रमाणेनाभिमननिर्वृतिप्राप्तिप्रतिबंधकत्वमपि सिंख्यात्यस्य दर्शयितुं
गाथाद्वयमाह—

मुत्तरा—सगिच्छिदं स्वेष्टं । अण्णंतो अन्यत्र । पाउणदि प्राप्नोति ।

अर्थ—एक दिनमें सौ योजन भी गमन करनेवाला आदमी यदि वह अपने हुए स्थानसे पिलकुल
उलटी दिशाको गमन करने लग जाय तो जेसे वह कभी भी अपने स्थानको प्राप्त न होगा उस तरह सिंख्यात्यसे
युक्त अहिंसादिगुण जिसके हो वह पुरुष कभी भी युक्तिपदको प्राप्त होनेवाला नहीं है, यह निश्चित समझना
पादिये.

घणिदं पि संजमंतो मिच्छादिट्ठी तद्वा ण पावेई ॥

इदं णिव्वुइमगं उमगेण तवेण जुत्तो वि ॥ ६० ॥

पिजयोदया—घणिदं पि नितरमपि । संजमन्तो चरित्वे वर्तमानोऽपि । उमगेण तवेण जुत्तोचि उधेण तपसा
युक्तोपिऽपि, नैव निर्वृति प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्मोऽव्याप्तम् । मिच्छादिट्ठी इत्यनेन साध्यधर्मिं दर्शितम् । एवं प्रमाणरचना
गाथा—

मिच्छादिद्विनेपदं प्राप्नोति तन्मार्गोत्तिस्वात् । यः स्वप्राप्यस्य मार्गे न प्रवर्तते न स तमभिमतं प्राप्नोति । यथा

१ पठमागत्यातं इति समुक्तम् ।

रहितममुरात्ता गटलिपुत्रं गान्धुमिच्छुः दक्षिणो दिशे गच्छति । गिन्नुदि निर्दुति । बन्नां अर्थात् अथवा निर्दुतिस्तुष्टि
पञ्चा मन्यो निर्दुतिर्मेवस्तुष्टित्वयोः । निर्दुतिर्मानुषत्वं क्षतिकक्षानचारित्यत्यम् । स्पष्टतया न प्रतिपद्यता-
वता कृता ॥

मूलार्थः—पक्षिर्न अत्यर्थं । विर्भजयतीत्यर्थं सुन्दरति । इष्टुं गिन्नुदिसम्भवं क्षाधिकरत्नत्रयाख्यं सुक्तिमार्गं ।
अथवा इष्टो रीतिर्नाम निर्दुतिं मुष्टि । अन्त्यां प्रयानभूतां । अन्ववस्तुष्टिभित्तयैः ।

अर्थः—मिथ्यादृष्टि मनुष्य चातुर्यस्य पालने अच्युति तरहने फरेगा और उग्रतप भी तपेगा तो भी उसकी
इच्छित्त वीक्ष्यार्गाकी प्राप्ति फनी भी नहीं होगी.

जैसे कोई आदमी वादलिपुत्र नगरको जानेकी इच्छा रखता हुआ दक्षिणमथुरासे दक्षिणदिशाके तरफ
भी चलने लगा अन सोचो यह फमी वादलिपुत्र अहरको पोहोच सकता है ? उसी तरह यह मिथ्यादृष्टिजीव भी
बोधयामर्गसे न होनेसे स्पष्टस्थान-बोधकी ॥॥ नहीं कर सकता. मोक्षका मार्ग क्षतिकक्षान, यथाव्यक्त चारित्र्य ये
है. मिथ्यादृष्टिको इनकी प्राप्ति नहीं होती है ऐसा इस मायाका अभिप्राय है.

ब्रह्मेन गीहिव सपसा धां शुक्लोऽपि मिथ्यातयोगविन्दं संसारे परिभ्रमति इतरक्षिग्यताविहीने किं
याव्यमिति वृत्तयति—

अस्स पुणं मिथ्यविट्ठिस्स जल्लिहं सीलं वदं गुणो चापि ॥

सो मरणे अप्पाणं कहं ण कुणहं दीहसंसारं ॥ ६१ ॥

न विच्यते व्रणं शीलं यस्य मिथ्यादृष्टाः पुनः ॥

न कथं दीर्यसंसारमात्मानं विदधानि सः ॥ ६५ ॥

मित्रगोद्वार—स्वरगापि मिथ्यान्वादिषकणिका कुस्मितासु योगिषु उत्पन्नवति कमलि यत्नं सर्वस्य लिङ्गस-
म्य धात्राजे । इति भाषाया अर्थः ॥

भगवन्मनोरं मवादिगुणोपदि मिथ्यादृष्टिर्न संसारे अप्रवृत्ति र्हीह मरणे लक्षणम् ॥

प्राक्कार्यं पुनर्निर्गल्यमाह—

सौलं व्रतपरिरक्षणं । धर्माद्विज्ञानादिभ्योऽभिप्रायकृता विरतिः । गुणो ज्ञानादिः । कहेत्यादि । कह कथं । अनन्तान्तसंसारमप्यात्मानं करोतीति भावः ।

व्रत, शील और तपश्चरण धारण करता हुआ भी यह जीव धर्मादिभिप्रायदोषसे चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है। यदि वह व्रतादिकोसे भी रहित हो तो अवश्य संसारमें भ्रमण करेगा ही यही अभिप्राय धृष्टकार गाथामें कहते हैं।

अर्थ--जो मिथ्यादृष्टि शील, व्रत और गुणसे रहित है वह भ्रमणके अनन्तर दीर्घ संसारी क्यों न होगा ? अवश्य होगा।

एषं पि अस्वरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणविट्ठं ॥

सो वि कुजोणिबुद्धो किं पुण सत्वं अरोचन्तो ॥ ६२ ॥

अरोचित्वाजिनाख्यातं एकमप्यक्षरं मृतः ॥

निमज्जाति भवान्नोधौ सर्वस्यारोचको न किम् ॥ ६६ ॥

विजयोवया--पञ्चमपीत्यस्य बालशालभरणप्रवृत्तस्य मन्यस्य संख्याता, अस्व्याता, अन्तत वा भवन्ति भवाः । अभयस्य तु भन्तानन्ताः । मिथ्यादर्शनदोषमादाभ्यक्ष्वनं संसारज्जलताख्यापकेन क्षिप्यतेऽनया गाथा ॥

जिनदृष्ट्यैकस्याप्यक्षरस्याश्रयाने कुयोनिपूत्यतिः स्यात्किं पुनः समस्तस्यापि श्रुत्येत्याह--
मूलाया-कुजोणिबुद्धो कुस्तितयोनिनिमज्जो भवति ।

अर्थ--जिनेश्वरने उपदेशा हुआ एक अक्षरपर भी जो मनुष्य भ्रद्धान नहीं करेगा वह भी कुयोनिभ्रमण चिरकाल भ्रमण करेगा। तो जो संपूर्ण जिनवचनोंको अगान्य समझता है उसको तो संसारमें अनन्तकाल तक भ्रमण करना पड़ेगा ही वह अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अल्प भी मिथ्यात्वरूप विषकणिकाका सेवन करनेसे जीवको कुयोनीमें भ्रमण करना पड़ता है। जिनसंगवानने कहा हुआ समस्त जीवादिक पदार्थोंका उपदेश जो जीव अप्रमाण समझकर अश्रद्धान करता है उसके लिये तो कहना ही क्या रहा ? ऐसा इस गाथाका भाव है।

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होति बालबालमि ॥
 सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ॥ ६३ ॥
 संखेयेयाः संख्यसंख्येया बालबालमुतौ भवाः ॥
 भव्वज्जंनोरनंता वा परस्स गणनातिगाः ॥ ६७ ॥
 अनंतेनापि कालेन प्रभज्य भवपंजरं ॥
 सिद्धयन्ति भविनो भव्या नाभव्यास्तु कदाचन ॥ ६८ ॥

इति बालबालमरणम् ।

विमर्शोदया—बालबालं गदं संखेज्जा संखेज्जा या इत्यनया ।

इशानीं भव्याभव्ययोर्मैत्रेयत्वावधारणेन मिथ्यात्वमरणमाहात्म्यं कथयतिः—

मूलारा—सष्टे । बालबालमरणम् ।

वास्येनापि यदि त्यजन्नप्यमसुसंसारयोराण्वे ॥

दीर्घं आप्नयति पेतनारयजति कलदास्यपास्त्येन तान् ॥

इत्यभ्यस्तमनुमरश्चिन्नवचःपीयूषमस्त्रामिमै ॥

भक्तत्वात्ममुपैतु कीर्षितभमावादाद्यैर्दुर्लभम् ॥

इत्याशाधरानुस्मृतमयंसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे एवप्रवेयार्यप्रकाशीकरणप्रकणे बालमरणद्वयप्रपंचप्ररूपणो
 तान प्रदत्त आश्वासः ॥

अर्थ—जो भव्यजीव बालबाल मरणसे देहत्याग करता है उसको संख्यात, असंख्यात अथवा अनंत जन्म
 मरण करने पडते हैं, और अभव्य अनंतानंत अनन्ममरण धारण करता हुआ सुदाही संसारमें भ्रमण करता है, इस
 ग्राथासे मिथ्यात्वदोषका माहात्म्य प्रकृत होता है.

सप्तदशमरणचिह्नकेषु वंचमरणाभ्याम्योज्यते इति प्रतिपादिते । तत्र यत्पंडितमरणं तत्राणोपाप्तममरणमिति नो-
 मरणं भक्त्याल्लापानमिति निश्चितं सुचिंत । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राप्तिर्नानीपमिति दर्शयति सूत्रकारः सत्यमेव संवेधं
 उत्तरप्रवर्धय—

कतिविकल्पे भक्तप्रत्याख्यानमित्यरोक्तायामाह—

दुविहं तु भक्तपञ्चस्वाणं सविचारमथ अविचारं ॥

सविचारमणागोढे मरणे सपरकमस्त हवे ॥ ६५ ॥

सवीचारमवीचारं भक्तत्यागं द्विधा विदुः ॥

प्रथमध्विरातुपायास्तत्रान्योन्यस्य कथ्यते ॥ ७० ॥

विज्ञयेदप्य—दुविहं ॥ भक्तपञ्चस्वाणं द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यानं । सविचारमथ अविचारं इति । सविचारं विचारः । विचारेण यतते इति सविचारं । एतदुक्तं भगवति । कल्पयन्महर्षिभिरदिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यानं इति । अविचारं प्रथममणाहविनात्मनकारहितं । भवतु द्विविधं । सविचारमथ कृतप्रत्याख्यानं कस्य भवति इत्यस्योत्तरं । सविचारं भक्तप्रत्याख्यानं भगणादेः सहसा धनुषस्थिते मरणे विरकात्मनि मरणे इति यावत् । सपरकमस्त सत्परात्मनेन पतते इति सपरकमस्तस्य भवे भोगेत् । पराक्रमः उत्साहः एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारमस्तप्रत्याख्यानं भवतीति लभ्यते एते विचारभक्तप्रत्याख्यानं भक्त्य भक्तिशाले इति सूत्रे लोके ॥

कतिविकल्पे भक्तप्रत्याख्यानं स्पष्टित्याह—

मूलाया—सविचारं अर्हत्याविभेदसाहितं । विभिन्नैकपरगगनलक्षणेन विचारेण सद वर्तमानत्वात् ।

अविचारं वरगणसंक्रमणलक्षणविचाररहितं । तत्राद्यं कस्य स्यात् इत्यत्राह—भगणादेः विरकालभाविनि । सपरकमस्त प्रलयुक्तस्य । एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे प्रलयीनस्य अविचारं भवेदिति लभ्यते इति वचनाद्येन नोक्तम् ॥

भक्तप्रत्याख्यानके भेदोंका वर्णन आचार्य करते हैं.

हिंदी अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान भरणके सविचारभक्तप्रत्याख्यान और अविचारभक्तप्रत्याख्यान ऐसे दो भेद कहे हैं. उसमेंनि लो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह बलपुक्त है और जिसका भरणकाल सहसा उपस्थित हुआ नहीं है. अर्थात् जिसकी दीर्घ कालके अनंतर भरण प्राप्त होगा ऐसे साधुके भरणको सविचारभक्तप्रत्याख्यान भरण कहते हैं. जिसकी सामर्थ्य नहीं है और भरणकाल एकदम उपस्थित हुआ है ऐसे पराक्रमरहित साधुके भरणको अविचारभक्तप्रत्याख्यान भरण कहते हैं. नाना प्रकारसे चारित्र्य पालना, चारित्र्यमें विहार करना विचार है, इस निचारके अर्थ, लिंग रंगरे चालिम प्रकार हैं उनका विवेचन ग्रंथकार आगे करेंगेही.

तयोः कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शालेण निरूपणेत्याशङ्कायां आह—

सविचारभक्तपञ्चवत्त्वाणरिसणमो उवक्कमो होइ ॥

तत्थ य मुत्तापदाइं चत्तालं होति पेयाइं ॥ ६६ ॥

‘भक्तत्यागं सवीचारं मृत्युं तत्र चिबधुणा ॥

चत्वारिंशद्विबोध्यानि सूत्राणीमानि धीमता ॥ ७१ ॥

विजयेत्या—सविचारभक्तपञ्चवत्त्वाणरस इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानम् । इणमो अये । उयक्कमो व्याख्यानमारंभः । होदि भवति । तत्थ य तत्र च भक्तप्रत्याख्यानम् । मुत्तापदाइं सूत्रपदम् । सुतेऽर्थे, सूचयतीति वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । अत्तालं चत्वारिंशत् । होति भवन्ति । पेयाइं ज्ञातव्यानि ।

इदानीं सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य व्याख्यानसूचनपूर्वकं अर्हदादिगेदसूचयतां निर्दिशति ।

मूलात्—इणमो अये । उयक्कमो व्याख्यानप्रारंभः । तत्थ य तत्र सविचारभक्तप्रत्याख्याने । मुत्तापदाइं सूत्राणि च तानि पदानि च न वाक्यानि । चत्तालं चत्वारिंशत् ।

हिंदी अर्थ—अस यहाँसे आचार्य सविचारभक्तप्रत्याख्यानमरणका सष्टीकरण करनेके लिये प्रारंभ करते हैं. इस मरणके वर्णन करनेमें चालिस सूत्र अनेने लायक हैं. जो अयकी उत्पन्न करते हैं अर्थात् प्रकृत विषयकी सूचना करते हैं ऐसे शक्योंको सूत्र कहते हैं. ऐसे सूत्र इस मरणका विवेचन करनेवाले चालीस हैं.

तानि सूत्रपदानि माथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ॥

परिणामोवधिजह्णा सिंदी य तह भावणाओ य ॥ ६७ ॥

प्रस्तावना, अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उपविलान, श्रिति, भावना, सहोचना, दिक्, क्षमण, अनुशिष्टि, परगणचर्यो, मार्गेणा, सुस्थित, उपसर्पण, निरूपण, प्रतिहेल, पृच्छा, एकसमह, बालोचना, गुणदोष, शय्या, संस्तर, निर्यापक, प्रकाशन, हानि, मत्याख्यान, क्षामण, अपणा, अनुशिष्टि, सारणा, कवच, समता, ध्यान, लेइया, फल, आराधकत्यागलक्षणानि चत्वारिंशत्सूत्राणि ॥ ७२ ॥

विज्ञयोव्या—अरिहै अर्थः योग्यः । सविचारमत्तत्वाख्यानस्यायं योग्यो नेति प्रथमोऽधिकारः । कर्तव्यपापार
लिंगादयः कर्तुमुत्तरा भवन्तीति प्रागेव लिंगादिश्लाघित्यो योग्यकर्तृनिर्देशः सूत्रे कृतः अरिह इति । शिक्षाविक्रियाया
भक्तप्रत्याख्यानक्रियागम्यताया योग्यपरिकल्पनादर्शयितुं लिंगोपादानं कृतम् । कृतपरिकरे हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योगं
करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना ददवक्षकक्षाः कुलात्ता दस्यते । ज्ञानमन्तरेण न विनयादयः कर्तुं
शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राद्व निर्वैशम्यमिति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्यामः । लिंगशब्दविग्रहवाची । तथाहि
पश्यन्ति । 'चिह्नं करणं' इति । सिक्पया शिक्षा धृतस्य अध्ययनमिह शिक्षाशब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति । 'जिण-
पयणं कत्तुसहरं अहो य रत्तो य पद्विद्वन्मिति' । विनयः मर्यादा तथा हि-ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया
वक्ष्यते । समेकीभावो यतंते तथा च प्रयोगः—

संगतं घृतमित्यर्थे पक्षीभूतं तैलं पक्षीभूतं घृतमित्यर्थः । समाधानं मनसः एकाम्रताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा ।
अनियतक्षेत्रावासः अनियतविहारः । तद्व्यायः परिणामः इति पञ्चनासस्य जीवादेर्द्रव्यस्य कोघाविना दर्शनादिना वा
भवनं परिणाम इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यत्नेः स्येन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति श्रुतीतम् ।
उपाधिः परिग्रहः तत्त्व जहणा त्यागः । सिद्धौ य अतिः निश्चिन्नेः सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यासः तत्र अलक्ष्यमवृत्तिः ॥

तत्सूत्रोद्देशार्थं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मृगारा—अरिहै अर्थः । सविचारमत्तमत्तत्वाख्यानस्य योग्यः । लिंगादिव्यापाराणां योग्यं कर्तारं विना अलंभ-
यादस्य तत्सर्वेषुपुन्यासः । लिंगे लिंगं चिह्नं । शिक्षादिक्रियादोषाणां कर्तुः परिकरभूतत्वात्स्य तेभ्यः प्राप्तिर्वैशः । शिक्षा
धुताध्ययनं । ज्ञानं विना विनयादीनां कर्तुमशक्यत्वात् । ततः पूर्वमुपन्यासः शिक्षायाः । यथावसरं चान्येषां कर्म दर्शयि-
ष्यामः । विणय विनयः मर्यादा, ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । उपास्तिर्वा विनयः । समाहो
समाधानं मनस एकाम्रताकरणं गुह उपयोगे शुद्धे वा । अणियद्विहारो अनियतक्षेत्रावासः । परिणामो त्वकार्यपर्यो
द्योपनं चनविजहणा परित्यहत्यागः । सिद्धि भित्तिः शुभपरिणामश्रेण्यारोहणं । भावणा अभ्यासः । प्रक्रमवादसंक्लेश
परिणामानां ।

इत सूत्रोक्ता आचार्य चार गाथाओंसे वर्णन करते हैं.

हिंदी अर्थ—अरिह-अर्थ, लिंग, शिक्षा, निनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उवाधिजहणा—उपधि-
त्याग, श्रिति और भावना ऐसे दस सूत्रोंके नाम इस गाथामें कहे हैं. इन सूत्रोंका संक्षेपसे विवरण इस
प्रकार है.

अहि—अहं सर्वोत्तरेणैव जगत्प्राप्तवान्—लिये कौन योग्य होता है इसका वर्णन अहं यत्रसे किया जाता है यह प्रथमाधिकार है लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि वर्गहको धारण करने लायक जो व्यक्ति है उसको अहं कहते हैं योग्यता हो तो लिंग, शिक्षा, विनयादि गुण रह सकते हैं अन्यथा नहीं।

लिंग—शिक्षा, विनय, समाधि वर्गह क्रिया यत्कृत्याख्यान की साधनसामग्री है उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिवर्तन है यह सूचित करनेके लिये अहंके अन्तर लिंगका निवेदन किया है सर्व परिकरसामग्री कुटनेपर जेमे कुंभकार घटनिर्माण करता है वैसे अहं-योग्य व्यक्ति भी साधनसामग्रीसे युक्त होकर संछेखनादि कार्य करनेके लिये सन्नद्ध होता है। लिंग शब्द बिन्दुका वाचक है,

शिक्षा—ज्ञानोपार्जन करता। विनय ज्ञानके विनयादिक्रम कार्य करना भव्य नहीं है, अतः विनयादिक्रमा वर्णन करनेके पूर्व शिक्षाधिकारका वर्णन करते हैं,

शास्त्राध्ययन करना यह शिक्षा शब्दका अर्थ है, विनयश्रवण शाल पाप हरण करनेमें निपुण है अतः उसको दिनरात पढ़ना चाहिये ऐसा ग्रंथकार आगे स्वयं कहेंगे,

विनय—मर्यादा, ज्ञानादिभावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिका विनय करनेसे होती है ऐसा आगे कहेंगे, समाधि मनको एकाग्र करना। सग्न शब्दका अर्थ एकरूप करना ऐसा है, जैसे घृत संगत हुवा है, तेल संगत हुआ है अर्थात् एकरूप हुवा है, मनको शुभोपयोगमें अधवा शुद्धोपयोगमें एकाग्र करना यह समाधि शब्दका अर्थ समझना,

अणिपदविहार—अनियत ग्राम, पुरादिक स्थानोंमें रहना। परिणाम—‘सद्ग्राम परिणाम’ ऐसा पूर्वोक्तार्थका वचन है अर्थात् जीवादिकपदार्थ क्रोधादिक विकारोंसे अथवा सम्पददर्शनादिक पदार्थोंसे परिणत होना यह परिणाम शब्दका सामान्यार्थ है तथापि यहाँ यतिजी अपने कर्तव्यका हमेशा ख्याल रहना परिणाम शब्दका प्रकरण संगत अर्थ समझना चाहिये,

उपधिजहणा—परिश्रमका त्याग करना,

तिदी—श्रुति अर्थात् शुभपरिणामसे उत्तरोत्तर परिणामोंकी उन्नति होना, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भावनाओंको अभ्यास करना इनको भावना कहते हैं,

संछेदना दिसा सामना य अणुसिद्धि परगणे चरिया ॥

ममणा सुदिय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥ ६८ ॥

विजयोदया—संछेदना सम्पत्कृतवृत्तर्ण । दिसा परलोकविपुलवर्जनपर-सूरिणा स्थापित-भवतां विश मोक्ष-वर्तन्याधायमुपदिशति य-सूरि-त दिसा इत्युच्यते । स्वभावना क्षमावर्द्धनं । अणुसिद्धि सूत्रानुसारेण शासनम् । परगणे भग्नसिद्धान्तो चरिया चर्यो प्रवृत्ति । ममण्यमात्मनो रत्नत्रयविमुक्तिं समाधिमरण वा संपादयितुं क्षमस्य सूररन्वेषणं । पडितो सुस्थित परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुरिधतः आचार्यः । उपसंपया आचार्यस्य ढोकनं । पडिछा परीक्षा । गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साहशक्तेश्च आहारायकामिलायं स्वस्तुमयं श्रमो नेति । पडिलेहा आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्नचति न वा राज्यस्य देशस्य प्राप्तस्वरावेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एवं निरूपणम् ॥

मूढारा—संछेदना सम्पत्कृतवृत्तर्ण अर्थात्सायकपायानाम् । दिसा एलाचार्यः संपाधिपतिना याबलीवसा-चार्यकलागेन स्वपदे प्रतिष्ठित त्वसमानमुणमामः स्वशिष्य इत्यर्थः । स्वामणा परस्परक्षमापणा । अणुसिद्धि सूत्रानुसारेण शिक्षादानं । परगणे चरिया अन्यस्मिन्संघे गमनं । ममणा आत्मनो रत्नत्रयशुद्धि, समाधिमरणं च संपादयितुं क्षमस्य सूररन्वेषणं । छुट्टिद परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुरिधतः आचार्यः । उवसंपया आचार्यस्य आत्मसमर्पणं । पडिछा परीक्षा क्षपकस्य मनोब्रह्माहारलौत्यगोचरा । पडिलेहा आराधनानिर्गमिसिद्धयर्थं देवतोपदेशाद्युपनिषादिगोचरणं ।

हिंदी अर्थ—संछेदना, दिशा, क्षामणा, अणुसिद्धि, परमण्वर्यो, मार्गणा, सुस्थित, उपसंपदा, परीक्षा, प्रतिलेखन ऐसे दस धर्मोंका निवरण इस तरह समझना चाहिये.

संछेदना—शरीर और कर्मायोंको कुल करना. दिशा—आचार्यने अपने स्थानपर स्थापित किया हुआ शिष्य जो परलोकका उपदेश करके मोक्षमार्गमें भव्यायुक्तो स्थिर करता है. संपाधिपति आचार्यने याबलीव आचार्य पदवीका त्याग करके अपने पदपर स्थापना हुआ और आचार्यके समान जिसका गुणसमुदाय है ऐसा जो उनका शिष्य उनकी दिशा अर्थात् बालाचार्य कहते हैं. स्वामणा—अन्योन्य क्षमाकी याचना करना. अणुसिद्धि—आगमके अविच्छेद उपदेश करना.

परगणचर्या—अपना संघ छोड़करके अन्यसंघमें गमन करना. ममणा—रत्नत्रयकी विशुद्धि करनेमें समर्थ अथवा समाधिमरण करनेमें समर्थ ऐसे आचार्यका शोध करना. यह मार्गणा सूत्र है. सुद्धिद—परोपकार करनेमें तथा सक्तीय आचार्य पदवीके लायक कार्य करनेमें प्रवीण गुरुको सुस्थित कहते हैं.

उपसंग्रह—आचार्यके चरणमूलमें गमन करना। पड़िच्छा—गण, श्रुश्रुषा करनेवाले श्रुति, समाधिभरणाराधक, उन्मादग्रस्त, आहारहीन अशिलाषा, इत्यादिकारी परीक्षा करना। पड़िलेहा—आराधनामें यदि विघ्न उपस्थित हो तो आराधनाही सिद्धि नहीं होती है। उतः उमकी निमिषत्वाके लिये राज्य देऊ, गाँव, नगर वगैरहका शुभ होगा या अशुभ होगा इसका प्रलोचना करना।

आपुच्छा य पड़िच्छणमेगस्तालोयणा य गुणदोसा ॥

सेव्वा संथारो त्रि य गिज्जवग पयासणा हाणी॥ ६९

विमगोदया—आपुच्छा प्रतिपन्न । किमयमस्माभिर्युगुदीतव्यो न वेति संयमश्रः । पड़िच्छणमेगस्तस्य प्रतिपारकैरग्यगुमातन्धैकस्य समग्र आराधकस्य । आलोयणा य स्वापराधनिवेदनं गुरुणमालोचना । गुणदोसा तस्य गुणा दोषा । भेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः । आराधकत्वालस्युद्भूतिमिति यावत् । संथारो त्रि य संस्तरस्व । गिज्जावगा निर्वोपना आराधकस्य समस्तितद्वयः । पयासणा चरमाहारप्रकाशनम् । हाणी क्रमेणाहारत्यागः । हानिः ।

गूढारा—आपुच्छा विमगमस्माभिर्युगुदीतव्यो न वेति संप्रति प्रश्नः । पड़िच्छणमिहस्तस्य संघातुमेतैकस्य भवकस्य स्वीकारः । आलोयणा श्रुतैः स्वदोषनिवेदनं । गुणदोसा गुणा दोषाश्च प्रत्यासेचराष्टोचनाया एवम् । सेव्वा शय्या यस्तनिरित्यर्थः । संथारो संस्तरः । गिज्जवग निर्वोपकाः आराधकस्य समाधिसहाया । पयासणाचरणं आहारप्रकाशनं । हाणी क्रमेणाहारत्यागः ।

हिंदी अर्थ—आपुच्छा, पड़िच्छण, आलोयणा, गुणदोस, सेव्वा, संथार गिज्जवग, पयासणा च हानि में हैं इन दस मन्त्रप्रत्याग्यानके उपयोगी है।

आपुच्छा—यह आराधक मन्त्रप्रत्याग्यान करनेके लिये आया है इसके ऊपर अनुग्रह करना योग्य है या नहीं है ऐसा मंथरी प्रश्न करना अर्थात् उनकी अनुज्ञा प्राप्त करना। पड़िच्छण—प्रतिचारक मुनिओंकी स्वीकारता मिलनेपर एक आराधकका श्रद्धा करना। आलोयण—गुरुके आगे अपने पूर्वापराध कहना।

गुण दोषा—आलोचनार्थके गुण और दोषोंका वर्णन करना। भेज्जा—नमाधिभरण माधनेके लिये आराधककी योग्य वस्तुतिका—निवास स्थान, संधार—संस्तर—अर्थात् आराधकके लिये आगमोक्त द्रव्या, गिज्जवग—आराधकको समाधिभरण साधनेमें सहायता करनेवाले आचार्यादिक।

पचवस्वाणं स्वाभणं खमणं अणुसद्विसारणाकवचे ॥

समदाजझाणे लेस्सा फलं विजहणा य पेयाहं ॥ ७०

विजयोदया—पचवस्वाणं अणुसद्विसारणं त्रिविधाहारस्य । तामणं आचार्यादीनां श्रमाग्रहणं । तामणं सत्यान्य मूत्रापराधक्षमा । अणुसद्वि अनुशासनं शिक्षणं निर्वाणकस्याचार्यस्य । सारणा दुःखाभिभवान्मोहं गतस्य वेतनाप्रापणा । कवचे यथा कचवद्वय शस्त्रसतनिपातदुःखनिवारणक्षमता पयमाचार्येण नियोपकेन धर्मोपदेशाक्ष-
तुर्गतिपरिभ्रमेण दुःसहसि दुःपाति न्दु कर्मपरस्परसत्या भुक्ताति निष्फलानि । इयं पुनर्दुःखसहनं निर्हरार्थं प्रवर्त्यमा नं सकलदुःखान्तं सुखमवगच्छति । अणुसद्वि अनुशासनं संपादयित्वाति क्रियमाणो दुःखनिवारणसामान्यात् कचव शब्देनोच्यते । यथा शौर्यजनकियपापपियया भ्रान्तवत्ते सिंहशब्दः प्रयुज्यमानः शौर्यादिसुखाप्याचितं वैभवतमवगमयति । समरा खनभाष. जीवितमरणलामालाः न संख्योगविप्रयोगसुखदुःखादिदुःखसंश्लेषोत्करणं । तद्वाणे ध्यानं एकाग्रचित्ता निरोध । लेस्सा लेह्या कषयाज्जुरंजिता योगममृतिवैलक्ष्या । फलं साध्यं परित्राप्यं माराधनायाः । विजहणा आराधकस्य शरीरत्यागः ।

मूहारा — पचवस्वाणं त्रिविधाहारत्यागः । तामणा आचार्यादीनां क्षपकेन श्रमाग्रहणं । कवचं क्षपणं पाप-
कर्मनिर्जल्पमित्यर्थः । अणुसद्वि निर्वाणकचार्येण आराधकस्य शिक्षणं । सारणा दुःखाभिभवान्मोहं गतस्य वेतनाप्रापणा । कवचे धर्मोपदेशेन दुःखनिवारणं । समरा जीवितमरणादिदुःखसंश्लेषोत्करणं । ज्ञाणे एकाग्रचित्तानिरोधः । लेस्सा कषयाज्जुरंजिता योगममृतिः । फलं आराधनासाध्यं । विजहणा आराधकशरीरत्यागः ।

हिंदी अर्थ—पचस्वाण, सिवाय जलके तीन प्रकारके आहारोंका त्याग करना.

स्वामण स्वर्ण-आचार्यादिकोंको क्षमाकी याचना करना. तथा दूसरोंने किये हुए अपराधोंकी क्षमा करना. अनुशिष्टिः—आचार्यका समाधिभरणके लिये उद्युक्त हुए मुनिराजको उपदेश देना.

सारणा-दुःखोंसे पीडित होनेपर मोहको प्राप्त हुये, वैशुच्य हुए आराधकको सेवित करना.

कचच—जैसे कच-चिलखत श्रेकहो वाण पटनेपर उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे वीर पुरुषको वचाता है. वैसे आचार्यने किया हुआ धर्मोपदेश आराधकको दुःखोंसे वचाता है. चतुर्गतीमें पूर्वभवमें आराधकके आत्माने

इ मद् इ मोरा अनुभार रिता है. परंतु यह मम व्यर्थ हुआ. यह दुःख का महान् दुःख आत्मकल्याणकारी नहीं हुआ. परंतु है नागराह ! हम ममरा ओ दुःख तेरे दाग महा आ रहा है वह तेरे कर्मकी निवेरा करेगा, वर्तमान दुःखोंका नाश करेगी नीति, निश्चय, उपसाहित, साधारण सुख देगा इस रीतिमें कहा हुआ आचार्योका उपदेश प्राप्यरुते इ मोरा नाश समेताला होनेमें रुचनेके तुल्य है. अतः इसको कच यह नाम देना योग्य ही है. जैसे हिमी नेत्रमी गालरमा गोप्युष घृणित रुचनेके लिये उनमें जैसे सिंह शब्दका आरोपण करते हैं वैसे यहां भी रराते गुणोका अल्पारोपण उपदेशमें करते उसको रुचनयन्दमे गौरवित किया है.

ममरा - जीवित, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख और दुःख इनमें समक्षोंका त्याग करके उपभोगादि पारन करना.

उत्थान - अन्य पदार्थोंमें निश्चयवृत्ति हठाकर एक निषयमें उनको निवृत्त करना. लेइया-मन एवम और भूरीके व्यापार कलापयुक्त होना. फल - आराधनामें प्राप्त हुआ भाव्य उसको फल कहते हैं.

रिजहना - आराधकरा शरीर त्याग. इस तरह भक्त प्रत्याख्यानके चालीस अधिकारोंकी संक्षेपसे निरुक्तिनाम रही गई है. अब एकैक अधिकारका भवित्त्वर वर्णन आचार्य यहांमें करेंगे.

प्रथमतः अर्धाधिकारका वर्णन करते हैं.

मकारं निरूपणयोग्यता माया -

वाहिव्य दुप्यस-सा जरा य समणजोगहणिकरी ॥

उत्तसगगा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्त ॥ ७१ ॥

रोंगो वुक्तारो यस्य जरा आमण्यद्वारिणी ॥

निर्गन्धिभर्मानयैर्देवरूपसर्गाः प्रवर्तिताः ॥ ७३ ॥

वित्तयोग्यता - वाहिव्य । भव चैव पराटना । वाहिव्य दुप्यस-सा । वाहिव्यो तोह भवपरिण्यतए स्ति । एतादृशो इ जरायाः स्तेन सदा संयमत्रयपण्डित चिन्तितः यस्य चित्तने मोहो भवत्यत्याख्यानं कर्तु । जीयति निरयति रूपगोपनप्रकारो गुण मय्यामयभ्यायं प्राणितः सा जरा । सामण्यजोगहणिकरी आभ्यति तपस्वतीति

अमणः, तस्य भावः धामण्यं धामणशब्दस्य दुसि प्रवृत्तिनिमित्तं उपपत्तिर्या धामण्यं, तेन योगः संबंधः साध्यसाधनलक्षण-
तस्य हानिं विनाशं करोति या सा जरा यस्य सोऽस्ति भक्तप्रत्याख्यानं विधातुं ।

उपरसहितशरीरवत्कः शरीरवत्साध्यायु धार्यहेतुषु न वर्तितुमुत्सहते । अथवा सयणो समानमणो सम-
पस्त भावो सामण्यं कचिदप्यननुगतरागद्वेषात् समता सामण्यशब्देनोच्यते । वस्तुयाथात्म्यावहितवेतसाया योगः
संबंधो ध्यानयोग इति यावत् । वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो यः स ध्यानमिष्यते । जरापरिणुसृतयोधस्य ध्यानं
चिन्तयति । ततो ध्यानयोगनिनाशकारिणी जरा यस्य सोऽस्ति भक्तं त्यक्तुम् । अथवा सगमण्यं समता, युज्ये-
तेऽनेन निर्जरायित इति योगः, तपसः योगाद्यस्तपसि कायहेत्यास्थे रुढः सोऽत्र गृहीतः । 'आदानादिजो-
गपारिणो अणायारा' इत्युक्तेः धातापनादितपोधारिणः इति प्रतीयते ॥

इदं भस्मलत्वाद्योपादायक्य पूर्वमिषातप्रसंग इति चेत् न अभ्यर्हितत्वात्समायाः सामण्य इत्यस्य
पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वजोऽभ्यर्हितमिति वचनात् । न हि समताश्रयात्तपसो विपुला निर्भरा भवति ।
ततस्तपसो निर्जरायुता परदरोति प्रसक्तं समता ।

उपसंगा या उपपन्ना या 'देवियमायुसतेरिन्दिमगा' 'देवैर्नरैस्तिर्यग्भिश्च प्रवर्तिता यस्य सोऽस्ति भक्तप्रत्याख्यानं
इति संयथः । वस्तुर्विधाकादुपसर्गस्य निधिधोपदेशः कथमिति ? अत्रोच्यते-उपसर्गा वा इति वा शब्दः समुच्चयार्थोऽसौ
'देवियमायुसतेरिन्दिमगा या इति संयथनीयत्वेनावेतनोपसर्गसमुच्चयः कियते ॥

अधुना गाथापदकेनार्हलक्षणमाह-

मूढारा-भाक्षीय वयाधिर्वा । दुष्पस्तत्वा महता ह्येकेन संयमप्रवयापदेन चिकित्स्यः । औपधाविना सिराकुम
प्रक्यो वा । सामण्यजीन भान्यसि तपरवतीति धमणस्तस्य भावः भामण्यं तपश्चरणं तेन योगः साध्यसाधनभावलक्षणः
संयथः । अथवा तानन्त्येन कचिदस्यदुग्धरागद्वेषतया योगो ध्यतं । अथवा सामण्यं समता जोग आतापनादि सौ ।
उपसंगा वा पर वा शब्दोऽनुक्तसमुच्चये तेन अचेतनकृताप्रेति लभ्यते ॥

हिंदी अर्थ—जिसको संयमसमुदायका नाम करनेवाला और महाप्रथलसे चिकित्सा करने योग्य रोग
हवा है वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानभरणके योग्य है, अर्थात् जिस रोगको दूर करनेके लिये संयमसे ओटना पड़ेगा और
महाकृत्यसे भी जिसके नाशकी संभावना नहीं है ऐसे रोगसे पीडित होनेपर अनिवार्य भक्तप्रत्याख्यानके लिये
योग्य माने जाते हैं, प्राणिवर्गके रूप, वल, वय वर्गरे गुणोंका नाम वृद्धावस्था आनेसे होता है, यह वृद्धावस्था जब
अतिशय गहरी है तब मुनि तपःक्रिया करनेमें असमर्थ हो जाते हैं- ऐसी परिस्थितीमें वे भक्तप्रतिज्ञाभरणके
लिये योग्य समझे गये हैं, वृद्धावस्था प्राप्त होनेसे शरीरकी ताकत नष्ट होती है, कार्यहेतु तप शरीरमें बल

होनेसेही हो सकता है, अन्यथा नहीं है, अतः बुद्धावस्था श्रामण्ययोगकी हानि करनेवाली है, किसी भी इष्टानिष्ठ नियमों रागद्वेषरहित मनोवृत्ति होना ही समता है, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेमें चित्तकी एकाग्रता होनाही योग अथवा ध्यान कहते हैं, जब वस्तुके यथार्थ ज्ञानको निश्चलता प्राप्त होती है तब उसको ध्यानसंज्ञा प्राप्त होती है, बुद्धावस्था ध्यानमें अस्थिरता आती है तब ध्यानका विनाश होता है, अर्थात् ध्यानका नाश करनेवाली बुद्धावस्था शरीरको जब उत्तरी करती है तब युनिराल भक्तप्रतिष्ठाकरणसे देहोत्सर्ग करते हैं, सामान्ययोग इस शब्दका अर्थ इस तरहसे भी आचार्य करते हैं—समता शब्दका अर्थ उपर लिखा है, निर्जराधीं भूति जिससे संयुक्त होते हैं वह योग है अर्थात् यहां कार्यकुक्षयों योग कहना रुढ़ है, आतापनादिकायंकुशतपकी योग रहते हैं पर वात प्रसिद्ध ही है, 'आदावणादिजोगपरिणो अणगारा' आतापनादि योगोंको धारण करनेवाले युनियोंको अनगार कहते हैं ऐसा आगममें कहा है, जराजर्जरित होनेसे उपर्युक्तयोग धारण करनेमें क्षीर समर्थ नहीं रहता है,

'सामण्य जोग ! इस शब्दसमूहमें योग शब्द अल्पस्वरयुक्त होनेसे द्वंद्व समासमें उसको प्रथम नियुक्त करना चाहिये, इस प्रश्नको उत्तर यह है कि, समता अर्थात् सामण्य प्रधानरूप है, गहनयुक्त है, जिसमें महत्त्व रहता है उसको द्वंद्व समासमें प्रथम नियुक्त करते हैं, समतारहित केवल तब विपुल निर्जराका कारण नहीं होता है, अतः तपधरणमें निर्जराविरुद्धता स्वयं नहीं है किंतु वह समताका साहाय्य पाकर होती है,

देवोंका उपद्रव, मनुष्यकृत उपद्रव तथा तिर्यचकृत उपद्रव इन उपद्रवोंमेंसे किसी भी उपद्रवसे निष्पत्तीकार पीटा हो जानेंसे भूति भक्तप्रत्याख्यान मरणके योग्य माने जाते हैं,

उपसर्गों चार भेद हैं, परंतु तीन उपसर्गकाही यहां उल्लेख क्यों किया है ?

उत्तर—'उपसर्ग वा' इस भाषीक शब्दोंमें 'वा' शब्द समुच्चयार्थक समझना चाहिये, अतः अचेतन उपसर्गका भी यहां समुच्चय होता है,

अणुलोभा वा सत्तु चारिच्छिणासया हवे जत्स ॥

दुस्मिभक्त्वे वा गाढे अहवीणं विष्यण्हो वा ॥ ७२ ॥

अनुकूलैर्युहति वा चैरिभिर्वृत्तहारिभिः ॥
योऽष्टरूपां पतितो घोरे दुर्मिक्षे च दुरुत्तरे ॥ ७४ ॥

वित्तयोदया—अनुलोमा या अनुकूला या शत्रव । चारित्रविषासगा चारित्रं पापकियानिबृष्टि तस्य विनाशकाः । यद्यतो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुं उद्यताः अनुलोमते शत्रुत्वविरोधिमातिफुल्ले समवसिता हि भवन्ति शत्रयस्तद्विद्युच्यते अनुलोमा या सच्च इति ? प्रियवचनप्रापणवनुलोमता बहिर्लेख्ये प्रपतनादितस्य सयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा यधत् सच्च वा शत्रवश्चेति ससुख्यः यः शत्रुसमुच्चयपारंपर्याय । देविगमयश्रुतैरिष्यता उवसग्गा अस्य इति वचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्गः संयुहीता एव किमर्थं पुनरुच्यते 'अनुलोमा वा' इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुव्योपसर्गो नाम वंथनतादनशितं यन्नादिकं शरीरोपद्रव्यः परदृष्टो गृहीतः । इह तु निबोधेत्पाटनादिकं कुर्मो यदि आमरणं न त्यजतीति बलीकरणे यस्तुनिहम् ।

दुष्मिक्षे वा दुर्मिक्षे वा । आगाढे दुरुत्तरे महति अदानिपातमिष सर्वजनगोचरे । अहति प्रत्याख्यातुं । नदधीप अदव्या महत्या व्याहृत्प्राकुलायां मामोपदेशितनरद्वितायां दिवसूद- पापणकं दकबहुलतया दुःप्रचाराणां सिप्यजहो वा पित्रजहो वा अहतीति सर्वेधः ॥

मुठारा—अनुलोमा वंथनद्वयः । स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात्स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुमुद्यताः स्युः । अनुलोमत्वं वैषा मिपभाषणमात्राच्छत्रुत्वं च संयमधनविनाशनादसंयमवियमवर्तनाच्च ॥ अथवा सत्रवोऽयं किञ्चोत्पादनादिकं त्वय कुर्मो यदि न वतित्वं त्यजती इति प्रलीकारिणो वैरिणः । सेऽपि यस्य चारित्रपातका इति ब्रह्मा । पूर्वचरे मनुज्योपसर्गस्तु वंथनलवनतादनदिरुपात्तः । आगाढे दुरुत्तरे । विपणणद्वे मार्गेविसूदनया ।

हिंदी अर्थ—अनुकूल शत्रु जिसके चारित्रिका नाश करनेके लिये उद्युक्त हुए हो वह मुनि अपने पाप क्रियाओंका त्यागरूपी चारित्रिके रक्षणार्थ मत्सरप्रत्याख्यामभरण करनेके लिये योग्य माना गया है, अभिप्राय यह है कि, वंथुगण स्नेहवश होकर अपना मिथ्यात्व दोषसे किंवा यह स्वपोषण करेया इत्यादि लेभसे प्रेरित होकर जिसके चारित्रिका नाश करनेके लिये उद्यमी हो जाते हैं वह मुनि समाधिमरण घारणाकेलिप् योग्य है, उपद्रव करनेवाले वंथु शत्रु क्यों माने जाते हैं यह ऊपर दिखाया है, वे प्रिय भाषण करते हैं अतः उनको वंथु अर्थात् अनुलोम कह सकते हैं परंतु अकल्याणकारक असंयममें वे जीवको प्रवृत्त करते हैं और हितकारक संयमधन का नाश करते हैं अतः वे शत्रु हैं.

शुंका—'देविगणानुसतेरिबलगा उवसग्गा जस्य' अर्थात् देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत उपसर्गों मेंसे मनुष्यकृत उपसर्ग एक उपसर्ग है ऐसा पिछली गाथामें लिखा है। शत्रुकृत उपद्रव अथवा बंधुकृत उपसर्ग भी मनुष्यकृत उपसर्गमें अन्तर्भूत होता है अतः पुनः इस गाथामें शत्रु व बंधुकृत उपसर्गका वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर—पूर्व गाथामें मनुष्योपसर्गका सुलासा इस प्रकार सम्झना चाहिये—बन्धन, ताडन, दशशाखासे सटकाना इत्यादि शरीरोपद्रव जो परकेद्वारा किये जाते हैं उनको मनुष्योपद्रव कहना चाहिये। इस सूत्रमें बंधु वा शत्रुकृत उपद्रवका अभिप्राय यह है—यदि तुम अपना शुनिपना न छोड़ोगे तो तुझारी जिह्वा हम निकालेगी, इत्यादि शब्दोंके द्वारा उपद्रव करना ऐसे उपद्रव उपस्थित होने पर शुनि समाधिभरणका स्वीकार करते हैं।

विपत्त्युत्पत्तके समस्त मर्यका और जिसमें जीनेकी संभावना नहीं है ऐसा दुष्काल आपदनेपर भी शुनि मत्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य है, कारण ऐसे दुष्कालमें अब मिलवाही नहीं, अतः चारित्रनाश न हो इस हेतुसे उनको सहैखना करना योग्य है, जिससे उनके धर्मका रक्षण होगा।

जिसमें शूर प्राणी हैं और जिसमेंसे पार पाडनेवाला मार्गोपदेशक भी नहीं है ऐसे जंगलमें शुनि विस्मृद् हो जाते हैं, तथा वह जंगल पाषाण फटकादिकोंसे व्याप्त होनेसे शुनिओंको उसमें बिचरना अशुभ्य सा माख्य हो ती वे ऐसी अवस्थामें प्रयासवान करनेके लिये योग्य है।

चक्रं व दुव्यलं जस्त होज्ज सोदं व दुव्वलं जस्त ॥

जंघायलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिं व ॥ ७३ ॥

दुर्यलौ यस्य जायेते अबणौ चक्षुपी तथा ॥

विहरं न समर्थो यो जङ्घायलविवर्जितः ॥ ७४ ॥

दिनयोदया—चक्षुं व जस्युं । अपेऽप्यन्वयान्वीति चक्षु । दुव्वलं दुर्वलं अल्पशक्तिकं सूक्ष्मपसुदशो नाशन । जस्त यस्य । होज्ज भवेत् । सोदं व श्रोत्र या श्रुते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । दुव्वलं शब्दोपलब्धि जननसामर्थ्यविकल । सोव्यहंति । जंघायलपरिहीणो जंघायलपरिहीणो । जो वः । ण समत्थो न शक्नो । विहरिदु वा मंनु या सोव्यहंति ॥

मूढारा—दुःखलं सूक्ष्मनिरीक्षणश्रमं । दुःखलं शब्दभ्रमणशक्तिर्विकलं ॥ विहरिदुर्गुणमार्गं वा ॥
हिंदी अर्थ—जिसकी आंखें कमशक्तिकी हो जानेसे सूक्ष्म वस्तु देखनेमें असमर्थ हो गयी हैं, जिसके कानोंका शब्द सुननेका सामर्थ्य नष्ट हो गया है, तथा जिसके गवाँकी चलनेकी शक्ति नष्ट होगई हो वह मुनि भी भक्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य है.

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥

अरिहो भत्तपट्टणाए होवि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥

दुर्चारं कारणं यस्य जायतेऽन्यवर्षादृशम् ॥

भक्तस्यानसृतेयौग्यः संपत्तोऽसंपत्तोऽपि सः ॥ ७५ ॥

विजयोदया—अण्णमि चापि मन्यसिअपि उक्तादस्तात् । आगाढकारणे आगाढे कारणे जाये जाते । एव-
रिसम्मि उक्काएणसद्वदो । भत्तपट्टिणाए अरिहो होवि विरदो अविरदो वा इति एवषटना । प्रत्याख्यानस्यादो
भवति धिरत अविरतो वा ॥

मूढारा—विरदो यतिः । अविरदो भावकः ।

हिंदी अर्थ—उपर कहे हुए कारणोंसे अन्य भी तत्सदृश कारण यदि चीन्तया उपस्थित हुए हो ऐसे
प्रमथमें मुनि अथवा गृहस्थ प्रत्याख्यानके योग्य समझे जाते हैं.

अनर्द्धचमनायोरुपगथा—

उत्तरइ जस्त चिरमवि सुहेण सामणमणदिचारं वा ॥

णिज्जावया य सुलहा दुब्भिवलमयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥

प्रवर्तते सुलं यस्य आमण्यमपदृषणम् ॥

दुर्भिक्षासमयं योग्या दुराणा न च सूरय. ॥ ७७ ॥

विजयोदया—उत्तरदि नितरा प्रवर्तते । जस्त यस्य । चिरमवि विरकालमपि । किं सामणं चारिजं । सुहेण
अण्णदिचार वा । निरतिषाट् । चारित्रविनाशमयावय अतीतेषु कारणेषु सत्तु प्रत्याख्यानयोग्य करोति ।

तद्यन्त्रवत्तं निरतिचारमहोत्तमं नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्वाणकाः पुनर्न लब्धयन्ते मृतपल्लवाये नाहं पंडितमरणपराधयितुं तन्मनोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्हं एव ।

अहंप्रसंगदश्यावमर्हं वन्मरेत वा पुनरहमेव लक्षयितुं गथाद्वयमाह—

मूलार—उत्तरदि निवर्णं प्रवर्तते । विज्जावया पंडितमरणपराधकारिणः सूरयः । सुलक्ष्म तत्कालेप्युत्तर काष्ठेऽपि सुप्राथाः । दुग्धिनसद्वयं धमे घान्यध्याद्विज्ञां विना चारित्रहानिर्भे भविष्यतीति भीतिः ।

प्रत्याख्यानमरणके लिये अयोग्य कोन है इसका सुलसा—

अर्थ—जिस दुर्नीचरका चारित्रपालन निरतिचार होता है और आयासके विना होता है वह भक्त प्रत्याख्यानके लिए अयोग्य है, अथवा सोखेवनके साधक निर्यापक आचार्य सुलभ हो तथा दुर्भिक्षका भय यदि न हो तो ऐसे समयमें मुनि समाधिसमय धारण न करे, अभिप्राय यह है कि, उपर्युक्त गायार्थोंमें कहे हुए कारण आपढने पर मेरे चारित्रका नाश होगा ऐसा समझकर मुनि भक्तप्रत्याख्यान करते हैं और यदि वे कारण नहीं हो तो मुनि भक्तप्रत्याख्यानमें प्रयत्न नहीं करते हैं, इस समय यदि मैं भक्तप्रत्याख्यान न करूँगा और आगे यदि निर्यापक आचार्य मेरेको न मिलेंगे तो उनके अभावसे मैं पंडितमरण न प्राप्त करूँगा ऐसा यदि भय हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके योग्यही है ऐसा समझना चाहिए; यदि निर्वाणकाचार्य सुलभ हो और भविष्यकालमें दुर्भिक्षकी भीति न हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके लिये अयोग्य समझना चाहिये,

यदि च सुलसा निर्वाणका भगवत्तुर्भिसमर्थं च यदि न त्याग भवत्यहं इति कथयति ।—

तत्स न कण्ठदि भक्तपद्विणं अणुवद्विदे मये पुरवो ॥

सो मरणं पच्छित्तो होदि हु सामण्णविण्णो ॥ ७६ ॥

नासावर्हति संन्यासमदृष्टे पुरतो मये ॥

मरणं याचमानोऽसौ निर्विण्णो वृत्ततः परम् ॥ ७८ ॥

इति अहोभिषेयं सूत्रम् ॥

विजयोदय—दस्त तद्व । न कल्पति मत्तपरणं न योव्यं प्रयास्यानं मत्तस्य । मये पुरतो यजुर्विद्धि मये पुरस्ताद्युपस्थिते । सो सः । निरतिचारआमण्यः सुलभनिर्वापकः यजुर्विद्वदुत्तिष्ठमगः । मरणं मृति । ऐच्छन्तो प्रार्थयमानः । सुशब्द एवकारार्थः । एवमासौ संभावनीयः सामण्यनिवृत्ति एव होदिषि । धामण्याविर्विण्ण एव संभवतीति । ननु च अस्तिद्वेति अहं एव सुचितो जानाहं, तत्किमर्थमधुव्रितव्याख्या कियते सूत्रकारेण ? अहंप्रसंगादायात्तमिति केचित् । अनहंमपि लक्षणतया अनहंत्वं सूचितं इति वा न दोषः । स्वपरभाग्यव्यो नपाधीना-स्मलभत्वात्सर्ववस्तूनां इति मन्यते ॥ अस्तिद्वेति गदम् ॥

मूकार—न कल्पति शोच्यो न भवति । यजुर्विद्धि अवीकिते ॥ सु इत्यादि सामण्यानिर्विण्ण एव । अहं । सूत्रता ॥ १ ॥ अकता ॥ ६ ॥

यही आभ्याय आगेकी भाषामें आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—जिसके चारित्र्यमें निरतिचारा है, निर्वापकाचार्य जिसको सुलभतासे मिलते हैं, दुर्मिक्षकी भीति जिसको उपस्थित नहीं हुई है ऐसा भी मुनि यदि मरणकी इच्छा करेगा तो वह मुनि चारित्र्यसे विरक्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये.

शंका—'अस्तिद्वेति' इस श्रुतिसे अहंकाही वर्णन करना चाहिये श्रुतिकारने क्यों श्रुतिसे विरुद्ध अनहंका भी निरूपण किया है ? इसका समाधान—अहंके प्रसंगसे अनहंका भी वर्णन श्रुतिकारने किया है ऐसा कोई समाधान करते हैं.

स्वस्वरूपकी अपेक्षासे जो वस्तु है वही परस्वरूपकी अपेक्षासे अवस्तु होती है. ऐसी सर्व वस्तुओंकी व्यवस्था है. अतः अहं जैसे अपने लक्षणसे अहं है उसी तरह अनहं भी अहंके उलट्टा होनेसे अनहं माना जाता है अनहं सर्वथा अभावरूप नहीं है. जितने पदार्थ हैं वे सभी नयसे सिद्ध होते हैं. अतः अनहंका भी लक्षण आचार्यने लिखा है वह अपोमय नहीं है.

भक्तप्रत्याख्यानके लिये जो अहं-योग्य है उस मुनिको भक्तप्रत्याख्यानके लिये उचित सामग्री रूप लिंगका वर्णन आचार्य आगेकी भाषाओंसे करते हैं.

मन्त्रमस्याख्यानाईस्य तत्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगविरूपणं उत्तराभिर्ग्याभिः क्रियते—
उत्सर्गियलिंगकदस्त लिंगमुत्सर्गियं तयं चैव ॥

अववादियलिंगस्त वि पस्त्यमुवसर्गियं लिंगं ॥ ७७
तद्यौत्सर्गिकलिंगानां लिंगमौत्सर्गिकं परं ॥
अनौत्सर्गिकलिंगानामपीदं धर्षयते जिनैः ॥ ७९ ॥

विजयोदया—उत्सर्गियलिंगकदस्त उत्कर्षेण सर्वेन त्याग सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः । उत्सर्गे त्यागे सकल ग्रंथपरित्यागे यदे लिंग औत्सर्गिकं । किं करोति क्रियासामान्यत्वबोधाय मुख्ययोः प्राज्ञः । तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिंग-
दिद्यतस्तद् मन्त्रमत्याख्यानाभिलाषतः । तं चैव उत्सर्गियं लिंगं तदेव प्राज्ञं दृष्टितं लिंगं औत्सर्गिकम् । अववादियलिंगस्त-
वि यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिंगं अवश्यपवादिक
लिंगं भवति । पादपदोरे कृत्वा एदे परसंबंधः कार्यः । अत्र पस्त्यलिंगं जह यदि प्रशस्तं शोभनं लिंगं मेहनं भवति ।
चर्मरहितत्वं, भतिदीर्घत्वं, स्थूलत्वं, असक्तुत्थानशीलतेत्येयमादिदोषरहितं यदि भवेत् । पुंस्त्वलिंगा इह दृष्टीतेति
पीजयोरेपि लिंगाच्चेन ग्रहणं । कतिबंधमानतादिवोपरहितता । प्रशस्ततापि तयोर्दृष्टिता ॥

अथ गाथाद्विवारया भक्तप्रत्याख्यानाईस्य सत्परिकरभूतं लिंगं न्याचष्टे ।

मूढारा—उत्सर्गियलिंगकदस्त उत्कर्षेण सर्वेनमुत्सर्गः सकलपरिमहत्यागः । तत्र सबसौत्सर्गिकं तच्च सल्लिगं
च तत्र कृतः रित्तः तस्य पतेर्मलं त्वक्तुमिच्छोः । तयं चैव यदेव प्राग्दृष्टयेव भवेत् । अववादियलिंगस्त । यतीनां
अपवादरेखुत्वादपवादः परिग्रहः कोऽपवासीत्यपवादिकं लिंगं यस्य सोऽपवादिकलिंगः समंवाविह आद्योदिस्तरयापि
भक्तं त्वक्तुमिच्छोरोत्सर्गिकमेव लिंगं वर्णितम् । यदि निबर्मत्वातिदीर्घत्वस्थूलत्वासक्तुत्थानशीलत्वादिवोपरहितं, दृष्टयो
प्रातिबंधमानतादिवोषवर्जितौ स्थावाम् ॥

हिंदी अर्थ—उत्सर्ग-संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह उत्सर्ग है, अर्थात् संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग जब
होता है उस समय जो बिन्दु मुनि धारण करते हैं उसको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, जिस
मुनीने संपूर्ण परिग्रह छोड़कर पूर्ण नम्रता धारण की है उसके लिंगको-नम्रताको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं. जब
यह भक्तमत्याख्यान धारण करता है तब भी उसका नम्रता ही लिंग रहेगा.

यतीको परिग्रह अपवादका कारण होता है अतः परिग्रहसहित लिंगको अपवादिकलिंग कहते हैं.

अर्थात् अपवादाङ्गिधारक गृहस्थ जब भक्तगत्यान्वानके लिये उतुक्त होता है तब उसके पुरुषलिंगमें यदि दोष न हो तो औत्सर्गिक लिंग-नम्रता धारण कर सकता है। गृहस्थके पुरुषलिंगमें चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, धारंवार चेतना होकर ऊपर उठना ऐसे दोष यदि हो तो वह दीक्षा लेनेके लायक नहीं है। उसी तरह उसके अंड भी यदि अतिशय लंबे हो, घड़े हो तो भी गृहस्थ सयत्ताके लिये अयोग्य है। परंतु एवं दोषविशिष्ट भी गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यानके समय एकान्तादिकमें सर्व परिग्रहका त्याग करके नग्न रह सकता है।

जिसको उपर्युक्त दोष है वह औत्सर्गिक लिंगका धारक नहीं होता है इस नियमका अपवाद कहते हैं—

औत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अब्बाभिचारी दोसो तिष्ठानिगो विहारस्मि ॥

सो वि हु संथारगदो मेण्हंजोत्सुगियं लिंगं ॥ ७८ ॥

यस्य निस्थानगो दोषो धुनिवारो विरागिणः ॥

लिंगमौत्सर्गिकं तस्मै संस्तरस्थाय दीयते ॥ ८० ॥

धिरुपोदया-अस्स वि यत्तपि । अब्बाभिचारी अनिराकायो । दोसो दोषः । तिष्ठानिगो स्थानत्रयभयः नेहने घुटणयोच्च भयः भौचधादिनानपसार्यः । सोऽपि शु शब्द एषकारार्थः स च मेण्हंज इत्यनेन संवेचनीयः । पुण्दीययेद किं ? उत्सर्गिकं लिंगं औत्सर्गिकं भवेत्तत्तात्पर्यम् । क विहारस्मि विहारे भक्तौ, संथारगदो संस्तरारूढः संस्तरारोहणकाळं । एवं संस्तरारूढस्य औत्सर्गिकं नाम्यमेत्याख्यातं भवति ।

आप्रशस्ताङ्गिस्थौत्सर्गिकं लिंगं ॥ भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

मूळारा—अध्वनिधारो औपधादिना निराधुर्दुर्भक्त्यः । तिष्ठानिगो त्रिषु स्थानेषु भेदघुणचोच्च भयः । स च कुरादो ङिगे दुर्धर्मत्वं स्वर्णत्वं च । विहारस्मि भक्तौ । सु एवार्थे । संस्तरगत एव पुण्दीयवेत्यर्थः । उत्सर्गिकं अचेष्टता लक्षणं ॥

हिंदी अर्थ — जिसके उपर्युक्त तीन दोष औपधादिकसे नष्ट होने लायक नहीं है वह वसतिकामे जब संस्तरारूढ होता है तब पूर्ण नष्ट रह सकता है। संस्तरारोहणके समयमेंही वह नष्ट रह सकता है अन्य समयमें उसको मना है।

अपवादलिङ्गस्थानां प्रास्ताविकानां सर्वेषामेव किमौत्सर्गलिङ्गतेत्यस्यामोकाणां आह—

आवसधे वा अप्पाउगो जो वा महङ्गिओ हिरिं ॥

मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादिंयं लिंणं ॥ ७९ ॥

ससृद्धस्य सलज्जस्य योग्यं स्थानमर्चिततः ॥

मिथ्यावक्त्रचुरज्ञानेनौत्सर्गिकमिच्यते ॥ ८१ ॥

विजयोदया—आवसधे वा निवासरथेने । अप्पाउगो अभ्यागये बधिवित्ते । अप्पादिकलिंणं हवदिति शेषः । जो वा महङ्गिओ महङ्गिकः । हिरिं च्छीमान् लज्जावान् । तस्यापि होज्ज अप्पादिकं लिंणं । मिच्छे वा मिथ्यावद्दो । सजणे स्वयन्तो वंधुयगो । होज्ज भवेत् । अप्पादिकलिंणं सधेसलिंणं ॥

इदानीमपवादलिङ्गस्थानां प्रास्ताविकानामपि येषामौत्सर्गिकं लिंणं न स्वाभाविकम्—

भूत्वा—आवसधे निवासरथेने । अप्पाउगो जनसङ्कुलत्वापयोग्ये । महङ्गिओ महङ्गिकः । हिरिं च्छीमान् लज्जावान् । मिच्छे मिथ्यावद्दो ॥

जिनके पुरुषलिङ्गमें दीप नहीं है ऐसे अप्पादलिङ्गस्थित सभी लोक औत्सर्गिकलिङ्गधारी हो सकते हैं क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—जो श्रीमान्, लज्जावान् है तथा जिसके वंधुगण मिथ्यात्वयुक्त हैं ऐसे व्यक्तिने एकान्त रहित वसतिकामें सबसारी रहना चाहिये.

पूर्वनिर्दिष्टौत्सर्गलिङ्गस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

अचेलकं लोचो वोसट्टसरीदा य पडिलिहणं ॥

एसो हु लिङ्गकण्णो च्छदुब्बिहो होदि उत्सग्गे ॥ ८० ॥

औत्सर्गिकमचेलत्वं लोचो व्युत्सृष्टदेहता ॥

प्रतिलेखनमित्येवं लिङ्गमुक्तं चतुर्विधम् ॥ ८२ ॥

विजयोदया—अचेलकमिति । अचेलकं अचेलता । लोचो केशोत्पादनं हस्तेन । वोसट्टसरीदा य व्युत्सृष्टधारी रता च । पडिलिहणं प्रतिलेपनं । एसो तु परः । लिङ्गकण्णो लिङ्गविकल्पः । च्छदुब्बिहो चतुर्विधः भवति । उत्सग्गे औत्सर्गिकसंज्ञिते लिङ्गे ।

औत्सर्गिकलिंगस्वरूपं निरूपयति—

मूढारा—अचेलकं वस्त्रायमानः । नैर्धन्यमित्यर्थः । लोचो हस्तेन केसोत्पादनं ॥ वोसट् व्युत्पद्यं ब्रह्मं
असंस्कारं इत्यर्थः । लिंगकल्पो लिंगविधिः ॥

पूर्वमे नाममात्रते कदे इए उत्सर्गलिंगका स्वरूप कहते हैं—

हिंदी अर्थ—संपूर्ण वस्त्राका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच- हाथसे केस उत्पादना, शरीरपरसे भस्मत्व
दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना, तथा पदलिङ्गन-श्रुतिवैयन प्राणिदयाका त्रिह-मयूरापिच्छिका हाथमें धारण
करना इस तरह ॥ १॥ अकारका औत्सर्गिक लिंगा है.

मतीत्यभिर्गोपाभिः पुरुषाणां भुक्तप्रत्याख्यानाभिष्ठापिणां किमधिकत्वोऽभिरुचिनिश्चयः । अयुना स्त्रीणां तदर्थिनीनां
लिंगमुत्पद्य माधवा निरुच्यते—

इत्मीवि य जं लिंगं विष्टं उत्सर्गियं व इदं वा ॥

तं तद् होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करंतीए ॥ ८१ ॥

विज्ञपोद्पा—इथीवि य स्त्रियोऽपि । जं लिंगं यल्लिंगं । विष्टं दृष्टं आगमेऽभिहितं । उत्सर्गियं य
भोत्सर्गिकं तपस्विनीनां । इदं वा आधिक्येण । तं तदेव । तद्य मत्तप्रत्याख्याने । होदि भवति । लिंगं तपस्विनीनां
माकनम् । इतरासां पुंतामिव योज्यम् । यन्नि मद्रिंका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना य तस्याः प्राक्तनं लिंगं
विपिके आपसये, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिमहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरुच्यते स्त्रीणामित्यत आह—तं तद् उत्सर्ग-
लिंगं । तद्य स्त्रीणां होदि भवति । परित्तं अल्पं । उवाधि परिग्रहं । करंतीए कुर्यात्वा ।

अयुना भक्तप्रत्याख्यानाधीनीनां स्त्रीणां लिंगं निर्दिशति ॥

मूढारा—इच्छीए वि किया अवि । उत्सर्गियं विष्टुं आगमेऽभिहितं ॥ परित्तमुवधिं करंतीए परिग्रहमत्तं कु-
र्वत्या इति योत्स्यं । औत्सर्गिकं तपस्विनीनां सादृश्याप्रपिष्टेऽपि यत्र भस्मत्वपरित्यागादुपचारातो नैर्धन्यव्यवहारत्वात्
उत्तराणां । इदं अपवादिकं आधिक्येण । तथापि भस्मत्वपरित्यागादुपचारातो नैर्धन्यव्यवहारत्वात् ।
तच्छ तत्र भक्तप्रत्याख्याने सन्न्यासकाले इत्यर्थः । लिंगं तपस्विनीनामयोग्यस्थाने प्राक्तनं । इतरासां पुंतामिवेति योज्यम् ।
इदमत्र तात्पर्यं—तपस्विनी यस्तुकाळे योग्ये स्थाने वस्त्रमात्मपि त्यजति । अन्या ॥ यदि योग्यं स्थानं लभते । यदि च

महर्षिका संख्या मिथ्यात्वप्रचुरताविश्र न तदा पुंवद्वयमपि भुञ्चति ॥ तो बेलागिलेनैव श्रियते । तथा चोक्तं—
यदात्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गं दृष्टं श्रियाः कुते ॥

पुंवत्तद्विप्लवे स्तुकाळे स्वस्वीकृतोपधेः ॥

यहां तक भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रत्ननेवाले पुरायोंका दो प्रकारका लिङ्गभेद—उत्सर्ग लिङ्ग और अपवादलिङ्ग आचार्यने कहा है, अब भक्तप्रत्याख्यानेच्छु स्त्रियोंका लिङ्ग आगेकी गाथासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—परमागममें स्त्रियोंका अर्थात् आर्थिकाओंका और आर्थिकाओंका जो उत्सर्गलिङ्ग और अपवादलिङ्ग कहा है वही लिङ्ग भक्तप्रत्यारूपानके समय समझना चाहिये, अर्थात् आर्थिकाओंका भक्तप्रत्याख्यानके समय उत्सर्गलिङ्ग विविक्तस्थानमें होना चाहिये अर्थात् वह भी मुनिवत् उस समय मन्त्ररूपता धारण करे ऐसी आगमाज्ञा है, परन्तु भ्राष्ट्रिकाका उत्सर्ग लिङ्ग भी है और अपवादलिङ्ग भी है, यदि वह आविका संपत्तिवाली अथवा लज्जावती होगी अथवा उसके बांधवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवादलिङ्ग धारण करे अर्थात् पूर्ववपमैरी रहकर भक्तप्रत्याख्यानसे मरण करे, तथा जिस आधिकाने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिका स्थानमें उत्सर्गलिङ्ग—नभता धारण कर सकती है,

नक्तद्वयस्य रत्नप्रथमाधनाप्रकरणेन दृष्टिरुपप्लव्यते किममुना हिङ्गविक्रसोपाधेनैवेत्यस्योत्तरमाह—

अत्रासाधणाचिह्नकरणं तु जगपञ्चयादतिदिकरणं ॥

निहृभावविदेगो वि य लिङ्गागहणे गुणा होति ॥ ८२ ॥

यात्रासाधनगाईस्थविचेकात्मस्थितिभिया ॥

परमो लोकविश्वासो गुणा लिङ्गमुपेयुषः ॥ ८३ ॥

विजयोदयः—अत्रासाधणचिह्नकरणं यात्रा शरीरस्थितिविहृतभूता मुजिक्रिया । तस्याः साधने यंहिङ्गजाते चिन्दजाते तस्य करणं । न हि शब्दस्वरोपेण स्थितो गुणीति सर्वजनताविमर्शो भवति । अस्मात्तदुपविशेषाच्च दानं न प्रपच्छति । ततो न स्माच्छरीरस्थितिः । असत्यां तस्यां रत्नवयमवतनाप्रकरणे कमणोषचीयमानो न स्यात् । विना तं न मुक्तिरित्यभिलाषितकार्यसिद्धिरिव न स्यात् । गुणवत्तायाः स्वचनं लिङ्गं भवति । ततो दानादिपरंपरया कार्यसिद्धिर्भवतीति भावः । अथवा दानादानो गतिर्वचनः यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽप्यम् । ततिसमान्यवचनान्पश्ये शिष्यतादेव वतले,

दारकं पश्यसीति यथा । यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिह्नकरणं ध्वजकरणं ।

अगण्ययावद्विद्विकरणं । जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाञ्जनवृत्तविवेचनो 'जगन्नेकावस्थं युगपदक्षिणान्तं विपश्यम्' इत्येवमादौ । ॥ प्राणिविशेषवृत्तिः । यथा—'अर्हत्तज्जगद्धैवान्' इति । प्रत्ययवाच्योऽनेकार्थः । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य प्रत्ययो' घटज्ञाने इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनेतः संसार' इति गदिते मिथ्या त्वेदमुक्त इति प्रतीयते । तथा धर्मावचनोऽपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' अत्रेति गम्यते । इहापि अद्वानृत्तिः । जगतः धर्मेति । ननु अद्धा प्राणियमैः अचेतनाविकं शरीरधर्मो हिनं सत्किमुच्यते 'हिनं जगत्प्रत्यय' इति । सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्तिः इत्यत्र अध्ययानं अर्हत् उत्तयति । हिनमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं । न चेत्सकलपरिहरत्यागो मुक्तिर्हिनं किमिति नियोमतोऽनुमीयते इति ।

आवृत्तिद्विकरणं आत्मनः स्वस्य अक्षिपस्य स्थिरतायात्पत्नं । क ? मुक्तिवर्त्मनि यजने । किं मम परित्यक्तवस्तु-तस्य रोगण, रोयेण, मानेन, मापया, लोभेन वा । वसनाशेषराः सर्वा लोकेऽलंक्रियाः तत्र निरस्तं । को मम रागस्या-पसार इति । तथा परिमहो निबन्धनं कोपस्य । तथा हि-पित्रा सुतो युज्यते धनार्थितया ममेदं भवति तेष्वमिति । तत्रिक मानेन स्वजनधेरिणा रिक्थेन, लोभे, आयासे, पापे, दुर्गाति च बद्धता इति सकलः परित्यक्तो वस्तुमयुरः सारः परित्यक्तो रोप-विजितये । हस्तति च मां एते साधयो रोपमुपधाते । कैयमयसतता मुमुक्षोः कायमस्य कोपबुलाशमः क्षान्तलसेकपरि-दृष्टतपोषनीयतावनवविभ्रमः इति । तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्यति प्रापयतीति भीत्या मापोन्मू-लतादैवेवमनुष्ठितं ।

निदिश्याविवेचनोपि य दृष्टितयापृथग्यायो दर्शितो भवति ॥

तन्महत्स्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षणं दृष्टिरुपयुज्यते किममुना हिंगिविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

मूलांशः—अचेत्यादि—जगता सादृणविण्दकरणं । यात्रा—मुक्त्येगस्तत्रयप्रकर्षार्थं देहसिपतिहेतुराहारः क्षिप्यगतिर्वा यात्रा तस्याः साधनं गुणातिशयः । तस्य चिह्नकरणं प्रापकं, संयमध्वजीभूतं च हिंगमाचेष्टक्यादि स्वात् । तथा अगण्य-क्यावृत्तिद्विकरणं जगतो भव्यलोकरय प्रत्ययो नैर्द्रव्यादेव मुक्तिरिति प्रतीयति । अत्रेति यावत् । तथा आत्मनो यत्यात्मनः कयापोदयपशान्मुक्तिमार्गाश्चलतः रियतिः सूत्रशिरसा जगत्प्रत्ययात्मस्थितिश्च तयोः कर्षणं संपादनं तद्धितं भवति । तथा गिदिमाविवेचनो गार्हस्थ्यवृत्तगमावस्तदुपदोक्तत्वाहिंगमपि । तथा चोक्तं । आचेष्टक्यादिहिंगेन हि गृहस्थत्वं स्वर्गं, ज्ञानं मंगं चेति ज्ञाप्यते । हिंगेत्यादि मुमुक्षुणा शुद्धभागे आचेष्टक्याहिंगे यथोक्तव्यत्यारो गुणाः स्वरोपकारिणो धर्मा भवन्ति इत्यर्थः ।

जो भवत्प्रतिज्ञायोग्य है उसको रत्नत्रयभावनाका प्रकर्ष करके मरण करना योग्य है-उत्सर्गहिंग अथवा अपवादहिंग धारण करके भवत्प्रत्याख्यान मरण करना चाहिये ऐसा हठ क्यों ? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—उत्तमगलिंग अर्थात् नम्रता यह यात्राका साधन है अर्थात्-शरीर स्थिर रहनेके लिये कार्णीभूत जो आहार उनकी प्राप्ति होनेके लिये कारणरूप चिन्ह है. गृहस्थवेपसे ही यदि भिक्षु भी रहने लगे तो ये गुणी है ऐसा नहीं समझे जायेंगे तथा उनका आदर न होगा. गृहस्थवेपसे उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न होनेगे गृहस्थ उनको दान नहीं देगे. दान न मिलनेसे उनके शरीरकी स्थिरता न होगी. शरीर-स्थिरताके बिना रत्नत्रयभावनाका प्रकर्ष कैसे होगा? रत्नत्रयके प्रकृति ही मुक्ति प्राप्ति होती है. उसके बिना यह न मिलेगी. अतः अभिलषितकार्य अर्थात् मुक्तिप्राप्ति गृहस्थवेपसे होती नहीं. अतः यह नम्रता गुणीपनाका सूचक चिन्ह है. इस नम्रतागुणसे दानादिकार्यपरम्पराकी सिद्धि होती है.

अथवा यात्रा शब्द सामान्य गतिवाचक है जैसे 'देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्' अर्थात् यह देवदत्तका गमनकाल है. यहाँ यद्यपि यात्राशब्द सामान्य गतिवाचक है तो भी प्रस्तुत प्रकरणमें यह शिव-गति-मोक्षगमन इस अर्थमें लब्ध समझना चाहिये. 'दारकं पश्यसि' इस वाक्यमें दारकशब्दका सामान्य अर्थ लड़का ऐसा होनेपर भी जो लड़केको देख रहा था उसका ही वह लड़का है ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है उन्नी तरह 'जनासाधणचिन्हकरणं' इस शब्दसमुच्चयका अर्थ यात्राका अर्थात् मोक्षगतिका साधन जो रत्नत्रय उपका नम्रता यह लिंग ध्वजके समान है.

इस लिंगमें जगत्प्रत्ययता यह गुण है. 'जगत्प्रत्ययः' अर्थात् सर्व जगत्की इसके ऊपर श्रद्धा होती है. जगत् शब्दका चेतनचेतनरूप संपूर्ण द्रव्यसमूहको जगत् कहते हैं ऐसा अन्य प्रकरणमें अर्थ होगा. 'जगन्निवासं गुणपदविलानंतविषयम्' अर्थात् चेतनचेतनरूपी इस जगत्की एक अवस्था नहीं है, यह संपूर्ण और अनंतपर्यायोंको धारण करने वाला है. परंतु प्रस्तुतप्रकरणमें जगत् शब्दका अर्थ प्राणिविशेष ही लेना चाहिये. जैसे 'अर्हत्तत्त्वगद्गयान्' अर्थात् ईश्वर, देव, मनुष्य व सिद्धादिविषय ऐसे विशिष्टप्राणियोंसे चंदनीय जिनेश्वरको हम नमस्कार करते हैं. यहाँ जगत् शब्दका विशिष्टप्राणी ऐसा अर्थ होता है. प्रत्ययशब्दके भी अनेक अर्थ हैं. जैसे 'घटस्य प्रत्ययः' घटका ज्ञान यहाँ प्रत्यय शब्दका ज्ञान ऐसा अर्थ होता है. तथा प्रत्यय शब्द कारणवाचक भी है जैसे 'मित्र्यात्त्वप्रत्ययः अनंतः संसारः' अर्थात् इस अनंतसंसारको मित्र्यात्त्व कारण है. प्रस्तुत प्रकरणमें प्रत्यय शब्दका श्रद्धा यह अभीष्ट अर्थ है.

साधुको नग्नता देखकर उनमें सब जगतीका श्रद्धा न होता है ऐसा जगत्प्रत्यय इस शब्दका अभिप्राय समझ लेना चाहिये.

शंका—श्रद्धा प्राणिओंका धर्म-स्वभाव है और अवैलतादिक शरीरका धर्म है अतः लिंगका जगत्प्रत्यय यह विधेयण कैसा उपयुक्त है ?

उत्तर—संपूर्ण परिग्रहका त्याग ही युक्तिका मार्ग है ऐसी नग्नता देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है अतः लिंगका यह विधेयण सार्थक है संपूर्ण परिग्रहत्यागही युक्तिका लिंग यदि नहीं होता तो नियोगसे क्यों उसकी अपराधना की जाती है ?

नग्नतामें 'आदिदिकरण' इस नामका एक गुण है स्वतःमें अस्थिरपनाको निकालकर स्थिरपना उत्पन्न करना यह आदिदिकरण इस शब्दका अर्थ है. युक्तिमार्गमें प्रयोग करनेमें स्थिर होना ऐसा इसका अभिप्राय है. इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—युनि विचार करते हैं—मैं धनको त्याग किया है अतः अब राग, द्वेष, अभिमान, माया और लोभ इनसे मेरा क्या प्रयोजन है ? बलकी इच्छा ही अलंकारदिकी इच्छाको उत्पन्न करती है. अर्थात् बल यदि पास होवे तो अलंकारादिक भी मेरेको मिलेगी तो अच्छा ही होगा ऐसी इच्छा होती है. मैंने बल ही फेंक दिया है अब रागभावनासे मेरा क्या प्रयोजन है ऐसा विचार करते हैं. तथा परिग्रह को तो त्यक्तिका कारण है. धनकी आवश्यकता पड़ने पर पुत्र भी अपने पितासे लड़ता है. यह धन मेरा है यह धन तेरा है इस रीतिसे झगडा करता है. अतः स्वजनमें वैर उत्पन्न करने वाले धनको लेकर मैं क्या करूँ ? यह परिग्रह लोभ, आयास, पाप व दुर्गतिको उत्पन्न करते हैं. इसी वास्ते मेने बलमयुक्त समस्त परिग्रहको कोपको जीतेनेके लिये छोड़ दिया है. मैं यदि रोपवश होऊँ तो मेरेको इतर साधु हसेंगे. वे कहेंगे देखो इनकी नग्नता और देखो इनका कोपनि ! यह कोपानि ज्ञानबलसे सींचा और दृढिगंत हुआ ऐसे तपस्वी जनका नाश करनेके लिये तयार हुआ है. धनवान लोक हमेशा कपट व्यवहार करते हैं, वह उनको तिरियंगतीमें पटकता है. अतः ऐसे चोर कपटसे डरकर इसका नाश करनेके लिये ही मेने यह युनिपना धारण किया है. ऐसा विचार युनि मनमें करते हैं. अतः नग्नता आत्मस्थितिकारण गुणको उत्पन्न करती है ऐसा कहना योग्य है. इस नग्नता से युनि गृहस्थोंसे भिन्न है ऐसा भी व्यक्त होता है.

गंथच्चाओ लगधमण्डिलिहणं च गदभयत्तं च ॥
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविज्जणा चेव ॥ ८३ ॥

परिकर्मभयग्रन्थसंस्तुतिप्रतिलेखनाः ॥

लोभमोहमदमकोपाः समस्ताः सन्ति वर्जिताः ॥ ८४ ॥

विजयेयव्या—गयत्तागो परिग्रहत्यागः । लाभवं हृदयसमारोपितशैल इव भवति परिग्रहत्यागः । कस्यभिक्षमन्ये
इत्यस्मीत्यादिभ्यः । पाल्पयामि इति दुर्धरयित्तयेदधिममाहुपुता भवति ।

अण्डित्तिहणे घसतसदित्तिलगधारिणो हि यत्संबहादिकं शोधनीयं ग्रहत् । इतरत्तु रिक्खादिमात्रं ।

परिकम्मविज्जणा चेव । याचनसीयनक्षोपणप्रक्षालनाविरेजो हि व्यापारः स्यादायध्यतनविप्रकारी अचेत
तस्य तत्र तथेति परिकर्मविवर्जनं ।

गदभयत्तं भयरहितता । भयव्याकुलचित्तस्य न हि रत्नत्रयदृग्नायामुपगो भवति । खवसतो यतियंछेयु
कालिक्षाविलसम्पुञ्जजीवपरिकारं विधातुं नार्हति । अचेतस्तु ते परिहरतीत्याह—संसज्जणं परिहारो इति ।

परिस्तहज्जधियासणा चेव । शीतोष्णवृंदाभराकादिपरीषद्वर्ज्यो युज्यते मत्स्यः । संसृताच्छादनवतो न
शीतादिवाधा येन तत्सहनपरीषद्वर्ज्यः स्यात् । पूर्वापापकर्मनिर्जरायै परिपोदव्याः परीषदाः इति वचनादिर्ब्रह्मरक्षिभिः
परिपोदव्याः परीषदाः ॥

एवं सामान्यतो डिग्गुणानभिधायैर्यानीं लिङ्गविशेषैर्यथार्थैर्लक्ष्यैश्च गुणान्गोपात्रैर्वैर्पदैरिति ।

मूलाध—संग्रहाओ परिग्रहत्यागः करीरेडधि निर्ममत्वाभित्यर्थः । लाभवं कथमित्त्वं चौरादिभ्यो रक्षेयमिति
दुर्धररओपायविहारोदाविगमाक्युतां, कर्मलघुत्वं वा । अप्पहिंछिहणं कच्छुर्हिपच्छादित्वां वेत्तावेत्तिरीक्षेणकोधेनापभाषः ।
गदभयत्तं चौरादिभ्यश्चासत्यभाषः । संसृज्जण यूकादिसंयुद्धेन । परिकर्मं प्रक्षालनाविरेजकारः ।

अर्थ—ग्रंथस्याग, लाभप, अग्रतिरेक्त्वन, गंतमयत्वं, संसर्गपरिहारं, परिकर्मविवर्जनं येते गुणं गुणिलिंगमे
समाविष्टं हुये है ।

ग्रंथस्याग—गुणिलिंगधारण करनेसे परिग्रहत्याग होता है, लाभ—परिग्रहवानं मनुष्यको परिग्रह
छानीपर रस्से दुरे पर्वतके समान चहुत कष्टप्रद होता है, परंतु जो परिग्रहरहित है उसको अपने ऊपरसे धंदा गारी
परिग्रहका बोझा उतर गयासा भाव्य होता है, जबः गुणिलिंगमे लाभवर्णन है यह सिद्ध होता है, इस परिग्रहका मैं

चोरादिसे कैसा रक्षण कहे ऐसी चिन्ता निष्प्रग्रहीको होती नहीं. अतः तद्विषयक खेदका नाश होनेसे लघुता गुण प्राप्त हो जाता है.

अग्रतिलखन— जो सवस्त्रलिख धारण करते हैं उनको वस्त्रसंदादिकको बहुत शोधना पड़ता है. परंतु मयूरपिच्छादिमात्र परिग्रह जिनके पास है उनको बहुत शोधनेकी आवश्यकता नहीं रहती है. अतः अग्रतिलखन गुण उनको प्राप्त होता है.

परिकर्मजना—वस्त्रके रिपयमें शचना करना, उसको सीना, धूपमें सुलाना, जलमें धोना, बगैरे. अनेक क्रियायें करनी पड़ती है. तब ध्यान, स्नाय्यादि कार्यमें विघ्न उपस्थित होता है. परंतु जो मुनि अंचल है वस्त्रका त्यागी है उसको वाचनादिकार्य करना नहीं पड़ता है अतः उसके ध्यानस्नाय्यादि क्रियायें निर्विघ्न पार पड़ती हैं.

शतभयन - निर्विघ्नमुनीश्वरको परिग्रहाभाव होनेसे भय रहता नहीं भयसे जिसका चिच व्याकुल हो उठा है उसकी रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होती नहीं. सवस्त्र मुनि वस्त्रमें यूकादिसम्पर्जन जीर्णोका परिहार करनेमें असमर्थ होता है. परंतु पत्तरहित मुनि उन जीर्णोका परिहार कर सकता है.

परिपक्षाधिवासना—तन्म मुनि श्रुति, उष्ण, दंशसंस्पर्शादि परिपह सहन करते हैं. परंतु वस्त्रवेष्टित यति को श्रुतिदि बाधा होती नहीं. अतएव वे श्रुतिदिपरीपह विजयी नहीं हैं. पूर्वोपाजित कर्मकी निर्जरा करनेके लिये परिपह सहन करने चाहिये ऐमा आगममन्त्रन है इसलिये निर्जराश्रमो मुनिजोने परिपह सहन करने चाहिये.

विस्सासकरं रूपं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु ॥

सन्ध्यस्थ अप्पन्नसत्वा परितह अधिवासणा चेव ॥ ८४॥

अङ्गाक्षार्यसुखत्यागो रूपं विश्वासकारणम् ॥

परीपहसहिष्णुत्वमर्हदाकृतिभारणम् ॥ ८५ ॥

विजयोद्भया—विस्सासकरं रूपं विश्वासकारि जगजां रूपं अचेलतारमकं । एवं असंगा धेतेऽन्यद्वृद्धन्ति नापि परोपपातकारि शस्त्रग्रहणं प्रच्छन्नमात्रं संभाव्यते । विरूपेण चामीपु नासदीयाः स्त्रियो यममनुवर्त्तन्तीति विश्वासः ॥

अणादरो विस्तयेदसुखेष्टु । विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम धामलोचनाविलोकितेन । तासां कलगीतधययौन । तन्निर्गुणस्वीयशरीरस्य का वा रतिकीडेति भावना चैवाभावरः । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखद्वयतिरेकेण न शरीरसुखं, नाम किंचिदिति चेत्—शरीरसु चाभावः शरीरसुखं । ईदृश्याविषयसन्निध्या नञ्जिता प्रतिर्विषयसुखमिति यद्वाञ्छयोर्येनदं ॥

सत्यस्य सर्वसिन्धेरो । अप्यवसदा आत्मप्रयाता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति, श्रुते वा । श्वात्सनादिकरणे इदं मम विनश्यति वस्त्विति तवतुरोच्यते । परतत्रता नास्ति सत्यस्य । परिग्रहविनाशमीश्वरात्मनोऽयोगेऽपि उद्गमादिदोषोप- हृते प्राणिसंयमयिनाशकारिणि या आसनस्थानशयनादिकं संपश्यति । न सत्त्वावरयाधामावहता धर्मता व्रजति । पतद्गो- पपरिहारेऽसंगस्य व्रजति ॥

परिसह साधियासणा ज्ञेय पूर्णोपसर्कमर्जितार्थेना यतिना सोढव्या. परीपद्माः निर्योयेन शुबादयो याधा- विद्येया। ज्ञाविशतिमजारा । तत्राये साभान्यपचनोऽपि परीपद्माब्द. प्रकरणत्वेत्सस्यासददुरूपपरिपद्मसिर्माहा । तेन नाग्न्यशीतोष्णवृंशमशकपरीपद्मसहस्रभिह कथितं भवति । सखेलस्य हि समावरणस्य न सादृशी शीतोष्णवृंशमश- ककर्मिता पीडा यथा अखेलस्येति मायते ॥

मूलारः—विरसासकरं धयमसंगा एते कथमन्यस्य किमपि ग्रहीष्यन्ति । न च परोपपयसकारि शकाविक्रमन प्रच्छन्नं संभाव्यते । प्रेताकारेषु नाग्न्यत्काभिन्वो एगमभनुष्यन्ति इति अनाता विश्वासकरणशीलं । विसयदेहसोक्तेषु विषयेभ्यः स्त्रीकटाक्षन्तिरोक्षणादिभ्यो जातेषु वेदस्यात्सावनेषु । किं मे प्रेताकारस्य आसां कटाक्षनिरीक्षणेन, कलगीतध- येन, शत्रुद्वन्द्वेन वा तद्वाग्मिभयया, तद्वत्या वत्यादिभायनया अनादरोऽनासक्तिः । यदि वा सौख्येव्यात्सावनाकारेषु, वेद- सौख्ये च दुःखानिर्वृत्तिक्रमे चानादरः प्राप्यनाकाक्षा । सत्यस्य अपवसदा सर्वमिन्द्रदेसे स्वेच्छया आत्माविरोधेनासनश- यनगमनाविप्रवृत्तिः । परिसहअभिआसणा परीपद्माभाचेष्टक्योचिताना नाग्न्यशीतोष्णवृंशमशकादीनामधियासना अध्यासना या सहनं तद्दुःखेनापि नाभिभवन्मित्यर्थः ।

अर्थः—निर्वसताही विश्वास उत्पन्न करनेवाली है इसको कोई हरण करते नहीं. निर्वस्र सुनीके पास यत्नादिक छिपे हुए नहीं रह सकते हैं. अर्थोत् शस्त्रादि परोपधातक वस्तु उनके पास रहती भी नहीं हैं अतः उनके ऊपर लोगोंका विश्वास उत्पन्न होता है, वस्त्ररहित होनेसे विरूप दीखनेवाले सुनिओपर हमारी स्त्रिया मोहित नहीं होती हैं. अतः उनपर वे लोग विश्वास करते हैं.

अनादरः—परिग्रहका त्याग करनेसे विषयजनित सुखसे आदर नष्ट होता है. मैं प्रेतके समान हूं अतः

हियोंकी तर्फ देखना भरेको योग्य नहीं है, उनका मधुर गीत सुनना योग्य नहीं है, मेरा शरीर ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है अतः उससे उनके साथ रतिक्रीडा करना क्या योग्य है? इस तरह भावनाओंसे अनादरगुण उत्पन्न होता है, अथवा इस निर्द्वेषतासे शरीरसुखमें व विषयसुखमें अनादर उत्पन्न होता है.

विषयसुखको छोड़कर शरीरसुख भिन्न पदार्थ नहीं है इस प्रश्नका उत्तर इस तरह समझना । शरीरके दुःखोंका अभाव होना शरीरसुख कहलाता है व इंद्रियोंके विषयोंसे जो मनमें प्रेम आल्हाद उत्पन्न होता है वह विषयसुख है । इस प्रकार इन दोनोंमें महान्कद है.

सर्वत्र आत्मवशता—यह गुण भी प्राप्त होता है, मुनीके पास कोई परिग्रह न होनेसे वे स्वेच्छासे बैठते हैं, जाते हैं तथा सोते हैं, बैठने उठनेमें मेरी असुख वस्तु नष्ट हुई, असुख वस्तु भरेको चाहिये इस प्रकारकी चिन्ता उनको होती नहीं. अतः परिग्रहविषयक परतंत्रतासे वे छूट गये हैं. भरे परिग्रहका विनाश हो जायगा। ऐसी भीति यदि मुनिकी उत्पन्न हो जावेगी तो वे अपनेको अयोग्य तथा उद्भ्रमादिदोषोंसे सहित, प्राणितंत्रयका नाश करनेवाले ऐसे आसन शयनादिकोंका संपादन करेंगे. परिग्रहको चौरादिक हरण करेंगे इस भीतीसे ब्रह्म स्थावर जीवोंको जिसमें दुःख पौर्दोषेया ऐसे मागति वे जावेगे. परंतु जो परिग्रहरहित हैं ऐसे मुनिराज उपर्युक्त दोषसे अलिप्त रहते हैं.

परिसह अधिआतना—पूर्वकर्मकी निर्वरा करनेकी इच्छा चित्तको है ऐसे मुनीको परीषद सहन करनेही चाहिये. क्षुधादिक बापीस परिषद हैं. वयपि परिषद शब्द सामान्यतया ग्रथुक्त किया है तो भी यहां अचेतनका प्रकरण होनेसे उनके शस्त्ररूप परिषदोंका ग्रहण हो जाता है. इस लिये नयता, शीत, उष्ण, दंशमशक, इतने परिषदोंकी सहन करना चाहिये ऐसा अभिप्राय सिद्ध हुआ. जैसी निर्बलमुनीकी शीत, उष्ण, दंशमशकोंसे पीटा होती है वैसे चक्ष ओंठे हुए मनुष्यकी होती नहीं है.

सचेष्टताया गुणान्तरस्वनाय गाथा—

जिणपडिरुवं विरियाथारो रागादिदोसपरिहरणं ॥

इच्चेवमादिचहुगा अच्चेलके गुणा होंति ॥ ८५ ॥

स्ववशात्त्वमदोषत्वं धैर्यवीर्यप्रकाशनम् ॥

नानाकारा भवन्त्येवमचेतत्वे महागुणाः ॥ ८६ ॥

विजयोदया—विजयखरुचं विमानां प्रतिविंबे चेदं अचेलखिं । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्व्यहीतवन्तो
खिन्नं तदेव तदर्थिनां योग्यमित्यभिप्रायः । यो हि यदर्थो विवेकयाम् नास्ती तदनुपायमादत्ते यथा घटायां तंतुरित्येवमादी-
न्मुक्तरथो च यतिर्न चेदं ॥ इति मुक्तेरनुपायत्वात् । यथात्मनोऽपि मयस्योपायस्तोयोगत उपादत्ते यथा चकादिकं तथा
यतिरपि अचेतनां तदुपायतां या अचेलताया विनाचरणदेव ज्ञानवर्णनानारथोत्ति ।

विरियायागो वीर्योत्तरायशयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यं, तदवियुद्धेन रत्नत्रयवृत्तिर्योग्यारः ।
स च पंचविधेय्याचार्येकः स च प्रयातितो भवति । अचेलतामुदहताऽसम्यक्सेपरित्यागस्य कृतत्वात् । परिग्रहत्वागो
हि पंचमं प्रते तदाचारितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत् ।

रागादिबोत्तपरिहरणं । साधे रागोऽलम्बे कोपः । लम्बे समेदंमाखलक्षणो मोहः । अथवा मृदुत्वं दाढ्यमित्येव-
माविषु वसनाखलवगुणेषु रागो मृदुस्पर्शनाविषु मेघ इत्येषां परिहृतः । इत्येवमादि इत्येवमक्षयः पशुभा महान्तः महा-
फलतया अचेलके अचेलतायां कक्षां गुणा इति । यांचावीनतास्त्रेयादिपरिहृताः कारिषायेन घृहीताः ।

मूला—क्षणवक्षिर्गुणं विनसदशरत्नं विना हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्व्यहीतवन्तो खिन्नं तदेव तदर्थिनां
योग्यमित्यभिप्रायः । विरियाचारो स्वसामर्थ्यानिगूढेन निर्मलरत्नत्रये प्रवृत्तिः । रागादि—लम्बे वले रागोऽलम्बे रोपो, लम्बे-
ऽपि च समेधमिति मूच्छा । अथवा वसगतेषु मृदुत्वदाढ्योदिगुणेषु रागः प्रीतिः । कर्कशत्ववर्जित्वाविबोलेषु द्वेषः ।
इत्येवमात्र इत्येवमादयः । आदिशब्देन यांचाईन्परक्षात्स्त्रेयादिपरिहृताग्रहणं । पशुभा महाफलत्वान्माहान्तः । आचेलके
पक्षत्यागो सति पतेः ।

अचेलत्वमें और भी गुण हैं यह आमेकी गाथासे द्यक्षित होता है—

अर्थ—जिनप्रतिरूप—यह अचेलत्व गुण है. मुक्तिप्राप्तिके अभिलाषी तीर्थकारोंको मुक्तिका उपाय मालूम
था अतः उन्होंने जो लिंगधारण किया था वही मुमुक्षु मुनिओंको धारण करना चाहिये. जो जिस वस्तुको चाहता
है वह विवेकयान् उसके प्राप्तिके लिये जो उपाय हैं उनकाही आलंबन लेता है. उसके उपाय न होनेवाले वस्तुको
वह ग्रहण नहीं करेगा. जैसे जिसको घटकी चाह है तो वह मृत्पिण्ड, चक्र इत्यादि कारकोंको ही ग्रहण करेगा वह
कदाचिदपि वस्तुतत्त्वचिके कारणोंका—तंतु इत्यादिकोंका स्वीकार न करेगा. उसी तरह वह मोधप्राप्तिका उपाय
नहीं है अतः मुमुक्षुजन उसका ग्रहण नहीं करते हैं. जो जो अपनी अभीष्ट वस्तु है लोक उसके कारकोंको ही ग्रहण

करते हैं जैसे घटार्थी चक्रादिक कारणोंको ग्रहण करते हैं, उसी तरह मुनिगण भी मुक्तिका उपाय जो अचेलता उसका अंगीकार करते हैं, इस अचेलताको जिनेश्वरोंने मुक्तिका उपाय है ऐसा समझकर धारण किया था. जिनेश्वरोंने ज्ञानाचार और दर्शनाचार धारण किये थे जैसे उन्होंने अचेलता भी धारण कीथी.

वीर्याचार—अचेलतासे वीर्याचार गुणकी प्राप्ति होती है. वीर्यान्तरायकर्मका खोपद्वार होनेसे जो आत्मा में सामर्थ्यपरिणाम उत्पन्न होता है उसको वीर्य कहते हैं. इस वीर्यको न छिपाकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है. ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्र्याचार, तप आचार व वीर्याचार ऐसे आचारोंके पांच भेद आगे ग्रंथकार कहेंगे ही. जिसने अचेलता धारण की है उसने अशुच्य वस्त्रत्यागको श्रव्य करके दिखाया है. यदि वस्त्रत्याग मुनिओंने नहीं किया तो परिग्रहत्याग नामका पांचवा महाव्रत उन्होंने शाला नहीं है ऐसा समझना चाहिये. सामर्थ्य होकर भी वस्त्रका त्याग न करनेसे परिग्रहत्याग महाव्रत कैसे पाला जायगा.

रागादिदोष परिहरण—यह भी गुण अचेलतासे ही मिलता है. वस्त्रका लाभ होनेसे उसमें आसक्ति हो जाती है. उसकी प्राप्ति न होनेसे मनमें कोप घर करता है. वस्त्र मिलनेसे बह बख मेरा है ऐसी मोहभावना उत्पन्न होती है. अथवा जोषनेके पहरनेके बखोंमें गृहपुत्रा, दूढ़ता वगैरे गुण देखकर प्रेम उत्पन्न होता है तथा उसके कठोरस्पर्श, जल्दी फट जाना इत्यादिक दोष अनुभवमें आनेसे उससे द्वेष उत्पन्न होता है. वस्त्रका त्याग करनेसे वे सर्व रागादि दोष नहीं रहते हैं. अर्थात् अचेलताके धारण करनेसे पूर्व गाथाओंमें कहे हुए सब महागुण मुनिराज को मिलते हैं. वस्त्रका त्याग करनेसे याचना दोष नष्ट होता है. दीनता और संकष्टपरिणाम विलीन हो जाते हैं.

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इयं सच्चसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ॥

णिगिणं गुत्तिमुक्खगदो पग्गहिदुदरं परक्कमादि ॥ ८६ ॥

सम्यक्कप्पवृत्तानिःशेषज्यापारः समित्तेन्द्रियः ॥

इत्थमुत्तिष्ठते सिद्धौ नाग्न्यगुप्तिमाचिष्ठितः ॥ ८७ ॥

विजयोक्त्या—इयं एवं । सञ्चयसमिद्धकरणो सत्यनित्यानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरीति करणानि इन्द्रियाणि, समितानि च तादृति करणानि च समितकरणानि, सर्वोपि च तानि समितकरणानि च सञ्चयसमित करणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरणः । रागद्वेषरहितता मायेन्द्रियाणां प्रवृत्तिः समीचीना तस्याश्च अचेष्टता निर्देष्टव्यं । रागादिनिवृत्तया गृहीतासंन्यात्कथमिव रागादीं प्रेक्षावान्यतेत ।

दण्डासणसत्यणमरणकिरियासु एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडायत-शयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया एतत्सु । एग्राहिवचं प्रगृहीतवर्त्तं । परक्रमदि चेष्टते । कः ? निगिणं नम्रतां । युतिं युतिं । उत्तमोत्तम उपगतः प्रतिपन्नः । कृतवसनत्यागस्य रासीरे किःस्पृहस्य मम किं शरीररक्षणं तपसा विजराणेश कर्तुं उत्सहते इति । तपसि यतते इति भावः ॥

आचेष्टस्यप्रतिपन्नो यतिः समितिपरत्वेनैकपादादिस्यानाविदुकरानुष्ठानेष्ववितपासुत्सहते इति पुनराचेष्टकथ-माहात्म्यं प्रकाशयति ॥

मूढारा—सञ्चयसमिद्धकरणो सर्वोत्पिष्टानिष्टविषयेषु समितानि रागद्वेषोद्वेगपरिहानि कृतानि करणानि इन्द्रिया-णि येन । अथवा सर्वत्र समितानि धुतानित्पितृक्रमेण प्रवृत्तानि करणानि ईर्ष्यादिकाः क्रिया वस्य । ठाणेस्यवि स्थान-क्रियाः एकपादसमपादादिका । शयनक्रिया दंडायतरसापादिका । गमनक्रिया सूर्याभिमुखगमनादिका तास्तु निगिणं नम्रतां । युतिं युतिं रक्षां रक्षणयस्य । एग्राहिवचं प्रगृहीतवर्त्तं सुष्टं इत्यर्थः । परक्रमदि पराक्रमते चेष्टते । त्यक्तवज्रस्य चेष्टेऽपि निर्मस्य मे किं शरीररक्षणेन तपसा निर्देष्टमेव कर्तुमुत्सहेश्चमिति चमोक्तस्यानाविदुकरकायच्छेष्टलक्षणे तपसि यतत इति भावः ॥

पुनः अचेष्टकमे महचाको आगेकी गथा दिसाती है—

अर्थ—इस अचेष्टकमे प्रभावसेही धनिराजकी स्वर्धनादि पांचों इन्द्रियों रूपादिक क्रियाओंमें समितियुक्त प्रवृत्ति करती है. अर्थात् उनके इन्द्रियोंकी स्वर्धनादि विषयोंमें रागद्वेषरहित प्रवृत्ति होती है. अचेष्टता रागादिकोंकी जीतनेके लिये हि मुनियोंमें ग्रहण की है अतः वे रागादि विकारोंमें कैसे प्रवृत्त होंगे ? अचेष्टता धारण करनेसे ही वे एक पात्रसे खडे होना, समपाद रसकर कायोत्सर्ग करना, इत्यादिरूप स्थानक्रिया, उत्कटासनादिकोंकी आसन-क्रिया कहते हैं. दंडके समान शयन करना, एक पार्श्वसे शयन करना इत्यादिक अयनक्रिया, सूर्याभिमुख गमन करना इत्यादिक गमनक्रिया इत्यादिकार्योंमें खूब प्रवृत्ति करते हैं. वस्तुतया करनेवाले व शुशिक्षितो पालनेवाले मुनि

शरीरमें प्रेम दूर करते हैं, वे निःस्पृह होकर शरीरको सुन्न करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, मैं तपश्चरणके द्वारा कर्मको निर्दोषी करूँगा ऐसा विचार करके तपश्चरणमें यत्न करते हैं,

अपवादलिङ्गमुपगतः किमु न शुद्धत्वेवेत्यादांकावां तस्यापि शुद्धिरेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे-

अववादिद्यलिङ्गकदो त्रिसयासत्तिं अगूहभाणो य ॥

निर्वृणगरहणजुत्तो सुश्रद्धि उवाधिं परिहरंतो ॥ ८७ ॥

आपवाविकलिङ्गोऽपि निन्वागर्हापराधनाः ॥

जन्तुरच्छादकः शक्तेः संगत्यागी विशुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

इत्यप्येकम् ॥

विजयोक्ता—अबेकहं गर्ह । अववादिद्यलिङ्गकदो वि अपवावलिङ्गकदोऽपि । करोति स्याताप्येवृत्तिरिह परिगृहीतः । एतावत् प्रयोगः—

पर्वे च कृत्वा परे च स्थितोऽर्थः । सुश्रद्धिं शुध्यति च । कर्ममलापयेन शुद्ध्यति । कीदृक् सन् यः स्वां सति शक्तिं । अगूहभाणो अगूहमानः सन् । उवाधिं परिग्रहं । परिहर्तुं पतित्यञ्जन् योगप्रयेण । निर्वृणगरहणजुत्तो सकलपरिग्रहस्थानो मुक्तोर्मां मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकः परिग्रहः परीपदमीरुणा गृहीत इत्यंतःसंतापो निदा । गर्हो परेण पर्ये कथनं । ताभ्यां युक्तः निन्वागर्हाभिप्रापरिणतः इति यावत् । एवमेषलता श्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥

यद्येवमावेकमुपगतस्य शुद्धितर्कपवादादिभिरतः शुद्ध्यति न वा यदि शुद्धयति तर्केन क्रमेणेति पृच्छन्तं च प्रत्याह—

मूलाह—अववादिद्यलिङ्गगदो अपवाविकलिङ्गस्यो आयोदित्यर्थः । अवि य अति च । कौपीनादिप्रथवानपि शुद्ध्यति किं पुनर्निर्ग्रहपर इत्यपि कृत्यार्थः । सगद्यति निवसामर्थ्यं । निदं सर्वसंगत्यागो जिनोपज्ञं मुक्तिमार्गः मया पुनः पापेन परीपदमीरुणा वस्त्रपात्रादिभ्यो गृहीत इत्यंतःसंतापरूपा निदा । गरहण निदं गृहोदिसाश्रित्यर्थः । उपरि परिहर्तुं त्वक्तुमशक्यतया परिगृहीतेऽपि वस्त्रादौ निर्मये भवन्नित्यर्थः ।

अपवादलिङ्ग धारण करनेवाले अर्थोदिक अर्थात् ऐलकादिक शुद्ध नहीं होते हैं क्या ? ऐसा प्रश्न होनेपर उनकी भी शुद्धि आगे कहे गये क्रमसे होती है ऐसा आचार्य कहते हैं,

अर्थ—अपवादालिगधारी ऐलकादिक मी अपनी चारित्रचारणशक्तीको न छिपाता हुआ कर्ममल निकल जानेसे शुद्ध होता है, क्योंकि वह अपनी निंदा व गर्हा करता है और मन, वचन व शरीर ऐसे तीन योगपूर्वक परिश्रमक त्याग करता है, संपूर्ण परिश्रमका त्याग करना ही मुक्तिका मार्ग है, परंतु मेरेको परीपहोका डर होनेसे पापोंद्वारे मैंने बस पात्रादिक परिश्रमका ग्रहण किया है ऐसी मनमें पश्चात्तापपूर्वक वह निंदा करता है, तथा गुर्वादिकोंके समीप अपनी निंदा करता है, वह निंदा और गर्हा ऐसे दो परिणामसि युक्त होकर परिश्रम स्वल्प करता जाता है अतः उसके पूर्वकर्मस्त्री निर्बरा होकर आत्मशुद्धि होती है, इस तरह अचेलताके गुणोंका वर्णन किया, यह अचेलता मुनियोंके अहारित मूलगुणोंमेंसे एक मूलगुण है.

केसाक्षोषारुत्ते के दोषा यन्परिहृं लोचोऽनुष्ठोयेत इत्यारेकावां दोषप्रतिपादनायोचरं गायत्रयम्—

केसा संसर्जन्ति तु गिष्पडिकारस्तु दुपरिहारा य ॥

सयणादिसु ते जीवा विद्धा आंगतुया य तथा ॥ ८८ ॥

संस्काराभायतः केशाः संमृच्छन्ति निरन्तरम् ॥

विशन्त्यागन्तवो जीवा दूरक्षाः शयनादिषु ॥ ८९ ॥

विजयोदयम्—केसा केशाः । संसर्जन्ति सु खुलझ पक्कारथः । यूरालिशोत्तेचराधाराम्यमुपप्रजन्त्येव । कस्त केशाः ? गिष्पडियारस्त निष्कास्तः प्रतीकारात् निष्पत्तीकारः । प्रतीकारात्तः सागाम्यवचनोऽपि संसर्जन्त्य प्रकृतत्वात् संसर्जनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाम्यंगंधादिमिश्रपञ्चलप्रक्षालनादिक्रियामं कुर्वत इत्यर्थः । ते सम्मृच्छन्त्यागन्तवो यूरकावयः । दुपरिहारा य दुःखेन परित्यज्ये । क सयणादिसु शयनं शयनोपयमनं, शिरसा कस्तत्रिद्वयं मनं । निद्रामुद्रितवलोचनस्य पतनं परचयस्य सतः आदिरभ्युदयः । वाचा जीवेभ्यः कथंचिद्व्यवशेनालस्वभाव-भेदात् । ततः वाचायां दुष्परिहारायां जीवा एव दुष्परिहारा एव मर्ततीति मन्यते । अन्यथा हस्तेनापनेतुं शक्याः कथं दुष्परिहाराः स्युः । न केवलं तत्रोपक्रा एव दुष्परिहारास्तथा तैरेव प्रकारेण जीवाः आंगेतुका य अन्यत आंगताश्च कोडा-दयश्च । एतेन विसादीय आह्वयतः ॥

मूढारा—केसा संसर्जन्ति सु यूरालिशोत्तेचराधाराम्यमुपप्रजन्त्येव । गिष्पडियारस्त स्नानादिशरीकारसमर्पितः । दुपरित्यादि—स्याप्यायादिसिद्धयः शिलावज्रयो सेषशूनं, आरिगन्धेन शिरसा कस्त्याविद्वधंभनं, निद्रामुद्रितलोचनस्य

परवरात्य सतः पतनं या, तेषु यतमानेन यतिनां त्रे केशसम्पूच्छिनो बीणा वायां मच्छतो दुष्परिहाय रक्षितुमशक्याः ।
निद्रा प्रलिपन्नाः । न केवलं त एव अपि त्वांगुकाञ्च कीटकादकृतया दुष्परिहाय दृष्टाः । एतेन हिंसादोष उक्तः ।

केशलोच नहीं करेसे कोनसे दोष उत्पन्न होते है ? बिनाका परिहार करनेके लिये पुनिगण लोच करते है ? ऐसी शंका होनेपर लोच न करनेसे जो दोष हो जाते हैं उनका दो गायबोसे आचार्य वर्णन करते हैं.

अर्थ—तेल लगाना, अश्वगन्धान करना, सुगन्धित पदार्थसे केशोंका संस्कार करना, जलसे घोना इत्यादि क्रियायें न करनेसे केशोंमें यूका और लिखा ये अन्तु उत्पन्न होते हैं. जब इनकी उत्पत्ति केशोंमें होती है तब इनकी वहाँसे निकालना बड़ा कठिन काम है.

ये लिखादिक जंतु चढाई बैरइमें घुस जाते हैं. मस्तकसे यदि किसी पदार्थका आश्रय लिया हो तो उसमें उनका प्रवेश होता है. जब निद्रा आती है तब मस्तकसे ये नीचे गिरते हैं. अन्य देशकालस्वभावसे उत्पन्न हुए प्राणियोंसे इन लिखादि जंतुओंको वाया भी पोहोचती है । अन्य देश, काल, स्वभावसे यह बाधा भी मिटाना बड़ा कठिन काम है. पाधाका दुष्परिहार होनेसे जीव भी दुष्परिहार होते है ऐसा कह सकते हैं. अन्य स्थलसे कीटादिक जीव आकर भी ये वहाँ ठहरते हैं उनको निकालते समय ये मर जानेसे हिंसादोष उत्पन्न होगा.

जुगाहिं य लिक्त्वाहिं य गाधिज्जंतस्स संकिलेसो य ॥

संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८९ ॥

संश्लेशः पीछ्यमानस्य यूकालिक्षेण दुःसहः ॥

पीछ्यते तच्च कंहूतौ यतो लोचस्ततो मतः ॥ ९० ॥

विजयोदया—जुवाहिं य यूकाभिन्न । लिक्त्वाहिं य लिक्ष्मिन्न । गाधिज्जंतस्स वाच्यमानस्य यतोः । संकि-
लेसो य संश्लेश । जायते इति शेषः । स च श्लेशोऽधुमपरिणामः पापस्त्वः । पूर्वोपात्तकर्मपुत्रलरसामिबद्धतन्निपुणः ।
अथवा गाधिज्जंतस्स भक्ष्यमाणस्य संकिलेसो य दुःखं वा । तथा चोक्तं—मिलश्च विषाचने इति । यतेनात्मविराधनादोषः
संचितः । अथ तदक्षणं असहमानः कंहूयति तत्र दोषमाह—संघट्टिज्जंति य संघट्टयंते ते यूकादयः । आगंतुकाञ्च कंडुयणे
फंझकरेण । तेन वीषेण हेतुनासो आगमदृष्टा लोचः क्लियते इति शेषः । प्रवक्षिणावतः केशसमधुविषयः इत्यांगुलीभिरेव
संपाद्यः द्विभित्तुर्मांसगोचरः ॥

मूढारा—संकीर्तने दुष्परिणामः संततदुःखं वा । एतेभ्योऽपि विषयान् बोधः सूचितः । संप्रति ज्ञाति संप्रत्यये पीडयितुं युक्तायाः क्रीडायाश्च । सो ज्ञानमद्वयः केवलमनुभवयोगो द्विर्बचतुर्भासगोचरः । प्रदक्षिणावर्तो हस्तांगुलीभिरिव संपाद्य इत्यर्थः ।

अर्थ—जुं और लिखाओंसे पीडित होने पर मनमें नवीन पापकर्मका आगमन कराने वाला अशुभ परिणाम—संछेद्य परिणाम हो जाता है, तथा इस परिणामसे पूर्वबद्धपापकर्ममें अधिक अनुभव—रस बढ़ जाता है, इन जीवोंके द्वारा भक्षण क्रिये जानेपर शरीरमें दुःख होता है, अतः इससे आत्मविश्रान्ता होती है, जब इनके दंश करनेसे असह्य वेदना होती है तब मनुष्य मस्तक खुजाता है, मस्तक खुजानेसे जुं लीला आदिक अंतुओंका परस्पर मर्दन होकर नाश होता है, ऐसे दोषोंसे बचनेके लिये सुनिगण आगमके अनुसार केशलोच करते हैं, मस्तक, दाढ़ी और मूछके फेणोंका लोच दाढ़ोंकी अंगुलियोंसे करते हैं, दाहिने पाखसे आरंभकर बाये तरफ आवर्त रूप करते हैं, इस लोचकी उत्कृष्ट मध्यम और जवन्य मर्यादा दो भास, तीन भास और चार भासकी है, ऊपर लोच नहीं करनेसे होनेवाले दोष दिखाने हैं,

एवं लोचकरणे दोषद्वयान्व लोचैः शुणक्तपापनाय मायानयमुत्तरम्—

लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्तं होइ गिविवियारत्तं ॥

तो गिविवियारकरणो पगहिद्वरं परक्कमदि ॥ ९० ॥

मुंडत्तं कुर्वतो लोचमस्त्यतो निर्विकारिता ॥

प्रकृष्टां कुरुते वेष्टां वीतरागमनास्ततः ॥ ९१ ॥

विजयोद्या—लोचकदे लोचैः कृत, स्थित, लोचकताः सप्तमीति योगविभागात्समासः । तस्मिन् लोचैः कृते लोचस्यते इति केचित् । अन्ये तु वदन्ति लोचगदे इति पठतः लोचं मतः प्रातः लोचमतः तस्माज्जिति । अथवा कृतयाच्ये मायसाधनः ततः सहस्रणा सप्तमी लोच एवं कृतं तस्मात् । लोचक्रियायां सत्यां । मुंडत्तं मुंडशिरस्करता नाम भवति । न मुंडशिरस्करता मुष्पुण्यायो गुणोऽस्त्यत्यन्तद्वयस्यभिधानवत् तस्मिन्कुनेनानुपयोगिना गुणेनत्याशकायां आह—मुंडत्ते होदि गिविवियारत्तं इति । मुंडत्ते मुंडनायां सत्यां । होदि भवति । गिविवियारत्तं निर्विकारता । विकारो विक्रिया सलीलता, मनश्चंगारकयाऽप्यश्लेषणादिकः । तस्माद्विकारान्तराः तत्रामनुचः निर्विकारः तस्य भावः निर्विकारता निर्विकारो भवति इति ।

यावत् । सो ततः निविद्यारकर णो विकाररहितक्रियः । पगविषदरे प्रगृहीततरं । परक्रमवि चेष्टते कारणत्रये इति शेषः । रत्नत्रयोयोगः परंपरया लोचन्योपयोगः समाख्यातोऽन्या गाथया । नमस्य मुदस्य सविभ्रमं गमनादिकं जनो सुप्रदु हसति, शोभते तरानियमस्य धिलासिता पंडकस्य चामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविफारो मुक्तये केवलं प्रदेते इत्यभिप्रायः ॥

एवं लोचनकरणे दोषानुक्त्या तत्करणे गुणान्वक्तुं गाथात्रयमाह—

मुञ्जारा—लोचनके लोचन्य करणे सीत । निविद्यारत्नं सलीलगमनदसमंभृगारअथाकटाध्वानिरीक्षणादिलक्षणविकार-
रहितत्वं । निविद्यारकरणे कीतरागमननादीक्रिय. सत् । परक्रमदि शुभमनोवाक्यावस्थापारे प्रवर्तत इत्यर्थः । एतेन लोचः
परंपरया रत्नत्रयोक्चोनी भवतीत्युक्तं प्रतिपन्नवचम् ॥

अब लोचके गुणोंका वर्णन आचार्य तीन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ—लोच करनेपर ही शिरोमुंडन हुआ ऐसा माना जाता है. शंका शिरोमुंडन करना अर्थात् लोच करना मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि यह रत्नत्रय नहीं है. अतः लोच करना व्यर्थ है. इससे कोई गुणविशेष उत्पन्न नहीं होता है. इस शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—शिरोमुंडन होनेपर निर्विकार प्रवृत्ति होती है. अर्थात् केशलोच किया हुआ साधु लीलासे गमन करना, भृंगारिक कथार्य कहना, कटाक्षसे अवलोचना— तिरछी नजरसे देखना, इत्यादिक विकारभावसे प्रवृत्ति नहीं करता है. इस निर्विकारप्रवृत्तिसे यह मुक्तिके उपायभूत रत्नत्रयमें खूब उपयोगशील बनता है. अतः लोच परंपरया रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होनेके लिये क्लरण होता है ऐसा इस गाथासे सिद्ध हुआ. नम्र और मुदितमस्तक मैं यदि हावभावसे गमन करूंगा और इधर उधर फटाक्षपात करते चंछंगा तो मेरेको देखकर लोग हसेंगे और तूकिके विलासके समान इस हिजड़ेका यह विलास शोभा पाता है ऐसा कहेंगे ऐसा मनमें विचार करके साधु संपूर्ण विकारभावोंको त्याग करके केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करते हैं. ऐसा अभिप्राय समझना.

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ॥
साधीणदा य णिहोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥ ११ ॥

वस्यमानस्य लोचन हृषीकार्थेऽस्य नाग्रहः ॥

स्वाधीनत्वमदोषत्वं निर्ममत्वं च चिग्रहे ॥ ९२ ॥

स्वाध्यायान्तर्भवति । न भवति । यः स्वध्यायः ।
मिज्जयो ह्यथा—अथवा दमियो होदि वशीकृतो भवति । कस्य ? आत्मन एव । केन कारणेन ? लोपण कथोत्पाटनेन ।
मन्यते ।

दुःखमयवन्ना निमृहीतवर्णः सद्य एव श्राव्य भवति यथा बलाविवर्धिरात मन्यते ।
सुरो य सुरो च । सगं आसक्ततां । नोपयाति । मुखमेव सुखलंघनं जनं करोति । दुःखेऽन्तर्मोघ्याने सुपासकिर्द्ध-
न्यते छुरयोपयोगमूलाचदभावात् । धीआभेऽङ्कुर इव । रंद्रियसुखवान्मुखमयेनोच्यते तत्रासक्तो धित्वादिषु प्रवर्तते ।
तेन पट्टिहारेभ्यमुत्सारसुपासंगाद्वर्णचूतः संघट एवेति मुक्तेर्मथ्युपायः । अमिनवाचवनिरोधमतेरण का नाम निर्लेपा तस्यां
वा सस्यां का मुक्तिरिति भावः ॥

वा सत्या का मुक्तीरात भावः ॥
 सायिपद्मा य दशवस्ता छ केनासक्तो हि जनोऽथद्वयं शिरोभ्रष्टणे, सम्मर्दने, ग्रहाल्ले, लच्छोपणे च प्रयसते । स
 वायं ध्यानरो निप्रसादवदति स्वाध्यायदेः ।

निदोसदा य निदोपेता च। या सदोपक्रिया सा न कार्या यथा स्तोत्रिका। निदोपावशुभीयते यथालक्षतादिका।
 यथा खेयमदोया लोचक्रिया।

लोभनिष्ठा हिः शीर्षं, दादरलोभाभिद्रुतिः शीर्षं । शरीरलोभनिद्रुतिः सक्कलोभनिराक्रियाया मूळं । शरीरपङ्कतये यंशु-
पनाविषयस्य लोभः । धर्मश्च संयमोदः, शुद्धिस्मिन्निधर्मांशुमेधापरिपङ्कतये वैरिति यचनात् ॥

नूतनारः—यानि चोर्ध्वं निष्पन्नं यदीदं रश्मिः स्यात् । सुदे विपयोऽप्ये सुते । संतं आसक्तिं
दुःप्रभावतया सुखासक्तिद्वयमुपलब्धेः । चाभीनया विरोधक्षणाविपरंत्यभावात् स्वाध्यायादौ स्वावंश्यं । निदोसया
अनकानादिक्रियापक्षोक्तक्रियाविरोधार्थं रत्नत्रयोपयोगित्यात् ।

अर्थ—जैसे बैल बगैर पशु उनकी दुःख देनेसे उन्मत्ताईन होकर शान्त होते हैं वैसे कैशलीच करनेसे और दुःख सहन करनेकी भावनासे आत्माका दमन होता है, वह शान्त होता है इसीलिये पुनि लोच करके अपने आत्माको स्वयश करते हैं, सुखोप्ते वे आसक्ति नहीं रखते हैं, क्योंकि सुख मनुष्य प्राणीको सुखलंपट बनाता है, दुःखका विचार करनेसे उसकी भवना करनेसे सुखासक्ति नष्ट होती है, सुखकी भावना करनेसे ही सुखासक्ति पैदा होती है, परंतु वह भावना नष्ट होनेसे बलिके अभावसे अंकुर जैसे अपने अस्तित्वको नहीं रखता वैसे सुख भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है, ईंद्रियसुखोंके पछि दौटनेवाला मनुष्य उनमें आसक्त होकर हिंसादिक पापकार्य करता है, ईंद्रियसुखकी प्राप्तिके लिये आरंभ परिश्रम मूल कारण है, अतः ऐसे सुखसे परावृत्त होनेसे संवर होता

कायफलेदाल्यं दुःप्रांतराणि च सहते ॥ लोचनं तथैव व्यापार्यतिगुणवत् ॥ दुःखमस्तु दुःखस्य सहणं च सहनं च दुःखं
भावयन् दुःखान्तराणि च सहते । दुःखसहननिष्ठं चरौ भवत्यनुभूतमेषां ॥ लोचोचि मंदं ॥
मूढारा-आणानिलदा अनखिता । णक् दशेन इत्यस्य प्रयोगः । आदर्शित्वस्य प्रयोगः । उगो तवो उग्र-
तपः कायैकशब्दं ॥

अर्थ-—युनि लोच करते है उससे उनकी धर्मके-चारित्रके ऊपर बड़ी भारी श्रद्धा व्यक्त होती है. यदि
उनमें-चारित्रमें श्रद्धा न होती तो वे इतना दुःख सह लेय क्यों करते ? वे अपनेमें धर्मश्रद्धा प्रगट करते हैं अतः
अन्य जनोंमें भी उनकी धर्मश्रद्धा देखकर धर्मके प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है. अतः लोचके द्वारा उपबृंहण नामका
गुण भी प्राप्त होता है. लोच करनेवाले युनि उग्रतप अर्थात् कायश्रेष्ठ नामका तप करके होमेवाला दुःख सहते
है. जो लोच करते हैं उनको दुःख सहनेका अभ्यास हो जाता है अतः वे अन्य दुःखके प्रसंग आने पर झरते नहीं
जातेतबले सहन करते हैं. दुःख सहन करनेसे अनुभूत कर्मकी निवृत्ति होती है.

च्युत्स्वच्छादीरताभिधानयोचः अर्थः—

सिण्हाणन्मंगुवृद्धाणि ण्हकेसमंसु संठप्यं ॥

दंतोद्वकणमुहुणासियच्छिभमुहाइं संठप्यं ॥ ९३ ॥

न भ्रूदन्तौष्ठकर्णाश्विनखकेशाविसंस्कृतिम् ॥

मजन्मपुद्गर्सनं स्नानं नाभ्यङ्गं ब्रह्मचारिणः ॥ ९४ ॥

विज्ञोषया—सिण्हाणन्मंगुवृद्धाणि धजेविति वदधटना स्नानाभ्यङ्गमोक्षरत्नानि ॥ ण्हकेसमंसु संठप्यं मत-
केसकमधुसंस्कारं च वर्धयति । अन्तरेणपि चशब्दं समुच्चयार्थमेकीतिः ॥ गृध्रिव्यापसेजो धासुराकारो फालो दिगात्मा
मनः इति द्रव्याणि इत्यत्र यथा ॥ दंतोद्वकणमुहुणासियच्छिभमुहाइं संठप्यं कलेजदिति पदरचना ॥ दंतानामोष्ठयोः, कर्णयो
र्मुपस्य, नासिकाया, अण्णोर्ध्वोरादिमहणत्पणिणपदीनां च संस्कृतिं परिहरति ॥

आमनेककमकारं शिरोमात्रमशरत्नं, शिरो मुक्ता अन्यस्य वा यात्रस्य, समस्तस्य वा । तत्र शीतोदकेन कियते
स्नायत्तणां वसानां च दाप्यामस्यदिति । कर्हमवलुकादिमर्दनान्जलकोषणाच्छरीराणां च वनस्पतीनां पीडितः मत्स्यदंडैर
सुदमवसानां च स्नानं निवार्यते । उष्णोदकेन आयादिति चेन्न, तत्र अस्यसाध्याभावस्थितैव । भूमिद्वीधिचरीस्थतानां
निपीडिकादीनां मृतेः, तरुणपणपुत्राणां चोष्णांबुभिसासनां दुःधासिका मद्दती जायते । तथा क्षारतया धान्यरसदीनां ।

न चास्ति प्रयोजनं ज्ञानेन सप्तषाढुभयस्य वेदस्य न शुचिता शक्या कर्तुं । ततो न शौचप्रयोजनं । न रोगापादये रोग-
परीपदसहनाभावप्रसंगतः । न हि भूपाथे विपणनयात् ।

धृतलैलादिभिरभ्यञ्जनमपि न कुर्यात् प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिर्जतवो
याच्यन्ते । अथास्य तत्रावबलप्राः ।

उद्धर्त्तने इतस्ततः पततां व्याघाताः । मूलत्वक्फलपत्रादेः पेपणे, दलेन च माहानसंयमः । निर्वर्तनविलेखनपर्यण-
रञ्जनाविकी नृत्यसंस्कारः । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरणं या ओष्ठसंस्कारः । केशसंस्कारो हस्तपर्यणेन मातृगतासंभावने,
तथा समभूणामपि । दंतमलापकर्षणं तद्रंजने या दंतसंस्कारः । नृद्वयबोलवतापदवं । दीर्घयोर्बो नृद्वयकरणं । तन्मलनिरा-
सोऽलंकारप्रह्वं कर्णसंस्कारः । मुखस्य तेजःसंग्रहं लेपेन मंत्रेण या मुखसंस्कारः । अङ्गोः प्रक्षालनं र्भक्षणं अक्षि-
संस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्भां उत्प्राटनं आतुलोभ्यापादनं । लंबयोक्त्रतीकरणं, भ्रूसंस्कारः । शोभार्थं हस्तपादादि-
प्रक्षालनं, क्षीपध्विलेपादिर्वासंस्कार आदिशब्देन गृहीतः ।

अधुना द्युत्सृष्टशरीरत्वाक्यल्लिङ्गविकल्पव्याख्यानाय गाथाप्रथमाह—

मूला—सिन्धुणा स्नानं । अर्धंगं छैलादिना लिङ्गपत्त्यापादनं । उज्ज्वट्टण जलाविप्लुतमसूरादिपिष्टादिना वेदस्ये-
तस्ततो मर्दनं । नैसु दमद्गु दूढं इत्यर्थः । संतप्यं संस्कारं । मसुहादि आदिशब्देन हस्तपादादि । तत्र लेखनकर्तव्यपर्यणरंज-
नादिको नखसंस्कारः । हस्तपर्यणेन मातृगताकरणं केशदमभुसंस्कारः । मलापनयनरंजनादिको दन्तौष्ठसंस्कारः । नृद्वय-
लंघीकरणमलापकर्षणमरणादिकः कर्णसंस्कारः । लेपेन मंत्रेण या तेजःसंग्रहं मुखसंस्कारः । अंतर्मलरोमापनोवादि-
नासासंस्कारः । प्रक्षालनांजनादिको नेत्रसंस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्भां केशानामुत्प्राटनं आतुलोभ्यापादनं च । कुबोरेव
या लंबयोक्त्रतीकरणं भूसंस्कारः । शोभार्थं प्रक्षालनमौषधलेपनादिकं च हस्तपादादिसंस्कारः ।

द्युत्सृष्ट शरीरता शरीर परसे भवत्वभाव दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना यह भी लिखा एक
प्रकार है इसका वर्णन करनेके लिये उत्तर प्रबंध आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मुनिगण जलस्नान, अग्न्यग्नस्नान और शरीरको उबटन लगाना इनका त्याग करते हैं, वे
नलौका संस्कार, फेंडोंका संस्कार और दाही भूछोंका संस्कार इनका त्याग करते हैं, दांत, जोठ, कान, नाक,
मुँह, आँख और मोँह आदिका भी वे कभी संस्कार नहीं करते हैं, आदि शब्दसे दाथ और पावोंका संस्कार भी वे
नहीं करते हैं ऐसा समझना,

विशेष—स्नानके अनेक प्रकार हैं, जलसे केवल मस्तक धोना, अथवा मस्तक छोड़कर अन्य अवयवको

घोना अथवा समस्त अयवोंको घोना. परंतु त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा न होवे इसलिये मुनि शीतलजलसे स्नान नहीं करते हैं. स्नानके जलसे कीचड़ होता है, वादुकादिकोंके मर्दानसे जलकायिक जीवोंका घात होता है. वनस्पति जीवोंको बाधा पोहोचती है. मत्स्य, मेंढक, और सृष्टम त्रसोंको बाधा पोहोचती है अतः मुनिगण शीत जलसे स्नान नहीं करते हैं. यदि वे थंडे पानीसे स्नान नहीं करते हैं तो गरम पानीसे क्यों नहीं करते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है—गरम जलसे स्नान करनेसे भी त्रसस्थावर जीवोंको बाधा होती ही है. जमीनके छिद्रोंमें, बड़े बड़े बिलोंमें यह पानी प्रवेश करेगा तो वहांके चिट्टी वगैरह प्राणियोंको बाधा अवश्य होगी ही. गरम पानीसे घास, कोमल अंशुर संतप्त होकर महान्कष्टी होते हैं. गरम पानीसे धान्योंका रस नष्ट हो जाता है.

मुनिओंको जलस्नानकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि, जलस्नानसे सब धातुमय देह पवित्र नहीं होता है. इस वास्ते शुचितोफलिये स्नान करना भी योग्य नहीं है. रोगपरिहार करनेके लिये भी स्नानकी आवश्यकता नहीं है. यदि वे स्नान करेंगे तो रोगपरीषद सहन करना व्यर्थ होगा. शरीर सौंदर्य युक्त होनेकेलिये भी वे स्नान नहीं करते हैं क्यों कि वे वीतराग हैं.

मुनि भी, तैल इत्यादिकोसे अभ्यंगस्नान भी कुछ प्रयोजन न होनेसे करते नहीं हैं. घृतादि क्षारपदार्थों का स्पर्श होनेसे भूमि वगैरहमें रहनेवाले जन्तुओंको पीडा होती है. भूमिपर बिपके हुए त्रस जीव इधर उधर होते हैं. मिरते हैं तब उनको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जाते समय बाधा पोहोचती है.

बूधोंके मूलभाग, छाती, फल, पंच इत्यादिकोंका चूर्ण करनेमें, पीसनेमें महान् असंयम होता है. नल निफालना, घिसना, रंगाना इत्यादि कार्यको नखसंस्कार कहते हैं. ओठोंका मल निफालना, उनको रंगाना अधि-क लाल दीखने सायक बनाना यह ओष्ठसंस्कार है. दाबोंके द्वारा घर्षण करके स्निग्धता उत्पन्न करना यह केश संस्कार है. दाढी लीर मुँहोपर भी हात धार बार फेरकर स्निग्धता उत्पन्न करना यह स्मश्रुसंस्कार है. कान नहस्य हो तो उनको दीर्घ करना, दीर्घ हो तो उनको छोटे बनाना, उसमें से मल दूर करना, उनको अलंकारोंसे भूषित करना यह कर्णसंस्कार है. कुछ उबटन वगैरे पदार्थ लगाकर मुहको तेजस्वी बनाना. अथवा मंत्रके द्वारा मुहको तेजस्वी करना यह मुखसंस्कार है. आंखें स्वच्छ घोना, वे अंजनेसे आंजना यह नेत्रसंस्कार है. जो केश इधर उधर तिरछे ऊगे हैं उनको बिकाल देना, दीर्घ केशोंको नहस्य करना, उन्नत बनाया यह मोहोंका संस्कार है.

सुंदरता बड़े इसलिये हाथ और पाय, जगरे घोना, औषधादि विलपन करना यह हस्तपादादिसंस्कार हैं। ऐसे सन देहसंस्कारोंका मुनि त्याग करते हैं। इससे वे अरीरके ऊपर स्निह रहित हैं यह सिद्ध होता है। अरीर स्नेह छोड़ना यह भी मुनिलक्षणका एक भेद है।

यज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च ध्रुववासं वा ॥

संवाहणपरिमहणपिण्डणादीणि य विमुत्ती ॥ १४ ॥

न स्फन्धकुट्टनं वासं माल्यं धूपविलेपनम् ॥

कराभ्यां मलनं चूर्ण चरणाभ्यां च भर्जनम् ॥ १५ ॥

विजयोषया—गंधं फस्तूरिकादिकं । गंधं मास्यं भनुष्यकारं । धूपं फालागुयादिकं । वासं सुपचासं च सातिफलादिकं । भनेन्नुपभिक्षपमिथ्ये वा । संवाहणं हस्ताभ्यां मलनं । चरणाभ्यां मलनं । परितः परिमर्दनं । अलकुट्टनं उभर्तुं वाढ्यं च कर्तुं यत्पिपिदिनिर्युध्यते । पतारत्तयं यज्यति प्रयोजनाभवादिंसाप्रयुत्तेष्व । कः ? ब्रह्मचारी अग्रहा निर्युचिपरो यतिः ।

मूलाय—गंधं माल्यं पुष्पमाला । गंधं जातिफलादिना मुलयास्तनं । संवाहणं हस्ताभ्यां भर्जनं । परिसवणं पादाभ्यां भर्जनं । पाणीयगादीनि असंयोरुभ्रति दाढ्यं च कर्तुं कुट्टनं परिषणमित्युच्यते । पुटपुटीत्यन्ये । आदिसन्वेत कासुपालिका बुद्धचदिकादिभर्जनम् । विमुत्ता विमुक्ताः निर्भया इत्यर्थः । न हि ब्रह्मचारिणां स्नात्वादिना प्रयोजनमस्ति स्वभावतोऽप्युचैः क्षावस्य शोषयितुमशक्यत्वात् नामन्यजोचान्या च बीभत्सस्यासंपाशरामणीयकत्वात् । तेन भूष्यदिस्थप्रसत्थावरप्राणि हिंसासागादिप्रसंगाच्च ।

अर्थ—ब्रह्मचर्य धारकने कस्तूरी वगैरे सुगंध वस्तुओंका त्याग करना चाहिये। पुष्पमाला, रत्नमाला मुक्तमाला, सुवर्णमाला इनका त्याग करना चाहिये। फालाफल, तगर वगैरहका धूप भी त्यागना चाहिये। मुखको सुगंधित करनेवाले जायफल, इलायची, लवंगादि पदार्थ छोड़ने चाहिये। हाथोंसे अंग चूरना, पायोंसे अंग रगड़ना, शुष्ट दूद करनेके लिये वाहुभर्जन करना हत्यादि कर्म मेथुनसेवाके त्यागी मुनिवर्य छोड़ देते हैं।

किं ब्रह्म/व्रतस्य भुवन्ति स्नानादिपरित्यागाः येन तद्ब्रह्माचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारोकायामाह—
अह्निविलिप्तो देहो लुप्तस्यो लोककदवियद्वीभक्त्यो ॥

जो रुद्रणवसलोभो सा गुप्ती बंभचेरत्स ॥ १५ ॥

या रूक्षा लोचनीयत्सा सर्वाणमत्या तदुः ॥

सा रक्षा ब्रह्मचर्यस्य प्ररुद्रनस्वलोलम्बिका ॥ १६ ॥

इति व्युत्सृष्टवेदता ॥

वित्तयोदया—जह्निविलिप्तो देह इति । देहो गुप्ती बंभचेरत्स इति परगटना । देहो शरीरं । गुप्ती गुप्तिः रक्षा । अह्निविलिप्तो यत्नीभूतमुपपन्नपरि प्रवितं शरीरमलं जह्नुवायेनोच्यते । तेन विलिप्तो विलिप्तः देहः । स्नानादित्यागात् । कस्म्यो कस्म्यस्यै । स्नानादिविराडादेव लोचकदवियद्वीभक्त्यो लोककदवियद्वीभक्त्यः । जो यो देहः रुद्रणवसलोभो वीर्षीभूतनयप्रच्छादयेशालोम्बिकतः । सेति गुप्तिः ॥ सामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिङ्गात्थाय ॥ कस्य ? बंभचेरत्स ब्रह्मचर्यस्य ॥

स्नानादित्यागस्य फलमाह—

मूलारा—जह्नु यत्नीभूतमुपपन्नपरि प्रवितं शरीरमलं जह्नु इत्युच्यते । सर्वाणिमलो वा बहः । लोचकदविन्द्वीभक्त्यो लोचकत्वं लोचकत्वं तेन वियद्वो विलिप्तो वैरुत्वं नीतोऽत एव वीभक्त्यो जुगुप्त्साविषयः । रुद्रणवसलोभो वीर्षीभूतनयप्रच्छादयेशालोम्बिकः । गुप्ती गुप्तिः रक्षा । आरूढा रुद्रैराग्यकरत्वात् ।

प्रक्षयतधारक मुनि स्नानादिकोका त्याग करते हैं, यह सत्य है, परन्तु स्नानादिकोका त्याग करनेसे ब्रह्मव्रतमें क्या विशेषता होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—स्नानादिकोका त्याग करनेसे यथाकिं देहपर वार वार मल जम कर दृढ होता है, अर्थात् इस तरहमें मल संचित होनेपर उनके ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है, स्नानत्यागसे और मलसंचय होनेसे देहकी स्निग्धकांक्षि नष्ट होकर वह रूखी बनती है, लोच करनेसे देह वीभक्त्यो दीखता है, नखसंस्कार न करनेसे नख बढ़ कर लंबे होते हैं और गुप्तमेदरा केशसे ढक जाता है, अतः स्नानादिकार्य न करनेसे ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है, यह सिद्ध होता है, 'व्युत्सृष्ट शरीर', यह प्रकटण सम्यक्त हुआ,

इरियादाणनिखेवे विवेगडाणे णिसीयणे सयणे ॥

उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उंटणामरसे ॥ ९६ ॥

आत्सने शयने स्थाने गमने मोक्षणे ग्रहे ॥

आमर्दानपरामर्शप्रसारकुञ्जनादिषु ॥ ९७ ॥

विजयोदया—इरियादाणे पखिलेहेयेण पखिलिहिल्लजविस्ति एवं सवर्षं । ईयांयां गमने प्रजतः स्वपादनिक्षेपेवेरो यदि पुष्परिहाराः स्युः सिपीलिकाश्चोऽथवा प्राक् पादावलम्बजसो चिरुदयोनिर्वाभ्रिप्तस्तत् जलं प्रवेष्टव्यं यदि पखिलेहेयेण प्रतिषेधनेन पखिलेहिउज्जति निराक्रियते तत्सादिकं । आदाने प्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनार्थं । णिलेवे विवेके । ज्ञानसंयमोपकरणार्थं निक्षेपे स्थापनायां । पत्तिस्सिच्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरप्रलाभां उच्चारादीनां विवेके उत्सर्जने वा कर्तृति प्रवेष्टाः । सा च भूयस्परयोग्या प्रमार्जनीया । ठाणे निस्सीयणे सयणे स्थाने आत्सने च शयने च शयनक्रियायां । उव्वत्तणपरिवत्तणपसारणा उंटणामरसे । उव्वत्तण उत्तानशयनं । परिवत्तणं पार्थिवरखंचारं, पसारणं प्रसारणं हस्तपादादीनां । माउंटणं संकोचनं । स्पर्शक्रिया आमरसशब्देनोच्यते ॥

अधुना प्रतिषेधनाख्यालिंगभेदस्य साध्यमभिधातुं गथाद्वयमाह—

मूळारा—इरिया ईयां गमनमित्यर्थः । तदादौ प्रतिषेधनेन पिछादिना तत्सादिकमपसार्यते । तथाहि— मां गच्छतः संयतस्य श्वापदनिक्षेपवेदो विभीषिकादयो दुष्परिहारा यदि सूर्यदि वा प्राक्पदावलम्बनरजसो चिरुदयोनिरुधराभ्रमिर्वा गंतव्या, जलं वा प्रवेष्टव्यं तदा तत्पिपीलिकाश्चःप्रभृति ढेलनेन निराक्रियते । एवमादाने ज्ञानसंयमापुष्करणप्रहणे, निक्षेपे तत्स्थापनायां, विवेके विष्णुब्राह्मसर्गे, स्थाने उट्टीभावे, णिसयणे निपीदने उपवेदाने, सयणे स्वप्ने, उपट्टणे उत्तानशयने, परिवट्टणे पार्थीन्तरसंचारे, पसारणे हस्तपादादिप्रसारणे, आवट्टणे वेपथोव संकोचने, आमासे आमर्शे स्पर्शनक्रियायां, अन्यत्राख्येवविधे कर्मणि अवश्यकार्ये यत्तिरज्रमणससादिकं प्रतिषिद्येत् ।

प्रतिषेधनसे मुनि कोनसा प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसका वर्णन आगेकी दोन गथायाँसे आचार्य करते हैंः—
जिसका जिसके साथ संबंध है वह चीज दूर भी हो तोभी वह उसकी ही मानी जाती है, इस न्यायसे ' प्रतिषेधन ' यह लिंगका अन्तिम भेद है अर्थात् पहिले तीन भेदोंके अनंतर होनेसे इसको दूर कह सकते हैं

तथापि लिंगनेही इसका संबंध है अतः यह उसका ही संबंधी है ऐसा कह सकते हैं.

अर्थ—देववंदनाके लिये जब मुनि जाते हैं तब बहुत सावधान होकर सूर्यके प्रकाशमें गमन करते हैं. जाते समय जहाँ वे पांव रखना चाहते हैं उस जमीनपर यदि चींटी चगेरे जन्तु दुष्परिहार्य होंगे तो उनकी पूंछ पिच्छित्ताते दूर करके आगे पांव रखकर गमन करते हैं. अथवा पूर्व भूमीसे आगेकी जमीन यदि भिन्न स्वभाव-रंग गौरहमे युक्त होगी तो मुनि प्रथम पिच्छिकासे पागेकी धूल हटाकर उसमें प्रवेश करते हैं. यदि पानीमें प्रवेश करना हो तो प्रथम पिच्छिका अपने शरीरपर फेरकर वहाँके त्रसजीव हटाते हैं और तदनंतर जलमें प्रवेश करते हैं. शूल और पारित्रिके साधन काले वस्त्रहफ्ते ग्रहण करते समय वे पिच्छिकासे साफ करके ग्रहण करने चाहिये. जब शानचारित्रिके शास्त्रादिक साधन जमीनपर रखना हो तो पिच्छिकासे जमीन और शास्त्रादिक साफ करके रखना चाहिये. और जलग जलगे रखते समयमें भी पिच्छिकासे उनको स्वच्छ करना चाहिये.

शरीरके मलमूत्रादिक जहाँ फेरना हो उस स्थानको पिच्छिकासे साफ करनेसे वहाँके त्रस जीव बिना पायाके दूर हो सकते हैं. जब मुनि पैठले हैं. खड़े हो जाते हैं, सो जाते हैं, अपने हाथ और पांव पसारते हैं, संकोच लेते हैं, जप वे उत्पानछयन करते हैं, एक बाजूसे दूसरी बाजूपर मुदकर सोते हैं तब अर्थात् इतने कार्य करते समय वे अपना शरीर पिच्छिकासे स्वच्छ करते हैं ऐसा करनेसे शरीरपर त्रसजीव हो तो वे बिना तकलीफके दूर होते हैं. और मुनिआँका आचारक्रम भी इस कृत्यसे पाला जाता है.

पडिटेहणेण पडिलेहिज्झइ विण्हं च होइ सगपक्खे ॥

विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूबदा चेव ॥ १७ ॥

स्वपक्षे चिहुमालम्ब्यं साधुना प्रतिलेखनम् ॥

विश्वाससंयमाधारं साधुलिङ्गसमर्पणम् ॥ १८ ॥

विजयोद्या—विण्हं उ होदि विहतां मज्जेते । समपक्खे स्वप्रतिप्रायां । सवजीवदया हि यतेः पक्खः । विस्सासियं प विश्वासकारि य ज्ञानां । लिंगं प्रतिटेलनाख्यं कथमयमविद्युह्यङ्कुल्यादीनपि परिक्रुचुं शुद्धीकृतिलेखनोऽस्यासिंयं

नमहतो जीवाकथमिय याधितुं उत्सहते इति । संजदपडिरूवदा जेय । संयतानं प्रधानां प्रतिविबता च प्रतिलेखना प्रहणेन भवति ॥

मूला—सयषकमे स्वरूपले सर्वेवीचदयाप्रतिबुद्धिधने । विस्सासिगं वैश्वासिकं लिंगं प्रतिलेखनाख्यं जनानां । अयमेवं सूक्ष्मतरकुञ्ज्यादिजीवानपि रक्षितुं शुद्दीनप्रतिलेखनः कथमस्मान्स्थूलतरान्हन्मुमुत्सेहेति विश्वास-पाटीत्यर्थः । अयदपडिरूवदा ग्रात्तनयतिविबवता च यतेः प्रतिलेखनग्रहणे स्यादित्यर्थः ।

अर्थ— मुनि पिच्छिकोले उपर्युक्त सन कार्य करते हैं । सर्वे जीवोंपर दया करूंगा यह यतिओंकी प्रतिका-विच्छिकाके ग्रहणमे पाली जाती है । पिच्छिका लोगोमें यतिविषयक विश्वास उत्पन्न करनेका चिन्ह है । इन मुनि-राजोंने अति दूरसे कुञ्ज्यादि जंतुओंका भी रक्षण करनेके लिये हाथमें पिच्छिका धारण की है वे हम सरिखें बड़े जीवोंको कैसे सतायेंगे ? यह कभी संभवनीय होगा क्या ? इस तरह लोगोके मनमें विश्वास पैदा होजाता है । पिच्छिका धारण करनेसे वे मुनिराज प्राचीन मुनिओंके प्रतिनिधिरूपकी हैं ऐसा सिद्ध होता है ।

मतिलेखनालक्षणाख्यानायाह—

रयसेयाणमगहणं महव सुकुमालदा लघुत्तां च ॥
जत्येदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसति ॥ ९८ ॥
लघयसेवरजोआहि सुकुमारमृदुदित्तम् ॥
इति पंचगुणं योग्यं ग्रहीतुं प्रतिलेखनम् ॥ ९९ ॥
इति प्रतिलेखनम् ॥ इति लिंगसूत्रम् ।

विजयोदया—रजसेदानमगहणं रजसः सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहकं । अचित्तरजोआहिणा प्रतिलेखनेन मन्त्रितरजो विराण्यते तच्चित्तरजोआहिणा चेतस्स विरायना । स्वेदग्राहिणा च रजसागुपदतिः । मद्यधु-कुमारदा मृदुरपेक्षा मार्दव्यं, सुकुमालया सीकुमार्यं । लघुत्ते लघुत्वं च एते पंच गुणाः यदैते पंच प्रकारगुणाः सन्ति ते तद-पदिन्द्रियं प्रतिलेखनं पश्यन्ति स्मृति दयापिधितः । अमृदुता, अमृदुभारेण, गुरुणा च प्रतिलेखनेन जीवानामगुपधात-एव एतो न द्येयति मायः । एवं चतुर्गुणयुक्तं लिंगं व्याख्यातं शुद्दीतल्लिख्य यतेः ॥

मूढारा — रजस्तद्वान्मगह्वं रजःस्वेवगोरग्राहकं अनिचारजोऽप्राप्रितिलेखनेन विराध्यते तद्वशादिना वा अचिन्ते रजः । स्वेदमाहिना तु रजस्तमुपदतिः स्यात् । मरुत मादितं मृदुस्पर्शता । सुकुमालदा नमन नी दत्ता । लघुत्वं लघुत्वमभारिक्तत्वं । मादंवादिपिपर्ययवता प्रतिलेखनेन जीवानामुपचात एव कुतो दयेति भावः । अत्रेयं चतुर्विधदिगंतग्रहकारिका मुद्रगुणा भावनीया ।

ततो मुद्रो उत्तसंस्कारः प्रागिरथाप्यञ्जं दधत् ।

सरगं यदि चेष्टेय हास्येवाहं समुद्रुभिः ॥

लिङ्गं ॥ सूत्रतः ॥ २ ॥ अन्तः २२ ॥

प्रतिलेखनार्थे—पिच्छिकाके लक्षणोंका वर्णन करते हैं,

अर्थ—सचित और अपिच ऐसे धूलीके दो प्रकार हैं, जो पिच्छिका इन दोनों प्रकारके धूलियोंका ग्रहण नहीं करती हैं यह खोआहक नामक गुणसे युक्त है ऐसा समझना चाहिये, पिच्छिका यदि सचित धूलीको ग्रहण करने वाली होती तो उससे अचित धूलीकी विराधना होगी, और अचित धूलीको यदि ग्रहण करेगी तो सचित धूलीका विराधन होगा, अतः धूलिमात्रका ग्रहण न करना यह पहिला गुण है, स्वेदको ग्रहण न करना यह उसका दूसरा गुण है, स्वेदके ग्रहण करनेसे रजकी-धूलिकी विराधना होगी, इसलिये स्वेदको धामके-जलको ग्रहण न करना यह उनका दूसरा गुण है, मर्दय नामक तीसरा गुण है, अर्थात् पिच्छिकाका स्पर्श मृदु होना चाहिये, मृदु स्पर्श न होगा तो उससे त्रसादि सन्तु जय हटायें जावेंगे तो उनको कष्ट होगा कदाचित् मर भी जावेंगे, सुकुमालता यह चौथा गुण है, अर्थात् वह नमनशील होनी चाहिये, यदि न नमसी कड़ी होगी तो उससे भी जीव विराधना होगी, तथा वह लघुतागुणयुक्त होनी चाहिये, अर्थात् वह दलकी होनी चाहिये, भारयुक्त न हो ऐसे बांच गुण जिस पिच्छिकामें हो वह दयाके प्रकारके जाननेवालोंसे प्रशंसी जाती है, जिसने लिङ्ग धारण किया है ऐसे युनिके लिङ्गके चार गुणोंका वर्णन किया.

शिक्षान्तरेति तन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः । जिणवयणं विमयचर्चनं । अहो य रची ॥ नक्तं दिव्यं । पटिष्वयं अध्ये-
तव्यं । कीदृग्भूतं जिनमवचनमत आह—

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सब्बहिदं ॥
 निणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पडिदब्बं ॥ १९ ॥
 निणुणं विपुलं शुद्धं निकाचितमनुत्तरं ॥
 पापच्छेदि सवा ध्येयं सार्वीयं वाक्यमार्हतम् ॥ १०० ॥

विजयोदया—निरुणं जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निपुणं । सुद्धं पूर्वापरविरोधमुत्तरकादि-
 श्चाप्रियादोषयजितत्वात् शुद्धं । विपुलं निरुणं, पदार्थैः, पदार्थैः, निरुक्तिः अतुयोगक्षारं, नयथेति अनेकाविकल्पेन जीवादीनर्थान्स-
 प्रपदं निरूपयतीति विपुलं । अयथादत्ताधिकारितं अर्थनिमित्तं । अणुत्तरं च न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं ।
 परेषां वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, श्याहवादि, प्रमाणविरुद्धानि च तेष्वप्यहमुत्तरं तदसंभविगुणत्वात् । सब्बहिदं सर्वं
 प्राणिहितं । अन्येषां मतानि केवांश्चिदेव रक्षां स्वयंपति 'जिघांसन्ते जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्' इत्युपवेशात् ।

“यक्षांयं पशवः शृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यहो हि भूतैः सर्वेषां तस्मापन्ने बधोऽप्यधः ॥ १ ॥

“अस्मिन्ने गरुदक्षेय शरूपाणिर्धनापहः ॥

क्षेत्रवारहरश्चेति पठेते आततायिनः ॥”

“आततायिनमायां तमपि येदांतविद् क्षिप्तम् ॥

जिघांसंतं जिघांसीयाञ्च तेन ब्रह्महा भवेत् ॥”

कलुसहरं द्रव्यकर्मणं ज्ञानावरणादीनां क्षणमादेर्भावमलस्य च विजयानात् कलुपहरं । अहो य रत्तीयं पडिय-
 त्वमित्यनेन भगवतेन अभ्ययनं सूचितं ।

अथैवं चतुर्द्धां छिगं व्याख्याय सांभतं क्रमप्राप्तां सिद्धां व्याख्यातुं त्रयोदशभिर्गोत्राभिरुपक्रमते । तत्र तावज्जि-
 तवचननित्याप्यथनाय गृहीतछिगं मुमुक्षुं प्रेरयितुमाह —

मूलायाः — निवणं निपुणं भूदमार्थनिरूपकं प्रमाणनयानुगतजीवावर्धनिरूपकत्वात् । सुद्धं पूर्वोपरविरोध-
 पुनरुक्तवादिद्वाराशिशोषविहीनत्वात् । विउलं विपुलं निक्षेपकार्थनिरुक्तनयानुयोगद्वारास्वैर्जीवावर्धनोनां प्रपञ्चकत्वात् ।
 णिकाचिदं निकाचितत्वादर्थवगाहं । अणुत्तरं नास्त्युत्तरमुत्कृष्टमन्यदस्मादित्यनुत्तरं । परवचसां प्रमाणाविरुद्धत्वादि-
 दोषपटुप्रतया तदसंभविगुणत्वात् । सब्बहिदं सर्वेषामिहितं सतांवरणां केवांश्चिदेव रक्षागुचकत्वात् । तथा च तदुपमयः—

यक्षांयं पशवः शृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यमो हि मृत्युं सर्वस्य वदन्मयासे वयोऽप्यः ॥
 अग्निदो मरुदैवेषु श्रुतपाणिर्धनोपहः ॥
 शेवदारुह्योति पठेते जावतायिनः ॥
 आढवाधिनमायानिषि वेदांगविद् द्विजम् ।
 त्रियांसेवं त्रियांसीयान्न तेन प्रजदा मवेत् ॥

कटुसहृदं प्रज्यभाषकर्मकलापहम् ।

अप्य शिक्षाधिकारका आचार्ये विस्तृत वर्णन करते हैं ।

अर्थ—धी जितेधरका वचन जीवादि नव पदार्थोंका प्रमाण और नयके आश्रयसे वर्णन करता है, अतः उसको निपुण विशेषण है. जिनवचन शुद्ध है क्योंकि उसमें पूर्वापरविरोधादि अनुमानके अंग, शब्दका व्याकरण द्वारा घातु विपुल है अर्थात् नाम स्थापनादि निक्षेप, प्रतिष्ठा हेतु उदाहरणादि अनुयोग और वैमम संग्रहादिक नय ऐसे अनेक विकल्पोसे प्रत्यय विभक्ति इत्यादि रूपसे स्पष्टीकरण, सत्संख्यादिक अनुयोग और वैमम संग्रहादिक नय ऐसे अनेक विकल्पोसे जीवादिक अर्थोंका सविस्तर विवेचन करता है. अतः उसको विपुल कहते हैं. जिनवचनका प्रत्येक शब्द अर्थसे गाढ मरा हुआ है अतः उसको निकामित कहते हैं. जिनवचनको छोड़कर अर्थात् इससे बढकर उत्कृष्ट किस्तीका भी पचन नहीं है इसलिये यह अनुचर है. अन्यमतोंके वचन पुनरुक्त हैं, अनर्थक-अर्थहीन और पूर्वापरविरोधयुक्त हैं. प्रमाणाविरुद्ध हैं परंतु जिनवचनमें ये दोष नहीं हैं इसलिये यह वचन अनुचर है. इस वचनमें सर्व जीवोंका कल्याण करना यह गुण है. इतारोंके मत सर्व जीवोंका रक्षण नहीं करते हैं थोड़े जीवोंका ही वे रक्षण करते हैं ' त्रियासन्तं त्रियांसीयाश्च तेन प्रजदा मवेत् ' अपनेको मारनेके लिये आवेगा उसको मारना चाहिये इस कृत्यके करनेसे यह मारनेवाला वसधाती नहीं होता है,

यन्मार्थं पशुवः सुष्टा इत्यादि-अश्वदेवने यज्ञ करनेके लिये पशु उत्पन्न किये हैं, यज्ञ सर्वको ऐश्वर्य देता है अतः यज्ञमें प्रणियय करना हिंसा नहीं है बह जहिंसा ही है.

अग्निदो मरुदैवैरित्यादि-जो मनुष्य अधिकदत्ता दूसरोंके धर जलाता है, जो वनमें विप देकर मारता है, जो शखेसे मारता है, जो पन हरण करता है और जो खेत और दूसरोंकी स्त्री हरण करता है ऐसे छे प्रकारके

लोकोंको आततायी कहते हैं, ये आततायी लोक यद्यपि वेद जानने वाले ब्राह्मण जातीके भी हो तो भी वे भारनेकी इच्छा रखते हैं अतः उनको मारना चाहिये उनको भारनेसे ब्रह्महत्याका दोष लगता नहीं है, इत्यादिरूप अन्यमतोंके वचन हैं, ये मध्व वचन सर्व प्राणिओंकी रक्षाके उत्तम नहीं हैं.

जिनेश्वरका वचन कलुषहर है अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, अज्ञानादिक, भावकर्मरूपी मलका नाश करता है, इसलिये इसका हमें ग्राह्यमान करना चाहिये.

जिनवचनशिक्षायां गुणान्संहरत्य कथयति--

आदर्हिदपट्टण्णा भावसंबरो णवणवो य संवेगो ॥

णिहंणपदा तवो भावणा य परदेसिगतं च ॥ १०० ॥

गद्यम्—सर्व आचरितादितावयोधपरिणामसंस्वरप्रत्यग्रसंवेगरत्नत्रयस्थिरत्वतपोभाधना-
परदेशकत्वलक्षणा गुणाः सप्त संषणन्ते जिमवचनशिक्षया ॥१०१॥

विशयोद्देश्य—आदर्हिदपट्टण्णा आरमहितप्रतिष्ठानं । इन्द्रियसुखं अहितं हितमिति युक्तित जनः । दुःखमती-
कारमात्रं तत् । भावकालिकं, पदवीनं, रानादुपेक्षारि, दुर्लभं, भयावहं, शरीरायासमार्जनं, अशुचिपरीरस्वस्पर्शनजं ।
तनास्य बालस्य सुखशुद्धिः । निःशेषशुभापयजनितं स्वास्थ्यं अचलं सुखमिति न चेति । तिनबवोऽभ्यासात्तन्धिगच्छति ।
भावसंबरो भावः परिणामः सस्य संवरो निरोधः । मनु परिणाममतेरेण न द्रव्यास्यास्ति क्षणमाश्रयवस्थानं तस्मिन्नुच्यते
भावसंबद इति । परिणामविशेषवृत्तिरिदं भावशब्द इति ग्रन्थे । तथा वक्तव्यं—

‘सज्जस्यं कुलंतो पंखेदीसुडो इति’ अनुभक्तीदाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरणपेक्षया । वीतरागाणां
तु केपाकिचुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्याश्रयपरिणामसंवरोऽपि आश्रयः प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः । संवेगो धर्मो अज्ज्ञा-
जिनवचनाभ्यासादुपजायते । निहंणपदा निश्चलता । करत्नत्रये । तत्रो स्वाध्यायाख्यं तपश्च । भावणाख्यं भावना च गुप्तीनां ।
परदेसिगतं च परेपसुपेदाकता च ॥

कलुषहरं द्रव्यभावकर्ममलपट्टम् ।

मूढारा—आदर्हिदपरिण्णाण आरमहितपरिष्ठानं अत्रात्मशब्देनोपलक्षणाज्जीवावाधिपदार्थो गृह्यन्ते ।
तथा हितशब्देन हितमहितं च तथैवेत्तारगाधार्थस्योपपत्तेः । भावसंबरो भावोऽत्र सरागोपेक्षया पाप

कर्मादानेन्दुः परित्यागस्तस्मै संबरो निरोधः । वीतरागाणां केयपिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यालवपरिणामनयरोपि
प्राप्तः । संनरोगे पमं श्रद्धा । अत्र संसारमीकतल्लग्नसंवेगकारणको यमोऽपि संवेगसन्देह न गृह्यते । कारणे कर्मोपपा-
रात् । निकृष्टपदा रत्नत्रये निग्नतल्लं । तयो स्वाध्यायाख्यं वषः । भावणा शुभितत्परत्वा । परदेसगतं परेयमुपदेशकतुल्यं ।
एते सप्त गुणा विनवचनाभ्यासाद्व्याख्ये इति संबन्धः ।

विनवचनके अध्ययनेस कोनसे गुण प्राप्त होते हैं इसका वर्णन आचार्य संक्षेपसे करते हैं—

अर्थ—आत्मोक्तं हितका ज्ञान विनवचनसे होता है—लोक अहितकर इंद्रियसुखको हितकर समझते हैं, यह सुख दुःखका फेरल प्रतीकार ही है, अल्पकालतक ही रहता है, तदनंतर उसका नाश होता है, इंद्रियां और पदार्थोंके यह आधीन है, रागभावको उत्पन्न करके आत्माको कर्मसे बद्ध करता है, दुर्लभ है, दुर्गतीका भय उत्पन्न करता है, शरीरके आमाससे वह उत्पन्न होता है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है, ऐसे इंद्रियसुख में अत जीनोको सुखयुक्ति हो रही है, संपूर्ण दुःखोंका नाश होनेसे उत्पन्न होनेवाला, आत्मामें हमेशा रहने वाला, निश्चल ऐसे आत्मसुखको अत्रलज सुख समझते नहीं हैं, परंतु विनवचनके अभ्याससे मध्यजीवोंको आत्मिक सुखका ज्ञान होता है, इसलिये विनवचनमें आरमाहितप्रतिज्ञा नामका गुण है यह सिद्ध हुआ.

भावसंवर—यह दूसरा गुण है, श्रुका-भाव-पदार्थका परिणयन-संवर-निरोध अर्थात् पदार्थोंका परिणमन होना प्रद पटना ऐसा भावमंवरका अर्थ होगा, परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थमें यदि परिणमन होना नैद होगा तो वह एक क्षणवक भी अपना अस्तित्व न रख सकेगा, अतः भावसंवर विनवचनका गुण मानना योग्य नहीं है, उचर—पहा भावशब्दका अर्थ अपने जो किया है वह नहीं है, अशुभ कर्मका आसव जिनसे होता है ऐसे पापपरिणामोंका-विचारोका त्याग करना यह मानसंवरका अर्थ यहाँ प्रस्तुत है, सरागी जीव अशुभ परिणामोंको विनवचनके अध्ययनमें त्यागते हैं, अतः विनवचनमें भावसंवर नामका गुण है ऐसा आचार्य कहते हैं, वीतराग अस्थायी प्राप्त हुए मुनियोंको विनवचन शुद्धोपयोगके लिये कारण होता है, अतः वीतराग मुनीकी अपेक्षसे पुण्याभक्तके लिये कारण जो परिणाम उनका मंवर होना भावसंवर शब्दसे कहा जाता है.

विनवचनका प्रतिदिन अभ्यास करनेसे नवनव संवेग नामका गुणका रूप होता है, अर्थात् विनवचनमें गाढ श्रद्धा

यानेन तिष्ठति यथांति लोके । दनेन वैराग्यमि यान्ति नागम् ॥
परोऽपि बहुव्युपैति दानात्तस्मात्सुदर्शनं सततं प्रवेष्टव्यम् ॥

रंद्रवज्रमपराह्योऽपि प्रणतिमप्यतान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोकं अहितं मवान्तव्याविदुः परं नरकमती वि,
स्तिवक्तव्यं च, परलोकं हितं निर्गुणं च, तदेतत्सकलं अयमोचयति ज्ञानी भगवती मातली ॥

आत्महितपरिसं व्याचष्टे—

मूलारा—तथिया यथाभूताः—

आरमाहितप्रतिज्ञा नामके गुणका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानके प्रभावसे जीव, अजीव, आसृष, वंश, संवर, निर्बरा और मोक्ष ऐसे सात पदार्थोंका सत्य स्वरूप जाना जाता है, तथा इसके सामर्थ्यसे इहलोकमें और परलोकमें हितहितका भी परिज्ञान होता है,

शंका—आदिदिपक्षणा इस शब्दमें हितकाही परिज्ञान करनेका व्युचित किया गया है, जीवादिकोंका परिज्ञान उपर्युक्त शब्दसे व्युचित नहीं होता है, अतः पूर्वमें कहे हुए हितका स्वरूप प्रथम कहकर ही इतरोंका स्वरूप कहना चाहिये था, यह तो आपका अव्युचित कथन हुआ ?

उत्तर—आत्माहितप्रतिज्ञा इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना—यहां इंद्रसमाप्त है अर्थात् 'आत्मा च हितं च आरमाहिते' ऐसा आत्माहित शब्दका विग्रह होता है, अर्थात् आत्मा और हित इन दोनोंका जो ज्ञान उत्तको आत्म-हितप्रतिज्ञा कहते हैं, 'आत्मनो हितं' आरमाका हित ऐसा पृथित्युरूप समाप्त यहां समझना भूल है,

शंका—आरमाहितप्रतिज्ञासे जीवके हितका ज्ञान होना ही अभीष्ट रहा, अजीवादिकोंके ज्ञानकी आवश्यकता न रही ?

उत्तर—आत्मा शब्द उपलक्षणार्थक है अतः उसके साथ अजीवादिकोंका भी ग्रहण कर सकते हैं, 'जीवाजीमाक्षपयंशतरनिर्जराभोक्षस्तत्त्वं' इस सूत्रमें प्रथम जीवका निर्देश किया है, इसलिये यह प्रसिद्ध है, प्रसिद्धके साथ अप्रसिद्धकाभी उपलक्षणसे ग्रहण होता है अतः अजीवादिकका भी आत्महितप्रतिज्ञा इस शब्दसे ग्रहण कर सकते हैं,

अथवा तेजलज्ञान अनंत पदार्थों को जानता है, यह स्वयं कर्मका नाम करके उत्पन्न हुआ है, पूर्णताको प्राप्त हुआ है, विस्तीर्ण है और कर्मफलसे रहित होनेसे निर्मल है, अवग्रह, ईशा वगैरे विकल्पोंसे

मोहयुक्त जीव हिताहित न समझकर अशुभ कर्मसे बद्ध होता है, और वह कर्म जीवकी अनंत संसारमें घुमावा है, अतः संसारसे छुटकारा पानेकेलिए आत्मा और हितका परिज्ञान कर लेना आवश्यक है—

आत्महितपरस्पोषयोगमादर्शयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियसी य हिदपवत्ती य ।

होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदन्वं ॥ १०३ ॥

हितादानाहितत्यागौ हिताहितविबोधने ॥

यतस्ततः अदा कार्यं हिताहितविबोधनम् ॥ १०४ ॥

विजयोदया—जाणंतस्स जाणताः । आगमेदितं आत्महितं । अहिदणियसी य अहितनिवृत्तिश्च । हिदपवत्ती य हिते प्रवृत्तिश्च । होदि य भवति च । तो तत्त. हितादानात्पश्चात् । तस्या तस्मान् आदहिदं आत्महितं । आगमेदन्वं अहितव्ययम् । अत्र बोधते—अनु आत्महितकस्य हिते प्रवृत्तिर्नयतु, अहिताविवृत्तिः कथं ? अहितकोऽहिताविवृत्तौ, हितमहितं च भिन्नमेव । परमो भिन्नं स तत्किञ्चनगते तत्पन्थव्यगतं भवति । यथा—यानोऽवगते न मकरः, भिन्नं च हिताहितं तस्मादहितकोऽहितं अजानन् कथमहिताविवृत्तौ निवर्तते ? अनोच्यते तस्यैव घट्टु स्वपरभावभावोभयाधीनात्मखानं यथा घट्टः घृणु-छोरपाचानात्पक्वम् यदादिकृपतयाऽप्राक्, अन्यथा निषेधस्य तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिदमपि हितविलक्षणमहितं अजानता तादिलक्षणता हितस्य न ज्ञाता भवेत् । अतो हितकोऽहितमपि वेकीति युक्ता निवृत्तिस्ततः शिक्षया अशुभभावसंवरहेतुत्वं प्रतिपद्यामहे ।

आत्महितपरिधानस्योपयोगमादिशति—

मूलाया-अहिदणियसी अहितानिवृत्तिः । न केवं श्रेयस्य आरम्भितकस्य कथमहिताविवृत्तित्वरूपापरिज्ञानाम् । हितं हि अहितविलक्षणं अतस्तज्ज्ञानमहितमपि जानात्येवान्यथा हितज्ञानस्याप्यसंभवात्पदाद्यपरिज्ञाने तद्विलक्षणपदापरि-
ज्ञानपत् । तो ततो दिवादिज्ञानात्पश्चात् । से तस्य हिताहितमपि जानात्येव । अन्यथा प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थितः कर्तुः
आगमेदन्वं आत्महितवत्तमं शिक्षितव्यमित्यर्थः ।

आत्महित-साधनेमें उद्युक्त हुए प्राणीका उपयोग बताते हैं—

अर्थ—जो जीव आत्माके हितको पहिचानता है वह अहितसे परावृत्त होकर हितमें प्रवृत्ति करता है, इस
कारण है सम्बन्धन हो । आत्महितक आत्म परिज्ञान कारणे—

यहाँ दुष्का-जो आत्महित जानता है उसकी हितमें प्रवृत्ति होती है यह कहना योग्य है परंतु जो अहित के स्वरूपको जानता ही नहीं है तो वह उससे कैसे परावृत्त हो सकेगा. जो अहितवृत्त है वही उससे परावृत्त होगा. हित और अहित ये दोनों चीजें भिन्न हैं. जो जिससे भिन्न है वह यदि जाना जायगा तो उसमें भिन्न अन्य भी कैसा जाना जायगा ? जैसे यन्त्रका ज्ञान होनेसे मगरका ज्ञान नहीं होता है. वैसे हितसे अहित भिन्न है. अतः हितको जाननेवाला अहितको न जाननेसे अहितमें कैसे परावृत्त होगा ?

उत्तर-यहाँ ही वस्तु स्वभावात् उत्पन्न होती है और परभावसे अनुत्पन्न मानी जाती है. अर्थात् स्वस्वरूप की अपेक्षामें प्रत्येक वस्तु भावात्मक है. यही वस्तु परस्त्री अपेक्षासे अभावत्मक भी है. जैसे बड़ा पैर, शलाकृति गला इत्यादि स्वस्वरूपमें पद पदार्थ जाना जाता है. यदि वह घट परस्वरूपसे भी जाना जायगा तो वह जानना 'विपरीतज्ञान' है. अतः घटको जाननेके समयमें ही घट पद नहीं है ऐसा भी ज्ञान होता है. हितको जानने समयमें ही अहित भी हितमें उलटा है यह जाना जाता है. यदि हितके विलक्षणरूप अहितको न जाना जायगा तो हितका ज्ञान नहीं होगा. इसलिये हितका ज्ञान अहितको भी जानता है ऐसा समझना चाहिये अतः वह अहितसे परावृत्त होता है.

सञ्ज्ञायं कुञ्चतो पंचदियसुबुद्धो तिगुचो य ॥

हृदये य एयमगमणो विणपुण समाहिदो भिक्खू ॥ १०४ ॥

स्वाध्यायं पञ्चशः कुर्वस्मिपुनः पंचसंवृतः ॥

एकाग्रो जायते योगी विनयेन समाहितः ॥ १०५ ॥

विजयोदया-सुबुद्धायं पंचदियं स्वभावात् पंचदिये जायमानायेत्युक्त्यात्मनोपदेशमेवेति । ननु नित्यस्य प्रपञ्चस्य प्यायनं तदर्थमिजानपुरोगं ध्यायता । संदृष्टमित्युक्तये निश्चितवदाध्यायं वा स्वाध्यायमिवः प्रश्नः । अध्वनायांनुपदेशे धनुमेव । भावनापो मुचन । अस्तिपणी, त्वेदपणी, संवेकनी, चित्तवः कथास्तासां कथनं, धर्मोदयाः । तं स्वाध्यायं कुर्वेत् । पंचदियसुबुद्धो ह्येदि पंचदियसं वृत्तौ भवति । ननु निर्घातस्य पूर्वनिर्घातात्संबुद्धपंचैदियः, इति मचित्त-पणम् ? सत्यं । 'जातिरालसुरादिद्वयः पश्यन्जनम्' इत्यनेन पंचैदियजातिपुच्छिरिति जातिवचनः । ततो निर्घातः परत्त-प्रमुच्यते इति भाव्यते । ईदियमनेत्युक्त्यां पंचैदियं भावेदिद्वयं इति । इदं तु रूपाद्युपयोगा इति पदार्थोक्त्येनोच्यते । तेनायमर्थः स्वाध्यायः-

रहित और सर्वथा सुलभ है, ऐसा केवलज्ञानका आचार्य स्वरूप कहते हैं, सुखपदार्थ स्वरूप ही है, वह आत्मा का वास्तविक हित है, अतः वह यहाँ हितशब्दमें संगृहीत होता है, तथापि चेतना वह जीवका स्वरूप है व चैतन्य रूप अवस्था है, उसको जाननेके लिये आत्माको जानना आवश्यक है, कर्मोंका संपूर्ण नाश होना ही मोक्ष है, उसका स्वरूप अतीव पदार्थको जाने बिना समझमें आ नहीं सकेगा, यक्ष्य पुद्गल ही द्रव्यकर्मरूप चेतना है, उसका नाश होनाही मोक्ष है, मोक्ष वंशपूर्वक होता है, यदि कर्मबंध न होगा तो मोक्ष किसको होगा, अर्थात् जो आत्मा कर्म बद्ध है वही कर्मोंका नाश कर स्वतः शुक्त हो जाता है, वह बंधभी कर्मोंसबके बिना होता नहीं, सबर और निर्जरा मोक्षके उपाय है.

अहित शब्दका अर्थ यदि दुःख ऐसा है तो वह इहलोकसंबंधी दुःख अनुभवसिद्ध है ही उसको जतला-नेकेलिये लिनयचमनी क्या आवश्यकता है ? अहितका जो कारण है वह यदि अहित शब्दका वाच्य है तो कर्म ही अहितका कारण है ऐसा मानना पड़ेगा, उस कर्मका इस ही गाथामें अजीब शब्दसे ग्रहण किया है, यदि हिंसादिक दुःखके परंपरा कारण हैं और वे अहित शब्दसे संगृहीत होते हैं ऐसा कहते हो तो वह भी कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि हिंसादिक कारणोंका आसचर्म अन्वर्माण होता ही है, इस शंकाका उत्तर आचार्यने इस प्रकार दिया है—

अनुभवमें आया हुआ भी दुःख अज्ञान भूल जाते हैं इसीलिये सन्मार्गिके प्रति गमन नहीं करते हैं, ऐसे लोगोंको विनयचन दुःखोंकी स्मृति दिलाता है, अर्थात् वह मनुजभवमें क्या क्या आपदायें आती हैं उनको दिखलाता है, जैसे—युगुप्सितकुलम्—हीन कुलमें उत्पत्ति होती है, और वहाँ नानाविध रोगरूपी सर्वके दंशसे अनेक अप-त्तियाँ उपस्थित होती हैं, दारिद्र्य, कुरूपता, वंशुरहितपता, अनाथपना, ये अवस्थायें प्राप्त होती हैं, इच्छित धनकी प्राप्ति होना, परांगनाका लाभ न होनेसे मनमें झुरना, श्रीमान लोगोंके द्वारा कुत्सित कार्य करनेकी आज्ञा होना, उनकी गालियाँ सुनना, उनके द्वारा किंपा गया अपमान, पीटे जाना, परवशता इत्यादि दुःखोंको सहन करना पड़ता है, इत्यादि दुःखोंका स्वरूप विनयचन अज्ञ जीवोंको बतलाता है.

जैसे अरण्यकी वनस्पतिजन्य औषधि हित करती है वैसे इस लोकमें दान, तप वगैरह कार्य हितके कारण हैं अतः उसको हित कहते हैं, दानादिक पुण्यकार्यमें जो उत्तर रहते हैं, उनकी लोक स्तुति और वंदना करते हैं, आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

दान देनें जगतमें दाताको कीर्ति निरस्थायी होती है. दानमें धरका नाश होता है. शत्रु भी मित्रताको प्राप्त होता है. अतः मज्जनमें हमेशा दान देना चाहिये.
तपस्वी धन जिनके पास है उनको इंद्र चक्रवर्ती चगेरह महापुरुष बंदन करते हैं. हिंसादिक पाप करनेसे परमेश्वर दुःख भोगना पड़ता है. अर्थात् नरकजालमें नरकायस्थामें दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है. तिर्यगतिमें पशु होकर दुःख भोगना पड़ता है. दानादिकसे परलोकमें हित होता है. अन्तमें मोक्षमुख मिलता है. इन सब हिताहितोंका जिनपरस्की पूज्य पाणी वर्णन करती है.

आत्मश्रितान्तरिमात्रे शेषमाचष्टे—

आदहिदमयाणंतो मुञ्चन्ति मूढो समादियन्ति कर्मम् ॥

कर्मणिमिच्छं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ १०२ ॥

हितहितमज्जानान्ते जीवो मुञ्चति सर्वथा ॥

मूढो गृह्णाति कर्माणि ततो भ्राम्यति संसृतौ ॥ १०३ ॥

विजयोदया—आदहिदमयाणंतो आत्मश्रितमनुष्यमानः । मुञ्चन्ति मुञ्चति । स्मरन्ति स्मरन्ति प्रतिपद्यते मोहं । को शेष एषात्मा—मूढो मोहयान् समादियन्ति समावृत्त । कर्म कर्मसागम्यतादौपर्यं अनुमकमवृत्तिप्राप्तः । कर्म प्राप्ते को शेष एषात्मा—कर्मणिमिच्छं कर्महेतुकं, जीवः परीदि परित्यजति । किं ? भवसायरम् भवसमुद्रं अर्पयति ॥

अतमहितापरिजाने शेषमाचष्टे—

मूढात्मा—भवादिपरिदिति समावृत्ते यमन्ताज्यतोबाधकायैरावृत्ते गृह्णाति । कर्म कर्म मोहहेतु कृत्याश्रयम् । परीदि पर्येति परिश्रमतीत्यर्थः ।

आत्मा और हितरूप यदि ज्ञान न हो तो क्या दोष उत्पन्न होगा इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जिगरुओ आत्मरूप और हितरूप स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वद जीव मोहित होता है अर्थात् जगिहो हिन मानता है. मोहमें वद अनंत संगारमें अमण करनेमेंमोह अनुम कर्मका बंध कर देता है. तात्पर्य—

यत्किद्वद्वरुपायुपयोगो भवति इति । रूपायुपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोशमनोऽरूपायुपयोगालंभ्यनौ रागदेहेति । न एतदयुपयमानो विषयः स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीनां विषयसन्निधावप्य-
दर्शनम् ।

“ गद्विमाविमदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ॥
तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ ”

इति पञ्चनल्ल । कथं स्वाध्याये प्रवर्तमानः । विषयेण समाहिबो ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा यः स्वाध्यायं करोति । तिसुप्तो य होदि । तिसुप्तोऽप्यशान्तमिभियंसहं भवति । मनसोऽप्यशान्तमिभियंसहं भवति, अनूतरुद्धपद-
यकफशात्मस्तनपररूपणादावप्यपूतः, द्विस्वादी शरीरेणामयुत्तम, पयममणो य होदि सिक्खु इति पदघटना—एकमुक्तांतः
करणम् भवति भिक्षुः साध्याये रतः । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमप्यसादयतीति । न ह्युक्तश्रुतपरिचयस्य धर्मशु-
क्लभायाने भवितुमर्हतः । अपायोपायभयविपाकलोफविषयस्यो धर्मध्यानेभेदाः । अपायादिस्वरूपज्ञानं जिनयत्नवलायेय
, शुभले चाये पूर्वपिदः ' इत्यभिहितस्याल्ल ।

शिक्षाया अशुभमायत्तपरदेतुलं विपुण्यभाह—

मूलपर—संस्कारं वाचनादिस्वभाविधं स्वाध्यायं । भंषिदियत्तुडो पंचापि इंदियाणि संवुत्तानि यथास्मिष्टा-
निष्टविषयेभ्यो ह्यावर्तितानि येन । तिसुप्तो निष्टहीनाशुभमनोवाक्कायव्यापारः । पयममणो एकाग्रमनाः ध्यानप्रवृत्तिमानपि
स्वादिवि भायः । विपण्ण समाहिबो अष्टाविधज्ञानविनयेन संयुक्तः तन्त्वाध्यायं कुर्वन्निति संबंधः ।

जिनवचनका अप्ययन करनेसे अशुभभावोंका संवर होता है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—यानना, ग्रन्थ, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे स्वाध्यायके पांच भेद हैं. जिसके पड़नेसे और पढ़नेसे पापासत्र न होंगे ऐसे ग्रंथकी और उसके अर्थकी पढ़ा देना वाचना स्वाध्याय है. ग्रन्थ—जो आगमका विषय मनमें निहित किया है उसमें विशेष दृढताके लिये अथवा संशय दूर करनेके लिये स्वार्थविषयक ग्रन्थ आगमग्रन्थ पढ़ना. अनुप्रेक्षा—जो विषय जान लिया है उसका मनमें चिंतन करना. आम्नाय—पढ़ा हुआ विषय चार बार धोकरना. धर्मोपदेश—आशेषणी, विश्लेषणी, संवन्नी, और निर्वेजनी ऐसी चार धर्मकथायें हैं. उनका भव्योक्तो उपदेश देना, यह पांच तरहका स्वाध्याय करनेसे पांचो इन्द्रियां संयम युक्त होती हैं. अर्थात् रूपादि विषयों प्रति ये दौटती नहीं. इन्द्रियसंयममें नये रागद्वेष आराममें उत्पन्न नहीं होते हैं. इष्ट रूपादि वस्तुओंके तरफ लब्ध इन्द्रियों प्रवृत्त

होती है तब रागनिराग पैदा होता है, अनिरूप्यादि निषयोंसे द्वेष उत्पन्न होता है, इष्टाविष्ट पदार्थ समीप होनेपर भी यदि उनके तरफ इन्द्रियोंका उपयोग न लगेगा तो वे पदार्थ केवल अपने अस्तित्वसाक्षसे जीर्णमें रागद्वेष उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, जिस समय आत्माका दूसरे तरफ मन चल जाता है अथवा वह सोता है उस समय इन्द्रिय निषय समीप होनेपर भी रागद्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं।

मुद्रा—निष्ठाप्रत्ययोंत शब्दोंके साथ जन समाप्त होता है तब वह शब्द समाप्तमें प्रथम प्रयुक्त होता है अतः 'संयुतपंचेन्द्रिय' ऐसा समाप्त शब्द उनेगा, 'पंचेन्द्रियसंवृतः' यह समाप्त योग्य नहीं है।

उत्तर—'जातिरुक्तमुत्साहिरूपः परवचनम्' इस श्रुतिसे पंचेन्द्रिय शब्द जातिवाचक होनेसे समाप्त करते समय प्रारंभमें पंचेन्द्रिय शब्दका प्रयोग किया है, अनंतर निष्ठाप्रत्ययोंत संयुत शब्द जोड़ देनेसे 'पंचेन्द्रिय संयुतः' ऐसा समाप्त शब्द हुआ है, इन्द्रियशब्द जातिवाचक है, इन्द्रियोंके द्व्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियोंके विषय हैं, अपने अपने विषयोंके तरफ उपयोग लगाना यह भावेन्द्रिय है, स्वाध्याय करनेमें इन्द्रियनिरोध होता है और इन्द्रियनिरोधसे रागादिक विकार उत्पन्न नहीं होते हैं, चतुर्गतिमें त्रमण करनेवाले इस जीवको देह प्राप्त होता है और इन्द्रियनिरोध होता है और इन्द्रियों इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, वे अपने अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं, अतः विषयग्रहणमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं।

जो मुनि ज्ञानविनयपूर्वक स्वाध्याय करता है वह निगुप्तिधारक होता है अर्थात् उसका मन अप्रशस्त रागद्वेषादिकोसे अलिप्त रहता है उसके मुखसे असत्य, रूच, क्रोध, कर्षण, स्वस्तुतिपर और परदूषणात्मक वाणी बाहर आती नहीं, हिंसादि भावोंमें उसका देह श्रृण्वि करता नहीं, इस रीतिसे त्रिगुप्ति धारक वह मुनि एक विषयके तरफ अपने मनको स्थिर करके ध्यानमें तत्पर हो जाता है, स्वाध्याय करनेसे श्रुतज्ञानमें परिचय होता है, जब श्रुतज्ञानके साथ यतीका परिचय होता है तब धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है, अपायविचय, उपायविचय, भयविचय, लोकविचय, विषाक्तविचय योगरह धर्मध्यानके भेदोंका ज्ञान जिनमनके सामर्थ्यसे होता है, आत्ममें 'शुद्ध चापे पूर्वविदः' अर्थात् चौदह पूर्वोक्त श्रुतज्ञान विस्तारों है ऐसे मुनिराजको धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है।

प्रत्यप्रसंगेयप्रमथक्रममाचरे—

जह जह सुदमोगाहदि अदिसयरसपसरसमुदपुब्बं तु ॥

तह तह पव्वादिज्जदि नवनवसंगेसङ्गाए ॥ १०५ ॥

अहएट्ठपूर्वसुचार्यमभ्यस्यति जिनानगमम् ॥

यथा यथा यतिधर्मं प्रहृष्यति तथा तथा ॥ १०६ ॥

विक्रयोक्त्या—जह जह यथा यथा । सुदं श्रुतं श्रोगाहदि अवगाहते । शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत् । अदिसयरसपसरं अतिशयरसपसरं समयांतरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रसः । शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आस्रफलादिरस इव । मसरसाश्चैव प्राप्नुयमतिशयितार्थस्य सूचयति । ततोऽयमर्थोऽस्य—अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति । ननु प्रयादिनोऽप्येतेऽपि स्वस्मयेनेव प्रशंसन्ति । मत्त्वेषणानुमानेन च चिकित्सेयस्वरूपं केवलं नित्यत्वमनित्यतां वा निरूपय-
त्तामागमनो नालिशयार्थप्रसरता । प्रमाणान्तरत्वेऽप्यागमार्थोऽतिशयितो भवति नापरः । असुबुद्धुर्ग्वं तु अश्रुतपूर्वमेव । ननु मय्यानामभ्ययानां च कर्मणोचरत्तामात्येयं श्रुतं किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अर्थश्रुताभिधेयापरिकानाच्छब्दमात्रं श्रुतम-
प्यश्रुतं इति श्रुते । तदप्ययुक्तं अर्थोपयोगस्यपि असकृत् ज्ञातत्वात् । अयमभिप्रायः शब्दानसहचारिवोचामावाच्युतम-
व्यश्रुतमिति । तह तह पव्वादिजह तथा तथा मव्वादमुपैति । नवनवसंगेसङ्गाए प्रत्यप्रसरत्परमश्रद्धया । ननु संसार-
श्रीयता संयोगः ततोऽयमर्थः स्यादसंबंधः । न दोषः । संसारमर्कवाहेतुको धर्मपरिणामः । आपुधनिपातमर्कवाहेतुक-
कथचप्रदहनयद् । तेन संयोगाभ्यः कार्यं धर्मं वर्तते ॥

श्रुतावगाहनस्य नवनवसंगेयनिमित्तत्वं प्रतनोति—

मूलारा—उगगाहदि अयगाहते शब्दसमगार्थसमयमधिगच्छति ॥ १०३ ॥

नवीन संबेग भी स्वाध्यायसे प्राप्त होता है इसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—जिनेश्वर के शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें अन्य मतोंमें अप्राप्य ऐसा अर्थ मरा हुआ है, जैसा आत्र फलमें रस मरा हुआ रहता है वैसा ही शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें सर्वोत्कृष्ट अर्थ मरा हुआ है, यह अर्थरस अन्यमत के शब्दात्मक श्रुतमें भरे हुए अर्थकी अपेक्षासे अधिक उत्कृष्ट है,

शंका—जैसे आप अपने मतकी प्रशंसा करते हो वैसे अन्यमती भी आपने ही मतकी प्रशंसा करते हैं, अतः आपके मतकी विशेषता कैसी सिद्ध होगी ?

उत्तर-अन्वमतमें कहा हुआ जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप प्रत्यक्ष और अनुमानसे नाशित है, जीवादि पदार्थ मर्यादा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा उनके अगममें कहा हुआ है, पदार्थ सर्वथा नित्य वा अनित्य सिद्ध नहीं होते हैं, उनका नित्यानिरूपणा सिद्ध होता है, जो वस्तुस्वरूप एक प्रमाणसे सिद्ध होता है वही अन्य प्रमाणसे भी सिद्ध हो तो वह वस्तु साविश्रय यानी जाती है, और यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हुआ वस्तु स्वरूप अनुमानादिकमें नाशित होता है तो वह वस्तु साविश्रय नहीं है, अस्तु, यह जिनप्रतिपादित शब्दश्रुतज्ञान पूर्व कालमें इस जीवने कभी सुना नहीं है,

शंका—भग्न अथवा अभग्न जीवोंके कर्मपथ पर यह शब्द श्रुत आयाही होगा अतः आप इसको अश्रुतपूर्व नहीं कह सकते हैं, इस शंकाका कोई ऐसा समाधान करते हैं,

"जो शब्द तुने उनके अर्थके तरफ ध्यान नहीं दिया अथवा उनका अर्थ ज्ञात नहीं हुआ तो वह अश्रुतपूर्व ही है " यह समाधान भी योग्य नहीं है, शब्दात्पक श्रुत सुनकर उसके अर्थको भी अनेकवार जान लेते हैं तथापि वह अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये, उपर्युक्त शंकाका परिहार इस प्रकार समझना चाहिये—शब्दात्पक श्रुत सुनकर उसके अर्थ को भी समझ लिया परंतु उसके ऊपर यदि श्रद्धा नहीं है तो वह सब सुनकर और जान लेने पर भी अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये, इस शब्दश्रुतके अध्ययनसे अपूर्व अर्थोंका ज्ञान होता है, और उत्तरोत्तर संबन्ध-धर्मश्रद्धा बढ़नेसे मनमें बड़ा आनंद उत्पन्न होता है, संबन्ध शब्दका अर्थ संसारभीरुता ऐसा होता है परंतु उपर्युक्त अर्थ अमरपद दिसता है ऐसी शंका भी ठीक नहीं है, जैसे भरे अंगपर शस्त्रप्रहार होगा इस भयसे वीरपुरुष कपन धारण करता है अर्थात् शस्त्रप्रहारमय यह कबच धारण करनेका हेतु है जैसे संसारभीरुता यह कारण है और उसने उत्पन्न हुई धर्मश्रद्धा कार्य है, यहां आचार्यने संबन्ध शब्द कार्यरूप धर्मश्रद्धामें रुढ़ किया है ऐसा समझना चाहिये,

नित्यपतात्पर्यमायाह—

आयापायविदग्धं वंसण्णानतवसंजमे ठिन्वा ॥

विहरदि विसुज्झमाणो नावज्जिविं दु णिक्खंपो ॥ १०६ ॥

शुद्धया निःकंपनो भूत्वा हेयादेयविवक्षणाः ॥
रत्नत्रयात्मके मार्गे यावज्जीवं प्रवर्तते ॥ १०७ ॥

विद्वयोदया—आद्यापयविदण्डं वृद्धिदानिकमङ्गः । प्रवचनाभ्यासादेवं रत्नत्रयमिवृद्धिः एवं तथा हानिरिति यो ज्ञानति अस्ती, संसर्गाणतत्संज्ञे धृदने, हानि, तपसि, संयमे वा । द्विज्वा स्थित्वा । विद्वरवि मयते । विमुक्तमाणो मुदिसुपयान् । जवज्जीवं जीवितकालाचवि । तु शब्दोऽन्तं जेयः । निष्कपो दु विनिष्कपो निश्चल एवेति यावत् । निःशो कितत्वादिमा दर्शनस्य वृद्धिः, संक्रादिना हानिः । अर्थव्यंजनतदुभयपुद्ब्या स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धिः । अनुप- योगादपूर्वार्थोपहणाच्च ज्ञानहानिः । तथा शोकम्—“पुण्यमहिदं पि पाणं संकुडं विधुतजोगिस्स” इति । तपसो ह्यादना विधस्य वृद्धिः संयमभावतया वीर्षोविभिगुडुनात् ज्ञानोपयोगात् । हानिः पुनस्तद्विपर्ययदैहिककार्योसंगाद्वा । सम्यग् पाप- क्रियाभ्य उपरमः संयमः । पापक्रियाश्चाशुभमनोवाफापयोगाः तेन यारित्रं संयमः । ‘पापक्रियानिपुत्तिआदिभं इति वचनात् । तस्य संयमस्य वृद्धिः पंचविंशतिभावनाभिर्हानिः तासां सायनानां अभावेन । श्रुतादिना ज्ञानादीनां गुणदोषं वा न वेष्टि । अथातुगुणः कथं गुणानुग्रहेत् । अवितितवोपो वा न तांस्त्यजेत् । तेन शिक्षायामावृत्तः कार्यः ।

श्रुताभ्यासादर्शनादिषु निष्कंपतां प्रकाशयति—

मूळार—आद्यापयविदण्डं वृद्धिदानिकमङ्गः । विद्वरवि प्रवर्तते प्रकृतत्वादर्शनादावेव । विदुक्तमाणो विद्वद्धिं गच्छन् । दु निष्कपो । हुरेयार्थे मित्रक्रमः । निश्चल एवेत्यर्थः । तथाहि—निःशंकितत्वादित्वा दर्शनस्य वृद्धिः संक्रादिना हानिः । अर्थव्यंजनतदुभयपुद्ब्या स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानस्य वृद्धिरनुपयोगादपूर्वार्थोपहणाच्च हानिः । तपसो वृद्धिः संयमभावतया वीर्षोविभिगुडुनोपयोगाच्च । हानिः पुनस्तद्विपर्ययदैहिककार्योसंगाच्च । संयमस्य वृद्धिर्बोद्धमनोगुणीयो- ज्ञानेत्यादिनवदया निर्दिष्टाभिः प्रतिनियतेतरभावनाभिस्तदभावे च हानिः ।

स्वाध्यायसे निष्कंपता गुणकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे मुनिराजको हानि और वृद्धिका ज्ञान होता है, अर्थात् आचमका अभ्यास कर- नेमें रत्नत्रयमें वृद्धि कैसी होती है और उसके अभावमें कैसी हानि होती है ऐसा ज्ञाननेवाले मुनीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र और तपमें स्थिर होकर आपरण विशुद्ध परिणामको धारण करनेवाले होकर विश्वलरूपसे रत्न- त्रयमें विहार करते हैं, मम्यग्दर्शनके निःशंकितत्वादि गुण आगमाभ्यास करनेसे बढ़ते हैं, आगमाभ्यामके अभावमें शंक्रादिक दोष उत्पन्न होनेमें मम्यग्दर्शनकी हानि होती है, अर्थात् वृद्धि, व्यंजनशुद्धि, उभयशुद्धि वगैरह ज्ञान

श्रुतब्रह्मणो एकाग्रता न होनेसे और अपूर्व जीवादिपदार्थका स्वरूप न जाननेसे सम्बन्धानकी हानि होती है। 'पुन्यगहिंदं वि गार्णं संकुदद् मिजुचयोगिस्स' 'सम्बन्धानकी प्राप्ति पूर्वकालमें हो चुकी हो तो भी अभ्यास छोड़ देनेसे तथा अपूर्व पदार्थोंका ज्ञान कमानेका प्रयत्न न करनेसे वह पूर्व ज्ञान संकुचित होता है' ऐसा आगमवचन है। संयमकी भावनामें तपकी दृष्टि होगी है, अपनी शक्ति न छिपाना, ज्ञानाभ्यासमें तत्पर रहना, ऐहिक कार्योंमें अनासक्त रहना यह भी तपोवृद्धिके लिये कारण है, और इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करनेसे तपमें हानि होती है। पापक्रियाओंसे निरक्त होना यह संयम है, मन, वचन और शरीर इन तीन योगोंकी अशुभ प्रवृत्तिका त्याग करना चाहिए है 'पाप क्रियानिबृत्तिधारित्रं' ऐसा आगमका वचन है, प्रत्येक अहिंसादिब्रह्मोंकी पांच पांच भावनायें हैं, ऐसी पञ्चीस भावनाओंके अभ्याससे चारित्र्यकी उन्नति होती है, भावनाओंका अभ्यास न करनेसे चारित्र्य हानिके मार्गका आश्रय करता है, शुलका अभ्यास न करनेसे ज्ञानादिकोंके गुण दोषोंका परिज्ञान होता नहीं, गुणोंका ज्ञान न होनेसे ह्यनि उनमें उन्नति शिखर पर नहीं ले जा सकते, दोषोंका ज्ञान न होना तो उनका वे कैसा त्याग कर सकेंगे, अत एव ज्ञानाभ्यासमें आदर करना चाहिये।

मित्रवचनशिक्षा तपः इत्येतदुच्यते—

वारसविहग्मि य तवे सम्भंतरच्चाहिरे कुसलदिष्टे ॥

ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सञ्जायसमं तवो कम्मं ॥ १०७ ॥

तपस्यभ्यन्तरे चाखे स्थिते द्वादशाधा तपः ॥

स्याप्ययेन समं नास्ति न भूतं न भविष्यति ॥ १०८ ॥

विज्ञयोद्या—वारसविहग्मि य इति तपसि । सम्भंतरच्चाहिरे सहाम्भंतरच्चाद्याभ्यां घटते इति साध्यंतराहो । वारसभ्यन्तरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्यां सह वर्तते इत्युच्यते ? तपः सामान्यं विशेषैः सह वर्तते इत्युच्यते । अजापदंतत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यन्तरस्यान्यस्य पूर्वनिगतोऽन्तरपदद्वयि यद्वाशब्दत्वं संसार, संसार-कारणं, यथो, यथकारणं, मोक्षस्तदुपायः इत्यत्र वस्तुनि ये कुशलाः सर्वविद्वत्सुपदिष्टे । सञ्जायसमं स्वाध्यायेन सहशं । तवोकम्मं तपःक्रिया । ण वि अत्थि नेवास्ति । ष वि य वैव । होहिदि भविष्यति । नाज्यासीदिति फालग्वयेऽपि स्वाध्याय-साध्याभ्यासस्य तपसोऽभ्यासः कथ्यते । अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो वनशानाद्यपि तपो बुद्धेरेव विशेषात् कर्मतत्पनसा-

मय्यस्याविशेषात् । किमुच्यते स्वाध्यायसदृशं तपो नेति ? कर्मनिर्जपपदेदुत्पातिशायपेक्षया संश्रामग्नयस्यो नैवास्तीत्यभिप्रायः । तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् वा न ? आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्विज्ञाता? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जपो कुपोत्पष्टादिवदित्यत्रोच्यते—आत्मपरिणाम एव तपः कथं तर्हि वाञ्छता ? याज्ञाः सदर्ममार्गणि जनाः तैरप्यवगम्यत्वात् चाक्षमित्युच्यतेऽनशनादि । याज्ञैर्वत्परिणाम । सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तरतः । तदवगम्यत्वात् यदादिवत्तैराचरितव्याद्वा याज्ञाभ्यन्तरमिति सूत्ररभिप्रायः ॥

शीर्षोपाचक्षुतस्यैव स्वाध्यायाख्यं तपः स्यादतस्तन्माहात्म्यमभिधीयति—

भूलाया—सर्वमतस्वाहिरे अभ्यन्तराः सन्मार्गज्ञास्तदधिगम्यत्वात्तैरेवाचरितव्याद्वा प्राधान्येनान्तर्ज्याभितत्वाद्वा तपोऽभ्यन्तरमुच्यते । याज्ञाः सन्मार्गवर्धिभूताः तदवगम्यत्वात्तैरेवाचरितव्याद्वा प्राधान्येन वाह्यद्रव्याभितत्वाद्वा चाहं तपः । अभ्यन्तरं च वाह्यं च अभ्यन्तरयाज्ञे सह वाच्यां धर्तमानं तपः सामान्यापेक्षया तयोऽन्तम् । कुसलविष्टे सर्वज्ञोपविष्टे । ण वि च । अत्र च शब्दशान्दाव्याप्तीत् इति ग्राह्यम् । सन्मार्गसमं कर्मनिर्जरोहेदुत्पातिशयापेक्षया फाळजयेऽपि स्वाध्यायेन तुल्यं नान्यतपोऽस्तीत्यभिप्रायः ॥ ध्यानस्य तस्मादुत्कृष्टत्वेऽपि सर्वकृत्वाद्वाप्राधान्यमत्र विवक्षितं ॥

जिनवचनका शिक्षण लेना यह तप है ऐसा आचार्य कहते हैं,

अर्थ—संसार और उनके कारण, पंच और उसके कारण, मोक्ष और उसके उपाय इतको जाननेवाले गणधरादिक आचार्य चारा प्रकारके वाह्य और अभ्यन्तर तपश्चरणोंमें स्वाध्याय नामका तप ही ऐसा है कि जिसके द्वारा करी करनेवाला दूसरा तप पूर्व कालमें हुआ नहीं और अगे न होगा व संगति—वर्तमानकालमें नहीं है ऐसा निरूपण करते हैं. अर्थात् तीनो कालमें भी स्वाध्यायके समान दूसरा तप जगतमें है ही नहीं.

माध्यामि 'सन्मन्तरयाहिरग्नि' ऐसा समस्त श्रुद्ध है. इसका अर्थ अभ्यन्तर व वाह्य तपसे युक्त तप ऐसा होता है. यहाँ अभ्यन्तर तप और वाह्य तप इन दोनोंको छोड़कर तिसरा तप है ही; नहीं तो अभ्यन्तर और वाह्य तपसे युक्त तप ऐसा अर्थ करना अनुचित है ? इस शंकाका उत्तर—तपस्स सामान्य वाह्य और अभ्यन्तर तप विशेषोंसे युक्त होनेसे 'सन्मन्तरयाहिरग्नि' यह तपका विशेषण योग्य है.

शंका—स्वाध्याय भी तप है और अनशनादिक भी तप ही है दोनोंमें भी कर्मको संतप्त करनेका सामर्थ्य है अतः स्वाध्यायके समान अन्य तप नहीं है यह कहना क्या उचित है ? उत्तर—स्वाध्याय तप ! कर्मनेम

जितनी कर्म निर्जरा होती है उतनी अन्य तप करनेसे होती नहीं है अतः अन्य तप इसके समान नहीं है ऐसा कहना क्या अयोग्य है ?

शुक्रा—तप यह आत्माका परिणाम है या नहीं ? यदि तप आत्मपरिणाम रूप है तो कुछ तप अर्थात्तर है और कुछ तप वास है ऐसे भेद मानना अयोग्य है, यदि उनको आत्मपरिणामात्मकता नहीं है तो वे घटादिकके समान बाह्यही मानने चाहिये फिर अन्तरंग तप रहाही नहीं ?

उत्तर—तप यह आत्माका परिणाम है तो तपको वासपना किस रीतसे समझे ? सद्धर्म मार्गसे जो जन अलग हुए हैं अर्थात् जैनधर्म धारण न करनेवाले ऐसे भिख्यात्वी लोकोंकी 'वास' कहते हैं, वे भी जो तपधरण करते हैं वह वास तप है, अर्थात् अनलन अवमोदय वगेरह तपको वास तप कहते हैं, अथवा वास-गृहस्थ उनके द्वारा जिनका आचरण किया जाता है ऐसे अनन्यनादि तपको वास कहते हैं, सन्मार्ग सुक्तियोग-रत्नत्रय इसको जाननेवाले श्रुति जिसका आचरण करते हैं ऐसे तप 'अर्थात्तर तप' इस शब्दसे फदे जाते हैं, ऐसा आचार्यका अभिप्राय है.

प्रतिप्रामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतयोभ्योऽतिशयिकता न सिद्धवतीति मन्यमानं प्रति अतिशयसाधनामाह—

जं अण्णणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ॥

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोसुहुत्तेण ॥ १०८ ॥

छट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णणियस्स जा सोही ॥

तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०९ ॥

यहीभिर्भवकोटोभिर्यदज्ञानेन हन्यते ।

एति ज्ञानी त्रिभिर्गुहस्तत्कर्मोन्नमुहृततः ॥ १०९ ॥

पष्ठाष्टमादिभिः शुद्धिरज्ञानस्यास्ति योगिनः ॥

ज्ञानिनो बल्यमानस्य प्रोक्ता बहुगुणा ततः ॥ ११० ॥

विजयोदय—जं यत् । अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहितः । कम्मं कर्मा । खवेदि क्षण्यति । भवसदसहस्सकोडीहिं भव-
वातसहस्सकोटिभिः । तं तत् कर्म । णाणी सम्यग्ज्ञानवान् । तिदिं शुचो त्रिगुमित्युक्तं । खवेदि क्षण्यति । अतोमुदुत्सेण
अन्तमुद्धर्तमानेन । झटिति कर्मशततन्तामप्यं तपसोऽन्यस्व न विच्यते इत्ययमतिशयः स्वाध्यायस्य ॥

अर्थवादमात्रमेतद्व्यभिच्यतीति परो या संस्तोति झटिति कर्मशततन्तामप्यं तपसोऽन्यस्व न विच्यते इत्ययमतिशयः स्वाध्यायस्य—

मूलान्तरा—अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहितः ।

अनशतनात्रतोबद्धामहस्व प्रवोपनाय ततोऽप्रतिहायिवां शक्तिं स्वाध्यायस्य प्रख्यापयन्नाह—

मूलान्तरा—छन्दुत्थादि—यष्टं श्रावुपवासो, अष्टमं प्रयो, दशमं चत्वारो, द्वादशं पंच, उपलक्षणतस्तत्क्षोपवासावयोऽपि ।
चतुर्गुणदरिया बहुगुणतरा । होज भवेत् । जिवितस्त भोजनं कुर्वन् । णाणिस्स स्वाध्यायपरिणतस्य । इमां गाथां टीकाकारो
न मन्यते । पूर्वगाथोक्तानि त्रिकल्पार्थस्य अनयानभिधानान् ॥

केवल प्रतिज्ञासे स्वाध्यायकी अन्य तपसे विनिष्ठता सिद्ध नहीं होती है ऐसे समस्तनेवालोंके लिये आचार्य
स्वाध्याय तपकी महत्ता दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्ज्ञानसे रहित जीव लक्षान्वधि कोटि भवोंमें जितने कर्मोंका क्षय करने में समर्थ होता है
शानी जीव तीन गुप्तिशोसे युक्त होकर अन्तर्मुहूर्त मात्र कालमें शीघ्र उतने कर्मोंका क्षय करता है. अभिप्राय यह है
कि, स्वाध्याय तपको छोड़कर अन्य तपमें शीघ्र कर्मका नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है. यह स्वाध्याय तपका
अतिशय है. दो, तीन, चार, पांच उपवाससे पक्षोपवास, मासोपवास वगैरह उपवास करनेवाले सम्मज्ञानरहित
मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा भोजन करनेवाला, स्वाध्याय तपमें तत्पर ऐसा सम्यग्दृष्टिके साथ सम्यग्ज्ञानका भी साहाय्य मिलनेसे वह
कर लेता है. तात्पर्य यह है कि, सम्यग्दृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका भी साहाय्य मिलनेसे वह
यद्यपि घोडासा तपश्चरण करता है जो भी विषयवासनासे रहित होनेसे अपने आत्माको उचरोत्तर अधिकाधिक
निर्मल परिणामोंसे विशुद्ध करता है. उसका कर्म उचरोत्तर असंख्य गुणित पद्मतीसे निर्वर्ण होता है. और
उसको बंध कम २ होता जाता है. परंतु मिथ्यादृष्टिजीव विषयवासनाके बंध होकर तप करता है. श्रद्धा व सम्य-
ज्ञानके आधारपर उसका तप अधिष्ठित नहीं है अतः उसका आत्मा सम्यग्दृष्टीके समान विशुद्ध नहीं होता है.

कथयति—

स्वाध्याये उच्यते गुप्तिमायनायां प्रवृत्तौ यदति तत्र च वृषस्व रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया

सज्जामावणाष्टय भाविदा ह्येति सव्यगुत्तीओ ॥

गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होदि ॥ ११० ॥

स्वाध्यायेन यतः सर्वा भाविताः सन्ति गुप्तयः ॥

भवत्याराधना सुत्तौ गुप्तीनां भावने सति ॥ १११ ॥

विजयोदया—मनोयाकायव्यापाराः कर्मोद्दानद्वेषः सर्व एव ध्यावर्तते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तयः । कृताभिमतादियोगप्रयत्निरोद्ध्व रत्नत्रय एव घटते इति सुलसाध्यता । जननकालाभ्यस्तामुभयोनत्रयस्य कर्मोद्दयसहाय्यप्राप्तयेनमित्युक्तरं स्वाध्यायमार्गमैव क्षमा कर्तुमिति भावः । सलसाध्यभाक्णाष्टयं स्वाध्यायभावनया या । भाविता भाविताः । इति भवन्ति । सव्यगुत्तीओ सर्वगुप्तयः । गुप्तीहिं गुप्तिभिः । भाविदाहिं भाविताभिः । मरणे मरणकाले । आराधओ रत्नत्रयपरिणामाराधनपरः । होदि भवति ॥

स्वाध्यायभावनार्थं विना अन्यदिकामभ्यस्तममुभयोनत्रयं कर्मोद्दयसहाय्यसन्त्येन केनापि ध्यावर्तयितुं न शक्यते

इत्युपेन्द्रभाष्ये—

मूलात्—आराधओ रत्नत्रयाराधनापरः ।

स्वाध्यायमै तत्परं मुनिं गुप्ति भावनार्थं प्रवृत्तिं करता है. जब गुप्तिमें यह वत्पर होता है तब उसको रत्न-त्रयकी आराधना सुलसे होती है. यही अभिप्राय आगे की गाथा कहती है—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे कर्मको ग्रहण करने वाली मन बचन और शरीरकी सर्व प्रवृत्तियां बंद होजाती हैं. इनके बंद होनेसे गुप्तिर्योका अम्यास मुनि कर सकते हैं. शरीरादिके द्वारा स्वयं कार्य करना, दूसरोंके द्वारा कराना और स्वयं करने वालेको सम्मतिप्रदान करना इन तीन योगोंका विरोध रत्नत्रयकी प्राप्तिसे होजाता है. यह रत्नत्रय स्वाध्यायसे मुनि स्वतन्त्रमें प्राप्त करते हैं. मन बचन शरीरकी प्रवृत्तियां अर्थात् तीन प्रकारके अम्यय योग और उनको मिलेनवाला कर्मका सहाय्य ये सब स्वाध्यायके बलसे नष्ट होते हैं. अभिप्राय यह है कि, स्वाध्याय से सर्व गुप्तियां मिल जाती हैं. गुप्तियां प्राप्य होनेसे मरणकालमें आत्मा रत्नत्रयका आराधक होता है.

स्वाध्यायभावनास्त परस्वोपदेशान्ते भवन् इतरोऽन्यः कमुपकार परस्व संपादयेद्व्यत्य परस्वोपदेशकत्वे विमस्यातमित्यत्राह—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छछर्दावणा भक्ती ।

होदि परदेसगत्ते अब्बोच्छिती य तित्थस्स ॥ १११ ॥

जिनाज्ञा स्वपरोत्तारा भक्तिर्चातिसत्यवर्द्धनी ॥

त्तीर्थप्रयत्तिंका साधोर्ज्ञानतः परदेसना ॥ ११२ ॥

इति शिक्षासूत्रम् ॥

विजयोदया—आदपरसमुद्धारो आत्मनः परस्व वा उद्धरणमुद्दिष्ट्य व्यापृतः स्वाध्याये स्वकर्मण्यपि क्षाधयति परेषामप्युपयुक्तानां । आणा “श्रेयोधिना हि जिनज्ञासवयस्वलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेश” इत्याशा सर्वविद्यां सा परिपाक्षिता भवतीति शेषः । वच्छछर्दावणा यातसत्यमदायना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति । भक्ती भक्तिश्च कृता भवति जिनपञ्चे तद्व्याख्यात् । होदि भवति । परदेसगत्ते परेषामुपदेष्टृ-रूपे सति । अब्बोच्छिती य अग्युच्छिस्तिष्व । तित्थस्स तिसु चिद्विक्ति तिरये मोक्षमार्गः श्रुते वा । श्रुतमपि एतन्नयनिरूपणे व्यापृतत्वात् तत्रस्थं भवति । ततोऽयं अर्थः—श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा अग्युच्छिक्तिरिति ॥ सिक्खो गद्ग ॥

एवं स्वाध्यायभावनाप्रवृत्त्या त्रिगुप्तिभावनया मरणकाले सुप्तआध्यायमारुधनां प्रवर्धयदानां परोपकारोऽपि स्वोपकारकरूपितः स्वाध्यायपरस्य परोपदेशकत्वे सति भवतीत्युपदिशति—

मूलाप—आदपरसमुद्धारो आत्मनः परस्य च संसारदुःखादुद्धरणमयेद्व्य स्वाध्याये प्रयुक्तः स्वस्यैव परेषामप्युपयुक्तानां कर्माणि शातयतीति तात्पर्यं । आणा श्रेयोधिना जिनज्ञासनवस्तलेन कर्तव्य एव हितोपदेश इति सर्वविद्याभाज्ञा सा परिपाक्षिता भवतीति शेषः । भक्ती जिनवचनविषयति शेषः । परदेसगत्ते परेषामुपदेशकत्वे सति । तित्थस्स श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा ॥ शिक्षा । सूततः ३ । अंकतः १३ ॥

स्वाध्याय भावनामे आसक्त मुनि इतरोक्ती कोनसा उपदेअ देता हे तथा दूसरोक्ती उपदेश देनेसे इसको क्या लाभ होता है ? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—स्वाध्याय करनेवाले मुनि परोपदेश देकर आगे लिसे हुए गुणगणोंको प्राप्त कर लेते हैं. परोपदेशक मुनि सामायिकादिक आवश्यक कर्मके द्वारा सुदकी संसारसे मुक्ति कर लेता है और आवश्यककर्ममें तत्पर रहता

मुनिओंको उपदेशदानमें संभारसे छुड़ाता है, अतः आत्मपरसमुद्धार यह गुण परोपदेशकपनसे मुनिको मिलता है। आज्ञागुण—“विनम्रतपर ग्रीवि रखनेवाले मोक्षेच्छु मुनिओंने नियमसे हितोपदेश करना चाहिये” ऐसी श्रीजिनेश्वरजी आज्ञा है उसका पालन धर्मोपदेश देनेसे होता है।

वात्सल्य प्रभावना—परोपदेशसे वात्सल्य और प्रभावना इन गुणोंका लाभ होता है, अर्थात् साधर्मिक वांछापूर्व प्रेम व्यक्त होता है तथा उनका अज्ञानांधकार दूर करनेसे प्रभावना गुण भी प्राप्त होता है।

भक्ति—विनम्रपनका अभ्यास करके परोपदेश करनेवाले मुनिका जिनवचनमें अतुराग प्रगट होता है, अच्युच्छिन्नि—‘तिसु चिह्नदिशि तिरथ’ सम्मगर्धान, सम्मग्नान और सम्मग्नचारित्र्य इन तीनोंमें रहने वाला जो मोक्षमार्ग उसको त्रिस्थ किंवा तीर्थ कहते हैं, अथवा जिनायम भी तीर्थ है क्योंकि वह भी रत्नत्रयका दर्पण करनेमें तत्पर रहता है, उस को त्रिस्थ अथवा तीर्थ कहते हैं, धर्मोपदेशदानसे धृत और मीश्वमार्गकी परंपरा टिक सकती है, शिक्षाका प्रकरण समाप्त हुआ।

लिंगग्रहणान्तरं लानसंपत्तिः कर्णो, लानसंपत्तिं यंतमानेन विनयोऽनुष्ठातव्यः । ॥ ३ ॥ पंचप्रकार इत्याह—

त्रिणञ्जो पुण पंचविहो जिहिट्ठो गाणदंसणचरित्ते ।।

तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥ ११२ ॥

विनयो दर्शने ज्ञाने धारित्रे तपसि स्थितः ॥

उपचारै च कर्तव्यः पंचथापि मनीषिभिः ॥ ११३ ॥

विगयोदया—विनयव्यपनयति यत्कामादुपं सट्टिनयः । सया चोक्ते—“जह्मा विणेदि कम्मं भट्टविहं छाउरंग मोयतो य” इति । पुण पञ्चात् जिनपचनाम्यासोत्तरफाले । पंचविहो पंचप्रकारः । जिहिट्ठो तिदिट्ठः । गाणदंसणचरित्ते विपयदर्शक्यं समीचीन । ज्ञानदर्शनार्थविषयः ॥ तवविणवो य तपसि विनयश्च ॥ चउत्थो चतुर्थः । चरिमो अन्त्यः ॥ उवयारिओ विणयो उपचारविनयश्चेति ॥

अहं लिंगमावाय समभ्यस्तध्रुवेन वरकलभूतो मोक्षांगतया विनयोऽनुमेयः इति तत्तपंचार्थं गाथाब्रह्मयोगविशति-भादिसति ॥ तत्र तापप्रित्तिगम्यं विनयस्य सामान्यलक्षणं विषयभेदाच्चेद्वेदांश्च निर्दिष्टुमाह—

मूलारा-विणओ—अनुभक्तमार्गानि विनयव्यपनयतीति विनयः । इति विशदविगम्यमपि सहस्रानं श्लोकोन्वयेते—

हिवाहिलासिष्ठुत्यर्थं वर्दमानां सर्वोन्नता ॥

यो माहात्म्योद्भवे यत्नः ॥ मतो विनयः सवाम् ॥

पुण निश्चान्ततरम् ।

लिंगधारण करेणपर ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये. ज्ञानसंपत्ति धारण करनेवालोने विनय अवश्य करना चाहिये. वह विनय पांच प्रकारका है—

अर्थ—'विनयस्यपनयति यत्कर्म अशुभं तद्विनयः' जो अशुभ कर्मको विनयति अर्थात् दूर करता है, नष्ट करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं. आगममें विनयके विषयमें ऐसा कहा है, 'जस्मा विणेदि कम्मं अट्ठ-विहं चाउरंग मोपलो यं' अर्थात् जो आठ प्रकारके ज्ञानावरणदि कर्मोंका नाश करता है और मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद और योग विसर्गके कारण है ऐसे संसारसे जो आत्माको छुड़ता है वह विनय है.

विनयकी निलकि आचार्योंने इस तरहसे कही है. इस विनयके पांच प्रकार हैं ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चरित्रविनय, तपोविनय और उपचारविनय.

ज्ञानमेदानाद्ये—काले स्वाध्यायधाचमकास्नाविह कालशब्देन युज्यते । अन्यथा कालमस्तरेण कस्यचिदपि द्रुत्य-भावात् कालप्रद्वयमनर्थकं स्यात् । अयत्तु नाम कालविशेषः कालशब्दवाच्यः तथापि नास्ते वितयो ॥ कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्स्वयंस्वाकर्मवत्ता प्राप्नुयात्—

काले विणये उवघाणे बहुमाणे तद्दे व णिण्हवणे ॥

वंजण आत्थ तदुभये विणलो पाणस्मि अट्ठविहो ॥ ११३ ॥

ज्ञानीयो विनयः काले विनयेऽवग्रहे मतः ॥

बहुमानेऽनपहुत्थां न्यंजेनेऽर्थे द्वयेऽष्टधा ॥ ११४ ॥

विजयोदया—काले इति सप्तम्यंतं पदं । तेन वाक्ययोगपुरस्स्तोऽयं सूत्रायो जायते । साध्यादारत्वात् सत्यं सूत्राणां । काले अध्ययनमिति । परित्यजनीयत्वेन निर्दिष्टं कालं संन्यायवैद्विष्याहोत्सकापत्तादिं परिहृत्याध्ययनं कर्म विनयति इति । विणप इति प्रथमान्तः विनयः ध्रुलधुतचरणाद्येत्यस्तवन ध्रुलधुतधरमकिरिति यावत् ।

उपहासे भवग्रहः । सावद्विद्वन्मुखयोगद्वारं विष्णुमुपैति तावदिदं सत्त्वा न भोक्तव्यं, इदं जनसानं चतुर्थपञ्चाङ्गिकं करित्वासीति संकल्पः । स च कर्म स्वपन्नयतीति चिन्तयः ।

शुभमाणे सन्धानं । शुभेः कृताञ्जलिपुटस्य अनाक्षितमनसः सादरमध्ययनं । तद्दृष्ट्वा ।

अणिशूक्यो अनिह्वयश्च निह्वयोऽपत्यापः । कस्यचित्सकाशे शुभमधीत्याप्त्यो गुह्यरित्यभिधानमपलापः ।
वंजण अथ तदुभये स्वजनं नादयुक्तानं । अर्थः शब्दवाच्यः, तदुभयसाधेन व्यञ्जनमर्थेष्व निर्दिश्यते । वंजण अतथतदुभये
इयञ्जनं च अर्थश्च तदुभयं वेति द्वौ छते सर्वौ द्वौो विभाषणा एकवद्भवतीति एकवद्भवावापस्य एकवचनं कृतं । अर्थ-
वाधस्य अजापददेवतादत्तत्वाच्च पूर्वनियतमसंग इति चेष्ट, सर्वतोऽभ्यर्द्धितं पूर्वं निपतति इति व्यञ्जनसाधः पूर्वं
प्रयुज्यते । कथमभ्यर्द्धितं ? स्वयं परमप्रपञ्चेतृत्वात्स्वयं च शब्दश्रुतादेवार्थयाथात्म्यमवैति परं साववोधयति ।
अथ च वंजणभारतदुभये शुद्धी इति शेषः ।

तत्र स्वजनशुद्धिर्नाम यथा गणपरादिभिर्गोविंशोपबर्जितानि सूत्राणि उवाचि तेयां सथैव पाठः । शब्दश्रुतद्वयापि
व्यत्यते आपते भवेनेति प्रश्ने शानशाधेन शुद्धित्वात् तन्मूलं हि श्रुतज्ञानं ।

अथ मधेशाधेन किमुच्यते ? स्वजनसाधस्य सांनिपादार्थशब्दः शब्दमिच्छेयं यद्वैते, तेन सूत्रार्थोऽयं इति गृह्यते ।
तस्य का शुद्धिः ? विपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायां अर्थाधात्त्याभिरूपणा । अथैवरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते ।
सूत्रार्थनिरूपणायाः शब्दश्रुतसाधविपरीतनिरूपणापि स्वजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः कदाचिदिति चेत्, न परकृत
शब्दश्रुताविपरीतपाठे स्वजनशुद्धिस्तार्थनिरूपणाया अवैपरीत्यं अपेक्ष्यते । प्रत्यययुते तु अर्थवाधात्म्यमिति भासोऽप्ये-
शुद्धिः ॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यञ्जनस्य अर्थस्य च शुद्धिः ।

तनु स्वजनार्थग्राह्योः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्यदीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति ततः कथम-
द्विषयता ? अत्रोच्यते पुरुषभेदवैकल्येयं निरूपणा—

कदाचिद्विपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सांश्च तु विपरीतं । तत्तथा न कार्यमिति व्यञ्जनशुद्धिरुक्ता । अन्यश्च सूत्रमवि-
परीतं पठ्यपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तद्विराक्तव्येऽर्थशुद्धिरुक्ताहता । अपरस्तु सूत्रं विपरीतमधीते सूत्रार्थं च
कथयितुं कुक्तो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयग्राह्येभ्य उभयशुद्धिरुच्यते । अयमप्युक्तयोः शानाभ्यासपरिकरेऽष्टविधे
कर्म विनयति व्यत्ययति विनयशब्दाभ्यासो भवतीति सुरेविज्ञायः ।

यदि शानादिनेदात्म्यथा विनयस्तर्हि ज्ञानविनयः कतिधेति प्रश्ने सत्याह—

मूलारा — काळे संध्यापूर्वदिग्ग्राहोत्सकापातार्थः सुवेतिनिपिद्यादन्वयं ययौके काळे अध्ययनं कालवितय इति
व्याख्येयं सोपस्कात्त्वसूत्राणां ।

विणप मयमांशोऽपरेऽपि च श्रुतश्रुतधरमक्तिरित्यर्थः ।

उच्यते अथग्रहविशेषः यावदिदमनुयोगद्वारं समाप्यते तावदिदं मया न भोक्तव्यमिदं दानश्रनादिकं करिष्यामीति संकल्पः । यद्दुष्टाणे शुभेः कुलांबलिपुटस्वात्वाव्यक्तचित्तस्य सादरमध्ययनं । अणिणहनेने अन्यतः श्रुतमधीत्यान्यस्य गुरोः कथनं निरुक्तनं गुरोरपलापस्तद्विपर्ययः । पंचमो विनयः । वंजणअत्यवदुमये सुद्धी इत्यध्याहार्य । तेन लंजन-शुद्धिरर्थशुद्धिः शब्दाद्योभयशुद्धिरित्यधी त्रयो ज्ञानभेदाः । तत्र ज्वंजनशुद्धिर्ययोक्तुमुपपठनं । अर्थाशुद्धिः सम्यक्सुद्धानर्थ-निरूपणा । तदुभयशुद्धिर्यथोक्तं सूत्रं पठतः सम्यक्त्वदर्थप्रतिपादनं । कश्चादि सूत्रं विपर्यस्यति तदर्थं तु सम्यगन्वयापेष्टे । अन्यस्तु सूत्रं सम्यगधीयानोऽपि तदर्थमन्यथा कथयति । अपरः पुनः सूत्रमर्थं च विपर्यस्यतीति पुरुषभेदापेक्षया तदय-परिहाणे ज्ञानविनयमेव त्रयमुपपद्यते । अट्टविहो, अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिकरो ' अस्मा विणेदि कम्मं अट्टविहं तेण विणक्षो सो ' इति वचनावष्टविधं कर्म विनयतीति विनयो ज्ञानविषय इति सूररविप्रायः ।

ज्ञानविनयके भेद कहते हैं—

अर्थ—काल, विनय, उपधान, यदुमान, अनिहव, व्यंजन, अर्थ, तदुभय ऐसे ज्ञानविनयके आठ भेद हैं। कालविनय—यहां कालशब्दसे स्वाध्यायकाल यह अर्थ समझना चाहिये। अन्यथा कालके बिना कोई भी पदार्थ अपना अस्तित्व रखनेमें असमर्थ है अतः काल शब्दके ग्रहणको वैयर्थ्य आवेगा। कारण काल तो हमेशा ही रहता है उसका उल्लेख करनेकी कुछ भी जरूरत नहीं थी अतः काल शब्दसे स्वाध्यायकालका अर्थात् कालविशेषका यहां ग्रहण किया है।

शंका—कालशब्दसे विशिष्ट कालका ग्रहण करे तो भी कुछ हर्ज नहीं है। परंतु उसको विनय क्यों कहना चाहिये ? क्योंकि वह अनुभ कर्मको दूर नहीं करता है। यदि वह अनुभ कर्मको दूर करेगा तो सर्व माणि मात्र कर्मरहित हो जावेंगे।

उत्तर—यहां काल शब्द सप्तमंत समझना चाहिये तथा उसके अगे ' अध्ययन ' यह शब्द जोड़ देना चाहिये। सर्व स्र संधिपमें रचे जाते हैं अतः ऊपरसे भी कुछ शब्द जोड़ने पडते हैं। ' काले ' इसका मतलब ' काले अध्ययनं ' ऐसा समझना चाहिये। संध्याकाल, पूर्वकाल, दिशादाह, उत्कापात इत्यादि वर्तनीय कालका परिहार करके अन्य कालमें यदि स्वाध्याय, व्याख्यान, पठन, मलनादिक करनेसे अनुभ कर्म नष्ट होता है।

विनय—धृतज्ञान और श्रुतधर अर्थात् श्रुतकेवली इनके माहात्म्यका स्तवन करना. अर्थात् श्रुतभक्ति पढना चाहिये.

उपधान—विशेष नियम धारण करना. जगतक यह अनुयोगका प्रकरण समाप्त होगा तबतक मैं उपवास करूँगा अग्रा दो उपवास करूँगा इस तरहसे संकल्प करना यह विनय अक्षुभ कर्मको दूर करता है.

बहुमानविनय—परिश्रमासे, हाथ जोड़कर, मनको एकत्र करके वडे आदरसे अध्ययन करना. लेना अनिष्टन—अपराध करना निश्चय है. एक आचार्यके पास अध्ययन करके अन्य आचार्यका नाम लेना यह निश्चय है ऐसे दोष का त्याग करना अनिष्टविनय है.

व्यंजन, अर्थ, तदुभय विनय—शब्दको व्यंजन कहते हैं, शब्दका जो वाच्य वह अर्थ है. जैसे मनुष्य शब्दका वाच्य आदमी ऐसा होता है. शब्द और उसके अर्थको तदुभय कहते हैं. गायामें वंजन, अन्ध, तदुभय इन शब्दोंमें द्वंद्वनमास क्रिया है. सर्व द्वंद्वनमास विभाषासे एकवचनयुक्त होता है इस व्याकरणके नियमानुसार 'वंजन आद्य तदुभये' इस समासमें एकवचन क्रिया है.

शंका—यहां अर्थ शब्द स्वरादि व अल्पस्वर युक्त होनेसे वंजन इस शब्दके पूर्व उसका निवेद्य होना चाहिये. इस शंकाका उत्तर ऐसा है—'सर्तोऽप्यर्हितं पूर्णं निपतति' इस परिभाषासे वंजन-शब्द अर्थात् अर्थतत् महत्प्रयुक्त होनेमें वही अर्थशब्दके पूर्वमें प्रयुक्त क्रिया है. व्यंजनको अर्थात् शब्दको महत्त्व-प्राधान्य क्यों है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि शब्दके द्वारा हम दूसरोंको समझा सकते हैं और एवं शब्दश्रुतादिके सहारेसे पदार्थका यथार्थ स्वरूप जान लेते हैं.

व्यंजनशुद्धि—गणधरादि आचार्योंने वृत्तिस दोषोंसे रहित सूत्रोंका निर्माण किया है उनको दोष रहित पढना व्यंजन शुद्धि है. शब्दोंको कोई भी जान नहीं कहते है अतः शब्दोंकी शुद्धि ज्ञानविनयमें कैसी अन्तर्भूत कर नमोने ऐसी शंका यहां उपस्थित होती है. इसका उत्तर इस मुख है—शब्दके द्वारा ही हम वस्तुको जान लेते हैं. ज्ञानोत्पत्तिके लिये शब्द कारण हैं. समस्त श्रुतज्ञान शब्दके भिन्नीपर ही खड़ा हुआ है अतः शब्दोंको 'मायतंनेन' इस विग्रहमें जान कह सकते हैं.

अंशशुद्धि—अर्थशब्दमें हम क्या समझे ? अर्थशब्द व्यंजनशब्दके मधीन होनेमें शब्दोंका उच्चार

होनेपर मनमें जो अभिप्राय उत्पन्न होता है वह अर्थशब्दका भाव है, अर्थात् गणघरादिरचित सूत्रोंके अर्थको यहाँ अर्थ समझना चाहिये, अर्थशुद्धिका अर्थ इस सूत्रब समझना—विपरीतरूपसे सूत्रार्थके निरूपणमें अर्थ ही आधार भूत है अतः ऐसी निरूपणा अर्थशुद्धि नहीं है, किंतु यथार्थरूपसे जो सूत्रार्थका विवेचन होता है वही अर्थ शुद्धि है संशय, विपर्यय अन्वयवसायादि दोषोंसे रहित सूत्रार्थनिरूपणको अर्थशुद्धि कहते हैं।

शंका—सूत्रार्थनिरूपण भी शब्द श्रुत है इसलिये अविपरीतनिरूपण भी व्यंजनशुद्धि ही है, उसको अर्थशुद्धि समझना भूल है, इस शंकाका उत्तर—

शब्द श्रुतके वाक्योंका जो अविपरीत उच्चार किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है, और उन वाक्योंका जो अविपरीत रूपसे अर्थ समझाया जाता है वह अर्थशुद्धि है अर्थात् वाक्योंके शब्दोंका स्पष्ट उच्चार, दीर्घ-ह्रस्वादि-कको ध्यानमें लाकर जो उच्चारण किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है, और उनका अभिप्राय वचनोंके लिये जो अविपरीत शब्दोच्चार किया जाता है वह अर्थशुद्धि है,

ज्ञानश्रुतमें जो अर्थकी सत्यताका अनुभव आता है वही अर्थशुद्धि है,

तदुभयशुद्धि—व्यंजनकी शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्रायकी जो शुद्धि है वह उभयशुद्धि है, शंका—उपर व्यंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि इन दोनोंका स्वरूप आप कह चुके हैं उनमें ही इसका भी अन्तर्भाव हो सकता है, इन दोनोंको छोड़कर तदुभय शुद्धि नामकी तीसरी शुद्धि है नहीं, अतः ज्ञानविनयके आठ प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं,

उत्तर—पहली पुरुषभेदोंकी अपेक्षासे निरूपण किया है

खुलासा—जैसे कोई पुरुष सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है परंतु सूत्रको विपरीत पढ़ता है ठीक पढ़ता नहीं, दीर्घोच्चारके स्थानमें ह्रस्वोच्चार इत्यादि दोषयुक्त बोलता है ऐसा दोषयुक्त पढ़ना नहीं चाहिये इस वास्ते व्यंजन-शुद्धि कही है, दूसरा कोई पुरुष सूत्रको ठीक पढ़लेता है, परंतु सूत्रार्थ का विपरीत निरूपण करता है यह भी योग्य नहीं है इसका निराकरण करनेके लिये अर्थशुद्धि कही है, तीसरा अदमी सूत्रभी विपरीत पढ़ता है और उसका अर्थ भी अंष्टसंत कहता है, इन दोनों दोषोंको दूर करनेके लिये तदुभयशुद्धिको भिन्न मानना चाहिये, ज्ञानाभ्यासके ये आठ प्रकार आठ प्रकारके फलोंको आत्मासे दूर करते हैं इसलिये इनको विनयशब्दसे संबोधन करना सार्थक है ऐसा आचार्योंका अभिप्राय है,

उपगूहणादिया पुबुचा तह भाचियादिया य गुणा ॥
 सकादिवज्जणं पि य जेओ सम्मसाविणओ सो ॥ ११४ ॥
 उपवृद्धादितात्पर्यं भक्त्यादिकरणोद्यमः ॥

सम्यक्त्वविनयो ज्ञेयः शङ्कादीनां च वर्जनम् ॥ ११५ ॥

विजयोदया—उपगूहणादिगा उपवृत्तणादिकाः । उपवृत्तणं, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना सेत्येते । पुबुचा पुर्याचार्यरुक्ताः पूर्वोक्ताः । अस्मात् सूत्रापूर्वेण च सूत्रेण “उपगूहणादिकरणं वच्छेदपमावणा भणिदा” इत्यनेनोक्ताः पूर्वमुक्ताः । पूर्वोक्तो वा सम्मसाविणओ सम्यक्त्वविनय इति संवेधनीयं । तत्र भक्तियादिया य गुणा तथा भक्त्यादिकाश्च गुणाः विनयसंस्था ते तदप्रकारेण अवस्थिताः इति । अहंदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । संक्रादिवज्जणं पि य शंकाविचर्जनं च । असाध्यः पापपूरणः जेओ ज्ञेयः ॥ सम्मसाविणओ सम्यक्त्वविनय इति ॥ उपवृत्तणदीनां भक्त्यादीनां च गुणानां बहुधात् तेषामेव च विनयत्वात् समसाविणया इति वाक्यमिति चेत्, विनयसामान्योपेक्षया तस्यैकत्यावैकवचनेन पदसंस्कारः कृतो न निवर्तते । न च पदांतरवाक्योपेक्षया बहुत्वमस्तीत्येवावता अग्रतिपदिका सुबुत्पद्यते । तथा न प्रयोगा बहु एव कनमिति ॥

सम्यक्त्वविनयं निर्विच्छति—

मूलाराधना—स्पष्टम् ।

दर्शनविनयकी सूचना करनेवाली गाथा—

अर्थ—उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ऐसे सम्यग्दर्शनके चार गुण पूर्वाचार्योंने कहे हैं तथा इस ग्रंथके कर्ताने भी पीछे ‘उपगूहणादिकरणं वच्छेद पमावणा गुणा भणिदा’ इस गाथामें इनका वर्णन किया है। अहंदादिकी भक्ति, पूजा, वर्णजनन वगैरह गुणोंका भी वर्णन पीछे विशदतया किया है। इन सर्वोक्तो दर्शनविनय कहते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टिप्रशंसा व अनागतनसेवन ऐसे सम्यग्दर्शनके पांच दोष हैं इनका त्याग करना वह भी दर्शनविनय है।

शंका—उपगूहनादिगुण, भक्त्यादिगुण इनकी संख्या बहुत है और वे ही दर्शनविनयके स्वरूप हैं अतः गाथामें ‘सम्मसाविणओ’ ऐसा एकवचनका प्रयोग अयोग्य है। ‘सम्मसाविणया’ ऐसा बहुवचनमें प्रयोग होना चाहिये।

उत्तर—विनयसामान्यकी उपेक्षाले सम्यक्त्वविनयको एक समझकर 'समचविणओ' यह एकवचनमें प्रयोग किया है, अतः एकवचनरूप किया हुआ पदसंस्कार अब बदलता नहीं है,

चरित्रचिन्तनिकरणाय गाथा—

इंदियकसायपणिधानं पि य गुचीओ चेव समिदीओ ॥

एसो चरित्रविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥ ११५ ॥

कुर्वतः सभितीगुमीः प्रणिधानस्य वर्जनम् ॥

चारित्र्यविनयः साधोर्जायते सिद्धिसाधकः ॥ ११६ ॥

विलयोव्या—इंदियकसायपणिधानं पि य । इन्द्र आत्मा तस्य लिंगमिन्द्रियं । यत्करणं तत्कर्तृमव्या—परशुः । कर्तृणं च बहुतरादिर्क । सेनास्य कर्ता केनचिद्व्याप्यमिति । तच्च क्षिप्रियं द्रव्येन्द्रियं भावैन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रियं नाम निर्भरयुपकरणो मस्तिष्कादिवर्त्तमानो यः शरीरावयवः कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्दुतिः । उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनाभि-
व्ययमननेत्युपकरणं अक्षिपञ्चुफलरूपतात्कारादिकं । भावैन्द्रियं नाम ज्ञानावरणसंयोगानामविशेषोपलब्धिः, द्रव्येन्द्रियनि-
मित्तरूपाधुपलब्धिश्च । इह इन्द्रियशब्देन मनोहररूपाविसाधिर्येन रागकोपादुगुरूपाविनिर्भासाः प्रतीतयो गृहीताः । कर्त-
रिति हिंसति आत्मक्षेत्रमिति कथायाः । अथवा तत्कर्तृणां चात्फलरसाः कथायः, कथाय इव कथाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ
यतते कथायशब्द उपमार्थः । यथा कथायो बलादेः शौक्ल्यशुक्तिपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वादात्मनो ज्ञानदर्शन-
शुद्धिं विनाशयति, आत्मायत्नस्य दुःखेनागृह्यते इति । यथा वा पटादेः स्पर्शं करोति कथायस्तद्वदेव कर्मणां स्थितिमक-
पमात्मनि निवधाति क्रोधादिः । इन्द्रियमिति च कथायाश्च इन्द्रियकथायाः । इन्द्रियकथाययोः अग्रणिधानं अनाश्रयः
आत्मनो व्यापयित्वेन्द्रियकथायापरिणतिः । शुली चेव शुस्यश्च संसारकारणत्वात्मनो भोगनं युक्तिः ।

संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालमायमवयवपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि तत्सात्वंसारकारणादत्मनो भोगनं रक्षा
शुप्तिरित्याज्यायते । भावे किं, अपादानसाधनो वा, यतो भोगनं सा युक्तिः । भोगयतीति कर्तेसाधनो वा किन् । शब्दाध-
व्यवस्थेयम् । किं स्वरूपं तस्या इति चेत् । सम्यग्भोगनिग्रहो युक्तिः । कायवादमन-कर्मणां प्राफाम्यायावो निग्रहः, यथेष्ट-
चारिताभायो युक्तिः । सम्यगिति विशेषणत्वापुस्तंरं क्रियां संयतो मत्तानयमिति यथाधानयेस्य पारलौकिकमिन्द्रिय
शुद्धे वा न्द्रियमणा शुप्तिरिति कथ्यते । इति सूर्यो व्यवस्थिताः । रागकोपाभ्यां अनुपलुता नोर्द्वियमिति मनोगुप्तिरिति
यमग्रे । एवं चायं धन्यमिति सूत्रकारो 'जा रागादिष्विण्वती मजस्व जाणहि तं मणोशुचि' मिति । अनुत्तपरयपकर्मना-
मिध्यात्वासंयमनिमित्तपचनानां जयकृता पाग्युक्तिः । अग्रमत्ततया यदग्रस्थेयैकिताममार्जितम्युत्थेऽचंक्रमणं, द्रव्यांतरा
दाननिक्षेपसाधनसन्निधानां अकरणं कायशुप्तिः कायोत्तर्गो वा ।

समिदीओ समितयः । प्राणिपीडापरिहारद्वयतः स्वयमगमनं प्रवृत्तिः समितिः । सम्बन्धियशोपाणाज्जीवितिका-
यस्वरूपज्ञानअदानुपुस्सरा प्रवृत्तिर्हता । ईयमावैपणादानानिस्सेपोत्सर्गोः पंचसमितयः । " ईयादिसमितीनां याकाय-
गुत्तिम्यां अविशेषास्तो भेदेनोपादानावचकं, प्राणिपीडाकारित्याः कायक्रियाया निवृत्तिः क्षायगुत्तिः, ईयादिसमितयश्च
तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिकृपाः" अत्रोच्यते—निवृत्तिरूपा गुत्तयः प्रवृत्तिरूपाः समितयः इति भेदः विशिष्टा गमनभाषणा-
न्यवहारणमग्ननिक्षेपणोत्सर्गक्रियाः समितय इति उच्यन्ते । यस्तो पयः । चरित्रविणजो चारित्रविनयः । समासदो
संक्षेपतः । जलद्वयो ज्ञातव्यः । होदि भयति ।

इंद्रियकृपायाप्रणिधानं मनोगुत्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम् । धक्कायगुत्त्वोरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रहः ।
अथवा रागद्वेषमिथायाप्रपुत्रपरिणामसिद्धो मनोगुत्तिः सामान्यभूता । इंद्रियकृपायाप्रणिधानं तद्विशेषः । सामान्यविशेष-
पयोश्च कथंचिद्वेदाश्च पौनवस्यं । मनोगुत्तावन्भूतस्यापि इंद्रियकृपायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादानं चारित्राधिनीउच्यते
परिहृत्यैवत्वकायपनार्थं वा ।

मनु अत्रोपशयिषिं चारित्रं पंच महायत्तानि, पंच समितया, तिस्रो गुत्तयः इति । तदा समितीनां गुत्तीनां
चारित्रत्ये चारित्रविनय इति कथं भेदेनाभिधानं ? यत्ताम्येषाम्यत्र चारित्रशब्देनोच्यते । तेषां परिकल्पेनापस्थिताः शुन्तयः
समितयश्चेति सूचकारस्याभिप्रायः । तथा चोक्तमर्थः ' कर्मानानिभिचक्रियाम्यश्च विरतिः बहिस्तादिभेदेन पंचप्रकार
गुत्तिसमितिद्विस्तारसंक्षेपो भवति । कश्चारित्रादिनयन्यास इति चेत्, पंचविंशतिमायता । ' सत्यैर्मायै भायताः पंच
पंचेति ' निरूपिताः ॥

चारित्रविनयं निरूपयति—

मूळाराधना—इंद्रियकृपायपणिधानं इह इंद्रियशब्देन मनोव्यामनोस्वरूपद्विस्तारिज्ये रागद्वेषानुगतस्वरूपादि-
तिर्भासाः प्रतीतयो गृह्यताः । कृपायाश्च भानओपावयः तेवप्रणिधानमपरिणतिरात्मन इंद्रियकृपायाप्रणिधानं । कसा-
यपणिधानमित्यत्र शर्कश्चादित्वात्परत्वं । अन्ये तु प्रणिधानशब्देनात्र निरोधं व्याचक्षते । इंद्रियकृपायानिरोध इत्यर्थः ।
तस्य ॥ मनोगुत्तावन्भूतस्यापि भेदेनोपादानं चारित्राधिनीउच्यतेकथंत्वस्यापनार्थं । चारित्रशब्देन चात्र व्रतान्येवेष्टानि
तेषां च परिकल्पेनावस्थिता गुत्तयःप्रमितयश्चेति सर्वं सूत्रम् । अन्यैस्तु पंचविंशतिसावनचचारित्रविनय उक्तः ॥

चारित्रविनयनिरूपण करनेके लिये आचार्य आगेकी माथा कहते हैं—

अर्थ - आत्माको इंद्र कहते हैं- इस इंद्रका जो चिह्न अर्थात् आत्माका स्वरूप पहचाननेका जो साधन
यह इंद्रिय है, यह इंद्रिय करण है, जो जो करण होता है वह कर्तासे युक्त रहता है, क्योंकि कर्ताको क्रिया करने
में जिससे साहाय्य मिलता है वह करण है, इस करणके बिना कर्ता क्रिया नहीं कर सकता है, जैसे देवदत्त जब

लकड़ी तोड़ता है तब वह कुन्हाड़ीका सहाय्य लेता है, बिना कुन्हाड़िके वह लकड़ी नहीं काट सकता है, इसलिये जैसे देवदत्त कर्ता और कुन्हाड़ी करण है वैसे आत्मा कर्ता है क्योंकि वह पदार्थोंको जाननेकी क्रिया करता है और इंद्रियां पदार्थ जाननेमें आत्माको साहाय्य करती हैं इसलिये वे करण हैं, यहाँ इंद्रियोंके द्रव्यइंद्रिय और भाव इंद्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं,

द्रव्येन्द्रिय—मष्टर, यवनाल, खुरपा इत्यादि पदार्थोंके आकारके समान नेत्र, कर्ण, जीभ वगैरे द्रव्येन्द्रियोंका आकार है, ये निर्वृत्ति और उपकरणसे युक्त रहती हैं, और वे शरीरके अवयवरूप मानी गयी हैं, तात्पर्य यह है कि, आत्माके प्रदेश इन्द्रियाकार हो जाना यह अर्थांतरनिश्चय है, और उसके ऊपर पुद्गलोंकी जो इन्द्रियाकार रचना होती है वह बाह्यनिवृत्ति है, निवृत्तियोंका जिससे रक्षण होता है वह उपकरण है, उसके भी दो भेद हैं, बाह्य उपकरण व अर्थांतर उपकरण, जैसे नेत्रमें सारका, काला और सफेद जो भाग है वह अर्थांतर उपकरण है, अधिपत्र-पापनी, मोहि वगैरह बाह्योपकरण है, ज्ञानके साधनभूत इंद्रियोंको जो सहाय्यप्रदान करते हैं उसको उपकरण कहते हैं, यह द्रव्येन्द्रियका स्वरूप है,

भावेन्द्रिय—आत्मामें ज्ञानावरण कर्मका जो विशिष्ट क्षयोपशम भ्रगत हुआ है वह तथा द्रव्येन्द्रियके सहारेसे रूपादिकोंका जो ज्ञान होता है वह भावेन्द्रिय है,

यहाँ मनबाहे रूपादि पदार्थोंका सानिध्य होनेसे जो रागद्वेषसहित ज्ञान होता है वह इंद्रियशब्दका अर्थ है,

कपाय—'कपन्ति हिंसति आत्मश्रेयं इति कपायाः' जो आत्माका घात करते हैं वे कपाय हैं, क्रीडादिक विकार आत्माका अहित करते हैं अतः उनको कपाय कहते हैं, अथवा बुझोंकी छातीसे जो रस निकलता है उसको कपाय कहते हैं, वह चिक्कण होनेसे वस्त्रमें लगनेपर निकलवा नहीं है, उपर्युक्त उपमाके द्वारा क्रीडादिकोंको भी कपाय कहते हैं,

जैसे कपायरस वस्त्रको लगनेपर उसका संकटपना, स्वच्छता नष्ट होते हैं और वह रस भी बहते निकलना अशक्य है, वैसे क्रीडादिकपाय भी आत्माके ज्ञान और दर्शनगुणकी निर्मलताको नष्ट करते हैं, और इन कपायोंका आत्माके साथ संबंध होनेपर यहाँसे नष्ट कटसे दूर होसकते हैं, जैसे कपायरससे वस्त्रादिकोंमें छूटता

आती है, वेने ये क्रोधादि कषाय आत्मामें ज्ञानावरणादि कर्मको स्थिर करते हैं, अर्थात् कषायसे ही कर्मकी काल-स्थिति बढ़ती है, ऐसे कषाय और इंद्रियोंमें मनकी एकाग्रता न होने देना चाहिये अर्थात् इंद्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति होनेमें आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न होजाते हैं, वे न होने देवे, रागद्वेषरूप परिणति आत्मामें न होना यह इंद्रिया प्राणिधान है, और कषायवश न होकर आत्मामें ज्ञानशुद्धि और दर्शन शुद्धि कथम रसना यह कषायाप्राणिधान है.

गुप्ति—संसारके फलणोंसे आत्मका रक्षण करना यह गुप्ति है, द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, माचपरिवर्तन और भगपरिवर्तन ऐसे संसारके पांच भेद हैं (इसका आगे ग्रंथकार वर्णन करेंगे,) ज्ञानावरणादि कर्म समूह संसारका कारण है, इससे आत्मका रक्षण करना यह गुप्ति है, 'संसारकारणादारमनो गोपनं गुप्तिः' यह गुप्तिका लक्षण है, 'मावे क्तिः' इग करने माव अर्थमें क्ति प्रत्यय जोड़ देनेसे गुप्ति यह शब्द सिद्ध हुआ है, अथवा अपादानकारकमें भी इस गुप्तिशब्दकी सिद्धि होती है, 'यतो गोपनं सा गुप्तिः' अर्थात् संसारकारणोंसे आत्मका घबान करना यह गुप्ति है, किना कर्ता फलकमें भी यह शब्द सिद्ध होता है, 'गोपयतीति गुप्तिः' आत्मा ही भंगारकारणोंसे अपनेको घबाना है अतः आत्मा ही गुप्ति है, यदां कर्तृकारकमें गुण धातुके अलो क्तिन् प्रत्यय जोड़ देनेसे गुप्ति शब्द सिद्ध होता है, इस रीतीसे गुप्तिशब्दके अर्थका विवेचन किया है.

गुप्तिका स्वरूप क्या है? उत्तर—'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' क्षीर, वसन और मनकी यथेष्ट प्रवृत्तिको रोकना यह गुप्ति है, सम्यग् यह विशेषण योगनिग्रहका है, यह महात्मा तपस्वी है ऐसा समझकर लोक मेंही पूजा करेंगे, मेरी सर्वत्र कीर्ति फैलेगी, ऐसी अपेक्षा मनमें धारण करके जो योगनिग्रह किया जाता है अथवा पारलौकिक सुखकी इच्छासे जो योगनिग्रह किया जाता है उसका निषेध करनेकेलिय सम्यग् यह विशेषण योगनिग्रह शब्दके पीछे जोड़ा है, उपर्युक्त इच्छाओंका त्याग करके जो गुप्ति पाली जाती है वह संवरका कारण होती है अन्यथा नहीं, ऐसा आचार्योंका उपदेश है.

मनोगुप्ति—राग और कोपसे अलिप्त ऐसे मानसिकज्ञानको मनोगुप्ति कहते हैं, ग्रंथकार भी आगे 'जा रागादिगिण्वी मणस्त लाणाहि ते मणोगुची' इस सूत्रमें मनोगुप्तीका लक्षण कहेंगे, मनमें जो रागादि विकार उत्पन्न होते हैं उनका नियमन करना मनोगुप्ति है ऐसा ज्ञानना चाहिये.

वचनगुप्ति—असत्य, मनकी दुर्गति करनेवाली और कठोर वाणोंको झुंहेसे न निकालना, तथा मिथ्यात्व और असंयम उत्पन्न करनेवाली वाणी झुंहेसे न निकालना वचनगुप्ति है.

कायगुप्ति—सावधान होकर देखनाल न की हुई जमीनपर तथा न झाडी हुई अग्रमुख जमीनपर गमन करना, उससे वस्तु उड़ा लेना, रखना, सोना बैठना इत्यादि क्रियाओं का त्याग करना यह कायगुप्ति है अथवा शरीरपरसे ममत्व छोड़ना—अर्थात् कायोत्सर्ग करना यह भी कायगुप्ति है. ये तीनों गुप्तियां भी चारित्रविनय हैं.

समिति—प्राणिओंको पीडा न होवे ऐसा विचार करके दयाभावसे अपनी सर्व प्रवृत्ति जो करता है यह साधु समित्विचारक माना जाता है. 'प्राणिपीडापरिहारादरुतः सम्पगमनं प्रवृत्तिः समितिः' यह समितीका लक्षण है. इस लक्षणमें जो समितिका सम्पक् यह विशेषण है उसका भाव ऐसा है—जीवोंके भेद और उनके स्वरूप के ज्ञानके साथ श्रद्धान् गुण सहित जो पदार्थ उठाना, रखना, गमन करना, बोलना इत्यादिक प्रवृत्ति की जाती है वही सम्पक् है. ईर्ष्यासमिति, भाषासमिति, प्रणामसमिति, आदाननिक्षेपसमिति और एषणासमिति ऐसी पाँच समितियां हैं.

शंका—ईर्ष्यादिसमितिओंकी वागुप्ति और कायगुप्ति इन दोनोंसे कुछ विशेषता नहीं है. अतः दोनोंको अलग अलग दिखाना व्यर्थ है. प्राणिओंको पीडा करनेवाली प्रवृत्तिओंका त्याग करना यह कायगुप्ति है. और ईर्ष्यादि समितिओंमें भी प्राणिपीडा करनेवाली देह प्रवृत्तियां त्यागी जाती हैं. अतः दोनोंमें अविशेषता ही मात्तम होता है.

उत्तर—गुप्तिचां निवृत्तिरूप होती है और प्रवृत्तिरूप क्रियाओंको समिति कहते हैं ऐसा दोनोंमें विशेष है. प्राणिपीडापरिहारपूर्वक गमन करना, बोलना, आहार लेना, कोई चीज उठाना, रखना मलमूत्र त्यागना इन सब क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना समिति है. इस प्रकार चारित्र विनय संक्षेपसे समझलेना चाहिये.

शंका—इंद्रिया और कर्मायोंका अभिधान मनोगुप्तिरूप ही है इसलिये उनका पृथक् कथन क्यों किया है ?

उत्तर—वचनगुप्ति और कायगुप्ति इनका ही गुप्तिरूपसे ग्रहण किया है ऐसा समझो. अथवा रागेद्वेष, मिथ्यात्व वगैरह अशुभ परिणामोंका त्याग करना यह मनोगुप्ति है. यह सामान्य है और इंद्रिय कर्मायोंकी तरफ आत्माका झुकाव न होना अर्थात् इंद्रियकर्मायरूपपरिणति आत्माकी न होना यह उसका विशेष है. सामान्यने विशेष सर्वेया भिन्न नहीं है. कर्मचिद्धिज्ञ है. अतः यहां शुनरुचिदोष नहीं है. अर्थात् मनोगुप्ति

यदि इंद्रियकषयापरिणति संबंधा समानरूप होती तो यहां एक ही विषय दुहराया जानेसे पुनरुक्ति दोष आता परंतु सामान्य और विशेषतासे यहां वह दोष नहीं है. मनोगुणति यहां सामान्यरूप है और इंद्रियकषयापरिणति विशेषरूप है अतः पुनरुक्ति दोष यहां नहीं है.

इंद्रियकषयापरिणति विशेषात्मक होनेसे मनोगुणविषय अन्तर्भूत होती है तथापि उसको भिन्नरूपतया दिखानेका प्रयोजन यह है कि, चारित्रिका निर्दोष पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले इंद्रियविषय और कषयापरिणति इतका रक्षण करें.

शंका—चारित्रिके तेरा प्रकार है—पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुण. समिति और गुण भी चारित्रात्मक ही है अतः उनको चारित्राधिकार कहते हैं. परंतु समिति और गुणको आप यहां चारित्रिके भिन्न दिखाने हैं. क्या यह युक्ति संगत है ?

उत्तर—आचार्याने अन्य ग्रंथोंमें पांच महाव्रतोंको ही चारित्रि कहा है. गुण और समिति ये महाव्रतरूप चारित्रिके परिकर है ऐसा इस ग्रंथकारका अभिप्राय है. अन्य आचार्योंने इस विषयमें ऐसा कहा है “ कर्मदान निमित्तक्रियाम्यथ विरतिरिहिसादिभेदेन पंचाप्रकारा गुणिसमितिर्विस्तारसंश्लेषो भवति ” मत, वचन और शरीर की क्रिया ही कर्मप्राण करनेमें निमित्त है. इस क्रियासे विरक्त होना चारित्रि है. चारित्रिके अहिंसा, सत्य, अर्चोय, इत्यादिरूपसे पांच भेद हैं. यह संक्षेपरूप चारित्रि है. और गुण समिति इस भेदसे वह विस्ताररूप है.

इस चारित्रिविनयकी स्थिरता पचीस भावनाओंसे होती है. ‘ तत्स्येयोधं भावनाः पंच पंच ’ अर्थात् प्रत्येक व्रतकी स्थिरता होने परदर्थ पांच पांच भावनाएं आचार्याने कही है.

पणिघाणं पि य दुविहं इंद्रिय जोहंदिद्यं च जोषव्वं ॥

सहदि इंद्रियं पुण कोवाहंयं भवे इदरं ॥ ११६ ॥

प्रणिधानं हि वा प्रोक्तमिन्द्रियाभिन्द्रियाश्रयम् ॥

शब्दादिविषयं पूर्वं परं भानाविगोचरम् ॥ ११७ ॥

सदस्वरूपगवि फासे य मणोहरे य इयरे य ॥
जं रागदोसगमणं पंचविहं ह्योदि पणिधानं ॥ ११७ ॥

उक्तं शब्दे रसे रूपे स्पर्शे गंधे शुभेऽशुभे ॥
रागद्वेषविधानं यत्तदायं प्रणिधानकम् ॥ ११८ ॥

णोऽद्वियपणिधानं कोद्यो माणो तद्येव माया य ॥
लोभो य णोक्तसाया मणपणिधानं तु तं वज्जे ॥ ११८ ॥

मानमायामदक्रोधलोभमोहादिकल्पनम् ॥
अर्निद्रियाश्रयं ज्ञेयं प्रणिधानमनेकधा ॥ ११९ ॥

इंद्रियमनःप्रणिधानपरिहारद्वारेण चारित्रविनयं त्रपंचविधं भाषात्रयमाह—
मूलात्—प्रणिधानं आत्मनः परिणामोऽत्र मंद्रियादिनिरोधः । सददि—मनोहासमनोऽशब्दाद्विषयरागद्वेष-
परिणतिः ।

मूलात्—पंचविधं—ओत्रादीनामिष्टादिशब्दाद्विषयभेदेनात् ।

मूलात्—णोक्तसाया हास्यत्यरातिशोकभयजुगुप्साकीवेदबुद्धिदुर्गुणसकचेयाः । तं तद्वद्विषयमैत्रियिकमानसं क
प्रणिधानं । वज्जे वर्जयेत् । चारित्रविनयार्थंति ज्ञेयः । एतदपि भाषात्रयं दीकाकारो नेच्छति ॥

इंद्रिय और मन वश करनेसे चारित्रविनय होता है. इस चारित्रविनयका तीन भाषाओंमें आचार्य
वर्णन करते हैं—

अर्थ— प्रणिधानकें इंद्रियप्रणिधान और मोक्षेन्द्रियप्रणिधान ऐसे दो भेद हैं. आठ स्पर्श, पांच रस,
दो गंध, पांच वर्ण और शब्द ये दृष्ट और अनिष्ट ऐसे दो प्रकारके हैं. इनसे आत्मा में रागद्वेषकी उत्पत्ति होती
है. इसको इंद्रियप्रणिधान कहते हैं. स्पर्शेन्द्रियप्रणिधान, रसनेन्द्रियप्रणिधान, घ्राणेन्द्रियप्रणिधान, चक्षुर्निद्रिय-
प्रणिधान, और श्रोत्रेन्द्रियप्रणिधान ऐसे पांच भेद हैं.

क्रोध मान, माया-कषट, लोभ, हास्य, रति-उत्सुकता, अरति-तिरस्कार, शोक, मय, जुगुप्सा—अन्यके

दीप प्रकट करना व अपने दीप छिपाना, स्त्रीवेद-पुलगाभिलाषा, पुरुषवेद-स्त्रीक्री अभिलाषा होना, नपुंसकवेद-दोनो-के साथ रमण करनेकी इच्छा होना, इन सर्व मनके परिणामको नोईद्विष ग्रणिधान कहते हैं. चारित्रविनयेच्छु मुनिराल इन दो ग्रणिधानों का त्याग करते हैं. इन दो ग्रणिधानोंको बिन्द्वेति जीता है उनको चारित्रविनयका ग्रिप्र लाभ होता है. टीकाकार अपराधित्युरि उपर्युक्त तीन गथाओं को द्वेषक समझते हैं.

तयोन्निरूपथार्थ गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सद्भाए ॥

आवासयाणमुक्खिदाण अपरिहाणी अनुस्सेओ ॥ ११६ ॥

परीपइसहिण्णुत्वं अट्ठोत्तरगुणोयमः ॥

योग्यावदयकसंयधे हान्युत्सेधनिराकृतिः ॥ ११७ ॥

विजयोक्था—सम्बन्धशेनशानाभ्यामुत्तरकात्मनाधियासंयमः उत्तरगुणसाधनोच्यते । न हि धृष्टानं शनं चांतरेण संयमः प्रयत्नते । अजानता अज्ञानरहितस्य वाऽसंयमपरिहारो न संभाव्यते । तेनायमर्थः—संयमोद्योततपसो निर्जरोहेतुता सति संयमे, नान्यथेति तपसः संयमः परिकटः । तथा चारुः 'संजमदीयं च तवं जो कुणइ गिरत्थयं कुणइ' इति । सम्मं सम्यक् । संक्करों शैम्यं चांतरेण । अधियासणं सहनं सुपादेः ।

अशानाभयमोष्यैवृत्तिपरिसंख्योभेषु क्षुत्तृदृजनिर्देयदत्ता धन्याकुल्ला, कथमिदमुद्धर्मातीति वा अदीनता । भक्षणमन्योनंतसोऽप्रणिधानं, अस्मि पित्रामीति वा मकरकथापरित्यागः, वत्कथननादरः इतस्तत्तथापरित्यक्तं । धुत्था दृपा वा वाचितोऽस्मोति एते वक्तव्ये सहनं, अथवा भोजनदिषसे गोवाधा अकरणं । अतोऽस्त्युपायसेन रुसं मोषट्ठं न शक्नो-मि । क्षीरधृतताम्ररूपिकं दातव्यमिति वकनेन यांचाणा अकरणं । मनसा वा वदीदं लभ्येत भद्रं स्यात् इति वाऽप्रार्थना । कायसंशय वा क्षीरसद्विकनेऽद्विस्तारमग्नमुत्ता, । शीतकृत्सायाहारदानं वा अकुपितानमता । अलामेऽपि लामादलामो मे परं तपोवृद्धिरिति संकल्पेनालाभपरीपहसहनं वा । अथवा लौकिकार्थं धर्मस्थानां वा स्तकारपुरस्कारकरणे तपसि मद्धति वर्तमानोऽप्यहमेतर्पां न पूजितः इति कोपसंकलशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीपहसहनं वा ।

रसपरित्यागं इत्यतः रसवदाहारकथावर्धेनोपवायमानतदादुरनिवारणं रसपरित्यागजातान्नरीरक्षतापद्धमा वा सहनं । आतापयोगचारिणो धर्मोपनिपाते धर्मोन्मिच्छसिचता तदातीभारवस्तुषु अवादर्थ सहनं । जनपिधिकेदेशे विनातः पिशाचव्यालभृन्गायबलोक्ताविलम्बभीतिव्युदासोऽनतिविजयश्च सहनं । ४. प्रायश्चित्तयात्वरतोऽपि मद्धिदं दत्तं गुरुणा दत्तापलं ममानिरुध्येति कोपकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितभमेण वा अस्मिन्नपुत्रतासहनं । ध्यानविनये वर्तमानस्य

अ अर्थ पाठः कपुलके नास्ति । सधुस्तकदुहत्त धंयोविजोऽत्र ।

क्षेत्रकालशुद्धिकरणे नमैव नियोजयति इति कोपनिरासो या, तद्वत्प्रत्यये वा असंश्लेषादस्य सुद्धनं । दर्शनिविनये अभ्युपगतस्य सन्मार्गात्मव्ययानादस्य स्थिरीकरणे माहानयासः, स्वचेतसोपि क्लृप्तापादनमतिदुष्करं किमंग पुनः परस्येत्यसंकरः सहनं । पुरस्कृतचारित्रयिनयस्य र्वोदिशमितयो दुष्करः । जीवनिक्कयाकुले जगति क्रियतः परितुल्यं शक्यते ? निपुणतरं प्रतिपद्व्यासं जीवायलोफने तत्परिहृतौ च क्रियद्वन्तुं शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं बाधन्ते वरामातपादयः । नयकोटिपुण्ड्रा मिश्रा क लक्ष्यते परेषु कृतवता येति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनयः । तपोविनयमुपगतस्यानशनादितपोऽनुष्ठानातिशयस्य मय स्वल्पमसंयमं अमासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जातं तप एवोन्मूलयतीति असंकरणं सहनं । असह्यद्व्युत्थानं, अनुगमनं, प्रेषणकरणं, उपकरणशोधनादिकं वा कः कर्तुं शक्नोति प्रतिविनमित्यनभिर्संभिरुपचारविनयसहनं ।

सदु य श्रद्धा च । क तपसि । तपसा संपाद्यमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्धया । तपो हि प्रत्यग्रं कर्म संवृणोति, चिरार्जितानां कर्मणां निरंतरमाणावयति, इंद्रचक्रांछनादिसंपदोऽप्यनयति । समीचीनस्य तपसोऽस्त्राभेदेव जननमरणावर्तसहनं, अशुष्काकुले भवांभोचौ पर्यटनं ममासीद्विभयिष्यति इति तपस्यजुरागः कार्यः ।

आयासगणं भावस्वकानां । न यतो अवलोक्यते अयत्तस्तस्मिन्मायासंगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकाविष्वेवान् शायो यतीते । श्याधिवीर्यव्याधिना श्याकुलो भण्यते अयचाः परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं कर्मेति । यथा आशु गच्छतीत्यथ इति स्फुरत्पत्तावपि न व्याप्तावौ यतीते अयशान्दोऽपि तु यत्सिद्धियशात् तुरग एव । एयमिहापि अवश्यं यत्किञ्चन कर्म इतस्ततः परावृत्तिरामेद्वनं, पूतकरणं वा न तदभ्युत्थे ॥ अयथा अवासकानां इत्ययमर्थः याथास्थयान्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, यतुर्विदित्तयो, यदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्गं, इत्यमीषा ।

तत्र सामायिकं नाम यतुर्विद्यं नामस्थापनाद्वयमायमेवेन । निमित्तरित्येका कस्यचिज्जीवदेरप्यार्जिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावधानिबुत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यस्यकारसादस्यास्यैवेवमिति स्याप्यते यच्चिप्रुत्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्वयसामायिकं नाम श्रुतस्यायं सामायिकं नाम ग्रंथः, सध्वंशो य सामायिकाप्यात्मपरिणामप्रत्ययभासः प्रत्ययरूपेण सांग्रहमपरिणतः आत्मा । नो आगमद्वयसामायिकं नाम यच्चिचिक्लपं भायकरीरभाषितद्वयातिरिक्तमेवेन । सामायिकस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकरणं, आत्मेव शरीरमंतरेण तस्याभावात् । यस्य हि भावाभावी निवोगतौ यदुक्तरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । ततः प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिभालोचनं सामायिकशब्दव्याख्यं भवति । चारित्रमोहनीयवयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्संसायचयोगनिबुत्तिपरिणामः सोऽभिधीयते याविसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपनामकं नो आगमद्वयं तद्व्यतिरिक्तकर्म । सामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं । नो आगमभाषसामायिकं नाम सर्वसावचयोगनिबुत्तिपरिणामः । अयमिह युहीतः ।

यतुर्विदित्तसंस्थानां तीर्थप्रतामन्य भारते प्रयुक्तानां शृपभादीनां दिनवर्त्यविशुषधानयद्यमनुरसरता यतुर्विदित्तपुनपशनीयया नो आगमभाषवत्तद्विदित्तव ३८ भाषते ।

चवंता नाम रत्नप्रवसन्नविधानां गतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां मुणतिशायं विहाय ध्रुवपुरास्त्रेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन क्षिप्रिषे विनये प्रवृत्तिः । प्रत्येकं तयोऽनेकेष्वेवता । कर्तव्यं केन, कस्य, कदा, कसिन्कतिविरागिति । अभ्युत्थानं केनोपदिष्टं, किंवा फलदुष्टिरस्य कर्तव्यं । पूर्वमेव विनया कर्तव्यतयोपदिष्टः सर्वेजिते कर्मभूमिषु सदा मानकयाय-संगः ॥ गुरुजने वधुमानं, तीर्थंकराणां आश्रमसंपादनं, युतधर्मोपाध्यायानिवाया यावदुद्धिराजवं, तांष्टि च फलमयेष्य तेन लक्षिते । अयानिवा, संयिद्धेन, धनलतेनायेनलुगदकारिणायेना, पत्युमप्रकाशानोचतेन संपातसलेन । असंयतासंयतस्य या नाभ्युत्थानं कुप्यार, पाद्वंश्यंजकस्य या । त्वज्जने तपसि च नित्यमभ्युत्थानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात् । सुखशील-जनेऽभ्युत्थानं कर्मचंचिमिसे प्रमादस्यापनोपेष्टलकारणात् । संविज्ञानं प्रति क्रियमाणमभ्युत्थानं निर्जरागिमितं विरति-स्थायनोपेष्टलकारणात् । वाचनमदुयोयं वा सिध्यतः अवमरलक्ष्यस्याभ्युत्थानं तन्मूलेऽप्ययनं कुर्वेद्भिः सर्वैरेव । पक्षेतेः, कायश्चित्तः, भिद्यतः, चेत्याल, गुल्लकागात्, प्रामातपदा आगमनकालेऽभ्युत्थानं । गुरुजनस्य यदा भिद्यमान-ति भिद्यमान्य प्रविशति या लदा लदा अभ्युत्थानं कार्यं । अनया विद्या ययानमभितरन्त्यदुर्गतव्यम् ।

गुरुजने अहानादै वारसावसमेय य ।

अदुस्तिरं लिखुवं क लिदिकमं पर्वज ॥

इत्यादिकः प्रयोगविनयः ।

प्रातिकमणे प्रतिनिवृत्तिः षोडा मिपते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभाषयिकस्येन । अयौग्वनानामनु-कारणे नामप्रतिकमणे । तदि वेतरिण सामेणी इत्यादिकप्रयोगे नाम । आद्याभासानामर्चार्त्ता, प्रसस्यावरणार्त्ता रूपानि, क्षिप्रिणामुत्कीर्णार्त्ता वा स्थापनाशब्देनैह गृह्यते । तत्रान्नाभासमितिभायां पुरःस्थितायां यदभिमुजतया कृतांजलिमुद्रता, विरोधमिति, गंधाविमिरभ्यर्चनं च न कर्तव्यम् । एवं सा स्थापना परिहृता भवति । प्रसस्यावरस्थापनानामिनाशनं, धर्मज्ञे, अताजने या परिहारः प्रतिकमणः । यास्तुक्षेत्रादीनां इशमकारणार्त्तां यदभ्युत्थानार्त्तां वसतीनां, उपक-पानार्त्ता, भिक्षाणां च परिहारः, अयोध्यानां काशारादीनां, शूखदंश्यं च कारणानां संकेतैरेतानां वा निरसने प्रव्यप्रतिकमणः । उदककर्मप्रस्थापयतिचित्तैषु क्षेत्रेषु धमनाविगुजनं क्षेत्रप्रतिकमणः । यस्मिन्वा क्षेत्रे पक्षतो रत्नत्रयद्वानिर्भवति तस्य वा परिहारः, तस्य किं । हानतयोपेष्टलकारणात् । राशिस्तंशतयस्वाध्यायपक्षकालेषु धमनागमनादिव्यापाप-कारणात् कालप्रतिकमणः । कालस्य पुष्परिहायेत्यात्कालाधिकरणव्यापारविशेषाः कालस्यहचर्योत्कालशब्देन गृहीताः । मिथ्यात्वमसंयमः, क्षयायः, रगतः, द्वेषः, निदानं, धर्मैरेद्विमित्यादयोऽभुमपरिणामाः, पुण्यास्यभूतास्य शुभपरिणामाः इदं भावशब्देन गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिकमण इति केर्णाविहचारणं । चतुर्विधमित्यपरे । निमित्तनिर्णयं कस्य-चिन्नामत्वेन निपुज्यमानं भवितुं भवितुमिच्छान नामप्रतिकमणं ॥ अभुमपरिणामानां विविष्टजीवद्वयानुगतादीराकार-

१ अदि वारिण सामिणी इति उपप्लके ।

सादृश्योपेक्षया विचारित्वं स्थापनाप्रतिक्रमणं ॥ प्रमाणनयानिक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकत्वरूपज्ञानुपयुक्तः प्रत्ययप्रातिनमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते । नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं त्रिविधं । सादृशरीरत्मावित् द्वयप्रतिरोधः । यथाह्मा कारणं प्रतिक्रमणपर्यायस्य, तथा उदीयमपि शरीरं त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दव्याख्यं भवति । चारित्र्यमोहः नो आगमद्रव्यस्योपशमसंनिधौ भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणं । क्षयोपशमायस्यामुपगतः चारित्र्यमोहः नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमणं । मिच्छाणाण-
मिच्छावसंश्लेषमिच्छाचारित्वावो पश्चिन्नोत्पत्तिरित्येवं स्वरूपज्ञानं । अणुभरणिणामदोषमवबुध्य शब्दाय तत्प्रतिपक्षपरि-
णामवृत्तिर्नो आगमभावप्रतिक्रमणं ॥

सामाधिक्यस्य प्रतिक्रमणस्य च को भेदः ? साधययोगनिवृत्तिः सामाधिक्यं । प्रतिक्रमणमपि अणुभवनोपाक्रान्ति-
वृत्तिरेव तत्कथं पञ्चावयवकल्पस्य ?

अप्रोच्यते—तस्यै सावज्जोर्णं पञ्चपरामीति वचनाद्विस्मयभेदमनुपाशय सामान्येन सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिः
सामाधिक्यं । विस्मयभेदेन साधययोगादिकल्पं हृत्या सतो निवृत्तिः प्रतिक्रमणं । तथा च सूत्रं—

“ मिच्छत्तपडिक्रमणं, तद्वैष असंज्ञमपडिक्रमणं, कसापटु पडिक्रमणं, जोगेतु य अपसरोयंतु ” इति वचनादि-
ति केचित्परिहरास्ते ।

इदं त्वन्यायं प्रतिविधानं । योगशब्देन पर्यपरिणाम उच्यते । स च शीघ्रान्तरायक्षयोपशमजनितत्वात्
क्षयोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरदुष्कर्मनिदाननिमित्तव्योयरूपेण अपरिणतिरात्मनः सामाधिक्यं । मिथ्यात्वात्संयमकथा-
पाक्ष इतिनचारिजमोहोद्वेजा बौद्धिकाः । मिथ्यात्वं वरदाश्रजानरूपं, असंयमो हि हिंसाविरूपः । क्रोधादयस्तु परस्परतो
मिथ्यात्वात्संयमकालुषममस्तिवैलक्षण्यरूपाः । ये मिश्रहेतुस्वरूपास्ते कैम्यमाणदन्ते यथा शास्त्रियगोपूमादिधान्यं ।
मिश्रहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वात्संयमकथायाः । तैभ्यो विरतिव्यावृत्तिः प्रतिक्रमणं । साधययोगमात्रनिवृत्तिः सामाधिक्यमिति
भेदो भट्टाननयोः । भेदमेवाधिश्रित्याभीष्टं परिणामानां ‘ चतुष्टयवयवणं वैधो इति सूत्रमवस्थितं । अन्यथा योगविरुद्धत्वे
मिथ्यात्वादर्शनां चतुःसंख्या न न्याय्या योगेन सद् ।

प्रत्याख्यानं नाम अनागतकालविरपयां क्रियां न करिष्यामि इति संकल्पः । तच्च ज्ञानस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल
भावविभक्तयेत यद्विधे । अयोगं नम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यानं । आत्माभासानां प्रतिमा न पूजयिष्या-
मीति, योगत्रयेण वसस्यापरस्थापनापीड्यां न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं । अथवा अर्हद्वीनां
स्थापनां न चिन्तयिष्यामि, भैवानादरं तन्न करिष्यामि इति वा । अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न प्रद्वीप्यामीति चिन्ता-
प्रबोधो द्रव्यप्रत्याख्यानं । अयोग्यामि यस्मिन्प्रबोद्धमनि, संयमद्वानि संक्षेपे वा संपादयंति यादि क्षेत्राणि तानि त्यस्यामि
इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं । कालस्य दुःपरिहर्तव्यत्वात् कालसाध्यायां क्रियायां परिहृतयां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति
प्राज्ञः । तेन संख्याकालादिष्वप्यन्यत्रमनधिकं न संपादयिष्यामीति चेत्तः कालप्रत्याख्यानं । भावोऽणुभरणिणामः तं न

नियतदित्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं । तद्विधिवं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति । ननु न मूलगुणा यतानि तेषां प्रत्याख्यायि विरक्तो भविष्यत्कालविवक्षेयं स संवत्सरार्थेना कार्यः, संवत्सरार्थमवश्यमनुशीयते इति उत्तरगुणानां कारणत्वात् मूलगुणव्यपदेशो यतेषु यति । मूलगुणशब्दः मूलगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तत् इति । प्रतीचर-
कालभावितायाद्वयशनादिकं उत्तरगुण इति दृश्यते । उत्तरगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तद्विति उत्तरगुणप्रत्याख्यानं । तत्र संवत्सराणां जीवितायाधिकं मूलगुणप्रत्याख्यानं । संवत्सराणां अनुप्रदानि मूलगुणवत्त्व्यपदेशमात्रि भवेति तेषां द्विविधं प्रत्याख्यानं अल्पकारिणं, जीवितायाधिकं चेति । पक्षमासपञ्चमासादिविरोधेन भविष्यत्कालं सावधिकं कृत्या तत्र स्थूल-
हिसानुवत्त्वैवावधारितवाचाचारित्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालम् ।

आमरणमवधिं कृत्वा न करित्यामि स्थूलार्थसाक्षीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितायाधिकं च । उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संवत्सराणां जीवितायाधिकं अल्पकारिणं अल्पकालिकं जीवितायाधिकं वा । परिशुद्धीतसंयमस्य सामायिकादिकं अमशानादिकं च यतंते इति उत्तरगुणस्य सागराधिकारित्वस्य । भविष्यत्कालावधारणशानादित्यागात्मकत्वात्मव्यपदेशनार्थं । सति साम्यस्यैवेतदुभयं प्रत्याख्यानं जीयनिर्णायं हिसादिस्वरूपं च कृत्या भवत्येव देशतो वा हिसादिशिरतिर्यतेते प्रते । तथा चोक्तं— 'निःशब्दो यती' इति ।

मिथ्यादर्शनदालं, भावाशब्दं, विद्वान्मातृयं चेति त्रिविधं शब्दं तेभ्यो निःशब्दः निःशब्दः । सावधारणं केवं निःशब्दं एव यतीति । तेन सशब्दमतिता निरस्ता भवति । न च असति शब्दो मिथ्यात्वस्य निश्चयः । न च जीवापार्थपरिद्वान मन्तेरेण धर्मात्स्यास्ति संभव इति ज्ञानदर्शनवत् एव प्रतीता सूत्रमन्तेरेण सूशता । तथाचस्वकेऽप्युक्तम्—
“पंचवदामि जदीनं अनुवदामि च देशचिरात्पञ्च”
“न दुसम्मसेण विणा तो सम्मसे पटमदण्ण” ॥

एति हिसादिशब्दवर्णपरं भावितमिति क्रियाः पञ्चापि सराजिभोजनाः प्रत्याख्ये यतिस्त्रिभा मनोवाङ्माययिकत्वेन कृतकारितानुमतेर्यावज्जीवं ।

सम्यग्दर्शिरूपमारी मूलगुणं उत्तरगुणं वा स्वराधत्वा गृणहति परिमितकालं पारमर्जीयं वा । आत्मना प्रा-
कृतं हिसादिकं वा दुष्टं कृतं, वा दुष्टं संकल्पितं । अथो वा हिसादिशब्दवर्णपरं भावितं इति निदागद्वाभ्यां हूपयन्वते-
मानं चाध्वयं कृतं क्रियमाणसंयमसंयमं न करित्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति ॥

लगापरिणां चिरतिपरिणामाधिकारो निरूप्यते । स्थूलरूपप्रमाणविषयादिकं कृतकारितानुमत्तविकल्पात्रिविक-
ल्पकं मनोवाङ्माययिकत्वेन सज्जते । मनसा स्थूलरूपप्रमाणविषयादिकं न करोमि, तथा च वसता कल्पेनेति त्रिविधं कृतम् ।
मनसा स्थूलरूपं प्राणविषयादिकं च कारयामि, तथा मनसा स्थूलरूपप्रमाणविषयादिकं शानुजानामि, तथा वचसा कायेन
चेति त्रिविधं कारितानुमननं च ॥ एवं त्रिविधं स्थूलरूपप्रमाणविषयादिकं स्वस्मृमशकोऽप्यारी ।

१ पाठोऽयं अपुस्तके नास्ति सपुस्तकसंस्मृतोऽयम् ।

तथा मनोवाग्व्यां स्पृष्टकृतग्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पान्निविचं कर्तुमशक्नो मनन्या न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि । यच्चक्षा क्षरोमि, न कारयामि नानुजानामि इति ॥ कायेन कृतकारितानुमतविकल्पान् हिंसादौघ न समर्थो विद्वाहं तथा च सुदे—

न नु त्रिविधं त्रिविधेण य द्रुविधेष्वविधेण वापि त्रिमेवञ्ज इति ॥

कथं तर्ह्यगदी विरतिमुपैति ॥ अत्रोच्यते ॥ कृतकारित्तविरूपयावृद्धिमहारं हिंसादिकं मनोवाकायैस्त्वजति ॥ याथा कालेन या हिंसादिपर्ययं कृतकारितं स्वजति ॥ कार्यय एकेन ॥ इतं कारितं त्यजति ॥ अत एवोक्तं 'दुर्विधं पुण तिविधेण य दुर्विधेऽनविधेण वा विरमेज्ज' इति । अथवा हिंसायाः स्वयं करणं एकं मनोवाकायैस्त्वजति ॥ नादं मनसा याथा कोशेन स्पृष्टकृतदागणतिपातनादिकं पंचकं करोमीति ॥ अग्निसंस्थिपूर्वकं विरमणं करोति । याज्ञायग्व्यां वा स्वयं करणं त्यजति कथंनैकेन वा ॥ तथा चोक्तम्—'एकविधं तिविधेण यापि विरमेज्ज' ॥ एतमेतं व्रतविरूपयाऽपिवाप्यत्तालाधिपयत्रयापुत्रययानाः प्रत्यक्षान्तविरूपयाः भवन्तीत्ययमोपपत्त्यसः ॥

कायोत्सर्गो निरूप्यते—कायः क्षीरं तस्य उत्सर्गस्यागः उपलभ्यधिष्ठानेन्द्रियायययक्तः कर्मनिर्पतितः पुत्रल-
प्रभवविशेष औदार्यकारण्य इह कायशब्देन युजीतः । इतरत्र उत्सर्गस्यासंभवात् यक्ष्यमाणस्य ।

ननु च भाषुषा नित्यशोगल्लेन आत्मा शरीरमुत्पृजति मान्वादा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

अनुचितमनुकशोकितपीडन्याच, तथा उचितत्वं, अपादित्यं, उर्यदत्तं, असारत्वं, दुःप्रवृत्तत्वं, शरीरगतममतादितुक्रमनंत-
संसारपरिज्वलनं इत्यादिकान्तं प्रार्थय देवाभेदं मम नाहमस्येति संकल्पयतस्तदादराभावात्कायस्य त्यागो यदत एव । यथा
मणिभ्योऽपि श्रियतना रुतापटाधावद्विषता शैकस्त्रिभेदिरैव तत्सामनुरागाभावात्तन्मेभेदं भाष्ययापृष्टिमपेक्ष
वय मिहासि । किं न कायापायसंभियतेऽपि अणयनिराकरणाभिधारायाभावात् । यो यदपायनिराकरणादुत्सकस्तेन
तत्परित्यक्तं यथा यत्सनादिकं पठितं । शरीरापथयनिराकरणानुत्सुकञ्च यतिस्माधुन्यते कायत्यागः ।
तत्र शरीरमिति शब्दः कर्माणि ॥ १ ॥

सत्र क्षरीतनिःस्पृहः, स्थाणुरियोऽयकायः, प्रलंघितमुजः, प्रशस्तार्थनपरिणितोऽनुप्रमितान्तकार्यः, परीगद्यनुप्र
सर्गाब्ध सहमानः, विष्टविर्जन्तुके कमपायामिभलाभी विषिके वेष्टे ।

अन्यमुद्भूतः कायात्सर्गस्य लक्षणः, यन्मुत्पद्यः । अतिचारनिवृत्तये कार्यात्सर्गो यदुपकारा भवन्ति । पात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंस्कारादयमा यदुपकारा भवन्ति । रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंस्कारादिफाल्गुनोत्तरातिचारमेदो-
क्षया । सायदेवउच्छ्वास शतकं, त्र्युपसि पंचाशत्, परे त्रिचतस्रि, चतुर्षु मासिषु यदुपकारानि, पंचमासनि संस्कारे उ-
च्छ्वासानां । त्र्युपसि प्राणिवधादिषु पंचस्त्रीचारेषु अष्टमोच्छ्वासमासः फालः कायात्सर्गः । कायात्सर्गं कृते यदि
शक्यते उच्छ्वासास्य स्वबलं या परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिकं स्थातव्यं ।
अत्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंस्कारादयमा यदुपकारा भवन्ति । रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंस्कारादिफाल्गुनोत्तरातिचारमेदो-
क्षया । सायदेवउच्छ्वास शतकं, त्र्युपसि पंचाशत्, परे त्रिचतस्रि, चतुर्षु मासिषु यदुपकारानि, पंचमासनि संस्कारे उ-
च्छ्वासानां । त्र्युपसि प्राणिवधादिषु पंचस्त्रीचारेषु अष्टमोच्छ्वासमासः फालः कायात्सर्गः । कायात्सर्गं कृते यदि
शक्यते उच्छ्वासास्य स्वबलं या परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिकं स्थातव्यं ।

नतो यस्मिन्निष्ठितस्य काजोत्सवः उत्तियेत्येतो नाम । द्रव्यमाणेष्वप्यावसमन्वितयानुत्पादनमकंवाः इत्येतोरिष्टत शब्दे-

नोच्येत । तत्र द्रव्योत्पत्तये शरीरं स्थाणुवद्द्रव्यं अविवक्ष्यप्रस्थानं । ध्वेयैक्यस्तुनिष्ठता ज्ञानामयस्य भावस्य भावोत्पत्तये । अतरेन्द्रियाः परिणते यस्मिन्नास्ति तस्य उत्पत्तिरिति पण्यो नाम कायोत्सर्गः । शरीरोत्पत्त्यादुत्थितत्वं शुभपरिणामोद्भूतिरूपस्योत्पत्त्याव्यावृत्तिरिति पण्यो । अतः ध्वेयोत्पत्त्यावो गिन्ननिमित्तत्वाद्द्रव्योत्पत्त्यानासन्नयोः पक्षत्र परुद्धा । यस्यासीन एव धर्मशुद्ध्यान्तरिणित्युच्यते तस्य उत्पत्तिरिति पण्यो भवति परिणामोत्पत्त्यानास्मात्तुल्यानाम् । यस्तु निपण्योऽनुपपत्त्यान्तरस्य निपण्यनिपण्यकः । कावाद्भुवर्गविभक्त्याम्नां अतुल्यानाम् ।

ध्वेयसिद्ध्यातीवार्त्तत्वं रत्नद्रव्यमर्त्तं मनसा विवृण्वद्दं मया उष्टं कृतं प्रमादेनेति संविन्त्य गच्छादर्थं शुद्धे वा ध्याते प्रयत्नितव्यम् ।

कायोत्सर्गं प्रपञ्चः स्वानन्दोत्पत्तिरिहोत् । के ते इति चेदुच्यते । १. तुरग इव कुटीकृतपादेन भवस्यानाम् २. लोभोत्पत्त्यान्तरात्तुल्यानाम् ३. संभवराहालघुशरीरं कृत्वा स्वानं । ४. संभोगाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलम्ब-
शिरसा वायस्यानाम् । ५. लोभिताधस्तात्वा, स्तम्भगतवृद्ध्या वायस इव इहास्ततो नयनोद्भूतं कृत्वायस्यानाम् । ६. पालीना-
वपीडितमुपसह्य इव मुण्यालम्बे संपादयतोऽवस्थानं । ७. युगावष्टयवलीवर्द्ध इव शिरोऽधः पालयता । ८. कपित्थ-
फलप्रादीन् विनाशिकराजैः, संकुचिताशुक्षिपेकं वा कृत्वा ॥ ९. शिरश्चालनं कुर्वन् १० भूक इव हुंकारं संपाद्यावस्थानं
११ भूक इव नासिकया ध्वस्पर्शयता वा ॥ १२ अंगुलिस्फोटनं १३ भ्रूज्जननं वा कृत्वा १४ दायवयवूरि-
व स्वकीयेन देशावृण्वन्मुद्राणां १५ भ्रूज्जालास्फुरणं इवावस्थानं ॥ १६ पीताम्बुज इव परवयवगतशरीरं वा
मूलावधारणं इत्यमी दीपाः ॥

व्यायर्चितानामायस्यकानां अपरिहृण्णिहीनं कायां ॥ अनुत्सेगो अपि कोलाकट्यं च ।
ध्वेयविनयप्ररूपगाव गत्याद्वयमाह—

मूलाः—उच्यतुण्यवज्जामो श्रद्धानशानोत्तरकाष्ठमभित्वा दुष्टतुण्यः संयमः, तत्र उद्यमः । तपसो हि सति संयमे
निर्जराहेतुत्वं नात्ययेति वत्परिकरः संयमः । तथा बाहुः—“संयमहीनं च तवो जो कुपद् विरत्सर्वे कुणह” इति । सन्मं
तत्पद् संश्लेशदैव्याभ्यां विना । धर्मिणासन् सहनं ध्रुवादेशिति शेषः । सहा अद्या तपस्तुल्य इत्यर्थः । आवासाद्यानी
आवश्याकानां सामायिकचतुर्वर्गशक्तिस्तत्त्ववर्दनाप्रतिक्रमप्रत्याख्यानक्रान्त्योत्सर्गलक्षणानां अवसरकार्योणात् । उचियाण
उचिवानां, योगानां, योक्त्रनामित्यर्थः । अपरिहृण्णि अन्यतुला । अनुत्सेगो अनुत्सेकः, आधिक्येन करणं ।
तपका निरूपण करनेके लिये आगेकी दो गाथायें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—सत्यादर्शन और सम्पत्तज्ञानके अनंतरकालमें चारित्रिकी उत्पत्ति होती है इसलिये चारित्रिकी-संयम
को उच्यतुण्य कहते हैं. श्रद्धान और ज्ञानके विना संयम होता नहीं. जिसको ज्ञान नहीं है और जो श्रद्धानरहित है

वह असंयमका त्याग नहीं करता है। यहाँ इस विवेचनका यह अभिप्राय है कि, संयमका उद्योग करनेवाला तपश्चरण निर्जराका कारण होता है, अर्थात् संयमपूर्वक तप हो तो कर्मकी निर्जरा होती है अन्यथा नहीं होती है। इसलिये संयम तपका परिकर है। इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं “ संयमहीर्णं च तपो वो कुण्डं निरत्ययं कुण्ड ” संयमरहित तप जो व्यक्ति करता है वह व्यर्थ ही प्रयत्न करता है।

संयमका उद्योग करनेके लिये मनमें संकेंद्रण परिणामोंको उत्पन्न न करते हुए शुधादि वाष्पोंको सहना चाहिये। उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान इन तपोंको करते समय भूख प्यासकी वेदनासे मनमें व्याकुलता न होनी चाहिये। अथवा यह तपश्चरण में कैसा धारण करने ऐसी कायरता छोड़ देनी चाहिये। आहारके और पानके पदार्थोंमें मनको चलित न करना चाहिये। मैं यह पदार्थ भक्षण करूँगा यह पदार्थ पी लूँगा ऐसे मुहमें कथा न करें तथा उस कथाले अनादर करें। उपवाससे थका हुआ श्वर उधर लोटना छोड़दे। मैं शुधाम्ने पीडित हुआ हूँ, प्याससे मेरेको छाड़ ही रहा है ऐसा वचन न बोलें अथवा आहारके दिन याचना न करें।

मैं उपवाससे थक गया हूँ इसलिये यह रूखा भोजन मैं नहीं खा सकता हूँ। मेरेको दूध, घी, खाँड वगैरह पदार्थ आप देवें ऐसी वचनसे याचना नहीं करनी चाहिये। अथवा यदि यह पदार्थ मिले तो बहुत अच्छा होगा ऐसा मनमें भी विचार न लाना चाहिये। शरीरपर भी इस विचारका कुछ चिन्ह व्यक्त न होना चाहिये। जैसे दाता कीरादि पदार्थ देने लूँगा तो मुल हास्यसे मङ्गलित होना, थंडा और रूख आहार देना हो तो मुलपर कोप प्रगट होना। इस तरह शुधादिक परीपह सहन करने चाहिये।

आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी छायाकी अपेक्षा अलामसे ही मेरे तपकी वृद्धि होती है ऐसा मनमें विचार करता हुआ अलाम परीपह सहन करना चाहिये। लोकव्यवहारज्ञ और धार्मिक जन तप और तपस्विओंका बड़ा आदर करते हैं, मैं बड़ा कठिन तप करता हूँ तो भी ये लोक मेरा आदर करते नहीं हैं। वह विचार मनमें लाकर कोपसे संकेंद्रणपरिणामके वज्र न हो जाना चाहिये। अथवा सत्कारपुरस्कार परीपह सहन करना चाहिये।

रसका यदि परित्याग किया है तो रसयुक्त आहारकी कथाके तरफ़ अपने मनको न लगावे, रसयुक्त पदार्थका अपलोकन होनेसे उस विषयके आदरभावको दूर हटाना चाहिये। रसोंका त्याग करनेसे यदि देहमें दाह उत्पन्न हो तो सहन करना चाहिये।

आतापनयोग धारण करते समय व्यङ्गिणियों, स्वेदसे बहुत कष्ट होनेपर भी मन संकष्ट न होने देना चाहिये, और उनका प्रतीकार करनेवाले वस्तुओंमें आदर भी नहीं करे.

उदा लोगोका आना जाना नहीं है ऐसे एकान्तस्थानमें प्रवेष्ट किया हो और वहाँ पित्राच अथवा दुष्ट व्यामादि पशुओंका उपद्रव होनेपर भी मनमें भयभीत न होना चाहिये और अस्तिपरीषद् सहन करना चाहिये. प्रायश्चित्त आचरण करते समयमें भी गुरुने मेरे बलाचलका विचार न करके बड़ा प्रायश्चित्त दिया है ऐसा विचार कर मनमें क्रोध न उपजावे. प्रायश्चित्त करते समयमें होनेवाले छेदको सहकर संकष्ट परिणाम न होने दें.

प्राप्तविनयके कार्य में प्रवृत्त हुये भेरे को ही क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि करनेके लिये गुरु नियुक्त करते हैं. दूरगो को इस कार्यमें नहीं लगाते ऐसा विचार कर क्रोध नहीं करना चाहिये और ज्ञानविनयके कार्यमें अथ दूआ तो भी सहन करना चाहिये.

दर्शनविनयमें तत्पर रहनेवाले मुनिवर्यने सन्मार्गमें अष्ट हुए व्यक्तियों सन्मार्गमें पुनः स्थिर करना चाहिये. ऐसे कार्यमें महान् परिश्रम करने पड़ने पर भी वेद न मानना चाहिये. स्वतःका चित्त वक्रविचारयुक्त हुआ हो तो उसके भी मोक्ष मार्गपर लाना बड़ा दुष्कर कार्य है तो अन्य व्यक्तिको सन्मार्गमें स्थिर रखना क्या सुलभ है ? ऐसा मनमें विचार न करना चाहिये. अथाद् स्थिरीकरणकार्यमें होनेवाले परिश्रमको सहन करना अपना कर्तव्य ममसना चाहिये.

पारिविनयमें मदा ही तत्पर रहकर ईर्ष्यादिसमिवियां पालनी चाहिये. ये समितियां बड़ी दुष्कर हैं. जगमें सर्वत्र जीन भरे हैं अतः जीमदिसाका कैसे परिहार हो संकेता ? प्रत्येक पाँच रखते समय अच्छी तरहसे देख भाल करने पर भी जीवोंका दर्शन और उनका परिहार होना अशक्य है. इससे तो इष्टस्थान पर जाना ही न होगा. ईर्ष्यामितीने चलते समय घर्षव्री उष्णता, कंटादिक्रमे बाधाएँ होती हैं. ऐसे विचार मनमें लाकर संवेद्यपरिणाम नहीं पताना चाहिये.

झेमे दृष्टशुलभमें कनकवा गुण पाना दुर्लभ है जैसे ही नउ प्रकारसे विशुद्ध आहार पाना कठिन है. ऐसा मनमें कभी भी विचार न करे. यह मत्र चातित्रिनय है.

भेने तपोनिनय धारण किया है, जनशनादिकं तप करनेमें मैं दुयेया तत्पर रहता हूँ, अप्राप्तुरुक पानी

पीनेसे तथा अशुद्ध भिक्षा ग्रहण करनेसे जो पाप उत्पन्न होता है उसको भेरा तप भस्म कर डालेगा ऐसा मनमें संकल्प नहीं करना चाहिये.

धारवार उठना, गुरुओंके पीछे गमन करना, उनकी आज्ञा शिरोधारण करना, उपकरणोंको सीधना पोछना यौरे उपचारविनय है. ये कार्य दररोज करनेकी यह आपत् व्यर्थ ही पीछे लगी है. ऐसा मनमें विचार न करें. बड़े आनन्दसे उपचारविनयका पालन करें.

तपश्चरणमें श्रद्धा रखना यह भी तपोविनय है. तपश्चरणके द्वारा आत्मापर उपकार होता है यह अपने बुद्धिसे जानकर तपके उपर श्रद्धा करनी चाहिये. तपश्चरणसे नवीन कर्मका संवर होता है. और पूर्वकालमें बंधा हुआ कर्म निर्जीर्ण होकर आत्मासे छूट जाता है. तप जीवोंको इंद्रपदवी, चक्रवर्तिपद वंगरे लोकपूज्य पद अर्पण करता है. उत्कृष्ट तपके अलाभसे ही जीवोंको संसारसमुद्रमें जन्मभरण के आवर्तमें घूमना पड़ता है. दुःखोंसे भरे हुए इस भवसमुद्रमें तपके अभावसे ही मैंने अस्रण किया है और फलंगा. ऐसा विचार करके तपमें प्रेम करना चाहिये.

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और स्रयोत्सर्ग ऐसी छह आवश्यक क्रियायें हैं. ये क्रियायें शास्त्रमें जैसी कही हैं वैसा उनका आचरण करना चाहिये. उसमें न्यूनता न होवे. यदि होगी तो तपोविनयमें न्यूनता आवेगी.

‘ण वसो अवसो अवसस्स कम्मणवासयंति वोधव्वा’ ऐसी आवश्यक शब्दकी निरुक्ति है. व्याधि-रोग अशक्तपणा इत्यादि विकार जिसमें है ऐसे व्यक्तिको अवश कहते हैं. ऐसे व्यक्तीको जो क्रियायें करना योग्य हैं उनको आवश्यक कहते हैं. जैसे ‘आशु गच्छतीत्यथः’ अर्थात् जो शीघ्र दौड़ता है उसको अश्व कहते हैं. अर्थात् व्याघ्रादिक कोई भी प्राणी जो शीघ्र दौड़ सकते हैं वे सभी अथशब्दसे संगृहीत होते हैं. परंतु अश्वशब्द प्रसिद्धिके बंधा होकर योद्धा इस अर्थमें ही रूढ है. वैसे अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य है वह आवश्यक शब्दसे कहा जाना चाहिये जैसे-लौटना, करवट बदलना, किसीको बुलाना वगैरह कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं परंतु आवश्यक शब्द यहां सामायिकादि क्रियाओंमें ही प्रसिद्ध है.

अथवा आवासक ऐसा शब्द मानकर ‘आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनि इति आवासकाः’ ऐसी भी निरुक्ति करते हैं. अर्थात् जो आत्मामें रत्नत्रयका निवास कराते हैं उनको आवासक कहते हैं. सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव,

चंदना, शतिकाभरण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रिया हैं—उसमेंसे सामायिक क्रियाका वर्णन आचार्य कहते हैं—

सामायिकके चार भेद हैं—नामसामायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक और भावसामायिक.

नामसामायिक—जाति, गुण, क्रिया वगैरह निमित्तोंके बिना किसी भी जीवादि पदार्थका सामायिक ऐगमा नाम रखना.

स्थापनासामायिक—सर्व पापोंका त्याग करनेवाले परिणामोंसे परिणत ऐसे आत्मासे एकरूप हुए शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है वैसा ही आकारसादृश्य जिनमें है ऐसे चित्र, फोटो वगैरह पदार्थमें यह सामायिक है ऐसी स्थापना करना यह स्थापनासामायिक है.

आगमद्रव्यसामायिक—अंगवास श्रुतज्ञान का सामायिक नामका आद्य ग्रंथ है. उस ग्रंथका अर्थ जो जानता है अर्थात् सामायिक रूप आत्मपरिणामका अनुभव जिसको ॥ बुद्ध या परंतु सांप्रत जो सामायिकरूपज्ञानसे परिणत नहीं हुआ है वह व्यक्ति आगमद्रव्यसामायिक है.

नो आगमद्रव्यसामायिकके ज्ञापकशरीर, माधि और तथ्यातिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं. सामायिकको जाननेवाले आत्माका जो शरीर है वह भी आत्माके समान सामायिकका ज्ञान होनेमें कारण है. क्यों कि शरीरके बिना आत्माको ज्ञान होता नहीं है. जो पदार्थ जिसके सद्भावमें रहता है या उत्पन्न होता है और जिसके अभावमें उत्पन्न नहीं होता है वह उत्पन्न होनेवाला पदार्थ उसका कार्य समझना चाहिये. शरीरके बिना सामायिकका ज्ञान आत्मा स्वयं अपनेमें धारण नहीं कर सकता है. अतः वह ज्ञान शरीरका कार्य माना जाता है. अर्थात् ज्ञान और शरीरमें हेतुफलव्यवस्था है ऐसा पक्ष समझना चाहिये. ज्ञानरूप सामायिकका शरीर कारण होनेसे त्रिकालस्थित वह शरीर सामायिक शब्दसे वाच्य होता है.

भाविसामायिक—चारित्र्यमोहनीय कर्मके विद्येय क्षयोपशमसे आत्मामें भविष्यत्कालमें जो सर्व सावध योगसे निवृत्त करनेवाला परिणाम होगा उसको माधि सामायिक कहते हैं.

तथ्यातिरिक्त नो आगमद्रव्यसामायिक—क्षयोपशमरूप अवस्थाको प्राप्त हुए चारित्र्य मोहनीय कर्मको जो कि सामायिकके प्रति कारण है वह नो आगमद्रव्य तथ्यातिरिक्त सामायिक है.

नो आगमभावसामायिक—संपूर्ण सावद्योग्यसे विरक्त ऐसे आत्माके परिणामको नो आगमभाव सामायिक कहते हैं। यही सामायिक प्रकृत विषयमें ग्राह्य है।

आगमभावसामायिक—सामायिक शब्दका ज्ञान जिसका सांप्रतमें उपयोग हो रहा है, चतुर्विधतिस्तव—इस भरतदेशमें वर्तमानकालमें चतुर्विधतिस्तव हो गये हैं। उनमें अईत्यपना घोंगे अनेकगुण हैं। उनको जानकर तथा उनके ऊपर श्रद्धान रखते हुये उनकी स्तुति करना यह चतुर्विधतिस्तव है।

वंदना—रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु, इनके उत्कृष्ट गुणोंको जानकर श्रद्धा सहित होता हुआ अभ्युत्थान और प्रयोग ऐसे भेदसे दो प्रकारके विनयोंमें प्रवृत्ति करना यह वंदना आवश्यक है। इस अभ्युत्थान और प्रयोगके और भी अनेक भेद हैं।

यह वंदना कार्य किसको करना चाहिये, किसके प्रति करना चाहिये, किस समयमें और कितने बार करना चाहिये ? अभ्युत्थान—उठकर आदरसे खड़े होना यह कर्तव्य किसने बताया है ? तथा किस फलकी अपेक्षा करके यह करना चाहिये ? पूर्वकालमें कर्मभूमीमें विनयको कर्तव्य कर्म समझकर सर्व विनयोंमें उसका उपदेश दिया है यह कर्तव्य करनेसे मानकपायका नाश होता है। बहुमान करनेका श्रेय मिलता है। अथवा गुरुजन विनय करनेवालोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। तीर्थक्षेत्रोंकी आज्ञा हमने शिरोधार्य की है ऐसा सिद्ध होता है। इस विनयसे ज्ञान और धर्मकी आराधना होती है। परिणाममें निर्मलता, निष्कपटता और संतोष ये फल प्राप्त होते हैं। इन फलोंकी प्राप्ति के लिये यह कर्तव्य वंदना करनेवालोंकी करना चाहिये। विनय करनेवाला गर्वरहित, संसारभीरु, आलस्यरहित स्वभावधुक्त, अनुग्रहकी इच्छा रखनेवाला, अन्य व्यक्तियोंके गुण प्रकाशित करनेवाला, संवत्सल, एवंविधगुणविशिष्ट होना चाहिये। सुनिष्ठाओंको श्रावकके आनेपर सठकरके खड़े होना योग्य नहीं है। अथवा पार्श्वस्थादि त्रय सुनिष्ठाका आगमन होनेपर भी उठना योग्य नहीं है, जो सुनि रत्नत्रयमें, और तपश्चरणमें तत्पर हैं वे आनेपर अभ्युत्थान करना योग्य है। जो सुलके वक्ष होकर अपने आचारमें शिथिल हो गये हैं उनके आनेपर उठ करके खड़े हो जानेसे कर्मबंध जाता प्रमादी वृत्तानेका सम्भव हो जाता है। सुलकीलका विनय करनेसे प्रसाद उत्पन्न होता है, और

भीलता सिद्ध और शुद्धिगत होती है, जो ग्रंथ बार अथवा षडता है अथवा सदादि अनुयोगोंका शिक्षण देता है यह व्यक्ति यदि अपनेसे रत्नप्रयत्ने हीन है तोभी उसके आनेपर उठकर खड़े होना चाहिये, जो जो उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन उठकर खड़े हों, वस्तुविकास्थानसे, कायभूषीसे (?) शिक्षा लेकर लौटते समय, त्रिभुवनदिग्गजे आते समय, गुरुके पायसे आते वस्त्र अथवा श्रमांतरसे आते समय उठना चाहिये, गुरुजन जब बाहर जाते हैं अथवा बाहरसे आते हैं, तबतब अभ्युत्थान करना चाहिये, इसी प्रकारसे इतर गते भी जाननी चाहिये.

पंचनमस्कारोच्चारण करते समय प्रथमतः भूमिपर हाथ जोड़कर एक नमस्कार करना चाहिये, तथा चतुर्विधविस्त्रानके प्रारंभमें ही नम्र होकर एक नमस्कार करना चाहिये, प्रत्येक दिशामें तीन आर्षवें कर एक नमस्कार करना चाहिये, ऐसा करनेसे चार दिशाओंमें चार नमस्कार और यथा आर्षवें होते हैं, (हमने इसका अर्थ संक्षेपमें लिखा है, इसका गुलामा मूलाचार ग्रंथमें षडान्वयकाधिकार की १०४ भाषाओं बसुनंदि आचार्योंने किया है पाठरूपण यहाँ देल लेंगे.)

अप प्रतिक्रमणका विवरण करते हैं—

अधुम प्रवृत्तीमें निगूण होना प्रतिक्रमण है, उसके छह भेद हैं, जैसे नामप्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण, और भावप्रतिक्रमण, अयोग्य नायोंका उच्चारण न करना यह नाम प्रतिक्रमण है, भर्षदारिका, स्वामिनी इत्यादिक अयोग्य नायोंका उच्चार न करना यह नामप्रतिक्रमण है.

स्थापना प्रतिक्रमण—आत्माभास—हरिहस्तादिकोंकी प्रतिभायें, वस और स्थावरोंके चित्र, जो कि रंगके द्वारा लिखे गये हैं अथवा पाषाण, लकड़ी इत्यादिकोंमें उकेरे गये हैं इन सबको स्थापना कहते हैं, आत्माभासकी प्रतिभाके आगे खड़े होकर हात जोड़ना, मस्तक नम्र करना, उनकी गंधादिद्रव्योंके द्वारा पूजा करना यह कार्य नहीं करना चाहिये, इस प्रकारके स्थापनाका त्याग होनेसे स्थापना प्रतिक्रमण होता है, अथवा प्रसज्जीयोंकी वा स्थावरजीयोंकी जो स्थापनायें होती हैं उनका नाश न करना, भर्दन न करना, ताड़न न करना, यह भी स्थापना प्रतिक्रमण है.

द्रव्यप्रतिक्रमण—वास्तु, क्षेत्र, घनधान्यादि द्रव्यप्रकारके परिवर्तोंका त्याग करना, उद्गम, उत्पादनादि

दोषयुक्त प्रसक्तिक, उपकरण व आहार इनका त्याग करना, जो आहारादिक पदार्थ अयोग्य हैं, अभिलाषाओं अधिकतासे उत्पन्न करते हैं, जिनसे उन्मत्तता और संवेक्षणपरिणाम बढ़ते हैं ऐसे आहारादिकोंका त्याग करना यह सग द्रव्यप्रतिक्रमण है.

क्षेत्रप्रतिक्रमण—पानी, कीचड़, ब्रसजीव, स्थावर जीव इनसे व्याप्त हुए प्रदेशोंमें जाने आनेका त्याग करना. अथवा जिसमें अपने रहनेमें रत्नत्रयधर्मकी हानि होगी ऐसे प्रदेशोंका त्याग करना यह भी क्षेत्रप्रतिक्रमण है. जहाँ ज्ञानबुद्ध व तपोबुद्ध मृत्ति रहते नहीं हैं ऐसे स्थानोंको त्यागना यह क्षेत्रप्रतिक्रमण है.

कालप्रतिक्रमण—रात्रौ, दीनो संध्यासमयोंमें, रात्र्यास्य काल, और सामयिकदि आवश्यक क्रियाओंके कालोंमें जाना आना यैरे क्रियाओंका त्याग करना यह कालप्रतिक्रमण है.

काल तो सदा ही रहता है उसका त्याग हो नहीं सकता परंतु उस कालमें होनेवाली क्रियाओंका यह काल आधार है उसके साहचर्यसे उन क्रियाओंको भी काल कहते हैं.

भावप्रतिक्रमण—मिथ्यात्व, असंयम, फषाय, रागद्वेष, संज्ञा, आहार, मय, परिग्रह और मैथुनकी अभिलाषा, निंदल और आतंघ्यान, रौद्रध्यान इत्यादिक अशुभपरिणाम व पुण्यात्मिक कारणभूत अशुभपरिणाम इन सबोंको यहाँ भाव कहते हैं. उनसे निवृत्त होना भावप्रतिक्रमण है ऐसा किसी आचार्योंका मत है. कोई आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं.

नामप्रतिक्रमण—द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति इत्यादि निमित्तोंके बिना ही किसीका प्रतिक्रमण ऐसा नाम रखना वह नाम प्रतिक्रमण है.

स्थापना प्रतिक्रमण—प्रतिष्ठ जीव द्रव्यके शरीराकारकी सदृशताकी अपेक्षासे चित्रादिकोंमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना करना वह स्थापना प्रतिक्रमण है.

आगमद्रव्यप्रतिक्रमण—ग्रमाण, नय, निषेध वगैरहके द्वारा प्रतिक्रमणावश्यक ग्रंथका स्वरूप जो जानता है परंतु वर्तमानकालमें प्रतिक्रमणके खर्चमें उसका उपयोग लगा नहीं है. परंतु आगामिकालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरूप प्रतिक्रमणका जो कारण है ऐसे जीवको आगमद्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं.

नौ—आगमद्रव्यप्रतिक्रमणके तीन भेद हैं. बायकशरीर, भावि और तदव्यतिरिक्त. जैसे प्रतिक्रमण-

पर्याप्त हो आत्मा राखण है उसे उन आत्मज्ञान दूरीर भी प्रतिक्रमणयोगोंको कारण है. इसलिये उसका प्रिजालयोगपर दूरीर भी प्रतिक्रमणछन्दमे वाल्य होता है.

भक्तिप्रतिक्रमण—आरित्रयोगद्वितीय कर्मके ध्येयपञ्चमका साञ्जिध होनेसे जो आगे प्रतिक्रमणपर्याय धारण करेगा वह आत्मा भक्तिप्रतिक्रमण है.

नो - आगमद्वयव्यतिरिक्त प्रतिक्रमण—ध्येयपञ्चमवस्थाको प्राप्त हुआ जो चारित्रमोहकर्म वह तद्व्यतिरिक्त प्रतिक्रमण है.

प्रतिक्रमणरा जो ज्ञान वह आगमभावप्रतिक्रमण है मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र इनसे मैं निरक्त हुआ हूँ ऐसा जो ज्ञान आत्मामें उत्पन्न होता है वह आगमभावप्रतिक्रमण है.

अधुनपरिणामोंके दोष जानकर और थढ़ा कर उसके उलटे परिणामोंसे आत्मा जन परिणत होता है तब वह नो आगमभावप्रतिक्रमण है.

प्रश्न—सामाधिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है ? साधनमनश्चन कावकी प्रवृत्तियोंसे विरक्त होना वह सामाधिकन लक्षण है. और अधुन मनोनाकापकी निवृत्ति होना यह प्रतिक्रमण है अपर्दि प्रतिक्रमण और सामाधिक इनमें कुछ भी भेद नहीं है इसलिये छह आवश्यक क्रियाओंकी व्यवस्था कैसी होगी ? इस प्रश्नका उत्तर कोई विद्वान इस प्रकार देते हैं—

‘सर्व साधनयोगोंका मैं त्याग करता हूँ’ ऐसा वचन अर्थात् प्रतिला सामाधिकमें की जाती है. हिंसा-दिकोंके भेद दृष्टर न ग्रहण कर सामान्यसे सर्व पापोंका त्याग करना सामाधिक है. और हिंसा, असत्य वगैरे भेदोंमें साधनयोगके विरुद्ध करके उससे विरक्त होना प्रतिक्रमण है. इन विषयके दूध का अभिप्राय यह है कि—विष्यादयका त्याग करना, अंगनमज्ञा अर्थात् उसके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाले अतिचारोंका त्याग करना, कथाओंका तज्जनित अतिचारोंका त्याग करना तथा अभ्रमस्त मनोवाक्याय विषयक नवातिचारोंका त्याग करना वह प्राप्त प्रतिक्रमण है. इन रीतियोंसे उपरके प्रश्नका कोई विद्वान उत्तर देते हैं परंतु यह उनका उत्तर अपोम्य है.

योग शब्दसे धीर्यपरिणाम ऐसा अर्थ होता है. वह धीर्यपरिणाम चीर्बान्तराय कर्मके ध्येयपञ्चमसे उत्पन्न

होता है। इसलिये यह धार्योपग्रामिक भाव है। ऐसे योगसे निवृत्त होना यह सामायिक है अर्थात् अनुभक्तिकर्मका ग्रहण करनेवाले योगरूप आत्मा की परिणति न होना यह सामायिक शब्दका अर्थ है।

मिथ्यात्व, असंयम और कषाय वे दर्शनयोगहीन कर्मके उदयसे आत्मामें उत्पन्न होते हैं, अतः ये भाव औदयिक हैं। मिथ्यात्व-तत्त्वोंमें भ्रदान न करना, असंयम-हिंसादि पंच पापोंको असंयम कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये परिणाम परस्परसे और मिथ्यात्व असंयमसे त्रिकुल भिन्नस्वरूप है ऐसा अनुभवमें आता है। त्रिकुल कारण भिन्न रहते हैं वे पदार्थ एकस्वरूपके नहीं होते हैं। जैसे खाली और गेडुओंके कारण भिन्न होनेसे वे एक नहीं है। वैसे ही मिथ्यात्व, असंयम और कषाय इनके हेतुओंमें भी भिन्नता होनेसे वे परस्पर तो भिन्न है। ऐसे परिणामोंसे विरक्ति होना यह प्रतिकल्पन कहा गया है। सावधयोगमात्रसे निवृत्त होना सामायिक है। ऐसा दोनोंमें बड़ा भेद-विशेष है।

इन परिणामोंके भेदोंका आग्रह कर 'शुद्धपञ्चगण वंचो' यह शत्रु प्रवृत्त हुआ है। यदि योगके ही चार भेद माने जाते तो योगके साथ मिथ्यात्वादिकोंकी चार संख्या मानना न्याय्य नहीं होता।

प्रत्याख्यान आवश्यक—अविष्यकालीन क्रिया में नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना यह प्रत्याख्यान आवश्यक है यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे विकल्पसे छह प्रकारका है। अयोग्य नामका मैं उच्चार नहीं करूंगा ऐसे संकल्पको नामप्रत्याख्यान कहते हैं। आत्माभासके-हरिहरादिकोंकी प्रतिमाओंकी मैं पूजा नहीं करूंगा, मनसे, वचनसे और कायसे इस और स्थावर जीवोंकी स्थापना मैं पीडित नहीं करूंगा ऐसा जो मानसिक प्रकार रूप संकल्प यह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा अहंदादि परमेष्ठियोंकी स्थापनाका-उनकी प्रतिमाओंका मैं नाश न करूंगा, अनादर नहीं करूंगा। यह भी स्थापना प्रत्याख्यान है।

द्रव्यप्रत्याख्यान—अयोग्य आहार, उपकरण वगैरह पदार्थोंको मैं ग्रहण न करूंगा ऐसा संकल्प करना। क्षेत्रप्रत्याख्यान—अयोग्य व जिनसे अविष्ट प्रयोजनकी उत्पत्ति होगी, जो संयमकी हानि करेंगे अथवा संक्षुद्रपरिणामोंको उत्पन्न करेंगे ऐसे क्षेत्रोंको मैं त्यागूंगा ऐसा संकल्प करना यह क्षेत्रप्रत्याख्यान है।

कालप्रत्याख्यान—कालका त्याग करना शक्य ही नहीं है। इसलिये उस कालमें होनेवाली क्रियाओंको त्यागनेमें कालका ही त्याग होता है ऐसा यहां समझना चाहिये। अर्थात् संख्याकाल, रात्रिकाल वगैरह समयमें

अध्ययन करना, आना जाना इत्यादिकार्य में नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना काप्रत्याख्यान है.

मानप्रत्याख्यान—भाव-अनुभवापरिणाम उनका मैं त्याग करूंगा ऐसा संकल्प करना. इसके दो भेद हैं. मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तर गुणप्रत्याख्यान.

शुंका—मूलगुण इस शब्दका अर्थ तब ऐसा होता है. उनका त्याग भविष्यत्कालमें मैं करूंगा ऐसा संकल्प संवरको चाहनपाते यदि करें वो कर्मसंवर होगा ही नहीं. संवरको चाहनेवालोंको तबका अवश्य पालन करना चाहिये अतः मूलगुणप्रत्याख्यान होता नहीं है.

उत्तर—उत्तरगुणोंको कारण होनेसे तबमें मूलगुण यह नाम प्रसिद्ध है. मूलगुणरूप जो प्रत्याख्यान वह मूलगुणप्रत्याख्यान है. अर्थात् यहाँ शरीररूपरूप समाप्त नहीं है. कर्मधारय समाप्त है. अतः उपयुक्त श्रुंकाका परिहार हुआ. तबको अनंतर जो पाले जाते हैं ऐसे अनश्वनादि तबको उत्तरगुण कहते हैं. उत्तरगुणप्रत्याख्यान इस शब्दमें भी कर्मधारय समाप्त ही है. 'उत्तरगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यानं' उत्तरगुण-प्रत्याख्यानका ऊपर कहा हुआ विग्रह समस्तना चाहिये. युनियोंको मूलगुणप्रत्याख्यान आमरण रहता है. संयता-संपद अपात पंचमगुणस्थानवर्ती भावक उसके अनुभवको मूलगुण कहते हैं. शुद्ध मूलगुणप्रत्याख्यान अल्प-कालिक और जीविताधिक ऐसा दोन प्रकारका कर सकते हैं. पक्ष, छद् मदिने इत्यादिरूपसे भविष्यत्कालकी मर्यादा फरके उसमें स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन, और परिग्रह ऐसे पंचपातक मैं नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना यह अल्पकालिक प्रत्याख्यान है. मैं आमरण स्थूल हिंसादिपापको नहीं करूंगा ऐसा संकल्प कर उनका त्याग करना यह जीविताधिकप्रत्याख्यान है.

उत्तरगुणप्रत्याख्यान तो युनि और शुद्ध जीवितावधि और अत्यावधि भी कर सकते हैं. जिसने संयम धारण किया है. उसको सामागिकादिक, और अनश्वनादिक भी रहते हैं अतः सामागिकादिकोंको और तपको उत्तरगुणपना है. भविष्यत्कालको विषय करके अश्वनादिकोंका त्याग किया जाता है. अतः उत्तरगुणरूप यह प्रत्याख्यान है ऐसा माना जाता है. सम्यक्त्व यदि होगा तभी यह दो तरहका प्रत्याख्यान युनि और शुद्धस्थोको माना जाता है. यदि सम्यग्दर्शनके साथ यह प्रत्याख्यान न होगा अकेला ही होगा तो यह प्रत्याख्यान इस नामको नहीं पाता है.

जीवनिकाय और हिंसादिकोंका स्वरूप जानकर और उनके ऊपर श्रद्धा कर यदि सर्व प्रकारसे अथवा एकदेशसे हिंसादिकोंका त्याग करनेपर उस त्यागको व्रतसंज्ञा प्राप्त होती है, यही अभिप्राय 'निःशूल्यो व्रती' इस सूत्रमें है, निःशूल्यत्व, मायाशून्य और निदानशून्य ऐसे तीनशून्य हैं, ऐसे तीनशून्योंसे जो रहित है वही निःशून्य है; निःशूल्यको ही व्रती कहना चाहिये, जो शून्यसहित है वह व्रती नहीं है, यदि जीवादि पदार्थोंपर श्रद्धा न हो तो मिथ्यात्वशून्यका त्याग नहीं हो सकता, जीवादिपदार्थोंका ज्ञान यदि न होगा तो सम्पददर्शन नहीं होगा इसलिये सम्पददर्शन और सम्पदज्ञान युक्त प्राणीको ही व्रतिपना प्राप्त होता है ऐसा सूत्रकारने कहा है, यही अभिप्राय आवश्यक नामके ग्रंथमें सी कहा है—

“मुनिज्योतिरहिंसादि पंचमहाव्रतं और श्रावकोंके पांच अष्टव्रत ये सम्पददर्शनके बिना नहीं होते हैं, इसलिये ग्रंथमतः आचार्योंसे सम्पदत्वका वर्णन किया है, ”

‘मुनिराज मनसे, वचनसे और शरीरसे हिंसादिक पाप कार्य स्वयं नहीं करते, न करते और न अनुमोदन देते हैं, यावज्जीव नउ प्रकारसे पापोंका त्याग करते हैं, परंतु सम्पदगृष्टि गृह्य मूलश्रुण अथवा उभरश्रुण अपनी शक्त्यनुसार ग्रहण करता है और यावज्जीव किंवा अल्पकालपर्यंत पाठता है, मैंने पूर्वकालमें हिंसादिक कार्य किये, हाथ मैंने यह दुष्ट कार्य किया, मैंने दुष्ट संकल्प किये और मैंने हिंसादि मधुचिकर भाषण किया, यह मैंने अयोग्य किया है इस प्रकार निंदा और गहाँके द्वारा वर्तमान कालीन असंयम द्वारा समझता है, पूर्वमें जैसा असंयम मैंने किया था अथवा अब जो असंयम मधुचि हुई, ऐसी असंयम प्रवृत्ति मैं आगाविकालमें नहीं करूँगा, इस रीतीसे वह श्रावक पापोंका प्रत्याख्यान करता है,

अब गृहस्थोंके हिंसादि त्यागरूप परिणामोंके विकल्पोंका विवरण करते हैं—

‘स्थूल हिंसादिक पांच पापोंको कृत; कारित, अनुमत ऐसे तीन विकल्पोंसे तथा मन, वचन और शरीरके विकल्पोंसे त्याग नहीं करते हैं, उनका क्रम—मैं मनसे स्थूल हिंसादिक पांच पाप नहीं करूँगा, तथा वचनसे और शरीरसे भी नहीं करूँगा, यह कृतके तीन भेद हैं, मनके द्वारा मैं स्थूल हिंसादिक पांच पाप नहीं करारूँगा, तथा वचन और शरीरके द्वारा भी नहीं करारूँगा, वे कारितके तीन भेद हैं, मनके द्वारा स्थूल हिंसादि पापोंको सम्पत्ति मैं नहीं देखूँगा, वचन और शरीरके द्वारा भी मैं सम्पत्ति नहीं देखूँगा इस तरहसे तीन प्रकारकी सम्पत्ति

है: परंतु गृहस्थ स्थूलहिसादि शायिका नत प्रक्रमणसे त्याग करनेमें असमर्थ रहते हैं, क्यों कि वे गृहकायासे विरक्त नहीं रहते हैं।

मत और वचनके द्वारा स्थूल हिसादिक पाणोंको कुत, क्वारित, अनुमतीके विस्मरणसे नहीं करता है, परंतु शरीरके द्वारा हिसादिक पाणोंका कृतकारितानुमति विस्मरणपूर्वक त्याग करनेमें असमर्थ होता है, अर्थात् मनके द्वारा भी स्थूल पातक नहीं करेगा, नहीं करेगा और अनुमति नहीं देवेगा। तथा वचनके द्वारा भी स्थूल-पातक नहीं करेगा, नहीं करेगा और अनुमति नहीं देवेगा इस प्रकार हिसादिकका त्याग कर सकता है। इस विषयमें देगा यह है—'न तु त्रिविधं त्रिविधेण य दुविधेकविधेण यापि विरमेज्ज' इति।

गृहस्थ किस प्रकारसे विरक्त होता है? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य लिखते हैं—'कुत और कारितविकल्पसे मन वचनकायके द्वारा वे हिसादिक त्यागते हैं, अथवा शरीरके द्वारा और वाणीके द्वारा हिसादिविषयक कृतकारितका त्याग करते हैं, इसीलिये इस विषयमें पूर्वोक्तार्थाने आगेका सूत्र कहा है—'दुविधं पुन त्रिविधेण य दुविधेकविधेण यापि विरमेज्ज'।

अथवा मनवचन और शरीरके द्वारा स्थूलहिसादिक पाप फल स्वयं मैं नहीं करूंगा ऐसा संकल्पपूर्वक मत ग्रहण करता है, किंवा वचन और शरीरके द्वारा ही पांच पाणोंको स्वयं नहीं करता है अथवा केवल शरीरसे ही स्वयं हिसादिकोंका कृतरूपसे त्याग करता है, अर्थात् मैं शरीरके द्वारा ही पांच पातक नहीं करूंगा, ऐसा मत लेता है, इस विषयका सूत्र ऐसा है—'एकविधं त्रिविधेणापि विरमेज्ज'।

इस रीतीसे जो ब्रह्मके विकल्प होते हैं इनको भविष्यकालका विषय करनेसे प्रत्याख्यानके विकल्प उपजते हैं, जैसे—मन, वचन और शरीरके द्वारा कुत, क्वारित और अनुमोदनसे आगेके फलमें हिसादिकोंका त्याग करूंगा इत्यादि।

कायोरत्सर्गका निरूपण करते हैं—

कायोत्सर्ग—काय शुद्धका अर्थ शरीर होता है, और उत्सर्ग शुद्धका अर्थ त्याग होता है, अर्थात् शरीरका त्याग करना यह कायोत्सर्ग शब्दका समग्र अर्थ हुआ, पदार्थको जाननेवाले ज्ञानको आधारभूत इंद्रिय-रूपी अवयवोंसे जिसकी खना हुई है ऐसा कर्माणिमित्त औदारिक नामका जो विशिष्ट शुद्धलसमुदाय वह यहाँ

काय शब्दसे गृहीत होता है. अर्थात् औदारिकशरीरको यहा 'काय' कहते हैं. क्योंकि इतर वैक्रियिकादि शरीरोंमें उत्सर्ग-त्यागका संभव सिद्ध नहीं होता है. औदारिक शरीरसे ही चारित्र पाला जाता है. इससे ही मनुष्य मोक्षको हस्तगत करते हैं अतएव इसमें ही उत्सर्गकी संभावना है. अन्यत्र नहीं है. इस उत्सर्गका आगे खुलासा मिलेगा.

शुंका—जब आयुर्कर्म पूर्ण निकल जाता है तभी आत्मा शरीरको छोड़ती है. अन्यसमयमें नहीं. इसलिये अन्यसमय कायोत्सर्ग नामकी आवश्यक क्रिया कौसी होगी ?

उत्तर—आत्माके और शरीरके प्रदेश परस्परमें मिलजानसे जबतक आयुर्कर्म है तबतक आत्मासे शरीरका बिछोह नहीं होगा तोभी शरीर सप्तधातुओंसे बना हुआ है, अत्यंत अपवित्र शुक्र और शोणितोंसे इसकी उत्पत्ति हुई है अतः यह अशुचि है. तथा यह अनिरय, विनाशशील, असार, दुःस्वका हेतु है. इस शरीरपर ममता करनेसे जीवको अनंत कालतक संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा. इत्यादिक शरीरदोषोंका विचार कर यह शरीर भेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूं ऐसा संकल्प मनमें पैदा हो जानेसे शरीरपर प्रेमका अभाव होता है. उससे शरीरका त्याग सिद्ध होता है. जैसे प्राणसे भी प्रियपत्नीने यदि कुछ अपराध किया हो तो वह पतिके साथ एक ही घरमें रहती है तो भी पत्नीका प्रेम उसपरसे हट जानेसे वह त्यागी गई है ऐसा कह सकते हैं. क्यों कि यह मेरी है यह ममत्वभावना पुरुषके हृदयसे नष्ट हुई है. वैसे यहां शरीरपरसे ममत्व भाव हटनेसे कायोत्सर्ग-शरीरका त्याग सिद्ध होता है.

शरीरका नाश होनेका कारण उपस्थित होनेपर भी नाशको हटानेकी अभिलाषा कायोत्सर्ग नामक आवश्यक क्रिया करते समय मुनिवर्यमें नहीं होती है. जो जिसके नाशके कारण हटानेमें उत्सुक नहीं हैं उसने वह त्यागा है ऐसा समझना चाहिये जैसे यक्षादिकोंका त्याग. शरीरके अपायकारणको हटानेमें यति निरुत्सुक रहते हैं इस लिये उनका कायत्याग योग्य ही है. कायोत्सर्ग करनेवाले मुनि शरीरपर निस्पृह होकर संभके समान खड़े हो जाते हैं. अपने दो बाहु जाड़ तक लंबे रखते हैं. और प्रशस्तध्यानमें निमग्न होते हैं. अपने ऊपरके शरीरको वे उन्नत और नम्र भी नहीं रखते हैं अर्थात् वे छातीको आगे जादा उठाते नहीं हैं अथवा नीचे उनका शरीर जादा झुकता भी नहीं है. कर्मका नाश करनेकी इच्छा रखते हुए वे निर्जन्तुक एकान्त स्थानमें उपसर्ग सहज करते हैं.

कायोत्सर्गका उपपन्नकाल अन्तर्गृह्यते है और उत्कृष्ट काल एक वर्षका है. रात्रिकाम्योत्सर्ग, दिनकायोत्सर्ग, पक्ष, मास, चारमास, संवत्सर ऐसे कायोत्सर्गिक बहुत भेद हैं. अतिचार नष्ट होनेके लिये ये कायोत्सर्ग किंच जाते हैं. रात्रि, दिवस, पंचादिन, महिना, चारमाहिनि, वर्ष इत्यादि समयमें जो व्रतमें अविचार लगते हैं उनको दूर करनेके लिये ये कायोत्सर्ग किये जाते हैं. सायंकालमें सो उच्छ्वास और प्रातःकालमें पचास उच्छ्वास किये जाते हैं. एक पक्षमें तीनसो श्वासोच्छ्वास, चारमाहिनेमें चारसो और वर्षमें ५०० पंचसो कायोत्सर्गका काल कहा है. प्राणि-हिंसादि पांच प्रकारके अतिचारोंमेंसे जो कोई अविचार होगा तब एकसो आठ उच्छ्वास करने चाहिये. कायोत्सर्ग करनेपर यदि श्वासोच्छ्वास करते समय उनकी यदि संख्या ध्यानमें न रही है अथवा परिणामोंमें सबलन हुआ हो तो आठ उच्छ्वास काल तक अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिये.

कायोत्सर्गिके १ उत्थितोत्थित, २ उत्थितनिविष्ट, ३ उपविष्टोत्थित ४ और उपविष्टोपविष्ट ऐसे चार भेद करते हैं.

१ धर्मस्थान अथवा शुक्लस्थानमें परिणत होकर जो खड़े होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनका वह उत्थितोत्थित-स्थित कायोत्सर्ग है. शरीर और आत्माके परिणाम दोनों भी उत्थित है यहां उनका उद्यतिप्रकर्ष दिखानेके लिये 'उत्थितोत्थित' शब्दका प्रयोग किया है. उसमें शरीर खड़ेके समान स्थिर खड़ा हुआ है यह द्रव्योत्थान कहा जाता है. तथा हान स्थिर होकर ध्येय वस्तुमें एकान्न होता है उसको भावोत्थान कहते हैं.

आर्तस्थान और रौद्रस्थानमें परिणत होकर जो खड़ा होता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितनिपण कायोत्सर्ग कहते हैं. शरीरमें वह खड़ा है जबः उसको उत्थित कहते हैं. परंतु शुभपरिणामरूप उत्थानका अभाव होनेसे निपण कहते हैं. उत्थितवस्थाका और आसनवस्थाका भिन्न कारण होनेमें यहां उत्थित और उपविष्टमें विरोध नहीं है.

जो मुनि चैतकर ही वर्ग और शुक्लस्थानमें लवलीन होता है उसका उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है. परिणाम उसके उन्नतशील है परंतु शरीरमें वह उठकर खड़ा नहीं हुआ है. जो मुनि वैष्णव दुग्ग है और अशुभस्थान कर रहा है वह निपणनिपण कायोत्सर्गशुक्त समझना चाहिये. वह शरीरमें बैठा हुआ है और परिणामोंसे भी उत्थानशील नहीं है.

दिवस, रात्रि, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक रत्नवय संवधी जो अतिचार होगये हो उनका मनसे स्मरण करना चाहिये. अनंतर मैने प्रमादवश होकर यह दृष्ट कार्य किया है ऐसा चिन्तन कर धर्म अथवा सुबलघ्नानमे प्रयत्न करना चाहिये. कायोत्सर्ग धारण करनेवाले छुनियोंने उत्थित कायोत्सर्ग दोषोंका त्याग करना चाहिये. उन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार है—

१ जैसे घोड़ा आपना एक पाँच थोडासा अकद लंगडा करके खडा हो जाता है वैसे खडा होना २ धेली लैसी इधर उधर घंचल होकर हिलती है वैसे खडा कायोत्सर्ग करते समय हिलना. ३ खंबेके समान शरीर ताठ करके खड़े होना ४ खंबेके आश्रयसे, भिचीके आधारसे अथवा मस्तकको ऊपरके पदार्थका आश्रय देकर खड़े होना. ५ अचोष्ट लंबा करके और स्तनके तरफ दृष्टि देकर कौयेके समान हठीको इतस्ततः फेकना. ६ लगामसे पीडित होकर घोडा जैसे झुलको हिलाटा है वैसे झुलको हिलाटा हुआ खड़े होना ७ बेलके मानपर खूँ रखनेसे वह अपनी मान नीचे करता है वैसे मान नीचे करता हुआ खड़े होना. ८ कैथका फल एकडेनचाला मनुष्य हाथका तलभाग जैसे पसरता है वैसे फरतल पसारकर खड़े होना. ९ हाथके पाँचो अंगुलिया संकुचित करके खड़े हो जाना. १० गूंगामनुष्य जैसे हुंकार करता है वैसे खड़े होकर हुंकार करना. अथवा गूंगा आदमी जैसे नाकके तरफ हाथ उठाकर वस्तुको दिखाता है वैसे खड़े होकर वस्तुको हाथसे दिखाता, जुटकी बजाना, भौंहे देबी करना, भौंहे नचाना. अर्थात् खड़े होकर उपर्युक्त दोषसहित कायोत्सर्ग करना. १४ भीलकी स्त्री जैसी अपने गुह्यदेशको हाथसे बकती है वैसे कायोत्सर्गिक समबयें करना. १५ जिसके पाव वेडीसे तकड़े जुये हैं ऐसे मनुष्यके समान खड़े रहना. १६ मद्यपान किये हुए मनुष्यके समान शरीरको इधर उधर झुकाता हुआ खड़े होना ऐसे कायोत्सर्गिके दोष हैं. इन छह आवश्यक कर्मोंमें दानि नहीं करनी चाहिये तथा इनमें घटबढ भी नहीं करनी चाहिये.

मत्ती तवोधिगंभि य तवमि न अहीलणा य सेसाणं ॥

पुसो तवमि विणओ जुहत्तचारिस्स साधुस्स ॥ ११७ ॥

तपस्सपोधधिके भस्तिर्यञ्छेयानामहेट्ठनं ॥

स उपोषिनयोच्चाधि घंथोक्तं वरत्तो योः ॥ ११८ ॥

नित्योदया—अर्थात् अक्षि । यदनर्निरीक्षणविपरीतस्यैव अस्मिन्व्यवस्थामानुषङ्गवोऽनुपगमः । तयोऽप्यभिमतः । तपो
 इत्येकं च तृणमिव यं स्वयम्भवादिभिः, वदन्ति च, भक्तिरिति वायव्यं । तत्र सम्प्रदानद्वन्द्वसंयमादुक्तं । अहीलणा य अपरि-
 मया । तैत्तार्यं श्रेयसां । तस्मात् न्यूनानामात्मनः कालधदानवशक्त्या परित्यजे ज्ञानादीन्नेव परित्यक्तानि भवन्ति । ततो बहु-
 मानमाधो ज्ञानातिचारः, वास्तव्याभासो दर्शनातिचारः । सातिचारज्ञानदर्शनास्य चारित्र्यमशुद्ध इति, महात्मनश् इति भावः ।
 एते एव स्वार्थान्तरिणामसमूह उच्चगुणोद्योगादिकेः । तवमि वपसि वपोधिपयः । विणओ विनयः अशुचचारिस्स
 धुनिक्रान्तमेवमवयतः । साधुस्स साधोः ।

मूलार्थः—तपोदिवमि आत्मनः सकाशात्पञ्चाधिकं भावो । अहीलणा अपरिमयः । तैत्तार्यं आत्मनः
 सकाशात्पञ्चा न्यूनानां । एतो वयोः परिणामसमूहः ।

अर्थः—तपसे अपि क अर्थात् गुण श्रद्धा होना यह भक्ति है, यह भक्ति तपोधिक मुनि और तपमें करनी चाहिये,
 उत्पन्न होकर मनका अतुराग गुण श्रद्धा होना यह भक्ति है, यह भक्ति तपोधिक मुनि और तपमें करनी चाहिये,
 सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संप्रत्यक्ष जो तप किया जाता है वही सम्यक् तप है, इससे उल्टा तप संवर और
 निर्जरा का साधन न होकर संसारश्रमका साधन होता है, जो मुनि अपनेसे तपसे हीन है, न्यून है परंतु जो
 ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र्यमय है उनकी अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिये, उनकी अवहेलना करनेसे
 मानादिक मनुष्यों का निरस्कार होता है, ज्ञानादिक का वहुमान न होनेसे ज्ञानमें अविचार दोष उत्पन्न होता है,
 अवहेलनामें वास्तव्यगुण का नाश होकर दर्शनमें सद्गोपता पैदा होती है, ज्ञान और सम्यग्दर्शन अशुद्ध होनेपर
 चारित्र्य भी अशुद्ध हो जाता है, यह तो महा अतर्क हुआ ऐसा समझना चाहिये, पूर्व याचोंमें और इस गायामे कहे
 हुए गुणों का पालन करनेमें आत्मे अनुसार आचरण करनेवाले साधुको तपोविनयकी प्राप्ति होती है,

उपचारनिरूपणार्थोत्तराध्या-

काश्यवाइयमाणसिओत्ति तिविओ हु पंचमो विणओ ॥
 सो पुण सब्बो दुविहो पच्चक्खो नेव पारोक्खो ॥ ११८ ॥

कायिको वाचिकश्चैतः पंचमो विनयस्त्रिधा ॥
 सर्वोप्यसौ पुनर्द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदतः ॥ ११९ ॥

वित्तयोदया—कातगयादगमणसिगोति पदसंदर्भः । पंचमो विनयस्त्रिषकात् । कायेन, मनसा, वचसा च निर्वर्तते इति । सो पुन सद्यो स पुनस्त्रिषकात् ऽपि विनयः । इद्विधो द्विविधः । पञ्चमो चेद प्रत्यक्षः । पारोक्ष्यो परोक्षश्चेति ।

उपचारविनयं गायदशकेनोपदिशति—

मूढारा—पञ्चकस्यो प्रत्यक्षः संनिदिगुर्वाधिविषयत्वाद् । पारोक्ष्यो परोक्षः ।

उपचार विनयका निरूपण फरनेवाली गायी—

अर्थ—उपचारविनयके कायिक विनय, वाचनिक विनय, और मानसिक विनय ऐसे तीन भेद हैं। शरीरसे, वचनसे, और मनसे ये तीनो विनय किये जाते हैं इसलिये इनको कायिक विनय इत्यादि नाम प्राप्त हुए हैं। ये कायिकविनयादि तीनो विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रकारके हैं,

वच प्रत्यक्षकायिकविनयप्रवर्तनाय गायानुष्टुप्—

अञ्जुहाणं किदियम्मं पवंसणं अंजली य मुंहाणं ॥

पञ्चुगच्छणेमतो पच्छिद्द अणुसाधणं चेव ॥ ११९ ॥

संभ्रमो नमनं सूरः कृतिकर्वाजलिक्क्रिया ॥

सम्मुखं यानमायाति पात्पनुब्रजनं पुनः ॥ १२० ॥

वित्तयोदया—अञ्जुहाणं अम्युत्थानं गुर्वाधीनां प्रवेशनिष्क्रमणयोः । किदियम्मं पवंसणं बंदना, शरीरावनातिष्ठ । अंजली य छतांजलिपुटता च । मुंहाणं शिरोवनतिष्ठ । पञ्चुगच्छणं प्रत्युद्गमनं । आसीने स्थिते चागुरो । पच्छिद्द अणुसाधणं चेव स्वयं गच्छतः दूरात्परिद्वत्य निवृत्तकरचरत्सत्त्वावनतावस्थ गमनं, सहगमे वा घृष्टः साशरीरमाग्रमग्रमाग्रभ्रमणेन ते परिद्वित्य गमनं ।

प्रत्यक्षकायिकविनयनिवेदनाय गायानुष्टुप्—

मूढारा—अञ्जुहाणं गुर्वाधीनां प्रवेशनिष्क्रमणयोः सम्मुखमुत्थानं । किदियम्मं बंदना । यमणं शरीरावनातिष्ठः । अंजली करमुखलीकरणम् । मुंहाणं शिरोवनतिष्ठः । वयथा मुंहाणां भस्वकारीनां सम्बंधी अंबलिः यस्तके छतांजलिपुटस्ये-
त्यर्थः । पञ्चुगच्छणं प्रत्युद्गमनमभिमुखगमनमित्यर्थः । एते आगच्छति सति गुरो, मान्यमुनो वा । पत्तिदस्त च छित्तस्य

गुरोदेः । अनुसाहणा अनुव्रतनं । टीकाकारस्तु पच्छिदसंसाहणा इति पठति, व्याख्याति च, जाचार्योपाध्यायादिभिः प्रार्थितस्य मतस्यभिन्नविषयस्य सम्यक्प्रसाधनं अनामतस्याप्रीतिर्नैवावगम्येति ।

प्रत्ययकारयिक्तमनयका आचार्य चार गाथाओंमें वर्णन करते हैं—

अपे—गुरुजन, तपोधिक महर्षि चमरह पूज्यपुनि आनेपर अथवा प्रमाण करते समय स्वयं वडे आदरसे उठना चाहिये, पंदना करना चाहिये और झरीरमें नम्रता रखनी चाहिये, हाथ जोड़ने चाहिये, और मस्तकसे नमन करना चाहिये, तथा चे वंठ गये अथवा खड़े हुए हैं तो उनके पास जाना चाहिये, स्वागत करना चाहिये, जप गुरु आदिक पूज्यपुनि प्रमाण करते हैं तब उनके पीछे थोड़े अन्तरसे हाथ और पावोंका चलते समय श्रद्धा न होये इस प्रकार शरीर नम्र करके शांतिसे गमन करना चाहिये, यदि साथ जानेका प्रसंग आवे तो स्वशरीरमान-प्रमाण भूमीका अन्तर छोड़कर उनके अंगका अपने अंगको स्पर्श न होगा इस रीतीसे गमन करना चाहिये.

गर्चिं ठाणं गीचिं गमणं गीचिं च आसणं सयणं ॥

आसणदानं उवगरणदानमोगासदानं च ॥ १२० ॥

नीचं पानमवस्थानं नीचं ज्ञायनमरसनं ॥

प्रदानमयकाशास्य विष्टरस्योपकारिणः ॥ १२१ ॥

विजयोत्पत्त्या—भीषं च आसनं भीषेदरसनं । पृष्ठतः स्थूलपादश्चासाविभिरुदुहो यथा न भवति गुणादि-
स्तपासनं । भ्रष्टतोऽभिदुतं मनागपदस्य यामपायेऽनुदतस्येयवनतोऽतमोगस्य चासनं । आसते गुणुपविष्टे स्वयं भूमा-
यासनं च । सयणं च गीयमिति पदघटना । नीचैः ज्ञायनमिति यावत् । बहुचरे देशे सयनं, गुरुनामिप्रमाणमात्रधूमामो वा
स्थारिरो भवति यथा तथा शयनं । इस्तपानुदिनिर्गो यथा न घटयते गुर्वोदिः । आसणदानं आसितुमिच्छति इत्यवगम्य
निरूप्य अनुगु प्रमाणन्योन्यं न वेति, पद्यप्रतिवेष्टेयनेन लाववमाद्विपुल्याचितेनातिशयैः प्रमाण्यं भूमात् पीठदिकं
या आसनदानं । उपकरणदानं समस्तयमौ उपविषेते अनुगृह्यते येन वदुपकरणे पुस्तकादि प्रतीतिमिमिते तस्य दानं ।
अथवा उन्नमोत्तरावनेपणविदोपदुणस्य सुप्रतिष्ठेकस्तत्तमना लब्धस्य उपकरणस्य दानं । ओगासदानं च अवकारादानं च
शीतोत्पत्त्यावित्थनिवातावकाशदानं, उज्जादितस्य शीतलस्यानदानं, ग्रामनगरादिस्वावासास्थानदानं वा ।

१ अनुव्रते देशे इति पाठः उपलक्ष्ये ।

मूढारा—जीवं ठाणं नीचैः स्थानं गुर्वादी मान्यस्थाने वद्रीगूले निविष्टे वा उतोऽन्यत्र तस्य वामपार्श्वे पृष्ठद्वये वा शिष्टेणावस्थानं कर्तव्यमित्यर्थः । जीवं गमणं आसीत् स्थिते वा गुपे स्वयं गच्छतः शिष्यस्य तं दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्य अवतलगात्रस्य गमनं । हाहागमे वा पृष्ठतः स्वदरीरमात्रभूभागेन तं परिहृत्य गमनं । जीवं च आसणं च-शब्दोऽयमुत्तरत्र योज्यः । नीचैरुपवेशनं, पृष्ठतः स्वहस्तपादधात्साहुपद्वर्जनमपवेशनम् । अग्रतोऽभिमुखं गमनापष्ट-स्य वामपार्श्वे अनुद्धतरय मनागमनतोत्तमांगस्य चोपवेशनम् ।

आसने गुरावगुपयिष्ठे स्वयं भूमायासनं वा । गमनं व नीचमिति पदघटना । अनुजग्रे देसे क्षयनं गुरुनाभि-मात्रममाणभूमौ वा स्वशिरो धया भ्रयति तथा क्षयनं वा हस्तपादादिवदृणवर्जं । आसणदणं आसिष्टुमिच्छन्तं गुर्वादिर्कं ज्ञात्वा भूमार्गं पीठादिर्कं च प्रमाजनेयोग्यं न धेति चक्षुषा निरूप्य प्रतिलेखनेन च त्रिः शूनैः प्रचृत्य तत्र भूमौ प्रमुष्टपीठादेः स्थापनं । लघुसमलदानं योग्यस्य पुस्तकादेर्गुर्वादिना विगृहीतस्य स्वयं वा संपावनं । ओगासदणं अवकाश्वर्नं क्षीतार्तस्य स्वाधिष्ठितनिवासास्थानदानं, उष्णार्तस्य स्वसौतळस्थानं, ग्रामनगरादौ स्तनिवासस्थानदानं वा ।

अर्थ—अपने हाथ, पाँव, धातोच्यवासादिकोसे गुरु आदि मुनिजनोंको उपद्रव न होगा इस पद्धतीसे उनके पीछे बैठना चाहिये. गुरुजनोंके सम्मुख बैठना हो तो उनके वामपार्श्व बैठना चाहिये. उद्धतवारहित, अपना मस्तक किंचित नम्र कर बैठना चाहिये. गुरु आसनपर विराजमान होनेके अनंतर स्वयं जमीनपर बैठना चाहिये. गुरु जहाँ सोये हैं उसके ऊपरकी जमीनपर शिष्यका शयन करना अनुचित है. गुरुके नाभितक जो जमीनका परिमाण होगा उतनी जमीन छोड़कर नाचि सोना चाहिये अर्थात् दीह, पौन दो हाथका अंतर छोड़कर नीचले भूमीपर उनके चरण तरफ अपना मस्तक करके शिष्य क्षयन करे, अथवा अपने हाथ, पाँव इत्यादिकोसे गुरुको धक्का न लगोगा इस रीतीसे शयन करना योग्य है. जब गुरुकी बैठनेकी इच्छा दर्शवेगी तब जमीन और आसन वगैरह प्रमाजने कारनेके योग्य हैं वा नहीं यह आसनेसे देखकर नंतर हलकी और कोमल पीछीके द्वारा जमीन अथवा घटाई वगैरह स्वच्छ करके गुरुको देना चाहिये. ज्ञान और संयमका जिससे उपकार—वृद्धि होगी ऐसे शास्त्र, पीछी वगैरह इनको उपकरण कहते हैं. आसने जो उपकरण मुनियोंको ग्रहण करनेमें दोष नहीं है वह गुरुओंको यदि उनकी इच्छा हो तो प्रदान करना चाहिये. उद्गम उत्पादनादिदोषोंसे रहित जो अच्छीतप्य प्रमाजित हो सकते हैं ऐसे चाहिये. यदि गुरु यीतसे पीडित हुए हो तो अपना निर्वात स्थान उनको देंगे. यदि गुरुको उष्णतासे

चाया इदं होगी तो उनसे नीतल स्थान रहनेके लिये देना चाहिये. अथवा ग्राममें वा नगरादिकमें जहाँ अपना रहनेका स्थान होगा वह गुरुओंको देना चाहिये.

पठिरुवकायसंभ्रमसणदा पठिरुवकालकिरिया य ॥

पेसणकरणं संभारकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥ १२१ ॥

वेवाकालचयोभायचर्मयोग्यक्रियाकृतिः ॥

कतणं मेपणदीनामुपघेः प्रतिलेखने ॥ १२२ ॥

वित्तोपेक्षा—पठिरुवकायसंभ्रमसणदा कायस्य संस्पर्शने कायस्य संस्पर्शने प्रतिलेखने तस्य भागः प्रतिक्रियायुक्तमिति यावत् । गुणविशरीरादुकुलं संस्पर्शनेमिति यावत् ।

अर्थ भाग प्राप्त—मनुष्यस्य विधाया तदीयेन विच्छेदेन कस्य किं प्रभृत्य आगंतुजीववाधारिहारोपयुक्तः सादरः स्वरूपानुरूपे वायवाहकमार्गसहस्रावेष्येयं मर्दने कुर्यात् । उष्णभित्तस्य यथा शीतं भवति तथा सूर्योच्छीतास्य वशीकृतं तथा ।

पठिरुवकालकिरिया य कालछतोऽपरस्थाविशेषो धातुवारीह कालज्ञानेयोज्यते कालप्रमथनवात् । तेन वायवायुनुरूपवैवायुस्यमिदंति यावत् । पेक्षणकरणं गुणविशरीरादुक्तं । संभारकरणं पुष्पफलस्यविकसंस्तरणक्रिया । उन्नतरणपडिलिहणं गुणदीना इत्यस्यनोपकरणप्रतिलेखनं प्रस्तमनेपेक्षायां आदित्योद्गमने च ।

मूलादा—पठिरुवकायसंभ्रमसणदा गुणदिः शरीरस्यानुकूलं स्पर्शनम् । अयं वात तमः—मनुष्यस्य स्थित्वा तदीयेन विच्छेदेन तत्कार्यं त्रिः प्रभृत्य आगंतुजीववाधारिहारोपयुक्तः सादरः स्वरूपानुरूपं वायुस्य मर्दयेत् । उष्णभित्तस्य यथा शीतं वायुच्छीतास्य च यथोप्यं स्वास्थ्या रक्षेत् । पठिरुवकालकिरिया कालज्ञानेनात्र कालछतो धातुत्वधनस्थाविशेषो विवक्षित । ततो धातुत्ववायुस्य वैवायुस्यं कुर्यादित्यतिष्ठते । पेक्षणकरणं आत्मस्य कार्यस्य निष्पादने । मंथारकरणां पुष्पफलकारिसंस्तरणक्रिया । उन्नतरणपडिलिहणं । गुणविशनां पुष्पकारेतरस्तमनेपेक्षायांमिदिलोद्गमने च प्रमार्जनम् ।

पठिरुवकायसंभ्रमसणदा इति—

अर्थ—गुरु यंगरह मुनियोंने शरीरादुकुल मर्दन करना यह भी काविक विनय है. इस विषयमें ऐसी

पद्धति है—थोड़ा गुरुके नजदीक खड़े होकर उनके पीछीसे उनका शरीर तीव्रवार गोलना चाहिये. आंगंतुक जीवोंको बाधा न होगी इस रीतीसे उन जीवोंको हटाना चाहिये. और बड़े आदरसे गुरु जितना मर्दन सह सकेंगे उतना ही शरीरका मर्दन करना चाहिये. यदि उष्णतासे गुरु पीड़ित हो तो उनकी उष्णतापीडा दूर होकर जैसे उनको शीतिलास होगा वैसे अंगमर्दन करना चाहिये. शीतपीडित गुरुके अवयवोंमें उष्णता उत्पन्न होनेतक उनका शरीरमर्दन करना चाहिये. बालपना, बृद्धपना वगैरह अवस्था देहमें फालके द्वारा होती है. उस उस अवस्था के योग्य वैयाधृत्य करके दुःखपरिहार करना चाहिये. गुरुओंने जो आज्ञा की होगी वह सफल करना चाहिये. गुरुओंको सोनेके लिये वृणका विछाना करना, लकड़ोंका फलक सानेके लिये रखना, चटाई विछाना यह कर्तव्यभी कायिक विनयमें अन्तर्भूत है. गुर्वादिकोंके ज्ञानके उपकरण शास्त्र, संयमके उपकरण पिंछी, फमंदन्वादिककी स्यास्ति समय और सूर्योदय के समय स्वच्छता करनी चाहिये.

इच्छेवमादिविणओ उवयारो कीरदे सररीणे ।

एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवगस्मि ॥ १२२ ॥

व्यापारः क्रियते नित्यं यः कायेनैवमादिकः ॥

कायिको विनयोऽवाचि साधूनां स यथोचितः ॥ १२३ ॥

विनयोदया—उपकारिकविनयः । शेषं सुयमं ।

मूळारा—अहारिहो यथोचितः ।

अर्थ—गुरुजनोभि योग्यताके अनुसार इत्यादि प्रकारका विनय शरीरके द्वारा करना चाहिये. यह सब कायिक उपचारविनयका विस्तार दिसाया है. १२३

वाचिकविनयविरूपणार्थं गायत्राद्यम्—

पूयावयणं हिदभासणं च भिदभासणं च महुरं च ॥

सुचाणुवीचिवयणं अणिगुस्मककसं वयणं ॥ १२३ ॥

पूजासंपादकं चाक्यमग्निष्टुरमकंकशम् ॥

अक्रियावर्णकं अय्यं सत्यं सूत्रानुवीचिकं ॥ १२४ ॥

श्रितयोदया—पूजावर्णं पूजापुरस्सरं वचनं भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निरं कर्तुमिच्छामि शुभमद्वन्द्वे-
न्यादिकं । तिस्रमासतो च गुर्वेदीनं यद्वितं लोकद्वयस्य तस्य भाषणं । मितभाषणं यापता विशिदिगिताधर्ममतिपात्ते-
भ्यति तापदेव यन्मयं न प्रसक्तानुप्रसक्तं । मधुरं च शोधमियं । सुषाणुपीचिवयणं सूत्रानुवीचिवचनं । भाषासामे-
न्याधिकारे यानि गान्यानि निर्दिष्टानि पचांसि तेषां कथनं । अग्निरुद्धं कनिष्ठुरं परचित्तपीडलतायनुपतं । अकप्रासे वयणं
भरदशं यचनं अण्डयमिति यावत् ।

यापिकृपितनं गथाहवेनाह—

सूत्रा—पूजावचनं पूजानचनं । भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निरं कर्तुं इच्छामि भवदाक्षयेत्यादि । मितभाषणं
यापता विपक्षिवार्थस्य प्रतीतिः स्वाभाव्यमन्त्रार्थस्य वचनं । मधुरं कर्णप्रियं । सुषाणुवीचिवयणं भाषासमित्यधिकारोक्त-
वचनमागमम् । अग्निरुद्धं कन्मनाःकदधनं न । अकप्रासे अण्डयं विचयुस्त्वयं वा ।

यापिकृपितनयका निरूपण दो गथाजोति आचार्य करते हैं,

अर्थ—आदरपूर्वक भाषण करना वह पूजावचन कहा जाता है, जैसे हे पूज्य भट्टारक मैं सुन रहा हूँ,

हे भगवन् मैं आपकी आज्ञाओं यह कार्य करना चाहता हूँ, हित भाषण-गुर्वादिकोंका इहपरलोकमें हित होगा
ऐसा भाषण करना चाहिये, मित भाषण-वितना बोलनेसे अपने मनका अभिप्राय गुर्वादिकजन जान सके उतना ही
बोलना इतने जादा और अप्रासंगिक न बोलना, जो भाषण बोलना हो वह कर्णमधुर श्रावके अविरुद्ध होना चाहिये,
भाषा समितिके अधिकारमें तिन भाषणोंका उल्लेख किया है वेहि बोलने चाहिये, अनिष्टुरभाषण दूसरोंके मनको
दुःखित न कर देना, अकप्रासे-कडोरता विसर्ग नहीं है ऐसा भाषण उपयुक्त भाषण बोलना वचनविनय है, १२४

उवस्तंवयणमग्निहृत्यवयणमक्रियमह्लिणं वयणं ॥

एतो वाइयाविणओ जह्मारिहो होदि काट्ठवो ॥ १२४ ॥

उपशान्तमगार्हस्थ्यं हितं मितमहेडनम् ॥

योगिनो भाषमाणस्य विनयोऽयं चाचिकः ॥ १२५ ॥

पिजयोदया—उवसंतवयणं प्रशांतरागकोपः उपशान्तः । तस्य वचनं उपशान्तवचनं । विरागस्य विरोपस्य च यद्वचस्तदेव भाष्यं । अगिहृद्यवयणं गृहस्था मिथ्याहृद्योऽसंयता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषां यद्वचनं न भवति । तस्य अभिधानं । अकिरियं पदकर्मव्यापनपरं यत् भवति । अहीलणं परानवशाकारि । एसो व्यावर्णितवचनव्यापारः । आचिगविणजो वाचिनयो । अभारिदं यथाहं । होदि कदम्बो कर्तव्यो भवति ।

मूलारा — उवसंतवयणं विरागविरोपवचन । अगिहृत्यवयणं गृहस्था मिथ्याहृद्योऽसंयताः योग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तद्वचनानभिधानं । अकिरियं कृष्याद्यारंभवर्जनान्यं । अहीलणं अवज्ञाविशेषार्थीनं ।

अर्थ—उपशान्तवचन—जिसके राग और कोप शान्त हुब है ऐसे व्यक्तीको 'उपशान्त' कहते हैं, उपशान्त का जो भाषण उसके उपशान्त वचन कहते हैं, अर्थात् रागद्वेषहित लोक जो भाषण करते हैं वही भाषण बोलना चाहिये, अगृहस्थ वचन—गृहस्थ अर्थात् मिथ्याहृदि और असंयमी लोक वे कोनसा भाषण बोलने योग्य है कोनसा योग्य नहीं है कुछ जानते नहीं हैं ऐसे लोगोंके सरीखा भाषण न बोलना चाहिये, अर्थात् योग्य भाषणको अगृहस्थ वचन कहते हैं, अक्रियवचन—असि, मरि, कृष्यादि पदकार्योंमें प्रवृत्त करनेवाला भाषण जीववाधाके लिये हेतु है, ऐसे भाषणका त्यागकर जीवोंका रक्षण करनेवाला भाषण बोलना चाहिये,

अहीलणवचन—दुसरोंकी अवज्ञा करनेवाला वचन नहीं बोलना चाहिये इस प्रकारके यथायोग्य वचन बोलना यह वाचनिक विनय है,

मात्स्यिकपिनयं निरूपयति—

पापविसोत्तियं परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ॥

णायव्वो पुरेव्वेण एसो माणस्सिओ विणओ ॥ १२५ ॥

हितप्रियपरीणामं विवधानस्य मानसः ॥

पापास्त्रपरीणामं मुंचतो विनयो मतः ॥ १२६

पिजयोदया—पापविसोत्तियं परिणामवज्जणं पापशब्देन अनुपमकर्मण्युच्यते । सोक्तः प्रब्रह्मः श्रोत इव अविच्छेदेन प्रवृत्तेः । फर्मणि अस्मि पापविद्योदुःशाब्देन उच्यते । पापविसोत्तियोज्जनाः परिणामा पतेषां वर्जनं । इह गुरुविनयस्य प्रस्तुतत्वात्, पुरुषिपयोऽनुमः परिणामः । आत्मनो यथेष्टादित्तवित्तारणजनितकोचाः । अविनीतसादशोनावसु-मदाभाषमपेक्ष्य ताव्यवस्यति । पूर्ववच यथा शब्द संभरणं करोति इति वा कोचाः । शुचयिनोरे बालस्थं, गृहं प्रहयञ्ज,

निद्रा, संश्रमः, तन्मतिपुलकचिरित्येवमादयः । पिबहिदे य परिणामः । गुरोर्येदियं तस्यै यद्वित् आत्मने वा तत्र परिणामः ।
जातयेत इत्येकः । संतरेषु समासेन । एतः एतः । भाष्यसिगो मानसिकः । विणलो विनयः ।

मानसविनयमाह—

मूढारा—भावविभेदिय परिणामवञ्जणं । पापान्यनुमकमाणि सान्येव विशिष्टं स्तोत्रः प्रवादः अत्रिच्छेदेन
प्रवृत्ताः । पापरिरोधः प्रयोजनं येन ते पापविशोदिकाः ते च ते परिणामारच । ते चेह गुरुविषयास्तद्दिनयस्य प्रसुत्वात् ।
आत्मनो यथेष्टचारित्यनिर्वाण्यनितः क्रोलो अविनीतवार्द्धमाद्वुमुद्गाधामोदस्य मां नाध्यापयति पूर्ववत् । मया सह
संभाषणे न करोमिदि वा क्रोपो । गुरुविनये आलस्यं, गुरुं प्रत्यवका, निन्दनसंयमस्तत्कालिकूलवृत्तित्वेवमादयः । विप-
हिदे गुरोर्येदियं स्वतः च यद्वित् तस्मिन् ।

अर्थ—सिक्तने पापसमुदास्यका जलहप्रवाहकं समान अद्यङ्गरूपसे आगमन होया ऐसे परिणामोंको अपने
हृदयमें मानसिक विनय धालन करनेवाले युनिऑने उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये, यहा गुरुविनयका प्रकरण है
इसलिये गुरुनिषयका अशुभ परिणाम मनमें उत्पन्न न होने देवे

गुरु ज्ञान शिष्यका स्वराचार देखते हैं तब वे उसका निवारण करते हैं, ऐसे समयमें शिष्य अपना मन
यदि क्रोधमग्नता करेगा तो अशुभ कर्मका आस्रव होने लगेगा। शिष्यकी उद्वेकृति देखकर गुरु उनपर अनुग्रह
नहीं करते हैं, तब मेरेको गुरु पडाते नहीं हैं, प्रकृति समान मेरेसे संभाषण नहीं करते हैं ऐसे विचार कर गुरुविषयक
क्रोध शिष्यके मनमें उत्पन्न होता है, यह पापागमनका कारण होता है ऐसा समझकर छोड़ देना चाहिये। गुरु-
विनयमें आलस्य करना, गुरुकी आज्ञा करना, निंदा करना, उसका आदर न करना, उनके विरुद्ध चलना ये
सब कुचेष्टायें छोड़ देनी चाहिये। गुरुको जो प्रिय लगे जोर किसी उसका हित होगा, स्वपंका भी जो हित
करेगा ऐसा परिणाम—संकल्प मनमें उत्पन्न करना चाहिये, इस तर्कसे मानसिक विनयका संश्लेषसे वर्णन किया है.

इय एतो पञ्चमलो विणओ पारोक्खिओ धि जं गुरुणो ॥
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाण्हिसच्चारियाए ॥ १२६ ॥

इत्थयं चिनयोऽध्यक्षः परोक्षः स मतो गुरोः ॥

अप्रत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञानिर्देशाचर्ययोः ॥ १२७

विजयोदया—इय एवं । एसो एयः । पञ्चक्वो प्रत्यक्षो विनयः । साक्षितगुरुविषयत्वात् । पारोक्षिको वि गुरोः परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः । कोऽसाविति चेवाह—गुरुणो विरुद्धमि विवद्विज्ञा गुरोर्विरेहऽपि, यक्रियते । आणाणिदेसचरियाए । आक्षायम्—इत्येव भयता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्यमिति यमिदिदपते तवाजानिर्देशाः । 'बहुतमो विहारो दसगणचरणेषु कावलो' । इत्येवमादिसदृशाः ।

एवं त्रिया प्रत्यक्षविनयं निरुत्त्व परोक्षविनयं क्वाचष्टे—

मूढारा—गुरोर्क्रिणो गुरो परोक्षे क्रियमाणः । अणाणिदेसचरियाए । आज्ञायामित्येव त्वया मुमुक्षुणा कार्यं, न कदाचनेत्यर्थं इति साक्षिर्देशाख्यार्थां गुरोः सामान्यविक्षेपोपदेशानुष्ठाने इत्यर्थः ।

इय एसो पचक्वो इति—

अर्थ—इस प्रकार प्रत्यक्षविनयका वर्णन किया. अब परोक्षविनयका वर्णन करते हैं— गुरुके परोक्षमें किया जानेवाला जो विनय उसको परोक्षविनय कहते हैं. जैसे तुम मुमुक्षु हो इसलिये तुम आगमके अनुसार आचरण करो, विरुद्धाचरण कभी भी मत करो ऐसी गुरुकी आज्ञा गुरुके परोक्ष भी यथार्थ रीतीसे पालन करना परोक्ष विनय है. 'बहुतमो विहारो दसगणचरणेषु कादव्वो' सम्मदर्शन, ज्ञान और सम्पक्वचित्तरूपरत्न-त्रयमें उचरोत्तर अधिकरूपसे प्रवृत्ति करो ऐसा गुरुका उपदेश उनके परोक्षमें भी पालन कराया यह परोक्ष विनय है.

न गुरुत्वेव विमयः कार्ये इति ब्रह्मतत्त्वं, पतेच्चपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गो ॥

विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२७ ॥

संयतानां गृहस्थानां आर्यिकाणां यथायथम् ॥

विनयः सर्वदा कार्यः संसारान्तं गियासुना ॥ १२८ ॥

विजयोदया—राइणिय अराइणीएसु यथा ख्वावि दुर्लेभावि अभिलाषितवानक्षमाणि तथैव सम्पन्नदर्शनज्ञान-चारियाणि रजसाञ्चव्याधानि श्रद्धानादिपरिणामोन्नेत्येव वर्तमानः । रायणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरक्षय्या-चरणपणिया । अथ वा राइणिग उभयपक्षविनेसु ज्येष्ठकनिष्ठयत्सु च शेषं सुगमं ।

तदेवम्पि च विनयोऽभिप्रेय इत्यधुनाभिप्रेते—

मूढार—रादिभिर्गङ्गारादिभिर्निगेषु । रादिभिर्मा आत्मनः सकाशाद्वल्लज्येणाधिकाः सगा वा साचवः । ऊमरारि-
भिर्गा अपनरात्रिनाः आत्मनः सकाशाद्वल्लज्येणाधिकाश्च तेषु अपरैकरात्रादिना ज्येष्ठकनि-
ष्टेदित्यन्वये ।

‘कृत्त गुरुका ही विनय करना चाहिये ऐसा नहीं समझना परंतु मुनि, आर्यिका, धावकर्मका भी विनय
प्रथायोग्य करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे रत्न दुर्लभ होते हैं परंतु उनकी शक्ति होने पर उनसे अभिलषित पदार्थ मिलते हैं, वैसे
साम्प्रदर्शन, मान और चारित्र दुर्लभ हैं इसलिये इनको रत्नवत् कहते हैं, यह रत्नवत् जीवोंका अभिलषित पदार्थ
जो मोक्ष पद देता है, रत्नवत् रूप परिणाम जिसके उत्कृष्ट हे ऐसे मुनिको ‘रायणीय’ ऐसा नाम है, अपने
मे जिस मुनिता रत्नवत् न्यून है वह मुनि ‘अरायणीय’ इस नामका धारक है, अथवा जिसके अपनेसे श्रेष्ठव्रत
है और जिनके अपनेसे न्यून व्रत है उनको भी उपर्युक्त शब्दोंका क्रमसे प्रयोग कर सकते हैं, अर्थात् उपर्युक्त
मुनिओंका उनके योग्यवस्तुसार आदर करना चाहिये, आर्यिकार्य और गृहस्थवर्ग इनका भी प्रथायोग्य विनय
करना चाहिये.

विनयसभापे शेषमापटे-शेषमरुत्तेन भयमुत्पाद्य विनये दृढतां कर्तुम्—

विष्णुण विष्णुहणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ॥

विष्णओ सिक्खाए फलं विष्णयफलं सव्वकट्ठाणं ॥ १२८ ॥

विनयेन विना शिक्षा निष्फला सकला यतेः ॥

विनयो हि फलं तस्याः कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥ १२९ ॥

विजयोदया—विष्णुण विष्णुहणस्स विनयरहितस्य यते । दुर्बल सिक्खा विरत्थिया सर्वशिक्षा निष्फला । किं
शिक्षायाः फल इत्यारेदय आह—विणयो सिक्खाए फलं च्यायन्तिः पक्वमृदोसे विनयः शिक्षायाः फल । तस्य विनयस्य
किं फलं ? पुराणयो हि फलमित्याद्याप्याह—विष्णयफलं सव्वकट्ठाणं सर्वमभ्युदयनिःश्रेयसवरूपं कल्याणस्थानमा-
नैश्वर्त्यादिकं ईदृशिसुखं च ।

इत्थयं विनयोऽध्यक्षः परोक्षः स भूतो गुरोः ॥

अमृत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञानिर्देशाचर्ययोः ॥ १२७

चिज्योदया—इय एव । पञ्चमस्तो प्रत्यक्षो विनयः । सञ्चितितुल्यवियवत्वात् । पारोक्षिको धि गुरोः परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः । कोऽसाविति चेत्वाह—गुरुणो विरुद्धमि विरुद्धिच्चर गुरोर्विरुद्धेऽपि, यत्क्रियते । आणागिदेसचरियाए । आश्रयाम्—इत्यत्रैव भगता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्यमिति यत्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देशः । 'यदुतगो विद्वारो दंसणपाणचरणेषु कादब्बो' । इत्येवमादिसदृशः ।

पर्व त्रिधा प्रत्यक्षविनयं निरूप्य परोक्षविनयं न्याषष्टे—

मूळारा—पारोक्षिकगो गुरो परोक्षे क्लिबमाणः । आणागिदेसचरियाए । आश्रयाभितथमेव त्वया मुमुक्षुणा कार्यं न कदाचनैत्य इति यत्निर्देशात्कार्यार्थानां गुरोः सामान्यविशेषोपदेशानुष्ठाने इत्यर्थः ।

इय एसो पचमस्तो इति—

अर्थ—इस प्रकार प्रत्यक्षविनयका वर्णन किया। अब परोक्षविनयका वर्णन करते हैं— गुरुके परोक्षमें किया जानेवाला जो विनय उसको परोक्षविनय कहते हैं, जैसे तुम मुझसे हो इसलिये तुम आगमके अनुसार आचरण करो, विरुद्धाचरण कभी भी मत करो ऐसी गुरुकी आज्ञा गुरुके परोक्ष भी परार्थ रीतीसे पालन करना परोक्ष विनय है, 'बहुतगो विद्वारो दंसणपाणचरणेषु कादब्बो' सम्मन्दर्शन, ज्ञान और सम्भारूचारित्र रूपरत्न-त्रयमें उपरोक्त अधिकाररूपसे प्रवृत्ति करो ऐसा गुरुका उपदेश उनके परोक्षमें भी पालन करना यह परोक्ष विनय है।

न गुरुयेव विनयः कार्य इति प्रहीतव्यं, पतेच्चपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ॥

विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२७ ॥

संयतानां गृहस्थानां आर्थिकाणां यथायथम् ॥

विनयः सर्वदा कार्यः संसारान्ते यियासुना ॥ १२८ ॥

विज्योदया—राइणिय अराइणीएसु यथा एवमिति गुरुं यानि धम्मिणापितदानधम्मणि तथैव सम्मन्दर्शनज्ञान-वाटिथायि रत्ताध्यायधम्मनि अज्जासु अराइणीएसु नोत्तरेण वर्तमानं । राइणिय इत्युच्यते । आत्मनो भ्यूतरत्तज्ञानया सरायणिया । भय वा ऐरिणिण ऊपपायिणियेषु अवेककनिष्ठवत्तेषु च शेषे सुखम् ।

गतेत्यपि च विनयोऽभिप्रेय इत्यधुनाभिप्रेतो—

मूलतः—रात्रिणिगज्जरादिनिमित्तम् । रात्रिणिमा आत्मनः सकाशाद्व्यवयवाधिकः समा वा साधवः । ऊमरादि-
णिमा ऊमरादिका आत्मनः सकाशान्नूतल्लयः । रात्रिकाश्च अवमरादिकाश्च वेदु तपसैकरात्रादिव ज्येष्ठकलि-
प्रेक्षित्वन्त्ये ।

फक्त सुदृका ही विनय करता चाहिये ऐसा नहीं समझना परंतु शुनि, आर्यिका, श्रावकर्यका भी विनय
वधायोग्य करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—ऐसे रत्न दुर्लभ होते हैं परंतु उनकी प्राप्ति होने पर उनसे अधिकपित वदार्थ मिलते हैं, ऐसे
सम्बन्धार्थ, ज्ञान और चारित्र दुर्लभ हैं इसलिये इनको रत्नत्रय कहते हैं, यह रत्नत्रय जीवोंका अभिलषित पदार्थ
तो मोक्ष वह देता है, रत्नत्रयरूप परिणाम वित्तके उत्कृष्ट हैं ऐसे शुनिको 'रात्रिणि' ऐसा नाम है, अपने
से जिस शुनिरा रत्नत्रय न्यून है वह शुनि 'आर्यणीय' इस नामका धारक है, अथवा जिसके अपनेसे श्रेष्ठत्रत
है और जिसके अपनेसे न्यून त्रत है उनको भी उपर्युक्त शब्दोंका ज्ञानसे प्रयोग कर सकते हैं, अर्थात् उपर्युक्त
शुनिओंका उनके योग्यतानुसार आदर करना चाहिये, आर्यिकाएँ और गृहस्थवर्ग इनका भी वधायोग्य विनय
करना चाहिये,

विनयानां च दोषमाशु-दोषमकटकेन मय्यनुत्पाद्य वित्तये ददतां कर्तुम्—

विणपण विष्णुपूणस्त हवदि सिक्का पिरत्थिया सव्वा ॥

विणओ सिक्काए फलं विणयफलं सव्वकल्लणं ॥ १२८ ॥

विनयेन विना शिक्षा निष्फला सकला यतैः ॥

विनयो हि फलं तस्याः कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥ १२९ ॥

विनयोद्या—विणपण विष्णुपूणस्त हवदि सिक्का पिरत्थिया सर्वशिक्षा निष्फला । किं
दिश्याया फल इत्यारेभ्य आह—विणओ सिक्काए फलं व्यावर्जित एतमकारो विनय शिक्षाया फल । तस्य विनयस्य
किं फल ? पुण्यार्थो हि फलमित्याशङ्क्याह—विणयफलं सव्वकल्लणं सर्वमभ्युद्यनि धेयसत्तुप कल्याणस्यानामा
नैश्वर्यादिकं ईदृशसुखं च ।

विनयफलं गायाननुष्ठयेन व्याचिख्यासुर्विनयागावे दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढतां कर्तुमाह—
 मूलारा—सर्वकदाहणं सर्वमप्युदयनिःश्रेयसरूपं कल्याणं स्थानमानैश्वर्यादिकर्मिन्द्रियार्निद्रियसुखं च ।
 विनयके अभावसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं, अर्थात् दोषप्रकटनसे भय उत्पन्न करके विनयमें दृढता उत्पन्न करते हैं.

अर्थ—जो श्रुति विनय नहीं करता है, उसकी सब शिक्षा व्यर्थ होती है, क्योंकि उक्त पांच प्रकारका विनय शिक्षाका फल है, यदि शिक्षासे विनयकी प्राप्ति न हुई तो शिक्षाकी प्राप्ति करना व्यर्थ ही है, जैसे शिक्षाका फल विनय है वैसे विनयका फल क्या है ? पुरुषार्थ उसका फल है ऐसा किसीने उत्तर दिया, तब आचार्य कहते हैं कि नहीं यह उत्तर नहीं है, किंतु पंचकल्याणिकोंकी प्राप्ति होना, ऐश्वर्य प्राप्त होना, इंद्रियसुखकी प्राप्ति होना ये सब विनयके फल हैं.

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ॥

विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंचो य ॥ १२९ ॥

विमुक्तिः साध्यते येन आमरणं येन बध्यते ॥

त्वराराराध्यते येन येन संघः प्रसाध्यते ॥ १३० ॥

विनयेन विना तेन निर्धृतिं यो यियासति ॥

तरहेन विना मन्ये स नितीर्यति वारिधिं ॥ १३१ ॥

विनयोदय—विणओ मोक्खद्दारं यथा दारमभिमतदेशप्राप्तकृपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरयदेशक्रमोपायस्य प्राप्यमुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपितेषु पंचप्रकारेषु विनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसंयमं परित्यज्य शक्नोति तापः । इंद्रियकषाययोरप्युपनिधानं यदि न स्यात् कर्माग्निन्द्रियसंयमः प्राप्तिंसंयमो वा भवति ? तवो तयः ज्ञाना-
 दिविनयशून्यं अनद्यानादिकं न कर्म तपतीति विनयेहेतुकं तात्त्विकमिति मत्स्योच्यते विनयात्तप इति । णाणं ज्ञानं च विनयहेतुकं । अविनीतो हि ज्ञानं न लभते । विणएण विनयेन । आराधित्वजिदि आराध्यते स्ववशे स्थाप्यते । आयरिओ आचार्यः । सव्वसंचो य सर्वसंघः य सर्वसंघः ॥

मूलारा—मोक्खद्दारं यथा दारमभिमतदेशप्राप्तकृपायस्तद्वन्मोक्षप्राप्तोर्विनयो यद्योके विनये सत्येव कर्मोपायसंभवात्

अर्थ—अने दरवाजा इच्छित दगुकी मासिका उपाय ह वस संपूर्ण कर्मका चासल्य आ मासिक उपायमा प्राप्तिया नियम उपाय है. अतः विनय मोक्षका द्वार है ऐसा आचार्य कहते हैं. उक्त पांच प्रकारके विनयोंमें जो हमेशा श्रुति करता है वह असंयमता त्याग करनेमें समर्थ होता है. विनय न करनेवाला मनुष्य उद्धत होकर अंगणवी रनता है. इसलिये विनयमें संयमकी प्राप्ति होती है. इंद्रियोंके विषयसे और कषायपरिणीतीसे यदि आत्मा नहीं हटेगा तो इंद्रियसंगम और प्राणिसंयमकी रक्षा केंती होगी. ज्ञानविनय, दर्शनविनय वगैरह विनयोंसे मनुष्य अनयनादि तप कर्मको पीडित नहीं कर सकता है. इसलिये विनय तपका कारण है ऐसा आचार्य कहते हैं. निनयमें ध्यानकी प्राप्ति होती है. अविनयी मनुष्यको ज्ञानका लाभ होता नहीं विनय करनेवालेपर आचार्य प्रभाव होते हैं. सर्व संप भी उनके सब होता है.

आचारजीदकप्यगुणवीवणा अक्षसोधि गिज्जंसा ॥

अज्जव महव लायव भत्ती पल्हादकरणं च ॥ १३० ॥

कल्याणारपरिज्ञानं दीपनं मानमंजनम् ॥

आत्मशुद्धिरयैचित्त्यं मैत्री सार्दयमार्जवम् ॥ १३१ ॥

विशेषवृषा—आचारजीदकप्यगुणवीवणा-रसनयावरणनिरूपणपरतया प्रथममेवमाख्योरसाम्यनोच्यते । आचारशास्त्रार्थः प्रायः आचारजीदशेन उच्यते । कल्प्यते अभिधीयते येन यपरथातुक्रो वृंहः स कल्पस्तस्य गुणः उपकारस्तेन निरपेक्षतया । ममयोः प्रकाशनं आचारजीदकप्यगुणवीवणा । एतदुक्तं भवति—कायिको वाचिकश्च विनयः प्रयत्नमूलः आचारशास्त्रनिर्दिष्टं कर्म प्रकाशयति । कस्योऽपि विनयं विनाशयतो वृद्धयते विनयं निरूपयति । तद्व्याप्यं प्रयत्नं इति कल्पसंपाद उपकारः प्रकटितो भवति इति केवलं चिन्तास्वप्नं । भव्ये तु प्लव्ति । कल्प्यते इति कल्प्यं योग्यं कल्प्या गुणाः कल्प्यगुणाः । आचारग्रन्थस्य कल्प्यानां च गुणानां प्रकाशनं । आचारजीदकप्यगुणवीवणादभ्येनोच्यते । श्रुतसंपादना पारितोषना च कृता भवतीत्येतदुक्त्यात् अनेनेति ।

भरुसोधिगिज्जंसा विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानवर्धनवीतरागात्मिकाया त्रिभिर्चामिति आत्मशुद्धिरुच्यते । मरुपा ज्ञानादिविनयपरिणतिः कर्ममलपायात्मन्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मनः पञ्चापयच्छया उल्लासिदुक्षितिश्च । धैर्यमस्याभायो गिज्जंसा । विमनस्को भवति विनयहीनो गुणोर्ध्वमिरतनुष्टयमाणा ।

अज्ञानं आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः, शास्त्रनिर्दिष्टं वा चरणं ऋजु । गृह्य अभिमानस्यागो । भादवं परगुणातिशये श्रद्धात्वेन, तन्माहात्म्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमानविरागः कृतो भवति ।

लाघवं विनीतो हि आचार्यादिषु न्यस्तभरो भवतीति । लाघवं विनयमूलं । भस्मी विनीतस्य हि सर्वज्ञो विनीतो भवति । इति विनयहेतुका भक्तिः । पञ्चदशकरणं च प्रकृष्टं सुष्ठु प्रकृष्टसुष्ठु प्रवृद्धादस्तस्य करणं क्रिया प्रवृद्धाकरणमित्युच्यते । योगं विनयः क्रियते तेषां सुष्ठु संपादितं भवति इति परानुग्रहो गुणः वात्पनो वा प्रवृद्धादकरणं । कथमविनीतो हि निर्भर्त्सनादिभिरन्वहतं दुःखितो भवति । विनीतो हि निर्भर्त्सनाद्यभावात्सुखी भवति । याधामये एव सुखव्ययद्वारो लोके ।

मूलार्थ — आचारेत्यदि आचारशास्त्रनिर्दिष्टः क्रमः आचारजीवः । कल्पगुणः प्रायश्चित्तशास्त्रे कृत उपकार-स्तयोर्वीपना प्रकाशना । अन्ये तु कल्पा योग्या गुणा इत्याहुः । अत्रसोऽपि आत्मशुद्धिर्विपरिणतेर्ज्ञानदर्शानयोदरागता-लक्षणतन्माहात्म्यनिमित्तत्वात् । किञ्चक्ष्मा वैमनस्याभावः । विनयहीनो हि गुर्वोदितानुगुणमाणो विमनस्कः स्यात् । अज्ववं आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः शास्त्रनिर्दिष्टं वाचरणं ऋजुः । सरयं निरभिमानता । परगुणाविशेषश्रद्धात्वेन तन्माहात्म्यप्र-काशनेन च विनयो ह्यभिमानं निरस्यति । लाघवं विनीतस्याचार्यादिषु न्यस्तभारत्वात्सुष्ठु न्यात् । भस्मी विनीतस्य सर्व-जनभाक्विषयत्वात् । पञ्चदशकरणं परेषां स्वस्य वा प्रकृष्टसुष्ठुलोत्पादनम् ।

अर्थ—रत्नत्रयके आचारका निरूपण करनेवाले पहिले अंगका 'आचार' यह नाम है, आचारशास्त्रमें कहे हुए क्रमको आचारजीव कहते हैं, जिसमें अपराधानुरूप दंडका विधान कहा है उस शास्त्रको कल्पशास्त्र कहते हैं, इससे जो उपकार उत्पन्न होता है उसको कल्पगुण कहते हैं, इस कथनका यह अभिप्राय है—किया जानेवाला काधिक और याचिक विनय आचारशास्त्रके क्रमको प्रकाशित करता है, कल्पशास्त्र भी विनयका माश करनेवालेको दंड करता हुआ विनयको प्रगट करता है, अर्थात् कल्पशास्त्रके भयसे साधु विनय करने लगते हैं, विनयसे कल्प-संपादित उपकार प्रगट हो जाता है, ऐसा कोई आचार्य व्याख्यान करते हैं, दूसरे आचार्यका व्याख्यान इस प्रकार है—योग्य गुणोंकी कल्पगुण कहते हैं, आचारका क्रम और कल्पगुण अर्थात् योग्य गुण इनका जो प्रकाशन करना उसको 'आचारजीवकल्पगुणदीवना' ऐसा कहते हैं, अर्थात् विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्र्यकी आराधना सिद्ध होती है ऐसा मात्र समझना चाहिये,

विनयसे आत्मशुद्धि और निर्दोषता पैसे दो गुणोंकी प्राप्ति होती है, विनयसे ज्ञानदर्शनरूप आत्मशुद्धि

होती है, ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणति फर्मपलका नाश होनेसे प्राप्त होती है, अतः ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणतिको ही आत्माकी शुद्धि कहते हैं, कीचटका नाश होनेसे जलादिकोकी जैसी शुद्धि-निर्मलता होती है वैसी फर्मपलका नाश होनेसे आत्मामें ज्ञानविनयादि शुद्धि उत्पन्न होती है, विनयमें वेमनस्य नष्ट होता है, जो विनय नहीं करता है उसके ऊपर गुरुका अनुग्रह नहीं होता है जिससे उसमें वेमनस्य उत्पन्न होता है, विनयसे मनुगुण-सारलता प्रगट होती है, अथवा जो विनय करता है वह शास्त्रनिर्दिष्ट आचरण करता है यह सिद्ध होता है, विनय करनेसे अभिमानका नाश होता है, अर्थात् मार्दवगुण प्रगट होता है, दूसरोंके उत्कृष्ट गुणोंमें श्रद्धा उत्पन्न होनेसे, और गुणोंका महत्त्व प्रगट करनेसे तथा विनयसे अभिमानका नाश होता है, विनयसे लाघवगुण प्राप्त होता है, निर्नीतगुणि आचार्योंदिकोपर अपना भार सौंपता है, अर्थम् जो कुछ कार्य करता है वह आचार्योंकी छुपायेही मैं यह कार्य कर सका हूँ ऐसा समझता है, अतः विनय लाघवगुणका मूल है, विनयी मनुष्यके ऊपर सर्व ही भक्ति करते हैं, विनयसे दूसरे पुरुषों को उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है और खुद को भी आनन्द होता है, जो विनय नहीं करता है, लोक उत्तर्क निर्वर्त्तना करते हैं अतः अविनयी मनुष्य हमेशा दुःखी रहता है, विनयी की कोईभी निंदा-निर्वर्त्तना नहीं करता है अतः वह सुखी है उनको कोई याथा नहीं देता है, वाचार्थक अभावमें ही सुखकी लोक कल्पना करते हैं,

किञ्ची मेत्ती भाणस भंजं गुरुजने य बहुमाणो ।

तिथ्यवराणं आणा गुणानुभोदो य विपथगुणा ॥ १३१ ॥

भक्तिः प्रत्यादानं कीर्तितार्थिवं गुरुगौरवं ॥

जिनेन्द्राज्ञा गुणश्रद्धा गुणा चैनयिका मन्ताः ॥ १३२ ॥

विनयं न विना ज्ञानं दर्शनं चरितं तपः ॥

कारणेन विना कार्यं ज्ञायते कुत्र कथ्यताम् ॥ १३३ ॥

सम्यग्ज्ञानं संपदः सद्यो विधाय वशवर्तिनीः ॥

चिन्तामणिरिचाभीष्टं विनयः कुरुते न किम् ॥ १३४

इति विनयः ॥

विजयोदया—किन्ती विनीतोऽयमिति संशयं न कीर्तिः । मेरी कर्पां दुःखानुपत्यमिच्छापो मेरी । परस्य दुःखं
 विनीत इति । माणस्स भंउणं मानस्य मंगः ।

ननु मादृशान्वेनाभिहित एव मानभेगः पूर्ववच्चैः ततः यौमरूपस्य इत्युच्यते भाणस्स भञ्जनं परस्स इति शेषः
एकस्य विनयदर्शनात् परोऽपि स्वं मानं जहाति । गतावुगतिर्को हि प्रायेण लोकः । नूनमभिमानत्यागो गुणो क्षय्यया
किमित्ययं धिनयं करोतीति । शूरस्यो हि बहुमभ्याः कृता भवन्ति विगयेनेत्याह—युरज्जे य यद्धमाणो इति ।

तिर्य्यद्वर्ण आणा संपादिता होतिस्ति दोषः । विनयमुपदिशतां तीर्थरुतां आज्ञा संपादिता भवति, अमुष्टितेन विनयेन । गुणविनयं प्रयतयता तवीयगुणानुमनं कृतं भवति इति केचित् । गुणेषु अद्यामाविसु हर्षः कृतो भवतीत्येवं वदन्ति । एते विनयगुणाः गुणशब्द उपकारवद्बोध्य विनयजन्यत्वादिनयस्य गुणा इत्यर्थ्येते ।

मूलाद्या — किंती विनीतोऽयमिति संशय्यन् । मिथी परस्य हि दुःखं नैवेच्छति विनीतः । माणस्त मंजणं परस्य हि मानसंग एकस्य विनयदर्शनात्परोऽपि स्वमानं त्यजति । गतानुगतिकत्वाद्भोक्तस्य । गुर्वित्यादि । विनीतेन हि गुरवो बहुमान्याः कृताः स्युः । आणा संपदिवा होवीति शेषः । शुणानुमोदा गुणिषु विनयं दितव्यत्वा तदुणाजुमननं कृतं स्यात् । गुणेषु वाजुगतो मोवो हर्षो शुणानुमोदः । विनयगुणा विनयकृत्वा उपकारः । विनयः । सूत्रवः । ४ । अंकताः २३ ॥

अर्थ—जो मुनि गुरुजनोंका विनय करते हैं उनकी 'ये श्रुति नम्र है' ऐसी कीर्ति जगमें फैलती है, जो विनयी है उसको भैत्रीगुणका लाभ होता है अर्थात् वह किसी को भी दुःख होवे ऐसी अधिलापा रखता नहीं है। विनयगुणसे मानका नाश होता है, शंका—भार्दवगुणका वर्णन पिछली भाषामें किया है उससे ही मानभंगका वर्णन हो चुका पुनः इस भाषामें वर्णन करनेसे पुनर्बक्ति दीप बहा हुआ है, उत्तर—'माणस्स भंजणी' इन शब्दोंके आगे 'परस्स' यह शब्द जोड़ देना चाहिये, अर्थात् एक मनुष्य विनय करता हुआ नगर ओनस दूसरा भी अपना मान त्याग कर विनय करता है क्योंकि लोक प्रायः गतालुगणिक होते हैं, लोक भी ऐसा मनमें समझते हैं कि अभिमानका त्याग करना यह सद्गुण है यदि यह सद्गुण न होता तो यह पुरुष विनयगुणका क्यों आश्रय लेता ? विनयमें गुरुजनोंका आदर होता है, विनय करनेसे गीर्ध्वरोंकी आज्ञा जातीपत्ती है नीचकोने जालीका चित्र

चाहिये ऐसी श्रव्योंको आज्ञा की है. गुणी लोकोका विनय करनेसे उनके गुणोंको अपनी सम्पत्ति है ऐसा सिद्ध होता है अथवा दूसरोंके सम्बन्धनादि गुण दीखनेपर विनयवान जन हर्षयुक्त होते हैं. यह हर्षित होना गुणानुमोदनको प्रशिक्ष करता है. ये सब ऊपर कहे हुये विनयके गुण हैं.

विनश्यद्व्याख्यानांतरं समाधिनिरूपणार्थं उच्यते । योगस्य, गृहीतात्मिकस्य, ज्ञानभावनोपपत्त्य, काले निरूपिते विनये पर्यंतमात्रस्य, राजप्रथमस्य, सम्यग्पराचरं म्याव्यमित्यधिकारसंबन्धोऽनुगतस्य । अतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं कलामिति चोच्यदयमिति विबोधनायां ग्राथा विणयस्मिन् ॥

चिन्तं समाहिदं जस्त होञ्च वञ्चिद्वितोत्तिं वसियं ।

सो बहदिं णिरदिचारं सामण्णयूरं अपरिसंती ॥ १३३ ॥

समाहितं मनो यस्य घटं त्यक्ताशुभल्लयम् ॥

उद्यते तेन वारिन्मय्रातिनापदपणम् ॥ १३५ ॥

[illegible]

अथ योगस्य, गृहीतशुक्लपुष्पायलिंगास्य, ज्ञानभावनोत्ततस्य, वित्तये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मनसः सम्यग्भाषानं न्याय्य-
मित्युपदेष्टुं गार्गादक्षकमादिशति तत्र तावन्त्येव समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति प्रश्ने सतीदमाह ।

मूळारा—चित्तं भावमनः । तद्वर्धनं यथा—गुणद्वयोपविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः । तदभिमुख-
स्यास्यैवाहुनाहो पुद्गलोचयो द्रव्यमनः ॥ १ ॥ ध्वजित्यवितोषिर्गं वजितवितोषकं वजितानि निरुपाणि खोलासि पापास-
वकारणाहुभपरिणामप्रवाहा येन तत्पविरित्यक्ताहुभपरिणविप्रसरमित्यर्थः । वसग वक्षवति । यत्र नियुक्ते वजेव लिङ्गीत्यर्थे
एतद्विशेषनोपेतं समाहितमित्युच्यते । साम्पण्यद्वारं चारित्र्यमाह । अपरितोक्तो अक्रान्तः ।

वित्तयेके निरूपणके अनंतर आचार्य समाधिभरणकेलिय योग्य है, जिसने
सुनिर्लिङ्ग धारण कर ज्ञानाभ्याससे विनयगुण धारण किया है, जिसका मन रत्नत्रयमें लीन हुआ है उसको
आराधना करना योग्य है, ऐसा अनेके अधिकारके लिये पूर्व संबंध ध्यानमें रखना योग्य है, इसके अनंतर एकाग्र
अन्त करणका क्या स्वरूप है ? उसका फल क्या है ऐसे दो प्रश्नोंका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—जिसके चित्तने अद्भुत विचारपरिणविक्रो छोड़ा है, जो बड़ा हुआ अर्थान् जिस पदार्थमें उसको
नियुक्त करते हैं वहा ही वह स्थिर होता है तो वह चित्त समाहित हुआ है ऐसा समझना चाहिये, अन्य आचार्य
मनका एवं विचार करते हैं—चित्त किसको कहते हैं ? यदि मनको जिस कहते हो तो उसके द्रव्यमन और भावमन
ऐसे दो भेद हैं, यहाँ कौनसा मन समाहित होता है ऐसा हम समझे ? द्रव्यमन तो समाहित होना नहीं क्योंकि
यह पुद्गलस्वरूपी है, वह फर्मका ग्रहण करनेमें यद्यपि निमित्त कारण है तथापि स्वयं वह रागद्वेषादि फर्मरूप
परिणतीको प्राप्त होता नहीं है, इसलिये द्रव्यमनका 'वज्जिदविसोचिर्ग' वह विशेषण नहीं है, क्योंकि पुद्गल मन
अर्थात् द्रव्यमन आत्मके यक्षमें रहनेवाला नहीं है अतः यहाँ चित्त शुद्धसे भावमन ही समझना चाहिये, भावमन
माने मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान वह रागद्वेषादि विकारके साथ रहनेवाला और न रहनेवाला ऐसे दो भेदसे युक्त
है, अतः भावमनका ही 'वज्जिदविसोचिर्ग' यह विशेषण समझना युक्तियुक्त है, वासिर्गं यह भी विशेषण उसमें
ही जुडता है,

नोहंद्रियमतिज्ञानावरण कर्मस्र क्षयोपक्रम होनेसे नोहंद्रियमविज्ञान आत्माके वश होकर रहता है, इसका
रुलाया हम प्रकार ममज्ञाना—जट, वैश्वा, नर्तकी चर्चोके हावभाव, नृत्यादि कार्य देखनेपर प्रेम, कोप, मय,

दुःखादिक परिणाम आत्मा में उत्पन्न होते हैं और इनका अनुमानमान शरीरों रोमांच, सुख में विकास, म्लानि इत्यादि कार्य के वीर्यनेपर होता है। वैसे नोइडियमालेखान आत्येच्छासे किसी एक यदायमें एकाग्र होता हुआ अनुभवमें आता है।

जिसका मन एकाग्र और बड़ा है ऐसा मूनि रागकोपादि विकारोंसे रहित, निरतिचार चारित्रको न थाका हुआ यावज्जीव धारण करता है। चारित्रधार धारण करना यह एकाग्रचित्तका फल है। विना एकाग्र चित्तके चारित्र धारण नहीं होता है।

आगेकी गाथायें चंचल मनसे होनेवाले दोषोंका वर्णन करती हैं। उस वर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये यह अभिप्राय उत्तर गाथाओंका व्यक्त होता है। उदाहरणके द्वारा यही अभिप्राय आचार्योंने पुष्ट किया है जैसे-उज्जयिनीका कोई आदमी-दक्षिणादिशाके तरफ जानेको उद्यत हुआ। उसको देखकर कोई पुरुष कहता है, उमिल देशमें घान्य घोड़ा है, और धुल्लोक वहां अधिक है तो उस पुरुषके बचनका अभिप्राय यह निकला कि उज्जयिनीदेशमें सुमिथवा है और यहाँके लोक सज्जन हैं। वैसे चंचल मनके दोषवर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये ऐसा अभिप्राय सम्प्रदाना चाहिये।

चालणिरायं च उदयं सामण्यं गलङ्ग अणिहुदमणस्स ॥

कायेण य वायाए जदि-वि-जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥ १३३ ॥

तित्तावविय पानीयं चारिञ्चं चलचेत्तसः ॥

बुचसा वपुषा सम्पक् कुचर्त्तोऽपि पलायते ॥ १३६ ॥

यिजसोदया—चालणिरायं च उदयं उदकमिव चालनीयतं । सामण्यं सामान्यं समानभागो । गलङ्ग गलति । कस्स अणिहुदमणस्स अनिश्रुतं चेतो यस्य । कायेण य वायाए कायेन च वचसा च । जदि वि चरदि यद्यपि चरति प्रवर्तते भिक्षुः । जधुत्तं यथाशक्तेर्योक्तं । तथा चाक्रायत्याप्याचरत्तोऽपि मनोनिवृत्तताभासे श्रामण्यं नश्यतीत्यर्थः । तत्सायेतःसमाधानं कार्यमित्युपसंहारः ।

पलपित्तसवदोषपणन्योक्तेन मनःसौख्यं कार्यतया-ज्ञापयति—

मूलाप—अणिहुदं चहं ।

अर्थ—जिस युनिका चित्त चंचल है उसका चारित्र्य चालिनीमें डाला हुआ पानी उसमेंसे जैसे निकल जाता है रहता नहीं, वैसे तब होता है, यद्यपि वह साधु शरीरसे और बचनेसे शालोक चारित्र्य पालन करता है, शरीर और बचनेसे चारित्र्य पाले तो भी यदि साधुका चित्त स्थिर नहीं हो तो वह नष्ट होता ही है, अतः चित्त-भी चंचलता नष्ट कर उसमें स्थायी लोकेका साधुओंको प्रयत्न करना चाहिये.

मनसो दुष्टान् प्रपञ्चेनोपदिश्य तदेवंभूतं मनो यो निवृत्तवति तस्य भ्रामण्यं भवति समानभावो नेतरस्येत्येतत्तुल्यप्रपञ्चेनोच्यते तदौदारम्यप्रकाशनायै गाथापञ्चकम्—

बाहुभ्रामो व मणो परिधावइ आहुिदं तह समंता ॥
सिग्यं च जाइ दूरपि मणो परमाणुदब्बं वा ॥ १३४ ॥
परितो अत्थपत्ते [पावते] चेतधरण्युरिष चंचलम् ॥
परमाणुरिष धिर्मं दूरं यात्पनिवारितम् ॥ १३५ ॥

विजयोपपा—बाहुभ्रामो इत्यदिक् । बाहुभ्रामो व यायेय । मणो मनः । परिधावइ । धावति परिरुप्यकः । मलेनित इति यथा । अहुिदं इति क्रियाविशेषणं अस्थितं धावति । कचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता मनसाः । तह समंता तथा समंतात् । दूरं पि दूरमपि । सिग्यं च जाइ दूरीमं याति । मणो मनः । परमाणुदब्बं वा परमः प्रकृष्टो मणुः चक्षुः परमाणुः त एव ब्रह्मं गुणपर्योपगमनात् तद्विष । एतेन स्मृतिरिदं विषयग्रहणं तस्य दौरस्त्यमावेदितं ।

क्रमतोऽनवस्थितत्वाद्वातिदूरस्थितविषयमाहित्वात्मसाधिविचिर्भित्ताप्रवर्तनादुनादित्वस्तुसदसद्रूपनिराकरण-प्रमाणप्रत्यक्षमिति निवर्तनीयत्वमार्गप्रकृतत्वात्तदुर्बलदुर्लभतुः सप्रवेषदृढत्वसंनारकारणदोषकारिणीविवक्ष्यत्वलक्षणं मनसो दीप्यं गाथापञ्चकेन व्याचष्टे—

मूलार—बाहुभ्रामोश्च वातावलीव वातावलीखुल्यं । अहुिदं कचिद्वति विषये अनवस्थितं यथा भवति । परमाणुबुल्यं मनसो स्मृतिरिदं स्थितविषयग्रहणलक्षणदौरालयोपलक्षणार्थमिदं भवति ।

आगे पांच गाथाओंसे मनकी दुष्टता आचार्य दिखाते हैं, दुष्ट मनका जो निग्रह करते हैं, उनका चारित्र्य निर्दोष पला जाता है, अन्य साधुका चारित्र्य निर्दोष नहीं पल सकता यह विषय विस्तारसे आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—चंदे जोसे बहने वाली वायु किसी भी स्थानमें स्थिर नहीं रहती है, चारों तरफ दौड़ती है, मन भी किसी भी विषयमें स्थिर नहीं होता है, गुणपर्यायसे युक्त परमाणुद्रव्य जैसा एक समयमें बहुत दूर जाता है

वैसा मन भी एक विषयको छोडकर जतीव दूसरे विषयको भी ग्रहण करता है. मन्की दूसरे विषयको भी तत्काल ग्रहण करतारूप दुष्टता इस गाथासे आचार्यने प्रदर्शित की है.

अंधलयवहिरमूवो ज्व मणो लहुमेव विष्यणासेइ ॥

दुक्खो थ पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदुसोदं वा ॥ १३५ ॥

वांछिताभिमुखं स्वान्तं निपेदुं केन शक्यते ॥

नयापगापयो निम्ने प्रासं (तद्द्रव्येते) कथम् ॥ १३८ ॥

न यूको यधिरोग्यो वा हते शृणोति पश्यति ॥

यस्तु हेपसुपावेयं विषयाकुलित मनः ॥ १३९ ॥

विकल्पैर्विवेचैर्लोकं प्रापित्वा मलीमसैः ॥

मेययून्दमिव स्वान्तं क्षणेनैव विनश्यति ॥ १४० ॥

विजयोदया—अंधलयवहिरमूवो एव मणो हयर एति देयः । अंधपदविरत्यमूकवच्च भवति मत्ता । कदाचित्कथंचित्कथंचिदप्ये सक्तं मनः, तन्निहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । ननु चाभ्युदायोः कर्तृता यदातावी न मतस्तत्सर्वथापि न किञ्चित्पश्यति, न शृणोति यत्किं या ? उच्यते—मनसः करणस्य कर्तृता परशुविच्छन्तीति यथा । एतदुक्तं भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवाक्ये, स्वपरहितवाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मानसो भवेति । यथा भूत्वो दुष्ट द्रष्टव्ये स्वाभिन्नो त्रिपुक्ते कर्मण्यप्रयत्नमात्रः । एवं मनोऽप्यात्मना त्रिपुक्तेऽप्यापृतेदुष्टमिति प्रापः । लहुमेव विष्यणासेदि य आशु विनश्यति च । अनित्यतादोषतस्तु याथास्थ्यादौषो मन्तः नो संश्रियमतेः दुःखं भवत्यर्थं । पडिणियत्तेदुं जं प्रतिनिवर्तयितुं यदयमनस्वरूपग्रहणे भूतरूपविरासे च प्रवृत्तं ताभ्यां निवर्तयितुं न शक्ये दत्तादिषट्चचारित्याद् प्रतिनिवर्तयितुं । किमपि गिरिसरिदुसोदं नदीप्रवाह इव ।

मूलाय—अंधलयवहिरमूवो ज्व मणो लहुमेव विष्यणासेइ । कदाचित्कथंचिदप्ये सक्तं मनः संनिहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति इत्यर्थः । अत्र सर्वत्र चक्षुरादिकुर्तेऽपि दंतानां मनसः करणस्य कर्तृत्वमुक्तं ब्रह्मच्छिदायां परतोतिव आत्मना च जीवादिके द्रष्टृमिष्टे जिनवाक्ये, श्रोतुमिष्टे स्वपरहिते च, वक्तुमिष्टे त्रिपुण्यमानस्य मनसः कदाचिदप्रवृत्तिरेव दुष्टता स्वाभिना भूत्वस्य यथा निर्दिष्टे कर्मणि । लहुमेव विष्यणासेदि य जात्येव विनश्यति च । एतेन बलु-यायात्म्यप्रादिगणितस्वानित्यत्वदोषः । दुःखो य दुःखं च अक्षय्यमित्यर्थः । पडिणियत्तेदुं जं प्रतिनिवर्तयितुं यस्तवत्य-

भूतरूपग्रहणे भूतरूपनिराकरणे च प्रवृत्तं मनस्ताभ्या व्यावर्तयितुं न शक्यते यगादिसहायित्वाचिति मावः । निरि-
सदिसोर्ध्व पर्वतनदीप्रवाह इव ।

अर्थ—अंधा, रहिरा और शृंगेके समान दुष्ट मनका स्वभाव है, किसी समयमें किसी प्रकारसे च किसी
नियममें आनक्त हुआ मन समीपस्थित भी दूसरे विषयको देखता नहीं है, सुनता नहीं और बोलता भी नहीं है.

शुंका—देखना, सुनना और बोलना इस क्रियाका कर्तृत्व नेत्र, कर्ण और जिह्वाके तरफ है. मन तो इन
क्रियाओंका कर्ता नहीं है. वह सर्वदा भी किसी विषयको देखता नहीं है. सुनता नहीं है. और बोलता भी नहीं है.

उत्तर—मन यद्यपि कर्ण है तो भी उसमें कर्तृताका आरोप किया है जैसे 'परब्रह्मिष्ठनसि' कुन्दाह
तरुनी फाटती है. यहाँ कुन्दाह छेदन क्रिया करनेमें देवदण्डको सहाय करती है अतः कर्ण है. तोभी उसके तीक्ष्ण
तादि शुण्णकी प्रशंसामें उसको कर्तृपद भिला है. वैसे मनमें पदार्थोंको जाननेकी उत्कटता होनेसे इतर इंद्रियोंको
उनके विषयमें वह सहायता देता है तो भी उसमें कर्तृत्वका अप्यारोपण किया जाता है. अभिप्राय यह है—
कि जीवादि पदार्थ अयलोकनके योग्य हैं. जिनवचनादि सननेके योग्य हैं, स्वरहित करनेवाले वाक्प भी
सुनने योग्य हैं परंतु इस मनकी उनमें पदार्थान् प्रवृत्ति नहीं होती है. यह इसकी दुष्टता है. जैसे मालिकने
किसी कार्यमें त्रैरा हुआ नोकर यदि उस कार्यको न करेगा तो उसको दुष्ट कहते हैं वैसे मनभी आत्माने नियुक्त
कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है अतः वह दुष्ट कहा जाता है. किसी कार्यमें संलग्न हुआ तो भी वह वहाँ स्थिर न होकर
पक्षोंमें झीझ हटता है अर्थात् वस्तुका पथार्थ स्वरूप ग्रहण करता हुआ भी उससे जल्दी हटता है. वह मन वस्तुका
जो सत्य स्वरूप है उसको ग्रहण न कर असद्रूपको ग्रहण करता है. उसमेंसे उसको हटाना अतीव कष्टकर कार्य है
अर्थात् मनको सद्रूपके ग्रहण करनेमें असद्रूपसे हटानेमें कोई श्रयत्न करेगा तो उसको बड़ा कष्ट होगा. जैसे
पर्वतपरसे बहनेवाली नदीका प्रवाह हटाना अतीव दुष्कर है वैसे मन भी रागद्वेषादि विकारोंसे युक्त होनेपर उसको
अमत् में हटाकर सत् में प्रवृत्त करना बड़ा कठिन कार्य है.

तत्तो दुक्खे पये पाडेदुं दुघ्दओ जहा अस्सो ।

वीलणमच्छेज्ज मणो णिम्येत्तुं दुक्खो धणिदं ॥ १३६ ॥

न प्रवर्तयितुं मार्गे दुष्टो वाजीव शङ्कयते ॥

ग्रहीतुं शक्यते चेतो न मत्स्य इव चीलनः ॥ १३९ ॥

विजयोद्या—तजो तस्याव्यतिनिवर्तनात् । दुष्करो दुष्करे पंथे । पाछेदुं मार्गे पातयितुं किमिव । दुदलो लदा बरसो दुष्टोऽतिव्यालो यथेवाश्व । पतेन दुष्करागमोपातित्वदोषः प्रकटितः । चीलजमच्छोव्य मरुणतरवेदमत्स्य एव । धनिदं दुकरो विप्रेतुं नितरां दुष्करं ग्रहीतुं मनः । पतेन दुरत्यग्रदत्ता ख्याता ।

मूलाया—तजो अक्षुब्धमतिनिवर्तनात् । दुर्कलं दुःशङ्कं । पाछेदुं नेतुं । चीलजमच्छोव्य मरुणतरवेदमत्स्य एव । विप्रेतुं ग्रहीतुं । धनिदं अत्यर्थम् ।

अर्थ—यदि मनको अयोग्य विषयसे हटाया जावे तो जैसा दुष्ट अश्व दुःस्वदायक मार्गमें मनुष्यको गिराता है वैसे दुःस्वदायक कुमार्गमें यह जीवको गिराता है. इस माथारसे दुष्करमार्गविपातित्व नामका मनका दोष प्रगट होता है. जितना देह अतिअव स्मिग्ध है ऐसा चालण मत्स्य हाथसे नहीं पकट सकता है वैसे यह मन भी ग्रहण करना दुष्कर कार्य है. इससे दुरत्यग्रदत्ता नामका दोष मनमें रहता है यह आचार्यने दिखाया है.

जरस य कदेण जीवा संसारमणतयं परिभसंति ॥

भीमासुहगदिवहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥ १४० ॥

यस्य दुःखसहसाणि भजंते वडावर्तिनः ॥

संसारसागरे घोरे वंअभ्यन्ते शरीरिणः ॥ १४० ॥

विजयोद्या—जरस य वयस्य च । कदेण कपोते किंवात्समान्यवाक्चो एह चेष्टयुत्तिर्युहोतस्तेनयमर्थ. यस्य मनस्तथोदितेन जीवाः संसारं पंथविचं परवर्तं परित्यजन्ति । अणतमं अनंतप्रमाणवच्छिद्यं । भीमासुहगदिवहुलं । भया-पदागुभनरतादिगतिप्रचुरं । दुक्खसहस्साणि शरीराणामुक्खमानसस्तामाविद्यावयनि प्रत्येकमेकविकल्पिन्यानि । पावंता मानुवंतो जीवाः । पतेन चतुर्भविपण्यतममूलतादोषः प्रकटितः ।

अर्थ—इस पनकी कुछ प्रवृत्तिसि जीवको पाच प्रकारके परिवर्तनसहित इस अनादि अनंत संसारमें शारीरिक, मानसिक और स्वभाविक हजारों दुःख सहन करने पड़ते हैं. यह संसार अशुभ नरकादिगतिजोसे भरा है. इसमें शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखोंके अनेक प्रकार इस जीवको प्राप्त होते हैं. अभिप्राय यह है कि, यह मनही चतुर्गतिमें भ्रमण करनेका मूल कारण है.

जसि य वारिदमेचे सज्जे संसारकारया दोसा ॥

णासंति रागदोसादिया तु सज्जो मणुस्सस्स ॥ १३८ ॥

संसारकारिणो दोषा रागद्वेषमदादयः ॥

जीवानां यस्य रोधेन नश्यंति क्षणमावृतः ॥ १४१ ॥

विजयोद्वा—जसि यस्मिन् सति । वारिदमेचे वारित एव । माध्रग्रहणं कारणद्वयं निवारणोद्देश्यं । रागदोसादिया रागद्वेषादयः । णासंति एव नश्यंते । सज्जो सज्जः त्वामीमेव । संसारकारया परावर्त-
पंचकस्य संसारमोचताः ।

मूलाष्टा—वारिदमेचे वारित एव ।

अर्थ—इन मनको रोकने मात्रसेही पंच परावर्तनात्मक संसारकी उत्पत्ति करनेवाले राग, द्वेष, मोह वगैरह दोष तत्काल नष्ट होते हैं.

इय दुद्धयं मणं जो वारेदि पडिट्ठवेदि य अकंपं ॥

सुहसंकप्पययारं च कुणदि सब्बायसाणिहिदं ॥ १३९ ॥

तदुद्धं मानसं येन निवारयांशुमवृत्तिः ॥

प्रपुत्तशुभसंकल्पं स्वाध्याये क्रियते स्थिरम् ॥ १४२ ॥

विजयोद्वा—इय । एवं व्यावर्जितरूपेण । सुहसं दुष्टं दुष्टं । मणं । मनो जो वारेदि यो निवारयति रागादिभ्यः । परिद्वेदि य प्रतिष्ठापयति च ध्यानपरिणामादौ । अकंपं निश्चलं । क्रियाविशेषमभेदात्

तस्स सामणं होदि । वध्यमाणेन संबंघः । सुभसंकप्पण्यारं जो कुणदि तस्स सामणं होदिचि संबंधनीयं । सुभः संकल्पः तस्सिअकृपुअरौ समनं प्रवृत्तिरियं मनसत्तमुभसंकल्पप्रचारं मनो क्क करोति । सज्झायसण्णिहिदं वज्जे कुणदि तस्स सामणं इति संबंघः । समयपथयनं साध्यायः द्रुतविलंबितादिदोषरहितत्वं अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च समयस्य । स पुनः पंचप्रकाशः वाचनमभ्यासुभेसाध्यायधर्मोपदेशभेदेन ।

प्रश्नस्य कथं साध्यायता ? प्रश्नो हि श्रेयऽर्थे वा संशयच्छेदनाय इत्येवमेवेतिदिति निमित्तायैवलाभानाय वा प्रच्छन्नं । तर्हि यदच्छाद्यधर्म्यं वा सोऽधीते अध्ययनप्रवृत्त्यर्थेवात् । प्रसेऽध्ययनव्यपदेशः इदमितिगम्ये वारुणि द्रव्यव्यपदेश इव । अथवा किमिमेभ्यं पठितव्यमिति । अधीत एव प्रये संदिदानः । अर्थसंबन्धेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वायमर्थः इति । यदागते एवं निश्चितवलाधानेऽर्थे प्रश्ने योज्यम् ।

अनुमेसा कथं साध्यायः ? अधिगतार्थस्य अनसाम्यात्सोऽनुमेसा भन्तर्जस्वरूपमध्ययनमस्सेव लक्ष्यमिति मन्यते ।

मोषपरिशुद्धं युतं परावर्त्यमानं आध्यायः साध्यायो मन्त्रलेख ।

आलोपणी, विलेपणी, संवेजनी, निर्वेदनी चेति कथाश्चतस्रस्तत्सासाधुपदेशो धर्मोपेयाः स च स्वाध्यायः यतस्सिआध्याये सम्यक् निहितं निश्चितं मनो यः करोति इत्यर्थः ।

अथैवं पदपटना अध्याहृतं कृत्वा । इयं दुष्टकं मनो सो योरेदि अक्षरं पठिदुयेदि य जो मणं सुभसंकप्पणया रमेय कुपदि सज्झापसत्तिगहिदं कारुण्य इति । एवं दुष्टं मन्त्रः स वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति वा । यो मनः सुभसंकल्प प्रचारमेव करोति । साध्याये लक्ष्यहितं कृतेति सूत्रार्थः । कुर्येयंमूलस्य धामन्यं समानता वा भवति । एवं प्रथमेन मनसो दुष्टतां प्रकाश्य तदवीष्टवकारिणः कष्टं साध्यायवेण्याह—

मूलाया-परिदुयेदि अद्वान्तर्गमनादौ प्रतिष्ठापयति । सुहसंकप्पण्यारं । सुभपरिणामप्रचारं । सुभसंकल्पेण ईद्वदिमच्छिणीयदयदियु प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्य । अत्रायं सूत्रार्थः । साध्याये सम्यक् निश्चितं कृत्वा यो मनः शुभप्रवृत्ति-कमेव करोति स तथा दुष्टं वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति चैतत्तत्त्वैव य समाहितादियुण आगम्यं भवतीति सम्बन्धः । अर्थः—उपपुक्तं द्रुष्टं प्रयुज्जि करनेवाले मनको जो रागादि विकारसे हटावा हुवा समयदर्शनादिपरिणा-नोमे दद स्थिर करता है उस मुनिको समता भाव प्राप्त होता है- जो मुनि अपने मनको शुभप्रवृत्तियोंमें प्रवृत्त करता है और साध्यायमें तत्पर करता है उसको समताभावकी प्राप्ति होती है ।

विद्येपार्थ-साध्याय करते समय शास्त्रकी पंक्तिया बल्दीसे अथवा अतिमंदरीतीसे नहीं पढ़ना चाहिये. अर्थ-शुद्धि और व्यञ्जन शुद्धि के तरफ ध्यान देना चाहिये. तब जो-शास्त्र पढ़ना वह स्वाध्याय है. स्वाध्यायके वाचना

प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच भेद हैं.

प्रश्नको स्वाध्याय क्यों मानना चाहिये ? प्रश्न और अर्थमें संशयका नाश करनेकेलिये अथवा इस पदार्थका ऐमाही स्वरूप है अन्य नहीं है इत्यादि रूपसे जो सत्य निश्चय किया होगा उसको पुष्टि करनेकेलिये जो विद्वानोंको पूछना वह प्रश्न है. प्रथम स्वाध्याय करनेमाला यहल्लासे जान लेता है अथवा अर्थका पठन करता है. प्रश्न करना भी स्वाध्याय ही है क्योंकि प्रश्न अव्ययनमें प्रवृत्ति करनेके लिये कारण है. जैसे जिस काष्ठसे इंद्रकी मतिमा बनाना है उसको हम द्रव्यनिक्षेपसे इंद्रप्रतिमा कहते हैं. वैसे प्रश्न भी स्वाध्याय करनेमें जीवको प्रेरणा करेगा अतः उसको स्वाध्याय कहना कुछ अनुचित नहीं है. अथवा पढ़े हुए ग्रंथमें भी क्या यह शास्त्र इस रीतीसे पढ़ना चाहिये ! अथवा अन्य प्रकारसे पढ़ना चाहिये ऐसा यदि ग्रंथमें संशय उत्पन्न हुआ हो किंवा अर्थमें यदि संशय हो तो इस पदका अथवा इस वाक्यका क्या यह अर्थ है ? इस तरहसे पूछना यह प्रश्न स्वाध्यायको कारण होनेसे स्वाध्याय कहा जाता है. अथवा जो निश्चित किया है ऐसे अर्थमें और दृढ़ता उत्पन्न करनेकेलिये जो प्रश्न किया जाता वह भी स्वाध्याय को कारण होनेसे स्वाध्याय ही है.

अनुप्रेक्षाको स्वाध्यायपना कैसे ? जाने हुये पदार्थका मनके द्वारा बार बार चिंतना करना अनुप्रेक्षा है. यह अन्तर्नल्परूप होनेसे इसमें भी स्वाध्यायपना है ही. उच्चारणसे शुद्ध जो शास्त्रको बार बार चोखना उसको आम्नाय कहते हैं. यह भी स्वाध्याय है. ओषधणी, विध्वषणी, संवेजनी. निर्वेजनी, ऐसी चार कथाओंका भव्यापे सामने कथन करना धर्मोपदेश है यह भी स्वाध्याय है, ऐसे पाँचों प्रकारके स्वाध्यायोंमें जिसने अपने मनको संलग्न किया है उसको आत्मन्यप्राप्ति होती है. अर्थात् अपने मनकी जो साधु स्वाध्यायमें स्थिर करके रागद्वेषादिते उसको हटाता है. शुभसंकल्पोंमें स्थिर करता है उसकोही आत्मन्य प्राप्ति है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय जानना चाहिये.

जो विय विणिण्डतं मणं णियत्तेदि सह विचारेण ॥
णिग्गहदी य मणं जो करेदि आदिलब्भियं च मणं ॥ १४० ॥

अभितो घावमानं तद्विषारेण निवर्त्यते ॥

निगृह्य क्रियते चित्तं दुर्बुध इव लज्जितम् ॥ १४३ ॥

विद्ययोदया—जो विं य यद्यापि । निविण्ण्युतं वि शब्दो नानार्थः निर इत्यपसर्गो अहिर्भवे षडङ्गमनार्थः । ततोऽयमर्थोऽस्य पक्षस्य विचित्रं बहिर्निर्गच्छतिवर्तयेदिति । ननु ॥ सत्यम्यंतरे कस्मिंश्चित्सदपेक्षो भवति बहिर्भावस्ततः किम् ? अभ्यंतरमिह दृष्टं रानत्रयं, कथमस्याम्यंतरता ? आत्मनो निजस्वरूपमिति । रागकोणद्वयस्तु चारित्र्यमोहोदयजा भवतः । परिणामा वाक्ता सिध्दात्त्वकषयादिमेव विचित्रास्तद्विमुक्तता प्रवृत्तः । विन्यसेद् 'सह विचारेण जो इति दोषः ।

कोऽसौ विचारः ? उच्यते- इदं तत्त्वाश्चक्ष्णं, इयं च द्विसाद्विपरिणतिर्यं वा कोधायेको भावो मया परिणामि-
कारणभूतेन निर्ययमानो जातिउत्पत्तिपरिणामरूपान्नसंसारकारणानां कर्मणां भूतोऽस्यकृतिभेदेन संख्यातासंख्या-
तविपरिणामां, स्थितिविशेषमात्मभेदेनोपस्थाप्यमानस्य, सीमामध्यमनन्दरूपाश्चक्ष्णानां तेषामकथापरिणामानिर्वर्तनसामर्थ्यस-
म्बन्धमाश्लेष्य च निर्वर्तयति । तानि आत्मभवेदास्थाप्यतमभवेदेषो पुद्गलस्त्वैवद्रव्याणि स्मिहितितद्रूप्यस्यैवकालमयमायसहाया-
पेषस्य पुनरपि मिथ्याव्यतिपरिणामनायादयन्ति । न हि स्मिहितितयिकलराजसमूहस्य अनुपपत्तिर्नाम संभावयते । तेन
आश्चर्यानां विपरिणामेन तथैव कर्मणामादानं, आचानां स्थितिः, सामर्थ्यानिश्रयः इत्यादिका परंपरता । तयान्तकालपरि-
क्रमणमिति महानपमनयो मम भविष्यतीति, पूर्वभूतेन विचारेण मनो निर्ययति वस्तस्य भ्रामण्यमिति सर्वथाः ।
विगाढविद्यमं ज्ञो यो मनो निगृह्णाति द्वा दुष्टं चित्तमिदमिति निगृह्णातोभ्यां तस्य भ्रामण्यमिति संबंधः । कैरेदि-
भेदिकार्यं च मणे, करोत्यनीय लज्जापरं यो मनः । कथं संसारमदितं तत्कारणभूतान्यपरिणामान्मुक्तिं तदुपायांश्च 'भाषा-
नधिगच्छताः आदानस्य तापरिणामव्यपोहनाद्येभ्यं गृहीतविषयलिङ्गस्य चित्तपयमुक्तेति, विरूपयति, अतिनीचां मनसो
जनयति ।

एवं यहिरंगयोगेन समाधिसिद्धिमनुशिष्यांतरंगयोगेन तामनुशासति—

मूलारा—विशिष्टतन्त्रं विनिष्पन्नत् विनासायै, नि चार्होऽर्थे प्रतिगमन्ने । रत्नत्रयात्प्रचयस्य विशिष्टेऽपि शुद्धादिभिरुपपादितेषु रसादिषु गन्धरसिद्धयैः । सद्य विचारेण, वर्तमान इति श्लेषः । अयं विन्यासादिविद्विपचक्रमणो कारणे, योनिः च बुद्धसंसारदुःखफलाग्नि, षोऽस्मादिवृत्तिर्न श्रेयसात्येवं भावो, विमर्शभाव विचारः । शिगिददि हा दुष्टं चिन्तितं इति निर्दामादित्यां निगृह्णाति । कनकनादिदुःकरतपोऽनुष्ठानद्वारेण क्षुपितबुद्धिक्लेशप्रसक्तं करोति वा । अदिल्लिदं एवं गृहीतलिंगस्य नम कथमीरुक्षितं करोतीति निरूपणेनान्वेयानं हज्जां नीतम् ।

अर्थ-जो मुनि उनके प्रचारसे बाहर सुमेनवाले मनको विचारोंके द्वारा आत्मामें लगाता है, जो साधु अपनी

निंदा और मर्दा करके मनका निग्रह करता है और उसको लज्जित करता है उसको ही श्रामण्यकी सिद्धि होती है।
 विद्येयार्थ—विणिप्पदन्तं इस शब्दका अर्थ इसप्रकार है। वि शब्दका नाना, अनेक ऐसा अर्थ है, निस् यह उपसर्ग है, 'चाहर' वाद्य यह निस् उपसर्गना अर्थ है, 'पदि' वातु गमन करना इस अर्थका वाचक है, विणिप्पदन्तं इस पदका सञ्चल्यार्थ 'नाना प्रकारसे बाहर जानेवाले मनको वापिस आत्मामें लौटाना चाहिये' यह है, शंका—यदि अग्यंतर कोई चीज हो तो उसकी अपेक्षासे बाह्य पदार्थकी सिद्धि होगी, यहां अग्यंतर चीज कीनती है ? उत्तर—यहां स्तनयको अग्यंतर वस्तु कहते हैं, इसको अग्यंतर वस्तु क्यों कर कहना चाहिये ?

उत्तर—यह स्तनय आत्माका स्वरूप है अतः इसको अग्यंतर कहना चाहिये, रागद्वेषादिक विचार चारित्र्य मोहके उदयसे होते हैं अतः वे बाह्य वस्तु है, मिथ्यात्व कपाय यगैरह भेदोंसे राग द्वेषादिकोंमें विचित्रता आती है इन विचारोंके तरफ मनकी प्रवृत्ति हुई हो तो उसको वहसि हटाकर आत्मामें प्रवृत्त करना चाहिये,

जिनके साहाय्यसे मनको आत्माभिमुख कर सकते हैं ऐसे विचार कोनसे हैं इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—
 मैं यदि तत्त्वोंपर अध्यान करूं, यदि हिंसा करना, शठ धोलना, चोरी करना इत्यादि पापरूप परिणति मेरेमें हो जावेगी, यदि क्रोध, मान, मायादिक मेरेमें उत्पन्न होंगे तो चार प्रकारके कर्मबंध उत्पन्न होंगे, जन्मजरामरणरूप अनंतसंसारके फारणभूत कर्मोंका प्रकृतिबंध मेरे आत्मप्रदेशोंमें होगा, इस कर्मके मूल प्रकृतिभेद आठ हैं, उत्तर प्रकृतिभेद संख्यात असंख्याती होते हैं, कर्म आत्मामें आकर स्थिर होना स्थिति बंध है, अध्यान, असंयम, कपाय इत्यादि परिणामोंमें तीव्रता, मध्यमता, मंदता, उत्पन्न करनेवाला जो कर्मका सामर्थ्य उसको अनुभवबंध कहते हैं, अध्यानादि परिणामोंसे चार प्रकारके कर्मबंध जीवमें होंगे, आत्माके समस्त प्रदेशोंमें अनंतानंत प्रदेशयुक्त पुद्गल स्वरूप यह कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावोंका साहाय्य प्राप्तकर नवीन मिथ्यात्व, असंयम, कपायादि परिणामोंको उत्पन्न करते हैं, जिसके समस्त कारण इकट्ठे होते हैं वह कार्य अवश्य होता है, इस न्यायसे कर्मको द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्री मिलनेपर वह मिथ्यात्वादि परिणामोंका अवश्य उत्पन्न करेगा ही, अध्यानादि परिणामोंसे जीव कर्मका स्वीकार करता है, स्वीकृत कर्म आत्मामें स्थिर होता है, और अपना प्रभाव दिखता है, फिर नवीन कर्मबंध होनेसे जीवको अनंतकालतक संसारमें प्रमण करना पड़ेगा यह बड़ा भारी अनर्थ होगा, इस विचारसे जो मनको बाह्य मिथ्यात्वादि परिणामोंसे हटाकर आत्मामें स्थिर करेगा उसको ही धुनिपनाकी सच्ची प्राप्ति होती है,

ण्यसिद्धि होती है, जो मनको लज्जित करता है उसको भी श्रामपथलाभ होता है " हे मन अकल्पाण करनेवाले संसारको, उस हो बढ़नेमें कारणभूत रागदोषादि परिणामोंको, मुक्ति और उसके उपायोंको तु जानता है. अज्ञान करता है. अथद्वानादि परिणामोंका नाश करनेके लिये ही तुने निश्चय लिंग धारण किया है इसलिये उलटे विचार रखना क्या तेरेको योग्य दीसता है ' इस विधिसे जो मनको लज्जित करता है उसको समताकी प्राप्ति होती है.

दासं व मणं अवसं सवसं जो कुणदि तस्स सामण्यं ॥

होदि समाहिदमविसोचियं च जिणसासणणुगदं ॥ १४१ ॥

अवसं क्रियते वडपं येन दास हव व्रतम् ॥

श्रामण्यं निश्चलं तस्य सर्वदाप्यवतिष्ठते ॥ १४४ ॥

इति समाधित्तञ्जम् ।

विजयोवपा—अवलं दासं व मणं सवसं जो कुणदि इति पदसंबंधः । दासे व खेटीपुत्रं अवशयतिनं यथा कश्चिद्वृत्तात्स्वपथ करोत्येवमधीतश्चिन्त्यजन आत्मनो मनो निरवग्रहतया प्रवृत्तं कष्टमपरिणाममत्तरे यवि नाम तथापि बलात्तन्निर्मल्यमिमत्तमुभयपरंपरयदुष्कृतयः यः स्थापयति जैनमतानुगतात्कारितस्वतामर्थ्योक्तिरापस्तक्य सामण्यं समानता होदि भवति । समाहिदं एकमुक्तं । अविसोचियं इत्यपयत्वाव्यवस्थादुष्परिणामप्रवाहं । जिणसासणणुगदं सपादितदृश्यभावकर्मफलपरमार्थानां यच्छासनं-स्थित्यंते जीयादयः पदार्था अनेनास्मिन्वेति दासने आत्ममत्ते गलुगतम् ।

मूलाय—समाहिदं एकमुक्तं शुद्धस्वादिद्रूपनाशछम्बनमित्यर्थः । अविसोचियं निवृत्तपापकवदरिणाम् । समाधियः । सुततः ५ । अंकतः । १० ॥

अर्थ—जैसे कोई सगर्भ मनुष्य उन्मत्त नोकरको बलात्कारसे अपने आधीन रखता है वैसे विनागमका जिसने अम्पास किया है ऐसा यदि भी स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणामोंके प्रवाहमें पड़े हुए मनकी निंदा, निर्भर्त्सना कर बलात्कारसे अपने पक्ष रखता है. इष्ट ऐसे शुभ परिणामोंमें उसको स्थिर करता है. यत्किंको जैनमतामृतका आस्था-दन करनेसे ही मनको बद्ध करनेका निश्चित साधन्य प्राप्त होता है. इसकी प्राप्ति होनेसे समानताका लाभ मुनिको

होता है, जिनागमके अभ्याससे मनकी इष्ट विषयमें एकाग्रता होकर अशुभ परिणामसे व्यावृत्ति होती है, अर्थात् अशुभपरिणामोंकी उत्पत्ति मनमें नहीं होती है, जिन्होंने द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और भावकर्म—रागद्वेषादिकोंका परामर्श किया है ऐसे जिनेश्वरके आगमका ही यह मन हमेशा अनुगामी बनता है, जीवादिक पदार्थोंका जिसमें अथवा जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है उसको शासन कहते हैं, जिनेश्वरने जीवादि पदार्थोंका उपदेश काने वाला शासन—आगम भव्य जीवोंके हितार्थ कहा है, इस आगमका अभ्यास कर मुनिवर्य अपने अवश मनको वशकर समताकी—रागद्वेषके अभावकी प्राप्ति कर लेते हैं,

धोम्यस्य दृढीतमुपपुपायल्लयस्य धृतशिक्षापरस्य पंचविधयिजयवृत्तेः स्वपरीकृतमनसः अनियतयासो युक्तः ।
कलाञ्च गुणः ? इसारैकायां समाधिगतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरत्वं—

दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्वं ॥
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होति ॥ १४२ ॥

दष्टिच्छुद्धिस्थिरीकारौ भावना शास्त्रकौशलम् ॥
क्षेत्रस्य मार्गणा साधोगुणा नित्यविहारिणः ॥ १४५ ॥

विजयोवधा—दंसणसोधी दर्शनशुद्धिः । दक्षिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातुः अस्मान्मार्थवृत्तिरिह गृहीतः । धातुनामनैकावचनात् । तथा च सूत्रं— 'तत्तार्थवृत्तान् सम्यग्दर्शनम्' इति जिनागमनिरूपितार्थविषयशब्दानभिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नर्मस्य । ठिदिकरणे स्थितिकरणं रत्नत्रयपरिणामव्याप्त्यनोऽनपयपरिणामः । तस्य कर्त्तव्यं स्थितिकरणं । भावणा भावना अभ्यासः पुनर्बुद्धिः । अदिसयत्तकुसलत्वं अतिशयितेऽर्थेयु निपुणता । खेत्तपरि-
मग्गणा यि य क्षयंति निवसंति तस्मिन्निक्षिति क्षेत्रं ग्रामनगरादिकं क्षेत्रं । तस्य अन्येपणा च । अनियतस्थानवसने गुणा
होति भवति ।

अर्थेन स्वपरीकृतमनसो मुनेरनियतविहारो दर्शनविशुद्धि इत्यादि गुणपंचनकारकत्वेन युक्त इति द्वादशमार्गा-
धाभिः प्रकाशयति—

मूलाय—मायणा परिपहसद्वनं । अप्रियदवासे अनियतस्थानवसने ।

जो समाधिभरणकोलिये योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत ऐसे लिंगको धारण किया है, जो शास्त्राध्ययन करनेमें तरफ़ है; पांचों प्रकारका विनय करनेवाले, अपने मनको वश रखनेवाले ऐसे मुनियोंके लिये ग्राम

नगरादिक अनियत क्षेत्रमें निवास करना योग्य है, अनियत क्षेत्रमें निवास करनेसे कौनसे गुणोंकी प्राप्ति होती है, ऐसी शंका होनेपर समाधिदो प्राप्त अर्थात् मनकी एकाग्रताको धारण किये हुए मुनीश्वरके अनियत विहारके गुण अनेकही ग्राथमें आचार्य दिखाते हैं.

अर्थ—अनियत स्थानमें निवास करनेसे मुनियोंको जिन गुणोंकी प्राप्ति होती है उसका खुलासा—मुनियों के सम्यग्दर्शनमें निरालता प्राप्त होती है, अर्थात् जिनागममें कहे हुए जीवादि सप्त तत्त्वोंपर निर्मल श्रद्धान उत्पन्न होता है, स्थितिकरण—मुनियोंके रत्नत्रय परिणाममें स्थिरता आती है, वह किसीसे बाधित नहीं होता है, अनियत वाससे पुनः पुनः रत्नत्रयमें अन्यास होता है—ब्रह्मचि होती है, जीवादिक पदार्थोंके ब्रह्म अर्थका प्रतिपादन करनेमें चतुरता आती है, अनियत वास करनेसे कौनसा क्षेत्र अर्थात् ग्रामनगरादि समाधिभरण करनेके लिये योग्य है इसका भी ज्ञान होता है, कर्मण् दर्शनादि, स्थितिकरण, भावना, अतिशयार्थ बुद्धलता और क्षेत्रपरिभारणा इतने गुणोंकी प्राप्ति अनियत वाससे होती है ॥ १४३ ॥

दंष्टनसुखी इत्येतावदध्यात्मनकारिणी गम्य—

जन्मणअभिणिकस्वणं णाणुप्पत्ती य तित्थणिसहीओ ॥

पांसतस्स जिणाणं सुविमुच्चं दंसणं होदि ॥ १४३ ॥

विशुद्धं दर्शनें साधोजोगते पद्यतोर्द्धताम् ॥

जन्मनिष्क्रमणज्ञानतीर्थचिह्ननिपिद्धिकाः ॥ १४६ ॥

जिनजोदया—जन्मण अन्त्यामिनवशरीरवहणं तत्तत्स्थान्येव जातं तदिह साहचर्योज्ज्वल्यशब्देनोच्यते । गृहीतराशेस्स चास्मते जन्म, जन्मपुनरायन निष्क्रमणं जातं तद्धा । अभिणिकस्वणे रत्नत्रयामिमुक्त्येन गृहाद्विगमने बरिगन्धेरे तदिह निष्क्रमणं । णाणुप्पत्ती य केवल्यानावरणक्षयात् सर्वार्थेयायत्यग्रहण्यमं यत्केवलं तदिह ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यवादानामपि विशयवृत्तिः प्रतीतेव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साहचर्योद् णाणुप्पत्ती य शब्देनोच्यते । तित्थं विण्हं । तीर्थमिह समवसरणं गृह्यते । तस्मिन् तस्मिन्गच्छाः पापवि-

विदोऽर्कैकचक्राः, मनुजभोग्योत्तरं सुखमपेदेनानुमनन्ति । अपरेऽपि मंडलीकमहामंडलीकपञ्चमुपगताः । पुनर्लीयं कर्मानमनमोदयात् चारित्र्यमोदक्षयोपदामप्रकर्षोदुम्भतादनादिकालावलप्रत्यपरकर्मरजोविधूतनाव-
चक्ररक्षणा इत्यमन्तः प्रतिव्यति । कथं मोक्षस्य बलवत्ता येनास्मानप्यथाक्षीक्रियमाणदुरंतं सारसारिदाधिपतिभयदुःखा-
वर्तान् प्रपेतवार्यं प्ररियद्वयोः । अणिमापद्युणसंतर्कं, अपदमापदां, अमिलापिताप्यविषयम्, अपरामपार्णं कुशाभी-
यदुदीनामपि इहभिक्षामोचं, चवत्सताम्यद्यूहं, अपराधीनं, अवास्तवितान्युत्तरत्वं, अहमिदं सुखं विरलपुन्युत्तय
तामस्माकं केयमुत्कंटा मनुजभोग्यसंपदि, भलजनमैत्रीव विचित्रबुधः सानुबंधनिधानोपतामां चलायां च पुण्यसमितिरेव
परापचवृत्तौ, कुकुरिहृतिरेवारसार्थसंप्रदायां, दूरभग्नस्य मुक्तिपथीनतिरेव भवेकप्रवृत्तद्विहवायां भनंतकाल-
परिभुक्तायां रति ।

तर्पणं च प्रसन्नोऽंतावासादधिगतलौकान्तिरुत्पदेयाः, शंखावद्यततमवः, स्वाध्यायिषानलोबेननायलोक्ष्य
स्वपरोक्षारण्यरूपरिक्तां जिनानां, महादिवं फलं भवेकमन्युमहकरं भगवता प्रारब्धं, अस्माभिरपि पतवदुम्भतव्यं ।
पुण्यपूजास्यत्तिचमच्च साधंघंशतारपिति पुण्यपदपत्तीयं स्थानिकः पुरस्तात्सयदुमानमयस्थिता एवं विद्यापवंति—

भद्रारका । उचित एवायमुद्योगो भवतां कस्यमहियदा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, उग्रदुग्धहकारिणो महास्तः,
मिथ्यावतिमिरामयुक्तिद्यानलोचनतया विनेवजनपतिरुपधामस्थानोऽसृष्टकुगतिगतेपतितो निःसर्तुमभिलपन्नपि
असमर्थः क्षिरपति । स च मदस्यायतदृढसमोचोमगद्विद्विज्यावकृष्टः युष्यदुपदर्शिततिप्रयुषयिषालमुकिमार्गदौकनव-
भंतशानाभाभकेन सुखेन सुखी भवत्यित्यभिप्राय मनेषु सारस्वतायिषु ।

जिननिर्घट्टसमीरणं शीलितद्वरिविष्टो हृदि प्रणिधानमपचित्तवधिलोचनधिगतनुग्रहट्टभ्यमाणकार्यः, सिंहास-
नता सत्संभ्रममुत्थाय, स्वामित्समयस्थितदिगभिमुखं गत्वा सप्तपदमार्चं, ललाटद्वयिग्यस्तेन मनुजनास्त्रिदलच्छायापद्मासेना,
अंकुशकुलिशदिलक्षणोद्भासिता, वक्षिमेन क्खेणालंछनीलरत्नप्रभासंदुर्गमनस्य शिरः सलीलं नमः सत्समैतीयं प्रयत्नोद्य-
तेभ्यः शरणगतविनेयनाणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जिनैभ्य इत्यभिप्राय, पुरो धावद्देदीः गन्तादिभिर्भूतिः धिदितका-
चैष, समुदिताननेन, स्वनायकपुरोयायिनः, विविजगतपञ्चशलवलविभूषणवाहनोत्पलेन मीयाणचकेणानुगम्यमानः
सोपमैः सह नरामरेन्द्रा, चमटद्वरिविष्टरज्येतातपत्रादिपरमेष्ठारलंछनमरिहमपद्माय प्रवीक्षतनिबेदितामननल्लास्ययाशु
धर्मचक्रलंछनातिक्रमयाद सवबुद्धान्प्रणाममारभते स्म ।

ततो जिनत्वात्सदरापलोकनप्रसन्नमानमोचितमुपलभ्य विषायं करोति । समालोकायमायातोऽनुत्ताधिगपुःसरः
शकलोको भद्रारकाणां परिनिष्क्रमपरित्यक्तमुपपादयितुमना अवगतमुक्तिमार्गोपव्यं स्वाधीतज्ञानात्प्रकाशतस्तुशानुभवलंघ-
नोऽपि, लवधीरित्तिद्विमुपपेदेऽपि, अपरिग्रहात्संभवयातिक्रमैरुपेक्षणः, न चारिरे प्रयत्ने, न पराव्ययर्तयितुमीदृते ।

१ मोक्षस्य मदना इति पाठः स पुल्ले ।

पुष्टिमुद्रमाणः नोऽनि पिता मयीवीर्यं चारयेत् तपश्च, कर्मणि निरत्ययेन क्षयवितुं शक्यते । अनेकसमुद्रगणनायु-
ल्लिखिता दीर्घममानी पराकोऽत्यगृहिः सिद्ध्यति । उग्रालुमभिलष्यपि क्षारको यथा पतत्येवमपि जनधारिचा
भिन्नापि नष्टोद्गमनमर्थस्तिष्ठति । शून्यं पुनर्विहितोदितव्याः क्षयोपशमपरिप्राप्तिनिगृहि परिणामाः, पूज्यतमाः ।
जन्मरेऽस्मात्सर्पदन्ती वीरपत्न्या मरुत्कारेभ्यः प्रविनेयजोषश्च शक्तिश्च भवत्प्रसादादत्ययमुन्नतानां
प्रगु । मञ्जीरतमिदं विमानं आसीत्तल्लंकारेषु देवः इत्युपरतवचस्ति सुराधिपे हर्षविषादपरध्वजं क्षातिवर्गं अंतःपुराणि
परिषारं नापन्नोऽस्य कुर्या जिता यद्वन्ति ।

चिरगंयागाद्वज्रकोपकारोपेतया जनक्यमुपरागो भवति । तत्त्वसारी कोपसाध्यो दुर्लभकर्मदानं ततो भवति
मेनेर्दानः नवैदुःखानां मृगमलेनैवमर्दति विद्वान् । न हि कस्यचिद्विद्वच्चिन्मित्रं, धनं, शरीरं वानपाव्यस्ति । पाथिसमिता-
दि संपन्नः, परिपत्ता, पत्ने च पुनरजते दिनशो च मद्गतीमानयति दुःखासिक्ता । तदार्थभिरन्यैश्च सह विरोधं कारयति ।
रुक्मां प्रकर्तयतीनादधाति लज्जजलशोषिनिष । यामसोचनः पुनः सुख इव चित्तं मोहयति । व्यलीकरोदनहस्तेन
शङ्कुभिश्च पुंस्वामरगन्तानां श्वेतः सपयशीकुचैर्नि । चर्ममधुपिकादु, चपलादु, सभ्यशुद्धादलीकासिररत्नादु, माया-
जननीषु, शृङ्गागोपीनारिकासु, पुगलिपररत्नगल्यदिषु कोऽनुत्पन्नः प्रशयताम् ? शरीरं पुनरिदमेतस्मादुपिधिधानं, कचार्-
पुंजनमाधुतामनवायी भारः । मारिदोगतागानां पत्नीकीचुत्, सरग्यामीनिवासविलं, मेनै दंडचर्मैद्योदितलोदयद्वन्तिः
नारं पतिर्मेगोदं, युजाः पुनरप्य एक एव धनंसादायता । निरिन्दीलोतांक्षीयानपास्थिताति यौवनानि । दृणाश्लिखाला
एव मंनवः शणमानं दृष्टव्यं । हृदयममगम्य मा कृया एधा प्रमावुं जननरत्नाकरपायमनाथ कुबलोचोर्गं । नरे-
णीयोऽस्माभिः प्रमावदृत्तोपराध इति ।

भगवद्भारतीनमनन्तरं पुरकुमारकल्पद्वताः संमंततो दुंदुभयो ध्वनन्ति । सफलं च अर्गाद्विद्रममुद्रं जयश्च-
निमुनरं जगते । तन्मवापुस्तकण्डः स्रियलाक्षं वृत्तमारभते । अगन्नाथाश्च चिल्लोकभूषणा अथलदुक्कलपरिधानाः पट-
मनुकन्नेदयश्च निर्वृतिर्नरत्नैव मुक्ताकीटिकाभ्याजोपयतयाल्लुतश्रीयः विगमागामपि सुतरामफरणे पाटयं नः
पदयनेन पदयद्रयमिव कुंडलाम्बुं विराजमानमूर्णमयूषगंडस्थलाः । वृत्ते स्त्रियं येषां श्रेयोवसर इतीयोपत्तेन
कटुकद्वेनाक्षिष्टकोशः । यन्नामीयमतिशयपत्तनाभिमानाः तत्पदस्यामः स्थित्योर्ध्वितीवोत्तमांगस्थेन मुकुटरत्नक-
मनेन शोभमानः निर्धनपुल्लोपुतामिव विमानं प्रविशन्ति ।

ततः शतानुगुण्यमवाहस्कंधोदिसमेन मध्वैकचतुर्लंकायामरत्नसानीरुपरिवृत्तेन गत्या अपतीर्य रम्यतमे देशे
उत्तमामिमुगाः, हलनिलमरुततपः मुकुटादिकं क्लेशं बलकापादिकं अपनयन्ति । परित्यक्तोभयसकलप्रंथाः परिपुण्ड्रान्ति
योग्ययेन रत्नत्रयानिर्धमूं च परिनिष्क्रमणं पश्यतः ।

मागुयन्ति गानोत्पत्तिर्मेवैतदगुयुयते सकलमर्थवायाल्यमनेनेति श्रानं इति केवलमुच्यते । तस्योत्पत्तिर-
यतामिमेदानीमापानां, योग्यामरप्रीथरमिर्मुलितसलदगगनपतमहां, उत्पातान्तरायविशेषदिशिनां, चीतकमम-

नयेदित्करणेचेमस्यसासंदीर्घीकं, दूरीकृतविपथात्तं केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनात्तज्जन्यतीति मार्गे अपर्या—
तदोकादिकलंका अक्षोरपद्यते । फलाधी तद्वत्स रोचते इष्टसामर्थ्यं इति किं चित्रम् ?

देशांतरातिथेः साधोः कथं दर्शनशुद्धिः स्यादित्याशंकां निराकरोति—

मूलात्—जम्बज, जन्म अग्निवक्षसीरग्रहणं, जन्मशुद्धिरनिष्क्रमणं वा यत्र क्षेत्रे जातं तदत्र जन्मशब्देनोच्यते
साहचर्यात् । उत्तरजान्ममेव न्यायो योग्यः । अतिनिक्त्समणे रत्नत्रयाभिसुख्येन गृहाह्महिर्गमनं वा यस्मिन् क्षेत्रे तत् ।
द्वितीयं तरन्ति तस्मिन्मध्याः पाषाणाशार्दिन इति तीर्थमिह समवसरणं । जम्बजनिक्त्समणेणोष्पसी तित्यस्त्रिण्डे ति क च-
त्पाठः । तत्र तीर्थद्वय समवसरणस्य विन्शानि मावस्तंभा गृह्यन्ते । विसिंधी योगपुत्तिवस्थां भूमौ सा विसिंधीत्युच्यते ॥

दर्शनेशुद्धि गुणका वर्णनं करनेवाली गथा—

अर्थ—अनियत स्थानमें बिहार करनेवाले मुनिओंके सम्पगदर्शनमें तीर्थकरोंके जन्मादि स्थानोंका दर्शन
हीनेसे निर्मलता प्राप्त होती है.

जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना. जिस क्षेत्रमें जन्म होता है उसको भी साहचर्यसे जन्म कहते हैं.
अथवा जिसने नवीन शरीर धारण किया है ऐसा आत्माभी जन्मशब्दसे चर्चित होता है. अथवा माताके उदरसे बाहर
आनेकी क्रिया जिस स्थानपर हो वह स्थान भी जन्मशब्दसे गृहीत करना चाहिये. अर्थात् जिस क्षेत्रपर जिने-
श्रफा जन्म हुआ है वैसे क्षेत्रोंको जन्मक्षेत्र कहते हैं. अभिनिष्क्रमण—रत्नत्रयके अभिसुल होकर गृहका स्थान कर
जिस स्थानपर तीर्थकर गमन करते हैं उस स्थानको अभिनिष्क्रमण कहते हैं.

ज्ञान—केवलज्ञानावरण कर्मके ध्वस्त संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जाननेवाला केवलज्ञान यहाँ
ज्ञानशब्दका वाच्य है. सामान्य शब्दभी प्रकरणके अनुसार विशेषार्थको जतलाते हैं. अतः यहाँ ज्ञानशब्दसे केवल
ज्ञान समझना चाहिये. केवलज्ञानवर्णीय कर्मके ध्वस्त संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थस्वरूप ग्रहण करनेवाला जो ज्ञान
उत्पन्न होता है वही ज्ञान इस प्रकरणमें संगृहीत किया है. क्योंकि ज्ञान यह शब्द यद्यपि सामान्य है तो भी
विशेषमें समझना चाहिये. यह केवलज्ञान जिस क्षेत्रमें होता है उसको भी ज्ञानके साहचर्यसे 'ज्ञानोत्पत्ति' यह नाम है.

तीर्थ—चिन्ह. तीर्थ इस शब्दका अर्थ इस प्रकरणमें समवसरण ऐसा होता है. पापका नाश करनेकी इच्छा
रखनेवाले मध्य जीव समवसरण में जाकर संसारीचीर्ण होते हैं अतः समवसरणको तीर्थ कहना योग्य ही है. आयुक्त

स्थानमें मगानका समयसरण आया था यह समयज्ञानकेलिये चिह्नरूप जो मानस्तंभ स्थापन करते हैं वह यहाँ तीर्थ स्थानका अभिप्राय समझना चाहिये, अर्हदादिकोंके व युनिराजके समाधि स्थानको निषिद्धिका कहते हैं, जन्मादि स्थानोंको युनिराज प्रथम शास्त्रोंसे जानते हैं और अनंतर उनकी चंदना करनेके लिय जाते हैं, तब उनका समयदर्शन अतिशय निर्मल हो जाता है, अर्थात् युनिराज हमेशा अनेक देशोंमें प्रमण करते हैं तब वहाँ के जन्मादिस्थानोंका दर्शन कर अतिशय श्रद्धालु होते हैं, जैसे कोई आदमी किसी सुंदर स्त्रीका स्वरूप वर्णन करता है तब कोई श्रोता यह वर्णन सुनकर परोक्षरूपसे उसका परिज्ञान कर लेता है और उसको देखने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, यदि वह स्त्री उसको दृष्टिगोचर होती है तो उसके विषयमें उसको महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, वैसे आगमसे जन्मादि स्थानोंको जानकर जब सुनि उनको साक्षात् देख लेते हैं तब उनको महाश्रदान उत्पन्न होता है, अथवा जब तीर्थ-कर उत्पन्न होते हैं तब अनियत विहार करने वाले घाते घाते उनके जन्मादिक कल्याणोंको साक्षात् जानकर अपने समयदर्शनमें निर्मलता उत्पन्न करते हैं।

अब यहाँ तीर्थफलोंके जन्मादि फलप्राप्तियोंका विस्तारसे टीकाकार अपराजित घुरिने वर्णन किया है, का भागार्थ हम यहाँ लिख देते हैं—

तीर्थकर तीनज्ञानके धारक रहते हैं, जब स्वर्गमें उनका आधुष्य समाप्त होता है तब वे माताके उदरमें आते हैं इंद्रादिदेव आकर उनका गर्भमहोत्सव करते हैं, तीर्थकरका जन्माभियेक महोत्सव भुवनरूपपृष्ठमें जमा हुआ अज्ञानरूप अंधकारको नष्ट कर देता है, अमृतके पानसे प्राणियोंको आरोग्यलाभ होता है वैसे जन्म महोत्सवसे संपूर्ण प्राणी रोगमुक्त होजाते हैं ।

देवांगनाओंका नृत्य देखनेसे जैसा आनंद होता है वैसा इसके अवलोकनसे भी सर्व जगत् आनंदमय होता है, प्रियप्रयत्नके समान यह महोत्सव मन में प्रसन्नता उत्पन्न करता है, प्रत्यस्त पुण्यके समान यह अगणित पुण्यको समर्पण करता है, लक्ष्मी अपने परिचारिकाओंके साथ इस उत्सवको आश्रयसे देखती है, शुद्धक जातीके देव आभाप्रभसे पुष्पघटि करते हैं, तब चारो तरफ़में भारों आकर गुंजारव करते हैं, इस उत्सवके समय नगारे और शेरोंकी चूनि मचल हुना करती है, इनके ध्वनीमें जगतका अवकाश भर जाता है, देवांगनायें नृत्य करती हैं, मानो उनको जीतनेके लिये ही मीथोके शिरवरोकी पंचरंगयुक्त पताकायें भी नृत्य करती हैं, जन्माभियेकोत्सवके

मन्य आग्न कपित होनेमें देवांगनायें मर्तिनीं इंद्रोंको आलिंगन देती हैं तब उनका मुख हृषसे कमल-
ल्य मण्डित होता है.

इंद्र जब जन्माभिषेक करने का कार्यक्रम देवोंको सुनाता है तब वे आदरसे अपने हाथ जोड़कर उसकी आज्ञा मानते हैं. नगरेकी प्चनि सुनकर सर्व इंद्र और सामानिकादिक देव भी एकत्र होकर सौधमंदिरके पास जाते.
हैं. परस्पर की ईर्ष्यामें देव पैकविक्रि ग्रीर धारण कर आकाशमार्गसे प्रयाण करने लगते हैं. जिनबालकका जन्मा-
भिषेकोत्पन्न करनेके लिये जब इंद्राणी राजमयमें आती है तब उसके नूपुरोंका ध्वनि सुनकर राजहंसी राजभयन
के अंगणमें सविताग गमन करती है.

ऐरावतसे उतरकर जब इंद्र जिनबालकको प्रदक्ष्ण करनेके लिये अपने हाथ पसारता है तब दुंदुभि भेरी
घनीके सिंहानादमें सब दिशामें शब्दमय होती है. प्रणाम करते समय अनेक पटहोंका गंभीर और धीर शब्द होता
है.

इंद्र अपने हाथमें अष्टमी पंखके समान शुभ्र चामार लेकर प्रभुके ऊपर होराते हैं. तब जिनबालकको देव-
नेके लिये इंद्रोंकी देवियाँ उत्कण्ठित होती हैं. सफेत्त छत्ररूप मेघोंसे आकाश व्याप्त होता है. विजली के समान
क्षेत्सनेवाली पताकाओंमें आकाश व्याप्त होता है. इंद्रनीलमणिओंसे रचे हुये सोपानोंपर पांच रखकर देवोंका
मैन्य आगे गमन करता है. ऐरावत हाथी के दंतपंक्तिओंके सरोवरमें कमलोंपर देवांगनायें लीलाते पदनिक्षेप कर
नृत्य करती हैं. हजारों देवी अष्टमंगल धारण कर आगे गमन करती हैं.

उम ममय द्वारापाल देव धुद्र देवोंको हटाते हैं. आत्समथ जातीके हजारों देव अपने ऊपर पदा हुआ
रक्षा का कार्य पञ्चाग्रता में करते हैं. इस रीतीसे देव मेरु पर्वतके समीप जाकर उसको प्रदक्षिणा देते हैं. तदनन्तर
मेरुपर्वतके ऊपर शिखरके गमान ऊंचे सिंदूरमनपर इंद्र प्रभुको प्रसिजमान करता है. अनेक देव समूह क्षीर समुद्र
का तल लाते हैं तब इंद्र प्रभुका अभिषेक करता है इसके अनंतर इंद्राणी प्रभुको बालक योग्य अलंकारों से भूषित
करती है. हजारों इंद्रोंके मातृदेव प्रभुकी स्तुति करते हैं. उस समय इंद्र भी आनंदसे नृत्य करते हैं. इस तरहका
जन्माभिषेक सन्याण देवोंने यविओंका सम्मदूर्जन रट होता है.

अब दीक्षाकल्याणिकोत्सवका वर्णन करते हैं—

संपूर्ण विनिश्चयोंका खन्माभिषेकोत्सव होता ही है, इंद्रकी आज्ञासे कुबेर बड़े आदरसे दिव्य और योग्य ऐसे उपदन, वस्त्र भोजन, यान, वाहन, अलंकार वगैरह वस्तु ग्रन्थको समर्पण करता है, मनके अशुक्ल क्रीडा करनेवाले देवकुमारसमुदाय भक्तिसंग्रह सेवा करते हैं, कितनेक तीर्थक्षेत्रोंका पूर्वपुण्य उदयमें जप आता है तब उनको चक्ररत्नकी प्राप्ति होती है, यह चक्ररत्न हजारी स्वयंके समान चमकीले आरोंसे युक्त होता है, इसके साक्ष्यसे और अपने वायुपराक्रमसे तीर्थक्षेत्र समस्त प्रभास, मागधादि देशोंको, विद्याराजाओंको और धृगो-वरी भूपतिओंको शत्रु करते हैं, देवांगनाओंके समान, रूप, तारुण्य और विलासयुक्त, उपहास करनेमें चतुर ऐसी वृत्तिसे हजार पट्टरानिओंके सुलक्ष्मणोंको चक्रवर्तित्वको प्राप्त हुए वे तीर्थक्षेत्र निकसित करते हैं, इंद्रसे भेजी गयी अप्सराओंका नृत्य अबलोकन करके अपने मनका विनोदन करते हैं, बड़े आनंदसे किन्नर गंधर्वादि देवोंका गायन सुनते हैं, काल महाकालाधिक नवनिदिओंकी उनको प्राप्ति होती है, चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंका हजार हजार देव रक्षण करते हैं, वृत्तोंसे हजार मुकुटबद्ध भूपाल अपने सुवर्णरचित किरीटके अग्रभागपर सकरिफामें बैठायें हुए रत्नरूपी दीर्घपत्तियोंसे चक्रवर्तीका चरणधुगल पूजते हैं, देव कुमारके दायां लाए हुए उपहारोंको देखनेमें वे एकाग्रचित्त हो जाते हैं ऐसे वे चक्रवर्ती, मनुष्योंको जो भीम प्राप्त होते हैं उनमें मी सर्वोत्कृष्ट भोगोंको पुण्यो-दयसे प्राप्त कर लेते हैं, ये भोगोंके पदार्थ उनकी बिना प्रयत्नसे ही प्राप्त होते हैं, कितनेक तीर्थक्षेत्र मंडलीक, महामंडलीक पदकी प्राप्त होकर उत्कृष्ट भोगोंका अनायास योग लेते हैं ।

जब तीर्थक्षेत्र नामकर्मका उदय होता है और चारित्र्यमोह कर्मका अपकर्ष होता है तब अनाविच्छालसे आत्मार्थके साथ बंधे हुए स्वतन्त्रके और हृत्तर बंधोंके । कर्मोंका नाश करनेकेलिए फटिबद्ध हो जाते हैं और मनमें इस प्रकार विचार करते हैं—

बड़े कष्टसे जिसका अंत जाता है ऐसे, संसाररूपी समुद्रमें दुःस्वरूपी मोचरोंका हमको खूब ज्ञान है, अनुभव है, तो मी हमसरीले भी लोग इस मोह के फंदमें पड़े हुए हैं अतः यह मोहकर्म महापलवान है, हमको भी इसने आरंभ और परिग्रहोंमें खूब फसाया है, हमने अणिमामहिमादिक आठ गुणोंकी संपत्तिसे परिपूर्ण, आपत्तीका अविषय, अभिलाषाओंसे दूर, विनकी बुद्धि कुशाग्रके समान तीक्ष्ण है ऐसे इत्यादिक भी

निसको अपने ज्ञानसे जाननेमें असमर्थ हैं, जो वचनके अविषय है, अपराधीन है, जिसमें कर्म न्यूनताका अनुभव आता ही नहीं है, ऐसा अहंभिद्रोका सुख भी हमने बहुतकालतक भोगा है, अब; मनुष्योंके उत्तुच्छ संपत्ति सुखमें क्यों उत्कण्ठित हो रहे हैं यह मनुजभोगसंपदा दुष्ट जनकी भेत्रीके समान विचित्र दुःखोंका संबंध उत्पन्न करती है, चंचल है, पुण्यका समूह जैसा पूर्व कर्मके अधीन होता है वैसे यह भोग संपदा भी पराधीनही है, उरुमीकी हल्लिमें अल्प ही अर्थ भरा रहता है वने इस मनुजसुखमें अल्प प्रयोजनही सिद्ध होता है, दूर भव्य जीवका भुक्तिमार्ग जैसे अनेक विधोंसे रुका रहताही वैसा यह मनुजसुख भी अनेक विपत्तिओंसे बिरा हुआ है, यह मनुजवैभव अन्तकालतक मैने भोगा है,

हमफार प्रभु वैराग्यभावनामें लीन हुये हैं ऐसे समयमें ब्रह्मस्वर्गसे शंखके समान सुभ्रदेह जिनका है ऐसे लौकिक देव जिनेश्वर भगवान अपनेको और भव्य जनोंको सत्सारसमुद्रसे निकलनेके लिये उद्युक्त हुए हैं ऐसा प्रजविद्वानरूप नेत्रसे जानकर प्रभुके पास आते हैं, और अनेक भव्य जीवोंपर जिससे अनुग्रह होगा ऐसा यह महाकार्य ग्रहने अपने हाथमें लिया है, आपके इस कार्यमें हम लोगोंकी भी सम्मति है, पूज्य पुरुषोंकी पूजा का उल्लंघन करनेसे स्वार्थहानि होती है अर्थात् इष्ट स्वर्गादि संपदाकी प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा मनमें विचार कर वे लौकिक देव आकाशसे नीचे उतरकर प्रभुके प्राण महा-आदरसे बैठकर प्रभुकी इसप्रकार प्रार्थना करते हैं—

हे महारक्ष ! आपका यह उपयोग प्रशंसनीय है, कल्पवृक्ष प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखकर जगतपर अनुग्रह करते हैं, हे प्रभो आप महापुरुष हैं अतः आपभी कल्पवृक्षके समान जगत पर अनुग्रह करो,

विनेय अर्थात् भव्य जीवोंके ज्ञानरूपी लोचन मिथ्यास्वरूपी तिमिररोगसे व्याप्त होमये हैं, अतः वे खोटे रास्तेपर जा रहे हैं और कुमतिरूप खड्गमें गिर रहे हैं, कुमतिरूप गड्ढेसे निकलनेकी इच्छा मनमें होते हुये भी असमर्थ होनेसे शंका पाने लगे हैं दीर्घ और दृढ़ ऐसे निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी दोरेसे आप उनको कुगतिमेंसे निकालकर आपके दिशाये हुये विशाल मोक्षमार्गपर स्थिर करो जिससे वे अन्तर्बानात्मक सुखकी प्राप्ति होनेसे सुखी होंगे, इस प्रकार स्तुति करते सारस्वतादिक लौकांतिकदेव अपने स्थानको चले जाते हैं,

भगवानके वैराग्यरूपी वायुसे इंद्रका सिंहासन कंपित होता है, तब प्रभु महाकार्यका प्रारंभ करनेका निवारण कर रहे हैं ऐसा इंद्र बाधितानसे जानकर सिंहासनसे चंडे आदरसे नीचे उतरकर प्रभु जिस दिशामें मुह कर

घंटे हैं उस दिशोक तरफ सात पाद परिमित भूमौ तक चला जाता है. अपने मस्तकपर विकसित कमलदलकी क्रांतिको हंसनेवाला, अंकुश, द्वादिहस्त लक्षणासे मनोहर दीखनेवाला, ऐसे अपने दक्षिण हाथसे किरिटेके रत्नों से भूषित अपना मस्तक नीचे झुकाकर सद्वर्तनीयको चलानेमें उद्युक्त, शरणागत भग्नलोकोका रक्षण करनेवाले और अपूर्व ज्ञानरूपी नेत्रके धारक ऐसे जिनकरको भेरा नमस्कार हो ऐसा वचनोच्चार इंद्र करता है तब नगरेके ध्वनिसे सब देवीको ग्रन्थके कार्यमा ज्ञान होता है. सब एकत्र होते हैं. अपने अपने स्वामीके आगे वे देव प्रयाण करते हैं. नानाधरारके छत्र, शङ्ख, दण्ड, अलंकारोंसे सज्ज होकर श्रेष्ठ देव सौधमेंद्रके सन्निध जाते हैं. सर्व इंद्र और इतर राजा लोकोंके साथ इंद्र राजबाड़ेके पास जाता है. तब चामर, सिंहासन, शतच्छत्रादि राजचिन्होंको छोड़कर दरवाजेके पास खड़ा होता है. द्वारपालकी अंदर प्रवेश करनेकेलिये अनुज्ञा मिलनेपर धर्मचक्रसे सुशोभित ऐसे भगवानके पास जाकर उनको बहुमानसे प्रणाम करता है. जिनेश्वर प्रभु वंदी प्रसन्नतासे देखते हैं तब इंद्र इस प्रकार प्रभुको विज्ञापन करता है—

हे महारक ! आपका दीक्षा कल्याणविधि करनेकेलिये अच्युतेन्द्रके साथ सब इंद्र आये हैं. हमको सुक्तिमार्ग का स्वरूप माख्य हैं इंद्रिय सुख सेवस्वरूप होनेसे उससे ज्ञान उदासीन है, ज्ञानात्मक अनंत सुखानुभव प्राप्त करनेके लिये हम उद्यत भी है परंतु संयमधाति कर्मका क्षयोपशम न होनेसे चारित्र्य धारण करनेमें स्वयं चारित्र्यमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं और अन्य भग्योंको भी प्रवृत्त नहीं करते हैं. यद्यपि हमको विद्वद् ज्ञान और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगयी है तो भी निर्दोष चारित्र्य और तपके बिना ज्ञान संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें असमर्थ है. हमारा आशुष्य अनेक सागरोंका होनेसे हम दीर्घमिसारी हैं. अतः हम को वहीत सेव होना है. ऊठकर खड़े होनेकी अभिलाषा रखता हुआ भी बालक जैसे गिर पड़ता है वैसे चारित्र्य की अभिलाषा रखते हुये भी उसको हम धारण करनेमें असमर्थ हैं.

हे भावत ! आप ज्ञातव्य वस्तुमें सब जानबुके हैं. मोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे आपमें त्यागरूप परिणाम उत्पन्न हुये है. आप हमारे लिये सर्वोत्कृष्ट पूज्य है पूर्व जन्ममें संपूर्ण आरंभ और परिग्रहोंका त्याग करने से जैसी आपको अपूर्व वीतरागता और सर्व भग्न जीवोंपर उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है वैसी वीतरागता और उपकार शक्ति हमको भी अन्य जन्मोंमें मिले ऐसी अभिलाषा रखते हैं. आपके दीक्षाकल्याणके

प्रायः हम नदानुभूति रखते हैं अतः हमको इस सदानुभूति का उपयुक्त फल मिले ऐसी हम इच्छा रखते हैं।
दे भगवान् ! हम यह विमान सज्ज करके लाय हैं। इसके उपर आप आरोहण करो। ऐसा बोलकर जब गोपेण्ड मोन धारण करता है तब संपूर्ण प्राप्तिर्ग, अंतःपुर और परिवारके समस्त लोक हर्ष और विषादयुक्त हुये। उन गन लोगोंको हर्ष विषादयुक्त देखकर चिन्तित इस प्रकारसे बोलते हैं—

हे जलहो ! चिरमालीन सदानामे जो अल्प उपकार लोक अन्योन्यमें करते हैं उससे अन्योन्यमें अनु-
त्पन्न होता है, तथा जहाँ अनुराग-प्रेम उत्पन्न होता है वहाँ द्वेष भी उत्पन्न होता है। इस प्रेम और कोपसे अर्थात् रागद्वेषोंमें द्रुत नर्पयन होता है। इन सब आपसियोंका मूलकारण यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ ऐसा मस्तरमाद है, यह मैं दुःखोत्तरा आपकारण है, निदान् पुरुषने इस मस्तरमावको फेर देना चाहिये। किसीका मित्र अथवा, यन ना शरीर ये पदार्थ कायमेके टिकनेवाले नहीं हैं। सर्व वंधुगण, परिवार जन लड़्डु उदनिमें खूब महायना करते हैं धन नमानमें बड़ा दुःख होता है, यह धन धनेच्छु लोगोंके साथ बसेबा उत्पन्न कराता है, तीव्र लोभसे पदाता है। जैसे तारा धानी पीने चालेको अधिक प्यास लगती है वैसे धन तुष्णा—
—लोभसे उत्तरोत्तर अधिक रूपसे बढ़ता है,

विद्या मंदिराके समान अन्तःकरणको मोहित करती है, असत्य रोना, इसना और असत्य प्रार्थनाओंके द्वारा धैर्यरहित लोगोंके मनको शीघ्र हरलती है। सिया चर्मसे बनी हुई पुतलियां हैं, ये स्पर्शवसे चंचल होती है मंष्याकालकी मेरुपत्ति जैसी अस्थिर रागभावसे युक्त है, संध्याकालके अनंतर विलीन होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम अन्यकालमें नष्ट होता है, वे दूसरेपर प्रेम करने लगती है, वे कपटकी भातार्ये है, असत्यभाषणरूप धृतीकी वे व्याभिनी है, और युगविकी प्राप्तिवको बन्धारीला के समान प्रतिबंध करनेवाली है, ऐसी स्त्रियोंमें बुद्धमान पुरुषोंको प्रेम करना क्या उचित है ?

यह शरीर अनेक अपवित्र पदार्थोंका स्थान है, जैसे कूटे कचरेमें एक भी पवित्र पदार्थ नहीं रहता है वेमे शरीरमें गर रक्त, मांस, मलमूत्रादिक अपवित्र ही पदार्थ भरे हुये हैं, प्राणिओंको यह शरीर कभी नष्ट होनेवाले भास्के ममान है, अर्थात् जबतक इस जीवको मोक्ष प्राप्त न होगा तबतक इस शरीरका मोक्षा इसके हमेशा धारण करना परेगा ही, यह शरीर महारोगरूपी सर्पके लिए घामीके समान है, जरास्वी व्याध्रीका रहनेका यह स्थान

है, चर्मके झुकड़ोंसे घेदित भट्टीके ढेलके समान नेत्र अंदर तो निस्तार और ऊपरसे मनोहर दीखते हैं, ऐसे शरीरमें एक ही गुण है, वह यह है कि, वह धर्मसाधनकेलिए सहस्र करता है।

पर्वतपरसे बहनेवाली नदीके प्रवाहके तुल्य गौवन आस्थिर है, तिनकेकी अबिल्ला उतपन्न होकर जल्दी नष्ट होती है वैसे यंपत्ती भी प्राप्त होकर झीघ नष्ट होती है, शरीर संपदा और तालुका स्वरूप जानकर हे जन्महो आप प्रमादको छोड़ दो, जन्मसमुद्रके दूसरे किनारे की प्राप्ति करने के लिए उद्योग करो, प्रमादसे हमने जो अपराध हुये होंगे उनकी आप क्षमा करो।

ऐसा तीर्थंकर का भाषण होनेके अनंतर सुरकुमारों द्वारा देव हुंडुभि अन्न करने लगते हैं, ईद्रप्रमुख सकल जगत् उससमय जय जय कर रहा है, चारों तरफ देवांगनायें सुंदर नृत्य करती हैं उससमय त्रिलोक्य को अलंकार सदृश ग्रन्थ शुक्लेश्याके समान खेतवस्त्र पहनते हैं, मानों युक्तिकी वृत्तीही है ऐसी रत्नमालाको धारण कर ये अपना गला मुशोभित करते हैं, विराक्त पुरुषोंके भी मुखपर हम रागभाव उत्पन्न करनेमें इस चतुर हैं, हमारा चतुरपना देखो ऐसा कहकर अपनी मानों चतुरता दिखानेवाले ऐसे कुंदलोंके द्वारा ग्रन्थके दो लिख और सुंदर कपोल अपूर्व शोभाको धारण करने लगे, यदि ग्रन्थको वृत्त-चारित्र्य मिल है तो इस समय ग्रन्थको हमसे प्रयोजन है क्यों कि हम भी वृत्त है अर्थात् वृत्त-गोल हैं ऐसा अभिप्राय मानो धारण कर प्राप्त हुए कटकोंसे-कर फंकाणीसे ग्रन्थके हाथ आकृष्ट होंगये, बिनमें प्रभूकी महारत्नी कल्पना है वे कितने सुंदर हैं हम भी उच्च स्थानमें रहकर देखेंगे मानों ऐसे अभिप्रायसे ही मस्तकपरके मुकुटके रत्नसमुदायसे ग्रन्थ शोभने लगे, इस तरह भूषणालंकृत होकर मगवानने निर्वाणपवनका मानों गोपुर ही है ऐसे विमानमें प्रवेश किया।

तदनंतर ईद्रोंने वह विमान अपने कंधोंपर धारण किया, देवांगना, चतुर्णिकायके देव और सातप्रकार का देवसैन्य इनसे घेदित होकर प्रभू रम्यतम देशमें जाकर विमानसे उतरे, उच्च दिशाको मुखकर सिद्धको नमस्कार कर मुहुटादिक अलंकार क्रमसे अंगपरसे उतरते हैं।

बाह्याभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग कर मनवचन कथसे रत्नत्रयका स्वीकार करते हैं, इस तरहका दीक्षा प्ल्याणिक देखनेसे मुनिओंका सम्पददर्शन निर्मल होता है,

संपूर्ण पदार्थोंका स्वरूप जिससे जाना जाता है उसको ज्ञान कहते हैं, यहाँ केवल ज्ञानको ज्ञान कहते हैं

हैं उसको उत्पत्ति इस प्रकारसे होती है.

जिन्होंने मोहनीय कर्मका भार फेंक दिया है, शुक्लध्यानरूपी धर्मके सहाय्यसे जिन्होंने ज्ञानावरण और दर्शनत्रणरूप अंधकार नष्ट किया है, अन्तर्गम्य कर्मरूप विषयको जिन्होंने निर्दलित किया है ऐसे भगवानको केवलज्ञान उत्पन्न होता है. यह ज्ञान क्रमरहित, इंद्रियोन्मी प्रवृत्तिसे रहित, और संशय विषययज्ञानसे रहित होता है. इस केवलज्ञानसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है. केवलज्ञानकल्याण देखनेसे जिनप्रणीत मोक्षमार्गमें शंकादि दोषरहित भट्टा उत्पन्न होती है. जिनको मोक्षफलेच्छा है वे तत्रययुक्त अथवा जन्मकल्याणादिकोंसे युक्त तीर्थकरादिकोंपर उनके सामर्थ्य देखनेमें अद्भुत करते हैं.

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिरगधंमुपदर्श्यं परोपकारं स्थिरीकरणं प्रकटयति—

संविग्नं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिद्वानं ॥

जुत्तो आउत्ताणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥ १४४ ॥

संविग्नो वृत्तसंपन्नः शुद्धलेद्वपस्तपोधनः ॥

देशान्तरागतिभिः साधुः संवेजयति तद्गतः (तद्गतात्) ॥ १४७ ॥

रिजयोष्य-संविग्नं संविग्नं संसारभीरतां । जणयति जनयति । कः ? सुविहिदो सुचरितानां । संविग्गाणं संविग्गाणं । जुत्तो भवतामादिके तपति युक्तः । आउत्ताणं योगवत्तराणां । विसुद्धलेस्सो विसुद्धलेस्सो । सुलेस्साणं सुलेस्साणानां च । सभ्यं चारियतपसोः शुद्धलेद्वपसां न प्रवर्तमानं वृद्धा सर्वेऽपि सुचारिणाः सुतपसाः, शुद्धलेस्सा यतयः अतिशयवर्ती संसारभीरतां प्रपच्छे । न परमतीव संसारभीरयः, यथायं भगवान् अत एव नधारिधं तपस्य सातिचारं इति प्रमथमानाः । एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिं स्वार्थमुपदर्शयन्ती स्थितिकरणं परार्थमुपदर्शयति—

मूलाय—संवेगं संसारभीरतां । जणयदि वर्द्धयति । जनिदिह स्वरूपपितृशोयत्पादनाथो न स्वरूपविभो-

बनायः । संवेगस्य प्रागपि सङ्क्रामात् । सुविहिदो सुचरितः । अवशनादिके तपति समाहितः । आउत्ताणं योगधरिणात् ।

अनियतविहारे दर्शनशुद्धि होती है. अत्र सामागिक स्थिरीकरण मी इससे होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—अनियतविहारी मुनि उत्तमचारित्र धारक होनेसे उनको देखकर सर्व मुनि उच्चम चारित्रधारक

होते हैं. इनकी संसारभीरुता देखकर वे भी संसारभीरुताको प्राप्त होते हैं. इनकी अनशनादि तपश्चरणोंमें निमग्नता देखकर अन्य मुनि भी वैसे बनते हैं. विष्णु लेख्याके धारक ऐसे इन मुनियोंको देखकर वे भी अपने परिणाम विष्णु करते हैं. यह फायदा अनिवार्य विहारसे होता है. इस लिये मुनियोंको अनिवार्यविहारी बनना अवश्य योग्य है. अभिप्राय यह है कि, अनियतविहारी मुनियोगी सम्यक्चारित्र और तपमें प्रवृत्ति देखकर सर्व उत्तम चारित्र युक्त, महातपस्वी और विष्णुदेव्या धारक यति भी संसारभयकी उत्कृष्ट सीमाकी प्राप्त होते हैं. जैसा वे महापुनि अतिशय संसारभीरु हैं वैसे संसारभीरु हम नहीं हैं. इसलिये हमारा तप और चारित्र अतिचार्यसहित है ऐसा मनमें विचार कर अन्य साधु भी संसारभीरु, महा तपस्वी, सत्चारित्रधारक और विष्णुदेव्याधान् बनते हैं. अतः अनियत विहारसे साधुओंपर उपर्युक्त उपकार होता है यह सिद्ध होता है.

उत्तरभागया एतद्वचने न केवलं अतिशयितचारित्रतपोगुण एव परं संविमं करोति किंतु एवंभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुचत्थविसारदो असढभावो ॥

संवेग्गाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥ १४५ ॥

मियधर्माशयः साधुरागमार्थविबक्षणाः ॥

अममवयवित्रस्तः संविमं कुरुते परम् ॥ १४८ ॥

विजयोपया—पियधम्मवज्जभीरू मिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यत्थावयस्य पापस्य भीरुः । सुचत्थयित्सारदो सदायथोर्मेयुणः । असढभावो दाऽपराहितः । संवेग्गाविदि य परं संविमं करोति । साधू साधुः । णियदं सर्वकालं निहरमाणो दैवांतरात्तिथिः ।

न केवलं सम्यक्चारित्रतपोविष्णुदेव्यावचित्तथामृतानन्यान्साधून्तिसंविमान्करोत्यपि त्वेवंभूतोऽपि—

मूलाः—वज्जभीरू पापभीरुः । संविग्गावेदि संविमं करोति । णियदं सर्वदा ।

लिसक्का तप व चारित्र गुण उत्कृष्ट है वही मुनि अन्य मुनियोंमें संसारभीरुत्व उत्पन्न कर सकता है ऐसा नहीं है किंतु अन्य गुणवालाभी संसारभीरुता उत्पन्न कर सकता है इसी बातका वर्णन आगेकी माथा करती है.

अर्थ—अन्य देशमें रहनेवाले साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी उनके समानही हो जाता है. बार बार पांच प्रकारके संसारका निरूपण श्रवण करनेसे नाम व्यथित होकर जिनको संसारसे अत्यंत भय उत्पन्न हुआ है ऐसे साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी संसारसे अधिक भययुक्त होता है. धर्मका आचरण करनेसे नवीन कर्मोंका निरोध अर्थात् संवर होता है, पूर्ववद्ध कर्म निर्जोर्ण होकर आत्मासे अलग होते हैं. यह जिनधर्म अर्थात् मुनिधर्म स्वर्गादिमुख और मोक्षमुख जीवोंको देता है ऐसा धर्मका फल और उसका माहात्म्य सुनकर उसमें जिनका मन हमेशा अधिक रुचि रखता है, जो योद्धेसे अशुभयोगोंको अपने आत्मामें हैं. उनको देखनेसे विहारी यति भी धर्ममें प्रगाढ़ रुचि रखता है. ऐसे साधुओंको देखकर अनियत विहार करनेवाला साधु उत्पन्न होने नहीं देते ऐसे मुनिओंको अथवा मीरुतर कहते हैं. ऐसे साधुओंको देखकर अनियत विहार करनेवाला साधु धर्म पर अतिशय प्रेम करता है और उसमें अधिक स्थिर होता है. जैसे 'अभिरूपाय कन्या देवा' रूपवानको कन्या देनी चाहिये. यहाँ सर्व मनुष्य रूपयुक्तही होते हैं. कोईभी मनुष्य रूपरहित नहीं होता है. अतः 'अभिरूपाय कन्या देवा' इस वाक्यका 'अधिक सुंदर पुरुषको कन्या देनी चाहिये' ऐसा अभिप्राय है. वैसे 'प्रियस्थिरधर्मी, इसका 'प्रियस्थिरधर्मतर' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये. अर्थात् अनियत विहार करनेवाला साधु अधिक प्रिय और अधिक स्थिर धर्मको धारण करनेवाला होता है.

भाषणा ध्यातृ—परीपदसहनमिह भावनेत्युच्यते—

चारिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ॥

सेवा वि अपडिवद्धा विहरणेणाधिसिया होदि ॥ १४७ ॥

श्रितातपधुषातृष्णानिपयायाः परीपहाः ॥

यातिनाटाव्यभानेन समस्ताः सन्ति भाविताः ॥ १५० ॥

विजयोदया—चरिया धर्पोन्नयं दुःखमिह चर्येति गृहीतं । उपानहान्येन वा अरुतपादरक्षस्य, गच्छतो निशितमकरापायणकंदकादिभिस्तुष्टुमानचरषस्य, उण्णरज-संतसपादस्य, वा बहु-सं तस्मात्तुमवमसंक्षेपेन चर्पोभावना । पुरा य अपविचिते देवे संयतेः पूर्वमतस्यासिते अस्पचन्यसंग्रहे प्रयोगाया अस्माभात् मिद्यायाः समुपजाता धुद्धेदना

खोटा भवति । गिरमेतच्च यस्ततो जनः परिव्रज्यादाश्रिण्याद्वा मित्रां प्रयच्छतीति ॥ मदान्परिहरमः । सीपं उण्हं च शीतोष्णस्पर्शजं दुःखं इह गृह्यते । तदनुभवजं संक्षेयारहितभाषिणां सोढं भवति । सेज्जा च शय्या च वसतिः । अपविषदा ममेदं भावरहिता ४ अविद्यासिवा सोढा भवति । विहरणेण विविधदेशगमनेन ।

भावनां भावयति—

मूलार—चरिया गमनजन्यं दुःखमित्यर्थः । कुषा अपरिचिते देशे संयतैः पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसंग्रहे च योग्यमिधाया अलाभादुपजाता ध्रुवेदना । सीदं शीतस्पर्शनजं दुःखं । अधियासिवा अंसक्लेधेन सोढा । मेज्जा वसतिः । अपविषदा मेनेदंभावरहिता ।

भावना—परीरह सहन करना यह भावना शुद्धका अर्थ है.

इसका विवेचन इस प्रकार है—

अर्थ—चर्या—चर्यासे उत्पन्न हुए दुःखको चर्या कहते हैं. कृता अथवा अन्य पदार्थसे जिसने अपने पापोंका रक्षण नहीं किया है, तथा गमन करते समय सीरुण दूरकरा, परधर, कांटे इत्यादिकोंके द्वारा जिसके चरण व्यथित हो रहे हैं. उष्णधूलीसे जिसके पैर संतप्त हुए हैं, ऐसे दुर्निको जो दुःख उत्पन्न होता है वह मुनि निना संश्लेष परिणामसे सहन करते हैं. यह चर्या भावना है.

धुषा भावना—जहाँ मुनिजोने निवास नहीं किया था वैसे अपरिचित तथा अल्प धान्य के संग्रहसे युक्त देशमें योग्य भिक्षा न मिलनेसे जो भूखसे वेदना होती है वह सहन करना धुषाचर्या कहलाती है. बहुत दिन-पर्यंत एकस्थानमें ही निवास करनेसे सब श्रावकोंके साथ परिचय होता है इस लिये वहाँ भिक्षा मिलनेमें महान् परिश्रम नहीं होता है. संश्लेष परिणाम न करके शीतसे और उष्णसे होनेवाले दुःखोंको सहन करना यह शीतोष्ण चर्या है. वसतिजाने ऊपर भी यह मेरी है ऐसा समस्त्यमात्र उत्पन्न नहीं होता है. अनियत विहार करनेसे ये उपयुक्त फायदे होते हैं.

गाणादेसे कुसलो गाणादेसे गदाण सत्याणं ॥
अमिलाव अरथकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥ १४८ ॥

आरातीय आचार्य—श्रुतकेन्द्रीके अनंतर जो आचार्य उत्पन्न हुए हैं उनको आरातीय आचार्य कहते हैं। अर्थात् आरातीय और ग्राचीन आचार्योंने रचे हुये श्राव्होंका भी ज्ञान होता है।

प्रकारान्तरेण अतिमाधुर्यकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

शिकलव्रणपवेसादिसु आयरियाणं बहुप्पयाराणं ॥

सामाचारिकुललो य होदि गणसंपवेसेण ॥ १५० ॥

विज्ञयोपवा—शिकलव्रणपवेसादिसु इत्यनया गायया । आयरियाणं आचार्याणां । बहुप्पयाराणं बहुविधानां । केचिदाचार्याः चरणाक्रममगच्छन्ति । परेः सहाचरणात् । अपरे पुनः शास्त्रनिगदितमेव । अन्ये तुमुभयथा । इति बहुप्रकारता । एवं अनेकप्रकाराणां गणसंपवेसेण गणप्रवेसेन निःक्रमणप्रवेशादिकासु क्रियासु । कुललो य होदि । कुललव्य मयति । कः ? समाचारी ते यथा आचर्यति तथा प्रवर्तमानः । स्वासासदेशाभिर्गन्तुविक्रमता श्रीतकादुष्णाद्वा देशा-च्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा विद्यासाधि । किमर्थे ? नीतीणां जंतूनामावाधापरिहाराय अथवा श्वेतस्वर्णगुणासु भूमिसु मग्न्या नि क्रमेण धन्यस्याद्य प्रवेदने प्रमार्जनं कृतिप्रदशादयः कार्यं । अगथा विरुद्धबोनिस्तक्रमेण पृथिवीकालिकानां तद्रूपिभागोत्पत्तानां प्रसातां चानाया स्यात् । तथा कुलं प्रविशता सत्त्वित्वाच्चिरजसोः पदविपु लक्षणयोभिरासः । यत्पद्य पदौ शुच्यतस्तापय गच्छेज्जलौतिक एव तिष्ठेत् । मद्गतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्रागे कृतविषयैदनः धावरपरकुल-प्रतिस्तापगमया सर्वे शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यज्यमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समहितचित्तो द्वोपयविक्रमरोहन्, परकृते य कापोरगम्येति तिष्ठेत् । तदतिवारल्यपोहायं । एवेमेव महतः कर्तारस्य प्रवेशविःक्रमणयोः ।

तथा शिक्षानिमित्तं शुद्धं प्रवेष्टुकामः पूर्वं अपयलोकेयत्किमिन यलीवर्धं, महिष्पः, प्रवृत्ता वा गायः, दुष्टा वा सार-मेया, मिशान्तराः धमणाः सन्ति न सन्तीति । संगित चेन्न प्रविशेत् । यदि न विभ्रयति ते बलेन प्रवेष्टो कुर्यात् । ते हि भीता यति यापते स्वयं या पलायमानाः रसस्थायरपीडां कुर्युः । किरयंति, महति वा गतर्तौ पतिता मृत्तियुपेयुः ।

यद्विप्रमिराणां या तेषां निर्गमने शुद्धस्यैः प्रत्याख्यानं वा इष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्यथा बह्वच आयाता इति दानुमराकाः कम्भौचिदपि न द्रव्युः । तथा च भोगांतरायाः कृतः स्यात् । कुडा. परे शिक्षावराः निर्धर्तसनादिकं कुयु-ररन्नाभिरादया ग्रिहं शुद्धं किमर्थं प्रविचारीति । अन्ये शिक्षावरा यत्र स्थित्वा लभते भिक्षां, यत्र वा स्थितानां शृङ्खिः नवच्छन्ति तापन्मात्रमेव भूमायं यतिः प्रविशेन्न शृद्धाभ्यर्तर् । शृद्धिर्भिक्षा प्रविशेत्यभिहितोऽपि मांय हर् प्रविशेन्नव-

स्यावरीडापरिहृतये । तद्वद्वारकासुहृत्पक्षे कुप्यन्ति च गृहिणः । [बलकं वेत्तं वा नातिक्रम्य ग्रविशेत् । भीताः पलायनं कुप्यन्त्यानां वा पक्षेयसुः] ।

द्वारमप्यायामधिकं भवति प्रविशतः गात्रपीडासंकुचिवांगस्य विवृतायोभागस्य वा ग्रवेशं दृष्ट्वा कुप्यन्ति हसन्ति वा । आत्मविराजना निष्कृत्यविराजना च । द्वारपार्श्वे कञ्चुकीडा स्यान्मर्दने शिष्याल्लङ्घितमजानानि वा अनिरुपहित-प्रवेत्तनी वा अभिर्हन्ति । तस्माद्दृष्ट्यै तिर्यक्चागलोक्य ग्रवेशल्यं ।

तदानीमेव सितां, जलसेकाद्रौ, प्रकीर्णद्विरिक्तकुसुमफलपलाशादिभिर्निर्जलं, सचित्तमुत्तिकावतीं, छिद्रवहु-कां, शिचलरसजीवां, गृहिणां प्रोक्तानां क्लृप्तमंडलपरिहृतां, श्वेत्ताप्युपितां निरुद्धीभूतनाजनामंशिकस्थानशयनामा-सीमदाशिरागुह्यां, मूत्राजगुहीनादिपिरुपहतां भूमिं न प्रविशेत् ।

सर्वमविराजनां निष्कृत्यविराजनां च परिहृतुं युक्त्या निरंशुश्चरिष्ये शनैरतीवानयनतो घंवमानं मतिं वृत्त-योग्याशीर्षोर्गे निरंशेत् । तथा भिक्षाकालं, कुसुमकालं च आत्मा गृहीतवाग्रहः, ग्रामनगरादिकं प्रविशेदीयस्मिति-संपन्नः । भोजनकालपरितानं श्रद्धा प्राप्तादिभ्यो निःसरेत् । विनायतनं, यतिनिवासं वा प्रविशप्रप्रक्षिणीकुप्यन्ति-सीधिकादान्प्रयोगं च । निगृह्यैकमग्रस्तीर्थिकेति । आदिशब्देन परिगृहीतस्थानभोजनशयनमनादितिया । तत्रापि यत्नो यतीनां । तं सकलं वेष्टि मुकुटव्याली त्वर्थाशोहं, न यथाचारक्रमः सुनार्यो बान्यसकाशे कृतस्य इत्यभि-मानं न धेहेत् ।

प्रकारान्तरेणातिशयब्रह्मार्थत्वं इत्याख्यातुमाह--

मूलतः--गिरकवणपवेसादिषु यस्य सिद्धिगुह्ये निष्क्रमणे भवेत्तो जादिशब्देन ध्यानभोजनक्षयतस्तत्तद्विनिव्याप्तु । षट्पदयाराणं केचिद्धि मूरयभरणममशोक्षित एवावगच्छति, परे सतावरणात् । अपरे पुन शास्त्रोक्तमेव । अन्ये व ह्युभयक्षाः इति षट्पदकारणा । साभाचापीकुसुहो निष्क्रमणादिषु यत्नेषां सन्ध्यापरणं समाप्तुष्टानं वा तत्र प्रवीणः । एतत्संपन्नसु दीक्षायां द्रष्टव्यं ।

अर्थः--अनिपत्य विहार करनेवाला साधु अनेकगणोंमें प्रवेश कर अनेक आचार्योंसे वसतिकामे और दाताके घर आदिकोंमें प्रवेश करता और वहाँसे गमन करता, स्थान, भोजन, शयन, वगैरे विचारोंका स्वरूप जानकर कुशल होता है. अतः साधुओंको विहार करना चाहिये. किंतुनेक आचार्य अन्यधुनिओंके आचरणसे आचाराका क्रम जानते हैं. कोई आचार्योंको शास्त्रोक्त आचार और अन्य धुनिओंका आचार दोनोंका स्वरूप मालूम

१ अर्थ पाठः फणुलके नास्ति सप्तसुक्कादुदृत्य संशोजितः ।

रहता है. इस लिये आचार्योंके अनेक प्रकार होते हैं. आचार्य जिस तरहसे आचारमें प्रवृत्ति करते हैं वह सब स्मरणमें रखकर नैसा आचरण करना हुआ देशांतरविहारी साधु आचारमें कुछ हो जाता है. उस आचारक्रमका टीकाकार अपराजितद्वरि वर्णन करते हैं—

वसतिकासे बाहर जानकी साधुको जब इच्छा होती है तब वह शीतलस्थानसे अथवा उष्णस्थानसे बाहर जानेके पूर्वमें अपने सर्व अंग पिच्छिकासे साफ करे जब वह साधु वसतिका में प्रवेश करेगा उस समयमें भी अपना अंग पिच्छिकासे साफ कर ही वसतिकामें प्रवेश करे. यह अंग पोछनेकी क्रिया करनी चाहिये. क्यों ? इसका सत्तर यह है—

शीत और उष्ण अंतुओंको बाधा न हो इसलिये शरीर प्रमार्जन पिच्छिकासे करना पड़ता है. अथवा सफेद भूमि या लालरंगकी भूमिमें प्रवेश करना हो अथवा एक भूमिसे निकलकर दूसरे भूमिमें प्रवेश करना हो तो फाटिप्रदेशसे नीचेतक सर्व अवयव पिच्छिकासे प्रमार्जित करना चाहिये. ऐसी क्रिया नहीं करनेसे विरुद्ध योनि संक्रमसे पृथ्वीकायिक जीव और व्रतकायिक जीवोंको बाधा होगी. जलमें प्रवेश करने के पूर्वसमय साधु पाँव हाथ, वगैरह अवयवों में लगे हुए साचेत और अचेत धूली को अपनी पिच्छिकासे दूर करे. अनंतर जलमें प्रवेश करे. जलसे बाहर आनेपर जब तक पाँव न धुल जावेंगे उतने कालतक वह जलके समीप ही रुका हो जावे. पाँव धुलने पर आगे विहार करे. पड़ी नदियोंको उलंपकर यदि जानेका प्रसंग आवे तो नदीके प्रथम तटपर सिद्धचंदन! कर जपतक दूसरे तटकी प्राप्ति न होगी तबतक मने छरीर, भोजन और उपकरणका त्याग किया है ऐसा मत्स्याख्यान स्वीकारना चाहिये. मनमें एकाग्रता धारण कर नौका वगैरह पर आरुढ़ होवे. दूसरे तटपर पोहोचनेके अनंतर उसके अतिचार नाशार्थ कायोत्सर्गसे खदे होना चाहिये. प्रवेश करनेपर अथवा चढ़ासे बाहर निकलनेपर भी यही आचार करना चाहिये.

मिथ्याके लिये श्रावणके घरेमें प्रवेश करते समय प्रथमतः इस घरेमें वैल, भैंस, प्रखल गाय, दूध कुत्ता, मिथ्या मांगनेवाले साधु हैं या नहीं यह अवलोकन करे यदि न होंगे तो प्रवेश करे. अथवा उपर्युक्त प्राणी साधुके प्रवेश करनेसे भयपुक्त न होवे तो यहाँसे सावध रहकर प्रवेश करे. यदि वे प्राणी भयपुक्त होंगे तो उनसे यतीकी बाधा होगी. दूर उपर वे प्राणी दौढ़ेंगे तो व्रतजीवोंका, स्थावरीका नाश होगा. अथवा साधुके प्रवेशसे उनको कुछ

होगा, किंवा भागते समय गड्डमें गिरकर मृत्पुवक्ष हागे, बिन्दुमय मिथा ला है एस अन्यसाधु घरस पाकर निमज्ज
हुने देखकर अथवा गृहस्थोंके द्वारा उनका निराकरण किया हुआ देसकर वा सुनकर तदनंतर प्रवेश करना चाहिये-
यदि मुनिवर्य इसका विचार न कर श्रावकगृहमें प्रवेश करें तो बहुत लोक आये है ऐसा समझकर दान देनेमें असमर्थ
होकर किसी को भी दान न देंगे, अतः विचार के बिना प्रवेश करना लभ्यतरायका कारण होता है, दूसरे भिक्षा
मांगनेवाले पाखंडी साधु जैन साधु प्रवेश करनेपर हमने कुछ भिलनेकी आशासे यहां प्रवेश किया है यह मुनि क्यों यहां
आया है ऐसा विचार मनमें लाकर निर्भर्त्सना तिरस्कारादिक करेंगे, इतर भिक्षा मांगनेवाले साधु जहां खड़े होकर भिक्षा मा
प्त करते हैं, अथवा जिस स्थानमें उठे हुये साधुको गृहस्थ दान देते हैं उतने ही भूप्रदेशतक साधु प्रवेश करें, गृहके अभ्यंतर
भागमें प्रवेश न करें, गृहस्थोंने तिष्ठो, प्रवेश करो ऐसा कहने पर भी अवकाशमें साधुको प्रवेश करना उचित नहीं,
अन्यथा व्रत स्वावर जीर्णोक्त नाश होगा, इत्यादिकोका उल्लंघन कर जानेसे गृहस्थ कुपित होंगे, घरमें घफरा जयवा
साधका पछडा हो तो उसको लपकर प्रवेश न करें, अन्यथा वे दरके मारे पलायन करेंगे वा साधुको गिरा देंगे,
दीर्घता व चौडाइसे रहित द्वारमें प्रवेश करनेसे शरीरको स्थथा होगी, अंगोंको संकुचित करके जाना पड़ेगा, नीचे
के अवयवोंको पसारकर यदि साधु प्रवेश करेगा तो गृहस्थ कुपित होंगे अथ हास्य करेंगे, इससे साधुको आत्मवि-
राधता व मिथ्यात्वाराधना होगी, संकुचित द्वारसे गमन करते समय उसके समीप रहनेवाले जीवोंको पीडा होगी,
अपने अवयवोंका मर्दन होगा, यदि ऊपर साधु न देखे तो सीके में रखे हुये पात्रोंको धक्का लगेगा अतः साधु
ऊपर और चारों तरफ देखकर प्रवेश करें.

तत्काल लेपी गई, पानी के छिड़कावसे भीली, हरा वृष, पुष्प, फल, पत्रादिक जिसके ऊपर फैले हुए
हैं ऐसी, सचित महीसे युक्त, बहुत छिद्रोंसे युक्त, जहां व्रत जीव फिर रहे है, जहां गृहस्थों के भोजनके लिये
रंगावली रची है, देवताओंकी स्थापनाय युक्त, अनेक लोक जहा बैठे हैं, जहां आसन और शय्या रखे हैं, जहां
लोक बैठे हैं और सोये हैं, जो मृदा, रक्त, विघ्रादिस अपवित्र बनी है ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करें, अन्यथा उस
के संयममें निराधना होगी व मिथ्यात्वाराधनाका दोष लगेगा.

साधु भोजन कर जब निकलेगा तब घीरे घीरे गमन करे, नम्र होकर चले, नमस्कार करनेवालोंको योग्य
आशीर्वाद देंगे, इस तरह स्वस्थानगमन करें.

शिक्षाका समय, और शुष्कका समय जानकर कुछ वृत्तिपरितोष्यानादि नियम ग्रहणकर ग्राम या नगरमें ईयंतिमितिसे प्रवेश करे। भोजनकालका प्रमाण जानकर ग्रामादिकसे निकले। जिनमंदिर अथवा यतिका निवास अर्थात् वसतिशाला - मठ इनमें प्रवेश कर प्रदक्षिणा करे। उस समय निसीधिका शब्दका उच्चारण करे और जब वहांसे छोटते समय असीधिका शब्दोच्चारण करे। इसी तरह स्थान, भोजन, शयन, गमनादि क्रिया करते समय भी मुनिओंको प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये। सब आचारक्रम में जानता हूं, मैं शुरुकुलवासी हूं, सूत्रका अर्थ मैं जानता हूं। आचारक्रम अथवा सूर्यार्थ अन्यसे जाननेकी मेरेको जरूरत नहीं है। ऐसा अभिमान न धारण करे।

शिक्षाप्रामुख्योपपत्तौ मन्वेदित्वाह—

कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कावब्बो ॥

सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जघ तद्देव ॥ १५१ ॥

कर्तव्या यत्नतः शिक्षा प्राणैः कंठगतैरपि ॥

आगमार्थसमाचाप्यमृत्नीनां तपस्विना ॥ १५२ ॥

विजयोपवा—कंठगदेहिं नीत्यादिना । कंठगतै प्राणैः सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिक्षा कर्तव्यैव सूत्रस्यायंस्व सामाचारस्य ।

कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कावब्बो ।

सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जघ तद्देव ॥ २ ॥

मूलार्थ—इत्येवमपि गाथा धर्मैव ।

अनियतपास करनेवाले मुनीने आगमाभ्यास करना चाहिये—

अर्थ—प्राणकंठमें आसंघे हो तो भी मुनिका आगमका अध्ययन करना अवश्य कार्य है, जैसे वह सूत्र अर्थ व आचारोंका अध्ययन करता है वैसे आगमका भी अध्ययन करे,

संजदजनसा य जाहिं फासुविहारो य सुलभबुची य ॥

तं खेचं बिहरंतो णाहिदि सछेहणाजोगं ॥ १५२ ॥

प्रासुफं सुलभाहारं संयतगौचरीकृतम् ॥

संखलनोचितं क्षेत्रं पश्यत्यनियतस्थितिः ॥ १५४ ॥

त्रिजयोपया—संजदजन इत्यदिना । संयतगामिद्विहावीगताया अदाय च सैन्य उपरतो व्याघ्रसः सम्यग्यतः संयतः प्रासुत्यते तस्य संयतजनस्य । जगि यस्मिन्क्षेत्रे । फासुविहारो य प्रासुकं विहरणं जीवयाधारहितं गमनं तं तदर्थम् । णाहिदि भारगत्यामनः परस्य वा । सछेहणाजोगं सम्यक्कायकायतनूकरणं सहेयना तस्या योग्यं । तं का? विहरंतो देशांतराणि भ्रमन् ।

क्षेत्रपरिमार्गणमाह—

मूढारा—फासुविहारो जीवयाधारहितं गमनं । तसद्विहारीकर्मधारयद्वत्वात् । णाहिदि दास्यति ।
आनियतविहारी साधूने क्षेत्रका अवलोकन कारना चाहिये- इस विषयका विवेचन करते हैं—

अपनेको अहिंसादिकोमें प्रयत्नशील करते हैं उनको संयत—संयमी सुनि कहते हैं, ऐसे संयमी सुनिको प्रासुक जीव और वनस्पतियोंसे रहित है, जहां बहुत पानी और कीचड़ नहीं है ऐसा क्षेत्र प्रासुक है, सुनियोंकेलिए विहार योग्य है, निम्न क्षेत्रमें सुनिजोंको सुलभतासे आहार मिलना वह क्षेत्र अपनेको और अन्य सुनिजोंको संखलना योग्य है, गरीर और कपायोंको संखलन परिणामोंका त्याग कर शालोक्त विधीके अनुसार कुछ करना संखलना देगांवरमें विहार करनेवाले सुनिने इस प्रकार क्षेत्रमार्गणा करनी चाहिये.

न देशांतरधमणमात्रद्विपतविहारी भवति कित्तेवंविध इत्याचष्टे—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णये गणे य सण्णिजणे ॥

सव्यत्य अपडिवद्धो समासदो अणियदविहारो ॥ १५३ ॥

आवके भगरे ग्रामे वसतावुपधौ गणे ॥

सर्वधामप्रतिबद्धोऽस्ति योगी देशांतरातिथिः ॥ १५५ ॥

इति अनियतविहारसूत्रम् ।

विजयोव्या—यस्यैतु अ इत्यादिना—यत्तु उपकरणेषु । ग्रामे भगरे गणे आश्रयजने च । सर्वत्र अग्रति पन्धः । ममेवं वसत्यादिनां अहमस्य स्वासीति संकल्परहितः अनियविहारी भवति इति संक्षेपतः प्रतिपत्तव्यः ॥ विहारो गद्यो ।

न देशांतरधमणमात्राद्विपतविहारी कित्तेवंविधो भवन्नित्याह—

मूळरा—सण्णिजणे आश्रयजने । अपविन्द्यो मनेवमदस्य स्वासीति संकल्परहितः । अनियतविहारः । सूततः ॥ ६ ॥ अंकतः ॥ १२ ॥

जैनीं सीधामाश्वितोऽन्वस्तथाह ।

धेयोमार्गे सार्यवादायते यः ॥

कीर्त्तिन्यासाधारः सौऽगमेवेऽ ।

भ्युपलब्धीतिः सद्गतेः श्रवणीष्टे ॥

इत्यादिगणराजसुखप्रसंगदर्भे मूळराधनादर्पणे पवप्रयेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे भ्रष्टणशिक्षणप्रतिसेवनाविधि-प्रकाशनो नाम द्वितीय आश्वासः ॥ २ ॥

देशांतरमें अरण करनेमागसेही साणु अनियत विहारी कहा जाता है ऐसा नहीं किन्तु अन्य प्रकारसे भी वह अनियत विहारी कहा जाता है. उसीका सुतासा करते हैं—

अर्थ—वसतिरा, उपकरण, गांव, नगर, स्वसंग, आश्रयलोक इन सबमें जो समतुल्य है अर्थात् ये

मेरे हूँ और मैं इनका स्वामी हूँ ऐसा मनमें कभी संकल्प जो साधु नहीं करता है वह भी अनियतविहारी है ऐसा भेषमें कदा वाता है.

विहार अधिकारका वर्णन समाप्त हुआ.

अनियतवासानुसारं परिणामं प्रतिपादयितुं उत्तरणाया—

अणुपालिन्द्रो य दीहो परियाडो वायणा य मे दिष्णा ॥

णिष्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो काढुं ॥ १५३ ॥

पर्यायो रक्षितो दीपं वितीर्णो वाचना मया ॥

शिष्या निष्पादिताः श्रेयो विधातुमधुनोचितम् ॥ १५३ ॥

विजयोद्वा—अणुपालिन्द्रो य अणुपालितश्च ययानुसारेण रक्षितः । दीहो दीपं विरकाळमयुक्तिः । परियाडो पर्यायः प्रानदर्शनव्यापितयोरुपाः । वायणा वि यत्नवति । मे मया । दिष्णा दत्ता । निष्पादिदा य सिस्सा निष्पादिताश्च शिष्याः । सेयं श्रेयः, हितं । अप्पणो काउं आत्मनः कर्तुं कुतं प्रति श्रेयः । एवमुक्तं भवति । ज्ञान-
वर्तनव्यादिषु चिरकालं परिचतोऽस्मि । मृदानुसारेण गतेष्वथ निरुपग्रयार्थदत्तं च कृतं । शिष्याश्च मृत्युपन्थाः
तैरुक्ताः । एवं स्वपरोपकारक्षयया भूताः कालाः । इतः प्रमुत्सन्नमन एव हितं कर्तुं न्याय्यमिति चेतःप्रणिधानं इह
परिणामशब्देनोच्यते । तथा बोद्धव्यम्—

अणदिपं कामजं जह सकरं परदिपं च कामजं ॥

अण्णदिपपरिदिपानो अण्णदिपं सुदु कामजं ॥

तृतीय आश्वासः ।

कर्तुं केशटमात्मने हितमपोहायेपवाह्यमदम् ।

भेयः संताविविशीचिल्लिरिणवियुत्तस्सपस्यन् कुत्ते ॥

उत्तचिक्करधूमिपं विविधुत्तत्तासान्धसंभोमिकम् ।

कार्यं प्रापदुत्ताशिदेत्तुमुपवीमयेत्तु सहेत्तनाम् ॥

अथ मायाह्वेन परिणामं श्रेष्ठ्यन् तथाभावितआमप्यस्य आत्मसंस्कारप्रेक्षेन्नोद्यतस्य मुमुक्षोः समीक्षापूर्वकं स्वहितैकरणीयताप्रणिधानमाह—

मूलम्—परियाओ व्यवहारलत्रयरूपः पर्यायः । मे मया । सेजो हितं । खलु अप्पणो स्वत्येव परोपकारस्य पूर्वं कृतत्वात् । काडं कर्तुम् । युत्तमिति श्रेयः ।

उक्तं च—अप्पहिदं कायल्वं जइ सक्कइ परिहिदं च कायल्वं ।

अप्पहिचपरहियादो अप्पहिदं सुहु काइल्वं ॥

अनियतवाप्तके अनंतर परिणामका प्रतिपादन करनेके लिये उत्तरमाया कहते हैं—

अर्थ—मैंने गहनकालपर्यंत ज्ञान, दर्शन, चार्ित्र और तत्पर्य्य स्तुतिपर्यायका पालन किया है, मैंने शिष्यों को वाचना भी दी है अर्थात् ग्रंथ और अर्थ दोनोंका भी स्वरूप अच्छी तरहसे समझा दिया है, शिष्य पढ़ाये हैं, बहुत शिष्य तयार किये हैं, अथ इस समय अपना कल्याण करना योग्य है, अभिप्राय यह है कि, ज्ञान, दर्शन और चार्ित्रका मैंने चिरकालतक पालन किया है, निर्दोष ग्रंथ और अर्थ समझाकर शिष्य व्युत्पन्न किये हैं, इस रीतीसे स्वपरोपकार करनेमें मैंने दीर्घ काल बिताया है, अब यहाँसे मैं अपना ही हित करनेके लिये प्रयत्न करूँगा, इसरीतीसे मनकी एकाग्रता करना इसको परिणाम कहते हैं,

अपना हित करना ही श्रेयस्कर है इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

अपना हित करना चाहिये, दुष्प्र हो तो परका भी हित करना कर्तव्य है परंतु आत्महित और परहित इन दोनोंमेंसे कौनसा मुख्यतया करना चाहिये ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर अवश्य ही उत्तम प्रकारसे आत्महित करना चाहिये,

किण्णु अघातंदविधी मत्तपइण्णंगिणी य परिहारो ॥

पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिदण्णो ॥ १५५ ॥

युद्धे प्रयत्निते न चलन्ति चलन्ति वा । गोचर्योर्मग्रातयां तृतीयपौरुष्यां द्विगव्यूतमन्त्राणां गच्छन्ति । यदि गमन-
व्यापारो मद्राघतेन वर्षादिना जातः समतीतगमनकाल एव तिष्ठति । व्याघ्रादिका, व्यालसृगाद्या यद्यापवन्ति ततोऽप-
सर्पन्ति न वा । पादे कंटफालग्रे, चक्षुषि रजःप्रवेगे वा, अपत्यन्ति न वा । दृढयुतिकाः मिथ्यात्वचर्योराधनामात्मनि-
राधनामयस्यां दोषाभ्या तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौरुष्यां शिक्षार्यमयतरन्ति । कृष्णयनीपकपशुपक्षिगणे अपगते
पंचमो पिङ्गुणां कुर्वन्ति मोमे च । परा, द्वे तिङ्मन्त्रतयाः पंच वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्रालेदिकयोगं प्रवर्तयन्ति । यस्मा-
त्प्राणिप्रायजोवी मिथ्याराधानां न वर्जयति तस्मात्पुण्यलेपे वा युक्त्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मोपदेशं कुर्वन्तः तादृशव्यामि
च्छामि भगवतां पादमूले हस्तुक्ता अपि न मनसापि वाञ्छन्ति । किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तत्सहाय्य धर्मोपदेशं
कृत्या सदिग्गे मुदितं वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रतः सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु गवंति । कालतः सर्वेषां । चारित्रतः क्षामायिकच्छेदोपस्थापनयोः । तीर्थतः
सर्पतीर्थकृतां तीर्थेषु । अन्मनि त्रिद्वार्यवीचिताः । धामण्येन एकोनविंशतिवर्णाः । युतेन नवदशपूर्वधराः । वेदतः
पुमांसो नृपुंसकाश्च । क्षेत्रतः पञ्चगुणैरेषाः । एतेन धर्मैः ध्यानाः । सख्याततः पक्ष्यविधेयभयतरसंख्यानाः देशोन-
सप्तहस्तादि धातव्यंचधनुःशतौ स्तेषाः । कालतो मित्रमुक्तोपनृपनृपैर्कोटिकालस्थितयः । विविक्त्याचारपताक्षीराक्षावि-
त्यादयश्च तेषां जायन्ते । विरागतया न सेव्यते । गच्छादिनिर्गतालंदविधिरेव ग्राह्ययतः ।

गच्छप्रतिपदालंदकविधिरुच्यते—गच्छादिगच्छन्तो यद्धिः सकोशयोद्धे विहरन्ति । सपरकमो गणधरो
इदति क्षेत्राद् पहिर्गीर्यार्थम् । तेष्वपि समर्था भगव्य शिक्षां गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिष्ठानधारणांशुगुणसमग्रा
गुरुनकाशमापयन्ति । कृतप्रतिमन्नकार्यः स्वक्षेत्रे शिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति । अपराकामस्तु गणधरो गच्छे सुधार्यवीर्यी
कृत्या भ्रमोद्यानं गत्वा यत्नेन द्वात्सर्वार्थम् । यथाया स्योपाश्रय एव गणधरो अभ्यापसरणं कृत्वा एकस्मै उपविशति ।
यदि गच्छेदोद्यानतरं गणः अथालंदिता अपि गुरुवृशया याति क्षेत्रं । गच्छमियासितः क्षेत्रमतिरेखनार्थं प्रयतन्ते तदा
तत्र मार्गेण द्वौ धर्माद्विकौ यातः । व्याप्यतोऽयमथालंदविधिः ।

परिहार उच्यते—निमकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयममरं दोषु समर्थाः आत्मनो शले वीर्यमायुः प्रत्यवा-
योद्य मातया ततो निमसफादं उपगत्य कृतदिनयाः श्रावलयः पृच्छन्ति “ परिहारसंपन्नं प्रतिपत्तुमिच्छामो युष्माकमा-
मया ” इति तद्वक्तुया येषां धानमनुचरं उपजायते विप्रो वा तादिवारयति । निपुणस्तु यतीन्द्रेण संयतनां कृतनिःशल्याः
प्ररास्तमयकामुपगताः, लोचं कृत्या सुनिविता गुरूणां कृतालोचना मतानि विशुद्धानि कुर्वन्ति । परिहारसंयमा-
भिमुगनां मये एकं सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थितं गुरुत्वेन । सच प्रमाणं तस्य गणस्य । स चालोचनां श्रुत्वा शुद्धिं
करोति । कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा देवगणमर्द्धो अग्रे परिहारसंयमं गृह्णति इति परिहारिका भण्यन्ते । देवास्ते-
गामनुपरिहारिकाः । पञ्चासंयमग्रादिणः गानुपरिहारिका भण्यन्ते । एवं कल्पस्थिते स्मृति ये यथात्परिहारसंयमार्धमात्मा-
नमुपगृह्णास्तानपि स्वगणे प्रक्षिपति गणी । यावद्विरुद्धो गणः तावद्विरुद्धो गणः कृत्या परिहारिकाननुपरिहारिकांश्च व्य-

पन्थापयति । तेन परिहारसंग्रहं निविशयाना अनुपरिहारिकाया एको द्वौ बहवो वा भवन्ति । उरि तिणि, रणी विदिमो परिहारसंग्रहं पट्टिपणो, तदिओ अनुपरिहारो द्वे । उरि पंच एको कण्वहिदो, दो परिहारसंग्रहं पट्टिपणो । तेस्मिण्परिहारया पतेने । इतरे उरि एवो कण्वहिदो, तिणि परिहारया, इतरे तिणि अनुपरिहारया । उरि-पण एको कण्वहिदो, चचारि परिहारया, चचारि अनुपरिहारया । छदि मासेहि परिहारीनिविष्टा हवन्ति । ततो पन्था अनुपरिहारी परिहारं पट्टिपणो । तेसं निविष्टपरिहारी हवन्तेणुपरिहारो ते पुण छदि मासेहि निविष्टारं भवन्ति । तु कण्वहिदो पन्था परिहारं पट्टिपणो । तस्समो अनुपरिहारी एवो कण्वहिदो वि । असोविज छदि मासेहि निविष्टप-गिहालो अहारसमासा ते एवं हन्ति यमाणंदा ।

विगादिकस्तेयामाचरो निरूप्यते—एकोपचिकं अयसानं छिनं परिहारसंवतानं । यससिमाहारं च सुफया नायवु पृथ्वि तुणपल्लःकपीडरुडफादिकं । संयमार्यो यतिल्लानं रुद्धति । त्यक्तेद्वाथा चतुर्विधापुपसगोन्सहस्ते । इडधृतयो निरंतरं प्यामापदितयिचाः । अस्ति ओ वलवीर्यं संधयुणसमग्रता च । एवंभूता अरि यदि गणे यसामो यीर्योचारी न प्रयार्तिताः स्यादिति मस्या भया, पंच, सप्त, नव धैर्यां विर्यन्ति । रोगेण चदनयोपकुताया तत्ततिकारं च न कुर्वन्ति । प्रायोपवमाहारं सुफया, पाथनां मभं परिवर्तनां सुफया सूनांर्योदगीचरि सूत्रायभेवाभुपेक्षन्ते । एवं यामाएकेऽरि निरस्तनिक्ता स्यावन्ति । स्याथायकालप्रतिलेखनादिकाथ म्रिया न सन्ति तेषां । यस्माच्चमशानमयेऽपि तेषां न यानं प्रतिरिद्धं । आपदकानि यथाकारं कुर्वन्ति । कालद्वये कृतोपकरणशोधना अनुसाय्य देवकुलादिषु वसन्ति । यानिर्वाणमालम्बाभिकेषु यस्तेदं सौऽनुमानं नः करोतु इति विर्यन्ति । आसीधिकां च निपीधिकां च निक्रमणे प्रवेसो च संयावयन्ति । निर्देतकं सुफया इतरे दशयिधे समचारं यतते । उपकरणविदानं, भक्षणं, अनुपालनं, धिनयो, धंरना पत्तापश्य न तेषामस्ति संघेन सह । शुद्धस्वैरन्यालिगिभिर्दृष्ट वीर्यमानं योग्यं, युक्त्वन्ति । तैरपि न दोषोऽस्ति संयोगः । तेषां प्रयाणां पंथानां, सप्तामां, नानां वरस्परैरणास्ति संयोगः ।

कण्वहिदो शुक्रप्यी मुंजप्यी मुंजप्यसंवाहदाणगहणे वि ॥

संवासंवदणालायणादि मुंजन्ति अण्णोणो ॥

संयासवंदणोपादण अनुपाठणादि परिहारि ॥

अनुपरिहारी मुंजदि निवसमाणो वंदणसंवासात्तवणादि ॥

कण्वहिदं मुंजदि अनुपरिहारि वि गहणासंवादाणादि ॥

तु गिरियसमाणो निविसमाणं संयासदो न अण्णेण ॥

कण्वहिदो मुंजदि संयासणुपसवणिपादि । कण्वहिदोणुकप्यी पंचिता वेति धम्मलादोत्ति । गारत्थि अण्णतिरथी यण्णातिरथीदि निर्दिस्तो पत्तमुणी को सत्थे वि गिरिय अण्णोणं वणं पंचंति दहण य सौदण व जत्थ ॥ सायमिणो यसादि तेसो तं न पंचंताते । रोचं कुवो इ णो वंदणादीयं ॥ एवं कस्योक्तः क्रमः सत्थेसुंतव्या ।

मौनानिग्रहतास्तिष्ठो भाषाः मुक्त्वा प्रष्टव्याहृतिमुद्भाकरणीं प्रश्ने च प्रवृत्तां च मार्गस्य शंकितस्य वा योग्ययोग्यत्वेन शय्याभरणमृदस्य, वसतिलामिनो वा शय्यः । आमाहृदिः श्मशानं, शय्यशृङ्गं देवकुलं, गुहां वा आगन्तु-
कगृहं, तटकोटारं वा वज्रुद्रापत्येकवारं । कस्तूरं, कुतो वानच्छसि, गमिष्यसि वा कं देशं, कियश्चिरमत्र वसतिर्युयं-
कविजना इति प्रश्ने श्रवणोऽहृमियेकमेव प्रसिध्दचनं प्रयच्छन्ति । इतरन सूर्यामावः । इतोऽवकाशावसर्पणं कुरु,
स्यानमिदं प्रयच्छ, परिणालय गृहमिल्येवमाविर्को वान्ध्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्यां यद्यप्योता तृतीययामे
वायुतिद्वयं यान्ति । चर्मगृहावातादिभिर्मिथैश्चि ध्यायातो गमनस्य अतीतगमनकालास्तत्रैव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिव्याला-
गमनै यदि ते यद्वा युगमात्रं अरसयन्ति । तुल्यस्येत्पदमानमपि न चलन्ति । नेत्रयोर्धूलिप्रवेगे कंठकादिबिभे वा
स्ययं न निराकुर्यन्ति । परे यदि निराकुर्यन्तूष्णीमवतिष्ठते । तृतीययाम एव नियोगतो शिक्षार्थं गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे पद-
गोचर्यां श्रुतवका भवन्ति तत्क्षेत्रमावाप्तप्रयोज्यं शेषप्रयोग्यमिति वज्रयन्ति ।

होमं, तीर्थं, कालाभ्यर्चनं, पर्यायं, श्रुतं, वैदं, लेह्या, ध्यानं, संहर्षनं, आयामो गानस्य, आयुः, लब्धयः,
अतिशयशमीपयन्ति, सिद्धिरित्येते नियोगा इत्युक्तं ध्याः । सेवतः भरतेरावस्योः, प्रथमपरावस्योः तीर्थं, उत्सर्पिणी-
अयसर्पिण्याः कालतः, छेत्रोपस्थापनाप्रभयादचारिजतः, प्रथमतीर्थेकरकाले देशोभर्षकोटीकरकालः । विरातिवर्षाप्रशत-
पर्यं कालः पाप्मास्वतीर्थं । जन्मतस्त्रिशद्वर्षाः पर्यंतः एकोनविंशतिवर्षाः । श्रुतेन दशपुर्विकः, वैदेन पुत्रपुत्रेयाः, लेह्या-
तस्तेजः, पद्मशृङ्गलेह्याः, धर्मध्यानपरा ध्यानतः, आद्यत्रिकसंहर्षनाः पदकान्यतरसंस्थानाः । समहस्तादिपंचयजुःशतायताः ।
अष्टादशमाहाः पूर्वकोदी वा आयुः । चारणताहारसिद्धिः, विक्रियाहारसिद्धिः लब्धयः । अर्वाधिमनःपर्ययं केवलं वा योग-
समाप्तौ शान्दुचन्ति । सिद्धयन्ति वा परेषां । संक्षेपतः परिहारविधिर्गोणा ।

जिनकवयो निकष्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिपदास्त्विमसहाः, जिना इव विहरन्ति इति जिनकवियका
एक एवेत्यतिशयो जिनकवियकान्तं । इतरो छिगाविराचाः प्रायेण ध्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सर्वधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकवियकाः । कालः सर्वदा । सामाधिकच्छेत्रोपस्थापने वा
चारिजतः । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मना त्रिशद्वर्षाः । आमण्यतः शकाभ्यदिशतिवर्षाः । त्वदशपूर्वचारिणः । तेजः-
पद्मशृङ्गलेह्याः । धर्मशृङ्गलेह्याः । यथमसंहर्षनाः, पदस्वन्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्तादिपंचयजुःशतायामाः । भिज-
मुहूर्तीदिभ्युना पूर्वकोटिः कालः । विक्रियाहारकचारणतादीरास्मावित्यादिमाद्वन तपसा लब्धयो जायन्ते । विरागास्तु
न सेपन्ते । अवधिमनःपर्ययं क्षेत्रं वा प्राप्नुवन्ति केचित् । केयटिनस्ते नियमेन सिध्यन्ति ।

स्वदिवैकपरो सुसुखीर्याचारानुरोधेन नानाविधान्तरमार्गयोग्यानाभरणविधीन्यमृदस्य स्वायुह्ये यत्र मतिं
विपत्ते बहुपेष्टं मायाद्वयमाह—

मूलरा—अपाहंदिभिर्न, अथाहंदिभिर्नियधीणामुच्छाभरणं । तद्वत्परिश्रंरं जिनकस्मं च । एषां च स्वरूप-

निर्भयाभिर्नन्दं पूर्वनिर्गमनुसारेण किञ्चिन्निरूप्यते । अथाहंविनिर्दिष्टा, गच्छविनिर्गतगच्छप्रतिबद्धमेवम् । तत्र तावद्गच्छविनिर्गतामाहंविनिर्दिष्टापरिभ्रमिषीकते । परिहारात्सर्वममाचरितुमसमर्था अथाहंविनिर्गमपुङ्खुकामाभ्यः, पञ्च सप्त, नव, बाह्मन्दर्शनसंप्रभ्रास्तीप्रसवेगमापन्ना, धर्मोचार्पणदृढनिवासिनोऽवधृतात्मसान्ध्यौ, विवितायुःस्थितयो, धर्मोचार्पणविज्ञापयन्ति । भगवन्निन्दामोऽथाहंविनिर्दिष्टाप्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा सूरिः समग्रगुणाननुब्रूयानासि । ततस्तु शुभे देवे स्थित्वा कृतकौषा गुरुणामाहोचनो कृत्वा कृतकतारोपणा अविरोद्धते सर्वे कल्पस्थितमेकं गणस्थाहोचनं श्रोतुं, प्रवविशुद्धिं च विधातुमुपात्तं स्यादयन्ति स एव प्रमाणं गणस्य । आसना सह यावन्तो गणानिर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थापयितव्या मते । ददाचारो नित्यव्यते । अथाहंविनिर्गतातां छिन्मोत्सर्गिकमेव । कायस्थित्यर्थमाहारं वसति कर्मकलुषप्रविलेपनं च ते गृह्णति । तेषं परित्याहं त्यजति । धृष्टिकायमल्लिख्योत्परीपदावीर्यसहन्ते । अन्यथा वेषवः पूर्वनेषापसरंति । रोगेणाभिषादेन वा जनिता वेदना न प्रतिकुर्वति । यथा ह्यपसादिमान्तात्स्वया सहयदृशावर्धनं कुर्वति । अहोरात्रं न हसन्ति । यद्यपि का निद्रा तदा रात्रौ स्वपति च । स्वाभ्यायकले प्रविलेपनाविक्रियास्तेषां न सन्ति । इमशान्मन्येऽपि तेषां ध्यानमप्रतिपिबेभ । आषडयकेषु ते प्रयतन्ते । ह्यकरणप्रविलेपनं कालव्येऽपि कुर्वति । सस्वामिकेषु देवशुद्धादिषु शस्त्राभ्यासद्वारा वसति । अनिर्ज्ञातस्यामिकेषु यत्सर्वं सोऽदुसां करोत्वित्यभिधाय वसति । सहसातिचारे शार्पेऽनुभवरिणो वा निद्रया मे दुष्कृतमिति निवर्तते ।

इच्छामिच्छाकारो य तथाकारो य आसियाणिसिद्धी ॥

आपुच्छा पक्षिपुच्छा छन्दसनिर्गमणा य उवसेवा ॥

इत्थं देवादिषु समाचारे प्रवर्तते । संपन्न सह तेषां दानं, ग्रहणं, अनुपाकनं, विनयः, सहभोजनं च नास्ति । कारणमपेक्ष्य केचिद्विदेक एव संलापः कापः । यत्र सचमो वतेशं न प्रविशन्ति । मौनावग्रहितरवा अपि पंधानं, संकिन्त्यद्रव्यं, शल्याधरपुद्गं वा दृष्टन्ति । ग्रामाद्महिरान्तुकागारे कल्पस्थितेनानुसृते वसति । पञ्चपक्षिप्रमुखैरेव ध्यानाविपातततोऽपयान्ति । को भवान् शुभ आयातः, कुत्र प्रसिद्धः, कियन्तं कालं अत्र मवता स्येवं, कति यूयमिति दृष्टा भगवोऽहमित्येव प्रतिपन्नमेकमेव प्रबळंति । अपसरतः स्यान्मदवकाशं मे प्रयच्छ, परिपालय गृहमित्यादिको जनबल्यो यत्र एव न वसति । 'वहिरपि वसतां, यदि मवति ततोऽपयान्ति । स्यान्मदगृहे प्रबळिते नः चलन्ति । चलन्ति

या । यदि कंदकारिकं छग्नं, चक्षुषि वा घृत्याविकं प्रविष्टं स्पेष्टयन्ति न स्पेष्टयन्ति वा । न्यायादिका, न्यायसूत्राणां वा यथापत्तयि ततोऽप्यसंपत्ति न वा । एका द्वे, त्रिषु चतस्रः पंच वा गोचर्यो यत् क्षेत्र तत्राथाखंडकयोगं प्रवर्तयन्ति । गृहीतयाये प्रविष्टगोचर्या काललाभाभाभेऽपि गन्त्यसिद्धयं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महाबाहेन वर्पादिना वा जात-स्वदा तत्रैव तिष्ठन्ति । यदि कोपि तेषां पाञ्च वीक्षां याचते तदा मनसामि नेच्छन्ति । श्वरे उत्सहाया धर्मोपदेशं कृत्वा महिंरं मुंदिनं शान्तेयानाचार्योणां तं नीत्वा समर्पयन्ति । सर्वेषु धर्मक्षेत्रेषु सर्ववीर्येषु सर्वदा भवन्ति । सामायिकं त्रेषेपस्थानां याचरन्ति । सम्मलक्षितद्वयाणि भोगान्युक्त्वा आत्मनेन्द्रेण विधातिषर्पाश्र्वकलपूर्विकः पुनैवा, गन्तुसक्येवा वा पञ्चशुक्लेशया वा धर्मप्यानिनः, धर्तृसंहनेषु संस्थानेषु चैकवरसंहननसंस्थाना देशेन सप्तदस्तापि याचत पंचशतो-त्सेपा अथाखंडककालतो जपन्त्येन भिन्नमुद्भवैर्गुणैः स्थितयः, उत्कर्षेण गतवर्षेण पूर्वकोटिरिथितिकाः । क्षीरत्वादावितनो-लम्भीरपि सरागमसेपमानाश्च भवन्ति । एवं गच्छविभिर्गताथाखंडकविधिविन्याख्यातः ।

गच्छप्रतिपद्याखंडकविधिकथ्यते । गच्छाभिर्गच्छतो बहिः सकोशयोजने विहरन्ति । सपरक्रान्ते गणपरः क्षेत्राद्गृहीतया चेष्ट्यो द्वादस्यर्धपदम् । तेऽपि समर्था आगत्य शिक्षां गृह्णन्ति । एको, द्वौ, त्रयो वा परिज्ञानधार-णागुणसमभा गुरुसफाशमायान्वि । कुवमतिप्रभकार्याः स्वक्षेत्रे गत्वा भिक्षां गृह्णन्ति । अपराज्मस्तु गणधरो गच्छे सूत्रा-धर्चोरूपी कृत्वा अप्रोयानं गत्वा बल्लेन द्वादस्यर्धपदं । अथवा स्वोवाधव एव गणधरोऽन्यापसारणं कृत्वा एकस्मै उपवि-शति । यदि गच्छेत्क्षेत्रांतरं गतस्सराधाखंडिका अपि गुरुवृक्षया गच्छन्ति । यदा गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रसिद्धिजनार्थं प्रवर्तते वदा तत्र मरणेण द्वापद्याखंडिकी यात इति ।

परिहार उच्यते । जिनकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयमभारं बोद्धुं समर्था आत्मनो वीर्यमायुः प्रत्यवधार्याश्च ज्ञात्वा वचस्वीर्धरपादमूलपुगम्य पृच्छन्ति भगवन्परिहारसंयमभाववितुमिच्छामो वयमिति । ततो तेषां ज्ञानमनुष्ठानमुपजायते विप्रो वा देशोऽन्ये तीर्थक्षेत्रादुभया लोचं कृत्वा गुरुणामालोच्य प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । परिहारसंयमाभिमुत्तानां मध्ये पृष्ठमाचार्य कल्पस्थितं स्यापयन्तीति परिहारका भवन्त्ये । तेषां देशाः पञ्चात्परिहारसंयमं गृह्णीत्यनुपरिहारका उच्यन्ते । यापन्तो गणान्निर्गतास्तापयन्तो जना न करोव्याः । तेऽपि यत्र पंच सप्त नव वा भवन्ति । यदि पुनः केचि-त्परिहारसंयमार्थिन आयान्ति तदा तेऽपि गणमप्ये प्रक्षेप्तव्या यावन्नव । यदि त्रयः एको गणी, द्वितीयः परिहारसंयमं प्रातिपन्नः, तृतीयोऽनुपरिहारको भवति । एवं पण्यसैः परिहारसंयमः परिहारसंयमे निश्चितो भवति । ततोऽनुपरिहारी

परिहारं गृह्णाति । सोऽपि पण्यसे परिहारे निविष्टो भवति । ततः कल्पयित्वा आचार्योऽनुपरिहारकनामा परिहारं प्रतिपद्यते । सोऽपि पण्यसे परिहारे निविष्टो भवति । एवंमाद्यदशमासाः परिहारप्रवेशने प्रयाणां मुनीनां भवन्ति । एवं पञ्चानां, सप्तानां, अष्टानांमपि यच्छब्दम् ।

इदानीं परिहारसंयतानामाचार उच्यते । वसवियह्वारं प्रतिष्ठेयं च युद्धन्ति । शेषं परिग्रहं च त्यजेति । गृहार्थैरन्यार्थैर्मिथ्यां दीपयानं योयं प्रतिगृह्णाति । उत्पन्नचतुर्धोपसर्गान्सहन्ते । रोगाभिपूणा अपि प्रतीकारं न कुर्वन्ति । वाचनादिषु पौरुषीयैः सूर्याभियोगादुपेक्षन्ते । आपश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति । अहोरात्रेऽपि निरस्तनिद्राः । स्वाभ्यासकाले प्रतिवेष्टनानादिक्रियास्तेषां न सन्ति । ध्यायन्ति च निरन्तरं यतः इमंसात्नेऽपि ध्यानं न प्रतिषिद्धं । कालहेतुदुष्पकरणानि क्षोध्यन्ति । संयेन सह वंदना, भोजनं, संभाषणं नास्ति । तेषां परस्परमस्ति । भाषात्र-यादन्वय मौनव्रतिनः । तृतीयमाने गोचर्यां प्रविश्य लाभालाभेऽपि गन्धुद्विद्वहं गच्छन्ति । परममहावाक्तावित्ता यदि गमनव्यापानो जायते तदा ते विष्कम्भगमनकाळास्तत्रैव वसन्ति । व्यावश्यादृष्टगदयो यदि मन्त्रास्तथा युगमानम-पसरन्ति । अथ दुष्टास्ते पद्मपि न छेदयन्ते । अक्षिणि भूतिप्रवेशे पादे च कंदकवेधे जाते क्षयं न शक्नुयन्ति । परस्फटेने तु दूष्णीकाः । क्षेपतः सर्वधर्मक्षेपेषु भयानि । धीर्यतः सर्वतोर्ध्वेषु । फालतः सर्वदा । चारित्रतः सामादिकचछत्रोपस्थाप-मिराः । अन्तर्लक्षितवर्णनि भोगमोक्षिनः । क्षणैकोनविंशतिवर्षकाः । मृत्योर्न तद्वदक्षयिणः । देहेन युज्यवेदाः । शेरवातः शुभनिर्देशा । ध्यानतो धर्मध्यानिनः संहननतश्चादित्रिकसंहननाः । संस्थानत पत्रकतरसंस्थानाः । वस्त्रेयतः सप्तद-शादिपंचयश्रुतायताः । परिहारकालो जपन्येनाष्टादशमासायुगाः । उत्कर्षेण गतवर्षानाः पूर्वकोट्यायुगकाः । क्षीरस्ता-वाक्षितपोमाहात्म्योत्पन्नार्द्धविरागतया न सेवन्ते । शीतोष्णच्छादिसहस्रभूम्या यमनाभावादुच्छिष्टैकपादेन एवमासं ति-ष्ठन्ति । न विद्युतावधिज्ञातिनः योगसमाप्तौ केवलं प्राप्नुवन्ति । एवं परिहारसंयमविधिर्भणितः ॥

चित्रकल्पो निरूपयते चित्ररागद्वेषमोहाः परिपशोपसर्गोरिवेगसह जिना इव विहरन्ति इति चित्रकल्पिताः । ते च एकविंशतिः । पूर्वोक्तपरिहारसंयतानाचारलक्षणसमगाः । अयं ॥ विशेषो धर्म्यसुखलभ्यानिस्त्वो जपन्येनाभि-समुद्भूतामुष्काः अवधि मनःपूर्वकं, केवलं वा प्राप्नुवन्ति ।

अयं — अथाहं विधि, मन्त्रप्रविद्या, इतिनीमरण, परिहारविशुद्धिचारित्र, पादोपसमसनमरण और चित्रकल्पावस्था इत्यनेनै कोनसी अवस्थाका आश्रय कर मैं स्तनत्रयमें विहार करूं ऐसा विचार करके साधुको धारण

करने योग्य अरस्या धारण करके समाधि गण करना चाहिये. अब आलंदविधि का स्वरूप टीकाकार कहते हैं—
परिणाम, सामर्थ्य गुरुके द्वारा अनुमति मिलना, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अथालंद मास कल्प इनका वर्णन इस प्रकारणमें आवेगा.

जिनको आगमार्थका स्वरूप ज्ञात हुआ है, अपना मुनिवस्थाका कर्तव्य जिनहोंने किया है, परिपक्व और उपसर्गको जीतनेमें जो समर्थ है, अपना बल और वीर्य जिन्दगीने व्यक्त किया है, ऐसे मुनि क्या हम आलंद निधि धारण कर सकते हैं या प्रायोगमनविधि धारण कर सकते हैं ऐसा विचार मनमें करते हैं. परिहार विधि धारण करनेमें असमर्थता मास्त्रुम करनेपर अथालंदविधीको धारण करते हैं. अथालंदविधीका स्वीकार करनेकी इच्छा रखनेवाले तीन, पांच, सात अथवा नव मुनि जो कि ज्ञान और दर्शन संपन्न हैं, तीव्र संसारभीरुताको धारण करते हैं, धर्माचार्यके चरण कमलका आश्रय करते हैं, जिनको अपने सामर्थ्यका ज्ञान है, अपनी आयुष्य स्थिति जिनकी मात्त्रुम ही चुकी है, धर्माचार्यको प्रार्थना करते हैं. हे भगवन् ! हम अथालंदविधीका आश्रय लेना चाहते हैं. धर्माचार्य उनकी मित्रसि सुनकर जो वैबर्हीन, क्षीरसामर्थ्यहीन हैं, जिनके परिणामोंमें अविवक्ष्यपना नहीं है उनको त्यागकर, पैर्पादिगुणविशिष्ट मुनियोंको अनुज्ञा देते हैं. गुरुसे परवानगी मिलनेपर गुरुके साथ वे प्रयत्न स्थानमें टहरकर लोच करते हैं. गुरुके सामने दोषोंकी आलोचना करते हैं. आलंदविधीके प्रतीका अपनेमें आरोपण करते हैं. स्वपदपत्रे अनंतर योडे ममयमेंही फरपस्थित मुनिओमेंसे एकको जो कि गणकी आलोचना सुननेके लिये और प्रत्यूद्धि करनेके लिये उद्यत है, स्थापना करते हैं. यह ही गणके लिये प्रमाणभूत माना जाता है. अपनेको साहाय्य करनेवाले जिवने मुनि गणसे निकले हैं उतने मुनि संघमें उनके स्थानमें स्थापन करने चाहिये. अब इन मुनिओका आचारक्रम कहते हैं—

अथालंद विधीको पालनेवाले मुनि औत्सर्गिक लिंग धारण करते हैं. अर्थात् नरही रहते हैं. देहोपकारार्थ आहार, वसति, कर्मबल और पिच्छिकाका आश्रय लेते हैं. बाकी सब परिग्रहका त्याग करते हैं. तृण, चटार्ड, फलक वगैरह उपाधिका त्याग करते हैं. प्राणिसंघमका रक्षण करनेके लिये और विनिरूपताका संपादन करनेके लिये पिच्छिका धारण करते हैं. यदि धर्म और बलमें रहित न होंगे तो अन्य ज्ञानको ज्ञाने समय, यथादि यूमिके तरफ गमन करते समय, आहार लेते समय, चैठते समय, प्रति लेखन नहीं करते हैं अर्थात् पिच्छिकासे क्षीरस्पर्शन नहीं

करते हैं, शरीरसंस्कारको छोट देते हैं, और परिणहों को सहते हैं, हमारमें संगम्याचरण करनेके लिये योग्य मनोबल है, ऐसा विचार कर तीन ग पांच मुनि मिलकर प्रवृत्ति करते हैं, रोमसे अथवा आधातसे वेदना उत्पन्न हो तो उसका इलाज नहीं करते हैं, तपसे जब अतिसूक्ष्म शक जाते हैं, तब अपने सहायकोंका हस्त-हाथका आश्रय लेते हैं, वाचना पृच्छानादिकोंका वे त्याग करते हैं, अहोरात्रमें कदाचित् भी नहीं सोते हैं, एकचिन्ता होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं, यदि बलात् निद्रा आ जावे तो वे प्रतिज्ञा नहीं करते हैं अर्थात् मे सोउंगाही नहीं ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं, अर्थात् रात्रमें सोते भी हैं, स्वाध्यायकालमें अतिलेखनादि क्रिया उनको नहीं है, श्मशानमें भी उनके लिये स्थानका निषेध नहीं है, सामायिकादिक अशुभकार्यों से प्रयत्न करते हैं, प्रात काल और सायंकालमें भिच्छिका कर्मबद्ध इनका वे संश्लेषन करते हैं, जिनमंदिर, बसतिका वगैरह सस्वामिक हो अर्थात् उनके कोई मालिक हो तो उनकी अनुज्ञासे वे उभयें रहते हैं, यदि इनके स्वामीका पता याक्स न हो तो जिसके ये जिनमंदिरादिक हैं वे हमको ठहरनेकी अनुज्ञा देवे, ऐसा कहकर उनमें ठहरते हैं, सहसा अतिचार वा अशुभ परिणाम हो गया तो 'मिथ्या' से दुष्कृत' ऐसा बोलकर अतिचार व अशुभपरिणामसे निवृत्त होते हैं, दश प्रकारके समाचारोंमें वे प्रवृत्ति करते हैं, उनकी संपर्क साथ दान, ग्रहण, विनय, आपसमें बोलना ये क्रियायें नहीं होती हैं, किसी कार्यकी अपेक्षासे उनमेंसे एक मुनि भाषण करते हैं, जिस क्षेत्रमें सधर्मा मुनि होंगे उस क्षेत्रमें वे प्रवेश करते नहीं है, मोनका नियम होते हुए भी वे रास्ता पछुते हैं, किसी पदार्थमें संका उत्पन्न हुई हो तो उसके निराकरणार्थ प्रसन्न करते हैं, बसतिकाका जो स्वामी है उसके घरका पता पूछते हैं, इस तरह तीन विषयोंमें ही वे बोलते हैं, गाँवके बाहर जहाँ प्रवासी लोक ठहरते हैं ऐसे स्थानमें कल्पस्थित मुनि यदि अनुज्ञा दे तो ठहरते हैं, पशु, पक्षी वगैरह प्राणियोंसे जहाँ ध्यानमें विग्र होता है वह स्थान वे छोड़ते हैं, आप कौन हैं? आप कहाँसे आये हैं? आप कहाँ जा रहे हैं, आप यहाँ कितने समयतक ठहरेंगे, आप कितने मुनि हैं ऐसा पूछने पर मैं श्रमण-अर्थात् मुनि हूँ, इतना एक ही प्रत्युत्तर देते हैं, अथवा इतर मुनि यौन धारण करते हैं, इस स्थानसे हटो, मेरेको यहाँ रहनेके लिये स्थान दो, मेरे घरका रक्षण करो, इस तरहसे यदि कोई गृहस्थादिक उनकी बाधा ठहरते हुये भी पोलें तो वहाँसे भी वे चले जाते हैं, जिसमें वे ठहरें हैं उस घरको यदि आग लगी तो वे वहाँसे गमन नहीं करते हैं, अथवा गमन करते हैं, आहार यदि नहीं मिला तो तीसरे प्रहरमें दो गन्धर्वि प्रमाण मार्ग चे जाते हैं, यदि बड़े वायुसे, महावृष्टिसे

गमनमें रुकावट उपस्थित हो तो वहाँ ही ठहरते हैं. आगे जाते नहीं. व्याघ्र चमरह प्राणी अथवा वृष्ट पशु यदि रास्तेमें आये तो उस रास्तेसे हट जाते हैं अथवा हटते नहीं हैं. पावमें यदि कांटा चुभ गया, आस्त्रोंमें यदि धूलीके कण गये तो वे निरालंते हैं अथवा नहीं भी. दह ध्वंशयुक्त ऐसे वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना व आत्मविराधना और अन्य दोषोंका परिहार करते हैं अथवा नहीं हैं. तृतीययाममें भिक्षाके लिये वे उतरते हैं-आते हैं. ठण्ण, याचक, पशु पक्षी, ये सब चले जानेपर आहार लेनेकी इच्छा करते हैं और मौन धारण करते हैं. एक, दोन तीन, चार अथवा पांच गोचर्या जिस क्षेत्रमें होती हैं उस क्षेत्रमें आलंदिका योग करते हैं. [जिससे पाणिपात्रोंमें मौजन करनेवाला मिथ्यात्वका रोग नहीं करता है. उससे लेपाहार अथवा अलेपाहार का भक्षण कर उसका वे प्रचालन करते हैं] इसका अभिप्राय ध्यानमें आता नहीं है.]

धर्मोपदेश करनेसे यदि कोई पुरुष आपके चरणमूलमें मैं दीक्षा लेनेकी इच्छा करता हूं ऐसा कहे तो भी उसको दीक्षा देनेका विचार वे मनसे भी करते नहीं फिर ब्रह्म और शरीर के द्वारा वे उसको क्यों दीक्षा देंगे ? उनको सहाय करनेवाले अन्य मुनि धर्मोपदेश देकर छिलासाहित अथवा मुंदन जिसने किया है ऐसे इस पुरुषोंको आचार्यके मन्त्रिष ले जाते हैं.

क्षेत्री अपेक्षासे ये अथालंद विधि करनेवाले मुनि एकसौ सत्तर कर्मभूमिमें होते हैं. कालकी अपेक्षासे देखा जाय तो हमेशा होते हैं. चारित्रकी अपेक्षासे इनको सामायिक और छेदोपस्थान ऐसे दो चारित्र होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे सर्ग तीर्थचरोंके तीर्थमें ये उत्पन्न होते हैं. वनसे तीस वर्ष तक भोगों को भोगकर मुनि अनस्था में उन्नीस वर्ष तक रहते हैं. अनंतर अथालंदक विधिको धारण करते हैं. ज्ञानकी अपेक्षासे इनको नौ पा दम पूर्वाज्ञा ज्ञान रहता है. वेदकी अपेक्षासे ये पुरुषवेदी वा नपुंसकवेदी रहते हैं. लेट्याकी अपेक्षासे ये पद्म व शुक्ल लेट्याके धारक होते हैं. ध्यानकी अपेक्षासे ये धर्मध्यानी होते हैं, संस्थानकी अपेक्षासे छहो संस्थानोंमेंसे किसी एक संस्थानके धारक होते हैं. इनके शरीरका प्रमाण कुछ कम सात हाथसे पांचसे धनुष्यतक रहता है. कालकी अपेक्षासे जपन्य आयुष्य भिन्नमूर्त और उत्कृष्ट आयु-स्थिति आलंदक विधि धारण करनेके पूर्व जितना आयुष्य व्यतीत हुआ है वह पूर्ण फोटिमें कम करना यह उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये. उनको विक्रियाश्रद्ध, चारणश्रद्धि धीरास्मान्त्यश्रद्धि इत्यादि श्रद्धियां प्राप्त होती हैं. परंतु विराग होनेसे उनका सेवन नहीं करते हैं. मच्छसे निकल

कर आलंदविधि करनेवाले मुनिओंका यह स्वरूप दिखाना है।

जब गच्छप्रतिवद्दालंदकविधिका विवेचन करते हैं—

गच्छसे निकलकर बाहर एक योजन और एक कोसपर ये मुनि विहार करते हैं। शक्तिमान आचार्य क्षेत्रके बाहर जाकर उनको अर्थपदका अध्ययन कराते हैं। अथवा आलंदविधि करनेवालोंसे समर्थ मुनि आकर उनके पास अध्ययन करते हैं। एक, दो या तीन मुनि जो कि परिश्रान, घारणा वगैरह गुणोंसे परिपूर्ण हैं वे गुरुके पास आते हैं। ग्रन्थका कार्य करनेपर अपने क्षेत्रमें जाकर आहार ग्रहण करते हैं। शक्तिरहित आचार्य गच्छमें द्वात्रिंश पौरोही करके गांवके निकट वनमें जाकर यत्नसे अर्थपदका अध्यापन करते हैं। अथवा अपने आश्रय स्थानमें ही वे इतर शिष्योंको दूर करके एककी पढ़ाते हैं। यदि गच्छ क्षेत्रांतरको बला जायगा तो आलंदविधि करनेवाले मुनि भी आचार्यकी अनुज्ञा लेकर क्षेत्रांतरको जाते हैं। जब गच्छनिवासी क्षेत्रकी शुद्धि करनेका प्रयत्न करते हैं अर्थात् कोनसा क्षेत्र योग्य है इसका यदि अन्येषण करते हैं तो आलंदविधि करनेवाले दो मुनि भी उस क्षेत्रमें मार्गसे जाते हैं। इस प्रकार यह आलंदविधिका विवेचन पूर्ण हुआ।

अथ परिहारविधिका विवेचन करते हैं—

जिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ ऐसे मुनिराज परिहारसंयमका भार धारण करते हैं। अपनी शक्ति, वीर्य, आयुष्य, उपसर्गादिक विघ्न जानकर वे जिनद्र मगवान्के पास जाते हैं। विनय कर और हात जोड़ कर हे भगवन् ! हम आपकी आज्ञासे परिहारसंयम धारण करनेकी इच्छा करते हैं। उनका यह भाषण सुन कर जिनको उत्कृष्ट ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होमा अथवा जिनको विप्र उपस्थित होमा उनको जिनभगवान् रोकते हैं। जिनको जिनभगवानने आज्ञा दी है वे मुनि निःश्रत्य होकर प्रशस्त स्थानमें जाकर लोच कर, उत्तम निधयसे गुरुके पास आलोचना करते हैं और प्रतीको विशुद्ध करते हैं। परिहार संयमके अभिमुख हुए मुनिओंमेंसे एकको स्वयंदय में कल्पस्थित आचार्य पदोंपर स्थापन करते हैं। वह उस गणमें प्रमाण माना जाता है। वह गणकी आलोचना सुनकर शुद्धि करता है।

कल्पस्थित आचार्यको छोटकर दोष मुनिओंमें जर्घमुनि ग्रयम परिहारसंयम ग्रहण करते हैं। और बाकी के मुनि नंतर परिहारसंयमको ग्रहण करते हैं अतः उनको अनुपरिहारक कहते हैं। इस रीतिसे जो पीछेसे संयम

प्रवृत्त करनेकेलिये आचार्यके पास आते हैं उनको भी अपने गणमें स्वीकारते हैं। जितने मुनिओंसे गण कम उतने प्रमाणका गण करके उसमें परिहारक और अनुपरिहारककी व्यवस्था करते हैं। इसलिये परिहारसंयममें प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक मुनि एक दो और तीन होते हैं।

यदि तीन मुनि गणमें होंगे तो एक गणी है, दुसरा मुनि परिहार संयमको स्वीकार करनेवाला होता है और तिसरा अनुपरिहारी होता है। यदि गणमें पांच मुनि होंगे तो एक कल्पस्थित आचार्य, दो मुनि परिहार संयमके धारक और दो मुनि अनुपरिहारक सम्मलेन चादिये। यदि सात मुनि होंगे तो उसमें एक गणी, तीन परिहारसंयमी और तीन अनुपरिहारक मुनि होते हैं। यदि नौ मुनि हों तो एक गणी चार परिहारक मुनि और चार अनुपरिहारी मुनि सम्मलेन चादिये। छहभास होनेके बाद अनुपरिहारी मुनि परिहारसंयम में पूर्ण प्रविष्ट होता है। नंतर अनुपरिहारी परिहार संयमको ग्रहण करता है। वह भी छह भाससे परिहारमें निविष्ट होता है। तदनंतर कल्पस्थित आचार्य जो कि अनुपरिहार तथा परिहारक होता है। वह भी छहभासके अनंतर परिहारमें निविष्ट होता है। इस रीतसे तीन मुनिओंको परिहारके प्रवेष्टमें प्रमाणसे अठारहभास परिहार चरित्रमें लगते हैं।

अब परिहार संपत्त मुनिओंका लिगादिक आचार कम कहते हैं—

परिहार संयममुनि वसति और आहारको छोड़कर अन्यका स्वीकार नहीं करते हैं। वृण, फलक, आसन, चटाई आदिक संयमके लिये ग्रहण करते हैं। पिच्छिका भी संयमके लिये पास रखते हैं। स्त्रीरसे प्रेम हटाकर चार प्रकारके उपसर्ग सहन करते हैं। उनमें दृढ धैर्य होनेसे वे ध्यानमें निरंतर निमग्न रहते हैं। हमारेमें बलवीर्य और सर्व गुण हैं तथापि यदि हम गणमें निवास करेंगे तो हम वीर्याचार आचरणमें कैसा ला सकेंगे ऐसा समझकर वे हीन, पांच, सात अथवा नौ एषणाके लिये-आहारके लिये जाते हैं। (१) रोगसे और घेदनासे पीडित होनेपर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। अयोग्य आहारको छोड़ देते हैं। वाचना, प्रच्छन्ना, और परिवर्तन रूप स्वाध्यायको छोड़ ध्यानार्थ फौरनमें भी (१) सत्रार्थकाही धारधार अनुमनन करते हैं। इस रीतसे आठों प्रहरोंमें भी निद्राका त्याग कर ध्यान करते हैं। चिंतन करते हैं। स्वाध्याय कालमें प्रविलेखनादि किया अर्थात् पिच्छिकासे अंग पोछना वगैरह क्रियायें इनको नहीं होती है। क्योंकि स्मृदानमें भी उनको ध्यानका निषेध नहीं है। यथाकालमें आपश्मन्न क्रियायें वे करते हैं। सायंकाल-सूर्यास्त समय और सूर्योदयके समयमें उपकरणोंको शुद्ध

करते हैं। जिनमेंदिवादिकोंमें अनुना संस्कार वे रहते हैं, जिनके सार्थकीका परिश्रम नहीं है ऐसे मंदिरोंमें जिनके ये म्यान हैं वे यथादिक हमको आज्ञा देवें ऐसा बोलकर वहां निवास करने हैं, असीधिका व निषेधिका ये दोन विधि बाहर निकलने के और अंदर प्रवेश करनेके समय करते हैं। निर्देशको छोडकर बाकीके दश प्रकारके ममानारोंमें वे प्रवृत्ति करते हैं, उपकरणवादिकोंको देना, और ग्रहण करना, अनुपालन करना, विनय करना, वंदना करना, अन्योन्य मंभाषण करना इन बातोंका मंथके साथ वे त्याग करते हैं, गृहस्थ अथवा अन्य विभिन्नोने गाथुओंने योग्य यस्तु दी तो ये लेते हैं, परंतु उनके साथ भी विनय, वंदना वगैरे बातें वे नहीं करते हैं, तीन, पांच, सात और नौ देये उन मुनिओंका दानादि विधि परस्पर होता है.

कल्पद्रिष्टुशुक्पीदति—कल्पस्थित आचार्य और परिहार संयम पालनेवाले दुसरे मुनि इनका परस्पर व्यवहार होता है अर्थात् महायत्ना देना, ग्रहण करना, एक स्थानमें निवास करना, वंदना करना और परस्पर बोलना ये विधि होते हैं, जो पीछेने परिहार संयम धारण करते हैं वे अनुपरिहारी हैं, वे परिहारीके साथ मंवाग, वंदना, विनय, अनुपालना ये विधि करते हैं, अनुपरिहारी परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले मुनिओंके साथ वंदना, मंवाग मंभाषण ये विधि करते हैं, कल्पस्थित आचार्य मुनि अनुपरिहारीके साथ ग्रहण, संवास स्थान ये निधि करते हैं.

परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले मुनि अपने माधर्मीके साथ अर्थात् परिहारसंयम पूर्ण धारण करनेवालोंके साथ मंवाग ही निधि करते हैं दूसरा विधि नहीं करते हैं, कल्पस्थित आचार्य इतर मुनिके साथ रहते हैं व प्रमथनामें भाषण करते हैं, कल्पस्थितको अब अनुकल्पी वंदन करते हैं तब कल्पस्थित धर्मलाभ ऐसा कहते हैं, गुरुस्य अन्य धर्मी माधुओंको मार्गत्र मंशुय हो तो पूछते हैं व गणके साथ बोलते हैं, जहां माधर्मीक मुनि रहते हैं उनको देगस्तर अथवा मुनकर उनके धेक्की प्रशंसा नहीं करते हैं, तो वंदनादिक क्यों करेंगे ? [इन गाथाओंका अर्थ मंपूर्ण गया स्थानमें नहीं आता है, भूल हुई होगी. पाठक सुधार लेवें.] इस रीतीमें कल्पोक्त मंवं कार्य जानना चाहिये.

ये परिहार मंयमी तीन भाषाओंको छोडकर मोगवतको धारण करते हैं, किमीने प्रश्न पूछा तो उमका संदेह दूर करना, धर्मकार्यमें अनुना देना और स्वयं प्रश्न करना ऐसी तीन भाषाये ये बोलते हैं, विहार करते समय मार्गके

विषयमें श्रुता हो जैसे यह मार्ग कहाँ चला जाता है इसका यदि निर्णय न हो तो, उपकरणादिक योग्य है या अयोग्य है इसका निर्णय होनेके लिये, और श्रव्याधरका घर और वसतिकाके स्वामी इस विषयमें वे प्रश्न करते हैं। (वसतिकारको घनानेवाला, उसकी मरम्मत करानेवाला और यहाँ आप ठहरो ऐसा कहकर वसतिका देनेवाला इन तीनोंको श्रव्याधर कहते हैं।) ग्रामके चाहर, मशानमें, शून्य घरमें, देवगृहमें, गृहामें, प्रवासी रहनेके घरमें अर्थात् धर्मशालामें और झाड़के पोलमें एकबार अनुज्ञा लेकर रहते हैं-आप कोन हैं, आप कहाँसे आये हैं, आप किस देशको आनेवाले हैं, यहाँ आप कितने दिन रुहेंगे, आप कितने जत हैं, ऐसे प्रश्न करनेपर मैं मुनि हूँ ऐसा एक ही उत्तर दे देते हैं। अन्यसमयमें वे मौन धारण करते हैं। इस स्थानसे तुम चले जाओ, हमको यह जगह दो, हम परको नभालो ऐसा यदि कोई भाषण करे तो उस स्थानमें वे रहते नहीं हैं, तीसरे प्रहरमें आहारको जाते हैं उस समय भिक्षा मिले अथवा न मिले हमेशा दो गव्यतितक विहार करते हैं। वृष्टि, जोरसे चेहनेवाली हवा रत्यादि-कोसे यदि धाधा हो जहाँ तक समन किया है वहाँ ही ये स्थिर रहते हैं। व्याघ्रादि प्राणी, दुष्ट बेल वगैरह पशु आनेपर यदि वे भद्र हो तो चार हात अभीन ये पीछे हटते हैं। यदि दुष्ट हो तो एक पैर भी ये हटते नहीं, यहाँ ही स्थिर खड़े होते हैं। नेत्रोंमें धूल यदि गई हो अथवा पावमें यदि कांटा चुभ गया हो तो स्वयं वे मुनि निकालते नहीं हैं। यदि दूसरे कोई पुरुष निकाले तो मौनसे रहते हैं। तीसरे प्रहरमें ही निचमसे भिक्षाको जाते हैं, निज क्षेत्रमें छद्म भिक्षा अपुनरुक्त होती है यह क्षेत्र रहनेके लिये योग्य समझते हैं। पार्कीका क्षेत्र अयोग्य समझते हैं।

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेख्या, ध्यान संदहन, संस्थान शरीरकी दीर्घता, आयुष्य, लब्धि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति और सिद्धि इतने नियोग यहाँ वर्णन करने योग्य हैं ऐसा समझना चाहिये।

ये मुनि क्षेत्रकी अपेक्षासे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें होते हैं। तीर्थकी अपेक्षासे पहिले तीर्थकर व अन्तिम तीर्थकरके समय होते हैं, कालकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें होते हैं। चारित्रकी अपेक्षासे उनको छेदोपस्थापना चारित्र होता है। प्रथम तीर्थकरके समयमें इनके शरीरकी अवस्था देशोन्मुख कोटरी रहती है, और अन्तिम तीर्थकरके समयमें एकमो वीस वर्षकी अवस्था होती है, जन्मतः तीस वर्षतक भोगोपभोगका सुख-अनुभव लेकर मुनिपर्यायमें उन्नीस वर्ष व्यतीत होते हैं। इनको दशपूर्विका ज्ञान होता है। वेदसे ये गुरुवेदी होते हैं। लेख्याकी अपेक्षासे इनको तेजो लेख्या, पञ्चलेख्या और शुक्ल लेख्या होती है। ध्यानकी अपेक्षासे उनको धर्मध्यान

होता है. इनको पहिले तीन संस्थान होते हैं. और छहों संहननोंमेंसे कोई एक संहनन होता है. इनके देहकी अवगाहना सात द्वायसे लेकर पांचसौ धनुष्यपर्यंत होती है. इनका आयु अठारह मास अथवा पूर्व कीट्री होता है. उनको चारण श्रद्धि, आहारक श्रद्धि अथवा विक्रिया श्रद्धि और आहारक श्रद्धि होती है. योगसमाप्तिके अनंतर अवधि-ज्ञान, मनःपर्यय अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होता है. इस तरह परिहार संयमका निधि कहा है.

जिनकल्पका निरूपण-

जिन्होंने राम द्वेय और मोहको जीत लिया है, उपसर्ग और परीपहल्पी शत्रुके योगको जो सहते हैं और जो जिनेन्द्र भगवानके समान विहार करते हैं ऐसे मुनिश्रौंको जिनकल्पी मुनि कहते हैं. इतनी ही विशेषता इन मुनिश्रौंमें रहती है. प्राक्री मय श्लिगादिक आचार प्रायः जैसा पूर्वमें वर्णन किया है वैसा ही इनका भी समझना चाहिये.

धेयश्रौंको द्वारा इनका वर्णन करते हैं—

सर्वधर्म क्षेत्रोंमें ये जिनकल्पी मुनि होते हैं. कालक्री अपेक्षासे ये मुनि सर्व कालमें होते हैं. ये सामायिक और छेवोपस्थापना चरित्रके धारक होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे सर्व तीर्थकोकि तीर्थमें इनकी उत्पत्ति होती है. जन्ममें तीस वर्षतक भोगोंको भोगते हैं. तदनंतर उन्नीस वर्ष तक मुनिपर्यायमें रहकर अनंतर जिनकल्पी मुनि होते हैं. इनको नौ या दश पूर्वोक्ता ज्ञान होता है. इनको तेजोलेश्या, पीतलेश्या, और वबलेश्या ये लेशयाएँ होती हैं. धर्म-ध्यान और शुक्लध्यानमें लीन रहते हैं. इनका श्रयन संहनन वक्षर्षभनाराच नामका होता है. छहसंस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान होता है. इनके देहका आयाम सात दावकों आदिलेकर पांचसौ धनुष्य पर्यंत होता है. इनका जघन्य आयुष्य भिन्नभूतोदिक रहता है. और उत्कृष्ट आयुष्य कुछ कम पूर्व कीटि वर्षका होता है. इनको विक्रिया, आहारक, चारण और हीरास्रपितादिक श्रद्धि होती है परंतु ये वीतराग होनेसे उनका उपयोग करते नहीं. इनको अवधिज्ञान और मनः पर्यज्ञान होता है. कितनोंहीको केवलज्ञान भी होता है. जो कमली होते हैं वे नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

प्रथममालंकारिकं प्रतिपद्य चारित्र्यविधिं मयोत्साहः कर्तव्यः इति विचारयति—

एवं विचारयिष्या सदि माह्वये य आउगे असदि ॥

अणिगृहिद्वलविरिओ कुणदि मदि भन्चोसरणे ॥ १५६ ॥

सत्येव स्मृतिमाहात्म्ये विचार्य सति जीविते ॥

भक्तत्प्राप्ते नति धत्ते बलवीर्यनिगूहकः ॥ १५८ ॥

विनयोत्पा—एवं विचारयिष्या—यद्यमुकेन प्रकारेण । विचारयिष्या विचार्य । सदिमाह्वये य स्मृतिमाहात्म्ये न । असदि भाउगे भाग्युपसति दीर्घे । अणिगृहिद्वलविरिओ असंयुतयलसहाय्यं दीर्घे आहारव्यापामाग्यां कृतं शले । कुणर करोति । मर मति । भक्तयोसरणे । भक्त्येते सेवते इति भक्तः आहारः । तस्य त्यागं आहारेण समयस्यापनेन शरीरस्थितिं विरं कृत्वा स्वपरोपकारः कृतः । आयुष्यत्वे न शरीरमयस्यातुल्यमाहारग्रहणेऽपि । तेन स्वाउयो मयाहारः इति भावोऽन्व । अत एव सूत्रकारेणेदमुकं दीहो परियावो इति । अयसिपृकालव्यवहारव्यापनाय न फलमायुयोऽप्यता एव भक्त्यागमतेः कारणं, अपि तु अव्यवर्पति ।

मूढारा—सदि माह्वये स्मृतिमाहात्म्ये । जमा चरित्तसारो इत्यादिजिनागमरहस्योपवेशब्रह्मणाहितसंस्कारो-
होथयमान्तरणान्तेऽयदयमहं विधिना सहेतुनां करिष्यामि इत्यभूतायाः स्मृतेर्माहात्म्ये स्थादीभावे सति । न परमत्रैव । असदि आयुष्यसति च । ईषम् सत् अकत् तन्मिन् असति । अल्पे सतीत्यर्थः ।

इस रीतीसे अथालंदादिक विधीको जानकर चारित्र धारण करनेमें मेरेको उत्साह करना योग्य है इसका विचार मुनि करते हैं—

अर्थ—उपर कहे हुए अथालंदादि चारित्र्यविधि का विचार कर चारित्र धारण करना ही आगम पत्रनेका मार है. मैं मरणमभयमें अवश्य सहेतुना धारण करूंगा इस तरहका स्मृतिमाहात्म्य यदि आत्मामें स्फुरायमान होगा तो मुनि आहारका त्याग करनेमें खुदिए लगते हैं. अपना आयुष्य अब दीर्घ नहीं है यह भी

जब उनको मातुम पड़ता है तो वह आहारका त्याग करनेमें मतिको उद्युक्त करता है. उस समय आहार और व्यायामसे श्राप्ट किया हुआ बल बह छिप जाता नहीं है. घर्म साधनको सहायता प्रदान करनेवाले आहारसे मने शरीर घारण कर चिरकाल तक स्वपरोपकार किया है. परंतु जब आयुष्य थोडा रहता है तब शरीर, आहार ग्रहण करनेपर भी ठिक नहीं सकता है. इस लिये मेरेको अब आहारका त्याग करनाही योग्य है. ऐसा वह मुनि विचार करता है. दीर्घकाल तक मने यह मुनिपर्याय घारण किया है अब आयुष्य थलप रहा है. वह आहार त्यागका कारण है ।

पुबुत्तुपाण्णवरे सल्लेहणकारणे समुपण्णे ॥

तह चेव करिज्ज मदि भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥ १५७ ॥

सैन्यासकारणे ज्ञाने पूर्वोक्तान्यतमे सति ॥

करोति निश्चितं बुद्धिं भक्तत्यागे तथैव सः ॥ १५९ ॥

त्रिलोचन—पुबुत्तुपाण्णवरे पूर्वमुक्तानां 'वार्द्ध्या दुष्पसत्तया' इत्यादीनां मध्ये अन्यतरस्मिन् । सल्लेहण-कारणे समुप-कापकृपापतनूकरण सल्लेहणा तथा-कारणे वा । समुपपन्ने समुपस्थिते । तह चेव तथैव च । यथास्य भवति करोति भक्तत्यागे मतिं । तथैव णिच्छयदो भक्तपइण्णाए मदि करेज्ज । निश्चयतो भक्तप्रत्याप्यने मतिं कुर्यात् । यत्प्रधातव्यं मूढनाटनवन्नम् ।

न केवलमायुषोऽल्पतैव भक्तत्यागमतेः कारणमपि तु वदन्त्यदपि इति बर्धवजाह-
मूलात्—अथ आयुष्यस्य तथैवात्रापीत्यर्थः ।

आयुष्यश्री अत्यल्पता ही आहार त्यागके प्रति कारण है ऐसा नहीं है किंतु और भी कारण है—

अर्थ—इसी ग्रंथमें आहारत्यागके दूसरे भी कारण पूर्वमें बताये हैं 'वार्द्धी व दुष्पसत्तया' इत्यादि गायामें कारणोंका उल्लेख किया है. जैसे असाध्य व्याधि होनेपर आहारका त्याग करना चाहिये वगैरह इन कारणोंमें कोई कारण उपस्थित होनेपर सल्लेहना करनी चाहिये, आसौक्त निधि की अनुसार शरीर और कर्मायोगोंको हटा करना सल्लेहना है. जैसे अल्पायुष्य रहनेपर आहार त्याग करनेमें अपनी बुद्धि लगानी चाहिये उसी तरह

पूर्वोक्त कारण उपस्थित होने पर भी निश्चयसे मृत्युभूतत्वाख्यानमें—आहारके त्यागमें अपनी मृतिको मुनि रुपावे, उपर्युक्त दो गायत्रीमें यज्ञकारने अपना अभिप्राय व्यक्त किया है.

भारतपक्षस्य मनः प्रणिधानं प्रवर्णयति—

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ॥

जाव य सद्धा ज्ञायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥ १५८ ॥

योगा यावन्न हीयंते यावन्नश्यति न स्मृतिः ॥

अद्धा मवर्तते यावथावर्षिद्रियपाटवम् ॥ १५९ ॥

विज्ञयोवया—जाव य सुदी ण णस्सदि यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नयाराधनागोचरा बहुभूतविषयप्राप्तिणी तद्विषयभूतमिति प्रयत्नेमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिज्ञानविकल्पा । वस्तुयाधात्म्यप्रदानं, दर्शनं वलापन्यावगमो ज्ञाने, समता धारिचमिति । भूतेनावगते परिणामप्रये यदुपजायते स्मार्तज्ञानं तद्विद् स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृती मद्यां न स्वाधिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारब्धा मया सहेकनेति चिन्त्यम् । जाव य यावच्च । जोगा योगा भातापनादयः । ण मे परादीणा मे परायणा शक्तिवैकल्यात् । विचित्रेण तपसा निर्जरां विपुलां फलुकामस्य मत्त तपोऽतिचारे सा न ममतीति यावन्निरतिचारं इदं तपस्सायत्तसहेकनां करोमीति कारो धिता । जाव य सद्धा ज्ञायदि यावच्चरुभा जायते रत्नप्रयमापद्यति । ताव' धामं मे काउनिनि वक्ष्यमाणेन संवधः । उपशमकाटकरणलक्षयो हि दुर्लभाः प्राणिना सुष्ठो विद्यां स एव । मूल ता. श्रद्धाया, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते । न च तामेतेषांतिशयधत्तामाहारत्यागाः सुतोम संपद्यते । इंदियजोगा इंदियाणां चक्षुरादीनां रूपादिभिर्विषयैः संवद्धा अपरिहीणा हीना न भवति । दम्भोन्ने द्रियगणानपाटवे दर्शनधनगणार्थां परिद्वारोऽसंयमः कथं परिन्दिह्यते । इच्छा श्रुत्वा स इवमयोन्वयमिति चेत्ति नान्यथा ।

आराधकस्य प्रणिधानं प्रदर्शयन् गायत्रचतुष्टयमाह—

मूलारा—सदी स्मृतिः । सा चेद् रत्नयाराधनागोचरा । स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारब्धा मया सहेकनेति भावः । जोगा आतापनादयः । परादीणा परयत्ताः स्युः शक्तिवैकल्यात् । यावन्निरतिचारं तप इति भावः । सद्धा रत्न-प्रपारायने रुचिः । ज्ञायदि तदितोदिता भवति । उपशमकाटकरणलक्ष्ययो हि दुर्लभा इति भावः । इंदियजोगा चक्षुरादीनां इंदियादिभिः सद् संवधा । दर्शनधनमूलो इत्येतन्मत्स्यायः ।

आराधक के चित्तकी एकाग्रताका वर्णन करते हैं.

अर्थ—रत्नत्रयायुधनाको विषय करनेवाला, असुभल विषय जो रत्नत्रय उसकी जाननेवाला, और जिसमें 'वह' इस शब्दसे ज्ञानाकार प्रदर्शित किया जाता है ऐसे ज्ञानको सृति कहते हैं. यह सृति भविष्यका एक भेद है. वस्तु के यथार्थ स्वरूपपर श्रद्धा न होना उसको सम्प्रदर्शन कहते हैं. वस्तु के यथार्थ स्वरूपको जानलेना सम्प्रदान है. और रागद्वेषाभावस्वरूप समताको चार्त्रि बोलते हैं. इस रत्नत्रयका आद्योत्पत्ति स्वरूप जाननेपर सम्प्रदानरूप, सम्प्रज्ञानरूप और चार्त्रि रूप तीन प्रकारके परिणाम आत्म्यामें उत्पन्न होते हैं. इस परिणामत्रय संबन्धी जो स्मरणारम्भ ज्ञान उत्पन्न होता है उसको इस प्रकारमें सृति कहना चाहिये. जितना जगत्का व्यवहार चल रहा है उसको सृतिही कारण है. सृतिका नाश होनेपर सगद्व्यवहार नष्ट होगा. यह बात ध्यानमें रलकर सृतिज्ञान है तबतक ही मेरेको सहेखना धारण करना योग्य है ऐसा विचार करना चाहिये. जबतक मेरेमें आत्मा-पतादि योग धारण करनेका सामर्थ्य मौजूद है तबतक मैं सहेखना करूंगा. शक्ति कम हो जानेसे आत्मापनादि योग में फर नहीं सकूंगा तब सहेखना मेरेद्वारा विभाना कठिन हो जावेगा. शक्तिरहित होनेपर नाना प्रकारके तपसि में कर्मकी निर्जीर्ण करूंगा ऐसी इच्छा करना व्यर्थ ही है. क्योंकि उस समय मेरे द्वारा जो तप किया जावेगा उसमें अतिचार उत्पन्न होंगे. तपमें अतिचार रुग्नेपर सहेखना कैसे सिद्ध होगी? अतः जबतक निरतिचार तप करनेमें मेरा सामर्थ्य है तबतक मैं सहेखना धारण करनेके लिये 'उद्युक्त होऊँ' ऐसा मनमें विचार करना चाहिये. जबतक रत्नत्रयायुधन करनेमें मन श्रद्धायुक्त-उत्साहयुक्त है तबतक मैं सहेखना धारण करनेमें समर्थ होऊँगा ऐसा विचार साधु को. प्राणिकाकी उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि इनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. विद्वान् भिन्न जैसे प्राप्त होना दुर्लभ है. ये तीन लब्धियाँ श्रद्धाके मूलधारण हैं. श्रद्धा विनष्ट हो गई तो फिर उनकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है. श्रद्धाके बिना अतिशययुक्त मनुष्य भी आहारका त्याग सुखसे नहीं कर सकता है. जबतक इंद्रियाँ अपने विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं तबतक सहेखना धारण करना योग्य है. नेत्र और रूप अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेपर देखनेसे और श्रवण करनेसे जो असंयमका परिहार होता है वह कैसा होगा? देखकर और सुनकर यह जयोग्य है ऐसा मुनि जानेंगे अन्यथा नहीं.

जाव य खेमसुमिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ॥

अत्थि तिगारवराहिदा णाणचरणदंसणाविसुद्धा ॥ १५९ ॥

क्षेमं यावत्सुमिक्खं च संति नष्टास्त्रिगारवाः ॥

यावन्निर्यापका योग्या रत्नत्रितयसुस्थिताः ॥ १६१ ॥

विजयोपेक्षा—आय य रोमसुमिक्खं यावच्च खेमसुमिक्खं, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेमोर्गोद्धामावः क्षेम इत्युच्यते । प्रचुररथात्पत्ता सुमिश्रितम् । एतदुभयवतरेषु दुर्लभा निर्यापकाः, तानन्तरेण चतुष्काराधना । आयरिया जाव आचार्यो वाचस्पति । फीरम्भुता णिज्जवणजोग्गा निर्यापकत्वयोग्याः । तिगारवराहिदा मारुधत्रयपद्धिताः त्रिदिरल नानशुक्रकाः दे न भयन्ति । अस्त्रिगो हस्तवतमपि जने निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं च नासंयममीयमवति । भस्त्रयमकारणं धनुमननं च न परिहृत्यतीति । रत्नास्त्रासुरको क्लेशासह्य शरीरपरिकर्म कथं कुरुतः । किं स्वयं सरागो वैराग्यं परस्य संपादयत्येवेति न नियोनोऽस्ति । णाणचरणदंसणविसुद्धा ज्ञानचारिज्वरानेषु विशुद्धाः निर्मलाः । जीवादिप्रायात्मगोचरता ज्ञानस्य विनाशिकः । दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसम्प्राप्तिता, अरक्तविरता च चारिप्रशुद्धिः । शुद्धज्ञानचरणदंसनशुद्धा ज्ञानवैभवंचारिविशुद्धा मण्यन्ते । यथा प्रष्टुमनुस्त्वयुणयोर्गावक्ष्यस्ततम इत्युच्यते पट्यादिः ॥

नूजारा—क्षेमं स्वचक्रपरचक्रोपद्रवत्वादिगदायमावः । सुमिक्खं प्रचुररथान्यता । वदूद्वयं हि पिता निर्यापका दुर्लभाः स्युः । निर्यापणजोग्गा णिज्जवणं संसारार्णवाभिर्योतः प्रयोजकत्वं । तत्र योग्याः समर्थोः । तिगारवराहिया त्रिदिरल रत्नास्त्रावशुक्रका दे न स्युः । त्रिदिरिको हस्तवतमपि जने निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं वा नासंयममादिवेति । नात्य-संयमफारिणीमनुनाति त्यजति । रत्नास्त्रावशुक्रको तु क्लेशासह्य कथमाराधकत्वं कायपरिकर्म कुरुतः ।

अर्थ—जन्तवकं देशमें खेम और सुमिक्ख है तयतक शरीरका त्याग करना मेरे लिए योग्य अवसर है. अपने देशमें सैन्यसे उपद्रव न होना, और किसी रोगसे और मारी रोगसे देश पीडित न होना ऐसी अवस्थाको खेम कहते हैं. और देशमें धान्यकी समृद्धि होना सुमिक्खता है. देशमें ये दोनो परिस्थितियां जन्तवक है तयतक सहेस्वना घारण करना श्रेयस्कर है. खेम और सुमिक्खताके अभावमें निर्यापकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ होता है इसलिए सहेस्व-

१ 'रत्न वारम्भ' ताव रामं ? ' एवं सदि परिणामो ' ' संतम साधनमेतत् ' इति गाथात्रयं सव्याख्यं रघुवत्के नष्टमिति ।

खनाके लिए इन तीनोंकी आवश्यकता है. इन तीनोंका अभाव होनेपर स्वतन्त्राराधना और तप-आराधनाकी निधि होना दुर्लभ है. नियामकत्वके योग्य आचार्य ज्वरक देखमें विद्यमान हैं तबतक सहेखना करना चाहिये. आदिपारव, रमपारव, और सातगारव इन्से रहित आचार्य हो तो उनसे सहेखना की सिद्धि मिलि कर सकते हैं. जिनको आदि प्रिय है ऐसे आचार्य असंयत पुल्लको भी नियामक पदमें स्थापित. स्वयं भी असंयमसे भयपुक्त न होंगे. असंयमके कारणभूत अनुमोदनका उनसे परिहार होना असंभवनीय होता है. जो आचार्य रसत्रिय और मुखमिय हैं वे स्वयं बलेश सहन करना नहीं चाहते हैं. अतः वे आराधकके देखकी सुश्रूषा कभी करेंगे ? स्वयं सरागी आचार्य आराधकसे वैराग्यके भाव उत्पन्न करेंगे यह निश्चय नहीं है. जो आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को निरतिचारतया पालते हैं उनसे ही आराधककी सहेखना सचेरी जो जीवादि पदार्थोंके यथार्थस्वरूप को पहिचानता है वही ज्ञान विबुद्ध समझना चाहिये. दर्शन भी सम्यग्ज्ञान का साथी होता है. रामदेवका अभाव होनेसे चारित्र्यमें निर्मलता आती है. अर्थात् निर्मल रत्नश्रवणरक आचार्य से ही आराधक सहेखना धारण कर सकती है अन्यथा नहीं.

तात्र स्वयं मे काण्डं सरिणिक्खेवणं विदुपसत्तयं ॥

समयपडायाहरणं भत्तपइणाणियमज्जणं ॥ १६० ॥

तायन्मे देहनिक्षेपः कर्तुं युक्तो युचेहितः ॥

भक्त्यागो मतः त्वत्ते व्रतयज्ञो ध्वजग्रहः ॥ १६१ ॥

विजयोदया—ताय रामं मे काण्डं । तावयुक्तं कर्तुं मम । किं ? सरिणिक्खेवणं शरीरनिक्षेपणं शरीरस्य ज्ञानं । विदुपसत्तयं विद्वत्जनसंस्तुतं आसहितत्वात् । समयपडायाहरणं समयः सिद्धांतः तस्मिन् कीर्तिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमायाः । यथा पताका वस्त्रादिरचिता जवादिर्के प्रकटयति । एवमियं आराधनापि भवनिर्मुक्त प्रकटयति । तस्या हरणं प्रद्वानं । भत्तपइणं सकप्रत्याख्यानं नियमज्जणं व्रतयज्ञं । ननु शरीरव्ययोगोऽप्ययं, अन्यत्वात्, अज्ञानं, तपःसु परिणतिरन्याप्यद्रव्यजनं, अन्यमपि च प्रतापि उत्तरं सामानाधिकरण्यादिर्देहाः ? अत्रोच्यते—प्रत्येकमभिरूपेण कार्यः । ताय रामं मे काण्डं इत्यनेन शरीरनिक्षेपणं इत्यादीनां । ततोऽप्यर्थः—शरीरव्यजनं, सम्यग्दर्शनाविशिष्टमनं, भक्तप्रत्यापसानं, प्रतपयन् तपःकर्तुं अयुक्तमिति ।

मूलार्थ—एवं शर्म युक्तं । निम्नस्वेवर्णं त्यजानं । विदुषस्य विद्वज्जनसंस्तुतं व्यवहृतत्वात् । समयपट्टाया-
हरणं पताकेय पताका आराधनोच्छेदे । भाविन्या मुण्डेयशिव-प्रकटनात् । समये सिद्धान्ते कीर्तिता पताका तस्या
हरणं प्रदूषणं । विद्यमानं नवतयज्ञं शरीरत्यजन । सम्यग्दर्शनादिपरिणामनं भक्तमत्याख्यानं । प्रत्ययज्ञानं तावत्कर्तुं युक्ता ।
निमित्तिदासो ? शरीरनिन्देयणं देहमस्तत्यागहेतुकत्वात् । पुनः किंनिशिष्टा समयपट्टायाहरणं । मरणे आराधना
परिणतेस्तत्ताप्यत्यागः । अत एव सा व्रतयज्ञः समीहितार्थसाधकं व्रतम् ।

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंका संझाव होनेपर शरीरका त्याग करना मेरेको योग्य है और यह आत्महितका
करनेवाला होनेसे विद्वज्जन इसकी प्रशंसा करते हैं, यह शरीरका त्याग अर्थात् सख्खनागधना आगममें जयपता-
काके समान माना है, जैसे पताका वस्त्रादिसे रबी आवी है और वह जयादिकको व्यक्त करती है वैसे यह आरा-
धना भी संसारसे मुक्तता की प्रकट होती है, उपर्युक्त कारण के संझावमें शरीरका त्याग करना मानो हाथमें आ-
राधना पताका धारण करना है, यह भक्तप्रत्याख्यान अर्थात् आहारत्याग व्रतयज्ञ है, शंका—शरीरत्याग भिन्न
है, ज्ञानगुण भिन्न है थदा, चारित्र्य और तपमें परिणति ये बातें भी भिन्न ही हैं और आहार का त्याग करना
उनसे भिन्न है और नत भी भिन्न है अतः भक्तप्रत्याख्यानके साथ इनकी समानाधिकरण्याता कैसी सिद्ध होगी ?
'ताव शर्म से काउं' इस वाक्यसे शरीरनिन्देयणं इत्यादिकोंका संबन्ध करना चाहिये ऐसा करनेसे समानाधिकर-
ण्या सिद्ध होगी, इसका अभिप्राय यह है—व्रतक उपर्युक्त कारणोंका संझाव न होगा तबतक शरीरत्याग,
सम्यग्दर्शनादिरूपसे परिणामन, आहारोंका त्याग और व्रतयज्ञ करना अयोग्य होगा.

व्यामर्शितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यं कथनायोगोत्तरगाथा—

एवं सद्विपरिणामो जस्य ददो होदि निच्छिद्वधंदिस्स ॥

तिब्बाए मेदुणाए वोच्छिज्जंदि जीविदासां से ॥ १६१ ॥

एवं समुत्तिपरिणामो निश्चितो यस्य विवृतं ॥

तीव्रयासमि बांधायां जीविताशास्य नश्यति ॥ १६३ ॥

इति षण्णयसत्रम् ॥

विजयोदया—हरं सदिरितामो व्याप्यतिष्ठत्युतिपरिणामो यस्मात्तज्ज्ञानमेव परिणामः । अस्स ददो होल्ल
पस्य स्मृतंरंदो भवेत् । निश्चिद्यमद्विस्त निश्चितमतेः । करिव्यास्येव शरीरनिक्षेपणं इति कृतनिश्चयस्य । जीविदासा
वीरिष्ठन्नर जीविते आशा व्युच्छिद्यते । विद्यायै देदणाय तीमायामपि वेदनायमुदीर्णायां पतन्तीकारं कृत्वा जीवामीति
चित्ता न भवति । से तस्येति जीविताशावायुच्छेदो गुणः सञ्चितः । परिणामं गन् ।

मूढारा—सदिपरिणामो स्मृतिपरिणामः । निश्चिद्यमद्विस्त करिव्यास्येव फायत्तासादिकमिति कृतनिश्चयस्य ।
जीविदासा एतत्प्रकारं कृत्वा जीवामीति चित्ता । से तस्य । परिणामः । सूत्रवः । ७ । अंकवः ८ ॥

लिसका वर्णन पूर्व याथायै किया है ऐसे परिणामके गुणमहात्म्यका वर्णन इस गायसे आचार्य करते
हैं—

अर्थ—मैं शरीरका त्याग करूंगा ही ऐसा जिसने निश्चय किया है उस मुनिका स्मृति परिणाम उपर्युक्त
विचारसे दृढ हो जाता है, तब तीव्र वेदना उत्पन्न होनेपर भी इसका इलाज कर मैं पुनः जीरूंगा ऐसी चित्ता उसके
मनमें उत्पन्न नहीं होती है, उसकी जीनेकी इच्छा नष्ट होती है, अतः इस स्मृति परिणाममें जीविताशाका नाश
करदेवाला गुण है ऐसा समझना चाहिए, परिणाम गुणका वर्णन हुआ।

उपाधि अहं इति एवं स्वस्वये प्रपंचेन—

संजमसाधनेन उर्वधि मोक्षं मेसय उर्वधि ॥
पञ्चद्वि विमुक्तेस्ते साधू मुक्तिं गवेतन्तो ॥ १६२ ॥

उपधि मुचतेऽद्योपं मुक्त्वा संयमसाधकम् ॥

मुमुक्षुर्गुणमुक्तिं मुद्वलेद्यो महात्मनाः ॥ १६४ ॥

विजयोदया—संजमसाधनेन संयमः साधते येनोपकरणेन तत्त्वन्मात्रं कर्मदुल्लिख्यमात्रं । उर्वधि परिग्रहं
मोक्षं मुक्ता । सेसयं अयसिष्टं । उर्वधि अवशिष्टं । उपधिनोम विद्वान्तरं कर्मण्डलान्तरं वा तदानीं संयमसिद्धी न
करणमिति संयमसाधनं न भवति । येन सांयतं संयमः साधते तदैव संयमसाधनं अथवा ज्ञानोपकरणं अवशिष्टोपधि-
रुच्यते । पञ्चद्वि प्रकरणेन योगत्रयेण त्यजति । विमुद्वलेस्ते विमुद्वलेष्यः । साधू साधुः । मुक्तिं मुक्तिं कर्मणामायं ।
गवेतन्तो दृग्गण्य लोभकषायेनानुवृजिता योगवृत्तिवि विमुद्वलेष्य गृहीता । सा परिग्रहत्वायै प्रयत्नयत्यात्मन-
मिति ॥

अभ्योपधित्यागारापकस्य पियेतया गायानवकेनोपदिशति यत्र चादौ द्रव्योपधित्यायं गायान्वेनाह—

मूलार—संजयसाक्षिणमेवं कर्मण्डुपिच्छमात्रं । सेसयं पिच्छान्तरकमण्डलवन्तरूपं । तदानीमन्यस्य संयमसाधनत्वाभावात् । अथवा पुस्तकालिकं श्लेषदाब्देनानोच्यते । पञ्चद्वि भोगत्रयेण त्यजति । विसुद्धलेस्सो लोभकपायाननुसंजितयोगप्रवृत्तिकः ॥

उपधिं च जहण इन दो पदोंका आयेके प्रबंधसे ग्रंथकार वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस उपकरणमे संयम साध्य होता है उसना ही परिग्रह छोड़कर बाकीका परिग्रह विष्टुद लेख्यावान् और कर्मके अपायाका अन्वेषण करनेवाला प्रायु योगव्रतसे छोड़ता है, तात्पर्य—सल्लेखनाके समय साधुकी योगप्रवृत्ति लोभकपायसे अनुरंजित नहीं होती है, अतः वह एकही पिच्छका और एकही कर्मण्डु रखता है, क्योंकि उससे हि उनका मंयमसाधन होता है, दूसरा कर्मण्डु और दूसरी पिच्छका उसको संयमसाधनमें कारण नहीं है, जिससे सल्लेखना के समयमें संयम सिद्ध होगा है वही संयमसाधक है, अवशिष्ट ज्ञानोपकरण शाला भी उस समय परिग्रह माना गया है, उनका भी वह साधु त्याग करता है, उसकी निलोभवृत्ति उस समय सर्व परिग्रहोंका त्याग कराती है-

यत्सत्यादिकं सर्वं त्यज्यतया नोपविष्टमिति आशङ्किते तत्प्रागमुपदिशति—

अप्यपरिग्रहम उपधिं बहुपरिग्रहम् च दोवि वज्जेइ
सेज्जा संथारादी उत्सग्गपदं गवेसंतो ॥ १६२ ॥

साधुर्गोपयन्मुक्तिं शुद्धलेख्यो महामनाः ॥
चिमुंबत्तुपुपधिं सर्वमत्पानत्पपरिक्रियम् ॥ १७४ ॥

विजकोत्तरा—अप्यपरिग्रहम् उपधिं आत्यपरिहर्तुं निरीक्ष्यप्रमाज्जनविधित्वादिकं यद्विप्रलं परित्यजं । यद्

मदत् परिकर्म यद् न च । सो हि दागति पत्नेति बर्द्धयति यमोचाकार्यः । सेव्यासंयत्तारवी पतसि संस्तुतार्दिकं । उस्तस्यगर्ध उस्तर्जनं त्यागः तदेव गदं । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारिणी यावत् । गत्याद्वेयनातिमोहेन द्रव्योपधित्यागो व्याख्यातः । इयता परित्यगात् परिग्रहत्यागः ।

मूलारा—परियम्—विशेषणप्रभाज्जनविद्युन्नादिकम् । उत्सस्यगर्धं परिग्रहपरित्यागसम्भवं ।

संस्तर वगैरह त्याज्य है बेसा नहीं जाना होगा ऐसी शंका की जाने पर आचार्य उनके त्यागका उपदेश करते हैं—

अर्थ—जिसमें अल्प परिकर्म है अर्थात् निरीक्षण करना, स्वच्छ करना, झटकना इत्यादि क्रिया जिसमें थोड़ी करानी पड़ती है और जिसमें उपर्युक्त क्रिया अधिक करनी पड़ती है ऐसे दो प्रकारके भी परिग्रह मन, वचन और रूपसे माधु त्यागते हैं, क्योंकि परिग्रहत्यागका वे अन्येषण करनेमें उत्तर रहते हैं, इस लिये वस्तुतिका और श्रमका भी त्याग वे करते हैं.

पंचविहं जे सुद्धि अपाविदूण भरणमुवणमन्ति ॥

पंचविहं च विवेगं ते खु समाधि ण पावेन्ति ॥ १६४ ॥

औत्सर्गिकपदान्वेषी शय्यासंस्तरकादिकम् ॥

पंचधा शुद्धिमप्राप्य ये विवेकं च पंचधा ॥ १६५ ॥

विषयते समाधि ते लभते न विमोदिनः ।

विजयोदया—पंचविहं जे सुद्धि इत्यादिना हि प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । शनोच्यते—योग्योपादनमेधा-पोषयत्पानमालादिभार श्लुपधित्याग पर्याप्त्यायते उत्तरप्रेयनापि ॥ पंचविहं पंचप्रकारं । सुद्धि शुद्धि । अपाविदूण अमार्ग । जे ये । मरणं मृति । लवणमंति प्राप्नुवन्ति । पंचविहं च विवेकं परिहरणं पृथग्भावं अप्राप्य मृतिमुपपन्ति । एतु शब्द व्यवसायः स च क्रियापदात्परतो योज्यः । समाधि ण प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिपरित्यागाभावे समाप्यभावे दोष आत्मात् ।

मूलारा—सुद्धि नैमंश्यं । लवणमंति प्राप्नुवन्ति । विवेकं पृथग्भावं । अन्यथेनाह—

मर्थ—पांच तरहकी शुद्धिको प्राप्त न करके जो साधु मरण करते हैं, तथा पांच प्रकारके विवेकका भी

आश्रय न लेकरही जो साधु मरते हैं वे समाधिको प्राप्त होते नहीं हैं, 'पंचविहं जे सुद्धि' इत्यादि सूत्रसे कोनसा विषय आचार्य कहते हैं ? पूर्वमें न कहा हुआ विषय दिखाते हैं क्या ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं. योग्यका ग्रहण करना ही अयोग्यका त्याग है. अतः आगेके सूत्रोंसे भी परिग्रह त्यागका ही वर्णन किया है ऐसा समझना.

पंचविहं जे सुद्धि पचा णिसिलेण णिच्छिवमदीया ॥

पंचविहं च विवेकं ते तु समाधिं परमुवेति ॥ १६५ ॥

शुद्धिं ये पंचषा प्राप्ता ये विवेकं च पंचषा ॥

सर्वत्र निश्चितस्त्वन्ताः समाधिसुपयान्ति ते ॥ १६७ ॥

विलगोद्देश—के समाधिं प्राप्नुयहेतियत्र आह—पंचविहं पंचविहं जे सुद्धि पचा ये सुद्धि प्राप्ताः । णिसिलेण साकश्येन । णिच्छियमरणा निश्चितमतयः । पंचविहं पंचविहं च विवेकं ते तु समाधिं परमुवेति । ते सुद्धं समाधिं परमुपयान्ति ।

मूलाः—णिसिलेण साकश्येन ।

अर्थ—समाधि किनको प्राप्त होती है इसका उत्तर आचार्य महाराजने इस गायमें दिया है—जो साधु पूर्णतया निश्चित मतिको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् शरीरत्याग करनेका निश्चय किया है. बिन्दुनि पांच प्रकारकी शुद्धिका और पांच प्रकारके विवेकका आश्रय किया हैं वे समाधिको प्राप्त होते हैं. उपाधिका यदि त्याग न किया हो तो समाधिकी-मनकी एकाग्रताभी प्राप्ति नहीं होती है.

॥ एषा पंचविषया शुद्धिरित्याह—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स ॥

वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खल्लु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥

शुद्धिरालोचना शय्या संस्तरोपधिगामिनी ॥

वेयाधृत्यकराहारपानजाता च पंचषा ॥ १६८ ॥

विजयोदया—आलोचनाए आलोचनायाः शुद्धिः । शय्यासंस्कारयोः या शुद्धिः, उपकरणशुद्धिः, भक्षणशुद्धिः, धेयावृत्त्यकरणशुद्धिरिति पंचविधा । मायासुषारहितता आलोचनाशुद्धिः । मनोमतवृत्ता माया । व्यतीकता वासो मृणा । मायाकषायः स च परिग्रहः 'उत्तरादि तद् कसमा' इति वचनात् । मृणा कथं परिग्रहः इति चेत् उपधीयते अनेन-तुपधिचिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपधीयते कर्म अनेन व्यतीकेनेतुपधिचित्युच्यते । यत्र यस्यादरः कर्महेतौ तत्तत्तुपधिरेवेति भावः । उद्गमोत्पादवैषम्यादोषयहेतुता ममेदं इत्यपरिग्रहात्ता च वसतिसंस्कारयोः शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहतयोर्वसतिसंस्कारयोस्तथाः कृत इति यवसुपरिव्यापः । उपकरणावीनामपि उद्गमाद्विरहितता शुद्धिस्तास्यां सत्त्वां उद्गमादिदोषदुष्टानां अन्ययमसाधनानां ममेदं भावमूलानां परिग्रहार्ण त्यागोऽस्त्येव । संयतयेयावृत्त्य-प्रममता धेयावृत्त्यकारिशुद्धिः सत्त्वां सत्त्वां भसंजता आत्ममहात्मा न मम वैयावृत्त्यकटा इति लीकियमाणारूपका भवति । कथं पंचशुद्धिरित्याह—

मूलांशः—मायामुषारहितता अलोचनायाः शुद्धिः । उद्गमादिदोषरहितत्वं ममेवमित्यपरिग्रहात्ता च वसति संस्कारोपकमनादीनां । संयतत्वं क्लमहा च वैयावृत्त्यकरणां । मायादिप्रमाणान्तरांगसंपत्त्या एव ।

अर्थ—आलोचनाधीं शुद्धिः, शय्या और संस्कारकी शुद्धि, उपकरणोंकी शुद्धि, भक्षणशुद्धि, वैद्या-वृत्त्यकरण शुद्धि ऐसी शुद्धि पांच प्रकारकी है.

आलोचना शुद्धि, माया और असत्यमाणका त्याग करना यह आलोचनाशुद्धि है. मनमें कष्ट निवार रहना यह माया है. असत्य माणको मृणा कहते हैं. माया यह एक कषाय है और वह परिग्रह है. 'चत्वारि तद् कसमा' इस वचनसे मायामें कषायपना सिद्ध है. असत्य माणको परिग्रह कैसे समझना ? उत्तर—असत्य भाण भी उपधि-परिग्रह है क्योंकि 'उपधीयते उपादीयते फलं अनेन व्यतीकेनेतुपधिचित्युच्यते' इस असत्य माणसे कर्मग्रहण होता है अतः इसको भी उपधि परिग्रह—ऐसा नाम अन्यर्थाक है. कर्मग्रहणको कारणभूत जिस पदार्थमें जिसका आदर है वह सर्व उसके लिये उपधि ही है. वसतिसंस्कार शुद्धि—उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषसे रहित होकर यह भेदा है ऐसा माय वसतिका में और संस्कारमें होना यह वसतिसंस्कार शुद्धि है. इस शुद्धिमें जिसने धारण किया है उसने उद्गम उत्पादनादिदोष युक्त वसतिका और संस्कारका त्याग किया है ऐसा समझना चाहिये. इसलिये इसमें भी उपधित्याग सिद्ध हुआ है. पिंहीकर्मद्वय वगैरे उपकरण भी उद्गमादिदोषरहित हो तो वे शुद्ध हैं. उद्गमादि दोषसे अशुद्ध उपकरण असंयमके

विजयोक्त्या-रंदिगकसाग इति । इंदियविवेकः, कयायविवेकः, भक्तपानविवेकः, उपधिविवेकः, वेहविवेकः इति विवेकः पंचमकारो निरूपितः पूर्वगणेषु । स पुनः पंचमकारोऽपि द्विविधः । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविषये चक्षुरादीनामदरेण कोपेन वा अद्वयवर्तने । इदं पदयामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविडकुचवटं पश्यामि, नितिवरोम-राज्ञे वा विलो रूयामि, प्रयुतं जयतं स्पृशामि, कलं गीतं सावधानं शृणोमि, मुलकमलपरिमलं जिघ्रामि । विवाधरं समा-हृष्टाश्रयामि इति वचनानुगारं वा द्रव्यत इंदियविवेकः । भावत इंदियविवेको नाम आतेऽपि विषयविषयसंबन्धे रूपादि-गोचरस्य विज्ञानस्य भावेदियाभिधानस्य रामभोगाभ्यां विवेचनं, रमकोपसहचारिरूपादिविषयमानसङ्गानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कयायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविधः । मूलतासंकोचनं, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दनं, शस्त्रानिकटीकर-णं, इत्यादिकावधयात्करणं । हन्मि, तालयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च । परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलं-काभाभौ भावतः ज्योयिवेकः । तथा मानकयायविवेकोऽपि पाक्षायाभ्यां द्विविधः । गायणां स्तब्धताकरणं, शिरस-उन्नमनं, उज्यास्तनोर्दृष्टादिकं च यन्मानसूचनपरं तस्य कायव्यापारव्याकरणं । मत्तः क्रो वा युतपाराः सुचरितः सुत-पोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहंकारयज्जनं भावतो मानकपायविवेकः । पाक्षायाभ्यां नाम्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः । अन्यत्कुर्वत इवाभ्यस्य कायेनाकरणं कायतो मायोपदेशस्य वा, मायां न करोमि न कारयामि, कयायविवेकोऽपि द्विविधः । यनास्य लोभसादुर्दिष्टय कप्रसारणं, द्रव्येशानपायिता, तदुपादशुक्रामस्य कायेन नितेधानं दस्तास्यया निवारणं, शिरश्चालनया वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरणं कायेन लोभविवेकः । लोभ-पतनमदीयं यस्तुप्रामादिकं वा बहुमस्य स्वाभीति वचनानुधारणं वा लोभविवेकः । शरीरेण वा द्रव्यानुपादानं निति यवनं वा । भवेदंभाववरूपमोहजपरिणामापरिणतिभावतो लोभविवेकः । ग्राहं कस्यचिदीशो न च मम किञ्चि-विवेकं विषेचयतिः—

मूळारा—रूपादिषु षष्ठ्युपादीनां रागेण द्वेयेण वा अश्ववर्जनमिदं पश्यामीत्यादिरूपेणान्तर्विकसेन द्वागव्यापा-रेण वा द्रव्यत इंदियविवेकः । भावतस्तु जातेप्यज्ञाभेदोत्ते रूपादिज्ञानस्य भावेदियाभिधानस्य रागेद्वेयाभ्यां विषेचनं वत्साद्वारित्वादिष्वयमानसङ्गानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कयायविवेको द्वेया कायेन वाचा च । तत्र शुद्ध्यायकरणं कयािको, हन्मीत्याषानुच्चारणं च वाचिको द्रव्यतः क्रोयविवेकः । भावतस्तु परपरिभवादिनिमित्त-चित्तकलंकाभातः । वन गान्तस्यवताषकरणं काशिकः । मत्तः कोऽन्यः श्रुतपारगामीत्याद्यमापणं च वाचिको द्रव्यतो मानविवेकः । भावतस्त्वैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति भासाहंकारवर्जनं । गायविवेको पाक्षायाभ्यां द्विविधः । स चान्यं ज्ञयत इरान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागे, भायोपदेशस्य वा मायां न करोमि न कारयामि, नाम्युपगच्छामि इति वा कथनं

भाविकः । अन्यत् कथं इदमन्यस्य कार्यवाकरणं अधिकः । द्रव्यतो लोभविषेको यत्रास्य लोभस्तदुचितश्च कथमसार-
णाधिकः कायेन । ममेदमित्याशयवचनं वाचा । भावस्तु ममेदंभावस्वरूपमोहजपरिणामापरिणतिः । वैयानुस्यकैः सद्या-
संवासः, कायेन वा कथं वैयानुत्वं मया लब्धा मयमिति वचनं वाचा तद्विवेकः ।

पाँच प्रकारके विवेकोंका वर्णन करनेवाली भाषा—

अर्थ—इंद्रियविवेक, रूपाविवेक, भक्तपानविवेक, उपधिविवेक, देहविवेक ऐसे विवेकोंके पाँच प्रकार
पूर्वागममें कहे हैं.

यह विवेक द्रव्यविवेक और भावविवेक ऐसा दो प्रकारका है.

इंद्रियविवेक—रूपादि विषयोंमें नेत्रादिक इंद्रियोंकी आदरसे अथवा कोपसे प्रवृत्ति न होना. अर्थात्
यह रूप मैं देखता हूँ. शब्द मैं सुन रहा हूँ. इस रीतीसे प्रवृत्ति न होना. मैं उसके कठिन कुषट-स्तन देखता
हूँ. मैं उस स्त्रीके नितंबको तथा वस्त्रलङ्घने उपरकी रोमपंक्ति देखता हूँ. उसके विस्तृत जवनका स्पर्श करता
हूँ. उसका मधुर गायन सावधान होकर सुनता हूँ. उसके मुखरुमलका सुगंध नाकसे ग्रहण करता हूँ. उसके अध-
रोष्ठका रस पीता हूँ. ऐसे वचनोंका उच्चारण न करना यह द्रव्यतः इंद्रियविवेक है.

भावइंद्रिय निवेक—स्पर्शादि विषय और स्पर्शनादि इंद्रिय इनका संबंध होने पर भी जो रूपादिका ज्ञान
होता है उसको उपयोगात्मक भावेन्द्रिय कहते हैं. यह ज्ञान होकर भी रागद्वेषसे भिन्न रहना इसको भावेन्द्रिय
विवेक कहते हैं. रागद्वेषसे युक्त ऐसी रूपादि विषयमें मानसिक ज्ञानकी परिणति न होना अर्थात् रूपादिकोंका
ज्ञान होकर भी मन रूपादि विषयोंमें रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणत न होना यह भी भावेन्द्रिय विवेक है.
द्रव्यतः कयाय विवेकके शरीरसे और वचनसे दो भेद होते हैं. भौद संकुचित करना, नेत्र लाल होना, ओष्ठदंश
करना, दास हाथमें लेना, इत्यादि शरीरकी प्रवृत्ति न होना कायविवेक होता है.

मैं मारूंगा, ठोकरूंगा, झूलपर चढ़ऊंगा इत्यादि वचनोंका प्रयोग न करना यह वचन विवेक है.

दूसरोंका पराभन करना, योगद के द्वेषपूर्ण विचार मनमें न लाना यह भावक्रोधविवेक है.

मानकराग्यविवेक भी वचन और शरीरके निमित्तसे दो प्रकारका है. शरीरके अवयव ताठ करना,
मस्तकतो ऊंचा करना, उचासन ५८ चढ़ना वगैरह कृत्य मानसूचक है. शरीरके द्वारा ऐसी क्रिया न करना. मेरेसे

साधन हो जाते हैं. उममें ये मेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होता है अतः वे परिग्रह हैं. उनका त्याग करना यह उपकरण शुद्धि है.

वैवाच्यप्रकरणशुद्धि—साधुजनकी वैवाच्यकी पद्धति जान लेना यह वैवाच्य करनेवालोंकी शुद्धि है. यह शुद्धि होनेसे असंयत लोक अकमज लोक ये मेरा वैवाच्य करनेवाले नहीं हैं ऐसा समझकर त्यागो जाते हैं.

अहंवा वंसणणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ॥

आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥ १६७ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रिबिनयावश्यकआथा ॥

अथवा पंचधा शुद्धिविधिया शुद्धयुद्धिना ॥ १६९ ॥

विजयोद्या—अहंवा अथवा वंसणणचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य आधश्यक-शुद्धिहेति पंचविरूपा इय सुद्धी शुद्धिर्भवति । निःशंकितत्वादियुगपरिणतिर्विशंगशुद्धिः सत्यां सत्यां शंकाकांक्षाविचि-कित्तादीनां अशुभपरिणामानां परिरुद्धाणां त्यागो भवति । कोले पठननिर्यादिका ज्ञानशुद्धिः, अस्यां सत्यां अकालपठनाद्याः क्रिया ज्ञागवर्णमूलाः परित्यक्ता भवति । पंचविंशतिभयनाच्छात्रियशुद्धिः सत्यां तस्यां अतिशुद्धीतमनाप्रचारादिशुभपरि-णामोऽभ्यन्तरपरित्यक्तो भवति । दृष्टफलाभ्येक्षिता विमलशुद्धिः । सत्यां सत्यामुपारुणादिलोभो निरस्तो भवति । मनसावधारणयोगनिवृत्तिः विमगुणानुरागः वंचमानश्रुतादियुगानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरी-रास्तरागुपकारित्यनयना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्यां सत्यां वशुभयोगो जिनगुणानुरागः श्रुताविमाहास्येऽनादयः, अपरा-धावृत्ता, अप्रत्याख्यानं, शरीरममता बल्यभी दोषाः परिग्रहनिराकृता भवन्ति ।

सामेय प्रकारं विनाह—

मूलाराः— वंसण इत्यादि निःशंकितत्वादियुगपरिणतिर्विशंगशुद्धिरस्यां सत्यां शंकाद्यशुभपरिणामानां परिग्रहणां त्यागः स्यात् । एवं ज्ञानचारित्र्योरपि । दृष्टफलाभ्येक्षता विनयशुद्धिरस्यां सत्यां वपकरणदिलभा-लानो निरस्तः स्यात् । सावययोगनिवृत्तिर्विमगुणानुरागो, वंचमानश्रुतादियुगानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासाररागुपकारित्वभावनं चेत्यावश्यकशुद्धिरस्यां सत्यामशुभयोगावचो भावदोषाः परिग्रहा निरस्ता भवन्ति ।

अर्थ—अथवा दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्र्यशुद्धि, विनयशुद्धि और आवश्यकशुद्धि ऐसी पांच प्रकारकी शुद्धि है.

दर्शनशुद्धि—निःशुक्ति वगेरह गुणोंकी आत्मामें परिणति होना यह दर्शनशुद्धि है- यह शुद्धि होनेसे शंका, कांछा, विचिकित्ता वगेरह अशुभ परिणामरूपी परिग्रहोंका त्याग होता है।

ज्ञानशुद्धि—योग्य कालमें अध्ययन करना, जिससे अध्ययन किया है ऐसे शुद्धका और शास्त्रका नाम न छिपाता ह्यादिरूप ज्ञानशुद्धि है- यह शुद्धि आत्मामें होनेसे अकालपठनादिक क्रिया जो कि ज्ञानावरण कर्मो-स्रपक्षो कारण है त्यागी जाती है।

चारित्र्यशुद्धि—प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनायें हैं, पाँच व्रतोंकी एसीस भावनायें होती हैं इनका पालन करना यह चरित्रशुद्धि है- इन भावनाओंका त्याग होनेसे मन स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणाम होते हैं- ये परिणाम अम्यंत्तर परिग्रहरूप हैं, व्रतोंकी भावनाओंसे अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग होता है।

वित्तशुद्धि—कीर्ति, आदर इत्यादि लौकिक फलोंकी इच्छा छोड़कर साधयिकजन, शुरुजन इत्यादिकोंका नित्य करना यह वित्तशुद्धि है, इसके होनेसे उपकरणदि लोभका अभाव होता है।

आनन्दशुद्धि—साधनयोगोंका त्याग, जिनगुणोंपर प्रेम, वंघमान आचार्यादि गुणोंका अनुसरण करना, क्रिये हुए अपराधोंकी निंदा करना, मनसे अपराधोंका त्याग करना, खरीरकी असहता और अपकारीपनाका निवार करना यह तप आपश्यक श्रद्धि है- यह श्रद्धि होनेपर अशुभ योग, जिन गुणोंपर अमेम, आगम, आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके गुणोंपर अभीति, अपराध करने परभी मन में पश्चात्ताप न होना, अपराध का त्याग न करना, और शरीरपर ममता करना ये दोष परिग्रहका त्याग करनेसे नष्ट होते हैं।

पंचविधविभक्तप्रस्थापनाद्योपता गथा-

इन्द्रियकसायउवर्धीण मत्तपाणरस चावि देहत्स ॥

एस विवेगो भणितो पंचविधो दब्धभाजगदो ॥ १६८ ॥

विचैको भक्तपानांगकपायाक्षोपधिश्रितः ॥

पंचधा साधुना कार्यो द्रव्यभावगतो द्विधा ॥ १७० ॥

अधिक शास्त्र प्रीण कौन है ? मेरेसे अधिक चारित्र्यका पालन किमसे होता है ? मैं ही अच्छा तपस्वी हूँ ऐसा मुझमें वचनप्रयोग न करना मैं इन सुनिश्चित उत्कृष्ट हूँ ऐसा मनके द्वारा अभिमानको छोड़ना यह भाव मान कषाय विनिक है।

वचन और शरीरके निमित्तसे मायाविवेक दो प्रकारका है— एक विशिष्ट व्यक्तिके विषयमें बोलता हुआ भी मानते अन्यमें ही बोल रहा हूँ ऐसा दिखाना यह वचनसे माया है ऐसी मायाका त्याग करना अथवा कष्टका उपदेश न करना, किन्ता मैं माया न करूँगा न कटाउंगा, करनेवालोंको अनुमतिदान नहीं करूँगा इत्यादि वचनको मायामायाविवेक कहते हैं।

शरीरमें एक कार्य करता हुआ भी मैं अन्यही कर रहा हूँ ऐसा दिखाना यह शरीरकी माया है, इस मायाका त्याग करना कायमायाविवेक है।

लोभ कषाय विवेक— जिस पदार्थ में लोभ है उसके तरफ अपना हाथ पसारना, जहाँ यह पदार्थ है वह स्थान सुरक्षित रखना, यदि कोई मनुष्य उस वस्तु को लेनकी इच्छा करता हुआ दीखे तो शरीरसे निषेध करना, हाथ ही सहनानी से मना करना अथवा मस्तक को हिलाकर निषेध करना इत्यादिक शरीरक्रिया न करना यह क्षायलोभ विवेक है। शरीरसे द्रव्य को न उठाना यह भी कायलोभ विवेक है, यह मेरी वस्तु है, ये ग्राम घर गोरह पदार्थ मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ ऐसा वचनोच्चार न करना यह भी वाचालोभविवेक है, मैं रिजिनीका स्वामी नहीं हूँ, मेरी कुछ भी वस्तु नहीं ऐसा वचनोच्चार करना यह भी वाचा लोभ विवेक है, यह मेरा है ऐसी जो मोहसे उत्तम होनेवाली परिणति वह भावलोभ है परंतु इस परिणति को न होने देना यह भाव लोभविवेक है।

अहंवा सरीसेज्जा संथास्वहीण भत्तपाणस्स ॥

वेज्जावच्चकरण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६९ ॥

सोअथा पंचधा शय्यांसत्तरोपधिगोचरः ॥

वैयाधुलकराहारपानविग्रहसंश्रयः ॥ १७१ ॥

विजयोदया—अदरा अथवेति । विवेकः प्रकाशतेरणायेद्यते । शरीरसेखासंभारुहणीमत्तपणस्य शरीर-
विवेकः । वसतिसंस्तरविवेकाधुपकरणविवेकः, मच्छयानविवेकः । वेडावकाकरणं यं वेपावृत्तराणां च विवेको
भवति । तदा चैव तथैव द्रव्यभाषायां इति यावत् । तत्र शरीरविवेकः शरीरेण निरूप्यते । संसारिणः शरीरादि-
वेकः कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरोपद्रवपरिहरणं । शरीरं उपद्रवन्तं नरं तिर्येवं वेपं वा न हस्तेन
प्रिवारयति । मां कृपा ममोपद्रवमिति दंभमशक्यद्विक्कुमुजंमसारसेयादीष हस्तेन, पिच्छाधुपकरणेन, दंडादिप्रियां माप-
सारयति । उग्रपिच्छकटकप्रारणवित्ता या न शरीररक्षां करोति । शरीरपीडां मा कृपा हस्तावचनं । मां
पालयेति या, शरीरमिदमन्यदेवतं चैतन्येन सुस्पृष्टु, एतदेवेन याविशिष्टमिति यचनं यावा विवेकः । वसति-
संस्तरवेपिवेको नाम फायेन वयतावनासने प्राग्युपितायां । संस्तरे वा प्राक्तेन अशयनं भवासनं । वाचा लज्जामि
वसतिसंस्तरमिति यचनं । फायेनोपकरणानामनावागेन, अस्यापमं कविदरक्षा च उपधिविवेकः । परित्यक्तानीमानि
क्रानोपकरणानीति इति यचनं याचा उपधिविवेकः । भक्तपानयोरतशमं या कोपेभ भक्तपानविवेकः । पश्यन्तं भक्तं
पानं या न सुखमि इति यचनं याचा भक्तपानविवेकः । वेपावृत्तराः साधिव्यादयो ये ये वेपां फायेन विवेकः
तिः सहसंसासः । मा कृपा वेपावृत्त्यं इति यचनं, मया लज्जा यूयमिति यचनं । सर्वत्र शरीरादौ अनुगतस्य भवेदे
मानस्य वा मनसा भकरणं भाषविवेकः ॥

तमेव पुनर्भाषतेरणाह—

मूढारा—द्रव्यभाषाभ्यामित्यर्थः । वान द्रव्यवस्तावत् । स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवपरिहरणं शरीरविवेकः ।
शरीरपीडां मम मा कृपा इति मां पालयेति वा अयचनं । शरीरमिदमन्यदेवतमिति यावि यचनं या वाविवेकः । एवं फायेन
प्राग्युपितायां वसतावनासने संस्तरे वा प्राक्तेन अशयनमनासनं वा । वाचा त्यजामि संस्तरमिति यचनं च शय्यादिसंस्तर
विवेकः । फायेनोपकरणानामनादानमरयापनं कविदरक्षा च । वाचा परित्यक्तानीमानि भवेति, यचनं वेपाधिकविवेकः ।
भक्तपानयोरतशनमपानं य फायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं च न गृहामि इति यचनं वाचा तद्विवेकः ।
सर्वत्र शरीरादौ अनुगतस्य भवेदे भाषस्य वा मनसा भकरणं भाषविवेकः ।

अर्थ—विवेकने दूसरे प्रकारसे मी पांच भेद हैं वे इस प्रकार—शरीरविवेक, वसतिसंस्तरविवेक, उपकरण
विवेक, भक्तपानविवेक और वेपावृत्त्यकर विवेक इन पांच भेदोंमें प्रत्येकके द्रव्य और भाव ऐसे दो दो भेद होते
हैं.

शरीरविनिर्ग—अपने शरीरको कुछ उपद्रव होने लगा तो वह अपने शरीरसे दूर न करना, शरीरको
उपद्रव देनेवाले मनुष्य, तिर्येच अथवा देवको अपने हाथसे दूर न करना, भरेको उपद्रव मत करो ऐसा कह कर हास

मन्त्र, विच्छेद, नर्प, कुत्ते वगैरह प्राणिओंको वह हस्तसे दूर करता नहीं है। पिच्छिकादि उपकरणसे अथवा दंडादि-
 त्तोस हटाता नहीं है, छत्र, पिच्छिका, चटार्द, श्रावरण वगैरहसे वह अपने शरीरकी रक्षा नहीं करता है-शरीरको तुम
 पीटा मत करो इत्यादिबचन वह कहता नहीं है, अथवा मेरा रक्षण करो ऐसा वचन वह कहता नहीं है, यह
 शरीर आत्मासे भिन्न है, अचेतन है, यह चैतन्यसे अथवा सुखदुःखानुभवसे अविशिष्ट है अर्थात् रहित है यह
 वाचा पियेक है।

यस्यसिंस्तारविषयक—जिस यस्यसिंस्तारमें पूर्व कालमें निवास किया था उसमें निवास न करना, पूर्व
 सिंस्तारमें—शुश्रूषामें न सोना, अथवा न घेंटना, मैं यस्यसिंस्तार और सिंस्तारका त्याग करूंगा ऐसा बोलना।

उपकरण नियम—शरीरके द्वारा उपकरणोंकी ग्रहण न करना, उनको स्थापन न करना, और उनका
 रक्षण न करना, यह उपधिनियम है, मैंने ज्ञानोपकरणादिक उपकरणोंका त्याग किया है ऐसा वचन बोलना।
 यह वाचा उपधिनियम है।

भक्तपान विषयक—आहार और पीनेके पदार्थ भक्षण नहीं करना यह शरीरके द्वारा भक्तपानविषयक है,
 इस तरहका आहार और पानी मैं ग्रहण न करूंगा, ऐसा वचन बोलना यह वाचा भक्तपानविषयक है।

पैयावृत्त्यन्त विनियम—पैयावृत्त्य करनेवाले जो अपने शिष्यादिक हैं उनका शरीरसे त्याग करना अर्थात्
 उनमें साथ महपाल छोड़ देना, तुम मेरी पैयावृत्त्य मत करो, मैंने तुम्हारा त्याग किया है ऐसा वचनके
 द्वारा बोलना।

सर्व शरीरादिक पदार्थोंपरसे प्रेमका त्याग करना अथवा ये मेरे हैं ऐसा भाव छोड़ देना यह भावविषयक है।

परिग्रहपरित्यागकर्म उपदिशति—

सञ्चत्य द्रव्यपञ्चयममत्तिसिंसांगविजडो पणिहिदप्पा ॥

पिपणयपेमरागो उवेच्च सञ्चत्य समभावं ॥ १७० ॥

पदायोंमें उनके रूप, रस, गंध, स्पर्शादि पर्यायोंमें भी जिसने भ्रम, स्नेह और आसक्ति करना छोड़ दिया है ऐसा सत्पुरुष द्रव्योंमें और उनके पर्यायोंमें शम्यद्वेषमा त्याग कर सभताभावका स्वीकार करता है.

पदायोंको जाननेके समय शमरूप और द्वेषरूप परिणति छोड़कर केवल पदायोंको जानना ही समता है. उपाधि नामक प्रकरण समाप्त हुआ.

परिषद्परिषदागदन्तरोऽधिकारं धितिनंम, एतद्व्याख्यातुकामः धितिशब्दस्यार्थद्वयं व्याचष्टे भावधिति-
द्रव्यधितिरिति, अग्रकृतं धितिशब्दार्थं निराकृतुमिदं दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवची सा भावदो सिदी होवि ॥
वव्वसिदी गित्सेणी सोबाणं आरुहंतस्स ॥ १७१ ॥

उपर्युपरि छुट्ठेयु गुणेच्चारुहन्ते यया ॥

भावधितिरभागेया विशुद्धा जीववासना ॥ १७३ ॥
भंदिराविपु तुंगेषु सुखेनारुहन्ते यया ॥

द्रव्यधितिमेता प्राज्ञैः सा सोपानादिलक्षणा ॥ १७४ ॥

विजयोक्ता—जा या । उवरि उवरि उपर्युपरि गुणपडिवची गुणप्रतिपत्तिः । ज्ञानध्यानसमानभावानां गुणानां प्रवृत्तानां उपर्युपरि गुणनासयार्थानामेव प्रतिपत्त्यां सा । भावदो भावेव । सिदी होदि धितिर्भवति । परिणाम सेवेति यावत् । मय का द्रव्यधिति ? जसोत्तरमाह—द्रव्यसिदी श्रीयते इति धितिः द्रव्यं च सत् धितिश्च सा द्रव्यधितिः । पदाधीयते द्रव्यं मिश्रणीसोपानादिकं तदपि धितिशब्देनोच्यते । आरुहंतस्स आरोहन्तः ॥

अर्थ—सत्त्वगन्धस्पर्शरसस्पर्श सुमुमुक्षुषुपरि विशुद्धपरिणामसेवा विधातव्येति भावपदकेनोपदेन्दुकामो भावधिविद्रव्यधितिरुपान्वसुद्धीकृतस्वरूपा निरुपयधिरमाह—

मूलात्—उवरीत्यादि—ज्ञानध्यानसमभावानां गुणानां प्रवृत्तानामुपर्युपरिगुणानां तथामुत्तानामेव प्रतिपत्तिः परिणति । भावदो सिदी भावेन परिणामेन धितिः परिणामसेवेति यावत् । वव्वसिदी श्रीयव इति धितिः द्रव्यं च तच्छिद्र-
विभ्र सा द्रव्यधितिः । आरुहन्तस्स आरोहन्तस्त्वय योभमारोहन्तस्त्वय ।

‘परिग्रहोक्ता त्याग करना’ इस अधिकारके अन्तर्गत अथि नाभक अधिकार है इसका वर्णन करनेके प्रथम अथि शुद्धके भावअथि और द्रव्य अथि ऐसे दो अर्थ करते हैं। अथि शुद्धके अमकृत अर्थका निराकरण मात्र इष्टार्थ दितानेके लिये भावअथि और द्रव्यअथि ऐसे दो प्रकार आचार्यने दितारहे हैं।

अर्थ—सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान और समानभाव अर्थात् चारित्र्य इन गुणोंकी गुणितरूप उत्तरोत्तर उन्नतवस्थाकी प्राप्त करलेना यह भावरूप अथि है अर्थात् अपनेमें स्थाय्यका दिन श्रुतिदिन उत्तरोत्तर विकाशही करते जाना उसको भावअथि कहना चाहिये। और कोई उच्चस्थानमें स्थित प्रदार्थ लेना चाहें तो निश्चयी का अवलम्बन लेकर एक एक सोपानांशिक क्रमसे जो चढना वह द्रव्यअथि है।

अभयो. ॥१॥ या शुद्धित्यज्ज्ञाह—

संछेद्गुणं करोती सत्त्वं सुहृसील्यं पयसिदूण ॥

भावसिद्धिमारुहिता विहरेज्ज सरिणिज्जिण्णो ॥ १७२ ॥

द्रव्यअथिं परित्यज्य भावअथितिमथिअत्तः ॥

चारित्र्ये वेष्टतां शुद्धे त्पयतुकासः कलेवरम् ॥ १७५ ॥

विजयोपया—संछेद्गुणं संछेदना करतो कुर्वन् । सत्त्वं सुहृसील्यं सर्वो सुखभायनां आसनवायमभोजनविधिपया । पयसिदूणं प्रकर्षेण तपस्या योगज्जयेणेति यावत् । भावसिद्धिमारुहिता श्रद्धाभादिपरिणामसेवां प्रतिपद्य विहरेज्ज प्रयत्नेन । सरिणिज्जिण्णो क्षारीयनि स्फुटः । किमनेन शरीरेण, सुखेभवासायेण, अशुचिभा, कृतमेन, भारेण रोगाणामाकरोण, ज्वरामरणप्रतिद्वेतेन नु शविधायेनेति ॥

प्रथमसुखपक्षेन निर्वेदसुखजयितुं भावअथिवाश्रित्य प्रवर्तितव्यमित्यनुशास्ति ॥

मूलात्—सुहृसील्यं मोक्षनासनशयनगदिविषयां सुखभावनां । पयसिदूणं प्रकर्षेण योगवयेण त्यक्त्वा भावसिद्धिमारुहिता श्रद्धाभादिपरिणामसेवां प्रतिपद्य । विहरेज्ज प्रयत्नेन । सरिणिज्जिण्णो किमनेन शरीरेण सुखमेव, निःसारेण, अशुचिभा, कृतमेन, भारेण, रोगाणामाकरोण, ज्वरामरणप्रतिद्वेतेन, नुःस्वविधायिनेति देहस्थहानिष्क्रान्ताः ।

दो अथिजोमैसे प्रकृत विषयमें जोनसी अथि ग्रहण की है इस प्रशंसा उत्तर आचार्य कहते हैं।

अर्थ—संछेदना करनेवाले साधुने सब सुखभान्को छोड़ना चाहिये अर्थात् आसन, शयन और भोजन वगैरह विषयोंमें मन, बचन और शरीरले आसक्ति का त्याग करना चाहिये, तथा श्रद्धानादियोगों का आश्रय लेकर विहार करना चाहिये, अर्थात् रत्नत्रयमें हमेशा प्रवृत्त होना चाहिये, शरीरपर विरक्ति को बढ़ाना चाहिये, यह शरीर प्रत्येक जन्ममें मिलता है इसलिये सुलभ है, निःसार है, रक्तादि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है अतः अपवित्र है, मिष्ट पदार्थों से पुष्ट करनेपर भी यह आत्माको रोगादिसे कष्ट देता है, अतः कृतम है, भारस्वरूप है, नाना प्रकारके रोगोंने इसमें अद्वा लमाया है, भरा और मरण से पीड़ित है और दुःखदायक है ऐसे दोषपूर्ण शरीरले विरक्त होकर रत्नत्रयमें साधु विहार करें.

दृढसिद्धिं भावसिद्धिं अणिओगवियाणया विजाणंता ॥

ण खु उट्ठगमणकब्जे हेट्ठिण्णपवं पसंसंति ॥ १७३ ॥

प्रब्रयभावश्रितिशानाः संत्युत्तरपदोचताः ॥

न स्रक्षोऽथः प्रशंसंति पदमूर्ध्वं यियासवः ॥ १७६ ॥

विजयोद्या—दृढसिद्धिं भावसिद्धिं अणिओगवियाणया विजाणंता इत्यस्मिन्देन पदघटना । उट्ठगमणकब्जे हेट्ठिण्णपवं ॥ खु पसंसंति ऊर्ध्वगमेने कार्ये अधोध पदनिर्लेपे नैव प्रशंसन्ति । विजाणता विशोषेण जगन्तो । कां दन्वोसिद्धिं भावसिद्धिं च द्रव्यभावश्रित्यो स्वरूपं उपदेयश्रित्यज्ञाना इति यावत् । न केवलं धितिमात्रज्ञाः किन्तु अणुभोगवियाणया अनुयोगशब्दः सामान्यवचनोऽपि इह चरकानुयोगवृत्तियुक्तिर्यहीतस्तेनायमर्थः आचारांगक्षाः अथवा चतुर्विधानुयोगक्षाः युतामाह्वान्ययंतः न प्रशंसन्ति । एतदुक्तं भवति—अणुपरिणामवतां तदतिशय एव प्रवर्तितव्यं, न जयन्त्यप्रयादे निपत्ति-तथ्यं, यतोऽतिशयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निदन्ति अध्यय्यवरिणामान् । कुतो ? मंदयमानशुभपरिणामः क्रमेण न बहलविरालक्रमैस्तिनिरमपाकानुमहंति नारायिमुपः प्रदीप इव अष्टमपरिणामसंतेर्मूलं भवति । तेन कर्मणां स्थितिस्तुभयश्च प्रकर्षमुपैति ततो च्यवस्थिता सेव दीर्घसंसारिता । सर्वोचीनज्ञानमाकृत्येतिरितः शुभपरिणामानलः प्रकृत्यमाणो विरोधितकर्मपादपरसत्तानुन्मूलयतीति ॥

ऊर्ध्वगतसूर्यमविष्ठितशुभपरिणामस्य तदतिशय एव प्रतिपत्तिसत्त्वल्लैः इत्याद्यत इत्यावेदयति ।

मूलार—अणिओमवियाणवा ह्यनुयोगज्ञाः । वियाणंता विक्षेपेण हेयोपादेयतालक्षणेन लक्षयन्तः । सिद्धिदुषर्पे
अयोधःपाशनिक्षेपं जपन्यतापरिणामप्रवादपठनं च । मंदायमानशुभपरिणामो ह्यनुभपरिणामनियतनाटकर्मणा स्थित्यनुभावो
प्रकर्षयति ।

अर्थ—द्रव्यश्रिति और भावश्रितिको जानने वाले अनुयोगज्ञ आचार्य ऊपर ज्ञानके लिये नीचे नीचेके
स्थानमें पदनिर्देश करना प्रशंसनीय समझते नहीं है.

भावार्थ—‘अणुयोगवियाणवा’ इस पदसे अनुयोग शब्द सामान्यवाचक है तो भी धरणाद्युयोगका
वाचक समझना चाहिये. अतः ‘अणुयोगवियाणवा’ इस पदका अर्थ आचार्यगके जाननेवाले विद्वान् ऐसा समझना
चाहिये. अथवा प्रथमाद्युयोग, धरणाद्युयोग, चरणाद्युयोग और द्रव्याद्युयोग इन चार अद्युयोगके ज्ञाता ऐसा भी अर्थ
होता है. चार अद्युयोगके ज्ञाता भूतके माहात्म्य को जाननेवाले आचार्य ऊपर जानेके लिये नीचे नीचे पदनिर्देश
करते जाना प्रशंसनीय नहीं समझते हैं. अभिप्राय यह है कि, शुभ परिणाम युक्त साधुओंको उस परिणामोंकी शुद्धि
करनेकाही प्रयत्न करना चाहिये. उत्तरोत्तर अष्टुम अथवा जघन्य परिणामों के प्रवाहमें नहीं बह जाना चाहिये.
उच्छुद्ध श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करने वाले आचार्य जघन्य परिणामोंकी निंदा करते हैं.

जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मंद हो रहे हैं वह यदि क्रमसे विपुल और बड़ा कर्मरूपी अंधकार फैला
नष्ट करनेमें समर्थ होगा ! प्रत्युत वह नाशके समुत्पन्न हुए दीपके समान कर्मरूप अंधकारको बदानमें सहायकही
होगा. मंद होनेवाले शुभपरिणाम अष्टुम परिणामोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं. ऐसे परिणामोंसे कर्मका स्थितिबंध
और अनुभागवर्षय पुष्ट होता है. और दीर्घ संसार में भ्रमण करना पड़ता है. सम्यग्ज्ञानरूपी धातुसे प्रेरित गया शुभ-
परिणामरूप अग्नि जब बढता जाता है तब वह कर्मरूपी वृक्षको सखीन बनाकर उसको धराशायी कर देता है.
अर्थात् कर्मोंका नाश करता है.

श्रितरेणस्थानपरितुल्यव्यानयोत्तरगया—

गणिणा सह संख्याडो कज्जं पइ सेसण्हिं साह्हिं ॥

गोणं से भिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सज्जणे य ॥ १७४ ॥

गणितैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ॥
कुदृष्टिभिः समं मौनं शान्तैस्त्वैव विकल्प्यते ॥ १७७ ॥

विज्ञयोदया—गणिता सह सावधारण्यभिर्दं गणितैव सह । संलावो प्रश्नप्रतिवचनप्रबंधः, नान्यैः सह चिरभाषणं कार्यः । आचार्येण सह संलापः शुभपरिणामस्य हेतुत्वित्यनुग्रह्यते । इतरे तु प्रमादितो यत्किंचिद्वृत्तवन्तोऽशुभपरिणामं विवक्षुः । फलं परं कार्यं सं प्रति । सेतयेति साधुद्वि श्रेयैः साधुभिः संभाषणं कार्यं, न प्रबंधरूपा कथा कार्यः । मौनं मीमंसेव । ते तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारुहस्य । मिच्छज्जणे मिथ्यादृष्टिज्जने । स्वायं वदपरिकरस्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाविना । मज्जं मान्यं विकल्प्यं मौने । सखीभिस्तु मिथ्यादृष्टिवायुपुष्पांतेषु । सज्जणे यं स्वज्जने च । मिथ्यादृष्टौ अस्यामवस्थायां मदीयं यज्जने भुत्वा सम्यग्दर्शनविक्रमिमे गृह्णंतीति यथास्ति संभावना श्रूयार्थं न चेन्मौलमेव ॥

इवानौ शुभभावश्लेष्टरूपपञ्चापचयनिमित्तप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यर्थं आह—

मूढाद्या—गणिता आचार्यैरेव । संलावो प्रश्नोत्तरप्रबंधरूपा संकथा कर्तव्या । शुभपरिणामैकनिमित्तत्वात् । फलनं पक्षि कार्यं स्वमुद्दिश्य । दोषसाधुभिः सह संभाषणमात्रं कार्यं न प्रबंधरूपा कथा । ते हि प्रमादितया यत्किंचिद्वृत्तवन्तोऽशुभपरिणामं विदधुः । ते तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारुहस्य । मिच्छज्जणे मिथ्यादृष्टिलोके अर्थात् झूरे । सखीभिस्तु संक्षिप्तु शिक्षादायोपदेशानां प्रादुर्गेषु मिथ्यादृष्टिव्यपि उपशान्तेषु इत्यर्थः । सज्जणे स्वज्जने ज्ञातिलोके मिथ्यादृष्टौ । अस्यामवस्थायां मनः मनः पारुष्यमाकर्ण्य सम्यक्त्वाविक्रमिमे गृह्णन्तीति संभावना यथास्ति तथा धर्मं श्रूयामो चेन्मौलमेव कुर्वीदिति सात्पर्यं । तथा वान्ये पठन्ति—

गणितैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ।

कुदृष्टिभिः समं मौनं शान्तैः स्वैश्च विकल्प्यते ॥

भावश्रुतिके अपाय स्थानोंका त्याग करना चाहिये ऐसा आचार्य उत्तर गाथामें कहते हैं.
अर्थ—संछेदना धारण करनेवाले मुनियोंको आचार्यके साथही भाषण करना चाहिये अर्थात् प्रश्नोत्तर रूप भाषण करना चाहिये. अन्य मुनियोंके साथ बहुत कालतक भाषण करना अवकल्याण करनेवाला है. आचार्यके साथ किया हुआ भाषण शुभपरिणामका हेतु होता है. इतर प्रमादी मुनि कुछभी बोलकर संछेदसना धारकके मनमें अनुभूतिपरिणामोंकी उत्पत्ति करा देंगे. कुछ कार्यके लिये इतर साधुओंके साथ अल्प भाषण करना चाहिये. जो मिथ्या दृष्टि है उसके साथ बोलना ही निषिद्ध है. मौन धारण करना ही श्रेयस्कर है. संछेदनाधारक आत्महित करना ही मुख्य

कार्य समझता है. मिथ्यादाष्ट मनुष्योंको हितोपदेशादिक यदि वह करेगा तो उससे उसका कुछ फायदा नहीं है. वह शुभपरिणामोंपर चढ़ा हुआ है. मिथ्याविचारोंको उपदेश देनेसे उसके स्वार्थमें कुछ पोहोचिगी. अतः उसको मिथ्याजीके साथ जोलना निषिद्ध है. जो मिथ्यादाष्ट तो है परंतु मंदकपायी है ऐसे पुरुषके साथ वह जोले अथवा न भी जोले और जो स्वजन है उनके साथ भी वह जोले अथवा न जोले. मिथ्यादाष्ट जिन मंदकपायी होते हैं. तब मंदक पावन शुभकर सम्यग्दर्शन अशुभतादिक धारण करेंगे ऐसी यदि संभावना होगी तो उनके साथ जोलना चाहिए अन्यथा न जोलना ही श्रेयस्कर होगा.

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिद्धिमावहिति सुमपरिणामुत्त उचधिमथुवार्धं सेज्जं ॥

परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता विहरदि विदण्हू ॥ १७५ ॥

कार्याय स्वीकृतां शय्यां विमुच्यचारपंडितः ॥

परिकर्मवर्ती घृते वर्तते देहनिस्पृहः ॥ १७८ ॥

विजयोपमा—सिद्धिमावहिति शुभपरिणामधेनिमावहति । कारणमुक्त किंवित्कारणमुपविदस्य शुभप्रवृत्त, परेषां यः सुतोपदेशः, आकाश्यादिदिश्याद्युत्पादिकः, या परिशुल ध्यवहति । उवार्धं परिश्रमसौवर्ध अतिरिक्तश्रानसयस्योपकरणानि वा । अशुणार्धं परिश्रमदिष्ट । अन्वयेपदं गृह्णति अशुदरा कथेति यथा । कोसलदुपधिरत्त थाह—' सेज्जं सेविज्जदि जदिणा ' इति शुण्णसी वसतिगच्छते, तेन सेज्जं वसति । परिकम्मादिउवहदं यतयोऽयं वसतीति प्रमत्तमन्वलेयमादिपरिकर्मणा उपहृत्त शयोम्य । पंडितस्ता वर्धयित्वा । विहरदि आचरति । विदण्हू क्रमज्ञ ।

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिप्रमयाचष्टे—

मूलस्य — सिद्धिमावहिति शुभपरिणामधेनिमावहति । कारणपरिशुलं कारणेन शुभमहणश्चित्तोपदेशाचार्यैकैयान् वृत्त्यादिमयोत्पन्नेन व्यवहृतं । उवार्धं परिश्रमसौवर्ध, अतिरिक्तपुस्तकादिकं वा । अशुवर्ध सेज्जं वसतिउधुणमोपत्तरिज्जदं । परिकम्मादिउवहदं यतय उपवसन्तीति किममाणेन सम्मानलेपताडिसेकाराणेण अयोम्यं । विहरदि तपश्चरति । विदण्हू क्रमज्ञः ।

शुभपरिणामयुक्त सत्पुरुषका आचरण ॥॥ दिखाते हैं—

अर्थ—शुभ परिणामरूप नसैनीपर चढकर आचरण का क्रम जाननेवाले साधु शास्त्र पढना, दूसरोंको शास्त्रोपदेष्टा देना, आचार्योंका वैवाच्य करना इत्यादि कारणाँके उद्देश्यसे जो परिग्रह संपृहीत किया था अथवा औपघ व तदतिरिक्त क्षानोपकरण और संयमोपकरण संगृहीत किया था उसका त्यागकर विहार करे तथा जो ईश्वरपरिग्रह अर्थात् वसतिकामभी त्याग करे. इसमें यति निवास करेगा इस हेतुसे झाडकर स्वच्छ करना लेपना वगैरह क्रियाओंसे जो दूषित है उस प्रसक्तिकाँसे भी वह मुनि त्याग कर विहार करता है अर्थात् तपश्चरण करता है.

परित्यक्तं च किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिमंमि काले वीरपुरिस्तसोर्वियं परमघोरं ॥

भत्तं परिजाणंतो उवेदि अबमुज्जदविहारं ॥ १७६ ॥

दुस्वरं पश्चिमे काले भक्तत्यागं सिपेविपुः ॥

धीरैर्निपेवितं वाटं चतुरंगे प्रवर्तते ॥ १७९ ॥

इति श्रितिसूत्रम् ॥

पिजयोदया—तो तस्या श्रिते. पच्छिमंमि काले पश्चिमे काले । वीरपुरिस्तसोर्वियं धीरेः पुरुषेराचरितं । परमघोरं भक्तिदुष्कारं । भत्तं परिजाणंतो आहारं परित्यक्तुकामः । उवेदि उपेति । किं गन्धुज्जदविहारं सम्पदशानादिपरिणामादि मुल्ये उपत ॥ सीदी ॥

पर्यपिपक्षित्यनंतरं किं करोतीत्यत्राह—

मूलागः—तो तस्याः । परिजाणंतो परित्यक्तुकामः । आहारं त्यक्तञ्चित्यर्थः । उवेदि आग्रयति । अबमुज्जद-

विहारं रत्नत्रयभिमुख्येनोष्णमापरणं ॥ श्रितिः । सूत्रः ९ । अंकः ६ ॥

श्रितिके अनंतर साधु कोनसी किया करते हैं इसका वर्णन करते हैं.

अर्थ—उस श्रितिके अनंतर अंतकालमें वीरपुरुषोंके द्वारा आचरण किया गया, अतिशय दुष्कर आहार का त्याग करने की इच्छा करनेवाला मुनि सम्पदशानादिपरिणामोंमें उद्युक्त होता है.

कीलगासावभ्युद्यतो विहार इत्यत्राचष्टे—

इत्तिरियं सन्वमणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए ढु ॥

जहिदुण सङ्किलेसेण ॥ १७७ ॥

समप्य्यानुदिदां सर्वं गणं संक्लेसवर्जितः ॥

क्रियंतं कालमात्मानं गणो भावयते तराम् ॥ १८० ॥

पितृयोद्धया—इत्तिरियं कियतः कालस्य । सव्यगणं संयतानां, आर्थिकाणां, धातृकाणां, इतरासां च समितिः । वित्तिरिय दत्त्वा । कथे विधिणा विधिना । कथे सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य सार्धं बहिः स्थित्वा 'एष निरति-
चाररत्नत्रयः आत्मानं शुष्मान्ति समर्थः संसारसागरादुत्तरं' अनुज्ञातव्य मया सूरिरयमिति तत एतदुपदेशानुसारेण
अर्थाङ्गः प्रयत्नितव्य इति । भणुदिसाए ढु भणुपञ्चादये विंशिविधेन गुरोः पञ्चादिकति विधये चरणप्रज्ञे वः लोभिधीयते
भणुदिसायायेन । जहिदुण लब्धया । संक्लेसं संक्लेसं परोपकारसंपन्नभाषासं । भावेइ भावयति । असंक्लेसेण न
क्रियते संज्ञेशोऽस्मिन्नित्यसंज्ञेया । शुभपरिणामस्तेन भावयति यासयति आत्मानं ॥

अथ कीलगासान्भ्युद्यतो विहार इत्यत्र प्रश्ने पंचविधत्या गाथाभिरुत्तरयति ।

मूलारा—इत्तिरियं स्तोफफळं । वित्तिरिय पत्न्या । अणुदिसाए ढु । जहिदुण संक्लेसं भावेदि असंक्लेसेण ।
अनुगुरोः पञ्चादिसाति विधये चरणक्रममिदं यदुद्दिष्टं पलापार्पितस्मै विधिना । सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं
यदि दिधत्वा एष निरतिचाररत्नत्रयसाधारमाणं शुष्मान्ति संसारसागरादुत्तरं समर्थोऽनुज्ञातव्य मया ततः सूरिरयं इति
मन्यमानैरेतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्यमिति समर्थव्यक्रमेण सर्वगणं दत्तेति संबन्धः । तथा चोचं—

आहूय गणं विजिता दत्त्वा प्रतिसूरये नियतकालम् ॥

संदिग्धो त्यक्त्वासाधकृष्टो भावनां मज्जेते ॥

संक्लेसं परोपकारकरणमासं । भावेदि वासयत्यर्थानां सहेस्वनीयत इति शेषः । असंक्लेसेण नास्ति
संक्लेसो वक्ष्यमाणज्ञानादिपथभाषावित्वादियदुक्तिनिमित्तात्परिणामो यस्मिन्तेन शुभपरिणामेन ।

जिसमं सहेस्वनाकी इच्छा करनेवाला उद्युक्त होता है वह विहार कैसा है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—
अर्थ-गुरुके पश्चात् जो शुनि चरित्रका क्रम शुनि और आर्थिकादिकोको कहता है उसको अनुदिश अर्थात्
पलाचार्य कहते हैं. कुछ कालके अनंतर शुनि, आर्थिका, श्रावक और श्राविका ऐसे चतुर्विध संघको बुलाकर

मंथके मध्यमें उसफो विठाकर स्वयं संधके चाहार खटे होकर यह एलाचार्य निरविचारत्नत्रय पालते हैं. निजका और तुम्हारा भी संसारसमुद्रमें उद्धार करनेमें समर्थ हैं. ये अब तुम्हारे आचार्य गुरु हैं ऐसी मेरी सम्मति है. इस लिये इनकी आज्ञाके अनुसार ही आपकी प्रवृत्ति होनी चाहिये इबना बोलकर चतुर्विध संघका भार एलाचार्यके मस्तकपर अर्पण करना चाहिये. तदनंतर दूसरोंके ऊपर उपकार करनेका आयास छोटना चाहिये और शुभपरिणामोंसे अपने आत्माको संस्कृत करना चाहिये.

त्रयकव्यसंक्षेपाभावनाचिह्नस्य स्यात् अथानायासश्चे—

जावंतु केइ संगं उर्दीरया होति रागदोसाणं ॥

ते वडिजतौ जिणवि हु रागं दोसं च निस्संगो ॥ १७८ ॥

कंदर्पदेवखिम्बिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ॥

एव्हा हु संकिलिद्धा पंचविहा भावणा भणिदा ॥ १७९ ॥

कांदर्पी कैल्यपी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी सवा ॥

साम्मोही पंचमी हेया संकिलद्धा भावना धुबम् ॥ १८१ ॥

विजयोदया—कंदर्प इत्यादिना गतिकर्म चतुर्विधं नरकगतिलिप्तिर्वर्गमित्युपगतिर्द्विगतिरित्यत्र द्वेपगतिसंज्ञक-
प्रकारा अमुदैवगतितागदैवगत्याविप्रपञ्चेन । कंदर्पदेवगतेः, किलिपदेवगतेराभियोग्यदेवगतेः, असुरदेवगतेः,
सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूताः आत्मपरिणामाः । कारणेन कार्योपचारोऽप्यभाष्यत्वम् । यथाज्ञं वै प्राणाः इति ।
माणकारणेऽप्ये प्राणोपचारः । कार्यगतेन व्यपदेशेन कंदर्पदादेवोच्यते कंदर्पभावना । किलिपभावना, अभियोय्यभावना,
असुरभावना, सम्मोहभावनाश्चेति पंचप्रकारा भावना निरूपिताः सर्वविविक्ताः ।
अत्रेयं गद्या मूले भूयते ।

मूलादा—एतां टीकाकारो नेच्छति ।

इत्युक्तयसंभवेऽयमावनाचिह्नस्य तादृशेऽप्युदाह—

मूलादा—कंदर्पदेवगति । अत्र कंदर्पीर्द्विगतीनां कारणभूता आत्मपरिणामविशेषाः कंदर्पार्णोद्दिशब्दोर्निधिप्राः ।

कायें कारणोपचारात् । तेन कंदर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना सम्मोहभावना चेति ग्राह्यं । अन्ये तु तद्विनाशियुदेन व्युत्पाद्य ताः षडन्ति यथा—

कन्दर्पी केसिनी येन भावना चामियोग्या ।

दान्दरी चामित्तमोदा त्याज्या पंचवयी च ग्रा ॥

इत्थं वा—कन्दर्पी केसिनी प्राक्षेपभियोग्यासुरी तथा ।

सामोदरी पंचवयी हेत्वा संकिल्ब्या भावना ध्रुवम् ॥

संश्लेषको उत्पन्न करनेवाली भावनाओंके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—जगतमें परिग्रही रागद्वेषादिकोंको उत्पन्न करते हैं इस लिये परिग्रहोंका त्यागकर निःस्पृह होकर रागद्वेषोंको जीतना चाहिये.

गतिकर्मके नरगति, तिर्यग्गति देवगति और मनुष्यगति ऐसे चार भेद हैं. देवगतिके असुरदेवगति, नागदेव गति वगैरह अनेक प्रकार हैं. कंदर्पदेवगति, किल्बिषदेवगति, अभियोग्यदेवगति, असुरदेवगति और सम्मोह देवगति इनके प्रति कारणरूप जो संश्लेष परिणाम उनको भी कंदर्पभावना किल्बिषभावना ऐसे नाम हैं. जब कारण है और प्राण कार्य है इसलिये प्राणके कारण भूत अन्नमें कार्योपचारेसे प्राण व्यवहार होता है वैसे कि त्रिपादि देवगतिकी प्राप्ति कर देनेमें जो संश्लेष परिणाम है, उनमें भी कार्योपचार करके कंदर्पभावना, किल्बिष-भावना इत्यादि नागोंका व्यवहार सज्जन करते हैं.

तत्र कंदर्पभावनातिरूपणयोचरगाथा—

कंदर्पकुमुदाइय चलसीला निचहाराणकहो य ॥

विष्मावित्तो य परं कंदर्पं भावणं कुणइ ॥ १८० ॥

इस्यकांदर्पकोत्कुच्यपरविसयकोविदः ॥

कांदर्पी भावनां दीनो भजते लोलमानसः ॥ १८२ ॥

विजयोद्या—कंदर्पकुण्डमुखाद्यचलसीलो रागोद्रेकान्द्रहासस्यमिथोऽशिष्टवाक्ययोगः कंदर्पः । रागातिशय-
यतो हस्तः परमुद्रिराशिष्टकायप्रयोदः कोटकुर्व्व । एवं भवतो मातरं करोमीति कंदर्पे कौत्सुच्याभ्यां बालसीलः णिच-
वाग्वणकहो य सदा हास्यकथाकथनोद्यतः । विन्माधितो य परं परं विस्मापयन् कुतुकं किञ्चिदुपदर्श । कंदर्पं भावणं कुणादि
रूपं भावनां करोति । रागोद्रेकान्द्रहासमयवर्तितो वाम्योगः काययोगः परविस्मयकारी वा कंदर्पभावेनेत्युच्यते ।
अस्तुतत्पर्यंतमानः ।

तत्र कंदर्पी निर्दिशति—

मूलारा—कंदर्पकुण्डमुखाद्यवयसीलो कंदर्पकुत्सुबाधितद्वयशीलः । रागोद्रेकान्द्रहासमिथोऽशिष्टवाक्ययोगः
कंदर्पः । रागातिशययतो हस्तः परमुद्रिर्यैव तव मातरं करोमि इति अशिष्टकार्यं प्रकुत्सुवायितं । कौत्सुच्यामिति पावन
अव्यक्तकंदर्पस्वरकरासवशिष्टांगकथयन्नालनं वेति केचित् । तद्वृद्धं सीलयति पुनः पुनः प्रवर्तयति । णिचवास्तणकहो सदा
हास्यकथाकथनोद्यतः । विभावितो मंदोद्रेकालादि कुहकप्रदर्शनेन विस्मयं नयन् ।

कंदर्पं भावनानिरूपण—

अर्थ—मीतिकी उत्कटतासे हास्यसहित असम्य वचन बोलना, भंडवचन बोलना वह कंदर्पवचन है.
रागमी आधिपत्यासे—अतिशयरागमय होकर हसकर दुसरोको उद्देश कर शरीरके असम्य अभिनयके साथ
असम्य वचनोच्चार करना यह कौत्सुच्य है, जैसे तेरी माताके साथ मैं बुरा कार्य करूंगा ऐसा वचन बोलना. इन
दो प्रकारके वचनका जो धारधार प्रयोग करते हैं वे चलशील समझना चाहिए. जो मंत्र, इंद्रजालादि कौतुक
दिलाने लोकोको आश्चर्य उत्पन्न करते हैं. जो हमेशा हास्य उत्पन्न हो ऐसी कथायें कहनेमें उद्युक्त रहते हैं. वे
मुनि कंदर्पभावनना करते हैं ऐसा समझना चाहिए.

किरियभावननाख्यानाकाचदे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाट्ठणं ॥

भाइय आवण्णवादी खिन्मिसियं भावणं कुणइ ॥ १८१ ॥

सर्वज्ञशासनज्ञानधर्माचार्यतपस्विनाम् ॥

निंदाधरायणो मापी कैल्विपीं अयत्तेऽधम्मः ॥ १८३ ॥

विजयोदया—आणस्स इत्यादिकं । भाई अचण्णवादी इत्येताभ्यां प्रत्येकं संबन्धीयम् । द्वात्मिदं धृतं परि-
ग्रहीतं धृतज्ञानविषया नाया यस्य शिष्यते स ज्ञानसंबन्धी मायावान् । ज्ञानभक्तिरहितो मास्त्रविनयवृत्तिः । केवलिणं केवलि-
व्यावरयनिदं यो पतते । तदर्थनयां तु मनसा तु न रोचते । स केवलिना मायावान् । धर्मधारिणं तत्र मायाया
प्रभुत्वं । आचार्याणां साधूनां च पंचकम् । तस्मिन्समाचरण किलिबपभावना । कुण्ड करोति ।

मूलारा—आणस्स धृतज्ञानस्व, यम्मस्स पारितस्व । भाई ज्ञानादिसंबन्धित्वेन मायायाव । तत्र धृतज्ञानम्-
निष्ठरहितं सूत्राहाविनयवृत्तिवच्च ज्ञानमायी । यथा केवलिध्वारदरवानिव यो बतते सत्त्वज्ञायां मनसा तु न तां रोचते अस्मौ
केवलिमायी । चारिनामुद्वानेषु धास्यवृत्त्या सुवरा वतते मनसा तु एणायापि न मन्यते योऽसौ धर्ममायी । आचार्यादीनां
पंचकत्वं तन्मायी । अचण्णवादी धृतज्ञानादितु असद्व्यवहारोपेन्द्रावकः ।

किलिबप भावनाका वर्णन —

अर्थ—धृतज्ञानमें कपट करनेवाला अर्थात् ज्ञानमें जिसको श्रेय नहीं है परन्तु ऊपरसे विनय करनेवाला
यह ज्ञानविषयक मायावी है, केवलीओंके ऊपर मानो आदर दिखानेवाला परन्तु मनमें उनकी पूजा करना जिस-
को पसंद नहीं है, इसलिये उसको केवलिविषयक मायावी कहते हैं, चारित्र को घमं कहते हैं इस धर्मकी में
अतिशय भक्ति कर रहा है, उसका आचरण मनसे करता है ऐसा लोगोंको दिखता है परंतु अन्तरंगमें यह चरित्रको
विनयके बराबरीका भी मानने को तैयार रहता नहीं वह धर्ममायावी है, आचार्य, उपस्थाय और साधुपरमेष्ठी
को कसानेवाला उनमें दोष न होते हुये भी उनका आरोपण करनेवाला उसको आचार्यदिभायावी और अर्घ
वादी कहते हैं, ऐसे अशुभविचारों से मुनि किलिबप जातिके देवोंमें जन्म लेते हैं, ये देव इंद्रकी सभामें जा नहीं
सकते हैं, इनको पाहल ही रहना पड़ता है,

अभियोग्यभावना निरूपयत्युक्तमगत्या—

मंताभिधोगकोदुग्धभृदीयम् पंडजदे जो हु ॥

इद्विरससावहेदुं अभिजोगं भावणं कुण्ड ॥ १८२ ॥

मंत्रकौतुकतात्पर्यधृतिकर्मौपचादिकम् ॥

कुर्वणो गौरवाचार्थमाभियोगीमुपैति ताम् ॥ १८४ ॥

विजयोदया—मंत्राभियोगको दुःखपूर्वकम्—मंत्राभियोगकिया, कुण्डलोपदर्शनकिया, याहादीनां रक्षार्थं भूते कर्म च । पुण्ड्रदे करोति यः । अभियोग्यं भावणं कुण्ड । अभियोग्यां भावणं करोति । किं सर्व एव मंत्राभियोगादी प्रवृत्तौ नैस्साह । इष्टिरस्सत्सद्देवदुं मंताभियोगको दुःखपूर्वकम् जो पंड्रदे सो अभियोगभावणं कुण्ड ॥ इन्द्रजालभस्य, मृदाग्रतल्य, सुखस्य वा हेतुं मंत्राभियोगकर्म प्रयुक्तं यः स एव अभियोग्यभावनां करोति । नूनं यः स्वस्य परस्य वा आधारविपरितानार्थं मंत्राभियोगं कुर्वन्, धर्मप्रभावनायं कौतुकं उपदर्शयन्, वैवाच्यत्वं वा प्रवर्तयामीति उच्यते, ज्ञानदर्शनं चारित्र्यपरिणामादस्त्वर्तनम् बुध्यतीति भावः ।

आभियोगं लक्षयति—

मूलार—मंत्राभियोगं कुमार्योदिपात्रे मूलवेलेकरणं । कोटुग अकालवृष्ट्यादिकौ दुःखलोपदर्शनं, यक्षीकरणविकं या । भूरीकर्मं घालादीनां रक्षार्थं भूतिकर्मं भूतिक्रीदनकर्म वा । इष्टिरस्सत्सद्देवदुं इन्द्रजालभस्यहासरसुखनिमित्तं । न पुनरपुनरादिपरिज्ञानधर्मप्रभावनावैवाच्यार्थं मंत्राभियोगं कुर्वन् रत्नत्रयादस्त्वचया बुध्यतीति भावः ॥

आभियोग्य भावना का वर्णन—

अर्थ—कुमारी वगैरहमें भूतका आवेश उत्पन्न करना, अकालमें जलवृष्टि करके दिखाना ऐसे ही आध्वर्य्य कारक प्रयोग करना जैसे अमावास्याके दिन आकाश में लोगों को चंद्र दिखाना इत्यादि, किसी स्त्री या पुरुषको पशु करना, उच्चाटन करना इत्यादि, घालकादिकोंका रक्षण करने के लिये भूतिकर्म मंत्रप्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीड़ा दिखाना ये सब क्रियायें यदि अपना ऐश्वर्य दिखानेके लिये, अथवा संपदा विखानेके लिये, मिष्टाहारके लिये, किंवा इष्टियं जलित सुखके लिये यदि भुनि करेगा तो उसकी यह अभि योग्य भावना कही जायगी. इस भावना के प्रभाव से जीवका जन्मवाहन जाती के देवोंमें हो जाता है. यदि कोई भुनि निजकी अथवा दूसरों की आयु वगैरे जाननेके लिये मंत्रप्रयोग करेगा, धर्मप्रभावनाके लिये यदि वह कीतुककारक अकाल वृष्ट्यादिक दिखानेगा अथवा इन मंत्रादिकोंसे मैं धुनिका वेयावृत्त्य करूंगा ऐसा अभिप्राय मनमें धारण कर यदि वह कीतुकादि करेगा तो दर्शन, ज्ञान चारित्र्य परिणामोंमें आदरसे प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे दूष्णीय नहीं है.

अणुबन्धरोसविग्रहसंसत्तवो निमित्तपडिसेवी ॥

निष्क्रियणिरणुतावी आसुरिवं भावणं कुणदि ॥ १८३ ॥

निष्कृपो निरनुक्रोशः प्रवृत्तकोषविग्रहः ॥

निमित्तसेवको धत्ते भावनामासुरीं यतिः ॥ १८५ ॥

विजयोव्या-अनुबन्धरोसविग्रहसंसत्तवो निमित्तपडिसेवी । रोपश्च विग्रहरोपविग्रहो अनुबन्धेन रोपविग्रहो अनुबन्ध-
रोपविग्रहौ अनुबन्धरोपविग्रहाभ्यां संसक्तं संबद्धं अनुबन्धरोपविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तपोक्तः । निमित्तानीवी न यः स
आसुरीभावनां करोति इति कोटिरुक्तयन्ति । अनुबन्धो भवोत्तराणुतावी रोपो यस्य सोऽनुबन्धरोपः । विग्रहेण कलहेन संसक्तं
तपो यस्य सः विग्रहसंसक्ततपःशब्देन भण्यते । अनुबन्धौ रोपविग्रहौ अस्मैरनुबन्धरोपविग्रहः । सम्यगतीवसंसक्तं संबद्धं
परिग्रहेण तपो यस्य स संसक्ततपोऽभिलाषयाक्यः । निष्क्रियणिरणुतावी यः निर्देयः प्राणिषु, कृत्यायि परपीडां अनुताप-
दहितकामसुखी भावनां करोति ।

आसुरी व्याहरति—

मूलार्थ — अणुबन्धरोसविग्रहसंसक्तवो निमित्तपडिसेवी निष्क्रियणिरणुतावी आसुरियं । अनुबन्धरोपविग्रहान्यां
नित्यप्रवृत्तकोषकलदाभ्यां संसक्तं संयुक्तं तपो यस्य स तपामूलतयाः । अथवा अनुबन्धरोपो भवोत्तराणुतावी क्रोशः ।
विग्रहसंयुक्ततपाः कलहसंयुक्ततपाः । यदि वा अनुबन्धरोपविग्रहस्यासौ संसक्ततपाश्चेति भावं । संसक्तं सम्यगतीव
सत्तं परिग्रहेण संबद्धं तपो यत्नेति विग्रहः । निमित्तपडिसेवी । ज्योतिषायाजीवी । निष्क्रिय निर्देयः । निराणुतावी कृत्यायि
परपीडां पश्चात्तापमकुर्वन् ।

चतुर्थ भावना—आसुरी भावनाका वर्णन—

अर्थ—जिसका कोप अन्य प्रबल भी ममन करनेवाला है और कलह करना जिसका स्वभाव भन
गया है वह मुनि रोप और कलहके साथ ही तप करता है ऐसे तपसे उसको असुरगतिकी प्राप्ति होती है, जिसका
तप परिग्रहके साथ रहता है अर्थात् तप करता हुआ भी परिग्रहोपर जिसका मोह रहता है, जो निर्देय स्वभावी है,
प्राणीओंको दुःख देकर भी जिसके अन्तःकरणमें पश्चात्ताप उत्पन्न होता नहीं है ऐसा साधु असुरगतिमें उत्पन्न
होता है, ज्योतिष, सायुदिक वगैरे कहकर जो मुनि आहारादिककी प्राप्ति कर लेता है वह असुरगतीको जाता है,

संमोहभावना निकृष्यते—

उन्मगदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य ॥

मोहेण य मोहितो समोहं भावणं कुणइ ॥ १८४ ॥

उन्मार्गवेशको मार्गदूषको मार्गनाशकः ॥

मोहेन मोदयंश्लोकं साम्मोही तां प्रपद्यते ॥ १८६ ॥

विप्रयोदया—उन्मगदेसणं मिथ्यादर्शनं, अविरतिं, वा य उपदिशति, ज्ञाताभासानामगमंस्तद्वर्णीतांश्च हितत्वे-
नाच्छेद । यो या तत्त्वयो द्विमादिकं कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते । ज्ञानं हि सर्वं पापं दहति इति प्रतिपाद्यता हिंसादिभ्यो
भ्रष्टं निराकुर्यन्ता हिंसादिषु जीवाः प्रयतिंता भवन्ति । स एकः उन्मार्गव्योपदेशः । यस्मै श्रान्तिवधो न पापाय शालव्योदि-
तरयादानादियत् । किं च पशोचो हि यागार्थमेवास्त्रीं वृथा याजका यजमानाः पशुव्यस्य भद्रमाह्वारव्यात्मनो लभन्ते इति ।
अयमेकः उन्मार्गोपदेशः । मग्गदूसणो संपरस्य निर्जेसयाश्च निर्वेशेषकप्रतिपक्ष्य वा हेतुयूताः समीचीनज्ञानवर्धनपरिणामा
मार्गं इति उच्यते । अथवायचकुपस्य परंपराकारणत्याघ । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनवार्ति-
शाम्भ्यां ? चारित्र्यभेयोपायः किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रत्यासनपरं धृतं मार्गस्तस्य दूषको
यो अपराधव्यवहारी । मग्गविप्पडिवणी य मार्गे राजप्रवात्मके विप्रतिपन्नः एव न मुक्तेमार्गं इति यस्तद्विरुद्धाचरणः ।
मोहेण य भ्रष्टानेन च संशयविपर्ययात्करणेन । मुञ्चन्तो मुञ्चन् । सम्मोहेषु तीव्रकामरागेषु क्रुस्तिषु देवेषु उपपद्यते ।

संमोहीनाह—

मूळारा—उन्मगदेसणा मिथ्यात्वसंयमोपदेशाः । मग्गणदूसणा मार्गस्य रत्नत्रयस्य दूषणा । ज्ञानादेव मोक्षः किं
दर्शनपरिग्राम्या ? चारित्र्यभेद मोक्षः किं ज्ञानेनेत्यादि विरुद्धमापणं । अथवा मार्गप्रत्यासनपरं धृतं मार्गस्तस्य दूषणमप
व्यासयानमिति दाह्यम् । णाणदूसणेति षोडशवि इयं व्याख्या, उन्मार्गं देशनायोगातिरपि यथोक्त एवं मार्गदूषणयोगोच्च
अथवा उन्मगदेसणो मग्गदूसणो इति षोडशः । मग्गविप्पडिवधो रत्नत्रयविप्रतिपन्नः । एव न मुक्तेमार्गं इति तद्विरुद्धचरणः ॥
मोहेण संशयविपर्ययरूपेणाज्ञानेन ।

सम्मोह भावनाका निरूपण—

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन और अविरतिका उपदेश करता है, हरिहरादिक और उनसे बनाये हुए कुदास
ये प्राणिओंको हितमार्ग दिखाते हैं ऐसा जो कहता है, तत्तत्तत्त पुरुष हिंसादिक कार्य करनेसे भी पापसे लिप्त

नहीं होता है. उसको पापसे दुर्गति की प्राप्ति होती नहीं है. क्योंकि उसका ज्ञान समस्त पापको नष्ट करता है. इस रीतीका विवेचन करके जो हिंसादि पापोंसे निर्भीक बना कर उसमें प्रवृत्त करता है वह सम्मोहभावना भाता है ऐसा समझना चाहिये. यह एक उन्मार्गका उपदेशक है. और भी उन्मार्ग उपदेशका विवेचन करते हैं— शास्त्रमें आधारादिक दान पात्रको देना चाहिये ऐसा उपदेश है, वह दान जैसे पापका कारण नहीं है वैसे यज्ञमें प्राणिओंकी हिंसा करनेपर भी वह पापके लिये नहीं है. क्यों कि शास्त्रमें प्राणिओंका यज्ञ करनेका विधान है. यज्ञके लिये पशु ब्रह्मदेवने उत्पन्न किये हैं. यज्ञ करनेवाला, यज्ञ करानेवाला और पशु ये सब मंत्रोंके माहात्म्यसे स्वर्ग को जाते हैं यह भी उन्मार्गोपदेश है. ऐसे उपदेशसे सम्मोही देवोंमें जन्म मिलता है. संवर, निर्जरा व संपूर्ण फलोंका नाश करनेके लिये आत्मके सम्पत्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और चारित्र्य श्रमण हैं. इनको आचार्य मार्ग कहते हैं. इन मार्गमें परंपरामे अद्यावध-अर्थोत् दुःख रहित अनंत सुख मिलता है. परंतु ऐसे सच्चे मार्गको जो दूषण लगता है वह मार्गदूषक है. रत्नव्यात्मक मोक्षमार्ग जो मनुष्योंको दिखाता है वह श्रुतज्ञान मार्ग है. उस मार्गरूप श्रुतज्ञानमें जो दूषण लगाता है अर्थात् उसकी विरुद्ध व्याख्या करता है. वह जीव सम्मोही देवोंमें उत्पन्न होता है. रत्नव्याप्ती शुक्तिका मार्ग है परंतु उसके विरुद्ध जो व्याख्यान करता है तथा संशय, विपर्यय व अन्यव्यवसायारम्भक ज्ञानसे जो पदार्थके सच्चे स्वरूपको पहचानता नहीं है. वह मोहित होकर जिनमें कामविकार और रागभावकी बीमरा है ऐसे कुत्सित देवोंमें उत्पन्न होता है.

भाष्यकर्ता फलं दर्शयति भयोपजनाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गादिं लहइ ॥

तचो चुद्रो समाणो भमिहिदि भवसागरमृणंतं ॥ १८५ ॥

रत्नत्रयं विराध्याभिर्भावनाभिर्देवं शतः ॥

भीषणे भवकांतारे चिरं चंद्रमयते च्युतः ॥ १८७ ॥

दिनयोदया—एदाहिं भावणाहिं य यताभिः भावनाभिः । देवदुग्गादे लहति देवेषु दुग्गा या गतिस्तां गच्छति । विराधो रत्नत्रयच्युतः । तचो चुद्रो समाणो तस्या देवदुग्गादेच्युतः सत्त्व । भमिहिदि अभिष्यति भयसागरमृततीतं ।

कंदर्पोद्दिवायनाना स्वरूपं निरूप्य संवेगोत्पादनाय तत्फलं श्लक्ष्ण्यति—

मूलारा—रिराभगो रत्नजच्च्युतः । सभाणो समानः सन् ।

भय उत्पन्न होवे इस वास्ते इन भावनाओंका फल दिखाते हैं—

अर्थ—इन भावनाओंसे मुनि रत्नजयसे भ्रष्ट होकर देवोंमें जो कुपति हैं उनको प्राप्त होते हैं, उन देवदुर्गतिसे भी च्युत होकर अनंत भवसागरमें वे भ्रमण करेंगे, तात्पर्य—कांदर्पी वगैरह भावनाओंसे कुदेवपना और अनंत मंमारमें भ्रमण प्राप्त होता है।

एदाओ पंच वज्रजय इणमो छट्ठीए बिहरदे धीरो ॥

पंचसमिद्धो त्रिगुत्तो णिस्संगो सत्त्वसंगेसु ॥ १८६ ॥

पंचेति भावनास्वरूपा संकिलष्टः समितो यतिः ॥

पट्ठ्यां प्रवर्तते गुप्तः संविभ्राः संगवर्जितः ॥ १८८ ॥

चित्तयोद्धया—एदाओ पंच वज्रजय पताः पंच भावनाः परित्यज्य । इणमो अयं यति, धीर- । छट्ठीए परत्तया भावनया । बिहरदे प्रवर्तते । पट्ठ्यां भावनायां प्रवर्तितुं पंचभूतो योग्यः इत्याचष्टे—पंचसमिद्धो सवित्तिपंचरुत्तिः । त्रिगुत्तो गुप्तिप्रयालंकृतः । णिस्संगो संगरहितः । सत्त्वसंगेसु सर्वपरिग्रहेषु ॥

ताः पंच कृत्वा पट्ठ्या याहक् प्रवर्तते तामाचष्टे—

मूलारा—इणमो अयं यतिः । छट्ठीए, पट्ठ्या असंछिद्रभावनया । बिहरदे प्रवर्तते । णिस्संगो आसक्किदुक्क ।

अर्थ—इन पांच भावनाओंका त्यागकर जो धीर गुनि पांच समिति और तीन गुप्तिओंका पालन-रू संपूर्ण परियहोने निःस्पृह रहते हैं वेही छट्ठी भावनाके आश्रयसे रत्नजयमें प्रवृत्त होते हैं,

ता सा गट्ठीमायत्ता ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदुसत्ताभावणेगत्तभावणे चैव ॥

भित्तिवलविभावणानिय असंक्किल्लिहानि पंचविहा ॥ १८७ ॥

विजयोदया—तपसायणा तपसोऽभ्यसः । सुदृढभावाणां ज्ञानस्य भावना । सत्त्वभावणा अभीक्ष्यभाषना । एगन्तभाषणा एकत्वभाषना । भिदिबलदिनाविणाति य धृतिबलभावाणां चेति । असंक्लिष्टावि पंचविधा असंक्लिष्टा भावनाः पंचमकारः । ननु च ताम् पंचभाषनासात्र किमुच्यते 'छद्मी य सावना चेति' असंक्लिष्टभाषनात्यसामान्योपेक्षया एकतामारोप्य पशुमुच्यते । विशेषरूपेक्षया तपोभावनादिविवेकः । अत एव सूत्रकारोऽपि एकतां दर्शयति 'भ्रमंक्लिष्टा वि पंचविदा' इति ।

असंक्लिष्टभावनाविकल्पानुदिति—

मूलारा—सत्त्व अभीक्ष्यं । भिदिबलदिनाभाषणा । धृतिः परमप्रसत्तिस्तस्या भावनाभ्यसः ।

छद्मी भावनाका दर्पनं करोते—

अर्थ—तपसा अभ्यास करना, ज्ञानका अभ्यास करना, निर्मयपनाका अभ्यास करना. मैं अकेलाही हूँ ऐसा एकपतेना अभ्यास करना और धृतिबल भावना ऐसी पांच असंक्लिष्ट भावनाये हैं. इस भाषामें पांच भाषनाओंका उल्लेख किया है तथापि छद्मी भावनासे वीर मुनि रत्नत्रयमें विद्वार करते हैं ऐसा ऊपरकी भाषामें कहा है ॥ निरुद्ध दीवता है. उत्तर—इन पांचों भावनाओंमें असंक्लिष्टपना है इस असंक्लिष्टत्व सामान्यकी अपेक्षासे इन पांचों भावनाओंमें एकपताको आरोपित कर संक्लिष्ट पांच भावनाओं की अपेक्षासे यह भिन्न होनेसे इसको सामान्यतया छद्मी भाषना ऐसा भाषामें कहा है. विशेषताकी अपेक्षासे तपोभावना, धृतभावना वगैरे पांच भावनाये आचार्यने कही है. अतःविरोध नहीं है.

तपोभावनासमाधेः कथमुपाय इत्यत्राक्षेपे—

तवभावणाए पंचेदियाणि दंतानि तस्स वसमेति ॥

इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणह ॥ १८८ ॥

दंतान्यक्षाणि गच्छन्ति तपोभावनया नशं ॥

विधानेनेन्द्रियाचार्यः समाधौने प्रवर्तते ॥ १९० ॥

विज्ञयोदया—तत्त्वज्ञानतया तपोभावना । असंछिन्नान्त्यागेन प्रत्यक्षस्वरूपेण । पंचदियाणि पंचाणि रंद्रियाणि । तत्त्व तपोभावनारतस्य । यत्समेति यद्यमुपयाति । यतोऽस्यात् इत्यादि श्रुतानि निश्चिदीतवर्षाणि । इन्द्रिययोगापरिजो रंद्रियाणां शिक्षाविधाव्यावर्तयोऽसौ समाधिकरणाणि रत्नत्रयसमाधानक्रियाः । सो सः कुण्ड करोति । पञ्चदुक् भवति । श्रुतानि रंद्रियाणि तपस्तप न कामपयस्यन्यवति । क्षुधादिभिरपद्रुतात्मा न चामलोचनासुरतकीडादो करोत्यावृमिति प्रतीतमेव । ननु चानशनदो प्रदूतसाह्यदशेने तदालोच्यते तदासेवायां चावरो जितांतं प्रवर्तते ततोऽपुनमुच्यते तपोभावना दांतानां रंद्रियाणीति । रंद्रियविषयप्राप्त्यर्थे तपोभावनानां कर्मस्त्रिवहेतुतया अद्वित्यप्रकारानपरिज्ञानपुर शरतपोभावनया विषयसुखरित्तिनागतमेवेन अनशनानि दांतानि भवति रंद्रियाणि । पुनः पुनः सेव्यमानं विषयसुखे सांगे जनयति । न भावनांतपस्वाह्वैतमिति मन्यते ।

तपोभावनां कार्यं समान्यमित्याह—

मूढारो — तर्कभोग्याय असंछिन्नान्त्यागेन । इतानि निमृदीतर्पणाणि । तत्त्व तपोभावनारतस्य यत्सः । वसमेति वदं यन्ति । रंद्रियजोनांत्येजो रंद्रियशिक्षाविधायी आचार्यः । संपादिकरणाणि रत्नत्रयसमाधानार्थः क्रियाः ।

आसनमगनागामप्रत्याहारपारणाय्यात्मलक्षणाः । सो तपोभावनाशतवशीभूतेन्द्रियाः । अथवा तपोभावनया साधोः पंचदियाणि श्रुतानि सति यद्वानायाति । स त्रिसिद्ध रंद्रिययोग्याचार्यो मनश्च समाधिकरणाति करोति ॥

तपोभावना समधीका उपाय केली होती है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—वारंवार आहारका त्याग करनेसे तपोभावनामें तत्पर रहनेवाले साधुकी पांचो रंद्रियां बग़ हो जाती हैं, चार प्रकारका आहार छोड़ना यह द्रव्यतपभावना, है और चह आहार छोड़नेका जो मनःसंकल्प चह भावतपोभावना है, इस दो प्रकारकी तपोभावनासे रंद्रियोंका भद नष्ट होता है, तदनंतर वे आराध, रुके बग़ होती हैं, रंद्रियोंको शिक्षा देनेवाला आचार्य अर्थात् साधु रत्नत्रयमें जिनसे स्थिरता होती है, ऐसी क्रिया करता है, मायार्थ यह है कि, जब तपश्चरन्ते रंद्रियोंका दमन होता है तब मनमें काम विकार उत्पन्न नहीं होता है, धुमा, प्यास इत्यादिते पीडित पुरुषके मनमें खींचे साथ सुखलब्धीदा करना, आलिंगन देना वगैरह क्रियाओंमें आदर नहीं रहता है, चह वात सुप्रसिद्ध ही है,

उंका—उपभासादि तपोमें प्रवृत्त हुए पुरुषको आहारके दर्शनसे दर्शनसे और उत्तकी कथा सुननेसे, उत्तको

उत्तर--इंद्रियोंके इष्टानिष्ट स्पर्शादि विषयोंपर आत्मा रागी और द्वेषी बन होता है तब उसके रागद्वेष परिणाम कर्मागमनके लिये हेतु बनते हैं, ये राग जीवका अहित करते हैं ऐसा सम्यग्ज्ञान ज्ञेयको बतलाता है, मग्नराजानयुक्त तपोभावनता जो कि विषयसुखोंका परित्यागरूप और अनशानादिरूप है इंद्रियोंका दमन करती है, पुनः विषयसुखका भेदन करनेसे रागभाव उत्पन्न होता है परंतु तपोभावनासे जन आत्मा संस्कृत होता है तब इंद्रियां निषयमुखले तरफ दीदती नहीं है,

तपोभावनारहितस्य दोषभाष्ये उच्छ्रयश्चेत् सत्प्रदान्तोपन्यासेन—

इंद्रियसुहृत्साउल्लओ घोरपरीसहपराजिनियपरस्सो ॥

अकवपरियस्म कीवो मुग्गझदि आराहणाकाले ॥ १८९ ॥

इंद्रियार्थसुगमासक्तं परीपहपरजित्तः ॥

जीवोऽकृतक्रियः फल्लोयो मुणत्पाराधनाविधौ ॥ १९१ ॥

विजयोपपत्त्या—इन्द्रियसुहृत्साउल्लओ इंद्रियसुहृत्साउल्लपदो । घोरपरीसहपराजिनिय परस्सो घोरैः तु सह, भुक्तादिभि परानितोऽभिपूतः सत् य. परादमुपता गतो रजयस्य । अकवपरियस्म कीवो अहतं परिकर्म्म तपभाराधनाया देवाती धनपरिकर्म्म । कीवो रीन । मुग्गझ मुशति विचिक्ताममोति । आराहणाकाले आराधनाया काले ।

तपोभावनारहितस्य गार्वाक्ष्यकेन सत्प्रदान्तोपन्यासेन दोषभाष्ये—

मूढारा—साट्टओ र्वादत्तं पटः । पराद्वय पराजित्त । परस्सो पराद्वयुलो रत्नत्रयस्य । अकवपरियस्म न कृतं परिकर्म्म आराधनागोचर्यं नवो येन । कीवो कीवो रीन इत्यर्थः । मुक्कादि निमित्ततां यामि ।

तपोभावनता विगमो नहीं है उस पुरुषमें दोष उत्पन्न होते हैं, इस निषयका सुलासा दृष्टान्त देकर आगाय करते हैं,

अर्थ—जो पुरुष अर्थात् युनि इंद्रियसुराओंका आस्वादन करनेमें लंपट हुआ है, दुःसह भूल तद्धान वगेरह परिपहंति जो पीडित हुआ है, अतः जो रत्नत्रयमें पराद्वयुर हुआ है जो आराधनाका रक्षण करनेमें ऐसे तपको छोड़ चला है वह युनि रीन दोस्त आराधनाके कालमें भीद्वयुक्त होता है, समाविमरण यह आराधनाका अन्तिम

लक्ष है. परंतु जिसने तपश्चरण किया नहीं, जो इंद्रियसुखमें निगमन हुआ वह तत्त्वज्ञसे अट हो कर समाधिमरणसे च्युत होता है.

अथ इष्टान्तमाह—

जोगमकारिञ्चतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं ॥

रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥ १९० ॥

लालितः सर्वदा सौख्यैरकारितपरिक्रियः ॥

कार्यकारी यथा नाभ्यो बाध्यमानो रणांगणो ॥ १९२ ॥

विजयोदया—जोगमकारिञ्चतो वाष्पचालनध्वमणलंपनादिषां शिक्षां अकार्यमाणः । अस्सो अम्भः । सुहलालिओ सुगलालितः । चिरं काले रणभूमीए युद्धभूमी । वाहिज्जमाणो बाध्यमानः । जह ण कज्जयरो यथा कार्यं न करोति तथा पतिरपि ॥

गूढारा—जोगं धावनध्वमणलंपनादिषां शिक्षां । केवं माथाजयं सुगमम् ।

इमं विषयमे दृष्टान्तं कइते हैं—

अर्थ—जैसे शब्दोंका अभिप्राय ध्यानमें रखना, चलती, वेगसे घुमाना, रुदना वगैरह कृत्योंका अभ्यास जिनमें कराया गया नहीं है, जिसको सुखसे घुट किया है, ऐसे अभ्यक्तों बहुत फाल व्यतीत होनेपर युद्धभूमीमें ले जानेपर यह कार्य नहीं करता है. शत्रुको जीवनेमें अपने स्वामीको सहायता देना दूर ही रही परंतु भयसे भाग जा कर मालिकका काम बिगाड देता है कैसे यति भी—

सुगमतपस व्यस्तपस्यते आकाशमग्ने—सर्वभावेषा ।

पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ॥

ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्भुहो जीवो ॥ १९१ ॥

जोगमकारिञ्चतो अस्सो दुहभाविवो चिरं कालं ॥

रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १९२ ॥

पुत्रं कारिद्विजोगो समाधिकामो तद्वा मरणकाले ॥
होदि तु परीसहसहो विसयसुहृपरम्भो जीवो ॥ १९३ ॥

अकारिततपोयोगयधिरं विषयमृच्छितः ॥

न जीवो मृत्युकालेऽस्ति परीपहसहस्तथा ॥ १९३ ॥

विषयपितः क्रियां योग्यां सर्वदा दुःस्ववासितः ॥

याहमानो यथा बालो कार्यकारी रणक्षितौ ॥ १९४ ॥

विषयपितस्तपो योग्यं हृषीकार्यपराहमुखः ॥

आयत्ते मृत्युकालेऽग्नी परीपहसहस्तथा ॥ १९५ ॥

अर्थ—यदि पूर्व कालमें तपधरण नहीं किया होय तो मरणकालमें समाधिकी इच्छा करता हुआ भी परीपक्षोंको सहन नहीं करता है अतः वह विषयसुखमें आसक्त हो जाता है, जिससे भ्रमण करना, उल्लंघन करना खतरा कार्योका अभ्यास कराया गया है तथा जिसको धुषा, दुषा, शीत, उष्ण इत्यादि दुःखोंका चिरकालतक अभ्यास कराया है, ऐसा अध रणभूमीमें है ज्ञानेपर वह स्वामीके शत्रुको जीतनेका कार्य करता है, यतिने भी पूर्व कालमें यदि तप किया हो तो परीपक्षोंको सहन कर समाधिकी इच्छा करनेवाला होकर मरणकालमें विषयसुखमें वह मूर्ख-आसक्त नहीं होता है.

धृतमावातम्यं प्रकटयति—

धृतमावातम्यं प्रकटयति—

तौ त्वओगपइणा सुहमचविदो समाणेइ ॥ १९६ ॥

यतुंगपरीणामधृतभावमया परः

निद्रयक्षिपः प्रतिज्ञातं स्वं निर्वोदयते ततः ॥ १९६ ॥

विजयोऽस्या—धृतमावातम्यं प्रकटयति—
विषयभावनासहानुपतिः । धृतते इति धृतमित्यस्यं व्युत्पत्तौ सम्प्रयुक्तमुच्यते । तस्य भावना नाम तत्त्वये
विषयभावनासहानुपतिः । ननु शब्दधृतस्यासकृत्फलं धृतमागमना स्मात्, धृतं ततोऽप्यान्तरं ? अत्रोच्यते—धृतकार्ये धृतने

श्रुतशास्त्रो वर्तते इति न दोषो वा । गच्छतीति गोरिति व्युत्पत्तावपि प्राग्भावे गोशब्दो वर्तते । किंतु रूढिवशात्साक्षादित्येव । एवमिदं पश्यते इति व्युत्पादितोऽपि न सन्देहो योत्रोपलब्धये कचमसंदेहं प्रवर्तते, अपि तु स्वसमाय रूढिवशाद्वाच्योपरचिते एव । तथैव श्रुतप्रामाण्यरूपश्रवणमिति सङ्कोचो न प्रवर्तते । तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । प्राणं देहसंज्ञावत्संज्ञं च परिणामात् समीचीनज्ञानदर्शनतप संयमपरिणतिः प्रतिपद्यते । ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ शब्दमादौ परिणामांतरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोधपरिणतो भावायां प्रवृत्तो कथमसंयतता ? तस्माच्च तौ स्तः । कथमिदं सूत्रं ? तस्मिन्सति तद्व्यत्यये तदधिकरणे यथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं । ज्ञानं चातरेण न भवति सम्यक्दर्शनवदयः । जनेदं चोच्यं अस्मत्तत्त्वम्यगदृष्टिस्तं ज्ञानं तस्य तपःसंयमो किमुत स्तः ? संयमस्तद्व्यतिथि कथमसंयतता ? तस्माच्च तौ स्तः । कथमिदं सूत्रं ? नारायणस्य सूत्रस्यागौ ज्ञानभावनायां सत्यां भवत्येव सर्वं यत् इति, किंतु ज्ञानभावनायां सत्यामेव भवति नासत्याम् । तपः संयमो भाव्यत्वेन स्थितौ चारित्र्यमोहद्वयोपशमापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्तते, न चावश्यं कारणानि कार्यवन्ति । धूमजनयतोऽप्यग्नेर्वैशनात् काष्ठादप्येहस्य । तौ ततः ज्ञानथापयन्तः । उच्यतेऽतएव तपःसंयमपरिणामप्रबंधे प्रवर्तया व्यात्मानं इति या उपयोगमतिज्ञा तां । सुखं अक्लेशेन । समाणेति समापयति । अत्राविदो अवहितः ॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—उच्यतेऽतएव तपःसंयमपरिणामं ज्ञानातिप्रवृत्ते प्रवर्तयाम्यात्मानं इत्यर्थाकारम् । अत्राविदो अवहितः । समाणेति समापयति ।

श्रुतज्ञानभावनायां माहात्म्यं प्रकट करोते है—

अर्थ—‘धृयेते इति कुतं’ जो सुना जाता है उसको श्रुत कहते हैं, यदि यह श्रुत शब्दका अर्थ मानो तो शब्दोंकी श्रुत मानना चाहिये, इस श्रुतकी भावना करना अर्थात् शब्दका जो अर्थ तद्विषयक ज्ञानम प्राप्त कर फलना श्रुतभावना है, अर्थात् शब्द सुनकर उसके अर्थका जो वाच्य ज्ञान होना वह श्रुतभावना है, शंका-शब्दश्रुतको बार बार पढ़ना वह श्रुतभावना है, ज्ञान तो इससे भिन्न है ? उच्यते—श्रुत जो शब्द उसका कार्यरूप जो ज्ञान उसमें भी श्रुतशब्दकी प्रवृत्ति है, शब्दको भी श्रुत कहते हैं और उससे होनेवाले कार्यरूप ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं, अतः इसमें कुछ विरोध नहीं है, “गच्छतीति गौः” इस व्युत्पत्तीसे बना हुआ भी गो शब्द अर्थात् रूपा वाचक होता नहीं, परंतु रूपासे सास्त्रादियान् जो वाच्य उसका ही वाचक होता है, वैसे यहां भी “श्रुते इति श्रुतं” इस प्रकारसे व्युत्पन्न किया गया शब्द कानसे सुनेगये समस्त शब्दोंमें प्रवृत्त होता नहीं है, परंतु स्वस्ति-ज्ञान की स्वीकी अपेक्षासे यग्यपराचित-शब्दश्रुतमें ही श्रुतशब्द की प्रवृत्ति समझनी चाहिये, श्रुतज्ञानावरण

कर्मका ध्योपपन्न पारु जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें भी यहाँ थुत शब्द समझना चाहिये. इस बुतज्ञानकी भा-
पनामें मन्मथ-ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणोंकी प्राप्ति होती है.

शंका—जो मनुष्य ज्ञानभावनामें तत्पर है वह ज्ञानमें परिणत होगा वह दर्शनादि परिणामोंमें कैसा
परिणत होगा. कोपकरुपापये परिणत हुआ अदमी भागमें परिणत नहीं होता है. उत्तर—आपका यह कहना योग्य
नहीं है. जो जिनके साथ अविनाशकी रहता है वह उसके सद्भावमें उसके आधारमें रहेगा ही. यथा जहाँ जहाँ कृत
कृत रहता है वहाँ यहाँ अनित्यत्व रहेगा ही. ज्ञानके बिना सम्यग्दर्शनादिक होते नहीं हैं.

शंका—अनेकपत मन्मथरथों में ज्ञान है परंतु उसमें तप और संयम भी है क्या? यदि होंगे तो उसको
अनेकपमी क्यों कहते हैं. अतः ज्ञानके साथ तप और संयम नहीं रहते हैं. अर्थात् ज्ञानके साथ उनका संबंध नहीं है.
उत्तर—ज्ञानभावना होनेपर तप मंथमादिक होते ही है ऐसा इस छंदका अभिप्राय नहीं है. परंतु तपः संप-
मादिक यदि उत्पन्न होंगे तो ज्ञानभावना के रहते ही उत्पन्न होंगे. अन्यथा नहीं. तप और संयम ये कार्यरूप
हैं और ये चारित्र्य मोहनीय कर्मके ध्योपपन्नकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानके द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं.

कारण अदम्य कार्यवान् होते ही है ऐसा नियम नहीं है. काष्ठादिकी अपेक्षा रखनेवाला अपि धूमको
उत्पन्न करेगाही ऐसा नियम नहीं है. इसलिये ज्ञानभावनासे में ज्ञान, दर्शन, तप संयम परिणामोंमें आत्मको प्रयुक्त
कराया प्येगी जो उपयोग प्रतिष्ठा उसको वह मुनि एकत्र होकर अचलित होकर अनायाससे संपूर्ण करता है.

अदणाष्ट जोगपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स ॥

सदिलोत्रं काहुंजे ण चर्यति परिसुहा ताहे ॥ १९५ ॥

स्वन्यस्सजिनवाक्यस्य रचितोचितकर्मणः ॥

परिपद्मापदः शरत्ता न कर्तुं स्मृतिलोपनम् ॥ १९७ ॥

इति द्रुतम् ॥

विज्ञयीक्य—अज्ञान पावेन । जोगपरिभाविदस्स युज्यते अनेन अनशनादिना निर्जयार्थं यत्तिरिति पाद्ये
तायः योगनाशेनाभ्युत्थते । तेषामर्थः । तपसा भावितस्येति । जिणवयणमणुगदमणस्स जिनवचनामुपगतचेतसः ।

सद्विद्योपे सृष्टिलोपे । रत्नत्रयपरिणामप्रत्यक्षसंपादनोद्योगस्य सृष्टिर्थां तस्या विनीरां । काउंजे कर्तुं । न चयेति न शक्नुयंति । के ? परितस्तथा शुद्धादिदेवताः । तावै तदा । एतदुक्तमनया गायया अय्यस्थमानं शुतक्षानं निर्मलं पटीयो भवति । पादवाय्यासयथेन च सृष्टिरयेदेन प्रवर्तते । सृष्टिमूलो वि योगो वाकायव्यापार इति । सुदं मदं ।

मूढारा—अदणाय यत्नेन प्रमादपरिहारेणैवार्थः । जोग युज्यते जेमानशनादिना निर्जरायै यतिरिति जोगो यासं तपः । सद्विद्योपे सृष्टिलोपे । काउंजे कर्तुं । न शक्नुयन्ति । तावै तदा मरणकाउंजे ॥

अर्थ—अनद्यतन अवमोदय इत्यादि तप धुनिरावके कर्मकी निर्जरा करते हैं अर्थात् कर्मकी निर्जरा करनेके लिए धुनि अनद्यनादि तपसे जुड़ जाते हैं, इसलिए अनद्यनादि बाध तप को आचार्य योग कहते हैं, प्रमाद छोड़ कर प्रयत्नसे जो तपसे अपने आत्माको सुसंस्कृत पनाता है, जिसका मन जिनेश्वरके वचनोंमें एकाग्र हुआ है, ऐसा धुनि रत्नत्रय परिणामोंमें स्थिरता रखनेमें सतत उत्पन्न होता है अतः यदि शुद्धादि परिपक्वते वह पीडित होगया तो भी उसकी सृष्टिका नाश होता नहीं है, अभिप्राय यह है कि, शुतक्षानका अभ्यास करनेसे वह निर्मल और ऊदापोहके सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है, ऊदापोहका अभ्यास वह जानेसे जिनगममें सृष्टि विना स्वदेके प्रयत्न होती है, वचनकी प्रशस्ति, शरीरकी सन प्रशस्ति सृष्टिपर ही निर्भर रहती है, इस तरह ज्ञानके सामर्थ्य का वर्णन किया,

सत्यभाषनाया शुभं स्वीति उत्तरगायया—

देवेहिं भेसिवो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ॥

तो सत्तभावाणए वहइ भरं णिक्कमओ संयलं ॥ १९६ ॥

वहुसो वि जुच्च भावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ॥

तह सत्ता भावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोसग्गे ॥ १९७ ॥

भरिण्णमाणोऽप्यदोराअं भीमरूवैः सुरासुरैः ॥

सत्त्वभावनाया साधुं धुरि धारयत्तेऽखिलम् ॥ १९८ ॥

विमुक्त्युपसर्गो नो सत्त्वभावनया यतिः ॥
युद्धभावनया युद्धे भीषणेऽपि भटो यथा ॥ १९७ ॥

वित्तयोदया—देवेहि देवैश्चास्तितोऽपि । छु स्फुटं । छटापराधोऽतिभीमरूपैः । वा जयवा । तो ततः । सत्वभावनया सोऽनुज्ञात् । यद्ध भटो गिज्जको सयले यवति भटं संयमस्य निर्भयः सकलं । सेतेभीमरूपदर्शनाच्च भीतिरप- जायते भीतस्य प्रज्जुतस्त्वत्रयस्य तदतिदुरयापं । तदन्वयात् न कर्म निर्मूलं राक्षसं कर्तुं । अनासादितमलयाणि च कर्मणि विचित्रं यातयंत्वात्मानं । ततो भीतिरयत्नेकानयमूलमिति निश्चित्य सा प्रयेव निरसनीया । तथाहि—

मुञ्जारा—भीतिवो मयं नीतः । दिवा दिवा । रात्रौ रात्रौ । तो क्या प्रसिद्धया शूर्वीकायिकदिभवमहण- श्चारायावविचित्रदुःखपराधोऽतिभीमरूपसाराज्या । धुरं चारित्रमारं ।

युद्धा—स्पष्टम् ।

सत्वभावनामै लो गुण हैं उनकी स्तुति आचार्य करते हैं—

अर्थ—यह मुनि देवोंसे प्रस्त किया गया, भयंकर व्यापारिरूप धारण कर पीडित किया गया तो भी सत्वभावनाको हृदयमें रखकर दुर्गोंको सहन कर और निर्भय होकर संयमका संपूर्ण भार धारण करता है, मरण होना इस विचारसे और भीमरूप दर्शनसे मनमें भीति उत्पन्न होने पर रत्नत्रयका यदि त्याग किया तो पुनः उसकी प्राप्ति होना अवश्य दुर्लभ है, रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे कर्मका नाश करता अशक्य है, कर्मोंका नाश न होनेसे वे आत्माको नाना प्रकारसे पीटा देते हैं, अतः भीति ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐसा विश्रय करके ज्ञा सत्वभावनासे प्रथम ब्र करनी चाहिये,

खण्णुत्तावणवालणवीयणविच्छेत्तणवरोदत्तं ॥

चित्तिय दुहं अदीहं मुज्झदि णो सत्त्वमाविदो दुक्खे ॥ १९८ ॥

वालमरणाणि साहू सुचित्तिदूणप्पणो अणंतानि ॥

मरणे समुट्ठिपुविदि मुज्झइ णो सत्त्वभावणाणिरदो ॥ १९९ ॥

विजयोद्या—युधिषीनायिकं सन् खननद्वान्चिलेखनकुट्टनभञ्जनलोठनेयपणचूर्णनादिभिर्वाधां परिमार्तोऽस्मि । अपञ्च शरीरत्वेनोपायाय अमरं विमरुत्तिकरापातेन, दहनशवालाकषफलिततनुतया पर्वतवरीसमुपलक्षितोभ्योऽतिथेनेन शिलाघनगर्भरासु पतनेन, आसल्लवणक्षारादिरेससमवेतद्रव्यसन्निभयेन, वगधारायामतेऽशौ प्रक्षेपणेन, तन्तुदशिलापातेन, पादकरतलाभियातेन, तरणोद्यतानां विशालघनोऽखलवपीडनेन, अवलो कमानमहाननतरणभञ्जन-हस्तक्षोभपादिना च अहती वेदनां अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरणे तनुतया परिगृह्य दुग्धगुमाशिलोच्चपादीनां प्राणमृतां नितान्तकटिनकायानां चाभिघातेन समीरणा-तरायमर्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दुःखाधिकाननुभूतोऽस्मि ।

तथा परितृहीतान्निद्रादीरो त्रिभयाग्नेन पांसुभस्यासिक्तविक्षेपणेन, भुशरुमानजलधारापातेन, वंङकाष्टादि-भित्ताडनेन, लोष्ठपापाणादिभिर्द्यूर्लनेन अमञ्जनेन विण्दमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलारापलस्यकुडुमादिकार्यं स्वीकृत्य मोठनभक्षणमर्दनेपणवहनादिभिस्ताया गुग्मलतापादषादिकं तनूकृत्य छेदनेन, भेदनेनोत्पादनेन, रोहणेन, दहनेन च क्लेशाज्जनतामुपपातोऽस्मि ।

तथा कुण्डुपिरील्लिकानिचलतो भूत्वा येनप्रयादिरथचकाक्रमणेन, खरुत्स्नादिपक्षुषु रलंताडनेन, जलमवाहप्रक-र्षणेन, हाथललेन, दुग्धपापाणादिपतनेन, अटुजचरणपमर्दनेन, यलवतां प्रक्षेपेन च चिरं क्षिप्रोऽस्मि ।

तथा खरकरभयलीषदीदिभाचभाषप शुक्तरुमारोपणेनारोहणेन, वंघनेन, कर्कशतरकशार्वंडमुद्यत्तादिताडनेना-द्वारनिरोधनेन, शीतौष्णपाताविसर्पतेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकावेधनेन, चिद्वारेण, परध्यादिभिर्निशितासिचारा मङ्गरेण चिरमुपवृत्तोऽस्मि ।

तथा भग्नराजं, कुरातया व्याथ्यभिमेवेन वा पतितं इतस्ततः परापत्येमानं, फरुत्तमवणप्रभृद्यत्ताखारमेयदि-भिर्भक्ष्यमानं, काकपृथ्वर्ककादिभिः फवलीक्षिपमाणं, तरलतरताऽकाक्षिगुलं, कल्लतुमासीत् । ततो यतो शुक्तरुमारो-द्वहनजातवधितप्रणमसु द्रव्यकृमिकुठेन, कामादिभिर्आनारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजमेवेऽपि करणवैकल्यादिरित्यावसायव्याध्याधुपनिपातात्, प्रियालनादभियोगात्परमेष्ठ्यकरणावपर-पराभनात्, द्रविणार्जनाराया दुष्करकर्मार्दानमूलपट्टकर्मोद्योगात्, विचित्रविण्दमुपगतोऽस्मि ।

तथैवामरमेवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभोः प्रस्थानवेला वर्तते । प्रयाणपटदं द्राष्टव्यं, ध्वजं धारय, हताश देयीजन्तं पालय, तिष्ठ सामितोऽभित्यजितेन यादनरूपेण, किं विस्मृतोऽस्यनस्पृश्यपण्यशतमन्त्रस्य द्रव्येस्तां यन्त्र्यां तिष्ठसि । पुरो न धावसीति देवमहत्तारपरयत्तमास्तीशालानामां ताडनेन शतमुपान्त-पुष्टदध्रविप्रयिलोकनोद्भूतामिळापहन-जनितसंतोषेन गणमासायस्त्रितेरासुः परिपानेन च महद्रुदपादि दुःखं । एवं नरकभयेऽपि इत्थमनंतकालमनुभूतस्य मम को विपादो, दुःखोपनिपाते इति न च भिषणं त्यजेति दुःखानि, सकारणायचसंनिधायानि तानीति सत्यमायता ॥ यथाशुभ-शरीररुचानन्दमितिः साति नो मुखा । तानि शरीराणि भस्मकृन्मया गृहीतानि दद्यामि च । का वत्र परिचितेभ्यो भीतिरिति विसन्धिरीभित्ता सत्यमायता ।

इम सत्वभाननाका महारम्य दो माथाओंसे आचार्य कहते हैं ।—

अर्थ—सत्वभाननाका धारक मुनि मनमें इस प्रकारसे विचार करता है— जब पृथ्वी ही मेरा शरीर थी उस समय मेरेको खोदना, बलना, हलके द्वारा विदीर्ण करना, फूटना, पीटना, चूर्ण करना इत्यादि माथा देकर लोग मुझे सवाते थे. अर्थात् पृथ्वीकाविक्रयस्थामे मैंने दीर्घकालतक वचनेके द्वारा अवर्णनीय ऐसे दुःख सहे हैं. जब मैंने जलको अपना शरीर बनाया तब सर्वके प्रचंडकिरणोंसे, अग्निकी ज्वालाओंसे मेरा शरीर अतिशय उष्ण होकर मैं बहुत वेदनायें सहती. पर्वतकी दरी बंगरे ऊंचे स्थानोंसे अतिवर्गसे मेरा पतन नीचे फटित शिलाओंपर होनेसे मैंने दुःख सहन किया है. लट्ठा, लठ्ठ, खारादि रसयुक्त पदार्थों का मेरे साथ मिश्रण करके इन धराधगायमान अग्निके उपर मेरेको संतप्त करते थे तब मेरेको असह्य दुःख होता था. वृक्षोंपरसे नीचे शिखरोंपर गिरनेसे, पांव और हाथोंके आघातोंसे, तीरनेके लिये उडुक्त हुए मनुष्यादि प्राणिओंके विशाल वज्रः स्थली ताडनासे, प्रथम देखकर अनंतर पानीमें जिसने प्रवेश किया है ऐसे बड़े हाथीका तीरना, मज्जन करना और शंकासे जलधोम करना इत्यादि कारणोंसे मेरेको महान् दुःख हुआ था.

जब जलावस्थाका त्यागकर मैंने वायुरूप शरीर धारण किया तब वृक्ष, वृक्ष, इत्यादिकसे घबका पनेपर मैंने दुःखोंका अनुभव किया है. जिनका शरीर अतिशय कठिन है ऐसे प्राणिओंके आघातसे और [मेरेसे निम्न वायुसे दस्तानेपर, मेरा शरीर चूर्ण-विचूर्ण होकर मैं बहुत दुःखोंका स्थान हो गया था. अग्निज्वालाओंका जब मेरे शरीर से स्पर्श हुआ तब तो मेरे प्राणक्षी निकल गये.

जब वायुशरीरको छोड़कर अग्निको शरीररूपसे ग्रहण किया, तो बहुत चार धूल, मल, मल, चालू वगैरह मेरे ऊपर डालकर लोगोंने मेरेको दुसाया, सुगन्धके समान जल धारायें पढ़नेपर, दंड काष्ठदिकोंसे ठोककर चूर्ण करनेसे मेरेको बहुत ही कष्टोंसे सामना करना पडा. मार्तिके डेले और पत्थरोंके आघातसे तथा चायुके जोरदार धक्केसे मैं दुःखविह्वल हुआ था ।

जब अग्निका शरीर छोड़कर मैं फल, पुष्प, पत्र, कोमल अंकुर इनको शरीररूपसे धारण किया तब तोडना, राना, मर्दन करना, दांतोंसे चमना, अग्निपर सुंभना इत्यादि प्रकारोंसे मेरेको जलवाने दुःख दिया है. जब मैं झाड, लता, छोटे पेड इत्यादिक रूपसे जन्मा वृक्ष छेदन करना, भेदन करना, उखाडना, तोडना एक जग-

हस्ते उठाकर दूसरे स्थानमें डोना, जलाना इत्यादिकोसे जो दुःख भोगने पड़े उनका वर्णन करना मेरी शक्तीके बाहर है।

जब मैंने कुंगु, चींटी वगैरे प्राणिजोंमें इंद्रिद्रिय, त्रिद्रिय घास्क होकर जन्मग्रहण किया तब वेगसे ज्ञान-वाले स्वयंके पहियोंके नीचे दबकर प्राणविसर्जन किये है।

गधा, घोड़ा वगैरे प्राणिजोंके कठिण खुरोंके ताड़नसे. पानीके प्रवाहके वेगसे, जंगलके अभीसे, वृक्ष पराणादिक पदार्थ अंगपर गिरनेसे, मनुष्योंके पैरोंसे कुचल जानेसे, पलवान् प्राणिजोंका भस्म होनेसे मेरेको दीर्घकाल तक दुःख भोगने पड़े है।

तथा गधा, ऊँट, बैल, वगैरे पंचद्रिय, प्राणिजोंका जन्म जब धारण किया था तब मनुष्योंने मेरे ऊपर अधिक घोरता लादकर और स्वयं चढकर बहुत लेदित किया था. दोरीसे बांधना, अधिक कर्कश चाकूक, लाठी, मुगल, इत्यादिकोसे आघात करना, आहार पानी न देना, धीत, उष्ण, वायु, इत्यादिककी बाधा होना इत्यादि कोंके द्वारा मेरेको बहुत फलेद्य हुआथा. फान छेदना, जलाना, नाकमें नथनी डालना, विदारण करना, कुल्हाड़ी परावह शस्त्रोंसे तीक्ष्ण तरवारसे प्रहार करना इत्यादिकोंसे मनुष्योंने मेरेको अत्यंत दुःख दियाथा. जिससे पाप दृढगये है, कृश होनेसे अथवा रोगपीडित होनेसे जो गिरपड़ा है, इतस्ततः पीडा सहन न होनेसे जो तदनुमाने लगा है. अत्यंत क्रूर व्याघ्र, कुत्ते, स्वाल वगैरह प्राणिजोंका जो भस्म हो रहा है. कोंवे, गींध, घुला इत्यादि शुष्ट पक्षी जिसकी नाँच नोचकर ला रहे है. जिसको आँले भयके मोरे चंचल हो रही है, ऐसे समयमें कोई भी मेरा रक्षण करनेवाला न था.

अधिक घोरता लादनेसे मेरे पीठपर जखम हो कर वह किमिजोंसे भर गईथी उस समय कौंचे वगैरे पक्षी आफर जलमका मांस नोचकर खातेथे वह बड़ाही भीषण, दुःखदायक प्रसंग था. कुछ पापोंका उपशम होनेसे मनुष्य होकर मैं जन्मा पंतु इंद्रियोंकी न्यूनता, दारिद्र्य, असाध्य रोग इत्यादिकोसे मैं बहुत दुःखी था. भ्रिय पदार्थ न मिलना, अग्रिय शुद्ध, विप, कंटकादिकोंका संयोग होना, दूसरोंकी नोकरी करना, बहुतसे परामभव होना, इत्यादि-क दुःखोंसे मैं बहुत ही व्याकुल हो उठता था. घन कमानेकी इच्छासे दुःखदायक कर्मोसवके कारण ऐसे अति मणि वगैरह परकुर्मोंने दिन रात प्रपन्न करता था तो भी नानाप्रकारकी विपत्ति आती ही थी.

सुख शुभोदयसे देवगतीमें मेरा जन्म हुआ। परंतु वहाँ भी, “यहाँसे दूर हटो, शीघ्र चले जाव, प्रसुका आनेरा समय है, उनके प्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगरा बजाओ। अरे यह बज हाथमें पकड़कर खड़ा हो” ।

“अरे दीन इन देवगंगाओंका रक्षण कर, स्वामी की अभिलाषा के अनुसार वाहनका रूप धारण कर, विपुल पुण्य रूपी धन वित्तके प्राप्त है ऐसे इंद्रका तू दास है क्या तू यह भूल गया है? क्यों व्यर्थ खड़ा हुआ है? इंद्रकी इच्छा अग्रे क्यों मागता नहीं” ऐसे अधिकारी देवोंके कठोर वचन सुनकर वह बहुत खेदयुक्त होता है- इंद्रकी अप्पराओंका हायमान देतार अऐसी देवगंगाये मेरेको कन मिलेगी यह अभिलाषा मनमें होकर मैने देवपर्यायमें भी बहुत तू रसोंका अनुभवन किया है, इसी तरह अनंत काल दुःखानुभवन करने में मेरा चला गया है अतः इस समय परीपक्ष उपसर्गादि दुःख आपवने पर विषाद करनेसे कुछ भी फायदा नहीं है, स्विन्न हुये पुरुषको क्या दुःख छोड़ देता है? -इस तो अपने कारणसे उत्पन्न होगा है ऐसा विचार कर सत्यभावनासे दुःखोंका हमला सहन करना चाहिये, यदि अशुभ, दुःखुष्मा उत्पन्न करनेवाले शरीरको देतकर भय उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्यों कि तुम मैने अशुभ शरीर असंख्यात बार ग्रहण किये हैं, और देखे हैं, वे सब शरीर मेरे परिचयके हैं, परिनिर्वाणे भय ही कैसा उत्पन्न होगा ऐसा विचार कर मनको स्थिर करना चाहिये, मनको स्थिर करना यही मत्स्यभगना है,

जितने बहुत बार दुःखका अभ्यास किया है, ऐसा वीरपुरुष युद्धमें मोहयुक्त नहीं होता है अर्थात् धैर्य धारण करता है वैसे सत्यभावनाका आश्रय लेकर मृति भी उपसर्ग आनेपर मोहयुक्त होते नहीं मत्स्युत ये धैर्य धारण का उपसर्ग सहन करते हैं,

एवमभ्यव्याण ए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ॥

सज्जइ वेरगमणो फासेदि अणुत्तरं घमं ॥ २०० ॥

कामे भोगे गणे देहे विवृदैकत्वभावनः ॥

करोति निःस्पृहीभूय साधुर्वैममनुत्तरम् ॥ १९८ ॥

विजयोदया—एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणवृत्तिजनितदुःखालुप्तवने न दुःखे मदीयं संविमज्जति कश्चित् । दुःखसंविमज्जनेन स्वजन इत्युत्तराजः सत्करणेन च परस्वजन इति च द्वेपो युज्यते । न चेदस्ति सुखं मय्याधातुमक्षमः इति न तन्मदुरेतापि स्वजनपरजनाविवेकः । तस्मादेक पलाहं न मे कश्चित् । नाप्यहं कस्यचिदिति चिन्ता कार्यो । तस्मा गुणमावष्टे- एव तत्मावाप एकत्वभावनायां हेतुभूतया । न सज्जति नासक्तिं करोति । क कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा । कामं खेच्छया युज्यते अधुभूयते इति कामभोगाः । सुखसाधनतया संकलितमत्तपनादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न संगे करोति । यास्तद्व्यसंसर्गजनिता । भोतिविशेषाः सुखसाधनान्वाह्येण गुणमोयातिशयवतीं धामयति चेतोव्याकुल- कारिणी, न चेतःसारथ्यं संपादयितुमीया इति । न तु उपयोग्याः कामभोगाः, राजव्यसंघर्षेण जनस्योपयोगिनी, न तया भोगसंपदास्माकं किञ्चिदस्ति दुःखं । मदीयपरिणामावलंबिनो हि वंशभोक्षी गमा । ततः किं तेन गणेन । शरीरप्रप्यकिंचित्करं । न चैकममिति किंचित्कुर्वुः । शार्ङ्ग जीवाधीनतामकं द्रव्यं रामकोषविभक्तं, इदमुपकारकमनुपकारकमिति या संकल्प्यमानं नान्यथा । ततः संकल्पनीयभूतं विहाय सुखोत्तमस्वरूपक्षानपरिणामप्रबंधः असहाय्यत्सलकपक्षिपय इति एकत्वभावनो- च्यते । सत्यामस्यां न कश्चित्संगे करोति । वैरग्यमयो वैराग्यमुपगतः । फासेद स्पृशति । अनुष्ठंद धम्मं अतिशयितं चारित्र्यं । एतेन संसारधीजस्य संगस्य भिद्युत्तरिशेषकमोधायेतोऽधारिशस्य च लामो गुण एकत्वभावनाजन्यः इत्याख्यातं भवति । एकत्वभावना मोहमहानरूपं अप्यपन्नवति । यथा जिनकक्षिपको भिरस्तमोहः संवृत्तः ।

मूलारा—दयसभावनाया । अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य हस्यविपरिवर्तव्यचित्ताभ्यासेन । कामभोगे ईद्रियसुखादुभयने । सज्जति आसक्तिं करोति । फासेवि करोति । एवेन संसारजीवस्य संगस्य निद्युत्तरिशेषकमं क्षयहेतोश्चारित्रस्य च लामो गुणः एकत्वभावनाजन्य इत्युक्तं भवति ।

अर्थ—एकत्वभावनाका आश्रय लेकर विरक्त हृदयसे मुनिराज कामभोगों, वस्तुविश्व संबंधों, और शरीरमें आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्ररूप धारण करता है.

जन्म, जरा मरण वगैरें दुःखोंका मैं अंततः कालसे उपयोग लेकर हूं. परंतु मेरे दुःखका कोइ भी विभाग करता नहीं. मैं अकेला ही जन्मादि दुःखोंका अनुभव लेकर हूं. जो अपने दुःखोंका विभाग करता है वह स्वजन है ऐसा समझकर मनुष्य उसको स्वजन मानने लगता है. जो दुःखोंको हलके नहीं करता है. वह परजन है ऐसा समझता है, परंतु मेरेमें सुख उत्पन्न करनेवाले साता वेदनीय कर्मका उदय यदि नहीं है तो दुखेर भरेको कदापि सुखो नहीं कर सकते हैं. यदि साता वेदनीय कर्मका उदय हो तो शत्रु दुःखदायक न होकर सुखदायकही होगा अतः ये स्वजन हैं और ये परजन हैं

ऐसा विभाग करना न्याय है। इस लिये मैं एकही हं मेरा कोईभी संबंधी नहीं हूँ ऐसा निवार करना चाहिये। इस एकत्व भावनाका यह गुण है—

एकत्वभावनका अभ्यास करनेसे मुनि कामभोगमें, शिष्यादिवर्गस्वरूप भरणमें, और सुखमें आसक्ति नहीं करता है। स्वच्छासे विन पदार्थोंका उपभोग ले सकते हैं ऐसे पदार्थोंको कामभोग कहते हैं। जैसे आहारके और पनिर्भे पदार्थ, स्त्री वगैरह इनमें ये सुखदायक हैं ऐसा संकल्प लोग करते हैं परंतु मुनि एकत्वभावनाका अभ्यास करता है अतः वह राग नहीं करता है। चाख द्रव्योंका संबंध होनेसे जो मनमें आल्हाद होता है उसकी सुख कहते हैं। परंतु ये बात पदार्थ लोभको ही उत्तरोत्तर शुद्धिगत करते हैं। लोभसे मन बहुत व्याकुल होता है। ये भोगके पदार्थ मनमें स्वास्थ्य उत्पन्न करने में अनमर्थ हैं। इसलिये ये पदार्थ-कामभोग भोगने योग्य नहीं है। रानत्रय संपत्ति ही लोकके लिये उपयोगी है। इस भोगसंपत्तीसे हमारा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होता नहीं है।

मेरे परिणामोंसेही मेरेको बुझाशुभ कर्मबंध होता है। गण उसमें कारण नहीं है अतः उससे मेरा न कुछ विपदता है न सुखता है।

घरीर भी अधिकितकर है यह सुद कुछ भी कर नहीं सकता। कर्मके आश्रयसे वह कार्यकारी दीखता है। पाप जीव और अजीव पदार्थ ये उपकार करते हैं, तथा अनुपकार करते हैं ऐसा उनमें संकल्प होनेसे रागद्वेषके क्रमसे निमित्त पनते हैं। अन्यथा नहीं। अतः यह संकल्पही हृदयमेंसे निकालना चाहिये। शुद्ध आत्माका स्वरूप जाननेमें नतत प्रयत्न करना चाहिये, मेरा आत्मस्वरूप असह्य है ऐसा विचार करना चाहिये इसको एकत्व भावना कहते हैं। इस भावनाके माहात्म्यसे मुनि किसीमें भी आसक्त नहीं होते हैं। वैराग्य बढ़नेसे ये उत्कृष्ट चारित्रिका आश्रय करते हैं। इस वैराग्यसे गंसारको वीजभूत जो परिग्रह उसका संपूर्ण त्याग होता है। व संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें हेतुभूत चारित्रिकी प्राप्ति होती है। यह सब एकत्वभावनाका ही गुण है। यह एकत्वभावना अशूनस्वरूप मोहको दूर करती है। इसके प्रभावसे जिनकल्पी मुनि मोहरहित हुये हैं,

भयणीए विघर्षिभजंतीए एयत्तभावणाए जहा ।

जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तधेव ॥ २०१ ॥

स्वमुर्विधर्मां दृष्ट्वा जिनकल्पीव संयतः ॥

एकत्वभावनाभ्यासो न मुह्यति कदाचन ॥ १९९ ॥

इति एकत्वं ।

विजयोदया—यथा जिनकल्पको जिनकल्पकं प्रपद्यो नागदत्तो नाम मुनिर्मनित्यामयोऽयं कारयंत्यामपि एकत्व-
भाषन्त्या । न मूढो मोहं न गतः । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथार्थः । एकत्वभावना ॥

मूढारा—विधम्मिजंतीए विहंयमानायां । जिणकल्पिओ जिनकल्पमावरणविशेषं । प्रतिपक्षो नागदत्तो
नाम मुनिः ॥

अर्थ—जिनकल्प अवस्थाको प्राप्त हुने नागदत्त नामक मुनि अयोग्य कार्य करानेवली अपनी वहिनपर
मोहयुक्त नहीं हुये. क्षपक मुनि भी एकत्वभावनाके बलसे मोहयुक्त नहीं होवे हे ऐसा गाथार्थ है. एकत्वभावना
समाप्त हुई.

पंचमी धृतियलभावना दुःखोपनिपात अनंतरता धृतिः कैच बलं धृतिवलं तस्य भावनाभ्यासः क्षसकृद-
कातत्तया धृतिः । तथा धृतियलभावना दुःखपरीपद्वयमा ॥ बुध्यतीति निगदति ।—

कसिणा परिसहचमू अब्बुड्डइ जइ वि सोवसग्गवि ॥

दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥ २०२ ॥

उपसर्गमहायोर्धा परीपहचमूं परां ॥

कुर्वाणामत्पसत्त्वानां हुनिवारया भयम् ॥ २०० ॥

विजयोदया—रुसिणा छुत्ता । परिसहचमू परीपहसेना शुक्तादिद्रव्यविशतिदुःखपूतेभेति यावत् । अब्बुड्डइ
अभिमुख्येनोचिष्टति । जयपि ययपि सोवसग्गा वि चतुर्विधे रोपसंगेण सह वर्तमानापि । दुद्धरपद्वकरवेगा दुर्धरसंकटवेगा
जयसत्ताणं भयजणणी अवरसत्ताणं भयजननी ।

मूढारा—रुसिणा सर्वा । एवेनविंशतिभयव्यहूरूपाणि (पीष्टेः) अब्बुड्डवि अभियुक्तमुचिष्टवे । दुद्धरपद्वकरवेगा
अजत्यममयेभजकप्रवृत्तिभवा । अथवा दुर्धरो दुःसहः स पातो पंचाक्ष दुष्करो वेगो यस्याः । पचकर मंक्रट इति
टीकायां । अपसत्ताणं अत्यमस्थानो भीरूणां ॥

पान्चमी धृतिबलभागा है. दुःख आनेपर भी निर्भय रहना ही धैर्यका लक्षण है. इस धैर्यबलकी भावना करना अर्थात् अभ्यास करना यह धृतिबलभावनाका स्वरूप है. इस भावनाके बलसे मुनीश्वर दुःखद परीपद् रूप मेंनामें युद्ध करते हैं ऐसा वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके उपसर्गोंके साथ भूक, तहान, शीत उत्पन्न बगैरह चाबीस प्रकारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली परीपद् रूपी मेना, दुर्धर संकटरूपी वेणुसे युक्त होकर जब मुनिजीपर आक्रमण करती है तब अत्यशक्तिके धारक जीवोंको बहुत भय उत्पन्न होता है.

धिविधनिवद्वकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ॥

धिविभावणाए सूरु संपुणमणोरहो होई ॥ २०३ ॥

धीरतासेनया धीरो धियकशरजालया ॥

जायते योषयलाशु साधुः पूर्णमनोरथः ॥ २०१ ॥

इति धृतिस्तत्रम् ।

वित्तयोदया—तं तां पृतनं । जोधेर योषयति । क्या सब ? धिविभावणाए धृतिभावतया । का ? धिविधनिवद्वकच्छो धृति स्तिता यद्वकक्षा । खरो दूरः । अणाइलो अनाकुलो विक्रमवान् । कलमाचसे तस्य । संपुणमणोरहो होइ । संपूर्णमनोरथो भवति ॥

नूळारा—धिविधनिवद्वकच्छो धृतिः परमप्रसक्तिः सेवावर्धं बढा कक्षा परिवष्टनं येन । जोधेवि योषयति । अणाइलो अनाकुलः । न तां पटीपहचम् । अव्वधिदो अवाधितः निर्मरोद्धोमो वा । धिदिभावणाए धृतिभावतया सब अरवा धृतिभावतया कर्तुमुत्तया तां पावयति योषयति नित्यव्ययम् ।

अर्थ—धैर्यरूपी उपरका परिधान करनेका यह जिसने दृढ बांधा है ऐसा पराक्रमी और मुनि धृतिभावनाको हृदयमें धारण कर सफल मनोरथ होता है.

एषाणु भावणाए चिरकालं हि विहरेब्ज सुखाए ॥
 काऊण अत्तसुद्धिं दंसणाणणे चरित्ते य ॥ २०४ ॥
 विधाय विधिना दृष्टिज्ञानचारित्रशोधनम् ॥
 चिरं विहरतां पठ्या यतिभावनयानया ॥ २०२ ॥
 इति भावनासूत्रम् ।

विजयोपपा-एषाणु पतया पंचप्रकाराया भावनया सह । चिरकालं विहरेब्ज चिरं प्रयत्नेन । सुखाए
 नुय्या । काऊण कृत्या । अत्तसुद्धिं आत्मशुद्धि । दंसणाणणे करित्ते य एतन्मन्त्रेण निरतिचारे भूत्वा ।

एतस्यां पंचविधायां अक्षरैश्च भावनयायां सपकाः प्रवर्तवामिति शिक्षां प्रयच्छतिः—

मूलारा—विहरेब्ज प्रवर्तते । अत्तसुद्धिं आत्मशुद्धि । भावना । सूत्रः १०१ अंकः २५ ॥

अर्थ—इन पांच प्रकारकी शुद्ध भावनायें चिरकाल तक मनमें धारण कर सुनिराज अपने आत्माकी
 शुद्धि करते हैं और सम्पददर्शन, ज्ञान और चरित्रमें निरतिचार प्रवृत्ति करते हैं.

ध्यायर्णितभावनानंतरं सहेखनेत्यपि फारसबंधमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खु सहेहणं उवक्कमइ ॥
 णाणाविहेण तवसा यद्धेणब्भंतरेण तह्हा ॥ २०५ ॥
 साधुः सहेखनां कर्तुमित्यं भावितमानसः ॥
 तपसा यन्ते सम्पक्क चाखेनाभ्यंतरेण च ॥ २०३ ॥

विजयोपपा—एवं भवेमाणो इति एवं उक्तेन प्रकारेण भावनापठः । भिक्खु सहेहणं सहेखनां तनूकरणं ।
 उवक्कमइ मारम्भे । केन णाणाविहेण नानाप्रकारेण । तवसा यद्धेणब्भंतरेण तदा चाखेनाभ्यंतरेण तपसा च ।

अर्थ—विचाराभावनापरस्य प्रशुद्धोः सहेदनां गायापठपठ्या न्यास्यालुकायः पूर्वं तदुपक्रमोपायमभिदत्ति—

मूलारा—भार्यमाणो माययधानः । अक्षेण्डितमावनां पुनः पुन प्रवर्तयन्नित्यर्थः । उज्ज्वलमग्नि प्रारभते ।

भावनार्थोक्ता वर्णन करनेपर सहेसनाभिकारका संबंध दिखाते हैं.

अर्थ—इस प्रकार राँच प्रकारकी असीकृष्ट भावनाओंका अम्पास करनेवाले मृनि वाला अम्यंतर वारा प्रकारके तपके द्वारा सहेसना को प्रारंभ करते हैं.

भेषमटत्वा घ्याप्यर्णवितुं भसस्या सहेजनेति भेदमाचष्टे—

सहेहणा य दुविहा अम्भंतरिया य वाहिरा चेव ॥

अम्भंतरा कसायेसु वाहिरा होवि हु सरीरे ॥ २०६ ॥

सहेसना द्विया साधोंतरानंतरेष्यते ॥

तत्रानरा कपायस्या द्वितीया कायगोचरा ॥ २०४ ॥

विजयोदया—सहेहणा य दुविहा सहेहना य विजयारा । सम्भतरिया य वाहिरा जेय अम्यंतरा वाहा, जेति । सम्भतरा कसायेसु भम्यतरा सहेहना कोधादिकपायविषया । वाहिरा होदि हु सरीरे । वाहा भवति सहेहना करीर-विषया ॥

सहेसना द्वेविष्येनाभिपत्ते--

वाहासहेसना माधर्षयसता प्रपंचविष्यन्सामान्यतस्त्वदुपायं निर्दिशति--

मूलारा—रूपदम् ।

भेदके विना सहेसनाका वर्णन करना शक्य नहीं है इसलिये भेद बताते हैं.—

अर्थ—सहेसनाके अम्यंतर सहेसना य वाला सहेसना ऐसे दो भेद हैं. जोपादि कपायोंको ठरा, ठरा

तर, ठुशतम कतना यह कपायसहेलना है. इसको अम्यंतर सहेलना भी कहते हैं. और शरीर उचरोचर कृया करते जाना उसको शरीरसहेलना कहते हैं इसीको नाह सहेलना यह भी नाम है.

याहासहेलनाभिरूपणार्थः उत्तरप्रबंधः—

सव्ये रसौ पणीदे पिञ्जुहिच्चा दु पत्तलुक्सेण ॥

अणवरेणुवधानेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥ २०७ ॥

पिजयोदया—सव्ये एत्ते सवोन्रसान् । प्रकपं नीताः प्रणीताः तान् अतिशयवत इत्यर्थः । पिञ्जुहिच्चा त्यक्त्वा । अणवरेणुवधानेण । अणवरेणुवाग्रग्रहेण । अप्पयं आत्मानं शरीरं । कमसो कमशः । सल्लिहइ तनूकरोति । मूलारः—पणीदे प्रकपं नीताः प्रणीताः तानतिशयवत इतिशयवद्वेनानित्यर्थः । पिञ्जुहिच्चाण त्यक्त्वा । पत्तलुक्सेण प्राप्तलुक्साहारेण । वरधानेण अवग्रहविशेषेण । सल्लिहइ कुशीकरोति । अप्पयं स्वशरीरम् ।

॥१॥ पाछ महेलनाका यहसि विस्तृत वर्णन करते हैं—

अर्थ—शंखियोंका बल बढ़ानेवाले संपूर्ण रसोंका त्याग करके और विशिष्ट नियम ग्रहण करके प्राप्त हुए लक्ष्मोजन के द्वारा अपना शरीर क्षुपक क्रमशः क्षीण करता है.

पाछ तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंत्ता ॥

कायकिलेसो सेज्जा य विविच्चा बाहिरतवो सो ॥ २०८ ॥

अमुत्तिरयमोदयं वृत्तिसंख्या रसोज्जनम् ॥

कायमलेसो विविक्ता च शय्या पोढा बहिस्तपः ॥ २०९ ॥

विजयोदया—अणसण अनशनं । उयमोक्खिअग्रमोदयं च । चाओ य रसाणं त्यागो रसानां । वुत्तिपरिसंत्ता वृत्तिपरिसंस्थानं । कायकिलेसो कायहेतुः । सेज्जा विविक्ता विविक्रयया । बाहिरतवो सो बाह्यं तपस्तत्त्वं ।

हैं, तीन उपवासोंको अष्टम कहते हैं, चार उपवासोंको दशम कहते हैं, ऐसे ही आगे भी समझना, संन्यास लेनेपर या-
नजीब चारो आहारोंका त्याग करना यह सर्वानशन है, ग्रहण और प्रतिसेवना कालमें अन्नानशन तप मुनि करते
हैं और मरणसमयमें-संन्यास कालमें सर्वानशन तप करते हैं, दीक्षाग्रहण कर जबतक संन्यास ग्रहण किया नहीं
तबतक ग्रहणकाल माना जाता है, तथा व्रतादिफलोंमें अतिचार लगनेपर जो श्रायश्चित्तसे श्रद्धा करनेके लिये
कुछ दिन अनशनदि तप करना पड़ता है उसको प्रतिसेवना काल कहते हैं,

अन्नानशनविकल्पं प्रतिपादयति—

होइ चउत्थं छट्टुमाइ छम्मासखवणपरियंतो ॥

अच्छाणसणविभागो एसो इच्छाणुपुब्बीए ॥ २१० ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचषट्सप्ताष्टनवाद्यः ॥

उपवासा जिनैस्तत्र षण्मासावधयो मत्ताः ॥ २०७ ॥

बहुदोषाकरे श्रामे प्रयेसो विनिवारितः ॥

संपन्नो बद्धितः पूतः क्षुर्धनानशनं तपः ॥ २०८ ॥

विजयोदया—अच्छाणसणविभागो होर इति षट्पट्ठाः । अन्नानशनविभागो भवति । छठसं छट्टुमाइ छम्मास-
खणपरियंतो चतुर्थपट्ठाष्टनाविष्णमासखणपर्यन्तः । इच्छाणुपुब्बीए आत्मेच्छामतेने ।

अन्नानशनविकल्पं बक्तिः—

मूळारा—छम्मासखमण षण्मासोपवासाः । इच्छाणुपुब्बीए आत्मेच्छाक्रमेण ।

अर्थ—चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम वर्षोत्तर उपवासों से छह माहिनो पन्न के उपवासों को अन्नानशनतपके भेदोंमें
परिगणित करना चाहिये, वे उपवास मुनिराज अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं,

१ आत्मेच्छाक्रमेण इति सप्तश्लोके पाठः ।

मनमोदरिखं तिरुगणितुकामः आहारपरिग्रहं प्रायोदृत्या प्रवृत्तं दर्शयति—

वर्त्तीसं किर कवला आहारो कुक्किरपूरणो होइ ॥

पुरिसरस महिलियाए अट्टावीसं हवे कवला ॥ २११ ॥

आहारस्तृप्तये पुंसां द्वार्चिदात्कवला जिनैः ॥

अष्टाविंशतिरादिष्टा योपितः प्रकृतिस्थितः ॥ २०९ ॥

पितृयोदया—दर्त्तीसं किर कवला पुरुषस्य कुक्किरपूरणो भवलाहारः । द्वार्चिदात्कवलमात्रः । इच्छिआए कियाः
कुक्किरपूरणो भवत्याहारः अष्टाविंशतिकवलाजातानि । तस्मै तस्मादाहारः । तस्मै ।

अयमोदरं गाथाद्वयेन विषयुदाहारप्रमाणं प्रायोदृत्या प्रवृत्तं प्रदर्शयति

गूळारा—किर किळ । उक्तं च—

प्राप्तोऽश्रपि सहस्रतुल्यपितो द्वार्चिसेदेऽननम् ।

पुंसो वैश्वसिकं क्षिया विपतुतास्तद्वानिरीचिर्यतः ।

प्राप्तं यावद्वैकसिक्थमवमोदरं तपस्तच्छरे—

रुर्मायदयश्चोपपातुसम्मानिद्राक्षयापाप्तये ॥

अरमोदरं तपसा निरुपण करनेके पूर्व आहारका प्रमाण बहुशुः किस प्रकार रहता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—पुरुषके आहारका प्रमाण वर्त्तीस आस है. इतने प्राप्तसि पुरुषका पेट पूर्ण भरता है. स्त्रियोंके आहार-

रता प्रमाण अट्टावीस घास है.

एगुत्तरसेटीए जावय कवलो बि होदि परिहीणो ॥

उमोदरियतवो सो अट्टकवलमेव सिच्छं च ॥ २१२ ॥

तस्मादेकोत्तरश्रेण्या कवलः क्षिप्यते परः ॥

मुच्यते यत्र तदिदमवमोदर्यमुच्यते ॥ २१० ॥

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥

हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥ २११ ॥

विजयोदया—एतत्तरसेहीए एककयलोचरत्रेष्वा षट्पिन्धो परिच्छिन्नः । ऊमोदरितयो अवमोदर्याख्यं तपः—
क्रिया यावत्वेकसिक्थकं या भवशिष्यं । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रमोजोयतो भवेत् । ननु
आहारतो न्यूनः कथं न इत्युच्यते इति । केचित्कथयन्ति आधून्तापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते । अवमोदर्यं ॥
मूढारा — वचो इत्यादि—परमात्पुंश्रीमोवनावेकद्वयाविशानिकमेण यावदेकयासपरिद्धीन आहारोऽवमोदर्यं
तपः स्यात् । एवमिच्छ आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रमोजोयतो भवेत् । आधून्तापरिहारस्य
तपोहेतुत्वात् एतत्तप इत्युच्यते । एतदुणा यथा—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥

हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥

अर्थ—ह्री और पुरयोका जो ग्रासका परिमाण अट्टाईस और बत्तीस ग्रास कहा है उसमें एक ग्रास अव-
शिष्ट रहने तक जो कम करते जाना वह तप अवमोदर्यं तपही है, एक ग्रासमेंसे भी समान विभक्त किये हुये अर्द्ध
ग्रासतक भी इस तपके भेद होते हैं, और अर्द्धग्राससे कम करते करते एक सिक्थयतक भेद होते हैं, एक कवलसे
लेकर एक सिक्थतक जो भेद बतावे हैं वे अल्पाहारका केवल उपलक्षण है, क्योंकि केवल एक सिक्थ खानेके लिये
कोन उद्युक्त होगा, शंका—नून आहार करना यह तप कैसा समझा जायेगा, इसका उत्तर यह है कि अभिलाषसे
बहुत अब खानेका त्याग इस तपमें होता है अतः इसको तप कहते हैं,

रत्नपरिखानो निरुच्यते—

चत्वारि महाविष्यडीओ ह्येति णवणीदंमंज्जमंसमूहं ॥

कंलापसंगदप्पाऽंसजमकारीओ पुदाओ ॥ २१२ ॥

चतस्रो गृध्नुतासक्तिदर्पांसयमकारिणीः ॥

नवनीतसुरामांसमंघ्वाख्यां विह्वंतीविहुः ॥ २१२ ॥

त्रिजयोदया—चत्वारि महापियडीमो चतुर्धा महामण्डलकः । महत्याभरतसा विहृतः कश्चात्प्राप्तः । महामण्डलकः ।
 रदुच्यते । इति भवति । पाणीदमजमेसमह भवतीति, मधे, मांसे, मधु च । कीदृशकाः । कंथापसंगद्व्यासंजमकारीमो
 यमो । कांशा गाढ्ये, प्रसंगः पुन पुनस्तत्र पृच्छिः, दूषः दूषेन्द्रियता, असंयमः रसविषयानुपनात्मकः इन्द्रियासंयमः,
 रसजंजुपीडा प्राणासंयमः, पक्षान्दोषानिमाः कुर्वन्ति ।

रसपरित्यागं नाथार्पचकेनाचिरात्पुनर्वनीतादित्यागोऽपि रसपरित्यागाख्यं तप इति गाथाह्वयेन तमेव तावद-
 न्याचष्टे—

मूढात्—महाविषयीओ महत्याभेतसो विहृतेः कारणत्वात्तद्विहृतव्यवित्तविकारफारिरता इत्यर्थः । अत्र
 लयनीतं कांशाकारि गाढ्यर्जकं, मधे प्रसंगं पुनः पुनः अगम्यमनादिकं वा करोतीति प्रसंगकारि । मांसमिन्द्रियदर्शकं ।
 मधु रसविषयानुपनात्मकमिन्द्रियासंयमरसजंजुपीडात्मकप्राण्यसंयमं च करोतीत्यसंयमकं, चत्वार्येपि वा प्राणिपीडा
 कारिणी । पुणम् ।

कांशाठमयनीपमक्षमवसृण्मांसं प्रसंगमदं ।

मयं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं वयम् चत्वार्येपि ॥

समूच्छांतस्तवर्जंतुनिधितान्युभेभ्योविक्रिया— ।

हेतुत्वाद्येि वन्महाविकृतव्यस्यग्यान्वतो धार्मिकेः ॥

रसपरित्याग तपका निरूपण करते हैं—

अर्थ—ममस्वन, मदिरा, मांस और शहव ये चार पदार्थ महाविकृति अर्थात् अंतःकरणमें विकार उत्पन्न होने
 के लिये कारण हैं, ये चार पदार्थ मांशा-चार वार अभिलाष उत्पन्न करते हैं, इन्द्रियोंको उन्मत्त करते हैं, असंयमको
 उत्पन्न करते हैं, इतने दोष इनके सेवनेसे होते हैं, असंयमके दो भेद हैं, इन्द्रियासंयम और प्राणासंयम, स्वादमें अनु-
 राग उत्पन्न होना यह इन्द्रियासंयम है, और मदादिकोंके रसमें उत्पन्न हुये माणिओंका भक्षण करते समय घात होना
 यह प्राणासंयम है.

आणामिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ॥
तावो आवज्जावं णिज्जुद्धावो पुरा चेव ॥ २१४ ॥
महाविकारकारिण्यो भव्येन भवभीरुणा ॥

खिनाज्ञाकांक्षिणा त्वाज्या यावजीवं पुरैव ताः ॥ २१३ ॥

विजयोदया—आणामिकंखिणा अत्रैवं पदसदन-या-नो सा. महाविहृतया । आवज्जीवं जीवितार्थाधिकं । णिज्जुद्धावो परित्यक्ताः । पुरा चेव सहेषनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ताः ? आणामिकंखिणा—इदमित्यं त्वया कर्तव्यमिति कथं आसा । सर्वविधा भयिता भय्याः परित्याज्या भवनीतादयः । तदासेया असंयमः कर्मयंघदेतुरिति । अस्वामाहायां कोशचला आदर्यता संयशाऽन्तेपरमोदेव दुरंतसंसारमध्यपतनं ममासीद्रुचिष्यति च तेन तदाज्ञादरः कार्य इत्यभ्युचतेन । अवज्जभीरुणा अवर्धं पाप तेन । अवमर्थे. पापभीरुणा । तवन्ममाधिकामेण तपस्सेकाग्रतामभिलषता । अतो नयनीतस्यागोऽपि रसत्याग एव ।

मूढारा—आणामिकंखिणा नयनीतागुपयोगो द्रव्यभावविंसाभयस्यात् कर्मबर्बदेतुरिति नासौ कर्तव्य इति संयंशवत्त्वादावपता । तवसमाधिकामेण तपस्येकाग्रतामिच्छता । णिज्जुद्धावो परित्यक्ताः । पुरा येव सहेषनाकालात्पूर्वमेव । इसलिये—

अर्थ—भीजिनेश्वरने नयनीत, भय, मांस और मधु त्यागो ऐसी भव्योंको आज्ञा दी है. अतः आज्ञा पालनकी इच्छा रखतेवाले भव्य जीव सहेषना कालके पूर्व कालमेंही इनका त्याग करते हैं. इनका सेवन करनेसे संयम नष्ट होकर क्रमवंध करनेवाला असंयम उत्पन्न होता है. यदि मैं जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर न करूं तो जैसा आजतक संसारमें मैंने अग्रण किया है ऐसा आगेभी मेरेको अग्रण करना पड़ेगा. ऐसा विचार कर जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर करना चाहिये. जिसको पापसे भय लगता है, जो तपमें एकग्रताकी इच्छा करता है ऐसा मुनि इन पदार्थोंको त्यागे. नयनीतका त्याग करना भी रसत्याग नामक तप है.

इदं तु सहेषनाकाले ममेण त्यागो रसत्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

खीरदधिसापितेष्ठं गुहाण पसेगदो व सब्बेसिं ॥

णिज्जुद्धणमोगाहिम पणहुसणलेणमादीणं ॥ २१५ ॥

शुटतैलवधिश्रीरसर्पिणां धर्जने सति ॥
देवताः सर्वतो ज्ञेयं तपः साधो रसोज्ज्वलम् ॥ २१४ ॥

विजयोद्या—धीरदधिसन्धिगुहायं श्रीरस्य, वृजः, घृतस्य, तैलस्य, शुद्धस्य, च जिज्जुहूणे त्यागः । फधे
रजेगदो य मयेकं परैकस्य या द्यामः । सद्येति सर्वेषां वा क्षीरार्दीनां त्यागः । रसपरित्यागः । ओगादिम पणकुसण
लोजमार्दिनं अयूयानां, पत्रनाकानां, मृगस्य, लवणादीनां वा त्यागो रसपरित्यागः ।

इह ससेलनाकाले क्षीरादीनामेव त्यागो रसत्यागो गृहीतस्तमेवाचष्टे—

मूलादा—रोगदो परैकस्येव । यात्रलुक्तसमुच्चये । तेन यथायोग्यं द्वयोक्त्यानां चतुर्णां वेति आहं । जिज्जू
हूणं त्यागः । ओगादिमा मूतपूरादि । यण पूं पत्रनाकादि । कुशज सूयः ।

सहेखना कालमे क्षीरादिरूपा त्याग करना रसत्याग है. आचार्य उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ—दूध, दही, घी, तैल, शुद्ध इन सब रसोंका त्याग करना अथवा एक एक रसका त्याग करना यह
रसपरित्याग नामका तप है. जयवा पूष, पत्रशाक, दाल, नमक, योगेष्ट पदार्थोंका त्याग करना यह भी रसपरि-
त्याग नामका तप है.

अरसं च अण्वेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ॥

आर्यविलमायमोदणं च विगढोदणं चैव ॥ २१६ ॥

अशनं नरिसं शुद्धं शुक्कमस्वादु शतिलम् ॥

सुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ॥ २१५ ॥

विजयोद्या—अरतं च स्वादुरहितं । अण्वेलाकदं च वेल्डतरुतं च द्रीतलमिति यावत् । सुद्धोदणं च
लुक्खं च नुज्जितं च केतचिक्खमिधं । लुक्खं च रुधं च अग्निघताग्रतिपशुमेतेन स्थौनं विशिष्टमिति यावत् । आर्यविहं
धम्मरुत्तरीणीरमिधं । आयामोदणं मयसुरलजं सिक्खाज्जमिति केचिद्वदन्ति । यवसायणसहितमित्यन्ये । विगढोदणं
अतीत तीमणं । उप्पोदकसमिधं इत्यपरे ।

गूढारा—अरतं स्वादुरहितं । अण्वेलाकदं मोहनवेलाया अन्यस्यां वेलायां साधितं द्रीतलमिति यावत् ।

मुद्गोदण केवलभक्तं । आणविकल अस्तंस्त्वत्कालिकमिन्नमक्त । आयाभोदणं मंडोदणं स्तोत्रजलतिवत्थायं वा । निगडोदणं अवपक्त उष्णोदककूरं वा ।

अर्थ—अस अर्थात् स्वादुरहित पदार्थ, भोजन समयको छोड़कर अत्यसमयमें पकवा हुआ अर्थात् भोजन नके समयमें जो ठंडा हुआ है ऐसा पदार्थ, जिसमें घी वगैरह नहीं मिलाये है ऐसा भात, जिसका रस स्पर्श है ऐसा अन्न, जैसे रोटी वगैरे रुखा पदार्थ. असंस्कृत क्रांतीसे मिश्र ऐसा भात, आयाभोदण—जिसमें थोड़ा पानी है और सिफ़्य जोड़े है ऐसा भात, बहुत पका हुआ भात अथवा गरम जल जिसमें भिड़ा हुआ है ऐसा भात खाना चाहिये

इक्ष्वेवमादि विविहो णायच्चो हवदि रसपरिच्चाओ ॥

एस तवो भजिदब्बो विसेसदो सद्धिहंतेण ॥ २१७ ॥

येऽन्येऽपि केचनाहारा घृण्या विकृतिकारिणः ॥

ते सर्वे शक्तितस्याज्या योगिना रसवर्जिता ॥ २१६ ॥

संतोषो भगवित सम्मग्न द्रव्यचर्य मपातितम् ॥

दर्शितं त्वस्य वैराग्यं कुर्वणेन रसोज्झनम् ॥ २१७ ॥

विजयोदण—इक्ष्वमादिविविहो प्यमादिविविधो नागप्रकारे । णायच्चो हवदि रसपरिच्चाओ ज्ञातव्य सर्वेण रसपरित्याग । एस तवो भजिदब्बो एतद्रसपरित्यागाख्य तप । भजिदब्बो सेव्य । विसेसदो विशेषेण । सद्धिहंतेण फापसहेतुजना कुर्वता । आओ रखाण् ।

मूलार—इक्ष्वमादि धीरादित्यागादिप्रकाशुरस्तरा । विनेसदो अनक्षनादिभ्योऽविशयेन । सद्धिहंतेण कायसहेतुना कुर्वता ।

अर्थ—इत्यादि नानाप्रकारका रसपरित्याग जानना चाहिये यह रसपरित्याग नामका तप शरीरसहेतुना करनेवाले मुनिको विशेषरीतीसे करना चाहिये. अर्थात् अनक्षनादि तपोंकी अपेक्षा यह तप अधिकतोसे करना चाहिये रसपरित्याग तपका स्वरूपवर्णन समाप्त हुआ

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुचियं च पेलवियं ॥
संवूकावट्टं पि य पदंगवीधी य गोयरिया ॥ २१८ ॥
युह्वाति प्रासुकां भिक्षां गत्वा प्रत्यगतो यतः ॥
शब्बूकावर्तगोमूत्रपुटेषु शालभायनः ॥ २१७ ॥

विजयोदया—गत्तापच्चागदं । यथा वीथ्या गतः पूर्वं तथैव प्रत्यागत्य कुर्वन्त्यदि लभते भिक्षां युह्वाति नाभ्यथा । उज्जुवीहि अन्ध्या वीथ्या गतो यदि लभते युह्वाति नेतरथा । गोमूत्रिकाकारं भ्रमणं वा संपादयन् । पेलविगं यंशदलादि-
विभक्तिर्यादितं यत्तुसुवर्णादिनिक्षेपणार्थं विधानसहितं यत्तद्वस्तुस्वाकारं भ्रमणं । संवूकावट्टं पि यंशवूकावर्तं इव । पदंगवी-
धी य पदंगमान्ता पदंगवीधीतुच्यते । सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं । गोयरिया । गोचर्या भिक्षायां भ्रमणं । एवंयूतेन
भ्रमणेन लब्धां भिक्षां युह्वाति नान्ययेति कृतसंकरणा वृत्तिपरिसंस्थानं ।

मूढारा—गत्तापच्चागदं । यथा वीथ्यागतस्तथैव प्रत्यागच्छन्त्यदि भिक्षां लभते तत्रा गृह्णाति इति । उज्जुविही
शालया शालया वीथ्या मार्गेण यदि गतो लभते तत्रा गृह्णाति । गोमुचियं । गोमूत्रिकाकारं भिक्षार्थं भ्रमणं । पेलवियं
पेटान्तर्यदुरत्तं भ्रमणं । संवूकावट्टं शंखकवचवन्तरमायत्तं यदि भ्रमणं भिक्षाग्रहणं । पदंगवीधी पदंगमालावदित-
रत्नो भ्रमणं, एकरिमन्त्रेन कटाक्षितगूदे गमनं वा । गोयरिया वीथ्यं यथागत्तापच्चागदप्रवृत्तिभित्त्यर्थः ।

शुचिपरिसंस्थान तपका निरूपण आचार्य चार माथाओमि करते हैं—

अर्थ—सिद्ध मार्गसे आहारके लिये गमन कर उसी मार्गसे लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं
ग्रहण करूँ ऐसी प्रतिज्ञा करना बह गतप्रत्यागत है. सरल रास्तेसे आते समय यदि आहार मिलेगा तो आहारग्रहण
करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. वह मनुष्यीही है. बेल घूतते जाता है उस समय जो आकार रस्तेपर उत्पन्न होता
है ऐसा मोठा खाते हुये भ्रमण करनेवाले भेरेको यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूँ ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको
गोभूचिक कहते हैं. नासके दुकड़े, लकड़ी इत्यादिते बनाना हुआ और जिसमें दहन लगा हुआ है ऐसा वस्त्र सुव-
र्णादि रखनेका जो चार कोनोंका पदार्थ अर्थात् संदूक-पेटीके समान चतुष्कोण भ्रमण करते हुए भेरेको यदि आहार
मिलेगा तो ग्रहण करूँ ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको पेलविय कहते हैं. शंखके आवतोंके समान ग्रामके अंदर भ्रमण

करके जब बाहर अमण करूंगा ऐसे समयमें यदि मिखा मिलेगी तो स्वीकारूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह शंभू कावर्त है.

पक्षिओंकी पंक्ति जैसे अमण करती है वैसा अमण करते हुए मेरेको यदि मिखा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञाको पतंगवीथी कहते हैं. अबका विस आनकके घरमें आहार लेनेका मतमें विचार किया है वहाँ जाना इसको भी पतंगवीथी कहते हैं. इस प्रकारसे आहारार्थ अमण करनेसे यदि मिखा मिलेगी तो स्वीकारूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह इत्तिपरिसंख्यान सय है.

पाडयणियंसणभिक्षा परिमाणं दत्तिवासपरिमाणं ॥

पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥ २१९ ॥

पाटकावसथद्धारपाटुवेपादिगोचरम् ॥

संकल्पं विविधं कृत्वा वृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥ २१८ ॥

तद्वत्ता वृत्तिसंख्यां परेषां दुश्चरं तपः ॥ २१९ ॥

कुर्वता वृत्तिसंख्यां परेषां दुश्चरं तपः ॥ २१९ ॥

विजयपेक्षाः—पाडयणियंसणभिक्षापरिमाणं इमं एव पाटकं प्रविश्य लक्षां भिक्षां गृह्णामि मान्यं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेवेति । अथ गृहस्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि न शुद्धमित्यमभिग्रहः शिवेस्सणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति । अपरे पाटकाभूमिमेव प्रविशामि न पाटगृह्णाणि इति संकल्पः पाडयणियंसणमित्युच्यते इति कथयन्ति । भिक्षापरिमाणं एकां भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकास्मिन्ति । दत्तिवासपरिमाणं एकमेव दीयमानं ज्ञाप्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं । आनीतायामपि भिक्षायां इत्यत एव आसन्नगृह्णामि इति वा परिमाणं । पिंडेसणा पिंडभूतमेवाशनं गृह्णामि । पाणेसणाभो द्रव्यगुह्यतया यत्पीयते अन्नार्थं । जागूय यत्तागूः । पोम्गलिया वा धान्यान्त्येव निष्पावचनक्रमसूत्रकादीनि भक्ष्यामि इति ।

गुलारा—पाडयणियंसणपरिमाणं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेव वा प्रविश्य भिक्षाग्रहण । निवसनपरिमाणं यदि वा अथ गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहं इत्येवंशब्देन भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणं । अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृह्णाणीति भिक्षासंकल्पं पाटकनिवसनपरिमाणमाहुः । भिक्षापरिमाणं एकद्विचारपरिवेष्टित

मित्राभ्याम् । इत्थिपासपरिमार्णं एकैव दायकेन द्वाभ्यां वा दीयमानस्य ग्रहणं दक्षिपरिमाणं । आनीताभ्यामपि मिश्रायां द्रवत एव प्रासान् ग्रीहीष्यामि इति पासपरिमाणं । पिबेत्तपाजो पिबभूतमेव अशनं युद्धाभि न पानमिति । पाणेषणाजो-द्रवमेवाशनं युहामि न पिबमिति । चागूय यवागूः । पोगलिया धान्यान्त्येव निष्पावचणकादीनि मिश्रायामिति । त्रिषमित्यन्त्यः ।

अर्थ—इसही पाटकमें प्रवेश कर मिली हुई मिश्रा में ग्रहण करूंगा दूसरे पाटकमें मैं आहारार्थ जाऊंगा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. अथवा मैं एक पाटकमें अथवा दोन पाटकोंमें मिश्रा मिलनेपर ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. इस घरके परिकरकी भूमीमें यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूँ घरमें प्रवेश न करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. इसको नियमन कहते हैं. पाटककी भूमिपर ही आहार मिलेगा तो मैं आहार स्वीकारूंगा परंतु पाटकके घरोंमें प्रवेश नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना इसको पाटकनियमन परिमाण कहते हैं. एकदफे अथवा दो दफे जो अन्न परोसा है उसनाही मैं ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं यह मिश्रापरिमाण है. एक दाता अथवा दोन दाताओंने दिया हुआ अन्न ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह दातृपरिमाण संकल्प है. दाताने देनेके लिये मिश्रा लाने पर भी इतने ही श्रास मैं स्वी करूंगा इस तरह का संकल्प करना यह दासपरिमाण संकल्प है. पितरूप जो अन्न है वही मैं ग्रहण करूंगा द्रवरूप पदारथ ग्रहण न करूंगा ऐसा संकल्प करना यह विदेपणासंकल्प है. द्रवरूप अन्नही मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना, आप्रदेपणासंकल्प कहते हैं. रचही इत्यादि जो पतली भी नहीं और पितरूप भी नहीं है वह भक्षण करूँ ऐसा संकल्प करना. पावटे, घना, मधुर इत्यादि धान्यरूप अन्न ही मैं ग्रहण करूंगा ऐसा संकल्प करना ये सब दृष्टिपरिसंख्यान तपके धेद हैं.

संसिद्ध फलिह परिखा पुष्कोवहिदं व सुहृगोवहिदं ॥

लेवडमलेवडं पाणयं च णिसिस्त्यगमसित्यं ॥ २२० ॥

पिजयोदपा—संसिद्ध शाककुट्टमाणादिसंखटमेव । फलिह संमत्तदवस्थितदाकं मध्यावस्थितौदकं । परिखा व्यंजनमध्यावस्थितान्नं । पुष्कोवहिदं च व्यंजनमध्ये पुष्पशालिरिव अवस्थितसिक्त्यं । सुहृगोवहिदं । शुद्धेन निष्पावादिमि-रमिधेपानेन उवहिदं सरदृष्टं शाकच्यंजनमादिकं । लेवडं हस्तलेपकारि । अलेवडं यच्च हस्तो न सञ्चति । पाणयं पानं च फीटक् ? णिसिस्त्यगमसित्यं सिक्त्यरहितं पानं तत्सहितं च ।

करके जब चाहर भ्रमण करूंगा ऐसे समयमें यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकारूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह श्रुत कावर्त है.

पक्षिजैकी पंक्ति जैते भ्रमण करती है वैसा भ्रमण करते हुए मेरेको यदि भिक्षा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञाको पतंगवीथी कहते हैं. जयवा जिस आवाकके घरमें आहार लेनेका मनसे विचार किया है वहां जाना इसको भी पतंगवीथी कहते हैं. इस प्रकारसे आहारार्थ भ्रमण करनेसे यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकारूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह वृत्तिपरिसंख्यान तप है.

पाण्डयणियंसणभिक्षत्वा परिमाणं वृत्तिचासपरिमाणं ।।

पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुगलया ॥ २१९ ॥

पाटकावसथदारदाणुदेयाविगोचरम् ॥

संकरूपं विविधं कृत्या दृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥ २१८ ॥

तूना तुष्णालना रुढा विन्नसंकल्पपल्लवा ॥

कुर्वता दृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चारं तपः ॥ २१९ ॥

विजयेवया!—पाण्डयणियंसणभिक्षापरिमाणं इत्थं एव पाटकं प्रविश्य लब्धं भिक्षां गृह्णामि नाभ्यं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेति । अथ गृहस्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहमित्यभिमिश्रः पिंडेसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति । अपरं पाटकं भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति संकल्पः पाण्डयणियांसणमित्युच्यते इति कथयन्ति । भिक्षापरिमाणं एतां भिक्षां दे एष वा गृह्णामि नाधिकाभिति । वृत्तिचासपरिमाणं एकेनैव दीपमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिसङ्गं । आनीतायामपि भिक्षायां इत्यत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाणं । पिंडेसणा पिंडभूतमेवाशनं गृह्णामि । पाणेसणाओ प्रवयद्गुलतया यत्पीयते अन्नं । जागूय यवाङ्गः । पोम्बलिया वा धान्यान्त्येव निष्पावकणतमसूतसदीनि भक्षयामि इति ।

मूलरा—पाण्डयणियंसणपरिमाणं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेव वा प्रविश्य सिद्धावहण । निवसनपरिमाणं यदि वा धारय गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहं इत्येवंप्रवेण भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणं । अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति भिक्षासंकल्पं पाटकनिवसनपरिमाणमाहुः । भिक्षापरिमाण एकद्विद्वारपरिवेष्टित

मूलारा—अभिगमहो अवग्रहः । स च पात्रस्य यथा । एवभूतेनैव सौमर्गान्वयवमेन भाजनेनानीतं गृह्णाभीति ।
दायकस्य यथा—स्वियंयानीतं गृह्णाभि तत्रापि चालया, युवत्या, वृद्धया, सांकास्या, आक्षय्या, राजपुत्र्या वेत्येवमादिः ।

अर्थ—यदि मुरगपात्र, कासेका पात्र, रूपेका पात्र अथवा मड़ीकापात्र इससे दाता आहार दे तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना दायक—यदि स्त्री अर्थात् चालिका, तृणी, वृद्धा इनमेंसे किसी एक निवृत्त स्त्रीने आहार दिया तो ग्रहण करूंगा। अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना। यदि कोई स्त्री भूषणरहित होगी अथवा ब्राह्मणी या राजकन्या होगी तो यदि वह आहार देगी तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना इत्यादि नाना प्रकारके नियम करना उसको वृत्तिपरिसे स्थान नायका तप कहते हैं।

दायकेश्वरानिरूपणयोगोत्तरप्रबंधः—

अणुसूरी पडिसूरी य उडुसूरी य तिरियसूरी य ॥

उब्भागोण य गमणं पडिआगमणं च गंतुणं ॥ २२२ ॥

तिर्यगर्गसुपर्यकमन्यकं प्रतिभास्करम् ॥

यति आमान्तरं गत्वा प्रत्यागच्छति ॥ यतिः ॥ २२० ॥

विजयोक्ता—अणुसूरी पूर्वस्या दिवा पश्चिमाशागमनं पुरुषतये दिने । पडिसूरी अपरस्या दिवा आदित्याभि-
मुख गमन । उडुसूरी य उर्गं गते सूर्ये गमनं । तिरियसूरी य तिर्यगवस्थितं विषकटे कृत्वा गमनं । उब्भागमेण गमणं स्ना-
पयित्वा आमादयामांतरं प्रति मिश्रार्थं गमन । पडिआगमणं च गतूणं प्रत्यागमनं च गत्वा स्थाने ।

चायकेश्वरयो गमनस्थानासनशयनानिष्ठीयनानिष्ठीयनानिष्ठेन गायपदेकैवाचष्टेः—

मूलारा—अणुसूरिं अनुसूर्यं, सूर्यं पश्चात्कृत्वा गतं । पडिसूरिं सुगंभिमुखं गमनं । उडुसूरिं चर्द्धं गते सूर्ये

गमनं । तिरियसूरिं सूर्यं पार्श्वे कृत्वा गमनं । उब्भागमेण गमणं उब्भागमेण गमनं उब्भागमेण आमाद्रामांतरे उडुनेन अपि कस्य
गमनं । पडित्यादि आमातरं गत्वा पुनस्तत्रैवागमनम् ।

चायकेश्वरानिरूपणार्थं आमेका प्रबंधं लिखते हैं—

अर्थ—जिस दिन कड़ी धूप पड़ती है उस दिन पूर्व दिशामें पश्चिमदिशाके तरफ जाना, अनुसूरिगमन है पडिसूरी-

मूला—संविष्टं व्यञ्जनसंमिश्रं, फलित्वा व्यञ्जनैकपात्रसंस्थितौदनं । परिष्ठा व्यञ्जनमप्यसिधत्तकूरं । पुष्पोपहितं पुष्पप्रकरवत्प्रधानमध्यर्धीर्णसिक्कयकं । सुदुग्धोपहितं शुद्धेन निम्बपाद्यसंयुक्तोन्नतेनोपहितं संसृष्टं शाकजं जनादिकं वा । यदि वा शुद्धेन केन जलेनोपहितं कूरं । लेबडं हस्तेलपकारि घोलार्दिकं । जलेबटं हस्तोलेपकारि माषिनादिकं । पाणतं द्राक्षादिसोषितं पानकं । तत्र निगसिक्कयं ससिक्कयं वा । भोज्यतया कल्पयति ।

अर्थ—आक और गुल्माप अर्थात् कुलरथादिक धान्योसे मिश्रित अन्नको संसृष्ट कहते हैं। इस प्रकारका अन्न यदि मिले तो आहार करुंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना। फलित्वा—आलीके मध्यमें भात रखकर उसके चारों तरफ भाजी रखना ऐसी रचनाको फलित्वा कहते हैं। इस तरहकी आकृतीका आहार यदि मिले तो ग्रहण करुंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना। परिष्ठा—मध्यमें अन्न रखकर आसमंतात् व्यञ्जन रखना उसको परित्व कहते हैं। इस प्रकार का अन्न यदि मिले तो आहार करुंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना।

पुष्पोपहितं—व्यञ्जनोके बीचमें पुष्पोंके समान अन्नकी रचना करना उसको पुष्पोपहित कहते हैं। ऐसी रचना किया हुआ आहार यदि मिले तो लेनेकी प्रतिज्ञा करना, जिसमें मठ इत्यादि धान्यका मिश्रण नहीं है परंतु जिसमें भाजी और व्यञ्जन—चटनी वगैरे पदार्थ मिले हुये हैं उसको शुद्ध गोपहित कहते हैं उसकी प्रतिज्ञा करना। लेबड—द्राघको विपकने वाला अन्न लेनेकी प्रतिज्ञा करना—अलेबड—ओ हाथको नहीं विपकता है ऐसा आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना। पान—सिक्कयहित अथवा सिक्कयसहित आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना।

पचस्त दायमास्त य अवगहो बहुविहो ससत्चीए ॥

इचेवमादिविधिणा णादब्बा वुत्तिपरिसंखा ॥ २२१ ॥

विजयोदया—पचस्त एवंयलेन माज्जेवैकस्मीतं सुद्धाणि सौवर्णेन, कंसपात्र्या, राजतेज स्पृमयेन वा । दाय-मास्त य स्मिदैव तत्रापि यादया, शुक्ला, स्वधिरया, निरलेकारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या हलेवमादि अग्निग्रहोऽयग्रहः । बहु-विहो बहुविधः । ससत्चीए लघाफला । इचेवमादि एवंयकात् विविधा विधिषा । भावज्जा मातव्या- । वुत्तिपरिसंख्या वृत्ति-परिसंख्या ॥

समपलियंक णिसेज्जा समपदगोदोहिया य उज्झडिया ॥
मगरसुह हत्थिसुंढी गोणणिसेज्जकपालियंका ॥ २२४ ॥
पर्यकमद्धपर्यकं वीरपच्चागवासाननम् ॥

आसनं हस्तिशुंडं च गोदोहमकराननम् ॥ २२२ ॥

विजयोदयः—समपलियंकणिसेज्जा सम्यक्पर्यंकनिपद्या । समपदं स्तिर्गुण्डसमकरणेनासनं । गोदोहिया गो-
दोहने आसतनिवासनं । उज्झडिगा ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । मगरसुह मकरस्य मुखाविव कृत्वा पादवयस्थानं । हत्थिसुंढी
हस्तिहस्तप्रसारणमिय एकं पादं प्रसार्योत्तरे । हस्तं प्रसार्योत्तरे । गोणणिसेज्ज अक्षपलियंकं गोनिपद्या गवागमसनमित्य
अर्द्धपर्यंकं ।

एवं श्यामयोगीं निरुज्जासनयोगीं निरूपयति —

मूलाय — संपलियंकणिसगजा सम्यक्पर्यंकासनं । समपुवं स्तिर्गुण्डसमकरणेनासनं । गोदोहिया गोदोहे वा-
सतमिय पल्लिगद्वयसुस्थित्याग्नवाधान्यामासनम् । उज्झडिगा युताभ्यां भूमिस्थदन्तः समवाधान्यमासनं । मगरसुह मकरस्य
मुखाविव कृत्वा पादावासनं । हत्थिसुंढी हस्तिहस्तप्रसारणमिय एकं पादं संकोच्य यक्षुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्योत्तरे ।
एकं हस्तं प्रसार्योत्तरे । गोणिसेज्जा जंघाद्वयं संकोच्य गोदोहमासनं । अक्षपलियंकं अर्द्धपर्यंकासनं गोनिपद्येय गवागम-
मिवार्द्धपर्यंकमिति व्याचष्टे ।

आसनयोगिका वर्णन—

अथ—उत्तम पर्यंकासनं वैठना उसको पर्यंकनिपद्या कहते हैं. समपद—जंघा और कटिभागको समान
करके बैठना. गोदोहिया—गायको दोहनेके समय जैसा बैठते हैं उस पद्धतीसे बैठना उत्कुटिकासन—जमीनको स्पर्श
न हो इस रीतीसे समान पावोंपर बैठना वह उत्कुटिकासन है.

मगरसुह—मगरके मुलसमान पावोंकी आकृति कर बैठना. हत्थिसुंढी—हाथी जैसे अपनी सुंडको पसार-
ता है तद्वत् एक पांच पसारकर बैठना. एक हाथ पसारकर बैठनेको गी यही नाम है. गोणिसेज्ज—गवागमन और
अर्द्धपर्यंकासन ये सब बैठकर सम्यक्ज्ञान तप करनेके प्रकार हैं.

पश्चिमदिशि पूर्व दिशाको जाना. अर्थात् सूर्यके सम्मुख गमन करना. उडुक्षुरि—सूर्य जब रास्तकपर चढ़ता है ऐसे समयमें गमन करना. तिरियक्षुरि—सूर्यको तिरिक् करके गमन करना, उन्धायामेण गमणं—स्वयं ठहरे हुए ग्रामसे दूसरे गांवको निर्धांति न लेकर आहारके लिये गमन करना. और जाकर स्वस्थानको जाना यह सब गमनरूप ज्ञायद्देश उप है.

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तदेव दोसट्टं ॥

समपादमेगपादं मिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥ २२३ ॥

सावष्टयं तनूत्सर्गं ससंकममसंक्रमम् ॥

शुद्धोद्गुनिमचस्थानं समपादैकपादकम् ॥ २२१ ॥

चित्रयोत्पत्त्या—साधारणं प्रशुद्धस्तंभाविकमुपाधित्य स्थानं । सवीचारं ससंकमं पूर्वोक्तस्थितौ देशाद्वत्त्वापि स्थानितस्थानं । सणिरुद्धं मिद्धलमवस्थानं । तदेव तथैव । दोसट्टं कायोत्सर्गः । समपादौ समी पादौ कृत्वा स्थानं । एगपादं एकैव पादैव भवस्थानं । मिद्धोलीणं रुद्धस्योद्वेगगमनमिव पादू प्रसाययंस्थानं ।

मूलारा—साधारणं प्रशुद्धं श्वंभादिकमवष्टय्य स्थानं उद्गस्यावस्थानं । सविचारं ससंकमं । पूर्वस्थानात् स्थानांतरे गत्वा प्रहरदिवसादिपरिच्छेदेन तत्स्थानमित्यर्थः । सणिरुद्धं मिद्धलं वनैवावस्थानं । दोसट्टं कायोत्सर्गं । सप्तपायं सप्तौ पादौ तत्त्वा स्थानं । एगपायं एकैकेन पादेनावस्थानं । मिद्धोलीनं शुद्धस्योद्वेगगमनमिव पादू प्रसाययंस्थानम् ।

स्थानयोगता निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्वच्छ स्तंभ वा भीति इत्यादिकोंका आश्रय लेकर खड़े होना यह साधारण कार्यकुशल है. सविचार-पूर्वस्थानमें स्थानान्तरको जाकर यहाँ एक पहर, एकदिवस वगैरह प्रमाणसे खड़े होना. स्वस्थानमें ही निश्चल खड़े रहना. यह मंनिकुद्ध है. दोसट्टं—कायोत्सर्ग करना. समपाद—पाँच भूमिपर समान रखकर खड़े होना. एकपाद—एक पाँचमेंही खड़े रहना. मिद्धोलीणं—गीघपक्षी जैसा आकाशमें उड़ते समय अपने पंख फैलाता है वैसा चाहू फैलाना मंन होना.

समपलियंक गिसेज्जा समपदगोदोहिया य उज्झडिया ॥
मगरमुह हत्थिसुंदी गोणसिसेज्जपलियंका ॥ २२४ ॥
पर्यंकमद्धपर्यंकं वीरपद्मगवासानम् ॥

आसनं हस्तिशुंडं च गोदोहमकराननम् ॥ २२२ ॥

विजयोदया—समपलियंकगिसेज्जा सम्यक्पर्यंकनियथा । समपदं स्तिरूपिण्डसमकरणेनासनं । गोदोहिया गो-
दोहमे आसनमिथासनं । उज्झडिया ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । मगरमुह मकरस्य मुखमिव कृत्या पादावस्थानं । हत्थिसुंदी
हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्योसनं । हस्ते प्रसार्येष्टपरं । गोणसिसेज्ज अद्धपलियंकं गोनिपया गवामासनमिव
अद्धपर्यंकं ।

एवं स्थानयोगं निरूप्यासनयोगं निरूपयति —

मूलाए—संपलियंकणिसरग्जा सव्यकपर्यंकासनं । समपुदं स्तिरूपिण्डसमकरणेनासनं । गोदोहिया गोदोहे आ-
सनमिव पालिण्डयमुखिपद्मगवासानम् । उज्झडिया युताभ्यां भूमिमस्पृशतः समपत्वाभ्यामासनं । मगरमुह मकरस्य
मुखमिव कृत्या पादायासनं । हत्थिसुंदी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं संकोच्य तदुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्योसनं ।
एकं हस्त्वं प्रसार्येष्टपरं । गोबिसेज्जा जंभाद्वयं संकोच्य गोरिवासनं । अद्धपलियंकं अद्धपर्यंकासनं गोविपयेव गवासान-
मिवाद्धपर्यंकमिति व्याचष्टे ।

आसनयोगका वर्णन—

अथ—उत्तम पर्यंकासनसे बैठना उत्तमो पर्यंकनियथा कहते हैं. समपद—जंघा और कटिभागको समान
करके बैठना. गोदोहिया—गायको दोहनेके समय जैसा बैठते हैं व्जा पद्वतीसे बैठना उत्कृष्टिकासन—जमीनको स्पर्श
न हो इस रीतीसे समान पावोंपर बैठना वह उत्कृष्टिकासन है.

मगरमुह—मगरके मुखसमान पांवोंकी आकृति कर बैठना. हत्थिसुंदी—हाथी जैसे अपनी शुंडको पसार-
ता है वद्वत् एक पांव पसारकर बैठना. एक हाथ पसारकर बैठनेको यी यही नाम है. गोबिसेज्ज—मधुमस्र और
अद्धपर्यंकासन ये सब बैठकर कायछेद्य तप करनेके प्रकार हैं.

वीरासनं च दंडा य उद्धुसाई य लगडसाई य ॥
 उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥ २२५ ॥
 समस्फिगं समस्फिगं कृत्यं कुक्कुटकासनम् ॥
 बहुधेत्यासनं साधोः कायकेशविवायिनः ॥ २२६ ॥
 फोदंडलगडादंडसावशय्यापुरस्सरम् ॥
 फर्तन्या बहुधा शय्या शरीरकेशकारिणा ॥ २२७ ॥

विजयोदया—वीरासन अथे विमरुदेदो कृत्वासनं । दंडवदायनं शरीरं कृत्वा शयनं । स्थित्या शयनं च
 अर्चयंशायीत्युच्यते । लगडसाई संकुचितगान्धव शयनं । उत्ताणो उत्तानं शयनं । अयनस्तकशयनं एकपाश्वर्यशयनं च ।
 मूढारा—वीरासनं कट्टयुषेपरि पादद्वयविन्यासः । अथे विमरुदेदो कृत्वासनमिति टीकाकृत । इतःशयन-
 भेदानाह—दंडापचोद्धुसाई दंडवदायनं शरीरं कृत्वा शेते इत्येवं मतं यस्य स दंडापवशाया साधुस्तत्साहचर्यास्तच्छुभ
 नमपि तथोक्तं दंडापवदायनमित्यर्थः । एवमुद्धुसाय्यादीनामपि श्रुत्यदिः कार्यो, चक्रीभूयशयनमूर्द्धुसायी । लगडसाई
 संकुचितरराग्न्य शयनं । कर्तामेत्यादि—उत्तानस्य शयनं दणानशयनं । अवमस्तकशयनमधोमुखदानं । एकपाश्वर्यशयनं
 च । मडयसाई दृढकस्थेन निश्चिदं शयनम् ।

अर्थ—वीरासन-दो जपाये दूर अन्तर पर स्थापन कर बैठना. दंडापव शयन-दंडके समान शरीर दीर्घ
 कर मोना. खंडे होकर शयन करना. लगडसायी-अवयवोंका संकोच कर शयन करना. मुंह ऊपर कर सोना वह
 उत्तानशयन है. मस्तक नीचे करके सोना अग्रमस्तकशयन है और एक बाजुसे सोना वह एक पाश्वर्यशयन है.

अवभावागससयणं अणिद्रुवणा अकंडुगं चेवं ॥
 तणफलयसित्ताभूमी सेज्जा तह केसलोचै य ॥ २२६ ॥
 काष्टादमत्तुणभूशय्या दिवानिद्राविपर्ययः ॥
 दुर्परात्रावकाशादियोगवित्तयचारणम् ॥ २२७ ॥

विजयोद्या—अन्नाद्यगासस्येणं वहिर्निरावरणदेशे शयनं । अपिष्टिवर्णं निष्टीवर्णकरणं । अर्कद्वयणं च अर्कद्वयनं । तपफलगविलासमीसेज्जा तृणादिषु शय्या । तदा तथा । कैसत्तोयो य केष्ठलोचक्ष्य ।

मूक्षारा—अन्नाद्यगासस्येणं वहिर्निरावरणदेशे शयनं । इतः केष्ठलोचक्ष्य—अपिष्टिवर्णं निष्टीवर्णकरणं । अर्कद्वयणं । अर्कद्वयनं ।

अर्थ—बाह्य आवरणरहित जमीनपर शयन करना वह अन्नाद्यगास शयन है. अनिष्टीवर्णक—नहीं धूकना. अर्कद्वयन—अंगमें सुजली उत्पन्न होनेपर भी नहीं खुजालना. तृण, काठका फलक, शिला इत्यादिकोपर शयन करना तथा केष्ठलोच करना.

अम्बुदुणं च रादो अण्हाणमदंतघोषणं चैव ॥

कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥ २२७ ॥

दंतयावनकंङ्कमिस्नाननिष्टीवर्णासनम् ॥

यामिनीजामरो लोचः कायक्लेशोऽयमीरितः ॥ २२६ ॥

सूत्रातुसारतः साधोः कायक्लेशं वितन्वतः ॥

चित्तिताः संपदः सर्वाः संप्रयंते करस्थिताः ॥ २२७ ॥

विजयोद्या—अम्बुदुणं च रादो रात्रायशयनं अगारणमित्यर्थः । अण्हाणं अन्नम् । अर्कद्वयणं चैव दंतानाम-घोषणं । कायकिलेसो कायक्लेशः । एसो एषः । सीदुण्हादावणादी य । शीततपनमुष्ण-तपनमित्येवमादिकं ।

मूक्षारा—अम्बुदुणं रादो रात्रायशयनं । बोत्राप्यर्थे मित्रप्रभो योज ४ः । सीदुण्हादावणादीष्वि क्षीतेनतापेन च समंतात्कायस्य क्लेशान् । आदिशब्देन घृष्टिक्लेशादि ॥

अर्थ—रातमें जागरण करना, स्नान नहीं करना, दांत घोटना त्याग करना. ये सब कायक्लेशके प्रकार हैं. शीतकालमें कायक्लेश करना और घूममें घरीरको क्लेश करना. इत्यादिरूपसे कायक्लेश तप अनेक प्रकार का है.

विचिक्तशयनासननिरूपणा—

जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सहरसरूवगंगफासेहिं ॥

सञ्झायज्जाणवाधादो वा वसधी विधिंवा सां ॥ २१८ ॥

विचिक्तवसतिः सास्ति यस्यां रूपरसादिभिः ॥

संपयते न संक्षेपो न द्यानाध्ययने क्षतिः ॥ २१९ ॥

विमर्षोदया—जत्थ ण सोत्तिग यस्यां यस्ततो न विद्यतेऽशुभपरिणामः । सहरसरूवगंगफासेहिं शब्दरसरूपगंध-
स्पर्शः कारणभूतैः मनोद्वैरजनोद्भवैः । सा विधिंवा यस्तथी विचिक्ता वसतिः । सञ्झायज्जाणवाधादो स्वाध्यायध्यानयोग्यो-
पातो वा नास्ति सा चिपिका भवति ।

विचिक्तशय्याख्यं तयो गाथापंचकेन न्याचक्ष्ण प्रथमं विचिक्तवसतिं सांभान्कलेक्षणमाह—

मूढार—विमोक्षिणा अशुभपरिणामो रागद्वेषमोहात्मकसंक्षेपरूपः । आपादो विनाशः ।

विचिक्तशयनासनतपका वर्ज्यम करोते हि—

अर्थ—जिस वसतिफलमें मनोहर और अमनोहर ऐसे स्वर्ग, रस, गंध, रूप और शब्दोंसे अशुभ परिणाम
नहीं होते हैं वह वसतिफला रहनेके लिये योग्य है, तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यानमें विघ्न नहीं होता है वह वस-
तिका सुनिर्जोको रहनेके लिये योग्य होती है, ऐसी वसतिफलाको विचिक्तवसतिका कहना चाहिये.

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा ॥

इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उत्तिणाए ॥ २२० ॥

अंतर्बहिर्भवां शय्यां विकटां चिपमां समाम् ॥

वांछन्नविकटां सेब्बां रामापंदपञ्चुल्लिताम् ॥ २२१ ॥

विजयोदया—वियडाए उच्छादितद्वारायां । अवियडाए अनुच्छादितद्वारायां वा । समविसमाए समभूमिसमन्वि-
तायां चिपमभूमिसमन्वितायां । बहिं च यदिभूमि वा । अंतो वा अभ्यंतरे वा । इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए स्त्रीभिर्नपुंसकैः
पनुमिअ यजित्तायां वसतो । सीदए श्रीतायां । उत्तिणाए उष्ण्यायां ।

वा । यद्विद्यं बहिर्यो । प्रामनगरावेरिति शेषः ।

अर्थ—जिनके द्वार खुले हैं अपना जिसके दरवाजे बंदे झुके हैं जो समभूमितरहित हैं जो विषमभूमि नदित हैं जो पाल भागमें है अपना अन्तभागमें है जो स्त्री, पुरुष और नपुंसकवर्जित है जो शीत और उष्ण है यह यमसिना विभिन्न बसतिग्राह है।

उरगमउप्यादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ॥

वसन्दि अंससत्ताणु णिप्पाहडियाणु सेज्जाणु ॥ २३० ॥

उद्गमोत्पादनायलभाषोपमुक्तमपक्रियां ॥

अविचिरजनागम्यां गृहशद्यावियर्जितां ॥ ३३० ॥

[illegible]

विषमचारितमनश्चितिमिति । दूरदेशादग्रामान्त्यप्राद्वनीतमनश्चितं इत्यन्वयः । इष्टादिभिः, मृत्पिष्टेन, वृत्ता, कथा-
ट्टेनोपलेन वा स्मृतं अर्पनीय दीयते यद्यदुद्दिष्टं । निधेय्यविभिन्नराश्या इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते
द्वितीया स्त्रीया वा अग्निः ॥ मा मातादौदमित्युच्यते । राजाभत्यादिभिर्मयमुपदर्शं परकीयं यदीयते तदुच्यते अल्लेखं
एति । अनिष्टं पुनर्द्विष्यं । गृहस्थमग्निना अनियुक्तेन वा दीयते वसतिः यत्स्याग्निनापि पात्रेन परशशर्वातेना दीयते सो-
म्यव्यभिचारेति उच्यते । उग्रमद्वोया निरूपिताः ।

उपयजनद्वोया निरूपयन्ते—यैवतिथानां धात्रीकर्मणां यन्मतेनोत्पादिता वसतिः । काचिद्धारकं जपयति, भूय-
यति, श्रीदयति, आराधयति, व्यापयति वा । यसत्यर्थेभ्योत्पादिता वसतिर्चात्रीद्वोयपुष्टा । ग्रामाभ्यराधारात्तदा देशादन्व-
येदानीं वा संवर्धनां यातोमभिधास्योत्पादिता इत्येकमौत्पादिता । मंगं, सरो, व्यंजनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वप्नोऽन्तरिक्ष-
मिति एवंभूतानिमित्तोपदेशेन कथं वसतिर्निश्चितशेषोपुष्टा । आत्मनो जातिं, कुलं, वैश्वं वाभिधाव स्यमाहारस्यप्रकटनेनो-
त्पादिता वसतिरादीवराधेनोच्यते । भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पुष्टो न भवती-
त्युक्ते गृहिजनः प्रतिफलवचनगुणो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा पणिगवा राज्येनोच्यते ।
अप्युपिषया चिकित्साया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । कोषोत्पादिता । गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवद्वीपमेव गृहमाध्या-
हर्तयं पात्रां दूरतोपास्माभिः ध्रुतेति पूर्वं स्तुत्या या लब्धा । यसमोत्तरकालं च गच्छः प्रशंसां करोति पुनरपि वसतिं लब्धे
इति । एवं उत्पादिता संस्तवद्वोयपुष्टाः । विषया, मंत्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं यदो स्थापयित्वा लब्धा । मूलकर्मणा वा
मित्रकन्यायोनिसंसापना मूलकर्म । विरक्तानां अनुत्तरात्मजननं वा । उत्पादवाक्योऽभिहितो दोषः षोडशप्रकारः ॥

अथ एषणादीयान्दश प्राद्व-

किमियं योग्या वसतिर्निति ईकृति । तदानीमेव त्किता सस्याकिता सती या छिद्रस्वतलजलप्रपाद्वेण वा, जल-
भाजनलोठेन वा तदानीमेव दिता वा अक्षितेत्युच्यते । सविचपृथिव्या, अणं, हरितानां, चीजानां प्रक्षानां उपरि स्थापितं
पीठफलदारिकं अत्र दग्धा फलव्येति या दीयते सा भिदिता । काष्ठवेलकंटकमात्रणाधारकपणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शि-
ता वसतिः साधारणराधेनोच्यते । मूलजस्तत्फलकदुकगृहिजनैव, मसैन, व्याघ्रतेन, नृपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, सप्तया चा-
दीयमाना वसतिर्नियंकुष्टा । स्वायत्तं पृथिव्यादिभिः, वस्त्रैः विपीलिकामकुणदिभिः सहितोन्मिध्रा शधिकवितस्तिमात्राया
भूमेरपिषया अपि सुप्तो प्रदणं प्रमाणातिरेकद्वोयः । शीतवातातगपुष्टप्रवसादिता वसतिरियमिति निर्दां कुर्वतो वसने
धूमद्वोयः । निर्वाता, पिशाळा, नात्पुष्पा शोभनेयमिति तत्रात्पुष्टा इंगल इत्युच्येत । एवमेतेष्वमविदोरेरनुपहृता वसतिः
गुहा तस्या । अकिरियाद दुःखमार्जनादिसंस्काररहितस्याया । अंसंस्तसाए चीयसंगवरदितायाः । विष्याशुद्धियाए राभ्यारदि-
तायाः । तज्जाए पसति । अन्तर्दिर्मां यसद् पसति । यतिर्दियिजन्मव्यासनरतः ।

१ ष पुष्पे नालयं पाठः । २ कोपं, यानं, मायां, लोभं वा प्रमुन्योत्पादिता क्रोधादिवसुष्टयुष्टा ॥ इति

मूलाद—उगमेत्यादि उद्गमोत्पत्त्यनूपनादोपरदितायां । तत्राहारीपक्षसत्तिसंस्तरोपकरणोदिकं यतये वेद्यमुत्पत्त्य-
ति उत्पत्तये वेद्योक्तः क्रियाविशेषेर्गोपिरोपमितो उद्गमोद्देशिकावयः योऽस्य । यत्र भक्तादिकमुत्पाद्यते मार्गविरोधिभिरते
पात्र्यादयः योऽस्य साधोः क्रियाभेदा उत्पादनाः । तथा चावोचाम धर्मादृते—

भ्रष्टानुद्गमच्छत्यपथ्यैर्यैरुपाद्यते च वे ॥

श्रुतयत्थोः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात् ॥

एते द्वावित्येव्यायाद्यर्थोऽसत्त्वादोषत्वेन न्यपदिश्यते । भक्तावयं यतेः पट्टजीवमिकावयवधनं सरकारणं वा भक्ता-
धिकमवयवार्थमुच्यते । एवमादोषस्तु संकितादयो दृशः । ते च मूलाचारोऽप्य यथा—

आशक्त्युदेसिष्य अज्जोवत्से य प्रविमिस्से य ॥

ठविदे वळि पाहुळिदे पाहुळारे व कीदे य ॥

पामिच्छे वरियटे आभित्ठुविण्णमालमारोहे ॥

अच्छिजे अणिसहे उयमदेसा दु सोळासिमे ॥

भायी दूतणिमिस्से आजीवे वणिपगे य तोमिहे ॥

फोरी माणी मायी छोदी य हवसि दस परे ॥

पूळं पच्छासंधु विज्जामंते य घुण्णजोगे य ॥

उब्बायणा य दोसो सोळसिमो मूळकम्मो य ॥

संकिदमणिउदणिक्कपपिहिद संववहरणवायगुमिस्से ॥

अवरिणदलितछोडिद एसमदेसा दु दस पये ॥

तत्र पृथच्छेदेषुकापारुकरंमकरणादिव्यापारेण पण्णां जीवमिकाथानां वार्धो कृत्वा स्वेनोत्पादिषा अन्येत वा
कारिता क्रियमाणा यानुमोक्षिता वसतिराधाकर्मशन्देनोच्यते ॥

१ पावन्तो दीनानामकृष्णा जायच्छन्ति लिङ्गितो आ रेपाययमित्युदित्य कृता, पार्ष्णिनामेवेति वा श्रवणा-
नामेव निर्भयानामेवेति सा यत्ततिरदेलिका ॥ १ ॥

२ आत्मानं शुद्धं कुर्वन् अववरकं संयतानां गत्यविति कृतं अन्तोपच्छमित्युच्यते ॥

३ आत्मनो गृहार्थमानीतैः कामादिभिः सह श्रमणार्थमानीतेनात्मेन सिद्धता यत्र गृहे उत्पत्तिकं । ४ पापंकिनां गृहस्थानां वा सम्पत्तिभस्तेन क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयत्तादुदितस्य कामादिभिरक्षणेन निष्पादितं वेद्यस्य भिन्नं । ५ स्वार्थमेव कृतं संयत्तार्थमिदं इति स्थापितं ऋषिदं । ६ यत्ननागमनात्कलुषदेवतार्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथास्वं दत्तं, तद्वत्तावशिष्टं यत्तिन्यो दीयमानं यद्विस्तृष्यते । ७ संयत्ता इयद्विदिनेरागमिष्यन्ति, तत्तवेवादिने गृहसंस्कारं सफलं करिष्याम इति चेत्तसि कृत्या यत्संस्कारितं चेन्न तत्प्राप्तुमिदं । तत्रागमानुदयेन गृहसंस्कारकालापन्दासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः ॥ ८ यद्गृहं अंशकारदुष्टं तत्र प्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यमपाकृतफलकं विन्यस्तप्रदीपकं वा तत्रादुष्कारम् । ९ गणादिना वा सचिणेन द्रव्येण, विद्यामंत्रादियत्नेन वा भावेन कीर्तं कीदृमित्युच्यते । अल्पगुणं कृत्वा सधुखिक्कमपृच्छिं वा संयत्तार्थं गृहीतं पाप्मिच्छं । ११ मद्रुदे तिस्रसु भवान् स्वगृहं यत्तिभ्यः प्रपञ्चेति गृहीतं परित्यजे ॥ १२ । कुटीकटकारिच्छं स्वार्थनिष्पन्नेन संयत्तार्थमानीतं तदभिहृदं । तच्च दुरदेशा दानीवमाचरितं हतरचनाचरितम् । १३ इष्टफाभिमूर्तिपदेन कृत्वा कपाटेन वा स्थगितमपाकृत्य यदीयते यदुक्लिन्नम् । १४ निःश्रेण्याभिप्रायश्च इत आगच्छत युष्माकामेयं वसतिरिति या दीयते द्वितीया रुढीया वा भूमिः स मालारोहं । १५ रत्नामात्यादिनिर्मयमुपदर्शयं परकीयं यदीयते तदपिच्छं । १६ गृहस्वामित्वां अनियुक्तेन या दीयते या च स्वामिनाति वा यत्नेन वरपदेन सोभ्यन्ति वसतिरितिसृष्टा एवमुद्गमदोषाः । योद्वय ॥

१ अद्योत्पादन्दोषाः । वारुणाणां स्वप्नेनालंकरणेन, कीदनेन, भोजनेन, स्वारेण वा घात्रीवत्स्वर्षणा संयत्तेनोत्पादिता वसतिः घात्रीदोषदुष्टा ॥ १ ॥

२ मानांतरपदेष्टं संदेशं यागं वा संपाद्योत्पादिता दूतकर्मदुष्टा । ३ अंगादिनिमित्तोपदेशाद्वृत्त्या निमित्तदुष्टा । ४ स्वस्य जातिं कुलगैर्धर्ममिषाव माहोत्स्यप्रकाशनेनेत्यादिता आजीवदुष्टा । ५ भगवत्सर्वेषामाहारदानाद्वसतिदा-
नाद्वा किं पुण्यं जायेत उत नेति पृष्टे यदि न जायत इति त्वीमि तदेव गृही रक्षो वसति भे न प्रयच्छेदिति संप्रचार्ये
वदुद्गृहकयनादुत्पादिता वणिगदुष्टा । ६ वैयकर्मणा दुष्टा चिक्कितादुष्टा । ७ क्रोधं, मानं, मायां, लोभं वा प्रयुज्यो-
त्पादितां क्रोपादिपदुष्टदुष्टा ॥ गच्छतामामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रयः इत्येषा धातो दुरादेवात्माभिः
युक्तेषु पूर्वे मनुष्या वा हन्ता सा पूर्वसंभवदुष्टा । वसनीतरकाहं गच्छन्मुनरपि वसतिं लप्स्ये इति यत्नसंसति सा यथा-
त्तमवदुष्टा । परं गोवतोत्पादना दोषाः ॥ एषादोषाः शंखिवाद्यो दत्ता यथा— १ किमियं योग्या वसतिर्न वेति

क्षीबद्ध करना, लंबे तयार करना, अगिसे लोह तपावना, कठोतमे लकड़ी चीरना, पटासीसे छीलना, कुन्हाड़ीसे छेदना करना, इत्यादि क्रियाओंसे पट्टायजीवोंको याथा देकर स्वयं वसतिका बनाई हो अथवा दूसरोंसे बनाई हो यह वसतिका अधःकर्म के दोषसे युक्त है।

२ जिसने दीन, अनाथ अथवा कृषण आर्वेग अथवा सर्वधर्मके साधु आर्वेग किंवा जैन धर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रथमुनि आर्वेग उन सबजनोंको यह वसति होगी इस उद्देशसे जो वसतिका चांधी जाती है वह उद्देशिक दोषसे दुर है।

३ जब गृहस्थ अपने लिये घर बंधवाता है तब यह कोठरी संवतोंके लिये होगी ऐसा मनमें विचार कर जो बंधवाई गई यह वसतिका अर्भोन्मव दोषसे दुर है।

४ अपने घरके लिये लाये गये बहुत फाष्टादिकोंसे धर्मणोंके लिये लाये गये काष्टादिक मिश्रण कर बनाई गई जो वसतिका यह दूतिक दोषसे दुर है।

५ पार्ष्वदि साधु अथवा गृहस्थोंके लिये घर बांधनेका कार्य शुरू हुआ था तदनंतर संवतोंके उद्देशसे काष्टादिकोंका मिश्रण कर बनाई जो वसतिका यह मिश्र दोषसे दूषित समझना चाहिये।

६ गृहस्थने अपने लिये ही प्रथम बनाया था परंतु नंतर यह गृह संवतोंके लिये हो ऐसा संकल्प जिनमें हुआ है वह गृह स्थापित दोषसे दुर है।

७ संवत अर्थात् मुनि के इतने दिनोंके अनंतर आवाग अतः जिस दिनोंमें उनका आगमन होगा उस दिनोंमें सन घर झाड़कर, लीपकर स्वच्छ करेंगे ऐसा मनमें संकल्प कर प्रवेशदिनमें वसतिका संस्कृत करना यह पादुदिग नामका दोष है।

पादुदिग दोषके प्रथम यल्लिनामक दोषका मूलाराधना दर्पणमें ऐसा लक्षण लिखा है—यश्च, नागं, माता, कुलदेवता इनके लिये घर निर्माण करके उनको देकर अवशिष्ट रहा हुआ स्थान मुनिको देना यह चलि नामका दोष है।

मुनि प्रवेशके अनुसार संस्कारके कालमें न्हात कर अर्थात् उनके पूर्वमें संस्कारित जो वसतिका वह मादु-प्लव दोषसे दूषित समझना चाहिये।

जिस घरमें थियुल अंगार हो तो वहाँ प्रसाधके लिये मिर्चीमें छेद करना, वहाँ काटका फलक होगा तो वह निरालना, उसमें दीपककी योजना करना यह पाहुकार दोष है.

द्रव्यकीत और माषकीत ऐसे खोदी किये हुए घरके दो भेद हैं. माष, पेल वगैरह सचिच पदार्थ देकर संयतोंके लिये खरीदा हुआ जो घर उसको सचिच द्रव्यकीत कहते हैं. घुल, गुल, खांड ऐसे अचिच पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचिचकीत कहते हैं.

गिरा, मंत्रादि देकर खोदी हुए घरको माषकीत कहते हैं. अल्पकण करके और उसका ह्रद देकर अथवा न देकर संयतोंके लिये जो मकान लिया जाता है वह षामिच्छ दोषसे वर्णित है.

मेरे घरमें आप ठहरो और आपका घर मुनिओंको रहनेकेलिये दो ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परियह दोषसे दूषित समझना चाहिये.

अग्ने परकी भूमिके लिये जो स्तंभादिक सामग्री खपार की थी वह संयतोंके लिये लाना यह अभिपट नामका दोष है, इस दोषके आचरित और अनाचरित भेगं दो भेद हैं. जो सामग्री घर देखते अथवा अन्यग्रामसे लायी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐनी नहीं होय तो यह आचरित समझना चाहिये.

हंड, मट्टीके पिंड, काँठोंकी बाटी अथवा फनाट, पापणोंसे ढका हुआ जो घर गुला करके मुनिओंको रहनेके लिये देना यह उद्रिग दोष है.

नर्मनी यौरहसे चक्रर आप यहाँ आइये आपके लिये यह वसतिहा दी जाती है ऐसा कहकर संयतोंको दूमा अथवा तीमरा मंजिला रहनेके लिये देना यह मात्तारोह नामका दोष है.

राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोंसे मय दिवाकर दूसरेका गृहादिक यतिओंको रहनेके लिये देना यह अञ्जैज नामका दोष है.

अग्निघृष्ट दोषके दो भेद हैं. जो दानकार्य में निष्ठुक नहीं हुआ है ऐसे स्त्रीमीने जो वसतिहा दी जाती है वह अग्निघृष्ट दोषमें दूषित है. और जो वसतिहा बालक और परवश ऐसे स्त्रीमीने दी जाती है वह भी उपयुक्त दोषदूषित समझनी चाहिए इस तरहसे उद्गमदोष निरूपण किए.

उत्पादन दोषका निरूपण—

जगतमें धात्रीके पांच प्रकार हैं, कोई धात्री बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन क्रीडाजते प्रसन्न रखती है, कोई उसको वाचा पानसे पुष्ट कराती है, और कोई उसको सुलाती है, ऐसे धात्रीके पांच कार्योंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने को रहनेकालिए वसतिका प्राप्त करते हैं अतः यह वसतिका धात्रीदोषसे दृष्ट है.

अन्यग्रान्त, अनपत्तरार, देश और अन्य देशके संवन्धी जनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदन कर वसतिका प्राप्त करना यह दूतकर्म नामका दोष है.

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, शीम, स्वप्न, और अन्तरिक्ष ऐसे निमित्तशब्दके आठ विषय हैं. इनका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना यह निमित्त नामका दोष है. अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य वगैरह का वर्णन कर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदन कर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह आशीयनामक दोष है.

हे भगवन् सर्व लोगोंको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महानुष्यकी प्राप्ति न होगी ? ऐसा श्रावक का मन्त्र सुनकर यदि मैं पुण्यप्राप्ति नहीं होती है ऐसा कहूं तो श्रावक दृष्ट होकर वसतिका नहीं देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अङ्गकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना यह वणिचग दोष है.

आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह चिकित्सा नामक दोष है.

क्रोध, मान, माया और लोभ दिलाकर जो वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह क्रोधादि चतुष्टय दोष है. जाने वाले और आनेवाले मुनिजोंको आपका घर ही आश्रय स्थान है. यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिकाकी प्राप्त करना यह पूर्वस्तुति नामका दोष है. निवास कर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान भिले इस हेतुसे स्तुति करना यह पश्चात्स्तुति नामका दोष है.

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण ग्रयोगसे गृहस्थको अपने वश कर वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह विद्यादि दोष है. भिन्न कन्या अर्थात् भिन्न जातीकी कन्याके साथ संबंध मिला देकर वसतिकाका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अनुरक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना यह मूलकर्म नामका दोष है. इस प्रकार उत्पादन नामक दोषके सोला भेद कहे हैं.

अन एणा दोपके दण मद दिखत है—
यह वसति का योग्य है अथवा नहीं है ऐसी जिस वसति के विषयमें शंका उत्पन्न होगी वह शंकित दोषपूर्ण समझनी चाहिये।

जो वसति का तरकाळ ही सीधी गई है अथवा जिसकी तरकाळ ही लीपा पोती की गई है, अथवा छिद्रसे निकलने वाले जलप्रवाह से किंवा पानी का पात्र छुटकाकर जिसकी लीपापोती की गई है वह अधिक वसति का समझनी चाहिये।

सचिन जमीन के ऊपर, अथवा पानी, हरित वनस्पति, चीज या वस्तुओं इन के ऊपर पीठ फलक बगैरे रखकर यही आप श्रुति करते ऐसा कहकर जो वसति की जाती है वह निश्चित दोष से युक्त है।

हरितफलय वनस्पति, रटि, सचिन श्रुति, बगैरेका अच्छादन इत्यादि जो वसति की जाती है वह निश्चित दोष से युक्त है।

लकड़ी, घट, रटि इनका आरूपण करता हुआ अर्थात् इनको बसीटवा हुआ अथवा जानेवाला जो पुरुष उमसे दिखलाई गई जो वसति का यह साधारण दोष से युक्त होती है।

जिसको मरणाशौच अथवा जननाशौच है, जो मद्य, रोगी, नपुंसक, पिशाचप्रस्त और नग्न है ऐसे दोष से युक्त गृहस्थ के द्वारा यदि वसति की दी गई हो तो वह दायक दोष से युक्त है।

शुद्धिनी जल योगरह स्थान जीर्ण और चट्टी, मत्स्य बगैरह वस जीर्ण से जो युक्त है वह वसति का उन्मिष्ट दोषमहित समझना चाहिये।

मुनिजनों जितने विलस्त प्रमाण भूमि ग्रहण करना चाहिये उससे भी अधिक प्रमाण की भूमिका ग्रहण करना यह प्रमाणातिक दोष है।

ठंड बना और कड़ी धूप बगैरह उपद्रव इस वसति में है ऐसी निंदा करते हुए वसति में रहना यह भूय दोष है।

यह वसति का वास्तविक है, विद्याल है, अधिक उष्ण है और अच्छी है ऐसा समझकर उसके ऊपर राग मान करना यह ईगल नाम का दोष है। इस तरह उद्गम उत्पादन और एषणादि दोषों से रहित वसति का मुनिजों के

लिए योग्य है, जो वसतिका अच्छी तरहसे देस भाल न करके लीपी पोती है वह योग्य नहीं है, जो वसतिका जीवोत्पत्ति से रहित है वह योग्य है, जिससे कोई उपद्रव नहीं है अथवा जिसमें शून्या नहीं है, ऐसी वसतिकामें अन्दर बाहर जो मुनि रहता है वह निवृत्त नृन्यासन तपका धारक समझना चाहिये।

अथ का विविक्ता वसतितिर्यगाद—

सुण्णघरगिरिगुह्यारुक्खलमूलआगुंगारदेवकुले ॥

अकवप्पम्भारारसघरादीणि य विचित्ताइं ॥ २३१ ॥

नृन्यवेदमशिलायेदमतकसूलगुहादयः ॥

विचित्ता आपिताः शून्याः स्याद्यायध्यानवर्धिकाः ॥ २३१ ॥

विसर्पोदयः—शून्य गुह्यः निरेगुहा, वृक्षमूल, आस्तुकराज्यं पेशम, देवकुल । विद्वत्गृह केनचिद्वृत्त माग्यार नवेनोच्यते । आरामगृह क्रीडार्थमायताना आवासाय कृत । एता विधिकवसतय ।

विनिस वसतिभेदानाइ—

मूलरा—आगन्दुगर साधेवाहाविगृहं । अकवप्पम्भार अश्रुतग्राभार अक्षिमसिन्नाशुहमित्यर्थः । आराम-पर आरामगृहं क्रीडार्थमायताना आवासाय कृतं । विचित्ताइं एता विविक्ता वसतय इत्यर्थः ।

विनिक वसतिकाया स्या स्वरूप है इस ग्रन्थका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—शून्यपर, पर्वतकी गुहा, वृक्षका मूल, देवमंदिर, व्यापाराय देवा देशांतरोंमें फिरनेवाले क्या पारि रियोंको निवास करनेके लिये बनाये हुये घर, विद्वत्गृह, शिलाग्रोसे रखे बना हुआ घर, अकृत्रिम गृह, क्रीडा कर-ने के लिये आनेवाले जनोक लिये बनाये हुए घर ये सब विविक्त्वसतिकायें हैं।

अथ वसने योगमाधनाच्छे—

कलहो वोलो झंझा वामोहो संकरो मयसि च ॥

अज्ञाणवसयणविधादो णत्थि धिविचापु वसधीणु ॥ २३२ ॥

अयोग्यजनसंसर्गरावोकलकलादया ॥

अविचिक्तास्यतेः संति समाधाननिपुदेनः ॥ २३२ ॥

प्रगभाराकृत्रिमारामदेवतादिदृहादिपु ॥

जायते वसतः साधोः समाधानमसिंहितम् ॥ २३३ ॥

विशयोदया—कलहो ममेवं वसतिस्तथैवं वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । बोली सम्प्रवृत्ता । अशा सहेतो । यामोदो वैचित्र्यं । संकरो अयोधिरत्नवतः सह मिथुनं । ममत्वं च ममेदभावश्च । पारिथ नस्ति । जगन्नायकाविपादो ध्यानस्वाययनस्य च व्यापातः । उक्तः कलहविर्गं विनये । क ? विविक्षाए प्रसचीए विविक्षायां वसती । एकस्मिन्प्रमेये निकटस्थानसंततिविर्गं । अनेकप्रमेयसंघाटी स्वाभावः ।

विविक्तवसती वसतः दोषाभावरसाह—

मूळारः—कलहो नमेवं वसतिनयेवमिति कलिः । रोला रोलः दण्डबहुलवैत्यर्थः । संज्ञा संज्ञेयं झकटक इत्येकं । यामोदो वैचित्र्यं । संकरो असंख्यैः सह मिथुनं ॥

अर्थ—यह मेरी वसतिज्ञा है, यह तेरी वसतिज्ञा है ऐसा कलह करनेका प्रसंग विविक्त वसतिज्ञाओं रहने वाले सुनि के उपर आता नहीं है. एकांत वसतिज्ञाओं मनको व्यग्र करनेवाले शब्द सुननेमें आते नहीं हैं, संज्ञेश-परिणाम और मनकी व्यग्रताभी यहाँ होती नहीं है. अयोग्य असंयत पुरुषोंके साथ संबंध नहीं रहता है. विविक्त वसतिज्ञाके ऊपर ममत्व रहता नहीं है, ध्यान और अभ्यसनमें व्यत्यय आता नहीं. ध्यान और अभ्यसनमें यह करक है.—एकही निपयमें ज्ञानकी परंपरा स्थिर होना यह ध्यान है और अनेक विषयोंमें संचार करनेवाली ज्ञान-परंपराको स्वाध्याय कहते हैं.

इय सखीणमुक्तादो सुहृण्वचोहं तित्यजोर्हि ॥

पंचसमिदो तिरुत्तो आदृष्टपरायणो होदि ॥ २३३ ॥

पयमैकाग्र्यमापन्नो ध्यानैः शुद्धमवृत्तिभिः ॥

समितः पंचभिर्गुणैश्चिभिरस्ति हितोचतः ॥ २३४ ॥

विजयोद्या—इय एवं । सङ्कीर्णं एकात्मतां उद्यमदो उपगतः । केन ? ओमेहि योगैः तपोभिर्यनैर्वा । सुहृत्पव-
शेदि मृगप्रभृतैः सुजननेन्द्रेण प्रवृत्तैः । पंचसमिदो समितिपञ्चकेपेतः । त्रिगुहो कृताश्रममनोवाक्कायनिरोधः । आदृष्ट-
परायणो होदि आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यतिर्निष्प्रतिबंधध्यानिः शुभैस्तपोनिर्वा-
न्यान्वयमुपगतः संवरं निर्जरां स्वप्रयोजनं संपादयति इति ।

विविक्तवसतिस्थायी निर्दिष्टध्यानादिना प्राप्तस्तत्त्वः संवरनिर्जरे करोतीति दर्शयति—

भूलात्—इय अनेन पसतित्वाषित्वलक्षणेन प्रकारेण । संकीर्ण एकात्मतां । सुहृत्पवचेहि अन्तर्देशेन प्रवृत्तैः ।
तद्य चाहो वृत्तिः । संकीर्णमुपगत इति योग्यम् । ओमेहि यतोपाकायैर्नैर्वा । त्रिगुहो कृताश्रममनोवाक्कायनिरोधः ।
आदृष्टपरायणो आत्मप्रयोजनपरः संवरनिर्जरादिभ्यः इत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार एकांत वसतिक्रमों निवास कर वह साधु झेड़के बिना सुखसे तप और ध्यान कर
आत्मस्वरूपमें लीन होता है. ईयांसमिति वगेरह पांच समितियोंका पालन करता है. मन पचन और शरीरकी अशुभ
प्रवृत्तियां रोक कर आत्मप्रयोजनमें तत्पर होता है. अभिप्राय यह है कि, एकांत वसतिक्रमों रहनेसे मुनियोंके
ध्यानमें और स्वाध्यायमें बिध्न उपस्थित होते नहीं हैं. तथा रागद्वेषादिक संकल्यपणितामोंकी उत्पत्ति होती नहीं.
तपसे मुनि निजस्वरूपमें स्थिर होकर संवर और निर्जरास्वरूपमें आत्माके प्रयोजनको पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकते हैं.
अतः विविक्तध्यासन तप करना मुनियोंका परम कर्तव्य है.

संवरपूर्विकां निर्जरां सोऽनुमाह—

जो णिज्जरेदि कम्मं असंबुद्धो सुमहद्वि कालेण ॥

तं संबुद्धो तवस्सी खवेदि अंतोमुहत्तेण ॥ २३४ ॥

तस्मिर्जरयते कर्म संबुद्धोऽन्तमुहर्ततः ॥

पष्ठपष्ठमादिभिः साधुस्तपसा यवसंबुतः ॥ २३५ ॥

विजयोद्या—जे णिज्जरेदि कम्मं यत्कर्म निर्जरेयति तपसा यातेन । कः ? असंबुद्धो असंबुतः अनुमयोगजिरो-
धार्थितः । सुमहद्वि कालेण सुबुद्ध मरता कालेनापि । तं वत्कर्म रागेदि क्षपयति । अंतोमुहत्तेण कतिस्वत्त्वेन कालेन ।
कः ? संबुद्धो संवृत्तः मुनिरभिनिष्पन्नं सुप्रदीपयत्परिणतः । तवस्सी तवस्सी नवदानादिमान् ।

संवरपुर सतं निर्जितं गगनाद्वेन खोलुगाह—

मूलरा—असंगुहो अंतर्गतो अशुभयोगनिरोधरहित इत्यर्थः । संगुहो गुप्तेसमितिषर्गोलुपेक्षारपीयहज्यपरिणतः । तत्रसौ अन्तर्गतो निरोधः ।

संवरपूर्वकं निर्जितं ग्रंथकारं स्तुतिं करोते ह—

अर्थ—अशुभ मत्, वचन और कथनी प्रशुचिन्तो न रोक कर बाह्यतपके द्वारा बहुतकालसे जो मुनि जितने कर्मकी निर्जना करता है, गुप्ति, समिति, धर्म, अलुपेक्षादिको तत्पर रहनेवाला साधु उतना कर्म अनशनादि तपोके द्वारा अंतर्गुहर्तवे नष्ट करता है. गुप्ति समिति इत्यादिकोसे संवरपूर्वक विपुल कर्मकी निर्जना होती है और केवल बाह्य तप गुप्ति समित्यादिकोके आश्रयते रहित होकर बहुतकालसे भी उतनी निर्जना नहीं कर सकता है.

एवमवलयायमाणो भावेमाणो तवेण एवेण ॥

दोसे गित्वाढंतो पग्गहिद्वदं परक्कमदि ॥ २३५ ॥

एवं भावयमानः संस्तपसा स्थिरमानसः ॥

अमशस्त्रं परीणामं नाशयंश्चेष्टते तराम् ॥ २३६ ॥

विजयोव्या—एवमुक्तेन । तवेण भावेमाणो तपसा भावयधत्तमानमुत्ततः । अवलयायमाणो अपलायमानः । कुतो दुर्धरात्तपसः । एवमवलयायमाणो इति क्वचित्प्रादः तनायमर्थः—किंल एवमेवेण तवेण भावेमाणो इति पदसंबंधः । एवमेतेन तपसा भावयमानः अपलोयमाणो द्रष्टव्यकर्म विनाशयन् इति तदर्थकं । अशब्दार्थत्वात् । दोसे दूषयति इत्यत्रयमिति दोषाः अशुभपरिणामाः तान् घातयन् । पग्गहिद्वदं नितरां । परक्कमदि चेष्टते मुक्तिमार्गं ।

मूलरा—अवलयायमाणो अपलायमान दुर्धरात्तपसोऽभिव्यक्तित्यर्थः । भावेमाणो भावयमानः । तवेण एवेण दोसे जिन्नादंतो अशुभपरिणामाद् विनाशयन् । पग्गहिद्वदं नितरां परक्कमदि मोक्षमार्गं चेष्टते ।

अर्थ—इस रीतीसे तपश्चरणसे आत्माको संस्कृत करनेवाला और दुर्धरा तपमे जो प्रयशुक नहीं हुआ है. ऐसा मुनि रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभपरिणामोंको नष्ट करता हुआ मोक्षमार्गमे महाप्रयत्नसे प्रयत्न होता है.

पतिना निर्जराधिना पूर्वभूतं तपोऽनुष्ठेयं इति कथयति ।

सो षाम वाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि ॥

जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥ २३६ ॥

तत्तपोऽभिमतं बाह्यं मनो येन न दुष्यति ॥

योगा येन न हीयंते येन अद्धा प्रवर्तते ॥ २३७ ॥

विजयोक्ता—सो षाम वाहिरतवो तस्याम बाह्यं तवः । किं? जेण मणो दुक्कडं ॥ उठ्ठेदि येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुःकृतं प्रति नोत्तिष्ठेत् । जेण य सद्धा जायदि येन च त्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यंतरे अद्धा आपते । जेण य जोगा ण हायंति येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा ॥ हीयंते । तत्तयाभूतं तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् ।

पतिना निर्जराधिना एवं भूतं तपोऽनुष्ठेयमिति कथयति—

मूळरा - दुक्कडं ण उठ्ठेदि दुःकृतं प्रति नोत्तिष्ठेत् । सद्धा अद्धा तपस्यभ्यंतरे क्वचिः । जोगा पूर्वगृहीतव्रतविधयोः ।

निर्जरादी इच्छा रत्ननेवले मुनिवर्यको जो तप करना योग्य है उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ— जिस तपके आचरणसे मन दुष्कर्मके प्रति प्रवृत्त नहीं होता है. तथा जिसके आचरणसे अभ्यंतर प्रायश्चित्तादि तपोमें अद्धा होती है. जिसके आचरणसे पूर्वके धारण किये हुए व्रतविशेषोंका नाश नहीं होता है उसी तपका अनुष्ठान करना योग्य है.

वाहिरतवेण होदि हु सत्त्वा सुहसीलदा परिचत्ता ॥

सखिहिंदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥ २३७ ॥

वाद्येन तपसा सर्वा निरस्ताः सुखवासनाः ॥

सम्यग्भूतनृकुतो देहः स्वः संवेगेष्वचिरोपितः ॥ २३८ ॥

विजयोक्ता—वाहिरतपोऽनुष्ठाने मूले कथयत्युत्तरेः स्वयः । वाहिरतवेण वाद्येन तपसा देहभूतेन । सत्त्वा सुहसीलदा होदि मया सुपरीक्षिता परितोषका भवन्ति । सुपभावना समं जनयति । रसाः स्वयं च कर्मवेषेष्वनुत्पे जायन्ति । पैयः कर्मान्वितित्तुः स्वभाव्याधिरक्षा भवति इति मन्यते । सखिहिंदं च शरीरं भवति । शरीरं दुःखनिमित्तं

तत्पदभूतानामय तत्कृत्स्नमुपायः । तद्वृष्टितं भवतीति यावत् । तद्विदो स्थापितः । अथा य स्वयं च संवेगो संसारभीक्ष्णार्था । लोक-
ननु च संसारभीक्ष्णता हेतुस्तत्पक्षो न तपो हेतुस्तथा, ततोऽनुक्रमभाणि धूनरुरेण बाह्येन तपसा संवेगो स्थापितः । लोक-
नायं संविन्नचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि धर्मेमानस्ततो युक्तमुच्यते ।

साराज्योऽनुदानानुराज्यं यादित्वेनेत्यादि जहत्संभवेत्यवसानं गायाम्प्रेक्षनाचष्टे—
मूढारा—गुह्यभीलदर्शं मुग्धभावनाम् । सा हि रागं जनयति रागश्च कर्मानधं । संवेगे वाहं वषः कुर्वन् लोकनार्यं
भूमिनिष्ठा इति श्याम्यगे यत्तन्वाय एवमुक्तं । न पुनर्वाहं वषः संसारभीरुताया हेतुः किं तर्हि सा वाहवपसः ।

अर्थ—बाह्य तपसे संपूर्ण सुरस्वभावका त्याग होता है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे आलस्य, और सुख श्रियता नष्ट होती है, हमें या सुखसी भानना करनेसे मनमें रागभाव उत्पन्न होता है, रागभाव कर्मबंधके कारणभूत दोषोंको उत्पन्न करता है, बंध कर्मस्थितिका कारण है अतः बाह्य तपसे सुखशीलताका ही नाश होता है, बाह्य तपमें शरीरमोहलना होती है, शरीर दुःखका कारण है, उसका त्याग करनेकी इच्छा करनेवालेको तप शरीर कुछ करनेमें उपाय है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे शरीरस्तेयनाके उपायकी प्राप्ति होती है, बाह्य तपसे आत्मा मंगारभीरुता नामक गुणमें स्थिर होता है, शंका—संसारभीरुता तपके लिए कारण है, ऐसा समझना योग्य नहीं है इसलिए बाह्य तपसे सुनिराज संवेगगुणमें स्थिर किया जाता है, यह श्रद्धाकारका वचन अयोग्य है, उत्तर बाह्य तपधारणमें तत्परता देखकर इत सुनिर्भा चित्त संसारभयसे युक्त है ऐसा लोक समझते हैं, अतः संसारभीरुता कारण है और तप कार्य है, कार्यको देखकर कारणरूप को लोक जानते हैं, इस नियमका विचार करनेपर छद्मका-ने निर्माणभय तपका कारण है ऐसा जो कहे हैं वह योग्य है ऐसा सिद्ध होता है,

दंतानि इन्द्रियाणि य समाधिजोगा य फासिदा ह्येति ॥

अणिगृह्णद्वीरियओ जंबिदत्तहा य वोच्छिणा ॥ २३८ ॥

संतीन्द्रियाणि दान्तानि सृष्टा योगसमाधयः ॥

जीविताशा परिच्छिन्ना बलवीर्यमगोपितम् ॥ २३९ ॥

मिजयोद्या—इंताणि इंताणि इंताणि च । इति भवन्ति । अनशनाशमोदयनृत्तिपरिसंख्येन जिह्वा शंता भवति इति । विचित्राव्यसनेन इतराणि इंताणि इंताणि भवन्ति । मनोमोदियविपरिहृतायां वसतायस्थानात्तानि निगृह्णन्ति भवन्ति । समापिज्ञेया य फासिदा इति । रत्नत्रयसमाधानसंख्याः स्पृष्टा भवन्ति । अशनादिकं त्यजता विपर्ययागो निरस्तो ज्ञयति । विपर्ययागध्यकुलो हि रत्नत्रये न घटते । असति तस्मिन्व्याकुलोऽनुप्रपरिणामैकमुद्यो भवति इति मन्यते । अनिगृह्णद्विपर्ययः अनिगृह्णीयता च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । जीविदतण्डा य वा जीविते तृष्णा च मृच्छासि गता । न हि जीविताशवान् भवनादिकं त्यक्तुमीदृते । जीविते तृष्णावान्यत्किंचित्कृत्वा असंयमादिकं प्राप्नोत्येव पारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ।

मूढारा—इताणि अनशनादिचतुष्टयेन हि प्राधान्येन जिह्वा शंता भवति । विचित्राव्यसनेन चेतानि इंताणि शान्त्यति । मनोमोदियविपर्ययां चतुर्गणेष्वपि विविचरसत्तौ असंभवात् । समापिज्ञेया रत्नत्रयैकाग्रतासंख्याः । फासिदा वृत्तुष्टिनाः । अशनादियजनादियपर्यागनिरोधेन शुभपरिणामैकमुद्यत्त्वोपपत्तेः । अपिगृह्णद्विपर्ययः । अनिगृह्णीयता वीर्याचारप्रवृत्तिश्च स्मादित्यर्थः । बोधिल्लणा निरञ्जा रुक्ष्यते । न हि जीविताशवानश्चानादिकं त्यक्तुमीदृते, किं तर्हि यत्किंचित्कृत्वा प्राप्नोत्येव भवतु वस्तुहेतु न रत्नत्रयम् ।

अर्थ—अनशन, अशमोदय और वृत्तिपरिसंख्या इन तीन तपोंके द्वारा सिद्धाका दमन होता है. विवि चतुर्गयासन तपके द्वारा स्पर्शनादि इंद्रियोंका दमन होता है. इंद्रियोंको त्रिय ऐसे विपर्योका अभाव जिसमें है ऐसी यत्तिकामें नियास करनेसे स्पर्शनादिक इंद्रियां वृद्ध होती हैं.

इन पाह तपधरणांसे रत्नत्रयमें एकाग्रता प्राप्त होती है. आहारादिकका त्याग होनेसे विपर्ययेन नष्ट होता है. निपर्योके प्रेम्से व्याकुल हुआ मनुष्य रत्नत्रयमें स्थिर होता नहीं है. रत्नत्रयका अभाव होनेपर वह व्याकुल पुरुष अनुम परिणामोंमें ही लीन होता है. ऐसा समझना चाहिये. वास्तवसे मुनिराजको अपनी आत्मिक शक्ति प्राप्ति होती है. अर्थात् वास्तव तप कर मुनिराज वीर्याचारमें प्रवृत्त होते हैं. वास्तवसे प्रभावसे मुनिराजकी जीवितकी आशा नष्ट होती है. जिसका जीवितके ऊपर स्नेह है वह आहारादिकोंका त्याग करना पसंद नहीं करता है. जीवितार्थी मनुष्य चाहे जो असंयमादिक करके प्राण धारण करनेके लिये उद्युक्त होता है. परंतु रत्नत्रयमें प्रवृत्त नहीं होता है.

दुःखं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुब्वले ।
 मुसुमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥ २३९ ॥
 रसदेहसुत्वानास्या जायते दुःखभावना ॥
 प्रमर्दने कपायाणामिन्द्रियायैव्वनादरः ॥ २४० ॥

विजयोदया--दुःखं च भाविदं होदि दुःखं च भावितं भवति । दुःखभाषना च कलमुपयोगिनी असंश्लेशेन दुःख-
 सहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषया कर्मपायसोपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते ।
 अयि चासकृद्भाषितदुःखो निब्रह्मलो भवति इति । ध्याने अप्पडिबद्धो य होह भयतिबद्धा भवति । देहरससोक्ते शरीर-
 रससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समोभवेच्च । न निरसो भवतीति माया । मुमुक्षुर्दिश कसाया उन्मुक्षिताः कपायाः
 भवन्ति । कथं अनदानादिना कपायनिग्रह एतौ भवति ? क्षमामार्जयार्जयसंतोषभायनोद्भिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कपा-
 यान्तिरिति चेत् अयमभिप्रायः -- अक्षान्धलाये, स्वस्वलाये, अशोभनात् या लाभे कोपकपाय उत्पद्यते । तथा प्रभुत्वं
 लाभाम्रसचक्षिष्वाद्यामात्र लभिमगदनेति मानकपायः । अस्मदीयमिदगृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रियदासीति विता
 मायाकपाय । अक्षान्धे रस्ते प्रादुर्भवतिष्टे यास्तत्तिलोभकपायः । तथा यस्तत्प्रत्यक्षे कोपः, तत्पक्षे च मानकपायः प्राप्यन् ।
 मन्वेऽप्यानन्दंतीति न मम वसतेरस्त्यवकाशाश्चात्रेति यवनान्मायादयथः । अहमस्य स्वासीति लोभः । इदं कपायनिमि-
 त्तवस्तुत्यागस्य कपायाणामवसर इति । विसयसु विषयेषु स्वर्गानादिषु । अण्णादरे होर अनन्तरो भवति अतीतासीन्यं
 जायते । तयोदासीन्यात् तदावर्तनिमित्तं कर्मसंघरो भवतीति भावः । अज्ञानस्य हि शुक्लाविरूपेषु चतुस्पर्शं, सौगंधं, रस्ते वा-
 वरस्पर्शको भवति अज्ञानं त्यजतां तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरान्निकरेषु ।

मूढारा--असंश्लेशेन हि दुःखसहने शुभकर्म संवरनिर्जरे स्वाता, क्रमेण मुक्तिश्च भावितकुलस्य च ध्याने
 निब्रह्मत्वा स्यात् इति मन्यते । अप्पडिबद्धो देहे रस्ते सौख्ये वानासक्तिः स्यात्तत्र समाधिप्रप्तौ न स्यात् । मुमुक्षुर्दि-
 श इष्टिताः । इत्यप्योवादादवनिमित्तस्य अज्ञानादिवस्तुनस्त्वानाद्यास्तपसा कृत्वादिच्छुणभावबोधादयो निरुध्य-
 ते इतीदृश्रज्यते । वस्तुतस्तु अमादिभावनातोधाविनिग्रहः स्यात् । अयमभिप्रायोऽन अज्ञानोदरलाभे स्वल्पस्याशोभनस्य
 वा लाभे क्रोध उत्पद्यते । तथा शत्रुस्य विचिनरसत्वं वा लाभालब्धिव्यमानदमेनेति भानो जायते । भद्रिदगृहं यथान्ये
 न जानन्ति तथा प्रविशामि इति चिन्तया माया समुद्भवति । अज्ञानादी विक्षिप्ते आसत्तेल्लोभः संभवतीति । तथा बलते
 रभ्रदाने कोपलक्षणे प्राप्यन्मानोऽन्येव्यागच्छन्तीति न मे वसतिरस्त्यवकाशो वा नेति वचनान्भाषा । अहमस्याः स्वासीति

भावनालोभः । इत्थं कषायोदयविभित्तवस्तुत्वान्न कषायजामघसर इति । अणादरो औदासीन्यं । वतश्च उदाहरणमिति कर्मास्त्रिविधोपः स्यादिति भावः । अशनं हि त्वजता चद्रतरसरूपधेष्वादरस्त्वको भवति ॥

अर्थ — वाङ्मतयोका आचरण करनेसे दुःस्वभावनाका अभ्यास होता है, अर्थात् संकट परित्यागको विना दुःस्व सहन करनेसे कर्मोंकी निजरा होती है, क्रमसे होनेवाली यह कर्मनिजरा संपूर्ण कर्मका नाशरूप जो मोक्ष उसका उपाय होती है, अतः दुःस्वभावना परंपरासे मोक्षप्राप्तिका कारण होनेसे उपयोगी है ऐसा साधुगण समझे, दुःस्वभावनाका चारोंवार चिन्तन होनेसे साधुका चित्त धर्मभ्यानमें निश्चल होता है, वाङ्मतमें निमग्न हुये मूनिकी देह, क्षीरादि पदार्थ और सुख इन तीनोंमें आसक्ति नहीं रहेगी, यह आसक्ति रत्नत्रयमें विभ्र करनेवाली होती है, अनशनादिक वाङ्मतप सर्व क्रोधादि कषायोंका निग्रह करता है, शंका— तपमें कषयनिग्रह करनेका सामर्थ्य कैसा ? क्षमा, मार्दन, आर्जव और संतोष इन भावनासे कषाय निग्रह होता है क्योंकि ये कषायोंके प्रतिपक्षी हैं, वाङ्मतप प्रतिपक्षी नहीं है ? इस शंकाका उत्तर—

इसका असिमात्र यह है कि, अन्धादि पदार्थ न मिलनेसे अथवा स्वल्प मिलनेसे, किंवा अप्रिय मिलनेसे, श्रेष्ठ कषाय उत्पन्न होता है, यदि अन्धादि पदार्थ यथेष्ट मिले और वे रसयुक्त भी हो तो मेरेको ही ऐसे अच्छे मिष्ट पदार्थ मिलते हैं इतरोको नहीं मिलते हैं ऐसा विचार मन में आनेसे मानरूपाय उत्पन्न होता है, मेरा भिक्षा लेनेका स्थान अन्य साधुओंको छात नहीं होगा, इस रीतिसे मैं वहां प्रवेश करूं ऐसा विचार मन में उत्पन्न होना यह मायाकषाय है, विपुल अन्न और उसके रसमें आसक्ति होना लोभकषाय है, वसतिष्ठाके निपयमें भी क्रोधादि चारों कषाय उत्पन्न होते हैं, जैसे—

भाव करने वसतिष्ठा नहीं देनेपर क्रोध उत्पन्न होता है, उसके मिलनेपर मानकषाय उत्पन्न होता है, जन दूसरे साधु आनेसे तो यहां अवकाश नहीं है ऐसा वचनप्रयोग करता है जिससे मायाकषाय प्रगट होता है, इस वसतिष्ठाका मैं मालिक हूं यह संकल्प उत्पन्न होना लोभकषाय है, इस प्रकार कषायोंको उत्पन्न करनेवाली चीजोंका त्याग करनेसे कषायोंको मनमें स्थान नहीं मिलता है, अतः वाङ्मतपसे कषायनिग्रह होता है ऐसा आचार्यने कहा है, बाल तपसे पंचेंद्रियके विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उनमें उदासीनता होती है, इस उदासीनतासे तपमें आदर उत्पन्न होकर कर्मोंका संवर होता है, आहारके पदार्थ शुक्लादिरूप धारक, मुहस्यद्युक्त, सुगंध

सहित व रसविशिष्ट हो तो भी उसमेंसे आहार त्याग करनेवालेका आहर नष्ट होता है. क्षीरादिकका जिसने त्याग किया है उस मृनीका क्षीरादिकमें आहरभाव नष्ट होता है.

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिच्छी य ॥

लाभालाभे समदा तितिक्लणं वंमचेरस्स ॥ २४० ॥

आहारस्वर्वादांतिः समस्तत्यागयोग्ययत्ता ॥

गोपनं प्रह्लाचर्यस्य लाभालाभसमानता ॥ २४१ ॥

विजयोदय—कदजोगदा सर्वत्यागस्य पञ्चाङ्गाविन । योगश्च कृतो भवति कोटिन तपसा । माद्वमणं आ-
रमनो दमनं आहारे ह्येते च योऽदुरापस्तस्य प्रशमनात् । आहारमिदमस्य आहारे नेपादयं संपादितं प्रतिदिनं आहारा-
ताशाग्नित्यागाभ्यासात् । स्वर्वाकालेऽपि सुकरा भवत्याहारमिराशेत्येति भावः । अगिच्छी य दमृद्विज्ज भलेपटता च । ऊ ?
आहारे । न आहारे दृष्टिममक्लृपणा ते त्यजति । लाभालाभे समदा लाभालाभयो. समता । लाभे च सत्यापादस्य दुर्वी-
करणात् । अलाभे च तयाऽऽकोपात् । य. स्वयमेव क्लृपमपि त्यजति ॥ कथयिष्य परेषामदाने दुर्मनीभवति । तिति-
पक्कण वंमचेरस्स प्रह्लाचर्यं च सोढं भवति । रस्सयदाहारत्यागादभिनवेऽसति शुभसंचये अनवाने च संचितप्रलये सति न
स्त्रीप्यनुत्पन्नो भवति इति भावः । तथा गलितगुणाणां पुंसां वैमुख्ये भगवान्नु प्रतीतमेव ॥

मूलारा—कदजोगदा कृता योग्या परिकर्म सर्वाहारस्यमस्य पञ्चाङ्गाविनोऽव्याप्तौ येवाप्तौ कृतयोग्यस्तस्य
भावः कृतयोग्यता । कृतकरणीयता प्राप्तेन तपसा स्यात् । आदवमणं आरमनो दमनं आहारे सुते वातुरागमनादप्ये-
रखनं । आहारणिरासदा प्रतिदिनं आहारानानिरासान्यासासर्वस्यागकालेऽपि तद्वांछासमुच्छेदः सुकरः स्यादिति
भावः । अगिच्छी अलापठ्यमाहारे । न आहारे दृष्टिर्भाङ्गस्या तं पश्यति । समदा आहारस्य लाभे हर्षस्याकरणादकांभे
च रोगस्य । यो हि स्वयमेवमल्लयमपि त्यजति स कथयिष्य परेषामदाने दुर्मनीभवति । बने वा तप्यति । तितिकलनं
शुद्धाहारस्यगोनाभिनयस्य रेतसोऽसंचयनात् । अनशनं च संचितस्य संहरणात् । स्त्रीऽन्यदुरागगुह्यगान् प्रतीतमेव च गलितव-
रेतसा पुंसां स्त्रीषु वैमुख्यम् ।

अर्थ—भरण कालमें जो संपूर्ण आहारोंका त्याग करना पड़ता है उसका अभ्यास चाला तपके आचरण
से होता है. इन तपोंसे आत्मदमन नामका गुण प्राप्त होता है. अर्थात् आहारमें और सुखमें जो भ्रम उत्पन्न होता

रसांश्च सुगन्धममृतान्स्वज्जातान् सुतो रगस्त्वयको भवति । मुद्रादिविद्वानोपनिषत्ते अक्षयकेषाम् दुःखे न च द्वेभ्योऽस्मा स्तीति । यदि तत्तयेण द्वेदि दृश्यतेन पंचचतुर्नीनिर्दिष्टानां मत्वेक संवेद्यः ॥

मूलात् — विद्वान्को प्रतिदिनमश्वतो रसतदाहारसेवापरस्य बहुभोजनस्य निवाते निरुपद्रवे सुखरक्षितले निद्रा महती नापते । यद्वर्णाग्निश्चेतन इय भवति, अष्टमपणिमप्रवाहे च पतति । न च रत्नत्रयाय कल्पते । तस्या ज्योऽनशना रिता क्रियते । इदगशाणां तपसा यावत्तदुःखो हि परीणहविषातेऽपि न ध्यानाद् भवत्यति । विशिष्टा मुक्तिरदानादा-पुण्येन दुस्त्वज्जाति देहस्य त्यजनात् । इष्यणिग्भावो अक्षयमवर्गे यो वर्पितस्य विनाशो । सञ्ज्ञाय योगान्निविद्यया । वायनाग्निमेषविप्राभायः । आहारपर्ये भ्रमणे बहुभोजनवासनस्वादि क्लृप्त्युपपत्तेन, रसतदाहारभोजनजन्यविद्वद्दृष्ट्या-दितस्ततः परामर्शेन, जनसंघके वद्व्यभरणतत्संभरणकरणार्थां च स्वाध्यायसंग्रहं भवति । सुहृदुःससमदा सुखसाध-नाशनरसादिरजनाः सुतो रगादुदयात् सुदादिवेदतोयेऽपि अचञ्छेनादुःखे च द्वेषादुद्भवात् ।

अर्थ — याज्ञ तपसे मुनि निद्राको जीव लेते हैं, जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसयुक्त आहारका सेवन करनेमें तत्पर रहता है और बहुत भोजन करता है, जिसकी यावत्तद्विद्वत्, दृष्टस्पर्श युक्त, और निरुपद्रव ऐसे स्थानमें सोनेकी फिफ्री होती है, ऐसा स्थान मिलनेपर दीपं फालतक सुरति लेता है, प्रेतके समान निश्चल सो जाता है, अशुभ परिणाम भी उसके मनमें हुआ करते हैं और यह रत्नत्रयमें प्रवृत्त होता नहीं इस तपसे ये सर्व दोष नष्ट होकर निद्राजय नायका गुण प्राप्त होता है।

तपसे ध्यानमें दृढता आती है, दुःख सहन करनेका अभ्यास होनेसे मुनि दुःखोंके प्रमंग आने पर भी ध्यानेसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, हमेशा तपका अभ्यास करनेसे वह सामर्थ्य मुनिमें आजाता है जिससे वे भूल, तृप्ता वगैरह परीणह प्राप्त होने पर भी दुःखोंकी परमाह नहीं करते हैं, तप करनेसे मुनियोंको निमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग नामका गुण प्राप्त होता है अगद्व्यादिक तपधर्म्ममें तत्पर मुनिअति असीरक्ता त्याग किया जाता है यह शरीरका त्याग करना ही बड़ा कठिन है, तपसे दर्पनाश नायक गुण प्राप्त होता है, अक्षयमको उत्पन्न करनेवाला मद् एव तपसे नष्ट होता है, अनयनादि तपसे वाचना, अनुप्रेक्षा, आत्मनाथ और धर्मोपदेश इन स्वाध्यायके भेदोंका संनय आता है और उसमें विम उपस्थित होते नहीं हैं, आहारकें स्निग्ध भक्षण करने वाले मुनिको स्वाध्याय करना शस्य नहीं होता है, बहुत भोजन करनेपर वह ऊपर मुल कर सोयेगा, वह चेत भी नहीं संकेगा, हमेशा रसयुक्त आहार

करनेवाले मुनिको आहारकी उष्णतासे दबा उधर लोटना पड़ेगा. बहुजन विसमें ठहरते हैं ऐसी वस्तुविकारमें रहनेवाला मुनि दूसरोंके वचन सुनकर उनके साथ मापण करनेमें अपना समय बिता देगा. और अध्ययन नहीं करेगा. परन्तु जो एकांत वस्तुविकारमें रहता है वह मुनि व्याकुलता रहित होनेसे स्वाध्यायमें तत्पर रहता है. बाह्य तपसे सुख और दुःखोंमें समता प्राप्ता होती है. अर्थात् शुनि इसके प्रभावसे सुखमें आनन्द नहीं मानते हैं और दुःखमें दुःखित नहीं होते हैं. अर्थात् सुखमें रागभाव और दुःखमें द्वेषभाव उनको नहीं होता है. रागद्वेषोंके अभावमें सुखदुःखका अनुभव आता नहीं है. यही सुखदुःखसमताका स्वरूप है. आहार और रसयुक्त वी, दूध वगैरे सुख माधक पदार्थोंका त्याग करनेवाले शुनि सुखमें प्रीति नहीं रखते हैं. क्षुधादिकोंसे दुःख की प्राप्ति होने पर भी भँकड़ा परिणाम उनके मनमें नहीं होते हैं अतः वे दुःखमें द्वेष नहीं रखते हैं. इस प्रकार पाँच गाथाओंसे बाह्य तपके गुण आचार्यजीने कहे हैं.

आदा कुलं गणो पवयणं च सोमाविदं हववि सव्वं ॥

अलसत्तणं च विजटं कम्मं च विणिद्धुयं होवि ॥ २४२ ॥

आत्मा प्रयचनं संयः कुलं भवति शोभनं ॥

समस्तं त्यक्तमालस्यं कलमपं विनिचारितम् । २४१ ॥

वित्तयोव्या—आदा कुलं गणो पवयणं च सव्वं सोमाविदं हवविदं पदपटना । पाशेन तपसा स्वयं कुलमात्मनो, गणे, स्वशिष्यसंतानश्च शोभामुपनीतो भवति । अलसत्तणं च अलसत्तं च । विजटं त्यक्तं भवति । कुपेत्तपासमुपोगात् कम्मं च विणिद्धुयं कर्म च संसारमूलं विशेषेण निर्दूतं भवति ।

मूलार्थ—कुलं रत्नशः । गणो स्वगुरुशिष्यसंतानः । सोमाविदं शोभामुपनीतं । विजटं त्यक्तं । विणिद्धुयं विनिर्दूतं ॥

अर्थ—अपना आत्मा, अपना वंश, अपना गण अर्थात् अपने गुरुके शिष्योंकी परंपरा और जिनमत इन समस्तों बाह्य तपसे शुनि शोभा युक्त करते हैं. बाह्य तपसे अलसीपनाका त्याग होता है. दुर्धर तपधरणमें प्रवृत्ति करनेसे गंवारका मूलभूत कर्म मी पूर्णपणे नष्ट होता है.

बहुगाणं संवेगो जायति सोमत्तणं च भिच्छाणं ॥
मग्गो य दीविदो भगवदो य आणाणुपालिया होदि ॥ २४३ ॥

मिथ्यादर्शनिनां सौम्यं संवेगो भ्रयसां सतां ॥
मुक्तः प्रकाशितो मार्गो विनाज्ञा परिपालिता ॥ २४४ ॥

यिजोदपा—बहुगाणं बह्वन्तः । संवेगो जायति खण्डीकता जायते यथा । सहद्वयकं हृष्टा मूलमत्र भयमस्ति । क्षिप्रद्वयमिति जलः प्रवर्तते । एवं तपस्युद्यतस्य लोकेय संसारभयाद्वयेयं क्षिप्रयति तदस्माकमप्यनियमितमेवेति विवेचयति । मीतव्य प्रतिक्षिप्तं प्रारब्धते । सोमत्तणं च भिच्छाणं मिथ्यादर्शनीनां सौम्यता सुमुखता वा जायते । दुर्दैरमिदं महत्तपो वर्तनां इति प्रत्यक्षा भवतीति । मग्गो य दीविदो मार्गं च मुक्तः प्रकाशितो भवति । यतीनां याज्ञेन तपसा करणभूतेन विना कर्मणा निर्जरा मास्तीति । भगवदो य भणुपालिवा धाया भगवता आका चातुपालिता भवति यतिना याज्ञेन तपसा कर्तव्येन ।

मूलापा—तपस्युगतं दृष्ट्वा अयमेवं क्षिप्रद्वयति क्वदस्माकमप्यनिवारितमेवेति विवेचयति, भीतश्च क्वदविकर्तुमुत्सहते । सोमत्तणं सौम्यता दुर्दैरमिदं तपो वशीनमिति मिथ्यादर्शोऽपि प्रत्यक्षा भवन्ति इति वास्तव्यं । दीविदो । तपस्येव कर्मणा निर्जरा भवति इति प्रकाशितः ।

अर्थ—तपश्चरणमें तत्पर युक्तिको देखकर बहुत पुनिबनोको संसारसे भय उत्पन्न होता है, “इस संसारमें भय है इसलिये मैं भी तपमें तत्पर होऊंगा, ” ऐसा विचार कर ये भी तपमें तत्पर होते हैं, संसारके भयसे यह महात्मा इसना तपःक्लेश भोग रहा है, और हमको भी यह संसारभय पुनिवार है ऐसा मनमें संकल्प कर उससे भय युक्त होता है, और भयवान् होकर उसकी प्रतिक्रिया करता है अर्थात् तपश्चरणमें वह भी लीन होता है, पुनिराजों का उग्रतप देखकर मिथ्यादर्शि भी अपनी उग्रता छोड़कर सौम्य बनते हैं, यतिओंका यह तप बड़ा ही दुर्धर है ऐसा देखकर वे प्रसन्न होते हैं, तपके द्वारा युक्तिके मार्गका प्रकाशन होता है, क्योंकि बाह्यतपश्चरणके बिना कर्म को निर्जरा नहीं होती है, बाह्यतपश्चरण करनेसे किन्तु भगवानकी आज्ञाका पालन होता है,

देहस लाभं गेहलूहणं उवसमो तहा परमो ॥
जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥ २४४ ॥
संतोषः संयमो देहायचं चामवर्द्धनम् ॥

तपसः क्रियमाणस्य गुणाः सन्ति यथायथम् ॥ २४५ ॥

विजयोदया—देहस लाभं देहीस्य त्यागगुणो वाणेन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रियाः सुकरा भवन्ति । स्वाभ्यास्यते चाङ्गशसंपाद्ये भयतः । जेहस्स लूहणं शरीरलोहविनाशनं स गुणः । शरीरलोहदेव जनोऽसंयमे प्रयतते । शरीरमेवान्नेहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाद्विताः शरीरलोहो विनाशितो भवति । उवसमो तहा परमो तया चोत्तमोपदामो भवति रत्नादेरु कृते सत्यसि संयमस्य । किं च मम रामेण उपद्रवकारिणा । सति रामे हि नवकर्मवधौ जायते । विरतकर्मरत्नोपवर्द्धनम् ॥ । सति चेत्ये मदीय क्रेशो निष्कलो भवेदिति मनः प्रणिधानादुपशमः । जवणाहारो परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो भीरोगतादिकं । तथा चादुर्मितानि । पशुगुणा भजते । अपरे शरीरस्थिति मात्राहेतुप्राप्तः जवणाहारशब्दः शरीरपान्यः इति स्थिताः ।

मूढारा—लाभं लाभ्याभिक्रियासौकर्यकारि लघुत्वं । जेहलूहणं देहलोहाद्वि जनस्य असंयमे प्रयुक्तिः । देहायान्नेहेतुरिति तपस्यपि न भजते । तेनाद्वित्यादेहे लोहस्य विनाशनं । देहलोहाद्विरक्तस्य संयमो गुणः परमः । रामे हि नवकर्मरत्नोपवर्द्धनम् । मरितोपवर्द्धनं च स्वात्रागतुपद्रवारी च द्वेषः । परं च सत्यं द्वेषो निष्कल इति मनःप्रणिधानादुत्तमः । जवणाहारो परिमिताहारता तत्र चायोग्यादियुगाः । शरीरस्थितिविभागेतुप्राप्तो वासी । संतोसदा संतोषः । जहसंभवेण अनशनानीना दाहशयोभेदानां यो येन संभवति स तेन व्याख्येय इति भावः ।

अर्थ—तपश्चरणसे देहमें लाभ गुण प्राप्त होता है, अर्थात् शरीरमें तपसे भारीपना नष्ट होता है जिससे आनन्दप्राप्ति क्रिया सुकर होती है, स्वाभ्यास और ध्यान लक्षके विना किये जाते हैं, तपके आचरणसे शरीरस्नेह नष्ट होता है, शरीरके स्नेहसे लोक असंयममें प्रवृत्त होते हैं, यह शरीर अनयत्ता कारण है, इसके स्नेहमें तीन होकर तपको छोड़ बैठते हैं, मुनि मुन्दर तपमें प्रवृत्त होनेसे उनके रागादि दोषोंका उपशम होता है, मुनि मनमें ऐसा विचार करते हैं—यह राग मान उपद्रव करनेवाला है, यह रागमान आत्ममें नवीन कर्मका बंध उत्पन्न करता है, और पूर्वकर्मके रममें वृद्धि करता है, यदि मैं रागमानको मनमें आश्रय दूंगा तो मेरा तपश्चरण व्यर्थ होगा, ऐसा विचार करके रागमानको

श्राव कर देते हैं. तपसे परिमिताहारतानामक गुण प्राप्त होता है. जवणाहार शब्दका परिमित आहार ऐसा कहते हैं. परिमित आहार करनेसे नीरोगतादेक छह गुणोंकी प्राप्ति होती है. जितने हे ऐसा कोई आचार्य कहते हैं. परिमित आहार करनेसे ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका आहारसे शरीर रह सके उतने आहारको जवणाहार कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका अर्थ करते हैं.

एषमिषादिनोपसहरति—

एवं उगमउप्यावणेसणाशुद्धभक्षपाणेन ॥

मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेवं कुणदि णिच्चं ॥ २४५ ॥

विजयोद्या—एयमेवं तयो णिचं कुणदिणि पवयटना । एय स्वावर्णितरूपेण । एवं एतत् बाह्यं तपः कुणदि करोति णिचं नित्य । उगमउप्यावणेसणाशुद्धभक्षपाणेन उग्रमोत्पादनेपणाद्योपरहितेन, मकेन पानेन च । क्विदग्भूतेन ? मिदलहुयविरसलुक्खेण परिमितेन लघुनां, विरसेन, रूपेण यवमूलं शुद्धमाहारं मुक्खा तपः कुर्यान्नाशुद्धमिति भावः ।

इत्थं बाह्यतपसो गुणानामव्यवोपसहारमाह—

मूलरा—एवं बाह्यं । कुणदि शुद्धयादिष्वप्युण्णमेवाहारं मुक्खा मुमुक्षुः तपः करोति नेतरमिति भावः ॥

अर्थ—मुनिराज उग्रम उत्पादन और एषणा इन दोनोंका त्याग कर मित, लघु, रसरहित और रुक्ष ऐसा आहार और पानके पदार्थ लेकर यह बाह्य तप नित्य करते हैं. शुद्ध आहार लेकर तप करना चाहिये, अशुद्ध आहार नहीं लेना ऐसा इस गायका अभिप्राय है.

उष्णीणोष्णीणेहिं य अहवा एष्कंतवढुभाणेहिं ॥

सट्ठिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगितो ॥ २४६ ॥

आहारमत्पयवेचं वृद्धो वृद्धेन संयतः ॥

तपसा संलिम्वलंगं युद्धनैकांततोऽथवा ॥ २४७ ॥

विजयोदया—उद्दीणोद्दीणोद्दि य अयर्थमात्रेण हीयमानेन ॥ तपसा चतुर्थपक्षादिक्रमेणानशनतपोवृद्धिः । एकदि-
कयलाद्विन्वतता अयमोदयवृद्धिः । एतस्य रसस्य द्योखयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धिः । एकपाटकं,
शुद्धसप्तकं, शुद्धत्रयं वा त्रयिदशमीति, भिदाश्रासपरिमाणन्यूनताकरणेन वा वृत्तिपरिसंख्यानवृद्धिः । दिवसे आतापनं कृत्वा
रात्रौ प्रतिनापप्रदकरणमित्यादिना कायकन्देरावृद्धिः । एवं श्रमे महति संजाते क्रमेण अनशनादीनां न्यूनताकरणं । अहवा
अथवा पर्यन्तश्रमोद्दि एकान्तेन वर्धमानेः तपोभिः । सखिहर संल्लिखति । सुणी मुनिः । वेहं । आहारविधिं अशनादि-
विधिः । पदशुद्धिः । अल्पीकुर्यन् ॥

प्रकारोत्तरेण सन्देखनोपायमाह—

मूलाह—उद्दीणोद्दीणोद्दि वर्द्धमानोद्दीणोद्दि नतना विलपोभिरिति शेषः । वयति—चतुर्थपक्षादिक्रमेणानशनम्
वृद्धिः । एककनलादिन्यूनतयानमोदयस्य । एकज्वादि रसत्यागक्रमेण रसपरित्यागस्य । एकपाटकं सप्त पंच श्रीणिवा
शुद्धाणि त्रयिदश भिदां शुद्धाणि । श्रासं वैकनिस्तदित्यादिश्रासिक्रमेण शुद्धाणि इत्यादिक्रमेण वृत्तिपरिसंख्यानस्य ।
'दिवातापनं कृत्वा रात्रौ प्रतिमायोगावप्रदकरणमित्यादिविधिना कायकलशस्य । अन्यशुद्ध्यामसमीपगिरिशुद्धारण्यादि-
वस्तव्यभरणेन विविचक्षण्यसक्तस्य च दोषद्वया । एवं च महति श्रमे संजाते सति अनशनादीनां क्रमेण न्यूनताकरणं
हानिः । अहवा अथवा । एतत्तववृद्धिर्लोद्दि । वर्द्धमानैरेव न हीयमानैः । आहारविधिं विहितमप्याहारं । पदशुद्धेनो प्रव-
सुक्त्यन् अल्पीकुर्योऽप्यर्थः ।

अर्थ—क्रमसे अनशननादि तपको धराते हुवे यतिराज अपने देहको कुछ कर शरीरसल्लेखना करते हैं.
उसका विवेचनक्रम इस प्रकार समझना चाहिये—एक उपवास, दो उपवास तीन उपवास इस प्रकारसे वे अनशन
तप बढ़ाते हैं. सुनिश्चैक आहारका प्रमाण कच्चीस ग्रसोंका कहा है. उनमेंसे एक श्रास, दोन श्रास, तीन श्रास कमी
कमी करके अयमोदय तपकी वृद्धि करते हैं. एकरसका त्याग, दो रसोंका, तीन रसोंका इत्यादि क्रमसे रसत्याग
करते जाता यह रसपरित्याग तपकी वृद्धि है. एक मल्लीमें ही आल आहार ग्रहण करूंगा, सातघर, तीनघरमेंही
प्रवेष्ट कर आहार करूंगा, अथवा आहारके श्रासोंका परिमाण कर आहार ग्रहण करूंगा इत्यादि रूपसे वृत्तिपरिसंख्यान
तपमें वृद्धि समझना. दिनमें आतापन योग कर रात्रौ प्रतिमायोग धारण करनेका नियम करना. इत्यादि प्रकारसे
सापक्षेय तपमें वृद्धि करना. इन तपोकी वृद्ध करनेसे जब मदान् श्रम होता है तब वे अनशननादि तपका प्रमाण

कम कम करते हैं. अथवा सर्वथा बन्दते हुवे तर्पणसे ये आहारका प्रमाण कम करते करते देहकी सल्लेखना करते हैं.

प्रकारान्तरेण संहतनोयत्माचये—

अणुपुञ्ज्येणाहारं संबद्धतो य सच्छिहद देहं ॥

दिवसुग्राहिण तवेण चात्रि सछेहणं कुणइ ॥ २४७ ॥

क्रमेण संलित्वलंगमाहारं सर्वयन्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥ २४७ ॥

चित्रयोदया—अणुपुञ्ज्येण क्रमेण । आहारं संबद्धतो य आहारं मूलयित्वा । सच्छिहद देहं तनुकरोति । दिवसुग्राहिण तवेण तवेण चात्रि सछेहणं कुणइ । सछेहणं द्वितोय तवेण चात्रि पक्षैरुदितं प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशनं, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंनयनं इति । सछेहणं कुणइ सहेतवर्ना करोति ।

मूलारा—अणुपुञ्ज्येण क्रमेण । संबद्धतो ऋतुसत्तत्वा दिवसमाहिण । एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन । एकस्मिन्दिनेऽनशनमेव स्मिन्वृत्तिपरिसंनयनं इति । अथवा संबद्धतो मूलयन् क्रमेणाहारं कुरुयति शरीरं । प्रतिदिनगृहीतेन तपसा वा सल्लेखना करोति इति व्याख्येयम् । वा शब्दस्य भिन्नक्रमस्य शोभनात् । तथा चोक्तं—

क्रमेण संलित्वलंगं आहारं सर्वयन्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥

अन्य प्रकारसे सल्लेखनाका उपाय कहते हैं—

अर्थ—क्रमसे आहार कमी करते करते क्षपक अपना देह कुछ करता है. दसरीज जिसका निधम किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दूसरे दिन वृत्तिपरिसंनयन इस क्रमसे क्षपक सछेहना करता है—अपना देह कुछ करता है.

विविहाहिं एतणाहिं य अवगहेहिं विविहेहि उग्गेहिं ॥

संजममविराहितो जहावलं सछिहद देहं ॥ २४८ ॥

आहारगोचरैक्यैर्नानाकारैरन्वयैः ॥

मुमुक्षुः संलिख्यन्तं संयमस्याचरोधकम् ॥ २४८ ॥

विजयोदया—विविधाहि नानामात्रे । एसणाहिं य भोजने, एसवजितेरव्यत्ये मुष्केराजाम्बे । अयमाहि नानामात्रैरन्वयैः । जगोहि उद्ये । संयममधिपधेतो संयम द्विप्रकारं अभिनाशयन् । जहानलं स्वग्लानतिवृत्त्या देह तनूकरोति ।

मूलार्थ—विविधाहि अस्मद्विरसाल्पमुष्कृष्णकाचान्तादिभिः । एसणाहिं आहारैः । अयमगोचरैः नियमैः । आहारगोचरैः ॥

अर्थ—नाना प्रकार रसवर्जित, अल्प, कृष्ण, ऐसे आचाल्य भोजनोत्त अल्पे सामर्थ्यके अनुसार रूपक सुनि देहको कष्ट करते हैं, नाना प्रकारके उग्र नियमोंको प्रतिज्ञा लेकर इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमकी विराधना नहीं करता हुआ स्थलीके अनुसार रूपक देहको क्षीण करते हैं.

संवि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ ॥

ताओ त्रि ण बाधते जहावलं सखिहंतस्स ॥ २४९ ॥

या भिक्षुप्रतिमाश्चिन्ना यले सति च जीविते ॥

पीडयन्ति न ताः कार्यं संलिखन्तं यथापलम् ॥ २४९ ॥

विजयोदया—सदि आउगे आयुषि सति । सदि गले सति बले । जाओ या । विविधाओ विचिन्ना । भिक्खु-पडिमाओ भिन्नुमतिमा । सत्यो वि ताम् । ण बाधते न पीडा जनयति महती । कस्य ? जहावलं सखिहंतस्स यथावलं तनूकरोति । आरभ्यमहाद्वेसाय योगमर्गं संसेव्य मदान् जायते इति भावः ।

मूलार्थ—ण बाधते न पीडा जनयति । जहानलं यथानलं गले विना सलेखना कुर्मतः आरब्धमहाकलेनस्य योगमर्गः संसेव्य मदान् जायते इति भावः ॥ भिक्षुप्रतिमा इत्यादि ।

१ यदि आउगे इति भाषण्य अन्तरं 'यासिप दुय खिय' इत्यादिरूपा गाथा भूलाराधनादपेगे स-
दोषाऽन्नि परमत्र मा गाथा कट्टिका च अपपञ्चिव सूरिणा नोद्धियता ।

आत्मानं संछिजन् पृथिकावल्बान्, महासत्त्वो, वितस्पीयद्, उत्तमसंदननः क्रमेण पुलिधर्मशुक्लध्यानो
सुनिद्रात्मापिष्ठिदेशोत्कृष्टदुर्लभाहारग व्रतं गृह्णाति । ईदृशमाहारं यदि भासाद्वयं नरे लभेऽहं ततो भोजनं करोमि मान्य-
येति । नरस्य मासस्यातिमंदिने प्रतिमायोगमास्ते । सा एका भिक्षुप्रतिमा । एवं पूर्वोक्ताहारराज्यतुनेनोत्कृष्टदुर्लभान्यान्याभ्य
वष्टात्स्वार्थप्रदर्शं गृह्णाति । आपद्द्वित्रिचतुःषष्ट्यसमासाः सर्वत्रादिमदितकामतिमायोगाः । एताः सप्त भिक्षुप्रतिमाः ।
पुनः पूर्वाह्णाराज्यतुनेनोत्कृष्टस्य दुर्लभस्य अन्यान्याहारस्य सत्त्वं सत्त्वं विनामि शारत्तयं व्रतं गृह्णाति । एतास्तिनो भिक्षु-
प्रतिमाः । शतौ रात्रिदिवं प्रतिमायोगेन स्थित्या पञ्चात्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते । एते द्वे भिक्षुप्रतिने । पूर्वमप्यभिमानः पर्यय
स्वाने माप्य परवत्सर्वोपये केवलज्ञानं गान्धोति । एवं द्वादशाभिक्षुप्रतिमायोगेन स्थित्या पञ्चात्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते ।
एते द्वे भिक्षुप्रतिने भवतः ॥

अर्थ—यदि आपुण्य हो और देहमें सामर्थ्य हो तो सिद्ध भिक्षुप्रतिमाओंका छात्रमें उल्लेख
है उनका भी वह क्षपक स्वीकार करके यथाशक्ति देह को क्षीण करता है। उन प्रतिमाओंसे इस क्षपकको
पीडा नहीं होती है। जिसने अपने शक्तिका विचार न कर इन प्रतिमाओंको धारण किया है, उसके शोयका मंग
होवा है और उसके मनमें महामंकेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

अपने शरीरकी संछेदना करनेवाला, धैर्य रूपी बल और शरीरबल धारण करनेवाला, महा-
सत्त्वसंपन्न, परीपहीनो लीतेनवाला, उत्तम संद्वनका धारक, क्रममे धर्मध्यान और दुर्लभध्यानको पूर्ण करनेवाला
युनि स्वयं ठहरे हुए देशमें उत्कृष्ट और दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है- अर्थात् उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार
यदि एक महिनेके अंदर मेरेको मिलेगा तो मैं ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ऐसी श्रविका करके उस महिनेके अंतिम
दिनमें वह प्रतिमा योग धारण करता है, यह एक भिक्षु प्रतिमा है।

पूर्वोक्त आहारसे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहारका या वह श्रेष्ठतम ग्रहण करेगा है,
यह व्रत वह क्षपक दी, तीन, चार पाँच, छह और सात मास तक ग्रहण करता है, प्रत्येक महिनेके अन्तिम दिनमें

प्रतिमायोग धारण करता है. ये सात भिक्षु प्रतिमायें हैं.

पुनः सात सात दिनोंमें पूर्व आहारकी अपेक्षासे अतृणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहार तीन दफे लेनेकी प्रतिज्ञा करता है. आहारकी प्राप्ति होने पर नीम दोन और एक ग्रास लेता है. ये तीन भिक्षु प्रतिमायें हैं. तदनंतर रात्रि और दिनभर प्रतिमायोगसे खड़ा रहकर अनंतर प्रतिमायोगसे ध्यानस्थ रहता है. ये दो भिक्षु प्रतिमायें हैं. प्रथम अधिष्ठान और मनःपर्यव्रानकी प्राप्ति होती है. अनंतर सर्वोदय होनेपर यह क्षपक केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है. इस रीतीसे वारा भिक्षुप्रतिमायें होती हैं.

शरीरसंश्लेषलनाहेतुषु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

संश्लेषणा सरिरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ॥

आयंविहं महेत्सी तस्य दु उत्कस्सयं त्रिति ॥ २५० ॥

वैहत्संश्लेषलनाहेतुषुदुधा वर्णितं तपः ॥

चदन्ति परमाचाम्लमार्हता यत्र योगिनः ॥ २५० ॥

विश्वोदया—संश्लेषणा सरिरे शरीरसंश्लेषलनानिमित्तं शरीरे सत्तेजना इत्युच्यते । तवोगुण तपःसंक्षितो गुणविकल्पः । अणेगहा भणिदा धनैरुद्धा निरूपिताः अतीतसूत्रैः । तस्य तन । महेत्सी महर्षयः । आयंविहं दु आचाम्लाशमाख्यं च । उपन्यस्योत्कृष्टमिति । वैति प्रयुजित ।

शरीरसंश्लेषलनाहेतुषु उपन्यस्तेषु क उत्कृष्ट इत्याह—

मूढारा—संश्लेषणा संश्लेषणा निमित्तं कार्ये कारणोपचारात् । तवोगुणविधी तपःसंक्षितो गुणविकल्पः । भणिदो निरूपितोऽतीतसूत्रैः । आयंविहं वक्ष्यमाणलक्षणमावाप्तं । महेत्सी महर्षयः । वैति युक्ते ।

शरीरसंश्लेषलनाहेतु उपर कहे हैं उनमेंसे कौनसे हेतु उत्कृष्ट है इतका विवरण—

अर्थ—शरीरसंश्लेषलना निमित्त तो तप उसके अनेक विकल्प पूर्वोक्त गाथाओंमें कहे हैं. उन विकल्पोंमें आचाम्लमोजन करना यह उत्कृष्ट निवृत्य है ऐसा महर्षिगण कहते हैं.

शरीरसंस्केषनोपायोत्प्रेषमाचाम्बलानमित्युक्तं तत्कीदृशमिति चोदिते आह—

छट्टमदसमदुबाल्लोहिं भत्तोहि अदिविकटोहिं ॥

मिदल्लहुग आहारं करोदि आयांविळं बहुसो ॥ २५१ ॥

पष्ठाष्टमादिभिश्चिन्नैरुपवासैरतं द्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥ २५२ ॥

विनयोदया—छट्टमदसमदुबाल्लोहिं भत्तोहि अदिविकटोहिं क्षिप्रिचहु एवदिनोपवासैः उत्कटैः । मिदल्लहुगं आहारं करोति । परिमितं लब्धाहारं करोति । आयांविळं आचाम्लं । बहुसो बहुशः ।

मूढारा—छट्टयादि—क्षिप्रिचहुः पंचदिनोपवासैः । अदिविकटोहिं उत्कटैः । विपरिबद्धोहिं इति पाठे त्रिसे-
पतिकटैः । मिदल्लहुगं । परिमितं लघुं च गुणेन । आयांविळं काजिकाहारं । इदमत्र तत्पर्यं पष्ठानुपवासैरतं क्लिष्टो मि-
तलरचाहारं सुमुख्यैर्बहुशः काजिकाहारं करोति तत्संकेतनादेरुत्प्रेषमाचमयेत् ।

तथा बोधं—पष्ठाष्टमादिभ्यैरुपवासैरतिशयविक्रियं हि भुञ्जानः ॥

मितल्लघुमाहारविधिं विदधास्यन्वाकुर्यं बहुशः ॥

अपि च—पष्ठाष्टमादिभिश्चिन्नैरुपवासैरतं द्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥

तथा—समोऽथ पष्ठमदमकैस्तपोधिकैस्ततो विकटैर्देवैर्मैः शमात्मकः ॥

तथा लघु द्वादशकैश्च सेवते मितं शुद्धा चाम्लमनाविलो लघुः ॥

आचाम्लभोजनं करना यह शरीरसंस्केषनका उत्कट उपाय है ऐसा पूर्व माथामें कहा है, अथ उसका विधि बतलाते हैं—

अर्थ—दोन दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास, पांच दिनका उपवास ऐसे उत्कट उपवास होनेक अनंतर मित और हलका ऐसा कांजीभोजन ही श्रेयक बहुशः करता है.

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ष्यमानस्य कियत्काल इत्यनोत्तरं आह—

उक्तस्स एण भच्चमहणाकालो जिणेहिं णिहिट्ठो ॥

कालमिं संपहुत्ते वाससवरिसाणि पुण्णाणि ॥ २५२ ॥

कालो द्वादशवर्षाणि काले सति महीयसि ॥

भक्तत्यागस्य पूर्णानि प्रकृष्टः कथितो जिनैः ॥ २५२ ॥

विजयोदया—उक्तस्स एण उक्तप्रेण । भक्तपुण्णाकालो भक्तप्रत्याख्यानकालः । जिणेहिं णिहिट्ठो जिनैर्निर्दिष्टः । कालमिं काले । संपहुत्ते मदति सति । वाससवरिसाणि संपूर्णद्वादशवर्षमात्राद् ॥

मदति लीवितकाले संमलयमाने सति भक्तप्रत्याख्यानस्योत्कर्षेण कियान् काल इत्यत्राह—

मूढारा—कालमिं काले अयोजीयितस्य । संपहुत्ते मदति सति । अन्ये संभवन्ते इति पठित्वा संभवति सतीत्यर्थं व्याचष्टुः ॥

जिसका वर्णन चल रहा है ऐसे भक्त प्रत्याख्यान विधीका काल कितना है इस प्रश्नका आश्चर्य उत्तर कहते हैं—

अर्थ—आयुष्य काल अधिक होनेपर भक्त प्रतिज्ञाका अर्थात् भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट कालप्रमाण जिनैत्र भगवाने पासा वर्ष प्रमाण कहा है.

उक्तसु द्वादशवर्षेषु एवं कर्तव्यमिति क्रमं संक्षेपनाया दर्शयति—

जोगेहिं विचिचोहिं दु खवेद संवच्छराणि चत्तारि ॥

वियडो णिज्जुहिच्चा चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥ २५३ ॥

विचिचैः संस्मृतिव्यंगं योगैर्वर्षचतुष्टयम् ॥

समस्तरसमाक्षेपेण परं वर्षचतुष्टयम् ॥ २५३ ॥

विजयोदया—जोगेहिं विचिचोहिं दु विचिचैर्निरनियतैः । यथेदि क्षपयति । संवच्छराणि चत्तारि ।

वर्षचतुष्टयम् । यत्किञ्चिद्रूपस्या । विगङ्गी णिज्जुहिता रसादीन्धीरादीन्परित्यज्य । चत्वारि वर्षचतुष्टयम् । पुणो वि पुनरपि । सोऽसेदि तन्कुरोति तनुम् ।

द्वादशसु वर्षेषु सत्त्वैखनाया इतिकर्तव्यत्वाद्धर्मं मायाद्वयेन दर्शयति—

मूलारा—ओगेहिं कायवल्हेयः । विचिचोहिं विचित्रैरनियवैरित्यर्थः । विगङ्गी क्षीरादिरसान् । णिज्जुहिता निःशेषेण त्यक्त्वा । सोऽसेदि शोषयति इदीकरोति शरीरमिति शेषः । अन्ये चोसेदि इति पठित्वा नगरीत्यर्थं व्याचक्षुः ॥

इस यारा वर्षप्रमाण कालमें सहेखनाका कर्तव्यक्रम कैसा होवा है उसका वर्णन आचार्य करते हैं—
अर्थ—अनेक प्रकारके कायक्लेशोंद्वारा यह क्षपक पहिले चार वर्ष व्यतीत करता है. अर्थात् पहिले चार वर्षोंमें कायक्लेशका एक ही प्रकार नहीं रहता है. चार वर्ष समाप्त होनेपर आगेके चार वर्षोंमें यह क्षपक दूध, दही, गुड, घी वगैरह रसोंका त्याग करके पुनः शरीरको कुश करता है. इस तरह आठ वर्ष व्यतीत होते हैं.

आयं विलणि विवयदीहिं दोणिण आयं विलेण एक्कं च ॥

अद्धं णावि विगङ्गेहिं अदो अद्धं विगङ्गेहिं ॥ २५४ ॥

आचाम्लरसहानिभ्यां वर्षे द्वे नयते यतिः ॥

आचाम्लेन विशुद्धेन वर्षमेकं महामनाः ॥ २५४ ॥

षण्मासीमप्रकृष्टेन प्रकृतेन समाधये ॥

षण्मासीं नयते घोरः कायक्लेशो न शुद्धधीः ॥ २५५ ॥

विजयोदरा—आयं विलणि विवयदीहिं आचाम्लेन निर्विष्यता ॥ दोणिण वर्षद्वयं क्षपयति । आयं विलेण आचाम्लैर्नैव । एकं च एकं वर्षं । अद्धं णावि विगङ्गेहिं अदो अद्धं विगङ्गेहिं अत्यन्तुष्टैस्तपोभिः कथयति । अदो अद्धं विकङ्गेहिं अतः परं षण्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभिः ।

मूलारा—आयं विलणि विवयदीहिं आचाम्लं कांजिकाहारः । निर्विकृतिः रसव्यञ्जनान्निवर्जितमन्यसिर्कीर्णमोदनादिभो जनम् । अद्धं द्वादशस्य वर्षस्य अर्थं षण्मासान्तिवर्षः । नादिविगङ्गेहिं मातुलुष्टैस्तपोभिः । कथयति शरीरमिति शेषः विकङ्गेहिं उत्कृष्टे ।

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् कांजीका मौजन करना और णिन्विष्यदी जिससे मौजनमें स्वाद उत्पन्न होता है

ऐसे साग, चटणी वगैरह पदार्थ को विकृति कहते हैं. इनसे रहित रसहीन भोजनको निर्विकृति भोजन कहते हैं. आचान्द्र भोजन और निर्विकृति भोजन कर धापक दो वर्ष वितता है. तदनंतर आचम्ल भोजन कर एक वर्ष व्यतीत करता है. अब अंतिम एक वर्षके ग्रथम छद्मान्तक वह मध्यम तपोद्वारा शरीरको क्षीण करता है. और अन्तके छोड़ो मांसमें उत्कृष्ट तपोसे शरीरको कुछ करता है. इस तरह अपने आयुके अन्तिम द्वारा वर्षोंमें वह सहेखना करता है.

व्यावर्णितेनैव क्रमेण अचरितव्यमिति त्रिवर्गो न विचले इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धातुं च पटुच्च तह तवं कुञ्जा ॥

वादो पित्तो सिंभो व जहा खोमं ण उवयंति ॥ २५५ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं धातुं ज्ञात्वा तपस्यति ॥

तथा क्षुभ्यंति नो जातु वातपित्तकफा यथा ॥ २५६ ॥

पिजयोव्या—भत्तं आहारं ताकवृद्धं, रसयदुल्लं, कुस्मापचार्यं, निष्पावचणकादिभिर्भे, शाकव्यंजनविरहितं वा । खेत्तं अनूपजोगलसाधारणविकल्पं । कालं समशीतसाधारणभेदं । धातुमात्मनः शरीरप्रकृतिं च । पटुच्च भाद्रित्य । तह तथा । तपे कुञ्जा तपः उर्ध्वज्जहा लोभं ण उवयंति । यथा लोभं नोपयंति । वादो पित्तो सिंभो वा वातपित्तक्षेपप्रधिकं । ययोर्जनैव क्रमेण चरितव्यमिति त्रिवर्गो नास्तीति ब्रवीति

मूढारा—दुर्गम आहारं शाकं रसभूषिष्ठं कुस्मापकढायचणकनिष्पावनिर्मिश्रं शाकव्यंजनादिरहितं वा । खेत्तं अनूपजोगलसाधारणविकल्पं । कालं शीतघर्मवृष्टिभेदं । धातुं स्वशरीरप्रकृतिं । पटुच्च आश्रित्य लोभं प्रकोपं । ऊपर दो गाथाओंमें जो आचारक्रम बताया है उसके मूल्यांकिक ही आचरण करना चाहिए ऐसा नियम नहीं है. अन्य भी प्रकार के ऐसा आगेकी गाथामें लिखते हैं—

अर्थ—आहारके अनेक प्रकार हैं जैसे शाक जिसमें जादा है ऐसा एक आहार, धी, दूध, वगैरह जिसमें अधिक है ऐसा आहार, दुल्ह्या नाम का घान्य जिसमें जादा है ऐसा आहार, निष्पाव, चना वगैरह से रहित केवल

जिसमें बहुत जल बूटि होती है ऐसा क्षेत्र जिसको अन्न कहते हैं, जिसमें अल्प बूटि होती है और जिसमें नदी के पानीसे खेती होती है ऐसे क्षेत्रको जामल कहते हैं। जिसमें अन्न और जामलके लक्षण मिलते हैं ऐसे देशको साधारण क्षेत्र कहते हैं। कालके खेतकाल, वर्षाकाल और उष्णकाल ऐसे भेद होते हैं। घातु—अपनी शरीरसकृति, अर्थात् देश, काल, अपनी शरीरकी प्रकृति इनका विचार कर वाल, पिच और सुखका खोभ न होना इस रीतिसे तप करके क्षपकने शरीरसंछेखना करनी चाहिये।

शरीरसंछेखनाक्रममभिधायाध्वतरसहेखननमभिधातुं अभ्यर्तसहेखनया सह संबंधं कथयति—

एवं शरीरसंछेखनाधिहिं बहुविद्धा वि फासेतो ॥

अञ्जवसाणविसुहिं खणमवि खवओ ण मुंवेज्ज ॥ २५६ ॥

इत्थं संछेखनाभागं कुर्वणेनाप्यनेकधा ॥

नैव त्याज्यात्तमसंशुद्धिः क्षपकेण पटीयसा ॥ २५७ ॥

विशयोक्त्या—एवमुक्तेन क्रमेण । शरीरसंछेखनाधिहिं नानाप्रकारं । फासेतो वि स्पृशयपि । अञ्जवसाण-विशुद्धि परिणामविशुद्धिः । पद्यगो खणमपि ण मुंवेज्ज क्षपकः खणमपि न त्यजेत् ।

एवं कायसंछेखनाक्रममभिधाय कपायसंछेखनामभिधातुकांमत्तया सह तस्याः संबंधं नित्यविधातव्यतयाभिधत्ते—
मूलात्—फासेत्तो रत्नमपि । अपि दग्धो भिन्नक्रमो योग्यः । अञ्जवसाणविशुद्धिं शुद्धिश्चिद्विधैपरिणतिं ॥
यदांतक शरीरसंछेखनाका क्रम आचार्य महाराजने कहा है, जब अत्यंतर संछेखना—कपायसंछेखनाका संबंध करते हैं, प्रथम कपायसंछेखनाके साथ शरीरसंछेखनाको दिखाते हैं—

अर्थ—क्रमसे नाना प्रकारकी शरीरसंछेखना करता हुआ भी क्षपक युक्ति अपने परिणामोंकी निर्मलताको एक क्षण भी न छोड़े, तात्पर्य यह है कि, क्षपक शरीरसंछेखनाके तरफ जितना ध्यान देता है उतना ही कपाय-संछेखनाके तरफ भी देवे, यदि परिणाममें मलिनता उत्पन्न होगी तो शरीरसंछेखना करना व्यर्थ होगा, इसलिये परिणामकी विशुद्धि भी क्षपकको रत्ननी पड़ती है।

अभ्यन्तरमुदयभावे दोषं कथयति—

अञ्जवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंयि ॥

कुब्बंति बहिछेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥ २५७ ॥

भावशुद्धया विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वन्ते तपः ॥

ग्रहिलेदया न सा तेषां शुद्धिर्भवति केवला ॥ २५८ ॥

पितृयोदया—भ्रष्टवसाणविसुद्धीए वज्जिदा अत्यवसानविसुद्धया वज्जिताः । जे ये । तवं तपः । विकट्ठंयि कुब्बंति । ग्रहितेस्सा ग्रहिलेदयाः पूजासत्काराद्यादित्येवमुच्यते । ण होइ तेसि केवला सुद्धी दोषोन्मिधका मपवतीति शुद्धिरिति यावत् ।

अभ्यन्तरमुदयभावे दोषमाह—

मुसापा—विकट्ठंयि उत्कृष्टमपि । ग्रहितेसा पूजासत्काराद्यादिविचित्रवृत्तयः । केवला अनुमकमस्त्रिबणरहिता । सुद्धा अनुभक्तमतिजंरा ॥

अभ्यन्तर शुद्धि न होनेसे दोष उत्पन्न होता है ऐसा कथन —

अर्थ—जिनके परिणामोंमें निर्मलता नहीं है वे साधु यद्यपि उत्कृष्ट तप करते हैं तो भी पूजा, आदर, कीर्ति इनकी इच्छासे वे तप करते हैं ऐसा समझना चाहिये. इसलिये उनके परिणामोंकी शुद्धि नहीं होती. अर्थात् उनके परिणामोंकी शुद्धि दोषसहित है ऐसा समझना. जब पूजा, आदर इत्यादिकी अभिलाषा छोड़कर मुनि उत्कृष्ट तप करते हैं तब उनके परिणामोंमें निर्मलता उद्दिग्त होती है.

केपला शुद्धिः कस्य वर्द्धिं भवतीत्याह—

अविगट्ठं पि तवं जो करेइ सुत्रिसुद्धसुक्खलेस्साओ ॥

अञ्जवसाणविसुद्धो सो पावदि केवला सुद्धिं ॥ २५८ ॥

पितृयोदया—अविकट्ठंयि अनुत्कृष्टमपि तपो यः करोति । सुत्रिसुद्धसुक्खलेदयासमन्वितः विद्युद्वरिणायः स केवलो वर्द्धिं नामोति इति गाथायैः ।

तर्हि केवलं शुद्धि कस्य स्यादित्यत्र—
 मूलारा—सो इत्यारि संपरसहभाविर्ना निर्बल करोतीत्यर्थः ॥
 नित्यं मुनिने परिणाम केवलं शुद्ध होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—
 अर्थ—विशुद्धबुद्धिसेनाका धारक जो मुनि वह उत्कृष्ट ॥ यद्यपि नहीं केरना तो भी परिणामोसे निर्मल
 होनेसे दोषरहित अर्थात् केवल शुद्धि को प्राप्त होता है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

प्रस्तुता द्वितीया कपायसहेखनामुकपायवसायविशुद्धया योजयति—

अज्जवसाणविशुद्धी कसायकलुसीकदस्स जत्थिन्ति ॥

अज्जवसाणवितुद्धी कसायसहेहणा भणिदा ॥ २५९ ॥

कपायाकुलचित्तस्य भावशुद्धिः कृतस्तनी ॥

यतस्ततो विधातरूपा कपायाणां तनूकृति ॥ २६० ॥

पिनयोदया—अज्जवसाणविशुद्धी परिणामयिशुद्धि । कसायकलुसीकदस्स कपाये कलुषीकृतस्य । जत्थि
 नाहित यस्मात् इति तस्मात् । अज्जवसाणविशुद्धी परिणामयिशुद्धि । कदायसहेहणा भणिदा कपायसहेहणेति
 गदिता ॥

अथवसानविशुद्धया कपायसहेखना साध्यसाधनभावेन योजयति ।

मूलारा—अज्जवसाण इत्यादि—स्वोदयनिमित्तादाहप्रव्याधिसाधनप्रशङ्क—योदैर्दैन्यकोधादिभिः कूटत्वादि-
 रूपं कालुष्य नीवरय मुनेरव्ययतानविशुद्धिर्नस्तीति हेतोः ।

प्रस्तुत कपायसहेखनाका परिणामविशुद्धिके साथ संग्रह दिखाने हैं—

अर्थ—कपायोसे जिस मुनिका मन कलुषित हुआ है वह परिणामोकी विशुद्धीसे दूर रहता है. और जिसके
 परिणामोमें शुद्धता है वह कपायसहेखना कर सकता है इसलिये परिणामयिशुद्धिको आचार्योंने कपायसहेखना यह
 नाम दिया है. इन दोनोंमें अविनाभाव है. जहां परिणामोकी निर्मलता है वहां कपायसहेखना है. और जहां कपाय
 सहेखना है वहां परिणामोकी निर्मलता है.

शुभपरिणामप्रयाहवृत्तेन चतुष्कषायसहेयता जाता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कषयाणां तत्फलं उपायं प्रतिपक्षपरिणामचतुष्कं कथयति—

क्रोधं स्वमाए मार्गं च मद्वेणाज्जवं च मायं च ॥

संतोणेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ॥ २६० ॥

जेतब्बः क्षमया क्रोधो मानो मार्दवसंपदा ॥

अर्जयेन सदा माया लोभः संतोपयोगतः ॥ २६० ॥

विजयोदया—क्रोधं एवमेत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्यागः ।

संयोगैराग्यव्यादमतत्त्वज्ञानसंस्कारादिशुभपरिणामप्रवाहप्रवृत्तेन कषायसहेयता कृता भवति इत्यभिधाय क्रोधदीनां प्रत्येकं कृतीकरणोपायं प्रतिपक्षपरिणाममाचष्टे ।

मूलाय—जिणदि इतिभित्तवदादुपगतः क्रोधादीन्धर्मादिभावना कूत्वादिफलवानशक्तिरहितान्करोति ॥

शुभपरिणामोक्तं प्रवाहमेवो मुनि अवगाहन करता है उसको कषायसहेयताका लाभ होता है इस विषय में सुलभाना किया. अब क्रोधादि चार कषायोंको क्षीण करनेके उपायभूत चार प्रतिपक्षरूप परिणामोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—है क्षण मुने ! तुम धमालूपी परिणामेंति क्रोधाको, मार्दवगुणसे मानकषायको अर्जव गुणके द्वारा मायाको और संतोषके सहारेसे लोभकषायको इस तरह चार कषायोंको जीतो.

उत्पत्तमानो हि कषागो धुद्धिमुपैतीति कथयति—

कोहस्स य माणस्स य मायालोमाण सो ण एदि घसं ॥

जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चैव वज्जेइ ॥ २६१ ॥

चतुर्णां च कषायणां न वशं याति शुद्धधीः ॥

उत्पत्तिस्तथज्यते तेषां सर्वदा येन तत्त्वतः ॥ २६१ ॥

त्रिजयोद्या—जो हस्त य लजैयं पश्यतया । जो तेखि करवाणमुष्णसं लेय वज्जेदि वस्तेणं कपायाणामु
रगसि एव परिहरति । कोभरस य माणस्स य मायलोमाण सौ ण वदि पसं मोघमानमायालोभानां ॥ कोपेति वसं
यस्तेयानुपत्तिमपेक्षते स तद्वशात् कथं कपायसंछेदनां कुर्यादिति भावः ॥

अक्षयत्वागद्रूप्यादिसाययीसदादुत्पन्नानः कपायो वृद्धिसुपचानि इति तद्विनाशने उत्तमस्वमादिप्रयोगेण सहु-
त्वातीतिरोप एयोपाय इत्युपदिशति ॥

गृहारा—यसं ब्रूयन्त्रोवादिजन्यमानमूरययादिलक्षणभाजमोवादिपरिणविलक्षणपतत्वंयम् ।

उत्पन्न होनेवाले कपाय वृद्धिगत होते हैं ऐसा कहते हैं—

अर्थ—जो मुनि उन कपायोंको उत्पन्न ही नहीं होने देता है वह बुद्धि श्रोत्र, मन, माया और लोभके
पद नहीं होता है, परंतु जो उनके उत्पत्तिकी अभिलाषा रखता है वह उनके पक्ष को जानेसे कपायसंछेदना कंसी
कर सकेगा ?

कपायोत्पादं परिदुर्गच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह —

तं वाधुं मोक्षत्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायमिग ॥

तं वस्तुमाच्छिपुज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥ २६३ ॥

तद्वेयं सर्वदा यन्न कपायाग्निरुचीयते ॥

यन्न साम्यतयसी वस्तु तदादेयं पटीपसा ॥ २६२ ॥

विजयोद्या—तं वस्तुं मोक्षय वदस्तु मोक्षार्थं । जं पडि उप्पज्जेयं यथिमितं उत्पद्यते । कसायमी कपायामिग
तं वस्तुमच्छिपज्जो तद्रूपणाश्रयण कुर्यात् । अथ यत्रोपपन्नपणे । उवसमो कसायाणं कपायाणामुपशमो भवति ॥

कपायोत्पत्तिपरिनिहीतुणा किं कर्तव्यमित्यत्राह —

गृहारा—जं पडि वदस्तु निमिचीकृत्य । अद्वियज्जो आश्रयेत् ॥

कपायोत्पत्ति न होनेके लिये क्या इलाज करना चाहिये इसका उत्तर—

अर्थ—बिनाके निमित्तसे कपायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है वह वस्तु छोड़नी चाहिये, और जो वस्तु

रूपायोंका उपग्रह करंगी वही वस्तु आश्रय करने योग्य है- जिस वस्तुका आश्रय करनेसे कर्पायोंका उपग्रह होगी उन्हीं वस्तुका आश्रय करना चाहिये-

जइ कहवि कसायगंगी समुद्रितदो होज्य विज्यवेदब्जो ॥

रागहेसुपन्ती बिज्यादि हु परिहरंतस ॥ २६३ ॥

घण्टेति कपायाभिर्विध्यातव्यस्तदा लघुः ॥

शास्त्र्यन्ति ह्यन्धिला दोषाः शस्त्रिणे तत्र तत्त्वतः ॥ २६३ ॥

विजयेदेषा—जइ कहवि कसायगंगी यदि ऊर्ध्वविक्रपागङ्गिः । समुद्रितो होज्य समुद्रितो भवेत् । विज्यवेदब्जो इत्यो विषयापवितम्बः । रागहेसुपन्ती रागदेयोरत्यन्ति । विज्यादि दु खु शास्त्र्यत्वे । परिहरंतस्य परिहरन्ति । कपायाभिः प्रज्ञानि नीपते । तदोपपेक्षेण भीषजन्तस्यत्यमिव हृदयं दहति । अक्षुभोगोपांगनामकर्मचक्ररूपाननं करोति । राज ५५ खड्गो रागमानयति । महासमीरण इव तदुं कंपयति । सुरापानमिव यत्किंचिद्विगद्यति । आविष्टमह इव यत्किंचन कारयति । समीचीनगणलोकनं मलिनयति । वसंतवनमुत्पादयति । चारित्र्यस्य श्लेषयति । तत्प-यष्टुवै भस्मयति । अक्षुभप्रकृतितत्तां स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रसममनोमलं दौक्यमिति । हृदयं कठिनयति । प्राणभृतो घातयति । भारतीमस्तत्तां प्रवर्तयति । गुरुमपि गुणान्दधयति । परानपवावयति । महतोऽपि गुणान्दधयति । मैत्रीमुन्मूलयति । एतन्मनुष्यकानं विस्मरयति । भगकारमभ्युपयति । महति नरकगते पातयति । दुःखावर्ते निम-
ज्जयतीत्यनेकानपवावद्वयभावनया ।

मूला—विज्यादि खु शास्त्र्यत्वेय । परिहरंतस्य तदोपपेक्षेण कर्पायोंस्त्यनतः । तद्भावना यथा—कपायो इदमं दहति, मुप्यं विरूपयति । यष्टुवो रागमानयति । तदुं कंपयति । यत्किंचन भापयति । यद्वा यद्वा कारयति । सम्य-
गज्ञानं मलिनयति । दर्शनमुन्मूलयति । चारित्रं चूर्णयति । तपः क्षपयति । अक्षुभप्रकृतितत्तां स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रत्यग्रमनोमलं दौक्यमिति । हृदयं कठिनयति । प्राणभृतो घातयति । गुरुमपि गुणान्
दधयति । यदो नाशयति । परानपवावयति । महतोऽपि गुणान्दधयति । मैत्रीमुन्मूलयति । भगकारमभ्युपयति विस्मरयति
अपवावद्वयभावनया । दुःखान्तं निमज्जयतीति ॥

अये—यदि किसी प्रकारे कर्पायाणि भ्रमक कर लेंगी तो उसका उपग्रह करना चाहिये- जो

कपायाग्निका परिहार करनेका प्रयत्न करता है उसके रागद्वेषोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. कपाशमें कौनसे दोष भरे हैं इसका विचार । उसका उपशमन करना चाहिये.

दुर्जनोंकी संगतीके समान ये कपाय हृदयको जलाते हैं. अशुभ अंग और उपांगोंकी रचना करनेवाले नाम कर्मके समान कपाय सुप्तको कुरूप करते हैं. नेत्रमें गये धूलिके कण जैसे आँखको लाल बनाते हैं वैसे कपाशसे भी बह लाल होती है. बड़े जोरसे बहनेवाले वायुके समान कपाय शरीरको कंपित करते हैं. धुराणानसे मनुष्य चाहे जो बड़बड़ता है वैसे कपाशबग हुआ मनुष्य बड़बड़ता है. विद्याचक्रस्त मनुष्य के समान कुल भी कार्य करने लगता है. यह कपाय सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको मलिन करता है. सम्यग्दर्शनरूपी चक्षुको उच्छ्वस्त कर देता है. चारित्र्यरूपी सरोवरको सुखा देता है. यह कपाय संपरूपी कोमल कमलोंको दूध करता है. अशुभकर्मप्रकृतिको दूढ़ करता है. शुभकर्मके फलोंको रसहीन करता है. निमल मनको मलिन करता है. हृदयको निंदय बनाता है. प्राणिजोंकी हिंसा करता है. असत्य भाषणमें मनुष्यको प्रवृत्त करता है. बड़े बड़े गुणोंको भी लांघता है. कीर्तिरूपी धनको नष्ट करा देता है. दूसरोंकी निंदा करवाता है महापुरुषोंके गुणोंको ढक देता है. मंत्रीको तुच्छपाता है. किये गये उपकारको सुला देता है. अपकारका पाठ सिलवाता है. बड़े नयंकर नरकोंके स्वरूप प्रदर्शितोंको भिराता है. और दुःखरूपी शीशरोंमें डुबता है. इस तरह यह कपाय अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करता है ऐसी भावना मनमें कर रागद्वेषोंकी उत्पत्ति न होने देना चाहिये.

रागद्वेषमगोपुपायकथयामाया—

जावति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं ॥

ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च पिस्संगो ॥ २१७ ॥

रागद्वेषादिकं साधोः संगभावे विनश्यति ॥

कारणाभावतः कार्यं किं कुत्राप्यचक्षति ॥ २१४ ॥

विजयोक्त्वा—जावति केइ संगं यावन्तः केचन परिग्रहः । उदीरया होंति रागदोसाणं उत्पायका भवन्ति रागद्वेषयोः ॥ ते वज्जंतो सत्परिग्रहाजराकुर्वन् । जिणदिं धु जयत्येव । रागं दोसं च रागेद्वेष । निस्संगो नि.परिग्रहः ।

रागद्वेषयोः प्रशमनमात्रमाह—

मूढारा—स्पष्टम् ।

रागद्वेषोका प्रशमन करनेका उपाय कहनेकेलिये यह गाथा कहते हैं—
अर्थ—राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाले जो कोई परिग्रह हैं उनका त्याग करनेवाला मुनि निःसंग होकर उन रागद्वेषोंको जीतता ही है. अर्थात् परिग्रहका त्याग कर निःसंग बनना यह रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय है.

एतदुपयमुपाति कथायाञ्चि स चेत्थमपकारं करोत्येवं उपशान्तिं नेतव्य इत्येसद्वाथानयोवाहरणेनोच्यते -

पडिचोदणासहणवायखुमिदपडिवयणइंधणाइद्धो ॥

चंडो हु कसायगी सहसा संपडिजलेऽजाहि ॥ २६५ ॥

बाक्यासहिष्णुतायाध्यामेरितः कोपपाषकः ॥

उवेति सहसा चंडो भूरिमत्युत्तरेन्धनः ॥ २६५ ॥

विजयोदया - पडिचोदणा प्रतिचोदनाया. असहनेमेय वातः तेन क्षुभित, प्रतिवचनेधैरिख' नूतः कपायाग्निः सहसा प्रज्वलति ।

एवं नोधादीनां निर्लेपोपायमुपदिश्येदानीं कोपस्य सार्यश्रंशकरत्वप्रकाशनद्वारेणैतत्करपायाणामव्यपयभूयिष्ठता उपवेष्टुं तत्त्वबोधिरणां विद्वानेनाह -

मूढारा— पडीत्यादि --प्रतिचोदनासहणवातक्षुभितप्रतिवचनेद्वेन्द्र. । प्रतिचोदना क्षिप्यस्वाविहितप्रवृत्तिनि पारणार्थं गुरोः गिलावचने सति प्रतिकृन्वचनं, तस्यासहणमपर्यणं गुरुणा, वदेव वातसेन क्षुभित- संक्षुक्षितो गुरोर्भनति कोपमिः । तदन्तरं प्रतिवचनं, पुनर्गुरुणा शिक्षावचने सति प्रतिकृलं वचनं तदेवैवर्न तेनेद्धो दीप्तः । अथवा प्रसिचोदना गुरुणा शिष्यस्य गिलापणं, तस्यासहणमपर्यणं शिष्येण, वदेव चातसेन क्षुभित ततः प्रतिवचनं पुनः शिष्यस्य गुरुणा नि क्षापणं तदेवैवर्न तेनेद्धो दीप्त मिट्यास्य मनसि कोपमि । चंडो रौद्रः प्रत्याख्यानवारणोऽन्ववदुर्गपी वा । संपन्नजलेऽजाहि भद्रमपलेत् । तथा प्रोक्तम्—

वाक्यासहिष्णुतायात्प्रातिः कोपपावकः ।

दयेति सहसा चंदो भूरिप्रत्युचरेन्मनः ॥

एतं वा त्वय्यो भाव्यः ।

प्रतिबन्धनविलोः प्रतिकूलचरणपवनसंचलितः ।

चंदः कृपावदहनः सहसा संग्रबजेत्प्रापः ॥

कृपायापि उत्पन्न होकर जब आपकार करने लगता है तब आगे कहे हुए उपायसे उसका उपशमन करना चाहिये. इस विषयको आचार्य तीन गाथाओंसे प्रगट करते हैं—

अर्थ—शिष्यकी अयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरु उपदेश करते हैं. परंतु जब शिष्य प्रतिकूल उत्तर देता है तब वह गुरूको सहन नहीं होता है यह महन न होना यही वायु है. इस वायुसे गुरूके मनमें कोप-रूपी अग्नि प्रज्वलित होती है परंतु पुनः गुरु शिष्यको उपदेश देते हैं. शिष्य पुनः प्रतिकूल वचन बोलता है. इस प्रतिकूलवचनरूपी ईंधनसे गुरुकी क्रोधाग्नि उदीप्त होती है. येसा होनेसे अनंतानुबंधी अथवा अप्रत्याख्यानरूप कृपायापि प्रज्वलित होती है. तदनंतर वह—

जलिदो ह कसायग्मी चरित्सारं डहेज्ज कसिणं पि ॥

सम्भत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥ २१६ ॥

स दग्ध्वा ज्वलितः क्षिप्रं रत्नत्रितयकाननम् ॥

विदधाति महातापं संसारंगारसंचयैः ॥ २१७ ॥

विजयोदया—जलिदो हि कसायग्मी ज्वलितश्च कषयाग्निः । चरित्सारं चरित्सारं सारं दहयेय । सम्भक्तं विराधियं अणंतसंसारियं कुज्जा । चरित्सारं चरित्सारं सारं दहयेय ।

विनाशार्थं संसारंगारपरिभ्रमणे रत्न कुंभेन ।

क्रोधज्झवं संप्रज्वलितः कमष्कारं करोति इत्यत्राह—

मूढारा-कदिणं पि कुल्लस्यपि । अनंतसंसारियं अनंतमनपरिवर्तनोद्यतं गुरुं शिष्यं च ।

अर्थ—चारित्र्यरूपी उत्कृष्ट वस्तुको जलाकर भस्म करती है, और सम्बन्धका नाश कर आत्माको अनंत संसारी करती है.

तस्माद् दुःखसामग्रीं पावं उपज्जमाणयं चेव ।

इच्छामिच्छादुःखकवन्दणसलिलेण विध्वाहि ॥ २६७ ॥

जायमानः कषायाग्निः क्षामनीयो मनीषिणा ॥

इच्छामिच्छातथाकारप्रणिपातादिचारिणिः ॥ २६७ ॥

विजयोक्ता—तथा तु तस्मात्पल्लु कषायाग्निः पाण्डुरपचमानमेव प्रशमयेत् । केन “ इच्छामि यन्वत्तः सिद्धिः, मिथ्या भवतु मम दुःखं, ममस्तु मयं ” इत्येवंभूतेन सलिलेन ॥

तर्हि स कथं संशमनीय इत्यत्राहः—

मूलारा—इच्छेत्यादि—इच्छामि भयतां शिक्षामित्यभ्युपगमवचनं । मिच्छादुःखकवन्दे मिथ्या विफलं भवतु मम दुःखं, दुष्कर्मद्विज्ज्ञापयनोद्धेवनलक्षणं दुराचरणमिति मार्थनावचनं । वन्दण भगवतः प्रसीदत, तमस्तत्र भवद्भयो इत्यादि-पूजावचनं, वरदण्डसलिलेन विध्वाहि विध्वापयेच्छिष्यः ।

अर्थ—इसलिये यह कषायाग्नि पापको अब उत्पन्न करेगी ऐसा समझकर उसको उत्पन्न होने ही अर्थात् पापवर्धक कषाय उत्पन्न होते ही है भगवन् ! मैं आपका उपदेश शिरोधार्य समझता हूं, मेरे पातक मिथ्या होने मैं आपको वन्दन करता हूं ऐसे वचनरूप सलिलसे शान्त करना चाहिये.

तह चैव णोकसाया सल्लिहियत्वा पेणुवसमेण ॥

सण्णाओ मात्वाणि य तह छेस्साओ य असुहाओ २६८ ॥

संतिरूपं गौरवं संज्ञा नोकषाया महाभटाः ॥

समस्ता निदिता केदया समाधानं यता सता ॥ २६८ ॥

विज्ञयोदया—तद् देय णोक्तमाया तथैव नोक्तमायाः तन्कृतं ध्यायः । परेषुपसमेण परेणोपशमेन । संज्ञा, गार-
वणि, मग्गुपाद्य त्थेदया, हास्यरत्नपरितोक्तमयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकपेदाः नोक्तमाया इत्युच्यन्ते । आहारमयमेधुन
परिप्रवृत्तिमायाः मग्गाः । कृत्ते तीव्राभिलाषे, रसेषु, सुखे च गारवसादित उच्यन्ते ॥

कथावक्त्रराधेनं कृतत्वविज्ञेयाधो कथायादीनामपि सुमुक्तोः सत्त्वेलनीयत्वमाख्यावि-

मूढारा—णोक्तमाया हास्यरत्नपरितोक्तमयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकपेदाख्या नय । परेण उक्त्थेन । उपसमेण
इत्येतेनुर निमित्तद्वारेण देव्यादिभावपृथग्गुणद्वारात्मभावनाप्रमवेन । सण्णाओ अनादिसंतया प्रवर्तमानाः
आहारमयमेधुनपरिप्रवृत्तिमायाः । असुहृदो कृष्णनीलरूपोक्तकृष्णाः ॥

अर्थ—स्वापके ममान हास्यादि नयनोरुपायोंना मी उपशमन करना चाहिये. अर्थात् नो कथाय भी कुछ करने
चाहिये. आहार, मय, परिग्रह और मेधुन इनमें अभिलाषा करना यह मग्गाका लक्षण है. कृष्ण, नील और कृष्णित
ये तीन अगुम लक्ष्यायें हैं. हास्य, रसि, आरति, जोक, भय, जुगुप्सा, सीयेद, पुलवेद और नपुंसकपेद ये नउ
नोक्तमाय हैं. अद्विमें तीन अभिलाषा होना, स्वामें तीन अभिलाषा होना और सुखमें आसक्ति होना इनको गारव
कहते हैं. ये नोक्तमाय, मग्गा, लक्ष्या और गारव उत्पन्न होते ही इनको उत्कृष्ट उपशमके द्वारा कुछ करना चाहिये.

परिवृद्धिदोषधाणो विगडसिराणहारुपासुलिकडाहो ॥

सत्तिहिदत्तथुसरीरो अञ्जप्परदो हववि णिच्चं ॥ २६९ ॥

बाधेतावन्नतः साधुः प्रकटास्थिसिरादिकः ॥

तन्कृतसमस्तांगो भवत्थप्यात्मनिष्ठितः ॥ २६९ ॥

विज्ञयोदया—परिवृद्धिदोषधाणो परिवर्द्धितावन्नतः मग्गेयां पाठः परिवृद्धिदोषधाणो परिवर्द्धितावन्नतः । विष-
द्विगुणता—पासुलिकडाहो मग्गादीनां मदन्यः अगम्य सिताः, पादोस्थिमन्तया कटाक्षदेनाद्य मय्य । सत्तिहिदत्त-
थुसरीरो मग्गकनूरुत्तं सदी वत्थ स । अञ्जप्परदो अस्यात्मस्थानं तत्र रतः । होर मवति । निच्चं भित्त्ये ॥

गारस्त्रेयविज्ञेयानुशमेन कृतवती कृतवतीरोडि पिसुद्वारेणाममवत्त्या प्रवर्तमानो सुमुक्तः संतवं सद्गुणान
निष्ठितो भवति इति कथावक्त्रराधेनानुविद्धराधमस्त्रेयनामदित्त्यं मायादेवेनाह—

भूटारा—परिवर्तितोपहाणो समंवाद्दहृत्कर्त्तृपितृशुपधानमयमहो येन । परिवर्तितवहाणो इत्यत्र पाठे परिवर्तितप्रमादपरिहार इत्यर्थः । विषह प्रकटीभूताः । ज्वाह स्मायुः । पासुलि पार्थस्यसंहतिः । कडाहो कटाश्वदेशः । नित्यसमीपतेस इत्यन्ये । सखिद्विदत्तशुसरीरो वनुसखेत्तनारंभात्वागमि तपोविशेषैः कुरुं यच्छरीरं तदेव तदा सम्मयगवशीकृतं यस्य येन वा ॥

अर्थ—जिसने प्रतिदिन अनन्यनादि वाद्य तपोके नियम वृद्धिगत किये हैं; अथवा जिसने प्रतिदिन प्रमादका परिहार अधिकताधिकरूपसे बढ़ाया है, वाद्य तप करनेसे छोटी और बड़ी सिराचें, शरीरकी दोनो पसवडि की दृष्टियाँ, और नेत्रके अस्थि स्पष्ट दीख रही हैं, ऐसा वह क्षपक निर्दोष शरीरसंखेत्तना करके अध्यात्मध्यानमें तत्पर होता है अर्थात् क्षपक शरीर संखेत्तनाके साथ कृपाय संखेत्तना भी प्रमादका नित्य त्याग कर करता है.

एवं कदपरियम्भो सम्मंतरवाहिगमि सखिहणो॥

संसारमोक्षसमुद्धी सन्वुवरिहं तवं कुणवि ॥ २७० ॥

पाश्यामान्धतरो कुर्या योगी सखेत्तनामिति ॥

संसारत्यजनाकांक्षी प्रकृष्टं कुरुते तपः ॥ २७० ॥

इति सखेत्तनास्तुत्रम् ॥

विजयोदया—एवं कदपरियम्भो पयमुच्येन क्रमेण कृतपरिकरः । सम्मंतरवाहिरिमि सखिहणो अभ्यंतरसखेत्तनासहितानां वाद्यनहेतुतायां । संसारमोक्षसमुद्धी संसारत्यागी कृतमुद्धि । सन्वुवरिहं तवं सर्वेभ्यस्तपोभ्यः उत्कृष्टं तपश्चरति । सखेत्तना सम्भत्ता ।

मूलात् - संसारमुक्ष्यमुद्धी संसारत्यागकृतभविः । सन्वुवरिहं सर्वेभ्यस्तपोभ्य उत्कृष्टं धर्मशुभ्यानलक्षणं । मल्लेत्तना सूतः ११ अंकतः । ६६ ॥

अर्थ—इसतरहे शरीर संखेत्तना और कृपाय संखेत्तनामें जिसने वाद्यतपका आचरण कर अभ्यास किया है संसारका त्याग करनेमें अपनी बुद्धि एकाग्र की है ऐसा वह क्षपक सर्वतपोसे उत्कृष्ट तप अर्थात् उत्कृष्ट धर्मध्यान और उत्कृष्ट शुक्लध्यान करता है.

चोडुं गिलादि देहं पञ्चोड्वविणमसुचिभारोचि ॥

तो दुक्तलभारभीदो कन्दपरियम्मो गणसुवेदि ॥ २७१ ॥

न रावनोम्यशुचि त्याज्यमिदं चोडुं महत्क्षयि ॥

विचिन्त्येति यपुस्त्ययत्तुं गणं याति कृतकियः ॥ २७२ ॥

विजयोदया—चोडुं गिलादि देहं शरीरोद्यद्वनपयदितः । पञ्चोड्वं णमसुभारोचि परित्यागहंमिष भद्रुचि-
गने दित्पदयं । उपेदि दौकते । मध्येषा पाठः 'चोडुं गिलादि देहं' इति, ते व्याख्यानयति-शरीरं चोडुं अकृतावरोऽस्ति ।
पञ्चोड्वविणमसुभारोचि परित्याज्यमिदं मनुचिभारयूले कर्तरमिति कृतकियः ।

अथ नित्यसुखार्थं नवकोशनिगन्पठेम्—

कपाषाणं मानसवेगमुपयोगेन संसिरोत् ॥

समपिष्टलवे यासतपसा संखिलेद्रुणः ॥ १ ॥

उदयोषायमुत्पिरसायुदयं च तुदरसदा ॥

कपावनोकपाषाणां तपसाप्येत तत्त्ववित् ॥ २ ॥

कूत्वापात्मनां भावकोपाधीनां प्रवर्तिनः ॥

द्रव्यवोपादिपापस्य हेतुं द्रव्यार्थिकं त्यजेत् ॥ ३ ॥

उत्तिगसुकोनहास्यादोन्मेषविश्रानसजितैः ॥

उदयेत्क्षमारीः संखिलकादितच्छसिदातनैः ॥ ४ ॥

कपायानात्मनो रसग्यालंवनोदीपनोद्वतान् ॥

तरोपमानैर्भगिदाद्रुषोदेविनयादिभिः ॥ ५ ॥

निश्चिक्लितस्य कोषापा वर्षमानान्यथात्मम् ॥

युतं हृष्टं च संहृत्य द्रापयंति भवामयम् ॥ ६ ॥

छिद्यात्तद्विदिसमुत्राव्यप्यायव्यभगवनेः ॥
 सद्वाश्वतथो दुर्लेख्यरिस्त्विद्ययासंयतां गतः ॥ ७ ॥
 भावनेच्छुद्धिदूषं स्वात्मानं नित्यमुद्यतः ॥
 रागाद्युद्वेगान्मनुत्पत्यै श्रयाय च ॥ ८ ॥
 निश्चयात्संविद्वन्द्वद्वयस्य तदस्म्यदम् ॥
 ब्रह्मेति संवताभ्यासात्कश्चित्तद्वयमनुते ॥ ९ ॥
 इदं कृत्वात्संस्कारं कर्त्तितांगकयायकः ॥
 शिवासाधरसंस्तुत्य सूरिबलः स्वमुद्धरेत् ॥ १० ॥
 इत्याशाधरासुतम्रपसंस्पर्धे मूढाराधनात्प्रेमे पदप्रेमयाथैकशीकरणप्रवर्णे आत्मसंस्कारसङ्केतनाविधि वि-
 भावको नाम दुवीय आश्वासः समाप्तः ॥

अथ षष्ठ्यर्थे आश्वासः ।

सुभाषितमनाः समी स्वसदृशाय पाल्येऽर्पिते ॥
 कृतक्षमणशासनः परगणप्रवेशोद्यत
 सुनार्यं गुरुमुत्तमं विधिविदादृतस्तेन यो ।
 विशोधयति सत्यं स पद्मास्तुमेवेत्सितम् ॥ १ ॥

अथ सङ्क्षेपानन्तरकरणीयाचार्यपरित्यागक्योपेक्षार्थं गायार्थवकभाष्ये—

मूढाए—यौबुमित्यादि । त्वेदि उपैति दौकते । कोऽस्तौ कदयरियो कृतसमाधिवरणपरिक्रतो मुनिः । कं ?
 गर्गं स्वशुच्यर्णं । किंविशिष्टः सन् । दुःसमास्मीशो दुःसमाजवाच्छरीराश्रयः । कुतो हेतोः ? सतः इति शब्दो हेत्वर्थः ।
 यतो गिकादि ग्रायति क्षीणार्थे भवति । कोऽस्तौ ? कृतपरिकर्मा । किं कर्तुं ? योऽनुं गर्तुं । किं तत् ? इदं देहं । कि-
 मितिष्टं पश्योदन्वं परित्यागाद् । कुतः असुरमारोपि दोषघातुमष्टमूलत्वादपविनमोवारिकत्वाद्भारमूलम् यतः

अथवा अनुचीनां भ्रातः संपातः । अन्ये तु गिलामीति पठित्वा इत्यथर्वं कथयन्ति । गिलाभि देहं वोढुं अकृतादरोऽस्मि न नाक्रोमि ॥ यतः परित्याज्यमिदं धनुममिति कृवन्मित्रयः । तो तवः सहेस्रनान्वरं गणमुपैति ।

सहेस्रनाके अन्तर करनेके कार्यका उपदेश करते हैं—

अर्थ—यह देह अपावित्र पदार्थोंसे मरा हुआ है और भारभूत है ऐसा समझकर वह सहेस्रना करनेवाला दुनि गरीबको धारण करनेमें हर्षरहित होता है. दुःस्वप्ना पात्र ऐसे धरिसे मखीत होकर समाधिभरणकी सामग्रीको अपनाता है. और अपने शिष्योंके पास जाता है.

सहेहणं करेतो जदि आयतिओ हवेज्ज तो तेण ॥

ताए वि अवत्थाए चित्तेवब्बं गणस्स हिंयं ॥ २७२ ॥

अपि संन्यस्यता चित्तं हितं संपाप सूरिणा ॥

परोपकारिता सङ्गिः प्राणान्तेऽपि न मुच्यते ॥ २७२ ॥

विजयोद्वा—सहेहणं करेतो सहेहणं फलमुच्यते । जदि । आवरिओ हवेज्ज धाचार्यो भवेत् । तो तवः । तेण तेन । ताए वि तस्यामि । अपरथाए अवस्थायां । चित्तेवब्बं चित्तनीयं । गणस्स गणस्य । हिंये हितं ।

सहेस्रनां कर्तुमुद्यतो शिष्या भवत्याचार्यं इतरथ । तत्र अनाचार्यः स्वचिचविक्षेपकारणं परित्यजेत् । आप्तार्थः पुनः गणापायि हितं चित्तयेदित्यनुगाति ।

नूजाता—आपदि वरसामि देहस्यागोमोगलक्षणायाम् ।

अर्थ—सहेस्रना करनेके लिए उद्युक्त हुआ क्षपक यदि आचार्य पदवी का धारक होगा तो उससे उस अवस्थामें भी-क्षपकती अवस्थामें भी अपने गणके हिनकी चिंता करनी चाहिए.

कालं संभावित्वा सन्वगणमणुदिसं च बाहरिय ॥

सोमतिहिनरणस्वचंचिलगगे मंगलोगासे ॥ २७३ ॥

विज्ञाय कालमाह्वयः समस्तं गणमात्मना ॥

आलोच्य सदृशं भिक्षुं समर्थं गणधारणे ॥ २७३ ॥

विजयोद्या—पाल समविद्या आत्मन गयु रि प्रति विचार्य । सन्वयमं सर्वगणं अणुदितं च बालाचार्यं च । यत्परित्यज्यताम् । सोमतिद्विरुत्तराण्यद्वयविलम्बो सोमने दिने, करणे, नक्षत्रे, निष्ठान्ने । ममलोगात्ते शुभे देशे ।

गणानुपालनाय स्वप्ने अनुदिश प्रतिप्रापिधिं गाथाद्वयेनाह—

मूढारा—आलं संभाविका आत्मन आयुः स्थितिं विचार्य । वाणरिय आकार्य । मंगलोगात्ते शुभे देशे ।

अर्थ—अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनंतर अपने शिष्यसमुदायको और अपने स्थानमें बिसफी स्थापना की है ऐसे पाल आचार्यको बुलाकर सौम्यविधि, करण, नक्षत्र और लग्नके समय शुभप्रदेशमें—

गच्छाणुपालणत्वं आहोदय अत्तगुणसमं भिक्खु ॥

तो तम्मि गणविसमं अप्पकहाए कुणवि धारी ॥ २७४ ॥

प्रवेशे पावनीभूते चारुभ्रादिके दिने ॥

गणं निक्षिपते तत्र स्वरूपां कृत्वा कथां सुधीः ॥ २७४ ॥

विजयोद्या—गच्छाणुपालणत्वं गच्छानुपालनायं । आहोदय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मनो गुणै समानं । भिक्खुं भिक्षुं । तो तत्त । तम्मि तस्मिन् । गणविसमं गणत्याग । अप्पकहाए अल्पया कथया । कुणर धीरो करोति धीरः । भन्त्ये तु वयं अस्मन् कथयेति ।

मूढारा—आमो गिय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मगुणैः कृत्वा समानं । उक्तं च

ज्ञानविज्ञानसंपन्नं स्वगुरोरभिसम्मतं ॥

विनीतो धर्मेदीलम्ब य सोऽहंति गुरो पदम् ॥

तो व्याहरणान्वरं । गणविसमं गणत्याग । अप्पकहाए अल्पया कथया ।

अर्थ—अपने गुणके समान जिनके गुण हैं ऐसा वह बालाचार्य गच्छका पालन करनेके लिये योग्य है ऐसा रितात् पर उगपर अपने गणको विमर्जित करने हैं अपना पद छोडकर संपूर्ण गणको बालाचार्यकेलिये छोड

देते हैं, अर्थात् गालाचार्य ही यहाँसे उस गणका आचार्य समझा जाता है, उस समय पूर्वाचार्य उसको थोडास उपदेश भी देते हैं,

किमर्थमेव प्रयत्ने सूरि ?

अव्योच्छित्तिमित्रं सन्वगुणसमोपरं तयं णच्चा ॥

अणुजाणेवि विसं सो एस दिसा वोसि वोधित्ता ॥ २७५ ॥

अपिच्छेदाय तीर्थस्य तं विज्ञाय गुणाकरं ॥

अनुजानानि संयोज्य विगयं भवतामिति ॥ २७६ ॥

इति विस्सूत्रम् ।

विजयोदया—अव्योच्छित्तिमित्रं धर्मतीर्थस्य क्षन्तानां चारि-नामकस्य व्युच्छित्तिर्मा भुविलेपसर्थ । सन्व-गुणसमोपरं स्वर्गगुणसमन्वित । तमा त्वं पादाय सायथा अणुजाणेदि अनुभा करोति । विस आचार्य । सो स्व. एव. । दिसा आचार्य । वोसि युष्माकमिति । वोधित्ता बोधयित्वा ॥ दिसा समसा ॥

किमर्थं कथं बोधनायैव यत् एवाचार्याय गणं समर्पयतीत्यत्राह—

सूत्राय—अव्योच्छित्तिमित्रं धर्मतीर्थस्य अनिच्छेदाय । समोपरं समन्वितं । स्थानं वा । तयं वं । अणुजा-णादि पालयतु भयानिमं गणं इत्यनुमन्यते । अभीच्छति वा । दिसं एवाचार्य । एस दिसा वोसि वोधित्ता एव आचार्यो युष्माकमिति बोधयित्वा सातुर्कं प्रतिपाद्य शिष्यामिति शेषः । दिक् सूत्रवः १२ अंकतः ५ ॥

अर्थ—धर्मतीर्थं सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान और चारित्र्य स्वरूपी है, इसका नाम नहीं होवे, इस ली परिपाटी असंख्यसे चलनी चाहिये इसलिये गालाचार्यको सर्व गुणसे परिपूर्ण समझकर यह तुम्हारा आचार्य है येमा गणको समझते हैं, यदि पूर्वाचार्य अपने स्थानमें अपनी योग्यताके धारक शिष्यकी योजना न कर ही समाधिपरणैक लिये संघको छोडकर चले जायेंगे तो संपूर्ण गणके रत्नत्रयधर्मका नाश होनेसे धर्मतीर्थका ही निच्छेद होगा अतः मेरे स्थानपर मैंने इस योग्य शिष्यको रक्षाय है और यह अचसे तुम्हारा आचार्य है ऐसा कह कर वे सर्व गणकी धमा मारते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार है, (दिखा नामक प्रकरण समाप्त हुआ है,)

आमंतेऊण गणिं गच्छमि य तं गणिं ठवेदूण ॥

तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्डाउलं गच्छं ॥ २७६ ॥

सकलं गणमामन्य कृत्वा गणिनिवेशनं ॥

स त्रिया क्षमयत्येवं बालवृद्धाकुलं गणं । २७६ ॥

विलयोक्त्या—आमंतेऊण गणिं आमंज्य आचार्यं । गच्छमि य गणे । तं गणिं ठवेदूण आत्मभानुज्ञातं स्थापयित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा । त्रिविहेण खमावेदि खु खबालउड्डाउलं गच्छं मनोवाक्यौघाद्गच्छति क्षमां स बालवृद्धैः संकीर्णं गणं ॥

अथ समर्पितमार्थिनो मुमुक्षोः कृतस्वसंस्कारस्य सन्त्यवशीकृतकायकपायस्य प्रतिसूरिसमर्पितशिष्यद्वंद्वस्य पराणं गन्तुमनसश्चिरसंवासादौपसंभाव्यमानांशः काष्ठुच्यकलंजगजक्षमणाक्रमं गायत्रयेणोपदिशति तत्रापि सूत्रेणक्षमण-विधिं गायत्र्येनाह—

मूढापा—तं गणपालनाय स्वयमग्निसार्तं । ठवेदूण गणमध्ये निवेश्य स्वयं च पृथग्भूत्वा । खमावेदि क्षम प्रादयति स वृद्धाचार्यः ॥

अर्थ—उस मयीन आचार्यको आमंत्रणकर और उसको गणके बीचमें स्थापन कर और स्वयं अलग होकर बालमुनि, वृद्धमुनि, इत्यादिकोसे पूर्ण ऐसे गणकी मन, वचन, कायसे क्षमा मांगते हैं.

जं दीहकालसंवासादपु समकारणेहरागेण ॥

कडुगपरसं च भणिया तमहं सब्बं खमावेमि ॥ २७७ ॥

यदीर्यकालसंवासममत्त्वस्नेहरागतः ॥

अभिप्रेतं गणितं किंचित्तत्सवं क्षमयामि चः ॥ २७७ ॥

विजयोक्त्या—जं दीहकालसंवासादपु दीर्घकालं सख संवासेन यस्मात् समत्वं, स्नेहो, द्वेषो, रागश्च तेन । जं यत् कडुगपरसं च भणिया कडुके परसं या वच्च भणित्ता । त तत्तु युष्मान् । सब्बं सर्वान् । खमावेमि क्षमां प्रादयामि ।

१ कडुग इत्येकादारभ्य भणित्ता इत्येवापर्यवता पाक्यपेक्षिः कडुसत्के नास्ति ।

मूलारा—ममकार मनेमे हति बुद्धिः । मेदरयोगेन स्वेदेन प्रणयेन, एगोपायनिवारणशिक्षणः कल्याणपापन-
मतोदयस्य तेन । भविता भविता पूर्व । तं मो सन्ने वत्कटुकपदयमाणं गुणान्सर्वान्स्वमयाभि तन्वनिवकाष्टुपरदिवा-
न्दरोमीत्यर्थः ।

अर्थ—हे मुनिवण ! तुम्हारे साथ मेरा दीर्घ काळतक सहवास हुआ है इसलिये मैंने भयत्वसे, स्नेहसे, द्वेषसे
आपको कटु और कठोर वाक्य कहे दोगे इसलिये आप सर्व मेरे ऊपर क्या करेंगे ऐसी आशा है, मेरे कटु कठोर
भाषणसे आपके मनमें कष्टप्रभाव उत्पन्न हुआ होगा वो उसको त्याग कर मेरे लपराय की आप ध्याा करते-

गणेश संपादनकमसाकेटे—

वैदिय गिमुद्धिय पडिदो तावार् सन्वदच्छलं तादिं ॥

धम्मयारियं गिययं स्वानेदि गणो वि तिविहेण ॥ २७८ ॥

प्रणम्य पणितः संघञ्जातारं वरसलं यतिम् ॥

धर्माचार्यं विजं सर्वं सम्पण् क्षमयति त्रिपार ॥ २७८ ॥

इति क्षमणासूत्रम् ।

पिडयोवदा—वदिय गिमुद्धिय पडिदो अभिवंण संकुचितपठितः । तावार् संसादुःखात्रातारं । सवययच्छलं
सर्वपां वत्सलं । तादिं पादि । धम्मयारियं वरायिधि उसमक्षमादिक् पमै सय शकुसे अन्येषां प्रवर्तकं । गिययं
भारमीर्यं । एयमेदि गणो वि तिविहेण कमां प्राहवति गणकिरियिसेन । यमायणा समसा ॥

तणेन कार्यमाणस्य क्रममाह—

मूलारा—वैदिय गिमुद्धिय पडिदो वेदित्वा संकुचितपठितः प्रणम्य भूतलन्यत्सर्पचर्मोभूत इत्यर्थः । तावार्
संसारदुःखाद्रक्षकं । तादिं अदि । गिययं विजं ॥ क्षमणा सूत्रतः ॥ १३ ॥ लेकतः ३ ॥

गणने भी आचार्य क्षमाके अनंतर कोनसा विधि करना चाहिये उसका वर्णन—

अर्थ—वंदना करके भूतलपर गंचागोंका जिन्दोने स्थापन किया है अथवा प्रथम वंदना करके अनंतर
पंचांग नमस्कार जिन्दोने किया है ऐसे वे गणके सर्व मुनिजन संसारदुःखसे रक्षण करनेवाले, सर्वके ऊपर प्रेम

रत्ननेत्रालो, उत्तमश्रमादिक दम्भ प्रकारके धर्ममें स्वयं प्रवृत्त होकर गणको प्रवृत्त करनेवाले ऐसे अपने पूर्वोपायोंको मन वचन क्रायसे धृमा मारते हैं, क्षमणा प्रकरण समाप्त हुआ।

अनुशासननिरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः—

संवेगजिणियहासो सुत्तयविसारदो सुदरहस्सो ॥

आदट्ठचित्तओ वि हु चित्तेवि गणं जिणाणाए ॥ २७९ ॥

स सूअररहस्सजः स्यार्यनिष्ठोऽपि यस्सतः ॥

संविम्रश्चित्तयत्तयेवं गणं घीरो जिनाज्जया ॥ २७९ ॥

पिअयोवपा—संवेगजिणिदहासो संसारभीकृतया करणभूतया उत्पादितहासः । परिमेहेऽस्मिन्त्यके अन्यंत-
रादस्य रागादयः निमित्तापायादपर्यांति । तदपगमाचम्यूलस्थितौति कर्मणि मलयमुपवर्जति । तेषु नेष्टेयैव चतुर्गतिभ्रमणं
नक्ष्यति इति पिजितहर्षः । सुतथापिस्सार्दो सुदे जितवर्णाते तदर्थं च विसारदो तिगुणः । सुदरहस्सो भुतप्रायक्षितप्रयः ।
आदट्ठचित्त-ने वि हु वातमप्रयोक्तानिचित्तपरोऽपि । चित्तेदि गणं जिणाणाए चित्तानामाहवा गणचित्तां करोति ।

अथ परगणं प्रस्थादुमुपेतं गुरुणा गणस्य संपाचमनुशासनं गाथानेकोपरस्सतेन निरूपयति तत्र तावदुप-
क्रममाह—

मूलारा—संवेगजिणिदहासो संसारभीकृतया करणभूतयोत्पादितो हासो हर्षो येन । अस्मिन्वाक्कापरिप्रदे त्यक्ते
निमित्तापायावर्तरा रागादयोऽपगच्छन्ति, तदपगमाचम्यूलस्थितौति कर्मणि नक्ष्यति, तेषु च नेष्टेयैव चतुर्गति-
भ्रमणं नक्ष्यतीति संज्ञातप्रमोद इत्यर्थः सुदरहस्सो भुतप्रायक्षितप्रयः । चित्तेदि इति कर्तव्यतानिरूपणेन अनुशुद्धयति ॥

उपदेशका निरूपण करनेके लिये उत्तरप्रबंध—

अर्थ—समारमे भयशुक्त होकर परिग्रहविषयक हर्षका चिन्धेने त्याग किया है. चिन्धने कहे हुये
धर्ममें अर्थात् आगममें और जीनादिक पदार्थोंमें चिन्धेने निषुण्णता प्राप्त कर ली है अर्थात् जिनाराम और जीवा-
दिरूपदार्थोंका जो ज्ञाता है, प्राचक्षित ग्रंथका चिन्धेने भ्रमण किया है. ऐसे आचार्य आत्मदितकी चिन्तामें तत्पर
होते हों भी जिनाजाकी अनुसार चतुर्विध संपत्की चिन्ता करते हैं. ये आचार्य संसारसे भयशुक्त होकर परिग्रहोंक

त्याग करते हैं। परिग्रहोंका त्याग होनेसे रागादिक विकार दूर होते हैं। कारण निमित्त नष्ट होनेसे उससे कार्य भी नष्ट होता है। रागादिधोंका नाश होनेपर उनसे चिन्तका स्थितिवंध आत्मसे होता है ऐसे कर्म भी नष्ट होते हैं। कर्मोंका अभाव होनेपर चार गतिओमें जीवका भ्रमण होना बंद पड़ता है। इसलिये संयोगयुक्त आचार्य परिग्रहविषयक हर्षका त्याग करते हैं।

गिद्धमहुरगंभीरं ग्राहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ॥

अणुसिद्धिं देहं तद्धि गणाहिबहूणो गणत्स वि य ॥ २८० ॥

गंभीरों मधुरों स्मिग्धां आत्मात्मानं पदधिनीं ॥

अनुसिद्धिं देवात्येवं स गणस्य गणेक्षिनः ॥ २८० ॥

विजयोक्त्वा—गिद्धं देनेहसहितां । महुरं मायुस्त्वमित्यां । गभीरं सारायं च स्या गृहीतगंभीर्यं । ग्राहुगं ग्राहिकों सुखायचोधा । पल्हादणिज्जपत्थं च । केत प्रसहादिधाविनी । पत्थं पत्थो हितो । अणुसिद्धिं देह अनुसिद्धिं देवाति । तद्धि तस्मिन्पूर्वोक्ते देहो फाले ॥ । गणाहिबहूणो गणत्स वि य गणाधिपत्ये गणाय च ॥

कीदृशीमनुशिद्धिं कर्तुं स ददाति इत्यत्राह—

नूलात्—गिद्धमधुरगंभीरं स्नेहलां, कोटुद्वयवियां, सारायं च स्या अस्पृष्टलां च । ग्राहुग ग्राहिकों हृदित्यर्थ—निश्चायनसमया । ग्राह्यामित्यन्ये पठन्ति । पल्हादणिज्ज पानंदकरी । गावं मागंगुगामिनीं ॥ तद्धि तस्मिन्पूर्वोक्ते सौम्य-तिथ्यादियुक्तफाले क्षुभप्रदे च ॥

अर्थ—आचार्य गणस्यास फलनेके पूर्व चालाचार्य और गणको जो उपदेश करते हैं उसका ग्रंथकार इस भाषासे वर्णन करनेका प्रारंभ करते हैं—आचार्यका उपदेश, स्नेहसहित, मधुरतामें भरा हुआ, सारायुक्त अर्थमें भरा हुआ और गंभीर रहता है। उसका अभिप्राय सुखसे जाना जाता है, वह मनकी अनर्पित करनेवाला और हितकर होता है, आचार्य उचम तिथि नक्षत्रादि समकर्म और उत्तम स्थानमें गण और चालाचार्य को अमंजब देकर आगे कदा हुआ उपदेश देते हैं।

बद्धतओ विहारो दंसणणात्वरणेषु कायव्वो ॥

कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥ २८३ ॥

रत्नत्रये विधातव्यं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥ २८१ ॥

पिण्योदया—वर्द्धमानो विहारो कायव्वो वर्द्धमानविहारः कार्यः । क ? सव्वेसि कप्पाकप्पठियाणं अजागदे माने सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थितानां मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसंयताविगुणस्थानपेक्षया विविचो यतिधर्मः । दंसणवदसामपि-
कादिपिकरत्नेन प्रवृत्तिधर्मोपि विविचिप्ररूपः । तस्य सफलस्योपादानं सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशंकायामाह—
सामान्येन दंसणणात्वरणेसु सम्मथशेनज्ञानधारिषेसु चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेशः ।

चतुर्विधगणमुद्देश्योक्तेसमाह—

मूळारा—विहारो अनुष्ठानं । कप्पाकप्पठिदाणं योग्याबोध्यवस्तुप्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठितानां । दुब्भाकं शुब्भाभिः कर्तव्य-
इत्यर्थः । अजागदे मग्गे आगमिमि रत्नत्रये मार्गे इति समान्यस्य पक्षेनेत्यादिता विशेषितत्वात् ॥ तथा बोध्य—

रत्नत्रये विधातव्यं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्प/कल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गमें रहनेवाले दुनि और गृहस्थोंके आगमि रत्नत्रय मार्गमें हे मुनिगण !
आप उत्तरोत्तर दृढिगत होने वाली प्रवृत्ति करो, तथा दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, और चारित्राराधनामें दृढिगत होनेवाली प्रवृत्ति करो ।

प्रमत्त संपत्त, अग्रमत्त संपत्तादि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे यतिधर्मके भी अनेक प्रकार होते हैं, और दर्शन, ब्रत, सामायिक वगैरह विकल्पसे गृहस्थका प्रवृत्तिधर्म भी अनेक प्रकारका है, गार्थमें 'सव्वेसि' ऐसा पद है इससे प्रवृत्ति निवृत्त्यात्मक और विकल्पसहित गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका संग्रह होता है—

१ वर्द्धमानो इत्यत्र आरम्भ स्थितानां ध्यानत्वपर्यता साधकपंक्तिः कपुस्तेके नास्ति ।

संस्मिता वि ॥ पवहे जह वचद् वित्थरेण वहुंती ॥
उदधिं तेण वरणदी तह गुणसीलेहिं वहुाहि ॥ २८२ ॥

संस्मिन्हादितोऽम्भोर्वि गच्छन्तीच महानवी ॥

विस्तरन्ती चिघातव्या गुणशीलप्रवर्तना ॥ २८२ ॥

विजयोदया—संस्मिता सि य पवहे संक्षिप्तापि च प्रवहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाहः उत्पत्तिस्थानं तत्र संक्षि-
प्तापि सती वरवदी । जह वचद् यथा व्रजति । वित्थरेण वृधुलसया । वहुंती वर्धमाना । उदधितेण यावत्समुद्रं । तह गुणसी-
लेहिं वहुाहि तथा सीलशून्यस्ये पश्येत् ।

गणाधिपननुशाकिं दुद्रादसगायाः कथयति—

मूलाता—संस्मिता वि य कृशापि । पवहे प्रवहणारमे वज्जहि प्रवति । उदाधि वेण । समुद्रं यावत् । पवहाहि
पवहेत् त्वं भो गणाधिपते ! ॥

पालाचार्यको औचार्यका उपदेश—

अर्थ—उत्कृष्ट मदी जहसि उत्पन्न होती है वहां छोटी रहती है परंतु वह आगे गमन करते करते विस्तृत
शेकर समुद्रको प्राप्त होती है । धैरे हे पालाचार्य ! आप भी भारंभमें अल्प प्रमाणसे शील, द्रव, धारण कर उचरोचर
शील और गुणोंसे बढनेका प्रयत्न करो.

मज्जारसिदसरितोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ॥

मा णसेहिसि दोष्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च ॥ २८३ ॥

मा स्य कार्पीचिहारं त्वं माजोररसितोपमम् ॥

मा नीनशो यणं स्वं च कदाचन कथंचन ॥ २८३ ॥

विजयोदया—मज्जारसिदसरितोवमं माजोरस्य रचितं रटनं माजोररसितं तेन सह सादृश्यं उपमा परि-

रुद्धो यस्य विदारस्य तन्माजोररसितसदृशोपमं विहारं चरणं । तुमं भवान् । गा ह्यु काक्षिसि मा कार्पीः । मार्जारस्य रसितं प्राञ्जहत् धमेणापनीयते तद्वद्वत्तद्वयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मंदायमाना न कर्तव्येति यावत् । नाना जाले-
द्विती दोगिण वि अत्तानं वेद्य गच्छेत् च । आत्मनो गणस्या च मा धिनाशं कृथाः । प्रथमेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां
प्रयुक्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्त्यमानो नदत्यति ।

मूढारा—मन्जाररसितसदृशोपमं मार्जाररसितेन सट्ठी इपमा परिच्छेदो यस्य । यथा
मार्जाररसितं प्राक् महत्भूय क्रमेण होपमानं भवति, तथा रत्नप्रभाभावात्मनं संपद्यते माकार्पीरित्यर्थः (?) । मेल्यादि ।
प्रथमेण अतिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां गणं प्रवर्त्यन् स्वयं प्रवृत्तः पश्चाद्भूयस्तत्र मंदायमानो मात्मानं गणं च नाश-
विष्यसि इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे मार्जारका दृब्ध प्रथम बड़ा और नंतर छोटा होता है वैसे प्रथम रत्नप्रभभावना अति
दृढयुक्त कर अनंतर उसमें उत्तरोत्तर मंद मंदता घाटण करना आपके लिये योग्य नहीं होगा. ऐसे आचरणसे
जापका, संयका और दोनोका भी नाश होगा. प्रथम ही अतिशय दुर्धर तप और चारित्र्यमें प्रवृत्ति कर गणका और
अपना भी नाश कर लेना योग्य नहीं है.

जो सपरं पि पलितं गेच्छदि विद्वद्विदुमलसदोसेण ॥

किहू सो सद्विद्वद्वो परघरदाहं पसामेदुं ॥ २८४ ॥

विध्यापयति यो वेदभ नात्मयिमलसत्त्वतः

परयेदमशमे तत्र प्रतीतिः कियते कथम् ? ॥ २८४ ॥

विजयोद्या—जो सपरं पि यः स्वगृहं अपि । दहमानमावस्थाव चांछति विषयापयितुं कथमसौ श्रद्धातल्यः
परकीर्यदुदाहं प्रसामयितुं उद्योगं करोतीति ।

मया स्वयं मंदायमानेन गणकरणे मंदायमानो रक्षित्यते इति च मा संस्थासुं यतः—

अर्थ—जो पुरुष अहमीपनो अपने जलते हुये घरमो शीत करनेका प्रयत्न नहीं करता है वह दूसरोंके जलने हुये घरमो शीत करनेका प्रयत्न करेगा यह कहना कैसा अद्वानके लायक माना जायगा ?

नरसाहृषतेयं प्रगतिरगमितावधे—

वज्रेहि चयणकण्यं सगपरपक्खे तद्वा विरोधं च ॥

वादं असमाहिकरं विसर्गिगमूदे कसाए य ॥ २८५ ॥

मुंय उययनकल्लं एवं विरोधं स्वान्यपक्षयोः ॥

असमाधिकरं वादं कषायानप्रिसन्निभान् ॥ २८५ ॥

विजयोदका—पण्डित पयणकण्यं वज्रं भतिचार्यकारं ज्ञानदर्शनचरित्रवियं । अयत्तनाकाले असाध्याय-
कान्ति या पठने । श्वेतगुडि, भूषणगुडि या विना । निहव, प्रथमयोरगुडि, अगुमानं श्रुवादि को ज्ञानसिध्दार्थः ।
नैकाश्रमिनिमित्तान्तरादिमयोदितस्तथाः सन्ध्यावर्तमानातिचारः । समितिभयनापहितता चारिभ्रातिचारः । एते
उपलब्धनैरोप्यते । कर्तव्यपक्षे तद्वा विरोधं च धर्मस्थेषु, मिथ्यातरोषु च विरोधं यजेत । अतः समाधानविनाश-
कारणं यावत्तय यजनीया । पात्रे अगुसो यथात्मनो ज्ञयः पराजया परस्य या प्रवति तदेयान्येयते न तस्य समाधानयान् ।
विमनिगमूदे कसाये य । कषाया हि कोषादय स्वस्य परस्य च मूलं उपलभ्यति इति विप्रभूता, हृदयं वृद्धतीति बृह-
मृगास्माद्य यजेय ।

तथा चोक्तं—भित्तोकमदाः कुलगीलवानयो ॥

मसति दुर्मान्यतमानि चापि ते ॥

यदीदृश तानिकरास्तपसिनाम् ॥

भवति दीर्घान्यकस्य हि वैदिनाम् ॥ १ ॥

न केवलं ते परलोकोपिनः, इमं च लोकं प्रदायन्ति श्रवणाः ॥

न धर्मान्प्रस्य च विमोहेतयो , धनस्य कामस्य च ते विधातकाः ॥ २ ॥

गूढार्थः—धनमूल्यं न्ययनकल्लं सन्ध्यावर्तमानातिचार्यकारमिल्यते । सगपरपक्षे धर्मस्थेषु सिध्दादृष्टिषु च
अगमादिहरं यैः समाधानजननं । विमनिगमूदे कसाये य वाये हि प्रभूतो यथात्मनो ज्ञयः परस्य च मयति
नान्येयते न नरस्तमाभनं । विमनिगमूदे स्वस्य परस्य च मनुष्यान्वयतीति विपुल्यान्, हृदयं वृद्धतीति बृहन्नसदभ्यन्
यः ।

इसलिये बालाचार्यकी प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिये इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—हे बालाचार्य ! ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यसंघी अतिचारोंका त्याग करो- वाचना काल और स्वा-
स्यापकातको छोड़कर अन्य काल में पठन करना, अथवा स्वाध्याय करते समय क्षेत्रज्ञादि, कालशुद्धि और भाव
शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना, ग्रंथको और पढ़नेवाले गुरुको छिपाना, ग्रंथ अशुद्ध पढ़ना तथा अर्थका विवेचन
अन्यथा करना, ज्ञान और ज्ञानवानोंका आदर न करना ये सम्यग्ज्ञानके अविचार हैं.

शुंका, फौधा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिमंशता और संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अविचार हैं (इनका खुलासा
दर्शनविनयके प्रकरणमें आया है.) समितीकी भावनाओंका अभाव होना यह चारित्र्याविचार है. इन सब अति-
चारोंको व्यवहारमें न करने हैं. इनका तुम त्याग करो. स्वकपल-जैनधर्मस्थ युनिगण और परपक्ष मिथ्यावादिजन
इनमें विरोध भावना त्याग करो. मनके समाधानका नाश करनेवाले वादका भी त्याग करो. वादों में प्रवृत्त हुआ
गुरु अपना जय जिस उपाय से होया और अन्यका पतनय जिससे होया उसीको हूँदना है. परन्तु चतुर्के
सत्यस्वरूपको बतलाकर समाधान करना नहीं चाहता है. हे बालाचार्य ! आप विप और अग्निके समान ऐसे
प्रोधादिकपाओंका त्याग करो. ये कपाय अपनेको और दूसरोंको मारते हैं इसलिए इनको विपसमान कहते हैं.
अग्निके समान हृदय को जलाते हैं अतः इनको अग्नि कहते हैं. कपायके विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

ये कपाय त्रैलोक्यमें मछल्ले समान हैं, कुल और क्षीलके शत्रु हैं. जिसको आत्मासे बड़े कष्टसे दूर कर
सकते हैं ऐसे मलस्वरूप हैं. ये कपाय तपस्विओंका यश नष्ट करते हैं और तपका घात करते हैं. इन कपायोंसे प्राणि-
ओंको दुर्भाग्य की प्राप्ति होती है.

इस कपायशत्रुसे परलोकका ही नाश होना होता है ऐसा मत समझो. ये मर्यकर कपाय इह लोकका भी
नाश करते हैं. केवल ये कपाय धर्मभाव का ही घात कर रह जाते हैं ऐसा नहीं, इनसे काम और अर्थका भी
नाश होना है.

गणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारसु ॥

ण चाएदि जो-उवेहुं गणमप्याणं गणधरो सो ॥ २८६ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्मिण्यु ॥

निघातुं गणमात्मानमसमर्थो गणी न सः ॥ २८६ ॥

चित्रयोदया—जगन्मि य । रत्नज्ये गणमात्मानं च यो न स्थापयितुं समर्थो नैवासौ गणघटा । अ चाण्डि न समर्थः । बहवो मम चरन्वर्तिनः सन्ति पञ्चापता भवतो गणितान्वर्तो ग्राभूदिति भावः ।

मूढारा—चाण्डि शक्नोति ।

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्बन्धार्जन, सम्बन्धान और चारित्र्यमें जो अपनेको और गणको स्थापन करनेमें असमर्थ हैं यह मूढ गणघर पदके योग्य नहीं है, बहुत दुनि मेरे वश है इस लिये मैं गणघर हूं आचार्य हूं ऐसा गर्व तुम्हारे मनमें कभी भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये-

कीरकहिं गणघर्यो भवतीति धेवैकभूत इत्याद्ये—

गणमि द्वंसणमि य चरणमि य तीसु समयसारेसु ॥

चाण्डि जो ठवेहुं गणमण्णणं गणघरो सो ॥ २८७ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्मिण्यु ॥

निघातुं गणमात्मानं सक्कोऽसौ गदितो गणी ॥ २८७ ॥

चित्रयोदया—रत्नज्ये काया ॥

मूढारा—स्वयम् ॥

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्बन्धार्जन, ज्ञान और चारित्र्यमें जो अपने को और गणको स्थापन करनेमें समर्थ हैं यही गणघर हो सकता है-

पिंडं उवाहं सेव्जं अविताहिय जो हु मुंजमाणो हु ॥

मुल्लद्वणं पत्तो मूलोत्ति य समण्णण्णो सो ॥ २८८ ॥

पिंडं उवाहिं सेज्जं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ॥

चारिस्सरक्खण्डं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥ २८९ ॥

यः पिंडमुपधिं सख्यां दूयणैरुद्गमरादिभिः ॥

गृह्णीते रहितां योगी संयतः स निगद्यते ॥ २८८ ॥

विजयोक्त्वा—पिंडं आहारं, उवाहिं उपकरणं, सेज्जं वसति। सोधिंतो शोधयन्। उग्गमउप्पादणेसणादीहिं उग्गमोत्पत्त्यैपणादिभिर्दोषैः। किमयं शोधयति? चारिस्सरक्खण्डं उद्गमविदोषं परिहरति। सुलंयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमप्रशान्तौ लामो ममेत्यर्थे भयतीति वा चेत्तद्वक्तुमैव भावः। एवंभूतं सुचरित्तो मयकीति यतिः ॥

गूलारा—उपधिं विच्छाद्युपकरणं। सोधिंतो शोधयन्। उद्गमविदोषपरिहाराः कुर्वन्।

अर्थ—आहार, पिंडी, फर्मादन्तु वीरं उपकरण और वसत्रिका इनका शोधन किए बिना न करता हुआ जो मुनि इनका ग्रहण करता है वह मूलस्थान नामक दोष को प्राप्त होता है. अर्थात् वह मुनिपदसे भ्रष्ट होता है. परंतु जो आहार, उपकरण और वसत्रिकाको उद्गम, उत्पन्न और एषणादि दोषोंसे रहित जानकर चारित्रशुद्धि के लिये ग्रहण करता है वह सुचारित्र माना जाता है.

एसा गणधरमेरा आयात्तथाण वणिगया सुत्ते ॥

लोगसुहाणुादाणं अण्णच्छंदो जहिच्छाए ॥ २९० ॥

समये गणिमर्यादा तेषामाचारधारिणाम् ॥

स्वच्छंदेन प्रवर्तते लोकसौख्यानुसारिणा ॥ २८९ ॥

विजयोक्त्वा—एसा गणधरमेरा एसा गणधरमर्यादा। सुत्ते वणिक्ता सूत्रे निकषिता। केसां? आयात्तथाणं आयात्तथाणं। गंघरिणे आचारे ये स्थितिरित्येवं गणिनां व्यवस्था सूत्रं वर्णिता। लोगसुहाणुदाणं लोकानुवर्तिनां सुत्रे व्युत्पत्तां न येच्छया। अस्तंयतजनवैमर्गाः सुगन्धरत्न शाले निषिद्धः तत्र ये वन्तेते स्वच्छंदा तेषां अण्णच्छंदो आत्मिच्छा एव केपदा न तेषां गणधरमर्यादा सूत्रे व्यवर्जिता। अथवा लोकसुखं नाम सुहाहारमोजनं, यथाकामं सुदुःखव्यासने, मनोत्रे वेदमति धमने च तत्र एतासां विषयानुदाणादित्यर्थः।

मूलात् - गणपरत्वेण आचार्यभार्यादा गणित्यवस्था इत्यर्थः । आचार्याणं आचार्यतां गणिनामित्यर्थः । लोगमुहापुरदानं लोकानुवर्तिनां सुतेषूनां च । अथवा लोकसुखं नाम मृदादामोहनं, यथाकामं मृदुतावभासवं, सर्वत्रैरग्ये वेदमति वलनं च तत्र सचानं । लोगमुदीगिरदानं लोकभुविनिर्वाणं । अण्वच्छदो आत्मच्छैव केवला न सुखोका गणपरत्वर्यात् । जहेच्छाप यजेच्छया लोकमुसाबुलानामित्यनेन संनयः ।

अर्थः—यह अच्छा संयत मुनि है ऐसा मेरा जगतमें गन फेले अथवा अपने मतका प्रकाशन कानसे मेरकी लाय होगा ऐसे भाव मनमें धारण न करके केवल चात्रि रक्षणावै ही निर्दोष आहारदिकोंको जो ग्रहण करता है यही सचरित्र मुनि समझना चाहिये.

ज्ञानाचारादिक पाण्य प्रकारके आचारोंमें जो स्थिर रहे हैं, अर्थात् पाण्य आचारोंका जो निर्दोष पालन करते हैं, उन आचार्योंकी विनागममें उपर्युक्त मर्यादा कही है, परंतु जो लोकोंका अनुसरण करते हैं, और सुखकी इच्छा करते हैं उनका आचरण कुछ मर्यादास्वरूप माना नहीं जाता है. ब्राह्मण असंयमीलकोंके साथ संसर्ग और सुखमें आदर करना ये शक्तें मुनिओंके लिये निषिद्ध मानी हैं. परंतु इनमें जो अनुरक्त हैं वे स्वेच्छासे प्रवर्तते हैं. ऐसा समझना चाहिये. उनकी गणधरमर्यादा द्वामें उल्लिखित नहीं है. अथवा लोकसुखका अर्थ यह भी होता है—यथेच्छ मिष्टाहारका भोजन करना, सुदुःखदुःख सोना, दुंदर परमें निवास करना, ऐसे कर्ममें रत होना इसको लोकसुख कहते हैं. जो विषयामक्त मुनि हैं वे आचार्यत्वके योग्य नहीं हैं.

सीदायेइ विहारं सुहसीलगुणेहि जो अधुदीओ ॥

सो ण्वारि लिंगधारी संजमसारेण गिरसारे ॥ २९१ ॥

यः शिष्यानिवास्तान् बोधाणामाश्रयाय दुष्टरलि तथा विनिबुद्धि सूप-
तिरहितं हारं सुममुञ्जितः ॥ १

हीनः संयमसारेण लिंगधारी स केवलम् ॥ २९० ॥

विजयोदया—सीदायेइ मंदं करोति । विहारं चारित्रं स्वयमे प्रवृत्ति । सुहसीलगुणेहि सुतसमाधानाश्रयात् ।

जो अगुन्दीओ यो बुद्धिरहित । सो णवरि लिंगघारी स वृथाल्मी भवति, द्रव्यादिभं धारयति । संजमसारेण गिस्सारो सयमाख्येन शब्दियमाणसयमधिकप्लेयेन सारेण नि सार । कतहुक भवति—

उद्गमादिदोषदुष्टापेदादिमाहिणः संयमवैधुर्योक्तिगधारणवैयर्थ्यं कथयति—

मूढारा—सीदोवेदि ि विरयन्ति । बिहारं चारितं । सुहृत्सीलगुणेहिं यथेष्टेष्टिष्ठादिप्रयोगसुखप्रवृत्तसमाधानाभ्यासीः । अशुद्धिगो बुद्धिरहित । णवरि लिंगघारी वृथाल्मी न यतिर्न गणधर इति गायः । गिस्सारो दरिद्र ॥

अप—यथेष्ट आदारादि सुखोक्तं तद्धीन होकर जो अशुद्धि मुनि रत्नत्रयमें अपनी प्रवृत्ति स्थित करता है वह द्रव्यालिंगघारी मुनि है ऐसा समझना चाहिये इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमसे वह निःसार है, इसका अभिप्राय यह है—

पिडं उवधिं सेंजामीविसोधिं यो खु भुंजमाणो तु ॥

मूढहानं पत्तो धालोस्धिं णो संमणवाल्लो ॥ २९२ ॥

विशयोक्त्या—य उद्गमादिदोषोपहतमाहारं, उपकरणं, वसतिं वा यद्वाचि तस्य भौन्दियसंयम, नैव प्राणसंयम, ततोऽस्ती कचले नम । न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ।

अर्ध—उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसतिर्का इनका जो साधु ग्रहण करता है जिसको प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम है ही नहीं वह साधु मूलस्थानको प्राप्त होता है वह अशानी है, वह केवल नम्र है, वह यदि भी नहीं है और न गणधर ही है

मुल्लगामणयरुजं पयहिय तेसु कुणइ दु मभन्ति जो ॥

सो णवरि लिंगघारी संजमसारेण गिस्सारो ॥ २९३ ॥

ममत्वं कुरुते हित्वा यो राजयं नगरं कुलम् ॥

तस्य संयमहीनस्य केवलं लिंगधारणम् ॥ २९४ ॥

विजयोव्या—कुलनामधररत्नं कुलं, ग्रामं, वनं, च । पथद्वि पथित्वम् । तेषु कुण्डि ममति जो ग्रामादिषु पुनः यः करोति ममतां । गदीयं कुलं, वनदीयो ग्रामः, नगदं, राजवं चेति सोऽपि केवलं नगः । यो हि यत्र ममतां करोति ॥ यः यदि दोमने जातं तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, संहिंसवति वा । ततो रागद्वेषोलम्बे च वर्तमानः असंयतो भवतीति भावः ।

मुलादिमकारकारिणोऽपि—

मुलारा—पञ्चाद्वि (वक्त्वा) । यो हि ॥ ममतां करोति वक्ष्य दोमने जाते तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, संकिलश्यते वा । रागादिमानसंयतेष्वप्यद्वेषात् कथं संयतः स्यादिति भावः ।

अर्थ—जो हुनि कुल, गाँव, नगर और राज्यको छोड़कर उनमें पुनः जग करता है अर्थात् यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम है, यह मेरा शहर है, मेरा राज्य है ऐसा संकल्प रखता है, वह फक्त नग्न है, संयमसे रहित है, जो जिस पदार्थमें ममता करता है वह उसका शुभ होनेसे हर्षित होता है और अनुभ होवेसे द्वेष करता है अथवा संक्षेप परिणाम करता है, इसलिये जो रागभाव, द्वेषभाव और लाममें लीन होता है वह असंयत होता है ऐसा समझना चाहिये.

अपरिस्सावी सम्मं समपासी होहि संवकज्जेसु ॥

संरक्ख सचक्खुं पि य सवाल्लज्जुत्तलं गच्छं ॥ २९४ ॥

त्वं कार्यं पचपरिस्सावी समवद्वर्गविलेप्पवपि ॥

भूत्या विद्यानतो रक्ख वाल्लवृद्धकुलं गणम् ॥ २९५ ॥

पिअयोव्या—अपरिस्सावी श्रुत्यपिमिति दोषां विहाय निगदिताममपराधाणां श्रुतानं मा कथाः । समपासी चेव होहि कज्जेसु कार्येषु सम्यक् समवद्वर्गं च भव । संरक्ख सचक्खुं पि य परिपालय स्वं नेनं इव । किं सवाल्लज्जुत्तलं गच्छं स्यादीर्घदेसकीर्णं नग्नं ।

एवं संयमदीयित्वे दोषानुद्धान्य गणितं गणरत्नायां नियुक्ते—

मुलारा—अपरिस्सावी बालोचितदोषाग्रकाशको भव । समपासी सनदर्शी । सचक्खुं पि निजनेत्रमिव सवाल्लज्जुत्तलं बालसदितैर्घृतेरसकीर्णम् ।

अर्थ—हे बालाचार्य ! यह गुरु अपरिसाधी है ऐसा समझकर शकाको छोड़ कर यदि किन्हीं अपने अपराध तुमको करे तो उनको तुम प्रगट मत करो- सब कार्योंमें समानदर्शी तुम होवो। और अपने नेत्रके समान बाल और वृद्धोसहित सर्व गणका रक्षण करो।

निधिविविहूणं खेपं निवदो वा जतथ दुट्ठओ होज्ज ॥

पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो च तं वज्जो ॥ २९५ ॥

प्रवज्जय संयमच्चंसि वृजजमंपराजकम् ॥

न क्षेप्रमात्मनीनेन सेवनीयं कदाचन ॥ २९६ ॥

विलयोद्या—वृणितार्थो यस्मिन्दुष्टो भवेत्तद्य क्षेत्रे पतित्यज्ज । पव्वज्जा च ण लब्भदि जतथ प्रवज्जा च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे । शिष्या न जायते तथ । संजमघादो च जतथ संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे तं वज्जो तत् लजेति । गणितिक्षा ॥ गणितिक्षया ।

साधूनामसेव्यं क्षेत्रमनुशासि ।

मूलार—पव्वज्जा च ण लब्भदि । प्रज्जा वा न लभ्यते । यत्र शिष्या न जायते तत्रपि क्षेत्रं त्यज । अन्ये तु न लभ्यते दातुं महीतुं वेति न्यायान्ति ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें राजा नहीं है अथवा दुष्ट राजा है उस क्षेत्रका तुम त्याग करो- जहाँ प्रवज्जया नहीं है अर्थात् शिष्य नहीं होंगे अथवा जहाँ संयमका घात होगा उस क्षेत्रका तुम त्याग करो- गणितिक्षा अर्थात् आचार्यको लिममें उपदेश दिया है ऐसा गणितिक्षा नामक प्रकारण समाप्त हुआ।

गर्भं शिक्षयत्युत्तमप्रपंचेन—

कुण्ह अपमादमावासाएसु' संजमतवोवघाणेसु ॥

गिस्सारे माणुस्से दुट्ठहवोहिं विघणिन्त्वा ॥ २९७ ॥

भावद्वयके कथा जाता प्रमादं (वृत्त) वर्षके ॥
विज्ञाय दुर्लभां चोधि निःसारं मानुषे भवे ॥ २९४ ॥

विजयोदया—कुण्ड वयमारमासगणेषु कुरुतामदमावश्यकेषु । संजमतचोवधणेषु संयमस्य, तपसव्याग्र-
येषु । शय्यद्विताः संयम इति पूर्वनिर्गतः । संयमं विना न तपः शक्योति कर्तुं मुक्तिमिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य संयमो
मर्चति । असंगमं सज्जतीति, सावधकियान्तिद्वयो सत्यार्थं कर्माणि तपसीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽप्याश्रयः ।
विष्ण्वारं मानुसे साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अनुचितया मनुजानां असारं । तत्र दुर्लभां चोधि दुर्लभां दीक्षाभिमुखानां
मुदि । विज्ञापित्वा प्राप्त्वा ।

इतो गर्लं निक्षयति—

मूढारा—कुण्ड यूरं भो यतयः । अपमादं अवधानं । उबहणं उपधानं अवग्रहविशेषः । निस्तारं
अनित्यतया अनुचितया वा साररहिते । दुष्टमवोधि दुर्लभां दीक्षाभिमुखानां मुदिप ।

अर्थ—हे मुनि गण ! तुम सामायिकादि छह आवश्यकोंमें प्रमादका त्याग करो क्योंकि आवश्यकिया
संयम और तपका आश्रयस्थान है. संयम और तप इन दोनोंमेंसे संयमको श्रेष्ठपना है इस लिये ग्राथामें संयम
दृष्ट प्रथम और तप शृष्ट अर्जतर है. संयमके विना फल तप मुक्तिदायक नहीं है. तत्र मुनि सामायिकादि
आपश्यकोंमें प्रवृत्त होता है तब उसको संयम प्राप्त होता है और असंयम का त्याग होता है. सावधकियाका
त्याग होने पर तप कर्मोंको संतप्त करता है तभी उसकी तप यह संज्ञा प्राप्त होती है. अन्यथा नहीं. अतः आवश्यक
क्रिया तपका नी आश्रय स्थान है. यह मनुजजन्य साररहित, अनित्य, अपवित्र है. ऐसे मनुष्यजन्ममें दीक्षा
ग्रहण करनेके प्रति मुदि होता दुर्लभ है ऐसा जानकर पडावश्यकोंमें प्रमाद कभी भी हुम मत करो.

समिदा पंचसु समिदीषु सच्चवा लिणधयणमणुगदमदीया ॥

तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुचा य दंडेसु ॥ २९७ ॥

संज्ञागौरवरौद्रार्नध्यानकोपादिवर्जिताः ॥

समिताः पंचभिर्गुणास्त्रिभिर्भवन सर्वदा ॥ २९५ ॥

विजयोदया—सम्यक्प्रवृत्ताः होह भवत । पंचसु सान्निदीसु पंचसु समितियु । सव्वदा सर्वदा । जिणवयणम-
णुगदम्बदीणा जिनवचनमनुगतबुद्धयः । तिहि गात्वेहि रहिया गात्वअसुरहिताः । तिगुत्ता य गुत्तिअयसमन्विताः भवत ।
क दंहेमु अशुभमनोधाकायिणु ।

मूळारा—समिदा सम्यक् प्रवृत्ताः । तिदिहेसु अशुभमनोधाकायन्यापासे ।

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम हमेशा पांच समितियोंमें बत्पर रहो । जिनेश्वरके वचन में अपनी बुद्धि लगाओ,
अर्थात् जिनवचनके विरुद्ध अपनी बुद्धिको मत दोढाओ। तीन गारवसे रहित होकर तीन गुप्तिके धारक बनो। अशु-
भ मन वचन और शरीरकी प्रवृत्तिका त्याग करो।

सण्णाल कसाए वि य अहं रुहं च परिहरह णिच्चं ॥
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता सव्वप्पणा जिणह ॥ २९८ ॥

हूपीकवन्तिनो दुष्टान्यप्यपरण्यगामिनः ॥

जिनवाक्याकुक्षोनाशु बद्धो कुरुत यत्नतः ॥ २९९ ॥

विजयोदया—सण्णाओ संज्ञा आहारादिविषयाः । कसाए वि कयाबलवि । अहं रुहं च अहं रौद्रं च भवान् ।
परिहरत निराकुरुत । णिक्के नित्यं । दुट्ठाई इंदियाई दुष्टमींदियाणि ॥ जुत्ता युक्ता ज्ञानेन सपसा च । सव्वप्पणा जिणह
संज्ञाकल्या इंदियसर्वं कुरुत ।

मूळारा—जुत्ता ज्ञानेन उपसा च समाहिताः । सव्वप्पणा सर्वात्मना, सर्वशक्त्या ।

अर्थ—हे मुनिगण ! आहारादि चारों-संज्ञाएँ, चार कयाय, अतिध्यान और रौद्रध्यान इनका हम सदा त्याग
करो। ज्ञान और तपसे हुए इन्द्रियोंको अपने पूर्ण सामर्थ्यसे जीतो।

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्भि लोयम्मिः॥
बिहरंति विगदसंगा गिराउला णाणचरणजुदा ॥ २९९ ॥

धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विपयाकुले ॥
विचरन्ति गतग्रन्थाश्चतुरगो निराकुलाः ॥ -९७॥

विजयोदया—पण्णा दु ते मनुस्सा धन्यस्ते मनुष्याः । के ? ते विपयाकुलस्मिं लोकास्मिं ये शब्दादिमिरा-
रुपिं जगति । विगदंमंगा निःसंगाः कचिदपि विषये स्पर्शान् । बिताडला निराकुलाः । भाणवरणजुदा खतिने चारिजेण
च गुणाः । मालचारिप्रयुतानां प्रशंसा तथावरजनसमर्थो गणस्व ।

मूढारा — निराडला निराकुलाः ।

अर्थ—स्पर्शादिक पांच इंद्रियविषयोंसे भरे हुए इस जगत में ज्ञान और चारित्र्यसे तत्पर होकर विपर्या
में अनामस्त रहकर निःसंग बनकर निर्व्याकुल होने हुए विहार करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं,

सुरसत्तया गुरूणं वेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ॥

सज्जसाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छुला होह ॥ ३०० ॥

विनीता गुरुश्रूपाकारिणश्चैत्यभक्तयः ॥

यत्तसला भवत ध्याने स्वाध्यायोद्यतचेतसः ॥ २९८ ॥

विजयोदया—सुरसत्तया गुरूणं सम्यग्दर्शनमानचारिणः गुरुर्गुरुतया गुरुष इत्युच्यते आचार्योपाध्यायसाधका ।
शुद्धित्वदीपदानभयानुमननं च भवति । शुश्रूषणपरेण भाव्य । सामादिकमनेष्व तेषां गुरुर्गुरुतायः कृतो भवति । गुणानुरागाद्दर्शन-
विधानि अधिमाह भिमाणि तेषु भक्ताः । यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकुलित्वांनान्देषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारो-
ऽनुपकारो वा न तुल्यतया प्रतिकुलतया तदुत्तमकारस्योपकारस्य वा अनुसृत्ये निमित्ततास्ति तद्विजजनसिद्धगुणाः अनेत-
मानदर्शनसम्बन्धीतरागतपादस्तत्र यस्मिं न संति, तथापि तद्वृणानुसारणं संपादयन्ति माहदयातय गुणानुसारणं अनु-
सामानमं प्रानर्शने सन्निपापयति । ते च संवरमिर्जरे महत्तमं नैषादयतः । तस्माच्चैत्यभक्तिपुरायोगिनीं कुरुत । विभय-
पुरा य विलयं भवति कर्मलभिमिति विनयः । सामदर्शनतपश्चारित्र्यमित्रा उच्यारयिष्येति पंचमकारे विनये युक्ता भवतः ॥
साधोचक्रयाचनासाधपणकालयोत्थयनं शुतस्व शुतं प्रयच्छन्मन्त्र भक्तिर्गुण कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, चतुर्मानं कृत्वा, निद्रां
निद्रात्पत्य, अर्पणंजनतदुभयमुद्धि संपादयन् साधरमानं श्रुतमनं संपदं निर्देष्टुं करोति । अन्यथा साधवरण-
स्य कारणं भवेत् ।

शंकाकांक्षादिभिरासौ दर्शनखिनयः । —

स च प्रयत्नेन भवद्भिः संपादोऽप्यथा शंकादिवरिणामा मिथ्यात्वमानयन्ति । दर्शनमोहनीयस्य चाक्षया भवन्ति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मयशादान्ततत्संसारपरिधमणं तु खमीरूपां भवतां ज्ञायते । रूपरसगंधस्पर्शशब्देषु मनोशान्तोद्बोधेषु समिधितेषु अन्तर्कालाभ्यासादगोऽशीतिश्च जायते । तथा कृपायाश्च चाक्षमाभ्यन्तरं च निमित्तमाश्रित्य प्राप्नुवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्रं विनाशयन्ति । कर्मोद्वाननिमित्तनियोपरमो हि चारित्रं । रागादयश्च कर्मोदाननिमित्तक्रियास्तथा अनुमनोवाक्याकियाश्च कर्मोदाननिमित्ताः । तथा पशुजीवनिकायथापरिहारमंत्रेण गमनं । मिथ्यात्वेऽसंयोगे वा प्रवर्तकं यत्नं साक्षात्पारम्येण वा लोचयाक्षीकरणं । भोजनं, अज्यवैक्षिताप्रमाजितवाननिक्षेपी शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडोद्वेरेताः कर्मपरिग्रहनिमित्ताः क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्रविनयः । व्यावर्णिताभुषाक्रियापरिवर्जनं विना चारित्रं नाम किमार्जयतां तस्मादत्रोद्योगं कुर्यात् ॥ अमशानादितपोजनितकेशसहनं तपोविनयः । स्त्रि संश्लेशे महानास्त्रयो भेषवृत्ता निर्जरा । उपचारविनयाद्विनीत इति पूज्यते दुष्टैरन्यथा अयिनीत इति निघते । किं च उपचारविनयं मनोवाक्याविकल्पं यो न करोति, स गुरुस्मरसायजनाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नाभ्युच्छति, नाजलि करोति, न स्तौति, न विद्वति करोति, गुरोरेव आसनमारोहति, याति गुरुरेतेषां, निदले, परुषं वदति, आत्मोशति च । स नीचैर्गौत्रं यज्जाति । तेन भ्याकचाकालादिगुणेषु गहितेषु, सास्तेवमामसृक्पादिषु वा जायते । न च रत्ननयं गुरुभ्यो लभते । विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवः, प्रवर्गेन मानयेति च ततो विनयपरा भवत । आवर्गेनैव वीर्यं गुणं महोत्तमवबुध्य स्वस्व्याप गच्छता ह्योह । शोभनं लभयन् स्वपद्यायः । जीवादितवपरिजानं, तदुपायभूतश्च ग्रंथः तस्मिन्स्वाभ्यासे आशुता आशुता भवत । मित्रां, दास्यं, मीढां, धालस्यं, लोफयानां च त्यक्त्या ॥ तथा चोक्तः—“ शिदि न पशु मण्येज्ज हासं देह विवर्जय ॥ जोगं समप्राथम्यस्तं शृजे भणक्तसो सदा ॥ ” इति ॥ गुरव्यययययच्छा होह गुरुययययस्तला भवत ॥

मूढारा — सुस्तसगा उपासकाः । गुरुणं आचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां ॥ आशुता आसत्ताः निद्रादिकं स्वसया भवत द्यूयं । उचंच—गिद ॥ बहु मण्येज्ज हासदेदं विवर्जय । जोगं समण यन्मस्तं शृजे भणक्तसो सदा ॥

अर्थ—साम्यदर्शन, ज्ञान और चारित्र इन गुणोंसे जो बड़े बन चुके हैं उनको गुरु कहते हैं, अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये तीन परमेशी गुरु बड़े होते हैं, हे मुनिगण ! आप इन गुरुओंकी शुश्रूषा करो, लाभ कीर्ति, आदर इनकी अपेक्षा छोटकर हे मुनिगण आप शुश्रूषा करो, शुश्रूषासे गुणोंपर प्रेम होता, गुणोंमें करनेमें सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, तथा गुरुओंकी शुश्रूषा करनेसे उनके रत्नत्रयके प्रति अपनी अनुमति है यह सिद्ध होता है अनुमतीसे परियमके विना ही पुण्यकी प्राप्ति होती है,

हे मुनिगण आप अहंस्त और सिद्धकी अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिभाओंपर गति करो, शत्रुओंकी अथवा

मित्रोंकी प्रतिमा या फोटो दीख पटनेपर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है। यद्यपि उस फोटोने उत्पन्न अथवा अनुप-
कार कुछ भी नहीं किया है परंतु यह अशुद्ध अवधार और भ्रष्ट उत्पन्नकारका स्मरण होनेमें कारण है। जिनशर-
और सिद्धोंके अंतर्ज्ञान, अंतर्दर्शन, सम्बद्धर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अहंत्वप्रतिमा और सिद्धप्रतिमामें नहीं
हैं तथापि उन गुणोंका स्मरण होनेमें ये कारण होती हैं। क्योंकि अहंत्व और सिद्धोंका उन प्रतिमाओंमें सादृश्य है।
यह गुणस्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इनसे नवीन कर्मोंका अपरिमित
संवर और पूर्वसे कहीं अधिक कर्मोंकी महानिर्जरा होती है। इसलिये आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्यभक्ति
आप दयेगा करो। हे मुनिपुंज ! आप पांच प्रकारका विनय नित्य करो, ' विलयं नयति कर्ममलं इति विनयः ' जो
कर्ममलता नाश करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं। इस विनयके ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र्यविनय तपो
विनय और उपचारविनय ऐसे पांच भेद हैं। स्त्रायमें वाचना और स्वाध्याय का जो काल कहा हुआ है उसी काल
में धुतका अध्ययन करो, धुतज्ञानको पतनित्याले गुरुकी शक्ति करो, कुछ नियम ग्रहण कर आदरसे पढ़ो, गुरु और
शास्त्रको छिपाकर स्वयं मैने और मेरी पुढीसे सब धुतज्ञान धारण किया है ऐसा गुरु मनमें धारण करना छोड़ दो।
अर्थ मुक्ति, पर्यजनशुद्धि और उभयशुद्धिके साथ धुतज्ञानका अध्ययन करो। विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ धुतज्ञान
कर्मोंका संवर और निर्जरा करता है। यदि विनय न होगा तो दोषसहित धुतज्ञान ज्ञानावरण कर्मका निमित्त होता है।
शंका, कांक्षा, विचिक्रिता इत्यादि दोषोंको जो हटाना वह दर्शन विनय है। इसकी आप प्राप्ति करनेमें
प्रयत्न करो, नहीं तो शंकादिक परिणाम मिथ्यात्वको उत्पन्न करेगी जिससे दर्शनमोहनीयके आसन्न आफर मिथ्यात्वी
पनौगे। इस मिथ्या दर्शनके निमित्तसे पंथा हुआ कर्म दुःसभीक ऐसे तुमको अनंत कालतक संसारमें भ्रमायेगा।

एह और अनिष्ट ऐसे स्वर्ण रत्न, गंध, रूप और शब्दोंमें अनंतकालतक जीवका अभ्यास होनेसे उनमें
राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। कषाय भी पाद कारण और अम्यंतर कारणोंको पाकर उदयमें आ जाते हैं। उनके
उदयसे चारित्र्यका पात होता है। कर्मका जिनहोसे ग्रहण होता है ऐसी मानसिक, प्रायिक और वाचनिक क्रिया
जोका अभाव होनेसे चारित्र्य उत्पन्न होता है। राग, द्वेष, मोह वगैरह परिणामोंसे कर्म आत्मामें आता है। तथा मन,
पंचन और शरीरके अशुभ व्यापारोंसे आत्मामें नवीन कर्म आता है। पानी, हवा, अग्नि, पृथ्वी और वनस्पति ये
पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं। इन्द्रियादिक जीवोंको ग्रसजीव कहते हैं। इन छह काय जीवोंको बाधा हो इस

रीतिनि गमन करना, मिथ्यात्वमें और असंयममें जाविकी श्रुति जिससे होगी ऐसा वचन बोलना, साक्षात् अथवा परम्परासे जीवोंको याधा देना. भोजन करना, कोईभी वस्तु बिना देखे, बिना पाछे, जमीनपरसे लेना और रखना, जमीनकी देखभाल किये बिना उसपर दगना, मृतना, वगैरे क्रिया करना, ये क्रियायें जातिपद्धिका कारण हैं. इनका त्याग करनेसे चरित्र विनय होता है. अशुभ क्रियाओंका त्याग करना यह चरित्रका लक्षण है. परंतु जो आरंभ क्रिया करते हैं वे चरित्र धारण नहीं कर सकते हैं. इस लिये हे मुनिवृंद ! आप चरित्रमें नित्य उद्योग करो.

अनशन, अवमोदर्य वगैरह तपोसे उत्पन्न होनेवाले परिधर्मोंको सहन करना यह तपोविनय है. यदि तप करते समय आत्मामें संकल्य परेणाम उत्पन्न होये तो कर्मोंका महान् आसन्न होगा और निर्जरा अल्प होगी उपचारविनय धारण करनेमें विद्वान् लोक यह मुनि विनयशील है ऐसा समझकर पूजा करते हैं. यदि उपचार विनय मुनिमें न हो तो वह निंदाना पात्र होता है. मानसिक उपचार विनय, वाचनिक उपचार विनय और क्रायिक उपचार विनय ऐसे उपचार विनयके भेद हैं. इन विनयोंको जो मुनि धारण नहीं करता है, गुरुओंकी मनसे अवहेलना करता है, गुरु आनेपर ऊठकर खड़ा होता नहीं, वे जानेपर उनके पीछे जाता नहीं, हात जोड़ता नहीं, उनकी स्तुति और निशंक्ति करता नहीं, गुरुके सम्मुख आसनपर चढ़कर बैठता है, उनके आगे जाता है, उनकी निंदा करता है और उनकी कठोर शब्द बोलता है, गालि देता है उनकी नीचयोग्यता वंश होता है. इस कर्मके उदयसे यह मातंग, चांदाल, धीवरादि निंश वीच कुलोंमें जन्म लेता है. कुत्ता, सूकर, वगैरह पशुओंमें वह उत्पन्न होता है. निंदा करनेवाले मुनिओं को गुरुने रत्नत्रयका लाभ होता नहीं. परंतु जो मुनि नम्रस्वभावका है गुरु उसको मयत्नसे पढाते हैं और उसका आदर करते हैं. इसलिये हे मुनिपण ! आप विनयमें नित्य तत्पर रहो. अविनय दोषसे भरा हुआ है और विनयमें वंश गुण निगम करते हैं ऐसा समझकर तुम स्वाध्यायमें अतुरक्त रहो. शोभन अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं. जीमादि तत्त्वोंका स्वरूप समझलेना और उसका वर्णन करनेवाले ग्रंथको पढना यह शोभन-उत्तम स्वाध्याय है. इसमें तुम हमेशा तत्पर रहो. सीमा, दसना, खेला, आलस्य, लोक च्यवहार इन बातोंको छोड़कर तुम स्वाध्याय करो. पूर्वोक्तार्थ इस विषयमें ऐसा कहते हैं. 'मैं निंद्रा को अच्छी नहीं मानता हूं. मैं हास्य और क्रोधा का त्याग करता हूं. मैं आलस्य छोड़कर मुनिधर्मकी, योग्य क्रियाओंमें हमेशा

उद्युक्त रहें" हे सुनिष्ट! तुम हमेशा बलोक्यमें सदाएं ऐसे सर्वत्र स्थित आगमों में करो.

दुस्तहपरीसहेहि य गामवचीकंटएहि तिक्खेहि ॥

अभिभूवा वि तु संता मा धम्मधुरं पमुचेह ॥ ३०१ ॥

मा स्म धर्मपुरं स्याधुरभिभूताः परीपदैः ॥

हुस्तदैः कंटकैस्तरिणैर्गामियकवचोमयैः ॥ २०९ ॥

विज्ञयेव्या—दुस्तहपरीसहेहि य तु तदैः परीपदैश्च । गामवचीकंटएहि तिक्खेहि धानोपापचमकंटकै-
स्त्रीकणैश्च । अभिभूता वि य संता पराभूता अपि संतः । मा धम्मधुरं पमुचेह मा एषा धर्मभारत्वाय । ननु च 'दुस्तह-
परीसहेहि य अभिभूता मा धम्मधुरं पमुचेह' इत्यनेन आक्रोशपरिग्रहसहन उपदिष्टं किमनेन 'गामवचीकंटएहि'
इत्यनेन ? । अयमभिमाया सूत्रकारस्य-सोढमुदादिषेद्वनोऽपि न सहतेऽनिष्टं यच्चस्ततोऽतिदुःकरमपि तत्सोदन्यं इति
वदन्नाय पृथगुपाधानम् ।

मूत्रारा—गामवचीकंटगेहि धाम्याणामपि विक्रजानां धवनामि एव कंटकास्तैराक्रोशवचनैरिच्छयः । सोढंछु-
यादिषेद्वनोऽपि हि नास्ति वचनं सोढुं शक्नोति इति अतिदुःसहस्याक्रोशवचनस्य पृथगुपादानं । अतिदुःसहस्ययाक्रो-
शवचनं भयाङ्कः सोढव्यमित्युपदेशार्थः ।

अर्थ—दुःमह धुषादिक परीपहोंस और धाम्यलोगोंके तीरण मालिवचनों से पीड़ित होते हुए भी हे
मुनिगण ! आप धर्मभारका त्याग कदापि न करें- 'दुःसह परीपहोंस पीड़ित हो कर आप धर्मभार का त्याग न करें'
इन वचनोंमें हि आक्रोशपरिग्रह सहनका अन्तर्भाव होता है वो भी धाम्यवीक्षण वचनोंको सहन करनेका उपदेश
क्यों किया है ? इन प्रश्नका उत्तर ऐसा है- धुषादिदेदनांच सही भी जाती है परंतु आनिष्ट वचन सदा जाता नहीं-
जतिदुःमह आनिष्ट वचन भी मुनिगण को सहना चाहिये यह दिखानेका आचार्यका अभिप्राय था इसलिये
'गामवचीकंटएहि तिक्खेहि' ऐसा पृथक् वचन दिया है.

तित्थयरो चटुणाणी सुरमहिदो सिञ्चिदव्ययधुवमि ॥
अणिगृहिद्वलविरिओ तत्रोविधाणमि उज्जमदि ॥ ३०२ ॥

धुवसिद्धिअनुसार्जनस्तीर्थकृत्त्रिदशार्चितः ।

अनिगुण चालं वीर्यमुद्यतः कुरुते तपः ॥ ३०० ॥

विजयोदयः—तित्थयरो तीर्थंकरः तदिति संसारं येन मग्यात्मकोऽयं । केचन तदिति श्रुतेन गणचरैर्यालंवनभूते-
रिति धृतं गणधरा या तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणतीर्थंकरः । अथवा 'तिसु तिसृदिदिशि तिर्यं' इति ध्युत्पन्नो तीर्थ-
शब्देन माणो रत्नत्रयत्मकः उच्यते सरकरणातीर्थंकरो भवति । चटुणाणी मतिश्रुतायधिमनःपरपञ्चानयान् । सुरमहिदो
सुरैश्चतुःप्रकारैः पूजितः स्वर्गावतरणलभमाभियेकपरितेनःक्रमेणेषु । सिञ्चिदव्ययधुवमि नियोगमायिन्यां लिखाणपि ।
तथापि अणिगृहिद्वलविरिओ अटुपन्दुतकलवीर्यः । तयोविहाणमि तपःसमाधाने दक्षमपि उपयोगं करोति ।

तपस्युद्योगः सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यः इत्युपदेष्टुं माथाष्टाविंशति आचष्टे—

मूढारा—सिञ्चपव्ययधुवमि अवर्त्यभाणिन्यामपि सिद्धो सत्याम् ।

आलस्य छोडकर सर्व प्रयत्नेसे तपधरणमें तुम उद्योग करो ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं.

अर्थ—मति, श्रुति, अवधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञानोंके धारक; स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षा-
कल्याणादिकोंमें चतुर्गुणिक्रय देचोंसे जो पूज्य गये हैं, जिनको नियमसे मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसे तीर्थंकर भी अपना बल
और वीर्य नहीं छिपाते हैं और तपमें द्युक्त होते ही हैं इसलिये तुमको भी तपमें उद्योग करना आवश्यक है.
जिनका आश्रय लेकर भग्यजीव संसारसे तीरकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं उसको तीर्थ कहते हैं. कितनेक भग्य जीव
श्रुतसे अथवा गणधर की सहायतासे संसारसे उकीर्ण होते हैं. इसलिये श्रुत और गणधरको तीर्थ कहते हैं. श्रुत
और गणधरको भी जो कारण है उनको तीर्थंकर कहते हैं. अथवा 'तिसु विहदिनि तिर्यं' ऐसी भी तीर्थ शब्दकी
व्युत्पत्ति है. रत्नत्रयारमक मोक्षमार्गको तीर्थ कहने हैं. उसको जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं ऐसे
तीर्थंकरभी यदि तप करते हैं तो अन्य श्रुति भी क्यों न करें ?

किं पुण अवसेसाणं दुक्कलवत्तयकारणाय साहूणं ॥
 होइ ण उज्जम्भिट्ठवं सपच्चवायमि लोयमि ॥ ३०३ ॥
 मुमुदूणां किमन्येपां दुःखक्षपणकांक्षिणाम् ॥
 न रुतन्वयं तपो घोरं प्रत्यवायासुले जने ॥ ३०१ ॥

विजयोदया--किं पुण अवसेसाणं किं पुनर्न प्रयतितव्यं नवक्षिणेः साधुभिः । दुष्प्राप्तयकारणाय दुःख-
 विनाशानभिनिर्भं । साधोयै लोकं धातुकः, शरीरस्य, मूलस्य भीरोगतापाख विनाशो अविवक्षितश्चेत् सति, दायानलसमोभ
 गुन्यायायाति, लोक-रक्षामिदं यदोयं भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुखिंर निमिषमोजेनावि मृत्युरेयाञ्च
 मानमर्थमाप्तममृत्युञ्जममरणं संयत्तरं वा प्रति वचनाधिकारकः इत्याद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युपोनाः
 कार्यः । न हि मृत्योर्देशानियमोस्ति । स्थलं यत्र प्रचारी यथा शरुटादीनां । समीरणपथ एव
 प्रयोजिनां, रुद्धिल एव मीतमरुटादीनां । कष्टतमस्य पुनरस्य मूलोः स्थले, जले, विपति च विद्वति । दृढमस्य, दुःखास्तो-
 र्णं पुरापरिते, प्रमज्जस्य, शीतोष्णस्य वा, दिमाभ्या वा अप्रवेशदेशाः संति न तथा मूलोः । यथा वा निदानमानं श्या-
 धीना विद्यानिर्दलेष्मरूपं । अपमूलोः पुनरित्येतदेव निर्दानं । यत्तस्य, कफस्य, शीतोष्णयोर्धपोर्दिमातपानां वाक्यः
 प्रतीकात्परिधिर्न पुनः संमारे मूलोः । हिमोष्णपर्वदीनां च कालो विवितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किञ्चिद्वि-
 ने । यथा एतुपदनद्वारे मेरुसो निरापतेः । असत्त्वपि मृत्युपनिगते जीवतोऽपि कुरोमाशात्रिम्यो महद्भयं । यथा विपत्तो
 निजतलपुत्र पयाचाभिः । आयुर्गलकृपादयद्वय गुणास्तापदेय गुणस्तापदेय यावयोरेति योगो वेदः । यत्पुनस्तलमस्य फालस्य तापकपालो
 वायव्यं द्रवमग्नः । व्याधी य वायव्यमाने देहे न सुतेन शक्यते श्रेयः कर्तुं, यथा वेदमतिं वृक्षमाने समम्बास प्रतीकारः ।
 धर्मात्तु या योगेषु रागद्वन्द्वः सुखदुःखः शत्रुत्व प्रवृत्तः यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा समेऽधिकारः । विभोदयो वैच-
 द्दुममयोरीः प्रतापवृद्धिः, रागोदयस्य प्रवृद्धितस्य दग्धं प्रदानः युजुलभः । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धिः पूर्वोक्तकर्म
 प्रशान्ती तदैव धैर्यश्रुती साकिः वित्तोपशान्तौ कार्यचिन्ते च । इत्थं मृत्युव्याधयो राग इत्येते प्रात्यवाया जगति, तांश्चै-
 तनि दृष्ट्वा, यदा ते न संति ततोयोगः कार्यः ।

मूढारा--किं पुण पुनर्नन्वैःसाधुभिरन्वयनीयमपि तु तपस्युपामः कर्तव्यं यत् । सपञ्चवायमि आयुःशरीर-
 पलादिनिर्देशनालकितपाञ्चानिमाधिना महिते ।

अर्थ--अन्य मुनिभो भी संसारदुःखोभा दृष्ट्य कर्तव्ये तस्ये स्या प्रयत्न नहीं करना चाहिये ? अर्थात्
 उनसे भी तपमें उपयोग करना अनर्थ प्राप्त है. इन जगद्गै मनुष्यज्ञ आयु, शरीर, चल और आरोग्यका नाश कर

होगा यह समझमें नहीं आता है. मृत्यु दावानलके समान है. वह इस संपूर्ण जगत्‌रूपी वनको कब दग्ध करेगा यह हम नहीं समझ सकते हैं. मृत्यु आज नहीं आवेगा, अथवा एकमासी, अर्धमास, दो महीने, छहमास, एक वर्ष तक आवेगा नहीं ऐसा खात्रीसे बचन नहीं कह सकते हैं. एक क्षणमें भी मृत्युका आगमन होगा. जबतक मृत्यु आता नहीं तबतक तपश्चर्याका उद्योग करना चाहिये. मृत्यु अमुक स्थानमें रहता है ऐसा उसका प्रदेश निश्चित नहीं है. गाडी-मोटर वगैरह स्थल परही गमन करते हैं. नक्षत्रसमूह आकाशमें ही प्रमण करते हैं. मत्स्य, मगर वगैरह जलचर प्राणी पानीमें ही फिरे हैं. परंतु अत्यंत दुःख देनेवाला यह मृत्यु स्थलमें, जलमें, आकाशमें सर्वत्र प्रमण करता है. अग्नि, चंद्र, सूर्य, इन्द्र, ठंडा अथवा उष्ण वायु, और वर्षा समुदाय इनका जहां प्रवेश नहीं है ऐसे प्रदेश बहुत हैं. परंतु मृत्युका सर्वत्र अविविध संचार है. बात, पिच और कफ ये रोग उत्पन्न होनेके कारण हैं परंतु अपमृत्युके लिये सर्व पदार्थ कारण हो सकते हैं. बात, पिच, कफ, शीत, उष्ण, जलवृष्टि, ठंडी, धूब इनका प्रतिकार करनेके पदार्थ हैं. परन्तु इस संसारमें मृत्यु का प्रतिकार करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है. शीतकाल, वर्षाकाल और ग्रीष्मकाल इनका समय लोगोंको ज्ञात होता है. परन्तु मृत्युका आगमनसमय किसी को भी मालुम नहीं रहता है. जब राहुके मुखमें चन्द्रका प्रवेश होता है तब उससे छुटाने वाला हितकर पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह मृत्यु जब जीवको पकड़ता है तब उसको उससे बचनेवाला कोई नहीं है. मृत्युके बिना भी अन्य पदार्थोंसे प्राणिओंको भय उत्पन्न होता है. जैसे दुरु रोग, वज्रपात वगैरहसे भय उत्पन्न होता है. अशनिपात अचानक आकाशसे होता है. तद्वत् अचानक मृत्यु प्राणिको पकड़ता है. आयु, बल, रूप वगैरह तत्त्वक देहमें स्थिर रहते हैं जबतक रोगसे यह ग्रसित नहीं होता. जबतक वायुका आगमन नहीं तबतक फल वृत्तमें स्थिर रह सकता है वह गिरता नहीं है. जब रोगसे शरीर पीडित होता है तब मुखसे आत्महति करना नहीं होता है. जैसे अग्नीति घर चारों तरफसे जब धिर जाता है तब उपाय करना नितरां अशुभ्य है. शरीर में रोग नहीं हो तो भी जब भित्रके समान दरीलेवाला रागशत्रु इस मनुष्य के चिचको पीडित करता है तब यह मनुष्य समता धारण करनेमें असमर्थ होता है. वैद्यके अच्छे प्रयोगसे प्राणीका पिचप्रकोप शांत होगा परंतु प्राणीका अहित करनेवाला रागभाव शांत होना बड़ा ही कठिन है. पिच शांत होनेपर जैसा प्राणी स्वकार्यमें चित्त लगता है, तथा पूर्वकर्म शांत होनेपर रागभाव शांत होकर आत्मरूप्याण करनेमें मनुष्य समर्थ होता है. इस प्रकार इस जगतमें मृत्यु, राग

और रोग ये तप करनेमें व्यत्यय लाते हैं. ऐसा मनमें विचार कर जब ये देहमें नहीं होंगे तब तपमें उद्योग करना चाहेयें.

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ॥

आणाए णिज्जेरेत्ति य सवालउद्धाउले गच्छे ॥ ३०४ ॥

शक्तितो भक्तित; संघे वत्सलास्ते चतुर्विधे ॥

वैयावृत्यकराः शम्भज्जिनाञ्जानिर्जिरार्थिनः ॥ ३०२ ॥

विज्जपोषणा—सत्तीए भत्तीए शकला भक्षणा च । विज्जावच्चुज्जदा वैयावृत्ये उचलाः सदा होह नित्यं भवत । आणाए णिज्जेरेत्ति य सवालउद्धाउले गच्छे ॥ ३०४ ॥
शक्तिः च । सवालउद्धाउले सह बालेवर्तमाना ये बुद्धास्तेराकोपे गणे ॥

मूलाय—आणाए वैयावृत्यं कर्तव्यमिति जिनानामाह्वया देहभूतया । णिज्जेरेत्ति वैयावृत्यं निर्जरादेहुनूतना-
निर्जरा इति कृत्वा ॥

अर्थ—बालमुनि और बृद्ध मुनिओंसे व्याप्त ऐसे मुनिमुद्रायका वैयावृत्य करनेमें हे मुनिबृद्ध ! तुम अपनी शक्तिसे और भत्तीसे सदा उद्यत बनो. वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी जिनदेवकी आज्ञा है ऐसा समझकर और यह वैयावृत्य तप है तथा निर्जराका कारण है ऐसा समझकर उसके करनेमें तुम तत्पर रहो.

वैय्याहारये कर्तुमशुणुकं प्रति इदमादत्तव्यति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवगाहिदे ॥

आहारासहवायणविकिचणुव्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥

उपधीनां निपयायाः शय्यायाः प्रतिलेखनम् ॥

उपकारोऽन्नभैषज्यमलत्यागादिगोचरः ॥ ३०३ ॥

विजयोदया—सेज्जोगासणिलेखा उवधी पडिलेहणा उवगमहिदे । सव्यवत्तास्य, निज्या स्थानस्य, उपर-
रत्नानां च प्रतिलेखना, उपग्रह उपकारः । किंविषयः ? आहारोसहस्रायणविर्चिञ्जुल्वत्तणादीसु योग्यस्य आहारस्य
औषधस्य वा दानं स्वाध्यायस्तोत्राणं असाकस्य शरीरमलनिपतः । उवत्तणे पादवीत्यादयोन्तरस्तोत्रोपपन्नं ॥
वैष्यावृत्यप्रयोगविधिं गामाहदेनाह—

मूलात्—सेज्जोगास्य श्रवणमनं । निसेल्ला उपवेस्सनस्यानं । उवधी उपकरणाणि । एषां प्रतिलेखना । उवग-
महिदे उपग्रहः उपकार इत्यर्थः । स आहारतद्विषयो मासः । आहारोसह योग्यस्याहारस्तोत्रस्य च दानं । यायणा कया-
ल्लयानं । विरक्तिषणं लशकस्य कायमलसोपनम । उवत्तणं पाश्चात्पार्श्वान्तरितोत्थानम् ।

वैष्यावृत्य करनेके लिये उलुक्त हुए मुनिओंको वैष्यावृत्यका प्रयोगविधि बतलाते हैं—

अर्थ—श्रवणस्थान, बैठनेका स्थान, उपकरण-पिं श्री कपटलु वगैरह इनका क्रीषण करना, आहार-योग्य
निर्दोष आहार, निर्दोष औषध, देकर उपकार करना, स्वाध्याय करना अर्थात् व्याख्यान करना, अशुक्त मुनिका
मेला उठाना, उस मुनिको एक पाशुसे दूसरे पाशुपर उठाकर सुलाना- बैठाना वगैरह कार्य करना यह सब
वैष्यावृत्यका विधि है.

अद्याण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे उमे ॥

वेज्जावब्बं उत्तं संगहणारक्खणोवेदं ॥ ३०६ ॥

मागं चोरापगाराजदुर्भिक्षमरकाविपु ॥

वैष्यावृत्यं विधातव्यं सरस्वासेग्रहं सदा ॥ ३०४ ॥

विजयोदया—अद्याण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे उमे अध्वनां श्रेमेण श्रान्तानां पान्दरिमर्दनं । स्तेनैरपद्रुय-
माणानां । तथा व्यापदै, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, भरीरोधकै मायां च तदुपद्रवनिपतः विधादिभिः । उमे इमिंसे मुमिक्षेदेद्या-
नयन । वेज्जावब्बं उत्तं येषावृत्यमुक्तम् । संगहसारक्खणोवेदं संग्रहसंरक्षणाभ्यामुक्तः ।

मूलात्—अद्याणं मार्गश्रेमेण श्रान्तानां पादादिमर्दनं । तेण चौरौपद्रवनिपतः । एवमुत्तराज्यापुषकारः । सावद-
रायणदीरोधकासिवे उपद्रव निराकारः । रोषक वंदीकारः । असिवे मरके तदुपद्रवविनाशो विधादिभिः । उमे इमिंसे
मुमिक्षेदयनयनं । संगह मा भैष्ट्यादि धैर्यधनपूर्वकः सम्यग्गैरीकारः । सारक्खणं संरक्षणं ।

अर्थ—जो मुनि रास्तेके शरसे थक गये उनकी पराचपी करना, हस्तमर्दन, अंगमर्दन करना. जिन मुनियों को चोरसे उपद्रुव हुआ, दुष्ट पशुओंसे भीटा हुई हो, राजासे कष्ट पोंहोना होगा, नदीके द्वारा कोई मुनि रुक गये, भारी रोगसे पीडित होगये तो उनका उपद्रव विषादिकोंसे नष्ट करना चाहिये. यदि कोई मुनि दुर्भिक्षपीडित हुए हो तो उनको सुभिध देशमें लाकर उनकी पीडाका परिहार करना चाहिये. इन सब कार्योंको वैषाण्य कहते हैं. ऐसे कार्य करनेसे मुनियोंका संग्रह होता है. और आप ढरों मत ऐसा धोलकर उनमें घेर्य उत्पन्न कर उनका अंगीकार करना चाहिये.

वैषाण्यत्वाकरणं सिद्ध्यति—

अणिगृहिद्वयलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ॥

जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होवि णिद्धस्सो ॥ ३०७ ॥

समर्थों न बिघने यो वैषाण्यं जिनाश्रया ॥

अमच्छायं घलं वीर्यमतो निर्धर्मकः सकः ॥ ३०५ ॥

विजयोवया—अभिगृहितेत्वादिना—अनिगृह्यीयों वैषाण्यं जिनोपदिष्टं क्रमेण न कुर्येति । शक्तोऽपि सत् स निर्धर्मो भवति धर्माभिप्रायतो भवति इति सूचार्थः ।

वैषाण्यत्वाकरणे दोषान्ग्राह्यमेवाह—

मुळारा—सङ्घे ।

जो मुनि वैषाण्य करता नही उसकी निंदा करते हैं—

अर्थ—जिसने अपना बल और वीर्य छिपाया नहीं है, और जो संबंध है तो भी विनेश्वरने कहे हुए क्रमसे जो वैषाण्य करता नहीं है वह मुनि निर्धर्मा है अर्थात् घमसे ग्रस्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये. ऐसा इस प्रकारका अर्थ है.

योगांतराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोधो सुदधम्मविराघणा अणायारो ॥
अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जुहिदं होदि ॥ ३०८ ॥
आज्ञाकोपो जिनेद्राणां शुतघम्विराघना ॥
अनाचारः कुतस्तेन स्वपरागमवर्जनम् ॥ ३०९ ॥

विजयोवया—तित्थयराणाकोधो तीर्थतराणासाक्षीयः । सुदधम्मविराघणा श्रुतोपदिष्टधर्मनाशम् । अणाचारो आचाराभाक् । वैयावृत्याख्ये तपस्ति अवृत्तेः । अप्पापरोपवयणं च तेन णिज्जुहिदं होदि ॥ आत्मा साधुवर्गः प्रयत्नं च त्यक्तं भवति । तपस्यशुयोगादात्मा त्यक्तो भवति, आपधुपकारकरणावतिवर्गः, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्तः ॥

मूलादा—कोपो भंगः कृतो भवतीति शेषः । सुदधम्मविराघणा श्रुतोपदिष्टधर्मविनाशः । वैयावृत्याख्ये तपस्य-प्रवृत्तेः । णिज्जुहिदं तपस्यशुयोगादात्मा त्यक्तः । आपधुपकाराकरणावतिवर्गः । सुवोपदिष्टस्याकरणादागमश्च ।

अन्य दोषोका भी वर्णन करते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी अहंपरोधरकी आज्ञा है परंतु जो वैयावृत्य नहीं करता है उसने उनकी आज्ञाका भंग किया है ऐसा समझना चाहिये. वैयावृत्य न करनेसे शास्त्रमें कहे हुए धर्मका नाश होता है. वैयावृत्य नहीं करनेसे मुनिधर्मका आचार पाल नहीं संक्रमे इसलिये धर्मविनाश होगा. अनाचार होगा. क्योंकि, कोई भी वैयावृत्य नामक तपमें प्रवृत्त नहीं होगा. वैयावृत्य न करनेसे अपना, साधुवर्गका और आगमका त्याग होगा. तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेसे अर्याका त्याग हुवा, संकटमें उपकार न करनेसे यतिओंका त्याग होता है. और शास्त्रोपदिष्ट वैयावृत्यका पालन न करनेसे आगमका त्याग होता है. वैयावृत्य न करनेसे ऐसे महादोष उत्पन्न होते हैं.

१ कपुस्तके : 'वैयावृत्याख्ये तपसि' इति आर. २४ अश्वेतनयाद्वयं वटीका च नोपलभ्या ।

गुणान्वैयावृत्त्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सद्वा वच्छेदं भस्तिपत्तलंमो य ॥

संधानं तवपूया अव्वोच्छिप्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

वित्तयोदया—गुणपरिणामो भस्तिगुणपरिणतिः । सद्वा अद्वा । वच्छेदं यासत्यं । भस्ती भक्तिः । पत्तलंमो य पात्रस्य लाभः । संधानं संधानं । तव तपः । अव्वोच्छिप्ती य तित्तस्य अव्वोच्छित्तिश्च तीर्थस्य । समाधी य समाधिश्च ।
वैयावृत्त्यकरणेऽष्टादशगुणान्नाथाद्वेनोद्दिशति—

मूढारा—गुणपरिणामो वैयावृत्त्यकरणस्य बाध्यमानसाधुगुणेषु वासना । क्रियमाणवैयावृत्त्यस्य च साधोः सत्त्ववत्त्वाद्विगुणेषु सर्वधेन प्रवृत्तिः । पत्तलंमो पात्रस्य लाभः । संधानं कुतश्चिच्छिन्नानां दर्शनादीनां आरामनि पुनः संयोजनं ।

वैयावृत्त्य कारसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका वर्षन आचार्य दोन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ - वैयावृत्त्य करनेसे इतने गुणोंकी प्राप्ति होती है—

१ गुणपरिणाम—मुनिगुणोंकी वैयावृत्त्य करनेवालेमें पारिणति होती है. उपसर्गादिसे जिसको बीमा हुई है, ऐसे मुनिके गुण नरेंको प्राप्त हो ऐसी इच्छा वैयावृत्त्य करनेवालेके मनमें उत्पन्न होमा यह गुणपरिणति शब्दका अर्थ है २ श्रद्धा करना, ३ भक्ति ४ वारसहय ५ पात्रलंम-पात्र की प्राप्ति होना ६, संधान किसी कारणसे विच्छिन्न हुए सम्पदादौनादिकोंको आसामें जोड़ देना. ७ तप ८ पूजा ९ तीर्थव्युच्छिप्ति तीर्थकी परंपरा सतत रहना अर्थात् धर्मका नाश न होने देना. १० समाधि.

आणा संजमसाखिछुदा य दाणं च अविदिगिंछा य ॥

वेज्जावचरस गुणा पमावणा कज्जपुणणाणि ॥ ३१० ॥

गद्यम्—गुणपरिणामश्रद्धावात्सल्यमभक्तिपात्रलामसंधानतपःपूजातीर्थोविच्छित्तिसमाधिविनाशोसंयमसाहाय्यदानादिकीचीकृतसामभावनासंघकार्याणि वैयावृत्त्यगुणाः ॥ ३०७-३०८ ॥

विजयोदयः—आणा संजमसास्त्रिहृदा य आणा संयमसाहाय्यं ॥ दानं च दानं च । सर्वशोषदिष्टेयावृत्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयमः । परस्य वैषावृत्यकृत उपकारः । रत्नवयस्य निरतिचारस्य दानं । संजमसास्त्रिहृदा य संयम साहाय्यमिति स्वार्थः । अविदिमिह्ना य अविचिकित्सा ॥ वैजात्यवयस्य गुणा वैषावृत्यस्य गुणाः । पद्मायणा प्रभावना च । कञ्जगुण्णाणि कार्यनिर्वहणानि च ॥

यल्लाटा—सास्त्रिहृदा साहाय्यं । दानं निरतिचाररत्नवयस्य संपादनं ॥

अर्थः—आज्ञासंयम, साहाय्य, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना, कार्यनिर्वहण ऐसे वैषावृत्यके अठारह गुण हैं, सर्वज्ञने वैषावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी आज्ञा दी है. उनकी आज्ञाज्ञा संपादन करना चाहिये अथवा मुनिओंके संयममें वैषावृत्य करके उपकार करना चाहिये. संयमसास्त्रिहृदा संयममें सहायता करना.

गुणपरिणामो इत्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहगिगणादिमहदा धोरमहद्वियेणापु फुटंतो ॥

उज्झदि दक्षते हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥ ३११ ॥

दक्षते सकलो लोको महता मोहबहिना ॥

धग्धगिर्येप कुर्वाणो महोवधनया स्फुटम् ॥ ३०९ ॥

विजयोदयः—मोहगिगणा अजानादिना । अदिमहदा अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञानं तेन उज्झदि दक्षते । धोरमहद्वियेणापु धोरया महत्या वेदनया । फुटंतो विशीर्यमाणः । धगधगंतो धगधगयमानः । ससुरासुरमाणुसो लोगो देवासुरमाणुसैः सह वर्तमानो लोकः ॥

गुणपरिणामं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मोहगिगणा महेदमहमस्त्वदिष्टयल्लक्षणाज्ञानवहिना । अदिमहदा सकलवस्तुविषयतया अतिविपुलेन ।

फुटंतो विनीर्यमाणः । धगधगंतो धगधगयमान जायत्यमान इत्यर्थः । लोगो बहिरात्मप्राप्तिगणः ।

गुणपरिणाम इम गुणका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थः—यह जगत् मोहरूपी अग्नीसे अर्थात् अज्ञानरूपी अग्नीसे जल रहा है. इस अग्नीने संपूर्ण वस्तुएं

परती हैं. हम के द्वारा सब जीव दग्ध हो रहे हैं. हमसे होनेवाली घोर वेदनासे उनके अंग फुटने लगे हैं. और उनको यदा ही दाह हो रहा है. हम अग्नि में केवल मनुष्य और पशु ही दग्ध हो रहे हैं. ऐसा नहीं समझना परंतु ममन्त चतुर्गुण देव भी जल रहे हैं. तात्पर्य यह है कि जगत्के समस्त जीव वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जाननेमें अग्रमर्ष हैं. उनमें गाढ़ अज्ञान घुसा है.

एदस्मि णवरि सुणिणो णाणजलोवग्गाहेण विज्झाविदे ॥

डाहुम्मुक्का होंति तु वग्गेण णिज्जेदणा चेव ॥ ३१२ ॥

तत्र विध्यापिते सद्यो भूयसा ज्ञानपथसा ॥

मम्रा दमपयोराशौ सुत्वाप्यंते तपोधनाः ॥ ३१० ॥

विजयोदया—एवस्मि एतस्मिन्लोके दलमाने । णवरि पुनः सुखिणो णित्तेदणा चेव होंति सुखय एव निर्देना मरन्ति । कथं ? णाणजलोवग्गेण ज्ञानजलोपग्रहेण । विज्झाविदे नये मोहाशौ । डाहुम्मुक्का दाहोन्मुक्ताः । दग्गेण रागद्वेप प्रदोषा ॥ एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलज्याहोन्मुल्लिखताज्ञानवज्जिमसत्त्वं नाम यतीनां सुखं निर्देनत्वं चेति ।

मूलाद—एवमि एतस्मिन्लोके दलमाने । णवरि पुनः । णाणजलोवग्गेण आत्मवेदाविभेदज्ञानसल्लिखयाहेण विज्झाविदे विध्यापिते । मोहमहाभागिति शेष । अन्ये तु एवंदीत्यस्य मोहाप्रापित्यर्थमाहुः । वग्गेण रागद्वेपप्रशमन । निर्देदणा चेव सुखय एव निर्देना मरन्तीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलज्याहोन्मुल्लिखताज्ञानवज्जिमसत्त्वं, विदेनत्वं च यतीनां सुखो ज्ञानवर्द्धमयत्वं इत्यर्थः ।

अर्थ—यह मय जगत् अज्ञानाग्निमें जल रहा है परंतु मुनीश्वर ज्ञानमय जलके प्रवाहसे मोहरूपी अग्नि को पुष्पासर आन्ति, मंशुय अनध्ययमायादि वेदनामें मुक्त हुए हैं. अर्थात् उनको देह और आत्मा भिन्न भिन्न है ऐसा ज्ञान हुआ है. देहही मैं हूं यह आन्ति उनके इदमं नष्ट हो गई है. मुनिजोने जिवेन्द्रियता और रागद्वेषका उपशम इन उपयोगोंमें अज्ञानतन्त्र वेदनाका नाश किया है. अभिप्राय यह है कि मुनि सम्पन्नारूपी जलप्रवाहसे अज्ञानाग्नि मण्डल धाँस कर वेदना राहित हुए हैं.

गिगहर्दिदिव्यदारा समाहिदा समिदसव्वचेहुंगा ॥

धण्णा गिनावयक्खला तवसा विधुणंति कम्मरयं ॥ ३१३ ॥

निगुहीनेन्द्रियद्वारैः सर्वेचेष्टासमाहितैः ।

धन्यैस्तपःसमीरेण धूपन्ते कर्मरेणवः ॥ ३११ ॥

विजयोदया—गिगहर्दिदिव्यदारा इन्द्रियं ह्रिदिचं ब्रह्मेन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । तत्र ब्रह्मेन्द्रियं पुत्रलस्कंधा आत्मप्रवेशाच्च तदाधाराः । भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनिजो रूजानुपयोगश्च । तत्रोपयोगेन्द्रियं शुद्धीतं तत्साहचर्याद्ग्राह्येष्वसक्तोक्तं मनोको च विषये प्रवृत्तौ । एव पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारद्वारेणोच्यते । तेनायमर्थः— निगुहीनेन्द्रियविपर्ययागतेषा इति । समाहिदा रत्नत्रये समवहितश्चित्तः । समिदसव्वचेहुंगा सम्यक्प्रवृत्तसर्वेष्टाः । धण्णा पुण्यवन्तः । गिरावयक्खला निष्कला इति केचित्कल्पन्ति । अग्रे निरेष्टाः सत्कारं लाभं यान्तेष्टमाणाः इति कथयति । तपसा विधुणंति कम्मरयं तपसा कर्मरजोविधूतत्वं कुर्वन्ति । निगुहीनेन्द्रियरयं, रत्नत्रयैकप्रता, निरवयवेष्ववच्छा, सत्कारादे- निरेष्टवन्तः, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूतत्वं च यतिगुणाः एतया माधया सूचिताः ।

मूलारा— गिगहर्दिदिव्यदारा निगुहीनेन्द्रियविपर्ययागतेषाः । समाहिदा रत्नत्रये समाहितचिदाः । समिदा सम्यक्प्रवृत्ता । विट्ठा ईर्ष्याभावविप्रवृत्तिः । गिरावयक्खला निष्कला सत्कारादिनिरेष्टा या । अत्र जितेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्र- ता, निरवयवेष्वत्वं, सत्कारादिनिरवक्षता, तपसि वृत्तिमत्ता, कर्मरजोविधूतत्वं च यतिगुणाः सूचिताः ॥

अर्थ— ब्रह्मेन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे इन्द्रियोंके दो भेद हैं. पुत्रलस्कंधांकी इन्द्रियाकार रचना होती है और आत्मार्थके प्रदेश भी इन्द्रियाकार वन्ते हैं उन दोनोंकी भी ब्रह्मेन्द्रिय कहते हैं. आत्मप्रदेशोंके आधारसे पुत्रलस्कंध रहते हैं. ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशमकी भावेन्द्रिय कहते हैं. और रूप रस, गंधादिकोंको जाननेकेलिये आत्माकी प्रवृत्ति होना इसको भी भावेन्द्रिय कहना चाहिये. रूपादिकोंके प्रति उपयोग होना—उनको जाननेमें उद्युक्त होना इसको यहां इन्द्रिय समझना चाहिये. अर्थात् उपयोगरूप भावेन्द्रियको यहां इन्द्रिय कहना चाहिये. क्योंकि उसके आश्रयसे जीवके राग द्वेष संतुदर और असंतुदर स्पर्शादि विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं. जगत में इष्टानिष्ट विषय में इन्द्रियों प्रवृत्त हो कर जीवको दुःखित करती हैं. अतः बुनिगण इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंमें होनेवाले रागद्वेषोंको नष्टकर रत्नत्रयमें अपने मनको एकाग्र करते हैं. और अपनी सर्व प्रवृत्तियों—बोल्बना, चलना, बसठ उठना, आहार लेना वगैरह क्रियायें प्राणिपशुनके अधिप्राप्यते करते हैं. वे अपने मनको स्थिर करते हैं. अथवा सत्कारांकी. और लाभकी अं-

ना ये नहीं करते हैं. उक्तः ये निरोप्य स्वभावान्न हैं. ऐसे छुनिराज्य गन्ध है. ऐसे ही यतिनायक तपश्चरणसे कर्म-रजसो आत्मामें दृष्टते हैं.

तत्पर्यं यह है कि—जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, ईर्ष्यादिसिधिविओंका पालन करना, सत्कारादिक की इच्छा न रखना, तपस्य तपश्चरण होना, क्रमनाश करना ये यतिओंके गुण इस भाषासे आचार्यजीने सूचित किये हैं.

इयं दृढगुणपरिणामो चेन्नावृत्तं करोति साहुरसः ।

चेन्नावृत्तं तदो गुणपरिणामो कवो होदि ॥ ३१४ ॥

इत्थं गुणपरीणामो विद्यते यस्य निश्चितः ॥

साधूनां भक्त्यर्थधूनां वैषाधुर्यं तनोति सः ॥ ३१५ ॥

विजयोदया—इयं दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यापणितेषु दृढपरिणामः । साधुस्स येज्यापत्तं नोरस-ताधोर्ष्यानुत्स करोति । येज्यापत्तं वैषाधुर्येन । तदो तेन गुणपरिणामो कवो होदि गुणपरिणामः कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—यस्य यत्तेरेते गुणा, इमे नष्टगति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यत्तेरेते करोति स तेसु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य नोपकारः एतत्तस्य च गुणेषु परिणति कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैषाधुर्यं इति भाष्यते ॥

गुणारा—दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यापणितेषु निश्चलादुपरागसंस्कारः । तदो तेन तदुपमासमग्रयतिगो-वरेण । गुणे इत्यादि । एतदुक्तं भवति—अस्य यत्तेरेते गुणा नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यादिति यत्तेरेते करोति ॥ तेसु गुणेषु परिणतो भवति । तैर्परिक्षितो भवतीत्यर्थः ॥ यस्य नोपकारः कृतस्तस्य गुणेषु परिणक्तिस्वदप्रच्युतिः कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैषाधुर्यं भवत्यस्याय । उक्तं च—स्वदुःखनिर्मुक्तारंयाः परदुःखेषु दुःखिताः ॥ निर्व्ययेक्षं परार्थेषु परकृता मुमुक्षुयः ॥

अर्थ—वैषाधुर्य करनेसे यतिओंके गुणोंमें वैषाधुर्य करनेवालेके हृदयमें दृढ अतुरास उत्पन्न होता है. इस-लिये वैषाधुर्यमे गुणपरिणति होती है ऐसा आचार्य कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, इस यतिराजमें जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, चरोद गुण हैं. यदि मैं इनकी दुष्टता न करूँगा तो इनके ये महनीय गुण नष्ट होंगे. ऐसा जो

मन में विचार कर उनकी सेवा करता है वह मुनि उनके गुणोंमें अनुरक्त होकर वैसा गुणवान होता है, और निम्नके ऊपर वैयावृत्यमें उपकार किया जाता है उसकी भी गुणोंमें परिणति होती है, अर्थात् वह अपने गुणोंसे व्युत्पन्न होता है। इसलिये यह वैयावृत्य तप स्वोपकार और परोपकारके लिये कारण होता है ऐसा आचार्य कहते हैं।

अहं अहं गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेट्ठि ॥

यद्वद्वि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसद्धवि ॥ ३१५ ॥

यथा यथा नियां साधोर्बधेत्ते गुणवासना ॥

जिनेशशासने अद्धा परोदेत्ति तथा तथा ॥ ३१६ ॥

विजयोद्या—अहं अहं यथा गुणपरिणामो भवति तह तह आरुहइ धम्मगुणसेट्ठि तथा तथाऽरोहति चारित्र-
गुणधेणीः । यद् अहं यधेत्ते । जिणवरमग्गे जिनेशमार्गे । किं यदेत्ते ? नवनवसंवेगसद्धवि प्रत्यग्रसंसारमीकता अद्धावि । इह
गुणशास्त्रेण गुणानिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः—यथा यथा यन्निगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुया-
रोहति । विस्तृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते । तेषां गुणानां स्मरणान्नय रुचिरुपजायते । गुणानुसृतिगो हि भवति । संसा-
रभीतिः धृष्टा च प्रयतमाना इत्येति यत्ति एतज्ज्ञे । एतया गाथाया सुकृता अद्धा ग्राह्यता । गुणानामनुस्मरणस्तत्र
अनिर्भवेति ॥

अद्धां व्याचष्टे

मूढारा—गुणपरिणामो इह गुणदानेन गुणविर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः । यथा यथा यन्निगु-
णानां स्मरणं भवति तथा तथा चरित्रगुणानेजिमारोहति । बधेत्ते च विनवरसमोऽर्धो पूर्वसंसारमीकरवद्विद्या अद्धा ।
उत्ते च —

यथा यथानिष्ठं साधोर्वधेत्ते गुणवासना ॥

जिनेशशासने अद्धा परोदेत्ति तथा तथा ॥

अर्थ—मुनि जेस जेस उत्तरोत्तर गुणोंमें परिणत अर्थात् एह होमि जेस २ वे चारित्रगुणों की नसैनीपर
आरोहण कर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त होमि, और जिनेशके मार्गमें उत्तरोत्तर ताजो संसारमीकताकी अद्धा चदे
मी. इस गाथामें 'गुणपरिणामो' यह ममस्त पद है इसमें गुण शब्द का अर्थ स्मरण ज्ञान ऐसा समझना चाहिये,

अतः इसका स्पर्धारथ इस गुजब है—जैसे २ यतिगुणोंका स्मरण होता है वैसे २ यति चारित्र्यगुणोंपर आरोहण करते हैं, परंतु जिनको यतिगुणोंका स्मरण नहीं होता है वे अपने में यतिगुण खानेका प्रयत्न नहीं करते हैं, यतिगुणोंका स्मरण होनेसे उनमें रुचि पैदा होती है, भव्यजीवीका गुणोंपर प्रेम रहता है अर्थात् वे गुणोंपर प्रेम करते हैं, संसारमीतिके विषयमें उत्पन्न हुई श्रद्धा यतिको स्तनत्रयमें ॥ करती है, इस गायार्थे श्रद्धा नामक गुणका विवेचन किया है.

स्त्री प्रपूजायां वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सङ्क्षुप्तं वद्विधापु वच्छलं भावदो उवक्कमवि ॥

तो तित्वधम्मराओ सच्चजगसुहावहो होइ ॥ ३१६ ॥

विना गुणपरीणामं वैयावृत्यं करोति नो ॥

यतस्ततो मुमुक्षूणां वैयावृत्यं व्यनक्ति सः ॥ ३१७ ॥

प्रबुद्धधर्मसंयगाः श्रद्धया बध्मानया ॥

यतिः करोति चात्सल्यं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ ३१५ ॥

विज्ञायेदया—सङ्क्षुप्तं वद्विधापु श्रद्धया वर्धितया । यच्छलं भावदो उपक्रमवि वात्सल्यं भावता मनसा प्रारभते । तो ततः । तित्वधम्मराओ धर्मे लीप्तो रागः । तीमयप्रतनो वा यतिपरमतः सकलं सुखमावहति । वात्सल्यं इत्येतद्व्याख्या-
तमनया गायया ।

भद्रावृद्धौ च वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याह—

मूढारा— भावदो मनसा । सच्चजगसुहावहो सर्वेषु जगत्सु यत्सुखमैत्रियिकं भवतीद्विधं वा तदायदित्यकंपति

यतिः ।

गुणोंका स्मरण होनेसे स्निग्धगुण उत्पन्न होता है और उसके बढनेसे चात्सल्य नामक सम्यग्दर्शन गुण उत्पन्न होता है, इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—श्रद्धागुण बढनेसे धुनि मनसे यतिओपर वात्सल्य करते हैं, अर्थात् उनका आदरसत्कार, सेवा-
दिक कार्य यथोचित करते हैं, इस वात्सल्य भावसे धर्ममें तीव्र प्रेम उत्पन्न होता है, जिसका धर्मपर तीव्र अलुराग

उत्पन्न हुआ है उस मुनिको जगतके ईद्रियजन्यसुख और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होते हैं, इस गाथासे वात्सल्य गुणका वर्णन किया गया.

धैर्यावृत्त्यस्य 'भक्ति' नाम यो गुणस्तं व्याचष्टे—

अरहंतमिन्द्रभची गुरुभची सज्जसाहुभची य ॥

आसेविवा समयगा विमला वरधम्मभची य ॥ ३१७ ॥

भक्तिरहस्तु सिद्धेषु धर्मस्वरिणु साधुषु ॥

धैर्यावृत्त्यकृतोत्कृष्टा पूजा भवति सेविता ॥ ३१६ ॥

विज्ञयोदया—अरहंतसिद्धभची तथाहंतो नामातिशान्ते एवीये मये दर्शनयिष्युस्यादिपरिणामविशेषयद्वतीर्थ-
कृत्यनामकमोतिशयाः । स्वगायतरेणादिपरिपूर्वापरव्यवहाराकस्याणभगिनः । यातिकर्ममलयाधिगतसकलवृथभिकालगो-
चरस्वरूपायभासनपङ्क्तिरतिशयज्ञानदर्शनमोहान्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वाः । चारित्रमोहोत्पादनलज्जवीतरागमाधा ।
धीयांतरावकर्मप्रक्षयाविभूतान्तर्दीयाः । परितस्सारमध्यजमोदरणचद्रमतिशयाः । अष्टमहाप्रातिहार्यबहुस्त्रिशय
विशेषाः । सिद्धा नाम मिथ्यास्यादिपरिणामोपनीतकर्मोदकयधनिर्मुक्ताः । अजगदव्यवाधाः । उपमातीतानंतसुखाः । जातश्रव्य
माननिवारणज्ञानतनयः । पुरुराकारः प्राप्तपरमासावस्थाः । पतयोरेहैरिसदयोभक्तिः । गुणशब्देनात्राचार्योपाध्यायौ युही-
ती सयोभक्तिः । सज्जसाहुभची य तर्धसाधुभक्तिश्च । आसेविता भवति । अहंवासुपविष्टेयानुसूचकरणात्तेषां
भक्तिः कृता भवति । रत्ननयतामुपकरणाच्छावदरत एव तत्र भक्तिः । भैयावृत्त्यं भक्तिमायावयति अहंवादिष्वित्युक्तं ।
भक्तिं गाथाद्वयेन न्याचष्टे ।

मूलारा—गुरुभची आचार्योपाध्यायभक्तिः । अहंवासुपविष्टेयानुसूचकरणाच्छ्रुतिः । खलु कृता भवति । रत्ननय-
वतां चोत्करकरणात्तदादरत एव यमं भक्तिः । आसेविता देयावृत्त्यं शुर्ववासुकृता ।

अर्थ—अहंभक्ति इस लक्ष्यके पूर्व तिसरे भवमे दर्शनविशुद्धि वगेरह विशिष्ट परिणामोंसे जिनको साति
शय तीर्थकार नाम कर्मका वंघ हुआ है, अन्यजनदुर्लभ स्वर्गावतरणादि पांन कल्याणोंके जो स्वाभी हैं, धाति-
कर्मोंका नाश कर तिन्द्दिनि संपूर्ण द्रव्योंके विकान्तवर्ति पर्यायोंका स्वरूप ज्ञाननेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञान, केवल दर्श-
नकी प्राप्ति की है, दर्शनमोहनीय कर्मका समूल नाश करनेसे जिनको चीतराग सम्यक्त्वका लाभ हुआ है, चारि-

प्रमोहका समूल नाश कर जिन्होंने वीतरागभाव-चारित्रको प्राप्त किया है, वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे अन्तर्बीर्य-का लाभ जिनको हुआ है, आसन्न मर्त्योक्त उद्धार करनेके लिये जिन्होंने प्रतिज्ञा धारण की है, आठ महाप्राप्ति-हर्म्य और चोतिस विद्वेष अविशयोकी जिनको प्राप्ति हुई है वे अर्हदंग हैं, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कपाय और योग इन परिणामोंसे बद्ध हुए आठ कर्मोंका जिन्होंने नाश किया है, जो लरा और मरणसे परे हैं, जिनको किसी प्रकारकी बाधा नहीं है, जिनका सुख अनुपम और अनंत है, जिनका ज्ञानरूपी शरीर अतिशय उज्ज्वल और आचरणरहित है, जो पुण्याकार हैं, और परमात्मपदको धारण करते हैं, वे सिद्धपरमेष्ठि हैं, वेयावृत्तसे अर्हत् और सिद्धोंके ऊपर भक्ति होती है, गुरुभक्ति-गुरु-शुन्दरसे यहाँ आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीओंका ग्रहण होता है, आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति और साधुभक्ति ये भक्तियों करनेका श्रेय अर्हदादिकोंसे कहा हुआ वेयावृत्त करनेसे मिलता है, और वेयावृत्त करने से धर्मपर निमल भक्ति उत्पन्न होती है, रत्ननयधारक मुनिओपर उपकार करनेसे, उनका आदर करनेसे ही उनके ऊपर भक्ति करने-का श्रेय मिलता है, वेयावृत्त तप अर्हदादि वंच परमेष्ठिओंमें भक्ति उत्पन्न करता है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

इदानीं वक्ष्या माह्वयं स्तौति -

संवेगजणियकरणं निस्सह्वा मंदरुच्च निष्कंपा ॥

जस्स वढा जिणमत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥ ३१८ ॥

अर्हद्भक्तिः परा यस्य विभीते भयतो न सः

येनावगाहिता गंगा स किं नश्यति वक्षितः ॥ ३१७ ॥

संसारभीरुनोत्पन्ना निःशल्या भंवराचला ॥

जिनभक्तिर्दृढा यस्य नास्ति तस्य भवाद्भयम् ॥ ३१८ ॥

विजयोदया - संवेगजणियकरणं संसारभीरुनोत्पन्ना । करणद्वारा सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिरन-
गृहीतः । निरस्तज्ञ मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । मंदरुच्च निष्कंपा मंदर इय विभ्रला । जस्स वढा जिणमत्ती
ब्रह्म जिने भक्तिर्दृढा । न तस्स भयमस्ति संसारे तस्य भयं नास्ति संसारपत् । जिनराज्येनाजार्हद्वयः सर्वे पयोच्यन्ते ।
कर्मवदेनानां च ज्ञयात् धर्मोऽपि कर्मोष्णमभिभवाति इति जिनराज्येनोच्यते । द्रव्यलाभादिकमनुदिरस्य श्रवृत्तेस्तत्कथयति ।

संयोगजन्यकरण इत्यनेन संसारसमयनिराकरणोपायममृता विनाभक्तिरिति श्रुत्या प्रवृत्तेति यावत् । वैयर्थिकमिथ्याहरे सर्वत्र भक्ति प्रवर्तते इति तन्निरासाय विस्मया इत्युच्यते । भद्रकृत्य निष्कषा इत्यनेन सर्वकालवृत्तिताल्याता । सासादन सम्यग्देहिताप्यल्पकाला न संसारविस्सारयतीति ।

विनाभक्तिमाहात्म्यमभिष्टेति—

मूलारा—संयोगजनिककरण संसारमीकृतया न द्रव्यलाभादिना कुवोत्पादकरणशब्दो ह्यत्रोत्पत्त्यर्थः । निरसला मिथ्यात्वमयनिदानादिला । वैयर्थिकमिथ्याहरेः सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासार्य इत् । मंदरोक्त निष्कषा सर्वकाला-लवर्तिनी न सासादनसम्यग्देहिषत्पकाला । दृढा अमेवा । निगमची विनाभवेनात्र पचाप्यदेहादय उच्यन्ते । कर्मणा-मेकदेशेन साकत्वेन च ज्ञेयान् । तथा धर्मोऽपि संसारे संसारान् । विनाविभक्त्या हि सुदेवत्वसुमातुपत्वलक्षणे सुखानु-बन्धिनेष भवे भ्रान्त्येति । उक्तं च ।

संसारभीरुतोत्पन्ना निःशल्या मंदरापला ।

विनाभक्तिर्देहा यस्य नास्ति तस्य भवान्द्रवम् ॥

भक्तिके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—संसार से यत् उत्पन्न करनेवाली, माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शक्तियोंसे रहित, मंदर पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनमें जिसकी दृढ भक्ति है उस मुनिको संसासे मय नहीं रहता है, यहां जिनकुन्द से पंच परमेष्ठियोंका प्रदण होता है, जैसे अहन्त और सिद्ध परमेष्ठिओंने धातिकर्मका नाश किया है वैसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठिओंने धातिकर्मोंका एकदेशसे नाश किया है इसलिये उनको भी विन कहते हैं, धर्म भी कर्मोंका पराभव करता है अतः उसको भी विन कह सकते हैं द्रव्यलाभादिककी अपेक्षा न करके की हुई विनभ-क्ति कर्मनाश करती है, यह भक्ति संसारभय दूर करनेवाली है, वैयर्थिक मिथ्याहरीकी सर्वत्र भक्ति रहती है, उसका निरसन करनेके लिये विनाभक्ति को विस्मया, यह विशेषण दिया है, 'मंदरुत्पन्न निष्कषा' यह विशेषण सर्वकाल जिन भक्ति रहती है, सासादन सम्मगदष्टिके समान वह अल्प कालिक नहीं है ऐसा अभिप्राय व्यक्त करता है, सासादन सम्मगदष्टिकी भक्ति अल्पकालही रहती है अतः उसमें संसार नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है,

पंचमहृद्व्यगुप्तो णिगहिदकसायवेदणो दंतो ॥
 लब्धमिदि हु पत्तमृदो णाणासुदरयणणिधिमुदो ॥ ३१९ ॥
 निःकपायो यतिदान्तः पात्रसूतो गुणाकरः ॥
 महाव्रतधरो घीरो लभते श्रुतसागरम् ॥ ३१९ ॥

चित्रयोदया—पंचमहृद्व्यगुप्तो पंचमिहाव्रतैः कृतास्त्रवजिरोधः । णिगहिदकसायवेदणो निगृहीतकपाय-
 सेपः कपायस्तु तप्यत्वेत्यात्मनिधिति येदन्वा । दंतो दंतः श्रुतसागरोधः । परिशानादेरग्न्यमायनातः प्रशान्तपाग इति
 कृत्वा शान्तं श्रुच्यते । लब्धमिदि तु पत्तमृदो लभ्यते पात्रभूतः । णाणासुदरयणणिधिभूदो नानाभुतस्त्वन्तिभिभूतः ॥

पात्रत्वमगुणमात्रे—

भूक्षा—गुप्तो कृतास्त्रवजिरोधः । वेदणः उदयः । लब्धमिदि लब्धते वैकावृत्त्यत् । आपन्नतारं हि सर्वोऽप्याश्रयति ।
 अर्थ—अहिंसादि पांच महाव्रतोंसे बंद किया है कर्मका आगमन जिसने; कपाय आत्मको संतप्त करते
 हैं, अर्थात् दुःखित करते हैं, अतः जिसने कपायसे उत्पन्न होनेवाली वेदनाको शान्त कर दिया है, रागभावसे उत्पन्न
 होनेवाले दोष जिसके शान्त हुए हैं, अर्थात् ज्ञान और वैराग्यसे जिसका रागभाव शान्त हुआ है, जो नानाप्रकारके
 भुतज्ञानरूपी रत्नोंका निधि है ऐसा सत्पात्र मुनि वैष्णवृत्त्य करनेसे ॥॥ होता है.

दंसणणो सव संजमे य संघाणदा कदा होइ ॥
 तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो वेव ॥ ३२० ॥

दर्शनज्ञानचारित्रसंचयानं क्रियते यतः
 रत्नत्रयात्मके मार्गे स्थाप्यते स्वपरी ततः ॥ ३२० ॥

विजयोदया—दंसणणो दर्शनज्ञानयोः तवसंजमे य तपस्यादिभ्योदय । संघाणदा होइ कृतदिवप्रिमिचा-
 दिच्छिप्रानां दर्शनार्थीनां संचयनं कृतं भवति वेद्यावृत्त्येन । तो तस्मात् तेनैव वेद्यावृत्त्यकारिणा सिद्धिमग्गे रत्नत्रये ।
 उपरिदो अर्था परो वेद्य स्थापितं वात्स्य परत्वा । अनया संचयनमित्येतत्तत्पुत्रपदव्याख्यानम् ॥

कुतश्चिन्निमित्ताद्विच्छिन्नानां संधानं वैयावृत्त्येन क्रियते इत्यावेदयति ।

मूलाय—तेन वैयावृत्त्यकारकेण ।

अर्थ—किसी कारणसे यदि समग्रदर्शन और चारित्र तप और संप्रम इनमें विच्छेद हुआ हो तो वैयावृत्त्य के द्वारा वे पुनः जुट जाते हैं, इस लिए वैयावृत्त्य करनेवाले व्यक्तिने अपने को और जिसका वैयावृत्त्य किया गया है उसको मोक्षमार्गमें—रत्नत्रयमें स्थापन किया है ऐसा समझना चाहिये, इस गाथासे 'संधान' इस यज्ञका व्याख्यान हुआ है.

तत्र हत्येतद्व्याख्यास्तुमाह—

वेज्जायन्वचकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ॥

पप्फोडितो, विहरवि बहुभववाधाकर्, कम्मं ॥ ३२१ ॥

वैयावृत्यं तपोत्तस्यं कुर्वतानुत्तरं सुदा ॥

वेदनाश्चापवाधारा भिर्यंतं कर्मभूषराः ॥ ३२१ ॥

विजयोषया—वेज्जायन्वचकरो पुण वैयावृत्त्याख्ये तपसि समाधिमाप्रतामुपाधित । पप्फोडितो विहरदि विभूतपत्तिहरति । बहुभववाधाकार कम्म बहुभवेषु बाधा सपादयत्कर्म ।

वैयावृत्यकृत्यं तपोत्तुभं व्याचष्टे—

मूलाय—तवसमाधिं तपसि वैयावृत्त्याख्ये समाधिमेकाप्रताम् ।

अर्थ—वैयावृत्त्य करनेवाले मुनि वैयावृत्त्य नामके तपमें एकाग्र होकर अनेक भवोंमें बाधा उत्पन्न करने-वाले कर्मका नाश करते हुए रत्नत्रयमें विहार करते हैं

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदासीदवट्टमाणगदा ॥

तिविहेण सुव्यमदिणा सब्भे अग्निपूहुया हेति ॥ ३२२ ॥

त्रेया विशुद्धचित्तेन कालाश्रितयवर्तिनः

सर्वनीर्यकृतः सिद्धाः साधवः संति पूजिताः ॥ ३२२ ॥

विजयोदया—विजयसिद्धाधुःमा तीर्थरुक्ताः, सिद्धाः, साधवो, धर्मदत्त । अणागन्तवीर्यवृत्तमाणगदा सर्वे त्रिकालवर्तिनः । सर्वे त्रिविधेण पूजिता होति सर्वे मनोवाक्यैः पूजिता भवन्ति । सुदृढमद्वेषा शुद्धचेतसा । तीर्थरुद्धद्वय-स्वप्नासंगमनापूजिताः, दशाविधे धर्मे तपसोऽन्तर्गन्धार्थैर्यापृत्यस्य च तदन्तर्गतत्वादिध्यायुल्ले आदरात् उल्लेख्ये च धर्मः पूजितो भवति ॥

वैपावृत्यकारिणा देवालिङ्गविनाशोनां पूजा संपाद्यते इत्युपरिस्थितिः ।

मूलाद्या—आभिपूजिता जिनाद्यस्तदस्मात्संपादनादभूजिता भवन्ति । पृथग्विध धर्मे तपसः सद्भावद्वैयाभूय-
एव च तदन्तर्गतत्वात्तद्वदरास्तत्र प्रपुण्ये च धर्मः पूजितो भवति ।

अर्थ—जो मुनि वैपावृत्य करता है उससे भूतकालीन, वर्तमान कालीन और भविष्यकालीन तीर्थकार, भिद्वपरमेष्ठी, साधु और धर्म इनका शुद्ध अन्तःकरणसे मनोरचन कारणसे पूजन किया है ऐसा समझना चाहिये-वैपावृत्य करना चाहिये ऐसी तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा है उसका पालन करनेसे तीर्थकरादिकोंकी पूजा की ऐसा समझना चाहिये है, उत्तम क्षमादि दण्डमकारके धर्ममें तपस्या अन्तर्भाव है, और तपमें भी वैपावृत्यका अन्वर्भाव है, वैपावृत्य में आवर और उसका आचरण करनेसे धर्म का भी पूजन किया ऐसा माना जाता है।

वैपावृत्यं वराधिपं आचार्योपाध्यायतपस्त्रिदशकम्बानगणकुलसंघसाधुमनोसंभवेन । तनाचार्यवैपावृत्य-
माहात्म्यकथनानन्दे -

आइरियचारणाए संघो सन्धो वि धारिओ होदि ॥

संघत्स धारणाए अन्वोच्छित्ती कया होई ॥ ३२३ ॥

सूरिधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूद्दैरिच काननम् ॥ ३२३ ॥

विजयोदया—आयरियधारणाए आचार्यधारणत्वात्, संघो सन्धो वि धारिओ होदि सर्वः संघोऽयधारितो भवति । कथं ? आचार्यो दि स्तनत्रं ग्राहयति । गृहीतस्तनत्र्यास्तेषु द्रढयति । अस्त्रिचारज्ञातान्त्र्यपतयति । तदुपदेश-

पक्षेनैव गुणसंहितरूपतां घते संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । संघधारणाया गुणमाचरे । संघस्त धारणाए
अयोच्छिन्नी कदा होदि धर्मतीर्थस्थाभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अयुच्छिन्नाः कृता भवन्ति । उपाध्यायादयः सर्वे
एव साधयन्ति निरयशेषकर्मोपायमिति साधुशब्देनोच्यन्ते ॥

वैयावृत्यसाध्यां धर्मतीर्थस्थाभ्युच्छिन्ति गाभाद्वयेन व्याचिख्यासुराचार्योपाध्यायतपस्विद्वैद्यग्लानगणकुल-
सेपलाशुपनोन्नधिपयभेदादवाविषेऽपि वैयावृत्ते घर्मोचार्यवैयावृत्यस्यैव करणीयत्वमप्ररूपणार्थमिदमाह —

मूढारा—आयस्त्रिधारणाए पंचानाराचरणचंबुराचार्यद्वयस्य धारणा स्वकर्मसामर्थ्यधैर्यानिमित्तव्यावर्तेन
स्वकर्मसामर्थ्योपादानं वैयावृत्यकरणं इति यावत् । सचो यदूनां परमार्थहितसाधनाभिरुपयपरिणतिलक्षणभावप्रत्यासत्तिरूपः
सदुदायः । स च प्रतिकंधकापायकारणप्रवृत्तधर्मानुष्ठानमेवाकृष्यबुद्धिर्बिभः । शारिङ् । आचार्यो हि रत्नत्रयं मुमुक्षुन् ग्राह्य-
ति । गृहीतरत्नज्ञांस्तत्र ब्रूयति । अतीचाराज्ञानव्यपनयति । तदुपदेसपालनेनैव गुणसंहितरूपतां घते संघो नान्यथे-
त्याचार्यधारणासंधौ धारितः स्वल्पे व्यवहरामितो भवति । अय्योच्छिन्नी धर्मवीर्यस्य अन्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य
संतत्या प्रयुक्तिः ।

वैयावृत्यके आचार्यं वैयावृत्य, उपाध्याय वैयावृत्य इत्येव प्रकारं दश भेद है आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी
शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ ऐसे मुनिओंके दस भेद है. इन दसोंका वैयावृत्य करना योग्य
है इस लिये इनकी अपेक्षासे वैयावृत्यके मी दस भेद होते हैं. उसमें आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

तेवम्यत्तमस्य साधोर्धारणायां गुणे कथयति—

साधुस्त धारणाए वि होइ तह चैव धारितो संघो ॥

साधू चैव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥ ३२४ ॥

साधुधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूकृद्दैरिव काननम् ॥ ३२४ ॥

पिजयोदया—साधुस्त धारणाए यत्तम साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणायां । होदि भवति । तद चैव तमेव
आचार्यधारणातः संघधारणात् । धारितो संघोधारितो यति समुदायः ॥ कयोमस्तस्य धारणायां समुदायप्रयययोर्भेदवि

त्यादांकायामाह—साधु चेष्ट हि संघो साधुविरित्तो नेत्र संघो साधुर्थान्तरभूतोऽस्ति साधुज्यतिरिक्तः । कथं चित्समुदायवयवोऽव्यतिरेक इति मन्यते मायाह्वयेवानेतं । अव्युच्छिन्नविशेष्यस्याता ।

निर्दिष्ट साधवतीति नवायु माध्यादिव्यः साधवः, अतस्तैष्वन्यतमस्यापि वैयव्यकरणे गुणं दर्शयति—

मुहारा—साधुस्स उपाध्यायादीनामन्यतमस्य । तत्र चैव आचार्यधारणातः संघवारणाजतः । संघो यतिसमुदायः साधुविरित्तो समुदायवयवयोः कथंचिदव्यतिरेकात्साधव एव संघ इति व्यवबिध्यते ॥

उत्तमं आचार्यवैयव्यका माहात्म्य कहते हैं—

अर्थ—वैयव्यत्वं कर आचार्यको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे संघको रत्नत्रयमें स्थिर किया सरिला हो जाता है. क्योंकि, आचार्य महाराज शिष्योंको रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं. जिन्होंने रत्नत्रयका स्वीकार किया है उनको उनमें दृढ़ करते हैं, अतिचार उत्पन्न होनेपर उनको दूर करते हैं. उनके उपदेशके माहात्म्यसे ही संघ अपनेमें गुणोंका समूह धारण कर सकता है. अन्यथा वह गुणों को नहीं धारण करेगा. इस लिये आचार्य को धारण करनेसे मंथन भी धारण होता है. मंथको धारण करनेसे अग्न्युदय और मोक्षमुख देनेमें कारणभूत धर्म अन्याहत रूपसे प्रयत्नित होता है.

उपाध्याय, तपस्वी, शोध वर्गेह को साधु कहते हैं, क्योंकि वे संपूर्ण कर्मका नाश, अर्थात् मोक्ष को माधते हैं. उपाध्यायादिक साधुजोमेसे किसी एक साधुको रत्नत्रयमें धारण करनेमें कोनसा गुण है इसका उत्तर आचार्य कहते हैं—

जैमे आचार्यका वैयव्यत्वं करनेसे संघका धारण होता है वैसे एक साधुको वैयव्यत्वं कर रत्नत्रय में स्थिर करनेसे संघका धारणा होता है. अर्थात् यतिजोका समुदाय रत्नत्रयमें स्थिर होता है. एक साधुको रत्नत्रयमें स्थिर करनेमें समस्त यतिसमूह को कैसा धारण कर सकते हैं ? क्योंकि समुदाय और अवयव परस्पर भिन्न है. इनका उत्तर ऐसा है—साधु हि संघ है. साधुओंसे संघ भिन्न पदार्थ नहीं है. क्योंकि समुदाय और अवयव परस्परने कथंचित् अभिन्न है. इसप्रकार अव्युच्छिन्न गुणका दोन गाथाओंसे विवेचन किया है.

सिद्धिसुखे चेतस एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगृह्णन् कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेन ॥
जा सिद्धिसुहसमाधी सा त्रि य उवगृह्णिया होदि ॥ ३२५ ॥

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विचित्रैः परैः ॥

प्राप्यते चर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मेणा ॥ ३२६ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामः, यथा, वास्तव्यं, भक्तिः, पात्रलाभः, संधानं, तपः, पूजा, तीर्थांशुच्छिन्तिः क्रियेत्येतैः । अणुत्तरविधीहिं प्रकष्टैः कर्मैः । विहरमाणेन आचरता । जा सिद्धिसुहसमाधी सिद्धिसुखेकाग्रता । सा त्रि य उवगृह्णिया होद सात्पातलिंगिता भवति । फलमेवावदरः कार्यं समाधानमन्तरेण न प्रयतते । न हि साध्ये वदे चेतस्यसति तदुपायभूतवन्दविसारणफलमे जनः प्रयत्नते । इह य गुणपरिणामादय उपायाः सिद्धिसुखस्य न य सिद्धिसुखेकाग्रतामन्तरेण ते मुच्यते इति यावत् ।

वैद्यादृश्यसाध्वसिद्धिसुखसाधनगुणपरिणामाविनवकाचरणपरेण मुमुक्षुणा सिद्धिसुखैकनिष्ठमनस्कवालाक्षणः

समाधिः प्राप्यत इत्यादर्शयति—

मूलार्ता—अणुत्तरविहीहिं उत्कृष्टकर्मैः । अथगृह्णिता आलिंगिता । सिद्धिसुखसमाधिपरिणतो वैद्यादृश्यकरः स्यादित्यर्थः ॥ उक्तं य—

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विचित्रैः परैः ॥

प्राप्यते यतमानेन समाधिः सिद्धिशर्मेणा ॥

सिद्धिसुखमे विनकी एकाग्रता होना समाधि है. वैद्यादृश्य करतेसे उसका संरक्षण होता है इस विषयका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—गुणपरिणाम, यद्वा. वास्तव्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा और तीर्थांशुच्छिन्ति ऐसे न उक्त क्रमोंसे आचरण करने वाले मुनिके द्वारा सिद्धिसुखमें एकाग्रता नामक गुणकी प्राप्ति की जाती है. अर्थात् वैद्यादृश्य करनेवाली व्यक्ति सिद्धिसुखकी एकाग्रतामें परिणत होती है. कारणोंमें जो आदर किया जाता है वह कार्य के विषयमें एकताको करता है. अर्थात् कारणोंका संग्रह करनेसे उससे इष्ट कार्यकी सिद्धि होती है. परंतु यदि

मन में पट चाननेका निचार न होगा तो उसको चाननेके लिये दंड, चक्र, मृचिकादि कारणसमुदाय की प्राप्ति में उन प्रवृत्त नहीं होते हैं. प्रवृत्त प्रकरणमें गुणपरिणामादिक सिद्धिसुलकी प्राप्ति के उपाय हैं इस लिये वे सिद्धिसुलकी एकाग्रताको जोड़े बिना नहीं रहेंगे.

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होति ॥
णिग्गहिआणि कसार्थिदियाणि साखिहदा य कदा ॥ ३२६ ॥

जिनास्सा पालिता सर्वा विजित्त्य गुणहारिणाः ॥

कृतं संयमसाहाय्यं कपायेन्द्रियवैरिणः ॥ ३२६ ॥

विजयप्रेरणा—अणुपालिदा य आणा अनुपालिता य आणा भवति घैयानुत्थं कुयंता । केतं ? तीर्थछद्दीनां । फेन आणा ह्येतान्द्वयपदं व्याप्यते भवति । संजमजोगा य पालिदा होति इत्यनेन संयमपदव्यवस्था कृता संयमेन सह संबंधः आचार्यदीनां । पालिदा होति रक्षिता भवति । व्याख्यापद्वतानां रोगपरिग्रहानसंकेधेन धारयितुमसमर्थानां । अथवा संयमो योगाद्वय तपस्वि भवति अतश्चानादितपोविशेषाः रक्षिता भवति । स्वस्य परेषां च करणानुमनानाम्यां स्वस्यापक्षि-राखेन ह्यस्थतोपजातसामर्थ्यदीनां संयमसंसाहाय्यत्वात् । परेषां सहायतां व्याचष्टे—अस्मा इति याप्येषोपाध्याहारिणा सूत्र-पदानि संबन्धनीयानि । यस्माद्विग्रहीतानि कपायैन्द्रियाणि तद्वैरोपदेशं कुयंता तस्मात्साखिहदा य कदा सहायता कृता ॥

मूळार्थः—संजमजोगा आचार्यदीनां संयमेन सह संबंधः । अथवा स्वस्य परेषां च संबन्धो, योगस्मान्नानादि-वैरोन्द्रियः । स्वस्य हि परैर्वैपाकुल्यं कारयित्वा त्रिवर्मानं यातुमस्त स्वारत्यं प्राप्तः परेषामव्यापभिरासेन स्ववस्त्वयमयोग-रक्षो करोति । साखिहदा संयमं तामयवं साहाय्यकं कृतं भवति । कपायैन्द्रियदोषपक्षेनलक्ष्यवैपाकुल्यकारिणा । कर्म ? यस्माद्विग्रहीतानि भवन्ति कपायैन्द्रियाणि तद्वैरोपदेशं कुयंता ॥

अर्थः—जो मुनि वैपाकुल्य करते हैं वे तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा पालते हैं ऐसा समझना चाहिये. “अणु पालिदा य आणा” इस वचनमें आणा नामक ध्वजपदका व्याख्यान हुआ. ‘संजमजोगा य पालिदा होति’ इस वचनमें संयमपदका व्याख्यान हुआ. रोगादि आपत्तियोंसे ग्रसित होनेसे जो योगादि परिषदोंको बिना संकेष्टसे धारण करनेमें असमर्थ हैं ऐसे आचार्यादिकोंकी वैपाकुल्यके द्वारा शुद्धा करनेवाले मुनि उनको संयमसे संबद्ध कर देते हैं. अर्थात् वैपाकुल्य किया जानेसे आचार्यादिक असमर्थी न बनकर संयममें ही स्थिर रहते हैं. अथवा शुद्धासे उनके

संयम और अनश्रुतादि तथोक्ता रक्षण होता है, स्वतन्त्रता वैयावृत्य दूसरोंसे कराकर अथवा करनेवालोंको अनुमोदन देकर रोगादिकोसे निवृत्त हुआ साधु दूसरोंकी आपत्तियोंको दूर कर स्वतन्त्रके सदृश उनके संयम और योग की रक्षा करता है, ऐसा कार्य करनेसे संयमकी सिद्धि करनेवाले मुनियोंको साहाय्य किया जानेसे साखिलता नामक गुणकी सिद्धि होती है, वैयावृत्य करनेवाला मुनि इंद्रिय और कर्मायोंके दोष आपद्ग्रस्त मुनियोंको दिवाता है तब वे इंद्रियनिग्रह और कर्मानिग्रह करते हैं, इस लिये वैयावृत्य करनेवालेने इस कार्यमें सहाय किया ऐसा माना जाता है,

अविसयदानं दत्तं निव्विदिर्गिच्छा य दरिसिदा होइ ॥

पवयणपभावणा वि य निव्वुदं संघकज्जं च ॥ ३२७ ॥

दत्तं सातिशयं दानमधिक्कित्ता च दर्शिता ॥

संघस्य कुर्याता कार्यं वाक्यं भावयतार्हताम् ॥ ३२७ ॥

विश्रयोवणा—अविसयदानं दत्तं अतिशयदानं दत्तं भवति । रत्नत्रयदानम् । निव्विदिर्गिच्छा य दरिसिदा होइ सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्ता नाम सा प्रकटिता भवति । दानमधिक्कित्ता निरस्ता शरीरमद्यानां निराकरणाय सुगुणां विना । पवयणपभावणापि य प्रयत्नमागमस्तदुक्तार्थादिमननात् प्रयत्नमभयना भवति । निव्वुदं संघकज्जं च संघेन कर्तव्यं कार्यं च निश्चयेन संपादितं भवति । एतेन कज्जपुण्णाणि इत्येतद्व्याख्यातम् ।

रत्नत्रयदाननिर्विचिकित्सप्राप्तकटनप्रयत्नप्रभावनासंपर्कार्निर्वहणलक्षणगुणचतुष्टयं वैयावृत्यफलं न्याख्यातु-
निर्दिष्टम्—

मूलाः—अविसयदानं लोकोत्तरदानं, लोकोत्तमस्य रत्नत्रयस्य न्यापस्त्वियपनोद्देन संपादनात् । निव्विदि-
र्गिच्छा द्रव्यविचिकित्सानिरासाः, पुरीषादिदेहमलापनयनात् । पवयणपद्भावणा आयमोक्तार्थानुष्ठानात्तन्माहात्म्यप्रकाशानं,
वैयावृत्यफलं स्यात् । निव्वुदं निश्रयेन संपादितं स्यात् ॥

अर्थ—वैयावृत्य करके आपद्ग्रस्त मुनियोंको रत्नत्रय का दान दिया जानेसे अविशयदान नामक गुण की सिद्धि होती है, वैयावृत्य करनेसे निर्विचिकित्ता गुणकी प्राप्ति होती है, यह निर्विचिकित्ता सम्यग्दर्शनका गुण है, सुगुणाके विना रोमी मुनीके विप्राश्चर्यादि मल दूर करनेसे द्रव्यविचिकित्साका स्थापन होता है, निश्रयेन संपादितं

मानकर वैयावृत्य करता है. वैयावृत्य करनेसे संगमो अपना कतेव्यसपादन करनेका श्रेय प्राप्त होता है. इस गणने 'कञ्जपुष्पणि' इस पदकी व्याख्या हेतुकी.

वैयावृत्यस्य फलमादात्म्यं दर्शयति—

गुणपरिणामादीहि य विज्जावञ्जुज्जदो समञ्जेदि ॥

तित्ययरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥ ३२८ ॥

गयं गुणाकरीभूतं वैयावृत्यं करोति यः ॥

लभते तीर्थकृत्ताम त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥ ३२८ ॥

विज्ञयोवया—गुणपरिणामादीहि य गुणपरिणामादिभिः कारणभूतैः । पुण्यं तित्थयरणामकम्मं समञ्जेदि । पुण्यं तीर्थकरनामकर्म समजयति । कीदृक् । तिलोयसंखोभयं त्रैलोक्यसंक्षोभकरणसमं ॥

वैयावृत्यस्य फलं फले तीर्थकरत्वनामकर्मोत्पन्नं परमपुण्यं एवेति—

मूढारा — ३२८म् ।

वैयावृत्यके फलका माहात्म्यं पठते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाला मुनि गुणपरिणाम वर्गरे गुणोकी साहाय्यतासे त्रैलोक्यको शुद्ध करनेमें समर्थ ऐसा तीर्थकर नामकर्मका पुण्य बाँध लेता है.

पदे गुणा महच्छा वेज्जावञ्जुज्जदस्स वहुया य ॥

अप्पिठ्ठो हु जायदि सञ्जायं चैव कुब्बंतो ॥ ३२९ ॥

लममानो गुणानेवं वैयावृत्यपरायणः ॥

स्वस्थः संपथते साधुः स्वाध्यायोद्यतमानसः ॥ ३२९ ॥

धितयोदया—यदे गुणा महद्वा एते गुणा महान्तः । वेज्जावज्जुलदस्स वैयावुत्तयत्तस्य । यदुया यं यदुयः । अण्णट्ठो दु जायदि आत्तप्रयोजनपर एव जायते । सज्जायं वे॥ कुब्बंनो स्वाध्यायमेव कुब्बेन वैयावुत्तयत्तसु स्वं परं चो-
दरतीति मन्यते ।

वैयावुत्तपरस्य लगत्तुत्तयगुणवदुत्तसंपत्तिं स्वपरोद्धरणपरत्वेन स्वार्थपरस्वाध्यायपरदुल्लष्टत्वं च नकाशयति-
मलारा—महद्वा महान्ति यद्धिद्विरभिलज्जमानत्वाच्च, तत्पुण्यत्वान्महाफलत्वाच्च ॥ बहुगा यदुयोऽष्टादशसंख्या-
त्वात् । अण्णट्ठो दु आत्तप्रयोजनपर एव भवति स्वाध्यायमेव केवलं कुब्बं । वैयावुत्तयत्तसु स्वं परं ओद्धरतीति केवल-
स्वाध्यायपरात्तस्य विशेषः । स्वाध्यायकारिणोऽपि विपदुपनिपाते वन्मुल्लयोद्धित्वाच्च । तथा योक्तव्यं—

स वैयावुत्तमातेने अतसेयव्वान्वादिपु ॥

अनास्पदरको यूत्ता तपसो इवयं दि सच्च ॥

आत्ततोऽर्थो प्रयोजनं आत्मार्थः । संज्ञातोऽन्येति तत्कार्यादित्यादित इति सिद्धमात्मार्थिण इति ॥

अर्थ—जो मुनि केवल स्वाध्यायही करता है वह स्वतः ही कार्य करता है अर्थात् स्वतःकी ही आत्मोन्नति
वह करता है. परंतु जो वैयावुत्त करता है वह स्वयंको और अन्यको भी उन्नत बनाता है, उपर्युक्त गुणपरिणाम
परीह भवान् गुणों की उसको प्राप्ति होती है, इस लिये स्वाध्यायमें तत्पर रहने वालेसे वैयावुत्त करनेवाला भेद
गिना जाता है. स्वाध्याय करनेवालेपर यदि आपत्ति आवेगी तो उस समय उसको वैयावुत्त करने वालेका मुल
देखना पड़ेगा. अर्थात् मेरी यह विषयि दूर करो ऐसा उसको कहना पड़ेगा.

वज्जेह अपमत्ता अज्जासंसगमगिविससरिंसं ॥

अज्जाणुचरो साधू लहदि अकिंति खु अचिरेण ॥ ३३० ॥

त्याज्यार्यासंगतिर्गैरवद्वाह्निहृज्वालेव तापिका ॥

कुर्जीनेरिव निवाया दुःकीर्तिं लभते नतः ॥ ३३० ॥

विजयोदया—यज्जेह यज्जेह यज्जेह अग्निना विषेण सत्तमः आर्योऽनमसंसर्गः । प्रमादपरीक्षितेष्वग्निस्त्याज्यः । अज्जाणु-
चरो आर्योऽनुचरः । साधू साधुर्लहदि अकिंति लभते अयथा अचिरेण अचिरेण । विपदंलापकारितया व्यतिवृत्तत्वात् ।
संप्रमर्जीयतपिनापनादिरसदृशता । शापस्य अयथाशक्त्य प्रत्येक मीरल्लोकोऽपि साध्याज्यत्, निम्ब्याहपरिप्लवतोऽपि किं

पुनर्विदितेतिव्यस्य । परिदार्यमेषं उच्यते परितुं यत्किञ्च चापम्यदाद्य न परितुं । तथा च श्लोकः—
 कथं पतिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपि यत् ।
 नर पतिवधायोऽपि यदा कायेन धार्यते ॥

आर्यसंयोगान् मायानवेकवाद —

मूलाय — आर्मिबिस्सरिस् चित्रांतापापादनादग्निना संयमजीवितविनाशनाद्विरेण च तुल्यमार्जिकानं सगं
 दूरं त्यक्त । अर्जीर्गे पापादकीर्त्तिं प्रायेण दृग्गज्जोऽपि निमिषि किं पुनर्विदितवेदितव्यत्वाव्यमशेषं त्युक्तुमुद्युक्तो यति-
 जनः । अर्जिकानुत्तिष्ठ शिक्षोरयिरावसरकरीति सुतरा परिहार्येति वात्सर्यम् । तथा च श्लोको वक्ति—कथं पतिनि का
 रक्षा यशो रक्ष्यमपि यत् । नरः पतिवधायोऽपि यदा कायेन धार्यते ॥

अर्थ—हे साधुगण ! तुम प्रथम छोड़कर आर्मिकाका सहवास छोड़ो, क्योंकि आर्मिकाका सहवास अग्नि और
 निपके समान है, विपत्तमें संताप उत्पन्न करता है इसलिये यह सहवास अश्रितुल्य है और संयमरूप जीवितका हरण करता
 है इस वास्ते यह निपतुल्य है आर्मिकाका अनुमरण करने माला साधु विश्रुतते और शीघ्र ही अपकीर्तिका
 स्थान बनता है, प्राय पाप और अर्जीर्ती से करने माले मिथ्यादृष्टि श्री अर्जुनपी समान्य लोक भी उत्तम आचरण
 करते हैं, परंतु मुनि तो योगयोग्य स्र जानते ही हैं उनके लिये क्या कहना चाहिये, अर्थात् उन्होंने तो अवश्य
 आर्मिकाका साथ छोड़ना ही चाहिये, जितने त्याज्य पदार्थ हैं उनको त्यागने लिये मुनिजन उद्युक्त होते हैं इस
 लिये उनकी पाप और अपदका जरूर त्याग करना चाहिये, यद्यपि विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

अर्थात् शरीर तो पदंगा ही उसकी हम कैसे रखा कर सगें परंतु यज्ञका संरक्षण करना हमारा परम
 कर्तव्य है, मनुष्य का शरीर इष्टगया तो भी यद्यरूपी शरीरसे यह धारण किया जाता है, अर्थात् वह नरनेपर
 भी उगका यह जगतमें रहता है इसी लिये कीर्तिमान् मनुष्य हमेशा अमर रहता है ऐसा सज्जन कहते हैं,

येरस वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ॥
 अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥ १२१ ॥

स्वविरस्य प्रमाणस्य शास्त्रज्ञस्य तपस्विनः ॥
आर्थिकासंगतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः ॥ ३११ ॥

विजयोक्त्या—थेरस स्थनिरस्य । स्वसिस्त्व वि अनानादितपस्युत्तस्यापि । बहुसुदस्व वि बहुयुतस्यापि । प्रमाणभूदस्व प्रमाणभूतस्य । अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं देवेज्जादि धार्यापरित्यज्जाज्जनापवादो भवति ।

मूढारा—तवस्तिस्व अतश्चानादितपस्युत्तस्य । जणजंपणयं लोकापवादः ।

अर्थ—मुनि भूद, तपस्वी, अर्थात् उपवास, अवयोदय, रसपरित्याग कर्मैर तत्र कालेवाला, बहुयुत और जन्मान्य होने पर भी यदि वह आर्थिकाका सहवास करनेवाला होगा तो वह लोगोंकी निंदाका स्थान देनेगाही। आर्थिकाके साथ परिचय होनेस उसकी निंदा होना दुर्निवार है.

किं पुण तरुणो अयहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरिचो वा ॥

अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥ ३१२ ॥

न किं यूनोऽल्पवियस्य भवं विदधतस्तपः ॥

कुर्वाणस्यार्थिकासंगं जायते जनजरूपनम् ॥ ३३२ ॥

विजयोक्त्या—किं पुण ण पावेज्ज जणजंपणयं किं पुनर्न प्राप्तुपाउन्नमपवादं वा ? प्राप्नोति नियोगतः । केन ? अज्जासंसग्गीए आर्वागोएथा । कः ? तरुणो अयहुस्सुदो अणुकिट्ठतवचरित्तो य तरुणो यतिरबहुयुतोऽनुत्कष्टतपध्या-
स्तिनस्य ॥

मूढारा—अणुकिट्ठं अनुत्कष्टं । अज्जासंसग्गीए आर्वाग्वनगोएथा ॥

अर्थ—जो तरुण है, बहुयुतता जिसमें नहीं है अर्थात् जिसमें हिताहितका विचार कम है, जो उत्कष्ट चारिका धारक नहीं है ऐसा यदि आर्थिकाके संगमसि अननिंदाको प्राप्त न होगा क्या ? अवश्य होगा. तत्पर्यं यह है कि, जब विवेकपूर्ण, महान् तपस्वी और लोकभान्यतायुक्त ऐसा मुनि भी आर्थिकाके सहवाससे अपकीर्तिका पात्र बनता है तो इतर अल्पज्ञ मुनियेकें विषयमें क्या कहना चाहिये.

अदि वि सर्वं थिरबुद्धी तद्वा वि संसगिलद्धप्सराए ॥
आँगसर्मीवे व षदं विलेज्ज विचं खु अज्जाए ॥ ३३३ ॥

आर्थिकामानसं सण्यो यतिसंगे विनश्यति ॥

सर्पिर्वन्धेः समीपे हि काठिन्यं किं न मुंचति ॥ ३३३ ॥

स्वयं साधोः स्थिरत्वेऽपि संसर्गमासष्टृष्टता ॥

क्षिप्रं विभावतोः संगे सा लोक्षेव विलीयते ॥ ३३४ ॥

विज्ञपोषण—अदि वि सर्वं थिरबुद्धी यपि स्वयं स्थिरबुद्धिः । तद्वा वि तथापि । संसगिलद्धप्सराए संस-
र्गाहुम्यप्रसराय ॥ अज्जाए आगोय ॥ विचं विलेज्ज विचं प्रवर्ति । किमिव ? अनिलसमीपे व षदं अग्निसमीपस्थं पुलभिव ।
न केवलमायोजन मय पादित्वापीयः किं तु—

बुद्धाए—थिरबुद्धी स्थिरचित्तो यतिः । संसर्गिवर्तिना षदं गोप्ती तथा लब्धः प्रसर्पिषोलासो यथा । विलेज्ज
विलीयते ॥

अर्थ—मुनि यपि थिरा बुद्धिका थारक दोगा गो भी मुनिके सखवासते जिसका चित्र बंचल हुआ है-
येभी आर्थिकाका मन अतिके समीप भी जैसा पिपल जाता है वैसा पिपलेगा इस वास्ते मुनि और आर्थिका दोनों
कोभी अमौन्य परिवच छोडनाही योग्य है.

सन्वद्य इत्थिवग्गमि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ॥

णित्थरदि थंभचेरं तत्त्विवरीदो ण णित्थरदि ॥ ३३४ ॥

अविन्ध्यत्तोऽजानावर्गे सर्वज्ञाप्यप्रमादकः ॥

प्रसन्नचरं यतिः दास्यते रक्षितुं न परः पुनः ॥ ३३५ ॥

विज्ञपोषण—सन्वद्य इत्थिवग्गमि सर्व्यस्त्रिद्वेय स्त्रीयगे थालाकन्यामथमास्थविराडुरुपतिरुतेति विचित्रमेवे ।
अप्यमत्तो अप्रमत्तः प्रमादरहितः । सया अवीसत्थो विज्ञावरहितः । णित्थर निस्तरति वंभचेरं प्रहल्लभ्य । तद्विवरीदो
तद्विवरीदः प्रमत्तः पित्रसर्पांश्च । ण णित्थरदि न निस्तरति ॥

न केवलं आर्वा एव ताड्या । किं यदि सर्वोऽपि स्त्रीजन इत्यनुशास्ति—

मूढारा—सम्बतल गाला, कुमारी, युवतिर्यध्यमा, वृद्धा, मुरुणा, कुरुणा इत्यादिविचित्रभेदे । अवीसत्या वि-
श्वातरहितः । नित्यरश्मि मरणोत्तं प्रापयति ॥

अर्थ—पालिका, अविवाहित कन्या, तरुणी, मध्यम वयस्की स्त्री, वृद्ध स्त्री, मुरुण स्त्री और कुरुण स्त्री
एसे संपूर्ण स्त्रीमात्रमें मुनिजो प्रमादरहित होना चाहिये, विश्वासरहित होना चाहिये, इस रीतीसे प्रवृत्ति करनेवाला
मुनिही आजन्म अपना ब्रह्मचर्यव्रत निर्दोष पालन कर सकेगा अन्यथा नहीं, जो मुनि प्रमादी और स्त्रीजनमें
विश्वासयुक्त है वह अपने ब्रह्मचर्यव्रतको नहीं निभा सकेगा।

आर्यानुचरतो दोषं प्रकटयति—

सर्व्वचो वि विमुक्तो साहू सञ्चत्य होइ अप्पवत्तो ॥

सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवत्तो ॥ ३३५ ॥

विमुक्तः सर्व्वतो जातः सर्व्वत्र स्ववशो यतिः ॥

आर्षिकाऽनुचरीभूतो जायतेऽन्यवशः पुनः ॥ ३३६ ॥

विजयोवपा—सर्व्वचो वि विमुक्तो साहू सञ्चत्य होइ अप्पवत्तो सर्व्वसाक्षात्सुखेन्द्रादिकादिमुक्तः साधुः सर्व्वत्र
भवति स्ववशः । सो चेव स एवात्मवशः । होइ भवति । अणप्पवत्तो अमात्मवशः । किं कुर्वन् ? अज्जाओ अणुचरंतो आर्यो
अनुचरन् ॥

मूढारा—सर्व्वचो वि सर्व्वसाक्षात्सुखेन्द्रादिकात् । विमुक्तो ब्यावृत्ताचित्तः । अज्जाओ आर्षिकाः अनुचरंतो अनु-
वर्तमानः ॥

अर्थ—जो साधु वार, संत, धनधान्यादि सर्व्व प्रकारके पीछाहोते भगवत्तरहित हुआ है, वही सर्व्व वस्तु
औरमेंसे अपने मनको जलम रखकर बित्तोद्विग्न होता है, परंतु जो मुनि आर्षिकाके साथ परिचय रखता है वह
अपनेकी आत्माके शुद्ध स्वरूपमें तत्पर नहीं कर सकेगा, अर्थात् चित्तेन्द्रियता गुणको छोड़ देवेगा, इसीलिये आर्षि-
काका परिचय मुनिजोंके लिये निषिद्ध माना है।

सेलपट्टिमपपाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ॥

अज्जाणुचरां ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥ ३३६ ॥

आर्यिकावचने धीमि वर्तमानो दुरुत्तरे ॥

शक्तो मोचयितुं न स्यं श्रेष्ठममश्रेय मक्षिका ॥ ३३७ ॥

विजयोदया—रेलपट्टिमपपाण श्रेष्ठपरीतमात्मान । जह ण तरद मच्छिया विमोचेदुं यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुं । तह अज्जाणुचरो ण तरद अप्पाण विमोचेदुं तथा आर्योदुचरो न शक्तोति जहमान विमोचयितुं ॥

मूलारा—रेल श्लेष्मा । ण तरदि न शक्नोति ॥

अर्थ—जेते मनुष्यके रूपमें आयात शुरूमें पड़ी हुई मक्खी उससे निकलनेमें असमर्थ होती है वैसे आर्यिकाके साथ परिचय किया हुआ मृनि भी उससे छुटकारा नहीं पाता है. अर्थात् उसका स्नेह छोड़नेमें वह असमर्थ होता है.

सायुस्स णत्थि लोए अज्जासारिमी खु बंधणे उवमा ॥

चम्मेण सह अव्वेतो ण य सरिस्सो जोगिकसिल्लेसो ॥ ३३७ ॥

मार्या बंधेन यंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिद्यता यते ॥

वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥ ३३८ ॥

द्रव्यव्रतं मुकुक्षुणां स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम् ॥

मंडूकः पद्मगेनेव भीषणेन विनाशयते ॥ ३३९ ॥

धरौणाभिव सांगत्यं पुंसा सर्वस्वरक्षिणा ॥

योगिना योपितां त्याज्यं ब्रह्मचर्यप्रपालिना ॥ ३४० ॥

इत्यार्यासंगत्यजनसूत्रम् ॥

विजयोदया—सायुस्स णत्थि श्रेष्ठ अज्जासारिमी खु बंधणे उवमा । साधोर्नस्ति लोके आर्यासिद्धी बंधने

उपमा । चम्रेण सह अर्धतो चर्मणा सह अपयच्छन् । न य सारिसो जोषिगसिलेसो नैव सदशः चर्मकारस्तेषाः । केवलं आर्याजिनो दूरत एव पट्टिभ्यः अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥

भूजारा—अज्जेत्यादि—अर्धतो द्रव्यगुणमा उपमेयं अस्मादधिक्या सदृशं । तर्हि चर्मयोजितवज्रलेपसमवेणा मुनेरार्यिका आर्यव्यतीति श्रुतमानं प्रत्याह । चर्मोणत्वादि अवतो जवगच्छन् । जोषिगसिलेसो वज्रलेपः । उक्तं च—

नार्यो वपेन वंधोऽप्यस्तुत्यो दृष्टाच्छिवा यतेः ॥

वज्रलेपः स सो हुत्सो यो याति सह चर्मणा ॥

अर्थ—साधुके लिये आर्यिकाका सदृशस ऐसा बंधन है कि उसका वर्णन करनेके लिये जगतमें दृश्यमान सोइ भी बंधन उपमानरूप नहीं है, चर्मके साथ वज्रलेप भी उसके लिये उपमान नहीं है, किसी चीजके ऊपर वज्रलेपके साथ चर्मका भी बंधन किया तो भी वह वस्तु उस बंधनसे मुक्त होनेकी संभावना होती परंतु आर्यिकाका परिचय ऐसा बंधन है कि उससे वह दूरना असंभव है,

अण्णं पि तद्वा वस्तुं जं जं साधुस्स वंधणं कुण्णिदि ॥

तं तं परिहरह तदो होहदि दडंसंजदा तुज्झ ॥ ३३८ ॥

यद्यदन्यदपि द्रव्यं किंचिद्वंधनकारणम् ॥

तत्तन्निधा निराकृत्य आयच्चं दडंसंयमाः ॥ ३४१

विज्ञयोदया—अण्णं पि तद्वा वस्तुं अन्यदपि तत्प्राप्तं वस्तु । जं जं साधुस्स वंधणं कुण्णिदि यत्प्राप्तं करोति । तं तं परिहरह तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत । ततः वस्तुत्यागात् । होहदि दडंसंजदा तुज्झ भवतां दडंसंयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । वाह्यवस्तुनिमित्तो ज्ञासंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति ॥

न केवलमार्गजन एव दूरतस्याज्योऽपि तु—

भूलाप—तथा तथाभूतमार्थिकासदृशमित्यर्थः । वंधणं पारतंत्र्यं । तदो वंधनकारिक्खुत्यागात् । होहिय भविष्यथ । दडंसंजदा वाह्यवस्तुनिमित्तो ज्ञासंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति । तुज्झे भव्यं ॥

आपि सोओना ही दूरमे त्याग करना चाहिये ऐसा नहीं परंतु इतर वस्तु भी त्यागनी चाहिये —
अर्थ—जिम २ वस्तुमे साधु वंश जाता है, परतंत्र होता है वह वह वस्तु है साधुगण ! तुम छोड़नेका उद्योग करो. ऐसी वंशनकारक वस्तुयें छोड़नेसे तुम्हें दृढव्ययगुणकी प्राप्ति होगी. बालवस्तुके सहवाससे असंयम उत्पन्न होता है. परंतु ऐसी वस्तु तुम छोड़ दोगे वन असंयमब्र त्याग होगा.

पासत्यादीपणयं णिचं वज्जेह सन्नधा तुम्हे ॥
हृदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस तम्मयदा ॥ ३३९ ॥

पार्थव्यसमसंसरककुशीलमृगचारिणः ॥
मलिनीक्रियते शश्वत्फललेनेव संगतम् ॥ ३४२ ॥
कपरायाकुलापिस्तानां पार्थस्यानां दुरात्मनाम् ॥
सुजंगानामिव त्याज्यः संगद्विद्वग्गवेपिणाम् ॥ ३४३ ॥

वित्तवैपश्य—पासत्यादीपणयं पार्थस्यादिपंचकं पार्थस्या, अयसत्ता, संसक्त, कुशीलो, मूलचरिका इति पंच । तान् मूलतो निराकृत । अण्डरित्यादिपणमाह—मेलणदोसेण तम्मयदा होइ संसर्गदोषेण पार्थस्यादिमयता । तन्मयताप्रसि-
पसिबमव्यपनापाता गता ॥

अथ पार्थव्यादिसंगतत्वात् गामात्रमेवाह—

मूढारा—पासत्यादीपणयं पार्थस्यावसमसंसरककुशीलमृगचरिणानां पंचकं । ते हि द्रच्छन्नमिष्यादृष्टयः । तथा
पासत्योसमसंसरीतावससत्तो य होइ सच्छंदो ॥

एष पंच वि सकणा विजयवणपरम्मुहा भणिया ॥

इंदि जानीहि । तन्मयता पार्थस्यादिसत्त्वा । तद्वद्वणानि अण्डकतुल्लिष्टौ वस्यते संक्षपतस्त्विति—
पृथेच्छसोऽयसन्नःपार्थस्यो यद्विजयपरदोष्टेऽग्निष्टे ।

पोष्य-

संसर्गवशाद्गुणदोषौ भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति --

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्ठिया सुरभिणा व इदरेण ॥

किह् जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥ ३४२ ॥

नानाशुभेन गंधेन मृत्तिका यदि वास्यते ॥

तदा मान्यगुणैरत्र कट्यतां पुरुषः कथम् ॥ ३४७ ॥

विप्रबोद्धा -- जदि यदि । भाविज्जइ भावयते वासयते । गंधेण गंधेन मट्ठिया मृत्तिका । सुरभिणा व इदरेण सुरभिणा च इदरेण वा । कइ जोएण होज्जो कथ संबधेन न भवेत् । परगुणपरिभावनो पुरिसो परेणं पार्श्वपात्रीनो गुणैः परिभावित पुरुष ॥

संसर्गवशाद्गुणदोषावचेतनेष्वपि स्यातां किं पुनश्चेतनेऽपि दृष्टान्तावष्टेनाचष्टे --

मूढारा -- भावेज्जदि वासयते । जोगेण संबधेन । परगुणपरिभाविदो परेणं सिद्धानां गुणैः शुभाशुभैर्वर्गैः समन्ता-
द्रासितः ॥

संसर्गसं अचेतनपदार्थमें मी गुण ओर दोष उत्पन्न हो जाते हैं वही बात दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं --

अर्थ -- यदि सुगंध अथवा दुर्गंधके सहवाससे मृत्तिकाभी सुगंध अथवा दुर्गंध बनती है तो पार्श्वस्थादि-
कौंका संयोग होने पर मुनि उनके सुगंधसे क्यों न तन्मय होगा ? अर्थात् होगा ही अथवा परपदार्थ यदि सुगुण
होगा तो उससे संयुक्त होने वाला पदार्थ भी सद्गुणसंपन्न होगा और परपदार्थ यदि दुर्गुण अर्थात् दोषयुक्त
होगा तो वह भी दोषसे पूर्ण होगाही.

परगुणप्रशङ्गमाह --

ॐ जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव ॥

वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥ ३४३ ॥

ॐ गुह्यारपन्त र्द्वेषमें बह् माया तथा लसली दीका नहीं है तथा अस्मितगति प्रलोभ स्नेह भी नहीं है

विजयोदया—दृष्टान्तलोपन्यस्ता मृत्तिका क्षुरिका च । तथा चोक्तं सुरमिणा च इदरेण जारिखीति च ॥

परगुणग्रहण यह पदार्थ का स्वाभाव है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ऊपर महीन्द्र उदाहरण दिया है, इस श्लोकमें छुरीका उदाहरण आचार्य देते हैं, जैसे छुरी सुवर्णा-
दिक की जित्दहं देनेसे सुवर्णादि स्वरूपकी दखिनी है वैसे मनुष्य भी विसर्वाकी मित्रता करेगा वैया अर्थात्
मनुष्य दुष्टके सहवाससे दुष्ट और सज्जनसंगसे सत्पुरुष होता है.

दुष्कृतसंसर्गाए पजहदि गियगं गुणं खु सुज्जणो वि ॥

सयिलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥ ३४४ ॥

शिष्टोऽपि दुष्टसंगेन विजहाति निजं गुणं ॥

नीरं किं नाग्नियोगेन घीतलत्वं विमुंचति ॥ ३४७ ॥

विजयोदया—दुष्कृतसंसर्गाए पजहदि गियगं गुणं खु सुज्जणो वि । विजहाति स्वगुणं खुज्ज-
मोऽपि । सयिलभावं जह पजहदि उदयं जह पजहदि गियगं गुणं खु सुज्जणो वि । विजहाति स्वगुणं खुज्ज-
लसंयत्तलमिवेति सदुज्जगत्संगे दृष्टम्. ॥

दुर्जनसंसर्गा गायपदेनोपेदुक्कामो दुर्जनसंसर्गास्तुजतत्वापि सहजगुणत्वायं दृष्टावेन समर्थयते—

मूढारा — स्वधम् ॥

अर्थ—सज्जन मनुष्य भी दुर्जनके संगसे अपना उज्जल गुण छोड़ देता है, अग्नीके सहवाससे ठंडा भी
जल अपना ठंडपना छोड़कर बया गरम नहीं होता ? यह सहजगुणके त्यागका दृष्टांत है, अर्थात् अग्निके सहवाससे
ग्नीवस्वभाव का जल भी अपना स्वभाव छोड़कर गरम होता है, वैसे सज्जन अपने जन्मजात निर्मल गुणोंको
छोड़कर दुर्जनके सहवाससे दूष्ट बनता है.

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुज्जणो वि होइ लहुओ दुष्कृतसंमेलणाए दोसेण ॥

माळा वि मोल्लिगरुया होदि लहू मडयसंसिद्धा ॥ ३४५ ॥

संसक्तो मृगचरितः स्वकल्पिते प्रकटकुचरितस्तु कुशील, ॥

अर्थ—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील, मृगचारित्र एते पांच चारित्र्यप्रष्ट मुनियोंका आप दूरसे ही त्याग करो. यदि उनका संसर्ग करनेसे तो उस संसर्गदोषसे आप भी उनके सरलित हो जाओगे. ये पार्श्वस्थादि मुनि प्रच्छन्न मिथ्यादृष्टि हैं.

पार्श्वस्थानि संसर्गं कर्तुं बांछन्त्यपि—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं गित्विसंकदं चेव ॥

पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

लज्जां जुगुप्सन् योगी प्रारम्भं निर्विशंकताम् ॥

आरोहन्प्रियधर्म्मपि कमेणेत्पस्ति तन्मयः ॥ ३४४ ॥

विजयोदया—लज्जं लज्जां उपारोहति । ततः पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सां करोति । कथमहमेवंविधं प्रतर्ज्जं करोमि । दुस्तर्ज्जसापतनेहेतुमिति । पश्चाच्चारित्र्यमोहोदयात्पश्यशः पारंभं प्रारभते । कृत्यारंभे यतिरारंभपरिमत्ताविषु निर्विसंकदं चेव निर्विशंकतामुपैति । पियधम्मो वि धर्म्मप्रियोऽपि । कमेणारुहंतगो क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जाविक्रं । तम्मओ होइ पार्श्वस्थादिको भवति ॥

तन्मयताप्रतिपत्तिकमाकृत्यान्यार्थमाह—

मूढारा—कथमिदमिति । धर्म्मप्रियोऽपि लज्जादीन् क्रमेणारोहन्पार्श्वस्थादिको भवति । तथा हि पार्श्वस्थादि-

संसर्गं कर्तुं बांछन्त्यपि लज्जामारोहति ततः पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सां प्रतिपद्यते । कथमहं एवंविधं प्रतर्ज्जं करोमि दुरंत-संसारपतनेहेतुमिति । तदनु चारित्र्यमोहोदयात्पश्यशस्तं प्रारभते । ततश्चारंभपरिमत्ताविषु निर्विशंकतामुपैति । ततश्च पार्श्वस्थादिको भवति ॥

उनके संसर्ग करनेसे तन्मयता कैसी आती है इसका क्रम वर्णन आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—प्रथमतः पार्श्वस्थादिक मुनियोंके साथ संसर्ग रखनेमें लज्जा आ जाती है. अनंतर प्रयुक्ता होती है

अथोद् इम अमूल्य प्रकृता नाश करनेमें मैं कैसा उत्तुक्त होऊँ, यह मेरा अववाक्यकार्य दुःखदायक संसारमें पतनका कारण होगा। ऐसा विचार मनमें अनेकें उन पार्थस्यादिकोंके विषयमें उस जो जुगुप्सा उत्पन्न होती है, नंतर चारित्र्य मोहकर्मका उदय होनेमें यह परवश होकर अवर्ण्य करनेके लिये उत्तुक्त होता है, अवर्ण्य कर वह मुनि आरंभ परिग्रहादिकोंमें निश्चिंत होता है, यद्यपि वह मुनि पार्थस्यादिकोंके सहवासके प्रीति धर्मप्रिय था तो भी क्रमसे लज्जा, जुगुप्सा वगैरह भावोंको प्राप्त होकर पार्थस्यादिरूप हो जाता है, यद्यपि वह शरीरसे और वचनसे पार्थस्यादिरूप नहीं है तो भी मनमें ऐसा हो जाता है,

यद्यपि वाक्पावाक्यां न प्रवर्तते तथापि मानसी पार्थस्यादितो प्रतिपद्यत इत्याचष्टे—

संविग्नस्त्वपि संसर्गाद् पीवी तद्वो य वीसंभो ॥

सखि वीसंभे य रदी होइ रदीए बि तमयवा ॥ ३४१ ॥

तेषु संसर्गतः प्रीतिर्विक्रमः परमस्ततः ॥

ततो रतिस्ततो न्यस्तं संविग्रोऽप्यस्ति तन्मयः ॥ ३४२ ॥

त्रिजयोद्या—संविग्नस्तत्र वि संसारभीतेरपि जेतः संसर्गाद् पार्थस्यादित्सर्गेण । पीवी होवि प्रीतिर्भवति । तवो य प्रीतेः सक्तवात् । वीसंभो द्वेदि विरंभो भगति । खदि वीसंभे य रदी विरंभे सति रतिर्भवति । पार्थस्यादितु रदीए वि तमयवा रत्ना य तमयता ॥

यद्यपि तत्संसारका वाक्पावाक्यां न तदाचारे प्रवर्तते तथापि मानसी पार्थस्यादिरूपता प्रतिपद्यते इत्याचष्टे—
मूलाया संसर्गाद् पार्थस्यादित्सर्गेण । वीसंभो निश्चयम् । रदी पार्थस्यादितु संसर्गेण चित्तविश्रान्तिः ॥
रदी आगम आगे की भाषामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—संसर्गमप्युक्त मुनि भी पार्थस्यादिकोंके सहवाससे प्रथम प्रीतियुक्त होता है, प्रीतिके अनंतर उस विषयमें मनमें नियाम होता है, अनंतर उन्हींमें चित्त निश्चिंति होता है अर्थात् आसक्त होता है और वदन्तर वह संसारभरि मुनि भी पार्थस्यादिमय बनता है,

लाघवं दुष्टसंगेन शिष्टोऽपि प्रतिपद्यते ॥

किं न इत्थमयी माला स्वल्पार्थां शवसंगता ॥ ३४८ ॥

विजयोदया—सुजनों वि होइ लखुओ सुजनोऽपि भवति लघु । दुर्जनसंमेलणात् दोसेन दुर्जनगोपीयोगेन ।
मालावि मोहनादया मालापि सुमनस्तं ग्रीत्सेन लघ्वी । होइ भवति । मलयसंनिधौ मृतरुसा संनिधौ ॥

निदागुणसंगवद्गुणपरिणतिं प्रतिपद्यति—

मूलात्—स्पष्ट ॥

हरे गुणके सहवाससं मनुष्य चुरा अर्थात् दुष्ट होता है इसी अभिप्रायको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—
अर्थ—दुर्जनके योगोंका संग संग होनेसे सज्जन भी नीच होता है. बहुत फीमत्तकी पुष्पमाला भी फीमेके
अर्थात् शवके संसर्गसे काँदीके फीमत्तकी होती है.

अबुष्टोऽपि दुष्ट इति संभवते यतिः पार्श्वस्थादिगोच्छ्वा इत्येतदुद्यन्तेनाचष्टे—

दुर्जनसंसर्गात् संकिञ्जलि संजदो वि दोसेन ॥

पाणागारे बुद्धं पियतलो वंभणो चेव ॥ ३४६ ॥

संयतोऽपि जमैर्दुष्टो दुष्टानामिह संगतः ॥

क्षीरपा ब्राह्मणः शौण्डः शीण्डानामिव शंकयते ॥ ३४९ ॥

विजयोदया—दुर्जनसंसर्गात् इति स्पष्टार्थो गथा ॥

पार्श्वस्थादिंसर्गाद्दुष्टोऽपि यतिर्दुष्ट इव संभवते इत्याचष्टे—

मूलात्—पाणागारे ज्ञानापागमोदया ? (मसपानगोष्ठया इति भवेत्) वंभणो शिवभूविनिम्न । चेव यथा ।

पार्श्वस्थ गौरव कुपुनियोंके संसर्गसे अबुष्ट भी यति लोकोंके द्वारा दुष्ट माना जाता है. इसको दृष्टान्तसे
आचार्य स्पष्ट करते हैं.

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दोषरहित भी यति लोकोंके द्वारा दोषयुक्त गिना जाता है. मदिरागृहमे जाकर
कोई ब्राह्मण दूध पीवे तो भी उसने मद्य पिया है वह मद्यपी है ऐसा लोक मानते हैं.

परदोसगहणलिच्छो परिवावरदो जणो खु उरसूणं ॥
 दोसत्याणं परिहरह तेण जणजंपणोगासं ॥ ३४७ ॥
 परदोपपरीचादयाही लोको घतोऽखितः ॥
 अपचादयदं दोपं मुचध्वं सर्वदा ततः ॥ ३५० ॥

विजयोदय—परदोसगहणलिच्छो परदोपग्रहणेच्छावात् । परिचादयो परोक्ष परदोपवचने रतः । जणो जतः ।
 उत्सूण तु नितरागेय । तेण दोसत्याण परिहरह तेन दोषस्थानपरिहारं कुरुत । जणजंपणोगासं जनजस्यमावकाशं ॥

दोषापवादापरिहारसाह—

मूढार!—लिच्छो इच्छावान् । परिवावरदो परोक्षे परदोपवचने रतः । दु यस्मात् उत्सूयं अतीव । जणजंपणोगासं
 लोकापवादापरिवन् ।

अर्थ—लोक परदोप ग्रहण करनेके लिये उत्सुक रहते हैं, परोक्ष दोष कहनेमें वे आनंदित होते हैं, इस
 वास्ते हे मुनिगण ! जहाँ जाने दोषसंसर्ग होमा ऐसे स्थानोंका और बीजोंका आप त्याग करो, क्योंकि ऐसी
 बीजें रखनेसे लाभमें अपकीर्ति होती है.

दुर्जनगोष्ठी अनर्थमायबलैर्बलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाठणह दोसं ॥
 जहू घूराकए दोसे हंसो य हयो अपावो वि ॥ ३४८ ॥
 दुर्जनेन कूले दोषे दोषमाप्नोति सज्जनः ॥
 कादंचः कौशिकेनेच दोषिकेणापद्रूयणः ॥ ३५१ ॥
 दुर्जनस्यापराधेन पीड्यते सज्जना जने ॥
 अपराधपराचीनाः पुदाकोरिव हंडुभाः ॥ ३५२ ॥
 असंयतेन चारित्र्यं संयतस्यापि लुप्यते ॥
 संगतेन समुद्रस्य सर्वस्वमिव वस्युना ॥ ३५३ ॥

लाघवं दृष्टसंगेन विष्टोऽपि प्रतिपद्यते ॥

किं न रत्नमयी माला स्वल्पाद्या श्रवसंगता ॥ ३४८ ॥

विजयोदया—मुल्लो वि होइ लहुओ सुजनोऽपि भवति लघु । दुज्जनसमेलणाए दोखेण दुर्जनगोष्ठीदोयेण ।
मालावि मोहगहया मालावि सुमनसा मोलेन लब्धी । होइ मवति । मदयससिद्धा मृतकस्य ससिद्धा ॥

निचगुणसंगान्धुणपरिणतिं प्रणिगदति—

मूलरा—रपट्ट ॥

पुरे गुणके सहवाससे मनुष्य बुरा अर्थात् दुष्ट होता है इसी अभिप्रायको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—
अर्थ—दुर्जनके दोषोंका संग होनेसे सज्जन भी नीच होता है, बहुत कीमतकी गुणमाला भी अंतके
अर्थात् शवके संसर्गसे कौड़ीके कीमतकी होती है.

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शक्यते यति पार्थस्यादिगोष्ठा इत्येतदुष्टान्तेनाचष्टे—

दुज्जनसंसर्गाए सकिञ्जदि संजवो वि दोसेण ॥

पाणगारे दुद्धं पियतओ वंभणो चेव ॥ ३४६ ॥

संयत्तोऽपि जमैदुष्टो दुष्टानामिह संगतः ॥

क्षीरपा ब्राह्मण दौण्ड शौण्डानामिव शंकयते ॥ ३४९ ॥

विजयोदया—दुज्जनससर्गाए इति स्पष्टार्था गाथा ॥

पार्थस्यश्याविसर्गादुष्टोऽपि चतिदुष्ट इव शंकयते इत्याचष्टे—

मूलरा—पाणगारे ज्यानापानगोष्ठया ? (मद्यपानगोष्ठया इति भवेत्) वभणो शिष्यमृदिनीम । चेव यथा ।
पार्थस्य वगैरह कुमुनिओके संसर्गसे अदुष्ट भी यदि लोकोके द्वारा दुष्ट माना जाता है इसको दृष्टान्तसे
आचार्य स्पष्ट करते हैं.

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दोषरहित भी मुनि लोकोके द्वारा दोषयुक्त माना जाता है, मदिरागृहे जाकर
कोई ब्राह्मण दूध पीने लो भी उसने मद्य पिना है वह मद्यपी है ऐसा लोक मानते हैं.

परदोसगह्णलिच्छो परिवादरदो जणो खु उत्सूणं ॥
दोसत्त्याणं परिहरह तेण जणजंणोगासं ॥ ३४७ ॥
परदोषपरीयादयाही लोको यतोऽस्त्विलः ॥

अपवादपदं दोषं मुचध्वं सर्वदा तदाः ॥ ३५० ॥

पिनयोदया—परदोसगह्णलिच्छो परदोषग्रहणेच्छावान् । परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः । जणो जनः ।
एत्सूणे तु नितरमेव । तेण दोसत्त्याणं परिहरह तेन दोषस्यानपरिहारं कुरुत । जणजंणोगासं जनजन्यनावकाशः ॥

दोषावधारस्थानपरिहारमाह—

मूढार!—लिच्छो इच्छावान् । परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः । हु यस्मात् उत्सूणं कवीच । जणजंणोगासं
लोकापयाधारपदम् ।

अर्थ—लोक परदोष ग्रहण करनेके लिये उत्सुक रहते हैं, परोक्ष दोष कहनेमें वे आनंदित होते हैं, इस
पास्ते हे स्तुतिगण ! जहाँ आने जानेसे दोषसंसर्ग होगा ऐसे स्थानोंका और बीजोंका आप त्याग करो, क्योंकि ऐसी
बीजें रखनेसे लाभमें अपक्षति होती है.

दुर्जनगोष्ठी अन्वयेमायहृद्वीकिष्कमिस्त्वत्करुण्यति—

अदित्सज्जो वि दुज्जणकएण दोसेण पाटणइ दोसं ॥

जह घूगकए दोसे हंसी य ह्वो अपावो वि ॥ ३४८ ॥

दुर्जनेन कृते दोषे दोषमाप्नोति संज्जनः ॥

कादयः कौशिकेनेव दोषिकेणापदूयणः ॥ ३५१ ॥

दुर्जनस्यापराधेन पीड्यते संज्जना जने ॥

अपराधपराधीनाः शृदाकोरिव दुर्दृभाः ॥ ३५२ ॥

असंयतेन चरित्रं संयतस्यापि लुप्यते ॥

संगतेन समुद्रस्य सर्वस्वमिव दस्युना ॥ ३५३ ॥

विजयोदया—अद्विसेजको वि हत्यमगा-अतीव संयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । वोसे अनर्थ । यथोक्त-
कृतवोपनिमित्तं अपायोऽपि दुंसो हतः ॥

दुर्जनगोष्ठ्या देहलोकिभानर्थवद्वलमाह—

मूढारा—अपयो वि अपायोऽपि निर्दोषोऽपि ॥

दुर्जनसहवाससे इहपरलोके अनर्थ होता है इसका ध्यानतयुरःसर स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—महान् तपस्वी भी दुर्जनके दोषोंसे अनर्थमें पड़ते हैं, अर्थात् दोष तो दुर्जन करता है परंतु फल
सज्जनको भोगना पड़ता है, जैसे उल्लूके दोषसे निष्पाप हंसपक्षी मारा गया.

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाचष्टे—

दुज्जनसंसर्गीए विभाविको सुयणमज्झयारमि ॥

ण रमवि रमवि य दुज्जनमज्झे वेरगमवहाय ॥ ३४९ ॥

दुष्टानां रमते मध्ये दुष्टसंगेन वासितः ॥

विदूरीकृतवैराग्यो न सिद्धानां कदाचन ॥ ३५० ॥

विजयोदया—दुज्जनसंसर्गीए विभाविको दुर्जनगोष्ठ्या भाषितः । सुज्जनमज्झयारमि सुजनमध्ये । ण रमदि
न रमसे । रमदि य दुज्जनमज्जे रमते दुर्जनमध्ये । वेरगमवहाय वैराग्यं परित्यज्य ॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाह—

मूढारा—वैरगमवहाय संवर्गं त्यक्त्वा ॥

दुर्जनसहवाससे और भी दोष होते हैं यह दिखाते हैं—

अर्थ—दुर्जनके संगतिसे दुष्ट बना हुआ मनुष्य सुजनमें रहना अर्थात् उनकी संगति करना पसंत नहीं
करता है, परंतु वह पुरुष वैराग्यको छोड़कर दुर्जनके समूह में बड़े खानंदसे रहता है.

सुजनसमाश्रयणे युगव्यापनायोत्तरसूत्रमणि—

जहदि य गिययं दोसं पि दुब्जणो सुयणवंइयरुणेण ॥
जह मेरुमल्लियंतो काओ गिययच्छविं जहदि ॥ ३५० ॥
दुट्ठोऽपि मुंचते दोपं स्वकीयं शिष्टसंगतः ॥

किं मेरुमाश्रितः काको न घत्ते कनकच्छविम् ॥ ३५६ ॥

विजयोदया—जहदि य जहति निजमपि दोपं दुर्जनं, सुजनमिच्छगुणेन । यथा मेरुसमाश्रयणे काको जहति सत्सत्तामपि छायामशोषनां लक्षणं । संतोषि दोषा नश्यति सुजनश्रयेण तत्तत्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥

सुजनसमाश्रयणे गायसत्तकेन गुणान्वाचक्ष्णः सुजना समाश्रयणीया इत्युपदिशति—

मूढारा—परिकरं सांगत्वं । अलियंतो आभयन् ॥

सुजनोका सहवास करनेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है इस विषयका वर्णन आचार्य अनेक गायकोंसे करते हैं, अर्थ—दुर्जन मनुष्य सुजनोका सहवास फलके उनके गुणोंसे युक्त होता है, और अपने पूर्व दोषोंको यह छोड़ता है, इसका उदाहरण यह है कि, मेरु पर्वतका आश्रय करनेवाला कौवा अपनी स्वाभाविक मलिन कांतिका त्यागकर मेरुपर्वतकी सुवर्णकांतिका आश्रय करता है, अभिप्राय यह है कि सुजनसंगसे विद्यमान दोष भी नष्ट होते हैं, इसलिये उनका ही आश्रय करना योग्य है,

सुजनसमाश्रयणे वन्द्युपपत्तं, पूजात्मकं कथयति गायो—

कुसुममंगंधमवि जहा देवयसेसत्ति करिदे सीसे ॥

तह सुयणमज्झवासी बि दुब्जणो पूइओ होइ ॥ ३५१ ॥

पूलां सज्जनसंगेन दुर्जनोऽपि ग्रपयते ॥

देवशोपा विगंधापि क्रियते किं न मस्तके ॥ ३५६ ॥

विजयोदया—कुसुममित्यादिकं । यथा सौगंध्यरहितमपि कुसुमं देवतासेवेति क्रियेत तिरस्ति तथा सौंदर्येण मत्पयासी दुर्जनोऽपि वृद्धितो भवति ॥

साधुसंगेनासाधुरपि पूजा याज्येति इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

सुजनके आश्रयसे अमृदयफल, मूलालाम होता है इसका विवेचन—

अर्थ—निर्गन्ध भी पुष्प यह देवताकी श्रेया है—प्रसाद है ऐसा समझकर लोक उसको अपने मस्तकपर धारण करते हैं. वैसे सज्जनोंमें रहनेवाला दुर्जन भी लोकसे पूजा जाता है.

इत्यस्यमे साकायनिमित्तात्मनिरोधक्ये प्रवृत्तिगुणं फलयति—

संविग्गाणं मञ्जुं अपि यधस्मो वि कायरो वि परो ॥

उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥ ३५२ ॥

कात्तरोऽग्निप्रधर्माऽपि व्यक्तं संविग्रमद्यगः ॥

भीद्वपाभाषनामामनैदचारिञ्चे यतने यतिः ॥ ३५७ ॥

विजयोदया—संविग्गाणं मञ्जुं इत्यनया । संसारसीरूपां मध्ये पक्षपि यद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कात्तर-
आयुक्ते तथापि उलुके पापक्रियानिवृत्तौ भाषनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥

संपत्ताना मध्ये निपसन्नप्रियधर्मापि संयमे यतते इत्युपदिशति—

मूलारा—धरणकरेण पापक्रियानिवृत्तौ, भाषण वात्तना, माण अभिमानः ॥

यत्न और शरीरकी प्रशुचिते उत्पन्न होनेवाले आत्मनका निरोध होना यह द्रव्यसंयम है. सज्जनोंके आश्र-
यसे इस द्रव्यसंयममें प्रशुति होती है यह अभिप्राय आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कोई मुनि संसारभीरु यतिजैके साथ रहकर श्री धर्मपर प्रेम नहीं करते हैं. और दुःखसे, परीपद और
उपसर्गसे भय युक्त होते हैं. तो भी भाषना, भय मान और लज्जाके बन्ध होकर पापक्रियाओंका वे त्याग करते हैं
तात्पर्य यह है कि, सज्जनोंका सहवास आवश्यक फलप्रद होता है.

संसारसीरोरपि यते सुजनसमाश्रयेन गुणमभिदधाति—

संविग्गोत्रि य संविग्गदरो संविगमज्झयारम्मि ॥

होइ जह गंधजुत्ती पयलिसुरभिदब्बसेजोए ॥ ३५३ ॥

संविद्यः परमां कोटिं साधुः संविद्यमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायति सुरभिद्रव्यकल्पिताम् ॥ ३५८ ॥

त्रिज्योत्पदा—संविद्योऽपि इत्यनया । अगपि संसारभीरुर्जनः संविद्यमप्यनिवाली संविद्यतरो भवति । यथा गंधयुक्तिः छत्रको गंधः प्रकृतिस्तुरभिद्रव्यसंज्ञं सुरभितरो भवति ॥

सत्संसादयुज्योत्कंप्रतिभाह—

मूला—गंधयुक्तिः छत्रको गंधः सुरभितरो भवतीति शेषः ॥ एवञ्चिस्तुरभि स्वभावसुगंधि ॥

उक्तं च—संविद्यतः परमां कोटिं साधुः संविन्नमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायति सुरभिद्रव्यकल्पिता ॥

संसारभीरु यतीको भी सुजनके संघेते शुभप्राप्ति होती है यह कथन—

अर्थ—जो मुनि प्रथमे ही संसारभीरु है वह संसारभीरु मुनिओंके सहवासमें रहनेसे पूर्वसे भी अधिक संसारभीरु होता है, स्वभावतः सुगंधयुक्त ऐसे कस्तुरी, चंदन वगैरह पदार्थोंके सहवाससे कृत्रिम गंध अधिक सुगंधमय बनता है ।

वक्ष्य इत्येतावता चारित्रशुद्धा न भवद्भिः समाधयणीयाः । एक इति च । न ससुखाः परिहार्ये इत्येतदवष्टे—

पास्तथसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं सु एको वि ॥

जं संसिदस्स सीलं वृत्तगणचरणाणि वद्धंति ॥ ३५९ ॥

एकोऽपि संयतो योगी वरं पार्श्वस्थलक्षतः ॥

संगमेन तदीयेन चतुरंगं विवर्धते ॥ ३५९ ॥

त्रिज्योत्पदा—पास्तथसदसहस्सादो वि पार्श्वस्थलक्षं चारित्रशुद्धोपलक्षणाद्यै । चारित्रशुद्धाच्छतसहस्रादपि एकोऽपि सुसीलो वरं । संगममाश्रितस्य सीलं, वर्तनं, प्राणं, चारित्रं च वद्धेते, स भवद्भिराधयणीय इति भाषार्थः ।

वक्ष्य इति चारित्रशुद्धा न भवद्भिराधयणीयाः एक इति सुसीलो न त्याज्य इत्युपनिशति—

मूलाप—जं संसिदस्स समाश्रितस्य ॥

हे मुनिहृद ! चारित्रहीन मुनि बहुत हैं ऐसा समझकर उनका आप आश्रय मत करो और सद्वृत्तुणी मुनि एकही है ऐसा समझकर उसको मत छोड़ो ऐसे अभिप्रायका कथन—

अर्थ—वहाँ पार्थस्थ शब्दसे चारित्रहीन मुनिओंका ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् चारित्रहीन मुनि लक्षावधि हो तो भी एक मुनील मुनि उनसे श्रेष्ठ समझना चाहिये कारण सुशील मुनींकारके आश्रयसे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य बढ़ते हैं, ऐसे ही मुनिका आप आश्रय करो ऐसा गार्थार्थ है

संजवृत्तानावमाणं पि वरं दुःखजकदादु पूजादौ ॥

शीलविणासं दुःखजसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥ ३५५ ॥

वरं संयतत प्राप्ता निंदा संयमसाधनी ॥

न त्वसंपततः पूजा शीलसंयमनाशिनी ॥ ३६० ॥

विजयोदया—सयता परिअपरिण्त माअसुवर्णित सत पार्थस्थार्थनिवाधयामि इति न चेत्त कार्यमिच्छाचष्टे—सजवृत्तानावमाणं पि ॥ सयतापमानमपि वर । दुःखजकदादु पूजादौ दुर्जनकृताया पूजाया । कथं ? दुःखजसंसग्गी शीलविणासं कुणदि दुर्जनससर्गं शीलविनाशं करोति । न तु इदरं न तु इतरं संयतजनानवमान तु नैव शीलविनाशं करोति ॥

संयता ॥ मंदावरणं अवमानयति तत पार्थस्थार्थनिवाधयामीति न चेत्त । कार्यमिच्छाचष्टे—

मूजारा—ससम् ॥

चारित्रहीन मेरेको संयमी जन अपमानित करते हैं इस लिये पार्थस्थार्थ मुनिओंका आश्रय नै करुंगा ऐसी बुद्धि है मुनिगण ! आपको करना योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय ग्रंथकार आगेकी गार्थायें कहते हैं,

अर्थ—संयमी तपस्विभोजने क्रिया हुआ अपमान मी दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे बढकर अच्छा है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि दुर्जनोका सद्वृत्ता शीलका नाश करता है परतु संयमी मुनिओंका सद्वृत्त शीलका नाश नहीं करता है अतः सज्जनसद्वृत्ताही श्रेयस्कर है

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावन्ति ॥

तस्या पस्त्यगुणमेव आसयं अङ्घ्रिएज्जाह ॥ ३५६ ॥

गुणदोषौ प्रजायेते संसर्गवशातो यतः ॥

संसर्गः पावनः कार्यो विमुच्यपापवनं ततः ॥ ३५७ ॥

विजयोक्ता—आसयवसेण आसयवसेण । एकमुक्त कमेण । पुरिसा दोसं गुणं व पावन्ति । गुणपा दोषं गुणं वा प्राप्नुयन्ति । तन्ना पस्त्यगुणमेव आसयं अङ्घ्रिएज्जाह । तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आसयं आच्छेत् ॥

प्रकृतमुपसंहारि—

नूतारा—आसयवसेण—आश्रयवसेण । अङ्घ्रिएज्जाह आश्रयत्त यूयम् ॥

प्रस्तुत प्रकरणका उपसंहार—

अथ—मनुष्यको आश्रयके बन्ध दोष और गुणोंकी मासि होती है, इस स्थिती हे पुने ! तुम उचम गुणपरिपूर्ण ऐसे ही आश्रयकी अधीद् गुणयुक्त मुनिओंकी संगति करो.

पथं हिदयाणिहं पि भणमाणस्स सगणवासिस्स ॥

कडुगं वं ओसहं तं महुरविवायं हवद् तस्स ॥ ३५७ ॥

वाच्यो गणस्थितः पथ्यमनन्भीष्टमपि स्फुटम् ॥

तत्तस्य कटुकं पाके भैषज्यमिध सौख्यदम् ॥ ३५८ ॥

विजयोक्ता—पथं हिदयाणिहं पि भणमाणस्स सगणवासिस्स पथं हिदं हृदयस्य अनिष्टमपि वक्त आत्मीयगणे परततः । कडुगं वं ओसहं तं महुरविवायं हवद् तस्स कटूपाधमिवापि तन्मधुरविपाकं भवति । तस्य परस्वयसिद्धेन कथितेन किमस्माकं प्रयोजनं । किम् चेत्ति स्वयमपि प्रति ज्ञेयेशितव्यं । परोपकारः कार्यं पवेति कथयति । तथाहि—तीर्थाटतः विजयजनसंयोगतायै केव तीर्थविहारं कुर्वन्ति । महत्ता नामैवं यत्-परोपकारवत्परिकरत्वा ॥ तथा चोक्तं—

मुद्रा सति सहस्रस्य स्वमरणव्यापामात्रोचता ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं चाडवो ।
जीमूतस्तु निदापसंभृतजगत्संतापविच्छिद्ये ॥

स्वपूष्यस्यानिच्छिद्यमपि पथ्यं कथ्यमित्यनुशास्त्रिः—

मूढासः—परमिति स्वादि—परधित्वेनोक्तेन किमस्याकर्मिति स्वाश्रमवासी नोपेक्ष्यः यतः—

छुद्राः सन्ति सहस्रस्यः स्वमरणव्यापामात्रोचताः ॥
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं चाडवो ॥
जीमूतस्तु निदापसंभृतजगत्संतापविच्छिद्ये ॥

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम अपने गणमें रहने वाले मुनिके साथ हितकर वचन बोली यद्यपि वह हृदयको अश्रित हो तो भी हरकत नहीं हैं, जैसे फटुक भी औषध परिणाममें मधुर, कल्याणकारक होता है वैसे तुम्हारा भाषण उस मुनिका कल्याण करना, दूसरेको अनिष्ट बोलनेसे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? क्या दूसरा मनुष्य अपना हित स्वयं नहीं जानता है ? ऐसा विचार करके दूसरों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, परोपकार करनेका कार्य करना ही चाहिये, देखो तीर्थंकर परमदेव भव्य जनोंको उपदेव देनेके लिये ही तीर्थविहार—धर्मविहार करते हैं, परोपकारके कार्यमें कमर कमाना यही बहप्यन है, किसी कविने ऐसा कहा है—

“ जगतमें अपना कार्य करने में ही तत्पर रहनेवाले मनुष्य हजारों की तादात में हैं, परंतु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा सत्पुरुषोंमें अग्रणी पुरुष एकाद ही है, बटवानल अपना दुर्भर पेट मरनेकेलिये समुद्रका हेमेश पान करता है क्योंकि वह छुद्र मनुष्य के समान स्वार्थी है, परंतु मेघ ग्रीष्मकालकी उष्णतासे पीड़ित समस्त प्राणियोंका संताप भिदनेके लिये समुद्रका पान करता है, मेघ परोपकारी है और बटवानल स्वार्थी है, ”

एतरेणापि भक्षणयोरनियमपि तदग्राह्यं इति कथयति—

पत्यं हिदयाणिष्ठं पि भण्णमाणं थरेण घेचब्बं ॥

पेष्ठेठ्ठण वि छुट्ठं चालस्स घदं व तं खु हिदं ॥ ३५८ ॥

स्यान्तानिष्टमपि ग्राह्यं पत्यं बुद्धिमत्ता वचः

वृत्तनः किं न चालस्य दीयमानं घृतं हितम् ॥ ३६३ ॥

इति दुर्जनसंगवर्जनम् ।

विजयोद्या—इदयस्यानिष्टमपि कथ्यं थरेण बुद्धिमत्ता ग्राह्यं इति केतो निघाय । पेष्ठेठ्ठण वि छुट्ठं अथष्टभ्यापि प्रवेक्षितं ॥

इदयानिष्टमपि सिद्धवाक्यं हितबुद्ध्या ग्राह्यमित्युपदिशति—

मूढरा—पेष्ठेठ्ठण वि अथष्टभ्यापि दत्तादपि । मूढं सुते प्रवेक्षितं । दं वत् । नु खुट्ठं ॥

अर्थ—विष्मादि मुनिबोने कर्णको अग्रिय भी गुरुओंका भाषण ग्रहण करना चाहिये, जैसे माता बालकको पकड़कर उमकें मुलमें घृत डालती है, उसमें उसका हित होता है वैसे कर्णको अग्रिय भी गुरुका भाषण हि घृतके समान हितकारक होता है ऐसा समझ कर स्वीकारना चाहिये.

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ॥

अप्पणं थोवंतो तणलहुहो होवि हु जणम्मि ॥ ३५९ ॥

मा छेदयन्तु स्वयशो मा कायुः स्वं प्रशंसनम् ॥

लघवः स्वं प्रशंसतो जायन्ते हि तृणादपि ॥ ३६४ ॥

विलयोद्या—अपपपसंसं परिहरह आत्मप्रशंसा त्यजत सदा । मा होह मा अपस । जसविणासयरा यशो-
विनाशकाः । सद्धिदुर्गः प्रप्राप्तमपि यशो मधतो नश्यति आत्मप्रशंसया । अप्पणं थोवंतो आत्मानं स्तुवन् । तणलहुओ
होदि इ जणम्मि वृणयतुधुर्भवति सुजनमध्ये ॥

आत्मप्रशंसा यशोविनाशिनीति वां लज्जेत्यनुशास्ति—

मूढारा—थोवंतो प्रशंसयन् ॥

अर्थ-हे गुणिगण ! तुम अपनी प्रशंसा करना हमेशाके लिये छोड़ दो. अपनी प्रशंसा आपही करनेसे सगुरुओंके द्वारा वर्णन किया गया तुम्हारा क्या नष्ट होगा. जो मनुष्य अपनी प्रशंसा करता है वह जगतमें तृणके समान हलका होता है.

संतो वि गुणा कथं तयस्स णस्संति कंजिए व सुता ॥

सो केव हवदि दोसो जं सो थोएवि अप्पाणं ॥ ३६० ॥

स्वस्सवेन गुणा योति कोंजिकेनेव सीधुनि ॥

स दोपः परमस्सेपां कोपः संयमिनामिव ॥ ३६१ ॥

विजयोव्या - संतो वि विद्यमाना अपि। कथं तयस्स मयैते गुणा इति कथयतः। गुणा णस्संति गुणा नश्यंति। कंजिए व सुता लौधारेण सुरेव। सो केव हवदि दोसो स एव भवति दोषः। जं सो थोएदि अप्पाणं यदात्मानं स्तौति ॥

स्वयं स्वगुणकीर्तने दोषमाह -

मूबारा - विक्कइतयस्स एते मे गुणा इति कथयत। कंजिए कोंजिकेन। व यथा। कंजिएनेति पाठे यथेत्यप्याहारः। थोएवि स्तौति।

अर्थ-जैसे क्रांजी पीनेसे मदिराजन्य उन्माद नष्ट होता है वैसे अपनी प्रशंसा अपने मुहसे करनेवाले मनुष्यके गुण नष्ट होते हैं. इस वास्ते अपनी स्तुति करना यह दोष है.

स्वगुणस्तुतयनाकरणे यदि ते नश्यंति ताँहि स्तोतव्याः स्युर्न तथा नश्यंति इत्याक्षेपे--

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरितस्स ण वि य णस्संति ॥

अकहिंतयस्स वि जह गहवड्ढो जगविसुदो तेजो ॥ ३६२ ॥

अनुक्तोऽपि गुणो लोके विद्यमानः प्रकाशते ॥

विजयोदया—संतो विप्रमान्वाः । अकूदितयस्त अमायमाणस्य । पुरितस्तस्य पुरुषस्य । गुणा न वि य जस्तंति
निय नश्यंति । यदि न स्वयं स्तौति इगुणावय प्रख्यातिमुपयातोत्येताव मेति वदति । अकूदितस वि अस्तुवतोऽपि
गदयणो प्रदणेतः आदित्यस्य । ज्यो अगदिरसुतो तेजो न जगति विद्युते तेजाः ॥

रगुणास्त्रायने यदि वे नश्यंति ततः स्तोतव्याः स्युर्न च तथा नश्यंति इत्याह—

मूढारा—गदयणो आदित्यस्य ॥

अपने गुणांकी स्तुति न करनेसे यदि उनका विनाश होगा तो उनके अविनाशार्थ उनका वर्णन करना
योग्य होगा परंतु गुणवर्णन न करनेपर भी ये नष्ट नहीं होते हैं ऐसा कथन—

अर्थ—वर्णन न करने पर भी भक्त्युक्त गुणोंका नाश नहीं होता है यह बात अनुभवर सिद्ध है. स्वगुणोंकी
स्तुति न करने पर भी वे प्रकटित होते हैं. क्या स्वर्गकी प्रशंसा न करने पर भी जगत्में स्वर्गका तेज मसिद्ध
नहीं होता है ?

आत्मन्यस्तान् गुणानां उत्पादकं स्वयनमिति वचने न युज्यत इत्याह—

ण य जायंति असंता गुणा विकथंयस्त पुरितस्तस ॥

धंति तु महिलायंती व पंडवो पंडवो चेव ॥ ३६२ ॥

कथ्यमाना गुणा धाचा नासंतः सन्ति देहिनः ।

पंडका न हि जायन्ते योपा वाक्यशतैरपि ॥ ३६७ ॥

विजयोदया—ण य आर्यति धसंता गुणा नेषोत्पद्यन्ते अस्तंते गुणाः । विकथंयस्तस स्तुतवः । धेति निवृत्तं
महिलायंतो य पामलोचनेय भायरपयि । पंडवो पंडवो चेव पंडः पंडः पय मयति न युवतिः ॥

आत्मन्यस्तान् गुणानां उत्पादकं स्वयनमिति युज्यत इत्याह—

मूढारा—महिलायंतो मदिकेवाचरन् । पंडवो पंडः ॥

गुणा नहीं होनेपर भी स्तुति करनेसे वे उत्पन्न होते हैं यह कहना भी अयोग्य है—

अर्थ—जो पुरुष अपनी स्तुति करता है उसमें गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. जेम् कोई पंड सकि

समान हावभाव करता हुआ भी स्त्री नहीं होता है. वह पंड ही रहेगा. वैसे गुण अपनेमें नहीं होते तो क्या स्तुति करनेसे उनकी उरपचि हो जावेगी ?

संतं सगुणं किञ्चित्जंतं सुजगो जगन्मि सोदृणं ॥

लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा ॥ ३६१ ॥

‘विद्यमानं गुणं स्वस्य कीर्त्यमानं निशाम्य यः ॥

महात्मा लज्जते बिसे भाषते स कथं स्वयम् ॥ ३६८ ॥

विजयोदया—संतं सगुणं किञ्चित्जंतं विद्यमानमपि स्वगुणं कीर्त्यमानं । सुजगो जगन्मि सोदृणं साधुजनस्य मध्ये भुत्वा । लज्जाह मीढासुरेति । किह पुण कथं पुनः । सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा स्वयमेवामनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥

सुजनस्यात्मगुणस्वनाभावं भाषयति—

मूढारा—स्वयम् ।

अर्थ—सत्पुरुषोंके सद्गुदायमें कोई पुरुष किसी सत्पुरुषके विद्यमान भी गुणोंका वर्णन करने लगा तो वह सत्पुरुष लज्जते अथोमुख करता है. किा वह क्या अपने गुणोंका स्वयमेव वर्णन करेगा ?

सगुणानीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकथ्यतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजगमज्झमि ॥

सो चेव होदि हु गुणो जे अप्पाणं ण थोएइ ॥ ३६४ ॥

निर्गुणोऽपि सतां मध्ये सगुणोऽस्ति स्वमस्तुवन् ॥

न स्थायते यदात्मानं गुणस्तस्य स एव हि ॥ ३६९ ॥

विजयोदया—अविकथ्यतो अगुणो वि होइ अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । सगुणो व सुजगमज्झमि सुजनमध्ये । परस्परव्यावृत्तिर्निर्गुणः । अगुणस्तस्य गुणः इति परस्परमाभावाद्यमाह—सो चेव होदि गुणो ॥ एव गुणो भवति । जे अप्पाणं ण थोएइ यदात्मानं न स्तौति । समीचीनवृत्त्येनादिगुणामाभावाभिर्गुणः, आत्मप्रदोसाऽकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

यदि संति गुणास्तस्य विकल्पे संति ते स्युः ।
 ■ हि कस्तुतिगणः शरणेन विभाव्यते ■

स्वगुणास्तयने गुणमहि—
 मूढारा—अविकल्पतो अनुवृत्तं । सगुणेन गुणवानिव । न बोलेहि न स्वीति । समीचीनज्ञानादिगुणा-
 माभाभिगुणः स्वस्ववनाकरणगुणेन गुणवानिति यावार्थः ॥

अपने गुणोंका वर्णन न करनेमें ही फायदा है इसका विवेचन आचार्य करते हैं—
 अर्थ—जितमें गुण नहीं हैं ऐसा पुरुष सज्जनोंमें मौन धारण कर बैठता है सब यह गुणी पुरुषके समान
 दीखता है, गुणरहित मनुष्य गुणवानके समान मानता यह शरसर विरुद्ध है इस शंकाका उचर ऐसा है—अपनी
 प्रशंसा नहीं करना यही सद्गुण है इससे वह पुरुष गुणी कहा जाता है, यद्यपि उसमें सम्पन्नज्ञान, दर्शनादिगुणोंका
 अभाव होनेसे वह निर्गुण है तो भी स्वप्रशंसा न करना यह गुण उसमें होनेसे गुणवानके समान यह पुरुष माना
 जाता है, यदि मनुष्यमें गुण ही तो वे स्वयं प्रकाशित होते हैं, उनके वर्णन की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्या
 फस्तूरीका मुगंध सौगंध खानेसे व्यक्त होता है ? नहीं वह स्वयं प्रकट होता है, वैसे गुण भी स्वयं प्रकट होते हैं.

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं ह्वे तेसि ॥

हांदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुग्भासणं तेसि ॥ ३९५ ॥

गुणानां नाशनं वाचा क्रियमाणं निवेदनम् ॥

प्रकाशनं पुनस्तेषां चेष्टयास्ति निवेदनम् ॥ ३९० ॥

विजयोक्ता—वायाए जं कहणं वाचा गुणानां वक्तव्यं । तं णासणं ह्वे तेसि । तथाशतं मधेचेपां गुणानां ।
 चरिदेहि गुणाण कहनं चरितरेव गुणानां कथनं । तेसिमुग्भासणं दोष गुणानां प्रकटनं भवति । एतदुक्तं भवति— गुणा-
 न्यकटपितुफामस्य यदावा कथनं गुणव्यात्मनः प्रवृत्तिरेव मुग्धप्रकाशनं इति ।

गुणानां यदावा कथनं तेषां नाशनं यत्तु गुणव्यात्मनः प्रवृत्तिस्तत्प्रकाशनं इत्याह—

मूढारा—पासर्षं इहलोकं सौख्यसौभाग्यादिदुलभंशनेन निष्कलीकरणं । परलोके च नीचेर्गोत्रनिमित्तत्वे-
नानिष्टफलसंपादकत्वापादनम् । उल्कावर्णं प्रकटनम् ।

अर्थ—वचनोंके द्वारा स्वगुणोंका वर्णन करता यह मानौ उनका नाश ही करना है-अपने शुभ आचरणसे ही गुणोंका कथन हो जाता है-शुभ आचरणसे ही गुण प्रगट होते हैं-अपने गुणोंको प्रगट करनेकी जिसकी इच्छा है वह सदाचारमें संपूर्ण प्रवृत्ति करे, ऐसी प्रवृत्ति ही उसके गुणोंका प्रकाशन करेगी-

वायाए अकंहंता सुजणो चरिवेहिं कहियगा होति ॥
विकर्हितागा य सगुणे पुरिसा लोगमि उवरीव ॥ ३६६ ॥

अजल्पन्तो गुणान्वाण्या जल्पन्तद्येष्टया पुनः ॥

भवन्ति पुरुषाः पुंसां शुणिनासुपरि स्फुटम् ॥ ३७१ ॥

विजयोक्ता—वायाए अकंहिता वाचया अकथयंतः । सुजणे साधुजनमध्ये । चरिवेहिं चि कर्हितागा य चरिते-प्रतिपादयन्तः । सगुणे आत्मीयान्गुणाद् । पुरिसार्ण पुरिसा लोगमि उवरीव इति । पुरुषाणासुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ॥

परिहैः स्वगुणप्रकाशनस्य भादात्म्यमाह—

मूढारा—सुकणे साधुजनमध्ये । उवरीव उपरीव ।

अर्थ—जो सुजनोमें वचनोंके द्वारा अपने गुणोंका वर्णन न कर केवल अपने चरित्रोंसे कहे हैं वे पुरुष जगतमें सर्व पुरुषोंमें श्रेष्ठपना पाते हैं-

सगुणमि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकसिंथतो ॥
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होति अगुणेषु ॥ ३६७ ॥

निर्गुणो गुणिनां मध्ये भुवाणः स्वगुणं नरः ॥

सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव भुवन् ॥ ३७२ ॥

विजयोदया—सगुणमि जगे गुणवति जगे । सगुणो वि नरो गुणवानपि नरः । छद्मगो होदि लघुर्भवति । कः ? सगुण नरो वि कथ्यते स्वगुण नरो याचा निरूपयन् । किमिव सगुणो ॥ गुणवानपि । याचा अकथ्येतो यचनेन अप्रकटयन् । अगुणेसु निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणानां मध्ये स्वगुणं अत्रुवन्निव गुणिना मध्ये तं भुवन् गुणवानपि लघुर्भवति इत्युपदिशति—

भूला—बह्विको याचा निरूपयन् । वा यथा । उक्तं च—

निर्गुणो गुणिना मध्ये भुवाणः स्वगुणं नरः ॥

सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव भुवन् ॥

अर्थ—गुणानां मध्ये स्वगुणं भुवन् भी मनुष्य यदि अपने गुणोंका वर्णन करेगा तो वह लघु होता है, और वचनों द्वारा वह अगुणवान् पुरुषोंमें स्वगुणवर्णन न करेगा तो वह गुणवान् है ऐसा समझना चाहिये

चरिण्हि कथ्यमाणो सगुणं सगुणेषु सोभदे सगुणो ॥

वायाए वि कर्हितो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥ ३६८ ॥

सगुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरिण्हि ॥

भुवाणो वचनैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥ ३७३ ॥

विजयोदया—चरिण्हि कथ्यमाणो चरितरेव प्रकटयन् । किं सगुणं स्वगुणं । सगुणो सोभदे गुणवान् जनः । क सगुणेषु गुणयत्सु । किमिव यायाए वित्कथ्यतो वचसा भुवन् । अगुणोच्च निर्गुण इव । अगुणम्मि निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणो निर्गुणेषु वचनैरिव सगुण सगुणेषु स्वस्य गुणाद्यारिदैः प्रकटयन् शोभते—

भूला—अगुणो व निर्गुणो यथा । उक्तं च—

सगुणो गुणिना मध्ये शोभते चरिण्हि ॥

भुवाणो वचनैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥

अर्थ—जो सद्गुणी मनुष्य अपने शुभाचरणों द्वारा अपने सद्गुणोंको सद्गुणी मनुष्योंमें वर्णन करता है वह शोभाको पाता है. परतु अगुण मनुष्य निर्गुणी मनुष्योंमें यदि अपने गुण वचनके द्वारा कहेगा तो वह शोभा नहीं पाता है.

सगणे य परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्वाह ॥
 अथासादणविरवा होह सदा बलभीरु य ॥ ३६९ ॥
 पुण्यभासादनां कुरुवं मा जातु परमेष्ठिनाम् ॥
 बुरंता संसृतिजंतोर्जायते कुर्वतो हि तां ॥ ३७४ ॥
 स्वजतासंयमं श्रेया मुक्तिस्त्वमीं जिघृक्षयः ॥
 सा दूरीक्रियते तेन व्याधिमेव सुखासिका ॥ ३७५ ॥
 मा ग्रहीषुः परीबावं स्वसंघपरसंघयोः ॥
 संसारो वर्धनेऽनेन सलिलेनेय पादपः ॥ ३७६ ॥

विशयोक्त्या—सगणे य परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्वाह । अथमीये गणे परगणे वा परापवादं मा कुर्याः ।
 अथासादणविरवा य होह अत्यासादततो विरता भवत । सदा बलभीरु य पणमीरवस्व भवत ॥

प्रकारातरेण शिक्षा प्रयच्छति—

मूढारा—परपरिवादं परापवादं ।

अर्थ—हे सुनिगण ! आपको अपने गणमें अथवा परगणमें अन्य मुनिशौकी निंदा करना कदापि योग्य नहीं है. परकी विराधनासे आप विरक्त होकर हमेशा पापोंसे विरक्त होना चाहिये.

परनिन्दया दोषभावे स्पष्टायो गाथा—

आयासवेरभयदुःखस्वसोयलहुगच्छणाणि य करेइ ॥
 परणिंदा वि हु पाना दोहगमकरी सुयणवेसा ॥ ३७० ॥

शोकद्वेषामुल्लापासवैरदौर्भाग्यभीतयः ॥
विशिष्टानिष्टया पुसां जन्यन्ते परनिंदया ॥ ३७७ ॥

परनिंदाया दोगनाह—

मूलाय—मुजणवेस्सा सुब्बानाा हेव्वा ।

अर्थ—परनिंदासे आघात, वैर, भीति, दुःख, शोक वगैरे दोष उत्पन्न होते हैं, यह परनिंदा पाप और द्रोहको उत्पन्न करती है, परनिंदा करनेवाला मनुष्य मुजबको अभिय होता है.

परनिंदा किसर्थे कियते गुणिवे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, त्रचितकरोति—

किञ्चा परस्स णिदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ॥

सो इच्छदि आरोगं परमि कडुओसहे पोए ॥ ३७१ ॥

उत्थापयिपुरात्मानं परनिंदां विधाय यः ॥

अपरेणीयये पीते स निरोगत्वमिच्छति ॥ ३७८ ॥

विजयोक्त्वा—किञ्चा परस्स णिदं परनिंदा कृत्या । जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज । य आत्मानं गुणितायां स्थापयितुमिच्छेव । सो इच्छति स यच्छति । किं आरोग निरोगतां । परमि कडुओसहे पीते कडुकोषधपायिन्वम्यसिन् ॥

गुणवत्त्वे द्वापविदुमात्मानं परनिंदा कुर्वतः प्रत्यवायं दर्शयति ।

मूलाय—एएए ॥

स्वतःका गुणिपत्ता सिद्ध करनेके लिये परनिंदा करते हैं. ऐसा कहना योग्य नहीं है--यह बात आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जो परनिंदा करके अपनेको गुणी सिद्ध करना चाहता है. वह मनुष्य दुस्रोंको कडवी औषधी पिलाकर स्वयं निरोगी होना चाहता है ऐसा मानना चाहिये जो औषधी खा लेगा वही निरोग होगा उसी तरह जो गुण प्राप्त कर लेगा वही गुणी होगा. परनिंदासे गुणी बननेका प्रयत्न करना यह उल्टे रास्तेपर चलकर स्वस्थानको पोहोचनेका प्रयत्न करनेके समान है

सत्पुरुषकर्म व्याचष्टे—

ददत्तुण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ॥

रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंणभएण ॥ ३७२ ॥

योऽन्यस्य दोषमाकर्ण्य चित्ते जिन्हति सज्जनः ॥

परापकादतो भीतः स्वदोषमिव रक्षति ॥ ३७१ ॥

विजयोदया—बहुण अण्णदोसं अन्यस्य दोषं दण्डु । सप्पुरितो लज्जिमो सयं होवि सत्पुरुषः स्वयं लज्जा-
मुपैति । रक्खइ सयं दोसं य सप्तदोषमिव च रक्षति । जणजंणभयेण जगनिवाभयेन ॥

सत्पुरुषकर्म कथयति ।

मूळारा—रक्खवि छावयति । तयं तं अन्यदोषम् ।

सत्पुरुषोका नाम कहते हैं—

अर्थ—सत्पुरुष दूसरोंका दोष देखकर उसको श्रगट नहीं करते हैं प्रत्युत लोकनिंदकों मयसे उनके दोषोंको अपने दोषोंके समान छिपाते हैं, दूसरोंका दोष देखकर सत्पुरुष लज्जित होते हैं.

अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ॥

उदए व तेछिंविट्ठ किहू सो जंमिहिदि परदोसं ॥ ३७३ ॥

स्वत्पौऽप्यन्यगुणो धन्यं तैलविट्ठुरिवोदके ॥

विवर्द्धते तमासाव परदोषं न चक्ति सः ॥ ३८० ॥

विजयोदया—अप्पो वि परस्स गुणो परस्स गुण स्वत्पौऽपि । सप्पुरितं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य ! बहुदरो होइ
अतिमातान् भवति । उदए तेछिंविट्ठ उदके तैलविट्ठुरिव । किहू सो जंमिहिदि परदोषं कथमस्ती इत्येभूत जस्यपि
परस्स दोष ॥

मूळारा—सप्पुरितं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य ।

अर्थ—अन्य मनुष्यता खल्य भी गुण सत्पुरुष ग्रहण कर उसको बड़ा बनाते हैं, अर्थात् अन्य जनोका अल्प गुण भी दीख पड़ा तो वे बहुत सुश्रु होकर उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं, जैसे पानीमें तेलका एक बिंदु यदि पड़ गया तो उमके आश्रयसे वह विस्तीर्ण होता है, वैसे सत्पुरुषसे प्रशंसित हुआ अन्य मनुष्यका गुण भी जगतमें फैलता है, अल्पगुणकी भी प्रशंसा करनेवाले सत्पुरुष क्या परदोषोंका कथन करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे.

एसो सत्त्वसमासो तद् जतद् जहा हवेज्ज सुजणम्मि ॥
तुक्खं गुणेहि जणिदा सत्त्वत्य वि विस्सुदा किच्ची ॥ ३७४ ॥

यासस्तथोपपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ॥
यथा गुणकृता कीर्तिलोके भ्राभ्यति निर्मला ॥ ३८१ ॥

विजयोक्ता—एष सत्त्वोपपेदास्य संक्षेपः । तद् जतद् तथा यत्पुं । जह हवेज्ज सुजणम्मि यथा भवेत्सुजने । तुक्खं गुणेहि जणिदा सत्त्वत्य वि विस्सुदा किच्ची । युष्माकं गुणैर्जनितो सर्वेनापि विधुता कीर्तिः ॥
सर्वोपपेदासंक्षेपमाह

मूलार—सत्त्वसमासो सर्वस्य उपपेदास्य संक्षेपः । चेत्त्वो महीतत्त्वः । सुजणम्मि सुजनमध्ये । टुक्कं य—
यासस्तथोपपेदोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ।

यथा गुणकृता कीर्तिलोके भ्राभ्यति निर्मला ॥

अर्थ—हे भुविगण इस संपूर्ण उपपेदाका सार यह है कि, आप हमेशा इस प्रबलमें रहो कि जिससे आपकी कीर्ति हुजनमें प्रसार पावेगी, और तुम्हारे गुणोंसे सर्वत्र तुम्हारा जगत्प्रसिद्ध पड़ सके.

कासो संपत्तार्ता कीर्तिरिति शंकायामुच्यते—

एस अत्ताडियसीलो वहुस्सुदो ग अपरोवतावी य ॥
चरणगुणसुद्धिदोचिय घणस्स ए वोसणा भमदि ॥ ३७५ ॥

अनन्यतापकोऽलंबब्रह्मचर्यो बहुश्रुतः ॥

ज्ञातो दृढचरित्रोऽयमेवा धन्यस्य घोषणा ॥ ३८२ ॥

वित्तयोदया—एस अलंछितसीछो एय आय अस्मदितसमाधिः । बहुस्तुदो य बहुश्रुतः । अपरोपतापी य अपरोपतापकारी च । चरणमुणमुद्दिष्टि य चारित्र्युणे. सुखितः इति । धन्यस्तस्य शु पुण्यवतः । घोषणा भ्रमद यतो विचरति ॥

कासो संयतना कीर्तिरित्यत्राह—

मूलाह—पोषणा कीर्ति ।

अर्थ—ये मुनिराज अलंबशीलके धारक हैं, इनकी ध्यानमें एकाग्रता अलंब रहती है, ये बहुश्रुत हैं. अनेक मतोंको ये जानते हैं, ये किसी भी प्राणीकी दुःख देते नहीं हैं और चारित्र्यके गुणोंमें ये स्थिर रहते हैं. इस प्रकार हे मुनिगण ! तुझारा पुण्य-यद्य लगतमें विचरण करो.

एय धुरुपदेशं श्रुत्वा गज. —

वाढत्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलोत्ति य गणो सो ॥

गुरुगुणपरिणदभावो आणंदंशुं णिवाडेइ ॥ ३७६ ॥

इदं नो मंगलं बाहमेवमुक्त्वा गणोऽप्यसौ ॥

तोऽप्यमाणो गुणैः सुरैरानंवाशु विमुंचति ॥ ३८३ ॥

विद्वयोदया—वादत्ति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा एदं णो मंगलोत्ति एतद्रवतां चत्तमं अस्माकं मंगलं नितरां एतुस्सया । गुरुगुणपरिणदभावो गुरोगुणेशु परिणतचित्तः । आणंदंशुं णिवाडेइ आनंदंशुणि निभातयति ॥ एवं गुरुपदेशं श्रुत्वा गजः कृताभ्युपगमस्तं प्रति अवलोकरोति बद्धायादृशेतावटे—

मूलाह—वादत्ति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्ति एतद्रवतां चत्तमं अस्माकं मंगलमिति चोक्तत्वा यद्वाङ्मिरपदिष्टं तत्तदभ्युपगमस्तममित्यतःवास्माकं मंगलमस्त्ययि, ये वस्य गुरोरेव निगम्य तद्गुणमवचितो गज आनंद-शुणि पातयति इति संक्षेपः । वक्के थ—

जातमिति निगद्य गणो भंगलभेत्तद्ब्रह्मचोऽस्माकम् ॥
गुरुगुणपरिणतमनः सोऽब्रण्णयानन्दवत्त्ववति ॥

अर्थ—हे ममो ! आपका यह उपदेश हमको अतिशय भंगलकारक सुखदायक और पाप नाशक है ऐसा सुनिगण मोलते हैं और गुरुके गुणोंमें एकाग्रचित्त होकर नेत्रोंसे आनंदाद्यु विराजते हैं.

भगवं अणुमगहो मे जं तु सवेहोव्व पालिदा अम्हे ॥
सारणवारणपडिचोवणाओ धण्णा हु पावेति ॥ ३७७ ॥
अयं नोऽनुमहोऽणूचो यस्सांगमिध पालिताः ॥
सारणावारणपदेसा लभ्यंते पुण्यआनिभिः ॥ ३८४ ॥

विजयोदया—भगवं अणुमगहो मे भगवन्नुमहोऽस्मान् । जं तु सवेहोव्व पालिदा अम्हे सरस्वतीरमिध पालिता पयम् । सारणवारणपडिचोवणाओ एवं कुरुत, माकुरुत इति शिक्षां । धण्णा हु पावेति धन्याः प्राप्नुयन्ति ।
मूधारा—अणुमगहो प्रसादो युष्माकं । मे अस्माकं । सवेहं व स्वदेशमिध । सारणवारणपडिचोवणाओ एवं कुरु तैर्धं कुरु इत्यादिशिक्षा ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपने स्वदेशके समान हमारा पालन किया है, आपने हे पुनिगुण ! हम अमुक कार्य करो और अमुक कार्य मत करो ऐसी शिक्षा दी है, ऐसी शिक्षा भगवन्तको ही मिलती है, अन्योको नहीं.

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणायमादरागेहि ॥
पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करिताणं ॥ ३७८ ॥
क्षमयामो वयं तवद्रागाज्ञानभ्रमादतः ॥
आदेशं ददतामाज्ञा भवतां प्रतिक्कृलिता ॥ ३८५ ॥

चित्तयोदया—अम्हे वि खमावेमो वयमपि धर्मां प्रादयामः । जं अण्णाणायमादरागेहि अण्णा अज्ञानात् ।

पमत्परोर्गेहि प्रमादद्रागच । पहिलोमिदा ॥ आपणा भवतो प्रतिक्लृप्तस्यो जाताः हिदोवेदं करंताणं । आहां हितोपदेशं कुचताम् ॥

मूढाटा—रामवेयो क्षमां ग्राहयिष्यामो शुष्मात्र ॥

अर्थ—हे प्रभो ! प्रमाद, रागभाव, अज्ञान इत्यादि विकारोंके आवेष्टनमें आकर हमने आपकी आज्ञाका लोप किया होगा, आपके हितोपदेशके प्रतिकूल हमने प्रवृत्ति की होगी. इसलिये हे प्रभो ! हम आपके पास क्षमायाचना करते हैं.

सहिदय सकणयाओ कदा सचक्खू य लब्धसिद्धिपहा ॥
तुङ्ग वियोगेण पुणो णट्टदिसाओ भविस्सामो ॥ ३७९ ॥

लब्धसिद्धिपथा जाताः सचित्तश्रोत्रबहुवः ॥
शुष्मद्वियोगतो भूयो भविष्यामस्तथाविधाः ॥ ३८० ॥

विजयोव्या—सहिदय सकणयाओ सदृश्याः सकर्णकाश्च जाताः । कदा सचक्खू य कृताः सलोचनाः । लब्धसिद्धिपथा लब्धसिद्धिमार्गाः । तुङ्ग वियोगेण पुणो भयद्रमो वियोगेन पुनः । णट्टदिसाओ नष्टदिक्काः । भविस्सामो भविष्यामः ॥

मूढाटा—सकणयाओ सकर्णकाश्च । कदा कृताः शुचिभिर्दिति श्रेयः । तुक्ष भवद्भ्यः । णट्टदिसाया नष्टदिक्का मार्गदर्शनरहिता शरयः ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपने हमको हृदययुक्त किया है, अर्थात् आपके उपदेशसे हम हिताहितका विवेक कर-
नेमें समर्थ होगये हैं. हमको कर्णोंकी प्राप्ति हुई है. अर्थात् आपने हमको श्राव्य यदाये हैं, और हमको आपने श्राव्य रूप लोचन प्रदान किये हैं. हमको आपने मोक्षमार्गमें भी लगा दिया है परंतु आपका वियोग होनेसे हम पुनरपि दिग्दर्शन हो नपायेग. हाय !

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीविणाथम्मि ॥

पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होति ॥ ३८० ॥

सर्वजीवहिते घृद्धे सर्वलोकेकनायके ॥

प्रोषिते चा विपन्ने वा देसाः शून्या भवन्ति ते ॥ ३८७ ॥

त्रिजयोदया—सद्वजयजीवहिदए सर्वस्मिन्नगति ये जीवाः तेषां हिते । थेरे प्रान्तपण्डिते । सव्वजगजीवि-
णायम्मि सर्वजगती जीवानो नाथे । पवसंते य मरंते प्रयासं युक्तिं चा मतिपथमात्रे । देसा किर सुण्णया होति देशाः
किञ्च शून्य भवन्ति ॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीविणाथम्मि ॥

पवसंते य मरंते होवि हु देसोपयारोव्व ॥ ३८१ ॥

सीलदुगुणद्धेहि दु बहुसुदेहि अवरोवतावीहिं ॥

पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होति ॥ ३८२ ॥

अनन्यतापिभिः सर्वैर्युगदीलपयोधिभिः ॥

दीना बहुयुनैर्दशाः सांधकारा भवंति ते ॥ ३८८ ॥

सर्वदेशिय वैर्द्वैर्जन्यनो तत्पनिश्चयाः ॥

वेदनादो प्रयासे वा तेषामंथा भवंति ते ॥ ३८९ ॥

यान्यैराप्यायिता लोका धैर्मैवा इव धारिभिः ॥

येभ्यस्ते निर्गता घृद्धास्ते देशाः सन्ति खंडिताः ॥ ३९० ॥

त्रिजयोदया--सीलदुगुणेहि य बहुसुदेहि अवरोवतावीहिं श्रीलङ्केयुगल्लवैर्बहुभूतैः अपरोपतापिभिः ।
पवसंते य मरंते युति प्रयासं वा मतिपथमात्रैः । देसा ओखंडिया होति जनपदा अवरोहिता भवंति । मत्तार्थेत्तरा माथा ॥
गूढारा--थेरे शान्तपण्डिते ॥

गूढारा--देसोपयारोव्व जनपदोऽन्यकार इव भवति । हिताहितशान्तशून्यो भवतीत्यर्थः ॥

मूढारा—ओरेंदिना अश्वसंहिता: वंचिता दैवेन विपर्यस्तित्वायसिद्धबुधाया इत्यर्थः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप सर्व जगत्के जीवोंका हित करनेवाले हैं. आप ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध हैं. आप सब जगत्के जीवोंके स्वामी हैं. आप अब प्रवास करनेवाले हैं. अथवा संन्यासमरणका स्वीकार करनेवाले हैं ऐसे समय हमको सर्व देश ग्रन्थ दिलते हैं. तथा सर्व देश अंधकारमय दीखते हैं. हे प्रभो ! आप झीलयुक्त, गुणयुक्त, और बहुशुद्ध हैं. आप प्राणिओंको दुःख न देनेवाले हैं. परंतु अब आप प्रवास करनेवाले हैं अथवा संन्यासमरण धारण करनेवाले हैं. ऐसे समयमें हमको सब देश संबोधित दीखते हैं.

संव्यस्स दायगाणं समसुहृदुक्खाण निप्पकंपाणं ॥

दुक्खं खु विसहिंदुं जे चिरप्पवासो वरगुरुणं ॥ ३८३ ॥

दायकानामशेषस्य स्वरिणामुपकारिणाम् ॥

समानसुखदुःखानां वियोगो दुःसहश्चिरम् ॥ ३९१ ॥

पवित्रविद्योद्यतदानपंडितैस्तनूभृतां तापविपादनोदिभिः ॥

गणाधिपैर्नाति विना न मेदिनी निरस्तपैकैः सरसीव वारिभिः ॥ ३९२ ॥

बुधैर्न शीलै ररहिता नितंविनी तपस्विदानै ररहिता गृहस्थता ॥

शुलपदेशै ररहिता तपस्यिता प्रशस्यते नित्यसुखप्रदायिनी ॥ ३९३ ॥

मनीषितं वस्तु समस्तभंगिनां सुरदुष्माणामिव यच्छतां सदा ॥

शुणैर्गुरुणां विरहो गरीयसां न शक्यते सोढुमपास्तरफसाम् ॥ ३९४ ॥

इति अनुशिष्टिसूत्रम् ।

विजयोदया—सद्यस्स वापगाणं ज्ञानदर्शनचरित्रतपोदानोद्यतानां । समसुहृदुक्खाण सुखदुःखयोः समानां । निप्पकंपाणं परीपदेभ्यो निश्चलानां । वरगुरुणं मदतां गुरुणं । चिरप्पवासो चिरकालप्रवासो वियोगः । दुक्खं खु पिसहिंदुं जे सोढुमतीय दुष्करं ॥

मूढारा—संव्यस्स ज्ञानोदेः । निप्पकंपाणं परीपदेपसर्गेषु भिःक्षोमणां । । दुक्खं खु दुःखक्षोण एव ।

विसर्दिदुं ले विसोदुं । विरप्पवत्तो दूरदेवांवरगव्वनं मरणं वा । इति गुणहृषिष्टिः । सूतवः । १४ । अंकवः १११ ॥
 अर्थ—जिनसे क्षिप्याको भ्रान्त, दर्शन, चारित्र्य, और वषोंकी प्राप्ति होती है- जो सुख और दुःखोंमें समान है अर्थात् रागद्वेषरहित है- परिपहोसे जिनकी ध्यानैकाग्रतामें बाधा आती नहीं है- ऐसे श्रेष्ठ आचर्योक्ता चिरकालीन वियोग सहन कराना अतिशय दुष्कर है,

सयं परिसमाप्य भद्रुदास्तत्ताधिकारं परगणवर्गो निरूपयति—

एवं आनुच्छिन्ना सगणं अभ्युज्जवं पविहरंतो ॥

आराधयाणिमित्तं परगणमणे मइं कुणदि ॥ ३८४ ॥

आपृच्छयेति वणं सर्वं चतुरंगमहोयमम् ॥

करोत्पाराधनाकांक्षी गंतुं परगणं प्रति ॥ १९५ ॥

विजयोक्ता—एवं आनुच्छिन्ना आपृच्छय । सगणं स्वगणं । अभ्युज्जवं पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नवत् प्रवर्तमानः । आराहणाणिमित्तं आराधनानिमित्तं । परगणमणे मइं कुणदि परगणमणे मतिं करोति ।

अथ तथाभाषित भ्रामण्यस्य सङ्केतपरिणतस्यापृच्छणस्य गणिनः पुनर्मत्तोक्तीवन्ननिरोधेन समाधिप्रदं च-
 सिद्धयर्थं परगणमनकमं सप्तदशविधौघाभिरुपदिशति—

मूलारा—आनुच्छिन्ना आपृच्छय । संवाद्येवर्थाः । अभ्युज्जवं चतुर्मात्राभिमुखं अतलसमित्यर्थः । पविहरंतो प्रवर्तमानः ॥

इत प्रकार अनुशासनाधिकारकी समाप्ति करके आचार्य परगणचर्या नामक अधिकारत्वा निरूपण करते हैं—
 अर्थ—इस प्रकार अपने भणको पृच्छकर अपने रत्नत्रयमें अविश्वय प्रयत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले वे आचार्य आराधनाके निमित्त परगणमें गमन करनेकी इच्छा मनमें धारण करते हैं,

किमयं परगणप्रवेनं करोति त्वार्थकार्या स्वगणापस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फरुसं करुहपरिदावणादी य ॥

णिग्भयसिणहकालुगिणझाणविग्गो य असमाधी ॥ ३८५ ॥

आजाफाया गणशस्त्रं परुषः कलहः ॥ ३९६ ॥

निर्भयस्तेहकारुण्यध्यानविज्ञासमाधयः ॥ ३९६ ॥

विजयोदया - सगणे आणाकोवो आत्मीयगणे आज्ञाकोपः । फरुसं कलहपरिवाचनादी य परुषवचनं, कलहो, दुःखादीनि च । निम्नवसिषेहकारुण्यध्यानविज्ञासमाधयो य निर्भयता, स्नेह, फारुण्यं, ध्यानविज्ञाः । असमाही असमाधिच्छ ॥

किमर्थमानार्जस्तथाधिपभिधुवो परसंघवसें करोतीति पृच्छन् प्रति स्वगणवासिन आज्ञाकोपादीनव दोषा-
मुपेष्टुभिदमापष्टे—

मूढारा—आणाकोवो आज्ञाभंगः । परसं परुषवचनं । परिदावणा दुःखविपादलेदादीति । कोलणिया
कारुण्यम् ॥

आचार्य परागणमें प्रवेश क्यों करते हैं ? ऐसी शंका उपस्थित की जानेपर आचार्य स्वगणमें रहनेसे
दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा उत्तर दिया है—उन दोषोंका सविस्तर विवेचन इस प्रकार—

अर्थ—आराधनासिद्धिके लिये आचार्य यदि स्वसंघमें ही रहे तो आज्ञाकोप, कठोरवचन, कलह, दुःख,
भिषाद, खेद वगैरह, निर्भयता, स्नेह, फारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं.

उद्वाहकरा धेरा कालहिया खुडुया खरा सेहो ॥

आणाकोवं गणिनो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥ ३९६ ॥

परापवादोद्यतयो जरंतः शौक्ष्याः खरा युद्धपरानर्धनाः ॥

आज्ञाक्षतिं भिक्षु गणे स्वकीये कुर्वन्ति खुरेरसमाधिहेतुम् ॥ ३९७ ॥

विजयोदया - उद्वाहकरा धेरा अपरासंपादकाः स्थविराः । कालहिया कलहकराः । खुडुया झुझकाः । खरा
सेहा परागण भगवत्प्राः । आणाकोवं गणिषो करेज्ज आज्ञाकोपं सरेः कुरुं । तो होज्ज असमाही तस्मादाज्ञाकोपाद्वे-
दसमाधिः ॥

सगणे स्वविघट्टितमसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

मृगता—उद्गृह्यता अयनाभ्यादरताः । अन्वर्हीणा कालदिकाः कलदरुता इत्यर्थः । सुश्रुया श्रवणोपासका
पञ्चकाः । तया श्रीदत्ताः । तेदा औद्या मार्गानभिरा इत्यर्थः । करेज्ज कुयुः ।

अर्थ—मंयमे दृढ मुनि यदि अतीति मंपादक होय, और धुल्लक अर्थात् धुल्लकान्ता घारण करनेवाले
परस्य यदि रुन्द करनेके लिये उद्युक्त होय, अमार्गज छिप्प मुनि अर्थात् समाधिविधि न जाननेवाले क्षिप्प मुनि
यदि नीरुज्ज म्भारके होय तो वे आचार्यही आत्माका उद्धरण करेगे तब आत्माके उद्धरणसे आचार्यकी असमाधि
होगी अर्थात् परिणाममें अज्ञानता उत्पन्न होगी. इसलिये आचार्य समाधिपरल साधनके लिये परगणमें प्रवेश
करते हैं.

परगणयासी य पुणो अब्जावारो गणी हवदि तेसु ॥

णहिय य असमाहाणं आणाकोयस्मि वि कदस्मि ॥ ३८७ ॥

अयापारदीनस्य ममत्वद्दानेः संतिष्ठमानस्य गणेऽन्यदीये ॥

नाताधियाने चित्तिंजपि सूरसेतैरशोपरसमाधिरस्ति ॥ ३९८ ॥

निज्ञायेपया—परलगेऽप्यमी संलग्न स्वधियागल्लभाप्यतमाधानं स्वाधेयासेति शंकां निरस्यति । परगणया-
नी य यः परलगे गती मो मयापरगेऽप्यागतः तेषु शिक्षाव्यापाररहितः । तेन आत्माकोतो न विद्यते मात्मासंगो
माग्रीणकोः । इत्थि य ममाधानं नास्ति न असमाधिः । आणाकोयस्मि वि कदस्मि वास्तव्ये कृतेऽपि ममाद्युप-
कात्स्निको कथनमिमे निमर्गे तुयंस्ति इति नेतःप्रतिपानात् ॥

परलगेऽप्यमीचो रीभशरणान्नाकोपादस्यासमाधिः स्वाधेयतयाईकापचाकरोति—

मृगता—अन्यापारो निमर्गव्यापाररहितः । तेषु परगण्यवधिरास्ति । तेनात्माकोतो नास्तीति शेषः । विष्-
हमि हतेऽपि ममाद्युपकारय वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्तीति चेत्प्रविपयानात् ।

परगणमें भी पढ मुनि, धुल्लक, अमार्गज मुनि रहते ही हैं अतः वहां भी आचार्यको असमाधि दोष
उत्पन्न होगा ही इन गंतारका प्रश्नपर उत्तर देने हैं—

अर्थ—तब आचार्य परगणमें जाकर रहते हैं तब उन गणस्य मुनिओंको वे उपदेष्टा, आज्ञा करते नहीं, विमर्से

उस गणके मुनिओंके द्वारा आज्ञामार्ग करनेका प्रसंग आता ही नहीं। और यदि उन्होंने आचार्य की आज्ञा नहीं मानी तो भी आचार्य इनके ऊपर तो भेने कुछ भी उपकार किया नहीं अतः वे भेरा वचन क्यों शिरोधार्य करेंगे ऐसा विचार कर अपने परिणामोंकी शान्तता नष्ट नहीं करते हैं इसलिये असमाधि नामक दोषकी उत्पत्ति परगण-में रहनेसे नहीं होती है, आज्ञाकोष नामक दोषका विवेचन हुआ।

आज्ञाकोषदोषं अभिधाय द्वितीयं व्याचष्टे—

सुदुं धेरे सेहे असंबुडे ददु कुणइ वा परसं ॥

ममकारेण भणेल्लो भणिल्ल वा तेहिं परसेण ॥ ३८८ ॥

धात्तान्बुद्धान्शैक्षकान्दुष्टेषेष्टान् दृष्ट्वा स्वरिर्निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् ॥

किंचिद्वाग्देवमोहवियुक्तास्ते वा बल्लुः संस्तवप्राप्तवाच्छ्रयोः ॥ ३९९ ॥

विज्ञयोद्या— सुदुं धेरे सेहे सुक्षकान्धरित्वमार्गशेष्टा। असंबुडे असंबुतान् असंयतान्। बल्लुण दृष्ट्वा। कुणदि वा पवर्त्त करोति वा परसं। ममकारेण मणेल्लो मममेव धरेद्वा परसं। भणिल्ल वा तेहिं परसेण भण्येत वा गणी तेः परसं धवः ॥

पठरं व्याचष्टे—

मूळार— असंबुडे असंबुतान् प्रमादाचरणानित्यर्थः। ददु दृष्ट्वा। कुणदि वक्ति। भणिल्लो मणेत। परसं ब्रूयात् इत्यर्थः। भणेल्ल भण्येत। परसेण प्रकीर्ण परिषयकृत्वधृष्टवाचंभ्यात् ॥

अथ दुसरा दोष कहेत है—

अर्थ—परम नामक दोषका स्वरूप इस प्रकार है—शुद्धक गृहस्थ, वृद्धमुनि, और असामंजस मुनि ये प्रमादसे असंयमधूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसा देखकर उनको आचार्य परमापण करेंगे, ये भेरे संघमें रहकर ऐसा प्रमादयुक्त आचरण करते हैं ऐसा मनमें विचार कर उनको कठोर भाषण करेंगे अथवा वे दृढमुनि वगैरह उनके साथ कठोर भाषण करेंगे, अपने संघमें ही रहनेसे धृष्टादि मुनिओंके साथ अधिक परिचय रहता है जिससे वे आचार्य को और आचार्य उनको कठोर भाषण करेंगे तब परम नामक दोष उत्पन्न होगा।

पण्डिचोदणासहजदाए होज्ज गणिणो वि तोहिं सह कलहो ॥

परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥ ३८९ ॥

यावयाक्षमायामसमाधिकारी सूरः समं तैः कलहो दुरन्तः ॥

दोपास्ततो दुःखविपादखेदाः भवन्ति सर्वेष्वनिवारणार्थाः ॥ ४०० ॥

विजयोदया—पण्डिचोदणासहजदाए गुदगिहासहेनेन । होज्ज कलहो तेहिं सह गणिणो वि भयेत्कलहस्तेः
सुतकादिभिः सह गणितः । परिदावणादिदोसा होज्ज दुःखादिवोया मयेसुः । गणिणो य तेसिं व गणिजस्तेपां
क्षुल्लकादीनां वा कलहः ॥

कलहादिदोषद्वयं व्याख्याति—

भूलाए—पण्डिचोदणासहजदाए गुदगिहासहिल्लुतया । होज्ज मयेसुः ।

कलह दोषका पूर्वार्द्धमें वर्णन करते हैं—

अर्थ—स्वगणमें रहनेसे आचार्य के शिक्षावचन सुनकर क्षुल्लकादिक मुनि क्रुद्ध होकर उनसे लड़ने अथवा
क्षुल्लकादिकोंसे आक्रामंग होनेसे आचार्यका कलह होना संभवनीय है. आक्रामंग होनेसे आचार्यके मनमें खेद,
संताप वगैरह विकार उत्पन्न होंगे अथवा ये आचार्य हमको हमेशा उपदेश देते रहते हैं आज्ञा करते हैं ऐसा विचार
कर क्षुल्लकादिक दुःख, संताप, शोकादिकसे पीड़ित होंगे.

परिदावणादीष्व इत्येतत्स्वजपदं प्रकार्यन्तेष्वपि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले कर्त्तेसु ॥

गणिणो हवज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥ ३९० ॥

गणेन साकं कलहादिदोषं कुर्वत्सु बालादिषु दुर्धरेषु ॥

गणाधिपस्य स्वगणप्रवृत्तेर्ममत्वदोषादसमाधिरस्ति ॥ ४०१ ॥

विजयोदया—कलहपरिदावणादी दोसे व कलहं परिताषादिदोषं वा । अमा कुले कर्त्तेसु गणेन सह कुर्वत्सु

क्षुब्धनादिषु । गणिणो हवेज्ज समणे ममत्तिदोसेण असमाधी गणिनो भवेम्ममत्वदोरेण उसमाधिः ॥

कलहादिदोषानेव प्रकारावरण व्याचष्टे—

मूलारा—अमा गयेन सह । आकुले ॥ । संक्षोभात्वं करत्वेसु कुर्वन्तु क्षुब्धकादिषु । ममत्ति-
दोसेण न केवलं शिष्टाण्डनेन ममत्वदोरेण वा असमाधिर्भवेदिति संबन्धः ।

परितापादिक दुःखोक्ता अन्य प्रकारसे वर्णन—

अर्थ—अथवा अपने संपर्के क्षुब्धकादि छुनि कलह, शोक संतापादिक परस्परमें करते हुए देखकर आचा-
र्यकी अपने बगलपर ममता होनेसे चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जायगी. अर्थात् उनके परिणाम अक्षांतिमय होगे,

परितापणपि इत्येतत्क्षुब्धं अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपचेसु ॥

गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाधी वा सिणेहो वा ॥ ३९१ ॥

परीपैय्योर्नमैः स्वसंगं निरीक्ष्यमाणस्य निपीड्यमानं ॥

गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः प्रवर्तते संघपतेरचार्यः ॥ ४०२ ॥

पिलयोदवा—रोगातंकादीहिं य अत्यमहद्विषय्यादिभिः । परिदावणादि पचेसु परितापनादि प्राप्तेषु । सगणे
आत्मीयशिष्यवर्गे । गणिणो हवेज्ज दुःखं । आचार्यस्य भोग्यं यं । असमाधी वा सिणेहो वा असमाधिर्वा स्नेहो ॥ ।

परितापनादितुल्यमन्यथा व्याचष्टे—

मूलारा—रोगातंकादीहिं अत्यमहद्विषय व्याधिभिः । आदिशब्देन सुदोषद्रवादिभिः । सगणे स्वसंगे शिष्यतेषु
शिष्यादिषु । दुक्खं मतस्तापः । असमाधी असमाधानात् । चतुर्थ्ये प्रथमाविधानात् । सिणेहो मोहः । ममत्वकृतः छेद
इत्यर्थः । उक्तं च—

निजगणगतेषु रोगिषु परिवेदनदुःखपरिगतेषु पुनः ।
कारणशोकमोहा भवेयुरसमाधये सुरैः ॥

इसही दोषका प्रकारान्तरे वर्णन—
अर्थ—छोटे मोटे रोग वर्गसह विकार संघमें फेल जानेपर अपना विषयवर्ग दुःख संतापादिसे पीडित हुआ देखकर आचार्यको दुःख होगा, परिणामकी एकाग्रता नष्ट होगी, और उनमें स्नेह होगा. इसलिये समाधिभर-
जोद्यमी आचार्य इनके परिहारार्थ अन्य संघमें जाते हैं.

तण्डहादिषु सहण्डजसु वि सगणस्मि णिष्ठमजो संतो ॥
जाण्डज व तेण्डज य अकण्डिदं किं पि वीसरथो ॥ ३९२ ॥

परीपहेषु विश्वस्तः स्वगणे निर्भयो भवन् ॥
याचते किं वनाकल्प्यं सेवते भापते स्फुटम् ॥ ४०३ ॥

विजयोद्या—तण्डहादिषु सहण्डजेषु वि विपातादिकेषु परीपहेषु सदनीयेष्वपि । सगणस्मि णिष्ठमजो संतो
स्वगणे निर्भवः सन् । जाण्डज य सेवण्डज य याचते या सेवते वा । अकण्डिदं अयोग्यं किंचित्प्रत्याख्यातमशनं गानं वा ।
वीसरथो विश्वस्तः भयलज्जाभिरहितः ॥

निर्भयं व्यापद्ये ।

मुकारा—णिष्ठमजो संतो निर्भीतिः सन् सुखिः । जाण्डज भोषेत । अकण्डिदं अकल्प्यं अयोग्यं । किंपि प्रत्या-
ख्यातं भानभरानादिर्कं वा । वीसरथो विश्वस्तः । अकोत्तिमयलज्जाभिरहितः ॥

अर्थ—समीक्षितभरणोपुक्त आचार्यने प्यास, भूख वगैरहका दुःख सहन करना चाहिये. परंतु वे अपने
संघमें रहनेपर निर्भय होकर आहार, जल, वगैरह पदार्थोंकी याचना करेंगे. अथवा स्वयं आहारादिकोंका सेवन
करेंगे. अयोग्य अर्थात् जिनका त्याग किया है ऐसा भी आहार और भानके पदार्थ भय, लज्जा छोड़कर खाने
लग जायेंगे इस लिये उनका अपने संघमें रहना आगममें निषिद्ध माना है.

विणेह हतस्य श्याल्या—

उठ्ठे संअंकवट्ठिय वाले अज्जाल तह अणाहाओ ॥

पासंतस्स सिणेहो हेवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥ ३९३ ॥

बालाः स्वांकोचिता दृष्टा वृद्ध्या चिह्नलचित्रहाः ॥

अनाथआर्यिकाः स्नेहं जनयन्ति गुरोस्तदा ॥ ४०४ ॥

विजयोदया—उठ्ठे संअंकवट्ठिय हत्यादि बुझान्यतीरस्वांकवट्ठितबालान् यतींस्तथा आर्यिकाः, अनाथा. यद्यतः स्नेहो भवेत्प्राप्तिके विद्योने ।

स्नेहं व्याहरति—

मूलार—संयकवट्ठिरे बाले सोत्तंसंगधर्द्धितबालान् । बाल्यत्पमृतिपालितान् । अणाहाओ अनाथा. । अरुचंति-अविभोद सर्वथा विरहे । पुनः संगमाभावात् ॥

स्नेह दीपका विवेचन—

अर्थ—बुद्ध मुनि, जिनका बाल्यावस्थासे पालन क्रिया है ऐसे बालमुनि, अनाथ ऐसी आर्यिकाए इनको देखनेसे अब इनका मेर साथ अत्यंत प्रियोग होगा ऐसा विचार यदि स्वर्णमे आचार्य रहेंगे तो जाये निना नहीं रहेगा जिससे उनके असमाधिमरणकी संभावना होगी. अतः स्वर्णमे उनका रहना निषिद्ध माना गया है.

कोटुगिण इत्येतद्वान्वये—

खुट्ठा य खुट्ठियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ॥

तो होज्ज उज्जाणविण्णो असमाधी वा गणघरस्स ॥ ३९४ ॥

आर्यिकाः क्षुल्लिकाः क्षुल्लाः कारुण्यं कुर्वन्ति यतः ॥

ध्यानविन्नोऽसमाधिश्च जायते गणिनस्ततः ॥ ४०५ ॥

विजयोदया—खुट्ठा य खुट्ठियाओ क्षुल्लका, बार्थो. कुर्मुणरटन । ततो ध्यानविन्नोऽसमाधितो गणघरस्य भवतीति ॥

कारणं विवृणोति—

मूढारा—कोटुभिर्ग—सद्व्यभारटनं । सकुरुणमारटनम् ॥

कोटुणिय दोषका विवेचन —

अर्थ—शुद्धक, ब्रह्मचारी वगैरह गृहस्थ, ब्रह्मचारिणी, आर्यिकाये आचार्यको समाधि मरणके लिये उद्यमी देखकर शोक करेंगे जिसको देखकर आचार्यके ध्यानमें विष्रुत उपस्थित होगा और परिणाममें अन्नाति हांगी. इस लिये आचार्यका स्वर्गमें रहना निषिद्ध माना है.

मत्ते वा पाणे वा सुरसूसाए व सिस्सवग्गम्मि ॥
कुब्बंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥ ३९५ ॥

गणिनः प्रैष्यशुश्रूषाभक्तपानादिरूपने ॥
स्वर्गणेष्वसमाधानं शिष्यवर्गे प्रमाद्यति ॥ ४०६ ॥

विज्वयोदया—मत्ते वा पाणे वा भक्ते पाणे वा शुश्रूषावां वा प्रमादं शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरस्समाधिर्भवति ॥
ध्यानविप्रासमाधिदोषौ व्यापद्रे —

मूढारा—सुरसूसाए पयुष्टौ संवाहनादिकार्यौ । कुब्बंतम्मि कुर्वति सति । असमाधी आर्तं रोद्रे वा ध्यानं । यदि वा समाधिर्निर्विकल्पयोगः परमानन्दः स च सविकल्पयोगलक्षणध्यानपूर्वकः । अतः शिष्यवर्गप्रमाददर्शनात् ध्यान-विषादस्ततः स्वसमाध्यभावः इति पूर्वसूत्रितं दोषद्वयं व्याख्यातं प्रक्षिप्यत्तव्यम् ॥

अर्थ—आहारके पदार्थ, पानिके जलादिक पदार्थ और शुश्रूषा—हस्तपादादि मर्दन वगैरह कार्यमें यदि शिष्यवर्ग प्रमादी बने अर्थात् इन कार्यमें यदि उन्होंने ध्यान नहीं दिया तो आचार्यके मनमें शांतिका अभाव होगा आतं ध्यान अधवा दुर्ध्यान उत्पन्न होगा.

एदे दोसा गणिणो विससदो होति सगणवासिस्स ॥

भियवुस्स वि तारिसयस्स होति पाएण ते दोसा ॥ ३९६ ॥

एते दोषाः सन्ति संघे स्वकीये सूरः साधोस्तादृशस्यापि यस्मात् ॥

तरमात्स्यवत्या स्वं समाधानकाक्षी धीरः संघं स प्रयात्पन्यदीयम् ॥४०७॥

विजयोदया—एदे दोसा गणिणो विससदो होति एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे धसतः । भियवुस्स वि तारिसयस्स विस्सोरपि तादृशस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रयेण ते दोषाः ॥

प्रायुका, दोषान्तरार्थग्याधिक्येन दर्शयन् उपाध्यायादेरपि स्वगणवासिनः प्रायोवृत्त्या वात्सवर्त्सयति—

मूलारा—विससदो कतिशयेन । तारिसयस्स तादृशस्य गणिसदृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वेत्यर्थः ।

अन्यथा भिक्खुस्स सामान्यगतेस्तादृशस्य स्वगणवासिन इति न्याचये ॥

अर्थ—जो आचार्य स्वगणमें रहते हैं उनको ये दोष होंगे तथा जो आचार्यके समान उपाध्यायमृनि, तथा प्रवर्तक मृनि हैं वे भी यदि स्वगणमें ही रहेंगे तो उनको भी प्रायः इन दोषोंका संभव होगा.

एदे सब्बे दोसा ण होति परगणणिवसिणो गणिणो ॥

तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥ ३९७ ॥

भवन्ति दोषा ऽ गणेऽन्यदीये संतिष्ठमानस्य ममत्वचिजं ॥

गणाधिनाथस्य ममत्वहानेर्विना निमित्तेन ध्रुत्तो मिदुस्तिः (?) ॥ ४०८ ॥

विजयोदया—एदे सब्बे दोसा ण होति एते सब्बे दोषा न भवन्ति । परगणणिवसिणो गणिणो परगणनिवासिनो गणधरस्य । तस्मात्सगणं परित्यज्य प्रजति परगणं समाचये ॥

एतदोपासमनेन समाधिसाधक्यतात्परगणस्य गम्यत्वमनुवर्णयति—

मूलारा—पजहिय सर्वात्मना त्यक्त्या ।

अर्थ—जो आचार्य अपना गण छोड़कर परगणमें समाधि मरणके लिये प्रवेश करते हैं उनको इन दोषोंका संबंध नहीं होगा है, इस लिये आचार्य समाधिसिद्ध्यर्थ परगणका आश्रय लेते हैं.

संते सगणे अहं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ॥

सन्वादरसत्तीए मचीए वहुइ गणो से ॥ ३९८ ॥

गणे स्वकीयेऽपि गुणानुरागी सत्यस्वदीयं गणमागतोऽयम् ॥

मत्वेति भक्त्या निजया च शक्त्या प्रवर्तते तस्य गणः स्वकृत्ये ॥ ४०९ ॥

विजयोदया—संते सगणे सत्यपि स्वगणे असद्गणे आतद्विचरणतो गणमिममिति सर्वोदरेण शक्त्या भक्त्या च गणो वर्तते ॥

परगणपर्यागुणान्गमात्रयेणाह—

मूढारा—संतो सत्यपि । रोचेदूण हविगोपरीकृत्य । गणमिमोत्ति गणमिममिति । से सत्योचमसाधनार्थो-

यतस्य ।

अर्थ—स्वगणके होनेपर भी हमारे ऊपर प्रेम कर ये आचार्य हमारे गणसे आये हैं ऐसा मनमें विचार कर परगणयासी सुनिसप्रदाय पूर्ण आदर व सामर्थ्यसे उनकी सेवा करनेके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं. अतः परगण-प्रवेश करना ही योग्य है.

गदित्यो चरणस्थो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ॥

सन्वादरेण जुचो गिज्जवगो होदि आयरिओ ॥ ३९९ ॥

गृहीतार्थो गणी प्रार्थ्यः क्षपकस्योपसेदुपः ।

निर्यापकश्चरित्राख्यो जायते सर्वयत्नतः ॥ ४१० ॥

विजयोदया—गीत्यों चरणस्थो गृहीतार्थः शान्ति चरणस्थः । पच्छेदूणागदस्स प्रार्थयित्वागतस्य । गवयस्स रणकम् । सत्पादरेण जुचो सर्वोदरेण युक्तः । गिज्जवगो होर आयरिओ निर्यापको भक्त्याचार्यः ॥

मूढारा—पक्षेदूण प्रार्थ्य । आगदस्स आश्रितस्य ॥

अर्थ—शार्थना करके आये हुए आचार्य को अर्थात् क्षपणका समाधिमरण साध्य करानेवाला निर्यापका चार्म आगे लिये हुए लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये. अर्थात् वह गीतार्थ जीगदि पदार्थोंका - वेत्ता, ज्ञानी, चारित्र्यमें स्थिर, क्षपक के ऊपर पूर्ण आदर रखनेवाला होना चाहिये

संविग्नावज्जमीरुस्स पादमूलमि तस्स विहरंतो ॥

जिणवयणसञ्जसारस्स होवि आराधओ तादी ॥ ४०० ॥

संचिमस्साधभीत्तस्य पादमूले व्यबस्थितः ॥

अहंदागमसारस्य भवत्याराधको यतिः ॥ ४११ ॥

इति परगणचर्यासूत्रम् ।

विजयोदया—सचिग्नावज्जमीरुस्स ससारमीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरो पादमूले वर्तमानो जिनवचन सारस्य भवत्याराधक । तादी यति । संते समणे, गीदस्थो, सचिग्नावज्जमीरु इत्येतस्सुत्रयेण परगणे चर्याया गुणो व्याख्यात ॥ परगणचर्या ॥

मूखारा—विहरंतो वर्तमानः । जिणेत्यादि जिनप्रवचनस्य सर्वस्य सारो अविवक्षितं रूप आराधना तस्या आराधको भवतीति संक्षेपः । तादी यतिः । परगणचर्या वंक्षत १५ सूत्रव. १७ ॥

अर्थ—जो संसारसे मय युक्त है, जो पापकर्मभीरु है और जिसको जिनप्रवचन सर्व सार मान्य हुआ है ऐसे आचार्य के चरणमूलमें ॥ यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है, “ संते समणे, गीदस्थो, संविग्नावज्जमीरु ” इन तीन गाथाओंसे परगणमें चर्या करना गुणयुक्त है ऐसा सिद्ध किया है. गणचर्या नामक प्रकरण समाप्त हुआ

मार्गान्तिकपणार्थसुत्तरप्रपद्य —

पंचच्छसच्चजोथणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं ॥

णिज्जावगमणोप्पेसदि समाधिकमो अपुण्णादं ॥ ४०१ ॥

पंच पद सप्त वा गत्वा योजनानां शतानि सः ॥
निर्यापकमनुज्ञातुं समाधानाय मार्गति ॥ ४१२ ॥

विज्ञयोदया—पंचचतुस्रजोयनसदाणि पंचपदसप्तयोजनशतानि ततोऽप्यधिकानि वा गत्वा जन्वेपते निर्गता-
पके । शालेन अनुयातं समाधिरामो यतिः ॥

अथ श्रपकस्य परगणप्रवेसोद्यतस्य समाप्यर्थे निर्यापकाचार्येन्येपमाणस्य कर्म सप्तदशमिगार्थाभिनिर्गदति—
तत्र तत्पदमार्गणलेत्रपरिसागं निर्दिशति—

मूलात्—अनुज्जापं शालेणाधुमतम् ।

मार्गणा नामक प्रकरणका निरूपण करके लिये उत्तर प्रबंध—

अर्थ—जिसको समाधिभरणकी इच्छा है ऐसा मुनि पांचस योजन, छत्स योजन, सातस योजन अथवा
उमसे भी अधिक योजनतक विहार कर शास्त्रोक्त निर्यापकका शोध करता है.

दशार्थोत्तरमाथा—

एकं व दो व तिण्णि य शारसवरिसाणि वा अपरिदंतो ॥

जिणवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥

एकद्वितीणि चत्वारि वर्षाणि द्वादशापि च ॥

निर्यापकमनुज्ञातं स मार्गयति निःश्रमः ॥ ४१३ ॥

मार्गणाकालपरिमाणं च यतिः—

मूलात् येणिव अत्र शारसवरिसाणि इति निर्देशाच्छतुषादिष्वल्पापरिग्रहो गोध्यः । अपरिसंतो अपरिदन्तः
अनुद्धिम इति यावत् ॥

अर्थ—समाधिभरणे-रु मुनि एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष लेकर बारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ
जिनागमने निर्णीत निर्यापकाचार्यका अन्यपण करता है.

निर्योपकान्तेष्वर्गं गच्छत क्रममुवाहयति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अउक्षेणपुच्छणाकुसलो ॥

अंडिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ॥ ४०३ ॥

एकरात्रतनूत्सर्गं प्रश्नस्वाध्यायपंडितः ॥

सर्वत्रैवाप्रतीचंघः स्याडिलः साधुसंयुतः ॥ ४१४ ॥

विलयोरुप्या—गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अउक्षेण पुच्छणाकुसलो । गच्छेदेकरात्रिप्रधवावधौ अत्ययने परप्रदेते च कुशल । एकरात्रिप्रधा भिमुप्रतिमा भिक्त्यते । उपवास्तव्य कृत्वा चतुर्ध्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्वहिर्देशे श्मशाने वा प्राङ्मुख, उर्वरभुजद्वैस्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरगुलमानपादादरो नासिकाग्रनिहितदृष्टित्यक्तसायस्त्रिष्टुत् । सुष्ठु प्रणिष्टि सचिन्त चतुर्विधोपलक्षणं न चलेत् पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्याय कृत्वा गम्भीरविद्वयं गत्वा गोचरेक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मर्तस्तत्रसूर्यपौरुष्यामर्धपौष्ट्या वा मंगल कृत्वा याति एवं स्वाध्यायकुशलता । प्रश्न कुशलतोष्यते—वैयस्यतानार्थिका आयुष्काश्च, तालमध्यमवृद्धाश्च वृद्धा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशलः । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थाविलान्वेषण कुर्यात् । कायशोधनार्थं संभोगयोग्य, याति, संघाटकत्वेन शूहीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एव स्थाविलान्वेषण संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्रपर स्थाविलसंभोगो यतिरित्युच्यते । अंतरालभामन-गराविसंभिशेवास्थयतिष्ठितस्कारस्वभान्नामधूर्णकमकादीं सर्वत्र अयतिवदत्वात् अप्यडिबद्धो य सव्वत्थ इत्युच्यते ॥

निर्योपकाचार्यमार्गणाय गच्छत पैषधा विधिमाह—

मूलारा—एगरादियपडिमा अउक्षेणपुच्छणाकुसलो एकरात्रिकप्रतिमाकुसलोऽप्यवनकुशलः, प्रच्छतनकुशलश्च । तत्रैकरात्रिकभिमुखप्रतिमा यथा—उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्ध्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्वहिर्देशे वने श्मशाने वा प्राङ्मुख, उर्वरभुज-ध्वैत्यमुखो वा भूत्वा चतुरगुलमानपादादरो नासिकाग्रनिहितदृष्टित्यक्तसायस्त्रिष्टुत् । सुष्ठु भ्रूणद्वित्वित्तत्रयुर्विधोपस-नैसद्यो न चलेत् पतेत् यावत्सूर्य उदेति । येना एकरात्रिकी विमुखप्रतिमा । तत्र कुशलः । स्वाध्यायकुशलस्तु यः स्वाध्यायं कृत्वा गोचरेक्षेत्रवसतिं च गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मर्तस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्धपौरुष्या वा मंगलं कृत्वा याति । प्रश्नकुशलस्तु यश्चैतत्संयतानार्थिकाश्च तालमध्यमवृद्धाश्च वृद्धा कृतगवेषणो याति । अंडिल्लसंभोगिवद्धो यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थाविलं प्रास्तुकस्यानकायशोधनार्थगन्धेपेते । समाचारात्मकः संभोगः । योग्य यदि संघाटकत्वेन शूहीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् ॥ एवं स्थाविलान्वेषणे संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यस्य संघाटको भवेत् ॥ एवं

स्वच्छिन्नान्नेपेण समोगयोग्यविना सहधुतो च यो कल्पपरः स स्वच्छिन्नसमोगियवित्त्व्यते । अन्ये तु गच्छिन्नं समोगिय इति पठित्वा स्वच्छिन्नं हृद्वेति व्याख्याति । “अध्ययनप्रभविधौ निपुणोऽसावैकराट्रिकप्रतिभः ॥ स्वच्छिन्नशायी गायान्-प्रतिपद्यत सर्वत्र ॥” इतरे तु स्वाच्छिन्नः स्वच्छिन्नशायी, समोगियुतः सर्वगैयुक्त इति मत्वेदं पेटुः ॥ “एकराट्रिकनूत्सर्ग-प्रस्तुताप्यवत्पठित सन्नेत्य प्रतीत्यः स्वाच्छिन्नः साधुसंयतः ॥” अप्यद्विवक्षो आसक्तिरुद्दिष्टः । सन्नेत्य सर्वत्रावृणोत्-प्राप्तमारादिमादियेसशयतिरुदिसत्कारसन्मानप्राप्त्युक्तमकटौ ॥

निर्यापक का अन्वेषण करनेके लिये निकले हुए आचार्य का कार्यक्रम बताते हैं—

अर्थ—एकराट्रिकप्रतिमाकुशल, अध्ययनकुशल और प्रभकुशल ऐसा वह मुनि निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करने के लिये निहार करता है—एकराट्रिकप्रतिमाकुशल का स्वरूप कहते हैं—वीन उपवास करनेके अनंतर चौथे रात्रीमें ग्रामनगरादिकके बाह्य प्रदेशमें अध्यात्मशान्तमें, पूर्वदिशा, उत्तरदिशा अथवा चैत्य-जिन-प्रतिमानके सम्युक्त सुलकर दोनो चरणोंमें चार अंगुल ग्रमाणका अंतर सरकर नासिकाके अग्रपर वह यति अपनी दृष्टि निधत्त करता है, शरीरपरस्म ममत्त्व छोड देता है अर्थात् कायोत्सर्ग करता हुआ मनको एकाग्र करता है, देव, मनुष्य, तिर्यक्ष और अचेतन इनके दारा किया हुआ उत्सर्ग सहन करता है, वह मुनि मयसे अलगे गमन करता नहीं और नीचे गिरता भी नहीं है, अर्थात् निर्भय होकर स्वस्थानमें ही श्रयोदय होने तक स्थिर रहता है, यह एक रात्रिप्रतिमाकुशल है जो मुनि स्वाध्याय कर दोन कोस गमन करता है और जहां आहार मिलेगा ऐसे क्षेत्रमें पसविसमें जाकर ठहरता है, यदि मार्ग दूर होव तो छत्रपौलषी अथवा, अंघोपौलषी के समय मंगल करके अंगे गमन करता है वह स्वाध्याय कुशलश्रुति है—

प्रभकुशल मुनि का स्वरूप—चैत्य, मुनि, आर्गेष्का, श्रावक, गाल, मध्यम और वृद्धोंको पूछकर निर्याप-रानार्थमा अन्वेषण करता है, जहां भिक्षा प्राप्त हो गई वहां जो स्वच्छिन्नका अन्वेषण करता है, अर्थात् शरीर शोधन के लिये प्रातुरु स्थान का अन्वेषण करता है, वह स्वच्छिन्नशायी मुनि है, समोमकुशल—सहायता करनेवाले योग्य यतिके साथ निहार करनेवाला, किंम योग्य यतिका आश्रय करनेवाला अथवा योग्य यतिको स्वयं मदत करनेमें जो कुशल है वह यति समोमकुशल माना जाता है, मार्गमें ग्राम, नगरादिकमें रहनेवाले यति और

गृहस्थोंके सत्कार, सम्मानमें जो मोह नहीं करता है, जो अतिथि और भक्तादिकों पर मोहबुद्ध नहीं होता है ऐसे मुनिको अप्रतिबद्ध कहते हैं। नियमकाचार्यका शोध करनेके लिये निकले हुए मुनिका स्वरूप इस प्रकार है—

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥ ४०४ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरारालोचनापरः

संपद्यते तरों मूकस्तथाप्याराधको मतः ॥ ४१५ ॥

विलययोग्या—आलोचनापरिणदो रत्नत्रयातिचारान्मनोवाकायविकल्पान्मदीयान्गुरो न्निवेदयिष्यामीति कृत-
संकाश्यः । सम्मं आलोचनादोषाभिरिस्सज्य संपरिणदो यत्तुमुपगतः । गुरुसयासं गुरुसमीपं । जदि अंतरा खु यद्यन्तराल
पर । अमुहो हवेज्ज पतितान्तो भवेत् । आराधको होख आराधको भवति ॥

सम्यगालोचयिष्यामीति प्रणिधानपरो गुरुसंमुखं चक्षिवो दैर्घ्यावतराले एव अवबन्तीभूतोऽप्याराधकोऽस्तीति
उपविशति—

भूछारा—आलोचनापरिणदो, रत्नत्रयातिचारान्मनोवाकायविकल्पान्मदीयान्गुरोर्निवेदयिष्यामीति कृतसंकल्पः ।
सम्मं सम्यक् आलोचनादोषं परित्यज्येत्यर्थः । संपरिणदो यादृमुपगतः । अमुहो निर्बन्धतः ॥

अर्थ—मन बचन और कायके द्वारा रत्नत्रयमें जो अतिचार लगे हैं वे सब गुरुके पास जाकर मैं कहूंगा
अर्थात् गुरुके समीप दीर्घोंकी आलोचना करूंगा ऐसा मनमें निवार कर जो साधु गुरुके पास जानेके लिये निकला
पट्ट यदि मार्गमें ही वह मूकवस्थाको प्राप्त हो जावे तो भी वह आराधक होता है—आराधक माना जाता है,

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०५ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरारालोचनापरः

विपद्यतेऽन्तरालेऽपि तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१६ ॥

विजयोदया—आलोचनापरिणतो स्वापराधकथनावहितविषयः । गुरुसमीपमागच्छतो यच्छतपालं पयः कालं
कुपयति । आराधको ह्रीं आराधको भवति ॥

आलोचनापरिणतो समं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि आयरिओ असुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०६ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः सूरिसन्निधिं ॥

यद्यस्यस्यमुसः सूरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१७ ॥

विजयोदया—तथा आलोचनापरिणतः गुर्वन्तिकं प्रस्थितः आराधको भवति । यथाचार्यो यत्कुसुमको ज्ञातः ॥

आलोचनापरिणतो समं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०७ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः सूरिसन्निधिं ॥

यद्यपि द्वियतो सूरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१८ ॥

विजयोदया—आचार्यः कालकरोऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थः ॥

पठन्मनोऽप्याराधकोऽक्तोऽपि—

मूलतः—स्पष्टः ॥

अर्थ—मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरुके चरणमभीष जाकर कहूंगा ऐसा मनमें विचार कर निकला
हुआ मुनि यदि मार्गमिही भरण करे तो भी वह आराधक होता है.

अर्थ—मैं अपने अपराध परगणके आचार्य के पास कहूंगा इस अधिप्रायसे भजन करनेवाले आचार्य यदि
मार्गमिही गुरुपस्थाकी प्राप्त होजाये तो भी वे आराधक होते हैं. अर्थात् यदि वे व्याधिजर्जरित होकर बोलेनेमें
अतमर्थ हो गये तो भी वे आराधक होते हैं.

अर्थ—आलोचना करनेके उद्देशसे गुरुके समीप निकले हुए आचार्य यदि मार्गमि स्वर्गवासी हो जावे
तो भी वे आराधक माने जाते हैं.

कथं धाराधकता तस्य ? न कृता आलोचना ? नाचरितं गुरुरणदिष्टं प्रायश्चित्तमित्योत्तराग्रामावधे—

सह्यं उद्धरिदुमणो संवेगुन्वेगतिव्यसङ्गाओ ॥

ज जावि सुद्धिहेदु सो तेणाराहओ भवदि ॥ ४०८ ॥

संवेगोद्वेगसंपन्नं शुद्धये गच्छत्यसौ यतः ॥

मनःशून्यं निराकर्तुं भवत्यारारधरुस्ततः ॥ ४१९ ॥

विक्रयौवया— कृतापराधाऽनालोचनायां मायाशक्त्य भवति । सति मायाशक्त्यै न रजप्रयशुद्धिरिति मया राक्षसं मुक्तं । संवेगुन्वेगतिव्यसङ्गाओ सकारभीकता संवेगं, शरीरस्याशुचित्तमसारता, दुःखदुःखता चाबलो ज्ञय, तथेन्द्रिय-सुखानामवसिक्तारिता, तृष्णाभिव्युक्तिनिमित्तता च तमोद्वेगः । सो संवेगोद्वेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नप्रयारायता श्रद्धा अ-पस्य विद्यते स लब्धते संवेगुन्वेगतिव्यसङ्गाओ इति । अथवा संवेगोद्वेगाभ्यां प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नप्रयाराध-माया स गता भवत्येते । ज जावि सुद्धिहेदु यस्माच्छुद्धिनिमित्तं यति । सो तेण धाराहओ होवि स तेन धाराधको भवति ॥

कथमनालोचितस्याननुचितगुरुकर्मप्रवृत्तितयापराधकत्वं स्वादित्यादिंकायमाह—

मूलारा—सह कृतापराधानाञ्चनेन सति मायाशक्त्यै रत्नप्रयशुद्धिर्छात् । उद्वेगं शरीरोद्विगुणे चासारत्वं शुष्णामिषर्षकत्वादिवोपदर्शनादुद्वेगो वैराग्यं । विषयसङ्गा उरुद्वयारणालिकरत्नप्रयाराधनादचि । संवेगाविषयं गच्छति यः स तयोक्तः । अथवा संवेगोद्वेगाभ्यां प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यत्वेति प्राश्नात् । सोभिहेदुं शुद्धिनिमित्तम् ।

विसने आलोचना नहीं की, विसने गुरुकर्मप्रवृत्तितयापराधका आचरण नहीं किया है यह मुनि अपराधक कैसा माना जाता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अपराध करके भी लो आलोचना नहीं करता है वह मुनि मायावी समझना चाहिये. मायाशून्यके होनेसे रत्नप्रयामें निर्मलता होती नहीं ऐसा मनमें विचार कर शून्यका उद्धार करनेका विसने विचार किया है विसके मनमें संसारभय उत्पन्न हुआ है, शरीर अपवित्र, नि सार और दुःख देनेवाला है, इंद्रियसुख अवप्तिजनक और तृष्णा पदानेवाला है, ऐसा विचार कर जो उससे उद्धि हुआ है और विसके मनमें रत्नप्रयविषयक श्रद्धा तीव्रतासे भगद हुई है और जो अपराध निवेदनके लिये गुरुके पास जा रहा है ऐसे मुनिभी यदि मार्गमें वचन

शक्ति नष्ट हो गई अथवा वह यदि मार्गमें मृत्युवश हो गया तो बिना आलोचनाके भी रत्नत्रयाराधक माना जाता है.

निर्यापकसूत्रान्येषणार्थं गच्छतो गुणभावाद्ये —

आधारजीदकपुणदीवणा अचसोधिणिज्ज्ञांसा ॥

अज्जयमहवलायवतुट्ठीपल्हादणं च गुणा ॥ ४०९ ॥

आधारजीदेकल्पानां जायते पुणदीपना ॥

गुणाः स्वशुद्धपसंक्षेपौ मार्दवाजवचतुष्टयम् ॥ ४१० ॥

विजयोदया — आधारस्वीदकपुणदीवणा आधारस्य जीदसंक्षितस्य कल्पस्य च पुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेवान्येषकः प्रयतते । अचसोधि आत्मनः बुद्धिः, निजज्ञा फलेशाभाय । न हि संकलेशानित्ये दूरं प्रयत्नुमीदृते । स्वदोषप्रकटनान्माया लक्षा मयत्वेव, तत्र एव माननिरासो मार्दव । शरीरस्पर्त्यागादित्युदितया सावधं । फलार्थोऽस्मीति मुष्टिर्भवति । अस्थितस्य प्रवृत्तादने हृदयसुखे च स्वपरोपकाराभ्यां गमिता । फाला, इत उत्तरं मदीय वय कार्ये प्रधाने उच्यते अविद्यामि इति चिंतया ॥

निर्यापकसूत्रान्येषणार्थं गच्छतो गुणानावाद्ये —

मूढारा — आधारस्य जीदस्य कल्पस्य च पुणप्रकाशना एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेव बान्वेषकः प्रयतते । निपतंता संकलेशाभावाः । न हि संकलेशानित्ये दूरं प्रयत्नुमीदृते । अज्जयं मायात्यागः । स्वदोषप्रकटनान्मायावोमात ॥ मरवं माननिरासस्तत्र एव लापदं लोभनिर्जयः । शरीरस्यागादित्युदित्याम् । मुट्ठी कृतार्थोऽस्मीति प्रीतिः । पल्हादणं स्वपरोपकारार्थ्यां गमिताः फाल इत उत्तरं स्वकार्ये एतेषुको भविष्यामीति चित्तयोद्यूतं यत्सुखं । एतेषो गुणा सुर्वान्येषणार्थं प्रययन्तिो भवन्ति ॥

निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेवाले आचार्य के गुणोंका वर्णन —

अर्थ — निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेसे आधारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है. ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयका स्वरूप दिखाते हैं. और अन्येषक मुनि रत्नत्रय निर्मल

करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करना है, आत्मशुद्धि अर्थात् आत्माकी शुद्धि होती है, संक्षेपपरिणाम नष्ट होते हैं, अथवा विदार करना छेददायक है ऐसा जो समझता है वह गुरुका अन्वेषण करनेके लिये क्यों कष्ट सहैगा पंडित जिनकी आराधनासिद्धि करनेकी इच्छा है वे कष्ट सह कर गुरुका अन्वेषण करते हैं, और इस कार्यमें वे कष्ट समझते नहीं, अज्जवगुण-गुरुका अन्वेषण करनेके लिये विहार करनेसे आर्जव गुणकी सिद्धि होती है अर्थात् कष्टका त्याग होता है, क्योंकि गुरुका शोध कर उसके आगे अपने दोषोंको मायाका त्याग कर प्रगट करनेसे आर्जव-गुणकी प्राप्ति होती है, दोष प्रगट करनेसे अभिमानका भी परिहार होकर मार्दव गुणका लाभ होता है, शरीरका परित्याग करनेकी शुद्धि होनेसे लाघव गुणका लाभ होता है, मैं कृतार्थ हो चुका ऐसा विचार मनमें आता है इससे द्विष्टि गुण भी व्यक्त हुआ, गुरुका शोध करनेके लिये प्रयाण करते समय प्रत्यक्ष अर्थात् हृदयमें सुख उत्पन्न होता है, आज्ञावक मैंने स्वपरीषकार करनेमें काल व्यतीत किया अब मैं आगेका सर्व काल मेरे कार्यमें ही अर्पित कर आराधनाओंकी सिद्धिमें हि व्यतीत करूंगा ऐसी चिन्तासे उसके हृदयमें सुख उत्पन्न होता है.

इसमें शुद्धिपूर्वप्रयत्ननायातं दृष्ट्या तद्वर्णनादिनां सामाचारकामं ध्याद्वरति -

आएसं, एज्जंतं अब्भुद्धिंति सहसा हु वदठूणं ॥

ओणासंगहवच्छुद्धाए चरणे य णाहुंजे ॥ ४१० ॥

अलोक्य सहसा यान्ममभ्युपिच्छन्ति संयताः
आशोसंग्रहवात्सल्यप्रणामकृतयोऽखिलाः ॥ ४११ ॥

चित्रयोदया - आपसे प्रापूर्णकं । एज्जंतं आयातं । सहसा अब्भुद्धिंति अचानक उत्पन्न होती है । ओणासंगहवच्छुद्धाए अपूर्णकं । चरणे य णाहुंजे । चरणों में आयातं । अलोक्य सहसा यान्ममभ्युपिच्छन्ति संयताः । वत्सल्यप्रणाम च तस्मिन्चरणे य णाहुंजे च । अलोक्य सहसा यान्ममभ्युपिच्छन्ति संयताः । चरणे य णाहुंजे ॥ इति चरणावगमनार्थं तत्र आह ॥

शुद्धिपूर्वप्रयत्ननायातं दृष्ट्या तद्वर्णनादिभिः करणीयं सत्त्वाचारकम् यावात्रयेण निरूपयति -
मुदाय - आपसे प्रापूर्णकं । एज्जंतं आयातं । सहसा अब्भुद्धिंति अचानक उत्पन्न होती है । वत्सल्यप्रणाम च तस्मिन्चरणे य णाहुंजे च । अलोक्य सहसा यान्ममभ्युपिच्छन्ति संयताः । चरणे य णाहुंजे ॥ इति चरणावगमनार्थं तत्र आह ॥

अमुद्रया सन्ना मुपतयधितारदा उपागेम्य इति त्रिनासासंपदनाथि संमहः । आगच्छतो मुनेः सांसुस्येन प्रतिमहर्षेण ।
परने य पातुंने वदीयपरिचं समाचारकर्म च प्राप्तुमिति दीक्षा । अन्येतु वरणवर्णामेहुं वरणवर्णमनार्थ इति प्रतिपन्नाः ।

चर्चं च—अभ्युभिष्टन्तव्या दृष्ट्यवगम्युक्तं समायत्तं ॥

क्षेमद्वयसत्त्वव्याप्यमानदेवोः शुलंयमितः ॥

इम प्रकार गुरु का अन्येषण करनेके लिये आपे हुए उस मुनीको देखकर परगणवासी मुनि-उसके साथ
कैसा वर्तन करते हैं इम विषयका विवेचन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ-अतीथि मुनि आता हुआ देखकर परगणस्थ यति सहसा क्षीम्र खड़े हो जाते हैं, खड़े होजानेसे
त्रिनाम्नाका पालन होता है, आगत मुनिका स्वीकार होता है और बांस्तत्स्य गुण प्रगट होता है, स्वार्थानिपुण
मुनिही उपायना मी एते कृत्य करनेसे होती है, आगत मुनिका आचार मी इस उपायसे जाना जाता है इत्यादिका
लार्प आगत मुनिको देखकर क्षीम्र खड़े होजाना चाहिये—

आगतुगवज्जुब्बा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ॥

अण्णोण्णवरणकरणं जाणहेदुं परिकखंति ॥ ४११ ॥

पासत्त्पगंतुकाःसम्यक् विविधैः प्रतिलेखनैः ॥

क्रियाचारित्र्ययोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥

विजयोत्पत्त्या—आगतुगवज्जुब्बा आगतुको पासत्त्पवाक् । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णेहिं अन्योन्ये ।
अण्णोण्णकरणकरणं अन्योन्यस्य चरणं करणं वा । परिकखंति परीक्षन्ते । क्रियार्थे अण्णहेदुं प्राप्तुं । समितयो गुप्तद्वयरण-
महेतोच्यंते करणमित्याद्यदयकानि गृहीतानि । आचार्यणात्मगुपेदेतमेवत्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगमः तं प्राप्तुं
महापरस्मानयोग्यो न पायमिति प्राप्तुं वा ॥

गृहाण—पच्छन्वा पासत्त्पवा कथयः । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णाहिं अन्योन्ये । अण्णेज्ज
परणकरणं अन्योन्यस्य परणकरणं परणं गुप्तिसमितया । करणं चावदयकानि ॥ जाणहेदुं प्राप्तुं, सूरीणामुपदेतमेव
त्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगम इति तं प्राप्तुं । महापरसातयोग्यो न पायमिति वा प्राप्तुं । अन्ये तु श्रविलेखनेरन्योन्य

करणादिज्ञानार्थं परीक्षते इति प्रतिपत्ता ॥ तथा च तल्लघ्नं — आर्गन्तुक्वास्तव्या प्रतिलेखाभि परस्पर यतय ॥

अन्योऽन्यवरणकरणाज्ञाननिमित्तं परीक्षते ॥

अपि य—वास्तव्यागतुका सन्वगिविधे प्रतिलेखने ॥

क्रियाचरित्रयोश्च परीक्षते परस्परम् ॥

अर्थ—आया हुआ मुनि और गणके वास्तव्य अर्थात् दोनो मुनि अन्योन्यके आचरणको प्रकार परीक्षा पूर्वक देखते हैं, आये हुए मुनिकी सभिति और गुप्तिया निर्दोष हैं या संदोष हैं इसका परीक्षण वास्तव्य मुनि करते हैं, आगतुक मुनि भी उनके सभिति शुभशौकी परीक्षा करता है, सामाधिकारिक छह आवश्यकोंकी भी वे मुनि अन्योन्य परीक्षा करते हैं अथवा अस्वायोंके उपदेशमेदसे आचार अनेक प्रकारका है उसका परिज्ञान करनेके लिये वे अन्योन्यकी परीक्षा करते हैं अथवा आगतमुनि अपने साथ रहनेकी योग्यता रखता है या नहीं यह जाननेके लिये वे मुनि परीक्षा करते हैं

क परीक्ष्यते इत्यत्राह—

आवासयटाणादिषु पडिलेहणवयणगहणानिक्खेवे ॥

सञ्ज्ञाप य विहारे भिक्खवगहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥

आवश्यकके ग्रहे क्षेपे स्वाध्याये प्रतिलेखने ॥

परीक्षन्ते वचोमार्गे विबाराशरयोरपि ॥ ४१३ ॥

विजयोदया—आवासगटाणादिषु अवश्यमेव स्मरनिर्जटाधिभि कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यते तेषा स्थान स्थिति आवश्यकपरिणति काल । दुःखमदं जहाजाद वारसावत्तमेव च । अतुस्तिर तिसुखमित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्यामादिषु । पडिलेहणवयणगहणानिक्खेवे । प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणे वा, पचने, उपकरणता ग्रहणे, निक्षेपे, च सञ्ज्ञाप त्वाच्याये, विहारे जघाविहारे, भिक्खवगहणे निष्ठाग्रहणे च परिप्लवति परीक्षते । किमय सामायिकादीन्यावदवकावि करोति ? कर्त्तव्ये वा यथाकाल करोति न वा ? किं वा द्रव्य सामायिकादौ प्रचलते उत भावसामायिकादौ ? द्रव्यसामायिकादिक भवति सामायिकाधिकं पठत, कालेन चोक्ता क्रिया कुर्वत । साधययोगप्रत्यास्थाने, कीर्तिलेहणवयणगहणे, आचार्योपाध्यायादीनां वा गुणानुसृत्यै, क्षातिचारनिर्वाहयो ,

प्रत्यात्येयप्रत्याख्ये, शरीरसमस्तानि रासे वा, परिणतिर्मात्रसामाधिक्यविकिं । तत्र प्रवृत्तो न वेति परीक्षा । बहुधा पूर्वमिदं प्रतिनिर्गमनं योग्यं न चेति किं पश्यति न वा । उपकरणेन श्रुतुना लघुना प्रमाजने किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरितं प्रमाजं पति, अग्रीहीयति, कृत्यत्वात्प्राप्तयति, प्रमाजं नेन विरोधितो जीवाग्निमयति । आहाराभिमुखान्, आहारसाहिणो गृहीतांङ्ककार, स्मृतिवासद्व्यस्थान्, मूर्च्छाभिमुखताम्रमाजंयति न वेति परीक्षा । बच्चे परीक्षा--परुषं वचः, परनिर्गमप्रसारादृते, आरंभरिप्रारयोः प्रयत्नं, निष्पत्त्यवसंयत्नं, निष्पत्त्यवसंयत्नं, निष्पत्त्यवसंयत्नं वचो वा यति न वेति । यतो यद्वेद्यं यद्वा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमाजं पूर्ववत् किं युद्धति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । काला विद्यादि कृत्या पठति किं वा न, अथवा रमं ग्रंथं पठति, कथं वास्थार्यं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशादरे इत्समात्रादिरिमाणे स्मृतिने, निजनेके निश्चिदे, दमे, अविरोधे प्रमाजं नेन वलोभये किं स्वशरीरमलं त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । निरुपपन्नं परीक्षा मात्र आत्मनो यो कांश्चिद्भिन्नं युद्धति लक्ष्यामुत् नवकोटिपरिदुःखमिति ॥

॥ ॥ परीक्षते इत्याह--

मूढारा -- आवासयत्नानादितु आश्रयकेषु सामायिकादियु, स्थानं स्थितिरावश्यकपरिणतिकाल इत्यर्थः । आरिस्त्येन दुःखार्थं अज्ञानार्थं वारसायत्तमेव य । चतुस्सिरे तिसुखमित्यादिकाः क्रिया श्रुतीनाः । पवित्रेहणा चक्षुःपिच्छा-
पित्ता प्राणितिरुपणप्रमाजने । विहारे भयमेव ॥

अर्थ--संवर और निजराकी इच्छा रखनेवाले मुनियोंके द्वारा किये जानेवाले सामायिकादि कर्तव्योंकी आवश्यक कहते हैं. अर्थात् सामायिकादि छह आवश्यकोंका पालन आगत मुनि योग्य समयपर करता है या नहीं इसकी परीक्षा वास्तव्य मुनि करते हैं. दो नमस्कार, चारा आवर्त, प्रत्येक दिशाके तरफ एक एक नमस्कार ऐसे चार नमस्कार, मन, वचन और क्रायकी छुदितसे करना इत्यादिक क्रियाओंका पालन यह मुनि करता है या नहीं इसका सूक्ष्म अनलोकन वे करते हैं, नेत्रोंसे उपकरणोंका शोधन करना, सोध करके उपकरण उठाना, रखना, चोलना, स्वाध्याय करना, विहार करना, आहार ग्रहण करना इत्यादि कार्योंमें आगत मुनीकी परीक्षा । ली जाती है. यह मुनि सामा-
यिकादि कर्तव्य करता है क्या ? योग्य कालमें करता है या नहीं ? केवल द्रव्यसामायिकादिकोंमें यह प्रवृत्त होता है या मान्यसामायिकादिकोंमें इसकी प्रवृत्ति है ? बचनेसे सामायिकादिकका पाठ चोलना और शरीरके सामायिका-
दिकोंकी क्रिया करना यह द्रव्यसामायिक समझना चाहिये. अशुभ योगका त्याग करना, तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण करना, आचार्य, उपाध्याय वगैरह पूज्य मुनियोंके गुणोंका स्मरण करना, अपने व्रतमें लगे हुए अतिचा-
रोंकी निंदा व गद्दी करना, त्याज्य पदार्थोंका त्याग करना, शरीरके उपरका स्नेह छोडना इत्यादिकोंमें जो उत्पत्ता

देखी जाती है वह सामायिकादिक आवश्यक है. इन भावसामायिकादिकोंमें इसकी परिणति है या नहीं यह वास्तव्य मुनि देखते हैं. यह स्थान प्रथम नेत्रसे देखकर स्वच्छ करता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. मृदु पिच्छ-कासे जमीन, कर्मदण्ड, शस्त्र वगैरे उपकरण स्पष्ट करता है या नहीं. धीरे धीरे संमार्जन करता है या त्वरित, जी-वोंको उपकरणसे हटाता हुआ उनको पीडा करता है क्या ? उनको फेर देता है क्या ? अथवा निरोधी प्राणिजोंको परस्पर मिश्रण करता है क्या ? जो आहारके लिये जा रहे हैं, जिन्होंने आहार ग्रहण किया है, जिन्होंने अण्डे ग्रहण किये हैं, जो अपने निवास प्रदेशमें ठहरे हुए हैं, जो दृक्छित होकर पड़े हैं ऐसे प्राणिजोंको यह मुनि धीरेसे हटाता है या नहीं उसकी वास्तव्य मुनि परीक्षा करते हैं. आगत मुनि के वचन की भी परीक्षा करते हैं अर्थात् आगतमुनि कठोर वचन, परिनिदा स्वप्रशंसा करता है क्या ? आरंभपरिग्रहोंमें ग्रहण करनेवाला, मिथ्यात्वको उत्पन्न करनेवाला मिथ्याज्ञानको उत्पन्न करनेवाला, असत्य, और गृहस्थोंका वचन बोलता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. जो वस्तु जिस स्थानसे लेना है और जो वस्तु जिस स्थान पर रखना है उन वस्तुओंका प्रमार्जन करके ग्रहण निक्षेपण करता है या अन्यथा उसमें प्रवृत्ति करता है इसका वे मुनि परीक्षण करते हैं. कालादिशुद्धि का विचार कर स्वाध्याय करता है या नहीं ? अथवा इस ग्रंथका यह मुनि पठन कर किस रीतिसे अर्थ कहता है. इसकी भी परीक्षा करते हैं. विहारपरीक्षाका स्वरूप इस प्रकार है—अपने निवासस्थानसे दूर हात वगैरे प्रमाणसे युक्त, प्राणिरहित, छिन्नरहित, समतलयुक्त विरीधरहित, मार्गसे चलनेवाले लोक जिसको नहीं देख सके ऐसे स्थानमें यह मुनि शरीरमलका त्याग करता है ? अथवा विपरीत स्थानमें शरीरमलका विसर्जन करता है इसकी परीक्षा करते हैं. यह विहारपरीक्षा कही जाती है. भिक्षाग्रहणपरीक्षा—जो कुछ आहार मिलेगा वह ग्रहण करता है अथवा नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करता है इसका भी वास्तव्य मुनि विचार करते हैं.

भाग्युक्तो यतिर्गुरुमुपाधित्य सविमयं संघाटकदत्तेन भगवद्गुणान्मोऽस्मीति विद्यापनं करोति । ततो भगवत्ये-
तापि समानारक्तो दत्तव्यः संघाटक इति निगदति—

आएससस तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादुव्वो ॥
 सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ॥ ४१३ ॥
 देयः संघाटकोऽवदयमागताय दिनत्रयम् ॥

असंस्तुतस्य धत्तेन शाय्यासंस्तरकावपि ॥ ४१४ ॥

विजयोव्या—आएलसस तिरत्त प्रापुण्णस्य चित्तं । णियमा संघाडओ दु दादुव्वो निधयेन संघाटको दातव्य एव । सेज्जा संथारो वि ॥ वसति. सस्तरया दातव्यः । जइ वि असंभोइओ होइ । यद्यप्यपरीक्षितत्वरत्नद्वानाच रणीयो भवति । तथापि संघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारधेयसंग्रहते ॥

आर्गबुकेन च त्रयमुपार्थित्य भगवत्संपादकदानेनानुग्राहोऽस्तीति विहापितो गुरुस्तसौ सामाचारज्ञं संघाटकं वगान् इति ज्ञापयति—

मूलाप—दु दादुव्वो दातव्य एव दुरेणार्थोऽत्र निगम्यः । असंभोइओ असंभोगिकः सामाचारिक इत्यर्थः
 युआचारधेयसंग्रह इति भावः ॥

आर्गबुक मति गुरुका आश्रयकर हे भगवन् ! सहाय देकर आप मेरे ऊपर अनुग्रह करो ऐसी विज्ञप्ति फाला हे तब आचारक्रमके ज्ञाता उसको संघाटक अर्थात् सहायमदन करते हैं यही भाव आगेके माथामे आचार्य फरते हैं—

अर्थ—अतिथिरूप भुक्तिको नियमसे तीन दिन तक सहायप्रदान करना चाहिये. उसको वसतिक्रा और तस्तर अर्थात् थड़ाई देना चाहिये. यद्यपि परीक्षा होनेतक उसके ताम आचारण करना योग्य नहीं है तथापि उसको सहाय देना चाहिये. और यदि उसका आचारण योग्य दीख पदा तो यणमें उसका संग्रह करना चाहिये.

दिनत्रयोत्तरकालं किं कार्यं शुद्धमेत्यादां कथां वदति—

तेण परं अधियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादुव्वो ॥
 सेज्जा संथारो वि य गणिणा अबिजुत्तजोगिस्स ॥ ४१४ ॥

संघाटको न दातव्यो नियमेन ॥ परम् ॥
यतेपुस्तकरित्रस्य शाय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२५ ॥

विजयोद्या—तेण गणिना तेन गणिता । परं दिनत्रयात् । अविचार्य अविचार्यं सप्तसंघाटं यतियदन-
धयणोचरकाळं । तु शब्द पत्रकारार्थे प्रयत्नेते स च दण्डवो इत्येतस्मात्परतो द्रष्टव्यः । न दातव्य एव संघाटकः । सेजा
संघारो वा वसति. संस्तरो वा न दातव्य. । अविलुत्तजोभिस्स युक्ताचारस्यापि न दातव्यः संघाटकादि. परीक्षामंतरेण
किं पुनरितरस्येत्साशय. ॥

इयदादूर्ध्वं किं कार्यमित्याह—

मूलारा—सेण गंतव्येन गणिता । परं दिनत्रयादूर्ध्वं । अविचार्य अविचार्यं । संघाटक्यतिना सार्द्धं अवर्त-
यित्वा (१) अविलुत्तजोगस्स युक्ताचारस्यापि आंगंतुकस्य संघाटकादिकं युक्तयोगस्यापि परीक्षां विना न दातव्यमेव
किं पुनरितरस्येत्त्वविशयः । यदि परीक्षा धम्यते तदा संघाटकादिकं दातव्यमिति काल्ययः ॥

तीन दिनोंके अनन्तर गुरुके द्वारा कोनसा कार्य किया जाता है इसका निश्चय करते हैं—
अर्थ—तीन दिनोंके अनन्तर मुनिका यवन मुनकर अर्थात् यह आंगंतुक मुनि अपने गणमें आश्रय देने
योग्य नहीं है ऐसा वचन मुनिक आचार्य उस आंगंतुक मुनिको सहायप्रदान नहीं करते हैं. तथा वसतिका और
संस्तर भी उसको नहीं देते हैं. आंगंतुक मुनिका आचरण योग्य है परंतु तीन दिनोंके उसकी परीक्षा नहीं हुई तो
उसको भी आचार्य सहाय, वसतिका और संस्तर नहीं देते हैं.

अविचार्यं तेन सहायस्थाने को दोषो येनैतं कलः क्रियते इत्यरेकायां दोषमाचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणासु सोधी ॥ विज्जेदे तस्स ॥

अणमारमणालोद्धय दोसं संमुज्जमाणरस ॥ ४२५ ॥

गृहानस्य यतोऽसुरेनिराकृतदूषणम् ॥

उद्गमोत्पादनाहारदोषशुद्धिर्न जायते ॥ ४२६ ॥

विजयोद्या—उग्गमउप्पादणएसणासु उद्गमोत्पादनैरणालोपरिहारो न विज्यते तस्य गणिनः । अणमारं यतिं ।

अणालोहय दोषं अनालोचितदोषं । संयुज्जमाणस्तस्य संगृह्यतः । उद्रमादिदोषोपहतमाहारं वसतिं, उपकरणं वा सेवते यः यतिः तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवति इति ॥

अविचार्य तेन सहायस्थाने को दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकायां दोषमाचष्टे—
मूलरा—सोधी परिहर । उद्रमादिदोषाणां त्याग इत्यर्थः । तस्मै गणिनः । अणगारं यतिं । संयुज्जमाणस्तस्य संगृह्यतः । उद्रमादिदोषोपहतमाहारं वसतिमुपकरणं वा यः सेवते तेन सह संवासात् । संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवतीति मन्यते ॥

समाध्यर्थं प्रश्नकेन गुरुमुपाधित्यागमनकारणं निवेदयति—

विणयेषुवक्ष्यमिषा खलसंपज्जवि दिवा व रादो वा ॥

दीवेदि कारणं पि य विणयेण उवष्टिप सेते ॥

मूलरा—विणयेण प्रज्ञामादिता । उवक्ष्यमिषा परगणमिति शेषः । खलसंपज्जति उपाश्रयति । निर्योपकाचार्यमिति शेषः । रादो रात्री । दीवेदि शकनायति कारणं त्यागमनस्येति शेषः । खलमन्त्रार्थः—उच्छमार्थसाबनोद्यतः परगणं गत्वा निर्योपकाचार्यमुपाश्रयति । ततश्च दिने रात्रौ वा खलसं प्राप्य सयुषाभितो विनयेनागमनकारणं ज्ञेते । एतां टीकाकारो नेच्छति

अर्थ—जो मुनि दोषोंकी आलोचना नहीं करता है, जो उद्रम, उत्पादना दण्डणा दोषोंसे युक्त आहारका, वसतिरूपा, उपकरणका और संस्तरका सेवन करता है ऐसे मुनिके साथ जो आचार्य रहता है अथवा उसके साथ रहनेके लिये अन्य मुनियोंको अनुमति देता है, वह भी आगतुक मुनिके समान दोषी समझना चाहिये, जो आगतुक मुनि उद्रमादि दोषोंसे अशुद्ध हुआ है वह आलोचना भी नहीं करता है, अत एव उसको संयते अलग करनाही योग्य है, उसके दोषोंको विचार न कर उसके साथ रहनेसे स्वयं भी आचार्य और संघ अशुद्ध होगा।

उज्वाद्घो ते दिवसं विस्सामिच्चा गणिमुवट्ठादि ॥

उच्छरिदुमणोसहं विदिपु व दिवसस्मि ॥ ४१६ ॥

॥ प्रणम्य गणनायकं त्रिधा भाषते निश्चि दिवाय संश्रितः ॥
आगमस्य विनयेन कारणं सिद्धये न विनयं विना क्रिया ॥ ४२७ ॥
विश्रम्यासी शल्यमुद्धर्तुकामः श्रान्तः स्थित्वा चासरं तं द्वितीये ॥
तत्राचार्यं दौकते वा तृतीये न प्रारब्धं साधवो विस्मरन्ति ॥ ४२८ ॥

इति मार्गणासूत्रम् ।

विजयोद्या—उक्तादौ श्रान्तः स्थित्वा । तं दिवसे यागतदिनं । विस्मरन्ति तत्रा विथाय । गणितुयद्वादि आचार्यं
दौकते । उद्धर्तुमणोसहं उद्धर्तु मन्तःशल्यं भस्तिचारं । विदिप तदिप य विपसमिम द्वितीये तृतीये वा तिने मार्गणापुरस्सरा
क्रिया सर्वा मार्गणत्युपन्यस्तार ॥

ततो द्वितीयेऽन्दि तृतीये वा स्वशल्यमुद्धर्तुं पुरुमुपसर्पन्ति—

मूलाग—उक्तादौ श्रान्तः । तं दिवसे आगमनदिनं । उद्धर्तुदि दौकते । उद्धर्तुमणो हृदयाभिष्णकास्तयितुकामः
सर्वं रत्नत्रयातिचारं । अत्र मार्गणादुपनिष्यसि क्रिया मार्गणैवेति उपन्यस्ता । मार्गणा सूत्रतः । १६ । अंकतः । १७ ॥

अर्थ—मौलश्रमसे त्विभ हुआ यह आगतुक मुनि पहले दिन श्रमपरिहारार्थं विथान्ति लेता है. तदनंतर
दूसरे दिन अथवा तीसरे दिनमें मनमें शल्यके समान बुभनेवाले अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके चरण
समीप वह प्राप्त होता है. मार्गणापुरःसर जो जो क्रिया की जाती है वे सब मार्गणा ही कही जाती है.

कीदृशगुणः चरिरभेनोपाश्रित इत्यात्मधे—

आधारयं च आधारवं च व्यवहारवं पकुब्धीय ॥

आयावायविदंसी तद्वेव लुप्पीलमो चेव ॥ ४२७ ॥

आचारी सूरिराचारी व्यवहारी प्रकारकः ॥

आयापायह्युल्पीडी सुखकार्यपरिस्त्रवः ॥ ४२९ ॥

विजयोद्या—आधारवं च आधारवान् । आधारवं च आधारवान् । व्यवहारवं च व्यवहारवान् । पकुब्धीय
कर्तो । तद्वेव आयापायविदंसी आयापायदर्शनेष्वतः । लुप्पीलमो चेव । अवपीडकः ॥

अथैवं समाप्य सर्वं कृत्वपरिकर्मणा तेन सुसुखेणा कीदृगुणः स्मरिरुणमित इति श्रुतः सन् गायानवत्या नियमिका-
चार्यगुणधामं प्रपञ्चयिष्यन्नादौ तदुक्तान्तरादुरेन्दुं गायद्भ्यस्माद्—

मूलरा—आचार्यं आचारवान् । पशुज्ज्वो प्रकृतौ । आयापायप्रदं चो आयापाययो रत्नत्रयस्य लाभच्छेदयो-
रंशेनोपगतः उष्णीषगो अक्षरीलका ॥

जित आचार्यका आगतुक युनि आश्रय करता है उसमें कोनसे गुण रहते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्त्ता, आयापायप्रदश्चोपगत, और उत्पीलक
होता है.

अपरिस्साई णिज्जावओ य णिज्जावओ पहिदकिच्छी ॥

णिज्जवणगुणोपेदो एसिओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥

एभिर्निर्णोपकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्यतः ॥

दातुमारपधनामोशः पृथुकीर्तिकेपेयुपे ॥ ४३० ॥

विजयोव्या—अपरिस्साई अपरिस्सायी । णिज्जावओ निर्वापकः । पहिदकिच्छी प्रयत्नकीर्तिः । णिज्जवण
गुणोपेदो निर्वापनगुणसमन्यतः । एसिओ होदि आधारित्वो ईदग्भवत्प्राचार्यः ॥

मूलरा—णिज्जावओ—निर्वापकः । उक्तं च—

आचारी स्वरिपथारी व्यवहारी प्रकारकः ॥

आयापायदिगुलीदी सुतकार्यपरिस्सवः ॥

एभिर्निर्वापकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्यतः ॥

दातुमारपधनामीशः पृथुकीर्तिकेपेयुपे ॥

अर्थ—आचार्य अपरिस्सायी, निर्वापक, प्रसिद्ध कीर्तिमान और निर्वापकके गुणसि पूर्ण होते हैं. इतने
गुण आचार्यमें होते हैं.

आचारवत्त्व्याख्यानायागता गाथा—

आचारं पंचविहं चरादि चरावेदि जो गिरादिचारं ॥

तुवदिसदि य आचारं एसो आचारवं णाम ॥ ४१९ ॥

आचारी स मतः सूरिरतिचारनिराकृतं ॥

चर्यते चार्यते येन पंचाचारोऽनुमन्यते ॥ ४२१ ॥

विज्ञानोदया—आचारं पंचविहं पंचप्रकारं आचारं । चरादि विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारं पंचविधे आचारो प्रवर्तयति । उदयसिदि य आचारं उदयसति च आचारं । एहो आचारं णाम एव आचारत्वाग्राम । एतदुक्तं भवति—आचारार्गं स्वये येषु ग्रंथोऽर्थतद्वच, स्वयं पंचविधे आचारो प्रवर्तते प्रवर्तयति च । पंचाचारत्वात् इति । पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवावितरअज्ञानपरिणति. वर्धनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चादिनाचारः । चतुर्विधाशुश्रूषणं, गृहभोजनं, वृत्तेः परिरूपणं, रत्नानां रक्षणं, कायसंतापनं विनियोजादात् इत्येवमादिकस्तपःसंज्ञित आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः । एते पंचविधा आचाराः ॥

मूढारा—पंचविहं पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवावितरअज्ञानपरिणतिर्वर्धनाचारः । हिंसादि निवृत्तिपरिणतिश्चादिनाचारः । अन्धनादितपश्चरणपरिणतिस्तप आचारः, तपसि स्वशक्त्यनिगूहनं वीर्याचारः । वीर्यावाचारस्य को भेद इति चेदुच्यते—सर्वशर्माधीनां निर्मलीकरणे यत्नो विनयः । निर्मलीकृत्येषु तेषु यथावीर्यं यत्न आचारः । इत्यनयोर्भेदः । श्लोकः—

सद्गृहीपृक्तपक्षां मुखक्षोर्निर्मलीकृतो ॥

यत्नो विनय आचारो वीर्योच्छुद्धेषु तेषु तु ॥

उदयसिदि । उपविशति च । एते तैल्लक्षयति [१] ग्रंथोऽर्थतद्वचआचारार्गं चेति पंचाचारोपेक्षान्वयायोगात् ॥

अर्थ—जो मुनि पांच प्रकारके आचार अतिचार रहित स्वयं पालता है और इन पांच आचारोंमें दूसरों को भी प्रवृत्त करता है, जो आचारका शिष्योंको उपदेश करता है वह आचारवत्त्व गुणका धारक समझना चाहिये अभिप्राय यह है कि जो मुनि ग्रंथ और अर्थ से आचारार्गको जानता है, स्वयं पांच प्रकारके आचारोंमें प्रवृत्त होकर अन्योको भी प्रवृत्त करता है वह पंचाचारवान् कहा जाता है. पांच प्रकारके स्वाध्यायोंमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानाचार है. जीवावितरोंपर अद्वैत रखना दर्शनाचार है. हिंसादि पांच पापोंसे निवृत्ति रूप परिणाम रहना चा-

विचार है, चार प्रकारके आचारोंका त्याग करना, अल्प भोजन करना, दाता, पात्र, आहार इत्यादिका परिभाषा करना, रसोंका त्याग करना, धरीरको आतापनादि योग और आसनादिकसे क्लेशयुक्त करना, एकांत स्थानमें रहना इतने सब प्रवृत्तियोंको तब आचार कहते हैं- तपश्चरणमें अपनी शक्ति नहीं छिपाना यह वीर्यचार है- ऐसे आचारोंके पांच भेद हैं-

प्रकापंतरेण आचारणत्वं कथयति—

दशविहङ्गिदिकल्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिंदा सयायरिओ ॥

आचारवं सु एसो पवणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥

दशधा स्थितिकल्पे वा सुस्थितो गतदूषणे ॥

आचारी फट्पत्ते युक्तः सूरिरागममातृभिः ॥ ४२१ ॥

विजयोदया—दशविहङ्गिदिकल्पे वा दशविधे स्थितिकल्पे वा । हवेज्ज जो सुट्ठिओ सया भवेयः सुस्थितः सवा । आयरिओ सवा । आचारवं सु आचारधाम । एसो एयः । पवणमादासु आउत्तो प्रवचनमादकासु समितियु सुवियु ख आयुक्तः ॥

आपावत्वमेव भंग्यतरेणोपविसति—

मूळारा—दिकल्पे आपरणविशेषे । पवणमादासु प्रवचनमादसु समितियुत्तिषु । आउत्तो फुवोयोगः ॥

अन्य प्रकारसे आचारयत्न गुणका निरूपण करते हैं—

अर्थ—जो दशप्रकारके स्थितिकल्पोंमें स्थिर है वह आचार्य आचारवत्त्वगुणका धारक समझना चाहिये- यह आचार्य तीन गुप्ति और समितियोंका गिनको प्रवचनमाता कहते हैं धारक होता है,

अभिहितकस्यनिर्देशार्थं गम्या—

अचेलक्कुदेसियसेज्जाहरारायपिडकिरियम्मे ॥

जेट्टुपाडिक्कमेगे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो ॥ ४२१ ॥

अचेलकत्वमुद्दिष्टशक्येशाहारवर्जने ॥ राजपिण्डविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥ ३३३ ॥

विजयोत्पत्त्या—आचेलकमुद्देशेति चेन्नग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहस्याम आचेलक्यमित्युच्यते । रणविषे धर्मं त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरेवैकतापि सैव । तेनचेन्नो यतिरुपागारये धर्मं प्रवृत्तो भवति । अकिंचनाख्ये अपि धर्मं समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहात्थां ह्यारंभप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यात्ते कुतोऽसंयमः । तथा सत्येयि धर्मं समवस्थितो भवति । एवं परिग्रहनिमित्तं ज्वलीकं वदति । अस्ति याद्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न तिमिच्छमस्यद्वयुद्धाभिधानस्य । ततो ह्युच्येयमेवैक सत्यमेव व्रणीति । लायवं च अचेलस्य भवति । अदणविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहभिरप्ये सति अदत्तवर्तने प्रवर्तते नाप्यथेति । अपि च रणादिके ह्येकं भागविभाग्युद्धिमं वल्लभ्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगतीनिमित्तो हि क्रोधाद्विग्रहप्रति चोत्तमा क्षमा व्यथतिष्ठति । सुरुपोऽहमाख्य इत्यादिषो दर्पस्त्वक्तो भवति अचेलेनेति । मार्दवमपि तत्र रातिहितं । असिहता चास्य स्फुटमात्मीयं मायमायुशयतोऽचेलस्याजंघना भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागम् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्तात् विरागभायमुपगतः । शब्दादिविपर्येय्यासक्तो भवति । ततो विमुक्तेश्च व्रीहोष्णवंशमराकादिपरित्यागमां, सुखासुरोदीर्घां, सोढास्त्रोपसर्गां निश्चेदलान्भ्युपगच्छता । तपोऽपि शोरममुष्टितं भवति ॥

एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्मात्प्राप्तं कृतं भवति संक्षेपेण । अध्यात्मया प्रकल्प्यते अचेलतामशोसा । संयममुद्धिरेको गुणः । स्वेदरजोमलामरिहति चेन्न तत्रोभिरास्तदश्वधारादय प्रसाः सख्यमाः स्थूलारण जीमा उपपद्यते, ते वार्यते चेन्नग्राहिणा । संसक्तं बलं तावत्स्थापयतीति चत्तर्हि हिंसा स्यात् । विष्यते च विष्यते संसक्ताः । चेन्नवतः स्थाने, क्षयने, निपयार्था, पाटने, छन्दे, वेष्टने, प्रक्षालने, संग्रहणे, आतप्रक्षेपणे च जीवानां दोषेति महानसंयमः । अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमयिमुद्धिः । ईद्विधविषयो द्वितीयः । सर्पाकुले येने विषयमेवाविरहितो यथा पुमान् दृढमयतो भवति एवमिद्विधनियमेने जचेन्नोऽपि प्रवर्तते । अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति । कपारागवदय शुणोऽचेलतायाः । स्तेनभावाद्भोग्यादिरस्तेन लेपं कुर्वन्निगूहयित्वा कर्थाचिन्मायां करोति । उन्मर्षेण वा स्तेनधेचनं कर्तुं यायात् । गुल्मयस्त्वयांघतादीतो वा स्यात् । चेलादिर्गमास्तीति गानं चोद्धते । यलादप्यदृष्टास्तेनेन सह कलहं कुर्यात् । लामात्रा लोभः प्रवर्तते । इति चेन्नग्राहिणाममी दोषाः । अचेलतयां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्तिः । ध्यानस्वाध्याययोरपिप्रज्ञा च । स्वरीसूद्वर्षट्पादिपरिमाणंस्तीवनादिव्याखेपेण तयोर्विज्ञो भवति । निःसंगस्य तयाभूतव्याखेपामावात् । सृगार्थेषीरुपीषु निर्दिष्टता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रंथयानन्द च गूढः । याज्ञेयलो निर्ग्रन्थ्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा नृपनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपायः अतुं घान्धे नियमेन शुद्धयति । मात्या नृपस्य मुद्धिः । एवमचेलवति नियमादेव माल्या । सचेन्न वीतरागद्वेषता न गुणः । सचेन्नो हि मनोहे चले

रक्तो भवति । मुख्यधर्मनोद्वे । बालद्वयान्वयनो हि रामदेवो तावसति ररिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीरतादवचनेन हि ज्ञानोऽस्वये परिग्रहे च वर्तते । अनेलेन तु तद्वदस्वयकः, वातातपादिवाधासहनात् । सबराता च गुणः देशातरगमनादी सहायप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहः पक्षीय यातीति । सचे-
तस्तु सहायपरवशमानसदच कथं संयमं पालयेत् । सेतोविशुद्धिमकटनं च गुणोऽचेततायां । कौपीनविना प्रच्छा-
दयतो भावमुद्धिनं प्रापते । निरचेतस्य तु निर्दिष्टादेवतया स्फुट्य विरागता । निर्भयता च गुणः । ममेदं किमपहंरति
चौरादयः, किं ताडयंति, यजंतीति या भयमुपैति सचेतो, भयानुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विध्वञ्चता
च गुणः । निष्परिग्रहः न किञ्चनापि संकटं । सचेतस्तु प्रतिभार्मग्यायिनं धन्यं वा दृष्ट्वा न तत्र
विदासं करोति । को चेत्पथं, किं करोति । अप्रतिहेतुता च गुणः । चतुर्दशविधं
उपधि युक्ततां यदुद्यतिलेखनता न तथावेतल्य । परिकर्मधर्जनं च गुणः । उद्देष्टनं, मोक्षनं, सीवनं, यंधनं,
रंजनं इत्यादिक्रमनेके परिक्रमे सचेतस्य । स्वस्य यत्नमावरणोद्वेः स्वयं प्रशालनं सीयनं वा कुतिसितं कर्म, विमूषा, मूच्छा
च । लक्षणं च गुणः । यथेकोऽदशोपधिः स्थानासनवसनानादिकानु क्रियास्तु बाधुबद्धप्रतिबद्धो लघुभयति वेतार । तीर्थकरा-
वरितस्य च गुणः-संज्ञनतत्त्वसमया मुक्तिमार्गप्रत्ययानपरा जिनाः सर्वे पञ्चवेला भूता भयिप्यंतश्च । यथा मेवोद्विपयंत-
नताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गादुपाधिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेतस्यं । सेलपरिनेष्टिसांगो
न क्षिप्तश्चरा । द्युरद्युष्टमल्यभुजो निष्कलो जिनप्रतिकरपतां धत्ते । अतिगूढबलवीर्यता च गुणः । परीपहसहने शक्तोऽपि
सचेतो न परीपहान्सहते । एवमेतद्गुणयोक्षणावचेतता जिनोपदिष्टा । सेलपरिनेष्टितां आत्मानं निर्ग्रंथं यो यथेसस्य
किमपदे पारंदिनो न निग्रंथाः । धयमेव न ते निग्रंथा इति याज्यात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थं सेले शोभा सचेततायां
मदरिमिता गुणा इति सचेतता स्थितिकल्पयेनोक्ता ।

अद्वैतं मय्यसे पूर्वांगमेतु यत्नपानादिग्रहणमुपदिष्टम् तथा शाचारग्रन्थिभौ भणितं-“प्रतिलिखेत्पात्रफेचलं
ध्रुवानेति । भरतस्तु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना भूयं प्रियते” । आचारस्यापि प्रितीयाभ्यायो लेकायिचयो ताम, तस्य पंचमे
उद्देशो एवमुक्तं-“पडिलेहणं, पात्रपुंछणं, उग्राहं, कष्टसाणं, धण्डारं उवाधे पावेज्ज” इति । तथा चरधेल्लणम् “धुसं तत्तथ पसे
दिरिमणे सेणं कथं वा धारेल्ल पडिलेहणं विदियं, तत्तथ पसे लुगिदे देसे उवे वत्थाणि चारिज्ज पडिलेहणं तदियं ।
तत्तथ पसे परिस्सटं अणपिदासस्स सधो वत्थाणि धारेल्ल पडिलिहणं चउत्थं” । तथा पायेसणम् कथितं “क्षिरिमणे वा
लुगिदे वापि अण्णमे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिक् पादचारित्तम् इति” । पुनइत्थोक्तं तत्रैव - “धाळाधुपत्तं वा, दाटगणत्ते
वा मट्ठिगणत्तं वा लप्पपाणं, वण्णबीजं जप्पसारिदं तथा अप्पकारं पाज्जामे मत्ति पडिग्गाहिस्समीत्ति” । बलपाने यदि न
प्राप्ते कथमेतानि स्रूपाणि नीयंते । भावनायां चोक्तं - “चरिमं चीवरचारित्तं पत्तयेलेके तु िजिणे” इति । तथा
सूचकतस्य पुंडरीके अस्याथे कथितं “एव फहेल्लो धम्ममकहं यत्थपत्तादिहइमिति, ।

निरपेक्ष्युक्तं—“कसिणादं वत्थरूपलाई ओ भिक्खु पाडिगगहिदि पज्जदि मात्थिं लहुगं” इति । एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेत् अचेतता कथं इत्यनोच्यते—आर्यिकणामागमे अनुष्ठानं वत्थं कारणपेक्षया । भिक्षुणां न्दीमानयोव्यशरीरवयवो दुस्त्वर्माभिलेखमानवीजो वा परिपहसहने वा अक्षयः स गृणहति ।

तथा चोक्तमाचार्यो ‘सुदं मे आलसत्तो भगवन्ना पयमकखायं । इह खलु संयमाभिमुखा बुविद्वा प्रतीपु रिप्ता आदा मपंति । तं जहा—सन्तसमण्णगदे णोसन्तसमण्णगदे चेव । तथ जे सन्तसमण्णगदे पियागदुत्थपाणिपादे खमिदियसमण्णगदे तस्स णं णो फल्पदि एवमपि वत्थं घारिदं एव परिदिदं एव अण्णत्थ एवेण पडिलेहगेण इति” तथा चोक्तं फले-हरिद्रेमुक्तं य होर वेददुमुलंति देहे लुम्बिदगे घोल्लज्ज सियं वत्थं परिस्सहणं च ण विद्वासीति” । द्वितीयमपि सर्वं कारणमपेक्ष्य यत्प्रदण्णमित्यस्य प्रसाधकं आचारे विद्यते—“अह पुण एवं जाणेज्ज । उपातिकं ते हम्मेतेहिं सुवट्ठि वण्णे से अथ पडिजुण्णमुपधि पादिक्खयेज्ज” इति । विमसगये शीतवाथासाहः परिगुल्ल चेत्तं तस्मिन्निज्जान्ते प्रीप्ते समायाते प्रतिष्ठापयेविति । कारणपेक्ष्यं ग्रहणमाचर्यते । परितोर्गेविशेषोपादानादुद्गाममपरित्याग इति चेत् अचेततावचनेन विरोधः । प्रक्षालनाविरुत्तस्कारियरहात्परितोर्गेता वत्सस्य कथिता न तु हृदस्य त्यागरुथदार्थ, पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रे-णोक्तेति । संयमार्यं पात्रग्रहणं तिष्ठति इति मन्यते नैव, अचेतता नाम परिग्रहप्रापः पात्रं ॥ परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सित्य पयेति । तस्मात्कारणापेक्षं यत्प्रदण्णं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य न परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव । तस्मात्तत्त्वं पात्रं धार्याधिक्कारमपेक्ष्य सूत्रेषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति प्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्तं—“वरिसं कीवरपारी तेण परमेच्चल्लो जिणोते ।” यदुक्तं विप्रतिपत्तिग्रहणत्वाच्च । कथं ? केचिद्वदन्ति ‘वसिष्ठेय दिने तद्वत्तं कीरजिनस्य विलंनकारिणा गृहीतमिति’ । अग्रे ‘पञ्चमासदिउद्रे तरुटं कशावा विभिमिति’ । ‘समधिकेन पर्येण तद्वत्तं खंडलकमास्त्रेण गृहीतमिति केचिरुचयवन्ति’ । केचिद्वदन्तेन पत्तिकमुपेक्षिते जितेनेय-परे पदन्ति । ‘विलंपनकारिणा जिनस्य रुक्मे तद्वारोपितमिति’ । एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यात्तदपेक्षे तत्त्वं सचेत्तल्लिप्यग्रकट-नायं । यदि तेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्वारयितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य ग्रह-णं । यदि ॥ वातमशानमस्य प्रप्नोति । यपि च तेलग्रहापना चांछिता चेत् “अचिच्छो धम्मो पुग्गिमवदिमणं” इति वचो मिरप्पा भयेत् । तथा नवस्थाने यदुक्तं “यथाहमचेत्तली तथा होउ पडिअमो इदि होन्णदिसि” तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषां वत्तत्यागफालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वत्तं तेषामपि भयेत् । एवं तु युक्तं यस्तुं । सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वत्तं वस्तुं निश्चितं उपसर्गं प्रति ।

इदं चाचेतताप्रसाधनपरं शीतदंशमग्राकटुणस्पर्शपरिपहसहणवचनं परिग्रहसूत्रेषु । न हि सचेत्तं शीतादयो पापन्ते । इमानि च सूत्रानि अचेततां दर्शयन्ति । “परिचचेत्तु वर्येत्तु ण पुणो चेत्तमादिणं ॥ अचेतपवेरे भिक्खु जिण-रुवघरे सदा ॥ सचेत्तलो सुत्तो भवदि । वसुधी चापि अचेत्तलो ! अहं तो सचेत्तलो होक्खामि इदि

मिषन् न चित्तम् ॥ अचेलगणस्स दूहस्स सीधं भवदि एगदा ॥ जातपं से विजितेवो अभिसिद्धा अलाइसो ॥ न मे णि
 पारणं अणि छाएयं ता न विज्जेदि । अहं हावणि खेवाभि इति मिषन्नु ष चित्तम् ॥ अचेलगण तूहस्स संजइस्स तत्र
 स्सिपणो ॥ तणेसु अस्समाणस्स ने ते होदि विस्सथिदा ॥ एतेन ताव कजेण संडुंणतिणंसित इंसावाए जो संपसिंदं किम-
 म पुण वीहक्कोदि ॥ एतत्तुल्यतापयने-अचेलको य जो घमो जो वायं पुणउत्तरो । देखिदो वट्टमाणेण पसेण अ
 मइएणा ॥ एगधमे पत्तत्तणं दुविधा लिमक्कण्णा । उमएसि पदिहणमहं ससयमाणदा ॥ इति वचनाञ्चरमतीयंस्यापि
 भवेत्तत्ता सिद्धयति ।

नगमस्स य मुंडस्स य दीहलोमणतस्स य । मेहुणादो विरस्सस्स किं विगूसा करिस्सवे ॥ इति दशवैकालिका
 पामुक्ते । एवमाचेलकयं स्थितिकणः ।

धमणानुदिश्य कृतं भजार्थिकं उवेसिगमित्युच्यते । तच्च योडशविधं आधाकर्मोदिविकल्पेन । तत्परिहारा
 द्वितीयः स्थितिकणः । तथा चोक्तं करणे—

सोलसविधयुरेसं पजेद्वयंति पुरिमचरिमाणं ॥
 विम्वगपणं तित्थे विदिकण्यो होदि विदिओ डु ॥

संज्ञाधराद्येन प्रयो गण्यंते यस्मिंस्तथा करोति । कृतां या यस्मिंत्त परेण भग्नं पतितैर्नृपैर्वा वा संस्मरोति ।
 यदि या न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयत्नायत्येति । एतेषां पिंडो नामाहारः, उपकरणं वा मलिलवनादिकं
 ताव्याधरपिंडस्य परिदरणं कृतीया स्थितिकणः । सति शय्याधरपिंडप्रद्वेष्टे प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारविकं । धर्म-
 फलसीमायां वा आहारं वातुमशनी इतिदो लुब्धो या न वासी यस्मिंत्त त्रयच्छेत् । सति यस्मिंत्त आहारादाने वा लोको
 मो निवृत्ति-भित्ता यस्तदापस्य यतयो न वाजेम मंत्रमण्येन सेवाआहारो दत्त इति । यतोः सेवद्वय इत्यादहारं यस्मिंत्त च
 प्रयच्छति तस्मिन् धर्मकारितया । तत्पिंडाप्रद्वेष्टे तु नोक्तदोगसंस्कारो ।

राजपिंडाप्रद्वेष्टं यतुर्थः स्थितिकणः । राजदानेन शक्याकुप्रभृति कुले जाताः । राजते प्रकृति रंजयति इति वा
 राजा राजतदसो महर्षिको भण्यते । तस्य पिंडः तत्स्वामिको राजपिंडः । स निविचो भवति । आहारः,
 अनाहारः, उपधिसिति । तत्राहारतत्तुर्गोप्यो भवति अशनादिभेदेन । एणफलकभीमादिः अनाहारः, उप-
 धिर्नानं प्रतिदेगं पत्तं पार्यं पा । एवंभूतस्य राजपिंडस्य प्रद्वेष्टे को दोषः इति चेत् अगोचर्यते—
 द्विपिया दोषा वात्सल्यमुखाः परस्समुखाः मनुजतिर्वक्त्रविकल्पेनेति । त्रिपक्कता द्विपिया प्रामार-
 ण्यमुभेवात् । ते हिमक्का अपि द्विभेदा दुया मद्रादेवेति । दया, गजा, गायो, महिया, मेण्ड्रा, दानवद्वय प्राम्यग
 पुष्टाः । दुषेय्यः संयतोपपातः । भद्राः पलायमानाः सयं डु पित्तः पातेन अमिघासेन वा व्रतिनो मारयंति वा घायनोहं-
 पनादिपराः । मापिन वारणपकास्तु व्याघ्रकन्यादीपिनो, वानरा वा राजगृहे धंधनमुका यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्ति-

भेदादयेतपलायने पूर्वदोषः । मानुषास्तु तलवरा म्लेच्छभेदाः, प्रेम्णाः, दासाः, दास्यः इत्यादिकाः तैराकुल्यत्वात् दुःप्रवेशानं राजगृहं प्रविशन्तं मत्ताः, प्रमत्ताः, प्रमुदितान्श्च दासादयः उपहंसन्ति, आक्रोशयन्ति वारयन्ति ॥ । अयस्कृपायाः स्त्रिया भैशुनसंज्ञया वाच्यमानाः पुनार्थिभ्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति मोगार्थे । विप्रकीर्णं स्तनमुत्तुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता आपता इति दोषमप्यारोपयन्ति । राजा विभ्रस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागत्य दुष्टाः क्लीकुर्वन्ति । ततो ह्यत्र अविचेकितः दूरयति श्रमणालम्बार्थं च गृहहति । राजा विभ्रस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वास्तूच्यते । राजकुले आहारं न शोचयति अहमहाहन्तं च गृहहति । विरुतिखनार्द्रगालदोषः, मंदभाग्यो वा हृदयानर्धं रत्नादिकं गृहणीया-द्रामलोचनं गानुरूपाः समयलोभ्यामुत्कृष्टास्तु भवेत् । तां विभूर्ति, अंतःपुराणि, पण्यांगना वा विलोक्य निदानं कुर्यात् । इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजाऽप्यग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते । स्वागर्धं राजार्पणोऽपि दुर्लभं प्रकृत्य । आगढकारणे वा भुलस्य न्यवच्छेदो माभूदिति ।

खरणदेशेनापि चिनथो गुरुणां महत्तराणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पंचमः कृत्तिकर्मसंस्कृतः स्थितिकल्पः ।

क्षातजीयनिष्ठापस्य दातव्यामि नियमेन यत्तानि इति षष्ठः स्थितिकल्पः । अचेलतायां स्थितः उद्देशिकराजपिण्डप-ट्टिरुणोचतः गुरुनक्षिकद्वितीतो यतारोपणाहो भवति । उक्तं च—

अग्रेल्लेदे य दिवो उद्देशादी य परिहरदि दोसे ॥

शुकमचिको विणीओ होदि यदाणं सया अरिखो ॥

इति यतवतनम्भोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अस्मिमुद्यं स्वित्ताभ्यो विरतिभ्याः, धावकभ्रातृविकावर्गाय व्रतं ययच्छत्, स्वयं स्थितः सुरिः स्वयाम्भेदेन स्थिताय विरताय व्रतानि वयात् । उक्तं च—

विरदी साधमग्गे य निविहुं वधिप ते न सुपडिमुखे ॥

विरदं च दिवो वोसे वधिसे गणिणो उवादेब्ब ॥

इति यातवा अद्याय पापेभ्यो विरयणं व्रतं दृष्टिकरणं छादन् संवरो विरतिरित्येकार्थाः

शाक्य अग्गेवज्जय पावाणं विरयणं वदं होद ॥

विकिरणं छादणं संवरो विरदिन्ति पगह्ठा ॥

इति । आद्यपाद्यात्यतीर्थयो रात्रिमोजनविप्राणयस्थानि पंच महत्प्रवृत्तानि । तत्र प्राणिचिद्योगकरणं प्राणितः प्रम-स्योगात्प्राणयक्षन्तो विरतिरसिदिसामतं । व्यलीकपाणयेन दुःखं प्रतिपद्यते जीवाः इति मत्वा दयावतो यत्स्वत्यामिधानं तद्विप्रीत्यं व्रतं । ममेदमिति संकल्पोपनीतद्व्यथियोनि दुःखिता भवेति इति तदयथा अदृच्छादानादिरमणं तृतीयं व्रतम् । सर्वपूजायां नाह्यं तत्तापसशालाप्रवेशनयचोनिष्ठारस्थानेकजीवपीडा साधमयेवेनेति तद्व्याघापरिहाराय तृतीयो रागा-

भिनियेयः, कर्मबंधस्य महतो मूलं इति ज्ञात्वा श्रद्धायतः मैथुनाद्विरागं चतुर्थं व्रतम् । पटिग्रहः षडङ्गीयनिकायपीडाया
मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलदण्डत्यगो भवति इति पंचमं व्रतम् । तेषामेव पंचानां व्रतानां पालनाच्च साधिमो जनपिरम-
णं पठे मतम् । सर्वलोचनिययमहिंसाव्रतं अदत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयो द्रव्यैर्नृदेशविषयाणि शोषयन्ताति । उक्तं च—

पदमग्निं सत्त्वजीवा तदिये चरित्येयं सत्यवृत्त्याहं ॥

सेसा मद्वच्चा यलु तदेकदेसस्मि वृत्त्याणं ॥

पंचमब्राह्मणधारिण्याश्चिरव्रतजिताया अपि ल्येष्टो भवति अथुना प्रयजितः पुमान् । इत्येव व्रतमः स्थितिरुत्प-
पुत्रपत्न्येष्टत्वं । पुरुषार्थं नाम उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः । पुत्रपत्नीतश्च धर्मः इति वदय उच्येष्टता । ततः सर्वाभिः
सत्त्वमाभिः विभयः कर्तव्यो विज्ञेयः । येन च रिपयो लक्षयः परमावसीयाः, पररक्षेयपक्षिणः, न तथा पुमांस इति च पुरुष-
स्य ज्येष्ठत्वं । उक्तं च—

अणिच्छीं ह लघुसिगा पररूपसञ्ज्ञा य पच्छुणिञ्ज्ञा य ॥

भीय पररूपवृत्तञ्जितेण पुरिसो भयन्ति जेहो ॥

अनेकताधिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिकर्मणं कर्तव्यमित्येवोदुपमः स्थितिकल्पः । नामरथापना-
द्रूपदेशकालमावधिकल्पेन पदविषं प्रतिकर्मणं । भट्टिनी भट्टिदाहिना इत्याद्ययोग्यनामोच्चारणं कृत्यतत्तत्परिहरणं
नामप्रतिकर्मणं । दत्तसत्त्वमिष्ट्यादृष्टिजीवमतिद्विगपुञ्जिदु मनुष्यस्य तत्प्रतिकर्मणं स्वापनायतिकर्मणं । सच्चि तम-
चित्तं मिथमिति त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिकर्मणं । प्रसत्त्वात्पञ्चकल्पस्य स्वाध्यायध्यानविषय-
संपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रज्ञप्रतिकर्मणं । संसारश्वाध्यायकालादिषु गमनागमनादिपरिहारः कालप्रतिकर्मणं । मिथ्या-
त्वात्संयमकणाययोगेभ्यो निवृत्तिर्भाषप्रतिकर्मणं । प्रतिकर्मणसहितो धर्मः धारयाञ्चात्ययोर्जनयोः जातापराधप्रतिकर्मणं
मध्यवर्तिनो जिना उपविशन्ति ।

परिकर्मणं दिक्स्थिते तादिसदृशित्वमित्युच्यते य ॥

परिकर्मणं चादभ्यसिद्य संयच्छर उक्तमहे ॥

अमी प्रतिकर्मणभेदा आर्यततीर्यकण्णीने पंचमे धर्मैः, इतरस्य चतुर्थे धर्मे प्रतिकर्मणस्य कालनिरम उक्तः
परायमानिचारं प्राप्तस्तदा प्रतिकर्मणमभ्यसिक्तं दर्शनं । उक्तं च—

यमनो यजेतनो विद्य दूरायसो य सत्यसुमनो वि ॥

सुमेण वि यदि य सतो जगत्सामनो वि यमदो वि ॥

ठाणविमो आयरिणं जालज्जामिच्चि मडिम्मज्जिणेसु ॥

ण पाटिकममे तेम दू जेणविक्कमदि सो षेव ॥

समुद्रिषु वि पवित्री आदिय अंतमि सेा पडिकमदि ॥
मलिममा मण्णीति य अमलुमार्ण हवे उभयं ॥

इरियं मोयर छुमिणादि मयमाचरु मा व आचरु ॥

पुरिम चरिमेसु सचो सचं पियमा पाडेकमदि ॥

मध्यमवीथंकरशिप्या ददुदुदयः, एकाग्रचित्तान्, यगोपलस्यास्तसावदन्तरितं सद्रहंया शुद्धयति । इतरे तु चल-
चिन्ता न लक्षयन्ति स्वापराधस्तेन सर्वे प्रतिकमणं उपदिष्टं जिनाभ्यां अंधबोटकदृष्टां वन्ययेन ॥

अमुपु पदसु पदैरुयेय मासुमेकत्र यस्तिवत्स्वदा विहरति इत्यं नवमः स्थितिकल्पः । एकत्र चिरकालावस्थामे-
विरयमुद्रमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः । इतःप्रतिवदता, सातगुहता, अलसता, सौकुमार्यभावना, क्षातभिक्षाप्राप्तिता च दोषाः ।
परमो समणकण्ठो नम द्वायः । पर्यकाळस्य चतुर्षु माससु एकश्रेयावस्थानं अभ्यस्तागः । स्वावरत्ननामजीवाङ्गुला हि तदा
क्षितिः । तदा धमणे महानसंयमः, दृढया शीतपातपातेन यत्कथिताराधना । पर्वेश्याव्याद्विषु स्थाणुकंदकादिभिर्वा प्रच्छन्नजले-
न कर्दमेन वा वाप्यत इति पिशात्यधिकं विषसशतं परुषत्वस्थानमित्ययमुत्तमः । कारणेपेक्षया तु हीनाधिकं वापस्थानं,
संयतोनां आपाशुशुद्धशरणं स्थितानां उपरिष्टाच्च कर्तारूपेणमास्यादिप्रशद्विषयमुत्तमः । धुरिष्यद्वल्लर्तं, धुतप्रहणं, शक्य-
भाववैरादृश्यकरणं प्रयोजनशुद्धिश्च अयस्यानेकेभ्यो उत्कृष्टः फलः । भार्या, दुर्भिक्षे, प्राप्तजनपदचलेन वा गच्छनाशनिमित्ते
समुपस्थिते देशान्तरे याति । अयस्याने सति रत्ननयविराधना भवितव्यतीति । पूर्णमास्यामापाठ्यामस्तिकां वाचां प्रतिपदादिषु
विनेषु याति । थापय त्यका पिशानिविषसा पतदपेक्ष्य हीनता कालस्य षड् व्रतमः स्थितिकल्पः ।

कोऽसौ दशविधः स्थितिकल्प इत्याह—

मूढारा—आपेक्षकं यथादिपरिमहाभक्तो नप्रत्यभानं वा । तत्त्व संयमशुद्धीद्विषयकपाषाभाबध्यालस्याप्याय-
निर्विघ्नत्वानिर्भयतावीतरागद्वेषताशरीरानादरस्यवशचेतोविशुद्धिप्रक्राट्यनिर्भयत्वसर्वत्रविस्त्रवत्वप्रक्षालनोद्वेष्टनाविपरिकर्म उर्ज-
तविभूपायूरुल्लापयतीर्षकराचरित्वानिगुह्यलबीर्यतादगरीमिषगुणप्राप्तोपलंभात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । तदुण-
समर्थनं दीहादृष्टया किंचिदुच्यते यथा—चेष्टे हि स्वेदादियोनिकप्राणिनां प्रक्षालनादिना वाधा स्यात् इति तस्याने
संयमशुद्धिः । लज्जीयशरीराविकारनिरोधनाय प्रयत्नबाढ्योद्विजयः, चोराविंचनाशमावाक्यपायाभावः, सूयोसूत्रकर्पटा-
दिमार्गणसेयतायभावात्पाद्यायध्याननिर्विघ्नता, अभ्यंतरग्रंथस्य चेलादिपरिमृदुलस्य त्यागः, मनोज्ञाननोदवक्ष्यत्यागात्
वीतरागद्वेषता, वातातपादिवायासहनाच्छरीरेऽनादरः, अभ्यंतरग्रंथस्य चेलादिपरिमृदुलस्य त्यागः, मनोज्ञाननोदवक्ष्यत्यागात्
करणाचचेतोविशुद्धिप्रकटनं, चोरादिताडनादिमयाभावाभिर्भयत्वं, अपहर्षस्य अर्थस्थाभावात्सर्वत्र विवक्ष्यता, चतुर्दश-
विधोपकरणपरिमादिनां वितपटानामिव यदुपगृह्येवमनस्यप्रक्षालनादिव्यासंगमारवाहित्वानि च न संवीत्यादि । चक्रे च—

स्थाने क्षालनतः कुतः कुतश्चल्यथारंभतः संयमो ।
 तत्रे न्याकुलचित्तताय महातामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
 कौपीनेऽपि हूये परैश्च श्रमिति क्रोधः समुत्पद्यते ॥
 तन्नित्यं द्युचि रागाहृच्छमवतां वक्षं चक्षुर्मण्डलम् ॥
 अपि च — विहारे विदुषां द्वेषो नाविकारातुर्वर्त्ते ॥
 तस्यैव निसर्गोत्पे को नाम द्वेषकल्पयः ॥
 नैदिकचन्द्रमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ॥
 ते संगाय यदीहन्ते बल्कलाजिनवाससाम् ॥

२ उद्देशिगेत्यादि—उद्देशिकं—उद्देशिकं न शल्याधराजपितौ च उद्देशिक
 शल्याधराजपिता । पिंशब्देनोपलक्षणाद्गतवस्तुपुष्करणादिमहर्षं । तेषामुद्देशिकादीनां ग्रयणां परिहाराश्रयः स्थिति-
 कत्वाः स्युः । परिहारशब्दश्चात्र क्षुमनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । कन्नाथाकर्मविकल्पेन पौकशविभोर्देशिकमन्त्रवित्यागावृद्धीयः
 स्थितिकल्पः । ३ शल्याधराजदेन कात्र प्रको गृह्णन्ते वसन्तः कारकः, संस्कारकोऽत्रास्तेति संपादकश्च तद्विद्वस्यानः । सति
 हि तस्मिन्प्रकरणे प्रच्छन्नमयं योजयदातुरादिकं धर्मफलतोभासितं लोकप्रयादंशका, यो बाह्यारं दातुमक्षनो दुरिद्रो वा न
 चासौ वसति प्रपच्छेत् । सति यस्यविद्योने लोको मां निवति, सिधवा वसतावस्थ यतयो न चानेन संवसावेन तेषामाहा-
 रो इत्त इत्येवं यतस्यलाभः । आहारं वसति च प्रयच्छति तस्मिन्वद्वेषकारितवा वते, तेनैव स्यात् इति शोषाः स्युः । अन्ये
 पुनः शल्याधराजपितृत्वाग इति पठित्वैवं व्याचक्षते । मार्गे प्रवता यत्र गृहे रात्रौ सुष्यते तत्रैवत्यविने भोजनपरिहारा-
 यसतिसम्बन्धिद्रव्यनिमित्तपितृस्य वा त्यागः इति पृथीयः ४ अथ राजशब्देन इत्थाकुलभृति कुले जातो, राजते प्रकृति
 रंजयतीति वा राजा सदृशो मर्दङ्गिको मण्यते । तत्त्वाभिमतस्यैवर्जनं चतुर्थः स्थितिकल्पः । तदगृह्णन्नेवे हि यतेः स्वच्छ-
 द्बचित्रकुलैरायुष्यावस्तद्रूपालोकनाद्व्रातुरादीनां त्रासस्तं प्रति यद्विद्वत्सामुपद्रासोऽथरुद्धाभिः स्त्रीभिर्मधुनसंज्ञया वाच्य-
 मानाभिः, पुत्रार्थिनीभिर्वा बलाचस्य स्वगृहे प्रवेशनमुपयोगार्थम् । निजकीर्तिरत्नसुवर्णादिकस्यान्यैः स्वयं चोरितस्य संयत
 आयात इति वत्र सन्चोरिकाभ्यारोपणं । राजास्य विद्यस्तो राव्यं नास्त्यविष्यतीति कुन्तैरभासादिभिर्यवंचनाविकं च स्यात् ।
 तथा आहाराविशुद्धिः क्षीरादिचिह्नविसेवान्तर्यन्तदेवलोभाच्योरणं, परस्त्रीवर्त्तनादुपगोत्रेको, लोकोत्तरनिभृतिदर्शनाच्च तन्नि-

दानकरणं संभवेत् । एतदोपाभावेऽन्यत्र भोजनार्थमेव च श्रुत्युच्छेदपरिहारार्थं गुणार्थोऽपि न प्रतिविध्यते ।

५ क्रिदियन्ने कृतिकर्म, पच नमस्कारः, पडावश्यकानि, नियेषिका चेति त्रयोदश क्रियाः । गुरुविनयमहस्त-
रनुष्ठानकरणं वा । ६ षट् मूलोत्तरगुणप्रतिपादन । अचेलतायां हि स्थित उद्देशिकादिषिष्ठत्यागोयवो गुरुभक्तिमान्
मिनीवच्च त्रतारोपणयोग्यः स्यात् । उक्तं च—

अचेलकंके य त्वितो उदेसादी य परिहरदि दोसे ॥

गुरुभक्तिर्न विणोदो होदि बदानं स अरिदो दु ॥

७ जेठु ज्येष्ठृत्य मासाविष्टदृष्टोपाध्यायार्थिकाविभ्यो महत्त्वमनुजनेन वा श्रेष्ठत्वं । ८ पट्टिकमणे पर्यापयिक
रात्रिद्विप्रागधिकपातुर्मासिकसायत्सरिकोक्तमायंभेदास्तप्तया कृत्वोपनिराकरणं ॥ ९ मासं त्रिंशद्वदोरान्नमेकत्र
पानादौ स्तिरास । एकत्र हि पिरावस्थाने उद्रमादिदोषपरिहराकृमत्वं, श्रेत्रप्राविवृत्ता, शत्रुगुरुताल्लसा, सौकुमार्य
भावनाभावे, जातभिक्षाग्राहिता च दोषा स्युरिति टीकाया । टिप्पनके तु योगग्रहणादौ योगवसाने च तस्मिन्स्थाने मास-
मात्रं तिष्ठति इति मासं नाम नयमः कल्पः । उक्तं च—

पष्टिर्वधो लङ्घयत्वं न जणुयारो ष देसविण्णानं ॥

षाणादीण अनुत्थी दोसो अविहारपक्खम्मि ॥

१० पञ्चो—प्राष्टदृक्छे मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानं । स्वावरजंजनजीवाकुला हि सदा स्थितिरिति सदा भ्रमणे
नदानसंयमः । दृष्ट्या शीतयातगतेन चात्मविराधना । पादो वा वात्यादिषु । स्थानुर्कटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्द-
मेन पाधनमिति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रापस्थानमित्यय दत्तमर्थः । कारणेष्वेषा तु हीनतधिकं बावस्थानं ।
संयतानामापावदुच्छदश्रम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्टात्स्थ कर्तिकपौर्णिमास्याखिंशदिवसावस्थानं । घुष्टिवहुलतायां
दुतमहर्णं, शक्त्यन्नायं पैयापत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्यावस्थानं एकत्रैत्युत्तुष्टः काल । मार्ग, दुर्गिधो, ग्रामजनपदचलने वा
गच्छमानानिमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति । अयस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यति इति पौर्णमास्यामापावदश्रमसि
याताया प्रतिपदादिषु दिनेषु यावत्—तस्मादो दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता काटस्य । एष दक्षमः स्थितिदत्तो न्याययातः टीका-
यः ॥ टिप्पनके तु द्वाभ्या द्वाभ्या यासाभ्या नियेषिका द्रष्टव्येति । सबणकण्ठो यहीनागावरणेभेदः । तथा वोत्तम्—

अचेलकत्तयुद्धिशब्दशब्दशब्दशब्दने ॥

राजार्पणविनिर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥

प्रवर्तनोद्ग्राहत्वं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥

मासैकत्रस्त्रिभिः पञ्चाशद्विंशत्या द्वात्रिंशत्याः ॥

दशकल्पोंका निर्देश-पूर्णन करनेवाली भाषा—

अर्थ—आचेलक्य—चेल युद्धका अर्थ वस्त्र ऐसा होता है. परंतु बड़ा चेल युद्ध संपूर्ण परिग्रहोंका उपलक्षण रूप है. अर्थात् आचेलक्यका अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है. उक्तमध्यादि दशधर्मों में से त्याग नामका एक धर्म है त्यागका अर्थ सर्वपरिग्रहोंसे विरक्त होना ऐसा होता है. अचेलता, आचेलक्य इन शब्दोंका भी यही अर्थ होता है. इस लिये बख्ताहित यति सर्वपरिग्रहका त्यागी होनेसे त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है. परिग्रहरहित यति त्यागधर्मके समान आर्कचन धर्म में भी प्रवृत्त होता है. लोक परिग्रहके लिये ही उद्योग, खेती, नौकरी वगैरह आरंभमें प्रवृत्ति करते हैं. परंतु मुनिने सर्व परिग्रहोंका त्याग किया है इस लिये उसको आरंभका अभाव हो चुका. आरंभका अभाव होनेसे असंयम भी नष्ट होता है. और सत्य धर्ममें स्थिरता आती है. परिग्रहके लियेहि मनुष्य दूसरेसे असत्य भाषण घोलता है. खेद, गृह, धनादि बाह्यपरिग्रह और क्रोधमानादि अन्तर परिग्रह जब नष्ट होते हैं तब असत्य भाषण करनेका कारण ही नष्ट होता है. जब कभी निष्परिग्रही मुनि घोलगा तो सत्यही घोलगा. आचेलक्यसे साधवगुण प्राप्त होता है. अर्थात् महाव्रतको पूर्णविस्था प्राप्त होता है. जब परिग्रहकी मनमें अभिलाष उत्पन्न होती है तब दूसरोंका व दिया हुआ धन मनुष्य ग्रहण करता है.

परिग्रहोंका त्याग निसर्गने किया है वह ऐसे अकारणमें प्रवृत्त होता ही नहीं. रम्यादिकोंका त्याग होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आती है जिससे ब्रह्मचर्यका निर्दोष रक्षण होता है. ब्रह्मचर्य निर्मलत्व होता है. क्रोध उत्पन्न होनेके लिये परिग्रह ही कारण है. परिग्रहोंका त्याग करनेसे क्रोध नष्ट होता है और क्षमागुण प्रगट होता है. मैं गुंदर हूं, मैं धनाढ्य हूं इत्यादि रूपका अभिमान भी परिग्रहोंका त्याग होनेपर मनमें नहीं रहता है. मार्दव गुण भी आचेलक्यसे प्राप्त होता है. निष्कमटता भी प्राप्त होती है. कारण आचेलक्यको धारण करनेवाला मुनि मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ होगा वह दुखसे कटता है. अतः उसको आर्जव गुणकी लब्धि होती है. परिग्रहही माया—

कपटोपनाका मूल है। ऐसे परिग्रहका त्याग करनेसे वैराग्यभाव प्राप्त होता है। तब मुनिराज शब्दादि पंचद्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होते हैं। परिग्रहसे रहित होनेपर मुनि शीत, उष्ण, दंष्ट्रमशकादि परिश्रम सहन करते हैं। देव दानयोंने उपसर्ग यदि किये तो भी सहन करते हैं। ऐसा दुःख सहन करनेका सामर्थ्य परिग्रहोंका त्याग करनेसे ही आत्म्यामें प्रगट होता है। परिग्रहोंके त्यागसे घोर तपका पालन भी होता है। एक अचेलत्वसे दश धर्मोंका पालन होता है ऐसा सिद्ध होता है। यह संक्षेपसे विवेचन किया।

अचेलताकी प्रशंसा जगत् दूसरे प्रकारसे आचार्य करते हैं—

आचेलस्यसे संयमशुद्धि होती है। यह पहिला गुण है। स्वेदजल और मलसे मलिन हुए वस्त्रोंमें स्वेदसे लिप्ता, जू बगैरह सम्मूर्च्छन जन्तु उत्पन्न होते हैं। तथा वस्त्रोंके आश्रयसे दूसरे वस्त्र और स्थूल वस्तु और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं। वस्त्रग्रहण करनेसे ये प्राणी पीडे जाते हैं। जीवव्याप्त वस्त्र वैसा ही रखने पर भी हिंसा होती है। उसमेंसे एक एक जीव अलग करना चाहे तो वे मरते हैं। वस्त्रधारी मनुष्यको खटे होना, बैठना सोना, फाटना, छेद करना, चांधना, घेदन करना, घोंना, मर्दन करना, घूममें सुखाना इत्यादि कार्य करते समय वस्त्रगत जीवोंको बाधा पोहोचानेसे महान् असंयमकी मासि होती है। परंतु वस्त्रत्यागी मुनिको उपर्युक्त असंयमका स्पर्श भी होता नहीं है। उनका संयम निर्मल रहता है। वस्त्रत्याग करनेसे इंद्रियविजय नामक गुण प्राप्त होता है। संपूर्ण व्याप्य वनमें विद्यमानादिरहित मनुष्यको सावधानीसे रहना पड़ता है। इसी प्रकार इंद्रियोंका नियमन करनेके कार्यमें वस्त्ररहित मुनिओंको बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। वे इंद्रियनियमन करनेमें सदा दक्ष रहते हैं। यदि वे असावध रहेंगे तो लज्जास्पद गरीरविकारकी उत्पत्ति होगी। निर्विषयतासे कपार्योंका अभाव होता है। जिसके पास वस्त्र है वह मनुष्य चोरके भयसे गोमयादिकोंके रखने वस्त्रोंको लिप्ताकर उसको छिपाता है अर्थात् फण्टप्रयोग करता है। अथवा रस्ता छोड़कर उन्मागति चोरको फसानेके छिपे जाता है। चोरको आता हुआ देखकर छोटे सुट्टे, लताताल इत्यादिकोंमें छिप कर रहता है। भेरे पास वस्त्रादिक हैं दूसरोंके पास वे नहीं है ऐसा मनमें विचारकर अभिमानी होता है। जवरदस्तीसे चोर हरण करनेके लिये उमाह होनेपर उसके साथ कलह करता है। वस्त्रका लाल होनेसे लीमकण्ठ उत्पन्न होता है। वस्त्र ग्रहण करनेसे ऐसे क्षीण उत्पन्न होते हैं। वस्त्र के त्यागमें इन दोषोंका सर्वथा अभाव है। वस्त्रत्यागी मुनिको ध्यान और स्वाध्यायमें विमग्न रहना नहीं। कारण

यह परिग्रहस्थित आसक्ति रहित होता है। बल्ल सगीप रखनेसे यह फटने पर उसकी सीनिका निवार उत्पन्न होता है। सीनिके लिये खूबी समीप रखनी पड़ेगी। फपटोके टुकड़े पास रखने परदेगे धूँ, दोरा, फपटोके टुकड़े इनका अन्ये-पण करनेमें चिन्त व्याकुल हो जावेगा तब च्यान साध्यायमें एकप्रवा रहेगी नहीं, परंतु निःसंभपुनीको ऐसी व्यग्रता नहीं रहनेसे उनके च्यानसाध्याय निर्विघ्न होते हैं। बल्लत्यागसे स्वस्वाध्याय व अर्थस्वाध्यायमें निर्विघ्नता प्राप्त होती है साध्याय और च्यानका हमेशा अभ्यास होता है। इसलिये ग्रंथत्याग-परिग्रहत्याग यह गुण है। लेने तंडु-लने ऊपरका छिलका निकालनेसे यह निर्मल होता है वैसे बल्ल वस्त्रादि परिग्रहका त्याग होनेसे अभ्यंतर क्रोधादि परिग्रहोंका त्याग होकर आत्मा निर्मल होता है। इसलिये बल्ल परिग्रहत्याग अभ्यंतर परिग्रह दूर करनेका मूल कारण है। छिलकेसे अलग किया हुआ तंडुलचान्य अवश्य निर्मल होता है। परंतु छिलके से युक्त तंडुलकी शुद्धि भजनीय है। इसी तरह निर्बल मुनि अवश्य निर्मल होते हैं। वस्त्ररहित मनुष्यमें रागद्वेषरहितता नामक गुण रहता नहीं है। सबल्ल मनुष्यका मन सुंदर वस्त्र दीलनेपर अनुरक्त होता है। व अपने असुंदरवस्त्रका द्वेष करने लगता है। बल्ल पदार्थोंके आश्रयसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। परंतु परिग्रह प्राप्त न रखनेसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। शरीरपर अनादर करना यह गुण है। शरीरपर श्रेम करनेसे ही मनुष्य असंयममें व परिग्रहमें प्रवृत्त होता है। निर्बल्ल मुनि बाल, चुर्यका ताप, शीत वरीरह से उत्पन्न हुई पीड़ासे सहन करते हैं। इस लिये वे शरीरपर निरादर रहते हैं यह सिद्ध होता है। निष्परिग्रहतासे स्ववशतागुण प्राप्त होता है। देशांतरको जाते समय इस गुणके प्रभावसे किसीके सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती है। संपूर्ण परिग्रहका त्यागी वह मुनि पिच्छमानका स्वीकार करता हुआ पक्षीके समान विहार करता है। परंतु वस्त्रधारी मनुष्य अन्य मनुष्यकी सहायताकी अपेक्षा करता हुआ संयमका कैसा पालन कर सकता है। अर्थात् उससे संयम पालन होता नहीं

वस्त्रत्यागसल मनकी विरुद्धि प्रगट होती है। कौपीन, वस्त्र इत्यादिकेसे गुह आच्छादित करनेवालेकी भावशुद्धि नहीं जानी जासकती है। परंतु जो वस्त्ररहित है उसका निर्विकार देह देवल्लर उसका वैराग्य स्पष्टतया स्पष्ट जान सकते हैं। इसलिये अचेलतासे मनोविरुद्धि नामका गुण प्रकट होता है ऐसा समझना योग्यही है। इस अचेल-तासे निर्भयता गुण प्राप्त होता है। जो वस्त्ररहित है उसको यह भेदा वह चोरादिक लोक हरण करेंगे, मरेको डोकेगे, बांधेंगे, ऐसी भीति उत्पन्न होती है। मययुक्त मनुष्य क्या नहीं करेंगा! अचेलतासे सर्व मनुष्योंमें विकास

उत्पन्न होता है परिग्रहहितको किमीमें भी धोखा उत्पन्न होती नहीं। परंतु सचेल मनुष्य अपनेसाथ आनेवाले मनुष्यको अथवा किसी दुसरे मनुष्यको देखकर उत्पन्न विषाम नहीं करेगा। यह कौन है ? यह क्या करेगा ? ऐसी धोखा उसके मनमें आसन्न उत्पन्न होगी।

अग्रतिलेखना नामक गुणभी निष्पत्तिहवासे प्राप्त होता है। चौदा प्रकारके उपाधियोंको ग्रहण करनेवाले येताम्रर मुनिओंको बहुत संशोधन करना पड़ता है परंतु नग्नता धारण करनेवाले दिपंबर मुनिओंको इसकी आरम्भरुता रहती नहीं।

अचेलतामें परिकल्पन नामका गुण है। उद्देश्य करना, अलग अलग करना, सीना, बांधना, रंगाना इत्यादिक कार्य बलसहित मनुष्यको करने पड़ते हैं। परंतु निरंतर मुनि इनसे रहित होते हैं। स्वतःके पास बल प्रायणादिक ही तो उनकी धोना पड़ेगा, फटनेपर मीना पड़ेगा, येमे कृतसित कार्य करने पड़ते हैं। वस्त्र समीप होनेसे उनमें अपनेको अलंकृत करनेकी इच्छा होती है और उसमें मोह उत्पन्न होता है।

अचेलतामें लाघव नामक गुण है। निर्यत्न मुनि स्वहे होना, बैठना, गमन करना इत्यादिक कार्यमें वायुके समान अप्रतिबद्ध रहते हैं। अतः उनमें लाघव गुण रहता है। सबस्त्र मनुष्यमें यह गुण रहता नहीं।

तीर्थकराचरित नामका गुणभी अचेलतामें रहता है। उत्तमसंनतन-वर्ज्यभनाराच 'संनतन, और विपुलगतिके धारक ऐसे तीर्थंकर मुक्तिका मार्ग सन भक्त्योंको प्रगट करते हैं। जितने तीर्थंकर हो चुके और होने-वाले हैं वे सन वस्त्ररहित होकरही तप करते हैं। मेरुपर्णत वगेरह स्थानपर जो जिनश्रवित्तमायें हैं वे और तीर्थंकरोंके अनुयायि गणधरमी निर्द्वेषही हैं। उनके सन शिष्यभी वस्त्ररहितही होते हैं अतः अचेलत्व यह मुनिओंका प्रथम स्थितिरूप सिद्ध हुआ।

जिसने आपना शरीर वस्त्रसे घेष्टित किया है वह जिनधरके समान शरीरपरसे मोहका त्यागकर और आपने दो भुज नवि । लंघयमान करके निश्चल हो जिनधरका स्वरूप धारण नहीं करते हैं। नग्नतामें अपना गल और वीर्य प्रगट करना यह गुण है। परंतु जो सवस्त्र है वह सामर्थ्ययुक्त होकर भी अर्थात् परीपद सदन करनेका सामर्थ्य होनेपर भी उनको नहीं सह सकता है। इतने गुणोंको देखकर श्रीजिनधरने आगममें अचेलताका वर्णन किया है।

जिसने वस्त्रधारण किया है वह मुनि यदि अपने को निर्ग्रन्थ समझेगा तो गावंही सायुज्यो की भी हम क्यों न निर्ग्रन्थ समझे ? हम ही निर्ग्रन्थ है ऐसा उनका कहना केवल कहना ही है अर्थात् युक्तिहीन है. मध्यस्थ लोक अर्थात् परलोक लोक उनका कहना मान्य नहीं करते हैं.

इस प्रकार वस्त्रमें अनेक दोष हैं. नग्नतामें दोष तो है ही नहीं परंतु गुणमात्र अपरिमित है. इसीलिये आचार्य महाराजने अव्यक्तता स्थितिकल्प ज्ञा प्रथम निरूपण किया है.

पूर्योगमोंमें वस्त्रपाद्यादिकोंका ग्रहण करनेका विधान मिलता है ऐसी जिनकी कल्पना है वे अपना पक्ष इस प्रकार स्थापन करना चाहते हैं.

यदि वस्त्र पात्रादिकोंका विधान नहीं है तो उसकी प्रतिस्तेयना निषेधसे करनेका विधान क्यों लिखा है ? आचार्यप्रणिधि नामक ग्रंथमें “ प्रतिस्तेयनाशकं यत्नं ” इति । पात्र और कंबलका ओषधना चाहिये अथवा ये निर्जन्तुक हैं या जन्तुसहित हैं यह देखना चाहिये. यदि जन्तुसहित हो तो वे जन्तु पिच्छिकासे दूर करने चाहिये.

आचारांगके लोकविक्रय नामक दूसरे अध्यायके पांचवें उद्देशमें ऐसा बचन है — “ पटिलेहणं, पाद-पुच्छणं, उग्राहं, फटासनं, अण्णादं उपधिं पायज्ज ” अर्थात् पिंडी, रजोदण, कटासन चटाह, फलक, पादपीठ वगैरह तथा और भी दूसरा परिग्रह ग्रहण कर सकते हैं ऐसा उल्लेख किया है. वस्त्रसेना नामक प्रकरणमें इस मूल्य विधान है. तत्प एते क्षिरिमाणे सेमं वस्त्रं वा धारेज्ज पटिलेहणं विदियं । तत्प एते जुग्गिदे देसे हुंवे वत्थाणि धा-रिज्ज पटिलेहणं विदियं ॥ तत्प एते परीसहं अण्णधिहासस्स ततो वत्थाणि धारेज्ज पटिलेहणं चउत्तं । इसका सारांश यह है — यह लज्जायुक्त मुनि एक वस्त्र धारण करें और प्रतिस्तेयनकेलिए दूसरा वस्त्र अपनेपास रखें. यह मुनि योग्य प्रदेशमें दोन वस्त्र धारण करें और प्रतिस्तेयनकेलिए तिसरा वस्त्र धारण करें. यदि शीतादि परीषह सहन न हो तो तीन वस्त्र धारण करें. और प्रतिस्तेयनकेलिए चौथा वस्त्र धारण करें.

तथा शदेसणा प्रकरणमें ऐसा कहा है ‘ हिरिमाणे वा जुग्गिदे चावि अण्णमे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिनं पादचारिचण्णं ’ अर्थात् लज्जायुक्त साधुको वस्त्रादिक रखने चाहिये. जिसके लिये दोष हो तो वस्त्र धारण करना योग्य है.

पुनरपि उमी प्रकरणमें ऐसा उल्लेख है—‘अलावुषचं वा दाकगषचं वा, मडिगपचं वा अप्पपाणं, अप्प वीजं, अप्पनरिदं तथा अप्पकारं पत्तलामे सति पडिग्गहिस्सामि ” अर्थात् पात्र लाभ होता हो तो में तुंधीका पात्र अथवा लकड़ीका पात्र किंवा मट्टीका पात्र ग्रहण करेंगा, जिसमें जीव नहीं है, चीज नहीं है और जो घटा नहीं है ऐसा पात्र यदि मिलेगा तो मैं ग्रहण करूँगा।

वस्त्रपात्र यदि ग्राह्य नहीं है ऐसा आगममें लिखा होता तो हम सूत्रोंका आगममें उल्लेख ही नहीं आता। भावनामें भी ऐसा कहा है—‘वस्त्रं चीवरधारि तेन परमंचलये तु विणे ” अन्तिम तीर्थंकरके शरीरपर वस्त्र था तो भी वे अचलक जिन थे।

सूत्र कर्तागके पुंडरीक नामक अध्यायमें भी ऐसा कहा है ‘ण कहेज्जो घम्मकइं वत्थपप्पादिहेहुंमिति । यत्त और पात्र प्राप्त करनेके उद्देशसे धर्मोपदेश नहीं करना चाहिये।

वस्त्रपात्रके विषयमें निपीथ ग्रंथमें ऐसा प्रमाण है, ‘कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो सिक्ख पडिग्गहिदि अप्पज्जसदि मासिगं लहुगं’ इति । सर्व प्रकारके वस्त्रकंबलोंको ग्रहण करनेसे मुनिको लघुमासिक नामक प्रायश्चित्त निधि करना पड़ता है।

इस प्रकार सूत्रोंमें वस्त्र ग्रहणका विधान है, इसलिये अचलवाक्ता-नव्रवाक्ता आपका विवेचन कैसा योग्य माना जायगा।

इसपर आचार्य कहते हैं—आगममें आर्यिकाओंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है, और कारणकी अपेक्षा मिथुओंको अर्थात् मुनियोंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है, जो साधु उच्छ्रालु है, जिसके शरीरावयव अयोग्य है अर्थात् जिनके पुण्यलिङ्गपर चर्म नहीं है, जिसके अंड दीर्घ हैं, अथवा जो परीपहसन करनेमें असमर्थ है वह वस्त्र ग्रहण करता है।

आचार्यगमें इस विषयमें ऐसा कहा है—“सुदं मे आउस्सत्तो भगवदा एवमस्साद । इह खलु संयमामि मुहा दुत्तिहा इत्थी पुरिसा जादा हवंति । तं जहा-सब्बसमणागदे णो सत्त्वसमणागदे चेव । तत्थ जे सत्त्वसमणागदे विरांगत्थिपणिपदे सत्त्वियसमणागदे तस्स णं गो कप्पदि एमसवि वत्थं धारेलं, एवं परिहिउं एवं अणत्थ एगेण पडिल्लहेगेज इति ” आहुम्मान् भगवान् वीरस्वामीने ऐसा कहा है—इस जगत्में संयमको धारण करनेवाले

स्त्री पुरुष दो प्रकारके हैं- संपूर्ण अवयवोंकी अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे और असंपूर्ण ऐसे दो प्रकार हैं- जिनके शरीर, हाथ और पाय मजबूत हैं, जिनके शरीरकी आस्थिरचना मजबूत है- सर्व इंद्रियोंमें परिपूर्णता अर्थात् निर्दोषता है उनको एक भी वस्त्र धारण करना और पहनना अव्योम्य है- मात्र उनको एक प्रतिलेखन अर्थात् पिन्डिका धारण करना योग्य है-

कल्प नामक ग्रंथमें ऐसा कहा है—‘हारितुकं च होद् देहदुर्मुंति देहे जुग्मिदगो धारज्ज सियं वर्यं परितहाणं च ग विहासीति ॥ जिसका देह क्षुप्सायुक्त है अर्थात् जिनका पुल्लेखिय चर्मरहित है अंडकोप दीर्घ है, जो परीपह सहनेमें असमर्थ है वह मुनि जनसमुदायमें एक श्रेष्ठ वस्त्र धारण करें- कारणकी अपेक्षासे वस्त्र ग्रहण करना चाहिए इस विषय की पुष्टि करनेवाला और भी सूत्र आचारारंगमें है- ‘अह पुण एव जाणेज्ज उपातिकंते हेमंतेहि दुपबिण्णे से अध’ पटिखुण्णसुबधिं पटिहावेज्ज इति’ इसका अभिप्राय यह है—‘शरीरके दिनोंमें जिसको जाबा सहन होता नहीं है ऐसे मुनिको वस्त्र ग्रहण करके आढके दिन समाप्त होनेपर और ग्रीष्म समय आनेपर जीर्ण चरन छोड़ देना चाहिये- कारण की अपेक्षा से वस्त्र धारण करनेका विधान है- जीर्ण वस्त्र का त्याग करनेका विधान आगममें है इसलिये छद्मवस्त्रका त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा आगमसे सिद्ध होता है ऐसा यदि कहोमे तो वह अयोग्य है अबैलता यह मूल गुण है ऐसा आचार्यका बचन है अतः वस्त्रका त्याग करना ही चाहिये- प्रशालन नौरह संस्कार न होनेसे वस्त्रमें जीर्णता आती है- परंतु छद्मवस्त्रका त्याग करना चाहिये ऐसा कथन करनेके लिये जीर्ण शब्दका प्रयोग किया है- पात्रका भी संयमार्थ ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सूत्रोंमें उसका भी विधान है ऐसा कहना अनुचित है

अबैलता शब्दका अर्थ सर्व शरीरग्रहोंका त्याग ऐसा होता है- पात्र भी परिग्रह है इसलिये उसका भी त्याग करना अवश्य सिद्ध होता है- अतः कारणकी अपेक्षामें वस्त्रपात्रका ग्रहण करना सिद्ध होता है- जो उपकरण कारणकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है उसका त्याग भी अवश्य कहना चाहिये- इसलिये वस्त्र और पात्रका अधोधिकारकी अपेक्षासे सूत्रोंमें बहुत स्थानोंमें विधान आया है वह सब कारण की अपेक्षा से ही है ऐसा समझना चाहिये-

भावनामें इस विषयमें ऐसा उद्धृत है—‘वरितं चीवरयारी तेण परमचेलभो जिणोचि’ अर्थात् महावीर

स्वामीने एक वर्ष तक मस्त्रधारण किया था. तदनंतर उन्होंने उसका त्याग किया था. ऐसा मानना में उल्लेख है. परंतु इनमें अनेक विवाद हैं. अर्थात् यह कहना निश्चययुक्त नहीं है. कोई इस विषय में ऐसा कहते हैं "जिस दिन महावीर स्वामीने दीक्षा धारण की उसी दिनमें महावीरस्वामीके शरीरपर जिसने सुगंध पदार्थोंकी चर्चा की उसने वह वस्त्र ग्रहण किया छह महीने के बाद वह वस्त्र वृक्षके कांटोंसे और शालाज्योत्ति फट गया ऐसा कोई कहते हैं. एक वर्ष और कुछ दिन व्यतीत होने पर खदलक नामक ब्राह्मण ने यह ग्रहण किया था ऐसा कोई कहते हैं. द्वाग्ले जत्र यह वस्त्र जमीनपर गिर गया तत्र स्वामीने उसकी उपेक्षा की ऐसा कोई निबन्धन कहते हैं. सुगन्धी चर्चा करने वाले मनुष्यने मगगानके कंधे पर वह वस्त्र रखवा ऐसा कोई कहते हैं" इस तरह महावीर स्वामीका वस्त्र धारण अनिर्णीत है. सचेलालिंगमें ऐसे अनेक संशय होनेसे उसमें कुछ तथ्य नहीं दीखता है.

यदि मगगानने वस्त्रग्रहण किया था तो उन्होंने उसका क्यों नाश होने दिया. उनको वह सदा धारण करना योग्य था. यदि यह वस्त्र भेरा नष्ट होगा ऐसा प्रभूको ज्ञान था तो उसका क्यों उन्होंने ग्रहण किया ? यदि उनमें यह मायूस न था तो उनका अज्ञान प्रगट होता है.

यदि मगगानने 'रत्न धारण कर वह भी मुनिका लिंग है ऐसा सूचित किया है ऐसा कहोगे तो 'आ-बेलकको धम्मो पुरिमचरिमाणं' यह शब्द न भिन्धा होगा. अर्थात् श्रवण तीर्थंकर महावीर इन्होंने आचलक्ष्य धर्म-का उपदेश किया है. अर्थात् मुनिओंने संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना चाहिए यह मुनिधर्म है. ऐसा उन्होंने उपदेश किया है. यह उपदेश असत्य समझना होगा.

उसी तरह नरस्थानग्रन्थमें 'यथाहमंचेली तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खसिदिषि' श्री आदिभगवानका 'मै जैसा निर्निस्त्र हूं ऐसा पथिम तीर्थंकर भी निर्निस्त्र ही होगा" यह वचन भी भिन्ध्य मानना पड़ेगा.

जैसा महावीर स्वामीका वस्त्र त्यागकाल कहा है वसा अन्य तेवीस तीर्थंकरोंका वस्त्रत्याग काल क्यों न ही आपने दिखाया यदि वस्त्र उनको भी होता तो ऐसा कहना युक्त होता है.

सर्व परिग्रहोंका त्याग कर विनिरस जत्र ध्यान करते हैं जत्र समय यदि किसीने वस्त्र उनको पहनाया तो वह उपसर्ग कहलावेगा. शीत उष्ण, दशमदक, तुणस्पशं वगैरह परीपट सहन करना चाहिए ऐसा वर्णन परि-

पद संश्रोंमें किया है. यह वर्णन अचेलताकी ही सिद्धि करेगा.

जो वस्त्र धारण करेगा उसको जाड़ेसे, दंशमशकादिसे दुःख होता नहीं.

इन द्रव्योंसे अचेलताका ही निरूपण होता है. परिचयेसु वस्त्रेषु इत्यादि. गायत्र्याका अभिप्राय—मुनि मनमें विचार करते हैं. अब मैंने वस्त्रका त्याग किया है तो मैं फिर उसको नहीं ग्रहण करूंगा. जिसने वस्त्रका त्याग किया है वह सदा जिनरूपका धारक माना जाता है. जिसने वस्त्र धारण किया है वह सुखी होता है और वस्त्ररहित दुःखी होता है. इसलिये मैं वस्त्र धारण करूंगा ऐसा विचार भिक्षु मनमें न लावे. निर्वस्त्र होनेसे मेरेको शीतसे दुःख होता है इसलिये मैं धूपका सेवन करूंगा ऐसा मानना भिक्षुको मनमें नहीं करना चाहिये. और शीतादि परिपहोंको वह सहन करे. मेरे पास शीतनिवारण करनेवाला वस्त्र नहीं है. इसलिये मैं अत्रिक्क सेवन करूंगा ऐसा विचार भिक्षुको नहीं करना चाहिये.

उत्तराध्ययनम् ऐसा अभिप्राय लिखा है—

जो आचेलकष्य धर्म है वही पार्थनाथस्वामीने कहा है. परंतु एक धर्म में ही अर्थात् मुनिधर्म में ही प्रयुक्त हुए मुनिओंमें दो तरह की—सचेल धर्म और अचेल धर्म ऐसी दो कल्पनायें उत्पन्न हुई हैं. अतः मेरे मनमें संशय उत्पन्न हुआ है, इस वचनसे भी चरमतीर्थंकर महावीर स्वामी के धर्म में अचेलता सिद्ध होती है.

वदवैकालिक ग्रंथमें ऐसा वचन है—

अभिप्राय—जो नग्न है, मुंड है अर्थात् जो कंठलोच करता है, जिसके नल केश दीर्घ है, जिसने मैथुनका त्याग किया है ऐसे साधुको अलंकार की क्या जरूरत है.

इस प्रकार आचेलकष्य कल्पका वर्णन हुआ.

उद्देशिक स्थितिकल्पका वर्णन—

मुनिके उद्देशसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं. उसके आधाकर्मोदि विकल्प से सोला प्रकार हैं उसका त्याग करना यह द्वितीय स्थितिकल्प है.

कल्पनामक ग्रंथमें इसका ऐसा वर्णन है—

अर्थात्—श्री आदिनाथ तीर्थकार और श्री महावीरस्वामी इनके तीर्थमें सोलह प्रकारके उद्देश्य दोषोंका परिहार करके आहारादिक ग्रहण करना चाहिए ऐसा कहा है यह दूसरा स्थितिकल्प है.

सेव्याधर कल्पका वर्णन—

सेव्याधर शब्दके तीन अर्थ हैं—जो वसतीका जो बनाता है वह, बनाई हुई वसतिकाका संस्कार करने-वाला, अथवा गिरी हुई वसतिकाको सुधारनेवाला, किन्ना उसका एक भाग गिरगया हो तो उसको सुधारनेवाला वह एक, जो धनदाता नहीं है और संस्कार भी नहीं करता है परन्तु यहाँ आप निवास करो ऐसा कहता है वह, ऐसे तीनोंको श्रम्याधर कहते हैं, इनके आहारका, और इनके पिच्छिका, वगैरह उपकरणका त्याग करना यह तीनरा कल्प है.

यदि इन श्रम्याधरोंके घरमें मुनि आहार लेने तो घर्मफलके लोभसे ये श्रम्याधर मुनिज्योंको आहार देते हैं ऐसी निंदा होगी. जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दस्त्रि है, लोभी छुपण है वह मुनिज्योंको वसतिदान न दें. उसने वसतिका दान किया तो भी इस मंदभाग्यने मुनिको आश्रय दिया परन्तु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निंदा करते हैं. जो वसतिका और आहार भी देता है उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना संभवनीय है. क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है. अतः उनके यहाँ मुनि आहार ग्रहण नहीं करते हैं.

राजाके यहाँ आहार नहीं लेना यह चौथा स्थितिकल्प है. इत्याहुबंद, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, उनको दुष्टोंसे रक्षण करना इत्यादि उपयोंसे अनुरंजन करता है उसको राजा कहते हैं. राजाके समान जो महामन्त्रीका धारक है उसको भी राजा कहते हैं, ऐसेके यहाँ पिंड ग्रहण करना यह राजपिंड है. इसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि. अन्न, पान, स्वाद्य और स्वाद्यके पदार्थोंको आहार कहते हैं. तुष, फलक, आसन वगैरह पदार्थोंको अनाहार कहते हैं. पिच्छी, वस्त्र, पात्र उनको उपधि कहते हैं.

राजपिंडका ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ ऐसे दोषोंके दो भेद हैं. ये दोष समुत्थ और त्रिचोके द्वारा होते हैं. त्रिचोके के ग्राम्य और अग्र्यवासी ऐसे दो भेद हैं. ये दोनों प्रकारके त्रिचोके दुष्ट और मद्र ऐसे दो प्रकार के हैं. घोडा, हाथी, बैला, भेडा, कुवा इनको ग्राम्य पशु कहते हैं. ये पशु राजाके घरमें श्रावः होते हैं. यदि ये कुछ स्वभावके होंगे तो उनसे मुनिज्योंको बाधा पोहोचती है.

यदि वे मद्र हो अर्थात् दृष्ट स्वभावके न हो तो वे स्वयं मुनियोंको देखकर मय से भागकर दुःखित होते हैं। स्वयं गिर पड़ते हैं अथवा घबरा देकर मुनियोंको मारते हैं। इधर समर कुदते हैं।

चाप, सिंह वगैरह मांसभक्षी प्राणी, वनर वगैरह प्राणी राजा के घरमें बंधनसे यदि मुक्त होगये होंगे तो उनसे मुनिका यात होगा और वे यदि मद्र होंगे तो वे इधर उधर भागने पर भी मुनिको बाधा होने की संभावना है।

मनुष्योंसे भी राजाके घरमें मुनियोंको दुःख भोगने पड़ते हैं। उनका वर्णन— राजाके घरमें तलबर्, म्लेच्छ, दास, दासी वगैरह लोक रहते हैं। इन लोगोंसे राजगृह न्याप्त होनेसे यहां प्रवेश होने में कठिनाता पड़ती है। यदि मुनिने राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहां उन्मत्त दास वगैरह लोक उनका उपहास करते हैं। उनको निंद्य जुद्ध बोलते हैं। कोई उनको अंदर प्रवेश करने में मनाई करते हैं, कोई उनको उछेलते हैं। यहां अंतःपुरकी स्त्रियां यदि कमयिकार से पीडित होगी अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका अपरदस्तीसे उपभोगके लिये प्रवेष्ट करवाती है।

कोई व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चोर कर यहां मुनि आया था उसने चोरी की है ऐसा दीपारोपण करते हैं। यह राजा मुनियोंका भक्त है ऐसा समझकर दृष्ट लोक मुनि चेप धारण कर राजाके यहां प्रवेश करते हैं और वहां अनर्थ करते हैं। जिससे मुनियोंको बाधा पड़ोचनेकी बहुत संभावना रहती है। अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविषेकी वनकर मुनियोंको दुःख देता है। अथवा अविषेकी दृष्ट लोक मुनियोंको दीप देते हैं उनको मारते हैं। ऐसे इतर व्यक्तिओंसे उत्पन्न हुए दोषोंका वर्णन किया है। अब राजाके घरमें प्रवेष्ट करनेसे मुनि स्वयं कौनसे दीप करते हैं इसका वर्णन करते हैं—

राजगृहमें जाकर मुनि आहार शुद्ध है या नहीं इसका शोध नहीं करेगा देखभाल न कर लाया हुआ आहार ग्रहण करता है। विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इंगाल नामक दीप उत्पन्न होता है। अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लंपट होजाता है। दुर्दैवसे चर्वाही रत्नादिक अमूल्य वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा। अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा। राजाका वैभव, उसका अंतःपुर, वेड्या वगैरहको देखकर निदान करेगा। ऐसे दोषोंका संग्रह जहां होगा ऐसे राजाके घरमें आहाराका त्याग करना चाहिये।

परंतु जहाँ ऐसे दोष होनेकी संभावना नहीं है वहाँ मुनिको आहार लेनेके लिये मनाई नहीं है, गत्यंतर न हो अथवा भुतज्ञानका नाश होनेका प्रसंग हो तो उसका रक्षण करनेके लिये राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है, ग्लान मुनि अथवा वीमार मुनिके लिये गजपिंड यह दुर्लभ द्रव्य है, वीमारी, भुतज्ञानका रक्षण ऐसे प्रसंगमें राजाके यहाँ आहार लेना निषिद्ध नहीं है।

५ चारित्र्य संपन्न मुनिका अपने गुरुका और अपनेसे बड़े मुनिबोंका विनय करना सुश्रूषा करना यह कर्तव्य है, इसको कृत्तिकर्म नामक स्थितिकल्प कहते हैं।

६ व्रतारोपण योग्यता नामक उवा स्थितिकल्प है—

जिसको जीनोंका स्वरूप मानुस हुआ है ऐसे मुनीको नियमसे व्रत देना यह उवा स्थितिकल्प है।

जिसने पूर्ण निर्ग्रामस्था धारण की है उदधिकाराहार और राजपिंडका त्याग किया है, जो गुरुभक्त और निम्नी है वह व्रतारोपणके लिये योग्य है।

व्रत देने का क्रम इस प्रकार है—जब गुरु बैठते हैं और आर्यिकार्यें सम्मुख होकर बैठती हैं, ऐसे समयमें ध्यान और ध्याविकाओंको व्रत दिये जाते हैं, व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायें तरफ बैठता है वर गुरु उसको व्रत देते हैं।

ब्रह्मोक्त स्वरूप जानकर पापोंसे निरक्त होना वह व्रत है, वृत्तिकारण, छादन, संवर, विरति ये सब शब्द व्रतके वाचक हैं, यही अभिप्राय 'गाऊज' इस माध्यामें कहा है।

पहिले तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर इन्होंने रात्रिभोजन त्याग और पंच महाव्रतोंका उपदेश किया है, व्रमज योगसे माणी के प्राणोंका पाव करना इसको हिंसा कहते हैं, इस हिंसासे विरक्त होना यह प्रथम अहिंसा महाव्रत है, असत्य भाषणसे प्राणिओंको दुःख होता है ऐसा समझकर दयावान मुनि सत्य बोलते हैं, यह उनका सत्य महाव्रत है, यह भेदा है ऐसा मंकल्प जिसके ऊपर है ऐसी वस्तु लेने पर लोक उस वस्तुके विरहसे दुःखित होते हैं यह देकर दयासे उनकी वस्तु लेनेका त्याग करना यह तीसरा अचौर्य महाव्रत है, सरसोस मरी हुई नलिकाओं तपी हुई लोहदण्डाका पुमनेसे सब मरसों जलकर भस्म हो जाती है उसी तरह योगी में पुरुषेन्द्रियका प्रवेश होने में वहकि सर्प युद्धम जीव नष्ट होते हैं, यह भैयुन रागभाव को उत्पन्न करता है, यह कर्मवधका

महान् कारण है- ऐसा समझकर दयावान् मुनि उससे पूर्ण निरक्त होते हैं यह उनका चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रहेमं एतौ प्रकारके जीवोंको वाया पोहोचती है- यह व्रमत्वपरिणामक लिय कारण है। इसलिये सर्व परिग्रहोंका त्याग करना यह परिग्रहत्याग नामक पांचवा महाव्रत है।

इन व्रतोंका पालन करनेकेलिए रात्रिभोजनका त्याग करना यह छठा व्रत है अहिंसामहाव्रत सर्व जीवोंके निषेध करता है। अदंशान् ममं जीमंपर दया काना यह अहिंसा महाव्रतका विषय है। अचार्यमहाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत ये सर्व पदाथविषयक है। अर्थात् वाद्य घन धान्यादिक पदार्थोंका त्याग करनेपर इन व्रतोंकी प्राप्ति होती है। और वचे हुए व्रत अर्थात् तत्सममहाव्रत और ब्रह्मचर्यव्रत ये दो व्रत ब्रह्मोंका एकदेश विषय करते हैं। यही अभिप्राय पदमग्नि सत्त्वजीवा इम गाथामें आचार्योंनि दिलाया है।

ज्येष्ठ नामक सप्तम स्थितिकल्पका वर्णन--

७ जिनमें पांच महाव्रत धारण किये हैं, और जो बहुत वर्ष की दीक्षित है ऐसी आर्यिकासे भी आज जिनमें दीक्षा ली है ऐसा मुनि ज्येष्ठ माना जाता है। पुरुष संप्रद, उपकार और रखण करता है। जगतमें पुरुषने ही धर्मकी स्थापना की है। इसलिए उसको ज्येष्ठता मानी है। इमबास्ते सर्व आर्यिकाओंका मुनिका विनय करना यह कर्तव्य है।

दिया पुरुषने कनिष्ठ मानी गई है, वे अपना रखण स्वयं नहीं कर सकती। दूसरोंसे वे इच्छी जाती है। अर्थात् पुरुष जब उसकी इच्छा करता है तब ये उसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ होती है। उनमें स्वभावतः भय रहना है, कम जोरी रहती है। पुरुष ऐसा नहीं है अतः वह ज्येष्ठ है। यही अभिप्राय 'लेणिच्छी हु लघुसिरा इत वृत्तं' कहा है।

८ जंगलनादि कल्पमें रहने हुए मनीको जो अविचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना यह अष्टम स्थिति कल्प है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे प्रतिक्रमणके छे भेद हैं- अर्थात् नाम प्रतिक्रमण, स्थानान्निक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि छह भेद हैं।

भट्टिणी, मट्टिदरिगा इत्यादि अयोम्य नामोल्लाखण करनेपर उसका पोरदार करना यह नाम प्रति-
क्रमण है।

असंयत, मिथ्यादृष्टि चीवोंके प्रतिर्विव अर्थात् प्रतिपाकी पूजा वगैरह करनेपर उससे परावृत्त होना यह
स्थापना प्रतिक्रमण है।

द्रव्यके संचित, अचित और मिश्र ऐसे तीन भेद हैं इनका त्याग करना यह द्रव्यप्रतिक्रमण है, जहाँ
जस स्वावर जीव बहुत हैं ऐसे क्षेत्रका त्याग करना अथवा जहाँ स्वाध्याय करनेमें, ध्यान करनेमें बाधाएँ उत्पन्न
होती हैं ऐसे प्रदोषोंका त्याग करना यह क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

संस्थाकेलमें, स्वाध्यायकाल वगैरह कालोंमें आना जाना वगैरह क्रियाओंका त्याग करना यह काल
प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, संसयम, कषाय और योग इनसे निवृत्त होना यह भाव प्रतिक्रमण है।

श्री आदि तीर्थंकर और महावीर स्वामीने प्रतिक्रमण के साथ युनिधर्मका उपदेश किया है। अर्थात् प्रति-
क्रमण वर्रोज करना ही चाहिये ऐसा उन्होंने उपदेश दिया है। परंतु बीचके श्रावीस तीर्थंकरोंने अपराध होनेपर
प्रतिक्रमण करना चाहिये ऐसा उपदेश दिया है। इस प्रतिक्रमणके दैवसिक, राविक, ईर्ष्यापथिक सिद्धाचर्यों, पाथिक,
चातुर्नासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं। श्रीआदितीर्थंकर और महावीर तीर्थंकरणीत पांचवें
धर्ममें और अन्य तीर्थंकर प्रणीत चौथे धर्ममें प्रतिक्रमण के कालभेद बताये हैं। जब अतिचार लगते हैं तब प्रतिक्र-
मण करना चाहिये अर्थात् अपने आत्मका अवलोकन करना चाहिये।

मुनिको आहारमें, ईर्ष्याधर्ममें, सर्व प्रकारके स्वाम, जागृतावस्था इत्यादि समयमें जो दोष उत्पन्न होते
हैं उनका प्रतिक्रमण करना चाहिये। आदि भगवान् और महावीरके समयमें हुए मुनिओंका छोटकर बीचके
चावीन तीर्थंकरके समयके मुनि जब अतिचार लगते थे तबही प्रतिक्रमण करते थे। अर्थात् आहार, दुःस्वप्न,
ईर्ष्यापथ इत्यादिक विषयमें जहाँ दोष लगता था तब ही वे प्रतिक्रमण करते थे। अन्यसमयमें नहीं। आहार, ईर्ष्यापथ
अर्थात् बंदनादिकमें लिये एक स्थानमें दूखे स्थानको जाना दुःस्वप्न इत्यादिकके समयमें अपनी प्रवृत्ति सति-
चार हो या निरतिचार हो दोनों समयमें भी आयत्त तीर्थंकरकालीन मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। अर्थात् दोष

लगनेपर वा न लगनेपर प्रतिक्रमण करना ही चाहिये ऐसी आर्थात् तीर्थंकरोंकी आज्ञा है.

गत्यम तर्न्यरके शिष्योंकी मुद्रि दृढ थी उनका बिच एकाग्र रहता था. उनका अपने कार्य पर लक्ष्य दृढ बना रहता था इसलिए जो कार्य वे करते थे उसकी गह्रा करते थे. परन्तु आर्थात् तीर्थंकरके शिष्य मोहयुक्त, चंचलचित्त होते थे अतः उनको अपराधोंका स्मरण नहीं रहता था इसवास्ते वे सबका प्रतिक्रमण करते हैं. इस विषयमें अथ घोटका उदाहरण उपयुक्त है—

किसी राजाका घोड़ा अंधा होगया तब उसने बैद्यके पुत्रको औपच देने के लिए कहा. वैद्यपुत्रको औपचि मातुम नहीं थी. वैद्य को अन्य गाँवको चला गया था अतः उसके पुत्रने घोड़े के नेत्रपर सर्व औपधियोंका प्रयोग किया. उसने घोड़े के नेत्र अच्छे होवाये. इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमण दंडकमें यदि स्थिर चित्त न होगा. इससे यदि न हो तो तीसरेमें स्थिर होगा इसलिये सर्व दंडकोंका उच्चारण करना उसके लिये योग्य है. इसमें कोई विरोध नहीं है. सर्व भी दंडक कर्मक्षय करनेमें समर्थ होते हैं.

सामैकशरितानामक नीचे स्थितिकल्पका वर्णन —

वसंतादि छहो ऋतुओंमेंसे एकैक ऋतुमें एक भासपर्यंत एकत्र मुनि निवास करते हैं. और एक मास विहार करते हैं. यह नीचा स्थितिकल्प है. एकही स्थानमें यह—विरकाल रहनेसे उद्गमादि दोषोंका परिहार होता नहीं. वसंतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है. सुखमें लंपटपना उत्पन्न होता है. अलस्य आता है, सुखमारता की भावना उत्पन्न होती है. जिन श्रावकोंके यहां आहार पूर्वमें हुआ था वहाँही पुनरपि आहार लेना पड़ता है. ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं. इसलिये मुनि एकही स्थानमें विरकाल तक रहते नहीं हैं.

पाय नामक सिं. तिकल्पका वर्णन—

वर्षाकालके चार मासमें एकही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग करना यह पाय नामक दूसरा स्थितिकल्प है. वर्षाकालमें जमिन सावर और प्रस जीवोंसे व्याप्त होती है. ऐसे समयमें मुनि यदि विहार करेंगे तो महा अंगायम होगा. जलवृष्टिमें और बंढ हुआ वहनेसे आत्मविषयना होगी अर्थात् ऐसे समयमें विहार करनेसे मुनि अपने आचाराने ज्युत हो जावेगे. वर्षाकालमें मृमि जलमय होनेसे कुवा, खड्डा इत्यादिकोंमें गिर जानेकी संभावना होती है. मृद, कंटकादिक यानभि दक जानेसे विहार करने समय उनसे बाधा होनेकी संभावना होती है.

कीचड़में फल जांगे इत्यादि दोषोंमें वचनेके लिये गुनि एकमो बीस दिवस एक स्थानमें रहते हैं. यह उत्सर्ग नियम है. कारणयश इससे अधिक या कम दिवस भी एक स्थानमें ठहर सकते हैं. आपाद शुक्ल दशमीसे प्रारंभ कर क्रांतिक पूर्णिमासीके आगे भी और तसि दिनतक एक स्थानमें रह सकते हैं. अध्ययन, धृष्टीकी अधिकता, शक्तीका अभाव, वैवाच्य करना इत्यादि प्रयोजन हो तो अधिक दिन तक रह सकते हैं. यह ऊपर लिखा ही है. यदि मारी रोग, दुर्भिक्ष, ग्रामके लोकोंका अथवा देशके लोकोंका अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्रामादिकोंमें जाना, गच्छना नाश होनेके निमित्त उपस्थित होना, इत्यादि कारण उपस्थित होने पर मुनि चातुर्मासमें भी अन्य स्थानको जाते हैं. नहीं जाने पर उनके रत्नत्रयका नाश होगा. इसलिये आपाद पूर्णिमा व्यतीत होनेपर प्रतिपदा वगैरह तिथिमें अन्यत्र चले जाते हैं. इसलिये बीस दिन एकसौ बीस दिनोमें कम किये जाते हैं. इस तरह कालकी हीनता है. यह सब वर्णन दसवें स्थितिकल्पका समझना चाहिये. ये दसकल्प यत्याचार के भेद हैं

एवेसु दससु णिचं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ॥

खवयस्म विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविधेदि ॥ ४२२ ॥

मत्तमरोहणार्हत्वं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥

भासैकत्र स्थितिः पर्या स्थितिकल्पा द्योरिताः ॥ ४२४ ॥

अद्यभीरुको नित्यं दशस्वेतेषु यः स्थितः ॥

क्षपकस्य समर्थोऽसौ वक्तुं चर्यामद्यणाम् ॥ ४२५ ॥

विजयोद्या—एवेसु दससु णिचं एतेषु दशस्थितिकल्पेषु नित्यं । समाहिदो समाहितः । णिच्चवज्जभीरू य मित्यं पापभीरुः । यद्यगस्स क्षपकस्य । विसुद्धं अधुत्तचरियं यद्योक्तं चर्यामसौ उवविधेदि ॥ विदधाति ॥

वराया स्थितिकल्पयुक्तः क्षपकस्य किं करोतीत्याह—

मूलाया—उवविधिं करोति ॥

अर्थ—जो आचार्य इन दश प्रकारके कल्पोंमें सदा तत्पर रहते हैं. जो हमेशा पापकायोंसे भयभीत हैं

वे क्षपकको निर्दोष और आगमोक्त आचरण प्रदान करते हैं. अर्थात् क्षपकसे निर्दोष आचरण करवाते हैं. उसके आचरणोंमें दोष दिखाकर उसको शुद्धाचरणी बनाते हैं.

निर्यागकाल सूर्योत्थापारम्भे क्षपकस्य गुणं ध्यात्वाष्ट—

पंचविधे आचारे समुज्ज्वलो सन्नसमिदचेद्वाओ ॥

सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुदु आयारे ॥ ४२३ ॥

उद्यतः पंचधाचारं यः कर्तुं समित्तक्रियः ॥

क्षपकः पंचधाचारे प्रैर्येते तेन सर्वदा ॥ ४२४ ॥

विजयोदया—पंचविधे भायारे समुज्ज्वलो पंचमकार आचारे समुद्यतः । समिदस्यचेद्वाओ सम्यक् प्रद्युताः स पर्यवेष्टा यस्य सः । सुदु उज्जमेदि सुदु उपोगे कारयति । ययं क्षपकं । कं पंचविधे आचारे ॥

पंचाचारोपतः क्षपकं तत्र उपमयतीति आह—

मूलाय—समिदसन्नसिद्वाओ सम्यक्प्रद्युतसकलमगमनाधिक्रियः ॥

निर्यागक आचार्य यदि आचारवान् हांगे तो उनसे क्षपकको क्या लाभ होगा इस प्रश्नका उत्तर—
अर्थ—जो आचार्य दर्शनाचारादि पाँच आचरोंमें तत्पर रहते हैं, अपनी सब चेष्टाओं जो समितीओंके अनुसार ही करते हैं वे क्षपकको भी पाँच आचारोंमें निर्दोषतया प्रद्युत करतें हैं.

यः आचारपात्र भवति तदाश्रयणे दीपमाह—

सेज्जोवधिंसंधारं भत्तं पाणं च चयणकंप्पगदो ॥

उक्कप्पिज्ज असुद्धं पडिचए ता असंविग्गो ॥ ४२४ ॥

अशुद्धसुपघिं शय्यां भत्तं पानं च संस्तरम् ॥

सहायानप्यसंधिग्रान्धिधत्ते क्पवनस्थितिः ॥ ४२७ ॥

विजयोद्या—सर्वज्ञं वसति । उवाच उपकरणं । संयत्प्रपन्नं च संस्तरं भक्षणं च । असुदं उद्गमादिदोषोपहतं । उपकरणेन उपरुचयेत् । क. चयणकरणदोषो ज्ञानाचारादिकादीपकवचनमुपगतः । पण्डितरूपं वा प्रतिचारकाभ्यां योजयेत् । असंविगे असंविगान् एवमसंयमे कृते भक्षान्कर्मवचो मधिष्यति ततोऽस्माकं महती संयुतिरनेनैव गमयेति । भवराहितान् ॥

आचारहीनाश्रयणे दोषं गाथात्रयेणाह—

मूलारा चयणकरणदोषो ज्ञानदर्शनादिषु न्ययनमुपगतः । उवाच उपकरणं । असुदं उद्गमादिदोषोपहतं । वशिष्ठेन प्रतिचारकान् । असंविगे एवमसंयमे कृतेऽस्माकं महान्कर्मवचो मधिष्यति इति दीर्घसंयुतिभयरहितान् ॥

जो आचार्य आचारवान् नहीं है ऐसे आचार्य का आश्रय करनेसे क्षपककी हानि होती है. इसका सुलाना—

अर्थ—जो ज्ञानाचारादिक पाँच आचारोंसे धोडागा भ्रष्ट हुआ है ऐसा आचार्य क्षपकको वसतिफा, पि० आदिक उपकरण, तृणादिकाका संस्तर, आहारके पदार्थ, पीनेके पदार्थ उद्गमादि दोष सहित देगा. अर्थात् वसति वर्गरह पदार्थ दोषरहित है वा नहीं इसका विचार वह न करेगा. अथवा क्षपककी शुश्रूषा करनेवाले मुनि मंत्रारभयने युक्त है वा नहीं इसका विचार न करेगा अथवा क्षपककी शुश्रूषा करनेके कार्यमें नियुक्त करेगा. हम यदि असंयममें प्रवृत्ति करेंगे तो हमको महान् कर्मवच होगा और वह हमको दीर्घकालतक संसारमें ब्रमावेगा ऐसी भीति जिनके मनमें नहीं है उनको शुश्रूषा करनेके लिये नियुक्त करनेसे क्षपकका आत्महित होना अशक्य ही समझना चाहिये.

सहेष्टहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुज्जाणिज्जा ॥

अप्याउगं व कथं करिज्ज सइरं व जंणिज्ज ॥ ४२५ ॥

सहेष्टवनायाः कुन्ते प्रकाशनां कथामयोग्यां क्षपकस्य भापते ॥

स्वैरं पुरस्तस्य करोति मंत्रणं गंधप्रसूनादिविधिं च मन्यते ॥ ४२८ ॥

पिउयोद्या—सहेष्टहणं पयासेज्ज सहेष्टहणं प्रकाशयेत् लोकस्य । गंधं मात्वं वासुजानीयात् । गंधमाल्यान्-

यनमभ्युपगच्छेत् । अण्डजं वा कहेच्छ । अण्डयोग्यां वा कथां कथयेत् । क्षपकस्याद्युप्रधारिणामविधादिनीं ।
मदरं वा रौरवं वा जंगमं जरेत् । आरामकस्याग्रत इदं पुक्तं न रेत्यविचार्यं खेदा ॥

मूलादा—महेद्वजं पयसेज्ज क्षपकस्य मन्वावविधिं लोकस्पर्शो प्रकटयेत् । समणुजोपेद्वजं गंधादिकं सेवमानं
अपक्रममुक्तयेत् । अण्डजं अयम्यं । कहे कथा । मदरं वयेष्टम् ॥

अर्थ—आचाररहित आचार्य क्षपककी संछेखना लोकमें प्रगट कर देगा. अथवा लोकमेंको सुगंधित पदार्थ,
और पुष्प लौनेके लिए कहेगा. क्षपकके परिणामोंको विधाटने वाली कथायें कहेगा अथवा क्षपकके आगे योग्यायो-
न्यथा पिचार न कर चाहे जो करने लगेगा. अभिप्राय यह है कि ऐसे आचार्योंको क्षपकके कस्यावकी पर्यां नहीं
रहती है.

ण करेज्ज सारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो ॥

उदेज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥ ४२६ ॥

साररत्नत्रये प्रवर्तनं सारणं, दोपेभ्यो वारणं निवर्तनमिति यावत् ॥

सारणां वारणां नास्य कुरुते रूपवनस्थितः ॥

क्षपकस्य महारंभं कंचित्कारयते गणो ॥ ४१९ ॥

विज्ञयोद्या—ण करेज्ज न कुर्यात् । किं सारणं रत्नत्रये वृत्ति । वारणं च निषेधे न कुर्यात् । तेभ्यः प्रकथय-
मानस्य । चयणस्य क्षपकस्य । कः चयणकृत्तव्यो व्यवनन्तगतः । उदेज्ज वा महल्लं आरंभे कारयेच्छा महान्तं आरंभे
पट्टकशाला, पूजा, विमानं वा । चयनस्त वि क्षपकस्यापि किंचन ॥

मूलादा—सारणं रत्नत्रये प्रवर्तनं । वारणं रत्नत्रयावच्छेदमानस्य निषेधः । उदेज्ज कारयेत् । किंचणारंभे
कमपि पट्टकशाला, पूजा, विमानादिकं सावयव्यापारं ॥

अर्थ—अण्ड आचार्य क्षपक रत्नत्रयमें प्रवृत्त होगा ऐसा उपदेश नहीं करता है. तथा यदि वह रत्नत्रयसे
च्युत होने लगा तो उसमें स्थिर भी नहीं करता है. वरुण आरंभ करावेगा अर्थात् पट्टकशाला, पूजा, विमान इत्या-

दि कार्य करनेमें लोगोंको प्रयुक्त करेगा, धूपकड़े लिए भी ऐसा ही महारम्भका कार्य करेगा, इगलिंग ऐसे आचार्य के महवागने धूपकड़ा दित होने शक्य नहीं है.

आचार्यो पुन से दोसे सब्बे वि ते विवब्जेदि ॥

तम्हा आचार्यो गिज्जवओ होवि आयरिओ ॥ ४२७ ॥

आचार्यः पुनर्वचान्यतः सर्वान्स्विकमुंचति ॥

निर्यापकस्ततः स्वरित्वाचारस्योऽभिधीयते ॥ ४४० ॥

इति आचारी

पिजणोरया—साधारणो पुन आचार्यः पुनः स्वरित्वाचारस्योऽभिधीयते योगान् । तस्मात्तस्मात् । पुणेदु प्रयत्न-
माणो दोषेभ्योऽप्यापुनश्च । आचार्यो भावयिओ गिज्जवओ दोणे आचारस्य पलाचार्यो निर्व्यापको भवति नापरः ।
व्यापनमाचारस्यम् । भाचार्यम् ॥

निर्यापकत्वे स्वरित्वाचार्यन्तं नियमयति—

मूलात् — स्पष्टम् ॥

अर्थ—आचार्यत्वं गुणको धारण करनेवाले आचार्य ऊपर लिखे हुए दोषोंका त्याग करते हैं, इसलिये
गुणोंमें प्रयुक्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्यापक होने लायक जानना चाहिए, जो आचार्य आचार्य
रहित प्रयुक्त हैं वे ही निर्यापक समझना चाहिए, आचार्यत्वं गुणका वर्णन समाप्त हुआ.

भाषारत्नमन्त्रालयकोषाचार्यमहोदय—

चोदिसदसणवपुब्बी महामदी सायरोब्ब गंभीरो ॥

कण्ठवद्वारधारी होदि तु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥

धरोऽग्निलांगुर्वेशो यः कालव्यवहारयित् ॥

आचारी स महामज्जो गंभीरो मंवरस्थिरः ॥ ४४१ ॥

चित्तपेदपा—जो इस ससृज्जगत्की चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी या । महामहो महात्मनिः । सायतोऽयं मंथीरे तस्मात् इव रंभीरः । साधारणं ज्ञान कल्पवृक्षद्वारा जो वा आधारधाम् मानी । दृष्टरिणामां नत्ते मनोवाक्याविकल्पाः, शुभा या पुण्याख्यमूर्तिः । शुद्धा या शुभाशुभकर्मसंस्पर्शेतयः, इति बोधयति । शुभेषु दुष्टेषु वा प्रवर्तयति धृतमन्त्रातमुपदिशयतीत्यसौ वृत्तान्तः, चारित्र्यः, क्षात्रश्रम आधारस्वभावः । ज्ञानमाधारः साक्षात् आधारधाम् ।

आधारपत्तमष्टासमिर्गोवाभिव्योपिरव्यासुसंवाधारत्वं लक्षयति—

मूलतः — रूपरसयद्वाहरी — अवधारितप्रायश्चित्तान्तातुगततत्त्वयोगः । आधारं दर्शनज्ञानचरित्रतत्त्वसा-
मुत्पत्तिस्थितिद्विरशपिद्वान्तत्वाधरोऽयं ज्ञानं सद्धान् स्मृतिधारणम् । नित्यशुचोपेक्षेन वापस्तपनकारणाशुभपरिणामेभ्यो
व्यावर्त्य क्षयकस्य पुण्याप्यर्थे, शुभयोगनये, संपरनिर्जराकारणे वा शुद्धोपयोगे प्रवर्तक इत्यर्थः ।

आधारपत्य गुणका सविस्तर वर्णन—

अर्थ—जो चौदापूर्व, दसपूर्व अध्या नउ प्रयोगी ज्ञाता है, जिसमें समुद्रतुल्य मंथीरता गुण है. जो कल्प
वृक्षद्वारा ज्ञाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्त आत्मका ज्ञाता है और उसमें वताये हुए प्रयोगोंका जिसने अनुसरण
क्रिया है. अर्थात् अपराधी मुनिओंको जिसने अनेकवार प्रायश्चित्त देकर इस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है
ऐसे आचार्य आधारपत्य गुणके धारक माने जाते हैं. इस गुणके धारक आचार्य मनोवचन और क्षीरके अशुभ
परिणाम पापामयके कारण होते हैं. शुभ परिणामों से पुण्यकर्म आत्मामें उत्पन्न होता है और शुद्ध परिणामोंसे
शुभाशुभ कर्मोंका संवर होता है ऐसा उपदेश कर शिष्योंको शुभ और शुद्ध परिणामोंमें प्रवृत्त करते हैं. हमेंका
शुभका उपदेश करते हैं. इनका ज्ञान वर्तन, चारित्र्य और तपकी आधार होता है. इसलिये ये आधारपत्य गुणके
धारक माने जाते हैं.

यस्तु ज्ञानागम भवति तदुभयपक्षे योगव्याचरे—

णासेन अगीन्द्रो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ॥
णट्टमि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥ ४२९ ॥

चतुरंगमगीतार्थो नाशयेल्लोकपूजितम् ॥
संस्तुतौ लप्स्यते भूयो नाशितं तच्च दुःखतः ॥ ४४२ ॥

पिञ्जयोद्धया—जातेरन्तर्गतो नाशयेदयुद्धीतत्पार्थ ॥ तस्स तस्य क्षयकृत्य ॥ चतुरंगं यत्पारि ज्ञानदर्शो नवारिषत्तर्पांसि अंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य ते चतुरंगं । लोके यत्सारं निर्वाणं तत्पार्थ उपकारकं । चतुरंगं नाम यदि तर्पे तथापि तत्त्वचतुरंगं पुनरेकमेव इति शंकाभिर्मां निरस्यति । णष्ठमि य चतुरंगे नष्टे इह जन्मनि चतुरंगे मुक्तिर्भावे । ण उ मुल्लं द्वेदि चतुरंगं । नैव सुतेन लभ्यते तच्चतुरंगं । विनाशितचतुरंगो मिथ्यात्वपरिणतः कुपोनिमुपगतः कथमिव लभ्यते चतुरंगं इत्यभिप्रायः ॥

अज्ञानमय्ये दोषमाह—

मूलारा—चतुरंगं यत्पारि दर्शनज्ञानपारित्रितपातंयंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य त्वं । लोकसारंगं लोके यत्सारं व्यवहारैर्नैवार्थिषत् निश्चयेन निर्वाणं तत्पातं साधनं । यदि नाम नष्टं चतुरंगं तथापि पुनर्लब्धते इत्यत्राह—नो इत्यादि विनाशितचतुरंगो मिथ्यात्वपरिणतः कुपोनिमुपगतः कथमिव लभ्यते चतुरंगमित्यभिप्रायः ॥

जो आचार्य ज्ञानी नहीं है उनके आश्रयसे दीयोत्पत्ति होती है, इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जिसको सिद्धांतब्रह्मोका ज्ञान नहीं है वह आचार्य क्षपकके चतुरंगका नाश करता है, अर्थात् यदि क्षपकने अज्ञ आचार्य का समाधिमरण के लिये आश्रय, किया तो उसके सम्पगर्धान, सम्पगर्धान, चार्त्ति और तपका नाश होता है, यह चतुरंग मोक्षमार्ग का हेतु है, यह चतुरंग व्यवहारनयसे सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे इंद्रादि पदका कारण है, तथा निश्चयनयने लोकत्रयमें श्रेष्ठ ऐसे मोक्षका कारण है, यह नष्ट होने पर पुनः प्राप्त होना ऐसी शंका करना व्यर्थ है, क्योंकि अत्र यह नष्ट हो जावेगा तो वह मोक्षपद कैसे मिलेगा अर्थात् सम्पगर्धानादि-सौका नाश होनेपर इग आत्माको मिथ्यात्व अर्थात् कुपोनिब्रह्ममें दीर्घ कालतक घुमाता है, अतः इस चतुरंगकी पुनः प्राप्ति होना अविशय कठिण है.

शङ्ककस्य चतुरंगं कथमयुद्धीतार्थो नाशयसीत्यारोकार्थमित्यमसौ नाशयतीति दर्शयति—

संसारसागरमिमं य अणंतबहुतिव्चदुनवसालिमिम ॥

संसारमणो दुक्त्वेण लहदि जीवो मणुस्सत्ते ॥ ४४३ ॥

तद् चेव देसकुलजाद्वस्वमारोगमात्तुं बुद्धी ॥
 सवणं गहणं सङ्गा य संजमो दुल्लहो लोए ॥ ४३१ ॥
 एवमवि दुल्लहपंपरेण लद्धूण संजमं खवओ ॥
 ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अवहुस्सुयसयासे ॥ ४३२ ॥
 सम्मं सुदिमलहंतो दीहंढं सुत्तिमुवगमिचा वि ॥
 परिवडइ मरणकाले अकदाघाररस पासम्मि ॥ ४३३ ॥
 सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो तुक्कक्खिओ पुणो दुक्खं ॥
 इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कवुट्ठं तुक्खं ॥ ४३४ ॥
 आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ॥
 अट्टदुहटो जीवो ण रमदि णाणे चरिचे य ॥ ४३५ ॥
 सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयेणेण य पुणो उवग्गहिबो ॥
 तण्हाछुहाकलंतो वि होदि ज्ञाणे अवक्खित्तो ॥ ४३६ ॥
 पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ॥
 ण कुणवि उवदेसादिं सम्याधिकरणं अगीदत्थो ॥ ४३७ ॥
 संसारसागरे घोरे दुःखनककुलकुले ॥
 दुःखतोऽप्याव्यमानेन प्राप्पते जन्म मानुपम् ॥ ४४३ ॥
 देशो जातिः कुलं रूपं कल्पता जीवितं मतिः ।
 श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा संयमो दुर्लभो भवेत् ॥ ४४४ ॥

बहुदुर्लभसंतत्या साधुलब्ध्वापि संयमम् ॥
 लभतं नाज्ञसन्धिष्वे देशानां धृतिचर्चनीम् ॥ ४४५ ॥
 प्रपात्त्यापि चिरं दृष्टमश्रुताधारसन्निधौ ॥
 अलब्धदेशानो मृत्युकाले प्रमंशते ततः ॥ ४४६ ॥
 क्षोषेभ्यो वार्यते दुःखं संन्यस्तः कियते सुखम् ॥
 छियते सुखतो वंशः कृप्यते दुःस्वतस्ततः ॥ ४४७ ॥
 जयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानस्त्वसौ कदा ॥
 आर्तैरौद्राकुलीशूतश्चतुरंगे न वर्तते ॥ ४४८ ॥
 शिशोन्नधुनिपानाभ्यां साधुराप्यायितः पुनः ॥
 क्षुधातृष्णाभिभूतोऽपि शुद्धस्थाने प्रवर्तते ॥ ४४९ ॥
 क्षुधया तृष्णया साधोर्वाचितस्य वदति न ॥
 उपदेशमशास्त्रज्ञः समाधिजननक्षमम् ॥ ४५० ॥

पिजयोदया--तस्मात्पद्मेन भुषा । दोषेण य विपासया वा । यथिच्छेत्तस्त वाप्यमानस्य तस्य । सवयवस्य
 क्षपस्त्व । पुनरपि उपवेशादि न करोम्युपदेशादि । समाधिकरण समाधि कियते येनोपदेशादिना त । अग्नीद्वयो
 अगृहीतार्थ ॥

यत्तदेव प्रपद्येत अभिषेचे--

मृत्परा--संसारसागरदिम संसारो ब्रह्म्यादिर्ष्वप्रकारधीरर्जुन । सागर इव दुस्सारदुःतरकरत्वात् । तत्र नारका-
 दितरीराणां महणमोक्षणाभ्यामसकृद्गतिर्ब्रह्मसंसारः । चतुर्दशीतिलक्षसंभक्तकादिनरकादिपृथीते कालेऽन्ता जन्ममरण-
 योर्द्विनिर्भविष्यति साता भन्यानामन्ता चाभन्याना क्षेत्रसंसारः । उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिद्वत्सर्पिण्याश्च प्रथम
 द्वितीयादिसमेगेषु पर्वीयेण सन्ममरणाभ्यां वृत्तिः कालसंसारः । दशवर्षसहस्रजन्मभ्यामुःप्रयुतिसमयेत्तरवृद्धिक्रमसना-
 पितोत्कृष्टानु रिचक्षिफर्मावृद्धिर्भवंसंसारः । कषायाप्यवसायस्थानविवर्तवृत्तिर्भावसंसारः । बहुशरीरमानसागन्तु

मूलाश्रम—आहारमज्जो अज्जेन निर्वृत्त इव प्राणानां तन्यूलत्वात् । आहारेण भोजनत्यागेन । किलाभिधो ग्लानि गतः । विराहिदो इति पाठे भोजनेन विभोजित इत्यर्थः । अष्टदुःखतो आर्तबुधः परातुरः । अष्टदुःखदो इति पाठे आर्तद्विकेन आर्तबुधोऽप्यां नृतः पीडितः ॥ उक्तं च—

अवमज्जमयो जीवस्त्यान्यमानोऽपसा कदा ॥

आर्तबुधोऽप्यां नृतः प्रवर्तते ॥

पशुशुचस्वरिण पुनः श्रुतोपदेशशिक्षाविशेषाभ्यां निराकृत एदुदुमुश्रमाकामः सदाशानैकवानो भवतीत्युपदिशति—

मूलाश्रम—उदग्गाहिदो कुलोपकारः । अवकिस्वत्तो अन्यमाश्रितः ॥

कथमगीतायेंत गुरुणा क्षुदादिना शाप्यमानो न चिकित्सये इति तदाश्रमं प्रत्यागच्छे—

मूलाश्रम—यद्वेगेन तृष्णापरीषहेन । दोष्येण क्षुत्परीषहेन । उन्म्याधिजंतयस्तस्वत्कष्टं पीड्यमानस्य उववेसादिं शुभरहस्यनिरूपणप्रतधारणधृत्यादिप्रतीकारं । समापिकरणं धर्म्यशुक्लध्यानसाधनम् ॥

क्षापकके चतुरंगका अष्ट आचार्यं कैसा नाश करता है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—
संसारसागरमि य इत गाथासे ४२७ नंबरकी पद्यमेण य दोवेण य इत नायातकका अर्थ—

।हिंदी अर्थ—यह संसारसमुद्र अनंत और तीव्र दुःखरूपी पानीसे स्यालब भरत है, ऐसे संसारसमुद्र में त्रमण करनेवाले इस प्राणीको मनुष्यजन्म कष्टसे मिलता है,

मनुष्य जन्म मिलनेपर भी उसम देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, दीर्घायुष्य, सुद्धि, शास्त्रश्रवण, ग्रहण श्रद्धा, और संयम इनकी प्राप्ति होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है,

उत्तरोत्तर दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति होकर संयमकी भी प्राप्ति हो गई तो भी अल्पज्ञ आचार्यके समागमते संसारभय उत्पन्न करनेवाला शास्त्रश्रवण प्राप्त नहीं होता है,

योग्य कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाली स्मृति प्राप्त होनेपर भी और चिरकालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन करनेपर भी अल्पज्ञ आचार्यके आश्रयसे मरणकालमें क्षपक संयम छोड़ देता है, संयमसे भ्रष्ट होता है, संयमकी आश्रयना नहीं करता है,

नामके ममृदायमे एक छोटे चांसको छेद करके निखलना सुलभ है परंतु उससे उमको उखाटना जैसे बहुत रुठिन है वैसा इस मनको पंचेन्द्रियोंके विषयसे निःशुल्क संयममें स्थापन करना बहुत कठिन है. राग-द्वेषोंका नाश करनेकी यद्यपि प्रतिज्ञा कीथी तथापि गुरीयल्लेखना जिसने की है, जो क्षुधादि परीयहोसे पीडित है ऐसा अल्प शक्तीका धारक क्षपक श्रुतजानमें एकाग्रता न होनेसे अत्र आचार्यके समीप रागद्वेषोंपर विजय नहीं पा सकता है. और चारित्र्यागधक नहीं होता है.

यह जीव आहारमय है, मनो अन्तर्मे ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि अब ही प्राणरक्षणका मूल कारण है. अन्नके त्यागमें यह आत्मा म्लान होता है, आतंघ्यानी होकर दुःखसे पीडित होता है, तब ज्ञान और चारित्र्यमें रममाण नहीं होता है.

श्रुतोपदेश और शिक्षाविलक्षण भीजनसं जितने क्षुधा और प्यासका परिश्रम नष्ट किया है ऐसा यह क्षपक प्यानमें एकाग्र होता है अर्थात् बहुश्रुत आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपकको श्रुतोपदेश और विशिष्ट उपदेश मिलनेसे क्षुधावृणाना परिश्रम नष्ट होता है और आत्मध्यानमें बह स्थिर होता है परंतु अल्पज्ञके आश्रयसे वह क्षुधादि परिपहोंका दुःख नहीं सहन कर सकेसे आतंघ्यानी म्लाना है.

अगीतार्थ आचार्य क्षुधा और तपसे जन क्षपक पीडित होता है तब उसको उपदेशादिक नहीं करता है. अतः ऐसे आचार्यके आश्रयसे क्षपकको समाधि मरणका लाभ होता नहीं.

सो तेण विडम्बन्तो पपं भावस्स भेदमप्पसुदो ॥

कटुणं कोलुणियं वा जायणक्किविणत्तणं कुणइ ॥ ४१८ ॥

ताभ्यां प्रपीडितो घातं भिन्नभावस्सुश्रुतः

रोदनं याचनं दैन्यं करुणं विदधाति सः ॥ ४५१ ॥

विजयोद्या—तो तेण क्षणकस्तेन प्रयमेन क्षीयेन वा । विडम्बन्तो विविधं दलमान् । पपं मानस्य भेदमप्पसुदो प्राप्य शुभपरिणामस्य भेदं मत्पश्यत । कलुज कोलुणियं च कुबन्ति यत्ता गृह्यन्ता रुदन्ता दीनता च भवन्ति तथा परीति । जायण च कुणइ याचा या करोति । किंविणत्तण कुणइ दीनता या करोति ॥

अंकुततृष्णादिप्रतीकारोऽल्पदासक. क्षमको विपरिणतिं प्राप्य गर्हणीयक्रियाः करोतीति गाथात्रयेणाह —
 भूढारा—तेन सृष्णादिना । विवर्ज्यते । विविधसुषुप्तद्वयमाणः । पन्था प्राप्य । मायस्स मेवं शुभपरिणामस्य
 विनाशं । कलुषं रोदनं । कोलुषियं । परकरुणोत्पादने किञ्चित्तैर्दैन्यम् । तथा—

अर्थ—बहू श्रपक भूतसे अथवा प्याससे पीडित होकर शुभ परिणामोंको नष्ट कर देता है. वह अल्पशु
 श्रपक सुननेवालों को दया उत्पन्न करनेवाला रुदन करता है. शचना करने लगता है. और दीनता व्यक्त करता है.

उक्तेज्ज व सहसा द्या पिण्डज्ज अत्तमाहिपाणयं चावि ॥

गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥ ४३९ ॥

पूतुर्पादसमाधानपानं विधत्ति पीडितः

मिथ्यारवं क्षपको गच्छेद्विषयेतासमाधिना ॥ ४४२ ॥

विजयोक्ष्या—उक्तेज्ज व सहसा पूतुर्पादोक्ता सहसा । पिण्डज्ज पियेक्षा । असमाधिपाणनं चावि असमाधि-
 पानरुमुच्यते यत्स्वयं स्थित्या सहसाभ्यां काले प्रायोग्यपानं ततोऽन्यदस्थिरवा अकाले च पत्पानं तदसमाधिपानक-
 मुच्यते । गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मिथ्यात्वं वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्मः किमनेन धम्मविधायिनिति निंदापरेण वेतसा ।
 मरेज्ज असमाधिमरणेण असमाधिना कापि मृतिमुपेयात् ॥

सूढारा—उक्तेज्ज पूतुर्पात् । असमाधिपाणयं यत्स्वयं स्थित्या सहसाभ्यां कालं प्रायोग्यपानं तत्समाधिपा-
 नकं ततोऽन्यदस्थित्याऽकाले च पानं सूत्रानिदितमित्यर्थः । गच्छेज्ज कष्टोऽयं धर्मः किमनेन धम्मविधायिनिति निंदापरेण
 वेतसा मिथ्यात्वं प्रतिपद्येत । तथा—

अर्थ—बहू श्रपक श्रुधादिकोंकी वेदनासे जोरसे चिह्नाने लगेगा. स्वयं खटे होकर अपने दो हाथोंमें योग्य
 कालमें पानयोग्य पदार्थ पीना उसको समाधि पान कहते हैं. और बैठकर अपने हाथोंसे अकालमें पान करना
 उसको असमाधिपान कहते हैं. अर्थात् श्रुधा तथा पीडित होकर क्षपक मृत्तनिदित आहार लेगा ऐसा यहां अभिप्राय
 समझना चाहिये. अथवा संगमते अष्ट होकर मिथ्यात्वावस्थाको प्राप्त होगा. वह सहेजलना धर्म व्यथवा मृत्तिधर्म बड़ा

कट देनवाला है. हमसे आत्माको केवल भ्रम ही होते हैं. ऐसे धर्मसे क्या प्रयोजन है ऐसी यह क्षपक निंदा करते करते मरण करेगा और असमाधिसे मरणको मास होगा.

संथारपदोसं वा निवमच्छिज्जंतओ गिगच्छेज्जा ॥

कुब्बंते उद्वाहो गिच्छुभंतं विरिंते ॥ ४४० ॥

हित्वा निर्भस्सयमानोऽसौ संस्तरं गन्तुमिच्छति ॥

पूरुक्कुल्ययशस्तन्न त्याज्यमाने च जायते ॥ ४४३ ॥

विजयोक्त्वा--संथारपदोसं वा कुण्दि संस्तरं या दुप्यति । निवमच्छिज्जंतो गिगच्छेज्जा रोएनं पूरुकरं वा कुब्बंतं पदि निर्भस्संयमि निर्यायात् । कुब्बंतं पूरुक्कुल्ययति सति क्षपके । उद्वाहो धयशो धर्मस्य भवति । गिच्छुभंतं वदित्तिः सरणे । विरिंते वा पूथकरेण वा । उद्वाहो होदि धर्मदूषणो भवति । एवमपृथीतार्थः प्रतिकारानभिधो नाशयति क्षपकम् ॥

मूलांशः--संथारपदोसं आचार्यग्रहेयं करोति कुणदीस्यपादायात् । निवमच्छेज्ज निःसरेद्वज्जिः कुब्बंतो उद्वाहो पूरुक्कुल्यति सति क्षपके अवशोऽवर्मद्वय भवति । गिच्छुभंतं वदित्तिः मरणे । विरिंते पूथकरणे । क्षपकस्य उद्वाहो भवतीति । संबोधः । निवमच्छिज्जंतो गिगच्छेज्ज कुब्बंतो उद्वाहो विरिंते पाठे निर्भस्सयमानको निर्गच्छत्पूरुक्कुल्यतिमिति व्याख्येयम् निवमच्छुभो ग्रहेयमानो विरिंते हन्ति परं त्वं येति च व्याख्येयम् ।

अर्थ--यह क्षपक संस्तरकी निंदा करेगा अथवा आचार्यकी निंदा करेगा. यदि यह क्षपक रोनेपर जोरसे चिच्छानेपर यदि उसकी निंदा करी तो यह संघसे भ्रम जावेगा. जिनमे धर्ममें अथवा रोनेकी संभावना रहती है. ऐसे क्षपकको यदि संघसे पूथक् किया जावेगा तो धर्ममें दूषण लगता है. इतने विवेचनसे अवश्य आचार्य क्षपक का नाश कर देता है यह सिद्ध होता है.

पृथीतार्थः पुनः किं करोतीति चेदाह--

गीदरथो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ॥

कण्णाहुदीहि उक्खेहोदो य पज्जलइ ज्ञाणग्गी ॥ ४४१ ॥

समाधानविधिं तस्य विधत्ते शारूपारगः ॥

दीप्यते दीपितः कर्णाद्भुतिभिर्व्यानपावकः ॥ ४५४ ॥

विजयोदया—युहीतार्थं पुनः । स्वयमस्त । क्षपकस्य कुण्डि करोति । विधिना क्रमेण । समाधि करणानि समाधानक्रिया । कण्ठाद्भुतिं रुर्णोद्भुतिमि । उच्यतेदेवो उपगृहीत । पञ्चलं प्रज्वलति । च्छाणगि ध्यानगतिः ॥

नीतार्थः पुनः क्षपक सान्त्वयितुं यतते इत्याह—

मूढार—समाधिरुणाणि समाधतस्तु साधनानि यथासं चान्धान्याभ्यात्मिकानि च । कण्ठाद्भुतिं कर्णजप

इत्यपद्रव्यप्रक्षेपः । उच्यतेपुनश्चो उपगृह्यमाणो दीप्यमानः ।

स्वार्थेण आचार्यं वया करते हैं इस प्रशंसा उत्तर—

अर्थ—सूत्रांपेक्ष आचार्य आगमानुसार क्षपकसी समाधिभणकी क्रिया करते हैं और उसका ध्यानरूपी अभि मधुर उपदेशरूपी आहुतिअंशें वृद्धिगत करते हैं. अर्थात् क्षपकको शुधादि वेदना सब पीडित करती है तब मधुर हितकर उपदेश देकर आचार्य उसको आर्तध्यान न होने पावे ऐसा प्रबल करके धर्मध्यानमें लगाने हैं.

स्वयसिच्छासंपादणेन देहपण्डिकम्मकरणेण ॥

अण्णेहिं वा उवाएहिं सो समाहिं कुणइ तस्स ॥ ४४२ ॥

क्षपकेच्छाधिधानेन शरीरभनिकर्मणा ॥

समाधिं कुन्ते सम्मगुपायैरपरैरपि ॥ ४५५ ॥

विजयोदया—स्वयसिच्छासंपादणेन समाधिं कुणइ क्षपकसेच्छासंपादनेन समाधिं करोति । यदिच्छ-
त्यसौ तद्वत्त्वा समाधिं रत्नत्रये समग्रभानं तस्य करोति इति यावत् । देहपण्डिकम्मकरणेण शरीराध्यामतिक्रियया ।
अण्णेहिं वा उवाएहिं अन्यैर्वा सामग्रजनोपकरणवन्वितरतक्षपकोपाख्यानाविभिरुपाये. समाधिं करोति ॥

नीतार्थो यथासमाधिं विधत्ते तथा दर्शयति—

मूढार—इच्छा संपादणेन यविच्छत्यसौ योग्यं तद्वत्त्वा रत्नत्रयसमाहितं करोतीत्यर्थः । देहपण्डिकम्मकरणेण शरीरवाधाप्रतीकारक्रियया ॥ तथा—

अर्थ—यूना आचार्य धर्मशूकी जो चाह है उसकी पूर्णता कर उसको रत्नत्रयमें स्थिर करते हैं. उसके देहकी बाधाओंको मिटा देते हैं. गुरुभाषण, उपकरणदान और प्राचीन लोखलगाधारकोंकी कथा कहना इत्यादि उपायोंमें उनकी धर्मध्यानमें एकाग्रता करते हैं.

गिउजुं वि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ॥

संघेइ समाधिं वि य वारेइ असंखुडगिरं च ॥ ४४३ ॥

वैरपाबुल्यकरैरलक्तं मा भैवीरिणि आपत्ते ॥

निपिथ्य संसुतिं तस्य समाधानं करोति सः ॥ ४४६ ॥

विजयदेवता—गिउजुं वि य पासिय निर्वाणैर्यतिभिः परित्यक्तं दृष्ट्वा किं भवता परीपहसद्देन शलचि-
‘वगासाकं ? त्यक्तोऽप्यस्माभिरिति । माभीहि देव मा भैवीरिण्यप्यं वदति । होवि भवति । संघे च आसासो आ-
भ्यासः । संघे समाधिं वि य वारेइ असंखुडगिरं च । वारेइ असंखुडगिरं यं यावत्सर्वजानां वचनं, नैयं शक्तयो
मवाधिरयं महात्मा । को हि नामागमिष शरीरं भाहारं दुस्सजं त्यक्तुं शक्नोति मोक्षादयत् ॥

मूलारा—गिउजुं निर्वाणैर्यतिभिः परित्यक्तं । मा भीही मा भैवीरित्वयं वदति स्मृति । हो-
दि वासासो भवति वासासः । श्रवणं तथा मा भीतिदानात् । संघे वि विच्छिन्नं पुनः संघे । असंखुडगिरं असंखुडगिरं
पचनं वारयति । नैयं वल्लभो भवद्विषं महात्मा । को हि नामागमिष शरीरमाहारं यं दुस्सजं त्यक्तुं शक्नुयात् । इति
मोक्षादयत् ॥ तथा—

अर्थ—शुश्रूषा करनेवालोंने यद्यपि क्षपकका त्याग किया हो तो भी उसको देख करके वे क्षपक ! शुभ
परिपद सहन नहीं करते हो और तुम्हारा मन बहुत चंचल है, हमारा हुमसे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा कहकर शुश्रूषा
करने वालोंने तुम्हारा त्याग किया है. तो भी तुमको दरना नहीं चाहिये ऐसा बोलकर आचार्य उसको अभय करते
हैं. उनको आन्यासन देते हैं, उसको रत्नत्रयमें स्थिर करते हैं. जो लोक कटु बोलकर क्षपकका उत्साह भंग करते
हैं उनका आचार्य निवारण करने हैं. अर्थात् यह क्षपक महापुरुष है इसके प्रति ऐसा कटु भाषण करना योग्य नहीं

है, शरीर और आहार ये दो पदार्थ दुस्त्याज्य हैं परंतु इसने इनके ऊपरका मोह छोड़ा है, ऐसा भाषण कर के क्षपकको स्वकार्थमें उत्साहित करते हैं.

जाणदि फासुयद्वयं उवकण्ठे तु तहा उदिण्णाणं ॥

जाणइ पडिकारं वादपिचसिंभाण गीदत्थो ॥ ४४४ ॥

जानासि प्रासुकं द्रव्यं गीतार्थो व्याधिनाशनम् ॥

खेप्पमारुतपित्तानां विट्ठुतानां च निग्रहम् ॥ ४४५ ॥

विजयोदया--आणदि य जानाति च । फासुयद्वयं योष्यं द्रव्यं । उवकण्ठे तु विधातुं । तहा उदिण्णाणं तयोदीर्णानां विनाशने समर्थं । जाणदि पडिकारं जानाति प्रतिकारं । वादपिचसिंभाणं वातपिचस्तेप्पणां । गीदत्थो गृहीतार्थः ॥

गूळारा--उदिण्णाणं कुषितानां यावदीनां वक्षुत्वात् । मुदादीनां वा ॥

अर्थ--गूळार्थज्ञ आधार्य प्रासुक पदार्थ कोनसे रहते हैं यह जानकर क्षपकको देते हैं, वात पित्तादिक क्षुब्ध होने पर अथवा शुभादिककी वेदना प्रगट होनेपर उनका नाश करनेका उपाय वे जानते हैं.

अहव सुदिपाणयं से तहेव अणुसीहिंभोयणं देइ ॥

तण्हाल्लुहाकिलितो वि हेदि ज्ञाणे अवकिखत्तो ॥ ४४५ ॥

श्रुतपानं धतस्तस्मै दत्ते शिशुणभोजनम् ॥

छुत्तुण्णाकुलचित्तोऽपि ततो ध्याने प्रवर्तते ॥ ४४८ ॥

शुणाः स्थितस्येति बहुप्रकारा गीतार्थमूले क्षपकस्य सन्ति ॥ संपद्यते काचन नो विपत्तिः संक्षेपजालं न च किंचनापि ॥ ४५१ ॥

इति आधारी ॥

विजयोदया—अहय सुदिपाण्यं अथवा सुविधानं । से देदि तस्मै ददाति । अणुसिद्धिभोग्यं देदि अणुशाल
नभोजनं वा तेन पानेन भोजनेन च । तच्छास्त्रादिकिञ्चितो वि क्षुधा क्षुधा वा वाच्यमानोऽपि । ज्ञाने अवशिस्तो होदि
ध्याने अव्यक्तचित्तो भवति ।

मुढारा—से तस्मै । चिह्नितो पील्यमानः । अवक्सितो अव्याक्षितः ॥

अर्थ—अथवा आचार्य क्षुपकको उस समय शास्त्रोपदेशरूपी वंश पदार्थ और शिक्षावचनरूपी आहार
देकर उसकी भूल और प्यास शांत करते हैं, भूल और प्यास से पीड़ित होकर भी वह क्षुपक उपयुक्त आहार से और
पानी से संतुष्ट होकर आत्मध्यानमें एकाग्रचित्त होजाता है.

दोषांतरमाचष्टे—अष्टादीतार्यसफाये यस्ततः क्षपकस्य -

संसारसागरमि य णंते बहुतिब्बदुक्खसलिलमि ॥

संसारमाणो जीवो तुक्खेण लहइ मणुरसत्तं । ४४६

विजयोदया संसारसागरमि य संसारः सागर इय तस्मिन्सागरसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमानः संसारः ।
तत्र द्रव्यसंसारो नाम शरीरग्रहणमैश्वर्याभ्यासुचितिरसकृत् । तथा—अथमायां पृथिव्यां सप्तधर्मेभ्य इत्यो हस्ता
पदंयुलाधिकाः ममानं नारकाणां शरीरस्य । अधोऽधस्तत्पद्विगुणव्यूयता वायव्यं चक्षुःशक्तानि । एवंपिक्खेषु शरीरेषु
एकैकं शरीरमंतवन्तारं शरीरमन्तीति काले भव्यानां तु भाविनि काले भाव्यमन्तवन्तारग्रहणं ॥ अभव्यानां तु भविष्यति
कालेऽव्यन्तानि तथाविधानि शरीराणि । यय द्रव्यसंसारः स्थूलतः ॥

क्षेपसंसार उच्यते—स्वीमंतकावीनि अमतिष्टांतानि बहुरशीतिनरकश्चसहस्राणि । तदैकैकसिन् नरके अनन्ता
जन्ममरणचोर्ध्वस्तिरतीति काले । भविष्यति तु भाल्या मम्याग्रति । अभव्यानां तु भविष्यत्स्यन्तता ।

कालसंसार उच्यते—उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिदग्रयमसमये अग्रमनरके उत्पद्यो, मृत्याव्यनोत्पद्यः पुनः कदाचि
दुत्पत्सर्पिण्या भितीयादिसमये उत्पन्न एवं मृतीयादिसमयेषु । एवं उत्सर्पिणी समाप्तिं नीता । तथा अवसर्पिण्यां अपि ।
एवमितरेष्वपि नरकेषु । एवमुत्सर्पिण्यावसर्पिणीकालयोरन्तर्चुचिः । यवसंसार उच्यते -

प्रथमायां पृथिव्यां दशवर्षसहस्रावुर्जातः पुनः समयेनैकेन अधिकानि दशवर्षसहस्राणि एवं द्विसमयाष्टधिक
क्रमेण सागरोपमपर्यंतमाहुः समाप्तिं नीतम् । द्वितीयायां समयाधिकं सागरोपममादि कृत्वा त्रितीयादिसमयाधिकक्रमेण

यावत्सागरत्रयसमाप्तिः । तृतीययां समाध्याधिकं त्रिसागरोपमादिकं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमस्त-
कपरिसमाप्तिः । चतुर्थ्यां समयाधिकस्तसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्तिः । पञ्च-
यम्यां समयाधिकदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्तिः । सप्तम्यां
समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशविंशतिसागरोपमपरिसमाप्तिः । सप्तम्यां
समयाधिकदशविंशतिसागरोपमादारभ्य यावद्त्रयास्त्रिंशत्सागरोपमपरिसमाप्तिः । एवमेतेष्वधुर्विकल्पेषु परावृत्तिः भव-
त्सप्तार उच्यते ।

भाष्यसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतन्यते । एवंभूते संसारसागरे जनंते । बहुतिष्ठन्तुफलस-
त्किल्लिमि शारीरं, आर्गन्तुकं, मानसं, व्याभाविकामिति विकल्पेन यद्भूति त्रीयाणि दुःखाणि सल्लिहानि यस्मिन् तस्मिन् ।
संसारमात्रे परिवर्तमानः । जीवो दुष्कलेन कष्टेन । लभ्य लभते । किं मनुस्सत्त्वं मनुष्यायं । मनुष्यक्षेत्रस्यापत्यात् सर्व-
ज्मति तिरश्चासुखसेर्मज्जुतानिर्वर्तकानां कर्मणां कारणमूला ये परिणामस्तेषां दुर्लभत्वाच्च । के ते परिणामा इत्यबोधयते-
सर्वं एव हि जीवरिणामा निष्यत्वासंयमकषयाख्यालिप्रकारा भवन्ति । तानां मध्यमो
मेव इति । कुता कर्मनिर्मित्वा हि मिथ्यात्वादयः कर्मणि च तीव्रमध्यममंदशुभव्यवस्थितिदिति ।
तेन कारणमेवतः कार्याणां परिणामानां विनिवृत्ता । तत्र ये हिंसादयः परिणामा मत्पमास्ते मज्जु-
गतिनिर्वर्तकाः बालिकाराज्या, शारुजा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समानाः यथास्तंभयेन क्रोधमननमायालोभाः परिणामाः ।
जीवपातं कृत्वा हा दुष्टं कृतं, यथा दुष्टं मरणं वास्माक आभियं तथा सर्वजीवानां । अहिंसा शोभना एवं तु असमर्थो
हिंसादिकं परित्यज्येति च परिणामः । मृग परदोषमुत्कं, परगुणानामस्तद्वत्त्वं वचनं वा सत्त्वनाच्चाट । साधूनाम-
योग्यशब्दे दुर्व्यापारे च मृच्छानां का नाम साधुतास्माकमिति परिणामः । तथा शस्त्रप्रदारादप्यनर्थः परद्रव्यापहरणं,
द्रव्यादिनाशो हि सकलकुटुंबविनाशो । नेतरत् तस्मादुष्टं कृतं परधनहरणमिति परिणामः । एतद्वारादिलेचनमस्माभिः कृतं
सर्वतीव्रशोभनं । यथास्मदाराणां पैर्त्यग्रे तु समाप्तमसाक्षिकं तद्वत्सेयमिति परिणामः । यथा गंगादिमहागदीनां जनश-
स्तप्रवेशोऽपि न दुष्मि. सागरस्यैव द्रवियेनापि जीवस्य संतोषो नास्तीति परिणामः । एवमपि परिणामानां सुलभता
अनुभवासिद्धेव । इत्यं दुर्लभमनुजन्तं साधुवदेनं परमपित्रं वचः । धर्मरीक्षमाणं त्वेव तम इव, चंडकोपे दयेव, कुण्ठे सत्यव-
चनमिव । मानिनि परगुणस्तयनमिव, चामलोचनायामाज्ञाविव, खलेषूपकाराद्वेतव, आमातासमेतेषु वस्तुतत्वाद्ययोश्च इव ।
तद्व चेव मनुजत्वमिव । देवकुलरूपमारोग्यमायुः सुखं, कुलं, रूपं, आरोग्यं, आयुर्वृद्धिश्च । त्वणं नादृणं सद्गु य स्ते-
जसो ध्रुवणं, ग्रहणं श्रद्धा संयमश्चोत्यते शुद्धार, दुर्लभा लोके । तत्र देवकुलंभतोच्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वा-
पजाः सम्मूर्च्छिमाः इति चतु प्रकारा मनुजाः । पंचयस्ताः, पंचैरास्ताः, पंच विदेहा इति पंचदशान्वर्धभूमयः । पंच हैमवत-
थर्षी, पंच हरिवर्षाः, पंच देवकुर्व, पंच उत्तरकुर्व, पंच रथकाः, पंच हैरण्यवतचर्गः त्रिंशद्भोगभूमयः । लयणका-
लोद्दिधिसमुद्रयोरन्तरर्द्धीपाः । चाक्रिदकंधाश्वारप्रखवौच्चारभूमयः शुद्धासिद्धानकलेपकणंदशमलानि चागुलासंध्यातमाग-

मानशरीराणां सम्मुखिच्छमानां जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमतच्छेपं ॥ परिहृत्य कर्मभूमित्वात्तिदुर्लभा । कर्मभूमिषु ॥
 यद्वरिषिद्वारकवारलीरुदिदेशपरिहारेण अंगवर्गमगमवादिदेशेषु वरतपिः । छन्दोऽपि देशे स्वादाख्यदिकुलपरिहारेण तपो
 योग्ये कुले जातौ । जातिमोक्षबंधः । सुकुले कथं दुर्लेभं इति चेद्वोच्यते । जाति, कुले, रूपं, यशस्यं, धानं, तपो, वलं वा
 प्राप्य अगर्हितत्वं । अन्येऽप्येतैर्गुणैरपि नमः स्मरुदधमननं, परानवसाकरणं, गुणाधिक्येन नीचेर्बुद्धिः । परेण प्रपस्यापि
 अन्यदेशान्कथनं, क्षामगुणस्यास्तपनं, इत्येतेः परिणामेः उद्योषां कर्म भाषावदे । तेन कुलेषु पूज्येषु जायते । जंतुरस्य
 पुनर्न तथा प्रवर्तते अउमतिः । किंचित्तरिपरितेषु परिणामेषु कर्तमानो नीचैर्गोचमेव चानति असंछतेन पदं कुले
 दुर्लभं । उक्तं च—

जन्मा मत्तो यः कुलक्षरि रूपादैश्वर्याद्वा हान्तो वा वलाद्वा ॥
 माध्याधेमा यस्तपो वा परेषु निदायुकः स्तौति वालमानमेव ॥ १ ॥
 अथवाकावादातिष्ठमाणां कर्तो मानं योऽविमानं विभर्ति ॥
 नीचैर्गोचं नाम कर्मव वास्याद्वा नागुग्रं निर्दितं जन्मवासे ॥ २ ॥
 यस्तु माध्यायुत्तमत्वं कुलपरिहृत्या मन्थमानो निशिष्ठान् ॥
 अथान्कांश्चिन्नायजान्मति धीरान्नीचैर्वृत्त्या युज्यते यपिकेषु ॥ ३ ॥
 दृष्टोऽप्यन्यैर्नायदोषान्दधीति नारमानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ॥
 उच्चैर्गोचं नाम कर्मव धीमान् यज्जतीष्टं जन्मवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥

इति ॥ नीरोगतापि दुर्लेभः । असंछदसद्वैद्यकर्मबंधनात् । वंधाच्छेदात्ताडनाभारणादादाद्रीधाकवासंक्षेपमेव
 यज्जति । तथा धान्यधापि—

अन्वेषणं यो दुःखमोक्षोऽयुक्तेषां त्यक्त्या तीर्थं तीव्रसंक्षेपयुकः ॥
 वंधाच्छेदेस्ताडनैर्मारणेन दाहं रोधैक्यमपि नित्यं करोति ॥
 सौख्यं कांक्षन्मनसो दुष्टयिजो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सर्व ॥
 पक्षात्तापं तापिना यः प्रयाति यन्मात्रेणोऽयातवेद्यं सर्वैवम् ॥

योगाभिभावपदुद्धिवेष्टः कथमेव हितोद्योगं कुर्यात् ॥

तथा चाभाणि—

प्राप्तोऽप्युपासादिह जीवतोऽपि भद्रामयं योगमहासाविज्यः ॥
 यथाशक्तिः साग्निमत्यकुद्धो रोमस्तथागत्य निवर्तति येहं ॥ १ ॥
 वलाद्युषी रूपयुषाश्च तावदायव योगः स्मर्येति येहं ॥

फलस्यै लघस्य द्वि जातु तन्तोस्तावच्च पातः श्वस्तनो न यावत् ॥
तस्मिन्मयेदं परिवाधमाने श्वेयः प्रकर्तुं न सुलेन शक्यम् ॥
युद्धे समंताश्च द्वि दृष्टमाने शक्कः प्रकर्तुं पुरुषोश्च किञ्चित् ॥

सद्यः परम्पराणि यातोद्यतस्तदीयाप्रियतमजीवितविनाशान् प्रत्येकाल्पयुरेल भवति । आयुषश्छेदने बहू-
नि निमित्तानि । जलं, ज्वलनः, मारुतः, सर्पाः, वृक्षिकाः, रोगा उच्छ्वासनिश्वासानिरोधः, आहारापलाभः, वेदनेत्येवमादीनि ।
ततो धीर्यमायुर्न सुलभं मनुजस्ये । सामान्यवचनोऽप्यायुःशब्दः दीर्घं मनुजानुपि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मोत्रस्य संसा-
रिणः सुलभश्चात् । लघ्वेऽपि देशादिषु युद्धिर्दुर्लभा । परलोकाश्चैवेषणपरा युद्धिरन्युद्दिश्वेनोच्यते न ज्ञानमात्रवाची ।
तच्च सुलभं ज्ञानावरणेनावरुद्धोऽधवीर्यस्य जलधरपरलालवर्द्धमंडलस्य छायामांघ्रिभिर दिनपतेरविनेदकं भवति ज्ञानम् ।
किञ्चिन्मिथ्यात्योव्यादिर्यस्तमुवेति विज्ञानं । नैवात्मा नाम कश्चित्कर्तारं शुभाशुभयोः कर्मणोः । नापि तत्फलं-
नुभयनिष्ठं, नापि परलोकः प्राप्यः कर्मवशवर्तिना कश्चिदिति । तथाभ्यधाये -

लोको नार्थं नापरो नापि चारया धर्मोऽर्थो गुण्यपत्ये न चापि ॥
स्वर्गो ह्यष्टः केन केनाधया ते गोरा दष्टा नारक्तार्था निवास्ताः ॥ १ ॥
वैद्यः को वा कोऽप्यवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं यं ज्ञेयं निरर्थम् ॥
प्राप्ताः कामाः सेवितव्या वधेयं हृष्टं स्वस्त्वा दूरे कोऽभिजायः ॥

इति । तथा चोक्तं—अष्टयुर्विका स्त्री विंशतिवर्षिकः पुमाश्च तयोः परस्परं प्रेमपूर्वहाषयावधिभ्रमकटाक्षकि-
र्त्तकिञ्चित्दिभाषपूर्वकः संवेद्य एव स्वर्गः, नान्यः ।

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वोपेक्षंस्करुते ॥
पद्मां ये प्रयिहाय यांति कुपियः स्वर्गोपवर्गेच्छया ॥
तयोपेक्षिनिहृत्य ते द्रुततरं नभीकृता मुदिताः ।
कोचिद्रजपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥

तथान्येतरमिहितं—अष्टयुर्दुर्बलजीवाः, परलोकिनोऽमावात्यरलोकाभावः इति च । सत्यामपि बुद्धौ स्त्रीजी-
नयानलोचनवत्ता, सकलग्राणिभृशैश्चरुणपरिव्यक्तवत्ता लाभसत्कारपुस्तकार्तिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरिभ्रमणप्रभव
यातनास्तद्व्यामपलोक्ष्य प्राणभृताः परमाभ्युक्तं मुपगतेन हा जनो विवेचनः मिथ्यादर्शनाद्यनुभारिणामकदंबकमिदम-
स्माभिरनुभगतिनिर्वर्तनप्रवृत्त्यपवादतयमित्यजाननस्तैवास्वरूपवर्तमानो, दुष्टरत्नाकरमग्निसुषुप्तिशतशरणो वराकः

१ कलस्य शारागमवृत्तन्तोः, इत्यपि पाठः क पुस्तके ।

१ 'तथा चान्ये' इदमारम्भ स्त्री युद्धेति श्लोकावसानपर्यन्तो ग्रन्थः एव पुस्तके नास्ति ।

एति एतसंफल्येन यतिजन्येन संसर्गो दुर्लभः । कुतः ? दर्शनमोहोदयजगन्नावरणोद्वालञ्च न यातिगुणान्वोसि शब्दसे वा जनः । तत एव न होक्ते यतीञ्च या सुगुणमविवृणुस्तदुत्तरंमुपपद्यते । अपि च चारित्र्यमोहोदयादसंयतोऽतितरोऽग्निनस्त्वतो हिंसादिषु स्वयं करोति, कारयति यत्तुमोदते । हिंसादिषु वर्तमानेष्वेव एति वच्नाति । न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रति कर्म हैः संसर्गोस्तत्सेवा वा । सा हि—

संसारोच्छेदकरी प्रदयकरी ज्ञानबुद्धिवृद्धिकरी ॥
कीर्तिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुपुण्यस्य ॥
दर्शनमात्रमपि सत्ता संसारोच्छेदने भवति बीजे ॥
किं पुनराधिकारकृता संसेवा साधुपुण्यस्य ॥
तत्सेवा यदि न स्यात्तद्भावाद् ज्ञानागमो विना कालात् ॥
द्वितकर्मप्रतिपत्तिर्मे स्यात्तद्भावाद् स्यात्ततो मोक्षः ॥
साधुपुण्यमपने यदि पारंपर्येण मोक्षमानयति ॥
इतिः श्रेयश्च नृणां को साधुपुण्यमाननाम् ॥
श्रेयाः कथं न यतयो विदुषा श्रेयोर्थिनः मनुष्येण ॥
मक्षयमिह ये श्रेयो मुश्रितेश्चः प्रयच्छन्ति ॥
इति सततमणोत्तमानमोहाविहपरलोकोद्वैविण्या नरेण ॥
जगदधिकृतयोपि भूतियुक्ता यतिवृत्तभा विनयेन सेवितव्या ॥

यद्वच्छा ज्ञातेऽपि यतिवैसर्गं न गुणः न केचित् श्रुणुयात् । एषा न वर्णस्य पात एव गुणो नरस्य अपि इ
श्रुयिरीजवापः । तद्वच्छ्रयं गुणो यतिसमीपमनेन । तदेनं धयणं दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतोऽपि निद्रायति ।
समीपस्थानां यथो यत्किञ्चित् श्रुणोति, न रोचते, वा तज्जर्ममाहात्म्यप्रकाशने मोहोदयात् । न ज्ञानाति या
मतिर्मायावत् एव तत्र नादुपगोऽव्य । अंतरेण चातुर्गमं कथं श्रोतुमुत्तरेत् । तथा चाभाणि—

साधुर्गमं शिवगतिमोदेयज्ञानं संयातो निलयमपि प्रमादतोयात् ॥
भास्ते यो जन्मचरमानि तत्र श्रुण्वन् गन्तासौ हृदमपि पंक एव मक्षः ।

सत्यपि श्रयणे महणं विमानं तस्मिन्पितृशरार्यस्य दुरभरं । सीर्याज्जीवादिबस्तुत्वस्य कदाचिद्व्यश्रुत-
त्वात् । ज्ञानावरणक्षयोपसामप्रकरणमाद्य ज्ञतो यमंतत्वे तत्र शब्दा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्मः सादिसालक्षणा;
सत्यं, क्षमामादिवाजंस्वतोऽप्युपगुणः, नयविधमलवर्कसः, परित्यक्तारोग्यमूर्च्छे, विनयमूलः, समीचीनज्ञानपुरः
मोदमद्यमादीरुहोत्पादेन पटुनातरिदस जरादधानलक्षितोपायमुपसमानमुपयो घनायनः, प्रयर्थकः प्रातुपेक्षः, मरणहरिणवि-

नमनचतुष्टयं पुण्डरीकं, क्रूरो गोत्तमाणां विनतासुतः, संप्रसुतपद्माया द्विमाचलः, सेतुत्पाथशोकपंकजस्य, पिता सुभन-
ताया, पेट्वरत्नानामाकरः, कुयोनिनचिन्नप्रभां धृष्टलक्ष्मिपुत्रं, इति श्रद्धानं प्रतिदुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । उपशमात्
धुर्योपरागात्, क्षमादा दर्शनमोहस्य जाते पि श्रद्धाने संयोगे दुर्लभतरः प्रत्याख्यानाथरूपोदयात् । उक्तं च—

दुर्लभयो भवति नरेण तत्त्वधर्मो क्षाल्यापि प्रयत्नमज्ञ कष्टमेव ॥

तज्जगत्या द्युतिमुपलभ्य दृष्टतत्त्वाः, तज्जगं क्षणमपि ना कृथाः प्रमादं ॥

स्वार्थं मुकुतरोरूपि पापकार्यात् धर्मोऽभूत्क्षणमपि दुष्करो भनुवैः ॥

आवचयं किमपि न बाज संति मूढाः स्यादेतद्दुष्टबुधमिह कर्मणां गुरुत्वं ।

काकिण्यमपि गणयन्गुणं महान्तं तज्जगोः यममतुलं करोति यत्नात् ॥

तत्त्वज्ञः सुरमनुजार्द्धमोक्षमूले मदमे हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥

तद्विलेपितं करोति वेद्यामालस्यं परमहितं न याति धर्मं ॥

गुरुं सपदि न सया भेजेष्टुधिर्यां संघारं ननु गुरुपः कथं लभेत ॥

परमपि परंपरेण दुर्लभपरंपरया । लक्ष्मण पि लब्ध्वापि । संयमे संयमं खलवो क्षपकः । किं न लोभस्य द्युतिं न
लभते धूर्ति । संयोगात् संसारभयवृन्तौ । भयदुरस्तुष्टसंकोसे भयदुष्टतस्य सुरः पादयो तस्माच्छ्रुतवानाचार्यं आश्रयणीयः
इति प्रत्युत्तेन संबधः ॥

सन्मं सुदिमलमतो समोचीनां प्रतिमलभमर्जनः । कदा मरणकाले । भयदुरस्तुष्टसंकोसे भयदुष्टतस्य पादौ ।
विषयं निरं कालं । मुक्तिमुवागमिष्यति । संयमेनात्रा मणेन्द्रियविषयातंयत्स्यागः परिश्रुते । तेनयमयोः । विरम-
नितसंयमोऽपीति परित्वद्वि प्रच्ययते श्रुतः । संयमात् । संयमदानिकथनेन चातिारधनाया अभाव आलयायते ।
संयमान्यव्ययते कथमितिचेत्-भगवानात्मनोसार्वां च संयमाणां सर्वेषु न सदा च सांमिध्यात् अर्थतरकारणस्य
कर्मणोऽपि रागद्वेषमोदपरिणाताः प्रादुर्भवन्तोति-संयमः इति वदन्ति । सकं वसी छेत्तुं अल्पवंशः वंशीत्युच्यते ।
मादायलमता हि तत्र संभयति शपयते वंशीं च्छेत्तुं । तस्मै गुल्मात् उच्छिष्टं भवकण्डं । पुणो पक्वत् । दुर्लभं पुष्करं ।
एष एवं । संयमस्य हि संयतस्यापि मनः । विसर्पसु रूपदिवः । उच्छिष्टं जयकण्डं । दुर्लभं पुष्करं । रागद्वेषयो व्यावर्तयितुं
अदाक्यं । एतदुक्तं भवति - रागद्वेषित्वे एदि नाम प्रमिता कृता तथापि कृतशरीरस्येष्टयनस्य शुदादिपरीपदैरुपद्रुतस्य
मैर्वीर्यस्य न श्रुतस्यतन्मणिधानं लब्ध्वांतरेण रागद्वेषवृत्तेन चारिभाषकता स्यात् । वदुष्टतः पुनः यथास्य रागद्वेषी
न जायेत तथोपदिशति भेलनिर्गजं नारीनिर्गजं कथामित्ये—

त्वां तदुःखं नित्यप्रतिष्ठा विन्यस्तु देवेषु ॥ यस्तु येषु ॥
 कृषित्वत्तद्विन्नु कथंचिदेव सौख्यस्य संयात्र शरीरिणां स्यात् ॥
 यत्रैनं जन्मवद्वताऽयमेवं शरीरिणा दुःसम्पत्पश्यते सत् ॥
 अन्तर्बानोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखं सर्वशरीरसंस्थं ॥
 तदेकजीवः सुखमात्मनोऽहं मजेरित्येतं जन्मानवेऽस्मिन् ॥
 येऽयं भाषाः परतो पराको क्तेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥
 भ्रमेऽनवेतेषु सुखे तयापि शरीरिणेकेन समापनीये ॥
 एतन्मूर्ती यदवाप्यते तत्किपद्देवस्य विमृश्यमाने ॥
 अत्यल्पस्यैव तदस्सु तावत्तुःशरीरगौ पतितं सर्वमिदं ॥
 स्मृताकद्रसे रसादुरसे ययानि प्राप्तांबुदानां लयणार्णवाब्जु ॥
 यथाप्यदः सौख्यमितीष्यतेऽथ पूर्णोत्पुङ्गुः समतिकार एव ॥
 किंवा हि पुःप्राप्यममस्तुताम् न लभ्यते किंचन सौख्यमथ ॥
 मरीचेन ह्यंशु रूपायशास्त्रै भुवनागमत्वादानमदयते च ॥
 धर्मैर्वाङ्मयततपचारणाय गुह्यप्रतिरुद्धाङ्गनमंवरं च-॥
 शीतानुतापवर्णं, च हरे तस्या च मित्राश्रमनोदनाय ॥
 यानानि चाध्यथमवगर्जायै स्नानं श्रमम्येदमलापनुये ॥
 स्नानं श्रमस्वीपथमासनं च दुर्मधनाशाय च मधसेवा ॥
 धिरुच्यनाशाय च भूयानि कलाभियोगोऽरतिवाचनाद ॥
 तथेह सर्वं परिक्रियमानं भोगमिषानं सुखमनुयोजी ॥
 दुःखमस्वीकारनिमित्तमेव भोग्यत्वमेव दृषादितस्य ॥
 निमित्तमकरोरेव विदुषामने द्रव्याणि धीतस्मिन् निरेवमाणः ॥
 मयेव भोगा इति तानि योऽयः कुर्वीत सोऽकादिषु भोगसंकीर्ण ॥
 यथात्र नैकान्तमुखायवानि द्रव्याणि भोगममूर्तीनि लोके ॥
 अतश्च दुःखमनिकाऽनुदि देषु प्रकुर्याथ तु भोगसंस्थं ॥
 सुपाभिभूतस्य हि यत्सुखस्य ईदेवं मुपस्य विपायतेऽयं ॥
 बुद्ध्यादितः कांक्षति यानि चेह तान्येव विदेककर्मणि धीति ॥

किं च सूक्ष्मविश्रमाभाते देयमानवाविद्याचक्राणां निकटोपनिविष्टाक्षयनवतिधीनां, समाधिगतचतुर्विशरत्नानां, चन्द्रार्चनानां, वशान्भोगानुभवचतुराणां । तथा सुधाशानानामप्यनेकमुद्रोपमजीविनां, अप्रत्ययप्रत्ययप्रीवितानां, सहजसे-
 नानुसारिविद्याभरणप्रत्ययसंगतसौमत्यस्वच्छेन मनोनयनचक्रमरुप्रसूतोन्ज्वलेन विद्यासपलारेण, सौकुमार्यचतुरेण
 विंगनानुपायासायमानसौत्तरेण विद्वद्भाषणहृयेन, भिविडोद्यतचतुस्तनफलेन, मनोभवदक्षिणानिलमेरणां व्रील्लेन,
 त्रिलिङ्गनाद्याप्रतानेन, सुकुत्तपनीयमयस्त्वानवेदिकापरीतकामनीरभस्तिविद्याजघनसरोविमूयेन, मुखरन्-
 पुत्तधमरछतकलफलेन देयकन्यालतापनेन परिपूतानामपि परैर्भोगैस्तुष्टिर्ने किं पुनरितरमानवानां । अपि तीव्रतरपुंवे-
 शोदयानलजनितचेतोविद्यात्मां नैवीर्यं यामलोचनासंगमः तापप्रकर्षानुबंधत्वात् । रूपवैवर्तविद्यासत्वातुर्वसोभाग्या-
 दीनां प्रकर्षोपकर्षलेपजापस्थितत्वावंगनासु । ताः यद्यतोऽपि उत्कण्ठानुपगतमुपजायमाना विदाहमावहति कुर्वह । तास्य-
 क्त्वा चेन्मं यन्ति स्तुतिं या दीकते, परैर्वैल्लिभिर्वीर्यान्दियते । स्वयं वा दुर्विभोचतमपातकं यमपाशेनाकृष्यमाणे विहाय ता
 विधुतमुल्लो, भिर्भोगेनयनो जितोत्तरोत्तमच्छादितलोहितलोचनो जहाति । तासां तनयोऽपि स्फटिकमोलवोपाधित-
 गुणप्रार्तिव्यः । साध्यास्त्रिरराणाः संख्यासमयजलदलेदेव दुर्लभाश्च । औपखण्डधमाख्यादींश्च लघ्वानप्याहस्ति यलिनः
 इति महद्वयं, न च तर्पयन्ति । तद्वर्जनाप्ये पदकर्मसु प्रयतितव्यं । तानि च नन्दिगधकलानि यदुतरयासमूलानि हिंसावि-
 सावकाकियापतन्माणि, दुर्गतिपर्यन्ताति इत्येयमात्मिका भोगनिर्वेजनी । शरीरं पुनरिदमद्युर्बनिधानं, आत्मनो महाव-
 भारः, न वाचास्ति किंचित्सारभूतं । साधित्वात्मिकापापं घ्याधिसस्यानां क्षेत्रं, जरादाकिनीपितृगृहं, किं न माश्वे कुले
 जलतो विद्यालकीर्तिः गुणयानपि प्रदीपविभवतो नीचं कर्म, पुष्टे धायनं, प्रेषणकरणं, तदुच्छिद्यमोजनं वा करोति शरीर-
 पोषणाय । उक्तं च—

मात्सर्गतोऽथ न यद्दिनं च तस्य मध्ये सारोऽस्ति येन मनसा परितप्यमानः ॥

तस्मिन्प्रसादजनकांक्षितकामसारैः कोऽन्यः कुरियति मनः प्रतिचक्षसातः ॥

वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोषैः सदा दुरितजैः प्रयिमथ्यमानः ॥

देहोऽयमेयमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशो मयाति बहुयेति कुरुष्व धर्मं ॥

समातर्जं प्रक्षिपित्वास्त्रि तप्यगाढं स्नायुप्रमुखमधुमे प्रगते क्षिराग्निः ॥

लिंगं च मांनकीधरोदककन्दमेन रोगाहितं स्पृशति देहविपरीणीहं ॥

इत्येयमादिका शरीरार्जवेजनी ।

अल्पत आचार्यका आश्रय करनेसे और भी दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ—यह संसार समुद्र के समान है, द्रव्य, वेद, फल, सब और भाव इनके द्वारा इसमें परिवर्तन होता है, दीकाकार क्रमसे पांच प्रकारके संसारोका वर्णन करते हैं, द्रव्यसंसारका स्वरूप इस प्रकार है—



हाथ और छद अंगुल प्रमाण नारकी जीबोंका शरीर होता है। दूसरे नरकसे सातवे नरकपर्यंत नारकी जीबोंका शरीर दूना ऊंचा है। सातवे नरकमें नारकीजीबोंका शरीरमग्न पांचसौ घनुष्यका होता है। इस तरह नारकी जीबोंके शरीरके प्रकार हैं। प्राणिजोंने भूतकालमें एक एक शरीर भी अनंतवार धारण किया है। मग्न जीबोंने भूत-कालमें अनंतो शरीर धारण किये हैं। परंतु भविष्यकालमें वे अनंत शरीरोंको धारण करेंगे अथवा नहीं भी करेंगे। यदि थोड़ेदि दिनोंमें उनको मोक्ष प्राप्त होनेवाला होगा तो अनंत शरीर धारण नहीं करेंगे अन्यथा धारण करेंगे। अभग्नजीव भूतकालके समान भविष्यकालमें भी अनंतो शरीर धारण करेंगेही। इस प्रकार स्थूरीविसे द्रव्यसंसारका वर्णन किया है—

क्षेत्र संसारका वर्णन—सीमंतक नरक मिलसे अप्रतिष्ठ नामक नरकबिलतक चौरासी लाख नरकबिलोंकी संख्या है। इन एकैक नरकबिलमें भी इस जीवने भूतकालमें अनंत जन्ममरण धारण किये हैं। मग्नजीबोंके भविष्यकालमें अनंत जन्ममरण होंगे ही ऐसा नियम नहीं है। जगत्त्वों के भविष्यकालमें भी अनंत जन्ममरण होंगे ही।

कालसंसारका वर्णन—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें कोट जीव प्रथमनरकमें उत्पन्न हुआ। आपुण्य समाप्त होनेपर अन्य स्थानमें उत्पन्न हुआ। पुनः कदाचित् किसी उत्सर्पिणीके दुसरे समयमें प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकारसे उत्सर्पिणीके तिसरा, चौथा, पांचवा वगैरे समयमें उसही नरकमें उत्पन्न हो होकर उत्सर्पिणीके संपूर्ण समय उसने पूर्ण किये। उत्सर्पिणीके समान अवसर्पिणीके समय क्रमसे उसही नरकमें जन्म लेकर उसने पूर्ण किये। प्रथमनरकमें जन्म लेले कर जैसे उसने उत्सर्पिणीके और अवसर्पिणीके समय पूर्ण किये। उसी तरह उसने अन्य नरकोंमें भी जन्म लेकर इनके समय पूर्ण किये हैं। प्रत्येक नरकमें पुनः पुनः जन्म लेकर इस जीवने अनंत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालको समाप्त किया है।

मग्नसंसारका वर्णन—प्रथम नरकमें दस हजार वर्ष भ्रमण आयु धारण करके यह जीव नारकी हुआ। पुनः क्रमसे एक सप्तय अधिक दस हजार वर्ष आयुका धारक हुआ। ऐसे एक एक समय बढ़ता हुआ यह जीव प्रथम नरकमें एकसागरोपम आयुपूर्ण करता है। दूसरे नरकमें एक एक समय अधिक के क्रमसे एक सागरोपम

त्रय आयुष्य आदि लेकर तीन सागरोपम आयुष्यतक उसही नरकमें उत्पन्न होता है- तिसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरोपम में प्रारंभकर दो तीन चार पांच दश्यादि समयोंसे वधता हुआ सात सागरोपम आयुष्यकी परिपूर्णता करता हुआ यह जीव चार चार तीसरे नरकमें ही उत्पन्न होता है- चौथे नरकमें समयाधिक सात सागर ने लेकर द्वितीयादिक समयादिके क्रमसे दशसागरोपमकी समाप्ति होनेतक चतुर्थ नरकमें इस जीवने जन्म धारण किये हैं- पांचमें नरकमें एक समयाधिक दशसागरोपमायुष्यका प्रारंभ करके द्वितीयादि समयाधिकके क्रमानुसार मरता सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक पांचवे नरकमें इस जीवने जन्म धारण किया था- छठे नरकमें समयाधिक सतरा सागरोपमायुष्यका प्रारंभ कर हुसरा, तिसरा वगैरे समय अधिक बढ़ता हुआ पाँचवीस सागरोपमायुष्य तक अंशरूपात जन्म जीवने धारण किये हैं- सातवें नरकमें समयाधिक पाँचवीस सागरोपम आयुष्य से उत्पन्न होफुड समयाधिक क्रमसे तेहतीस सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक इस जीवने अंशरूपात जन्म धारण किये हैं- इस प्रकार आयुके विकल्पोंको धारण करते हुए इस जीवने भवसंसारमें अग्रण किया है।

भावसंसारका स्वरूप सर्वजन सुखसे जान सकते हैं इसलिये यहाँ उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार इस संसारसमुद्रमें नानाविध तीव्र दुःखरूपी पानी है क्षारीरिक, मानसिक, आंगंतुक व स्वाभाविक ऐसे दुःखके अनेक भेद हैं- इस संसारमें अग्रण करने वाले इस जीवको फलसे मनुष्यपना प्राप्ता होता है- सर्व जगत्में मनुष्य उत्पन्न होनेका क्षेत्र अल्प है और तिमंच प्राणी सर्व जगत्में उत्पन्न होते हैं- मनुष्यपना जिससे उत्पन्न होता है ऐसे कर्मकी उत्पत्ति करनेवाले कारणभूत परिणामोंकी प्राप्ति होना कठिन है इसलिये मनुष्यत्व दुर्लभ है।

मनुष्यत्व प्राप्तिके परिणाम कोनसे हैं इस प्रश्नका उत्तर—

जीवोंके परिणाम मिथ्यात्व, असंयम और कयाच ऐसे तीन प्रकारके हैं- वे परिणाम भी तीव्र, मध्यम और मंद हैं- कारणोंमें यथावत् कर्माग्ने तीव्र, मध्यम और मंद स्वभाव रहता है अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले परिणामोंमें भी तीव्र, मध्यम और मंदवा आती है- कारणोंमें भेद होनेसं कार्यरूप परिणामोंमें भी विचित्रता आती है- इन परिणामोंमें जो मध्यम हिंसादिपरिणाम हैं वे मनुष्यपना के उत्पादक है- वाङ्मनमें स्त्रीची हुई

रेखाके समान क्रोध परिणाम, लकड़ीके समान मानपरिणाम, गोमूत्राक्षरके समान मायापरिणाम और कीच-
डके रंगसमान लोमपरिणाम ऐसे परिणामोंसे मनुष्यपनाकी प्राप्ति होती है। जीवभाव करनेपर हा मने दुष्ट कार्य
किया है, जिसे दुःख वा मरण हमको अप्रिय है, संपूर्ण प्राणिजोंको भी चढ़ अप्रिय है जगतमें अहिंसा ही श्रेष्ठ व कल्याण
कारिणी है, परंतु हम हिंसादिकोंका त्याग करनेमें असमर्थ हैं- इष्ट परदोषोंको कहना, दुसरोके सदगुण देख कर मनमें
क्षेप करना, अस्तर्यमापग करना यह दुर्जनोका आचार है, साधुओंको अयोग्य ऐसे निंदा भाषण और खोटे कामोंमें
हम हमेशा प्रवृत्त हैं, इसलिये हममें सज्जनपना कैसा रहेगा? ऐसा पथात्ताप करना- दुसरोका धन हरण करना यह
राक्षसहार करनेसे भी अधिक दुःखदायक है, द्रव्यका विनाश होनेसे सर्व कुंडुबका ही नाश होता है इसलिये मेने
दुसरोका धन हरण किया यह अयोग्य कार्य किया है ऐसे परिणाम होना- हमने परखी वगैरह का हरण किया यह
बहुत अयोग्य कार्य हमसे हुआ। हमारी लोका किस्तिने हरण करने पर जेठा हमको अविद्यय कष्ट होता है वैसा
उनको भी होता है यह अनुभवने प्रसिद्ध है, ऐसे परिणाम होना- गंगादि नदिया हमें छा अपना अन्त जल लेकर
समुद्रमें प्रवेश करती हैं तथापि समुद्रकी तृप्ति होती ही नहीं- यह मनुष्यप्राणी भी धन मिलनेसे दुःख नहीं होता है,
इस तरहके परिणाम दुर्लभ है-

सत्पुरुषके मुखमें फठोर बपन, सूर्यमंडलमें अंधकार, तीनक्रोधी मनुष्यमें दया, लोभी मनुष्यमें सत्यभा-
षण, अभिमानी मनुष्यमें पागलोंका स्वयं, लीमें मायारहितपना, दुष्टोंमें कृतज्ञता, कपिल, चढ़ वगैरह आत्माभा-
सोंके मतमें वस्तुके सत्यस्वरूपका ज्ञान ये जैसे दुर्लभ हैं- वैसा मनुष्यप्राणी प्राप्ति होना दुर्लभ है-

देश, कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घायु, धौड, शास्त्रश्रवण, ग्रहण, भद्रा, और संगम ये उत्तरोत्तर
दुर्लभ हैं-

यहाँ आचार्य उत्तम देशमें जन्म होना दुर्लभ है इस विषयका वर्णन करते हैं—
कर्मभूमिष, भोगभूमिज, अन्तर्हीषज और संपूर्णष्टिम ऐसे मनुष्योंके चार भेद हैं-

डाई द्वीपोंमें पांचभरत क्षेत्र, पांच ऐरावत क्षेत्र और पांच विदेह क्षेत्र ऐसी चार कर्मभूमियाँ हैं- पांच
हैमवत क्षेत्र, पांच हरिष्य क्षेत्र, पांच देवकुल, पांच उत्तर कुल, पांच रम्य क्षेत्र और पांच हैरण्यवत क्षेत्र ऐसी तीस
भोगभूमियाँ हैं-

तपससमुद्र और कालोदधि समुद्र के मध्यमें छानवें अन्तर्द्वीप हैं। षड्वर्तीका सैन्य, सुतनेके, और हगनेके स्थान, धीर्य, नाशका मल, कफ, कानका मल, दाँतोंका मल इनमें अंगुलका असंख्यात भाग प्रमाण गरीके धारक सम्पूर्ण मनुष्य उत्पन्न होते हैं। भोगभूमि और अन्तर्द्वीपोंका छोटा कर्मभूमिमें उत्पत्ति होता दुर्लभ है। कर्मभूमिमें भी चरंद, विलातक, पारसीक वगैरे देशोंको छोड़कर अंगदेश, वंगदेश, मगध वगैरह देशोंमें उत्पत्ति होना दुर्लभ है। उच्च देशोंकी प्राप्ति होने पर भी चाँदाल, घीवर, चमार, दोर वगैरे नीच कुलोंको छोड़कर तप करनेके लिये योग्य अर्थात् सुनिधर्म धारण के योग्य कुलोंमें, जातिमें, जन्म होना दुर्लभ है।

माताके वंशको जाति कहते हैं। उच्च कुलकी प्राप्ति होना क्यों कठिन है इसका विवेचन—

उच्च जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप, बल इनकी प्राप्ति होनेपर गर्व न करना अन्य लोक भी इन गुणोंसे भरेसे भी अधिक हैं ऐसा समझकर गर्व रहित होना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, जो गुणोंसे श्रेष्ठ हैं उनके साथ नम्रताका व्यवहार करना; दूसरोंके पूजने पर भी अन्य दोषोंका कथन न करना, अपने गुणोंकी स्तुति न करना इत्यादि परिणामोंसे उच्च गोत्रकर्मका संघ होता है जिससे मनुष्य उच्च कुलमें उत्पन्न होता है।

परंतु दुर्लभवृद्धिका मनुष्य उपर्युक्त परिणामोंका स्वीकार नहीं करता है। जो विपरीत परिणाम हैं, उनमें वह प्रवृत्ति करता है, जिससे उसको नीचगोत्रका संघ होता है। ऐसे विपरीत परिणाम होनेसे पूज्य-उच्चकुलकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये उच्च कुल दुर्लभ है। अन्य ग्रंथोंमें इस प्रकार वर्णन है—

जो पुरुष जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, आज्ञा, शरीरबल अथवा तप इत्यादिकी प्राप्ति होनेमें उन्मत्त होकर दूसरों की निंदा करते हैं अथवा अपनी प्रशंसा करते हैं, दूसरोंकी अवज्ञा, अनादर और अशुभ नामकर्मका संघ कर लेते हैं, जिससे इस संसारमें उनको निय कुलादिकमें तन्म धारण कर प्रतिसमय निंदा, अपमान, वगैरह दुःख भोगने पड़ते हैं क्योंकि उसने पूर्वजन्ममें अत्यंत अभिमान धारण किया था।

परंतु जो पुरुष कुल, जाति वगैरहकी उत्तमता प्राप्त करके भी दूसरोंको अपनेसे भी उद्धीसे विशिष्ट समझता है, जो किसी का अपमान, अवज्ञा नहीं करता है, जो बुद्धिमान को देखकर नम्र होता है, पूजने पर भी जो दूसरोंके दोषोंका वर्णन नहीं करता है, अपनेमें गुण रहते हुए भी गर्वरहित होकर उनका कथन करता नहीं वह पुण्यपुरुष उच्चगोत्र शुभनामरूप इनका तीव्र बंधकर इस संसारमें सर्व लोकोंका प्रपारा बनता है।

उच्च कुलादिक जैसे दुर्लभ है वैसी नीरोगता अर्थात् रोगरहितदेह प्राप्त होना भी दुर्लभ है। प्राणिओंकी वांछना, तृप्तता, मरना, जलना अथ पानी न देना इत्यादि कार्यसे असावावेदनीय कर्मका तीव्र बंध होता है। इस विषयमें श्रंखान्तमें ऐसा विवेचन आया है—

जो इत्थं मनुष्य दयाका त्यागकर तीव्र संश्लेश परिणामी होकर अन्य प्राणीको वांधना, तोडना, पीटना प्राण लेना, तानेके और पीनेके पदार्थोंसे वंचित रखना ऐसे ही कर्ष हमेशा करता है। ऐसे कार्यमें ही अपनेको सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है। ऐसे कार्य करते समय जिसके मनमें पश्चात्ताप होता नहीं उसको निरंतर असावावेदनिय कर्मका बंध होता है। जिससे उसका देह हमेशा रोगपीडित ही रहता है। तब उसकी बुद्धि व क्रियाएं नष्ट होती हैं वह पुरुष अपने हितका उद्योग कुछ भी नहीं कर सकता है।

इस विषयमें श्रंखान्तमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं—

वह प्राणी यद्यपि जीता है तो भी रोगरूपी महाबलसे उसको सदा भयभीत प्राप्ति होती है, जैसे आकाशमें अकस्मात् पक्षपात होता है वैसे अकस्मात् रोग आकर मनुष्यको पकड़ता है जिससे उसका देह नष्ट होजाता है, जबतक वह रोगसे पीडित हुआ नहीं तबतक ही देहमें सामर्थ्य, आयुष्य, सौंदर्य रहते हैं। जबतक हवाका धबका फलको नहीं लगता है तबतक वह डंटलसे संलग्न रहता है। वैसीही देहमें रोगका आग्रा जय जानेपर उसके रूपादिक तब गुण बढासे प्रयाण करते हैं जैसा अभि जब धरको चारो ओरसे लगनेपर समग्र पुरुष भी उसमेंसे अपनी अमृत्य वस्तुओंका रक्षण नहीं कर सकता है। वैसे रोगसे देह पीडित होनेपर अपना हित सुखसे करनेमें यह जीव असमर्थ होता है।

जो प्राणी हमेशा परजीवोंका शत्रु करके उनके श्रियजीवित का नाश करता है वह प्रायः अल्पायुषी ही होता है। आयुष्यका नाश होनेके बहुत निमित्त हैं—

पानी, अग्नि, वायु, संप, विच्छु, रोग, खासोन्ध्यास का रुक जाना। आहार न मिलना, और चेदना इत्यादिकोसे आयुका क्षय होता है। इसवास्ते मनुष्यजन्य प्राप्त होनेपर भी दीर्घायुष्य की प्राप्ति होना सुलभ नहीं है।

चघाति आयु शब्द सामान्यका वाचक हैं तथापि यहाँ दीर्घायुत्वका वाचक माना है अन्यथा आयुष्य मात्र तो गंगारी जीयोंको सुलभ है ही।

देव, इल, जाति, नीरोमता वगैरह स्त्री प्राप्ति होनेपर भी बुद्धिका लाभ होना बड़ा कठिण है। बुद्धिका अर्थ वहाँपर परलोक की प्राप्ति कता देनेवाली बुद्धि ऐया है अर्थात् परलोकमें इस आत्माकी हित करनेवाली बुद्धि दुर्लभ है। सामान्य ज्ञान प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है। जैसे भेषपटलसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश भूतलपर नहीं आता है। वैसे ज्ञानाभरणीय क्रमके उदयसे आत्माकी ज्ञानशक्ति आच्छादित होती है। मिथ्यात्मन कर्मका उदय होनेसे ज्ञानमें निपरतिपना होता है। अर्थात् पदार्थका सचा स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है। उसका विपरीत स्वरूप समझ लेता है।

आत्मा नामक कोई पदार्थ ही नहीं है। अतः वह शुभाशुभ कर्मका कर्ता है ऐसा मानना निर्मूल है। शुभाशुभ कर्ममें सुख और दुःखरूपी फल उत्पन्न होता है। और यह आत्मा उसका अनुभव लेनेमें लीन होता है। यह कहना या मानना निःसार है। आत्मा पाप या पुण्य कर्मके चय होकर परलोककी प्राप्ति कर लेता है यह नयन भी मिथ्या है। इस नियममें अन्यत्र ऐसा कहा है—परलोक नहीं है। आत्मा और पाप पुण्य नहीं है। धर्म और अधर्म नामकी चीज भी नहीं है। क्या किमीने स्वर्ग देखा है ? अथवा भयंकर दुःख देनेवाले नारकियोंके नियामस्वयल भी देखे हैं ? कर्म नष्ट, और मोक्ष क्या चीज है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है। कथ और मोक्ष न होने में तपनरणादिक कारना व्यर्थ है। प्राप्त हुए सुंदर स्त्री वगैरह पुरुषोंका यथेच्छ सेवन करना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष सो छोड़कर अप्रत्यक्ष चीजेंकी अभिलाषा करना बुद्धिमानका कर्तव्य नहीं है।

इस नियममें कोई निदान ऐसा कहते हैं—सोलह वर्ष की स्त्री और धीस वर्षका जवान पुरुष इनका हान भागपूरक कटाक्षपात, हास्यमिश्रित भाषण और रतिक्रीडा यही स्वर्ग है इससे ओर स्वर्ग नामकी चीज ही नहीं है।

यह स्त्री मकरचक्रकी जपपनाका है, इसमें संपूर्ण पदायोंकी संपत्ति प्राप्त होती है। स्वर्ग और मोक्षकी इच्छामें जो दुर्बुद्धि लोक इस स्त्रीका त्याग कर वनमें प्रयाण करते हैं वे स्त्रीका त्याग करनेके अपराधसे दंडित कर दिये जाते हैं। कितनीता मुंडन किया जाता है— कोइयोंको रक्तमस्र पहराया जाता है, कोइ जटासुक्त और कोइ

कर जो यन्त्रों जाते हैं उनकी ऐसी बुद्धि होती है, और जो उसकी आज्ञा शिरोधार्य समझकर प्रवृत्ति रखते हैं, उनको यहाँ ही स्वर्ग और मोक्षका सुख मिलता है—

और भी हम विषयमें कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—

पार्वता चतुर्धा जेस धुणके चाद पूर्ण नष्ट होता है, जीव भी देहका नाश होनेपर विनष्ट होते हैं, पर-
लोकसे प्रयाण करनेवाला आत्माही नहीं है तो परलोककी सिद्धि कैसी होगी ? अर्थात् जीवनात्मक पदार्थ नहीं है,
इस लिये परलोकका भी अभाव है, ऐसे और इसके सत्य और भी विचार युद्धोंमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे
उत्पन्न होजाते हैं, जिनमें सुद्धि तो होती है, परंतु उसने कुमार्गका आश्रय लिया है, जीवोंको यथार्थ रत्नप्रयत्नों
दिखलाने वाले सत्पुरुषोंका संसर्ग मिलना पटा ही कठिन हो रहा है.

यत्नजन अर्थात् सद्गुरु यथार्थ ज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं, संपूर्ण माणिक्यों में वे दया करते हैं, वे लाभ
की, नस्कारपुरस्कार की अपेक्षा नहीं करते हैं, चतुर्गतिओंमें संसारजनन हुआगें यावनायें भोग नष्ट हैं यह
देकर उनमें अंतःकरणसे दयाका प्रवाह रहता है, "अहो ये अज्ञान मिथ्यादर्शनादि अशुभ परिणामोंसे अशुभ-
गतिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका दण्ड कर रहे हैं इन कर्मोंसे छूटनेका उपाय ये लोक जानते नहीं हैं, इससे ही ये
दीन माणी अपार दुःखरूपी समुद्रमें प्रवेश कर दुःख भोग रहे हैं" ऐसा विचार सद्गुरु मनमें करते हैं, ऐसे सद्गुरुका
संस्पर्श होना दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्म और ज्ञानाधरणीय कर्मका उदय होनेसे लोक कर्त्तोंको गुणोंको जानते नहीं और
उनके ऊपर भ्रष्टान भी करते नहीं, इसी लिये उनके पास वे जाते नहीं, जबतक सद्गुरुओंका स्वरूप नहीं जाना
जाता है जबतक उगका स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति लोकोंमें नहीं दीलती है, चात्रिमोहनीय कर्मके उदयसे प्राणीकी
हिंसा लोक स्वयं करते हैं, कराते हैं और अनुमोदन देते हैं, हिंसादिक कर्मोंको करनेवाले लोकोंमें प्रीति रखते
हैं, जो हिंसादि अकार्योंको नहीं करने देते हैं उनमें लोक प्रेम करते नहीं, जब मनमें अहिंसादिक गुणयुक्तोंपर
प्रेमही नहीं तो उनमें भयंरों और उनकी सेवा कैसी होगी ?

यह साधुसेवा संसारका नाश करती है, क्रोधादि अशुभपरिणामोंका उपशम करके ज्ञानको बढ़ाती है। साधुसेवाने पुण्य और यश बढ़ते हैं।

सत्पुरुषोंका एक बार दर्शन भी हुआ तो वह भी संसारका नाश करनेमें कारण होता है। तो उनकी सेवा करनेकी योग्यता मिलनेपर यदि हमने उनकी सेवा की तो उससे हमारे संसारका नाश होनेमें क्या देर लगेगी ?

चदि सज्जनोंकी सेवा हम नहीं करेंगे तो हमको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी। ज्ञानके बिना हमको हित पत्रनेवाले देवपूजा, स्वाध्याय यौतह कर्मोंका स्वरूप ज्ञात नहीं होता है। अतः मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं।

साधुओंकी उपासना करनेसे यदि परम्परासे भी मोक्षकी प्राप्ति होती है तो साधुओंकी सेवा करनेवाले मनुष्योंकी क्या हानि और श्रम होगा ? अर्थात् मोक्षप्राप्ति के समान जगतमें दूसरा अनुपम लाभ है ही नहीं अतः मनुष्यने साधुओंकी सेवा श्रमकी परवा न कर करनी चाहिए।

मोक्षप्राप्तिके इच्छुक विद्वान लोग अवश्य साधूका आश्रय करें। क्योंकि साधु पुरुष आश्रितजनोंको ज्ञानन्दसे अक्षय मोक्ष अर्पण करते हैं।

अभिमान और मोह दूरकर इह पर लोकमें हितको चाहनेवाले मनुष्य सतत सत्पुरुषकी विनयसे सेवा करें। क्योंकि, जगतमें सत्पुरुष वरूपी वैभवसे युक्त होते हैं। अर्थात् महातपस्वी जनोंकी सेवा अवश्य करनी चाहिए। वैभवयोगसे मुनि सद्वाच प्राप्त भी हुआ परन्तु उनसे हमने हितका उपदेश नहीं सुना तो उनके सद्वाच का फायदा हमने नहीं लिया ऐसा ही समझना चाहिए। यदि हमने सेतमें वीच नहीं बोया और बृष्टि हुई तो उस बृष्टि से कुछ फायदा नहीं है। वैसे सत्पुरुषका उपदेश हमने सुना नहीं तो उनका सद्वाच व्यर्थ ही हुआ ऐसा समझना चाहिए। यतीश्वरके समीप जाकर हम यदि उनका हितोपदेश सुनने तो यतिसमागम सफल हुआ ऐसा समझना चाहिए। इसलिये हितोपदेश सुनना दुर्लभ है ऐसा आचार्य कहते हैं।

सत्पुरुषोंका उपदेश सुननेके लिए जाकर भी कोई वहां सोते हैं। अथवा अपने पास बैठे हुए मनुष्यके साथ बातलाप करते हैं अथवा उनका वचन सुनते हैं सत्पुरुषके उपदेशके तरफ उनका लक्ष्य नहीं जाता। प्रगट किने धर्मके माहात्म्यपर मोहनीय धर्मके उदयसे उनकी अलक्षि हो जाती है।

अथवा मति बंद होनेसे उनके उपदेशका रहस्य नहीं जाननेसे उनमें उसका प्रेम उत्पन्न नहीं होता है प्रेमके बिना जनमें सुननेकी उत्कण्ठा नहीं होती है.

इस विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

मोक्षप्राप्तिके उपायका अर्थात् सन्तुष्टिका उपदेश देनेवाले आचार्य के वसतिकामें जाकर भी जो प्रमादमे अन्य लोगोंकी बातें सुननेमें अपने चित्तको एकाग्र करता है वह मूर्ख मनुष्य सरोवरके पास जाकर भी कीचड़में फँसे हुए मनुष्य के समान समझना चाहिये.

यद्यपि मनुष्यके वचन सुनने पर भी उसका अधिप्राय ध्यानमें रखना दुर्लभ है. क्योंकि जीवादि वस्तुओंका स्वरूप ब्रह्म होनेसे और यह पूर्वकालमें कभी सुननेमें नहीं आनेसे उसका अभिप्राय मनमें समझना कठिन है. यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम विदुष होनेसे बुद्धि जीवादिकोंका स्वरूप जानेगी, धर्मका स्वरूप जानेगी तथापि जाने हुए जीवादिके स्वरूपमें और धर्मस्वरूपमें श्रद्धा उत्पन्न होना दुर्लभ है.

यह भीजिनेश्वरका धर्म आह्वितान्तक है. यह सत्यके आधार पर है अर्थात् सत्यपना इसकी नींव है. परंपरा न करना यह इसका स्वरूप है. नउ प्रकारसे ब्रह्मचर्य द्वारा इसका संरक्षण किया जाता है. संपूर्ण परिश्रमोपरसे भक्त्य दूर करना यह इसका ध्येय है. विनय इसका मूल है. इस धर्मके आचरणसे मनुष्यको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है. क्षमा, मृदुपना अर्थात् अभिमानका त्याग, निष्कपटपता, संतोष इत्यादि गुण इस धर्मके अलंकार हैं. यह नरकका मार्ग बंद करनेके लिये वज्रगर्ला के समान है. पशुगतिरूपीवेलीको फाटनेके लिये यह जिनधर्म शुद्धादीके समान है. दुःस्वरूपी पर्वतके शिखरोंको विच्यल करनेके लिये यह धर्म कठोर एवम्के समान है. मोहरूपी महाशूलको तथुल उपाड़नेके लिये यह धर्म जोरदार हथके समान है. बुद्धावस्थारूप चनकी अधीकी ज्वालायें बुद्धानेके लिये यह वर्षाकालीन घुट्टि करनेवाला मेघ है. परणरूप वृषिणका घात करनेके लिये यह धर्म वायुके तुल्य है. भयंकर रोममण्डको यह गरुडके समान है. मंषचिरूपी मंगानदीकी उत्पत्तिके लिये यह धर्म हिमपर्वत है. अगाध शीतलरूपी कीचड़को यह स्रष्ट है. यह जैनधर्म सौंदर्यका पिता है. देव्यर्मरूप रत्नोंकी यह खान है. कुयोनिधनमें अमण करनेवाले प्राणियोंको यह धर्म मुक्तिनगरको खोजनेवाला है. ऐसे जिनधर्मके ऊपर श्रद्धा होना अतिशय दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे लोक इससे सुंद मोहते हैं, दर्शनमोहनीय कर्मका उपश्रम, क्षय अथवा क्षयोपशम जब होता है तब इस परमहितकारक धर्मपर प्राणी श्रद्धा करने लगते हैं, श्रद्धा न करनेपर भी संयम-चारित्र्यकी प्राप्ति होना अधिकारी कठिन है, क्योंकि प्रत्याख्यानावरणी कर्म जीवको चारित्र्यपालन करनेमें प्रतिबंध करता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

मनुष्यको सत्यधर्मका स्वरूप बड़े कष्टसे मानुम होता है, ज्ञान होनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करना उससे भी अधिक कठिन है, जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप जिसने जाना है ऐसे मनुष्यको धर्मका स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये और इस धर्मका आचरण करते समय प्रमादको छोड़ देना चाहिये, एक क्षणपर्यंत भी उसका आश्रय नहीं करना चाहिये.

पापकार्य करनेकी अपेक्षा धर्माचरण करना अधिक सुलभ है, परंतु एक क्षणपर्यंत भी धर्माचरण करना मनुष्यको कठिनसा दीखता है.

इसमें कौन आश्चर्यकी बात नहीं है, पापकर्मके तीव्र उदयसे मनुष्य मुह होते हैं, एक सुच्छ कबड्डीकी भी महत्वकी चीज समझकर वह मुह मानव उसकी प्राप्तिके लिये महान्परिश्रम करता हुआ देखा जाता है.

परंतु तत्पश्चात् मनुष्य देश और मनुष्यका ऐश्वर्य देनेसे समर्थ मोक्षका मूल ऐसे सदर्म में अपना हृदय स्थिर करता है.

मूढ़ मनुष्य अहित कार्यमें ही प्रवृत्त करता है, और परमहितकर धर्ममें हमेशा आलसी रहता है, यह योग्यही है, यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करेगा तो उसका संसारमें भ्रमण कैसा होगा?

संयमकी-शुनिधर्मकी भी तो कि परंपरा दुर्लभ है प्राप्ति हुई तो भी अल्पज्ञ गुरुके समीप सछेलना धारण करनेवाले मुनिको संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश मिलना कठिन है, इस लिये यद्गुथुतज्ञ आचार्यका आश्रय करना ही योग्य है, ऐसा इतना विवचन करनेका अविश्राय है.

अल्पज्ञ आचार्यसे क्षणकाली उचम-मनोद्वारक धर्मोपदेश नहीं मिलनेसे मरणकालमें वह संयमसे भ्रष्ट होता है, तत्पर्य यह है कि दीर्घ कालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन व्यक्तने किया था परंतु मरण समयमें उससे वह भ्रष्ट होनेसे वह चारित्र्याधानसे रहित हो जाता है, संयमसे भ्रष्ट वह क्यों होता है इस प्रश्नका

उपर यह है—मनोय और अमनो-ज पदार्थ सर्वत्र और इमेगा रहते हैं और अन्तरंग कारण जो कर्म उसका उदय होनेमें दुर्निवार राग, द्वेष, और मोहकी उत्पत्ति होती है, जिससे वह चारित्र प्राप्त त्याग कर बैठता है।

जैसे चांगेके समुदायमेंसे छोटा गंम कुल्हाडीसे फाट सकते हैं परन्तु ॥ उरगडकर- निःकालना अति-दृग्य रुठित है, जैसे गैबमीका मन जब नियमोंमें आसक्त होवा है तो उसमें उसको निःकालना दुःसाध्य होना है। अर्थात् मनमें उत्पन्न हुए राग द्वेष नष्ट करना कठिन कार्य है, इस विवेचनका यह अभिप्राय है—रागद्वेषोंका पराजय रूपमें की क्षपकने प्रतिज्ञा की थी तथापि क्षरीरसेछलना करनेपर जब वह भूक प्यास वगैरह पनीरद्वेषमें पीडित होता है और उसको सहन करनेका सामर्थ्य कम होवा है तब बुद्धिमानके गति मनकी एकाग्रता नष्ट होती है, बुद्धिमानमें एकाग्रता न होने में राग द्वेष उत्पन्न होते हैं और वह क्षपक चारित्राराधनासे श्रुत होता है।

ऐसे समयमें यदि बहुभुज आचार्यका संगम प्राप्त होगा तो वे रागद्वेषोंकी उत्पत्ति न होगी ऐसा उपदेश देने हैं, क्षरीर और भोगोंमें पराजय उत्पन्न होगा ऐसी कथायें उनको कहते हैं, और चारित्राराधनामें उसको स्थिर करते हैं।

भोग और क्षरीर में पराजय उत्पन्न करनेवाली कथा अर्थात् उपदेश इस प्रकार है—
नरकमें नारकीओंको दुःखही दुःख है, सुखका लेश भी वहाँ नहीं है, तिर्यच प्राणी, देव और मनुष्य इनको किसी प्रदेयमें किसी कालमें और किसी प्रकारसे बौद्धात्मा सुख मिलता है।

नाना दुषोनिमें अमण करनेवाले इस जीवन जो अपरिमित दुःख प्राप्त किया है वह इतना अधिक है कि आज्ञात अनेक क्षरीर घातन कर इन्ने जितना सुख प्राप्त किया है उससे वह अनंत गुणित है, अर्थात् जितना सुख इस जीवने प्राप्त कर भोगों में यह भोगों हुए दुःखका अनंतवा भाग भी होना कठिन है,

इस जन्ममार्गमें यह एक जीव सुखके एक सामग्री कितने दिन भोगेगा, जैम यन्में अतिशय भयाकुल हरिण दुःखोंमें व्याप्त होनेमें सुखका अति अन्यकाल में ही बौद्धात्मा अनुभव लेता है।

जो राग अनंतमार्गमें अमण कर वह प्राणी प्राप्त करता है उसका एक भवमें यह प्राणी कितना हिंसा प्राप्त कर लेगा यह विचारणीय है, जैम मेघोंका पानी लक्षणमयुद्धके पानीमें मिलकर सारा धन जाता है, वैसे इस जीवका अत्यन्त सुख दुःखमयिमें मिलकर दुःखरूप ही होजाता है।

इसी संसारमें जिसको लोक सुख यह नाम देते हैं, वास्तविक वह सुख है ही नहीं। वह केवल पूर्णकाल में उत्पन्न हुए दुःखोंको दूर करनेका इलाज मात्र है। प्रथमतः जो दुःख उत्पन्न होता है उसके इलाजको ही सुख कहते हैं। यदि प्रथम दुःख नहीं हुआ तो सुख की कल्पना भी उत्पन्न नहीं होगी।

तृष्णाका शून्य करनेकेलिये मनुष्य पानी पीता है, और भूख की चेदना नष्ट करनेकेलिये भोजन करता है। जल, हवा और व्यस्तताका निवारण करनेके लिये लोक घरका, गुहाका आच्छादन करनेके लिये वस्त्रका, और निद्राका श्रम दूर करनेकेलिये शय्याका आश्रय करते हुए देखे जाते हैं।

रस्तेका श्रम दूर करनेके लिये पोदा, गादी वगैरह उपाय हैं। और श्रमसे उत्पन्न हुए स्वेदको हटानेका जलस्नान करना यह उपाय है। अथवा एकस्थान में स्वस्थ बैठना यह श्रम दूर करनेका उपाय है। दुर्गंधका नाश करनेके लिये सुगंधि पदार्थोंका सेवन करना यह उपाय माना जाता है। शरीरकी कुरूपता दूर करने के लिये अलंकारोंको धारण करना यह उपाय है। अरविको हटानेकेलिये कलाओंका अभ्यास करना यह सर्व प्रतिकाररूप होनेसे इसको ही लोक सुख समझते हैं। जैसे रोगसे पीडित मनुष्य रोगजन्य दुःखका प्रतिकार करनेकेलिये औषध ग्रहण करता है। देवोंके और मनुष्योंके भोग जिनको वे सुख रूप समझते हैं वे सब दुःखका प्रतिकार करनेमें केवल निमित्तमात्र ही हैं। पित्रप्रक्रांयसे जिसके सर्व अंगमें दाह हो रहा है वह मनुष्य शीतपदार्थोंका सेवन करता है उनको यदि वह अन्नानी भोग यह नाम देगा तो वह अन्नादिक पदार्थोंको भी भोग नाम देगा।

इस जगत्में पानी वगैरह पदार्थ सर्वथा सुख ही देते हैं ऐसी कल्पना करना भी भूलसे खाली नहीं है, इसलिये वे पदार्थ दुःखका प्रतिकार करनेवाले हैं इतना ही समझना चाहिये। उतमें भोगसंज्ञा करना योग्य नहीं है, जो अब भूखसे पीडित मनुष्यको सुखका कारण होता है वही लगभग मनुष्य को निपसमान हो जाता है। उष्णतासे पीडित हुआ मनुष्य जिन चीजोंको चाहता है वे चीजें शीतकालमें दुःखदायक होती हैं। इस जीवको चक्रवर्ती के सुखसे तृप्ति नहीं होती है। चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नके प्रभावसे देव मनुष्य और विद्याधरोंको जीतते हैं, उनके पास क्षयरहित नष्ट निधि रहते हैं, वे चौदह रत्नोंके स्वामी होकर दस प्रकार के योगोंका अनुभव लेते हैं तो भी उनसे उनका मन तृप्त होता नहीं।

देव भी देवोंगणाओंसे प्राप्त होनेवाले विषयसुखसे तृप्त होते नहीं हैं। देवोंका आयुष्य अनेक सगरोंका

रहता है. ये आमरण तरुण ही होते हैं. ये हमेशा देवांगनारूपी लतासमूहसे घिरे रहते हैं तो भी उनको इनसे उत्पन्न होनेवाले सुखसे तृप्त होती नहीं.

देवांगनारूपी लतामनकी आचार्य रस प्रकार निरूपणा करते हैं—

स्वामात्मिक अर्थात् जन्मसे ही साथ उत्पन्न हुये ऐसे दिव्य अलंकार, पुष्पमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्य ऐश्वर्य-एतद्गुण संश्रयसे यह देरीलवान्न सुंदर दीखता है. मन और नेत्रोंसे आल्हाद देनेवाले सौंदर्यपुष्पोंसे यह देवी-लतामन सुल्लिप्त है.

इन लताओंको रिताम रूपी मनोहरता आवती है. सुकुमारवारूपी नवीन कोमल अंकुर इनकी शोभा बढ़ाते हैं. ये लतायें अपने शरीरके सुरंगमये दिगंगनाओंका मूल सुगंधित करती हैं. इनका अवरोधपक्ष्म संगाके समान मनको तृप्ति बनाता है. ये लतायें कठिन, उन्नत अर्थात् पुष्ट और गोल ऐसे स्तनरूपी फलोंसे कमनीय दीखती हैं. मदनरस दाखिन पाएके झरोखोंसे ये डुलती हैं, सुंदर चाटुरूपी सुंदर शालाओंसे मनोहर दीखती है. नभकीले दुर्ग के कमरबंदारूपी लटके युक्त, क्षमजलसे भरा हुआ, ऐसे विशाल जपन रूपी तरोपसे ये सोहती हैं. शब्द करनेवाले नूपुररूपी झरनोंसे फलफल शब्द करने वाली येमी देवांगनारूप लताओंसे घिरे होते हुए भी देव वृत्त नहीं होते हैं. और भी अनेक भोग्य वदार्थोंसे उनका मन तृप्त होता नहीं, यदि देवोंके मन इतनी सुलसाभंगी भिक्षुनेपर भी अनुत्त ही रहता है, तो मनुष्यका मन कैसा तृप्त होगा.

हीनतर पुरुषदेवका जन्म उदय होता है तब वह अक्षीके समान मनुष्यके मनको जलाता है. ऐसे समय रीतिभोगरूपी औषधों भी उस मनकी जलन शांत नहीं होती है. रीतिभोगोंसे कायाग्रि अधिक ही प्रदीप्त होती है. रूप, तारुण्य, विलास, चतुरता, सोभाग्यादिकेय एकसे दूसरी अधिक, दूसरीसे तीसरी अधिक ऐसी उत्तरोत्तर अधिक २ सुंदरी शिष्यां नजरमें आ जानेमें उनके संगमकी गन्धें अभिलाषा घड़ती है जिससे कामदेवना पुरुषको अधिक व्याकुल करती है.

कोई शिष्या अपने पतिव्रत त्याग करती हैं, अवस्था भर जाती हैं अथवा यलमान पुरुष उनको हर कर ले जाने दें. अधया स्वयं यमके पानमें जकड़ा हुआ इन्द्रा न होते हुए भी स्त्रीको छोड़कर यममंदिरको जाता हैं.

मरनेकी अवस्थामें वह दीन पुरुष अपना मुख उधाड़कर, नेत्रोंकी टकटकी लगाता हुआ, रोनेमें जिसके नेत्रोंपर स्रजन और लालपना आगया है ऐसा होना हुआ अपनी प्राणप्यारीको छोड़कर चल बगता है।

स्फटिकमणिओंकी माला जैसा समीपके पदार्थका गुण ग्रहण करती है - वैसे स्त्रियोंके शरीर समीपस्थ व्यक्तिके गुणोंका ग्रहण करता है। संध्याकालीन मेनोको पक्ति लालरंगमें मनोहर दीखती है परन्तु उनका यह रंग शीघ्र ही नष्ट होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम उत्पन्न होकर शीघ्रही विलयको प्राप्त होता है। अर्थात् आज एक पुरुष पर उनका स्नेह साम जाता है तो कल ये दूसरोंपर प्रेम करेंगी स्त्रीकी प्राप्ति होना भी दुर्लभ होता है। स्त्री, वस्त्र, गंध, माला वगैरह पदार्थ मिलनेपर समर्थ लोक जन-रदस्त्री से हर लेते हैं- इससे राम भय युक्त होता है, अर्थात् ये पदार्थ मेरे को प्राप्त हुए हैं परन्तु कोई इसको ले तो नहीं जायगा ऐसा भय मनमें उत्पन्न होता है। ऐसा भय होनेसे ये पदार्थ आत्माको सुखदायक होते नहीं- इनकी प्राप्ति के लिए खेती वगैरह छह कर्म करने पड़ते हैं। इन पदार्थोंमें संपत्तिकरूपी फल प्राप्त होगा ही ऐसा नियम नहीं है और इनमें परिश्रम बहुत करना पड़ता है, इनमें हिंसादिक पापक्रिया करनी पड़ती है और ये कर्म अन्तमें दुर्गति की प्राप्ति में कारण होते हैं ऐसा उपदेश देकर बहुश्रुत आचार्य क्षणको भोगोंसे विरक्त करते हैं। शरीरका भी वास्तविक स्वरूप दिखाकर आचार्य विरक्त करते हैं—

यह करीर अविव्रताका निधान है अर्थात् इसके संपूर्ण अवयव अपवित्र पदार्थ से ही बने हैं, यह शरीर आत्माके ऊपर लदा हुआ मानो बोझाही है, इसमें एक भी पदार्थ साययुक्त नहीं है यह अनेक संकटोंमें घिरा रहता है, रोगरूपी धान्यकी उत्पत्तिका यह स्थान है अर्थात् इसमें अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, चूड़ापरधारूपी पिच्छा-चिनीका यह भण्डानगृह है, मान्यकुलमें पैदा हुआ, विशाल-श्रीतिथुक्त, ओग शुणी ऐसा भी मनुष्य दरिद्री होनेपर इस शरीरका पोषण करनेके लिये नौच कर्म करता है, श्रीमानोंके आगे दोहता है- उनके संदेश एक स्थानसे दूसरोंको पोहोचाता है, और उनका उन्निष्ट भोजन खाता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

इस शरीरके अंदर, बाहर और मध्यमें भी कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है, जिसको मन स्वीकार करेगा अर्थात् जब हम देहके स्वरूपका मनसे विचार करते हैं तो उसमें कोई सारभूत पदार्थ दीखता नहीं, इसप्राप्ति सारत्र विद्वान् तुच्छजनोंने कामधुनिके लिये पसंद किया हुए इस देह की इच्छा नहीं करते हैं,

हैं, रोगोंसे उत्पत्ति अर्थात् कारण पाप है और यहिरण कारण वातादिकोंका प्रकोप होना यह है. इन रोगोंसे यह देह पीडित होता है. दुःखोंको कारणभूत यह देह नाशवंत है ऐसा समझकर है आत्मन् अर्थात् वे क्षपक! हैं अनेक प्रकारसे धर्मसाधन कर. यह देह रक्त और वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होता है. क्षिपिल इष्टिओंसे— इष्टिरूप खंभोंसे इस देहकी रचना हुई है. स्नायुओंसे यह सर्व तरफसे जकड़ा हुआ है. शिराओंसे वीर्य है. मांस, रक्तस्त्री पानी और कीचड़से यह लिपा गया है. इस देहमें रोगोंसे निवाह किया है. ऐसे शरीरको कौन स्पर्श करेगा. इस तरह शरीरनिर्जनी कथा कह कर आचार्य क्षपकको चारित्र्यमें स्थिर करते हैं.

गवित्थपादमूले ह्येति गुणा एवमादिया बहुगा ॥

ण य होह संकिलेसो ण चावि उप्पज्जन्ति विवत्ती ॥ ४४७ ॥

विजयोद्या—गीधरपादमूले शरीरार्थस्य बहुभुतस्य पादमूले । ह्येति बहुगा गुणा गवित्थो पुण सधगस्त इयेपमाविस्सपंचणनिर्दिष्टः । ण य होह संकिलेसो भेष भवति संक्षेपः । ण या वि उप्पज्जन्ति विवत्ती न वात्पचत्ते वि- पद्भजनवदस्य । तस्मादाधारवामाचार्यः उपाधयणीयः शत्रुपक्षेदायः । इति आधारव्यं ॥

गूलारा—विवत्ती रत्नरयविनाशः । आधारव्यान् ॥

अर्थ—जो आचार्य धृष्टार्थज्ञ है उसके चरणके समीप जो क्षपक समाचर्य रहेगा उसको उपर्युक्त गुणोंकी प्राप्ति होती है. उसको संक्षेप परिणाम नहीं होगा और रत्नत्रयमें कुछ वाधा भी उपस्थित नहीं होगी. इस लिये आधारगुणयुक्त आचार्यका आश्रय लेनाही क्षपकके लिये योग्य है. इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका वर्णन हुआ.

व्यवहारवत्त्वविकल्पार्थोत्तरमाथा—

पंचविहं व्यवहारं जो ज्ञाणइ तच्चदो सवित्थारं ॥

बहुसो य दिठ्ठकथपटवणो व्यवहारवं होइ ॥ ४४८ ॥

ज्ञानाति व्यवहारं यः पंचभेदं सविस्तरम् ॥

दत्तालोक्तिशुद्धिश्च व्यवहारी स भण्यते ॥ ४४९ ॥

विजयोदया—पंचविहं ववहारं पंचप्रकारं प्रायश्चित्तं । ओ जाणहि तच्चदो सवित्थारं यो जानाति तत्त्वतः सविस्तरं । चतुस्रो ऽ विदुः कृदपटुवणो यदुसस्त्वं दृष्टकृतप्रस्थापनः । आचार्याणां प्रायश्चित्तदानं दयं, स्वयं चान्द्रेणं दत्त-प्रायश्चित्तं । ववहारं यं होदि व्यवहारस्यायं भवति । पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तश्रुतता दशैता, कर्मदर्शनं कर्माभ्यासश्च प्रख्यापित । अशास्त्रो योर्लक्षितश्चादान्यतमनोऽभिलषितं । ऽ तेन, शुद्धयति, शास्त्रोऽप्यदृष्टकर्मा, सुविपादयेति । ततो ज्ञान कर्मदर्शन, कर्माभ्यास इति तयो गुणा यस्य स व्यवहारोऽनिर्मुच्यते ॥

व्यवहारवचं गाथासमेकेन वस्तुकास प्रथमं प्रायश्चित्तज्ञानकर्मदर्शनकर्माभ्यासलक्षणमुपनयनं व्यवहार-यत्नं निर्दिशति—

यूलाग—ववहारं प्रायश्चित्तं । विदुः कृदपटुवणो दृष्टमाचार्यैः क्रियमाणमप्यचारितं । छुडमारमता, स्वस्य परस्य वा प्रयुक्तं प्रस्थापनं प्रायश्चित्तदानं येन स दृष्टकृतप्रस्थापनः । अशास्त्रो हि यत्किंचन प्रायश्चित्तं दत्ताति न च येन परः शुद्धयति । शास्त्रोऽप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विचारयेति ॥

अर्थ—पांच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तर जानते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त देते, हुए अन्य आचार्योंको देखा है और स्वयं भी जिन्होंने दिया है ऐसे आचार्योंको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं, इस गाथाके पूर्वोक्तमें आचार्योंकी प्रायश्चित्तज्ञता कही है और उत्तरार्धमें प्रायश्चित्त देते हुए देखना, प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास करना इन गुणोंका उल्लेख किया है, प्रायश्चित्तज्ञासका ज्ञान यदि न हो तो जो मनमें आया सो प्रायश्चित्त देगा अतः आचार्य प्रायश्चित्त ही होना चाहिए, चाहे जो प्रायश्चित्त देनेमें अपराधकी सुझि नहीं होती है, प्रायश्चित्तज्ञासका ज्ञानकार होवे हुए भी यदि प्रायश्चित्त देते हुए किसीको नहीं देखनेसे प्रायश्चित्त देने समय घबड़ाहट पैदा होती है, इसलिये, प्रायश्चित्तका ज्ञान, प्रायश्चित्तदानदर्शन और प्रायश्चित्त देने का अभ्यास ये तीन गुण जिसमें है ऐसे आचार्य को व्यवहारवान् आचार्य कहेंगे हैं.

कः पंचविधो व्यवहारः, ओ पा विस्तर इत्यादौकानां तदुभयं निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणाय जीदेहिं हुंति ववहारा ॥
एदेसिं सवित्थारा परुवणा सुत्तणिदिट्ठा ॥ ४४९ ॥

व्यवहारो यतो जीवधृतशामधारणा ॥

एतेषां सूत्रनिर्दिष्टा श्रेया विस्तरवर्णना ॥ ३६१ ॥

विषयोदया—आगमसुद आधाधारणा य जीवेदिं हुंति क्वहारा आगमः, श्रुते, आह्वा, धारणा जीव इति व्याचष्टारः पंच । यदेति एतेषां आगमादीनां । परूवणा कीदृशी ? सविधारा विस्तरसहिता । सुचमिदिहा सूत्रेषु चिन्त भेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामप्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रे च निर्दिष्ट्याविह नोज्यते । उक्तं च—

सत्वेण वि जिणवर्णं सोद्वन् सद्दिष पुरिसेण ॥

छेवसुदस्त इ अत्थो ण होदि सत्वेण जावब्बो ॥ इति ॥

पंचविधत्वं व्याचष्टे—

मुञ्जारा—आगम एकादशांगोक्तं प्रायश्चित्तं । सुदं चतुस्सपूर्वाङ्कं । आणा स्थानोतरित्येतेन अन्याचार्येण स्थानांतरस्थितेन अन्याचार्येणा । ओषितस्य स्वगुणोपस्य स्पेसिष्ठिकस्य दस्ते भेषितं । धारणा एकाको र्धपावलपरिहीणः संज्ञावदोपस्तथैव दिशतः पूर्वोपधारितं प्रायश्चित्तं कथयति । जीवः द्वासेतविपुरुषजातस्वरूपमपेक्ष्य यदुक्तं संप्रतिष्ठाचार्ये शास्त्रोक्तं जीव इत्यन्ये । विरथारा विस्तरसत्त्वा । विस्तरमाश्रित्य । परत्वेणा निर्णयः । सुचमिदिहा सूत्रेषु चिन्तनेषु निरूपिता बोद्धव्या ।

अत्र तु नोत्ता प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामप्रतोऽकथनीयत्वात् ॥ उक्तं च—

सत्वेण वि जिणवर्णं सोद्वन् सद्दिष पुरिसेण ॥

छेवसुदस्त इ अत्थो ण होदि सत्वेण जावब्बो ॥

पांच प्रकारके व्यवहार कीनसे और उनका विस्तार कीनसा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आगम, श्रुत, आह्वा, धारणा और जीव ऐसे प्रायश्चित्त के पांच भेद हैं. इनका सविस्तर वर्णन माचीन आचार्योंने द्वादशग्रंथोंमें सविस्तर किया है. प्रायश्चित्तका वर्णन सर्व लोगोंके सामने करना योग्य नहीं है. अन्य धार्मिकतर्में इसका खुलासा किया है अतः यहाँ हम उसका निरूपण नहीं करते हैं.

अन्यत्र प्रायश्चित्त के विषयमें ऐसा उल्लेख मिलता है—

श्रद्धावानं सर्वं पुरुष जिणवचनं सुन सकते हैं. परन्तु प्रायश्चित्तशास्त्रका अर्थ सर्व लोगोंको जानने का अधिकार नहीं है.

न्यवद्वारवानसौ परलोचितापरधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशङ्कयां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय
माथाश्रयम्—

दृढं सैत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।
संघदर्शनं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय कालं भावकृतोद्यमम् ।
सम्यक्संहरनमुत्साहं पर्यायं पुरुषं धृतम् ॥ ४६२ ॥

विजयोक्त्या—दृढं केत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं द्रव्यमित्यादीनां विश्रवैत्येमेन संबधः । तत्र द्रव्यं
त्रिदिपं सच्चिन्मन्त्रित्वं मिथामिति । कृपेयी, आपस्तेजो धातुः, प्रत्येककायः, अन्तर्कायाः, त्रसाश्चेति सच्चि सद्रव्यमित्युच्यते ॥
मृणफलनादिकं जीर्धनुन्मित्रं अविच्छं । संसक्तं उपकरणं मिथं । एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षास्तु क्रोशाख्यगमनं अर्थयोजनं
वा । ततोऽधिकश्रेयसगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना ॥ अथवा प्रतिविद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्यगमनं, छिन्नाध्यगमनं, ततो रक्षणीया-
गमनं । तस्याखौ यवातिश्रोतः । उन्मर्गौण या गमनं । अतः पुरप्रवेशः । अननुज्ञातगृहभूमिगमनं । इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा ॥
आवश्यककालावस्थान्मन्त्राले आवर्तयकरणं । वर्षावाप्रहातिक्रमः । इत्यादिना कालप्रतिसेवना ॥ दर्पः, प्रमादः, अनामोमः
मर्दः, प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भवत्येव ॥ एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्देव्यादिकं ज्ञात्वा रत्नवकुलं,
धान्यवकुलं, शाक्यवकुलं यवागृन्नाकामित्रं वा पाशकमेव चेवाहरे इत्यपरिज्ञानं ॥ प्रायश्चित्तमाचरतः अनुपलोमलसाधार-
णक्षेत्रपरिज्ञानं । धर्मशीतसाधारणमालज्ञानं । क्षमाभार्दयार्जवसंतोषकादिकं भावं । क्रोधादिकं वा करणपरिणामं ।
प्रायश्चित्तक्रियायां परिणामं । सङ्ख्यासार्वभौमं । किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तः उत यशोर्थः, लाभार्थमुत फलनिर्जराधे इति ॥
उच्छाहं उत्साहं । संघर्षं शरीरयत्नं । परिषाद्यं प्रमत्त्याकालं आभामं । अल्पं धृतमस्य षड् वेति । पुरितं जातादतो मयांसि-
रंगः इत्येवमादित्वं चिकन्यं न ज्ञातया ॥

प्रायश्चित्तदानक्रमं माथाश्रयेनाह—

मूलरा — दृढं सचित्तं दृक्चिदीकायिकादिकं । अविच्छं मृणफलकादिकं । मिथे संसक्तमुपकरणं । त्रिविधा
द्रव्यप्रतिसेवना ॥ रतं वर्षास्तु साधूनां क्रोधं द्विक्रोशं वा गमनं इष्टं । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । अथवा निपि-
च्छेत्रं विरुद्धराज्यछिन्नालुन्मर्गान्द्रव्यपुस्तुज्ञातगृहभूमिक्षेत्रोपवादिगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । कालं आवश्यककालवर्षावप्रहा-
सधिक्रमः कालप्रतिसेवा । भावं दर्पप्रमादनामोगमयाभिका भावप्रतिसेवा । एवं द्रव्यप्रतिसेवनादिद्वारेणापरधनिदानं
विज्ञापेति संबधः । करणपरिणामः । प्रायश्चित्तानुष्ठानपरिधिर्ति । किमयं सहसंवासार्थं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तं उत यशोऽर्थं किवा

ह्यभाधं उत कर्मनिर्जगर्धमिति विज्ञाय । उच्छाहं प्रायश्चित्तं प्रत्युयोगं । संपदं शरीरबलं । परित्याग प्रधन्याकाल परिमाणं । ज्ञातम अलं धृतमस्य बहु नेति । पुरितं वैराग्यपरो न वेति वा विज्ञाय ॥

दूसरेने आलोचना कर कहे हुए अपराधोंका प्रायश्चित्त देनेका व्यवहारवान् आचार्यका क्रम दो गायार्थोंमें आचार्य कहते हैं.

अर्थ—द्रव्यके सचित्द्रव्य, अचित्त द्रव्य, और मिथ द्रव्य ऐसे तीन भेद हैं. शुक्ति, पानी, अग्नि, हवा, प्रत्येक फाय बनस्पति, अनंत धातु वनस्पति और इनजीव इन जीवोंको सचित्त द्रव्य कहते हैं. तृणका संस्तर, फलक वगैरे पदार्थ अचित्त द्रव्य हैं. जिसमें जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणोंको मिथ द्रव्य कहते हैं. ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं.

पर्याकालमें आधा फोस, आधायोजन मार्ग धुनि आ सकते हैं परंतु उससे अधिक वे गमन करें तो वह प्रायश्चित्त होता है यह क्षेत्र प्रतिसेवा है. जहां जाना निषिद्ध माना है ऐसे स्थानमें जाना, बिल्द्वराज्यमें जाना, जहां रस्ता टूट गया है ऐसे प्रदेशमें गमन करना, यह क्षेत्रप्रतिसेवा है. उन्मार्ग से जाना, अंतःपुरमें प्रवेश करना, जहां प्रवेश करनेकी परधानगी नहीं है ऐसे गृहके जर्मनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रतिसेवा है. (ततो रक्षणीयामनं, तस्मादहो यदातिक्रान्तः) इन पदोंका अर्थ लगाता नहीं.

गामाधिक्य प्रतिक्रमणादिक छह आवश्यकोंका जो काल नियत है उसको उल्लंघनकर अन्यकालमें सामायिकादिक करना. वर्षाकालयोगका उल्लंघन करना यह कालप्रतिसेवा है, दर्य, उन्मत्ता, असावधानता, साहस, भय इत्यादिरूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना मायप्रतिसेवा कहते हैं. इस प्रकार अपराधके कारण पदार्थोंका स्वरूप जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिये. प्रायश्चित्त देनेवालोंको आहारके पदार्थोंका भी ज्ञान होना आवश्यक है. कोई आहार रसयुक्त रहता है. अर्थात् उसमें गन्ध का प्राधान्य रहता है. कोई आहार घान्यप्रचुर रहता है. किसी आहारमें शाककी मुख्यता होती है और किसीमें लापसी और शाककी मुख्यता होती है. कोई आहार पेयपदार्थरूप पतला रहता है. ऐसे आहारके पदार्थोंका भी प्रायश्चित्तदाताको ज्ञान होना चाहिये.

प्रायश्चित्त करनेवालोंको और देनेवालोंको अनूप, जंगल और साधारण इन प्रदेशोंको ज्ञान होना चाहिये. जिस देशमें पानीकी विपुलता है उसको अनूपदेश कहते हैं. वन पर्वतादिक जिसमें है और कम घुटि होती है उस

देशको जांगल देश कहते हैं. दोनों देशोंके लक्षण जिसमें है उसको साधारण देश कहते हैं. उष्णकाल, शीतकाल और साधारणकाल इसका भी ज्ञान होना आवश्यक है.

क्षमा, मर्दान, अर्जुन, संतोषादि परिमाणोंको भाव कहते हैं. क्रोधादिक विकारोंको भी परिणाम कहते हैं प्रायश्चित्त क्रियामें परिणाम और सहचान इनका भी ज्ञान होना चाहिये. यह युनि भेरा यज्ञ हो ऐसा अभिप्राय धारण ॥ प्रायश्चित्त लेनेमें प्रवृत्त हुआ है अथवा लामके लिये क्रिया कर्मनिर्वारके लिये प्रवृत्त हुआ है इत्यादि हेतु जानलेना भी आचार्य के लिये आवश्यक है. प्रायश्चित्त लेनेवालेका उत्साह, शरीरसामर्थ्य, दीक्षाकाल, आगम-ज्ञान, अर्थात् यह आगमका अल्पज्ञाता है अथवा बहुज्ञाता है इत्यादिक बातोंका ज्ञान कर लेना भी आवश्यक है.

मोक्षचूण रागदोसे ववहारं पट्टवेह सो तत्स ॥

ववहारकरणकुसलो लिणवयणविसारदो धीरो ॥ ४५१ ॥

रागद्वेयायपाकृत्य न्यवहारविसारदः ॥

व्यवहारी ददात्यस्मै प्रायश्चित्तं विधानतः ॥ ४५३ ॥

विजयोदया—मोक्षचूण लक्षणा । रागदोसे रागं द्वेयं च गन्धस्थः स्तभिति यावत् । ववहारं पट्टवेदि सो तत्स प्रायश्चित्तं ददाति स स्मरित्वस्मै । ववहारकरणकुसलो प्रायश्चित्तदानकुशलः । लिणवयणविसारदो निमग्नपीते मारामे निपुणः । धीरो धृतिमान् ॥

मूलरा—पट्टवेदि ददाति ॥

अर्थ—निमग्नपीत आगममें निपुण, वैधवात्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐस आचार्य राग और द्वेयभावना छोड़कर अर्थात् गन्धस्थ भाव धारण कर अपराधी युनिको प्रायश्चित्त देते हैं.

अज्ञातवा प्रायश्चित्तज्ञं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाया—

ववहारमयान्तो ववहारणिजं च ववहर्तो सु ॥

उत्सीयादि भवपके अयसं कम्मं च आदियदि ॥ ४५२ ॥

न्यवहारपरिच्छेदी न्यवहारं धदाति यः ॥
अवाप्यासौ यज्ञो घोरं संसारप्रवाहते ॥ ४६५ ॥

विजयोदया—यवहारं अयवहारं तो प्रायश्चित्तं ग्रंथतोऽर्थवत्त्व कर्मतद्व्याख्यानम् । यवहरणिल्लं च व्ययन्त्रियते अतिचारविनाशाधिनोति व्ययहरणीयमानोचनाधिकं प्रायश्चित्तं इति नवधा । यवहरं तो ग्रन्थच्छन् । उत्सीयदि अवसीदति । क भवपंके । अक्षसं आदिपदि अयश्चः तुंडाचार्योऽयं यस्मिन्त्वन ददाति नायं परं शोधयति । संसारभीरुयतिजनं वृथैव हेरा- दति इति । कर्म न आदियदि यन्ताति कर्म दर्शनमोहनीयारूपं उन्मार्गोपदेशात् संमार्गाविनाशनाश । तस्मादहो न ददात्प्रायश्चित्तमिति स्वार्थः । अवाप्याप्यामिव शिक्षा । ययमाचार्यो यदस्माभिर्देतं तदिदं कुर्वन्ति यकिंजन न वक्तव्यम् । शुतल्लहस्याः प्रायश्चित्तसंनयनं यतप्यमिति ॥

शाकनशाहना प्रायश्चित्तं ददतो दोषमाह —

मूढारा — अजगत्तो ग्रंथतोऽर्थतः कर्मतद्व्याख्यानम् । यवहरणिल्लं व्ययन्त्रियते अतिचारविनाशाधिभिन्नुष्टी- यते इति व्ययहरणीयमानोचनाधिकं प्रायश्चित्तम् । यवहरं तो ग्रन्थच्छन् । उत्सीयदि अवसीदति स्त्रियते । अजलं तुंडाचा- चोऽयं यस्मिन्त्वन ददाति नायं परं शोधयति संसारभीरं यतिजनं वृथा क्लेशयतीत्यकीर्तिः । कर्मं दर्शनमोहनीयारूपं कर्म यन्ताति उन्मार्गोपदेशतत्सन्मार्गाविनाशनाश । आदियदि स्वीकरोति ॥

प्रायश्चित्तके ग्रंथको जानकर प्रायश्चित्त देना यह अयोग्य है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ग्रंथके, अर्थके और कर्मसे प्रायश्चित्त का स्वरूप जिसको मात्स नहीं है वह पुनि यदि आलोचनाविक नष्ट प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगना तो वह संसारके क्षीयकमें फसेगा अर्थात् संसारमें भ्रमण करेगा और अगतमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. यह तुंडाचार्य है अर्थात् चाहे जो प्रायश्चित्त मुलसे देता है. कोनसा प्रायश्चित्त किस अपरा- धके लिये देना चाहिये इसका तो इसको कुछ भी ज्ञान यदि नहीं है तो यह मुनिजोको कैसा अपराधसे मुक्त करेगा. संसारभीरु मुनिजोको यह न्यर्थ ही छेड़ देता है. देखी लोकमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. मनमें जो प्रायश्चित्त देनेका विचार आया सो दिया ऐसा करनेसे जिनासाका उल्लंघन हो जाता है. उन्मार्गका उपदेश करनेसे व सन्मार्गका नाश करनेसे उसको दर्शनमोहनीय कर्मका बंध होता है. इसप्रकार जब मुनि प्रायश्चित्त देनेका प्रयत्न न करे ऐसा आचार्य के प्रति यह उपदेश है. अर्थात् हम आचार्य हैं हमने जो प्रायश्चित्त दिया है वह तुम करो ऐसा नहीं कहना चा-

हिए, जिन्होंने प्रायश्चित्तयात्रा को जान लिया है ऐसे आचार्य प्रायश्चित्त देते समय सत्वधानी रसकर प्रायश्चित्त देवे निमेषे अत्रता दोष नहीं लगेगा.

अह ण करोदि तिग्गिच्छं वाधिस्स तिग्गिच्छओ अणिम्मादो ॥

ववहारमयाणंतो ण सोधिकमो विसुब्बेइ ॥ ४५३ ॥

उपवहारायुधः शस्त्रो न विशोधयितुं परम् ॥

किं चिकित्सामजानानो रोगघ्नरत्नं चिकित्सति ॥ ४५५ ॥

विजयोदया—यदि नाम सुपरा मुग्धनपश्चिज्जनपरिदुल्लभमानेनोपजाताहंकारा मूर्खलोकेनाहताः संति सूर-
पस्ते भयङ्किः दुरुपप्यं न वीरकीर्त्याः इति शिक्षयति—जह ण करोदि तिग्गिच्छओ ईसो । अणिम्मादो अणिपुणः ।
तथा तथा । ववहारमजाणंतो प्रायश्चित्तयात्रा न स्मृतिः । सोधिकमो रत्नत्रयगुरुव्यभिहायः । ण सोधेदि खु न शोधयत्येव ॥
ये नाम सुपरा मूर्खो बहुविषयपरिदुल्लभमानेन प्रहृष्टाहंकारा मूर्खलोकेनाहताः संति सूर्यस्ते भयङ्किः
दुरुपप्यं तोषाश्रयणीया इति शिक्षयति—

मूखरा - तिग्गिच्छं दधिकारं । तिग्गिच्छओ वेधः । अणित्सदो अनिष्णातः । अणिपुणः । खु सोधेदि शोधयत्येव ।
अप्यं—जो आचार्य सुत्वर है अर्थात् वाचाल है, मूर्ख व नवीन शिष्योंसे वेष्टित होनेसे जिनको अभिमान
उत्पन्न हुआ है, मूर्ख लोगेंसे जो पूजनीय हो रहे हैं ऐसे आचार्यका आश्रय है क्षपक ! तुम अपराधशुद्धीके लिए
कदाचित् भी न करो ऐसी शिक्षा इस गायामें दृष्टांतपूर्वक कही है यह इस प्रकार—जैसे अज्ञ वैद्य रोगका स्वरूप
जानता नहीं है जतः वह अनियुक्त होनेसे रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता है, वैसे जो जो आचार्य प्रायश्चित्त
ग्रंथके ज्ञानकार नहीं है वे यद्यपि रत्नत्रयकी निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी उसको निर्मल नहीं कर
सकते हैं.

तस्मा णिव्विसिदब्बं ववहारवदो हु पादमूलमि ॥
तस्य हु विज्जा चरणं समाधिसोधी य पियमेण ॥ ४५४ ॥

ततः समीपे ज्येष्ठहरयेदिना स्थितिविधिया क्षणकेण चीमता ॥
सिसिधुणा योधिसमाधिपादपौ मनीषितानेकफलप्रदायिनौ ॥ ४६६ ॥

इति ज्येष्ठहारी ।

विजयोदया—तच्छा निमित्तस्त्रिदशं तस्मात्स्यातव्यं । ज्येष्ठहरवदो ज्येष्ठहरवतः एव । पादमूलमि पादमूले ।
तस्य च तम ज्येष्ठहरवत्पादमूले । विजया विद्या ज्ञानं भवति । चरणं समाधि सोपी य चारिष्य समधिष्य शुद्धिष्य ।
नियमेन निदलेन भवति । ज्येष्ठहरवः ॥

मकुटमुपसेहरति—

मूलरा—विभित्तिदशं अवश्यं स्यात्तव्यं । ज्येष्ठहरवत्पाद ॥

अर्थ—इसलिए क्षणके प्रायश्चित्तञ्च आचार्य के वासही निवास करना चाहिए. उनके वास रहनेसे ही
ज्ञानप्राप्ति होती है, चारिष्यप्राप्ति होती है और ज्ञानसे एकाग्रता और आत्मशुद्धि निश्चयसे होती है. इस प्रकार
आचार्यके ज्येष्ठहरव गुणका कर्णन किया है.

पशुब्धी कृतस्वाचष्टे—

जो निष्कस्वणपवेसे सेरजासंथारवधिसंयोगे ॥

ठागणिसेज्जागासे अगदूण विक्किचणाहारे ॥ ४५५ ॥

प्रवेशे निर्गमे स्थाने संस्तरौपधिदोषने ॥

उद्वर्त्तने परावर्त्ते शय्यायासुपवेशने ॥ ४६७ ॥

विजयोदया—जो निष्कस्वणपवेसे यों यः सृष्टि क्षणकस्य वस्तुतेर्निर्गमे प्रवेशे वा । सेरजासंथारवधि-
संयोगे वसते; संस्तरस्य, उपकरणस्य शोषने । ठागणिसेज्जागासे स्थाने, निषद्यावकाशे, अगदूणविकिचणाहारे
शय्याया, शरीरमलाहरणे, भक्तपानदोषने च ॥

प्रकारकत्वं गायत्र्यनुष्ठेन व्याचष्टे—

मूलरा—संयोगे शोषने । निषेज्जोगासे उपवेशनावकाशे । अगदूणविकिचणाहारे कच्छाया शरीरमलापहरणे

भक्तपानदोषने च ॥

अब आचार्य के प्रकुर्वित्व नामक गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपक जब वसतिकामे प्रवेश करता है अथवा बाहर जाता है उस समयमें, वसतिका, संस्कार, और उपकरण इनके शोधन करनेके समय में, खड़े रहना, बैठना, सोना, शरीरगल दूर करना, आहारपानी लाना इत्यादि कामों में जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करता है उसको प्रकुर्वी कहते हैं. इत्यादिकार्यके करते समय आचार्य मनमें लुगुप्ता नहीं करते हैं.

अबमुज्जदचरियाए उक्कारमणुत्तरं वि कुब्बंतो ॥

सव्वावरसत्तीए वट्टइ परमाए भत्तीए ॥ ४५६ ॥

उत्तयापने मलत्थाने सर्वन्न विधिकोविदः ॥

परिचर्याविधानाय शक्तितो भक्तितो रत्तः ॥ ४६८ ॥

विक्रयोक्ता—अबमुज्जदचरियाए क्षपकस्य लघुघतचर्योया उपकारं अनुग्रहं हस्तगलेयनादिक । अणुत्तरं पकुर्वन्तो उत्तरे प्रकुर्वन् । सत्त्वावरसत्तीय सर्वावरसान्त्या । भत्तीए भक्त्या । परमाए उत्कृष्टया । वट्टवि वर्तते । स मकुर्वकः स्मरिर्भयति इति संख्या ॥

मूलाए—अबमुज्जदचरियाए पंडितभरणोपक्रमे । सव्वावर सर्वप्रयत्नेन ॥

अर्थ—उपयुक्त कार्यमें मकुर्वी गुणके धारक आचार्य हाथसे अवलंब देना योग्य द्वारा क्षपकके ऊपर अनुग्रह करते हैं. यह अनुग्रह भक्तिपूर्वक और उत्कृष्टतासे करते हैं.

इय अप्पपरिस्समगणित्ता खवयस्स सव्वण्डिचरणे ॥

वट्ठंतो आयरिओ पकुब्बओ णाम सो होइ ॥ ४५७ ॥

आत्मश्रममनालोच्य क्षपकस्योपकारकः ॥

प्रकारको मतः त्वरिः स सर्वावरसंयुतः ॥ ४६९ ॥

विलयोदया—एष एवं । क्षणपरिस्सर्ग आत्मपरिश्रमं । अगणिता अपरिगण्य । रघयस्स आराधकस्य । सच्चरित्रचरणे सर्वशुश्रूषायां । बह्वेते वर्तमानः । भागदिवो आचार्यः । पशुवो नाम प्रकुर्वन्को नाम । होदि । भवति । पशुन्वीर्यदे ।

मूला—सन्वपद्विचरणे सकलशुश्रूषायां । पशुवो प्रकारकः ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपककी सर्व प्रकारकी शुश्रूषा आचार्य करते हैं. उसमें बहुत परिश्रम पड़ने पर भी वे शिच नहीं होते हैं. ऐसे आचार्य को प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं, इस प्रकार प्रकुर्वी आचार्य का स्वरूप कहा है.

क्षपकशिक्षावशा भाषा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण निब्बुदि लहइ ॥

तस्सा निब्बसिदव्वं खवण पशुव्वयसयासे ॥ ४५८ ॥

निपील्यमानः क्षपकः परिपहैः सुखासिकां याति सहायकौशलैः ॥

यतस्तत्तस्तेन समाधिमिच्छता निपेयणीया गुरवः प्रकारकाः ॥ ४७० ॥

इति प्रकारकः ।

विलयोदया—खगो क्षपकः । किलामिदंगो ग्लानशरीरः । पडिचरयगुणेण शुश्रूषागुणेण, निब्बुदि लहइ छुटने लगते । खवणेण क्षपकेण । पशुव्वयसयासे विनयकारिणः समीपे । पशुन्वीर्यदे ॥

प्रकारकसमीपनिष्ठासाय क्षपकं शिक्षयसि—

मूला—गिलामिदंगो ग्लानशरीरः । पडिचरियगुणेण प्रविचारकोपचारेण । निब्बुदि सुखे ॥ प्रकारकः ॥

आगे क्षपकको उपदेश देते हैं—

अर्थ—रोमसे प्रसिद्ध क्षपकमुनि आचार्यके द्वारा की गई शुश्रूषासे सुखी होता है. अतः क्षपकको शुश्रूषा करनेवाले आचार्यके पास ही रहना श्रेयस्कर है. प्रकुर्वी गुणका वर्णन समाप्त हुआ.

स्वययस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा हु ॥

तम्हा दुहादिण्हिं य स्वयस्स विमोचिया होइ ॥ ४५९ ॥

अस्ति तीरं गतस्यापि रागद्वेपोदयः परः ॥

परिणामश्च संकिलष्टः क्षुत्तृष्णादिपरीपदैः ॥ ४७१ ॥

विलयोदया—जयगस्स क्षणकस्य ः तीरपत्तस्स विहीर गतस्यापि। रागदोसा गुरुगा होंति रागद्वेपो गुरु तीमो भणत । तम्हा दुहादिण्हिं य क्षुत्तिपासादिभि परीपदेद्व कागणभूते । जययस्स क्षणकस्य विसोचिया होइ अशुभय रिणामो जायते ॥

आयोपपदविदेशित्वं पंचदशविर्गाभिः ऋषयितुकासः प्रथमं गायत्र्यवसुष्टयेन तल्लक्षणमाह—

मूलारा—गुरुगा तीजाः । विसोचिया अशुभपरिणमिः ।

आचार्य मे आयोपाय दर्शन नाम का गुण होता है उसका निरूपण करनेके लिये आगेका प्रबंध—

अर्थ—क्षणकमुनि मोक्षप्राप्ति होनेके निकट समय को प्राप्त हुआ हो अथवा मनुष्यपर्यायका का नाश होने के समयको प्राप्त हुआ हो तो भी उसके अंत करणमें तीव्र रागद्वेष उत्पन्न होने की संभावना होती है, क्योंकि उस समयमें उसको धुदादि तीव्र परिणहों अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं.

योणाइदूण पूर्वं तप्पडिक्खं पुणो वि आवण्णो ॥

स्ववओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो ॥ ४६० ॥

आलोचनां प्रतिज्ञाय पुनर्विप्रतिपद्यते ॥

लज्जते गौरवाकांक्षी स तां कर्तुमपास्तधीः ॥ ४७२ ॥

वितयोदया—योणाइदू, पुन जवज्याविकेण तदिनपर्यवसानं स्वनयातिचारं निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय । तप्पडिक्खं तस्यापराधजत्याध्यापनस्य प्रतिपक्षेण निवेदन । आवण्णो आपन्न प्राप्त । राधयो तं तह आलोचेदं लज्जेज्ज गारविदो क्षणकलमपराध तथा स्वाकर्तृकमेव यदिन्तु जिन्हेति संभावनागुरु ॥

मूलात्—घोलाद्दूण प्रज्ज्वायविवसादारस्याय यावत्कमेण रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति प्रविद्याय । सः खिन्न-
 वरं तस्य अपराधनिवेदनस्य प्रतिपक्षमनिवेदनं । तं आलोचयितुमुपकान्तं दोषम् । तप तथा आत्मापरितुक्कमेण ।
 गारविको आत्मसंभावनापरः ।

अर्थ—मुनिदीक्षाके कालसे आलतक जितने रत्नत्रयमें अतिचार उगे हैं वे सब गुरुके सन्निध में कहूंगा
 ऐसी क्षणके प्रथम प्रतिज्ञा की थी परंतु लज्जा अथवा गर्व इत्यादि कारणोंसे अपने अतिचारोंको आलोचना करने
 में यह हिचकता है.

तो सो हील्लणभीरू पूयाकामो ठवेणइचो य ॥

णिज्जुहणभीरू वि य खवओ विनदो वि णालोचे ॥४६१॥

ततः स्वस्थापनाकारी त्थयागवज्जानमोलुक्कः ॥

क्षपको गुणदोषौ नो पूजाकामो विषक्षति ॥ ४७३ ॥

विजयोदया—तो पदचात् । सो क्षपकः । हील्लणभीरू ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवज्जानंति इति अथहाभीरू ।
 पूजाकामो य पंशनाभ्युरधानं इयाविकायां पूजायामभिलाष्यान् । सापराधं न पूजयेतीति । ठवेणइचो य आत्मानं सुच-
 रितित्ये स्थापयितुमिच्छति । णिज्जुहणभीरू वि य मामिमे सापराधं स्वजंतीति त्यागमीरुच । खवगो स्वापराधं शरीरं च
 क्षपयामीति मृदुतोऽपि णालोचेज्ज दोषं न कथयेदुदोर्दोषमास्मीयं ॥

मूलात्—चो पदचात् । हील्लणभीरू ज्ञातमदपराधा इमे मामवज्जानंतीत्यवहाभीरू । पूयाकामो वैश्वनाभ्युत्थाना-
 दिसत्कारसाक्षात्क्षः । सापराधं न पूजयेतीति कुतर्जिषधः । ठवेणइचो आत्मानं सुचरितित्ये स्थापयितुमिच्छति ।
 ठवेणइचो इति पाठः आत्मानं मादस्त्ये स्थापयितुमिच्छतिर्त्यर्थः । णिज्जुहणभीरू इमे सदोषं मां स्वक्षयेतीति त्याग
 भीरू । खपगो वि त्यापराधं शरीरं च क्षपयामीति मृदुतोऽपि । ण आलोचे गुरोर्न कथयेत् ।

अर्थ—मेरे अपराध आचारोंको ज्ञात होने पर वे मेरा तिरस्कार करेंगे ऐसी मनमें वह कल्पना
 कर बैठता है. अथवा मेरेको अन्य मुनि वंदन करे, आदर करे ऐसी उसको अभिलाषा रहती है. यदि मेरे दोष
 इनको अवगत होंगे तो ये मेरी वंदना और आदर नहीं करेंगे ऐसे अभिप्रायसे भी क्षपक अपने दोषोंका निवेदन

नहीं करता है. मेरा आचरण निर्दोष है यह सिद्ध करना चाहता है इस हेतुसे भी वह दोषोंकी आलोचना करनेको तैयार होता नहीं. यदि मैं अपने अपराध इनको कहूंगा तो ये मेरा त्याग करेंगे ऐसी भी भावना क्षणकके मनमें स्थान कर बैठती है. अतः वह यद्यपि अपने अपराध और ग़रीबका त्याग करनेके लिये खुलूक्त हुआ है तो भी गुरुको अपने दोष कहता नहीं.

तस्मात् अवायोपायविदंती स्वयत्स ओषपणवओ ॥

आलोचैतस्मात् अणुजगत्स वंसेइ गुणदोसे ॥ ४६२ ॥

आयापायविधिर्न हेयोपादेयबोदिना
विद्यते क्षपकस्यासावायापायदिगुच्यते ॥ ४७४ ॥

आयो रत्नत्रयस्य दुष्टिः । अपायो रत्नत्रयविनाशः ।

सतो वक्रमतेस्तस्य सामान्यालोचनाकृते ॥

आयापायविज्ञा चाख्यौ गुणदोषौ गणेशिना ॥ ४७५ ॥

पिज्ञदोषा—सत्स खगलस्य गुणदोसे इत्येति पदसंयधः । तस्य अनालोचकस्य आलोचनायां गुणमितरत्र दोषं च इदमेति । ■ ? आदोषमविदंती आयोपायविदर्शी सति । अपायो रत्नत्रयस्यविनाशः उपायो लाभः । उपायतादौऽनपेक्षः इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आठ दुर्विर्लभः तदुभयदर्शी ओषपणवयो सामान्यं प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । आलोचैवस्त वि अपि शब्दोऽत्र दुष्टनिर्दिष्टो आलोचनां कुर्यतोऽपि । अणुजगत्स मायावतः ॥

मूलात्—अपयो रत्नत्रयस्य विनाशः । उपायो लाभसौ निक्षेपण इत्येति । ओषपणवयो सामान्यं प्ररूपयन् । यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोषः इति प्रजापकः । आलोचैतस्मात् आलोचनां कुर्यतोऽपि । अणुजगत्स मायावतः । गुणदोसे आलोचनायां गुणान् अनालोचनायां च दोषः ॥

अर्थ—जो क्षपक उपयुक्त कारणसे दोषोंकी आलोचना करनेमें प्रयत्नुक्त होता है. उसको आयोपाय दर्शन गुणोंके भास्क आप्त्य आलोचना करनेमें गुण और आलोचना न करनेसे हानि होती है इसका निरू-

पण करते हैं, अर्थात् यदि आप आलोचना न करोगे तो आपके रत्नत्रयका नाश होगा और दोषोंका निवेदन करनेसे आपको रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और उसमें निर्मलताभी प्राप्त होगी इस प्रकार दोष और गुण वतानेवाले आचार्योंको आयोपायविदर्शी आचार्य कहते हैं, जो क्षयक विशिष्ट अपराधोंको निवेदन न कर सामान्य अपराधोंका निवेदन करता है, और जो अपराध निवेदन करता हुआ भी मनमें मायाभाव रखता है उसके भी रत्नत्रयका नाश होता है और निष्कपटभावसे अपने सब दोषोंकी आलोचना करता है उसको रत्नत्रयप्राप्ति और विशुद्धि की प्राप्ति होती है.

माया अर्थात् कपट दोषोंकी उत्पत्ति करती है और यथार्थ कथन अर्थात् दीक्षाकालसे आज तक उत्पन्न हुए दोषोंका सत्यकथन गुणोंका जनक है इसलिये स्वदोषोंका आचार्यके समीप वर्णन करना चाहिये ऐसा आचार्य आगेकी गायामें कहते हैं—

मायायां दोषवायात्यकथनं च गुणं स्तोषति एवं दोषप्रकटनं कर्तव्यमित्युच्यते—

दुर्वेक्षणं लहृद् जीवो संसारमहण्णवाम्नि सामंणं ॥

तं संजमं खु अबुहो णसेह ससल्लमरणेण ॥ ४६३ ॥

दुःस्वतः संजमं लब्ध्वा शरीरी भवसागरे ॥

सदात्पमुत्पुना सारं नाशयत्यपचेतनः ॥ ४७३ ॥

विजयोदया - दुर्वेक्षण लहृद् जीवो फलेशनं लभते जीवः । किं सामणं धामण्यं चारितं संजमं । ॥ संसारमहण्णवाम्नि सल्लमरणेण । यद्यपि शून्यमेव प्रकटं मिथ्यामायाविद्वानसत्यभेदेन तथापीदं प्रकरणं शान्मायाशब्दं गृह्यते, मायाशब्दसहितेन मरणेनेत्यर्थः । ननु समानतायाः प्रस्तुतत्वात् सामणं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्तं 'तं संजमं' इति । अस्यायमभिप्रायः श्रमणशब्दस्य द्रष्टव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छामण्यं किं च तत्संजमः । तथाहि सायवाकियाणो नां श्रमण इति लोको वदति । ततोऽनुक्रमेण भावशब्दसमात्मन्यपस्थितमिदं दोषमाचहतीति दृष्टान्तमुच्यते कथयति—

न केवलं प्रकारकः सन्सरिः क्षपकस्य चाक्षमुपचारं तथा करोत्यपि त्वायापावविदर्शी सज्जाध्यात्मिकमपीत्यं दोषप्रकाशनयति तामेव प्रबंधेनाह—

द्वारा—सामर्थ्य आभ्यर्थ्य यथार्थ । ससह मायाशक्त्यसहितं प्रकरणवशात् ॥

अर्थ—इस संसारका दुःखसा किनारा प्राप्त होना कठिन है इस लिये आचार्य महाराज इसको समुद्रकी उपमा देते हैं. चतुर्गतिओंमें भ्रमण करना यही संसार है. इसमें अमण करनेवाले जीवोंको संयमकी प्राप्ति होना अतिशय कठिन है. परंतु देवयोगसे ऐसे संयमकी प्राप्ति होनेपर भी मूलमें मनुष्य शून्यसहित मरण प्राप्त कर संयमको नष्ट करता है. मायाशक्त्य, मिथ्यात्वशून्य और निदानशून्य ऐसे शून्यके तीन भेद हैं. तथापि यहाँ प्रकरणमत्त मायाशून्यका ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् मूलजन मायाशून्यसे संयमका नाश कर मरण करते हैं. ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना चाहिये. शंका—भयाके द्वितीय चरणमें समानताका उल्लेख किया है परंतु तीसरे चरणमें उसका ग्रहण न कर 'संयम' शब्दका ग्रहण किया है अतः प्रस्तुत समानताका त्याग कर अन्यका ग्रहण करना योग्य नहीं है.

उत्तर—इसका अभिप्राय यह है कि श्रमण शब्दका अर्थ युनि है मुनि इस अर्थमें श्रमण शब्दकी मधुति होनेमें श्रमण्य शब्द अर्थात् समानता शब्द कारण है. समानता अर्थात् श्रमण्य और संयम दोनों शब्द एकार्थ वाचक हैं इसीवास्ते संयमशब्दकामी प्रयोग करना अनुचित नहीं है. 'सावधानक्रियापरो नायं श्रमणः' अर्थात् पापक्रिया करनेवाला मुनि नहीं कहा जाता है ऐसा लोक बोलते हैं. इसलिये आत्मामें भावशून्य रहना अर्थात् कष्टविचार रहना अयोग्य ही है.

जह षाम दन्वसल्ले अणुदुदे वेवणुद्विवो होदि ॥

तह भिक्खू वि ससल्लो तिव्वदुहट्ठो भयोव्विग्गो ॥ ४६४ ॥

द्रव्यशून्ये यथा दुःखं सर्वांगीणव्यथोदयः ॥

भावशून्ये तथा जन्तोर्विज्ञातव्यमनुदुते ॥ ४७७ ॥

विजयोदया—अह षाम भया नाम । दन्वसल्ले शरलंष्टकादौ अणुदुदे अणुदुदे अनिराहते । वेदणुद्विवो होदि वेदमातौ भवति । तह तथा भिक्खु वि सिधुत्तपि । ससल्लो भावशून्यवान् । तिव्वदुहट्ठो वेदणुदुहट्ठो भवति । भयोव्विग्गो तेन बलं भवति । एवमणुदुत्तव्यो गतिव्याप्ति का गतिमिति भयमस्तोषजावते । एवमर्थं दष्टव्येनाविदो भवति ।

मूलारा—नाम स्फुटम् । इन्वसहे शरीरकंदकादौ । अणुदुहे अणुदुवे । वेदणुदुहो दुःस्वार्चः । ससहो माया-
बाहुल्यवान् । भवन्निग्नो एवमनुदूतशक्त्यो गमिष्यमि कां गमिमिति मयाकुलितचिचः ॥

यह भावशून्य दोषोंको उत्पन्न करता है. इसको ही दृष्टान्तसे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे द्रव्यशून्य-वाण, काँटा वगैरह अरीमें घुसने पर मनुष्य दुःखी होता है वैसे भिक्षु भी यदि
मनमें कपट मिथ्यात्व वगैरह भावशून्य धारण करेगा तो वह तीव्र दुःखसे पीडित होगा, और भयसे बंचल होगा.
यदि मैं शून्यका त्याग नहीं करूँगा तो कौनसी गति मेरेको प्राप्त होगी ऐसा विचार मनमें आकर इस भिक्षुको भय
उत्पन्न होता है.

कंदकसंक्षेपेण जहा वेधाणी चम्मसीलणाली य ॥

रप्पइयजालगत्तागदो य पावो सडवि पच्छ ॥ ४६५ ॥

कंदकेऽनुदुते प्राप्तो यथा त्वक्षीलनालिकां ॥

प्रतिवल्मीकरन्ध्राणि प्राप्याग्निं सदति स्फुटम् ॥ ४७८ ॥

विजयोवया—कंदकसंक्षेपेण जहा कंदकाख्येन शून्येन कारणभूतेन यथा । वेधाणी चम्मसीलनाली य इयधन-
बन्मकीलनालिकास्तव भवन्ति । रप्पइयजालगत्तागदो य कुपितवल्मीकाच्छिद्राणि प्राप्तः स पावः पतति पदचापया ॥
एतेदेव दृष्टान्तसंक्षेपेण समर्थयितुं माभाद्वयेनाह—

मूलारा—वेधाणी व्यधापनी सुपरिमित्यर्थः । वग्मकील मांसीकुप । णाली तादी । एतास्तिष्ठः प्रथमं पावे
भवन्ति । रप्पइयजालगत्तागदो क्षुधितवल्मीकाच्छिद्राणि प्राप्तः ॥

दृष्टान्तसे उपर्युक्त अभिप्रायका स्पष्टीकरण करते हैं.

अर्थ—जैसे काँटा पावमें घुसनेसे प्रथम छिद्र पडता है अनंतर उसमें अंकुरके समान मांस बढ़ता है
तदनंतर वह काँटा नाडीतक घुसनेसे पांवका मांस विघटने लगता है. जिससे उसमें बहुत छिद्र पडते हैं. इस प्रकार
से वह पांव निरुपयोगी होता है.

एवं तु भावसङ्गं लज्जागारवभण्डं पडिवद्धं ॥

अप्यं पि अणुद्वारियं वदसीलुगुणे वि णासेद्ध ॥ ४६६ ॥

विविधं दोषमापन्नः संयमोऽनुद्धते तथा ॥

भयगौरवलज्जाभिः भावशाल्ये विनश्यति ॥ ४७९ ॥

विजयोदया—एवं तु एवमेव । भावसङ्गं परिणामशाल्यं । लज्जागारवभण्डं पडिवद्धं स्वापराधनिगूढनं लज्जातो भवति । भयेन अपराधोऽकथिते कुप्यन्ति गुत्यस्त्यजति या मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति । सुतपाः तपस्वयं सुसंयत इति महती प्रसिद्धिः सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिपदमायाशाल्यं । अन्ये पि अल्पमपि शाल्यं अणुद्वारियं अनुद्धते । वदसीलुगुणे यतामि शीलानि गुणाश्च विनाशयति ॥

सूत्रा—पडिवद्धं अत्यंतगर्हितं तन्मयाकृतं कथं प्रकाश्यते इति लज्जया प्रच्छादितं सद्य, अथं तपस्वी सुसंयत इति या, मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति इति भयेन वा प्रच्छादितं । अल्पमपि अल्पमपि ॥

अर्थ—इसी प्रकार भावशाल्य भी जीवको दुःखदायक है. भय, गर्व और लज्जासे जब अपराध छिपाते हैं तब भावशाल्य जलन होता है. जैसे लज्जासे अपराध छिपाते हैं वैसे भयसे भी अपराध छिपाते हैं. अपराध फटने पर गुरु मेरा त्याग करोगे अथवा बड़ा प्रायश्चित्त दोगे ऐसे भयसे अपराधोंका कथन करनेमें क्षपक अनारुनी करता है. मैं पदा तपस्वी हूँ ऐसी मेरी जगत्में कीर्ति है वह अपराध कथनसे नष्ट होगी ऐसे गर्वजुक्त विचारसे अपराध निवेदन नहीं करता है. इस प्रकारसे मायाशाल्य मनमें उत्पन्न होकर वह व्रत, शील, और गुणोंका नाश करता है.

तो भट्टबोधिलाभो अणंतकालं भवणाए भीमे ॥

जम्भणमरणावत्ते जोणिसहसाउलो भमदि ॥ ४६७ ॥

प्रअट्टवोधिलाभोऽतथिरकालं भवणार्णवे ॥

जन्ममृत्युजरावर्ते जीवो ब्रसति भीरणे ॥ ४८० ॥

वित्तयोदया—तो पञ्चम । भट्टोदितानो विनष्टदीक्षाभिमुखद्विलामः । अणंतकालं भगवद अणंतकालं भ्रमति ।
क भयणते भयणते । भीने भयं हरे । उम्भमरणवसे जन्ममरणवर्ते । जोणिसहस्साले चतुष्पतियोनिसहस्साले ॥

ततः किं ह्यादित्याह—

मूढारा—भट्टोदितानो नष्टदीक्षाभिमुखद्विलामः । अणंतकालं अर्द्धपुद्गलपरिवर्तमानं ॥

अर्थ—इस भावशून्यसे दीक्षाभिमुख दुद्विका लाम नहीं होता है. अर्थात् मैंने मुनिदीक्षा व्यर्थ ही है
ऐसा विचार धुपकने मतमें आता है. भावशून्यसे यह जीव अणंतकालतक अर्थात् अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक
चोरामी लक्ष्योन्मुख, इस भयंकर भयसमुद्रमें भ्रमण करता है. जिसमें जन्म मरणरूपी मोहरें हैं.

तत्तथ य कालमणंतं घोरमहावेवणासु जोणीसु ॥

पचंतो पचंतो दुक्खसहस्साह पप्पेदि ॥४६८॥

सर्विद्वययासु योनीषु पच्यमानः स संततं ॥

तत्र दुःखसहस्राणि दीनो वेदयते चिरम् ॥ ४६९ ॥

वित्तजोदया—तत्तथ य तत्र च भयं हरे । अणंतकालं दुक्खसहस्साह पप्पेदि इति पक्वटना । अणंतकालं दुःख-
सहस्राणि अनुभवति । घोरमहावेवणासु जोणीसु पचंतो घोरमहावेवणासु योनिषु पच्यमानः ॥

भये भ्रान्त्यर्क करोतीत्याह—

मूढारा—पचंतो पचंतो पुनः पुनरतिग्लान्यमानः ॥

अर्थ—इस घोर संसारसमुद्रमें अणंत कालतक जिनमें भयंकर वेदनाएँ हैं ऐसी सुयोनिओंमें पचते
हुए इस धुपकको सहस्रो दुःख योगने पढते हैं.

तं न खु खमं पमादा मुहुत्तमवि अस्थिदुं ससहेण ॥

आयरियापामुले उद्धरिद्वयं हवदि सहं ॥ ४७० ॥

मुहूर्तमप्यतः स्थातुं सशाल्येन न शक्यते ॥

आचार्यपादयोर्मूले तदुद्धर्तव्यमंजसा ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—त तस्मात् । मुहुत्तमपि अल्पिदुं ससेह्य ॥ यमो खु मुहूर्तमानमपि शासितुं शल्यसहितेन रत्नमयेण सह न शक्तः प्रमादयदापतिः संसारमीकः । आधत्विपादमूले उक्तमुणस्याचार्यस्य पादमूले । उद्धरिवध्यं ह्ययं सत्तं शल्यमुद्यतं भवति ।

महानुपसंहारार्ह—

मूलारा—ण रामं न युक्तं । यमादा प्रमादवशात् ॥

अर्थ—इसलिये क्षपफलो प्रमादसे एक मुहूर्त कालतक भी शल्यसहित रत्नत्रय धारण करना योग्य नहीं है, अतः संसारभरते युक्त धनक आयोपायदर्शक आचार्यके पास भावशल्य का उद्धार करे.

तमहा जिणवयणरुई जाइजराभरणदुक्खवित्तत्था ॥

अज्जवमहणसंपण्णा भयलज्जाउ मोल्लूण ॥ ४७० ॥

जिनेन्द्रवचनश्रद्धा जराभरणमीरवः ॥

निराकृतभयव्रीडाः संपन्नार्जवमार्दव्याः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—तस्मात् । जिणवयणरुई शिनागमे श्रद्धावतः । जाइजराभरणदुक्खवित्तत्था अतिजराभरणदुःखविपत्त्या । भज्जवमहणसंपण्णा आर्जितेन मार्द्वेन युक्ताः । भयलज्जागो भयं लज्जां वा । मोल्लूण मुक्त्वा ॥

स्थितार्थनाह—

मूलारा—वित्तत्था निजसाः । अज्जवमहणसंपण्णा आर्जितेन मार्द्वेन च युक्ता निर्जितमायामाना इत्यर्थः ॥

अर्थ—इसवास्ते निनेधरके आगममें श्रद्धा रखनेवाले जन्म, बुद्धाणा, धरण के दुःस्वोसे भययुक्त, निष्कप-टवा, विनय इन गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे क्षपकको भय और लज्जा छोड़कर अपराधकथन करना योग्य है.

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवलयाए ॥

संवेगज्जणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥ ४७१ ॥

पुनर्भवलतायाः । किं तन्मूलं ? शल्यं । संवेगजनियकरणा संसारमीश्वोत्पादितद्विधाः । तदंति तदंति । भवसागरम-
पानं भवसागरमनंतं ॥

मूढारा—मूलं शल्यं । कलं किया समाधिमरणमिति यावत् ॥

अर्थ—संसाररूपी वेलीका मानो मूल ऐसा माबबल्य धीर क्षपक समूल उखाडकर फेक देते हैं, और
संसारका भय मनमें धारण कर चारित्राचरणका अंगीकार करते हुए इस भयंकर संसारसमुद्रसे पार होते हैं,

उत्पत्यस्तूपसंस्कारार्थं माया—

इय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए वंसेइ ॥

ण गियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे ण परिणमइ ॥ ४७२ ॥

तपःप्रसूचने दोषं दोषाणां सूचने गुणं ॥

एवं दर्शयते स्वरिगयापायप्रदर्शकः ॥ ४८५ ॥

तवार्त्तं क्षपको नूनं हेयावेयविमूढधीः ॥

निवर्तते न दोषेभ्यो न गुणेषु भवर्तते ॥ ४८६ ॥

पिजयोदया—इय वदं । अदि गुरू ण वंसेदि यत्ति गुरूनं वंसेयेत् क्षपकस्य । किं आलोयणाए गुणे स्वापराधक-
धनस्य गुणान् । दोसे य दोषांदस्य यदि न दर्शयेत् । अलोयणाए इति यास्यशेषः । सो खवगो ण गियत्तइ । असी क्ष-
पको न निवर्तते । कुता ? तत्तो पूर्वोक्तदोषान्मायाशल्यात् । गुणे य ण परिणमदि गुणे च निःशल्यात्येन परिणमते ॥
उत्पत्यन्याकरणे दोषमाह—

मूढारा—दोसे दोषान् । सामर्थ्याद्विनाशोचनायाः । तत्तो मायाशल्यालक्षणादोषात् । गुणे निःशल्यात्वे ॥

उपयुक्तं विषयका उपसंहारं करोते है—

अर्थ—अपने अपराध कहनेसे रत्नत्रयविशुद्धि नामक गुण प्राप्त होता है और न करनेसे संसारभ्रमण

करना पड़ता है अर्थात्
मायाशक्त्यका त्याग न

संसारभ्रमण नामका महादोष उत्पन्न होता है ऐसा यदि आचार्य न दिखावे तो क्षुपक
करेगा और निःशुल्य होकर गुणोंमें उल्ला न होगा.

तस्मा स्वप्णाओपायविदंसिस्त पायमूलमि ॥

अप्या गिन्विसिद्वव्वो धुवा हु आराहणा तत्य ॥ ४७३ ॥

आयापायविशस्तु समीपे स्थेयं बुद्धिमत्ता क्षपकेण ॥

तन्नाराधयते चतुरंगं नूनं विप्रमशोपमपास्य ॥ ४८७ ॥

इति आयापायविद्वक् ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् आयोपायदर्शिनः पादमूले परमादोषाधिक्येति क्षुपको गुणे च परिणमते तदुभ
यार्थौ च । तस्मा तस्मात् तयगेन आयोपायविदंसिस्त शुभयोपदर्शनः । पादमूले । अप्या गिन्विसिद्वव्वो भात्मा ; स्वापयि-
तस्यः । तत्र गुणमात्रे धुवा तु व्यापारणा तत्त निश्चिता रत्नत्रयारधना तत्त । आयोपायः ॥

आयापायविदंसिस्तेरतस्तसमर्थेणैष्यदर्थमाविनीमारचनानभिपत्ते —

मूढारा—गिन्विसिद्वव्वो स्वापयितव्यः । धुवा निश्चिता ॥ आयोपायविदर्शी ।

अर्थ—इस लिये आयोपायदर्शक आचार्य के चरणोंके समीप क्षुपकको रहना चाहिये वहां रहनेसे ही
रत्ननपाराधना क्षुपकको प्राप्त होती है. गुणोंकी प्राप्ति और दोषोंका नाश चाहनेवाले क्षुपकको अवश्य आचार्य का
आश्रय करना चाहिये.

अप्यर्पद्वक्तव्यं व्याख्यातुं नाम संवक्तव्यं पूर्वेण उपायदर्शित्वेन ।—

आलोचणगुणदोसे कोई समं पि पणविज्जंतो ॥

तिब्बोहिं गारवादिहिं समं णालोचए स्ववए ॥ ४७४ ॥

कट्थयनाकथने दोषे दोषाणां कथने गुणे ॥

वक्कात्मा कट्थयमानेऽपि नालोचयति तत्त्ववित् ॥ ४८८ ॥

विजयोदया—आलोचनगुणदोषेस आलोचनाया गुणदोषान् । कोर्ह कश्चित् । सम्मपि पणचिज्जंतो सम्य गव-
 चोच्यमानोऽपि । एवमेव आलोचय सम्म क्षपकः सत्यम् न कथयेत् । केन हेतुना । विज्येहि गारवादिहि सीमैगारवादिभिः ।
 भादिचायेन लज्जामयक्रेशासहस्यं च युद्धते

द्रादशभिर्गार्वाभिरुपीहकत्वं प्रपंचविष्यन्नायोपायवित्त्वेनास्य संबंधगमिष्ये—
 मूलरा—विपणविज्जंतो प्रज्ञाप्यमानोऽपि बोध्यमानोऽपि इत्यर्थः । गारवादिहि गारलज्जामयक्रेशासहस्यैः ॥

अवपीडकस्य यह भी आचार्य का गुण है, इस गुणका आयोपायदर्शित्व गुणके साथ संबंध दिखते हैं—
 अर्थ—आलोचना करनेसे गुण और न करनेसे दोषोंकी प्राप्ति होती है यह बात अच्छी तरहसे समझाने
 पर भी कोई क्षपक तीव्र अभिमान, लज्जा, भय, क्लेश सहन करनेकी इच्छा न होना इत्यादि कारणोंसे अपने
 दोष कहनेमें उद्युक्त नहीं होता है, ॥ ११॥ निर्यापक आचार्य मधुरभाषण करके उसके लज्जादि विकार नष्ट करते हैं,

एवमनालोचयतोऽपि भाषः प्रकांति नेतव्यो निर्वापकेनैवेत्तदवाचये—
 निहं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥
 तो पल्हावेदव्यो खवओ सो पणवंतेण ॥ ४७५ ॥
 एकान्ते मधुरं खिगयं गंभीरं हवयंगमम् ॥
 स वाक्यः सुरिणा वाक्यं प्रांजलीकुर्वता मनः ॥ ४८९ ॥

विजयोदया—निहं स्नेहयत् । मधुरं श्रुतिस्त्रुं । हिदयंगमं हृदयसुखेयि । पल्हादणिज्जं सुखदं । एगंते एकांते ।
 पल्हावेदव्यो शिक्षयितव्यः । एवमेव क्षपकः । सो सः । आत्मापराधं यो न कथयति । पणवंतेण प्रज्ञापयता सुरिणा ।
 आयुष्मन् । उपलब्धसन्मार्गस्मरत्तत्रयनितित्चारकत्वे समाहितचित्त ! अतिचारं निवेदय लज्जां, भयं, गारवं च विहाय ॥
 मधुरज्जंतो हि माना पिभा च सदृशः, तेषां कथनं काल्पजेति । स्वदोषमपि न प्रख्यापयति परेण । अतिचर्मस्य वा अयंग-
 यार्द्र प्रयत्नेन गितानादितुमुत्पातः । किमप्यशः प्रथयति स्वमीचीनदंशनस्य । मुक्तिमार्गे प्रधानस्य मंडं हि तद्वर्जितने
 दूषणं । अतिचारदिमान्पा दूते च स्तत्रयत्तमलवनं न शोभते । परमिदा नौवेगोऽस्यास्त्वयः । स्वयं च निषते यद्गु जन्म-
 तु निदकः । परस्य मनःसत्तापं दुस्सहं संपादयतो अववेद्यक्रमेणः स्यात् । साधुजनोऽपि निंदति स्वधर्मतनयं
 किमर्थमयं एवं अयशःपंकेन लिखतीति । एवमेव नानायोगहृत्पद्मद्वयं कसं सवेतनः करोतीति ॥

पयसनालोचयतोप्यस्य आशः प्रशान्तिं नेतव्य इत्येतद्वचने—

मूढारा—पिबं स्नेहयुक्तं ममत्वग्रभर्मित्वयः । मधुरं शुचिमुखं सम्मानयेन्नलभित्वयः । हृदयंगमं हृदयानुप्रेक्षि । पत्न्यादग्नौ मुखं । तो पश्चात् । पत्न्येवैवञ्चो मावो से । संवोधनावष्टेन तस्य भावो मनः प्रह्लादयितव्यः प्रसन्ति नेतव्यो निर्वाणकाचार्येण । किंयाधियुगं वाक्यं पण्यवर्तेण प्रज्ञापयता प्रतिपादयेति संबंधः । तथा हि—आयुष्मन् ! उपलब्धसन्मार्गं रत्नत्रयैर्नैर्गल्यकरैर्नैकैर्नैकैः करैः । इच्छां मयं गौरवं च विहाय यथाज्ञातमसिचारं निवेदय । मातापितृकल्पस्य हि गुरुजनस्याग्रे स्वापराधं कथयतां का लज्जा ? न च लज्जाप्यैकैतिकी आस्यते । तथा च लोकः—

घनधान्यप्रयोगेषु विपासंभरणेषु च ॥

आहारे न्यवहारे च स्वच्छलज्जाः सदा भवेत् ॥ इति ॥

न च महालोचिते दोषमेते प्रकाशयित्वंतीति भवता अस्माज्जानां भेतव्यं । धर्मचार्यो हि धर्मधुराधारेया पथीनां दविधर्मस्य च पाच्यतां निराकृतुमुद्यताः कथमित्थं समाख्यं उपाश्रितेन अवाटसा निवेदितं दोषं स्वत्ववोपनिव प्रकटयन्ति । सधर्मदोषप्रकटनं हि मोक्षमार्गप्रधानस्य सम्प्रदर्शनस्य दूषणं परार्थदया च नौचैर्गोत्रं कर्म वध्यते । बहुषु जन्मसु निराश्रय भवति, वृत्ताति च निरुक्तः परस्य दुःसहमन संतापसंपादेन दुर्विपाकमसंश्लेषः । निवृत्ते च साधुलनेन स्वधर्मनाणिक्यं किमयमेवमप्यशुरीयेण छिद्यतीति । तदेवमनेकानर्धमूलं परदोषोद्घातनं कः सुधीर्विदधीव । न च धर्माचार्यवर्धन्यतया त्वया वैद्यप्रभावाद्वा यः कश्चित्सम्यग्भावादीनामन्यतमेतिचारः मातुरभूत्स प्रच्छादयितुं श्रूयान्, रत्नत्रयं हि निर्मलीकृतमेव परं महिमाननावहति प्रापयति च तस्मिन्मपि लोकोत्तरं सनातनं पदमिति ॥

यही अभिप्राय आगेकी भाषा में है.

अर्थ—यदि धूपक अपने अपराध नहीं कहे तो नियोगिकाचार्य धूपकको स्नेहयुक्त, कर्णमधुर, हृदयंगम प्रवेश करनेवाला, ऐसा भाषण एकांतमें कहते हैं. उसकी पद्धति इस मुक्तच समझना—हे आयुष्मन् प्राप्त हुए रत्नत्रयमें दोष नहीं लगेंगे ऐसा तुम प्रयत्न करनेमें सदा एकप्रध चिच रहते हो इसलिये भय, लज्जा, और गर्व छोड़कर अपने दोष कहे. गुरुजन जो माता पिताके समान हैं उनके समक्ष अपने दोष कहनेमें लज्जा नहीं करनी चाहिये. वे गुरुजन तुम्हारे दोष स्वदोषके समान ही समझकर दूसरेको नहीं कहते हैं, वे तो यतिधर्ममें कोइ दोष लगानेवा तो दूर करनेके लिये हमेशा उद्युक्त रहते हैं. अतः वे तुम्हारी अक्षीति होनेकी इच्छा क्या मनमें

धारण करेंगे? यतिजनमें दोष लगानेसे सम्यग्दर्शन जो कि मोक्षमार्गमें प्रधान माना जाता है उसमें दोष उत्पन्न होता है. अतिचारूपी चर्फ के आघात से स्तनत्रय रूपी कमलजन मुखने उभता है. परनिदा करनेसे नीचगोत्र कर्मका आसन्न होता है. तब निंदक जन अनेक जन्ममें लोगोंसे निंदित होते हैं. दुसरेके अंतःकरण को जो संताप उत्पन्न करते हैं उनकी असातावेदनीय कर्मका वंश होता है. तुम अपने धर्मको पुत्रके समान समझो और उसको अयश्ररूपी फीचटये मलिन न करो. ऐसा करनेसे तुम्हारी निंदा होगी. अनेक अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले परदोषोंको कोन विद्वान् प्रकट करेगा. अर्थात् तुम अपने दोष हमारे सामने निःशंक होकर बोलो. हम तुम्हारे दोष किसीके सामने प्रकट नहीं करेंगे.

णिबं मधुरं हृदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥

कोइ तु पणविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ॥ ४७६ ॥

कथायामकथायां च दोषाणां गुणदोषयोः ॥

कथायामपि नो फब्बिदालोचयति वक्रचीः ॥ ४९० ॥

विजयोक्ता - एवं प्रहायनायां सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरस्यार्थः । एवं च प्रहाय्यमानोऽपि कश्चित्पक्षः स्वोपे सन्पन्नालोचयति

रापमिदमाह - विविक्त्वात्पुरुषप्रभृतीनामित्युत्तरस्युक्त्या-

विबं मधुरं हृदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।

कोइ तु पणवेज्जंतो वि य णालोचए सम्मं ॥

मूलात्ता - स्पष्टम् ।

अर्थ - श्लिग्ध, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला ऐसा माषण बोलनेपर मी कंई क्षणक अपने दोषोंकी आलोचना करता नहीं. तब--

तो उपर्णलेदन्वा खवयस्सोप्पीलयण दोसा से ॥

वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥ ४७७ ॥

दोषमुद्रात्ययेत तत्स्यमुत्पन्निञ्जोत्पीडनो यतिः ॥
मांसं फंटीरयेणेव धृगालः कुर्वता भयम् ॥ १९१ ॥

विजयेत्याह—तो पञ्चात् । उष्णीहृदया अवपीडयितव्याः । के ? दोसा दोषाः । कस्य ? से तस्य । शतगस्य रूपकम् । केन उष्णीहृदया अवपीडयेत् सूरिणा । अपसरसस्तस्काशात् । किमस्माभिर्मवतः प्रयोजनं ? । यो हि स्वशरीर-
मग्रमल्पशतानेनगुः स द्वीकेने काचच्छायातुसारिसलिलं सरः । यो वा महारोगोरमग्रस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स
येयं दोक्ते । एव रसनप्रयातिचारशिखरकृतुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजनः । भवतश्च रत्नप्रयशुद्धिकरणे नैवादरः
किमनया शपकत्वविडम्बना । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्रावचसहेतुत्वेन । अयि तु कृपायसहेजनायसा संघरो
निजंरा च, कृपाया ह्यभिभवकर्मदाने, वन्दे, स्थितिवियाने चोद्यता पटिदरणीयाः । तेषु कृपायेषु मायातिमिच्छा तिर्द-
योनितिरुत्तनर्थाणा । मां त्यस्तुमसमर्थस्यापि ग्रथिएस भवतः संसारोदयेस्तिर्यग्भवावर्त । ततो निःसरणमतिदुष्करं ।
यजमानपरित्योगेनैव निर्ममताभिमानोद्वहन्मन्यसत्वं, सत्येवं तिर्यचोऽपि निर्ग्रथाः स्युः । चतुर्दशानकारस्याभ्यन्तर-
चरित्पदस्य त्यागाट्टानैर्ग्रथं समवतिष्ठते । तत्वेयं हि मुक्तेरुपायः । भावनैर्ग्रथस्य उपाय इति दशविधवाह्यग्रथत्याग
उपयोगी मुमुक्षोः । न हि जीवजुलद्रव्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मग्रन्थः । अयि तु शक्तिमिच्छजीवपरिणामालम्बनः । अति-
नारत्येति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपायः । 'सम्यग्दर्शनसप्तानचारिणाणि मोक्षमार्गः' इति किञ्च भवतः श्रुतिगोचरमायातं जैनं दृक् ?
समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारिणानां निरतिचारात्ता । सा च गुरुरूपदिष्टमायश्चिन्ताधरणे । गुरुवोऽपि कृतालोचनायैव
प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवागुरुप्रथमः अभव्यो वा । आसन्नप्रत्ययैवे सति किमेवं महामायाशब्दं भवति ? । नैव
यतिजनयं दमाहोऽसि । 'समर्गं वदेज्ज भेषावी संजदं सुसमाहिदं' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लान्दानयोर्निर्वा-
प्रशंसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । आविचारनियेदेने मां निवृत्तिं न प्रशंसंतीति भयता बालोदयेते । तत्कथं
समानोऽसि ? कथं वा वंद्यः ?

सौहो जहा सियालं उदरमयि गदं पि मंश वामेदि सिंहो यथा धृगालमुदरमविष्टमयि मांसमुद्रात्ययति तद्व-
न्यायाशास्त्रमन्तर्लीनं तिस्सारत्ययवपीडकः ॥

सामप्रयोगेण सम्यग्मालोचयति च क्षपके ईडनेदौ प्रयोक्तव्यावित्युपदेष्टुं सट्टान्तमाचष्टे—

मूलरा—तो सामप्रयोगानंतरं । उष्णीहेद्वन्वा उत्पीडयितव्याः । उद्गारणीया अंतर्निगूढास्तन्युत्थेन निःसार-
णीया इत्यर्थः । तथा हि अहो स्वापरापास्तुदवादिन् अपसरारमत्सकाशात् । मियमिरिव निब्योधेः किमस्माभिर्भवतः
प्रयोजनं । रत्नप्रयातिचारानिराकर्तुमिच्छता हि गुरुवः समाश्रयणीयाः । भवतश्च रत्नप्रयशुद्धिकरणे नास्त्यवादरः । तत्कि-
मनया शपकत्वविडम्बनया ? न हि चतुर्विधपशुशरीरपरित्यागमात्रायासा सहेतनेयमपि तु कृपायसहेजनायसा । तद्वत्संवरो

निर्जरा न । कदापि प्रमित्तकमार्दवे तत्स्यतिविधाने च समुत्पत्ता समुक्षुभिरपेक्ष्याः । तेषु च माया निवृत्ता तिर्य-
ग्योनिपरिवर्तनरूपं न्यायम् । माया न स्वकृतसम्भोगोऽस्ति त्वं । प्रविष्टस्य च तिर्यग्भावत्वं संसारवारणारम्भवत्वे निःसारण
मतिदुस्तरं । परमात्मनोऽपि निर्गुणताविमानोद्बलं च न न्याय्यं । एवं सति हि तिर्यचोऽपि निर्गुणाः स्युः । चतु-
र्दशाव्यान्तरप्रसंगेऽपि निर्गुणता विधानं हि भवत्येवमन्यासवि धर्मतीर्थप्रणेतारस्तदेव च मुक्तेः सत्य उपायः । दक्षिणपथात्म्य-
त्यागस्तु भावनेनैव सिद्धमस्ति उच्यते । न राहु जीवपुद्बलद्रव्यमात्रस्य सत्तिमात्रः कर्मबंधः । किं तर्हि
न त्रिभिन्नकृत्तारिणामकारणकः । न च त्रिचरत्नं सम्भवत्यस्तीति मुक्तेरुपायः । सम्भवदर्शनस्तत्राचारिणाणि मोक्षमार्ग
इति जैनं वदतः किं न भवतः धुतिगोचरतामवातरत् । तत्र यः समीचीनतां दर्शयतीति मुक्तेरुपायः । ततो भवान्पूरुषोऽभवत् एव
गुणपरिपुमायश्चित्ताचरणेनैव भवत्या । मुख्यतः कृतालोचनस्यैव प्रावृत्तिर्न प्रवृत्तुर्न । ततो भवान्पूरुषोऽभवत् एव
वा, कथमन्यथैव महामायासत्त्वं अन्तर्भवति । कथं वैदं यमिजनन्दनमर्हसि । 'सकलं बंदिग्न मेघाणी संजवं सुसमाहिदं'
इति वचनात् । अद्वितमरणयोर्लभात्वाभयोर्निदाप्रसंयोध्य समानचित्तत्वा समानोऽस्तु मय्येव । अतीशारालोचने मां
निंदति न प्रसंवंतीति भवता नातोऽप्येव वक्तुं समानोऽस्ति, कथं वा पंचः ? किं यः महोर्व न अद्विपक्षोके जानाति किं
तद्वैदिको जानातीति मां मंत्वाः । यतोऽत्र यदा यो देवो मूलोत्तरगुणपरिपुमायः भवता कृतस्तद्वदं जानाम्यन्येऽपि यत-
यत्पेति । वागदोस्त्यादि । निन्दो भवा धृमालभुदरादिष्टमपि मांसमुद्रालयत्वेनं मायासत्त्वं क्षपकस्यान्वर्त्तनं निःसारयत्यु-
त्पीडक इति सात्पर्यं ।

अर्थः--अरपीदगुणधारक आचार्य धपकके दोषोंको जवरी से बाहर निकालते हैं, जैसे सिंह सिया-
रुके पेड़में भी चला गया मांस चमन कराता है तैसे तेजस्वी अवपीडक गुणके धारक आचार्य धपकके दोष सब
बाहर निकालते हैं, ये उगको इस तरह भाषण करने हैं--हे मुने ! तुम हमारे पास मत रहो यहाँसे हट जाओ, हमसे
क्या तुम्हारा प्रयोजन है ? जिसको अपने शरीरका मल घों डालनेकी इच्छा है वह पुरुष कांचके समान सुंदर स्वच्छ
पानी जिसमें है वैसे गरोरमें जाता है, जो पुरुष महारोग में पीडित है वह उसका नाश करनेकेलिय वैद्यको शरण
जाता है, वैसे जिसको अपने रतनत्रयमें लगे हुए दोष दूर करनेकी इच्छा है वह पुरुष गुरुओंका आश्रय करता है,
परन्तु तुमको तो रतनत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा है ही नहीं अतः यह धपकका धेप व्यर्थ क्यों धारण किया है,
चार मझारके आधारका त्याग करने मात्रसे सहेखना नहीं होती है, परन्तु कपायोंका त्याग करनेसे सहेखना

होती है, इस सङ्केतनासे ही संवर निर्जसा होते हैं, कषायसे नवीन कर्मोंका ग्रहण होता है, बंध होता है, और स्थिति होती है, अतः इनको आत्मासे हटाना चाहिये, सब कषायोंमें माया बढी खराब है, यह प्राणिओंको तिर्थगो-नीकी प्राप्ति करा देती है, 'माया तैर्यग्योनस्य' ऐसा तत्त्वार्थशास्त्र में उल्लेख है, यदि तुम इस मायाका त्याग न करेंगे तो इस भवसमुद्रमें तिर्थगमतिके मोचनेमें पडकर खूब अमण करोगे, फिर वहांसे छूटना बड़ा ही कठिन हो जायगा, केवल नक्षमात्रका त्याग करनेसे तुम अपनेको निर्व्रथ मुनि समझ रहे हो परंतु याद रखो कि केवल यज्ञके त्यागसे निर्व्रथता ही प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि पशु भी निर्व्रथ अर्थात् नष्ट रहते हैं, उनको भी निर्व्रथ मानना पड़ेगा, मिथ्यात्व, क्रोधादिक चार कषाय, और हास्य, रति, अरति, शोक भय, उगुप्सा, लोभेद, पुरुष-वेद, नष्टकरवेद, ऐसे चौदा अम्यंतर परिग्रहोंका त्याग करनेसे भावनिर्व्रथताकी प्राप्ति होती है, यही मोक्षलाभके लिये उपाय है, अम्यंतर परिग्रहका त्याग प्राप्त परिग्रहत्यागके लिये उपयोगी है,

केवल जीव और पुद्गलोंका साभिध्य होनेसे कर्मबंध नहीं होता है, परंतु कर्मबंधनके लिये योग्य जीवप-रिणामही उसके आधार हैं, अतिचारयुक्त सम्यग्दर्शनादिक जीवकी मोक्षकी प्राप्ति कर देनेमें समर्थ नहीं है, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारिवाणि मोक्षमार्गाः' अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णता होना मुक्तिप्राप्तिका उपाय है, क्या यह जितेधरका वचन तुमने नहीं सुना है ? ज्ञान दर्शन और चारित्रका उच्च पालन करनेसे ही निरतिचारपत्ता प्राप्त होता है, गुरुओंने कहे हुए प्रायश्चित्तका पालन करनेसे वह निरतिचारपत्ता प्राप्त होता है, गुरु भी जिन्होंने अपने दोषोंकी आलोचना की है उनकोही प्रायश्चित्त देते हैं, तुम तो दूर भय्य अथवा अभय्य हो ऐसा हम समझते हैं, यदि तुम आसक्तभय्य होते तो तुमारेमें यह चडा मायाश्रय क्यों रहता ? तुम मुनिजनकेलिये वंदनीय नहीं है, सम्यग् बंदेज्ज मेधावी संजद गुणमार्हित, अर्थात् जीवित और मरण, लाभ और अलाभ निंदा और प्रशंसामें जिसका मन समान रहता है वही समान कहा जाता है, अतिचारका निरूपण करने पर येरी निंदा करेंगे प्रशंसा न करेंगे ऐसा तुम मनमें विचार कर रहे हो इस लिये तुमको समान मानना व्यर्थ है, इस वास्ते तुम बंध नहीं है, ऐसा भाषण करके अचपी-डक आचार्य धूपके सब ब्रताद्यतिचार बाहर निकलवाते हैं, उसके हृदयमें जो मायाश्रय घेठा था उसको बाहर निकालवाते हैं,

उज्जस्सी तेजस्सी वञ्चस्सी पहिंदकिचियायरिओ ॥
सीहगुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पलिगो णाम ॥ ४७८ ॥
कंठीरव इचौजस्वी तेजस्वी भानुमानिव ॥
चक्रचर्नीच चर्चस्वी सुरिक्कपीडकोक्कचि ॥ ४७९ ॥

स बहिं कीहगुलीडको मचति इति प्रके सत्वाह—
मूढारा—ओजस्सी चलवान् । तेजस्सी प्रवापवान् यतः सर्वोऽपि विभेति परैः सैन्यवाधुन्य इत्यर्थः ।
वरुपरसी प्रभोत्तरदानकुल्लः । सीहणुमो सिंहसमानः अक्षोभ इत्यर्थः ॥

अषपीडक आचार्यका लक्षण आचार्य कहते हैं—

अर्थ—उत्पीलक गुणधारक आचार्य ओजस्वी, चलवान् और तेजस्वी प्रतापवान् होते हैं, अर्थात् उनसे स्वर्गपके झुनि और परसंघके भी-मयपुक्त होते हैं, अर्थात् सर्व भुनिओपर वे अपना रोच जमानेकोल होते हैं, स्वर्ग और परसंघके भुनि उनकी आत्मा नहीं उलंघते हैं, वे वचस्वी अर्थात् प्रशंसा उत्तर देनेमें कुशल होते हैं, उनकी कीर्ति चारो दिशाओंमें रहती है वे सिंह समान अक्षोभ्य रहते हैं, वे किसीको डरते नहीं हैं,

पिजयोदया—यो यद्वितकामस्त तं पलासच श्रवतयति । यया हिला मात्ता पालं घृतपति ।
इत्येतदुत्तरचूषेणाचष्टे—

पिछिंदूण रडंतं पि जहा थालस्स मुहं विदारिन्ता ॥
पम्जेइ घदं माया तस्सेव हिंदं विचिंतंती ॥ ४७९ ॥

ययावष्टम्य हस्ताभ्यां विदार्य वदनं घृतं ॥

पालं पाययते माता रटंतं हितकारिणी ॥ ४८३ ॥

पिजयोदया—पिछिंदूण मुहं विदारिन्ता घदं पम्जेइ यया जननी याल्बद्वितचितोघता पुरुषंन्वमपि घां ले
अवष्टम्य मुतं विदार्य घृतं पाययति । कष्टान्तिकेन योजयति ॥

यो यद्विदितमिच्छति ॥ तं यदादरति ॥ प्रवर्तयति यथा माता बालं घृतपात्रे इति समर्थयितुं गाथाद्वयमाह—
 मूलरा—पेष्टदूषण हस्ताभ्यामवष्टब्ध । रत्नं हि मूर्च्छन्मपि । पायेदि पाययति ॥
 जो लियका हित करना चाहता है वह उसको हियेके कार्यमें यलात्कारसे प्रवृत्त करता है, जैसे हित करनेवाली माता अपने नालरुको घृत पिलानेमें प्रवृत्त होती है—
 यह अभिप्राय आगेके सूत्रमें आचार्य कहते हैं—
 अर्थ—जैसे बालरुको हित करनेवाली माता नालरु रोता है तो भी उसको पकड़कर और उसका मुख पलात्कारसे उचाढ़कर उसको घृत पिलती है, उत्पीडक आचार्य भी वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं, यह बात आगेकी गाथामें आचार्य प्रमट करते हैं—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स सवयस्स दोसणीहरणं ॥
 कुणदि हिंदं से पच्छा होहिवि कहु ओसहं वत्ति ॥ ४८० ॥
 अक्खीट्ठ मधोत्तपीकी हितारोपपरायणः ॥
 अत्थुं क्षपकं त्तरिदोपं स्वाजयतेऽस्सिलम् ॥ ४९४ ॥

विजयोदया—मह तथा । आयरिओ आचार्योंऽपि । अणुज्जयस्स सवयस्स अजुओ क्षपकस्य । दोसणीहरणं कुणर मायादालयनित्तसे करोति । कहुओसहं वत्ति कहुकमीपधमिवा ॥ तस्य । पच्छाहिंदं होदि पच्छादितं भवतीति ॥
 तद्वान्तं प्रदर्श्य शार्ष्टविकेन योजयन्माह—

मूलरा—अणुज्जयमस अजुओः । दोसणीहरणं । मायासत्त्वभिरासे । कहुओसहं वत्ति कहुकमीपधमिवेति ॥
 अर्थ—आचार्य भी मायाचार धारण करनेवाले क्षपकको जवरदस्ती मे दीपोंकी आलोचना करनेमें वाध्य करते हैं तब वह दीप कहता है कहु औपधि जैसे रोगीमनुष्य का सेवन करनेके नंतर कल्याण करती है वैसे दीपोंकी आलोचना करनेसे क्षपकका कल्याण होना है, अर्थात् आलोचनासे भविष्यत्कालीन संसारपरिभ्रमणसे बह मुक्त होता है।

यो न निर्भर्त्सयति दोषं हृष्यपि प्रियमेव यदि स गुरुः शोभन इति न भवद्विर्मतव्यमित्युपदिशति—

विन्भाए वि लिहंतो ण भदओ जत्य सारणा णत्थि ॥

पाएण वि ताडितो स भदओ जत्य सारणा अत्थि ॥ ४८१ ॥

भद्रः सारण्या हीनो न लिहन्नापि जिह्वा ॥

ताडयन्नपि पादेन भद्रः सारण्या युतः ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—अत्रापि मि लिहंतो जिह्वा स्वादयन्नपि न भद्रो नैव भद्रकः । जत्य सारणा णत्थि । पस्मि-
गुरो दोषनिवारणा नास्ति । पाएण वि ताडितो पादेन ताडयन्नपि स भद्रो स सुर्मिर्भद्रकः । सारणा जत्य अत्थि सारणा
गुरो यम विचते ॥

दोषं दृष्ट्वापि त्वां न निर्भर्त्सयति अपि तु भियमेव प्रयोजति स गुरुः शोभन इति त्वया न भवन्त्य हस्तुपदिशति—
मूढारा—जिह्वन्तो स्वादयन् प्रियवचनाभिः सुख्यप्रतीत्यर्थः । सारणा दोषनिवारणा गुणप्रवर्तनं वा ।
जो शिष्योके दोष देखकर मी प्रिय ही बोलता है. निर्भर्त्सना करता नहीं है बर गुरु उत्तम है ऐसा है
मुने ! तुम मनमें मत समझो. ऐसा आचार्य उपदेष्टा करते हैं—

अर्थ—जो गुरु शिष्योको दोषोंसे निवारण नहीं करते हैं ये बिन्हासे गधुर माषण बोलें तो भी वे शिष्यों-
का अकल्याणही करनेवाले मानना चाहिये. जो गुरु शिष्योंसे शिष्योंका समाचार लेता है परंतु जो दोषोंसे शिष्योंको
अलिप्त रखता है पही गुरु हित करनेवाला समझना चाहिये.

सारणकस्य सूरेर्भद्रताप्रकटनाय गायो—

सुलहा लोए आदट्ठचित्तागा परहिदम्मि मुक्कधुरा ॥

आदहं व परहं चितंता दुल्लहा लोए ॥ ४८२ ॥

परकार्यपराचीनाः सुलमाः स्वार्थकारिणः ॥

आत्मार्थमिव कुर्वाणाः परार्थमपि दुर्लभाः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—सुलमा लोए आदट्ठचित्तागा सुलमाः प्रसुताः । लोए लोके । आदट्ठचित्तागा स्वकार्ये तत्पराः ।
परहिदम्मि मुक्कधुरा परहितकरणे अलसाः । आदहं व आत्मयोजनमिव । परहं चितंता परप्रयोजनविलासमुद्यताः ।
लोके दुर्लभाः ॥

सारकृत्यसूरिदुर्लभत्वस्मापनार्थमाह—

मृगार—दुर्लभाः प्रचुराः । आदद्भुचितया स्वकार्यचित्तनपपाः । मुक्कधुरा अलसाः आदद्भुव स्वकार्यभिल ॥
दोषोत्ते निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता प्रकट करते हैं—

अर्थ—इस जगतमें अपने काममें ही तत्पर रहनेवाले और परहित करनेके काममें अलसी ऐसे ही लोक बहुत हैं अपने हितके समान परहितकी चिन्ता करनेवाले लोक असंख्य बिरल हैं.

आदद्भुमेव चित्तदुमुहिदा जे परदुमबि लोगे ॥

कडुय फरुसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लाहा लोए ॥ ४८३ ॥

ये स्वार्थ कर्तुसुमुक्ताः परार्थमपि कुर्वन्ते ॥

कडुकैः परपैर्वाप्येस्ते तारां सन्ति दुर्लभाः ॥ ४८७ ॥

पिजयोदपा—आदद्भुमेव चित्तदुमुहिदा आत्मीयमेव प्रयोजनं चित्तपिजुसुरिधताः अये । परदुमबि परप्रयोजनमपि कडुकरुसेहिं कडुकैः परपैर्वाप्येस्ते । साधेति साधयमिष लोके । अतिदुल्लाहा अतीव दुर्लभाः ॥

अमार्गनिवारणाजामिदुर्लभत्वमाह—

गूढाए—अहिदा ठपुक्काः । कडुगणरुसेहिं कडुकपरुवैचर्चनैश्छिद्विषा दौपासिबर्बभित्तु प्रयुक्तैः । साधेति साधयन्ति निष्पादयन्ति वा ।

अर्थ—जो पुरुष आत्महित करनेके लिये कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कडु और कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगतमें अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये.

सूरिगंधे नायपीडयेत् नालो रूपको मायाबल्यान्प्रियेत् । निर्मायत्वे निरतिचारत्नवये च गुणे न प्रवर्तेत इति आचार्यसंपादमुपकारं प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहेमेव इदरे वा ॥

ण गियचइ सो तचो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥ ४८४ ॥

निर्वर्तनं न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तनम् ॥

विधत्ते क्षपकः सर्वदोषमत्याजितो यतः ॥ ४९८ ॥

विजयोक्ता—गणस्य लक्षणं सुष्ठुमेव य इदं वा दोषे न उग्रादेरक्षपकस्य सख्यमात्रं स्थूलायां दोषा-
न्यदि नोपपद्यति । यो राधो तस्यो न नित्यत्वात् स क्षपकस्तेभ्यः सख्येभ्यो या दोषेभ्यो न विधत्ते । नैव गुणे
परिणमते । निराश्रययोगे गुणे वाऽपरिणतो कथमाराधकः स्वादायधनार्थमायातोऽप्यसख्यपीडेकः ॥ उत्पीर्यसि गर्द ।
सुरेत्पीडकत्वाभावे क्षपकरथापकारमाह—

मूलारा—तस्यो स्थूलसूक्ष्मदोषेभ्यः । निर्व्यायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च ॥

अन्यार्थे यदि कठोर और बहुत शुद्ध दोषकर क्षपकको व्याधित नहीं करते तो वह मायाशुल्यसे परावृत्त
नहीं होगा। निरुपद्रवपना और निरतिचाररत्नत्रय पालन करना इन गुणोंमें उसकी प्रवृत्ति न होगी, परंतु क्षपकको
आचार्य दोषोंसे परावृत्त करते हैं; यह उनका महान् उपकार है। यही विषय आगेकी भाषामें प्रकट करते हैं—

अर्थ—यदि आचार्य क्षपकके सख्य अथवा स्थूल दोष उसके हृदयसे बाहर निकालनेका प्रयत्न नहीं
करते तो वह क्षपक गुणोंमें कभी प्रवृत्त नहीं होता। दोषोंका नाशकर यदि वह गुणमें प्रवृत्त न होगा तो वह
आराधक कैसा होगा ? इस वास्ते आचार्यमें अवपीडक गुण होना ही चाहिये, आचार्य इस गुणके धारक न हो तो
आराधनार्थ आया हुआ क्षपक आराधक न होगा।

तस्मा गणिना उत्पील्युण खद्ययस सन्वदो साहु ॥

ते उग्रादेन्द्र्या तरेसव हिदं तहा चैव ॥ ४९९ ॥

नित्योत्पीडी पीडयित्वा समस्तास्तस्मादोषां स्वाजयेत् हिताधी ॥
व्याधिध्यंसं किं विधत्ते न वैयः तन्वन्यायां व्याधितस्येष्टकारी ॥ ४९९ ॥
इति उत्पीडी ।

उपसंहारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् । उत्पीडकः ॥

अर्थ—इस लिये उत्पीडक आचार्यको क्षपकका हित करनेके लिये उसके सब दोष निकालना योग्य है।

एवं अथपीडकतां व्याख्यावावसरमाप्तामपरिस्त्रावितां व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदर्यं व जस्त आलोचिदा अदीचारा ॥

ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥ ४८६ ॥

दोपो निवेदिता यत्र तप्ते तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥ ५०० ॥

विजयोदपा—लोहेण पीदमुदर्यं य एवमत्र पदसंबन्धः । अस्त आलोचदा दोषा ण परिस्सवंति अण्णत्तो यस्मै कथिता दोषा न परिस्त्रयन्त्यस्तः । किमिदं लोहेण पीदमुदर्यं लोहेन संतप्तं पीतमियोरुहं । सो सः । एवंभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्त्रावी भवति ॥

अपरिस्त्रावितां वृथामिगीथाविद्योर्लुण्ठकामः पूर्वं तत्संज्ञार्थमिदमाह—

मूलारा—लोहेण अर्थात् संतप्तेन । पीदं पीतमन्तर्गतं । ण परिस्सवंति । न प्रकटा भवन्ति । अण्णत्तो अन्यतः

अन्यत्रेहि यायम् । उक्तं च—

दोपो निवेदितो यत्र तप्ते तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥

इस प्रकार अवपीडक गुणका वर्णन हुआ. अब अपरिस्त्राविता गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जैसे तथा हुआ लोहका गोला चारो तरफसे पानीका शोषण कर लेता है और वह शोषण किया गया पानी उससे बाहर निकलता नहीं। वैसे क्षपकके दोष जो आचार्य सुनकर अपने मनमें ही रखते हैं अन्य लोगों को इस क्षपकने ऐसे ऐसे अपराध क्रिये थे ऐसा नहीं कहते हैं वे आचार्य अपरिस्त्रावी गुणके धारक हैं ऐसा समझना चाहिये.

देसण्णदिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ॥

देसच्चाणु विविधे सच्चच्चाणु य आवण्णो ॥ ४८७ ॥

अतिचारास्तपोषूत्तज्ञानसम्यक्त्वगोचराः ॥

मनोचाक्षाययोगेन जायंते त्रिविधा यत्ते ॥ ५०१ ॥

विजयोद्या—ईसण्णणादिचारे य ध्वविचारे शब्दानस्यतिचारः श्रुंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिश्रोसांस्तथाः।
 ज्ञानस्य अतिचाराः अकाले पठने, धृतस्य धृतधरस्य वा विन्याकरणं अनुबोधमादीनां ग्रहणे तन्मायोग्यामग्रहणं, उपाध्याय
 निद्वयः, धर्मजनानां न्यूनताकरणं, आधिक्यकरणं । अर्थस्य अन्यथाकथनं वा । तपसोऽपमनान्तेरतिचारः । स्वयं न
 भुङ्के । मन्ये भोजयति, पटस्य भोजनमनुजानाति मनसा चवसा कथेन च । स्वयं सुधा पीडित आहारमभिलषति ।
 मनसा पारणां मन काः प्रयच्छति, क या लटस्यामीति चिंता अनमनसिचारः । रसयद्वाहारमन्तरेण परिश्रमो मम आपति
 रति वा । पदजीवनिकप्रयापणां अन्यतेमेन योगेन वृत्तिः । प्रयुतिनिद्रतया संक्लेशजननयमिदमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं
 नाचरिध्यामि इति संकल्प्य अवमोक्ष्यातिचारः । मनसा यद्युक्तमिति वा यत्नेन, इत्यसंज्ञया प्रयत्नेन कञ्चेशमुपपश्यस्य वृत्तिपरिसंख्या
 नस्यातिचाराः । गृहसप्तक्रमेण प्रविशामि, पक्षमेव पादकं वेरिग्रहमेकं । एवंयुतेन दायकेन क्षयिकया वा क्वं त्रहीन्यामीति
 वा कृतसंकल्पः । गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः पादांतं प्रवेशश्च । एवं भोजयामीत्यादिकः । कृतरसपरित्यागस्य रसास्ति-
 सक्तिः, पटस्य वा रसयद्वाहारमोजनं, रसयद्वाहारभोजनानुपपन्नं, धातिचारः। कायकेशस्यातपनस्यातिचारः उष्णादितस्य
 शीतलव्यसमागमेषु, संतापापायो मय कथं ध्याविति चिंता, पूर्वाभुलक्ष्मीलक्ष्यप्रवेशानां स्मरणं, कठोरतपस्य श्रेयः,
 शीतलादेशादृक्कृताम्रमनांजनस्य अतपमयेदाः । धातपसंतमशरीरस्य वा अमयुष्टगात्रस्य छायादुपयेदाः इत्यादिकः ।
 गृहस्य भूतमुपगतव्यापि इस्तेन, शरीरेण चाप्यङ्गानां पीडा। कथं ? शरीरपलमजलकणममार्जने, इस्तेन पादेन
 वा शिलाफलकादिविगतोक्तापनयनं । श्रुतिकामार्गां भूमौ शयनं । निरनेन जलमवाहगमनवेसो या अपसृजानम् । अयमाह
 यर्गपादः कदा स्वाविति चिंता । यमिति वेद्ये कदास्योपरमः स्वाविति या । एवकटकविपरणे वर्णविपारणवैस्वादिकः ।
 तथा अध्यापकास्यातिचारः । सविज्ञायां भूमौ नससहितहरितसमुद्रितयां विपरयत्वां यत्नेन । अकृतभूमिगारीरममा
 ज्ञस्य इत्सयादसंकोचमसारणे, पार्थिवरसंचरणं, कंदूयनं वा । द्विमसमीरणाभ्यां इत्यस्य क्वैतनुपपन्नो भयतीति चिंता,
 न्यादवलादिभिरुपरिनिपतितदिमाएकरं, मयद्वययगृहा या । प्रभुत्वात्तापलेसोऽप्यमिति संकल्पः । अतिमापरणादीनां
 स्मरणमित्यादिकः । प्रायश्चित्तातिचारमिरूपणां—तत्रातिचाराः । आकर्ण्य अनुमानयित्वादिकाश्च । भूततिचारेऽ
 च मनसा अनुपुस्ता । अभावात्, प्रमादात्कर्ममुक्त्वादाटस्यावेद्यं अनुमकर्मधैर्यनमितं अनुष्ठितं, दुष्टं कृतमिति
 पण्यदिकः प्रतिक्रमणातिचारः । ऐकोमयातिचारसमावस्तुमुपगतिचारः । प्रयत्नोऽप्येको विवेकातिचारः । न्यु-
 त्सर्गातिचारः । कुतो भयति शरीरमतापामभिरुचिः । अनुमध्यानपरिणतिः । कायोत्सर्गदोषश्च तप अतिचार उक्ताः ।
 एवं छेदस्यातिचारः न्यूनो जातोऽहमिति संकल्पः, भाषतो रत्नप्रयानादानं मृड्यतिचारः सर्वो द्विमकार इत्याद्ये-
 रेमायाद विविधे देशातिचारं ज्ञानप्रकारं मनोवाक्याभेदात्ककारितानुमतयिकत्वाच्च । सत्यभागे य सर्वोतिचारो च
 भाषमो भाषयः ॥

सम्यक्त्वादतिपारान्विपिज्ञानस्याचार्यानां विश्वस्यो भिक्षुपालोचयति तत्र परिखावी यदि सूरित स्वास्तदा चंद्र-
 रोपान्माग्रेति इति बलं गाथाप्रथमाह—

मूलाग्र— देसच्चाए दर्शनादीनामकदेशमये सति । विविधे मनोवाक्यार्थैः प्रत्येकं कृतकारितानुमनने-
नानात्वं गतात् । मन्वच्चाए सद्योगना दर्शनादीनां गगे । आवण्णो दर्शनादिचारान्विविधानासो भिक्षु कथयति स्व
मोगानिति उत्तराद्वेन संबध् । अन्ये पुनरेवं संबध्वाति । दर्शनादीनामविचारे विविधे आवण्णे प्राप्ते सति । भिक्षुः
स्वदोषान्कथयति । तत्र दर्शनादिचाराः शंकादयः प्रागुक्ताः । ज्ञानाविचारास्तु विनयविपर्ययरूपा अकालपठनादयः संश-
यविपर्ययो वा । आदिंसादिब्रह्मानां चाट्ठमोगुण्योर्वादानिमिषेणसमित्तालोकितापानमोजनानि पंचेत्येदि तत्त्वार्थोक्त
भाषनादानयः । तपन्ननशनीरी सापेक्षस्य सर्वसंभजनमविचारः ॥ वज्रतक्षनस्य परं मनसा, वाचा, कायेन वा भोजयतो
मुंजानं वा जनुमन्यमानस्य स्वयं वा क्षुद्रान्ततचाहुरभमिलपतोऽतिचारः स्यात् । मनसा को मे पारणां प्रदास्यति, क
वा लपये इति चिंता वा क्षुरसाक्षरमर्तरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा । पट्ठीवीवनिक्कयायायां अन्यतेमेन योगेन
पुत्तिर्वा प्रभुपनिदत्तया, संक्षेपो वा । किमर्थमिदमनुष्ठितं मया संतापकारि पुनरिदं नावरिव्यामि इति संक्लेशो वेति ।
२ अवमोर्दस्यतिचारो मनसा यदुभोजनादरः । परं यदु भोजयामीति चिंता, भुंक्ष्य यच्चन्नसत्सुप्तिरिति
यपनं । मुक्तं मया यद्विपुले साधु कृतमिति वा यपनं । इत्तसंज्ञवा वा प्रदर्शनं कंठवेशमुपसृपयेति ।

३ धृतिपरितेख्यानस्यातिचारो गृहसप्तकमेव, प्रविशामि इत्येवमादिसंकल्पं कृतवतः परं भोजयामीत्यभिप्रायेण
तदधिकप्रवेशादिकः ॥

४ रसपरित्यागस्य रसातिसाक्तिः परस्य वा रसवदाहुरभोजनान्द्रोजनानुमननं चेति ।
५ विविचरन्त्यासत्तस्य पूर्वोक्तलक्षणहीनवसतो धयनासनं यथोक्तलक्षणवसतावरतिर्वेत्तादिकः ॥
६ कायवेदसाध्यातापनस्यातिचार उज्जाहितस्य हीतिलद्रव्यसमागमेच्छा, संतापपायो मेम कथं स्यादिति चिंता,
पुर्वादिभूतहीतिलद्रव्यप्रदेशानां स्मरणं, कठोरतपद्वेषः, हीतिलदेशादकृतगन्धप्रमाज्जनस्यातपप्रवेशः । आतापसंतत्वा-
मयप्रमानस्य छायापुत्रवेश इत्यादिकः । वृथामूलाधिवासस्य हस्तेन पावेत वा शरीरावलप्रलङ्कणप्रयोजनं । तद्वकिञ्च-
लाफलकादिगतोदकापनयनं, जलाद्रात्रां भूमौ शयनं, निम्नतल्लभवाहगमनदेशो वा अवशानं, अवगदे वृष्टिः कदा स्यादिति
चिंता, वृष्टौ वा भवेत्तदुपसमः स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबंधपाय छद्मविधारणं वेत्यादिः । अच्चावकासस्य द्वियथावाच्यानुप-
इत्तस्य कदेवेदुपसमः स्यादिति चिंता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितद्विसंस्थापकर्मणमवयवायचट्टना वा, प्रभुत्वात्तातपदे-
शोऽप्यमिति संक्लेशोऽग्निप्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकः ।

प्रायश्चित्ते आलोचनाविचारः 'आर्कपिबमित्यारिना' चक्ष्यते । प्रतिक्रमणविचारः स्वकृताविचारश्च मनसा अनुगुप्ता, अज्ञानतः प्रमादार्कमगुक्तादावस्थाया इदमशुभकर्मवर्धनमित्यनुष्ठितं दुष्टं कृतमित्येवमादि दुर्गुप्ता । अज्ञानतःकरणग्राह्यः । उक्तोपयाविचारसमवाय उभयाविचारः । भयतोऽविवेको विवेकाविचारः । व्युत्सर्गाविचारः श्रुतपःशरीरसमताया अनिवृत्तिरशुभध्यानपरिणतिः कायोत्सर्गदोषाश्च । तपसः प्रागुक्ता एव । छेदस्याविचारो न्यूनो अतोर्दमिति संकेतः । मूलाविचारभावतो रत्नप्रधानादानं, एवं विनयार्थिनां अपि सामान्यलक्षणादुसारेण यथासास्त्रमति-चाराभित्याः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, व्रतमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, देशरूप अति-चार उत्पन्न हुए हों अथवा सब प्रकारोंसे अतिचार उत्पन्न हुए हों ये सर्व अतिचार क्षणक आचार्य के पास विश्वास-युक्त होकर कहें।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रसंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे अतिचार हैं, इनका स्वरूप दर्शनविनयके प्रकरणमें लिखा है।

ज्ञानके अविचार—अकालमें अध्ययन करना, श्रुत और श्रुतधर अर्थात् जैनसिद्धान्तज्ञाता उनका अवि-नय करना, अनुयोगादिशास्त्रोंका अध्ययन करते समय उस अध्ययन के योग्य नियम धारण करने चाहिये, परंतु ये धारण न करना, जिस उपाध्ययनसे शास्त्र पट लिया हो उसका नाम छिपाना अर्थात् मैं किसीके पास नहीं पढा हूँ, स्वयं मेरेको शास्त्रज्ञान स्फुरित हो गया है ऐसा कहना-पढते समय शब्द कम करना और जादा बढाना, अर्थका कथन शास्त्रसे विरुद्ध कहना, ये ज्ञानके अतिचार हैं।

तपके अतिचारोंका वर्णन—स्वयं भोजन नहीं करता है परंतु दूसरोंको भोजन कराता है, कोई भोजन कर रहा हो तो उसको अनुमति देता है, ये अतिचार मन से वचनसे और शरीरसे करना अर्थात् तुम भोजन करो ऐसा कहना, जो भोजन कर रहा है उसको तुम अच्छा करते हो ऐसा कहना ये वचनके द्वारा अतिचार हैं, इसी प्रकारसे शरीरसे और मन से भी अतिचार लगते हैं, भूल से पीडित होनेपर स्वयं मनमें आहारकी अभिलाषा करना, मेरेको पारणा कोन देना, किसी घरमें मेरी पारणा होमी ऐसी चिंता करना यह अनशन तप में अतिचार है।

रमयुक्त आहारके बिना यह भेरा परिश्रम दूर न होगा ऐसी चिंता करना पदकाम जीवोंको मन बचन और शरीर इन तीन योगोंमें से किसी एक योगसे बाधा देने के लिये प्रयुक्त होना। भेरेको बहोत निद्रा आती है, और यह अवसोदय नामक तप मने व्यर्थ धारण किया है, यह संकेशदायक है, संताप उत्पन्न करनेवाला ऐसा यह तप फिर मैं कभी भी न करूंगा ऐसा संकल्प करना ये अवसोदय तपके अतिचार हैं,

यद्युत भोजन करनेकी मनमें इच्छा रखना, दूसरोंको बहुत भोजन करनेमें प्रयुक्त करूंगा ऐसा विचार, रखना, तुम वृत्ति होनेतक, भोजन करो, ऐसा कहना यदि वह मने, बहोत भोजन, किया है ऐसा कहे तो तुमने अच्छा किया, ऐसा सोलना, अपने गले को हाथसे स्पर्शकर यहाँ तक तुमने भोजन किया है ना ? ऐसा हस्त बिन्द से अपना अभिप्राय प्रकट करना, ये सब अवसोदय तपके अतिचार हैं,

अर, वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार — मैं, सात, धरोंमें ही प्रवेश करूंगा, अथवा एक-पाटकमें प्रवेश करूंगा, किया दरिद्री के गृहमें ही आज प्रवेश करूंगा, इस प्रकारके दातासे अथवा इस प्रकार के स्त्रीसे, यदि दान मिलेगा तो लेमे, ऐसा संकल्प कर, सात, घासे अधिक घा-में प्रवेश करना, दूसरोंको मैं भोजन कराऊंगा इसा हेतुसे, भिन्न पाटकमें प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्याके अतिचार हैं

रसपरित्याग तपके अतिचार-रसका त्याग करके भी रसमें अस्वाप्तिक उत्पन्न होना, दूसरोंको रसयुक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना, ये इस तप के अतिचार हैं,

कापवैलंबतपके आतापतयोगका अतिचार-उष्णसे पीडित होनेपर शंठ पदार्थोंके संयोगकी इच्छा रखना, यह संताप भेरा कसा नष्ट होगा ऐसी चिंता उत्पन्न होना, पूर्वमें अनुभवन किये गए शीतल पदार्थोंके स्थानका स्मरण होना, कठोर घूपका द्वेष करना, शरीरको पिच्छीसे स्पर्श न करके ही भूपसे शरीरसंवाप होनेपर छायामें प्रवेश करना, इत्यादिक अतिचार आतापनयोगके हैं,

शुद्धल योगके अतिचार-इस योगको धारण करनेपर भी अपने हाथसे, पावसे और शरीरसे जलकायिक जीवोंको डुल देना, अर्थात् शरीरपर लगे हुए जलकण हाथमें पोकना अथवा पावसे, खिलापर अथवा फलरूपर संचित हुआ जल अलग करना, गीली मट्टीकी लमीनपर सोना, जहाँ जलप्रवाह बढ़ता है ऐसे स्थानमें अथवा खोल प्रदेशमें बैठना, वृष्टिप्रबिंब होनेपर कब, वृष्टि होगी ऐसी मनमें चिंता करना, वृष्टि होने

लगी तो कर इसका उपग्रह होना ऐसा संकल्प करना, अपना वृष्टिका निवारण करनेके लिये छत्र, चटाई वगैरह धारण करना।

अत्रावकाशके अतिचार-सचिच जमीनपर, त्रसदाहित हरितवनस्मृति जहां उत्पन्न हुई है ऐसे जमीनपर, छिद्रसहित जमीनपर ध्वन करना, जमीन और शरीरको पिच्छिकासे स्पृच्छ किये बिना हाथ और पाय संकुचित करके अपना कैला करनेके सोना, एक वाजसे दुसरी वाजपर सोना अर्थात् करवट बदलना, अपना अंग झुजलाना, हवा और घेदीसे पीडित होनेपर इनका रुज उपग्रह होना ऐसा मनमें संकल्प करना, शरीरपर यदि बर्फ गिरा होगा तो चाँसके तुकड़ोंसे उपकी हटाना, अंगका जलके तुषारोंको मर्दिन करना, इस प्रदेशमें पूष और हवा घड़त है ऐसा पिचार कर संकल्प परिणामसे शुक्त होना, अग्नि और आच्छादन यत्नोंका स्मरण करना ये सब अज्ञावकाशके अतिचार हैं।

प्रायश्चित्त तपेक अतिचार-आकंपित, अनुमानित चंगरे दोष इस तपके अतिचार हैं. ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें ग्लानि न करना, अहान्ते, प्रमादसे, सीम कर्मके उदयसे और आलस्यसे मैने यह अशुभकर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है. मैने यह दृष्ट कर्म किया है ऐसा उच्चारण करना प्रतिकर्मणके अतिचार हैं. आलोचना और प्रतिकर्मणके अतिचारोंको उभयसिचार कहते हैं. परिणामोंके द्वारा विवेक न होना यह विवेकका अतिचार है. शरीरपरसे ममता हटाना ध्युत्सर्ग वष है. परंतु ममता दूर नहीं करना यह ध्युत्सर्ग तपका अतिचार है.

अशुभध्यातयमें परिणयन होना और काकोत्सर्गके दोष ये तपके अतिचारमें कहे गये हैं.
छेदके अतिचार-ई न्यून हो गया हूं ऐसा मनमें संकल्प करना. रत्नप्रयको भावपूर्वक प्रवृत्ति न करना यह ग्लाना अतिचार है.

अतिचारके देवुरत्याग और सर्व त्याग ऐसे दो भेद हैं. मन, वचन, शरीर, कृत, कालित और अनुमोदन ऐसे नऊ भेदोंमेंसे किसी एकके द्वारा सम्पददर्शनादिबोधोंमें दोष उत्पन्न होना ये देवुरत्यागातिचार है और सर्व प्रकार से अतिचार उत्पन्न होना यह सर्वत्यागातिचार है. क्षणिकी इसमें अतिचार लग सकते हैं इसलिये यह गुरुके समक्ष इसमें आचोलना करें.

आयरियाणं वीसत्यदाए मिक्खू कहेदि सगदोसे ॥

कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेत्तिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

विश्वस्तो भापते सर्वाणाचार्याणामसौ न सः ॥ (?)

आचार्यो भापतेऽन्येभ्यस्तां स्तुवन् स्वदधार्भिकः ॥ ५०२ ॥ (?)

पिअयोदया—आहरियाण आचार्याणां । मिद्धु । कहेदि कथयति । वीसत्यदाए विश्वासिन । किं ? सगदोसे स्वातिचारान् । कोई पुण कथितपुनरत्यर्थपाश । णिद्धम्मो निष्कान्तो चहिन्नेतो जिनप्रणीतास्सर्वात् । अण्णेत्तिं सन्नेभ्यः । कहेनि ते दोसे कथयति आलोचितान्वोचन् । अनेम किलायमपराधः कृत इति ।

गूळारा—वीसत्यदाए विश्वासेन । फहदि अनेन किंलायमपराधः कृत इति परेभ्यः प्रकाशयति ।

अर्थ—आचार्योके आगे कोई क्षपक विश्वास रखकर ये आचार्य मेरे दोष अन्योंको नहीं कहेंगे ऐसा विश्वास रखकर कहता है, परंतु कोई आचार्य जिनप्रणीत धर्मसे बाहिर होकर इसने अमुक दोष किया है ऐसा अन्यजनोंको कहते हैं, अन्यजनोंको क्षपकके दोष कहनेवाले आचार्य जिनधर्मभ्रष्ट हो गये ऐसा समझना चाहिये. क्षपक तो विश्वाससे कहता है और ये उसका भंडाफोड़ सर्व लोगोंके समक्ष करते हैं. ऐसा करना जैनधर्ममें निषिद्ध माना है.

तेण रहस्सं भिंदतएण साधू तदो य परिच्चो ॥

अण्णा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव ॥ ४८९ ॥

रहस्यमेदिना तेन त्यक्ताः कल्मषकारिणा ॥

साधुरात्मा गणः संघो मिथ्यात्वापराधना कुता ॥ ५०३ ॥

विजयोदया—तेण तेन । रहस्सं भिंदतएण भच्छायालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । साधू साधुः । तदो य परि चो ततस्तु परित्यक्तः । इन्द्रोपयकासेन एते मया उज्जवानयं हु मितो भवति । जन्मानं वा घतेयत् । कुपितो चा स्तनमय स्यजेत् । इति स्वचित्तेऽकुरुता परित्यक्तो भवति । अण्णा परिचक्षो, गणो परिचक्षो, संघो परिचक्षो, इति प्रत्येकामित्यर्थः । मिच्छत्ताराधणा चेव मिथ्यात्वापराधना दोषो भवति ॥

मूलग—रदस् दन्तायमलोषितोप । मिद्वण प्रकाशना । सगो सः आलोचितस्त्वदोपः । परिचतो
 नान्द्वेनक्येनापकृत । क्तमपस्येति । मिद्वारापना मिथ्यात्मुखादिनं स्यात्तमन इत्यर्थः । प्रकाशयति ॥

नर्ज-धपरुके अलोलनित दोष आचार्यको प्रकट करना योग्य नहीं है परंतु यदि उसने प्रकट किये तो धपरु मापुता उनसे उयी समय त्याग किया ऐसा मनहना चाहिये. मै यदि इसके दोष प्रकट करूं तो यह लज्जा-याव धपरु अपने मनमें दुःखित होगा. यह अपना घात करेगा, क्रोधी बनकर रत्नवर्धपर्का त्याग भी कर देगा. मेगा विचार मनमें लारर धपरुके दोष कहना उनके लिये योग्य नहीं था. दोष कहनेसे आत्मत्याग, गणत्याग और गंयत्याग आचार्यने किया और ये भिष्याराधक बन गये ऐसा मानना चाहिये.

दार्ढ्यं ग्राह्युः परित्यक्तो भयतोऽप्यत्येषु—

लज्जाए गार्वेण व कोई दोसे परस्स कहिदोत्रि ॥

त्रिष्परिणामिञ्ज सधर्मेज्ज व गच्छाहि ता णिज्जा ॥ ४९० ॥

राहस्यस्य कृते भवेत्पृथग्भूयावतिष्ठते ॥

फौपत्तो मुंघत्ते वृत्तं मिध्यात्वं वा प्रपयत्ते ॥ ५०४ ॥

निजबोद्ध्या—रत्नमार्ग लक्षया । मारयेण न मुक्तया धा । कोई क्वक्षित् । बोसे शोभान् । परस्वत् परस्मै ।
 वदितो हि वदितोऽसि । विष्णुरिणोमज्ज वृधमोमेत् । नान्यं नाम गुरुः द्वियो यदि स्यात्तर्क मदीयान्दोषादियदसि । मदीयान्
 यदिधत्ताः प्राणा गुरुस्त्वमिति या ईश्वरानां साय भेद्यति चित्ता विपरिणामः । उभोत्रिज्ज या लजेद्धा हत्तज्ज शोभमत्तत्त
 नेन वुषितः । मरुद्वज्ज या गणान्तर् प्राप्तिसेत् ॥

कथं साधुः परित्यक्त इन्द्रियाद् —

मूलात्ता — गारयेण मानगुद्रयेत् । परस्म परस्य । विष्णुरिणोभेज विषरीतं परिणमेत् । वृषभयेत् नायं मम युक्तः । त्रियो यदि ग्यादि मर्दायान्तेषाश्रियेत् । मदीया यद्विश्रयाः नाया गुरुयमिति संभामना साय गच्छति तिला दि मिगिणामः । अयत्तर्धः निर्यापकापार्येण परस्म शुभं कथिते सति काश्चित्त्रपको लज्जया गारयेण वा विपरिणमेत् । उभावेकं व त्यजेद्वा स्तनयमिति दोषः । गच्छादि वा जिज्जा गच्छाद्वा निर्यायात् । गणाद्वा निर्गच्छेत् । गणान्वरं प्रविशेदित्ययः । उपार्थेन व भग्नेज्ज भिच्छणमिति पाठं त्यजेद्वा चारिज्जं गच्छेद्वा गिच्छात्वमिति व्याख्येयम् । तथा चोक्तं —

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भूयावतिष्ठते ॥
कोपतो मुंचते वृत्तं विपज्यात्वं वा प्रपद्यते ॥

उद्धोने साधुका त्याग किया ऐसा समझना चाहिये. उसका स्पाष्टीकरण—

अर्थ—आचार्य क्षपक के दोष अन्य मुनियोंको कहने पर क्षपक लज्जासे अथवा गर्वसे ये गुरु मेरेको हितकर नहीं जंचते हैं यदि ये हितकर होते तो मेरे दोष क्या अन्य जनोंके समझ थे प्रगट करते ? मैं आज तक ये गुरु मेरे पास प्राण हैं ऐसा समझता था परंतु आज वह समझना निर्मूल है ऐसा अनुभव मेरेको आया है. दोषके कहनेसे गुरुके विषयमें क्षपक के उपयुक्त परिणाम बन जाते हैं. इतना होकर ही रहता नहीं. परंतु वह क्षपक दोष प्रकट करनेसे कुपित होकर रत्नत्रयका त्याग करनेके लिये उद्युक्त होता है अथवा आचार्यका संघ छोड़कर अन्य संघ में प्रवेश करता है.

आत्मपरित्यागं श्याचष्टे—

कोई रहस्यभेद कदे पदोमं गदो तमायरियं ॥
उद्वावेडज व गच्छं भिदेडज वहेडज पडिणीओ ॥ ४९१ ॥

मारयत्यथवा सूरिं साधुर्मानप्रहाकुलः ॥
संसारकाननञ्जान्ति न मन्यन्ते हि मानिनः ॥ ५०५ ॥

विजयोदया—कोई काश्चित् । रहस्यभेद कदे रहस्यभेद कृते । पदोसं गदो प्रवेशे यतः । तमायरियं तमाचार्यं । उद्वावेडज व मारयेत् । गच्छं भिदेडज गणभेदं कुर्यात् । किमनेन सूरिणा खेडरहितेन, यथा ममारयापं प्रकटितवान् एवं युष्मागपि निरपराधाभूयिष्यतीति सुवर । होज्ज पडिणीओ प्रत्यनीको भवेत् ॥

कथमात्मा परित्यक्त इत्यत्राह—

मूलार—पदोसं प्रवेशं । उद्वावेडज मारयेत् । गच्छं भिदेडज गच्छं भियादाचार्यद्वारास्य भेदं कुर्यात् । यथायं विदयस्तो ममालोपितदोषं प्रगटीकुर्यात्तथा युष्माकमपि प्रकटयिष्यतीति सुवचाचार्यद्वारास्य विषटनं कुर्यादित्यर्थः । पडिणीओ प्रत्यनीकः प्रविष्ट इत्यर्थः ॥

आत्मपरित्याग दोषका स्वरूप कहते हैं—

अयं-आचार्य के द्वारा लपकके अपराध सर्वजन समक्ष प्रगट होजाने पर क्षपकके मनमें यदि द्वेष बढ गया तो यह आचार्यको मारिगा अथवा मच्छममें फूट उत्पन्न करेगा अर्थात् इस आचार्यने जैसे मेरे दोष प्रगट किये हैं वैसे यह तुम्हारे दोष भी प्रगट करेगा, निरपराधी ऐसे तुमको यह दूषण लगवेगा, यह आचार्य स्नेहाहित है इसको छोड दो ऐसा बोलकर यह सर्वसंघमें भेदभाव उत्पन्न करेगा तथा आचार्यका शत्रु बन जावेगा,

गणस्तरागं कथयति—

जह धरिसिद्धो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ॥

सबको वि गणो विप्परिणमेज्ज छंहेज्ज वायरियं ॥ ४९२ ॥

विश्वस्तो भायते शिष्यः सूरेभ्ये स्वदूषणम् ॥

परस्याथ पुनर्भूते सदाचारमहिर्भवः ॥ ५०६ ॥

पपायं दूषितोऽनेन दूषयिष्यति नस्तथा ॥

इति कुद्धो गणाः सर्वेः पृथक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५०७ ॥

विजयोपवा—अह धरिसिद्धो इमो धृष्टा दूषितोऽयं । तह तथा । अहं पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति अस्माग्दूषिताः कुर्वन्तु धयमिति । विप्परिणमेज्ज दूषणमेव । छंहेज्ज वायरियं स्वगेष्टाचार्यं स्वजतीति कथ्येत तेन गणस्त्वकं इति दूषणमिति । ततोऽनयोर्न संगतिरित्यव्ययते । यत् एष सूरिणा द्वेषप्रत्याख्यानपरेण त्यक्तोऽस्मी तत् एष गणस्तं त्यजति ॥

कथं गणः परित्यक्त इत्यत्राह—

मूढारा—धरिसिद्धो दूषितः शुभप्रकाशेनापकृतः । छंहेज्ज त्यजेत् ।

गणत्यागमां वर्णनं—

जैसा आचार्यने इस क्षपकको दोष कद करके दूषित किया है वैसा यह हमको भी दूषित करेगा ही ऐसा विचार कर गण भी आचार्यके प्रतिद्वल होकर उसका त्याग करेगा- अथवा उससे स्वयं अलग होगा, दोषका कथन करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया ऐसा पूर्वमें कहा है और वहाँ गण आचार्य को छोड देता है ऐसा कहते

हैं अतः यह रूपन अमंगलमा दीखता है उत्तर—दोषोंका वर्णन करनेवाले आचार्यने यदि गणका त्याग किया तो यह भी आचार्यता त्याग करेगा ही. अतः इस कथनमें असंगतपना नहीं है.

संगतस्वक्तो भवतीत्येतद्व्याचष्टे—

तह चेत्त पक्षयण सञ्जमेव विष्परिणयं भवे तस्स ॥

तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जूहणं चावि ॥ ४९३ ॥

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिन्नस्ति चतुर्विध ॥

निर्घोटयति वा रुष्टो रोपत क्रियते न किम् ॥ ५०८ ॥

विजयोक्त्या—तह येथ पक्षयण सञ्जमेव तथेव प्रपचन सद्य सर्व एव मोच्यते रत्नत्रय यस्मिंश्चित्ति शब्दबुरूप श्री सदशाची भूमति प्रपचनवाच्य । विष्परिणद् पिरुद्धतया परिणत प्रभुत्त । हये तस्स भवेत्तस्य । तो तत् । से तस्य । दिसापहरण करेज्ज कुयोत्त सय । णिज्जूहण यमि करेज्ज इति पक्षत्तवध । परित्याग या कुर्यात् ॥

कथं संघे परित्यक्त इत्यत्राह—

मूढात्—एवयणं प्रपचनमाद्योऽत्र संघयाची मोच्यतेऽस्मिन् रत्नत्रयमिति व्युत्पत्तेः । विष्परिणद् पिरुद्धतया प्रभुत्त । तो ततो विपरिणमनादेतो । से तस्य रदस्यभेदकत्वं । विसापहरणं आचार्यपदभंगने । णिज्जूहणं निर्दोषनं । उक्तं य—

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिन्नस्ति चतुर्विध ॥

निर्घोटयति वा रुष्टो रोपत. क्रियते न किम् ॥

सचका त्याग भी होता है ऐसा वर्णन—

अर्थ—जिनम रत्नत्रयका प्रपचन-उपदेश किया जाता है ऐसे जनसमुदायका नाम संघ है. अर्थात् मुनि, आचार्यका, श्रामक और श्रामिका इनको मंघ कहते हैं यह मन्त्र ॥१॥ दोष प्रगट करनेवाले आचार्य से विरुद्ध होकर उनका आचार्यपद हरण करेगे. अथवा उसका त्याग करेंगे.

अदि धरिसणमरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ ॥

धिदि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति मणेज्ज मिच्छज्जणो ॥ ४९४ ॥

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनां ॥

धिक्त्वात्रिधर्मैकान्साधूनि विक्ति जनोऽज्वल ॥ ५०९ ॥

मिथ्यासमागतका एव दुष्टाः सन्ति दिगंबरः ॥

इदृशीं कुर्वन्ते निर्दोषा मिथ्यात्वाकुलितो जनाः ॥ ५१० ॥

विनयोदया—नर धरिसणमरिसय यदि दुग्ध पयधूत । करेदि करोति । सिस्सस्स चेव शिष्यस्येव । क मागयं । धिदि अपुट्ठधम्मो समणे च धिनिज्ज धिनिधण अपुट्ठधर्मात् धमजान् । इति मणेज्ज मिच्छज्जणे परेमिप्पगहमित्तं ॥

मिथ्यात्वारधनाद्वारायत्त जनापवादमाह —

मूलारा—धरिसण धर्पण विडम्भा । धिदो धिण् धिण् । अपुट्ठधर्मे अपुट्ठधर्मणः निर्धर्मिकान् धमजान् दिगंभ-
रान् । तथा वीरम्—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनान् ॥

धिक्त्वात्रिधर्मैकान्साधूनि विक्ति जनोऽज्वलः ॥

दोष प्राप्तिं करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना होमी ऐसा वर्णन—

अर्थ—यदि आचार्य दोष प्रागट कर शिष्यको दूषित करेंगे तो मिथ्यात्वी लोक ये जैनपुनि अपने धर्मको शुद्ध नहीं बना सकते हैं, अपने हाथसे ये अपने धर्मका नाश करते हैं ऐसे वचन नीलकर धिक्कार करेंगे, इस शिष्य दोष प्रागट करना यह कार्य धर्मविघ्नक है ऐसा सपक्षना चाहिये

प्रस्तुतापरिप्रापितोपसद्धारमथा नसिद्धार्था-

इन्वेधमादिदोसा ण होति गुरुणो रहस्सधारिस्स ॥

पुट्ठेव अपुठ्ठे वा अपारिस्साइस्स धीरस्स ॥ ४९५ ॥

पृष्टोऽपृष्टोऽपि यो व्रूते न रहस्यं कदाचन ॥

इत्यादयो न विद्यन्ते दोषास्तस्य गणेशिनः ॥ ५११ ॥

इति विमुच्य रहस्यविभेदकं भजत गुह्यानिगूहकमंजसा ॥

न हि विशुद्धहितहितवस्तवो हितमपोद्या भजंत्यहितं जनाः ॥ ५१२ ॥

इति अपरिक्षवः ।

विलयोवया—इत्येवमादि शेषा इति । अपरिस्त्वं शु गवं ॥

मूलात्—पृष्ठे व अपृष्ठे वा अपरिस्तादृश किमेतान्लोचितमिति परेण पृष्टे प्रश्ने कृतेऽपृष्टे वा अपरिक्षाविणो गुह्यमकथयतः । धीरस्म स्वरूपेष्टादिना विफारसगच्छतः । अयमत्राभिप्रायो—यः शिष्योक्तं दोषं पृष्टोऽपृष्टो वा परस्मै न पठि, नार्पणितारिना प्रकाशयति स रहस्यपारी सूरिपरिक्षावीति विख्याति विभागस्तैस्तैर्वैर्भनागपि न स्पृशति इति । अपरिक्षावी ॥

अत्र यदा प्रसूत अपरिक्षाविता गुह्यका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—जो आचार्य अपरिक्षावि गुणके धारक हैं वे शिष्यके—क्षपकके दोष सुनकर मनमें रख लेते हैं और उनको कोई पृष्ठे वा मत पृष्ठे वे कभी उसके दोष अन्यको कहते ही नहीं. दोष प्रगट करनेसे क्या हानि होती है इसका अपरिक्षावी आचार्य को पूर्ण ज्ञान रहता है. अतः वे कभी दोषप्रगटन नामका धर्मभ्रंश करने-वाला कार्य नहीं करते हैं.

लिप्यपत्तो इत्येतत्प्रपञ्चद्वयास्त्वानयोत्तरयर्थः—

संधारमत्तपाणे 'यस्य येनभिर्ब्रह्मंजो दूरस्यस्यापि तस्य सः' इति कृत्वा—

संधारभ-तपाणे अभ्युण्णे वा चिरं व कीरते ॥

पण्डितचरणपमादेन य सेहानमसंबुडगिराहिं ॥ ४९६ ॥

शुश्रूषकप्रमादेन शय्यागामासनान्तिके ॥

संपन्न दीनवाक्येन शिष्यकाणामसंबृते ॥ ५१३ ॥

विजयेन्द्रिया--इति क्रियाभिः पदसंयमोऽत्र कार्यः । संस्तेरं प्रकृतपते ॥ अगणुणे अमनोहे । कीर्तते क्रिय-
मणे । कुविदो कुपितो मयेक्षपकः मिरं या मर्यादां वा । संधारमचरणे अगणुणे वा कीर्तते कुविदो हवेज्ज खवगो मेरं वा
अभुमिच्छेज्ज । भेतुमिच्छेत् । चिरं ॥ कीर्तते विराटा संस्तरकरणे सत्तपमानयने वा । पडिचरणमपमयेन वा निर्यापकानां
धियापृत्यकरणे वाः प्रमावस्तेन या कुपितो भवेत् । मर्यादां वा आत्मीयां भेतुं इच्छेत् । सेहानमसंखुडभिरादि अयुद्धी-
तायानां असंखुलाभिः पठयाभिर्वा कुपितो भवेत् ॥

निर्यापकत्वमेकादशभिर्गाथाभिर्वाविरुयामुसारादौ तच्चान्निचितसंनियामादुल्लंघने क्षपकस्य चित्तसंतापे निर्यापका-
वायेनैतथंभूतेन सत्ता सचिर्त्तं निर्यापणीयमिति गाथात्रयेणाभिधत्ते--

मुडारा - अगणुणे अमनोसे अनविशिते । चिरं व चिरेण ॥ सीमवाकियमाण इत्यर्थः । कीर्तते क्रियमाणे ।
पडिचरणमपमयेन धियापृत्यकरणां सत्तकरणान्तवधानेन । सेहानं शैक्षणं । असंखुडभिरादि परक्याभिः प्रसिद्धाभिर्वाभिः ।

नितसका जिसके साथ संबंध है वह दूर भी होगा तो भी यह संबंधी पदार्थ उसका ही माना जायगा इस
नीतिके अनुसार यहाँ क्षपकका वर्णन करते हैं--

अर्थ--क्षपककी शुधूषा करनेवाले परिचारक संस्तरकी रचना यदि अमनोज्ञ मनोहर-न करेगे और
लाने पीनेके पदार्थ अमनोहर होंगे तो वह क्रोधयुक्त होगा अथवा समाधिपरणके नियमोंका भंग करेगा, क्रिया
मंस्तर करनेमें यदि देर लगेगी तो भी वह कुपित होगा, आहार और पेय पदार्थ लानेमें देरी लग जाय तो कुपित
होगा, परिचारकगण शुधूषा करनेमें अलसी बन जाने पर उसको कोप उत्पन्न होगा, अथवा अपनी मर्यादा वह
छोड़ देगा, जिसको सखलनाविधि मात्तुम नहीं है ऐसं असंयमी जनके परम-क्रोधर भाषणसे वह क्रोधयुक्त होगा
तो उनको क्षमाधारण कर प्रसन्न करना चाहिये.

सीदुण्हखुहाताण्हकिलाभिदो तिब्बवेदणाए वा ॥

कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेतुमिच्छेज्ज ॥ ४९७ ॥

वेदनायामसंसायां खुत्तुणोष्णाहिमाविभिः ॥

क्षपकः कोपमासाद्य मर्यादां विधिभित्सति ॥ ५१४ ॥

त्रिजगदीश्वर-सौकुण्डलपण्डा किलामिदो शीतेनोष्णं शुचा पीडितः कुपितो भवेत् । तिव्वेवयणार वा
संस्पृष्टतया वा कुपितो मयादोक्षेनननुभवेत् ॥

मूला-किलामिदो पीडितः । मेरं नयादां प्रतिपन्नानुग्रहम् ।

अर्थं शीत, उष्ण, भूत और व्याम इनमें पीडित होनेसे क्षुपकको क्रोध उत्पन्न होता है, अथवा रोग
की तीव्ररेदनां मी विखल होकर क्रुद्ध होता है और मर्यादा तोड़नेकी ह्छला करता है, उस समय आचार्य उसको
शोचविष होकर प्रसन्न करते हैं.

गिज्जवएण तदो से चित्तं खवयस्स गिज्जवेद्वं ॥

अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पण्डमाणेण ॥ ४९८ ॥

निर्यापकेण शान्तेन शम्भनीयः सूरिणा ॥

क्षमापरेण वीरेण कुर्वता चित्तनिर्युतिं ॥ ५१५ ॥

विजगदीश्वर-गिज्जवएण संतोषमुत्पाद्यता सूरिणा । तदो ततः । से खवयस्स चित्तं तस्य कुपितस्य मर्यादां
भेनुभिगच्छतो वा । चित्तं पिच्छेदयं चित्तं प्रशान्तिं नेयं । अक्खोभेण खेलनरहितेन स्वस्थायता । पमाए जुत्तेण क्षम-
या युक्तेन । पण्डमाणेण प्रणमनेन । न हि रोषो मानी वा सूरिः परचित्तकलंके प्रशमयितुं ईहेते ततो निःक्रयायेण
मात्स्यमिति भाषः ॥

मूला-गिज्जवएण संतोषोत्पादकेन । तदो क्षोपपरिणतिमर्यादाभेदेच्छान्तदं । पिच्छवेद्वं प्रशमनीयं ।

अक्खोभेण पटनरहित उद्वेगमुत्प्रेतयर्थः ॥

इसही विषयको ओगेकी भाषामें आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—संतोष उत्पन्न करनेमाले आचार्य तदनंतर कुपित अथवा मर्यादा तोड़नेको जो उत्तार हुआ है
ऐसे क्षपकका चित्त शांत करते हैं, आचार्य अपना चित्त क्षुब्ध नहीं होने देते हैं, वे स्वयं क्षमाधारण करते हैं, अभि-
मानका त्याग करते हैं, क्योंकि रोषवाले और अभिमानयुक्त आचार्य दुसरेका मन प्रमन्न करनेमें प्रयत्न नहीं करते
हैं, इसलिये आचार्य में कयायका अभाव होना चाहिये, अर्थात् निष्क्रयाच आचार्य ही क्षुपकका क्रुद्ध मन शांत कर
म करते हैं ऐसा अभिप्राय मध्वरत्ना चाहिये.

पर्यभूतो निर्वाण्यतीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते ॥
रदणकंरुदयभूदो गुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥ ४९९ १
यहुप्रकारपूर्वाग्युतरत्नकरंडकः ॥

सर्वाद्युयोगनिष्णातो वक्ता कर्ता महामतिः ॥ ५०६ ॥

विजयोदया—अंगसुदे य धृतं पुरुषः मुलचरणार्धश्यामीत्यर्थदंगदार्थेनोच्यते । आचारादिकं द्वावरागिधं
शक्तिर्नगधुते । यदुपि नगमात्रकारे । आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायः, व्याख्याप्रदर्शयंगं इत्यादिभेदेन । णो अंगसुदे
य अंगयासो ण । यदुविधयिमे से समादिकं, चतुर्विंशतिस्तयो, पंदत्ता, प्रतिक्रमणं, वैतयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकं, उत्तरा-
ज्यवनं, कल्पव्यवहारः, कारणं, महाकरं, पुंडरीकं, महापुंडरीकं इत्यादिना विविच्यभेदेन विभक्तो । रयणकरंडयभूदो रत्नक-
रणकभूतः । गुण्णो अणियोगकरणम्मि यथाग्रस्तुतं यस्तु तत्र तत्र सदद्विषयद्वययोगयोजनार्थां कुशलः । अनेन ज्ञानमाहा-
तर्त्वं सूचितं ॥

एतंभूतः सुदिरय निर्वाण्यतीत्युत्तरपर्यवेनाह—

मूळारा—अंगसुदे अंगप्रविष्टप्रकपने । यदुविधे आचारं सूत्रकृतमित्यादिद्वादशविधे । णो अंगसुदे अंगदा-
यभूते । यदुविधयिमे से सामादिकं, चतुर्विंशतिस्तव इत्यादिना चतुर्दशप्रकारविभक्ते । रयणकरंडयभूदो रत्नकरंडकसदृशः ।
युतरत्नानां रक्षणोपायत्वात् । गुण्णो कुशल । अणियोगकरणम्मि यथाग्रस्तु तत्र तत्र सदद्विषयद्वययोगयोजनार्थां
एतेन ज्ञानमाहातर्त्वं सूत्राद्वितं ॥

आगेकी माथामे करे हुए गुणोंसे युक्त आचार्य क्षपकका मन असन्न कर सकते हैं यह दिखते हैं—

अर्थ—धृतज्ञान पुरुषस्थानीय समस्त करके आचारादिकों को मुल, पाँच वर्गिरह अथवाओं के समान समझने
मे धृतज्ञान में अंगकी कल्पना पटिन हो जाती है. धृतज्ञानके आचारादिक वारा भेद हैं. जैसे आचार, सूत्रकृत, स्थान,
समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति, मातृधर्मिकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृदश, अनुत्तरोपपादिक दश, प्रश्नव्याकरण, विपाक
यत्र, दृष्टिगाद. अंगथाय धृतज्ञानके भी बहुत भेद हैं. जैसे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, धैनयिक
कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, इत्यादि अनेक भेद हैं.
जैसे करदमे रत्नोंको रत्नते हैं वैसे ये आचार्य इन आगमरत्नोंको अपने हृदयमे धारण करते हैं इसलिय ये रत्नोंके

फरंट के समान शोभते हैं. जो जो प्रस्तुत विषय है उसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, इत्यादि अनुयोगोंकी योजना कर उमका प्रिवेचन करनेमें इनकी बुद्धि कुशल रहती है.

वत्ता कत्ता च मुणी विचित्रसुदधारओ विचित्रकहो ॥

तह य अपायविदण्हू मइमंपण्णो महाभागो ॥ ५०० ॥

विजयोदया—यत्ता यत्ता । कत्ता य कर्ता च विनयवेयावृत्त्ययोः । विचित्रसुदधारओ विचित्रं धृतं प्रथमा-द्वययोग, करणानुयोगाखरणादुयोगो, द्वयानुयोग इत्यनेन विरुत्तेन । विचित्रकहो विचित्रायाः कथायाः निरूपणा अस्य स विचित्रकथाः । ननु च 'अंगसुदे य बहुविधे जो अंगसुदे य यदुविचित्रिमत्ते' इत्यनेनैव अवगतत्वात् किमेतत् 'विचित्र-सुदधारओ' इत्यनेन ? नैय शौर्यः । पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्तः । अनया तु भसमस्तधृताख्यायौऽपि एवंभूतो निर्वापको भवतीति व्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । तह य तथा च । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारहः । महसंपण्णो स्वाभाविकपरा पुण्यो समन्वितः । महाभागो स्वयंशो महात्मा ॥

मूढारा—वत्ता यत्ता प्रतिपादनकुशल । कथा कर्ता विनयवेयावृत्त्ययोः । विचित्रसुदधारओ विचित्रं प्रथमा-द्वययोगादिभेदेन चित्रमाधर्पकारि श्रुतकेवलीनिर्वापकैरुक्तं अवधारयता । अथवा विचित्रं धृतं परसमयादिसाक्षं । विचित्र कथो विचित्रया कथया निरूपकः । न हेतयो. पौनरुक्त्यं शंस्यं पूर्वसूत्रे हि श्रुतकेवली निर्वापक उक्तः, इह पुनर्दुर्गानुव-धृताधरोऽपि । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारहः । मदिसंयणो स्वाभाविकबुद्धिसंयुक्तः । महाभागो स्वयंशो महापुण्यो वा ।

अर्थ—ये आचार्य यमदुत्तम गुणसे युक्त होते हैं. विनय और वैयावृत्त्य करते हैं. प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्वयानुयोग इस प्रकारके श्रुतज्ञानके धारक होते हैं. नाना प्रकारकी विचित्र कथायें कहने में प्रवीण रहते हैं. यंता—'अंगसुदे य बहुविधे जो अंगसुदे य बहुविधविमत्ते' इस वाक्यापे ही वे महाज्ञानी होते हैं ऐसा संचित होता है. तो पुनः 'विचित्रसुदधारओ' यह विशेषण क्यों ग्रंथकारने गाथासे दिया है ? इसका उत्तर यह है—'पूर्व गाथायें श्रुतकेवली निर्वापकाचार्य होते हैं ऐसा ज्ञाता है और इस सूत्रसे असमस्त श्रुतज्ञान जिनको है ऐसे आचार्य भी निर्वापक होते हैं ऐसा संचित होता है. इसलिये यहां पुनरुक्त दोष नहीं है. यह निर्वापकाचार्य रत्नत्रयके अविचारके ज्ञाना होते हैं, स्वामाविक बुद्धिमात्र होते हैं और जितेन्द्रिय महात्मा होते हैं.

पगदे निस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुचं च ॥
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं सण्णिव्वेमाणो ॥ ५०१ ॥

कथानां कथने दक्षो हेयादेयविचारदः ॥

मुद्धं शास्ति यतिर्धीरः प्रकृतप्रतिपादकः ॥ ५१७ ॥

प्रिययोदया—मणुमासेदि अणुशास्ति । पगदे यस्तुं प्रारब्धे वस्तुनि ॥ निस्सेसंगाहुगं समस्तमवयो घटसद्वत्
पालनं करोति । आहरणहेदुजुचं च । उपातेन हेतुना च । युक्तं पतस्मादेतोरिदमेवेति स्ति युक्त्यानुशास्ति सुविहितो
यतिः । कुविदं कुपितं । सण्णिव्वेमाणो सम्यग्प्रसादमवत् सम्यक्प्रसादमुपनयन् ।

मूखारा—पगदे यस्तुं प्रारब्धे वस्तुनि । निस्सेसं समस्तं हेयमुपादेयं च । गाहुगं श्रावं अपय्या । निस्सेसं
गाहुगं समस्तावबोधकं । आहरणहेदुजुचं दृष्टान्तेन लिङ्गेन बोधधर्मं एतस्मादेतोरिदमेवैवदिति युक्त्यानुशास्ति इत्यर्थः ।
कुविदं मुद्धं क्षपकपदि । सण्णिव्वेमाणो सम्यक्प्रसादमवत् ॥

अर्थ—विस्त वस्तुका विवेचन करनेके लिये प्रारंभ किया होगा उस वस्तुके समस्त अंगोपागोंका
स्वरूप दर्शात और युक्ति देकर कहा है. इस हेतुसे इस वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है इसके स्वरूपसिद्धिके लिये ऐसी
युक्ति है इत्यादि रूपसे जो कथन करता है वह यति कुपित क्षपकको अपनी मधुर वाणीसे प्रसन्न कर सकता है.

गिद्धं मधुरं गम्भीरं मणप्पसावणकरं सवणकंते ॥
वेइ कंहं गिब्बवगो तवीसमण्णाहरणहेडं ॥ ५०२ ॥
गंभीरां मधुरां अज्यां शिष्याचिन्तप्रसादिनीं ॥
सुन्वकारो ददात्यस्मै स्मृत्यानयनकारणिस्सु ॥ ५१८ ॥

पिजयोदया—पिद्धं प्रियध्वननगुह्यतया स्निग्धं । मधुरं अवतिमोराक्षरतया मधुरं । गंभीरं अर्द्धमद्वतया ।
मणप्पसारकरत्वं सप्त प्रवृत्ताप्रतिप्राप्तिर्ना । सवणं कते श्रुतिसुखं । वेइ कंहं कथां कथयन्ति । गिब्बवगो निर्बोपकः । सदी-
समण्णाहरणहेडं । स्मृतिसमानयनकारणं । पूर्वोक्त्युताशंभोरस्मरणं ॥ स्मृतिरिति श्रुते मतिवचनो वा । 'मतिः
दमृतिः संज्ञा चित्ताभिनिबोध श्रवणार्थावगमः' इति वचनात् । तेन सुन्दितमानयनकारणमित्यर्थः इति केचित् ।

मूलात्—सगणकंते श्रुतिस्त्रयं । हेदि कमचति । कयं कयां । सदीसमण्णाहरणहेदुं स्मृतिसमत्वाहरणहेदुं स्यते पूर्वान्पत्तगीर्धार्यगोचरस्य स्मरणस्य मतेवां समान्यनकारणम् ॥

अर्थ—आचार्य बहुत प्रिय वचन होनेसे स्निग्ध, कलोलधर न होनेसे मधुर, बहु अर्थयुक्त होनेसे गंभीर, मनसो आनंदित करनेवाली, कर्णको सुख देनेवाली, ऐसी कथा कहते हैं, जिस कथाको सुनकर श्रवकको पूर्वकाल में अल्पस्त ध्रुतज्ञानके विषयका स्मरण होभा ऐसी कथा वे कहते हैं,

णिज्जगधगो हत्थेस्सत्तपदं व्यावधे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रवणभरिदं समुद्धम्मि ॥

णिज्जवओ धारेदि हु त्तिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥ ५०३ ॥

सुखकारी दधात्येनं मज्जंतं दुस्तरे भवे ॥

पूतरत्तममृतं पोमं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥

विजयोदया—अह पक्खुभिदुम्मीए यथा प्रचलितलंसे । समुद्धम्मि समुद्धे । पोदं पोतं माय । रवणभरिदं रत्नैर्भरितं णिज्जगधो निर्योपक । धारेदि एतु धारयति । त्तिदकरणो परिचितक्रियः । बुद्धिसंपण्णो बुद्धिसंपन्नः सुदिमान् ॥

मूलात्—पक्खुभिदुम्मीणे प्रक्षुभितोभिके । पोदं ग्रथहृषं । णिज्जवगो निर्योपकः कर्णधार इत्यर्थ । त्तिदकरणो परिचितक्रियः ॥

णिज्जगधो इत द्वापदकां स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—जिसमें तरंग उछल रहे हैं ऐसे समुद्रमें नौका चलानेका जिसने खूब अभ्यास किया है ऐसा सुदिमान नाविक रत्नोसे भरी हुई नाकाओ इवनेसे रक्षण करता है,

तह संजमणुभरिदं परिससहुम्मीहिं खुभिदमाद्धं ॥

णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवेदेसहिं ॥ ५०४ ॥

मल्लिसंयमरत्ताढं यत्तिनावं मवारणवे ॥

विमज्जंतो महाप्राज्ञो विमल्लिं सरिनाविकः ॥ ५२० ॥

विज्ञायोदया—तद् संज्ञमयुज्यारिदं तथा संयमेव युषेद्व्य भवति संपूर्ण । संयमस्य खर्वभयो युगेभ्यः प्रधानतया न संयमसादस्य पूर्वनिगतः । परित्सुदुग्मीति श्रुतिस्मात्तु खानि परीयहास्ते । ऊर्जय इवानु क्रमेणोद्गच्छन्त्य ऊर्मिज्यप-
देनां लभन्ते । परीयहोर्मिभिः सुभिदं चालिने । अद्विदं त्रिकगूढं यवियोतं ॥ बिम्बवगो घोरेदि सु निर्वर्षकसुरिर्धारयति ।
मधुरेदि द्विदोक्तेदेदि मधुरोहितोपवेदोः ॥

मूलाया—परीतदुग्मीदि परीयद्वा ऊर्जय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति कृत्वा । सुभिदं चालिने । आविदं त्रिव्यग्भूतं
धर्मितं वा ।

अर्थ—यैसे संप्रयुक्तोसे मरी हुई यह क्षपकनोका झुचा, प्यास, चौरह तरंगोसि क्षुब्ध होकर तिरछी हो-
रही है, ऐसे समयमें निर्यपकाचार्य मधुर शिरोपदेशके द्वारा उसको धारण करते हैं अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं,

धिविचलकरमादहिदं मधुरं कण्ठाहुदि जदि ण देइ ॥

सिद्धिसुहभावहंती चचा साराहणा होइ ॥ ५०५ ॥

कर्णाहुतिं न चेहते धृतिस्थामकरीं गणी ॥

आराधनां सुखाहर्त्री जहानि क्षपकस्तदा ॥ ५०६ ॥

विज्ञयोदया—धिविचलकरं धृतिचलकारिणीं स्मृते, स्वैर्य धृतिस्तस्या अपर्यमकारिणी । आवहिदं कात्म
चित्तो । मधुरं मधुरं । कण्ठाहुतिं कर्णाहुति । अदि ण देदि यदि न दयात् । सिद्धिसुधानवनकरिणी आपाहणा चचा
होदि एकता भवति ।

मूलाया—धिविचलकरं स्मृतिर्यैर्यपर्यमकारिणी । कण्ठाहुदि कर्णयोपद्रुतिर्होम इव संतर्पकत्वात्। कर्णक्षप-
मित्यर्थः । आपहन्ती धुरंती ॥

अर्थ—निर्यपकाचार्य भी वाणी धैर्य उत्पन्न करती है, आत्मके हितका वर्णन करती है, मधुर और
कर्णाच्छादक होती है, आचार्य यदि ऐसे वाणीका उपयोग न करेंगे तो शुक्तिमौल्यकी प्राप्ति करनेवाली आराधना-
ओंका क्षपक त्याग करेंगा,

इय णिज्जवओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ॥

होइ य किच्ची पधिदा एवेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥ ५०६ ॥

क्षपकस्य सुखं दत्ते कुर्वन्गो हितदेशनाम् ॥

निर्योपकं महाप्राज्ञं तमाहुः सुखकारणम् ॥ ५२२ ॥

ददाति शर्म क्षपकस्य स्तुरिर्निर्योपकः सर्वमपास्य दुःखम् ॥

यतस्ततोऽसौ क्षपकेण सेव्यः सर्वे भजन्ते सुखकारिणं हि ॥ ५२३ ॥

इति सुखकारी ।

पित्तगोदया—एय पथ । विषयघगो निर्योपकः । तवगस्स क्षपकस्य । णिज्जावगो होदि निर्योपको भवति । सदायरिओ सदाचार्योः निर्योपकायगुणसमन्वितः क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूत्रेर्सेयति । होदि य किच्ची पधिदा भवति य कीर्तिं प्रथिता । एवेहिं गुणेहिं जुत्तस्स आचारवत्यादिभिर्गुणैर्लोक्य ॥

प्रकृतमुपसंहारप्रकारद्वारेण निर्योपकस्य स्वार्थमिति दर्शयति—

मूलाय — पदिदा प्रथिता प्रख्याता । एवेहिं आचरवत्यादिभिरष्टाभिः ॥ निर्योपकः ॥

प्रस्तुत प्रकरणमी उपसंहार गाथा—

अर्थ—इस प्रकारसे क्षपकका मन आलङ्घ्यदित करनेवाले आचार्यं निर्योपक होसकते हैं अर्थात् निर्वापकत्व गुणधारक, आचार्य क्षपकका समाधिभरण साथ सफते हैं, आचारवत्यादि गुणोंका यहां तक वर्णन किया. इन गुणोंसे परिपूर्ण आचार्य की अगतमें कीर्ति फैल जाती है जैसे इन गुणोंसे आचार्य क्षपकके ऊपर उपकार करते हैं ये इन गुणोंसे उनका उज्ज्वल यश भी जगतमें श्रद्धित होता है.

इय अट्टगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि ॥

स्वगो वि ते भयवदी उवगृह्णहि जादसंवेगो ॥ ५०७ ॥

शियसुग्गममुपमपम्भममलं व्रतयति शमवति हितकृति सकलं ॥

नितरति पतिपतिरिति गुणकलितः शमयमदममयमुविजनमहितः ५२४

युगेतरमीभिः कलितोष्टभिर्जनैः समेत्य (१) कीर्तिः शशिरश्मिनिर्मलाम् ॥
आराधनासिद्धिवरंगनासस्त्रीं वदति सूरिः क्षपकाय निश्चितम् ॥ ५२५ ॥

इति सुस्थितः

विजयोदया—इय एवं । अद्युणोयेवो आचारवानित्याद्ययुणोपेतः सूरिः । कसिचं कुरुतां । आराधनं आराधनां । उपविषेदि दीप्तयति । तयगो वि क्षपकोऽपि । तं तां भगवतीं सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीं । उगगूहवि भाङ्गि-
मति । आरसंयेतो उत्पद्यसेनारभीकृतः । सुद्विदे सम्मत्तम् ॥

ययोक्तगुणमूरैः सकलारापनासांयादकत्वं भवभीकृत्य य क्षपकस्य वदाल्लिगन्सुपदिशन्नाह—
मूलारा—उबविषेदि उपदोऽकते । भयवर्धो सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीम् । उबगूहवि आङ्गिगति ॥
सुस्थितः । सुनत ॥ १७ । अंकत ॥

अर्थ—इत प्रभार आठ गुणोंसे पूर्ण आपारंपका आश्रय करनेसे क्षपकको चार प्रकारकी आराधना प्राप्त होती है, और जिसको संसारभय उत्पन्न हुआ है ऐसा वह क्षपक भी संपूर्ण वाधाओंका नाश करनेवाली, अपूर्व माहात्म्ययुक्त भगवती धंय आराधनाको आलिङ्गन देता है.

एवे सुद्विदे एत्यतद्वयाप्येते, इत उचरं उपसंया इयेतद्वयाख्यापेते—

एवं परिमगिगत्ता निःजवयगुणेहि जुचमायरियं ॥

उवसंपञ्जइ विज्जावरणसमगो तगो साहु ॥ ५०८ ॥

निर्यापकं गुणोपेतं मार्गचित्थासित्यन्तः ॥

उपसर्पत्यसो सूरिज्ञानचारित्रमार्गेकः ॥ ५२६ ॥

विजयोदया—एवं परिमगिगत्ता अनिय्य । के आयत्ति आचार्यं । कीटगुतं ? निज्जवयगुणेहि निर्यापकगुणै-
राचारसत्त्वादिभिः समन्वितं । उवसंपञ्जइ दीकते । फः ? तगो सः । साहु साधुः । कीटगुतः ? विज्जावरणसमगो
ज्ञानेन चारित्र्येण समगः संपूर्णः ।

अर्थ—निर्यापकाचार्यं सम्यक्पूर्णीत्य तस्मै एवं समर्पयतः क्षपकस्य गाथापट्टकेनेतिकर्तव्यताकप्रमुपदिशति—
मूलाय—परिमगिगत्ता अनिय्य । उवसंपञ्जइ उपदर्पेति आश्रयतीत्यर्थः । तगो सः । उक्तमार्गेद्यतः ॥

अर्थ—इस प्रकार समग्र ज्ञान और चारित्रिक धारक वह थपक आचारवत्त्वादि आठ गुणोंसे पूर्ण अर्थात् यका श्रोत्रकर उनका आश्रय करता है.

गुरुकुले भारतनिर्गमः उच्यते सप्तनाम समाचारः । तत्कर्म निरूपयति—

तियरणसन्वावासययडिपुणं तस्स किरिय किरियम्मं ॥

विणएणमंजलिक्कवो वाइयवसमं इमं भणदि ॥ ५०९ ॥

कूतिकर्मं विधायासो एरिपूर्णं त्रिगुद्धितः ॥

आचार्यवृषभं वसति मस्तकारोपितंजलिः ५२७ ॥

विजयोदया—तियरणसन्वावासययडिपुणं किरिय तस्स किरियम्मं । तदयं नियोषकस्य स्रोतः कृतिकर्मं धंद्वमां कृत्वा । कौशं तिरियणसन्वाधानगमिडिपुणं मनोपाकायात्मतयोविदयकप्रतिपूर्णं सामायिकं, अनुर्विशतिस्तयो धंद्वना, प्रतिकर्णं, प्रत्यापयानं, कायोत्सर्गं, इत्येतं मनोयज्ज्ञाप्रविकल्पेन विविधाः पञ्चविदयकसंज्ञिताः । मनसा सर्वसाधय भोगनिवृत्तिः, वचसा सन्धं सावज्जजोगं पचन्वामि इति यचनं । कायेन सावयकिप्राननुष्ठानं, मनसा वदुर्विधाति तीर्थकृतां गुणानुसरणं 'लोगस्सुजोययेर' इत्येयमदीर्घां गुणानां वचनं । सल्लहविषयस्तत्तत्पुण्ड्रतराग्निभयः कायेन । धंद्वनैयगुणानुसरणं मनोवंदना । वाचा तद्रुणमहादृग्प्रकाशानप्यचनोदधारणं । कायेन धंद्वना प्रवृत्तिगोचरणं कृता- नतिश्च । मनसा कृताविधातारिक्वृत्तिः । हा कुण्डलमिति वा मनःप्रतिकर्मणं । स्रोतोदधारणं यादयप्रतिकर्मणं । कायेन तद- भाचरणं फायप्रतिकर्मणं । मनसातिचारादीनां करिण्यामि इति मनःप्रत्यापयानं । वचसा तत्तत्तारिण्यामि इति उदधारणं । कायेन तत्तत्तारिण्यामि इत्यंगीकारः । मनसा शरीरे मधेदमावनिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः । प्रलेपभुजस्य, चतुरंगुलमात्र- पाशंतरस्य निवृत्तवस्थानं कायेन कायोत्सर्गः । कायापयनियमसमकृत्वा परान्ते गुणवासीने प्रसन्नचेतसि शनैरगारय शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे अलसीये आसित्वा कृतांजलिः भगवत्कृतिकर्मवंदनामिच्छामीति आलोच्य अनुष्ठानः शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अंबिलवितमगुदुतं समायिकं पठेत् । सूत्रानुगतं, अविवलं, अधिकृतं स्थितः कृतकायोत्सर्ग- अनुर्विशतिस्तवमभिधाय सूरिणानुक्तभग्नः गुरुस्तवनं पठेत् इत्येषा कृतिकर्मवंदना । वंदनोत्तरकाले विणएण विनयेन अंजलिक्कवो मुकुलीकृतांजलिः । वाइयवसमं आचार्यपूर्यमं । इणं इदं । गणदि प्रवीति इति ॥

गुरुकुले आत्मनिर्गमं उपपन्नं नाम समाचारस्तत्कर्म निरूपयति—

मूला—तियरणसन्वावासययडिपुणं मनोपाकायकृताचार्यक्रियापरिपूर्णं, आचार्यक्रिया चात्र विदयोग्या-

धार्मसाधिमध्यः । इत्यमेव श्रीचन्द्रमुनिकृतनिबंधे व्याख्यानात् । किदिकम्पं वंदनां । अजलिकदो मुकुलीकुतां वलिः
वायव्यवसहं वाचकधुरमं आचार्यप्रधानं । इणं इहं वश्यमाणं वेत्ति मवीति ॥

गुरुकुलमें आपना आत्ममर्माण करना यह उपसंघा अर्द्धका अभिप्राय है. अतः इस उपसंघा समाचारका
क्रम आचार्य दिखाले हैं -

अर्थ- मन, वचन और शरीरके द्वारा मर्ण सामागिकादि छह आवश्यक कर्म जिसमें पूर्णताको प्राप्त हुए
हैं ऐसा कृतिकर्म कर अर्थात् वंदना करके विनयसे हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्य को क्षयक आगे लिखे हुए ध्वजके
अनुसार विज्ञप्ति करता है -

सामागिक, चतुर्विंशतिस्तय, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएं
मनोयोग, वचनयोग और काययोग को निर्मल करके करने चाहिये. अर्थात् प्रत्येक आवश्यकके योगके संबंधसे
तीन तीन भेद होते हैं. मनके द्वारा सर्व साधयोगोंका त्याग करना, सर्व साधयोगोंका मैं त्याग करता हूँ ऐसा
वचनसे उच्चार करना, शरीरमें सर्व साधय क्रियाओंका त्याग करना ऐसे सामागिकके तीन भेद होते हैं. मनसे
चोपीस तीर्थक्षेत्रोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनसे ' लोयस्सुज्जोयये ' इत्यादि श्लोकोंमें कही हुई तीर्थक्षेत्र स्तुति
पोलना, ललाटपर हाथ जोड़कर जिनेंद्र भगवान को नमस्कार करना ऐसे चतुर्विंशति स्तुतीके तीन भेद होते हैं.

वंदना करने योग्य गुरुओंके गुणोंका स्मरण करना यह मनोवंदना है. वचनोंके द्वारा उनके गुणोंका
महत्त्व प्रगट करना यह वचनवंदना है. और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह कायवंदना है. किये हुए अति-
चारोंका मनसे त्याग करना यह मनःप्रतिक्रमण है. हाथ हाथ मेंसे पापकार्य किया है ऐसा मनसे विचार
करना यह मनःप्रतिक्रमण है. प्रतिक्रमणके धर्मोंका उच्चार करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है. शरीरके द्वारा दुष्कृत्यों
का आचारण न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है.

मनसे मैं अतिचारोंको भविष्यकालमें नहीं करूंगा ऐसा विचार करना यह मनःप्रत्याख्यान है. वचनसे
अतिचार मैं भविष्यमें नहीं करूंगा ऐसा पोलना अर्थात् भविष्यकालमें मैं अतिचार नहीं करूंगा ऐसा कहना यह
वचनप्रत्याख्यान है. शरीरके द्वारा भविष्यकालमें अतिचार नहीं करना यह कायप्रत्याख्यान है. यह शरीर मेरा नहीं
है ऐसा मनमें विचार करना अर्थात् शरीरपर मनसे ग्रेम दूर करना यह मनःकायोत्सर्ग है. मैं गुरीरका त्याग

करता हं ऐसा बचनोच्चार करना यह बचनकृत कायोत्सर्ग है, चाहू नीचे छोटकर चार अंगुलमात्र अंतर दोनों पानोंमें रखकर निश्चल खड़े होना यह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है.

(कायापायनिरासमकृत्या इम पदका अर्थ ध्यानमें आता नहीं) एकान्तस्थानमें गुरु प्रसन्न चित्तसे बैठे हैं ऐसा देखकर उनके पास भद्रदरीतीसे आकर अपना शरीर और जमीन पिच्छासे साफ करना चाहिये तदनंतर गुरुसे बुर अथवा निकटन बैठकर अर्थात् गुरुसे थोड़े अंतर पर बैठकर हाथ जोड़ने चाहिये. ' हे भगवन् कृत्तिकर्मवन्दना करनेकी चेरी इच्छा है ' ऐसा कहकर आलोचना करनी चाहिये. उनकी अनुज्ञा मिलने पर साव-काश छठकर मस्तकपर हाथ जोड़कर रखने चाहिये और सामायिकका पाठ पढ़ना चाहिये. पाठ पढ़ते समय शीघ्रता और सायकशपना छोड़कर मध्यम प्रकारसे सामायिकपाठ पढ़ना चाहिये.

छत्रके अनुसार दोपोंका त्याग कर निश्चल खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये. तदनंतर चतुर्विंशति स्तुति पढ़कर गुरुके ऊपर प्रेम रखकर गुरुस्तुति पढ़नी चाहिये. इसीको कृत्तिकर्मवन्दना कहते हैं.

तुज्ज्ञेत्य चारसंगसुदयारथा सवणसंघणिज्जयथा ॥

तुज्झं खु पादमूले सामणं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥

निर्यापकं महासूरिं स्मृत्याध्यानपरायणम् ॥

क्षपको नाशनुते सौख्यं विधेकमिव शाश्वतम् ॥ ५१८ ॥

तीर्णद्वयपयोधीनां समाधानविधायिनम् ॥

गुप्फाकर्मीया पादांते योतयिष्यामि संयमम् ॥ ५२९ ॥

विजयोक्ता—तुज्ज्ञेत्य यूयमत्र । चारसंगसुदयारथा द्वादश आचारदीप्ति अंगानि यस्य तत् द्वादशांगं अत एव तस्य पारं गता । सवणसंघणिज्जयथा आस्यंति तपस्यंति इति अभ्यासः । तेषां समुत्थय. अमणसंघ तस्य निर्यापका । तुज्झं खु पादमूले गुप्फाकर्मी पादमूले उज्जवेज्जामि उच्योतयिष्यामि । सामणं यामण्यं ॥ विनयपूर्वकं क्षपकः क्षणीयकं प्रतिजानीते—

मूळारा—इत्य अत्र चेक्षे णिज्जवया समाधिसपधारकाः, उज्जवेज्जामि संपूर्णं करोमि ॥

वंदनाके अनंतर विनयसे हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्यको आगे कहे हुए श्रवणके अनुसार बोलता है—
 'अर्थ—हे आचार्य' आपने द्वादशांग धृतज्ञानरूपी समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त किया है. आप तपश्चरण
 करनेवाले मुनियोंको समाधिपरण की प्राप्ति करनेवाले हैं. आपके चरणोंका आश्रय लेकर मैं मेरा श्रामण्य-मुनिवत्
 उज्ज्वल करना चाहता हूँ. अर्थात् मेरे ब्रह्मोंमें आज तक जो दोष लगे हुए हैं उनका श्रायश्चित्त लेकर ब्रह्मोंको उज्ज्वल
 करना चाहता हूँ

भारतेच्छां सुरये प्रकटयति—

पञ्चज्यादी सत्त्वं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं ॥
 दंसपणाणचरित्ते निरसहो विहरितुं इच्छे ॥ ५११ ॥
 वीक्षाप्रभृति निःशेषं विद्यायालोचनामहम् ॥
 विलिख्येषामि निःशाल्यध्वतुरंगे निराकुलः ॥ ५३० ॥

विशेषोदया—पञ्चज्यादी सत्त्वं वीक्षाप्रहणादिकां सर्वां । कादूणालोयणं कृत्वालोचनं सुपरिसुद्धं दोषरहितं ।
 दंसपणाणचरित्ते चोपमयानचरित्ते निरसहो शस्यरहितो भूया । विहरितुं विदुर्लु आचरितुं । इच्छे इच्छामि ॥
 भारतेच्छां स्वपकः सुरे प्रकाशयति—

मूढरा—पञ्चज्यादी वीक्षाप्रहणाप्रभृति निरसहो अतीवारविवाजितो भूया । विहरितुं आचरितुं । इच्छे इच्छामि ।
 क्षपक अपनी इच्छा आचार्यको कहता है—

अर्थ—वीक्षाप्रहणाकाठसे आज तक जो जो व्रतादिकोंमें दोष उत्पन्न हुए हैं उनकी मैं आकांपित, अनुमा-
 नित परीरे दण्डदोषोंसे रक्षित आलोचना कर दूँ, ज्ञान और चारित्र्यमें निःशुल्क होकर प्रवृत्ति करनेकी इच्छा
 करता हूँ.

एवं कन्दे निसर्गे तेण सुबिहिदेण वायओ मणइ ॥
 अणगार उत्तमं साधेहि तुमं अविग्गेण ॥ ५१२ ॥

करता हूं ऐसा वचनोच्चार करना यह बचनकृत कायोत्सर्ग है, चाहू नीचे छोड़कर चार अंगुलमात्र अंतर दोनों पावोंमें रखकर निश्चल खड़े होना यह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है—

(कायापायनिरासमकृत्या इस पदका अर्थ ध्यानमें जाता नहीं,) एकान्तस्थानमें गुरु प्रसन्न चित्तसे बैठे हैं ऐसा देखकर उनके पास मंदरीतीसों आकर अपना शरीर और जमीन बिछोकासे साफ करना चाहिये, तदनंतर गुरुसे दूर अथवा निकटन बैठकर अर्थात् गुरुसे थोड़े अंतर पर बैठकर हाथ जोड़ने चाहिये, ' हे भगवन् कृतिर्कर्मवन्दना करनेकी मेरी इच्छा है ' ऐसा कहकर आलोचना करनी चाहिये, उनकी अनुज्ञा मिलने पर सावकाश ऊठकर मस्तकपर हाथ जोड़कर रखने चाहिये, और सामायिकका पाठ पढ़ना चाहिये, पाठ पढ़ते समय काव्य प्रवृत्ति और सावकाशपना छोड़कर मध्यम प्रकारसे सामायिकपाठ पढ़ना चाहिये,

द्वयके अनुसार दोपोंका त्याग कर निश्चल खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये, तदनंतर चतुर्विंशति स्तुति पदकर गुरुके ऊपर प्रेम रखकर गुरुस्तुति पढ़नी चाहिये, इसीको कृतिर्कर्मवन्दना कहते हैं—

तुज्जैत्य चारसंगसुदुपारया सवणसंघणिज्जवया ॥

तुब्बं खु पादमूले सामण्यं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥

निर्यापकं महात्तरिं स्मृत्याध्यानपरायणम् ॥

क्षपको नाश्नुते सौकर्यं विवेकमिव शाश्वतम् ॥ ५१८ ॥

तीर्णश्रुतपयोधीर्ना समाधानविधायिनाम् ॥

गुष्माकमीश पदांते योतयिष्यामि संयमम् ॥ ५२९ ॥

विजयोदया—तुज्जैत्य यूयमत्र । चारसंगसुदुपारया द्वादश आचारपदीनि अंगानि यस्य तत् द्वादशानि श्रुते सागर इव तस्य पारं गताः । ममणसंघणिज्जवया धाम्यंति तपस्यंति इति धमणाः तेषां सङ्गुदायः श्रमणसंघः तस्य निर्यापकाः । तुब्बं तु पादमूले गुष्माकं पद्ममूले उज्जवेज्जामि उद्योतयिष्यामि । सामण्यं श्रामण्यं । विनयपूर्वकं क्षपकः करणीयकं प्रतिजानीते—

मूला—इत्य अत्र देखे गिज्जवया समाधिसंपपारकाः, उज्जवेज्जामि संपूर्ण करोमि ॥

दुःखोपा नाश करतेगली आराधनापताका हाथमें ग्रहण करनेका सुमने निधाय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनासे कर्मोन्ना नाश होता है. कर्मोन्ना नाश होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद श्रीसत्यो मा य होहि उब्बादो ॥

पडिचरएहिं समंता इणमण्डं संपहारेमो ॥ ५१४ ॥

महाभते ' तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयं ॥

समं सहायैरचरयामस्तत्त्वेन कृत्यं हि परीक्ष्य सद्भिः ॥ ५३३ ॥

इति उपसर्पणसूत्रम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताम सुविहिद आस्त्य ताषयते । वीसत्यं विभक्तं । मा य होहि उब्बादो इयाकुलित-चित्तो मा च भू । पडिचरएहिं समं नतिचारकैः सह । इणमण्डं इदं प्रयोजनं । संपहारेमो संपघाटयामः । उपसंया निरूपिता ।

सूरिः क्षपकमाश्वासयथाह —

मूलात्—अच्छाहि आस्त्य तिष्ठ । वीसत्यो विभक्तः । उब्बादो व्याकुलितचित्तः । इणमण्डं इदं प्रयोजनं

॥ संपघाटो पर्यालोचयामः ॥ उपसंयम् ॥ सूत्रवः ॥ १८ ॥ अंकवः ॥ ६ ॥

अर्थः—हे क्षपक ! अत्र तुम निःशंक होकर हमारे संपर्कें उठो. अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोंने साथ तुममें विषयमें अवश्य विचार करोगे. इस प्रकार उपसंयाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तम्स उत्तमहे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ॥

खीरोदणदब्बुग्गहदुंछणाए समाधीए ॥ ५१५ ॥

आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं तं परीक्षते ॥

जिघृक्षानिचिचित्साध्यामुत्तमार्थं समाचये ॥ ५३४ ॥

इति परीक्षणम् ।

एवं कृते स्वनिक्षेपे ततो ब्रूते गणेश्वरः ॥

निर्विघ्नमुत्तमार्थं त्वं साधयस्व महामते ॥ ५११ ॥

विजयोदया—एवं कदे विसर्गो स्वभावत्यागे कृते । केन तेन सुविहिदेष तेन सुचारितेन रूपकेण । वायभो मणर सूरिवदति । यणयार त्यकभावागारत्वादन्वार तस्य संयोगं । उत्तमं उत्तमं प्रयोजनं रत्नत्रयं द्रव्यं । साधेहि साधय । तुमं त्वं । अविग्नोप अविघ्नैः ।

आचार्य आह—

मूलार—विसर्गो कात्स्न्यभावात्त्यागे । उत्तमं उत्कृष्टप्रयोजनं रत्नत्रयं । साधेहि साधय संपूर्णोद्धार । तुमं त्वं ॥

अर्थ—इस प्रकार जन क्षपक अपना अधिप्राय आचार्यके पास जाकर व्यक्त करता है तब “हे मुने तुमने बाल और अन्यंतर परिग्रहोंका त्याग किया है. इसलिये अब तुम निर्विघ्नतासे उत्तम प्रयोजन जो रत्नत्रय उसको सिद्ध करो.

धणोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ॥

संसारदुक्खमहणीं वेत्तुं आराहणपढायं ॥ ५१३ ॥

धन्यः स त्वं वंदनीयो बुधानां । साधो ! बुद्धिनिश्चिता चास्तमोह ! ॥
पस्यासंसारधर्मा सिद्धिवृत्ती तीक्ष्णां जन्मारामशार्द्धीं ग्रहीतुम् ॥ ५३२ ॥

विजयोदया—धणोसि तुमं पुण्ययामसि भवान् । सुविहिद तेन परिसर्गो जस्स णिच्छओ जाओ । उपलक्षणपरं मनोक्षादारग्रहणे ईदग्यस्य निश्चयो जातः । संसारदुक्खमहणीं संसारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दुःखानि तन्मार्गो हति भावः । उपसंया ॥

सूरिराराधकं श्रोत्साहयति—

मूलार—संसारदुक्खसमधर्णीं

वदपरमाच्च तदुःखनिवृत्तिरिति भावः । चतुर्गतिभ्रमणखेलाविनश्वरानोयतां । रत्नत्रयाराधनया हि कर्मण्यपारच्छन्ति

अर्थ—हे धपक तुम बड़े पुण्यवान हो. क्योंकि, चतुर्गतिओमें प्रभानवाले इस संसारमें उत्पन्न होनेवाले

दुःखोक्ता नाथ करनेवाली आत्मनस्पृहाका हाथमें ग्रहण करनेका तुमने निश्चय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनामें कर्मोक्त नाथ होना है. कर्मोक्ता नाथ होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद वीसत्यो मा य होहि उव्वादो ॥

पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारो ॥ ५१४ ॥

महामते ! तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं याचदिवं त्वदीयं ॥

समं सहायैरययारया भस्तस्येन कृत्यं हि परीक्ष्य सज्जि ॥ ५३३ ॥

इति उपसर्पणस्तुतम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताव सुविहिद आस्त तापयले । वीसत्यं विभक्तं । मा य होहि उव्वादो व्याकुलित-चित्तो मा य भू । पडिचरएहिं समं प्रतिचारकैः सह । इणमट्ठं इदं प्रयोजनं । संपहारो मो संमघात्त्यामः । उपसंया-निकृषिता ।

सूरिः क्षपकनाथासयसाह—

मूळार—अच्छाहि आस्तव तिष्ठ । वीसत्यो विभक्तः । उव्वादो व्याकुलितचित्तः । इणमट्ठं इदं प्रयोजनं ॥ । संपहारो मो पर्यालोचयामः ॥ उपसंयात् ॥ सूत्रः ॥ १८ ॥ अंकः ॥ ६ ॥

अर्थः—हे क्षपक ! अब तुम निःशुंक् होकर हमारे संगमें रहो. अपने मनमेंसे त्विषठाको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोके साथ तुमारे विषयमें अवश्य विचार करो. इस प्रकार उपसंयाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सप्तपद्याख्या—

तो तम्स उचमहे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्ह ॥

खीरोदणदव्वुमाहुतुंछणाए समाधीए ॥ ५१५ ॥

आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं नं परीक्षते ॥

जिणुक्षाविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थे समाचये ॥ ५३४ ॥

इति परीक्षणम् ।

विज्ञयोद्या—तो पद्यात् । तस्स तस्य संपत्तस्य । उत्तमहे करणुच्छाहं रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं । पडिच्छदि परीक्षते । विदण् मागं । श्रीरोदनदन्तुगदुगुं उणाए क्षीरोदनद्रव्यग्रहण मनोवाहाराग्रहणोपलक्षणं । जुगुप्सापरेण समाधीय समादिनाहारागतं लौल्यमास्य नि धिचते न चेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । समाधिनिमित्तं पडिच्छा ।

अथ मूरिः किमादारेऽस्य लौल्यमस्ति न वेति समाचर्य परीक्षते इत्येकत्रया मायया सूत्रयति—

मूलरा—विदण् मागंशः । श्रीरोदनदन्तुगदुगुंछणाए क्षीरोदनद्रव्यं मनोज्ञाहारीपलक्षणं तस्य अवग्रहो प्रहणं च विधिक्रित्ता निदा तया । अथवा उल्लेखो मद् उद्ग्रह आसांकि मनोज्ञाहारात्किर्निदाभ्यामित्यर्थः । समाधीय समाधिनिमित्तं । उक्तं च—

तत्स्योक्तमार्ये परिणामयुक्तिपरीक्षणात्सूरिवद्वारबोधः ।

इत्यादिसद्रूप्यरमोपयोगे रत्या जुगुप्सा विधिना समाधौ ॥

परीक्षा । सूत्रः ॥ १९ ॥ अंकतः ॥ १ ॥

इत्येके त्रयो पडिच्छा नामकं सूत्रपदसौ न्याख्या लिखते हैं—

अर्थ—मार्गज्ञ आचार्य यह क्षपक रत्नत्रयाराधनाफी किया करने में उत्साही है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. यह क्षपक नमाधिभरणके लिये उद्युक्त हुआ है परा दुग्धभाव वगेरह मनोहर भिष्ट आहारोंमें यह अभि-
लापवान् है या उसमें निरक्त है इसका भी आचार्य निर्णय करते हैं. यह समाधिके निमित्त परीक्षा है.

खवयस्सुवसंपणत्स तत्स आराधणा अविवेखेवं ॥

विद्वेण निमित्तेण य पडिलेहदि अपमत्तो सो ॥ ५१६ ॥

आराधनागतं क्षेमं क्षपकस्य समीयुषः ॥

विद्वेण निःप्रमादो सौ निमित्तेन परीक्षते ॥ ५३६ ॥

विज्ञयोद्या—रावगसम क्षपकस्य उवसंपणत्स अत्तांतिरमुपाधितस्य । तस्स तस्य । आराधणा अविवेखेवं आराधनाया अभिज्ञेण । पडिलेहदि परीक्षते । ५. १ सो च सुविनिर्घेयत्त । यत्पमत्तो अपमत्त । रेण विद्वेण देवतोपदे-
देन । निमित्तेण निमित्तेन ना इयमेका परीक्षा ।

अथ रागादमूलमुपाधितस्य अपकस्याराधनानिर्विघ्नना राव्यादिकं च परीक्ष्य स्वीकारं करोतीति प्रसिद्धेता
माथाद्वयेनोपदिशति—

गुणोक्तः—अपि ह्येषा अवयवस्य आराधनाया अन्याक्षेप निमित्ततां । हिल्लेण देवतोपदेहेन, निमित्तेण च 'अंगं चरं वंजण संवत्तणं च छिण्णं च भोगं विविण्णवत्तिखं' इत्यष्टांगनिमित्तेन वा पडिल्लेहि परिश्रमे निरूपयति वा ।

अर्थ—इमारे संपत्तिका इत छापकने समाधिकलिये आश्रय लिया है, इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं इस विषयका भी आचार्य देवताके उपदेशसे अथवा गुणानुसृत निमित्तोत्से निर्णय करलेते हैं, यह भी एक परीक्षा है.

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमपणं च पडिल्लिहिसाणं ॥

गुणसाधणो पडिल्लेहि अप्पडिल्लेहाए बहुदोसा ॥ ५१७ ॥

तं गृहीते मार्गवेदी गणं स्वं राज्यं खेत्तं भूमिपालं निरूप्य ॥

साधुं तरेगृह्णतो निःपरीखं चित्रा दोषा दुर्निचारा भयन्ति ॥ ५१८ ॥

इति निरूपणम् ।

विजयोक्त्या—रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमपणं च राज्यं, खेत्तं, हेतुं प्राप्तमग्रादिकं अधिपति गणमात्मानं च । पडिल्लिहिसाणं परीक्ष्य । गुणसाधणो गुणान्सम्बन्धपूर्णं च साधयति यः सूतिः स पडिल्लेहि प्रतिगृह्णाति । के । क्षपकं । अन्यत्र गुणसाधणं इति पाठः गुणान्सार्धयितुं उच्यते साधुं प्रतिगृह्णाति । अप्पडिल्लेहाए उक्तावाः परीक्षाया अभिधे । साधुं दोषा बहुधा बोधा भवन्ति के ते इति वेदुम्यते । निरुद्धादात्तुगो न वेति यदि न परीक्षितः, आहारे तृणापासक्तं किं तस्मिन् चित्तवतीति कथमारोचक. स्वात् । क्षुण्णिसाधयतिगृह्णत्येवमासद्वन्तात्पुरुषं धर्मदूषणं कुर्यात् । आरोधनाया व्यापेस्यो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि ते न रक्षयति तस्मात् न कार्यमिन्द्रिः स्वयं च निघते ज्ञेयम् । राज्यक्षेत्रादीनां गुणानुसृतं परीक्षा येन कृता सोऽनुमं वेत्त्ययमिति तस्य राज्यवैध्यं स राज्यक्षेत्रादिकं अन्यदुद्दिश्य ते गृहीत्वा प्राति । तथा च तस्यो प्रकारतो भवति । अपरीक्षायां तु राज्यदिग्देशे स च क्षपकः स्वयं च क्लिश्यति । गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति, आत्मतो वा न प्रारभते कार्यं । अपरीक्षितकस्ती सूतिनि तस्योपकारको न चात्मन इति दोषाः ॥

नाविसमाधिनिर्णयार्थं परीक्षान्वरमिदं—

मूढारा—खेत्तं देशप्रामाण्यदादिकं । अधिवदि व्यभिचरति राजानं । गणं संपं । अप्पणं आत्मसारीरं । पडिल्लिहिसाणं परीक्ष्य । गुणसाधको सम्बन्धत्वाद्विगुणसंपन्नक. सूति । गुणसाधनमिति पाठे गुणान्सामयितुमुक्तं क्षपकं । पडि-

न किं पितृवेति निमिहाहमायाव इति क्षपकस्य संकलेश । धद्वन्वसाध्यभिदं कार्यं न चास्मान्गुरुमुमोदयति नापि नलायलमरमाकं विचारयति इति परिचारकाणां संकलेश ॥ आपृच्छा सूत्र- २१ अंकतः १ ॥

परीक्षाके अनंतर आपृच्छा नामक सूत्रपदका व्याख्यान करते हैं—

अर्थः—रत्नत्रयी की आराधना करनेके कार्यमें सहायक चाहता हुआ यह क्षपक अपने संघमें आया है साधु ने तपश्चर्यादिकोंमें आया हुआ विघ्न बुर करना और उसकी झुठ्ठा करना तीर्थंकर नामकर्म बंध होनेमें कारण है यह बात आपको विदित ही है, इस लिये आपे हुये इस अतिथिको हम अनुग्रह—साहाय्य करे वा न करे इस विषयमें आपकी जो सम्मति होगी सो कहो, जगतमें इतर लोक भी परोपकार करनेमें उद्यमी दीखते हैं, हम तो मुनि हैं, संपूर्ण असमर्थोंको संसाररुपी कीचड़से—जिससे निकसना बड़ही कठिन है और जो अगाध है निकालनेमें हमको हमेशा उद्युक्त रहना चाहिये, 'आर्यहित करना चाहिये और शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये' इस वचनके अनुसार इस क्षपकके ऊपर अनुग्रह करना चाहिये क्या? ऐसा आचार्यके पूछने पर यदि परिचारकोंने अनुग्रह करनेमें सम्मति दी तो आचार्य क्षपकको अंगिकारते हैं यदि परिचारकोंको विनापूछे ही क्षपकका आचार्यने स्वीकार किया तो आचार्य, क्षपक और परिचारक दोनोंको भी असमाधि होगी अर्थात् संश्लेषपरिणाम होगा हमने तो इसका स्वीकार किया नहीं है ऐसा समझकर परिचारक क्षपकका विनय करता, झुठ्ठा करना बगैरे कार्यमें उद्यमी न होनेसे नेरी ये लोक भक्ति नहीं करते हैं ऐसा मनमें विचार कर क्षपक संश्लेषयुक्त होगा मैंने उपकार करनेकी इच्छासे इसको संघमें रख लिया है परंतु परिचारक इस कार्यमें सहायक नहीं होते हैं इस विचारसे गुरुके मनमें भी संदेह होगा, समाधिभरण सिद्धि करना यह कार्य बहुत जनकी सहायतासे होनेवाला है परंतु गुरुने हमको विनापूछे ही इस क्षपकका स्वीकार किया है, हमारे सामर्थ्य असामर्थ्यका उन्होंने विचारही नहीं किया है ऐसे विचारसे परिचारक संकलित होते हैं,

पटिच्छणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

एगो संधारगदो जजइ सरिरं जिणोवदोसेण ॥

एगो सच्छिद्वि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहि ॥ ५१९ ॥

एकः संस्तरकस्थोऽग्नौ यजतेऽगं जिनाज्जया ॥

दुःकरैः संहिस्त्यन्यस्तपोभिर्विवैर्यतिः ॥ ५३८ ॥

विजयोदया—एगो संभारगदो एक संस्तरमाकडः । जजद सरीरं यजते दरीरं । जिणोवदेलेण जिमानामुपदेसेन । एगो सहिदडि मुजी एगो मुनिरतनकरोति शरीरं । उगेहि तवोविहण्णेहि उडेस्तपोविधानैः ।

अथ सत्वपि संभसाम्यरेयं एरिणा अनुग्राहत्वेन एक एव संयाधिमरणोद्यन प्रविमाहोऽनेकप्रतिग्रहणे मन-
समाधानां सुसंधानानुपपत्तेरिति प्रविश्यान्नियमार्थं प्रतीच्छां गाथात्रयेण सूत्रयति—

मूलारा—अजदि यजते यपोऽग्नी इति शेषः संन्यस्तवत्पर्यः । एगो अग्न्यो द्वितीय इत्यर्थः । एतेनैतदुक्तं भवति । एकः संन्यामपरः प्रविमाहो, द्वितीयश्च सहेत्यनोद्यनः ॥

पडिच्छणा इत्तं मूलका विवेचन करते हैं—

अर्थः—एक क्षपक छिनेयरके उपदेखानुसार संस्तरपर चढकर दरीरका रयाग करता है अर्थात् समाधि-
मरणका साधन करता है, और एक मुनि उग्र अनशनादि तपोके द्वारा शरीरको शुष्क करता है.

तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाचादो ॥

पडिद्वेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥ ५२० ॥

यजमानक्षतैर्जैस्त्वृतीपो नातुमन्यते ॥

द्वित्रेषु अत्रितपात्रेषु समाधिदीयते तराम् ॥ ५३९ ॥

विजयोदया—तदिको णाणुण्णादो तृतीयो यतिगोशुगतः तीर्थशुद्धिः एकेन नियोक्तेनानुग्राहत्वेन । कुतो यस्मात् । अजमाणस्स हु हवेज्ज वाचादो यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । पडिद्वेसु दोसु तीसु य संस्तरे पवित्रयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षणकेषु समाधिकरणाणि विस्ससमाधानक्रिया विनयेवैयभृत्यादयो हीयंते यस्माद्यजमानस्य व्याघातः । यस्मादेक एव यजमानो भवति ॥

तृतीयप्रतिग्रहणे शेषमाह—

मूलारा—णाणुण्णादो नातुमतत्तीर्थशुद्धिस्तृतीय एकेनाचार्येणानुग्राहत्वेन । कुत इत्याह—अजमाणस्स यपोऽग्नी देहं लुह्वः । यमादो समाधिचिन्त. । पडिद्वेसु दोसु तीसु य संस्तरे पवितयोर्द्वयोस्त्रिषु वा सत्सु । समाधिकरणाणि विच-
समाधानक्रियावित्तवैयाहृत्यादयः । हायन्ति हीयंते ॥

सदे रूवे गंधे रसे य फासे य गिल्जिणाहि तुमं ॥

सब्बेसु कसाएसु य गिगाहपरमा सदा होह ॥ ५२३ ॥

रूपगघरसस्पर्शशब्दानां मा सम भूर्वशाः ॥

कथायाणां विधेहि त्वं शृणाभिच नियहम् ॥ ५४३ ॥

विज्ञेयोपया—सदे कवे गंधे इत्यनया । भुतु शब्दत्रयी विषयास्तेषा ज्यो नाम क ? तद्विषयो हि रागो वध हेतुत्वात् साम्यतिपक्षमारुतया ज्ञेयत्वमेतौपेदेश्यम् । अनोच्यते—सोपस्कारत्वात्स्वभावा सदे, रूवे, गंधे, रसे य फासे य राग इम निपादि एति पदसवध । अतथा शब्दादीना विषयाणा वसेन स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते यथा पुरुषो जितो ऽमयेत्युच्यते या पुरुषयशातुवर्तिनी न मयति । सब्बेसु कसाएसु य सब्बे कपयिषु वा जोधाविषु । गिगहपरमो निग्रह प्रथम क्षमदिभाषनया स्वभा मय ॥

इद्विषयं कथायनिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति—

मूढारा—गिल्जिणाहि नि शेषेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति शेषः । अथवा शब्दादीन्विषयानिर्जय तद्वदो मा भूरित्यर्थः । गिगाहपरमो निग्रहप्रथमः ॥

इन्निर्णयोको और कयायोको तुम जीतो ऐसा उपदेश—

अर्थ—शुद्ध, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोमें उत्पन्न होनेवाले रागभावनको जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे जीतना चाहिये ऐसा कहा उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश दे रहे हैं यह योग्य लचना नहीं।

उत्तर—यद्यपि सोपस्कार रहते हैं अर्थात् उसमें ग्रन्थगवश और कुछ शब्द जोड़कर संगंध डीक मिलाना पड़ता है 'मदे रूवे गंधे रसे य फासे य रागं तुम विणाहि, ऐसा पद संगंध करना चाहिये अर्थात् यहां ऐसा अर्थ समझना चाहिये—हे क्षपक तुम शब्द, रूप, रस, और स्पर्श ऐसा पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रोधादिक कयायोका धमा, मार्दव, आर्जव, और शौचभावनासे निग्रह करो

शब्दादिक विषयोंके आधीन जो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता करा जाता है, जैसे जो स्त्री पुरुषके वश नहीं रहती है उसको इसने पुरुषकी जीता है ऐसा लोक कहते हैं, अर्थात् शब्दादिक कर्णयोंके स्वाधीन है शपक । तुम कदापि न रहोगे तो तुम इन्द्रियजयी कहलायोगे ऐसा इस गायिका अभिराम है-

एवं क्लेशैर्द्विषयजयेन मया पञ्चार्थैर्कर्मव्यमित्यनोत्तरमन्त्रये-

हंतूण कसाए इंद्रियाणि सत्वं च गारवं हंता ॥

तो मलिवरामदोसो करेहि आलोयणासुद्धि ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकपायाशसंज्ञाभिगौरवादिक्म ॥

विहायलोचनां सुद्धां त्वं विधेहि बिभुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विजयोदया--हंतूण हत्ता । कसाए कपायात् । इंद्रियाणि इंद्रियणि च हत्ता । सत्वं च गारवं हंता सर्वं च गारवं हत्ता अक्षिरससातमेवद्विधिवि सत्वं । तो पब्बाय । मलिवरामदोसो मलिवरामदोसो । करेहि कुह । आलोयणासुद्धि आलोचनाख्या सुद्धि । रागद्वेषो भस्वययनदय हेतू इति परित्याग्याविति कथितो ॥ रागाद्य परयति नरो बोधात् । द्वेषादगुणाद्य गृहीते ॥ तस्माद्रामद्वेषो व्युदस्य कर्माणि कार्याणि ॥

एवंभिद्रियजयं कृत्वा यथास्ति कुर्वामहमित्यत्राह --

मूखारा--हंता हत्ता । मलिव मर्दितो । आलोयणासुद्धि आलोचनाख्या सुद्धि ।

इति परित्याज्यौ । ठकं च--एवाद्य परयतीति किमिति परतने स्वचयवनकत्वं निवेदयति । निर्बयो भवता मुमुक्षुणा न कार्यो यतः ॥

इंद्रियजय और कर्णजय करनेके अनंतर मेरा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं--

अर्थ--श्रीपादिकर्णय और स्पर्शनादिक इंद्रियोंको जीत कर मूर्खिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंको है क्षपक तुम जीतों, तदनंतर रागद्वेषोका मर्दन कर आलोचनारूप सुद्धि करो, रागभाव और द्वेषभाव असत्य वचनके कारण है इसलिये उनका त्याग करना चाहिये, रागभावसे मनुष्य दोषको देखता नहीं और द्वेषसे सद्गुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये,

अर्थ—तृतीय यति आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य होवा है ऐसा तीर्थकरनें आगममें नहीं कहा है. अर्थात् आचार्य ऊपरकी गाथाके अनुसार दो मुनियोंके ऊपर अनुग्रह करसकते हैं. दो या तीन मुनि यदि समाधिभरणके-
लिये संस्तरका आश्रय करेंगे तो उनके अन्तःकरणको घर्ममें स्थिर रखनेका कार्य, विनय, वैवाह्यादिक कार्य, यथायोग्य नहीं हो सकेंगे. जिससे उनके मनको संकेल होगा. अतः एकही क्षणक संस्तरारूढ हो सकता है.

तन्हा पडिचरयाणं सम्मद्वयेयं पडिच्छवे खवयं ॥

भणदि य तं आयरिओ खवयं गच्छस्स मज्झमि ॥ ५२१ ॥

एकमेव विधिना यतिं ततः स्वीकरोति स्वसहायसम्मताम् ॥

गृह्णाते हि कबलः स एष यः पंडितेन चवने प्रशस्यते ॥ ५४० ॥

इति एकसंग्रहः ।

मध्ये गणस्य सर्वस्य क्षणकं भापते हितम् ॥

इत्थं कारयितुं शुद्धां विधिनालोचनां गणी ॥ ५४१ ॥

विप्रयोदय—तन्हा तस्मात् । एव एकं । पडिच्छवे अनुजानाति । छात्रं स्वपक्षे पक्षं । पडिचरयाणं सम्मद्वे
प्रतिधारकाणां इष्टं । भणदि य भणति य । तं क्षणकं । कः ? आयरिओ आचार्यः । क । मच्छस्स मज्झमि गणस्य मध्ये ।
क्षणकस्य दिसा किमर्थं गणोऽपि मार्गो यथा स्यात् । पडिच्छणेनस्स ॥

वपसहारमाह —

मूढारा—भणदि शिक्षाभित्तिदोष. । मज्झमि गणोऽपि मार्गद्वो यथा स्थादित्वेवमर्थे गणमध्ये शिक्षयति ॥
एकवर्तीच्छा ॥ सूत्रवः ॥ २२ ॥ अंकवः ॥ ३ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य परिचारक मुनियोंके संमत्यनुसार एक क्षणक मुनिका स्वीकार करते हैं. और ग-
णके मध्यमें उसको आगे की गाथाओंमें कहे सुत्रव उपदेष्ट करते हैं. गणके बीचमें आचार्य क्षणकको उपदेश देनेका
कारण यह है कि, गणको भी समीपिना अर्थात् रत्नवक्ता स्वरूप मादय हो. अर्थात् समधिभरणका जर्गीकार
करते समय केनी मनुते फरनी चाहिये इसका स्वरूप मादय होनेके लिये गणके बीच क्षणकको उपदेश देते हैं.

फामेहि तं चरित्तं सत्त्वं सुहसील्यं पयहिदूण ॥

सत्त्वं परीसहचमुं अधियास्ततो धिदिवलेण ॥ ५२२ ॥

समस्तं स्पृश चारित्रं निरस्य सुस्वचीलताय ॥

परीपहचमुं घोरां सहमानो निराकुलः ॥ ५४२ ॥

विजयोदया— फामेहि प्रतिपद्यस्व । तं भवान् । किं ? चरित्तं चारित्रं । सत्त्वं सुहसील्यं सत्त्वं सुपशीलतां । पयहिदूण त्यपत्ता । सुखदीलितया हि चारित्र्यं भवं भवति । पिबत्योपकरणस्य यस्मै व्याशोघनात् । मनोराहारलंपटो न भिक्षां शोधयति । मायुपकरणे । सुकशील उन्नमादिवेषं न परिहरति मनोभोषकरणवद्धाभिष्ठापत्वात् । फलेशास्वहो यस्य कस्यचिद्वसतायास्तो ॥

अथालोचना गामावत्त्वादित्या व्याचक्ष्णान्त्वा त्वात्सपादयूखमुपाश्रितमारुपकं परिवारकसंयविषया प्रतिगूह्य तवालोचनां मोदुकामः स्मरिस्तमाश्रयित्यभावे च विसुं प्रोत्साहयन्गन्धान्नयमाभिव्यक्त्यनुशास्ति—

मूढारा— फामेहि प्रतिपद्यस्व । तं त्वं । सुहसील्यं सुप्रभावना हि चारित्र्यं भंदायते । पिबत्योपकरणस्य यस्मै व्याशोघनात् । मनोराहारलंपटः कष्टं न भिक्षां शोधयति । मनोभोषकरणाभिष्ठापुक्तु नोन्नमादिवेषं परिहरति । फलेशास्वहो यस्य कस्यचित्स्त्विक्षायां वसन्नायास्ते । अभिषास्वहो सहभाग्यः ॥

क्षपकको आचार्यका उपदेक्ष—

अर्थ - हे क्षपक तुम अपना सुखस्वभाव छोड़कर संपूर्ण चारित्र्यको धारण करो, इस सुखस्वभावसे चारित्र्य भंग होता है, सुखस्वभावी मुनि आहार, उपकरण और वसतिका इनकी झुद्धि नहीं करता है, मनोह्र आहारमें लंपट्टी बनकर उन्नमादिदोषोंका त्याग करता नहीं, अच्छे उपकरणोंमें प्रेमयुक्त होकर उसके दोषोंका परिहार नहीं करता है, श्रेष्ठ सहनेमें असमर्थ होकर जिस किसी वसतिकामें रहता है, इस लिये तुम सुखस्वभावका त्याग करो, अपने धैर्यके सामर्थ्यसे सर्व परीपहोकी सेवाको जीवकर चारित्र्यका तुम रक्षण करो।

सहै स्त्वे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं ॥

सब्बेसु कसाएसु य णिगहपरमा सदा होह ॥ ५२३ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दानां मा स्म भूर्ब्रशः ॥

कपायाणां विधिहि त्वं शत्रूणामिव निग्रहम् ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—सहै स्त्वे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं फा ? सत्त्वियो हि रानो संघ-
देवतात् तत्त्वविपक्षभावनया अतत्त्वत्वेनोपवेष्टव्यः । अत्रोच्यते—सोपस्कारत्वात्सूत्राणां सहै, रसे, गंधे, रसे य फासे य
रागं तुमं जितादि एति पदसंघः । अथवा शत्रूणां विपक्षिणां यथेन स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते यथा पुरुषो जितो
अन्येपुरुष्यते या पुत्रपराशत्रु-रातिनी न भयति । सब्बेसु कसाएसु य सब्बेसु कपायेसु वा कोधादिषु । णिगहपरमो निग्रह-
प्रधानः क्षमादिभावनाया सदा भव ॥

इन्द्रियजन्य कथननिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति—

मूळार—णिज्जिणाहि निक्षेपेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति शेषः । अथवा शब्दादीन्विषयानिर्बोध
तद्वस्तो मा भूरित्यर्थः । णिगहपरमो निग्रहप्रधानः ॥

इन्द्रियैको और कपायोंको तुम जीतो ऐसा उपदेश—

अर्थ—शुद्ध, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोंमें
उत्पन्न होनेवाले रागमादको जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है. रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे
जीतना चाहिये ऐसा यहां उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोंको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश
दे रहे हैं यह योग्य जचना नहीं.

उत्तर—एत सोपस्कार रहते हैं. अर्थात् उसमें प्रकरणवश और कुछ शब्द जोडकर संबंध ठीक मिलाना
पड़ता है. 'महै स्त्वे गंधे रसे य फासे य रागं तुमं जितादि, ऐसा पद संबंध करना चाहिये. अर्थात् यहां ऐसा अर्थ
समझना चाहिये—इ क्षपक तुम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ऐसा-पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न
होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रीडादिक कपायोंका धुमा, मर्दय, आर्जय, और दौनभावनासे निग्रह करो.

शब्दादिक निषेधके आधीन तो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता कहा जाता है- जैसे तो ली पु-
रुपके यद्य नहीं रहती है उसको इससे पुरुषको जीता है ऐसा लोक कहें हैं अर्थात् शुब्दादिक कर्षणोंके स्वाधीन
है शुपक 'तुम कदापि न रहोगे तो तुम शब्दियजयी कहलावोगे ऐसा इस भाषाका अधिप्राप है-

एवै इतैदियकगयजयेन मया कर्षार्थिकर्तव्यमित्ययोरुत्तरमाचष्टे-

हेतूण कसाए इदियाणि सत्त्वं च गार्वं हंता ॥

तो भस्विदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धि ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकपायाधसंस्तभिगौरव्यादिकम् ॥

विद्वत्पालोचनां शुद्धां त्वं विधेहि विशुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विज्ञयोद्या-ईदृण हत्या । कसाए कपायान् । इदियाणि इदियाणि च हत्या । सत्त्वं च गार्वं ईता सत्त्वं च
गार्वं इत्या नरशित्ससात्तेभ्यादिप्रतिस्त्वं । तो पद्यात् । भस्विदरागदोसो नृदितरागदोसः । करेहि कुरु । आलोयणासुद्धि
आलोचनाख्या शुद्धि । रागदोसो असत्यकमदय हेतू इति परित्याग्यविविध कथितौ ॥ रागमत्र पश्यति ततो दोषात् । वेया-
रगुणात् प्रदीते ॥ तस्माद्रागद्वेषी शुद्धस्य पार्श्वेणि कार्वाणि ॥

त्वाभिप्रियजपं कृत्वा दधार्हिकं कुर्वामिदमित्यत्राह-

मूलात्--इत्या हत्या । भस्विदं मर्हिती । आलोयणासुद्धि आलोचनाकर्षणं शुद्धि । रागद्वेषाचसत्ययचनस्य हेतू

इति परित्याग्यौ । उक्तं च--रागमत्र पश्यतीति किमिति पश्यति स्वचक्षककल्प निवेदयति । निर्जयो भवता मुमुक्षुणा न
कार्णो यतः ॥

इदियजय और कपायजय करनेके अनंतर भेदा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं--

अर्थ--क्रीयादिरूपस्य और स्वर्धनादिक इंद्रियोंको जीत कर साद्विगातव, रसगारय और सातमारव ऐसे
वीर्य गारवोंको है शपक तुम जीतो तदनंतर रागद्वेषोंका भर्दन कर आलोचनास्य शुद्धि करो. रागमत्र और
द्वेषमात्र असत्य बचनेके कारण हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये रागमत्रसे मनुष्य दोषको देखता नहीं
और द्वेषसे सवगुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये.

निरतिचारं मदीयं रत्नत्रयं तदा किं सुतोर्निवेदयामीत्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ॥

परमस्विया विसोधी सुद्धवि ववहारकुसलेण ॥ ५२५ ॥

सपट्त्रिंशद्गुणेनापि व्यवहारपटीयसा ॥

कर्तव्येया महाशुद्धिरवश्यं परसार्थिका ॥ ५४५ ॥

विजयोदया—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । अवस्समेव होइ कायव्वा अयदयमेव भवति कर्तव्या । वा विसोधी विमुक्तिः सुरुपुयातिचारणामपकृतिः ॥

आचारवमारीया अट्ठगुणा वसविधो य ठिक्कम्पो ॥

वारस तव छावासय छत्तीसगुणा गुणेयव्वा ॥ ५२६ ॥

अष्टाचारदयो द्वेपाः स्थितिकल्पा गुणादश ॥

तपो व्वादशधा पोटवश्यकं पट्पडाहृतम् ॥ ५४६ ॥

सुद्धि पवहारकुसलेण सुद्धु अवि प्राप्यविपकुशलेनापि । अष्टौ शानाचाराः वर्तमानासाष्टौ, सप्तौ व्वावराविधे, पंच समित्तपः, विधौ गुणयष्ट पट्त्रिंशद्गुणाः ॥

मूढारा—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशद्गुणैः समन्वागतेन किं पुनरन्येनेत्यतिसार्ये अविः । पट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ शानाचारा अष्टौ वर्तमानाचार्य, पंच समित्तपविं, पंच समित्तपस्तिस्रो गुणयष्टेति संस्कृतटीकायां । प्राकृतटीकायां तु अष्टादशतिमूलगुणाः । आचारवमारीयसाष्टौ इति पट्त्रिंशत् । वदि वा दश आलोचना गुणा, दश प्रायश्चित्तगुणा, दश स्थितिकल्पाः, पञ्चजीतगुणाश्चेति पट्त्रिंशत् । एवं सति सूत्रेष्टुश्रूयमाणेयं गाथा प्रक्षिप्तैव लक्ष्यते ॥

परस्मिन्त्या आचारपदिसमस्या- । विखोही- सम्यक्त्वावतिचारणामपकृतिः । सुद्धवि ववहारकुसलेण अतीव प्रायश्चित्तनिगुणेनापि ॥

मोरे वत निरतिचारं है इतलिये गुरूको मे क्या विवेदन कहें? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—छत्तीस गुणोंके धारक व्यवहारकुशल, अर्थात् प्रायश्चित्त दानमें कुशल ऐसे आचार्योंकोभी अन्य आचार्योंके भाक्षीसे आलोचना करनी चाहिये. अन्यथा उनके रत्नत्रयमें लगभग दोष नष्ट नहीं होते हैं.

ज्ञातवानाचार, आठ दर्शनाचार, यारा उप, पांच समिति और तीन शुद्धि ऐसे आचार्यके छचीस गुण हैं. अथवा आचार्यचारादिक आठ गुण, आंचलक्यादिक स्थितिकल्पके दस गुण, यारा प्रभुसके तप तथा छह आरम्यरूप ऐसे आचार्यके छचीस गुण हैं.

सन्धे वि तिण्णसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा ॥

छटुमरथस्स विसोधि विसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥ ५२७ ॥

सर्वे तीर्थकृतोऽनंतजिनाः केवलिनो यतः ॥

छप्पमरथस्य महाशुद्धिं वदन्ति गुरुसन्निधौ ॥ ५२७ ॥

विजयोपया—सर्वेषां तीर्थस्नानमियमा-गुरोर्निवेद्यामापराधं तदुक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा शुद्धिं प्राप्नोति । सन्धेयि तित्थयरा सर्वेऽपि तीर्थकरा । तिण्णसंगा तीर्णसंगा यत्तु विलपरित्तत्वात् अपकाः । सन्धेयि वि केवली सर्वेऽपि केवलिनः । तदिमासस्योक्तस्नानादिकस्याणश्रयाः । केवलसनापरणस्यत्पिणवतिर्यवाना केवलिनः । अणंतजिणा अनंतसंसार-कारणानां प्रतिप्रसंगानि मिथ्यातयं द्वावसाकारायास्तन अनंतं तज्जगद्वतजिना साचार्योपाध्यायसाधय । तेऽपि सर्वे यदा गुरुसमसे भोधि विसंति सदा गुरुसमसे एवमथशुद्धिं दर्शयन्ति । फलस्य ? छटुमरथस्य छप्पमरथस्य संबंधिनीमिति केचिद्वदन्ति । स्तनप्रवर्णिगामाश्रमको स्तनप्रवर्णिगुद्धया भवतीति छप्पमरथस्य विशुद्धिरित्युक्तवामय ।

न पेतद्वननाकं सर्ववीर्यकुदासया छप्पमरथमिति गुरुसन्निधौ यतः शुद्धेः प्रवर्तितायाः सद्भावाविति दर्शयन्ताह—
मूलरा—तिण्णसंगा तीर्णोऽतिव्रतः सगो येत्ते तत्त्वमंथा इत्यर्थः । अणंतजिणा अनंतसंसारकारणानां वि-
कर्मणां व्रितयंत षड्दोशनाचार्योपाध्यायसाधयश्च योत्र विजुसन्निर्दिष्टो द्रष्टव्य । तीर्थकरणमेव वा विशेषणमिदं ।
वेदि संसारकारणत्वादि व्रितयंतस्वरक्षणकर्मनिर्मूलस्त्वात् ।

अर्थ—मर्त्त तीर्थस्नानो मेमी आज्ञा है कि, गुरुको अपने अपराध कहकर उन्कोने दिया हुआ प्रायाश्चित्त लेकर आरमशुद्धि करनी पादेवे सर्व तीर्थकर पत्रिहरूप जगाध कीवडको उछेव कर मुक्त होगये हैं. सर्व केवल-जानी पुण्य स्वर्गने इस भूतलपर जन्म लेकर तीन कल्याणके फलक हुए हैं. केवलजानापरण कर्मके द्वाराये संपूर्ण विधवा ज्ञान उनको हुआ था. चारित्र्यमोहनीय कर्म, मिथ्यात्व और अश्रुत्याचार्यानादि नास कराय इनको अनंत संग्रा है. इनके उपर विन्दुने जेच प्राप्त कर लिया ऐसे आचार्य, उपाध्याय और मर्त्त माधुजोको यहाँ अनंतजिन

रत्नत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा रत्नत्रयमय होता है. इस लिये उग्रस्थान प्रायाश्चित्त धारण कर निशुद्ध बोना चाहिये.

यो न चैत्त्वतिचारजातमलनिदाकरणमय सोऽन्यस्मे कथयेच्चतु स्वयं वेत्ति स कस्मादसौ परस्मे कथयति-
तदुक्तं याचरत्नीयाद-

जह मुकुसलो वि वेञ्जो अणस्स कहेदि आदुरो रोगं ॥

वेऽणस्स तस्स सोच्चा सो वि थ पडिक्कम्ममारभइ ॥ ५२८ ॥

कुवालोऽणि यथा वैद्यः स्वं निगद्यातुरो गद्यम् ॥

वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विषयानि परिक्त्रियाम् ॥ ५४८ ॥

त्रिजयोदया—जह मुकुसलो वि वेञ्जो यथा मुकुटकुशलोऽपि वैद्यः । व्याधिभिरासे आदुरो आतुर । अणस्स कथेर अन्यस्मै कथयति । रोगं व्याधि । परपथो मम व्याधि, विक्त्रियं कुर्वति । वेऽणस्स तस्स सोच्चा तस्य वेद्यस्य भूत्वा घटने । सो वि थ सोऽपि च अनहतुरो वैद्यः । पडिक्कम्ममारभइ प्रतिक्रियामात्मते ॥

उक्तमेवार्थं ऋतोपन्यासपुस्तकं दृढयितुं गाथाद्वयमाह—

मूत्रा—मुकुसलो वि न्यायीनां निदाने, लिङ्गे, चिकित्सायां पुनर्भयनिर्दोषे च सुखं प्रवीणोऽपि । तस्स तत्त्वं दृढयति । कथं अस्मिन्पीडितस्य । सोऽपि भूत्वा वाक्यमिति शेषः । सो रोगातो वैद्यः । वि य अपि च । आरभते भेदवर्धः । पडिक्कम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण कांक्षा मम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध कहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोष दूसरोंको कहनेकी जरूरत नहीं है. यह क्यों दूसरोंको स्वामराध कहता है ? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ— जेना अच्छा निदान भी वैद्य स्वयं बीमार पडनेपर अपने रोगका स्वरूप दूसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप औषध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर नीरोप वैद्य उसकी निश्चिन्ता कर औषध योजना करता है.

एवं जाणतेण वि पायच्छित्ताविधिमप्यणो सच्चं ॥

कादब्बादपरविसोघणाए' परसक्खिगा सोधी ॥ ५२३ ॥

जानतापि तथा दोषं स्वसुखत्वा परके शुरौ ॥

परिज्ञाय विधातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विजयोक्त्या—एवं जाणतेण वि विमानतापि । किं पायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अप्यणो आत्मनः । परो
उत्तुह्य पिरोपना यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विमुक्तिरुक्तयेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते स्वीकृष्टिर्लं तस्य मनो भवेत् ॥

चित्तशुद्धिर्लं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

इति पञ्चमात् ! शुद्धिरतिशयराणां कृतेति परे मानयंति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति । परे भव्या एतदुपदेशो
नास्माभिः प्रयत्नित्ययमिति शीकृते । अन्यथा तदुपुणानितयामयमनास तदनुयायिगो भयंति । ततः कथमेतन् परानुमदः
कृतः स्यात् । कर्तव्यः स्वपरादनुमदः । तथा चोक्तं—अपदिदं कादस्यं अद सफर परिदिवं व कायवयं ॥ इति । तथापि—
'धेयोधिना हि शिनासासनपरसलेन कर्तव्यं प्रा नियमेन हितोपदेशः' इति चेद्य इव । अथवा आत्मनः
परस्य पिरोपनाय परसाक्षिकं । मम शुद्धि इच्छा परोऽव्ययमेव क्रम इति परसाक्षिकार्यां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे
स्वसाक्षिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्धयति । गतानुगतिको हि प्रणिण लोकाः ॥

मूढारा—आदपरविसोघणाए आत्मनः परा उत्तुह्य विशोभना सम्यक्त्वाद्यविचारमलभालना वदर्थं स्वसा-
क्षिका परसाक्षिका भोत्तुह्य शुद्धिः रव्यादिदि हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकाक्षिप्तं तस्य मनो भवेत् ॥

तद्विस्तारादकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥

इति षष्ठीनात् । अथवा आत्मनं परं च विशोपयितुं परसाक्षिका विमुद्धिः कर्तव्येति व्याख्येयं । स्वसाक्षि-
कमेव हि शुद्धिं कुर्वन्वमाचार्यं तत्फलं वा शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽपि तथैव प्रयति । गतानुगतिकत्वाभावेण लोकस्य ।
तथा च तेऽपि तथा शुर्पति स्वसाक्षिकमात्रया ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान विनको हे ऐसे मुनिराजने भी अपनी विमुद्धि होतकैलिये आत्मसाक्षीमे
और परसाक्षी मे प्रायश्चित्त लेना चादियं. प्राय शुद्धका अर्थ लोक है. और शिचका अर्थ मन है. अर्थात् चित्तफो निर्मल
करेना तो कार्य हे उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की हे ऐसा लोक समझते हैं.

यह भंजा दी है. ये सर्प महाबुनिगण गुरुदेव समीपही छत्रस्थकी स्तनत्रयशुद्धि प्रापयित्तसे होती है ऐसा कहते हैं. स्तनत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा स्तनत्रयमय होता है. इस लिये छत्रस्थोने प्रायश्चित्त धारण कर मिशुद्ध होना चाहिये.

यो न केवल्यनिचारजातमलनिराकरणमम सोऽन्यत्वे कथयेज्यस्तु स्वयं मेचित् ॥ कस्मादसौ परस्मै कथयति तदुक्तं धायस्तौतिगह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेवि आदुरो रोग ॥

वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिक्कम्ममारमइ ॥ ५२८ ॥

कुसालोऽल्लि यथा वैद्यः स्वं निगयानुरो गदय ॥

वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विदधानि परिक्रियाम् ॥ ५४८ ॥

पिण्डयोद्धया—जह सुकुसलो वि वेज्जो यथा सुद्ध कुसलोऽपि वेद्य । व्याधिनिराते आदुरो आदुर । अण्णस्स फेहेर मन्यस्मे कथयति । रोग व्याधि । यथभूतो मम व्याधि, चिकित्सा कुर्विति । वेज्जस्स तस्स सोच्चा तस्य वैद्यस्य भूत्वा यत्नतः । सो वि य सोऽपि च अनानुरो वैद्यः । पडिक्कम्ममारमइ प्रतिक्रियामादत्ते ॥

वर्णनेयार्थं दृष्टान्तोपन्यासपुरस्सरं दृढयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलार—सुकुसलो मि व्याधीनां निदाने, लिङ्गे, चिकित्साया युतर्भननिरोधे च सुतरा प्रवीणोऽपि । तस्स तरय रसवापि । कथं अपिपयीकृतस्य । सोच्चा भूत्वा वाक्यमिति शेषः । सो रोगालो वैद्यः । वि य अपि च । आरभते भेत्यर्थः । पडिक्कम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण करनका क्रम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध फहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोष दूसरेको कहेनकी जरूरत नहीं है. वह क्यों दूसरोंको स्वापराध कहता है? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जैसा अच्छा निदान मी वैद्य स्वयं बीमार पड़नेपर अपने रोगका स्वरूप दूसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप औषध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर मीरोग वैद्य उमकी चिकित्सा कर औषध योजना करता है

एवं जाणतेण वि पायच्छित्तविधिपण्णो सत्त्वं ॥
 कादंब्वादपरिसोधणाए परसक्खिगा सोधी ॥ ५२९ ॥
 जानतापि तथा दोषं स्वसुक्त्वा परके शुरौ ॥
 परिज्ञाय विधातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विज्ञयोदया—एवं जाणतेण वि विजानतापि । किं प्रायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अण्णो आत्मनः । परो
 वत्तुद्धा विशोधना यथा स्पष्टित्वेयमयं स्वसाधिका परसाधिका च विप्रद्विगच्छेति गम्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥

चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

इति यथभाह ! शुद्धित्तव्यारणां कृतेति परे मानयंति । निरतिव्यारत्नचयोऽयमिति । परे ग्रन्थे एतदुपदेशो-
 नास्मान्निः प्रपतित्वमिति लोकास्ते । अन्यथा तत्पुण्यतिशयजनकमानात्र तदनुयायिनो भवन्ति । ततः कथमनेन परानुग्रहः
 कृतः स्यात् । कर्तव्यः स्वपरानुग्रहः । तथा चोक्तं—अप्यदिदे कादव्ये अर सज्ज परदिदे अ कायकम् ॥ इति । तथापि—
 'धेयोयिन्ता हि जिगसासनकसत्तेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' इति वैत इव । अथवा आत्मनः
 परस्य विशोधनार्थं परसाधिकं । नाना शुद्धि रूपा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाधिकायां सुखी प्रयतते । अन्यथा सर्वे
 स्वसाधिकायैव कुतः । तथा च न शुद्धयति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥

भूधारा—आदपरवितोषणाए आत्मनः परा वत्तुद्धा विशोधना सत्यक्त्वावतिचारमलक्षालना तदर्थं स्वसा-
 धिका परसाधिका बोत्तुद्धा शुद्धिः स्यादिति हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥

तच्चित्तभाहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीदितम् ॥

इति वचनात् । अथन आत्मनं परं च विशोधयितुं परसाधिका विप्रद्वि कर्तव्येति उच्यते । स्वसाधिका-
 कर्मैव हि शुद्धिं कुर्वन्वमाचार्यं वक्तव्यं वा मुनि इत्या परोऽपि तथैव प्रवर्तते । गतानुगतिकत्वप्रायेण लोकस्य ।
 तथा च तेऽपि तथा गुण्यंति स्वसाधिकाभावात् ॥

अर्थ - इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान जिनको है उसे सुनिराजने भी अपनी विप्रद्वि होनेकेलिये आत्मसाक्षीमे
 और परसाक्षी से प्रायश्चित्त लेना चाहिये. प्राय शब्दका अर्थ लोक है. और चित्तका अर्थ मन है. अर्थात् चित्तको निर्मल
 करनेका जो कार्य है, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की है ऐसा लोक समझते हैं.

गुरुने उपदेशके अनुसार हमको प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा समझकर सुखलोक उसके पास जाते हैं। यदि गुरुने विशिष्ट गुणोंका पिरञ्जान न दो तो उसके अनुयायी कैसे होंगे। और गुरुभी परानुग्रह कैसा कर सकेगा, इसवास्ते गुरुको स्वपराधुग्रह करना चाहिये। क्यों कि 'आत्महित करना चाहिये और शत्रु हो तो परहितभी करना चाहिये, इस उक्तिमें यद्यपि आत्महितकी मुख्यता दिखलाई है तोभी 'श्रेयोर्थिना हि ब्रिजशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमन हितोपदेशः' अर्थात् जिसको मोक्षकी इच्छा है, जो ब्रिजधाम पर प्रेम रखता है उसको हितोपदेश करना अवश्य कर्तव्य है। जैसे वैद्य रोगीको औषध देकर उसको नीरोम करता है, उसका नीरोम करना जैसा कर्तव्य है वैसा गुरुओंका परहितके लिये उपदेश देना कर्तव्य है।

अथवा अपनी और दूसरोंकी आत्मशुद्धि करनेके लिये परसाधक ही आत्मशुद्धि करनी योग्य है। क्यों कि मेरी शुद्धि देखकर दूसरी आत्मशुद्धिका क्रम ऐसा ही है ऐसा समझकर परसाधक शुद्धि करनेके लिये प्रयत्न करेंगे अन्यथा सर्व लोक स्वसाक्षिही शुद्धि करेंगे, ऐसे करनेसे ये शुद्ध नहीं होंगे, लोकप्रायः गतानुचितक होते हैं।

परमात्परसाधिका शुद्धिः प्रधाना—

तमहा पञ्चज्जादी दंसण्णाणचरणाविचारो जो ॥

तं सत्त्वं आलोचेहि गिरवसेसं पणिद्धिदप्पा ॥ १३० ॥

ततः सम्यक्त्वचारिअज्ञानदूषणममाधितः ।

एकाग्रमानसः सर्वं त्वमालोचय यत्नतः ॥ १३० ॥

विजयोदया—तमहा तस्मात्परसाधिकादिर्जं । दंसण्णाणचरणाविचारो जो दर्शनज्ञानचरणाविचारो यः । तं सत्त्वं सत्त्वं अतिचारं । आलोचेहि कथय । पणिद्धिदप्पा प्रणिहितचित्तो भूत्वा । गिरवसेसं सर्वमिदमेतैर्वापगतत्वात् निरवशे समित्येतत्क्रमार्थ इति चेत् । ज्ञानदर्शनचारिनिविषयानामतिचारणं कतिपयानां सामस्येऽपि सर्वेशब्दस्य प्रवृत्तिरस्तीति निरपेक्षप्रदर्शनं प्रत्येकं क्षान्द्यतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तत्र दोषः ॥

गुणारा—पञ्चज्जादी दीक्षाग्रहणदिनात्प्रवृत्ति । गिरवसेसं सूक्ष्मसूक्ष्मभेदग्रहणदिनात् ।

परमाधिक शुद्धि ही मुख्य है अतः तू आलोचना कर ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथा कहती है—

अर्थ—इस लिये दीक्षाकालसे आवश्यक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें जो जो अतिचार

लगे होंगे उन सबका और दर्शनार्थके प्रेत्यक अतिचारोंका दे क्षपक 'तु एकाग्र निव कर कथन कर. शंका -- गाथामें 'सर्व, शब्द है उससेही सर्व अतिचारोंका कथन करनेका आशय स्पष्ट होजाता है. 'निराश्रय, यह गाथामें इसरा शब्द है यह व्यर्थ दिखता है.

कथं निरपेक्षलोचन एता मयतीत्यैकथामाह—

काङ्क्षयवाङ्मयमाणसियसेवणा दुष्पञ्चओगसंभूया ॥

जड अत्यि अवीचारं तं आलोच्येहि निश्चिंसं ॥ ५११ ॥

विद्यते यद्यतीचरो मनोधाक्कायसंभवः ॥

आलोष्यप तवा सर्वं निःश्लर्याभूतमानसः ॥ ५५१ ॥

वित्तयोर्दया--कारयद्याद्यागणसिधसेषणा कायेन, याचा, मनसा च प्रवृत्ति प्रतिसेवना । दुष्प्रयोगसंभूत
 दु प्रयोगसंभूत । तं सां । माछोवेहि कथय । निस्सेसं नि दोषं । ज्ञा अस्थि अदीचारे यत्तस्यतिघात ।

मूलात्—कारय इत्यादि कारिकं कार्यं मयं । वाह्य वाचि मयं । माणसिय मनसि मयं । यत्सेवने पिबोदेवय-
योगस्तस्य पुनर्योगो अमुभाउदानमुसूत्राभरणं इत्यथैतस्मादसंशुद्ध सैवाधः । लेखनमित्यत्र पादपूरणेऽनुत्सारः ।
संपूर्वमित्यत्रार्थत्वाङ्गिव्यत्यया वया योर्धं—

कायिकवाचिकमानससंसेवादुष्प्रयोगसंयुतो

यद्यपि वेदविद्यारो निरवयवं निगद तं गुरवे ॥

भावतो निरुदे निःशेषमालेनय यवलि वेदलिभारः । कायाविना विहादीनुस्तुमुपयुंजानस्य योऽतिचारः संपन्नस्य
प्रकाशयेति तात्पर्यार्थः ॥

निरवशेष आलीचना कैसे की जाती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

चटापन और छोटापन उत्पन्न होता है, और उसके अनुसार ही छोटा अथवा बड़ा प्रायश्चित्त दिया जाता है, अथवा परिणाममें तीव्रता वा मंदता होगी तो उसके अनुसार छोटा या बड़ा प्रायश्चित्त आचार्य देते हैं,

विश्वस्थालोचनाक्रमं धृतिः—

आलोचनां तु दुविधा औपेण य होदि पदविभागी य ॥

औपेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदस्स ॥ ५३३ ॥

आलोचनां द्विपा साधोरौची पदविभागिका ॥

प्रथमा मूलपातस्य परस्य मदित्ता परा ॥ ५५३ ॥

विजयोक्त्या—आलोचनां तु दुविधा होदि द्विशकटैषालोचना भवति । औपेण पदविभागी य क्षामाग्रेय विशेषेण च । कचो हि सामान्यं विशेषं चाप्यलङ्घ्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह— औपेण मूलपत्तस्स सामान्यालोचना मूलक्यं प्रायश्चित्तं प्राप्तव्यं । पदविभागी विशेषालोचना । इदस्स मूलमप्राप्तव्यं ॥

यवत्सं सामान्यविशेषालंकरणेन प्रवृत्तिदर्शनौघी पाशदशमी चेति द्विविधेऽलोचनेति निवस्य सारस्या-
मितौ निश्चिन्तानि ।

मूलपात—औपेण सामान्येन एक्यारेण वा सामान्य लोचनेत्यर्थः । पाशविभागी पाशानां सम्पत्स्वाद्यपराधानां विनागे देशकालादिभेदे अवा पादविभागी विशेषालोचनेत्यर्थः । मूलं मूलक्यं प्रायश्चित्तं ॥

आचार्य आलोचनाका क्रम दिखते हैं—

अर्थ—आलोचनाके दोही प्रकार हैं, एक औपालोचना और दूसरी पदविभागी आलोचना, अर्थात् सामान्यालोचना और विशेषालोचना ऐसे इनके औरभी दो नाम हैं, यवन सामान्य और विलेप इन दो धर्माका आधाय लेकर प्रवृत्त होता है, अतः आलोचनाके उपर्युक्त दो भेद हैं,

सामान्यालोचना और विशेषालोचनाका स्वरूप इस प्रकार है—जो मूल नामक प्रायश्चित्तकेलिये योग्य है अर्थात् जिसकी पूर्ण दीक्षा मद्दपरावर्त्त नष्ट हो गई है उसको पुनः दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्तका अर्थ है, इस प्रायश्चित्तके लिये योग्य मुनि दापोंकी सामान्यालोचना करता है, और जो प्रायश्चित्तको छोड़ कर चार्मिके प्रायश्चित्तके योग्य है वह पदविभागी आलोचना करे,

जं जह् निसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोच ॥ ५३२ ॥

कालेऽमुकञ्च देशो वा जातो भावनयानया ॥

दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥ ५५२ ॥

विजयोदया—चरणं क्रमाचरणं । इतो अस्मादेतदविकारिते । अमुगमि काले अमुकसिन्काले । देशे अमु-
स्मिन्देसे । अमुगभावेण अमुकभावेन धमेन भावेन । जं यत् । जघा निसेविदं यथा निसेवितं । जेण य सह येन च
सह । तं सव्वमालोचं तत्सर्वं कथयेद्देशकालभेदात् । परिणामभेदात्, सहायभेदात् च दोषाणां गुरुलघुभावः ।
गुरुलघुभावानुसारेण वा गुरुलघु वा प्रायश्चित्तं दीयते । सत्सर्वं कथयति ॥

कालभेदात्परिणामसहायभेदादोषाणां गुरुलघुभावः स्यात्तदनुसारि च प्रायश्चित्तमिति यो यथा यथ येन यथा
जातोऽतिचाररतं तथैवालोचयेदुत्कृष्टशुद्धिकाम इत्यालोचनाविध्यशुभासनार्थमाह—

मूळारा—अमुगमि अमुकसिन् । विप्रच्छद्रप्रत्यक्षे । इतो इतोऽस्मात्संसीपप्रत्यक्षादिना भाक् । काले इति-
प्राचर्याक्षणे । पूर्वोक्त्यादिरूपे वा । देसे भूम्यैकदेशे, जांगलादौ पुरवनादौ वा । अमुगभावेण अमुकेन क्रोधादीनामन्व-
यमेन परिणामेन । अमुकेन सहानिस्तुपत्कारः निसेविदं विपिदमनुष्ठिषं । ते त्वया । तं सम्यक्स्थापयित्वा । समालोच
संपूर्णमालोचय । उक्तं—

कालेऽमुकञ्च देशे वा जातो भावनयानया ॥

दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥

अर्थ—अमुक कालमें, अमुक देशमें, अमुक परिणामसे जो दोष कैसा किया होगा और जिसके साथ
किया होगा उसका संपूर्णतया कथन करना चाहिये- देशकालभेदसे, परिणामभेदसे और साहायभेदसे दोषोंमें

अपराधोऽस्ति यः काञ्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥
व्रते पदविभागो तां सूरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

पित्रयोदया—यन्मन्त्रादी सत्त्व प्रत्ययविक्रमं सर्वे । कर्मण जं जन्म जेन मावेन क्रमेण यच्चत्र कालत्रये वा वेद्ये
येन भावेन प्रतिशेषितं । अहा तं तथा तत् । अष्टोत्तिष्ठो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विद्येयालोचना भवति । रास्या-
निराकरणे दोष आत्म्यापत्ते । गुणं दृष्टत्वेन वर्णयति ।

पदविभागो लभ्यति—

मूलार—जतय यस्मिन्नेले काळे व । पडिसेविहं संव्यवहृतं । आलोच्यो पदविभागीमास्त्रोचयन्ताशुः
विभागी विद्येयालोचना स्वाद्विकृष्टपवनबोर्द्वेष्टुमश्रुवेनामेवोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—हीन कालमें, जिस देखने, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूं
ऐसा करके जो दोष क्रमसे आपायेके आगे धपक कहता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है.

जह कंटपुण विद्धो सव्यगे वेदपुद्गुदो होदि ॥

तस्मिं दु समुष्टिदे सो गिस्सहो गिब्बुदो होवि ॥ ५५६ ॥

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापिचदना ॥

आयते निर्धृतस्मस्मिन्पुद्गुते शल्पवर्जितः ॥ ५५६ ॥

पित्रयोदया—जह कंटपुण विद्धो यथा कंटकेन विद्धः । सव्यगे सर्वस्मिन् शरीरे । वेदपुद्गुदो होर चैदमयोप-
श्रुतो भवति । तस्मिं समुष्टिदे स्मिन्कंटके उच्यते । सो दुःखितः । गिस्सहो नि शक्यो शस्तेन रहितः । गिब्बुदो निर्धृतो ।
इति भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥

शल्पानुकरणोद्धरणयोगेणुणौ दृष्टव्युक्तेन स्पष्टवितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा --वेदपुद्गुदो पीडोपद्रुतः । गिब्बुदो सुखी ।

अन्धका निराकरण न करनेमें दोष और शल्पके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टान्तसे स्पष्ट
करते हैं—

सामान्यालोचनस्वरूपं कथयति—

ओषणालोचेदि हु अपरिमिदवराधसब्बधादी वा ॥

अञ्जोपाए इत्थं सामणमहं खु तुच्छोत्ति ॥ ५३६ ॥

ओघेन भापसेऽनत्पदोपो वा सर्वधातकः ॥

इतः प्रमृतिं चांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ! ॥ ५५३ ॥

विजयोदया—ओषणालोचेदि हु सामान्येन कथयति । कोऽपरिमिदवराधो सव्यधातो वा बहुवो अपराधा यस्य मिथ्यात्वं व्रतसंगो या । परस्तादिकायां शुद्धौ मायाशक्त्यै भिरक्षं भवति । मानकथायो निर्मूलितो भवति । गुरुजनः पूजितो भवति । अपराधतया दुस्तेमार्गप्रवर्थापना च कृता भवति । अञ्जोपाए अचोपावे अयमभ्युक्तिः । इच्छं सामणं इच्छामि आमन्यं । अहं खु तुच्छोत्ति अहं स्वल्पको रजनप्रयेनेति इयं सामान्यालोचना ।

सामान्यालोचनस्वरूपं च वक्तुमाह—

मूळार—अपरिमिदवराध बहुदोषः । सव्यापाधी सर्वेषां सव्यस्त्वब्रह्मदादीनां चातो विनाशोऽस्मात्सीति । अनजोपाये अयमभ्युक्तिः । इच्छं इच्छामि प्रतिपद्येदम् । खु यस्माद् । तुच्छो अहं स्वल्पको रत्नत्रयेण । सि इत्येवमालोचयतीति बोद्धव्यम् ॥

सामान्य आलोचनाका स्वरूपं फलवत् है—

अर्थ—विस्तरे अपरिमित अपराध किये हैं अथवा जिसके रत्नत्रयका—सर्व व्रतोंका नाश हुआ है वह मुनि सामान्यरीतिसे अपराधका निषेदन करता है, जो मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अथवा जिसके व्रत ग्राह हुए हो वह सामान्यालोचना करता है, परसाक्षिसें शुद्धि कर लेनेसे मायाशक्त्यका नाश होता है, मानकथाका निर्मूलन होता है, प्रायश्चित्त लेनेसें गुरुस्तेनोका आदर होता है, अर्थात् उनकी आज्ञाका पालन होता है, उनके आधीन रहकर प्रताप-रण करनेसें मार्गकी प्रतिदिष्टि होती है, आत्मसें मैं पुनः मुनि होनेकी इच्छा करता हूं, मैं तुच्छ हूं अर्थात् मैं रत्नत्रयसें आप लोगसें छोटा हूं ऐसा कहना सामान्यालोचना है.

विशेषालोचनस्वरूपे—

पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ॥

पडिसेविदं तद्वा तं आलोचिंतो पद्विभागी ॥ ५३५ ॥

अपरमभोजस्ति यः कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥

श्रुते पदविभागौ तां सुरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

त्रिजयोद्धा—पथ्यज्जाती सव्यं प्रव्यपदिकं सवे । कथेन जं जथा जेन भावेण भवेन यथात्र कालत्रये वा देशेन भावेन मतिसेयितं । नदा तं तथा तद् । आलोचितो निरूपयन्निवि । यदि पदविभागी विदोपालोचना भवति । इत्यादि निराकरणे दोषं शल्यापात्ते न गुणे दृष्टेन दर्शयति ।

पदविभागी लक्षयति—

मूलपर — जस्य चस्मिन्नेते फाले च । पदिसिर्वं संव्यवहृतं । आलोच्यो पदविभागीमाहोचयन्साधुः पदविभागी विशेषलोचना स्वाह्वरूपनयोर्द्वेद्विमकायेनाभेदोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—तीन कालमें, जिस परिणामसे लो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूँ ऐसा कहकर लो दोष क्रमसे आचार्यके आगे धपक करता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है,

जह कंटपुण विद्धो सव्यं वेदणुदो होदि ॥

तस्मि दु समुद्धिदे सो गिस्सद्धो गिण्डुदो होदि ॥ ५५६ ॥

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापियेदना ॥

जायते निर्युतस्तस्मिन्नुद्भूते शाल्यवर्जितः ॥ ५५६ ॥

विमयोद्धा—जह कंटपुण विद्धो यथा कंटकेन विद्धः । सव्यं सर्वांगस्मिन् शरीरे । वेदणुदुदो होदि वेदणुदोप-
वृत्तो भवति । तस्मि समुद्धिदे तस्मिन्कंटके उद्भूते । सो दुःखितः । गिस्सद्धो निःशल्यो शल्येन रहितः । गिण्डुदो निर्दुतो ।
होदि मवलीति सुखी भवतीति यावत् ॥

शाल्यद्वरणोद्धरणयोर्दोषगुणौ दृष्टव्यं त्वेव स्पष्टयितुं गायत्र्यभाह—

मूलारा — वेदणुदुदो पयोपदुलः । गिण्डुदो सुखी ।

श्रवभा निराकरण न करनेमें दोष और शल्यके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टान्त स्पष्ट करते हैं—

अर्थ— जैसे जिसको कांटा चुभ गया है वह दुःखसे विह्वल होता है, उसके सर्व शरीरमें वेदना होती है, परंतु जब कांटा शरीरसे निकाला जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है,

वाच्यन्तिकयोजना—

एवमणुदुददोसो मादृहो तेण दुक्खदो होइ ॥

सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥ ५१७ ॥

दुःखरूपाङ्गलितस्थान्तस्तथा शल्येन शल्यितः ॥

निःशल्यो जायते यः स लभते निर्दुतिं पराम् ॥ ५५७ ॥

चित्रयोदया—एवं कंटकेन विह्वल इव अणुदुददोसो मनुदुददोषः । मादृहो मायावान् । स्यापराधाकथनानुद्भवदोषेण । दुक्खदो होदि । दुःखितो भवति । सो चेव वंददोसो स एव वांतदोषः । सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि । निर्दुता भवति ॥

मूलारा—मयिको मायायुक्तः । तेण सन्यक्त्वादिदोषेण अनुदुदोषेण । दुक्खयो इहपरलोके च दुःखार्त्तः । वंददोसो परस्मै कथितोपराधः । सुविसुद्धो कृतस्वपरसाक्षिकशुद्धिकर्ता ।

द्राष्टान्तिकर्मे प्रोजना—

अर्थ— जैसे जिसने दोषरूपी कंटकको अपने मनसे निकाला नहीं है ऐसा मायावि मुनि अपने अपराधोंका कथन न करना एतत्स्वरूप दोषसे दुःखी होता है, परंतु जब सर्व दोषोंका कथन करता है तब मायाशून्य नष्ट होनेसे कांटा निकल जानेके समान आत्मार्थे प्रसन्नता उत्पन्न होती है,

मिच्छादंसणसहं मायासहं णिदानसहं च ॥

अहवा सहं दुविहं दब्बे मावे य वोधब्बं ॥ ५३८ ॥

मायाविदानमिध्यात्वभेदेन त्रिविधं मतम् ॥

अथवा द्विविधं शल्यं द्रव्यभावात्मकं मतम् ॥ ५५८ ॥

विजयोदया—मिच्छादस्तसहं मिथ्यादर्शनस्य । भावासह मायाशक्त्यं । विद्यासह निदानशक्त्यं च ।
महत्वा सह दुष्टिह मयदा शक्त्य द्विपकार । कृत्वे सति य द्रव्यशक्त्य भावशक्त्यमिति । यो घञ्च योदयम् ॥

शक्त्ययेदनिर्णयार्थमाह—

मूढारा—मिच्छादर्शनसहं मिथ्यादर्शनं शक्त्यमिव स्वीरयतः प्रविष्टकाहादियत् पावनुबंधनिबंधनत्वात् ।
एतदुत्तरयोरप्युक्तार्थो ध्यातव्यः । निदानसहं सम्भवत्वव्रतादिव्याहृत्याद्वान्यादिक मे भूयादिति संकल्पः । इत्थं द्रव्यामयं ।

अर्थ—मिथ्यादर्शनशक्त्य, मायाशक्त्य और निदानशक्त्य एते शक्त्यके तीन दोष हैं, अथवा द्रव्यशुद्धय और भावशक्त्य ऐसे शक्त्यके दो भेद समझने चाहिये.

तित्विहं तु भावसहं वंसनगणे चरित्तजोने य ॥
सचित्ते य अचित्ते य मिरसगे वा वि इत्त्वस्मि ॥ ५३९ ॥

‘मायशक्त्यं त्रिधा तत्र ज्ञानादिअयगोचरम् ॥
द्रव्यशक्त्यमपि त्रेधा सचित्ताचित्तमिअकम् ॥ ५४० ॥

विजयोदया—तित्विहं तु त्रिविध एव । भावसह परिणामशक्त्य । दस्तज्योने चरित्तजोने य दर्शने, ज्ञाने-
प्रारित्तजोने वा । दर्शनस्य शक्त्य दाकादि । ज्ञानस्य शक्त्य भक्ते पठने अदिवयादिक च । चरित्तस्य शक्त्य समिति,
शक्त्योत्पादः । योगस्य तपस प्रागुक्तानशनागतिचारजात । असयमपरिणामतः य । तपसदचारित्र्ये भावतर्माविवक्षया
तित्विहमित्युक्तम् । दन्वमिन सक्त तित्विह । इत्थं शक्त्य त्रिविध । सचित्ते अचित्ते मिस्तेने य सचित्तद्रव्यशक्त्य दासादि ।
अचित्तद्रव्यशक्त्य सुवर्णादि । मिस्तेने वा विमिश्रद्रव्यशक्त्य घामादि एतद्विधेय इत्थशक्त्यमित्युक्ते । चारिआचारस्य
दासास्य कारणत्वात् ॥

अथयमपि शक्त्य त्रिविधमुदाह—

मूढारा—भावसहं सम्भवत्वाद्यतिचारलक्षणपरिणामशक्त्य दस्तने इत्यादि । दर्शनस्य शक्त्यं संकादिकं ।
ज्ञानरत्नालपठनाविकं । चरित्तस्य समितिशुल्लवनादः । योगस्य तपसः प्रागुक्तानशनागतिचारजातमसंयमपरिणाम-
त्वा । तपसव्यतिरेकतर्माविवक्षया तित्विहमित्युक्तं । सचित्तद्रव्यशक्त्यं दासादि । अचित्ते अचित्तद्रव्यशक्त्यं सुवर्णादि ।
मिस्तेने मिश्रद्रव्यशक्त्यं घामादि ।

अर्थ—भावशक्त्यके तीन भेद हैं—दुर्ज्ञान, ज्ञान, चारित्र्य और योग इनमें य ५५९७००-

१ श्रुता, कौशादिक सम्प्रदायके श्रुत्य है-

२ अफालसे पटना और अविनयादिक करना ज्ञानके श्रुत्य है-

३ समिति और मुक्तिओंमें अनादर रहना चारित्र्यश्रुत्य है-

४ योग-तप-अनश्नादि तपोंके अतिचारके पूर्वमें वर्णन आया है-

असंप्रयसे मद्धुचि होना योगश्रुत्य है, तपस्वरणका चारित्र्यमें अन्तर्भाव करनेकी विवक्षासे भावशक्त्यके तीन भेद कहे हैं

द्रव्यशक्त्य भी तीन प्रकारका है, सत्त्विकशक्त्य, अविशक्त्य और मिश्रशक्त्य, दासादिक सत्त्विक शक्त्य श्रुत्य है, सुवर्ण धौरेह पदार्थ अविशक्त्य है, और श्रामादिक मिश्रशक्त्य है ये सब चारित्र्याचारके शक्त्यके कारण हैं-

भाष्यशास्त्रानुसरणे दोषमाह—

एगमवि भावसल्लं अणुकरित्ताण जो कुणद् कालं ॥

लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधमो होदि ॥ ५४० ॥

अनुद्धत्ते प्रमद्विन भावशक्त्ये शरीरिणः ॥

लभन्ते दारुणं दुःखं द्रव्यशक्त्यभिचारिणस्य ॥ ५४१ ॥

भावशक्त्यमनुद्धृत्य ये त्रियन्ते विमोहिनः ॥

मयप्रभावसल्लज्जाभिः कस्याप्याराधका ॥ ते ॥ ५४२ ॥

दुःसहा वेदनेकज्ञ द्रव्यशक्त्येभ्यस्तनुद्धृते ॥

भावशक्त्ये पुनः सास्ति सन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ ५४३ ॥

चिह्नोदय—एगमवि एकमपि मानागं रत्नत्रयणां शक्तं । अविचारं । अणुकरित्ताण अनुद्धृत्य । जो कुणदि कालं यः करोति मरणं । कस्याप्योदरति । लज्जाए लज्जा । गारवेण य गारवेण वा । सो य सु आराधमो होदि । स आराधको नैव मयति । निरतिचारता हि तेषां यतीनां आराधना ॥

एकमपि भावशक्त्यमनुद्धृत शिवमात्रस्य दोषमाह—

मूलाय—भावसङ्गं भावानां सम्भक्त्यादीनां शक्त्यभिविचारं । अनुद्धरितानां अनुमूल्य गुरुत्वाभावभित्तवानित्य-
कृत्येत्यर्थः । गारेण य ॥ शब्दाद्धेतव्यं च ।

भावशक्त्यका सद्धार न करनेमें दोष दिखाते हैं—

अर्थ—जो धूपक लज्जासे गारवसे रत्नत्वयमें लगे हुए अतिचारोको दूर नहीं करता हुआ सरण करता है, वह आराधक नहीं होता है.

आते अपराधे सदाभीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्य इति सिद्धयति—

कछे परे न परवो कहं वंसणचरित्तसोधिचि ॥

इय संकल्पमदीया गयं पि कालं ण याणति ॥ ५४१ ॥

चारित्रं शोचयिष्पामि काले श्वः.....बहस्य ॥

शेमुपीमिति कुर्वाणा गतं कालं न जानते ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—कछे स्वप्रभुसिके कोछे । अहं करिष्पामि वंसणचरित्तसोधिचि वंशेनकानचारिअष्टाक्षिमिति । इय संकल्पमदीया एवं कृतसंकल्पमवयः गर्वयि कालं ण जानति । गतमविनांतमपि आयुःकालं नैव जानंति । ततः सशस्त्रं मरणं तेषां भवति । अत एवोक्तं उत्पन्नाउत्पन्ना माया अणुपुण्यसो गिहंस्तथा । इति स्वाध्याय, कर्मणि, पात्रवत्त्वोपेक्षिताभि यद्धमूलाणि पुनर्गं सुखेन विहायंते । मयया अतिचारकालं गतं चिरातिकालं नैव जानंति । ये हि अतिचाराः प्रतिदिनं ज्ञातास्तेषां कालं, संभ्रां, रतिदिनं इत्यादिकं पञ्चावालोचनाकाले गुरुणा गृह्यतावत्त यद्वत्तु जानन्ति विस्तृतवाचिरातीतस्य । अथागतं त्वदीचारकालं तस्यप्रतिअसरस्य अयिदाधेव क्षेबभावो घतिचारस्य हेतु ॥ जानंति न समरन्ति । सामान्यवाक्ययि न जानंति । इह स्मृतिज्ञानागोचर इति केवाचिद्वयत्वयानं ॥

सम्भक्त्यदेकत्वजो दोषस्तत्त्वणादेव संशोच्य इति शिक्षार्थमाह—

मूलाय—कछे यः । परे यद्वदिनांतिरामामि दिने । कहं करिष्पाम्यहं । इय संकल्पमदीया एवं पितागवदु-

द्धयः गयपीत्यादि भविकारित्वज्वायु फालं ॥ कुप्यंते । ततः सशक्त्यासो प्रियन्ते । अत एवोक्तं उत्पन्ना उत्पन्नमाया अणु अणुत्वं सो गिहंस्तथा । अथवा गतं चिरात्किञ्चन कालं संख्यापानिदिनादिकं अतिचारसमयं । अपि शब्दाश्चेवभावो च

न जानति न स्मरंत्यालोचनाकाले गुरुणा श्रुत्याः संत इति व्याख्येयम् । अन्ये तु गवं प्राप्तसतीचारं न स्मरंति तत्काल-
क्षेत्रमावाञ्छेति व्याचक्षते ॥

अराधनामें-रत्नत्रयमें अपराध-अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरुके परण समीप कथन करना
चाहिये, कालक्षेप करना योग्य नहीं है, ऐसा उपदेश आचार्य कहते हैं—

अर्थ—कल परसों अथवा तरसों में दर्शने, ज्ञान और धार्मिकी शुद्धि करूँगा ऐसा जित्नेने अपने मनमें
संकल्प किया है ऐसे सुनि अपना आयुष्य कितना नष्ट हुआ यह जानते नहीं है. अर्थात् उनका श्रव्यसहित भरण
होता है. इसी चास्त्रे साधारण्य भर्त्सने जय उत्पन्न होता है उसी समय उसको हृदयसे निकालना चाहिये, ऐसा
आचार्य कहते हैं. रोग, शत्रु और कर्म इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते हैं. पुनः उनका नाश कुलसे कर नहीं
सकते. अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत होखे हैं उनका स्मरण होता नहीं है. जो अतिचार हुए हैं उनके
संख्या, दिन, रात्रि इत्यादिक रूप कालका स्मरण गुरुके पूजने पर क्षिप्त्योको होता नहीं है. वे अशुभ कालमें मेरे द्वारा यह
अतिचार हुआ ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो गये हैं. जैसे कालका स्मरण
होता नहीं है वैसे क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनकाभी स्मरण होता नहीं. वे अतिचार स्मृतिज्ञानके
अगोचर होते हैं. अर्थात् हमसे कोनसे अतिचार हुए यहभी उनके प्यानसे नहीं रहता है. ऐसा कोइ आचार्य इस
साधका व्याख्यान करते हैं.

सशस्त्रमरणे को दोष इत्यर्थोक्त्यामाख्ये—

रागबोसाभिहवा ससल्लमरणं मरति जे मूढा ॥

ते दुक्खसल्लवहुले भमंति संसारकांतारे ॥ ५४२ ॥

रागद्वेषादिभिर्भोगा ये म्रियन्ते सशस्त्रकाः ॥

दुःखशान्त्याकुले भीमे भवारण्ये म्रियन्ति ते ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—रागबोसाभिहवा रागद्वेषादिव्यामिश्रताः । ससल्लमरणं मरति म्रियन्ते । जे मूढा ये मूढास्ते
संसारकांतारे मरन्ति ते संसारलब्ध्यां भ्रमन्ति । कीदृशि ? दुष्कखसल्लवहुले दुःखानि शस्त्रवत् दुर्दैवत्वाच्छल्य
इत्युच्यन्ते ॥

सशक्त्यभरणे दोषमाह—

मूलान्—दुष्कृतसखबहुले दुःखानि शक्त्यानीम दुःखदरत्नाणानि प्रचुराणि यत्र कोवारे घंटकाटव्याम ॥

अतिचारकी शुद्धि किमे विना मरण करनेमें क्या दोष है ? इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—
अर्थ—राग और द्वेषसे जो छपक परावित होकर दोषोंकी आलोचना किये बिनाही मरण करते हैं, दुःख रूपी शक्त्योंस भरे हुए इस संसारवनमें भ्रमण करते हैं, जैसे शरीरमें घुसा हुआ शूल्य दुर्घर होता है वैसे। राग द्वेष संयुक्त होकर जीव भी दुर्घर दुःखोंको इस भवमें भोगते हैं, अतिचारकी आलोचना न करनेका यह फल है।

शक्त्योकरणे गुणं व्याकथे—

तिविहं पि भानसल्लं समुद्धरिचाण जो कुणदि कालं ॥

पब्बज्जावी सल्लं ॥ होइ आराधकों मरणे ॥ ५४३ ॥

उद्धृत्य कुर्वते कालं भावसत्यं त्रिधापि ये ॥

आराधनां मरणंते ते कत्याणवितारिणीं ॥ ५४५ ॥

विकथोदया—तिविहपि निविधमपि । भावसल्लं भावसत्त्वं । समुद्धरिचाण समुद्धृत्य । जो कुणदि कालं यः कालं करोति । कीदृशमूलं ? पब्बज्जावी मग्न्यादिकं । सल्लं सर्वं । न होषि त भवति । आराधनो मारतधको वराकादीनां । मरणे भयमप्यये ॥

उद्धृत्यशक्त्यभरणे गुणं शृणाहि—

मूलान्—समुद्धरिराण समुद्धृत्य ॥

जो शक्त्यका उद्धार करता है उसको आराधना सिद्ध होती है ऐसा कथन—

अर्थ—तीन प्रकारके भावशक्त्योंका स्वरूप ऊपर कहा है, इन शक्त्योंको हृदयमे निमालकर-अतिचारकी आलोचना करके प्रायश्चित्त द्वारा जो अपने आत्म्याको निर्मल बनाकर भक्षण करते हैं उनकी आराधनाओंकी सिद्धि होती है, आमरण उन्होंने दीक्षा लेकर मतादिकोंका पालन किया था वह सब आराधनाओंकी प्राप्तिसे सफल होता है।

जे गारवोहं रहिदा गिस्सल्ला दंसणे चरिचे य ॥
विहरंति मुत्तसंगां खवंति ते सब्बदुक्खाणि ॥ ५४४ ॥

सम्यक्त्वचूचनिःशल्या दूरोत्सारितगौरवाः ॥

विहरंति विसंगा ये कर्म्म सर्वं धुनंति ते ॥ ५६६ ॥

विजयोदया—जे गारवोहं रहिदा ये गौरवोर्विद्विताः । गिस्सल्ला दंसणे चरिचे य निःशल्याः संतो दर्शने
चरिचे य । विहरन्ति प्रवर्तन्ते । मुत्तसंगा निरस्तमूच्छांस्ते । सब्बदुक्खाणि भवंति ते सर्वानि दुःखानि खपयन्ति ॥

नि शल्यतया रत्नत्रय प्रवर्तमानानां गुणमाह —

मूलारा—मुत्तसंगा निरस्तमूच्छाः ॥

अथ—आदिगारव, रत्नगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्पन्नानि
और सम्यक्चारित्र्यमें जो निरविचार होकर प्रवृत्ति करते हैं, संपूर्ण परिग्रहे त्यागी होनेसे वे सर्व दुःखोंका नाश करते हैं-

तं एवं जाणतो महंतयं लाभयं सुविहिदाणं ।
दंसणचरित्तसुद्धो गिस्सल्लो विहर तो धीर ॥ ५४५ ॥

इति ज्ञात्वा महालार्भं निःशल्यीभूतचेतसां ॥

शुद्धदर्शनधारिणो विहरत्स्वापशल्पकः ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—तं प्रबान् । एवमुक्तप्रकारेण जाणतो जानन् । महंतर्ण महाते लाभं सुविहिदाणं सुसंयतानां
दंसणचरित्तसुद्धो दूरानि चरित्रे च शुद्धि तपोः शुद्धि ज्ञानदर्शनशुद्धिमंतरेण न भवतीति ज्ञायमां शुद्धिरुक्ता । गिस्सल्लो-
शल्यरहितः ह्य । विहर चर । तो तस्माद्भीर धैर्योपेत ॥

रत्नत्रयनिर्मलीकरणे स्वार्थाविश्लेषकप्रकाशनेन प्रतीचनानुत्साह तत्र क्षपकं प्रेरयमाह—

मूलारा—तं निनयचर्नं प्रसिद्धं । एवं एतेनात्मबुद्धेन विधिना । सुविहिदाणं निरतिचारस्त्वयाणां । दंसण-
चरित्तसुद्धि एतद्दृश्यशुद्धि विद्या न भवति रत्नत्रयशुद्धि । गिस्सल्लो दीक्षाग्रहात्पशुति कृतेभ्यो निष्कान्तः । विहर आचर ।
तं त्वं । प्रागनुष्ठितं रत्नत्रयं क्षोभयित्वा इत उत्तरं छुट्त्वं त्वमनुविधेयर्थः ॥

अर्थ—अतिचारहित होकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करनेसे उत्तम शुभिर्जोको महान् लाभ होता है अर्थात् उनके सर्व दुःखोंका क्षय होता है ऐसा जानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी शुद्धि कर तथा निःशब्द होकर हेक्षणक 'तुम धीरवासे इनमें प्रवृत्ति करो।

तम्हा सतूलमूलं अविच्छेदमधिप्युवं अणुखिम्बो ॥
निम्बोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥ ५१६ ॥
सम्यगालोचयेत्सर्वमनुद्धिप्रभावविस्तृतम् ॥
आनिर्गूढमनिर्मोहं निर्मूलसपगौरवम् ॥ ५१८ ॥

विजयोक्त्वा—तस्मात् तस्मात् यस्मात्सशक्त्यमरणे दोषः । निःशक्त्यमरणे न सफलनिवृत्तिः दुःखकारणानां कर्मपात्रभाष्य । तस्मात् तस्मात् । सम्मं सस्यमालोचये सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत् । दुःखनिवृत्त्यर्थ इति । कथमालोचयेद्विस्तराकायमालोचनाविशेषणमाह—सतूलमूलं तूलमूलाभ्यां सहितं । सम्मं निरवशेषं । अविच्छेदं अविस्तृतं । अधिप्युवं कथं निःशक्त्यो भवेयमिति प्रश्ने सत्याह—

मूलाद—तस्मा निःशक्त्येतरमरणगुणोपवर्त्तनादेव । तूलमूलं दीक्षादिवसादारभ्याकथायत्त मूलमतिचारजातं । कथसूचनार्थमिदं । अन्ये सतूलमूलं इति पठित्वा समस्तशक्त्यनुकूलित्वमर्थमाहुः । अविच्छेदं अनाधिकं । अधिप्युवं अत्यन्तरितं । अणुखिम्बो निर्मेयः सन् । निम्बोहिदं अविस्तृतं । अणिगूढं अनपलपितं । आलोचय आलोचय, प्रकाशय त्वम् ॥

अर्थ—समस्त्य मरणसे भवयन्में दुःख सहन करना पड़ता है. और निःशक्त्यमरणसे सर्व कर्मोंका क्षय मरण कर, शान्तिरीतिसे, निर्मय और मोहरहित होकर दोषोंको न छिपाकर कहना चाहिये. दीक्षाग्रहण कालसे आज तक जितने दोष हुए होंगे उन सबको कहना चाहिये. उसमेंसे एकही छिपाना नहीं चाहिये

जह् बालो अपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणह् ॥
तह् आलोचिक्खं मायामोसं च मोत्तुणं ॥ ५१७ ॥

अयमानसृपामायामुक्तेन प्रांजलात्मना ॥

वालेनेयाभिधेयानि कृत्याकृत्यानि धीमता ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—जह वाशे जंपते यथा यालो अल्पन् । कञ्जमकज्जं ॥ कार्यमकार्यं वा । मणदि मणति । उज्जुगं मण्डुना कमेण । तह मया । आलोचिद्वं वळव्योऽपराधः । मायामोत्सं च मोत्तुणं मनोगतां वळतां, वचनगतां, मृपा च सुपत्ता ॥

आलोचनोचतस्य तद्विधिमभियसे—

मूळारा—उज्जुगं प्रांजलं । आलोचिद्वं प्रकाश्यं । मायां मनोवळां । मोत्सं वागवकताम् ॥

अर्थ—जैसा बालक कार्यं हो अथवा अकार्यं हो सरल अंतःकरणसे अपने पिताको कहता है, इसीतरह क्षपकक्षीभी अपने अतिचार मनका फट छोड़कर और वचनकी असत्यता दूर कर कहने चाहिये.

उपसंहारति प्रस्तुतम्—

दत्तं संपाणचरित्ते काट्टणालोचणं सुपरिसुदं ॥

णिससहो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥ ५७० ॥

सम्यक्स्वज्ञानघुत्तेषु विधायालोचनं यते ! ॥

कुरु सल्लेखनं सम्यक्कमेणापास्तकत्तमपः ॥ ५७० ॥

विजयोदया—दत्तं संपाणचरित्ते दर्शनज्ञानचरित्रविषयां । आलोचणं काट्टण अपराधमभिधाय । सुपरिसुदं णिससहो मायाग्राह्यरहितः । कदसुद्धी कृतगुणनिरूपितमायविधित्तः । कमेण सल्लेहणं कुणसु कमेण सहैकतां कुरु ॥

आलोच्य मया किञ्चयमित्थाह—

मूळारा—सुपरिसुदं सर्वथा त्यक्तमार्य । कदसुद्धी कृतगुणप्रायविधित्तः । सल्लेहणं कुणसु सर्वोत्थना शरीर-

त्यागाय योग्यतासुत्पादयेत्यर्थः ।

प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र इनमें हुए अपराधोंका निवेदन मायाग्राह्यका पूर्ण त्याग करके करना चाहिये. गुरुओंने दिया हुआ प्रायश्चित्त धारण करके शुद्ध होना चाहिये. तदनंतर क्रमसे सल्लेखना करनी चाहिये

तो सो एवं भणितो अब्भुज्जदमरणिच्छिदमदीओ ॥

सब्बंगाजादहासो पीदीए पुलहदसरीरो ॥ ५४९ ॥

इत्युक्तं स्वरिणोत्कृष्टां चिकीर्षुः क्षपको मृत्ति ॥

ज्ञातसर्वागरोमांचः प्रमोदभरविबुलः ॥ ५७१ ॥

विजयोदया—एवं शिक्षितोऽसौ क्षपकः । तो ततः । सो आराधकः । एवं भणितो एवं शिक्षितः स्वरिणा । अब्भुज्जदमरणिच्छिदमदीओ ॥ अभ्युपजे मरणे निश्चितबुद्धिः । सब्बंगाजादहासो सर्वोपजादहासो सर्वोपजादहासरीरो मीत्वा पुलकितशरीरः ॥

एवं शिक्षितः क्षपकः किं करोतीत्यन भाषाद्वयमाह—

मूलारा—तो ततः शिक्षानंतरं कायोत्सर्गं करोतीति संबन्धः । अब्भुज्जद उन्मादवाक् । हासो हस्यः ।

अर्थ—यहांतक गुरुने क्षपको आलोचनाके विषयमें उपेक्ष किया, यह सब उपदेश सुनकर मरणकेलिये मितने निधाय निमा है ऐसा क्षपक मुनि अत्यंत हर्षित होवा है और उसके शरीरपर आनंदसे रोमांच आवे है.

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुचो व कुणदि एगंते ॥

अमलोयणपत्तीयं काउत्सर्गं अणाबाचे ॥ ५५० ॥

वैत्पस्य सम्भुलः प्राच्यामुदीच्यां वा विद्याः स्थितः ॥

कायोत्सर्गस्थितो धीरो भूत्वा कायेऽपि निस्पृहः ॥ ५७२ ॥

विजयोदया—प्राग्भुल उदरभुलः । चेदियहुचो य चैत्याभिमुखो वा भूत्वा । कुणदि कायोत्सर्गं । कीदृशपूर्व ? आलोयणपत्तीयं आलोचनप्रत्ययं । आलोचनानिमित्तं । प्रायोत्सर्गं स्थित्वा । यतः सर्वान्ते कथयितुं तात्कायोत्सर्गं आलोचनान्देहुः । क तं करोति ? एगंते एकांते जनरक्षितदेशे । अणाबाचे । अणाबाचे । अमागे बहुजनमथे एकमुहो न भवति चित्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातकृत्वा इति मत्वा । एकांते अमागे च कायोत्सर्गदेशे आख्यातः ॥

मूलारा—पाचीणोदीचिमुहो पूर्वाभिमुख उत्तदाभिमुखो वा । चेदियहुचो वा चैत्याभिमुखो वा । आलोयणपत्तीयं आलोचनप्रत्ययं । कायोत्सर्गयो दोषान्मरतीति कायोत्सर्गं आलोचनान्देहुकः । कावत्सर्गं सामायिकबंदकस्तवप्रयोगपूर्वकं श्रुतिसिद्धिर्भाक् कृत्वोपमिदं उपस्थिद्वर्भाक् करोतीति प्राकृतवीक्षान्नायः । अणाबाचे कलेयसंक्लेशकारणरहिते ॥

अर्थ—पूर्वदिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके किंवा बिनप्रतिभाके सम्मुख ३१ना मुख करके आलोचनाके लिये प्रथम क्षणक कायोत्सर्ग करता है. कायोत्सर्ग कर कदनेके लिये दोपका स्मरण किया जाता है. अतः कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है. यह कायोत्सर्ग विधि क्षणक एकान्तमें और अभागमें करता है. अर्थात् जहाँ दान नहीं है ऐसे स्थानमें और जहाँ आने जानेका मार्ग नहीं है ऐसे स्थानमें क्षणक कायोत्सर्ग करता है. बहुजनमें कायोत्सर्ग करनेसे मन एकाग्र होता नहीं और मार्गमें कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमें अटचन उपस्थित होती है. इसलिये एकान्तमें और अभागमें कायोत्सर्ग करना चाहिये ऐसा विधि कहा है.

कायोत्सर्ग किमर्थ करोति शालोचयिपुक्कमः इत्यादिवाक्यां कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—

एवं तु वोसरित्ता देहे त्रि उवेदि निम्ममत्तं सो ॥

निम्ममदा निस्तंगो निस्सच्छो जाइ एयत्तं ॥ ५९१ ॥

सुत्तशाल्यममत्त्वोऽसोवकत्वं मतिपचते ॥

शाल्यमृत्पाटपिप्प्यामि पादगुले गणेक्षिनः ॥ ५७३ ॥

विजयोदया—एवं तु इत्यादिना एयमित्यन्तरसूत्रनिर्दिष्टमेव । मादमुय उयदमुखस्यैस्याभिमुखो वा । एकांते मार्गे । वोसरित्ता त्यस्या र्किं ? न हि त्यागमन्तरेण त्यागो युज्यते । देहमिति चेत् देहे वि उवेदि निम्ममत्तं सो इति न पठते निर्ममत्वं ननु श्यामः । भिन्नयोः पूर्वोक्तकालविषययोः क्रिययोर्धन एतः कर्तौ तत्र पूर्वकालक्रियावचनाद् फत्या विधीयते । अथोच्यते यत्तसा त्यागः वोसरित्ता इत्यनेन उच्यते । मनसा ममायं न भवति देह इति त्याग पश्चात्सन्वते । तेन चाद्यन.करणभेदासंगो भिज्यते । निम्ममदा भिस्तंगो निर्ममतया निस्तंगो निष्पत्तिहः । निस्सच्छो नि.परिमहत्वाद्येय नि.शाल्यः । एकत्वं जादि एकत्वभावनं प्रतिपचते ॥

कायोत्सर्गस्यालोचनाप्रत्ययत्वसमर्थनाय गाथाद्वयमाह —

मूलारा—एवं पार्वणो इत्याद्युक्तनिधिना । सु यत्तात् । वोसरित्ता कायं व्युत्पन्नजामीति उच्यते त्यत्त्या । निम्ममत्तं अयं ऐहो मम भवतीति मनसा त्यज्जं हं । निम्ममदा निस्तंगो निर्ममतया निःसंगो बाल भ्रतरपरिमहद्दितो अत एव निःशाल्यः । आलोचनापरिणतोऽहमिदानीं संपन्न इति न मे सम्भवत्वादपि दोषः कश्चिदप्यस्तीति दोषशंकादुरावे-

शक्तिपूर्वकः । प्रकृतं एकत्वं अहमेकोऽसहायो भित्तो आ । देहोऽयं मज्जोऽन्यो दुःसहेदुल्लाष समानुपकारी निरतिचारस्तत्राय-
मेवाहमजो देहत्वाद्येन मे न किंचिन्नश्यति मम बुद्धिदूषत्वेयमशुद्धिरिति मायां च न शृण्वेमिति एकत्वभावनामयो
भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—पूर्व गाथाये कहे हुए अभिप्रायके अनुसार पूर्व, उचर अथवा चैत्यके तरफ मुख करके मैं शरीरका
त्याग करता हूँ ऐसा प्रथम वचनोच्चार करके तदनंतर 'यह देह मेरा है, ऐसी भावनाका मनसे त्याग करना चाहिये.
इस चास्ती शरीरत्यागके पचनकृत और मनःकृत ऐसे दो भेद होते हैं, देहके उपर ममत्वरहित होनेसे यह क्षपक
नियमिप्रद है, और नियमिप्रद होनेवाली यह निश्चल्य भी है, अतः कायोत्सर्गके समय मैं झकेलाही हूँ यह
शरीर मेरा नहीं ऐसी एकत्वभावना उसको उत्पन्न होती है.

तो एवमुक्तवान्मो सरोहि सव्वे कंदे सगो दोसे ॥

आयरियपादसूले उप्पाडिस्सामि सञ्जुत्ति ॥ ५५२ ॥

इत्थंकेत्वगताः कृतस्मं दोषं स्मरति यत्नतः ॥

इत्थं स प्राञ्जलीभूय सर्वं संस्मृत्य तूषणं ॥ ५५३ ॥

विजयोपेक्षा—एवमुक्तवान्मो सरोहि सव्वे कंदे सगो दोसे । निरतिचारस्तत्रायमुपगतः । निरतिचारस्तत्रायमुपगतः । शरीरमिदमन्यदनु-
पकारि मम दुःखमिच्छामासु । तदिनामे मम किं विनश्यति । कदाचित्तस्योऽयमसौतिरिति मन्यमान । मायश्चित्ताद्यत्वे म-
दिप्रदत्ते । मायां च कर्मोदयनिमित्तं दृष्ट्वा ईदृशो मम शुद्धस्वरूपेयमशुद्धिरिति । 'तो ततः । सरोहि स्मरति ।
सव्वे सव्वेपा । कंदे कृतान्तं । स्वेयं स्वकृतम् । दोसं दोषाणां । किमर्थं स्मरति । आपरित्यपादसूले कात्यायनपादसूले । उप्पा-
डिस्सामि उत्पद्यन्तिव्यापि । सञ्जुत्ति वर्धनानिचारमिति ॥

मूलश्लोक—मो वत्त । कायोत्सर्गदिकमोपक्रमप्रवृत्तं । कंदे कृतान्तं । किमर्थं स्मरति । याद—आपदित्यपादसूले
त्यादि ॥

अर्थ—जब क्षपक एकत्वभावनामय होता है तब मैं अतिचाररहित ज्ञान, दर्शन और चरित्रमय हूँ, यह
शरीर मेरेसे भिन्न है, यह उपकार न करने वाला और दुःखकेलिबे कारण है, उसके नाशमें मेरा कुछ बिगडना नहीं है,

यह शत्रु है इस लिये इसको कुछ करना चाहिये। ऐसे विचार उसके हृदयमें उत्पन्न होते हैं, ऐसे विचार उत्पन्न होनेसे यह क्षपक प्रायश्चित्ता आचरण करते समय स्थिर होता नहीं- कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मायाको यह त्याग देता है यह माया मेरे शुद्ध स्वरूपमें अशुद्धता उत्पन्न करनेवाली है ऐसा मनमें समझता है- और आचार्यके चरणसन्निधे दर्शनादिकके अतिचारोंका नाश करेगा ऐसा विचार कर पूर्वमें किये हुए सर्व दोषोंको स्मरता है,

स्मृत्या किं करोति पश्चादित्यसंज्ञायामित्यावधे—

इय उजुभावमुपमादो सज्ज्य वोसे सरित्तु तिवस्रुचो ॥

लेखसाहिं विसुज्झतो उवेदि सङ्ख ससुद्धरिडुं ॥ ५५३ ॥

एति शल्यं निरकतुं सर्वं संस्थूल दूषणम् ॥

आलोचनादिकं कर्तुं पुज्यते शुद्धचेतसः ॥ ५५४ ॥

विजयोदया—उजुभावं उपादो इय एवं ऊजुभावं उपगतः । सज्ज्य वोसे सर्वेषां दोषाणां । तिवस्रुचो सरित्तु निःस्मृत्या । लेखसाहिं विसुज्झतो लेख्यभिर्निवृत्तभिर्निगृह्यतः । उवेदिः लोके भावार्थ । सङ्खं शल्यं । ससुद्धरिडुं सत्यगृह्यतुं ॥

स्मरणानंतरं किं करोतीत्यवधे—

सूक्ष्मारा—सरित्तु स्मृत्या । तिवस्रुचो नीन्वारान् । आचार्यमुपसर्पति ॥

दोषोंका स्मरण कर अनंतर कोनसा कार्य क्षपक करता है? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—इस तरहसे सरलपना धारण कर तथा सब दोषोंका विचार स्मरण करके लेख्याजैसे विशुद्ध होता- हुआ अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके पास क्षपक जाता है.

आलोचनादिया पुण होइ पसत्ये य सुद्धभावस्स ॥

पुज्जण्हे अवण्हे व सोमतिहिरक्खवेलाए ॥ ५५४ ॥

आलोचनादिकं तस्य संभवेच्छुद्धभावतः ॥

अपरान्तेऽप्य पूर्वाण्हे शुभलभादिके दिने ॥ ५५५ ॥

विजयोत्था—आलोचनाविकों आलोचनप्रतिक्रमणादिक्रियाः । अथवा आलोचनं आलोचना । दिया दि-
येस । पुण परचात् । दोद प्रवति । ५ पसत्थे प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रमुद्दिष्टता । विमुदमावस्स विमुद्विपरिणामस्य
भावशुक्ररेन कथिता । पुञ्जण्डे पूर्वण्डे । अवरण्डे च अपराण्डे चा सोमविहिरपयवेलाए सीम्ये दिने, नदने, वेलायां च ।
आलोचनासिद्धिया क्षेत्रादिशुद्धावेव कार्यत्वनुशास्ति—

मूळारा—आलोचनादिया आलोचनप्रतिक्रमणादिक्रियाः । अन्ये दिया दिवा न रात्री इति व्याख्यासि । तच्च
विजमार्थमेव । पुञ्जण्डे इत्यनेनैव यात्रिनिपेक्षस्य सामर्थ्यलब्धत्वात् । पसत्थे शुभे देते ।

अर्थ—विमुद परिणामवाले इस क्षपकन्त्री आलोचना, प्रतिक्रमणादिक क्रियाएं दिनमें और प्रशस्त स्थानमें
अर्थात् शुद्ध स्थानमें होती हैं । दिवसके पूरे भागमें अथवा उत्तर भागमें, सौम्यातिथि, शुभनक्षत्र, जिस दिनमें रहते
हैं उस दिनमें होती हैं । आलोचना करनेके लिये परिणामोंकी विमुदताके साथ २ क्षेत्रशुद्धि, शुभदिन, शुभतिथि और
शुभनक्षत्र इनकी भी आवश्यकता रहती है ऐसा इस गाथासे न्यक्त होता है ।

एवमपिदु अप्रशस्तेषु देशेषु आलोचनां न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापञ्चकम्—

निपपचकंदइछं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदंछुं ।

सुण्णघरहदेलपत्थरारासिद्धियापुंजं ॥ ५५५ ॥

निःपन्नः कटुकः शुद्धरूपादयः कंठकाचितः ॥

विच्छायाः पतितः शीर्णो दधदपस्तद्धितः ॥ ५७७ ॥

विजयोत्था—निपपचकंदइछं निपचं कंठकाकुले । विज्जुहदं अधविभाहतं । सुक्खरुक्खकडुदं । शुक्कशुद्धं,
कटुकरल, बट्ट दधं । सुण्णघरहदेलपत्थरारासिद्धियापुंजं । पत्थरारासि, रसकापुंजं ॥

आलोचनासयोग्यं क्षेत्रं गाथात्रयेणोपदिशति—

मूळारा—निपत्त निपचं उदुभुजुं स्थानं । एवं कंठइछं इत्याशयि व्याख्येयं । विज्जुहदं अशक्तियातोपदुवं ।
कटु कटुकरलं । बट्टे दवानलादिच्छुं । इष्टिबापुंजं इष्टकानिचयं ।

अप्रशस्त देशमें आलोचना करना योग्य नहीं है ऐसा आचार्यका शिक्षापर चचन दिताते हैं—

अर्थ—जो क्षेत्र पचोसे रहित है, कंठसे गाटा हुआ है, बिजली गिरनेसे जहां जमीन फट गई है, जहां

मुक्त दृष्ट है, जिसमें कटुत्वके वृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, ऐसे स्थानोंमें दोषोंकी आलोचना करना योग्य नहीं। अन्य परत्नका मंदिर, पत्थरोंका ढेर और ईंटोंका ढेर है ऐसा स्थानभी आलोचनाके लिये अयोग्य है।

तणपत्तकट्टारिय असुद्ध सुसाणं च भग्गपडिदं वा ॥

रुहाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥ ५५६ ॥

धुद्राणामत्पसत्त्वानां देवतामां निकेतनम् ॥

तृणपापाणकाष्ठास्थिपत्रपांस्वादिसंख्याः ॥ ५७८ ॥

शून्यवेहसरजोभस्मचर्चं प्रभृतिवृषिता ॥

रुद्रवेवकुलं त्याज्यं निषमन्यदपरिहरम् ॥ ५७९ ॥

विषयोक्त्या—तणपत्तकट्टारिय असुद्धसुसाणं च तृणवत्पत्रपांस्वादिसंख्याः । अशुचिसुसाणं वा भग्ग-
चिषमहाणं वा । भग्गानि पतितानि वा आहतानि युद्धानि वा यद्दिग्गं स्यान्ने तद्गम्यकृतं । अधिउत्ताणं वा ठाणाणि देव-
ताना स्थानानि । कीदृशीनां ? कदाचन रोक्ताणां । खुद्दाणं युद्धानां स्वस्वकानां ॥

मूखरा—टारियं भस्मभूत्वादियुक्तं । अतुषि अमेध्यादियुक्तं । सुसाणं इमशानं । भग्गपडिदं भग्गपतित
भाजनयुद्दादियुक्तं । रुहाणं रौद्राणां चायुष्कादीनां । खुद्दाणं क्षुद्राणां स्वल्पकानां । अल्पसंख्यानामित्यर्थः । अधिउत्ताणं देव-
ताना अन्ये अधिउत्ताणं इति लोकेन आभामेकप्रधाने स्थापितवर्तदेवानामित्येवमाहुः ।

अर्थ—जिसस्थानमें वृण, झरें पान, और काठके पुंज हैं जहां भस्म पड़ा है, ऐसे स्थानभी आलोचनाके
लिये वर्ज्य है अपवित्र दमशान, तथा फुटे हुए पात्र, अथवा गिरा हुआ घर जहां है वह स्थान भी वर्ज्य है रुद्रदेवतायें
और क्षुद्रदेवतायें इनकेभी स्थान वर्ज्य समझने चाहिये।

अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं ॥

आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविमत्थं ॥ ५५७ ॥

चिकित्साधिपतां शुद्धां साधुमालोचनां स्फुटम् ॥

सूरिणां सर्वथा स्थानमस्तमाधानकारणम् ॥ ५८० ॥

चिकित्साधिपता—अण्डो व अन्यद्वा स्थानं परमादिकं । अप्यसत्यं अग्रगतं । इमेवञ्च मयेत् । जे ठाणं यास्यामं । तस्य तस्मिन्स्थाने । आस्तोयनां च पट्टिच्छवि आलोचनां ॥ प्रतीच्छति । गणी गणयन् । किमर्थं । से तस्य क्षणकस्य । अपि-
स्य च अपि आदे । एतन्मालोचनाया एतायां आरब्धकार्यविदितं भवतीति मत्वा ।

शुद्धता—पट्टिच्छवि युजोति । अविगन्तव्यं आरब्धकार्यनिर्विप्रक्षिद्धवर्त्य ॥

अर्थ—ऊपरके स्थान जैसे वर्ज्य हैं वैसे अन्यमी ओ अयोग्य स्थान हैं उसमेंभी क्षणकी आलोचना आचार्य
गुनवे नहीं। ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षणकी क्षायसिद्धि नहीं होती ऐसा मानकर उसकी आलोचना आचार्य
प्रदण नहीं करते हैं।

ए तर्हि आलोचनां प्रतीच्छतीत्यमार्—

अरहंतसिद्धसागरपद्मसरं खीरपुष्पफलभरियं ।

उज्जानभवनतोरणपासादं पागजक्लधरं ॥ ५८१ ॥

जिनं द्रव्यधनानादिमं विरं चास्तोरणम् ॥

सरः स्वच्छपयः पूर्णं पाद्विनीपदं मंडितम् ॥ ५८२ ॥

पादपल्लवैः सेन्यं सर्वसत्त्वोपकारिभिः ॥

आराभे मंदिरं नम्रैः सज्जन्ति विरं भूयितं ॥ ५८३ ॥

समुद्रनिम्नभादीनां मीरमक्षमनोहरम् ॥

सच्छायं सरसं दृक्षं पवित्रफलपल्लवम् ॥ ५८४ ॥

जिनयोदया—अरहंतसिद्धसागरपद्मसरं अर्हन्तिदशव्यवस्थामिह प्रदीते ।
अर्हन्तिदशमिमासादकार्यादा । सागरादिसमीपं ज्ञानं क्षम्यन्त्यहसामपादिग्नेवोद्यते । सागरपुष्पफलभरिं क्षीरपुष्प
फलभरितवत्समीप्यात् स्थानं क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । उज्जानभवनतोरणपासादं उद्यानमयनं, तोरणं, प्रभादः ॥
पागजक्लधरं । नम्रानां यक्षणां च चूदे ॥

क तर्हि सूरिः क्षपकस्थालोचनां प्रतीच्छति इति पृच्छायां गाथादयमाह—
मुलारा—अरहंत अष्टप्राम्निहार्यसहितप्रतिमास्थानं । सिद्ध अष्टप्राम्निहार्यपहितप्रतिमास्थानं । सागर समुद्र
समीपप्रदेशः । पञ्चमसर पद्माकरजलाशयसमीपं । सीरुण्णकलभरिदं क्षीरयुथैर्बटधूलाशोकादिभिः पुष्पितैः फलितैश्च
वृक्षैरकीर्णो यो देशस्तदास्यासन्नस्थानं । उज्जणभयग कोडावनमप्यगृहं । तोरणपासादं महाशृङ्गं सौचद्वार्योदि ॥

किस प्रदेशमें क्षपककी आलोचनाका आचार्य स्वीकार करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—
अर्थ—अर्हन्तका मंदिर, सिद्धोंका मंदिर, अर्हत् और सिद्धोंकी जहां प्रतिमा है ऐसे पर्वतादिक- समुद्रके
समीपका प्रदेश, जहां धीरयुध है, जहां पुष्प और फलोंसे लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उपान, तोरणद्वारसहित
मकान, नागदेवताका मंदिर, वक्ष्योदिर ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं.

अण्णं च एवमादिय सुपसत्तयं हूवइ जं ठाणं ॥
आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणीं से अत्तिगघत्थे ॥ ५५९ ॥

अस्तमन्यदपि स्थानयुपेत्य गणनायकः ॥

आलोचनामसंक्षेपां क्षपकस्य प्रतीच्छति ॥ ५८४ ॥

मुलारा—स्वष्टे ।

अर्थ—और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके लिये योग्य हैं. ऐसे प्रशस्त स्थानोंमें क्षपकका फार्ग
निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठ कर आलोचना सुनते हैं.

सूरिरेव स्थित्या आलोचनां प्रतियुक्तातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ॥
अस्लोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विट्ठमि ॥ ५६० ॥
जिनाचार्या दिशाः प्राच्या कौबेर्या वा स सन्धुलं ॥
शृणोत्यालोचनां सूरिरेकस्यैको निपण्णवान् ॥ ५८५ ॥

करनेका कार्य मैंने हाथमें लिया है, उसकी सिद्धिके लिये यह दिशा कारणभूत है ऐसा समझकर वे पूर्वाभिमुख बैठते हैं, विदेहेश्वरमें स्वयंप्रभादि तीर्थकर होणये हैं- विदेहेश्वर उत्तरदिशाके तरफ है- अतः उन तीर्थकरोंको हृदयमें धारण कर उस दिशाके तरफ आचार्य अपना मुख कार्यसिद्धिके लिये करते हैं- चैत्यके तरफ मुख करनेसे परिणाम शुभ होगा जो कि कार्यसिद्धिके निमित्त है इस विचार से वे चैत्याभिमुख बैठते हैं.

निर्यातुल बैठकर गुरु आलोचना सुनते हैं. इस प्रकारसे सुननेसे आलोचना करनेवालेका सम्मान होता है. इधर उधर लक्ष देकर सुननेसे गुरुका भेदे संबंधमें अनादरभाव है ऐसी आलोचककी समझ होगी जिससे दोष कहनेमें उसका उत्साह नष्ट होगा. एक ही आचार्य एकके दोष सुने, यदि बहुत गुरु सुननेके लिये बैठेंगे तो आलोचना करनेवाला कष्टक लज्जित होकर अपने दोष कहनेके लिये तयार होने पर भी उसके मनमें खेद उत्पन्न होगा. अतः एक ही आचार्य एककी ही आलोचना सुने. एक कालमें एक आचार्य अनेक क्षपकों की आलोचना सुननेकी इच्छा न करें. क्यों कि अनेकोंका वचन ध्यानमें रगाना बड़ा कठिन कार्य है. इसलिये उनके दोष सुनकर योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकेगा. इतने विवेचन से हि एकात्ममें गुरुके बिना अन्य कोई नहीं होगा ऐसे समयमें आलोचना सुननी चाहिये ऐसा सिद्ध होता है. अतः 'विरहम्मि' यह पद व्यर्थ है. इसका उत्तर ऐसा है- यदि यहां अन्य भी होंगे तो आलोचकके दोष बाहर फूटनेका समभव है. एक गुरु यदि होंगे तो उस स्थानमें मञ्जुहरतीसे दुस्त्रे का प्रवेश होना योग्य नहीं है. यह सूचित करनेके लिये आचार्यने 'विरहम्मि' ऐसा पद दिया है.

(दोषवत्त्वं भालोचनं नाक्रम्यन्वदे-

काङ्क्षणं यः किरियम्मं पहिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ॥

आलोएदि सुविहिदो सन्वे दोसे पमोत्तूणं ॥ ५६१ ॥

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य सूर्यस्थितपाणिपद्मः ॥

आलोचनामेष करोति सुक्त्वा दोषानशेषानपशत्यदोषः ॥ ५६२ ॥

इति आलोचना.

पिजयोदया—काऊण य किदिकम्मं कृतिकम्मं धंदवां पूव कत्था। पटिलेदणमंजली करणमुदो मतिलेखनासहितः
मांजलीकरणमुदुक्कः । आलोपदि कयपति । सुविद्वो सुचारियः । सज्जदोसि पूर्वोपाद । पभोत्तण त्यक्त्वा । आलोचना ॥

एवमाभास्यलोचनाग्रहणक्रमं दिश्रुयित्वा सिध्वायालोचनाक्रममुपदिशति—

मूत्रारार—किरियम्मं वंदनां । प्रकमात्सरेव । सा चात्र सिद्धयोगमाकिंभ्यां इति वृद्धा । श्रीचंद्राचार्यसु सिद्धवा-
रिप्रज्ञाविमर्कित्वां व्यापष्टे । पटिलेदणमंजली दक्षिणपार्श्वे पिठेन सद ललाटवटमयुक्करपुटः । करणमुदो मनोवाक्काय-
शुद्धियुक्त । आलोचना सूत्रतः २३ । अंकतः ४० ॥

शिपयके आलोचनाका क्रम करते हैं—

अर्थ—प्रथम वंदना करके हाथमें पिच्छिका लेकर अंजलि करना चाहिये, आलोचनार्थे जो दोष आगममें
करे हैं उनका त्याग कर सर्व दोषोंका आचार्य महाराजके पास कथन करना चाहिये. सिद्धभक्ति व योगभक्ति
पदकर वंदना करनी चाहिये ऐसे शब्द आचार्य कहते हैं. परंतु श्रीचंद्राचार्य सिद्धभक्ति, चारित्र्यभक्ति तथा श्रान्तिभक्ति
पदकर वंदना करनी चाहिये ऐसा कहते हैं.

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोसा इत्येवदशास्थानायोत्तरप्रबंधः—

आकंपिय अनुमाणिय जं विहं वादरं च सुहुमं च ॥

छण्णं सदाडलयं बहुजण अब्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥

अनुकंप्यानुमान्यं हि यद्वृष्टं स्थूलमन्यथा ॥

छन्नं शब्दाकुलं भूरि सूर्यव्यक्तं च तत्समं ॥ ५८७ ॥

विजयोदया—आकंपिय अनुकंप्यामाहमिति संवाद्य आलोचना । अनुमाणिय गुतेरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालो-
चना । जं विहं यद् दष्ट दोषजातं परेखायालोचना । वादरं च यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । सुहुमं च यत्सूक्ष्ममति-
चारजातं तस्यालोचना । छण्णं अट्टयालोचना । सदाडलयं शब्दा आकुला परस्य आलोचनार्थं सा शब्दाकुला । बहुजन-
शब्दः सामान्यविषयोऽपीदं मुदजनवाहुल्ये वर्तते । गुतेरालोचनार्थाः प्रस्तुतत्वाद्द्वर्णानां गुरुणां आलोचनाः कियते सा
पहुजनशब्देनोच्यते । अमयत्ता अन्यकस्य क्रियमाणा आलोचना । तस्सेवी तानाहमचरितान्दोशान्व. सेवते सा तस्सेवी
तस्य आलोचना । इदं सूत्रं । अस्य व्याख्यानयोत्तरप्रबंधः ॥

अथैवमालोचनाकर्म निरुत्तमालोचनागुणदोषनिरूपणार्थं सप्तपट्टि माथाः कथयति—तत्रादौ तावदाकंपादि तदो-
दोषान्दश विस्ति तद्विपर्ययरूपस्याहुवनाम्—

मूढारा—आर्कपिय अनुर्कयमात्मनि संपाद्यालोचना । सुद्धमं सूक्ष्मस्य दोषस्यालोचना । जं दिष्टं यदुष्टं
दोषजातं परैलस्यालोचना । वादरं यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । छणं प्रच्छन्नं पुष्ट्या आलोचना ॥

आलोचनाका क्रम यहां तक आचार्य महापालने कहा है. आगे 'गुण दोषा, इस प्रकरणका सविस्तर वर्णन
करते हैं—

अर्थ—अपने विषयमें गुरूके मनमें दया उत्पन्न कर आलोचना करना यह आर्कपित दोष है,
अनुमानित—गुरूके अभिप्राय उपायसे ज्ञानकर आलोचना करना. यदुष्ट—जो अपराध दूसरोंने देखे हैं
उनकी ही आलोचना करना. वादर—स्थूल अतिचारोंके समूहकाही कथन करना. छोटं अपराध छिपाना. सूक्ष्म-

सूक्ष्म अतिचार कहकर बड़े दोष छिपाना. छन्न—न देख हुए दोषोंकी आलोचना करना.
शब्दाहलित—जिस आलोचनमें शब्द आशुलिख हैं ऐसी आलोचना का नाम शब्दाहलितालोचना
है. अर्थात् पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांख्यिक आलोचनोके समग्र बहुत यतिगण मिलकर आलोचना करते हैं. तप
उनके ध्वनिजोंमें अपना ध्वनि भी मिलाकर दोषोंकी आलोचना करना.

पहुजन—पहुजन शब्द सामान्य जनका वाक्क होने पर भी प्रस्तुत प्रकरणमें गुरुबनोंके समुदायमें रूढ
हुआ है. बहुत गुरु मिलकर जो आलोचना करते हैं उसको बहुजनालोचना कहते हैं.

अन्यक्त दोष—जो आशानी है ऐसे मुनिको अपने दोष कहना.
तत्सेवी—जो दोष स्वतः किये हैं ऐसे ही दोष जिसके द्वारा होचुके हैं अर्थात् जिसने अपने दोषोंके
समान दोष किये हैं उसको अपने अपराध कहना. ऐसे आलोचनोके दस दोष हैं.

इन दोषोंका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं.

आर्कपिय इत्येतत्सूत्रपदं ध्याचये

भर्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ॥

अणुर्कंपेउण गाणि करेइ आलोयणं कोइ ॥ ५६३ ॥

सूरि भक्तन पानेन प्रदानेनोपकारिणा ॥

बिनयेनानुक्रम्य स्वं दोषं वदति काश्चन ॥ ५८८ ॥

विज्ञायेदथा -- भोजन व पाणन ॥ स्वयं शिक्षालिख्यसमन्वितत्वात्मवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्राप्तुकेन उद्गमा-
विदोपराहितेन भक्तन भा मानेन वा धैर्याश्रयं कृत्वा, उपकरणेन कर्मदुष्पिण्डादिना । त्रिदिकम्भकणेन कृतिकर्मवन्दनया
॥ । आर्कपेदूय अनुकंपामुपाय । गणि आचार्य । कोद आलोचनं करेद कश्चित्पापराधं कथयति ॥

आर्कपिय इत्येतत्सुत्रपदं गथापंचकेन व्याचक्ष्णः पूर्वं तत्क्षणं गामाद्वैयेनाह --

मूलाय --- आर्कपञ्चन स्वयं शिक्षालिख्यसमन्वितत्वात्मवर्तको भूत्वा निर्दोषमफादिसंपादनेन वन्दनया वा गणित-
नात्मनि तत्क्षणं कृत्वा ।

प्रथमतः आर्कणित दोषका स्वरूप कहेते हैं --

अयं -- स्वतः शिक्षालिखिते युक्त होनेसे आचार्य की प्राप्तिक और उद्गमादिदोषसे रहित आहारपानी के
द्वारा पैपापुस्य करना, सिंही कमंडलु वगैरे उपकरण देना, कृतिकर्म वन्दना करना इत्यादि प्रकारसे गुरुके मनमें
दया उत्पन्न करके कोई अपने अपराध करता है.

तस्यालोक्यतो मनोव्यापारं दर्शयति --

आलोचनं असेतं होहिदि काहिदि अणुग्गहमिनोत्ति ॥

इय आलोचतस्स हु पढमो आलोचनादोसो ॥ ५८९ ॥

आलोचितं मया सर्वं भविष्यत्येय मे शुणं ॥

करिष्यतीति मन्तव्यं पूर्वं आलोचनामलः ॥ ५८९ ॥

विज्ञायेदथा -- आलोचनं असेतं होहिदि निस्वशेषं आलोचितं यन्विष्यति । काहिदि करिष्यति । अणुग्गहं इमो-
त्ति । अनुगमं अयमिति । भकादिदानेन छतोपकारस्य मम तुष्टो गुरुनं महात्मायस्त्रिषुं प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । ततो
मदाग्रायाधित्तदानभयारत्तुलं सुखं पातिचारं खं कथामीति । इय एवं आलोचनस्तस्स शु एवं मनसि कृत्वा आलोच-
यतः । पढमो प्रथमः । आलोचना दोसो कथामीति । कोऽसौ ज्विनयो नाम यत्किंचित्पुष्पा गुरुवस्तुपुनितं कुरुमा-
यश्चित्तदायिनो भविष्यतीति स्वगुदया वक्षदोषाचारोपणान्मानस्तोऽविवक्षः । मन्ते तु वर्णयन्ति आलोचना । अ दोषदच
आलोचनादोषः । अनुमाभिसंधिपुनःसरा आलोचना दुष्टतमालोचनदोष इति यावत् ॥

तस्मात्प्रत्यक्षं नोक्तं यथापारं दर्शयति—

मूढा—होहिदि अतोपं अस्यावर्जितचित्तस्य गुरोरे भविष्यति स्थूलं सुक्ष्मं चातिवात्सल्यं भया । न क्षसी हृत्प्रायश्चित्तं मे शम्भुति किं तर्हि ? काहिदि अनुगम्यमिति कोरेत्यत्यग्रपुष्पाकारमिति । आलोचितस्य ह्युपतमो आर्कपनामकः । दोषत्वं चान्य गुरोरेधिन्यप्रवर्तमानं । यत्किंचिच्छब्दागुरमृष्ट्या लघुमत्वादेव च रायितो भविष्यति इति रसकुटुब्या अवरोणाप्यारोपणाद्धि न नान्यतो विनयः ।

आलोचना करते समय उसकी मनःप्रवृत्ति कैसी रहती है इसका वर्णन—

अर्थ—आहारादिकों के दानसे सुष्टु किये गुरु मेरेको महान् प्रायश्चित्त न दोगे. छोटासा प्रायश्चित्त देने-अतः स्थूल क्षस्म सय दोष में सुल्की कर्ह्या. इस विचारसे कोई यदि अपने दोष कहते हैं.

और इस प्रकार सर्व दोषोंकी आलोचना होगी ऐसा मनमें समझते हैं. यह आलोचनाका प्रथम दोष है. इस दोषमें अविनय घुसा हुआ है. उसका विवेचन इस प्रकार—

जो कुछमी मिलनेसे गुरु संतुष्ट होकर छोटासा प्रायश्चित्त दोगे ऐसा अनेक मनमें विचार कर उनपर असदोषका आरोपण करना यह मानसिक अविनय है. अर्थात् गुरु छोटी होनेसे उपकरणदि पदार्थ मिलनेसे छुप होजाते हैं ऐसे दोषका आरोपण करना. अनुभवरिणाप्रसहित यह आलोचना की जाती है इस वारंते यह आलोचना सदोष है ऐसा कोई आचार्य इस आलोचनाके विषयमें कहते हैं—

केदूण विसं पुरिनो पिपुज्ज जह कोह जीविदच्छीओ ॥

मण्णतो हिदमहिदं तविमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६५ ॥

काश्चित् कोत्वा विषं मुंक्ते नरो मत्वाहितं हितं ॥

जीवितार्थी यथा मूर्खस्तथेयं चुद्धिरिच्यते ॥ ५९० ॥

विजयोद्या—केदूण विसं पुरितो इत्यादिना । जह कोह जीविदच्छी विसं केदूण पिबेज्ज इति-संयथ. । यथा काश्चिपुरुषो जीवितार्थी तिवं क्रीत्वा विवति । अहिदं चहितं कृत्या । विषयानं दिदं मण्णतो हितमिति मन्य मानः । तपिमा तथा इपं सल्लुद्धरणसोधी मापाशब्दोद्धरणमुद्धिः । सामान्यवचनोऽपि शल्यस्योद्धरण मायाशब्दे लुप्तः ।

तस्य उद्वरणं ताम्रं स्वयत्तापराधकथनं । आलोचनाशब्दोद्वरणमेव युक्तिरुच्यते । ज्ञानदर्शनचार्चित्तपक्षां नैर्मल्येषुतुत्या-
सु, जीवितार्थिनः । हितमुद्रया मूर्धता अदिता । जीवविषयानं उपमानं तद्वितीयमालोचना, मल्लोचनानादिदोनेन वंदनया वा
मीत्या गुणं स्वयमुद्रया प्रियदाशना न शुद्धं संवादपति विषयानमिव जीवितं विद्वत्पण्डित्यं पानं दुष्टता उपमानोपमेययोः
सद्व्यपारणा धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेयं तयोश्च साधारणं धर्ममाश्रित्य सर्वानुपमानोपमेयता । चंद्रमुखी कन्या इत्यादौ चंद्र
उपमानं, उपमेयं मुखं, दृष्टता सर्वजनप्रनोपलभता च साधारणो धर्मः ॥

दृष्टानुमुनेन गुर्वनुकंपनापूर्वकालोचनाया दुष्टवामान्येष्ट -

मूलात्—कंपूणा मीत्या । जीविद्वितीयो जीवितार्थी । अहिं दं प्रणायवहारित्वादपकारकं । तद्विना तथा हयं ।
भक्त्यनुपचारपूर्विका । सत्तुद्वरणसोपो शक्यस्य यावाक्यस्योद्वरणं स्वकृतापराधकथनं मल्लोचना । तदेव सोपो बुद्ध्या
रत्नमेव नैर्मल्येषुतुत्यात् । धनेन मीत्या पीतं विपं जीवितार्थिण सफादिना गुरुमनुकंप्य कृतालोचना शुद्धि न करोतीति
दृष्टान्वार्यं । इदमालोचना विषयदुष्टेति शास्त्रयम् ।

अर्थ—जीनेकी इच्छा करनेवाला कोई पुरुष अहितकर विपको खरीद कर हितकर समझकर पीता है।
उसके समान ही यह मायाद्वयसे उद्धार करनेवाली शुद्धि समझनी चाहिये. आलोचनाके दोष मनमेंसे जाण करना
ही शुद्धि है. अर्थात् अपने क्रिये हुए अपराध निष्कण्ट भावसे गुलके समीप रहना ही शब्दोद्वरण शुद्धि है, इस
शुद्धिसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य निर्मल होते हैं.

परंतु यह आलोचना जीवितार्थी मनुष्यने हितकर समझकर किये हुये विषयानके समान है. विषयान
उपमान है. और यह आलोचना उपमेय है. आहारादि पदार्थ गुरुको देकर अथवा वंदना करके गुलकी मानो
खरीद लिया है ऐसी मनमें कल्पना कर यह आलोचना की जाती है अतः यह दुष्ट है. इस उपमान और उपमेयमें
साधारणधर्म दुष्टता है. उपमान और उपमेय और साधारण धर्मका आश्रय लेकर उपमान उपमेयता दिखाई
जाती है. जैसे चंद्रमुखी कन्या इस उदाहरणमें चंद्र उपमान, मुख उपमेय और गोलाई, सर्वजनचिन्ताकर्षकता
यह साधारणधर्म हैं. वैसे यहां भी विषयान उपमान, आलोचना उपमेय और दोतामें दुष्टता यह साधारणधर्म
हैं. यद्यपि इस गायामें सत्तुद्वरणसोपी इस समस्तपदमें मल्ल शब्द सामान्यवचक है परंतु इस प्रकारमें माया-
शब्दके अर्थ में यह रुढ हुआ है.

उपमानांतरेणापि उपमेयं आलोचनं प्रभवति ॥

वृष्णरसगंधजुप्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं ॥

पञ्चा णिच्छयकदुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६६ ॥

मधुरालोचनैपादौ बिपाके सेविता सती ॥

लीलं करोति किंपाकफलसुक्तिरिवास्तुत्वम् ॥ ५९१ ॥

विश्वोदया—वृष्णरस एवादिता । किंपाकफलं वृष्णरसगंधजुप्तं जहा दुहविवागं । किंपाकाण्यस्य सतोः फलं । वृणोदियुत्पद्य सतोः फलस्याभाषणवचनसिद्धेर्बोदियुक्तवचनमतिप्रयतितवर्णविपरिग्रहं स्वययति । तेभा- यमर्थः—भरतमित्रकृपे, मधुरसयुक्तं, प्राणसुखं सेवितमिति यावद्युक्तोपः । दुहविपाकं दुःखविपाकं । पञ्चा अनुभवो- सरकाळं । णिच्छयकदुयं मिश्रयेन कदुक् । तधिमा ते यथा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुक्तिः किंपाकफलोपमेव उप- मति, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ।

तरया एव दुर्विपाकतां दृष्टोक्तमुत्तेजावदे—

मूलाया — वृणोत्त्यादि नयनप्रियवर्णं मधुररसं प्राणसुखरसं चैतयोः । दुहविवागं दुःखविपाकं सरणे कारण- त्वात् । पञ्चा अनुभवोपरकाळं । णिच्छयकदुयं मिश्रयेन परमायेन कदुक् दुर्विपाकत्वात् । तधिमा तथेयं दुःखविपाका- दुर्गतिदुःखहेतुत्वात् ।

दुस्तर उपमानके द्वारा भी उपमेयरूप आलोचनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—किंपाकफलका रूप बड़ा सुंदर रहता है. रस, मधुर होता है, गंध नाकको मोहित करता है. परंतु उसका सेवन करनेसे परिणाम कालमें दुःख उत्पन्न होता है. अर्थात् उसके भक्षणसे जीबको प्राणत्याग करना पड़ता है. यह आलोचनाकी शुद्धि भी किंपाकफलके समान है. यहाँ किंपाकफल उपमान, आलोचना उपमेय और परिणाम में दुःख दायकपना यह साधारण धर्म समझना चाहिये,

किमिरागकंचलस ब सोधी जडुरागवत्तयोधीव ॥

अवि सा हवेज्ज किहू इण तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६७ ॥

धीरपुरिसचिण्णाहं पवददि अदिघमिओ व सज्जाइं ॥

धण्णा ते भगवंता कुब्बंति तवं विकटं जे ॥ ५६८ ॥

धीरैराधारितं धन्याः कुर्वन्ते दुश्चरं तपः ॥

दुःखाम्भसो भवाम्भोयधुस्तरात्तारकं परम् ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसचिण्णाहं धीरैः पुरैराधारितानि । पवदति प्रवदति ॥ अदिघमिगोय भतीय धार्मिक इव । सज्जाइं सर्वाणि । धण्णा धन्याः पुण्यपंथः । ते भगवंतः माह्वल्यपंथः । जे वे । कुब्बंति कुर्वन्ति । तवं तपः । विकटं उत्कटं इति वदति ॥

अणुनामिद इति द्वितीयमालोचना दोषं गाथापटकेन व्याख्यानः पूर्वं तल्लक्षणं गाथापचकेनाह—
मूला—चिण्णाहं आधारितानि । पवददि प्रकर्षणं कथयत्यलोलोचनाकारी । धण्णा इत्यादीति संयंयः । अदि-
घमिगो य अतीव धार्मिक इव । भववंता माह्वल्यपंथः धिक्किट्टं । उत्कटं ।

अनुमानित दोषका वर्णन—

अर्थ—अलोचना करनेवाला मुनि भानो अपनी अतिशय धार्मिकता दिखाता हुआ इस प्रकारकी स्तुति करता है—हे भगवान् ! धीर पुरुषसे किया हुआ सर्व प्रकारका तप जो मुनि करते हैं वे अतिशय धन्य हैं, पुण्यवान हैं और महारमा हैं.

यामापहारपासत्यदाए सुहसीलदाए देहेसु ॥

वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणत्तणस्त ॥ ५६९ ॥

कलमापहारपार्वस्यसुसशीलतया तपः ॥

न प्रकटमलं कर्तुं वदत्येवमधार्मिकः ॥ ५७० ॥

विजयोदया—यामापहारपासत्यदाए कलमिगुहनेन पार्वस्यतया च । सुहसीलदाए च सुहशीलतया च । तदो सतः । सो सः । वददि कथयति । णिहीणो जयन्त्यः । अहं महकं । जं यस्मात् । ण समत्थो असमर्थोऽशक्तः । अणत्तणस्त अनशनस्य ॥

मूलरा—यामास्यहार वलनिगूहनेन । पास्तस्मदण पार्थस्वतया । वददि सिद्धीणो इत्यादिकं कथयसि । नि
हीणो अद्वयं जं न समस्तयो । सिद्धीणो लघन्वः । अद्वयं अहं । जं यत्मात् ।
अर्थ—अपना घल छिपाकर और स्वयं पार्थस्वद्युनि होनेसे और सुखमें आसक्त होनेसे वह युनि गुरुकी
इस प्रकार प्रार्थना करता है, 'मैं लघन्य हूं, असमर्थ हूं इसलिये मेरेको उपवास करनेका सामर्थ्य नहीं है।

जाणह य मज्झ थामं अंगणं दुब्बलदा अणारोगं ॥

थेय समत्थोमि अहं तवं विकटं पि काहुंजे ॥ ५७० ॥

पार्थैत्यत्वमनारोग्यं दौर्बल्यं वह्निमंदता ॥

भगवंस्तव विज्ञाता मदीयाः सकलाः स्फुटम् ॥ ५९५ ॥

विजयोक्त्या—जाणह य भस्मद्वलं युष्माभिरवसितमेय । अंगणं दुग्गलदा उदराग्निवैवल्यं । साणारोणे रोगा-
धर्ता च । अहं तवं विकटं काहुंजे यैव समत्थोमि अहं तप उत्कटं कर्तुं कैप समर्थोऽस्मि ॥

मूलरा—जाणय जालीय युवं । मज्झ थामं मग धळ । महणीयोवहियं उदराग्निदौर्बल्यमित्यर्थः । अणा-
रोगेन रोगवणो । काहुंजे कर्तुं । समत्थो मि समर्थोऽस्मि । कर्जे च—

अग्निमायमनारोग्यं वलं मे सातमेव धः ॥

कथा च न समर्थोऽहमुत्कटं पखिं तपः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप मेरा सामर्थ्य भितना है वह तो जानवे ही हैं, मेरा उदराग्नि अनिद्रय दुर्बल है, मेरे
अंगके अवयव कुछ है इसलिये मैं उत्कट तप करनेमें असमर्थ हूं, मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है।

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुगाहं कुणह ॥

उज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह निच्छरेज्जामि ॥ ५७१ ॥

आलोचयामि निःशेषं कुरूपं ययमुग्रहम् ॥

त्वदीयेन प्रसादेन विशुद्धिर्मेव जायताम् ॥ ५९६ ॥

विजयोदया—आलोचयि य सत्त्वं सर्वमतिचारजातं आलोचयामि । अदि पच्छा अणुमहं कुणहं मम यदि पच्छासुप्रहं कियते ययन्तिः । तुच्छा सिरीय । भवतां श्रिया । इच्छं इच्छामि । सोधी सुद्धि । विच्छरेल्लजामि निस्तारयि-
व्याम्यत्मानं ॥

मूढारा--पच्छा आलोचनानंतरं । अणुमहं कृपां । तुच्छसिरीय भवतां प्रसादेन । इच्छं इच्छामि । सोधीयं
सुद्धि । विच्छरेल्लजामि निस्तारयाम्यात्मानं । अन्यस्तु विच्छरेल्लजामि निस्तारिषुमिच्छामीत्याह ॥

अर्थ--यदि मेरे ऊपर आप अनुग्रह करेंगे अर्थात् मेरेको आप यदि शोभासा प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने
संपूर्ण अतिचारोंका कथन करूंगा और अपनी कृपासे मैं छुद्धियुक्त होकर अपराधोंसे मुक्त होऊंगा.

अणुमाणेदृणं गुरुं एवं आलोचनं तदो पच्छा ॥

कुणहं ससच्छो सो से विदिओ आलोचणा दोसो ॥ ५७२ ॥

कुर्वाणस्यानुमान्येति त्तरिमालोचनां यतेः ॥

भवत्यालोचनादोषो द्वितीयः शाल्पयोगोपकः ॥ ५९७ ॥

विजयोदया--एवं अणुमाणेदृण एवं अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरुः प्रार्थितः करिष्यति स्वल्पप्रायविचलत्तत्वेन ममा-
नुग्रहं इति । पच्छा आलोचने कुणहं पक्ष्मादालोचनां करोति । ससच्छं शाल्पसहितं । सो सः । से तस्य । विदिओ द्वितीय
आलोचनादोषो आलोचनदोषः ।

मूढारा--अणुमाणेदृण अनुमानेन ज्ञात्वा ।

अर्थ--गुरु मेरेको शोभासा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे ऐसा अनुमान करके भाषायामात्रसे
जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है, यह अनुमानित नामक आलोचनाका दूसरा दोष है.

गुणकारिभोचि मुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ॥

पच्छा विवायकडुगं तधिमा सछ्छरणसोधी ॥ ५७३ ॥

सेव्यमानो यथाहारो विपाके दुःखदायकः ॥

अपथ्यः पथ्यश्रेष्ठतया तथेयं शुद्धिरिति ॥ ५९८ ॥

इति अनुमान्यदोषः ॥

विजयोदया—गुणकारिओति सुंजर गुणसुपकारं करोति इति श्रुते । जहा सुहृत्वी यथा सुयायी । अपरथमाहारं । कीदृग्भूतं पच्छा विपाकद्वयं भोजनोत्तरफलं विपाकद्वयकं । तथिमा तथा इमाः । सत्सुन्दरनसोधी शस्योदरणशुद्धीः अपथ्यमाहारं स्वबुद्ध्या गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम श्रुते तथापि विपाके कटुक एवासी । एवं गुर्वभिमायानुमानेन मधुतो दितमुद्ध्या गृहीतप्यालोचना अनर्थोच्येति । न हि संकल्पवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभावः । नापथ्यस्याद्वारस्य पथ्य-
तास्ति संकल्पमात्रेण । अनुमापिय ॥

मूलशिक्षा—गुणकारमोति गुणसुपकारं करोति इति । पच्छा भोजनोत्तरफलं । तथिमा अपथ्यं पथ्यमिति संकल्प्य शुरुमिय । गुर्वभिमायानुमानेन मधुतद्विद्वद्वशा गृहीतप्यालोचना परिणामेऽनर्थोवहा । न हि संकल्पवशाद्द्वस्तुनोऽन्यथाभावः ।

अर्थ—जैसा सुखकी चाहना करनेवाला कोई पुरुष भोजन के अनंतर जिसका परिणाम दुःखदायक होगा ऐसा आहार खाता है, परंतु उससे दुःख न होकर दुःख ही उत्पन्न होता है वैसी यह आलोचना शुद्धि है, अपथ्य आहार मेरेको हितकर होगा ऐसी बुद्धिके द्वारा मनमें संकल्प कर यदि कोई पुरुष मक्षण फरेगा तोभी वह परिणाममें कटुही फल देगा, वैसे गुरुके अभिप्रायका अनुमान करके अर्थात् गुरु मेरेको अनप-
थ्य दैने इस बुद्धिके की गई, हितकर भी आलोचना अनर्थ करनेवाली होती है, संकल्पसे वस्तुका परिणामन भिन्न नहीं होगा, संकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्यकर नहीं होता है, इस प्रकार अनुमानित दोषका वर्णन हो चुका,

जं होवि अण्णदिठं तं आलोचेदि गुरुसयासस्मि ॥

अदिठं गूहंतो मायिहो होदि णायव्वो ॥ ५७४ ॥

परैः सुचयने हट्टमहट्टं या निग्गहति ॥

महादुःखफला तेन मायाचल्ली प्ररोप्यते ॥ ५९९ ॥

विजयोदया—जं अण्णदिठं होदि यद्वत्पट्टं भवति अपपज्जतं । तं आलोचेदि कथयति । गुरुसयासंमि गुरु-

समपि । अहिंसे परेच्छ । गुईतो प्रच्छादयन् । मायिहो मात्स्न्यो होहि । मायावानिति श्रुतश्रयो भवति ॥
 जे दिव्यमिति सुयोगालोचनादोषं मायात्रयेण विवृण्वन् द्वाभ्यां लक्ष्यित्वा एकयाधिपति—

मूढारा—अण्वहिंसे परेच्छ । गुईतो प्रच्छादयन् ।

अर्थ—जो अपराध अन्य जननि देलें हैं उतनेही शुरुके पास आकर कोई युनि कहता है. और अन्यसे न देखे गये अपराधको छिपाता है वह यावावी है ऐसा समझना चाहिये.

दिष्टं व अदिष्टं वा यदि न कहेइ परमेण विणएण ॥

आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥ ५७५ ॥

यदि दृष्टमदृष्टं च नालोचयति दूषणं ॥

तदास्त्यालोचनादोषस्तु नीयो दोषवर्चकः ॥ ६०० ॥

विलयोदया—दिष्टं व अदिष्टं वा परेदृष्टमदृष्टं वापराधं । परमेण विणएण अदि न कहेइ प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत् । अ आयरियपायमूले मात्स्न्यपायमूलं । तदिओ आलोयणादोसो सुतीय आलोचनादोषः ॥

मूढारा—दिष्टं वैरिति शेषः ।

अर्थ—दूसरोंके द्वारा देले गये हो अथवा न देले गये हो संपूर्व अपराधोंका कथन शुरुके पास जाकर अतिथय विनयसे कहना चाहिये परंतु जो युनि ऐसा नहीं करता है वह युनि आलोचनाके तीसरे दोष से लिप्त होता है ऐसा समझना चाहिये.

अहं बालुयाए अवडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव ॥

तहं कम्मादाणकरी इमा तु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥ ५७६ ॥

दोषशुद्धिरपचेतसा पुनः कस्मैपरिति कृता निर्धीयते ॥

बालुकासु रचितोऽब्जदः पुनर्बालुकाभिरभितो हि पूर्यते ॥ ६०१ ॥

इति दृष्टम् ।

विजयोदया—ज्वा वायुवाप यथा वायुकर्मिः पृथग् भवते । अत्रो वायुवत्सम्यक् भवते । उकीरमाणो
 येव लक्ष्मीर्दामोऽपि सन् । तद् कर्मवर्णकते तथा कर्मवर्णकारिणी । इमा सत्युत्तरणोर्धा इयमालोचनाया
 दुःखिः । आयाग्रहपनिराकरणार्थमालोचनायां प्रवृत्तोऽन्यथा समयात्मनं प्रच्छादयति । यथा वायुकाविक्षयो गर्तलक्ष्को-
 तयो वायुकाभिरावृत्यति गर्तमिति । ओ दिदं ॥

राय्यां याजुकाभिरातृपत्यति गतास्मति । तत्र दिष्टम्
अद्वैतलोचनकारि साधनात्मनि राय्यां भालोचनायां प्रसूतोऽन्यथा साधनात्मानं प्रच्छादयति बाहुकाविशेषो

मूलरः--अपको अयहो गर्तः । प्रसमाहनुकामप्य एव छवः । पुरि पूर्वते । उक्कीरमावगो नेव दत्कीर्यमी-
 नवतस्कराय कियमाया माहुकय गत पूर्वव शप दत्ता-
 कोदिक प्रद्विक्कमातेरि । कन्मादाणकरी अपर्यकमायिणि ॥

अर्थ—जैसे बाहुकाके भेदानमें कोई मनुष्य खादा सौदने लग जाय तो वह सौदनेके समय ही बाहुका-
जैसे फिर भरजाता है, वंसी यह आलोचना छुड़ि है, अर्थात् मायाश्रय मनसे निकालनेके हेतुसे यह आलोच-
नामें प्रयत्न हुआ है परंतु अन्यभाषासे अपनेको आच्छादित करनेका प्रयत्न कर रहा हैं ऐसा समझना, जं विहं इस
नामक आलोचनादोषका वर्णन हुआ।

बादरभालोचनेतो जसो जसो वडाओ पडिमगो ॥

सुहृन् पञ्चार्देतो जिणायणपरंमुहो होइ ॥ ५७७ ॥

स्युलं व्रततिथारं यः सुखं प्रजाय जल्पति ॥

पुरतो गणनाथस्य सोऽहं द्वाग्यनहिर्भवः ॥ ६०२ ॥

विजयोदय-श्रीदामालोचने । अयं पदसंघः, अतो अयो कदाचो पटिपयो अस्मात्पदसंघमन्वयसिद्धिमा-
ता वा इदं आलोच्येते इधुलं कथयन् । शुद्धं पच्छादतो सूक्ष्मयोधं प्रच्छादयन् । विजयवधपत्रमुदो होइ विजयवधपत्रसु-
को भवति ॥

मादरमिति चतुर्थगोलोचनादेषं मायानयेण व्याचक्ष्णो द्वाभ्यां लक्षयति—

भूलेखारा--चंद्रदात प्रताप । पदिसभको धनुः ।

अर्थ -- जिन जिन प्रयोगों में अतिचार उगे होंगे उन उन प्रयोगों में स्थूल स्थूल अतिचारों की तो आलोचना

चंद्रमणौ यद्वाणे निसेल्लवट्टणे य सयणे य ॥

उद्धमसिस्सक्खे य गग्गिणी बालवत्थाए ॥ ५८० ॥

आसने शयने स्थाने संस्तरे गमने तथा ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शो गर्भिण्या बालवत्सया ॥ ६०६ ॥

परिविष्टेऽभवत्क्षयो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥

स्थूलं प्रच्छाद्य येनारसौ जिनबाक्कपपराड्मुखः ॥ ६०६ ॥

विजयोद्या--चंद्रमणे अथ स्वात्मपुत्रेण यथा व्याकुलितचित्तो मनसोर्ध्वयामनुपयुक्तो गतवान् । इणे निसेल्लवट्टणे य सयणे य ममलनेनकृत्वा स्थाने, निपटो, शय्या च कृता । उद्धमसल्लरफले आर्द्रायां गात्राधिकं स्पृष्टे । सरमणे य सचिक्कपुल्लिससिते स्थिते सुसमासिते वा । गर्भिणी गर्भिण्या । बालवत्थाए बालवत्सया दीवमाने धृहीते इति ॥

सुदुर्ममिति परंपरा आलोचनादोषमाकष्टे—

मूलारा—चंद्रमणौ इत्यादि अत्र उपरत्कारेण व्याख्येयं । तथाहि—चंद्रमणे अवदयायादिवहुले मांसे व्याकुलचित्तो गतोऽहमिति सूक्ष्मं दोषं वदति । उणे निसेल्लवट्टणे प्रतिकेवल्लवट्टणा स्थानमुपवेश्य शयने वा मया कृतमिति व्रते । कटणे काले पञ्चावश्यकं मया न कृतमिति वदति । उद्धमस आर्द्रसर्शो अर्द्धादि नागात्राधिकं मया स्पृष्टमिति वदति । सरमणे सचिक्कपुल्लिस्थाने मज्जारिवं, पूटिदुल्लभादेन मया लले प्रविष्टं, जलार्द्रपादाभ्यां रजोऽवष्टब्धमित्यादि-कनल्लोचयति । गर्भिणी अष्टमासिमाससर्गभारिण्या मम परिविष्टमिति व्रते । बालवच्छाद्य मासाभ्यन्तरप्रसूतया मम परिविष्टं कर्तुं स्तनल्लवट्टाळे स्पर्शया क्षिया नेऽज्ञं वृत्तमिति निगदति ।

अर्थ--चंद्रमण--जहाँ जोस बहुत गिरी थी ऐसे मार्ग से ह्यांसमितीमें चिक्की एकाग्रता न कर मैने गमन किया था. पिच्छकासे जमीन साफ न करके मैं जमीन पर बैठ था, सोया था. और लटा हुआ था. योग्य कालमें मैने छोहो आवश्यक किये नहीं थे. पानीसे मीले शरीर आदिक पदार्थोंको मैने स्पर्श किया था. सचित्त धूलिपर मैं बैठा था. लटा हुआ था और सोया था. धूलिसे भरें हुए पावोंसे जलमें मैने प्रवेश किया था. आठ महिने नउ महिने जिसको हुए है ऐसे गर्भवतीने भेरेको आहार दिया था. प्रसूत होकर जिसको एक माहिना भी पूरा नहीं हुआ था ऐसे स्त्रीने मैनेको आहार दिया था. रोवा हुआ अथवा स्तनपान करता हुआ बालक छोडकर स्त्रीने मेरे

को आहर दिया था इत्यादि ब्रह्म दोषोंको जो कहता है उसकी आलोचना शुद्ध नहीं है-

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गृह्णे धूलं ॥

अयमयमायाहिदयो जिणवयणपंसुहो होदि ॥ ५८१ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं च वेदोपं मापते न गुरोः सुरः ॥

मायावीडामववाविष्ठः सवा दोपोऽस्ति पंनमः ॥ ६०७ ॥

विजयोव्या - इय एवं । जो यः दोसं अतिचारं । कीदृग्मूलं ? लहुगं स्वल्पं । आलोचेदि कथयति । विणिग्गृह्णेति । किं ? धूलं स्थूलं । अयमयमायाहिदयो अयमयमायासहितनिष्ठः । महतो दोषान्यदि प्रधीमि महत्प्रालम्बितं प्रयच्छेतीति अयं, स्वज्ञेति मामिति या । द्रुया निरतिचारत्वरितसर्वसमानमंगसङ्गः स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चिद्व्यक्तत्वेन मायावी सोऽपि न निरवृत्तिः । जिणवयणपंसुहो होदि । विनवचनपरत्वादुक्तो भवति ।

मुळार-अयमवमायाहिदयो भवं, महो, माया या हरये विचे यस्यासौ बहुप्रायस्त्रिषं भवेत् सयमेत्यजनमेवेत् वा सूक्ष्मेव दोषं वक्ति, स्थूलं प्रच्छादयति । यूपान्निहितपारत्वादिप्रोक्ष्मीति गर्वान्न स्थूलान्वक्ति । मायावी तु प्रकृतये च ध्वजकत्वात् वान्वक्ति । उक्तं च-

आत्मने श्रवेण स्थाने संस्तरे गमनेऽग्ने ॥

आर्दगाऽपरामर्षर्पिण्या बालनत्सवा ॥

परिविष्टेऽभवबोभो यः सूक्ष्मः स निगवणे ॥

स्थूलं प्रच्छात येनासौ विनवात्स्यपराद्भुक्तः ॥

अर्थ-इस प्रकार भी छोटे छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है, वह मुनि भय, मद, और कपट इन दोषोंसे भरा हुआ विनवचनसे पराङ्मुख होता है, बड़े दोष यदि मैं कहूँगा तो आचार्य महाप्रायश्चित्त देंगे, अथवा भरा त्याग करेगा ऐसे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है, मैं निरतिचार चाखि हूँ ऐसा समझकर स्थूल दोषोंको गर्वयुक्त होकर कोई मुनि कहता नहीं, कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता नहीं इस वास्ते ये मुनि विनवचनसे पराङ्मुख हैं-

सुहुमं व बादरं वा जड्ण कहेज्ज विणएण स सुहुणं ॥

आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥ ५८२ ॥

विजयोदया—आयाजालयामका विजयत्तनोपदित्तस्य अकरणत्त्वं प्रविचार्यो ॥

मूढारा—गुरुसयासे गुरुसमीपे वर्तमानस्य ॥

अर्थ—सूर्य अथवा स्थूल दोष यदि गुरुको विजय से न कहेगा तो वह विनोपदेशका उल्लंघन करनेसे आलोचनके पांचवे दोषसे दूषित होता है.

उत्तर भाषा—

रसपीदयं व कडयं अहंवा कवहुक्कटं जहा कडयं ॥

अहंवा जडुपरिवयं तविमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५८३ ॥

रसेन पीतं जतुना प्रपूर्णं कूटं विपाके कटुकं गृहीतं ॥

यथा तथेत्थं विहितं विपत्ते विनाशेन तावमपारमुग्रम् ॥ ५८४ ॥

इति सूक्ष्मबोधः

विजयोदया—रसपीदयं व कडयं रसोपलेपमनाद यद्दि. पीतपूर्णकटुकमिव । अथवा कवहुक्कटं तदुद्युपण-
पत्राच्छादितमिव वा । भस्मनिस्सार । अथवा जडुपरिवयं अन्तर्दिष्टं तदुत्प्रेक्षकमिव । पीतता रसोपलितस्य तथा
तथात्वा गृहीदिति प्रथमो दृष्टान्तः । सुन्दरपञ्चच्छादनाप्रत्यक्षानां द्वितीयो दृष्टान्तः । गुरुतमय प्रच्युति
निस्सार यस्तु यात्रे तु स्वर्गशमलेन प्रच्छादित यथा तथा स्वर्गान्नपराधान्कथयति । पापमीकृतकयौदये मुक्तिरित्ये
संपन्नः कथं मद्यत्वविचारं प्रवर्तत इति प्रत्ययजननाय अंत सारपरिधत्वा कृत्रियनोच्यते । सुग्राम ॥

हृन्तांविजयेन सूक्ष्मबोधालोचना युगुधत्वे—

मूढारा—रसपीदयं सुवर्णरसरसितं । एतेन शुद्धेरत्वात् दर्शितं । कवहुक्कटं सुवर्णपत्रप्रच्छादितं । एतेन गुरुतर

पापप्रच्छादितं दर्शितं । जडुपरिवयं आश्वासकमर्थं पतेनांतर्निःसारतोवाहता साधोः ॥

अर्थ—सौनंका मूढाभा दिया हुआ लोहेका कड़ा जैसा ऊपर से मनोहर दीखता है. जयवा ऊपरसे सोने के पतले पत्रसे मूढा हुआ लोहेका कड़ा जैसे ऊपरसे ही सुंदर दिखता है परंतु अंदर नि सारता ही रहती है. किंवा

निसर्क अंदर लाख मरी है ऐसे सोनेके कंठके समान यह आलोचना खुदि है. जैसे प्रथम द्यन्तमें सुवर्णका ऊपर ही मुलायम है परंतु अंदर निःसारण्य है वैसे यह आलोचना उपरसे तो अल्पशुद्ध दीखती है परंतु अंदर अशुद्धि मरी हुई है. जैसे सोनेके पत्रसे मढा हुआ लोहा अंदर छिपा हुआ रहता है. वैसे यह आलोचनाशुद्धि बड़े बड़े पाप छिपानेवाली और ऊपरसे छोटे पापोंका कथन करनेवाली है. यह मुनि पापभीरु है यह बड़े पापोंमें कैसे प्रवृत्त होगा ऐसा मानो विद्यास उदात्र करनेके लिये यह सस्म दोषोंका कथन करनेवाली आलोचना है. यह तीसरे लाख से भरा हुआ कंठके दृष्टान्तसे व्यक्त होता है. इस प्रकार सस्म दोषकी आलोचनाका वर्णन हुआ.

अदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्तइ विराहणा होज्ज ॥

पढमे विदिए तदिए चउत्थए पंचमे च बदे ॥ ५८४ ॥

आये प्रते द्वितीये घा-दोषः संपद्यते यदि ॥

सूत्रे ! कस्यपि कस्यस्व विराहयति तदा कथम् ॥ ६०६ ॥

विजयोक्ता—यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यविद्विपते मूलगुणे, चारित्र्ये, तथाचि या अनशानाशुद्धयुक्तै भक्तिचारो भवेत् । अहिंसादिके ज्ञते ॥

छणमिति यष्टे आलोचनादोषे गांधार्यदेकेन व्याकर्तुं कामः पूर्वं याथात्रयेण तद्वक्ष्यमाणम्—

मूलार—मूलगुणे चारित्र्ये वपसि वा । अहिंसादिजने । कस्तइ कस्यचित्साधोः । निरापणा अतिचारः । तयो प्रायश्चित्तं । उपाएण आलोचनया, प्रतिफलनया, स्थानांतरणमनादिना वा । पच्छणं पृच्छति आत्मानमनुविश्य पृच्छति करोति । मयावमपरुधः कुतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं इति न पृच्छति । स्पष्टम् ॥

अर्थ—यदि किसी मुनिको मूलगुणमें अर्थात् पांच महावर्तोंमें और उत्तरगुणोंमें-- तपश्चरणोंमें अनश-नादिक भारा तपोंमें अतिचार लगेगा तो—

को तस्सा विज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धे ॥

इयं पच्छणं पृच्छदि पायच्छित्तं करिस्संति ॥ ५८५ ॥ ;

विजयोदया - को यस्य विजयः सको किं तस्मै दीयते त्वं ? । केन उवाच - होदि या सुतो केतोपोयन वा शुद्धो भवतीति । प्रच्छण्य प्रच्छन्न । पुच्छति पृच्छति । आत्मानमुदित्य भवत्यमपराधः - कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्त इति न पृच्छति । किमर्थमेव मत्तु न पृच्छति । आत्मा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥

अर्थ - उसको कोनसा तप दिया जागा है, अबवा किस उपवाससे उसकी शुद्धि होती है ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है अर्थात् मैंने ऐसा २ अपराध किया है और उसका क्या मागश्चित्त है ? ऐसा न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है, प्रच्छन्न पूछकर तदनंतर मैं उस प्रायश्चित्तका ज्ञानकर करूँगा ऐसा हेतु उसके मनमें रहता है.

इयं पृच्छणां पुच्छिय, साधू जो कुण्ड अपणो सुद्धि ॥

तो, तो जिणेहि बुद्धो छहो आलौपणा दोसो ॥ ५८६ ॥

इत्यन्यथा जतदृष्टं पृच्छयते वेत्स्यशुद्धये ॥

तथानो जायते दोषः पण्डः संसारवद्धकः ॥ ६१० ॥

विजयोदया - इयं पृच्छणां पुच्छिय, साधू जो कुण्ड अपणो सुद्धि ॥ अपणो सुद्धि कुण्डि कात्मनः शुद्धि करोति । तो छहो आलौपणा दोसो बुद्धो जिणेहि । पण्डोऽसायालोपनादोषस्य भवतीति वितैलका ॥

अर्थ - ऐसा युग रीतीसे पूछकर जो साधू अपनी शुद्धि कर, छेपा है, वह आलोपनाका छद्मा दोष है ऐसा विवेचने कहा है.

घादो हवेज्ज अपणो जदि अपणस्मि जिमिदस्मि संतस्मि ॥

तो परववेदसकदा सोधी अपणं विसोविशुज ॥ ५८७ ॥

भोजने च कृतेऽन्येन तृप्तिरन्यस्य जायते ॥

अपरस्य तदा शुद्धिर्विहिता परभर्माणा ॥ ६११ ॥

आत्मशुद्धिं विचिन्ते यः प्रपृच्छय परभर्माणा ॥

अपरं पौपये पीते स्वस्यारोग्यं करोति सः ॥ ६१२ ॥

विकृतोदया—घादो दवेज्ज अण्णो एसो भवेदन्थाः । जदि अण्णभि जिमिदम्मि संतम्मि । यत्तन्यस्सिअन्नुत्तपत्ति सत्ति । तो ततः । परववेत्तकदा सोधी परव्वपदेशकत्ता सुद्धिः । अण्णं वित्तोवेज्ज अन्तं विगोचयेव्व ॥

छत्रोपशुट्टालोपनाया नेप्पहयं दट्ठोतेन सुट्ठयति—

मूलाया—घादो रुत्ताः । जिमिदम्मि सुखवत्ति । संतम्मि सत्ति । परववेत्तकदा अन्यमुदिरयकत्ता । अयं-उपयुक्त दोषका द्वावत्त इम प्रकार है— यदि किमी अन्य मनुष्यके भोजन करनेपर उससे अन्य मनुष्यका पेट भरेगा तो दूसरेके नामसे किया हुआ आचक्षिप्त दूसरेको विमुक्त करेगा ऐसा मानना पड़ेगा-

स्वशोचरा गाथा—

तवसंजमस्मि अण्णेण कवे जदि सुग्गदि लह्विदि अण्णो ॥

तो परववेत्तकदा सोधी सोविज्ज अण्णपि ॥ ५८८ ॥

संयमे वेत्तुतेऽन्येन विमुक्तिं लभते परः ॥

परव्याजकृता शुद्धिस्तदा शोधयते परम् ॥ ६१३ ॥

तवेव दृढवत्ति—

मूलाया—सुग्गदि सट्ठवत्तिम् ॥

अयं-तप और संयम भी अन्य स्वकीने किये जानेपर यदि अन्यही स्वकीको सुगतिकी प्राप्ति होगी तो दूसरेके नामसे किया हुआ आचक्षिप्त भी दूसरेको दोषसे मुक्त करेगा ऐसा मानना पड़ेगा-

मयतण्हदो उदयं इच्छद् चंदपरिवेसणा कूरं ॥

जो सो इच्छद् सोधी अकंहतो अप्पणो दोसे ॥ ५८९ ॥

शुशेनं जं दोषममापमानो दोषस्य यः कांक्षति शुद्धिमज्ञः ॥

मन्ये स तोयं मृगतृष्णकातो जिहृक्षतेऽज्ञं शशिविवतो वा ॥ ६१४ ॥

इति छलं दूषणम् ॥

विशयोदया—मयतच्छादो हयत्र पदचटनेयं । जो अण्णो दोसे अकथेलो सोधी इच्छइ सो मयतण्णावो उदयं इच्छइ, चंद्रपरिवेसने फूरं इच्छइ ॥ । य जातमनो दोयानमिषाय गुरूणां सुद्धिमिच्छति स मृगतुण्णात उदकं यांति, चंद्रपरिवेसादशनमिच्छति । निष्कल्लासाधम्योदयं इष्टान्तर्धाष्टान्तकमावः । छयं ॥

पुनस्तदेव समर्थको-

मूलात्—मिगतिच्छादो मृगतुण्णातः । उदयं उदकं । चंद्रपरिवेसने चंद्रपरिवेसात् चंद्राववादित्यर्थः । फूरं भक्तं श्रीचंद्रदिग्पदके त्वेवमुक्तं । ॥ कथयार्थप्रतिपत्तिर्यथा—चंद्रनामा सूर्यकारः परिवारादितो राक्षा निःसारितोऽग्नयः कुलः । परिवारेण च राक्षा सह योजनं परिकृतं । एवमेकदा समायाते तस्मिन् राजनि भोषतुमुपविष्टे गगने चंद्रस्य परिवेषमा-
लोक्ष्योक्तं लोकैरेव चंद्रस्य परिवेषो जात इति । एतच्छ्रुत्वा परिवारः सूर्यकारस्य राजकुले प्रवेसो जात इति मत्वा भोग्यं मातवान् च फूरं प्राप्तवान् इति । गुरोरेमेप्रकाशवत् ॥

अर्थ—जो मुनि अपने दोषोंका विवेचन न करके उनसे मुक्त होना चाहेंगा वह मृगतुण्णासे पानी प्राप्त करने की कोशिश करता है अथवा चंद्रके परिवेष्टसे अन्न प्राप्त करने की इच्छा करता है ऐसा समझना चाहिये। दूसरेके मानसे अच्छकरीत्या प्रायश्चित्त करना न्यर्थ है ऐसा इन दो दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है-

हर्षात् और दार्ष्टान्तिक इन दोनोंमें निष्कलताकी समादना इस माथामें दिखाई दे, किसी राजाने चंद्रनामक रसोदया को अपने घरसे निकाल दिया, और उसके स्वात्ममें दूसरे रसोदयाको नियुक्त किया, तब राजाके साथ परिवारने बीमना छोड़ दिया, एक दिन राधा भोजनके लिए आया उस समय आकाशमें चंद्रको परिवेषयुक्त देखकर चंद्रका परिवेष्ट-प्रवेष्ट हुआ ऐसा लोगोंने कहा तब सुनकर परिवार भोजनके लिये आया परंतु उसको भोजन नहीं मिला, ऐसी कथा यहां समझनी चाहिये, यह कथा श्रीचंद्राचार्य के टिप्पनकमें कही है-

पवित्रयचाउम्मासियसंवच्छरिणसु सोधिकालेषु ॥

बहुजणसद्दाउल्लप्पं कहेदि दोसे जहिच्छाप ॥ ५९० ॥

शब्दाकुले चतुर्मासपक्षवर्षक्रियादिने ॥

यथेच्छं पुरतः सुरंरालोचयति योज्यमः ॥ ६१५ ॥

विजयोदया—यस्मिन्मयात्ममासिप पक्षान्विताशुद्धिकालेषु । यहुज्यसाहसलप बहुजनशब्दलंकेते । ज-
धिच्छाप दोसे कथेदि येच्छया दोपानात्मीयान्कथयति ॥

सङ्गुलनामिति सप्तमं आलोचनादोषं गायत्रयेणाह—

मूलाया—अहिच्छाप यमेच्छया ।

अर्थ—पार्थिव दोषोंकी आलोचना, चार्मासिक दोषोंकी आलोचना और वार्षिक दोषोंकी आलोचना
सन यतिसमुदाय मिलकर जब करते हैं तब अपने दोष स्वेच्छासे करना यह बहुजननामका दोष है.

इय अव्यक्तं जइ सावैतो दोसे कहेइ सगुरूणं ॥

आलोचनाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥ ५९१ ॥

अव्यक्तं वदतः स्वस्य दोपान्संक्लिष्टचेतसः ॥

आलोचनागतो दोषः सप्तमः कथितो जितैः ॥ ६१६ ॥

वितयोदया—जदि इय अव्यक्तं सावैतो दोसे कहेइ सगुरूणं यथेवमव्यक्तं भावयन्त्योपाकथयति सगुरुभ्याः ।
सप्तमो भालोचनादोसो । सप्तम आलोचनादोषः गुरुसयासे गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥

मूलाया—सावैतो भावयन् ॥

अर्थ—यदि अस्पष्ट रीतीसे गुरूको सुनाता हुआ अपने दोष छुनि कहेया तो गुरूके चरणसन्निध
उसने सातवा शब्दाङ्कलिख दोष किया है ऐसा समझना.

अरहट्टघडीसरिसी अह्वा चुंदलुदोवमा होइ ॥

भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लहरणसोधी ॥ ५९२ ॥

अरगतघटायंत्रसमां भिन्नघटोपमां ॥

चुंदरञ्जुभिभामेनां शुद्धिं शुद्धिचिदो विदुः ॥ ६१७ ॥

इति शब्दाकुलो दोषः ॥

विजयोदया—अरुद्धदृष्टीसारिली अगतमयीसदृशी पूर्णोत्पण्णा । एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमेव
अप्रवृत्तमेव गुरुणा व्युत्तवार्त्त । अरुणा बुद्ध्युदेवमा ह्येव यथा मयनकम्पलिका इव, सा यथा मुक्तापि यन्नाति
एतमिदं धादुमुल्लङ्घनमुक्तापि मायातत्त्वसहितेति यन्नाति । विपद्यसदृश्या वा मिश्रवृत्तसदृशी वा यथा भिन्नो घटो
घटकार्यं जलधारणं अट्टानालयने वा कर्तुमसमर्थ एवमिदमालोचना न निर्जितं संपादयतीति साधर्म्यं ॥ सद्वत्त्वपं ॥

सद्वत्त्वबोधोपट्टालोचनावैयर्थ्यं दृष्टानेन समर्थयते—

मूलाया—अरुद्धदृष्टीसारिली यथा जलसर्वघटिकाः पूर्णा अपूर्णा एवमपराधकथनं स्वमुखेन कृतमव्यक्तमेव
गुरुणाऽव्युत्तवार्त्त । बुद्ध्युदेवमा मयनकम्पलिकालुल्या । सा यथासुजापि यन्नाति । एवमिदं दोषालोचना गुरु
कुह्यदुजापि मायायुक्तेति यन्नाति । मिश्रवृत्तसदृशी वा स्फुटिवृत्तसदृशी । यथा भिन्नो घटो जलधारणाधिकार्यं कर्तुं न
शक्नोति वषेयं निर्जेरामिति साधर्म्यम् ॥

अर्थ—जैसे अगर्त घटीयंत्रमें लगे हुए बड़े जलसे भरे हुए भी अपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् वे हमेशा
जलसे भरते हैं और पुनः रिक्त होते हैं वैसे अपराधोंका अपने मुखसे कथन किया तो भी कथन नहीं किये सारिला
हो जाता है- क्योंकि यहुतोंके शब्दोंमें उसके, शब्द गुरु सुन नहीं सकते हैं- अथवा काष्ठको छिद्र पादनेवाला वस्त्र
नामक वस्त्र हुआते समय दोरीसे मुक्त होकर भी बंधा रहता है- एक पांशसे उसको दोरी ढिली हो जाती है
परंतु दूसरी पाश उसकी उसी समय दोरीसे दृढ़ बंधी जाती है- इसे वह गूंथसे अपराधोंका वर्णन बाहर पड़ता है-
तो भी अंतरंगमें माया शब्दसे सहित होनेसे कर्मबंध का ही कारण होता है- अथवा बद्ध आलोचना फूटे बड़ेके
समान है- फूटा बड़ा णाल लानेमें और जठ धारण करनेमें असमर्थ है- वैसी यह आलोचना कर्मनिर्जरा करनेमें
असमर्थ होती है-

आचार्यपादमूले तु उवगदो वंदित्वा तिविहिण ॥

कोई आलोचक तु सब्बे दोसे जहावत्ते ॥ ५१३ ॥

चरिमक्तिभरानन्नः सूरिपादाम्बुजद्वयम् ॥

प्रणम्य भाषते कश्चिदप्यं सर्वं विधानतः ॥ ६१८ ॥

विज्ञेयोन्या—आययिष्यामले उवगढो आचार्यपाठसूक्तमुपगतः । तिविधेष्वंदिदूष मन्त्रोवाजायशुद्ध्या च-
रता इत्या । ओं ई प दि ग त् । आलोक्यत् ७ इदं देव । छन्दे देवे नृणां वचे सर्वान्दोयान्स्थूलान्मुहूर्तांश्च यथावृत्तान्ग्रन्थो
याजायजित्यान्तरान् इतःकारितानुमतमिदम् ॥

बहुजनमित्यष्टमनालोचनादौषं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूढारा—जयावचे शवाद्भुजात् । येन मनोवाक्कान्ठवकारितानुसन्तान्त्यमेन प्रकारेण प्रयुक्तान् ॥

अर्थ—कोई मुनि आचार्यके साक्षि लाकर उनके चरणोंको मन, वचन और शरीर इनकी शुद्धकर
नमस्कार करता है. तदन्तर मन, वचन, शरीरसे ऊँच, कारित और अनुमोदनके साथ स्थूल अथवा सूक्ष्म जो जो
दोष हूये ये उनका संपूर्ण कथन करता है.

तो वंसणचरणाधारएहिं सुचत्थमुव्वहंतेहिं ॥

पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ॥ ५९४ ॥

तस्य सूत्रार्थदक्षेण रत्नत्रितयशालिना ॥

व्यवहारविद्या दत्तं प्रायश्चित्तं पयोचिन्म ॥ ६१९ ॥

विजरोदया—तो पस्वात् आलोचनोत्तरकाळ । वंसणचरणाधारएहिं समीचीनदर्शनधारिप्रधारणोपेत ।
सुत्तरयमुव्वहंतेहिं सूत्रार्थमुदहृद्भिः । पवयणकुसलेहिं सूत्रार्थमुदहृद्भिरित्येनैव मन्त्रवाक्किमेनेन 'प्रयचनकुशलैः' इति ।
अयमभिप्रायः—प्रायश्चित्तप्रवृत्तिः प्रयचनग्रन्थः तेन प्रायश्चित्तचक्रशौख्यैरित्यर्थः । अन्यथाव्यक्तो न इदंति न वेत्स्यारिच-
सङ्गः इति प्राधान्यकथनार्थं पृथगुपादानं । तेहिं तैः । से तस्मै । अपारिहं तवो दिण्णो अपराधावुरूपं तपो दत्तं । तपोप्राद्वेण
प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्तं दत्तं इत्यर्थः ॥

मूलारा—तो आलोचनोत्तरकाळ । पवयणकुसलेहिं प्रायश्चित्तचक्रैः । अन्यथाव्यक्तोऽपि प्रायश्चित्तसंज्ञानालो न
लोपयतीति प्राधान्यकथनार्थं अस्य पृथगुपादानं । तवो प्रायश्चित्तं । जवारिहं अपराधानुरूपं । तेहिं तैः प्रसिद्धैर्वर्माचार्यैः ।
से तस्मै ।

अर्थ—जब मुनि आलोचना समाप्त करता है तब सम्मन्दर्शन और सम्यक्चारित्रिके धारक, धूत्रार्थकी
अपने हृदयमें धारण करनेवाले, और प्रवचनमें कुशल ऐसे आचार्य आलोचना करनेवाले को यथायोग्य प्रायश्चित्त

देते हैं, शंका सुश्राव्यके घारक इस शब्दका अर्थ प्रवचनमें निपुण ऐसा होता है तो पवयणकुसलो यह शब्द साधार्म्ये न्यय है।

उत्तर—यहाँ प्रवचन शब्दसे प्रायश्चित् ग्रंथ यह अर्थ आचार्य को अभिमत है, छत्रशब्दसे प्रायश्चित् शास्त्रके विना अन्य आत्र ऐसा समझ लेना चाहिये- अन्य शास्त्रों का ज्ञाता होकर यदि प्रायश्चित् शास्त्रका ज्ञाता न हो तो वह प्रायश्चित् नहीं दे सकता यह अभिप्राय यहाँ मुख्य है, उसकी सिद्धीके लिये यहाँ 'पवयणकुसलो' यह पद आचार्य महाराजने साधार्म्ये जोड़ दिया है।

णवममभि य जं पुब्बे भणिवं कप्पे तद्देव बवहारो ॥

अंगेसु तेसस्पुसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥ ५९५ ॥

तेसिं असदहत्तो आहरियाणं पुणो त्ति अण्णाणं ॥

जइ पुब्बइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्टमओ ॥ ५९६ ॥

यत्कल्पव्यचहारार्णपूर्वादिश्रुतभाषितम् ॥

तत्तदालोच्य विधानेन दत्तं सूत्रपटीयता ॥ ६२० ॥

अश्रद्धाय वचस्तस्य स यथा पृच्छते परं

आचार्यैः कथितो दीपस्तदालोचनगोचरः ॥ ६२१ ॥

वित्तयोवृण—तेसिं तेषां । आहरियाणं आचार्याणां वचनं । असदहत्तो अश्रद्धयान् । पुणो वि अवि पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यतस्तौ । अट्टमगो भट्टोवणादौसो सोऽष्टमः आलोचनादौषः ॥

अत्रेयं गाथा सूत्रेष्टुश्रूयते ।

मूलाय—एतां श्रीवित्तको नेच्छति ।

मूलाय—स्पष्टम् ।

अर्थ—नौवा पूर्व प्रत्याख्यान नामका है उसमें प्रायश्चित्का निरूपण है, अंगवत्तश्रुतये कल्पनामक प्रकरण में प्रायश्चित्तका विचार किया है, वाक्यके अंगोंमें और प्रसीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्त का निरूपण है उसके अनुसार आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं।

पंतुं उत्तरे दिये हुए प्रायश्चित्तमें अथवा न करके यह आलोचक युनि यदि अन्वाका पूरणा अथाप
आचार्य महाराजने दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य है ऐसा पूछेया तो यह आलोचनाका बहुजन
पृच्छा नामक आठवा दोष होगा.

पणुणो वणो ससंछं जघ पच्छा आदुरं ण तावेदि ॥

बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५९७ ॥

दोषावतीर्णोंडपि ददाति पीडां परप्रकारेण विशोध्यमानः ॥

व्रणों हि शुष्कोऽपि करोति पाषां प्रचात्यमानः किमुनाचिपक्षः ॥ ५९८ ॥

इति भरिषरिदोषः ।

विनयोदया—पणुणो वणो प्रयुजं प्रणं । उपचितं । ससंछं शल्लुद्धरहितं । पच्छा पश्चात् । आदुरं व्याधितं ।
किमु न तावेदि । किमु न तापयति श्रापयत्येव । बहुवेदणाहिं यक्षीर्भियंनभिः । बहुसो बहुशः । तधिमा तथा इयं सल्लुद्ध-
रणसोधी मालोचनामुक्तिः । मायश्चरणरित्यागेन छटा यतिशोभना सङ्कटा युक्तप्रमायश्चिचारि श्रद्धालुशरप्रसमविधत्-
त्यादुःखापादा । पणुजं ॥

पणुजनदोषदुःखालोचनाया दुःखावहत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलाय—पणो उपरि रुद्धः । ससंछो अंतःकृद्धदियुक्तः । ण तावेदि न कर्तव्ययति ? । बहुसो बहुशः राक्ष । तधिमा

तथैवं मायावृणपरित्यागेन छनेति संकटदोषापि गुरुदत्ताप्रबन्धितान्भद्रानशम्यनुबिद्धत्वेन दुःखावहत्वात् ॥

अर्थ—निम्नमें फाँटा रहा है ऐसा व्रण यह जाता है तब वह अनेक प्रकारकी वेदनाएँ उत्पन्न कर जीवको
जैना बहुत दुःख देता है. वैसी गई आलोचना भी जीवको बहुत दुःखदायक है. यह आलोचना माया और असत्य
भाषणमें रहित है. इसलिये यद्यपि अतिशय अच्छी मानी जाती है तथापि गुरुओंने दिये प्रायश्चित्त पर श्रद्धान न
होनेसे दुःखदायक है. इस प्रकार बहुजन नामक दोषका वर्णन हुआ.

आगमदो जो चालो परियाण व हवेज्ज जो चालो ॥

तस्स संगं दुच्चरियं आलोचेदूण वालमदी ॥ ५९८ ॥

आगमेन चरित्रेण बालो भवति यो यतिः ॥
तस्यालोचयतो दोषं स्वं दोषो नवमो मतः ॥ ६२३ ॥

विजयोदया—आगमनो बालो आगमेन ज्ञानेन वा बालः । परिपण्य न हवेज्ज बालो चरित्रबालो वा यो भवेत् । यः स तस्स तस्मै । स्वं दुर्यदिदं ज्ञानमोयमतिकारं । आलोचयेदूष बालमयी उपधा बालदुष्टिः ॥

अथ नवममल्लकार्यमालोचनदोषं याथान्येष व्याचष्टे तत्रेति ह्यन्यां गाथाभ्यां दशमत्येकवाक्षिपति—
मूढारा—आगमदोषो भुवज्ञानेन । बालो ह्यु । परिपण्य चरित्रेण । जो गुरु । तस्स तस्मै । आलोचयेदूष

नियेय । बालमयी लोकरुष्टिः ।

अर्थ—जो मुनि आगमते बाल है अर्थात् जिसको आगमका ज्ञान नहीं है तथा जो चरित्रबाल है अर्थात् चरित्र भी जिसका श्रेष्ठ नहीं है उसको बाल कहते हैं ऐसे मुनिके पास आकर कोई अल्पज्ञानी मुनि अपने दोषों की आलोचना करता है,

आलोचिदं असेतं सत्त्वं इदं मएचि जाणादि ॥

बालस्सालोचैतो णवमो आलोचना दोसो ॥ ५९९ ॥

निवेदितं मया सयं नासौ जानाति दूषणम् ॥

बिभ्राणयति मे शुद्धिं प्राणिधायेति मानसे ॥ ६२४ ॥

विजयोदया—आलोचिदं कथितं । असेतं सत्त्वं निरस्येवं सत्त्वं । मतेवायसापल्लोऽतिचारः सर्वदन्वैन-
उच्यते । छत्रातिरादुमतविकल्पा अश्रेया इत्याचार्यते । मएचि जाणादि भयेति जानाति । बालस्सालोचैतो, ज्ञानबाला-
य च चरित्रबालाय वा कथयति णवमो आलोचनदोसो नवम आलोचनदोषः ॥

मूढारा—असेतं कृतकारितादुमतविकल्पं । सत्त्वं मनेवायसापल्लव्यं दूषणं । बालस्स ज्ञानबालाय चरित्रबा-
लाय वा गुरवे । नवमो बालो बालाबालोचनमया सर्वमालोचितमिति यज्जानीते सोऽन्यथो बालालोचना दोसो
भवतीति सम्बंधः ।

अर्थ—और मैंने इसके पास संपूर्ण अपसरणों की आलोचना की है मनु, वचन, कायसे और कृत, कारित

अनुमोदनसे किये हुए अपराधीकी मने आलोचना की है ऐसे जो समझता है उसकी यह आलोचना करना नैवे दोषसे दृष्ट है. प्रानपालको और चारित्रवालको अपने अपराध कहना यह नौवा अव्यक्त नामक दोष है.

कुट्टाहिरणं जह् गिच्छएण दुज्जणकद्धा जहा मेची ॥
पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सद्धरणसोधी ॥ ६०० ॥
इदमालोचनं दत्ते पञ्चात्तारं वुरुणरं ॥
बुट्टानामिष सांगत्थं कूटं स्वर्णमिवाधवा ॥ ६२५ ॥

इति अव्यक्तदोषः ।

पिज्जपोषणा -- कवचं । कुट्टाहिरणं जह् पच्छा अपत्था गिच्छएण होदिप्ति पदवटना । यथा कुट्टाहिरण्यं धन-
मिति गृहीतं पचापपाप्यं निरवयतो भवति अभिमतद्वयग्रहणे अनुपायत्वात् । यदपि इयमपि वालस्य क्रियमाणालो-
चना स्वरूपप्रापयदिवचमासी बहुपायत्वात् सट्टसी । ज्ञानवालाः पराययोग्यप्रापयदिवचं दातुं न क्षमः । दुज्जणकद्धा य
मेची जहा पच्छा होर अपत्थं इति संबंधः कार्यः । दुर्जेने कृता मेची यथा न पथ्यं, दुःखं प्रयच्छतीति एवं चारित्रवालस्य
संप्रमोभयविकरस्य कृतापि प्रापयदिवत्तालभमूला धनेकानर्थावहेति भावः ॥

मूलाद्य -- कुट्टाहिरण्यं कूटकं सुवर्णं । पच्छा पश्चात् । पच्छाकाळे । अपच्छं दुःखकारणं । यथा कुट्टाहिरण्यं
धनमिति गृहीतं पचापपाप्यं निरवयतो भवति । अभिमतद्वयग्रहणे अनुपायत्वात् । एकथिवमपि वालगुरोस्मै क्रियमाणा
लोपना अनुरूपप्रापयदिवत्तालपत्त्या । न हि ज्ञानवालाः परस्मै योग्यं प्रापयदिवचं दातुं क्षमते । यथा कार्यदुर्जने
कृता मेची पचापक्रिययोग्यं भवत्येवं चारित्रवालगुरोस्मै कृतालोचना प्रापयदिवत्तालभमूलानेकानर्थविदेति भावः ॥

अर्थ -- जैसे कृत्रिम सुवर्ण धन समझकर ग्रहण किया परंतु कार्यकालमें उसका उपयोग नहीं होता है.
अर्थात् वाजार में शिञ्जत वास्तु लेनेके लिये उसको बेचनेका विचार किया तो कोई भी उसको स्वीकारेगा नहीं
जिससे शिञ्जत वास्तु मिलना अशक्य होता है. वैसे वालमुक्तिके पास जाकर आलोचना करने पर भी दोषानुरूप
प्रापयित्त नहीं मिलेगा. जिससे कर्मनिर्जरा होना असंभव है, जो ज्ञानवाल है वह योग्य प्रापयित्त नहीं दे सकता
है. दुर्जेन के साथ यदि भेरी की तो वह वैसी प्रसंग पटनेपर दुःखदायक ही होती है. प्राणिसंयम अथवा इन्द्रिय

संयम जो पूर्णतया पातन नहीं करता है उसके पास दोषोक्ती आलोचना करनेसे उसके अतुरूप प्रायश्चित्त नहीं मिलता है और वह आलोचना अनेक अनर्थ को उत्पन्न करनेवाली होती है.

मुद्राराधना

८०१

पासत्यो पासत्यस्स अणुगादो दुक्कळं परिकहेइ ॥

इसो वि मज्झसरिसो सब्बत्यवि दोससंचइओ ॥ ६०१ ॥

पार्थस्यातां निजं दोषं पार्थस्यो भाषते कृषीः ॥

विचित्तो निचिन्तेदोषेरेयोऽपि सहस्रो मृगा ॥ ६२६ ॥

विजयोपेय्य—पासत्यो पासत्यस्स अणुगादो दुक्कळं परिकययति । एसो वि एयोऽपि । मयकसरित्तो मत्सदृशः । सब्बत्य वि सर्वव्यपि प्रतेषु दोससंचरओ दोषसंचयोपतः ।

हरतेपि वि मज्झमाकोषाभाषेणं गाथापेकेन कथापेठे । वज विमुभित्तस्य लक्षणं द्वाभ्यां च सेपमाह—
मूलादु—मृगसंख्येयं दृष्टक्षणापर्यन्तस्यासन्नकुशीलसंस्कृतमगवर्तिजानमेकतृप्तः । अणुगदो विनीतः घनः ।

दुक्कळं दूषयति इत्यं । सुवत्स्य वि सर्वव्यपि तेषु । दोससंचरिणो दोषसंचरणोचतः ।

अर्थ—पार्थस्य भूमि पार्थस्य भूमिके पास जाकर उसको अपने दोष कहता है, क्योंकि यह भूमि भी सर्व वस्तुमें भोग समान दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा वह समझता है.

जाणादिं मज्झ एसो सुहसीलत्वं च सब्बदोसे य ॥

तो एतं मे ष दाहिदि प्रायच्छित्तं महच्छिति ॥ ६०२ ॥

जानीते मे यतः सर्वा सर्वदा सुखदीलताम् ॥

प्रायश्चित्तं ततो नैव महास्थिति निश्चितम् ॥ ६२७ ॥

विनायोदया—एसो मज्झ सुहसीलत्वं जाणादि एव मम तु यासहत्वं वेत्ति । सब्बदोसे य जानाति सर्वदोषं च । तो एतं मे न दाहिदि एव मे न दास्यति । महत्स प्रायश्चित्तमिति महत्प्रायश्चित्तमिति मया कथयतीति स्मरय ॥
मुद्रारा—सुहसीलत्वं तु यासहत्वं । महच्छिति महच्छिति परिकययतीति संबंध ।

अर्थ—यह मुनि मेरे सुखिया स्वभावको और त्योंके अतिचारोंको जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है, इसलिये यह मेरेको बड़ा प्रार्थयित न देगा ऐसा विचार कर वह पार्थस्य मुनि गुरुको अपने अतिचार कहता नहीं और समानशीलको अपने दोष बताता है।

आलोचिदं असेसं सब्बं एदं मणुसि जाणादि ॥

सो पवयणपटिकुद्धो दसमो आलोचणा दोसो ॥ ६०३ ॥

एतस्य कथने शुद्धिः सुखतो मे भविष्यति ॥

अयमालोचनादोषो दशमो गदितो जिनैः ॥ ६२८ ॥

पिउयोपया—स्वधारण।

मूला—मदति अवगति भिन्नप्रकृत्यः तेन जलार्तास्ति च गत्वा परिकल्पयतीति संबंधः । सो प्रागुक्तलक्षणः।

पवयणपटिकुद्धो जागमतिपिद्धः ॥

अर्थ—यह पार्थस्य मुनि को हुए संपूर्ण अतिचारोंका स्वरूप जानता है ऐसा समझकर अतप्रश्रयोंसे प्रार्थयित लेना यह जागमतिपिद्ध दशवा तत्सेवी नामका दोष है।

उत्तरा गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं घोवेज्जं लोहिदेणेव १

ण य तं होदि विमुदं तथिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०४ ॥

उक्तो दोषः सवोपस्य सवोपेण न नाइयते ॥

रक्तरक्तं कुतो वज्रं रक्तेनैव विशोधयते ॥ ६२९ ॥

विजयोपया—जह कोइ लोहिदकयं करोति फियसागान्यवाची इह उपे वर्तते तेनापयर्थः—यथा कश्चित्तुल्योदितेन दितं पथं । घोवेज्जं प्रक्षालयेत् । लोहिदेणेव लोहितेनैव । ण य तं होदि विमुदं नेतद्रयति विमुदं । तथिमा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति । तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पंकं वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्तं

वर्जं शोधयति तयाभूतमेव द्योहितं । पवमनीचाराशुद्धिं अशुद्धत्वं त्वन्योदेयमवृत्तेः अशुद्धालोचनाया नमिराक्रियते इति साधर्म्यमिषोचना ॥

मूढारा—जोहेतुकदं रुचिरेणास्मिं । करतेतेः क्रियासामान्यवाचित्वेन लेपनेऽपि वृत्त्यविरोधित्यात् । तद्विमा स्वयं वृष्टेनान्वस्य दुष्टैर्निगर्तुमशक्यत्वादिति सामर्थ्यम् ।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रक्तसे भरा हुआ वस्त्र रक्तसे ही थोने लगजाय तो वह कभी विशुद्ध नहीं होगा अशुद्धही रहेगा वंसा यह आलोचना दोष है, अर्थात् यह दोष अतिचारसे आत्माको विशुद्ध नहीं बना सकेगा। रक्तसे उलटा पदार्थ पानी है, वह स्वयं स्वच्छ है अतः रक्तसे मरे वस्त्रको यह स्वच्छ करता है, अथवा वस्त्रको लगा हुआ कौचद घो डालता है, परंतु रक्त रक्तसे लिस हुए वस्त्रको कभी भी शुद्ध नहीं कर सकेगा, उसी तरह अशुद्ध रत्नत्रयमाला गर्भस्थ मुनि अशुद्ध रत्नत्रयमाले मुनिके अतिचारोंका निराकरण करनेमें समर्थ होता नहीं।

पययणणिहृदयाणं जह दुष्कडपावयं करैताणं ॥

सिद्धिगमनमहदूरं तद्विमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०५ ॥

जिनेशवाक्यप्रतिपूर्वाचिन्ता यथा चिसुक्तिं वचयंति पूताम् ॥

तथा विशुद्धिं क्षुधयो बवंतो दोषाकुलानां निजदूषणानि ॥ ६३० ॥

इति तत्समः ॥

विजयोद्या—पययणणिहृदयाणं जिनेशवीतवचनमिह्यकारिणां । दुष्कडपावयं करैतावे दुष्करपापकारिणां । जह सिद्धिगमनमहदूरं यथा सिद्धगमनमतिदुर्गमं । तस्सेधी गदं ॥

मूढारा—पययणणिहृदयाणं आगम्यपन्देवुणां । अदिदूरं अविधिप्रकृष्टं । अमन्यपेथया अनंतकलेनाव्यसंभवि ।

अर्थ—जो मुनि जिनेशके कहे हुए आगमके वचनोंका लोप करते हैं और दुष्कर पाप करते हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति जैसी अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी होती नहीं वैसे जो अन्वयसहित आलोचना करते हैं उनको मोक्षप्राप्ति अत्यंत दूर है।

सो दस वि तदो दोसे भयमायसोसमाणलज्जाओ ॥
 निज्जुहिय संसुद्धो करोदि आलोचनं विधिणा ॥ ६०६ ॥
 हित्था दोयान्दशपिंति त्यक्तमायामवाविकाः ॥
 स विनीतमनाः सुरेरालोचयति यत्नतः ॥ ६३१ ॥

विजयोदया—सो क्षणकः । तदो ततः आलोचनया दुष्टया सुदूरभावात् । दोसे निज्जुहिय दोपांस्त्यक्त्वा । दस वि दशपि । भयमायमोसमाणलज्जाओ भयमाया मनोयतां युवा वचनमार्ता, मार्तं लज्जां व द्युक्त्वा संशुद्धो सभ्यश्च मुक्ता । विधिना आलोचनं करोति ।

एवमालोचनाया इत रोपन्त्याख्याय वस्त्यागं प्रकृते योजयन्नाह—

मूढार—सो निर्वापकाचार्यपरमूलोगमिताः क्षणकः । तदो दुष्टालोचनादुदयसामर्थ्यात् साया मनोवचनं

मोसं वाग्बर्त्ता, । निज्जुहिय रोपां भयार्द्रात् त्यक्त्वा ॥

अर्थ—इस लिये क्षणकशुनि आलोचनाके दस दोषोंका भी त्याग कर आलोचना करो. क्यों कि इमित आलोचना आत्मानो छुद् करनेमें असमर्थ है. अथ, माया कष्ट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा इनका भी त्याग कर शस्त्रोक्त विधीसे आलोचना करना क्षणकका कर्तव्य है.

तोऽसावालोचनाविधिरित्याशङ्क्याह—

णट्ठञ्जल्यालियागिहिभासमृगददुरसरं च मोचूण ॥

आलोचेदि विणीदो सम्मे गुरुणो अहिमुहत्थो ॥ ६०७ ॥

गृहस्थवचनं मुन्वामौनं च करमर्त्तनम् ॥

सम्भक्कमुस्पष्टपा वाचा चकि दोयानुरोपुरः ॥ ६३२ ॥

विजयोदया—णट्ठञ्जल्यालियागिहिभासमृगददुरसरं च दस्तमर्त्तनं, भक्ष्येयं, नखनं माप्रस्य, वलितं, गृहिवचनं, गृहवर्त्तनकरणं, घरपरस्वरं च मुक्त्वा आलोचेदि कथयति । विणीदो कृताञ्जलिपुटोऽवन्तशिरस्कः । अद्दुदं अद्दुतं । अवि-
 लंघितं । स्पष्टं । गुरुणो अहिमुहत्थो गुरोरभिमुटः ॥

मूलरा—लट् हस्तनर्तनं । लल्ल लल्लेपं देहकर्म च । वल्लिद गान्धर्मोदृतं । मूल मूलवत्संज्ञाकरणं । दुरुरसरं धर्मरस्वरं, दधे. स्वरं वा । विणीदो क्खाञ्जल्लिपुडोञ्जवतिशिरस्सो हस्तमागत्यकगुरुभूमिदेशश्च । अद्विमुहत्तो मुटोममवाचोत्तयेण अभि-
मुत्तं गवासेनोपविष्टः । २०६ च—

मूकसंज्ञागवलेन धूम्रैर्षं हस्तनर्तनं । शुद्धिणां वचनं चैव तथा शब्दं च वर्धनं ॥ १ ॥ विमुञ्च्यमभिसुत्तं स्थित्वा
गुरुणा गुणधारिणां ॥ स्वापराध समानष्टे विनयेन समन्वितः ॥ २ ॥

अर्थ—हाथोंका अभिनय करना, भोंहोंमें ऊपर उठाना, शरीर हिलाना, शरीरको मूडना, गृहस्थके
समान लट्टव भाषण करना, शृंगेके समान संज्ञा करना, धर्म रस्वरसे बोलना, इत्यादि दोषोंका त्याग कर आलो-
चना करनी चाहिये. अर्थात् नम्रता पूर्णक हाथ जोडना, मस्तक नम्र करना, अति क्षीय अथवा अतिचिंतवका
त्याग कर गुरुके तरफ अपना मुह करके आलोचना करनी चाहिये. एक हाथके अंदर पर गगलनसे बैठकर आलो-
चना करनी चाहिये.

पुढविदग्गागणिवणो य वीथपत्तेयणंतकाए य ॥

विगतिगच्चुपंचिदियसंचारं अणेयविहं ॥ ६०८ ॥

एकस्त्रिभिंचंतुःपंचुपीकांगिचिराचने ॥

असुन्दतवचस्तेयमिधुनंअयसेचने ॥ ६३३ ॥

चित्रयोदया—पुढविदग्गागणिवणो ॥ पृथिव्यामुदकेऽग्रे एवमेव च । वीथपत्तेयणंतकाए य वीथे प्रत्येकफादे
वनस्पती । विगतिगच्चुपंचिदियसंचारं ॥ पृथिव्यामुदकेऽग्रे एवमेव च । वीथपत्तेयणंतकाए य वीथे प्रत्येकफादे
कोपलशर्करासिक्तालवणाश्रुमिरयाविकायाः कननं, चिल्लनं, वहनं, कुट्टनं इत्यादिरुयादग्गः । उदककरकावश्याप
नुपारादीनां अग्नेदानां पान, स्नानप्रवाहनं, तरणं हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्दनं इत्यादिकं । अग्नेज्वालः, प्रदीप,
उत्तुर्गर्क इत्यादिकस्य तेजसः उपर्युदकस्य, पापराश्य, मुक्तिकायाः सिक्ताया वा प्रसेपणं, पापराकाष्ठदिभिर्देनतं इत्यादिकं ।
शंशान्दल्लिमादी वायौ पाति व्यजनेन, तालवृतेन, दूर्गेण, चेष्टादना वा समीरणोत्थापनादिक. वाते पाभिगमनं, वीजानां
प्रत्येककायानां अनंतकायात्रां च वृक्षवल्लीमुल्लसत्तातुषणुफलादीनां दहनं, छेदनं, मर्दनं, पंचयं, मक्षणमित्यादिकः ।
ईनिद्रियादीनां मारणं, छेदनं, ताडनं, पंचयनं, रोचनमित्यादिकं ॥

आजोच्यं गगगच्चुट्टयेनलोचवाधिपिपिपवीकृत्युमाह—

मूलाश—युद्धवि श्रुतिवीकायिकाः । अगणि तेजःकायिकाः पवणेषु वातकायिकाः । बीज बीजमूला वनस्पति-
कायिकाः । एवं पतेयं प्रत्येकाणां । अंतकाये अंतकायिकाः साधारणांगाः । विगेत्यादि द्वित्रिचतुःपंचद्विचतुःपंचद्विचतुःपंचद्विचतुःपंचद्विचतुः
विराजते । एतद्युविद्ययादिभिरपि योज्यं । अणवविद्ये अनेकप्रकारे । तथा हि—शुश्रूष्या मृत्तिकोपलशर्करासिक्तालवणव-
आर्चिकायाः रत्ननिखिलनवदनकुट्टवयंजनादिक आरंगः । खड्गकरकावश्यामयुषारादीनामनेभेदानां पानत्नानावगाहन
तरणइस्तादिनर्दनादिकः । अभिजातप्रदीपेस्तुकादिकस्य तेजसः सपर्युद्धकपायजमृत्तिकासिक्तावादिभक्षेपणपापाय
काष्टादिदुर्ननादिकः । शंखांशुलिकादिचातस्य कपाटछात्रादिना प्रतिबंधः । व्यवजनादिना या वस्य करणं वातेवाभि-
पमनासित्त्वादिना वायुमेदानां । पृथक्कीलतागुल्मगुणपुष्पफलार्थानां वदनेछेदनतावनबंधरोचनादिकः ।

अर्ध—पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा, बीज, अंतकायिक वनस्पति, प्रत्येककाय वनस्पति, द्वित्रिय, त्रिद्विय, चतुर्द्विय,
चतुर्द्विय, पंचद्विय इन प्राणिजोंका वध यदि भेसे हुआ होगा तो मैं उस की आलोचना करता हूँ।

पृथिवीके अनेक प्रकार हैं. जैसे—मृत्तिका, पाषाण, शर्करा, बालुका, नमक, अन्नक वगैरह पृथ्वीके भेद हैं.
इत्यादिरूप पृथ्वीको खोदना, हलसे विदारण करना, जलना, फोड़ना, मोड़ना इत्यादिरूप से मैंने उनका नाश
किया होगा.

पानीके भी बहुत भेद हैं जैसे—पानी, बर्फ, ओस, हिमबिंदु वगैरह पानीके भेद हैं. इनका पान करना,
स्नान करना, उसमें कूदकर स्नान करना, तीरना, हाथ, पाँय, और शरीरसे मर्दन करना इत्यादिरूपसे मैंने
उनका नाश किया है.

अग्निके ज्वाला, दीपक, उल्बुक इत्यादि भेद हैं. इनके ऊपर मैंने पाषाण, मृत्तिका अथवा बालुका फेर-
कर इनका नाश किया होगा. पाषाण और लकड़ी से उसको पीटा होगा. इत्यादिरूप आरंभ मैंने किया होगा.

वायुके धंदावात, मंडलिक एंत्स भेद हैं. जलघृष्ट सहित जो वायु बहती है उसको शंखावात कहते हैं.
जो बर्तुलाकार ग्रमण करती है उसको मंडलिक वायु कहते हैं. इस प्रकार बहनेवाले वायु को मैंने पंखेसे, छपरसे
और वस्त्रसे रोका होगा, उसको उत्पन्न किया होगा, वातके सम्मुख गमन किया होगा.

वनस्पती—बीज, अंतकायिक, प्रत्येककायिक इष्ट, वाड़ी, छोटे छोटे पेड़ोंका समूह, लता, वृण, पुष्प, फल

धर्मोद्वेगं वृत्तयति के भेद हैं. इनको मने बलाया है, तोडा है, छेदन किया है, मर्दन मोडना खाना धर्मोद्वेग से इनका मने धारंभ किया है,

ब्रह्मिण्य, ब्रह्मिण्य, चतुर्ब्रह्मिण्य, चतुर्ब्रह्मिण्य इन ग्राणिर्ब्रह्मिण्य मने छेदन किया है. उनको बांधा है. रोका है और वादन किया है इत्यादि रूप धारंभ मने किये हैं.

विद्वोवधितेज्जाए गिह्मिचणित्तेज्जवाकुसे लिंमे ॥

तेणिक्कराइमचे मेह्णपरिग्गहे मोसे ॥ ६०९ ॥

दर्शनज्ञानधारितपत्तसां प्रतिक्कुलने ॥

उद्गमेत्तपावनाहारदूषणानां निषेवणे ॥ ६१० ॥

विजयोध्या - विद्वोवधितेज्जाए सिंहे, उपकरणे, वस्तुतो च उद्गमोत्पादनैवणवाजाविचारः । गिह्मिचणित्तेज्जवाकुसे लिंमे । गृहस्थानां भोजनेषु कुंभकरकशाखादिषु कस्यचिद्विशेषणं, तेषां कस्यचिद्वस्त्रं धारिमात्रिचारः । उद्गम-
सिलेख्यत्याज्योचयितुमशक्यत्वात् पीठिकायामासंघां, यदयथा, मंचे वा आसनं निषेव्यते । पीठिकादियत्नेकचिद्व्या-
कुलाहं कुंभेव्या । प्राणिनो वधाय नापठ्यं उपयते । ततोऽदिसामताविचारः । तथा चोक्तं - पीठिकासंघपक्षे मंचया-
सालये तथा । अणाचरितमज्जाणं आसिद्धं सद्धं पि वा । गंभीरवासिणो पाषा कुपेक्खा दुक्खिक्खिणा ॥ सम्मा दुप्पवि-
लेहं च वज्जए पट्टमय्यए ॥

उपवेशनं यथा गोखद्यमिषस्य गृहेषु भिक्षया कस्तव शेष इति चेत् ग्रहचर्यस्य विनाशः । स्त्रीभिः सह संपा-
सात् । असकृत्सर्वीयकुचतटविषाधरादिसमवलोकनाद्भोजनार्थिनां च विरक्तः । कथमिव वसितसमीपे भुजिक्रियां संपाद-
यामः । नमुचि देवं धैर्यमस्यामासंघां तु तावदमी इति कुप्यन्ति वा गृहस्थाः । किमर्थमयमत्र दाराणां मध्ये निषण्णो यति
कुंभे न धातीति । स्नानमुत्तरं, गन्धक्षालनं च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा
विलस्य घात्रीधुविविश्रमः इतरेऽपि स्वल्पकायाः कुशुभिर्पीठिकादयो वा नश्यन्ति । तथा चोक्तं -

सुहृन्मा संति पाषा सु पासेसु अ विलेसु अ ।

सिण्हायंति यतो भिक्खुं निक्खुं निक्खुं निक्खुं ॥

वा सिण्हायंतो तद्धा ते सीदुसण्णोदगेण वि ।

जायजीव वदं घोरं अण्णाणममचिद्धं ॥

छोदगंधादिना उद्धर्तनं च नाचंति । लिगविकाशनक्रिया ॥ तात्पर्याह्मिषशब्देनोच्यते । भेषिकादिभक्षे

अदत्तं दानं रात्रिभोजनं च । पदस्तादने छते तत्सत्याग्निं प्राणान्हरा एव हुतो भवति । वहिद्वराः प्राणा धनानि प्राण-
भुता राजानो दृढयन्तीह । राज्ञो ॥ भोजनं अनेनासंयममूल । रात्रौ अन्ते पदवीनि कायवाचा । अयोग्यस्य प्रत्या-
रथास्य च भोजन । दाहपरीक्षसमय । कस्य, मांनोच्छिद्यविषयतदेशस्य, दायिकागमनमार्गस्य तस्यात्मनदाव-
स्थानदेशस्य अपरीक्षा । मेहुणपरिग्रहे चैव मैथुन परिग्रहश्चैव । मोसे सृया च ॥

मूला — पिंडोवधिसेवजाए आहारे उपकरणे वसती, वोद्वयादिरतिचार । मिदियचा गृहिणामन्त्रेषु मान-
नेषु कुंभकरकरावस्थि कस्यचिज्जलमस्मादिदमस्य निक्षेपणं वैर्ब कस्यापिदादनं चारित्रादिचारः तेषा दुष्प्रवित्ते-
रेस्तात् शोधयितुमशक्यत्वाच्च । भित्तोज निषद्या पीठिकायां अंसयां सदाया मंचके वा आसनमित्यर्थः । तेषु हि अनेक-
छिद्राकुलेषु प्राणिनो शुनैरीत्या दद्या वा नापनेतुं शक्येरन् । तन्नोऽहिसाव्रतातिचारः । अथवा गोचरजडित्स्य गृहेषु
प्रवेशनं निषया । तत्र हि प्रसवर्चसं विनाशः, स्त्रीभिः सह संवास्तात् । मोजनार्थिनां शुभ्रिक्तावांतरायकरणादुद्देशः क्रोधा-
दिसंक्लेशः स्यात् । बाकुसे स्नानमुद्धर्तनं । गायत्र्याजनं च बाकुसन्निधयभिधीयते तैर्हि शुभ्रिर्धरादिस्थाः स्वदेहस्याहव
प्राणिनो विनश्यति । छिगे छिगपिकासाविक्रिया तात्पर्व्याक्षिगशब्देनोच्यते । वेनिकक चौर्य । रात्रिभते रात्रिमोक्षने तद्वधने-
कासंयममूलं पडूर्वाविकनिकायवधात् । तत्कारिणां पायोग्यस्य प्रत्याग्यादस्य च भोजनं बहिः पात्राविस्थापनप्रदेशपायका
गन्तमार्गस्वावर्धनार्थेनानां बाडपरीक्षा ।

अर्थ — पिंड-आहार, उपकरण और वसतिका इनको स्वीकार करते समय मेरेसे उद्गम, उत्पादन एषणा
वगैरह दीप उत्पन्न हुए होंगे.

गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुम्भ, बर्तन, कूक-कर्मबल, धारम वगैरे पत्रोंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ
रखते होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्रातिचार हैं; क्यों कि ये पदार्थ अंदरसे स्वच्छ करना कठिन है,
छोटी चौकी, वेत्रासन, खाट, पलंग इनके ऊपर बैठना इसको निषधा कहते हैं.

चौकी वगैरह पदार्थोंमें अनेक छिद्र रहते हैं और उसमें जो प्राणी रहते हैं वे दीखते भी नहीं. यदि
दीख भी तों उनको निकाल नहीं सकते. इसलिये ऐसे चौकी वगैरह पदार्थोंपर बैठनेसे आहिसाव्रतमें अतिचार उत्प-
न्न होते हैं. यही अभिग्राम अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—

अथवा आहारके लिये श्रावकके घरमें जाकर वहां बैठाना यह भी अयोग्य है. स्त्रियोंके साथ सहवास
होनेसे नजचर्यका नाश होता है. वारंवार स्त्रियोंके स्नान, अधरोष्ठ वगैरह अवयव देखनेसे कामजन् उत्पन्न होता

है. जो भोजन करना चाहते हैं उनको भी विग्र उपस्थित होता है. मुनि के सन्निध आहार लेनेमें उनको संकोच होता है अथवा उनको उद्वेग ओषादिक विचार उत्पन्न होते हैं. यह आमन अपवित्र है तो भी ये इसपर कैसे धैर्य हैं ऐसा विचार मनमें उत्पन्न होनेसे ये कोपयुक्त होते हैं. ये यदि बियोगके बीचमें क्यों बैठते हैं यहां से क्यों अपने स्थानपर जाते नहीं.

स्नान करना, उम्हटन लगाना, शरीरके अवयव घोजना इन क्रियाओं को 'वाकुस' कहते हैं. ठंडे पानीसे अथवा उष्ण पानीमें, नेत्रमें अंजन लगाना, शरीरपर उम्हटन लगाना इन क्रियाओंसे शरीरपर रखनेवाले प्राणी मर जाते हैं तथा विज्ञानमें रहने वाले प्राणी, जमीन के छोटे छोटे छोटों में रहने वाले चट्टी बगैरे कृमि नष्ट होते हैं. इसलिये स्नान मुनि-ओंको निषिद्ध माना है. मुनियोंको आभरण यह चोर घन पालना चाहिये. आभारोंमें भी यही अभिप्राय लिखा है.

लौध बरगैरह मुनभी यदायौका उक्कटन शरीरपर मुनि नहीं लगाते हैं.

लिंग विकासनाक्रियाको लिंग कहते हैं. इसका मुनित्याग करते हैं. न दिया हुआ पदार्थ लेना और रात्रि भोजन इसका मुनिओं को त्याग रहता है न बी भुरं पस्तु लेना मानते उस वस्तुके मालिकका प्राण ही लेना है. घन प्राणीओंका प्राण मरण है. जो दुस्रोंका घन हरण करते हैं राजा उसको दंडित करता है. राजा भोजन करना अनेक अंगों का मूल कारण है. राजमें भ्रमण करने से स्थावर और अस जीवों को बाधा पहुँचती है. राजा भोजन करने में अयोग्य पदार्थ, और त्याग हुआ पदार्थ का भी सेवन होता है. रात्रिकालमें दाताकी परीक्षा नहीं हो सकती है. राजा अपने हलपुत्रसे भोजन करते समय जो अन्न नीचे जहाँ गिरता है वह भूयदेश, जहाँ जन्नकी म्पत्ती रहते हैं वह प्रदेश और दायक जहाँसे आफर आहार देता है वह प्रदेश, आहार देते समय वह जहाँ लड़ा होता है वह प्रदेश और स्वयं मुनि जहाँ लड़ें हुए हैं वह प्रदेश ये तीनोंसे रहित हैं या सहित हैं इनका निर्णय रात्रमें नहीं होता है. इस वास्ते राजा आहार लेना योग्य नहीं है. मयुज करना, परिग्रह रखना, शूट चोलना इनका मुनि त्याग करते हैं.

पाणो दंसणतव्वीरिये य मणवयणकायजोगेहिं ॥

कदकारिदेणुमोदे आदसपओमकरणे य ॥ ६१० ॥

वित्तवश्या—भागे देने । ईश्वरतत्त्वकीरिए श्रद्धायां तपसि वीर्ये च योऽतिचारः । मण्डवश्याजोगोई मनो-
वाक्कायक्रियाभिः । मनसा सम्प्रधानस्यावयवा, क्रियेन ज्ञानेन, तपश्चारित्र्यमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्प्रधानस्य वा
मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषणं । मनसा वाचा कायेन वा स्वास्त्रिप्रकाशनं, सुखवैषम्येन नैतदेवमिति शिरःकण्ठेन वा ।
संरुपांक्षादि दर्शनेऽतिचारः । तपस्यसंयमः । वीर्ये स्वशक्तिगुह्यं । स पातीचारः सर्वस्वप्रकार इति कथयति । कद-
कारिदे अयुमेदे कृत, कारितोऽनुमतम् । चादृष्टपरमार्थकरणे य आत्मनैव कृत. कारितोऽनुमतम्, परमयोगक्रियया कृतः
कारितोऽनुमतो वा ॥

मूढारा—भागे इत्यादि । सम्प्रधानस्य क्रियेन तपश्चारित्र्यमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति मनसाचक्षा, मिथ्या-
ज्ञानमिदमिति वाचा, कण्ठेन च सुखवैषम्येनावचिप्रकाशनं । शिरःकण्ठेन नैतदेवमिति वाविचारः । दर्शनादीनां च प्राप्ति-
का एव । आदृष्टपरमार्थकरणे आत्मना परेण वा कृतः कारितोऽनुमतम् ॥

अयं—ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य इनमें मन, चक्कन और क्षीरसे और कृत, कारित, अनुमोदनसे अतिचार
उत्पन्न हुए हैं तो उनकी आलोचना करता हूँ. मनके द्वारा सम्प्रज्ञानकी अवज्ञा करना, सम्प्रज्ञानकी क्या जरू-
र है, तप और चारित्र्यही फलदायक है. उनका ही आश्रय करना चाहिये. अथवा सम्प्रज्ञानको यह सिध्याज्ञान
है ऐसा दूषण लगाना. मनसे, चक्कनसे और क्षीरसे सम्प्रज्ञानके विषयमें अरुचि प्रगट करना, मुँह मोड़कर अथवा
मस्तक हिलाकर यह सम्प्रज्ञान नहीं है ऐसा प्रगट करना. ईश्वर, सर्वार्थ शरीरह सम्प्रदर्शनके अतिचार हैं.

तपश्चरण करते समय अस्वयंरूप प्रवृत्ति करना, तपका अतिचार है. अपनी शक्ति छिपाना वीर्यका
अतिचार है ये अतिचार कृत, कारित और अनुमोदित ऐसे तीन प्रकारके हैं. स्वयं करना, स्वयं कराना और
अनुमोदन देना अथवा परमयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार हैं.

अरूपाण रोहुरे जणवण् च रादो दिवा सिवे उमे ॥

दृष्पादिसमावण्णे उरुरदि कमं अभिदेतो ॥ ६११ ॥

दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरादिवोचने ॥

योऽपराधो भवेत्काश्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ ६१५ ॥

सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारअमभीलुकः ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥ ६३६ ॥

विजयोदया—अज्ञान रोहो जगत्तु यत्कथयिष्यते जनपदे यत्कथ्येतां योग्योक्त्यां रोचके परत्तके जाते यदि निवृत्तं न लभते संक्षिप्त शिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तमपि कथयति । रादो दिवा रात्रौ अथमसि चारो जातो विगतसे इति वा कथयं । मार्ग उच्यते संते विद्यया मंत्रेण वा तद्विषयनाशप्रयमसिचारो जात इति वा । दुरभिक्षे या महति अवमोदयप्रमन वदत्तमना सेवितं, अन्ये यादयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्यं प्रवर्तिता इति वा कथयं । इत्यादि विषयमण्ये दर्शयिष्ये समापन्य ॥

पूजारा—अद्यान रोपणे लजबरे । जनपदे देसे । यापयोऽप्यानो मार्गोत्तेषां परपके सेवके परवक्त्रे प्रवृत्ते नि सर्वमलमनाय साधोर्वा कारयस्वेन संक्षिप्ता भिक्षापूर्या संज्ञाया अवोद्यसेवा वा आत्मना कृता सामप्युद्धरतीति संक्षेप । रादो दिवा रात्रौ दिवा वा योऽतिचारो ज्ञातः । आसिचै मत्प्राप्तपदे संक्षेप विद्यामन्त्रादिना तत्प्रतिकारे योऽविचारः । इमे दुरभिक्षे अवोद्यसेवनादिना योऽतिचारोऽन्यो वा वादकः । इत्यादिसमायण्ये दर्शयिष्ये सांख्येन आचरणे मातस्वं सर्वं उद्धरति गुरोऽप्ये कथयति । किं कुर्वन् ? कर्म कर्मिदं तो वेलाक्रमं कालक्रमं चानतिक्रामन् ॥

अर्थ—देशमें बाहर जानेके अथवा प्रवेश करनेके जितने मार्ग हैं वे अनुसृत्यके द्वारा रोके जानेपर वहसि निकलना अशक्य हो जाता है, उस समय भिक्षा मिलना कठिन हो जानेसे परिणाममें संक्षेप पैदा होता है, कदाचित् थोले समयपर अयोग्य पदांशका सेवन होता है, आलोचनाके समयमें इन सब बातोंका धूपकको तुलना करना योग्य है, असुर अतिचार रात्रमें हुआ था अमुक अतिचार दिनमें हुआ था यह भी कथन करना चाहिये, मार्गी रोगसे संव पीडित होने पर गिरा और मंत्रके द्वारा उसका निराकारण करते समय जो अतिचार हुआ होगा वह भी कहना चाहिये, यदि महादुष्कालसे अवमोदयं तपसे अतिचार लगा हो अथवा अयोग्य भक्षण किया हो वह भी निवेदन करना चाहिये इस मुनिओंने भी दुष्कालमें अयोग्य सेवन किया होगा तो वह कहना चाहिये, दर्प, प्रमाद वगैरहसे जो अतिचार होते हैं उनका भी कथन करना चाहिये,

दृष्यमान्दआणाभोगआपगा आदुरे य तित्तिणिदा ॥
संकिदसहसाकारे य मयपदोसे य मीमंसं ॥ ६३७ ॥

अण्णाणणेहंगास्व अण्णवसअलस उपधि सुमिणंते ।
पडिक्खणं ससोधी कंते वीसंतवे मेवे ॥ ६१३ ॥

चित्तोद्वेगः — इति त्वांतिः । अत्र दयौल्लेख्यकारः । क्रीडासंशयः, व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्यं, मीनगुंठापरचनं, प्यवनमिस्तादिको र्थः । प्रमादः पंचावेषः । विकृताः, कृपायाः, दंष्ट्रियविपयासकृता, निद्रा, प्रणय-
कोति । अथवा प्रमातो नाम संस्मृत्यद्वस्तकर्म, कुशीलावृत्तिः, बाल्यास्त्रिक्षणं, काव्यकरणं, समितिव्यनुपयुक्तता ।
छेदनं भेदनं, पेरणमभिरातो, स्वघनं, घनकं, घननं, स्फटनं, प्रक्षालनं, रंजनं, वेष्टनं, ग्रथनं, घूरणं, समुदायकरणं,
लेपनं, सेवणं मल्लिजनामित्यादिकं संस्मित्यद्वस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षणं निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छेदः, अघोरास्त्रं, वैद्यः,
लौकिकवैदिकसमायाश्रयाशास्त्राणि । उपयुक्तोऽपि सम्पत्तौ चार्त्तं न वेति सोऽन्नाभोगुहः, श्वाश्विसेतसा वा
कृतः । नदीपूरः, अश्वपुराणं, मद्रापातापता, वर्षाविपातः, परवक्रोद्य इत्यादिका धाणताः। योगार्त्तः, शोकात्तः, वेदनात्
इत्याता निविशः । रसासकृता युपरता वेति क्रिमकारता तिचिप्रदा शब्दवाक्यः । सचिचं किमचिचामिति श्रुतिर्
द्रव्ये भक्षणमेवमशुणादिभिराहारव्योपकरणस्य. यसत्वेयां 'उग्रमादिदोषोपवृत्तिरस्ति न वेति शंकायामध्युपाशान् ।
अशुभस्य मतसो पाचो वा श्रुतिनि प्रवृत्तिः सहसंयुच्यते ॥

एकांतायां पक्षतो श्वाश्विगुणव्यापारव्यस्तेना वा प्रविशन्ति इति भवेत् दारुण्यत्वे जातोऽतिचारस्त्रीयकृपाय
परिणामः प्रदोष इत्युच्यते उदकप्राणविसर्जनतया प्रत्येकं चतुर्विंशत्यवस्थाः कृपायाः । आरामतः परस्व या पल्लवा-
यादिपरीक्षा मीमांसा तत्र जातोऽतिचारः । प्रजातिकटाकुचितम् । आकुचितकप्रसारणं । धनुषाचारोपणं । उपलाघु-
क्षेपणं, शपणं, वृत्तिकंठकापुल्लंघनं, पशुसर्पादीनां संघपरोक्षणायां धारणं, औपधवीवपरीक्षणाधर्मजनस्य, चूणस्य वा
प्रयोगः, इत्यन्यौजनया प्रसानामेकोद्भिद्याणां च संसृष्टेना परीक्षा । आश्विनाचारणं दृष्ट्या स्वयमपि तथा धरति तत्र
दोषानभिज्ञः । अथवाऽस्मानिनेनीतगुहमादिदोषोपहृतं उपकरणवदिकं सेवते इति अक्षानतप्रवृत्तोऽतीचारः । शरीरे, उप-
करणे, वरातो, कुले, ग्रामे, नगरे, देते, वंशेषु, पात्रांस्थेषु वा मनेदंमात्रः सेवस्तेन प्रवर्तित आचारः । मम शरीरमिदं
श्रीतो चातो याचस्यति, कटादिभिर्तर्धानं, अग्निसेवा, श्रोण्यातपनोदनाय यावदण्डग्रहणं वा, उद्धर्तनं, वा । उपकरणं यित-
इत्यतीति तेन सकायाकरणं यथा पिच्छविनाशमवावयमार्जनं इत्यादिकं । अक्षुणं, तैलाविना कर्मद्वन्वादीनां प्रक्षालनं वा,
यस्तत्पिण्यादिमशूणस्य भक्षणान्तेर्वा मम तथा निवारणं, चतुर्नां यतीनां प्रवेशने प्रक्षीयं कुलं न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोपः,
यद्गनां न दातव्यमिति नियेधनं, कुलस्थैव वैवावृत्करणं । निमित्ताद्युपदेष्टव्यं तत्र मम तथा ग्रामे नगरे वेतो वा अवस्थाना
नियेधनं । यतीनां संगंधिनां सुयेन सुलगतमनो दुःखेन दुःपमित्यादित्तिचारः पार्श्वस्थानां चंदना, उपकरणादिवानं वा
तदनुपचानासमर्थता श्रुता ऋद्धिप्राप्तासङ्गता. ऋद्धिगौरवं, परिचारे कृतादरः। परकीयमात्रसात्करोति शिष्यवचनेन उपकरण-

[illegible]

स्वांगुयो विद्वान्निवारणविक्रया यथागमं निर्दिश्यन्ते । तथाहि --

मृशत—। तत्र स्वोऽनेनप्रकारः । श्रीहार्संपर्यो व्याप्यामः, कुरङ्गं, रसायनसेवा, हार्सं ग्रीवधूमारो, घावनं, व्यपनमिर्यादिकः । प्रमार वेषणा विकृता, कषायाः इन्द्रियविषयात्मकता, निद्रा, प्रणय इति। अथवा संविष्यदृष्टस्वकर्म, कुशीलाङ्गु-
गृताः, सामुद्रिकनिमित्तयोत्पदेनकण्ठोदार्थमाख्यै दिक्छेदिकसमयधनवादादिवासासिद्धिभ्रमं, कान्यकरणं, समितिष्य,
धुपपुष्पा, ऐरवं, भेरवं, वेणमभिरपावो, व्यपनं, राननं, वंधनं, सीधनं, प्रक्षालनं, रंजनं, घेष्टनं, प्रयनं, पूरणं, समुवा-
पचरनं, छेपनं, क्षपनं, आष्टेयनं इत्यादिकोऽनेनप्रकारः प्रमावः । अनामोग दृपयकाद्यावि अतिचारणं सम्भरगतयद्योपः ।

आपणा आपणापूरवणत्तयातो अश्रुवावापातवर्षाभिमाउपरयककरोपाद्युपसर्गः । आतुरत्वं रोगादोष्णवेदनेभेदात्त्रेधा । तित्ति-
विश द्वेपा दसासगता युगशका वेदि । ७ पिण्डाद्युपयोगिप्रबन्धे किमिदं सपिण्डमुत्तापिचिभिनि संवेदे सत्यपि कर्त्तव्यमेददव-
द्यायादिकर्त्तव्यं । पिण्डादेर्षा किमत्रोद्वेगादिसोमोषादीरिति न वेति संशयायामप्युपादानं । ८ सहस्रकारोऽनुभूत्य मनसो धापो
वा ददिति प्रसूतिः ॥ ९ भयं शृङ्गावां यस्तौ स्वेनव्यालादिरत्र वेदयतीति द्वारस्यगमम् ॥ १० प्रदोषस्त्रीप्रसंयत्नलक्षणा-
दपस्त्रिगानः ॥ ११ मीनांता मन्द परस्य वा बल्लापवादिपरीक्षा । अथवा प्रसारितस्य कस्याकुंचनं, आकुंचितस्य वा
प्रसारणं, भुजगमारोपणं, उपलामुल्लेखणविशेषणध्वनं, मुक्तिफटकागुहंजनं, पशुसर्पादीनां भेदापरीक्षणावधारणं,
अंगोपगोपीवैपरीक्षणार्थमंजनस्य वा प्रयोगः । १, द्रव्यसंयोजनया शस्त्रानामेवेन्द्रियाणां वा सम्मर्चनपरीक्षा ।

१२ सतानो आपरणइरुनात्तथानरणं, अज्ञानिना उपनीवरय उद्रमादिदण्डुस्य उपकरणेऽदेः सेवनं वा ॥ १३

स्नेहो देहो रश्मिर्ममिच्छुः प्रपद्यते । तेन मेघेन्द्रे शरीरे शीतदिना वाध्येते इति कटांचलं ।
धर्माभिसेवनप्राप्त्यारम्भेन अङ्गप्रवेशोऽर्हतामुपचारेऽप्रतिवारः । तथा ममोपकरणं विनश्यति इति पिच्छविनाशमवाप्तमार्जवम् ।
कथं दत्त्वादीनां प्रशस्त्रं, वेलादिना वा प्रशस्त्रं, वसतेऽस्त्राणां प्रसारणं मञ्जनादिनिवारणं वा । वद्गुणं यतीनां प्रवेशनं म-
दीयं कृतं न सद्यो इति भाषणं वा । प्रवेशे पार्श्वस्थादीनां बन्दोपकरणदिदितं वा । तदुङ्घननाममर्थना वा ॥ १४ गारवं
मृद्धिरससतासक्तिः तेन परिवारे लोभात्परलीयस्य प्रियवचनादीनां आत्मसात्करणं वा, गंधयात्वात्तद्व्यादितेवनं, अनिष्ट
रसस्यापेक्षरसादरो, यथेष्टभोगमशयनादितत्परत्वं च । १५ अनात्मवस्तुत्वं-जन्मावपिप्रकोपविशब्दाव्येसादित्वा पारसंज्यं,
साविपल्लाकारेण वा गंधयात्वात्तद्व्यादितेवनं, प्रत्याकृतमोजनं, राजिमोजनं वा । क्षीर्भिर्नृपुंसकैर्वा बलान्मैषुनप्रवर्तनं
वा । १६ आलस्यं स्वाभावावश्यकैव्यनुसाहः । १७ उपविर्मायाप्रयोगः, प्रच्छन्नमनाचारे प्रशुचिः, प्रशादगुणं सात्वा
अन्येभ्यः पूर्वं तत्र प्रवेशः आर्यापदेशेन यथा घरे न जानन्ति तथा । मद्भक्तं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तं इति कथनं ।
पञ्चमस्यापानिर्दिष्टापुल्लं करिष्यामीति किंविदगृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा । १८ स्वप्रांतः सुप्तस्याचोयमेसबतः । १९ पछि-
कुपनं द्रव्यादिपिपर्येणातिपारकथनम् । यथा सविचं सेयित्वा अविचं सेवितमिति वक्ति । स्वावस्थाने कृतं मार्गेण
कृतमिति । सुभिषे कृतं दुर्भिषे कृतमिति । दिया कृतं रात्रौ कृतमिति वा । वीमन्तोषादिकृतं मन्त्रकोषादिकृतमिति वा ।
२० स्वयंशुचिः—अच्छतालोपनेन यस्मिन्ना वावत्सुरिः प्रावच्छिन्नं ददुति वावचिर्न मे प्रावच्छिन्नं इति स्वयमेव तदुद्गृहीत्वा
एवं नया स्वशुचिरुद्दिशेति निवेदनम् । उक्तं च—

एकद्वित्रिचतुःपञ्चद्व्यष्टीकागिराधने ॥

असंनृतवचःस्तोयमैशुनंप्रयसेधने ॥

बलनान्यानि चारिद्वयम् ॥

उद्धमोत्पादनाद्वारत्नपानां निषेवणे ।

दर्मिन्ने मरुके भागें बैरिधौरनिरोधने ॥

नोऽपराधोऽभवत्कश्चिन्मनोवाचायकर्मभिः ॥

सर्वदोषप्रयाकांक्षी संसारमभीलुङ्गः ॥

आद्योपयति तं सर्वं क्रमतः परलो गरोः ॥

अर्थ—दुर्पते अनेक प्रकार हैं. क्रीडामें स्पर्द्धा, व्यायाम, कपट, रसावनसेवा, हास्य, शीत और श्रृंगार-नृत्न, दोहना और इदना ये दुर्पके प्रकार हैं. प्रमादके पांच प्रकार हैं—विक्रया, कयाथ, इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह. अपना संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुंदीलायुशुचि, बाह्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, और समिति में उपयोग न देना ऐसे भी प्रमाद के पांच प्रकार हैं.

छंदन करना, गंधन करना, पीमना, आषाढ करना, शुभना, खेदना, घांमना, फादना, धोना, रंगाना येष्टन करना, गूंथना, पूजं करना, एकत्र करना, लेपन करना, फेरना, चित्र बनाना इत्यादि कर्मोंको संक्लिष्ट हस्त कर्म कहते हैं.

स्त्री पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करने वाले शास्त्रोंको निमित्त शास्त्र कहते हैं. ज्योतिर्हान, छंदःशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, वैषकशास्त्र, लौकिकशास्त्र, मंत्राद इत्यादि शास्त्रोंको शास्त्रशास्त्र कहते हैं.

उपयोग देकर भी जिसमें अतिपातोंका सम्पन्नान नहीं होता है उसको अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं. अपना मन दूसरे तरफमें लगनेपर जो अतिचार होता है वह भी अनाभोग कृत है.

नदीपूर, अपि लगना, महाबाधु बहना, इष्टि होना, शत्रुके सेन्यसे विरजाना, इत्यादिक कारणों से होनेवाले अतिचारोंको आपात अतिचार कहते हैं.

रोमसे पीडित होना, शोकसे दुःखित होना, वेदनासे व्याधित होना, ऐसे आवृत्ताके तीन प्रकार हैं इस से होनेवाले अतिचारोंको आवृत्तातिचार कहते हैं.

रतमें आसक्त होना और बहुत बड़बड़ करना इस कार्यको तिष्ठिदा अतिचार कहते हैं.

शक्ति — विच्छिन्ना वगैरे उपयोगी द्रव्योंमें ये सचिच हैं या अचिच हैं ऐसी शंका उत्पन्न होनेपर भी मोहना, फोदना, भक्षण करना, आहार और उपकरण और वसतिका ये पदार्थ उद्गमादिदोष रहित हैं अथवा नहीं है ऐसी शंका होनेपर भी उनको स्वीकारना यह शंकितातिचार है.

सहसा—अशुभवचनमें और अशुभ विचारोंमें वचनकी ओर मनकी तत्काल अविचारपूर्वक प्रवृत्ति होना इसको सहसातिचार कहना चाहिये.

भयातिचार—एकान्त स्थानमें वसतिका होनेसे सर्प, दृष्ट पशु, वायु वगैरह प्राणी प्रवेष्ट करेंगे इस भयसे वसतिकाके द्वार बंद करना.

प्रदोष—संजलन करायोंका तीव्र परिणामन होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना। पानीके ऊपरकी लकीर, धूलिके ऊपरकी लकीर, जमीनके ऊपरकी लकीर, और पत्थर पर उफरी हुई लकीर इन के समान अधिकार प्रकार हैं। इस प्रकारसे मान, माया, लोभके भी दृष्टांत आसानीसे समझ लेना चाहिये। इनसे होनेवाले अति-चारों को प्रदोषातिचार कहते हैं।

भीमांसा—अपना चत और दूसरेका चत इसमें कम और ज्यादा किसका है इसकी परीक्षा करना इससे होनेवाले अतिचारको भीमांसातिचार कहते हैं।

फैले हुए हाथको समेट लेना, संकुचित हाथको फैलाना घुपको दोरी लगाकर सज्ज करना, परावर फेकना, माटीका ढेला फेकना, याचा देना, मर्यादा-वादको उछटना, कंटकादिकोंको लांपकार गमन करना पशु, सर्प वगैरह प्राणियोंको मंत्र की परीक्षा करनेके लिये पकड़ना, और सामर्थ्यकी परीक्षा करनेके लिये अंजन और चूर्णका प्रयोग करना। द्रव्योंको संयोग कर ब्रस और एक्केद्रियों की उत्पाचि होती है या नहीं इसकी परीक्षा करना इन कृत्योंको परीक्षा कहते हैं। ऐसे कृत्य करनेसे ब्रतोंमें दोष उत्पन्न होते हैं।

अज्ञानातिचार—अज्ञ जीवोंका आचरण देखकर स्वयं भी वैसा आचरण करना, उसमें क्या दोष है इसका ज्ञान न होना, अपना अज्ञानीके लोच, उद्गमादि दोषोंसे सहित ऐसे उपकारणादिकों का सेवन करना ऐसे अज्ञानसे अतिचार उत्पन्न होते हैं।

शरीर, उपकरण, वसतििका, कुल, गांव, नगर देख, वंश और पारस्पर्यपूर्ण इनमें ये भेदे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होना इसको स्नेह कहते हैं। इससे उत्पन्न हुए दोषोंको स्नेहातिचार कहते हैं। यह ठंडी हवा मेरे शरीरको पीटा देती है ऐसा विचारकर चटाईसे उसको ढकना, अग्नीका सेवन करना, ग्रीष्म ऋतुका ताप मिटानेके लिये वस्त्रग्रहण करना, उकटन लगाना, साफ करना, ठेलादिकासे कमंडलु वगैरह पदार्थों स्वच्छ करना, धोना। उपकरण नष्ट होगा इस भयसे उसको अपने उपयोगमें न लाना, जैसे पिच्छिका का आबगी इस भयसे उससे जमीन, शरीर, पुस्तकादिक साफ न करना- इत्यादिक अतिचारोंको उपचारातिचार यह संज्ञा है।

वसतििका का रुण कोई पशु खाता होगा तो उसका निवारण करना, वसतििका मद्य होती हो तो उसका निवारण करना, बहोतसे यदि मेरी वसतििका में नहीं ठहर सकते हैं ऐसा भाषण करना, बहुत मुनि प्रवेश करने

तुम तो उनपर क्रुद्ध होना, बहुत यतिओं को वसति का मत दी ऐसा कहना, वसति का की सेवा करना अथवा अपने इन्हें मुनियों की सेवा करना, निमिच्छादिओं का उपदेष्टा देना, ममतत्वे ग्राममें, नगरमें अथवा देशमें रहने का निषेध न करना, अपने संबंधि यतिओं के सुखसे अपने को सुखी समझना और उनको दुःख होनेमें अपने को दुःखी समझना, शयनस्थिति धुनिओंकी चंदना करना, उनको उपकरणों के देना, उनका उल्लेख करने में माधुर्य न रखना, इत्यादि कृत्योंमें जो दोष होते हैं उनकी आलोचना करनी चाहिये।

सूदिक का त्याग करनेमें असमर्थ होना, क्रोधि में गौरव समझना, परिवारमें आदर रखना, मियभाषण करते और उपभोग देकर परकीय वस्तु अपने वश करना इसको सदिगौरव कहते हैं। इष्टरसका त्याग न करना, अनिष्ट रसमें अनादर रखना, इसको रसगौरव कहते हैं। अविशेष भोजन करना, अविशेष सोना इसको शांतगौरव कहते हैं। इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये।

परके वश होनेसे जो अविचार होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—उन्माद, विष, पिशाच इत्यादि कारणोंसे परवश होनेमें अविचार होते हैं। अथवा शक्तिके लोकोत्ते पकड़नेपर बलात्कारसे श्व, पुष्प वगैरहका सेवन किया जाना, त्याग हुए पदार्थोंका भक्षण करना, रात्रिमोचन करना, सुखको सुगंधित करनेवाला पदार्थ, तांबूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलात्कारसे बलचर्यका विनाश होना, ऐसे कार्य परवशतासे होनेसे अविचार लगते हैं। घृच्छता, अनुप्रेक्षा वगैरह चार प्रकारके स्वाध्याय और अवश्यक क्रियाओंमें अनादर आलस्य करना, इनकी आलोचना करना क्षणिकता कर्तव्य है।

अनधि शब्दका अर्थ भाषा होता है। गुह रीतिसे अनाचारमें प्रवृत्ति करना, दाताके परका शोच करके अन्य मुनि जाननेके पूर्वमें वहां आहारार्थ प्रवेष्ट करना, अथवा किसी कार्यके निमित्तसे दूसरे नहीं जाननेके इस प्रकारसे प्रवेश करना, मिष्ट पदार्थ खानेको मिलने पर भोका बिनास अन्न खानेको मिला ऐसा कहना। रोगी मुनिका किंवा आन्तर्यका पैयापत्य करनेके लिये धानकोसे कुछ चीज मांगकर उसका स्वयं उपभोग करना। ऐसे दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये।

स्नममें उपयोग्य पदार्थका सेवन होना उनको 'सुमिष' कहते हैं। द्रव्य, श्वेत, काल और भाष्यके आश्रयों जो अविचार हुए हो उनका अन्यथा कथन करना उसको 'पलिकुचन' कहते हैं। जैसे सविच पदा-

धृता सेवत करके अचित्तका सबने किया ऐसा कहना, अचित्तका सेवन कर सचिपका सेवन किया ऐसा कहना, असत्काममें कोई कृत्य किया हो तो मैंने वह कार्य रास्तेमें किया ऐसा कहना सुमिश्रमें किया हुआ कृत्य दुर्मिश्रमें कियाया ऐसा बोलना, दिनमें कोई कृत्य करनेपरभी मैंने रातमें अहुक कार्य किया था ऐसा बोलना, अकपा-पभारसे निचे हुए कृत्यको तीन परिणामसे किया था ऐसा बोलना, इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये,

आचार्य के पास आलोचना करने पर आचार्य प्रायश्चित्त देने के पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है ऐसा कतफर तयं प्रायश्चित्त लेता है उसको स्वयं शोधक कहते हैं, स्वयं मैंने ऐसी शुद्धि की है ऐसा कथन करना, इस सीरीसे दर्पादिकें द्वारा अतिचार होते हैं वे सब कहने चाहिये, और अपने किये हुए अतिचारों के क्रमका उल्लेखन नहीं करना चाहिये,

इय पयविभागियाए व ओवियाए व सल्लुमुद्धरिय ॥

सव्वगुणसोधिक्कली गुरुवस्सं समायरह ॥ ६१४ ॥

स सामान्यविशेषाभ्यामभिधाय स्वदूषणम् ॥

विषसे गुरुणा दत्तां विशुद्धिं द्वादमानसः ॥ ६१७ ॥

विजयोदया—इय एवं । पयविभागियाए व विशेषालोचनया वा । ओवियाए व सामान्यालोचनया वा । सल्लु मायाशक्त्यं । उद्धरिय उद्घृत्य । सव्वगुणसोधिक्कली सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचारित्तपत्तां शुद्धिमभिलषन् । गुरु वस्सं गुरुणोपादिं प्रायश्चित्तं । समादियादि सम्भगाद्वत्ते । रोपं दैन्यमग्रदानं च त्यक्त्वा ॥

एवमालोच्य प्रपेचनालोचनाविधिगमिधायोपसंहरति—

मूलारा—गुरु-रपेसं गुरुणदिदं प्रायश्चित्तं । समादियादि सम्भक्तेरोपदैत्याश्रदानां त्यागेनादत्ते गुण्हाति । समा चरदोदि वा पाठः । वत्त रोपादित्योगेनलुप्तिघटीत्यर्थः ॥

अर्थ—विशेषालोचना करके अथवा सामान्यालोचना करके मायाशक्त्यो हृदयसे निकालकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणोंमें शुद्धिकी अभिलाषा रखता हुआ गुरुके द्वारा कदा हुआ प्रायश्चित्त रोप, दीनता और अश्र-दानका त्यागपर क्षपक ग्रहण करता है,

नालोचनाके दोषोंका यहाँतक वर्णन किया. अब गुरुके आगे आलोचना करते समय स्वतः की निंदा करनी चाहिये.

परिहारालोचनानुसङ्गस्य गुरुसकाशे आलोचनानिबन्धः शुण्वतीति वदति—
कदपावो वि मनुस्सो आलोयणणिंदवो गुरुसयासे ॥
होदि अचिरेण लहुओ उरुहिंयमारोन्व भारवहो ॥ ६१५ ॥
मनुष्यः कृतपापोऽपि कृतालोचननिन्दनः ॥
संप्रयाते लघुः सद्यो विभारो भारवानिच ॥ ६१६ ॥

विजयोदया—कदपावो वि मनुस्सो कृतपावोऽपि मनुष्यः समर्जितानुमकर्मसंचयोऽपि मनुष्यः । अथवा पापस्वाशुमकर्मणः कारणभूताऽसंयमादिरिद्ध पापशब्धेनोच्यते, तेनायमर्थः—कदपावोऽपि कृतालोचनमार्दिकोऽपि । आलोचनणिंदवो कृतालोचनः कृतानिबित्तव्य । ॥ मनुस्सयासे गुरुसयासे गुरुसमीपे । होदि भवति । अचिरेण लघुओ लघुतमः । उरुहिंयमारोच्य भवदारितमार इव । भारवहो भारस्य वोदा ॥

एवं दीपानुक्त्वा शुणान्यकुमालोचनानिदानामाशुत्यमाह—

मूलात्—आलोचनिलो कृतालोचनः कृतनिन्दनः । लघुगो दोपशुद्धः । एवेन गुणा निरूपिता दोषविपर्ययरूपत्वात्तेषां । उरुहिंयमारोच्य भवदारितमार इव ।

निंदाका माहुरम्य आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अनुमकर्मका संचय जिसने किया है ऐसा भी मनुष्य यदि गुरु के समीप आलोचना और अपनी निंदा करेगा तो वहोत वोडा मस्तकपरसे उतर जानेपर भारवाही मनुष्य जैसा सुखी होता है वैसा ग्रीष्म सुखी होता है. अथवा पापके अनुमकर्मके कारणभूत अंत्यमादिक को भी पाप कहते हैं. इसलिये यहाँ दुसरा अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—जिसने असंभवाचरण किया है वह भी मनुष्य गुरुके समीप जाकर दोषोंकी आलोचना और निंदा करेगा तो भारवाही मनुष्य भार उतरनेसे जैसा सुखी होता है वैसा सुखी होता है.

भावशुद्धयर्थो आलोचना असत्यां भावशुद्धो को वा दोष इत्याह—

सुबहुसुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेषु ॥

ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होति ॥ ६१६ ॥

भावशुद्धिं न कुर्वन्ति भवन्तोऽपि बहुश्रुताः ॥

चतुरंगे विमूढा ये दुःखपीडया भवन्ति ते ॥ ६३९ ॥

पिजयोदया—सुबहुसुदा वि संता जे मूढा ये मूढा से सन्तः । जे मूढा ये मूढा । सीलसंजमगुणेषु शीले क्षमाविके घमं, संपमो, अतेषु गुणेषु क्षलवर्धनक्षय-सु ख । भावसुद्धिं परिणामेन शुद्धि । ण उवेंति नोपयांति ते दुक्खणि-हेलणा दुःखेनिपीडया । होति भवति ॥

भावशुद्धयभावे दोषमाह—

मूलरा—संता संतः । मूढा मुग्धाः । मीलं उचयक्षमादि गुणाः ज्ञानवर्धनतपोधि । ण उवेंति नोपयांति ।

भावसुद्धिं भावशुद्धिं । दुक्खनिहेलणा दुःखेनिपीडयाः । दुक्खनिहेलणा इति पाठे दुःखगुहाः इत्यर्थः ।

परिणामोक्ती निर्मलता करनेके लिये आलोचना की जाती है यदि भावशुद्धिकी प्राप्ति न हो तो उससे क्या सुकसान होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—जो गुणि महाविद्वान् दोषर श्री क्षमादिकथनं, संपम, अथ, ज्ञान, वर्धन और तपमें यदि भावशुद्धि युक्त नहीं होते हैं वे इस संसारमें नाना दुःखोंसे पीडित होते हैं—

छाताभाभलोचनायां शुरुणा कि कृतल्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणिता तिमबुचो भिक्खुणो उवायेण ॥

जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्टवेदव्वं ॥ ६१७ ॥

त्रिःकृत्वालोचनां शुद्धां भिक्षोर्विज्ञाय नरत्ततः ॥

स मध्यस्थो रहस्यज्ञो दत्ते शुद्धिं यथोचिताम् ॥ ६४० ॥

पिडयोदया—आलोयणं आलोचनां । सुणिता शुद्धा । तिमबुचा त्रिः पृच्छत । भिक्खुणो भिक्षोः । उवायेण

उपायेन । अदि उज्जुगोर्ति य यदि ऋजुरयामिति । णञ्जर वनेन वात्तरणेन वा श्रयते त्रयेण ऋजुता । यथा अदुशोर्माव-
मुत्पन्नमात्रा व्यवहारिणः प्रागर्चित्त प्रयच्छति सुरयः । भावद्विर्मतेरेण पावानपायात् रत्नमयस्य निरतिचारया
भावात् ॥

इतावाभालोचनायां गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

गुसारा — विस्फुल्लं श्रीन्यारात् । उवाण गनः प्रह्लाव । अयस कीदृशोऽवरापस्ते विस्फुल्लो न धुतं
मयेति वा । उज्जुगोर्ति ऋजुरयामिति । णञ्जदि श्रयते वचनेन आचरणेन वा । अथारुदं यथाकृतं । पापं शुद्धयती-
त्यध्याहारः । गदुपेवचनं तथा प्रायश्चित्तं दावमयम् ॥

आलोचना करनेके अवसर गुरुको क्या करना योग्य है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ — संपूर्ण आलोचना मुनकर गुरु क्षपकको तीन बार उपायसे पूछते हैं अर्थात् तुमने कौनसे अपराध
किये हैं ध्यानमें नहीं रहे हैं पुनः कहो ऐसा तीन बार पूछते हैं । यदि वह क्षपक सरल परिणामका है ऐसा गुरुके
अनुभवमें आजाय अर्थात् क्षपकके आचरणसे और उसके पचनसे गुरु उसका निष्कपटपना अथवा कपटीपना जान
लेते हैं । यदि यह क्षपक कपटी है ऐसा दोन पढेगा तो वे उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं । परिणामकी निर्मलता न
हीनसे पापका नाश होगा नहीं । और रत्नमयमें निरतिचारपना आता नहीं ।

प्रश्नो इत्थं पा भालोचना कीदृशी यस्यां सत्यां प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आह—

आदुरसह्ये मोसे मालागराय कञ्ज तिवस्तुसो ॥

आलोयणाए धकाए उज्जुगाए य आहरणे ॥ ६१८ ॥

राजकार्यामुत्तरासत्पसवास्यानामिव त्रिधा ॥

दोषाणां पुच्छना कार्या सूरिणागमवेदिना ॥ ६१९ ॥

विश्वपोदया—आदुरसह्ये आदुरो व्यधिकृत । स मेवेन पात्रज्यं पूछयते । किं भुक्तं ? किमाचरितं ? कीदृशी वा
योगस्य श्रुतिरिति । शतव्यमपि सरीरल्लं निः परीक्ष्यते । शुद्धता वणस्य ज्ञाता न वेति । राजकार्ये तिवस्तुसो राजा-
शासते कार्यं किमेवं करिष्यामीति निः पूछयते । आलोच्य राजकञ्जं तिवस्तुसो राजा आहते कायं श्रितेवं करिष्यामीति निः
पूछयते । आलोयणाए यकाए यकायाः । उज्जुगाए ऋन्यादयः । आहरणे द्रव्यन्ताः । यदि साट्टयमण्येकरूपेण चेति ततो
जाली अन्यथा अन्यदाचेते यथेति भावः ॥

व्यापितः शून्यं मोघो मालाकारो राजकार्यं चैतानि पंच यथा त्रिःपृच्छयन्ते ऋज्वी यथा चेति शतं त्रिःप्रष्टव्या । यदि चारत्रयमप्येकत्वेण वक्ति तदा ऋज्वी प्रायश्चित्तवानार्हः अन्यथा वक्ता प्रायश्चित्त दानायोग्येत्युपदेष्टुमाह—

मूलाशय—आदुरेत्यादि । त्रिकषुचो त्रीन्वारयन् । प्रष्टव्याथालोचनामातुरादयः पंच आहुरो हृष्टान्वा भवन्ति इति संवचः । तत्रातुरः-त्रिः पृच्छयते वेद्येन किं शुक्लं कीदृशी च रोगप्रशुचिरिति । तथा शून्यं त्रिः पृच्छयते अत्र ते कंदकादिरिति । तथा मोघे ऋज्वीपद्वारे किं ते चोर्त्तव्यमिति त्रिः प्रश्नः कियते । तथा मालाकारोऽपि त्रिः पृच्छयते । किंचिन्मूल्या तव पुष्पमालेति । तथा राशः आह्वयितं कार्यं त्रिः पृच्छयते किमेवं करिष्यामीति । एवमालोचना-पि त्रिः परीक्ष्यते कीदृशोऽप्यप्रतिपुनः कथयेति ।

सरल आलोचना अथवा यत्न आलोचना कैसी समझना ? जिसको ऊपर प्रायश्चित्त देना न देना अवलंबित है ? इस प्रश्नपर आचार्य उत्तर देते हैं.

अर्थ—रोगीको वैद्य तीन बार पूछते हैं—तुमने क्या खाया है ? तुम कौसी प्रशुचि करते थे ? और तुम्हारे रोगका क्या हाल है ? धीरेसे यदि अन्न अथवा कपड़ेका अप्रमाण पुसनेपर वहाँ ही काँटा घुस गया है ना ? अब त्रय अच्छा हुआ है ना ? ऐसा तीन बार पूछते हैं. किसीने वहाँ चोरी होगई हो तो तुम्हारा बोर क्या क्या माल लूटकर ले गये हैं ऐसे तीन बार पूछते हैं. यात्राकारको भी तुम्हारी इस पुष्पमालाकी क्या कीमत है ? इस प्रकार तीन बार पूछते हैं. राजकार्यके लिए भी ऐसा ही तीन बार पूछते हैं अर्थात् यह कार्य मैं कहे क्या ? उसी प्रकार आलोचना घरगासे या सरलपनासे की गई है इसको जाननेके लिये तुम्हारे अपराध कैसे है पुनः कहो ऐसा तीन बार भी उसने एकरूपसे ही अपराधोंका कथन किया तो समझना चाहिये कि इसकी आलोचना सरल है यदि वह भिन्न भिन्न प्रकारसे कहेगा तो इसकी आलोचनासे मायाचार है ऐसा समझना चाहिये.

पडिसेवणातिचारे जदि णो जेपदि जघाकमं सव्वे ॥
ण कर्हेति तदो सुदिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६१९ ॥

हैं वे यदि शपक क्रममें न रहेगा तो अर्थात् युक्त और स्थूल अपराधोंका कथन नहीं करेगा तो प्रायश्चित्त शास्त्रके माता आचार्य उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं. हम विषयमें आगममें ऐसा कहा है—
जो शत्रुभक्तों अलोचना करते हैं ऐसे पुण्य प्रायश्चित्त देने योग्य है. और जिसके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उसको प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते हैं. इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्व अतिचार निवेदन करनेवाले में ही क्षयुता रहती हैं. उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है.

पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि जहाकमं सब्बे ॥

कुर्वन्ति तहो सोधि आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥

निःशेषं मापते दोषं यदि यांजलमानसः ॥

तदानीं कुर्यते शुद्धिं क्षयवहररयिचारदाः ॥ ६२२ ॥

स्पष्टा नाथा ।

यथायदीपःलोपने प्रायश्चित्तप्रयोगमनुजानाति —

मूळरा—-१५४५

अर्थ—यदि द्रव्य, श्रेय, काल और भाव के आश्रयमें हुए संपूर्ण दोष शपक अनुक्रमसे रहेगा तो प्रायश्चित्तदानशुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं.

परिज्ञा निर्वोपायमालोनायां कृतार्थं गणिनां किं कर्तव्यमित्याहं द्वितोऽद्वयपारं कथयति—

समं खट्वाणालोचिंदमिं छेदमुदजाण गणी से ॥

तो आगममीमंसं करेदि सुते य अत्ये य ॥ ६२२ ॥

सम्यगालोचते तेन सूत्रं नीमांस्ते गणी ॥

अनालोचे न कुर्वन्ति महान्तः कांचन क्रियाम् ॥ ६२३ ॥

प्राप्त्या वफामवकां वा सूत्रिसलोचनां पतेः ॥

विदधाति प्रतीकारं युद्धिरस्ति कुतोऽन्यथा ॥ ६४८ ॥

विजयोदया--रायणेन समं आलोचिदमिह सुपेकेन सम्यगालोचिते । छेदसुदजापगमणो सो छेदसुदयः मरिः सः । सो पश्चात् । आगमभेदस्य आगमविचारं । कोदि करोति । कथं ? सुपे य अन्ते य सुपे च अर्थे च । इदं सुं अस्य चागमर्थ इति श्रुत्याश्लेषमूलस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सुवेन चेदं निर्दिष्टं इति प्रत्यिरूपयति ॥

युद्धिना निर्दोषगालोचिते मरिः किं करोतीत्ययम्--

मूलारः--छेदसुदजापगमणी प्रायश्चित्तसूत्रज्ञ आचार्यः । आगमसीमंसं । प्रायश्चित्तसालविचारणां । सुपे य अन्ते य इदं सूत्रस्य चागमर्थ इति विचारयतीत्यर्थः ।

ययिक्ते द्वारा निर्दोष आलोचना किमेवानेपर आचार्य का क्या कर्तव्य है इस शंका का उत्तर कहते हैं--
अर्थ--धुपसुनि अथ निर्दोष आलोचना करते हैं प्रायश्चित्तसूत्रके ज्ञाता आचार्य तब आगम से अपराधोंकी प्रतीक्षा करते हैं, अर्थात् यह प्रायश्चित्तको धतानेवाला दूध है, इसका यह अर्थ है, इस अपराधको यह प्रायश्चित्त देना योग्य है, इस धन के द्वारा यह प्रायश्चित्त धतलाया है, इत्यादिरूपसे आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं.

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीयः किमर्थमित्यत आह--

पडिसेवादो हाणी वड्डी वां होइ पावकम्मस्स ॥

परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिब्बा व मंदा वा ॥ ६२९ ॥

आतस्य मत्तिसेवातो हाभिर्द्विद्विस्स होदिनाम् ॥

पापस्स परिणामेन तन्नि मंदा च जायते ॥ ६४९ ॥

मित्रवोधया--पडिसेवादो आतस्स पावकम्मस्स परिणामेण हाणी वड्डी वा होदि । कीदृशी ? तिब्बा व मंदा वा इति पक्कटना । पडिसेवमातो आतस्स पापकर्मणः परिणामेन पाश्चात्येन करणेन हाणिर्वा वृद्धिर्वा भवति । तीया हाणि स्तीमा वृद्धिः । मंदा वा हाणिर्मंदा वा वृद्धिः ॥

ययादोपं प्रायश्चित्तं निरूपयता सूत्रिणा अतिचारसहभावी सदुत्तरकालाभ्यान्वयि क्षुपकस्य परिणामो नित्य-

मूलतः—पक्षितेवादी अर्थमार्गित्वेनान्तरात्पाप पापस्य पात्रात्पुनः पुनरापनं पुनरापनं ।
 शुद्धित्वं हानिस्तत्रालोचनाकाले स्थापितं संयुक्तः । सामान्येवापि दुष्कृतहानिद्विद्वितीजमदंत्वनुपानमेतेन प्रतिपत्तव्यम् ।
 तथा भोष्टम्—

त्रातस्य प्रतिसेवातो हानिर्विद्विष्य देदिनाम् ।

पापस्य परिणामेन सीमा मंदा य जायते ॥

अत्रार्थं स्पष्टकरे परिणामका यो विचार करोते है, उसका विचार करने की क्या आवश्यकता है इसका
 उत्तर कहते हैं—

अर्थ—असंयमादिकसे जो पापकर्म हुआ ॥ उसकी आलोचना करनेके अनंतर यदि शुभ परिणाम
 तीन हुए हों तो पापकी तीव्र हानि होगी, यदि सुभपरिणाम मंद हुए हो तो पापकी मंद हानि होगी. जैसे तीव्र
 असंयमसे वा मंद असंयमसे पूर्णकालमें तीव्र पापशुद्धि अबवा मंद पापशुद्धि हुई थी वैसे आलोचनाके अनंतर
 पुनःपरिणामकी तीव्रता वा मंदतासे तीव्र वा मंद पापकी हानि होती है.

तदुभयं व्यावधान्य गणेशद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंक्लिष्टो गालेह गुणे णयं च आदियदि ॥

पुल्लकदं व दढं सो दुग्गदिभयवणं कुणवि ॥ ६२४ ॥

स्विरत्तं नयते पूर्वं संसारासुखकारणम् ॥

एतेषां विमुने पापं संक्लिष्टः क्षिपेत गुणम् ॥ ६२५ ॥

विजयोदया—सावज्जसंक्लिष्टो सावयसंक्लेशो विषयकारः । सह प्रवृत्तेन एतेन वर्तते इति तावद्य एकः ।
 अन्यस्तु संज्ञेनाक्षितयाणा । ननु सावयः । ज्ञानं विमलं किं मम न जायते, संपूर्णं चरितं । अतीरं वा किमर्थमिवमतिदुर्बलं
 ॥ पोषोमासद्विमिति पवमादिकस्तथिरासाय सावयविशेषणं सावयसंक्लिष्टः । गालेदि गुणे गालयति गुणान् सर्वान-
 मानचारित्राणि । णयं च आदियदि आदत्ते च अस्मिन् । पुत्रकदं च दढं कुणवि पूर्वसंज्ञितं च दढीकरोति । कमायपरि-
 णामनिमित्तजवात् स्थितिबंधका । दुग्गदिभयकारणं दुर्गतयः भारकत्वाद्यः विविचित्रेदनासहस्रसंकुलास्तासु मयं
 पदेयदि, यत्कर्मधुसुं तदवत्ते स्थिरयति ॥

तदुभयं न्यायार्थं गायद्वायमाह—

मंदारा—सावजनसंकिटिद्वे सपापसंकेशाविष्टः । ज्ञानं मम विमलं किं नोत्पद्यते, चारित्रं वा संपूर्णं, शरीरं वा किमिदं ममार्थदुर्गलं तयोयोगाक्षमभित्यादिचित्तवाधमात्रात्मकसंकेतव्यवच्छेदायै सावचवियोग्यम् । गुणे स्वययत्वात् । इदं सिद्धं । दुर्गादिभयवर्जनं दुर्गतिषु नारकत्वतिर्यक्कुमानुपत्यकुदेवत्वभवभ्रमभेदेषु भयं दुःखान्ता नरो । हृष्यते जीवेन संपदं कियते केन तत्प्राप्तकर्म । उक्तं य—

स्थितत्वं नयते पूर्वं संसारसुखकारणम् ।

नवं संचिनुते धारं संकिट्टः क्षिपते गुणम् ॥

परिणाम और पाप पंचका वर्णन—

अर्थ—सापद संक्षेप दो प्रकारका है. पापसे युक्त संस्लेख, और केवल संस्लेख, मेरेको निर्मलज्ञानकी प्राप्ति क्यों नहीं होती है ? संपूर्ण चारित्र क्यों नहीं प्राप्त होता है ? भेरा यह शरीर क्यों इतना दुर्बल है, क्यों उससे ठप और योगका फट नहीं सहा जाता है ? इस प्रकारके विचार को संस्लेख नाम है इस संस्लेखको भिन्न दिखानेके लिये सावय यह विशेषण संस्लेखके पीछे दिया है. जिससे फक्त मनको बीटा होती है ऐसे पापयुक्त संस्लेख परिणामोंसे सम्मगर्धन, ज्ञान और चारित्र इन गुणोंका नाश होता है, नवीन पापबंध होता है और, पूर्व पापकर्मों में वृद्धि होती है. क्यों कि कर्मपरिणामोंसे स्थितिवंध होता है. हवाराँ विभिन्न वेदनायें जिसमें होती है ऐसी नारकादिक अवस्थाओंका सापद संस्लेख परिणाम कारण है. जो नवीन अनुभूतकर्म आता है वह इस पापयुक्त परिणामोंसे आत्मामें स्थिर हो जाता है.

पडिसेविचा कोई पच्छत्तावेण उच्छमाणमणो ॥

संवेगजणिदकरणो वेसं घाएज्ज सव्वं वा ॥ ६२५ ॥

कृत्वापि क्लमपं कश्चित्पञ्चात्तापकृशानुना ॥

दशमानमना देशं सर्वं वा हन्ति निश्चितम् ॥ ६४८ ॥

विजयोदया—पडिसेविचा कोई कश्चित्पञ्चात्तापसंवेगमादिशेयनोऽपि । पच्छत्तावेण उच्छमाणमणो पञ्चचरणेन दल-

मानचित् । सयोगजनिक्करणो संसारभीरुत्वानित्यसंयमनाश्रित्य- । देस सत्यं वा पादेज्ज आत्माभिनवनसचितुकर्मपुद्ग
लरूपैकदेशनिर्गता वा स्वीकरोति, समस्त वा तद् घातयेत् । यदि मध्यमो मयो वा परिणामो देश घातयति । अथ तीव्र-
समस्त इति भाव ॥

मूढारा—करणं सयमक्रिया । देसं आत्माभिनवं संचितकर्मपुद्गलरूपैकदेशं पादेज्ज घातयेत् । यदि मध्यमो
वा परिणामस्तदा देशं हन्त्वथ तीव्रत्वदा समस्तमिति भाव । उक्तप्रसंगद्वयोक्तौ ॥

आदस्य मृतिसेवावर्तीना मंदस्य च रेफस्तः ।

हानिःसता त्वमावेन स्याद्विदित्वास्तवा वया ॥

सुंक्लिष्टो हृदयन्पूर्व धम्मात्यंशः कथम् गुणान् ।

इत्यंशतोऽक्षिणं वा सत् संसिद्धोऽनुब्रूयात्प्रभ ॥

अर्थ—पूर्वकालमें किसी क्षयकर्म अंशप्रभका सेवक किया था प्रसंग पश्चात् उसका अन्तःकरण पश्चात्तापसे
दग्ध हुआ तब वह संसारसे मयभीत होकर संयमाचरणमें तत्पर हुआ. इस संयमाचरणके प्रभावसे नवीन संचित
क्रिये हुये प्रापकर्मके स्कंधमेंसे एकदेशकी निर्जरा होती है अथवा यदि तीव्र संयमाचरण हो तो उससे संपूर्णका मी
पाद होता है. अभिप्राय यह है कि संयमाचरणके परिणाम मंद अथवा मध्यम प्रकारके हो तो कर्मके एकदेशकी
निर्वृत्ति होती है और यदि तीव्र हो तो सम्पूर्ण कर्मका घात होता है.

तो णच्चा सुत्तविट्ठ णालियधमगो व तस्स परिणामं ॥

जानदिण्ण धिसुज्झवि तावदियं देदि जिदकरणो ॥ ६२६ ॥

मालिकाधमचञ्जात्वा प्रमाणं कुरुते सुधीः ॥

ततः शुध्यति यावत्या तावतीं स परिक्रियाम् ॥ ६२७ ॥

पिउयोवया—तो तरमात् । णच्चा धात्वा । सुत्तविट्ठ प्रायश्चित्तसूत्र सूरि । किं ? तस्स परिणामं कृत्वा
पराधस्य परिणाम । कथ परिणामो प्रायते इति चेत् सहस्रसैन तीव्रक्रोधस्तीव्रमग्न इत्यादिक सुञ्जातमेव । तत्कार्यो
पलभत्, तमेव वा परिपृच्छ्य, कीदृग्यवत् परिणामोऽपिचारसमकाल वृष । इति । किमिव ? णालिगधमगोव्य
नालिकया यो धमति सुवर्णकार सोऽज्ञेयलघल विधिं ध्या चमन करोति, एव सूरिपि अस्य कर्म तनुतरमहदेति निर्दिष्ट्या

जागृतिगल प्राणना प्राणदिवलेन । तिसुःत्रिदि चिन्तुदधति । तावदिगं तावत्परिमाणं प्रायश्चित्तं बल्यं महद्व्यो । द्वेदि ददति । त्रिदशरत्नो पतितमप्यादिपञ्चदानमिदम् ।

उक्त्यर्थे प्रकृते शौचयन्त्राह-

मूलाश-परपा प्रात्वा । सहवासोऽन तत्कार्योपलभ्यतद्वचनाढा निश्चित्य । सुचिद्व छेदसूत्रज्ञः । णालिगधम्मगी य सुगर्णकार इव । जावदिरेण यावता । अत्तेन सहवा या प्रायश्चित्तेन वक्षिता च । तिसुःत्रिदि चिन्तुदधति निर्मलीभवति मुनिः काचनं च । त्रिदशरत्नो परिचितमप्येवर्षिचत्तदानक्रियः ।

अर्थ-प्रायश्चित्त प्राप्तु आचार्य विसते अपराध किये ये ऐसे धुणरुके परिणाम जानकर विसते प्रायश्चित्त नसें यह दुर्ल होगा-उतनी प्रायश्चित्त उयको देते है- जैसे कुपणकार अग्निके सामर्थ्य असाभ्यंको देख कर तदनु रूप क्रम या अपिन्न हवासें उसको प्रज्वलित करवा है वैसे प्रायश्चित्त देनेके कार्यका जिनको पूर्ण परिश्रय हुआ है ऐसे आचार्य हमका अपराध छोटा है या बडा है, इसने कोषादि परिणाम तीव्र थे या मंद थे इस विपर्यय विचार कर अनु रूप प्रायश्चित्त देते हैं- दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं इस प्रश्नका उत्तर- सहवाससे परिणाम जाने जा सकते हैं अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मंद कोषादिकका स्वरूप मानुम होता है- अथवा जन हमने अविचार किये थे तब तुमारे परिणाम कैसें थे ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है-

आउज्येदसमर्था तिगिच्छिदं मदिर्विसांवां वेज्जी ॥

रोगादंकाभिहदं जह्म गिरुज्जं आतुरं कुण्ड ॥ ६२७ ॥

उल्लोपीकुले वैयो वैयशोखविशारदः ॥

यथातुरं कुताभ्यासो रोगात्कादिर्पाडितम् ॥ ६५० ॥

गिज्जो-आउज्येदसमर्था निर्मातृसमस्तपुत्रदः । तिमिच्छिदे चिकित्सायां । मदियिसारदो बुद्धया विपुणः । वेज्जो वैयः । रोगात्काभिहदं महत्वा बल्येन या दशाधना पीडितं । आतुरं व्याधितं । जह्म यथा । गिरुज्जं कुणवि चिन्तुं करोति ।

चंद्रायणनिष्ठो वैद्यो रोहिण्यभिवाचार्यः क्षपकं संसारज्यापेरुद्धरीति गायद्देनाह—
मृदाया—आज्यवेदस्यचो निर्घातसमस्तवैषकशाब्दः । विगिच्छेदं चिकित्सिते । रोगार्तकामिहृदं अल्पेन
महता वा न्यायिना पीडितं । गिरुजं नीरुजं निरामयं ॥

अर्थ—विस्तेने समस्त आयुर्वेदशास्त्रका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो रोगपरीक्षण करनेमें निष्ठुण है
ऐसा वैद्य छोटे ब्रह्मचा नदे रोगोंसे पीडित मनुष्यको औषधि देकर जैसे नीरोग करता है उसी प्रकार—

एवं पवणसासुयपारगो सो चरित्सोधीए ।

पायच्छित्तविदगृह कुण्डं तस्यं तयं खवयं ॥ ६२८ ॥

गणापिपः कृताभ्यासो व्यवहारविचक्षणः ॥

क्षपकं मलिनीमूलं निर्मलीकुरुते तथा ॥ ६५१ ॥

विजयोवया—एवं पवणसासुयपारगो प्रयत्नेन यत्सारभूतं भुतं तस्य पारगतः । पायच्छित्तविदगृह प्राय-
श्चित्तकर्मज्ञः । चरित्सोधीए चारित्र्यमुदया । तयं खवयं तं क्षपकं । विमुञ्जं कुण्डं विमुञ्जं करोति ।

मृदाया—पवणसासुयपारगो प्रयत्नस्य विनाशमस्य सारभूतं भुतं प्रायश्चित्तसूत्रं वस्तुमस्तं जानन् ॥

अर्थ—आगममें जो सारभूत भुतज्ञान है उसमें प्रवीण, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य क्षपकको प्राय-
श्चित्त देकर उसका चारित्र्य निर्मल बनावे है ।

स्यधिरं व्यागर्णितगुणे असत्यम्योऽपि भवति नियमक इति शंकायां कथयति—

प्रदारिसंमि धेरे असदि गणत्ये तहा उवक्ष्णाए ॥

होदि पवची येरो गणधरवसहो य अदणाए ॥ ६२९ ॥

गणस्थिते ऽसतीदृक्षे स्थविरिऽध्यापके तथा ॥

अस्ति प्रवर्तको वृद्धो बालाचार्योऽथ यत्नतः ॥ ६५२ ॥

विजयोवया—प्रदारिसंमि व्यागर्णितगुणे । धेरे स्यधिरं अधिवर्णने । गणत्ये गणस्थे । तहा तथा । उवक्ष्णाए

उत्तरायणे पाङ्गति । होदि भवति । पिङ्गश्रवणो निर्वाणकः । पयसी प्रवर्तकः । धेरो स्थविरधिरप्रवृजितो मार्गशो । मनपरपरमदो य पालाचारो वा । उदणाय यत्नेन प्रवर्तमानः । पञ्चमालोचनायां गुणदोषविकल्पाणां समाप्ता ॥

यथोक्तगुणे मणाधिपेऽप्यपेक्षे वा निर्वाणपेऽसति अन्योऽपि निर्वाणकः स्यादित्यनुशास्त्रि-
मूलारा—धेरे वृद्धाचार्ये । पयसी अल्पधुतः सन्तर्जयमर्यादापरिवृत्तः प्रवर्तकः । धेरो चिरप्रवृजितो मार्गशः
गान् । मन्तरपरमदो पलाचार्यः निर्वाणको भवतीति संन्यः । उदणाय प्रवृत्तानि यत्नेन प्रवर्तमानः ॥

आचार्यैरे आधारवत्यादि गुणोंका पूर्वमे वर्णन कर चुके हैं इन गुणोंके धारक आचार्य यदि प्राप्त न हो
तो अन्य मुनि भी क्षपकके मनाधिमरण साधनेके लिये निर्वाणरूपदक्षा धारक हो सकता है क्या इस संकाका उत्तर-

अपं—पूर्वोक्तगुणोंके धारक संप्रपत्ति आचार्य न हो तथा इन गुणोंके धारक उपाध्याय भी यदि न हो तो
प्रपर्वक मुनि अथवा अनुमयी वृद्ध मुनि वा पालाचार्य यत्नेसे प्रवृत्ति करते हुए क्षपकका समधिमरण
साधनेके लिये निर्वाणकाचार्य हो सकते हैं जो ज्ञानसे अल्प है परंतु संप्र संघली मर्यादा योग्य रहेगी ऐसे आच-
वरणका ज्ञान विसमो है उसको प्रवर्तक कहते हैं जो जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन हुए है येने अनुमची वृद्ध
मुनिको तापु कहते हैं ।

सो कदसामाचारी सोज्झं कट्ठं विधिणा गुरुसयाते ॥
विहरदि सुविसुद्धप्पा अभुज्जदवरणगुणंकली ॥ ६३० ॥

स चारित्रगुणाकांक्षी कृत्या शुद्धिं विधानतः ॥

गुरोरंते समाचारी विशुद्धये चेष्टते तराम् ॥ ६२३ ॥

पिङ्गश्रवण-सो पदसामाचारी स क्षपकः कृतसमाचारः । सोऽयं शुद्धिं । कट्ठं कृत्या । विधिणा विधिना ।
गुरुसयाते गुरुसमीपे । विद्वत्पि प्रयत्नेन । सुविमुद्धप्पा सुष्ठु विमुद्धात्मा । अभुज्जदवरणगुणंकली अभ्युपवत्वादिभिः
गुणवर्णनाममन्त्रितः ॥

एतगुरुपरप्रत्यक्षिपस्य क्षपकस्य देहव्यागोपितकालाश्रासंबन्धरावरणं माथात्रणेनोपदिशति—
मूलारा—कदसामाचारी कुवसामाचारः । सोज्झं कट्ठं शुद्धिं कृत्या ।

अर्थ—विमल आचार निर्दोष है ऐसा वह क्षणक प्रयश्चिच लेकर आश्रयित भिक्षुके अनुसार गुरु-
मनीष रहकर आपने जो निर्मल चारित्र्यक बनाता हुआ रत्नमयमें प्रगुचि करता है तथा समाधिमरण के लिए
विम निश्चित आचरणका स्वीकार किया है उसमें उदात्तकी इन्डा करता है.

एवं वासारत्ते फासेदूण विविध तवोकम्मं ॥

संसारं पडिबज्जदि हेमंते सुहविहारंमि ॥ ६३१ ॥

वर्षासु विविधं स्पृष्ट्वा तपःकर्म विधानतः ॥

सुखदुःखौ सं हेमन्ते संस्तरं प्रतिपद्यते ॥ ६५४ ॥

विजयोपया—एवं वासारत्ते वर्षाकाले । फासेदूणं स्पृष्ट्वा । विविधं नानाप्रकारं । तवोकम्मं तप कर्म । संसारं
संस्तरं । पडिबज्जदि प्रतिपद्यते । हेमंते शीतकाले । सुहविहारंमि सुखविहारे । अन्तर्गते समुद्यतस्य महाभयप्रियमे । न
भवेति तत्र शले एते सुखविहारमित्युच्यते ।

दुःखार—वासारत्ते वर्षाकाले । फासेदूणं वस्तुशब्दं । सुहविहारंमि सुखो महाभयप्रियमनुभवीयदन्विष्टं रि-
हारोन्नतानुष्ठानं यत्र ।

अर्थ—इम प्रकारसे वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप कर वह धर्पक अंतर्गत अंतर्गतानुष्ठानं यत्र भी म-
हान् रुधका अनुभव नहीं आता है ऐसे हेमंतकालमें संस्तरका आश्रय करती है.

संस्तरपरियादयस्सय पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण ॥

सत्त्वं समारुहिता गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥ ६३२ ॥

निस्पर्शवच्चिखतुरंगदोषं गुरुपदेशेन विशुद्धचेताः ॥

प्रवर्तते शुद्धगुणाचिरुदः संसारकांतारविलिघनाय ॥ ६५५ ॥

इति गुणदोषौ ।

विजयोदया—संस्तरपरियादयस्सय सर्वस्य शालदंशनकारित्वगर्भायस्य अतिचोदय । पडिक्कमित्तु अतिविकृतौ

भूया । गुरभिभोगेण गुरूपदेशेन । गुणसंभारं गुणानां समूहे । सर्वं कृत्स्नं । समावेष्टिता सम्यगाकृष्टा । पयिहृदिज्ज
प्रवर्तते । आलोचनागुणदोषाः ॥

मूलाः—सव्यपरियादयस्स सर्वसा श्रावदर्शनचरित्रपर्यावस्थाविचारान् । पविक्रियसु प्रविक्रियसु भूत्वा ।
निजोरेण उपवेशेन ॥ आलोचनागुणदोषाः । सूत्रत २४ । अंकतः ॥ ६७ ॥

अत्रेदमुक्तायानुमोदनाय वृत्तमाव्येयम् ।

सधर्षयनिवृत्तिरूपनुगुर्वोदाय सायाविकं ॥

वच्छेदैर्विधिवद्भूतमिदमिदमप्यप्यवलेख्यवि ॥

वृत्तं वाह्य उवाचरे कवमपि च्छेदेऽप्युपस्थापय--

त्येवेति क्षान्तपुंरीणमिह नोव्येदेयुगीनेषु तम् ॥

इति गुणद्वयल्लोडनखरोविष्णुरत्नप्रयत्नसद्वृत्तभावव्यक्तसौभाग्यसंपत् ॥

विवरयितुमित्यश्रीसंगमासाधरांगमज्जमिममुपपत्तो प्रायगुण्याभ्यराव ॥

इत्यासाधरागुस्मृतग्रंथसंदर्भे मूलापचनादपने पदप्रमेयार्थप्रकाशोकरणप्रथमे

क्षपकरत्ननयविद्युदीविधानीयो नाम चतुर्थे आश्वासः ॥ ४ ॥

पंचम आश्वासः ।

पोगथायां वसतौ गणाधिपगिरा योग्यं श्रितः संस्तरम् ॥

शुभ्रपादवत्संयतैः परियुक्तो भोग्ये विविक्त्रेऽपि तेः ॥

संपाये विगतस्फुटोऽल्पितपरित्यक्तबुद्धवर्त्तकनः ॥

क्षान्ते संप्रमत्तौ विषय्य यतते संवर्त्तुमद्योऽनिशम् ॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके संपूर्ण अतिचारोसे निवृत्त होकर अर्थात् ज्ञानादिकोका निर्दोष
पालन कर गुरूके उपदेश से सर्व गुणोंके समुदागको हृदयमें धारण कर रत्नत्रयमें धापक प्रवृत्ति करता है.

भीरुती वसतिगंगा का या नेत्येवदवाचरे उत्तरेण ग्रंथेन तथा योग्यां निरूपयति—
गंधवज्रजट्टसचक्कजंतगिक्कम्मफरसे य ॥

णत्तिरज्जवा णट्टिहोवण्डरायमगे य ॥ ६३३ ॥

गाथका चावका नर्तकाश्चात्मिकाः शालिका मालिकाः कोलिका वांशिकाः ॥

काट्टिका लोहिका मात्सिकाः पात्रिकाः कांडिका दांडिकाश्चार्मिकादिछपकाः ॥ ६३६
यित्रयोद्या—गंधवज्रजट्टसचक्कजंतगिक्कम्मफरसे य गाथकानां, नर्तकानां, गजानामश्चानां च शा-
लायां । तिलमईनकुम्भकारशालायां च, रजकपाट्टिहोवण्डरायां समीपे । राजप्रागंत्य वा समीपभूतायां वसती ॥

अर्धं स्वयत्सवसाधिसोपनस्यप्यारावरुत्सायोग्यवसती निवसतः समाधिदवावातो भयतीति योग्यवसतिं
सप्रियासाय निरूपयिष्यन् गायासप्तकेन द्वित्वीनपि वसतिं सूत्रयति—उवाचौ तावद्वाधाद्वयमयोग्यशय्यां लक्ष्यपितुमाह—

मूलार—गंधवज्र गंधर्वी कीर्त । णट्ट नृत्यं । जट्ट हस्ती । अस्स अश्वः । चक्कं चक्कं कुम्भकारोपकरणं । जंत
येनं तिष्ठेधुपीलनोपायः । कुरुते शांतिक्कमणिकरादिकः । पात्रिक । कोलिकः । रंजय रजकः । पाडहिय पाट्टहिकः
वीरिकः । डोमः शूषयः । णट्ट नटः वंस्मद्यारोहणनर्तकः । रायमगे मशवर्म्म, राजमगो या ॥

कोनसी वसतिफा योग्य है और कोनसी नहीं है इसका विवेचन ग्रंथकार करते हैं. प्रथमतः अपोग्य
वसतीका वर्णन करते हैं—

अर्थ—गंधर्वशाला-गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेलीका घर, कुम्भारका घर, घोषीका घर,
पात्रे वज्रांशालाका घर, दौघका घर, शंसके ऊपर चक्कर नृत्य करनेवालेका घर इतके समीप जो वसतिफा होगी वह
मुनिके लिये योग्य नहीं है. जो वसतिफा रावमार्गके समीप है वह भी युनिवासके लिये योग्य नहीं है.

चारणकोट्टुगकट्टालकरकचे पुण्णदयसमीणे य ॥

एवंविधवसधीए होज्ज समाधीए वाषादो ॥ ६३४ ॥

चारणा वारणा चाजिनो मेपका, मद्यपाः पंडकाः सार्थिकाः सेवकाः ॥

भ्राविकाः कोट्टपालाः कुलाला भटाः पण्णनरीजना दूतकारा विटाः ॥ ६३७ ॥

संति यस्याः समीपे निकृष्टक्रिया । सा न शय्या निषेज्या कदाचिद्वृक्षैः ॥

पालयद्भिः स्वभावनरत्नं सदा रुढसंसारकांतराविच्छेदकम् ॥ ६५८ ॥

विज्ञयोदया—चारणकोट्यग्रहलकरके चारणकोट्यग्रहालायां, रजकशालायां, रसवणिक्शालायां । पुष्प-
पाटस्य या जयादायस्य या समीपगुतायां । पक्षिपक्षसमीप ईददयां यस्तौ वसतः । होज्ज याचयो भवति व्याघातः ।
कस्य ? समीपे समाधेयैः नैकाऽन्यस्य । शीघ्रविक्रयणाणां मनोमानां शब्दानां रूपादीनां च त्रिचिधानाञ्छब्दग्रहलयाञ्च
स्थानविप्रो भयतीति प्रतिनिष्यते व्यापजिता यसतिः ।

गुलारा—चारण भंडनमाचार्यमायकादयः । कोट्य इष्टकाः । वर्द्धकिदिलडुट्टैर्बुखलिकावयः । कलाल करुण
पाठः । करके करुचं करपत्रं । पुष्प पुष्पमाटिका नालाकारम् । इय उदकं वापीकूपादिजलाशयम् । समीपे यापा-
दौ विसैकामताया विमालो भवति मनोमोहित्रयार्थानां धनियानाञ्छब्दग्रहलयाञ्च ॥ अत्र गंधर्वदिपदैः साक्ष्यार्थोदितानां
मायकादयो गृह्यन्ते । तेन गावरादिशालासमीपपरिचिन्यां यस्तौ समाधिकार्मेन रथातल्यमिति वात्पर्यार्थः ।

इहं च—गाथका पादवः । नर्तकामात्रिकाः शाळिका मलिकाः कोलिका वंशिकाः ॥ काटिका लौहिका मारिकाः
पात्रिकाः । कटिका शिष्टिकाधार्मिकादिच्छुषकाः ॥ चारणा यावथा याजिनो धेपका । मद्यणाः पंडकाः सार्थकाः सेवकाः ॥
मायिकाः योदृपाळाः कुत्राळा भटाः । पण्यनारीजना धूतकारा विदाः ॥ संति यस्याः समीपे निकृष्टक्रियाः सा न रुद्व्या
निषेज्या कदाचिद्वृक्षैः ॥ बालवार्द्धिः समापनरत्नं सदा रुढसंसारकांतराविच्छेदकं ॥

अर्थ—मांद, प स्तुतिपाठकं, जहां रहते हैं ऐसे स्थानके समीप जो वसतिका होती वह भी मुनिनिवासके
लिये अयोग्य है, जहां दिलागट लोक रहते हैं, जहां बढई, पाथरवट लोक रहते हैं, और जहां मद्य सेचनेवाले
लोक रहते हैं ऐसे स्थानके समीप वसतिकामें मुनिका रहना योग्य नहीं है, जहां घोबी लोक कपड़े धोते हैं उस
स्थानके समीप वसतिका करना योग्य नहीं है, जहां काठ करोखों बिदागते हैं उस स्थानके समीप वसतिका होना
योग्य नहीं है, पगीचा और जलाशयके समीप वसतिका रहना योग्य नहीं है, ऐसी वसतिकामें रहनेसे चित्तकी
एकाग्रताका नाश होता है, ईद्रियों के मनोहर विषय, और शब्दादिक विषय, समीप होनेसे ध्यानमें विम होता
है, इसलिये ऐसी वसतिकामें मुनियों के लिये वर्ज्य मानी हैं,

क. ताँहि कथं तिष्ठत्यथोत्तरमाचष्टे—

पंचैदियप्ययारो मणसंस्मोमकरणो जहि णत्थि ॥

चिद्धदि ताँहि तियुत्तो उद्वारेण सुहप्पवत्तेण ॥ ६३५ ॥

पंचाशमसरो यस्यां विचते न कदाचन ॥

त्रिगुप्तो वसतो तस्यां शुभध्यानोऽवतिष्ठते ॥ ६३६ ॥

विजयोद्या— पंचैदियप्ययारो पंचानामिन्द्रियाणां स्वविषयाभिमुख्येनादरात् प्रकटं गमनं । ऊर्हि यस्यां वसतो जायते । कीदृशैदियमचारो मणसंस्मोमकरणो मनसंस्मोमकारी । ताँहि तस्यां वसतो । चिद्धदि तिष्ठति । त्रिगुप्तो वसतो तस्यां वसतो तस्यां शुभध्यानोऽवतिष्ठते ॥ ६३६ ॥

क. ताँहि कथंभूतः सद् क्षपकस्तिष्ठतीत्यत्र—

मूलारो—ययारो प्रणारः त्वत्स्वविषयाभिमुख्येनादरात्प्रकटं गमनं गृह्णाय प्रवृत्तिः । चिद्धिर तिष्ठति । सुहप्पवत्तेण सुखेनानायासेन प्रपन्नमानेन ॥

क्षपक इति कदा और कसे रहते हैं इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—जहाँ रहनेसे सुनिश्चो की श्रेष्ठियां अपने अपने विषयों के तरफ न दौड़ेगी, जहाँ रहनेसे मनकी एकाग्रता नष्ट न होगी ऐसे स्थानमें अर्थात् ऐसी वसतिस्थानमें त्रिगुप्तिधारक इति निवास करते हैं, जिसमें रहनेसे स्थानमें निर्विभक्ता होगी वह वसतिस्थान सुनिनिवासके लिये योग्य है.

मनःसंक्षोभहेतुः पंचानामिन्द्रियाणां प्रणारो यस्यां वसतो तस्यां सर्वस्यां तिष्ठति न येत्यत्राचष्टे—

उगमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ॥

वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुड्डियाए सेज्जाए ॥ ६३६ ॥

उद्गमादिमलापोढा सम्प्रकाशा भक्तक्रिया ॥

संस्काराकारणायोग्या सम्मूर्च्छनविर्वाजिता ॥ ६३७ ॥

विजयोद्या— उगमउप्पादणएसणाविसुद्धा उद्गमोत्पादनैषणावैषण्योपरिहृतायां । अकिरियाए हु आत्मनः उप-

मेगनमा जंतुकिपागदितायां । यमदि यमति । अमंयताए तयस्येतगंनुंदेय सत्यैरंतितायां । बिण्णहुडिगाए संदह्य ररति-
तायां । मंउजाए यमनी ॥

म च यस्यां मतःश्लोकः षडेन्द्रियप्रवायो नास्ति तस्यां मरस्यामेव स्थेयं किं तर्हि तथाभूतायामप्युद्गमादि-
रोपरहित्यादिबिम्बिद्यायायेत्यनुमासि—

मृत्यरा—अकिरियाए आत्मानमुदिरय सम्भार्जनेणपनादिकियाएदितायां । असंसत्ताए वज्रस्यैरांगंजुकेष
मरदेवैलितायां या । बिण्णहुडिगाए सर्गपुण्ड्रवरदितायां । किःसंकारायाभिलम्ब्ये ।

त्रिममें मन धुण्य होता नहीं है, त्रिममें रहनेमें पंचेन्द्रिय अपने विषयके प्रति दीव लगावे नहीं है ऐसा
नपं ही स्थान दुनिर्जाके लिये योग्य है क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

अंधं—जो घसतिमा उद्गम, उरपादन और एषणा दोषोंसे रहित है. जो यस्तिका मुनि के उदेउपेय
स्तिपी पीठी मरं नहीं है ऐसी यमविकामें धूपक रहते हैं. जिसमें जंतुओंका चास नहीं है अथवा बाहरसे आकर
जहां प्राणि पाम नहीं करते हैं, जो संस्काररहित है ऐसी यस्तिकामें मुनि रहते हैं.

त्रिरंगे का यस्तरीराधवित्थया इत्यत्र यस्तति व्याख्येयति-

दो तिणिण वि सालाओ घेत्तब्बाओ विसालाओ ।

सुहणिकखणपवेसणयणाओ अवियडअणंघयाराओ ॥ ६३७ ॥

मिथ्याहटिजनागम्या गृहिशय्यायिचर्जिताः ॥

द्वित्रा वसतयो ब्राह्माः सेव्या विध्वस्ततामसाः ॥ ६६१ ॥

विजयोप्या—सुगणिपराधणपवेसणयणाओ बौद्धचमपेक्षविर्गमना अपि । अवियडअणंघयाराओ अविवृल्लट्टरा
अर्गयकाराअ जयपत्तो दे नाले भाते । एक्कं एणको घसति, बन्धस्यो अण्णं यतयो वालज्जनाएच घमेश्वयनार्यामा-
याताः । पिपुत्तपाराजया दीतपत्तादिमयेशात्तयगसियमायतनोदुस्सहं दुग्गं स्यात् । उरीत्सल्लःअणोऽपि कयमप्रच्छने
क्रियेत । अंपकारपणुले चत्तयमः स्यात् । अनुगमिजमण्यवेसायां आत्मविपायना असंयमविपायना च ॥

पुनर्वसति गरियत्तां च व्याख्येयति—

गूलाए—सुहणिकखणपवेसणयणाओ सुगतिर्गमाः सुउपवेशा निविधाश्च । दुःखनिर्गमप्रवेशायामात्मनो पाल-

युद्धजनानां च विराधनां स्वात् । अनिविहायां अपकस्य त्वगसिमाप्रतनोः शीतलपट्टिदुःखं दुःसहं स्थान् । अविग्रह अधिकटा संवृतद्वारा पितृद्वाराया यनंतरोकद्वय दोषो विष्णुतोः सगुण्डुत्पल्लवं च । अगंधयात्राञ्चो अंधकाररहिताः । अंधकारवह्नुलायां असंयमः स्यात् । दो विष्णिविद्धे तिन्यो वा । तत्र यदि द्वे संपवेवे वदैकस्यां क्षपकसिद्धेत् अन्यस्याप्यन्ये यतयो धर्मधवणा-धर्मागतौ मन्वडोकद्वय । यदि विस्मस्तदा क्षपकः, संपो धर्मदेवता च पृथक् पृथक् प्रवर्तते ॥ चेतन्वाञ्चो मन्वाः ॥

कोनसी निर्दोष वसतिकाओका आथय लेना चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—जिनमें सुखसे प्रवेश कर सकते हैं और बाहर आसकते हैं, जिनका द्वार दफा हुआ है, जिनमें विपुल प्रसाद है, ऐसी बर्दी दो वसतिकाओं क्षपकके वास्ते जवन्यतया होनी चाहिये. एक वसतिकामें क्षपक रहता है और दूसरीमें अन्य मुनि और प्रभेधवार्थ आये हुये लोक रहते हैं. यदि तीन वसतिकायें होंगी तो एकमें क्षपक दूसरीमें संपके मुनि और तीसरीमें धर्मोपदेय ऐसी पृथक् पद्धति समझना चाहिये. वसतिकाका द्वार दफा नहीं होगा तो शीत वातादिकोका प्रवेश होनेसे केवल चर्म और अस्थि ही जिसके अवशेष रहे हैं ऐसे क्षपकको दु सह हुआ होगा. जत वसतिकाका द्वार दफा हुआ ही होना योग्य है. द्वार दफा नहीं होगा तो ऐसी वसतिकामें शरीरमलत्याग क्षपक कैसे कर सकेगा ? यदि वसतिकामें बहुत आधार होगा तो वहाँ रहने से असंयम की प्राप्ति होगी. जिस वसतिकासे पाहुर जानमें और अंदर जानेमें यदि कठिनता होगी तो आत्मविराधना और संपमविराधना ये दोष उत्पन्न होंगे.

अन्यथाञ्च—

घणकुण्डे सकथाडे गामवाहिं वालुधुगुगणजोम्ने ॥

उज्जानधरे गिरिकंदरे गुहाए व सुणहरे ॥ ६३८ ॥

निधिडाः संवृतद्वाराः सुप्रवेशविचित्रिकमाः ॥

सकवाटा लसत्कुब्जा पालधृज्जनोचिताः ॥ ६३९ ॥

चित्तयोवदा—घणकुण्डे रत्नकुण्डे । सकथाडे कण्ठसहिते । गामवाहिं ग्रामवाह्ये प्रेशे । वालुधुगुगणजोमे चालानां वृक्षानां गलस्य चतुर्विधस्य योग्ये उचान्धरे । गुहाए गुहायां । वा सुणहरे शृत्यश्रुते वा । संचारो होदिति क्रियापदवि-संशयः ॥

मूलात् — पण्डिते हृदयविविधभित्तिके । गगनचर्हि श्रामाहृदिदेशे । आळवुगणलोगो काळानां घट्टानां गणस्य
पतुर्विधस्य च उचिते । निरिक्न्दरे पर्यवर्त्तय । शुद्धस्य देवतावविले ॥

और भी योग्य वसतिफाका वर्णन —

अर्थ — जिम्मे के किवाड और भित्ति मजबूत हैं ऐसी वसतिफायें गांवके बाहर होनी चाहिये, जहाँ चालू और
बूढ़ और चार प्रकारका गण आ जा सकते हैं ऐसे फासले पर वसतिफायें होनी चाहिये, उलानगृह, गुहा, और
शून्य पर ये भी वसतिफाके योग्य माने गये हैं ऐसे स्थानमें क्षपफका संस्कार करना योग्य है-

आमंतुपरादीसु त्रि फटपुहिं य चिलिमिलीहिं कायव्यो ॥

खवयस्सोच्छागारो घम्मसवणमंडवादी य ॥ ६१९ ॥

उषानमंदिरे हूये शुहायां शून्यवेइमनि ॥

आमंतुकनियासे वा स्थितिः कृत्वा समाधये ॥ ६२३ ॥

क्षपकाच्युपिते धिज्जये धर्मश्रवणमंडपः ॥

जनानंदकरः अयः कर्तव्यः कटकादिभिः ॥ ६६४ ॥

इति शब्दग्रा ।

विश्वयोद्धया — आमंतुपरादीसु त्रि आंगुलिकैः रक्तधारायातौ सार्धिकैः कृतेषु शुद्धरिपु संघारो होदिति वक्ष्य-
मातेत खंरंधः । उक्तानां घसतीनामलामे कटपदि कटैः । यज्जस्य क्षपक्ष्म भरक्षितये प्रस्तादने कार्थे । धम्मसवणमंड-
वादी य धर्मश्रवणमंडपादिते च अनेन बहुतरांसयमनिमित्तयसतितयाता, मयमसाधनवसतिविकल्पद्वय कथितः । सेउजा ॥

मूलात् — आमंतुपरादीसु आमंतुभिः रक्तधारायातैः सार्धिकैः कृतेषु गृहेषु । आदिगन्देन अन्येवपि एव
विधेषु धम्मजयोगेषु धनकुडवादिगुणोपेतोद्यानगुहादिषु पंचसूत्रेषु क्षपकस्य संस्कार कर्तव्य इति संबंध । उक्तानां
वसतीनां अलामे यत्कर्तव्यं तदाह कटपदि इत्यादि चटुर्वर्गसदृशमयश्चच्छादनैः । चिलिमिलीहिं पट्टिभिः । उच्छागारो
अवस्थितये गृह । अन्ये उच्छागारो इति पट्टिया प्रच्छन्नप्रवेशमित्याहुः । न केवलमेव एव कर्तव्यो, यायता धर्मश्रवण
मंडपादि च कर्तव्यं कटागिमिरिति संबंधः । एतेन बहुतरांसयमनिमित्तयवसतितया, संघमसाधनवसतिविकल्पयश्च
कथितः । वसतिः सुत्तम् २५ ॥ अंकव ७ ॥

अर्थ—एक भाँसे दूसरे भाँसे गाँवका व्यापार करने के लिये जानेवाले व्यापारी लोगोंके लिये निर्माण किये पर चोरे स्थानोंमें भी धुपकके लिये संस्तर की योजना करते हैं और भी जो मुनि के लिये योग्य स्थान हैं उनमें संस्तरकी रचना कर सकते हैं. उपर्युक्त वसतिघाओं की प्राप्ति नहीं होगी तो बाँसके दलसे तट और आच्छादन बनवाकर वसतिका निर्माण करना चाहिये. वसतिकाके सिवाय घर्मोपदेशके लिये सभामंडपादिक भी बनवाने चाहिये. इतने विवेचन का अभिप्राय यह है कि जिसमें असंयम अधिक उत्पन्न होगा ऐसी वसतिकाओंका त्याग करना चाहिये. संयमसाधक वसतिघाओंके विकल्पका वर्णन भी इससे सिद्ध होता है. इस प्रकार वसतिकाका वर्णन हुआ.

एवंयूनायां यस्तौ संस्तर इत्यम्भृत इत्याचरे -

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संयारो ॥

होदि समाधिणिमिचं उत्तरसिर अहव पुब्बसिरो ॥ ६४० ॥

उत्तराशाशिराः क्षोणीशिलाकाष्ठतृणात्मकः ॥

संस्तरो विधिना कार्यः पूर्वोशामस्तकोऽथवा ॥ ६४५ ॥

विश्वोदया—पुढवीसंयारो भवति । सिलामयो वा शिलामयो वा । फलयमओ फलकमयोवा वा । तणमओ वा दणमयो वा । समाधिणिमिचं समाप्यम् । उत्तरसिरमथ पुब्बसिरो पूर्वोत्तमान् उत्तरोत्तमो वा संस्तरः कार्यः । प्राची दिग्भ्युदयिकेपु प्रशस्ता । अथयोत्तरादिक् स्वयंप्रभासुत्तरदिग्गततीर्थेकरम्भुदेशेन ।

अप प्रागुक्कल्लुणायां योग्यवस्तौ आरापकत्वं समाभ्यगतया संस्तरं माधसप्तकेन तिरुगविष्यन्पूर्वं वट्ठेरा-
अदुरो प्रभुमिदमाह—

मूलात्—उत्तरसिरे इत्यादि वत्तय हि दिक् स्वयंप्रभासुत्तरदिग्गततीर्थेकरत्तदुद्देशेन शुभकार्ये चागमे प्रशस्ता । लोके पुनः आम्भुदयिकेषु कार्येषु पूर्वो दिक् प्रशस्त्यते सूर्याग्नपत्वात् । अत उत्तराशिराः पूर्वक्षिप वा क्षपकस्य समाप्यार्थं दृष्टिव्यादिमयः संस्तरः कर्तव्य इति सात्वयेम् ॥

इस प्रकारकी वसतिकायें संस्तर केसा होना चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—संस्तरके दृष्टिधी संस्तर, शिलामयसंस्तर, फलकमयसंस्तर और तणमय संस्तर ऐसे चार भेद

है- गमाधिके निमित्त इन संस्तरों की आवश्यकता रहती है, इन संस्तरोंके मल्लका माग पूर्वं दिया अथवा उत्तर दिनाके तत्क होना चाहिये, पूर्वं दिया अत्युदधिक कागमें प्रशस्त मानी जाती है और उत्तर दिया विदेह वैश्यमें धर्मप्रभादितीर्थर उत्पन्न हुए हैं उनकी भक्तोंके उद्देशसे प्रशस्त मानी गयी है-

भूमिसंस्तरनिरूपणाय याथा-

अथसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ॥

असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंघारो ॥ ६४१ ॥

निस्मिग्यत्थसुत्त्वस्पर्शः प्रासुको निर्विलो घनः ॥

संस्तरः क्रियते क्षोणीप्रमाणरचितः समः ॥ ६४६ ॥

विजयोदया - अथसे समृद्धी । समे भूमिजोयता । असुसिरे असुयिरा भयिला । अहिसुया उद्देहिकारहिता सप्पपाणे निर्जन्तुका । असिणिद्धे अनाद्री । घणगुत्ते पना गुप्ता । उज्जोवे उद्योतवती भूमिः । भूमिसंघारो भूमिसंस्तरः । सुद्धी भूमिपोपत्ते फलरणवर्द्धनेन । अस्मामेन तत्पामनो याथा । सुपिरे विले या प्रविष्टा निर्मितास्तत्रयाः पीडयन्ते । भाद्रा वैदपा-
यितानां पीडा । मसुद्योत्ते अपपत्तः कथमसंयमपरिहारः । अन्ये तु सप्तम्यततां इवाचक्षते । असुद्धयां अभिम्नोभतायामसु-
वितायां इति वदयुक्तं । अधियस्स संस्तरस्य अन्यत्वाभावात् । अपि च पुबवी सिलाभनो या इति धष्येनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्तः ।

भूमि संस्तरिकुं छवपवि-

मूलार-अपसे अधद्वी । समे अभिम्नोभता । असुसिरे अचिच्छा । अहिसुय तरेहिकारहिता । अप्पपाणे निर्जन्तुका ॥ अप्पमाणे क्षपहसरीरप्रमाणा ॥ असिणिद्धे । अनाद्री । पना घना सुद्धा ॥ गुप्ते अफुद्धा । उज्जोवे उद्योतवती ॥ भूमि भूमिः । अट्ठस्यत्वाद्विजयगुणोपेता छितिः संस्तरो गयेत् “अत्रावैत्वात्ययमार्षे सप्तनीलिगमस्यइय । उक्तं च ॥

निर्जन्तुका घना गुप्ता समासुद्धी सुनिर्गला ॥

अनाद्री स्वप्रमाणा च मोद्योता संस्तरो घरा ॥

सुद्धी हि भूमिर्गन्धर्वचरणार्द्धनेन चाप्यते । अधभायायात्मनो याथा । सच्छिद्रायां छिद्रप्रविष्टास्तत्रस्था वा निर्मिताः प्राणिनः पीडयन्ते । उद्देहिकासंभवयोग्याथां संन्यासकालोद्भूतोद्देहिकाणिः क्षणको दंदइयते । सप्राणिकायां

प्राणिसंयमविराज्य स्वप्नमाणाचिकारां न्यर्थः शतिलेखनादिष्ठ्यासंगः । प्रमाणहीनायां गात्रसंकीर्णदुःखं । आर्द्रायां अण्मादिकर्जंतुपीडा । जहदायां वंगमारेण यमन्त्यां वज्रतर्जुवाधा, शयितुः कष्टं च । प्रफट्यायां मिथ्यादृष्टिजनानुगः । अनुयोगायां दृष्टिमतिवैषादः शक्योऽसंयमपरिहारः ॥

भूमिसंस्तरका निरूपण करनेवाली गाथा —

अर्थ—जो जमीन मृदु नहीं है वह संस्तरके लिये योग्य है. जमीन मृदु होगी तो वह हाथ और पायोंके मईनसे चाधित होगी. वह जमीन अगुणिर होनी चाहिये. सुषिप्त—छिद्र होगे, बिल, होंगे तो उसमेंसे निकले हुए और प्रसिष्ट हुये त्रसजीवोंको पाधा होगी. वह सभा होनी चाहिये. वह ऊंची नीची होनेसे क्षपकको सोनेमें पाधा उत्पन्न होगी. यदि वह पीली होगी तो जलकार्षिक जीवोंको पाधा पहुंचेगी, इसलिये वह छलसीही होनी चाहिये. कृमिकीटकादिकसे रहित, प्राणिरहित, प्रकाशयुक्त, क्षपकके देहप्रमाणके अनुसार और शुभ, सुरक्षित होनी चाहिये. यदि प्रकाशरहित हो तो अंत्यमका परितार हो नहीं सकेगा. प्राणिओंसे युक्त होमी तो प्राणिसंयमका रक्षण क्षपक नहीं कर सकेगा. कृमिकीटक सहित होगी तो कीटादिक जंतु क्षपकके देहको काट खायेंगे. वह शरीर-प्रमाणसे अधिक होनेपर शतिलेखनादिकका व्यासंग अधिक करना पड़ेगा. प्रमाणसे हीन होगी तो शरीरसंकीर्ण करना पड़ेगा. यदि रूढ़ न होगी तो क्षपकके अथवा शोधन करनेवाले के शरीर से दब जाने पर उसमें रहनेवाले जंतुओंको पाधा पोहोचेगी. यदि शुभ न हो तो मिथ्यादृष्टि लोकोंका संसर्ग होगा. अतः मृदुत्वादिविदोषोंसे वर्जित पृथिवी-जमीन संस्तररूप होगी. अन्यथा नहीं.

विद्वत्थो य अफुडिदो णिकंपो सव्वदो असंसत्तो ॥

समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥ ६४२ ॥

विच्चस्तोऽप्सुदितोऽकंपः समपट्ठो विजंतुकः ॥

उचोते मसूणः कार्यः संस्तरोऽस्ति शिलामयः ॥ ६६७ ॥

विजयोपया—विद्वत्थो य विचस्तः । वाहाकुट्टनाद्वर्णपात्रा । अफुडिदो अस्फुटितः । णिकंपो निम्रलः । सचवो समंतात् । असंसत्तो जीयरहितः । पापजमत्कुभादिरहित इति यावत् । समपट्ठो समपृष्ठः । उज्जोप उचोते । शिलामओ होदि संथारो शिलामयो भवति संस्तरः ॥

शिलासंस्तरमाह—

मृदाया-विद्रुगो विव्रत्वो दाहलुटनर्पणादिभिः प्रासुकीभूतः । अफुडिदो अस्फुटितः । निर्वहो निश्चलः ।
पापणमलुणादिरहितः । समपट्टो समतलः । उज्जोए समकाशप्रदेशे वर्तमानः ।

शिलासंस्तरका विवेचन—

अर्थ - शिलाभय संस्तर विचल अर्थात् अग्निज्वालासे दग्ध, टाकीके द्वारा उकीरा गया अथवा चिसा हुआ होना चाहिये, क्योंकि अग्न्यादिके द्वारा वह प्रासुक हो जाता है, वह शिलाभय संस्तर टूटा निश्चल हो, सर्वतः जीवन्ति रहित, मलुणादि जीवोसे रहित, समतल, और प्रकाशयुक्त होना चाहिये.

भूमिसमन्दलहुओ अकुडिल एगंगि अप्पणणो य ॥

अम्बिहो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंथारो ॥ ६४३ ॥

लघुर्थीमममो खंदो निःशब्दः स्वप्नमाणकः ॥

एकांगः संस्तरोज्जिद्रः सुदृषः काष्ठमयो मतः ॥ ६४८ ॥

विकीर्णण-भूमिसमन्दलहुणो भूयवकणः, मद्दान, छपुः । अकुडिल एगंगि अप्पणणो य अचलः, एक-
शरीरः, निर्लन्तुकः । अम्बिहो य अम्बिहः । अफुडिदो अस्फुटितः । लण्हो मधूणः । फलयसंथारो फलकसंस्तरः ॥
फलकसंस्तरं क्यावहे-

मूळारा-भूमिसक समंततो भूमिदग्धः । रंदं विस्तीर्णः । लहुओ वल्लु नेतुमानेतुं वा सुसकः । अकुण्कुचोकांग
अकुण्कुचो तिःशब्द एकांग एकफलकः । अप्पणणो पुरिप्पमाणः । लण्हो मधूणः ॥

फलकभय संस्तरका वर्णन—

अर्थ—चारों तरफसे जो भूमिसे संलय हुआ है, रंद, और हलका, उठानेमें रखनेमें अनायासकारक, सरल, अखंड, निर्जन्तुक, स्निग्ध, मृदु, अफुट ऐसा फलक संस्तर के लिये योग्य है.

गिस्संधी य अपोहो गिरुहदो समधिवास्तनिज्जंतु ।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥ ६४४ ॥
कृत्यस्तृणमयोऽसंधिः संस्तरौ निरुपद्रवः ॥
निःसम्पृच्छैरपच्छिद्रो मृदुः सुप्रनिलेखनः ॥ ६६९ ॥

विजयोद्या- गिस्संधी य अंशिरहितः । अपोहो अपच्छिद्रः । गिरुहदो निरुहदतः अचूर्णितः । समाधिवास्त-
निज्जंतु । मृदुरयो निर्जंतु ॥ । सुहपडिलेहो सुयेन प्रविलेपनीयः सुयेन शोभ इति यावत् । मउओ मृदुः । तणसं-
थारो हवे चरिमो वृणसंस्तरौ भवेदन्त्यः ॥

वृणसंस्तरं क्याचटे-

मूलात् - गिस्संधी निर्गन्धिवृणविरचितः । निरुहदसमायनगुणो ग । अपोहो धंतश्च्छिद्ररहितवृणः । गिरुह-
दो अचूर्णितवृणः । समधिवास्त समधिवास्यः सम्यगधिवस्तुं कथ्यः । लक्ष्मणतावोयत्वात् । मउओ मृदुः ॥

वृणसंस्तरका वर्णन-

अर्ध-वृणसंस्तर मांठ रहित वृणसे बना हुआ, छिद्ररहित, न ठटे हुए वृणसे रचा गया, जिसपर
सोनेसे अथवा पैठनेसे अंगमें खुजली उत्पन्न न होगी ऐसे वृणसे बना हुआ, मृदुस्पर्शवाला, अंतुरहित, जो सुखसे
शोधा जाता है ऐसा होना चाहिये.

जुचो पमाणरइओ उमयकालपडिलेहणासुद्धो ॥
विधिधिहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥ ६४५ ॥
प्रमाणरचित्तो योग्यः कालव्रित्तयशोभनः ॥
आरोहव्वखिमुत्तेन संस्तरौणं समाधये ॥ ६७० ॥

विजयोद्या-जुचो जुच्चो योग्यः । पमाणरदो प्रमाणसयन्वितः । नाथस्यो गतिगहान् । उमयकालपडिले-
हणासुद्धो सुधैर्यास्तमजालद्वये प्रविलेपनेन शुद्धः । विधिधिहिदो संथारो शास्त्रनिर्विघ्नमहत्संस्तरः । आरोहव्वो
आरोहव्वः । केन तिगुत्तेण विमुत्तेन कृताशुभमनोवाक्यानिरोधेन ।

चतुर्भिस्त्वपि संस्तरस्य गुणव्यापनमुत्तेन आरोह्यमाह—

मूलारा—जुतो योग्य । पमाणरद्वो नात्यल्पविपुल । उययोऽकाल सूर्योदयास्तमनकालद्वये विधि शालकम् ॥
अर्थ—चारों प्रकारके संस्तरोंमें ये गुण होने चाहिये। योग्य, प्रमाणयुक्त, बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा जो नहीं है। सूर्योदयकाल में और सूर्यास्तकालमें शोधन करनेसे जो शुद्ध होवा है-शास्त्रीक विरसकी रचना हुई है, ऐसे संस्तरपर मत, वचन और क्लृपकी शुद्धकर क्षपकको आरोहण करना चाहिये।

गिसिद्धिता अप्पाणं सच्चयुणसमण्णिदंमि निज्जवपु ॥

संथारस्मि गिसण्णो विहरदि सछेहणाविधिणा ॥ ६४६ ॥

निर्योपके समपर्ये स्वं समस्तयुणशालिनि ॥

प्रवर्तते चिधानेन क्षपकः संस्तरे स्थितः ॥ ६७१ ॥

तृणक्षेणियापाणकाष्ठप्रशस्ते स्थितः संस्तरे धर्ममार्गप्रचीणा ॥

धुनीते समस्तानि कर्मानि योगी रणे योषवर्गो बलानीव धीरः ॥ ६७२ ॥

इति संस्तरः ॥

विजयोदया—गिसिद्धिता स्थापयित्वा । त्यक्त्वा अप्पाणं धारमार्ग । सच्चयुणसमण्णिदस्मि सर्वगुणसमन्विते निज्जवणे निर्योपके । संथारस्मि संस्तरे । गिसण्णो निपण्णो । विहरदि देखते । सछेहणा विधिणा सहेतुना द्विप्रकारा पाठार्थवत्तरा चेति । द्रव्यसहेतुना भावसहेतुना च । माहारं परिहाय गरीरसहेतुनां करोति । सम्यग्परोन्नादिभावनाया निष्पत्त्यापरिप्लामास्तनूकरोति । एवं वस्तुसंस्तरो निरूपितौ ॥

किं कृत्वा संस्तरमारुढः किं करोतीत्याह—

मूलारा—गिसिद्धिता समपर्ये, सछेहणाविधिणा आहारपरिहायनेन गरीरं, सम्यक्त्वादिभावनाया निष्पत्त्या-
र्था वनूकरोतीत्यर्थः । संस्तरः सूत्रव. २६ अंकतः ॥

अर्थ—क्षपक संपूर्ण गुणों से पूर्ण ऐसे निर्योपकाचार्य पर अपना सर्व भार सोपकर अर्थात् उसको ही शरण मानकर संस्तरपर आरोहण करता है और सहेतुबनाया विधिपूर्वक आचरण करनेकी शुरुआत करता है। सहेतुबनाके दो प्रकार हैं, वाण सहेतुना और अम्यंतर सहेतुबना अथवा द्रव्यसहेतुना और भावस-

छेत्तना. आहारका त्याग करनेसे शरीर सञ्छेत्तना होती है. सम्मग्धर्शनादिकी भावनासे मिथ्यात्वादिपरिणामों को क्षीण करना रूपपथछेत्तना है. इस प्रकार वसति और संस्तरका विवेचन समाप्त हुआ.

पियधम्मा ददधम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा ॥

उंदण्ह पक्खइया पक्खल्लणम्मि य विदण्ह ॥ ६४७ ॥

स्धेपांसः मियधर्माणः संविन्नाः पापभीरवः ॥

रुयाताएउंदानुगमनाः कट्ठाकलपविचक्षणाः ॥ ६४८ ॥

विज्जदोदया—पियधम्मा मियो धर्मो येषं ते भवंति मित्थमर्माणः । ददधम्मा धर्मं स्थिराः, संविन्ना संविन्ना । संस्तरमीत्याः । घउज्जमीरुणो पापभीरवो धीरा धृतिमताः । उंदण्ह अभिप्रायार्थः । पक्खइया प्रत्ययिताः । पक्खल्लणम्मि य विदण्ह । प्रत्यक्षपल्लकमत्ता । धर्मेद्वयदिग्धं तेन प्रियचारिणा यतः । तत्तद्वचारिणे रूपक्रमपि धर्मेयिमुत्सहन्ते तस्माद्ददयतां ॥ कर्तुं । यद्यपि चारित्रेऽनुसाराग्रतः, सम्यग्दृष्टिनया तथापि चारित्र्यमोहोदयानुदवचारिणा भवन्ति इति विशेषणमुपपत्ते ददचारिणा इति । अदवचारिणा हि न अक्षयम् परिद्रेयुः । कस्मादक्षयम् परिद्वरन्ति पापभीरवो यदमात् । संविन्ना विविचित्रयसन्निधानसूत्रकतुर्नतिभ्रमणमयव्याकुलाः । धीरा ह्यमेन परीयदसहा इत्यावदायते । परीयद्वैः पराश्रितो न संयमं पालयतीति मग्न्यते । धूपकेन अनुक्रमपि तद्विगितेवायततत्प्रयोजना वैपाबुत्ते चर्तन्ते । नानामिमायका इति वर्धयितुं उंदण्ह इत्युक्तं । प्रत्ययितव्या मुदाभिर्नामी असंयमं कुर्वन्ति क्षपके वैपाबुत्तोचता इति साकारनिराकारमत्ताख्यामत्ताका ॥

अथ तथा कृतपरिहरायापकस्य यमोक्तलक्षणयां वसती विविचिहितं संस्तरमारुडस्य अष्टावत्वारिंशतं सप्तधिसहाय्याभियोक्तुं वत्तारिंशतं याथा. सूत्रवशात् सल्लक्षणव्यापनार्थं गाथाद्वयमाह—

मूळारा—धीरा परीयदसहाः । उंदण्ह अभिप्रायविद । पक्खइया अनेकवारान्तरितप्रत्यया. । धर्मो हि चारित्रं उतः स्वयमप्यचारिणाः क्षपकमपि चारित्रे वर्तयितुं सहायतां च कर्तुं नोत्सहन्ते इति प्रियधर्माण इत्युच्यते । सम्मग्धृष्टितया चारिणानुरागिणोऽपि चारित्रमोहोत्पादस्थितचारिणाः संत कथं क्षपकस्य चारित्रसमाधानाय प्रयतंत इति ददधर्माण इत्युच्यते । पापद्विभ्यतो नासंयमं स्वजेयुरित्यवधमीरव इत्युच्यते । अयोक्ताणा अप्पनुगमहाभिप्रायमिति ताद्विभि-

मानमिच्छाश्च न गुणभिरास्वचरिर्कर्मण्यधिक्रियन्ते इति प्रत्यक्षिताः प्रत्याख्यानकर्मप्राप्तेऽनुच्यते । एवमुत्तरसूत्रेऽपि पदसाफ-
तयं विलम्बः ।

परिचारकोंका लक्षण दो गाथाओंसि आचार्य कहते हैं--

अर्थ--जिनका धर्मपर शास्त्र प्रेम है और जो स्वयं धर्म में स्थिर हैं संसारसे और पापसे जो हमेशा मययुक्त हैं, धैर्यवान और क्षपकके अभिप्रायको जाननेवाले, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपककी शुभ्रपा करने योग्य माने गये हैं, धर्म अर्थात् चारित्र्य, जो यदि स्वयं चारित्र्यपर प्रेम करते हैं वे क्षपकको भी उसके पालनेमें उत्साहित करेंगे और उसको मदत करेंगे, सम्यग्दृष्टि होनेसे चारित्र्य में वे केवल प्रेम ही करते हैं और चारित्र्यमोहनीय कर्मके उदयसे उनके चारित्र्य शिथिल होगा एसी शंकाफा निरसन करनेके लिये 'दिग्धम्मा' यह विशेषण है, अर्थात् परिचारक जैसे चारित्र्यपर प्रेम करते हैं वैसे वे उसमें दृढ़ भी रहते हैं, जिनका चारित्र्य दृढ़ होता नहीं वे असंयमका स्थापन करनेमें असमर्थ होते हैं, परिचारक गण पापसे मययुक्त हैं अतः वे असंयमका स्थापन करते हैं, ज्ञाना प्रसार के दुःखोंका निधानभूत ऐसे चतुर्गतिके भ्रमण से वे व्याकुल होयगे हैं इसलिये वे संसारभीरु बने हैं परिपक्वोंको वे सहन करते हैं, जो परिपक्वोंने पराजित होते हैं वे संपन्न पालनेमें असमर्थ देखे जाते हैं, जो क्षपक के दिना कहे भी मनके अभिप्राय जानते हैं वे ही वैयावृत्य कर सकते हैं, परंतु जिनमें अभिप्राय जाननेका सामर्थ्य नहीं है वे वैयावृत्य नहीं कर सकेंगे ऐसा अभिप्राय 'छंदण्डु' इस पदसे आचार्य ने व्यक्त किया है, जिनको खानार और निराकार प्रत्याख्यान का काम ज्ञात नहीं है और जिन्होंने पूर्वमें कभी क्षपकका वैयावृत्य किया नहीं है ऐसे मुनि अभिप्राय जाननेवाले हो तो भी उनकी आचार्य परिचारकके कार्यमें नियुक्त नहीं करते हैं, इसलिये परिचारक प्रत्यपित अर्थात् अनेकवार क्षपक की सेवा जिन्होंने की है अर्थात् जो अनुभवी हैं ऐसे होने चाहिये.

कप्पाकप्ये कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्ता ॥

गीदत्या मयवंता अहदालीसं तु णिज्जवया ॥ ६४८ ॥

प्रत्याख्यानविदो धीराः समाधानक्रियोद्यता ॥

पदताडिताष्टसंख्याना ग्राह्या निर्यापकाः पराः ॥ ६४९ ॥

दिनयोदया - कृष्णकले कुतस्वा योग्यमिदमयोम्यमिति भ्रंक्षनपरीक्षायां कुशलः । समाधिकरणजुज्वा
क्षणवित्तममाधानकरणीयताः । सुदरदस्ता द्युतप्रत्यक्षित्तयः । भीदस्या गृहीतस्वार्थः । भगवते भगवतः स्वपरो-
दारण्यमादाश्रयन्तः । अट्टालीसं तु अष्टज्वाविशतसंख्या । पिञ्जवगा नियोपका यतयः ॥

मूढारा - कृष्णकले योग्यायोग्यभक्तानादिपरीक्षायां । भयवंगा स्वपरोद्वरणमाहलन्वचनाः ।

अर्थ - ये आहारपानादिक पदार्थ योग्य हैं इनका ज्ञान परिचारकोंको होना आवश्यक है यदि वे इस
ज्ञानसे वंचित हो तो क्षयकर्मों अंत्यमें भी प्रवृत्त करने लग जायेंगे, आयोग्य आहारमें भी प्रवृत्त करेंगे। क्षयकर्मों
विच समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रथको जाननेवाले। आगममूळ, स्वयं और परका उद्धार करनेमें कुशल अर्थात्
स्वरोपकार करके उद्धार करते हैं ऐसी विनयी लगने कीर्ति फैली है, ऐसे परिचारक गति अट्टालीस होते हैं

निर्योपका इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनयोत्तरप्रबंधः -

आमासणपरिमासणचंकमणासयण निसीदणे ठाणे ॥

उव्यत्तणपरियत्तणपसारणा उट्टणादीसु ॥ ६४९ ॥

आमर्दानपराभर्माणमस्थानशयादिषु ॥

उद्धर्तनपरावर्तप्रसाराकुंचनादिषु ॥ ६५० ॥

विजयोदया - आमासणपरिमाणनवक्रमणसयणनिसीयणे ठाणे क्षयकस्य शरीरकेशस्य स्पर्शने आम-
र्दानं, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शनं परिमर्दनं । चंकमणमितस्ततो गमनं । निसीदणे ठाणे निपद्यास्थानमित्येतेषु ।
उव्यत्तणपरियत्तणपसारणा उट्टणादीसु । उद्धर्तने पाश्चात्त्याव्यान्तरसंचरणे । हस्तपद्मदिप्रसारणे आकुंचनमित्यादिषु च ॥
निर्योपकाः क्षयकरयेनमिममुपकारं कुर्वन्तीत्युत्तरप्रबंधेन कथयिष्यन्तादौ तेषां तद्विपरिचर्यायां चतुरो नियोक्तुं
गथाद्वयनाद् -

मूढारा - आमासण-शरीरकेशस्पर्शनं । परिमासण सर्वगात्रस्पर्शनं । चंकमण इतस्ततो परिचरणं ॥

क्षयकर्म ऊपर उनके द्वारा किये जानेवाले उपकारका आचार्य वर्णन करते हैं -

अर्थ - शरीरके एक देयका स्पर्शन करना उसको आमर्शन कहते हैं। अर्थात् हाथ या पांच अंगों पर अव-
रोधी याथा दूर करनेके लिये हाथों दावना, पगचंपी करना, संपूर्ण अंगके स्पर्शनको परिमर्शन कहते हैं- अर्थात्

नैपुण्यं अंग अपने हाथमें मृत्र दावना विसाये छपककी देहवाया मिटिगी. छपककी हाथका आथ्रय देकर इधर उधर चलने गमय मंदत करना इसका प्रक्रमण कहते हैं. उसको संस्तरपर सुलाना, हाथ देकर बैठाना, खडा करना, उसको परबगलमें दुमरो बगलपर सुलाना, हाथ पांव परसरना, संकुचित करना इत्यादिक उपकार परिचारक सुनि करते हैं.

संजदकमेण खवयस्स वेहकिरियाहु पिच्चमाउत्ता ॥

चदुरो समाधिकामा ओल्लगंगांता पडिचरंति ॥ ६५० ॥

वेहफर्मसु पेठ्ठने क्षपकस्य समाधिवाः ॥

वत्थारो यत्तयो मयस्सया परिचर्यापययणाः ॥ ६५१ ॥

विज्जलोक्का - संजदकमेण मयत्तेनेय । सयमस्त क्षपकदय । मेहकिरियाहु शरीरक्रियाहु ज्ञापयणिताहु । निधं मतिदिने । माणुसा प्रायुक्ताः । चदुरो चत्वारो यतयः । समाधिकामाः क्षपकस्य समाधिकदलमभिलषन्तः । ओल्लगंगांता उपासनां कुर्वन्तः । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति । 'वत्थारि जणा धम्मं कहंति विक्कधम्मो वज्जिज्जा' इति पदसंबंधः चत्थारो धर्म कथयन्ति विकथाः परितन्य ॥

मूखारा - संजदकमेण सुनिमोण । आदरा मनीषाकावैः समाहिताः । समाधिकस्त क्षपकस्य समाधिभिः कण्ठः । ओल्लगंगांता पमुंठि कुर्वन्ति । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति ॥

अर्थ-यह सब उपकार करते समय परिचारक सावधानी रखते हैं. अर्थात् असंयमकी उत्पत्ति न होगी और छपकको ममाधान होगा ऐसा प्रयत्न करते हैं. उपर्युक्त कार्य करनेकोलेपे हमेद्या चार परिचारक सुनिओकी नियोजनार्थ योजना करते हैं.

कास्ता विकथा भवन्ति ।

भच्चित्थिराजजणवक्कंदप्पत्थण्डणट्टियक्काओ ॥

वज्जिज्जा विक्कहाओ अउद्धपविचायणकरीओ ॥ ६५२ ॥

खीराजमन्मथाहारद्वल्यदेसादिगोचराः ॥

विमुच्य विकथाः सर्वाः समाधाननिपुदनीः ॥ ६५३ ॥

विजयोदया—भक्तिसिधाराय अणवदकंदप्राथम्यलक्षणाग्रहायो । भक्तं मल्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहारः । भक्तस्य, गीतां, रासां, जनपदानां रागोद्रेकात्मदाससमिधोऽग्निष्टवकप्रयोगः कंदर्पः तस्य अयस्य, गङ्गानां, गर्तिकाणां च यतः कयास्ताः । अस्तप्यसिराधनकरीओ । अतमानमसिचतवे इत्याध्यात्मिकं । आत्मनस्तत्त्वनिष्पन्निरूपणं ध्याने तस्य सिराधनकरीओ विराधनाकारिणीः ॥

पत्नारो विक्रयास्तवक्ता धर्मं कथयधीत्येवद्वयायावबोणाह—

महारा—भक्तिसिध भक्तकथां लीकथां च । कंदुप्राथ कथकथां धनकथां च । लक्षणाद्वय नटनार्त्तिकाकर्था ।

विद्वानाओ भार्गविकथकथाः । अवकाण शुभप्रधानं ॥

चार मुनि विक्रयाओका त्याग कर धर्मकथाका वर्णन करते हैं ऐसा आगे संबंध स्पष्ट करेंगे, प्रथम विक्रयाओका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके आहारका वर्णन करना भक्तकथा है, सिद्धांतका वर्णन करना लीकथा है, राजा-औली कथा कहना राजकथा है और अनेक देशोंका वर्णन करना देशकथा है, कामविकारसे उन्मत्त होकर हास्य-मिश्र असम्यक् चर्चन बोलना उसको कंदर्प कहते हैं, वांसकं ऊपर खेलनेवाले और वृत्त्य करनेवालोंका वर्णन करना ये सब दुःकथायें हैं, ये आत्मार्थके स्वस्वरूपके चिंतनमें बाधा उत्पन्न करती हैं, इस लिये इनको त्यागकर शयकको चार मुनि हमेशा धर्मका उपदेय देते हैं,

कथं तादृं कथयंति—

अखल्विदमगिद्विदमव्याहृष्टमणुचमविलंबिदममंदं ॥

कंतमभिच्छामेद्विदमणत्पहीणं अपुणरुतं ॥ ६५२ ॥

अनाकुलमनुद्विग्नमन्याथेषमनुद्वतं ॥

अनर्थहीनमगिष्टमविचलितमदृतम् ॥ ६७८ ॥

विजयोदया—अखल्विदं अस्फुटितं अन्यथा शब्दोच्चारणं शब्दस्फुटनं, विपरीतरथानिरूपणा शब्दस्फुलना । अगिद्विदं अनाज्ञेयं । अयमुग्यं । अनाहृष्टं अल्लाहतं यमसिद्धं प्रत्यक्षादिना । अणुचमं नातिमहद्भक्तिमतेतं । अविलंबं नातिदामने । अमंदं नात्यल्पबोधं । कन्तं ओमनोदरं । अभिच्छामेद्विदं मिथ्यात्वानुविग्रहे । अणत्पहीणं अभिधेय-द्रव्यं यद्य भवति । अपुणरुतं उक्तस्य अविशेषण भूयोऽभिधातं पुनरुक्तं यथा तत्परोक्तं न भवति ।

मूढारा—अगमिदं अस्माद्धितं । अन्यथा सन्देशाणविपरितार्षक्यनरहितं । अमीलिदं असंविगमं । अन्यथा-
इदं प्रत्यक्ष श्रोतृप्रमाणतद्विभूतं । अपुत्र्य नापुत्रैर्प्येति । अविलम्बितं । अपुनरुत्तं उक्तसार्वस्य अनिश्चयेण भूयोऽभिधानर-
हितम् ।

मुनि धर्मोपदेश किस प्रकार कहते हैं--

अर्थ--वे मुनि जन्म धर्मोपदेश देते हैं तब उनके मुलसे जिस अभिप्राय के शब्द निकलने चाहिये वे ही निकलते हैं विपरीत अर्थका कभी भी वे वर्णन नहीं करते हैं, एकही शब्द वे दो तीन दफे नहीं बोलते हैं, संशय उत्पन्न करने वाला भाषण बज्ये करके प्रत्यक्षप्रतीति प्रमाणसे आविर्बुद्ध वचन मुलसे निकलते हैं, उच्चस्वर और मंदस्वर का समागम कर मध्यमस्वरासे वे भाषण करते हैं, अतिशय सावकाश और अतिशीघ्रताको छोड़कर मध्यम पद्धति का अवलम्बन बोलते हैं, उनका भाषण, कर्णमनोहर, मिथ्यात्वसे अभिश्रित, निरयंकताग्रहित रहता है, जो अर्थ एक दफे कहा है, उसको ही पुनः कहना पुनरुक्तदोष कहा जाता है इस दोषसे रहित उन मुनिगणका भाषण रहता है.

जिह्वं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्त्यं च ।

चत्तारि जणा धम्मं कहंति निब्बं विचित्तकदा ॥ ६५३ ॥

प्रलुप्तजनकं धर्मं मधुरं हृदयंगमं ॥

धर्मं वदन्ति चत्वारो ह्यविचित्रक्रियोयताः ॥ ६७९ ॥

विजयोपदेश--जिह्वं त्रियं । मधुरं रुलितपदवर्णरञ्जनं । हिदयंगमं श्रोत्रहृदयसुप्रवेष्टि । पल्हादणिज्ज पत्त्यं च सुखायं पत्त्यं च कदापि कायवन्ति । निब्बं मनुषरतं । विचित्तकदा नानाकथाकुमुदाः ॥

मूढारा--जिह्वं त्रियं । मधुरं ललितवर्णपदरचनं । विचित्तकथा नानाकथाकुमुदः ॥

अर्थ--त्रिय, सुंदरशब्दरचनायुक्त, फान और हृदयमें प्रवेश करने वाला सुलकर्त, हितप्रद ऐसा धर्मोपदेश अनेक कथाओंके साथ वे चार परिचारक मुनि कहते हैं.

कीदृशी क्षपकस्य कथा श्रूयितव्या इत्यत्रान्ये—

स्वययस्म कहेद्व्या दु सा कहा जं सुणिचु सो खवओ ॥

जहिद्विसोत्तिभावं गच्छदि संवेगणिज्वेगं ॥ ६५४ ॥

क्षपकस्य कथा कथ्या ता यां भुत्वा विमुचते ॥

सर्वथा विपरीणामं याति संवेगनिर्विदौ ॥ ६५० ॥

विजयोदया—क्षपकस्य । सा कहा सा कथा । कहेद्व्या कथयितव्या । सो खवओ अस्मै क्षपकः । जं यां कथां । सुणिचु भुत्वा । जहिद्विसोत्तिगमाचो त्यक्ताश्रुमपरिणामः । गच्छदि संवेगणिज्वेगं संसारभीकानां शरीरसो-
मनिर्वेदे च प्रतिपद्यते ।

एवं सनां प्रति भर्मेपदेक्षविभियभिधाय क्षपकं प्रति कथाविशेषकत्वं नियमयति—

मूलम्—सुणिचु भुत्वा । जहिद्व त्यक्त्वा । विसोचियभावं दुरव्यवसायं ॥

क्षपकको कोनसी कथा कहना योग्य है ! इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—क्षपकको वह कथा सुनानी चाहिये कि जिसके सुननेसे उसके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए अशुभ
परिणाम विनष्ट होकर वह संसारभीत और देहभोगसे विरक्त हो जावेगा।

आस्खेवणी य संवेगणी य णिज्वेयणी य स्वययस्स ॥

पात्रोग्गा हेति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥

भक्त्वाद्येषोपातिर्वेगनिर्वेदजानिकाः कथाः ॥

क्षपकस्योचितान्तिस्त्रो विक्षेपजनिका तु नो ॥ ६८१ ॥

विजयोदया—आसेवणी, विक्षेपणी, संवेजनी निर्वेजनी चेति चतस्रः कथाः । तासां मध्ये का योग्या ? का
यायोग्येव्यनोत्तरं प्रवीति । आस्खेवणी य इति आसेवणी, संवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतुं, आप्यातुं च
योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ।

मूळम्—विक्षेपणीवर्तमानाक्षेपयादिकथात्रयं क्षपकस्य आन्यत्रयवोपदिशति ॥

अर्थ—आधेपणी, विधेपणी, संवेजनी और निवेजनी ऐसे कथा के चार भेद हैं. इन कथाओंमें आधेपणी, संवेजनी और निवेजनी कथायें श्रवणको सुनाना योग्य हैं. विधेपणी कथाका निरूपण करना हितकर न होगा.

तासां कथानां स्वरूपनिर्देशाद्योत्तरं गाथाह्वये—

सावखेवणी कथा सा विज्जाचरणमुवदित्सदे जत्थ ॥

ससमयपरसमयगदा कथा दु विवखेवणी णाम ॥ ६५६ ॥

कथा साधेपणी झूठे या विद्याचरणादिकम् ॥

विधेपणी कथा वाक्ति परत्नसमयी पुनः ॥ ६८२ ॥

विज्जयोदया—आधेपणी कहा सा सा आधेपणी कथा भण्यते । जत्थ यस्यां कथायां । विज्जाचरणमुपदित्सदे ज्ञानं चारित्यं चोपदिश्यते । एपेयूतानि भवत्यदीनि ज्ञानानि सामाजिकदीप्ति वा चारित्र्याण्यर्थस्यरूपाणि इति । ससमयपरसमयगदा कथा ॥ विधेपणी णाम । या कथा स्वसमयं परसमयं वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विधेपणी भण्यते । सायथा निरर्थं, सर्वथा क्षणिकं, एकमेवानेकमेव वा, संदेय, विज्ञानमार्गं वा दाह्यमेवेत्यदिकं परस्वमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रापसादु-मतेन भागनेन च विरोधं प्रदर्श्य कथंचिदित्यं, कथंचिदित्यं, कथंचिदेकं, कथंचिदेकं, इत्यादिस्वल्पमयनिरूपणा च विधेपणी ॥

फिक्कक्षणा साः कथा इत्थन्न गाथाह्वयमाह—

मूळारा—विज्जानित्वादि ज्ञानं । चरणं सामाजिकादिचारित्यं । ससमयपरसमयगदा सर्वथा निरयमेव सर्वथा क्षणिकमेवेत्यादिपरगतं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षादिना च प्रविधिष्व कथंचित्त्रित्यं कथंचित्सृष्टिकं इत्यादि स्वमतं प्रतीयबद्धमेव व्यवस्थापयतीत्यर्थः ।

इन कथाओंका स्वरूप आचार्य दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—जिसमें समयज्ञान और चारित्रिका निरूपण किया जाता है उस कथाको आधेपणी कहते हैं. अर्थात् मति, श्रुत, अवधि योग्य पांच प्रकारके सम्पन्नानका स्वरूप, और सामाजिक छेदोपस्थापना योग्य पांच प्रकारके चारित्रिका स्वरूप जिसमें कहा गया है उनको आधेपणी कथा कहते हैं. जिस कथामें जैनमतके सिद्धान्तों का और परमतका निरूपण है उसको विधेपणी कथा कहते हैं. इसका विशेष विवेचन—चस्तु सर्वथा नित्य ही है,

सर्वथा अनित्य ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेकही है, सर्वथा सदृश ही है, सर्वथा विज्ञानरूप ही है, सर्वथा शून्य ही है, इत्यादि अन्यमतोंके सिद्धान्तोंको पूर्वपक्षमें स्थापित कर उचरपक्षमें वे सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे निरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करके वस्तुका स्वरूप कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक, इत्यादिरूपसे जैनमतके द्वारा सिद्ध करना यह विधेयणी कथाका वस्तुस्वरूप है।

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्तं तवधीरिय इट्ठिगवा ॥

गिज्जेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोसे य ॥ ६५७ ॥

संवेजनी कथा तूते ज्ञानचारिप्रवैभवा ॥

निर्वेदनी कथा वत्ति भोगांगवेरसारताम् ॥ ६८३ ॥

विजयोद्या—संवेयणी पुण कहा संवेजनी पुनः कथा । णाणकारित्तवधीरिय इट्ठिगवा ज्ञानचाटि-तपोभाषणा अनित्यशक्तिसंपत्तिरूपणपटा । गित्तेयणी पुण कथा निर्वेदनी पुनः कथा सा । सरीरभोगे भवोसे य शरीरे, भोगे, भवसंततौ च परावस्तुयताकारिणी शरीराण्यष्टुर्चीनि, रसाविस्तसधातुमयत्वात् । शुक्रओषितधीजत्वात्, अशुष्याहात्परिवर्द्धितत्वात् च परावस्तुयताकारिणी शरीराण्यष्टुर्चीनि, रसाविस्तसधातुमयत्वात् । अनित्यत्वात्सम्भवाः प्राणधृतः इति शरीरतत्वाध्वयत्वात् । तथा चतुर्विस्थाननिर्यतत्वात् च न केवलमशुष्यसारमपि । अनित्यत्वात्सम्भवाः प्राणधृतः इति शरीरतत्वाध्वयत्वात् । तथा भोगा दुर्लभा । स्त्रीपुष्पमहास्त्रभोजनादयो दुर्लभा, दुःखदुर्लभा अदृश्यसुखे इति निरूपणात् । तथा शोको महादुर्लभः । देवमनुजमहायपि दुर्लभः, दुःखदुर्लभो अदृश्यसुखे इति निरूपणात् । तथा ॥

मूढा—भागेत्यादि—ज्ञानचारिप्रतपोभावनाजनितशक्तिसंपत्तिरूपणपटा । भवोसे भवसंततौ शरीराविज्ञयस्य अशुचित्वादित्स्वनिरूपणेन परावस्तुयताकारिणी निर्वेदनीति व्याख्येयम् ।

अर्थ—ज्ञान, धारित्र, तप इतका अभ्यास करनेसे आत्मामें कैसी २ अलौकिक शक्तियाँ प्रगट होती हैं इनका सुलासेवार वर्णन करनेवाली कथाको संवेजनी कथा कहते हैं। शरीर, भोग और जन्म परंपरामें विरक्ति उत्पन्न करनेवाली कथाका निर्वेदनी कथा ऐसा नाम है, इसका सुलासा—शरीर अपवित्र है क्योंकि यह रस, रक्त, मांस, शुक्र वगैरह सब धातुओंसे बना है। रक्त और चौर्य इसके उपादान कारण हैं, अपवित्र आहारसे इसकी वृद्धि हुई है, अर्थात् माताने खाया हुआ और लालारससे अपवित्र-उच्छिष्ट बना आहार गर्भावस्थामें जीवके शरीरमें प्रविष्ट होता है तब यह शरीर बढ़ता है, अशुचिस्थानसे—योनीसे यह निकळा है इस लिये भी अपवित्र है, न केवल यह

अपवित्र ही है पांतु निःसार भी है, इस शरीरके आश्रयसे आत्माको भी अनित्यता प्राप्त हुई है, अर्थात् इस आत्माको बार बार जन्म मरण धारण करना पडा है- वस्त्र, स्त्री, गंध, गुप्पमाला, भोजन वगैरह भोगपदार्थ दुर्लभ हैं इनकी प्राप्ति होनेपर आत्मा तृप्त होता नहीं, इनका लाभ नहीं होनेसे अथवा लाभ होने पर भी यदि वे शीघ्र नष्ट हो गये तो महान् दुःख उत्पन्न होता है.

देवजन्मकी प्राप्ति होना व मनुष्यजन्म मिलना दोनों दुर्लभ हैं, ये बहुत दुःखोंसे भरे हैं, इनमें अल्प सुख की प्राप्ति होती है, इस प्रकारका वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वैजनी कथा कहाती है.

विश्वस्वेवणी अणुरदस्स आउणं जदि हवेज्ज पक्खीणं ॥

हौज्ज असमाधिमरणे अप्पागमियस्स खवगस्स ॥ ६५८ ॥

विश्वेपणीरत्तस्यास्य जीवितं यदि गच्छति ॥

तदानीमसमाधानफला सा तस्य जायते ॥ ६८४ ॥

विलोकोक्त्या - विश्वेपण्या परलभयानिकृपणायां अनुत्कस्य । आउणं आयुष्कं । जदि हवेज्ज यदि भवेत् । पक्खीणं मसीणं । होज्ज भवेत् असमाधिमरणं । अप्पागमियस्स कायमरस भद्रपशुतस्य संपकस्य यथैव पूर्वपक्षीकृते दूयणाभिधानाय तेवय तत्त्वमित्थं पत्तायात्समीचीनज्ञानदर्शनस्य रत्तनयैकात्म्ये नास्तीति मथ्यते ।

विश्वेपण्यामासकस्यायुःमक्षयेऽल्पश्रुतस्यासमाधिमरणमाह -

दुद्धारा - अप्पागमियस्स अल्पश्रुतस्य ॥

अर्थ - विश्वेपणी कथामें जो की स्वमतका प्रतिपादन कर परमतका खंडन करती है- यदि क्षपक अनु-रक्त हुआ है और ऐसी अवस्थामें यदि उसका आयुष्य विलीन होगा तो उसको असमाधिगण होगा. क्षपक अल्पश्रुत धारक हो वो पूर्वपक्षमें जो परमतका स्वरूप उचरणक्षमे दूषित करने के लिये कहा है वही वस्तुका सत्य-स्वरूप है ऐसी थडान करेगा जिससे उसको रत्नत्रयागचना न होगी.

अनुभूतस्य तर्पणयोगिनी विशेषणीतीमां शोभां निरस्यति -

आगममाहृष्णजो विकहा विक्खेवणी अणउग्गा ॥

अबुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥ ६५९ ॥

कथया बहुश्रुतस्यापि नासन्ने मरणे सति ॥

अनाचारं न कुर्वन्ति महान्तो हि कदाचन ॥ ६६० ॥

विजयोदया - आगममाहृष्णजो वि यदुश्रुतस्यापि । विक्खेवणी विशेषणी अणउग्गा अत्रायोग्या । गणु-

जदंमि मरणे रत्नत्रयाराधनपरे मरणे । तस्स वि यदुश्रुतस्यापि एवं एतत् । अकारवर्ण मनायतनं गमाधारः ॥

अनल्पश्रुतस्य विशेषणी कयोपयोगिनी भविष्यतीत्याका निरस्यति -

भूलाता - अबुज्जदम्मि रत्नत्रयाराधनपरे । तस्स वि अस्यश्रुतस्य पुनः सुतरादपकारिकेत्यवधार्यः । अणायदणं

अनायाः असमाधिमरणमणयताम् ॥

जो यदुश्रुत है उसके लिये विशेषणी कथा उपयोगिनी होगी इस संकाका निरसन करते हैं -

अयं - यदि क्षपक आयमज्ञानी होगा तो भी यह विशेषणी कथा रत्नत्रयाराधना जिसमें की जाती है

ऐसे समाधिमरण के समयमें उसको उपयोगी मानी है, क्यों कि यह विशेषणी कथा समाधिमरण के लिये सहायक नहीं है, आधारभूत नहीं है,

अबुज्जदंमि मरणे संधारत्थस्स चरमवेलाए

तिनिहं पि कहंति कंहं तिदंढपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥

विशेषिणों विबुध्यातः समाधानविधाधिनः ॥

कथयन्ति कथास्तिवो निस्त्रिदंडत्रिगौरवाः ॥ ६६१ ॥

विजयोदया - अबुज्जदंमि मरणे । निम्हदंमि मरणे । कस्य संधारत्थस्स चरिमवेलाए । संस्तरत्थस्य अंतकाले । तिपिदं विमंति कथं संयज्जन्ते, निपिज्जो आक्षेपणी व कथो कथयन्ति । तिदंढपरिमोडया अनुममनोवाजाया दंडगन्धेनो-
च्यते । वट्टेदन्नक्षारिण, सुत्त । तम्हा तस्मात् । यनायतनत्वादिरेषिण्या ॥

प्रकृष्टोपसंहाराह—

मूला— चरिमवेलाए प्रत्यामजगरणश्रुणे । विद्वत्परिमोक्षया । अशुभमनोवाक्यानिर्मूलकाः साधवः ॥

अर्थ— संसारमें पड़े हुए क्षणकका मरणफाल जब निकट आचुका है तो ऐसे समयमें अर्थात् अन्तरिमय में अशुभ मनोविचार, अशुभ शरीर प्रवृत्ति और अशुभमन इनका त्याग करनेवाले गणधरादि मुनि संवेजनी, निवेदनी और आशेषणी ऐसी तीन कथाजोफादी वर्णन करते हैं, विशेषणी कथा ममाधिमरणके लिये आधाररूप नहीं है, इसलिये उसका निरूपण करते नहीं.

जुत्तस्स तवधुराए अब्बुज्जवमरणेवेषुसीसंनि ॥

तह ते कहंति धीरा जह सो आराहओ होवि ॥ ६६१ ॥

मणोभावनियुक्तस्य मृत्यास्तज्जतयेति तम् ॥

ते वर्धन्ति तथा तस्य मथ्यारचको यथा ॥ ६८७ ॥

विजयोदया— सुलहल युक्तस्य । तवधुराए तपोभारेण । अब्बुज्जवमरणेवेषुसीसंनि समीचीभूतमरणधरुस्य शिरसि स्थितस्य क्षणस्य । ते धीरा । तह तथा । कहंति कथयन्ति । अथ सो भाराचको होदि यथास्तनाराचको ते चत्वारो धर्मकमानियुक्ता याचकाश्च कथयन्ति यथा रत्नत्रयभाराधयत्येतेत्यन्त्यापयवाह—

मूला— अब्बुज्जवेत्कादि । समीचीभूतमरणवर्जस्य शिरसि क्षणकस्य ॥

अर्थ— तपका भार नितने धारण किया है, निकट प्राप्त हुए समाधिमार्गरूपी वांस्के अग्रभागपर जो ठहरा है ऐसे क्षणको चार मुनि ऐसाही उपदेख देते हैं कि बितरो सुनका वह रत्नत्रयका आराधक होगा.

चत्वारि जणा भचं उवकण्येति अनिलाए पाओगं ॥

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥

तस्यानयंति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ॥

निर्माना लब्धिसंपन्नास्तदिष्टं गतदृषणं ॥ ६८८ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा चत्वारो यतयः । सत् अशनं । पाठग प्रायोगं उद्गमादिदोषपुद्गतं । उवकप्यति भ्रानयति । अगिलाए ग्दानिमित्तरण । कियत्तं कालमानयाम इति संकेतं विना । छंदियं स्वपकेण हए अशनं पानं वा । सुनिपगानापीपदमशानिकरशरम्ममित्येतावता तेनेणं न तु लौल्याव । अयगदोसें वातपित्तश्लेष्मणामजनकं । क आन-यति ? अमाइणो मायारद्विताः अयोग्यमिति ये नानयन्ति । लडिसंपण्णा मोहन्तरायश्रयोपशमादिद्विखालाब्धिसमन्विताः । अलन्धिमनस्सपकं हेणयति । मायावी शयोगं योग्यमिति कल्पयेव ॥

चत्वारस्तदर्पं तसुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशासित-

मूढारो—उवकप्येति आनयति । अगिलाए ग्दानं विना कियत्तं कालं आनयाम इति संकेतं विना । छंदियं मरुपानं क्षुत्विपातादुःखसमसापिकरं निराकरोतीत्येतावदेव क्षपकणेष्टं । अवगदोसें वातपित्तश्लेष्मणामजनकं प्रशमकं च श्रमादिदहितं वा । अमाइणो अयोग्यं योग्यमिवमिति मतारणरहिताः । लाभान्तरायश्रयोपशमादिद्विखालाब्धिसमन्विताः । तथैव क्षपकायास्तत्केलनान् ॥

अर्थ — बार मुनि ग्लाविद्या त्यागकर उद्गमादिदोषरहित आहारके पदार्थ क्षपकके लिये लाते हैं, कितने दिनतक हमको लाना पड़ेगा ऐसा विचार वे मनमें नहीं करते हैं, क्षपक जो पदार्थ चाहता है उनको वे लाते हैं, क्षपक भी जिनसे मूल्य और पास शान्त होगी ऐसे ही पदार्थ चाहता है, लौन्ससे आहारकी इच्छा वह नहीं करता है, क्षपकके घात, पिच, और श्लेष्मको न धाननेवाले पदार्थ ही परिचारक मुनि लाते हैं, परिचारक मुनिओंके हृदयमें मायाभाव नहीं रहता है, अतः वे अयोग्य आहारको योग्य बताते नहीं, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्मका धयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ही परिचारक आहार लानेके कार्यमें आचार्यके द्वारा योजे जाते हैं, जिनको भिक्षालब्धि नहीं है ऐसे मुनि इस कार्यमें निवृत्त करनेसे क्षपकको क्लेश होगा.

चत्वारि जणा पाण्यमुवकप्यति अगिलाए पाओगं ॥

छंदियमवगदोसं अमाइणो लडिसंपण्णा ॥ ६६३ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा इति सपद्यां गाथा—सुरिणा अनुज्ञातो निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथगमकं पृथ-कपानं दानयतः ॥

चत्वारः क्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलार—स्पष्टम् ॥

अर्थ—चार मृनि आचार्यके द्वारा निरुक्त होकर क्षपकके लिये योग्य बीनेके पदार्थ लाते हैं. (चाकी संपूर्ण अभिप्राय ऊपरकी गथाके समान ही समझना चाहिये.)

वचारि जणा स्वरवन्ति द्रवियमुवकपियं तयं तेहिं ॥

अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥

पानं नयन्ति चत्वारो द्रव्यं तद्रूपकस्त्पित्तं ॥

अग्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विभ्रमाः ॥ ६६९ ॥

चित्रचोदया—तेराभीतं भक्तं पात्रं वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहितः प्रसा वया न प्रविशन्ति, यथा वापटे न पस्तयन्ति ॥

चत्वारस्तद्रूपानं तरां रक्षन्तीत्याह—

मूलार—रक्षन्ति यथा प्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्ति इत्यर्थः । द्रवियं द्रव्यं । उवकपियं आनीतं । तयं भक्षणं वा ।

अर्थ—उपर्युक्त मृनिओके द्वारा लाये हुए आहारके और पानके पदार्थोंका चार मृनि प्रमाद छोडकर रक्षण करते हैं. उन पदार्थोंमें अस जीवोंका प्रवेश न होगा और कोई गिरा न सर्वेगे ऐसी संभाल वे करते हैं. क्यों कि क्षपकका जिस प्रकारसे विच रत्नश्रयमें एकाग्र रहेगा वैसा ही वे प्रयत्न करते हैं.

काइयमावी सव्वं चत्वारि पट्टिवन्ति खवयस्स ॥

पडिलेहंति य उवधोकलि सेज्जुवधिसंथारं ॥ ६६५ ॥

मलं क्षपान्ति चत्वारो चर्चःप्रस्रवणादिकम् ॥

शय्यासंस्तरकौ कालद्वये प्रतिस्तिखन्ति च ॥ ६७० ॥

विजयोवया—काइयमावी सव्वं पुरीषप्रश्रुतिकं मलं सव्वं । क्षपकस्य चत्वारः । पट्टिवन्ति प्रतिष्ठापयन्ति । पडिलेहंति य प्रतिस्तिहंति च । उवधो काले उवयात्तमनकात्सेवधोः । सेज्जुवधिसंथारं वसन्तिमुपकरणं, संस्तरं च ॥

चत्वारस्तन्याढापनोऽं वृत्तायाश्चिखिलेन च दुर्जनीत्याह -

मूलारा—काइयादि विंगमूत्रवल्घ्यसेलादियलं । पठितुंति बहिः क्षिपति । पठिलेहंति शोययन्ति । अबधो

काले प्रातः सायं च ॥

अर्थ—चार मुनि क्षपकका मलमूत्र निकालनेका कार्य करते हैं- तथा सूर्यके उदयकालमें और अस्त-
कालमें समयमें ये वसंतिका, उपक्राण और संसार इनको शुद्ध करते हैं, सच्छ करते हैं-

स्ववगस्त घरदुवारं सारस्वंति जणा चचारि ॥

चचारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥

क्षपकावसथद्वारं बत्वारः पान्ति यत्नन्तः ॥

धर्मश्रुतिगृहद्वारं चत्वारः पालयन्ति ते ॥ ६९१ ॥

विजयोदया—उपयगस्त क्षपकस्य । घरदुवारं गृहद्वार । सारस्वंति पालयन्ति । जदणाए यत्नेन । बत्वारि यत्वारः ।
असंयतान् शिक्षकोष निषेणु द्वारं पालयन्ति । चचारि दत्तारः । समोसरणदुवारं समवसरणद्वार । जवणाए यत्नेन
भारक्षन्ति पालयन्ति ॥

चत्वारस्तद्वृहद्वारं बत्वारब्ध धर्मश्रवणमंडपद्वारं रक्षन्तीत्याह—

मूलारा—सारस्वंति पालयन्ति । असंयतान् शिक्षकोष निषेणु द्वारपालादये । जदणाए यत्नेन । समोसरण-

दुवारं धर्मश्रुतिगृहद्वारं ॥

अर्थ—चार परिचारक मुनि क्षपककी वसतिस्त्रिके दरवाजेका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, अर्थान् असंयत
और शिक्षकोको ये अंदर जानेको मना करते हैं और चार मुनि समोसरण के द्वारका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं-
धर्मोपदेश देनेके मंडपके द्वारपर चार मुनि रक्षणके लिये बंठे हैं-

जिदणिहा तल्लिच्छा रादौ जगंति तह य चचारि ॥

चचारि गवेसंति खु खेत्ते देसपत्रचीओ ॥ ६६७ ॥

निशि जायति चत्वारो क्षितनिद्रा महोद्यमाः ॥

यातीं मार्गान्ति चत्वारो यत्नाद्देशाधिगोचराम् ॥ ६२२ ॥

रिजयदेव्या - विततिण्डा (विलमिष्टः) । लक्ष्मिञ्जला निराजयल्लिखनः । सप्तौ राज्ञी । अयमिति आगरं कुर्वन्ति । तदा य तन इष्य सप्तकाशौ । चत्वारि चत्वारः । भवेयमिति खु परीक्षां कुर्वन्ति । दोस्ते क्षेत्र इत्यनुपस्थिते । देशणवत्सोभो देशणवत्सोभो । क्षेमवत्सो ।

प्रश्नार : श्रवणक्षेत्रीचे राज्याच्या निव्वारा रगळ्यविषये देला दिशेमाथेमवाता मगायें ह्या

महारा — विष्णुश्च धूपकतत्परः । वेसप्यवसीओ वेसराज्यादियोरः सुभासुमवर्ताः ।

अर्थ—निद्राको जीवनको हृत्ता रत्ननेवाले चार मुनि शपकके पास जागरण करते रहते हैं, और जहाँ शपक और संस ठहरा है उस देवकी क्षुमाश्रम पावोका निरीक्षण करनेवाले चार मुनि आचार्योंके द्वारा नियुक्त किये जाते हैं,

वाहिं असह्यद्वियं कंहति चररो चद्विभकहाओ ॥

ससमयपरसमयविद् परिसाण सा समोसदाण सु ॥ १६८ ॥

यहिर्धुदन्ति धन्वारः स्वपरागमकोविदाः ॥

अर्नतःशब्दपातं ते जनानां निखिलाः कथाः ॥ ६९३ ॥

विजयोपया - वार्ति यद्दिः क्षकयासात् । असह्यज्ञितं यावत् नृदुतं स्थितानां दादौ न दूयते । सव क्षि।वा ।
जठरो खाधारः पर्यायेण । कयाओ सतुर्विधाः कथाः पूर्वा व्यावर्णिताः । कीदृग्युक्तास्तै कथका धन आह-ससतवपरत्त न-
प्रविष्टु ह्यपरक्षसिंज्ञाः । परिसाण परिणदे । समोसदाय द्राष्ट समागताथै ॥

यत्पारम्भं भवत्यस्यैव कथा कथं कथं पठितव्यमिति साहसं

मूलारा—वाहिं यदिः क्षणकावासाद्दूरे । असह्यदियं तथा क्षणको न द्रुणोति । अदुविष आक्षेणीप्रमुखाः । परिताप परिपदि । समोसकण सनुषविष्टायां । अणवावायामित्वन्वे ॥

अर्थ—सपत्तर्क वसतिके बाहर श्रवक न हूँ सकें इतने अंतर पर स्वर्ण और अन्य धर्मों के मिश्रितों का

रहस्य जाननेवाले चार मुनि सुमामंडपमें आये हुए श्रोत्रार्थको एकत्रे अनंतर दूसरा इस पद्धतीसे आशेषणपादि-
कथार्थोंका वर्णन करते हैं.

वादी चचारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्यनिदू ॥

धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६१९ ॥

चत्वारो चादिनोऽशोभ्याः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥

धर्मदेशनरक्षार्थं विचरन्ति समन्ततः ॥ ६१४ ॥

विजयोदया - वादी यानिः । चत्वारिजणा चत्वारः । सीहाणुग सिंहसमानाः । अनेगसत्यविदू अनेकसत्यज्ञाः ।
धम्मकहयाण धर्म कथयतां । रक्खाहेदुं रक्षायं । विहरंति । इत्येततो यान्ति । परिसाए परिवदि ।

चत्वारो यादितो धर्मकथापरणो प्रयाणक्षेपनिराकरणाय समायमित्ततो विचरंतीत्याह--

मलार!—महाणुभावा सिंहयत्परैरुपुष्याः ।

अर्थ—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, सिंहसमान ऐसे बाद करनेवाले चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंका रक्षण
करनेके लिये समामें इधर उधर भ्रमण करते हैं.

एवं महाणुभावा पगहिदाए समाधिजदणाए ॥

ते गिज्जवन्ति खवयं अढयालीसं हि गिज्जवया ॥ ६७० ॥

एवमेकाग्रचेतस्काः कर्मनिर्जणोद्यताः ॥

निर्यापका महाभगाः सर्वे निर्यापयन्ति तं ॥ ६९५ ॥

विजयोदया—एवं महाणुभावा, एवं माहात्म्यवंतः । पगहिदाए प्रकृष्टया । समाधिजवणाए समाधौ धृक्कस्य
प्रयत्नवृत्त्या । ते गिज्जवन्ति खवयं ते निर्यापयन्ति क्षपकं । अढयालीसं हि अष्टवत्सारिखतमाणाः । गिज्जवगा निर्यापकाः ॥
अस्तुतमुपलहरति—

मलार!—महाणुभावा महानाहुल्याः । पगहिदाए प्रकृष्टया रीकृष्टया वा । समाधिजदणाए समाधौ यत्नवृत्त्या ।
गिज्जवन्ति संसारजर्णवार्त्त्रिपर्यंतुं प्रयोजयन्ति ॥

अर्थ—इस प्रकार ये माहत्म्यवान् जड़तालीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्नसे क्षपकको समाधि में एकाग्र करते हैं. और संसारसमुद्रसे प्रयाण करनेवाले उन क्षपकको समाधिके कार्यमें अर्थात् रत्नत्रयमें प्रयुक्त करते हैं.

ध्यायजित्गुणा इत्येव निर्वाणका इति न ग्राह्यं, किन्तु भरतेरावतयोर्निचिप्रकालस्य परावृत्तेः कालानुसारेण प्राणिनां गुणाः प्रवर्तन्ते तेन कदा यथाभूताः शोभन्गुणाः संभवति तदा तथाभूता यतयो निर्वाणकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति -

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ॥

ते तारिसया तविया चौदालीतं पि गिजजवया ॥ ६७१ ॥

कालानुसारतो ग्राह्याश्चत्वारिंशच्चतुर्गुणाः ॥

भरतेरावतक्षेत्रभाचिनो मुनियुंगयाः ॥ ६७६ ॥

विजयोद्या - जो जारितभो कालो इत्यादिवा यो गारुकालो ! भरदेत्वदेसु यालेसु भरतेरायेतसु जनपदेसु । पंचमरताः पंचरायतास्ते निर्वाणकास्तारिस्ताः तारगुणाः कालानुगुणा इति यावत् । तस्या तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः । सर्वत्र सर्वदा यथोक्तगुणगणा एव निर्वाणकाः स्फुरिति न ग्राह्यं । कालानुसारेण प्राणिवो गुणप्रभूतः भरतेरावतक्षेत्रेषु विविधकालपरान्तरितवत्कञ्च कदा यथामूला यावन्तथा स्फुरद्गुणा यतयः संभवन्ति तदा तथाभूतास्तापन्तक्षेत्रे निर्वाणकत्वेन व्यवस्थान्ता इति दर्शयितुमाह -

नूढारा - भरदेरवदेसु पंचसु भरतेषु पंचसु ऐरावतेषु । यामेसु क्षेत्रेषु । तस्या तदा वसिष्काले कालानुगुणा निर्वाणका ग्राह्या इत्यर्थः ॥

जिनका गुणवर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्वाणक होते हैं ऐसा न समझना चाहिये. परंतु भाव और ऐरावत कालमें विभिन्न कालका परावर्तन हुआ करता है इसलिये कालानुसार प्राणिजोंके गुणोंमें भी जषन्य-मध्यमता और उत्कृष्टता आती है. जिससमय जैसे शोभन गुणोंका संग्रह रहता है उस समय जैसे गुणधारक मुनि निर्वाणक परिवारक समग्र कर ग्रहण करना चाहिये.

अर्थ - भरतक्षेत्रमें और ऐरावतक्षेत्रमें समस्तदेशोंमें जो जैसा काल प्रवर्तता है उसके अनुसार निर्वाणक समझना चाहिये. अर्थात् मध्यमकालके आरंभमें पञ्चैवालीस निर्वाणक होते हैं.

एवं चतुरो चतुरो परिहृवेद्व्यगा य जटणाए ॥
कालम्भि संकिलिङ्गमि जाव चत्तारि सार्धेति ॥ ६७२ ॥
णिज्जावया य दोष्णि वि होंति जट्ठणेण कालसंसयणा ॥
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥

हेयाः क्रमेण चत्वारश्चत्वारस्तावदंजसा ॥

यावत्सिद्धन्ति चत्वारः काले संक्षेपसंकुले ॥ ६९७ ॥

काशानुसारिणौ प्रात्तौ द्वौ जयन्येन योगिनौ ॥

भरतैरायनक्षेत्रभवौ निर्यापकौ यती ॥ ६९८ ॥

निर्यापकयोः—स्वशार्थोक्तस्याथाह यमिति न व्याहृत्यते ॥

काशानुसारेणात्र निर्यापकाणां संख्यादानिक्रमं दर्शयति—

मूल्या—परिहृवेद्व्यगा इति केतव्याः । जटणाए देशकालानुसारेण गुणेषु यत्नेन । संकिलिङ्गमि संकले-
शब्दकुले ॥

अर्थ—इम प्रकार देशकालानुसार गुणोंको यत्नेसे देखकर इस संकलेश्च परिणायुक्तकालमें चार चार
निर्यापक कम कम करना चाहिये, वे तब तक कम करना जब वे चार रहेंगे, अर्थात् क्षणिक समाधिभरण साध-
नेके लिये कल देदा, काल, गुणकी अपेक्षासे यदि चार ही निर्यापक हो तो भी समाधिभरणरूपकार्यकी समाप्ति
देती है, अतिरूप संकिलट कालमें दो निर्यापक भी क्षणिके इत कार्योंको साध सकते हैं, परंतु बिनागममें एक
निर्यापकका किसी भी कालमें उल्लेख नहीं किया है.

उपस्थितौ द्वौ निर्यापकौ इति तिसर्थमुच्यते । एवमेव जयन्यतो निर्यापकः कस्माच्चोपन्यस्त इत्याशङ्कया
एतस्मिन्ननिर्यापके दोषमात्रये—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोपवयणं च ॥

वसणममभाधिभरणं उट्ठाहो दुग्गदी चावि ॥ ६७४ ॥

आत्मा त्यक्तः परं शास्त्रं एको नियोपको यदि ॥

असमाधेयैतिव्यक्तैयमसौ दुर्गतिः परा ॥ ६९९ ॥

विज्ञोद्वेगा—एको यदि नियोपक । अथा चसौ आहया त्यक्तो भवति नियोपको भवति । पयवण च प्रवचन च त्यक्त भवति । अस्य व्यसन दुःख भवति । असमाधिभरण समाधानभारेण रत्नत्रये मृतिः स्यात् । उद्गहो धर्मदूषका भवति । दुग्गती चासि दुर्गतिश्च भवति ॥

सर्वतमन्वा नियोपकसंख्या निपमपति

मूलारा--दुवे द्वौ ।

एकस्मिन्नियोपके दोषमाह--

मूलादा--अथा चसौ नियोपकेण आत्मा त्यक्ताः । परो रूपकः । वयर्णं दु खं भवति । उद्गहो धर्मदूषणं ।

अन्यतासे एक नियोपकश्च आगममें क्यों उल्लेख नहीं है. दो नियोपकोंका क्यों उल्लेख किया है ऐसी शंका होनेपर आचार्य एक नियोपक होनेमें उत्पन्न होनेवाले दोषोंका वर्णन करते हैं.

अर्थ--यदि एकही नियोपक दोष तो उसमें आत्मत्याग, रूपकका त्याग और प्रवचनका भी त्याग होता है. एक नियोपकसे दुःख उत्पन्न होता है और रत्नत्रयमें एकाग्रताके बिना भरण हो जाता है. धर्मदूषण और दुर्गती भी होती है.

एष नियोपकेणत्मा त्यक्तो भवति, रूपक इत्येतत्कथयति -

खवगपडिजगणाए भिक्खमाहणदिसकुणमाणेण ॥

अणा चत्तो तव्विबरीद्धो खवगो हव्वदि चत्तो ॥ ६७५ ॥

मिध्वायाविदधानेन रूपकप्रतिकर्मणा ॥

अनारतं प्रसक्तेन स्वस्त्यत्तोऽन्यो विपर्ययः ॥ ७०० ॥

विजयोद्वेगा--खवगपडिजगणाए रूपकप्रतिजाभरणया क्षयरप्रतिरत्नेन । खवगपडिजगणाए इत्यनया गाथया अत्रैव पदसट्ठना भिक्खमाहणादिमकुणमाणेण भिक्षाग्रहण, निद्रा, कायमल्लस्याग वा कुर्वता नियोपकेण । अन्पा चसौ आत्मा त्यक्तो भवति । अशानाग्रहणाच्चिदाया भवावात् । कायमल्लाना वाऽनिरुक्करणाग्रहती नियोपकस्य पीडा ।

तद्विवरीदो यदि नियामो भिक्षां भ्रमति निद्राविशयशरीरमलनिरासाद्यं यति, ययगो सत्तो भयति क्षणक-
स्मृक्तो भवति ॥

कथं ज्ञात्मा त्वक्तः कथं वा क्षपक इत्यत्राह—

मूढारा—यतिजगन्गण कार्यकरणे । विस्तारग्रहणादि भिक्षाग्रहणं क्षयमलत्यागं च । अकुगमाणेन अकुर्वता
निर्यापयेत् । चत्तो अशनाभ्रणाञ्जिनियारणादिष्मृत्राशुस्तुर्जनाञ्च महर्वा पीडां प्रापितः । तद्विवरीदे भिक्षाभ्रमण-
निद्राकरारगदुद्वयगमने । चत्तो त्वक्तः क्षपकस्तत्तमाधानादुत्प्रेधानापलापार ॥

एतु निर्यापक से आत्माका और क्षपकका भी त्याग होता है इसका विवेचन—

अयं क्षपकके कार्यमें हि यदि निर्यापक तपर रहेगा तो आहारग्रहण करना, शयन करना, और शरी-
रमलना त्याग करना इन कार्योका त्याग करनेसे निर्यापकको आत्मत्याग करना पड़ेगा. अर्थात् आहारका ग्रहण
न करनेसे, निद्राका अभ्रम होनेसे, और शरीरमलका विसर्जन करनेसे निर्यापकको बड़ी वेदना होगी जिससे
उमरुा देह पड़ेगा. यदि निर्यापक भिक्षाग्रहणादि कार्यमें ही लग जावेगा अर्थात् वह भिक्षाके लिये यदि भ्रमण
करेगा, खूब सोवेगा, और जाँचके लिए जावेगा तो क्षपकका त्याग होगा.

खवयरस अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ॥

पाणस्स य बुच्छेदो पवयणचत्तो कओ होदि ॥ ६७६ ॥

स्वस्यापरस्य वा त्यागे यानिधर्मो निराकृतः ॥

ततःप्रवचनत्यागो ज्ञानविच्छेदको मतः ॥ ७०१ ॥

विजयोदयः—ऊचयरस अप्पणो वा चाए क्षपकरात्मनो वा त्यागे । चत्तो खु होदि जइधम्मो त्यक्तो भवति
यतिधर्मः । यतेधर्मो येयावृद्धकरणं स परित्यक्तो भवति क्षपकग्रहणाय गमने । जगत्तमे तु आवययकानि यतिधर्मेषु
प्रधानानि त्यक्तानि भवन्ति क्षतिर्देवत्यात् । जणसरस य बुच्छेदो ज्ञानस्यापि शुच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह स्मृति-
मुपयाति । ततो तरमातपययकागो होदि प्रवचनत्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । प्राज्ञा हि केचिदेव भवन्ती-
ति चेदेकका निर्यापका अमशनादिनाक्षिप्त्वा स्मृतिमुपेयुः कः शास्त्राभ्युपदेशोत् कश्च धारयेद्वेति प्रवचनत्यागः ॥

स्वप्नत्यागे प्रवचनत्यागमाह—

मूलारा—जदिधर्मो यतेधर्मो वैवाक्यकरणं पठावश्यकं च त्यक्तं शसिचैकस्यात् । पाणस्स य वोच्छेदो शान्तरयापि न्युच्छेदः स्यान्निर्यापकमरणत् । पक्वणचाखो तदो वतो क्षान्दुच्छेदात् श्रवचनस्यागमस्य त्यागो विसर्जनं भवति भोजनाद्यकरणेनातिविलष्टस्य निर्यापकस्य नरणात् । प्रज्ञा हि केचित्तेव स्युः ॥

अर्थ—क्षपकका अथवा अपना रथाग होनेपर यतिधर्मका ही त्याग हुआ। वैवाक्य्य करना यतिका धर्म है। आरमरयाग अथवा क्षपकका रथाग होनेसे यतिधर्म भी नाष्ट होता है, क्षपकको छोड़कर यदि निर्यापक जावेगा अथवा नहीं जावेगा तो यति धर्ममें जो सामायिकादिक अवश्य कर्तव्य है उनका त्याग होगा, शक्ति कम होनेसे ज्ञानका भी नाश होगा, निर्यापक और क्षपक दोनों भी मरने तो आगमका त्याग होगा, प्रायः विद्वान् एकाद ही होता है, इस पास्ते अहारादिकके कष्टसे लिप्त होकर निर्यापक मरणको प्राप्त होगा तो कोन शास्त्रोंका उपदेश करेगा और कोन शास्त्रको धारण करेगा? इसलिये एकही निर्यापक होनेसे श्रवचनत्याग होता है, यह सिद्ध हुआ।

व्यसनं व्याख्ये—

चायमि कीरमाणे वसणं खयरस अप्पणो चावि ॥

खयरस अप्पणो वा चायमि हवेउज असमाधि ॥ १७७ ॥

क्षपकस्यात्मनो वारित त्यागतो व्यसनं परम् ॥

भवेत्ततोऽसमाधानं क्षपकस्यात्मनोऽपि वा ॥ १७८ ॥

विलयोदया—चायमि कीरमाणे त्यागे विद्यमाने । वसणं खयरस क्षपकस्य दुःखं भवति, प्रतिकाराभावात् । अप्पणो वा वसणं निर्यापकस्य वा व्यसनं भवति अशनादित्यागात् । असमाधिर्त्यागो सति । खयरस असमाधि क्षपकस्य अहाराधिमरणं भवति । विसर्जनात् । विसर्जनात् । व्यसनं भवेत् । असमाधिः अशनादित्यागजनितदुःखप्रचलितस्य ॥

स्वपरत्यागे तु अमप्याह—

मूलारा—खयरस क्षपकस्य दुःखं त्यागहीकाराभावात् । अप्पणो अशनादित्यागात् । असमाधी क्षपकस्य असमाधिः । समापिकराचार्यसंनियानायाभावान्निर्याग वा अशनादित्यागजनितदुःखसंक्षेपशेषात् ॥

च्यसन अर्थात् दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—निर्यापकने क्षपकको छोड़ देनेपर क्षपकका दुःख होता है, उस दुःखका क्षपक कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता है, और आहारादिकका त्याग होनेसे निर्यापकको दुःख होता है, क्षपकका त्याग करनेपर उसके अंतःकरणकी रत्नत्रयमें एकत्र करनेवाला कीर्त्तन होनेसे उसका असमाधिभरण होता है, और यदि क्षपकके पास हमारा निर्यापक रहनेसे उसको आहारादिकका त्याग करना पड़ेगा तबसे निर्यापककी भी रत्नत्रयमें एकाग्रता होना असंभव होगी-

सेवेज्ज वा अकप्पं कुञ्जा वा जायणाइ उदाहं ॥

तण्हाट्ठुयादिभगो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवए ॥ १७८ ॥

क्षुधादिपीडितः गृह्ये सेवते याचते यतः ॥

क्षपकः किंचनाकरणं दुर्मोचमयशस्तनः ॥ ७०३ ॥

विजयोदया—सेवयइ या अकप्पं अयोग्यसेवां कुर्यात् । अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिन्यसति । कुपजा वा कुपजा । जायणा उदाहं मिथ्याहरीणां गत्या याचते क्षुधा वा कृपा वा अमिश्रलोऽहं भक्षते यत्नं वा वेदीति । सुण्णम्मि णिज्जवणे भसति निर्यापके ॥

निर्यापकामात्रेऽकीर्त्तिं वक्ति—

मूढारः—अकप्पं अयोग्यमसितिभोजनादिकं । जायणादि याचनामजप्रयानादिकप्रार्थनं मिथ्याहरीन्प्रति । आदिशब्देन तद्व्यपेक्षादिकं । पागो पीडितः । सुण्णम्मि अबिद्यमाने ।

अर्थ—यदि एक निर्यापक आहारादिके वास्ते बाहर गया तो इवर क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् चैतन्य भोजन करना चगेरह कार्य करेगा, किन्ता मिथ्याहरीके पास जाकर याचना करेगा, मैं भूलसे पीडित हुआ हूं अथवा प्याससे कष्टी हो रहा हूं मेरे को खोनेके लिखे या पीनेके लिये दो ऐसी याचना करेगा-

दुग्मादि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिञ्ज सो सुण्णगम्मि णिज्जवगे ॥

गच्छेज्ज तवो खवओ दुग्मादिभसमाधिकरणेण ॥ ६७९ ॥

यतोऽसमाधिना मृत्युं याति निर्यापिकं विना ॥

क्षपको दुर्गतिं भीर्मा दुःखदां लभते ततः ॥ ७०४ ॥

विजयोदया—असमाधिना व अतति निर्यापके समीपस्थे समाधिभूतरेण कालं कुर्यात् । ततस्तेन असमाधिमरणेन । एतन्नो दुर्गादि गच्छेज्ज क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभप्रयानात् ॥

असति निर्यापके दुर्गतिविषयमाह—

मूढारा—स्पष्टम्

दुर्गतिं का धर्षेन—

अर्थ—निर्यापक समीप न होनेपर क्षपका असमाधिते मरण होगा, और ऐसे मरणसे अर्थात् अशुभ-स्थानपूर्वक मरणसे क्षपकको दुर्गति होगी.

सहेहणं सुणित्ता जुत्ताचारेण णिज्जवेज्जतं ॥

सत्वेहिं वि गंतव्यं जदीहिं इदरत्थ मयणिज्जं ॥ ६८० ॥

चतुर्विधस्य संघस्य कच्चन प्रेषयेत्ततः ॥

संन्याससूचकाचार्यो निर्यापकगणेशिना ॥ ७०५ ॥

श्रुत्वा सहेखनां सर्वैरागतव्यं तपोधनैः ॥

कारितां शुद्धदृष्टेन भजनीयमतोऽन्यथा ॥ ७०६ ॥

विजयोदया—सहेहण सहेपणा । सुणिता धृत्वा । जुत्ताचारेण युक्ताचारेण सूरिणा बिज्जवेज्जतं प्रवर्त्यमानां । सहेहण गंतव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके सूरौ गदचारित्रे मान्यं । याति न न यतस्य ।

सम्यग्गार्होण्येण प्रवर्त्यमाने क्षपकत्वा समाधिभरणोपक्रमे श्रुते सति सर्वशरीरा यदुपसर्पणं अन्यथा विकल्पं

चाह—

मूढारा—बुद्धिचारेण सुविदित्वाचारेण धारिणा । निव्वेवेव्वन्तं । प्रवर्त्यमानं । इदं त्व मंदचारिणे सरो निर्यापके सति । भयणिन्नं गंतव्यं न वेत्यर्थः—
 अर्थ—निरतिचार स्तव्यका वाल्म करेनवाले निर्यापकाचार्य के द्वारा क्षपकत्वां सहेखनाभरण होने वाला है यह सुनकर सर्व भूमिजोंको क्षपकके पास जाना योग्य है. परंतु निर्यापकाचार्य मंदचारित्रका धारक होगा तो यति चाहे वो जा सकते हैं. अन्यथा नहीं.

संछेहणाए मूलं जो वच्चइ तिब्बभच्चिरायेण ॥
 भोत्तूण य वेवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६८१ ॥
 एगम्मि भवगहणे समाधिररणेण जो मदी जीवो ॥
 ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तहभवे एमोत्तुण ॥ ६८२ ॥
 सोदूण उत्तमहस साधणे तिब्बभच्चिसंजुचो ॥
 जदि णोवयादि का उत्तमहमरणम्मि से भती ॥ ६८३ ॥
 एति सहेखनामूलं भक्तितो यो महाभनाः ॥
 स निरयमदनुते स्थानं भुक्त्वा भोगपरंपराः ॥ ७०७ ॥
 एकत्र जन्मानि प्राणी त्रियते यः समाधिना ॥
 अकल्मषः स निर्वाणं सप्तार्ष्टिलं भवेः ॥ ७०८ ॥
 यो नेति परया भक्त्या श्रुत्वोचमार्थसाधनम् ॥
 उत्तमार्थमृतौ तस्य जंतोर्भक्तिः कुतस्तनी ॥ ७०९ ॥

विजयोदया—सोदूण धुत्वा सत्तमार्थसाधनं । वीवभक्तिसंयुक्तो यदि गच्छेत् । नैव तस्य उत्तमार्थमरणे भक्तिः ॥

अत्रमे गाये सवेष्टुभूये—

मूढारा—येते धी विवयाचार्यो नेच्छति ।

मूलादा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जो यति तीव्र भक्तिरामसे सहेखनाके स्थानकी वंदना करनेको जाते हैं उनको मरणोत्तर देवपालिका सौख्य मिलता है अनंतर उनको मोक्षभी प्राप्ति होती है. जो यति एकमर्मे समधिपरणसे मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसारमें प्रमण नहीं करेगा. उसको सात आठ भव धारण करनेके अनंतर अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होगी.

अर्थ—समाधिपरणका साधन कोई सुनि कर रहा है ऐसा मालूम होनेपर अन्य अन्य संघके सुनि बड़े आदर भावसे उसके दर्शन के लिये जाने यदि कोई नहीं जायेगा तो उसकी उत्तमार्थमरणमें भक्ति नहीं है ऐसा समझना चाहिये

उत्तमार्थमरणभक्त्यभ्यासे दोषभाह—

जद्य पुण उत्तममरणमि भक्ती ण विज्जेदे तस्स ॥

किह उत्तममरणं संपज्जदि मरणकालमि ॥ ६८४ ॥

उत्तमार्थमृतौ यस्य भक्तिर्नस्ति शरीरिणः ॥

उत्तमार्थमृतिस्तस्य मृतौ संपद्यते कुत ॥ ७१० ॥

विज्जयोदया—जस्स पुण उत्तमार्थमरणे भक्तिं विपत्ते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरणं संपद्यते इति दोष लक्षित ॥

उत्तमार्थमरणे भक्त्यभावे दोषभाह—

मूलादा—स्पष्टम् ।

उत्तमार्थ मरणम भक्ति न होनेसे क्या दोष होता है इनका वर्णन—

अर्थ—जिसकी उत्तमार्थमरणमें—समाधिपरणमें भक्ति नहीं है उसको मरणकालमें उत्तमार्थमरणकी प्राप्ति केसी होगी अर्थात् वह आर्त्तादिक अशुभभयानसे मरणको प्राप्त होगा. ऐसा अभिप्राय इस वाक्यासे लक्षित होता है.

सहृददीणं पानं अस्त्रियदु असंबुडाण दादब्बं ॥
तेसिं असंबुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ॥ ६८५ ॥

तस्यासंबुतवाक्यानां न पार्श्वे देयमासितुं ॥
वचनैरसमाधानं तदीयैर्जायते यतः ॥ ७११ ॥

पिजयेत्तया — असंबुडाण पासं सहृददीणं अस्त्रियदु ण दादब्बं । अस्पृतातां क्षपकसमीपं दौकतं न दातव्यं ।
थावेरास्त्रानां वेपथं वचनं न श्रूयते ।

कस्मात्संबुतजनसमीपगमनं निषिध्यते इत्याद्ये — तेसिं असंबुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ।
ते पामसंबुताभिर्वाग्मिर्मेघैरक्षपकस्य असमाधिः । क्षीणो हि जनो शक्तिकिरणेषुवा कुप्यति संक्षेपमुपयाति वा ।

वचनार्थसाधकस्य समीपे वापाठानां गमनं निषेदुमाह—

मूढारा—सहृददीणं शब्दवृत्तीनां शब्दवृत्तीनां च कलकलकारिणामित्यर्थः । पासं समीपं अर्थाक्षपकस्य ।
अस्त्रियदुं आश्रयितुं । असंबुडाण वाग्म्युत्पत्तिभित्तिविकलानां । असंबुडगिराहिं वरसूत्रभिर्वाग्मिभिः । असमाधी वित्तविक्षेपः ।
क्षीणो हि जनो शक्तिकिरणैश्च कुप्यति संकलितइत्ये वा ।

अर्थ—जो भग्नगुप्ति अथवा भाषासामितीके फालक नहीं है, जो आगमसे विरुद्ध भाषण बोलते हैं अथवा जो जादा फलफल करते हैं ऐसे लोकोंको क्षपकके पास नहीं जाने देना चाहिये, क्यों कि उनका निरर्गल आगम विरुद्ध भाषण सुनकर क्षपकका चित्त रत्नत्रयमें स्थिर न होगा और क्षीण हुआ वह क्षपक कोपयुक्त संक्लेश परिणामयुक्त हो जावेगा अतः आगमविरुद्ध जादा वाद करनेवाले को क्षपकके पास जादा निषिद्ध किया है, जहाँ तक शब्द सुननेमें आवेगा वहाँ तक उनका गमन निषिद्ध समझना चाहिये-

भत्तादीणं भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादब्बा ॥
आलेयणा वि हु पसत्थमेव कादब्बिया तत्थ ॥ ६८६ ॥
गीताथैरपि नो कूत्था ख्विस्तत्तार्यादिका कया ॥
आलोचनादिकं कार्यं तत्रातिमधुराक्षरम् ॥ ७१२ ॥

विज्ञाचोदयः—भूतादीनां तंती भक्त्यादिकथा । भूतीतीतीति यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति । आलोचना
वि श्रु आलोचनागोचराद्यतिचारविन्या । तत्र क्षपकसमीपे । पसदयमेव कादन्त यथासौ न शृणोति तथा कार्यो ।
चड्डु युक्ताचारेषु सूरिषु सत्तु ॥

गीतार्थानां क्षपकानि व्यवहार्यसाह—

मूढारा—तंती कथा । आलोचना गोचराद्यतिचारगोचरा । पसदयमेव यथासौ न शृणोति तथा कथा कर्तव्येत्यर्थः ॥
अर्थ—आगमार्थको जाननेवाले भुजिओंको क्षपकके पास भोजनकथा, धर्मके कथाओंका वर्णन करना
योग्य नहीं है. योग्य आचारोंको जाननेवाले आचार्योंके पासही सूक्ष्म अतिचारविषयक आलोचना करना हो तो यह
भी प्रशस्त ही करनी चाहिये. अर्थात् वह क्षपक सुन न सके ऐसी आलोचना करनी चाहिये.

पञ्चकखाणपडिक्कमणुवदेसणिबोगतिविह्वोसरणे ॥

पट्टवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥ ६८७ ॥

प्रत्याख्यानोपदेशादौ सर्वत्रापि प्रयोजने ॥

क्षपकेण विधातव्यः प्रमाणं सूरिराश्रितः ॥ ७११ ॥

विह्वोदयः—आशयवर्धनं प्रतिक्रमणादिकं । से तस्य सकाशे कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न केवल-
तु शातस्य समीपे ॥

चड्डुवपि युक्ताचारेषु सत्तु सूरिषु क्षपकेण प्रत्याख्यानादिकं प्रथममुपाश्रितस्यैव सूरः समीपे कर्तव्यमित्यनु-

शासि—

मूढारा—भिक्षुग आश्रान्तं । तिविह्वोसरणे त्रिविधाहारणयो । पट्टवणा प्रायस्त्रिं । अपुच्छा प्रश्नः ।
उवसंपण्णो निर्वापकत्वेनाश्रितः । पमाणं प्रमाणावधिर्विचारो भवति । यथावच्छिन्नस्तदा तदनुज्ञया तादृगन्योऽपि प्रमाण-
मिति निर्णयः ।

युक्ताचारके ज्ञाता अनेक आचार्य हो तो भी जिसके पास क्षपकने प्रथम आलोचना की है उसके ही सज्जि-
य प्रत्याख्यानादिक करने चाहिये ऐसा वर्णन—

अर्थ—क्षपकमुनि प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण वगैरेह आवश्यक कर्तव्य प्रथम आचार्यके पास ही करे, आज्ञा ग्रहण करना, उपदेश सुनना, तीन प्रकारके खाहारका त्याग करना, (जल छोटकर) प्राचक्षिच ग्रहण करना, ग्रन्थ करना, इत्यादिह धार्यमें प्रथमाचार्य ही उसके लिये प्रमाण है- यदि प्रथमाचार्य उपदेश देना, वगैरेह कार्यमें अवकाश हो तो उनके आज्ञानुसार दूसरे आचार्यके पास क्षपक प्रतिक्रमणादिक कर्तव्य कर सकता है.

तेहृकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेचव्या ॥

जिब्भाकण्णाण वलं होहिदि तुंडं च से विसवं ॥ ६८८ ॥

तेन तैलादिना कार्यो गंडूपाः संत्यनेकशः ॥

जिह्वाबदनकर्णादिर्नैर्मलयं जायते ततः ॥ ७११ ॥

भवन्ति येषां गुणिनः सहाया विभ्रं चिना ते ददते समार्धि ॥

समाधिदानोद्यतमानसैस्ते प्राच्याःप्रयत्नेन ततो गणेन्द्राः ॥ ७१६ ॥

इति निर्यापकाः ।

विजयोदपा—तेहृकसायादीहिं य तैलेन कण्ठादिभिद्वय । बहुसो बहुसो । गंडूसया दु गंडूपाः । घेचव्या प्राक्षाः । तत्र गुणं यदति-जिम्भाकण्णाण वलं जिह्वायाः कर्णयोश्च शक्तिर्न वचने ध्वजेण च । होहिदि भविष्यति । तुंडं च से विसवं होविषि पदसंबंधः । तुंडवैशद्य अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापक्यत्वार्णना समाप्ता ॥

वाक्क्षवणपाटवमुद्धेदसाधं ययादोपं तैलादिगंडूपाणं गुरुनिवोगेन रूपकस्य विधेयतयोपदिशति—

मूलांरा—गंडूसया गंडूपा । घेचव्या प्राक्षाः क्षपकेण । वलं । ध्वजे ध्वजे च क्षक्तिः । तुंडं गुणं । निर्यापकः

सूतः २७ अंकत ॥ ४० ॥

अर्थ—तेल और कणायले द्रव्योंके क्षपकको यहुतवार कुरले करने चाहिये. कुरले करनेसे जीम और कानोंमें सामर्थ्य प्राप्त होता है. अर्थात् कणायद्रव्यके कुरले करनेसे जीमके उपरका मल निकल जानेसे वह स्वच्छ होती है. बोलनेमें समर्थता प्राप्त होती है. कर्णमें तेल डालनेसे श्रवणशक्ति घटती है- निर्यापकवर्णन समाप्त हुआ.

पिञ्जलवयपयासपा इत्येतद्वदति—

दृव्यपयासमकिञ्चा जइ कीरद तस्स तिविहवोसरणं ॥

कहियि मच्चविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८९ ॥

अप्रकाश्य त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि ॥

तदोत्सुकः स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥

विक्रपोषण — द्रव्यपयासमकिञ्चा प्रउत्थाहारस्स प्रकाशने वे प्रति ठोकने अकृत्या । जइ कीरद यदि क्रियते । तस्स तस्य क्षपकस्य । तिविहवोसरणे त्रिविधाहारस्यागः । कहियि मच्चविसंमि मच्चविसंमि मच्चविसंमि । उस्सुगो होज्ज सो खवओ उस्सुको मयेसस क्षपकः । माहारोत्सुक्यं चित्तं व्याकुलवति ॥

अर्थं त्रिधापयस्वविपुलायसमप्रतिपक्षविनिगणपरिषर्षमाणस्य क्षपकस्य त्रिविधाहारं परित्तिहीनोराहारविक्षो-
पौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं विशिष्टाहारवर्धनलक्षणां परमाहारप्रकाशनां गायामसप्तकेन उवाच्यं चित्तव्यन्तर् सयुक्तिकं उत्पद्योतवि-
धिं गायाम्बुदेनाह—

मूळार — द्रव्यपयासं द्रव्यस्य नामाविधाहारस्य प्रकाशं तं प्रति ठोकनं । उस्सुगो उत्सुकः सोत्कंठमभिलाषुकोऽ-
नादिसंततया भवर्त्तमानववाधाहारसंज्ञायाः ॥

अथ आहारप्रकाशनं प्रकरणका आप्यायं वर्णनं करते हैं—

अर्थ—क्षपकको आहार न दिखाकर ही यदि उससे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराया जायेगा तो वह किसी आहाराविशेषमें उत्सुक होगा. अर्थात् अग्निक आहार मरेको चाहिये ऐसी इच्छा उसके मनमें प्रादुर्भूत होगी जिससे उसका मन दुःखित होगा. यह आहारसंज्ञा जीवमें अनादिकालसे संलग्न हुई है. इसवास्ते उसको आहार दिखाकर उपदेग देकर उससे विरक्त करना चाहिये.

तस्मा तिविहं वोसरिविदित्ति उक्कस्सयाणि दृव्वाणि ॥

सोसिचा संविरलिय चरिमाहारं पायासेज्ज ॥ ६९० ॥

पासितु कोई तादी तीरं पचस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुण्णो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९१ ॥

ततः कृत्या मनोज्ञानमाहाराणां प्रकाशना ॥

सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारभोजनम् ॥ ७१८ ॥

कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥

इति वैराग्यमापन्नः संयेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥

विजयोदय—पासितु दृष्ट्वा आहारसुखदर्शितं । कोऽ कश्चिद् । तादी यत्ति । तीरं पचस्स तीरं प्राप्तस्य । इमेहि अमीभिर्मनोज्ञैराहारैः । किं मेत्ति किं समोक्तं । वेरगमणुण्णो भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगतः । संवेगपरायणो होदि संसारमयात्प्रागे प्रथमो भवति ॥

मूढारा—बोत्तरिदिगिं प्रत्यासयान्यतीति । सोत्तिष्ठा सर्वतोपेत्यष्टात्तात्समीपमानीय । संविरुद्धि भोजनेषु पिरलं विरलं वृत्त्या । संविरुद्धय इति पाठे सन्ध्याग्निरपद्येत्यर्थः । पयासेवज दग्धयेस्सुरिः । एतां टीकाकारो नेच्छति ॥

कश्चित्पानि दृष्ट्वा परं वैराग्यं प्राप्तो भवमवग्रथानो भवतीत्यनुसासितः—

मूढारा—पासितु उपदर्शितमाहारं दृष्ट्वा । तादी मुनिः । तीरं नरणात् । इमेहि एवैकल्लुष्टभोग्यैः । किं मेत्ति किं प्रयोजनं ममेति । वेरगं भोगवैराग्यं । मनोक्लविपसेषा हि पौनःपुन्येन प्रवर्त्यमाना तत्राभिलषमनुबध्नाति तस्य कर्म-
बन्धस्ततो भूयोऽपि भीममवग्रथेश इति ।

अर्थ—इसलिये अच्छे अच्छे आहारके पदार्थ वर्तनीमें शुधक् शुधक् परोसकर उस क्षणके समीप लाने चाहिये. और उसको दिखाना चाहिये. ऐसे उत्कृष्ट आहारको देखकर कोई क्षणक मुनि भी तो अब इस भवक दुसरे किनारे को प्राप्त हुआ है, इन मनोहर आहारकी मेरेको कुछ आवश्यकता नहीं है ऐसा मनमें समझकर भोगसे विरक्त होता है. और संसारसे भययुक्त होकर आहारका त्याग करनेमें ही उद्युक्त होता है.

आसादिचा कोई तीरं पचस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुण्णो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९२ ॥

देसं भोञ्चा ह्य हा तीरं पचस्सिमेहिं किं भेत्ति ॥
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होवि ॥ ६९३ ॥
 सत्वं भोञ्चा धिच्छी तीरं पचस्सिमेहिं किं भेत्ति ॥
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥ ६९४ ॥
 आसवाय कच्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
 अशित्वा कच्चिदंशेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
 कल्लिभत्वा सर्वभोतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥

विजयोदया - मतोल्लसितयत्नेना हि पौनःपुन्येन प्रयत्नमना अभिलषं अवयति संतोः । स जानुएराः कर्त्तुं
 पुत्रलावले हेतुः, यतो भोगं भोगाधिप्रेयसने भवधृतामिति स्पष्टाय गप्यमवगोचरं । प्रकाशना समस्ता पयासणा ॥
 कोपि स्तोकं मुले प्राक्षिप्य विरक्तः सन्तर्क्षितनः स्यादित्याह—

मूलारा—एतदं ।

कोऽपि आहारैकदेसं वसिभत्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—दादा । भुक्त्वाऽपि विविधादायाः पीताभ्य विविधास्तनाः ॥

मावरो विविधा दद्याः पितरस्य भवार्थेने ॥ इति श्लोकविपादाविष्टः ॥

कोऽपि सर्वमाहारं भुक्त्वा धिग्भिग्मागित्यात्मानं निन्दित्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—एतदम् ।

अर्थ—कोई क्षपक मुनि नाना प्रकारके मतोल्लसित आहार की प्राप्ति होनेपर इनसे भेरा क्या प्रयोजन सिद्ध
 होगा ऐसा विचार करके उनका सेवन नहीं करता है, मैं तो अब परणके अन्तिम समयको प्राप्त हो चुका हूँ

अतः इससे मेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध होगा नहीं इस विचारसे वैराग्यको प्राप्त होकर संन्यास होता है, कोई क्षपक उस आहारों से थोटा आहार उठाकर अपने झुंडमें डाल कर ददनंतर हाथ 'अब तो मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं इस आहारसे मेरा क्या मतलब है ऐसा विचार कर विरक्त और संसारसीत होता है, कोई क्षपक संपूर्ण आहारका भक्षण कर उसमें विरक्त होता है, हाथ मेरेको थिरकार दो, मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं, ऐसे विचारसे विरक्त और भवभीत होता है, मनोश विषयोंका सेवन करते रहनेसे वाग्धर अभिलाषा चटती ही जाती है, यह अभिलाषा विषयोंपर अनुराग उत्पन्न करती है, अनुरागमें कर्मबंधन होता है और यह कर्मबंधन संसारसमुद्रमें प्राणीको पटक देता है, इस प्रकारके विचारसे क्षपक आहारका त्याग करता है, प्रकाशन प्रकरण समाप्त हुआ.

शारीरि सुत्तपदं न्याचये -

कोई तमादयित्वा मणुणरसवेदणाए संविद्धो ॥

तै चैवणुवंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६९५ ॥

वहिंअत्था सुंदराहारं रसास्वादलालसः ॥

कस्मिंसमनुयन्नाति सर्वं देशं च गृद्धितः ॥ ७२३ ॥

इति प्रकाशनम् ।

वित्तयोदया-कोई फाइयतिः । तं दक्षिणमाहारं । अदयित्वा भुञ्ज्या । मणुणरसवेदणए मनोजरसाभुव-
नेन । वंविद्धो सुविद्धः । तै चैवणुवंधेज्ज हु तमेवात्त्यादितं मनोजरसाभुवमनोयत् । दक्षिणदेशं च गिद्धीए गृद्धया ॥

कस्मिन्मनस्यत्वं दक्षिणमाहारं सर्वं भुक्त्वा वद्वसाभुवमविष्टमेव सर्वं तदेकदेशं वा गृद्धया नित्यमभिलषेदि-
त्याह--

मूलारा-आवृत्ता-भुक्त्वा । वेदणाए अनुभवेन संविद्धो सम्पुर्णितः ॥ एतां श्री विनयाचार्य उत्तरसूत्रे न्याचष्ट ।
प्रकाशना । सूत्रः २८ । अंकता ॥

इति नामक प्रकरणका विवेचन--

अर्थ—कोई क्षपक दिखाया हुआ आहार मक्षण कर उसके स्वादिष्ट रसमें लुब्ध होकर उस संपूर्ण आहार को पारंपार भक्षण करने की इच्छा रखता है- अथवा उसमेंसे किसी एक पदार्थ को बारंबार खानेकी अभिलाषा करता है।

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ॥

उद्धरिदु मणोसहं सुहुमं सण्णिव्वेमाणो ॥ ६९६ ॥

कुरुते देशनां सुरिरायापायविशारदः ॥

निरारक्तुं मनःशतयं सूदमं निर्योपयन्नसुम् ॥ ७२४ ॥

विशयोदया—तस्य भवहारसक्तौ ज्ञातार्या । अत्राभ्योवायं इन्द्रियसंयमदशापायं, असेयमस्य च होकनं । दंसेदि दंसेवति । विसेसदो विशेषेण । उपदिसंतो उपदिशन् । उद्धरिदु उद्धतुं । मणोसहं मनःशतयं । सुहुमं सुदमं । सण्णिव्वेमाणो सम्पन्न प्रशमयन् ॥

अर्थ—मनोशारारसदृष्टपदार्थात्मकक्षत्योद्धरणपूर्विका क्षपकस्य ह्यानि गाथाचतुष्टयेन व्याचक्षाणः पूर्व तादृक् शक्त्यासौत्थ सस्य निर्योपकाचार्येण प्रयोज्यं प्रतिविधानमभिधत्ते—

गूढारा—तत्थ तस्यां मनोशारारसासक्तौ क्षपकस्य ज्ञातार्या । अपायोशये अपायभित्तिरसंयमविनाशं, ज्ञायं च तदसंयमवर्तकनं । विसेसदो उवदिसंतो ‘वाञ्छितेन्द्रियस्य फापि कार्यवित्तिरस्तीति’ । ‘अंधासर्वं महानंदो विपद्वाञ्छितेन्द्रियः । चक्षुषांशो न ज्ञाति विषयापो न केनचित्’ ॥ इत्येवं प्रायेण विशेषणोपदेशं कुर्वन् । उद्धरिदु उद्धतुं उत्पादयितुं । मणोसहं भित्तगर्वं भोजनमृदिलक्षणं योरदुःसकारणं । सुहुमं सूदमं गुरुणापि तदैवोपलक्षणीयत्वात् । सैनिश्ववेमाणो सम्पन्नं प्रीणयन्प्रशमोत्पादनेन क्षीतलयन्निरर्थक्यं ॥

अर्थ—जब आहार में क्षपककी आसक्ति हो जाती है तब अभिलाषा रूपी सूक्ष्म मनःक्षल्यको निकालनेके लिये आचार्य शांततासे उसको विज्ञाप रीतीसे उपदेश करते हैं- उपदेशमें वे आहारकी मृदुलसे इन्द्रियसंयमकी हानि होती है और असंयमकी वृद्धि होती है ऐसा विशेषरीतीसे कहते हैं- विसुने इन्द्रियोक्तो तन्मं नही रखा है : वह कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है, विषयांच मनुष्य अवशसे भी शन्या है, आत्ममे अंधा पुरुष केवल पदार्थोंको

देख नहीं पाता परंतु विवेकतो वह रहित नहीं है. परन्तु विषयांच हेय, उपादेय, कुछ भी जानता नहीं. इस प्रकार का उपदेश करके उसकी आहारकी अभिलाषा हृदयसे निकालते हैं.

सोच्चा सल्लमणस्यं उद्धरदि असेसमप्पमाणेण ॥

वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥ ६९७ ॥

काच्चिदुद्धरत्ते शस्यं क्षिप्रमाकर्ण्य देशनाम् ॥

करोति संसृतिप्रस्तः सूरिणां वचसा न किम् ॥ ७२५ ॥

विजयोदया—सोचा श्रुत्या वैराग्यरूपां । सल्लं शब्दं, उद्धरदि उत्थायति । असेल अशेषं । जपमोक्षेण प्रमादं विना । वेरगमणुप्पत्तो वैराग्यमनुमान । संवेगपरायणः संवेगपरः । क्षपकः शल्योद्धरणपरो भवति ॥

गुरुपदेशमाकर्ण्यं श्रुतिं प्रतिशुद्धः स क्षपको यदिथचे तदभिषेचने—

सूत्रा—१५८८५ ।

अर्थ—इस प्रकार वैराग्य यदनेपाला उपदेश सुनकर क्षपक प्रमाद छोड़ देता है, और संपूर्ण अभिलाषा रूपी शल्यको हृदयसे निकालकर फेंक देता है. वैराग्य युक्त होकर संसारसे मययुक्त होता है.

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय ॥

एक्केकं हवेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥ ६९८ ॥

समाधानीयतो गृध्नोः संत्याज्य सकलं गणी ॥

एकैकं हापयन्नेवं प्रकृते दधने शनैः ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—अणुसज्जमाणए पुण ह्वेत्प्यादावभिलाषस्य दोषोपदर्शने । अणुसज्जमाणे आहारे अनुसज्जति शपके । समाधिकामस्स समाधिमरणमिच्छताः । सव्वमुवहरिय सर्वमाहारमुपसंहृत्य । कथं एवेकं हवेंतो एकैकं आहारं हापयन् सृतिः । ठवेदि स्वापयति । क्षपकं । पोराणमाहारे प्रकृते आहारे ॥

तदनुवर्तिनं समाधिमरणार्थिनं एकैकहापनेन सर्वं शुद्धिभूतमाहारं लावयित्वा सृतिः क्षपकं प्रकृताहारे स्वापयतीति उपदिशति—

मूलाः—अणुसञ्चलभागे दक्षिणोत्तरदिशि पुनराहारे रामवधि क्षपके । समाधिधर्मस समाधिभर-
णार्थिनः क्षपकस्य संबन्धिनः । सर्वमाहारकैः क्षपकस्य सुखित्याजवित्ता । योगणमाहारे शक्तने भोजने स्थापयति स्थिति
करोतीति संबन्धः ॥

अर्थ—निर्यापकक्षपके द्वारा आहाराभिलाषा के दोष वृत्तानेपर भी क्षपक उस आहारमें यदि
अमयुक्त हो रहा तो समाधिभरणकी इच्छा रखनेवाले उस क्षपकके संपूर्ण आहारोभित्तै एक एक आहारको घटाते हैं,
अथवि क्षपकसे एकैक आहारका क्रमसे त्याग कराते हैं.

अणुपुञ्जेष य उन्निवो संवट्टेदुण सञ्चमाहारं ॥

पाणयपरिक्लमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥

क्रमेण वैराग्यपिधौ नियुक्तो निरस्य सर्व क्षपकस्ततोऽन्नं ॥

आराधनाध्यानविधानदक्षेः स पानकैर्भाजयते धृतोक्तौ ॥ ७०७ ॥

इति हानिः ।

विजयोदया—उन्निवो स्वाधितः सूरिणा प्रापतनाहारे क्षपकाः पञ्चार्थिक करोयन्माहारा, अश्विनं ह्यार्थ,
यार्थ य । अणुक्रमेण क्रमेण । संवट्टेदुण उपसंहृत्य । पाणयपरिक्लमेण दु पानकास्येन परिकरेण । अप्पाणं आत्मानं पच्छा
प्राधिवि पञ्चा द्वापयति । हानिद्वयत्वात् । हानिश्चि ॥

तथा प्राक्तनाहारे स्माधितोऽसौ किं करोतीत्यन्नाह—

मूलाः—अणुपुञ्जेष अशुक्रमेण । संवट्टेदुण त्यक्तत्वा । सञ्चं पानकवर्जी त्रिविरमाहारं । पाणयपरिक्लमेण दु
पानकास्येन परिकरेण । पच्छा पश्चिमकोले । भावेति यत्प्राधिविहाराध्यागयोगं स्वं करोति क्षपकः ॥ हानिः सूत्रतः २९
अंकतः ४० ॥

अर्थ—आचार्य उपर्युक्त क्रमसे मिष्टाहारका त्याग करताकर क्षपकको साथे भोजनमें स्थिर करते हैं, तब वह
क्षपक भात वगैरे अन्न और अणूप वगैरे खाव पदार्थोंको क्रमसे कम करता हुआ पानकाहार करनेमें अपनेको
उद्युक्त करता है, इस प्रकार हानिनामक प्रकरण समाप्त हुआ.

कतिप्रकारं पानकमित्येकापाणात्तरे—

मत्स्यं वहलं लेवडमलेवडं च ससित्वयमसित्वं ॥

छुल्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्पयोगं ॥ ७०० ॥

लेपालेपघनस्वच्छसिक्थसिक्थविकल्पतः ॥

पानकमोचितं पानं पोडेवं कथितं जिनैः ॥ ७२८ ॥

पितृपोषण—साथे रज्जुं एकं पाणकं उष्णोदकं सौवीरकं । त्रिंतिणीकाफलरसप्रभृतिकं च अन्यद्रव्यं ।
दध्यादिकं लेवडं लेपसहितं । अलेवडं प्रलेपसहितं यत्र इस्ततलं विलिपति । ससित्वयं सिक्थसहितं, असिक्थं
सिक्थरहितं । छट्टा रोटा । पाणयमेव एतत्पानकमेकं । परिक्रमणयोगं पानकाख्यपरिकर्मप्रयोगं ।

अर्थं छटाहारपरिहारीयोगस्य अथकस्य तत्प्रत्याख्यानविधानं गायत्र्यशक्तेनोपदेश्यन्पूर्वं तपोन्यायानुपानवि-

करुपान्निदिशति—

मूलारा—सच्छं रज्जुं उष्णोदकादिकं । वहलं कान्तिप्रकाशपानकं त्रिंतिवीकाधिकफलसार्पिकं । लेवडं इस्तत-
ललेपि त्रिभिर्पोलादिकं । अलेवडं मंदमथितादिकं । ससित्वयं वेयादिकं । असित्वं सुद्रसपादिकं । छट्टा रोटा ॥

पानकके कितने प्रकार हैं इस प्रश्नका उत्तर —

अर्थ—स्वच्छ यह एक पानकका प्रकार है. गरम पानी, वगैरहसो स्वच्छ कहते हैं. वहल—कांजी, ब्राह्मरस,
इमलीका सार, वगैरह गाढ़ पानक. लेवड जो हाथको चिपकता है ऐसा पतला पदार्थ दही वगैरह. अलेवड—हाथको न
चिपकनेवाला मांड ताक वगैरह. सिक्थसाहित—जिसमें भातके सिक्थ रहते हैं ऐसा पानक अर्थात् मांड सिक्थयग. भातके
सिक्थ जिसमें नहीं है ऐसा मांड असिक्थय ऐसा छह प्रकारका पानक आगममें कहा है

आयंविलेण सिंभं स्त्रीयदि पितं च उवसमं जादि ॥

वादस रक्खणं एत्थ पयत्तं खु कादब्बं ॥ ७०१ ॥

आचाम्भेन क्षयं याति भुंज्या पित्तं प्रशाम्भयति ॥

परं समीररक्षार्थं प्रयत्नोऽस्य विधीयताम् ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—आयं विद्येण आचाम्मेन । स्तिभं सीयदि इष्टेष्वा ख्यमुपपाति । पिच्छं च पिच्छं च । उपसमं जादि उपसममुपपाति । यादस्स यातस्य । रक्षणादं रक्षणाद्यं । एतत् अत्र । क्वत्ते क्वं कात्स्न्यं प्रयत्नः कर्तव्यः ॥

ककारित्तत्रासप्रतिकारोपायमाह—

मूढारा—स्तिभो सीयदि इष्टेष्वा ख्यमुपपाति । रक्षणात्वं प्रकोपतिवारणार्थं । एतत् अत्यासन्नमूल्यके क्षपके । पयत्तं प्रच्छदो पयः । येन यातः कुपितः प्रक्षाम्यति येन वा न कुप्यति स आयुर्भद्रमुसारोपक्रमः कर्तव्य एवात्रापीन-
त्वविषयकफभानुमहारीनाम् ॥

अर्थ—आचाम्मे करु का क्षय होता है । विषका उपशम होता है और यातका रक्षण होता है अर्थात् उसका भी मशौर होता नहीं इसलिये आचाम्लमें प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् इतर पानकोंकी अपेक्षासे आचाम्ल पानक क्षपककी प्रकृति को अनुकूल होता है इसलिये क्षपक विशेषतासे इसको उपयोगमें लावे,

पानभावनीचरकालभाविने व्यापारं दर्शयति—

तो पाणपण परिभाविदस्स उदरमलसोघणिच्छाए ॥

मधुरं पउजेदब्बो मंडं न विरेयणं खयओ ॥ ७०२ ॥

ततोऽसौ भाविनः पानैर्जाठरस्य विशुद्धये ॥

मलस्य मधुरं मंदं पायनीपो विरेचनम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया—तो पदयात्र । पाणमेण पानेन । परिभाविदो भाविता क्षपका । मधुरं पउजेदब्बो मधुरं पाययि-
त इयः । किमर्थं ? उदरमलसोघणिच्छाए उदरगतमलनिरासाय ॥

पानकसंस्कारोत्तरमुपक्रमं गाथाद्वयेनाह—

मूढारा—पउजेदब्बो पाययितव्यः ॥

पानभावनीचर क्या क्रिया करनी चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—पानक पदार्थका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धि करनेके लिये मांडके समान मधुर रेचक औषध देना चाहिये.

आणाहवन्तियादीहिं वा वि कादब्बमुदरसोधणंयं ॥
वेदणमुपादेज्ज हु करिस्सं अतंत्तयं उदरे ॥ ७०३ ॥

अनुवासादिभिस्तस्य शोष्यो वा जाठरो मलः ॥

अभिरस्तो यतः पीडां महतीं विदधाति सः ॥ ७३१ ॥

वित्तयोदया—आणाहवन्तियादीहिं अनुवासानादिभिः कादव्यं कर्तव्यं । उदरसोधणं उदरस्य मलमुदरशोधनोद्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेवं प्रयासेन महता मलं निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । वेदणमुपादेज्ज एव वेदना-मुत्पादयेद्येव । उदरे करिस्तस्य पुरीषं अतंत्तयं स्थितं ॥

मूत्रारा—आणाह अनुवासनं । कश्चित्किञ्चित्स्वप्नश्रुणुनाहो वा । वणि वतिः । सैववादिमयी शुद्धप्रणया आदिशब्देन वापनवत्त्वादिव्राह्मणं । करिस्सं पुरीषं । अत्यवयवं तिष्ठत् ॥

अर्थ—कांजीसे भिगे हुए पित्त पक्वादिकोसे उदरको सेकना चाहिये तथा सेवानमक वगैरह पदायोंकी चर्तिका बनाकर शुद्धद्वारमें उसका प्रवेश करना चाहिये ऐसा करनेसे सब उदरका मल निकलता है, ऐसा प्रयास क्यों करते हो इस मशनका उच्चर ऐसा है कि, यदि उदरमें मल संचित होनेपर उसको न निकला जाय तो वह वेदना उत्पन्न करता है.

एवं छुत्तोवरकोघनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्वोपकसुरित्तेपायनादशयति—

जावञ्जीवं सब्बाहारं तिविहं च वोसरिहिदिसि ॥

णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुब्जा ॥ ७०४ ॥

आराधकस्त्रिधाहारं यावज्जीवं विमोक्षति ॥

निवेदयामि संघस्य निर्योपकगणेशिना ॥ ७३२ ॥

विजयोदया—जावज्जीवं जीवितावधिकं । सब्बाहारं सर्वोहारं । निविधं अशनं, खाद्यं, स्वाद्यं च । वोसरिहिदिसि त्यजतीति । णिज्जवगे आयरिओ निर्योपकः सुरिः । संघस्स णिवेदणं कुब्जा संघं निवेदयेत् ॥

एवं विशोधीदरस्य क्षपकस्य योग्यं सुरिग्रयोग्यक्रममुपदिशति—

मूत्रारा—तिविहं अशनं, खाद्यं, स्वाद्यं च । वोसरिहिदिसि त्यज्यति क्षपक इति ।

इस प्रकार क्षपकका उदर ओषधेपर क्षपकके द्वारा कोनसी क्रिया निर्यापक खुरि कराते हैं इसका विवेचन—
अर्थ—यह क्षपक अब अशन, खाद्य और स्वाद्य, ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका आमरण त्याग करता है ऐसा निर्यापक आचार्य संपूर्ण संघको विदित करते हैं.

स्वामेदि तुल्य खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ॥

द्वानेद्वव्वो णेदूण सन्वसंघस्स यसधीसु ॥ ७०५ ॥

क्षपको वोडवित्तालेया निःशस्यीभूतमानसः ॥

शान्तः क्षमयते अक्ताः । क्षमाशुणविचक्षणः ॥ ७३३ ॥

विजयोषया—कामेदि क्षमां ग्राहयति । तुल्य युष्माद् । खपगोत्ति क्षपक इति । तस्स खेव एवगस्स तस्यैव क्षपकस्य । कुंचगो प्रतिलेखनं । द्वावेद्वव्वो द्वावेद्वव्वो । णेदूण नीत्या । सन्वसंघस्स वसवेषि सर्वसंघस्य वसवीसु ।
सूरिणा संघस्य निवेदनविधिमाह—

मूळारा—स्वामेदि क्षमां ग्राहयति । तुम्ह युष्मान् । कुंचगो प्रतिलेखनं । द्वावेद्वव्वो क्षमयति युष्मात्क्षपक इति भाषमाणेन ब्रह्मचार्यदिना सर्वसंघस्यसतिषु नीत्या तथ्यातिलेखनं सूरिणा दर्शयितव्यमित्यर्थः ॥

अर्थ—यह क्षपक आप सब लोगोंको क्षमा ग्रहण करनेकी प्रार्थना करता है इस अभिप्रायका मापण सर्व संपर्कें जाकर आचार्य ब्रह्मचारीके हाथमें क्षपककी पिन्छी देकर कहते हैं. और यह पिन्छिका सबको दिखाते हैं. अर्थात् क्षपक सर्व मुनिओंक पास जा नहीं सकता है इसलिये उसकी पिन्छिका सबको दिखाकर क्षपक आप लोगोंसे क्षमा चाहता है ऐसा आचार्य कहते हैं.

तेन संघेन ब्रह्मक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यक्रियाचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसग्गपत्तीयं ॥

काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण काद्वव्वो ॥ ७०६ ॥

आराधनास्य निर्विघ्ना सम्यक् संपद्यतामिति ॥

स याति सकलः संघस्तानूत्सर्गमसंभ्रमम् ॥ ७३४ ॥

विजयोदया—आराधनपक्षीं रत्नवाराधना क्षणकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । प्रवणस्त निरवसन्गपक्षीयं क्षणकस्योपसर्गं मा भूवेत्येवमर्थं च । आगोमन्गो कायोत्सर्गं । संवेण सन्नेण सर्वेण संवेन । होदि नायद्व्यो भवति कर्तव्य ॥ एवं क्षमिन् संवेन किं कर्तव्यमित्यत्राह—

मूलादा—आराधनपक्षीयं रत्नवाराधना क्षणकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । विहनसगपक्षीयं क्षणकस्योपसर्गं मा भूवेत्येवमर्थं च ।

क्षपकका अभिप्राय ज्ञात होनेपर संयक्ता उस समयका कर्तव्य कहते हैं—
अर्थ—क्षपकको रत्नवाराधना प्राप्त होवे और उसको समाधिदण की प्राप्ति निर्दिष्ट उपसर्ग रहित होनेके लिये सर्व संयक्तो उस समय कायोत्सर्ग करना चाहिये.

खवयं पञ्चत्वावेदि तवो सन्नं च चटुविधाहारं ॥

संघसमवायमल्लो सागारं गुरुणिओगेण ॥ ७०७ ॥

तं चटुविधमाहारमाचार्यो विधिकोविदः ॥

मध्यं सर्वस्य संघस्य स प्रत्याख्यानयेत्ततः ॥ ७३५ ॥

विजयोदया—खवयं क्षपकं । पञ्चत्वावेदि प्रत्याख्यानं कारयति । निर्यपरुः स्मरिः । तवो पञ्चात् । सन्नं सर्वं चटुविधधाहारं चटुविधाहारं । संघसमवायमल्लो संघसमुदायमर्थे । सागारं साकारं गुरुनियेयेन । इतरे गुण्यनुग्रया ।

ततः स्मरिः किं करोतीत्यत्राह—

मूलादा—पञ्चत्वावेदि प्रत्याख्यानं कारयति । सागारं सविकल्पं । अत्राग्राधान्याख्यानापेक्षं । गुरुणिओगेण गुण्यमेवा ॥

अर्थ—उदन्तर संघकं समुदायमें सविकल्पक प्रत्याख्यान अर्थात् चार प्रकारके आहारोंका निर्यपकाचार्य क्षपकको त्याग करावे हैं और इतर प्रत्याख्यान भी गुरुके आदेश बह क्षपक करता है.

अहवा समाधिहेतुं कायव्यो पाणयस्सा आहारो ॥

तो पाणयं पि पच्छा वोसरिद्वन्नं जहाकाले ॥ ७०८ ॥

त्रिविधं वा परित्याज्यं पानं देयं समाधये ॥

अवसाने पुनः पानं त्याजनीयं पटीयसा ॥ ७३६ ॥

पितृवोदया - अर्द्धा अथवा । समर्पयिदुं समर्पयिचैवैकान्ये । तदर्थं कान्ठ्यो कर्तव्यः । पाणमस्त आहारो पानकस्य विकल्पः । सो पञ्चात् । पाणमपि पानकमपि । चोचरिद्वयं सक्तम् । अक्षकाले यथाकाले नितरं शक्तिहानिकाले । पूर्वपाथया चतुर्विधाहारस्यागः कार्यं इति, योऽतिशयेन परीपहवाधाश्रमऽस्तं प्रयुक्तं । अनया तु यो न तथा भवति तं प्रति विविधाद्वारत्याग इति विद्यते ॥

एवं परिपहलद्विपुभ्रपरकपेक्षया मुदनिर्गोलेन पानविकल्पविधिमाह -

मूलाया - लमाधिदुं विपक्तं कलेद्यनिरासात् । आगारो आकारो विकल्पः । अक्षकाले नितरां शक्तिहानिकाले ॥

अर्थ - अथवा क्षणकाले चित्तकी एकाग्रता होनेके लिये पानकको छोड़कर अशन, स्वाद्य और स्नाद्य ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराना चाहिये । और जब क्षणकाली शक्ति अविद्यय कम होती है तब पानकका भी त्याग करना चाहिये, जो परीपह सहन करनेमें खूब समर्थ है उसको चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना चाहिये परंतु जो उपसर्ग सहन करनेमें असमर्थ है उसके लिये तीन प्रकारके आहारोंका त्याग रक्ताया है.

कीटकपानं तस्य योग्यमित्यत्र -

अं पाण्यपरियममग्नि पाण्यं छत्विहं समक्खादं ॥

त से ताद्रे कष्पदि तिविहाहारस्त योसरणे ॥ ७०९

यन्निदिष्टं पानकर्माधिकारे दातुं शक्तं तत्समाधानरत्नम् ॥

पौदा पानं युज्यते तस्य पातुं त्रैधाहारत्यागकाले पवित्रम् ॥ ७३७ ॥

इति प्रत्याख्यानम् ।

पितृवोदया - अं पाण्यपरियममग्नि पानकारके परिकरे । पाण्यं छत्विहं पदविधं पानकं । यमपक्खादं समाख्याते । सच्छे यद्वलमित्यादिक । ॥ उत्पानं ॥ से तस्य । ताद्रे तदा । कष्पदि योग्यं भवति । त्रिविधाहारस्त अशनस्य, स्वाद्यस्य च त्यागे ॥ पञ्चमपाथं ॥

कीटकपानं तस्य तदा योग्यमित्यत्राह -

मूढारा—तं पदविषयमपि । यथास्तं । से वस्य । ताहे तदा । प्रत्याख्यानं मृतः । ३० । अंकवः । १० ।

कोनसा पानक उसको बोधय है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पानक परिकर्म प्रकारके पानकके छह भेद बतलाये हैं । तीन प्रकारके आहारका त्याग कराने पर यह पानक उसको उस समय देना योग्य है । पञ्चक्लाण प्ररुण सप्ताह हुआ ।

तो आयरियउवज्ज्यायसिस्तसाधम्मिगे कुलगणी य ॥

जो होल्लकसाओ से तमहं तिबिहेण स्वामेदि ॥ ७१० ॥

आचार्येऽध्यापके शिष्ये संघे साधर्मिके कुले ॥

योऽपराधो भवेत्त्रेया सर्वं क्षमयते स तं ॥ ७३८ ॥

विजयोदया—तो प्रायण्य, नोत्तरकाले । आयरियउवज्ज्यायसिस्तसाधम्मिगे जाचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, स्वामिनि, कुलगणे य कुले गये य । ओ होल्ल कसाओ यो भवेत्त्रेयाय । कोधो, मानो, कामो वा । तं सर्वं निरप्यसेसं सं निरप्यसेयं । तिबिहेण त्रिविधेन । आमेदि क्षमयति भिराकरोति ।

अर्थ—प्रतिपक्षभक्तश्रद्धाभ्यासस्वाराधकस्य समाधिभरणसिद्ध्यर्थं वतुर्विषयसंबन्धमापणविधिं गायान्कतुष्टयेन न्याचये—

मूढारा—कुलं दीक्षगुरुपूर्वत्रिगुरुसंप्रदानः । कस्ताओ कोयादीनामन्यतमः । रामेदि क्षमयति ॥

अर्थ—प्रत्याख्यानके अनंतर आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक मुनि, कुलमुनि, और गणमुनि इनके विषयमें जो हृदयमें कणाय होगा अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ होगा उस सर्व कणायको क्षपक मन, वचन, काया विशुद्ध कर हृदयसे निकाल देता है ।

अवभाहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणासो ॥

स्वामेइ सन्वसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥ ७११ ॥

सूर्यन्यस्तकरांभोजो रोमांचांचितविग्रहः ॥

त्रिधा क्षमयते सर्वं संवेगं जनयन्नसौ ॥ ७३९ ॥

विजयोदया—अथ हिदम्बादासो नितरमुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकलं मयावृष्टितं इति । भृत्यमि कदम्बजली मस्तकन्यस्तोजलिः । कदम्बजली कृतप्रणमः । कामेदि क्षमां ब्रूयति । सत्यसंघं सर्वे श्रमणगणं । संवेग सधर्मानुत्तमं । संजगेमाणो सम्बन्धुपदवत् ॥

मूढारा—अभ्यधिकं निरंतरं उपजावचित्तप्रसादो । यत्कर्तव्यं मुमुक्षुणा वत्सर्वं मयावृष्टिमिति । संवेगं धर्मानुत्तमं । संजगेमाणो सम्बन्धुपदवत् संघस्य ॥

अर्थ—मुमुक्षुका सर्वे कर्तव्य मेने किये हैं इस विचारसे जिसके हृदयमें प्रसन्नता उत्पन्न हुई है ऐसा यह क्षणक अपने मस्तकपर दो हाथ जोड़ सर्व संघको नमस्कार करता है. और साधर्मिकोंमें अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा प्रहण कराता है. अर्थात् हाथ जोड़नेसे उत्तमे मेरे ऊपर आप सब लोग क्षमा करो ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया.

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अनुमदे वा ॥

सब्बे अवराधपदे एत्त खमावेमि निस्सल्लो ॥ ७१३ ॥

योऽपराधो मयाकारि मनसा बधुपा गिरा ॥

क्षमये तमईं सर्वं निःशस्त्रीभूतमानसः ॥ ७४० ॥

विजयोदया—मणवयणकायजोयेहिं ननोयकाययोवै । पुरा पूर्व । कदकारिदे अनुमदे वा कृतकारितायुम-
तांश्च । सब्बे अवराधपदे सर्वानपराधविशेषान् । एत्त एवः । खमावेमि । क्षमां प्राहयामि । निस्सल्लो शल्यरहितोऽहमिति ॥
मूढारा—अवराधपदे अपराधविशेषान् ॥

अर्थ—मन, वचन और करीके द्वारा, तथा कुद, कारित और अनुमति के द्वारा जो जो अपराध मेने किये हैं उनकी आप लोक मेरेको क्षमा करो- मैं शल्य रहित हुआ हूँ.

अम्मापिदुसरिसे मे खमहु खु जगसीयलो जगाधारो ॥

अहमनि खमामि सुब्बो गुणसंवायस्स संघस्स ॥ ७१३ ॥

मम पितृजननीसदृशः शश्वत्त्रिभवनमहितः सुयशः संघः ॥
प्रियहितजनकः परमां धीर्ति रचयत कृतवानहमस्मान्तिम् ॥ ७४१ ॥

इति क्षमणा ।

विजयोदया—अम्मापिटुसरिस्सो मात्ता पित्रा च सदृशो । मे मम कम्महु क्षमां करोतु । जगसीदलो जगतः सर्वे-
प्राणिलोकस्य शीतलः । जगापारो आसन्नभयलोभस्य आघातः । अहमपि स्वपामि परकृतमपरार्थं मनसि न करोमि ।
हुदो शुद्धः क्रोधाविकलं कविरहात् । गुणसंघादस्स गुणसमुदायस्य । सेवस्स संघस्य । क्षमणा ॥

मूलात्—अम्मा माता । लमहु क्षमां करोतु संघः । जगसीदलो सर्वप्राणिसुखायहः । जगाधारो आसन्न-
भयलोकानायः । हुदो क्रोधाविकलं कनिर्मुक्तः । संघस्य भाषणं सूतः ॥ ३१ ॥ अंकवः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह संप माता और पिताके समान हित करनेवाला है, जगतके संपूर्ण प्राणिजोंको सुखदायक
है, आसन्न भय लोकोंको यह आश्रय स्थान है, क्रोधादि कलंकासे-दोषोंसे रहित है, और गुणोंके समुदायने
परिपूर्ण है, इस सर्वसंघसे मैं क्षमाकी याचना करता हूं, यह संघ मेरेको क्षमा प्रदान करे, मैं भी दुसरेने किये हुए
अपराध मनमें नहीं लाता हूं अर्थात् दूसरेके अपराधोंको भूल जाता हूं, स्वायणाक्षरका विवेचन समाप्त हुआ.

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं ॥

दंसणणाणचरित्ते संघार्यंतो हवे संघो ॥ ७१४ ॥

इय खामिय वेरगं अनुत्तरं तवसमाधिमारुद्धो ॥

पपभोडितो बिहरदि बहुभववाधाकरं कम्मं ॥ ७१५ ॥

वट्ठंति अपरिदंता दिन्ना य रादो य सच्चपरियम्मे ॥

पडिचरया गणहरया कम्मरयं पित्तिरेमाणा ॥ ७१६ ॥

क्षपधित्थेयति वैराग्येयं स्पृशन्ननुत्तमम् ॥

तपःसमाधिमारुद्धेष्टते क्षपयन्नघं ॥ ७१७ ॥

अप्रमत्ता गुणाधाराः कुर्वन्तः कर्मनिर्जराय ॥

अनारतं प्रवर्तते व्यावृत्तौ परिचारकाः ॥ ७४३ ॥

विवयोदया—वृद्धिं वि यतंगते । अपरिदंता अपरिग्रहान्ताः । विद्या य रात्रौ य विने रात्रौ च । सव्यपरिक्रमे सर्वपरिचरणे । परिचरणा नियोगकाः । गणहृदया गणान् घर्मस्थान् चारयन्तीति गणधराः । कम्मरयं कर्मस्थं स्वः । गिज्ज-देमाणा निर्जरेत्यन्तः ॥

अर्थ—कृतक्षमणस्य क्षपकरय सर्वत्र समाहितमनसो बहुभवकोटिसंचितानुभूतकर्मनिर्जरास्त्वर्णं क्षमणं गाथा-पंचकैत व्यावृत्तः । पूर्णं तदर्थसंग्रहगाथापन्यस्ववि—

मूढारा—आमिय क्षमयित्वा सर्वसंबं । वेरगो निर्विण्णः । अनुषरं उत्तुष्टम् । पप्फोखितो निर्जरयम् । विह-रवि प्रवर्तते ॥

तथा प्रयत्नमानस्य संन्यासिनो निर्वापका वैवापूरुये सुतरां यत्वे इत्याह—

मूढारा—अपरिदंता अपरिधर्माः । गुणधरा गुणान्तरपरिधानधारयन्तः । कम्मरयं कर्म दुष्कृतं रज इव शरीरस्य सौकर्यविगुणानामिवात्मनः संज्ञानादीनां प्रतिबंधकत्वात्कचूदूदुप्रश्रुतीनामिव दुर्योतिविपदां संपादकत्वाच्च । गिज्ज-देमाणा क्षपकरयस्मन्नैकेदेशेन क्षमणां प्रापयन्ताः ।

अर्थ—यह संघ गुणोंका समूह है. यह कर्मोंका नाश करके प्राणिजोंको मुक्तिमुल देनेवाला है. दर्शने, ज्ञान और चारित्रिकी इकट्ठा करनेवाला है. अतः इसको संघ यह अन्वर्थक नाम प्राप्त हुआ है.

अर्थ—इस प्रकारसे सर्व संघको क्षमा करानेवाला, उत्तुष्ट वैराग्यकी सीमाको प्राप्त हुआ, तपमें एकाग्रताको प्राप्त हुआ ऐसा यह क्षपक अनेक भयमें दुःख देनेवाले कर्मका नाश करता हुआ रत्नवयमं विहार करता है.

अर्थ—गणको घर्ममें स्थिर करनेवाले आचार्य और परिचारक मुनि दिवस और रातमें सर्व कार्योंमें उत्तर होकर क्षपककी शुभूपा करते हैं. जिससे उनकी कर्मनिर्जरा होती है. यह कर्म स्वर्गके समान है.

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ॥

सम्भत्तुप्पचीए खवेह तं एयसमयेण ॥ ७४७ ॥

यज्जन्मलक्षकोटीभिरसंख्याभी रजोऽजितम् ॥

तत्सम्यग्बोधोत्पादे क्षणेनैकेन हन्यते ॥ ७४४ ॥

विजयोदया—जे यत् । बड़े रथें बड़े रज्ज्. कम । यथा रजश्छादयति एतस्य गुणं शरीरादेः कच्छददुग्धधृतिं दोषमत्यहति । तद्वद्वीथीयुष्मत्पञ्चछादयति । संपादयति च विचित्रा विषय तेन रज इव रज इत्युच्यते । भवसदृशहस्त कोटीति भवशतसहस्रकोटिभिः । तद्रजः यथेति क्षयवति । केन ? सम्पत्तुत्तीए अद्वानोलस्या । एतस्मिन्नेव एकेनैव समयेन । तथा चोक्तं—सम्यग्दृष्टिआयकविरताभक्तवियोजकदर्शनमोवल्लापकोपशान्तमोदक्षपक्षीणमोहजिनाः नूनमोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥

तत्कालोर्लेश्व संन्यासिगस्तदुपासिनां च श्रद्धानस्य माहुरूप्यनभिष्टीति—

मूलारा—रथें पापं । रखेंवि गालयंति । क्षपकवत्परिवारका आविशेषणैव वा भववर्जीया सन्यस्तपद्भूमिमतु प्राप्ताः । एयसमयेण अल्पकालेन ॥

अर्थ—रज—धूलि शरीरको आच्छादित कर विरूप बनाती है और तख्ख, दद्रू वगैरह रोगको उत्पन्न करती हैं; वैसा यह कर्मरज आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंको आच्छादित कर उसको दुर्गतिमें लोटता है अतएव इस बद्द हुए कर्मरजकी आचार्य और परिचारक युनि क्षपकशुश्रूषा कर निर्जीर्ण करते हैं, जब सम्यग्दर्शन जीवको प्राप्त होता है तब कोट्यवधि भवमें संवित हुए कर्मको भी एक समयमें निर्जीर्ण करते हैं, क्षपककी छुश्रूषा करनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है. जिससे एक समयमें असंख्येय गुणी निर्जरा होती है. तथा जो मध्य क्षप-पके दर्शनार्थ आते हैं उनको भी सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे उनके कर्मकी निर्जरा होती है. तत्प्राधान्यम महाशास्त्रमें 'सम्यग्दृष्टिआवक इत्यादि' श्रुतमें सम्यग्दृष्ट्यादि श्रावकाको प्रतिसमय असंख्येय गुणित कर्म निर्जरा होती है ऐसा लिखा है.

एयसमएण विघुणादि उवलजुत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ॥

अण्णयरग्मि य जोगो पच्चक्खाने विसेसेण ॥ ७१८ ॥

जुनीते क्षणतः कर्म संचितं बहुभिर्मयैः ॥

व्यावृत्तोऽन्यतमे योगे प्रत्याख्याने विशेषतः ॥ ७४५ ॥

विजयोद्या—एतासमेयेण विपुणादि अतेण फालेन निर्जुनाति । उपउत्तो परिणतः । ॥ अण्णयरमि
॥ यल्लिक्कल्लिस्तयसि । किं ? यहुमग्गिय कम्मं अनेकपयसंछितं कम्मं कर्म । पक्कयाणे उवजुत्तो विसेसेण विपुणादि
यापज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागे परिणतः विरोपेण कर्माणि निरस्यति ॥

सद्वृत्तयोविधानादिपरिणामस्य मदिमानं मायाद्वयेन व्यावर्णयति—

मूढारा—उवजुत्तो परिणतः । अण्णदूरम्बि य जोगे यत्र कचिदपि तपसि । पक्कयाणे यापज्जीवं चतुर्विधाहार-
त्यागे । विसेसेण अतिशयेन ॥

अर्थ—जिस किसी तपमें उप वह आत्मा एकत्रात्मा होता है तब वह अल्पकालमें ही अनेक
मयमें संपादित कर्मका नाश करता है. और जो जीव यावज्जीव चार प्रकारके आहारोंका त्याग करता है वह
निदोष रीतिसे कर्मोंका नाश करता है.

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसञ्जाए ॥
अणुपेहासु य जुत्तो संथारगळो धुणदि कम्मं ॥ ७१९ ॥
प्रतिक्रान्तो तनूत्सर्गे स्वाध्याये विनये रतः ॥

अनुपेक्षासु कर्मेति धुनीते संस्तरास्थितः ॥ ७४६ ॥

विजयोद्या—एवं उक्तेन क्रमेण । पडिक्कमणे प्रतिक्रमेण काउसग्गे य । कापोत्सर्गे च । विणयसञ्जाय
न पणे गदं ॥

मूढारा—जुत्तो समाहित । धुणदि संस्तराळः सम्यक्स्वभावियुक्तः पापं निरस्यति । विसेसेणेत्यनुपूर्वनात्तत्प-
रिचारकाद्योऽपि इति व्याख्येयम् । अण्णा भूततः ३२ । वंक्ततः ५ ॥

ताटळू संन्याससमाप्तिवि रुचिरवरे भावहृयंग्मीन—

व्यालीढाः प्राच्यलभार्तिभलिसभिघो यावजूकः स जुब्बत् ॥

सान्द्रानंशमृताशपरिविबुधमदायज्यसंभोगिसेव्यः ।

सृजैत्संवत्तमूर्तिः पिवतु गुरुहिमां सुरिसिद्धां सुधावत् ॥

इत्याशापणुसूत्रवृत्तदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेवार्थप्रकाशीकरणप्रवणे उत्तमार्थमदोलोगो नाम पंचम आभासः ॥

अर्थ—उक्त क्रमसे संस्कारारूढ जो क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, इनमें एकत्र होकर कर्मका क्षय करता है. खवण सूत्रका विवेचन समाप्त हुआ.

इत उच्चरं अनुगातसंनं श्रक्त्यते इति निमदति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्यस्स विंति अणुसिद्धिं ॥

संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥ ७२० ॥

अनशननिरते तनुभृति सकलं भवमयजनकं विगलति कलिलं ॥

अनुहिमकिरणे ह्युदयति तरणो कमलचिह्नसने घनमिव तमः ॥ ७४७ ॥
क्षमणम् ।

निर्यापको गणी शिखां संस्तरस्थाय यच्छति ॥

कुर्वन्संवेगनिर्दौ कर्णे जपमथानिशम् ॥ ७४८ ॥

अनुदिगिटि न वेद्दे क्षपकाय गणाग्रणीः ॥

त्यजेदारधनादेर्वी तदानीं सिद्धिसंफलीम् ॥ ७४९ ॥

विजयोदया—णिज्जवया आदिरिया निर्यापकाः सूर्याः । अणुसिद्धिं विंति धृतग्राननुसारेण शिक्षां प्रयच्छन्ति । संथारत्यस्स संस्तरस्थाय । संवेगं संसारभीकतां । विव्वेगं वैराग्यं च । जणंतमे उत्पादयस्ते । कण्णजावे कर्णजापे । से तस्मै क्षपकाय ॥

श्रीमूलाराधनादर्पणे षष्ठोऽध्यायः ।

अथ वीरजिनं नत्वा श्रीनिर्यापकसूरिणा ।

संपाद्या क्षपकस्यानुशिष्टिः सप्तीकरिष्यते ॥ १ ॥

मिथ्यात्वं निवर्तं निरस्य सुभवन्सम्यक्त्वयाराध्य सद्—

मर्कियोवनमस्तुवाचमिरतो ज्ञानोपयोगं सदा ॥

कुर्वन्पंचमहाव्रतावनपटः सर्वेन्द्रियावेन्द्रिय-

ग्रामं संस्तरमावसत्वमुभयया धन्यस्तपस्तुलतः ॥ २ ॥

अथैवं प्रतिपन्नसन्न्यासस्योत्तमार्गसाधनोद्यतस्य युमुखोभिक्षोर्निर्योपकाचार्येण संपादनां शिक्षां गायानां सप्तसप्त-
दशधिकाष्टशतया व्याचर्णयित्वन्नुपश्लेषमाह—

मूढारा—मिच्छेवं संसारशरीरभोगवैराग्यं । कृष्णजावं कर्णसमीपोच्चार्यमाणवचनमर्थो क्षपकाय अनुशिष्टि
वश्यमाणार्धमप्रतिपाशां ददाति । कर्णजपं च कर्णजाहोद्वार्यमाणरंचनमस्कारादिपरमाक्षररुचं ददातीति । मत्पत्र शब्दस्य
लुप्तनिर्विहत्साश्रयणात् ॥ लघुलम्—

निर्योपको गणो शिक्षां संस्तरमाव यच्छति ॥

कर्णसंयोगनिर्वेदो कर्णेनपपटोऽनिरयम् ॥

अर्थ—निर्योपक आचार्य संस्तरस्थ-संस्तराल्ढ क्षपकको श्रुतज्ञानये अनुसार उपदेश देते हैं और निर्वेग उत्पन्न करने वाला कर्णजप देते हैं.

कोऽस्ती कर्णजावो ये ते प्रयच्छन्तुस्वीत्यन्वाच्छे—

गिरसहो कदमुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंधारं ॥

उवर्धि च सोधइत्ता सहेहण भो कुण इदार्णि ॥ ७२१ ॥

शोधयित्वोपधिं शय्यां वैयावृत्त्यकरामपि ॥

निःशल्पीचूष सर्वत्र साधो ! सहेह्वनां कुरु ॥ ७५० ॥

विजयोदया—गिरसहो मिथ्यादर्शनं, माया, निदानं इति त्रीणि माल्यानि तेभ्यो नि कान्तः । तत्पञ्चदशेन,
नकुतया, भोगनिरुद्धतया वा कदमुद्धी कृता शुद्धिनिर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धिः । विज्जावच्चकरवसधिसंधारं
विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याघ्रप, उपसर्गाः, परिपक्वा, असंयमो, मिथ्याज्ञानं इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रति
पिधानं तद्देयावृत्त्यं तत्करोति य आत्मनः स धैर्यानुपकरस्तेन । वसधिसंधारं वसधिसंस्तरं । उपधि पिच्छादिकं च ।
शोधयित्वा विशोध्य । सहेह्वनं सहेह्वनां । कुण कुरु । इदार्णि इदानीं । किं ? संयमात्संयमवियेकज्ञाः असंयमं त्रिधा मनो-

याक्रयैः परित्वरन्ति न वेति परीक्ष्य अयोग्यवेद्यावृत्यकरणं त्यागः । योग्यानां चावृक्षा । पूर्वोपपद्योर्वसतेः, संस्तरस्यो पकरणानां च शुद्धिं कुर्वेति आक्षेपयता तच्छुद्धिः कृता भवति ॥

सारङ्गिकाईं गुरुसंपाद्यसमुद्दिष्टिं प्रपंचविध्यन्धामान्यविशेषाभ्यां गाथात्रयेण तामुद्दिशति । तत्र सामान्यव-

स्तावत्—

मन्त्राः—सोपइत्ता वैद्यावृत्यकरादियतुहं संशोष्य सुपरीक्षयोग्यानां त्यागो, योग्यानां ध्यानुक्षा, वैद्या वृत्यकराणां शोथना । भव्यादित्रयस्य च विधिवत्ताविलेखनम् । सकेदण सखेखना मिथ्यात्वादिगणस्य सम्यक्त्वादिभाष-
नया निराकरणं । योः क्षपकराज । इदानीं संप्रति प्रत्याप्तने भरणशुणे । सुतरा प्रकलविधानार्थमिदमुच्यते ।

अर्थ—मिथ्यादर्शन, साया, और निदान ऐसे तीन शब्द हैं, उच्चश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनका, सरलपना-
निष्कपटना, निष्कपटनासे मायाशक्त्यका और योगिनिःस्पृहासे निदानशक्त्यका नाशकर जिसने रत्नत्रयमें निर्मे-
लता प्राप्त कर ली है ऐसे हे क्षपक मुने ! तू जो वैद्यावृत्य करनेवाले, वसतिफा, उपधि और संस्तरकी शुद्धि करके इस
समय संछेदना करो, व्याधि-रोग, उपसर्ग, असंयम, मिथ्याज्ञान और परीपहोंको विपत्ति कहते हैं, ऐसी विपत्ति
आनेपर जो उसता प्रविकाग करना उसको वैद्यावृत्य कहते हैं, इस वैद्यावृत्य करनेवाले परिचारकोंको वैद्यावृत्यकर
कहते हैं, वैद्यावृत्य करनेवाले मुनि संयम असंयमके ज्ञाता हैं या नहीं इसका विचार क्षपकको करना चाहिये, यदि वे
अयोग्य हो तो उनका त्याग करना चाहिये, वे असंयम का मन, वचन और शरीरसे त्याग करते हैं या नहीं इसकी
परीक्षा करके अयोग्य हो तो त्याग करना चाहिये, और योग्य परिचारकोंको वैद्यावृत्य करनेके लिये आज्ञा
देनी चाहिये, दिनके पूर्वकालमें और अपराह्नकालमें वसति, संस्तर, और उपकरणोंकी तुम दसरोज शुद्धि करो
ऐसी परिचारकोंको आज्ञा देनी चाहिये, ऐसी आज्ञा देनेसे उसने उनकी शुद्धि की ऐसा सिद्ध होता है,

मिच्छत्तस्त य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ॥

भावणमौक्कारदिं णाणुबुत्ता सदा कुणसु ॥ ७२२ ॥

मिथ्यात्ववमनं दृष्टिभावनां भक्तिमुत्तमाम् ॥

रतिं भावनमस्कारे ज्ञानान्म्यासे कुरुयमम् ॥ ७२३ ॥

त्रिजयोदया — मिच्छतस्त य धमणं मिध्यात्वस्य धमणं । समगच्छे भावणा तत्त्वअद्याने अस्तकट्टसिः । पपा उरठ्ठा भक्तिः । भावणमोक्षाररदी नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कारः । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उल्लान्गोपनम्, श्रुतोजलिता च द्रव्यनमस्कारः ॥ नमस्कृतत्वात् श्रुतानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रतिः ॥ नापुन्ययोगं भुक्तमानोपयोगं च । सदा कुणसु कुर्विति ॥ धर्ममिदं ॥

तामेवावुक्षिष्ट विदेयेणोदितसि-

मूढारा — वरणं त्यागं । भावणा अस्तकट्टसि । मत्ती भक्ति । प्रक्रमादर्ददादिष्वेव । भावणमोक्षाररदी नमस्कार-नीचाहंवारिगुणानुरागधने भावनमाने कोसाकि । नापुन्ययोगं भुक्तमानपरिणतिं ॥

अर्थ — हे धूपक ! तू सदा मिध्यावक्ता व्रतन कर, अर्थात् मिध्यात्वका त्याग कर और सम्मगर्धानमें हमेशा प्रवृत्ति कर, अर्थात् परमेश्वरमें उत्कृष्ट भक्ति कर, भावनमस्कारमें आसक्त होकर हमेशा ज्ञानोपयोगमें तत्पर हो, यह गाथायें हुआ।

गाथामें भावनमस्कार शुद्ध है, नमस्कारके भावनमस्कार और द्रव्यनमस्कार ऐसे दो भेद हैं, ' नमस्तस्मै जिताय ' ' श्रीजितेश्वरको नमस्कार हो ' ऐसा मुखसे कहना, मस्तक नम्र करना, हाथ जोड़ना यह द्रव्यनमस्कार है, जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे व्यक्तिओंके गुणोंपर अनुराग करना यह भावनमस्कार है, इस भावनमस्कारमें उद्युक्त रहनेके लिये आचार्यने इस गाथामें धूपकको प्रेरणा की है, तथा ज्ञानोपयोगमें अर्थात् श्रुतज्ञानमें परिणति कर ऐसा धूपकको कहते हैं।

पंचमहव्ययवक्ता कोहचउक्स्त जिमगहं परमं ॥

दुहंतिदियाविजयं दुविहतेवे उज्जमं कुणह ॥ ७२३ ॥

धुने ! महाव्रतं रक्ष कुन कोपादिनिग्रहम् ॥

हृषीकनिर्जयं द्रष्टा तपोभागं कुरुवमम् ॥ ७२४ ॥

त्रिजयोदया — पंचमहव्ययवक्ता पंचानां महाव्रतानां रक्षां । कोहचउजस्त रोयचतुष्कस्य । जिमगहं निग्रहं । परमं प्रकटं । दुहंतिदियाविजयं दुहंतिन्द्रियविजयं । दुविहतेवे विप्रकारे तपसि । उज्जमं उद्योग । कुणसु कुह ॥

तथा—

मूढारा—कोषचक्रकस्त क्रोधयानमायालोभानां । दुर्लभदिव्यविजयं । सम्बन्धमितानां चञ्चुरानीनां विशेषेण

लयः स्वयङ्कारणम् ॥

अर्थ—हे मुने ! तू पंच महाव्रतोंका रक्षण कर. क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कपायोंका नाश कर. दुःखसे विनका दमन कर सकते हैं ऐसे आत्म, कान धौरह इंद्रियोंको विशेष प्रकारसे तू जीत ले. वाह्य और अभ्यन्तर तपोमें तू तत्पर रह.

मिच्छुत्तस्तस्य य यमं व्याचष्टे—

संसारमूलहेतुं मिच्छत्तं सत्त्वधा विवर्ज्येहि ॥

बुद्धिं गुणणिदं पि तु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥ ७२४ ॥

भवद्रुममहामूलं मिच्छात्तं शुच संवत्था ॥

मोक्षते सगुणां बुद्धिं मध्येमेव मुने ! लघु ॥ ७२५ ॥

मिच्छयोवद्या—संसारमूलहेतुं संसारस्य मूलकारणं । मिच्छत्तं अग्रधानं । सत्त्वधा मनोयान्त्रावैः । विवर्ज्ये हि वज्रयं । बुद्धिं गुणणिदं पि तु बुद्धिं । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । मिच्छत्तं मिच्छात्तं मोहिदं मुग्धां । कुणदि करोति । मन्त्रेदं विचार्यते । कथं भयमता मिच्छात्तस्य ? न हीदं संभाव्यते । अस्तेयमादिष्यो मिच्छात्तं प्रथममुपजातमिति कुतः ? यथा मिच्छात्तं स्तुतिमित्तकं निधानाद्भवति, एवमस्तेयमादयोऽपीति का तस्य ग्रथमता ? अथ तदेतरेव दर्शनमोक्षः प्रथमं भवति । पञ्चाचारिजमोहादीनीत्येतदपि असत् । तदा कमाह्लसद्वायात् । एवं सामान्यतः सूत्रकारः 'मिच्छाद्वी-
नाचिरतिमसाक्षफापयोगा वंचयेत्तवः' इति वचने मिच्छात्तं वंचयेत्तु पुनमुपन्यस्तं वंचयुः सख्य संसारः, संसारमूल-
हेतुमिच्छात्तं बुद्धिं अथवाधारमपरित्यजेदगुणसमन्वितामपि मिच्छात्तं विपरीतां करोति इत्याह । अन्ये तु वदन्ति । बुद्धी
गुणणिनया पि सु शुश्रूषाश्रकणग्रहणचारणद्वयो मुखेर्गुणास्तदेतुमपीति ॥

मिच्छात्तवमनविधिसूत्रं व्याकृतुं वक्ष्यमाणाः सूत्रवन्सर्वात्मना वक्ष्यामं विषयेतयोपदिश्यापायप्रवियु-
तया समर्थयेते ॥

मूढारा—संसारमूलहेतुं संसारकारणधर्मबंधप्रधानकारणं । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । शुद्ध्याश्रयण-

महणधारणवित्तानोक्षोदोहत्त्वाग्निनिषेधश्चाण्डगुण्युक्तामपि । मोहिं दुग्धा विपर्ययप्रहावेद्येन यथाव दस्तुपरिच्छेदप-
रिभट्टाम् । अत्रेयं मायासूत्रे न द्रव्यते ।

मूढारा—एतौ विलयायोगौ नेच्छति ।

‘ मिथ्यात्वका चमन करो ’ इस वाक्यका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—संसार का मूलधारण मिथ्यात्व ही है. अर्थात् मिथ्याश्रद्धान ही संसारका मूल है. इस मिथ्या-
त्वाका है क्षपक ' तू मन, चमन और कायसे सर्वथा त्याग कर. यह मिथ्यात्व गुणोंसे युक्त ऐसी बुद्धीको भी सुग-
ध करता है.

यहाँ शंका—मिथ्यास्वको सर्व कर्मों में ग्रथम आप कहते हैं वह योग्य नहीं है. जैसे मिथ्यात्व अपने
कारणोंसे उत्पन्न होता है वैसी असंयमादि कों की भी उत्पत्ति अपने २ कारणोंसे होती है अतः मिथ्यात्वका कारण
दर्शनमोहनीय कर्म ग्रथम उत्पन्न होता है अतएव चारित्र्य मोहादिकोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी कहना असत्
है. क्योंकि हमेशा आत्मामें आठों कर्मों का सञ्चार है.

उत्तर—सामान्यतः सूत्रकारने ' मिथ्यात्वाविरतिमादकपायकौया बंधहेतवः ' इस सूत्रमें मिथ्यात्व
को ग्रथम स्थान दिया है अर्थात् बंधके कारणोंमें मिथ्यात्वका ग्रथम उल्लेख है. संसार बंधपूर्वक है. और संसार
का मूल कारण मिथ्यादर्शन है.

यह मिथ्यात्व बुद्धीको विपरीत करता है. यहाँ कितनेक आचार्य ऐसा कहते हैं—शुश्रूषा-गुननेकी इच्छा
शालाश्रवण करना, श्रवणकर उसको हृदयमें धारण करना, कालांतरमें भी धारण किया हुआ नहीं भूलना इत्या-
दिक बुद्धीके गुण हैं. मिथ्यात्व इनको भी विपरीत बनाता है. अर्थात् बुद्धि और उसके शुश्रूषादिकके कारण भी
मिथ्यात्वके सहसासे विपरीत होते हैं.

अतद्रूपयस्तु नि तद्रूपयभासिता कथं विज्ञानस्वेवाशंकाया विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तद्विमित्सद्भावादित्यावष्टे—
परिहर तं मिच्छतं सम्मत्ताराहणाद् दृढचित्तो ॥

होदि णमोकारमि य णाणे वदभाजणासु धिया ॥ ७२५ ॥

मयतन्दिह्याओ उदयन्ति मद्या मण्णंति जह सतण्हयगा ॥

सम्भूदंति असम्भूदं तघ मण्णंति मोहेण ॥ ७२६ ॥

पिब सम्पत्त्वपियूयं मिथ्यात्वविपमुत्सृज ॥

निधेहि भक्तिश्चित्ते नमस्कारमनारतम् ॥ ७२४ ॥

मिथ्यात्वमोहिताः सत्यमसत्यं जानते जनाः ॥

कुरंगा इव घृणताः सखिलं घृणतृष्णिकाम् ॥ ७२५ ॥

विजयोदया—मयतन्दिह्या युगलूणिज्जसब्बेन आवित्थरएअयो भेयितोष्मणा संपृक्ता वडयन्ते । मद्या मण्णंति ज्वगंति । युगा मय्येति उदयमिति । यथा वडयद्वा कृष्णसंततलोचनाः । तद्व य शयेय । युगा इय नरा मपि । अस्तम्भूदं सम्भूदंति मोहेण असत्यमपि तत्त्वमित्ययणञ्छित्ति दृशन्मोहेन हेतुना ॥

सन्निमित्तसन्निधानावधानस्य विपर्ययः स्यादिति दृष्टान्तं समर्थयते—

मूलारा—मयतन्दिह्या युगलूणादाब्बेन भोक्तेमोष्मणा संपृक्ताः सूर्यरश्मय वडयंते । वडयन्ति वडयन्ति । सट्ठम्भूदंति सट्ठम्भूदमिति । मोहेण दर्शनमोहेन ॥

अर्थ—हे क्षणिक सुने ! तू ऐसे मिथ्यात्वका त्यागकर और सत्यस्त्वकी आराधनामें अपनको स्थिर कर पंच परमेश्वरके नमस्कारसे, शानाराधनामें और व्रताभ्यासमें तू दृढ़ हो.

औ धरतु किस स्वरूपका धारक नहीं है ज्ञान उसको अत्यरूपसे कैसा जानेगा ? इस शंकापर आचार्य उचर देते हैं— ज्ञान विपरीतभी होता है क्योंकि उसको विपरीत करनेके कारण मिलते हैं. इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सूर्यके प्रबंड किरणोंसे जब जमीन अत्यंत गरम हो जाती है. तब उसकी उष्णता सूर्यके किरणोंसे मिश्र होकर पानीके समान दीखती है. प्याससे जिनकी आँखें संजम हो रही हैं ऐसे हरिणोंको उस समय सूर्यके किरणोंमें जलका आभास होने लगता है. वैसा मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवको असत्यपदार्थ भी सत्य भासने लगता है. अतएवको मिथ्यात्वव्रस्त जीव तत्त्वरूप समझता है.

मिथ्यात्व जन्ममोहमाहात्म्यप्रख्यापनमाह—

मिच्छन्तमोहणादो घत्तूरयमोहणं-वरं होदि ॥

बद्धेदि जन्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥ ७२७ ॥

मिथ्यात्वमोहतो जंतोर्वरं कनकमोहनम ॥

दत्ते मृत्युसहस्राणि प्रथमं न परं पुनः ॥ ७२८ ॥

विजयोदया—मिच्छन्तमोहणादो मिथ्यात्वजन्ममोहात् । घत्तूरयमोहणं उग्रमरुतसंवेद्यजमितमोहनं । वरं होदि शोभते भवति । कथं ? बद्धेदि वर्धयति । जन्ममरणं जन्ममरणं च विचित्राहु योनिषु । किं दंसणमोहो दर्शनमोहनम् । कनकम् । एतद् जन्ममरणं बद्धेदि तैश्च घत्तूरयमोहनं जन्ममरणपरंपरां धारयति कतिपयदिनमात्रमोहसंसादनोचते अनंतकालव्यतिरेकीत्यजननक्षणे मोहने अतिशयेन निरुद्धमिति भावः । ततो जन्ममरणप्रवाहरीरुणा भवता स्वात्म्ये मिथ्यात्वे इति ।

मिथ्यात्वजन्ममोहमादिमानमादर्शयति—

मृत्कारा—बद्धेदि वर्धयति ॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न दुष्ट मोहके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—मिथ्यादर्शनसे जो मोह परिणाम उत्पन्न होता है उससे घत्तूरका सेवन करनेसे उत्पन्न हुआ मोह अर्थात् जन्ममरणना अच्छा है ऐसा हम समझते हैं, क्यों कि दर्शनमोहनीयसे उत्पन्न हुआ मोह अनेक पुनर्जन्मोंमें जन्म मरणोंकी दृष्टि करता है, परन्तु धनूर खानेसे उत्पन्न हुआ पागलपना जन्ममरणको नहीं बदला है, तथा बद्ध थोड़े दिनपर्यंतकी जीर्णोद्धार सकता है, इसलिये अनंतकालतक पदार्थोंका विपरीत स्वरूप दिखानेवाला दर्शन मोह-जन्म मोहपरिणाम अत्यंत निरुद्ध है ऐसा समझना चाहिये, जन्म मरणके प्रवाहसे दरेनेवाले हे क्षपक ! तू घेसे दुष्ट मिथ्यात्वका त्याग कर.

ननु मतेष परित्यक्तं मिथ्यात्वं तत्तत्तुं इदानीं तस्यागोपदेस इत्यत्राशङ्क्यमाह—

जीवो अणादिकालं पचमिच्छन्तमोहो संतो ॥

एवमिच्छन्तु दु सम्मत्ते एतत्तुं खु कादब्बं ॥ ७२८ ॥

अनादिकालमिध्यास्वभावितो न प्रवर्तते ॥
सम्पत्त्वेष्वयं यतस्तेन प्रयत्नोऽत्र विधीयते ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जीवो अनादिकालं एव च मिच्छन्तु च भाविदो सतो जीवोऽनादिकालप्रवृत्तमिध्यास्वभावितः सन् । न रमिञ्ज सु वैव रमेत । समस्तं सम्पत्त्वे एव यत्र सम्पत्त्वे । पयसं प्रयत्नः । काक्ष्यं रु कर्तव्य एव । अन्तः-तकाले परिमाणितं मिध्यासं दुस्त्यजं तदेव दुःप्रत्यान्यं । ययोगश्चिरपरिचितं छिद्रं निवार्यमाणोऽपि यत्नात्मविश्रान्तिं इति कर्तव्यं सम्पत्त्वे दाढयं ॥

मूळारा—एव अत्र सम्पत्त्वे । सु काक्ष्यं कर्तव्य एव प्रयत्नः । निवार्यमाणोऽपि जीवश्चिरभावितं मिध्या-

त्वन्तुयाद्युराग इप छिद्रमिति ॥

अर्थ—अनादिकालसे जीवमें मिध्यात्व चला आया है इससे यह जीव सम्पत्त्वमें रममाण होता नहीं। इस मिध्यात्वकाही स्वाद इसको अनादिकालसे आज तक आ रहा था इन लिये यह जीव सम्पत्त्वमें नहीं रमेगा। इस वास्ते सम्पत्त्वमें प्रयत्न करनेके लिये जीवको चार बार मिध्यात्वका त्याग करनेका आचार्य उपदेश करते हैं। अन्तःकालसे मिध्यात्वका अग्यास होनेसे उसका त्याग करना बड़ाही कठिन है। जैसे सर्प अपने चिरपरिचित पिलमें निवारण करने परभी प्रवेश करता है वैसे इस जीवको भी बार बार मिध्यात्व का त्याग करनेके लिये और सम्पत्त्वमें दृढता लानेके लिये चार बार मिध्यात्वत्यागका उपदेश करना अव्योग्य नहीं है।

अग्निविसकिण्डसप्पादियाणि दोसं ण तं करेऽज्जहू ॥

जं कुणदि महादोसं तिच्चं जीवस्स मिच्छन्तं ॥ ७५९ ॥

विजयोदया—अग्निविसकिण्डसप्पादियाणि यश्चिद्विषं कृष्णसर्पं इत्यादीनि । दोसं ण तं करेऽज्जहू दोषं तं न कुण्ठुः । जं कुणदि यं करोति । महादोसं महातं दोषं । जीवस्स जीवस्य । तिच्चं दीप्तं । किं ? मिच्छन्तं मिध्यासं अथयानं ॥ अन्यदिभ्यो मिध्यात्वस्य विशिष्टां दुष्टवामापष्टे—

मूळारा—करेऽज्जहू कुण्ठुं । तदेव स्पष्टयति ॥

अर्थ—आग, विष और फाला सर्प वगैरह पदार्थोंसे भी उतनी हानि होती नहीं। जितनी बड़ी हानि तीव्र मिध्यात्वसे जीवोंकी होती है। अर्थात् तन्ममें अथद्वान करनेमें संसारमें ग्रमण करना पड़ता है।

अग्निसकिष्णसप्पादियाणि दोसं करंति एयमेवे ॥

मिच्छत्तं पुण दोसं करोदि भयकोडिकोडीसु ॥ ७३० ॥

विपात्रिकृष्णसर्पायाः कुर्वन्त्येकत्र जन्मनि ॥

मिथ्यात्वमावेदोपं भवानां कोटिकोटिपु ॥ ७२८ ॥

विज्ञयोदया—अग्न्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पतां मिथ्यात्वेन संगणस्य च महतां दर्शयत्युत्तरगायया । अ-
न्यादीन्त्येकमवदुःखदानि मिथ्यात्वं पुनर्दोषं करोति भवानां कोटीकोटीपु ॥
मूलारा—सप्तदम् ॥

अर्थ—अग्नि, विप और जाला तर्प चगेरह पदार्थोस जीवकी हानि एक ही भवमें हो सकती हैं परंतु
मिथ्यात्वासे अनेक कोटिकोटिमवोमें हानि होती है.

मिच्छत्तसङ्खिक्खा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति ॥

विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥ ७३१ ॥

विद्धो मिथ्यात्वशाल्येन तीव्रां प्राप्नोति वेदनाम् ॥

काटिनेव विपाक्केन कानेने निःप्रतिक्रियः ॥ ७२९ ॥

विज्ञयोदया—मिच्छत्तसङ्खिक्खा मिथ्यात्वात्वेन शाल्येन विद्धाः । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदनाः । वेदंति
अनुभवयन्ति । विसलित्तकंडविद्धा विपत्तिनेन शरेण विद्धाः । जह यथा । पुरिसा पुद्गवाः । णिप्पडीयारा विपत्तीकाराः ॥

मिथ्यात्वमष्टमपकारं दर्शयति—

मूलारा—वेदंति अनुभवंति । णिप्पडीयारा प्रतीकाररहिताः । अप्रिक्रित्वाः संत इत्यर्थः ॥

अर्थ—विपत्तिप्राप्ति शरीरमें घुसनेपर उसका विप नर्ब शरीरमें पसरकर मनुष्य प्राणरहित होता है,
अर्थात् उस पुरुषपर कुछ इलाज हो नहीं सकता, चैसा मिथ्यात्वशाल्यने विद्ध हुए मनुष्य तीव्र वेदनाओका अनु-

भव लेते हैं.

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पट्टिडाडुं ॥

काल्मदो वि य संतो जादो सो दीहसंसारे ॥ ७३२ ॥

मिध्यात्वोत्कर्षतः संघश्रीसंज्ञस्य विलोचने ॥

गलिते प्राप्तकालोऽपि यातोऽसौ दीर्घसंस्तुतिम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया—अच्छीणि आक्षिप्ती । संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितस्य । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । पट्टिडाणि पतिते । इहैव अभवन्ति । कालमदो वि य संतो भूत्वापि । जादो सो । जातोऽसौ । दीहसंसारे दीर्घसंसारे ॥

तद्वयोपाकमेतेन दृढयति—

मूलात्—संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितत्वाभात्यस्य । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । काल्मदो द्युतः ॥

अर्थ—संघश्री नामक प्रधान की आलें तीव्र मिथ्यात्व से नष्ट हुई और मरणके अनंतर वह दीर्घ संसारी हुआ.

कडुगमि अणिव्वलिवमि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ॥

दोदि निहिदं तु गिव्वलियमि ण मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥

कडुकेऽलाबुनि क्षीरं यथा नश्यत्यशोधिते ॥

सोधिते आयते ह्वयं मधुरं पुष्टिकारणम् ॥ ७३१ ॥

यदि नाम उपपन्नमिव्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं क्षारिमधुशुद्धितं भवा तदस्माद्विस्तरणे समर्थमित्याशा न कर्तव्येति ।

चित्रयोदया—कडुगमि दुद्धिए कडुकाळाव्यां । अणिव्वलिवमि अशुद्धायां । निहिदं खीरं निक्षिप्तं क्षीरं । जह कडुगमेव दोदि यथा कडुकरसमेव भयति । यक्कारेण माधुर्यव्यावृत्तिः क्रियते । गिव्वलिवमि य शुद्धायामलाभ्यां । निहिदं निक्षिप्तं क्षीरं जह मधुरं दोदि सुगंधं च । यथा मधुरं भयति सुगति च ॥

मिध्यात्वविष्टोऽपि दुष्परतपश्चाद्विद्याचारणादस्मान्निरव्याधीत्याशां निरसितुं दृष्टांतपुरःसरं गाय-

ह्वयेनोत्तरमाह—

मूलात्—अणिव्वलिवमि अशोधिते । दुद्धिए तुनके ।

यद्यपि मैं मिथ्यात्वयुक्त हूँ तो भी मैंने दुर्धर चारित्र का पालन किया है इसलिये यह दीर्घ संसारसे मेरा रक्षण करेगा ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये. ऐसा आशय दिखाते हैं—

अर्थ—गीरसहित कटुक रसोंमें लाला हुआ दूध कड़ होजाता है. अर्थात् उसका मधुरपना सब नष्ट होता है. परंतु शुद्ध अर्थात् गीरसहित रसोंमें रक्खा हुआ दूध कड़ होता नहीं. वह मधुर और सुगंधित रहता है.

तद् मिच्छत्तकटुगिदे जीवे तवणाचरणविरियाणि ॥

णासंति वंतमिच्छत्तन्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥

तपोज्ञानचरित्राणि सन्मिथ्यात्वे तथांगिनि ॥

नश्यंति चांतामिथ्यात्वे जायन्ते फलवन्ति च ॥ ७३५ ॥

चिचिधदूषणकारि कुदर्शनं लघु विमुक्त्य कृमित्रिमिवोत्तमाः ॥

सकलधर्मविधादि सुदर्शनं सुचिभजंति सुमित्रमिवाशनम् ॥ ७३६ ॥

इति मिथ्यात्यापोहनम् ॥

विजयोदया - तद् तथा । मिच्छत्तकटुगिदे मिथ्यात्वेन कटुकते जीवे । तवणाचरणविरियाणि तपो, ज्ञानं, बा-
रिचः, वीर्यमित्येवानि नासंति नश्यन्ति । तन्मिथ्यात्वरूपविनाशतः । समीचीनं, तपो, ज्ञानं, वरुणं, वीर्यमित्येव न च सुख-
पायो न तपः प्रभृतमानं । सा च सम्पत्कृत्याद्यलेनेव नश्यथा । वंतमिच्छत्तन्मिथ्यात्वे जीवे सफलाणि फलसम-
प्यितानि तपः प्रभृतीनि । जायन्ति जायन्ते । किं तपसः फलं ? अभ्युदयमुक्तं, त्रिधेयसंतुल्यं यः । मिच्छत्तत्स य वमनं इत्ये-
तदपराधार्तः । मिच्छन्ते ॥

मूळारो—णासंति नश्यन्ति । सम्पत्कृत्वरूपविनाशतः ॥ वंतमिच्छत्तन्मिथ्यात्वे निरस्तमिथ्यात्वजीवे । सफलाणि
अभ्युदयनिःशेषसमुदकराणि । इति मिथ्यात्ववमनम् ॥

अर्थ—वैसे मिथ्यात्वसे विपरीत रूचि अर्थात् विपरीत श्रद्धानी वने हुये इस जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र
और वीर्य ये गुण नष्ट होते हैं. अर्थात् मिथ्यात्वरहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये शुद्धी के उपाय हैं परंतु
एकैक तपादिक सुक्तीके उपाय नहीं. लव सम्पददर्शनकी प्राप्ति होती है तब तपादिकों सम्पत्पना आता है.
इसके अभावसे तपादिकोंमें सम्पत्पना जा नहीं सकता. मिथ्यात्वका त्याग जिसने किया है ऐसे जीवमें—सम्प-

मृष्टिमे तपादिरु सद्गुण सफल होते हैं इस तपश्चरणसे रहलोकका सुख और इंद्रपदकी प्राप्ति होती है और मोक्ष-मुक्तका भी लाभ होता है, 'मिच्छतस्तस्य य वमर्णः' इस गाथासूत्रका यहाँ तक विवेचन किया-

सम्ममं भायणा इत्येतद्व्याचष्टे—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते मव्यदुक्खणासयरे ॥

सम्मत्तं खु पविद्धा णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३५ ॥

मा स्म कार्पीः प्रमादं त्वं सम्मयक्त्वे भद्रवर्धके ॥

तपोज्ञानचरित्राणां सस्यानामिच पुष्करं ॥ ७३६ ॥

विजयोक्त्वा—मा कासि मा कार्पीः । तं भवान् । पमादं प्रमादं । सम्मत्तं सम्मयक्त्वे । सव्यदुःखणाखणगे सर्व-दुःखनिर्मूलनोपदेते । अयं सम्मयक्त्वं सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीभ्यश्चि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत आह—

सम्मत्तं खु भद्राजमेय तत्त्वस्य । पविद्धा आचारः । णाणचरणवीरियतवाणं ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्योत्तारस्य, तपस्य । ननु मय्येव परित्यागं परित्यागिन्द्रोपाचारो न परस्परमधिकरणतां यति ततः अथमुक्त्यते सम्मयक्त्वं आधार इति । यथा परिणामिद्वयमंतरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिरैव समीचीनता तेषां न वर्तते विनैति स्वयंदस्याचारता ॥

सम्मयक्त्वंभावनां गाथाएकेन व्याचष्टाणः क्षपकं तदवधानपरत्वात् कर्तुमाह—

मूढारा—मा कासि मा कार्पीः । तं त्वं । पमादं अवबधानम् । पविद्धा प्रतिष्ठा आश्रयः । ज्ञानादीनां जीव-

द्रव्य विनाशविधितिरिच सम्मयक्त्वं विना समीचीनता न स्यादिति सत्य तवाचारतोच्यते ॥

'सम्मयक्त्वंभावना' इस पदका स्पष्टीकरण करते हैं-

अर्थ—यह सम्मयक्त्वेन संपूर्ण दुःखों का नाश करता है-इसलिये इसमें है क्षपक तुम प्रमादी मत बनो-थंका—सम्मयक्त्वेन सर्व दुःखोंका नाश कैसे होता है ? उत्तर—यह सम्मयक्त्वेन अर्थात् जीवादितत्त्वोंका श्रद्धान ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है-इसलिये यह संपूर्ण दुःखों का नाश करता है ऐसा समझना चाहिये, येका—परिणाम परिणामिद्वयके आधारसे-रहते हैं इस वास्ते ने अन्योन्य आधार होते नहीं-अतः सम्मयक्त्वं परिणाम ज्ञानादि परिणामोंका आधार हैं ऐसा आप क्यों कहते हैं-उत्तर—जैसे परिणामनशील द्रव्यके विना—आत्मा

कं विना ज्ञानादिक रहते नहीं वैसे ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप को सम्यक् पना-सम्यग्दर्शनके विना प्राप्त होना नहीं इस लिये सम्यग्दर्शनको आधार माना है-

नगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खु तरुस्स जह मूलं ॥

तह जाण सुसम्मत्तं पाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३६ ॥

सारं द्वारं पुरस्सेव यच्चस्येव विलोचनम् ॥

मूलं महीरुहस्येव संज्ञानादेः सुदर्शनम् ॥ ७३५ ॥

यत्नानि नायकेनेव शरीराणीव जंतुना ॥

ज्ञानादीनि प्रवर्तते सम्यक्त्वेन विना कुतः ॥ ७३६ ॥

विजयोदया—नगरस्स जह दुवारं नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशतोपायो यथा द्वारं । तद्वा तथा सम्यत्तं सम्यक् पदं । पाणचरणवीरियतवाणं ज्ञानादीनां । एवं हि ज्ञानादीभ्यमुपविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो मयेत्सम्यक्त्वे प्रवर्तरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुमेयस्वयात्संभवत् । न हि सात्त्विकयमवध्यादि, यथाहपातं चारित्रं, यदुत्तरं निर्गोराभिहितं वा तपः मतिलभते जंतुः । सम्यक्त्वे विना । मुहस्स चक्खु जहा मुखस्य चक्षुर्वेधा शोभायिथायि तथा ज्ञानादीनां सम्यक्त्वे विधत्ते अस्मान् । तरुस्स मूलं यथा तरोर्मूलं यथा स्थितिनिर्माणं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिभिहितं ।

ज्ञानादीनि प्रति सम्यक्त्वस्य प्रवेशतोपायवद्व्यवस्थितिभिहितत्वानि स्फुरयति—

मूलारा—दुवारं द्वारेण गौरजनो नगरमिव सम्यक्त्वेन ज्ञानादिषु प्रविरसति जीवः । न ह्यसौ साविशयनव-
ध्यावैकानं यथाकवातचारित्रं मनुवरनिर्गोराभिहितं वा प्रविलम्बते जन्तुः सम्यक्त्वं विना ॥

अर्थ—जैसे द्वार नगरमें प्रवेश करनेका उपाय है, वैसे सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है, वैसे द्वारके लिये द्वारके समान है, अर्थात् जब आराममें सम्यक्त्वंकी उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञाना-
दिकोंका भी मंदा होता है, सम्यक्त्वके विना सम्यग्ज्ञान, तप, चारित्रादिकोंकी प्राप्ति होती ही नहीं, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न होनेसे जीवको विशिष्ट अवध्यादिक ज्ञान, यथाख्यातचारित्र, कर्मकी अतिशुभ निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त होते ही नहीं, मुक्तको जानसे जेसा सौंदर्य प्राप्त होता है तथा ज्ञानादिकोंमें सम्यग्दर्शनसे सम्यक्पना प्राप्त होता है, जैसे श्रावको मूलसे दृढता आती है वैसे ज्ञानादिकोंमें स्थिरता और दृढता सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होती है.

भावाणुराग्येमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा ॥
 धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥ ७३७ ॥
 दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ॥
 सिद्धन्ति चरियमट्ठा दंसणभट्ठा ण सिद्धन्ति ॥ ७३८ ॥
 दंसणभट्ठो भट्ठो ण तु भट्ठो होइ चरणमट्ठो हु ॥
 दंसणममुयत्तस्स हु परिवड्ढणं णत्थि संसारे ॥ ७३९ ॥
 अट्ठोऽस्ति दर्शानभट्ठो वत्तअट्ठोऽपि नो पुनः ॥
 पत्तने स्यस्ति संसारे न दर्शानममुषत्तः ॥ ७४० ॥
 ये धर्मभावमज्जादिभेरागानुरंजिताः ॥
 जैनै संसति मत्ते नेवां न किंचिद्वस्तु दुर्लभम् ॥ ७४१ ॥

विशयोदया—दंसणभट्ठो भट्ठो दर्शानभट्ठो अष्टमः । चरणभट्ठो वि चारित्रमष्टोऽपि धर्मभावभट्ठः । ण तु न व । भट्ठो होवित्ति याम्यशेषं कृत्वा संबोधः । न तु तथा भट्ठो भवति कारिवभट्ठः यथा दर्शानभट्ठः । दंसणं अर्थानं । अनु-
 गतस्स भत्पजतः । चारित्राक्षरस्यापि परिवड्ढणं संबारे णत्थि तु परिपत्तने ससारे नास्त्येष । असंयमनिमित्ताजितपाय-
 संहारेस्सयेय ससारः । किमुन्यत्ते परिपत्तने मास्तीति ? अयमभिप्रायः—परि समंतत्सर्वार्थेषु मस्तिपु यत्तत्तु संस्वर्ण मास्ती-
 ति । स्वपरात्संसारः सचापि नस्तीति न्यर्चाह्यते । तथा हि स्वपराद्विषयोऽप्यन गत्युच्यते । दर्शनात्म्यभट्टस्य अर्थेषु नल-
 परिवर्तने भवत्येवमहत्संसारमिति निरुद्धत्वमो दर्शानभट्ठः ॥

सार्थः—नितनेक लोक भावानुरागी रहते हैं जैसे विनदच श्रेष्ठी. अर्थात् जो जिनेश्वरने वस्तुस्वरूप कहा है
 यह सत्य ही है ऐसा पक्ष अदान करनेवाला मनुष्य तत्त्वका स्वरूप मालूम नहीं सो दो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ
 तत्त्वस्वरूप कभी धूला होता ही नहीं ऐसी श्रद्धा करता है इसको भावानुराग कहते हैं, प्रेमयुक्त अनुरागका दृष्टान्त

* दंसणभट्ठो भट्ठो इस गाथासे ऊपर जर्हिसा, सत्य, अर्चार्थ महाब्रह्म इतने विषयोंका वर्णन करनेवाली
 गाथाओंकी मूलादायना वंशिका कारणोंकी मूलप्रतीमें नहीं है. बीचके पत्र ही नष्ट होगये हैं. अतः यहाँसे हमने
 विजयोदया ही जोड़ दी है. ।

मणिचूल है. इनने अपने भित्रको—सगरचक्रन्वीको चार चार समझाकर मोयादिकोसे विरक्त किया था. निम्नके ऊपर ग्रैव है. उसको चारचार समझाकर सम्मार्गमें लगाना यह प्रेमावुराग कहाता है. मञ्जानुगम यह पाँचवोंमें था अर्थात् ये जन्मसे तेज़ आपसमें अविद्याय स्नेहयुक्त थे. वेसे हे क्षणक दूँ घर्मावुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड़.

अर्थ—जो पुरुष सम्पददर्शनमें भ्रष्ट हुआ है वह भ्रष्टही समझना चाहिये. दर्शनभ्रष्ट जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं. चारित्रभ्रष्ट जीव युक्तिकी प्राप्ति कर सकते हैं परंतु दर्शनभ्रष्ट जीवको मुक्ति लाभ होता नहीं.

अर्थ—जो जीव दर्शनमें भ्रष्ट हुआ है उसको भ्रष्टतम कहना चाहिये. चारित्रभ्रष्ट जीव दर्शनसे भ्रष्ट नहीं माना जाता है. अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीवमें दर्शनभ्रष्ट जीव अतिक्रम्य भ्रष्ट है. जो चारित्रसे भ्रष्ट हुआ है. परंतु सम्पददर्शन से न्यून नहीं हुआ है उसको संसारपतनकी मीति नहीं है. झंका-असंयमसे उत्पन्न हुए पापके भारसे जीवको संसारमें प्रमथ्य फाटना पड़ता ही है अतः चारित्रभ्रष्ट जीवका संसारपतन नहीं है ऐसा आप क्यों कहते हो ? इस प्रश्नका उत्तर—चारित्रभ्रष्ट जीव चारों गतिओंमें प्रमथ्य करता नहीं. उसका संसार अल्प रहता है अतः उसको संसार नहीं है ऐसा कहा जाता है जैसे किसीके पास थोड़ासा धन है तो भी वह धनी कहालाता नहीं, परंतु दर्शनभ्रष्ट मनुष्यको अर्धे पुद्गलपरिगर्भित फाल्गुनक संसारमें प्रमथ्य फाटना पड़ता है इसलिये वह अत्यन्त निष्ठुर है.

एककथं सम्यग्दर्शनस्य मादरम्यं कथयति -

सुखे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणासं ॥

जादो दु सेणिगो आगर्मेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥

अणिक्को वतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ॥

आहंस्त्पपदमासाय सिद्धिसोचं गमिष्यति ॥ ७४१ ॥

वित्तयोक्त्वा—सुखे सुखे । समन्ते सम्यक्त्वे । सुखाद्यतिचारत्माणात् । अविरदो वि अज्जत्थाख्यानापरण-
कोपमात्मन्यालोभाकाशुदुःखात् । दितादिनिट्टित्तिविष्णामरहितोऽपि । स्तिथयणमकम्म तीर्थकत्त्वस्य कारणे कर्मे अज्जे
यति । वित्तयत्संप्रभताविरपि तीर्थकत्त्वमकर्मको हेतुत्वेन ततः कोऽपि अणो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने स्वयमेव देयं तीर्थे

करतानकर्मणः कारणात् । नान्यस्येति गम्यते । जानो खु जातः सन् । सेविषो धेणिकः । आगमेसि भविष्यति काले । अद हो अहंन । भविष्यो वि भसयतोऽपि सन् । ननु धेणिको भविष्यत्यहं न त्वहंत्वं तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति । भविष्यदहंत्वं न निष्पन्नं इति युक्तमुच्यते जात इति ॥

अकेला भी सम्मदर्शन महात्म्ययुक्त होता है ऐसा विवेचन आचार्य करते हैं—

अर्थ—शुंका, कांक्षा वगैरह अविचारोंसे रहित अविरत सम्मच्छीको भी तीर्थकरनाम कर्मका बंध होता है, अत्रयाख्यानाश्रयी कोष, मान, माया और लोभ इनका उदय होनेसे, परिणामोंमें हिंसादिकोंसे विरक्तता उत्पन्न न होने पर भी केवल निरतिचार सम्मदर्शन धारण करनेवाले मनुष्यको तीर्थकर कर्मका बंध होता है, शुंका—विनयसंपन्नता वगैरह अन्य कारणोंसे भी तीर्थकरत्वकी प्राप्ति होती है, सम्मदर्शनमें ही ऐसी न्या विधि-पटता है ? उत्तर—सम्मदर्शन होनेपर ही विनयसंपन्नतादिक तीर्थकर कर्म बंधके कारण होते हैं अन्यथा उनमें कारण पता नहीं है, केवल सम्मदर्शनके साहायतासे ही धेणिक राजा भविष्यत्कालमें अरहत हुआ है,

शुंका—धेणिक भूपाल भविष्यत्कालमें अहंन होनेवाला है उसको अहंदायस्था प्राप्त होचुकी है ऐसा नहीं है, अत वह अहंत होगया ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—भविष्य कालीन अहंतपन्न अभी निष्पन्न नहीं हुआ है इसलिये वह होगया ऐसा कहना योग्य है,

कल्याणपरंपरये लंहति जीवा विमुद्धसम्पत्ता ॥

समर्द्धसंपरयणं जग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अकिट्ठा लभ्यते येन कल्याणानां परंपरा

मूल्यं सम्पद्यत्तरत्नस्य न लोके तस्य विद्यते ॥ ७४० ॥

विजयोदया—कल्याणपरंपरयं कल्याणपरंपरा । छंदत्वं, सकलचक्रलंछुतां, अहमिदत्वं, तीर्थेकत्वमित्यादिके उभंते जीवा । विमुद्धसम्पत्ता विमुद्धसम्पत्त्वा । सम्मर्द्धसंपरयणं सम्मदर्शनपत्नं । जग्घदि ससुरासुरो लोओ सकलो लोओ मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्पद्यत्तरत्नमित्यर्थः ॥

अर्थ—इस निर्मल सम्मदर्शनसे ईश्वरपदवी, चक्रवर्तीपना, अहमिद्वानस्था और तीर्थेकरपद ऐसी कल्याण परंपरा उत्तरोत्तर जीवको मिलती है, यह सम्पत्त्व रत्न इतना गूलवान है कि देव और असुरोंसहित यह संपूर्ण

लोक भी प्रदान किया तो भी उसकी कीमतकी मर्यादा होती नहीं है. अर्थात् संपूर्ण त्रैलोक्य देनेपर भी सम्पत्तिल मिलता नहीं.

सम्पत्तस्स य लभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लभो ॥

सम्पदंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥ ७४२ ॥

लद्धूण वि तेलोक्कं परिवहदि दु परिमिदेण कालेण ॥

लद्धूण य सम्पत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥ ७४३ ॥

सम्पक्खस्स च यो लाभेल्लोक्कस्स च यस्सपोः ॥

त्रैलोक्यमुपलभ्यापि ततः पतति निश्चितम् ॥

अश्रयां लभते लक्ष्मीमुपलभ्य सुदर्शनम् ॥ ७४२ ॥

ददाति सौख्यं विद्युनोति दुःखं यं लुनोति नयते विमुक्तिं ॥

निवृत्ति निर्दां कुरुते सपर्यां सम्पक्खत्वरत्नं विदधाति किं न ॥ ७४३ ॥

इति सम्पक्खत्वं ।

विजयोदया - स्पर्शभेदनाय न प्याकपायने गाथाद्वयम् । अनंतरसम्पत्ते भावना रत्येतद्व्याख्यातं ॥ सम्पत्तं ॥

अर्थ - एक सन्यदर्शनका लाभ और दूसरा त्रैलोक्यका लाभ इन दो लाभोंमें सन्यदर्शनका लाभही

अविनाशी सुख देनेवाले मोक्षकी प्राप्ति करा देता है. अतः सन्यदर्शनका लाभ त्रैलोक्यलाभसे भी श्रेष्ठ है. सम्प-

त्त्वका वर्णन समाप्त हुआ.

परा भक्ती शब्देन द्वाव्यागनाय प्रबंध उत्तरः -

अरहंतसिद्धचैदियपवयणआयरियसन्धसाहसु ॥

निव्वं करोहि भक्ती णिव्विदिग्गिच्छेण भावेण ॥ ७४४ ॥

भक्तिमर्हत्सु सिद्धेषु चैत्येष्वन्वार्पसाधुषु ॥

विद्येहि परमां साधो ! निश्चयस्थितमानसः ॥ ७७४ ॥

विज्ञयोदया - एतद्विज्ञेयविषयगण गायस्वित्यस्यसङ्घसु ब्रह्मेति सङ्घेषु तत्रविद्विषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्वसाधुषु च । तत्र भक्ति करोहि तोवा भाक्तिं कुर्याति । ज्ञानविनिष्ठेन विचिकित्सत्पक्षितेन । भावेन परिणामेन ॥

परामर्शी इमं पदका आचार्यं स्पष्टीकरण करते हैं--

अर्थ--अरहंत, सिद्ध, और उनकी प्रतिभायें, आगम, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इनके ऊपर हे धर्मक ? तुम मलिनपरिणामोंका त्याग कर तीव्र भक्ति करो.

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयति -

संवेगजनिदकरणा गिरसह्या भंदरोन्व निवर्कणा ॥

जस्स दृढा जिणभत्ती तस्स भवं गत्थि संसारे ॥ ७७५ ॥

विज्ञयोदया - संवेगजगिरत्तरणा संसारभीरुताया उपाधितात्मलाभा । गिरसह्या मिथ्यात्वेन, माध्या, निदा नेन, च रहिता । भंदरोन्व निवर्कणा भंदर इव निदबला । जस्स दृढा जिणभत्ती यस्य दृढा जिनभक्तिः । तस्स सलारे भय पत्तिर तस्य संसारनिमित्तं भय नास्ति ॥

जिनभक्तिका माहात्म्यं दिशते हैं--

अर्थ--संसारभयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व, माया और निदानसे रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनभक्ति जिसके अंत कारणमें हैं उस पुरुषको संसारमें किसी से भी भय उत्पन्न नहीं होता. अर्थात् जिनभक्ति के प्रभानसे उनका संसार नष्ट होकर उसको शीघ्र मुक्तिलाभ होता है.

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गहं णिवारेण ॥

पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपसुहाणे ॥ ७७६ ॥

तह सिद्धचेदिणु पक्कणे य आइरियसव्वसाधुसु ॥

भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिच्चा ॥ ७७७ ॥

विज्ञा वि भक्तिवन्तस्स सिद्धिपुवयादि होदि सफला य ॥
किह पुण णिबुद्धिवीजं सिद्धादिदि अभित्तिमन्तस्स ॥ ७२८ ॥

जिनद्रभक्तिरत्तापि निपेदुं दुर्गतिं क्षमा ॥
आसिद्धिलब्धि नो दातुं सारां सौख्यपरंपराम् ॥ ७३५ ॥
सिद्धचैत्यधुताचार्यसर्वसायुगता परा ॥

विच्छिन्नमस्ति भवं भक्तिः कुठारीच महीरुहम् ॥ ७३६ ॥
नेह सिच्यति विद्यापि सफला न हि जायते ॥

किं पुनर्निर्धुनेवजिं भक्तिहीनस्य सिच्यति ॥ ७३७ ॥

विजयोदया - विज्ञा विद्यापि । भक्तिवन्तस्स भोक्तव्यता । सिद्धिपुवयादि सिद्धिपुण्याति । होदि सफला य
भागेनहितस्य ॥ क ? अत्रोदयिषु ॥

अर्थ—अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिना नाश करने में समर्थ है. इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है
और मोक्षप्राप्ति होने तक इसमें इंद्रपद, षष्ठमर्तपद, अष्टमर्तपद और तीर्थकरपदके सुखोंकी प्राप्ति होती है.
मिदपरमोष्टि, और उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्वसाधु, इनमें की हुई तीन भक्ति संसार का
नाश करनेमें समर्थ होती है. जो भक्तिमान् है उसको इष्ट पदार्थोंकी दात्री विद्या सिद्ध होती है. अर्थात् उससे
इष्ट पदार्थ भक्तिमानको मिलते हैं. जो भक्तिहीन है अर्थात् जो अर्हदादिकोंमें भक्ति नहीं करेगा उसको सुखिका
पीज जो रत्नत्रय वह देने प्राप्त हो सकेगा ?

तेसिं आराधणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति ॥

धात्ते पि संजमंतो सालिं सो उसरे ववदि ॥ ७२९ ॥

भक्तिमारारयनेचानां योऽङ्कुर्याणस्तपस्यति ॥

स वपत्यूयरे शालीननालोच्य समं चरुवम् ॥ ७३८ ॥

विजयोदया—तोले आराधनायागणं बह्वेदारीणां आराधनाया नायकाना । ॥ कलिज जो गरो भोले जो नरो नाके ॥ करोति । अ धासे पि सज्जमतो नितरां सयमे उद्यतोऽपि शालीमुपरे देशे उपति । ऊरे शमलेपपत अफल यया करोत्येव दुधर समय चरत्यय अर्द्धदाहिषु माकिरहितो मिथ्यावष्टि सज्जति श्राव ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओंके नावक ऐसे अर्द्धदिपरेमिष्टिओंमें जो पुरुष भक्ति नहीं करता है. यह चारिग्रं सूप तत्पर रहनेपर भी क्षार वृत्तिकामें शालीवीज योनेशले मनुष्य के समान है.

लेसे शालीवीज क्षारजमीनमें बनेसे कुछ फायदा नहीं है वैसे मिथ्यादर्शनसाहित होकर खूब तपश्चरण करनेसे भी मुक्तिफल की प्राप्ति होती नहीं.

वीपुण विणा सत्सं इच्छदि सो वासमम्पण विणा ॥

आराधनमिच्छन्तो आराधनभक्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

ते वल्लेन विना सत्सं वारिदेन विना जलम् ॥

कांक्षन्ति ये विना भक्तिं कांक्षंस्वाराधनां नराः ॥ ७५१ ॥

पिजयोदया—वीपुण विणा सत्सं इच्छामिच्छति योगेन विना । वासमम्पण विणा वृद्धि भजेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । आराधना दत्तत्रयसंनिधि इच्छति । अकुर्वन्नाराधनाभक्तिं वेत्तुमर्हतां ॥

अर्थ—आराधनारूप भक्ति न करके ही जो स्वप्नयसिद्धिरूप फल चाहता है वह पुल्ल बीजके विना धाम्यप्रादिफली इच्छा रखता है अथवा मेघके विनाही जलवृष्टि की इच्छा करता है ऐसा समझना चाहिए.

विधिणा कदरत सस्सत्स जहा विणादयं हवदि वासं ॥

तह अरहादिगमची णाणत्तरणदंसणतवाणं ॥ ७५१ ॥

विधिनोत्तस्य सत्स्यस्य वृष्टिर्निष्पादिका यथा ॥

तथैवाराधनाभक्तिश्चतुरंगस्य जायते ॥ ७५० ॥

विजयोदया—विधिणा कदरत विधीयते अन्येते कार्यमनेनेति कारणसंदेहो विधिः । तेन कारणकलोपेन कृत रपोत्तस्य । सत्सत्सु शब्दस्य । वासं जह विजयोदयं हवदि कपे यथा फलनिष्पत्तिं करोति । तह तथैव । आराधनभक्ती

भाराद्वपमती लारापकेषु अर्हदृष्टिषु भक्ती भक्तिः । पाणवरणवसणतवाणं ज्ञानस्य, ध्यानस्य, चारित्र्यस्य, तपस्य
निष्पत्तिरिति अयति ॥

अर्थ—ज्ञान्य उत्पन्न करनेके संपूर्ण कार्योंका आश्रय कर जमीनमें बीज बोनेके अनंतर बलवृष्टि होनेसे
फल निष्पत्ति होती है. वैसे अर्हदृष्टि पूज्य पुरुषोंपर भक्ति करनेसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, और तपस्वी फल उत्पन्न
होता है.

भक्तिमाहात्म्यं फलानिस्तयोपदेशेन कथयितुमर्होऽयमव्ययानुपदिष्टि गायत्र्याम्—

वन्द्यभक्तीभिर्त्तेज मिहिलाहिओ य पडमरहो ॥

देविद्वपाडिहरं पत्तो जादो गणधरो य ॥ ७५१ ॥

पंदनाभक्तिमात्रेण पद्मफो मिथिलाधिपः ॥

देवेद्रूपभितो भूत्वा सधूव गणनायकः ॥ ७८१ ॥

देगनारिषौरैरिभूपभूतपूर्वकाणि ॥

भक्तिराष्ट्र दुःखदा निहन्ति सेविताजिखलानि ॥ ७८२ ॥

इति भक्तिः ।

पिजयोद्या—पद्ममसीभिर्त्तेज वंद्यमातुरागमात्रेण देवः । मिहिलाहिओ य पडमरहो मिथिलानगराधिपतिः
पद्मरथो नाम । देविद्वपाडिहर पत्तो देवेद्रूपता पूजा प्राप्तवान् । जादो गणधरो य गणधरश्च ज्ञात ॥ भक्ती ॥

विशिष्ट फलका प्रदर्शन करके भक्तिका माहात्म्य कहने की इच्छासे आचार्य उदाहरण देते हैं—

अर्थ—पंदना करनेकी लीज भक्तीसे मिथिला देशका राजा पद्मरथ देवदेवसे पूजाविशयको प्राप्त हुआ
और यह पातुपूज्य तीर्थकर का गणधर हुआ. भक्तीका वर्णन हुआ.

आराधणापुरस्सरमण्णहिदओ विसुद्धलेस्साओ ॥

संसारस्स खण्णकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥

आराधनापुरोयानं मा स्मेकाग्रमना मूष ॥

शुद्धलेदयो नमस्कारं संसारक्षयकारकम् ॥ ७८३ ॥

विलयोनया—आराधनापुरोत्तरं गमोकारं मा मोक्षो आराधनाया अग्रसरं नमस्कारं मा मुञ्च। कीदृग्भूतं संसारस्त एवकुरं संसारस्य पंचनिधपरिवर्तनस्य क्षयकरं । अण्णदिद्वो अनन्यहृदयः अनन्यमतिचित्तः सन् । विसुद्ध-
लेस्तामो विसुद्धलेदस्यपरिणतः । तत्र नमस्कारः नमस्कारमात्राप्रणविकल्पेन चतुर्दो व्योस्थितः । तत्र नाम
नमस्कारो यदस्य कस्यचिन्नमस्कार इति कृता संज्ञा इदमस्य नामधेयं यथा स्यादिति त्रिगुण्यगानं पदं सर्वं सर्वत्र
प्रवर्तते । नमस्कारणव्यापृतो जीवस्तस्य कृताञ्जलिपुटस्य यथायुतेनकारेणवशापिता मूर्तिः स्थापनानमस्कारः । नम-
स्काराभूतं नानास्ति ग्रंथः यत्र नयप्रमाणानिनिशेषादिगुणेन नमस्कारो निरूप्यते, तं यो वेत्ति न च चाग्रतं तद्विरूप्ये
उयं उपप्लुतोऽन्यगतनिरूप्यत्वात् स नमस्कारायाधत्तव्यम्रादियुतक्षानस्य कारकात्वादागमद्रव्यममस्कार इत्युच्यते । नो
आगमद्रव्यममस्कारल्लिखिकः, सायकक्षारोरेभावित्रद्वयतिरिक्तेभेदात् । नमकाराभूतस्य वच्छरीरं त्रिकालगोचरं
तद्व्यवर्तरेण भुक्तकानं नोपजायते इति शरीरमपि कारणं वनापि नमस्कारशब्दो धर्तते । तस्मिन्शरीरं त्रिविकल्पं व्युत्पन्नं,
व्यावर्तितं, लक्षणमिति । आयुषो निरोधमलनाक्षतमनन्वृतं एकं । येनस्योपसर्गजलाक्षा व्यपित्तशब्देनोच्यते । आयुषो
मयमधेयं यात्मनैव पर्यक्तं सत्यकाशान्देनोच्यते । तस्मिन्विकृतो भक्तप्रणवर्णनं, प्रायोपगमनं, दंनिनीमरणं इति तेष्वन्यतमेन
त्यक्तं विधिना कायकयागसंज्ञेयनायुरःसरं प्रमज्ज्यतः प्रवृत्तिं निर्वापकशुक्लमाश्रयकारिषसंनये कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान्
क्षानदसंनवारिजाणां अतिचारानालोच्य तद्विमित्रमात्रायाश्चिन्ताशुसारिणः द्रव्यभायसंज्ञेयत्वाद्युपगतस्य विधिघाशाप्रत्या-
पणानादिक्रमेण रत्नप्रचाराधनं भक्तप्रत्याख्यानं । शंमिनीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणलक्षणे तैः परित्यक्तं त्यक्तमुच्यते ।
यद्येव तस्मिन् जीवे नमस्कारोपयोगं प्रति लीबधदेय कारणात्मसीतममस्कारोपयोगस्य तदेवैवमिति तत्रापि नमस्कारशब्दः
प्रवर्तते । नमस्कारोपयोगरूपेण यो भाविष्यति स भावीति अभ्यसे । स्थापना अर्धदर्विनां आभजननमस्कारक्षानं आगमभाव-
नमस्कारः । नमस्कारयमानार्धदार्दिगुणानुपगम्यतः मुकुलीकृतकरकमलस्य, प्रणामो नो अस्मत्भावजनमस्कार इह युज्यते ।
निर्देशसामित्वाधमधिकरणस्थितिविधानिन्युपयोगद्वारेनैरुच्यते । अर्धदार्दिगुणानुपगम्यतः आत्मनो वाङ्माय-

क्रियास्तयनाशितोवनतिक्रमो नमस्कारः । समग्रदृष्टिनां आगमभावजनमस्कारस्य स्वामीति । मत्तिश्रुत
ज्ञानावरणशयोपशमः, दर्शनमोक्षोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमस्य वाङ्मायं साधनं, अम्यं तं शास्त्रा प्रत्यासन्नमभ्यः । आत्मानि
यतेति नमस्कारः । अंतर्मुद्रांस्थितिकः । अर्धदार्दिगुणानुपगम्यतः अर्धदार्दिनां प्रत्येकमनेकविकल्पवत्त्वात्
नमस्कारोऽपि तावदाभिदते ।

अर्थ—यह भावनमस्कार आराधना पुनःसर हृदयमें घाटण कर- इससे पांच परिवर्तनमय संसारका नाश
होता है, हे क्षयक ! तू एतद्वा हृदयसे और विच्छिन्न परिणामसे इसका स्वीकार करे, इसका कभी भी त्याग न करना
चाहिये.

इय नमस्कार के नामनमस्कार, स्थापनानमस्कार, द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार ऐसे चार भेद हैं। नामनमस्कार—जिम किसीका 'नमस्कार' ऐसा नाम रखना यह इस पदार्थका नाम हो इस हेतुसे जो जो पद प्रयोग किया जाता है उसको नामनमस्कार कहते हैं।

स्थापनानमस्कार—नमस्कार करनेमें तत्पर होकर हाथ जोड़कर मस्तकपर लिखने स्थापन किये हैं ऐसे जीवकी जैसी आकृति होती है वैसी आकारयुक्त जो मूर्ति स्थायी जाती है उसको स्थापनानमस्कार कहते हैं।

द्रव्यनमस्कार—नमस्कारप्राप्त नामका ग्रंथ है जिसमें नव प्रमाण और निक्षेप वगैरहके द्वारा नमस्कारा निरूपण किया है। इस ग्रंथका जिसको ज्ञान है परंतु इसमें निरूपण किये गये अर्थमें सांप्रतकालमें जिसका उपयोग नहीं है, अर्थात् सांप्रतकालमें जिमका अन्य पदार्थके सरफ चित्त गया है वह पुरुष 'द्रव्यनमस्कार' शब्दने वाल्य है। वह पुरुष नमस्कारका यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले भुवज्ञानका कारण होनेसे उसको आगम द्रव्यनमस्कार कहते हैं।

तो आगम द्रव्यनमस्कारके शेषक शरीर, भावि और वद्व्यतिरिक्त, ऐसे भेद हैं। नमस्कार प्राप्नुवके ज्ञाताका जो त्रिकालगोचर शरीर उसमें भी नमस्कार शब्दका प्रयोग करते हैं क्योंकि शरीरके बिना नमस्कार शब्दका ज्ञान जीवकी होना नहीं। इस लिये शरीर भी ज्ञानका कारण है। उसमें भी नमस्कार पदका प्रयोग करते हैं। त्रिकालगोचर शरीर में जो भूतशरीर नामक भेद है उसके व्युत्पन्न, व्यावित और त्यक्त ऐसे तीन भेद हैं। आयुष्य पूर्ण चलने पर जो शरीर आत्माने छूट जाता है उसको व्युत्पन्न शरीर कहते हैं। उपसर्ग होनेपर जो शरीर छूट जाता है वह व्यावित कहा जाता है। आयुष्यका अभाव हुआ है ऐसा समझकर आत्माके द्वारा जो शरीर त्यागा जाता है उसको त्यक्त कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। भक्तप्रत्याख्यान, प्रयोगपमन और शंखिनीमरण इन तीनों भेदोंमें से किमीका भी आश्रय कर योग्य विधिमें शरीरका त्याग होता है उसको त्यक्त कहते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान—शुनिदीक्षा लेनेके अनंतर दीक्षा कालसे कपाय मछेलना और शरीरसंछेलना करके नियंत्रणार्थका आश्रय करनेके कालपर्यंत बीचके कालमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यमें जो जो अतिचार हुए हैं उनकी आलोचना करके गुरुके दिये हुये प्रापञ्चित का स्वीकार करना चाहिये। तदनंतर द्रव्यसंछेलना और भाव-संछेलनाका आश्रय करके तीन प्रकारके आहाराका त्याग कर रत्नप्रयकी आराधना करना इसको भक्तप्रत्या-

रूपान कहते हैं, इंगितरीमण और प्रायोपगमन मरण ऐसे दो भेदोंका लक्षण आचार्य आगे कहेंगे, इन मरणोंके द्वारा इरीरिका त्याग धरना उसको भी त्यक्त कहते हैं,

जीव जव या तव चह जैसा नमस्काररूप उपयोगको कारण था वैसा वह भी इरीर भमस्कारकें प्रति उपयोग लगानेका कारण था अतः वही चह इरीर है ऐसा ज्ञान इरीरको देखनेसे होता है इसलिये भूतशरीरमें भी नमस्कारका प्रयोग कर सकते हैं जिसमें भविष्यकालमें नमस्कारकें प्रति उपयोग होगा वह भावि कहाता है

नमस्कार विषयक ज्ञानके तरफ जिसका उपयोग होगा है उसको आगम भावनमस्कार कहते हैं, जिनकी नमस्कार करना योग्य है ऐसे अर्हदादिक परमेश्वरों के गुणोंमें अनुसक्त होकर अपने दो हाथ जिसने कमलकलिकाकार क्रिये हैं तथा जो नमस्कार कर रहा है उसको नौ आगम भावनमस्कार कहते हैं,

इस नमस्कारका निर्देश, स्वाभित्त, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इतने अनुयोगों के द्वारा वर्णन करते हैं—

अर्हदादिकी गुणोंमें अनुरागी होकर जो आत्मा बचनसे स्तुति करता है और मस्तक नम्र करता है उसकी इस अवस्थाको नमस्कार स्वामी—सम्यग्दृष्टि इस नौ आगम भाव नमस्कारका स्वामी है, इस नमस्कारके ये साधन हैं,— मति श्रुतज्ञापरण फर्मका ध्योपपन्नम, दर्शन मोहका उपद्रव ध्य और ध्योपपन्न ये बाधा साधन हैं आत्मा अन्तरंग साधन है, अर्थात् प्रत्यासन्नभग्न्य अन्तरंग साधन है, अधिकरण—आत्मामें यह नमस्कार रहता है, अतः यह आधार है, इसकी स्थिति अन्तर्गृहवर्ती है, अर्हदादि पंचपरमेश्वरोंके अपेक्षासे इसके पांच प्रकार हैं, अथवा अर्हदादिकोंमें अनेक विकल्प हैं इस लिये भी नमस्कारके अनेक भेद होते हैं, अर्हन्तके सामान्य केवलि अर्हत्, गणधर केवलि अर्हत्, तीर्थंकर केवलि अर्हत् ऐसे भेद हैं, सिद्धोंके भी गति सिद्ध, तीर्थसिद्ध, श्रेष्ठसिद्ध, लिंग सिद्ध ऐसे अनेक भेद हैं इनकी अपेक्षासे नमस्कारके भी अनेक भेद होते हैं,

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासनं च पंचण्डं ॥

काण गुण संपणामो एस पयत्यो णमोक्करो ॥ ७५४ ॥

चित्रयोदया—अथ नमस्काररसज्ञेन 'णमो छोप सज्जसाधुणं' इत्यथ लोकप्रदणं सर्वप्रदणं प्रत्येकमभिसंय-

प्यते । जमो लोए सव्वेसि अरहंताणं, जमो लोए सव्वेसि सिद्धाणं, जमो लोए उच्चसि आशरियाणं, जमो लोए सव्वेसि उव्वयायानं" इति । अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामरहंतीनां ग्रहणं सिद्धमती न कर्तव्यं सर्वशब्दोपादाने इति चेत् । अरहंतीपदोपगतमतेषु, ऐरावतेषु, विदेहेषु च ये अहंता, सिद्धा, आचार्या, उपाध्यायाः, साधवश्चासीना, धर्तमाना, मयिष्यन्तश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्तः । सादृशविशेषस्वायनार्थं प्रत्येकं नमःशब्दोपादानं ।

अर्थ—नमस्कार इस पदका अर्थ हम प्रकाश है. मनके द्वारा अहंदादिकोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनके द्वारा अहंदादि पंच परमेश्वरोंके गुणोंका वर्णन करना, शरीरसे पंच परमेश्वरोंके चरणोंको नमस्कार करना यह नमस्कार शब्दका अर्थ है.

जमो अरहंताणं इत्यादि नमस्कार ध्रुवमें 'जमो लोए सव्व साहूणं' ऐसा अन्तिम वाक्य है. इसमें लोक शब्द और सर्व शब्द इन दो शब्दोंका संयोग प्रत्येकके साथ करना चाहिये. अर्थात् जमो लोए सव्वेसि अरहंताणं, जमो लोए सव्वेसि सिद्धाणं, जमो लोए सव्वेसि आशरियाणं, जमो लोए सव्वेसि उव्वयायानं ।

शुका—अरहंताणं, सिद्धाणं वगैरहमें बहु वचनका प्रयोग होनेसे ही सर्व अहंदादिकोंका ग्रहण होता है अतः सर्व शब्दकी जरूरत नहीं है.

उत्तर—हाँ द्वीपमें पांच भगव, पांच ऐरावत और पांच विदेहों में जितने अहंता, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, हो गये हैं. और हमें उनका ग्रहण करनेके लिये यहाँ सर्व शब्दका प्रयोग किया है. और आदर विशेषण दित्यनिके लिये प्रत्येकके आगे नमः शब्दका प्रयोग किया है.

अरहंतणमोक्षो एको वि हविज्ज जो मरणकाले ॥

सो जिणवयणे दिट्ठो संसारच्छेदणसमत्थो ॥ ७५५ ॥

एकोप्यहंमस्कारो मृत्युकाले निपेक्षितः ॥

विध्वंसयति संसारं भास्वानिव तमश्चयम् ॥ ७८४ ॥

विजयोद्या—अरहंतणमोक्षो अहंतां नमस्कारः । जो मरणकाले भवेत्तत्र पक्षो वि । जो मरणकाले भवेदेकोऽपि । सो सः । जिणवयणे दिट्ठो जिनवचने दृष्टः । संसारच्छेदणसमत्थो संसारोच्छेदनसमर्थः ॥

अर्थ—मरण समयमें अरहंतोंको एक भी यदि नमस्कार किया तो वह भी संसारका नाश करनेमें समर्थ है ऐसा विनायगमें कहा है।

ननु सम्पत्पदान्तरात्रिजवर्गासि संसारमुच्छिद्धं वि यत्पि न स्वात्मस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावणमोक्षारेण विणा सम्पत्पानावरणतया ॥

ण हु ते होति समत्था संसारच्छेदणं काहुं ॥ ७५६

संसारं न विना क्खत्तां नमस्कारेण सुविट्ठुं ॥

चतुरंगगुणोपेतं नायकेनेव विट्ठिपम् ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जो भावणमोक्षारेण विणा वो भावमस्कारेण विना सम्पत्पानं, ज्ञानं, चारित्र्यं, तपश्च । एतद् एतत्कारणं । ण हु ते संसारच्छेदणं काहुं समत्था होन्ति । न हि ते संसारच्छेदने कर्तुं समर्था मर्याति ॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप संसारका नाश करते हैं इस लिये नमस्कार की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—भावनमस्कारके विना सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप संसारका नाश करने में समर्थ नहीं होते हैं।

एतत्पुं लभ्यम् दैवज्ञानादिप्रापि नोक्षनार्थं इति सूत्रेण विवक्ष्यते । नमस्कारसामान्येय रूपां विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशंकायामाह—

चतुरंगीए सेणाए णायगो जह पवत्तओ होदि ॥

तह भावणमोक्षारो मरणे तवणणवरणणं ॥ ७५७ ॥

विट्ठिपो नायकेनेव चतुरंगं वलीयसा ॥

संसारस्य विघाताय नमस्कारेण योज्यते ॥ ७५८ ॥

विजयोदया—चतुरंगीए सेणाए णायगो चतुरंगायाः विनाया नायको । जह पवत्तओ होल्ल यथा प्रवर्तको भवति । तह भावणमोक्षारो तथा भावनमस्कारः । मरणे मरणमोक्षारः । तवणणवरणणं तपोसामान्यरणानां क्षातिक

सम्यग्दर्शनार्थीयगुणत्वका अर्हन्त इत्येवं शब्दानात्मको भावनमस्कारः सम्यग्दर्शनात्माकत्वात् । समीचीनं तपो, ज्ञानं, चारित्र्यं च प्रवर्तयति । न शास्त्रगुणश्रवणं यिना शब्दश्रुतस्य ग्रामाण्यमयं व्यवस्थापयितुमीशः । यन्मनुष्यामापयतिना न यत्तुग्रामाण्यमितिदिः । न हीन्द्रियविषयज्ञानमयथायामद्वैतवधार्यमिति वा विवेकतुं शक्यते अस्मदादिना । अर्थ-यापारम्भपोदीनो धीतरागद्वेषस्य च यतो यवस्तसो यथायोग्य विज्ञानं जनयति, नाप्यर्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्-ज्ञानपुरस्सरतया चरणं तपश्च समीचीनं सत्कर्मपथोन्ने निमित्तं नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः प्रभावत्वा-प्रपन्नमस्कारः संसारोच्छेदकार्यमिति स्पष्टमिदमेतत् ॥

यदि आप भावनमस्कारसे ही संसारनाश होता है ऐसा कहते हो तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि बोधमागं' इस धृक्के साथ विशेष उत्पन्न होगा। क्यों कि नमस्कार ही केवल कर्माका नाश करनेमें उपाय है ऐसा आपका अभिप्राय है। सम्यग्दर्शनादिक चीनो मिलकर मोक्षका उपाय है और आपके मतसे केवल नमस्कार ही मोक्षोपाय है। इस धुंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—गज, रथ, अथ और पायदल इस प्रकार चार सेनाओंका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है, वैसे ॥ भावनमस्कार भी भरणसमय में तप, ज्ञान, चारित्र्यका प्रवर्तक है।

धार्मिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंतवीर्य ये अर्हत्के गुण हैं ऐसी श्रद्धा करना यही भावनमस्कार है। यह नमस्कार सम्यग्दर्शनात्मक ही है। इससे ही मुनिराजके ज्ञान, तप, और चारित्र्य, कर्मनिर्जरा करना, संवर करना इन कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। आत्मगुणोंपर यदि श्रद्धा न होगी तो यह भावनमस्कार शब्दश्रुतका ग्रामाण्य सिद्ध करनेमें समर्थ न होगा। वक्तोंमें यदि प्रमाणता न होगी तो उसके वचन प्रमाणभूत कैसे माने जायेंगे। इन्द्रियज्ञान से यह यथार्थ है और यह अयथार्थ है इसका निर्णय कर नहीं सकता। जिनके रामदेव नष्ट होयते हैं और जो पदार्थोंका सत्त्वा स्वरूप जानते हैं उनका वचन अर्थात् आगम प्रमाणभूत मानना चाहिये। उसको अप्रमाण समझना योग्य नहीं है। सम्यग्दर्शनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सम्यग्ज्ञान है। उन्हीं तरह चारित्र्य और तप भी जब उत्कृष्ट-निर्दोष होते हैं तब कर्मनाश करनेमें निमित्त हो जाते हैं अन्यथा नहीं। इसलिए भावनमस्कार इनका प्रवर्तक है ऐसा समझना चाहिए, यह भावनमस्कार प्रमावसंपन्न होनेसे संसारका उच्छेद करता है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है।

आराधनापढायं गेहंतस्स हु करो णमोकारो ॥
 मल्लस्स जयपढायं जह हत्थो धेतुकामस्स ॥ ७५८ ॥
 नमस्कारेण गृह्णाति देवीमाराधनां यतिः ॥
 पत्ताकाभिव हस्तेन मल्लो निश्चितमानसः ॥ ७८७ ॥

विजयोदया—आराधनापढाकां ग्रहंतुकामस्य मल्लस्य भावनमस्कार एव करो जयपढाकां ग्रहीतुकामस्य हस्त
 विधेयुत्तराधायेः ॥

अर्थ—जो क्षपक आराधनारूप पढाका ग्रहण करता है उसका भावनमस्कार ही हाथ है. जैसे जयप-
 ढाकाको मल्ल पुल अपने हाथसे ग्रहण करता है.

अण्णाणी वि य गोवो आराधिच्चा मदो णमोकारं ॥
 चंपाए सेट्टिकुले जावो पत्तो य सामणं ॥ ७५९ ॥
 अज्ञानोऽपि मृतो गोपो नमस्कारपरायणः ॥
 चम्पाश्रेट्टिकुले भूत्वा प्रपदे संयमं परम् ॥ ७८८ ॥
 समस्तानि दुःखानि विच्छिद्य सद्यः ॥ सुखानि प्रभूतानि साराणि वृथा ॥
 मुदा सेव्यमानं विधानेन मोक्षे । विवाधानि दत्ते नमस्कारमित्रम् ॥ ७८९ ॥
 इति नमस्कारः ।

विजयोदया—अर्हद्गुणधामरहितोऽपि योपो द्रव्यनमस्काराज्जाव्य मृतश्रेणपुरे श्रेष्ठिकुले जातः । धामण्यं
 च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुलं फलं प्रयच्छतीति भावः । नमस्कारो व्याख्यतः । णमोकारं ॥

अर्थ—सुभग नामक ग्वालाको अर्हतके ज्ञानादि गुणोंका स्वरूप याक्ष्य नहीं था. उसने मरण समयमें
 अर्हतको द्रव्यनमस्कार किया था. मरणके अनंतर वह चंपापुरनगरमें वृषभदत्तश्रेष्ठिका पुत्र हुआ. उसका अवस्थाको
 प्राप्त होकर मुक्त हुआ. द्रव्यनमस्कार यी ऐसा विपुल फल अर्पण करता है. नमस्कारका विवेचन हुआ.

आणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तिणिगहो काउं ॥
 आणं अंकुसभूदं मचस्सा दु चित्तहत्थिस्स ॥ ७६० ॥
 न शक्यते चरीकर्तुं विना ज्ञानेन मानसं ॥
 अंकुसो न विना कुञ्ज क्रियते कुंजरो वचो ॥ ७९० ॥

चित्रयोदया—आणुवओगं इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरः श्रवणं—आणोवओगरहिदेण दातपरिणामरहितेन पुंसा । सक्को चित्तणिगहो काउं इति निग्रहः फणुमदोपपत्तिः । कस्मात् ज्ञानमन्तरेण ॥ शक्यद्विषयनिग्रहः कर्तुमित्योरकार्यो-ज्ञानं निग्रहकरेण साधकतमं तत्सर्वतरेण न शक्यति चित्तनिग्रहं इत्यान्वये । आणं अंकुसभूदं मचस्स शु चित्तहत्थिस्स मानमंकु-
 शम्भूतं मणस्य चित्तहस्तिनः । इदमत्र द्योतते—इह विषयशब्देन किमुच्यते ? अग्न्यत्र सचित्तशीलसंयुतइत्यादौ स्थितं क्षेत्रव्य-
 मिति युवतीं इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? इमोच्यते—विषयज्ञानतया अशुभमयानलेशयातया वा परिणतिः
 प्राणधृती यस्य तस्य निरोधो प्रथमज्ञानपरिणामेन क्रियते । परिणामो हि परिणामिनि निरुणद्धि, परिणामोऽस्मद्विरुद्धस्य-
 वा साधकतया इति । यथा सक्को हस्ती न कचिद्व्यवतिष्ठते यंधनमईनादिकं विना तद्यथाचिरहस्तपि वच कुञ्ज वनाशुभय-
 रिणामे प्रपतते इति ॥

अर्थ—ज्ञानपरिणामसे रहित पुरुष अपने चित्तका निग्रह करनेमें समर्थ नहीं होता है. अर्थात् ज्ञान मनको जीवनमें साधकत्व है उसके विना मन अन्य उपागसे नहीं जीवा ला सकता है. जैसे मत्तहाथीको अंकुश बंध करता है वैसे उन्मत्त हुए इस चित्तरूप हाथीको बंध करनेके लिये यह ज्ञान अंकुशके समान है.

प्रश्न—यहां चित्तशब्दसे क्या अभिप्राय समझना चाहिये. 'सांघेयशीतसंयुत' इत्यादि शब्दों में चित्तशब्दका अर्थ चैतन्य ऐसा माना है. क्या वहां भी वही अर्थ मानते हो ? तो—'चैतन्यनिग्रह करना' इसका क्या अभिप्राय समझना चाहिये. ?

उत्तर— जो विपरीत ज्ञानरूप अथवा अशुभध्यानरूप वा अशुभलेशधारूप परिणति जीवकी होती है उसका निरोधही आत्मके यथार्थ ज्ञानरूपपरिणतसे युक्त होता है. पाणिनाम परिणामीका विरोध करता है जैसे हमारे विरुद्ध तुम अपने परिणाम धारण करना योग्य नहीं है. जैसे मत्तहाथी बंधन मर्दानादिकके विना कहां परभी स्थिर रहता नहीं है. वैसे यह मनरूप हाथी भी जिस किसी अशुभ परिणामोंमें प्रयुक्त होता है.

विल्जा जहा पिसायं सु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥
 गाणं हिदयपिसायं सु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥ ७६१ ॥
 स्वम्यस्तं कुस्ते ज्ञानं नानानर्थपरं मनः ॥
 पुरुषस्य वजो विद्या पिशाचमिव दुर्ग्रहम् ॥ ७९१ ॥

चित्तयोद्ध्या - विल्जा सुहु पउत्ता जहा पिसायं पुरिसवसं करेदि । विद्या सुहु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा
 पिशाचं पुरुषस्य पर्यंतं करोति । तद्वद् गाणं सुहु प्रयुक्तं वसं करेदि हिदयपिसायं च । तथा ज्ञानं सुहु प्रयुक्तं वशं करोति ।
 किं ? हृदयपिशाचं । चित्तं पिशाचवद्योग्यकारितया ज्ञानं समीचीनं मलच्छत्रवर्तमानं शुभे शुद्धे वा परिणामे प्रयत्नयति
 चेन्नमिति यावत् ॥

अर्थ - पूर्ण विधीसे विद्यायै आराधना करनेपर पिशाच वश हो जाता है वैसे ज्ञानके तत्फल पूर्ण उपयोग
 देनेसे यह हृदयरूपी पिशाच पुरुषके स्थायीन होता है. यह हृदय पिशाचके तुल्य अयोग्य कार्य करता है परंतु
 ज्ञानोपयोगसे पुरुष इस हृदयको शुभ अथवा शुद्ध परिणामोंमें प्रवर्तित करता है. जैसे सम्यग्दृष्टि जीव विद्याराधन
 करके पिशाचको वश कर उससे धर्मप्राप्तवना के कार्य करता है वैसे इस मनको भी हे धूपक ! द्वाजानाराधना कर
 शुद्ध परिणामोंमें तत्फल कर.

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण ॥
 तह हिदयकिण्हसप्पो सुहुयजुंसेण गाणेण ॥ ७६२ ॥
 ज्ञानेन शम्यते दुष्टं नित्याभ्यसेन मानसम् ॥
 मंत्रेण शम्यते किं न सुप्रयुक्तेन पद्मसः ॥ ७९२ ॥

चित्तयोद्ध्या - उवसमइ किण्हसप्पो उपशम्यति कुण्डलसर्पः । जह यथा । मंतेण पउत्तेण स्वाहाकारेणा विद्या इति
 स्वाहाकारो भवदावेदोच्चेते मंत्रेण सुहु प्रयुक्तेन । तह तथेव । हिदयकिण्हसप्पो उवसमइ हृदयकुण्डलसर्प उपशा-
 म्यति । सुहुयजुंसेण गाणेण सुहु प्रयुक्तेन ज्ञानपरिणामेन । यद्युभयनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य आद्यया नाथयोक्ता । द्वितीयया
 चित्तस्य त्वदाकारित्वं ज्ञानमावबयोक्तं । अनया तु अंगुपरिणामप्रशंतिं कारिता ज्ञानभावतया निरूप्यते ॥

अर्थ—योग्य विधिमें भाष्य किया हुआ मंत्र प्रयोग करनेपर कृष्णमर्पण को वश करता है. अर्थात् मंत्रके प्रमाणमें जोधर्म पूर्यमान करनेवाला सर्प ज्ञात होकर भ्रात्रिके वश होता है. वैसे यह हृदय रूपी कृष्ण सर्प भी उत्तम प्रभाले प्रयुक्त किन्ने ज्ञानपरिव्यामके द्वारा वश किया जाता है. पहिली भाषासे ज्ञान अशुभ परिणामोंको निग्रह करनेमें सफल है यह दिखाया है. दूसरी भाषाके द्वारा चित्त स्वच्छ करनेका उपाय दिखाया है. अर्थात् ज्ञानभावसे निजि रग होता है ऐसा कहा है. और प्रस्तुत गायत्रे ज्ञानमानना—ज्ञानाभ्यास अशुभ परिणामोंकी प्रशान्ति करता है यह बताया है

आरण्यवो वि मत्तो हत्वी गियमिज्जदे वरचाण ॥

जह तह गियमिज्जदि सो पाणवरचाणु मणहत्थी ॥ ७६३ ॥

नियम्यते मनोदस्ती मत्तो ज्ञानवरञ्चया ॥

हस्ती चारण्यकः सप्यो भयदायी वरञ्चया ॥ ७९३ ॥

विजयोदया—आरण्यवो वि मत्तो हत्वी ऋण्यचारी मत्तो हस्ती । गियमिज्जदे वरचाणु नियम्यते नियम्यते परचेण यया । तथा मणहत्थी मनोदस्ती नियम्यते । पाणवरचाणु ज्ञानवरचेण । गियमिज्जदि मणहत्थी, दुर्निपास्तया च मनो दस्तीति मनोदस्तीति भण्यते । ज्ञानमनुममयादं निरुणद्धि । इत्यनयोच्यते ।

अर्थ—आरण्यमें स्थण्डपनासे निहार करनेवाला मत्त हाथी जैसे मज्जयुत शृंखलासे बांधा जाता है वैसे यह मन प्राणिजोंरा अद्वित रूपा है और दुर्निवार है अतः यह हाथीके समान होनेसे इसको हाथी कह सकते हैं. यह मनरूपी हाथी ज्ञानरूपी शृंखलामें बांधा जाता है. अर्थात् ज्ञान अशुभसंकल्पोंके समूहको रोकता है. मनमें ज्ञानके प्रभाव से अशुभ संकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं.

ज्ञानवरञ्चया नियमितस्य मनोवशानरं निरूपयत्युत्तरभाषा—

जह मफुडओ सणमवि मज्झत्यो अत्थिदुं ण सक्खेइ ॥

तह खणमवि मज्झत्यो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥ ७६४ ॥

मध्यस्थो न कपिः शक्यः क्षणमायासितुं यथा ॥
मनस्ताथा भवैवैव मध्यस्थं विपर्ययिना ॥ ७९४ ॥

विजयोदया — मध्यस्थो यणमवि मध्यस्थो अल्पिदुं ण उक्ता सम्भवेदि मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकारः सत् स्यात् न शक्नोति । तथा मनो विस्मयि विना मध्यस्थो सम्भवति न होदि तथा मनो विपर्ययः शब्दादिनिमित्ता रागादय इह विपर्ययाच्चाद्या विपर्ययात्वात् । ततोऽयमर्थः, यत्र रागद्वेषी विना मध्यस्थं मनो न भवति । ज्ञानभाव-
त्रायामसत्यां रागद्वेषोवृत्तेष्व मन्त्रो व्यापार इत्यर्थः । एतथा ज्ञानं मनसो माध्यस्थं करोतीत्याख्यायते । यस्मान्मा-
नसोऽमाध्यमव्यमस्ति सनिहितमनोसमनोऽपिस्वरागद्वेषसङ्चारितया —

ज्ञानरूपी श्रुतलासे न बंधे दुष्ट मनस्यै वेष्टार्थो का वर्णन —
अर्थ — यान्तर एकक्षण पयन्त मी स्थिर अर्थात् निर्विकार एकस्थानमें रहता नहीं। मन भी विपर्ययों के विना स्थिर नहीं रहता है। हमेशा विपर्ययोंमें विचरता है। अर्थात् हमेशा अन्दर रह, स्वर्ग धर्मरे विपर्ययोंका निमित्त पारर या रागद्वेषोंसे युक्त हुआ ही करता है। विपर्ययोंसे निवृत्त होकर माध्यस्थ भावमें यह समान होता नहीं। सतत ज्ञानका अभ्यास न होनेसे इसकी रागद्वेषमें परिणति हो रही है। परंतु ज्ञानका अभ्यास करनेसे माध्यस्थ-
भान मनमें उत्पन्न होता है। मनोऽ-इष्ट विषय और अमनोऽक्ष अनिष्ट विषयके सदृशसत्ते मन्तमें क्रमसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। तत्र माध्यस्य भावका लोप होता है।

तस्मा सो उडुहणो मणमकडओ जिणोवएसेण ॥
रामेद्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥ ७९५ ॥

सदा रमयितव्योऽसौ जिनवाक्यकने ततः ॥
रागद्वैपादिकं दोषं करिष्यति ततो न सः ॥ ७९५ ॥

विजयोदया — तथा तस्मात् । सो मणकडओ मनोमर्कटः । उडुहणो इतस्तत् उल्लेखनपरः । रामेद्वो णियदे सर्वकालं रमयितव्यः । ए जिणोवदेसमि जिनागमे । तो ततो विनतामत्तेः । सो मनोमर्कटः । दोसं रागद्वेषादिकं । ण काहिदि न करिष्यति । से तस्य ज्ञानाग्रासकारिणः ॥

अर्थ — गुण यह मनोमर्कट इतस्ततः कूदने लगता है। इस मनोमर्कटको जिनामयके अभ्यासमें दिनरात तत्पर करना चाहिये। जिससे यह रागद्वेषादिक विकारको छोड़ देगा।

धरमाः ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको कोचं जशुमण्डिणामं न करोति-

तद्वा पाण्डुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ॥

जहं विघणोवओगो चंदयकेल्लं करंतस्स ॥ ७६६ ॥

ज्ञानाभ्यासस्ततो युक्तः क्षपकस्य विशेषतः ॥

धियेय्यं कुर्वतस्तस्य चंद्रकज्यधनं यथा ॥ ७६६ ॥

विजयोदया - सदा पाण्डुवओगो धरमाऽज्ञावयण्डिणामः । यवयस्स विसेसदो सदा भणिदो सदा भणितः । जहं विघणोवओगो यथा ध्यधनाभ्यासो विशेषतो भणितः । कस्य ? चंदयकेल्लं करंतस्स चंद्रकज्यधे कुर्वतः ।

ज्ञानाभ्याससे यह मनोमर्कट अशुभ परिणाम नहीं करेगा ऐसा कथन-

अर्थ-चंद्रक यंत्रका येष करने की इच्छा रखनेवाला धीर पुरुष जैसे हमेशा लक्ष्यवेध करतेका अभ्यास करता है, वैसा मनोमर्कट यद्य करनेके लिये हमेशा क्षपक को ज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता है,

पाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ॥

जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सट्ठि ॥ ७६७ ॥

शुद्धलेदपस्य यस्यान्ते दीप्यते ज्ञानदीपिका ॥

तस्य नाशभयं नास्ति मोक्षमार्गे जिनेोदिते ॥ ७६७ ॥

विलयोदया - पाणपदीओ ध्यानमदीपः । पज्जलइ प्रज्वलति । यस्य विमुद्धलेदपस्य दृश्ये । तस्य संसारायत्ते पतित्या यिनयोऽस्सीति विनाशमर्थं नास्ति । जिणदिट्ठमोक्खमग्गे जिनेददे ध्रुवे रत्नवयद्विरिणि मोक्षमार्गेशब्द इव भुवचुचिभ्रांतः ॥

अर्थ-विशुद्ध परिणामयुक्त ऐसे जिने क्षपक के हृदयमें ध्यानरूपी दीपक सतत प्रकाशमान रहता है उसको जिनधरने कहे हुए आग में नष्ट होनेका भय नहीं रहेगा, अर्थात् सतत ज्ञानाभ्यास करनेसे जीवा दिक पदार्थोंका जिनशास्त्रमें जो नयोंके आधारमें अनेक अपेक्षाओं को लेकर स्वरूपदर्शन किया है उसका स्वरूप सुलभा होगा, परंतु जिनकी ज्ञानाभ्यास नहीं है उसको जिनगमयका रहस्य मात्तुम न होगा,

ज्ञानप्रकाशमहासम् कथयति—

पाण्डुज्जोवो जोवो पाण्डुज्जोवस्स णत्थि पडिषादो ॥

दीधेइ खेत्तमणं सूरु पाणं जगमस्सं ॥ ७६८ ॥

ज्ञानोयोतो महेत्थोतो व्याघातो नस्स चिचने ॥

क्षेत्रं चोत्तयेत्त सूर्यः स्वरूपं सर्वमसौ पुनः ॥ ७६८ ॥

स्थितयोपरा—पाण्डुज्जोवो नानोयोत एव घोतोऽतिशयितः । कस्त्यस्तितशय इत्यत आह—पाण्डुज्जोवस्स णत्थि पडिषादो ज्ञानोपरा नस्ति प्रतिपातः । दीधेदि प्रकाशयति । ऐक्यमणं स्वल्पं क्षेत्रं । कः ? सूरु आदिशः । पाणं जगमस्सं ज्ञानं जगद्वेगेन । दीधेदि प्रकाशयति । समस्तव्याप्यब्रह्मवत्प्रकाशो वास्तीत्यर्थः ॥

ज्ञानप्रकाशका महत्त्वं आचार्यं कहेते हैं—

अर्थ—ज्ञानस्त्री जो प्रकाश है वही उत्कृष्ट प्रकाश है, हममें यह विशेषता है कि यह किसीके द्वारा नष्ट नहीं सकते हैं, हम वगैरह पदार्थ दीपकका नाश करते हैं परंतु ज्ञानदीपका नाश करंतवाला; जगमें कौद भी पदार्थ नहीं है, खर्यका प्रकाश बहुत तीव्र है परंतु वह भी अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है, परंतु यह ज्ञान-प्रदीप समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, समस्तको व्याप कर ज्ञानेवाले ज्ञानके समान दूसरा प्रकाश जगमें नहीं है,

पाणं पयासओ सो वओ तवो संजमो य गुत्तिथरो ॥

तिण्हं पि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ७६९ ॥

ज्ञानं प्रकाशकं वृत्तं गोपकं साधकं तपः ॥

त्रयाणां कथिता योगे निर्द्विर्निर्जिनशासने ॥ ७६९ ॥

विजयोपरा—पाणं पयासं ज्ञानं प्रकाशयति । संसारं संसारधारणं, मुक्तिं मुक्तिकारणं च ॥ सो वओ तवो निर्जतनिमित्तं तपः । संजमो य गुत्तिथरो संयमदत्त गुत्तिहरः । तिण्हं पि त्रयाणामपि । समाओगे संयोगे गोपयो मोक्षः । जिणसासणे विद्वो । जिगदासने वृष्ट ॥

अर्थ—ज्ञान संसार और मुक्तिके कारणोंको प्रकाशित ॥

उत्पन्न करनेवाला संयोग और इन तीनोंका संयोगरूप मोक्ष जिनका स्वरूप ज्ञानागमों कहा है ज्ञान उन सबको जानता है.

प्राप्यं करणविह्वलं लिङ्गग्राहणं च दंसणविह्वलं ॥
 संजगद्गीणो य तवो लो कुणदि शिरत्थयं कुणदि ॥ ७७० ॥
 णाणुज्जोण विणा लो इच्छदि भोक्खमग्गमुवगंतुं ॥
 गंतुं कड्डिमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥ ७७१ ॥
 करणेन विना ज्ञानं संयमेन विना तपः ॥
 सम्पक्खेन विना लिंगं कियमाणमनर्थकम् ॥ ८०० ॥
 ज्ञानोपयोगं विना योऽत्र मोक्षमार्गं प्रयास्यति ॥
 प्रयास्यति बने दुर्गे सोऽन्धोऽन्धतमसे सति ॥ ८०१ ॥

वियोगोपयोग — णाणुज्जोण विणा ज्ञानोपयोगेन विना । जो इच्छति यो पांछति । भोक्खमग्गमुवगंतुं चारिअं तपस्य इह मोक्षमार्गं इच्छत्येते चारिअं तपस्योपगंतुं । गंतुं कड्डिमिच्छदि गंतुं दुर्गमिच्छति । कः ? अंधलओ अंधाः । अंधयारम्मि अंधकारे तमसि । यथा दृग्दृश्यगुणमदिनिश्चिते प्रदेशे गमनं अतिदुष्करं अग्रसारो सति । तद्वच्चिह्नादिपरिहारात् जीवनिष्कारात्कुले दुष्कर इति मन्यते ॥

अर्थ — चारित्र्यहीन ज्ञान, सम्पददर्शनरहित सुनिर्दीक्षा धारण करना, संयमरहित तप करना, ऐसे कार्य व्यर्थ हैं. अर्थात् इतने मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं. अर्थात् चारित्र्यसहित ज्ञान और प्राणिसंयम और इंद्रियसंयम सहित तप करना चाहिये, सम्पददर्शनसहित सुनिर्दीक्षा धारण करनी चाहिये तब मोक्षकी प्राप्ति होती है.

अर्थ — ज्ञानरूपी प्रकाश अर्थात् ज्ञानदीपको त्याग कर मोक्षका तपायभूत ऐसा चारित्र्य और तपकी प्राप्ति करनेकी लो इच्छा करता है वह अंधकारमें दृष्ट दृष्टादिकोसे व्याप्त ऐसे दुर्गमप्रदेशमें प्रवेश करने वाले अंधमनुष्यके समान तपसना चाहिये, जैसे जीवोसे भरे हुए प्रदेशमें हिंसादिकोंका परिहार करना कठिन है वैसे ज्ञानके विना मोक्षमार्गकी प्राप्ति कर लेना कठिन है.

जह्नुदा खंडसिलोगेण जमो मरणा दु फेडिदो राया ॥
पत्तो य सुतामणं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥ ७७२ ॥

संयमं श्लोकखंडेन निवार्य मरणं यमः ॥

यदि नीतिस्तदा किं न जिनसूत्रेण साध्यते ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—जह्नुदा खंडसिलोगेण यदि तालखंडेन श्लोकस्तथा जमो राया मरणादो फेडिदो यमो राजा मरणादुत्तरत्वादिनः । पत्तो य सुतामण्य प्राप्तया शोभनं आभरणं । किं पुण जिणउत्तसुत्तेण । किं पुनर्जिनोत्तसुत्तेण प्राप्त्यफले आश्रयः । यादवमनाध्यानार्थं च । रादुकं भवति—

भवेत्तं धेन उदीवितार्थिना याकिं चित्तुक्तं पवनं श्रुत्वा हास्यपरेण राजा भाग्यमालं यथावत्स्वारेण निमित्तं विप्रवेदितां पत्तो भाग्यमालं किमभिलषितं न प्रापयति ।

अर्थ—यम नामक राजा श्लोकके खंडका स्वाध्याय करनेसे मरणकी आपत्तीसे मुक्त हुआ और उत्कृष्ट चारित्र्य की भी प्राप्त हुआ, स्वयं बनाये श्लोकखंडसे भी नहीं आपत्तीसे मुक्त होकर उज्ज्वल चारित्र्यको प्राप्त हुआ तो जिनसूत्रके अध्ययनसे उत्कृष्ट फल अर्थात् मोक्ष क्यों न मिलेगा, (इस यमराजाकी कथा आराधनाकथाकोषमें देखो)

जैसे एक राजाने भीख मांगनेवाले एक अन्न अंधका वचन सुनकर इसीसे कंठस्थ किया, उस वचन से उसके ऊपर आई हुई आपत्ति टली, एक अंधका वचन भी आपत्ती दूर होनेमें निमित्त होगया वो विश्वके समस्त पदार्थ ज्ञाननेवाले जिन भगवान् के वचनोंका अभ्यास करनेसे क्या अभिलषित पूर्ण न होगा ? अवश्य पूर्ण होगा—

सत्यस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले दृढास्तीत्येवं तत्कथयति—

ददसुण्णो सुलदहो पंचणमोकारमेत्त सुदणायो ॥

उवजुत्तो कालग्गदो देवो जावो महद्दीओ ॥ ७७३ ॥

ददसुण्णोऽथ शूलस्यो जातो देवो महर्द्धिकः ॥

नमस्कारयुताभ्यासं कुर्वानो भक्तितो मृतः ॥ ८०३ ॥

विजयोदया—ददसुण्णो सुलदहो ददसुण्णो नाम चौरः शूलमारुहः । पंचणमोकारमेत्त सुदणायो उवजुत्तो

काष्ठगतो पञ्चनमस्कार एव धृतनामे उपयुक्तः सन् कालगतः । महद्भिर्देवो जादो महर्द्धिको देवो जातः ॥

स्वल्पधुतका अग्न्यात् भी मरणकालमें महाफल देनेवाला होता है इस का विवेचन--

अर्थ—शूलपर चढ़ाया हुआ रूढ़धूर्ण नामक चौर पंचनमस्कार मात्र धृतज्ञानमें विचकी एकाग्रता करके मरण को प्राप्त हुआ और स्वर्गमें महासद्बिद्याली देव हुआ.

ण य तग्नि देसयाले सव्वो बारसविधो सुदक्खंधो ॥

सत्तो अणुचितेदुं बलिणा वि समत्यविचेण ॥ ७७४ ॥

मृदयुकाले धुतरत्नं चः समस्तो द्वादशार्गकः ॥

यस्मिन्ना शक्तिचित्तेन यतो ध्यातुं न शक्यते ॥ ८०४ ॥

विजये—सव्वो बारसविधो वि सुदक्खंधो तग्नि देसयाले ॥ य सव्वो अणुचितेदुं बलिणा वि समत्यविचेण सव्वो द्वादशविधोऽपि धुतरत्नं धरन्स्वमरेण देवो काले य नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहुधुतस्यापि न ध्यानलब्धये समस्तं किं तु किंचिदेव चरे । तथा श्रुत्वा 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमिति' ॥

अर्थ—मरणकालमें सव्वे-बार प्रकारका धुतरत्नं धका चित्तन करता चलवान और समर्थ भर्तके पुरुष द्वारा भी शक्य नहीं है. बहुधुत विज्ञान युनि भी संपूर्ण श्रुतज्ञान को आपने प्यातका विषय नहीं बना सकते हैं. अर्थात् किसी भी कालमें और किसी भी क्षेत्रमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका विषय होता नहीं फिर मरण समयमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका कैसा विषय हो सकेगा ? श्रुतज्ञानका कोई एक सत्र ध्यानमें विचार ॥ सकता है. इसी वास्ते ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानं' ऐसा कहा है.

एककम्मि वि जग्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गमि ॥

गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥ ७७५ ॥

एकत्रापि पदे यत्र संवेगं जिनभाषिते ॥

संपत्तो भजते तत्र त्यजनीयं ततस्तदा ॥ ८०५ ॥

विजयोदया - सप्ताधुदधिपदविहो वि दया, शुधा, रोगेण, शीतेन, आत्मेन बाधितोऽपि सन् । जीवांणं प्रादुर्णं कृत्वा जीवानामुपपातनं कृत्वा । पद्विगारं काटुं च दृढादीनां प्रतिकारं कर्तुं । तं मा त्रितेहि मा कार्षीष्वन्तं । लभामु शुद्धिं लभस्व स्मृति । विषमि हिमशीतलं जलं कर्षीस्योद्वसन्ति । अग्राधं वा सः सुप्रभितरेव लज्जोपगुञ्जितं प्रविश्य मर्दासिष्ठुर इव निमज्जन्ते नमज्जने करोमि । लडाहे, शिरसि, पृथुले चोरस्थले कल्फप्रकरनिपातो यदि स्याद्भट्टं भवेत् । कन्दारदिकताधिकपक्ष्यगणनादिलभे वा जीवामि इति वा । आतपति वा दिवान्ति तर्पे । अपसादिततीक्ष्णकरकटाभि कुर्वन्ति च्यवनतलवृन्तसमुपनीतशीतभास्तपतेन धममशेषमपकुर्वन्तु भवन्तः । हिमानी पततु । पातु मातरिस्वान इति वा । आद्रूपकानपूजन्मुरनिपुताद्रौ न भक्षयामीति । सम्यक् कथितं, क्षीरं शर्करामिषं सुलोणं पिबामीति च । धमध गायमानं कादित्वादि कुदत । सीतेन स्फुटन्ति मनोगानि श्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असदेयोदयः स नो मरुतमिति निपसति, को नु तस्य प्रतीकारः ? सदुपसक्तकालयविन प्व दाढाद्रव्यसंपायाः प्रतीक्षा इति मनो निधेहि ॥

अर्थ - प्यास, भूख, शीत, रोग, शीत, उष्ण, इत्यादिक्रमे सुषमो पीडा होने पर भी तुम जीवोंका धातकार प्यास वगैरहको मिटानेका मयत्न करनेका विचार कभी मनमें मत लाओ। ऐसे दुःखके समय आपमके श्वचनोंका स्मरण करो। और आगे कहा हुआ विचार मनमें प्रा लाओ।

काशूरका चूर्ण डालकर सुगंधित किया हुआ, शर्करा समान कीतल जल में पीऊं, अथवा सुगंधित कमलर-जोंसे व्याप्त ऐसे अग्राध सरोवरमें मच हाथी के समान प्रवेश कर निमज्जन करके स्नान करूं; ललाट, मस्तक, विद्याल छाती इनके ऊपर ओलेका समुदाय पदेगा तो बहुत ही आल्हाद होगा। कमल, शीत बाहुका, कोमल कपोल, इनका किया हुआ विछाना यदि मेरेको सोनेके लिये मिलेगा तो मैं जीऊंगा अन्यथा मेरे प्राण चले जायेंगे ऐसा विचार मनमें नहीं करना चाहिये। रातमें और दिनमें प्यास मेरेको सताती है इसबास्ते धर्यिके तीक्ष्ण किरणों को यहाँसे दूर करो। पंखा धनोदके द्वारा ठंडी हवा करो और भेटा भेटा संपूर्ण श्रम आप दूर करो। चर्पट धृष्टि होवो, बापु घटने दो। ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। कदाहमें तेल हुए, सुगंधित घृतसे गीले हुए अपूप में भक्षण करूंगा, अच्छी तरहसे पका हुआ, स्वादमिश्रित सुलोण दूध मैं पिऊंगा ऐसा विचार नहीं करो, धनधन करता हुआ बैरका अग्नि जल्दी तयार करो। मेरे सर्व अंग यहाँसे फूट रहे हैं इस प्रकार के इलाजके विचार क्षपकको मनमें करना योग्य नहीं हैं। मेरे ऊपर असाता वेदनीय कर्मका वडा रोप हुआ है उसको क्या इलाज है, जब उसका उपशम होनेका समय आवेगा तब धाब पदार्थोंके द्वारा इलाज हो सकते हैं ऐसा मनमें विचार करना चाहिये।

रविअरविहरिसिंभयउत्सुगच्छदीणचणविजुचो वि ॥
भोगपरिभोगहेदं मा हि विचिंतहि जीववहं ॥ ७७९ ॥

इषोर्दिस्मृकत्वर्द्दिनिस्वरद्वयरह्यादिसंयुतः ॥

तुं भोगपरिभोगार्थं मा कार्षीर्जिबिबाधनम् ॥ ८१० ॥

मित्रको न्याय - हरेभरदत्तरितमयउत्सुगज्जदीनप्राणविदुत्तोऽपि । प्राग्दक्षिणपयाभीतीरतिः । अमनो-
प्रविणयतत्प्राप्तेन या विमुच्यता सा भरतिः । हारयक्रमोदयनिमित्तः परिणामो हर्षः । मर्षं, उत्सु कत्रा, दीनतोरयेवमादिभि-
रङ्कोऽपि । भोगगस्त्रिभोगद्वंद्वं भोगयोगोपायं या जीववर्षं मा कृष्या मनसि ॥

अर्थ—स्पर्धादि रिपयोंवर प्रेम होना बड़ रहित है, अनिष्ट पदार्थों से संशय होनेपर जो विमृशता होती है उसको अरति कहते हैं, हास्य कर्मके उदयते उत्पन्न हुए परिणामोंको हर्ष कहते हैं, मर्य, उत्सुकता, दीनपना इत्यादिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होने परभी भोगोपभोगके लिये हे क्षणक ! तू जीरिवश करनेका विचार मनमें मत कर, उमफौ अरति कहते हैं, हास्य कर्मके उदयते उत्पन्न हुए परिणामोंको हर्ष कहते हैं, मर्य, उत्सुकता, दीनपना इत्यादिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होने परभी भोगोपभोगके लिये हे क्षणक ! तू जीरिवश करनेका विचार मनमें मत कर,

महहरिसमञ्जियमहं व संजमो योवथोवसंगल्लिं ॥

तेल्लोक्कसन्वसारं णो वा पूरेहि ॥ जहन्मु ॥ ७८० ॥

माक्षिकं माक्षिकानिर्वा सौकस्तोकेन संस्थितं ॥

॥ नीलशो जगत्सारं संयमं वैभवं पूरयेः ॥ ८११ ॥

विजयोद्वा—मदुकरितमञ्जिगमद् व मदुकरीभिः समर्जितं मस्मिन् । क्षणमे सारिमं । योययोवसंगलिहं
सोफलोकोनोपजितं । तेलोफसदस्यारं येलोफम्य सयंसारं विष्णुपत्रये यदतिनायनत् स्थानं, मानं, ऐश्वर्यं सुलं या तस्य
कारणस्यान् येलोफसयंसारं । आ जदसु मा त्याशी ॥

अर्थ—मधुमाखिलया जैसा थोड़ा थोड़ा मधु संचित करती है वैसा थोड़ा थोड़ा करके संचित किया हुआ यह संयम न मत छोड़ क्योंकि त्रैलोक्यमें जो अविद्यम उत्कृष्ट स्थान, मान, ऐश्वर्य और सुख है उसकी इससे प्राप्ति होती है. इतने ऐसे महान् संयम का है धृष्टक ! न त्याग्य मत कर.

दुस्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसंणचरिचं ॥

दुस्खलज्जयसामण्णं मा जहसु तणं व अगणंतो ॥ ७८१ ॥

नृत्वं जातिः कुलं रूपसिद्धिं जीवितं धलम् ॥

अथणं ग्रहणं बोधिः संसारे संति दुर्लभाः ॥ ८१२ ॥

विजयोदया—युष्मत्प्रेष लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसंणचरिलं दुस्खेन लभते मनुष्यजन्म जंतुः । सन्ने

एतपि माणुस्सजादिशब्दः सामान्यवात्युपात्तस्तथापि विशेषमवसाययति इति श्राव्यं । मज्झिमा हि चतुःप्रकाराः—

कर्मदुर्मित्तमुत्पत्त्यब्ध मोगभूमिभवास्तथा ॥

अंशरदीपजाद्येष तया सम्यक्खिमा इति ॥

अस्मिमेति कृषिःक्षित्यं पाणिज्यं स्वयवहरिता ॥

इति यत्र प्रयत्नेते नृणामाजीययोनयः ॥

प्रपदयस्तेष्वयं यत्र तपःकमपरा नराः ॥

सुरत्वेर्गते था त्तिदि प्रयति हतशत्रवः ॥

यत्ताः कर्मभूयो क्षेत्राः पूर्वोक्ता दश पंथ च ॥

यत्र संभूय पर्याप्तिं याति ते कर्मभूमिजाः ॥

मघत्तुपराहाराणांभोजमादयैः ॥

गृहदीपयौक्तियव्यैस्तन्निस्तत्र क्षीयिकाः ॥

पुट्टमादयो यत्र न निवेशा न चाधिपः ॥

न कुलं कर्म शिल्पानि न यणांथमत्तस्मिदि ॥

यत्र नागो नराक्षिप मैथुनीभूय मीरुत्ताः ॥

रत्तंते पूर्वपुण्यानां प्राप्नुयन्ति परं फलं ॥

यत्र प्रकृतिमदत्तास् दिवं याति भूता अपि ॥

ता भोगममयकोपास्तत्र स्सुभोगभूमिजाः ॥

अभाषका एकोरुत्ता तांयल्लिक्खिपणिनः ॥

आददीमुत्तहस्यस्वविपुदुत्तमुत्ता अपि ॥

हयफण्णजकुर्णाः कर्णेयवरेणास्तथा ॥

इत्येवमादयो क्षेत्रा अवर्द्धीपजा नराः ॥

समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलादिभिः ॥
 वेदयन्ते मनुष्यास्तुस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥
 कर्मभूमिषु नकासललभुदरिसुसुजां
 स्स्वधायात्समद्वेषु प्रसूयौच्चारभूमिषु ॥
 मुकासिषाणकस्तेषामरुणैर्देवतमलेषु च
 अत्यन्ताद्गुचिदैतेषु सद्य सममुन्मुनेन ये ॥
 भूतानां सुलब्धमण्डयेकप्रागमात्रशरीरकाः ॥
 भामु तदधस्तपयतिरेतं स्तु- समुच्छन्ना नदाः ॥

पतेषु कर्मभूमिजन्मानयतां एव रतजयपरिणामयोग्यता सेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लक्ष्येऽपि तन्निम्न ज्ञानादण्डोदयाद्विदितपरीक्षायां समथां बुद्धिर्न सुलभा । सया विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव । इष्टि-
 रक्षितमिपायतं लोचनं, प्रयिणसंयद् विना कुनीयस्वमिदं, सुभगतमर्तरेण रूपमिव, यथाधितारहितं पचतमिव, सत्पा-
 म्नि मती यदि भागानां पद्यः भ्रुषुयत् सापि प्रिकलैव सरोजद्विता सरसीष । इदमपि ध्येयं वासपचमगोचरमेव गृहीतं,
 ग्रयणमपि ध्यानारहितं सुलभमेव । इदं यथा येन प्रतिपादितं तथेति अद्वानं दुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । लब्धमपि
 भयान्ते गारिजमोहोदयात्, स्मोतऽभिरचिते मार्गे मनुचित्तुर्लभा । यद्यं दुरत्यजिद्वसामणां दु-पार्जितधामण्यं । मा जहदु
 मा स्वाधी । तर्णं च भगवन्तो तुगमिव भगवन्तः

अर्थ—इस प्राणीको दुःखसे मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है, उत्तम जाति, बुद्धि, सुनिपत्ता, सम्पदपूर्वात,
 चारित्र्य ये अवस्थाएँ उत्तरोत्तर दुर्लभ होनेसे महाकष्टमे प्राप्त होती हैं, गाथामें यद्यपि मनुष्यत्व, जाति ये शब्द
 सामान्यवाची हैं तो भी उनमें निश्चित मनुष्यत्व, उच्च जाति ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये,

मनुष्यके चार प्रकार हैं, उनका वर्णन—

कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्वद्रोषज और समूर्द्धिम ऐंम मनुष्यके चार भेद हैं, जहां अग्नि—ग्रह धारण
 करना, मणि—यही खाता लिखना, रूपि—खेती करना, पशुपालन करना, शिल्पकाम करना अथवा हस्तकौशल्य
 के काम करना, वाणिज्य—व्यापार करना और व्यवहारिता—न्यायदानका कार्य करना, ऐसे छह कार्योंसे जहां उप-
 जीविका करनी पड़ती है, जहां संयमका पालन कर मनुष्य तप करलेमें तत्पर होते हैं और जहां मनुष्योंको पुण्यसे
 स्वर्ग प्राप्त होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते हैं, ये कमभूमि
 अद्राद्वीपमें पंधरा हैं, अर्थात् पांच भगवन्, पांच येरावन और पांच निदेह.

जहां मद्यांग, दुर्यांग, नखांग, मोजनांग, पात्रांग, आभरणांग, माल्यांग गृहांग, दीपांग, और श्रोत्रांग ऐसे दश प्रकारके कल्पग्रन्थ रहते हैं- और इससे मनुष्योंकी उपवीचिका चलती है ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते हैं. भोगभूमिमें नष्ट, कुल, अस्मिम्प्यादि क्रिया, शिल्प, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नहीं होती हैं. यहां मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पवित्रात्मी होकर समाप्त होते हैं. वे सदा नीरीमही रहते हैं और सुख भोगते हैं. यहां के लोक स्वभावसे ही मृदु परिणामी अर्थात् मंद कर्मात्मी होते हैं. इसलिये मरणोपर उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है. भोगभूमिमें रहनेवाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हैं.

अन्तरद्वीपज मनुष्योंका वर्णन—ये मनुष्य, अथापक गुणों, एक दांगवाले, पंछवाले, सींगकी धारण करनेवाले, ऐसे अनेक प्रकारके रहते हैं. यहांके कोई मनुष्य दर्पणके समान मुखवाले, हाथी, घोडा, इनके मूल समान मूलवाले, बिजली और उल्का समान मुखवाले रहते हैं. किसी २ मनुष्योंके कान हाथी और घोडोंके कान सीसे रहते हैं. कितने मनुष्योंके कान इतने बड़े होते हैं कि वे उसको ओढ़ सकते हैं. इन सब मनुष्योंको अन्तरद्वीपज मनुष्य कहते हैं. ये मनुष्य छवणोद और कालोद समुद्रके बीचमें १६ अल्पद्वीप हैं उनमें रहते हैं. उनका आचरण पशुके समान रहता है. ये मनुष्यायुका अनुभव लेते हैं.

कर्मभूमिमें चक्रवर्ती, चतुर्भद्र वगैरह षडे राजाओंके सैन्योंमें, मलमूर्खोंका जहां क्षेपण करते हैं ऐसे म्यानोंपर, वीर्य, नाफका मल, कफ, कान और दांतीका मल और अत्यंत अपवित्र प्रदेश इनमें जो तत्काल उत्पन्न होते हैं. जिनका शरीर अंगुलका असंख्यात मांस मात्र रहता है. और जो जन्म लेनेके बाद स्त्रीग्र नष्ट होते हैं और जो लक्ष्यपर्याप्त होते हैं उनकी सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं.

इन मनुष्योंमें जो कर्मभूमिज मनुष्य हैं उनको ही रत्नवयपरिणाम की योग्यता है. इतरोंको नहीं है. इस वास्ते मनुज श्रद्धसे इनका ही ग्रहण समझना चाहिये.

रत्नवयकी योग्यताको धारण करनेवाला मनुष्यजन्म मिलने पर भी ज्ञानाचरणकर्मके उद्वेगसे हितहित की परीक्षा करनेवाली बुद्धि प्राप्त होना सुलभ नहीं है. ऐसी बुद्धि यदि प्राप्त नहीं हुई तो यह मनुष्यजन्म प्राप्त होकर भी निष्फल ही हुआ समझना चाहिये. नेत्र बंद होकर भी उनसे पदार्थ दीखते नहीं हैं, अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी यदि सौंदर्य प्राप्त नहीं हुआ, बोलनेकी शक्ति प्राप्त होकर भी यदि असत्य बोलनेके तरफ ही प्रवृत्ति होने

सारी, तो नेत्र, उबकूल, सुमगता और वचनदर्शक सब प्राप्त होना विफल है, जैसे उत्तम बुद्धि प्राप्त होनेपर भी यदि मनुष्य आप्तका वचन नहीं सुनेगा तो वह बुद्धि भी कुछ कामकी नहीं है ऐसा समझना चाहिये, जैसे कमलरहित सुतेतर मुंदर नहीं दीरलता है चेमी आप्तचन न सुनेवाली बुद्धि भी शोभाहीन ही है ऐसा समझना चाहिये, यहाँ श्रवण द्रव्य उठ भी सुनना इस सामान्य अर्थ का वाचक नहीं है, परंतु आप्तके वचन सुनना यहाँ श्रवण शब्दका अर्थ है, श्रवण भी भ्रष्टान रहित सुलग है, जैसे विनेश्वरने कहा है वैसाही भ्रष्टानगुणयुक्त श्रवण लगतमें दुर्लभ है, दर्शनमोहका उद्घ होनेसे यह भ्रष्टान जीवको प्राप्त होना कठिन है, पदार्थ का स्वरूप जान लेनेपर भी और भ्रष्टा ज्ञानपर भी चारित्र्यमोहकर्मका उदय होनेपर तत्त्वज्ञात्यक्त मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करना बड़ा ही कठिन है, इसलिये वे क्षपक 'तुमको यह दुर्लभ श्रमण्य-शुनिएनाभी प्राप्त हुआ है अतः इसको तुणके समान जानकर मत त्यागो,'

जीपपातदोषमादात्म्य भाषाप्रयेन कथयति—

तंलोकजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं ॥

भणिदो को तंलोकां वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८२॥

वैश्वैरं कं घृणीप्य त्वं त्रैलोक्यजीपितन्ययोः ॥

इत्युक्तो जीवितं मुपन्वा त्रैलोक्यं घृणुतेऽत्र कः ॥ ८१३ ॥

विजयोद्या- त्रैलोक्यजीपितयोरं गृहाणेति देवैर्भोदितः कलेलोक्थं दूषति । जीपस्य जीवितं स्पृकत्वा, जीपमेव प्रहीतुं याचति । परमार्थे त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वमाजिनस्तस्मात्जीवितघातो जीपस्य जीवादेश्चामुक्ते जीपस्येव पञ्चममर्थकमिति चैत्र, उत्तरेण सभावात् । जीपस्य हंतुल्लोक्ययावत्समो मक्षान्दोषो भवतीति यावन् ॥

जीपयतिसे उत्तर घृण दोष का महत्त्व आचार्य दो भाषाओंसे दित्वाते हैं

अर्थ—त्रैलोक्य और जीवित इन दोनोंमेंसे तुम कोई एक ग्रहण कर सकते हो ऐसा देवोंके द्वारा कहा-जानेपर मनुष्य जीवन को ही लेगा, क्योंकि यह जीवन त्रैलोक्यकी कीमतका है, अर्थात् संपूर्ण जीवोंका जीवन त्रैलोक्यके बराबरीका है, इस वास्ते जीवका घात करना विलोकका घात करनेके समान है, तात्पर्य-जीवघात करना यह महान् दोष है,

जं एवं तेलोक्तं णमघदि सच्चस्स जीविदं तस्मा ॥
 जीविदधादो जीवस्स होदि तेलोक्कधावसमो ॥ ७८३ ॥
 त्रैलोक्येन यतो मृत्युं जीवितव्यस्य जायते ॥
 जीवजिवितधातोऽत्रैलोक्यहननोपमः ॥ ८१४ ॥
 प्राप्य दुर्लभसंतत्या आमण्यं सुखसाधकम् ॥
 एकग्रमानसो रक्ष निधानमिव सर्वदा ॥ ८१५ ॥
 अर्थ—संपूर्ण जीविका जीवित कर्णोक्त त्रैलोक्यके क्षीयतकी चराचरीका है अतः जीविकं जीवितका धातु
 करना त्रैलोक्यपातके समान है.

अहिंसाव्रतमहस्ता निवेदयति—

णत्थि अणूदो अपं आयासावो अणूणयं णत्थि ॥
 जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥ ७८४ ॥
 अल्पं यथाशुतो नास्ति महदाकाशतो यथा ॥
 अहिंसाव्रततो नास्ति तथा परमुच्चतम् ॥ ८१६ ॥
 पितृयोदया—णत्थि अणूदो अपं मास्सयणोरत्तं अर्थात्किंचिद्रूप । आयासावो अणूणयं णत्थि । आकाशादत्र
 अन्यन्महदास्ति यथा तथात्यद्भुतं अहिंसातो महदास्ति ॥
 अर्थ—इस जगत्में अणु से छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाशसे भी बड़ी कोई चीज नहीं है इसी
 प्रकार अहिंसा जगत्से दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है.

जह पव्वदेसु मेरु उव्वायो होइ सव्वलोक्यम्मि ॥
 तह जाणसु उव्वायं सीलसु वदेसु य अहिंसा ॥ ७८५ ॥

पर्यन्तेषु यथा भेरुद्वयकवर्ती यथा नृषु ॥

जीवरक्षान्नतं सारं सर्वस्मिन्नपि व्रते तथा ॥ ८१७ ॥

विजयोदया—जह पञ्चदेसु सर्वस्मिन्लोकैः पर्वतेभ्यो भेरुद्वयोद्येस्ताथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि । प्रताना, नीलानां, गुणानां च अधिष्ठानमहिंसेति वदति ॥

अर्थ—जैसे सगे लगतमें भूमिमें भेरुपर्वत बड़ा है वैसे यह अहिंसा व्रत संपूर्ण शील और समस्त व्रतोंमें बड़ा है.

सन्धो वि जहायासे लोगो भूमीए सन्धवीउदधी ॥

तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि तिष्ठन्ति ॥ ७८६ ॥

ययाउकासो स्थितो लोको वरण्यां द्वीपसागराः ॥

सर्वव्रतानि तिष्ठन्ति जीवन्माणाव्रते तथा ॥ ८१८ ॥

विजयोदया—यथा सर्वलोक ऊर्ध्वप्रांथस्तिर्यग्यिकल्प आकाशाधिकरणः । भूमौ च स्थिता. सर्वे द्रोया उव धपय्य । तदैव जाण जानीहि । मतगुणसीलाण्यहिसायां तिष्ठन्ति इति ॥

यह अहिंसा व्रत, गुण और शील सर्वोको आधार है ऐसा कथन—

अर्थ—उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्य लोक ऐसे लोकके तीन भेद हैं परंतु यह लोक भी आकाशमें है. अर्थात् त्रैलोक्यका आधार आकाश है इस भूतलमें संपूर्ण द्वीप और समुद्र आधेय होकर रहे हैं. वैसे व्रत गुण, और शील ये सब अहिंसाके आश्रयसे रहते हैं.

कुर्वन्तस्स वि जत्तं तुवेण विणा ण ठंति जह अस्या ॥

अरएहिं विणा य जहा णट्ठं पेमी दु चक्रस्स ॥ ७८७ ॥

यथा तिष्ठन्ति चक्रस्य न तुंवेन विनारकाः ॥

एतैर्विना न तिष्ठन्ति यथा चक्रस्य नेमयः ॥ ८१९ ॥

विजयोदया—कुर्वन्तस्त वि जयं यत्नं कुर्वन्तोऽपि । पिंडीमंतरेण यथा न तिष्ठन्त्यपि । ज्वरैर्विना नेम्यच-
स्थानं चकस्य यथा नास्ति ॥

तद् जगण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सच्चाणि ॥

तिस्सेव रक्खणहुं सीलाणि वदीव सस्सत्त ॥ ७८८ ॥

तथा शीलानि तिष्ठन्ति न विना जीवरक्षया ॥

तस्योः शीलानि रक्षार्थं सस्यादीनां यथा द्युतिः ॥ ८२० ॥

विजयोदय—तद् जगण तथैव आनीहि । अहिंसां विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति । अहिंसाया एव रक्षायां
शीलानि दृष्टिरिय सस्यत्त ॥

अर्थ—कितनाभी प्रयत्न करो तुम्हीके विना चक्रके आरे नहीं रह सकते हैं, वैसे अहिंसाके विना सर्व
शीलोंका पालन करनेका कितना भी प्रयत्न करो उनका पालन नहीं किया जायगा, अर्थात् अहिंसाके बिना शी-
लही स्थिति नहीं है, जैसे घाम्पके रक्षणार्थं गाछ लगाते हैं तथा अहिंसाके रक्षार्थंही शीलव्रत हैं, कितना भी प्रयत्न
करो आरे न हमें वो नेमीकी स्थिति नहीं होती है वैसे अहिंसाके विना शील नहीं टिक सकते हैं.

अहिंसाप्रतर्नंतरेणैव नेम्यमावधे—

सीलं वदं गुणो वा गाणं गिस्संगदा सुहृच्चाओ ॥

जीवे हिंसन्तस्स ह्यु सब्बे वि गिरत्थया हंति ॥ ७८९ ॥

व्रतं शीलं तपो दानं नैर्मन्थ्यं नियमो गुणः ॥

सर्वे निरर्थकाः सन्ति कुर्वन्तो जीवहिंसनम् ॥ ८२१ ॥

विजयोदया—शीलादीनि हि संवरविजयं चोद्दिश्यगुणीयन्ते । हिंसायां तु सत्त्वां न स्ताः फलभूते संवरनिजेरे
मुक्त्युपायभूते इति निष्कलता मन्यन्ते ॥

अहिंसाके विना इव व्रतोंको निष्कलता प्राप्त होती है ऐसा कथन—

वर्ष—शील, व्रत, गुण, ज्ञान, विष्णुविद्वत्ता, और विषयसुखा त्याग ये सर्व आचार जीवहिंसा

कानेवालेके विप्ल हो जाते हैं. श्रीलादिक आचार कल्की निर्जरा, और संवरके उंदरसे किये खाते हैं परंतु हिंसा करनेसे मुर्ताके उपायभूत संवर और निर्जरा न्यर्थ होते हैं.

सव्वेसिमासमाणं हिवयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ॥

सव्वेसिं वदगुणणं पिण्हे सारो अहिंसा नु ॥ ७९० ॥

आश्रमाणां मतोर गर्भः शास्त्राणां हृदयं परम् ॥

पिण्डं नियमश्रितानां समतानामहिंसनम् ॥ ८२२ ॥

विजयोदया—सव्वेसिमासमाणं संयोगमाश्रमाणां हृदयं । शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्ड-
शूलः सारो भवत्यहिंसा ॥

अर्थ—यह अहिंसा सर्व आश्रमोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोंका गर्भ है, और सर्व व्रतोंका निचोटा हुआ सार है.

जगहा असच्चवयणादिपुहिं दुक्खं परस्स होदिसि ॥

तप्परिहरो तह्मा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥ ७९१ ॥

अस्तुतुताविपिर्दुःखं जीवानां जायते यतः ॥

परिहरस्ततस्तेषां अहिंसाया गुणोडबिलः ॥ ८२३ ॥

विजयोदया—जगहा असच्चवयणादिपुहिं यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादनेन, मेषुक्तेन, परित्येहेण च परस्य दुःखं भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेषु अहिंसाया गुणतः ॥

अर्थ—अस्तुतुता विलनेसे, न दी हुई वस्तु लेनेसे, मेषुनसे और परिग्रहसे परको दुःख उत्पन्न होता है. परंतु अहिंसाके पालनेसे इन सब दोषोंका त्याग होता है. अतः सत्यवचनादिक अहिंसाके ही गुण हैं ऐसा समझना चाहिये.

गोत्रमणिस्त्रिवधमेत्तिणियति जडि हवे परमधम्मो ॥

परमो धम्मो किं सो ण होइ जा सव्वभूदया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीब्राह्मणवालानां धर्मा ययस्त्वहिंसनम् ॥

न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया क्रयम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया—जोयमभित्तिउग्रमेत्तणियति गवा, गालुगना, खोगा च वयमावनिगुत्तिर्यदि भजेदुत्तुण्णो धर्म परमो धर्म न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ—गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीग्रह इनसे निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा

विस्तानिघुत्ति उपयेण काटयति कृतापकारत्तवि सधयात्थेइदं मार्पियुमीहले जन । तत्परेयामसकृज न्मान्तरे पितुगदिमपमुपासतामा अत्त । मात्समयुक्त इति पदति—

सब्बे वि य संबंधा पत्ता सन्वेण सब्बजीवेहिं ॥

तो भारतो जीवो संबंधी केव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्वः सर्वे समं प्राप्ता संबंधा जंतुभिर्यतः ॥

संबंधिनो निहन्यन्ते ततस्ताश्चिन्ना भुवम् ॥ ८२५ ॥

चित्तयोदया—सत्ये वि य सर्वेइति च । सगथा सबधा प्राप्ता । सब्बेज सर्वेण जीवेद । खग्गनीयेहिं सर्वजीवे । तो तस्मात् । जीवो मात्तोपत्त सवधित एज यातयति ॥

उपायसे हिंसाका निषेध लोकर करते हैं अपने संबंधीने क्षयसाध क्रिये होगे तो भी उनको मारते नहीं, तो अनेक पूर्ण जन्मोंमें जो पिता, पुत्र इत्यादिक संबंध की प्राप्ति हुए होगे ऐसे प्राणिजोंको मारना क्या योग्य है ? नहीं इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सर्व जीवोंका सर्व जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवोंमें हुआ है, इसलिये मारनेके लिये उलूक हुआ भगुण अपने संबंधीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये जगतमें संबंधि-ओंका घात करना अतिशय निंद्य माना जाता है.

गोवंमणित्विवधमेच्छिण्यति. जदि हवे परमधम्मो ॥

परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सब्बभूदया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीद्रास्त्राणयालानां धर्मो यद्यस्त्यहिसनम् ॥

न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया रुधम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया--गो रंमणिच्छिन्नयेन विनियति गवा, द्रास्त्राणा, स्त्रीणां च वचमाननिवृत्तिर्यदि भजेदुच्छ्रेष्ठो धर्म परमो धर्म कये न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ--गोहत्या, द्रास्त्राणहत्या, स्त्रीपक्ष इनसे निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा.

हिंसानिवृत्ति उपायेन काव्यति कृतापराधानपि नाथयान्स्नेहान् मातयितुमीहते जत. । तत्परं नाम सच्छिज्ज-
मानन्तरे पितृपुत्रादिभयमुपागतानां अंग ! मारणानुक्तं इति धदति--

सज्जे वि य संयथा पत्ता सब्बेण सब्बजीवेहिं ॥

तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्वे सर्वे समं प्राप्ता संयथा जंतुभिर्यतः ॥

संयधिनो निहर्ग्यते ततस्तान्निव्रता धुवम् ॥ ८२६ ॥

विजयोदया--समे वि ॥ सर्वेऽपि च । संयथा सब्बथा प्राप्ता । सब्बेण सर्वेण जीवेन । सखजोयेहिं संयजीवे ।
सो तस्मात् । जीवो मारणोपगतः संबंधिन एव घातयति ॥

उपायसे दिसासा निषेध लोक करते हैं. अपने वंधुओंने अपराध किये होंगे तो भी उनको मारते नहीं. तो अनेक पूर्ण दन्तमें जो पिता, पुत्र इत्यादिक संबंध तो प्राप्त हुए होंगे ऐसे प्राणिजोंको मारना क्या योग्य है ? नहीं इसका स्पष्टीकरण--

अर्थ--सर्व जीवोंका सब जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवोंमें हुआ है. इनलिये मारनेके लिये उद्युक्त हुआ मनुष्य अपने संबंधीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये. जगतमें संबंधि-
ओंका घात करना अविद्य निघ माना जाता है.

तच्च संबंधहन्तं लोके अतिनिर्दिष्टं ।

जीववहो अपवहो जीवव्या होइ अप्यणो हु दया ॥

विसकंटओन्व हिंसा परिहरियन्वा तदो होदि ॥ ७१४ ॥

आत्मघातोऽद्विनां घातो दया तस्यात्मनो दया ॥

विपकांड इव त्याज्या हिंसातो दुःखभीरुणा ॥ ८१६ ॥

विजयोद्या—जीववहो अपवहो जीवानां घात आत्मघात ॥ जीवानां क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । मरुत्पक्षजीवघातनोद्यतः स्वयमनेकेषु जन्मसु भावेति । इत्येकजीववहोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परे रक्ष्यते । इति विपलिसकंटकपत्र परिह्वार्यो हिंसा दुःखभीरुणा ॥

अर्थ—प्राणिओंका नाश करना यह अपना ही नाश करना है और प्राणिओंपर दया करना ही अपने ऊपर दया करना है, जो एकजन्ममें प्राणीका घात करता है वह अनेक जन्मोंमें भारी जाता है, और जिसने एकबार भी प्राणीके ऊपर दया की है वह अनेक जन्मोंमें इतर प्राणिओंसे रक्षा जाता है, ऐसा विचार कर विपसे लिप्त हुए हंटरमें जैसे लोक दूर होते हैं वैसे दुःखभीक मनुष्यको इस हिंसासे दूर रहना चाहिये.

हिंसादोषनिर्णय जन्मनि दर्शयति--

भारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुन्व उव्वेगं ॥

संबंधिणो वि ण य विस्तंभं मरित्तए जंति ॥ ७१५ ॥

उद्धेगं कुरुने हिंखो जीवानां राक्षसो यथा ॥

संबंधिनोऽपि नो तस्य विख्यासं जातु कुर्वते ॥ ८१७ ॥

विजयोद्या—भारणसीलो हु भारणसील पशुनभोजन । राक्षस इव जीवानामुद्धेगे ऋतेति । संबंधिनोऽपि न विखसं उपयान्ति तस्मिन्पक्षके ॥

इसही जन्ममें हिंसासे दानि होती है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य दुसरेको मारनेमें उद्युक्त होता है वह राक्षसके समान प्राणिओंको मय उत्पन्न करता है, उसके संबंधि मनुष्य भी उसके ऊपर विद्यास नहीं रखते हैं.

वधवंधरोधघणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव ॥

णिळ्विसयमभोजितं जीवे मारंतगो लभदि ॥ ७९६ ॥

इह वंधं वंधं रोधं यातनां देशघाटनम् ॥

हिंस्यो वरैरभोग्धत्वं लब्ध्वा गच्छति दुर्गतिम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—यघं मारणं, वंधं वंधनं, रोधं अस्त्रोदकादिक रोधनं, घनहरणं, रिजयोहालनं । यातनात्त्व वधवैनाभि । घेर पिरयादाटनं अभोज्यतां च रोपाशालनादिहन्नात् । मारंतगो हंता । लभदि लभते ॥

अर्थ—जो आलनादिशोका वध करता है वह मारना, बांधना, रोकना, धन हरण करना, और अनेक प्रकारसे पीडा देना, बंद करना, देखसे निकालना, क्षातिसे च्युत करना, इत्यादिक दुःखोंको प्राप्त होता है,

कुक्षो परं वधिचा सयंपि कालेन मारदुज्जते ॥

हृदघादयाण गत्यि विसंसो मुत्तूण तं कालं ॥ ७९७ ॥

यतो कष्टः परं हत्वा कालेन त्रियते स्वयम् ॥

हृतदंत्रोसन्नो नास्ति विशेषस्तं क्षणं विना ॥ ८२९ ॥

विजयोदया—कुक्षो परं वधिचा कुक्ष- सन्धरं मयं वधित्वा । स्वयमपि गच्छता कालेन धियते । हृतचातक- पोतर्हिस्ति विशेषः । मुत्तूण तं कालं मुत्तया तं कालं । पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥

अर्थ—कुक्ष शोकर जो मनुष्य दुसरोको मारता है वह भी कुछ काल बीतनेके अनंतर मरणको प्राप्त होता है, इस वास्ते इत और घातकमें कुछ फरक नहीं है, हाँ फक्त कालका ही अंतर रहता है,

अपासगरोमिदयविरूज्जदाविगलदा अवलदा य ॥

दुम्भेहवण्णरसंगंधदाय से होइ परलोए ॥ ७९८ ॥

अल्पायुर्दुर्वलो रोमी विरूपो विकलेन्द्रिय ॥

दुष्टगंधरसस्पर्शो जायतेऽमुज हिंसकः ॥ ८३० ॥

वित्तयोदया - व्यापकगोविन्द्याविरूपाविगलना नवछन्दा ॥ यत्पञ्चवित्तोनिताविरूपा, विकलैत्रियता
 दुर्वेद्यता । तुम्हेष्वणरसंगपन्न य दुर्मेधता, दुर्वेद्यता, दूरसदुपघता च । से तस्य । होदि मयति । परलोप जन्मान्तरे ।
 अर्थ—हिंसा करनेवाला मनुष्य परजन्ममें बन्धाशुषी, रोगी, कुरूप, विकलैद्रिय अर्थात् अंध, बहिरा,
 गूंगा, दुर्बल, मूल, अशुभएवं, रस गंधबाला, होता है.

मारोदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जन्मकोडीसु ॥

अवसो मारिजंतो मरदि विघाणेहि बहुएहि ॥ ७९९ ॥

एकोऽपि हन्यते येन शरीरी भवकोटिषु ॥

त्रियते मार्यमाणोऽपि विघानैर्विविधैरसौ ॥ ८३१ ॥

विजयोदया - मारोदि हंति । परमवि एकमपि । जो जीवं यो जीवं । सो सः । बहुसु जन्मकोडीसु यकीसु
 जन्मकोटिषु । अवसो मरदि मारिजंतो अवसो मार्यमाणो म्रियेत । विघाणेहि बहुएहि बहुभिः प्रकारैर्मर्यमाणः ॥

अर्थ—जो मनुष्य एक प्राणीको भी मारता है वह अनेक कोट्यवधि जन्मोंमें अवश अर्थात् परतंत्र हो-
 कर नाना प्रकारसे मारा जाकर मरणको प्राप्त होता है.

जावइयाइं दुस्खाइं होति लोचमि चदुगदिगदाइं ॥

सब्बाणि तानि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥ ८०० ॥

दुर्गतो यानि दुःखानि दुःसहानि शरीरिणाम् ॥

हिंसाफलानि सर्वाणि कथ्यन्ते तानि सूरिभिः ॥ ८३२ ॥

वित्तयोदया - जावइयाइं यावन्ति । दुस्खाइं दुःखानि । हुंति भवंति । चंदुगदिगदाइं गतिचतुष्टयगतानि ।
 सब्बाणि तानि हिंसाफलानि सर्वाणि कथ्यन्ते तानि सूरिभिः जानीहि ॥

अर्थ—इस जगत्में जो जो दुःख जीवको प्राप्त होते हैं वे सर्व हिंसाके ही फल हैं ऐसा
 समझना चाहिये.

का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरुह्यन्ते इत्याचष्टे—

हिंसादो अविमर्णं बहुपरिणामो य होइ हिंसा हु ॥

तद्गहा धमत्तजोगे पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥ ८०१ ॥

हिंसातोऽविरतिहिंसा यदि वा वयचित्तनम् ॥

यतःधमत्ततायोगस्ततःप्राणवियोजकः ॥ ८३३ ॥

पित्रयोदया—हिंसान्तरे अविमर्ण हिंसातोऽविरतिहिंसेति संवधनीयं । प्राणान् प्राणिनो व्यपरोपयामीति संकल्पकर्त्तव्यं हिंसा इत्यर्थः । वधपरिणामो वा इवमिति एवं परिणामो वा हिंसा । नष्टा हस्मात् । धमत्तयोगो धमत्तता सन्धः । पाणवधरोवओ प्राणवधनमपेक्षति । निष्ठमिव । निष्ठया, रूपया इत्येवमादय पचववपरिणामा भात्मनो भावः । प्राणानां परस्परं च द्रव्यभाव प्राणानां वियोजक इति हिंसित्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुडो वा मूढो वा जं पयुजदि पओगं ॥

हिंसा वि तत्थ जायदि ताप्ता सो हिंसगो होइ ॥ ८०२ ॥

पित्रयोदया—रत्तो द्रिष्टो मूढो वा सन्धयोगं प्राप्नोते तस्मिन्निहता जायते । न प्राणिनः प्राणानां वियोजन-
मात्रेण आत्मनि दामादीनामनुदुःखादकृत् सोऽप्रधोक्ते अहिंसक इति । यस्याद्रायाद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि जीवांतरगत-
वैशतव्यं अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तद्विमानरुगा वा अहिंसा, किंतु आत्मेयं हिंसा आत्मा कैश्च अहिंसा । प्रमा-
दपरिणत आत्मेय हिंसाः अधमत्त एव च अहिंसा । उक्तं च—

अत्ता चैव अहिंसा अत्ता हिंसचि णिच्छओ समये ॥

जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥ ८०३ ॥

जीवपरिणामवशो बंधो जीवो मृतिसुष्ठु नोपेयात्ता । तथा चाप्याणि—

अज्झवसिद्धो य बद्धो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्य ॥

एसो वंधसमासो जीवाणं णिच्छुणयस्स ॥ ८०४ ॥

जीवास्तादीनां निरीराणि शरीरग्रहणस्थान्कोनिसंश्रितं (?) यदावगो वेत्ति तत्संभवकालं तत्पीडापरि-
हारेऽदुःखरुत्तप विषयां दाम्यस्तत्कारणनैष्य प्रवृत्तौ भवत्यहिंसकः । उक्तं च—

पाणी कम्परस खयत्यमुठ्ठियो णोठ्ठियो ॥ हिसाए ॥

अद्वि असढो हि यत्थं अप्पमत्तो अवघगो सो ॥ ८०५ ॥

नुमपरिणामसमन्वितस्याव्याप्तनः स्वधारीरतिमिचितान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण वंचः स्वाद्य कस्यचिन्मुक्तिः स्यात् । योगिनामपि चायुष्काविरुचधनिमित्तवंचसद्भावात् । अथापि च—

जदि सुद्धस्स य वंधो होहिदि बाहिरगत्वथुजोगेण ॥

णत्थि दु अहिसगो णाम होदि वायादिवघहेदु ॥ ८०६ ॥

तस्मात्प्रिच्छयत्वाधयेय प्राण्यंतरप्राणवियोगोपेक्षा हिंसा ॥

जित्के दोष आप फहते हैं उस हिंसाका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—हिंसासे निरक्त न होना अथवा हिंसा करनेके परिणाम होना अर्थात् मैं प्राणिके प्राणोंका घात करना ऐसा निषाद रचना हिंसा है, प्रमत्तयोग प्राणों का नाश करता है, विकथा, कपाय वगैरे पंचरा प्रकारके परिणामों को प्रमाद कहते हैं, इस प्रमादसे युक्त हुए प्राणीको प्रमत्त कहते हैं, ऐसे प्रमत्तका जो योग अर्थात् मनबचन और शरीरका व्यापार उसको प्रमत्तयोग कहते हैं, इस प्रमत्तयोगसे अपने भावप्राणोंका और दूसरों के द्रव्य प्राण, और मान प्राणोंका नाश होता है, इसलिये प्रमत्त योगको हिंसा कहते हैं,

अन्य आगमग्रंथमें हिंसाके विषयमें ऐसा लिखा है—

रागी, द्वेषी अथवा मूढ बनकर आत्मा जो कार्य करता है उससे हिंसा होती है, प्राणिके प्राणोंका वियोग तो हुआ परंतु रागादिक विकारोंसे आत्मा यदि उस समय मलिन नहीं हुआ है तो उससे हिंसा नहीं हुई है ऐसा समझना चाहिये, वह अहिंसक ही रहा ऐसा समझना चाहिये, अन्य जीवके प्राणोंका वियोग होनेसेही हिंसा होती है ऐसा नहीं अथवा उनके प्राणोंका नाश न होनेसे अहिंसा होती है ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, परंतु आत्माही हिंसा है और वही अहिंसा है ऐसा मानना चाहिये, अर्थात् प्रमाद परिणतआत्मा ही स्वयं हिंसा है और अप्रमत्त आत्माही अहिंसा है, आगममें भी ऐसा कहा है—

आत्मा ही हिंसा है और आत्माही अहिंसा है ऐसा बिनागममें निधाय किया है, अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद रहित आत्मा को अहिंसक कहते हैं, और प्रमादरहित आत्माको हिंसक कहते हैं, जीवके परिणामोंके अधीन वंच

होता है, जीव भरण करो अथवा न करो परिणामके वक्ष हुआ आत्मा कर्मसे बद्ध होता है ऐसा निश्चय नयसे जीवके वक्षका संक्षेप से स्वरूप कहा है.

जीव, उसके शरीर, शरीरकी उत्पत्ति विषयमें होती है ऐसी योनि इनके स्वरूप जान कर और उसके उत्पत्तिका फाल जानकर पीढाका पहिदार करनेवाला और लाभ, सत्कारादिकी अपेक्षा न करके तप करनेवाला जीव अहिंसक माना जाता है. लाभमें इस विषयमें ऐसा विवेचन है—

शरीर पुरुष कर्मक्षय करनेके लिये उद्युक्त होते हैं वे हिंसाके लिये उद्युक्त नहीं होते हैं. उनके मनमें शठ भाव-माया नहीं रहती हैं और वे अप्रमत्त रहते हैं इसलिये वे अवबन्ध-अहिंसक माने गये हैं.

विषयके शुनपरिणाम हैं ऐसे आत्मके शरीरसे यदि अन्य प्राणि के प्राणका वियोग हुआ और वियोग होने मात्रसे यदि पंच होगा तो किसी की भी मोक्षकी प्राप्ति न होगी. क्योंकि योगियोंकी भी वायुकायिक जीवोंके वक्षके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है ऐसा मानना पड़ेगा. इस विषयमें शास्त्रमें ऐसा लिखा है—

यदि रागद्वेषरहित आत्माको भी बाह्यवस्तुके संवक्षसे पंच होगा तो जगतमें कोई भी अहिंसक नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा अर्थात् शुद्ध मुनिको भी वायुकायिक जीवके वक्षके लिये हेतु समझना होगा. इसलिये निश्चय-नयके आश्रयसे हमने प्राणीके प्राणका वियोग होनेपर भी अहिंसामें साधा जाती नहीं है ऐसा समझना चाहिये.

गतिप्रक्रियानेदानकल्पति -

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ॥

एदे पंचपओगा किरियाओ होति हिंसाओ ॥ ८०७ ॥

द्वैपिकी कायिकी प्राणघातिकी पारितापिकी ॥

क्रियाधिकरणी चेति पंच हिंसायसाविकाः ॥ ८३४ ॥

विजयोद्या - पादोसिधाधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए पादोसिय शब्देनेष्टदाविचष्टराविनिमित्तः कोपः प्रदेय इत्युच्यते । प्रदेय एव प्रादोषिको यथा पितृय एव वैनीयकमिति । हिंसाया उषकरणमधिकरणमित्युच्यते । हिंसोपकरणानुमित्तस्य अधिकरणिकी क्रिया । दुष्टस्य सतः कोपेन वा चलनक्रिया कायिकी । पारितापो दुःखं दुःखो-

गतिनिमित्त किया पारितोषिकी किया । आयुर्विद्विजलप्राणानां वियोगकारिणी प्राणविषादिकी किया । एदे पंच प-
योमा पंच पंच योगाः । हिसाकिरिधाशो हिसासंबंधित्यः कियाः ॥

हिमामंघ्रि क्रियाओंका वर्णन—

अर्थ—द्रोपते किया करना, अर्थात् इष्ट स्त्री व धनदिक पदार्थका किसीके द्वारा हरण किया जानेसे जो मोघ उत्पन्न होता है उसको द्रोप कहते हैं । हिसाके उपकरणोंको ग्रहण करना, अधिकरण क्रिया कहते हैं । इष्ट दोऊ शरीरके द्वारा चलन होना कायिकी किया है । परिताप-दुःख-दुःखोत्पत्तिके लिये जो क्रिया की जाती है उसको पारितोषिकी किया कहते हैं । आयु, इंद्रिय, बल और प्राण इनका घात करनेवाली क्रियाको प्राणा विषादिकी किया कहते हैं । ऐसे पांच प्रकारके उपयोगोंको हिसा किया कहते हैं ।

तिहिं चटुहिं पंचाहिं वा कमेण हिंसा समप्यदि हु ताहिं ॥

अंधो वि सया सतिसो जइ सरिसो काहयपदोसो ॥ ७०८ ॥

हिंसा त्रिभिश्चतुर्भिश्च पंचभिः साधयन्ति ताः ॥

किया पंचाः समागेन द्वैषिकी कायिकी किये ॥ ८३६ ॥

विजयोपचा— तिहिं चटुहिं पंचाहिं वा त्रिभिर्मनोवाक्यैः, चतुर्भिः कोचमानमण्यलोभैः, पंचभिः स्वशोभादि-
भिर्निद्रिषैर्वा । कमेण हिंसा समप्यदि गु क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति । ताभिर्मनसा प्रवेष्टो पचसा द्विषोऽङ्कमीति पचने
वादेन, कावेन मुतद्वैषण्यविकरणे कायदेनः । मनसा द्विषोपकरणवाने, चाना दाने उपयुक्तमीति हस्तादिताडने इति
अधिकरणमपि त्रिविधे । मनसा उत्सृष्टानीकं विना, पचसा उत्सृष्टाभि इति, हंतुं वादस्तुमिति उत्कि । कायेन चटने
कायिकी । मनसा दुःखमत्पादयामीति चित्तं दुःखं मयनः कटोभि इति उत्किचां पारितोषिकी क्रिया, हस्तादिताडनेन
गु गोत्यादनं कायेन पारितोषिकी किया । प्राणान्द्रियोपयापीति विना मनसा प्राणान्द्रियतः, हन्मीति पचः चाक्प्राणा-
निपातः । कायव्यापारः कायिकमाणविपातः । क्रोधनिमित्ता कर्मविदधीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता,
वैषादित्वा दानप्रदं क्रोधादिनिमित्ता वायपरिस्फुटं । क्रोधादिनिमित्ता परस्त्रिपातकरणं, प्राणालिपातो घट क्रोधनिमित्ता
भयति । स्वशोभनादिद्रिपनिमित्तो वा प्रदेक, इंद्रियमुपार्च्य वा कलपहुं प्रसूनादिद्रिजननिमित्तसाधनोपादाने, तत्सु-
साधनेच विपयव्यावृत्तिभिर्प्रत्यक्तः कायपरिस्फुटः । परस्त्रा वा वाटादिजननप्रकृतदिना संतापकरणं, मांसाद्यथ
वा प्राणिमाणवियोजनमिति । किमेताभिर्हिंसाभिः संपातः कर्मपंचः समान उत न्यूनाधिसमाचो पंचश्रेत्याशंकायानाद्यष्टे

बंधोऽपि कर्मबंधोऽपि विना सूरितो स्यात्सदृशः । कथं ? उदि सूरितो यदि सदृशः ! कायिकपुत्रोऽतो कायिकी क्रिया ग्रहे पञ्च यदि नमः सदाकलनामानाशक्तार्यस्यापि वंध्यस्य सादृश्यं, अन्यथा न सदृशता ! तीव्रमध्यमैरूपाः परिणामाः तीर्णं, मध्यं, मंदं च बंधमाणाद्व्यन्ति । इति भावः ॥

अर्थ—मन, वचन और शरीर ऐसे तीन योग क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय और स्पर्श-नादिक पांच इंद्रियां इनके द्वारा क्रममे हिंसा समाप्त होती है. मनसे द्वेष करना, मैं द्वेषयुक्त हुआ हूं ऐसा वचनसे कहना यह वादेप है शरीरके द्वारा द्वेष करना अर्थात् मुल लाल होना, मोहें धक्का होना वगैरह कायेद्वय है.

मनके द्वारा हिंसाके उपकरण लेना, मैं शस्त्रग्रहण करता हूं ऐसा बोलना, हाथ पांव इत्यादिकसे डोकना. ऐसे अधिकरणके तीन भेद हैं. मनसे ऊठने का विचार करना, वचनसे मैं ठोकूंगा, ताड़न करूंगा ऐसा बोलना, शरीरसे हिलना फिरना, यह सब कायिकी क्रिया है. मैं दुःख उत्पन्न करूंगा ऐसा मनसे विचार करना, मैं तुमको दुःखित करूंगा ऐसे वचनमे बोलना, हस्तादिकोंसे ताड़न करना यह कायिकी क्रिया है. प्राणोंसे मैं प्राणीको अलग करूंगा ऐसा विचार करना, मैं मारूंगा ऐसा मुलसे बोलना वाक्प्रणानिपात है. शरीरसे मारनेकी क्रिया करना कायिकप्राणातिपात है. ये पांच क्रियायें कोई पुण्य क्रोधसे, कोई मानसे, मायासे और लोभसे करते हैं.

क्रोधादिकसे शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्त कायपरिस्पंद कहा जाता है. क्रोधादिकसे दूसरों को मंवाप उत्पन्न करना, क्रोधादिकमे प्राणव्रप करना, स्पृशनादि इंद्रियोंके निमित्तसे भी द्वेष उत्पन्न होता है. इंद्रियसुलभे लिये फल, कोमल कोपल, पुष्प वगैरहका छेदन करनेका साधन ग्रहण करना, इंद्रियसुलभके लिये ही विषयका साक्षिण्य पाकर शरीरकी बहुत हालचाल करना, दूसरोंको याद आलिंगन देना, वस्त्रोंसे श्रुत करना, मांसादिकोंके लिये प्राणिजोंको प्राणसे वियुक्त करना ये सब हिंसा क्रियायें हैं.

इस हिंसाक्रियासे उत्पन्न होनेवाला कर्मबंध समान होता है अथवा कम जादा होता है. इस शंका का उत्तर आचार्य ऐसा देते हैं—

कर्म बंध कथंचित् समान होता है. अर्थात् शरीरके द्वारा होनेवाली क्रिया और श्रदेप यदि समान होगा तो उससे कर्मबंध भी समान होगा अन्यथा नहीं. कारणोंमे सामान्यता यदि होगी तो कार्यमे अर्थात् कर्मबंधमे

नी समानता होगी. और यदि कारणोंमें विशेषता होगी तो कारणोंमें-बंधमें विशेषता होगी ही. जीव, मंद, और मध्यम रूप परिणाम उत्पन्न होनेपर तीव्र, मंद मध्यम प्रकारका बंध होगा ऐसा अधिप्राण समझना चाहिये.

अधिकरणमें निरूपयति—

वीस पल तिष्ठिण मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि ॥

चारह पलिया पंच दु तोसि पि समो हवे बंधो ॥ ८०९ ॥

जीवगदमजीवगदं समासदो होदि दुविहमधिकरणं ॥

अदुत्तरसयमेदं पढमं विदियं चदुब्बेदं ॥ ८१० ॥

जीवाज्जीवाधिकरणेन तन्नाधिकरणं विद्या ॥

ज्ञातमष्टोत्तरं पूर्वं द्वितीयं च त्रुविधम् ॥ ८११ ॥

विजयोदया—जीवगदमजीवगदं इति जीवगत इति जीवप्राण उच्यते । न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसायां उपकरणं भवति । किंतु जीवस्य पर्यायः आत्म्यस्य । हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्यंतरकरणं । अजीवगतः पर्यायः द्रव्यार्थं हि अजीवद्रव्यत्वात्पः सदा समिहितकार्यः स्वाकादन्वितकलां कथमिव संप्रत्ययति । एतद्विस्तृत्य स्वकारण साक्षिभ्याकदाविदेति । यदा सयं समिहितसहकारिणस्तदेव स्वकार्यं कुर्वन्ति । नाग्यदेति युक्ता पात्राविकृता कार्यस्येति भावः । समासदो त्रुविधमधिकरणं संक्षयतो द्विविधमधिकरणं । अदुत्तरसयमेदं अदुत्तरसतमेदं । पढमे जीवगदमधिकरणं । विदियं द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं चदुब्बेदं त्रुविधम् ॥

अधिकरण भेदोंका निरूपण करते हैं—

अर्थ—प्रादोपिक्र वगैरह हिंसाके पांच भेद ऊपर कहे हैं. प्रत्येकके क्रीड, मान, माया और लोभके आश्रयसे पांच पांच भेद होते हैं. अर्थात् क्रोधादिकके आश्रयसे प्राणादिकके बीस भेद होते हैं. इन्द्रियोंकी अपेक्षामें इन प्रादोपिकादि पांच क्रियाओंके पंचबीस भेद होते हैं. और मन वचन, और शरीर की अपेक्षामें इन क्रियाओंके पंधरा भेद होते हैं. इन सबोंका कर्मबंध समान होता है.

अर्थ—अधिकरणके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ऐसे संक्षयसे दो भेद हैं. जीवाधिकरण के एकसे

आठ भेद हैं और अजीवाधिकरणके चार भेद हैं। जीवाधिकरण अर्थात् केवल जीवद्रव्य आस्रवका आधार नहीं होता है। किंतु पर्यायमदित जीवद्रव्य आस्रवका आधार होता है। जीवके परिणाम हिंसादिकके लिये कारण होते हैं और ये परिणाम अभ्यंतर कारण है। अजीवका पर्यायभी आस्रवका आधार है यदि द्रव्य ही आस्रवका आधार माना जावेगा तो उच्च तो हमेशा ही रहता है अतः उसका आस्रवरूप कार्य हमेशाही रहेगा, उसमें अनित्यता नहीं रहेगी, पर्याय अपने २ कारण मिलने पर उत्पन्न होते हैं, जब पर्यायों को महकारि कारणोंका सहाय्य मिलता है तब वे आस्रवारमक कार्य करते हैं अन्यथा करते नहीं। इस लिये कार्यमें कादाचित्कता अर्थात् अनित्यता आती है,

मध्यमस्य भेदादिकपपत्ति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ॥

कदकारिदाशुभोदेहिं तहा शुणिदे पढमभेदा ॥ ८११ ॥

विधिना योगकोपादिसंरंभादिकृतादयः ॥

भिदा भवंति पर्वस्य गुण्यमानाः परस्परम् ॥ ८३७ ॥

विशेषोद्घा—संरंभसमारंभारंभोदेहिं तह कसाएहिं माणव्यपरोपणादो प्रमाद्वतः प्रयत्नः संरंभः । सा पया हिंसादिप्रियायाः नाधनानां समाहारः समारंभः । संचित् हिंसापुणरुत्तणस्य आद्यः प्रक्रम धारंभः । योगशब्देन मनोयाज्ञाद्यत्यागात् उच्यते । एतैः संरंभसमारंभारंभवयोगैः । तथा कसाएहिं कपयैः कदकारिदाशुभोदेहिं कृतकारिदाशुभोदेहिः । तहा शुणिदा तथा शुणिताः । पढमभेदा जीवाधिकरणभेदाः । प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चैतनायतो व्यापारस्यादौ संरंभस्य पद्यनं । अनुपायसाध्यस्मिदिर्न भवति प्रयत्नवत्तोऽपि तत्तत् साध्यसमाहरणं । प्रयत्नादन्तरेति समारंभो युक्तः । साध्यं पुनः उपसाधनसंहती सत्यां प्रक्रमते क्रियाप्रति आरंभः पद्यानुपपत्तः । स्वातंत्र्यविशेषेन आरंभता यत् क्रियते प्रक्रियते तत् तत् ठते । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिशुण्यमिति यत्तत्कारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किं त्वभ्युपैति यत्तदनुमनं शन्युगमस्तत्र मरमस्तादृच्यते कोधनिमित्तं स्वातंत्र्यस्य हिंसाविषयः प्रयत्नोवेत्ताः क्रोधकृतकायसंरंभः । मानकृतकायसंरंभः, मागदृतकायसंरंभः, लोभकृतकायसंरंभः । कोधकारितकायसंरंभः, मानकृतकायसंरंभः, मागदुग्धकृतकायसंरंभः, लोभानुमत्तकायसंरंभः, लोभकारितकायसंरंभः । कोधकृतकायसंरंभः, मानकृतकायसंरंभः, मागदुग्धकृतकायसंरंभः, लोभकृतकायसंरंभः । इति ऋषाद्या मंत्रयः । क्रोधकृतकायसमारंभः, मानकृतकायसमारंभः, मागदुग्धकृतकायसमारंभः, लोभकृतकायसमारंभः । मोथकारितकायसमारंभः, मानकारितकायसमारंभः । मायाकारितकायसमारंभः, लोभकारितकायसमारंभः

क्रोधानुमतकायसंभारं, मानानुमतकायसंभारं, मायानुमतकायसंभारं, इति त्रयसंभारः । क्रोधकृतकायसंभारं, मानकृतकायसंभारं, मायाकृतकायसंभारं, लोभकृतकायसंभारः । क्रोधकारितकायसंभारः, मानकारितकायसंभारः, मायाकारितकायसंभारः । क्रोधानुमतकायसंभारः, मानानुमतकायसंभारः, मायानुमतकायसंभारः । इति त्रयसंभारः । एवं एते संविदिताः कायसंभारः पदत्रिंशत् । एते संविदिता जीवाधिकरणकारणभेदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥

अथ प्रथम जीवाधि करणके भेद कहते हैं.

अर्थ—हिंसा, चोरी वगैरह पापकार्योंमें प्रमादी होकर प्रयत्न करना संभार कहाता है. हिंसादिक कार्य करानेके लिये शस्त्रादिकोंका संग्रह करना समारंभ कहाता है. और संचित किये शस्त्रादिकोंसे हिंसादिकार्य करना, शुरु करना उसको आरंभ कहते हैं. योग शब्दसे मनोयोग, वचन और काययोगका ग्रहण करना बाहिये. संभार, समारंभ आरंभ, मनोयोग, वचन योग, और काय योग, कृत, कारित और अनुमोदन और कषाय इनके द्वारा हिंसादिक पाप प्रवृत्तियोंको सुषित करनेपर प्रथम जीवाधिकरणके भेद होते हैं. चैतन्यवान् आत्मा प्रयत्नपूर्वक व्यापार करता है आत्मा प्रथम संभार है. उपायके बिना साध्य सिद्धि नहीं होती है इस लिये प्रयत्नके अर्थात् उपायोंका-साधनोंका संग्रह करना इसको समारंभ कहते हैं. अतः संभारके अनंतर समारंभ कहा गया है. कार्यकी शुरुआत साधनोपकरणोंके अनंतर होती है. इस लिये आरंभका उसके अनंतर उल्लेख किया है.

स्वातंत्र्य विशिष्ट आत्मा जो कार्य करता है वह कृत है, दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षासे जो सिद्ध होता है उसको कारित कहते हैं. जो कार्य स्वयं करता ही नहीं और दूसरेसे कराता नहीं परंतु स्वयं करने वालेको सम्मति देता है उसको अनुमोदन कहते हैं.

क्रोधमें स्वयं हिंसाकार्यमें प्रयत्न करना उसको क्रोधकृतकाय संभार कहते हैं. मान, माया और लोभसे स्वयं हिंसा कार्यमें शरीरके द्वारा जो प्रयत्न करना उसके मानकृत कायसंभार, मायाकृत काय संभार, और लोभकृत काय संभार ऐसे चार भेद हुए.

क्रोध, मान, माया और लोभके वल्ल होकर हिंसा कार्यमें दूसरोंको शरीरके द्वारा जो प्रवृत्त करना उसको क्रमसे क्रोधकारित कायसंभार, मानकारित कायसंभार, मायाकारित कायसंभार और लोभकारितकाय संभार ऐसे चार भेद होते हैं.

क्रोधादिक चारुति हिसादि कायोंमें स्वयं प्रवृत्त हुए मनुष्योंको शरीरके द्वारा जो अनुमति देना उसके भी चार भेद हैं। यथा क्रोधानुमतकायसंरंभ, मानानुमतकायसंरंभ, मायानुमतकायसंरंभ और लोभानुमतकायसंरंभ ऐसे चार भेद हैं सब मिलकर संरंभके चार भेद हुए।

समारंभके भी चार भेद होते हैं। उनका क्रम—क्रोधकृत कायसमारंभ, मानकृत काय समारंभ मायाकृत काय-समारंभ और लोभ कृत काय समारंभ, क्रोध कारितकायसमारंभ, मानकारितकाय समारंभ मायाकारितकायसमारंभ, और लोभ कारित काय समारंभ, क्रोधानुमत काय समारंभ, मानानुमत काय समारंभ, मायानुमतकायसमारंभ और लोभानुमत, कायसमारंभ।

धारंभ के भी संरंभ और समारंभ के समान चार भेद होते हैं—

यथा—क्रोधकृतकायारंभ, मानकृत कायारंभ, मायाकृत कायारंभ और लोभकृत कायारंभ, क्रोधकारित कायारंभ, मानकारितकायारंभ, मायाकारित कायारंभ, लोभाकारित कायारंभ मायानुमत कायारंभ और लोभानुमत कायारंभ इस प्रकार चारंभके भी चार भेद होते हैं इस प्रकार कायके आरंभतक छत्तीस भेद होते हैं। इसी प्रकार यचनके छत्तीस और मनके छत्तीस मिलकर एकसौ आठ भेद जीवाणिकरणके होते हैं।

भर्तावाधिकरणत्वं चतुरस्रे भेदानाचष्टे—

संरंभो संकल्पो परिदावकद्वो हवे समारंभो ॥
 आरंभो उद्वयो सव्ववयानं विसुद्धाणं ॥ ८१२ ॥
 निवलेवो निव्वचि तद्वा य संजोयणा निसग्गो य ॥
 कमसो चतु दुग दुग तिय भेदा होतिं हु विदीयस्स ॥ ८१३ ॥
 संरंभोऽकथि संकल्पः समारंभो वित्तापकः ॥
 शुद्धयुद्धिभिरारंभः प्राणानां व्यपरोषकः ॥ ८१८

निर्वर्तना सनिक्षेपा संयोगः सनिसर्गकः ॥

द्विचतुर्द्विभिमेदाः स्युर्द्वितीयस्य यथाक्रमम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया--निष्पत्त्यो णिवृत्ति तदा य संजोयणा निसर्गो य निक्षेपश्चतुःप्रकारः । निर्वर्तना द्विप्रकारा । संयोजना द्विप्रकारा । निसर्गोत्पत्तिरिति संबध्यते ॥

अर्थ--द्विसादिक क्रमोक्ता विचार करना संकल्प है. प्राणिओंको संताप उत्पन्न करना समारंभ है और आरंभ सर्व निर्मल अवतोंका नाश करनेवाला है.

अर्थ--निक्षेप, निर्वचि, संयोजना और निसर्ग ऐसे अजीवाधिकरणके चार प्रकार हैं. निक्षेपके चार भेद, निर्वर्तनाके चार भेद, संयोगके दो भेद और निसर्गके तीन भेद हैं.

निक्षेपस्य षत्तुरो विकल्पानाचष्टे--

सहस्राणामोगिन्य दुष्यमज्जिद अपञ्चवेकखणिवत्सेवो ॥

देहो व दुष्यउसो तहोवकरणं च णिव्वचि ॥ ८१४ ॥

निर्वर्तनोपधिदेहो दुःप्रयुक्तोऽभिधीयते

निक्षेपः सहसादृष्टदुर्दृष्टाप्रत्ययेक्षणौ ॥ ८४० ॥

विजयोदया--सहस्राणामोगिदुष्यमज्जिद अपञ्चवेकखणिनयेयो-सहस्रानिक्षेपाधिकरणं, अनामोगनिक्षेपाधिकरणं, दुःप्रयुष्टनिक्षेपाधिकरणं, क्षान्त्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं चेति । निक्षिप्यते इति निक्षेपः । उपकरणे पुस्तकादिः शरीरं, शरीरमलानि ता सहस्र ग्रीष्मं निक्षिप्यमाणानि भयात् । कुतश्चित्कार्यांतरकरणयुक्तेन वा स्वस्तिन पदार्थानि कायवाधाधिकरणतां प्रतिपद्यते । अस्तथायमपि त्वरायां जीवाः सन्ति न संतीति निरूपणामतेरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोपकरणं अनामोनिनिक्षेपाधिकरणमुच्यते । दुःप्रयुष्टमुपकरणं निक्षिप्यमाणं दुःप्रयुष्टनिक्षेपाधिकरणं स्यात्प्रयमानाधिकरणं वा दुष्यमुष्टनिक्षेपाधिकरणं । प्रमादो नोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितं निक्षेपाधिकरणं । निर्वर्तनामप्रमाचष्टे--देहो य दुष्यजुचो दुःप्रयुक्तं शरीरं द्विसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति । उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीववायानिमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । यस्मिन्सौवीपादिभजने मृद्विष्टानि सिक्वन्ते ।

निक्षेपके चार भेदोंका वर्णन--

अर्थ—सहसा निक्षेपाधिकरण, अनाभोग निक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण और अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण ऐसे निक्षेपाधिकरणके चार भेद हैं

महसानिक्षेपाधिकरण—पिछी, कमठछ उगैरह उपकरण, पुस्तकादिक शरीर और शरीरका मल इनको भयसे महसा जलदी फेर देना, रखना किसी कार्यमें उत्तर होनेसे अथवा तरासे पिछी कमठछादिक पदार्थ जब जमीन पर पड़वे जाते हैं तब पट्टाया जीवोंको बाधा देनेमें आधाररूप होते हैं अर्थात् इन पदार्थोंसे जीवको बाधा पहुंचती है, तबरा नहीं होनेपर भी जीव हैं या नहीं हैं इसका विचार न करके, देख भाल किये बिनाही उपकरणादिक जमीनपर रखना, फेरना उसको अनाभोग निक्षेपाधिकरण कहते हैं.

उपकरणादिक वस्तु बिना साफसूफ किये ही जमीनपर रख देना अथवा जिसपर उपकरणादिक रखले जाते हैं उसको अर्थात् चौली जमीन घोंगरहको अच्छी तरह से साफ सूफ न करना इनको दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं

साफ सूफ करने पर जीव हैं अथवा नहीं हैं यह देखे बिना उपकरणादिक रखना अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है.

अत्र निर्वर्तनाधिकरणके भेद कहते हैं—

शरीरकी असाधनतापूर्वक प्रवृत्ति करना दुःप्रयुक्त कहा जाता है ऐसा दुःप्रयुक्त शरीर दिसाका उपकरण यत्र जाता है हम वालो हमको देह निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं. जीव बाधाको कारण ऐसे छिद्रसहित उपकरण बनाना हमनी भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं जैसे फांजी नगरह रखे हुए पात्रमें जन्तु प्रवेश कर भर जाते हैं.

संजोयणमुवकरणार्णं च तथा पाणभोयणाणं च ॥

दुड्डणिसिद्धा मणवचिकाया भेदा णिसगस्स ॥ ८१५ ॥

आहारोपधिभेदेन द्विधा संयोजनं मनम् ॥

दुःसुद्धाः स्वान्तवाक्काया निसर्गस्त्रिविधो मतः ॥ ८४१ ॥

विजयोदया—संजोयणमुवकरणाय उपकरणाना पिच्छदीना अन्योभेदेन संयोजना । दीतस्पर्शास्य पुस्तकस्य कमंडलादेर्यो अतपादितेन पिच्छेन प्रमाजने इत्यदिकं । तथा तथा । पाणभोजणाय च पाणभोजनयोश्च पानेन पाने,

भोजन भोजनेन, भोजनं पानेनैवमादिकं संयोजनं यस्य सम्मूर्च्छनं संभवति सा हिंसाधिरुणत्वेनायोयात्ता न सती ।
दुर्हितसिद्धा मणवचिकाया दुष्टमनुता मनोवाजायवमेता निरुगदप्रदेनोच्यते ॥

अर्थ—पिच्छी, कर्मदलु वगेरह उपकरणोंका संयोग करना जैसे टंडस्पर्मबाले पुस्तकका धूपसे संवत कर्मदलु और पिच्छीके साथ संयोग करना अथवा धूपसे तयी हुई पिच्छीसे कर्मदलु पुस्तकको स्वच्छ करना वगेरहको उपकरण संयोजन कहते हैं, जिनसे सम्मूर्च्छन जीवकी उत्पत्ति होती ऐसे पेयपदार्थ दुसरे पेयपदार्थको साथ संयुक्त करना, अथवा भोज्य पदार्थके साथ संयुक्त करना, भोज्य पदार्थके साथ अथवा पेयपदार्थको संयुक्त करना, जिनसे जीवांशों हिंसा होती ऐसा ही पेय और भोज्य पदार्थोंका संयोग निषिद्ध है इससे अन्य संयोग निषिद्ध नहीं है।

मन बचन और शरीरके द्वारा दुष्ट मनुषि करना उमको निसर्ग कहते हैं।

अहिंसारक्षणोपायमन्त्रे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकर्यं सुहं णत्थि ॥

तभिह सुहे णित्गो तम्हा सो रक्खवि अहिंसा ॥ ८१९ ॥

नास्तीन्द्रियसुखं किंचिज्जीवहिंसां विना यतः ॥

निरपेक्षस्तत्तस्मिन्नहिंसां पाति पावनीम् ॥ ८२५ ॥

विजयोवद्या—जं जीवणिकायवहेण यस्माज्जीविकाययातं विना । इंदियसुखं इन्द्रियसुखं अस्ति । त्वीयल-
गंयमास्यादितेया विचित्रा जीविकायपीडकाहिंसा नात्रेण मदतोपाज्जीवित्यान् । वरिधिरिन्द्रियसुखे । निरसंगो यस्त
पावदहिंसां नैन्द्रियसुखार्थी । तस्मादिन्द्रियसुखार्थं मा कृणु इत्युपदिशति सूरिः ।

अहिंसाके रक्षणका उपाय आचार्य बताते हैं—

अर्थ—जीवोंका वध किंवा विना इन्द्रियसुखकी प्राप्ति होती ही नहीं। स्त्रीसंभोग करना, वस्त्रधारण करना, पुष्पमाला गलेमें धारण करना इनसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होता है परंतु स्त्रीसंभोगादि कार्योंमें जीवहिंसा अवश्य होती है। स्त्री वगेरह पदार्थोंकी प्राप्ति करनेमें मदान् आरम्भ करना बढता है। इसवास्ते इन्द्रिय सुखसे अहिंसाका रक्षण होता नहीं है अपर ! तू इस इन्द्रियसुखमें स्नेह मत कर जो इन्द्रिय सुखमें इच्छा नहीं करता है वही अहिंसा का रक्षण करता है।

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणह् ॥
सो जीववहं परिहरदु सया जो निजियकसाओ ॥ ८१७ ॥

कपायकलुयो यस्माज्जीवानां कुरुते यथम् ॥

निःकपायो यतिस्तस्मादहिंसारक्षणक्षमः ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—हिंसा कपायै प्रवर्धते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिदुर्तव्या इगुत्तरमृगार्थम् ।

हिंसा कपायसे उत्पन्न होती है अहिंसामें चाहने मल्लोको अपाणोंका त्याग करना चाहिये मग्मा आगेके मायामें लिखते हैं

अर्थ—जीव जन कपायके चक्ष होता है तब वह जीवोंका भारता है, परंतु जिम्मेन रूपय जीने हैं यही जीवधक्षा परिहार करता है, अर्थात् अहिंसाका यही पालन करता है, प्रमाद अर्थात् रुपाय हिंसामें जीवको प्रवृत्त करते हैं इसलिये अहिंसातत्तको चाहनेमाले उनको दूरसे ही त्यागे

आदाणे निक्खेवे चोसरणे ठाणममणसयणेसु ॥

सच्चत्थ अप्पमत्तो दयावरो होदु हु अहिंसो ॥ ८१८ ॥

काएसु गिरारंभे फासुगभोजिमि पाणहिदयमि ॥

मणवयणकायगुत्तिमि होइ सयला अहिंसा हु ॥ ८१९ ॥

दायमासननिक्षेपग्रहर्षक्रमणादिषु ॥

सर्वत्राप्यप्रमत्तस्य जीवत्राणं ततं यते ॥ ८२७ ॥

विवेकनियताचारग्रासुकाहारसेविनि ॥

मनोवाक्सांयसुतेऽस्ति दयातमम्वंङितम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—प्रमादो हिंसाया प्रवर्तक म परित्यज्योऽहिंसामवाप्यता इति माध्यात्रे ॥

विजयोदया—परित्यक्तात्मस्य ग्राह्यकर्मोक्तिनो धानमायनानादिते मनसि गुप्तिप्रयोषिते संपूर्ण भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थे ॥

अर्थ—यस्तु उठा लेना, रखना, छोड़ना, खड़े होना, घटना, शुभन करना इत्यादि समस्त कार्य करते समय बिन्धोने ममादका त्याग किया है ऐसे श्रेष्ठ दयाके धारक साधुजनसे आर्हिंसा पूर्णतासे पाली जाती है।
 अर्थ—जिसने आरंभका त्याग किया है, जो प्रामुख आहार लेता है, ज्ञानाभ्यास करनेमें जिसने अपने चिचको स्थिर किया है, तीन गुप्तिओंका धारक ऐसे मुनिराजमें यह आर्हिंसा पूर्णताको प्राप्त होती है।

आरंभे जीववहो अप्यासुगसेवणे य अणुमोदो ॥

आरंभावीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥ ८२० ॥

आरंभेऽङ्गिबधे जन्तुरमासुकन्निपेवणे ॥

प्रयततेऽनुमोदे च साश्वज्ज्ञानरतिं विना ॥ ८२१ ॥

विलयोदया—पृथिव्यदिगितयो व्यापार आरंभः । तस्मिन्वति सदाश्रयप्राणपुद्गल इति जीवबधो भवति ।
 उग्रमाविदोपहृतस्य आहारास्य भोजने जीवनिर्कायवधानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमंतरेण आरंभे कपयिष्य मनः प्रवर्तते ।

अर्थ—पृथिवी, जल, इत्यादिकके आश्रयसे आरंभ होता है, अर्थात् जमीन खोदना, पानी सींचना, इत्यादि इत्यादि क्रियाओंको आरंभ करते हैं, ऐसा आरंभ करनेसे उनके आश्रयसे रहनेवाले जीवोंका घात होता है, उग्रमाविदोपहृत आहार लेनेसे, जीवनिर्कायके बधके लिये सम्मति दी है ऐसा समझा जाता है, और ज्ञानाभ्यासमें यदि प्रेम न हो तो मन आरंभ और कपयमें प्रवृत्त होता है।

तम्हा इहपरलोए दुक्खणि सदा अणिच्छमाणेण ॥

उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥ ८२१ ॥

मुनिनानिच्छता लोके दुःखानि घृतये सदा ॥

उपयोगो विघातव्यो जीवत्राणवत्ते परः ॥ ८२० ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । आरंभो भवता स्थावर, प्रासुकभोजनं मोक्षं, ज्ञाने शरतिष्य अपात्राया इति शपकशिक्षा । आर्हिंसा जीवदया तस्याः फलमुपदर्शयति—तस्मा इत्यनया उभयलोकागतदुःखपरिहारमिच्छता दयाभावना फलं इति कथयति ।

अर्ध—इस वास्ते है छापक ! यदि तुम इहपर लोकमें दुःसको नहीं चाहते हो तो हथेला जीवदया करनेमें अपने चित्तको स्थिर करो प्रासुर भोजन ग्रहण करनेमें यदि अरति उत्पन्न हुई हो तो उसको दूर करो-

इष्टकस्य स्वस्वकालवर्त्येऽपि अहिंसाजतं करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यानं कथयति—

पाणो वि पाहिहरे पचो छुटो वि सुसुमारहृदे ॥

एतेन एकदिवसकृदेण हिंसावधुणेण ॥ ८१२ ॥

अप्येकाहव्यापकेन प्रकृष्टं प्राप्तः पाणः प्रातिहार्यं सुरेभ्यः ॥

एकैतेन प्राणिरक्षान्तेन क्षितः क्रूरोऽनेकनग्नौघमघ्ये ॥ ८११ ॥

परां सपर्यां वदन्ती निरत्यये निवेशयन्ती बुधयाचिते पदे ॥

करोत्यहिंसा जननीच पालिता सुत्वानि सर्वाणि रक्षांसि धुन्वती ॥ ८१२ ॥

इति अहिंसा

विजयोदया —पाणो वि कंडालोऽपि पाहिहरे प्रातिहार्यं पचो प्राप्त । सुसुमाख्ये सिंशुमारकुले नृदे भिक्षि-
सोऽपि । एतेन हिंसावधुणेण एकेनैव अहिंसाव्यतारयेन मुनेन । अल्पकालकदेन अल्पकालकृतेन ॥ अहिंसा ॥

स्वल्पकालतरु पाला जागे पर भी यह अहिंसाव्रत प्राणीपर सहान् उपकार करता है—

अर्ध—सिंशुमार इदनें केने गये चांडालने अल्पकाल तकही अहिंसा व्रतका पालन किया था परंतु वह इस नवके नाहालग्यसे देवोंके द्वारा पूजा गया- इस प्रकार अहिंसा व्रतका वर्णन पूर्ण हुआ-

द्वितीयमतनिरूपणाय उत्तरप्रबंध —

परिहर असंतवयणं सत्त्वं पि चदुच्चिधं पयत्नेण ॥

घर्चं पि संजग्मितो मासादोसेण लिप्पदि हु ॥ ८१३ ॥

सुंचासत्तयं वचः साधो । चतुर्भेदमपि जिघा ॥

संयमं विदधानोऽपि मापादोपेण वाध्यते ॥ ८१३ ॥

विज्ञयोदया—परिद्धर परित्यज । असंख्यपर्यणं असह्य अशोभनं यच्चनं । यत्कर्मनिर्णयनं यच्चस्तदशोभनं । तथा चोक्तं—‘असह्यमिधानमवृत्तं’ ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । इत्यान्तरं हि तत्पुद्गलार्थं, आत्मपरिणामो हि त्याज्यो यो यंचस्य वचस्थितयो निमित्तप्रभूतो मिथ्यात्वमखण्डः कषायो योग इत्येवंप्रकारः । तस्मादसह्यवचनपरिहारोपदेशोऽनुपयोगी कस्याःकृत इति अनोच्यते—असंयमो हि त्रिप्रकारः कृतः कारितोऽनुमतश्च । इयमस्मिन्नखण्डे प्रयत्नयामि ज्ञानेन वचनेन प्रवृत्तं यातुजानामि । इत्यप्रिसंधितरेण वास्य वचनस्वाश्रयसेस्ताद्वचनकारणभूतोऽभिसंधितात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहृत्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न हासति कारणे कार्यमतिपत्तिरित्यसह्यवचनपरिहारोऽनेन कर्मनोपन्यस्त इति स्वयमसह्यकैकेद्वयपरिहारेऽव्यपहतमसह्यनं भवति इत्याशंकां परिहरति सत्यमिति चतुश्चिधमिति तदीयमंदोषन्यास्तः । एवमेवेति । तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । यच्च हि संजंमतो नितरा-मपि संप्रसमाचरयति । तासादोषेण भाषावचनं तन्निमित्तत्वाद्वायोगाख्य आत्मपरिणामो भाग्यशब्देनोच्यते । भाषादुष्टः भाषादोषः । यावदोषेन दुष्टेन निमित्तेन आतं यत्कर्म तेन । लिप्यदि लिप्यत एव संवप्यत एव भाषा । एतेन कर्मबंधमि-मि-सतादोषकथनेन असह्यवचनपरिहारे दाऊनं करोति क्षणकस्य ॥

दुसरे तत्प्रमाणव्रतका नित्यपण करनके लिये आचार्य प्रारंभ करते हैं.

अर्थ—असत्य भाषण का हे क्षणक ! तू त्याग कर क्यों कि वह बंधन का कारण है. तत्त्वार्थोपिगमनें ‘अमदभिधानमवृत्तम्’ इस सूत्रमें यही अभिप्राय कहा है.

शंका—वचन अर्थात् बोलना यह आत्मपरिणाम नहीं है. वह पुद्गल नामक द्रव्यका परिणामन है. जो आत्मपरिणामबंध अथवा बंधस्थितिका निमित्त है वही त्याज्य है. मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योग ये आत्मपरिणाम कर्मबंधके कारण होनेसे त्याज्य है. इस लिये असत्य वचनका परिहार करना, त्याग करना कुछ उपयोगी नहीं है. अतः उसका त्याग करनेका उपदेश क्यों किया?

उत्तर—असंयमके कृत कारित और अनुमत ऐसे तीन प्रकार हैं. इस मनुष्यको इस असंयममें मैं प्रवृत्त करूंगा अथवा वचनके द्वारा स्वयं असंयममें प्रवृत्त हुए इस मनुष्यको मैं अनुमोदन देऊंगा. इस प्रकारके संकल्पके बिना वचनकी प्रवृत्ति होती नहीं. इसवास्ते ऐसे वचनका कारण आत्मपरिणाम ३- यह आत्मपरिणाम कर्मबंध होनेमें कारण है अतः त्याज्य है. इसके त्यागसे इसका कार्यभूत वचन भी त्यागा जाता है. यदि कारण न हो तो कार्यका ज्ञान कैसे हो सकेगा. इस लिये असत्य वचनका त्याग इस क्रमसे आचार्यने दिलाया है.

असत्य वचनके—आचार्यने चार भेद किये हैं. इन सब भेदोंका त्याग हे क्षणक ! तू प्रयत्नसे कर. क्योंकि संयमका आचरण करता हुआ भी प्रति भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है. अर्थात् हुए वचन योगसे जो

कर्मास्रव आता है उससे वह लिप्त होता है, दुष्ट बचन कर्मबंधका' निमित्त होता है इसलिये हे क्षपक तू उसका त्याग कर.

प्रतिज्ञातं चातुर्विध्यमाचष्टे—

पटुमं असंतवयणं संभूद्वत्थस्स होदि पडिसेहो ॥
 णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जघेयमादीयं ॥ ८२४ ॥
 प्रथमं तच्चोऽसत्पं यत् सतः प्रतिपेधनम् ॥
 अकाले मरणं नास्ति नराणामिति यच्च ॥ ८२४ ॥

• विज्ञायेव—पढने परसंतवयणं चातुर्पु आद्यमसद्वचनं संभूद्वत्थस्स होवि पडिसेहो सतोऽर्थस्य प्रतिपेधः । सतां सतो न यजनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः । तस्योदाहरणमाह—णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति एवमाविकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृतिरिति एवमाविकं यजनं । आयुषः क्षितिकालः काल इत्युच्यते । तस्मान्कालादन्यः कालोऽकालः । तस्मिन्काले । ननु न भोगभूमिनराणामनपवर्त्यमानुरतः अकाले मरणं नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति । मरणाद्वत्स्य सामान्यवाचित्वासर्वकैरपिष्यः अकालमरणाभाषोऽयुक्तः केपुचित्कर्मभूमिजेतु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्रायः ।

अर्थ—चार असत्य बचनोंमें पहिला असत्य बचन इस प्रकार समझना चाहिये—अस्तित्वरूप पदार्थका निषेध करना यह प्रथम असत्य बचनका भेद है. जैसे मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है, आयुष्यके सिधति कालको यहाँ काल कहना चाहिये. इस कालसे जो अन्य काल उसको अकाल कहते हैं. अंका—मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है यह कहना सत्यही है क्योंकि भोगभूमिके मनुष्योंका आयुष्य विष यत्नादिसे कम होता ही नहीं अतः उनको अकालमें मरण नहीं है यह कहना योग्यही है. उचर—चर शब्द सामान्यवाची होनेसे संपूर्ण मनुष्योंका वाचक है. इस लिये अकाल मरण नहीं है ऐसा कहना जयोग्य ही है. कितने कर्मभूमिके मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है उसका यहाँ निषेध किया है. अतः अकालमें मनुष्योंको मरण नहीं है यह कहना सत्यपदार्थका—विद्यमान पदार्थका निषेध करनेवाला होनेसे अवश्य असत्यही है.

अहवा सयबुद्धीए पडिसेघो सेत्तकालमावेहि ॥
 अविचारिय पत्थि इहु घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२५ ॥
 कलओउत्तीति यदुभूते द्रव्यादीनां चतुष्टयम् ॥
 अपर्यालोच्य यत्प्रोक्तमभूतोद्भावंकं त्रिभिः ॥ ८३६ ॥

विज्ञयोदयाः—अथवा विज्ञानबुद्धीए पडिसेघे सेत्तकालमावेहि अविचारिय भावमिति दोषः । स्वपुद्गला देश-
 कालनवैराग्यमविचार्यमाणं अत्र नास्ति इदानीं न विचिन्ते । शुफलक्षणरूपो न वेत्तानिरूप्य घटस्य भाग इत्थं अनेन-
 प्रकरणेण पत्थि इहो जह एवमादीयं नास्ति घट इत्येवमादिषु । ततो घटस्य अविशेषेण असेतयत्वनं असङ्ख्यानमित्युदाह-
 रणान्तर्गमिदं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाग इन अपेक्षाओंसे विचार न कर यहाँ घटा नहीं है. इत्यादि
 रूप वचन अपनी बुद्धीसे कह देना. अभिप्राय यह है कि किसी अपेक्षासे घटकी सत्ता होने पर भी घट सर्वथा
 नहीं है ऐसा कहना यह भी असत्य वचन ही है. जैसे काल घट नहीं है परंतु घरमें यदि श्वेतघट है तो घट है
 ही नहीं ऐसा कहना कैसा योग्य होगा? अपेक्षासे एक क्षेत्रमें घट न होगा. तो दूसरे क्षेत्रमें उसका सङ्भाव
 होगा. परंतु स्वक्षेत्र परक्षेत्रका विचार न करके एकदम घट है ही नहीं ऐसा कहना असत्य ही है. वह
 अपने स्वरूपमें रहता है परंतु स्वरूपकी अपेक्षासे भी नहीं है ऐसा कहना. यह असत्य है. भूतकालकी
 अपेक्षासे कोई घट न होनेपर वर्तमान कालकी अपेक्षासे भी उसकी सत्ता नहीं मानना यह कालकी अपेक्षासे
 निषेध करना है इत्यधिक पहिले असत्य के उदाहरण हैं.

जं असमदुब्भाक्वणमेदं विदियं असंतवयणं तु ॥

अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२६ ॥

द्वितीयं तद्वचोऽस्त्यमभूतोद्भावंकं मतम् ॥

अस्त्यकाले सुराणां च मृत्युरित्येवमादि यत् ॥ ८३६ ॥

विजयोद्या—अथसधुत्तमवर्णमेदं विविधं असंतवयणं तु । यदसदुद्गाढं द्वितीयं असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तरं । अथि घुराणमकाले गच्छति जहेवमादीयं । घुराणमकाले मृत्युस्तीत्येवमादिकं यथा वससेव्य अकालमरणमनेनोच्यते इति सद्बचनम् ॥

॥यं—जो नहीं है उसको है कहना यह असत्य वचनका दूसरा भेद है जैसे 'देवोंको अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा आगम कहता है परंतु देवों को अकाल मृत्यु है ऐसा कहना- इत्यादि रूप असत्यका दूसरा प्रकार है-

अहवा जं उच्चावेदि असंतं खेत्तकालमावेहिं ॥

अविधारिय अत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२७ ॥

विजयोद्या—अथवा जं उच्चावेदि यद्बचनं उद्गावयति । असंतं घटं । कथमसंतं? खेत्तकालमावेहिं क्षेत्रांतर-संवधित्वेन संतं इदंलं घटं कालांतरसंव्ययेन अतीते अनामने ॥ असंतं मायांतरसंवधित्वेन कृष्णतयादिता संतं । अविधारिय अपिचार्य इयं सदा शशमखत् इति अस्ति घट इत्येवमादिकं संध्यादित्यमलक्षययतीति असद्वचनं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य क्षेत्रकालांतरसे घट न होने पर भी बिना विचारके सर्व द्रव्यक्षेत्रकालोपेक्षया घट है ऐसा कहना यह दूसरा उदाहरण है- जैसे एक कोठरीमें घट है परंतु दूसरे कोठरीमें न होनेपर भी दूसरे कोठरीमें है ऐसा कहना- संफल घट है परंतु कालाभी है ऐसा कहना- पर रूपसे घट नहीं रहता है परंतु उसके स्वरूपसे भी वह है ऐसा कहना- वर्तमानकालमेंही घट की सचा होनेपरभी भूतकालमें भी था ऐसा कहना यह सब असत्यके दूसरे प्रकारके उदाहरण है ।

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं ॥

अविचारित्ता गोणं असोत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२८ ॥

तृतीयं तद्वचोऽस्त्यं यदनालोच्य भाषते ॥

पदार्थमन्यजातीयं गौर्वाजीत्येवमादिकम् ॥ ८२७ ॥

विजयोद्या—तदियं असंतवयणं तृतीयमसद्बचनं । संतं जं कुणदि अण्णजादीयं सचत्करोति अन्यजा-तीयं । अविचारित्ता गोणं असोत्ति जहेवमादीयं । अथमित्येवमादिकं । संतो यतीवर्हत्वात् अथत्वं असत्तस्य वचनं ।

अर्थ—एक जातीके सत्पदार्थ को अन्य जातीका सत्पदार्थ कहना यह असत्यका तीसरा भेद है। जैसे वेल है इसका विचार न कर यहां भोटा है ऐसा कहना- यह कहना विपरीत सत् पदार्थका प्रतिपादन करनेसे असत्य है।

अतुर्थमसहचरमाचष्टे—

जे वा गरहिद्वयणं जे वा सावज्जसंजुदं वयणं ॥

जे वा अपियवयणं असत्त्ववयणं चउत्तं च ॥ ८२९ ॥

सावयं गहितं चाकयमग्रियं च मनीषिभिः ॥

त्रिप्रकारमिति प्रोक्तं तुरीयकमसूतृतम् ॥ ८३० ॥

विजयोद्या—जे वा गरहिद्वयणं यद्वा गहितं वचनं । जे वा सावज्जसंजुदं वयणं । यद्वा सावयं संजुदं वचनं । जे वा अपियवयणं यद्वा असत्त्ववचनं । तत् चउत्तं वचनं असत्त्ववयणं असत्त्ववचनं ॥

असत्यका चौथा प्रकार कहने हैं—

अर्थ—जो नियमबन बोलना, जो भाषयुक्त वचन बोलना और जो अग्रियवचन बोलना वह सब सच चौथे प्रकारका असत्य वचन है।

तेषु वचनेषु गहितवचनमाचष्टे—

कक्करसवयणं णिद्धुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ॥

जे किंचि त्रिप्पलानं गरहिद्वयणं सभासेण ॥ ८३० ॥

कर्कशं निष्ठुरं हास्यं परुषं पिशुनं वचः ॥

रूपर्यापरमसंबंधं गार्हत्तं सकलं मतम् ॥ ८३१ ॥

चित्राचोद्या—कक्करसवयणं कर्कशावयनं भाष्यं सभर्तवचनमिति केचिद्वक्तव्ये असत्यमिति । णिद्धुरवयणं निष्ठुरवचनं । पेसुण्णहासवयणं च गरदोषस्त्रयवर्तकं वचनं । पेसुण्णवचनं हासवचनं वचनं । जे किंचि त्रिप्पलानं यत्किंचिदप्रलपनं च मुञ्जस्तथा । गरहिद्वयणं गहितवचनं । सभासेण संक्षेपेण ॥

अर्थ—कर्मशवचन-गर्बयुक्त भाषण को कर्मशवचन कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं- कोई शूद्र-वचनको कर्मशवचन कहते हैं- निम्नतर भाषण दूसरोंके दोष दिखानेवाला वचन, उपहासका वचन जो कुछ भी बड़-बड़ करना अर्थात् वाचाल होकर चाहे जैसा बोलना यह सब संक्षेपसे गृहित वचन ही है-

सावद्यवचनं निरूपयति—

जसो पाणवधादी दोसा जायति सावज्जवयणं च ॥

अविचारित्ता श्रेणं श्रेणस्ति जहेवमादीयं ॥ ८३१ ॥

प्राणिघाताद्यो दोषाः प्रवर्तन्ते यनोऽव्विलाः ॥

सावद्यं तद्वच्चो ज्ञेयं पव्विवधरंभवर्णकम् ॥ ८४० ॥

विजयोदया—जसो पाणवधादी दोसा जायतीति यस्माद्वचनाद्धेतोः प्राणवधाद्यो दोषा जायन्ते । सावज्ज-वयणं तं सावद्यं वचनं सत् दुष्टिनीं क्तम् । महिचर्यं पीतोदकां पयसा मपूरय, प्रसूताभि उच्चिदु । इत्येवमादिकानि अधिखा-रित्ता अपिचार्य किमेवं वस्तुं युक्तं ममेति । अथवा योगोऽनेन वचसा नयेति अपरीक्ष्य चौरं दौरोयानिति कथनं ।

अर्थ—जिस भाषणसे प्राणिहिंसा वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा भाषण बोलना उसको सावद्य वचन कहते हैं- जैसे इस जमीनको खोदो, इस मेसने पानी पिया है अब इसको पानीसे घो दालो- पुष्प तोड़ो- इत्या-दिक वचनोंको सावद्य भाषण कहते हैं- भेरा बोलना योग्य है या नहीं इसका विचार न करके अथवा ऐसे भाषण सद्योप हैं या निर्दोष हैं कुछ विचार न करके परीक्षाके बिनाही कह देना यह सब सावद्य वचन है- जैसे चोरको यह चौर है ऐसा कहना-

परसं कटुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ ॥

उत्तासणं च हीलणमपियवयणं समासेण ॥ ८३२ ॥

हासभयलोहकोहपदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ॥

एवं असंतवयणं परिहृत्तिद्वयं विसेसेण ॥ ८३३ ॥

अचञ्छाकारणं चैरकलहद्रासवङ्ककम् ॥

अग्रज्यं कटुकं श्रेयसप्रियं वचनं चुषैः ॥ ८४१ ॥

रागद्वेषमदकोयलोभमोहादिसंभवं ॥

वित्तभं वचनं हेयं संयतेन विक्षेपतः ॥ ८४२ ॥

विजयेत्या—द्रासगय—द्वार्येन, भोगेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रदोषेणेत्येवमादिना कारणेन । एवं असंतवयणं एतद-
मवचनं स्वया गतेन प्रयत्नेन । परिहृतिद्वयं परिश्रमेन । विमेतस्य विक्षेपण ॥

अर्थ—मर्मल्लेद करनेवाले भाषणको पस्य करते हैं जैसे तू अनेक दोषोंसे दुष्ट है, मनको उद्धिग करने-
वाली भाषाको तू भाषा कहते हैं जैसे तू निय जस्तीमें पैदा हुआ है, मूर्ध्म रहित गार्पी है, इत्यादि, चैर उत्पन्न
करनेवाला भाषण जैसे न गया है, तेरेको कुछ भी ज्ञान नहीं है, तेरे समान मूल्य इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है,
इत्यादि निमनं कलह हो जाता है यह कलहश्चारी वचन कहते हैं, मनको द्राग पोहोचिमा क्लेश होमा यह वचन
उपमानकर है, दूसरोंकी अवज्ञा करनेवाले शब्द बोलना यह हीलन वचन है, जैसे तुमको विचार हो, इस तरह
अप्रिय वचनका संक्षेपण उर्णन किया, हास्य, भ्रीति, लोग, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणोंसे जो असत्य भाषण किया
जाता है हे क्षपण! उसका तू प्रयत्नसे विक्षेप त्याग कर-

एवमसंश्लेषां परिहार्यमुपदिश्य सत्यमनलक्षणमुक्तामवचनलक्षणतया दर्शयति—

तत्त्विवरीदं सत्त्वं कञ्जे काले मिदं सविसृ य ॥

भत्तादिकहारीदियं भणहि तं चेव सुयणाहि ॥ ८३४ ॥

विपरीनं ततः सत्यं काले कार्ये मितं कृतम् ॥

निर्भयतादिकथं दृढि तदेव वचनं शृणु ॥ ८३५ ॥

पिजयोद्या—वदिवरीदं मतद्वजन विपरीतं । सत्त्वं सत्यं भणहि भण । कञ्जे कार्ये ज्ञानाचारिणादि
विशयलक्षणे । भत्तं वमपट्टिरे परस्य या वमगार्गन्यायनाकरे काले । अमदय नदीनां कालादन्यः काल इत्यकालशब्दे-
नोच्यते । अथवा कालताम्रं प्रस्ताव उच्यते । मिदं परिमितं वचनं । सनित्तम् य मयतो ज्ञानस्य विषये प्रपुष्टं वचनं ।
भणहि भण । भत्तादिकयारीदियं भणहि तं चेव य सुणाहि भक्त्योग्दीराजकयादिरहितं । तं चेव य तथाभूतमेव

वचन सुणाहि शुणु । अयमयोग्य न प्रवीति एतावता सत्यमत यातिविति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मयोगो महाति निति भाव ।

असत्य भाषणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्यने उपदेशकिया अत्र मत्पयवचनका स्वरूप कहते हैं

अर्थ—असत्य भाषणके खितने प्रकार ऊपर कहे हैं उनके निरुद्ध जो जो भाषण हैं वह २ हे क्षपक ! तुम बोलो ज्ञान, चारित्र्यादिकों का उपदेश देनेवाला, असत्यमसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनों को सदमर्मों स्थिर करनेवाला ऐसा भाषण हे क्षपक ! तुम बोलो सामागिक, प्रतिक्रमण, वेदना, स्तुति वगैरह आश्रयकों के कालके सिवाय अन्य समयको यहा काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भाषण को चहा सत्यभाषण कहते हैं ऐसा सत्य भाषण हे क्षपक ! तू मितही बोल वह भाषण भक्तकथा, राजकथा चौर कथा वगैरह विकथाओंसे वर्जित होना चाहिये ऐसा भाषण तू बोल और अन्यका भी निकथाग्रजित भाषण सुन यह वक्ता अयोग्य गोलता नहीं है एतानता इसने सत्यप्रत पाला है ऐसा तू मत समझ दूसरेका असद्भाषण सुननेपरभी मनमें अहम् संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मपथ होगा है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भाषण हे क्षपक ! तू मत सुन

सत्यवचनगुण हृदयनिर्वाण रवाण्यति गाकोसरा स्पष्टा—

जलचंदनससिमुत्ताचंदमणी तह गारस्स णिव्वाणं ॥

ण करसि कुणइ जह अत्थउजुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य वदनं चद्रचद्रकातमणिर्जलम् ॥

न तथा कुस्ते सौरूप वचनं मधुर यथा ॥ ८३६ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवचन—

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि में पदार्थ लोगोंको उतना आनंद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं खितना आनंद अर्पयुक्त, हितकर और मधुर भाषण उत्पन्न करता है अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंमें भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनंद देता है

न सत्यमित्येतावतो यत्नं यच्छब्दं, सत्यमेव सदेव यच्छब्दमेव चेति प्रवीति—

अण्णस्स अप्पणो वा विधम्मिए विद्वन्तए कज्जे ॥

जं अ पुच्छिज्जंतो अण्णोहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ॥

स्यमपृष्टो वसान्यत्र पृष्ठ एयं सदा वद ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—अपणह्य अपणो षापि दाम्यह्य धातमो वा घामिककार्ये विनश्यति सति शयुष्टोऽपि मृति ।
 अनतियातिनि कार्ये पृष्ट एव यत् नापृष्टः ॥

जो सत्य है वह सोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिओंका कल्याण करता है वह भाषण सोलना चाहिए यही अभिप्राय आगेकी साधार्थ कहा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य तब होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे हि शेलना चाहिये। यदि कार्य बिनाशका प्रसंग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोला, नहीं पूछेगा तो शेलना नहीं।

सञ्चं वदन्ति रिसओ रिसहिं बिहिदाउ सञ्च विञ्जाओ ॥

मिच्छुस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सम्भवादिस्स ॥ ८३७ ॥

शर्दन्ति ऋषयः सत्यं यद्विद्या निखिलाः कृताः ॥

तन्मलेच्छस्यपि सिद्ध्यन्ति सर्वदा सत्पथादिनः ॥ ८४६ ॥

विजयोद्या--सत्त्वं वर्द्धति रिसो सत्यं वर्द्धति यतयः । रिसीहे विद्धिदाओ यतयेविद्धिताः सधविद्धाः ।
मिच्छुस्सवि म्मेच्छुस्सपि सिन्धति सिधयन्ति । विज्जाओ विधाः । सधवादिस्स सत्थयदिनः ॥

अर्थ—रूपिण सत्यभाषण करते हैं-ऋषिर्णे सर्व विद्यायें उत्पन्न की हैं, जो सत्यवादी हैं ऐसे म्लेच्छ को भी विद्यायें सिद्ध होती हैं.

अर्थ—एकदफे ही बौला हुआ असत्य भाषण अनेक ॥ बोलें हुए सत्यभाषणोंका संहार करता है—
असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें द्रुता है. शंकायुक्त रहता है. मेरा असत्यभाषण यदि गूढ होगा तो मेरा नाश
होना ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है.

अप्यदृचंओ अकिंत्ती भंमारदिकलह्वेरमयसोगा ॥

बधबंधभेदणा सन्ने मोसमि सणिहिडा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो मयं वैरमकीर्तिभरणं कलिः ॥

विभावो मत्सरः शोकः सर्वेऽसत्यस्य बांधवाः ॥ ८५७ ॥

आशासरसनाछेवसर्वस्वरणादयः ॥

इहोसत्येन लभ्यंते परत्र नरकायनिः ॥ ८५८ ॥

विजयोद्गा—अप्यदृचो अग्रयः । अकीर्तिः, संक्षेपाः, भयनिः, कलहो, वैर, भयं, शोकः, बधः, बंधः,
स्वजनभेदः, धननाशोऽस्यमी बोधः । सकिहिता नृगपजने ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, संक्षेपपरिणाम, तिरस्कार, कलह, वैर, मय, शोक, बध, बंध, स्वजनमें घृष्ट,
और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापस्तागमदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ॥

त्तिदपूण अपायो वि हु मोसेण गदो वस्स णिरयं ॥ ८४९ ॥

कालिलस्पासचद्धारं चितथं कथितं तिनैः ॥

निष्पापो हि वसुस्तेन श्रितेन नरकगतः ॥ ८५९ ॥

विजयोद्गा—पापस्यागमदारमिति वदत्यस्य जिंदाः । इदं अपायोऽपि मृगामात्रेण वसुस्तेन नरकं
इत्याल्लयानकं वाच्यं ।

अर्थ—भिन्नैर् भगवान् असत्य भाषण पाप कर्मके आसव दस्तावेके समान हैं ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापाश्रयका कारण है. इदयमें पापरहित वसु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया.

परलोगमि वि दोस्ता ते चेव हवंति अलियवादिस्स ॥

भोसादीए दोसे जेचेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्यवादिनो दोषाः परत्रापि भवन्ति ते ॥

सुचतोंअपि प्रयत्नेन मृषाभाषाविदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोगमि नि दोसा परयेअपि दोयास्स एव अपत्ययात्थ एव भवंयलीकवादिनः। यलोनापि परिहरताः किं मोसादिगे दोसे चुपादिकादोयाव । मृषा आदिर्वेण स्तेवाम्मखवटिप्रदाणां ते मुपादियः । अतद्गुणसं-
दियामनयुग्मीविरच प्राहाः । स्तेयविदोयान्निहरतोऽपित्यर्थः ॥

अर्थ—असत्य बोलनेवाले पुरुषको अविधात योंपर दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं. असत्य भाषण बोरी मैथुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुरुष कर्तो है ऐसा माना जाता है. परलोकमें बड़े प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है.

भवतु नाम अमयवत्याधिका मृगयादस्य दोषाः कर्कशावचनादिना परम्ये वाच के दोषा इत्यत्राद्ये—

इहलोहय परलोइय दोसा अे होति अलियवयणस्स ॥

कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादब्बा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःखविघायिनः ॥

त एव कथिता जैनैः सकटाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोगिण दोसा अस्मिन्नयमि परत्र च ये दोषा भवंति बलीक-नदिनः । कर्कशावचनादीनामपि त एव दोषा इति प्रतज्या ॥

असत्यवचन बोलनेमें अविधात वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परंतु कर्कशावचनादिकसे परमवर्गे अथवा इस भवमें कौनसे दोष उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

वचनं सुणादि ध्रुव । अयमयोष्यं न त्रीति एतावता सत्यवतं पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं श्रुत्वतो मनोऽश्रुभतया च कर्मक्षेत्रे मदानिति भावः ।

असत्य भाषणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्यने उपदेशकिया अब सत्यवचनका स्वरूप कहते हैं-
अर्थ—असत्य भाषणके जितने प्रकार ऊपर फटें हैं उनके विरुद्ध जो जो भाषण है वह २ हे क्षपक ! तुम चोली, ज्ञान, चारित्र्यादिकों का उपदेश देनेवाला, असत्यसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनोंको सदमर्म स्थिर करनेवाला ऐसा भाषण हे क्षपक ! तुम चोली, सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यकों के कालके सिद्धाय अन्य समयको यहाँ काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भाषणको यहाँ सत्यभाषण कहते हैं, ऐसा सत्य भाषण हे क्षपक ! तू भितही बोल, वह भाषण भक्तकथा, राजकथा चौर कथा वगैरह विकथाओंसे वर्जित होना चाहिये, ऐसा भाषण तू बोल और अन्यका भी विकथायोजित भाषण सुन, यह बतता अयोग्य बोलता नहीं है एतावता हमने सत्यवत पाला है ऐसा तू मत समझ, दूसरेका असद्भाषण सुननेपरभी मतमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मबंध होता है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भाषण हे क्षपक ! तू मत सुन.

सत्यवचनमुनि हृदयनिर्वाणं श्यामयति गाथोक्तता स्पष्टा—

जलचंदनससिसुत्ताचंदमणी तह परत्स शिब्बाणं ॥

ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य चंदनं चंद्रचंद्रकातमणिर्जलम् ॥

न तथा कुरुते सौख्यं वचनं मधुरं यथा ॥ ८३४ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवचन—

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि ये पदार्थ लोगोंको उतना आनंद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं जितना आनंद अर्घ्युक्त, हितकर और मधुर भाषण उत्पन्न करता है, अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंमें भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनंद देता है.

अण्णास्स अण्णो वा विधम्मिए विहवंतए कज्जे ॥

जं अ पुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा घर्मकृत्ये विनश्यति ॥

त्वमपृष्टो वदान्यत्र पृष्ट एवं सदा वद ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—अण्णइय अण्णो वापि अन्यइय आत्मनो वा धार्मिककार्ये विनश्यति सति अपुष्टोऽपि ग्रहि ।
क्षमतिपतिनि कार्ये पृष्ट एव वद मापृष्ट ॥

जो सत्य है पर बोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिजोंका कल्याण करता है वह
भाषण बोलना चाहिए वही अभिप्राय ओवेकी माथामें रखा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे ही बोलना चाहिये
यदि कार्य बिनाशका प्रसंग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो, नहीं पूछेगा तो बोलना नहीं-

सत्त्वं वर्दति रिसओ रिसीहिं विहिवाउ सच्च विज्जाओ ॥

मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवाविस्स ॥ ८३७ ॥

गदंति नपयः सत्त्वं चद्विया निखिळाः कुताः ॥

तन्मलेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वथा सत्पथादिनः ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—सत्त्वं वर्दति रिसओ सत्त्वं वर्दति यतयः । रिसीहिं विहिवाओ अविभिर्बंदिताः सर्वंविधा ।
मिच्छस्सपि म्लेच्छस्सपि सिज्झंति सिध्यन्ति । विज्जाओ विद्याः । सच्चवाविस्स सत्त्ववादिनः ॥

अर्थ—आपिण सत्यभाषण करते हैं, ऋषियोंने सर्व विद्याये उत्पन्न की हैं, जो सत्यवादी हैं ऐसे
म्लेच्छ को भी विद्यायें सिद्ध होती हैं-

ण उहृदि अग्नी मन्वेण णरं जलं च तं ण वुड्ढेइ ॥
 सत्त्ववलिंयं खु पुरिसं ण वहृदि तिक्खा गिरिण्दी वि ॥ ८२८ ॥
 दघाते न हुताओन न निमज्जति वारिणि ॥
 ग्रन्थः सत्त्ववलोपेतो नरो नवापि नोद्यते ॥ ८४७ ॥

विजयोदगा—ण उहृदि अग्नी परं ण दृष्ट्यादि सत्त्वेन वरं । जलं च तप्तं धुंरेडि अहं च तप्तं निमज्जयति ।
 मन्त्रवन्त्रियं मायमेव इति सत्त्ववलिंयं तं न पृथगिति नारुयति । तिस्र्या गिरिण्दीवि तीजयेना गिरिण्यपि ॥

अर्थ—सत्त्ववादी को अग्नि जलाता नहीं पानी उसको डुबोनेमें असमर्थ होता है. सत्त्वभाषण ही जि-
 नका चालार्थ है ऐसे मनुष्य को चढे वेगसे परितपस्से झूढ़नेवाली नदी भी नहीं बहा सकती है.

सत्त्वेण देवदावो णवन्ति पुरिसस्म ठन्ति य वसम्मि ॥
 सत्त्वेण य गहगहिदं मौण्डु करेति रक्खं च ॥ ८५९ ॥
 यदथा भवन्ति सत्त्वेन देवताः प्रणमन्ति च ॥
 विभोचयन्ति सत्त्वेन ग्रहतः पांति च स्फुटम् ॥ ८६८ ॥

विजयोदगा—सत्त्वेण देवदावो णवन्ति सत्त्वेण देवता नमस्सन्ति । पुरिसस्म ठन्ति य वसन्तिम पुरुषस्य च यदो
 सिष्ठति । गहगहिदं सत्त्वेण मोपद विद्याचग्रहणं मोचयति सत्त्वेन । करेति सत्त्वेण रक्खं च कुर्वन्ति सत्त्वेन द्रष्टुं दिशन्ति ॥

अर्थ—सत्त्वने देवतायें सत्त्ववादी को वंदन करती हैं. और उसके वज्र होती होती हैं. सत्त्वके
 प्रभावमें पिशाच भाग जाता है. और सत्त्वके प्रभावमें देवतायें रक्षण करती हैं. अर्थात् सत्त्ववादीपर आपे हुयं
 नंरुट दूर रहती हैं.

माया न होइ विस्सस्सणिज्ज पुज्जो गुरुज्ज लोगस्स ॥
 पुरिसो इह सत्त्ववादी होदि नु सणियल्लओज्ज पिओ ॥ ८४० ॥

नरो मानेव विश्वास्यः पूज्यो गुरुविवर्जिते ॥
सत्यवादी प्रियो नित्यं स्वबंधुरिव जायते ॥ ८१९ ॥

विजयोदया—आदाय होति विस्वस्तकिल्ल मातेव भवति विश्वसनीयः । पूज्यो गुरुः लोभस्य पूज्यो गुरु-
चतुःकल । क. सत्यवादी पुरितो सत्यवादी गुरुः । प्रियो ह्येति तथियद्वयोव प्रियो भवति गुरुप्रिय ॥

अर्थ—सत्यवादी के ऊपर लोक माताके समान विश्वास रखते हैं. सत्यवादी लोक गुरुके समान
पूज्य समझे जाते हैं. सत्यवादी मनुष्य स्वजनके समान लोकोको प्रिय होता है.

सत्त्वं अयमवदोसं धुत्तूण जणस्त मज्झयारम्मि ॥

पीदि पावदि परमं जसं च जगविसुदं लहइ ॥ ८४१ ॥

भाषमाणो नरः सत्त्वं लभते प्रतिमुत्तमाम् ॥

धुधानंक्करिं कीर्तिं शक्षांकरसुंदराम् ॥ ८४० ॥

विजयोदया—सत्त्वं धुत्तूण सत्यवचनमुपलब्धता । कीदृशमूलं? भगवद्वोसं शेररहितं । क? जणस्त मज्झयारम्मि
जननये । पीदि पावदि परमां प्रीतिं प्राप्नोति पत्तं । जसं लहइ यथाय लभते । जगविसुदं जगति विभुतं ॥

अर्थ—दीपराहित सत्यभाषण लोक सधुदायमें बोलनेसे मनुष्य उत्कृष्ट आदरको प्राप्त होता है. और
जगतमें उसका बल प्रसिद्ध होता है.

सत्त्वमि तवो सत्त्वमि संजमो तह वसे सया वि गुणा ॥

सत्त्वं निर्वधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छणं ॥ ८४२ ॥

गुणानामालयः सत्यं मत्स्यानामिव नीरधिः ॥

प्रमाणमस्ति सत्येन वर्जितोऽपि गुणैः परैः ॥ ८५१ ॥

विजयोदया—सत्त्वमि तवो सत्त्वमि संजमो सत्यापारो तप-संयमौ, लेपाश्च गुणः । सत्त्वं निर्वधणं गुणाणं
तस्य गुणानां निर्वधणं । सत्त्वं मच्छाण जगदीव सत्यं मत्स्यानामुदधिरेव ॥ -

अर्थ—सत्यके आश्रयसे तप और संयमकी वृद्धि होती है. इस सत्यका आधार पाकर ही सर्वगुण अपनी वृद्धि कर सकते हैं. समुद्र जैसे मच्छोंका आश्रयस्थान है वैसे संपूर्ण गुणोंको सत्य आश्रय स्थान है.

सत्त्वेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ॥

अदिसंजदो य मोसे ण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥ ८४१ ॥

संपचंते गुणाः सस्ये संयमो नियमस्तपः ॥

संयमोऽपि मृषावादी जायते तृणतो लघुः ॥ ८५२ ॥

विलयोरपि सतां मध्ये तृणवद्गुणवत्सि मृषावचनेनेति तात्पर्यार्थः ॥
संयतोऽपि सतां मध्ये तृणवद्गुणवत्सि मृषावचनेनेति तात्पर्यार्थः ॥

अर्थ—पुरुषमें सत्यके सिवाय अन्य गुण न होनेपर भी सत्यगुणसे ही वह प्रमाण माना जाता है. महान संयमी बुनि भी सरपुरुषोंके समुदायमें असत्य कचन घोलनेसे तृणके समान तुच्छ होजाता है.

होहु सिंहडी व जह्मी मुंडो वा णग्गओ व चीवरचरो ॥

जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥ ८४४ ॥

मुंडो जदो चित्थी नमग्गीचरी जायतां नरः ॥

विंबयनाखिला सारस्य वितथं यदि भाषते ॥ ८५१ ॥

विलयोरपि—होहु सिंहडी मन्वत् नाम खिलावान् । जह्मी मुंडो वा । नमग्गीचरचरो वा यत्पत्नीकं वदति तस्य ॥ सार्थो विलंबना ॥

अर्थ—भटुप्प शिल्पा रत्नेनेवाला हो, जदा धारण करनेवाला हो, मुंडन करनेवाला वग्न अथवा चीवरधारी, हो, यदि वह असत्य घोलता है तो वह सर्व उसकी विटंबनाही समझनी चाहिये.

जह परमणस्स त्रिसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा ॥

तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसव्वं ॥ ८४५ ॥

कालकूटं यथास्तस्य यौवनस्य यथा जरा ॥
शुणानां चिद्धि सर्वेषां नाशकं वितथं तथा ॥ ८५४ ॥

विजयोद्या—जह परमपणस्स यथा परमावस्य विनाशकं विथं । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जामीहि
अहिंसादिशुणानां विनाशकं असत्ये ॥

अर्थ—जैसे उरकट अमृतोषम अन्नको विष नष्ट कर देता है, वद्वारस्या तारुण्यको नष्ट करती है वैसे यह
असत्य भाषण अहिंसादि शुणोंको नष्ट करती है.

मादाए सि य वेसो पुरिसो अलिण्ण होइ इक्केण ॥
किं पुण अवसेसानं ण होइ अलिण्ण सत्तुन्व ॥ ८४५ ॥

समातुरप्पविद्वाभ्यो यथाभाषणलालसः ॥
क्षेपाणां किमु लोकाणां न शत्रुरिव जायते ॥ ८५५ ॥

विजयोद्या—मादाए सि य मातुरप्पविद्वाभ्यो अवस्यलोकेण एकेण पुरुषेण । क्षेपाणां पुनर्न किं भवेत्कलिकेन
शत्रुरिव ॥

अर्थ—शूठ बोलनेवाले भनुष्यपर माता श्री विश्वास नहीं रखती है, फिर इस एक असत्य भाषणरूपी
द्वेषसे अन्य लोक उसको शत्रुसमान क्यों नहीं गिनेंगे.

अलियं स किं पि मणिः घाद कुण्णि बहुगण सव्वाणं ॥
अविसंकिदो य सयनमि द्वाः अलियभासणो पुरिसो ॥ ८४७ ॥

एकेनासत्यवाक्येन सत्त्वं ऽपि हन्धते ॥

सर्वत्र जायते नित्यं झञ्जिते ऽत्यभाषकः ॥ ८५६ ॥

विजयोद्या—अलियं स किं पि मणियं सव्वप्यु १ सत्त्वानि बहूनि नादायति । अलीकवादी पुरयः
स्यमपि शंजितो भवति कित्तरां ॥

अर्थ—एकदफे ही गैला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोलें हुए सत्यभाषणोंका महार करता हैं असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें डरवा है योकायुक्त रहता है मेरा असत्यभाषण यदि प्रकट होया तो मेरा नाश होना ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है

अण्वचो अकिची भंभारदिकलहेवरभ्यसोगा ॥

वधवंधमेवणाणा सन्ने मोसमि सणिहिडा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो भयं चैरभकीर्तिमरणं कलिः ॥

विपादो मत्सरः शोक सर्वेऽस्त्यस्य बांधवा ॥ ८४७ ॥

आयासरसनाछेदस्वर्हृणाद्य ॥

इरासत्येन लभ्यते परत्र नरकाचनिः ॥ ८५८ ॥

विजयोदया—अपत्ये अग्रत्ये । अनीति, लक्ष्म, अरति कलहो, वैर, भय, शोक, वधो, उध, स्वजनमेव, धत्ताशब्देत्यमी दोषा समिहिता नृगवजने ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, महोदधपरिणाम, तिरस्कार, कलह, वैर, भय, शोक, वध, उध, स्वजनमें फूट, और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापरसागमदारं असत्त्ववयणं भणति हु जिणिवा ॥

द्विदण अपावो वि हु मोसेण गदो वत्तु णिरयं ॥ ८४९ ॥

कलिलस्यासन्नद्वारं वित्तं रुधितं जिने ॥

निष्पापो हि यस्तुत्तेन अत्रितेन नरकंगत ॥ ८५० ॥

विजयोदया—पापस्यागमद्वारमिति वदत्वसत्य जिनेन्द्र । इत्य अपापोऽपि मृषामात्रेण वसुगते नरक इत्याख्यातक वाक्य ।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान असत्य भाषण पाप कर्मके आसन्न दरवाजेके समान है ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापात्मकता कारण है. इदयमे पापसहित वस्तु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया.

परलोभमि वि दोस्ता ते चेव ह्वंति अलियवादिस्स ॥

मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्यवादिनो दोषाः परचापि भवन्ति ते ॥

मुंचतोऽपि प्रपत्तेन मृषाभाषाविदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोभमि वि दोसा परभवेऽपि दोषास्त एव भयस्त्रयस्य एव भयस्त्रयीरुवादिताः। यत्तेनापि पटिहत्ता । किं ? मोसादिमे दोसे दूषादिकान्दोषात् । मृषा आदिषोऽपि स्तेषामाहापरिग्रहाणां ते मृषादयः । भयस्त्रयल्ले-
खिनामवज्जुमीदिरत्र ग्राह्य । स्तेषादिषोषात्पटिहत्तोऽपीत्यर्थः ॥

अर्थ—असत्य दोहनेवाले पुरुषको अविश्वास वगैरे दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं. असत्य भाषण चोरी मेधुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुण्य कर्तो है ऐसा माना जाता है. परजन्ममें घटे प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है.

अथतु नाम भयस्ययस्यादिका मृषाभाषावस्य दोषाः कर्कशवचनादिता परभवे इह वाच के दोषा इत्यत्राचष्टे—

इहलोइय परलोइय दोसा जे ह्वंति अलियघयणस्स ॥

कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव नादब्बा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःस्वविधायिनः ॥

त एव कथिता जैनैः सकलाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोमिय दोसा बलिखुम्मनि परत्र च ये दोषा मवन्ति अलीरुवादिताः । कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति दातव्या ॥

अदरयवचन चोलनेसे अविश्वास वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परंतु कर्कशवचनादिकसे परभवसे अथवा इस भयसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अमल चोलनेसे इहपर लोकमें जो दोष उत्पन्न होते हैं वे ही दोष कर्मवचनदिकसे भी उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना चाहिये-

उपसद्धारगाथा—

एदेसि दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिवविदोसे ॥

परिहरमाणो साधू तत्त्विवरीदे य लभदि गुणे ॥ ८५२ ॥

असत्यमोषिणो दोषा मुंचति सकला उमे ॥

तद्विपक्षा गुणाः सर्वे लभ्यन्ते वुषप्रलिताः ॥ ८६२ ॥

अवमयविषयनचित्तधिमोषी निरुपमसुम्बकरजिनमतरोचो ॥

परमं वचयति कलिलमशेषं यथायति मुनिमुत्तवचनविशेषम् ॥ ८६३ ॥

इति सत्यम् ॥

विजयोदया—एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्को भयति व्यलीक्यदिपत्रने दोषान्य परिहरवि साधु । लभदि तत्त्विवरीदे तेनापि दोषप्रतिपक्षभूतामल्यथितावादिगुणान् । प्रलय', कीर्ति', असह्येरा, रति', कलहराभाव', निर्भयतादिकम् ॥ तस्य ॥

उपसद्धार गाथा—

अर्थ—असत्य मापण, कर्मशादिभाषणोक्ते दोषोंका जो त्याग करता है वह पुरुष इन दोषोंके प्रतिपक्षरूपी गुणोंकी प्राप्ति कर लेता है. अर्थात् जगमें निश्चात, कीर्ति, असंश्लेश, कलहका अभाव, निर्भयता यैराह गुणोंका उपमको लाभ होता है. सत्यमहाव्रतका वर्णन हुआ

व्याख्याय सत्यमत तृतीयव्रत निगदति—

मा कुणसु तुमं शुद्धि बहुमप्यं वा परादियं घेत्तुं ॥

दंतंतरसोषणयं कल्लिदमेत्तं पि अविदिणं ॥ ८५२ ॥

बहलपं च परद्वन्द्वमदत्तं मा ग्रहीस्त्रिधा ॥

व्रतस्य ध्वंसने शक्तं दत्तानामपि शोधनम् ॥ ८६४ ॥

विजयोदया—मा कुणस्तु तुमं बुद्धि मा छयास्त्वं बुद्धि । कीदृशी ? एतादित्यं घेत्तुं परकीयं वस्तु ग्रहीतुं । परकीयवस्तुविशेषणमात्रे—वस्तुमयं वा ग्रहद्वन्द्वं वा । अत्यद्वन्द्वपरिमाणमभिधायति—दत्तं तत्सोद्यनमं कालिदमेतंपि दत्तान्तरशुद्धिफारि वृणदालाकामात्रमपि । अविनिष्णववचनं ॥

अचौर्यवतका वर्णन—

अर्थ—हे क्षयक ! तुम इससेजिे द्वारा नहीं दी गई छोटी या मोटी वस्तु कदापि मत ग्रहण करो. जिससे दातोंमिसे मल निकाला जाता है ऐसी तृणखलकामी ग्रहण करना योग्य नहीं है.

जह मक्कडओ धावो वि फलं वृहण लोहिदं तस्स ॥

दूररथस्स वि छेवदि चित्तूण त्रि जह वि छंडेदि ॥ ८५४ ॥

दूरस्थितं फलं रक्तं यथा तृप्तोऽपि मर्कटः ॥

ग्रहीतुं धावते इच्छुः श्रूयो यद्यपि मोक्षयति ॥ ८५५ ॥

विजयोदया—जह मक्कडओ यथा मर्कटो यानरः । धावो वि वृत्तोऽपि । वृहण फलं इच्छयापि फलं । लोहिदं रक्तं । तस्स दूररथस्स वि छेवदि दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योद्धववं करोति । जदि वि चित्तूण छंडेदि यपि ग्रहीत्या त्यजति ।

अर्थ—जैसे मर्कट—यानर वृष शोकामी लालरंगका फल देखकर दूरसे ग्रहण करनेके लिये दौडकर आता है. यद्यपि वह आगण कर उसको छोट देगा तोभी प्रथम लोभयुक्त होकर उसे ग्रहण करता है.

वार्धन्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविटुं तं तं ॥

सब्बजगेण वि जीवो लोमाइहो न तिप्पेदि ॥ ८५५ ॥

तथा निरीक्षते द्रव्यं यद्यत्तत्तल्लिख्यक्षति ॥

जीवच्छिलोकलाभेऽपि लोभग्रस्तो न तृप्यति ॥ ८६६ ॥

विजयोदया—एव जे जे पस्तति एवं यद्यत्यक्षति प्रव्यं । तं त पाविदुमद्विलसति । तच्च द्रव्यं प्राप्तुमभिल-
पति । सन्तुजेन वि संयोजाति जगता । लोभादहो जीवो य तियेवि जीवो लोभाविषो न तृप्यति ॥
दाष्टान्तिरुमं ऊपरका आदाय संयटित करते हैं—

अर्थ—यै लोभी मनुष्य जो जो वस्तु देखता है वह वह प्राप्त कर लेने की इच्छा करता है लोभवश
हुआ मनुष्य मर्ने नलोक्ष्यही प्राप्ति होनेपरभी तृप्त होता नहीं

जह मारुवो पवट्टइ खणेण वित्थरइ अबभयं च जहा ॥

जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥ ८५६ ॥

यथा विषद्वेत्ते धातः क्षणेन प्रथते यथा ॥

प्रथते क्षणतो लोभस्तथा मंदोऽपि वेद्दिनः ॥ ८५७ ॥

विजयोदया—जह मारुवो पवट्टइ यथा मास्स । प्रवट्टेते । यणेण खणेन । वित्थरइ विस्तीर्णो भवति । अबभयं च
जहा यथा धातं । जीवस्स जीवस्स । तह तथा लोभो मंदोऽपि रूपेणेय विस्तीर्णतामुपयति ।

अर्थ—जैसे मंद वायु एक क्षणके अनंतर वदकर विस्तीर्ण होता है, अथवा जैसे आकाशमें मेघ प्रथम
घोटे रहते हैं और अनंतर नहते रहते सर्व आकाश व्याप्त कर देते हैं एवं जीवका लोभ प्रथम मंद होता है नवर
क्षणसे विस्तीर्ण होता है.

यादाद्रभ्यस्तसिधिमयेक्य लोभकर्मण खयो जायेते तस्य लोभः संवर्द्धते तद्वृद्धौ चायं दोष इति व्याचष्टे—
लोभे य वट्ठिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चित्तेदि ॥

तो अप्पणो वि मरणं अगर्णितो चोरियं कुणइ ॥ ८५७ ॥

प्रवृद्धे च ततो लोभे कृत्याकृत्यविचारकः ॥

स्वस्थ मृत्युमजानानः साहसं कुर्वते परं ॥ ८६८ ॥

विजयोत्पत्त्या—जोभे य वहिदे पुण लोभे य वृद्धियुगले पुनः । कब्जाकब्जे करो ष चित्तेदि कायं अकायं च न मनता निरुपयति । इदं वन्तु युक्तं न यति । तो तवः युक्तयुक्तयिचारणमायात् । अप्यणो मरणमपि भगणिचा आत्मनो मयुमप्यभगप्य । जोत्पि चोयं करोति । चवीप्रहर्ण, तालोदाटनसंयवेसादिकं च । भय सुत्योः कष्टतरमयस्थितमपि न गणयति नराधोयं मृत्युत्त इति भागः ॥

सायददायाँका मात्रिप्य प्राप्त् करेकं च तौम कर्मका उदय होता है तब लोभ वृद्धिगत होता है- लोभ पदनेने आगे खिंचे हुए दोषणी वृद्धि होती है—

अर्थ—लोभ की वृद्धि होनेपर मनुष्य करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यका मनसे विचार ही नहीं करता है अपना अकार्य भी उसको योग्य लगता है. युक्तायुक्त विचार के नष्ट होनेसे जिससे प्रण प्राप्त होगा ऐसा भी मादमरुम करनेसे लिये उष्टुक होता है. चोरी करता है. चोरी करनेसे कारागृहमें दुःख भोगता है. धीमत्तके परता वाला लोलर अंदर प्रवेष्ट करता है. मृत्युका कष्टतर भय उपस्थित होनेपरभी लोभाविष्ट मनुष्य कुछ पता नहीं करता है.

न नेचलयाभन धयोगप्रयकादि चोयं अयि तु परेगामपि महतीमानयति विषदमिति कथयति—

सत्यो उवहिदुब्धी पुरिसो अत्ये हिदे य सव्वो वि ॥

सत्सिप्पहारविद्धो व होदि हियमंमि अदिदुहिदो ॥ ८५८ ॥

सर्वोप्यथ हतं द्रव्यं पुरुषो गतचेतनः ॥

अस्तिविद्ध इव स्वान्तं सदा दुःस्वायते तराम् ॥ ८५९ ॥

विशयोदया—सव्वो उपहिदुब्धी सर्वो जन. उपहिदुब्धिः स्थापितचित्त- । क ? अत्ये वस्तुनि इदं भयत्विचि । भागे हिदे य सव्वो वि सव्वोऽपि जनो ययं हते । अतिदुहिदो अतीव दु रिता भवति । किमिच? सत्सिप्पहारविद्धो हिदेये नरायात्येन सत्येन हृदये विद्ध इव ।

चोरी करनेसे चोरसोही उपद्रव होता है ऐसा नहीं. अन्य लोगोंके ऊपरभी उनसे बड़ी विपत्ति आती है.

अर्थ—मर्त्य लोकोकी उदि धनमें आगक रहती है. इसलिये ऐसे धनका चोरक़दारा हरण होनेपर उनको मरणतुल्य दुःख होता है हृदयपर अकिनामक शस्त्रकी चोट लगनेपर वैसा दुःख होता है वैसा धनहरण होनेसे दुःख होता है.

अत्यग्निं हिंदे पुरिसो उम्मत्तो विगयत्वेयणो होदि ॥
मरदि च हव्वारिकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥ ८५९ ॥
द्रव्णिणे अहिलीन्नुय म्रियतेऽय ह्वते नरः ॥

हाकारमुखरः क्षिप्रं नृणामर्थो हि जीवितम् ॥ ८७० ॥

विजयोद्या—अत्यग्निं हिंदे अर्थे हृते परेणात्मन्ये । पुरिसो पुरुषः । उम्मत्तो विगयत्वेयणो होदि उन्मत्तो विवेतनो भवति । चेतनाविरोधे ज्ञानयत्ने येतनाशब्दो वर्तते नष्टानो भवतीति यावत् । अन्वया चैतन्यस्य विनाशाभावात् ॥ मरदि य ध्रियेत या ॥ अत्थे हव्वारिकिदो अर्थे हारवं कुर्वन् ॥ गत्यो जीवं खु पुरिसस्स पुरुषस्य जीवितमर्थः ॥

अर्थ—दूसरेके द्वारा अपना धन खूदा जानेपर मनुष्य उन्मत्त अर्थात् पागल बनता है, ज्ञानरहित होता है, मेरा धन मेरा धन ऐसा बारबार कहता हुआ प्राणोंका भी त्याग करता है, इसलिये 'धन मनुष्यका प्राण है' ऐसी जो लोकोक्ति जगमें प्रचलित हुई है उसमें सत्यता है.

अहहृंशिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्यलोमादो ॥

पियबंधं चेवि जीवं पि णरा पयंहंति घणहेटुं ॥ ८६० ॥

विचंति पर्वनेऽम्भोद्यौ युद्धदुर्गवनादिषु ॥

त्यजंति द्रव्यलोभेन जीवितं बांधवानपि ॥ ८७१ ॥

विजयोद्या—अहहृंशिरिदरिसागर अदबी, दरी, निर्दि, सागर, युद्धं मयिशक्ति आंधलोभात् । पियाबंधं पियं जीवितं च नरा जहति धननिमित्तं, । सर्वेभ्यो धनं प्रियतमं यत्तत्तदर्थिनः सर्वं त्यजन्ति इति भाषार्थो माध्यायाः ॥

अर्थ—धनके लोभमें मनुष्य बंगल, पर्वत, समुद्र और युद्धमें प्रवेश करते हैं, धनके निमित्तसे अपने प्रियपुत्रोंका और प्राणोंका भी त्याग करते हैं, प्रिय बांधव और प्राणोंसे भी धन मनुष्यको अत्यंत प्रिय है क्योंकि इसके लिये धनार्थी सबका त्याग करते हैं.

अत्थे संतमि सुहं जीवदि सकलचपुत्तसंबंधी ॥

अत्थं हरमाणेण य हिंदं हव्वदि जीविदं तेसि ॥ ८६१ ॥

विद्यमाने धने लोका जीवन्ति सहवंपुभिः ॥

तस्मिन्नपहृते तेषां सर्वेषां जीवितं हृतम् ॥ ८७२ ॥

विजयोदया—यत्ने सेतमि सुदं अथै सवि सुतं । जीवति सकलतपुचलवंधी जीवति सह कलत्रैर्योगिभिः, पुत्रैर्युग्मिभ्य । अथै हृता तेषां कलत्रादीनां जीवितमेव हृतं भवति ॥

अर्थ—चोरके हृदयमे दया, लज्जा, दम, और विद्यात ये गुण निवास नहीं करते हैं. चोरको धनके लिये कुछ भी अकलंव्य नहीं है. अर्थात् अत्यंत निंद्य, और क्रूर कार्यभी वह धनके लिये करता है.

चौरस्त नत्थि हियए दया च लज्जा दमो व विरसासो ॥

चौरस्त अत्थहेदुं नत्थि य कादन्वयं किं पि ८६२ ॥

न विन्यासो दया लज्जा सन्ति चौरस्य मानसे ॥

मायुल्यं धनलुब्धस्य तस्य किंचन विद्यते ॥ ८७३ ॥

विजयोदया—चौरस्त नत्थि हियए दया च लज्जा दमो, विरसासो ॥ चौरस्य नत्थि अकलंव्यं किंचिन् । अर्थादिम इति मायाधं ।

अर्थ—धनमे इद्रियमुखकी प्राप्ति होती है, धनसे मनुष्य पत्नी, पुत्र और संबंधी जनके साथ जी सकृता है. और यदि उसका धन चोरने हरण किया तो उसने उसका और उसके पत्नी पुत्रादिकोंका जीवित हरण किया ऐसा ममज्ञाना चाहिये.

लोगभि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ॥

णीयछया वि पक्खे ण होति चोरिक्खसीलस्स ॥ ८६३ ॥

अपराधे कृतेऽप्यत्र पक्षे लोकोऽपि जायते ॥

बंधवोऽपि न चौरस्य पक्षे सन्ति कदाचन ॥ ८७४ ॥

विजयोदया—लोगभि अत्थि पक्खो लोकेऽस्ति पक्षोऽप्यमपराधं हिताधिकं कुर्वतो बंधवोऽपि न पक्षतो प्रतिपद्यंते ये चौर्यकारिणः ॥

अर्थ—हिंसादिक अन्य अपराध करने वालोंके पक्षमें लोक रहते हैं परतु मंथुभी चोरों करने वालोंके पक्षमें रहना नहीं चाहते हैं

अणं अवर्ज्यं तस्मिन् निति नियये घमिमा आवासं ॥

माया वि य ओगासं ण देहं चोरिक्खसीलस्स ॥ ८६४ ॥

वित्तरंति जना स्थानं दोषेज्ज्यत्र कृते सति ॥

स्नेये पुनर्न मातापि पुरुषानकदायिनि ॥ ८७५ ॥

विक्रयोदया—अण १। अवर्ज्यं तस्मिन् अन्य अपराध कुर्वत वदति स्वायत्तं भवन्नास । माताप्यकाश न वदति सुराया मयूखस्य ॥

अर्थ—अन्य अपराध करने वालोंको लोक अपने घरमें आश्रय देते हैं परतु लोक तो क्या चोरी करनेवाले मनुष्यको उसकी माता भी आश्रय देती नहीं

परदत्त्वहरणमेद आसवदारं सु वेति पावस्त ॥

सोसारियावाहपरदारयेहिं चोरो हु पापदरो ॥ ७६५ ॥

द्रव्यापहरणं द्वारं पापस्य परमिष्यते ॥

सर्वेभ्यः पापकारिभ्यः पापीर्यास्तस्करो मतः ॥ ८७६ ॥

विक्रयोदया—परदत्त्वहरणमेद परदत्त-पापहरणमेव पापस्याकचद्वारं भुपति । शौरिकारत्, व्याधात्, पर वारत्तिविश्रान्त चौर पापीवान् ॥

अर्थ—परदत्त हरण करना यह पाप आनेका द्वार है सुअर का घात करनेवाला, मृगादिकालो परतुने-वाला और परस्त्री गमन करनेवाला इनसे भी चोर अधिक पापी बिना ज्ञाना जाता है

सयणा भित्तं आसुयमहीणं पि य महल्लए दोसे ॥

पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खमि य महल्ले ॥ ८६६ ॥

आश्रयं स्वजनं मित्रं दुराचारो मलिम्लुचः ॥

सर्वं पातयते दोषे दुष्पते दुर्यशस्यपि ॥ ८७७ ॥

विजयोदया—सयने मितं चधुमिशालि आश्रययुतं समीपस्थं च महति दोषे वृषवयपनपदरणादिके पातयति धीरे । महत्यशसि दुर्यशः ॥ निपातयति ॥

अर्थ—चोरके जो स्वजन, मित्र, और आश्रयसे रहनेवाले अन्य लोगोंको भी यह चोरी बड़े संकटमें गिरा देती है, अपति चोरके साथ उसके स्वजन मित्रादिकोंकोभी लोक बांधते हैं, उनके अवयव तोड़ते हैं, उनका धन छीन लेते हैं, बंदी अपक्रीति और दुःसमों गिराते हैं.

वंधवधजगदुणाओ छायायादपरिस्वखयं सोयं ॥

पावद्रि चोरो सयमवि मरणं सत्त्वस्सहरणं वा ॥ ८७७ ॥

ययं ययं भयं रोधं सर्वस्वहरणं, मृतिम् ॥

वियावं यातना लोकं तस्करो लभते स्यम् ॥ ८७८ ॥

विजयोदया—बंधवधजगदुणाओ कर्म, ययं, यातनाय, छायायावं, परिभयं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चोरो मरणं सर्वस्वहरणं वा ॥

अर्थ—अपयव तोड़ना, बांधना, अनेक प्रकारसे पीडा देना, पराप्त कृत्ता इत्यादिक प्रकारसे लोक चोरोंको तकलीफ देते हैं. शोक, सर्वस्वहरण और मरण इन दुष्टोंको चोर प्राप्य होता है.

णिचं दिया य रत्ति च संकमाणो ण णिदमुवलमदि ॥

तेणं तओ समंता उच्चिगमओ य पिच्छंते ॥ ८७८ ॥

यांकमानभना निव्रां तस्करो जातु नाशुते ॥

कुरंग इव चित्रस्ते वीक्षते सकला दिशाः ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—णिचं दिया य रत्ति च संकमाणो नित्यं दिवारानि संकामानः न विद्रासुपलपते चौरः । समंता-
त्येस्ते उच्चिगमरिण इय ॥

अर्थ—चोरके मनमें दिनरात मग रहता है. उसको मगके बारे निद्रा भी आती नहीं. वह हमेशा चारों तरफ मगयुक्त हरिणके समान देखता रहता है.

उंदरकंदपि सहं मुच्चा परिवेमाणसब्बंगो ॥

सहसा समुच्छिदभओ उन्निगो धावदि खलंतो ॥ ८६९ ॥

आकर्ण्य मृषिकस्यापि दाढं संकितमानसः ॥

धावते सर्वतः सद्यः स्वलन्स्वमरणाकुलः ॥ ८७० ॥

विजयोदया—उंदरकंदपि सहं मृषकबलनकुतमपि दाढं सुग्या मरुत्तस्वर्गगाधः । सहसोरथभयोदितो घातति । दण्डलग्ने पदे ॥

अर्थ—भागते हुए मृषकका अर्थात् चूहेका ल्वनि मुनकर चोर भीतीसे थरथर कांपने लगता है और बरकर दौढ़ने लगता है. दौढ़ते समय गहपदीसे गिरजाता है.

घाति पि संजमंतो धेत्तू किलिदमेचमविदिणं ॥

होदि दु तणं न लहुओ अप्पच्चदओ य चोरो व्व ॥ ८७० ॥

अदस्से तृणमात्रेऽपि गृहीते संयतोऽपि ना ॥

अप्रत्येयो यथा स्तेनस्तृणतो जायते लघुः ॥ ८८१ ॥

विजयोदया—घाति पि संजमंतो मित्थमपि लयमं कुर्वन् । अदस्से तृणमात्रमपि गृहीत्या तृणयत्तुमर्पयति, अस्सपयित्तमौर हव ॥

अर्थ—महान् संयम धारण करके भी साधु न दिया हुआ तृणमात्र भी ग्रहण करके चोरके समान अनि-श्वासी बन जाता है और तिनके के समान रलका हो जाता है.

परलोगम्मि य चोरो करेदि गिरयम्मि अप्पणो वसदिं ॥

तिव्वाओ चेदणाओ मणुभवहिदि तस्य सुचिरं पि ॥ ८७१ ॥

विधाय पुरुषः स्तेयं नारकीं वसतिं गतः ॥

सहते वेदनास्तत्र चिरकालं सुदुःसहाः ॥ ८८२ ॥

विजयोदया—परलोकमिमं यं चोरो कोरेदि परलोकं चोराः करोष्यात्मनो नरके वसति । कीदृश्वतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकालं पत्यमलः शीघ्रैवना अनुभवति ॥

अर्थ—चोरीके पापसे मरकर चोर वरकमें जाता है, उत्पन्न होता है- और दीर्घं कालतक पचता हुआ तीव्र वेदनाओंका अनुभव करता है-

तिरियगदीणुं वि तहा चोरो पाठणदि तिब्बदुस्खाणि ॥

पाण्ण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरं पि ॥ ८७२ ॥

लभते दान्णं दुःखं स्तेनस्तिर्यग्गतावपि ॥

प्राप्नोति प्रापदाः पापो योनीं नीचामसौ चिरम् ॥ ८८३ ॥

विजयोदया—तिरियगदीणं वि तहा तिर्धन्वावपि चोराः प्राप्नोति र्नामणि दुःखानि । प्रयेण नीचयोनिष्वेव संसर्पति सुचिरमपि ॥

अर्थ—चोर पापकर्मसे पशुगति में जन्म लेकर तीव्र दुःखोंका दीर्घ कालतक अनुभव लेता हुआ अमण फरता है और प्राणः नीच पशुओंमें—अर्थात् कुत्ता, सुगर, गधा इत्यादिकोंमें तथा विकलव्यादिक योनिओंमें अमण करता है-

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ॥

ण य से षण्णुवचीयदि सयं च ओल्लट्टदि घणादो ॥ ८७३ ॥

नृत्येज्जुता हता वार्थाः पलायंतेऽखिलाः स्वपम् ॥

न धियंते प्रयत्नेऽपि स्वयं यास्यति या ततः ॥ ८८४ ॥

विजयोदया—माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्थो नश्यन्ति हता वा अहता वा । न चोपयाति संघये धर्मे, तस्य उपचितेऽपि धर्मे स्वयं तस्मादुपयाति धनम् ॥

अर्थ—मनुष्यभवं भी वह चोर जन्य लेनेपर उसका धन पूर्वं पापकर्मिक उदरसे हरा जाता है, अथवा वह दखिरी हो जाता है, कितना भी प्रयत्न करनेसे उसके पास धनसंचित होताही नहीं। अथवा धन संचित होने-परभी वह स्वयं उससे दूर चला जाता है-अर्थात् अन्तर्गत कर्मके उपाजनेसे वह धनका उपभोग ले नहीं सकता।

परदव्वहरणवुद्धी सिरिमूदी नयरमज्झयारम्मि ॥

होदूपा हवो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८७४ ॥

श्रीभूतिमहर्षौ प्राप्य पुरमग्ये विजम्बनाम् ॥

परद्रव्यपरलो दीनः प्रपद्ये दीर्घसंस्तुतिम् ॥ ८८५ ॥

विजयोदया—परदव्वहरणवुद्धी परद्रव्यहरणबुद्धिः, सिरिमूदी श्रीभूतिनगरमध्ये स्थापितः प्रवृत्तश्च भूत्वा दीर्घसंसारं प्राप्तः ॥

अर्थ—पञ्चव्य हरणमें जिसकी बुद्धि प्रवीण थी ऐसा श्रीभूति नामका ब्राह्मण जो कि राजाका पुरोहित था वह नगरमें पीटा गया और मारा गया- इस चोरीके दोषसे उसने दीर्घ कालवक संसारमें भ्रमण किया-

अवसादात्मनोऽगच्छपदस्य दत्तं योऽन्यं गृह्णतेति व्याचष्टे—

गुदे सज्जे दोसा ण होति परदव्वहरणाच्चिरदस्स ॥

तत्त्विवरीदा य गुणा होति सदा दत्तमोहस्स ॥ ८७५ ॥

देवैदरायगहवहदेवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा ॥

उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामणसाहणयं ॥ ८७६ ॥

एते दोषा न जायंते परद्रव्यविवर्जने ॥

तद्विपक्षा गुणाः सन्ति सुंदरा दत्तभोजिनः ॥ ८८६ ॥

इंद्रराजगृहस्वामिदेवतासमघर्मिभिः ॥

वित्तीर्णं विधिना ग्राह्यं रत्नचितयवर्धकम् ॥ ८८७ ॥

विमुञ्चते यः परवित्तमंजसा निरिदियमाणं सदृशं गृह्णा सदा ॥
अनन्यसाधारणभूतिभूयिताः स याति निर्वाणमपास्तकल्मषः ॥ ८८८ ॥
इति अस्तेयम् ॥

विजयोदया—इतिदराजगद्वर देवद्वार्या, राजा, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च पट्टिग्रहं ।
उमाद्विदिना भवमद्विदिना । दिव्यं दत्तं । गिरिहस्तु गृहाण । सामन्त्यसाहज्यं ग्रामप्यसाधनं ग्रामसंयमस्य वा
साधनं । अदत्ते ॥

आचार्येन अदत्तादानके-चोरीके दोष दिखाये जब योग्य दी हुई वस्तुका तू ग्रहण कर ऐसा क्षपकको
उपदेश करते हैं-

अर्थ—उपर्युक्त दोष चोरीका जिसने त्याग किया है ऐसे महापुरुषमें नहीं रहते हैं. परंतु उस महापुरु-
षमें उपर्युक्त दोषोंके विरुद्ध गुण उत्पन्न होते हैं. दिया हुआ पदार्थका उपभोग लेनेवाले उस महा पुरुषमें अच्छे
अच्छे गुण प्रकट होते हैं.

देवेंद्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी, देवता और सार्धमिक साधु इन्होंने योग्य विधीसे दिया हुआ,
मुनिपनाकी सिद्धि करनेवाला, जिससे ज्ञानकी सिद्धि होगी और संयमकी प्राप्ति होगी ऐसा पदार्थ दे क्षपक तू ग्रहण
कर. आचार्य महाप्रवक्ता वर्णन पूर्ण हुआ.

चतुर्थ व्रतं निरूपयति—

रक्खहि वंमचेरं अब्बंमे दसविधं तु वज्जिच्चा ॥

णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥ ८७७ ॥

अत्रास्मा दशधा त्यक्त्वा रामावैराग्यपंचके ॥

नियेदय मानसं पाहि ग्रह्यचर्यमनारतम् ॥ ८८९ ॥

विजयोदया—रक्खहि वंमचेरं पाठय ग्रह्यचर्यं । अत्रा दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्तः पंचविध
स्त्रीवैराग्ये ॥

अर्थ—हे शूफक ! तू दस प्रकारके अवस्थाओंका त्याग कर, ब्रह्मचर्यका आचरण कर- हमेशा ब्रह्मचर्यके पालन में साधन रहना चाहिये और पाँच प्रकारके स्त्रीविरागमें हे शूफक ! तुम तत्पर रहो

ब्रह्मचर्य पालनेके लिये तू शायते इत्यादि का त्याग करे—

जीवो वंभा जीवन्मि चैव चरिया हविर्ज्ज जा जदिणो ॥

तं जाण वंभचरं विमुक्कपरदेहतिचिस्स ॥ ८७८ ॥

निरस्तांगांगरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः ॥

जीवै ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ ८९० ॥

विशेषोद्घा—जीवो वंभा ब्रह्मरात्रेन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनविरूपेण ब्रह्मते इति वा । गायहोकाफां वंधते लोकपूरणात्वाया क्रियाया इति वा । जीवन्मि चैव ब्रह्मण्येय अर्था । जीवस्वरूपमनतपर्यायात्मक एव निरूप्यतो ब्रह्मि यो । त जाण जानीहि । यमचरिय ब्रह्मचर्यं । विमुक्तपरदेहतिचिस्स विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥

सूत्रा—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धेभ्यां परद्रव्यसुखः प्रवृत्तिः ।

तद्ब्रह्मचर्यं ज्ञातसर्वभौतं ये प्राप्तिं ते याति पर प्रमोदम् ॥

ब्रह्मचर्यका रक्षण कर ऐसे में आपने कहा परन्तु ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है ? ऐसी शकाका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—ब्रह्मचर्य इस सामाजिक शब्दमें जो ब्रह्म शब्द है उसका अर्थ जीव ऐसा होता है, अथवा ब्रह्म शब्दका अर्थ बुद्धिगत होना बढना ऐसी है इस ब्रह्म शब्दसे ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है ज्ञान और दर्शन रूपसे जो बुद्धिगत होता है उसको ब्रह्म कहते हैं जीव इन गुणोंसे बुद्धिगत होता है इस वास्ते इसको ब्रह्म कहते हैं अथवा लोकपूरण समुदायमें यह आत्मा संपूर्ण लोकाकाशमें अपने प्रदेश पसार कर बढता है इस लिये जीवको ब्रह्म कह सकते हैं इस जीवका स्वरूप अनंत पर्यायात्मक है ऐसा समझकर उसके स्वरूपमें जो रमायण होने की क्रिया उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं इतारके अर्थमें प्रवृत्ति करना अर्थात् उसके देहको आलिंगन करना वगैरे क्रियाओंसे जो विरक्त हुआ है वह मुनि अपने आत्मके स्वरूपका—उसके ज्ञान, दर्शन चारित्र वगैरे शुद्ध गुणोंका विचार कर उसमें ही वृत्त होता है इसलिये ऐसे भुक्तिका ब्रह्मचर्य विशुद्ध होता है

मनसा पचसा तरीरेण परशरीरानोचरव्यापाराविशये लक्षकतः दशविषयब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं प्रयतीति यस्तु कामोऽत्र भेदमाचष्टे—

इच्छिविसयामिलासो वञ्छिविमोक्त्वो य पणिदरससेवा ॥

संसर्तद्वत्सेवा तदिदियालोयणं चेव ॥ ८७९ ॥

चित्रयोदया—इच्छिविसयामिलासो स्त्रीसंघिनो ये इन्द्रियाणां विषयास्तासां रूपं, तदीयोऽधररसः, तासां वक्षप्रभयो गंधः, तासां कण्ठ गीनः, हासो, मधुरं यवः, सुदुस्वरोध तत्र अभिलाषः । आत्म-
दररूपरिगुलपदिलक्षणे ब्रह्मचर्यं गृह्णीति ज्ञातना ब्रह्म ततोऽन्यो धामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्यायाः सोऽत्र
अपरोऽज्ज्ञातनेन तत्र ययां तामामिलापरिणतिः । पशिविमोक्त्वो मेहनिकरानिवारणं । पणिदरससेवा पुण्या-
हारससेयना । संसर्तद्वत्सेवा स्त्रीभिः संतकानां संनदानां शप्यादीनां सेवा तद्वत्स्वरोधेय कामिनां तनुब्रासद्वत्-
स्पृशोऽपि मीलि जनयति । तदिदियालोयणं चेव तासां परांगायलोकं य ॥

किं तदस्य विषं ब्रह्म कत्यारिलागात्तद्विलक्षणं वक्षप्रकारं ब्रह्मचर्यं भवतीति जिज्ञासायामब्रह्मभेदान्वत्स गाथाह-
येन निर्दिष्टति—

नूलापा—इच्छिविसयामिलासो स्त्रीणां संघिनो ये विषया इन्द्रियाणां गोचराः शिवाः सुन्दरं रूपं, तदधररस-
स्तत्पुलभसिवादिगंधस्तत्कण्ठगीतवृत्तिसमधुरगन्धमयनतल्लुचादिरसैश्च पु अमिलानो महीबुमौस्तुल्यं । वक्षवि-
मोक्त्वो लिंगविकारकरणं । पणिदरससेवा पुण्यद्वयरसोपयोगः । संसर्तद्वत्सेवा स्त्रीसेवितव्यावसायुषभोगः कामिनी-
तनुस्पर्शवत्कामिनां तत्संपृक्तद्वन्द्वस्पर्शोऽपि हि अतिमुत्पादयति । तदिदियालोयणं लीवरंगनिरीक्षणं ॥

मनसो, वचनसो और त्रीरसे परस्त्रीरके साथ जिसने प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है ऐसा मुनि दश प्रका-
रके अव्रतका त्याग करता है- तब वह दस प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन कर सकता है- प्रपकार अव्रतके दस प्रका-
रोंका वर्णन करता है—

अर्थ—स्त्रीमंचपी चो इन्द्रियोंका विषय है उनकी अभिलाषा करना अर्थात् उनका सौंदर्य, उनका अधर-
रस, उनके मुखका गंध, उनका मनोहर गायन, हंसना और मधुर भाषण, तथा उनके शरीरका सुदुस्पर्श इनकी
अभिलाषा करना- यह अव्रत है- आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानकर उसमें परिणति करना अर्थात् प्राप्ति करना
ब्रह्मचर्य है- इस ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाले आत्माको ब्रह्म कहते हैं- इस ब्रह्मसे विरुद्ध जो स्त्रीके शरीरके रूपादि

पर्याय उनको अवलोकते हैं ऐसे अवलोकने चर्चा करना अर्थात् अभिलाषा करना या अन्नक्षर्च्य है-

२ वात्स्यविमोक्षो—अपने इंद्रियमें विकार होना, अर्थात् अपने लिंगमें विकार होना वह स्थिर और

दृढ होना.

३ वृष्यरससेवा—जिससे शरीरमें बल बढ़ेगा, वीर्यवृद्धि होगी, ऐसा आहार और ऐसे रसोंका सेवन करना.

४ संसक्तद्रव्यसेवा—स्त्रियोंके श्रव्या वरीरुद पदार्थोंका सेवन करना—उपभोग लेना. स्त्रीके शरीरका स्पर्श

जैसे कामिगोको प्रीति उत्पन्न करता है वैसे उनके श्रव्यादिक पदार्थों का स्पर्श भी कामिगोको हर्ष उत्पन्न करता है.

५ तदिन्द्रियालोचन—स्त्रियोंके सुंदर अंगोंका अवलोकन करना.

संस्कारो संस्कारो अदीदमुमरणमणादभिलासे ॥

इष्टविसयसेवा वि य अव्यं वसविहं एवं ॥ ८८० ॥

गद्य—स्त्रीरूपाद्यभिलाषयस्तिमोक्षणधृष्याहारसेवनतत्संस्तद्रूप्यासुराग-
तद्वरंगमिरीक्षणसत्कारसंस्कारादरतानीतरतस्मरणानागतभिलषणेष्ट-
विषयनिषेवणस्वरूपं दशविषयमग्राह्य मंतव्यम् ॥ ८९१ ॥

विज्ञयोव्या—संस्कारो संस्कारो सम्मानना । स च तदुरागप्रवर्तितः । संस्कारो संस्कारः दासां यत्नमात्मादिभिः ।
अदीदमुमरणं अतीतकालवृत्तिस्मृतिस्मरणं । आणमदभिलाषा भविष्यति काले एवं तामिः प्रीडां कल्प्यामि इति
रतभिलाषः । इष्टविसयसेवा वि य इष्टविसयसेवा वि य इष्टविसयसेवा वि य इष्टविसयसेवा वि य इष्टविसयसेवा वि य
गस्य परद्रव्योपयोगादगोचरैर्भवतः । तेन सद्युत्सोपयोगः, परद्रव्यालेखनं, क्षानभदानमिति धीतरागताविषु चरणं
ग्रहचर्चं ततोऽन्यदिदं दशविषयमग्राह्येति निरूपितं ॥

मुलाप—संस्कारो पूजा । सम्मानो वरान्तरमरणानुपशारः । अदीदमुमरणं अतीतकालवृत्तिसंभोगस्मरणं । अणारत-
भिलासो भविष्यति काले तामिः सदैवं कीटिज्यामिलेवमादिसनोरयः । इष्टविसयसेवा मनोवाञ्छितसौपोधानाद्युपयोगः ॥

तथा चाबोचाम यमोमृते—

मा रुपादिरत्नं पिपास सुष्टानं मा वस्तिमोक्षं कृपाः ॥

वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा या वा वरणेरे दृष्टं ॥

मा श्री सत्कुरु मा प संस्कृत एवं वृत्तं स्मर स्मार्थे मा ॥
वत्स्येन्नेच्छ जुपस्व मेष्टविपयान् शिःपंचया ब्रह्मणे ॥

दसविधमप्यवद मुमुक्षुणात्यंवापकारत्वात्वाग्नित्युपदेष्टुं तरोषानाह—

अर्थ—सत्कार-स्त्रियोंका सत्कार करना, भुम्माणो-उनके देहपर प्रेम रखकर वस्त्र, माला वगैरह पदार्थों-
से उनका सत्कार करना. उनको अलंकारादिक पदार्थ अर्पण करना.

अरीतम्भण—भूतकालमें किये हुए रतिक्रीडाओंका स्मरण करना. अनागतमिलाप-भविष्यत्कालमें
उनके साथ ऐसी २ रतिक्रीडा करनेवा ऐसी अभिलाष मनमें करना,

हृदविषयमेवा—मनोबोद्धित सौध, उद्यान वगैरहका उपयोग करना. जिसके रागभाव प्रबल हैं ऐसे भुग्ण
के पदव्यापक तेजसे रागद्वेष प्रबल होते हैं. ज्ञान, भक्तान, और चैतन्यगता इत्यादिकोमें प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है.
इससे विरुद्ध अवलोकने दृष्टप्रकार करें हैं.

एवं विसर्गिभूतं अव्यंमं दसविहंपि णादव्यं ॥

आवादे मधुरस्मिन् होवि विवागे य कडुयदरं ॥ ८८१ ॥

आपाते मधुरं रम्यमयत्त दन्नाधाप्यदः ॥

विषाके फटुकं श्रेयं किंपाकमिव सर्वदा ॥ ८९२ ॥

विजयोषया—यद्ये विसर्गिभूतं विषयदमिव सन्तापमोदमूच्छाधिराजिकरणात् । आवादे आपाते मधुरस्मिन् भवति
विषाके तु कटुकतामे ॥

मूलाराधना—विसर्गिभूतं विषयदमिव सन्तापमोदमूच्छाधिराजिकरणात् । आवादे आपाते मधुरस्मिन् भवति
विषाके विरतगन्धने । कडुयदरं अत्यंतदुःखवत्त्वादविकष्टम् ॥

अर्थ—यद्ये दया प्रकाशका अवलम्ब विष और अधिक समान है ऐसा समझना चाहिये. यह अवलम्ब प्रारम्भ
में बड़ा मिष्ट भाव होता है परन्तु अन्तमें अत्यंत कटुता है.

दिनमें और रातमें भी निद्रा आती नहीं है. और हमेशा सीका ही चिंतन करता है. और कल्याणकारक धर्मको भूल जाता है.

सयणे जणो य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ॥
कामपिसायगहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥ ८८५ ॥

आसने शयने स्थाने नगरे भयने चने ॥

स्वजनेऽन्यजने कामी रमते नास्त्वेतनः ॥ ८९७ ॥

विजयोदया—सयणे जणे य स्वजने, परजने, शयने, आसने, घासे, शृङ्गे, अरण्ये, भोजनप्रक्रियासु च न रमते कानपिशाचयुहीतः ॥

मूला०—सयणे स्थजने । जणे परजने ॥

अर्थ—कामातुर मनुष्य, अपने संबंधी जनोंमें, अथवा परकीय लोगोंमें, विष्टता हुआ हमेशा लिप्त ही रहता है. गाममें, घरमें, अरण्यमें, और भोजनादि क्रियाओंमें भी उसका मन कुछ नहीं रहता है. उसको हमेशा कामरूपी पिशाच सताता रहता है.

कामादुरस्म गच्छदि खणो वि संवच्छो व पुरिसस्स ॥

सीदंति य अंगां होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥ ८८६ ॥

न राओ न दिवा शंते न भुंक्ते न सुत्वायते ॥

दष्टः कामसुजगेन न जानाति हिताहिते ॥ ८९८ ॥

कामाकुलितचित्तस्य मुहूर्तो वत्सरायते ॥

सर्वदेहकंठमानस्य भवनं काननायते ॥ ८९९ ॥

विजयोदया—कामादुरस्स गच्छदि खणो वि कामव्यगिचित्तस्य गच्छति क्षणोऽपि । संवत्सर इव अंगानि च सीदंति । भवत्युक्कंठितश्च पुरुषः ॥

मूलारा०—उक्तं किं प्रत्युत्पन्नः ।

अर्थ—जो मनुष्य क्षमणीय होना है उसको एक प्राण भी चर्पके समान मानने लगता है- उसके सपूर्ण अंग कुछ होते हैं, और वह किसीकी मार्गप्रतीक्षा कर रहा है ऐसा दिसता है- अर्थात् उत्कंठितसा दीखता है- अर्थात् प्रियत्नीकी उत्कंठासे वह व्याकुल होता है-

पाणिदलचारिगंडो बहुसो चितोदि किं वि दीणमुहो ॥

सीदे वि निवाइजइ वेवदि य अकारणे अंगे ॥ ८८७ ॥

इस्तन्यस्तकपोलोऽसौ दीनो घ्यायति संतप्तम् ॥

प्रस्थियति तुपारेऽपि कंपते कारणं विना ॥ ९०० ॥

चिह्नयोदया—पाणिदलचारिगंडो पाणितलचतुर्गंडः, बहुको चितोदि बहुसाधितो करोति । किमपि दीनमुणः ॥
नतिऽपि स्थिते । वेपते च अंगं कारणमवदत्तेण ।

मूलारा—पाणिदलचारिगंडो इस्तलन्यस्तकपोलः । निवाइजइ प्रस्थियति ॥

अर्थ—कामरूपी रोमसे पीडित हुआ मनुष्य अपना गाल हाथके ऊपर रखकर दीनमुखसे अतिशय चिंतायुक्त होता है- इस चिंतासे ठीकके दिनमें भी उसके सर्व अवयव खेदसे गीले होते हैं- और उसके अवयव विना कारणके धर धर कांपने लगते हैं- सीति अथवा ठंडी यह अवयव कंपके लिए कारण हैं- परंतु इनके चिंता भी इसके अवयव कंपने लगते हैं ॥

कामुमचो संतो अंतो ह्यश्चदि य कामचिंताए ॥

पीदो व कलकलो सो रदगिजाले जलंतस्मि ॥ ८८८ ॥

अरल्याग्निशिखाजालैर्ज्वलाद्भिरनिवारितैः ॥

सोन्तर्विंदस्यते पीतैस्तप्तैस्ताग्रद्रवैरिव ॥ ९०१ ॥

चिजयोदया—कामुमचो कामोग्मत्तः । कामचितया चिरं दस्यते । पीतताग्रद्रव इव । अरल्याग्निशिखासु ज्वलन्तीषु ॥

स्त्रीविषयो रागोऽब्रह्म स च तत्प्रतिपक्षभूतैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—
कामकदा इत्यिकदा दोसा असुचिचवुद्धुसेवा य ॥

संसग्मीदोसा वि य कुंरति इत्थीसु वेरगं ॥ ८८२ ॥

दोषाः कामस्य नारीणामशौचं वृद्धसंगतिः ॥

संगदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीवैराग्यं तपस्विनः ॥ ८९३ ॥

विजयेवगा—कामकदा इति कदा कामकृताः स्त्रीकृताश्च दोषाः । अशुचित्वं, वृद्धत्वेण, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥

स्त्रीविषयरगतक्षयग्रह स्त्रीवैराग्यात्मकतत्प्रतिपक्षभावनावष्टंभान्निष्टावयितुं शक्यते इति स्त्रीवैराग्योपायपंचक-
मुपारद प्रबंधेन प्रपंचयितुमादौ सङ्घटितं—

मूलारा०—कामकदा कंदर्पेण निर्मिताः । दोसा अपराधाः । पुंसोऽणकारा इत्यर्थः । असुचिषा अनेक्यत्वं
देशस्य । बुद्धत्वेन स्त्रीकृतद्वानामुपासना । संसर्गादोसा स्त्रीसंगलक्षणापराधाः । एते पंचत्वे भाव्यमानाः स्त्रीषु वैराग्यं
न नयन्ति । श्लोकः—

कामांगानांसंगदोषादौचानि भावयन् ॥

कृतावसंगतिः स्त्रीषु विरक्ते भद्रा र्मुदय ॥

एवमुपक्षेपायाः पद ॥

स्त्रीविषयके रागभावको अग्रह कर्तते हैं वह इसके प्रतिपक्षभूत वैराग्यसे नष्ट होता है. येसा समझकर
वैराग्यके उपायोंका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, वृद्धोकी सेवा, और संसर्गदोष इन पांच कार-
णोंसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है.

कामकृतदोषनिरूपणा उत्तरेण प्रबंधेन क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होति ॥

सब्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥ ८८६ ॥

दृश्यते सुवने दोषा यायन्तो दुःखदायिनः ॥

पुरुषस्य क्रियन्ते ते सर्वे मैथुनसंशया ॥ ८९४ ॥

दुःखावहा दुःखावहा मवंति दोषा

विजयोदया—जावदिय किन् दोसा इत्यादिना यावताः किल जन्मद्वये । दुःखावहा

हिंसाव्यस्तान्धर्गानपि आवहति मैथुनसंशया मनुष्यस्य ॥

कामदोषान्धर्गपंचांगलोचरप्रबंधेन व्याचिरव्यासुपादौ तत्सामान्यसंग्रहायासाह—

मूलारा०—दोसा हिंसादयः । आपहृदि करोति । मेहुणसण्णा योन्यादौ रंमुमिच्छा काम इति यावत् ॥

कामकृत दोषांका वर्णन आचार्य विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें जितने दुःख देनेवाले हिंसादिक दोष उत्पन्न होते हैं वे सब काम

संज्ञासे अर्थात् मैथुन की इच्छासे उत्पन्न होते हैं.

सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयवि य ॥

रसिंदिया य भिहं ण लहवि पज्झादि विमणो य ॥ ८८४ ॥

ध्यायति शोचति सीदति रोदिति, वत्स्यति आस्यति तृष्यति गायति ॥

ह्याम्यति मायति रुष्यति तुष्यति, जल्पति कामवशो चिमना बहु ॥ ८५॥

दिष्यते त्विष्यते तप्यते सुहृते, याचते सेवते मोदते धावते ॥

मुंचते गौरवं गाहते लाघवं, किं न मत्प्यो विषसे मनोजातुरः ॥ ८९६ ॥

विअपोदया—सोयदि विलपदि शोचते, विलपति । परितप्पते । कामादुरो विसीयदि ॥ कामादुरो विपीयति
च । नत्तं विनं निद्रां न लपते । पज्झादि विमनस्को भवति ॥

कामार्थं इवमिदं करोतीति प्रबंधेनाभिप्रेते—

मूलारा०—सोनवि शोकं याति । विलवदि विवणं करोति । विवीददि विसूयति । पज्झादि प्रबंधेन स्मर

वीष्टत्वियं, विसरति या धर्माधिकम् ॥

अर्थ—कामसे पीड़ित मनुष्य शोक करता है, रोता है, पश्चात्ताप करता है और विव्र होता है. उसको

मूढारा—संतो सन् । कल्लये क्षमित्तमवाप्ताविद्वने । अरत्त्यन्निजाले पीत्तामित्तमवाप्ताद्रव इवान्तर्वलति सति कामचित्ताभिर्बिंशष्टः सत् काममहाविष्टः पुरुषः परित्यज्यते । इति पदपटना ॥ उक्तं च—

कामोन्मत्तो सर्वश्रेष्ठे चित्ताभिर्दक्षते नरः ॥

अरत्त्यग्नौ ज्वलत्युन्मैत्तमवाप्ताद्रवो यया ॥

मूढारा—अयमप्यद्विचिक्नुस्तत्तत्त्वं वचनमपिपत्तिबाधगढयं । कुसलत्वमर्थनिपुणं वचनप्रतिपत्तौ वागुपन्यासे प्रावीण्यं वा । सत्तप्यद्वा शक्यकुण्ठा । विस्त्वा तीक्ष्णा ॥

अर्थ—कामवेदनासे मनुष्य उन्मत्त होकर चित्तासे दग्ध होता है. जैसे अग्निसे तपाहुआ तविका गोला जलता है वैसा यह कामीपुल्य क्षमचित्तासे अतिरूप अग्निमें दग्धया जलता है.

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे तु अलहंती ॥

धत्तदि मरिबुं बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥ ८८९ ॥

मंदायते मत्तिर्याति सवो वचनकौशलं ॥

मवनेन उर्येणव माधितस्य चित्तपिना ॥ ९०२ ॥

काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥

सुसूर्पति तदोद्विग्नो नगप्रपतनाविभिः ॥ ९०३ ॥

विजयोदया—कामादुरो कामादुरो नरः । स्वाभिलषिते इमे अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मनु । पर्वतोर्ध्वनिपतेन तरशायानवलंभेन, अग्निप्रयेयादिना वा ॥

मूढारा—परास्ति चेष्टते । गवेयसि वा । मरुप्पवादादिकरणेहिं गिरिप्रपाताद्युपयैः । उक्तं च—

काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥

सुसूर्पति तदोद्विग्नो नगप्रपतनाविभिः ॥

अर्थ—कामादुर मनुष्यको अपना प्रिय मनुष्य न मिलनेसे अर्थात् उसको इष्ट स्त्री की प्राप्ति न होनेसे

वह पर्वतपरसे गिरकर मनेकी इच्छा करता है. समुद्रमें प्रवेश कर ग्राण देना चाहता है. शहकी खासामें फाँसी लगाकर मरना चाहता है और अग्निप्रवेशादिक से ग्राणत्याग करनेको इच्छा करता है.

संकर्षण्यजादेण रामदोसचलज्जमलजीहेण ॥

विसयविलवासिणा रविमुहेण चिंतादिरोसेण ॥ ८९० ॥

सकल्पांलकजालेन विषयच्छिद्रवासिना ॥

रामद्वेषद्विजिहेन घृक्षचिंतामहाकुधा ॥ ९०१ ॥

चित्तयोदया—संकर्षण्यजादेण संकटांदमसूतेन । रामद्वेषवसयमलजिहेन । विषयविलवासिना रतिमुलेन चिंतातिरोपेण ॥

मूलारा—संकल्प इष्टांगनादनात्तां मल्लुंठगगर्भाभ्यवसायः । जमलं द्वेष । चिंतादिरोसेण इष्टांगनागुणसमर्थन तदोपपरिहरणार्थे विचारात्मचित्तनातिक्रोधेन ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प संकल्प रूपी अंडसे उत्पन्न होता है. राग और द्वेष ऐसी दो जिह्वा उसको है. यह विषयरूपी विलमें रहता है. विषयासक्ति ही इसका मूल है. और यह चित्तरूप रोपसे युक्त है.

कामसुजगेण दट्टा लज्जाणिम्मोगटप्पदाटेण ॥
णासंति गारा अवसा अणेयदुक्खायहविसेण ॥ ८९१ ॥

दष्टकामसुजगेण लज्जानिमोक्कमोचिना ॥

दर्पकंटाकारालेन रतिवक्खेण नदयति ॥ ९०५ ॥

चित्तयोदया—कामसुजगेण कामसंघेण । लज्जात्वक्खिमोचनकारिणा, दर्पकंटेण वृष्टा अनेरदुःखायहवियेण मरा नदयन्ति ॥

मूलारा—लज्जाणिम्मोग लज्जव निमोक्कः कंयुको यस्य मोक्षयत्नात् । लज्जानिमोक्कमोचिनेत्यर्थः । अणेयदुक्ख-
त्प्राविसेण अनेरदुःखात्मकवियेण ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प लज्जारूप कांचलीका त्याग करता है. उन्मत्तारूप दांडसे यह महाभयंकर दीखता है. ऐसा यह सर्प जब दंश करता है तब अनेक दुःखरूपी विषों मनुष्य व्याप्त होकर नष्ट होते हैं.

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवन्ति सत्तेव ॥

दस होति पुणो वेगा काममुअंगावरुद्धस्स ॥ ९२ ॥

आशीविषेण वृष्टस्य सप्तवेगाः क्षीरीणिः ॥

वृष्टस्य स्मरसर्पेण जायन्ते दश द्युःस्रष्टाः ॥ ९०६ ॥

विजयोदया—आसीविसेण आसीविषेण सर्पोंप्रणया दृष्टस्यापि सत्तेव वेगा मभवन्ति । काममुअंगेन वृष्टस्य दशवेगा भवन्ति ।

नूलारा—आसीविसेण सर्पोंप्रणया । अवरुद्धस्स वृष्टस्य । वेगा विषोद्रेकाः । सत्तेव ॥ सप्तवा—

पूर्वे वर्षाकाले वेगे द्रुष्टं दयावीमवत्यसृक् ॥

दयायता नेत्रवक्रादौ सर्पन्दीय च कीटकाः ॥

द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूर्धनौखं ॥

द्योचो वंदविह्वल्यतुर्थे छीवनं वभिः ॥

संधिविश्लेषणं तत्रा पंचमे पर्वभेदनम्

राहो हिष्या च पष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥

मूर्च्छाविषाकोऽनीसारः प्राप्य शुक्रं तु सप्तमे ॥

सक्यशृङ्खलीभयः सर्वथेष्टानिर्वर्तनम् ॥

अर्थ—जितको सर्प दंश करता है उस मनुष्यको मात विषवेग उत्पन्न होते हैं. अर्थात् सर्पके विषसे उस मनुष्यको सात अवस्थायें क्रमसे प्राप्त होती हैं. परंतु कामरूपी सर्पके दंशसे मनुष्यको दस अवस्थायोंको भोगना पड़ता है.

पटमे सोयदि वेगे दहं तं इच्छेदे विदियवेगे ॥

निस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्यम्मि ॥ ८९३ ॥

शौचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ॥

तृतीये निम्बसित्युच्चैर्वरस्तुर्ये प्रवर्तते ॥ ९०७ ॥

विजयोदया—पटमे सोयदि वेगे प्रथमे वेगे शोचति । द्वितीये वेगे स तं द्रष्टुमिच्छति । निम्बसिति च तृतीये वेगे । भारोहति लघुः ७ तुर्ये वेगे ॥

के से दशवेगा इत्यत्र गाथाऽयमाह—

मूळारा—सष्टम् ।

उत्त दश वेगोंका वर्णन क्रमसे आपायं करते हैं—

अर्थ—कामवेगकी पहिली अवस्थामें वह कामी पुरुष शोकयुक्त होता है. दूसरी अवस्थामें इष्ट स्त्रीको देखनेकी इच्छा करता है. तीसरे वेगमें दीर्घ आसोच्छ्वास करता है. चौथे वेगमें उसको ऊपर चढ़ता है.

डगदवि पंचमवेगे अंगं छट्टे ण रोचदे भत्ते ॥

मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्टमए ॥ ८९४ ॥

दधत्ते पंचमे गात्रं भक्तं पठे न रोषते ॥

प्रपाति सातमे मूर्च्छामुन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥ ९०८ ॥

विजयोदया—छट्टादि पंचमवेगे पंचमवेगे दहते । मकाराक्षिः पट्टवेगे । सप्तमवेगे मूर्च्छति । उन्मत्तो भयस्यष्टमे ॥

मूळारा—सष्टम् ।

अर्थ—पांचवे वेगमें उसको अंगमें दाह उत्पन्न होता है. छठे वेगमें उसको अस्वादिषोभे अरुचि उत्पन्न होती है. सातवे वेगमें वह मूर्च्छित होता है. आठवे वेगमें उसको उन्मत्तावस्था प्राप्त होती है.

णवमे ण किञ्चि जाणदि दसमे पाणेहि मुच्चदि मद्दधो ॥

संकल्पसेण पुणो वेगा तिच्चा व मंदा वा ॥ ८९५ ॥

न वोत्ति नवमे किञ्चिद्वामे मुच्चयेतमुग्धिः ॥

संकल्पतस्ततो वेगास्तीवा मंदा भवन्ति वा ॥ ९०९ ॥

विजयोदया—नवमे जातमानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणवियुच्यते । मदान्वयस्य संकल्पयरोन पुनस्तीवा मंदा या भवन्ति वेगाः ।

मूळारा—मर्षणे कायांगः ॥

अर्थ—नववें वेगमें वह अपने को भी जानता नहीं है और दशमें वेगमें वह प्राण छोट देता है. ये दश-वेग संकल्पकी जैसी तीव्रता अथवा मंदता होगी वैसे तीव्र या मंद होते हैं.

जेहामूले जोणहे सुरो विमले णहम्मि मज्झणहे ॥

ण उहदि तह जह पुरिसं उहदि विवडुत्तउ कामो ॥ ८९६ ॥

ज्येष्ठे सूरः सिते पक्षे मध्याह्ने विमलेऽम्बरे ॥

नरं दधति नो तद्वद्वर्धमानो यथा स्मरः ॥ ९१० ॥

विजयोदया—जेहामूले ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रविः स ॥ दधति तथा यथा पुरनं दधति मर्षर्द्धमानः कामः ॥

मूळारा—जैष्ठे ज्येष्ठमासे । मूले मूलनक्षत्रे । जोणहे शुक्लपक्षे । णहम्मि आकाशे ॥

अर्थ—ज्येष्ठमासकै, शुक्ल पक्षमें निरग्न आकाशमें मध्याह्नसमयमें सूर्य भी उतना पुरुषको संतप्त नहीं करता है जितना यह काम संतप्त करता है. अर्थात् ज्येष्ठमासके सूर्यतापमें भी इस कामका ताप प्रचंड और असह्य है.

सूरगगी उहदि दिवा रत्तिं च दिया य उहइ कामग्गी ॥

सूरस्स अत्थि उच्छागारो कामगिणो णत्थि ॥ ८९७ ॥

दिवसे प्लोपते सूर्यो मनोवासी दिवा निशम् ॥

अस्ति प्रच्छादनं सूर्ये मनोवासिनि नो पुनः ॥ ९११ ॥

वितयोदया—सूरगी उददि दिया स्वर्गभिर्वदति दिवा, नक्तं दिवा ददति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रविक्रमस्ति न कामाग्नेः ॥

मूलारा—उच्छाकारो आच्छादनकारि छत्रादिक ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका ताप लोकोको दिनेमें ही संतप्य करता है. परंतु यह कामाग्नि रातमें और दिनमेंभी जोबीस घंटे जीवको सताता है. सूर्यसत्ताप छत्रादिकसे दूर कर सकते हैं परंतु इस कामाग्नीको लोक ज्ञांत नहीं कर सकते हैं.

विजम्नायदि सूरगी जलादिर्हृण तद्वा ह्यु कामगी ॥

सूरगी उदह तयं अबन्तरचाहिरं हदरो ॥ ८९८ ॥

बन्धर्विषयाप्यते नीरैर्मन्मथो न कदाचन ॥

प्रक्षोपते यहिर्वह्निर्दिरन्तश्च मन्मथः ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—विजम्नायदि सूरगी विष्पाति सूर्यजनितस्त्रायो जलादिभिर्न तथा जलादिभिः कामाग्निः प्रक्षोभयति । सूर्यस्योष्णत्वं त्वच वहति । कामाग्निरन्तरवह्निश्च दहति ।

मूलारा—सूरगी सूर्यजनितस्त्रायः । तयं त्वचम् ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका संताप जलादिक ज्वीतोपचारसे दूर कर सकते हैं. परंतु कामाग्नीको बुझानेके लिये कोई उपाय नहीं है. सूर्यकी उष्णता त्वचाको जलाती है परंतु कामाग्नि इस क्षीरको और आरमाकोभी जलाती है.

जादिकुलं संवासं घम्माणि य बंधवस्मि अगणिन्ता ॥

कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥ ८९९ ॥

बंशुं जातिं कुलं धर्मं संवासं भवनातुरः ॥

अवमन्य नरः सर्वं कुरुते कर्म निदितम् ॥ ९१३ ॥

विजयोदया—जादिकुलं मनुषित्वं । संवासं सहस्रं । धर्मं चोद्यमानपि अवमन्य पुरुषोऽकार्यं करोति

भयुनतंवा मूढः

मूढारा—संवासं सहस्रसतो जनान् भिन्नादीन् ॥

अर्थ—कामेच्छासे उप मनुष्य व्याकुल होता है उस आसकी जाति और कुलका विचार नहीं करता है-

अपने साथीदारोंका अपने धर्मबंधुओंको भी धन मानता नहीं है अर्थात् वह निर्लज्ज होता है. और अकार्य कर बैठता है.

कामपिपायगहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ॥

होइ विसायगहिदो बसदा पुरिसो अणप्पवतो ॥ ९०० ॥

विद्याचेनेब कामेन व्याकुलीकृतमानसः ॥

हितादितं न जानाति निर्विचिकीकृतोऽधमः ॥ ९१४ ॥

विजयोदया—कामपिपायगहिदो कामपिशाचगृहीतः हिदमहिदं वा न वेत्ति, विद्याचेन गृहीतः पुरुष इष

सत्रा धनारमयशो भवति ।

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—पिशाचग्रस्त मनुष्य जैसा आपमें नहीं रहता है वैसा कामपिशाचके वश हुआ मनुष्य हिताहित

जानता नहीं. वह बुद्धिभ्रष्ट होता है-

णीचो ध णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ॥

कामुम्मत्तो लज्जासुओ वि तह होदि णिल्लज्जो ॥ ९०१ ॥

नोपकारं कुलीनोऽपि कृतघ्न इव मन्यते ॥

लज्जासुरपि निर्लज्जो जायते भवनातुरः ॥ ९१५ ॥

विजयोदया—भीचो व गरो नीच इव नरः छलमपि बहुमुष्कारं न गणयति । कुलपुत्रोऽपि खन्धामोन्मत्तो, लज्जायानपि पूर्व विगतलज्जो भवति ।

मूलार्थ— गीनो व अकुडीन इव । कुलपुत्रको कुलीनः ॥

अर्थ—नीच मनुष्य सज्जनोने किये हुए उपकारको भूल जाता है वैसे कामपीठिव मनुष्य प्रथम लज्जा-वान होता है परन्तु अन्तमें वह लज्जाको विलांबलि देता है.

कामी सुसंजदाण वि रूतसि चोरो व जग्गमाणाणं ॥

पिच्छदि कामगयथो हिदं भणंते व सचू व ॥ १०१ ॥

सैनो या जागरूकेभ्यः संयतेभ्यः प्रकुप्यति ॥

द्वितोपदेशानं कामी द्विपन्नमिव पदयति ॥ ११६ ॥

विजयोदया—कामी सुसंजदाण वि कामी सुसंयतानामपि वयति । जाग्रतां चोर इव कामप्रस्ताः, भेषते विले प्रतिपादयतः शत्रुरिव ॥

मूलार्थ— कामगयथो कामप्रस्ताः ॥

अर्थ—कामी मनुष्य संयमी मनुष्योपर रुष्ट होता है जैसा चोर जागरण करनेवाले पुरुष पर लूट होता है. लो मनुष्य उसको हितका उपदेश करते हैं उसको कामीपुरुष शत्रुके समान गिनता है.

आयरियउवउद्दाए कुलगणसंघस्स होदि पडिणीओ ॥

कामकलिणा हु घत्थो धम्मियमार्वं पयहिदूणं ॥ १०३ ॥

सूर्योपाध्यायसंघानां जायते प्रतिकूलिकः ॥

धार्मिकत्वं परित्यज्य प्रेर्यमाणो मनोमुवा ॥ ११७ ॥

विजयोदया—अयरियउवउद्दाए वाचायोणां अभ्यापकानां, कुलस्य सुवशिष्यवर्गस्य, सूर्यधर्मश्रावुशिष्याणां वा । चातुर्वर्ण्यस्य वा संघस्य च संपत्तिं प्रति कुलः कामकलिना प्रस्ताः धार्मिकत्वं विहाय ॥

मूलात्—उपज्ञायाग आचार्यकाः । कुल स्वगुरुशिष्यवर्गो । गुरुपदमंभ्रातृशिष्यो वा । गण स्वशिष्यवृन्द । सप्त
पादुपपन्थम् । पट्टिनीओ प्रतिवृत्तः । फलि दोषः ॥
अर्थ—कामदोषसे न्यास हुआ गुरुव आचार्य, उपाध्याय, गुरु और शिष्यवर्ग और अपने सहाध्यायी,
चातुर्वर्ण्य और संपर्क प्रतिकूल होता है-

कामव्यत्यो पुरितो तिलोयसारं जहृदि सुदलामं ॥
तेलोकपूइदं पि य माहृपं जहृदि विसयंधो ॥ ९०४ ॥

माहात्म्यं भुवनरूपतिं सुतलामं च मुंचति ॥
सतृणावक्ष्या सारं मोहाच्छावितचेतनः ॥ ९१८ ॥

विजयोदया—कामव्यत्यो कामवस्तुनः । तिलोक्यसर्वसात्मयि सुतलामं जहति । त्रैलोक्येन पूजितमपि माहा-
त्म्यं त्यजति विपर्वाधः ॥

मूलात्—रष्टम् ।

अर्थ—कामवस्तु मनुष्य त्रैलोक्यमें सर्वोत्कृष्ट और साररूप ऐसे भुवक्षानके लाभको छोड़ता है. त्रैली-
क्यसे पूजनीय ऐसा भी अपना माहात्म्य वह कामवस्तु होकर खो बैठता है.

तह विसयामिसयत्यो तणं व तवचरणदंसणं जहइ ॥

विसयामिसगिद्धत्सं ह्युण्ठिय अकायव्वयं किंचि ॥ ९०५ ॥

जीर्णं तृणमिव मूल्यं चतुरंगं विभुंचतः ॥

नाकूल्यं विद्यते किंचिज्जिह्वसोर्विषयामिपयम् ॥ ९१९ ॥

विजयोदया—तह विसयामिसयत्यो विषयामिपलंपटः । तृणमिव तपस्वरणं दर्शनं च जहति । विषयामि-
पलंपटस्य नास्त्यकार्यं किंचित् ॥

मूलात्—आमिस आहारः । परत्यो लंपटः ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें स्पष्ट होकर कामी पुरुष रत्नत्रयको तिनकेके समान त्याग देता है तब छोड़ता है. उसके लिए अकार्य कुछ भी नहीं है.

अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्ववग्गणं ॥

कुणदि अवणो णिञ्च कामुम्मत्तो विगयवेसो ॥ ९०६ ॥

एह्मात्थयवर्णवाधं यः पूजयानां परमोष्ठिनाम् ॥

अकूत्थं कुर्वतस्तस्य मर्यादा कामिनः कुतः ॥ ९२० ॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धभाषारिय अर्हतां, सिद्धान्तं, मात्वार्याणां, उपाध्यायानां, सर्वेषां यतीनां वार्षार्णवाधं करोति नित्यं विदुतयेयम् ॥

मूलार्थ—अवणं अकीर्तिं । विमद्वेसो विकृतयेयः । विमद्वयविरूप इत्यर्थः ॥

अर्थ—कामी पुरुष अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्व मुनिओंकी सेवा निंदा करता है. अर्थात् उनमें दोष न होनेपर भी दोषारोपण करता है. और यदि स्वयं ब्रह्म यदि होना तो यतिपना छोड़कर अन्य वेप धारण कर यथेष्टाचरण करता है.

अयसमणत्थं दुःखं इहल्लोए दुग्गवा य परलोए ॥

संसारं पि अणंतं ण सुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥ ९०७ ॥

स दुःखमयशोऽनर्थं कलमयं द्रविणक्षयम् ॥

संसारसागरेऽनन्ते भ्रमणं च न मन्यते ॥ ९२१ ॥

विजयोदया—अयसमणत्थं अयता अनर्थः । दुःखं वेदपरलोके पुणं गर्हि, संसारमप्यनंतं भाविनं न चेति विपयानिधेयुदः ॥

मूलार्थ—स्पष्टम् ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें आसक्त होकर वह कामी अयश, अनर्थ, दुःख, ईद परलोकमें अशुभगति,

और अनंत मंसारकी शुद्धि इन गारोन्को वह वानसाही नहीं अर्थात् में विषयलपटी चनेसे मेरी डुरी हालत नमेगी मेरेको ससारमें अनंतकालतक दुर्गति धारण कर अपकीर्ति के साथ प्रमण करना पड़ेगा इन गारोका वह विचार ही नहीं करता है

णीचं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी ॥

बहुगं पि य अवमणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥ ९०८ ॥

उच्चोऽपि सेवते नीचं विषयाभिपसांक्षया ॥

स्मरार्तः सहतेऽवक्षां मानयानपि मानवः ॥ ९२२ ॥

निजयोदया—णीचं पि विसयहेदुं शानकुलाभितीव म्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुद्धमतिः ।
परितपं महातमपि धनिमि क्रियमाणं सहते विषयाय ॥

पूजारा—अवमाण धनिभिः क्रियमाणं पराभवं । माणी वि मानवानपि ।

अर्थ—विषयसेवनेरु लिए वह उच्चकुलीन और बुद्धिमान होकर भी विषयमें लुब्ध होकर ज्ञान, जाति और कुलादिसे हीन ऐसे नीच पुरुषोंकी सेवा करता है तथा उसका मानी स्वभाव होते हुएभी वह विषयांच नौचोमे किये गये अंगेरु अपमानोंको, और धनिओसे किये गये अपमानोंको सहता है-

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुंछियं विगदमाणो ॥

वारत्तिओ वि कम्मं अकासि जह लांघियाहेदुं ॥ ९०९ ॥

कुर्लानो निन्दितं कर्म कुरुते विषयाशया ॥

जिधुसुर्नर्तको वृत्तं चारित्रं त्यक्तवान किं ॥ ९२३ ॥

विजयोदया—णीचं पि कुणदि नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टमोजनादिकं कुलीननिन्दितं विनयाभिमानः ।
धारात्तिगो नाम यत्तिरक्तिगदितं कर्म वृत्तगन् यथा कुलीन खीनिमिच्छ ॥

पूजारा—णीचंपि उच्छिष्टमोजनादिक । वारत्तओ वारत्तको नाम यतिः । अकासि अकाशीत् कृतवान् ।
एविषयाहेदु नर्तकीनिमिन्नम् ॥

अर्थ—कुलीन जिसकी निंदा करते हैं ऐसा कर्म-कृत्य वह विषयी पुरुष अभिमानको तिलांजली देकर करने लगता है. उच्छिष्टभोजनादिक कार्य नीच कार्य है. ऐसे कार्य वह करता है. कुलीन ऐसा वारत्रिक नामक यतिने नाचनेवाली स्त्रीके निर्भिन्न भिन्नकर्म किये थे- यह उदाहरण है.

सूरो तिक्खो सुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सघणस्स ॥

विसयागिसम्मि गिद्धो माणं रोतं च मोत्तुणं ॥ ९१० ॥

कामी शूरोऽपि तीक्ष्णोऽपि मुख्योऽपि भवति स्फुटम् ॥

चिरगर्वः श्रामनो वदयो वैषयस्य गदवानिव ॥ ९१४ ॥

विजयोदया—सूरो तिक्खो सुक्खो वि होइ सुखलीणो मुख्योऽपि धनिको अन्त्य वसवर्ती भवति । विषयभिलाषे नृपः युक्तः अनिर्माने रोष सुक्खा ॥

मूलात्—तिक्खो असहताः । सुक्खो सुखः, प्रधानः, वसिगो वसवर्ती ॥

अर्थ—विषयभिलाषी होकर छद्म, निगुण और सुम्य ऐसा भी पुरुष विषयवश होकर मान और रोपको छोड़कर धानिक जैसे नभते हैं ऐसा नाचता है.

माणी वि असरिससत्ति चट्टयम्मं कुणदि पिच्चमविलज्जो ॥

भादापिदरे दासं वाथाए पररस कामेती ॥ ९११ ॥

विधत्ते धादु नीचस्स कुलीनो मानवानपि ॥

मातरं पितरं वाचा दासं कुर्वन्नपन्नपः ॥ ९१५ ॥

पिजयोदया—माणी वि असरिसस्स वि मानी वासदत्तस्यापि ॥ चाट्टं करोति । याचा आत्मीयां मातरं पितरं या गत्यमाणादयति । त्वादां दासो गृहे भवामीति वदन्तरे कामयमानः ॥ ०

मूलात्—असरिसस्स वि नीचस्यापि । चट्टयम्मं धादुवाएर्पूर्वकं कर्म वादमर्दानादिष्ठं । अविलज्जो निर्लेजः सन् । कामेती कामयमानः कुर्वन् इत्यर्थः । मम माता तव दासी मम पिता तव दास इति कथयन् । उक्त च—

मात्री च करोति सदा बहुकर्मां लब्धितोऽप्यसदृशस्य ॥
 मातापितरौ दासस्य कथयति लोकस्य कामांभः ॥
 इमां गाथां टीकाकारो नेच्छति ॥ ०

अर्थ—मात्री मनुष्य मी हीन जातीय लोगोंकीभी विषयलंघन होकर सुशामत करता है. उनके पात्र दावना शरीर मर्दन करना योग्य कार्य करता है. और निर्लज्ज होकर मैं दास बनकर तेरी सेवा करूंगा ऐसा कहता है. मेरी माता और पिताभी तुमारे दास बनेंगे ऐसा कहता है.

वयणपडिवचिकुसलत्तणे पि णासइ णरस कामिस्स ॥

सत्थपहृल्लव तिकत्ता वि मदी मंदा तहा इवदि ॥ ११२ ॥

विजयोदया—यद्यपण्डियत्तकुसलत्तणं पि पवने प्रतिपत्तौ ॥ कुशलतापि विनश्यति कामिनो नरस्य ।
 दास्यमदत्ता दासे वदित्ता वसितीक्ष्णापि मत्ति कुंडिता भवति ॥

अर्थ—कामी मनुष्यका वचन-चातुर्य और उसकी बुद्धीकी चतुरता नष्ट होती है. शास्त्रोंका निरूपण करने-वाली अविद्या चातुर्ययुक्त भी उसकी बुद्धि मंद हो जाती है.

होदि सचक्खू वि अवक्खुव वधिरौ वा वि होइ सुणमाणो ॥

दुट्ठकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥ ११३ ॥

न पदपति संनेत्रोपि सञ्चोत्रोऽपि शृणोति न ॥

कामार्तः प्रमदाकाक्षी दन्ताव हनन्तेनः ॥ ११४ ॥

विजयोदया—होदि सचक्खू वि अवक्खुव चक्षुभ्यामपि अवश्रुतिव भवति । परं समीपस्थमपि यतो न पश्यति । गृहीतो वा वि होदि वधिर इव भवति । सुणमाणो शृण्वदपि अव्यक्तश्रवणात् । दुट्ठकरेणुपसत्तो दुष्टनटिणीमसक्तः । वणहत्थी चेव वनहत्थीनः । संमूढः ॥

मूढारा—अचक्खुव अप इव समीपस्थमपि यतो न पश्यति । सुणमाणो शृण्वन्नपि । वधिर इव भवत्यव्यक्त-श्रवणात् । वणहत्थी चेव वनगज इव ॥

अर्थ—वह कामी मनुष्य नेत्रयुक्त होकर भी अंगोंके समान होता है- अपने पायकी भी वस्तुको वह देखता नहीं- सुनकर भी बहिरोंके समान अनुसुनी कर देता है- जैसे वनका उन्मत्त हाथी दुष्ट हाथिनोके वश होकर मूढ वन कर कुछ सुनता नहीं कुछ देखता नहीं- वैसे ही कामी पुरुषकी स्थिति होती है, वे हितकी बातें सुनना नहीं चाहते हैं- और हितकर विनमूर्ति, सुनि वगैरोंको दर्शन करना नहीं चाहते हैं-

सलिलनिबुद्धोऽप्य णरो युञ्जतो विगयचेयणो ह्रीदि ॥

वृक्षो वि होह मंदो विसयपिसाओवहृदन्विचो ॥ ९१४ ॥

सलिलेनैव कामेन सद्यो जाण्यविधायिना ॥

वक्षो वि जायते मंदो नीयमानः समंततः ॥ ९१७ ॥

विजयोऽप्य—सलिलनिबुद्धो युञ्जतो परोऽप्य सलिलनिमग्नः प्रवाहेणोत्समणो नरो यथा । विगयचेयणो विगत-
चित्तन्यो भवति । वृक्षो वि होह मंदो वक्षोऽपि स्ववैकाग्र्ये नवीणोऽपि जडो भवति । विसयपिसाओवहृदन्विचो
पिपयपिशाणोपहतचित्तः दिवया रूपादप्यधैतोकिञ्चमेतुत्पारिपानाः स्येति विषयाः पिशाचा इत्युक्ताः ॥

मूळारा—युञ्जतो प्रवाहेणोत्समणः । वरलो सर्वकार्येषु प्रवीणः । विसयपिसाओवहृदन्विचो रिपया रूपादप्य-
पिशाच इव चेदोदिभ्रमहेतुत्वात् । मनुष्यदुःखमनाः ॥

अर्थ—जैसे पानीके प्रवाहमें डूबा हुआ और यहता जा रहा है ऐसा मनुष्य चेतनरहित अर्थात् मूर्छित होता है, वैसे पानों इन्द्रियोंके त्रिषयरूपी पिशाचसे ग्रस्त हुआ मनुष्य यदि कार्यं कुशल हो तो भी वह मंद बुद्धि होता है, अर्थात् रूपादि पदार्थोंमें उसकी बुद्धि दौढ़ती है अतः इतर कार्यों में वह मंदसा होता है-

चारसत्रासाणि वि संवसिन्तु कामादुरो ण णासीय ॥

पार्वगुहमसंतं गणियाए गोरसंदीचो ॥ ९१५ ॥

चर्पद्वावशकं चेदयां निपेज्यापि स्मरातुरः ॥

नाशासीन्द्रोरसंदीचः पदांशुप्रमशोभनम् ॥ ९१८ ॥

विजयोदया—धारसवासाणि द्वादशवर्षमात्रं सहोदित्वापि । कामादुरोपि । कामतुतोपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकायाः पापंगुणमसन्ते ॥

मूलरा—संवसितु सहवासं कृत्वा । न जासीय न ज्ञातवान् । असंतं अविद्यमानं असोमनं वा शोर्णमित्यर्थः । गणियाण वेदयायाः कायसुंदरीनाम्याः । गोरसंदीपो मुनिर्नामेदं ॥

अर्थ—गोरसंदीप नामक मुनि चारा वर्षतक एक कायसुंदरी नामक गणिकाके सहवासमें रहा था परंतु उन गणिकाके पापको अंगुठा नहीं था यह बात उसको माखमही नहीं थी.

सीदं उण्हं तण्हं सुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ॥

सुकुमारो वि य कामी सहह भारमवि गसयं ॥ ११६ ॥

शीतमुष्णं क्षुधां तृष्णां दुराहारं पयि अमम् ॥

दुःशय्यां सहते कामी वहते भारमुल्बणम् ॥ ११७ ॥

विजयोदया—सीदं उण्हं तण्हं सुहं च । पंथसमं भारगमनखेदम् ॥
कामी सुकुमारोऽपि शुभमपि भारं वहति ॥

मूलरा—दुस्सेज्ज भत्त दुःशयनं दुराहारं च । पंथसमं मार्गगमनखेदम् ॥

अर्थ—ठंडी, जल, प्यास, भूख, खराप शय्या, खराब आहार, और मार्गभ्रम इन सबको कामी मनुष्य सहता है. वह सुकुमार होनेपर भी पदा भार धारण करता है.

गायदि णच्चदि धावदि कसह ववदि लवदि तह मलेह्ण णरो ॥

तुण्णइ उण्णइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥ ११७ ॥

क्षुण्यते कृप्यते लूयते पूयते प्राप्यते पाचते सीव्यते चिज्यते ॥

श्रियते भिद्यते क्रीयते दीर्यते रज्यम्यते रज्यते सज्यते कामिना ॥ १३० ॥
विजयोदया—गायदि णच्चदि—गायति, सुलति, घावति, ऊपति, वषति, लुप्ताति, ग्रहीयति, सीव्यति, पट्टवस्ना-
दिययनं करोति । याचते कुलप्रखलोऽपि सम्बिषयमुपगत आत्मानं भार्यां च पोषयितुं ॥

मूढारा—किमिदि कृणति श्रेत्रं पाहयतीत्यर्थः । उषदि सुतावि, नलोदि मर्ययति । तुष्णेदि तुष्णयति । विणदि
ययति ॥

अर्थ—विषयपदा उच्चरुतीन मनुष्य गाता है, नाचता है, दौड़ता है, बाँव चोता है, जमीन नांगरता है,
मर्दन करता है, लपेटे मीठा है, कपेटे चुनता है, अपना और पत्नीका पोषण करनेके लिये उपर्युक्त कार्य करता है-

सेवदि णिवादि रक्खदि गोमहिस्सिमजावियं हयं हत्थि ॥
ववहरदि कुणदि सिप्यं तिणेहपासेण दढवद्धो ॥ ९१८ ॥
गोमहिप्पीहयरास भरक्षी काठहूणोदकगोमयवाही ॥
प्रेषणकंठणमार्जनकारी कामनरन्द्रस्यास्ति मनुदयः ॥ ९१९ ॥
आयुधैर्विचिधैः कीणां रणक्षोणों विगाहते ॥

लेखनं कुरुते वीनः पुस्तकानामनारतम् ॥ ९२० ॥
संपुस्तानां कर्पति क्षोणों गर्भिणीमिच योपितम् ॥
अधीत्य यदुशःशस्त्रं कुरुते क्षिनुपाठनम् ॥ ९२१ ॥
क्षिस्तपानि बहुभेदानि मनुते परतुष्ये ॥
विघेते वचनां विभ्रां वाणिज्यकरणोद्यतः ॥ ९२२ ॥
अवमन्य भवान्भोद्यौ पतनं बहुवीचिरे ॥
किं किं करोति नो कर्म मत्थो मदनलंघितः ॥ ९२३ ॥

विजयोत्पदा—सेवदि णिवादि सस्यावगणं एणादिमेव । निजति, रक्खति मां, महिप्पीं, अजाः, आसिकं,
दयं, दस्तिनो वा । पाणिज्यं करोति । समस्तैपुण्यं प्रवीय उत्कृमादिकं करोति कामिनीगतबेदभावेन दढवद्धः ॥

मूढारा—सेवदि णिवादि सेवते नीचादिकं । अथवा सेवदि राजादिसेनां करोति । णिवादि निन्दयति सस्याव-
गणं प्रगादिकमुत्पादयतीत्यर्थः । अजाविगं छामनेयं । ववहरदि वाणिज्यं करोति । सिप्यं क्षित्यं करकोशलं काष्ठविभ्रादिकर्म ।

अर्थ—स्त्रीके स्नेहपाशसे जलवा हुआ वह कामी मनुष्य नीच मनुष्यकी अथवा राजाकी सेवा करता है। धान्यके बीचमें उत्पन्न हुआ घृण निकालता है। गाय, भैस, बकरा, हाथी, घोडा वगैरह प्राणिजोंका रक्षण करता है। व्यापार करता है, इस्वफौजाल्यके कार्य करता है। अर्थात् नानाप्रकारके काठके चित्रादिक बनाता है-

वेदेइ विसयहेदु कलत्तपासेहि दुब्बिमोएहिं ॥

कोसेण कोसियारुत्त दुम्मदी णित्त्व अप्पाणं ॥ ११९ ॥

दुमोच्चै. ऋग्मिनीपातौः कामी चेष्टयते कुर्षीः ॥

लालापाशैरिधात्मानं कोवकादृग्भिः स्वयम् ॥ १३६ ॥

चित्रादिक—वेदेइ विसयहेदु चेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मानं कलत्तपाशैर्मोचयितुमशक्यैः कोशेन कोशकारकोट इव दुर्मतिः ॥

मूलार्थ—वेदेवि चेष्टयति यन्नाति । दुब्बिमोयेहिं मोचयितुमशक्यैः । कोसेण लालातंतुजालेन ।

अर्थ—निपचसुख भोगनेकी इच्छासे जिसका छुटना अशक्य है ऐसे स्त्रीके स्नेहपाशसे कामी मनुष्य अपनेको नेष्टित करता है। जैसे रंजुमको उत्पन्न करने वाला फीडा अपने मुससे निकले हुए तंतुओंसे अपनेको वेष्टित करता है।

रागो दोतो मोहो कसाथेपेसुण संचिलेसो य ॥

ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक कलहो य ॥ १२० ॥

रागो द्वेपो मद्रोऽसूया पैअन्यं कलहो रतिः ॥

चचनेण्ण्यो परामृतिदोपाः सन्ति स्मरादुर ॥ १३७ ॥

विजयोदया—रागो दोसो रणो द्वेप, अहानं, कयाया. परदोपसंस्तवनं, संक्षेपः, ईष्यो, हिंसा, मृदा, परगुणासदनं, स्तैन्यं कलहश्च ॥

मूलार्थ—मोहो अहानं । पेसुणं परदोपसूजनं । मोसं असत्त्वं । असूया परगुणासहनं । चेणिकं नोचं ॥

लंघणपरिमवणिग्यद्विपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो ॥

वित्तयाउलम्भि मुलहा सन्वे दुस्त्रावहा दोसा ॥ १२१ ॥

विजयोदया—लंघणपरिमव जल्पनं परिग्रहः । वंचना परोक्षपवाद् ॥ शत्रुः, रोगशोको, धननाश इत्यादयः ।

वित्तयाउलम्भि मुलहा विपयकुले मुलभा- सर्वेऽपि दुःखावहा दोषाः ॥

मुलारा—लंघण दोषोद्धोषणं । विगद्वि निरुक्तिः वंचना । परिवाद परोक्षा अपवादः । वित्तयाउलम्भि विपया-
कुले शुचि ॥

अर्थ—जो विपयसे दुःस्वित है ऐसे मनुष्यमें रागद्वेष, मोह, अज्ञान, कृपाय, परदोषोक्ता कथन-भरना, संश्लेष परिणाम, ईर्ष्या, स्पृहा, हिंसा, अतत्यभाषण, अन्योक्ते शुण सहन न करना, चोरी और कलह ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं। बढावदना, परामर्ज, फमाना, परोक्षमें निंदाकरना, रोग, शोक, धननाश वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं प्रायः ये सब दोष कामी मनुष्यमें सुलभतया उत्पन्न होते हैं-

न केवलमात्मन एव अपि नु परोक्षद्रव्यमपि करोति कामीति वदति—

अवि य बहो जीवणं मेहुणसेवाए होइ बहुगणं ॥

तिलणालीए तत्ता सलायचेसो य जौणीए ॥ १२२ ॥

तिलनात्यमिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेक्षणे ॥

तिलानां देहिनां पैटार योन्पां स्तिग्मप्रवेक्षणे ॥ १२४ ॥

विजयोदया—अवि य बहो जीवण । अपि य बहूनां जीवानां वयो भवति । मेहुणसेवया । जौणीए योन्पां । तिलैः पूर्णायां नाडिकायां तप्तारः शलोः काप्रवेक्ष इव ॥

मूलाए—अपि य अपि य । न केवलं मैखुनं भवन्नात्मनमेव तैस्तेर्दोषैः, वदयति किं तर्हि योर्निर्जिततपि यद्वत् दितस्ति इत्यधिकमुच्यते इत्यर्थः । तत्तासंपवेसे य कालोदसलाभ्यां प्रवेदयमानायां तिलपूर्णनाडिकायां तिलानां चाथा यथेति संबंधः ॥ उक्तं च—

तिलवात्स्यामिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेक्षणे ॥

। तिलानां देहिनां पीढा योन्पां, स्तिग्मप्रवेक्षणाए ॥

कामी पुरुष स्वयंही इतने दीपसे पीडित होता है ऐसा नहीं परंतु दूसरोंकोभी उपद्रव करता है—
अर्थ—मैथुन सेवन करनेसे वह अनेकजीवोंका वध करता है- जैसे तिलकी फलीमें अग्निसे तपी हुई सलाई
ग्रसिए होनेसे सब तिल जलकर खाक होवे वैसे मैथुन सेवन करते समय योनीमें उत्पन्न हुए जीवोंका नाश होता है-

कामुग्मन्तो महिलं गम्मागम्मे पुणे अविण्णाय ॥

सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्येदि ॥ ९२३ ॥

इच्छावतीमनिच्छां स्त्रीं दुर्बलां दुर्बलां कुधीः ॥

अज्ञात्वा याचेते कामी सर्वोच्चारधर्मिवः ॥ ९२९ ॥

पितृपोदया—कामुग्मन्तो कामोन्मत्तो । स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उत्तस्त्रिगन्त्र्यमभोग्यमिति
अपिषात्य इदमित्यमशुचि इति श्रूयते । सुलभां दुर्बलां आत्मनश्च जलायवतीं मित्रमिक्षाणां च प्रार्थयते ॥

मुक्ताः—गम्मागम्मे स्त्रियाःशरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उत्तस्त्रिगन्त्र्यमभोग्यमिति
सुलभां दुर्बलांमास्तीच्छावतीमनिच्छावतीं वा कामोन्मत्तः स्त्रियं प्रार्थयते इति टीकाकारः । अन्ये तु गम्मागम्मेमित्यपि
महिलाविशेषणमाहुः । तथा च तद्ग्रन्थः—

कामोन्मत्तो गम्यागम्यरूपां च दुर्लभां सुलभां ॥

अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम् ॥

अर्थ—कामविकारसे उन्मत्त हुआ मनुष्य स्त्रीका शरीर और अपना शरीर भोग्य है या अभोग्य है इसका
कुठभी विचार नहीं करता है. यह शरीर पवित्र है वा अपवित्र है इसका भी वह विचार नहीं करता है. यह स्त्री
दुर्लभ है या सुलभ है, यह स्त्री भेरी अभिलाषा करती है या नहीं इसका बिना विचार करके ही उसकी वह प्रार्थना
करने लगता है.

दृष्ट्वा परकलत्रं किहिदा पत्येद्दु निषिण्णो जीवो ॥

ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥ ९२४ ॥

परकीयां स्त्रियं हृष्ट्वा किं कांक्षति चिमूढधीः ॥

न हि तां लभते जातु पापार्जयते परम ॥ ९४० ॥

विदुरोदया—बहुल परकलत्वं पर्याप्तं फलत्रयं हृष्ट्वा । कथं वा सत्यार्थयते जीवो निरस्तलज्जो भवेयं भवतीति ।
प्लव्यां प्रार्थनामात्रादभिगतायां तु ये प्राप्नोति । प्राप्तं निवोगेनार्जयति ॥

परदारतत्प्रार्थयमानं सुगुप्सते—

मूलारा—किं कथं तयात् । निम्बिजो निम्बजः । तस्य प्रार्थनामात्रमात्रे परकलत्वे । य अज्जदि उपार्जयत्येव ॥

अर्थ—परस्त्रीको देवकर यह मनुष्य निर्लज्ज होकर कैसे प्रार्थना करता है- यह सही नहीं होगी ऐसा

समझकर क्यों प्रार्थना करता है? प्रार्थना करनेसे तथा वह प्राप्त होने पर भी दुःखही प्राप्त होगा और नियमसे भावो-
पाजन होगा।

आहृष्टिदूण चिरमपि परस महिलं लभितुं दुक्खेण ॥

उप्पितमविस्तथं अणिब्बुदं तारिसं चेव ॥ ९४१ ॥

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथंच न ॥

अनिर्घृतमविश्वस्तं सेवने तादृगेव सः ॥ ९४१ ॥

विदुरोदया—आहृष्टिदूण चिरमपि चिरकालमभिलष्यति । परस्तं महिलं परस्य महिलं परस्य स्त्रियं ।
दुक्खेण लभितुं क्लेशेन लभया । उप्पितं व्याकुलप्रयत्नयत्तन्मनिर्घृतं चरणं इति क्रियाविशेषत्वेन नेत्रं । तारितो चेव यथा
तदीयाभातेः पूर्वमव्यमददः पश्चादपि तदीयावृत्तद्वयव्याप्ताहता इत्युच्यते ॥

परस्त्रीसेविनमनुसोचति—

मूलारा—आहृष्टिदूण अभिलष्य । वलियमं सोत्तरात् । उप्पित्थदिति पाठेऽपि ॥ अर्थ—अस्वीकृत्यं आधिगृह्या-
समाकुल वा । अणिब्बुदं अतिसूक्ष्मं । सेवमान इत्याद्याद्याधीक्यायास्त्रीण्यपि विशेषणानि । तारितो चेव पूर्वपदविकृत्यचित्त
एव भवति । उक्तं च—

अभिलष्य चिरं लब्ध्वां परनारीं कथं न च ॥

अनिर्घृतमविश्वस्तं सेवने तादृगेव सः ॥

अर्थ—चिरकाल परस्त्रीकी मनमें अभिलाषा करने परभी कदाचित् उसकी प्राप्ति होतीभी नहीं। अथवा कटसे मिलभी गई तोभी उसका भोग लेते समय मनमें भय उत्पन्न होता है- मनमें अविश्वास उत्पन्न होता है- जिसमें सुखकी प्राप्ति होती नहीं। अर्थात् मिलनेके पूर्व जैसा वह अवसु या वैसा मिलनेपर भी भयादि विकार उत्पन्न होनेमें अवसुही रहता है-

कहमवि तमंघयारे संपत्तो जतय तत्थ वा देसे ॥

किं पावदि रदसुक्खं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥ १२६ ॥

यत्र तत्र प्रदेवो तामंघकारे कथंचन ॥

अवाप्य त्परितो भीतो रतिसौख्यं किमश्नुते ॥ १२७ ॥

विजयोवया—कथमपि तमंघकारे केनचित्प्रकारेण परंपर्यां प्राप्तः । अंघकारं संग्रहः । तां यत्र तत्र वा देशे, शय्यगृहे शून्यापत्ते, भटन्यां च किं प्राप्नोति ? रतिसौख्यं । प्रकाशे स्वभिलषितानवयवार्थस्त्वयाः पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुखं भवति । नान्यथेति भावः । किं प्राप्नोति रतिसुखं भीतः सन् राजपुत्रेभ्यस्तस्या वा संबंधिभ्यः । पश्यति मां, परे परमंति मां, परपत्नीति वा संग्रहणं अपि तया त्वरितं किं पुनरुत्तम् ॥

परस्त्रीसेवायां तमेव सुसाभावमुद्धितति-

मूलारा—मं परमहिंसां । अथतय शून्यगृहादौ । भीदो तत्पतिराजपुरुषादिव्यलस्तः । तुरिदो उपालोकः ।

विजयवो विगतसंभरणः । प्रकाशे तन्मनोप्रावययान्पश्यतो मृदुमयनतले तदास्तिगनादि कुर्वतो निर्भयनिराकुलतया पचनहसनादिकमनुभवतश्च समोगसुखं भवतीति भावः ॥

अर्थ—दुसरको फसाकर किसी तरह अंघकारमें उसकी प्राप्ति भी हो गई तो शून्य घरमें, शून्य देवाल-यमें अथवा जंगलमें उसके साथ सम्भरण होनेसे क्या रतिसौख्य मिलेगा अर्थात् उसके मनमें यदि इसका पति इस दोनोंको देखेगा, अथवा राजाधिकारियोंके नजरमें हूय आजावेग्य किंवा परस्त्रीके कोड़े संबंधी यदि हमको देखेगे तो वे हमको पाँधेंगे, मारेंगे ऐसे विचारसे उसके साथ उसको मापण करनेके लिये भी निर्व्याकुलता नहीं रहती है तो उसके साथ रतिसुखकी प्राप्ति कैसी होगी? रतिसुखकी प्राप्ति होने पर भी वह सुखी नहीं होता है- प्रकाशमें व्याकुलतारहित मृदुशून्यापर परस्त्रीके सर्व अवयव देखनेसे, उसके साथ क्रीडा करनेसे सुख होगा अन्यथा नहीं- अत

परस्त्रीके सेवनमें मूल नहीं। उसके विचारमें अशुभ कर्मके आशय होते हैं जिससे आत्माको कुमतीमें दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं।

परमहंस सेवतो वैरं वधवंधकलहघणनासं ॥

पावद्दि रायबलादो तिस्रे णीयछयादो वा ॥ ९२७ ॥

सर्वसङ्घरणं रोषं वधं वंधं भयं कलिम् ॥

तज्जगतिपार्थिवारिभ्यो लभते पारदारिकः ॥ ९२८ ॥

विजयोदया— परमहंस सेवतो परल्लिखं सेवमान, वैरं, पधं, वंधं, कलहं, घटनार्थं च प्राप्तमिति राजमूलार
तस्या। तज्जगत् ॥

परस्त्रीभोजोऽपायनाह—

मूलार—तिस्रे तस्याः ।

अर्थ—परस्त्रीका सेवन करने वालोंको राजासे अथवा परल्लिखिके संबंधियोंते वैर, वध, वंध, कलह, घटनार्थ वगैरे आपत्ति प्राप्त हो जाती है।

जदि दा जणेइ मेहुणमेवा पावं सगग्भि दारग्भि ॥

अदितिव्यं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥ ९२८ ॥

अनर्थकारणं पुंसां कलजे स्वेपि मैथुने ॥

करोति कल्मषं घोरं परकीये ण हि पुनः ॥ ९२९ ॥

विजयोदया—अदि ता जणेइ यदि साधज्जनयति मैथुनकर्मसेवा किं पावं सगग्भियां । अतितीव्रं पापं कर्तं ॥
मयेत् परदारसेविस्स परल्लिखितः । अदत्तादानमन्त्रोक्ति हो यतो दोषी ॥

परदारसेविनस्तीम्रतरसापबंधमाह—

मूलार—अदितिव्यं अदत्तादानमन्त्रासेवनदोषद्वयावेशात् त्रीम्रतरस्त्वमिति भावः ॥

अर्थ—अपनी पत्नीमेंनी यदि मैथुनसेवन करनेसे पाप उत्पन्न होता है. तो परस्त्रीके साथ मैथुन सेवन करनेसे परस्त्रीसेवी मनुष्यको तीव्र पापकर्मका कर्षो बंध न होगा. परस्त्रीसेवन करनेमें चोरी, ब्रह्मचर्यविनाश ऐसे दो दोष उत्पन्न होते हैं. परस्त्री न दी हुई चस्तु है.

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ॥

अह दुक्खमप्पणो होइ तहा अण्णरस वि णरस्स ॥ ९२९ ॥

यथाभिद्रूमाणासु स्वस्तमाहसुताविषु ॥

दुःखं संपपत्ते स्वस्य परस्यापि तथा न किम् ॥ ९४५ ॥

विजयोदया—मादा धूदा मातरि सुहितारि भगिन्यां परेण विप्रिये कृते कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति । तथा तस्यापि नरस्य दुःखं भवति । तन्मायाविप्रिये असद्व्यवहारे सति ॥

स्वस्येव परस्यापि परेण मात्रादिषु दुराचारकरणे दुःखं भवतीत्येवंविधविचाररहितः पारदारिकोऽसद्व्यवहारादितिबीजपापं संक्षिप्तेनीत्येतद्वायादयेनाह—

मूलारा—धूदा पुत्री ।

अर्थ—माता, लडकी, अपनी पत्नी, और अपनी बहिन, इनके साथ किसीने कुछ दुराचार किया तो जैसे अपनेको दुःख होता है वैसे अन्य पुरुषकी माता, पत्नी, बहिन और लडकीयोंके साथ असद्व्यवहार करनेसे उसकोभी दुःख होता है ऐसा समझना चाहिये

एयं परजणदुक्खे णिरेवेक्खो दुक्खवीयमज्जेदि ॥

णीयं गोदं इच्छीणजंसवेदं च अदितिव्वं ॥ ९३० ॥

इत्थमर्जयते पापं परपीडाकृतोद्यमः ॥

स्त्रीनपुंसकवेदं च नीचगोत्रं द्रुत्तरम् ९४६ ॥

विजयोदया—एयं परजणदुःखे णिरेवेक्खो निरेपेक्खः पद्वाररतिप्रियो दुःखवीजं संचिनोति । किं ? । सज्जं कर्म, नीचगोत्रं, स्त्रीत्व, मनुष्यकत्वं च ॥

मन्त्राणां—भिरवेकस्ते निर्विचारः परदाररतिग्रिव इत्यर्थः ॥ दुःखवीर्यं असद्वैद्यं । भीचागोदं नीचैर्गोत्रम् ॥
अर्थ—जो दूसरोंके दुःखकी पूर्वा नहीं करता है उसको दुःखका चीज ऐसा असावावदनीय कर्मका बंध होता है और नीचगोत्र, क्षीरपना, नृपसंक्रमणा ऐसी अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है-

जमगिच्छन्ती महिलं अवसं परिभुजये जहिच्छाप् ॥

तद् य किञ्चिद्विजं जं सो तं से परदारगमणफलं ॥ १३१ ॥

सुखपते यदनिच्छन्ती क्षिप्र्यमानांगनावत्ता ॥

तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥ १४७ ॥

विजयोव्या—जमगिच्छन्ती महिलं यथेच्छन्ती पुमांसं स्त्रीत्वेन अवया यथेच्छया परिभुज्यमाना यद्विच्छापति तत्तस्या जन्मान्तराभारितपरदारगमणफलं ॥

प्राक्तनपरदाररत्युपार्जितवीर्यो बीर्यः क्षीपयांयमापलाः परपुत्रेण बलादुपशुभ्यमानाः क्लेशमुपैवीत्याह—

मूलाप—जं यत् । जमिच्छन्ती भोक्तारमकामयमाना । परिभुजये परपुत्रेण बलात्परिशुभ्यमाना सा स्त्री क्षिरयते । तं से तत्तस्य जन्मान्तरपरदारमुक्तिफलमिति सर्वथाः ॥ वक्तं च—

मुख्यते यदनिच्छन्ती क्षिप्र्यमानांगनावत्ता ॥

यदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥

अन्ये—जमगिच्छन्ती महिलां अयसं परि भुजये जहिच्छारा ॥

तद् वि किञ्चिद्विजं जं सो इति पठित्वा एवं व्याचक्षते—यदनिच्छन्तीमवदां महिलां परिभुंते यथेच्छया यथा परिभुजानोऽसौ निर्वृतिं न प्राप्नोति तत्तस्य क्लेशमात्रिरूपं परस्त्रीमुक्तिफलमिति । तथा योक्तम्—

यदयमकामयमानां कामयते योषितं बलादवत्ताम् ॥

यदेवमुपैति तवासौ वदस्य परदारगमणफलम् ॥

अर्थ—पुरुषको इच्छा न करनेवाली परंतु पुरुषके द्वारा जो बलात्कार किया गया उससे संकोक्षपरिणामोसे युक्त होती है- वह उसका पूर्वजन्ममें परस्त्रीभोगका फल है ऐसा समझना चाहिये- अर्थवृत्तिसेनं पूर्व जन्ममें जबरदस्तीसे

परस्त्रीका उपयोग लिया था यह पुल्ल इस जनमे स्त्रीमर्क्याको प्राप्ता होता है तब यह भी यत्नात्कारसे भोग जाता है।

महिलावेसविलंबी जे गीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ॥

तह बि ण पूइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥ ९३२ ॥

योपावेपचरः कर्म कुर्वानो न यदश्रुते ॥

कांदितं शर्म तत्तस्य परदाररतैः फलम् ॥ ९४८ ॥

विलयोदया—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपथिखंनपुसकवेदो जीबो नपुंसकपर्यायवापसः स्त्रीवेयं चारयन् यत्र तत्र कामनीढां शु-
चस्य पंदरत्वं परदारगमनफलम् ॥

जन्मांतरपरस्त्रीमुक्त्युपातिनपुंसकवेदो जीबो नपुंसकपर्यायवापसः स्त्रीवेयं चारयन् यत्र तत्र कामनीढां शु-
चैत्राणि न दृष्यतीत्युपदिशति—

मूलरा—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपथारी । कम्मवं कामनीढां । तं से सत्पंदत्वं तस्य स्त्रीवेपथारिणः ॥

अर्थ—स्त्रीवेप धारण करनेवाला पुरुष अर्थात् नपुंसक नीच कर्म करता रहता है वो भी उसकी इच्छा पूर्ण होती नहीं. यह उसका नपुंसकपना पूर्व जन्ममें परस्त्रीसंभोग करनेका फल है. अर्थात् परस्त्रीसंभोग करने-
वाले पुल्ल अन्य जन्ममें नपुंसक होते हैं.

मञ्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवसयसहस्सेसु ॥

अयसायासकरीओ होंति विसीला य णिन्चं से ॥ ९३३ ॥

जननी भगिनी भार्या देहजा बहुजन्यसु ॥

आयासाकीर्तिकारिण्यस्तस्य संति विशीलिकाः ॥ ९४९ ॥

विलयोदया—मञ्जा भगिणी मादा भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहसेषु अयसाः आयासं कुर्वन्त्यो
भवन्ति नित्यं विशीलास्तस्य ॥

पारदारिकस्य बहुषु भवेयु भार्यादयो विशीलाः संपद्यन्ते इत्याह—

मूलरा—सष्टम् ॥
अर्थ—परस्त्री सेवन नितने पूर्व जन्ममें किया था उसकी पत्नी, बहिन, माता और लड़की लक्षावधि जन्मोंमें अपनी करिनेवाली, दुःख देनेवाली और हमेशा न्यायचारिणी हो जाती है—

होइ सयं पि त्रितीलो पुरिसो अविदुज्जगो परमवेसु ॥

पवइ वषवंधादि कलहं निव्वं अदोसो वि ॥ ९३४ ॥

विशीलो दुर्भगोऽमुत्र जायते पारदारिकः ॥

निर्वोपोज्ज्यज्जुते चंवं संकेसं कलहं वधम् ॥ ९५० ॥

विजयोदया—होदि सयं पि मवाते लयमपि विशीलः, पुरुषो दुर्भगश्च ज्ञातेति नित्यं च वषबंधे आत्मा सकलहं च भवोचोऽपि ॥

परस्त्रीभानो पिशीलमावादिजन्माह—

मूलरा—सष्टम् ॥

अर्थ—यह परदारसेवी पुरुष भी पिशील-शीलम्रत रहित होता है और कुरूप होता है. निर्दोष होनेपर भी वध, बंध कलह इत्यादि दुःखोंको बढ़ प्राप्त होता है.

इहलोए वि महंठं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ॥

कालगदो वि य पच्छा कडारपिगो गदो निरयं ॥ ९३५ ॥

महान्तं दोषमासाय भवेऽत्र स्मरमोहितः ॥

सुत्या कडारपिगोऽगाच्छब्द्वयं दुःसहवेदनम् ॥ ९५१ ॥

विजयोदया—इहलोए वि महंठ कडारपिगो इहलोकेऽपि महान्तं दोषे प्राप्तः कामवसंगतः । कालं कृत्वा पञ्चात्रकेषु प्रविष्टः । वाच्यमथाप्यवतनम् ॥

उचमेवार्थमाख्यतेन स्वापयग्राह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लोकमें भी कड़ारपिंग नामक राजपुत्र कामना होकर महान् दोषसे दूषित हुआ. और मर-
गोचर नरकमें उत्पन्न हुआ. (आसाधना कथा कोषमें इसकी कथा प्रसिद्ध है.)

एदे सत्वे दोसा ण होति पुरिसस्स बंमचारिस्स ॥

सत्त्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥ १३६ ॥

भवन्ति सकला दोषा नैवामी ब्रह्मचारिणाः ॥

संपद्यन्ते गुणास्त्रिंशस्तद्विपक्षा विरागिणाः ॥ १५२ ॥

विजयोदया—एदे सत्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिणाः पुंसः । तद्विपरीतास्तु गुणा भवन्ति यद्वयो
विरागस्य ॥

एवं कामदोषाग्रदूतं तदभावं प्रकृते भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

उपर्युक्त सर्व दोष ब्रह्मचारी पुरुषको स्पष्ट नहीं करते हैं. कामसेवन्तसे विरक्त ऐसे ब्रह्मचारीमें काम-
दोषसे विरुद्ध बहुत गुण निवास करते हैं.

अर्थ—जिसका रागभाव नष्ट हो चुका है ऐसा ब्रह्मचारी मुक्तजीव के समान प्रेक्षक होकर तीव्र काम-
नीति दृग्ध होने वाले इस सर्व जगत्को देखता है. कामाग्नीके कष्टसे ब्रह्मचारी मुक्त होता है. और पीतराग होता
है. अर्थात् काम विकारसे दूर रहना यही सच्चे मुक्त की प्रशिक्षा उपाय है. कामकृत दोषोंका वर्णन समाप्त हुआ.

कामागिणा धमघमतेण य उज्झतयं जगं सत्त्वं ॥

पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥ १३७ ॥

कामाध्वना कुचफलानि निपेवमाणा रम्ये नितंबविषये ललनानदीनाम् ॥
विश्रम्य चारुबदनान्मु निपीयमानाः सौख्येन नारकपुरीं प्रविशन्ति नीचाः ॥ १५३ ॥

नरो विरगो मुषधुद्वितो सिनेद्रवध्वस्तसमस्तकल्पः ॥
विदस्यमानं ज्वलता दिवाविशं स्मरामिना लोकमेवेहतेऽस्त्रिदम् ॥ ९५४ ॥
, इति कामवोपाः ॥

विजयोदया—कामगिणा कामाग्निना । धमधगयमानेन दहमानेन । दहमानं ज्वात्सवं त्रेकते प्रेक्षकभूतः स्वयं
विरतीभूतः । कः ? वीतरागः ॥

अष्टचारिणः सुतरादिशकसाह—

मूढारा—वेष्टगगधुरो प्रेक्षक इव । द्रष्टव्यं न सत्कष्टाकिष्ट इति भावः । सीदीयूवो निर्बुद्धो मुष्कालमवत् ॥
इति कामवोपाः ॥

इतिपक्ष्या इत्येवमाख्यामयोत्तरः प्रबंधः ॥ कामकथा ॥

महिलाकुलसंवासं पदि सुदं मादरं च विदरं च ॥

विसयंधा अगणता दुक्लससमुहम्भि पाडेइ ॥ ९५८ ॥

जननीं जनकं कानं ननयं सत्तुवासिनं ॥

पातयंति नितंयिन्यः कामात्तो दुःवसागरे ॥ ९५९ ॥

विजयोदया—महिला दुःपसमुद्रे पतयति विप्रयोगं अगणयन्ती । किं ? कुलं सत्तुवासिनः पति, सुतं, मातरं च ॥

एवं कामवोपाग्रन्थेन न्याज्यावेदानी सीदीयान्याचिख्यासुगोयाः पंचषष्टिमाह—

मूढारा—संवासं सद्वासिनं । विसयंधा कामात्तो । पदेदि वस्यादीन् विपति ॥

अर्थ—विपयांच हुई स्त्री कुल, सद्वासी, पति, पुत्र, माता और पिता इनका आदर नही करती है और
सबको दुःखसमुद्रमें डुबा देती है.

माणुण्यास्त पुरिसदुमस्त णीचो वि आरुहदि सीसं ॥

महिलाणिस्तेणीपु पिस्सेणीपु व्व दीहदुमं ॥ ९६१ ॥

स्त्रीनिःश्रेण्योन्नतस्यापि दुरारोहस्य लीलया ॥

मस्तकं नरवृक्षस्य नीचोऽप्यारोहति द्रुतम् ॥ ९५६ ॥

विजयोदया—माणुषयस्स मानोऽतल्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलातिःश्रेण्या दीर्घमिव द्रुमं ॥

मूलार्थ—दिग्बहुमं वर्त्तनैर्वृक्षम् ॥

अर्थ—स्त्री रूपी नसेनिके आश्रयसे नीच पुरुष अभिमानसे उन्नत ऐसे पुरुषरूपी वृक्षके मस्तकपर चढ़ बैठता है जैसे नसेनिके द्वारा ऊँचे वृक्षपर लोक चढ़ते हैं. अभिमाय यह है. नीच पुरुषका आश्रय कर अपने पतिका अभिमान मढ़ीमें मिला देती है. उसके कीर्तिका छुप कर देती है.

पव्यदमिता माणा पुंसाणं ह्येति कुलवलघणेहिं ॥

बलिष्ठाहिं वि अश्वलोहा गिरीव लोगप्यासा य ॥ ९४० ॥

भान्या ये संति मर्त्यानामश्लोभ्या बलिनानमपि ॥

सर्वत्र जगति ख्याता महतीं मंदरा इव ॥ ९५७ ॥

विजयोदया—पव्यदमिता माणा भवन्ति मानानि पुरुषणां कुलवलघनैः । बलिभिः अश्लोभ्याणि निरिवह्योके प्रकाशभूताभि च ॥

मूलार्थ—माणा अहंकाराः । बलिष्ठाहिं वि बलवद्विरपि । अश्लोभा चालयितुमसंस्थाः । गिरीव लोगप्यासा जगति ख्याता मेरवो यथा । अत्र पर्यंतसामान्याद्योऽपि गिरिशब्दो गिरिद्रवृत्तिगुणते कट्टिपक्षेपणयोगात् । उक्तं य—
पर्वतसदृशा माना कुलवलघनैर्भवन्ति पुरुषणाम् ॥
गिरिराजवत्प्रकाशा ये आश्लोभ्या भवद्विरपि ॥

अर्थ—उच्च कुल, बल-सामर्थ्य, और धनसे पुरुषोंका मान पर्वत तुल्य बढ़ा होता है. उनके मानका ध्वंस करनेके लिये बलिष्ठ पुरुषभी असमर्थ होते हैं. और जगतमें उनका गान पर्वतके समान सर्वत्र प्रसिद्ध होता है ते तारिसया भाणा ओमच्छिज्जेति दुष्टमहिलाहिं ॥
अहं अंशुसेण गिस्साइज्जइ हत्थी अदिवलो वि ॥ ९४१ ॥

घातैस्ते शीजनैस्तीक्ष्णैर्नाग्न्यन्ते क्षणमाव्रतः ॥

नितांतकुटिलीभूतैरकुसूरिव दंतिनः ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—ते तारितया साणा तावि तद्याभूतानि मानानि अवमध्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा बंधुदोष निपया कार्यते इत्थी अतिवदोऽपि ॥

मूलारा—ओमाच्छिज्जति विनाशये । गितियाविज्जति उपवेश्यते ।

अयं—येते पुरुषोक्ताभी महाभान दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा च्वस्त नष्ट किया जाता है. अर्थात् अपने हीनाचार से वे अपने पत्नीका अभिमान धूलमें मिलाती है. जैसे दाधी बदामी हो तोभी छोटा अकुल उसको बलात्कारसे जमीनपर बिठा सकता है.

आसीय महाजुष्टाहं इत्थिहेतुं जणम्मि बहुगाणि ॥

भयजणगाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥ ९४२ ॥

आसनरामायणादीनि स्त्रीभ्यो युदान्पनेकदाः ॥

मलिनारभ्योऽष्टदमालाभ्यः सलिलानीच चिट्टये ॥ ९५९ ॥

विजयोदया—आसीय महाजुष्टाणि आसनरामायणादीनि जगति स्त्रीनिमिषाणि बहूनि भयजनकानि जनानां भारतरामायणादीनि ॥

मूलारा—आसन्नं वृत्तानि ।

अयं—इस जगतमें इस स्त्रीके लियेही भयानक रामायण, महाभारतके समान मनुष्योंका महा क्षय करने वाले अनेक बड़े युद्ध हुए हैं.

महिलासु णत्थि वीसंभणयपरिचियकवण्णादा णेहो ॥

लहुमेव परगयमणाओ ताओ सकुलंवि य जहंति ॥ ९४३ ॥

विश्रमसंस्तवस्नेहा जातु संति न योपितः ॥

त्पजन्ति वा परासक्ताः कुलं दृणमिव द्रतम् ॥ ९६० ॥

विजयोदया—महिला। स्त्रीषु न संति विस्मयणया, परिचय, इतमता, कोदय । सदसा पटलतचित्तालाः स्फुल्लं जहति ॥

मूलाय—पण्य प्रसाद । कदम्बजवा कुतबता । स्फुल्लं स्फुल्लं कुलीनं वा ।

अर्थ—स्त्रियों विद्यात, प्रसाद, परिचय, कुतबता अर्थात् किये उपकारोंका स्मरण रखना—कुतम न पतना, और स्नेह ये गुण नहीं रहते हैं- वे जब पशुखासक्त हो जाती हैं तब अपने हित करनेवाले पतिकोभी छोड़ देती हैं, अपनी कुलनितको छोड़ती हैं- नीचोंका हाथ पकड़ती हैं-

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ॥

महिला वीसंभेदु बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥ १४४ ॥

विस्मययन्ति ता मत्पं प्रकारैर्विचिष्येलेषु ॥

विस्मयः शक्यते कर्तुमेतासां न, कथंयन ॥ १६१ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स दु वीसंभं कुरुप्पयारेहिं, वि ण सक्का, प्रकारैर्विचिष्येलेषु नेतुं न शक्ताः पुमांसः ॥

मूलाय—वीसंभेवं विद्यासं नेतुं ॥

अर्थ—अनेक कपट प्रयोगोंसे ये पुरुषोंके मनमें विश्वास उत्पन्न करती हैं अर्थात् अपने हावभाव, मधुर भाषण, वगैरहसे अपनेमें अनुरक्त करती हैं, पांडु पुरुष उसको अपनेमें अनुरक्त नहीं कर सकता है

अदिलुहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सहस्समगणंती ॥

पइ अप्पाणं च कुलं घणं च णासंति महिलाओ ॥ १४५ ॥

स्वल्पेऽपि विहिते दोषे कुतबोपसदृसशः ॥

उपकारमवज्ञाय स्वं निघ्नन्ति पतिं कुलम् ॥ १६२ ॥

विजयोदया—अदिलुदयो वि दोसे सत्येवि दोये ह्ये सुष्ठुसतमव्ययव्य पठि, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयति युपतय ॥

मूढारा—अदिच अतीव । सुगदसद उपकारयते ।

अर्थ—पतिके द्वारा छोटासा भी अपराध हुआ तो उसके हजारों उपकारभी वह भूल जाती है और उसका, कुलका, और धनका और अपनाभी नाश कर डालती है

आसीविसो व्य कुविदा ताओ दूरेण पिदुदपावाओ ॥

रुधो चंडो रायाव ताओ कुवन्ति कुलघाव ॥ १४९ ॥

आसीविषा इव त्याज्या दूरतो नीतिहेतवः ॥

दुष्टा नृपा इव कुद्रास्ता कुर्वन्ति कुलक्षयम् ॥ १५० ॥

विजयोदया—आसीविसो व्य असीविष इव कुपितस्ता दूरेण नीतिके न शस्या । रुधो रोजेव ता कुर्वन्ति कुलघात ॥

मूढारा—दूरेण त्याज्या इति शेष पिदुदपावाओ प्रच्छन्नपातका । दूरेण तापि नोपेया इत्यर्थः ।

अर्थ—भयंकर सर्पका जैसे दूर से ही त्याग करना हितकर है वैसे दुष्ट स्त्रियोंका दूरसे ही त्याग करना कल्याण करक होता है जैसे कुब राजा अपराधीके कुलका समूह नाश करता है वैसे दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिके कुलका पूर्ण नाश करती है,

अकदमि वि अवराधे ताओ धीसच्छमिच्छमाणीओ ॥

कुवन्ति न्ह पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिदुणो वा ॥ १४७ ॥

अकृतेप्पपराधे ता नीचा स्वच्छंदवृत्तय ॥

निघ्नन्ति निर्धृणा पुञं चञ्चुर पितरं पत्तिम् ॥ १५४ ॥

विजयोदया—अकदमि वि अवराधे ताओ धीसच्छमिच्छमाणीओ स्वेच्छा

मनुचिन्मिलयन्त्यः । पतिगो वधं कुर्वन्ति पत्युर्वधं कुर्वन्ति, सुदस्स युतस्य, सुदस्स श्वगुरस्यापि । पितुणो वा पितुर्वो वधं कुर्वन्ति ॥

मूढारा—वीसत्यं स्वेच्छामप्रवृत्ति ॥

अर्थ—स्वच्छंद प्रवृत्ति करनेवाली स्त्रिया निरपराधी पतिविका, अच्छे ज्ञानका, अपने ससुरका और पिता-कात्री घात करती हैं. जो जो अपने स्वच्छंद प्रवृत्तिमें बाधक होगा ऐसा सम्झती हैं उनका २ वे घात करती हैं.

सत्कारं उपकारं गुणं व सुहलालणं च गेहो वा ॥

मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चित्तेह ॥ १४८ ॥

उपकारं गुणं स्नेहं सत्कारं मधुरं वचनं स्त्रियः ॥ १४५ ॥

न मन्यन्ते परासक्ता मधुरं वचनं स्त्रियः ॥ १४५ ॥

विजयोदया—सत्कारं सत्कारं सम्मानं । उपकारं उपकारं, गुणं कुलरूपवैधनादिकं गुणं च पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं च । गेहो वा कोठं च । मधुरवयणं च मधुरवचनं च । महिला युवतिः । परगदहिदया परपुरुषपादु-रकाक्षिका । ण चित्तेह न चित्तयति ॥

मूढारा—गुणं कुलरूपवैधनादिकं पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं ॥

अर्थ—आदरसत्कार, उपकार, गुण, कुल, तालम्प और सौदर्य इत्यादि गुणोंसे पतियुक्त होनेपर भी-यदि स्त्री जप परपुरुषपर अनुरक्त होजाती है जब पतिके इतने गुणोंका कुछभी विचार नहीं करती है. पत्नीने बड़े प्यार से उसका पोषण किया, उसने स्नेह दिलाया और मधुर वचन भी बोले तो भी इन बातोंका वह कुछभी विचारकर ती नहीं है.

साकेदपुराधिपदी देवदी रज्जसुवस्वपम्भट्टो ॥

पंगुलहेदुं छहो णदीए रत्ताए देवीए ॥ १४९ ॥

साकेताधिपतिदेवरतिः प्रच्याव्य राज्यतः ॥

देव्या नदी-हृदे विमो रक्तया पंशुरक्तया ॥ ९६६ ॥

विजयोद्या—साकेतपुराधिपती साकेतपुरस्य सामी । देवती देवरतिसंज्ञितः । राजलोपखण्डमष्टौ राज्येन सौम्येन च नित्यं भवः । पशुलदेहं पशुलनिमित्तं गंधर्वप्रवीणेन पशुना सह जीवितुमचित्तवन्त्सः । कृदो विविक्षाः । जनीष नया । रक्षाप देवीष रक्षानामधेयया देव्या ॥

मूषारः—साकेत अयोध्या । देवदेवो देवरतिसंज्ञः । पशुलदेहं गायर्वप्रवीणेन पशुना सह जीवितुमिच्छन्त्या । ब्रूवो प्रभिक्षा । रक्षाप रक्षासंज्ञया ॥

अर्थ—साकेत नगरका देवती नामक राजा था. उसको रक्षा नामकी अर्पित प्रिय रानी थी. रानीके स्नेहसे उसने राज्यका और सुलकाभी त्याग कर दिया तथापि भानविद्यामें प्रवीण ऐसे एक पशुके ऊपर वह प्रेम फालने लगी. हमके साथ रहनेकी इच्छासे उसने अपने पतिको नदीमें डकेल दिया.

ईसाहुद्याए गोववदीए गामकूडधूदिया सीसं ॥

छिण्णं पहदो तथ मछुएण पासमि सीहवलो ॥ ९५० ॥

गोपवत्त्या रुधा छित्वा गामकूडसुताथिरः ॥

राजा सिंहवलः कुड्ढो शबत्तेप्योपरया हतः ॥ ९६७ ॥

विजयोद्या—ईसाहुद्याए इर्ष्यायत्ता । गोपवदीष गोपवतीनामधेयया । गामकूडधूदिया गामकूटस्य दुहितुः । सीसं छिण्णं तिरदिच्छन् । पहदो ग्रहतस्तथा । मछुएण अन्त्या । पासमि पार्श्वदेशे सीहवलो सिंहवलसे खितः ॥

मूलाप—ईसाहुगाण इर्ष्यावत्त्या । गोमवदीण गोपवतीसुख्या । गामकूडधूदियासीसं गामकूटदुहितुः इतेयं । मछुएण सक्ता । सुतनिर्देयेणेतपटः । पासमि पार्श्वदेशे । सीहवलो सिंहवलसे नाम ॥

अर्थ—सिंहवल नामक मछुएण को गोपवती नामक बृहद् इर्ष्यालु थी थी, उसने अपने अपने सौतका मस्तक तोटकर अपने पतिको भी मालेमे मार डाला.

वीरमदीप सूलगदचोरदहोद्विगाए वाणियओ ॥
पहदो दत्तो य तथा छिण्णो ओद्वोत्ति आलविदो ॥ ९५१ ॥

वीरघत्तापि शूलस्थस्तेन छिन्नोष्ठया निजः ॥

ओष्ठच्छिन्नो मयानेन पापयेत्युदितं सृपा ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—धीरपदीय वीरपतीसकिया । सूलगदचोरदहोद्विगाए शूलसूचोरदघाघरया । वाणियओ पणिकसुत । पहदो ग्रहत । दत्तो य दत्तक । तथा सया । छिण्णो ओद्वोत्ति ओष्ठच्छेदोऽनेन छत । इति य । आलविदो भणित ॥

मूलाप—पहदो ग्रहणुवारकथं । दत्तो दत्तनामा । छिण्णो उद्वोत्ति अनेन छिन्नो मसौष्ठ इति आलविदो आल प्रापित. ॥

अर्थ—शूलपर चढाये हुए चोरके द्वारा जिसका ओष्ठ खंडित किया गया था ऐसी वीरमति नारकी स्त्रीने दत्तनामक मेरे पतीने मेरा ओष्ठ छिन किया है ऐसा राजासे जाकर कहा और उसके द्वारा अपने पतीका खा हुआ घात करवाया

वग्घविसचोरअंगी जलमत्तगयकण्हत्तप्पसचूसु ॥
सो वीसंसं गच्छदि । वीसंमदि जो महिलियासु ॥ ९५२ ॥

उयाग्गे विये जले संपे शची स्तेनेज्जले गजे ॥

स विच्चसिसि नारीणां यो विच्चसिसि दुर्मनाः ॥ ९६९ ॥

विजयोदया—वग्घविसचोरअंगीजलमत्तगयकण्हत्तप्पसचूसु । व्याग्गे, विये, चोरे, अगो, जले, मत्तगजे, छणसपे, शची च । सो विस्सम गच्छदि स विस्सम गच्छदि । विस्समदि जो महिलियासु विसंसं यः करोति यत्तितासु ॥ मूलाप—वीसमदि विच्छसिसि ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रियोंपर विचार करता है वह वाध, विष, चोर, अप्रम, जलमवाह, मदनाला हाथी, छणसपे और शत्रु इनके ऊपर विचार करता है ऐसा समझना चाहिये.

वग्धादीया एदे दोसा ॥ णरस तं करिज्जण्हू ॥

अं कुणइ मद्दोसं दुट्ठा महिला मणुरसस ॥ १५३ ॥

व्याघ्रादयो महारदोषं कदाचित्तं न कुर्वते ॥

लोकद्वयविधानिन्यो यं क्षियो वक्त्रमानसाः ॥ १७० ॥

विजयोद्या—व्याघ्रादिषु विषमगन्तत्वापीयो विषमगन्तं चिन्तयित्वा कथयत्युत्तरमाय ॥ गधादीया लपाम्पितादय पूर्वपुनर्निर्णय ॥ दोस दोष ॥ णरस नरस्य ॥ त ॥ करिज्जण्हू ॥ कुपुं ॥ अ कुणवि मद्दोसेन ये करोति मणा सोप ॥ दुट्ठा महिला दुष्टा उक्ता ॥ मणुरसस मनुष्यस्य ॥

मूला—करिज्जण्हू कुपुं ॥

अर्थ—व्याघ्रादिसौ मे विश्वास करने से विज्ञाना दुःखान् मनुष्यका होता है उससेभी अत्यधिक दुःखान् दुष्ट महिलाओंसे होता है-अर्थात् व्याघ्रादिकोमे विश्वास करना कथचित् अन्ध माना जायगा परंतु दुष्ट स्त्रीपर विश्वास करनेसे सर्वथैव अपना पात करेला है.

पातसकालणदीबोव्व ताओ गिचंवि कलुसहिदयाओ ॥

घणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जयुरुयाओ ॥ १५४ ॥

सकज्जमलायाया रामाः प्रादुपेण्या इयापगाः ॥

स्तेनवरस्वार्थतविद्याः सर्वस्वहरणोयताः ॥ १७१ ॥

विजयोद्या—पातसकालणदीबोव्व प्रादुदकालस्य नव इय ॥ ताओ ता ॥ गिचं वि निस्समवि ॥ कलुस-हिरयाओ कलुण्हदया ॥ स्त्रीषु हव्यपाप्मेन विषमुच्यते ॥ नदीयथ्यंतर् ॥ रणेण, जेणेण, मोहेण, ईर्ष्याया, असुयया, मायया या षड्गुणैरतमय वित्त तासा ॥ चोरोय चोर इव ॥ सकज्जयुरुयाओ सकावे गुण्य ॥ घणहरणकदमदीओ भनापहरणे कृतदुययः ॥ चोरा अपि कथमस्माभिरित्येतदीयमात्मसाक्ष्य भवतीति कृतदुययः ॥ ता अपि मणुराचनेन रनिमीडानु-कृतता या पुरयस्य द्रव्यमादत्तुमुद्यताः ॥

मूला—रलुसहिदयाओ राणेणमोहेर्यासुभायाविष्टिता आविडमयाथा ॥ सकज्जयुरुयाओ ररकार्यगुण्यः ॥

अर्थ—पर्पाकाली नदीका मध्यमदेश मलिन पानीसे भरा रहता है और स्थियोंका चित्तभी राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, अयया, कपट इत्यादिक दुष्टभावेसि मलिन होता है-चोर जैसा मतमें इन लोगोंका पन कित उपपत्ते

प्रमाण किया जावेगा ऐसा विचार करता है वैसे स्त्रिया भी घन हरण करनेमें निपुण होती हैं. अर्थात् वे मधुरवचन बोलकर, रतिक्रीडामें अनुभूतता दिखाकर पुष्पका द्रव्य हरण करनेमें उद्युक्त रहती हैं. अपने कार्यमें हमेशा तत्पर रहती हैं.

रोगी दरिद्रं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स ॥

ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥ ९५५ ॥

दारिद्र्यं विवस्सो न्याधिं यावथाभोति मानयः ॥

जायते तावदेवास्याः कुलपुत्र्या अपि प्रियः ॥ ९७२ ॥

विजयोदया—रोगी दरिद्रं कां र्थाधिर्दृष्टिः या जरा या । ण उवेदि न दोक्ते यापरपुत्र्यं । साय पिओ होदि णरो तावपिओ वि कुलपुत्तीए वि कुलपुत्र्या अपि । महिलाए फांताया । कुलपुत्रीषु याव्यः किमस्ति साध्वो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमेव वेत्तेति मध्यमाणा. प्रियं त्यजंतीति ॥

मूलारा—ण उवेवि जायाति ।

अर्थ—रोग, दारिद्र्य, अथवा वृद्धावस्था जयनक पुरुषको प्राप्त होती नहीं तपक स्त्रीको अपना पति प्रिय होता है जब उसका शरीर रोगसे पीडित होता है, वृद्धावस्था उसके शरीरको खर्च करती है तब वह स्त्रीको अभिय होता है. साधारण स्त्रियोंको ही दारिद्र्यादि अवस्थामें वह अभिय मान्य होता है ऐसा नहीं. किंतु जो पति को दैत्यतुल्य समझती है ऐसी कुलीन स्त्रिया भी पतीको अभिय समझ कर त्याग करती हैं.

जुण्णो व दरिद्रो वा रोगी सो चेव होइ से वेत्तो ॥

णिप्पीलिओन्व उच्छू मालाव मिलाव गदगंधा ॥ ९५६ ॥

प्रसूनमिव निर्गंधं द्रेव्यो भवति निर्धनः ॥

म्लानमालेव वर्षिष्ठो रोगीक्षुरिव नीरसः ॥ ९७३ ॥

विजयोदया—जुण्णो वृद्धो वा । दरिद्रो वरिद्रः । रोगिद्रो व्याधितः । सो चेव स ण्य युजत्वे घनित्य नीरोगत्वे वा यः प्रियः स एव होदि भवति । से तस्याः । वेत्तो द्वेषः । णिप्पीलिओन्व निष्पीडित एव उच्छू रक्षुः ।

मालाए मिलाय गदगंधा मालेय म्लाना नएगंधा । अणदतरस इधुः सोभारहितनिगंधमाला च यथाऽप्रिया । यौवनं, धनं, यकिञ्च पुंसोऽतिशयस्तद्व्याये नैवास्माविष्यते स्त्रीभिः ॥

मूलाः—सो चैव स एव । यो युक्त्ये यन्त्रित्ये नीरोगत्वे च सति प्रियः । से तस्याः । येसो हेन्यः । उच्छुः इधुः । मिडादगदगंधा म्लाना नष्टगंधा च ॥

अर्थ—पुरुष तरुण, श्रीमान और नीरोगी अवतक रहता है तबवक वह स्त्रीको प्रिय लगता है परंतु वही जय दृढ़, दृढिंद्री और रोगी यनता है तब स्त्री उसका प्रेय करती है, जैसे रसहीन ईल मनुष्य त्याग देते हैं अथवा सोभारहित निगंधमालापुष्पांकी माला जैसी लोक त्यागते हैं वैसे धनहीन, वृद्ध और रोगी पतिकी स्त्री इच्छा नहीं करती है, वारुण्य, धन और सामर्थ्य ये बातें पुरुषमें विशेषता उत्पन्न करती हैं, जिसमें ये बातें पायी जाती हैं वह स्त्रीको प्रिय होता है, इनका नाश होनेसे यह उनको अप्रिय लगता है-

महिला पुरिममयणाए चैव वंचेच्च गियडिकवडेहिं ॥

महिला पुण पुरिसकवं जाणइ कवहं अयणाए ॥ ९५७ ॥

वंचयन्ति वचनं नराचार्यः समस्तानपि हेलया ॥

जानंति वचनं पौलं तवीयं न नराः पुनः ॥ ९५४ ॥

पिजयोवया—महिला पुरिसमयणाए यमिता पुरुषमनादेकेष वंचयन्ति । निहत्या कपटतया च स्त्रीभिः कृतां निहृति वचनं दाठनी च न जानंति पुमांसः । मदित्वा पुण चामलोचना पुन जाणदि जानाति । किं कपटशतं पुरिसकवं पुरुषेण कृतं । अयणाए अचत्रया औदासीन्येनैव अक्केडेनेति यावत् ॥

मूलाः—अयणाए चैव अयथावैव अक्केडेनेत्यर्थः । गियाडिकवडेहिं मृपास्मितजल्पितदपथकोपकथाभिः स्त्रीभिः कृतां निहृति वचनं कपटं च दाठनां नरा न जानंति इति भावः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको आयास के बिना फसाती है अर्थात् झूठा दास्य, असत्य मापण, झुपथ, असत्य कोप, और मधुर मापण इत्यादिकांसं ये पुरुषको अनायामसे फसाती है, स्त्रीका किया हुआ कपटप्रयोग पुरुष नहीं जान सकते हैं, परंतु स्त्री पुरुषके कपट वत्काल जान लेती है,

नरो ह्येवं मन्यते श्रियोऽहमेतस्या इति न बातसौ प्रिय इत्यावाटे—

जह जह मण्डेइ णरो तह तह परिमवइ तं णरं महिला ॥

जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥ १५८ ॥

यथा यथा स्त्री पुरुषेण मन्यते तथा तथा सा कुरुते परामर्चं ॥

यथा यथा कामवदोन मन्यते तथा तथा सा-कुरुते विटंवनाम् ॥ १५९ ॥

विजयोदयत—जह जह मण्डेइ णरो यथा यथा मानयति नरः तथा तथा परिभियति तं नरं युयति । जह जह कामेइ णरो यथा कामवते मनुष्यस्तथा तथा पुरिसं विमाणेइ तथा तथा पुरुषं विमानयति ॥

मूढारा—विमाणेवि जचक्षाहवं करोति ।

नै इत स्त्रीका मिय हं ऐसा पुरुष समसता है परंतु वास्तविक वह उसका प्रिय नहीं है इस विषयका विवेचन—
अर्थ—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे वह उसका अनादर करती है, तथा जैसे वैसे उसकी उल्लास करती है वैसे वैसे वह उसका तिरस्कार करने लगती है—

मतो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविभलाउ महिलाओ ॥

दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥ १५९ ॥

भवन्ति सर्वदा योपा मत्तास्तंभेरमा इव ॥

सवं वासमिव मन्यन्ते पुरुषं मूढमानसाः ॥ १६० ॥

शीलसंयमतयोर्वाहर्भास्ता नरांतरनिविष्टमानसाः ॥

चित्तयन्ति पुरुषस्य सर्वदा दुःस्वप्नमपकारिणो यथा ॥ १६१ ॥

विजयोदया—मतो गउव्व मत्तगज इव । णिचं नित्यं । ताओ मदविभलाओ मदेन विह्वला युवतयः । दासे य सगे पुरिसे दासे वा सपुत्रे वा । किंचिदपि किंचिदपि विदोषजाते । य गणंति नैव गणयन्ति । कुलीनो गमान्यो मर्तो स्वामी । दास्याः पुत्रोऽयं जगन्पः अहमस्य स्वामिनीति विवेकं करोति ॥

मूढारा—किंचिदयत्तर । अयं दासीपुत्रोऽयं च कुलीनो मान्यो मम स्वामीति न विवेचयति सदांथाः प्रमदाः किं तु मम दास्याः पुत्रोऽयं निष्ठोऽहमस्य स्वामिनी गदमान्येति दृष्यन्ति । उक्तं य—

मनो गजपथिर्यदुत्ता नित्यमखिविह्वलाः ॥

पासे वा स्वपत्नी वापि विवेकं नैव कुर्वते ॥

प्रातः सगे पुरितो इति पाठे अयं कुलीनः स्वासीदयादि विशेषणं चातं । दास इवं स्वपुरुषे ॥ गणयति दास-
वर्गं मन्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

भवंत्यः सर्वदा योषा यन्ताः स्वेवमा इव ॥

स्वं दासजिव मन्यन्ते पुरुषे मूढमानसाः ॥

अर्थ—जैसा मण हाथी मदसे विह्वल होता है वैसे गर्विष्ठसिंघा भी सबसे अपने पतिको और दासको
नौकरको समानमात्रे देखती है, अर्थात् नीसरेके समान अपने पतिको ये मानती है, पति में नौकरसे कुछ विवे-
कवा है ऐसा ये जानती नहीं, मेरा पति मेरा स्वामी है और कुलीन है और यह दास दासीका पुत्र है, यह हीन-
जातिका है मैं उसकी स्वामिनी हूं ऐसा विवेक उनके अंतःकरणमें उत्पन्न होता नहीं.

अणिदुपरगदहिदया तावो वग्धीव दुडहिदयाओ ॥

पुरिसस्स ताव सचूव सदा पावं विचिंतति ॥ ९९० ॥

कुर्यन्ति दारुणां पीढामापिपाशानलाहताः ॥

अपराधं विनाप्येताः पुंसां ह्यात्रा इयावमाः ॥ ९९८ ॥

विश्रयोदया—अणिदुपरगदहिदया तावो अनिमृते परजते हृदयमासाभिति अनिभूतपरगदहृदया मयन्ति ।
मपिपाशितपशजिचितायोपाः । वग्धीव दुष्टहृदयमासां अहृतेऽप्यपकारे यथा ज्यामी परं मारयितुमेव कृतचिन्तेति
दुष्टहृदया एषमिमा अपि । पुरिसस्स ताव पुरुषस्य तावत् । सचूव सदा पावं विचिंतति । प्राचुरिव सदा पापमेव अनुममेव
चेतसि कुर्यन्ति । यथा यो रिपुः कश्चिदस्त्रचित्सर्वदा घनमस्य विनश्यत्, विपदोऽस्य भवत्विति चिन्तं करोति तथैव सा
मपि ॥

मूलात्—अणिदुपरगदहिदयाओ अनिपाशितपापासकचिन्ता । अन्ये अनिभूतमपि चंचलमादुरसंभूतमित्यपरे ।
दुष्टहिदयाओ अहृतेऽप्यपरपरे मारणेनचिन्ताः । पावं अशुभं । घनमस्य विनश्यत् विषदोऽस्य भवन्त्येतादि ॥

अर्थ—स्त्रिया परपुरुषोंमें आसक्त हुए अपने हृदयको परावृत्त नहीं करती है, व्याघ्री जैसी अपकार न करने पर भी मनुष्यको मार डालती है वैसे दुष्ट स्त्रिया निरपराधी पतिको भी मारती है-जैसे शत्रु अपने प्रति पक्षीका अशुभ होनेका ही चिंतन करता है, वैसे ये दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिका अशुभ कथ होया इसका ही विचार करती हैं, शत्रु प्रतिपक्षका धन नष्ट होनेका चिंतन करता है विपक्षियोंका विचार करता है वैसे हि दुष्ट विचार ये दुष्ट स्त्रिया अपने मनमें करती हैं,

संक्षान्त गणेषु सदा ताओ ह्रुति खणभेत्तरागाओ ॥

वादेश्च महिलियाणं हृदयं अदिवंचलं निचंचं ॥ ९६१ ॥

हांपेच चंचला नारी संक्षेप क्षणरागिणी ॥

छिद्रार्थिनां सुखगीच कार्यरीच तमोभयी ॥ ९६२ ॥

विश्वयोव्या—संक्षान्त गणेषु सदा ताओ ह्रुति संख्या एव नरेषु सदा ता भयंति । खणभित्तरागाओ ध्वस्य कालरागाः । अस्तिररागता नाम दोषः मरुद्विः । यथा संख्याया रक्ता विनाशिनी । महिलियाणं हृदयं अदिवंचलं निचंचं । स्त्रीणां हृदयं अतिचंचलं भित्ति । निमिष बाधो य पात इय ॥

मूलारा—रागाओ रताः प्रीतिर्नोभावर्जम् ॥

अर्थ—संख्याकालका शालरंग खणमात्र टिकता है अनंतर वह जैसा तट होता है वैसी स्त्रियोंकी प्रीति क्षणमात्र रहती है अर्थात् अल्पकाल प्रेम करना यह दोष स्त्रियोंमें रहता है- स्त्रियोंका हृदय हमेशा बाधुके समान अविद्यय चंचल रहता है,

जावइयाई तणाईं वीचीओ वालिगाव रोमाईं ॥

लोए हवेज्ज तचो महिलाचिताईं चहुगाईं ॥ ९६३ ॥

सिक्ततातृणफलोरोमाणि सुवनत्रये ॥

यावन्ति सन्ति तावन्ति मानसानि मृगीहसाम् ॥ ९६० ॥

विजयोदया—आवरणार्थं यावन्ति दुष्कानि, वीचया, घातुकाः. रोमाणि च अगतिं ततो युष्मदीनां विता वया ॥
 मूढारा—ततो तेभ्योऽपि ।

अर्थ—जगतमें जितना दुःख है, जितनी मनुष्यदुःखी और नदीकी लहरें हैं, जितना बालुकासमुदाय और प्राणिजोता केदममूह है उनसे भी अधिक तरुण स्त्रियोंके मनमें विचारसमुदाय उत्पन्न होता है.

आगत भूमि उदधी जल मेरु धाउणो वि परिमाणं ॥
 माहुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण च्चिचाइं ॥ ९६१ ॥

नगभूमिभोऽम्मोयिसल्लिख्खेनमःस्वताम् ॥
 वाक्यते परिमा कर्तुं स्त्रीचित्तानां न सर्वथा ॥ ९६१ ॥

विजयोदया—आगतभूमि आकाश भूमेकपेलेल्लव्य, मेरोवयोऽयं परिमाणमस्ति । स्त्रीणां चित्तं पुनर्मातुं न
 वाक्यमस्ति ॥

मूढारा—आगातेत्यादि । आकाशधीना परिमाणमस्ति । अत एव ते मातुमियत्तवावधारितुं सक्त्याः, न पुनः
 स्त्रीचित्तानि परिमाणभावात् । निर्दिष्टं नानाम्परावधिपल्पजालाकूटत्वात्तेषां ॥ ठर्कं च—

नवभूमिभोऽम्मोयिसल्लिख्खेनमभवताम् ॥
 लभ्यते परमा कर्तुं स्त्रीचित्तानां न सर्वथा ॥

अर्थ—आकाश, जमीन, समुद्र, पानी, मेरु और वायु इन पदार्थोंका कुछ परिमाण है परंतु स्त्रीके चित्तता अर्थात् उनके मनमें निरंतर उत्पन्न होनेवाले संकल्प विकल्पोका परिमाण जानलेना अशक्य है.

चिद्व्रति जहा ण चिरं विज्जुजल्लुब्बुदो व उक्का वा ॥
 तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवे पीवी ॥ ९६४ ॥
 यथा समीरणोत्कांभोबुब्बुदाञ्चिररोचिषः ॥
 एकत्र नावतिष्ठते तथैताश्चलुब्धतयः ॥ ९६२ ॥

विजयोदया—अदा न विरं चिह्नि यथा न चिरं तिष्ठति विद्युतः । अलबुद्बुदा उल्काश्च तथा यनिताभं न कस्मिन्नियुक्ते प्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥

मूल्या—चिह्नति तिष्ठति । अलबुद्बुदो अलबुद्बुदः । उल्का उल्का । कन्दिनि कस्मिन्निवि ॥

अर्थ—जैसे विजली, पानीका बबूला, और उल्कापात ये पदार्थ शीघ्र नष्ट होते हैं- वैसे खिओकी किसी पुरुषपर प्रीति दीर्घ कालतक नहीं रहती है

परमाणू वि कइंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुरसस्स ॥

ण य सक्का वेत्तुं जे चित्तं महिलाए अविसण्हं ॥ ९६५ ॥

ग्रहीतुं शक्यते जातु परमाणुरपि ध्रुवम् ॥

न सूक्ष्मं योपितां स्वान्तं दुष्टानामिव चंचलम् ॥ ९८३ ॥

विजयोदया—परमाणुरपि कर्पचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमगच्छेत् । यनिताभा चित्तं पुनः ग्रहीतुं न शक्यमिति सूक्ष्मं ॥

मूल्या—आगच्छेज्ज गहणं आगच्छेद्ग्रहणं । माहो भवेत्तिथ्यर्थः । ण य सक्का वेत्तुं जे ग्रहीतुं न शक्यम् ॥

अर्थ—परमाणु को भी मनुष्य किसी उपाय के द्वारा ग्रहण करेगा। परंतु खियों का अत्यंत सूक्ष्म चित्त उसके द्वारा ग्रहण किया नहीं जाता है

कुविदो व किण्हसण्यो दुडो सीहो गओ मदगलो वा ॥

सक्का हवेज्ज घेत्तुं ण य चित्तं दुट्टमहिलाए ॥ ९६६ ॥

कुट्ट-कंठीरवः सर्पः स्वीकर्तुं जातु शक्यते ॥

न चित्तं दुष्टदृवीनामेतासामतिभीषणम् ॥ ९८४ ॥

विजयोदया—कुविदो व कुपितः । कुण्डलं । दुष्ट विदो, मदगलो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्टयन्त्रिचित्तम् ॥

मूलात्—भगवतो मत्तः ॥

आवाप्तः

६

अर्थ—अतिशय दुःख हुआ कस्ता सार्थ, दुष्ट सिद्ध और उन्मत्त दासी को भी मनुष्य एकदनेसे समर्थ है।
परंतु दुष्ट स्त्रीका मन एकदनेसे ये समर्थ नहीं है।

सकं हविज्ज वहुं विज्जुज्जोएण स्वमच्छिम्भि ॥

ण य महिलए विचं सक्का अदिचंचलं णाहुं ॥ १६७ ॥

रूपं संतमतौ द्रष्टुं विद्युद्योनेन पार्यते ॥

चेतश्चलस्वभावानां पोषाणां न कथंचन ॥ १८५ ॥

विजयोद्या—सकं हवेज्ज विद्युद्योनेन मसित्यं रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुनर्पुनरिति चित्तमतिचपलं अचर्यं तु शक्यम् ॥

मूलात्—अच्छिम्भि नेत्रे स्थितं । नेत्ररूपमित्यर्थः । अच्छीहि इति पाठे अक्षिभिर्यस्य कस्यचिद्रूपं विद्युत्प्रकाशेन
द्रष्टुं शक्यमिति व्याख्येयम् ॥

अर्थ—बिजलीके अत्यल्प प्रकाशसे भी नेत्रका रूप देखना शक्य है परंतु अतिशय चंचल ऐसा तरुण
स्त्रीका मन ज्ञान लेना अति कठिन है।

अणुवत्तणाए गुणवत्तणेहिं विचं हरंति पुरिसस्स ॥

मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिसं ण याणंति ॥ १६८ ॥

अलिपुहिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ॥

पुरिसस्स चलं विचं हरंति कववाओ महिलाओ ॥ १६९ ॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पदुणदि य पावहिदएण ॥

वयणे अमयं चिद्धदि हियाए य विसं महिलियाए ॥ १७० ॥

हरन्ति मानस रामा नराणामनुवर्तनैः ॥

तावद्यावन्न जानन्ति रक्तं क्लृष्टलब्धतसः ॥ ९८६ ॥

हसितै रोदनैर्वीर्यैः शपथैर्विविधैः शठाः ॥

अलीकैर्मनस युंसां गृह्णन्ति कुटिलाशयाः ॥ ९८७ ॥

हरन्ति पुरुषं चात्रा चेतसा प्रहरन्ति त्वा ॥

धाचि लिप्सति पीयूषं विपं चेतसि योषिताम् ॥ ९८८ ॥

विजयोवया—महिषा पुरिसे यथेतेहि यन्तिता पुरुष एवनेहरति । इति च पाथेन इदयेन । धाक्ये मधु लिप्सति । इदये विपं युवतीनाम् ॥

मृणारा—अनुवचणाए उदात्तपूरया । गुणवकणेहि गुणकीर्तनैः । हरन्ति गृह्णन्ति । माना वा नाता यथा वालस्य ॥

मृणारा—अलिपिहि असलैः । एते हे अपि गोथे टीकाकारो नेच्छति ॥

मृणारा— धापाय वचसि ॥

अर्थ—पुरुषके छंदका अनुसरण करके, और उसके गुणोंका वर्णन करके वे पुरुषका मन हरण करती हैं। जब तक पुरुष अपनेमें अनुरक्त हुआ नहीं तब तक वे उसकी गुणप्रशंसा, उसके छंदानुकूल प्रवृत्ति करती हैं। मिथ्या हास्यवचन, मिथ्या रोना, मिथ्या सोगंद ताना इत्यादि कपटयुक्तिओंसे पुरुषका मन हरण करती हैं। स्त्री पुरुषका चित्त मधुर वचनसे चौराती है और पाषण्डक इदयसे उसका घात करती है। स्त्रियों के वचनोंमे मधु रहता है और इदयमें विष रहता है

तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्टिमंसपरिसेसं ॥

उद्दाहंति वधंति य वडिसामिसलगमब्धं व ॥ ९७१ ॥

उदए पवेब्जहि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ॥

ण य महिलाण क्वाई उज्जुयमावो णरेसु हवे ॥ ९७२ ॥

पापाणोऽपि तरेस्तोये न ददेदपि पावका ॥

न चित्तं पुरुषे स्त्रीणां प्रजलं जातु जायते ॥ ९८९ ॥

विजयोदया—उदय पवेल्य शु उदके तरेदपि शिला, मत्रिरपि न ददेत्, स्त्रीतलो या मयेत् । नैव वनितानां कदाचिन्नेरेषु कतु मयति मनः ॥

मूलारा—उरोर्हति निष्कासयति । प्लो दीकाणारो नेच्छति ॥

मूलारा—उदये जले । पवेल्य सु तरेदपि । कदाइ कथंचित् । कजुगभावो प्रजलपरिणामः ॥

अर्थ—अपनेपर आसक्त हुआ पुरुष चर्च, हठी और मांस ही दोष जिसका बचा हुआ है ऐसा देवकर गलको लगे हुए मत्स्य के समान उसको मार देती हैं अथवा उसको अपने घरमेंसे निकाल देती हैं. अर्थात् जब पुरुषके माता धन नहीं रहता है तब स्त्रिया उसको अपने घरसे निकाल देती हैं या उसको मार डालती हैं, कदाचि-
न पानीमें शिला तरेने लगेगी. अग्नी अपना दाहक स्वभाप छोड़कर ठंडी होगी तोभी स्त्रियोंका मन कभीभी कप-
ट छोड़कर सरलता नहीं धारण करेगा.

उज्जुयभावमि असत्तयमि किच होदि तासु वीसंभो ॥

विस्सेभमि असंते कां होल्लज रदी महिलियासु ॥ ९७१ ॥

प्रोजलत्तयं विना स्त्रीषु विस्संभो जांयते कथंम्

विस्संभेण विना तासु जायते कांहरसी रतिः ॥ ९९० ॥

विजयोदया—उज्जुगभावमि कतुभाये मसति कथं भवति तासु विस्संभः । असति विस्संभे का वनिततासु रतिः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें सरलपना नहीं रहता है. अतः ये पुरुषोंपर विश्वास रखती नहीं. विश्वासके अभावमें उनका प्रेम भी स्थिर नहीं रहता.

गच्छिज्ज समुहस्स वि पारं पुरेसो तरित्तु ओघवलो ॥

मायाजलमि महिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥ ९७४ ॥

बाहुभ्यां जलधेः पारं तीर्त्वा याति परं ध्रुवम् ॥
न मायाजलधेः स्त्रीणां बहुविभ्रमचारिणः ॥ ९९१ ॥

विजयोदया—गच्छिज्ज गच्छेय समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः । मायाजलधितोविधिपारं नैव गंतुं शक्नोति ॥
मूलाय—तरिषु तीर्त्वा । ओगबलो महाबलः । बाहुबल इत्यन्ये ॥

अर्थ—सामर्थ्यवान् मनुष्य समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त कर सकता है, परंतु कपटरूपी जल जिसमें है ऐसा स्त्रीरूपी समुद्रको तीरकर दूसरा किनारा पुरुषके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है-

रदणाउला सवग्धाव गुहा गाहाउला च रम्णदी ॥

मधुरा रमणिल्लजावि य सढा य महिला सवोसा य ॥ ९७५ ॥

सव्याग्नेय गुहा रत्नैर्बहुभेदैर्विराजते ॥

रम्णिया सवोपा च जायते महिला सदा ॥ ९९२ ॥

विजयोदया—रदणाउला रत्नसंकीर्ण सव्याग्ना गुहेव रम्या नदी गाहाकुलेव मधुरा रम्या शढा सवोपा च यजिता ॥

मूलाय—रदणाउला रत्नाकीर्ण । या सदा । गाहाउला मकराविसंकुला रम्णदी रम्णीयापया ॥

अर्थ—पर्वतकी रत्नपूर्ण गुहा सुंदर दीखती है परंतु उसके अंदर व्याघ्रका निवास होनेसे वह भयानक भी है- नदीका स्वरूप ऊपरसे रम्णीय दीखता है, परंतु अंदर मकरादि क्रूर जंतुआका निवास होनेसे वह भयावह है- वैसे ही भी मधुर और सुंदर होने पर भी कपटमय और दोषसे भरी हुई होनेसे अहित करने वाली ही है-

दिट्ठं पि ण सव्भावं पडिवज्जदि णियडिमेव उहेदि ॥

गोघाणुल्लुक्कमिच्छी करेदि पुरिससस कुल्लाजावि ॥ ९७६ ॥

न दृष्टमपि सद्भावं वक्कधीः प्रतिपय्यते ॥

गोधान्तोद्धि विधत्ते सा पुरेये कुलपुत्र्यपि ॥ ९९३ ॥

विजयोद्या—दिद्विपि दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निष्ठितिबोधोपन्यस्यति ॥

मूढारा—दिद्विपि परेणलोकितमपि । सद्भावं दोषरूपः । जेदि उपन्यस्यति । अयमर्थः परेण दृष्टमपि दोष सत्यं न प्रतिपद्यते स्त्री, अल्लयं दोष इति न मन्यते किन्तु जाल्प्यं न कुतो भवेति वचनमेवावष्टभ्नाति । अत्रे-
धार्मे दृष्टतमाह—गोधाणुलुक् गोपाया इव ग्राहं पुरुषविषये कुलपुत्रिकापि करोति । यथा गोधा स्वावष्टब्धां भूमिं
पेलात्कारेणापि त्याज्यमाना न त्यजति यथा गोपिदपि स्वगृहीतं पदं न मुच्यति । यत्पदमेवापि त्याज्यमाना । अन्ये तु
गोधाणुलुक् गोधान्तरपानमाहुः । यथा गोधा पुरुषं दृष्ट्वा तव आत्मानं गोषायति । यथा गोपिदपि दौघेन सां न पदयति
तथा करोमीति । अथवा गोधाया अन्तर्दि करोति ग्राहेण गोपामपि विरक्तरोतीत्यर्थः । तथा बोधम्—

न दृष्टमपि सद्भावं वक्तव्यं प्रतिपद्यते ॥

गोधान्तर्दि विषये सा पुरुषे कुलपुत्र्यापि ॥

अथचैव, ज्वालेय—परेण निजगणं सोभनमपि अर्थेनात्मन्य दृष्टमपि न प्रत्येति स्त्री, किं वदिं तमशोभनं वक्त-
तया प्रत्येति । तथा पुरुषस्य संबंधितेनात्मानं गोषायति । तथा चोक्तम्—

प्रत्येति न सद्भावं दृष्ट्वापि हि कपटनाटकं वहुते ॥

गोधाणुमि गोषा विद्ययति नरस्य कुलजापि ॥

अर्थ—दूतरे मनुष्येन स्त्रीका कुल दोष देखा हो तोभी यह मेरेमें यह दोष है अथवा भेने यह दोष किया
है ऐसा कभी नहीं कहेंगी. कपटसे ज्ञा दोषका आच्छादन ही करेंगी, जैसा गौह नामक प्राणी किसी स्थानका
आश्रय लेकर उसकी इतना बिपक जाता है कि उससे कोईभी जलन नहीं करसकते हैं. वैसे ॥ए स्त्री अपराध करके
भी मेने यह अपराध किया है ऐसा कभीभी स्वीकार न करेंगी.

पुरिसं वधमुबेधिति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि ॥

दोसे संघाविदि य होदि य इत्थी मणुरसस ॥ ९७७ ॥

दोषान्छादनतः सा स्त्री वर्षवर्षविधानतः ॥

प्रमदा गदिता प्राज्ञैः प्रमादयहुलत्वतः ॥ ९९४ ॥

विजयोदया—पुरिस वचमुपेक्षेदिति पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते । मनुष्यस्य दोषान्संहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥

स्त्रीपाथक्यद्वन्द्वितुल्यद्वारेण तदोषानाह—

मूढारा—पुरिसमित्यादि । गिरुत्तिवाद्मिम व्याकरणे । दोषं संघाहेति दोषान्संघातीकरोति । पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति व्यगदिद्यते योषित् । तथा मनुष्यस्य दोषान्संहतीकरोति इति स्त्रीति च ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको मारती है इस वास्ते उसको 'वधु' कहते हैं पुरुषमें यह दोषोंका समुदाय संघित करती है इस वास्ते इसको 'स्त्री' यह नाम है.

तारिसओ णत्थि अरी णरस अण्णेत्ति उच्चदे णारी ॥

पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥ ९७८ ॥

मारिर्यत्तः परोत्स्यस्यास्तनो नारी निगद्यते ॥

यतो विलीयते हृद्दया पुरुषं विलया ततः ॥ ९९५ ॥

विजयोदया—तारित्तथो साहचर्यो नरस्य मारित्तलीति नारीरुच्यते । पुरुषं सदा पमत्तं करोतीति प्रमेयेति निरुच्यते ॥

मूढारा—साहचर्यो नरस्य मारिररतीति नारी । पमदा पुरुषं पमत्तं करोतीति प्रमदा ॥

अर्थ—मनुष्यको इसके समान दुसरा शत्रु नहीं है अतः इसको 'नारी' कहते हैं. यत्तः पुरुषको पमत्तं अर्थात् उन्मत्त बनाती है इस लिये इसको 'प्रमदा' कहते हैं.

गलपु लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ॥

जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥ ९७९ ॥

अवलत्ति होदि जं से ण ददं हिदयमिम धिदिबलं अत्थि ॥

कुम्भरणीपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥ ९८० ॥

आलं जणेवि पुरिसस्स महलं जेण तेण महिला सा ॥
 एवं महिलाणामाणि होति असुभाणि सञ्चाणि ॥ १८१ ॥
 गिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ॥
 आयमरसावसघो महिला मूलं च कलहस्स ॥ १८२ ॥
 कुत्तिस्सता नुर्यतो मारी कुमारी गदिता स्ततः ॥
 दिभेत्ति धर्मकर्मणो यतो भीरुस्ततो मत्ता ॥ १९६ ॥
 यतो ललति महापोवं महिलाभिहिता ततः ॥
 अबला भण्यते तेन न येनस्ति यलं ह्रदि ॥ १९७ ॥
 जुषते प्रीतिनः पापं यतो योपा ततो मत्ता ॥
 यतो ललति दुर्दुत्ते ललना प्रणिता ततः ॥ १९८ ॥
 नामान्यपि दुरर्थानि जायंते योपितामिति ॥
 सभस्से जायते प्रायो निर्दिनं पापवेतसाम् ॥ १९९ ॥
 मत्सरविनयायासक्रोधशोकायशोभियाम् ॥
 सर्वासं कारणं रामा विषाणामिब सर्पिणी ॥ २०० ॥

विजयोक्त्वा—भिलओ कलीए कलेर्निलयः । व्यलीरुत्सालयः । अविनयस्याकरः । अयासस्यायकादाः ।
 कलहस्य मूलं युवतिः ।

मूलाए—पुरुषस्य गलेऽग्रं लावलीति, पुरुषं वा इष्टा विलीयते इति विलया कथ्यते । नोजदीत्सावि नरं
 दुःखेन नोजयतीति युवतिर्योषा च ॥

मूलाए—शबलति नास्ति हृदये पृथिवलभस्या इति अबला । कुमारी कुत्तिवं यण्णोपायं जनयति इति कुमारी ॥

मूलाए—महिला पुरुषस्य महान्तं आलं जनयति इति महिला । कलहादिवं श्रीविजयाचार्यो नेच्छति ॥

मूलाए—कलीए रागद्वेषयोः । आगरो आकरः । आवसघो आवासः ॥

अर्थ—पुरुषोंके गलेमें यह अनयोको बांधती है अथवा पुरुषको देखकर उसमें यह लीन होजाती है अतः इसको 'विलया' कहते हैं. यह स्त्री पुरुषको दुःखसे मंथुक करती है अतः 'युवति' और 'योषा' ऐसे दो नाम इससे हैं.

इसके हृदयमें धैर्यरूपी बल दृढ रहवा नहीं अतः इसको अचला कहते हैं. कुत्सित ऐसा मरण ॥ उपाय उत्पन्न करती है इस लिये इसको कुमारी कहते हैं. यह पुरुषके ऊपर दीपरोपण करती है उस लिये इस को महिला कहते हैं. एते स्त्रियोंके लितने नाम हैं ये सर्व अशुभ ही है. स्त्रिया रागद्वेषका निवासस्थान है. असत्य मापणका घर है, अविनयका स्थान है और दुःखोंका कारण है. और कलहका मूल है.

सौगन्ध सरी वेरस खणी निबहो वि होइ कोहस्त ॥

निबधो गियहीजं आसवो य महिला अकिचीए ॥ १८३ ॥

कुलजातियशोधर्मदारीरार्थशमादयः ॥

नाशयंते योपया सर्वे बाल्या तोयदा इव ॥ १००१ ॥

विजयोद्या—सौगन्ध सरी शोभन्त्य नदी । धैर्यवान्तिः । निबहः कोपस्य । निबधो निहनीनां । अकीर्ति-राधयो युवतिः ॥

मुळार—सरी नदी, खणी रानिः, निबहो संपतः । निबधो राक्षिः ॥

अर्थ—स्त्री शोकनी नदी है. वेर की भूमि—अर्थात् उत्पत्ति स्थान है. स्त्री कोपका सजुदाय रूप है. कपटोंका समूह है और अकीर्तिका आधार है.

पासो अत्यस्त सजो देहस्त य दुग्गदीपमगो य ॥

अनाहो य अणत्यस्त होइ पहवो य दोसाणं ॥ १८४ ॥

पावकः सुखवारुणां आवासो दुःखपाषसाब् ॥

प्रणयपो ब्रतरत्नानामनर्यानां निकेतनम् ॥ १००२ ॥

विजयोदया—आतो अयस्स अर्थस्य मातः । वेदस्य शयः । दुर्गतिमर्गः । अन्वर्थस्य कुल्यः । शोषणां प्रभवः ॥
 मूलतः—आवाहो यवतीनां जलपानस्तर्पनं कुत्सेत्पारः । पवाहो प्रवेशः ॥
 अर्थ—स्त्री घननागका कारण है-देहमें क्षयरोग उत्पन्न करती है-दुर्घतिका मार्ग है और अनर्थोंका निवास है और दोषोंकी उत्पत्तिस्थान है-

महिला विगयो धम्मस्स होदि परिहो यं मोक्खमगसस ॥
 दुक्खणा य उत्पत्ती महिला सुक्खाण य विवत्ती ॥ १८५ ॥
 असत्त्वानां ग्रहं योषा यवनानां वसुंधरा ॥
 कुठारी धर्मदृष्टाणां सिद्धिसौधमहागला ॥ १८६ ॥
 दोषाणामालयो रामा भीमानामिव वाहिनी ॥
 गुणानां नाशिका माया व्रतानामिव जायते ॥ १८७ ॥

दिव्ययोदया—महिला विगयो यन्मिता पिप्पो भवति । धम्मस्स धर्मस्य । परिहो मोक्षमार्गस्य । दुःखानां कोट्य-
 स्ति । लोचयानां य विपत्तिः ॥

मूलतः—परिहो परितः । अर्गैः अर्थः । विवत्ती विनाशः ॥
 अर्थ—स्त्री भर्माचारणमें विघ्न समान है-मोक्षमार्गमें यह अर्गलाके समान प्रतिबंधक है-दुःखोंकी उत्प-
 त्तिस्थान है और सुखोंका नाश करनेवाली है-

पासो च वंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ॥
 तिच्छे व विंधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥ १८६ ॥
 बंधने महिला पाशः स्वयं गुः पुंसां निकर्तने ॥
 छेदने निश्चितः कुंतः पंकोऽप्यार्षो निमज्जने ॥ १८७ ॥
 विजयोदया—पासोच पंधिदुं जे पास इव बंधितुं । सुगमा गाथा अमरदत्ते व्याख्याते ॥

मूलार—यथिदुं जे बडुं । विथिदुं जे छेचुं । पंको पणको नाम कर्ममेदः । गिनबिदुं ब्रुबिदुं ॥
 अर्थ—सी पुरुषको बंधनकेलिये पाशके समान है. पुरुषको तोदनके लिये कुन्हाडकि समान है और विद्व करने के लिये बाण के समान है. और दुबानेके लिये कीचढके समान है.

सूलो इव भिचुं जे होइ पवोडुं तहा गिरिणदी वा ॥
 पुरिसस्स खुण्णदुं कद्दुमीव मब्बुंज्व मरिदुं जे ॥ ९८७ ॥
 अमीगि य डहिदुं जे मदेव पुरिसस्स सुब्बिदुं महिला ॥
 महिला निकत्तिदुं करक्कोव कंझूव पडलेडुं ॥ ९८८ ॥
 पाडेदुं परस्स वा होदि तहा सुग्गरो व ताडेदुं ॥
 अबहणणं पि य जुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥ ९८९ ॥
 चंदो हविज्ज उण्हो सीदो स्रो वि थडुमागांसं ॥
 ण य होज्ज अदोसा भट्ठिया वि कुलवालिया महिला ॥ ९९० ॥
 एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकवे वि चितयदो ॥
 महिलार्हितो विचित्तं उच्चियदि विसगिसरसीहिं ॥ ९९१ ॥
 वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ॥
 तह महिलाणं दोसे दंहुं महिलाओ परिहरइ ॥ ९९२ ॥
 महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं ॥
 तचो अहिदरा वा तेसिं बलसत्तिजुचाणं ॥ ९९३ ॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ॥
 तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥ १९४ ॥
 किं पुण गुणसाहिदाओ इच्छीओ मत्थि वित्थब्जसाओ ॥
 णरलोमदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥ १९५ ॥
 सित्थयरयक्खधरवासुदेवबल्लदेवगणधरधराणं ॥
 जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥ १९६ ॥
 एगपदिव्वइक्कणावयाणि धारिंति किस्सिमाहिलाओ ॥
 वेधच्चतिव्वदुक्खं आजीवं णिति काओ वि ॥ १९७ ॥
 सीलवदीओ सुच्चंति महीयले पत्तपाडिहेराओ ॥
 सावाणुगगहसमत्थाओ वि य काओव महिलाओ ॥ १९८ ॥
 तुमघेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण द्ढाओ ॥
 सप्पेहिं सावज्जेहिं वि हरिदा सद्धा ण काओ वि १९९ ॥
 सब्बगुणसमगगणं साट्ठणं पुरिस्सपवरसीहाणं ॥
 चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥ २०० ॥
 मोहोदयेण जीवो सब्बो दुस्सीलमइल्लियो होदि ॥
 सो पुण सब्बो माहिला पुरिसाणं होइ सामण्णा ॥ २००१ ॥
 तस्मा सा पक्खवणा पउरा महिलाण होदि अधिक्किच्चा ॥
 सीलवदीओ गणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥ २००२ ॥
 इत्थिमदा ॥

नराणां भेदने शूलं वह्ने नगवाहिनी ॥
 मारणे दारुणो मृत्युर्मलिनीकरणे मपी ॥ १००६ ॥
 अनलो वह्ने पुसां सुद्ररश्चूर्जने परः ॥
 ज्वलंती पवने कंदूः करपत्रविपाटने ॥ १००७ ॥
 उट्णञ्चद्रो राविः शीतो जायते गगनं धनय ॥
 मादोषा प्रायशो रामा कुलपुत्र्यपि जातु चित् ॥ १००८ ॥
 सर्पिणीव कुटिला विभीषणा बैरिणीव बहुदोषकारिणी ॥
 मंडलीव मलिना नितंबिनी चादुकर्म वितनोति यच्छतम् ॥ १००९ ॥
 नारीभ्यः पश्यतो दोषानेतानन्यांश्च सर्वथा ॥
 विलसुहृजते पुंसो राक्षसीभ्य इव स्फुटम् ॥ १०१० ॥
 दोषास्पर्जंति विद्वांसो दोषान्ज्ञात्वेति दूरतः ॥
 व्याघ्रीव कृपाहीनाः परामिपरायणाः ॥ १०११ ॥
 दोषा ये संति नारीणां नराणां ते विशेषतः ॥
 द्रष्टव्या दुष्टशीलानां प्रकृष्टबलेजसाम् ॥ १०१२ ॥
 व्याघ्रा इव परित्याज्या नरा दूरं कुचेतसः ॥
 रामाभिः शुद्धशीलाभी रक्षंतीभिर्निजं व्रतम् ॥ १०१३ ॥
 यथा नरा विमुंचते वनिता ब्रह्मचारिणः ॥
 त्याज्यास्ताभिर्नरा ब्रह्मचारिणीभिस्तथा सदा ॥ १०१४ ॥
 न रामा निखिलाः संति दोषवन्त्यः कदाचन ॥
 देवता इव दृश्यंते वंदिता बहवः स्त्रियः ॥ १०१५ ॥
 मातरस्तीर्यकर्तृणां भुवनोद्योतकारिणां ॥
 जायते वनिता घन्याः शक्रचक्रमांबुजाः ॥ १०१६ ॥

शलाकागुरुयास्तामिर्लोन्यते सुवनचित्ताः ॥
 धात्रीभिरिव शुद्धाभिमर्णयः पुरुतेजसः ॥ १०१७ ॥
 पुरतन्निनि न जायते शुद्धशीलाः स्त्रियो विना ॥
 विना नीरदमालाभिः पानीयानां क संभवः ॥ १०१८ ॥
 आजन्म विधवाः काश्चिद्रक्षाचर्यमलंङ्कितम् ॥
 घरति दुर्धरं घन्या ज्वलद्दीपमिवोज्ज्वलम् ॥ १०१९ ॥
 कन्याभिरार्योकाभिश्च वीर्यते दुष्करं तपः ॥
 विचित्रव्य शमशस्त्रेण मन्मथप्रतिषन्धकम् ॥ १०२० ॥
 श्रियते शुद्धशीलाभिर्यावज्जीवमद्वितम् ॥
 पतिनस्रवतं हवीभिः परायिः पूजितं सताम् ॥ १०२१ ॥
 देवेभ्यः प्रतिहार्यणि माता विख्यातकीर्तयः ॥
 पोषाः क्षीलप्रसादेन श्रूयते पद्मवो भुवि ॥ १०२२ ॥
 शीलपूतयो विलोक्युते ता घन्या युधवंदिताः ॥
 सप्रथीः शीतलीकुण्डं या ज्वलतं हुताशनम् ॥ १०२३ ॥
 सर्वशास्त्रसमुद्राणां वंदितानां जगत्त्रये ॥
 सविभ्याः सन्ति शीलाख्याः साधूनां चरमांगिनाम् ॥ १०२४ ॥
 निमत्स्यते न पानीयेनीयते न नदीजलेः ॥
 सत्यो न्यालेन भक्ष्यन्ते न दक्षान्ते हुताशनैः ॥ १०२५ ॥
 मोहोदयेन जायते स्त्रीपुंसामद्युषाः शुभाः ॥
 परिणामा इति ज्ञात्वा मोहो निव्यो न जन्तवः ॥ १०२६ ॥
 साधारणेषु सर्वेषां जीवानामनिवारिते ॥
 दुष्टाः सन्ति परीणामस्ततः कार्योऽय निग्रहः ॥ १०२७ ॥

शुद्ध्या भवंति नार्योऽपि शुद्धशीला महीयसा ॥
 स्त्री पुमानिति कुर्वन्ति शोषुषीं संवमेधसः ॥ १०२८ ॥
 सापान्येन ततो नेह निर्दिताः सन्ति योषितः ॥
 शुद्धशीला न गच्छन्ति दूषणं हि कदाचन ॥ १०२९ ॥
 शुद्धशीलफलितसु जायते नांगनासु चरितं मलीयसं ॥
 आस्पृश्य हि विदधाति तामसं हंसरदिमपु कदाचनपि किं ॥ १०३० ॥
 इति स्त्री दोषाः ॥

इति मन्त्राः ॥

मूढारा—सूतो वि य मूलमिव । पक्वोऽतुं प्रवाहयितुं संसारार्णवे पातयितुं । मरुचुल्ल शूलुरिव ॥
 मूढारा—अगमिषि य अगमिषि । इदितुं ये दग्धं । मरुच मयादिजलचिचकार इव । मरुचिदुं मूढीम-
 वितुं । निक्षिपितुं लंघयितुं । फरफलोय फरपत्रमिव । कंठ कंठुः । स्नेहिका । पउलेतुं स्वेदयितुम् । पक्वमिति यावत् ।
 मूढारा—पावेतुं दारयितुं परस् कुठारा । अवहणं लोहकारस्य घनः ॥
 मूढारा—पट सप्तं, फठिनं, भविष्या भद्रिका । अकूरा ।
 मूढारा—महिलाहितो स्त्रीभ्यः । लब्धययि उचितैः ॥
 मूढारा—स्पष्टम् ।

पर्वं प्रवेष्टेन स्त्रीषु शोषन्प्रदं नीचपुरुषेष्वपि तेषां ताभ्योऽधिकतराणां वा सद्भावं भावयति ॥
 मूढारा—एव अन्नादिजनितसामर्थ्यं । सपि शक्तिः वीर्यमचित्समभावमित्यर्थः । ताभ्यो सहितानां स्त्रीभ्योऽधिक-
 वरमित्यत्रापि लिंगादिपरिणामेनानुवर्त्यम् ॥

शीलरिरक्षिपया पुंग्विदुषाः स्त्रिय इव स्त्रीभिरपि दुष्टपुमांसो जुगुप्स्या इति दर्शयति—
 मूढारा—निदिता निधा त्वान्या इत्यर्थः । शीलरक्षिष्याणां श्रुचिचरितं रक्षितुमुच्यतानां ॥
 ननु च शीलरक्षिष्याणमित्येतदेवैकमयत्प्रतिपादनपरेण पूर्वोक्तप्रबंधेन स्त्रीणां त्रिरुच्यते तत्किमिदानीं का-
 विच्छीलवत्योऽपि स्त्रियः संभवेभुरिति पर्वेनुजानं प्रति सविस्तरं स्त्रीमतछिकानां गुणग्रामसद्भावव्यापनार्थमाह—

मूढारा—किं पुन किं पुनर्विषयम् ॥ यद्यपि जातिभागेण संसारस्तररोगनिर्विज्यैर्गोशसुरैरुपरसिद्धैः संवर्गि-
मिलन्यापि पात्रिद्वयाविदावसाठि-वस्तेषामपि स्तुतिपदं भवन्तीति विस्मययोक्तव्यमेवम् । यतः शुणेत्यादि । यित्युक्तव-
साजो विस्तीर्णकीर्तयः ॥

निर्दोषेणाह—

मूढारा—गणपरमराजं तीर्थकरमक्षिप्यणां दृपमसेनपुरस्सरेन्द्रभूषिष्यवर्गव्यप्रधानातां । सुरणस्पजरेहि
सौधमैन्नादिवेन्द्रमरुतपञ्चरस्यांदिनरेन्द्रे ॥

श्रीचिदोषणां शीलपलनविदायमुमुक्षुप्रयसि—

मूढारा—एगपरिव्यव एरुपतिप्रतं देवाप्रितुससक्षिप्यणिप्रवृत्तिपन्ने मत्तेरि प्रवृत्ति । कृष्णावद कन्या-
प्रवं कौमारप्रलपारिद्रं । किस्तिमालाजो यद्योभूरणाः । किस्तिमहिलाओ इति पाठे कीर्तियुजाःक्षिय इत्यर्थः ॥
पेधव्यविचयदुपल्लवं रंढापदुःसाहमहदुःपं । जीवं जीवितपर्वन्तं णंति नयन्ति प्रापयन्ति । कावो काक्षिम् ॥
तथा काक्षिच्छीलपलनविदामुमुक्षुप्रयसि ॥

मूढारा—गुरुपति ध्रुवते । पञ्चपादिदेराओ देवतादिभ्यः प्रतिद्वन्द्वव्यपत्यविकारसरूपाः । साबागुगदसन्म
त्याजो आकौशोपरसमयोः । कावो वि काक्षिस्तीतादयः ॥

काक्षिष्व शीलपलनविदामुमुक्षुप्रयस्योऽपि ध्रुवते इत्याह—

मूढारा—ओषेण महानदी जलप्रवाहेण । न गूढाओ न नीताः । कावो वि काक्षन शीलवस्यः सुलोपनादयः ।
वद्रूपगोक्षगामिपुंरुत्ताप्रसूयेन सत्यापिवनिजमुपरितविवोदाः काक्षिन्ध्रुवते इत्युपदिशति—
मूढारा—परिमाणं परमवेक्षणां । जणित्तं सवित्रीभायं । कावो वि सुनंतादयः ।

किं तर्वेऽपि जीयाः प्रकृत्यैव शुद्धसुदत्तभावाः शीलमल्लिभ्यं तु मोहोदयैकनिमित्तमेणां स प सर्वेणां संसा-
रिणां भावेण साधारण इति मोह एव विदनीयो न जंतव इति शिक्षकगंगाद्वयेन प्रस्तुतमुपसंहरति—
मूढारा—एष्टम् ।

मूढारा—सा प्रागुता । पण्यवणा दोषप्रत्यापना । पवरा महिला प्रवराः धियः अधिकृत्य नुमपतीति संवयः
इत्यह्वाह—भगिदा प्रतिपदिताम् । किं नाम कथमहो न कथमित्यर्थः ॥ श्रीदोषः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको झूठके समान भेद करती है। जैसे पर्वत परसे नीचे गिरनेवाली नदी पदार्थको बटे जोरसे अपने साथ बहाती हुई मधुद्रुमें ले जाती है वैसे स्त्री भी पुरुषको मयसमुद्रमें फेंक देती है। जैसे कीचड़ मनुष्यको खोल फसाता है वैसे स्त्री भी पुरुषको कीचड़के समान फसाती है। जैसे मृत्यु मनुष्यको मारता है वैसे स्त्री भी पुरुषको मारती है। अर्थात् समान स्त्री पुरुषको जलाती है। मद्य जैसे चिचम विकार उत्पन्न करता है वैसे स्त्री भी पुरुषके चित्तको विकृत करती है। करोत जैसा लकड़ीको फाड़ता है वैसे स्त्री भी मनुष्यके हृदयको दुर्भाषण और अयोग्य व्यवहारसे चीरती है। खुजलीमें जैसे सब जंगमें कंडू खुजली उत्पन्न होती है वैसे इसके सहवाससे शांति नहीं मिलती है। यह परशुके समान फाड़ती है व मृदरके समान दुराचरणसे पुरुषके हृदयपर आघात उत्पन्न करती है। पुरुषके पूर्ण करनेके लिये स्त्री लोहके घन समान है।

चंद्र कदाचिन् शतिलताको त्यागकर उष्ण बनंगा, सूर्य भी थंडा होगा। आकाश भी लोहपिंडके समान घन होगा। परंतु छलीन थंडकी भी स्त्री कल्याणकारिणी और सरलस्वभावकी धारक नहीं होगी।

ऊपर कहे हुए दोषोंके साथ और भी अनेक दोष स्त्रियोंमें हैं। उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो वे स्त्रिया उसको विप और अभिके समान भयानक दीखेंगी और उनसे उनका चित्त लौटेगाही। व्याघ्र, सर्प वगैरे क्रूर प्राणीओंके दोष जानकर जैसे मनुष्य उनसे दूर रहता है वैसे स्त्रियोंमें दोष है ऐसा जानकर पुरुषको उनका त्याग करना उचित है।

स्त्रियों में जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषों में भी रहते हैं। इतनाही नहीं स्त्रियोंसे भी उनकी अभावि-
ता से उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहनेसे उनमें अधिक दोष रहते हैं।

शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निंदनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है वैसे शीलका रक्षण करने वाली स्त्रियोंको भी पुरुष निंदनीय अर्थात् त्याग्य है। संसार, शरीर और भोगसे वित्त मुनिओंके द्वारा स्त्रिया निंदनीय मानी गई है तथापि जगतमें कोई २ स्त्रिया गुणातिशयसे शोभायुक्त होनेसे पुनिओंके द्वारा भी स्तुति योग्य हुई हैं। उनका यह जगतमें फैला है। ऐसी स्त्रिया मनुष्यलोकमें देवताके समान पूज्य हुई हैं। देव उनको नमस्कार करते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और गणधरादिकोंको प्रसवनेवाली स्त्रिया देव, और मनुष्योंमें जो प्रधान व्यक्ति हैं उनसे वंदनीय होगई है, कितनेक स्त्रिया एक पतिव्रत धारण करती है, कितने

स्त्रिया आजन्म अधिमादित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्य त्रत धारण करती हैं। कितनेक स्त्रिया वैषम्यका तीय दुःख आजन्म धारण करती हैं।

शूलव्रत धारण करनेमें स्त्रियोंमें श्राप देना और अनुग्रह करनेकी भी शक्ति प्राप्त हुई थी ऐमा आश्रमोंमें वर्णन है। देवताओं के द्वारा ऐसी स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे माहात्म्य भी दिखलाया गया है।

ऐसी महाशीलवती स्त्रियोंको उत्तमब्राह्म भी घहानेको असमर्थ है। अग्नि भी इनको नहीं जला सकती है। यह शक्ति होती है। ऐसी स्त्रियोंको सर्व व्याघ्रादिक प्राणी खा नहीं सकते हैं। अथवा युद्धमें लेकर अन्यस्या-नमें नहीं फँक देते हैं।

संपूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण, श्रेष्ठ पुरुषमेंभी श्रेष्ठ, तत्त्व मोक्षगामी ऐसे पुरुषोंको कितनेक शीलवती स्त्रियोंने जन्म दिया है।

मोहोदयने जीव कुशील बनते हैं। मलिन स्वभावके धारक बनते हैं। यह मोहोदय सर्व स्त्रियोंमें और पुरुषोंमें समान रीतिसे है। जो पीछे स्त्रियोंके दोषोंका विस्तारसे वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियोंके साथ संपर्क नहीं रखता है अर्थात् वह सब वर्णन कुशील स्त्रियोंके विषयमें समझना चाहिये। क्योंकि शीलवती स्त्रिया गुणोंका पुंजस्वरूपही है। उनको दोष कैसे छू सकते हैं। स्त्रीकुल दोषोंका यदातक वर्णन किया।

श्रीगतान्तेपानमिवाद्य भद्राणि निरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः—

देहस वीयणिप्यसिखे च आहारजन्मबुद्धीजो ॥

अवयवणिगममसुहृं पिच्छसु वाधी य अधुवन्तं ॥ १००३ ॥

देहस्य वीजनिष्पत्तिक्षेत्रां योजन्मबुद्धयः ॥

अंसाश्च निर्गमोऽद्यौचं क्षेत्रं व्याधिरनित्यता ॥ १००४ ॥

यिज्यो दया—देहस्य बीज इत्यादिकः । देहस्य बीजं, निष्पत्ति, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, बुद्धिः, अवयवः, निर्गमः, व्याधिरभ्रुतेत्येतान्यद्व्येति स्मृतिप्रतीति क्षणकं ॥

पुं बीरोपान्त्वात्प्रायेदानीं देहाशुचित्वं समग्रपया व्याचष्टे । तत्र शरीरस्य बीजं, निष्पत्ति, क्षेत्रमाहारो, जन्म, बुद्धिरवयवनिर्गमाभ्रुतित्वमसारत्वेक्षणं, व्यापयोऽभ्रुवत्वं चेति द्वादश प्रबंधेन व्याचर्चकीर्णः क्षणकं प्रस्तुदिराति —

मूढारा—देहस्तं श्रकराण्यन्मनुजानामिति द्रष्टव्यं । निष्पत्तिं निष्पद्यमानता । जन्मा प्रसवः । जुहो जन्मक्षणे-
त्तरकालभान्द्युपचयः । निगम कर्णयोग्यो निर्गच्छन्तीति निर्गमाः कर्णमलादयः । पेच्छसु अहो महासत्त्व, कर्मक्षपणो
यत्, सुमुखो ! अस्त्वच्यव्रतसिद्धयर्थं देहस्य बीजादीनि प्रोक्षस्व त्वं ।

अपवित्रताका वर्णन करनेके लिए अब उच्चर प्रबंध है—

अर्थ—देहता बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आदार, जन्म, वृद्धि, अवयव, निर्गम, अशुचि, व्याधि और नश्वरता
इतने प्रकारोंको हे क्षपक ! तुम देखो ऐसा आचार्य क्षपकको कहते हैं, ? देहके बीज, उत्पत्ति वगैरह विषयोंका विवे-
चन यहाँसे आचार्य करेंगे ।

देहस्य बीजमित्येतद्याख्यानांयोगरगाथा—

देहस्तं सुक्वसोणिय असुई परिणामिकारणं जह्मा ॥

देहो यि होह असुई अमेऽक्षयदपूरवो व तवो ॥ १००४ ॥

देहस्याशुचिनिर्व्यजं यतो लोहितरेतस्ती ॥

ततोऽसावशुचिर्होयो यथा ग्याज्यपूरकः ॥ १०३३ ॥

विजयोदया—देहस्य बीजं मनुजानां शुक्वसोणितं । अशुचि शुक्लं पुंसां, शोणितं च वनितायां परिणामि
कारणं । जह्मा यस्मात् । परिणामिकारणं शरीरत्वेन यदुभयं परिणमति तस्मात्परिणामिकारणं । देहोयि अशुइ शरीरमपि
अशुचि ज्ञातव्यं । अमेऽक्षयदपूरणो व जमेऽक्षयदपूरक इव । यवशुचिपरिणामि कारणं यदशुचि यथामिष्यद्युतपूरकः
अशुचिपरिणामकारणं च शरीरं इति सूत्रार्थः ॥

देहबीजं गायत्रयेण न्यायशरणः प्रथमं मातृपवधुणो अशुच्युपादानकारणत्वेन अशुचित्वमुपपादयति—

मूढारा—सुणसोणिटं शुक्लं गर्भयोग्यं पुंसो रेतः शोणितं च शुक्लशोणितं । समाहारद्वंद्वस्य संक्षेपप्रधानत्वात्

किंभिद्वर्मप्ररोदनयोग्यं जलौघिकमवस्थांतरभाषणं शुक्लार्थवित्पार्थः । तथा चोक्त अष्टांगहृदये—

शुद्धे शुक्लार्त्तवे सत्तः स्वकर्महेतुचोदिवः ।

गर्भेः संपद्यते शुक्लवशादन्तिरिचारणौ ॥

परिणामिकारणं परिणमते विवर्तते इति परिणामि तच्च वत्कारणं च जनकं परिणामिकारणं लपदानकारणं ।
तद्वर्णनं यथा—

लपदानकारणं यत्पौर्वापर्येण वर्तते ॥

फलस्येदपि तद्व्यसुषदानमिति स्पष्टम् ॥

अनेकपदपुण्यगोच अमेव्यपुतपूरक इव । यथा चोक्तम्—

शुद्धगोमितमंगस्य बहुपदानकारणं ॥

अनुच्यंगं ततो बहुदमेव्यपुतपूरकः ॥

प्रयोगः—पदश्रुति परिणामिकारणं तद्वर्णनं, यथाऽमेव्यपुतपूरकः । अश्रुतिपरिणामिकारणं च स्मृतिरं तस्माद्-

श्रुति ।

देहके बीजका दो नाथाओसे वर्णन—

अर्थ—जिससे देहकी उत्पत्ति होती है ऐसा यह बीर्य और रक्त अपवित्र है, अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला देह एवित्र कैसे हो सकता है ? रक्त और बीर्य ही शरीरका परिणमन होता है अतः शरीर अपवित्र है, विष्टासे पने हुए पृतपूरकें समान शरीर अपवित्र हैं, अपवित्र पदार्थोंका परिणमन जिसके कारण है वह पदार्थ अपवित्र होता है, जैसा अपवित्र विष्टाका घृतपूरक अपवित्र होता है वैसे शरीर भी अपवित्र कारणोंका ही परिणमन होनेसे अपवित्र है, ऐसा इस नाथाका अभिप्राय है—

बहुं विहितसणीयं अमेव्यमिव संकुदो पुणो होज्ज ॥

ओज्जिघिदुमालहुं परिभोत्तुं चावि तं बीर्यं ॥ १००५ ॥

द्रष्टुं घृणायते देशो वर्चोराशिचि स्फुटम् ॥

स्पष्टुमालिगितुं भोक्तुं तद्वीजो सुख्यते कथम् ॥ १०१३ ॥

पिजयोदया—दहुं यि य द्रष्टुमपि । विहितसणीयं सुसुखनीयं । अमेव्यमिव अमेव्यमिव । संकुदो पुणो होज्ज भोजिजिघृक्षुं कुतः पुनर्भवेदामातुं । मालहुं आलीगितुं । परिभोत्तुं चावि परिभोक्तुं चापि । तं बीर्यं खलु शुद्धरासेपिताम्बं बीर्यं । तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तदेव बीर्यमिव शरीरमपि मात्रा बीर्यमिति उक्तं ॥

शरीरस्याशुविश्रुतार्तवमयत्वेनाशुचित्वात्त्यबोधोपेक्षणायत्वमनुयास्ति—

मूलगा—अपेक्षमिव भूयमिव । निर्द्विसंनिज्जं दुगुप्समीवं । त्वज्जिपितु आग्रतुं ॥

आलटटु आल्लिगितुं उगेनुं या । परिभोसुं उपभोसुं तं धीजं शरीरमित्यर्थः । तच्छुक्रशोणित्वाख्यं धीजं तत्परिणामतया-शरीरं इत्यर्थः । अथवा तन्वीजमिति पाठः । तत्र तच्छुक्रशोणितं बीजमत्येति तद्वीजं शरीरमित्यर्थः । अत्रेदमप्यर्थम्—यतः शरीरं द्रवदुग्मसि प्रतीपमिव घृणा क्रियते ततः कुलः पुनःप्राणादियोग्य भवेत् । तथा बोत्सम्—

द्रष्टुं घृणायते देहो घर्षात्क्षिरिय स्फुटम् ॥

सप्तदुर्माह्निगितुं भोक्तुं तद्दीजो युज्यते कथम् ॥

अर्थ—यद् शुक्र और रक्त देखनेके लिये भी उपयोग्य है. विष्टा जैसी देखने योग्य नहीं है. इसलिये इनका आलिंगन करना, उपभोग लेना कैसा योग्य समझा जायगा ? तत्र शुक्र शोणित अर्थात् रक्त वीर्यकी ऐसी अपवित्र अनुपमोग्य अरस्था है तत्र उनसे बना हुआ शरीर भी आलिंगनयोग्य और भोगने योग्य नहीं है ऐसा समझना चाहिये.

परिणामिकारणशुद्धया तत्परिणामरूप कार्यं शुद्धं भवति । शरीरं न तथेति कथयति—

समिदकदो घदपुण्णो सुद्धदि सुद्धसणेण समिदस्स ॥

असुच्चिमि तम्मि वीए कद् देहो सो हवे सुद्धो ॥ १००६ ॥

कणिक्काशुद्धितः शुद्धः कणिक्कापृतपरकः ॥

वचोयीजः कथं देहो विशुद्धयति कदाचन ॥ १०१४ ॥

इति बीजम् ।

विजयोदया—समिदकदो घदपुण्णो सुद्धदि कणिक्काशुद्धं घृतपूर्णकं सुद्धदि शुद्धयति । सुद्धसणेण शुद्धतया । समिदस्स कणिक्काद्रव्यस्य । असुच्चिमि तम्मि वीए अशुचित्वीजं तस्मिन्निव्यते । कद् देहो सो हवे सुद्धो वेधः परिणामः कार्यं शुद्धयति ॥ धीयं ॥

परिणामिकारणशुद्धया तत्परिणामात्मकस्वात्कार्यमपि शुद्धं भाव्यशुद्धकणिकापृतपरवज पुनर्मसुद्धशरीरं तद्वि-
पर्यायदित्यावेदयति—

मूत्ररा—समिदकदो इत्यादि—समिधा कणिकाद्रव्येण कुत्रो निर्गुहः । धीए उत्पन्ने इत्याद्यादाः ।
 कायरूपसे परिणत होनेवाले कारणमें यदि शुद्धता हो तो उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य भी शुद्धतायुक्त
 दीखता है। मूरीर शुद्ध नहीं है क्योंकि उसका कारण अशुद्ध है इस विषय का विवेचन—
 अर्थ—गेहूँके आटेसे बनाया हुआ घृतपरक पवित्र है क्योंकि, गेहूँका आटा पवित्र है, वैसे वीर्य और
 रक्त ये पदार्थ पवित्र नहीं है अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ अर्थात् मूरीर शुद्ध कैसा माना जायगा अर्थात्
 वह अशुद्ध ही है

शरीरनिष्पत्तिक्रमविरूपणार्थे उत्तरप्रश्नम्—

कललगदं दसरत्तं अच्छवि कलुसीकदं च वसरत्तं ॥
 थिरभूदं दसरत्तं अच्छवि गन्भम्मि तं वीर्यं ॥ १०७ ॥

दशाहं कलिलीभूतं दशाहं कलुपीकृतं ॥
 दशाहं च स्थिरीभूत वीजं गर्भेऽप्यनिष्ठते ॥ १०३५ ॥

विजयोदया—कललगद कललम्ब नाम पर्याय तं गत प्राप्ते वीजं दश दिनमात्रं । अष्टादि भाले । कलुसीकदं
 च कलुपीकृतम् । दश रात्रिमात्रं धक्कतिष्ठते । थिरभूदं दसरत्तं स्थिरभूतं दशदिनमात्रं । अष्टादि भाले । गन्भम्मि
 गर्भे च धीज तद्दीनम् ॥

नृद्वनिष्पत्तिक्रम माध्यायकेन व्याख्ये—

मूत्ररा—कललगदं विजयिताम्रजतद्रव्यकल्पकललव्यपर्यायं प्रातः । दसरत्तं दशाहोरात्रात् ।
 कलुसीकदं स्थिरम् । थिरभूदं दडीभूत । गन्भम्मि गर्भादये ।

अर्थ—भाताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होनेपर वहा दश दिनतक वीर्यको कलल नामकी अवस्था होती है,
 तदनंतर दस दिन पर्यन्त वह कलुप होता है इसके अनंतर वह दस दिनतक स्थिरपनाको प्राप्त होता है, अगिप्राय
 यह है कि, गले हुए ताम्र और चांदीका रस परस्पर मिलानेसे जो अवस्था उन दोनोंकी होती है वही अवस्था
 भाताके रक्तसे संयोग होनेपर वीर्यकी होती है, उसको कललावस्था कहते हैं, तदनंतर वह काला होता है उसके इस

अवस्थाका नाम 'वृत्त' है- इसके अन्तर वह स्थिर होता है- ऐसी तीन अवस्थायें क्रमसे चर्यको प्रथम मासमें प्राप्त होती हैं,

ततो मासं बुबुदभूदं अच्छिदि पुणो वि घणभूदं॥

जायदि मासेण तदो मंसपेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेन बुबुदीभूतं तन्मासेन घनीकुलम् ॥

मांसपेसी च मासेन जायते गर्भपंजरे ॥ १०३६ ॥

विजयोदया—ततो स्थिरभावोत्तरफालं । मासं बुबुदभूतं अच्छिदि मासमात्रं बुबुद इव भास्ते । पुणो वि घणभूदं पुनरपि घनभूतं । जायदि मासेण जायते मासेन ततोऽपि घनभावावुत्तरफालं । मासेण मासेन । मंसपेसीय मांसपेसी भवति ॥

मूलात्—ततो इति—स्थिरभावोत्तरफालं । बुबुदभूदं बुबुद इव । घणभूदं कठिणत्वं प्राप्तं । मंसपेसी बुबु- संस्थानो मांसपिंडः ॥

अर्थ—प्रथममासके अन्तर दूसरे मासमें धीर्यको वयुलेकी अवस्था—बुबुदावस्था प्राप्त हो जाती है- पुनः एक मासतक वह बढ़ पन जाता है- इसके अनंतर चतुर्थ मासमें उसको मांसपेसीकी आकृति प्राप्त होती है-

मासेण पंच पुलगा ततो हुंति हु पुणो वि मासेण ॥

अंगगणि उवंगगणि य णरस्स जायंति गम्भस्मि ॥ १००९ ॥

मासेन पुलकाः पंच मासेनांगनि पष्टके ।

उपपंगानि च जायंते गर्भवासनिवासिनः ॥ १०३७ ॥

विजयोदया—मासेण पंच पुलगा मासेन पंच पुलका भवन्ति । पुणो वि मासेण पुनरुत्तेरण मासेन । अंगगणि य अंगान्युपंगानि च । णरस्स जायंति गम्भस्मि नरस्य जायन्ते गर्भे ॥

मासेण—पुलगा पुलकाः । नलकावृत्तिरोदेसेवंकुशः । अंगगणि द्वा नलकौ, निंबको, द्वौ चाह, वरः घटं, शिराभेलथो । उपंगानि अंगगणि अंगान्युपगताः कर्णनासागदौष्टनेत्रांशुलिप्रभृत्यवयवाः । वरुं च—

गलया बाहू य दद्या निबन्धं युद्धी वरो य सीसो य ॥
अष्ट्रेव दु अंगारं देवे सेवा उबंगार्दं ॥

अर्थ—पाँचवें माससे उस मांसपेदीकी पाँच पुलक अर्थात् पाँच अंगुर उत्पन्न होते हैं. इनसे नीचेके दो अंगुरोंसे दो पैर, उपरके तीन अंगुरोंसे चीचके अंगुरसे मस्तक और पार्श्वके दो अंगुरोंसे हाथोंकी उत्पत्ति होती है. इन अवयवोंकी यह अंगुर पूर्णवस्था है. तदनंतर छोटे मासमें हाथ, पाय और मस्तककी रचना होती है और उपांग ओल, कान, नेत्र इत्यादिक अंगोंकी रचना होती है. इसप्रकार गर्भस्थ बालकके अवयवों की रचना है.

मासमि सप्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ॥

फँदणमडुममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥

चर्मरोमणि जायते मासे तस्यात्र सप्तमे ॥

स्यवोऽष्टमे विनिर्याणं नवमे दशमे ततः ॥ १०१८ ॥

विजयोदया—मासमि सप्तमे मासे । तस्य तस्य गर्भस्थस्य । चम्मणहरोमणिप्पत्ती चर्मनखरोमणिप्पत्तिर्भवति । फँदणमडुममासे स्यवनीप्पच्छन्नं अष्टमे मासे । णवमे दसमे य विमागव नवमे दशमे चोदरसिर्गमनं भवति ॥
मुञ्जारा—मासमि इति—कंदर्पं संचलनं णिग्गमणं मातुरुदराग्निःसरणं प्रसूतिरित्यर्थः ।
इसके अनंतर—

अर्थ—सातवें सहस्रिमें जस गर्भके अवयवों पर चर्म और रोमकी उत्पत्ति होती है, और तब और पैर के नख उत्पन्न होते हैं. आठवें मासमें उस गर्भ में चलन चलन होने लगता है. नववा और दसवा इन दो सहस्रियों में गर्भसे बालक बाहर आता है अर्थात् उसका जन्म होता है.

सन्वासु अवत्यासु वि कल्लादीयाणि ताणि सन्वाणि ॥

असुइणि अभिञ्जाणि य विहिंसिणिज्जाणि णिच्चं पि ॥ १०११ ॥

यत्नेऽनुचीनि सर्वाणि कल्लादीनि कारणम् ॥
वर्चोऽशिवत्तो देहो जुगुप्सो महतां सवा ॥ १०३९ ॥

इति निरूपतिः ॥

विजयोदया—सव्यासु अदयसु नि सर्वास्यवस्थासु शुक्रशोणितयोः । कल्लादियणि कल्लमबुद्धमित्यादि
फानि । सन्नानि मसुईणि सर्वाणि अनुचीनि । अमेज्झणिव अमेच्चमिव । विहिसणिज्जाणि जुगुप्सनीयानि । निच्चं पि
नित्यमपि ॥

सव्यासु इति—अवस्थासु प्रतिस्मयभाविनीषु शुक्लवर्चवर्तुणिर्यामिषु अमेज्झाणि च गूथानि यथा ॥ नि-
रूपतिः ॥

अर्थ—रक्त और वीर्य की प्रथम माससे आरंभ कर दस मास तक जो जो अवस्थायें होती हैं वह
सबही अपनित ही हैं। कैसे विद्या नित्य जुगुप्सा करने लायक ही है। निरूपति नामक प्रकार का वर्णन हुआ।

गर्भेऽवस्थानफलं कष्टुर्मे कण्ठेयत्पुच्छराणक्य । निरूपति सर्वे—

आमासयमिम् पक्कासयस्स त्वीरि अमेज्झमज्झमि ॥

वत्थिपडलपच्छणो अच्छइ गब्भे हु णवमासं ॥ १०१२ ॥

निरूप्यामाशयस्याथ ऊर्ध्वं पक्कासयस्य सः ॥

जरायुर्वेष्टितो मासासवात्राभेध्यमध्यगः ॥ १०१० ॥

विजयोदया—आमासयमिम् आमाशये । आयुम्यये मुक्तमशनमुदराग्निना धपकं तस्य आशयः स्थानं तस्मिन् ।
पक्कासयस्स त्वीरि लादरेण अग्निना एक आहारः पकं तस्य आशयः स्थान । तत उपरि । अमेज्झमज्झमि अमेध्ययोः
पक्कापकयोर्मध्ये । गम्भो अत्थदि आस्ते गर्भे । कीदृक् वत्थिपडलपच्छणो चित्तत मांसतोणित जालसस्थानीय वत्थि-
पडलराज्जेनोच्यते तेन प्रतिच्छन्नः । कियंते जालमास्ते ? णवमासं उपलक्षण नवमासग्रहण दशमासमात्रमव्यवधानात् ।

तदेदनिरूपतिक्षेत्रं गाथात्रयेण निरूपयित्वन्गर्भेवस्थानक्रमशोयनं तस्याभिधेते—

मूलात्ता—आमासयमिम्—उदरान्वयपक्युत्ताग्रस्थाने । पक्कासयस्स जठराग्निपक्युत्ताग्रस्थानस्य । अमेज्झम-
ज्झमि अमेध्ययोः पक्कापकयोर्मध्ये । वत्थिपडलपच्छणो वस्तिपटलं जालस्थानीय विवतमासशोणितं तेन प्रच्छादितः ।

गर्भो हु अत्र पाठे आमादायवधः पकादायवधुं नवदशमासात् जगदुपच्छादितो गर्भे आस्ते इति सूत्रार्थः ॥ गठमा-
प्रपन्निम इति पाठे तगे तरदेहो वा गर्भे विवर्ततीति व्याख्येयं । जवमास्ते उपलक्षणादस्तिपि ॥

गर्भे में बालक किन् स्यानमें रहता है इसका विवेचन—

अर्थ—आमाशय और पकाशय इन दोनों के बीचमें बालक सगान भांस और रक्तसे लेपटा हुआ वह गर्भ
नट मढ़िने ण्ण रहता है. साया हुआ अम उदरगमिसे जिस स्थानमें घोडासा पचाया जाता है वह स्थान आमा-
शय कहा जाता है. और जिस स्थानमें पूर्ण पकाया जाता है वह स्थान पकाशय है. ये दोनों स्थान अवविप्र है.
पकाशयके ऊपर और अपकाशयके नीचे अर्थात् दोनोंके बीचमें गर्भका स्थान रहता है. गायामें 'गयमास'—यह
शब्द उपलक्षणवाची है. इससे इस मातका भी ग्रहण होता है. अर्थात् कोई गर्भ दसमासतक भी माताके उदरमें
रहता है.

अशुचित्स्थाने समस्थिताः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते विरागस्थिताः कथमनं न जुगुप्सणीय इत्याक्षेपे—

नमिदा अमेऽक्षमज्ज्ञे मांसं पि समकसमस्थिवो पुरितो ॥

होदि हु निहिंसणिज्जो जवि वि हु णीयह्णओ होज्ज ॥ १०१३ ॥

भासमेकं स्थितोऽव्यक्षं वच्योमध्यं जुगुप्स्यते ॥

निज्जोऽपि न कथं गर्भं वति नवदश स्थितः ॥ १०१४ ॥

इति क्षेत्रं ॥

विजयोदयः—यमिमा अमेऽक्षमज्ज्ञे पांतस्य भोभयस्य च मध्ये । भासेपि आस्तमाजपि समकसमस्थिवो स्वप्न-
मयदातया स्थिताः पुरतः । सु शब्द पयकारार्थः स च क्रियाशब्दात्परो द्रष्टव्यः । निहिंसणिज्जो इत्यतः परतः । निहिंस-
णीओ होदि इति जुगुप्सणीय पय मवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । जदि वि हु णीयह्णओ होज्ज यद्यपि वेधुमेयेत् ॥
स्वल्पकालं यदाभेध्यमध्यमभ्युषितो वंधुरपि जुगुप्स्यते पक्तमयं देहधिरं तत्र स्थितो न जुगुप्स्य इति गाथा-
इयेताह—

गूढारा—नमिया इति—वमिदा वमेऽक्षमज्ज्ञमि पांतस्य भोभयस्य च मध्ये । समकसमस्थं आस्तप्रत्यक्षं ।
जदि वि यद्यपि । णीयह्णओ वंधुः ॥

अपनिग्रस्थानमें स्वल्प कालतक रहा हुआ मनुष्य भी जुगुप्सा योग्य माना जाता है तो चिरकाल वहां रहा हुआ क्यों जुगुप्सा योग्य नहीं माना जायगा ? इस प्रश्नका उत्तर—
अर्थ—वान्ति और विमृष्टके बीचमें अपना कोई संबंधी मनुष्य एक मासतकभी रहा हुआ अपने मत्पक्ष हुआ तो हम उसकी ग्लानि करते ही है. यद्यपि वह हमारा स्वजन भी हो तो भी उसकी ग्लानि हमारे मनमें होती ही.

किह पुन णववसमासे उसिदो वमिगा अमेज्झमज्झम्मि ॥

होज्ज्वण विहिंसणिज्जो जदि वि हि णीयल्लओ होज्ज १०१४ ॥

विजयोवया—किह पुन फथे पुनः । न होज्ज विहिंसणिज्जो न मवेज्जुगुत्तनीयः । णववसमासे उसिदो तवमासे वदमासे पावस्थितः । वमिगा अमेज्झमज्झम्मि माना उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते । खेपः सुगमः ॥ पित्तं गर्ह ॥

मूढारा—किच—उसिदो सिद्धतः । वमिगा जनन्योपयुक्त आहारः । क्षौत्रम् ॥

अर्थ—तो जिसने गर्भमें मर दस माहिनतक निवास किया है और माताका भक्षण किया हुआ आहार खाकर जो शुद्धिको प्राप्त हुआ है वह क्यों न ग्लानिका पात्र यनेया ? अर्थात् वह अवश्य घृणाका पात्र है.

येनाहारोपासाधुरचित्तपरीते जातसमाचये—

दंतेहि चन्निवं बीलणं च सिमेणं मेलिदं संतं ॥

मायाहारियमणं जुत्तं पित्तेण कहुण ॥ १०१५ ॥

पिच्छिलं चर्वितं दन्तैर्मिथितं खेरुमणा च यत् ॥

अनं मात्राक्षितं युत्तं पित्तेन कहुकात्मना ॥ १०१६ ॥

वित्तयोवया—दंतेहि चन्निवं वृक्षदृष्टान्तं । बीलणं पिच्छिलं । कथं, सिमेण मेलिदं खेषणा मिथितं संतं । मादादावित्मणं मात्रा युक्तमर्थं । कहुण पित्तेण जुत्तं कहुकेन पित्तेन जुत्तं ॥ येनाहारोपासिद्धपरीतो नरः संपन्नत्वं गाथापचयेन व्याचष्टे—

मूलाग—बतेहि इति श्रीलङ्गं विच्छिन्नं । मिच्छिं संतं मिच्छिं सत् । माण्डरिं माण्डुक्यम् ।

जिस आहारसे उसका शरीर पुष्ट होता है उसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—दांतोंसे चबाया गया, कफसे गीला होकर मिश्रित हुआ ऐसा भोजन स्वादा हुआ अब उदरमें पित्तके मिश्रणसे कटुवा होता है—

वमिगं अमेक्षससिंसं वादविजोमिदरसं स्वलं गच्छे ॥

आहारेदि समंता उर्वरिं शिष्यंतं गिष्यं ॥ १०१६ ॥

अमेक्ष्यसदृशं वातं समीरेण पृथक्कृतम् ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसम् ॥ १०१७ ॥

विजयोदया—वमिगं वातं । अमिष्यससिंसं अमेक्ष्येन सदृशं । वादविजोमिदरसं खांडे वातेन पृथक्कृतं रसं कलनागं । गच्छे आहारेदि गिच्छं मित्यं गर्भस्थो भुञ्जे । समंता मर्मणात् । उर्वरिं उपरि । शिष्यंतं विगलंतं पतेनाश्रय समाहरतीति ज्ञायते ॥

मूलाग—वमिगं इति—वमिगं अन्तश्छेदितं । वादविजोमिदरसकलं वायुपृथक्कृतारसकलभागं । आहारेदि भुञ्जे गर्भस्थो मनुष्यः । समंता मर्मणः । शिष्यंतं विगलंतं विगलतिभुञ्जे । पतेनाश्रयमाहरतीति ज्ञायते ।

कलं च—

जंघसो मातृमुक्तस्य श्रेष्ठमभिप्रास्य पिच्छिच्छं ॥

वृश्चिस्तस्य मृदं दंतीः पित्तसंगमुपेयुवः ॥

अमेक्ष्यसदृशं वातं समीरेण पृथक्कृतं ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसं ॥

अर्थ—वांति और विषाके समान, वातसे किसका सभभाग और कलभाग अलग किया गया है ऐसे आहारका ऊपरसे और चारो तरफसे एक एक बिंदु जब गिरने लगता है तब वह गर्भस्थ जीव उसको नित्य ग्रहण करता है. जबतक शरीरमें नाभि उत्पन्न नहीं होती है तब तक वह जीव चारों तरफसे मातृमुक्त आहार शरीरके द्वारा ग्रहण करता है.

तो सत्त्वमग्नि मासे उप्पलणालसस्ति हवइ णाही ॥
 तत्तो पाए वमियं तं आहारेदि णाहीए ॥ १०१७ ॥
 ततोऽस्ति सप्तमे मासे नाभी ह्युत्पलनालवत् ॥
 ततो नाभ्या तया वान्तं तदादत्ते स गर्भगः ॥ १०४४ ॥

विजयोदया—तेरा मासानां रत्तं सत्त्वमग्नि मासे रक्ते सप्तममासे । उप्पलणालसस्ति नाभी हवइ उपल-
 नालसहवीर्यमिति ततो नाभिलिप्युत्तरकाठे । वमियं तं आहारेदि णाभीए वांतामाहारयति नाभ्या ॥

मूलरा—वो सत्त्वमग्नि इति—तत्तो पाए तवः प्रभृतिः ॥

अर्थ—सातवें गर्भनेमें शरीरमें कमलके डंठलके समान दीर्घं नाल पैदा होता है, तबसे यह जीवि माता-
 का खाया हुआ आहार दीर्घनालसे ग्रहण करने लगता है.

वमियं व अमेष्ठं वा आहारिद्वं स किं पि सप्तमक्खं ॥
 होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१८ ॥
 अमेष्ठं अक्षययेकं मासं दृष्टो छुगुप्पये ॥
 निजोपि न कथं गर्भे मासाद्यवशानसो ॥ १०४५ ॥

इत्यंशः ॥

विजयोदया—वमियं व अमेष्ठं वा वांताममेष्ठं वा । आहारिद्वं वा भुक्त्वात् । स किं पि सप्तमपि एकवारं ।
 सप्तमपयं सप्तमं । होदि छु विहिंसणिज्जं भवति छुगुप्पनीयो । यदि वि य णीयल्लओ होज्ज । यद्यपि यं भुज्जेत् ॥

मूलरा—वमियमिति—आहारिद्वं भुक्त्वात् । स किं पि एकवारमपि ।

अर्थ—कोई गनुष्य अपने सामने वांति और विष्ठाको यदि खागया तो उसको देखकर मनमें ग्लानि
 पैदा होती है. यदि वह मनुष्य अपना संवंधी भी हो तो भी ग्लानि उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी.

किह पुण णवदसमासे आहारेदुण तं णरो वमियं ॥
 होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१९ ॥

विजयोद्या—स्वष्टोत्तरा गाथा । आहारणदं सम्मत्तं ॥ आहारो निरूपितः ॥

मूढारा—किंहेति—आहारेदूण भुक्त्वा ॥ आहारः ॥ ५ ॥

अर्थ—पुनः जो नउ दस ग्रहिनै वना वांति साकर बुद्धिगत हुआ है वह अपना संबंधी भी हो तो भी यह ग्लानिका पात्र क्यों न होगा? यह आहार का प्रकरण समाप्त हुआ।

जन्मनिरूपणावोत्तरा गाथा—

असृचिं अपेच्छणित्तजं दुग्गंघं मुत्तसोणियदुवारं ॥

वोत्तुं पि लज्जणित्तजं पोट्टमुहं जन्मभूमी से ॥ १०२० ॥

शोणितप्रस्त्रवद्धारं दुग्गंघं जठराननं ॥

अवाक्यजन्मभूतस्य लज्जनीयमशौचकम् ॥ १०४६ ॥

विजयोद्या—असृचिं, असृचि । अपेच्छणित्तजं अपेक्षणीयं । दुग्गंघं दुर्गंधं । मुत्तसोणियदुवारं मूत्रस्य शोणितस्य च द्वारं । वोत्तुं पि लज्जणित्तजं वषट्पुमपि सनाज्ञा लज्जनीयं । पोट्टमुहं उदरमुलं पर्यणं । ॥ जन्मभूमी से जन्मभूमिस्तस्य ॥

मूढारा—असृचिमिति—अपेक्षणीयं अग्रहण्यं । वोत्तुं पि कथयितुमपि प्रसिद्धान्ता । पोट्टमुहं उदरमुलं वोनिरित्यर्थः । से तस्य नरस्य नरवेहस्य वा ।

अर्थ—प्राणी की जन्मभूमि विसर्गो उदरका मुल कहते हैं वह अपवित्र है, देखने लायक नहीं है, वह दुर्गंधपुक्त और मूत्र तथा रक्त वहेका द्वार है- उसका नाम लेकर वर्णन करनेसे लज्जा उत्पन्न होती है।

जदि दाव विहिंसिज्जइ वत्थीए मुहं परस्त आलहुं ॥

कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सल्लीढपोट्टमुहो ॥ १०२१ ॥

परो यस्तिमुत्थस्पर्धां महाद्भिर्नियते यदि ॥

उदरद्वारसंस्पर्शी विनिचो न तदा कथम् ॥ १०४७ ॥
इति जन्मः

विजयोदया—अदि दाव विहिस-जदि यदि तावल्हुण्यस्यते । नशीप मुहं वस्तिमुहं । फूरस्स आलहुं पुरस्य
 उट्टुं । किंय सो विहिसनिज्जो ण हो-ज कयमसो न चुयुत्तनीयो भवेव । तल्लोदयोदमुहो आस्वादितचरांग. ॥
 मूढारा—जदिदा इति । नशीप मुहं वस्तिमुहं, अपानं योनिं ॥ आलहुट्टु स्यत्तुं भवचः । सल्लोद समारवा-

दितं ॥ जन्म ॥

अर्थ—ऐसे अपवित्र योनीको देखनेवाला मनुष्य ग्लानिका विषय होता है तो जो इस अवयवका आ-
 स्वाद लेता है वह क्यों न ग्लानिका विषय न होगा ?

जन्मदुर्घं निरूपयति—

घालो विहिसनिज्जाणि कूणदि तह चेव लउज्जणिज्जाणि ॥

मेज्जामेज्जं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥ १०२२ ॥

निंयावि लउजनीयानि कर्माणि कुरुते शिशुः ॥

कुरयाकुरयमजानानो सेव्यासेव्यं च मूढधीः ॥ १०२८ ॥

विजयोदया—गालो विहिसनिज्जाणि कूणदि घालो जुयुत्तनीयानि कर्माणि कुरुते । तथा चेव लउज्जणिज्जाणि
 तथा धेय लउजनीयानि । मेज्जामेज्जं कज्जाकज्जं च । ग्लानकज्जं किंचि वि वि अयाणंतो कार्याकार्यं किंचिव्यज्जानद् ॥

मूढारा—घालो इति—कूणदि कर्माणि इति सेवः । किंचिवि किंचिदपि ।

जन्म दृष्टिका निवेचन करते हैं—

अर्थ—यह बालक ग्लानि उत्पन्न करनेवाले कार्य करता है, तथा बिम्बसे ललित होना पड़ेगा ऐसे भी
 कार्य करता है, यह कार्य उत्तम है अथवा यह कार्य अयोग्य है इसका वसको शोभाता भी ज्ञान नहीं रहता है,

अण्णस अप्पणो वा सिंहाणयत्तेलमुत्तपुरिसाणि ॥

चम्मट्टिवसापूयादीणि य तुंढे सगे जुमदि ॥ १०२३ ॥

स चर्मपूयमांसास्थिवर्चोमूत्रकफादिकं ॥

स्वस्यापरस्य वा वक्के क्षिपते विगतत्रपः ॥ १०२९ ॥

त्रिजयोऽद्या—अण्वस्तर अण्वणो घा अन्यस्यात्मनो या । सिधाणव दडेध्याणं । मूयं, पुरीयं, चम्मद्विवसापूयाणि-
या चयं अक्षि यसां पयादिक् । न । खगे नडे गृध्रवि आत्मीये मुखे दिषन्ति ॥

महाराज—अज्ञात इति—सिपायद श्रेष्ठा । खल युक्तं । पुरिस पुरिपं । नुडे मुते ।

अर्थ—दूसरेका अध्या अपना इलेय्मा-कफ, सुत, विद्या, चर्म, हड्डी, वसा, पीप, अपने मुखमें बालता है. इस सांय को करते समय उसको ग्लानि नहीं आती है.

ॐ किं चि खदि ॐ किं चि कुणदि ॐ किं चि जंपदि मलज्जो ।।

जं किं चि ज्ञाय तत्थ व सोसरदि अयाणगो बालो ॥ १०२३ ॥

यत्किञ्चिदुक्तं तत्रैव पालः श्वाद्यन्पालज्जितः ॥

सदते विगनज्ञानः प्रदर्शे यद्र सन्न वा ॥ १०५० ॥

विप्रयोदया--००१ किं धि लादि, पक्षिबलिषि, धारिकविरजरोति । चर्त्तिकिउजदपत्यलंजः । जे-किं-धि-सहयं
तस्य यि चर्त्तिकविषय तत्र पा शुभापगुन्यो पा देशे । पोखरदि म्मुपकुति । अजाणनो बालो भयो बाला ॥

मङ्गलार्त्थं चे इति—अं किञ्चिदर्थिकप्रत्ययभक्षणं वा । जतश्च तस्य यत्र तत्र शुद्धावशुभौ या प्रवेष्टे ।
 भोक्तारि नृपति मन्त्रपरीणामिकं ।

अर्थ—जो कुछ भी पदार्थ बालक खाता है, मनमें जो आया वह कार्य करता है; युद्धमें जो आया वह बोलता है, जगह पवित्र हो अथवा अपवित्र हो यहाँ अन्न बालक मलमूत्रका विसर्जन करता है.

द्यालक्षणे कदं सव्यमेव जदि णामं संभरिज्ज तदो ॥

अप्याणमि वि गच्छे णिष्वेदं किं पुण परमि ॥ १०२५ ॥

पाले यदि कृतं कोऽपि कृत्यं संस्मरति स्वयम् ॥

तदात्मन्यपि निर्वन्दं यात्यन्यत्र न किं पुनः ॥ १०५१ ॥

पुनः ॥
पिच्छयोऽप्या—यावत्पुनः न किं पुनः ॥ १०५१ ॥

मूढारा—यावत्तने इति—संभवेच्च सरेत् । अणान्निमिवि आत्मन्यपि । गच्छे गच्छेत् । निन्देदं वैराग्यं ।
पटदि श्रीशरीरादौ ॥ वृद्धिः ॥

अर्थ—मनुष्य बालपनमें जो जो कृत्य करता है उसकी यदि उस को स्मृति होगी तो वह अपनी भी
श्लानि करेगा फिर अन्य के विषयमें अर्थात् स्त्रीके शरीर वंगरह में उसको श्लानि होगी इस विषयमें कहना ही
क्या है ?

कुणिमकुडी कुणिमेहिं य मरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो ॥

ताणं व अमेज्झमयं अमेज्झभरिवं सरीरमिणं ॥ १०२६ ॥

अमेध्यस्य कुटी गात्रममेर्येनच परिता ॥

अमेध्यं सवत्ते छिद्रं अमेध्यमिव भाजनम् ॥ १०५२ ॥

इति वृद्धिः ।

विज्ञयोदया—कुणिमकुडी कुचिता कुडी, कुणिमेहिं भरिदा कुचितैभरिता । कुणिमं वा सवदि सव्वत्तो कुचितं
सर्वतः कल्पति समंतात् । ताणं व अमेज्झमयं ताणमिव अमेज्झमयं अमेध्यमिव । अमेज्झस्वरिवं अमेध्यपूर्णं । सरीरमिमे
शरीरमिदं ॥

अवयवान्नाथाभिश्चतुर्दशमिष्योवधाणः प्रथममवयवधिनं निर्दिशति—

मूढारा—कुणिमेति कुणिमकुडी कुणिम कुचितं दुर्गमं तन्मयवृद्धं । इमं इदं मानवीयं । एतां गार्वा श्रीविज-
याचार्यः पाश्चात्तमन्त्रे पठति ॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गम है, दुर्गम वस्तुओंसे भरा है, इससे दुर्गम स्वेद मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते हैं,
यह शरीर विघाते मरी हुई वृषकी चनी शोषणोंके समान दुर्गम है-

वृक्षिमं निरुध्य शरीरवयवानाचये—

अट्टीणि हुंति तिणिण हु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए ॥

सव्वमि चैव वेहे संघीणि हवन्ति तावदिया ॥ १०२७ ॥

शतानि त्रीणि संत्यस्थ्यां भज्जापूर्णानि विद्यहे ॥

संतीनामपि तावन्ति सन्ति सर्वत्र मानुषे ॥ १०५४ ॥

मिजयोदया—अट्टीणि हुंति तिष्ठन्ति इत्युदाणि विरातात्यस्तीति । भरिदणि कुब्जिमज्जाण पूर्णानि कुचितेन मज्जातामिनेन । सत्यन्मि केच देहस्मि सर्वस्मिद्येय देहे शरीरे । संधीणि हवंति तस्यदिया । संधिममाणगौरि त्रिसतमेव ॥

नृदेहागयेकतावधारणार्थमुत्तरप्रबंधमाह—

मूलाया—अट्टीणि इति—तावदिया त्रिशतप्रमाणाः ॥

शुद्धिके प्रमक्ता निरूपण कर शरीरेके आवरण्योका विवेचन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके देहमें तीनसे आस्य हैं, वे दुर्गंध भज्जा नामक घातुसे भरी हुई हैं, और तीनसे ही संघि हैं.

गृहारूण णवसदाहं सिरासदाणि य हवंति सचेव ॥

देहन्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥ १०२८ ॥

मांसपेसीशिरास्तायुवातान्यंगे यथाक्रमम् ॥

पंच सप्त नच प्राज्ञाः सर्वदाणि प्रचक्षते ॥ १०५५ ॥

मिजयोदया—गृहारूण णवसदाहं आरूपां भयशक्तानि । सिरासदाणि य अयंति सचेव सिरासां सप्तसप्तानि । देहन्मि मंसपेसीण हवंति पंचेव य सदाणि पंचशक्तानि शरीरे मांसपेदयः ॥

मूलाया—गृहारूण इति—गृहारूण तामूतां । छिप छिराः ॥

अर्थ—देहमें नउत्ते स्नायु हैं, तथा सातसैं सिरा हैं और इस शरीरमें पंचसैं मांसकी पेक्षिया हैं.

चचारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा ॥

छचेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जु य ॥ १०२९ ॥

शिराजालानि चत्वारि कंडराणि च पोटका ॥

सिरामूलानि पट् चैव मांसरज्जुद्वयं तथा ॥ १०५६ ॥

विजयोदया—चत्वारि सिराजालाणि चत्वारि शिराजालानि निरासंघाताः । सोलस ॥ कंडराणि तद्वा । गोडश
कंडरसंघितानि । तथा एवेद सिराकुश पडेव शिरामूलानि । देहे दो मंसरज्जू य शरीरे मांसरज्जूद्वयं ॥
मूलरा—चत्वारि इति—सिराजालाणि शिरासंघाताः । कंडराजो रक्तपूर्णमहाशिराः । कंडराणि तद्वा इत्यपि
पठन्ति । शिराजुषा शिरामूलानि । मंसरज्जू शुष्मेदराश्रिते ।

अर्थ—शिराओंके चार साल हैं सोलह कंदस हैं. छह सिराओंके मूल हैं. और देहमें दो मांसरज्जु हैं.

सत्त तयाओ कालेजयाणि सत्तेव होंति देहग्नि ॥

देहग्नि रोमकोडीण होंति सीदी सदसष्टस्ता ॥ १०३० ॥

कालेयकानि सप्ताने त्वचः सप्त निवेदिताः ॥

सर्वत्र कोटिलक्षणामशीती रोमगोचरा ॥ १०५७ ॥

विजयोदया—सत्त तयाओ सप्त त्वचः । काक्रेजनाणि सत्तेव होंति देहग्नि सत्तेव कालेयकानि देहे । देहग्नि
रोमकोडीण होंति सीदीसदसष्टस्ता शरीरे रोमकोटीनां अशीतिसदसष्टस्याणि ॥

मूलरा—सत्त तयाओ इति । तया त्वचः । कालेजयाणि कालेयकानि मासकंबानि । अशीति अशीति । सदस-
ष्टस्ता लक्ष्याणि ॥

अर्थ—इस शरीरमें सात त्वचा हैं. और सात कालेयक हैं और अस्सीसाल कोटि रोम हैं.

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ॥

कुणिमरस आसया सत्त हंति देहे भणुस्सत्त ॥ १०३१ ॥

आमपकाशयस्थानं पोडशौवांत्रपष्टयः ॥

कुथितस्याश्रयाः सप्त शरीरे सन्ति मानुषे ॥ १०५८ ॥

विजयोदया—पक्कामयासयत्था पक्काशये आमशये अवस्थिताः । अंतगुंजाओ अंत्यपष्टयः । सोलस हवंति
पोडशौव भयन्ति । कुणिमरस आसया कुथितस्य आश्रयाः सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥

मूला—पञ्चमगासकया दधि—पञ्चमगासकया पञ्चदशये अमाशये च रियताः । अंतर्गुणाओ अंत्रयष्टयः ।
कुणिमरम दुधितस्य । आनया आधयाः ॥

अर्थ—पञ्चदशम और आमाशयमें सोलह आठ रहती हैं. मनुष्यके देहमें दुर्योध मलके सात आशय हैं.

धूणाओ तिणिं देहमि होति सत्तुचरं च मम्मसदं ॥

नव होति वणमुहाइं णिन्वं कुणिमं सर्वताइं ॥ १०१२ ॥

नव संति वणास्यानि म्हुण्यमानानि कइमलम् ॥

तिवः रधूणाशतं देहे मर्मणां ससंसुतं ॥ १०५९ ॥

पिण्डयो रया—धूणाओ तिणिं देहमि होति रधूणास्तियो भवन्ति । देहे सत्तुचरं च मम्मसदं मर्मणां शतं
तत्ताधिकं । नव होति वणमुहाइं वणमुहाइं नव भवन्ति । णिन्वं कुणिमं तिस्रं कुणित्वं स्वयस्ति ॥

मूला—धूणाओ इति । धूणाओ वातपित्तप्लेग्माण. । मम्मसदं मर्मसदं । सर्वताइं सर्वन्ति संवन्ति संक्षि ।

अर्थ—इस देहमें तीन रधूणा हैं. और एकसो सात मर्मस्थान हैं. और नव वणमुहा हैं बिसेसे नित्य
दुर्योध सनना है.

देहमि मच्छुलिगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण ॥

अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥ १०१३ ॥

शुक्रमस्तिष्कमेदांसि प्रत्येकं सुरयो विदुः ॥

स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरं ॥ १०६० ॥

पित्तयो रया—देहमि सरिरे । मच्छुलिगं मस्तिष्कं अंजलिमित्तो सयप्पमाणेण स्वयंजलिप्रमाणं परिच्छिद्यं ।
मेदोऽप्यंजलिप्रमाणं । योज्जोवि तत्तिओ चेव । शुक्रमपि तादन्मात्रमेव ॥

मूला—देहमि इति । मच्छुलिगं मस्तिष्कं ग्रहिवलीस्यथः । तया स्वकीयं । ओजो शुक्रं । तत्तिगोवायन्मानं
उक्तं च—शुक्रमस्तिष्कमेदांसि प्रत्येकं सुरयो विदुः ॥

स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरं ॥

अर्थ—इस देहमें मस्तिष्क एक अंजलिप्रमाण है. अर्थात् वह अपने अंजलिप्रमाण जानना. भेद और ओज अर्थात् शुक्र ये दोनों भी स्वांजलि प्रमाण समझने चाहिये.

तिणि य वसंजलीओ छञ्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ॥

सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्दाढगं होदि ॥ १०३४ ॥

पणंजलिमितं पित्तं वसांजलिचयप्रमा ॥

श्लेष्मा पित्तसमो रक्तमर्द्धाढकमितं मतम् ॥ १०६१ ॥

विजयोदया—तिणि य वसंजलीओ तिस्रो वसांजलयः । छञ्चेव य अंजलीओ पित्तस्स पणंजलयः पित्तस्स । सिंभो पित्तसमाणो श्लेष्मा पित्तप्रमाणः । लोहिदमद्दाढगं होदि लोहितोऽप्यर्द्धाढकं भवति ॥

मूलार—तिणि इति-वसंजलीओ वसाया अंजलयः । अद्दाढगं द्वार्त्रिशत्प्रमात्रं ।

अर्थ—वसा नामक धातु देहमें तीन अंजलिप्रमाण रहती है. पित्तका प्रमाण छह अंजलि हैं. श्लेष्म अर्थात् कफका भी इतना ही प्रमाण है. रुधिरका प्रमाण आधा आढक है.

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ॥

वीसं णहाणि दंता वत्तीसं होति पगदीए ॥ १०६५ ॥

पट्प्रस्थप्रमितं वर्यो सूत्रमर्द्धाढकप्रमम् ॥

नखानां विंशतिर्दन्ता द्वार्त्रिशत्प्रकृता मताः ॥ १०६२ ॥

विजयोदया—मुत्तं आढयमेत्तं मूत्रं आढकमात्रं । उच्चारस्स ॥ हवंति छप्पच्छा पट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । वीसं णहाणि विंशतिसंख्या नखानां । दंता वत्तीसं होति द्वार्त्रिशत्प्रस्थं दंता । पगदीए प्रकृत्या ॥

मूलार—मुत्तं इति । उच्चारस्स पुरीषस्य । छप्पच्छा पट्प्रस्थाः प्रस्थः पोटलपलानि । पगदीए प्रकृत्या अन्तर्दीपकमिदं ॥

अर्थ—मून एरु आरु प्रमाण हे और उल्चार-विषय यह छद् प्रस्य प्रमाण हे. नाल चीस रहते हैं और इन पत्नीम होवे हैं. स्वभारतः शरीरमे इन अवयवोंका प्रमाण कहा है.

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहि बहुगेहि ॥

सत्वं देहं अर्णविद्रुण वादा छिदा पंच ॥ १०१६ ॥

कायः कृमिकुलाकीर्णः कृमिणो वा द्रणोऽन्विलः ॥

तं सर्वं सर्वतो व्याप्य स्थिताः पंच चरणेष्वः ॥ १०१७ ॥

विजयोरेषा—किमिणो व वणो संज्ञातकिमिणयम् । बहुगेहि किमिकुलेहि भरिदं सरीरमिति संवंधः । वपुषि विन्नीनां कुलेभिस्ति । सत्वं देहं अर्णविद्रुण यत्ना छिदा पंच समस्तं शरीरं व्याप्य पंच पादेष्वः स्थिताः ॥

पूजात—किमिणो इति-किमिणो यजोऽन्य संज्ञातविभिर्यत्र इव । अर्णविद्रुण व्याप्य । पंच प्राणोद्गतव्याप्तस-
मानाशानाः ॥

अर्थ—प्रण वैना किमियोमे भ्रा गृता हे. वैसा यह देह भी सर्वत्र क्रियिजोस भ्रा हे. इस देहको व्या-
परा पांच पाद रहते हैं.

एवं सत्त्वे देहमि अवयवा कुणिमपुगला चैव ॥

एषं पि णत्ति अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥ १०३७ ॥

इत्थंगेऽययवाः सन्ति सर्वे कुधितपुद्गलाः ॥

नैकोऽप्यवयवस्तत्र पवित्रो विद्यते शुचिः १०३८ ॥

विजयोरेषा—एवं उभेन प्रकारेण । देहमि मत्वे अवयवा शरीरपाराः सर्वे अवयवाः । कुणिमपुगला येप
अनुपपुद्गलाः सन्ति । एषं पि णत्ति अंगं एकोऽपि नास्त्यवयवः । जं पूयं सुचियं च होज्ज । योऽययवः पूतः शुचियो मयेत् ।

पूजात—एवं इति-पुनिमपुगलाः शुचिताः पुद्गला येषां ते । पूदं पवित्रं । सुचियं नृत्तं मनोमं वा ।

टीप—१ पादेष्वः ।

अर्थ- ऊपर कहे प्रकारसे इस देहके सर्व अवयव अशुभ पुद्गलसे बने हैं- इसमें एक भी ऐसा अवयव नहीं दीखेगा जो अनन्य पवित्र और शुचि है.

परिदृष्टस्त्वचम् पंडुरगतं मुयंतवणरसियं ॥

सुहृद्विदहदं महिलं दधुपि णरो ण हच्छेज्ज ॥ १०३८ ॥

दग्धनिःशेषचर्मणि पांडुरांगी गलद्रसां ॥

दिरक्षतेऽपि नो कोऽपि बल्लभामपि बल्लभः ॥ १०६५ ॥

पिजयोद्या—परिदुल्लभ्य चमं परितो द्वा बसवत्पण्डलं । पंडुरासं पांडुरासं पांडुरासं । मुयंतवणरसियं
पिगलद्रसं । मुहु वि दारं महिलं मिपनमापि पिनतां । वृष्टि परो न इच्छेन्न द्रुमुमपि नरो न वांछति ।

मङ्गारा-परिदृष्ट इति-सप्ततन्त्रदलित्यं भ्रयन्त्ररसो यस्यास्तां लषट्पञ्चरसिकां । सुठदुवि वइवं अतिवह्मभामपि ।।

जयें- नियंत्री देहकी लवा अमोसे जल जानेंसे सफेद दीख रही है. जिससे रस सदा झरता है. ऐसी स्त्री यदि पूर्वमें अविद्य मय थी तो भी उसकी ऊपर लिखे प्रकार ग्लानि उत्पन्न करने वाली अवस्था देखकर मनुष्य उसको देखनेको भी चाहता नहीं.

जवि हेऊज मच्छियापत्तसरसियाए तयाए णो अगिदं ॥

को णां कुणिमभरियं तरीमालद्धमिच्छेज्ज ॥ १०३९ ॥

अमर्षिष्यन्न चेद्वात्रं पिहितं सुदमया त्वचा ॥

को नामेदं तदास्पृश्यन्मक्षिकापत्रतुल्यया ॥ १०६ ॥

इत्यांशाः ११

पिञ्जयोदया—अवि होन्क तथापि न योगिन् यदि त्वत्वा न योगितं भवेत् । कीदृश्या मक्षिकापत्तसरिसिमाय मच्छिगापत्तसरिसिमाय शरीरं । आलस्यं स्पष्टं ॥

मूछारा-जदि इति-मच्छिन्नापत्तसिधियाए मक्षिकाएगुल्लया । आलट्टु सुअंठुं आळिगिठुं वा । अवयवाः ॥
अर्थ- मक्खलीकें पंखके समान फली त्वचासे यह शरीर यदि नहीं ढका होता तो दुर्भ्रंश से भरे हुए इस शरीरको भस्म करनेकी किसको इच्छा होती ? अर्थात् कोई भी इसको छूना नहीं चाहता-

कण्णेषु कण्णगूधो जायदि अच्छीसु चिकणंसूणि ॥

पासागूधो सिंघाणयं च पासापुडेसु तहा ॥ १०४० ॥

कर्णयोः कर्णगूधोऽस्ति तथाणोर्मलमश्रु च ॥

सिंघाणकायसो निंघा नासिकापुटयोर्मलाः ॥ १०६७ ॥

चिकणंसूणि-कर्णेषु कर्णयोः । कण्णगूधो कर्णगूधः । जायदि आवेत । अच्छीसु भक्षणो । चिकणंसूणि मलम-
श्रुविशेषः । पासागूधो नासिकामलं सिंघाणयं च सिंघाणकं च पासापुडेसु नासापुटयोः ।

मूछारा-कण्णेषु-इति-कण्णेषु कर्णविशेषयोः । कण्णगूधो कर्णोद्धतो मलः । सिंघाणकायसो नासिको-
द्धतो मलः । सिंघाणकं नासाकायी श्रेष्ठा ॥

अर्थ- कानमें कर्णगूध अर्थात् कर्णमल पैदा होता है. आलामें नेत्रमल होता है. और आंसु उत्पन्न होते हैं. नाकमें पट्टमल और फलला मल उत्पन्न होता है.

खेलो पिच्चो सिंभो वमिया सिंभामलो य वंतमलो ॥

लाला जायदि तुंढमि मुत्तपुत्तिं च सुक्कमिदत्थे ॥ १०४१ ॥

लालानिर्गमन-रूपमपुत्तेगा विविचा मलाः ॥

जायते सर्वदा वक्ते वंतकीटाकुलमणे ॥ १०६८ ॥

ये मेहशुदयोः सन्ति चर्म्ममूत्रावयो मलाः ॥

न वक्तुमपि शक्यंते वीक्षितुं ते कथं पुनः ॥ १०६९ ॥

सपथार्थोच्यताया—

सेदो जादि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमक्खेसु ॥

जायंति ज्वलिवक्खा छप्पादियाओ य सेदेण ॥ १०४२ ॥

चिदणो रोमक्खेपु स्वेदः सर्वेषु सर्वतः ॥

यूक्ताः पट्पदिका शिक्षा जायंते सर्वदा ततः ॥ १०७० ॥

चित्रयोक्ता—सेदो सतिदे सेदो जायंते । सिलेसो व चिक्कणो चर्मकारस्तेष्ववचिवक्कणः । सव्वलोमक्खेसु सर्वलोमक्खेपु जायंति जायंते । जूका यूकाः । छिक्कणा शिक्षास्य । छप्पादियाओ य चर्मयूकाश्च । सेदेण हेतुना सेदेन हेतुना । पत्तायता प्रयत्नेन शरीराययथा व्याख्याताः ॥

एवं वेदस्याप्यवधानप्रत्ययेन व्याख्यायैवानीं तन्निर्गमन्याख्यानाय गाथाचतुष्टयमाह—

मूछटा—लेलो इति—द्वंद्वरत्ने मेहनयोनिगुहयोः ।

मूलाया—सेदो इति । सेदो प्रवेदः । जादि प्रादुर्भवति । सिलेसो वा यज्जलेष इव । सेज्जेव वा । छप्प-

विआओ पट्पदिकाश्चर्मयूकाः ॥

अर्थ—नाकका मल, यूक, पित्त, कफ, वमन, बिन्दाका मल, दन्तमल और लाला ये मल मुखमें उत्पन्न होते हैं, मूत्र, विष्ठा और वीर्य ये उदर में होते हैं.

अर्थ—शरीरकें संपूर्ण रोमत्र्यंसे चम्हारके यहाँके सचिक्कण पदार्थ के समान स्वेद निकलता है. इस स्वेदसे यूका, शिक्षा तथा चर्मयूका उत्पन्न होती हैं. यहाँतक शरीरके अवयवोंका वर्णन किया है.

विगमसणे । निर्गमनव्याख्यानायाच्छे—

विष्ठापुण्णो मिण्णो व घडो कुण्णिमं समंतदो मलइ ॥

पूर्दिमालो किमिणोव वणो पूर्दिं च वादि सदा ॥ १०४३ ॥

गात्रैर्युंचति चर्वासि चियहो निविलैरपि ॥

गुधण्णो घटो ग्रथं छिद्रित्तो विचैरिच ॥ १०७१ ॥

सुखैरवगचैः स्त्रोणां निचितैर्वीचैर्मलैः ॥
 सारासारप्रदृष्टानां मानसं न्दिहते कथम् ॥ १०७२ ॥
 लज्जनीयेऽतिचीभत्से मूढधी रमते कथम् ॥
 योगीं क्षिणे सचद्रक्ते निच्ये कृमिरिव व्रणे ॥ १०७३ ॥
 अंगारस्येव कायस्य बहिरंतस्य हृदयेते ॥
 वैकोप्यवयवः शुद्ध सर्वथा मालिनात्मनः ॥ १०७४ ॥
 इति निर्गमः ।

मित्रयोदया—विष्णुपुण्यो विष्टामि पूर्णः । मित्रो व एको मित्रघट इव । कुण्डलं कुण्डितं । समंतदो संतताम् । गच्छति स्फुरति । ईगलोब्धो गलतपूति निचिदात्मिगणयन् । पूति अ यदि सदा दुरभियाति सदा । निगमणे सम्पत् ॥

एवं प्रत्यंगमलसंश्लिप्तमावयव देहस्य सापत्त्वेन दुर्गघोराविलं बतह—

मूलारा—विष्णुपुण्यो इति-गच्छति स्वयति देहः । पूर्वगच्छो दुर्गघोद्वारी । कियिपो क्रियिनिचिवः । यदि सुचति देहः । एता माया केचिदुत्तर पठन्ति । निर्गमः ॥

अर्थ—विष्टामे पूण घटा जैसा चारो तरफसे दुर्गघको स्रवता है. अथवा क्रिमिओंसे भरा हुआ व्रण सड़कर जैसा गलने लगता है वैसा हम देहसे भी हमेशा दुर्गघ मलमूत्रादिक पदार्थोंका साव होता रहता है.

ईगलो घोंवते ण सुब्बदि जह महापयत्तेण ॥
 सव्वोहिं समुद्देहिभिं सुब्बदि देहो ण धुब्बंतो ॥ १०८४ ॥
 सिण्हाणुब्बंगुब्बट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुवणेहिं ॥
 णिच्चंणि धोवमाणो वादि सदा पूदिंयं देहो ॥ १०८५ ॥
 कापो जलैः पयोधीनां धान्यमानोऽम्बिलैरपि ॥
 स्वभावमलिनो जातु मंगार इव शुच्यति ॥ १०८५ ॥

अभ्यंगोद्धर्तनस्नानमुखदंताक्षिधावनेः ॥

मुथद्विगोच्यमानोऽपि दुर्गंधं वाति विग्रहः ॥ १०७६ ॥

विजयोदया—सिंहद्वारभंगमुखदृष्टेहि य स्नानेन, अभ्यंगेन, उद्धर्तनेन । मुखदंतच्छिद्रपुवणेहि मुखस्य दंता-
नालङ्गोच्च प्रशास्तेन । निरञ्चपि शुल्यमाणो नित्यमपि क्रियमाणशौचः । घाति सवा पृथिगं देहो । दुरभिगंधतां न
सजति देहः ॥

एवं निर्गमं न्याख्याय देहवच्छुचित्वं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मलार-ईगालो इति-ईगालो अंगारः । धोव्यंतो धान्यमानः, शोच्यमानः ॥

सिंहद्वारेति—सिंहद्वारभंगमुखदृष्टेहि स्नाताभ्यंगोद्धर्तनैः । पुवणेहि प्रक्षालनैः । पृथिगं दुरभिगंधं ॥

अर्थ—जैसे फोला प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी स्वच्छ अधर्ति मफेत रंगका नहीं होता है वह फाला ही
रहता है, वैसे यह देह संपूर्ण समुद्रके पानीसे धो डालने पर भी स्वच्छ-पवित्र नहीं होता है, अपवित्र ही रहता है,
इस शरीरको स्नान, अभ्यंग स्नान, उवटन भी स्वच्छ नहीं करा सकते हैं, छंद, दांत और आँखें बार बार धोने पर
भी अच्छे ही बने रहते हैं, यह देह हमेशा दुर्गंधताको बाहर छोड़ता ही रहता है.

पाहाणघादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलोहि ॥

मुहकेसवासतंवल्लगंधमल्लोहि धूर्वेहि ॥ १०८६ ॥

मृत्तिकांजनपाषाणघातुत्वदमूलवल्लिभिः ॥

केशास्थचासतंबूलधूपपुष्पधलाविभिः ॥ १०७७ ॥

विजयोदया—पाहाणघादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलोहि । पाषाणशोदेन रत्नान्युच्यन्ते । घातुजंलं । अंजणं
अंजनं सौवीरं च । पुढयी मृत्तिका । तथा लव । मुखवालः । मुखं धाल्यते मुखं गंधतां नोयते येनास्तौ मुखधातः । केशाः
सुरभितां नीयंते येनास्तौ केशवान्, पतैः पाषाणादिभिः ॥

यथेवं अत्यंतप्रतिविधेयदीर्घाभ्यः कायस्त्वचं छोकै सेव्यते इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—पासाणे इवि-पासाण रत्नानि । घादु हेमादिकं जलं वा । अंजण सौवीरकज्जलादि । पुढवि सट्टि-
पादि । तथा मध्यत्यक् । छल्लि बाह्यत्वच्छं । मुहकेसवासा चात्यंते सुरभीन्निजंते मुखं केशाश्च येनास्तौ । गंधं कस्तूरि-
कादि । महं पुष्पमाला ।

अर्थ—यापण शुद्धते रत्न यह अर्थ लेना चाहिये. धातुका अर्थ जल ऐसा होता है. अथवा सुवर्णादिक-
को पातु रहते हैं. अञ्जन, मृत्तिका स्त्रया, मूल सुगन्धित करने वाले पदार्थ, फेड़को सुगन्धित करने वाले पदार्थ,
अर्पति रत्न, गुणार्णोदि पातु, अञ्जन, मृत्तिका, वनस्पतिबोकी छाल, मूल और फेड़ोंको सुगन्धित करनेवाले पदार्थ,
वांछ, सुपमात्ता, इत, इन पदार्थोंसे—

अभिभूदुत्विगंघं परिभुज्जदि मोहिण्हिं परदेहं ॥

परिभुज्जदि पूइयमं संजुत्तं जह कडुगमंडेण ॥ १०४७ ॥

प्रच्छाया निवित्तं गंधं सुजयतेऽन्यफलेवरम् ॥

हिंगवादिभिरिय द्रव्यैः विधितं विघृणात्मभिः ॥ १०४८ ॥

विजयोदया—अभिभूदुत्विगंघो निरुक्तायुभगंधः । परदेहं संजुत्तं परस्य वेहः संयुक्तः । मोहिदिहिं मूढैः । परि-
गुण्ये । परिभुज्जदि पूरणं मोहं यथा युक्तं संसृजते । कडुगमंडेण मरिचैर्दिग्व्याधिभिश्च ॥

मूलरा—अभिभूयेति—अभिभूय निरस्य । दुत्विगंघं दुस्तहयिकुण्डगंधं । उपलभ्यादौभस्तभावं च । रमणीय-
तामसाभेनैतर्गः । अभिभूदुत्विगंघो इति या पाठः । कडुगमंडेहि मरिचद्विक्वादिभिः । अद्भुत्तित्वं ॥

अर्थ—इन पदार्थोंने विपक्वा दूर्गंध दूर किया है ऐसा परकीय देह मोहित लोगोंके द्वारा भोगा जाता
है. जैसा अपमित्र, दूर्गंध मांसको हिंग, जीरा, भिरच वगैरे पदार्थोंसे छोक देकर जैसे मांसलुब्ध लोक खाते हैं
वैसे परकीय देहका कामी लोक उपभोग लेते हैं.

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरिरमिमं ॥

सोमेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥ १०४८ ॥

मयूरेददव्वहो ययभासयविसर्गतः ॥

अभविट्ठत्तदा सोभा तस्मिन्नीयणतेपिणी ॥ १०४९ ॥

विजयोदया—अब्भंगादीहिं विण्य सुगंधतेनैव प्रक्षयं, उद्वर्तनं, व्याप्त्यालेपनमित्यादिभिर्धिया । सभावदो चेव

यदि सोपेन्द्र हमें शरीरें सभागत पत्र यदि शोभित एवं शरीरं । मोरदेहव मयूदेहवत । होज तो नाम से सोभा भवेत्तत् स्फुटं देहस्य शोभा ॥

एवमशुचित्वं प्रपंच्य देहस्य सारताश्रयणार्थं मायानुष्ठयमाचरे—

मलारा—अन्धेगादीहिं द्वि—दमं मातुषं । जान स्फुटं ॥

अर्थ—सुगंध तेल लगाकर स्नान करना, उबटन लगाना, स्नान करना, छेप करना इत्यादिकाफी अपेक्षा के बिनाही मयूर देहके समान यह देह स्वभावतः सुंदर होता तो ही मनुष्यदेह सुंदर है ऐसा कह सकते. परंतु बाह्य वदार्थोंके बिना सुंदरता आवी नहीं है.

जदि दा विहिंसदि णरो आलहुं पडिदमपणो खेलं ॥

कथ दा निविबेज्ज बुघो महिलामुहजायकुणिमज्जलं ॥ १०४९ ॥

आत्मनः पत्नितो खेलो यदि स्प्रष्टुं घृणायेत् ॥

तथा रामामुखांभो हि वीयते कुपितं कथम् ॥ १०८० ॥

विजयोदया—जदि दा विहिंसदि णरो आलहुं पडिदमपणो खेलं यदि तावन्नरो बुगुप्सते स्मपुनसमनोऽपि कासं । कथदा निविबेज्ज बुघो कपमिदानीं विवेदुः । महिलामुहजनिदकुणिमज्जलं सुवतिसुखत्तमुद्वममुक्खिजलं ॥

मूलार्थ—नदिवा इति—वार्णि इदानीं । विवेच्य विवेत् । कुणिमज्जलं अशुच्येभः । ललाबिलार्यः ॥

अर्थ—मनुष्य यदि अपने भी धृक्को स्पर्श करनेमें ग्लानि उत्पन्न करता है अर्थात् अपना धूक, फफू और वद हाथसे स्पर्श करना भी चाहता नहीं तो यह शुद्धिमान मनुष्य स्त्रीके मूत्रमें उत्पन्न हुआ अपवित्र जल कैसे पीता है. कुछ माहुर भर्ती पडवा ?

अतो वहिं व मज्जे व कोइ सारो सररीरगो णत्थि ॥

पुंरंडगो च देहो णिसारो सव्वहिं चेव ॥ १०५० ॥

वीक्ष्यमाणे मनुष्याणां चहिरंतश्च वीक्ष्यते ॥

पुंरंडवंदवदेहो न सारोऽत्र कदाचन ॥ १०८१ ॥

विजयोद्या—अंतो बहिः य मन्वे अंतर्वर्तिभ्ये । को वि सारो सरीखो पतिय । शरीरेऽङ्गे सारभूतं न
किप्तिवस्ति । परंढको वा निरसारो सन्वाहिं च य साररहितः सर्वत्र वैव ॥

मूलाय—अंतो बहिः च इति—मन्वे अंतराले । सारो सेन्वं रूपं । सन्वाहि सर्वत्र ।

अर्थ—अंतर्ग, बाहर और मध्यमें मी इस देहमें कुछ भी सार वस्तु नहीं मिलेगी जैसे एरंडकी लकड़ी सर्व
तरहमें साहीन होती है वैसे इस देहमें सारका नाम मी नहीं मिलेगा ।

चमरीवालं खगिविसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ॥

दिदो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि ॥ १०५१ ॥

चमरीणां कचं क्षीरं गवां शृङ्गाणि स्वङ्किनां ॥

सुजंगानां मणिः विक्कं बहिणां करिणां रदः ॥ १०८२ ॥

प्रिजयोद्या—चमरीवालं चमरीरोमाणि । रत्नगिविसाणं चङ्किनां शृङ्गाणां शिपणं । गवानां दंताः । सर्पाणां
रत्नाविकं च । इह सारभूतं । ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि नास्ति किञ्चित्सारं मणुष्यदेहे ॥

छगलं मुचं दुळं गोणीए रोयणा य गोणस्स ॥

सुचिया दिद्व ण य अत्थि किञ्चि सुचि मणुष्यदेहस्स ॥ १०५२ ॥

कस्तुरिका कुंरगणागमिथं सारो विलोक्यते ॥

क्षरीरे न पुनर्नूणां कोऽपि कापि कदाचन ॥ १०८३ ॥

विजयोद्या—असुर ॥

मूलाय—चमरी इति—चमरीवाला अरण्यगर्भीपुच्छदेशः । रत्नगिविसाणं गंडकदूर्गं । मणिगादी आदिशब्देन
मणूयैश्चमरस्फुरिकादिकं । यज संछतदीकाकारः कण्डेसु कण्ठगूढो इत्यादिगाथात्रयं पूर्वसूत्रे पठित्वा ‘विद्वापुणो
इत्यादि गाथान्वयं निर्गमन्याख्यामवधार्यतु । आमुषीति च बीजादिभिरष्टाभिरपि समवधानात् । एवं च सति द्वादशसूत्री
तेन नेष्टा साधते । अस्माभिरु प्राह्वतदीमारादादिमतेनैव व्याख्यायते । अन्ये तत्सारत्वमेक्षणमात्रौचान्तर्गमयन्ति ॥
तथा च उत्पठः—क्षेयानि बीजनिष्पक्षेनाधोऽब्जमृद्धिभिः ।

अर्थ—चमरी नामक गौके केस, गंडेका साँव, हाथीके दाँत, सर्पके मस्तकका माणि आदि शब्दसे मोरका पंख, कस्तुरी योगरह पदार्थोंसे सार अर्थात् उत्कृष्टता—पवित्रता देखी गई है परंतु इस मनुष्यदेहमें सार नहीं दीलता है।

अर्थ—वकरेका मूत, गायका दूध और गाय और बैलकी गोरोचना ये पदार्थ मवित्र है। परंतु मनुष्य देहमें कुछनी पवित्र चीज अवलोकनेमें नहीं आवेगी। अशुचि प्रकरण समाप्त हुआ।

व्याधि इत्येतद्व्याचष्टे प्रबंधेनोत्तरेण—

वाइयवित्तियसिभियरोगा तण्हां छुहा समादी य ॥

णिच्चं तवंति वेहं अहहिदजलं'व जह अग्गी ॥ १०५३ ॥

कुथितसन्नानि या कुथितैःकृते कुमिकुलैर्विविधैरभितो भृते ॥

एगचि मृणां सफलाशुचिमंविरे भवति किंचन नाम्न कलेचरे ॥ १०८४ ॥

इति अष्टौषं ।

विजयोदया—वातवयवित्तियसिभियरोगा दोषप्रथममेवा व्याधयः । तण्णासुधाधम इत्यादयश्च । वेहं नित्यं तपंति ज्वलितोऽग्निर्जलमिव दुग्ध्युपरिस्थितभाजनगतं ॥

देहव्याधिरूपणार्थं गान्धात्रयमाह—

मूलारा—वादिय इति—वादिय वित्तिय वातादिभिः प्रयङ् मिश्रैः समस्तेष्व जनिता ज्वरादयो व्याधयः । समादीय समादयश्च । तवंति तपन्प्रति । अहहिदजलं दुग्ध्युपरिस्थायितभाजनगतं तोयं ॥

अर्थ—वातजन्य रोग, पित्तके रोग और कफसे होनेवाले रोग, व्यास भूक, और श्रम इत्यादिकोसे अग्निके द्वारा बैसा जल तप जाता है वैसे यह देह संतप्त होता है।

अदि रोगा एकस्मि चैव अच्छिस्मि होति छण्णउदी ॥

सन्वस्मि दाइं देहे होदक्वं कदिहि रोगेहि ॥ १०५४ ॥

यदि पण्यवति रोगाः संभवन्ति चिलोचने ॥

क्रियन्तस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेचरे ॥ १०८५ ॥

कोट्याः पंचाष्टपटीख लब्धाः सह सहस्रकैः ॥

नयमिर्नवन्तिः पंचशत्याङ्गीतिश्रुतुता ॥ १०८६ ॥

विजयोदया—अदि रोगा यस्मिन्नेष अङ्गिष्ठा यदि ताण्डोगा एकस्मिन्नेष त्रेषे पण्यवतिसंख्या भवन्ति । सग्यतिन दानं देहे सत्यस्ते दानानां दारिरे । होत्रस्य कनिहिं रोगोहं । कतिमिक्यापिभिर्नयितव्यम् ॥ वाचिशङ् ॥

मूलरा—अदि दाह दन्ति-उज्ज्वली पण्यवतिः । दाहं इवानी ।

कवेच य स्तोत्रीओ भवति तद् अद्भुतद्विलम्बादं ॥

नय गजदि न सहरता पंचसत्रा होनि पुलसीदी ॥

अर्थ—यदि एक आलौम रोग छानने उत्पन्न होतें हैं तो सम्पूर्ण देहमें कितने व्याधि होमि. अर्थात् तरुणं देहमें असंख्यात होमि. व्याधिका प्रकरण समाप्त.

अधुपतामुत्तरया पापका ध्याकटे—

पीणत्थर्णिदुवदणा जा पुल्लं णयणदद्विया आसे ॥

मा चेव होदि संकुडवंगी विरसा य परिलुण्णा ॥ १०८५ ॥

पीनस्तनीन्दुवणा या तारुण्ये हरते यतः ॥

अमिथा जायते जीर्णा संक्षुयष्टिरिवारसा ॥ १०८७ ॥

विजयोदया—पीणत्थर्णिदुवदणा पीनस्तनभातासंभूयवद्रानना । आ पुल्लं या पूर्व । णयणदद्विया मयम् भवता जाता । सा चेव होदि संकुडवंगी सेव प्रवति संकुटितवत्तु । विरसा कातरस्सद्विदा । परिलुण्णा परितरे, जीर्णा अरक्तुदीय ॥

अधुपत्तवत्तापनार्थ गाथाः पंचदल आह—

मूलरा—पीणत्थर्णेति-पीणत्थण्यवयवंगी पीनस्तनभातासंभूयवद्रानना । णयणदद्विया नेत्रप्रिया । आसी जाता ।

विरसा पाणस्सद्विदा ।

अर्थ—विसर्ग के स्तन पुष्ट थे और मुखचंद्रके साथ स्पष्टों करता था, जो पूर्वमें नेत्रांको अतिशय आनंद दायिनी थी, वही स्त्री संकुचित शरीरवाली अर्थात् मसीहिन, और लीर्ण झोपट्टीके समान चारों तरफसे लीर्ण होती है-

जा सख्यसुंदरंगी सखिलासा पढमजोन्वणे कंता ॥

सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीमन्ळा ॥ १०५६ ॥

या चौवने मिया कांता सर्वावयवसुंदरी ॥

दुंगंया कुयिता सास्सि बीमत्सा विरसा सुता ॥ १०८८ ॥

त्रिजयोदया—जा सख्यसुंदरंगी परया. सखोंनि अंगानि सुंदरानि । सखिलासा खिलाससहित । पढमजोव्दया मथमजोयमा । कता कांता । लावेव मदा संती सेव सुता सती । होदि हु विरसा मवति विरसा । बीमन्ळा जुगुप्सनीया ॥ मूढारा—जा सखीलि—मूढा सती सुता सती । बीमन्ळा जुगुप्सनीया ।

अर्थ—जिमके सर्ग अययव सुंदर, विलाससहित, और मथम तारुण्यसे युक्त थे वही स्त्री मरनेपर विरस और ग्लानि करने योग्य होती है. अर्थात् शरीरकी सुंदरता इतना बगैरे गुण अस्थिर हैं ऐसा इन दो गाथाओंसे आचार्यने दिखाया है.

शरीरस्त्वशे ध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । इत्यतो. संयोगस्याध्रुवता व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुण्वं सा वा पुण्वं मदिज्ज से कंता ॥

जीवत्तस्स व सा जीवती हरिज्ज बलिपुहिं ॥ १०५७ ॥

अत्रियते बल्लया पूर्वं स्वयं वा अत्रियते पुरा ॥

जीवती जीवतो वान्येन्दिहयते बलिभिर्विलात् ॥ १०८९ ॥

त्रिजयोदया—मरदि सयं वा पुण्वं अत्रियते स्वयं वा पूर्वं पुनत् । सा वा पुण्वं अत्रियेत । से तस्य पुनः कान्ता । जीवत्तस्स जीवतो वा सा जीवन्ती दिहयते बलिभिर्पुहिं बलिभिरपरैः । इत्थं संयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥

नं नरीत्नं बहुवत् व्याख्याय दंपत्योः संयोगाशुवत्वं व्याचष्टे—
 मूलात्—मरुदि इति—अरुदि सर्वं क्रियते स्वयं पुमान् ।
 अयं—यति, पत्नीकं प्रथम आयु नष्ट होनेसे मरता है अथवा उसकी स्त्री मर जाती है. अथवा पति
 बीसा रहतेहि बलवान् लोग स्त्रीको हरण कर ले जाते हैं.

सा वा हवे विरक्ता मोहत्या अण्णेण सह पलायुज्ज ॥
 अपलायंती च तगी करिज्ज से वेयणास्मानि ॥ १०५८ ॥
 विरज्यते स्वयं तस्याः सा वा तस्य विरज्यते ॥
 परेण वा समायाति तिष्ठन्ती वा विरज्यते ॥ १०९० ॥

विगलौषा—सा वा होज विरक्ता सा भवेद्विरक्ता पुण्ये तणानि तयोः संगतिः । महिला अण्णेण वा पलायुज्ज सा विरक्ता पुणितरन्वेन ॥ सह पलायनं कुर्यात् । भगतायन्ती अपलायमावा या । तगी सर । करेज्ज से वेयणास्मानि कुर्यात्तच्छेत्तुः स्याति ॥

मूलात्—सा वा इति—यत्नमज्ज गच्छेत् । तगी सा । वेयणास्मानि वित्तदुक्क्याति ॥

अयं—अथवा वह स्त्री अपने पतिसे असंतुष्ट होकर अन्य पुरुषके साथ भाग जायगी, अथवा विरक्त होकर वे दोनों एक साथ रहेंग तथापि वह स्त्री पतिके मन को दुःख देती रहेगी. अर्थात् प्रतिकूल विचार, आचार और भाषण से वह पतिको दुःख देनेवाली होगी.

शरीरसामुपसामावष्टे—

रूपाणि कण्ठकभादियाणि चिद्वन्ति सारवेत्तस्स ॥
 घणिद्वं पि सारवेत्तस्स ठादि ण चिरं सरिरमिदं ॥ १०५९ ॥
 चिरं तिष्ठति संस्कारे काष्ठयावादिरूपकम् ॥
 कलेयरं मनुष्याणां न संस्कारे महत्यापि ॥ १०९१ ॥

विजयोद्या—रूपाणि कटुकममादियाणि काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि स्त्रीणां पुंलां अन्येषां ॥ आदिशब्देन शिला-
वृत्तादिपरिमहचिह्नं चिह्नं सार्वेयस्य चिह्नं लिखति संस्कुरुतः । धोनेदं यि सार्वेयतस्त नित्यमायि संस्कुरुतः । छादि ण
चिह्नं शरीरमिमे न तिष्ठति चिह्नं शरीरमिदं ॥

देहायुवत्वमाह—

मूलाय—रूपाहं इति—सार्वेयतस्य संस्कुरुतः ।

शरीरकी अनित्यताका विवेचन—

अर्थ—लकड़ी, पत्थर, हस्तिदंत इत्यादिकोसे बनाये हुए स्त्रीपुरुषोंके चित्र और अन्य प्राणिओंके
चित्र संस्कार करनेसे बहुत काल तक रहते हैं परंतु इस देहपर व्यायाम, अन्नादिकोंके द्वारा कितना भी संस्कार
करो चिरकालतक ठहरता नहीं।

न केवलं शरीरमेव अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलधुनुदो व मणुगाणं ॥

इंदियजोव्यणमदिरुवतेयवलवीरियमणिच्चं ॥ १०६० ॥

मौषनेंद्रियलावण्यतेजोरूपपलादयः ॥

गुणाः क्षणेन नश्यंति शारदा इव नीरदाः ॥ १०९२ ॥

विजयोद्या—मेघहिमफेणउक्कासंझाजलधुनुदोव मेघवद्विमलकभेषयुक्तायस्तंभावज्जलधुनुदयव्व । मणुगाणं
मनुजानां । इंदियजोव्यणमदिरुवतेजोरूपपलादयः । इंद्रियाणि, मौषने, मतिः, रूपं, तेजो, बलं, वीर्यं, चानित्यं ॥

न परं शरीरमेवानित्य अपि तु अपरमपीत्याह—

मूलाय—मेघहि—स्पष्टम् ।

अर्थ—मेघ, वर्षा, पानीका फेन, उल्का, संध्याकाल और पानीका बबुला इन के समान मनुष्योंकी
इंद्रियां, तारुण्य, बुद्धि, रूप, तेज, बल, वीर्य ये भी अनित्य हैं। तब मनुष्यमरण्य ही अनित्य है तो उस पर्या-
यमें प्राप्त होनेवाली उपयुक्त चीजें कैसी स्थिर हो सकती हैं।

साधुं पडिलाहेतुं गदरस सुरयस्स अग्गमाहिसीए ॥

णठ्ठे सदीए अंगे कोढेण जहा महुचेण ॥ १०६१ ॥

गतस्साहारदानार्थं सुरतस्य तपस्विनः ॥

भूषणात् किं महत्वेन्या नष्टः कुष्ठेन विग्रहः ॥ १०६२ ॥

विजयोद्या—साधुं पडिलाहेतुं गदस्सा साधोपाहादनाय भक्त्यः । सुरयस्स सुरतनीमधेयस्य राज्ञः । अग्न-
महिषीए भग्नमहिष्याः सदीए सत्याः शोभनायाः । अंगं षष्ठं शरीरं नष्टं । कोढेण कुष्ठेन । जहा मुहुत्वेण यथा मुहूर्तेन ॥

इति शरीरसंस्कारार्थे इत्याख्यानकेन दर्शयति—

मूढारा—साधुं इति—साधुं पडिलाहेतुं संघमिन्नं भोजयितुं । सुरयस्स सुरतान्नो राज्ञः । अग्नमहिषीए पट्ट-
महावेन्याः । सदीए शोभनायाः ।

अर्थ—सुरत राजाकी पट्टरानी बहुत ही सुंदर थी. एक समयमें राजा मुनीश्वरको आहार देनेके लिये गया था उस समय इसर रानीका शरीर अंतर्मुहूर्तेमें कीट रोगसे व्याप्त होगया. अभिप्राय यह है कि, जो रानीका शरीर अन्तर्मुहूर्तके पूर्वमें यहा ही सुंदर और राजाको अत्यंत प्रिय था वही अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर ही अत्यन्त निरूप हो गया. अतः शरीर परिवर्तनशील है यह बात इस उदाहरणसे स्पष्ट होती है.

वज्जो य णिज्जमाणो जह पियइ सुर च खादि तंवोले ॥

कालेण य णिज्जंता विसए सेवंति तह मूढा ॥ १०६२ ॥

इंतुमग्रे कुतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ॥

सेयते विपयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकम् ॥ १०६३ ॥

विजयोद्या—वज्जो य णिज्जमाणो इतुं नीयमानः । जह पियइ यथा सुरं पिबति । खादि तंवोले तांबूलं भक्षयति । तथा कालेण य णिज्जंता मृत्युना नीयमाना मूढाः । विसए सेवंति विषयाननुभवन्ति ॥

मूढारा—वज्जो इति—वोयांवापयेन वधार्हः पुमान् । णिज्जमाणो इतुं नीयमानः यपेवेन । कालेण परिवर्ततो मृत्युना नीयमानः ।

उक्तं च—इंदुममे कृतो मही दुर्निवारेण मनुना ।

सेवते विपयं वध्यः गगनेन सुरादिकं ॥

अर्थ—यद्य करनेके लिये जिसको ले जा रहे हैं ऐसा कोई मूढ मनुष्य जैसे मदिरा पीकर तांबूल भक्षण करता है वैसे कालके द्वारा मारने के लिये ले जानेवाले मनुष्य भी मूढ हो कर विपयोंका सेवन करते हैं.

वग्धवरदो लगगो मूले य जहा ससप्यविलपडिदो ॥

पडिदमधुर्विंदुभक्खणरविओ मूलम्मि छिज्जंते ॥ १०६३ ॥

इयाग्गेणारे कृतो हंतुं विले साज्जगरे गलः ॥

छिदरमाने इहं लग्गो मूले चिविचमूविकैः ॥ १०९५ ॥

अपदयन्नयतो मृत्युं यथा कञ्चन मूढधीः ॥

पतन्मधुकणारस्थावे विवत्ते परमां रत्तिम् ॥ १०९६ ॥

विजयोद्या—वग्धवरदो—व्यधिगाभिद्रुतः । लग्गो लग्नः । मूलम्मि लतायाः मूले ससर्पवति विलेपतिः । पडिदमधुर्विंदुमन्मजरविगो स लक्ष्मणस्थानवतितमधुर्विंदुमालादनरतिकः । मूलम्मि छिज्जंते । मूले छिद्यमाने मूषिका-मिर्वथा ॥

दृष्टांतोपन्यासपुरःसरं विषयविनश्चत्वं गाथाद्वयेण भाषयामि—

मूलारा—वग्धेति—वग्धवरदो व्याघ्रेण प्रारब्धोऽभिद्रुतो इंदुममे कृत इति यावत् । मूलम्मि ससर्पकूपभित्तिदृग्गुरु-वचनीयुष्मे । पडिदमधुर्विंदुमन्मजरविओ कथमपि मृतपतितमाक्षिकलवालादनप्रीतिकः । छिज्जंते छिद्यमाने मूषिकैः ।

अर्थ—मारनेके लिये जिसके पीछे व्याघ्र लगा है, ऐसा कोई पथिक, जिसमें सर्प हैं ऐसे कूयकी रतिके तटपर लगी हुई बेलीके बुधाको पकड़कर लटकने लगा. उस समय मूषके छत्तेसे मधुर्विंदु उसके ओष्ठके अग्रभागपर गिरने लगे तब वह व्याघ्र का दुःख भूल कर मधुर्विंदुसे उत्पन्न होनेवाले स्वादमैही आसक्त हो गया. परंतु वह इस बेलीका मूल चूहोंके द्वारा काटा जा रहा है और मैं उसके काटेनपर कुण्ठेमें पड़ूँगा यह सब सोचें वह पथिक जैसे भूल गया वैसेही संसारी मनुष्य की हालत है.

तद् नैव मञ्जुवधपरद्वौ बहुदुःखसप्पबहुलमि ॥
 संसारविले पडिदो आसामूलमि संलग्गो ॥ १०६४ ॥
 यत्तुत्तुपात्रेक्षितो दुःखसर्पे जन्माविले गतः ॥
 ल्हयमानस्तथा मूढो बहुभिविन्नमूपकैः ॥ १०९७ ॥

विजयोद्या—यद् चेत्त तथैव । मञ्जुवधपरद्वौ यत्तुव्याघ्रेणाभिद्रुतः । संसारविले पडिदो संसार एव विलः
 तस्मिन्पतितः । कीटपभूते बहुदुःखसर्पाकुले आसामूले । संलग्गो सम्यग्लग्नः ॥

मूढारा—बभूवि-आसामूलमि आशा विषयाकांक्षा मूलमिवाखंवनभूतत्वात् ।

इसीका आगेके दो गाथाओं से वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके पीछे मृत्युरूपी व्याघ्र लगा है, यह मनुष्य अनेक दुःख रूपी सर्प जिसमें निवास
 करते हैं ऐसे संसाररूपी विलमें गिरा है, परंतु इसने आशारूपी बेली की जड़ शायंसे पकड़ रक्खी है,

यद्विग्वमसूतएहिं आसामूलमि तम्मि छिज्जंते ॥
 लेहवि विभयविलज्जो अप्पसुहं विसयमधुविंदु ॥ १०६५ ॥
 आसामूले इहं लग्नो विषयास्वादने रत्तिम् ॥
 महतीं कुरुते नाशमपदयस्समतः स्थितः ॥ १०९८ ॥
 इति अष्टौव्यम् ॥

विजयोद्या—यद्विग्वमसूतएहिं य यद्विमिधिमूपकैः । आसामूलमि तम्मि छिज्जंते । आशाख्ये मूढे
 तस्मिन्छिज्जमने । लेहवि सादति । विभयविलज्जो निर्मयो निहंलज्ज । अप्पसुहं विसयमधुविंदु । अल्पसुखे विषयमधु-
 पुद्रलसंधत्वा यत्तमानाः कतिपयाः पदया अतिस्वल्पास्त एव मधुविंदवः ॥ अधुवत्तं ॥

मूढारा—यद्विग्वेति-विसयमधुविंदु विषयव्यासुरादिना मूलमाणो रूपासुर्यो मधियत्त स्वल्पासुखमिति तत्त्वात् ।
 तस्य विद्रुतल्लयभग्न्यमानपुरोऽनस्थितपुद्गलविवर्तिपर्यावः । तथा पाशोचाम सिद्धयंके-

सुधारणं सर्वन्त्यभिमुखहृषीकण्णयिनः ॥

क्षुणं ये तेऽप्यूर्ध्वं विपसपचर्द्व्यंग विपयाः ॥

त एवाविर्भूय प्रतिचित्तनाथाः सखु विरो-

मबन्त्येवास्तोऽगोऽप्यहह किमु कर्पन्ति विपदः ॥

अर्थ—आखारूपी वेलीकी जह नाना विभरूपी चूहोंके द्वारा काटी जा रही है इस बातको ब्रह्म जानता ही नहीं। परंतु विपयसुखरूपी अल्प मधुके कणका आस्वादन करनेमें ही वह लबलीन होरहा है, नंत वगैरह इंद्रियोके द्वारा जिनका ग्रहण होता है ऐसे रूप, रस, गंध स्पर्शादिकोंको विपय कहते हैं। ये विपय मधुके समान अल्प सुख उत्पन्न करनेमें निमित्त हैं। अतः इनको मधु कहते हैं। इनका बिंदु अर्थात् इन रूपादि पदार्थोंके जो थोड़ेसे पुद्गलरूप मोगनेमें आते हैं उसको बिंदु कहते हैं। इस प्रकार अधुवत्त्वका वर्णन हुआ।

घालो अमेक्षालितो अमेक्षामउक्षामि चेव जह रमदि ॥

तह रमदि णरो मूढो महिलामज्जे सयममेज्जो ॥ १०६६ ॥

रामावर्चोमध्यवर्ती मनुज्यः फ्रीडत्येपोऽमेध्यरूपः शिशुर्वो ॥

वर्चोलिप्तोऽमेध्यमध्यं प्रवृत्तो कीदक्सारं निवनीयस्वभावं ॥ १०६७ ॥

विजयोदया—याहो अमेक्षालितो शालोऽ अमेध्येन लिप्तः । अमेक्षामउक्षामि चेव अमेध्यगच्छे एव । जह रमदि यथा रमते प्रीतिमुपैति । तथा रमदि णरो मूढो तथा रमते मूढः । महिलामेज्जे योविदेव अमेक्षालिप्तोऽमेध्यरूपः । सयममेज्जो सयममेध्यमूढः ॥

सकलाभिमतैरित्याश्रयकं स्त्रीनाम्नि विपये यथावत्स्वरूपतुलादपरत्वेन जुगुप्सामुखावबन्बांगवचचंदंगान्मुसु लुपुपरमविभुं गायादयमाह—

मूलात् —वालो इति—रमदि प्रीतिमुपैति । महिलामेज्जे महिला अमेध्यभिव समस्वाद्युचिप्राग्भास्वरीरत्त्वात् ॥

अर्थ—विपसे लिप्त हुआ वालक जैसे विष्णुमें ही क्रीडा करता है उसमें सुख मानता है। वैसे अनेक अपवित्र पदार्थ बिसके शरीरमें भरे हुये हैं ऐसी स्त्रीरूपी विष्णुमें यह कामी अपवित्र पुद्गल क्रीडा करता है,

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविता महिल्याए कुणिमकुडी ॥

जं होति सोचइचा एदं हासावहा तेसिं ॥ १०६७ ॥

अमेध्यनिर्माणमेध्यपूर्णं निषेवमाणैर्वनिताशरीरम् ॥

धैर्मन्यते स्वं शुचिरस्तवोधैर्हास्यास्पदं कस्य न ते भवंति ॥ ११०० ॥

विज्ञयोक्ष्मा—कुणिमरसकुणिमगंधं यद्युचिरस्तमशुचिगंधं । सेविता सेवयमानाः । महिल्याए महिलाया युनयाः । कुणिमकुडि यद्युचिराशरीरकुटि । जं होदि सोययंता । परं हासायदं एतच्छोचत्वं हास्यावहं । तेसिं तेरां ॥

मूमरा—दुर्मिलि—दुणिमकुडि अशुचिदशरीरकुडी । सोचइचा शौचे बिच येषां ते शौचविताः शुचित्वमनसः आत्मानं शुचि गन्यमानाः । इत्यर्थः ।

अर्थ—जिमसे अशुचि रस पहला है, सिसका गंधमी अपवित्र है ऐसी स्त्रीरूपी शोषदीको सेवन करनेपाले कामी पुरुष अपनेको पवित्र मानते हैं यह उनका विचार हास्यास्पद है.

एवं एदे अच्छे देहे चिंतितयस्स पुरिसस ।

परदेहं परिभोत्तु इच्छा कह होज्ज सधिणस्स ॥ १०६८ ॥

बीजावयो येन शरीरधर्माश्रिते क्रियन्ते पुषनिदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीय तेन ॥ ११०१ ॥

विज्ञयोक्ष्मा—एवं एदे अच्छे एवमेतान्तर्यामिदेहे शरीरधर्मयान् । चिंतितयस्य चिंतयतः । पुरिसस्स पुरुषस्य । परदेहं परस्पर शरीरं परिभोत्तुं परिभोक्तुं । इच्छा किह होज्ज इच्छा कथं भवेत् । सधिणस्स पूजायतः । उज्जावतः ॥

मुल्लटा—एदे बीजादीन । सधिणस्स लज्जावतः । उक्तं च—

बीजावयो येन स्त्रीरधर्माश्रिते चिंत्यते पुषनिदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीय तेन ॥

अर्थ—इम प्रकार इग देहमें उत्पन्न होनेवाले अनेक निषयोक्ता जो पुरुष मनमें विचार करता है. उसको

परदेहका उपभोग लेते समय क्यों न लज्जा उत्पन्न होगी? अर्थात् ऐसे अविविध देहका उपभोग लेनेसे वह विचारी मनुष्य परावृत्त होगाही.

एते अत्ये समं दोसं पिच्छंतओ णरो सघिणो ॥

ससं गीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥ १०६९ ॥

निरीक्षिते यो वपुषः स्वभावं यचोनियासस्य चिनश्चरस्य ॥

देहे स्वनीयेऽपि विरज्यतेऽसौ क्षोपास्पदायाः किञ्चु नांगनायाः ॥ १०७० ॥

इति अचौचम् ॥

विजयोदया—एते आर्यो देहस्स वीजघिणस्सितेत्त इत्येतत्सुत्रनिर्दिष्टानेनान्यान् । देहे शरीरे । पिच्छंतओ ममरति पि पि १०७१ आत्मनोऽपि शरीरे विरज्जति विरक्ततामुपेति । किं पुण अण्णस्स देहम्मि किं पुनरन्यशरति पिरक्ततां नोपेयात् ॥ १०७२ ॥ अमुचित्वे व्याख्यातं ॥

मूढारा—एते आर्ये इति—विच्छंतओ निरुणयम् । अभुयत्वं ॥ अद्युचित्वं ॥ ६७ ॥

अर्थ—देहका बीज, निमित्त वगैरह प्रकरणोंका वर्णन किया गया है. इनके स्वरूपका इस देहमें जिसने मन्थमप्रकार ने विचार किया है वह पुरुष अपने शरीरसे ही विरक्त होगा किन् अन्यके देहके विषयमें उसको क्यों न नैराश उत्पन्न होगा? अशुचित्वम् वर्णन समाप्त.

बुद्धदेवानिकरणात् उनं नरंस्तस्करणा या इत्यादिकः । शीलबुद्धता भवति न केवलम् यथा इत्याद्ये—

थेरा । तरुणा वा बुद्धा सीलैहिं होति बुद्धीहिं ॥

थेरा ॥ तरुणा वा तरुणा सीलैहिं तरुणेहिं ॥ १०७० ॥

बुद्धा नराः शीलैस्तस्करुणा यतः ॥

जाने ते तरुणा बुद्धास्ततः शीलं बुधैः स्तुतम् ॥ १०७३ ॥

विजयोदया—थेरा पा तरुणा या स्वधिरास्तस्करणात् । बुद्धा इति बुद्धा भवन्ति । सीलैहिं इति तरुणेहिं बुद्धेहिं शीलेः प्रदुर्दे । क्षमा, मार्दव्यं, कर्तुः, संतोष इत्यादिकं शीलबुद्धेर्गोचर्यते । थेरा वा तरुणा या स्वधिरास्तस्करणात् । तरुणा

एय । सीतेहि तगणेहि तरुकीः नीलेः । पतेन शीलवृद्धा इह वृद्धरोदेन युधीताः । प्लेणों सेवा वृद्धसेवेति कथितं प्रयति ।
गृध्रगुणानां सेवतः स्वयमपि गुणोत्कृष्टगुण्यतीति मन्यते ॥

एवं कामदोषक्षीदोषावृत्तिर्यानि प्रीणि स्त्रीविराग्यनिमित्तानि ज्याख्याय सोऽत्र वृद्धसेवां पंचवस्त्रभिर्यथाभि-
ज्योषणालो वृद्धरूपनिरूपणार्थं गथाद्वयमाह—

मूत्रारा—थेरा येति—सीतेहि क्षमादिभिः । जुष्टेहि वृद्धिं मयैः । न वयसा वृद्धेन । तरुणेहि काम्यादिभिः प्रा-
येण सारुण्येन सह वृत्तिर्यात्तेषां । यत्पठन्ति ओकाः—

अवश्यं यौवनस्येन स्त्रीवेनापि हि जंतुना ।

विकारः सल्लु कर्तव्यो नाविकाराय कौयनम् ॥

युग्मविद्धौ च वृद्धगुणदोषपुल्लसेयनाहुणदोषोत्कर्षौ ।

अथ वृद्धसेवाका वर्णनं विस्तारसे करते हैं—केवल वय अधिक होनेसे मनुष्य शीलवृद्ध होया नहीं
इसका वर्णन—

अर्थ—वृद्ध हो अथवा तरुण हो यदि उनका शील बढ गया हो अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, शीघ्र
बरीरह आत्मचर्म पढ गये तो उनको शीलवृद्ध कहना चाहिये और जिनके ये धर्म नहीं बढ पाये उनको चाहे वयसे
वृद्ध भी हो तो भी तरुण ही कहना चाहिये. अभिप्राय यह है कि शीलवृद्धोंको ही यहाँ वृद्ध कहना चाहिये और
उनकी सेवाकाही नाम वृद्धसेवा है. जिनके क्षमादिक गुण वृद्धिगत हुए हैं उनकी सेवा करनेसे अपने भी गुण
बढते हैं.

अपि वैद पत्यादीनामपि संसर्गो गुणत्वान्यतस्तेऽपि तपसैव मंदीभूतकामरतिदर्पनीया इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तद् तद् णस्सदि णस्स वल्लब्धं ॥

मंदा य हवदि कामरदिदणकीडा य लोमो य ॥ १०७१ ॥

यथा यथा वयोहीनिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरतिफीडादपूरूपवत्तादयः ॥ ११०४ ॥

विजयोदया—जह जह सबपरिणामो अतिकामति यथा यथा उवाचपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंश्लितः । परस्त्व
परिणामो प्राणिनः परिणामः । सच ह्यस्य से तथा तथा तस्य मंदा इवति मंदा भवति । कामरदिदण्मीडा ज्ञान्यन्त इति
कामा विषयास्तत्र रतिर्दयः, कीडा, लोभ- लोभश्च मंदविषयतयादिपरिणामेन बृद्धेन सह संयासात् । लयमेवापि
मंशकामादिपरिणामो भवतीति भावः ॥

यद्यपि तपसैव कामरतिदुर्पकीडा लोभा न्यग्भावमितुं सक्यास्तथापि ययःपरिणतिरपि तदनुकूलकारणतां प्रति-
पद्यते इति बभौबृद्धसंसर्गस्य अपि युगपत्त्वक्यापत्तावभाह—

मूलार—अथ ज्ञेयति—ययपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंश्लितः । मंदा न्यग्भूता । कामरदो विषयप्रीतिः लुके च—

यथा यथा बबौहानिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरति कीडादुर्पत्वलादयः ॥

सधैष च लोकोऽव्यधीते—

प्रथमे वयसि यः शोभः स शान्त इति ने मतिः ।

प्रस्तु-क्षीयमोगेषु शमः कस्य न जायते ॥

मंशकामरत्वादिपरिणामेन बृद्धेन सह संयासात् स्वयमेव च तादृक्परिणामोऽभवतीति मन्यते । लुकीनान्म-
त्वेवदुच्यते लुशीलानामन्यधापि भाषात् । यत्सर्वति—

ययसः परिणानेऽपि कुलीलस्य कुतः शमः ॥

सुषकमपि माधुर्यं नोपयातीद्रयारुणं ॥

यतिः, त्यागीजन इनका भी संसर्ग करना सहृणप्राप्तिका उपाय है क्योंकि यतिगणने तपके द्वारा विषय-
प्रीति कम की है. इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसी जैसी मनुष्यको आधु अधिक होती जाती है वैसा २ उसका विषयोंमें प्रेम कम होता जाता है
मंद, कीडा, और लोभ ये दुर्विकार कम होते हैं. तरुणावस्थामें इन दुर्विकारोंका अदमनीय वेग रहता है. मध्यम-
वय होनेपर इनके वेग में मंदता आती है. बिनके ये उपर्युक्त विकार मंद हुये हैं ऐसे बृद्धोंकी संगति करनेसे ये
कामादिविकार मंद हो जाते हैं.

खोभेदि पत्यरो जह दहे पडंतो पसणमवि पंकं ॥

खोभेइ तहा मोहं पसणमवि तरुणसंसग्गी ॥ १०७२ ॥

शांतिोऽपि क्षोभ्यते मोहो युवसंगेन देहिनः ॥

कर्ममः पतता क्षिप्रं प्रस्तरेणेव वारिणः ॥ १०७५ ॥

विजयोदया—लोभेदि क्षोभयति । पत्यरो शिला मद्धती । जह यथा । दहे च्छेदे पडंतो पतन् । पसणमवि पंकं प्रशांतमपि पंकं । योभेदि काष्ठयति । तथा मोहं । पसणमवि प्रशांतमपि । तरुणसंसग्गी तरुणयोद्धी ॥

तरुणयोद्धीमप्यवर्त्तते—

मूळारा—लोभेदि इति—लोभेदि उदीरयति । पसंतं प्रशांतं असुद्रवं । मोहं कामं ॥

अर्थ—जैसा यहा पत्थर सरोवरमें पडनेसे उसका निर्मल पानी उछलकर मलिन बनता है वैसे तरुण संसर्ग मनके अच्छे विचारोंमें मलिनता उत्पन्न करके उनकी गंदे बनाता है. यदि कोई मनुष्य क्षांतिपरिणामका धारक है. तो भी उसको तरुणसंसर्ग त्यागना ही योग्य है अन्यथा उसके शांत विचारभी तरुण संसर्गसे बिगड़ेंगे.

कलुसीकंदपि उदयं अचछं जह होइ कदयजोएण ॥

कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुहुसेवाए ॥ १०७३ ॥

उदीर्णोऽप्यंगिनो मोहो वृद्धसंगेन निश्चितम् ॥

पंकः कतकयोगेन सलिलस्यैव शाम्यति ॥ १०६ ॥

विजयोदया—कलुसीकंदपि उदयं कलुगीकृतमप्युदकं । कदयजोएण कतकफलसंबंधेन । अचछं स्वच्छं । जह होइ यथा भवति । कलुसोऽपि कलुगितोऽपि । मोहो मोहः । उवसमदि उपशाम्यति । वुहुसेवाए वृद्धसेवया ॥

प्रसवेवायाः फलोत्पत्त्यविहृतकस्यं वक्ति—

मूला—कलुसीकंदपि इति—कदयजोएण कतकफलसंबंधेन । कलुसो उच्छ्रितः ॥

अर्थ—जैसा मलिन पानी भी कतकफलके संयोगमें स्वच्छ होता है वैसे कलुप मोह भी क्षीलवृद्धोंके संगमें शांत होता है.

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलसयेण जह गंधो ॥
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥ १०७४ ॥
जांनोण्युदीयते मोहः पुंसस्तरुणसंगतः ॥

लीनः किं मृत्तिकागंधो नोदेति जलयोगतः ॥ ११०७ ॥

विजयोदया—लीणो वि लीनोऽपि । मट्टियाए मृत्तिकायाः । गंधो मंधः । अथा जलसयेण जलाश्रयेण ।
उदीरदि उदयमुपैति । लीणो वि मोहो णरे लीनोऽपि नरे मोहः । उदीरदि उदयमुपदीयते । तरुणासयेण तरुणा-
श्रयेण तथा ॥

मोहोदयभावाभावयोस्तरुणससर्गभावाभावानुपि चाखिलं दृष्टान्तेन स्पष्टयितुं गायान्दयसाह—

मूलारा—लीणो वि इति—लीणो अयुद्धभूतः । जलसपेण नीरससर्गेण ॥

अर्थ—जैसा मट्टीमें गंध रहता है परंतु जलके आश्रयसे वह प्रगट होता है वैसे तरुण के आश्रयसे
भी मोह उमड़ पड़ता है.

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ॥
जह तह गुट्टीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥ १०७५ ॥
रहितो युधसंगरया मोहः सक्खि लीयते ॥
जीवस्य जलसंगत्त्या पुरुषगंध इव स्फुटं ॥ ११०८ ॥

विजयोदया—सन्तो वि सद्यपि मृत्तिकाया गंधः । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या पिना
मोहो नरस्य लीनो भवति ॥

मूलारा—संतो वि इति—लीणो हवद् नोदेदीत्यर्थः ॥

अर्थ—मट्टीका गंध मट्टीमें रहता हुआ भी जलके संसर्गके विना प्रगट होता नहीं है- वैसे संसर्ग के
विना मनुष्यका मोह प्रगट नहीं होता है.

तरुणो वि बुद्धसीलो होदि णरो बुद्धसंसिद्धो अचिरा ॥

लज्जासंक्रामणावसाणमयधम्मबुद्धीहिं ॥ १०७६ ॥

युवापि बुद्धसीलोऽस्ति नरो हि बुद्धसंगतः ॥

मानापमानभीरांकावर्मेबुद्धिचपाविभिः ॥ ११०९ ॥

विजयोदया—तरुणो वि बुद्धसीलो भवति । बुद्ध संश्रितोऽचिरम् । लज्जाया, शंकाया, मानेन, अपमानमेवेन धर्मेबुद्ध्या च ॥

बुद्धसेयमादास्यभाह—

मूढारा—तरुणो वि इति—माण संवतोहमिति अभिमानः । अवसानमयं महत्त्वलण्डनभीतिः ।

अर्थ—बुद्धोके र्मसंगतिं तरुण मनुष्य भी शीघ्रही शीलगुणोंकी वृद्धि होनेसे शीलबुद्ध बनता है । लज्जासे, भीतिसे, अभिमानसे, अपमानके डरसे और धर्मेबुद्धीसे तरुण मनुष्य भी बुद्ध बनता है ।

बुद्धो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिद्धो अचिरा ॥

वीसंभणिच्चित्संको समोहणिज्जो य पयडीण ॥ १०७७ ॥

बुद्धस्तरुणशीलोऽस्ति नरस्तरुणसंगतः ॥

विभ्रं सनिर्विशंकत्वमोदप्रकृतियोगतः ॥ १११० ॥

पिजयोदया—बुद्धो वि बुद्धसीलो भवति । बुद्ध संश्रितोऽचिरम् । लज्जाया, शंकाया, मानेन, अपमानमेवेन धर्मेबुद्ध्या च ॥

बुद्धसेयमादास्यभाह—

मूढारा—उद्धो वि इति—वीसंभणिच्चित्संको स्त्रिया विभासेन दुर्गतिदुःखादिभयरहितः । समोहणिज्जो सकामो मतः । पयडीण प्रकृता ॥

अर्थ—तरुणोंकी संगतिसे बुद्ध मनुष्य भी स्वभावतः कायचित्कारसे युक्त होकर स्त्रियोंके ऊपर विश्वास करने लगता है और दुर्गतिके भयसे रहित होता है ।

सुंदयसंसगगीए जह पाहुं सुंडओऽभिलसदि सुर ॥

विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोटीए ॥ १०७८ ॥

इंद्रियार्थरतिर्जाबो चुवगोऽव्या विमूढधी ॥

शौण्डगोऽव्या यथा शौण्ड सुरां कांक्षति सर्वदा ॥ ११११ ॥

विजयोदया—सुदयससंगगीए यथा शौण्डगोऽव्या । जह पाहुं सुरमभिलसदि यथा पाहुं सुरमभिलपति । तथा पयडीए समोहो तथा प्रकृत्या समोह । तरुणगोटीए विसए अभिलसदि तरुणगोऽव्या विप्रवानमिलपति ॥

मूलात्—सुदय इति—सुदयससंगगीए मध्यगोऽव्या । पाहुं पाहुं ॥

अर्थ—जैसे मध्याससे सहवाससे मधका प्राजन न करने वाले मनुष्य को भी उसने पानकी अभिलाषा उत्पन्न होती है वैसे तरुणोंके संगसे बृद्ध मनुष्य भी विपयोंकी अभिलाषा करता है

तरुणोहिं सह वसंतौ चालिदिवो चलमणो य वीसत्यो ॥

अचिरेण सहरचारी पावदि महिलाकवं दोसं ॥ १०७९ ॥

विश्रन्वत्प्रपलक्षो य स्वैरी तरुणसंगतः ॥

नरिलाविपयं दोष स ग्रीष्मं लभते नरः ॥ १११२ ॥

विजयोदया—तरुणोहिं तरुणै सह वसन् चलेन्निप्रपलक्षिण, सुखं विभक्त्य अचिरेण सहरचारी । पावदि प्रामोति । महिलाकवं दोस वनिताविषय दोष ॥

मूलात्—तरुणोहिं इति—सहरचारी सहरचारी । महिलाकवं स्त्रीविषय ॥

अर्थ—तरुणोंके ससंगसे बृद्ध मनुष्यकी इद्रियां रूपादिविषयोंमें उत्सुक होती हैं भग चंचल बनता है और स्त्रियोंमें विश्वास रत्नकर वह स्वच्छंदी होता है स्त्रियोंके सहवाससे वह दोषी बनता है

पुरितस्स अप्पस्तथो भावो तिहिं कासणेहिं संभवइ ॥

वियरम्मिऽअंधयारे वुत्तील्लसेवाए ससमक्खं-॥ १०८० ॥

ध्यातैर्कान्तकुशीलेहृदयैर्नैः करणैस्त्रिभिः ॥

कृतिसतो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसंक्षयम् ॥ १११३ ॥

विजयोद्या—पुरिसस्स पुण्यस्य अग्रगण्यो मायस्त्रिभिः कारणैः संगच्छति । एकत्रि, अंधकारे, कुशीलेत्यादौनेव च प्रत्यक्षम् ॥

मूला—पुरिसस्स उपलक्षणास्त्रिधा । अप्सत्यो कामाभिलाषयुक्तः । विचारमि स्त्रिया सहकान्ते पुंसः, पुंसा च स्त्रियाः । कुशीलेत्याद्य ससम्भारं आत्मप्रत्यक्षं स्त्रीपुंसयोः कापसेवायां सत्यां तद्वद्विषये सति इत्यर्थः ।

उक्ते च— ध्यातैर्नान्वकुशीलेहृदयैर्नैः कारणैस्त्रिभिः ॥

शुक्तिवो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसंक्षयम् ॥

अर्थ—पुरुषं तीन कारणैर्नि अग्रगण्य विचार उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एकांत स्थानमें, अंधकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवनेमें, अंधकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवन करते हुए देखकर कामाभिलाषरूप अग्रगण्य विचार उत्पन्न होते हैं

पासिय सुच्चा व सुंदरं पिङ्गजंतं मुंडओ मिलसदि जहा ॥

विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व मिलसंति ॥ १०८१ ॥

निसर्गमोहितस्यान्तो दृष्ट्वा धृत्वाभिलष्यति ।

विषयं सेवितुं जीयो मदिरामिव मयपः ॥ ११४ ॥

विजयोद्या—पासिय सुच्चा व सुंदरं शूर्य शीतमानं दृष्ट्वा वा धृत्वा वा ओडोऽभिलषति । यथा तथा समोहा विनयान्मिलयति दृष्ट्वा युजा वा ॥

मूला—पासिय दृष्ट्वा । सोच्चा दृष्ट्वा । पिङ्गजं शीतमानं ॥

अर्थ—मदिरापान करते हुए पुरुष को देख कर अथवा मदिराका वर्णन सुनकर जैसे मद्यपी मनुष्य मद्य पीनेही दृष्ट्वा करता है तथा मोहयुक्त मनुष्य भी विषयोंका सेवन करनेवालोंसे देख कर वा सुनकर विषयसेवनेकी दृष्ट्वा करने करता है.

जादो खु चारुदत्तो गोह्रीदोसेण तह विणीदो वि ॥

गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥ १०८२ ॥

चारुदत्तो विनीतोऽपि ज्ञातः संसर्गदोषतः ॥

वेदयामांससुरासक्तः कुलदूषणकारकः ॥ १११५ ॥

विजयोदया—जादो खु चारुदत्तो विनीतोऽपि चारुदत्तो गोह्रीदोसेण गणिकासक्तो ज्ञातः मयावसक्तः कुल

दूषकश्च ॥

मूळारा—विणीदो मुचरितः ।

अर्थ—ज्ञानी भी चारुदत्त कुससर्गसे गणिकासे-वेश्यामें आसक्त हुआ तदनंतर उसने मठमें आसक्ति कर अपन कुलको दूषित किया.

तरुणरस वि वेरगो पण्हाविज्जवि णरस्स बुद्धेहि ॥

पण्हाविज्जह पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥ १०८३ ॥

तरुणस्यापि वैराग्य शीलबुद्धेन जायते ॥

क्रियते प्रस्तुतक्षीरा यत्सस्पर्शेन गीर्णे किम् ॥ १११६ ॥

विजयोदया—तरुणरस वि तरुणस्यापि वैराग्य ज्ञाप्यते क्षामयस्तपोबुद्धेः । यत्सस्य स्पर्शेन यया गोः प्रस्तुतक्षीरा क्रियते ॥

शीलबुद्धेभ्यो भूतोऽपि वैराग्योत्पत्तिमाह—

मूळारा—पण्हाविज्जदि ज्ञान्यते । पण्हाविज्जदि दुग्धक्षरणं कथ्यते । पाडच्छीवि विद्युष्कापि दुग्धरहितस्तन्नापि गौः । फरिसेण स्पर्शेन ॥

अर्थ—जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दुग्ध उत्पन्न होता है वैसे ज्ञानबुद्ध, यथाष्टद और तपोबुद्धीके सहवाससे तरुणके मनमें भी वैराग्य उत्पन्न होता है.

परिहरद् तरुणगोद्री विसं व बुद्धावले य आयदणे ॥

जो वसद् कुण्ड गुरुणिहेसं सो णिच्छरद् वंमं ॥ १०८४ ॥

यः करोति शुक्रभाषितं मुदा संयये वसति बुद्धसंकुले ॥

मुच्यते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥ १११७ ॥

रजो धुनीते हृदयं पुनीते तनोति सत्त्वं विधुनोति कोपम् ॥

मानेन पूर्णं चिनयं नयंति किं बुद्धसेवा न करोत्यभीष्टम् ॥ १११८ ॥

इति बुद्धसंगतिः ॥

विज्ञयोद्या—परिहर तरुणगोद्री परिहरति तरुणः एव गोद्रीं विपमिष्य यः, बुद्धराकीर्णं चायतने यो वसति । करोति यः शुभां स निस्तरति प्रलम्बयोधेति मंक्षेयोपवेशः ॥ बुद्धसेवा गता ॥

ब्रह्मचर्यविधौ पावमाह—

मुखात्—विसं वा विपमिष्य । बुद्धावले दीहृद्वसंकुले । आयदणे स्थाने । गुरुणिहेसं गुरोराज्ञा । णिच्छरदि

निर्वाहयति । वंमं ब्रह्मचर्यं । बुद्धमेवा ॥

अपं—जो मनुष्य तरुणोका संगं विपतुल्य समक्षकर छोहता है, जहाँ रहते हैं ऐसे स्थानों में रहता

है, और जो गुरुओंकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है वही मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है-

बुद्धमेवाका प्रकरण समाप्त हुआ-

स्तीर्तसर्गश्रुतभोगपेक्षं स्वमक्ता मंदगमीनोसावि य इत्यस्य सूत्रपञ्चाशः साध्याहारतया सूत्राणामपि सिद्धजंता इति पाप्ययोगार ॥—

आलोच्यणेण हृदयं पचलदि पुरिमस्स अप्पसारस्स ॥

पेच्छंतयस्स बहुसो इच्छीण थणज्जहणवदणाणि ॥ १०८५ ॥

मानसं स्पल्पसत्त्वस्य स्त्रीसंसर्गं विनश्यति ॥

तत्पनस्तनवपाणि पश्यतो बहु चलयते ॥ १११९ ॥

विजयोद्या—आलोगणेन आलोकेन । हित्वं हृदयं प्रचलति । अल्पवृत्तिकस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीनां चदनगयोघरपुयुजघनानि ॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषवेक्षणं नाम पंचम स्त्रीधैर्यगवकारणं गायद्वाविस्तया व्याचक्ष्णः प्रथमं योषिदालोकनलक्षण-
संसर्गस्य दुर्निवारत्वाद्योषपरंपरायुद्गाथवति ।

मूलरा—आलोगणेन निरीक्षणेन प्रकरणाजारीणां । पचलदि प्रकरणेन भुज्यति । अप्यसारस्य अल्पभृतिकस्य ।

पेच्छुक्तरस धितयवः । उक्तं च—

दृष्टिगतो भवेत्सूयं न्यासुलति तवो मनः ॥

प्रणिघत्ने जनः पश्चात्तत्कथाद्युणकीर्तने ॥

, बहुतो वारंवारं ॥

स्त्रीसंसर्गं करनेसे दोष उत्पन्न होते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—जिसमें धैर्यगुण अल्प है ऐसे पुरुषका हृदय स्त्रीको देखकर चंचल होता है, अर्थात् उसका मूल,
स्वन, षडा नितंबभाग ये अवयव देखनेसे अल्प धैर्यवाला पुरुष मोहित होता है.

लज्जं सदो विहिंसं परिचयमघ निव्विसंकिदं चेव ॥

लज्जालुओ कमेणाळहंतओ होदि वीसत्यो ॥ १०८६ ॥

निरस्यति ततो लज्जां संस्तवं कुरुते ततः ॥

ततो भवति मिःशंकस्ततो विश्वसिति धुधम् ॥ ११२० ॥

विजयोद्या—लज्जं तदो विहिंसं तवो हृदयचटनोत्तरकालं लज्जां विनाशयति । विनष्टलज्जः परिचयमुयेति ।
सामिर्दशनसमीपमनहसनादिकं करोतीति यावत् पश्चाद्विहिंसतो भवतीति मामनया सह स्थितं पश्यति इति या गुणा
तामपाकरोति । लज्जाचानपि नरः क्रमेण अभिदिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ॥

मूलरा—तदो हृदयप्रचलनोत्तरकाल । विहिंसं विश्वसित् विनाशयन् । परिचयं दर्शनसमीपमनहसनादिकं ।
निव्विसंकिदं मामनया सह स्थितं पश्यतीति शंकाविगमं । परिचयं निर्विशङ्कतां च क्रमेणारोहन् विश्वसच्चित्तेन स्त्रीपु कृत-
मुखसाधनत्वप्रत्ययः स्यात् ॥

अर्थ—मन चंचल होनेके अनंतर उसकी लज्जा नष्ट होती है. लज्जा नष्ट होनेपर उनके साथ उसका परिचय होता है अर्थात् वह उनकी स्थिर नयनोंसे देखता है. उनके पास जाता है, उनके साथ इसी मजाक करता है. तदनंतर उसका भय भी नष्ट होता है. मैं इस स्त्रीके तारा रहता हूं येरी लोक निर्दरा करेगे यह भय उसके मनसे दूर चला जाता है. तत्पर्य—लज्जावान् मी मनुष्य ऐसी अवस्था आँको प्राप्त होकर स्त्रियोंमें विश्वस्त होता है. अर्थात् स्त्री यह सुख का साधन है ऐसा वह समझता है.

वीसत्यदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ॥

वीसंभादो पणयो पणयादो रदि इचदि पच्छा ॥ १०८७ ॥

विश्वासे सति चित्रंभो चित्रंभः प्रणये सति ॥

रामानु परमा पुंसः प्रणये जायते रतिः ॥ ११२१ ॥

‘विजयोदया—वीसत्यदाए विभ्यस्ताया गमसः विधेभमुपयाति युवतिषु । विधेभात्यणयः प्रणयाप्रतिभंवति ॥
मूढारा—वीसत्यदाए एवमस्ता चित्रासेन । वीसंभं आसत्वेन न्यवहारं चित्रासेनात्र प्रवृत्तिनिधुची चित्रंभ-
रावेनोच्यते । तथा चोक्तं—

विश्वस्तेन च विश्वस्य चित्रंभं स्त्रीषु गुच्छति ॥

चित्रंभस्याणकोऽस्त्वेष प्रणयाच्च रतिस्तवः ॥

अर्थ—सुरसाधनकी कल्पनासे वह स्त्रियोंमें विश्वास करता है. इस विश्वासे मेंमकी उत्पत्ति होती है. अर्थात् यह स्त्री हमारी आप है ऐसा अभिप्राय उसमें उत्पन्न होता है. जिससे मेंमका उदय होता है. इसके अनंतर दोनोंमें आसक्ति पैदा होती है.

उद्धावसमुद्धावहिं चा वि अड्डियपेच्छणेहिं तथा ॥

महिलासु सदरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥ १०८८ ॥

नारीणां दर्शनोद्देशमापणप्रतिभाषणैः ॥

आकृष्यते मनो नृणामयस्कात्तेरिचायसम् ॥ ११२२ ॥

विजयोदया—उत्थायस्मुह्योर्होह समागन्नातिवचनै , द्वीबनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्खच्छाञ्जरी तस्य नीपं मनश्चलति ॥

दीप्तिं मनश्छाद्यते ॥
मूलतः—उद्धावसमुद्भावेहि संभाषणप्रतिपत्तयैः । अस्त्रियपेच्छणेहि आश्रयणेन भणिवकरणेन च सदृशचारित्स
होष्याचारिणः ॥

अर्थ—श्रियोंके साथ मभाषण और प्रत्युत्तरसे, उनके पास जाना करनेसे, उनको देखनेसे, स्नेह-
व्यापारी होते हुए पुरुषका मन चंचल बनता है-

ठिदिगदिविलासविग्भमसहासचोद्विदकडक्खदिदुहिं ॥

लीलाङ्गुदिरदिसम्मेलणोवयोरहिं इत्थीणं ॥ १०८९ ॥

हासोपहासलीलाभिर्गुप्तगात्रप्रकाशनः ॥

बिलासविभ्रमैर्हवैर्भाविः सह गमागमैः ॥ ११२३ ॥

विजयोद्भया—डिदिगिदि-झीजा सित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाभियायेण, निगूहेन, कटाक्षापलोकनेन, शोभया, प्रस्था, कीरया, सहगमनदिना उपकारेण च ॥

दूधारा — ठिदि स्थानकं । गदि चलन । विलास नयनविकारः । विचमय भ्रूयुगांतविकारः । लासः मस्तूणनृत्यं
बेष्टुङ् अग्रमफटन । लीला शोभा मधुरागविवेष्टितैः मियानुकरणं था । सुविस्तेजः । सम्मेलण एकनाचस्थानं । उवयारेदि
सहगमनाज्ञानाथपचारैः ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खड़ा होना, उनका गमन करना, अवलोकन करना, भोहें श्रवण करना, मधुर वृत्त्य, स्नानादिकोंको दिखाना, अभिप्राय छिपाना, कटाक्ष फेंकना: सुंदर रीतीसे अंगोंको हिलाना, प्रिय करके छेदानुसार प्रवृत्ति रखना, शोभा, कान्ति, ज़ीड़ा, साथ गमन करना, साथ बैठना, इत्यादिक उपचारोंसे पुरुषका मन चंचल होला है.

दामोदरहासकीडाहसवीसत्यजं पिण्डं तद्वा ॥

लज्जामज्जादीजं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥ १०९० ॥

मन्मनैः कोमलैर्वाक्स्पर्धुर्वैद्यैर्विस्वभाषणैः ॥

गतिस्थितियुतिक्रीडानर्भविज्योकोमोदनैः ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—दासोपहासकीडा हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकत्रिते विज्यस्त्वज्यल्पितेन च लज्जामर्यादयोः सीमातिक्रमं करोति नरः ॥

मूलाद—दासो कर्कुरं । अवदास प्रतिहासः । रहस्सचोसंभजंविदिदिं एकांतविश्वासेन संजल्पैः । लज्जामज्जा दार्णं लज्जामर्यादयोः । मर्यादात्र स्थितिरिदंभावनिवम इति यावत् । मेरं सीमां ।

अर्थ—हीके हासपर स्वयं हंसना उसके साथ खेलना, एकान्तमें विश्वासयुक्त होकर बोलना, लज्जाका त्याग करना और स्त्रियोंके साथ पुरुषोंका जो सम्बन्ध व्यवहार होता है जिसको भर्षादा कहते हैं उसको सीडना ऐसे काव्योत्प्रेष पुरुष सीमातिक्रम करते हैं.

ठाणगदिपेच्छिदुच्छावादी सन्वोसिमेव इच्छीणं ॥

सन्त्रिल्लासा चैव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥ १०९१ ॥

वक्राचलोफनैः स्त्रीणां वैराग्यं निहयने दृणाप् ॥

शरीरस्पर्शभिः कूटैः पन्नगैरिव जीवितम् ॥ ११२५ ॥

विजयोदया—ठाणगदि स्थानं, गतिः, मेक्षितमुत्साहमणीत्यदयः सर्वासामेव स्त्रीणां सखिलासाः पुरुषस्य मनः खदापहतन्ति ॥

मूलाद—होति सर्वासां स्त्रीणां स्वनादयः सखिलासा भवन्त्येव ॥

अर्थ—सियोंका खडा होना, सलील यमन, कटाक्ष फेककर देखना, मधुर भाषण करना इत्यादि सभी चावें विलासयुक्त—दायभावयुक्त होनेसे पुरुषोंका मन हरण करनेवाली होती है.

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लब्धप्पसरस्स ॥

अग्गिसग्गीवे लक्खेव मणो लहुमेव विगलह् ॥ १०९२ ॥

योपितां नर्तनं गानं विकारो विनयो नयः ॥

द्रावयन्ति मनो नृणां मदनं पावका इव ॥ ११२६ ॥

विजयोदया—संसर्गादि सद्व्यगतेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धमसरस्य मनो द्रवी-
भवति । अग्निनिष्कटस्थिता लाशेष ॥

मञ्जरु—संसर्गादि स्त्रीसंगत्या सहवासमिच्छया । अप्ससारस्त हीनसत्वस्य । प्राप्तस्वेच्छाजल्पनाविप्रवृत्तेः ।
विलापि चिलैयेते । प्रवीभवति ॥

अर्थ—सहगमन करना, एकाननपर घटना, इन कार्योंसे अल्पवैर्यवाले और स्वच्छदसे चोलना, हँसना,
वंगरह किया करनेवाले पुरुषका मन अग्नीके समीप जैसी लाख पिघल जाती है वैसा पियल जाता है.

संसर्गीसमूहो मेहुणसहिदो मणो हु दुम्मेरो ॥

पुब्बावरमगणंतो लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥ १०९३ ॥

मत्थिला मग्गयावासविलासोल्लासितानना ॥

स्तुता पि हरते चित्तं वीक्षिता कुरहे न किं ॥ ११२७ ॥

निर्मर्यादं मनः संगतसंभूटं सुरतोत्सुकम् ॥

पूर्वोपरमनाहत्य शीलद्यालं विलंघते ॥ ११२८ ॥

विजयोदया—संसर्गीसमूहो स्त्रीसंसर्गसंभूटः मनो मिथुनकर्मपरिणतं निर्मर्यादं पूर्वोपरमगणयदुत्सुं ब्रजेच्छी
छात्राकारं ॥

मूढाया—मेहुणसहिदो मुखोलुर्क । अत्र पूर्वोत्तरयोश्चार्थव्यासुद्धिर्निर्दिष्टाः । विम्भेरो भिमर्यादं । पुब्बावरं
कारणकार्यभावं ॥ अगणंतो अपर्यालोचयन् । उद्वेगवि उल्लंघयति । चालेज्ज सुसीलेति षष्ठेऽपि स एवार्थः ॥

अर्थ—स्त्रीसहवाससे मनुष्यका मन मोहित होता है तब उसमें मैथुनसंज्ञा अर्थात् मैथुन करनेकी तीव्र
इच्छा होती है. उस समय वह कार्यकारणका विचार करता नहीं. वह शीलवटका उल्लंघन करनेके लिये उताह
हो जाता है.

इन्द्रियकसयसणगागास्वगुरुया समावदो सव्ये ॥

संसागिल्लद्धपत्तस्स ते सुदीरंति अचिरेण ॥ १०९४ ॥

कपायेन्द्रियसंज्ञाभिर्गारवगुरुकाःसदा ॥

संयं स्वभावतः संगद्विचयचिरेण ते ॥ ११०९ ॥

यिज्योदया—इंद्रियकसायसप्तगणामारयमुदका इंद्रियैः, कर्णैः, संवागिराहारमयैर्धुनपरिग्रहविपयाभिः ।
 ऋद्धिरसात्तागैरसैश्च गुरक्ताः । स्वभावत एव सर्वे प्राणयुतः संसर्गलब्धप्रसस्तरण अतीव अद्भुतपरिणामा आविरावेयो-
 पचन्ते ॥

मूलार—सन्ध्ये सर्वे प्राणिनः । इंद्रियादिभिश्चक्षुभिः स्वभावतो गुरुका महारः संति । ते इंद्रियादयोऽप्युम परिणामवतुष्टयं । तथैरेति त्दयिन्ते क्षीसंगविलब्धप्रसरस्स क्षीर्यं समुद्रवंशीत्यर्थः ॥

अर्थ—प्रायः प्राणिजोंमें स्वभावसे ही इंद्रिया, कषाय, संज्ञा और ग्राह्य उत्कट रहते हैं। त्रियोका संसर्ग होनेसे पुरुष स्वच्छंदी बनता है तब इंद्रियादिक उच्छृंखल हो जाते हैं। जिससे शीघ्र ही अत्यंत अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं। संज्ञाके आधारसंज्ञा, भयसंज्ञा, भयुनसंज्ञा, और परिग्रहसंज्ञा ऐसे चार भेद हैं। आधारकी उत्कट अभिलाषा होना, भीति उत्पन्न होना, भयुनकी तीव्र इच्छा रहना और पाप्योंमें अभिलाष उत्पन्न होना ऐसा चार संज्ञाओंका क्रमशः अर्थ है। क्रुद्धिग्राह्य, रसग्राह्य और सातग्राह्य ऐसी ग्राहकें तीन भेद हैं। इनका वर्णन पीछे गया है।

भादं सुदं च भगिणीमेगंते अछियंतगास्स मणो ॥

सुबभद्र णरस्स सहसा किं पण सेसासु महिल्यासु ॥ १०२५ ॥

मातृस्वसृताः पुंस एकांते अथतो मनः ॥

श्रीघ्नं क्षीमं व्रजत्येव किं पुनः शेषयोषितः ॥ ११३० ॥

पिजयोदया—स्यष्टाष्ट्यां ॥

अयं—माता, अपनी लडकी और बहिन इनकागी एकान्तमें आश्रय पाकर मनुष्यका मन शुद्ध होता है फिर उसरी महिलाओंके विषयमें कहना ही क्या ?

उत्तरा—

जुण्णां पोच्चलमइल्लं रोगिय बीमस्स वंसणविरुत्तं ॥
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥ १०९६ ॥
निःसारां मलिनां ज्ञाणां विरूपां रोगिबुद्धयम् ॥

विजयोवया—जुण्णे ओणत्तरां । पोच्चलमइल्लं निःसारल्लं । रोगिद्वीपदत्तवत्सणविरुद्धं व्याचितां बीमस्तल्लोराणां विरूपामपि छिद्यं । मेहुणपडिगं मैथुनकर्मनिमित्तं पच्छेदि प्रार्थयते । मणो मनः । तिरियं खु तिरिच्छीं वा हृदया दि तीयसामावेशाद् तिर्यक्ष्यपि नराणां प्रवृत्तिः ॥

रहस्येष्ट्याश्रीयमाणस्तदुण्यादिरमणीया एव रमण्यो मनःकोमाय पुंसः प्रमविष्वदतीत्याशंकायासाह—
मूलरा—जुण्णे अतिदुद्धां । पोच्चलमइल्लं निःसारां, मलिनां च । रोगिद्व व्याचितां । बीमच्छदंसणा बीमत्सा लोथनां । मेहुणपडिगं मैथुनं प्रति सुरतादभित्यर्थः । तिरियं खु तिरिच्छीं वा । तिरिच्छीमपि वा । एक च—
रोगपटीमतिनीणां बीमत्सां दुर्वलां विरूपां च ॥

अपि च तिरिदचीमवलाभिच्छति मदन्वरी भोक्त्रुम् ॥

अर्थ—जो स्त्री दुद्ध है, निःसार है, मलिन है, रोगी है, जिसकी ओंखें बीमत्स—भयानक है, जो कुरूप है ऐसी स्त्रीकीभी यह मन मैथुन करनेके लिये प्रार्थना करता है. इत्यादी नहीं तिर्यच स्त्रीकोभी चाहता है. तीव्रकामके आनेगमें आफर मनुष्यकी पशुके साथभी मैथुन करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है.

प्रकारांतरेणपि स्त्रीसंसर्गमादर्शयति—

दिट्ठणुमदसुदविसयाणं अमिलाससुमरणं सव्वं ॥
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥ १०९७ ॥

दृष्टश्रुतानुसूतानां विषयाणां रुचिस्थितिः ॥
नारीसंसर्गं पृथोऽपि चिरहेऽप्यास्ति योषितः ॥ ११३२ ॥

विजयोदया—विष्टानुबृदसुदधिसयानं दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां अभिलाषसहस्रमरणं अभिलाष-
सरणं । सद्यं एतेषो वि द्रोदि महिलासंसर्गस्य एतेषां अपि भवति युवतिसंसर्गः । इत्थीविरहे स्त्रीविरहे ॥

स्त्रिया सहवासदिना यिनापि स्त्रीसंसर्गादादौयति—

मूढाया—एता वि पण्डितं दृष्टानां, अनुभूतानां, वा विषयाणां अभिलाषणं स्मरणं वा तत्सर्वमिदं अपरा स्त्री
संसर्गं भवत्येते । इतिविरहे वि योषितो व्यवधानेऽपि सति ॥

उक्तं च—दृष्टश्रुतानुसूतानां विषयतश्च संस्मरतः ॥

प्रमदाविरहेऽपि जुनेऽवति प्रमदाभयो दोषः ॥

प्रकारांतरसेमी स्त्रीसंसर्गका निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्त्रीके विरहमें भी देले हुए, सुने हुए, श्रुतप्रव विनका लिखा है ऐसे पदार्थकी अभिलाषा करना
बारबार उनका स्मरण करना यह भी संसर्गका एक भिन्न प्रकार है.

धरो बहुसुखो पञ्चई पमाणं गणी तवस्तिस्ति ॥

अचिरेण लभदि दोसं महिलावगममि वीसत्यो ॥ १०९८ ॥

दृष्टो गणी तपस्वी च विन्वास्यो युगवानपि ॥

अचिराल्लभते दोषं विन्वस्तः प्रमदाजने ॥ १११३ ॥

यिजयोदया—येतो स्वविरः, बहुश्रुतः, प्रलयितः, प्रमाणभूतः गणधरः, तपस्वीत्वेवं प्रकाशः । अचिरेण चिरका-
लमन्तरेण । लभति दोषं अपदो लभते । महिलावगममि युवतिवर्गे । वीसत्यो विन्वस्तः ॥

दृष्टत्वापि प्रमममि स्त्रीविश्रवासो दोषाय स्वादित्याह—

मूलाया—पञ्चई प्रत्ययितो विन्वस्त इति यावत् । पमाणं प्रमाणभूतः । तवस्तिस्ति तपस्वीत्वेवं प्रकाशोऽपि
किं पुनस्तारुण्यादियुर्दोसकरपर्मभागिनीति शब्देन प्रकाशयते ।

अर्थ—बहुसुखि, बहुयुक्तमनि-अनेक मतोंको जाननेवाले सुनि, प्रमाणभूत सुनि आचार्यपदधारक सुनि बहुत

कालके दीखित मुनि ये भी महिलावर्गमें विश्वस्त होनेसे दोषयुक्त माने जाते हैं. अपवधके पात्र होते हैं.

किं पुन तरुणा अवटुसमुदा य सइरा य विगदवेसा य ॥

महिलासंसर्गगीए णट्टा अबिरेण होहंति ॥ १-१९ ॥

किं पुनर्विकृताकल्पाः स्वैरिणः शोपसाधवः ॥

नारीसंसर्गतो नट्टा न संति स्वरूपकालतः ॥ १-२४ ॥

विजयोदया—किं पुन तरुणा सपौधना, अवटुश्रुता, स्त्रैरिण. विछित्तवेपाअ युयत्तिसंसर्गेण झटिति नट्टा न भवन्ति ? किं पुनर्विकृत्येति शक्यम् ॥

सदेव सदित्थमयकमभित्था भजति—

मूलात्—सरत्त स्त्रैराः स्वच्छंदवर्णारिणः । विगदवेसा विकृतवेपाः । देसकुलवयोवर्णविद्यावरणाद्यनुचितने-

पथ्याः स्वातुरूपव्याप्ययुगाः ॥

अर्थ—जो तरुण है, अपवध है, स्त्रैराचारी है, जो देश, कुल, वय, वर्ण, विद्या, आचार इत्यादिकोंको प्रतिकूल ऐसा दोष धारण करते हैं. ऐसे मनुष्य स्त्रीसंसर्गसे क्यों न शीघ्र नष्ट होंगे अर्थात् होंगे धी. अर्थात् वे लोक स्त्रीसंसर्गसे अजीर्तिमान् होंगे इसमें क्या आश्चर्य है.

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपम्भट्ठो ॥

गणियासंसग्गीए य कूवबारो तहा णट्ठो ॥ १-१०० ॥

जैविकासंगतो नष्टधरणाच्छकटो यतिः ॥

वेदयायाः सह संसर्गोन्नट्टः कृपवरस्तथा ॥ १-१५ ॥

विजयोदया—सगडो छ समदलामधेय. जइणिगाए संसग्गीए जइणिगासंशयाः संसर्गेण । चरणपम्भट्ठो चारित्र्याकट्ट. गणिकासंसग्गीए गणिकागोच्छा कूवरो वि कूपारनामक. तहा णट्ठो तथा चारित्र्याकट्ट ॥ स्त्रीसंसर्गेण पूर्वोपमपि संवमधंसां गाथाद्वयेन दर्शयति—

मूढारा—सगहो शकटो नाम इतिः ॥ जइमियाए जैनिकानाग्या ब्रह्मण्याः ॥

अर्थ—शकट नामके मुनि जैनिका नामक वेस्याके संसर्गसे चारित्र्यसे च्युत होगये. तथा कूपार नामक मुनिभी वेदयाके सहवासमें चारित्र्यही हो गये हैं.

रुद्री परासरो सच्चईयराथरिसि देवपुत्तो य ॥

महिलास्त्रालोई णड्डा संसचदिष्टीए ॥ ११०१ ॥

रुद्रः पराशरो नद्यो महिलारक्तया दद्या ॥

देवर्षिः सात्पतिकेवपुत्रञ्च क्षणमात्रतः ॥ १११३ ॥

विजयोद्या—रुद्री परासरो रुद्रः, पराशरः, सात्पकिः, राजर्षिदेवपुत्रञ्च युवतिरूपायखोकितलंसक्तया दत्तव्यं नमः ॥

मूढारा—सच्चई सात्पकिर्नाम । राचरिही राजर्षिनामा, । महिलान्त्रालोई स्त्रीरूपालोकिनः । संसचदिष्टीए सन्नुदमासकया दत्ता ।

अर्थ—रुद्रः पराशरमुनि, सात्पकीमुनि, राजर्षि नामक मुनि और देवपुत्र नामक मुनि त्रिओंका रूप देखनेमें आसक्त हुई दृष्टीसे नष्ट अष्ट हो गये.

ओ महिलासंसग्गी विसंव वडूण परिहरइ णिळ्चं ॥

णित्थरइ वंमवेरं जावजीवं अकंपो सो ॥ ११०२ ॥

भुजंगीनामिव स्त्रीणां सदा संगं जहाति यः ॥

तस्य ब्रह्मघ्नं पूतं स्थीरमवति भोगिनः ॥ ११३७ ॥

विजयोद्या—ओ महिलायाः स्त्रीणां संसर्गं निषमिव दृष्ट्वा नित्यं परिकरति । असौ ब्रह्मघ्नं उद्धतिपावजीवं निश्चलः ॥

स्त्रीगोष्ठीपरिकारगुणमाह—

मूढारा—अकंपो विअलः ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीका ससर्ग विषयके सभान समझकर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा याव-ज्जीव नक्षत्रचर्यमें बद्ध रह सकता है।

सत्त्वमि इत्यिवगमि अण्यमत्तो सदा अभीमत्यो ॥

बभ निन्त्रदि वद चरित्तमूल चरणसारं ॥ ११०३ ॥

अधिभस्त्रोऽमत्तो य स्त्रीवर्गे सकले सदा ॥

यावज्जीवमसौ पाति ब्रह्मचर्यमग्नं वितम् ॥ ११३८ ॥

विजयोदया—सत्त्वमि सर्वस्वोवर्गे । अममत्त सदा अधिभस्त्र, ब्रह्मवत्सुब्रह्मति चारित्र्य मूल सार ॥
मूलार—२५४४ ॥

अर्थ—सपूर्ण स्त्रीवर्गमें जो पुरुष-धुनि सागध रहता है, अविद्यस्त रहता है वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है यह नक्षत्रचर्य चारित्र्यका मूल और सार है।

। किं मे जेपदि किं मे पस्सदि अण्णो कंठं च वट्ठमि ॥

इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढबंमब्बदी होदि ॥ ११०४ ॥

अइ वत्ते कथं किं मे जन पइयति भापते ॥

खिंता यस्येहदी नित्य दृढवत्तवत्तोऽस्ति सः ॥ ११३९ ॥

विजयोदया—किं मे जेपदि किं जल्पति मा खनोऽन्य । किं पइयति, कीटशी का मम वृत्तिरिति य सदानुपेक्षते भसौ दृढनक्षत्रचर्यमत्तो भवति ॥

ब्रह्मवत्तदाख्योपायमाह—

मूलार—अणुपेक्खदि अनुचितवति ।

अर्थ—लोक में विषयमें क्या बोलते हैं, लोक में तन्मय किस निगाहसे देखते हैं, और मेरी प्रवृत्ति कैसी है ऐसा जो प्रतिदिन धारधार विचार करता है वहाँ दृढ ब्रह्मचारी बन सकता है।

मञ्जुषहतिवस्तुरं व इच्छिरूवं ण पासदि चिरं जो ॥

स्त्रिपं पडिसंहरदि य मणं खु सो णिच्छदि बंभं ॥ ११०५ ॥

न पदयत्यंगनारूपं ग्रीष्मार्कमिव यस्त्रिरप्य ॥

क्षिप्रं संहरते दृष्टिं तस्य ब्रह्मत्रतं स्थिरम् ॥ ११४० ॥

विजयोक्त्या—मञ्जुसूक्तमिवस्तुरं य माथान्के स्थित तीक्ष्णमाविरत्यमिव स्त्रीणां क्वं चिरं को न पश्यति ।
क्षिप्रमुपसहरति दृष्टिं य स निस्तरति प्रलयार्थे ॥

मूलात्—स्त्रिपं शीघ्रं । पडिसंहरदि निपतंगति ॥

अर्थ—मन्थान्द्रको प्राप्त हुए तीक्ष्ण धूपके समान जो स्त्रीका रूप देवचक्र नहीं देखता है अर्थात् स्त्रीके रूपसे अपनी दृष्टि को नज़दी हटाता है वही ब्रह्मचर्यका रक्षण कर सकता है-

एवं जो महिलाएँ संदेह रूपे तहेव संफासे ॥

ण चिरं सज्जदि हु मणं णिच्छदि स संततं बंभं ॥ ११०६ ॥

गंधे रूपे रसे स्पर्शे शब्दे स्त्रीणां न सज्जति ॥

जातु यस्य मनस्तस्य ब्रह्मचर्यमलंघितम् ॥ ११४१ ॥

द्विपार्थिव हरिकांता मंथु मीनं पक्वीष । भुजगमिव मथूरी सूर्यिकं वा चिह्नाली ॥

गिलति निकटवृत्तिः संयतं निर्दया स्त्री । निकटमिति तदीयं सर्वदा वर्जनीयं ॥ ११४२ ॥

प्रथयति भवमार्गं मुक्तिमार्गं वृणक्ति । दधयति शुभशुद्धिं पापशुद्धिं विधत्ते ॥

जनयति जनजल्पं श्लोकशृङ्गं लुनीने । वितरति किमु कष्ट संगतिर्नागनानाम् ॥ ११४३ ॥

इति स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

विजयोक्त्या—एवं जो महिलाएँ पर्व को युगतिशब्दे, रसे, स्पर्शों च चिर मनो न सचसेजसो ब्रह्म विस्तरति ।
संसर्गणी ॥

मूलात्—सज्जदि संघर्षे । स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो स्त्रीका गंध, शुब्द, रूप, रस, स्पर्श, इनमें अपने मनको लगाता नहीं चही ब्रह्मचर्य का पालन निरतिचार करता है-

इहपरलोपु जदि दे मेहुणविसुचिया हवे जणहु ॥

तो होहि तमुबबुत्तो पंचविधे इत्थियेरगो ॥ ११०७ ॥

यदि ते जायते तमुबबुत्तो पंचविधे इत्थियेरगो ॥

उद्योगः पंचया कार्यः स्त्रीवैराग्यं तथा त्वया ॥ ११४४ ॥

विजयोद्या—इहपरलोपु यदि दे मेहुणविसुचिया हवे जणहु । पंचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तमुपयोगदिगदपत्यसाधुनपरिणाम इति चौरुपेयः ॥

यत् वैराग्योपायपंचकं प्रपञ्च्य तमुपयोगविषयं निर्दिशन्क्षपकं वा प्रयुक्ति—
मूलरा—मेहुणविरसोत्तिया मैधुनाच्छुभतमपरिणामः । इमे जणु भवेत् । इहलोकविययपरलोकविययं वा मैधुनं सेविषुमाकाशा यदि तव स्यादिति क्षपयः । तं त्वम् ॥

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें यदि मैधुन करनेका परिणाम हृदयमें उत्पन्न होगा तो पांच प्रकारके स्त्रीवैराग्यमें से क्षपक ही हमेशा उद्युक्त हो जिससे तेरा मैधुन परिणाम जो कि अशुभ है नष्ट होगा- ऐमा आचार्य का क्षपकको उपदेश है-

उदयमि जायवद्विय उदण्ण ण लिप्पदे जहा पउमं ॥

तह विसण्हि ण लिप्पदि साहू विसण्णु उसिओ वि ॥ ११०८ ॥

लिप्पयते वर्तमानोऽपि विषयेषु न तैर्यतिः ॥

पद्मजातं जले बृद्धं जातुं किं लिप्पयते जलैः ॥ ११४५ ॥

विजयोद्या—उदयमि जायवद्विय उदके जातं परिबृद्धं च यथा पलं उदकेन न लिप्पयते । तथा न लिप्पयते त्रियदैः साधुर्विषयेषु वर्तमानोऽपि ॥

श्रीवैराग्यभावनापरस्य महात्म्यमाह—
मूलादा—उसिद्धो वि चतुर्मानोऽपि ।

अर्थ—जलमें उत्पन्न होकर वहां ही वृद्धिगत हुआ ऐसा कमल जैसे पानीसे अलिप्त ही रहता है, वैसे साधु विषयमें रहकर भी—उन विषयोंमें रहकर भी उन विषयोंसे अलिप्त रहते हैं, वात्सर्व्य यह है कि, वे पंच प्रकारके वैराग्य कारणाँका बराबर विचार करके अपने हृदयके सिंहासन पर वैराग्यको इस बिठाते हैं, जिससे वे विषयोंसे अलिप्त रह सकते हैं.

उत्पादितस्तुदधि अच्छे रमणोच्छ्रणं जह जलेण ॥

तह विसयजलमणोच्छ्रणमच्छेरं विसयजलहिमि ॥ ११०९ ॥

विषयवैविष्ट्यस्य चिन्तनस्पर्शनं यतेः ॥

सागरं ग्राहमानस्य सलिलैरिव जायते ॥ १११० ॥

विजयोदया—ओगाईतस्तुदधि अकनाहमानस्योदधि आश्रयं यथा जलेनास्पर्शेन । तथा विषयजलेनाद्रि-
चिन्ता आश्रयं विषयजलचिन्तनस्य यत्सीनस्य ॥

विषयपरिकरित्तय विषयैरलभिष्वंने विसर्गं भाषयति—

मूलादा—उत्पादितस्तु हयमानस्य । अच्छेरं आश्रयं अणोच्छ्रणं अन्तरीकरणं । अस्तसं तम् । विसयजलचिन्ति
विषयवैविष्ट्यस्य लीवैराग्यभावनापरस्य साधोर्विषयजलनाद्रीकरणमाश्रयमित्यर्थः ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष समुद्रमें अग्राहक करके भी यदि जलस्पर्शमें अलिप्त रहेगा तो वह आश्रयकारक
यात समझनी चाहिये, वैसे विषयसमुद्रके बीचमें अग्राहक करके भी विषयजलमें चिन्तन अलिप्त रहना आश्रयकारक है.

मायागहणे बहुदोससावए अलियदुमगणे भीमे ॥

असुइतणिछे साहू ण विप्पणसंति इत्थिवणे ॥ १११० ॥

न दोषदत्तापदे भीमे वंचनागहने यतिः ॥
नश्यति स्त्रीवनेऽलीकपादपेऽशुचितानुणे ॥ १११७ ॥

विजयोदया—मायागहणे यथा गहन परेषा दु प्रेषा एव मायापि परेतुदधिगेमेति मायापि गहनमिदुल्लभते । मायागहनं यस्मिन्मे तन्मायागहने तस्मिन् । बहुलोसत्तावदे बहुलो दोषा बहुदोषा, अशुभा, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितर्य प्रमत्ता चेत्येवमादयस्तैः व्यापदा यस्मिन् । अलिगदुमगणे यथा द्रुमो मद्यगनेऽन्तातोपशापाकुलञ्च तद्रघुलो कृता द्रुमगणो यस्मिन् । भीमे भयकरे । अशुचितानुणैः अशुचितानुके । यतयो न विप्रजस्यन्ति स्त्रीवने ॥

येपिदृढवामविभ्रावतः साधुप्रकाशयति—

मूलारा—मायागहने मायैव परमदुर्गमत्वाद्गहनं क्वादिगुरुमजालं यत्र । बहुलोसत्तावदे बहुलो दोषाश्चास्या-
वैश्वर्यचापलभीरुत्वप्रमत्तत्वादयः । ते व्यापदा व्यापादयो यत्रावियातिवप्रसृतत्वात् । अलिगदुमगणे अलीकमसत्त्वं वच-
स्तवेव द्रुमगणा यत्र अनेकशालोपशरतकुलत्वात् । अशुचितानुके अशुचीनि देशगोपांनानि तान्येव दृष्टानि निरंतर
प्रसूतत्वात् तैर्दुताः । न विप्रजस्यन्ति न विभ्रावन्ति । दिद्मूढा न मयन्तोत्यर्थः ।

अर्थ—यह स्त्रीवचन मायासे गहन हुआ है अर्थात् जैसे गहन वनमें प्रवेश करना कठिन है वैसा इस मायाका स्वरूप जाननाभी बड़ा कठिन है अतः माया भी गहन कहलाती है. इस स्त्रीवचनमें यह माया गहन है. जैसे वन सिंहव्याघ्रादि क्रूर प्राणिओंसे व्याप्त रहता है वैसे स्त्रीवन भी अनेक दोषरूप व्यापदोंसे व्याप्त हुआ है. इस स्त्रीवनमें अस्या-दूतोंके गुण सहन न होना, चुगली करना, चंचलपना, दरपोकपना, और अत्यंत उन्मत्तता इत्यादि दोषरूप क्रूर प्राणी इस स्त्रीवनमें निचरते हैं. जैसे वृक्ष बड़ा होता है, उसको आत्मा उप-
शाखाएँ रहती हैं. वैसे स्त्रीवनमें असत्य भाषणरूप वृक्ष अपनी अनेक शाखा उपशाखाओंसे बढ गये हैं, यह स्त्रीवन भयकर है इसमें अपवित्रतारूपी वृण ऊगता है. परंतु ऐसे स्त्रीवनमें जितेन्द्रिय तपस्वीगण दिद्मूढ नहीं बनते हैं ।

सिंगारतरंगाएँ विलासवेगाएँ जोञ्चणजलाएँ ॥

बिहसियेकणाएँ सुणी गारिणईएँ न मुड्यंति ॥ ११११ ॥

‘हरियुगारकल्लोला यौवनाम्बुर्वधुनदी ॥

अ विलासास्पदा ह्रासफेना वहति संगतम् ॥ ११४८ ॥

चिजयोदया—सिंगारतरंगाए शृंगारतरंगया, विलासवेगया, यौवनजलवा, बिहस्तिफेनया, नारीनया मुनिजो-

गो ॥

मुनेः क्षीतदिवप्रयत्नमाह—

मूलारा—सिंगार सनीगितेकारा । न वुञ्जति नोहान्ते ।

अर्थ—स्त्री नवकिं तुल्य है. नदीमें तरंग, वेग, पानी, फेन, इतनी बातें रहती हैं. इस स्त्रीरूपी नदीमें शृंगाररूपी तरंग हमेशा उछलते रहते हैं. विलासरूपी वेगसे यह बहती है. तारुण्यरूपी जलसे भरी हुई है और बंदहासरूपी फेनसे यह ब्याप्त हो रही है. ऐसी स्त्रीरूपी नदी जितेन्द्रिय मुनिओंको नहीं बहा सकती है.

ते अविस्तरा जे ते विलाससलिलमदिचबलरदिवेगं ॥

जौब्बजणईसु तिण्णा ण य गहिया इच्छिगाहेहिं ॥ ११४९ ॥

विलाससलिलोत्तीर्णां ऐस्तीन्ना यौवनायगा ॥

अग्रस्ताः प्रमदाग्रादैस्ते वन्या मुनिपुंगवाः ॥ ११४९ ॥

विजयोदया—जे अविस्तरा ते अतिश्रुतः । जे विलाससलिलां मतिचपलरदिवेगं, यौवननदीमुत्तीर्णाः, न च युद्धिता युवतिग्रहैः ॥

नोपिष्याद्वाधायदिरहेण तारुण्यवरंगिणीमतिअग्न्याग्रयंसधि—

मूलारा—स्पष्टम्—

अर्थ—यह यौवनरूप नदी विलासरूपी पानीसे और अतिशय चंचल रतिरूपवेगसे युक्त है. इस नदीमें तरुण स्त्रीरूपी मगर रहते हैं. परंतु जिन मुनिराजोंको स्त्रीरूप मगरने नहीं पकड़ा है वे मुनिराज इस जगतमें वन्य हैं. ऐसे मुनिराज ही अतिश्रुत सम्मने चाहिए.

महिलाबाह्विमुक्ता विलासपुंवखा कडक्कदिदिसरा ॥

जण्ण चिधंतीह सदा विस्सयवणे सो हवह् धण्णो ॥ १११३ ॥

धन्यं स्त्रीव्यावनिर्मृक्ताः कटाक्षोक्षणसायकाः ॥

चिभ्यति विपयारण्ये वर्तमान न योगिनम् ॥ ११५० ॥

विजयोदया—महिलाबाह्विमुक्ता युवतिव्यावविमुक्ता । विलासपुंवखा, कटाक्षदिदिसरा । ये न प्रीति सदा विपयवने जगत भवति स भग्य ॥

कामिनीकटाक्षनिरीक्षणक्षोभयमाणमनस्कमभिप्रीति—

मूलारा—वाह व्यासः । ण चिधंति न निभ्यति ।

अर्थ—स्त्रीरूपी पारधीके द्वारा छोड़े गए कटाक्षरूपी बाण विपयवनमें प्रमण करनेवाले जिस महात्माका घात नहीं करते हैं वे इस जगत में धन्यताके पात्र हैं,

विज्योगतिस्खंदतो विलासखंधो कडक्कदिद्विणहो ॥

परिहरदि जोव्वणवणो जमिथिवयो तगो धण्णो ॥ १११४ ॥

न विज्योकरदोभ्येति विलासनलरो मुनिम् ॥

कटाक्षक्षोदगनाव्याघ्रस्तारुण्यारण्यवर्तिनम् ॥ ११५१ ॥

विजयोदया—विज्योगतिस्खंदतो विलासखंधो विज्योकरदो विलासस्वरुप कटाक्षदिद्विणहो परिहरति ये युवतिव्याघ्र ॥ धन्य ॥

योगतमिगम्यमभिर्नंदति—

मूलारा—विज्योग भूयुगातपिकरः । विलास नेत्रविकारः । कटक्कदिद्वी अपागनिरीक्षणं । तगो सः ।

अर्थ—जो हावमारूपी तीक्ष्ण दाढाओंसे युक्त है विलासरूपी बाहु जिसके हैं, कटाक्षरूप नखों को घारण करनेवाला यह तरुणीरूपी व्याघ्र तारुण्यवनमें विचरनेवाले जिन माहात्माओंको एकदता नहीं वे महात्मा धन्य हैं,

तेहोक्काडविडहणो काममगी विसयस्वस्वपल्लिओ ॥
 जोब्बणतण्हिचारी जे ण डहइ सो हवइ घण्णो ॥ १११५ ॥
 त्रिलोकदाही विपयोद्धतेजाः । तारुण्यतृण्याज्वलितः स्मराग्निः ॥
 न प्लोपते ये स्मृतिधूमजालः । स वंदनीयो विदुषा महत्त्मा ॥ ११५२ ॥

विजयोदयाः—तेहोक्काडविडहणो ऋलोष्यादाविदहनः । कामाग्निरिषयवृक्षे प्रज्वलिते गौचनलणसंवरणघतुरं
 यथा बहस्यसौ धन्यः ॥

कामरत्ननादाहं दोसति—

मूलारा—तण्हि तृणं । तृण्या या तत्र चरत्यभीक्ष्णमिति । अन्ये गौचनतृण्याचारिणं ये न बहवीति प्रतिपन्नाः
 द्वितीयाधे प्रथमाभिधानात् । उक्तं च—

त्रिलोककाननोदाही यानमिर्ज्वलितस्वरास ॥

गौचनोदचरतृण्यासर्थं धन्यं बहति नो नरं ॥

अर्थ—यह कामाग्नि विषयरूपी धूमोका आशय लेकर प्रज्वलित हुआ है, त्रिलोकयरूपी यनको यह कामाग्नि जलानेके लिये उद्युक्त हुआ है, परंतु तारुण्यरूपी घृणपर संचार करनेवाले अग्नि महात्माओंको यह जलानेमें असमर्थ हैं ये महात्मा धन्य हैं—

विसयसमुद्रं जोब्बणसल्ले हसियगइपेविस्वदुम्भीयं ॥

घण्णा समुधरंति हु महिलाभयरेहिं अञ्चिक्का ॥ १११६ ॥

विपुलयौवननीरमनाकुलो विपयानीरनिचिं रत्तिचीविकम् ॥

इह वधूसकरैरकदर्थितस्तरति धन्यतमः परदुस्तरम् ॥ ११५२ ॥

इति चतुर्थं व्रतम् ॥

विजयोदया—विसयसमुद्रं विषयसमुद्रं । यौतन्मल्लिहं हसनममन्योक्षणतरंगनिचितं । धन्याः सम्युद्युक्तरंति
 युवतिमकरैरस्पृष्टाः ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यातं ॥ चतुर्थं ॥

ष्टेन्द्रियाणां नुब्धतां स्त्रीभिरगतिर्विचं प्रतिवर्णयति—

नूढारा—इति दृग्गदिवत्सदुन्मीयं ह्यतिगमनभक्षणतरंगं । अच्लिषा अस्पृष्टाः । अद्वचर्यन्तम् ॥

अर्थ—यह विषयसमुद्र यौवनरूपी जलसे भरा हुआ है। स्त्रियोंका भेदहास, गमन, कटाक्ष फेंक कर देलना येही इसमें तरंग हैं। जो महात्मा स्त्रीरूपी भगवत्सु प्रसित न होकर इस विषयसमुद्रको तीर कर जाते हैं। वे ही स्तुतीके पात्र अर्थात् धन्य हैं। चतुर्थं ब्रह्मचर्यमहाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ।

पञ्चमसहस्रव्रतविरूपणापोक्षप्रत्येयः—

अब्धमंतरयाहिरपु सखे गंधे तुमं विवज्जेहि ॥

कदकारिदणुमुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥ १११७ ॥

याह्यमाभ्यन्तरं संगं कृतकारित्तमोदनः ॥

विमुंखस्य सदा साधो ! मनोवाफायकर्मभिः ॥ ११५४ ॥

यिज्ञयोदया—अब्धमंतरयाहिरपु अभ्यन्तराग्राह्यांश्च । सखे गंधे सयोन्यंभान् । तुमं विवज्जेहि यत्नं भयान् । कदकारिदणुमुमोदेहिं कृतकारित्तमुमनैः । कायमणवयणजोगेहिं कायेन मनसा यावा यः ॥

एवं ब्रह्मचर्यव्रतं व्यावर्त्य संग्रतं अपरिमिताख्यं पंचमं महाव्रतं गाथापंचपट्या प्रवर्धेन न्यायर्णयितुकामः प्रथमं तेर्मेत्यर्थं प्रति क्षपकं प्रयोचयति—

मूळारा—अब्धमंतरयाहिरपु अभ्यन्तराग्राह्यांश्च । गंधे परिग्रहान् । तुमं त्वं ॥

अथ पांचवे परिग्रहपरित्याग महाव्रतका आचार्य विस्तारसे निरूपण करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक ! तुम संपूर्ण अंतरंग और चंद्रिग परित्यागका मन, वचन, और स्मरणसे तथा कृत, कारित और अनुमोदनसे अर्थात् नऊ प्रकारोंमें त्याग करो।

तन्नाभ्यन्तरपरिग्रहमेदं निरूपयति याथा—

मिच्छत्सेवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ॥

चचारि तह कसाया चउदस अब्धमंतरा गंधा ॥ १११८ ॥

एकत्रियद्वयतुःसंख्याः सगाः सति चतुर्दश ॥ ११५५ ॥

विजयोक्त्वा—मिच्छसेधेरगत वस्तुयागात्प्रयच्छानं मिथ्यात्वं, धेवशब्देन स्त्रीपुरुषसंख्याख्यानां कर्मणां प्रदणं । तज्जनिताः स्यादीनां अन्योन्याविवरणाः स्त्रियः पुंसु रागः । पुंसो ब्रुवन्ति, नपुंसकस्योभयत्र । हस्तविगा । छद्मोत्ता हास्ये, रतिरतिः शोको, भयं ब्रुवन्ति । एते षट्दोषाः । चत्वारि तद् कस्याया चोद्देश अन्तरा गंधा । चत्वारस्तथा कृपायाश्चतुर्दशैते अन्तराः परिग्रहाः ॥

किंकोऽभ्यन्तरगंधा भयनीलत्राह—

मूलात्—यैः स्त्रीपुंनपुंसकवैष्यैः कर्मभिर्जनिता रागाः । स्यादीनामन्योन्याविषयाः प्रीतयः । स्त्रियाः पुंसु रागो, मैथुनसंशोद्धोषः, पुंसः स्त्रीषु । नपुंसकस्योभयत्र च । हासादिया हास्यादिकाः । हास्यं रतिरतिः, शोको, भयं, ब्रुवन्ति । वट् । हासादिगा य छरोपा इति प्रायिकः पाठः । अस्मादि क्रोधमानमायालोभाख्याः ।

अन्तरंग परिग्रहोका वर्णन—

अर्थ—बीधादि षट्कार्यैके सत्य स्वरूपपर श्रद्धान न करना मिथ्यास्य है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ऐसे वेदकर्मके तीन भेद हैं, स्त्रीवेद कर्मका उदय होनेसे जीवकी पुरुषमें अभिलाषा होती है, पुरुषवेद का उदय होनेसे स्त्रीमें अभिलाषा होती है, नपुंसक वेदसे स्त्री और पुरुष दोनोंमें अभिलाषा होती है, हास्य, रति, अरति, शोक्, भय, ब्रुवन्ति, ऐसे आ दोष हैं, क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार कृपाय हैं, सब मिलकर अन्तरंग परिग्रहक बोद्ध भेद होते हैं।

बाहिरसंगा खेत्वं कृत्यं घणघणकुप्यभंडाणि ॥

दुप्यचउपप्य जाणाणि चेव सयणासणे य तथा ॥ १११९ ॥

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विषदं च चतुष्पदम् ॥

यानं शय्यासनं कुप्यं भंडं संगं बहिर्दश ॥ ११५६ ॥

विजयोक्त्वा—बाहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः । केत्वं कर्मेणावधिकरणं । कृत्यं यास्तु ग्रहं । धान्यं सुयर्णादि । धनं प्राण्यं । कुप्यं कुप्यं वस्त्रं । भंडं भंडशब्देन दिगुमरिचादिकमुच्यते । दुपदशब्देन दातृदासीदुल्लवर्णादि । चउपप्य भजतुरगादयश्चतुष्पदाः । जाणाणि शिविकाविमानादिकं यत्नं । सयणासणे भयनानि आसनानि च ॥

बाह्यार्थधाः कति सन्तीत्याह—

मूढारा—हेतुं कर्षणाद्यधिकरणं । तस्य वास्तु गृहं । धण धनं ग्रामसुवर्णादि । धण्यं धान्यं त्रीणादि । कुप्यं कुप्यं वस्त्रकंवचादिकं । भंडं भांडं हिम्यमरीचादिकं । दुपदं द्विपदं दारसीदासादिसुलवर्गादि । चतुष्पदं चतुष्पदं गजगुरगादि । जगज्जि यातं शिक्षिकानरविमानादि । सवणासणाणि दम्प्याविष्टरादि । गते दक्ष ॥

अर्थ—बाह्य परिग्रहके दस प्रकार हैं. उनका सुल्लासाः—
 वस्त्र-वास्तु घर. धण-सुवर्णादि धातु. धान्य-चावल, गेहू, चना वगैरह. कुप्य-यक्ष. भांड-हिम, मीन वगैरह. दुपद-दास, दामी, नोकर वगैरह. चतुष्पद-हाथी, घोड़ा, बेल इत्यादि. जग-यान-पालखी, विमान इत्यादि. गजग-विमाना. आसन-पलंग वगैरह. ये दस प्रकारके बाह्य परिग्रह हैं.

बाह्यमष्टमनिराहृत्याभ्यंतरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारिषर्वीर्यावधत्वात्मानामभ्युपानां छावने स्थापनं न निराकर्तुं शक्यते इत्येतदुपशान्तमुक्तेनाचष्टे—

अहं कुंडओ ण सक्को सोवेहुं तंदुलस्स सतुमस्स ॥

तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥ ११२० ॥

नाभ्यन्तरः ससंगस्य साधोः शोचयितुं मलः ॥

शक्यते सतुपस्येव तंदुलस्य कवाचन ॥ ११५७ ॥

विजयोदया—अहं कुंडओ ण सक्का उपसद्धितस्य तंदुलस्यान्तर्मलं । बाह्ये हृदयेऽभ्यन्तरीति यथा शोचयितुमशक्यं । तथा बाह्यपरिग्रहमलसंस्कस्याभ्यंतरकर्ममलं ज्ञाक्यं शोचयितुमिति आध्यायः । सपरिग्रहस्य कस्माच्च कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्वन्द्वे बाह्यपरिग्रहमलमोक्षेति । तौ च सर्वदा संबंध साविहिताविति येषक एवायमात्मा स्यादिति एवं च सुफलमात्र इति चोदिते, न तयोः संबंधेऽहुरपि तु लोभादयः परिणामाः । लोभादिपरिणामहेतुकं बाह्यद्रव्यग्रहणं ॥

तनु ण मिध्यात्वाद्योऽन्तरंगसंगा एव जीवस्य कर्मवर्षणे हेतुबलत्किमर्थं वद्विरसंगपरित्यागोऽयमुपदिश्यत इति पर्यनुज्ञानं प्रत्याह—

सूत्रारा—कौंडलो अन्तर्मलः । कुकुस इति यावत् । ण सक्को न शक्यते । सोवेहुं निराकर्तुं । संगसत्तस्स बाह्य-परिग्रहादसक्तस्य । बाह्यद्रव्यग्रहणस्य लोभादिपरिणामहेतुकत्वाद्दोषादिपरिणामस्य चापरापरकर्मवर्षणविर्ययन्त्यत्र केना-

लुप्तयेन सर्वयथागतः कर्मोच्छेदः कर्तुं शक्यते इति भावः ॥

नाह मल जलक दूर न किया जानेगा तबतक ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अन्याबाधत्य वर्गरे आत्मगुणोंको दमनेवाला अंतरंगमल दूर करता अशक्य है इसका उपाय द्वारा स्पीकरण करते हैं—

अर्थ—ऊपरका छिलका निकाले बिना चावलका अंतरंग मल नष्ट नहीं होता है, वैसे बाह्यपरिग्रह रूप मल जिसके आत्मामें उत्पन्न हुआ है ऐसे आत्मका कर्ममल नष्ट होना शक्य नहीं है, ऐसा इस ग्राथका अभिप्राय है,

प्रश्न—परिग्रहसाहित जीवको मोक्षकी प्राप्ति क्यों होती नहीं ? जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य के बाह्य परिग्रह हैं और य दो द्रव्य हमेशा रहते ही हैं इसलिये यह आत्मा सर्वकाल कर्मबंधसे बद्ध ही रहेगा, और सर्वकाल बद्ध होनेसे उसको मुक्ति का अभाव ही होगा,

उत्तर—जीव और अजीवका संबंध रहना परिग्रह नहीं कहलाता है, परंतु लोभादिक परिणाम फलका संन्य होनेमें निमित्त होते हैं जब आत्मा लोभादिपरिणामोंसे युक्त होता है तब बाह्य परिग्रहका ग्रहण होता है इसलिये जो मनुष्य बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है यह मनमें लोभादिक परिणामोंके बिना ग्रहण नहीं करता है, अर्थात् लोभादिक विकार जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब आत्मा बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है

अतो यो बाह्यगुणार्थेऽप्यतरणीणाममलरेण नेचादये इति ववति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ॥

तो तइया वेत्तु जे गंधे बुद्धी णरी कुणइ ॥ ११२१ ॥

उबीयते यया लोभो रागः संज्ञा च गारय ॥

शरीरी कुलते बुद्धिं तदादातुं परिग्रहम् ॥ ११५८ ॥

विज्ञयोदया—रागो लोभो मोहो मोक्षो गौद भावो राग, द्रव्यभतगुणासक्तित्वेन, परिग्रहेच्छा मोहो । मोक्षभाव सदा । किंचित् प्रम भयति योभनमिति इच्छाशुभ्य क्षत् । लोभोऽगिदलो य परिग्रहगत स गौरवग्राहेनोप्यते । एते यदीरिता परिणामास्तत्र ग्रथान्वाक्षान् प्रतीक्षु मन करोति नान्यथा । तस्मात्तो बाह्य ग्रहाति परित्यजे स नियोगतो लोभाद्यनुगमरणिमवानेति कर्मण्य वषको भवति । ततस्ताज्वा परिग्रहा ॥

पुत्रदेवाह—

मूलारा—लोभो ममेवं यावः । रागो ममकारजोऽवीक्ष्यमाणद्रव्यगतासक्तिः । सञ्ज्ञा संज्ञा उपकरणदर्श-
नोपयोगाज्जायमाना परिग्रहेच्छा यदि किञ्चिन्मम भवति शोभनं इति इच्छादुगतं तथा ज्ञानमित्यर्थः । गारवाः परिग्रह-
गतास्तीव्रान्धिलपाः । उदिष्णामि उदितानि । ते सान् वास्तानित्यर्थः । उक्तं च—
लोभरागौ तथा संज्ञागौरवे व्यक्ततां गते ॥

यदा तथा चाहिर्यथान्मदीनुं कुरुते मति ॥

तस्माद्यो बाहो गृह्णाहि परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामयानेवेति कर्मणां बंधको भवति । तत्तस्या-
न्या एव बाह्याः परिग्रहाः । कर्मबंधनिबंधनमूच्छान्निमित्तत्वात् । तथा चोक्तम्—

मूच्छालक्ष्णकरण्यात्सुचदा न्यासिः परिग्रहत्वस्य ॥

समंबो मूच्छांवाक्चिन्नापि किल शेषसंगेभ्यः ॥

यद्येवं भवेति तथा परिग्रहो न रतु कोऽपि बहिरंगः ॥

भवति नितरां यतोऽन्तौ धत्ते मूच्छान्निमित्तत्वम् ॥

एवमविवक्षासिः स्वात्परिग्रहस्तेति चेद्वेदेष्टव्यम् ॥

यस्मादकृपायाणां कर्ममहणे न मूच्छास्ति ॥

इती अभिप्रायका आगेकी गाथा खुलासा करती है—

अर्थ—रागभाव, लोभ, और मोह जब मनमें उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मामें बाह्य परिग्रह ग्रहण कर-
नेकी बुद्धि उत्पन्न होती है. अन्यथा नहीं. यह मेरा है ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होना उसको राग कहते हैं.
पदार्थोंके गुणोंमें असक्ति होना ही लोभ कहलाता है. परिग्रहमें इच्छा उत्पन्न होना मोह कहा जाता है. ये पदार्थ
मेरे हैं और अच्छे हैं ऐसा अभिप्राय रहना संज्ञा है. परिग्रहोंमें तीव्र अभिलाष उत्पन्न होना गौरव कहलाता है. ये
परिणाम जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब यह आत्मा परिग्रहमें अपना मन लगाता है. उपर्युक्त परिणाम जब
आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं तब परिग्रहका ग्रहण करनेमें वह उद्युक्त नहीं होता है. इसलिये लो बाध परिग्रह ग्रहण
करता है वह नियमसे लोभादिक अशुभ परिणामोंसे विरा हुआ है ऐसा समझना चाहिये. अतः उसको कर्मबंध

होता है. जिसका मन कर्मबंधसे भयगीत है वह परिग्रहका त्याग करे ? यह परिग्रहका त्याग मनमें आया तब किया अन्यथा नहीं किया ऐसी स्वेच्छाचारप्रवृत्ति योग्य नहीं है. निश्चयसे परिग्रहका त्याग करना चाहिये.

■ च परिग्रहस्यागो न स्वामी. शिकाचार्चितोऽपि तु मिश्रयेन कर्तव्यत्वोपदिष्ट इत्याचष्टे—
चेलादिसत्त्वसंगञ्चाओ पढमो हु होदि ठिदिफणो ॥

इहपरलोइयदोसे सत्त्वे आवह्दि संगो हु ॥ ११२२ ॥

ग्रंथो लोकदूये वोंपं बिषयानि यतेस्ततः ॥

स्तिपतिकल्पो मतः पूर्वं चेलादिग्रंथमोचनः ॥ ११५९ ॥

विजयोदय—चेलादिसत्त्वसंगचाओ इति दशदिषा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलतादयः । तत्र आचेलक्यं नाम चेलनाश्रयानो न भवति । किंतु चेलादिसत्त्वसंगत्यागः प्रथमः स्थितिकल्पो दशानामायाः । इहपरलोमिगदोसे देहिकामुदिश्रयं वीपानायइति परिग्रहो, यत्माचस्तत्त्वमहदगतत्वोपपरिश्ररेणावत्यता सकलाः परिग्रहस्त्वाज्याः । इति भागः ॥

स च वाहपरिमहत्यागो च स्वमनीषिकाकर्षिणोऽपि तु मिश्रयेन कर्तव्यत्वोपदिष्ट इत्याचष्टे—

मूलाप—पढमो मायुफानामाचेलक्यादिस्थितिकल्पानां दशानामायाः । हि नियमेत । इहपरलोइयदोसे देहिका-
नामुदिश्रयं वीपानवकारकथमर्थः । हु यस्यात् । तस्माज्जन्मद्वयगतत्वोपपरिश्रारे आपरवत्या सकलाः परिग्रहस्त्वाज्य
इति भागः ॥

अ(गममें परिग्रहका त्याग करनेका उपदेश किया है वह इस प्रकार—

अर्थ—आचेलक, उद्देशिग वगैरह दस प्रकारका स्थितिकल्प पूर्वमें कहा है. आचेलक्य नामक कल्पमें वस्त्रकाही त्याग करनेका उपदेश दिया है ऐसा नहीं किंतु यस्यादि सर्व परिग्रहका त्याग अचेलक्य शब्दका अर्थ है. 'आचेलक्य कल्प' दस कल्पोंमें प्रथम मिला है. परिग्रहसे इहलोकसंबंधी और परलोकसंबंधी दोष उत्पन्न होते हैं. परिग्रहसे यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा संकल्प जिस चीजमें दोता है उसका संरक्षण करना, संस्कार करना इत्यादिक कार्य करने पडते हैं. स्थानादिक करते समय हिंसा होती है. उसके लिये शूद्र बोलता है. चोरीमी करता है. मेशुनकार्यमें प्रवृत्ति करता है. इस वसिष्ठसे अशुभ परिणाम होते हैं. नरकादि दुर्गतिका बंध होता है. और

उसका फल नकारागतिओंमें विविध दुःखरूप प्राप्त होता है, दुःखोंक और परलोकके दोनोंका परिहार हो ऐसी अभिलाषा लिनके मनमें उत्पन्न हुई है वे संपूर्ण परिश्रमोंका त्याग करे. ऐसा इस विवेचनका अभिप्राय है.

भुतं वेदपरित्यागमेव सुखयति आचेलकमिति न इतरस्यामभित्यागोक्त्यामाचरे—

देसामासियमुत्तं आचेलकंति तं सु ठिदिकप्पे ॥

लुत्तोत्तय आदिसहो जह् तालपलंबमुचम्मि ॥ ११२३ ॥

उवेशामर्योक्तं सूत्रमाचेलकपमिति स्थितम् ॥

लुत्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रालम्बसूत्रवत् ॥ ११६० ॥

विजयोवपा—देसामासियमुत्तं परिग्रहेकदेशामर्योक्तारित्वं आचेलकंति आचेलकपमिति । तं सु तत् । ठिदिकप्पे स्थितिकल्पे आचरे प्रवृत्तं सूत्रं विरोगतो मुमुक्षुर्वा यत्कर्तव्यतया स्थितं तस्मिन्मुच्यते स्थितिकल्पः । स्थितप्रकारः । यत्तुल्यं भवति-वेदप्रहणे परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलप्रपञ्चत्याग आचेलकपशब्दस्यार्थ इति । तालपलंबं वा कप्पदिति सूत्रे तालवाच्यो न तद्विशेषवचनः किंतु यत्रस्पष्टेकदेशस्तद्विरोध उपलक्षणाय यत्रस्पर्तीर्मा युहीते । तथा चोक्तं कनये—

हरिततपोस्तद्दिगुच्छा गुग्मा यहील्लस य कप्पया य ॥

यवं वणस्सवीओ तालोदेसेन चादिट्ठा ॥

इति । तालेदि वलेदिकिय तलेप आदेस्ति उस्तिदो वस्ति ॥

तालादिजो तद्विचयनक्कीणं हवदि पामे ॥

प्रलंबं त्रिविधं मूलप्रलंबं, अन्नप्रलंबं च । कंदमूलकलायवं, भृगुमुम्वेकिंशकंदमूलप्रलंबं, अंकुरप्रपालफलपत्राणि अन्नप्रलंबाणि । तालस्य प्रलंबं तालप्रलंबं यत्रस्पष्टेनंकुरादिकं न लभ्यते इति यथा सूत्रार्थतोषदापीति मन्यते । भयवा लुत्तोय आदिशब्दो लुत्तोय सूत्रे चादिशब्दः । अचेलदित्यामिति प्राप्ते । यथा तालपलंबसुचम्मि यथा तालप्रलंबसूत्रे । तालादीति दान्यप्रयोगानुसृत्या तालपलंबादिशुद्धं । तथाचोक्तं सिद्धांतादिति निश्चयेनैव सूत्रकोरण देशामर्योक्तसूत्रं हेतुतत्तुतं । नादिदान्वलोपोऽत्र तालप्रलंबसूत्रे न तु देशामर्योक्तं भवतीति ॥

ननु च आचेलकवृद्धसिध इत्यादि सूत्रे यश्चमात्रत्याग एव ज्ञायते भुतत्वाच्च पुनरितरस्यागस्तद्व्यमुच्यते “वेलादि सज्जसंगन्धालो पत्तमो ॥ होदि ठिदिकप्पो ॥ इत्यत्राह—

मूलार—देसामासिय इत्यादिस्थितिकल्पे वाच्ये तत्रप्रथमतयाविष्टमाचेलकमिति सूत्रं देशामर्योक्तं । वाह-

परिमहैकदेशस्य चेलस्य परामर्शकं बालपरिग्रहाणमुपलक्षणाथ टपार्तं । यथा तालप्रलंबं च कल्पद्विष्टि सूत्रे तालप्रलंबो वनप्रत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्शको वनप्रतीतो उपलक्षणाथ गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे—हरिवतणोसधियुक्तागुम्मा वल्ली लदा य रुक्ता य ॥ एवं वणफ्फदीओ बालायेसेण आदिट्ठा ॥

तालवि दलेदित्तिव तलेय जम्बोत्ति वरियदो वत्ति ॥

तालादिणो वरत्तिय वणफ्फलीणं दवदि णामं ॥

तालस्य प्रलंबं तालप्रलंबं । प्रलंबं च द्विविधं मूलप्रलंबं, अप्रप्रलंबं च । तत्र मूलप्रलंबं भृग्यनुमवेदि कंद मूलकुटादिकं । ततो अग्न्यवद्य प्रलंबं अंशुमप्रबालपत्रपुष्पफलादिकं । वनस्पतिकंदारिकमनुभोक्तुं निर्णयानामादीनां च न युज्यते इति । यथा । तालप्रलंबं च कल्पद्विष्टि इत्यत्र सूत्रेऽर्थेस्तथा सकळोऽसि बाक्काः परियदो मुमुक्षुणां प्रदीतुं न युज्यते इत्येवमित्येति सूत्रेऽर्थे इति तात्पर्यं । अथवा ह्युत्तोर्य आदिसदो छुमोऽत्रादिसदः । अत्र आचेलक्येति सूत्रे ताल प्रलंबं सूत्रव्यादिशब्दो छुमो योद्धव्यः । यथा तालादीनि शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलंबमित्युक्तं । तथा आचेलक्यमित्येति प्रलंबं सूत्रव्यादिशब्दो छुमो योद्धव्यः । अन्ये त्वेवं प्रतिपन्नाः वेसो मूच्छालक्ष्यस्य अंतर्गतवहिरंगभेदभिन्न-स्य परिमहरत्यैकदेशो बाक्काः परिग्रहः तत्परामर्शकमचेलक्यमिति सूत्रं कर्तव्यवयावधारितं । अपे सनानं । तथा चोक्तं—

तरेसानर्गकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् ॥

छुमोऽभ्यादिशब्दोऽत्र तालप्रलंबसूत्रप्रपत् ॥

आचेलक्य शब्दका अर्थं वल्लमात्रका त्याग ही है ऐसा आगमका अभिप्राय है इतर परिग्रहका त्याग करना चाहिये ऐसा आगम कथना नहीं है. इस शंकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—दस प्रकारके स्थिति कल्पोंमें से आचेलक्य नामक पहिला स्थितिकल्प है. आचेलक्य शब्द परिग्रहके एक देशका विचार दिखानेवाला सूत्र है. मुनियोंके स्थिति का-कर्तव्य कर्मका प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र है. इसलिये इसको स्थितिकल्प कहते हैं. आचेलक्य अर्थात् नग्नता धारण करना मुनिका कर्तव्य ही है इसलिये इसको स्थितिकल्प कहते हैं. इसका अभिप्राय यह है— चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है. अतः चेल शब्दका अर्थ वल्ल ही न समझकर उसके साथ अन्य परिग्रहोंका भी ग्रहणा करना चाहिये अर्थात् आचेलक्य शब्दका अर्थ वल्लका त्याग इतनाही नहीं है किंतु वल्लत्यागके साथ अन्य संपूर्ण परिग्रहका त्याग माना जाता है. इसके लिये

आचार्यने तालपलंघका उदाहरण दिया है- तालपलंघ इस सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ तादका वृक्ष इतनाही लोक नहीं समझते हैं किंतु वनस्पतिक एकदेशरूप जो तादका वृक्ष वह वनस्पतिओंका उपलक्षण रूप समझकर उससे सम्पूर्ण वनस्पतिओंका ग्रहण करते हैं-

सत्यनामक ग्रंथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

‘हरिद सगोसाधि’ इति - “हरित, वृक्ष, फलही पक्ष्मया होने तकही टिकनेवाली वनस्पतिको ओषधि कहते हैं- गुच्छ, गुल्म-छोटे छोटे पौधे, पेसी, कोमल वृक्ष, वर्गसह वनस्पतिओं का ताल शब्दसे संग्रह होता है- इसलिये ताल शब्दसे सम्पूर्ण वनस्पतिको जैसा संग्रह माना जाता है वैसा ‘आचेलम्प’ शब्दसे सम्पूर्ण परिग्रहोंका त्याग यह अर्थ उपलक्षणसे ग्रहण किया जाता है

‘तालपलंघ’ इस शब्दमें जो पलंघ शब्द कहते हैं उसका स्पष्टी करण ऐसा है— पलंघके मूलप्रलंब, अग्रपलंघ ऐसे दो भेद हैं- फंद मूल और अक्षुर जो धूमिमें प्रविष्ट हुये हैं उनको मूलप्रलंघ कहते हैं- अंजु, कोमल पत्ते, फल, और फटोर पत्ते इनको अग्रपलंघ कहते हैं- अर्थात् तालपलंघ इस शब्द का अर्थ उपलक्षणमें वनस्पति आके अक्षुरादिक ऐसा होता है, तालपलंघ शब्दसे जैसे सम्पूर्ण वनस्पतिओंके अक्षुरादिकोंका ग्रहण हो जाता है वैसे प्रस्तुत विषयमें भी आचेलम्प शब्दका सम्पूर्ण परिग्रह-त्याग यह अर्थ अभीष्ट है-

अथवा यहाँ आदि शब्दका लोप हुआ है ऐसा समझना चाहिये, अर्थात् अचेल शब्दके आगेके आदि शब्दका लोप हुआ है- ‘अवेलादित्य’ के ऐवजमें अचेल शब्दका प्रयोग कर आदि शब्दका लोप किया गया है- तालपलंघ इस शब्दमें ‘तालादि’ ऐसा शब्दप्रयोग न करके तालपलंघ ऐसा कहा है, सिद्धांतके आधारसे आचेलम्प शब्द को आचार्यने देशाभर्षक सब कहा है परंतु यहाँ आदि शब्द प्राप्त हुआ है ऐसा ज्ञान मानते हैं- तब यह शब्द देशाभर्षक नहीं है ऐसा समझना चाहिये-

न य होदि मंजदो वत्यमित्चागेण सेससंगेहि ॥
तस्मा आचेलकं चाओ सत्त्वोसि होइ संगणं ॥ ११२३ ॥

चेलमात्रपरित्यागी छेपसंगी न संयतः ॥

यतो मतमचेलत्वं सर्वं ग्रयोच्छन्नं ततः ॥ ११६१ ॥

विजयोक्त्या—ण ॥ हरेवि संजदो नैव संयतो भवति इति । वस्त्रमात्रयोगेन शेषपरिग्रहसमन्वितः । वस्त्रादन्यः दोषः इत्युच्यते । आचेलकामिष्यश्च चेलत्यागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याच्चेलादन्यपरिग्रहं शुद्धं संयतः स न भवति यस्तत्समावाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मंतव्यः । इति युक्तिरूपेण स्यात् चेलस्यान्यथा परिग्रहोपलक्षणतया । किंच महाप्रतीपदेशमवृत्तानि च सजाणि प्रापकानि । सर्वसंगपरित्याग आचेलकामिष्यश्च निर्दिष्ट इत्यस्य ॥

चेलसम्बन्धस्य सकलवाक्यपरिग्रहोपलक्षणतायां युक्तिरुपन्यस्यति—

मूलार—सेसंसेनेदि वस्त्रवर्जपरिग्रहैः समन्वितो युयुधुर्ब्रह्मयात्रत्यागेन संयतो नैव भवति । समस्तद्रव्योपरतो हि संयत इत्युच्यते स कथं यस्मात् स वस्त्रं न्यपदिदयते । तस्मादाचेलक्यं सर्वसंगपरित्यागः । आचेलक्येन सृते निर्दिष्ट इत्युक्त्यार्वस्य ॥

अर्थ—यत्रमात्रका त्याग करने पर भी यदि अन्य परिग्रहों से पुरुष युक्त है तो उसको संयत मुनि नहीं कहना चाहिये. अर्थात् वस्त्रके साथ संपूर्ण परिग्रहत्याग जिसने किया वही मुनि माना जाता है इसलिये “ आचेलक्यका ” अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा ही होता है. आचेलक्य शब्दका वस्त्रत्याग इतनाही अर्थ माना जाय तो वस्त्र छोड़कर अन्य सब परिग्रहोंका स्वीकार करनेवाला न्यक्ति मुनि माना जायगा—इसलिये संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ही आचेलक्य शब्दका अर्थ है ऐसा उपलक्ष्यसे समझना चाहिये. महाप्रतीपका उपदेश देनेवाले सूत्रोंसे भी ‘ आचेलक्य ’ शब्दका अर्थ सर्वसंगत्याग है ऐसा सिद्ध होता है. यदि वस्त्रका ही त्याग किया और चाकी परिग्रहोंका त्याग नहीं किया तो आईसादि व्रतमनुदाय मुनिओंमें नहीं रह सकेगा.

नव यदि चेलमात्रमेव त्याग्यं स्यात्तेतदं नदिस्तादिकतानि य स्यु इत्येतद्वाच्ये उक्त्यायायां—

संगणिमित्तं मोरेइ अलियवयणं च भणइ तेणिकं ॥

मज्जदि अगरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥ ११२५ ॥

परिग्रहार्थं प्राणिहन्ति वेहिनो ववत्पसत्तं विदधानि मोषणं निषेवते स्त्री अयते परिग्रहं न लुब्धयुद्धिः पुरुषः करोति किम् ॥ ११६२ ॥

स्वित्तयोदया—संगमिमिचं गोरेदि परिग्रहनिमित्तं गणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्तेः । अथ इत्थं परकीयं ग्रहीतुं कामस्तं हिनस्ति, भणत्वाडीकं करोति स्तौत्रं, मज्जेते अपरिमितामिच्छां, मैद्युने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसादिमत्तानि न ह्युः । परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठन्ति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥

कथं यदि चेत्तमात्रमेव त्याग्य स्यान्नान्यत्तदा अहिंसादिमत्तानि न स्युरिति ॥ एतद्व्याख्यातुमाह—

मूढारा—गारेदि हिनस्ति गणिनः षट्कर्मसु प्रवृत्तेः । षट्कर्मं वा ग्रहीतुमस्तं हिनस्ति । अपरिमिच्छं अपरिमितामिच्छा । निरवधितृणामित्यर्थः । एवं च सति कथमहिंसादिमत्तानि स्युः । समग्रप्रत्यपरित्यागमुत्तानि निश्चलानि तिष्ठन्त्येव क्षोभनिनिष्ठाभावात् ॥

यदी अभिप्राय ओमेकी गायामे आचार्यं कहेते है—

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे यह जीव आसि, मयि, कृषि आदि छह कर्म करता है जिससे जीवोंकी हिंसा होती है- दूसरेका घन हरण करनेकी इच्छासे उसका नाश करता है असत्य भाषण बोलता है- चोरी करता है- मनमें अमयाद इच्छा धारण करता है- तथा मैथुनमें प्रवृत्त होता है- परिग्रहके वश होनेसे ऐसे पापोंको यह जीव करता है तब उसके अहिंसादिक व्रत कैसे हो सकते हैं- जब परिग्रहोका त्याग होता है तब ही अहिंसादिक व्रत निश्चल हो जाते हैं-

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमंतरेण प्रत्ययकर्मोपलब्धः कथं निवार्यते । मत्प्रत्यकर्मोपचयेन कर्मणां सैवानंतकाला संश्रुतिरित्येवमेतत्सि हस्य परिग्रहप्रहणभाविनोऽशुभान्परिणामानाचरे—

सण्णमागएपेसुण्णकलहफुदसाणि णिहु रविवादा ॥

संगणिमिचं ईसासयासल्लाणि जायंति ॥ ११२६ ॥

संज्ञागौरवैपशुन्यविवादकलहादयः ॥

दोषा ग्रथेन जन्यन्ते दुर्नयेनैव सर्वदा ॥ ११२६ ॥

यिज्योदया—सण्णमागएपेसुण्ण परिग्रहसंज्ञा तत्सन्धिधैर्यं च जायते सपरिग्रहस्य । पिशुनयति सुचयति परदोषमिति पिशुनत्तस्य कर्म यैद्युन्यं । परिग्रहवानात्मनैव सधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं

हारयति, कलहं वा करोति । पनार्यं परत्वं धत्तौ वदति विवाहं वा कुर्यात्, ईष्याद्यशशाल्यानि च जायते । अयमेतलौ नयच्छति न महो इति संकल्प ईर्ष्या । परस्व धनव्यचासहनमधूया ॥

परिमहद्वाहिणोऽनंतसंस्तुतिसवित्रीमधुमपरिणाममध्वृत्तिमनर्धपरंपरां च व्याकुर्मुत्तरप्रबंधमाह—

मूलरा—सण्णा परिश्रदसंज्ञा । गारव श्रद्धिगौरवं । तपरिश्रदस्व च जायेते । येसुणा पदोपसूचनं । मंयमहावि-
श्रो दि स्वयनरक्षार्थे परस्व दोषान्प्रकाश्य तद्धनं नृपादिना शारयति । कलहं वा करोति घनार्थे । परत्वं वा वक्तो वक्ति,
निन्दुर् विवाहं वा करोति । ईसा ईर्ष्या । अयमेतस्मै प्रयच्छति न महामिति संकल्पं । अस्वा परत्वंपसासहनम् ।

यदि अष्टुमपरिणामोका संवर न होया अर्थात् अष्टुमपरिणाम चदी नहीं शोक जायेमे तो नवीन कर्मोका
आगमन नहीं रुक सकता है. नवीन कर्मोका आगमन होनेसे फिर संसार अनंतकालतक रहेगा ही. परिग्रहके सञ्जा-
वमें अष्टुम परिणाम होते हैं और संसार दीर्घकालका होता है ऐसा विवेचन आगेके माथामें आचार्य करते हैं—

अर्थ—परिग्रहसंज्ञाका उदय होनेसे आत्मामें परिग्रहके प्रसि अथिलाप उत्पन्न होती है. तदनंतर मैं घडा
प्रेम्यंशाली हूं ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है. परिग्रहसे मनमें दुष्टयना उत्पन्न होता है. अपने धनका संरक्षण
करनेमें यह सावध रहता है. और दूसरेके असावधनतादिक दोष देखकर उसका धन दूसरोंसे हरण कराता है. कलह
करता है. धनके लिये कठोर भाषण करता है. तथा विवाद करता है. इस परिग्रहसे ईर्ष्या, अहंया और कपट ये
दोष उत्पन्न होते हैं. यह पुरुष इसको धन देता है मेरेको धन नहीं देता है ऐसा भाव उसके मनमें उत्पन्न होता है.
यह ईर्ष्या दोष है. दूसरोंका धनिकपना सहन न होना अहंया दोष है. परधन हरण करनेके लिये उसको ठगना
मायाश्रय कहते हैं.

कोधो माणो माया लोभो हास रह अरदि भयसोगा ॥

संगणिमितं जायइ दुगुंछ तह रादिभत्तं च ॥ ११२७ ॥

कोधं लोभं भयं मायां विद्वेषमरतिं रतिम् ॥

द्रविणार्थी निशामुक्तिं विदधाति विचेतनः ॥ ११२८ ॥

विजयोदया—तदा कोधो माणो क्रोधः पट्यिहस्तास्य परिणामोऽदने जायते । धन्योऽहमिति गर्वितो भवति ।

परो धनं हृदया गृह्णीतीति तद्विग्रहणकरणात्प्रागा न्व भवति । काकणिलोभे कार्पाणं चोच्छति । तद्वत्प्रागा कर्पाणसह-
स्रादिभिमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभः । निर्दिष्टिषं लोको हसतीति हासस्यापि कारणं । द्रव्यमात्मीयं पश्यतः तत्रातुरागो
रतिः । सद्दिनाशो भवति । तदन्ते हर्ति इति भयं । शोको ना । जुगुप्सते वा विरूपे । परिग्रहविरपालतायै राजावपि
मुक्ते । मदीयं भोजनं परे हृदयार्थिनो भवन्ति इति मन्वमानः ॥

मूलारा—कोयो भ्रमे परेण गृह्यमाणे जायते । माणो धनाद्वोऽहमिति गर्वः । माया परो धनं हृष्टं गृण्हाति
इति तद्विग्रहणकरणाद्वप्राणं । लोभो कार्पाण्यादिलोभे कार्पाण्यादिकं कांक्षतीति । द्रव्यलाभाद्वोभः प्रवर्तते । हस्त हास्यं
धनितो निर्धनं हृदया हस्तः स्यात् । रदि स्वयं पश्यतस्तत्रातुरागः । अरदि धनविनाशे कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं ।
भय धनमन्वे हरन्तीति भीतिः । सोगा शोको धनविच्छेदे मनःकाषः । दुर्गुच्छ विरूपेण परिग्रहे जुगुप्सा । धनार्थत्वाद्
गुणितामपि राजादिहृदयवृत्त्या निन्दनं । रादिभचं मदीयं भोजनं दिसा परे हर्तीति तत्रभ्रमार्थं नर्कमुक्तिः । स्यान्पादिहृदया
हृदयत्वा वा हृदयलाभाय राजौ भुक्तिः ।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध आता है. परिग्रह पास होनेसे मैं धन्य हूँ ऐसा अभि-
मान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण करेगा इस विचारसे उसको छिपाता है. यह माया दोष
है. काफिका का लाम होनेपर कार्पाणका लाम होनेको इच्छा करता है. वह भी मिलनेपर हजारों कार्पाणकी
माप्ति मेरे को कर होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है. अतः द्रव्यका लाम होना लोभका हेतु है. जो
दरिद्री है उसको देखकर लोभ हस्त है. अतः यह धन हास्यका हेतु है. अपने धनको चारवार देखकर परिग्रहवान
उसमें रति-आसक्ति करता है. उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. भेराधन उससे हरण करेगे ऐसी
भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है. परिग्रहका रक्षण करनेके लिए वह
रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिवसे भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेगे ऐसी उसकी समझ
रहती है.

गंधो भयं णराणं सद्दोदरा एयरत्यजा जे ते ॥
अण्णोणं मारेदुं अत्थणिमिच्चं मदिमकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो महाभयं नृणामेकारध्ये सहोदरौ ॥

ग्रंथार्थं हिंस्तिहं युद्धं यतोऽकाष्टां परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोद्या—ग्रंथो भयं नराणां । ननु भयसेवस्य रमेणः उदयानुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न पास्तु ।
क्षेत्रादिको ग्रंथः लघाभूतस्ततः त्रिमुच्यते ग्रंथो भयमिति न दोषः । यद्वाद्या एकोद्वय एकोद्वय मसया
अपि सतः एकरथश्च एकरथनगरे जाताः । अं यस्मात् । ते अन्वेषणं मोक्षं अन्योन्यं हन्तुं । नत्यनिमित्तं वस्तुनिमित्तं
मदिमकास्ती बुद्धिं कृतवन्तः ॥

मंथस्य भयहेतुत्वमर्थस्त्वलेन व्यापयति—

सङ्घारा—भयं भयहेतुः । सहोदरा एकोद्वयमवा अपि सन्तः । एकरथया एकरथे नगरे जाताः । अं
यस्मात् ते तसिद्धाः । सद्विषयास्ती मतिमकार्थः । विषं कृतवन्त इत्यर्थः । अत्रान्ये द्विरथमिच्छन्ति—

अर्थ—परिग्रहसे वस्तुपूर्व भय विपन्न उत्पन्न होता है, कुंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम
उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं, वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं है, इस लिये परिग्रहको आप भय
नर्थो कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको हम भय कहते हैं, एक भावाके उदरसे उत्पन्न
हुए माई भी एकरथ्या नामक ग्राममें अन्योन्यको भारवेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके युद्धमान लोक
परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं,

अत्यनिमित्तमदिभयं जादं चौराणमेकमेकमेकैर्हि ॥

मन्त्रे मंसे य विलं संजोड्य मारिया अं ते ॥ ११२९ ॥

तस्कराणां भयं जातमन्योन्यद्रविणाधिनाम् ॥

मयो मांसे विपं घोरं यतः संयोज्य मारिताः ॥ ११३६ ॥

विजयोद्या—अत्यनिमित्तं अदिभयं जादं यत्तीव्र भयं जातं । चौराणं एकमेकैर्हि ॥ चौराणामन्योन्यैः सह ।
मन्त्रे मंसे य विलं संजोड्य मये मांसे च विपं संयोज्य । मारिता अं ते यस्मात्ते मारिताः ॥
आत्मनान्तरेण वदेवाह—

परो धनं दद्यात् गृह्णातीति तन्निग्रहकरणात्माया वा भवति । काष्ठीकिलामे कार्पाणं चांछति । तदुच्यते कर्पाणसह-
जादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्वयलाभः । निर्द्विविधं लोको दयतीति ह्यसस्यापि कारणं । द्रव्यमाहमीदं पश्यतः तत्रादुरागो
रतिः । तद्विनाशो भवति । तदन्त्ये हरति इति भयं । शोको वा । सुगुप्तते वा चिरूपं । परिग्रहपरिणालबाधं राज्ञावपि
शुके । मदीयं भोजनं परे दद्यात्कार्यतो भवति इति मन्यमानः ॥

मृत्परा—क्रोपो भये परेषु गृह्यमाणे जायते । मायो घनाब्जोऽइमिति गर्भः । माया परो धनं दृष्टं गृह्णाति
इति तन्निग्रहकरणाद्वचनां । कोभो वाक्य्यादिलामे कार्पाणनादिकं चांक्षतीति । द्रव्यलाभाद्धोभः प्रवर्तते । हस्त हास्यं
धनितो निषेधं दृष्ट्वा हस्तः स्यात् । रदि स्वर्धनं पश्यन्लागदुपगः । अरति धनविनाशे कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं ।
भय धनमन्ये हरन्तीति भोतिः । सोमा कोको धनविच्छेदे भनत्वापः । कुगुल विरुके परिग्रहे सुगुप्ता । धनार्थस्यापि
गुणिनामपि राजादिदं दत्तुमुया निवर्तनं । रादिभूते मदीयं भोजनं दिवा परे हरतीति वस्त्रभ्राथं नक्तंशुक्तिः । स्वान्यादिछंवा
गुदृष्ट्या वा क्रम्यलाभाय राज्ञी युक्तिः ।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध जाता है. परिग्रह पास होनेमें मैं धन्य हूं ऐसा अभि-
मान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण कोगा इस विचारमें उसको छिपाता है. यह माया दोष
है. काष्ठीकिका फा लाभ होनेपर कार्पाणका लाभ होनेको इच्छा करता है. वह भी मिलनेपर इजारी कार्पाणकी
प्राप्ति मेरे को कष्ट होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है. अतः द्रव्यका लाभ होना लोभका हेतु है. जो
दृष्टिही है उसको देखकर लोक हसते हैं. अतः यह धन हास्यका हेतु है अपने धनको चारोंवार देखकर परिग्रहवान्
उसमें रति-आसक्ति करता है. उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. मेरा धन दुसरे हरण फरेगे ऐसी
भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है. परिग्रहका रक्षण कानेके लिए वह
रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिनमें भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेंगे ऐसी उसकी समझ
रहती है.

गंधो भयं गराणं सहोदरा एयरथ्यजा जं ते ॥

अण्णोणं मारेदुं अत्थणिमिच्चं मदिसकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो मन्त्राभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरी ॥

ग्रंधार्थं हिंस्सितुं बुद्धिं यतोऽकाष्टं परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोपचार—ग्रंथो भयं भराणां । ननु मणसस्य कर्मणः उदयादुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न वास्तु-
क्षेत्रादिको ग्रंथः तथाभूतस्ततः किमुन्यते ग्रंथो मयमिति न दोषः । सहोदरा एकोदेर प्रसवा
अपि संतः परस्परजा एकरथ्यतमरे ज्ञाताः । जं यस्यात् । ते अण्णोष्णं भवेदुं अन्योन्यं हन्तुं । अत्यभिहितं धसुनिमित्तं
मदिसकास्त्री बुद्धिं हन्तव्यतः ॥

ग्रंथस्य भवेदुत्पत्त्यधोक्त्यानेन कथापयति—

मन्त्रारा—भयं भयहेतुः । सहोदरा एकोदरप्रमवा अपि सन्तः । एकरथ्यया एकरथ्ये नगरे ज्ञाताः । जं
यस्यात् ते प्रसिद्धाः । मदिसकास्त्री मत्तिमकर्णुः । चिपं कृत्वन्व इत्यर्थः । अत्रान्ये द्विस्वमित्युच्यन्ति—

अर्थ—परिग्रहसे मनुष्यमें भय विकार उत्पन्न होता है. शंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम
उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं. वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं हैं. इस लिये परिग्रहको आप भय
क्यों कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको इस भय कहते हैं. एक माताके उदरसे उत्पन्न
हुए भाई भी एकरथ्या नामक आभर्म अन्योन्यको मारनेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके बुद्धिमान लोक
परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं.

अत्यभिहितमदिभयं जादं चौराणमेकमेककेहिं ॥

मज्जे मंसे य विसं संजोड्य मारिया जं ते ॥ ११२९ ॥

तत्स्कराणां भयं जातमन्योन्यद्विविणार्थिनाम् ॥

मये मांसे विपं घोरं यतः संयोज्य मारिताः ॥ ११३० ॥

विजयोदया—अत्यभिहितं अतिरम्य जादं अतीव भयं जातं । चौराण एक्कमेककेहिं ॥ चौराणामन्योन्यैः सह ।
मज्जे मंसे य विसं संजोड्य मये मांसे च विपं संयोज्य । मारिता जं ते यसांसे मारिताः ॥
आल्यार्तांतरेण तदेवाह—

मूलाशः—एकमेकोहि कन्वोन्ये कर्तुमिमांरिताः । अन्योन्यतोऽविभयं जातमित्यन्ये । संजोह्य संयोज्य ॥
 अर्थ—इस धनके निमित्तसे चार चौराको महामय उत्पन्न हुआ था- अर्थात् इन्होंने मद्य मांसमें परस्पर
 रोंको मालुम न पड़ेगा इस प्रवृत्तसे विष मिलाया था जिससे माता मांसका यधण करके वे लोग मरणको प्राप्त हुए-

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ॥

पुत्तेण चैव अत्थे हिदम्मि णिहिदिछिए साहुं ॥ ११३० ॥

संगो महाभयं यस्मात्पञ्चकेण कवर्धितः ॥

निहितेऽपहृते ब्रूयते तन्जनं तपोधनः ॥ ११३१ ॥

विजयोव्या—संगो महाभयं यस्मात्पञ्चकेण कवर्धितः । जं यस्मात् । विहेडिदो कवर्धितः । सावगेण संतेण
 सता । पुत्तेण चैव पुत्तेणैव । णिहिदिछिणे कथे हिदंदि साहुं निक्षिप्तेऽर्थे हते साहुं ॥

पुत्तरव्याख्यानमाह—

मूलाशः—विहेडिदो कवर्धितः । पुत्तेण प्रायकस्यैव । निहिद्वत्तमे गत्वानिक्षिप्ते ॥

अर्थ—एक श्रायकके पुत्रने अपने पिताका जमीन में गाढा हुआ धन हरण कर अन्य स्थानमें रखा था-
 जब उसको अपना गाढा हुआ धन नहीं प्राप्त हुआ तब उसके मनमें भेसा धन मुनिते लिया होगा ऐसा संशय उत्पन्न
 हुआ क्योंकि मुनिको उसने चातुर्भासमें अपने घरमें ही रहनेके लिये आवास दियाथा- जर मुनि चातुर्भासि समाप्त
 होनेपर विहार करने लगे ॥ इस थावकने अनेक प्रकारकी कर्मायें कइकर बाधा दी है- ये कर्मायें श्रेणिक
 पुराणमें हैं-

दुओ वंभण विग्घो लोओ हत्थी य तह य रायसुयं ॥

पहियणरो वि य राया सुवण्णयारस्स अवस्खणं ॥ ११३२ ॥

वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तहेव चूदवणं ॥

रवस्वसिवण्णीडुंडुहु मेवज्ज सुणिरस अवस्खणं ॥ ११३३ ॥

सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ॥

दुहसेज्जं दुज्झत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥ ११३३ ॥

गावट्ठ णच्चइ घावइ कसइ ववइ लवदि तह भलेइ णरो ॥

तुण्णदि विणादि जायदि कुलमि जादो वि गंथत्थी ॥ ११३४ ॥

पर्यं थातं धुयं तूष्णां तापं शीतं अमं छुमं ॥

दुमुत्तं सहतेऽर्थार्थी भारं वहति पुच्छलं ॥ ११३८ ॥

कूपति वीज्यति सीर्यति त्विचते चपति पश्यति नश्यति याचते ॥

धमति धाचति चरुणति सेवते रुदति ताम्यति हृत्यति गायते ॥ ११३९ ॥

पठति जल्पति लुठति लुंपते हरति हृष्यति नश्यति लिख्यति ॥

रजति कस्पति वहति सिंचति मुञ्चति वंशते ॥ ११७० ॥

अस्सिति रोक्षति माद्यति लज्जते हसति तृप्यति नृत्यति ॥

तुदति गृह्यति रज्यति सरज्जते द्रविणलुब्धमनाः कुरुते न किम् ॥ ११७१ ॥

विजयोदया—गायति गायति, नृत्यति, घाबति, छपति, धपति, कर्णशच्छेदं करोति, मर्दनं करोति, सीज्यति, धपति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥

इतोऽर्थीय षट्पुंकरनिघट्पुंछादिकर्म करोति तदाह —

मूलारा—सीदुण्हादववायं शीतोष्णातपवातं । मंथार्थी सहते इति संबंधः । एतां संस्कृतीकाकारो नेच्छति ।

मूलारा—कसदि क्षपति । जायदि याचते ॥

अर्थ—दूत, ब्राह्मण, व्याघ्र, लोक, हार्यी, राजपुत्र, पथिक, राजा, और सोनार इनकी कथायें तथायानर, नौला, वैद्य, बेल, तपस्वी, वृत्तवन, सर्व ऐसी सोला कथाओंका वर्णन श्रेष्ठिक, घ्राणमें आया है. आवकने मुनि-राजको आठ कथा धन उन्नीवेही ग्रहण किया है ऐसे अभिप्रायसे कही थी. अनंतर मुनिसज्जनेभी तेरा धन मेने नही ग्रहण किया है इस अभिप्रायको श्रुत करनेके लिये कही थी. इसके अनंतर आवक पुत्रने पिताका घनकलश लाकर दिया तब उसका संदेह दूर हो गया. यह मनुष्य परिग्रहार्थ गाता, है, नाचता है, इसर उधर दौडता है, खेत हाल

से नांगरता है, उसमें बीच चीता है, धान्य पकनेपर, उसको काटता है, मलता है इतने कार्य परिग्रहका संग्रह करने के लिये करता है, इस परिग्रहके निमित्त ही मनुष्य कपड़े सीता है, बुनता है, और याचना करता है, कुलीन होकर भी ऐसे ऐसे कार्य करता है

सेवइ गियादि रक्सइ गोमहिमजावियं हयं हलिय ॥

बवहरदि कुणदि सियं अहो य रची य गयणिहो ॥ १११५ ॥

आउधवासस उरं देइ रणमुहम्मि गंयलोमादो ॥

भगरादिभीमसाबदधुलं अदिगच्छदि समुहं ॥ १११६ ॥

क्रीणानि वयते वल्लं गोमहिण्यादि रक्षति ॥

अर्थार्थी लोहकाष्टास्थिस्पर्शकर्म करोति ना ॥ १११७ ॥

रुधिरकर्मदुर्गममाहवं निशिमशस्त्रविवारितकुंजरं ॥

हरिपुरस्सरजुविभीषणं भ्रमति वित्तमना गहनं वनम् ॥ १११८ ॥

विपुलवीचिविगाढनभस्तलं मकरपूर्वकयार्धरसंकुलम् ॥

जलनिधिं द्रविणार्जनलालसो विशति जीवितनिस्पृहमानसः ॥ १११९ ॥

पिजयोदया—आउधवासस उरं देर आउधवर्षसा उरो दयाति । रणमुहे रणमुहे । गंधलोदादो प्रपलोनाम्
भकरादिभीमंश्वापद धुलं अदिशति समुहं ॥

मूलारा—गियादि निर्धिति निर्धिति इति लोके । बवहरदि ऋषियज्यादिकं करोति । सियं शेषादिहस्तविद्वान् ।
एतां श्रीवित्तयो नेच्छति ।

मूलारा—आउधवासस आउधवर्षस्य । सक्षपातस्थेत्यर्थः । सावद श्वापदाः । अतिक्रूरस्त्रजगपनार्थं मकराद-
नोऽन्वेवमुक्ताः । अदिगच्छदि प्रविलसति ।

अर्थ—यह मनुष्य माणी सेवा करता है, गौ, महिष, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा वगैरह प्राणिओंका रक्षण

करता है. व्यापार करता है, श्रित्तकार्य करता है. परिग्रहोंकी प्राप्ति हो ॥ लिये निद्राका भी त्याग कर इन कार्योंमें रात दिन सत्पर होता है. परिग्रहके लोभमें यह मनुष्य संग्राममें-युद्धमें शस्त्रोत्की घृष्टि अपने छातीपर होने देता है. अर्थात् युद्धमें हजारों घणोंकी वर्षा होनेसे उत्पन्न हुये अघातोंको सह लेता है. जिसमें मगर-कूर जलजंतु विचरते हैं ऐसे गयानक समुद्रमें भी यह प्रवेश करता है.

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंधो भोगा य कस्स ते होज्ज ॥

महिलाविहिंसणिज्जो त्सिददेहो व सो होज्ज ॥ ११३७ ॥

निधनमृच्छति तत्र यदेकको भवति कस्य तदा घनमजितम् ॥

विपियविघ्नविनाशितविग्रहो जनतयाखिलयापि जुगुप्सते ॥ ११३५ ॥

धुनीति धुनीति धुनीति कृणीते न दत्ते न मुक्ते न शेते न विन्दे ॥

सदाचारदृष्टेर्बहिर्भूतचित्तो घनार्थी विधेयं विपत्ते निकृष्टम् ॥ ११३६ ॥

विजयोदया—अपि सो तत्थ मरिज्जो ययत्तो रणमुत्ते मृत्तिमियात् । ग्रंथा भोगाश्च ते शायत्कस्य मवेयुः । घनिताभिनिघः विनदुत्तरणापययो भवेद्यपि न मृतः ॥

मूलार्त—इत्थ रणमुत्ताहौ । गंधा अर्थोः । महिलाविहिंसणिज्जो खीणां नियाः । त्सिददेहो संलखंडीकृतशरीर. सत् । ययपि न मृतस्तथापि दुर्भंगो भवेदिति भावः ॥

अर्थ— यदि यह प्राणी रणमें फालके मालमें चला गया तो सब परस्निह और भोग पदार्थ किसके होंगे ? यदि युद्धमें यह नहीं मरा और हाथ, पाव वगैरह अंग इटनेपर ऐसे मनुष्य की उसकी खिया निंदा करती है.

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अटवीओ ॥

गंथणिमित्तं कम्मं कुण्ह अकादब्बयंपि णरो ॥ ११३८ ॥

गिरिकंदरदुर्गोणि भीपणानि विगाहते ॥

अकृत्यमपि चित्तार्थं कुरुते कर्म मूढधीः ॥ ११३७ ॥

त्रिजयोदया—गणनिमित्तप्रदीप्य ग्रंथनिमित्त प्रविद्यते शुहां । तथा भीमाआटवी । ग्रंथनिमित्तं कर्म अकर्त-
व्यमपि करोति नरः ॥
मूढारा—अदीप्ति प्रविक्रति ।
अर्थ—इत्त परिग्रहैय लुप्य होकर उसके लिये भयंकर गुनाओसे प्रवेश करता है, इस परिग्रहके लिये अक-
र्तव्य भी कर बैठता है.

सूरो तिवस्त्रो मुक्त्वो वि होइ बसिओ जणस्स सघणस्स ॥

माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥ ११३९ ॥

जायते धनितो बहयः कुलीनोऽपि मज्जनपि ॥

अपमान धनाकांक्षी सद्यते मानवानपि ॥ ११७८ ॥

विजयोदया—सूरो तिवस्त्रो मुक्त्वो वि होइ बसिओ मूंअ बसवती भवति जलस्य सघनस्य । अस्मिमानवानपि
सद्यते ग्रंथनिमित्त अपि परिमय ।

मूढारा—तिवस्त्रो असहनः । मुक्त्वो मुक्तयः । बसिओ बसवती । अवमाणं परिअवं ।

अर्थ—शूर, तीक्ष्ण, और मूर्ख सब मनुष्य धनवानके वश हो जाते हैं, अभिमानी मनुष्य भी इस धनके
लिये घोर अपमान दुःख सहता है

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविदूण कंविद्धे ॥

लछकं संपत्तो पित्तं पिण्णागंगो खु ॥ ११४० ॥

कांपिल्यनगरेऽर्थार्थं परितापं दुरुत्तरं ॥

प्राप्य पिण्याकंगंघो ज्वालछकं नरकं कुचीः ॥ ११७९ ॥

विजयोदया—अत्यभिहितं वसुनिमित्तं महत् दुःख प्राप्य । कांपित्य कपिद्धनगरे । लछकं लछकतामेधयं
संभासो नरकं पिण्याकंगंधं ॥
पुनराव्यानमाह—

मूलरत-कंगिले कांदिन्यनगरे । लछकं लछकसंछकं । तमःप्रयाख्यानां पटनरकभूमौ कृतियप्रखारं । उक्तं च-
दिशरललहणरत्नप्रभःपद्मप्रामपीडकाः । विण्णमगंगो विण्णमगंगसंछकः ।

अर्थ- इस धनके विनिमित्त विण्णकमगध नामक मनुष्य नरकमें-लछक नरक बिलमें जन्म लेकर तीव्रतम
दुःख भोगने लगा.

एवं चेदुत्तरस वि संमद्वो चेव गंथलाहो दु ॥

ण य संवीपदि गंथो सुदरेणवि संवभगरस ॥ ११४१ ॥

कुर्वन्तोऽपि परां चेष्टामर्थलाभो न निश्चितं ॥

संवीपते विपुण्यस्य नाथो लब्धोऽपि जातुचित् ॥ ११८० ॥

विजयोदया-एवं चेदुत्तरस वि यः चेष्टमानस्यापि संशयित ॥ संवभगरः । न ॥ संवभगुपवादि संयः ।
सुखिरेणवि संवभगपक्ष ॥

तपादकर्मपरस्यापि पुण्यफलं धनाढान्यमाह —

मूलरत-संखरदो अनिश्चित. ॥

अर्थ- ऊपर कहा हुआ प्रयत्न करने पर भी परिग्रहात्म्य अर्थात् धनप्राप्ति होती ही ऐसा निश्चय नहीं
है, जिसका माग्य फूटा है उसको दीर्घ कालसे प्रयत्न करने पर भी धनप्राप्ति होती नहीं है.

जदि वि कहंचि वि गंथा संवीएज्जह तह वि से णत्थि ॥

त्तिची गंथेहिं सदा लोभो लोभेण वहुदि सु ॥ ११४२ ॥

नाथे संवीयमानेऽपि पुरुषो जातु नृप्यति ॥

लपथमेन यथा न्यायिर्लोभो लाभेन वर्द्धते ॥ ११८१ ॥

विजयोदया-जदि वि यद्यपि कर्मान्तेजवित् प्रकारेण ग्रंथाः संवभगुपेयुः । तथापि तस्य दुस्तिर्नस्ति ग्रंथैः ।
सदा लोभो लोभेन वर्द्धते ॥

मूलरा—कथंचि केनापि प्रकारेण । सचीएवण्ह संचययुपेयु । आमाहु धनप्राप्ते ॥

अर्थ—यद्यपि किसी प्रकारसे किसी उपायसे परिग्रहका संग्रह हुआ तथापि वह आत्मा उसके प्राप्तिमें व्यग्र होता नहीं। क्योंकि सदा लाभ होनेपर परिग्रहोंसे लाभ बढ़ताही रहता है

जघ इंधणेहि अग्गी लवणसमुदो णदीसहस्सेहिं ॥

तह जीवस्स ण तिची अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥ ११४३ ॥

नदीजलैरिवाम्भोधिर्धनैरिव पाषाणम् ॥

लोकैस्त्रिविधैरपि प्राप्तेर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ ११४२ ॥

विजयोदया—अथ इधणेहिं इधनेयंचाप्ति, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रै । तथा परिग्रहेर्न रुप्यति जीपजलोपवेष्टे इधणेऽपि ॥

मूलरा—सष्टम् ।

अर्थ—जैसे लकड़ीअंसे अधिकी तृप्ति होती नहीं। हजारो नदियोंके जल मिलनेपर भी लवणसमुद्रकी व्याप्त नहीं बुझती है वैसे त्रैलोक्य की प्राप्ति होनेपर भी इस परिग्रहोंके द्वारा जीव तृप्त होता नहीं है।

पडहत्थस्स ण तिची आसी य महाघणस्स लुद्धस्स ॥

संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहत्ससारी ॥ ११४४ ॥

महाधनसमृद्धोऽपि पट्टहत्ताभिषो वणिक् ॥

जातस्तृप्तिमनासाय लुब्धधीर्दार्थ्यसंस्मृति ॥ ११४३ ॥

विजयोदय—पट्टहत्थस्स पट्टहस्तनागधेयस्व वणिक् न वृत्तिप्राप्त्यंताया मदाद्यन्पस्य लुब्धस्य । परिग्रह मूर्च्छितमतिरसो जातो दीर्घससार ॥

अथ लोभेनवृत्तौ सत्या दोषमात्म्यानेन रुद्धयति—

मलारा—पञ्चम्यस्त स्फुटस्त्वान्नो वजिजः । आसी जातः ॥

अर्थ—पट्टदस्त नामक वैद्य बड़ा धनिक और अतीव लोभी था. इस परिग्रहसे उसकी वृत्ति हुई नहीं. इन परिग्रहोंसे लुब्ध होकर ही उसने प्राण छोटे और दीर्घ संसारी हुआ.

तिथीए असंतीए हाहाभूदस्स घणवित्तस्स ॥

किं तस्य होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥ ११४५ ॥

हाहाभूतस्य जीयस्य किं सुखं वृत्तितो विना ॥

आशया ग्रस्यमानस्य पिशाब्बेव निरंतरम् ॥ ११८४ ॥

विजयोदया—तिथीए असंतीए हाहाभूदस्य किं तत्र सुख भवेत् । आपया पृथीवस्य ॥

तुतावत्तरयामिदं व दुःखमाह—

मलारा—घणभूदस्य संतोपरद्वित्य उपदमनसः । तस्य मये लब्धेऽपि । पंपाए आशया ॥

अर्थ—यदि परिग्रहोंकी प्राप्ति होनेसे भी मनुष्य वृत्ति नहीं हुआ और उसमें ही लुब्ध हुआ तो आशया दास बना हुआ वह मनुष्य क्या सुखी होगा ? नहीं कभी भी सुखी नहीं होगा.

हम्मदि मारिज्जदि वा वल्लदि रंमदि य अणवराचे वि ॥

आमिसहेदुं घण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥ ११४६ ॥

हन्यते ताव्यते बध्यते रुध्यते मानवो वित्तयुत्तोऽपराधं विना ॥

पक्षिभिः किं न पक्षी गृहीतामिषः स्वाद्यते लुच्यते दोषहीनः परैः ११८५
विजयोदया—हम्मदि आहन्यते । मारिज्जदि मार्यते, बध्यते रुध्यते वानपराधोऽपि । अभियन्तिमित्तं लंपटः
स्वाद्यते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥

मलारा—हम्मदि ताव्यते । घण्णो लुब्धः । पक्खी गृहीताहार पक्षी । यथा नांसार्थं परैः पक्षिभिः स्वाद्यते
वथा धनार्थं परैर्धनी ताडनादिकं प्राप्यते इति संबंधः ॥

अर्थ—जिसके गृहमें मांस है ऐसा पक्षी मांतामिलापी इतर पक्षियोंके द्वारा खाया जाता है. वैसे परिग्रहवान् धनाढ्य मनुष्य इतर परिग्रहको चाहनेवाले लोगोंके द्वारा पीटा जाता है मारा जाता है, उसको किसी कोठरीमें बंद कर देते है किसीका अपराध नहीं करनेपर भी उसको लोक परिग्रहामिलापी बनकर दुःख देते हैं

मादुषिदुपुच्छदारेषु वि पुरितो ण उवयाइ वीसंभं ॥

गंधणिभिचं जग्गइ कंअस्संतो सव्वरचीए ॥ ११४७ ॥

प्रियासचित्रीपितृदेहजादौ सदापि चिन्वासमनादधानः ॥

न त्रायमाणः सकलां त्रियामां प्रयाति निद्रां घनलुब्धयुद्धिः ॥ ११४६ ॥

विजयोदया—मादुषिदुपुच्छदारेषु वि चिन्वतनोध्यपि मात्रादिषु विग्रंभं भोषयाति । ज्ञानार्तिं सर्वरत्नीः प्रलभन् ॥

मूढारा— लक्षम् ।

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोक्ता अभिलाषी होकर सर्व रात्रिमें बहवदता हुआ जागता है माता, पिता, लवका, पुत्री इन विषयनपि लोगोंपर भी विश्वास नहीं रखता है.

सत्त्वं पि संकमाणो गामे—णयरे धरे व रण्णे वा ॥

आधारमगणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥ ११४८ ॥

अरण्ये नगरे ग्रामे गृहे सर्वत्र शंकितः ॥

आधारान्वेषणाकांक्षी स्ववशो जायते कदा ॥ ११४७ ॥

विजयोदया—सत्त्वं पि संकमाणो सर्वेभ्यः शत्रुमान ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवश सदा भवति ॥

मूढारा—सत्त्वंपि साधुमत्साधुन्या । संकमागो धनापहारवत्येन कल्पयन् । आधारश्चायुक्तस्थानं । अणप्पवसिओ पर्ययाः ॥

अर्थ—सर्व मनुष्योंपर उसका विचार नहीं रहता है. इसलिए वह परिग्रहवान् मनुष्य गांवमें, शहरमें, घरमें, अरण्यमें, अपने परिग्रहका जहां रक्षण होगा ऐसा स्थान ढूँढनेकी क्रिमें रहता है. वह अपनी आत्माको बच करानेमें असमर्थ होता है.

गंधपट्टियाए लुब्धो वीराचरित्यं विचिन्तमावसधं ॥

जेच्छदि बहुजणमज्झे वसवि य सागारिगवसए ॥ ११४९ ॥

धीरेराचरिते स्थानं विचिन्तं घनलालसः ।

विहराय भूरिलोकानां मध्ये गेहीष तिष्ठति ॥ ११५० ॥

पिजबोयण—मंसगडिगाए लुब्धो मंधमिनिषं लुब्धोपि धीरेर्वाचरितं विचिन्तमावसयं जेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । गृहस्थानां घेदमनि ॥

मूढारा—गंधपट्टियाए मंधमिनिषं धनं रक्षिमुमित्यर्थः । यदि वा गंधपट्टियावलुब्धो मंधविशेषलुब्धः साधुः । वीराचरितं महायुनिवेशितं । आवसधं वसति । सागारिगवसए गृहरक्षणार्थम् ।

अर्थ—यह कृपण मनुष्य परिग्रहमें लुब्ध होकर धीर पुरुष जहांपर रहते हैं वैसे एकांत स्थानमें रहना पसंद नहीं करता है. वह जहां बहुत लोक रहते हैं ऐसे गृहस्थोंकी घरमें रहता है.

सोदूण किंचिसहं समग्धो होइ उडिदो सहसा ॥

सन्नत्तो विच्छत्तो परिमसदि पलादि मुञ्चवि य ॥ ११५० ॥

शब्दं कंचिदसौ श्रुत्वा सदसोत्थाय धावति ॥

सर्वतः प्रेक्षते द्रव्यं पराश्रयति मुञ्चति ॥ ११५१ ॥

पिजबोयण—सोदूण किंचि सहं श्रुत्वा कंचन ग्राहं परिग्रहयन्सहसोत्थितः सर्वो दिशः प्रेक्षमाणः परामुराति सं द्रव्यं, पलायते, मुराति यः ॥

मूढारा—सोदूण किंचि सहं श्रुत्वा कंचन शब्दं सन्वद्यो सर्वा दिशाः । परियसदि पराश्रयति । सं धनं ॥

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यके कुल शब्द सुन लेनेपर सबसे चकित होता है. उठकर सदा होता है. चारो

दिशाओंका अवलोकन करता है- अपने द्रव्यको हृदय है- मूर्तिसे प्राण जाता है अथवा मूर्ति होकर गिर पड़ता है-

मूलराचना

११४८

तेजमणूरोहद् तर्हं गिरिं उप्पहेण व पलादि ॥

पविसदि य हृदं दुग्गं जीवाण व्हं करेमाणो ॥ ११५१ ॥

आरोहति नगं वृषधुत्पथेन पलायते ॥

निर्गन्तनुमतो मीतो हृदं विचति कुत्तरम् ॥ ११५० ॥

विजयोदया—तेजमणूख सेनभयेन आरोहति आरोहति तर्हं गिरिं या । स्यस्वो भवति । प्रविशति या हृदं । दुग्गं ता स्थानं जीवाणा यातमं कुत्तरम् ॥

दुलारा—तेजमणूख कोरमीला । हृदं पर्वद् नदं । करेमाणो कुर्वन् ॥

अर्थ—मेरा परिग्रह चोर लेगा इस दरफे मोरे वह श्रादपर अथवा पर्वतपर चढ़कर छिपकर बैठता है- अथवा मार्ग छोड़कर अमांगसे दौड़ने लगता है- सरोवरमें प्रवेश करता है- अथवा जियोंका घात करता हुआ दुर्गम स्थानमें प्रवेश करता है-

तह वि य चोरा चारमडा वा गच्छे हरेज्ज अवसत्स ॥

गेप्पिज्ज दाइया वा रयाणो वा विट्ठेपिज्ज ॥ ११५२ ॥

अवशस्य नरस्यार्थो हठतो बलिभिः परैः ॥

दायादैस्तस्करैर्भूषेत्तायमाणोऽपि लुट्यते ॥ ११५१ ॥

विजयोदया—तथापि पलायनचाननिकं कुर्वतो द्रव्यं हरति चोरा या चारमडा या । परवशस्य दायादा या गृह्णन्ति राजानो वा विलुपन्ति ॥

मूलार्थ—तब वि पलायनं कुर्वतोऽपि । चारमडा मुगदपुरुषाः । दाइया दायादाः । विट्ठेपेज्ज उराछयेदुः ॥

अर्थ—भामेवला अथवा दौड़नेवाला तब मनुष्यके पछि चोर जाकर उसको पकड़ते हैं- उससे धन छीन

लेते हैं. पारधीन होनेपर नावीदार लोक, उसका धन लेते हैं. अथवा राजा उसका धन हर लेता है.

संगणित्वं कुट्टो कलहं रोलं करिञ्ज वरं वा ॥

पट्टणेज्ज व मारेज्ज व मारेजेज्ज व य हस्मेज्जा ॥ ११५३ ॥

कल्लि कलकलं वैरं कुरुते नायते परं ॥

मित्रयते मार्यते लोकैर्हस्यते चार्थलपटः ॥ ११५४ ॥

विजयोक्त्वा—संगणित्वं कुट्टो कट्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हंति, ताडयति, । परं स्वयं प्राणान्प्रियोदयति वा । परेण वा ताडयते मार्यते वरेण ॥

मूढारा—पट्टणेज्ज ताडयस्वरं । मारेज्जो मारयेत्वरं । मारेजेज्ज मार्यते परं । हस्मेज्ज ताडयते परं ।

अर्थ—परिग्रहे निमित्तसे क्रोधी हुआ यह मनुष्य दूसरोंके साथ वंटा करता है. वैर करता है. दूसरोंको मारता है. पीटता है. दूसरोंके प्राण लेता है, अथवा दूसरोंके द्वारा यह मारा जाता है, पीटा जाता है.

अहवा होइ विणासो गंथस्स जल्लिगमूसायावीहिं ॥

णट्ठे गंधे य पुणो तित्थं पुरिसो लहवि दुक्खं ॥ ११५४ ॥

कुराणुभूषिकाभोभिः सन्वितोऽर्थो विनादयते ॥

तत्र नष्टे पुनर्वाढं ददाते शोकचक्षुिना ॥ ११५५ ॥

विजयोदया—अथवा होज विणासो अथवा ग्रीपस्स विनासो भवेत् । अश्लिष्टमूपक्कादिभिः कष्टे पुनर्वाढे तीक्ष्णं दुःखं लभते मनुष्यः ॥

मूढारा—सपुण्यं—

अर्थ—अथवा उसके परिग्रहका नाश अग्नि, जल, चूहे वगैरहसे होता है. परिग्रह नष्ट होनेपर फिर वह पुरुष दुःखी होता है.

सोयद् विलब्ध कंदद् ण्डे गंधमि होइ वीसण्णो ॥

पञ्चादि णिवाहुज्जद् केवहु उक्कंठिओ होइ ॥ ११५५ ॥

श्वसिति रोदिति सीदति वेपते गतवन्ति द्रविणे अहिलोपमः ॥

करनिविष्टकपोलतलोऽधमो मनसि शोचति प्रत्नुरुतेऽभितः ॥ ११५४ ॥

चिजयोदया—सोयद् विलब्ध शोचति, विलपति, कंदति नष्ट परिग्रहे विपण्यश्च भवति । चित्तां करोति ।
पिपत्यंतस्संतापाऽजलादिक, वेपते उत्कंठितो भवति ॥

मूलारा— विसण्णो विपण्णो विचेतनो वा । पञ्चादि चित्तां करोति । णिवाहुज्जद् पिपत्यन्ताऽंतापाजलादिकं ।
मत्वेदेनापूर्वत इत्यन्यः ॥

अर्थ—परिग्रहना नाश होनेपर शोक करता है, जोतसे रोने लगता है. लोगोंके हृदयमें दया उत्पन्न होगी ऐसा रोता है. मनमें विन्न होता है, चित्ता करने लगता है. हृदयमें बहुत जलन पैदा होनेसे पानी पिता है, उसके अपयव कांपने लगते हैं और यह उत्कंठित होता है.

डब्बदि अंतो पुरितो अप्पिण् ण्डु सगमि गंधमि ॥

वायावि य अक्खिप्पद् बुद्धी विय होइ से मूढा ॥ ११५६ ॥

अंतरे द्रव्यशोकेन पायकेनेव ताप्पयेते ॥

बुद्धिर्मदायते यादं मुखात्युत्कठते तराम् ॥ ११५५ ॥

चिजयोदया—डब्बदि वक्षते भंतः पुण्य व्याप्तीये नष्ट परिग्रहे । यागपि नश्यति बुद्धिरपि मंदा भवति ॥
मूलारा— अक्खिप्पद् नश्यति स्मरति वा ॥

अर्थ—परिग्रहका नाश होनेसे मनुष्य मनमें जला करता है उसका वचन भी नष्ट होता है. अर्थात् उसका बोलना भी बंद पड़ता है उसकी बुद्धि भी मंद होती है.

उन्मत्तो होइ णरो णइ गंथे गहोवसिद्धो वा ।
 घट्टदि मरुणवापदिपुहिं बहुधा णरो मरिंदुं ॥ ११५७ ॥
 उन्मत्तो वधिरु मूको द्रव्ये नष्टे प्रजायते ।
 वेष्टते पुरुषो मर्तुं गिरिप्रपन्ननादिभिः ॥ ११५६ ॥
 चित्रद्रोद्या—उन्मत्तो होर णरो उन्मत्तो भवति गरः । मरे वरिन्दे ग्रहगुहीत इय चेष्टे मरुणवापादिभिर्नैतुं ॥
 मूकारा—गहोवसिद्धो वा भूलायि इव । घट्टदि केष्टुले । मरुणवापादिपुहिं यदुपलब्धादिभिः ॥
 अर्थ—परिश्रद्धा नाश होनेपर यह जीव उन्मत्त होता है, पिशाच अस्त मनुष्यके समान चेष्टा करता है, और पर्वत, अग्नि, पानी इत्यादिकसे मर्त्यकी इच्छा करता है.

चैलादीया संग्गा संसज्जंति विविहेहिं जंतूहिं ॥

आंगंतुगा वि जंतू हवंति गधेसु सणिहिदा ॥ ११५८ ॥

चैलावयोऽन्विता ग्रंथाः संसज्जति संयन्तः ॥

संति सन्निहिताश्चित्रास्तस्मिन्नांगंतुकास्तथा ॥ ११५७ ॥

पिजयोदय—चैलादिना चैलादिसे मांखेलमावरणादयः परिग्रहाः । संसज्जंति सम्बृण्णामुपयंति । विविहेहिं जंतूहिं नलाप्रकारिजंतुभिः । आंगंतुगा वि आंगंतुमात्र अंत्य । गंधेसु सणिगृहिरा भवंति ग्रंथेषु सन्निहिता भवन्ति । चैलापिपीलिका मरुणादयः । आन्धेषु कीटमादयः । गुडामृषादिषु रसजीवाः । वेपनादौने ॥

महारा—सैतिगर्जनि लम्बच्छेति । यक्षतत्त्वबद्धो यक्षमात्कुनादिभिः धान्यानि कीटकादिभिः । गुडामृषादीनि च रसजत्राणिभिः ॥

अर्थ—ओठनेके वस्त्र प्राय णादिक परिग्रहोंमें नाना प्रकारके सम्बृण्ण जीव उत्पन्न होते हैं, जू, चिटी, मत्स्य चौराह आंगंतुक प्राणी भी आकर परिग्रहोंमें ठहरते हैं, धान्यमें कीट उत्पन्न होते हैं, गुडके घनाये अप्पादिक स्वाद्य पदार्थोंमें रसके वरुण जंतु उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार पशुग्रह जंतुओंका उत्पत्ति स्थान होता है.

आदाणे शिवस्वेते सरेमणे चावि तेसि गंधाणं ॥

उद्धस्सणे वेक्ककसणे फालणपप्फोडणे चेव ॥ ११५३ ॥

विजयोदया—आदाणे, निक्षेपे, संस्करणे, बहिर्नयने, बंधने, मोचने, तेषां ग्रंथानां पाठने विद्युत्ते च ॥

मूढारा—सरेमणे संस्करणे । उद्धस्सणे वह्निर्नयने । वेक्कसणे बंधगोचने । फालणे पाठने पप्फोडणे उपधूने ॥

अर्थ—पदार्थ ग्रहण कराना, जमीन पर रखना, उसको सोधना, बाहर लेजाना, बांधना, खोलना, फोड़ना, झटकना इत्यादि क्रिया करते समय प्राणिजोंको बाधा पोहोचती है.

छेदणयंपणेवेदुणआदावणचोव्वणादिकिरियासु ॥

संधट्टणपिपिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥ ११६० ॥

बंधनं छेदने मेदने पाठने धूनने चालने शोषणे ॥

वेदने कालने स्वीकृतौ क्षेपणेऽर्थस्य पीडा परा जायते वेदिनाम् ॥ ११९८ ॥

विजयोदया—छेदने, बंधने, वेदने, शोषणे प्रक्षालने च । सम्बंधे परित्यापनद्वयनदिकं भवति जीवानां । मूढारा—आदावण शोषणे । चोव्वणादि प्रक्षालनकवक्रुशदिकं । संधट्टण सम्मर्दनं । पिपिदावण पीडनं उदावण

नारणं ॥

अर्थ—छेदन कराना, बांधना, वेदन करना, कुलाना, धोना, इत्यादिक क्रियां करते समय जिनको मर्दन संतापन और घात उत्पन्न होता है,

जदि/वि विविचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा ॥

होदि य विक्किचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णिययं ॥ ११६१ ॥

तेभ्यो निरसने तेषां ध्रुवा योनिवियोजना ॥

धोवा मर्दनसंघट्टवित्तापमरणादयः ॥ ११९९ ॥

विजयोदया—जदि वि विविचदि यथापि निराक्रियते जीवास्त एव संबद्धान्यो दोषा भवन्ति । भवन्ति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना निश्चयेन ।

महारा—अदिवि यद्यपि । विरिञ्चिदि स्फोटयति । ते चैव संप्रवृत्तद्वयः । सैव संप्रवृत्तः । लम्बा अनुपत्ताः । तन्मोक्षविजोवणा तेषां अन्यनामुत्पत्तिरयानविवेकः ॥

अर्थ—यद्यपि जीवोक्तो अलग करने पर भी सर्वोपादिक दोष परिग्रहवानके होते ही हैं, अब जीवोंको प्रयत्न किया जाता है तब उनको अपने उत्पत्तिस्थानका विवेक होता है—

यदमविश्वपरिग्रहगतयेयमभिधास्य सच्चित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुन गंधा वच्यंति जीवे सयं च दुक्खंति ॥

पापं च तज्जिनिमिंतं परिगिण्हंतस्स से होई ॥ ११६२ ॥

सच्चित्ता अंगिनो व्रन्ति स्वयं संसरत्तमानसाः ॥

अहंस्तुर्जायते पापं तस्मिन्मिसमसंचायम् ॥ १२०० ॥

विजयोदया—सच्चित्ता पुन गंधा वच्यंति जीवे परिग्रहः, दासोदासगोमहिर्यादयो प्रेति । जीवान्तरं च दुःखिता भवति । कर्मणि नियुज्यमाना कृप्याधिके पापं च स्वपरिग्रहीतजीवकृतान्तर्यननिमित्तं तस्य भवति ॥

यमचित्तप्रग्रहगतान्दोषपरिग्रहसच्चित्तप्रग्रहदोषमाचष्टे—

मूळार—दुस्सजति कुव्यादिकर्मणि नियुज्यमाना दुःखिता भवन्ति । तज्जिनिमिंतं परिग्रहीतजीवकृतान्तर्यन-

दुःखोत्पादनहेतुकं ।

अर्थ—जो सच्चित्त परिग्रह है अर्थात् दास दासी, गो गधिय वगैरे सजीव परिग्रह हैं वे जीवोंका यात करते हैं, और स्त्री वगैरे कर्मोंमें नियुक्त करनेपर दुःखी होते हैं, विनका परिग्रहवानने स्वीकार किया है ऐसे दास दास्यादिक अंत्यमरूप प्रयुक्तिपर जो पाप उत्पन्न करते हैं उसका संबंध परिग्रहवानके साथ होता है, अर्थात् स्वामी की प्रेरणासे वे अंत्यमरूप कार्य करनेसे स्वामी पापसे बद्ध होता है—

इद्वियमयं सरिरं गंधं गेण्हदि य वेहसुवत्थं ॥

इद्विभसुहामिलासो गंधगहणेण तो सिद्धो ॥ ११६३ ॥

देहस्याश्रयमयत्वेन देहसौल्याय गृह्यतः ॥

असौख्यमभिलाषोऽस्ति सकलस्य परिग्रहः ॥ १२०१ ॥

विजयोद्या—इंद्रियसुखमिलायः कर्मव्ययनिमित्तो मुमुक्षुणा लाल्यः । स परिग्रहग्रहणे बलादावततीति व्याख्ये-
शेन्द्रियमयं सरितं स्पन्दनादिष्वेन्द्रियाभारत्वात् । परिग्रहं च बेलपावरणादिकं इंद्रियसुखायमेव गृह्यति । यातातपाय-
नभिमतस्पर्शनिषेधाय आरम्भशरीरे कलांलंकारादिभिरलंकृतं वयमभिलाषमुपाय तद्व्यासंगजनितप्रीत्यार्धितया अभिमत-
मापादयति । सेवनाद्यर्थं च तत् इंद्रियसुखमिलापो ग्रहं गृह्यतः सिध्यति । स्वाध्यायध्यानास्ययोस्तपसो विप्रकारी
परिग्रहकादुभयं चातरेण न सेपरनिर्जरे ॥

इंद्रियसुखमिलायः कर्मबंधननिवर्तयान्मुमुक्षुभिस्त्याज्य एव । स च परिग्रहग्रहणेन बलात्सिध्यति इति
व्याख्ये—

नूलारा—इंद्रियमयं स्पर्शनादीन्द्रियाधारत्वात् । गंदं बेलभावरणपरिकारः । देहभोक्तृत्वं वातातपावनिषेधा-
दिना शरीरस्य स्वारज्यदुःखनिमित्तं सिद्धो निश्चितः ॥

अर्थ—इंद्रियसुखमै अभिलाषा करनेसे कर्मबंध होता है अतः मुमुक्षु इंद्रियसुखकी अभिलाषा नहीं करते
हैं, जिन्होंने परिग्रहोंका स्वीकार किया है उनको नियमसे कर्मबंध होता है, इस विषयका स्पष्टीकरण—शरीर
पंचेन्द्रियोंका आधार है अतः उसको इंद्रियमय कहते हैं, जीव स्पर्शनादि इंद्रियसुखके लिए बलादिपरिग्रहका
स्वीकार करता है, हवा, भूष वगैरहका अनिए स्पर्श शरीरको न होवे इस हेतुसे वस्त्रादिकोंका जीव स्वीकार करता
है, जन जीव अपना शरीर बलादिकोमि अलंकृत करता है तब अपनेमें दूसरोंकी अभिलाषा उत्पन्न करके
उनके शरीरसे सहनामकी प्रीति उत्पन्न करके अपना इष्ट साध्य करता है, दूसरेके शरीरसुखकी प्राप्ति करनेके लिए
अपने शरीरको अलंकारादिसे सजाता है, अतः ग्रंथ-परिग्रह धारण करनेका मूल कारण इंद्रियसुखकी अभिलाषा
है यह सिद्ध होता है इस परिग्रहसे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धि होती नहीं, स्वाध्याय और ध्यान के बिना
कर्मके संशय और निर्वराके अभावमें संपूर्ण कर्मोंका नाश कैसे होगा ?

तथोरमात्रे कुतो निरवशेयकर्मणामो भवतीति कथयति—

गंथस्म गहणरक्खणसारवणाणि नियदं करेमणो ॥

विविस्वत्तमणो उज्झाणं उवेदि कहं मुक्खसज्झाओ ॥ ११६४ ॥

रक्षणस्थापनादीनि कुर्याणोऽयस्य सर्वदा ॥

निरस्ताध्ययनो ध्यानं न्याधिष्ठः कुरुते कथम् ॥ १२०२ ॥

विजयोद्या—तथैतत् महानरपुत्रण परिग्रहदानं, तद्रक्षणं, तत्संस्कारं च नित्यं कुरुते । व्यतक्षितचित्तः कथं नुमप्यनं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्यायः । एतदुक्तं भवति—व्याक्षितचित्तस्य न स्वाध्यायः अस्यति तस्मिन्वस्तुयाथास्तव्याविदुषः ध्वैर्यैकनिष्ठं ध्यानं कथमिदं धर्तते ॥

परिमदात्स्वाध्यायस्थानविचारात्तत्तत्र संवरनिर्बराविरथाकुलो मोक्षो भवेदित्युपास्ति—

मूलारा—विस्मृतस्मरणो व्याकुलचित्तः । मुक्तस्त्वज्ञाओ लाकथुलभावनाकः । ग्रंथग्रहणादिना चित्तस्य विक्षेपे सति स्वाध्यायासंभयात् । वस्तुयाथास्तवमननतः रुधमिय ध्वैर्यैकनिष्ठं ध्यानमुपविहत इति भावः ॥

यही अभिप्राय आगेकी माथामें आचार्य पढ़ते हैं—

अर्थ—परिग्रहका स्वीकार करना, रक्षण करना, उनमें संस्कार करना इसी कार्यमें जिसका चित्त लगा है ऐसे मनुष्यकी धर्मध्यानमें प्रवृत्ति नहीं होती है. इस परिग्रहके आलमें पढ़े हुए मनुष्य स्वाध्याय मी नहीं कर सकते हैं. चित्तकी एकाग्रता होनेपर स्वाध्याय सिद्ध होता है. परतु चित्तका लय परिग्रह में ही होनेसे स्वाध्यायसे मनुष्य विमुक्त होता है. स्वाध्यायसे वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जब मात्स्म्य होता है तब चित्तकी एकाग्रतासे धर्म ध्यानकी सिद्धि होती है. स्वाध्यायविमुक्त और परिग्रहात्मक लोकोंको यथार्थ वस्तुस्वरूप मात्स्म्य न रहनेसे शुभ ध्यानकी सिद्धि होती नहीं है.

परमवस्थाव्यं देयं परिग्रहमुखायातमुपदेशयति—

मंथेसु धाडदहिदजो होइ दरिदो भवेसु बहुगेसु ॥

होदि कुणतो णिव्वं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥ ११६५ ॥

अर्थप्रसक्तचित्तोऽस्ति निःस्वो बहुषु जन्मसु ॥

आसार्यमपि कर्माणि निंद्यानि कुरुते सदा ॥ १२०३ ॥

विजयोद्या—मंथेसु धाडिदहिदजो ग्रंथसक्तचित्तः बहुषु भवेसु दरिद्रो भवति । आहारमात्रमुपि सदा निंद्यते । निदि बोधहन्, उपानदेचनं, पुरीषमूत्राद्यपन्यतं इत्यधिकं नीचं कर्म ॥

सुदिन ॥

११५६

६

११५६

मूत्रासः—भट्टिद्विद्विओ आसफविषः । नीचं कर्मं शिषिकोद्वहनादिकं कुर्वन्वर्ततेऽपि । आहारयेदुं आहारमात्र-

सुदिन ॥

परिश्रमं उत्पन्न हुआ दोष अनेक भवमें जीवके साथ रहकर दुःख उत्पन्न करता है इस अभिप्रायका

वर्णन—

अर्थ—जियका मन परिग्रहासक्त हुआ है ऐसा मनुष्य अनेक भवोंमें दाँटिरी होता है-आहारकी अभिलाषा करके वह नीच कार्य करनेके लिए भी उताव होता है-अथवा पालस्वी उठाकर अन्य स्थानमें ले जाना, श्रीमान् पुरुषोंके घृते उठाना, विष्ठा, मूत्र यगिरह अपवित्र पदार्थ निकालना इत्यादिक नीच कार्य करता है-

विविहाओ जायणाओ पाववि परभवगदो वि धणहेदुं ॥

सुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥ ११६६ ॥

छनते यातनाग्निना ग्रंथहेतुन्भवान्तरे ॥

संक्रिययत्याशया ग्रस्तो हाहाभूतोऽर्थलुब्धधीः ॥ ११६७ ॥

पिणवोदया—पिण्णिहो जायणाओ पाववि विविहा विविधा यातनाः प्राप्स्यति । परभवगतोपि धनमिभिस्तं लुब्धः भारवाया मट्ठपपा गृहीतो हा मम फलेशागतं कुर्वतोपि मम धनं न भवति, ज्ञातं वा नष्टमिति कृतहादाकारः फिलश्यति । मूलारा—शहा—मम स्वेयशतं कुर्वतोऽपि धनं न संप्रपते । संपन्नं वा विवश्यति इति कृतहादाकारः ॥

अर्थ—परिग्रहासक्त मनुष्य अन्य जन्ममें भी धनके लिए अनेक आपत्तिओंको प्राप्त होता है- उसकी आशा अत्यंत बढ़ती ही जाती है- सेकड़ो प्रयत्न करने पर भी मेरे धनकी वृद्धि होती नहीं अथवा धनकी वृद्धि होकर भी वह नष्ट होता है ऐसे विचार कर वह महान् दुःखी होता है-

एदेसि दोसाणं मुंचंदं गंथजहणेण सच्चैसि ॥

तच्चिक्खरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥ ११६७ ॥

अमीभिरस्विलेदोपैग्रयत्यागी विसुच्यते ॥

भूरिभिस्ताद्विषदेअ निखयीकिर्यते गुणैः ॥ १२०५ ॥

विजयोदय—येसि दोसां कुंचा पूर्वोक्तान्परिग्रहयद्वगणतान्दोषान्दोषास्त्यजेदिति बोधप्रतिपक्षभूतान्पानधि समेते ॥

अथत्तागिनो दोषविच्छेदं गुणप्रसिद्धं चोपदिशति—

मूढारा—मुंचदि पूर्वोक्तान्दोषास्त्यजति । द्वितीयायेऽत्र पट्टी ॥

अर्थ—परिग्रहका त्याग करनेसे पूर्वोक्त सर्व दोषोंका त्याग हो जाता है, और इस दोषोंके प्रतिपक्षी औदार्य, निस्पृहता वगैरह गुणोंकी प्राप्ति होती है.

गंयन्वाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिरस ॥

णयरस खाइथा वि य इंदियगुत्ती असंगंछं ॥ ११६८ ॥

अंकुसो गतसंगत्वं विषयेअनिवारणम् ॥

इंद्रियाणो परा गुप्तिः पुरीणाभिव त्वातिका ॥ १२०६ ॥

विजयोदय—गंयन्वाओ संगत्यागः इंदियनिवारणे इत्ययमिंदियशब्द उपयोक्तैदियविषयः स्तम्बी य भिमि-
सत्त्वक्षणा । तेनायनये—इंदियक्षानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोंऽकुश इव इस्तितो निवारणे उत्पद्यमानात् ।
नगरस्य दादिया पि ॥ नगरस्य दातिका इव । असंगंछं निष्पत्तिग्रहता । इंदियगुत्ती इंदियगुप्तिरिंदियरक्षा रागोत्पत्ति-
निमित्तैदियज्ञानरक्षा ॥

तैमियरवेन्द्रियरूपोपाकत्यमाह—

मूढारा—इंदियनिवारणे इंदियक्षानस्य रागद्वेषमूलस्य निरोधने निमित्तमूवः । सप्तस्था निमित्तोदं विधानात् ।

अंकुसो य उत्पद्यमानतद्विारणे इति शेषः । खादिया वि य दातिका यथा निवारणोपायः । इंदियगुप्ति रागद्वेषोत्पत्ति-
निमित्तैदियक्षाननिवारणोपायः ॥

अर्थ—जैसे कुमार्गमें यश्वच हुए हाथीको अंकुश निवारण कर बोन्य मार्गपर लावा है, खंदक अर्थात् खाईसे जैसे नगरका रक्षण होता है वैसे परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष विसर्ग मूल कारण है ऐसे इंदिय ज्ञानकी

निवृत्ति होती है अर्थात् परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं; जिससे इंद्रियां अयोग्य कार्यमें प्रवृत्त होती नहीं.

पुनराश्वानः

११५८

सम्पन्नदुःखमि रण्णे अमंतविजोसहो जहा पुरितो ॥

होह दढमप्पमत्तो तह जिगंथो वि विसप्पसु ॥ ११६९ ॥

विपयेभ्यो दुरंतैर्भ्यस्त्यर्थात् ग्रंथवर्जितः ॥

अल्पमञ्चौपधो मर्त्यः सर्वेभ्य इव सर्वदा ॥ १२०७ ॥

निजयोदया—सम्पन्नदुःखमि संपन्नदुःखे रण्णे अरण्ये । अमंतविजोसहो मंत्रेण, विजया औपधेन च रहितः पुनान् । दढमप्पमत्तो होदि नितरां भद्रमत्तो भवति । तथा निगंधोऽपि क्षाधिक्रयदानैरेकलब्धानययावयत्तवारिजमन-
विचीनधिरहितो विपयारण्ये रागादिसर्वदुःखे साधयानोऽपि भवेत् ॥

निःसंगदस्याप्रमत्तताहेतुवयाह—

मूढारा—रण्णे अरण्ये । विसप्पसु इंद्रियोर्धेणु रागाद्वैषम्यप्रभावरहितः । याकाद्रव्य हि मनसा स्वीकृतं रागा-
द्वैषप्रवृत्ति करिष्यतो मोहनीयकर्मणः सहकारिकारणमिति तस्याग्रे सा न स्यात् । तदभावे च नापूर्वकर्मवैष हति नैर्मध्य-
मेव ग्रथको मोहोपाय इति भावः ॥

अर्थ—जिसको सर्वांगिष दूर करनेकी विद्या, मंत्र और औपधिका ज्ञान नहीं है ऐसा मनुष्य जिसमें सर्पो-
का बहुत ग्रन्थार है ऐसे अरण्यमें कारणवश प्राप्त होनेपर बहुत साधयान रहकर संपत्ते अपना वचान करता है.
नैसे क्षापिक सम्मददर्शन, केंद्रलब्धान, यथाव्याप्तचार्त्त्र, एतत्स्वरूपी मंत्र, विद्या और औपधिरहित निग्रंथ मुनि
रागद्वेषादि संपत्ते में हुए पंचेन्द्रिय विषयरूपी अरण्यमें साधयान रहते हैं. अभिप्राय यह है कि, परिग्रहका त्याग
करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं और विषयाभिलाषाका अभाव होता है.

रागो हवे मणुण्णे विसप्प दोसो य होइ अमणुण्णे ॥

गंथच्चाएण पुण्णे रागाहोमा हवे चत्ता ॥ ११७० ॥

रागो मनोहरं गंधे द्वेपथास्त्यमनोहरे ॥

रागद्वेपथपरित्यागो ग्रंथत्यागे प्रजायते ॥ १२०८ ॥

विजयोदया—रागद्वेपथोः कर्मणं मूल्योर्लिप्तिं परिग्रहः, पट्टिहत्यागे रागद्वेपथे एव सक्तौ भवतः । याद्यद्वयं मनसा स्वीकृतं रागद्वेपथोर्बाजं, तस्मिन्नस्मिन् सदकारिकाए न च कर्ममात्राद्वेपथोर्बाजं सत्यपि दृष्टिपटे दंडाचनंतरकारणवैकल्ये न यदोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥

एतेदयाद—

मूढारा—मणुण्ये वृष्टेयं मनसा स्वीकृते सति ॥

अर्थ—इष्ट विषयोर्मै रागभाव उत्पन्न होता है और अनिष्ट विषयोर्मै द्वेष उत्पन्न होता है, परंतु परिग्रह का त्याग करनेसे राग और द्वेष दोनों भी नष्ट होते हैं, रागद्वेष कर्मबंध होनेमें मूल कारण हैं, रागद्वेषमें ही कर्मबंध होता है, परंतु परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेषोंका त्याग होता है, मनमें विचार कर जब जीव बाह्य द्रव्यका अपीत बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है तब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, यदि सहकानिकारण न होगा तो केवल कर्ममात्र से रागद्वेष उत्पन्न होते नहीं, वयपि दृष्टिपट्टसे घट उत्पन्न होता है व यपि दंडादिक कारण नहीं होगे तो घटकी उत्पत्ति नहीं होती है.

कर्मणा निर्जडगोपायः परीपट्टसहनं । यथा शोकं पूर्वोपासकर्मनिर्जडं परिपोरदव्याः परीपट्टाः सोढा भवन्ति ग्रंथचेष्टापरणादिकं स्वज्ञेतेति व्याख्ये—

सीदुण्डदंसमसयादियाण विण्णो परीसहाण तरो

सीदादिणिवारणए गंधे णिययं जहेतेण ॥ ११७१ ॥

शीतावयोऽज्विलाः सम्यग्निवपद्यंते परीपट्टाः ॥

शीतादिचारकं संगं योगिना त्यजता सदा ॥ १२०९ ॥

विजयोदया—सीदुण्डदंसमसयादियाण ननु च उरयोगनिपते संकुशरहितता परीपट्टजयः । न तु शीतो-
प्यादयो नदि ते आत्मपरिणामाः यान्त्रपरिणामाश्च बंधस्वरनिर्जडानुपायो ॥ भवन्ति । योऽनात्मपरिणामो नास्ती-
निर्जरादेतुः यथा पुत्रलग्नतरुणद्वयः । अनात्मपरिणामाश्च शीतद्वयः क्षुत्पिपासाद्वयो दुःगन्धेतवः । ननु दूःखं तत्

किमुच्यते भुक्तिपासादयः परीषद्वा एति नैव योगः । क्षुदादिजन्यदुःखविरयत्वात् सुखादिशृङ्खानां । तेन भुक्तिपासाशीतोष्ण
यन्तामशकान्पादीनां परीषद्व्याचरो मुक्तिर्नोभिरुच्यते । सीदुष्पदसमस्याविराग शीतोष्णयन्तामशकादीनां । परिस्सहाणं उरो
विषया परीषद्वाणां उरो दृष्टं । केन संप्रतिनिविद्यारणेने शीतादीनां निषेधकान् । ग्रंथे विषयं चाहतेन ग्रंथाश्रित्यते लज्जता ॥

चेत्तादिसन्ध लज्जता दुःखनिर्वर्जणोपायः परीषदसहने कृतं स्यादित्याह—

मूलारा—परीषदहण शीतादिजन्यदुःखानां । उरो मृदयं । शीतादिदुःखोद्भवे निःसंमलेन मनः कृतमित्यर्थः ।

नियारण
नियारकान् ॥

परिषद् महत् करनेसे कर्म की निर्जरा होती है ' पूर्ववर्गमें जीवने जो कर्मसंचय किया है उसको निर्जरा
करनेकेलिए परिषद् सहन करना चाहिए ' ऐसा आगममें कहा है. ग्रंथ का अर्थात् वस्त्रप्रावरणादिकोंका त्याग करने
वाले मुनि परिषद् सहन करते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—दुःख आनेपर भी मंझेश परिणाम न होना ही परिषद् जय है, परंतु शीत, उष्ण, भूल, व्यास
वंगरहको परीषद् जय नहीं कहते हैं क्यों कि ये आत्मपरिणाम नहीं हैं. वे बंध, संतर, निर्जरा और मोक्षके उपाय
होते नहीं. जो जो आत्मपरिणाम नहीं है वे निर्जराके हेतु नहीं हैं जैसे बुद्धलके रूपादिक गुण, शीत उष्णता वंगरह
आत्माने परिणाम नहीं, क्षुधा, व्यास वंगरहभी आत्माके परिणाम नहीं हैं वे सब दुःखके कारण हैं. वे स्वयं दुःख
नहीं हैं इसयास्ते उनको परिषद् कहना योग्य नहीं है.

उत्तर—आपका कहना योग्य है. क्षुदादिकोंके उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षुदादिशब्दोंका विषय है. इस
वास्ते क्षुधा, पिपासा शीत, उष्ण, दंष्ट्रमद्यक, नाग्न्य इत्यादिकोंको परीषद् कहना अनुचित नहीं है.

इस गाथाका अभिप्राय यह है कि, शीत उष्ण इत्यादिकोंको मिटाने वाला वस्त्रादि परिषद् जिसने नि-
यमने छोड़ दिया है उसने शीत, उष्ण, दंष्ट्रमद्यक वंगरह परीषद्को छाड़ी आगे करके शूर पुरुषके समान जीत
लिया है ऐसा समझना चाहिये.

वेदे आदयः सर्वस्य हिंसावेऽयमस्य मूलं परित्यक्तो भवति परिग्रहं त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा निगमंथो सो वादादवसीदंसमस्त्यार्ण ॥

सहदि य विविधा वाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥ ११७२ ॥

शीतवातात्पादीनि कष्टानि सहते यतः ॥

क्रियतेऽनादरो देहे निःसंगेन ततः परं ॥ १२१० ॥

विजयोक्ता—अम्हा यस्मात् । निग्नयो सो निष्प्रियहोऽसौ । वाक्पुवसीदंसमस्याणं विविधां पाधां
वातात्पणीतवंशमशक्तानां विविधं दुःखं स्रद्धा विपद्यति सहते । तेन सहनेन । सदेहे सदेहे अणत्पदा आदराभावाः ।
शरीरे अकृतादराज्ज अहात्वेदोषं हिंसादिकं, तपसि च शशकत्वनिगृह्णेन प्रयत्नेन ॥

हिंसदिसकलसंयममूलं शरीरपरः संगं त्यजता त्यक्तं त्यादित्याह—

मूलपरः—स्रष्टम् ॥

जितने परिग्रहोक्ता त्याग क्रिया है उसने देहका समस्तही छोड़ दिया है ऐसा समझना चाहिये. क्योंकि
देहममत्व ही सर्व हिंसादिक असंयमका मूल कारण है. इस विषयका विवेचन—

अर्थ—यह परिग्रहत्यागी चात, पूष, शीत, दंशमशकदिपरिग्रहोक्ते होनेवाले विविध दुःख सहता है
इसलिये यह परिग्रहोक्ति अनादरवान् है यह बात निर्णीत होती है. ॥ शरीरसे समत्वभाव दूर होता है तब हिंसा-
दिक सर्व पापोंका त्याग होता है. और तपधर्म्ममें अपनी शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होती है.

संगपरिमगणादी निस्संगे णत्थि सत्त्वविक्षेवा ॥

उद्गणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्गेण वच्वन्ति ॥ ११७३ ॥

व्याक्षेणोऽस्ति यतस्तस्य न ग्रंथान्वेषणादियु ॥

व्यानाध्ययमयोर्विज्ञो निभंसस्य ततोऽस्ति नो ॥ १२११ ॥

विजयोक्ता—संगपरिमगणादी वरिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वाभिव्यक्तस्य यस्मिन्वगवेषणे हेतुनामस्तीति ।
तथा तत्त्वामिनां कोऽस्य स्वामी? त्वं च न कासौ अच्यतिष्ठते इति पुनर्योज्ञा? कामे संतोषो, अन्तर्मे दीनमनस्कता, तदन्तर्यं
तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृह्यते । निःसंगे संगराहिते णत्थि सत्त्वविक्षेपाः । न संति सर्वे व्याक्षेपाः ।
उद्गणज्झेणाणि ध्यानं अध्ययनं च । तयो व्याक्षेपमवात् वेतसि । तस्स अपरिग्रहस्य । अविग्गेणं वच्वन्ति विग्रमन्तेण
पतन्ते । सर्वेषु तपस्तु प्रधानतोर्ध्वान्स्वाध्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥

सर्वतपसासुतंसयोः स्वाध्यायध्यानयोर्नैःसंगहेतुकत्वे युक्तिमाह—

मूलारा—संगपरिणामादौ परिग्रहान्वेषणविरुद्धेन च वस्तुशोधोद्यत्तत्त्वानुवधानगवेषणतत्त्वार्थनतदाभ्य-
रितोपतद्व्यापदेव्यतदानयनसंस्करणवक्ष्यामीनि । विन्धेवा व्याशेषाधिकव्यासंगाः । अविग्वेषेण वर्धति निरंतरायं प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो परिग्रहोंमें विरक्त हुआ है, उसको परिग्रहोंको हटानेकी चिन्ता नहीं रहती है, जिस परिग्रहको लोक चाहते हैं उसको हटानेका प्रयत्न करते हैं, जिसके पास मेरी अभिलषित वस्तु मिलेगी ? क्या तेरे पास मेरी वस्तु है ? ऐसा प्रश्न करते हैं, उस वस्तुका स्वामी कहां रहता है ? इसकी खोज वे करते हैं, उसके पास जाकर पाचना करते हैं, यह वस्तु मिलने पर मन आनंदित होता है, परंतु नहीं मिलनेपर दीनता उत्पन्न होती है, अमीष्ट चीजको लाकर उसको सुंदर बनाकर रक्षण करते हैं, परंतु जो निष्परिग्रही हुए हैं ऐसे मनुष्य इन सर्व संसदोंमें दूर होकर मुली होते हैं, निष्परिग्रही मनुष्यों का मन अव्याकुल रहता है जिससे उनके ध्यानाध्ययन कार्य निर्यम सिद्ध होते हैं, सर्व तथोंमें ध्यान स्वाध्याय ये प्रधान हैं, यह निष्परिग्रहता उनकी प्राप्ति का उपाय है ऐसा अभिप्राय हम माथासे व्यक्त होता है-

गंधच्चाण पुणो भावविसुद्धी वि दीविवा होइ ॥

ण हु संगघडिदुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी ॥ ११७४ ॥

दर्शितास्ति मनःशुद्धिः संगत्यागेन तात्त्विकी ॥

संगासक्तमना जातु संगत्यागं करोति किम् ॥ १२१२ ॥

विजयोदया—संगच्छाण पुणो संगत्यागेन पुनः । भावविसुद्धी वि दीविवा होदि परिणामस्य विशुद्धिर्दीप्तिता
वर्दिता भवति । ण हु संगघडिदुद्धी नैव परिग्रहघटितशुद्धिः । संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी परिग्रहोत्पत्तुं करोति शुद्धि ॥
भावविसुद्धेरपि नैःसंग्यं क्षिणमित्याह—

मूलारा—वीविदा दर्शिता ॥

अर्थ—परिग्रहोंका त्याग करनेसे परिणाम निर्मल होते हैं और प्रतिदिन परिणामोंकी निर्मलता बढ़ती ही रहती है, परिग्रहोंमें जिसका मन सुगन्ध हुआ वे वह मनुष्य परिग्रहोंका त्याग करनेमें असमर्थ हो जाता है-

या न ममांता सतेसता कषायविषया सा च परिग्रहत्वान्मूलेति कथयति—

गिरसंगो चैव सदा कसायसङ्ग्रहणं कुणदि भिक्खू ॥

संगा नु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥ ११७५ ॥

निःसंगे जायते व्यक्तं कषायाणां तनूकृतिः ॥

कषायो दीप्यते संगेरिचनैरिव पावकः ॥ १२१ ॥

विजयोदया—स्मिस्तंनो वेप विष्णुद्विग्रहैव सदा कषायपरिष्काराभांस्तनूकरोति न सपरिग्रहः । कथं इति तदाचष्टे—संगा नु उदीरंति परिग्रहा उदीरयन्ति । कसाए कषायान् । अग्गीव अग्निरिव कट्ठाणि काष्ठानि ॥

किं न दनांतकषायमतेरन्तावि संगत्यागमुला वेत्यनुशास्ति—

मूलाता—उदीरंति उद्गाययंति । अग्गीव अग्निं यथा ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे ही यदि कषायसङ्ग्रहणा कर सकते हैं—

अर्थ—जो परिग्रहका त्यागी है वही अपने कषाय परिणाम क्षीण कर सकता है. परिग्रहवान् के कषाय कभी क्षीण होते ही नहीं. जैसे इन्फेक्सी प्राप्ति होनेसे अग्नि घटेगी ही कभी वह उपशान्त न होगी वैसे परिग्रहसे कषाय उत्पन्न होते हैं नष्ट होने नहीं.

सञ्चत्य होइ लहुगो रुवं विस्सासियं हववि तस्स ॥

गुरुगो हि संगमत्तो संकिज्जइ चावि सच्चत्य ॥ ११७६ ॥

लहुः सर्वत्र निःसंगो रूपं विश्वासकारणम् ॥

गुरुः सर्वत्र संग्रथः शंकनीयश्च जायते ॥ १२१४ ॥

विजयोदया—सत्यतः होइ सर्वत्र प्रयति । गमने आगमने च लघुगो लघुः । रुवं वेसासियं रूपं विश्वासकारि न भवति । तस्स निगम्य । यस्मिन्नायपरिष्कारक्यच्छान्तिप्राप्तोऽसाकमुपद्रव करोति पनं वा सेन चीचरादिना प्रञ्जाय नयतीति शंसं कुर्वन्ति परिश्रुतं दृश्यम् ।

निःसंगस्य लघुत्वविश्राम्तये वञ्छि—

मूलाया—सत्त्वतः गमनाययनादी । लहुगो अभासिको भवति निःसंगः । वेसासियं विश्रामकारि ॥

अर्थ—जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है वह सर्वत्र लघु होता है अर्थात् चित्तारहित होता है. उसके स्वरूपको देलकरही लोग उसके ऊपर विश्वास करते हैं. परंतु जिसके पास वस्त्र श्रावणादिक हैं उसके ऊपर लोक विश्वास नहीं करते हैं. इतने अपने पास कुछ छिपाकर रक्सा होगा ऐसा समझते हैं. तथा यह हमारा घन वस्त्रमें छिपाकर ले जायया ऐसी युंका उनके मनमें उत्पन्न होती. अभिप्राय यह है कि परिग्रह अविश्वासका कारण है.

सत्त्वत्य अप्पवसिळो निस्संगो णिब्बमओ य सत्त्वय ॥

होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सत्त्वत्य ॥ ११७७ ॥

प्रतिबंधप्रतीकारप्रतिकर्मभयावयः ॥

निग्रयस्य न जायते दोषाः संसारहेतवः ॥ १२१५ ॥

विजयो—सत्त्वत्य अप्पवसिळो सर्वत्र श्रोत्रे, नगरे, अरण्ये च अतमवशक्तः । निस्संगो निप्परिग्रहः । सत्त्वत्य य णिप्पमो सर्वत्र निर्भयाद्यः । होदि य णिप्पडिकम्मो भवति य निर्व्यापारः, कृपादिक्रियाभारंमरक्षितः । निप्पडिकम्मो य इव पूर्णकृतं इव परनाचिंष्टं कार्यमित्येतच्चास्य न विपत्ते ॥

निःसंगस्य स्यात्तंश्वतिर्भयत्यानारंभत्यनिश्चितत्यैयुजसंपत्तिमाह—

मूढार—णिप्परियम्मो परिकर्मभयः कृपादिअपारेभ्यो निर्व्याप्तः । निप्पडियम्मो इव पूर्ण कृतं, इव इदानीं करोमावृत्तं य पुरस्तात्परिप्यामि इत्येवमादिक आत्मनि चित्तासंस्कारोऽत्र प्रतिकर्म तस्माच्चिप्यान्तो निष्प्रतिकर्मा । अन्ये तु निप्पडियन्नो यतिः । निप्पडियम्मो निर्व्यापार इति न्यायान्ति ॥

अर्थ— निपाग्रही मनुष्य भावमें, नगरमें, अरण्यमें, सर्व स्थानोंमें अपने स्वाधीनही रहता है. उसको कदा भी नय नहीं है उसको खेतों, उद्योग, घटा करने की चिंता नहीं रहती है. यह कार्य आज मैंने समाप्त किया है जब यह अत्राचिष्ट कार्य कल या परसों करूंगा ऐसी चिंता उसको नहीं रहती है.

सुपर्यायेनो महत्तुयं भवति संगपरित्यागेनेति यदति—

भारहंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय णिब्बुदो होइ ॥

जह तह पयहिय गंथे निस्संगो णिब्बुदो होइ ॥ ११७८ ॥

महाश्रमकरे भारे रभसाङ्गारवानिव ॥

निरले सकले ग्रये निवृत्तो जायते यतिः ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—भारफलेतो पुरितो भारघटितः पुरुषः । भारं ऊरुद्वयं माय्यक्तार्थं । निवृत्तो होदि सुखी भवति । यथा सया विस्सेतो निवृत्तो होदि निष्परिग्रहः सुखी भवति । ग्रये एषद्विष ग्रंथान्तरित्वज्य । वापराभायलक्षणे दि सुरतं सर्वमेव । तथाहि—प्रशान्तादिना सुखादाययते जातं स्वास्थ्यमेव सुपममिति लोको मन्यते ॥

संगरथगासुगिरिवमाह—

मूढाता—ऊरुद्वयं अथवाये । निवृत्तो सुखी । सर्वमपि हि सांसारिकं सुखं वायाभायलक्षणमेव । भोज-

नारिना सुखापपनोदाजाते स्वास्थ्यं लोकरथ सुखन्यवहारोपलंभात् । एतद्विष परिलज्य ग्रंथान्तिःसंगःसन् ॥

विसफो सुखसी इच्छा है उसको परिग्रहका त्याग करनेसे महासुख प्राप्त होता है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ— जिसने अपने मस्तकपर योद्धा धारण किया है उसको वह योद्धा उबरनेपर सुख होता है. वैसे

ग्रंथका-परिग्रहका त्याग करनेसे मनुष्य सुखी होता है. बाधाका अभाव होना ही सुख है जैसे अब. खानेसे भूख

पिडती है तब जो स्वारथ्य प्राप्त होता है लोक उसकोही सुख कहते हैं.

यत्समादेवं परिग्रहग्रहणेऽतिप्रहयो जगमयमपिनो दोषाश्च—

तस्मा सख्ये संगे अणगणं वदुमाणं तीदे ॥

तं सख्यत्वं निवारहि करणकारवणुणाहिं ॥ ११७९ ॥

भवंतो भाविनो भूता ये भवन्ति परिव्रजाः ॥

जह्वाहि सर्वथा तांस्तव कृतकारितमोदितैः ॥ ११८० ॥

विजयोदया—समा रसमाप्तः । सख्ये संगे सर्वान्परित्यज्यात् । अणलयेदं अनागतान् । बहुधाज्ञो तीदे धर्तमानान्ती-
तारंय भवान् । सख्यग्रह निवारहि सर्वथा निवारय । करणकारवणुणाहिं कृतकारितारवणुमोदनेन । कथं अतीवो
भावी या परिग्रहो वंधकारणं येन निवार्यते? अयमभिप्रायः अतीतस्वस्थ्यागिसंबंधेषुपि वस्तुनि ममेदं यस्मासीदिति तदनु
स्मरणानुतागदिना अनुभवरिणामेन वंधो भवतीति मा कथ्यस्तदनुस्मरणं अनुरागे वा । एवं गतिष्यति इत्यर्थमेव यम
द्रवियं प्रति ॥

यत्समादेवं परिग्रहग्रहणेऽतिप्रहयो जगमयमपिनो दोषा भवेयुः—

मूलरूप—अणुगणदे भविष्यतीत्यंशुल मग वल्लिं वल्लिति, भाविन्यपि वस्तुनि स्वस्वामिसंबंधादुरागेणाशु-
भपरिणामेन प्राप्यंशो भवतीति भाविनो ग्रंथानिवारय त्वमिति क्षपकं नियुक्ते । द्वीदे अतीवान् उचाट्यवस्तु ममासीदि-
स्ततीतयस्तुन्यपि स्वस्वामिसंबंधादुत्तराणानुरागादिरप्यशुभपरिणामः प्राप्यवधाय प्रसवतीत्यतीतपरिग्रहनिवारणनियोगः ।
कारतलपुण्यार्ह कारतल कारणः कारणार्ण, अणुण्या अनुसा, अनुसविः ॥

परिग्रहत्याग करनेसे मुल मिलता है और परिग्रह ग्रहण करनेसे इस भवमें और परभवमें दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ— इसलिये हे क्षपक भविष्यकालीन, वर्तमानकाल सचंधी और भूतकाल सचंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर तथा छुट; कारित और अनुमोदनासे इनका तू त्याग कर.

शुक्ता— जो परिग्रह पीत चुका और जो आगे प्राप्त होनेवाला है वह वधका कारण कैसे हो सकता है ? इस पासे उसका निरवारण करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जो परिग्रह नष्ट हो चुकनेसे उसमेंसे स्वस्वामिसंबंध नष्ट हुआ है तोभी यह परिग्रह वस्तु मेरी थी ऐसा स्मरण होकर उसमें ममत्व होता है. जिससे अशुभ परिणाम उत्पन्न होकर वध होता है. इसी प्रकार भविष्य-
कालीन परिग्रहमेंभी ममत्व होता है. भविष्यकालमें मेरेको अशुभ चीज मिलेगी ऐसे सकल्प मनमें उत्पन्न होकर अशुभाशुभ परिणामोंसे कर्मबंध होता है इसलिये निकालसचंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर ऐसा क्षपकको आ-
चार्य उपदेश करते हैं

जावन्ति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ॥

तेहि तिविहेण विदो विमुचसंगो जहू सरीरं ॥ ११८० ॥

यावन्तः केचन ग्रंथाः संभवन्ति विराधकाः ॥

निर्वृतः सर्वथा तेभ्यः शरीरं मुंच निःस्पृहः ॥ ११८१ ॥

चित्तयोदधर—जापति केर संग यावन्त. केचन पटिपदा. । विराधका विनाशकाः । क्युअ ? नल्लयपय्म ।

तिविधकालसंयुता कालव्ययमृताः । वेदि तिविधेण विरल्यो विद्युत्संगो तेभ्यो मनोयाकाव्योर्विहताः सन् विमुक्तसंगः । अहं सत्परं त्वज शरीरे ।

मया रत्नवयविनामृता इत्येषाभ्यामभिरस्य निःसंगः सजंगं त्वजेति क्षपकमादिशति—

मृता—विराधया रत्नवयविनामृताः । अहं त्वज त्वं ॥

अर्थ—ओ त्रिकालमंगंधी परित्यक्त रत्नवयवके विनाशक हैं उनसे हे क्षपक तूं मन, वचन और कावसे विरक्त होकर अर्थात् निरपराध होकर इस शरीरका त्याग कर.

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चैव सच्चत्थ ॥

आसं तण्हं संगं छिद ममांसं च सुच्छं च ॥ ११८१ ॥

इत्थं कृतक्रियो दुंच क्षिपयं सार्वकालिकम् ॥

तृष्णामाशां क्रिया संगं ममत्वं त्यज सर्वदा ॥ ११९१ ॥

विजयोपेया—एवं कदकरणिज्जो एवं कृतकरणीयः । यरकर्मभ्यमारोपनां बांछता आहारशरीरत्यागादिकं । स परमभूतः । तिकाळे वि कालव्ययेऽपि । तिविधेण त्रिविधेन । सत्पराध सर्वत्र सर्वविधतां सुखसाधनगोचरं । आसं आशां । तण्हं एष्णां । संगं परिमदभूतां । छिद ममस्मि ममेदमिति संकल्पे छिदि । मुक्छं मूच्छां मोहमिति पाषट् ॥

इत्थं कृताराधनासिद्धयंगभूतसंकेतनाहारशरीरत्यागादिकर्तव्यः सन्ननासिद्विभ्रमसंस्कारवशाद्विषयसुखेषु ग्रहणभेद-
शरासाविषयके निर्मूलयेति शिक्षासर्वेष्यमाह —

मृता—सन्वदय सर्वेषु मनोतत्पर्यनादिविषयेषु । आसं आशां । चिरमेते ईदृशा विषया मनोदितोदिता भूयानुरित्यारंसा । तण्हं एष्णां । इमे मनागपि मत्तो मा विशिद्धवांता इति तीमं प्रवेषप्रवृत्त्यभिधापं । संगं तन्मयीभाव्यं । छिद छिदति त्वं । ममस्मि ममेमे मोन्या अहंयेषां मोक्षेति भंगत्वं । मुक्छं मूच्छां मूढतां निश्चेतनतां । अन्ये पुनरित्यमर्थं कथयंति—सर्वत्र शरीरावायातां । दृढतरं शरीरव्यापि मे भविष्यतीत्यादिबुद्धिः । तथा एष्णां सर्वोपायेन रक्षणपेक्षां । तथा संगमासक्तिं । तथा ममतां ममेदमिति प्रविवंधं । तथा मूच्छांमथैव विद्यामीति आसक्तिशुद्धिः । भोः क्षपकराज ! निवारयेति ॥

अर्थ—आराधना की सिद्धीके अंगभूत कर्तव्य जिससे किये हे ज्योतिं, शरीरसंछेदना जिससे की हे ऐसे

दे क्षपक ज्ञान' तू तीनों कालमें भववचन कायेसे सर्व परिग्रहोंकी आशा और तृष्णाका त्याग कर, संग, ममत्व और मूर्च्छाका त्याग कर, चिरकालक भोको सुख देनेवाले विषय उत्तरोत्तर अधिक ग्रहणसे मिले ऐसी इच्छा रखना उसको आशा कहते हैं, तृष्णा-ये सुखदायक पदार्थ कभी भी भोगसे अलग न होवे ऐसी तीव्र अभिलाषाको तृष्णा कहते हैं, संग-परिग्रहोंमें अतिश्रम्य तन्मय होना, ममत्व-ये पदार्थ भोगे योग्य हैं मैं इन का भोक्ता हूँ ऐसा मनमें संकल्प करना, और मूर्च्छा अर्थात् मोहयुक्त बनना, हे क्षपक तू आशा, तृष्णा, संग, मूर्च्छा वगैरह अशुभ भावोंको छोड़ दे.

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखाविजायमिदं जन्मनि प्राप्त्यं निर्दिशत्युत्तराध्या-

सत्त्वगंधविमुक्तो सीदीभूदो पसष्णचिसो य ॥

जं पावइ पीयसुहं ण चक्रवही वि तं लहइ ॥ ११८२ ॥

समस्तग्रंथनिर्मुक्तः प्रसन्नो निर्द्वन्ताश्रयः ॥

यत्प्रीतिसुखमगमोति तत्कुतश्चक्रवर्तिनः ॥ ११८० ॥

विजयोपपा-सत्त्वगंधविमुक्तो परित्यक्ताशेषाद्याभ्यंतरग्रंथः । सीदीभूदो शरीरीभूतः । पसष्णचिसो य प्रसन्नचित्तः सन् । जं पावइ पीयसुहं यत्प्राप्नोति प्रीत्यामकं सुखं । न चक्रवही वि तं लभति चक्रवर्त्यपि तत्र लभेत ॥

वाद्याभ्यंतरपरिग्रहत्यागसमुद्भवं सुखातिशयविहं जन्मनि प्राप्यसुपदिसति-

मूलापा-सीदीभूदो मध्येष्वितिकर्तव्यताविताभ्याकुलत्वात्प्रसन्नतापनिवर्तनाच्छैत्यं प्राप्तः । पीयसुहं जानंदात्मकं सौख्यम् ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे जो सुखातिशय इस जन्ममें प्राप्त होता है उसका आगेकी गाथामें उल्लेख करते हैं- अर्थ-जिसने वाशाभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग किया है वह शरीरीभूत होता है अर्थात् परिग्रह रहनेपर उसकी रक्षा करनेकी विता उत्पन्न होती, है, न्याकुलता बढ़नेपर मन संतप्त होता है, परिग्रहका त्याग करनेसे संतापका नाश होता है, जिससे श्रुतिराज शीतावस्थाको प्राप्त होते हैं, उनका अन्तःकरण प्रसन्न होता है, अतः ऐसी अवस्थामें जो सुख उनको प्राप्त होता है वैसा चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता है.

रागविवागसतण्णाविगिद्धि अवतित्ति चक्रवट्टिसुहं ।

णिस्संगणिन्वुइसुहरस्स कहं अगधइ अणंतभागं पि ॥ ११८३ ॥

गृह्याकांक्षाकारणं सेवते यचक्री सौख्यं रागपाकं वितृप्ति ॥

सौख्यस्येदं नास्तसंगस्य तुल्यं स्वस्योऽस्वस्यैः सौख्यमाप्नोति कुत्रा ॥ १२२१

दुःखानि नश्यन्ति शर्मोणि पुण्यन्ति कर्मोणि शुध्यन्ति चित्राणि संगे ॥

अट्टहीते यतः संयतस्यापि हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्ठेन पुंसा ॥ १२२२ ॥

इति पंचमं ब्रतम् ॥

विजयोदया—रागविवागसतण्णाविगिद्धि अवतित्ति चक्रवट्टिसुहं । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूपे विषयद्वलमासेव्यमानं रंजयति विषयेष्विति रागो विपाकः फले सुखस्योपुच्यते । सद्यः कृष्ण्या वर्तते इति सत्यम्, अनिदोयेन शार्ङ्गं फांक्षी जनयति इति अतिशुद्धिः । न विचरेण एतितरास्त्रितयधियुति यथेयंभूतं चक्रवर्तिमुखं । निस्संगणि-
प्सुदिहसुखस्स निःसंगस्य यच्चिर्बुधिसुखं तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥

कुतश्चक्रिसुहं निःसंगसुदामावपुच्यत इत्यारेकां निराकरोति ॥

मूळार—रागविवाग विषयसुखमासेव्यमानं विषये पुरुषं रंजयतीति रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकं चक्रिसुहं । सतण्णा प्रागुक्तलक्षणव्यानुबंधि । अविगिद्धी अविशयेन गृह्णित्वाकांक्षां ह्यांश्रमस्मिन्निति अतिशुद्धिः । अवि-
विप्ति नास्ति विषयेण पुनराकांक्षा निवृत्तिलक्षणेन वृप्तिः सौहृदस्य, पुनर्नोदयानि कदाचिक्वपिदेवेविषयरिणितिरूपं यद्य
तदविवृतिः । आ इत्थंभूतं चक्रवर्तिसुखमठ एतद्विलक्षणं निःसंगस्य यथेयंनिवृत्तौ संगत्यागे निर्देन्दुतायां सुखं मुक्तात्मनो-
य इमं तस्य नागं पि जन्तवांसमपि । कथमयेवञ्च अयेवत् प्राप्नुयाच्चदिति संबंधः ॥ आर्किचन्यम् ॥

निष्पत्तिप्रदतासे होनेवाले सुखसे चक्रवर्तीका सुख अल्प है. यह बताते हैं—

अर्थ—विषयसुखका उपभोग लेने से वह इंद्रिय-विषयोंमें आसक्ति करता है. इस वास्ते चक्रवर्तीका सुख
रागभाव को उत्पन्न करने वाला है यह कृष्णाक्षो बताता है, हम सुखमें अतिशय लंपटताप्राप्ति होती है. चार
चार भोगनेपर भी वृत्ति उत्पन्न होती ही नहीं. इसलिये परिग्रहका त्याग करनेपर रागदेहप्रदित यतीश्वरको जो सुख

प्राप्त होता है चक्रवर्तीका मुसल उसके अनन्त भागकी भी बरोबरी नहीं कर सकता है- इस तरह पाँचों महा-
त्राओंका वर्णन हुआ

महायत्तसंज्ञा धन्यशो अहिंसादीनामिति दर्शयति—
एवमहव्ययं ॥

गार्धेति जं महत्स्यं आयरिदाइं च जं महछेहिं ॥

जं च महछाइं सयं महब्बदाइं हवे ताहं ॥ ११८४ ॥

साधयन्ति महार्थं यन्महङ्गिः सेवितानि यत् ॥

महाति यत्स्वयं सन्तो महायत्तान्यतो विदुः ॥ ११८५ ॥

विजयुष्यतः—साधेति जं महार्थं साधयन्ति यस्यान्महाप्रयोजनं यत्संयमनिमित्तप्रत्यक्षकर्मकद्वयकनिवारणं
महाप्रयोजनं संपादयतीति महाप्रसाभि । आयरिदाइं च जं महछेहिं यस्याश्चरितानि महङ्गिः तस्मान्महायत्तानि इति
निदर्शितः । जं च यस्यान्महङ्गिणि रूपं महार्थं यतो महायत्तानि यदुल्लेखसमवेदसकलाहिंसाविरूपतया या महान्ति ॥

एवमाहिंसावीनि यत्तानि पंचाभि प्रवेक्ष्य साधयं तद्व्यापारविभोजननिष्ठयाविरक्षणं गाथा पञ्चोत्तरदासेन
व्यापिकायुः प्रयत्नं तेषां महाप्रसंज्ञाया अन्यर्थतां समर्थयते—

मूढारा— साधेति संपादयति । महत्स्यं असंयमनिमित्तप्रत्यक्षकर्मकद्वयकनिवारणलक्षणं महाप्रयोजनं ।
महछेहिं तीर्थकरादिभिः । महत्तानि धूलमृदमविकल्पसकलाहिंसाविरतिरूपतया महार्थं विपुलानि । हवे भवति । ताहं
आहिंसादीनि हिंसादिविरतिरूपानि दुष्टविष्टपाणि नो अगमनायत्ततोष्यया चारित्र्यमोहस्य क्षयोपशमादुपमादक्षयाद्या
प्रवृत्ता जीवस्य हिंसादिपरिणामव्यवृत्तयो वायत्तीवं न हिंसास्मि, नावृत्तमाहरे, न भैक्षुनं करोमि, न परिग्रहं
शुतनीत्येवभूताः परिणतय इति याचत ॥

अहिंसादिकं यत्तों की महायत्त संज्ञा अन्यर्थक है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अहिंसादिकों को महायत्त संज्ञा अन्यर्थक है असंयममे उत्पन्न होनेवाले नपीन कर्मसमूह का
निवारण करना यह महाकार्य इन अहिंसादिकों से होता है अतः इनको महायत्त कहते हैं- महापुरुषोंने इनका

आचरण किया था इस लिए भी इनको महीयत कहते हैं- अथवा ये स्वयं महान् हैं अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म प्रकारके पंच पातकोंका त्याग ही इनका स्वरूप है इसलिये भी इनको महान्त कहते हैं-

तेर्हि चैव यदाणं रक्खं रादिभोयणणियत्ती ॥

अट्टप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥ ११८५ ॥

रक्षणाय यता तेषां निवृत्ती रात्रिमुक्तितः ॥

रात्रांतमातराद्यष्टौ सार्धाध्यापि-य-भावनाः ॥ १२१४ ॥

विजयोत्था-तेति चेय यदाणं तेषामेवाहिंसादिखतांतं । रक्षायं रक्षणार्थं । रात्रिभोयणणियत्ती रात्रि भोजनादिमुक्तिः । रात्रौ यदि मिश्रार्थं पठेदति तसाम्स्यावरांश्च हन्याद्दुःखालोकयात् । न य रायकागमनमार्गं, तस्यापि वक्ष्यामहेति, आत्मनो वा दच्छिपुस्त वा निपातदेशे, दीपमानं यादां चोभं न वेति निरूपयितुमर्थं कथं समर्थः ? किंवापि दुःखरिहाराय जानाति स सूत्रमात्रं कथं परिहरेत् कष्टरुचकान्तिर्कं रात्रिकायाः ग्राहने वा कथं शोधयति । पक्वविभगिकां वा पचनात्तमिह्यालोचनं सव्यतापरीक्षितवियर्थं कुर्वतः कथं सत्ययतमवतिष्ठते ? सुप्तेन स्वादिभूतेभारसमण्याहारे पृष्ठतोऽवच्छादनं क्त्वात् । कश्चिद्भ्राजने विवैय स्वापितं, मानवासे भुंजानस्यापरिग्रहयतलोपः स्यात् रात्रिभोजनात् व्यावृत्तेः सकलानि यतान्यवतिष्ठते संपूर्कानि । अट्टप्पवयणमादाओ अष्टौ प्रयत्नमादाकाश्च सङ्कतपरिपालनार्था । एवं पंच समितयः मिश्रं गुणयय प्रयत्नमादाकाः । रत्नत्रयं प्रयत्नं तस्य मातुर् इमेताः । क. उपमार्थाः । यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता, पक्षे, गुप्तिसमितयोऽपि त्रतानि पाठ्यन्ति । मायणामो य सव्वाओ भावनाश्च सप्तः । यथा तत्ता पुत्राणां रायक्षयोपद्रवमारित्रमनोहोपशमस्योपशमपेक्षेणामना नाद्वेतेऽरुहृष्टप्रत्यक्षे, इति भावनाः । अथ किमिदं ब्रूते नाम ? पायज्जीवं न हिमक्ति, नादुतं बदमि, नादसमादेते, न मिथुवक्रमं करोमि, न परिग्रहमादेते । एतेष्वंभूत धारमपरिणाम उत्पद्यः कथंचित्तयेव अयतिष्ठते उत दिनयति वा ? । अवस्थानमदुभयविरुद्धं । जीवादिपरिणामे तस्य थज्जमे वा प्रवृत्तस्य इत्यमुपयोगमावाहत् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारा रक्षा ततः किमुच्यते यतानां रक्षायै रात्रिभोजनदिरतिरिति । यदा न दिनसोत्पुपवोगो न तदा मानृतं यदामोत्येयनात्तयः संति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरे वाक्यम् । अथोच्यते-

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि त्रतानि । तत्र नामवर्तं कस्याचिद्वृत्तमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामयत आत्मनः शरीरस्य चर्चं प्रत्येकत्वार्थ आकारः समभाविके परिणतस्य सद्गम्यस्यापनादृतं । भाविद्यतत्त्वप्राप्तिमानपरिणति-रात्मा आगमद्रव्यवर्त । व्रतस्य राशीरं त्रिकाळोचरं, क्षायकशरीरवर्तं । चारियमोहस्य क्षयात्क्षयोपशमाद्धा यस्मिन्ना-त्मनि भविष्यति विरतिपरिणामः स भाविजनं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारितमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं

कर्म प्राप्तं । न हि नस्तीतिदिष्टो ग्रानोपयोगो यष्यते आगमभाष्यमतमिति । नो आगमभाववत्तं नाम चारिजमोक्षोपशमात्
 श्रयोपशमात् क्षयाशा ननु तो हिंसादिपरिणामाभायः आदिस्मादिनतं । प्राणिनो विद्योजने प्राणान्नं, असदभिधाने, अदत्ता-
 नाने, मिथुनरन्विदोष, मूर्च्छायां याऽपरिणतिरिति यावत् । तथा चोक्तं— 'हिंसावृत्तस्थेयमक्षपरित्रेभ्यो विरतिवित-
 तिति' हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मव परिणामस्त्वभ्यो आत्मनो व्याघृत्तिर्हिंसादिव्यपरिणतिव्रतमिति सुगार्थः । यस्मि-
 दिमाद्व्याघृत्तत्वं नाम यद्गुरुं जीवस्य प्रवर्तितं तत्परिणाम्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमगुरुभिश्च । यस्मि-
 न्याऽस्मि नहि नदयति सति च न विनश्यति तत्तत्पाठयति यथा दुर्गो राजानं । तस्यां रात्रिभोजननिवृत्त्यो प्रवचनमाह-
 वानु आपनानु या सतीषु हिंसादिव्याघृत्तत्वं भवति । न सात्वसतीषु इति युक्तमुक्तं सूत्रकारेण ॥

वरकस्तद्वलणाधुपाय इत्याह—

मूलाप—रक्षदं अणयपरिहातलक्षणं रक्षणमिति । पण्यनमादाभ्यो प्रवचनमातरः । प्रवचनस्य रत्न-
 यत्वा मातर इव पुनरां मातर इव सत्यप्यदोनादीनां अपादनिवारणपरयणास्तिस्रो गुणयः, पंचसमितयश्च । अथवा प्रव-
 चनस्य मुनेश्चारिजसत्योत्पत्तरक्षणविशेषनिषिधानास्तथा व्यपदिश्यते । तथा बायोपाम धर्मोपदे-नृत्तं ॥

अहिंसां पंचात्मप्रतनय यतार्गं जनयितुं ।

मुपुत्तं गानुं या विनलयितुम्याः श्रुतविषः ।

विदुस्त्वित्यो गुप्तीरपि च समिठीः पंच नदिमा ।

अयन्तिवद्यावाप्नो प्रवचनसविधीव्रतपरः ॥ १ ॥

भाषणाभ्यो धीर्यान्तरायचारिजमोहलवोपशमाद्यपेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसकृद्वच्यन्ते इति भावना असकृन्ना-
 वृत्तयः । अत्र्याससंस्मरा इति यावत् । सत्र्याभ्यो निःशब्दताभावनासंस्मार्थमिदं । यस्मिन्नयति यद्विनश्यति सति च
 तित्तिव्रति तत्तत्परिणामयति । यथा दुर्गो राजानं । तिष्ठति च सति रात्रिभोजननिवृत्त्यादिपरिणामजाते जीवस्य हिंसादिव्या-
 घृत्तं नाम नोआगमभावप्रकाशनामयेवं स्वरूपं न असतीति तत्परिणाम्यन्ति रात्रिभोजननिवृत्त्यादयः क्षुद्रद्वित्यपरिणतय
 इति निर्णयः । ननु च जीवात्र दिनस्मि, इत्यादि परिणामो नवमित्युच्यते । न किमुलवः सन्विनश्यत्तु तथैवायवति-
 ष्ते । न तापत्रनतिष्ठते अतुभयविरोधाजीवादितत्त्वज्ञाने तच्छब्दज्ञाने चायवृत्त्यात्मनस्तथोपयोगप्रतीतेः । अथ विनश्यति
 परिणामान्तरोपत्तायमात्रिधीव्यते वदि तत्प्राप्तो धनपुन्यरा रक्षा । सतो ह्यपणपरिहारो रक्षा । तवस्तोति चेवेत्यदि
 मयं युक्तिरित्युक्तमिष पर्यायः । अनोच्यते—यावज्जीविकहिंसादिन्यावृत्तिरूपपरिणतस्य अवस्थातुरात्मनः कथंचित्तथैवा-
 यस्थानस्य विवक्षितत्वाद्भोचदोषोऽत्रकामं लभते इति ॥

अर्थ—इन अहिंसादि बातोंके रक्षणार्थ रात्रिभोजन त्यागका उपदेश आचार्योंने किया है. यदि रात्रिमें भिक्षाके लिए मुनिपर्यटन करेंगे तो त्रस और स्वावर जीवोंका वध होगा. क्योंकि वे रातमें नहीं दीखते हैं. आहार देने वालेका आगमन मार्ग, आहारके पदार्थ रखने का स्थान, स्वयं जहाँ आहारके लिए खंड हुए हैं वह प्रदेश, जहाँ उच्छिष्ट अन्न गिरता है वह स्थान, दिया जाने वाला आहार ये सब योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं इनका निरीक्षण रातमें करना शुभ्य नहीं है. दिनमें भी जीवोंका परिहार करना अशुभ्य है. फिर रात्रीमें उनका कैसा परिहार हो सकेगा. पत्नी वगैरह अब परोसनेके साधन और अन्न रखनेके पात्र रातमें सोचना अशुभ्य है.

जिसके विषयोंका सम्यक् निरीक्षण हुआ ही नहीं ऐसी पदविभागिका आलोचना अथवा एपणा समिति आलोचना करनेवाले युनिकं सत्यव्रतका कैसे रक्षण होगा. दानका स्वामी सोया होगा तो उसने नहीं दिया हुआ आहार ग्रहण करनेसे अचौर्य त्त नही टिक सकता है. किसी पात्रमें दिनमें स्थापन किया हुआ आहार वस-विकामें ले जाकर भोजन करनेसे अपादिग्रहव्रतका रक्षण कैसे होगा. रात्रिभोजनका स्वाग करनेसे सर्व व्रत पूर्ण होते हैं. इन बातोंके रक्षणार्थ ही आठ प्रवचन माताओंका और सर्व भावनाओंका रक्षण करना चाहिये. तीन गुणित और पांच समितिओंको प्रवचनमाता कहते हैं. रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं. इस रत्नत्रयकी ये गुणित और समिति माता के समान है. जैसी माता पुत्रका अपाय से रक्षण करती है वैसे गुणित और समिति व्रतोंका रक्षण करती हैं. सर्व भावना भी व्रतोंका रक्षण करती हैं.

वीर्यान्तराप कर्मका क्षयोपशम, चारित्र्यमोहका उपशम अथवा शयोपशम इनसे युक्त ऐसे आरम्भके द्वारा जो बारबार पाली जाती हैं उनकी भावना कहते हैं.

व्रत किमकी कहते हैं ? उत्तर—आमरण में हिंसा नहीं करूंगा, शठ भाषण नहीं करूंगा, दूसरेने नहीं दी हुई वस्तु मैं ग्रहण नहीं करूंगा, मैथुन सेवन नहीं करूंगा और परिश्रमका स्वीकार नहीं करूंगा इस प्रकारका जो आत्मार्थ परिणाम उत्पन्न होता है. उसको व्रत कहते हैं.

शंका—यह आत्मशक्त परिणाम कथंचित् वैसा ही रहता है अथवा नए होता है ? यदि यह परिणाम आत्मार्थ स्थिर रहता है ऐसा कदापि तो यह कहना अनुभवविरुद्ध है. क्यों कि जब आत्मा जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जाननेमें उद्युक्त होता है अथवा अज्ञान करनेमें अपने चित्तको लगाता है तब उपर्युक्त परिणाम आत्मार्थमें

नहीं रहता है। यदि यह वतरूप परिणाम हमारे परिणाम उत्पन्न होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहोगे तो वह असहिष्णु ठहरा, असहिष्णुता रक्षण कर्ता कर सकते हैं। कोई पदार्थ सक्षुब्ध होनेपर ही उसमें अपाव और परिहार हो सकते हैं। अतः अतोंके रक्षणार्थ राखिभावन त्यागका वर्णन करना व्यर्थ है।

उप में प्राणिका घात नहीं करूँगा ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है तब मैं असत्य नहीं बोलूँगा वरन् परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। तब अन्य परिणामोंके विषयोंमें क्या कहना चाहिए।

उपपुक्त शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—

नामादिक निरूपणोंसे अतोंके चार प्रकार होते हैं। किसीका अत ऐसा नाम रचना यह नामअत कहलाता है। स्थापना अत—हिता, असत्य, चोरी इत्यादि पापोंसे निवृत्तिरूप परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए हैं वेसा आराम और शरीर दोनों भी वंशकी अपेक्षासे एकलक्ष्य हुए हैं। अतः सामायिकमें परिणत हुए जीवके आकारमें अतोंकी स्थापना करके अतोंको स्थापना अत कह सकते हैं।

आगम द्रव्यअत—भविष्यकालमें आत्मामें अतोंके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला अर्थात् आननेवाला ज्ञान-परिणाम अतोंके स्वरूप आननेमें अनुपपुक्त है। ऐसे ज्ञानपरिणत आत्मको आगम द्रव्यअत कहते हैं।

ज्ञापकशरीरअत—अतत्र आत्माका त्रिकालगोचर जो शरीर उसको ज्ञापकशरीरअत कहते हैं।

चारित्र्य मोक्ष कर्मके धर्मसे, अथवा धर्मोपश्रमसे जिस आत्मामें चिरात्किरूप परिणाम उत्पन्न होगा वह आत्मा भावअत कहलाता है।

उपश्रममें अथवा धर्मोपश्रममें जो चारित्र्य मोक्षकर्म रहा है उसको नौ आगम द्रव्य व्यवहिरिककर्म अत कहते हैं।

मैं हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा इत्यादिरूप जो ज्ञानोपयोग उसको आधर्मभावअत कहते हैं।

चारित्र्य मोक्षनीय कर्मका उपश्रम, धर्म अथवा धर्मोपश्रम, होनेपर जो हिंसादि परिणामोंका अभाव होता है उसको आर्हिसादि अत कहते हैं। इसको नौ आगमभावअत कहते हैं।

प्राणिजोते प्राणोंका विनियोग करनेमें प्रयत्न नहीं करना यह अर्हिसाअत है। झूठ बोलनेमें, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करनेमें, मीथुनमें, और ममत्वमें आत्माली परिणति नहीं होना इनको क्रमसे सत्यअत, अर्चोअत, वस्तु

अन्ये तु अण्ड्याणं ग्रथानां । आवरणं सर्वथाविनाश इति न्यास्यन्ति । तथा चोक्तम्—

तेषां पञ्चानामपि महाग्रन्थानां विनाशने शंका ॥

अस्मद्विपत्तिञ्च भवेद्विभावरीमक्षसंरोधेन ॥

रात्रियोजनप्रवृत्तौ हिंसादयः कथयिष्ये चेदुच्यते । रात्रौ भिक्षार्थं पर्यटन्यागिनस्त्रसान्धावर्यञ्च हिनस्ति । तेषां तमस्यहरदत्वान् ॥ न च दायकागमनयार्गे, तस्य स्वस्य च अवस्थानवेलां, भोजनमाजनादिस्थापनश्रमं, उच्छिष्टहरणं वा निपातयेत्, शीयमानं चाहारं, योग्यप्रयोगं देति निरूपयितुं पारयति भोग्यप्रतिबद्धस्थित्वात् ॥ प्रदीपेऽपि प्रबोधितेऽतिसूक्ष्मरत्नानां निरूपणं न स्यात् । पतंगद्विषयप्रसंगञ्च स्यादिति रात्रौ भुञ्जानः कथमर्हिसन्नतमनुपालयेत् । तथा रात्रौ भुञ्ज्या पर्वविभागिकमेवमासमित्यालोचनौ सव्यगपरीक्षितविषयां कुर्वतः । कथयिष्ये सत्यमतमयतिष्ठेत् । तथा सुप्रस्य स्वाभिभूतस्याहारमन्येन कृते रात्रौ तद्वज्रद्वया गृह्णेत्यवचादानमपि कथं न स्यात् । तथा विद्विद्योगिणो वैरिणो वा निःशक्तिता रात्रौ मार्गादौ प्रसक्त्यर्थं नाप्रायन्ति । रामांशाः स्यैरिण्यो वा ह्लादयितारवन्द्यः । तथा दिवावीर्यं मिलयन्तौ स्वनाम्ने स्थापितं आहारं रात्रौ भुञ्जानः समंशः किमिति न स्यात् । ततो महाव्रतसंपूर्णताविच्छन्प्राप्तिभोजनवितरणं पट्टमणुव्रतमनुविष्टैरेव । अणुव्रतत्वं पात्य दिवा भोजनस्यापि करणम् । एवाहुः—उदके अणुव्रदे रात्र्यभोग्यादौ वैरमणमिति । तथा चात्रोच्यते धर्मादौ ॥

पर्येतन्नि महाफलानि महतां सांख्यानि विप्रवित्तस्यस्मन्तीति महति नक्तमयनोदग्राणुव्रताग्रवि ये ॥

मार्गित्राणमुत्तमप्रवृत्त्युत्तरमातुःशक्त्यपूर्णभवत्साम्याः शुद्धदशो ग्रथानि सक्तदीर्घांश्च विवेकीयिष्ये ते ॥

न्यासिमिदंरात्रौ गृहीतः ममिनीञ्च लब्धयति—

अण्ड्यादौरोपरमणदरस्य गुत्तीओ ह्येन्ति तिणोव ॥

चेद्विदुकागमस्य पुणो समिदीओ पंच विदुओ ॥ ११८६ ॥

मुद्रा—अण्ड्यादौरोपरमणदरस्य आस्रवहारनिरोधासक्त्यः । चेद्विदुकागमस्य गमनवचनादिकं कर्तुं प्रवृत्तस्य ।

उक्तं च—

मपंति गुप्तस्त्रियो योगनिग्रहलक्षणाः ॥

अर्थ—सन्निभे आहारप्रसंग हांनेपर हिंसादिक पांच पापोंकी उत्पत्ति होती है. अथवा शंका उत्पन्न होती है. अर्थात् सन्निभोजन करनेसे हिंसादिक पाप उत्पन्न होते हैं या नहीं ऐसा संशय उत्पन्न होता है. सन्निभोजन करनेसे हिंसादिक पाप ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं किंतु इससे यत्किना नाश भी होता है. हंठ, सर्प, कंटक इत्यादिकसे यत्किना याच भी होगा. यत्ति यदि सन्निभे आहार करनेके लिए आवश्यकें घर जायेंगे तो सर्पादिकोंसे उनके प्राण नष्ट होनेकी संभावना है.

अथचमनातृकतयाप्यध्यायोसरप्रर्षस्तत्र मनोमुक्तिं यागुप्तिं श्याव्यातुभावातोत्तराया—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं ॥

अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥ ११८७ ॥

मनसो दोषविस्सेपो मनोगुप्तिरितीप्यते ॥

वाग्गुप्तिश्चाप्यलीकादेर्निवृत्तिर्मौनमेव च ॥ ११८६ ॥

विजयोव्या—जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं । या रागाद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्नैवसत्तां जानी-
हि मनोगुप्तिं । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति प्रवृत्त्ये किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिर्याप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेदं गुप्ते मन-
सस्य जा रागा । अमनूतं तथापि असत्तां का रक्षा ? सतोऽप्यप्यपरिहारोपयुक्ततयुज्यते । किं च मनःशब्देन किमुच्यते
द्रव्यमन उत भावमनः ? इव्यवर्णमनशब्दे तस्य कोऽप्यायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात् । किं च द्रव्यांतरेण तेन
रक्षितेनास्य जीवस्य फलं च प्राप्तमनः परिणामोऽनुभवाभाववति । ततोऽप्युक्ता रक्षामनः । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्ष-
योपशमसंज्ञां ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अथायः कः ? यदि विनाशः स न परिहृत्युं सस्यते यतोऽनुभयविक्रो विनाशः ।
अथवा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरामनः स्यात् । ज्ञानानीह बीच्य इवानास्तमुत्पद्यते न चास्ति तद्विनाशोपायः । अयि
च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टिय किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ॥

अथ प्रतिपिधीयते—नो इन्द्रियमतिरिद्ध मनःशब्देनोच्यते । सा रागादिपूरिणामैः सह षट्कालं आत्मनि प्रवर्तते ।
न हि विषयायग्रहादिज्ञानमंतरेष्वास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, बहुभयसिद्धिर्वास्ति नाशरा युक्तिः अनुगम्यते । वस्तुतत्वा-
नुपाधिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न घतेते इत्येतदप्यलमसाक्षिकमेव । तेन मनसस्तत्वावप्राप्तिर्नो रागादिभिरसह

चरिता या सा मनोगुप्तिः । मनोबहणं क्षानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तरागद्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरूपया इन्द्रियमतै
भुते, अवधी, मनःपथे या परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । इत्येते च । अथवा मनःकट्टेन मनुते य आत्मा स एव
भगवते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैवं पूरे सम्यग्योगनिब्रह्मो
गुप्तिः इष्टकृतमनोपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निब्रह्मो रागादिर्कार्बकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । अलिगादिणिपत्ती वा मोणे
या दोर यच्चिगुप्ती विपरीतायंमतिपत्तिहेतुत्वात्परदु रोल्यचिनिमित्तत्वाच्चाधर्माया व्यावृत्तिः सा वागगुप्तिः । ननु च क्षावः
पुत्रत्यात् विपरीतायंमतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वांचो धर्मो न बालो संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् ।
सद्युदिनत् । एवं तदि व्यहरीसत्पक्षपादरूपमसंसापरात् परनिदायपृच्छात्परोपद्रवनिधिनाथ वचसो व्यावृत्तिरात्मम-
त्वाभाभूतस्य वचसोऽप्रयत्नो वागगुप्तिः । या चायं प्रवर्तयन् अमुषं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह प्रहण वागगु
प्तिक्षेपेण याचितोऽपराधप्राप्तकृता वाचः परिहृते वागगुप्तिः । मोने वा सकलमया वचसो या परिहृतिः सा वागगुप्तिः ।
अधोपपन्नचनेऽप्रपुष्टिः प्रेक्षार्थकालितया योगवं तु शक्ति या न वा भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तव्या ततो महाभेदो
गुप्तिरसमिष्टो । नीले वागुप्तिवत् स्फुटतरौ वचोभेदः । योगवत् वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चित्तदनुपादकतेति॥

मनोगुप्तिं वागगुप्तिं च लक्षयति-

मूलाः—मजस नो इन्द्रियज्ञानलक्षणादय मनसस्तत्त्वावप्राहिणो । सा रागादिणिपत्ती रागद्वेषादिभिरात्मपरिणा-
मैरसहपरिता सा मनोगुप्तिः । अननि हि बहुतरादिकरुले ह्यपदिबिषयान्मोम्याभोरूपरूपतया गृह्णति सत्यात्मनो रागाद्वेषौ
प्रवर्तते । उपेक्षणीवरूपतया तु तेजान्मन्त्रीकुर्वाणि तदप्रवृत्तिरेव तथा प्रवर्ततेः ॥

वदधोनिद्रियैर्गुह्यमुक्षति द्वेष्टि रच्यते ॥

वतो वदो भ्रमलेषे मोदव्युद्गतः पुमान् ॥

अविद्याभ्याससंहारैरवदो क्षिप्यते मनः ॥

तदेव ज्ञानसरस्वतैः स्वतस्तत्त्वेज्जविमुक्ते ॥

इत्यागमसद्भावाच्च । मनोबहणं ज्ञानोपलक्षणं । तेन सर्वो बोधो । निरस्तरागादिकलङ्को मनोगुप्तिः स्यादन्य-
था इन्द्रियमतौ, धुनेऽवपौ मनः पर्वये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । अथवा मनुते विचारयति हेयमुपादेयं
च तत्वं वोऽरागात्मात्र मनः शब्देनोच्यते । तस्य रागादिरूपेण अपरिणतिर्मनोगुप्तिरिति ब्राह्मम् । एवं च सति सम्य-
ग्योगनिब्रह्मो गुप्तिरित्यपि न विरुद्धयेत् । दृष्टफलमनपेक्ष्य हि योगस्य वीर्यपरिणामस्य निब्रह्मो रसादिकार्यकरणनिरोधो
जीवस्य नाथावरं तदव्यतिरेकत्वात् ।

पुणल्लविवाहोदयेन मन्ववयणकायजुत्तस्य ॥

जीवस्स आ हु सत्ती कम्ममग्गकारणं बोधो ॥

इति वचनाय योगसूत्रेणान्न वीर्यमुच्यते ॥ अलिंगादिपिपति विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्प्रसङ्गः श्रोत्यत्तिनिमित्त-
त्वाद्याधर्मायाः याचो व्यावृत्तिः सा याम्युतिः तथाविधवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यरूपेणापरिणतिरात्मन इत्यर्थः । मोक्षं
सकलप्राप्तप्रवृत्तिनिमित्तवीर्यनिरोधो जीवस्य । अयोग्यवचनो न वदत्येव, प्रेक्षापूर्वकारितया बोधेन्यं तु यत्किं न वेति प्रथमा
वाग्युक्तिर्भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृतेत्यनवगोचारेण संख्यः । मोक्षपक्षे ॥ अकारणवत्काश एव ॥

प्रवचनमाताओंका व्याख्यान आचार्य सविस्तर करते हैं प्रथमतः मनोयुति और वाग्युत्तिका लक्षण
कहते हैं—

अर्थ-रागद्वेषसे मन परावृत्त होना यह मनोयुत्तिका लक्षण है, असत्य भाषणादिकसे निवृत्त होना अथवा
मौन धारण करना यह वचनयुत्तिका लक्षण है

शंका—प्रवृत्त हुये मनकी युति होती है अथवा रागद्वेषमें अग्रवृत्त मनकी युति होती है ? यदि मन
छुन कार्यमें प्रवृत्त हुआ है तो जाका रक्षण करनेकी क्या आवश्यकता है, और यदि किसी कार्यमें वह प्रवृत्त ही
नहीं है और वह यदि असद्रूप है तो उसके रक्षणकी जरूरत ही क्या है ? जो चीज स्वयं सद्रूप होनी तो उसमें
अपाय होनेकी समावधान रहती है अतः उसको अपायसे वचाना योग्य होगा, असत्का न नाश होता है और न
रक्षण होता है,

और भी हम आपको पूछते हैं कि, मन शुब्दका आप क्या अर्थ करते हैं, मन शुब्दका द्रव्यमन ऐसा
अर्थ होता है या भावमन ऐसा अर्थ आप मानते हैं ?

द्रव्य वर्गणासे बना हुआ तो उसको ही हम मन कहते हैं ऐसा यदि कहेंगे तो उसका अपाय क्या
चीज है जिससे हम उसको वचना चाहते हैं ? अथवा अन्य पदार्थ के द्वारा उसका रक्षण करनेसे भी कौनसी फल-
निष्पत्ति होगी ? क्या आत्माके परिणाम अशुभ फल उत्पन्न करेंगे ? अर्थात् द्रव्यांतरके सहायसे आत्मामें अशुभ
परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं इसवास्ते आत्माका अपायसे रक्षण करना व्यर्थ है

तो इंद्रियमविज्ञानावरण कर्मके श्रयोपश्रमसे जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है उसको मन कहते हैं ऐसा यदि

आप कहते हैं तो उस मनका अपाय क्या चीज है ? नाश होना ही अपाय है ऐसा कहोगे तो इस नाशका परिहार करना शुभ्य ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका नाशपर्याय होता ही है। यदि मनका नाश नहीं होता है ऐसा मानोगे तो आत्माकी एक ही ज्ञानमें हमेशा प्रवृत्ति रहेगी। परंतु समुद्रमें जैसे हमेशा अनेक लहरें उत्पन्न होती हैं वैसे आत्मामें हमेशा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। उनका अविनाश होनेका अर्थात् वे स्थिर रहनेका जगतमें कोई उपाय नहीं है, इंद्रियसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान रामादिकोंसे युक्त ही रहता है। अत एव रामादिकोंसे व्यावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है ऐसा समझना अयोग्य है।

उपर्युक्त शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं:— नो इंद्रियमतिको इस मन कहते हैं अर्थात् नो इंद्रियावरण फर्मका श्रयोपग्रह होनेसे जो जो ज्ञान मनमें उत्पन्न होते हैं उसको हम मन कहते हैं। यह नो इंद्रियमति रामादि परिणामोंके साथ एक कालमें आत्मामें रहती हैं। विषयोंमें जब अवग्रह, ईशदिज्ञान होते हैं तब रामदेवकी भी साथ प्रवृत्ति होती है। यह सपके अग्रभवमें आता है। इसकी सिद्धि फलनेके लिये अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है। परंतु जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका मन विचार करता है तब मानसिक ज्ञानके साथ रामदेव नहीं रहते हैं। यह भी अनुभव सिद्ध है। जब मन वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानते समय रामदेवसे रहित होता है तब मनोगुप्ति आत्मा में है ऐसा ममता जाता है। अर्थात् जो जो ज्ञान रामदेवसे रहित होगा वह वह मनोगुप्ति ही है, ऐसा समझना अयोग्य न होगा। मनोगुप्ति इस सुब्दमें मत शब्द उपलक्षणात्मक है। अर्थात् रामदेवरूपी कलंकसे रहित सर्व प्रकारके ज्ञानोंको मनोगुप्ति कह सकते हैं। अन्यथा इंद्रियज्ञान, बुद्धिज्ञान, अधिज्ञान, और मनःपर्यवधानमें घरिणत और राग द्वेषरहित आत्मको मनोगुप्तिका अभाव है ऐसा मानना पड़ेगा। परंतु उपर्युक्त रामदेवपरहित ज्ञानपरिणत आत्मामें भी मनोगुप्ति है आत्मामें ऐसा माना है।

अथवा 'मनुते य आत्मा स एव मनो भण्यते' अर्थात् जो आत्मा विचार करता है उनको मन कहना चाहिये, ऐसा आत्मा जब रामदेव परिणामसे परिणत होता नहीं तब उसको मनोगुप्ति कहनेमें हर्ज नहीं है।

अथवा 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' यह गुप्तिका लक्षण है। दृष्ट फल-क्रीडें, आदर इत्यादिक दृष्टफलकी अपेक्षाके विना वीर्यभिराग्यारूप जो योग उसका निरोध करना अर्थात् रामादि कर्माँको योग कारण है। उसका निरोध करनेसे मनोगुप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि मनोयोगसे जीवमें रामदेवपादिक परिणाम उत्पन्न होते हैं।

कीर्ति, लोकादृष्ट, स्वर्गादिसुख वगैरहकी इच्छा धारण न करते हुए मनोयोगको केवल आत्मकल्याणकी भावनासे रोकना अर्थात् रागद्वेषादि कार्योंकी मनोयोगसे उत्पत्ति न होने देना इसको भी मनोशुद्धि कहते हैं। वाग्युक्तीका स्वरूप—‘अलियादिवचोमुक्ती, मोक्ष वा होइ वक्त्रिमुक्ती’ जो विपरित अर्थका ज्ञान करनेमें हेतु होगा, जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त होना। जिससे अर्थमें वृद्धि होगी ऐसे भाषणसे परावृत्त होना यह वचनशुद्धि है।

शंका—वचन शुद्धलभ्य है और वे विपरीतार्थका ज्ञान करानेमें हेतु हैं। किन्ती पदार्थसे आत्माको हटा देनेमें वचन समर्थ है। परंतु कर्मका संहर करनेमें शब्द अर्थात् वचन समर्थ नहीं है। क्योंकि कि वे आत्माका परिणाम अर्थात् धर्म नहीं हैं। शुब्दादिक आत्मधर्म नहीं है।

व्यालीक—असत्य, कठोर, आत्मप्रशंसायुक्त, परतिष्ठा करनेवाला, जिससे परप्राणिओंको उपद्रव होत है ऐसे भाषणसे आत्मा परावृत्त होना यह वाग्युक्ति है अर्थात् वाग्युक्ति उपर्युक्त भाषणोंमें आत्माको प्रवृत्त नहीं करती है। जिस भाषणमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा अशुभ कर्मका स्वीकार करता है ऐसे भाषणसे परावृत्त होना वाग्युक्ति है। अर्थात् विशिष्ट वचनका आत्मा त्याग करता है उसीको वाग्युक्ति कहना चाहिये। अथवा संपूर्ण प्रकारके वचनोंका त्याग करना अर्थात् मौन धारण करना इसको भी वाग्युक्ति कहते हैं। जो आत्मा अयोग्य वचनमें प्रवृत्ति नहीं करता है परंतु विचारपूर्वक योग्य भाषण बोलता है अथवा नहीं भी यह उसकी वाग्युक्ति है। परंतु योग्य भाषण बोलना यह भाषा समिति है इस प्रकार गुप्ति और सभित्तमें अंतर है। मौन धारण करना यह वाग्युक्ति है। योग्य भाषणमें प्रवृत्ति करना सभित्त है और गुप्तिमें किसी भाषाको अर्थात् वचनको उत्पन्न न करना यह गुप्ति है ऐसा इन दोनों में स्पष्ट भेद है।

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरिगे गुत्ती ॥

हिंसाविणियत्ती वा सरिगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥ ११८८ ॥

कायक्रियाविणित्तिर्वा देहनिर्ममतापि च ॥

हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा वपुषो युतिरिष्यते ॥ १२२८ ॥

विक्रमोदया—कायभिरियाणियत्ती कायस्यौदारिकोदेः शरीरस्य या क्रिया निवृत्तिः सरीरो गुप्ती शरीरपिपाया गुप्तिः कायगुप्तिरिति यावत् । आचनस्यानशयनादीनां क्रियात्वात् सा चात्मनः प्रवृत्तकत्वात् कथमात्मना कार्या क्रियाम्यो व्यावृत्तिः । अथ मतं, कायस्य पर्यायः क्रिया, कायाच्चात्वात्तरमात्मा उतो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यान्तरं तत्परिणामद्वयं तस्याऽपरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरित्युक्तमनो मण्यते । सर्वेषामेवात्मनोभित्यं कायगुप्तिः स्यात् न चेद्वेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य संबन्धिनी क्रिया कायदाधेनोच्यते । तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया तस्या निवृत्तिः । काउत्सस्यो कायोत्सर्गः शरीरस्यानुचिदात्मसात्तामात्राश्रितित्वां चावेत्य तद्रूपमतापरिहारः कायगुप्तिः । अन्यया शरीरमाणुः शूद्रप्रजावर्गं तेषां न शक्यते इत्यसंभवः कायोत्सर्गस्य । धातुनामनेकार्थत्वात् गुप्तिर्निवृत्तिवचनं इति सूत्रकाराभिर्योऽन्यथा 'कायकिरियाणियत्ती शरीरो गुप्ती' इति कथं शूद्रात् । कायोत्सर्गोऽग्रहणे निष्कलता मण्यते । यथेयं सायकिरियाणियत्ती इति न पक्षेण, कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येवैव शक्यं इति चेत् न कायविषये मनेवमावर्तित्यमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य मण्यते । धातुनामनलघननादिक्रियाशु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यान्न केच्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्याप्युच्यते सूच्छोपरिपतस्यपि अपरिस्पृष्टता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात् । तत्र उभयोपादानं व्यभिचारानिपुच्यते । कर्मानानिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः कायमोचरमतास्यामपरा या कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः । द्विंसादिणियत्ती या शरीरगुप्ती इत्यदि विद्वान् द्विंसादिणियत्ती शरीरगुप्तिरिति इष्टा जिनामने, प्राणिप्राणवियोजनं, अक्षरादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, गरिमदादममित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सैव कायशब्देनोच्यते । कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्वाच्यः कायगुप्तिरिति ध्याक्यातं सुरिणा ॥

कायगुप्तिं द्विधा लक्षयति—

मुहारा—शयकिरियाणियत्ती कायस्य औरीकादिशरीरस्य संबन्धिनी क्रिया परिणामः । उपकरणमहणनिक्षेपण गमनादिर्कर्मलक्षणा कायक्रिया । अत्र पुनः उत्कारणभूता जीवस्य क्रिया तच्छब्देन गृह्यते काये कारणोपचारात् । तेन कायक्रियायां कारणभूतायाः क्रियायाः सकाशादात्मनो निवृत्तिर्वाच्यः कायक्रियानिवृत्तिरित्युक्तमनः कायपरिस्पृष्टमिहात्सपरिस्पृष्टाप्रवृत्तकेनेत्यर्थः ॥

काउत्सस्यो शरीरस्यानुचितमसातामपन्निरिचत्वां च भावयतस्तद्रूपमतापरिहारः । कर्मानानिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः । कायमोचरमतास्यामपरोपा कायगुप्तिरित्युक्तं तल्लक्षणं । यदि हि कायक्रियानिवृत्तिरित्येवोच्यते तदा मुच्छोपायसंधायां कायपरिस्पृष्टाभावात्कायगुप्तिरिति श्रुतुपपन्नं । अथ कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येवोच्येत तदापि कायविषयमनेनंभावरहितस्य गमनादिक्रियामवृत्तस्यापि कायगुप्तिरिति प्रसज्येत इति व्यवधारितवृत्त्यर्थमुभयोपादानं ॥ सरीरो

शरीरविषया । हिसादिनियन्त्री प्राक्प्रमाणव्यपेक्षादिप्रमाणविशेषकलोपकरणविपरिग्रहणविकारिक्रिया
व्यावृत्तिः ॥ सरीरगुणित्ति शरीरमन्त्र धारिता वेग शरीराच्छरीरक्रियागुणित्तिनिवृत्तिः शरीरगुणित्तिरिति स्थितम् ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीर की जो क्रिया होती रहती है उससे निवृत्त होना यह कायगुणित्ति का लक्षण
है- अथवा हिंसा, चोरी बगैरह पापक्रियासे परावृत्त होना इसको भी कायगुणित्ति कहते हैं,

शंका—चैठना, खड़े रहना, दायन करना बगैरहको क्रिया कहते हैं- ये क्रिया आत्माके द्वारा होती हैं
अतः आत्मा इन क्रियाओंका प्रवर्तक होनेसे यह इन क्रियाओंसे कैसे परावृत्त हो सकता है ? अब इसके ऊपर यदि
आप ऐसा कहोगे आत्मनादिक क्रिया शरीरकी पर्यायें हैं- आत्मा तो शरीरमें अन्य भिन्न वस्तु है- अर्थात् शरीरकी
क्रियासे आत्मामें कुछ परिणति होती नहीं इसवास्ते शरीरकी क्रियाका आत्मामें रपाग होनेमें आत्मा शरीरक्रियासे
परावृत्त है ही अतः कायक्रियासे आत्मा निवृत्त होनेसे आत्माकी कायगुणित्ति है ऐसा कह सकते हैं- परंतु यह
आपका कहना अनुचित है- ऐसा कायगुणित्ति का स्वरूप माननेसे संपूर्ण आत्मार्थमें कायगुणित्ति मानना पड़ेगी-

उत्तर—शरीरसंबंधिनी जो क्रिया होती है उसको 'काय' कहना चाहिये- इस क्रियाको कारणभूत जो
आत्मार्थी क्रिया होती है उसको ध्यायक्रिया कहना चाहिये- एसी क्रियासे निवृत्ति होना यह कायगुणित्ति है-

कायोत्सर्गको भी कायगुणित्ति कहते हैं शरीर अपवित्र है, असार है, आपत्तिका कारण है ऐसा विचार कर
इस ममताका त्याग करना भी कायगुणित्ति है अर्थात् शरीरपरसे ममत्वभावको हटाना भी कायगुणित्ति है- शरीरका
त्याग करना इसको कायगुणित्ति नहीं कहना चाहिये क्यों कि शरीर आयुही मूलधामे जकड़ा है उसका त्याग
करना शक्य नहीं है- अतः इसकी अपेक्षामें कायगुणित्ति मानने से तो कायोत्सर्गका अभावही होगा-

धार्मिक अनेक अर्थ होते हैं इसलिये यहां गुणित्ति शब्दका निश्चय ऐसा अर्थ लेना चाहिये ऐसा सूत्रकारका
अभिप्राय है- अन्यथा 'कायकिरियाणिवची सरीरेण सुची' ऐसा वचन सूत्रकार कभी न कहते-

कापोत्सर्ग प्रद्वहणमें जो शरीर की निश्चलता होती है उसको कायगुणित्ति कहते हैं ऐसा यदि कहोगे तो
'कायकिरियाणिवची शरीरेण सुची' ऐसा कहना व्यर्थ है- 'कायोत्सर्गः कायगुणित्तिः' इतनाही गुणित्ति का लक्षण
कहना योग्य था ऐसी झंका करना भी योग्य नहीं है- क्योंकि शरीर विषयक ममत्व रहितपनाकी अपेक्षामें कायो-
त्सर्गकी भवृत्ति होती है- यदि इतनाही अर्थ कायगुणित्ति माना जायगा तो प्रायणा, एकस्थानसे अन्य स्थानके

प्रति ज्ञाना, कूदना वगैरह क्रियाओंमें प्रवृत्त हुए प्राणिकों भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा परन्तु ऐसा माना नहीं जाता है।

यदि 'कायक्रियाविनृत्तिः' अर्थात् शरीरकी क्रियाका त्याग करना कायगुप्ति है इतनाही लक्षण मानोगे तो मृच्छिष्ठ होकर जो मनुष्य पड़ा है उसको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा। इस वास्ते व्यभिचार निवृत्तिके लिए कायोत्सर्ग को कायगुप्ति मानना चाहिए और शरीर की क्रियानिवृत्ती को भी कायगुप्ति कहना चाहिए। इस विवेचनका अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिए—कर्मग्रहण जिनसे होता है ऐसी संपूर्ण शरीर क्रियाओंका त्याग करना इसको कायगुप्ति कहते हैं तथा शरीरविषयक समताका त्याग करना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं, ऐसा इस गाथाद्वयका अभिप्राय है।

हिंसादिकोंका त्याग करना भी कायगुप्ति है ऐसा जिनाममें कहा है प्राणियोंके प्रणयोंका वध करना; न ही हुई चीज लेना अर्थात् चोरी करना; मेयुन क्रिया करना, शरीरसे परित्यक्तोंका ग्रहण करना, इत्यादिक जो विशिष्ट क्रियाएँ उनका यहाँ काय शब्दसे संग्रह करना चाहिए। कायिक क्रियाओंसे आत्माका संरक्षण करना कायगुप्ति है ऐसा आचार्यमहाराजने व्याख्यान किया है।

छेत्तस्स वदी णयरस्स स्वाइया अहव होइ पायारो ॥

तह पावस्स णिरोहो ताओ गुचीओ साहुस्स ॥ ११८९ ॥

गुररय स्वातिका गइस्सेअस्स च यथा वृत्तिः ॥

तथा पापस्स संरोधे साधूनां गुप्तयो भत्ताः ॥ १२१९ ॥

विजयोदया—छेत्तस्स वदी क्षेत्रस्स वृत्तिः । नगरस्व स्वातिका अथवा प्राकारो भवति नगरस्व । तथा पावस्स जितेशो पापस्व निरोधोऽप्ययः । ताओ गुचीओ ता गुप्तयः साधवः ॥

गुप्तीनां पापनिरोधोपायतां दृढयति—

मूलारा—पावस्स णिरोधो यथा क्षेत्रावेर्मंगचोरलक्षणायेदुत्तिरोधे वृत्तादय उपायात्तथा पापनिवारणे युने गुप्तय इत्यर्थः ।

अर्थ—येतका संरक्षण उसके आमंत्रात् जो बाढ लगाई जाती है वह करती है. नगरका संरक्षण खाई व तट करते हैं तथा ये तीन गुप्तियां साधुका पापसे रक्षण करती हैं. पापोंका निरोध करनेमें अर्थात् संवर करनेमें ये उपाय हैं.

तस्मात्तिविहेण तुमं मणवचिकायप्यओगजोगमि ॥

होहि सुसमाहिदमदी गिरंतरं उक्षाणसज्झाप ॥ ११९० ॥

तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगेषु समाहितः ॥

अथ त्वं सर्वथा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥ १२१० ॥

त्रिजगद्व्या—तस्मात्तिविधेण मणवचिकायप्यओगजोगमि मनोवचिकायविषयप्रकृष्टे योगे । तुमं त्वं । सुसमा-
हिदमदी होहि सुसमाहितमतिर्भय । कथं ? गिरंतरं उक्षाणसज्झाप निरंतरप्रयुक्तध्यानस्वाध्यायः ध्यानस्वाध्यायतरेण
गुप्तयो नापतिष्ठन्त इति भावः ॥

एवं तिस्रोऽपि गुप्तीः प्ररुज्य तत्र क्षपकं सुसमाहितं कर्तुं क्षेमनुपायमाह—

गुलारा—तन्वा वरमाहुतवः पाणनिरोपोवायास्तस्मान्निविधेऽपि मनोवाग्मकायविषये प्रकृष्टे योगे व्यापारे सुस-
मादिवमतिर्भय त्वं । कथंभूतः सत्त्व ? गिरंतरं उक्षाणसज्झाप संततं ध्याने स्वाध्याये या प्रवर्तमानः सन् । ध्यानस्वाध्या-
याभ्यां विना गुप्तयो नापतिष्ठन्ते इति भावः ॥ उक्तं च—

तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगे सुसमाहितः ॥

अथ त्वं सर्वथा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥

अर्थ—ये तीनों गुप्तियां पापका संवर करनेमें कारण हैं इसलिये मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तिओंमें
दे क्षपक ' तुमको हमेशा साधधान रहना चाहिये. और हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहना चाहिये. ध्यान
और स्वाध्यायमें तत्पर रहनेसे गुप्तिओका संरक्षण होता है. जो ध्यान और स्वाध्यायमें अपनेको तत्पर नहीं करता
है उस क्षपककी गुप्तियां स्थिर नहीं रह सकेंगी.

समितिद्वारा एषा मागणी चार प्रबंधस्तन्यासमिति निरूपणयोत्तरा नाग्या-

ममगर्भोदपद्मो गार्हपत्यसङ्कीर्ण इरियदो मणिणो ॥

मन्त्राण्वीचि मणिदा इरियासमिदी पत्रयणम्मि ॥ ११९१ ॥

मार्गोद्योतोपयोगानामालंबस्य च शब्दिभिः ॥

गणधत्तः सूत्रमार्गेण मर्त्यैर्यासमिर्तिर्यते ॥ १२३१ ॥

चित्ररोपण—मगुजोदुपयोभालंपण्डुलीदि मार्गगुहिक, उद्योगशुद्धिरयोगशुद्धिर्वाल्क्यनशुद्धिरिति शतश्रु
मुद्रयस्ताम्रिः करणयुतादिः । हरियदो अच्युतः । मुष्णिणो युते । सुषाणुधीचि सुनादुसारेण । भण्णिवा क्षयिता ।
हरियासविदी र्ध्यांसानिः । यवयणमिम प्रयचोने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम भगवदुत्पत्तिर्लीलादिनसता, धीजाकुलणहारित-
पडाशानैर्मादिरहितता ॥ स्फुटतरता इयापिता च उद्योगशुद्धिः । निशामरक्षनादीनामस्फुटः प्रकाशः, अथवापी
प्रदीपादिमकाराः । पादोच्चारणसिद्धेशुद्धीयपरिहरणार्थहितयेतत्ता उपयोगशुद्धिः । गुह्यतीर्थयतिर्धर्मादिकमन्यथास्मादर्थ
ब्रह्मण, संयतप्रयोपेक्षेयमार्गव, वैषम्यवृत्तकरणं, अनित्यतायासत्वास्वप्नग्राहने भ्रमणराज्यं, मानविशमायाशिक्षण,
विनिवृज्यमतिचोयने इति प्रयोजनविशेषा आलंपनशुद्धिः । किं तत् सुमानुसारिणमनं, अद्वर्तं, नातिविलोपितं, सुरो पुगमात्र
वर्शनप्रशुचि, अविष्टचरणस्यासं, भयविशयायंतरेण सलीलमननुरक्षेयं, परिहृतलंबनभायनप्रविलितनुनं, निर्विकारं,
अवपलंभं आनतमनूर्ध्वयतिर्व्येक्षणं, इत्तमानुपपदिशत कण्टकपल्लव, अकलपशुक्षिमुगोद्वेजनं, विरह्योनिर्लंभमण-
जातवाचायमुदासाय उतासकमनिलेखं, भयतितारित्यतिमार्गयायिसंयुनं । बुद्धेयुपलीचईसारभयादिपरिहृति
चतुरं, परिहृतनुसृतमपीभस्माईगोमथशयनिचपजलोपलफलनं, दूरीकृतचोरीकलहं, अनारुहसंतमं निरुपयतो
पनेदीर्घासंविदि ॥

समितीव्यांकरिष्यन्नादौ इव्यांसमिति निर्दिष्टति—

मूलारा-मग्यु ओदुपयोगालंबणमुद्धीर्दि भागोर्षोपयोर्वालंबनगुद्धिभिश्चबसुभिः क्षरणभूतभिः । इरियदो गच्छतः । सुत्तानुचीचि हूनरुत्तुसारणे । तत्र मार्गस्य शुद्धिः पिपीलीक्षदिनसालपत्तं, वीजांशुरत्तणहरित्पत्रचल्लङ्कर्मसिद्धिरित्वं, सुदुत्तरत्त, व्यापितं च । उगेनशुद्धिः स्पष्टप्रसक्तं, रविकप्रफलस्य ॥ उपयोगशुद्धिः—पादोद्धारनिक्षेपदेशवर्तिप्राणिपरिहरणप्रमाणपरायणम् । आलंनशुद्धिर्हेतुतीर्थचैतवतिचंदनादिक्मपूर्वसाक्षात्प्रदूषणं, संयमयोग्योद्गमार्णणा, वैयवृत्तकरणं, अनियतावांसारद्वयसंपादनं, भ्रमत्वयो, नानादेशमाणादियुष्णं, विनेयजनप्रतिषेधोपनेयमादिभागविरौषिप्रदोषनापेक्षा । नूतानुयीचिगमनं तु नाविदुत्तविलंबितं, पुरो सुगमानदर्शनप्रयुक्तिकं, अदूरत्तरणन्यासं, निर्मेयविस्मयसत्तीलमनस्युक्षेपं,

तत्कलीक न होगी इस प्रकारसे यमन करना चाहिये- विरुद्ध उत्पत्ति स्थानोंमें प्रवेश करते समय वहाँके असजीवों को अपने शरीरसे वाधा न हो इतलिये चार चार प्रतिलेखनसे अर्थात् पिछिकासे शरीर स्वच्छ करना चाहिये, मार्गमें चलते समय अपने शरीरको इतरोंका धक्का न लगे इस तरहसे चलना चाहिये- दृष्ट मौ, बैठ, कुत्ता, इत्यादि मार्गियोंका परिहार करते यमन करना चाहिये- घान्यका भूसा, शालीघान्यके छिलके, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तुलका डेट, पानी, परधर, फलक इतका परिहार करके यमन करना चाहिये- चोर, कलह इत्यादिकसे दूर रहकर यमन करना योग्य है- जाते समय अपने पावोंसे कोई चीजका अथवा प्राणीका आपसमें प्रवेश न हो इस प्रकारसे यमन करना यह धुनिकी रीतिमिति है-

भाषासमितिस्वरूपाथोसरपाथा-

सन्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ॥

वदमाणरसणुवीची भासासमिवी हवदि सुद्धा ॥ १११२ ॥

कयालीकाविचिनिमुत्तं सरयासरयस्यपाद्वयम् ॥

वदतः सूत्रमाणेण भापासमितिस्वरूपते ॥ १११३ ॥

वित्तयोष्या-धनुर्बिधा पाण्ड-सत्या, शृणु, सत्यसहिता शृणु, असत्यशृणा चेति । सतां हिता सत्या । न सत्या न च शृणा या सा असत्यभोसा । द्विप्रकारं वाच्यमित्यभूतां । अलिगादिदोसवरत्ते व्यलीकता अर्थोभावा, पाठ्यं, वैदुष्यमित्यादिदोवरहितं । अणवज्जं पापाशयो न भवति इत्यनवचं । वदमाणस्स व्यावर्ततः । अणुघोची सूत्रानुसारेण भासासमिवी सुद्धा इवदि भापासमितिः शुद्धा भवति ॥

भापासमिति व्याकरोति-

मूलाप-सन्चं सत्यं । जतपदादिपदादसविधं । जतसत्याद्वर्मसत्याण्य कोऽस्य भेद इति चेत् व्रमः । श्लोकः-

असत्त्वविरतो सत्यं सत्त्वसत्त्ववि चन्मत्तम् ॥

वाक्समितं मितं तदि धर्मं सत्त्वैव वद्वति ॥ १ ॥

असत्त्वमोसं असत्यमृणा । न सत्त्वं वाच्यमसमित्यर्थः । अलिगादीदोसवज्जं । असलजा, असत्यासत्त्वता, पाठ्यं, वैदुष्यमित्यादिदोवरहितं । अणवज्जं हिंसादिपापावरहितं । अणुनीचि सूत्रानुसारेण ॥

अर्थ—वचन के चार प्रकार हैं—सत्यवचन, मृणवचन—असत्यवचन, सत्यासत्यवचन और असत्यासत्यवचन। सत्यवचन ही सत्य ही नहीं और असत्य ही नहीं ऐसे वचनों को सत्यमृणा का हित करनेवाला वचन सत्यवचन है—जो सत्य ही नहीं और असत्य ही नहीं ऐसे वचनों को असत्यमृणा अर्थात् असत्यासत्य वचन कहते हैं—साधु अर्थात् यतिवर्ण उपर्युक्त दो प्रकारके भाषण बोलते हैं—इन दो प्रकारों के वचनों में असत्यासत्य, व्यर्थपना, कठोरता, निंदा वगैरे दोषोंका अभाव रहता है। ऐसे वचनोंसे पाप कर्मका आगमन होता नहीं, सुनिगण सुबालुसार निर्दोष भाषण करते हैं। इसको आपासमिति कहते हैं।

मलयप्रत्यमभेदं निरूपयति—

जणवदुसंमदिठवणा णामे रुवे पडुञ्चववहारे ॥

संभाषणवद्वहारे भव्नेणोपम्मसच्चेण ॥ ११९३ ॥

देशसम्पत्तिनिर्क्षेपनामरूपप्रतीतिता ।।

संभाव्यनोपमाने च व्यथहारे भाव इत्यपि ॥ १२३३ ॥

[illegible]

किं तन्ननपदादिभेदादसाया सत्यमित्याह—

युवा-उपपदेत्यादि-उपपदसत्त्वं यन्मतेनाप्रसिद्धवचनं । यथा कुरो, पारो, लोदनामिति । सम्भविसत्त्वं यथा राजा करोऽति देवो भण्यते । तद्वार्था देवीति सर्वैस्तथाभ्युपगममात्रं । अथवा गवेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः शुभलक्षण-योगाङ्गोक्तिं सन्तो उद्यमानां ईश्वरत्वेनाभ्युपगममात्रं कश्चिद्वै मानवे वा प्रयुज्यमानाः सम्भविसत्त्वाग्रदन्तोच्यन्ते । भगवानासत्यं यथा वापायप्रतिमादिभिर्न चक्रेष्वती, जगद्देव इति तदिदमिति बुद्धिपरिहरेण सङ्गोपात्तं । नामसत्त्वं इन्द्रा-दिनां । सप्तमृत्तिनिरुक्तानिगुणक्रियाशब्दव्यतिरेकेण सत्त्वबुद्धिभेदेत्यलपरिणामिनां वस्तुनः प्रवृत्ता यथा मनुज्यमा-नेत्ये प्र-दिन्द्रोऽमीश्वर इत्यादि ॥ सत्त्वमत्त्वं नानाकृत्वेषु कस्यचिद्वृत्तस्य प्रकृत्यभेदेन प्रयुज्यमानं वचनं यथा नीलमुत्पलं, श्वेतं अश्वमेधं ॥ प्रतीकमत्त्वं संकेतवत्तापेक्षाभिर्व्यंग्यपरमपुरुषरूपाङ्गत्वं शीर्षं च्छस्व इत्येवमादि । छत्रं मुली, घृहं मुली, श्वादि ॥ संभवमत्त्वं यथा वस्तुनि तथा प्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्यवत्तादनासत्त्वत्वं यथा-अपि बोधार्थं समुद्रं तरेवे-वयमः । पारिमार्ग्यं पुनरस्य स्थाने संयोजनान्तर्गते दृश्यते यथा-धूपूर्णवासनानुलेपप्रकार्यादिव पु पञ्चमकरहंससर्वतो-भद्रार्थत्वात्प्रादिषु वा चेतनेतरद्रव्याणां यथावागवियानसन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनसत्यम् । भाविभूतपरि-णामपेक्षया दृष्टं यथा सिद्धेऽप्योत्तरे लोकाव्यवधानमुत्तराणां दुःखान्यपेक्षि वाच्ये ओदनं वषेत्त्यादिवचनं ॥ भावसत्त्वं उत्तरगतानां दृश्यव्याप्त्यादर्शनेऽपि संवत्तस्य संवत्तासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रसूतमिदमप्रादुर्भावमिदमित्यादिव-चनं । नितीप्रार, प्रवृत्तापरी, भवेत्येवमधिकं वा । अहिंतालक्षणाभावपालनं गत्वात् । औपम्यसत्त्वं यथा चंद्रमुली फल्गा, मनुद्वयचक्रादिसिवादि ॥

मत्स्य वचनके भेदः कहते हैं—

अर्थ—उपपदमत्स्य, सम्प्रतिमत्स्य, स्थापनामत्स्य, नामसत्स्य, रूपसत्स्य, श्रुतीसत्स्य, संभावनासत्स्य, रूपव-शासनस्य, नामस्य और उपपदमत्स्य ऐसे मत्वके दस भेद हैं. इनके विक्षेप स्वरूपका विवेचन—

१ उपपदमत्स्य—उनेक देशोंमें प्रसिद्ध संकेतका अनुकरण करनेवाला जो वचन उसको उपपदसत्य कहते हैं. जैसे ' गच्छतीति गौः ' ' गच्छतीति गजः ' अर्थात् जो जाना है उसको गौ कहते हैं अर्थात् बैलको गौ कहना चाहिए. गो शब्दका संकेत गौ नामक पदार्थमें है. जो गर्जना करता है उसको गज अर्थात् हाथी कहना चाहिए. गजशब्दका संकेत हाथीमें प्रसिद्ध है. यद्यपि यहां निरुक्तीमें प्रविषादित अर्थका वस्तुमें अनुसरण नहीं दीगता है तथापि ये शब्द निराश्रित पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेमें निमित्त होते हैं.

२ सम्प्रतिपत्त्य—सम्प्रति शब्दमें आकृतिका ग्रहण होता है। गवेंद्र, नरेंद्र इत्यादिक शब्द शुभ लक्षणके पोतक हैं। कोई पदार्थ स्वतः शुभ लक्षणसंपन्न दीखते हैं अतः उसमें स्वतः ईश्वरपना—संपन्नपना दृष्टिगोचर होता है। उसके ईश्वरपनाका आधार लेकर अन्य भज-हाथी अथवा मनुष्यमें उसका प्रयोग करते हैं ऐसे शब्दको सम्प्रति सत्य कहते हैं। जैसे गजकी विशालता देखकर उसको गवेंद्र कहना। किसी मनुष्यमें राजाके समान संपन्नता देखकर, उगको मय लोक नरेंद्र कहते हैं। राजा, राव, राणा वगैरह शब्द सम्प्रतिपत्त्य हैं।

स्थापना सत्य—अर्हय, इंद्र और स्कंद वगैरह शब्द सद्भाव स्थापनाके विषय हैं, इनको स्थापना मत्व कहते हैं, अरिहन्त मोहनीयकर्मका नाश होना, राजाहन्त ज्ञानावरण और दर्शनावरणका नाश होना इत्यादिक क्रिया अर्हन्तमें रहती हैं अतः उसमें असत्त्वपनाका संशय लेना योग्य नहीं है। अर्हन्तके समान प्रतिमाना आकार रहता है अतः अर्हन्तकी उसमें स्थापना करते हैं—ऐसा आकार रखकर मूल पदार्थोंकी उसमें स्थापना करते हैं। तथा जैसे पदार्थ देखकर उसमें यह वह वस्तु है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती ही है। यह स्थापना सत्य समझना चाहिये।

नाम सत्य—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया इनकी अपेक्षाके बिना ही शब्दका पदार्थ के साथ संबंध कर देना वह नाम सत्य है। जैसे जीवनक्रिया अचेतन पदार्थ में न रहत हुए भी उसको जीव कहना। किसी पदार्थका इंद्र वगैरह नाम रखते समय इंद्रकी देवत्व जाति, परमेश्वर्य संपन्नता वगैरह गुणोंका विचार न करके ब्यवहार के लिए इंद्र ऐसा नाम रखना।

रूपमत्य—रूपशब्द प्रवृत्ति निमित्तका उपलक्षण हैं। जैसे कमलमें नीलगुणका प्रकर्ष देवकार उसको नीलकमल कहना। चंद्रमें सफेदपनाकी अधिकता देखकर उसको चवल कहना इत्यादिक उदाहरण रूपसत्यके समझ लेने चाहिये।

प्रतीतिपत्त्य—किसी अन्य भगंधी पदार्थकी अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका निर्णय करके वैसा कहना जैसा दीर्घ वस्तुओं देखकर दूसरी वस्तु न्दस्व कहना वगैरह।

भमापना सत्य—वस्तुका वैसी प्रवृत्ति नहीं होते हुये भी वैसी प्रवृत्ति करनेकी उस पदार्थमें योग्यता है यह जान कर वैसी कल्पना करना जैसे यह ज़मीनी अपनी दो भुजाओंसे समुद्रको तीर सकेगा ऐसा कहना यह

यह संभानना सत्य है- यह मनुष्य यस्तकसे पर्वतका भेद न करेगा वगैरह इस सत्यके उदाहरण हैं- व्यवहारसत्य-पर्ययानकालमें पदार्थका वह परिणाम नहीं है तथापि भूतकालमें वह परिणामन था अथवा भविष्यत्कालमें वह उत्पन्न होगा तथापि यही यह पदार्थ है ऐसा समझकर जो वचनप्रवृत्त होते हैं उनको व्यवहार सत्य कहते हैं- जैसे भाल पकाओ, चटाई बनाओ इत्यादि.

भावमत्य-आईसालवर्षात्मक परिणामका जिस वचनसे रक्षण होता है उसको भावमत्य कहते हैं- जैसे आँवोंको देतकर यत्नचारपूर्वक प्रवृत्ति करो ऐसा उपदेश देना- उपमासत्य-जैसे पत्थरोपम है, सागरोपम है यह उपमा सत्य है.

सुराविषवचनप्रत्यक्षार्थ कथयन्ति-

तत्त्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्य सच्चमोसं तं ॥

तत्त्विवरीया भासा असच्चमोमा हवे दिष्टा ॥ ११९४ ॥

विज्ञयोदया-तत्त्विवरीयं सत्याविरहीतं । मोसं सृणा 'यस्तदभिधानमवृत्तं' इति वचनात् । मिथ्याज्ञानमिथ्याव-
रानयोरतंयमस्य वा निमित्तं वचनमस्तदभिधानं अग्रहास्तं तत्सत्यविरहीतं । तं उभयं तत्सत्यमनुते अ उभयं जत्य यस्मिन्
पापये । तं तद्वाक्यं । सच्चमोसं सत्यवृत्त्युच्यते । तद्विरहीदा भासा सत्यावृत्त्यभिधा अ वृत्त्यभूला भासा भाषा वचनं
असच्चमोसा असत्यमुपेति । हवे मयेत् । दिष्टा दद्या पूर्वांगमेव । एतातेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिधा किंतु जात्यंतरं
यथा वस्तु नैकांतेन नित्यं नापि भगित्यं नापि सर्वथा एकांगयोः समुच्चयः किंतु कर्वाचिद्रूपविद्ययातित्यात्मनं ।
एवमियं भारती ॥

असत्यादिवचनप्रत्यक्षार्थमाह-

मूढारा-तत्त्विवरीदं मोसं मिथ्याज्ञानासंयभादिति सत्त्वास्तत्सत्यविरहीतमृषा । तं उभयं सत्यमृषाद्वयं । जत्य
यस्मिन्वचने । सच्चमोसं सत्यावृत्तं यथा सर्वं दत्तं, सर्वं दत्तं, सर्वं मुक्तं । अथवा धृतकर्षत्वाधिकं मोक्षीरं मोभनं स्या-
दिति रगरितेन पूरे सति मोभनमिति वचनस्य साधुवर्तिनशस्यशुणपेक्षया सत्यत्वमव्ययवृत्तिनिमित्तत्वायेक्षया च
मृषात्वात् । तत्त्विवरीया सत्यादसत्याभिधानाच्च वृषामृषा असत्त्वमोसा एकांतेन न सत्या, नापि मृषा, नोभयमिधिता
किंतु जात्यंतरं । यथा वस्तु नैकांतेन नित्यं, नाप्यनित्यं नापि सर्वथैकान्तयोः समुच्चयः किंतु कर्वाचिद्रूपमिथ्यातित्यात्मक-
नेच । नवधा वेधा ॥

अन्यथादि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—उपलुक्त मत्स्य भाषणके विरुद्ध जो भाषण उसको असत्य भाषण कहते हैं, ‘असदभिधानमनृतं’ प्रमादमे प्राणिजैः क्रीडा होगी ऐसा भाषण बोलना वह असत्यभाषण है ऐसा सूत्रकार कहते हैं. अथवा जिस भाषणसे मिथ्याज्ञान, मिथ्यादृष्टि और अमंगलकी उत्पत्ति होगी वह भी असत्य भाषण है. जो भाषण अग्रशस्त है अर्थात् मन्त्रजनों निम्नकी प्रशंसा की नहीं वह असत्य भाषण समझना चाहिये.

जिस भाषणसे मत्स्यपना और असत्यपना दोनो हैं उसको सत्यमृषा भाषण कहते हैं. सत्य, असत्य और मिथ्य भाषणों में जो भिन्न है अर्थात् जिसमें सत्यताभी नहीं और असत्यताभी नहीं वह भाषण असत्यमृषा है. जिसको मत्स्यभी नहीं कह सकते जो असत्यभी नहीं मानी जाती है ऐसी और जिसको मिथ्यभी नहीं कहा जाता है ऐसी भाषाको असत्यमृषा कहना चाहिये.

जैम वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, सर्वथा अनित्य नहीं है व सर्वथा नित्यानित्यात्मकभी नहीं है. परंतु उस नित्यानित्यतर धर्मोंका मनुष्य है अर्थात् कथंचिद्विषयानित्यात्मक है. उगी तरह असत्यमृषा भाषण समझना चाहिये. मत्स्य और मृषा इन दोनोंका मिश्रणभूत जो भाषा उसको मत्स्यमृषा कहते हैं उसका उदाहरण ऐसा है—
‘यी और मांढरं निश्चित गायका रूप शोभन है क्या ? ऐसा बछने पर पद शोभन है ऐसा कहना दूसरोंको माधुर्योक्ति गुणोंकी अपेक्षाएं मत्स्य कह सकते हैं और ज्वर यदानेमें बह कारण होगा इसकी अपेक्षासे बह असत्य है.

ना नयमकतस मत्याय भेदा इवंत इति माथाउयेनाचे—

आमंतेणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य वणवणी ॥

पञ्चववणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥ ११९५ ॥

आजापनी संशोधनी प्रच्छनी प्रत्याख्यानी याचनी प्रज्ञापनीच्छानुलोमा सांशयिकी निरक्षरा चेति नयणा सत्यमृषाभाषा मंनदया ॥ ११३४ ॥

पिउगोदया—आमंतेणी यया दाया परोऽभिमुखीक्रिये सा आमंयणी । हे देववृत्त इत्यादि धर्महीनसंकेतान् अभिगुणं कृतोति मेन न मृगा यद्वैतायुष्टीभसंकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमिति चेति व्यासकृता । स्वाध्यायं कल्ल, विस्मयारोपमत्स्य इत्यादिका प्रमुदात्मनयाणी आणवणी । चोदितरयाः क्रियायाः कारणप्रकरणं याचिष्य नैकान्तेन सत्या ॥

मुपैव पा । अयणी प्राणोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्विद्विर्गतव्यं इत्यादिना याचनी । दानुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा । निरोध
यद्वनास्ति भवतां भूयेति प्रत्यवाक् संपुच्छणी यचस्ति सत्या न चेदितरा । वेदनाभावाभावाभेदेय प्रवृत्तेरुभयरूपा ।
पणवणी नाम धर्माकृता । ॥ यद्विद्विद्विष्य प्रवृत्त्या केचिन्नमनीस करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य करणत्वावृद्धिरूपा ।
पयपयानी नाम केनचिदुदुमन्नुवाच इदं क्षीरादिहं इवंतं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यातरमुद्दिश्य तत्कुर्वित्युद्धितं
पुदना प्रत्याख्यातनामसिद्धात्तो न एके इति नैकांततः सत्यता गुह्यत्ववनात्प्रवृत्तो न शोपायेति न भ्रूयैकांतः । इच्छानु-
सोमा य ल्यस्तिन पृष्टं पुदनाभर्तमिधं शीरं न शोभनमिति । यदि परो वृयात् शोभनमिति । माधुर्यादिप्रशस्य गुण-
सद्भावे ज्वरबृदिनिमित्ततां चापेक्ष्य न शोभनमिति वक्तो न भ्रूयैकांततो नापि सत्यमेवेति ब्रूयात्मकता ॥

के से उभयभाषाभेदा नयेति पृष्टताग्राथाद्वयेनाचक्षे—

मूलात्—आभंताणि संयोपिनी हे देवदत्त इत्यादिका । आपवणी काहापनी इदं कुर्वित्यादिका । जायणी
यायणी यथा तानं किंचिदं जायिष्ये । संपुच्छणी यंपच्छुनी यथा त्वानं किंचित्पुच्छाभि । पणवणी प्रजापनी यथा तव
किंचित्कथयिष्यामि । पचयमतोणी प्रत्याख्यापनी यथा त्वानं किंचित्प्रत्याखयिष्यामि । इच्छानुलोमा छंदःकुल वाक् यथा
शालिताच्छ्रीद्वयो भवन्तीति गुरुश्लोके एवमेतदिति सिध्यवाक् ॥

अस्त्यभूपा भाषण के नक्त प्रकार है उनके नाम इस प्रकार हैं—

अर्थ—जिस भाषासे इसश्लोक अविमुल किया जाता है उसको आमंत्रणी-मंत्रोचिनी भाषा कहते हैं. जैसे
'हे देवदत्त यहाँ आयो' देवदत्त यद्वक्ता संकृत जिसने ग्रहण किया है उसकी अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने
संस्कृत ग्रहण नहीं किया उसकी अपेक्षासे असत्य भी है.

आणवणी-आज्ञापनी भाषा जैसे स्वाध्याप कृतो, असंयमसे विरक्त हो जाओ. ऐसी आज्ञा दी हुई क्रिया
कारंसे मत्पत्ता और न करनेसे अकृत्यता इस भाषामें है. इस लिये इसको एकान्त रीतीसे सत्यभी नहीं कहते और
असत्यभी नहीं कह सकते हैं.

याचनी-ज्ञानके उपकरण काल और संयमके उपकरण पिच्छादिक मोको दो ऐसा कहना यह याचनी
भाषा है. दावाने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है. अतः यह सर्वथा
सत्यभी नहीं है और सर्वथा अत्यभी नहीं है.

प्रश्न पृष्ठना उभयो भाषाको प्रश्नभाषा कहते हैं जैसे तुमको निरोधमें-आराधुमें वेदना-दुःख है या नहीं वगैरह.

यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना. वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा इसको सत्यामत्य कहते हैं.

पणवणी-परमोपदेश करना इसको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं. यह भाषा अनेक लोगोंको उद्देश्य कर कही जाती है. कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं. इसकी अपेक्षा इसको असत्यपणा कहते हैं.

पञ्चसखाणी-किन्तिनि गुरुका अपने तरफ लख न लीचकरके कहा कि मैंने इतने कालतक क्षीरादिक पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा. कार्योत्तरको उद्देश्य करके यह करो ऐसा गुरुने कहा. प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक यह एकांतसत्य नहीं है. गुरुके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है.

इच्छानुलोमा-ज्वरितमनुष्यने पूछा वी और शकर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है ? यदि दूसरा कहेंगा कि यह अच्छा है. तो मधुरतादिक गुणोंका उसमें सद्भाव देखकर यह दोषमन है ऐसा कहना योग्य है. परन्तु ऊपर ब्रह्मको यह निमित्त होता है इस अपेक्षासे यह दोषमन नहीं है अतः सत्यथा असत्य और सत्य नहीं है इसलिये इस वचनमें उभयात्मकता है.

संसयवयणी य तद्वा असञ्चमोसा य अट्टमी भासा ॥

ठावमी अणस्वरगदा असञ्चमोसा हवदि णेया ॥ ११९६ ॥

विजयोदया-संसयवयणी किमयं स्थाणुकत्त पुरुष इत्यादिका द्रव्योत्कस्य सद्भावमितत्वाभावे भावेक्ष्य द्दिकारता । अणस्वरगदा भंगुलिरस्फोटविध्वानिः कृताकृतसंकेतपुरुषोपेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते रानुमयकृता ॥

मूढारापना-संसयवयणी किमयं स्थाणुकत्त पुरुष इत्यादि संविषयवाक् । अणस्वरगदा अक्षरहीना यथा अंगुलिरस्फोटविध्वानः कृतसंकेतस्वयार्थानविषयिनिमित्तत्वात् । सिद्धांतरत्नमालयां पुनरित्यमान्तात्म—

यावन्ती क्षापनी दृच्छानयनी संशयन्यपि ॥

आप्तानीच्छतुल्ला वाक् प्रत्याख्यान्ययनक्षर ॥

असत्संगोपमापेति नवया बोधिता विनिः ॥

अथैषाव्यक्तमस्तिष्ठानं वक्तुः श्रोतुञ्च यद्वदेत् ॥
 त्वामहं याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंपन ॥
 प्रष्टुमिच्छामि किंचित्त्वामागेष्यामि च किंचन ॥
 बालः किमेव वक्षीति ब्रूत संदेहिष्य मन्यतः ॥
 आक्षयाम्येहि भो भिक्षो ! करोम्याख्यां तव प्रभो ! ॥
 किंचिन्नां लजयिष्यामि हुंकरोत्यत्र गौः कुलः ॥
 आचन्यादितु दृष्टांता इत्यनेनैव प्रदर्शिताः ॥

अर्थ—संक्षेप यचन यह असत्यवृषका आठवा प्रकार है- जैसे यह टूट है अथवा मनुष्य है इत्यादि हममें दोनोंमेंसे एककी सत्यता है और इतरका अमान है इस वास्ते उभयपक्षा इसमें है.

अनक्षर वचन—बुटकी बजाना, अंगुली में इषारा करना जिसको बुटकी बजानेका संकेत मात्स्य में उस की अपेक्षा से उसको वह प्रतीतिका निमित्त है और संकेत मात्स्य नहीं है उसको अप्रतीति का निमित्त होती है इस तरह उभयात्मकता इसमें है.

उगमउपपायणएतर्णाहिं पिंडमुवधि सेज्जं च ॥
 सोधिंस्सहस य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥ ११९७ ॥
 आहारमुपाधिं शय्याशुद्रमोत्पादनादिभिः ॥
 विमुक्तं गृह्णतः साधोरेपणा समितिमेता ॥ १२३५ ॥

विजयोवेया—उगमउपपायणएतर्णाहिं उद्गमोत्पादपणदोषरहितं मत्तमुपकरणं वस्तुति च गृह्णत एवणास-
 मितिर्भवतीति सूत्रार्थः । दशार्थकाष्टकीकृत्या श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति केद्व प्रतन्यन्ते ॥
 एवणासमिति निर्दिशति—

मूलग्रह—सोधिंस्सहस त्याज्यतः । वट्टमादिदोषत्यक्तं पिंडादिकं गृह्णत इत्यर्थः ॥ विसुज्झादे निर्मला भवति ।
 अर्थ—उद्गमदोष, उत्पादनदोष और एवणादोष इन दोषोंसे रहित जो सुनि उपकरण, आहार और

यमनिद्रा का स्वीकार करते हैं. वे मुनि एषणाममितीको निरतीचार पालते हैं ऐसा समझना चाहिये. श्रीविजयोदया नामकी दशवेकालिक टीकामें उद्दमादि दोषोंका सविस्तर विवेचन अपराजित धूर्तिने किया है अत एव यहाँ उसका निरूपण करना वे नहीं चाहते हैं.

आदाननिक्षेपनिरूपणार्थं भाषा—

सहसाणाभोगिवदुष्पमज्जिय अपञ्चवेसणा दोसो ॥

परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥ ११९८ ॥

सहसाहसदुर्दष्टाप्रत्यवेक्षणमोचिनः ॥

अचत्यादारननिक्षेपसमिन्निस्तयानिनः ॥ १२३६ ॥

विज्ञेयार्थ—सहसणभोगिद आलोकनप्रमाजंतमरुया आदानं निक्षेपं इत्येको भंगः । अनालोप्य प्रमाजंनं कृत्वा भादानं निक्षेपतो वेति द्वितीयो भंगः । आलोप्य दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः । आलोकिर्तं प्रमृष्टं च न पुनरालोकिते च शुद्धं चेति चतुर्थो भंगः । पनहोप्यनुष्टुपं परिहरतो भवति भादाननिक्षेपणसमितिः ।

आदाननिक्षेपसमिद्धिं लक्षयति—

मूलतः—आलोकनप्रमाजंनेऽकृत्वा पुलकादेरादानं, निक्षेपं वा कुर्यात् एकः सहसाक्यो दोषः । अनालोप्य प्रमाजंनं कृत्वा दुस्तकारेदारानं निक्षेपं वा कुर्वाणोऽशभोगितात्तो द्वितीयो दोषः । आलोक्यासम्बन्धकप्रतिष्ठित्य सवृत्तुक्तो- निष्ठित्यतो वा तृतीयो दुष्पमृष्टतसो दोषः । आलोकिर्तं प्रमृष्टं च न पुनः शुद्धमशुद्धं चेति निस्तपितमित्यादाननिक्षेपकरण- दुषोऽवस्यैभणायो दोष एतावत्यजत आदाननिक्षेपसमितिः स्यात् ॥

आदान निक्षेपका आचार्य निरूपण करते हैं—

अर्थ—विना देखे और विना भूमि स्पष्ट किंगे पदार्थ उठा लेना, यह पहिला भंग हुआ. विना देखे भूमि स्पष्ट करके पदार्थ जमीनपर रखना अथवा उठा लेना यह द्वितीय भंग है. देखकरके भूमि स्पष्ट किंगे विना पदार्थ उठा लेना अथवा रखना यह तीसरा भंग है. देखना और धोडासा झाड़ लेना यह चौथा भंग है इन चार दोषोंका त्याग कर पदार्थोंको उठा लेना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है अर्थात् जमीनको अच्छी तरहसे

देवकर और स्वच्छ कर उसपरले पदार्थ उठा लेना अथवा उसपर पदार्थ रखना यह आदान निधेपण समिति है.

एदेण चैव यदिह्वावणसामिदीवि वणिग्या होवि ॥

वोसरणिज्जं दब्बं थंडिले वोसरितस्स ॥ ११९९ ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रतिष्ठापनका मत्ता ॥

सम्मिस्सयज्जतस्साज्यं प्रदेसो स्थंडिले यत्तेः ॥ ११९७ ॥

विजयोदया—एदेण चैव आदाननिधेपणविषयवत्तकथनेन । पविह्वावणसमिदीवि वणिग्या होदि । प्रतिष्ठापनसमितिर्धर्णिता भवति । वोसरणिज्जं परिचयकथं सूत्रपुरीयादिकं मलं । थंडिले वोसरितस्स स्थंडिले निर्जन्मुके, निरिच्छद्वै, समे न्युत्पुज्जः ॥

प्रतिष्ठापनसमितिं व्याचष्टे—

मूलात्—एदेण आदाननिधेपणविषयवत्तकथनेन । वोसरणिज्जं अवश्योत्सुगं । दब्बं विण्मूजवेळसिघाण-कठविंछुचित्तेशादिकं । थंडिले निर्जन्मुकनिरिच्छद्रसमत्यादिविशिष्टे प्रदेसे । तथा चावोचाम धर्माभूते—

निर्जन्मी कुसले विविक्काविपुले लोकोपरयोच्चित्ते ॥

पकुटे छट्ठ उदीपरक्षितिले विष्ठादिकानुत्सुज्ज ॥

युप्रक्षाभरणेन सक्कमभितो छट्ठे विभत्तव त्रिषा ॥

सुसुष्टेऽप्यपहसकेन समिठावुत्तर्ग वत्तिष्ठते ॥

अर्थ—आदाननिधेपण समितिका निर्दोष पालन करनेके कथनसेदी प्रतिष्ठापन समितिकाभी वर्णन हुआ. त्यागने योग्य मूल पुरीयादिक मलका त्याग निर्वन्मुक और निरिच्छद्र जमीनमें करनेवाले धुनि प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते हैं.

एदाहिं सदा जुचो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ॥

हिंसिदादीहिं ण लिप्पइ जीवाणिकायाउले साहु ॥ १२०० ॥

अग्निः समितिमियोंगी लोके पङ्जीवसंकुले ॥
दोषैर्हिंसादिभिर्नैव लिप्यते विहरन्नपि ॥ ११३८ ॥

विजयोद्या—यदादि पतामि । सदा सुतो सदा युक्तः । अग्निम विहरमाणो दु अगति विहरस्यति । कीदृशी? जीयनिकायाऽले पङ्जीवनिकायाकर्मि । हिंसादीर्हि हिंसादिभिः । न लिप्यति न लिप्यते साधुः । आदिग्रहणेन परितापने, संपदने, भोगानुभवाकरणादिपरिग्रहे । समितिषु प्रयत्नमानः प्रमादरहितः प्रयत्नयोगात्प्रणव्यपरोपणं हिंसेरनुव्येत । हिंसादिनिरासि कर्मणि हिंसादिशब्देनोच्यते । कार्यं कारणश्चमवृत्तिः प्रतीतिरतत्वात् । यद्यपि विवर्जनमिमिसगुणा-
न्यते तत्र प्रयत्नमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहयुषाग्नित्वं तामरसपत्रं फाञ्जनीलनीरवर्तमानमपि मांशुना लिप्यते ।
विलसन्निचितजीयनिकायाकुलेऽपि अगति संवरन्नपि मुनिर्न लिप्यते अग्रमसत्तया प्रवृत्तः पंचसु समितिष्वप्यिति ॥

समितिस्तत्तत्समाहितस्य हिंसादिहारव्यतपात् कर्षभाभार्थं भाषयति—

मूलात्—हिंसादीर्हि प्रणातिपातपरितापनसंघटनान्यूनताकरणादिपङ्जीवोपपातायुक्तादिवनितपायैकैः । न लिप्यति न कप्यते ॥

अर्थ—इत पांच समितिओंका पालन करनेवाला युनि जीवसमुदायसे भरे हुए जगत्में हिंसादिक पातकोसे आसित रहता है. आदिग्रहसे परितापन, अर्थात् तफलीफ देना, संघटन जीवोंको परस्परमें मिलाता, उनके अंग का करना, इत्यादि दोषोंसे समिति धारक पति लिप्त नहीं होता है. जो समितिओंको पालता है. वह प्रमादरहित होता है. प्रमादसे प्राणोंका घात करनाही हिंसा है. हिंसादि साहित कर्मोंको हिंसादि कहते हैं अर्थात् हिंसादिक कारण हैं और उससे होनेवाली क्रियाएँ कार्य हैं. यहाँ कार्यमें कारणका उपचार फाँके हिंसादिकके फायकोभी हिंसा कह सकते हैं. त्याग-गुणयुक्त पति विपरीते भरे हुए इस जगत्में रहकरभी विपरीतोंमें आसक्त होते नहीं हैं. अतः वे पापसे लिप्त नहीं होते हैं. जैसे स्नेहगुणसे युक्त कमलपत्र पत्रपंके समान नीलजलमें रहकर भी उससे लिप्त होता नहीं. निरंतर प्राणिजोंमें भरे हुए इस लोकमें मुनि विहार करते हैं तो भी वे प्रमादरहित होकर पांच समितिओंमें प्रवृत्त होते हैं अतः पापोंमें लिप्त होते ही नहीं.

पउमणिपत्तं ॥ जहा उदयेण न लिप्यति सिणेहगुणजुत्तं ॥
तद समिदीर्हि न लिप्यद् साधू काणसु इरियंतो ॥ ११०१ ॥

समितो लिप्यते नाचैर्जीवमध्ये चरश्चपि ॥

स्निग्ध कमलिनीपत्र सलिलैरिव वा स्थितम् ॥ १२३९ ॥

विजयोद्या—पत्रमणिपत्र इत्यनया गद्या—पत्रपत्र यथा नोक्तेन लिप्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कायेस्तु शरीरेषु प्राणवन्ता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते सापु समितिमिदमुक्तानि ॥

उक्तार्थसमर्थं युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलः—समिदीहि समितिभिर्निष्ठ । न लिप्यति हिंसादिभिर्न कथेत । कामसु पट्टभीवदेष्टु । इरियतो प्रवर्तमान । अत्र कायश्चक्षेत्रा मायि शरीरपीडनापायमानकर्मत्वपरिणतिरस्तयोगयुक्ता सफलोरुज्यापिनो गृह्यते । तत्रैव दृष्टे साध्यव्याप्तसाधनस्य दर्शयितुं तत्कवचात् । तथा च प्रयोग—यद्यदि नैनसमर्गगुणान्वितं तत्तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते । अथा चरश्चपि नैनद्रव्येनैवगुणान्वितं पश्चिनीपत्रं जलान्त प्रवर्त्यपि जलेन । प्राणिशरीरपीडनापायमानकर्मत्वपरिणतिरुक्तयेवमुक्तकियनैनसमर्थसमितिगुणान्वितवत् सायुक्तसमास्तुख्यापिषु तेषु अन्तः प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते ॥

अर्थ—स्नेहगुणसे युक्त कमलका पत्र जलेन स्निग्ध होता नहीं है तद्वत् प्राणिओं में शरीरोंमें निहार करके बाला यविराज समितिओंसे युक्त होनेसे पापने स्निग्ध होता नहीं

सरवासे वि पठते जह दृढकवचो न त्रिःशदि सरोहि ॥

तह समिदीहि न लिप्यइ साधू काएसु इरियतो ॥ १२०२ ॥

बध्यते सयितो नाचै कायमध्ये भ्रमन्त्रपि ॥

सचन्द्रो निष्यते कुञ्च शरवर्षे रणांगणे ॥ १२४० ॥

विजयोद्या—सरवासे वि पठते दशरूपेऽपि पतति सति च रणांगणे यथा दृढकवचो न सरोहिचते, तथा समितिमिदमुक्तानि लिप्यते हिंसादिका कायेषु वर्तमानो मुनि ॥

तमेवायमुदहरणांतरेण ब्रह्मयति—

मूलः—सरवासे पाणवृष्टौ वर्षाग्रहेन असप्तत्यवृत्तिं लक्षयति ॥ दृढकवचो अमेयसज्जाह । अत्रापि प्रयोगः पूर्ववत्स्वस्वीय ॥

अर्थ—रणांगणमें बाणोंकी छुट्टि होनेपर भी लिखने ॥ वक्तर धारण किया है ऐसा शूरपुरुष भिन्न नहीं होता है अर्थात् वह शूरवृष्टिमें सचार करता हुआ भी अक्षतही रहता है वैसे समितिरूपी कवच धारण करनेवाले मुनिरूपी योद्धा भी हिसादि बाणोंसे अक्षत ही रहते हैं. जीवनिभावमें विहार करते हुए भी वे पापोंसे अलिप्त ही रहते हैं.

अतथैव चरइ वालो परिहारण्हू वि चरइ ततथेव ॥
 श्रद्धादि पुण सो वालो परिहारण्हू वि मुञ्चइ सो ॥ १२०३ ॥
 बालश्चरति यथैव सजैव परिहारवित् ॥
 वध्यते कल्मषैर्पाल इतरो मुञ्चते पुनः ॥ १२४२ ॥

विजयोक्ता—अतथैव चरइ वालो यथैव क्षेत्रे चरति जीवपरिहाराक्रमानभिज्ञः । परिहारण्हू वि जीववाधा परिहारक्रमशोऽपि तथैव चरति । तथापि यज्ज्ञादि सो पुण वालो वध्यते पुनरसौ ज्ञानवालाश्चारिवालाश्चासीत् । परिहारण्हू परिहारकः । मुञ्चइ मुञ्चते कर्मलेपात् ॥

नमानदेश्चपरिणोरप्यक्षयिक्रमोः वापकथंयथौ दर्शयति—

मूलम्—अतथैव यथैव क्षेत्रे । चरति गमनादिक्किमायु प्रवर्तते । वालो बधपरिहारक्रमानभिज्ञः । वज्रदिवि पादैरेष्यते । मुञ्चदि पापलैपांमुञ्चते भावैर्न लिप्यते वेत्यर्थः ॥

अर्थ—जीवोंकी बाधाका परिहार करनेका क्रम जिसको ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा अज्ञ जीव जिस जगहमें रहता है उसी जगहमें जीववाधाका परिहार करनेवाले मुनिभी रहते हैं. परंतु अज्ञ जीव कर्मसे चढ़ होता है अर्थात् ज्ञानसे बाल और चारित्र्यसे बाल ऐसा अज्ञ कर्मचढ़ होता है परंतु ज्ञानी और चारित्रवान् जीव कर्मबद्ध होता नहीं है.

उक्तमर्थमुपलंहरयुत्तरगाथया—

तस्मा चेद्विदुर्कामो जइया तइया भवार्हि तं समिदो ॥
 समिदो हु अण्णमण्णं णावियदि खवेदि पोराणं ॥ १२०४ ॥

यदा तदा ततश्चेष्टां चिकीर्षुः समितो भव ॥

पुराणं क्षिप्यते कर्म नान्नोति समितो नवम् ॥ १२४३ ॥

विजयोद्या—यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न वञ्चते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु मत्ता यद्यते कर्मसमूहेन तस्मात् । तन्मा चेष्टिदुष्कामो गमनभाषणाचामिच्छापी । जइया तइया यदा तदा । तं भवान् । समिवो भवाहि समितिपरो भवेति नियोगश्चरित्वाह क्षणकं । समिवो खु समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईर्ष्यादिषु । अणमण्णं कर्म अन्यत् अन्यत् । प्रत्यग्रं । पादियदि देवावचे । कवेदि पोरारणं प्राक्तनं च कर्म क्षण्यति निजंरयति ॥

पयमीयांत्तिसमित्तिब्ब्यास्व्यायेवत्संदरत्तासु क्षणकं निगोत्तुमनुअत्ति—
सुत्तारा—यस्मात्समितः पापेवैच्यते समितस्तु पापैरपि मुच्यते तस्माद्धेतोः । चेष्टिदुष्कामो निरवयवयोजनार्थि-
तया गमनारिषु प्रयतिषुमिच्छन् । अयिगा तइया यदा तदा सर्वदेत्यर्थः । भवाहि तं भोः क्षणकराज ! भव त्वं । समिवो ईर्ष्यादिषु श्रुतिनिरूपितक्रमेण प्रवृत्ताः । अणमण्णं अपरपरं पापं । कम्ममणमिति पाठे कर्मान्यदित्यर्थः । पादियदि नैमावत्ते । उक्तं च—

यदा तदा ततश्चेष्टो चिकीर्षुः समितो भवः ॥

समितो न नयं कर्म छाति क्षण्यतीतरत् ॥

इदमत्रोक्तार्थसंग्रहपुस्तकप्रमाणम् ।

पापेनान्यक्चेष्टपि पदमणुसोऽप्युद्देय नो क्षिप्यते ॥

बहुषो यदनादतः परवधाभावेऽप्यवै चप्यते ॥

यतोगादधिरक्षा संवमपदं भोति प्रतामि इया—

न्यप्युज्जांति च गुमयः समितयस्ता नित्यभिरथाः सवाम् ॥

उपरके अर्थकाही आचार्य आगामो उपसंहार करते हैं—

अर्थ—समितिओंमें प्रवृत्ति करनेवाले धुनि पापसे बद्ध होते नहीं वे उमसे मुक्त होते हैं, जो समितिरहित प्रवृत्ति करते हैं ये कर्मसमुदायसे बंध जाते हैं, इस लिये जाना, जाना, प्राण करना इत्यादि कार्य करनेके अभि-
लाषीओंको चाहिये कि वे समितिओंमें तत्पर रहें- इसलिये हे क्षणक ! तुम समितिमें तत्पर रहो, जो समितिओंमें तत्पर रहते हैं उन्हें नवीन २ कर्मका बंध नहीं होता है और उनका पूर्ववत् कर्म इत बरता है—

एवञ्चो अष्टपवणमादाञ्चो णाणदंसणचरित्तं ॥

एवञ्चोति सवा सुणिणो मादा पुत्तं व पयदाञ्चो ॥ १२०५ ॥

राद्धांतमात्तरोऽट्ठो ताः पांति रत्तन्नञ्चयं यतेः ॥

जनन्यो यत्तनतो नित्यं तनुजस्येव जीवितम् ॥ १२०६ ॥

विज्ञो दया—एवञ्चो अष्टपवणमादाञ्चो यता अष्टपवचनमादुक्ताः । एवदाञ्चो प्रयत्ता । णाणदंसणचरित्तं रक्त्वंति समिचीनज्ञानदर्शनचरिणाणि फाल्गवन्ति सवा मुनेः । मादा पुत्तं व अथा जननी पुत्रं यथा । प्रयत्ता माता पुत्रं पादवस्यपापम्यानेभ्यः ॥

इवानी सुमिसिधित्तो प्रवचनमादुत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूढारा—एवञ्चोति अषायसुत्सारयन्ति । एवदाञ्चो सम्यक्प्रवर्तिता प्रवत्तनपराञ्च ।

अर्थ—ये अट्ठो प्रवचनमादायेषु प्रथमपूर्वक सम्यग्दर्शनं, सम्यग्ज्ञानं और सम्यक्चारित्र इनका पालन करती हैं- पुत्रकाहित करनेमें सावधान माता अपायसे जैसे उसको बचाती है वैसे ये सुति और समितिपा रत्तन-प्रयत्ता, रक्षण करती हैं उसमें दोष उत्पन्न न होने देती हैं-

प्रतमापनानिरूपणाथोत्तरप्रबंधः । त्रयोदशविधं चारित्रं अष्टपवणपचयत्तचारित्रत्तथना । तत्र यत्तानं त्थेदं सेपयित्तुं भावना एवेकस्य पंच पंचामिद्वितास्तेष्वभिहितमात्रभाबता इति बोधयति ॥

पुसण्णिकवेवादाणि रियासमिदी तहा मणोगुत्ती ॥

आलोयमोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥ १२०६ ॥

मनोगुप्पेयपणावाननिक्षेपेयैक्षितासिताः ॥

महाज्जने मत्ता जैनैरादिमाः पंच भावनाः ॥ १२०७ ॥

विज्ञो दया—एवणनिरूपणवदाणि रियासमिदी । एवणसमिदी एवणस्यमिद्विरादननिक्षेपणात्तमिति, ईयोस्त-मिति मत्ता मनोगुत्ति । आलोयमोयणं व आलोकायोजनं च । अहिंसाए अहिंसाप्रत्यय । भावणा भावनाः । होंति भवन्ति ॥ एवणसासितानिरूपयते—

मिद्विकाटः, पुसुलाकाटोऽवधद्व्यल्लेखेति काटवधे सात्वधे । प्रामनगरादिषु इयता कल्लेन आहारनिष्यति-अपति, अमीषु म्मसेषु, यस्य वा कुलस्य चाटस्य वापे नोखनकाल इच्छायाः प्रमाणादिना विघ्नाकालोऽवगन्तव्यः । क्षुद्रद

मम सीमा मंवा चेति स्वदरीरेव्यस्थां च परीक्षणीया । धर्मयवप्रदः पूर्वं गृहीतः । एवंभूत भादातो मया न भोक्तव्यः इति
अथायमवप्रदो मेमिति मीमांसा कथ्या । तदन्तरं पुरतो युगान्तमात्रभूमाभावावलोकरतः अद्भुतं, अचिह्नितं, असंशयान्तं
यजेत् । अनेनवातुरपिष्टचरणन्यानी निर्विकार र्वयवन्तोत्तमांवाः । यकपेमेनामुदकेन अनसदरितयदुलेन वर्धना
एदया नु मरान्, करमान्, वलीवर्दान्, श्यांस्तुरगामतिगन्धसारयोगान्कलदकारिणो वा मनुष्याभूतः परिहरेत् ।
पक्षिणो मृगायाहाकारालोचनता वा वशा न विन्यति, यथा वा स्वमाहारं सुभक्त्या न यजन्ति तथायायात् । मनुना प्रतिलेपनेन
कृतप्रमाजनेन गच्छेद्यदि चित्तरसुसमाहितफटादिकं वाक्यतो भवेत् मागलरगति । मित्रवर्णो वा भूमिं प्रविशन्त
दर्शनपूर्वाग एव धेनवमाजनें कुर्यात् । नुपगोमयमसपुन्यपक्षालानिवन्धं, द्रव्योपलफलादिकं च परिहरेत् । मित्रमानो न क्रुधे
न्, पूत्यमानोऽपि न क्रुधेच्च । न सोमद्वैत्यपुलं, उद्धृतपता नं वा युद्धं प्रविशेत् । तथा मत्तानां युद्धं न प्रविशेत् । दुराणपदां
गमालाकगदितं कुलं वा, यवसायां, दानशालां, विवाहवृद्धं, वार्यमाणां, रक्ष्यमाणां, अश्वमुक्तां, अश्वमुक्तां अश्वमुक्तां
परिहरेत् । बहिर्दुकुलानि उन्मत्ताच्छकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठतरमभ्यानि सममेवादेत् । द्वारमार्गं कयाटं वा नोदाटयेत् ।
चारवत्सं, पलकं, शुनो वा नोसंयचेत् । पुष्येः फलेर्वाधिषाणकीर्णां भूमिं यजेत् । वयमीनेयं कित्तां । भिक्षात्रयेषु परेदु
लामार्थिषु दिग्गलेषु सवेहं न प्रविशेत् । तथा कुडुविषु व्यघ्रविषण्णदीनमुरेषु च सत्तु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गणभूमिमति-
प्रस्य न गच्छेत् । वांचामयत्कमनं वा स्वागमनिधेयनार्थं न कुर्यात् । विदुदिव स्यां तदु च दर्शयेत् कोऽमलमिशो वाच्य-
सीति भविसौर्धं न कुर्यात् । रहस्यगृहं, वनगृहं, कन्दलीलताशुक्रमगृहं, वाक्यांघ्रयशालाख्य अग्निंयमानोऽपि न प्रविशेत् ।
शत्रुजनप्रचरि प्राणिरहिते मनुष्यपरोपरोधमजिते, अग्निमेममप्रधदामां गृधिभिरनुशुषावस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्ये, धूमनो यतुर्द-
गुलयावान्तरो निखलः कुल्यस्तेमादिभ्रमनयद्वान्य तिष्ठेत् । छिद्रां कयाटं, प्राकारं वा न पदयेत् चोर इव । शत्रुरागमनमार्गं
व्यवस्थापयेत्, कदुच्छ्रमत्तनादिकं च नोपयेत् । स्नानं प्रवच्छेदया, गोमिषया वा दीपमार्गं न गृहीयात् । रोगिणा, अति-
पृथेन, पालेनोत्तमं, पिशाचिनं, सुप्रेनोत्तमं, यूकेन, दुर्गलेन, भीतेन संकितेन, धत्वासन्नेन, अतुरेण, लज्जायापृतमुषया,
आवृतमुषया, उपानदुपदित्यत्सवनेन वा दीपमार्गं न गृहीयात् । रजेन भिषेन वा कदुच्छ्रमकेन दीपमार्गं वा । मोक्षं, मधु,
नवनीतं, कलं अमरितं, मूलं, पत्रं, मांस्कं, कंदं च यजेयेत् । तस्यृष्टानि सिद्धायपि विप्राकरपरसंगंधानि, कुक्षितानि,
पुष्पितानि, पुराणानि, जंतुसंस्पृष्टानि च न दद्याथ एवेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादीनगणादीषुदुष्टं नाभ्यषहरेत् । नयनो-
द्विगमिशुदाहारप्रयमेगणासमेति ॥

यतिक्षिप्यते शत्रु यदादीयेन यतस्तत्तुभयं प्रतिक्रियमाद्योग्यं न चेति विलोप्य पञ्चाहृतभाजनं पुनरप्यलोच्य निशिर्यैवदृष्ट्याद्या । परा अपमाननिक्षेपसमितिः । ईयांसिमिक्षिक्रितैव तथा मनोगुणिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकित-
तस्य भोजनमित्यर्हि साधलभावनाः एव ॥

सांप्रतं ब्रतानां स्वीयार्थं भावनाः पंचमो व्याख्याणः पूर्वमस्मिन्मात्रभाष्ये पंच व्याख्ये --
नूलरः--आहोगमोयणं दृष्टुत्तरप्रसंगेऽवलोकितस्य तदुत्तिष्ठस्यावधारस्य वस्त्वन् ।

अथ प्रवर्ती भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं. चारित्रिक गुणों, समिति और आहिंसादिक घट ऐसे त्रेऽ प्रकार हैं. भावनाओंसे त्रेऽओंमें स्थिरता उत्पन्न होती है. एकैक व्रतकी पाँच २ भावनायें आचार्योंमें कही हैं. प्रथमतः अहिंसा व्रतकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं—

एषणासमिति, आदानाधिकेष्णासमिति, ईर्ष्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकित पानभोजन ऐसी पाँच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं.

अथ एषणा समितीका वर्णन—भिक्षाकाल, पुशुधाकाल और अवग्रहकाल ऐसे तीन काल हैं. गाँव, शहर वगैरह स्थानोंमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार खपार होता है, अमुक महिनेमें, अमुक डुलका, अमुक गहरीका अमुक भोजन काल है यह भोजनकालका वर्णन है.

पुशुधाकाल—आज मेरेको भूल तीव्र लगी है या भेद लगी है. मेरे शरीरकी सखियत कैसी है इसका विचार करना यह पुशुधाकालका स्वरूप है.

अमुक निषम मेने फल प्रश्न किया था, इस तरहका आहार मेने मक्षण न करनेका निगम लिया था, आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना इसको अवग्रहकाल कहते हैं.

इतना विचार होनेपर आहार के लिये जब मुनि निकलते हैं तब ओषे' चार हाथ प्रयाण जमीनका निरीक्षण कर जलदी, अति सावकाश और गहवरी ऐसे दोषोंका त्यागकर गमन करना चाहिये. जाते समय अपने हाथ नीचे छोड़कर चलना चाहिये. दूर अन्तरपर पाँव रखते हुए नहीं जाना चाहिये. निर्विकार होकर और अपना मस्तक धोरासा नीचे करके जाना चाहिये. जिसमें कीचड़ नहीं है, पानी फैला हुआ नहीं है, जो ग़स और इतिकाय जंतुओंसे रहित है ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिये. मार्गमें गदहा, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़ा, भैंसा, कुचा और कलह करने वाले लोक इनका दूरमेही त्याग करे अर्थात् इनके समीपसे गमन नहीं करना चाहिये. आहार करनेवाले पशु पक्षी आँकोंो अपनेसे भीति उत्पन्न न हो और चे अपना खाना छोड़कर न मागे इस तरहसे मुनिको आहृतार्थ जाना चाहिये.

रास्तेमें जमीनसे समान्तर फलक पत्थर वगैरे चीजें होगी, अथवा दूसरे मार्गमें प्रवेक्ष करना पड़े, अथवा भिन्न वर्णकी जमीनपरसे चलना हो तो जहाँसे भिन्नवर्णका ग्रारंभ हुआ है वहाँ खदे होकर प्रथम अपने सर्व अंग परसे पिण्डिका फिरानी चाहिये. धानके छिलके, गोबर, मत्सका देर, धूसा, शुष्कके पत्ते, पत्थर फलकादिकोंका परिहार करके गमन करना चाहिये.

मम सीमा मंदा वेति स्वामीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अव्यवस्थाः पूर्वं गृहीतः । एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्यः इति अद्यावत्प्रवृत्तौ मनसि गीर्वासा कार्या । तदन्तर्त्तरेषु लोके युगांतज्जानभूमागावलोकरतः जडुतं, अविलंबितं, असंश्रान्तं प्रजेत् । अंतरेष्वानुपविष्टेष्ववरणन्यासो निर्वाकार ईश्वरवतोत्तमांगः । यत्कदेनैवानुक्तेन अवसहस्रितपङ्कलेन वरमेवा रक्ष्यतां नु गरात्, करयान्, बलोर्ध्वान्, नवांस्तुरगान्मादियन्सारमेयान्कल्लहारिणो वा मनुष्यान्मृतः परिहरेत् । परित्पन्नो द्यूताश्रयस्त्वोच्यतां वा यया न विभ्यति, यथा वा रथमाहारं युषत्वा न प्रजानि तथा यायात् । सृजुना प्रतिष्ठेननेन वृत्तमाजंते गच्छेच्चरि विरतंगुप्तसमाहितफलार्थिन् वामतो यवेत् सागोत्तरमस्ति । मिश्रवर्णो वा भूर्मि प्रविशंस्त- पूर्वमुत्तरात् एव धेयमाजंते रुच्येत् । तुषयोमयस्रस्रुस्रजालानिययं, वृत्तेष्वपलफलाधिकं ॥ परिहरेत् । निषान्नो न क्रुध्येत्, पूज्यमानोऽपि न मुरयेत् । न गीतमृत्युपङ्कलं, उद्धृतपतानं ॥ गृहे प्रविशेत् । तथा मत्तानं गृहं न प्रविशेत् । सुरापन्या- गनालफलादितं कुलं वा, रथसाधो, दामभालो, विद्यापट्टं, धार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत् । इति द्रुक्ताणि लब्धमादृक्कुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठलग्नमभ्यासि सममेवादेत् । द्वात्यमर्लं क्वाटं वा भोदादेवेत् । धातवत्सं, गलकं, मुनो वा भोदुंयेवेत् । पुनैः कलेयोर्ध्वार्थीणां भूमिं वञ्चयेत् । यदानीमेव सितां । भिक्षामार्गणसमिति- तानार्थिषु स्थितेषु तत्रेह न प्रविशेत् । तथा कुटुम्बेषु व्यामोषपण्णदीनमुपेषु च सस्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गणसमिति- क्रम्य न गच्छेत् । पांचायनकल्लनं वा स्वाममनिर्द्वार्यं न कुर्वीत् । विपुदिय स्यां तनुं च दशयेत् कोऽमलभिक्षां वास्व- तीति अभिसाधि न कुर्वीत् । रक्ष्यगृहं, यन्गृहं, कदलीहतागुप्तगृहं, नाट्यार्थधवेशालाञ्च अभिनंरमानोऽपि न प्रविशेत् । यदुक्तमन्वारं प्राविशति गजुच्यपरीपरोधनजंते, यमिर्गममधेशमार्गे गृहेष्विज्ज्जातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्ये, भूमतो चतुरं- गुलपापान्तरो निश्चल्य कुल्लंभाविकल्लगल्लन्य तिष्ठेत् । छिद्रपारं क्वाटं, प्राकारं वा न परयेत् लोर इव । दातुरागमनमार्गे धपस्त्रान्देह, फट्टच्छुभभाजनार्थिन् च शोचयेत् । जने प्रयच्छत्या, यमिस्था या दीवमानं न गृहोयात् । रोगिणा, अस्ति- पृच्छेत्, गान्धोग्मरोत्त, पिशाचिन्, मुग्धेनांधेन, नूतेन, दुग्धेन, अस्त्रास्त्रकेन, भट्टरेण, लज्जायापूतसुषमा, आयुर्मनुष्या, उपामनुपरिन्मस्तपादेन वा दीयमानं न गृहीयताम् । तदेव भिक्षेन वा कदक-सुरकेन दीयमानं वा । मालि, मण्डु, नवनीतं, फलं अद्वारितं, मूलं, पत्रं, सांडुनं, ऊदं च वञ्चयेत् । तत्संपुष्टानि सिद्धान्त्यपि विपन्नरूपपरसंगेधानि, कुथितानि, पुत्तितानि, पुराणानि, जंतुसंस्पर्शानि च न वृथात्त खायेत्, न स्पृशेच्च । अश्वभोत्पातैषणाक्षोपदुष्टं नाभ्यचहरेत् । नवको- टिनिरिदुःसाक्षरप्रदणमेपणासाभितिः ॥

यन्निश्चिन्त्येत् यत्र यदादीयेन यतस्तदुभयं गतिलेखनायोग्यं न वेति विलोख्य पञ्चास्तुतमाजंते पुनरवलोक्य निक्षिपेद्गृह्णीयाथा । एषा आदाननिक्षेपणसमितिः । ईशसिमितिर्निर्गुप्तेन तथा मनोमुपविद्य । स्फुटतरप्रकाशावलोकि- तस्य मोजतमिवादिस्वावतभावनाः पंच ॥

सांप्रतं त्रवनां स्थैर्यार्थं भावनाः पंचशो न्याचक्ष्णः पूर्वमर्हत्सावतभावनाः पंच व्याचष्टे —

नूत्तरा—आलोकभोग्यं स्फुटतरप्रमत्तेष्वलोकितस्य चतुर्विधसंग्रह्यादास्य वलमनं ।

चोरके समान, छिद्र, दावाजा, फिवाड, तट वगैरहका अवलोकन न करे, दावाका आनेका रस्ता-
उमका खंड रहनेका स्थान, पत्ती और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र इनकी छुट्टावाके तरफ विशेष लक्ष्य
देना चाहिये.

जो अपने चालकको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न
लेना चाहिये. रोमी, अतिथयष्टद, चालक, उन्मत्त, अंध, गंगा, अशक्त, मययुक्त, शकयुक्त, अतिथय नजदीक जो
खटा हुआ है, जो दूर खटा हुआ है, ऐसे पुरुषसे आहार नहीं लेना चाहिये. लज्जासे जिसने अपना मुंह फेर लिया
है, जिसने अपना मुंह दफ छिपा है, जिसने जोड़ा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंच जगहपर खटा हुआ है,
ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिये. दूदी हुई अथवा खंडयुक्त हुई ऐसे पत्तीके द्वारा दिया हुआ
नहीं लेना चाहिये.

मांस, मद्य, मफलन, नहीं विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कंदका त्याग करना चाहिये. इन
पदार्थोंका स्पर्श जिनको हुआ है वह अन्न भी त्यागना चाहिये. जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, चलित हुआ है,
जो क्षुधित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिये, न खाना
चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये. उद्गम, उत्पादन, एषणा दोनोंसे दूषित आहार नहीं खाना
चाहिये. नल कोटीमें परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है.

जो चीज जहाँ रखना हो, और जो चीज जहाँसे उठाना हो वे दोनों पिंछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नहीं है.
इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये. और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये. इसको
आदाननिर्धरण समिति कहते हैं. ईशानमितिका और मनोयुक्तिका वर्णन पूर्वमें किया है. अधिक स्पष्ट प्रकाशमें
देखकर भोजन करना अर्थात् यद्ये प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अर्द्धसाव्रतकी पांच भावनायें हैं.

द्वितीयप्रत्ययपना उच्यते—

कोधमयटोग्रहसपदिष्णा अनुवीचिभासरणं चेव ॥

विदियरसा भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥ १२०७ ॥

किमिति निंदा की तो क्रीडित न होना चाहिये और किसीने जादर किया तो आनंदित न होना चाहिये अर्थात् तोप और तोपका त्याग करके जाना चाहिये- जहाँ गीत नृत्य हो रहा है, जहाँ पताफाओंकी पंक्ति सजाई जा रही है, ऐसे घरमें प्रवेश न करे, मदिरागृह अर्थात् मदिरा पीनेवालोंका स्थान, पेयका गृह, लोकनिंद्य कुलोंका त्याग करना चाहिये- यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, जहाँ प्रवेश करनेकी मनाई है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुकोसे छोड़ा है ऐसे श्रद्धाका त्याग करना चाहिये।

अतिशय दसिंद्री लोगोंके गृह, आचार विरुद्ध चलनेवाले, धर्मंत लोगोंके गृहका त्याग करे गृहे, छोटे, और मध्यम ऐसे घरमें प्रवेश करना चाहिए।

यदि द्वार बंद होगा, अर्गलासे बंद होगा तो उसको उपाहना नहीं चाहिये- छोटा बछड़ा, बकरा, और कुत्ता इनको लोप कर नहीं जाना चाहिए, जो जमीन, पुष्प फल और वीलोंसे व्याप्य हुई है उसपरसे जाना निषिद्ध है- हाल ही जो लीपी गई है, जहाँ अन्य भिक्षुका आहार लाभके लिए खंडे हुए हैं ऐसे घरमें प्रवेश करना निषिद्ध है।

अर्थात् मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हो, सिख दीख रहे हो उनका मुख दीनतायुक्त दीख रहा हो तो वहाँ ठहरना निषिद्ध है।

जहाँ अन्य भिक्षु रहते हैं तथा जहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं उस भूमिको उलंघन कर आगे गमन नहीं करना चाहिये- याचना करना, अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिये अस्पष्ट शब्द बोलना निषिद्ध है- पिजलीके समान अपना ऊपर दिखाना चाहिये- मेरेको कौन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा संकल्प नहीं करे-

एकांतगृह, उद्यानगृह, फंदलीओमें बसा हुआ गृह, लतागृह, छोटे २ ध्वजोंसे आच्छादित गृह, नाट्य, शाला, गंधर्वशाला, इन स्थानोंमें प्रतिग्रह करनेपर भी प्रवेश करता निषिद्ध है।

जिसमें बहुत कमोंका प्रचार नहीं है, जो प्राणिरहित है अपवित्रता और परोपसेवार्हित-अर्थात् दूसरोंका जहाँ प्रतिबंध नहीं है ऐसे घरमें जाने आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोंनि प्रार्थना करनेपर खंडे होना चाहिये, समान, छिद्ररहित ऐसे जमीनपर अपने दोन पावोंमें चार अंगुल अंतर रहेगा इस तरह निश्चल खंडे रहना चाहिये- भौत, खौब वगैरहका आश्रय न लेकर स्थिर खंडे रहना चाहिये।

चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किनाह, तट बगैरहका अवलोकन न करे, दाताका आनेका रस्ता उगना खेद रहनेका स्थान, पत्नी और बिसमें अब रस्ता है ऐसे पात्र इनकी शुद्धताके तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिये।

जो अपने मालरुको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिये। रोमी, अतिशयष्ट, गालरु, उन्मत्त, अघ, गुरुण, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है, ऐसे पुरुषमें आहार नहीं लेना चाहिये। लज्जासे बिसने अपना धुंध फेर लिया है, जिसने अपना मुख ढक लिया है, जिसने जोड़ा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंचे जगहपर खड़ा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिये। दूटो हुई अथवा संव्युक्त हुई ऐसे पत्नीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिये।

मांस, मद्य, मषलन, नदी विदरा हुआ फल, फूल, पत्र, अंजुर और कदका त्याग करना चाहिये। इन पदार्थोंका स्पर्श बिसको हुआ है वह अब भी त्यागना चाहिये। जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, बलित हुआ है, जो सुधित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अब न देना चाहिये, न खाना चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे दूषित आहार नहीं खाना चाहिये। नरु कोटीसे परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है।

जो चीज जहां रखना हो, और जो चीज जहासे उठाना हो ये दोनों पिछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नहीं है। इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये इसको आदाननिर्धरण समिति कहते हैं। ईयासमितिका और मनोगुप्तिका वर्णन पूर्वमें किया है अश्विऋक्षस्पष्ट प्रकाशमें देखकर भोजन करना अर्थात् सर्व प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अहिंसाव्रती पांच भावनायें हैं।

द्वितीयमतभाषना उच्यते—

कोपभयलोभहरसपदिष्णा अनुवीचिभासणं चेव ।

विदियस्त भावणाओ वदस्त पंचेव ता ह्येति ॥ १२०७ ॥

हास्यजोअभयकोषप्रत्याख्यानानि योगिनः ॥

सूत्रानुसारिवाक्यं च द्वितीये पंच भावनाः ॥ १२४६ ॥

निजयोदय—जोप्रथमलोभहास्यानां प्रत्याख्यानानि चतस्रः । अणुवीचिभाषणं चैव सूत्रानुसारेण च भाषणं । सतया, नृपा, मत्पशुना, अन्धवयुना चेति यत्नतो वाच्यः । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरवृत्त्यं । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणतां प्रत्यावधाने असद्भाषणपरिहृता यत्रति नान्यथा ॥

अद्वैतविरतिभाषणः पंच भूषयति—

मूलाष्ट—पदिष्यता त्यागः । क्रोधादीनां प्रत्याख्याने एवावस्थासत्यानुवचयसी त्यक्तुं शक्येते तेषां सत्कारणत्वाभिति वदन्तिकाश्चतस्रो भावनाः भविष्याः ।

दूरे प्रतक्ती सत्यप्रतक्ती भावना कइते हैं—

अर्थ—क्रोध, भय, हास्य और लोभ का त्याग करना ये चार भावनाये और सूत्रानुसार भाषण करना

निम्नी मत्प्रतक्ती पांच भागनाये हैं सत्यवचन, असत्यवचन, सत्यमृषा और असत्यमृषा ऐसे वचनके चार प्रकार निम्नरूपसे सत्यवचन और असत्यवचन ऐसे दो वचन व्यवहार योग्य माने हैं. वाक्योके दो व्यवहार योग्य नहीं हैं.

भय, लोभ और हास्य असत्यभाषणके कारण हैं. उनका त्याग करनेसे असत्यवचनोका परिहार होता है. रहा हो नहीं.

द्वितीयप्रतभाषणा उच्यते—

अणुपुण्यादगाहणं अमंगबुद्धी अणुणविचा वि ॥

पुदावंगियउगाहजायणमथ उग्गहाणुत्स ॥ १२०८ ॥

असम्भताग्रहः साधोः सम्भतासक्तवृद्धिता ॥

दीयमानस्य योगस्य गृहीतिरूपकारिणः ॥ १२४७ ॥

चित्रशोक्ता—अणुपुण्यादगाहणं तस्य सामिभित्तनुव्रतस्य अग्रहणं । शानोपकरणसे: अमंगबुद्धी अणुणमैवरात्रुनां रंयाण गृहीतेर्प्रति अमक्तवृद्धिता । वृद्धांगस्य उग्गहाजायणं एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति । परिग्रहः यावदाचित्तो यत्नव्यपि इति न बुद्धिः कार्यो । उग्गहाणुत्स यत्नवत्तुङ्गामस्य इदं शानलेयमयो-

अतोऽयमत्र भावनाः पंच गाथाद्वयेन निगदन्ति—

गूढार—अणुणुणायामगृहणं । यस्तद्विषयानसन्तुष्टः अस्तस्यैवाभिगिरनुज्ञाताः । असंगतुष्टी
अणुणुविज्ञानि कस्तंगतुष्टिरनुज्ञायापि कस्तस्मिन् दृष्टान्कारं काचित्ता गृहीतेऽपि ज्ञानादिसायनां ज्ञासकचित्ता ।
पठनादर्थं परतां पुस्तकदिकं याचित्वा यद्गृहीतं तत्राज्योगमनमित्यर्थः । सैषा द्वितीया । एदायत्तियत्तमहज्जायणं
गतायदिति वायमद्वयाचनं । एतत्परिमाणमित्वं मे भवद्विदित्वमित्वि स्वप्रयोजनसाधनभात्रस्य अचमद्वयं परिग्रहय पुस्त-
कद्वैर्यचनं । याचितो दाता यातद्वदति त्वयद्गृहणीति कुंठरुणमिति याचः सैषा तृतीया । कस्येता इत्याह—उग-
हणास्त अयुगाहने घर्मागतता परिगृह्यते इत्यवशोऽन्माहं ग्रहणयोगेयं वस्तु पुस्तकदिकं । अथवा ज्ञानातीत्ययमहस्तस्मा-
यमाहमेत्यर्थः

तीनोरे व्रतकी भाषनाओंका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानोपकरणादिक अर्थात् ग्राम, पिंछी, कमंडल्यादिक पदार्थ जिसके हैं उसकी परव्रतकी यदि
न होगी तो उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए. उनकी अनुज्ञासे ब्राह्मादिकों ग्रहण करने पर भी उनमें आसक्ति न
रारना, इतना आप मेरेको दीजिए क्योंकि मेरा इतनेसे ही प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा मनमें विचार कर उत्तमी ही
परतु मांगना चाहिए. जितनी वस्तु दाता देगा उतनी सब मैं ग्रहण करूंगा ऐसी भावना अचौर्यव्रत धारक को
करना योग्य नहीं है. जिस वस्तु से ज्ञान और चारित्र की सिद्धि होगी जिसके बिना ज्ञान और चारित्रकी प्राप्ति
न होगी ऐसी वस्तु लेना वक्तिको योग्य है. अनुपयोगी वस्तुकी वाचना करना योग्य नहीं है.

कज्जनमणणुणादिगिह्ण्येवैस्स गोयरादीसु ॥

उगहज्जायणमणुवीचिए तहा भावणा तहए ॥ १२०९ ॥

अप्रवेशोऽननुज्ञाने योग्ययांचविधानतः ॥

तृतीयं भावनाः पंच प्राज्ञैः प्रोक्ता मद्वाचते ॥ १२१० ॥

निजयोदया—यज्जनमणणुणादिगिह्ण्येवैस्स गूढरमागिरनुज्ञातस्य गृहप्रवेशपञ्चने भावना । गोयरादीसु
गोयरादिसु एवं वेदम मरिषा, चम वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देवास्तस्य अप्रवेशन । उगहज्जायणमणुवीचिए अयग्रहयाचना
न्यानुज्ञारण एतन्ने भावनाः ॥

मृदाया—यज्जणनणुण्णादिगिण्णोपेसस्स यज्जनननुसातगृहप्रवेदास्य । गृहस्वामिभिदिदं गृहं प्रविशात्र तिट्ठ इत्येवमनुमानगृहप्रवेदास्य गृहप्रविश्यात्र तिट्ठेत्येवमनुमानाते प्रवेक्ष्ये प्रवेक्ष्य वर्जनं । क्व तद्विलाह नोयरा-
रीनु गोपरे अमेवं धम्मस्यपणवधाननयनादिकर्मणि च । सेणा चतुर्थी । उगाहजायणमणुवीरिए अयमहवाचनमनुधीच्या ।
मभीर्नं पत्तेवं भवद्भिर्मे दातव्यमिति मन्त्रानुसारेण योन्यस्य परिग्रहस्य प्रार्थना । फलेनैतदपि संगृहीतं श्रुत्यागारविमोचिता-
यात्पत्तरीरोप्तास्तरपथेअनुद्धिसपथामिर्मवादाः एवेति सेणा पंचमी । तथा तथा पचेल्लर्थः ॥

अर्थ—गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाई की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यत्की
निमित्त है. अर्थात् हम घरके श्रेष्ठगमें आप प्रवेश कर सकते हैं इस रीतीसे यदि परवानगी न हो तो वहां प्रवेश
करना अनुचित होगा. आगममें अविकट ज्ञानसंयमोपकरणकी याचना करनी चाहिये. इसप्रकार अचौर्यम्रतकी
भायनायें हैं.

महिदालोयणपुब्बरदिसरणं संसत्तवसहिक्कहाहिं ॥

पणिदरसेहिं य विवदी भावणा पंच वंभस्स ॥ १२१० ॥

महिदालोकमालायौ चिरंतनरतस्सुते ॥

पासं संसरत्तवस्तूनां वलिछाहारसेवमम् ॥ १२४९ ॥

योगिनो मुच्यमानस्य विरागीयुतेचतसः ॥

सुरीये भावनाः पंच संपद्यन्ते महाव्रते ॥ १२१० ॥

विजयोदया—महिदालोकोनणुव्यरदिसरणमंसत्तवमदिविक्कहाहिं । स्त्रीणामालोकं, पुरातत्सरणं, स्त्रीभि-
राहृत्या या यमनिः शृंगारकया इत्यंगद्वितयः । पणिदरसेहिं य विवदी कलदपंकरेभ्यो विरतिव्येति पंच यत्तदावनाः ॥
मन्त्रचर्यभावनाः पंचाह—

मृदाया—पुरातदिसरणं प्राग्सेवितमोक्षुत्तरपणं । मंसत्तवसपि स्त्रीमिराहृत्य वसनिः । अमंयत्तजनयुकवसति-
रिगम्यः । विठया शृंगारकया । पणिदरसेहिं कलदपंकरेभ्यो रसेभ्यः ।

अर्थ—विश्रोकं अंग दंतना, पणानुभूत समीगादिकया स्मरण करना, स्त्रियां जहां रहती है वहां रहना

शृंगाररूपा करना इन धार वागोंसे निरुक्त रहना ये चार ब्रह्मवैतकी भावनायें हैं विससे मल और
 जाता अर्थात् सामयिकार होगा ऐसे पदार्थोंका त्याग करना चाहिये ये ब्रह्मचर्य की पाँच भावनायें हैं.

अपडिग्माहरस मुणिणो सदफरितसरसयस्वजंगेसु ॥

रागहोसादीनं परिहारो भावणा हुंति ॥ १२११ ॥

यत्तेः स्पर्शे स्ते गंधे वर्णे शब्दे शुभाशुभे ॥

रागद्वेषपरित्यागो भावना पंच पचमे ॥ १२५१ ॥

विजयोदया—अपरित्याहस्त मुणिणो गरिग्रहरहितस्य मुने । सदफरितसरसयस्वरूपगंधेषु राक्षस्पर्शस्वरूपगणेषु ।
 मनोभेदु । रागहोसादीनं रागद्वेषयो परिहारो विषयभेदात्पञ्चकारमायना पञ्चमस्य ॥

मनोभेदरूपचंद्रियार्थपरिहारभेदात्पंचपरिग्रहव्यवभावनाः प्राह—

मूलाग—अपरित्याहरस नैर्मन्यस्य । होसादीनं आविशाब्देन मोहत्वादि ग्रहणं ॥

अर्थ—परिग्रहरहित सुनि मनोह और अमनोज ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इनमें राग द्वेष
 करते हैं. अर्थात् स्पर्शदि पांच इष्टानिष्ट विषयोंमें रागद्वेष नहीं करना ये पाँच परिसहत्यापन्नत की पाँच भावनायें हैं.

भावनानाहास्य कथयति—

ण करेदि भावणामाविदो सु पीडं ववाण सत्त्वोत्ते ॥

साधू षामुत्तो समुदो व किमिदाणि वेदतो ॥ १२१२ ॥

भावना भावयन्तेना संपतो उत्तपीडनम् ॥

विदयति न सुतोऽपि जागरूकः रूपं पुनः ॥ १०५२ ॥

विषयोदया—य केचिद् सु न करोत्येव । क ? भावणामाविदो भावयन्तिर्भावित । पीड पीडा । ववाण यतानां ।
 मत्स्योत्ते मत्स्य । साधू साधु । षामुत्तो प्रपंचेन निद्रामुपगत । समुदो य समुदात गतो य । किमिदाणि वेदतो ।
 नेतयमान ॥

भावनामाहृत्यमाह—

मन्त्रारा—शीटं पीठं । विपण्णां । पापुचो निर्भरनिद्राकृत्यः । समुद्रो मूर्छितः । वेदो वेदवमानः ।
अर्थ—इन व्रतोंकी भावनाओंका अभ्यास करनेसे यदि इन भावनाओंसे संस्कृत होता है. तब वह ग्राह
सोता हुआ नी अथवा मूर्च्छित हुआ भी अपने व्रतोंको अतिचार युक्त नहीं करता है. वो जागृत अर्थात् साव-
धान रहनेवाला यह मुनि अपने व्रतोंको कैसे दूषित होने देगा ? अर्थात् दिनरात व्रतोंकी भावनाओंका अभ्यास कर-
नेसे उसके मृत होनेका निरतीचार रहकर उषोपर उद्यतावस्था की प्राप्ति कर लेते हैं.

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमचो ते ॥
अच्छिद्वाणि असंङ्गाणि ते भविसंति हु वदाणि ॥ १२१३ ॥

त्वमतः समितीः पंच भावयस्वैकमानसः ॥
महाव्रतान्यसंङ्गानि निश्चिद्वाणि भवन्ति ते ॥ १२५३ ॥
भावनाः समितिगुह्यो यतेर्वचयन्ति फलदं महाव्रतम् ॥
शर्मकारि इजसां निरासकाधारस्यमिव कालवृष्टयः ॥ १२५४ ॥

इति महाव्रतवृष्टिः ।

विजयोद्या—एदाहिं पताभिः । भावणादि भावनाभिः । तम्हा तस्मात् । भावेहिं भावय । अप्पमचो ते
अप्रमत्तस्य । अच्छिद्वाणि अक्षिद्वाणि । भैरतयेण प्रवृत्तानि । अक्ष्ण्णानि संपूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥

एवं प्रकाशितस्वरूपमाहृत्यमासु भावनासु संन्यासिनं प्रवृत्ते-

मन्त्रारा—भावेहिं संस्कर त्वगतान् । अच्छिद्वाणि भैरतयेण प्रवृत्तानि । निर्दोषाणि वा । असंङ्गाणि संपूर्णानि ।
ते तव । तत्ताट्यभावनानिष्ठस्य ॥

अर्थ—इस वास्ते हे क्षपक ! तुम अप्रमत्त अर्थात् निर्दोष आचरणयुक्त होकर इन भावनाओंका अभ्यास
करो. तुम जब भावनामय होगे तब तुमारे संपूर्ण ज्ञान निरंतर टिक सकेगे और पूर्णवस्थाको प्राप्त कर लेंगे. अतः
हे क्षपक ! तुम अपनेको भावनाओंसे सुसंस्कृत बनाओ.

प्रत्यपरिणामोपपातानि शक्त्यानि तत्तत्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

निःसंछुस्सेव पुणो महव्यवाइं हवंति सव्वाइं ॥

वदमुपहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छच्चमार्याहिं ॥ १२१४ ॥

महावतानि जायंते निःसृत्यस्य तपस्विनः ॥

निदानवंचनामिध्यादक्षनैर्हन्यते व्रतम् ॥ १२५५ ॥

विजयोदया—निरसहस्रेव शक्त्यरहितस्यैव ऋणाति दिनस्मृति शक्त्यै । शरकंडकादि तारीरादिब्रह्मेति तेन नुत्यं यज्जाणितो याधानिमित्तं, अंतर्निविष्टं परिणामजातं तच्छक्त्यभिहृद्यते । महव्यवाइं महावतानि भवन्ति । शक्त्यै कस्यचिदेव प्रत्यवपातकं, यथा पयणासमिध्यावो अहिंसाव्रतस्येत्यादौकां निरस्यति सर्वसम्यो । ननु क महत्त्वेन व्रत-प्रपञ्चोऽयं । मिध्यात्वादिशक्त्यै अणुनतारयपि हृग्वेव । सत्यं प्रस्तुतस्यमहाव्रतमागमित्यमुक्तं । अब लोचं—हिंसादिभ्यो विरहितपरिणाममात्राणि व्रतानि । शक्त्यै मिध्यात्वादिके सति किं न भवति ? केनैवमुच्यते निःसृत्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति ? एतत्तत्तिथिपातायाह—अदमुपहम्मदि व्रतमुपहन्त्यते । तीहिं दु तित्थुमिः । निदानमिच्छच्चमार्याहिं निदानमिध्या-त्वमात्राणि । भ्रष्टाव्रतपर्याप्तमायातामस्य पूर्वमिपात इति चेन्न-मिध्यात्वं व्रतविपातं प्रकल्पेण करोसीति प्रधानं ततो मिध्यात्वं माया अस्ति श्रित्यै उक्ते मिध्यात्वात्तद्वदस्य पूर्वमिपातः पश्चात्निदानसाधनेन ब्रह्म । तस्यात्वाव्रतस्य पूर्वमिपातः । तस्यैवैवपरिमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तस्य नासतोः सम्यग्दर्शनदानवोर्भवति । सति मिध्यात्वे विरोधिति न ते सतः । समीचीनज्ञानस्यैवचारिज्जतत्रयस्यास्यमुक्तैः । अतं वदनाभाईकायाऽप्यत्र चित्तप्रणिधानं इवमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनादिर्वरंरथा व्रतोपपातकारि ॥ ननवा स्वातिचारिनिगूहत्कक्षणा माया च व्रतमुपहन्त्यति मन्वते ॥

व्रतानि रिरश्चिपुणा सुसुक्षुणा प्रतोपपातानिमित्तावनिविष्टपरिणामलक्षणाणि शीघ्रयपि शक्त्यानि वच्यमानि सन्ति मिध्यात्वंमाह—

मूला—मन्वाइं यथा क्षणायामित्यमायः अहिंसानतरेवं शक्त्यै कस्यचिदेव प्रत्यवपातकं भवित्यदीत्यासंका निरामार्थमिदं, अणुव्रतमणार्थं वा । वदं स्ममिध्यात्वात्तं महदणुव्रतं । तीहिं दु तित्थुमिरपि । तथाहि—सम्यक्चारित्रिमिह-नोक्षमांगत्वेन प्रस्तुतं तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानयोः सतोरेव यावान् । तच्च स्वनिरोधिति मिध्यात्वे सति न स्यादिति मिध्यात्वेन व्रतमुपहन्त्यते । यथा रत्नत्रयानुच्छेदं तत्तत्तानादेवोऽन्यत्र इदमेतस्मान्मे भूयादिति चित्तप्रणिधानं निदानमिध्यात्वेन । तच्च सम्यग्दर्शनमविचरतन्मूळं व्रतमुपहन्त्येव । तथा मायात्र मनसा स्वातिचारिनिगूहत्कक्षणा गूहतेऽतः सापे व्रतोपपाति-नीति मन्वते ॥

ग्रन्थ ब्रतपरिणामोंको घातते हैं अतः उनका त्याग करना चाहिये ऐसा शपथको कहते हैं.—
अर्थ—शुल्करहित व्रतोंके संपूर्ण महाव्रतोंका संरक्षण होता है. परंतु बिन्दने श्रुतियोंको आश्रय दिया है उनके ब्रत माया, मिथ्यात्व और निदान इनसे नष्ट होते हैं.

विशेषार्थ—जो प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर उसका घात करता है उसको शल्य कहते हैं. अर्थात् नाण, मृच्छरु रंगरह गुरिगदिकने प्रवेश कर उसको पीडित करते हैं इसलिये उनको शल्य कहते हैं वैसे प्राणिकों दुःख देनेमें कारणीभूत ऐसे अंतरंग परित्यागोंको वे भी नाणादिकके समान दुःख देनेवाले होनेसे शल्य कहते हैं

शुद्धा—एषणासक्तिका अभाव होनेसे संपूर्ण व्रतोंका नाश नहीं होता है परंतु फल अहिंसाव्रत का ही घात होता है वैसे इन श्रुतियोंसे सर्व व्रतोंका घात नहीं होता है.

उत्तर—नायामें 'सर्व' शब्द है इससे सर्व व्रतोंका नाश होता है ऐसा सूचित होता है.

शुद्धा—श्रुत्योंमें महाव्रतके समान अणुव्रतों का भी नाश होता है परंतु ग्रंथकारने महाव्रतोंका नाश होता है ऐसा क्यों कहा है.

उत्तर—अणुव्रतोंका और महाव्रतोंकाभी श्रुत्योंसे नाश होता है परंतु यहाँ महाव्रतोंका विवेचन करना ग्रंथकारको अभीष्ट है अतः 'महाव्रतोंका श्रुत्य घात करते हैं ऐसा ग्रंथकारने कहा है.

शुद्धा—हिमादिक श्रुतोंसे निरक्त होना यह व्रतोंका लक्षण है तो मिथ्यात्वादिक श्रुत्य जीवमें रहने पर भी व्रत अर्थात् निरक्तिपरिणाम रह सकते हैं. अतः श्रुत्यरहित पुरुषकेही महाव्रत होते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है.

उत्तर—व्रतोंका श्रुत्यमे घात होता है. वे श्रुत्य तीन प्रकारके माया मिथ्यात्व और निदान ऐसे हैं. यहाँ सम्यग्चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है. परंतु बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके चरित्रको मोक्षप्राप्ति आती नहीं है. मिथ्यात्वपरिणाम आत्मामें रहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होते ही नहीं. क्योंकि मिथ्यात्व इनका निरोधी है. वह इनको उत्पन्न होने नहीं देता है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र इनको रत्नत्रय कहते हैं. रत्नत्रयको पूर्णताको मोक्ष कहते हैं. अनंतज्ञानादिक अनंतचतुष्टयकी प्राप्ति करनेमें चित्तको न लगाना अन्यथात्तोंमें अपने मनको एकाग्र करना जैसे इस उपमे मेरेको इंद्रादि षट्दर्शकी प्राप्ति होनी चाहिये ऐसी अभिलाषा करना निदान श्रुत्य है. वह श्रुत्य सम्यग्दर्शन का नाश करता है और परंपरया व्रतोंका भी घात करता है. मनुके द्वारा

अतिचार छिपानेका भाव रहना मायाश्रित्य है, अर्थात् ये तीन श्रुत्य श्रवोंका—चारित्र्यविणामका घात करते हैं ऐसा मित्र हुआ।

तत्त्वं निदानं त्रिविधं होइ पसत्थापसत्थभोगकन्दं ॥

तिविधं पि तं निदानं परिपंथो सिद्धिमगास्त ॥ १२१५ ॥

निषेद्ध सिद्धिलाभस्य विभवस्येककत्तमपम् ॥

निदानं त्रिविधं शास्त्रभशास्ते भोगकारणम् ॥ १२१६ ॥

विश्वयोदया—तत्त्वं तेषु शब्देषु निदानं निदानालयं शब्दं । त्रिविधं त्रिविधं । होदि भवति । पसत्थमप्यसत्थ-
भोगकन्दं प्रशस्तनिदानमशस्तनिदानं, भोगानिदानं चेति । त्रिविधं पि त्रिविधानं विप्रकारमपि निदानं परिपंथो विप्रः ।
सिद्धिमगास्त रक्तमपस्त ।

निदानस्य त्रिविधं रत्नत्रयमतिवैयर्थ्यं चाविपत्ते-

मूढारा—भोगकर्तृ भोगा इष्टेन्द्रियाणां । एता येन तद्भोगकृतं । भोगकारणमित्यर्थः । त्रिविधं विप्रः ॥

अर्थ—मीनश्रुत्योर्ममे निदान नामक श्रुत्यके तीन भेद हैं, प्रशस्त निदान, अशस्तनिदान और भोगकृत
निदान ये तीनों भी निदान रत्नत्रयके विरोधी हैं।

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोपराधा—

संजमहेदुं पुरिसत्तमच्चलविरियसंघदणवुद्धी ॥

सावययंधुकुलादीणि निदानं होदि हु पसत्थं ॥ १२१६ ॥

नृत्तं सत्तं चलं वीर्यं संहतिं पाषाणं कुलं ॥

इत्ताप याचमानस्य निदानं शास्तदुच्यते ॥ १२१७ ॥

विजयोदया—संजमहेदुं संयममिति च पुरिसत्तमच्चलविरियसंघदणवुद्धी पुरुषत्वमुरसाह, चलं शरीरगतं
संयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तमणिधानं प्रशस्तनिदानं सावययंधुकुलादिनिदानं अद्विजकुलं, वंधुकुले वा उत्पत्ति
प्राप्त्या प्रशस्तनिदानं ॥

प्रशस्तनिदानं यच्छि—

मूलात्—सत्त उत्साहः । यत्तं देहाद्यर्थं । सावयवकुलं हि अद्विष्टकुलं, वंघुकुलं, सुवत्स्यादिकं च । मुक्तवादीनि, संयमार्थनिष्ठतः प्रशस्तनिदानं स्यादिति सर्वथाः ।

अर्थ—पुरुषस्य अर्थात् उत्साहः, आर्त्तारिक्चल, वीर्यतरावकर्मका ध्योपश्रम होनेसे उत्पन्न होनेवाला दृढ परिणाम, अस्थिवंधन अर्थात् वज्रवृषभनाराचादिकसंहनन, ये सब संयममाधक सामग्री मेरेको प्राप्त हो ऐसी मनकी एकाग्रता होती है उसको प्रशस्तनिदान कहते हैं, धनिककुलमें, वंघुओंके कुलमें उत्पन्न होनेका निदान करना प्रशस्त निदान है-

अप्रशस्तनिदानमाद्ये—

माणेण जाइकुलरुजमावि आइरियिगणधरजिणसं ॥

सोमग्गणादेयं पथंतो अप्पसत्थं तु ॥ १२१७ ॥

अईङ्गणधराचार्यमुभगांदयतादिकं ॥

प्रोक्तं प्रार्थयते शस्तं मानेन भयवर्धकम् ॥ १२१८ ॥

शिययोदरा—माणेण मानेन हेतुना जाइकुलरुजमादि जालिमोवंधः, कुलं पितृवंशः, जातिकुलरूपमात्रस्य कुलभवात्प्रशस्तमादिपरिश्रमः । इह आरियिगणधरजिणत आचार्यत्वे, गणधरात्वे, जिनत्वे, सोमग्गणादेजं सौ-
भार्थ, भागी, आदेयत्वं च । पेच्छंतो प्रार्थयतः । अप्रशस्तामेव निदानं मानरूपयदुक्तिर्यात् ॥

अप्रशस्तनिदानमाद्ये—

मूलात्—माणेण अभिमानयत्वेन । जाइकुलरुजमाद्य प्रशस्तं मातापितृकुलं । सौख्यं दीपं वायुरिह प्राप्यं । वनमा-
त्रस्य मुलभवात् । सोमग्गणादेजं सौभाग्यसाक्षात्मादेयवक्तव्यतां वा । पेच्छंतो प्रार्थयतः । अप्पसत्थं मानरूपयदुक्तिर्यात् ॥

अर्थ—अभिमानके वश होकर उत्तम मातृवंश, उच्च पितृवंश, अर्थात् प्रशस्त जाति और प्रशस्त कुल, रूप इसकी अभिलाषा करना, आचार्यपदवी, गणधरा पद, वीर्यकषपद, सौभाग्य, आज्ञा और सुंदरपना इनकी प्रार्थना करना यह सब अप्रशस्त निदान है, क्योंकि कि मानरूपयसे दुषित होकर उपर्युक्त अवस्थाको अभिलाषा की जाती है-

कुब्जो नि अण्यसत्थं मरणे पच्छेद्द परवधादीयं ॥

जह् उग्गसेणघादे कदं गिदाणं वसिष्ठेण ॥ १२१८ ॥

अमरास्तं याचते कुब्जो मरणेऽन्यवचं कुब्धीः ॥

अयाचतोऽयमेनस्य वसिष्ठो हननं यथा ॥ १२१९ ॥

विजयोदया—कुब्जो यि षड्ढोऽयि । अण्यसत्थं परवधादिकं । मरणे मरणकाले । पच्छेदि प्रार्थयते । अथा यथा उग्गसेणघादे उग्रसेनमरणे । कदं विधानं वसिष्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

क्रोधायपि तदप्रसारं स्वादिरयाह—

मूळारा—वसिष्ठेण यस्मिन् यतिना ॥

अर्थ—कुब्ज होकर मरणसमयमें शुश्रूषादिककी इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निन्दन है. वसिष्ठ नामक पुनीने उग्रसेन राजाका वध करनेका निदान किया था जिससे यह मरकर उग्रसेन राजाका कंस नामक पुत्र हुआ था. अपने पिताको कारागारमें बंद कर यह राजपुत्र आरुढ़ हुआ. (आराधना कथाकोषमें इसकी कथा है.

भोगमिदानीरूपणा—

वैविगमाणुसभोगो णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहत्तं ॥

केसवच्चक्रधत्तं पच्छंतो होवि भोगकदं ॥ १२१९ ॥

स्वर्गभोगिनरनायकामिनीः श्रेष्ठिचक्रिचलसार्थवाहिनां ॥

भोगमूर्तिमधियो निदानकं कांक्षतो भवति भोगकारणम् ॥ १२२० ॥

यिजयोदया—वैविगमाणुसभोगे देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगात् । पच्छंतो अभिलषन्ति भोगकदं भोगकृतं निदानं । णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहत्तं नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । केसवच्चक्रधत्तं चासुखेयत्वं सकलचक्र धर्तव्यं च यांछति भोगार्थं । भोगमिदानीं च भवति ॥

भोगनिदानमाह—

मूलाप—नारीस्सर नारीत्वभीषरत्वं च । पच्छंतो वांछन्ति सति । देवमर्त्यभोगान्भोगावमेव च स्वीच्यदीति ॥

अर्थ—देवोंमें और मनुष्योंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना यह शोणछत्त निदान है, स्त्रीपना, पतिकपना, भ्रष्टिपद, तार्धवाशपना अर्थात् सब व्यापारिजोंका स्वामित्व, केशवपद—नारायणपदवी, सकलचक्र-वर्तीपना इनकी भोगोंके लिये अभिलाषा करना यह भोगनिदान है.

संजमसिद्धारूढो घोरतवपरकमो तिगुत्तो वि ॥

पगरिज्ज जइ निदानं सोवि य वड्डइ दीहसंसारं ॥ १२२० ॥

घृद्धसंघमतपःपराक्रमः शुद्धयुक्तिकरणोऽपि ना ततः ॥

माति ऊन्मज्जलपि सुवुत्तरं कापरस्य गणना कुचेत्तसः ॥ १२६१ ॥

वित्तपरेषण—संजमसिद्धारूढो संघमः शिखरमिव दुरारोहत्याश्चलत्वाद्वा । पञ्चदुलं भवति । मरुत्तलं-यमोऽपि । घोरतवपरकमो मोरे तपस्ति पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धर्तयोऽनुग्राह्यपि । तिगुत्तो वि गृह्णित्वयसमन्वि-तोऽपि । पगरिज्ज जइ निदानं यदि कुर्यात् । चंदर वधंयति संसारमात्मनः । किमपरस्मिन्निदावकारिणि वाच्यम् ॥

त्रिनेन्द्रप्रत्यक्षापि निदानकरणे संसारदीर्घकारणमाह—

मूलाप—संजमसिद्धारूढो संघमः शिखरमिव दुरारोहत्वाश्चलत्वाद्वा । तवारूढः संययकाक्षानिष्ठ इत्यर्थः ।

घोरतवपरकमनो दुर्गते तपस्तुत्साहो यस्यासौ ॥

अर्थ—जैसे पर्वतव्य शिखर निचल और चढकर ऊपर जानेके लिये कठिन है वैसे उत्कृष्ट संघम भी धारण करना कठिन है. ऐसा उत्कृष्ट संघम किसने धारण किया है, घोर तपमें जो उत्साहयुक्त है अर्थात् जो दुर्धर तपधारण करनेमें तत्पर रहता है. जो तीन युगियोंका धारक है ऐसा भी धृति निदान करेगा तो वह भी संसारको चढरेगा अर्थात् उसको भी संसारमें दीर्घकाल तक ग्रसण करना पड़ेगा. तो अन्य निदान करनेवाले छुद्र मनुष्यको संसार में घुमना पड़ेगाही.

जो अण्णसुखसहेटुं कुणइ निदानमविगणियपरमसुहं ॥

सो कागणीणु विज्जेद मणिं बहुकोटिसयमोछं ॥ १२२१ ॥

निदानं योऽल्पसौरुषाय विद्यते सौख्यनिस्पृहः ॥

काकिण्या स मणिं दत्ते यंके कल्याणकारणम् ॥ १२६२ ॥

गिरयोषया—जो अल्पसुखछेदु योऽल्पसुखनिमित्तं निदानं करोति परमे सुखिछले अनवरं कृत्या । स का-
कण्या विच्छीर्णति मणिं यशुकोटितगतमौल्यम् ॥

संसारदुःखाय निदानयत्तं निवेदि —

मूलात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्कृष्ट मोक्षके सुखमें अनादर करके अल्प सुखके लिए निदान करता है वह अनेक
कोटि रूपयोंकी कीमतवाला मणि कोही मिलने की इच्छासे बेचता है ऐसा समझ लेना चाहिए.

सो भिदइ लोहत्थं णावं भिदइ मणिं च सुत्तयं ॥

छारकदे गोसीरं उहदि णिदाणं सु जो कुणदि ॥ १२२२ ॥

स त्तराय मणिं भिन्ने नावं लोहाय भस्मने ॥

कुशीरद्वति गोशीरं निदानं विदधाति यः ॥ १२६३ ॥

चित्रयोषया—सो भिदर स निनासे कीललोहाय नावं भनेकयस्तुभूता । भित्ति छने च सुभाये । गोशीरं
चंदनं कृदति प्रसार्य यो निदानं करोति स्वर्णम् । सारयिनाशसाधर्म्यं विदमाद्ये—सुपकारोपरि कथा यो निदान-
कारी, तेन भीषधृत्तिकं विनाशितं । अर्थात्पानकानि यच्छान्ति ॥

मूलात्—गोसीरं धरचंदन । अत्र स्मरविनाशसाधर्म्यविदेशो वेद्यः ।

अर्थ—जो मनुष्य निदान करता है वह मनुष्य लोहके कीलके लिए मौलाका भंदन करता है, गोशीरके
लिए रत्नहारको तोड़ता है, भस्मके लिए गोशीर चंदनको चलाता है ऐसा समझना चाहिए. अथवि तुच्छ संसार
गुलती प्राप्ति के लिए निदान करना अबोध है. उत्कृष्ट संयमका उससे नाश होता है. रसोदयाकी कथामें उपर्युक्त
चारोंका उल्लेख है.

कोही संतो लद्धूण उहइ सच्छं रसायणं एसो ॥

सो सामणं णासंद भोगहेदुं णिदाणेण ॥ १२२३ ॥

आमर्ष्यं नाश्रयते तेन भोगाय सिद्धिसाधकम् ॥ १२१४ ॥
विजयोदया—कुभी सन् रसावनमूलमिच्छुं लब्ध्वा ददति ॥ समानतां नाशयति सर्वदुःखान्याधिविनाशो-
पतां भोगार्थनिदानेन ॥

मूला—कोडी सती कुडी सन् । रक्षावर्णं कुशविनाशनरसावनमूलं ॥

अर्थ—जैसे कोई कुशरोगी मनुष्य कुशरोगका नाशक रसावन तुलसी इत्यादि को पाकर उसको जलाता है वैसे
निदान करनेवाला मनुष्य सर्वदुःखरूपी रोगका नाश करनेवाले संयमका भोगकृत निदानसे नाश करता है।

पुरिसत्तादिनिदानं पि मोक्षसकामा मुणी ण इच्छन्ति ॥

जे पुरिसचाहुमओ भावो भवमओ य संसारो ॥ १२१५ ॥

नरत्वादिनिदानं च न कांक्षन्ति मुमुक्षवः ॥

नरत्वादिमये तस्मात्संसारस्तन्मयो यतः ॥ १२१५ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादिनिदानं पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षमिच्छाविषो मुनयो न वाञ्छन्ति । यस्मात्पुरुष-
त्वादिरूपे भवपर्यायः । अथामकञ्च संसारः भवपर्यायपरित्यक्तस्वरूपत्वात् ॥

प्रशस्तिर्वाभस्यापि मुमुक्षुणामकरणीयत्वमाह—

मूला—भावो वैदमद्वयपर्यायः ।

अर्थ—पुरुषत्वं, बल, वीर्यं वगैरहंका निदान भी मुमुक्षु मुनि करते नहीं। क्योंकि पुरुषत्वादिपर्याय भी
भव ही है और भव संसाररूप है।

दुबुद्धस्त्वयकभक्त्वयसमाधिभरणं च बोधिलामो य ॥

एवं पश्येयत्वं ण पच्छणीयं तवो अण्णं ॥ १२१६ ॥

समाधिभरणं बोधितुःस्वकर्मक्षयस्ततः ॥

प्रार्थनीयो महाप्राज्ञैः परं नातः कदाचन ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—दुःखसमूहय दुःखानां शारीरार्णां, आर्गंतुकानां स्वाभाविकानां च दुःखो भवतु । तथा कर्मणां सत्कारणभूतानां स्तनधसंज्ञादनुसृतं ग्रहणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलमब्ध पतप्रारब्धेरीचं ताव्यत् ॥
नर्दि प्रतापनुष्ठापिना किं प्रार्थ्यमित्याह—

महारा—तोषिलामो रत्नयशसिः । अत्र यथापूर्वं देवदेवमुमन्नायो भाव्यः ॥

अर्थ—मेरे शारीरिक दुःखोंका, आर्गंतुक—अकस्मात् उत्पन्न होनेवाले दुःखोंका, और स्वाभाविक दुःखोंका भी अन्यजराभरणादि दुःखोंका नाश हो । तथा इन दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले असातवेदनीयादि कर्मोंका भी नाश हो । मेरेको समधिभरणकी अर्थात् स्तनत्रयप्राप्ति पूर्वक मरणकी प्राप्ति हो । दीक्षाधारण करनेमें ग्रहच फले वाली स्तनत्रय प्राप्ति हो इन बातोंकी प्रार्थना करनी चाहिये । अन्य वस्तुकी प्रार्थना करना योग्य नहीं है ।

पुरिसचाक्षीणि पुणो संजमलामो य होइ परलोप ॥

आराधयस्स गियमा तवत्यमकदे पिदाने वि ॥ १२२६ ॥

नदस्वसंयमप्राप्ती परध्र भवतः स्वयम् ॥

निदानमंतरेणापि दृगाद्याराधनांऽगिनः ॥ १२६७ ॥

विजयोदया—पुरिस्तत्प्राप्तीणि पुरुषतथादिकं, संयमलामब्ध भविष्यति परजन्मनि कस्य ? कुतरत्नयपाराधनस्य निश्चयेन । तवर्चमकृतेऽपि निद्रामे ॥

आराधकस्य निदानं विनापि प्रेतपुरुषत्वादिसामयवश्यंभावि संभाव्यति—

मूलारा—अकदे अकृतेऽपि ॥

अर्थ—जिसने स्तनत्रयकी आराधना की है उसको निदान न करनेपरभी अन्यजन्ममें अर्थात् आगेके जन्ममें निधयसे पुरुषत्वादिककी और संयमकी प्राप्ति होती है ।

माणस्स भंजणत्थं चित्तेदब्बो सरिरणिज्जेदो ॥

दोसा माणस्स तथा तेह्वेव संसारणिज्जेदो ॥ १२२७ ॥

भवशरीरनिर्वेदमानदोषविवर्चिनम् ॥

कर्तव्यं मानमंगाय संसारान्तं चियासता ॥ १२६८ ॥

विजयोदया—आणरस अंबावर्षे मानमंजनार्थं स्वात्म्य शरीरनिर्वेदः । तथा दोषाश्च मानस्य । तथैव संसार-
निर्वेदश्च स्वात्म्य इति स्वपक क्रियापकस्युरि शिष्ययति । शरीरस्य यशुचित्वादिस्वभावचित्तवतः । किमेतेन शरी-
रेणेति शरीरे अन्तर्दः शरीरनिर्वेदः । स कथं मानस्य भंजने निमित्तं । स हि शरीरपुरुषमेवावहति । तत्रतिपक्षत्वात् ।
यदीच्यते मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो शुद्धिः । स च शरीरनिर्वेदेन मज्यते । मानस्य दोषा नीच
कुलेपूलचित्तोऽयमुणाक्षमः सर्वविद्वेषता, रत्नत्रयाद्यलाम इत्यादिकाः । संसारस्य द्रव्यश्रेत्रकालभावमपपरिवर्तन
रूपस्य परादमुजता संसारनिर्वेदः । तत्रोपयुक्तस्य अदंकारनिमित्तानां विनाशात्, विनिर्वातां च गुणानां यदुनां क्षसकृत्य-
वृष्टिः जनेत्रमपिष्ठभरचात् । ह्युपत्येभ्यो गुणेभ्योऽतिशयितानां गुणानामन्यैरुपलंभनात् ॥

अप्रस्तुतिदानागमानभंगोवाधानरूपकं शिक्षयति—

मूढारा—शरीरनिर्वेदो धीभक्तपूतिश्रुतिपकत्वात्रानादरः । किमेतेन शरीरेणाशुख्यविस्वभावेत्यवमानन-
मित्यर्थः ॥ वदुपयुक्तो हि देहाभिसौकुल्येण क्रियमाणान्मयोल्परसंभवतां विनाशयतीति रूपाभिमानमंजनाय तन्नाशनो-
पदेशः । दोसा दोषा अपकाराः । ते च नीचकुलेपूलचित्तनिर्मान्यगुणाप्रतिभिः, सर्वविद्वेषता, रत्नत्रयाद्यलामाभेद्यादिकाः ॥
संसारनिर्वेदो इत्यश्रेत्रकालभावमपपरिवर्तनरूपस्य संसारस्य परादमुजता । वदुपयुक्तस्य यत्स्वर्हकारणानां नियगुणा-
नामभेकप्रतिष्ठुधत्वेनेपलंभनात् । त्वप्राप्यमान्यगुणेभ्योऽतिशयितानां ज्ञानतपःप्रयुक्तगुणानां महापुरुषगोचरणां अस्त-
त्प्रतिपक्षेनाय तदुणाच्छेदतो मानो नित्ययति ॥

अर्थ—मानका मर्दन करनेके लिये शरीरनिर्वेदका चिंतन करना चाहिये अर्थात् शरीरसे मन विरक्ति-
युक्त होगा ऐसा विचार करना चाहिये. तथा माननाशार्थं अभिमानके दोषोंका भी विचार जरूर करना योग्य है
ऐसा आचार्य श्रुपकको उपदेश देते हैं. शरीरके अपवित्रत्वादि स्वभावोंका चिंतन करनेसे ऐसे शरीरसे भेरा क्या
प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा समझकर आत्मा उससे विरक्त होता है-

प्रश्न—शरीरवैराग्य माननाशके लिए कैसे कारण होता है ? क्योंकि, वह मानसे उलटा है. वह तो
शरीरपर प्रीति उत्पन्न करनेके लिए कारण होगा ?

उत्तर—मान शब्द यद्यपि सामान्यका वाचक है परंतु यहां रूपाभिमानमें रूढ समझना चाहिए.
यह रूपाभिमान शरीरनिर्वेदसे त्राट होता है.

मानक दीप इस प्रकार है—मान जीवको नीच कुलमें उत्पन्न करता है. मानसे गुणों की प्राप्ति नहीं होती है. मानी पुरुषका सर्व जन द्वेष करते हैं. उसको रत्नजयादिक का लाभ नहीं होता है. इत्यादिक दीप मान कृपायमें हैं.

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, मन्त्रपरिवर्तन ऐसे पांच परिवर्तन स्वरूप संसारसे पराङ्मुख होनेका विचार हमेशा करना चाहिए. इस विचारसे भी मानका घाव होता है. जब आत्मा संसारसे पराङ्मुख होता है तब अहंकारके साधनभूत कारणोंका नाश होता है. अनेक मधुसूनीय गुणोंकी प्राप्ति होती है. मेरे को जो ज्ञान तब बमोहर गुण प्राप्त हुए हैं वे अन्य कुलों की भी प्राप्त होते हैं अतः गर्व करना योग्य नहीं है ऐसा विचार करनेसे मानका नाश होता है.

कुलाभिमाननिरासोपायमन्त्र—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो नीचत्तणं पुण उवेइ ॥

जीवाणं खु कुलाइं पधियरस व विरसमंताणं ॥ १२१८ ॥

उवं भवे कुलं नीचो नीचमुच्चः प्रपद्यते ॥

कुलानि सन्ति जीवानां पाधानामिव विश्रमः ॥ १२१९ ॥

विवक्षोद्घा—णीचो वि होइ स्थानमनैश्वर्यविभित्तिरोगूतः । स उच्चो अतिशयितस्थानमादादिकोऽपि नीचत्तणं तेन्युन्तां । पुण उवेइ पुनः उपैति । उच्चो खलु । कुलाइं कुलानि । नीचमुल्तां ? विरसमंताणं विरसतां वदन्तां कुलानि कुलपदुत्त्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता । अनियतकुलस्य कः कुलगर्भः । पधिरसस्य पधिरस्य यथा विधमस्थानं व नियतमस्ति वददेवासेति भावः ॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाह—

मूलारा—णीचो स्थानमनैश्वर्यविभित्तिरोगूतः । उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकः । कुलगर्भं गोत्राणि स्थानानि च । विरसमंताणं विश्राम्यतां स्थितिकुर्वतां कुलानि जीवानां संपद्यते । यथा पविकरय न विश्रामस्थानं नियतमस्ति तथा कुलं जीवस्येति भावः । अनियतकुलस्य कः कुलगर्भ इति माननिर्जकः । विरसमत्वाणमिति कवित्पाठः । उक्तं च—

उषं मये कुलं नीचो नीचमुखः प्रपद्यते ॥
कुलानि संति जीवनां पायान्मिव विभक्ताः ॥

कुलभित्तनका नाश करनेका उपाय कहते हैं—

अर्थ—स्थान, मान, ऐश्वर्यादि न होनेसे मनुष्य नीच कहलाता है. ऐसा नीच मनुष्य इनकी प्राप्ति होने पर लोकोंके द्वारा उच्च माना जाता है. जिसके स्थान, मान, ऐश्वर्यादिक बड़ गये हैं वह मानव कालान्तरसे इस मानके दोषसे हीनताको प्राप्त होता है. जैसे श्वास कनेवालडा मनुष्य एक जगहमें ही विश्रांति नहीं लेता है. भिक्षुभिन्न स्थानोंका वह आश्रय लेता है वैसे यह जीव भी एक ही कुलमें नहीं रहता है. भिक्षु भिन्न कुलोंमें उसको जन्म लेना पड़ता है. कभी उच्च कुलमें यह जन्म घारण करता है कभी नीचकुलमें उत्पन्न होता है अतः कुलका गर्व करना योग्य नहीं है.

किं च गर्वो छातमगो धूर्ध्रं परस्य वा हर्षिणं दुःखयो संक्षेपते तस्य शुकोऽङ्कहारः न चास्य बुद्धिदानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व जीवासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवरस ॥

कट्ठी वा हाणी वा सच्चत्थ वि तिचिओ चेव ॥ १२२९ ॥

हानिदुद्धी प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ॥

सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सभमानता ॥ १२७० ॥

विजयोदया— उच्चासु व जीवासु व यत्र स्थित चात्मा शरीरं निष्पद्यति तद्योनिगोदोच्यते । न तत्स्य उच्चता नीचता वा ततः किमुच्यते उच्चासु व जीवासु व इति । अत्रोच्यते— योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते या उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य बुद्धिहीनता सर्वत्र तत्प्रमाण एव क्षान्तिगुणाविशयमेव उक्तव्यम् । निन्दितगुणः कुलीनोपि न पूज्यते उत्पन्नैः । अमान्येपि कुले संसृतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासे ध्रुमतो हि संतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ॥

स एव नीचोत्तममध्यजातः सकर्मवश्यः क्षयुरेति तास्ताः ॥

नृपश्च दासः श्रपन्त्यश्च विप्रो दरिद्रयंशश्च समूहयंशः ॥

ओपाश्रितवर्गद्विदयचित्ता च संजायते कर्मवशात्स एव ॥

को याधिकारः सुकुलेषु नृणां का वा सिद्धिसान्यकुलप्रचलौ ॥
कार्योऽधिकारो ननु धर्मं एव कार्यो विद्वेसादि च कुचक्रेषु ॥

किंच सर्वोऽपि दय्यजनः स्वसोदरार्थं परस्व चापकर्षं मन्यमानो गर्वमुपैति । न चारवात्तन उमनीचकुलप्रतिनिधिते
ब्रह्मरानी स्वस्त्योऽप्ययोग्यकुलेऽर्द्धकार इति शिक्षयति—

मुत्तारा—जोभीसु कुलेषु । सरीरनिष्पादनस्यामानुषस्त्वनीचत्वासंभवात् । अत्र योनिशुद्धेन कुलेमेवोच्यते ।
वसिष्ठोक्तं अनेयातपदेशप्रचालक एव । मान्यकुले प्रसूतो नेकेनापि भवेदेन वर्द्धते, नपि निमे आतो हीयत इति
भाषः । ततो शानादिगुणाविसाधयोगादेव दृश्यते न कुलोच्चत्वयोगात्कः कुलीनत्वगर्व इति गर्वस्वर्णोपायशिक्षणं ॥

गर्वं करनेसे आत्मकी वृद्धि होती है और न करनेसे उसकी हानि होती हो तो सर्व करना योग्य होगा।
परंतु आत्मा कम जाता होता हुआ नहीं दीलता है. इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जहां आत्मा गृहपर छीर उत्पन्न करता है अर्थात् धारण करता है ऐसे आचारको योनि कहते हैं.
आधाररूप योनि उग्रभी नहीं है और नीच भी नहीं है. इसलिये 'उच्चासु व नीचासु व' ऐसा कहना अनुचित है.

उत्तर—योनिशुद्धका अर्थ उत्पत्तिस्थान ऐसा नहीं है. प्रस्तुत प्रकरणमें योनिशुद्धका ऐसा अर्थ
लेना चाहिये. इसलिये यहां ऐसा अर्थ समझना योग्य होगा—मान्यकुलमें अथवा निष्ठ कुलमें उत्पन्न होने पर भी
जीवकी वृद्धि या हानि नहीं होती है. सर्वत्र वह अमररूपा प्रदेगारमक ही रहता है. श्रानादिगुणोंके अतिशय से ही
उत्कृष्टता प्राप्त होती है. जिसके गुण निष्ठ है वह कुलीन होनेपरभी अन्य पुरुषोंके द्वारा नहीं पूजा जाता है. हीन
कुलमें उत्पन्न होने परभी यदि वह गुणी होगा तो पूजा जाता है.

अन्य ग्रंथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

“इम संसारमें प्रमण करनेवाले प्राणीका कोईभी कुल नित्य नहीं है. अपने किये हुए कर्मके वश होकर यह
मंताही आत्मा नीच कुल, उच्च कुल और मध्य कुलमें जन्म लेता है. और नीच, उच्च, मध्यम अवस्थाको प्राप्त होता है.
इम संसारमें रात्वा भी दुर्दैवयोगसे दास होता है. श्वपच भी—मांसभजी अन्य जन्ममें ब्राह्मण बन जाता है. दरिद्री
वंश भी पनसंपन्न होता है. कर्मके वश होकर इस लीवकी बोर, जनि, सपं इत्यादिकोंसे दुःख प्राप्त होता है.
मनुष्यको उच्च कुलकी प्राप्ति होनेपर कर्म नहीं करना चाहिये और नीच कुलमें उत्पन्न हुए प्राणिओंकी उपुप्ता

नहीं करनी चाहिये. अर्थात् उनका विरस्कार करना योग्य नहीं है. मनुष्यको धर्ममें अधिकार करना योग्य है. अर्थात् धर्मचरण करना उसका कर्तव्य है और धर्मकार्यसे उसको पराङ्मुख होना योग्य है.”

कालमणंतं णीचगोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ॥

जोणीमिदससत्यागं ताओ वि गदा अतंजाओ ॥ १२३० ॥

सामं साममनंताअ नीचामुच्चं प्रपचमं ॥

तथाप्युक्त्वा अपि मात्ता अनंता योनयो भवे ॥ १२७? ॥

विजयोवय—कालमणंतं णीचगोदो होदूण अनंतकलं नीचैर्गोत्रं भूया । लभदि सगिमुचं जोणि । लभते सकुदुच्चैर्गोत्रं । कीदरी इवरसलागं इतरसलाकां । इतर नीचैर्गोत्रवः । गदा अणंताओ अनंताः मात्ता एकेन जीवेन ॥

यथाप्यवमात्ता संसारे पबंदमनंतको धीचा योनीर्भूयो लब्ध्वा कथमप्यवरांतरोषां योनिमेकैक्यो लभते तथाप्यनंतनीचयोनिताभंतरालवर्धिन्य उवा योनयोऽप्यनंतर एवाभेननादिकालेन लब्धा इत्युपरिसृति—

मूलारा—भीषागोदो नीचैर्गोत्रः । तमिं सकृत् । लब्धं लोणि लब्धैर्गोत्रं । इतरा नीचैर्गोत्रवः । ललाका अंतरा न्वरवर्धिन्यो यस्य लब्धैर्गोत्रेतां । ताओ वि ता अप्यनंतरालेऽंतराले लब्ध्वा अप्युर्ध्वयोनयो यदा प्राप्ताः । उक्तं य—

सामं साममनंताअ नीचामुच्चं प्रपचते ॥

तथाप्युवा अपि मात्ता अनंता योनयो भवेत् ॥

ततोऽस्य देवायचे मान्यकुटे प्रसूतस्य गदः । को या भिलो कुळे जातस्य विपादः कर्तव्य इत्युपेक्षेव श्रेयसीति शिक्षासर्वस्व ॥

अर्थ—यह जीव अनंतकालतक नीच गोशकर्मके उदगसे उच्च कुलमें जन्म लेता है. इस जीविने अनंतवार नीच कुलमें जन्म लिया है.

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विब्बओ णाम ॥

बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥ १२३१ ॥

उच्यते बहुशः कोऽत्र लब्धा त्यक्तेऽस्ति विसयः ॥

नीचत्वे वास्ति किं दुःखं लब्धा त्यक्ते सहस्रशः ॥ १२७२ ॥

पिण्डयोदया—यत्र यदुसो चि यदुसोऽपि लब्धविजडे लब्धपरित्यक्ते च । उच्यतेऽस्ति मान्यकुलप्रसूतये । को नाम पिण्डयो को नाम विसयः । कदाचिदलब्धपदपूर्वमिदानीमेव लब्धमिति भवेद्भवे । बहुसो चि यदुसोऽपि । लब्धविजडे लब्धपरित्यक्ते । नीचत्वे चापि नीचिर्गोत्रप्रसूतये अपि । किं दुःखं किमिदं दुःखं ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लब्धविजडे प्राप्ते परित्यक्ते च । पिण्डयो कदाचिदलब्धपूर्वमिदं इदानीमेव लब्धमिति गर्भः स्यात् ॥

अर्थ—इत जीयने बहुतरवार उच्य पुलमें मी जन्म लेकर त्याग किया है. उसमें दुःख मानना मी व्यर्थ है यदि उच्यकुलकी प्राप्ति पूर्व फालमें कभी भी नहीं हुई थी और अबही हुई हो तो तो गर्व करना योग्य था. नीच गोत्र के उदयसे नीचकुलमें भी अनेक बार जन्म हुआ है उसका खेद माननेकी आवश्यकता नहीं है. परंतु जिससे उच्य पुलमें जन्म प्राप्त होगा ऐसा धर्मोत्तरण करना चाहिये.

उच्यत्तणमि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवत्स ॥

णीचत्तणे ण दुक्खं तह होइ कसायधदुलरस ॥ १२३२ ॥

उचरत्वं जायते प्रीतिः संकल्पवशतोऽग्निः ॥

नीचत्वेऽपि महादुःखं कषाययशश्चर्त्तिनः ॥ १२७३ ॥

विलयोदयः—उच्यत्तणमि मान्यकुलराज्य । पीदी प्रीति । संकल्पवसेण संकल्पवशेन होदि जीवत्स भवति नीचस्य मराले दुखे जातोऽहमिति मनोनिधानात् । नीतो भवत्यर्थो ज्ञान । नेत्यभुतं संकल्पमंतरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव य न दुःखस्य निमित्तं अपि च नीचत्वेन य नीचिर्गोत्रत्वे च दुःख तथा भवति । प्रीतिरपि परनिमित्तक मपति । कस्य ? कषाययशस्य कसायशद सामान्यपचनोऽपि मानकषाये वर्तते । तेनायमर्थः । यदुपमानस्यायो जतयति दुःखमस्य न नन्विर्गोत्रस्य ॥

नेवोपनीयदुलत्वे सुयदुःखे दुःखतः । मित्तु माना-यातस्य वदालवनः संकल्प स्येत्यनुज्ञास्ति—

गृहाण—संकल्पमेव उत्तमं मे कुत्र इति मनःप्रणिधानसामर्थ्येन । तत्र प्रीतिरपि । संकल्पवशेनैव । कसा-

यदुपमास मानोःकटरस्य यदुसो मानोऽस्य जनयति दुःखं न नीचिर्गोत्रस्यमेवेति भावः ॥

अर्थ—जीव उच्चकुलकी प्राप्ति होनेसे श्रीतिपुक्त होता है उसका कारण उच्चकुल है ऐसा नहीं समझना चाहिये, मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ हूं ऐसा विचार उत्पन्न होनेसे जीव अतिशय सुधा होता है, यदि ऐसा संकल्प मनमें न होगा तो मान्य कुलकी प्राप्ति होनेपर भी वह श्रीतिपुक्त नहीं होता है, उसी तरह नीच कुल भी दुःखका कारण नहीं है, किंतु संकल्पही दुःखका कारण होता है, कणाय जिसमें प्रचुर है उस जीवको उससे दुःख होता है नीचगोत्र उसका कारण नहीं है, मायामें कणाय शुद्ध सामान्यतया प्रयुक्त किया है परंतु यहाँ वह शुद्ध प्रकरण वक्ष मानव, वायका वाचक समझना चाहिये, अर्थात् शनकणायसे ही जीवको दुःख होता है, नीचगोत्रतय उसका कारण नहीं है.

एव भीतिपरितापी संकस्यायन्तायितेतस्त्वष्टस्तुत्तरमाश्रया—

उच्चत्तणे व जो णीचत्ते पिच्छेज्ज भावदो तस्स ॥

उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥ १२३३ ॥

उच्चत्तवमिद्व नीचत्तं वेतसा पो निरक्षते ॥

उच्चत्तव इव नीचत्तये किमसी न सुखायते ॥ १२३४ ॥

विजयोक्त्या—उच्चत्तणं व उच्चैर्गोत्राद्यनिव जो णीचत्ते पेश्चपि यो नीचैर्गोत्रं मेस्सते । इदं वंजालत्वं परमिति भावशाब्दोऽनेनार्थेयस्त्वपि इदं निवृत्तवाची । यस् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति चक्षति—उच्चत्तणे वि मान्यकुलत इव नीचत्तणेऽपि नीचैर्गोत्रसेऽपि । पीदी किं ण होज्ज । प्रीतिः किं न भवेत् । भवत्सेयेति यावत् ॥

संकस्यायन्तौ प्रीतिपरितापी इति स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलारा—भावदो चिन्देन । इदं चांबालत्वं परमित्यादिरूपेण भावयेदित्यर्थः । पीदी ययेन लब्धं तत्तस्य शोभनं अलभ्येन शोभनेनापि किं वेनेति यो यदा संकल्पं करोति तस्य तत्र प्रीतिर्भवत्येव तथानुभवान् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उच्चगोत्रके समान नीच गोत्रको भी देखता है अर्थात् चांडालपनामी अच्छा है ऐसा जो मानता है उसको उच्चत्वके समान नीचत्वमेंभी प्रीति क्यों न होगी अर्थात् वह नीचत्वको भी अच्छा ही

समझना। जिनने जो प्राप्त किया है उसको वह अच्छा समझता है, जो चीज अलभ्य है वह अच्छी होनेपर भी मेरा उससे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा समझकर प्राप्त चीजही अच्छी है ऐसा वह मनमें समझता है- तात्पर्य यह है कि मोहके पक्ष होकर जीव नीचपनाकोभी अच्छा समझते हैं।

णीचत्तणं व जो उच्चत्तं पेच्छेज्ज भाववो तस्स ॥

णीचत्तणेयं उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥ १२१४ ॥

यो नीचत्वमिवोच्चत्वं विकल्पयति मानसे ॥

तत्परोक्षत्वे न किं दुःखं नीचत्वमिव जायते ॥ १२७५ ॥

विजयोदया—यत्किंपरीतायौत्तरा गत्या । स्पष्टतया पशुस्थिति नापेक्षते । संकल्पयता प्रीतिवैयर्थ्यमुपबलित्वा ।
मेतदभिलक्ष्य अगत इति धर्तते । यस्मादुच्चैर्गोत्रेऽपि न सुखदुःखयोर्भाषामागौ च भवताः संकरपादः ॥

मूलारा—१७६म्

अर्थ—जो जीव नीचपनाके समान उच्चपनाको देखता है उसको उच्चतामें भी नीचत्वके समान दुःखही अनुभवमें आता है। अभिप्राय यह है कि, संकल्पसे उत्पन्न हुई प्रीति अथवा दुःखसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है, यह अनुभवसिद्ध सत्य है, संकल्पसे उच्च गोत्रमें भी प्रीति अभीति उत्पन्न होती है, संकल्पसे नीचत्वमें भी प्रीति और अभीति उत्पन्न होती है।

तस्मा ण उच्चणीचत्तणाहं पीदिं करेति दुःखं वा ॥

संकम्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥ १२३५ ॥

ततो नोच्चत्वनीचत्वे कारणं प्रीतिदुःखयोः ॥

परमुच्चत्वनीचत्वसंकरपः कारणं तयोः ॥ १२७६ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । उच्चणीचत्तणाणि मान्याभ्यामन्यकुलस्थानि । न करेति दुःखं वा न कुतः प्रीति दुःखं वा । सति संकल्पे भाषादसति अभिप्रायः ॥

उपसंहारमाह—

मूलारा—राष्ट्रम् ॥

अर्थ—इस लिये मान्यकुल और अमान्यकुल वास्तविक विचार करनेपर सुल और दुःस्वके विधाता नहीं है संकल्पही जीवको प्रीति और अप्रीति उत्पन्न करता है अर्थात् सकल्पके साथ प्रीति और अप्रीतिका अन्यथा व्यतिरेक है जब संकल्प उत्पन्न होता है तब ही सुल दुःस्वकी उत्पत्ति होती है और जब संकल्प मनमें नहीं होता है तब सुल दुःस्वकी उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये संकल्प ही सुल और दुःस्व उत्पन्न करता है ऐसा समझना चाहिये

मानकथायसाधोऽयं दोष इति कथयति सूरि ।

कुणदि य माणो जीचागोवं पुरिसं भवेसु बहुपुसु ॥

पप्ता तु जीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥ १२३६ ॥

नीचगोत्र नर मानो विघत्ते बहुअन्मसु ॥

प्राप्ता लक्ष्मीमतिनीचा योनीमानेन भूरिशाः ॥ १२३७ ॥

विजयोदया—कुणदि य करोति । माणो अहकार । जीचागोवं पुरिस नीचगोत्रस्येति नीचगोत्रं पुरिसं आत्मान । भवेसु जन्मसु । बहुपुसु बहुपु । पप्ता प्राप्ता । जीचजोणी खु नीचगोत्रमेव । का ? लच्छिमदी लक्ष्मीमती । फेन मिमिचेन ? माणेण सुकपा नीचनान्दुकुला कुलीना चेति गर्वण ॥

मानवोपनर्थावयानेकेन यथापदनि—

मूलारा—माणेण सुरूपा, सुगोत्रना, कुलीना कन्याहमेत्यहंकारेण ॥

मानकथायमे जीवको नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है ऐसा उदाहरण के द्वारा आचार्य कहते हैं

अर्थ—मान कथायसे प्रसुप्त प्राणी अनेक जन्मोंमें नीच गोत्रयुक्त होता है अर्थात् नीचकुलमें जन्मता है, मैं रूपवती सुंदरी हूं, तरुणी हूं और कुलीन हूं ऐसा नीच मानकथाय लक्ष्मीमतीको हुआ था जिससे उसको अनेक जन्मोंमें नीचकुलमें उत्पन्न होना पड़ा ॥

पूयावमाणरूपविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च ॥
आणाणा य तथा विधिणा तेणे ॥ पडिसेज्ज ॥ १२३७ ॥
सुमगत्त्वमसौभाग्यं स्वरूपत्वं विरूपता ॥
आज्ञानाद्वादरो निंदा चित्ते कुल्या न घीमता ॥ १२७८ ॥

विजयोदया—पूयावमाणरूपविरूवं, पूजा, अवमानं परिभयः । रूपशब्दः सामान्यवचनोऽपि शोभनरूपविय
यत्तया इह विरूपशब्दसंस्थितेन प्रयुज्यमानोऽतिदायिते रूपे प्रयतते । तेन सारूप्यं धेरूप्यं चेत्यर्थः । सुभगत्तदुब्भगत्तं च
सौभाग्यं दीर्घार्थं च सर्वेषां मित्यन्ते देयत्वं चेति यावत् । आणाणा य तथा आदेशमात्रविनातः क्षणाद्या च तथा विधि-
ना माननिषेधप्रकारेणैव । पडिसेज्ज प्रतिपेयाः । अभिधेयवशाद्धिगवचनप्रवृत्तिरिति लिख्यतेरेण पूजादिशब्दोपनीतेन
प्रतिपेयपदार्थस्याभिसंयधः । परिभये प्राप्नोऽपि कदम्बचिन्त्यते । एवं प्राप्ता क्षान्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुसरोमीत्येव । दुःखे वा
परिभयप्राप्तौ । पूज्यमानोऽपि यद्यपि दुःखः परिमयानपाप्स्यति । न चाग्रभनः पूजायां काचित्कद्विद्धिः । परिभये वा द्वाभिः संक
ल्पपदार्थावगतमनो जायते प्रीतिपरित्यागौ न केवलं पूजापरिमयाभ्यामेवेति ॥ उक्तं च—

यः स्मरयेत्तु चित्तुणो मधुरं परोभः । संनिपते च यत्कथं चेत्येवंचिन्ति ॥
इति विभक्तौ कथमयं भयसंकटस्थः प्राप्नोत्येकयिपिकमफलोपभोगं ॥
भूयसा मनुष्यपतयः पुनरेव प्राप्ता हीना भवेति नृपयोऽनुचयस्य भूयः ॥
कांस्या च ये युनक्तिभिर्पिगमादुरुपा देय्या भयेत्यनुभवायमुपराय भूयः ॥
दृष्टः कविप्रपन्नरत्नविभगो यः संहरयेत्ति फलपुण्यतया हरिद्वः ॥
भूयस्य मित्रवदुर्गजुजगोभैरुदः संलक्ष्यते व्यसममारभ्येक एव ॥

उपनीचकुलपद्व्यापमानादयोऽपि तत्पत्तौः । प्रत्याख्यया इत्याख्याति—

मूलारा—अयमाण परिभयः । न्यायेन तेनेव । फालग्वर्तमित्यादिप्रबन्धोक्तं । पडिसेज्जा प्रतिपेयाः । तथाहि
प्राप्तपरिभयोऽपि कदाचित्पुण्येव पुनर्वहुतः परिभयः । एवं प्राप्ता क्षान्तेषु पूजाः । न चैवमप्युपनीचकुलपञ्जीवस्य दृष्टि
क्षानी स्यात्तं तस्मात्स पूजायां प्रीतिः । परिभवे चाप्रीतिः । संकल्पवशाच्चस्य प्रीतिपरिवापो स्यात्तं ॥ केवलपूजावया-
नाभ्यां । एवमन्येष्वपि शुभाशुभधर्मेषु व्यतिर्गमिषेचः कल्पः ॥

अर्थ—मानकपापका त्याग जैसे करना योग्य है वैसे उगके साथ पूजा-लोकोसे आदरसत्कार प्राप्त होना
अवमान-पराभव अनादर प्राप्त होना, रूप-सौंदर्य, विरूप-कुरूपता, सुभगता-सौभाग्य, दुःभाग्य, आज्ञा सबत्र अलं-
दित रहता, और उसका लोकोसे पालन न होना, इत्यादिकोसे गर्व ॥ दुःख होता है परंतु वहभी त्यागना योग्य है,

इन्के विषयमें ऐसा विचार करना चाहिये— भंस कभी परमेश्वर-अनादर-अपमानभी हुआ है तथा कभी पूजाभी हुई है, इस प्रकार इस संसारमें अन्तवत्स में पूजाभी गया था, न पूजामें अनुराग करना चाहिये और न अनादर होनेके प्रसंगमें खेद लिख्न होना चाहिये, जैसे मेरी चारधर भूजा हुई थी वैसे चारधर अनादर भी हुआ था, पूजाके समय न मेरा आत्मा कुछ बढ़ा था और न अपमानके समय कुछ घटा था, दोनों प्रसंगमें वह असंख्यात प्रदेगी ही रहा था अर्थात् पूजा और अपमानके समय जब आत्माकी घट बढ़ नहीं होती है तो आनन्द खेद मानना अज्ञानता का ही चोत्तक समझना चाहिये सकल्प यत्न होकर आत्मा भीवियुक्त और संतापयुक्त होता है, उसको पूजा और अपूजा कारण नहीं है, अन्यत्र इस विषयमें ऐसा कहा है—जो पुरुष निर्मल गुणोंका धारक होनेसे मधुर वचनोंसे स्तुतिका पात्र बना था वही मनुष्य नानाप्रकारके कठोर वचनोंसे, निंदाके वचनोंसे अपमानित भी हुआ था, यह पड़ा आश्चर्य है, संसारके संफटोंसे यह घिरा हुआ यह पुरुष-आत्मा किये हुए नाना कर्मोंके फलोंका उपभोग लेता हुआ संसारमें घूमता रहता है, कभी जीबोंको दुष्टत्व प्राप्त होता है तो कभी वे दास बनते हैं, कभी वे हीनकुली होते हैं कभी उच्च कुली, पुनरपि हीनकुली होते हैं, जो पुरुष दरीरकी कान्तीसे मदनतुल्य और स्त्रियों को अविश्वय प्रिय थे वे ही जब अनुमगत्व प्राप्त होनेपर उनके द्वारा तिरस्कर्णीय अवस्थाको भी प्राप्त हुये थे, पुण्योदयसे जो पुरुष उत्कृष्ट रत्नोंसे अलंकृत थे पापका उदय आनपर वे दमिद हुए ऐसाभी देखनेमें आया है, जो पुरुष अनेक सकटोंसे घिरा हुआ देखा गया था वही कालान्तरसे मित्र और बहुत प्रियजनोके द्वारा आलिंगित हुआ है ऐसाभी देखनेमें आता है अतः उपर्युक्त धादर अनादर वगैरे बातोंमें आनन्द और खेद मानना योग्य नहीं है ऐसा विचार कर अभिमानका त्याग करना चाहिये.

इच्चैवमादि अविचित्रितयो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ॥

एदे सम्मं अत्ये पसदो णो होइ माणो हु ॥ ११६८ ॥

जइदा उच्चचादिणिदाणं संसारवहुणं होदि ॥

कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवधणिदाणं ॥ १२३९ ॥

पुतेपां चिन्तनान्मानो वर्धते सर्वदाऽभिचत् ॥

संसारबद्धकः सचो ह्रीयते तत्त्वचिन्तने ॥ १२७९ ॥

उच्यन्त्यादिनिदानेऽपि संसारं लभते यदि ॥

तदा वचनिदानेऽपि शब्दमार्गीति का कथा ॥ १२८० ॥

विजयोन्मेषा—अस्मा यदि तावत् । उच्यन्त्यादिनिदानं उच्येयोज्ज्वा, पुरुषत्वं, स्थिरशरीरता, अद्विद्रुलमस्ति-
वैद्युतेत्येवमाविकं मुक्तेः परंपरया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । संसारचूर्णं होदि संसारवृद्धिं करोति । किंघ ॥
करित्सवि कथं न करित्यति । दीदृशसंसारं दीर्घसंसारं । परमपबिन्दनं परमपे चित्तप्रणिधानं ॥

उच्यन्तीषट्पादितथाविधचित्तमाचितनभवौ भानलद्रायाभावी इत्यनुदास्ति—

मूलात्—वस्तुवै धितयतः । एवौ श्रीविलयो नेच्छति ॥

परमधनिदानं सुवत्प्रापयति संसारमिषाषष्टे—

मूलात्—उच्यन्पुरुषत्वाधिकं मुक्तेः परंपरया कारणमपि तन्मे यथादित्यासास्त्वानं ॥

अर्थ—जो पुरुष उपर्युक्त वातावरणों बिचार नहीं करते हैं वे गर्वसे मानकषायमे युक्त होकर दुःख पाते हैं।
पांतु जो इनका विचार करते हैं अर्थात् मानसे होनेवाली हाडिओंका विचार करते हैं वे मानसे दूर रहकर सुखी
होजाते हैं.

उच्यगोत्रमे जन्म होना, पुरुषस्य, दृढ गरीरपना, श्रीमंत कुलमे जन्म होना इत्यादिक याते यद्यपि मोक्ष
प्राप्तमि परंपरासे कारण हैं तो भी इनकी प्राप्ति मेरे कों हो ऐसी अभिलाषा करनेसे संसार वृद्धिके लिये कारण हो
जाती हैं. तो दूसरे का वध करनेका निदान—अभिलाषा क्यों संसारवर्षक न होमा.

आचार्यगणधरादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नवयसिष्ठयलाभार्गाधिता द्वि सेत्याशंकायामुच्यते—

आयारियचादिनिदाने वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ॥

घणिदं पि संजमंतस्स सिच्छणं माणदोसेण ॥ १२४० ॥

निदानेऽपि कुलादीनि जायंते नात्र जन्मनि ॥

संयमं विदधानस्य मानिनो यातना पण ॥ १२४१ ॥

विजयोदया—आचार्यत्वादिभिदाणं वि कदे आचार्यत्वादिभिदोऽपि कृते । अत्रिय वस्स नास्ति तस्य । तस्मिं भये हस्सिन्मये निदानकरणभवे । चकिदे पि संजमंस्स नितरामपि संवमं कुवितः । किं नास्ति सिज्जणं सेधनं मुक्तिः । केन ? माणदोसे ॥ मानकपायदोषेण ॥ ॥ क्षाधार्यत्वादिप्रार्थनां करोति । प्रष्टो भविष्यामीति संकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥

आचार्यत्वादिप्रार्थना करं कृत्वा स्तत्रयाविस्त्रलायप्रार्थनापरत्वादिति संकल्पसाह—

मूलारा—तस्मिं भवे निदानकरणजन्धनि । सिन्धणं सेधनं सिद्धिः । यवपि अस्ति उदरे आचार्यत्वादिकं व-
धापि नास्ति मुक्तिरिति भावः । माणदोषेण आचार्यार्थमेवबूढ्यो भविष्यामि इति संकल्पपरत्वेन ॥

आचार्यपदवी, गणधरपदवी इत्यादिकसी अभिलाषा करना अयोग्य नहीं है क्यों कि स्तत्रयका साहात्म्य प्राप्त होनेके लिए उनकी अभिलाषा की जाति है. इस संकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आचार्यगण, गणधरपदवी इत्यादिका निदान करने परभी इनपदवीकी प्राप्ति इसी जन्ममें होती भी नहीं. बहुत उलज्वल संवस होनेपर भी इन पदवीकी उसी जन्ममें प्राप्ति नहीं होती है. कदाचित् आचार्यत्वादिकसी उसी भवमें प्राप्ति भी हो गई हो मी उस संयमी को मुक्तिपदवी प्राप्ति मानकपाय दोषसे नहीं होती है. मैं आचार्य होकर पूज्य होऊ इस अभिप्रायसे मथुचि होती है अतः उसमें अहंकार प्रकट दीलता है.

भोगवोपनिषादां सार्यां निदानं तथा न मयति इति ऊचयति—

भोगा चित्तिदब्बा किपाकफलोवमा कडुविवागा ॥

महुरा व मुंजमाणा मःक्षे बहुटुक्खमयपउरा ॥ १२४१ ॥

मधुराः सेवमाना हि विपाके हुःखदायिनः ॥

चित्तनीयाः सदा भोगाः किपाकफलसंनिभाः ॥ १२४२ ॥

विजयोदया—भोगा चित्तिदब्बा भोगक्षित्त्वाः । चित्तिपफलोवमा किपाकफलसदृशाः । कटुविपरा कडु अनिष्टं विपाकः फलं परामिति कटुविपाकाः । मधुराव मधुरा इव । मुंजमाणा मुंजमानाः । मग्गे मग्गे । बहुटु-
पुल्लमदपउरा निविजहु-उत्पन्नाः ॥

भोगनिश्चलाभावाय भोगदोषभावनासाह—

मूलारा—मधुरा य मधुरा इव । मन्त्रे मन्त्रे शुचिः क्रियायाः । बहुदुःखसमयवधरा भोगसेवया पार्ष्णं बध्नुतः क्षान्ति-
पानि दुःखगानि ने न भविष्यन्ति इति विचिन्धदुःखत्रासाहुल्याः ॥

भोगोंके दोषोंका विचार करनेसे भोगनिदान उत्पन्न नहीं होता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—भोग किंशकफलके सम्मान अवसानमें कदुविषाक है अर्थात् किंशकफल खाते समय मधुर लगता है परंतु उमका कदु परिणाम होता है अर्थात् अन्तर्में उससे प्राणीको अत्यंत दुःख होकर मरणक्री प्राप्ति होती है. भोग भी मधुर करते समय मधुर — खानेददायी मांस होते हैं परंतु अन्तर्में तीव्र अशुभ कर्मबंधके कारण बनकर चतुर्गतीमें अतिदुःख दुःखदायक होते हैं.

भोगनिदानदोषं कथयन्ति—

भोगनिदानेन य सामर्ण्यं भोगस्यमेव होड कदं ॥

साहोद्वयो जह अत्यिदो वि नेको वि भोगस्यं ॥ १२४२ ॥

भोगार्थमेव चारिचं निदानं सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थविचारणे ॥ १२४३ ॥

विज्ञयोदया—भोगनिदानेन य भोगनिदानेन वा । सामर्ण्यं ध्यातव्यं । भोगस्येव होड कदं भोगार्थमेव कदं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदानं तति सामर्थ्याकुलितचित्तस्य प्रत्यक्षकर्मप्रयाहस्वीकृती उपतस्य का सेयतता ॥

भोगनिदाने दोषं भावते—

मूलारा—भोगधनेव न कर्मक्षयार्थं । भोगरागाकुलचित्तस्ये प्रत्यक्षप्रत्यक्षकर्मप्रयाहस्वीकरणभियोगात् । साहोद्वयो भाग्यामयलनो चरयासी फलाभ्युपयोगार्थी यथा वृक्षसाम्राज्यप्रस्थितः कश्चित्सेतुस्यानयमनं विप्रयति तथा क्षमणोऽपीति भावः । अत्यन्तसह—

भोगार्थमेव चारिचं निदानं सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थं विचारणे ॥

भोगनिदानकं दोषं कहेते हैं—

अर्थ—मुनिव्रत धारण का निमित्त भोगप्राप्तिका निदान किया समझना चाहिये कि भोगके लिये ही उमने मुनिव्रत धारण किया है न कि कर्मक्षयके लिये. भोगनिदान करनेसे भोगाभिलाषासे-भोगोंकी उत्कंठासे चित्त व्याकुल होता है तब गनीन कर्मव्रताहका स्वीकार करने के लिये वह उद्युक्त होता है. जिससे संयतपनेका अभाव होता है. जैसे कोई अपने हुए स्थानपर जा रहा था मार्गमें किसी वृक्षका फल स्वानकी उसकी इच्छा हुई तब वह वृक्षकी शाखाको फलके आश्रामे पकड़कर खड़ा हुआ. इस कार्यमें लगनेसे त्वेष्ट स्थानको जानेमें उसने विघ्न ही पैदा किया ऐसा समझना चाहिये. इसी तरह यदि निदान करेगा तो उसने कर्मक्षयरूपकार्यमें स्वयं विघ्न उपस्थित किया है ऐसा मममत्ता चाहिये. अथवा निदान करनेवाला मुनि भोगार्थ ही चाहिज धारण करता है. जैसे नोकर केवल द्रव्यके लिये स्वामीकी सेवा करता है.

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ॥

सणिदाणवंभवेरं अव्यंभत्थं तहा होइ ॥ १२४३ ॥

मवस्यन्नञ्चत्थोर्भं सनिदानं तपो यतः ॥

अपसारो विचातार्थं मेपस्येवस्ति मेवतः ॥ १२८४ ॥

पिजयोदया—आवडणत्थं धमिमातार्थं । जह यथा । ओसरणं अपसरणः । मेसस्स होदि मेपस्य भवति । मेसादो मेरात् । सनिदानंभवेरं सनिदानस्य यतस्तत्तत्तत् । अव्यंभत्थं मैथुनार्थं । तहा होदि तथा भवति ॥

भोगावभावा प्राप्तेष्वं पाठयतो भूयो मैथुनार्थमेव तद्वदति न प्रसममुत्तारं इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मुत्तारा—आवडणत्थं अभिप्रातार्थं । ओसरणं अपसरणं । सनिदानं भोगा मे भूयस्पुरिति विदानयतो यतेः ॥

अर्थ—एक वक्त्रसे दूसरा वक्त्रा जैसे अथाव करनेके लिये पीछे हटता है उसी तरह निदानयुक्त मुनिका व्रतचर्यप्रत मैथुनके लिये है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् भोगप्राप्ति की आशासे ही सनिदान मुनि व्रताचरण करता है. कर्मक्षयके लिये वह व्रत पालन करता है ऐसा मानना अयोग्य होगा.

जह वाणिथा य पनिणं लाभत्थं विकिण्णंति लोभेण ॥

भोगाण पनिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥ १२४४ ॥

स्त्रिक्रीणाति तपोनयं भोगेन सनिदानकः ॥

माषिकयमिव कावेन सारासाराविचारकः ॥ १२८५ ॥

पिजवोदया—उद्ध यागिया यथा । वाणिजः । पणियं पण्यं । लाभत्यं लाभार्थं । विस्त्रिणंसि विस्त्रिणंसि । लोभेन लोभेन । भोगेन भोगेन । पणिहो पण्ययुतः । सणिदाणो सनिदानः । तदा धम्मो होदि तथा धर्मो भवति ॥

भोगकांक्षया चारित्रं भोगविक्रयं भवेदित्याह—

मुलारा—दणियं पण्यं विजेयद्रव्यं । भोगाय पणिदमूदो भोगोविक्रयतां प्राप्तः ॥

अर्थ—जैस व्यापारी लोभवश होकर लाभके लिये आपना माल बेच डालता है वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगके लिये धर्मरूपी माल बेच डालता है, ऐसा समझ लेना चाहिये.

भोगनिवृत्तपक्षः धामव्यं प्रणिन्दति—

सपरिगगहस्स अव्वंभञ्चारिणो अविरदस्स से मणसा ॥

काण्ण सीलवहणं होदि हु ण्हसमणस्स व ॥ १२८५ ॥

ससंगस्यानियुत्तस्स चित्तेनाप्राप्तचारिणः ॥

कामेन शीलयाहित्वं न्यर्थं नटयन्तेरिव ॥ १२८६ ॥

विशयोदया—सपरिगगहस्स सपरिगहस्य भोगनिदानपक्षो येष्वन्तितो रामोऽभ्यन्तरः परिग्रह इति सप रिग्रह इति । तस्य अव्वंभञ्चारिणो मनसा मैथुनकामेनि प्रवृत्तस्य । अविरदस्स मर्यादायुक्तस्य मैथुनात् । मनसा जिज्ञेसा । से तस्य कायेन तु शरीरेणैव । सीलवहणं ब्रह्मचर्यवहनं । होदि भवति । ण्हसमणस्सं य नटानां धामणकवनिष्ठ ॥ कायेन भाष-
धामण्यपरहितं यथा अफलेमेवामिदमपि इति भाषः ॥

भोगनिदानवलाः आत्मन्यं प्रणिन्दति—

मुलारा—सपरिगगहस्स वेदजनितरोगेण अव्वंभञ्चारिणो भावमैथुनप्रवृत्तस्य । अविरदस्स मनसा स्त्रीसेवनादित्युत्तरार्ध । से भोगनिदानवतो मुनेः । शीलवहणं ब्रह्मचर्यधारणं । हु पसार्यको यो नैवेत्यर्थः । ण्हसमणस्सं य नटानां यत्निष्ठपचारणमिव । यथा कायेन नटैर्वित्तुषं धार्यमाणं भाषधामण्यपरहितत्वात्तिरुक्लं तथैवमपीति भाषः ॥

भोगका निदान करनेवाले मुनिका मुनिपना निदनेलप्यक है ऐसा आचार्य कहते हैं।
अर्थ—भोगका निदान जिसने किया है वह मुनि अंतरंगमें रागभावसे युक्त है अर्थात् उसके मनमें प्रवृत्त होनेसे वह मैथुन कर्मसे परावृत्त नहीं है ऐसा समझना चाहिये। उसका मत मैथुन कर्ममें नष्टके होनेसे वह मैथुन कर्मसे परावृत्त नहीं है ऐसा समझना चाहिये। वह उसीसे ही शीलवतको धारण करनेवाले नष्टके ममान भावसे मुनिपनासे च्युत हुआ है, ऐसा मुनिपना स्वर्ग है ऐसा अभिप्राय समझना।

रोगं कंठेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई ॥

तह अण्णेतदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥ १२४६ ॥

आकाक्षति महादुःखं निदानी भोगतृष्णया ॥

रोगित्यं प्रतिकाराय कुबुद्धिरिव कञ्चन ॥ १२८७ ॥

विजयोदया—रोगं कंठेज्ज व्याधिमिलयति । जहा कोर यथा कश्चित् । किमर्थ ? पडियारसुहस्स कारणे भोगतण्हाए सुग्राधिमभाय्ये । तह तथा भविरदस्स अव्यावृत्तस्य । अण्णेतदि यन्नेपते । दुक्खं दुःखं । कः सणिदाणो सनिदत्त । भोगतण्हाए भोगतृष्णया ॥

भोगनिदानविधाविमनुषहसति—

मूढारा—पडियारसुहस्स कारणे, औपपत्तेवान्तरमुलप्राप्त्यर्थं अण्णेतदि श्राययेते ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य औपपत्तेवनका सुख ॥॥ करनेकी अभिलाषसे देहमें रोगोत्पत्तीकी इच्छा करता है, वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगकी लालसासे दुःखोंको चाहता है ऐसा समझना चाहिये।

संदेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोह ॥

तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं पिदाणेण ॥ १२४७ ॥

भोगार्थं वहते मायुनिदानित्वेन संयमम् ॥

स्वंधेनेव कधीर्गवमासनाय महाग्गिलास ॥ १२४८ ॥

पिजयोद्या—रंदेण स्केधेव । जहा कोह यथा कथित् । गरुत्वं सिद्धं गुर्वी शिलां । चोह्य वदति । किमर्थं ? आसन्नार्थं आसन्नार्थे । अस्या उपरि सुरसनासे इति मत्वा सयथा गुरशिलोद्धननेरं नोपेक्षते, स्वयं तरथा उपर्यासनसुप-
मोपेक्षते स्वसुद्धया । नह भोगत्वं तु तथा भोगार्थमेव । होदि भवति । संजमानहणं दुर्बद्धं संयमधरणं । जिदाणेन निदानेन सह ॥

मृडाया—आसन्नार्थं अस्या उपरि सुरेनोपवेक्ष्यामीति मत्वा । तु भोगार्थमेव । जिदाणेन अनेन दुर्बतरसंयमेन भोगा भूवागुरिति प्रार्थनया सह । अत्र बहुदुःखेन स्वल्पसुरसाधनमित्युपहासः ॥

अर्थ—इस शिलापर मैं सुरसे चेंदुंगा इस अभिप्रायसे जैसे कोई मूल्य अपने कंधेपर बढी शिला धारण करता है, अर्थात् शिलाका भार अपने कंधेपर सदैव सहता है उससे होनेवाले कष्टकी वह परवाह नहीं करता है वैसे भोगका निदान करनेवाला मुनि जो महान् संयम धारण करता है वह भोग के लिये ही समझना चाहिये, शिलापर चेंठनेसे अल्पसुख होगा परंतु हमेशा शिलाको कंधे पर रखना कष्टदायक है वैसे अल्पसुखके लिये महान् संयम धारण करना शिलाके समान दुःखदायक है।

या छवस्तु जतितादिप्रियसुखासामिन्नित्यस्तु विनाशो यन्नाथते दुःखं तदधिकृतमं भक्तं स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुः, जाग्रधी पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगमोक्त्वं जं जं दुक्त्वं च भोगणासम्मि ॥

एवेसु भोगणासे जातं दुक्त्वं पडिविमिट्ठं ॥ १२४८ ॥

यत्सुखं भोगजं जंतोर्यद्वःखं भोगनाशजम् ॥

भोगनाशोत्थितं दुःखं सुखाधिकृतमं मतम् ॥ १२४९ ॥

पिजयोद्या—भोगोपभोगसोपपद्य मृष्टाद्यनंतवृत्तादिकः ग्रीवस्यालंकारदिभिश्च । जनितां यत्सुखं । भोगणा-
सम्मि सुरसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । जं जं दुक्त्वं च यद्यदुःखं जायते । एवेसु पतयोः सुखदुःखयोः भोगनाशो
सुरसाधनानां विनाशे च । दुक्त्वं पडिविमिट्ठं अधिकृतमिति यावत् ॥

मृष्टादनवर्तमानादिनिमित्तकमुखात्तमिन्नित्यवस्तुविनाशजन्यं दुःखमधिकतरमयः स्वल्पसुखार्थे कः सुधीर्दुःखा-
दिभ्यः दुःखात्थी पतेदिति दर्शयति—

मूलात्—भोगात्मि भोगांगविनाशे । पटिविस्त्रिंशु अपिस्वरं ।

पाप चरुके संयोगसे जो सुख प्राप्त होता है उससे उस वस्तुका वियोग होनेसे प्राप्त होनेवाला दुःख अधिक है. इसलिये स्वस्त्यसुखके लिये कोन दुःखसे भयभीत सचेतन प्राणी-विद्वान् मनुष्य दुःखसमुद्रमें गिरना चाहेगा.

इस अभिप्रायका आचार्य उल्लेख करते हैं—

अर्थ—मरु अन्न, तांबूलादिक पदार्थको भोग करते हैं. स्त्री, वस्त्र, अलंकारादिको भोग उपभोग कहते हैं. इन भोगोपभोगोंसे जो सुख आत्माको प्राप्त होता है. तथा भोगसाधनात्मक इन पदार्थोंका वियोग होनेसे जो दुःख उत्पन्न होता है. इन दोनोंमेंसे दुःख ही अधिक समझना चाहिये. अर्थात् सुख साधनोंका नाश होनेसे मनुष्य को अधिक दुःख होता है.

देहे दुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ॥

दुक्खरस य पडियारो रहसणं चेव सोक्खं खु ॥ २२४९ ॥

धुवमदिपीडिते देहे समासक्तः कथं सुखी ॥

दुःखस्यास्ति प्रतीकारो नृहर्त्ताकारोऽथवा सुखम् ॥ १२९० ॥

विजयोदया—देहे शरीरे मनुजानां । दुहादिमहिदे हुथा, पिपसया, शीतोन्नेन, द्याधिभिश्च मयिते । चले अनित्ये ॥ । सत्तस्स जासक्तस्य । किं सुखं होच किमन सुखं भवेत् । दुक्खरस य पडियारो दुःखस्य प्रतीकारः रद्धस्सणे देयं नृहत्करणं एव सोक्खं सौख्यं । खु शब्दः यत्पूरणः दुःखप्रतीकारोत्पत्तौ वा दुःखस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥

किंचित्कंच बिहन्धेय्यपि इत्थं मनुष्यभोगेषु सुहादिपापादर्थितेऽनित्ये विनाशिते च मनुष्यदेहे जाग्रदादिरसस्य कथं सुखाय गंधोऽपि सत्यः स्यादिति व्यवस्थापयति—

मूलात्—दुहादिमहिदे दुशुआदिक्कदिति । चले अनित्ये । सत्तस्स जासक्तस्य मनुजस्य । पडियारो निराकरणं । रहसणं नृहत्तनं ॥

अर्थ—यद देह भूख, प्यास, शीत, उष्ण और रोगोंसे पीडित होता है तथा अनित्य भी है ऐसे देहमें

आसक्त होनेसे इस आत्माको कितना सुख प्राप्त होगी. दुःख निवारण होना अथवा दुःख कमी होना ही सुख है ऐसा संसारमें माना जाता है- दुःख के प्रतीकारको ही लोक सुख समझते हैं.

सुखमंतरेणापि अस्ति दुःखं, सुखं पुनरैद्वियं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थं दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिपद्यते न च दुःखाभिलाषः प्राप्त्य युक्त इति कथयति—

सोऽसं अणपेक्षितत्वा वाच्यं दुःखमणुगं वि जह पुरिसं ॥
तद् अणपेक्षित्य दुःखं न तस्य सुखं लोभमि ॥ १२५० ॥
अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं वाचते नरम् ॥
अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विचते जने ॥ १२५० ॥

विजयोदया—सौख्यं सौख्यं । अणपेक्षितत्वा अनपेक्ष्य । वाच्यं दुःखमणुगं वि जायते दुःखमणुगं । जह पुरिसं यथा पुरुष । तद् तथा अणपेक्षित्य अनपेक्ष्य युक्तं दुःखं । लोभमि न तस्य सुखं लोके अस्ति सुखं नामैद्वियं । भिरदोषवृत्तौ भयनमभिलपति । स्वात्मास्त्वोपज्ञातश्च यथा शय्यां कामयेते । पापममकालेऽप्यपेक्षित्य विचिन्तयित्वा, वैकुण्ठमिराकृतये एव यस्यापि भूयणास्ति च, बीमां वनाशनायैव गुरुष्ककालमयुर्वादिकं, देहमनायैव रमण्य इति सर्वं दुःखमतीकारयेत् ॥ त्रिभिषयैर्द्वयजमितः प्राणिनां किमन्यथर्षिणां परस्परभिलाषः । स तेषां परस्परशरीरसंस्पर्शं स्वस्वमिच्छति । अभिलाषमिति तानां कर्मणां सङ्गत्वात् । न हि कार्यमपि कलकारणसिद्धौ न भवति । यामो हि सेव्यमानो वैश्यश्च मत्स्यमाकर्षति । सतोऽप्यनुभवमुपदृश्यते । कारणसंगक्रांत्यर्थापेक्षया । नित्यमपि निरंतराग्निहावहनदहमान-वेतसो न कदापि निवृत्तिरस्ति । अपनीते तु येऽन्ये कटरणाभावात् कार्यमात्र इति ॥ निरवशेषेदापगमे स्वास्थेऽप्यस्य वदेय दुःखमिति मन्वमानो हृष्टो दर्शयति—

सुखं विनाप्यति दुःखं सुखं पुनरैद्वियं न जायते ततः सुखार्थं दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिपद्यते न च दुःखाभिलाषः प्राप्त्य युक्त इति कथं

मूलाय—अणुगं स्तोकमपि । अणपेक्षित्य अनपेक्ष्य । दुःखे सत्येव सुखं जायते । शुद्धाविपीडितस्यैव भोज-माशनपेक्षितदर्शनादिति भावः । ऐद्वियं सुखदुःखे स्वविषयापेक्षे इत्यन्ये । तथा चोक्तम्—

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं वाचते नरम् ॥
अनपेक्ष्य तथा सुखं न सुखं विचते जने ॥

दुःख सुख के विनाभी होता है परंतु ऐंद्रियिक सुख दुःख के बिना उत्पन्न नहीं होता है- इस लिये सुखको अभिलाषा करनेवाला प्राणी प्रथम दुःखकी अभिलाषा करता है ऐसा सिद्ध हुआ। परंतु दुःख की इच्छा करना बुद्धिमानके लिये योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथा में दिसाते हैं—

अर्थ—सुखकी अपेक्षा न करता हुआ घोडासाभी दुःख मनुष्यको दुःखित बनाता है। परंतु सुख दुःख के बिना-उसकी अपेक्षा न करके मनुष्यको सुखी करनेमें असमर्थ होता है अर्थात् जितना ऐंद्रियिक सुख है वह सब दुःखसे भरा हुआ है। और दुःखका यतीकार मात्र है। लोक प्रतिकारको ही सुख समझ रहे हैं। जब भूख और व्यास मनुष्यको सताती है तब वह अन्न और पानीका अन्वेषण करता है अर्थात् अन्न पानी सेवन कर अपनेको सुखी समझता है। सूर्य के फंठार किरणोंसे दुःखों होता है तब शीत पदार्थको चाहता है-आहेसे जब शरीर सिझुहने लगता है तब वस्त्रादिकको चाहता है। हवा, आतप, और पानीसे जप पीटा होने लगती है तब उसको हटाने के लिए धरमें प्रवेश कर सुखी होता है। खदे होनेसे और घँठनेसे तकलीफ भाव्य पबनेपर शय्याको चाहता है। पार्योंको प्रवाससे थकावट उग्न होनेपर बालकी कमीर बाहनोंको चाहता है। कुरूपता दूर करनेके लिए वस्त्रालंकार, खरीरकी दुर्गंधता मिटानेके अर्थ कालागुरु आदिक सुगंध पदार्थकी स्पृहा उसको होती है। खदे बुर करनेके लिए स्त्रीको चाहता है, ये सब दुःखके प्रतीकार ही हैं।

स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंमवेद इनके उदयसे तिनो लिंगोंके प्राणिओंको परस्परामिलाषा उत्पन्न होती है। परंतु यह अभिलाषा अन्योन्यके दूरिरसंसर्ग होनेपर भी नहीं भिटती है। क्योंकि अभिलाषको उत्पन्न करनेवाले कर्म हमेंदा आत्मा में मौजूद हैं- ये धार धार अन्यान्याभिलाषा उत्पन्न करते रहते हैं जब तक अलंब कारण मिलते ही रहेंगे तबतक कार्यकी उत्पत्ति होगी। जब दमसेवन मनुष्य करता है तब नवीन २ तीन चेदोंकी उत्पत्ति होती जाती है- पूर्वानुभवमें बुद्धिही होती है- कारण के संपर्कसे कार्यमें नित्यता आती है। मनुष्य निरंतर इच्छारूपी अग्निमें दग्ध होता है अतः उसको मंतोषकी प्राप्ति नहीं होती है। जब तीन वेद नष्ट होते हैं तब पर-स्परामिलाषाका कारण ही नष्ट हुआ तब वह भी नष्ट होती है- संश्लेष वेद नष्ट होने पर जो स्वास्थ्यलाम होता है उसको ही सुख समझना चाहिए।

जह कोडिहो अग्नि तपती तेव उवसमं लभदि ॥

तह भोगे मुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥ १२५१ ॥

सेवमानो यथा वहिं न कुट्टी लभते अमम् ॥

भुंजानो न तथा भोगं संतोषं प्रतिपद्यते ॥ १२५२ ॥

विजयोदया—अह कोडिहो यथा कुष्ठेनोपद्रुतः । अग्नि तपती अग्निना दक्षमानमूर्तिरपि । तेव उवसमं लभदि नैष व्याघरेणरामं लभते । न ह्यग्निरुपद्रामकः कुष्ठस्यापि तु बद्धकः । यद्यस्य वृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपद्रामयति । यथा कुष्ठं नोपद्रामयति बद्धिः । यथैवयति चाभिलाष अवलदित्वं यमः । तह तथा । भोगे मुंजंतो भोगानुभवभोजितः । खणं पि णो उवसमं लभदि । क्षणमात्रमपि भोगसमं लभते भोगाभिलाषतोषस्य ॥

भोगैरुज्ज्यामिबधैनेन परितापानुदवं बोधयति—

मूढार—अग्नि तपती अग्निं सेवमानः । उवसमं स्मरति कुष्ठस्य । वदित्वापस्य तद्वर्धकत्वात् । उवसमं भो-

माभिलाषरमाप्नोति । तन्निमित्तज्वालयकर्मणः प्रियोगानुपचोगेन प्रतिक्षणमाधीयमानोदीरणप्रवणत्वात् ॥

ऐसे सुखको ही सुख माननेवाले आचार्य हृष्टान्त प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे कुट्टी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपद्रामको प्राप्त नहीं होता है. अर्थात् अग्नि सेवन से कुष्ठ उपद्राव नहीं होता है. उलटा यद्यनं लगता है. जो जिसके बदनमें निमित्त होता है वह उसका उपद्रामन नहीं कर सकता है. जैसे अग्नि कुष्ठको खांत नहीं कर सकता है. वैसे स्त्री वगैरह पदायोंका सबवास भी अभिलाषका उपद्राम नहीं करता है किंतु वह उसको बचाता ही है. भोगोंका उपभोग लेनेमें उद्युक्त हुआ पुरुषका अभिलाषारूपी रोग क्षणपर्यंत भी शान्त नहीं होता है. प्रतिदिन वह बढ़ता ही है.

कच्छुं कंदुयमाणो सुहाभिमाणं करोदि जह दुक्खे ॥

दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहि कुणदि तथा ॥ १२५३ ॥

मैथुनं सेवमानोऽग्नी सौख्यं दुःस्वेषि धन्यते ॥

शितैः कंदुयमानो वा कच्छं करकहैः कुधीः ॥ १२५४ ॥

विजायोदया—कच्छुं कच्छुं । कंठ्यमाणो नरोर्मदयम् । सुहामिमाणं करोतु सुखमिमाणं करोति । जह दुपयो यथा यु.ते । तह मेदुण आदीहि तथा मैथुनादिदु खे रमसादिगेने, अथरत्तणे, उरस्ताडने नखेनिशितेगच्छेदने कच्चा-करणे ॥ उक्तं च—

नद्यः प्रेत इयारिणः स्नानेष्वेव शपथिव ॥

आसायासपरिथांतः स कामी रमते किल ॥ १ ॥ इति ॥

अनुभवसिद्धं विषयसुरं कथं प्रतिविध्यते इत्याशंकां दृष्टांतपंचकावचनेन निराकर्तुं गायान्दयमाचष्टे—
मूलाभा—कंठ्यमाणो नरोर्मदयम् । मेदुण आदिग्मि रमसादिगनावरत्तणेनोस्ताडनकथाकर्पणीविगनल-छेदनादिजन्ये ॥

अर्थ—कच्छु रोगको नखोंसे खुलानेवाला मनुष्य सुजाते समय जपनेको सुली समझता है. जैसे यह जीवभी मैथुनादि दुःखोंसे भी अपनेको सुली समझता है. गान् आलिंगन करनेमें, अथर्वजुवनमें, वक्षस्थल मर्दनमें, नखोंसे अंगमें द्रव्य करनेमें और केशाकर्पणमें अपनेको सुली समझता है. इस विषयमें अन्यग्रंथमें ऐसा कहा है—वह कामी मनुष्य पिशाचके समान नम्र होकर, शब्द करनेवाला, और आयाससे थककर मैथुन सेवन करता है.

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ॥

तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥ १२५३ ॥

सेवमानो नरो नारीं दुःखदां सुखदां कुधीः ॥

मन्यते मधुरां यहीं कृमिघोषातकीमिव ॥ १२५३ ॥

विजयोवया—घोसादकीं घोषातकीं । किमि कुमिः । खंतो भक्षयन् । जहा मधुरित्ति यथा मधुरमिति मन्यते पराकः । तह तथैव । दुक्खं वेदंतो दुःखमनुभवन् । मण्णदि सोक्खं जणो कामी मन्यते कामिजनः सुखं ॥
मूलाभा—घोसादकीं घोषातकीं । खंतो भक्षयन् ॥

अर्थ—घोषातकी नामका कहेया फल भक्षण करनेवाला कृमि उसको मीठा ही समझता है. जैसे दुःखका अनुभव करनेवाला कामी पुरुष दुःखको ही सुख मानता है.

सुहृ वि मगिज्जंतो कथं वि कयलीए णत्थि जह सारो ॥

तह णत्थि सुहं मगिज्जंते भोगेसु अप्यं पि ॥ १२५४ ॥

संपद्यते सुखं भोगे सेव्यमाने न किंचन ॥

सारो नोऽ न्विच्छपमाणोऽपि रंभास्तंमं विलोक्यते ॥ १२५४ ॥

विजयोदया—सुहृदुं वि सुहृदुं अपि मगिज्जंतो भुग्यमाणोऽपि सारः कदल्यां क्वचिदपि मूढे मध्येऽग्रे वा यथा नास्ति तथा भोगेभ्यश्चिद्यमानं सुखं न विद्यते ॥

इतिरैर्भोग्यतया गृह्यमाणेषु विषयेषु निःसुखत्वेकान्तमनुशास्त्रि—

मूढारा—परमं क्वचिन् । मूढे मयेऽन्ते वा ।

अर्थ—सुहृदुं विचार करने पर भी केवलके हृद्यमे प्रायं मे, मण्यभाग्यं और अन्तमें भी कुछ भी सार दीखता नहीं है वैसे भोगोंमें विचार करनेपर भी कुछ सुख नहीं है.

ण लहवि जह लेहंतो सुक्खल्लयमड्डियं रसं सुणहो ॥

से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मणए सुक्खं ॥ १२५५ ॥

विश्वस्ता येः प्रतार्यन्ते विमुह्यन्ते निषेवकाः ॥

प्रवर्द्धकाः प्रपीड्यन्ते कस्तैर्भोगैः समो रिपुः ॥ १२५५ ॥

निपेड्यमाणो वनिताकलेषरं स्वदेहलेदेन सुखायते जनः ॥

श्वा ह्यश्रुयानो रसमस्यि नीरसं स्वतालुरक्ते मनुते सुखं यथा ॥ १२५६ ॥

विजयोदया—ण लहवि जह सुणगो सुक्खल्लयं अड्डियं लेहंतो रसं । श्वा सुकमस्यि लिहन् सत् यथा रसं न लभते । सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोषणं मणए तीक्ष्णास्त्रिज्जसत्तालुगलितकथिमास्वाह्वन्मुजायिमानं करोति । तह तह यथा तथा । पुरिलो ण किंचि सुखं लभे । पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥

मूढारा—लेहंतो आस्वादन् । सुक्खल्लयं शुष्कं । अड्डियं अस्थि । सगतालुगरुहिरं । तीक्ष्णास्त्रिज्जसत्तालुगलितलोहितं ।

अर्थ—जैसे कृपा रक्तहीन सूखी वट्टी चाटने लगता है. परंतु उससे रस नहीं होता है. वट्टीको चूसे तो समय उगीके वातुका रक्त निकलने पर वह उसमें सुख समझता है. वैसे कामी पुरुष भी विषयोंमें सुख समझता है. अर्थात् स्त्रीसहवासमें उसका स्वयं वीर्यपतन होता है. और उसमेंही वह सुख समझता है.

महिलादिभोगसेवी ण लहवि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो ॥
सो भण्णदे वराब्बो सगकायपरिस्समं सुखं ॥ १२५६ ॥

नग्नो बाल इवास्वस्थः स्वनजन्यक्तजल्पनः ॥

श्वासाकुलो जनो नार्या कीदृशीं अयत्ने रतिम् ॥ १२५७ ॥

आरंभे भराफान्तां दीनामुद्धीमिवाकुलाय ॥

किं सुखं लभते मूढः सेवमानो जितंयिनीम् ॥ १२५८ ॥

विभीमरूपाः कुटिलस्वभावा भोगा भुजंगा इव रंघसंस्थाः ॥

ये सार्यमाणा जनयन्ति दुःखं ते सेविताः कस्य भवन्ति ज्ञान्त्यै ॥ १२५९ ॥

प्रददयं सौख्यं वितरन्ति दुःखं विश्वासंस्तृपाय च वंचयन्ति ॥

ये पीडयन्ते परिचर्यमाणास्ते सन्ति भोगाः परमा द्विपन्तः ॥ १२६० ॥

विजयोदया—ग्रहिलादिभोगसेवी स्त्रीयदिभोगसेवनीयतः । तथा सो ण किंचि वि सुहं लहवि तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते पत्य । सो वरागो सगकायपरिस्समं सौख्यं भण्णदे ॥ वराकः स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते । भयुभवसिद्धं सुखं कयं नास्तीति शक्यते वक्तुं शब्दांशवय यस्यपि सुखे सुपज्ञाने जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारण-
येति वंचति ॥

मूलार—स्पष्टम् ॥

अर्थ—श्री वेगवहको भोगनेवाला यह कामी पुरुष किंचित्भी सुख नहीं प्राप्त करता है. यह दीन पुरुष अपने शरीरपरिश्रममें ही सुखकी कल्पना करता है. स्त्रीसहवासमें सुखकी प्राप्ति होती है यह बात अनुभव सिद्ध है उसको आप मुसामात्र कैसे कहते हो ?

इस शंकाका उत्तर ऐसा है—सुखके अभावमें भी जगत् को सुखकी आंति होती है- यह उसका विपर्यस्त ज्ञान है.

क्षीसद् जलं च मयतण्डिया हु अह वणमयस्स तिसिदस्स ॥

भोगा सुहं च दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥ १२५७ ॥

कामिभिर्भोगसेवायामसत्स्यं दृश्यते सुखम् ॥

कुरंगैर्मृगतृणार्थां पानीयं दृपितैरिव ॥ ३०१ ॥

विक्रयोद्या—वीसद् वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्डिया चंनं मृगेण दुरिणादिना तृणानि-
भूते जलनाशायता जलमिव दृश्यते मृगतृणिका । न का मृगेण जलतपोपलब्धेऽपि जलं भवति । तथा रागेण तिसिदस्स
भोगा सुहं च दीसन्ति नगत्तवित्तम मोक्षाः सुखमिव दृश्यन्ते ॥

मुलाए—यणमयस्स वनमृगेण दुरिणादिना जलं दृवीयायाः पपीवयावः । भोगा कामिन्यादिरिभिर्भोगाः,
इत्रियमतीत्यः ।

इसी विषयका शब्दीकरण—

अर्थ—जैसे जंगलमें विचनेवाले हरिणोंको दुपासे पीठिव होनेपर मृगतृणिका जलके समान दीखती है-
परंतु वह वास्तविक जलरूप नहीं है बैसे रामभावमें व्याकुल हुए इस जीवको भोगपदार्थ सुखमय दीखते हैं परंतु
वे वास्तविक सुखरूप नहीं हैं.

वग्घो सुखेज्ज मदयं अक्कासेउण अह मत्ताणम्मि ॥

तह कुणिमदेहसंफंसेणेण अबुहा सुत्तायंति ॥ १२५८ ॥

कृपितस्त्रीतनुस्पर्शो नष्टबुद्धिः सुत्तायते ॥

अथमुखा शयं व्याघ्रः शमशाने किं न तृप्यति ॥ १२०२ ॥

विजयोद्या—यमो सुखेज्ज इत्यनेन व्याघ्रो भुतकर्मवशात् तृप्यति यथा तथा कुणितदेहसंस्पर्शनिनामुष्ण
मुलापिणमदृग्निर्भोगा भवन्ति ॥

मूढारा—सुखेज्ज क्वयति श्रीवितो भवति ॥ मदर्थं मृतकं । अवगासेवून आडिय उपरि चटित्वा वा । सुवा-
जम्मि शमसन्ते । कुणिमवेहंसासणेण कुणितयुवतिकेवत्सयनेन । सुवायंति सुखाधिगमहरिर्निर्यरा भवन्ति ॥

अर्थ—अमृगानमें व्याघ्र प्रेतका भक्षण कर ॥ होवा है कैसे मूर्ख लोक दुर्गव अरारिके सगुंसे मेरेको सुख
प्राप्त हो रहा है ऐसा समझकर अविशय हर्षित होते हैं ।

भयदु नाम पुत्रं भोगस्तथापि सदस्यत्तामिति निवेदयति—

तह्म अप्यं भोगसुहं जह्म धावंतस्स अठित्तवेगस्स ॥

मिमेहं उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्यं ॥ १२५९ ॥

मध्यंविनार्कितसस्य यावच्छायाउपयतिक्रमे ॥

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिवेशणे ॥ १३०३ ॥

पित्रयोर्व्या—तथा अप्यं भोगसुहं-धावंतस्स अठित्तवेगस्स मिमे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्यं तह्म अप्यं
भोगसुहं । धावंतोऽस्थितवेगस्य धीमे उप्पाभित्तत्वा यथा मार्गस्यैकतरुच्छायासुखमस्य भोगसुहं तथा ॥

एवं दुःखे मृदात्मनां सुखाभिमानं समर्थ्य साधनं पयसुरोचेत भवतु ताम भोगसुहं तथा सदस्यत्तमित्युपगम
सिद्धावेन दर्शयति—

मूढारा—अठित्तवेगस्स अविच्छिन्नवत्स्य । वा अवगा उण्हातत्तस्स मध्याह्नार्कैरिमितस्य । छायासुहं मार्ग-
स्यैकतरुच्छायाप्राप्तत्वा समं ॥ उक्तं च—

मध्यंदिनार्कवत्स्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिवेशणे ॥

भोग पदार्थं सुख है ऐसा यद्यपि मान लिया तथापि यह सुख अत्यल्प है ऐसा दिखाते हैं—
अर्थ—ग्रीष्मकालमें धूपसे जिसको कष्ट होरहा है और जो गर्मता जारहा है ऐसे पथिकको रास्तेमें
दृक्षकी छायासे जल्प सुख मिलता है कैसे इस जीवको प्राप्त हुए भोगपदार्थोंसे अल्पता सुख मिलता है ।

अह्वा अप्यं आमाससुहं सरिदाए उप्यियंतस्स ॥
 भूमिच्छिक्कंगुहस्स उब्भमाणस्स होदि सोचेण ॥ १२६० ॥
 स्रोतसा नीयमानस्य याववाशासुखं भवेत् ॥
 पादांगुष्ठे क्षितिस्पृशे तावद्भोगसुखं स्फुटम् ॥ १३०४ ॥

विजयोदया—अह्वा अथवा । अल्पं लघु । आमाससुहं आमास एव सुखं । सरिदाए नद्यां । उप्यियंतस्स निमग्नता । भूमिच्छिक्कंगुहस्स भूमिस्पर्शगुहस्य । सोचेण उब्भमाणस्स क्षोतसा मयोद्बोधमानस्य । अल्पं आमाससुखं तद्विद्विपसुखमस्यस्पर्शनिमित्तात्वेन लेख्यम् ॥

मूकारा—यथा वा वक्ष्यमाणमत्यल्पं तथा भोगसुरभिति संबंधः ॥ आमाससुहं आमास एव सुखं । लब्धा मया-
 रथा तदं प्रापयामि इत्याशया निर्दुभित्वार्थः । सरिदाए नद्यां । उप्यियंतस्स निमग्नयागच्छतः । भूमिच्छिक्कंगुहस्स भूमिः
 स्पर्शगुहेन येन तस्य । भोगप्रमाणस्य उद्भूतमस्य । सोचेण प्रवाहेण ॥ कर्क च—

क्षोतसा नीयमानस्य यावदाशसुरं भवेत् ॥

पादांगुष्ठक्षितिस्पर्शे तावद्भोगसुखं स्फुटम् ॥

अर्थ—अथवा नदीमें लछके प्रवाहसे जो बहता जारहा है ऐसे मनुष्यके पाँवके अंगुठका धोहासा
 सर्ग जमीनपर होनेपर मैं अब डूबूंगा नहीं ऐसा भास होकर थोहासा उसको आधासनसुख प्राप्त होता है वैसे
 इस जविको ससारमें ईदियोंसे अन्यदुष्ट प्राप्त होता है ऐसा पूर्व गायकसे साथ संबंध समझना चाहिये-

इंद्रियसुखानि यदलक्षण्याणि युक्तो विसावस्तथ सानि सर्वानि श्रुतं वारपदिभुक्कानि, तेषु सुखेषु परित्यक्तेषु
 न युक्तो विसाव इति लगानं अतयति तेषु सुखे—

जावन्ति केह भोगा पत्ता सच्चे अणंतखुचा ते ॥

को णाम तत्थ भोगेसु विभओ लब्धविजडेसु ॥ १२६१ ॥

यैऽनंतशोअङ्गिना सुक्का भोगाः सर्वे त्रिकालगाः ॥

को नाम तेषु भोगेषु सुकलत्तेषु विस्मयः ॥ १३०५ ॥

विजयोदया—जायति केर भोगा यावन्त केचन भोगाः । सखे पत्ता अणंतलुत्ता ते । सर्वे प्राप्ता अनंतवारं ,
तव । को नाम तस्य भोगेसु को नाम नेसु भोगेषु विस्मय-लभ्येयुर्द्विगेषु ॥

इन्द्रियसुखेखनादरोषाद्विषादमाह —

मलरा—अणंतलुत्ता अनंतवारान् । निन्मओ विस्मयः आश्चर्ये । छट्ठविजयेसु प्राप्तलकेषु ॥
इन्द्रियसुख यदि पूर्वकालमें कभी मिला ही नहीं और अब ही प्राप्त हुआ होगा तो विस्मय-हर्ष मानना
योग्य है परंतु सर्व इन्द्रियसुखोंका इस जीने अनंत प्राप्त उपभोग लिया है और उनका त्याग किया है. अतः
उनमें आश्चर्यचकित होना योग्य नहीं है. इस प्रकार इन्द्रियसुखमें आचार्य अनादर उत्पन्न करते हैं—
अर्थ—जितने योग हैं वे सब अनंतरार जीको प्राप्त हुए हैं इस लिए प्राप्त करके त्याग किए गए
इन भोगोंमें आश्चर्य ही क्या है ? भोग कुछ अलभ्यपूर्व नहीं हैं अतः इनके प्राप्तिले आश्चर्ययुक्त होना योग्य नहीं है.

भोगतृष्णा निरंतरं वर्धति भवतं, सेव्यमाना. पुनर्भोगस्तामेव तृष्णां वर्धयति ततो भोगेच्छां क्षियित्वानं
नयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु बहुदे तण्हा ॥

अग्गीव इंधणाइ तण्हं दीविति से भोगा ॥ १२६१ ॥

यथा यथा निपेयन्ते भोगास्तृष्णा तथा तथा ॥

भोगा हि वर्धयन्ते तामिंधनानीव पावकम् ॥ १३०६ ॥

विजयोदया—जह जह भुंजइ भोगे यथा यथा भोगान्भुंके । तह तह तथा तथा । भोगेसु बहु वैतण्हा भोगेसु
वर्धते तृष्णा । मग्गीव इंधन वा । यथा यथा इंधनाइ सेवनानि । दीविति दीपयति । तद्वत् तथा । तण्हं तृष्णां दीपयन्ति ।
तस्य भोगतृष्णा ॥ तथा चोत्त-तृष्णाविष परिदहति ॥ मालिरालां ॥ इण्डियार्थविमवै परिकृष्टिरेव ॥

भोगतृष्णाविर्दहनाय सेव्यमाना भोगास्तद्विदुद्वर्धयं एव भवतस्तच्छांतये भोगेच्छायेव क्षियित्वयेति
शिक्षार्थमाह ॥

मलरा—अग्गीव अग्निमिव ॥

यह भोगतृष्णा है लक्षक । तरेको निस्तर जला रही है. यदि भोगपदायाका बूं सेवन करेगा तो उसी

तृष्णाको ये बढायेंगे. इसलिए व इस भोगेच्छाको स्थिचिह्न ऐसा निर्यपकाचार्य स्वपकको उपदेश करते हैं—
अर्थ—जैसे जैसे मनुष्य भोगोंको ग्रोयले हैं वैसे र उनकी भोगेच्छा बढ़ती है. जैसे लकड़ीअैसे अग्नि बढ़ता है वैसे भोगोंसे तृष्णा बढ़ती है. यी समानभद्र आचार्य तृष्णा और भोगके विषयमें ऐसा कहते हैं. ये तृष्णाग्नि की ज्वालायें प्राणियोंको जलाती हैं परंतु उनकी इंद्रियोंके इष्ट पदार्थोंसे शांति नहीं होती है उलटी तृष्णाज्वालाओंकी वृद्धि ही होती है.

जीवस्स णत्थि तिच्ची चिरं पि भोएहि संजमाणेहिं ॥

तिच्चीए विणा चित्तं उब्भूरं उब्भुदं होइ ॥ १२६३ ॥

सुजयमानैश्चिरं भोगैरदृष्टिर्नास्ति शरीरिणाञ्च ॥

उत्तपूरसुद्धतं चित्तं विना मृतत्वाच्च जायते ॥ १२०७ ॥

सिद्धयोग्या—जीवहस जीवस्य । नास्ति तस्मिन्निश्चिरकालमपि भोगाननुभवतः । तत्त्वोपमवचनं कालं भोगभूमिषु । अयत्तिशामारोपमकाल अपरेषु तृष्णा च विना चित्तं । उब्भूरं उब्भुदं उत्पन्नं भवतीति सूत्रार्थः ॥

सुषिरमपि सेवितैर्मनैरुत्तिर्न भवति तत्तद्विषयस्य सुतरात्तौ सुखं भवतीति भोगापगच्छुपदिशति—

मूलार—उब्भूर उत्पन्नं, उत्पन्नमिदं चित्तं । उब्भुदं उत्पन्नं उत्पन्नमिदं चित्तं ॥

अर्थ—चिरकालपर्यंत भोगोंका अनुभव लेनेपर भी जीवको वृत्ति होती ही नहीं. भोगभूमिमें इस जीवने तीन पल्लोपमकालतक भोगोंका अनुभव किया है. अमरलोकमें तेहीस सागरोपम कालतक देवभोगोंका सुख भोगा है तो भी भूमीके विना इस जीवका चित्त हमेशा उत्कंडित रहता है.

जहं इंधणेहिं अग्नी जहं व समुहो णदीसहस्सेहिं ॥

तहं जीवा ण हु सक्का तिण्णेंहुं कामभोगेहिं ॥ १२६४ ॥

नदीजलैरिवां भोगिर्विभावसुखिर्वेचनैः ॥

सैन्ययानैरयं भोगैर्न जीवो जातु तृष्यति ॥ १२०८ ॥

विजयोदया—आह ईश्वरोहिं यथैतन्नैराग्निं नृप्यति । यथा ॥ समुद्रो नवीसहस्रः । तथा जीवो न शक्यो मोहेत्लर्यपिबु ॥

भोगानामतर्पणं सद्यन्वयाचष्टे—

मूलम्—विषेभु तर्पयितुं ॥

अर्थ—जैसे ईश्वरोंसे अग्नि तृप्त नहीं होता है, जैसे हजारों नदीओंसे समुद्र तृप्त होता नहीं वैसे जीव भोगोंसे संतुष्ट होता नहीं है,

देविदचक्रवर्दी य वासुदेवा य भोगभूमीया ॥

भोगेहिं ण तिप्यंति तु तिप्यदि भोगेसु किं अणो ॥ १२६५ ॥

भोगेषु भोगिणीर्वाणचलकेशयचक्रिणः ॥

न तृप्तिं ये तु गच्छंति तत्र तृप्यंति किं परे ॥ १३०९

विजयोदया—देविं देवानामग्रिपतय, चक्रलंछना वासुदेवा अर्धचक्रयतिनः । भोगभूमिजास्य भोगेनं नृप्यन्ति । कथमव्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगः । सुलभाभितभोगसाधनाधिरजीविनः स्वतंत्रात्मासी । अन्ये तु भयदया अठमरणमात्र-
॥ पि कर्तुं भराका . स्वस्वपुत्र , पराधीनतृप्तयश्च नृप्यंतीति सा कथा ॥

सुलभाभितभोगसाधनाधिरजीविनः स्वतंत्राच्च देवैर्ब्रह्मबोदपि इत्रियसुलेनं नृप्यन्ति किं पुनरितर इति सकी-
दुकोदयसं शिक्षयति—

मूलम्—१२६५ ॥

अर्थ—देवेन्द्र, चक्रवर्ती, अर्द्ध चक्रवर्ती अर्थात् नारायण, प्रतिनारायण, और भोगभूमिज ये भोगोंसे तृप्त होते नहीं हैं, तो अन्यपुरुष उनसे कैसे तृप्त होंगे ? देवेन्द्रादिकोंको भोगपर्यार्थ सुलभ हैं, ये दीर्घायुवी हैं, और स्वतंत्र हैं, इनसे भिन्न जीव-जन्म तृप्त पेट भरनेमें भी असमर्थ हैं स्वस्वपुत्री हैं, और पराधीन हैं इस लिये हम तृप्त कैसे तृप्त हो सकते हैं.

संपत्तिविविक्तीसु य अज्जणस्वखणपरिगहादीसु ॥

भोगस्यं होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥ १२६६ ॥

व्याकुलीभवति प्राणी ग्रहणे रक्षणोज्जने ॥

नाशे संपदि तत्तस्य भोगायोत्कंठितश्चलः ॥ १२६७ ॥

विलयोदया—संपत्तिविविक्तीसु य संपत्सु विपत्सु च । अज्जणस्वखणपरिगहादीसु द्रव्यस्य लब्धस्याज्जने, पुंजीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणेति । हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तद्रक्षयकरणे वा । भोगस्यं अनुभवार्थं । अर्जनादिषु प्रयुक्तः । उद्धुयचित्तो य घण्णो य णरो होदि चलचित्त उत्कंठायांश्च भवति नरः । द्रव्यसंपत्तिं जातायां रागाज्जलचित्तं भवति । इति णादिभिनाशे कथं जीवामि । पुनर्द्रव्याज्जने करोमीति ।

भोगसाधनस्य धनस्य संपत्तादुपार्जनसिषु चलचित्तवा चक्षिपत्तौ च पुनस्तत्त्वाप्युत्कलिकाकुलशा च त्वादिति भोगकृतं दृष्टदुःखायतं बोधयति—

मूलारा—परिगहादीसु परहस्ते विप्रकीर्णस्य इति णस्य स्वीकरणे स्वायत्तस्य व्ययकरणे च । इधुदचित्तो इत्यसंपदि जातायां रागाज्जलचित्तः । घण्णो द्रव्यविनाशे द्रव्याभिर्कांक्षी कथं पुनर्धनं लप्स्ये इत्युत्कंठावान् ॥

अर्थ—संपत्तिकी मासि होनेपर उसका रक्षण करना, घटाना, दूसरोंको दी हुई संपत्तिकी वापिस लेना, उसका व्यय करना, और भोगमें लाना इत्यादि कार्योंमें मनुष्यका मन चंचल और उत्कंठित होता है, इत्यसंपत्ति प्राप्य होनेपर मनुष्य का मन रागभ्रममें चंचल होता है, धनादिकोंका नाश होनेपर ‘अथ मैं कैसा जीऊंगा, अब पुनः द्रव्यार्जन करूंगा ऐसा विचार उत्पन्न होता है।

उद्धुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ॥

पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्स घण्णस्स य १२६७ ॥

व्याकुलस्य सुखं नास्ति कुतः प्रीतिर्विना सुखम् ॥

कुतो रतिर्विना प्रीतिसुत्कंठां बहूतः परम् ॥ १२६८ ॥

विलयोदया—उद्धुयमणस्स व्याकुलचित्तस्य ण सुहं न सुखं भवति । सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी । सुहेन

विना कुतो भवति प्रीतिःश्रुतिः । पीदीप विना प्रीत्या विना । न रदी न रतिः । उदुदुदुचितस्व व्याकुलयेततः । वण्णस्स उत्कंठायाकिन्या शुद्धीतस्य ॥

मृगाय—पीदी रतिः ॥

अर्थ—जिसका मन व्याकुल हुआ है उसको सुख होती नहीं है. सुखके बिना प्रीति उत्पन्न नहीं होती है. और विना प्रीतिके रति उत्पन्न नहीं होती है. जिसके मनमें उत्कंठा उत्पन्न हुई है उसको व्याकुलता संताती है.

जो पुण इच्छति रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिब्बुदिकरम्मि ॥

कुणदि रविं उवसंतो अज्झप्पसमा हु गत्थि रदी ॥ ११६६८ ॥

निरस्तदारादिविपक्षसंगती रिरंसुरथ्यात्मसुखे निरंतरम् ॥

रतिं विधत्तां शिवशर्मकारणे तथा समा नास्ति जगत्त्रये रतिः ॥१३१२॥

पिऊपोदथा—जो पुण इच्छति रमिदुं य. पुना रमितुं इच्छति । सो कुणदि रदि स करोतु रतिं । क' अज्झप्पसुहम्मि अभ्यात्मसुखे । णिब्बुदिकरम्मि निवृत्तिकरे । उवसंतो उगतांतरामन्तोषः । एतदुक्तं भवति । मनोकात्मनोऽपिपय-
सामिधामे संकल्येदुक्तो यो रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निवृत्तिश्रुतिद्वरे शप्यामसुखे रतिं करोतु । अज्झप्पसमा अत्यल्पपयिप-
या रतिरस्यहमशब्देनोच्यते । तथा सद्यो रतिः । गत्थि सु न विद्यते एव । यस्मात् भोगवतिरथात्मनो रस्या न सद्यो ॥
भगवन्त्येवं तर्हि निरंतरस्यायिना पुत्रेण किं विधीयतामिति पृच्छन्ते परमार्थतत्त्वोपदेशसर्वस्वदानेनाशुपुण्ड्रंति ॥

मृगारा — इच्छति रमिदुं नित्यं रतिमधिगच्छति इत्यर्थः । अज्झप्पसुहम्मि शुद्धस्यात्माशुभत्यानंदे । णिब्बुदि-
अरम्मि वृत्तिकरे । कुणदु रदि आत्मिकि । उवसंतो मनोकात्मनोऽपिपयसंविषयात्मसंस्कल्पेदुक्तौ रागद्वेषौ नित्यं
त्यागमवशमेवतः सन् । अज्झप्पसमा आत्मसत्त्वविपवरतिमद्यो । रदी प्रीतिः कचिदपि जगन्न्यतारभोगाशुभितरिपु
मप्ये ॥ तर्क य—

यदग चमिणां सौख्यं यच्च रमणे विबौकसां ॥

कलथापि न तत्सुखं सुपदस्य परमात्मनाम् ॥

अपि न ।

आत्माशुभाननिष्ठस्य व्यवहारसहिःसिधतेः ॥

जायते परमानन्दः कश्चियोगेन योगिनः ॥

अर्थ—जो मनुष्य समान होनेकी इच्छा करता है, राग और क्रोध जिसके आंत हुए है वह पुरुष अध्यात्म सुखमें जो कि आनंददायक है उसमें समागम होवे. अर्थात् अपनी आत्मानुभवमें हमेशा तत्पर रहे. इष्टानिष्ट विषयकी प्राप्ति होनेपर मनमें संकल्प होता है. और इस संकल्पमें शयदेपकी उत्पत्ति होती है. समदोषोंका त्याग कर तृप्ति उत्पन्न करनेवाले आत्मानुभवरूप सुखमें प्रीति करे. क्योंकि अध्यात्मरतिके समान भोगरति है नहीं.

कथम् ?

अप्यायत्ता अज्ञपरद्वी भोगरमणं परायत्तं ॥

भोगरदीष्ट चइदो होदि ण अज्ञपरमणेण ॥ १२६९ ॥

स्वस्थाध्यात्मरनिर्जनोनैव भोगरतिः पुनः ॥

भोगरत्वास्ति निर्मुक्तो परया न कदाचन ॥ १२७० ॥

विजयोद्वा—अप्यायत्ता स्वायत्ता । अज्ञपरद्वी आत्मस्वरूपविषया रतिः । परद्रव्यानोपेक्षात् । भोगरमणे तथा परायत्तया वा साध्यमायदात् । तेषां च कथञ्चिदेव साविध्यं कचिदेव कस्याचिदेति । एतेन स्वायत्त- न प्रच्युतो भवति । अज्ञपरमणेण कथात्मरतया ॥

कथमध्यात्मरतिर्भोगरतिं तिरस्करोतीत्याह—

मूलार—अप्यायत्ता परद्रव्यातिरेकत्वात् । अज्ञपरद्वी आत्मस्वरूपविषया रतिः । परायत्तं च द्विद्रव्यालंब- कत्वात् । चइदो लक्षः । भोगरतिनिमित्तपरद्रव्यानां कचित्कदाचित्कथंविस्साक्षित्यात् । केत्यादि । अध्यात्मरत्यालंबनस्य स्वद्रव्यस्य सर्वदा सर्वथा सन्निहितत्वात् ।

अध्यात्मरतिं क्यों अष्ट है इसका उत्तर—

अर्थ—सात्मानुभवमें रति करनेके लिए अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है, भोगरतिमें अन्य पदा- योंका आश्रय लेना पड़ता है. अन्य पदायोंकी किसीको प्राप्ति होती है और किसीको नहीं भी होती है. अतः इन दो रतिओंमें साम्य नहीं है. भोगरतीसे आत्मा च्युत होनेपर भी अध्यात्मरतिसे वह अष्ट नहीं होता है. अतः इस हेतुसे भी अध्यात्मरति भोगरतिसे—श्रेष्ठ है.

अनेकविप्रसंहिता विनाशिनो च भोगरतिः, अन्धात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विप्र इति कथयत्युत्तर

गाथा—

भोगरं दीपं णासो णियदो विग्घा य होति अरिवहुगा ॥

अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो णं विग्घो वा ॥ १२७० ॥

नाशो भोगरतेरस्ति प्रत्यूहश्च सहस्रशः ॥

नाशोऽध्यात्मरतेर्नास्ति न प्रत्यूहाः कुतश्चन ॥ १२७१ ॥

विक्रयोदय—भोगरदोष भोगरत्याः । भियदो णासो निवतो विनाशः । विग्घा य इति विप्रश्च प्रसंगित । अदियुत्तरा अतीव यत्तः । अज्झप्परदीए अध्यात्मरतेः सुभाविदाए सुष्ठु भावितायाः । णासो नाशो न विद्यते । विग्घा वा विप्रा वा न सन्ति । तियत्तं नभ्यरसस्यऽनभ्यरतया, बहुविप्रतया, निविप्रतया च तयोर्दोषयमिति भावः ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि कौशाट्यं दर्शयति—

दुखारा—विषयो अवश्यभावी । विष्यो ऽन्तरतया ॥ अन्तरान्तग तद्विषयनिश्चारयकरणीयव्यासंगानुपवे-
शात् ॥ सुभाविदाए स्वभ्यरतयाः । विग्घो एकोऽलंतरायः सुभाविताध्यात्मरतेः कुवकुत्तया न्यायोपासंभवात् ॥

भोगरति अनेक विप्रसि मरी झुरे हे परंतु अध्यात्मरतिका अभ्यास फरनेसे उसका न नाश होता है न उसमें कोई विघ्न भी उपस्थित होता है इसका विवेचन—

अर्थ—भोगरतिका सेवन करनेसे नियमसे आत्मज्ञान नाश होता है तथा इस रतीमें अनेक विघ्न भी उपस्थित होते हैं, अध्यात्मरतिका उत्कृष्ट अभ्यास करनेपर आत्मज्ञान नाश भी नहीं होता है और विघ्न भी नहीं आवे हैं, अध्यात्मरति अनश्वर है अर्थात् नित्य है, और भोगरति नश्वर अर्थात् अनित्य है, भोगरति विघ्नोत्पत्ति युक्त होती है परंतु अध्यात्मरति निर्विघ्न है ऐसी इन दोनोंमें महान् विषमता है.

इदियसुखं शत्रुतया संकल्पभीषं तथा ॥ तथादयो अन्तोर्निवृत्तेः अतोद्विद्य सुखत्यमेव कीतरामवेदुके संवेर
इति मत्स्या सुखसूत्राभिप्रायः—

दुस्खं उपपादिता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सच्चू ॥

अदिदुस्खं कदमाणा भोगा सच्चू किण ण हुंती ॥ १२७१ ॥

शुर्वन्नो देहिनां दुःखं जायते यदि शयवः ॥

तदानीं न कथं भोगा लोकद्वितयदुःखदाः ॥ १२५ ॥

रिजयोद्या—दुःखं उप्यादिता दुःखमुपाय । अदि सच्च होति शत्रुको संयति । पुरिसा पुरिसस्त पुरुषाः पुरुषस्य । अविदुषो कुणमाणा भोगा अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । किंच सच्च न इति कथं शत्रुको न भवत्येति । कथं भोगानां दुःखदेतुता एवं मन्यते ? इन्द्रियसुखं नाम स्त्रीपदार्थमधमालोदपरद्वयसंनिधान-जन्यं । तच्च इन्द्रादिकं दुर्लभतमं निर्द्वेषिण्यस्य, तेन तदर्थं कृप्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो मदानायासः । इद्वैय भवा-मुगमि दुःखनिमित्तं च कर्म हिसावेषु प्रवर्तमानोऽजयति । तदिदं दुर्लभं संसारामोक्षं निमज्जयति । तच्च च निमज्जेन कतमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥

इन्द्रियसुखानामिति दुःखकरत्वं प्रदर्शनेन शत्रुत्वं व्यवस्थाप्यं तत्रान्वदरं कारयति —
मुलारा—अविदुषो इन्द्रियसुखार्थं कमनीयकामिन्यादिकं सन्निपापयति । तत्सन्निपापनं च धनसाध्यमेवेति धनार्थं कृप्यादिकं करोति । तच्च कुर्वन्ति रतं आत्मानमायासयति, हिसादिकं च प्रवर्तयति । तथा च महान्पापं धत्तेन च अपकृत्य शिक्षास्वर्गस्थविधानार्थमेव यत्नं कृतः पुरिसिरोरत्नेन ॥

इन्द्रियसुखं बहुसमान समग्रना चाहिये. इन्द्रियसुखमें आदर करनेसे वृष्टि होती नहीं है. अतीन्द्रिय सुख ही पीतरागपना और संवरका कारण है ऐसा आचार्य चूदामणि कहते हैं

अर्थ—दुःख उत्पन्न करनेसे यदि पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं. तो अतिशय दुःख देनेवाले इन्द्रियसुख क्यों न शत्रु माने जायेंगे ? इन्द्रियसुख दुःखदायक कैसा इस प्रश्नका—

उत्तर—स्त्री, वस्त्र, गंध, पुष्पमाला वगैरह पदार्थोंके सानिध्यसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होते हैं. परंतु स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति होना दरिद्री मनुष्यको अतिशय दुर्लभ है. दरिद्री मनुष्यको उनकी प्राप्तिके लिये कृपि वगैरहके लिए प्रयत्न होता है जिससे संसार बढानेवाला और दुःखका कारण ऐसा कर्मबंध उसको होता है. यह कर्म दुःखदायक और जिसका अंत अतिकष्टसे प्राप्त होगा ऐसे संसारसमुद्रमें जीवको डूबाता है. संसारमें नियमन हुए इस जीवको कौनसा दुःख प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् सर्व प्रकारके दुःख इस जीवको योग्यने पढते हैं.

शत्रुतया भोगा इति कथयति—

इषहं परलोभे वा सत्त्वं भित्तत्तणं पुणमुर्वेति ॥

इषहं परलोभे वा सदाहं दुःखावहा भोगा ॥ १२७२ ॥

शत्रुवो यान्ति भित्तत्त्वमिहं वामुन्न वा यवे ॥

भित्तत्त्वं प्रतिपद्यन्ते भोगा लोकद्वयेऽपि नो ॥ १२७३ ॥

विजयोदया—इषह अस्मिन्नेव जन्मनि । परलोभे वा परजन्मनि वा । सत्त्वं शत्रुतयः । भित्तत्तणं भित्ततां । पुणः पुर्वेति पुनर्दोहस्ते । शत्रुवः शत्रुतामपि जह्युः । कार्यवशात्, उपकारविशयसंपन्नानामभित्ततां वा यान्ति च । वामा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा सत्त्वदा दुःखावहा भोगा सर्वदा दुःपावहा भोगा । ततः शत्रुतया इति भावनीयं ॥

भोगानां शत्रुत्वभावभावनायैवाह—

मूढारा—इषहं अभिममेन जन्मनि । अन्यस्त्वेवं व्याख्यात् ॥ इष इहसवे । इ किं इह लोके परलोके इत्यर्थः ।

पुन ज्वेन्नि कार्यवशाच्छत्रुवो भूतया पुनर्भित्तत्वं यान्ति ॥

अर्थ—इसी जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें अपने शत्रु शत्रुत्व का त्याग का भित्त हो सकते हैं. कार्यके पण होकर शत्रु अपना वैर छोड़कर मित्र होते हैं. अथवा उनके ऊपर बहुत उपकार करनेसे भी वे अपना शत्रुत्व छोड़ देते हैं. परंतु इस जन्ममें अथवा जन्मोंतरमें भी भोग हमेशा दुःखदायी ही हैं. इसलिए उनसे जगतमें कोई भी महात्मा शत्रु नहीं है.

एगमि सेव देहे कोल्लज दुक्खं ण वा कोल्लज अरी ॥

भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोटिकोटीसु ॥ १२७३ ॥

वैरिणो देहिनां दुःखं यच्छन्त्येकत्र जन्मनि ॥

संततं दुस्सहं दुःखं भोगा जन्मनि जन्मनि ॥ १२७४ ॥

विजयोदया—एगमि सेव देहे । कोल्लज दुक्खं ण वा कोल्लज अरी एकस्मिन्नेव देहे कुर्याद्दुःखं न चा शत्रुः । भोगा पुण भोगा. पुनः । से तस्य । दुक्खं करंति दुक्खं कुर्वन्ति । भवकोटिकोटीसु जन्मेषु भवेयु । एवं भोगदोषात्तेत्याज निदानं त्वया न कार्यं इत्युपनिषद् सूरिणा ॥

मूलाराधना—करेज्ज कुयत्ति । भक्कोटिक्कोलीसु ॥ जगतिषु भवेषु ॥

अर्थ—इस भयमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसको शत्रु दुःख देगा या नहीं भी. क्यों कि हम सी उसके साथ लड़कर हमारे शरीरका रक्षण कर सकते हैं. अतः वह नियमसे हमारे शरीरको पीड़ित नहीं कर सकेगा. परंतु भोग अनंतभयोंमें इस शरीरधारक आत्मको दुःख दे रहे हैं. भोगोंके ऐसे दोषोंका स्वरूप जानकर हे क्षपक ! तू भोगनिदान मत कर ऐसा आचार्यने उपदेख दिया है.

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ॥
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥ १२७४ ॥
निदानी मेक्षते भोगात्त संसारमनारवम् ॥

मध्वेव मेक्षते पानं तदस्थायी न तुस्सदम् ॥ १३१८ ॥
चित्रयोदया—मधुमेव पिच्छदि मायेष पदपत्ति तथा तदेऽवलंब्यमानः । ण पिच्छदि न प्रेक्षते । पपादं प्रपातमात्मनः । तह तथा । सणिदाणो निदानस्वहितः । भोगे पिच्छदि भोगान्प्रेक्षते । ण हु पेच्छदि दीहसंसारं । नैव प्रेक्षते दीर्घसंसारं ।

भोगनिदानयतो भोगजन्यपापपरंपरानवेक्षित्वं दृष्टान्तेन भावयति—

मूलारा—मधुमेव सुते पत्तनं शीघ्रकिन्दुमिव । तडिओलंबो कूपभिर्येकदेऽवलंब्यमानः । पपादं प्रपातनं ॥

अर्थ—कूपके भित्तिके एक भागपर खड़ा हुआ मनुष्य मधुके छतेसे गिरते हुए मधुविशुद्धोंका आस्वाद लेनेमें ही मस्त रहता है परंतु कूपमें गिरनेका भय मनमें नहीं लाता है वैसे निदान करनेवाला मनुष्य भोगोंके पदार्थका आस्वादन लेनेमें निमग्न रहता है परंतु इससे मेरेको संसारमें दीर्घकालतक अग्रण करना पड़ेगा ऐसा विचार मनमें लाता नहीं है.

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा मयं अयाणंता ॥
तह संगदिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥ १२७५ ॥

भोगमन्धरे प्रवीच्यन्ति जन्मदुःखमनारतम् ॥

आपद्रुयंतो मृतित्रासं जालमन्धरे क्षया इव ॥ १२१९ ॥

विजयोद्धया—जालस्त जालस्य । अन्ते मन्धरे । जहा मच्छा रमन्ति यथा मत्स्या रमन्ते । प्रवमयान्ता भयमन-
यमुच्यमानाः । तद्द संवादिसु तथा परिग्रहणेषु । जीया रमन्ति जीवा रमन्ते । संसारमयकला संसारमगणयन्तः ॥

कमिन्यादिभोगेषु निर्भयक्रीडां प्राप्तिनां रम्यत्वेन स्पष्टयति—

मूलात्—अन्ते मन्धरे । अयं शुलुभीति । संसारमगणतो संसारपदविष्यत इत्यर्थः ॥

अर्थ—धीयस्ते जालमै मयदा जिनको परिक्षान नहीं है ऐसी मछलियां जैसी खेल्ती हैं. जैसे संसारी जीव संसारमयसे रहित होकर स्त्री वगैरह परिग्रहमें रममाण होरहे हैं.

कुर्यान्निपतममूलाभीष्टियदुश्चानि निवोगतः प्रहरयोद्धैपरागयोर्निमित्तत्वात् । अल्लु कुत्सितास्तु योनिषु उत्पद्य-
दुःखानि शिचिभागि चतुभक्ताः देवादिभैष्येषु दृष्टा भोगा यस्मात्कारभोजनादयो दुःखं निराकुरु न क्षमा इति पदति
माथादयेन—

दुक्क्षेण देवमाणुसमो लब्धूण चावि परिविद्धिदो ॥

णियविमदीदि कुजोर्णी जीवो सखं पडत्थो वा ॥ १२७६ ॥

माप्यपि कुच्छूतो जीवो देवमानवसंपदम् ॥

प्रवासीय निजं स्थानं कुपोर्नि पाति निश्चितं ॥ १३२० ॥

विजयोद्धया—दुक्क्षेण लब्धूण पलेजेन लब्ध्वा । देवमाणुसमो वैदाम्नाल्लुब्ध भोगान् । परिविद्धिदे परिवर्तित-
प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीवः । कुजेर्णो णियवमदीदि कुत्सितं योर्नि नियतमुपैति । किमिय ? सखं स्वपुत्रं, पडत्थो या
प्रवासीय ॥

दुश्चरतमअरण्यपूर्वनिवनेन देवादिभोगाद्व्याप्य मुंजानस्य मोहद्विषमूलकपट्टरगतद्वेषपरिणामसंगृहीतदुःख-
चक्रस्य नियोगेन कुपोर्निपूषणतिर्पवद्धि । तत्र च दुःखान्यनुभवतत्तत्तादृक्कामिन्त्यादिभोगा न मनागपि परित्रां कुर्वे-
न्तीति माथादयेनोपदिशति—

मूलात्—दुक्क्षेण संवसवलेक्षपूर्णकनिवनेन । परिविद्धिदे परिवच्युतः । अदीदि ज्वैषि । पडच्छो वा प्रवासी यथा ॥

इन इंद्रियसुखोंका उपभोग लेनेसे आत्मामें सीय रागद्वेग उत्पन्न होते हैं और इनसे आत्मा कुपोनिमें पड़कर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव लेता है, यद्यपि देवादियोगोंमें यत्न, अलंकार, भोजनादिक भोग मिलते हैं तथापि वे इस आत्माके दुःखोंका नाश नहीं कर सकते हैं—इसी विषयका आचार्य दो माथाओंमें वर्णन करते हैं—
अर्थ—संयमके बलेसे निदान बंध होकर देवोंके और यतुष्योंके भोगोंकी प्राप्ति कर लेनेपर यह आरमा प्रवासी? ऐसा अपने घरके प्रति भयन करता है वेसा कुत्तिसव योनिओंमें निश्चयसे उत्पन्न होता है.

जीवस्स कुजोणिगदस्स सत्स दुबल्लाणि वेदयंतस्स ॥

किं ते करंति भोगा मदोव केज्जो मरंतस्स ॥ १२७७ ॥

किं करिष्यंति ते भोगा योनिं यातस्य कुत्तिसतां ॥

किं कुर्वन्ति मृता पैचा त्रियमाणस्य वेदिनः ॥ १३२१ ॥

विजयोदया—जीवस्स कुजोणिगदस्स कुपोनिगतस्य जीवस्य । दुष्प्राणि वेदयंतस्स दुःखानि देवयमानस्य । किं ते करंति भोगा किं ते कुर्वन्ति भोगाः स्वीयस्वाध्याः । कैव किंचिदपि दुःखलभयमेतुं क्षमाः । मया य देज्जो वेदो मृतो यथा । मरंतस्स त्रियमाणस्य न किंचित्कर्तुं क्षमः ॥

मृलारा—मदो मृतः । मरंतस्स त्रियमाणस्य रोगिणः ॥

अर्थ—कुपोनिओंमें जीव जब दुःखानुभव लेता है तब ही यत्नादिक पदार्थ उसका योडासा दुःख भी हरण करनेमें समर्थ नहीं है, क्या मया हुआ पैचा मरनेवालेका रोमदुःख मिटा सकता है ?

जहं सुत्तवदसउणो दूरं पि मदो पुणो व एदि तहिं ॥

तहं संसारमदीदि हु दूरं पि मदो निदाणमदो ॥ १२७८ ॥

संसारं पुनरायान्ति निदानेन नियंत्रिताः ॥

दूरं यातोऽपि पक्षीच रदिमना निजमास्पदम् ॥ १३२२ ॥

वितस्योदया—जहं सुत्तवदसउणो यथा सुवेण दीवेण यदः पक्षो । दूरं पि मदो दूरमपि गतः । पुणो एदि तहिं

पुनरप्येति तेषां वेद्यं । तद् संसारमदीदि ह्यु संसारस्यन्तरः सु शब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—संसारमेवाधिगच्छ-
सीति । दूरं च गतो महादेव स्वर्गादिस्थानमुपगतः, निदानमदो निदानं परममे सुखतिस्रो मे मनःप्रविधानं मतः ॥

निदानिनः संसारावतं समर्थयते—

नूतनारा—सुखतद्वत्तदणो दोषैर्नूतनयन्त्रितः पक्षी । तर्हि स्वस्थानमेव । इह संसारयेवाधिगच्छतीत्यर्थः । दूरं

महर्द्धकस्वर्गादिरथानं । निदानमदो परममुत्साहिसाधिनःप्रविधानं प्राप्तः ॥

अर्थ—दोषैस्ते वंधा हुआ पक्षी दूर जाकर भी पुनः अपने पूर्व स्थानपर आता है वैसे यह जीव भी
निदानके प्रभावसे महाशक्तिपञ्च स्वर्गादि स्थानमें जाकर पुनः संसारमें प्रपण करता है.

काश्चिदुक्तः कारागृहे इयता फालेन तद् द्रविणं दास्यामि मन्त्रवीर्यमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा इत्थं रोचतेभ्यः
प्रदाय स्वगृहे सुखं दत्तमपि पुनर्वंधा कैरुसमर्थैर्घोषेते तथैव निदानकारी कृतेन पुण्येन परिमलस्वर्गोऽपि पुनरप्यः पत-
तीति निगदति—

दाऊण जह्वा अत्यं रोधणमुक्को सुहं घरे वसइ ॥

पत्ते समय य पुणो रंमइ तह चेव धारणिओ ॥ १२७९ ॥

अधमणों निजे गेहे रोधमुक्को सुखं वसेत् ॥

वत्वार्यं समये प्राप्ते यथा भूयो निरुपयते ॥ १२८६ ॥

विजयोदया—दाऊण दात्या, अत्यं अर्थ, जह यथा, रोधणमुक्को रोधेन मुक्तः, सुहं घरे वसति ह्यु सुखेन गृहे
वसति । पत्ते समये य प्राप्ते नावधिकाले, पुणो रंमइ पश्चात्कालं रंम्यते, तथा चेव पूर्ववदेव, धारणिओ अधमणः ॥

निदानेन द्विवं प्राप्य पुनरधमणोनिषु पक्वीति निदर्शनमुत्तरं गण्यह्वेनोपहिति—

नूतनारा—अयं कलंतररंभवकादिद्रव्यं । रोधणमुक्को परगच्छाद्विच्युतः । समय इवत्ता फालेन पुनर्दीप्त्यामि इति
प्रतिपत्त्यावधिकाले । रंमदि परलक्षे क्षिपते । तथा चेव पूर्ववदेव । धारणिओ अधमणः ॥

कारागृहमें कैद किया हुआ कोई मनुष्य इतने दिनोंके अनंतर में तृतीया द्रव्य देखेगा इस समय तुम
अपना धन मेरेको दो ऐसा कहकर उनसे धन लेकर वह कैदमें रखनेवालोंको देकर उनसे अपनी मुक्ता कर लेता
है. धरमें जाकर वह सुखसे रहता है. परंतु पुनः वे कबों देनेवाले धनिक आकर उसको बंधकते हैं. वैसे

ही निदान करनेवालेकी परिस्थिति होती है, अर्थात् निदानकारी मनुष्य किए हुए पुण्यसे संग्रप्ताति कर लेनेपर भी पुनः अधोगतिमें चला जाता है, इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कई लेनेवाला पुरा धन देकर कैदसे मुक्त होता है और घरमें आकर सुखसे रहने लगता है, परंतु जब पुनः साधुकारको धन लुब्धमेका काल प्राप्त होता है तब पुनः वह कर्वा लेनेवाला पुरा कैदमें डाल जाता है, वैसे—

दार्ढ्यमिहमे योजयति—

तह सामणं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ सग्गे ॥
 संसारमेव गच्छइ तत्तो य जुवो निदानकरो ॥ १२८० ॥
 संभूदो वि निदानेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं ॥
 पत्तो तत्तो य जुदो उववणो निरयवासम्मि ॥ १२८१ ॥
 इवानीं वरणं कृत्या तुलं सुक्खत्थाऽवनिष्ठते ॥
 अदिधे समये प्राप्ते तथा याति पुनर्भवम् ॥ १३२४ ॥
 देवश्चकीं सुलं सुक्खत्वा संभूतो हि निवानतः ॥
 निरंतरं महादुःखं प्राप्तश्च प्रतिवसितम् ॥ १३२५ ॥

विजयोदया—संभूदो वि निदानेण निदानेन संभूतः कश्चित्, देवसुक्खं देवसुगं, चक्कहरसोक्खं चक्कधर-
 सौर्य, पत्तो प्राप्तः । तत्तो ॥ जुदो कस्यात्सुखात्तद्व्युतः, निरयवासम्मि निरयवासे ॥

मूढारा—निदानकयो एतत्तपेजुभावेन देवलोको मे गृह्यामिति विद्वान् तृप्तं येनासौ ॥

भोगनिदानदोषमर्थावबोधेनाक्याति—

मूढारा—संभूदो संग्रहणमकः कुटुम्बिकमुत्रः । देवसोक्तं सौधमकल्पवासिसुसुखं । चक्कधरसोक्खं प्रसद-
 चात्यदादश चक्कविद्वान् ॥

अर्थ—निदानमुक्त तप करके कोई पुरुष स्वर्गमें सुख भोगता हुआ काल व्यतीत करता है- परंतु वहाँका अनुपपन्न होवेके अनंतर वह पुरुष स्वर्गमें व्युत्त होकर संसारमें अग्रण करता है।

अर्थ—सभूत नामक कोई किसानका लडका निदान मुक्त तप करके सौधमें स्वर्गके सुखका उपभोग लेकर यहाँ भूत क्षेत्रमें ब्रह्मदत्त नामक अन्विम चारहवां चक्रवर्ति हुआ। चक्रवर्तिके सौख्य भोगकर चक्रवर्ति पदसे अष्ट होकर नरकगर्तमें सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ।

एवञ्च दुरंतमदुःखमचाणमसिष्यं अविस्सायं ॥

भोगमुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मादि कुज्जा ॥ १२८२ ॥

अतर्पकमविश्वासं भोगसौख्यं विनम्बरम् ॥

दुरंतं सर्वथा त्यक्त्वा मुक्तिसौख्ये मतिं कुरु ॥ १२८३ ॥

विजयोद्या—एवञ्च नाम्ना, दुरवसानदुःखफलमिति यावत्, अदुर्बलचित्तं, अज्ञानं, अतिवर्णं, अतिवर्णं, अतिवर्णं, अविस्सायं असकृदुक्तं, भोगमुखं भोग्यते सेव्यते इति भोगा-स्यादयः, तेजस्वितं सुखं, तो पञ्चात्, तम्हा पञ्चात् भोगमुपात्, दुर्तादिदृष्टोपात्, विरदो व्यावृत्तः, मोक्खे मोक्ष निरवशेषपुरुषोपात् । मदि कुज्जा मति कुपोत्, अनुसी-यमानेन चारित्र्येण तपसा वा कर्मयोगोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थः ।

एवं भोगनिदाने दोषान्प्रपञ्च्य भोगमुखोपादानपुरःसरं तपसा कर्मयोगोऽस्तीति भावनीयत्वेनोपदिशति—
मुखात्—एवञ्च नाम्ना । दुरंतं दुरवसानं । दुःखफलमिति यावत् । अज्ञानं अरक्षकं, रक्षितुमशक्यमिति वा । अतिवर्णं अतिवर्णं । अविस्सायं असकृदुक्तं । अनादिसंसारोऽनेकवारानुक्तत्वात् । तो पञ्चात् । मदि अनुसीयमानेन तपः संयमादिना कर्मयोगोऽस्तीति बुद्धिं न निदानं ॥

अर्थ—वह भोगमुख अन्तरहित ऐसे दुःखरूप फलको देता है, अनित्य है, इससे जीवका संरक्षण नहीं होता है अर्थात् कुगतिमें जानेवाले जीवको वह भोगमुख उससे संरक्षण नहीं करता है। इस भोगमुखसे जीव दुःख नहीं होता है-यह सुख जीवको चार चार प्राप्त होता है-एवं दोषविशिष्ट इन भोगमुखका जब ज्ञान होता है तब यह आत्मा संपूर्ण कर्मका नाश करनेवाले मोक्षमुखमें अपनी बुद्धिको लगाता है-अतः हे क्षपक ! आपरणमें लाये हुए रत्नत्रयसे और तपसे कर्मक्षय होता है ऐसा समझकर तू निदानका त्याग कर।

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाचरणं विसोधेदि ॥

तो सुद्धणाचरणो तवसा कम्मवत्तयं कुणइ ॥ १२८३ ॥

विमोध्य दर्शनज्ञानचारित्रितयं यतिः ॥

निर्निदानो विशुद्धात्मा कर्मणां कुरुते क्षयम् ॥ १२८४ ॥

विजयोदया—अणिदाणो य मुणिवरो अनिदानो यतिपुरुषः, दंसणणाचरणं रत्नत्रयं विसोधेदि किञ्चोपयति, निदानाभावादनतिचारं सम्पगदर्शनं शुद्धं प्रयति, तस्मिन्निर्मलं ज्ञानं, विशुद्धज्ञानपुरोभं चारित्रं विशुद्धं भवति, तवसा कम्मवत्तयं कुणइ तपसा कर्मणां निरवशेषाणि विजयोदयाणि विजयोदयात्मनः ॥

एवं निदानरूपान्वितरेण इवाक्याय संप्रत्यनिदानत्वे गुणं व्याचष्टे—

मूलारा-विसोधेदि निदानाभावादि निरतिचारे सति सम्पवत्त्वे, जातायां ज्ञानविशुद्धौ, चारित्रं विशुद्धं संप्रयेता।

निदानके दोषोका सविस्तर विवेचन हुआ. निदान नहीं करनेमें क्या गुण है इनका विवेचन—

अर्थ—जिन्होंने निदान नहीं किया है ऐसे मुनिराज अपना रत्नत्रय निरतिचार करते हैं. निदानके अभाव से सम्पगदर्शन निर्मल होता है निर्मल सम्पगदर्शन ज्ञानको निर्मल बनाता है. विशुद्ध ज्ञानके साथ पाला गया चारित्र भी निर्मल होजाता है. इस तरहसे निर्मल रत्नत्रयधारक साधु तपश्चरणके द्वारा संपूर्ण कर्मोंको अपने आरमासे जलग करता है.

इच्छेवमेदमविधितयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ॥

इच्छेवं परसंतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥ १२८५ ॥

दोषानिति सुधीशुद्ध्या निदानं विदधाति नो

जानानो दारुणं मृत्युं को हि भक्षयते विषम् ॥ १२८७ ॥

लुपति पातकलोपि चारित्रं सिद्धिसुखं विधुनोति पवित्रम् ॥

देहवतामुरुषोपनिधानं किं कुशलो न शृणोति निदानम् ॥ १२८८ ॥

विग्रयोदया—इत्येवमेवमविवर्तितयदो इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविवर्तितयता॥ शोल्लङ्घु भावेदेव, विद्वानकरणमयी नि-
दानकरणे मतिर्युक्तिः, शब्दार्थं परस्त्वतो इत्येवमेवतत्पदयन्, न खलु नैव, होदि स्वस्ति विद्वानकरणमयी निदानकरणमतिः ॥
विद्वान् ॥

एवंविधयायमानबुद्धानानुष्ठानबोः फले त्रयीति—

मूढारा—इत्येवमेवं इति श्राव्यवचनोक्तं । वस्तु । एवमेव इत्यमित्थं । अभिचिन्तयतो जाल्यवतोऽप्ययित्वा ॥
अर्थ—उपर्युक्त पाठोंका जो पुरुष विचार नहीं करता है उसकी बुद्धि निदान करनेके तर्फ लगी है. परंतु
जो इन बातोंका विचार करता है वह निदान नहीं करता है. निदान करनेसे रत्नत्रयमें निर्मलता आती है और उसके
द्वारा कर्मका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा विचार करनेवाला मुनि निदानका त्याग करता है. परंतु
मोनोंमें जिसकी बुद्धि सुन्ध हो गई है वह मुनि रत्नत्रयकी निर्मलताके तर्फ ध्यान नहीं देता है अतः वह निःशून्य
नहीं होनेसे संसारमें भ्रमण करता है.

मायासंश्रुतसालोयणाधियारस्मि क्षणिकदा दोसा ॥

मिच्छत्तसंश्रुतोसा य पुत्रवमुबवणिगया सत्त्वे ॥ १२८५ ॥

आलोचनाधिकारस्य मायाशून्यस्य दूषणं ॥

उक्तं मिथ्यात्वशून्यस्य मिथ्यात्ववचनसत्त्वे ॥ १२९ ॥

विग्रयोदया—मायासंश्रुतस्य मायाशून्यस्य, आलोचनाधिकारस्मि क्षणिकदा दोसा वर्णिता
दोषा, मिच्छत्तसंश्रुतोसा मिथ्यात्वशून्यदोषात्र । सत्त्वे सत्त्वे, पुत्रवमुबवणिगदा पूर्वमेव व्यावर्णिताः, शून्यनपगतदोषा-
भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूचिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शून्यतय त्वया त्याग्यमिति ॥

मायामिथ्यात्वशून्यदोषाग्रयुक्तसंक्षपकमनुस्मरणति—

मूढारा—गुल्यं मिथ्यात्ववचनवर्णनाधिकारे ॥

अर्थ—आलोचनाके अधिकारमें मायाशून्यके दोषोंका वर्णन ग्रंथकारने किया है. मिथ्यात्वशून्यके
दोषोंका भी पूर्वमें वर्णन हो चुका है. हे क्षपक! तुझको इन तीनों शून्योंके दोषोंका परिज्ञान हुआ है अतः तू इन
तीनों शून्योंका त्याग कर.

मायाशक्त्यपरित्यागार्थाव्याप्येन वर्तयन्ति—

पञ्चद्वयोधिलाभा मायासङ्गेण आसि पूदिमुही ॥

दासी सागरदत्तस्य पुष्पदंता दु विरदा वि ॥ १२८६ ॥

मायाशक्त्येन ही चोघेः प्रअष्टा कुधितानना ॥

दासी सागरदत्तस्य पुष्पदंताजिकाभवे ॥ १२९० ॥

विजयोदया—पञ्चद्वयोधिलाभा विनष्टो दोषाभिमुखद्विलाभो यस्याः सा प्रअष्टयोधिलाभा । आसी शालीन । का ? पूदिमुही प्रतिमुहीसंक्षिता । सागरदत्तस्य दासी सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? मायासङ्गेण माया शब्देन । पुष्पदंता दु विरदा वि मायासङ्गेण पञ्चद्वयोधिलाभा आसी इति पदसंबन्धः पुष्पदंताख्यासंयता च मायया प्रअष्टयोधिलाभा आसीन् । मायाशक्त्यं ॥

मायाशक्त्यफलमर्थाव्याप्येन कथयति—

मूलारा—योधि दीक्षाभिमुखद्विदिः । आसि संजाता । पूदिमुही प्रतिमुहीलन्यवर्तमान्सी । विरदा वि आर्पिकापि मती ॥

मायाशक्त्यका त्याग न करनेसे जिसका नुकसान हुआ गा ऐसी व्यक्ति का दृष्टांत आचार्य कहते हैं—
अर्थ—पुष्पदंता नामकी आर्पिका मायाशक्त्यसे दीक्षाके विचारसे रहित हुई अर्थात् मैंने दीक्षा आत्म-
कल्याणके लिये धारण की है ऐसी भावना मायाशक्त्यसे उसकी नष्ट हुई और वह मरकर सागरदत्तके यहां प्रति-
मुही नामकी दासी हुई. इस तरह मायाशक्त्यका वर्णन हुआ.

मिच्छत्तसद्दोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ॥

बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिडिओ मरिची ॥ १२८७ ॥

विद्धो मिथ्यात्यसत्येन धार्मिको वत्सलाश्रयः ॥

मरीचिरग्रमद्भीमे चिरं संसारकराने ॥ १२९१ ॥

निदानमयायाविपरीतवशोर्निर्विदायतंजी निक्षितैः शरैरेव ॥
विद्युद्य दोषानिति शुद्धबुद्धयस्त्रिधापि शतयं दवयन्ति यत्नतः ॥ १३३२ ॥
इति शतकम् ॥

विजयोदया-मिच्छतसहस्रोत्सा मिथ्यात्वशक्त्योपात् । पियचमो साधुवच्छलो संतो प्रियधर्मः साधूनां वरस-
तोऽपि सन् मरीचिः । यदुदपये संसारे मुचिरं पडिदिहो संसारे सुचिरं भ्रातर, कीदृशो ? यदुदुःखे ॥ मिथ्याशक्त्यं ॥

मिथ्यात्वशक्त्यापकारनर्थक्यात्नेन आह—

मूलार—मरीचो मरीचिकुमारः । पंचमहाप्रवरका ॥

अर्ध-निसफा धर्मवर देम था और जिसमें साधुओंके प्रतिवात्सल्य था ऐसे मरीचिनामक मुनिने मिथ्यात्व
शक्त्य दोषते चिरकालतक अनेक दुःखोंसे ज्वाप्त संसारमें भ्रमण किया. इस प्रकार मिथ्यात्वशक्त्या वर्णन हुआ.

एवं निर्वाणकेन सूरिणा संस्तूयमान. साधुयुगो निर्वाणपुरं प्रविशतीति वक्ष्यति उत्तरप्रबंधेन—

इय पक्खज्जाभंदि समिदिबुद्धं तिगुचिदिदचकं ॥

रादियसोयणउजं सम्मत्तकं सणाणधुरं ॥ १२८८ ॥

प्रमज्जपांगंत्रिकां गुत्तिचकां ज्ञानमहाधुरं ॥

समित्थुक्षणामारुहा क्षपको द्दर्शनादिकम् ॥ १३३३ ॥

विजयोदया—इय सारथिज्जेतो साधुयुगसत्थो साधुबणियगो संसारमहादोषं तरतिस्ति यदवदत्ता । व्यापार्थि-
तक्रमेण संस्क्रियमाण. साधुवृंदसाथः संसारमहादोषं तरति । पक्खजाभंदिमालिख्य पच्छिदो प्रबन्ध्याभंदिमालिख्य प्र-
स्थितः, समिदिबुद्धं समित्थिगुत्तीयत्ता, तिगुत्तिदिदचकां विगुत्तिदिदचकां, सम्मत्तकं सख्यकवाक्षां, सणाणधुरं समी-
चीनज्ञानधुरती ॥

सांप्रतं सामान्यविशेषाभ्यामिन्द्रियकषयनिर्वाहं ज्वाचितव्याप्तुः पूर्वं सामान्येन शरीरान्यक्तुं साधनप्रपट्टणा
प्रक्रमते । तद्विषयविशेषसिद्ध्यर्थं च तत्पट्टयपि न्वाख्यातमर्थं सुतस्सुखयुतपंतशृङ्गा गगनादेत्योषमाणंकारमुभगमभिधेत्—

मूलार—एवज्जाभंदि प्रज्जया दीक्षा मा भंजिरिय गद्धिका यथेति यावत् । बहुवाक्काभारक्षमत्वात् । रादियसो-
यणउजं राध्यभोजनं द्रव्यवो माधवतश्च रात्रिभोजनमिदुत्तिह्वं दीर्घेदंदिषाह्वं यस्याः सा राज्यभोजनाद्धि सांतवियेर-
नितत्वाभावा कप्प ॥

निर्यापक आचार्यके द्वारा स्तुति किए हुए साधु मोक्षनगरीमें प्रवेश करते हैं इस विषयका विवेचन आगे आचार्य करते हैं—

अर्थ—जो उपदेशका क्रम यहाँतक आचार्य महाराजने बताया है उससे जब साधुमनूहरूपी सार्थ संस्कृत किया जाता है तब वह संसाररूपी महान् जंगलके दूसरे किनारेपर सुखसे जा सकता है अन्यथा नहीं। जिसको समीतिरूपी बेल जोंदे हैं, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिरूपी षड्विध जिसके हैं सम्यक्त्वरूपी आँख और सम्यग्ज्ञान जिसकी घुरा है, और द्रव्यरात्रिभोजन साक्षात् रातमें आहार लेना और भावरात्रिभोजन—रात्री भोजनकी मनमें अभिलाषा करना इन दोनोंका त्याग हो जिसके दीर्घ दृढ़ है ऐसी दीक्षारूपी गाड़ीपर सवार होकर साधुरूपी व्यापारिओंका समुदाय संसाररूपी महाजंगलके दूसरे किनारेको सुखसे जाता है,

वदभंडभरिदमारुहिदसाधुसत्येण पत्थिवो समयं ॥

णिब्बाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥ १२८९ ॥

प्रस्थितः साधुसार्थेन व्रतभंडभृता सह ॥

सिद्धिसौख्यमहामांडं ग्रहीतुं सिद्धिपत्तनम् ॥ १३३४ ॥

विजयोदया—वृद्धनृपनरित्वं व्रतभंडपूर्णं । साधुसत्येण पत्थिवो साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धि-
पुरं । निब्बाणभंडहेतुं नियर्वाणद्रव्यनिमित्तं साधुवाणियगो क्षपकसाधुवाणिक् ॥

मूलारा—भंडं क्रयणकं । समयं सह । निब्बाण सिद्धिखंडं । साधुवाणियओ क्षपकयद्विपणिक् ॥

अर्थ—साधुरूप व्यापारिओंके साथ इस क्षपकरूप व्यापारीने दीक्षारूपी—व्रतरूप माल भर दिया है और वह इसको बेचकर मोक्षरूपी मालकी सर्वोदो करनेके लिये सिद्धिपुरको खाना हो रहा है-

आयरियसत्यवाहेण णिज्जउत्तेण सारविज्जंतो ॥

सो साहुवगसत्यो संसारमहाडवि तरह ॥ १२९० ॥

सार्थः संस्क्रियमाणोऽसौ भीमां जन्ममहादवीम् ॥

आचार्यसार्थवाहेन महोद्योगेन लघते ॥ १२३५ ॥

विजयोदया—आयरियस्तयवाहेन आचार्यसार्थवाहेन । निचजुत्तेण सर्वदनपयिना सादविजजंतो संस्क्रियमाणः ।

तमाभूतमप्यस्य यतिविनिष्ठस्य यतिवृन्दस्य संसारज्ज्जनोपायमाह—

मूलारा—किञ्चजुत्तेण सममममाहितेम् । सारविजंतो संस्क्रियमाणः । पुनः पुनरपायदेतुन्यावर्तनोपाये निधुष्यमान इत्यर्थः । सो तत्ताटारायकसाधुविशिष्टः । सत्थो वाणिज्योपगतः । यतिकुसंघातः तददि अतिक्रामति ॥

अर्थ—आचार्यकृपी न्यापपरिऑके नायकके द्वारा जो कि सर्वदा सावधान रहता है संस्कारयुक्त हुना यह साधुरूप व्यापारिऑका समुदाय संसाररूपी जंगलको चीरकर मोक्षपुरको सुलसे जाता है.

तौ भावणादियंतं स्वस्वदि तं साधुस्तथमाळंघं ॥

इंदियचोरेहिंतो कसायवहुसावदेहिंतो ॥ १२३६ ॥

तं भायनामहाभांडं प्रायते भवकानने ॥

कपायन्यालतः सूरिरिंदियस्तेनतस्तथा ॥ १२३७ ॥

विजयोदया—जो ततः । भावणादियंतं रम्यदि भावनाश्रित्यः प्रयत्नं रक्षति । साधुस्वयं तं साधुसार्थं तं । भाउतं साधुर्कं भाउमता । कुतो रक्षति इत्याशंकार्णा उत्तर—इंदियचोरेहिंतो इंदियचोरेभ्यः, कसायवहुसावदेहिंतो । कपाय यदुभ्यास्तेभ्यश्च ॥

मोअपयप्रशयिनी यतिवृन्दसाचार्यवार्त्तामिंदियकषायसंसाध्याजपरिज्ञाणमाह—

मूलारा—जो सः सार्थवाहायमानो धर्माचार्यः । भावणादिजुतं भावना रात्रिभोजननिवृत्त्यष्टमपचनमाह—कमिर्बुद्धं महामतेषु प्रकल्परं । जुषमिति कचित्पाठः । आजुतो सर्वत्रोपगतः । आजुत्तमेति कचित्पाठः । चोरेहिंतो चोरेभ्यः । स्वाध्यायध्यानप्रवर्त्तेन प्रमादाद्व्यापवर्त्तनाभिंदियमस्त्यनुयायिराहेणकियमाणसंयमबाधारहितं यतिकर्तं सूरिः करोतीति भावः ॥

अर्थ—रात्रिभोजनरायाग, पंच भक्षजठ, शुद्धि सागिती इनमें प्रयत्न करना एतत्स्वरूप भावनाओंसे आचार्य साधुरूप सार्थको इन्द्रियचारासे और कृपायरूप हिस ग्रानिओंसे रक्षण करते हैं.

विसयाडवीए मञ्जे ओहीणो जो पमाददोसेण ॥

इन्द्रियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुपंति ॥ १२९२ ॥

प्रमादवसतो यानो अष्टो बिपयकानने ॥

तदीयं प्रतसर्वस्वं लुप्यते अमलिम्लुचैः ॥ १३३७ ॥

विजयोष्या—विसयाडवीए मञ्जे एतद्वत्सकपंगधसदृशे विपया अटवीयं ते दुर्गतिकामणीयाः । तस्या विपयाडव्या मध्ये जो ओहीणो य साधुरपस्तः । पमाददोसेण प्रमाददोसेण इन्द्रियचोरा इन्द्रियात्प्राप्तोरा । ते स्वरूप साधुबिजः । चरित्तभंडं चरित्तभंडं । विलुपंति अपहरति । सविहितमनोसामनोसविप्रजः इन्द्रियमय्युयाविनो रागद्वेषादिरजं विनाशयति प्रमादितः । आचार्यस्तु भाने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नैन्द्रियचोरेवर्धयंते इति भावः ॥
विकथाद्यन्यतमप्रमादेन वियोगादपस्तस्य मुमुक्षोदिन्द्रियकपायसाध्यं मयमथनस्य रत्नवलयान्नस्य वा क्षति गोधादयेन लक्षयति --

मूलारा—जो साधुदण्डि । ओहीणो अपस्तुतः । सार्धाद्विद्वित इत्यर्थः । तो सार्धापस्तण्यानंतरमेव विलुपंति रागद्वेषद्वैतैः ॥

अर्थ—प्रमादके यज्ञ होकर जो साधु स्वर्ग, रूप, गंध, रस और शब्द इत्यादि इन्द्रियविषयरूपी अटवीमें प्रविष्ट हुआ है उसका चारित्ररूपी भांडवल इन्द्रियरूपी चोर हर लेते हैं, जब साधु प्रमादी होते हैं तब समीपके हुए और अनिष्ट पदार्थ देखकर उनके मनमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, जिससे उनका चारित्र नष्ट होता है, आचार्य प्रमादके यज्ञीभूत मुनिओंको प्यान और स्वाध्यायमें मग्न करके उनका प्रमाद दूर करते हैं तब वे इन्द्रियचोर उनको बाधा नहीं देते हैं ऐसा इस गाथाका गाव है.

अहवा तछिच्छाईं कूराईं कसायसावदाईं तं ॥

खज्जंति असंजमदाडाईं किलेसादिदंसेहिं ॥ १२९३ ॥

तमसंयमवन्द्याभिः संक्लेशदहनैः शितैः ॥

कषायव्यापदाः क्षिप्रं दूरया भक्षयन्ति च ॥ १३३८ ॥

विजयोदया—अदवा अथवा । तद्विच्छादं अपसृतजनलक्षितसंवतः । कुर्याद् कुराः । कनयसायदां कषायव्याला मृगाः । नं अपसृते । अज्जति यक्षयेयुः । असंलग्नदुग्धाहं असंयमवन्द्याभिः । क्लेशसादिदेहिहं क्लेशादिवीक्ष्य । इन्द्रियाणां कषायाणां या वेश निपतत्यसति निर्वापके सुतापिति भावः ।

मूत्ररा—तद्विच्छादं अपसृतजनलक्षितसंवतः । सर्वे व्युत्पन्नमप्रसन्नपरा इत्यर्थः । शूरा इन्द्रियाः । कषायसाव- दाहं क्षोषादिवालसृगाः । तस्यं भक्षयेयुः । संक्लेशादिदोषाहं संक्लेशा रागद्वेषमोहाः । आदिशब्देन परिपक्वादिक्लेशाः त एव वृत्ता एवमा इत्यास्तैश्च ।

अर्थ—अथवा विषवारम्भे प्रवेष्ट किंच हुए अर्थात् मुनिसार्थसे अष्ट हुए मुनिको चाहनेवाले, एकदनेकी इच्छा करनेवाले कूर कषायरूपी हिंस्र प्राणी असंयमरूपी दादाभासे परीपह, रागद्वेष मोह वगैरेह दातोसे मक्षण करते हैं. जब प्रमाद वश हुए मुनिओंको सुधास्नेवाले आषायका असव रहता है तब मुनिओंकी क्या परिसिधति होती है इसका इस गायामें उल्लेख किया है.

तथोर्दिग्रियकषययोः प्रवृत्तिरनेकदोषमूलैवि कथयन्ति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवतो असंलदो होइ ॥

सिद्धिपट्टपण्डिताओ ओहीणो साधुसत्त्यादो ॥ १३९४ ॥

इन्द्रियकषायगुरुत्तणेण सुहसीलभाविवो समणो ॥

करणालसो भविता तेवदि ओसण्णसेवाओ ॥ १३९५ ॥

यः साधुःसार्धतो अष्टः सिद्धिमार्गानुयायिनः ॥

सोऽवसन्नकियाः साधुः सेवमानोऽस्त्यसंयतः ॥ १३३९ ॥

कषायाक्षुस्तुत्वेन तपस्वी सुखभावनः ॥

अवसन्नकियो मूत्वा सेवते करणालसः ॥ १३४० ॥

[इति अवसन्नः]

विजयोदया—इंद्रियकसायशुद्धगत्तेण तीर्क्ष्णिकसायगपरिणामतया । सुहृसीलभाविवो समणो सुसमाधिभावितः धमणः । करणाल्लो प्रयोक्ताविधासु क्रियासु जलसः । भविषा भूत्या । सेवदि सेवते । ओसणसेवाधो अवससेवाः । अट्टचारित्राणां विद्यासु प्रवर्तते इति यावत् ॥ ओसणो ॥

इंद्रियकपावपरत्वेन साधुसंघाटकबहिर्ध्वरयवसन्नाविरूपेण संयमश्रंशं व्याचिरासुपदानवसन्नं गाथादयेनाह—
मूलारा—ओसणसेवणलो अट्टचारित्राणां क्रियाः । वडिसेवो मार्गभाविलोम्येन भजन् ॥
अट्टक्रियावरणकारणं भवति—

मूलारा—गरुगत्तेण तीक्ष्णपरिणामेन । सुहृसीलभाविवो शर्मकाप्रवाणसितः । करणाल्लो व्यापयककाय-
हेसरभाष्याभ्यानेषु, प्रयोदशसु क्रियासु वा सिद्धिलः । अवसन्नः ॥

इंद्रियकपायौसे प्रवृत्तिं करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा कहते हैं.

अर्थ—अट्टचारित्र सुनिर्धोकी क्रिया रत्नत्रयमार्गके विकृष्ट होकर अथ मुनि करते हैं तब ये मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होते हैं । और साधुपयोगसे अलग रहते हैं. अर्थात् संपका त्यागकर स्वच्छंद होते हैं. तीक्ष्ण कपाययुक्त होकर मुनि इंद्रियोंके विषयोंमें जातक होते हैं. इस व्यासक्तिसे वे सुखशील होकर समिति, सुप्ति और महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारके चारित्र्यसे अलसी होजाते हैं, और अष्ट मुनिओंके आचरणमें प्रवृत्ति करते हैं.

केई गहिदा इंद्रियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ॥

पंथं छंडिय णिजंति साधुसत्थरस पासम्मि ॥ १२९६ ॥

हृपीकतस्करैर्भीमैः कपायश्चापदैरपि ॥

विमोच्य नीयते मार्गे साधुः सार्थस्य पार्श्वतः ॥ १२९७ ॥

विजयोदया—केई गहिदा इंद्रियचोरेहिं केचिद्गृहीता इंद्रियचौरैः । कसायसावदेहिं तदा तथा कपाय-
पार्श्वरथं गाथापंचकेनाह—
मूलारा—छंडिय त्याजयित्वा । पासम्मो पार्श्वे रत्नत्रयामास इत्यर्थः ।

अर्थ—चित्तनेकं मुनि इन्द्रियरूपी चोर और कणायरूप हिंस श्रानिद्योसो जव पकड़े जाते हैं तब साधुरूप
न्यापारिओंका स्थग ॥ पार्थस्य मुनिके पास जाते हैं ।

तो साधुसत्त्वपंथं छंडिय पासमि णिज्जमाणा ते ॥

मारवगहणकुडिल्ले पडिदा पवेति दुक्खणि ॥ १२९७ ॥

साधुः सार्धं परिलख्य नीयमानो महासयम् ॥

सहते दारुणं दुःखं प्राप्नो गौरवकाननम् ॥ १२९८ ॥

पिण्डयोदया—तो साधुसत्त्वपंथं साधुसार्धस्य पंथानं । छंडिय त्यक्त्वा । पासमि पार्श्वे । णिज्जमाणांते नीय-
मानास्ते । मारव विरज्जिस्वासातगौरवसंछेत्तं गहने । पडिदा पतिताः । पवेति प्राप्नुवन्ति । दुक्खणि दुःधानि ॥

मूलाय—मरुदगह्णिकविह्वले रिश्तिरससातगौरवनिषिद्धकंदकपाय ॥

अर्थ—ये मुनि साधुसार्थका मार्ग छोड़कर पार्थस्य मुनिके पास जाते हैं तब आदिगर्भ, रसगर्भ और
सातगर्भ इनसे व्याप्त जंगलमें पदकर दुःख भोगते हैं ।

सहस्रविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ॥

विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥ १२९९ ॥

शल्यदुःकंटकैर्विद्धाः पतिता दुःखमासते ॥

एकाकिनोऽटवीं याता विद्धा वा विपकंटकैः ॥ १३०० ॥

विजयोदया—सहस्रविसकंटएहिं विद्धा मिथ्यात्मन्याभिधानाद्यकंटकैर्वीं विद्धाः । पडिदा पतिताः । दुक्खेसु
पडंति दुःखेसु पतंति । विसकंटयविद्धा वा अडवीए एगागी पडिदा ॥ विपकंटकेन विद्धा अटव्यायेकाकिनः पतिता यथा
दुःखेसु पतंति तथैकेनैव शरीरान्तिकयोजन ॥

मूलाय—विद्धा रूपिवाः । पडिदा चारित्राद्वष्टाः । एगागी असहायाः ॥

अर्थ—जैसे विषरूप फंटकसे बिट्ट हुए हुए जंगलमें अकेलेहि पदकर दुःख भोगते हैं वैसे मिथ्यात्म,

माया और निदानरूप विषकंदकोसे विद्व होकर विषयरूप जंगलमें अकेले पटक कर अतिशय कुत्स योगते हैं.

आभासः

६

१२७५

पंथें छेडिय सो जादि साधुसत्तरस चैव पासाओ ॥

जो पडिसेवदि पासत्यसेवणाओ हु निदम्भो ॥ ११९९ ॥

साधुः सार्थपयं त्यक्त्वा स पार्थ्वे यानि संघतः ॥

पार्थ्वस्थानां किरणं यानि यन्वारिचविवर्जितः ॥ १२०० ॥

विजयोदया—साधुसत्यस्य पंथानं त्यक्त्वा कस्य पार्थ्वे यानि यस्यामी दोषा व्यावर्जिताः । सौरयणाद्वे पातः ।
एतद्यविषकंदकेषां दयद्वेत्त्यात्मिकायासाह—पंथे छेडिय साधुसत्तरस आदि परित्यज्य साधुसार्थस्य पंथानमसौ यानि ।
पासनिमि पासै । जो पडिसेवदि अ । प्रतिसेवते, पासत्यसेवणाओ हु पार्थ्वस्थसक्त्वा, निदम्भो धर्मस्वार्तित्र तस्यादपगतः,
धर्मविपगतः सन्पार्थ्वस्थविचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥

मूलाय—छडिय त्यक्त्वा । निदम्भो चारित्राभिर्गतः ॥

अर्थ—साधुसार्थका श्रागं छोडकर बिस मुनिका आश्रय लेते हैं वह मुनि चारित्रिका स्वामी होता है.

और पार्थ्वस्थ मुनिजोंकी क्रियाओंका आचरण करता है.

सैव कथं निर्दमंता तुभ्येत्पातोम्व वदंति—

इद्वियकत्साययुरयत्तणेन चरणं तणं ॥ परसंतो ॥

निदम्भो हु सविता सेवदि पासत्यसेवाओ ॥ १२०० ॥

कथायास्मयुरस्त्वेन पश्यन्मृतं तृणं यथा ॥

भूत्वा निर्दमंको यानि पार्थ्वस्थानां सदा क्रियाः ॥ १२०१ ॥ (पार्थ्वस्थः)

विजयोदया—इद्वियकत्साययुरयत्तणेन इद्वियकत्सायविषयेगौरवान्त्व रागज्वेदपरिणामयोः कोधादिपरिणा-
मानां व तीव्रत्वात् । चरणं चारिर्त्र, तणं व क्षणमिव, परसंतो पश्यन् रागादयोऽप्यनुमपरिणामास्तत्पदानस्य प्रतिब-
धनास्तेन सकृदुपं ज्ञानचारात्रिं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादृक् चारित्रादपेक्षेति निर्दमंतास्य । ततः
पार्थ्वस्थसेवासु प्रयतते । पासत्यो ॥

मूलाराधना—पसंतो रागद्वेषाद्युपपरिणामप्रतिपद्वत्तन्वैज्ञानतया चारित्रानादरं कुर्वन्निस्त्योः । पार्थस्यः ॥

पार्थस्य मुनि धर्मोद्दिष्ट कर्मा रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पार्थस्य मुनि इन्द्रिय, कर्माय और पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे परामृत् होकर चारित्रको तृणके समान समझता है उसके रागद्वेष और क्रोधादि परिणाम तीव्र होजाते हैं। रागद्वेषादिक अशुभ परिणाम पार्थस्य मुनिके तत्त्वज्ञानका नाश कर डालते हैं। इसलिए यह मुनि अपने मलिन ज्ञानसे चारित्रको तुच्छ समझता है। और ऐसी नम्र होजते चारित्रसे अष्ट होजाता है ऐसे चारित्रअष्ट मुनिको पार्थस्य कहते हैं। जो मुनि सन्मार्गमें प्रवर्तनेवाले मुनियोंका त्याग करते हैं वे पार्थस्य मुनिका आश्रय लेकर चले बनेते हैं।

इन्द्रियचोरपरक्षा कसायसावदमण वा केई ॥

उभमगेण पलायंति साधुसत्त्वस्स दूरेण ॥ १३०१ ॥

अक्षचौरहताः केचित्कणायन्यालभीतिनः ॥

उन्मार्गेण पलायंते साधुसार्थस्य दूरतः ॥ १३४६ ॥

विजयोदया—इन्द्रियचोरपरक्षा इन्द्रियचोरकृतोपद्रवाः । कसायसावदमण वा केई कसायव्यालहृन् भयेन वा केई चक्षु उभमगेण उभमगेण पलायंति पलायन इवति । साधु सत्त्वस्स दूरेण साधुसार्थस्य दूरतः ॥

कुर्वीलं गायामेयेन दण्डयति—

मूलाराधना—परक्षा कृतोपद्रवाः । दूरेण दूरतः । निर्लज्जो दुराचारावर्धभात् ।

अर्थ—कितनेक मुनि इन्द्रियचोरोंसे पीडित होते हैं और कर्मायरूप धापदोंसे ग्रहण किए जाते हैं ॥ ॥ ॥ साधुसार्थका त्याग वा उन्मार्गसे पलायन करते हैं ।

तो ते कुसीलपट्टिसेवणावणे उपपवेण धावता ॥

सण्णाणदीसु पडिदा किलेससुत्तेण वुद्धंति ॥ १३०२ ॥

ततोऽप्येन घावन्तः कुशीलानां क्रियावन्ते ॥

क्षेत्रस्रोतोभिरुत्थन्ते याताः संज्ञामहानदीः ॥ १२४७ ॥

विजयोवय-—तो नद्यः साधुसाधोद्गच्छन्त्युताः, कुशीलपडिसेषणावने कुशीलप्रतिष्ठयभावने, उपपद्येण घावन्तः उन्मार्गेण पडावन्तः । सख्याणदीसु संज्ञानदीसु । पडिद्या पतितः । किठेससोत्तेण फलेसयोतसा । सुदन्ति ते सुदन्ति ॥

मूलादा-—ते साधुसाधोद्गच्छन्त्युताः ॥ सख्या आहात्पययौधुनपरिग्रहवांशः । युष्मन्ति उन्ते ॥

अर्थ-—साधुसाधोद्गच्छन्त्युताः दूर पलायन जिन्दोने किया हैं ऐसे वे मुनि कुशील प्रतिष्ठयना-कुशील नामक अष्ट मुनिके सदाय आचरणरूप वनमें उन्मायते भागते हुए आहात्, भय, मैयुन और परिग्रहकी शिष्टारूप नदीमें पडकर दुःस्वरूप प्रवाहमें हवते हैं.

सख्याणदीसु ऊढा युद्धा थाहं कंहं पि अलहंता ॥

तो ते संसारोदधिमन्दति बहुदुक्खभीसम्भि ॥ १२४८ ॥

संज्ञानदीसु ते मग्नाः कचिदप्यत्रवस्थिताः ॥

पद्माब्जन्मोदधिं यानि दुःखभीमस्रपाकुलम् ॥ १२४९ ॥

विजयोवय-—सख्याणदीसु ऊढा संज्ञानदीमिराकुताः संतो तिमग्नाः । तो पडात् । संसारोदधिमन्दति संसार सागरं मयितंति । बहुदुक्खभीसम्भि महुदुःखभीसम्भि ॥

मूलादा-—ऊढा अकुताः । युद्धा मग्नाः । थाहं जयस्थानं । कंहं पि कचिदपि सम्बन्धवादीनामन्यत्वमेऽपि । तो पडात् । अर्दति प्रदिसन्ति । मसं स्रपा मत्स्या ॥

अर्थ-—चार संज्ञारूपी नदीमें जब मुनि हवते हैं तब वे कहांभी स्थिरताको प्राप्ता होते नहीं अर्थात् संज्ञारूपी नदीमें रहते रहते वे मुनि अतिशय दुःखोंमें भयंकर संसारसमुद्रमें प्रवेश करते हैं.

आवागिरिदुग्गाणि य अदिगम्भ तिरुदक्खसडसिलासु ॥

उल्लोडिदपब्भद्वा खुपंति अणंतियं कालं ॥ १२५० ॥

दुरात्मगिरिदुर्गाणि गत्वा दंढशिलोत्करे ॥

अष्टा सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्याथाः ॥ १३४९ ॥

विजयोदया—आत्मागिरिदुर्गाणि य आशागिरिदुर्गाश्च । अदिगम्य अतिक्रम्य । त्रिवंदककडसिलासु त्रिवंदक-
कंडशिलासु । उल्लेख्य यन्मष्टा अवलुठिताः खेव. प्रअष्टा. खुपन्ति गमयन्ति । अणति यं कालं अनंतं कालं ॥

मूलार्त्—अदिगम्य अतिक्रम्य । प्रविशत्यन्यः । कस्तवड निष्ठुराः । उल्लेख्यदृष्यम्भू पूर्वमेव लुठिताः परिवृत्ताः ।
पत्रप्रअष्टाः पतिताः । लुठित्वा पविता इत्यन्ये । इतरगुणेभ्यः प्रख्युल मूलगुणेभ्यः सम्यक्त्वाच्च प्रच्युता इत्यर्थः ।

खर्वेणिय गमयन्ति च अन्ये खुपन्ति इति पठित्वा गमयन्तीत्यर्थमाहुः । उक्तं च—

दुरात्मगिरिदुर्गाणि गत्वा दंढशिलोत्करे ॥

अष्टाः सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्याथाः ॥

अर्थ—आश्चर्यपूर्णतया स्वानको उल्लंघनर तीन दंढरूप निष्ठुर शिलापर गिरते हैं. अर्थात् मन
बचन और शरीरकी असमर्थतासे तत्पर होते हैं. इस प्रकार चारित्र्यसे भ्रष्ट होकर अनंतकाल व्यतीत करते हैं.

बहुपावकम्भकरणाडवीसु महदीसु विप्पणहा वा ॥

अहिद्विण्डुदिपथा भमन्ति सुचिरं तत्थेव ॥ १३५० ॥

पापकर्ममहादव्यां विप्रनष्टाः कदाचन ॥

सुखमार्गमपश्यन्तस्तत्रैवापायान्ति ते पुनः ॥ १३५० ॥

विजयोदया—बहुपावकम्भकरणाडवीसु बहुविधान्यश्रुमकर्मयोगेयादव्याः । तस्य महदीसु दीर्घांसु । विप्पणहा
विप्रनष्टाः । अहिद्विण्डुदिपथा अरुष्टनिर्मुक्तिमार्गाः । भमन्ति भ्रमन्ति । सुचिरं विप्रनष्टाः । तत्थेव तत्रैव ॥

मूलार्त्—भरणं निर्वर्तनं । विप्पणहा विप्रनष्टाः । अमरिद आवर्तन्ते ॥

अर्थ—नानप्रकारके पापरूप अरण्यमें वो दिरुमूढ हुए हैं और जिनको मुक्तिमार्गका दर्शन नहीं हुआ
है ऐसे वे अष्ट मुनि उसी पापरूप अरण्यमें चिरकाल अमरण करते हैं.

दूरेण साधुमत्स्यं छंडिय सो उपपद्येण सु पलादि ॥
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुचदिद्वामो ॥ १३०६ ॥

साधुसार्थं स दूरेण त्यक्तव्योन्मार्गेण नश्यति ॥

क्रिया यांति कुसीलानां या सूत्रे प्रतिदर्शिताः ॥ १३५१ ॥

विजयोदया—दूरेण साधुमत्स्यं दूरान्साधुसार्थं । छंडिय त्यक्त्वा । सो सः । उपपद्येण सु पलादि उन्मार्गेण पलायते । सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ सेवते कुसीलप्रतिसेवकाः । जो यः । सुचभिदिद्वामो सूचनिर्दिष्टाः ॥

कुसीलक्रियासेवनापकारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अष्ट मुनि दूरसे ही साधुसार्थका त्यागकर उन्मार्गसे पलायन करता है. तथा आगममें कहे हुए कुसीलनामक यात्र मुनीके योगोंका आचरण करता है.

इंद्रियकसाययुद्धगच्छणेन चरणं तर्णं व पस्संतो ॥

निर्द्वेषतो भविता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥ १३०७ ॥

कपायाक्षशुश्रुत्वेन वृत्तं पदं संस्तुणं यथा ॥

सेवते नृह्यको भूत्या कुसीलाविययाः क्रियाः ॥ १३५२ ॥

(इति कुसीलः)

विजयोदया—इंद्रियकसाययुद्धगच्छणेन इंद्रियकसायययित्त्वामानो शुश्रुत्वेन । चरणं तर्णं व पस्संतो चरणं स्तुण-
मिच पश्यन् । निर्द्वेषतो भविता बन्दीको भूया । सेवदि सेवते कुसीलसेवाः ॥ कुसीला ॥

कुसीलक्रियासेवानभिस्तमाह—

मूलारा—निद्वेषतो निर्द्वेयः इत्यन्ते ॥ कुसील ॥

अर्थ—इंद्रियके विषयोमें और कपायके तीव्र परिणायोंमें तत्पर हुए ये अष्टमुनि चारित्र्यको दृष्टसमान समझकर निर्लेज होकर कुसीलका सेवन करते हैं. कुसीलमृनिवर्पणं समाप्त.

सिद्धिपुसुबुद्धीणा वि केइ इन्द्रियकसायचोरोहिं ॥
 पवित्रुपचरणभंडा उवहदमाणा गिबट्टंति ॥ १३०८ ॥
 केचिन्सिद्धिपुरासन्नाः कपायेन्द्रियतस्करैः ॥
 मुक्तमना निवर्तते लुप्तचारित्रसंपदः ॥ १३०९ ॥

विजयोदया—सिद्धिपुसुबुद्धीणा वि सिद्धिपुसुबुद्धीना अपि । केइ केचित् । इन्द्रियकसायचोरोहिं इन्द्रियक-
 पायचोरे । पवित्रुपचरणभंडा अपहृत्तचारित्रभांडाः । उवहदमाणा उपहृताभिमानाः । गिबट्टंति निर्वर्तन्ते ॥

यथाहं गायत्र्येवाह—

मूलरा—उबुद्धीणा निरुद्धीकृतवंतः । उवहदमाणा लंघितसंयमाभिमानाः । गिबट्टंति निर्व्यात्वमापवन्तीत्यर्थः ॥
 अर्थ—मोक्षमार्गके समीप आकरभी कितनेक मुनि इन्द्रिय और कपायरूपी चोरोसे जिनका चारित्ररूपी
 भंडबल हटा गया है और संयमका अभिमान जिनका नाश हुआ है ऐसे होकर निर्व्यात्वको प्राप्त होते हैं.

तो ते सीलवरीदा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति ॥
 बहुपरियणो वरिहो पावदि तिव्वं जघा दुक्खं ॥ १३०९ ॥
 ततः सीलवरीदास्ते लभन्ते दुःखमुत्थणम् ॥
 बहुभेवपरीचारा निर्द्धना इव सर्वदा ॥ १३१० ॥

विजयोदया—लो पक्खात् । ते सीलवरीदा ते सीलवरीदाः । दुक्खं दुःखं । अणंतं अंतर्गतं । सदा वि पावंति
 सदा प्राप्नुवन्ति । बहुपरियणो बहुपरिजनों । वरिहो वरिदा । पावदि दुक्खल तिव्वं गान्धोति दु खं तीव्रं यथा ॥
 मूलरा—बहुपरियणो प्रभुपरिजनों ॥

अर्थ—जिसका परिवार बहुत है ऐसा दरिद्री मनुष्य जैसे अतिशय तीव्र दुःखको प्राप्त होता है वैसे ते
 सीलवरीद्री मुनि हमेशा तीव्र दुःखको प्राप्त होते हैं.

सो होवि साधुसत्थादु णिगदो जो भवे जघाछंदो ॥
 उरसुत्तमणुवदिट्ठं च जघिच्छाए विकप्पंतो ॥ १३२० ॥
 स सिद्धियाधिनः साधुनिर्गतः साधुमार्गतः ॥
 स्वच्छंदस्वेच्छमुत्तमं चरित्रं यः प्रकल्पते ॥ १३२५ ॥

विश्रयोक्ता—तो होदि ॥ अयनि । साधुसत्थादु णिगदो साधुसत्थाभिपूतः । जो हवे जघाछंदो सो भवति भवेच्छादुत्ति । उरसुत्तं उरसुत्तं । अणुवदिट्ठं अणुवदिट्ठं च स्पर्धितं । जघिच्छाए विकल्पतो यथेच्छाया विकल्पयम् ॥

यघाछंदीभावे योगनाह—

मूला—जघाछंदो सेच अणुवि । अणुवदिट्ठं अताप्ताहं स्पर्धितः । विकल्पतो इदमि-
 एतेय पटते न तथेति विकल्पयन ॥

अर्थ—जो मुनि साधुसत्थाका त्यागकर स्वतंत्र हुआ है, जो खेच्छाचारी बनकर आपसविकल्द और पूर्वोक्तार्थोंने नहीं कहे हुए आचार्योंकी कल्पना करता है, वह स्वच्छंद नामक अष्टमुनि समझना चाहिये.

जो होवि जघाछंदो हु तरस घणिदंवि संजमित्तस्स ॥
 णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥ १३११ ॥
 यज्जायतं यघाछंदो नितरामपि कुर्वतः ॥
 वृत्तं न विणते तस्य सम्यक्त्वसहचारितः ॥ १३१६ ॥

विश्रयोक्ता—जो होदि जघाछंदो सो भवति खेच्छादुत्ति । तस्स घणिदंवि संजमित्तस्स तस्य निगरामपि संपेय प्रवर्तमानस्य । णत्थि दु नास्सेय । चरणं चारिणं । चरणं तु होदि सम्मत्तसहचारी सम्यक्त्वसहचार्येण यथेधारिणं । यथेधारिणस्तु यतिकचित्पारिकल्पयनः सूत्रमनुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदंतरेण सम्यक्चारिणं नैव तथ भवति ॥

मूला—सम्यक्त्वसहचारी सम्यक्त्वसहभाव्येय ॥ खेच्छादुत्तेः सुगुहगननुसरतः सम्यक्त्वाभावात् कुनत्स्यं सम्यक्चारिणमिति भावः ॥

अर्थ—यद्येच्छ प्रवृत्ति करनेवाले उस श्रष्ट मुनिने यद्यपि घोर संयम धारण किया होगा तथापि उसका संयम चारित्र नहीं कहा जाता है. क्योंकि उसको सम्पददर्शन नहीं है. सम्पददर्शनके साथ संयमकों ही मम्पदचार्ित्र कहते हैं. स्पष्टदृष्टि मुनि अपने मनानुद्बल उत्कल्पना करता है, आगमविरुद्ध करनेसे यह सम्पददर्शित नहीं है सम्पददर्शनके बिना उसको चारित्रिकी प्राप्ति कैसे होगी ?

इंदियकसायगुरुक्तणेण सुचं पमाणमकरोतो ॥

परिमाणेदि जिणुत्ते अत्ये सच्छेददो चेव ॥ १३१२ ॥

जिनेन्द्रमापित मध्यं कथायासुरुरुक्तः ॥

प्रमाणीकुरुते वाक्यं यथाच्छेदो न दुर्भताः ॥ १३५७ ॥

(इति स्पष्टछेदः)

विजयोक्त्या—इंदियकसायगुरुक्तणेण कथायाश्च-कुरुतेवेन स्वमपमानयन्, परिमाणेदि भगवथा युद्धानि, जिणुत्ते नान्ये जिमोक्तार्थान्, सच्छेदो चेव स्वेच्छादिप्रत्ययेष्व ॥ यथाच्छेदः ॥

नूढार—परिमाणेदि लभ्यथा युद्धानि वितवतीत्यन्वः । अत्ये जीगदिपत्रार्थान् । सच्छेदो चेव स्वाभिप्रायेणैव यथाच्छेदः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कथाधर्म अत्यंत आधीन होनेसे यह श्रष्ट मुनि जिनश्रणीत सिद्धांतको प्रमाण नहीं मानता है और स्पष्टछेदचारी बनकर सिद्धांतका स्वरूप अन्यथा समझता है और अन्यथा विचारमे लाता है.

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामणजोगपरिततो ॥

जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुमत्थादो ॥ १३१३ ॥

कपायेन्द्रियदोपेण वृत्तात् सामान्ययोगतः ॥

यः यम्रष्टः परिश्रान्तः स म्रष्टः सावुसार्थतः ॥ १३५८ ॥

वित्तयोदधः—शुद्धिकसायकोत्तेहिं शुद्धियकपायदेहि । अथवा सामान्यजोगपरिततो अथवा सामान्ययोगेन दातु । जो उदवायदि यथाविनायक्यते । सो होदि स भवति । णियतो साधुसत्तादो निवृत्त साधुसार्थात् ।

सप्तमं माथाहयेनाह—

यूरा—परिवृत्तो विविण्ण । भातो वा । उब्बायन् पारिजान्कयते । विखंयते इत्यन्ये ॥

अर्थ—शुद्धिय और कपायको दोपसे अथवा सामान्य ध्यानादिकसे विरक्त होकर जो साधु वारिजसे प्रष्ट होता है वह साधुसार्थसे अलग होता है

इदियकमायवसिथा केइ ठाणाणि ताणि सत्त्वाणि ॥

पाविज्जते दोसेहिं तेहिं सब्बेहिं ससत्ता ॥ १३१४ ॥

स्थानानि तानि सचर्याणि कपायायगुरुकृताः ॥

ससत्ता सकलैदोपे केचिद्गच्छन्ति दुधिय ॥ १३५९ ॥

विजयोदधः—शुद्धिकसायवसिथा शुद्धियरुवाययशागा । उइ केचिन्तु । ठाणाणि तानि सत्त्वाणि तान्यशुभम्भा-
नपरिणामानि । पाविज्जति मायसे । दोसेहिं तेहिं सब्बेहिं ससत्ता दोषेस्ते तेषु सत्तका ॥ ससत्ता ॥

नूरा—ठाणाणि परिणामान् । तानि मिथ्यानास्तंयमादीनि ॥ पाविज्जते नीयते । तेहिं हे प्रसिद्धे रात्तादिभि ॥
ससति ॥

अर्थ—शुद्धियविषय और कपायके वर्गीभूत क्लृप्तनेक प्रष्ट मनि मन दोषोंसे युक्त होकर सर्व अशुभ स्थानकी प्राप्ति करानेवाले परिणामोंको—अशुभ परिणामोंको प्राप्त होते हैं

इय एवे पचविधा जिणेहिं सवणा दुगुच्छिदा मुत्ते ॥

इदियकसायगुरुत्तणेण णित्तचसि पडिपुक्का ॥ १३१५ ॥

इत्येते साधव पंच निदिता जिनशासने ॥

प्रत्यनीकिकारभा कपायाक्षगुरुकृता ॥ १३६० ॥

विजयोदधः—यामरायत्तिगद ॥

पवनप्रादीनां सामान्यदोषमाह—

नृतरा—दुनुच्छिदा विनिनाः पट्टिच्छदा प्रतिपक्षमता नंदा वा ॥

अर्थ—ये पाँच तरहके द्रष्टृ मनिजोकी बिनेश्वराने आगममें निंदा की है, ये पाँच प्रकारके मनि इंद्रिय और कपायकें मुख्यमे विनिनिर्दोषानुसार आचरण करनेवाले शुनियोकें प्रतिपक्षी हैं—

दुष्टा चबला अदिदुल्लजा य णिरुचं पि समणुवच्छा य ॥

दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥ १११६ ॥

दुरंताधंचला दुष्टा वृत्तसर्वस्वहारिणः ॥

दुर्जयाः सन्ति जीवानां कषायैर्निद्रियतस्कराः ॥ १११७ ॥

छिद्रोपक्षाः सख्यमाना विभीना नो पार्थ्वस्थाः कस्य कुर्वन्ति दुःखम् ॥

क्रोथाविष्टाः पक्का वा द्विजिह्वाः विज्ञायेत्यं दूरतो वलभीयाः ॥ १११८ ॥

तृणतुल्यमवेत्य विशिष्टफलं परिमुस्य चरित्रमपास्तमलम् ॥

बहुदोषकपायहृदीकवशा नियसन्ति विरं कुगताववशाः ॥ १११९ ॥

[इति संसक्तः]

विजयोद्या—दुष्टा दुष्टा आत्मोपद्रवकरित्वान् । चपला अतवस्थितत्वात् । अदिदुल्लजा अतीव दुर्जयाः अनुपलभ्यचारित्र्यमोदशयोपदामप्रकरणेन जीयेन दुःखेन व्यभिचरेते इति । पिञ्चेपि नित्यमपि । समणुवच्छा च सख्यमानु-
यच्छायाविशमोदोदयस्य व्यक्तगणस्य लक्ष्य मन्दावत् । श्रियाध्वत्कथं चपलाः । क्रियशब्दो ब्रौह्मे न प्रयुक्तः कित्यभीष्टेन
मुग्धेदुर्गनुवहार इत्यर्थः । चपलता तु पाणिमानां अन्यस्थितमेव धृतो न विरोधः । दुःग्गवहा य दुःग्यावहाश्च । जीवाणं
जीवानां अभिमतमोनामे प्राप्तस्य चाऽप्येव महत् दुःखमित्यनुवचसिद्धमेव सर्वत्राप्यभूनां । कषायास्तु प्रोधादयः कषा-
येति तदर्थः । वथरा दुःग्गफाराजालेष्टाणां निमित्तत्वात् दुःगावहाः । इंद्रियकषायधनो जीवान् हिमस्ति । दुःखक्रमेण
पास्तवत्यमर्देयं इति । यत एव दुःग्गवहा अत एव भीमाः । इंद्रियकसाया इंद्रियकषायपरिणामाः ।

नृमयमज्ञानिरूपानां इंद्रियरूपायागमयावचरंस्वरस्त्वमुपदेशं सांपतं वलौपत्यमाह—

नृतरा—दुष्टा उपद्रवकरित्वान् । चपला अतवस्थितत्वात् । अदिदुल्लजा चरित्रमोदशयोपदामप्रकरणेनाभिप्रायो

अभिभवितुमशक्यत्वात् । समणुज्जहा सम्पद्यतुलता । चारितमोहो-वस्थ ररगत्थस्य सुहृद्वैदं यवर्तमान् । दुःखतावहा य इष्टभोगस्यापामौ, प्राप्तस्य कषाये चक्षुरादिभुक्तेन दुःखस्यानुभवसिद्धत्वात् । कोचादिपृष्ठवद्व्यतापकृत्वात् । दुःखरक्षणार्थ-प्रेषान्ननिमित्तत्वाद्वा द्वयेऽपि दुःखकर । भीमा भयंकरा । दुःखावहतामेव वा ॥

अर्थ—ये इन्द्रिय और कषाय जीवोंको अस्त्रिय उपद्रव करते हैं और चंचल हैं, इनको जीत ॥ अस्त्रिय फटित है जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका क्षोभप्रथम नहीं बढ़ा हुआ है तबतक इनमें जीतना अशक्य है जबतक चारित्रमोहरूप कारणात्मा सञ्जाव है तबतक इन कषाय और इन्द्रियांका संग्रह रहता ही है इन्द्रिय और कषाय नित्य हैं अर्थात् गतगत इनका आरम्भ भंग होता है अतः इनको नित्य स्वरूप है इन्द्रिय आग कषाय परिणामोन्ना एक स्वरूप नहीं रहता है कर्मों जीव परिणाम, कभी मानपरिणाम, कभी लोभ परिणाम ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है इसलिय इनको चञ्चल भी कहते हैं ये इन्द्रिय और कषाय जीवोंको दुःख देते हैं, जीवोंको इष्ट भोगोंका अलाम होनेसे अथवा प्राप्ति होने पर भी उनका नाश होनेसे मदान् दुःख उत्पन्न होता है यह गत अनुभूत सिद्ध है, कषाय-कोचादिक इत्येक घात करते हैं इन्द्रिय और कषायोंके आधीन होकर प्राणी जीवोंका घात करते हैं, जीवोंको घातनेमें असामान्येन्द्रीय कर्मक ज्ञासन आते हैं ये इन्द्रिय और कषाय दुःखदायक हैं इसलिए भयानक हैं,

तदुत्तेज्जमि पियतो वत्थो जह्वादि पृथिय मथ ॥

तथ विभिक्षदो वि इन्द्रियकसायगधं वह्मदि कोई ॥ १३१७ ॥

मास्त्रेदीधासुपेनोऽपि कषायार्धं निपेवते ॥

नैलमाशुरव वस्त प्रनिवाति पितृरपि ॥ १३१८ ॥

निजयोदया—सुख-क्रीडामपि, शिको पितृ, कृत्यं यस्त वज्रपोल । जह्वादि पृथिय मथ भूतिसध यथा घति । प्राणतमघ यथा न जहाति । सत्रियमालाऽपि सुतमिणः । इत्येक, नच विभिक्षो वि तथा सेक्षितोऽपि परित्यक्ता लयमोऽपि । शरीरकसायगधं वह्मदि । शरीरकसायगधं वह्मदि इति यावत् ॥

दीधत्या इन्द्रियविनयावन्तमजह्वा—

मूलाया—मन्तेर्लं तुल्यवेल सेलरस सुगर्तैलमित्यन्ते । यमजो छला । पृथिय गधं दुर्गंधं प्राक्तनयेव । दिक्पिदने कुतश्चस्तीनारसंसार । इन्द्रियकसायगधं चक्षुरादि-कोचादिवस्तना ॥

अर्थ—मकरके शुरुआत विलोनेपर भी उसके शरीरसे दुर्गंध ही निकलता है अर्थात् वह अपने प्राकृतिक गंधका त्याग नहीं करता है-शुरुआतल अवस्थय सुगंध रहता है परंतु मकरके प्राकृतिक गंधमें उससे कुछ भी फरक नहीं होता है वैसे भ्रष्ट साधु गंधम सहित होनेपर भी इन्द्रिय कायरूपी दुर्गंधका त्याग नहीं करता है-

मुंजंतो वि सुभोयणमिच्छति जघ सुयरां समलमेव ॥

तघ द्वित्रिखदो वि इन्द्रियकसायमलिणो हवदि कोट् ॥ १३१८ ॥

मुक्तवापि कञ्चन ग्रंथं कथायाक्षं न मुंचति ॥

द्वित्यापि कञ्चुकं सपौ विजहति विपं नहि ॥ १३१५ ॥

वैशितोप्यधमः कश्चिक्कपायाक्षं चिकीर्षति ॥

शूकरः शोभनै रत्नैर्मलं लुप्तोऽपि कांक्षति १३१६ ॥

विजयोद्या—मुंजंतो वि सुभोयणं मुंजानोऽपि शोभनमाहारं । सुयरो जघ भलमेव इच्छति सुकरो यथा समलमेवामिलयति चिरंतनाभ्यासात् । तद्व तयाः द्वित्रिपदो वि इन्द्रियतोऽपि कृतकतपरिग्रहसंस्कारोऽपि । कोट् कश्चित् । इन्द्रियकसायमलिणो इत्यपि इन्द्रियकथायाख्यानुमपरिणामोपगतो भवति । भन्गोपि जगः सुन्दरदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परिस्फूर्तद्विषयकोऽपि मार्गस्थपरिस्सागकालं पुनरपि तनापततीति ॥

मूलाया—समलं पुरीष ॥

अर्थ—जैसे शूकर उत्तम आहारका भोजन करता हुआ भी विद्याका ही अभिलाष मनमें धारण करता है क्योंकि उसमें दीर्घमूलमें निष्प्रभक्षणका अभ्यास रहता है, वैसे जिसने दीक्षा चरण की है अर्थात् प्रवृत्तका स्वीकार निमने दीर्घ मूलमें किया है ऐसा भी कोई धुनि इन्द्रिय और कथाय रूप अशुभ परिणामोंसे परिणत होता है शुरुआत उपदेश सुनकर दुःख नाश करनेके उपायका ज्ञान होनेपर इन्द्रिय और कथायाको त्याग करता है गृहस्थान्याका त्याग करनेपर पुनः वह धुनि उमीमें पड़ता है.

अनेकदण्डांतोपन्यासेन दशयति मरिक्तरण्यमंधेन—

वाहमएण पलावो जुहं वटठूण वायुरापण्डितं ॥
सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जुटण्हाए ॥ १३१९ ॥

विद्याय हरिणो थूयं व्याधुभीतः पलाग्नितः ॥

स्वयं पुनर्यथा याति वागुरां यूथतूणया ॥ १३२० ॥

वित्तयोदया—वाहमएण वायमयेन । पलावो मओ रुजपलावजो सुग । वायुरापण्डितं जुहं वटठूण वागुरापण्डितं स्तपूयं इत्यया । सयमेव वागुरमदीदि मगो स्वयमेव वागुरां माविशति सुग । जह यथा, कुतः, जुटण्हाए यूथतूणया, एव को वि निहयास सुधा इवमयः साअथा संवधः कायः ॥

मकोडपि अनो गुरुदेणपित्तदुःखिदुसुमाचनया परिल्लेकत्रियकरवो जिनदीअं प्रतिपयापि विराअरए.
कयायैत्रियरोपानेयणशान्तुनरपि गृह्यात्तदोयानेपापतनीत्येतदुष्टं तदुष्टुवर्गं माधालसकेन सुदुष्यति—

मूलारा—पलावो कृतपलावनः । मओ सुगः । अदीरि प्रविशति ॥

अर्थ—पारधीके मयसे यागा हुआ हरिण जालमें अपना युगमपहू वटा हुआ देखकर स्वयं भी जालमें प्रवेश करता है. युगमपहूमें लयका प्रेम रहता है. प्रेमवश होकर वह स्वयं पंथनमें पडता है. येमे कोइ गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनरपि उसका स्वीकार करता है.

पंजरसुको सडणो सुइरं आरामए सुविहरतो १
सयमेव पुणो पंजरमदीदि जध णीटण्हाए ॥ १३२० ॥
आरामे विचरन्स्वेच्छं पतन्नी पंजरकयुतः ॥

यथा याति पुनर्मूढः पंजरं नीडतूणया ॥ १३२१ ॥

विश्रानोदया—पंजरसुको सडणो पंजरान्मुकः पक्षी । सुइरं आरामए सुविहरतो आरामेसु स्वेच्छया विहरन् । सयमेव स्वयमेव । पुणो पुनः । पंजरमदीदि पंजरसुपेति, जह णीटण्हाए यथा णीटतूणया ॥
मूलारा—सइरं स्वेच्छया । णीडतूणया त्यावासलमेन ॥

अर्थ—पंजरसे मुक्त हुआ पक्षी उदात्तमें—जगीचेम दीर्घ काल स्वेच्छासे घूम कर जेम् अपने घरेकी अभि लापासे पुनरपि पंजरमें आता है. वेम यह सुनि भी गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनः उसका स्वीकार करता है.

कंठभो गण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिण ॥
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥ ११२१ ॥

उत्तरितः करीद्रेण पंकतः कलभो यथा ॥

स्वयमेव पुनः पंकं प्रयाति जलतृष्णया ॥ ११२२ ॥

विजयोदया—कलभो गजपोत मर्दति तदग्रे एवमित् । गण पंकादुद्धरिदो गजेन परेण पंकादुद्धरो । दुत्तरादु उत्तरात् पंकात् । जलतण्हाए जलतृष्णया गजेन, सयमेव पुणो पंकं जह अदीदि, स्वयमेव कलभो यथा पंकमुपेति । जलतण्हाए जलतृष्णया ॥

गजारा—कलभो घालगतः । उद्धरिदो उद्बृज् । दुत्तरादु उत्तरात् ॥

अर्थ—हार्थिका वल्वा वहे कीचरमे कया या उसको छुकिवाय् हाथीने बाहर निक्काला परंतु पानीको प्यामने बह फिरेभी कीचरमे फमता ई वने कोरे मुनि फिर गृहस्थ होत है ।

अग्निपरिक्लिप्तादो सठणो रुक्खादु उप्पाडित्ताणं ॥
सयमेव तं दुमं सो णीढणिमित्तं जघ अदीदि ॥ ११२३ ॥
उद्ग्राय ठागव्वनः पक्षो सयंको बन्निवेष्टितान् ॥
तत्रैव नोढलोभेन यथा याति पुनः स्वयम् ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—रुक्खादो सठणो उप्पाडित्ताणं रुक्खादुद्धरिदो रुक्खिणि । कीदाभूतात् ? अग्निपरिक्लिप्तादो अग्निना नर्मतावेष्टितान्, सयमेव तं दुमं जह अदीदि स्वयमेवात्ता पक्षी अग्निपरिक्लिप्तदुममधिगच्छति, णीढणिमित्तं स्वायास निमित्त ॥

गुलारा—अग्निपरिक्लिप्तादो बहियलवित्तान् । उप्पाडित्ताणं उद्ग्राय ॥

अर्थ—अग्निमे धिरे हुए पृथक्का त्यागकर पुनरपि अपने घरकी अभिलाषामे जेग पक्षो उमी शृङ्खके तरफ जाता है वने कोरे मुनि फिर गृहस्थानस्था धारण करत है ।

अप्युक्तं आहणां पासुचो काह जगमाणेण ॥

उद्विदो तं घेचुं इच्छदि जघ कोदुगहलेण ॥ १३२२ ॥

लंघ्यमानोऽहिना सुभो जाग्रतोत्थापितो यथा ॥

कौतुकेन तमादातुं कश्चिदिच्छति सूदधीः ॥ १३७१ ॥

विजयोवया—लंघितो अहिना लंघ्यमानोऽहिना, कोद पासुचो कश्चित्सुप्तः, जगमाणेण उद्विदो जाग्रतो उत्थापितः । जघ तं घेचुमिच्छति यथा सर्वे घटीतुमिच्छति, कोदुगहलेण कौतुकेन ॥

मूलारा—पासुचो निर्भरनिद्रावन्तः ॥

अर्थ—जिसके ऊपरसे सर्वे जारहा है ऐसे सोये हुए किसी मनुष्यको किसीने जगाया पर जगकर उठे हुए उस मनुष्यने उसी सपको कौतुकसे पकड़ना चाहा जैसे कोई गृहस्थावस्था संसारका कारण है ऐसा समझकर उसको त्यागकर फिरभी उसीको स्वीकारता है,

सयमेव वंतमसणं णिहुज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।
लोलो किविणो मुंजदि सुहणो जघ असणतण्हाए ॥ १३२४ ॥

स्वयमेवाशनं वातं निर्लेज्जो निर्घुणाशयः ॥

सारमेयो यथाश्रान्तिं कृपणोऽशनतृष्णया ॥ १३७२ ॥

विजयोवया—सयमेव वंतमसणं स्वयमेव वंतमसणं वातमशनं सुहणो णिहुज्जो णिग्घिणो भ्या निर्लेज्जः निर्घुणः । जघा यथा । सयमेव मुंजदि स्वयमेव मुंके । लोलो अशक्तः । किविणो कृपणः असणतण्हाए अशनतृष्णया ॥

मूलारा—वंतं छर्दिम् । किविणो कृपणः ।
अर्थ—जैसे निर्लेज्ज और उग्रुत्साहित कुचा स्वयं किया हुआ वमन स्वयं ही अन्नकी इच्छासे भक्षण करता है, कृपण और अन्नमे आसक्त कुचा स्वयंका वमन किया हुआ अन्न स्वयं खाने लगता है-

एवं कई गिहवासदोसमुक्का वि दिविसिदा संता ॥
इंदियकसायोसे हि पुणो ते चेव गिण्हंति ॥ १३२५ ॥

श्रीविजयाचार्यगुरु—गृहवासतोषात्सकस्या दीक्षिता अपि सताः । केचिदिदिक्षुद्दोषान्गृहवासगतानेष पुनरपि गृह-
न्तीति ज्ञात्वायम् । हि सवदस्य समुपवार्थस्य मित्रकथयत्य पुनो इत्यतोऽन्तरयागिसंबंधात् । तथा चोक्तं विपुण्य
श्रीनियर्थन्याम्—

एवं केचिद्गृहवासदोषसुक्ताञ्च दीक्षिताः संताः ॥

इद्विकथयत्यदोषान्पुनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥

गृहवासदोषान्पुनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥
कृत्वादिफार्येऽथैतत्पर्यमगृहवाससंहससुखविक्रमस्तथा, यद्भीचमिकायमाणसिपावद्वारप्रविशद्भुनिवाज्जगद्दस्यात्रयधान्य-
सगर्हो कलंककलसलत्वं, दुर्गेशधुरीणोपेतोपनिमित्तचय, विपदावर्तसहस्रशं कलंकदोर्मनस्यं, परपीठानुग्रहकरणपरिकर
बंधसमिद्धदुर्गकारराक्षसक्षिप्तकेलत्वं, श्रुतेवरसत्त्वान्पि साद्रव्योपार्जनमहणपर्यन्तव्यकरणान्यासंगसहजजायमान-
मनोबाकायबौरपरभ्यससाताक्षुविनयराक्षसश्रयणीयादिसुःखानात्मसु सारदिदुष्टिनिर्बन्धाः । कल्प्यं सर्वगदलपूजितत्वं,
चिदाशास्त्रिनीविकारभूतिदत्तत्वं, परितोषनिष्ठत्वं, भिद्यविप्रयोगासन्निपातविशराहता, शोकानलरवालाकरालता, अतिष्ट-
येयोगदुर्गतद्विपाशसमदत्तत्वं, कोपपाशकभस्मसाकरणत्वं, शार्ङ्गितामसिदेनिदानजर्जरत्वं, मायस्यदिरिदानीभिर्हरिभता, भवा-
पःशलापात्रतोदन, मातस्यैव्यातोषैशुभ्यदैर्न्यान्मृतास्तेयविपबदांपट्याविपर्वीटकोपसृष्टता, कुयोनिसहस्रसुखप्रवेशकर्मतप-
बंधनियधनत्वं इत्यादयः केचिद्विभिः शुक्तकेचिद्विभिर्वा फथमपि कल्पयितुं शक्या यु हक्या वेति ॥

अर्थ—उपयुक्त दृष्टान्ते यह सिद्ध होता है कि कोई गृहस्थावस्थाके दोषोंसे युक्त होकर और दीक्षा
लेकर भी इंद्रिय और कर्मायेंके दोषोंको पुनः ग्रहण करते हैं।

इस गृहस्थपनाको क्यों दृष्ट कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

यह गृहवास मन्त्रका अधिष्ठान अर्थात् मूल कारण है, हमेशा माया और लोभ को उत्पन्न करने वाले
ऐसे जीवनोंपाय इसमें लीवकों करने पड़ते हैं यह गृहवास कर्मायेंकी खान है, यह जीवोंपर पीडा और अनुग्रह
भी करता है, अर्थात् गृहस्थावस्थामें रहने पर किसीको भीटा करनेका और किसीपर अनुग्रह करनेका हमेशा प्राप्त
आता है, प्रथमी, जल, अग्नि, हवा और वनस्पति इन स्थावरोंका इसमें हमेशा घात करना पड़ता है, मत्त वचन
और दारिके द्वारा सचिन अचिन अनेक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ तथा द्रव्य प्राप्त करनेके लिये इस गृहवासमें

महा आगम करने पड़ते हैं। इस गृहवासमें रहकर लोक असारको सार, अनित्यको नित्य, अशरणको शरण, अपवित्रको पवित्र, दुःसमें सुख, अहितमें हित, अनाधरमें आधार, शत्रुमें मित्रकी कल्पना करते हैं और चारों तरफ भागते हैं। मनमें भीति और शंका होनेपर भी अपायके स्थानकी ही उनको प्राप्ति होती है।

जिससे मुक्त होना अतिशय कठिन है। इस लोहेके पिंजरेमें कैद किये हुए सिंहके समान, जालसे जड़द कर बाँधे हुए हरिणके समान, अतिशय दुस्तर कीचमें फंसे हुए बूढ़े हाथीके गमान से तब गृहस्थ हताश होजाते हैं। अर्थात् ऐसी पापमय, संसारमें पुमानवाली गृहस्थस्थितसे निकलकर आत्मकल्याण करना अतिशय कठिन है। पापमें पकड़े गये पक्षीके समान, छंद लानेमें डाले हुए असमर्थ दीन हरिणके समान, इन गृहस्थोंको शमसे-सुखमें अत्यंत भय होता है। बूढ़ पाशमें पकड़े गये भत्स्यके समान इस गृहस्थावस्थामें रहनेवाले लोक कामदेवना रूप गाढ़ अंशुकमसे अर्धाव काममोहसे युक्त हो जाते हैं। इन गृहस्थोंके पीछे पकड़नेके लिये रागरूपी हाथी दौड़ रहा है। बिंठा रूपी पिशाची से ये पीड़ित होते हैं। शोक रूपी अग्नि इनको जलाकर मस्म करती है। दुःखद आघाते बंधे हुए ये गृहस्थ अपने स्थानसे हिल भी नहीं सकते हैं। प्रिय पुत्र, भार्यो, इत्यादिकोंका वियोग रूपी पक्ष इनके हमेशा तुकड़े २ कर डालता है।

इस पशुकी प्राप्ति न होना एतत्स्वरूप सैफडो पापके लिये ये माले के समान है। जैसे बाण भातेमें रहते हैं वैसे इन गृहस्थोंमें हमेशा इष्ट विषयकी प्राप्ति न होना यह दुःख निवास करता है। भार्यारूपी बूढ़ी इनको गाढा लिगान देती है। अपमान रूपी कठिन कुन्हादसि इनका मन विदीर्ण होता रहता है।

अर्कातिरूपी विष्ठासे ये लंगे जाते हैं। मोहरूपी बड़ा वनका हाथी इनको मार डालता है। पापरूपी बधक लोक इनके ज्ञानका बध करते हैं। मयरूपी लोहेकी सुईयाँ इनका अंगको चुभती हैं। परिश्रमरूपी कोड़े इनको प्रतिदिन मय दिखाते हैं। ईर्ष्यारूपी फज्जलसे ये लंगे जानेसे कुरूप होजाते हैं। परिग्रहरूपी पिशाचोंसे ये पकड़े जाते हैं। इन गृहस्थावस्थामें रहनेपर मनुष्य अंत्यमर्क तरफ झुक जाता है। इसलिये गुण सदन नहीं होना एतत्स्वरूपी पत्नी इनको बहुत प्रिय भाव्य होती है। अर्थात् इनका मन अन्यके गुणोंका द्वेष करता है। अभिमानरूपी वनाग्रीमें पड़कर ये मदान् कष्टका अनुभवन करते हैं। महान् और निर्मल ऐसे चारित्ररूपी छत्रवृक्षका सुख इन गृहस्थोंको प्राप्त होता नहीं है। यह गृहस्थावस्था कर्मका नाश करनेमें असमर्थ है। इससे मरणरूपी विषबुध दग्ध नहीं होता है।

यह गृहयाग मोहलूणी भजवृत्त वेदकी श्रद्धावस्था सोढनेमें समर्थ नहीं है. अनेक योनिओंमें जीवका अमण करना इनमें पंद नहीं हो पाता. इस लिए ऐसे गृहयागके दोषोंका त्याग का मुनिदीया धारण करके भी कितनेक मुनि फिर भी उन्ही दोषोंका आश्रय करते हैं.

बंधणमुक्को पुनरेव बंधणं सो अचेयणोदीदि ॥

इंद्रियकत्माबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥ १३२६ ॥

बंधयुक्ताः पुनर्यपं निश्चितं स चियासति ॥

यो दीक्षितः कपायास्थानिसेवयिपते कुधीः ॥ १३७४ ॥

विजयोदया—बंधणमुजो बंधमयुक्तः । पुनरेव बंधणं पुनर्बंधनं । अदीदि प्रतिपद्यते । सो अवेदणो सोऽहः । का । जो शिविगदो संतो इंद्रियकत्माबंधणमुवेदि यो दीक्षितः सन्निद्रियकपायबंधयुपेति । इंद्रियकपायपरिणामाः फलं बंधनक्रियायां साधकतमत्वाद् यद् बंधनराधेनोच्यते ॥

गणाद्वीपदुष्टदुष्टासंसेयनाभिमुदीकरणाबंधणं फलकपायदोषगणमाधिवमाणं प्राप्तिवै शक्यमणितप्रबंधेन विरक्तरोति—
मूलारा—अवेदणो अहः । अदीदि प्रतिपद्यते । इंद्रियकत्माबंधणं इंद्रियकपाया एव बंधनं कर्मबंधक्रियायां साधकतमत्वात् ॥

अर्थ—जो दीक्षा लेकर इंद्रियां और कपायके बंधनको प्राप्त होता है वह जैसा कोई अज्ञात्री बंधन मुक्त होकर भी पुनः बंधनका स्वीकार करता है वैसा समझना चाहिए, इंद्रिय और कपाय ये कर्मबंधनक्रियामें मायस्वरूप धारण होनेसे उनको भी बंधन कहना अयोग्य नहीं है.

मुक्को वि णसे कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ॥

जो दिक्खिदो वि इंद्रिय कत्तायमइयं कलिमुवेदि ॥ १३२७ ॥

दीक्षित्यापि पुनः मायुः कपायाधत्तालिं यदि ॥

विपुंक्षति कलिं मुत्त्वा पुनः स्वोक्कुत्ते कलिय् ॥ १३७५ ॥

विजयोदया—प्रतिद्वारणं ॥
मूलरा—कलिना बद्धेन ॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर भी पुनः इंद्रिय और कर्पणरूप कलहका स्वीकार करता है वह कलह में रहित होकर भी फिर कलहका स्वीकार करता है ऐसा समझना चाहिए.

उद्धरण—

सो विच्छिदि मोचुं जे हरथगयं उम्मुयं सपञ्जलियं ॥

सो अक्कमदि कण्हसप्यं छावं वयं च परिससदि ॥ १३२८ ॥

विषाय ज्वलितं हस्ते मुञ्चुरं स उमुयते ॥

आनाममि स कृष्णाहिं न्याघं सृशति सधुचं ॥ १३२९ ॥

विजयोदया—सो विच्छिदि त्व नेच्छति । मोचु मोच्यु । किं हरथगयं हस्तस्वितं हस्तगतं वा । उम्मुयं सपञ्जलियं हितं उम्मुयं मुच्यु प्रपद्यति । सो कण्हसप्यमक्कमदि स कृष्णसर्पवदिकाम्पमति । छावं वयं च परियसदि धुवोपपुत्तं व्याघ्रं च सृशति ॥

मूछारा—मोचुं जे लप्सुं । उम्मुयं अर्पयम्वलितकाष्ठं । अक्कमदि लंघयति । छावं क्षुत्पीडितं । परिससदि सृशति ॥

अर्थ—जो मातृ दीक्षित होकर पुनः पुनः इंद्रिय और कर्पणरूप परिणामोंको स्वीकारता है वह हाथमें जलवे हुए अग्निमें नहीं त्यागना चाहता है अथवा झाले सर्पको लोभकर आना चाहता है किंवा भूतसे पीडित व्याघ्र को स्पर्श करना चाहता है ऐसा समझना चाहिए.

सो कंठोल्लसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ॥

जो विम्विदो वि इंद्रिय कमावसिगो हवे साधू ॥ १३२९ ॥

कंठाल्लसिलोऽग्राघं सोऽज्ञानो गाहेत न्हदम् ॥

अनलो वापि यो दीक्षां कपायाधं प्रपद्यते ॥ १३३० ॥

विजयोद्या—सो कंडोहगिदमिलो म कंडारलोकिमिड । इहकथादे च्छदममाधं । अदीनि प्रविशति । अ-
ज्जानी अमः । लो दिक्खिदो वि य यो दीक्षिनेपि शंदियरुसावत्सिगो इंदियकपायशवती साहस्यत्वेव व्यवहारः ॥

मूला—कंडोहगिदमिलो मलावलविददपु ॥

अर्थ—जो अज्ञानी साधु दीक्षा लेकर इंदिय और कपायके वस्त्र होता है वह कंडमें शिला बांधकर
अमाध सरोवरमें प्रवेश करना चाहता है. माथामें इंदिय और कपायके वस्त्र हुआ साधु और गलेमें शिला जिमने
चांभी है ऐसा पुरुष इनमें सादृश्य होनेसे आचार्यने अपेक्षा व्यवहार कर एक ही व्यक्तिको दो विशेषणोंसे युक्त
किया है परंतु एक दृष्टांत और दूसरा दार्ष्टांत है.

इंदियगहोबनिहो उवसिहो ण दु गहेण उवसिहो ॥

कुणदि गहो एयभवे दोसे इदरो भवसवेसु ॥ १३३० ॥

गृहीतोऽश्वग्रहाघातो नापरो ग्रहपीडितः ॥

अश्वयः स सवा दोसं विदधाति कदाग्रह ॥ १३३० ॥

विजयोद्या—इंदियगहोबनिहो इंदियग्रहगृहीतः । उवसिहो गृहीत । ण दु गहेण उवसिहो जेय ग्रहेणोपखुदः ।
कुतः ? यस्मात् । कुणदि गहो एयभवे दोसं एरुसिप्रदेय भवे ग्रहो सुदिव्यामोदलक्ष्यं दोसं करोति । इदरो भवसवेसु
इंदियकपायग्रहो भवसवेसु दोसं करोति ॥

मूला—उवातिहो ग्रहाविष्टः । दोसं सुखिव्यामोहं ॥

अर्थ—जो इंदियरूप ग्रहसे पीडित हुआ है उसको ही ग्रहपीडित कहना चाहिये. जो ग्रहसे पीडित है
वह वास्तविक पीडित नहीं है. क्यों कि ग्रह तो एक भयमें ही पीडा देता है अर्थात् बुद्धिमें मोह उत्पन्न करता है
परंतु इंदिय और कपाय रूपी ग्रह इस जीवको मुँकडो भयमें दुःख देता है अतः उसको ही ग्रह कहना चाहिये.

होदि कसाउम्मचो उम्मचो तव ण पित्तुम्मचो ॥

ण कुणदि पित्तुम्मचो पावं इदरो जघुम्मचो ॥ १३३१ ॥

कषायमत्त उन्मत्तः पित्तोन्मत्तोऽपि नो पुनः ॥

प्रमत्तं कुरुते पापं द्वितीयो न तथा स्फुटम् ॥ १३७९ ॥

विजयोदया—होदि कसाउन्मत्तो अत्रैवं पदवटना । उन्मत्तो होदि उन्मत्तो भवति यथा । कः ? कसायउ-
न्मत्तो कषायोन्मत्तः । तथा उन्मत्तो ए होदिपि पदवटना तथा उन्मत्तो न भवति । कः ? पित्तउन्मत्तो पित्तोन्मत्तः ।
एतेन पित्तवटनादुन्मादात् कषायरुतस्योन्मादस्य उन्मत्ता भ्याता । कथं ? न कुण्ठादि पित्तुन्मत्तो पापं न करोति पित्तो-
न्मत्तः । पापं इदं उन्मत्तो कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथायत् न करोति । यतः एकेकोपिऽपि क्रोधादिः
हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणां स्थितिविधं शीर्षोक्तोति । विवेकज्ञानमेव विरक्तोति पित्तोन्मादः ततोऽनयोर्भइवंतरं
इति भाषे ॥

मुखात्—उन्मत्तो उन्मत्तः । तत्र न तथा न । पित्तोन्मत्तो भवत्तुन्मत्तो यथा कषायोन्मत्त इति संबधः ॥

अर्थ—जो कषायसे उन्मत्त हुआ है उसको ही वास्तविक उन्मत्त कहना चाहिये. परंतु जो पित्तसे
उन्मत्त हुआ है वह वास्तविक उन्मत्त नहीं है. पित्तसे जो उन्माद उत्पन्न होता है उससे भी कषायोन्माद अतिशय
तीव्र है. और दुःखदायक है. पित्तोन्मत्त मनुष्य पाप नहीं करता है परंतु कषायोन्मत्तमनुष्य पाप करता है. अर्थात्
पित्तोन्मत्त मनुष्यसे कषायोन्मत्त मनुष्य महान् अन्याय करता है. एकैकभी क्रोधादिक कषाय हिंसादिक पापोंमें
जीवको प्रवृत्त करता है. कर्मका स्थितिविध उत्तरोत्तर दीर्घ करता है. परंतु पित्तोन्माद एक विवेक ज्ञानको ही
नष्ट करता है उससे हिंसादिक पाप और कर्मकी दीर्घ स्थिति नहीं होती है. अतः इन दोनोंमें महान् अंतर है.

इंद्रियकसायमइओ णरं पिसायं करंति तु पिसाया ॥

पावकरणवैलंघं पेच्छणयकरं सुयणमज्जे ॥ १३८० ॥

कषायाक्षपिशाचं पिशाचोक्रियते जनः ॥

जनानां प्रेक्षणीभूतस्तीव्रपापक्रियोद्यतः ॥ १३८० ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायमइओ इंद्रियकषायमयः पिशाचः । णरं पिसायं करोदि नरं पिशाचं करोति ।
कीदृग्भूतं पिशाचं करोति । सुजणमज्जे पेच्छणयकरं सुजणमज्जे प्रेक्षणीककारणं । पावकरणवैलंघं हिंसादिपापक्रिया-
विलंघनो प्रेक्षणीयत्वेन संपदवर्त्तं पिशाचं करोतीति यावत् ॥

मूलारा—भयकरवैलेंचं भावहरणमेव निवृत्तना यस्य तं। पेच्छयकरं प्रेक्षणकारिणं हिंसादिपापक्रियाविद्वलं
प्रेक्षणीयकत्वेन संवदयत् विद्वान् करोतीत्यर्थः। उक्तं च—

कथायाद्यादिपापेन विद्याचीक्रियते तदः ॥

सन्मये प्रेक्षणीयलः कुर्वन्मायविद्वन्नाम् ॥

अर्थ—इंद्रिय और कथाय रूपी पिशाच यदुष्पको सुजनको देखनेलायक हिंसादि पापक्रिया करनेवाला
पिशाच बनाता है-

कुलजरस जस्समिच्छत्तगरस णिघणं वरं खु पुरिसस्स ॥

ण य विनिष्वदेण इंदियकसायसिएण जेहुंजे ॥ १३३३ ॥

देयतस्य कुलीनस्य योगिनो मरणं वरम् ॥

शोकद्वयसुखध्वंसि न कथायाक्षपोषणम् ॥ १३८१ ॥

विजयोदया—कुलजरस पुरिसरस जस्समिच्छत्तगरस कुलमसूतस्य पुंनः यशोदमिलयिष्यः। णिघणं वरं
मृतिः शोभना। ण दु वरं जीविदुल्ले नैव वरं जीवनं। विनिष्वदेण इंदियकसायसिएण इंदियकसायसिएण दीक्षितस्यैंद्रियकसायसिएणः।
जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥

मूलारा—णिघणं मरणं। जीविदुं जे जीविदुं ॥

अर्थ—उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ तथा यद्यकी अभिलाषा करनेवाला ऐसे पुरुष ॥ मरना भी अच्छा ही
मानना चाहिये। परंतु दीक्षा लेकर पुनः इंद्रिय और कथाय के वश होकर जीना अच्छा नहीं है। अभिप्राय यह है,
कि, इंद्रिय और कथाय के आधीन होकर जीना पापसर्वके लिये कारण है अतः ऐसा जीना स्वराज्य है।

अथ सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ॥

णिंदिज्जदि तच्च इंदियकसायवसिगो वि पब्बज्जिदो ॥ १३३४ ॥

विद्यते संगतः सर्वैः कथायाक्षवशुंभतः ॥

संयतने चमत्करके ॥ १३३४ ॥

मित्रयोदध—यथा रथी पलायंतो निदिच्छति यथा रथी पलायन्तिवते । कीदृक् ? खण्डो रग्गहिद्वयकंडो सप्रत्यः प्रगृहीतगणपटः । तथा इंदियकसायवसिगो वि पवज्जिदो तथा इंदियकपायवसवर्थेपि प्रयजितो निद्यते ॥

मूलरा—रथी रथारोहः ॥

अर्थ—जैसे-युद्ध के लिये तयारी चिसने की है अर्थात् कवच पहन कर और हाथमें धनुष्य और बाण लेकर लड़ने के लिये तो रथमें आसुद हुआ है ऐसा रथी वीर रणको देखकर यदि डरके मारे युद्धसे भागने लगता तो जगतमें उसकी निंदा हुए बिना नहीं रहती। वैसे दीक्षित होनेपर इंदियकपायवस हुआ पुरुष जगतमें निंदारत्न पात्र होता है।

अथ भिक्खं हिंदंतो मउडादि अलंकिदो गहिदसत्थो ॥

निदिज्जहु तथ इंदियकसायवसिगो वि पवज्जिदो ॥ १३३५ ॥

कपायाभ्रघरास्याची वृण्णते कैर्न संपतः ॥

याचमानो यथा मिथां भूपितो मुकुटाविभिः ॥ १३८३ ॥

विशदो१६६.—अथ नि-पचं हिंदंतो मुहुदाभिभिरदृष्टो गृहीतको मिथां भ्रमन् निद्यते । निद्यते इंदियक-पायवसवर्त्तो प्रयजितः ॥

मूलरा—गहिदसत्थो धृमात्तः ।

अर्थ—जैसे मुकुट, अंगद वंगर आभूषण पहना हुआ, हाथमें शस्त्र को धारण करनेवाला मनुष्य यदि मीर मांगत। हुआ देता गया तो उसकी लोक निंदा करते हैं वैसे दीक्षा लेकर इंदियवस और कपायवस होना यह ऊपरके वृष्टांत के समान निंदनीय है।

इंदियकमावज्जिगो मंडो णगो य जो मत्तिणगत्तो ॥

सो चित्तकम्मसमणोव ममणरूवो असमणो हु ॥ १३१६ ॥

सर्वांगीणमलालीदो नमो मुंडो महत्तपाः ॥

जायते सकपायाक्षश्चित्रमणसक्षिभः १३८४ ॥

विजयोद्यां—इंद्रियकषायस्थितियों इंद्रियकषायवशीष्टलः, मुंडो नदच्छ यो मलिनमात्रः सच । सो समणरूपो न समणो स भ्रमणरूपो न भ्रमणः । सो चित्तकर्मसंख्यो ह्य स चित्तकर्मभ्रमण इय । परमा^३ धमणसत्तारूपोऽपि यथा नियममणो न भ्रमणस्तत्र मुनेरिणामश्रवणः ॥

मूलात्—चित्तकर्मसमणोऽयं चित्रलिखितविवरिय । समणरूपो परमार्यविसहस्ररूपोऽपि ।

अर्थ—जो इंद्रिय और कषायके वश हुआ है, मुंडमस्तक, और मलिन अरि है वह मुनि होनेपर भी मुनि नहीं माना जाता है, वह चिर्यर्त्तस्त्व मुनिके समान है ऐसा मानना चाहिए, जैसे चित्र लिखित मुनि वास्तविक मुनि नहीं है वैसे इंद्रियवश कषायवश मुनि पाप परिणामोंसे मलिन होनेसे अशुभ कर्मके बंधक माने गये हैं इसलिये उनको मुनि नहीं समझना चाहिए.

ज्ञानं नरस्य शोषानपहरति इंद्रियकषायज्वलमुद्येन यथा सारथतः महारणमावरणं च शत्रुं नाशयतीत्युत्तरगा-
थायै, इंद्रियकषायजाये ज्ञानं क्षोपापहारित्वा^४ अतिशयं न लभते यथा सारथहीनस्यावरणसंधाहारस्य महारणं च लक्षणचक्रादिकं शत्रुजपस्यमतिशये नास्त्यत्यन्ति ॥

णार्ण दोसे णासिदि णररस इंद्रियकषायविवरणेण ॥

आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥ १३३७ ॥

ज्ञानदोषयिनाशाय कषायेंद्रियनिर्जयः ॥

नारं शत्रुविपाताय जायते सत्त्वसंभवे ॥ १३८५ ॥

विजयोद्यां—णार्ण ज्ञानं दोसे दोषात् । णासिदि नाशयति । णरस्स गरस्य इंद्रियकषायविजयेन । जह यथा । आउहरणं पहरणं दारणं महारणं शलं । लहमावेन यतने इति सत्त्वस्यस्स । अरिं रिपुं । णासेदि नाशयति ॥

मूलात्—जावरणं भ्रमादः । नरसत्तस्य सत्ययुत्तम्य ।

इंद्रियाँ और कषायोंको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंका नाश करता है, जैसे धैर्ययुक्त मनुष्यका शत्रु और कबच शत्रुका नाश करता है ऐसा आगेकी गाथाका भाव है, इंद्रिय और कषायोंको यदि न जीता जायगा तो ज्ञान दोषोंका नाश नहीं कर सकेगा, जैसे धैर्यहीन मनुष्यके शत्रु और कबच शत्रुको नहीं जीत सकते हैं.

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंपर विजय प्राप्त करके ज्ञान पुण्यके दोषोंका नाश करता है, जैसे धैर्यवान् मनुष्यका आशुष शत्रुका आयुध नष्ट कर देता है.

णाणंणि कुणदि दोमे णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥
आहारो वि हु थाणो णरस्स विससंजुदो हरदि ॥ १३३८ ॥
दोयाय जायते ज्ञानं कपायेंद्रियद्वित्तम् ॥

विजयोदया—णाणंणि कुणदि दोमे णरस्स ज्ञानं दोयन्नपि करोति नरस्य । इंदियकसायदोसेण इंद्रियरूपाय-
परिणामदोसेण । उपकार्यंणि भद्रुणकारितामुद्धति परमसंगेण । यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्यहारो विगमिन्नः प्राणा-
विधनाशयति ॥

मुलारा—दोमे अपकारान् ॥

अर्थ—इंद्रिय क्षणायस्वी परिणाम दोषेति पुरुषका ज्ञान मी दोषको उत्पन्न करता है, यद्यपि ज्ञान
उपकार करनेवाली चीज है परंतु दूसरेके अर्थात् सदोषके संगर्षे दोष उत्पन्न करता है, जैसे अन्नसे प्राण धारण
होता है परंतु वह विषयशुक्त होकर प्राणोंका नाश करता है।

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ॥

बलरुत्तवणमाळ करेदि जुत्तो जघाहारो ॥ १३३९ ॥

विदधाति शुणं ज्ञानं कपायेंद्रियवल्लितम् ॥

वपुयोंग्यं करोत्तन्नं बलवर्णदिसुंदरम् ॥ १३४० ॥

विजयोदया—आण करेदि ज्ञान करोति। पुरिसस्स गुणे पुरुषस्य गुणान् । कये ? इंदियकसायविजयेण इंद्रिय-
कपायविजयेण बलवर्णकवमाळ करेदि बल रूप, तेज, आशुच्य करोति । जुत्तो जघाहारो युक्तः शोभनो यथाहारः ॥
विजयेणामिधित- ॥

मुलारा—वण्ण तेलः । जुत्तो सिद्धिः ॥

अर्थ—इंद्रियां और कर्णयोको जीतकर ज्ञान मूल्यधर्म गुण पैदा करता है- जिसमें विष मिश्रण नहीं हुआ
है ऐसा उत्तम आहार तेल, चीर्ष, रूप, पराक्रम और आयुको बढ़ाता है-

गार्णं वि शुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥

अपवघाए सत्थं होदि हु काएरिस्सहत्थगयं ॥ १३४० ॥

कपायेंद्रियदोषेण ज्ञानं नाशयते युणं ॥

इअग्रमात्तमविनाशाप किल भीरुकरास्थितम् ॥ १३८८ ॥

पित्रयोदया—ज्ञानमपि युवाग्रस्तमिति नरया इंदियकपायपरिणामदोषेण । आत्मवघाय भवति शंखं कापुण्यवृत्तमगते इति ॥

मूलाद—अपवघाए स्वघाताये ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपायेंद्रिय दोषोंसे मनुष्यका ज्ञान गुणोंका ध्वंस करता है. धेवंहीन पुरुषके साथमें रहनेवाली वारवार उसका ही नाश करती है.

उत्तर गार्घायेः ॥

सवट्ठुरमुदो वि अवभाणिज्जदि इंदियकसायनोसेण ॥

णरमाउधहत्थं पि हु मदयं गिद्धा परिभवति ॥ १३४१ ॥

कपायेंद्रियदोषातः शास्त्रोऽप्यवमन्यते ॥

किं प्रेतः पाखरहस्तोऽपि न स्वगैः परिभूयते ॥ १३८९ ॥

पित्रयोदया—सुशुचिमुदोपि सुष्ठु यशुतोऽप्यवमन्यते इंदियकपायदोषेण । शूहीतात्ममपि नरं हृतं भुजः परिभपन्ति यथा ॥

मूलाद—अवभाणिज्जदि अवशारेणुःक्रियते ॥

अर्थ—इंद्रिय कपायेंद्रिय दोषोंसे बहुतभूत विद्वानका भी लोक जयमान करते हैं. जिसके क्षायमें शस्त्र है उसे मरे हुए मनुष्यका गीघ पराभव करते हैं.

इंदियकसायवसिगो बहुसुदो वि चरणे ण उज्जमदि ॥

पक्खीय छिण्णपक्खो ण उप्पहदि इच्छमाणो वि ॥ १३४२ ॥

घृते नाक्षकपायार्त्तः शुलशोऽपि प्रवर्तते ॥

उद्दीप्यते कुतः पक्षी लूनपक्षः कदाचन ॥ १३९० ॥

निलमोदया—इन्द्रियकसायसिगो इन्द्रियकसायवशात्, बहुशुलोऽपि चारिते नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्ततति इच्छति ॥

मूलारा—इच्छयाणो वि उत्सतिशुनिच्छति ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कपायोंके वश हुआ पुरुष विद्वान होकर भी चारित्र्यमें उद्यम नहीं कर सकता है, जिसके पक्ष टूट गये हैं ऐसा पक्षी उड़नेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं उड़ सकता है,

णस्सदि संगमि बहुगं वि णाणमिन्द्रियकसायसम्मिस्सं ॥

वित्सम्मिस्सिदुदुदुं णस्सदि जघ सक्कताकडिदं ॥ १३९३ ॥

लंसते बहुपि ज्ञानं कपायेद्विपदूपितम् ॥

सत्कार्कर्ममपि क्षीरं सविपं भंक्षु नश्यति ॥ १३९१ ॥

विजयोदया—णस्सदि संगमि बहुगमि णाणं नश्यति स्वयं वहसि वान् इन्द्रियकसायसन्निधेः । शर्कराफणितं शुण्य विपनिग्रमिप । माधुर्योत्साविवायता दुग्धस्य शर्कराफणितराशेन कप्यते ॥

मूलारा—णस्सदि विनश्यति । सुदं भुताख्यं । सक्कताकडिदं अतिमधुरमित्यर्थः ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कपाय विकारोंसे मिथ्र हुआ मधुवसा भी क्षान नष्ट होता है, विपनिग्रम भी मीठा कटाया हुआ दूध नष्ट होता है अर्थात् उसका स्वभाव नष्ट होता है,

इन्द्रियकसायदोसमलिणं णाणं ण वट्टदि हिदे से ॥

वट्टदि अणस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं ॥ १३९४ ॥

ज्ञानं परोपकाराय कपायेद्विपदूपितम् ॥

किमूढमुपकाराय रासमस्य हि चंदनम् ॥ १३९२ ॥

मिजवोदया—ज्ञाने लदीये तन्मये उपकारिताया प्रसिद्धतामपि स्वीकृत्यारि भवति इन्द्रियकषाययमलिनं परोपकारि
 न भवति यरेकोटं चंदनादिफलमिच्छेति स्वयार्थः ॥

मूलारा—दिने उपकारे । से तस्य ज्ञानगतः ॥ उपकारितया प्रसिद्धतामपि नोपकाराय भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—इन्द्रिय और कषायोंसे ज्ञान मलिन होता है तब वह अपने स्वामीका हित करनेमें असमर्थ होता है परंतु उस ज्ञानसे दूसरों का हित होता है। गंधा चंदनका बोझा धारण करता है परंतु उससे उसका भी हित होता नहीं। जो उस चंदन का उपयोग लेते हैं उनकाही उससे हित होता है। उसी तरह इन्द्रियकषायसे जिसका ज्ञान मलिन हुआ है ऐसा आत्मा गंधके समान स्वज्ञानमें अपना हित नहीं कर सकता है।

ज्ञानं प्रकाशकस्यमपि जहाति—

इंद्रियकसायनिगह्णिमीलितदस्स दु पयामदि ण जाणं ॥

रत्ति चक्खुणिमीलभम जघा दीवो सुपञ्जलिदो ॥ १३४५ ॥

कषायाद्यवृद्धोतस्य न विज्ञानं प्रकाशयते ॥

निमीलितं क्षणस्यैव दीपः प्रज्वलितो निक्षि ॥ १३९३ ॥

मिजवोदया—इंद्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति । इन्द्रियकसायनिगह्णिमीलितदस्स इन्द्रियकषायनि-
 शेदे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं न प्रकाशकं । रत्ति च रात्रादिव । चक्खुणिमिच्छिदस्म निमीलितवस्तुषु पुंसः । जह दीवो
 सुपञ्जलिको यथा सुमल्पलितः प्रदीपः ॥

मूलारा— निमीलितदस आनुपयुक्तस्य । इन्द्रियकषायाभिभूतयेत्यर्थः । पयामदि ण असुखकाशकं न भवति ।
 रत्ति रात्रौ । चक्खुणिमीलितदस्स विहितवैजस्य ।

ज्ञानका पदार्थको प्रकाशित करना अर्थात् जानना यह धर्म है परंतु वह भी कषायवश होनेपर नष्ट होता है ऐसा करते हैं।

अर्थ—इन्द्रिय और कषायवश होकर आत्मा हीनवस्थाको पोहोचता है तब उसका ज्ञान पदार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होता है जैसे रातमें कोई आदमी आत्मे भीचकर सोया हुआ है ऐसी परिस्थितिमें उसके

पास जलवा हुआ भी दीर्घक क्या पदार्थको दिखानेमें तब पुष्पको सहायक होता है? इसी प्रकार कृपायवशा होनेपर आत्माको उसके ज्ञानसे पदार्थको जाननेमें सहायता नहीं मिलती है.

इन्द्रियकसायमडलो वाहिरकरणिहुदेण वेसेण ॥

आवहदि को वि विसए सउणो वीदंसगेणेव ॥ १३४६ ॥

बाहिर्निभृतवेयेण गृह्णते विषयान्सदा ॥

अंतरामलिनः कंको मीनानिव दुराशयः ॥ १३४७ ॥

वित्तयोत्था—राज्यकसायमारतो रंद्रियकसायपरिणाममलिनः वाहिरकरणिहुदेण वेसेण । वाश्या गन्नादिक्वापा। क्वापाया निभृतेन वेयेण । कोरे विसए आवहदि । काञ्चिद्विषयानागृह्णते मातमनो भोगाय ॥

मूलारा—वाहिरकरणिहुदेण । गमनागमनादिक्क्रियार्लभतेन । वेसेण आकरोध । आवहदि सेयते । मउणो पक्रियः । वीरंसगेणेय भीतशंकेनेय । गृह्णतशिक्षितपक्रियो यथा न्याय इति शेषः । अन्यस्तु सउणो वीदंसगेणेव इति पठित्वा पक्षी बंजरा पथेति प्रविष्टः ॥ तथा च तदुक्तम्—

उपायाको कुटीक्षिते बहिर्निभृतवेयवान् ॥

आदत्ते विषयार्क्षित्वा निभृतः शत्रुको यथा ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कृपायवश होकर वित्तका आत्मा मलिन हुआ है ऐसा पुरुष वाश आना जाना चंगरह क्रियाओंसे अपना मूलस्वरूप-मलिनस्वरूप छिपाकर विषयोंका सेवन करता है परंतु मनमें वह निःशुंक्र नहीं रहता है अर्थात् मेरा मलिन स्वरूप कदाचित् लोक आनेमें ऐसा भय हमेशा उसको व्यथित करता है, जैसे पारधी किसी पक्षीको पकड़कर उसको शिथल देकर उसका पूर्वस्वरूप छिपाता है वैसे कृपायमलिन आत्मा अपना मलिन स्वरूप छिपाकर बाल क्रियाओंसे अपनी छुदला दिखानेका प्रयत्न करता है परंतु वह मनमें हमेशा शंक्षित ही रहता है.

घोटगल्लिडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ॥

वाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुदकरणस्स ॥ १३४७ ॥

पोटकोच्छ्यातुल्यस्य किमन्तः कृषितात्मनः ॥

दुष्टस्य यफचेष्टस्य करिष्यति बहिः क्रिया ॥ १३९५ ॥

विजयोत्तरा—पोटकोच्छ्यातुल्यस्य योऽन्तर्गतस्य मानस्य यथा यतिर्भूयता न तद्वन्तर्भव्यता । तद्वत्कस्य-
विदाहर्षं चरने समीचीनं भाव्यतराः परिणामाः शुभाः । स यद्युत्थयेत् । बाहिरकरणं हि क्रिया क्रिया अनन्ताना-
निका किं करिष्यति । अन्तर्गतस्य कृषिदत्तस्य अंतः कृषितत्त्वः । इंद्रियकयायसंज्ञाऽऽश्रयपरिणामेन नष्टाभ्यंतरतपोवृत्ते-
रिति यावत् । यत्किमुत्तरात्तत्त्वस्य यद्यपि यत्किमुत्तरात्तत्त्वस्य यथा योऽन्तर्गतस्य मानस्य यथा योऽन्तर्गतस्य मानस्य ।

युक्ता—पोटकोच्छ्यातुल्यस्य यथा योऽन्तर्गतस्य मानस्य यथा योऽन्तर्गतस्य मानस्य । योऽन्तर्गतस्य मानस्य यथा योऽन्तर्गतस्य मानस्य ।
कृषितत्त्वस्य इंद्रियकयायसंज्ञाऽऽश्रयपरिणामेन नष्टाभ्यंतरतपोवृत्ते-
रिति यावत् । यत्किमुत्तरात्तत्त्वस्य यद्यपि यत्किमुत्तरात्तत्त्वस्य यथा योऽन्तर्गतस्य मानस्य यथा योऽन्तर्गतस्य मानस्य ।

अयं—योरे की लीद अंतर दुर्गधिपुक्त रहती है परंतु बाह्यरसे यह स्निग्धकालिसे युक्त होती है।
अंतरभी यह वैसी नहीं होती, उपयुक्त स्थानोंके समान किसी पुरुषका—शुनिका आचरण ऊपरसे अच्छा—निर्दोष
दीप्त पड़ता है। परंतु उसके अंदरके विचार कयायेस मलिन अर्थात् गंदे रहते हैं। यह बाह्याचरण उपवास, अथवा
द्वयोदित रूप उसकी कुछ उन्नति नहीं करता है। क्योंकि इंद्रियकयायरूप अंतरांग मलिन परिणामोंसे उसका अर्ध-
रा तब नष्ट हुआ है, जैसे पगुला ऊपरसे स्वच्छ और प्यजन धारण करता हुआ दीखता है परंतु अंतरांगमें मरस्य
गारनेके गंदे विचारोंसे युक्तही होता है।

प्राप्तं तपः करणीयतपोविदं सत्कलं संपादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्यादांकायां धुरितराच्ये—

बाहिरकरणविमुद्धी अन्तर्गतकरणसोपध्याए ॥

ए इ कुंडयस्स तोषी सक्का सतुसस्स काहुं जे ॥ १३४८ ॥

प्रताप बहिः क्रियाशुद्धिरन्तर्गतविमुद्धये ॥

परिर्मलधयेन मंदुलोऽन्तर्गतविमुद्धये ॥ १३४९ ॥

विजयोत्तरा—बाहिरकरणविमुद्धी बाह्यक्रियाविमुद्धिः । अन्तर्गतकरणसोपध्याए अन्तर्गतक्रियायां विनया-
रीनां मुद्धये, भाव्यतरतपोसं लब्धये यदुत्तरकर्मनिर्गतस्य भाव्यतरतपोसं लब्धये बाह्यान्वयमनादितर्गतस्य । ततोऽन्यथेतया
१३४९

पाशान्युपदिशति । यदि यदर्थं तत्प्रदायं इति प्रधानताभ्यन्तरतत्पक्षः । तत्र शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै वाह्यमस्ते । उक्तं न-पाशो तपः परादुष्परिणामरस्त्वयाम्यात्मिकस्य तपसः परिशुद्धिर्णार्थं ॥ इति ॥ न तु कुण्डयस्स सोभो सका कर्तुं ते नैवान्तर्गतस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? सत्सुसस्स सत्सुपस्स धान्यस्य ॥

न चैवं कर्त्तव्यं तपो चागुह्ये गित्यवसेयं अतः—

युक्ता — अन्धभवेत्यादि अन्धन्तरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धयर्थं धान्यन्तरतपसा लब्धेयं बहुतरकर्मनिर्जराणामाणां परिशुद्धये बाह्यतयासि क्रियेण । इति न ध्यानतया तान्युपदिशति । यदि यदर्थं ॥ तत्र प्रधानमिति, तत्रधानताभ्यन्तरतपस इति तात्पर्यं ॥ जोडवस्स अन्तर्महत्स्य । सुखी स्फोटनं सत्सुसस्स सत्सुपस्स धान्यस्य ।

बाह्य तप करना चाहिये ऐसा आश्रममें कहा है और वह अपना फल जीवको देना ही है परंतु आप तो उसको निष्फल बता रहे हैं अतः वह आपका कइना विरुद्धसा भाव्यम होता है ? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ — बाह्य क्रियाओंकी अनशनादि तपोकी निर्मलता अंतरंग विनयादि तपोकी निर्मल करनेके लिये होती है अर्थात् अन्धन्तर तप छोड़े कालमें बहुत कर्मोंकी निर्जरा करनेका सामर्थ्य रखते हैं, और बाह्य तप इन तपोंका सामर्थ्य बढ़ाता है अतः बाह्य तपोंको ' बाह्य यह नाम सार्थक है, अन्धन्तर तपके लिये बाह्य तप है अतः अन्धन्तर तप प्रधान है, यह अन्धन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामोंसे युक्त रहता है, इसके विना बाह्यतप कर्म निर्जरा करनेमें असमर्थ है, श्रीसमन्तभद्र आचार्य ' हे प्रभो आप अतिक्रम काठिन ऐसा बाह्य तप अन्तरंग तपकी वृद्धीके लिये करते थे ' ऐसी विनय की स्तुति करते हैं, इससे अभ्यतर तप प्रधान है और बाह्य तपसे अभ्यतर तपमें विशुद्धता प्राप्त होती है यह सिद्ध होता है, बाह्य तप निष्फल अर्थात् व्यर्थ है ऐसा समझना योग्य नहीं है, जो धान्य सत्सुप है अर्थात् ऊपरके छिलकेसे युक्त है उसका अन्धर्मल तप्त नहीं होता है, जब छिलका नष्ट होता है तब धान्यका अन्धर्मलभी नष्ट होता है, अतः अन्तरंग तपको विशुद्धताके लिये बाह्य तप भी करना चाहिये ऐसा आचार्यका मत इस भाषासे स्पष्ट होता है.

अन्धन्तरासोधीष्ट सुद्धं पियमेण वाहिरं करणं ॥

अन्धन्तरादोसेण हु कुणदि णरो वाहिरं दोसं ॥ १३४९ ॥

विजयोदया—अम्भंतरसोर्धीष अम्भंतरमुदया । मुहं विषयेन वाहिरं करणं मुहं निश्चयेन वाह्यं करणं । अम्भं-
तरदोसिण सु अंतःपरिणामदोषेणैव इन्द्रियकषयपरिणामादिना । कुणदि जतो वाहिरं दोसं करोति नरो बाह्यान्वो-
पान्वाकषयाअयान् ॥

मूलाटा—मुहं निर्दोषं भवति । वाहिरकरणं वाक्कायक्रिया वाहिरं वाक्कायाश्रयं ।

अर्प—अम्भंतर सुद्धिपर नियमसे बाह्य शुद्धि अवलंबित है. अंतरंग यदि जगुद्ध है तो मनुष्य वचन
और शरीरके आश्रयसे दोष करता है. इन्द्रिय और कषाय परिणाम ये अन्तरंग दोष है इनसे आत्मा जब मलिन
होता है तब वचन और शरीरसे भी दोष होता है और यदि अन्तरंग परिणाम निर्मल है तो वचनवृत्ति और शरीर
प्रवृत्ति भी निश्चयसे शुद्ध होती है.

लिंगं च होदि अम्भंतरस्स सोर्धीष वाहिरा सोर्धी ॥

भिडडीकरणं लिंगं जह् अंतो जादकोधरस ॥ १३५० ॥

यहिः शुद्धिर्यतो लिंगमन्तःशुद्धेऽप्रजायते ॥

नांतः कोपयिसुक्तेन भ्रुकुटिः क्रियते यहिः ॥ १३५८ ॥

यत्र प्रयान्ति स्थितिकन्मधुवीस्तद्व्रतते चैर्ह्वयं कषायैः ॥

काष्ठं हुताशैरिच तीव्रतापैस्ते कस्य कुर्वन्ति न दुःखमुग्रम् ॥ १३५९ ॥

चैः पोष्यते दुःखदानप्रवीणास्तेषां गीढां ये ददन्ते दुरन्ताम् ॥

भ्रीमाकारा व्याघ्रयो वा प्ररुढाः संत्यक्षार्धाः कस्य ते न क्षयाय ॥ १४०० ॥

इति सामान्याक्षकायायदोषाः ॥

विजयोदया—लिंगं च होदि चिह्नं = भवति । अम्भंतरस्स परिणामसोर्धीष अम्भंतरस्य परिणामस्य शुद्धः ।
वाहिरा सोर्धीषाणां शुक्तिरजसादितपोविषया । भिडडीकरणं लिंगं भ्रुकुटीकरणं लिंगं । जह् यथा । अंतो जादकोधरस्स

अंतर्जातस्य कोपस्य द्वियं द्विगभाजः । बाह्यानामन्यतराणां चैवं भवति यदि परस्परविनाभावविता स्यादभिपन्नयोरिव ।
प्रसिद्धा द्विगलितभाजः कार्येण याहोत्र कारकस्यान्यतरस्थेति भावार्थः ॥

मूलारा—द्विगं यमकं । यम इव यन्त्रेः कार्याहं साधनमित्यर्थः । बाह्यं परस्परविनाभावमस्य । बाहिरा
अनन्तनादितपोविषया । सामान्येन्द्रियकणायदोषा ॥

अर्थ—अन्यतर परिणाम सुदीक्षा अनन्यनादि बाह्य तत्र द्विगं है, चिह्न है, जैसे किसी मनुष्यके मनमें
क्रोध जब उत्पन्न होता है तब उसकी मोहें ऊपर चढ़ती है और व्यादह चक्र होती है, अर्थात् चली हुई मोहें
देवकार लोक इस मनुष्यके मनमें क्रोधका विकार उत्पन्न हुआ है ऐसा अनुमान करते हैं, इस प्रकार बाह्य और
अन्यतर परिणामोंमें द्विगलितभाव है, अर्थात् बाह्य द्विगं है अंतरंग द्विगी है, अन्यतर और बाह्य इनमें जब
आपसमें धूम और अग्निके समान अविनाभाव रहता है तब द्विगलितभाव माना जाता है, अर्थात् बाह्य कार्यरूप
और अन्यतर कारणरूप होनेसे अविनाभाव इनमें होता है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये-

ते चेव इन्द्रियाणं दोसा तत्त्वे हवंति णादब्बा ॥

कामस्स य भोगाण य जे दोसा पुच्चणिदिद्वा ॥ १३११ ॥

ये रामाकामभोगानां प्रपञ्चन निरूपिताः ॥

अक्षणाणामपि ते दोषा द्रष्टव्याः सकलाः स्फुटम् ॥ १३०१ ॥

विजयोदया—ते चेव इन्द्रियाणं दोसा त एवंद्रियाणां सर्वेषां दोषा प्रयन्ति इति प्रतल्याः । के ? ये दोसा पुच्च
णिदिद्वा ये दोषाः पूर्वनिर्दिष्टाः । कामस्स य भोगाण य कामस्य भोगाणां च संबंधतया निर्दिष्टा दोषाः ॥
इतानी विदोषण इन्द्रियदोषान्नायानवकैव व्याचिख्यासुः पूर्व सामान्येन उदभिधानाय गत्यादयमाह—

मूलारा—स्फुटम् ॥

अर्थ—काम और भोगसंबंधी जो दोष पूर्व कहे हैं वे ही सर्व दोष इन्द्रियोंके विषयमें भी समझने चाहिए,

महत्त्वं असिधारं तिवस्सं लेहिज्ज जव णरो कोई ॥
तव विसस्यसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोमे ॥ १३५३ ॥

महत्त्वं असिधारं तिवस्सं लेहिज्ज जव णरो कोई ॥
तव विसस्यसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोमे ॥ १३५३ ॥

मधुलिप्तामसंधार्यां तीक्ष्णां लेष्टि च मूढधीः ॥
इंद्रियायं सुखं मुंक्ते यो लोकद्वयदुःखदं ॥ १४०२ ॥

विजयोदया—मधुलिप्तं मधुना लिप्तां । अविधारं असेधार्पां । तिष्ठत्वं तीक्ष्णां । जड् जटो कोई लेहिल्ल यथा नरः कश्चिदास्यादयति विह्वला । तद् विसयमुद्धं सेवयि तथा विषयसुखं सेवते । दुहावहं इह य परलोप दुःपायहमत्र जन्मनि परय च, स्वल्पमुपगतया गदुदुःपतया च साम्यं दद्यान्तदार्णान्तिक्तयोः ।

विषयसेवायां लोभद्वयदुःखमृविद्यायां स्वल्पमुल्लापयत्य प्रयोजकत्वं दद्यान्तेन समर्थयते ।
मूढाया—लेहेल्ल विह्वला स्वादयेत् ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष मयसे लिप्त वरवारकी तीक्ष्ण धारा विह्वलसे चाटता है वैसे सर्व प्राणी इहलोकमें और परलोकमें दुःखदायक विषयोंका सेवन करते हैं. वरवारकी मधुलिप्त तीक्ष्ण धारा चाटनेसे थोडासा सुख मिलता है परंतु गदुदु दुःख होता है. वैसे ये विषय भी इहपरलोकमें अल्पसुख और अधिक दुःख देते हैं अतः स्थिति और दार्ष्टान्तिकता साम्य है.

एकैकैन्द्रियविषयवरायतिभिर्मृगादिभिरुपद्रवो द्याकः, किं पुनरक्षेपेन्द्रियविषयकल्पदेवैः प्राप्येऽनये वाच्यमिति मयाचे—

सदेण मओ रुत्वेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण ॥
मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥ ११५३ ॥
रूपशब्दरसरूपदर्शनं धास्तका यथाक्रमम् ॥
पतंगयुगभीने भद्रमराः प्रलयं गताः ॥ १४०३ ॥

विजयोदया—सदेण मओ गद्वेन मृगः वाण्यच्छेद्यतरससुभित्ठणावयासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिक दुष्टममं दुःखसमानतिविशाल विशालगच्छीभिन्नतुल्येति द्रष्टव्यो व्याघकलगीतत्रयेण सुखाकूणितालोचनः, पित्ततिनीदरमिव दुष्पमेसासु, संयुतिस्त्रि महतीषु वरण्यानीषु, विषद इव दुष्टकिमणीयासु सहजीतरुगतक-
नापादासः, रम्यगिरिनिदीविपुलन्दे, स्वेच्छापानतरुणिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रतिभिः, अनुकूलमेककरिणीमन्दयनेनासु-

मरुमानो वासिताविशालजलयस्पर्शोर्णोर्णवर्षीतिर्मदकलो विवेचनो रागबद्धतिमिरपटलायुंष्टितलोचनो महति गर्ते निपतितः परं ग्रसनमयगाहले । मच्छो भस्वाः युवजनमनःखरोनपायिविहासिनीविलोचनविभ्रमविलेननोद्यतः स्थव्याहा-
ररसलोदुयो विषदमादववशः प्रयाति । विविचसुरभिमसलकररजोऽङ्गरागो भ्रमटः । विषपादपकुसुमगंधेनापहत
त्रियममप्राणो भ्रयति । एवमेते बोधान-प्रापिताः ॥

इन्द्रिविशेषदेव्यान्नाभासतकेन व्यापित्वामुदेकस्त्यापीन्द्रियविषयस्य सेवायां यरणांतविपदः संपरंते किं
दुतः पंचानामिति गाथाद्वयेन दृष्टांतपुष्टमाचष्टे—

मूलात्—यविविशो मारिकाः । दोषे मरणवसानदुःखानि ॥

यूकेक इन्द्रियोंके बद्ध होकर भुंग खोर प्राणियोंको दुःख प्राप्त हुआ है- परंतु मनुष्य प्राणीको पंचेन्द्रिय
विषयलब्धतासे क्यों न दुःख प्राप्त होगा ? अर्थात् इन पंचेन्द्रिय विषयोंसे अवश्य अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं- इसी
विषयका विवेचन—

अर्थ—शब्द सुनकर हरिण मरण कष्टको प्राप्ता होते हैं- हरिण जंगलमें केवल मुखके वाष्पसे भी दूट
सके ऐसा कोमल वन साफ़ और मृदु वायुके श्रेय्य स्पर्शसे ठंडे पानीका स्थान जानकर बढ़ाका स्फुटिक
तुल्य निर्मल पानी पीकर पुष्ट होता है- अंतःकरणके समान वेगसे दोढ़नेवाला यह हरिण जब व्यापका गायन
सुनता है तब मुखसे आखें मीथकर लदा हो जाता है- दृष्ट यमके दाढ़ाके समान तीक्ष्ण और विशाल चाणपंक्ति
से शरीर भिन्न होने पर वह अपने अत्यंत म्रिय प्राणोंको छोड़ देता है-

वनहस्ती स्पर्शनेन्द्रियके वध होकर अतिशय दुःखको प्राप्त होता है- विलासिनी स्त्रीके हृदयके समान
प्रवेश करनेमें अद्यक्य, संसारके समान विस्तृत, विषचीके समान दुर्लभ्य, ऐसे अरण्योंमें सल्लुकीके बुद्धोंके कोमल
पर्चोंका और शाखाओंका आहार घनहापी करता है- सुंदर पर्वतोंपरसे यहनेवाली नदियोंके अगाध न्हदमें स्वच्छ-
दसे पानी पीना, स्वेच्छासे मज्जन करना इन बातों से वह प्रसन्न होता है- अनुकूल अनेक दृष्टिनीओंके साथ वि-
हार करता है- वरुण इधिनिके विशालजपनका स्पर्शन करनेसे वह उन्मत्त होकर अचेतनसा होता है- साररूप गाढो-
धकारसे उसके नेत्र मुंद जाते हैं- तब वह महान् गड्ढेमें गिरकर अतिशय संकट को प्राप्त होता है-

मरुत्य भी रसनेन्द्रिय पथ होकर प्राणोंको छोड़ बैठता है- सुंदर स्त्रियोंके विशाल लोचनके विभ्रमका

अनुष्ठान करनेवाला मन्त्र स्वल्प आश्रयके समये लोभुष होकर शीघ्र ही श्राणोंका नाश करनेवाली विपत्तीको प्राप्त होता है.

नाना प्रकारके सुगंधित पुष्प समुद्रायेके परागमे व्याप्त हुआ अमर विपश्यन्के पुष्प का सुगंध ग्रंथकर अनेक प्रिय श्राणोंको ग्रहणात्ता है.

पुष्प दायक पक्षी दीपकहो सुगन्ध कलिका ममज्ञाकर उमपर ग्रहण करनेके लिये क्षपटवा है और अपने मान छोट देता है. इस मन्त्रसे ये नियंच श्राणा दुःखको प्राप्ता होते हैं.

पित्र्यां दुःखं प्रविशत्य विपश्यन्मन्त्राजितं मनुजमनो दशयति ॥

इदि पंचहि पंच हरा सदग्न्यकरिसंगंधरूजोहि ॥

इच्छो कहं ण हग्मदि जो भववि पंच पंचेहि ॥ १३५४ ॥

सत्तज्जु गंधमित्तो घाणेदियवसग्गो विणीत्ताए ॥

त्रिमपुष्पगंधमग्गाय मद्दो णिरयं च तंपत्तो ॥ १३५५ ॥

रूपसत्तदरत्तसस्सर्गंगयानां यदि हन्यते ॥

पुक्केन तदा कस्य सौक्खं पंच नियेयिणाम् ॥ १३५६ ॥

भरट्ठ्यां गंधमित्राग्गो घाणेदियवत्ता गत्ताः ॥

विपप्पत्तूनमाप्पाय विपय नरकं गत्ताः ॥ १३५७ ॥

निजगोदपा—भरज्जु भरट्ठ्यां तत्तां । गंधमित्तो गंधमित्तो नाम श्रुपात्ताः । मद्दो मृतः । विणीत्ताए विनीतापुरी गति । घाणेदियमग्गो घाणेदियमग्गत्ताः । विमपुष्पपुष्पमग्गाय विपचूणयसितपुष्पमागाय । मद्दो मृतः । णिरयं च गंगतो वरकं च गंगत्ता । मीमिययसत्ताजितेन कम्ममारेण ॥

मृगता—पंच विपयान् । एतां धीविजयो नेच्छति ॥

एवं तिरयां मत्तेकं तीम्विययसत्ताजितं दुःखं मद्दयं मनुष्याणां श्रमिद्वार्याख्यानेः पंचभिः प्रवृत्तियव्यव्यादौ

गंधमित्राजितमन्त्रेणां कथयति—

मूढाया—माउर सरयुर्दक्षिणात् नद्यां । गंधमित्तो गंधविज्ञो नाम राजा । विष्णीदाए अयोध्यायाः स्वामी ।
विषदुस्त्रगंधं ज्येष्ठभ्रातृमयुक्तोद्विग्नत्वोवाक्विणुसुरभितमकुसुमगंधं । अण्णाव सिधित्वा । संपन्नो गतस्त्रीवद्विपयरागा-
न्निदुच्छलपादोद्रेकेण ॥

तिर्यचोक्ते दुःस्वप्ना वर्णन कर अब मनुष्य गतिमें विपयरागसे उत्पन्न हुये दुःस्वप्ना वर्णन करते हैं—
अयं—इस प्रकार शुद्ध, रस, स्पर्श, गंध और रूप ऐसे पांच विषयोंसे हरिण, भ्रतस्य, भ्रमर, और
पर्वण ऐसे तिर्यच प्राणोंसे रहित होगये हैं. परंतु जो पांचोहि विषयोंका लेवन करता है ऐसा मनुष्य क्यों न प्राण
मुक्त हो जायेगा ?

अर्थ—निर्नीला यगर्गमें गंधमित्र नामक राजा ब्राह्मणद्वयके वज्र होकर विषगंध पुष्प को छेपकर मर गया
और नरकमें उत्पन्न हुआ. तीव्र विषयरागसे कर्मबंध होकर यह राजा नरकमें उत्पन्न हुआ.

पांडल्युत्ते पंचाल्यगीदसहेण मुच्छिदा संती ॥

पासादादो पछिदा गह्वा गंधब्बदत्ता वि ॥ १३५६ ॥

मूर्च्छिता पाटलीपुत्रे श्रम्यपंचाल्यगीत्तिः ॥

मृता गंधर्वदत्तापि प्रासादारपतिता संती ॥ १३५६ ॥

विषवोदपा—पाटलिपुत्रे पंचालस्य गीतशब्देन मुच्छिता खती प्रासादात्पतिता नष्ट गंधर्वदत्ता मानधेया
गतिका ॥

मूढाय—आचार गायनोपाध्यायनामैर् । गंधर्वदत्ता गणिकानामेदम् ॥

अर्थ—पाटलिपुत्रनगरमें पंचालनामक गायनाचार्योका माना सुनकर गंधर्व दत्ता नामक वैश्य मूर्च्छित
होगई और प्रासादसे गिरकर मरागा.

माणुसमंसपसचो कंपिछुवदी तथेव भीमो वि ॥

रज्ज्वम्बुदो गह्वो मदो य पच्छा गदो गिरयं ॥ १३५७ ॥

मर्यादासंसारसत्तः कापित्यनगरमधिपः ॥

राज्यभ्रष्टो मृतः प्राप्तो भीमः श्वस्रसुखयाम् ॥ १४०७ ॥

विजयंरणा—शत्रुग्योसप्तसह-कापित्यपुराधिपको भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृतः पञ्चाक्षरकमुपपद्यतः ॥

मृगारा—हं पितृवदी कापित्यपुराधिपतिः ॥

अर्थ—रापित्यनगरका राजा भीम मांसमक्षण करनेमें सुख्य हुआ था इस मांससक्तिदीपसे वह राज्यभ्रष्ट होकर मृत्युमो प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ.

चोरो वि तद् सुवेगो महिलारुबमि रत्नविष्टीओ ॥

विद्धो सरेण अच्छीसु मद्दो णिरयं च संपत्तो ॥ १३१८ ॥

सुवेगस्तरुनरो वीनो रामारूपविपत्तर्फीः ॥

बाणविद्धखणो मृत्वा प्रपदे नारकी पुरीम् ॥ १३०८ ॥

विजयोदया—चोरो वि तद् सुवेगो सुवेगनामधेयकोरोपि युपतिकपाकृष्टदिः शरैर्विद्धः शयेन मृतो नरकमुपगतः ॥
मृगारा—सुवेगो सुवेगसहः । अच्छीसु नेत्रयोः ॥

अर्थ—सुवेग नामपाचोर त्रिपोंके रूपालोकनमें युग्ध होकर बाणोंसे विद्ध होकर तत्काल मरणको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ.

काशिरिण गोवे सत्ता गहवदिपिया वि णासक्खे ॥

मारिट्ठण सपुचं धूयाए मारिदा पच्छा ॥ १३५९ ॥

गोपासक्ता सुतं हत्वा नासिम्यनगरे पृत्ता ॥

पापा गृहपतेर्मार्यो दुद्धिया मारिता सत्ती ॥ १४०९ ॥

दुःपद्मान्मिण्णा निपेविताःस्पर्शरूपरसगंधनिस्वनाः ॥

दुजना इव विमोह मानवं योजयंति कुपये प्रयीयसि ॥ १४१० ॥

अग्निनेव हृदयं प्रदहते सुषाते नु विषयैर्विश्रितः ॥

तत्कथं विषयवैरिणो जनाः पोषयन्ति भुजगानिवाधमान् ॥ १४११ ॥

इति इंद्रियविशेषदोषाः ।

विजयोदया—भ्रातृसिद्धिपुत्र स्वर्गोन्निग्रयेण हेतुना । गोत्रे सत्ता आत्मीये गोत्रले आसक्ता । गिह्यदि-
पिया राघुरद्वयार्ये । आसके नासिक्ये नगरे । भारेदूण समुत्तं स्वपुत्रं हत्वा । भूदाय दुहिता । पच्छा यदवात् । मादिदा
मृति नीता ॥ इंद्रिया ॥

मूढारा—गोत्रे गोत्रले । गद्वदिपिया राघुरद्वयार्यो । आसिके नासिक्यनगरे । भारेदूण हत्वा विपुत्वा ॥

सामान्यविशेषाभ्यामिन्द्रियदोषाः ॥

अर्थ—नासिक्य नगरमें अपने फाले हुये ग्यालेपर आसक्त हुई एक ग्रामकृत्की भाथाने अपने पुत्रका वध
किया तदनंतर अपनी लहकीके द्वारा माथी जानेपर मरकर नरकमें उत्पन्न हुई, इंद्रियोंका वर्णन हुआ ।

एवमिन्द्रियदोषपुण्यद्वयं कोषदोषप्रकटनार्थं प्रकथ्यते—

रोसाद्वहो णिलो हृदणभो अरदिअगिसंसत्तो ।

सीदे वि जिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिहो वा ॥ १३६० ॥

अरत्थदिक्कःकरालेन इयामलीकृतविग्रहं ॥

प्रद्विषयति तुपारंअपि तापितः कोषवह्निना ॥ १४१२ ॥

विजयोदया—रोसाद्वहो रोषाविहः । नीलवर्णो भवति हृदणभो विनष्टदीप्तिः । अरदिअगिसंसत्तो अरत्यसि-
संततः । सीदे वि जिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिहो व प्रदणोपसुष्ट इव ॥

इतः कषायविशेषदोषणान्मायाचतुर्विधमनोपक्षयान्पूर्वं कोषदोषान्पंचदशमाधाभिः कथयति—

मूढारा—रोसाद्वहो कोषप्रस्तः । णिलो ध्यामलवर्णः । हृदणभो विनष्टदीप्तिः । जिवाइज्जदि दृष्टितो भवति ।
प्रविषयतीलन्यः । वेवदि कंसते ॥

अब इंद्रियदोषोंका वर्णनकर अब कोषके दोषोंको प्रगट करनेके लिये शुरुआत करते हैं—

अर्थ—जब मनुष्य क्रोधसे संतप्त होता है तब नीलवर्ण बनता है, अर्थात् क्रोधोदय होनेके पूर्व मुखका जो

वर्ण दीखता था उससे मित्र मिलन ऐसा वर्ण होगा है. उतकी कांति नष्ट होती है. अरति-विरस्कारूप अर्घीसे वह चलने लगता है. ज़ादके समयमें भी उसको प्यास लगती है. और विशाचपीडित मनुष्यके समान वह कंपता है.

मिउडीतिबलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ॥

कोवेण खखसो वा जराण भीमो णरो भवदि ॥ १३६१ ॥

अ भाज्यां भापते भापामयूतां कुरुते क्रियाम् ॥

कोपय्याकुलितो जीवो ग्रहार्ते इव कल्पते ॥ १४१३ ॥

त्रिवलीकालितालीको रक्तस्तन्वीकृतेक्षणः ॥

दंतवष्टाधरो दुष्टो जायते राक्षसोपमः ॥ १४१४ ॥

विजयोदया—मिउडीतिबलियवयणो सुकुधीत्रियटितवदनो । उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खथो उग्रतोमिच्छल-
सुरत्तकक्षेक्षणः । रोसेण रोवेण हेतुना । न परसो राक्षस इव । जराण भीमो णरो भयो भवति परः ॥

मूखारा—मिथलिय कलटवलिग्रयुक्तं । उग्गद निर्गत । सुक्खक्खो रुक्खचक्षुः । भीमो भयावहः ॥

अर्थ—कोपसे भोदें चढती हैं और ललट तीन बलिअते युक्त होता है. कोपसे आंखें बड़ी बड़ी होती हैं, निश्चल होती हैं और लालसुतें होती हैं. तब मनुष्य मानो राक्षसके समान भयानक दीख पडता है.

जइ कोह तत्तलोहं गहाय रुद्धो परं हणामिस्ति ॥

पुव्वदरं सो उव्वदि उहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥ १३६२ ॥

आददानो पथा लोहं परदाहाय कोपतः ॥

शर्यं प्रदद्याते पुर्य परदाहे विकल्पनम् ॥ १४१५ ॥

विजयोदया—जइ कोह यथा कश्चित्तलोहं गहाय तत्तलोहं गृह्णत्या । किमर्थं रुद्धो परं हणामिस्ति रुष्टः परं हन्मीति । पुव्वदरं सो उव्वदि पूर्वतरं स पथ यदाहे तेन तेसेन लोहेन गृहीतेन । उहिज्जका परो ण वा पुरिसो दल्लते परः पुरयो न वा शरते ॥

मूखारा—गहाय गृहीत्या सर्वमानः ॥

अर्थ—जैसे कोइ कुछ मनुष्य दूसरोंका पात करनेके हेतुमे अग्निसे तापा हुआ लोहा हाथमे लेता है परंतु प्रथम ही वही दग्ध होता है दूसरा पुरुष अनित्यता लोह पिंडमे दग्ध होगा या नहीं भी

तव रोसेण सयं पुब्बमेव लज्झदि हु कल्लकलेणेव ॥
अणस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुद्धो ण य करिज्जा ॥ १३६३ ॥

विवशानस्तथा कोपं परयात्माय मूढधीः ॥

स्वयं निहन्त्यते पूर्वमन्यचातो विकल्प्यते ॥ १४१६ ॥

विश्ववोरया—तव रोसेण तथा रोपेन स्वयं पूर्व बलते प्रपीकृतलोहसंस्थानीयेन । अम्यस्य पुनर्तुं खं कुर्यान्न वा रुद्धः ॥

मूलारा—फलकलेणेव ताद्वारेण यथा ॥

अर्थ—तत्त्व लोहेके मगान कोधी मनुष्य प्रथम स्वयं संतप्त होता है तदनंतर वह अन्य पुरुषको दु खित कर सकेगा अथवा नहीं भी. नियमपूर्ण दुःखित करना इसके हाथमें नहीं है. जिसके ऊपर हम रोप करते हैं उसने शुभ कर्मका उदय होगा तो हम उसका ज्ञान भी याँका नहीं कर सकते हैं.

णासेदूण कसायं अग्गी णासदि सयं जघा पच्छा ॥
णासेदूण तव णरं णिरासवो णस्सदे कोवो ॥ १३६४ ॥
कोवो सत्तुगणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ॥
परिभवकरो सवासे रोसे णासेदि णरमवसं ॥ १३६५ ॥
आचारं पुरूपं हत्वा पापः कोपः पलायते ॥
प्रदण्ण जनकं काष्टं बन्दिः किं नोपशाम्यति ॥ १४१७ ॥
शत्रूपकाराद्रोपो यः स्वयंघृणां च शोककृत् ॥
स्यानं कुलं वलं कोषं हत्वा नाशयते नरम् ॥ १४१८ ॥

विजयोदया—रोसो सत्तुगुणकरो रोयः दानोर्वो ज्जो धम्मोऽप्यस्सत्तिं नाम तं करोति । अथवा दान्नां तुगुणकारं करोति रोयः । यतोऽयं हि रोयद्वेतेन दक्षमानं तं दृष्ट्वा ते तुवंति । कथमस्य रोपमुत्पादयाम इत्येयमाह-
नान्ने चक्षुर्पति । जीयाजं अज्जो या विजानामात्मनश्च बांधवानां शोकं करोति । परिस्वकरो सवासो स्वनिवासस्थाने
परिपश्यमानवति रोसो नासेदि गरमवसे रोयो नरमवधं नाशयसि ॥

मूढारा — समस्तयं अस्मयथारं । एतां भीविजयो नेच्छति ॥

मूढारा—सत्तुगुणारो दानोर्गोशुणोऽप्यस्सत्तं करोति ॥ अथवा दान्नां तुगुणकारं करोति । ते हि नरं

क्षोभयन्ति स्वमालं क्षोभयन्ति यतिधंसे वा दृष्ट्वा कुप्यन्ति ॥ जीयाजं बांधवानां । मण्णुक्रो कोरुज्जनकः । सवासो स्वनि-
वासस्थाने परिपश्यमानवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—जैसे अग्नि अपनी आधारभूत लकड़ीको प्रथम जलाकर पश्चात् स्वयंमी नष्ट होती है वैसे क्रोधभी
अपने आधारस्तेषु पुरुषका प्रथम नाश करके अनंतर स्वयं शांत होती है.

अर्थ—शत्रुमें अपकार करना यह गुण है वही गुण क्रोधमें भी है अर्थात् क्रोध जीवपर अपकार ही
करता है. अथवा क्रोध शत्रुपर उपकार करता है क्योंकि जब मनुष्य क्रुद्ध होता है तब उसके शत्रुओंको आनंद
उत्पन्न होता है और इनको हमेशा क्रोध किस प्रकारसे उत्पन्न किया जा सकेगा उसका ही विचार कर वे अपने
प्रतिपक्षको प्रोत्तुष्ट करतें हैं. क्रोधसे मनुष्य अपने बांधवोंको भी कष्ट पहुँचाता है उनको शोकयुक्त करता है.
क्रोध अपने घरमें अपमानको लाता है और अपने आश्रयस्थानका नाश करता है.

ण गुणे पेक्ष्णवि अववददि गुणे जेपदि अजंपिद्वत्वं च ॥

रेसेण रुद्धिदओ णारगसीलो णरो होदि । १३६६ ॥

गुणागुणो न जानाति यचो जल्पति निन्दुरं ॥

नरो रौद्रमना रुष्टो जायते नारकोपमः ॥ १४१९ ॥

विजयोदया—ण गुणे पेच्छदि गुणं न पश्यति यस्ते कुप्यति । अववदति निन्दति । गुणे गुणतत्पि तदीयात् ।
जेपदि अजंपिद्वत्वं च पदत्यव्ययमपि । रेसेण रुद्धिदओ रोपेण रौद्रचित्तः । णारगसीलो णरो हवदि नारकसीलो
मरति नरः ॥

मूढारा—शुनो गुणान् । तस्मै कुवन्ति । वदीनान् । अवयवद्वि निवृत्ति । जलसिद्धिं च अवान्वयमपि । नरदिबो परिचितः ॥

अर्थ—जग मनुष्य जिसके ऊपर क्रोध करता है वह इस व्यक्तीके गुणोंका महत्त्व वह भूल जाता है-उमके गुणोंकी निंदा करता है-जो शब्द झूठसे निकालना अयोग्य माना जाता है ऐसे शब्दोंका उच्चार वह देशक करता है-अर्थात् क्रोधके आवेशमें आकर मनुष्य गाली देता है-असम्य शब्द बोलता है-क्रोधसे मन क्रूर बनता है-अत एव क्रोधसे मनुष्योंका नरकीयोंका स्वाभाव बनता है-

जघ करिस्वयस्स घण्णं वरिसेण समज्जिवं खलं पचे ॥

उद्धवि फुल्लिगो दिचो तघ कोहग्गी समणसारं ॥ १३१७ ॥

धान्यं कृषीचलस्येच पावकः कलेशान्तोऽर्जितम् ॥

आमर्ग्यं प्लोपते रोपः धुणेन व्रतिनोऽखिलां ॥ १३२० ॥

पिजवोदना—जह करिस्वयस्स यथा कर्पकस्य धान्यं घर्णेन समजितं यत्क्याप्तं दहति विरुद्धलिगो वीरत्तया नोपासित्वेति धम्मपद्य हारं पुण्यपद्यो ॥

मूढारा— करिस्वयस्स कर्पकस्य । यत् खलं यत् खलं । कुल्लिगो अग्निक्वणः । समणसारं यत् पिपनं । यपः पुण्यं वा ॥

अर्थ—एक वर्षतक परिधम कर उपजाया और खलमें संचित किया हुआ किसानका धान्य एक छोटसे अग्निके स्फुल्लिगसे नष्ट होजाता है वैसे क्रोधरूपी अग्नि मुनिके अमूल्य पुण्य नामक वस्तुका नाश कर डालता है-

जघ उग्गवित्तो उरगो दम्भतणं कुरहदो पकुप्पन्तो ॥

अच्चिणे होदि अविस्सो तघ होदि जदी वि निस्सारो ॥ १३६८ ॥

मर्यत्तोत्रविपः सर्पः रुद्धो दग्धतृणाहतः ॥

निर्विप्यो जापत्ते शीघ्रं निम्सारोऽस्ति तथा यतिः ॥ १३७१ ॥

पिजवोदना—जह उग्गवित्तो उरगो मर्यत्तोत्रविप उरगो वर्मवृणांकुरकताः तत्पकुप्परोपवशमुत्पन्नं स्पृष्टं दृग्गादिकं मशयित्वा छटिति निर्विप्यो भवति । तथा यतिरपि निम्सारो भवत्यधिरूप्य एतन्नमयदिनाशान् ॥

गूढाग्रा—उरगो सर्पः । इक्ष्मत्तण्डुलहरो दर्भसूरीदिहः । पङ्कज्यतो प्रकर्षेण कुप्यन् । अविस्तो स्पृष्टं दर्भो-
रिक् भलपिचा मदिगुद्रीर्णगत्तो अयति । गिस्तारो क्रोपविषयमपकृत्य नष्टरत्नयः स्यात् ॥ उक्ते च—
पुविनो गर्भमागोऽन्यं निस्तारो जायते यतिः ॥

दर्भादुरागिष त्वर्धं दुष्टबुद्धिर्जगमः ॥

अर्थ—जैसे उग्रविषका घातक सर्प दर्भ वर्णाङ्कुरते व्यथित होकर अविषय मुन्द होता है. और उस तृण
को क्रोपने का दासता है तब निर्विष होता है वैसे यति भी क्रोपसे रत्नत्रयका नाश करता है जिससे वह नि-
गार होता है.

पुरिमो मषडसरिमो होदि सख्वो वि रोसहदख्वो ॥

होदि य रोसणिमिचं जम्मसहसेम् य दुख्वो ॥ १३१९ ॥

सुरूपोऽपि नरो रुष्टो जायते मर्कटोपमः ॥

क्रोपोपाजितपापख विरूपो जन्मकोटिदु ॥ १४२२ ॥

विज्ञानोदया—पुरिस्तो मषडसरिस्तो पुरगो मर्कटसदशो भयति । सुरूपोऽपि सरोपोऽपदत्तकः । इह जन्मनि
पोगगुप्तसर्पं पातमयिकभाष्ये-होदि मयति । जन्मसहसेषु दुरूप पतद्वयकृतात्क्रोपात् ॥

गूढाग्रा—रोसणिमिचं यक्षजन्मकृतेन रोषेण हेतुना ॥

अर्थ—पुरा सुंदर हीनपर भी जब वह क्रोपयुक्त होता है तब उसका रूप नष्ट होता है. यह मर्कट
गरीया दीलता है. इतनाही नहीं रोपसे वह अनेकजन्मोंमें अर्थात् हजारों जन्मोंमें बुरूपही होता है. एक भवमें
चोप घरनेसे अनेक जन्मोंमें कुरूपता प्राप्त होती है.

सुदु वि पिओ सुदुचेण होदि वेत्तो जणस्स कोषेण ॥

पपिदो वि जसो णस्सदि कुट्टस्स अकज्जकरणेण ॥ १३७० ॥

देष्टव्यो जनः प्रकोपेन जायते बहुभोजसि सन्न ॥

अकृत्यकारिणस्तस्य नश्यति प्रथितं यशः ॥ १३२३ ॥

पितृयोदया—सुदृष्टुचि नितरायसि । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव देष्टव्यो भवति तोयेन प्रथितमपि ययो नश्यति ।

कस्य ? कुदस्य अफज्जरणेन कुदस्य अकार्यकरणेन ॥

मूढारा—येसो देष्टव्यः ॥ यथिदेवि प्रकृतमपि वा ।

अर्थ—क्रोध करनेसे अतिशयप्रिय मनुष्य भी अधिक क्रान्त है, अर्थात् क्रोध करनेसे क्रोधी मनुष्यका मर्त्य होकर मनुष्य अयोग्य कार्य करता है जिससे उसका प्रसिद्ध यशभी नष्ट होता है-
मर्त्य होकर मनुष्य अयोग्य कार्य करता है जिससे उसका प्रसिद्ध यशभी नष्ट होता है-

भीयच्छगो वि कुदो कुण्दि अणीयल्ल एव सच्च वा ॥

मारेदि तेहि मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥ १३७१ ॥

कुपितः क्षुरुते मूढो यथिधानपि विद्वियः ॥

परं मारयते तैर्यो मार्यते म्रियते स्वयम् ॥ १३२४ ॥

पितृयोदया—भीयच्छगो वि कुदो कुण्दि अणीयल्ल एव सच्च वा ॥
या हस्यात् ॥

मूढारा—

भीयच्छगो वि बंधूनिवि । अपिअहमेवा अर्धचूनिवि । सपूणं अचूनिवि । मारेदि बंधूनिवि । तेहि बंधूनिवि । अप्पाणं वा आत्मानं ॥

अर्थ—निकट संबंधी मनुष्य भी क्रोधसे अपने बंधुओंको शत्रुतुल्य समझता है, उनको मारता है अथवा उनसे स्वं मारा जाता है-

पुज्जो वि णरो अचमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चैव ॥

जगविससुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥ १३७२ ॥

रुपितः पूजनीयोल्लिख्यते ॥

समस्तं लोकविख्यातं माहात्म्यं च पलायते ॥ १३२५ ॥

चित्रयोर्व्या—पुत्रो वि पूज्योऽपि नरो भयमन्यते रोगेण । तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माघसम्भं नरवति
 मृताः—सद्यम् ॥
 अर्ध—रोगं करनेवाला मनुष्य पूजनीय होनेपरमी वत्काल अपमानित होता है, उसका प्रसिद्ध माहात्म्य
 भी रोगमें नष्ट होता है.

हितं अलिप्यं चोज्जं आचरदि जणस्त रोसदोसेण ॥

तो ते सज्जे हिंसालियेचोज्जससुब्बवा दोसा ॥ १३७१ ॥

कृत्वा हिंसानृतस्तेयफर्माणि कृपितो यथा ॥

सर्वं हिंसानृतस्तेयदोषनामोति निश्चितम् ॥ १४३६ ॥

चित्रयोर्व्या—हितं अलिप्यं चोज्जं हिंसामसत्सं शौचं यज्जपति अथवा रोगदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिष्वभया
 रोगा मये भविष्यन्ति ॥

मृताः—चोज्जं धैर्यं । जणस्त लोकस्य संबंधि । हिंसादिकं करोतीति संबंधः ॥

अर्ध—क्रोधयुक्त मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है, अतस्य बोलवा है, चोरी करता है अतएव अनेक
 जन्मोंमें उमड़ी मी हिंसा होती है, उसके विषयमें असत्य बोला जाता है, लोक उसका धन चुराकर ले जाते हैं, ऐसे
 अनेक भयमें क्रोधले डूबल भोगमें पड़ेंगे.

वारवदीय असेसा धड्डा दीवायणेण रोसेण ॥

धदं च तेण पावं दुग्गदिभयवंधणं घोरं ॥ १३७४ ॥

द्वीपायनेन निःशोया दग्धा द्वारावती कया ॥

पापं च दारुणं दग्धं तेन दुर्गतिमीतिवम् ॥ १४२७ ॥

इति कोपः ।

वित्तबोद्धर—वारवती वारवती निन्देय वग्धा रुधेन क्षीणयनेन । घोरं च पार्श्वं बद्धं दुर्गन्धिमयमृत्तित्तिमिच्छं ।
कोदुत्ति ददं ॥

त्रोपदोषनवोक्त्यानाह—

मृदाया—वारवती वारवती । दुर्गन्धिमयमृत्तित्तिमिच्छं ॥ क्रोधदोषाः ॥

अयं—क्षीणयन मुनिनि क्रोधवत् होकर संपूर्ण वारका नगरी दग्ध की थी इससे उसको दुर्गन्धिके भय उत्पन्न करनेवाला घोरपाप पैदा हुआ । क्रोधका वर्णन समाप्त हुआ ।

मानदोषनवोक्त्यानाह प्रवेश उत्तर—

कुलरुवाणावलमुत्सामिस्सरयत्यमदितवादीहिं ॥

अप्याणमुष्णमेतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥ १३७५ ॥

जगतिरूपकुलैश्वर्यविज्ञानाज्ञातपोबलैः ॥

कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं गोघ्नं यध्नाति मानवः ॥ १३७६ ॥

विजयोद्धा—कुलरुवाणा कुलेन रूपेण आड्यत्वा, बलेन, श्रुतेन लामेन, वेधबलेन तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षन्नीचागोदं कर्म यज्जाति ॥

मानदोषनवोक्त्यानाह—

मुत्तारा—रुवाणा रूपमाणा य । जगतिस्सरयत्न लामैश्वर्यमर्थश्च । उष्णमेतो उत्कर्षयत् । कुणदि यज्जाति ॥

मानदोषका वर्णन विस्तारसे आचार्य करते हैं—

अर्थ—कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊँचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका चण कर लेता है ।

दधूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ॥

दट्ठण अप्पणादो अघिण् माणं ण यंति बुघा ॥ १३७६ ॥

विजयोदया—दृष्टव्य अण्णपादो आत्मनो हीनान् दृष्ट्या मूलो मानकलिं च्छेदयति । बुधाः पुनरात्मनोऽधि-
गम्यन्त्येवमानं मानं निरस्यन्ति ।

मूलरा—अण्णपादो आत्मनः सकाशात् । हीनं कुलादिभिरप्रकृष्टान् । कलिं पापं । अधिष्णु कुलादिभिरुल्ल-
ष्टान् मुष्टपायलोभ्य । न चेति न यांति सखंतीत्यर्थः ॥

अर्थ—अपनेसे उलादिभ्यो हीन लोकोंको देखकर कितनेक मूलं मनुष्य अभिमानयुक्त होकर पाप
उपाजन करते हैं, तथा अपनेसे भी उलादिकले वदे लोकोंको देखकर मानरहित होजाते हैं.

माणी विरसो सत्त्वस्म होवि कलहमगवेरदुक्खाणि ॥

पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥ १४३० ॥

द्वेषं कलिं भयं चैरं युद्धं दुःखं यथाः क्षतिम् ॥

मूलाग्रजं पराभूतिं मानी लोकद्वयेऽस्तुतः ॥ १४३१ ॥

विजयोदया—माणी विरसो सत्त्वस्म मानी सर्वस्य द्वेषो भवति । कलहं, भयं, वैरं, जम्मांतरानुत्तं दुःखं च
प्राप्नोति । निबोमत्त एद परम चारमार्गं ॥

मूलरा—सप्तम ॥

अर्थ—मानी मनुष्यका सत्र लोक द्वेष करते हैं-वह कलह, वैर, भय, और अनेक बन्धनोंमें दुःखोंको प्राप्त
होता है. नियमसे रहलोकमें और परलोकमें उमका अपमान भी होता है.

सव्ये वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादब्बा ॥

माणेण चैव मेधुणहिंसलियचोज्जमाचरदि ॥ १४३८ ॥

सर्वेऽपि कोपिनो दोषा मानिनः सन्ति निश्चितम् ॥

मानि हिंसावृत्तस्तस्यैशुनानि निपेवन्ते ॥ १३३१ ॥

विजयोदया—सत्ये नि कोपदोषा कोधस्य चर्षिता दोषाः । न गुणे पिच्छदि इत्येवमादिस्त्रयेण ते सर्वे मान
कृपापरश्यापि ग्रहय्याः । माने मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याग्निधाने च प्रयतते ॥

मूढारा—कोपयेता न गुणो पेच्छदि इत्येवमाविसूत्रोक्तः ॥

अर्थ—कोः कर्मेते जो दोष प्राप्त होते हैं वेही मानसे प्राप्त होते हैं. मानवश होकर मनुष्य मैथुन, चोरी
अस्तर्यमाण और हिंसा वगैरह पाप करता है.

सयणस्त जणस्त पिओ णरो अमाणी सवा हवदि लोए ॥

णार्णे जसं च अस्थं लभदि सकज्जं च माहेदि ॥ १३७९ ॥

निर्मानो लभते पूजां दुःस्वं गर्वमपास्यति ॥

कीर्ति साधयते शुद्धाभास्पवं भवति श्रियाम् ॥ १४३२ ॥

विजयोदया—सयणस्त मानरहितः सज्जनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । लोए लोके । णार्णे ज्ञानं ।
जसं यथा , अस्थं द्रुधिणं लभते स्यै कार्यमन्यदपि साधयति ॥

मनमार्दिगुणमभ्यजमुलेन मानितो दोषस्तद्वैरीत्वेन लक्ष्यविदुः गाथाहवमाह—

मूढारा—मज्जणस वंशुलोक्तस्य । जणस्त सामान्यलोक्तस्य ॥

अर्थ—निरभिमानी मनुष्य स्वजन और परजनको प्रिय होता है. जगतमें सदा उसको ज्ञान, वश और
धनकी प्राप्ति होती है. निरभिमानितासे वह अपने इतर कार्य भी साधलेगा है.

ण य परिहायदि कोई अत्ये मज्जगच्चेण पउत्तम्मि ॥

इह य परच य लब्भदि विणएण दु सज्जकल्लणं ॥ १३८० ॥

माद्वयं कुर्वतो जन्तोः कश्चनार्यो न क्षीयते ॥
संप्रयते परं सद्यः कल्प्याणानां परंपरा ॥ १४३१ ॥

विजयोद्या—ज य परिहायति माद्वये प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो क्षीयते । येनार्यमर्हदनिमयात् मत्तं कुर्वीत ।
माद्वये तु प्रयुक्ते इदं जन्मांतरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥

मूलारा—मात्रयत्तणे माद्वये ॥

अर्थ—माद्वय माय धारण करनेसे मनुष्यका कुछ सुकसान नहीं होता है, अतः अधिमान धारण करना व्यर्थ है इस जन्ममें और पर जन्ममें विनयधारण करनेसे मनुष्यका सर्वथा कल्याण होता है.

सद्वि साहस्तीओ पुचा सगरस्स रायसीहस्स ॥
अदियल्लवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥ १४८१ ॥
मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महापलाः पट्टिसहस्रसंख्याः ॥
इडेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा घराधरेन्द्रा इव भूरिस्तत्त्वाः ॥ १४८४ ॥

इति मानः ॥

विजयोद्या—सद्वि साहस्तीओ सगरस्य राजसिंहस्य चक्षिणः पट्टिसहस्रसंख्याः । पुत्रा महापलाः पितृणा
मानदोषेण ॥ माणस्सिगयं ॥

अर्थकथनेन मानदोषं द्रव्यति—

मूलारा—रायसीहस्स चक्षिणः । उक्तं य—

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महापलाः पट्टिसहस्रसंख्याः ॥

इडेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा घराधरेन्द्रा इव भूरिस्तत्त्वाः ॥

मानदोषाः ॥

अर्थ—राजसिंह सगर चक्षुषी को साठ हजार पुत्र थे वे महा बलवान् थे परंतु मानके वश होकर वे सब
नष्ट होगये. (आराधना कथाकोपादिकोंमें इनकी कथा है.

मायादोषविरूपणयोः परमाया—

अथ कोटिसमिद्धो वि ससङ्गो ण लभति सरीराणिज्वाणं ॥

मायासङ्गेण तद्वा ण गिब्वुदिं तत्र समिद्धो वि ॥ १३८२ ॥

विदधानोऽपि चारित्रं मायाशाल्येन शल्यितः ॥

न धृतिं लभते कुत्र शाल्येनेव वनर्द्धिकः ॥ १४३५ ॥

विजयोदया—अथ कोटिसमिद्धो वि यथा कोटिसमिद्धोऽपि शरीरपुत्रविष्टाल्यो न शरीरसुखं लभते । तथा मायाशाल्येन न निर्धृतिं लभते तपःसमूहोऽपि ॥

मायावोधानाथासमकेनाह—

मूढरा—कोटिसमिद्धो कोटीश्वरः ॥

मायादोषका निरूपण करनेकी लिये उच्चर माया—

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य कोटिधनका स्वामी होनेपर भी उसके गरीबों प्रविष्ट हुआ बाण उसको व्याधित करेगा ही, वैसे मुनिराज तप से समृद्ध होनेपर भी माया दान्यते उनको सुखलाभ नहीं होया।

होदि य वेस्तो अण्व्चहदो तथ अवमदो य सुजणत्स ॥

होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥ १३८३ ॥

द्वेषमग्रस्त्ययं निर्दां पराभूतिभगौरचय ॥

सर्वत्र लभते मायो लोकदयविविरोधकः ॥ १४३६ ॥

विजयोदया—होदि य वेस्तो देवो भवत्प्रत्यपितः तथा सुजनस्याग्रतः । चांघवोपि शत्रुक्षिरेण भवति मायादोषेण ॥

मूढरा—अण्व्चहदो अविद्यासः । णीयाणवि कंभूतानपि । णियडि माया ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं, उमकं ऊपर कोई विद्यास रलता नहीं, उसको अपमानका दुःख सहना पड़ता है, सुजन उसको मान देते नहीं दे, मायावी मनुष्य अपने संबंधी अनोका भी शत्रु बनता है,

पावइ दोसं मायाए महल्ले लहु मगावरायेवि ॥
सत्त्वाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि ॥ १२८४ ॥

अरतिर्जायते मायी यंधूनामपि दारुणाः ॥
महान्तमद्भुते दोषमपराधनिराकृतः ॥ १४३७ ॥

एका सत्यसहस्राणि माया नाशयते कृता ॥

श्रुतेन तु राणीव नित्योद्देगविधाधिनी ॥ १४३८ ॥

त्रितयोदया—पावइ दोषं मासेति दोषं महानं अत्यपराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महारोगमरणं सत्यवदप्रविशानं च मायादोषी ॥

दुलारा—छदुसगायतोपे मि । अत्येऽप्यात्मना कृते दोषे सति ॥

अर्थ—मायायी मनुष्येन अत्यया अपराध किया हो तो मी यह महान् दोषी माना जाता है, यह माया हजारों गत्य पचनोका नाश करती है, अतः महादोषका आराधण करना और हजारों सत्त्वोका कुचलना ऐसे दोषे दोष मायामें रहते हैं,

मायाए भित्तेदे कदम्भि इधल्लोगिगच्छपरिहाणी ॥

णासदि मायादोसा विसजुददुद्धं व सामणं ॥ १३८५ ॥

मित्तमेदे कृते सत्ताः कार्यं नश्यति मायया ॥

विपमित्रमिव क्षीरं सवार्यं नश्यति व्रतम् ॥ १४३९ ॥

विज्जतोदया—मायाए मायका । मित्तमेदे मैत्र्या विनाशे कृते । इह लोसिगच्छपरिहाणी ऐहलोकिप्रकार्य-विनाशः । णासदि सामणं ॥ मायादोसा माया योगेदोतोः । विसजुददुद्धं विपयुतदुग्धमिव । मित्र कार्यविनाशः धामण्यहानिश्च मायाजनितदोषो ॥

दुलारा—मित्तमेदे मित्रविनाशे । सुब्बि सत्ताबुद्दामीने वारुते सतीत्यर्थः । इह लोसिगत्यपरिहाणी ऐहिकसत्-कार्यकृतिः ॥

अर्थ—इस करटमें मैत्रीका नाश होता है, मैत्रीके नाशमें ऐहलोकिप्र धर्मयोग्यादि कार्योका नाश होता है,

शह कपट मुनिपनका नाश करता है- जैसे विषमिथिय दुग्ध मधुषण करनेसे म्लुष्यका नाश होता है- मायामें मित्र-
काये विनाश और श्रावण्यहानि नामके दोष हैं-

माया करेदि णीचागोदं इच्छी णवुंसयं तिरियं ॥

मायादोसेण य मवसणसु डंभिज्जदे बहुसो ॥ १३८६ ॥

सैणपंदस्सत्तैरध्वनीचगोत्रपरायथाः ॥

मायादोषेण लभ्यन्ते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥ १३४० ॥

विजयोदया—माया करेदि णीचागोदं माया करोति मोक्षोत्पत्तिं कर्म नीचैर्णां योयमस्य जन्मोत्पत्तेः। इत्थी णवुंसयं-
तिरियं स्त्रीदिदं, नपुंसकयेदं, तिरियेताति च नामकर्म करोति । अधया ऊर्त्तवं, नपुंसकत्वं, तिरियेत्तयं या । मायादोसेण ।
मायासंज्ञानिदेन दोषेण । भवसेदेषु जन्मदोषेषु । उभिरुत्तदि वंछ्यते । धृत्तसो यदुशः ॥

नूतारा—डंभिज्जदे वंछ्यते । येन तेनापि इह लोके वंचितेन वा ॥ वक्तं च—

सैणपंदस्सत्तैरध्वनीचगोत्रपरायथाः ॥

मायादोषेण लभ्यन्ते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥

अर्थ—मायासे नीच गोत्रकी प्राप्ति होती है, अर्थात् परब्रह्ममें नीच कुलमें जन्म होता है, इस मायासे
स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यकगतिकी प्राप्ति जीवको होती है, जो जीव माया करता है वह तैक्कडो भग्नं अन्य
लोगोंसे अनेक उपायों द्वारा बंचित होता है,

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ॥

कोहमदलोहदोसा सब्बे मायाए ते होंति ॥ १३८७ ॥

यः क्रोयमानलोमानामाविर्भावोऽस्ति भागिनः ॥

संपद्यन्तेऽखिला दोषास्ततस्तोषामसंयमम् ॥ १३४१ ॥

विजयोदया—क्रोधो भाणो क्रोयमानलोमास्तत्र जीये सखिहिता यत्र स्थिता माया । क्रोयमानलोमजन्मा
दोषाः सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥

नूतारा—सण्णिहिदा स्थिता । अत एव मायाभिन्नाः क्रोधादिदोषाः सर्वेऽपि स्युः । मायाए मायाविनि जीये ॥

अर्थ—जहाँ माया रहती है वहाँ क्रोध, मान और लोभ भी साथ ही रहते हैं. अर्थात् क्रोध, मान और लोभते जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मायावानको भी होते हैं.

सरस्ती य भरघगामस्त सत्तंसवच्छराणि णिस्सेसो ॥

बहुो वंभणदोसेण कुंभकारेण रुठेण ॥ १३८८ ॥

सत्तयर्षाणि निगोपं कुम्भकारेण कोपिना ॥

अस्मितं भरतद्रामशर्यं प्राप्तेन वंचनां ॥ १३४२ ॥

धर्मपादपनिकर्तनशस्त्री जन्मस्तागरनिपातनकर्त्री ॥

दुःखशोकभयपदैरसहाया निर्दितं किमु करोति न माया ॥ १४४३ ॥

इति माया ॥

विजयोद्या—सरस्ती सख्यं । भरघगामस्त भरतनामधेयग्रामस्य सत्तंसवच्छराणि वर्त्यस्तकं । णिस्सेसो बहुो निरवदोपेण शर्ये । ईभणदोसेण मायादोषेण हेतुना । रुठेण कुंभकारेण रुष्टेन कुंभकारेण ॥ मायाविग्रहा ॥

मायादोषमर्थोपयानेन द्रवयति—

नूछारा—सरस्ती बलजलपुंजीकृतं धान्यं । भरघगामस्त भरतनाम्नो ग्रामस्य । मायादोषाः ॥

अर्थ—भरतनामक ग्राममें ॥॥ वर्षतकका समस्त धान्य कुंभकरने मायादोषसे रुष्ट होकर भस्म कर दिया. मायानर्णन समाप्त.

लोभदोषानाच्छे—

लोभेणांसायचो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ॥

वीइ अप्पाणं वा लोभेण जरो ण विगणेदि ॥ १३८९ ॥

लोभतो लभते दोपं पातकं कुम्भे परम् ॥

जानीते परमात्मानं नीचमुच्चं न नष्टधीः ॥ १४४४ ॥

विजयोद्या-लोभेण लोभेन हेतुना । असागण्णो ममेदंभवित्थीत्याद्या प्रत्यः । पावदि दोसे प्रामोति दोपान् ।
यदुं कुण्दि पावे पावे च बहु करोत्यापावान् । णीए थांथवान् । अप्पाणं ता आत्मानं वा । लोभेण लोभेन । जरो ण विगणेदि
न विगणयति मनुज्ज । थांथवानपि चापते स्वसरीरधर्मं न नापेक्षते इति यावत् ॥

लोभदोषानाथापवचेनाह-

मूलार-आसागण्णो इदमिदं भविष्यतीत्याद्या प्रत्यः । दोसा बहुपापकरणादीन् । णीए थांथवान् । ण विग-
णेदि थांथवानपि चापते स्वसरीरस्य धर्मं च नापेक्षते इति भावः ॥

लोभके दोषोका वर्णन-

अर्थ-लोभसे मनुज्य आशाग्रस्त होता है अर्थात् मेरेको यह मिलेगा यह मिलेगा ऐसा मनोरथ उत्पन्न
करनेवाली आशा इक्षित होती है. यह लोभ दोषोका संचय है. लोभवद् होकर पुरुष बहुत पाप करते हैं. लोभसे
अपने वपुर्आँको भी वह उपेक्षा करता है. और लोभसे अपने जरीरको कष्ट पोहोचाता है.

वस्तुतः सारासारतया न कश्चित् कर्मवधातिशय येन केनचिद्बुद्ध्येण जनिता मूर्खा कर्मबंधे भिमितं आत्मा
शुभपरिणामनिमित्तवादिनि मत्या स्वरिराच्छे-

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ कि वच्चं ॥

लणिदमउठारिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥ १३९० ॥

लोभमस्तुणेऽपि पावार्थमितरत्र किमुच्यते ॥

मुकुटादिपरस्यापि निर्लोभस्थ न पातकम् ॥ १४४५ ॥

विजयोद्या-लोभो तणे वि जादो लोभस्तुणेऽपि जातो । जणेदि पापं जनयति पापं । इदरत्थ इतरत्र सारयति
वस्तुनि । कि वच्च किं वाच्यं ॥ लणिदनमुठादिसंगस्स वि स्वसरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति । अलोहस्स
लोभरूपायार्जितस्य मुकुटादेः सारद्वयस्यापि प्रत्यासत्तिर्न वंचायेति मन्यते ॥

यत्र कुत्रचित्पृच्छे लोभ एव पापवंधाणमितुपरिश्रुति-

मूलारा-इदरत्थ सारवस्तुनि । कवं वक्तव्यं । लणिदमगुडादिसंगस्स वि स्वसरीरलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि ।
अलोहस्स तद्वत्तमूर्च्छारहितस्य ॥

वस्तु सार और असार दोनों तरहकी होती है. परंतु उससे कुछ कर्मबंधमें विशेषता उत्पन्न नहीं होती. किंतु उस वस्तुके संगते उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छा अर्थात् ममता कर्मबंधका निमित्त है. और यही ममता आत्मानमें दुष्पाशुम परिणामोंको निमित्त होती है. इसी अभिप्रायको आचार्य विशद करते हैं—

अर्थ—दुष्णमं भी लोभ उत्पन्न होनेसे वह पापबंध उत्पन्न करता है. तब इतर साधुक्त वस्तुओंमें उसकी उत्पत्ति होनेपर पापबंध अवश्य होगाही. परंतु मन यदि निर्लोभी है तो शरीरपर सुकुटादि परिग्रह होने पर भी उसको पापबंध नहीं होता है लोभकषायका अभाव जब होता है. तब किसीने खबरदस्तीसे सुकुटादि पहनाये तो भी वह परिग्रह उमंगों पापकर्ममें बद्ध नहीं कर सकता है. ऐसा इस भाषाका अभिप्राय है.

तत्लोक्येण वि चित्तस्स गिण्डुवी णरिथ लोभघरथरस ॥

संतुट्ठो णु अलोभो लभदि दुरिहो वि गिण्डवाणं ॥ १३११. ॥

सुखं त्रैलोक्यलाभेऽपि नासंतुष्टस्य जायते ॥

संतुष्टो लभनं सौख्यं वरिद्रोऽपि निरंतरे ॥ १३१२. ॥

विअयोइया—सैद्योकेण वि त्रैलोक्येणापि । चित्तस्स गिण्डुवी णरिथ चित्तस्य त्रिचूतिर्नास्ति । लोभघरथरस लोभघरस इव । सन्तुष्टो संतुष्टः लब्धेन केनचिद्रक्षुता द्रवीरक्षितिरिहेगुभूतेभ । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । लभदि लभते । दुरिहो वि वरिद्रोऽपि । विरथानं निर्धनं । संतोषयतश्चित्ता निर्धूतिर्न द्रव्याभ्यां, सत्यपि द्रव्ये महति असंतुष्टस्य हृदये न ददति तु ग्रासिका ॥

• मूलात्—सैद्योकेण वि त्रैलोक्येणापि लब्धेन । गिण्डुवी तृप्तिः । संतुष्टो येन केनचिद्रक्षुता शरीररिधिरिहेगुभूतेन पूर्ति प्राप्ता । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । गिण्डवाणं सुखं । संतोषयत्ता चित्तनिर्धूतिर्न द्रव्याभ्यां, द्रव्ये हि महति सत्यसंतुष्टस्य महादुःखासिद्धिः स्यात् ॥

अर्थ—लोभग्रस्त मनुष्यको त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपर भी संतोष नहीं होता है. जो जो शरीरको सुख देनेवाली वस्तु प्राप्त होगी उमंगें उसका लोभ बढ़ताही जाता है. जिससे शरीर स्थिर रहेगा ऐसी किसी भी वस्तुसे जो मनुष्य संतुष्ट है ममता रहित है वह चाहे दुरिही हो तो भी उसीको समाधानवृत्ति प्राप्त होती है. संतोषके स्वाधीन

ही गन्धर्वानवृत्ति रहती है. द्रव्यके अर्धानि यह नहीं रहना चाहती. बहुत द्रव्य होनेपर भी असंतुष्ट व्यक्तिके हृदयमें बड़ा दुःख होता है.

मृतमगधना

१३३२

सन्ने वि गंधर्दोसा लोभकसायस्स हुंति णादब्बा ॥

लोभेण चैव मेहुणहिंसाखिचोच्चमाचरदि ॥ १३९२ ॥

जायंते सकला दोषा लोभिनो ग्रंथतापिभः ॥

लोभी हिंसाचतस्तेयमैथुनेषु प्रवर्तन्ते ॥ १४४७ ॥

विजयोक्त्वा—सन्ने वि गंधर्वोसा सपेंडपि परिग्रहस्य ये दोषाः पूर्वमाख्यालाले सर्वेऽपि । लोभकसायस्स लोभकपापयुतः लोभः क्रियायोऽस्यास्तीति लोभकपाप इति गृहीतव्यम् । अथवा लोभसंक्षितस्य कथायस्य दोषा इति संयंपनीयं । लोभेण चैव लोभेन चैव । मैथुनं, हिंसां, क्लीकं, चौर्यं वा चरति । वतः सावयचक्रियायाः सर्वस्या भादिमान् लोभाः ।

किं थ—

मृत्वाय—गंधर्वोसा परिग्रहापराधाः शत्रुक्ताः ॥

अर्थ—परिग्रहके दोषोंका विस्तारसे पूर्व प्रकरणमें वर्णन हो चुका है. वे सर्व दोष लोभ कपाययुक्त मनुष्यके होते हैं. अपना लोभसे उपपन्न दोष उसज होते हैं. इस लोभसेही मैथुन, हिंसा, असत्यवचन, और चोरी इन पापोंको कीर करता है. जिसकी पापक्रियायें हैं उनको लाभ हेतु है.

रामस्त जामदग्निरस्त वजं धित्तूण कचविस्त्रिओ वि ॥

णिषणं पत्तो सवुल्लो ससाहणो लोभदोसेण ॥ १३९३ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य गृहीत्या लुब्धमानसः ॥

कार्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सबलः क्षयम् ॥ १४४८ ॥

लोभेन लोभः परिवर्धमानो दिवानिशं चहिरिचिन्वनेन ॥

निपेन्पमाणो मलिनत्वकारी न कस्य तापं कुन्ते महान्तं ॥ १४४९ ॥

इति लोभः । इति कपायधिसोपदोषाः ॥

पिञ्जोदयः—रामस्व रामस्य । आमवगिरसः आमवन्मस्य । यज्ञं यज्ञं । पिण्ण शुदीत्या । कसपिठिओ पि
 कांणपीवोडि । विषमं पत्तो विषनं प्राणः । सहुत्तो सधुपुणं । खसाहणो सवत्तः । सोम्वोसण लोभदोणेण । लोभः ॥

श्रीभद्रोपमाहस्यमंग्यासुनानेन व्यनक्ति---

मूढारा—जामदग्निता जगदग्निमूलोः । पशुधामस्येत्यर्थः । वज्रं व्रजं कामधेनुमित्यर्थः । ससाहजो चतुर्ग-
 धनेन सह ॥ ३३३ प—

राक्स्य आगदन्त्यस्य गां हय्यां ह्यधमानसः ॥

कार्त्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सबलः भयम् ॥

होमदोषाः । कषायविदोषदोषाः ॥

अर्ध—जमदग्नि ताम् अर्थात् परशुरामका सर्व यौफा समूह कार्तवीर्य राजाने लोभग्रस्त होकर ग्रहण किया था. इस लोभदोषसे वह अपने बंधुबानं और सर्व सेन्यके साथ परशुरामके द्वारा मारा गया. लोभ वर्णन समाप्त.

॥ हि तं कुणिञ्ज सत् अग्नी ब्रह्मो व किण्हसस्यो ॥

जं कुण्डं महादोसं णिबुद्धिबिम्बं कसायखिबू ॥ १३९४ ॥

शत्रुसर्पानलङ्घयामाः कदायिस्तत्र कुर्वते ॥

यं करोति महादोषं कषायादिः शरीरिणाम् ॥ १४५० ॥

विजययोग्या—इणरा ॥

ध्यापसागान्यदोपसंभ्रगपामाह—

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु श्रीकृष्णार्जसमुवासे अष्टमोऽध्यायः ॥

अर्प—शुद्ध, अग्नि, वायु, और कृष्ण सर्प इनमें भी यह महादोष उत्पन्न नहीं होता है, जो कृषायशुद्ध उत्पन्न करता है। लोमकृष्ण मोक्षप्राप्तिमें महाविघ्न उपस्थित करता है।

इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा पाठेति दोसविसमेसु ॥

दुःखावहेसु पुरित्से पसदिलिणिव्वेदखलिया जु ॥ १३९५ ॥

कपायेन्द्रियदुष्टाद्वैदोषदुर्गेषु पात्त्यते ॥

न्यक्तनिर्वेदखलिनैः पुरुषो बलवानपि ॥ १४५१ ॥

पित्तगोत्रका—इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा इंद्रियकपायदुर्दंतवाक्याः । पाठेति पातयति । दोसविसमेसु पापविषयम-
स्यानेषु । दुष्कसायहेसु दुःखायहेषु । पुरित्से पुरुषान् । पसदिलिणिव्वेदखलियावो ग्रन्थिलिणिव्वेदखलिनः ॥

सांनतमिंद्रियरुपायाणां जीवस्य परमार्थकाद्याधिरूढमपकारकत्वं मन्वसानसदनुवर्तने बहून् दोषस्तद्वत्त्वावर्तने
च प्रपुरुषाण्यन्तर्दशनमान्येन वस्त्रिवैयमष्टादशभिरनुयुगेयति—

तत्र कायदुग्भयनित्तैषं गाथाचतुष्टयेनाचष्टे—

मूलारा—दुर्दंतस दुष्टगोत्रकाः । दोसविसमेसु पापविषयस्यानेषु । पुरित्से जीवान् । पसदिलिणिव्वेदखलिणिदा-
अपवैराग्यकथिकान् ॥

अयं—इंद्रिय और श्रोत्रादिक कपायरूपी दुर्दमनीय घोडे जब उनकी वैराग्यरूपी लगाम ढिली होजाती
है तब मनुष्यको अथवा प्राणिजोंको पापरूपी विषयस्थानोंमें अर्थात् पापरूपी दुःखदायक यद्धोंमें गिराये बिना
रहते नहीं. गिराये ही है.

इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता ॥

आणकसाए मीदा ण दोसविसमेसु पाठेति ॥ १३९६ ॥

कपायेन्द्रियदुष्टान्वेदनिर्वेदयंत्रितैः ॥

दोषदुर्गेषु पालंते न सद्विधानकशावरीः ॥ १४५२ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा इंद्रियकपायदुर्दंतदुरंगाः वैराग्यपटीनवियमिताः संताः ध्यानकराह-
भीता न शोषविषमेसु पातयन्ति ॥

मूढात्ता — मलिनता निर्बलताः । अज्ञानकसाय सद्व्ययनचर्मकष्टेः । भीत्या ज्ञानाः ॥
अर्थ—परंतु जब इंद्रियरूपायरूपी एह घोंडे वैराग्यरूपी उग्रामसे स्तीचे जाते हैं और ध्यानरूपी चाबुक मे चे ताडित किये जाते हैं तब पापरूपी दुःखदायक मद्यमे मनुष्यको वे नहीं पटकते हैं.

इंद्रियकसायपणगद्वद्वा बहुवेदणुदिदा पुरिसा ॥

पञ्चमदृश्याणमुक्त्वा संजमजीयं पविजहंति ॥ १३९७ ॥

विचित्रचेचनादद्याः कपायाश्चमुजंगमैः

न दृष्ट्याममुत्थाः । यो गुंथते वृत्तजीवितम् ॥ १३५३ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायपणगद्वद्वा, बहुवेदनायद्वद्वाः पुत्रांसः अज्ञदृष्ट्याममुत्थाः संजमजीयं परित्यजंति ॥

मूढात्ता—बहुवेदणुदिदा मूर्ख्यमार्दिताः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपायरूपी सपोंले हमे गये फुल्ल सीध विप वेदनासे पीडित होकर उषम स्थानरूपी सुखमें प्युत होते हैं. और संयमरूपी प्राणोंका त्याग करते हैं.

अज्ञाणगदेहं इंद्रियकसायमुजगा विरागमतेहिं ॥

णियमिजंता संजमजीयं साहुस्त ण हरंति ॥ १३९८ ॥

सदृश्याममंत्रवैराग्ययेपलौनिंयिपीकृताः ॥

न सापोस्ते क्षमा हर्तुं दीयं संयमजीवितम् ॥ १३५४ ॥

विजयोदया—अज्ञाणगदेहि इंद्रियकसायमुजगा वैराग्यमंत्रैर्निवर्त्यमाणाः साधोः संयमजीवितं न हरंति ॥

मूढात्ता—अज्ञाणगदेहि सदृश्याममंत्रवैराग्यः ॥

अर्थ—ध्यानरूपी ओषध और वैराग्यरूपी मंत्र इनके द्वारा जब इंद्रियकसायरूपी विपयुक्त सर्प नियमित किये जाते हैं तब ये मुनिके मंथमरूपी प्राणोंका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते हैं.

सुमरणपुंखा चितावेगा विसयविसलिचरइधारा ॥

मणधणमुक्खा इंदियकंढा विंधंति पुरिसमयं ॥ १३९९ ॥

हृषीकर्मार्गणास्तीक्ष्णाश्चितापुरंवाः सृतिस्पदाः ॥

नरं मनोधनुमुक्ता विध्यंति सुखहारिणः ॥ १४०० ॥

विजयोदया—सुमरणपुंखा सरणपुंखा, चितावेगा विषयविषेण लिता रतिधारा येषां ते मनोयमुत्तुल्काः इंद्रिय-
धाराः पुरुषद्वयं धारयन्ति ॥

इंद्रियनिर्वयं गाथायेनाह—

मूढार—विसयविसतिचरिधारा—विषयविषेण लिता रतिधारा येषां अत्र विषयशब्देन भोग्यबुद्धया मूढा-
माननां रूपदीर्घा निर्मांखा विषयिणाः । इंद्रियशब्देन चक्षुरापुष्यभोगाः । विंधंति निष्यन्ति । मयं मृगान् ॥

अर्थ—स्मरण रूपी पुंस्त अर्थान् पंस धिनके लगें हैं, चिता रूप वेगसे युक्त, विषयरूपी विपसे लित हुए,
रतिधारामें संयुक्त, ऐसे इंद्रियरूप बाण मनरूप धनुष्यमें छुटकर मनुष्य मृगका घात करते हैं. यहाँ नेत्रादिक
इंद्रियोका विषयोंके तरफ जो उपयोग लगना उसको ही इंद्रिय कहना चाहिये. भोग्यबुद्धीसे ग्रहण किये रूपरस-
गंधादिरोंका जो ज्ञान होता है उसको विषय कहते हैं.

तात्पर्यान्वयलुगदहनोपतायतय यत्र धारयन्तीति कथयति—

पिदिसेडएहि इंदियकंढे अमाणवरतसितिसंजुचा ॥

केडंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दइण ॥ १४०० ॥

हृषीकर्मार्गणास्तीक्ष्णा साधुभिर्धृतिखेटकैः ॥

ध्यानसायकमादाय न्यण्डथन्ते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ १४०१ ॥

विजयोदया—पिदिखेटएहि घृतिखेटेः इंद्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विततः । समणजोहा श्रमणयोधाः
समयः ज्ञानरुपता इष्टया ॥

मूढार—पिदिखेटएहि संतोषकलैः । केडंति वारयंति ॥

रंद्रियबाण जप आरमाका पात करनेके लिये उद्युक्त होते हैं तब यदि उनका इस प्रकार निवारण करते हैं, अर्थ—एवानरूपी पतने युक्त दोकर मुनिराज सम्यग्दानरूपी आसोसे देख लेते हैं नंतर धैर्यरूपी ढाल हाथमें लेकर रंद्रियरूपी बाणोंका निवारण करते हैं.

गंधाउचीचरंतं कसायविसकंटया यमायमुद्रा ॥

विश्रंति विसयतिक्खा अधिविद्वोवाणहं पुरिसं ॥ १४०१ ॥

प्रमादवचनाः साधुं चरंतं संगकानने ॥

धृत्युपानद्विनिर्मुक्तं विष्यन्तीन्द्रियकण्टकाः ॥ १४५७ ॥

विजगोशया—गंधाउचीचरंतं चरितवचने चरन्तं । कसायविसकंटकाः प्रमादमुद्रा विष्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा भूतिस्वोपानद्रहितं पुढरं ॥

कसायनिर्जयं गंधाचतुष्टयेनाह—

मुद्रारा—विमगति मग्न विषयैः शोषाण्डयनधूतैर्धतुभिस्तीक्ष्णाः । अपि विद्वोवाणहं धृतिदृढप्राणद्वितारहितं ॥

अर्थ—परिग्रहपनमें प्रमग्न करनेवाला पुरुष यदि संतोषरूपी दृढ ज्ञता नहीं वेहनेवा तो कृपायरूपी विष्णुक्त कटि निपयोगे तीक्ष्ण होकर प्रमादरूपी सुहृदके द्वारा पुरुष को बुझेमेही.

संदतम्य पुनोपंगिरिकम्य कगलविषकंटकाः किंचिदपि न कुर्वन्ति रक्षावधे स्मरिः—

अप्यद्विदिद्वोवाणहस्स उवओगदिद्विजुत्तरस ॥

ण करेति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥ १४०२ ॥

आपद्धपुत्तुपानररुमुपयोगविलोचनम् ॥

कपायकण्टकाः साधुं न विष्यन्ति मनगपि ॥ १४५८ ॥

विजगोशया—आपद्धविदिद्वोवाणहस्स आपद्धपुत्तिद्वोवाणहस्य नानोपयोगसहितदृष्टिनेः स्वस्थमपि दुःखं न कुर्वन्ति कपायविषकंटकाः ॥

मृताय—आइए परिहृता । उपयोगदिष्टिमुत्तमस्य भेदज्ञानोपयोगेन यत्न्यापारसहितस्य ॥
परंतु मुनिराज कपायमर्कटोसे दुःख न होगा ऐसी सामग्रीसे युक्त होते हैं अतः उनको दुःख नहीं होता है, इसीसे निनिचनार्थ गाथा—

अर्थ—जिसने सतीपरूपी यजवृत जूता पहना है और भेदज्ञानोपयोग रूप आंखोंसे जो देखता है
ऐसे मुनिराजसे कपायविषयकंटाक तिलमात्रमी दुःख देनेमें समर्थ नहीं होते हैं—

उडुहणा अदिचवला अणिगाहिदकसायमकडा पावा ॥

गंधफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥ १४०३ ॥

कपायमर्कटा लोलाः परिग्रहफलैरपिणः ॥

लुपन्ति संयमारामं योगिनो निग्रहं विना ॥ १४०४ ॥

विजयोदया—उडुहणा असंयता अतिचपला अभियुहीला, कपायमर्कटा, परिग्रहफलासक्तद्वया नाशयन्ति संयमारामं ॥

मूलाय—उडुहणा उडुपलाः । अणिगाहिदा अकृतनिग्रहाः संतः ॥

अर्थ—जो असयमको उत्पन्न करते हैं, अतिशय चपल हैं, विनम्र निग्रह नहीं किया है ऐसे कपायमर्कट परिग्रहरूप फलोंपा लुप्य होकर संयमरूपी योगीचोंको उडूखल करते हैं—

णिच्ये पि अमञ्जत्ये तिकालविसयाणुसरणपरिहृत्ये ॥

संजमाञ्जहिं जदी वंधति कसायमकडाए ॥ १४०४ ॥

त्रिकालदोषदा नित्यं चंचला मुनिपुंगवैः ॥

कपायमर्कटा गाढं चघ्यन्ते घृत्तरञ्जुभिः ॥ १४०५ ॥

विजयोदया—णिच्ये पि मिलामपि धमाघस्यान्, त्रिकालविषयोपलुसरणपट्टय, कपायमर्कटान्यतयः संयम-
रञ्जुभिर्मर्दयन्ति ॥

मृदाया—अमग्नस्तथे चंचलम् । परिहृत्ये पट्टम् ।

अर्थ—हमेशा चंचल, और तीनों कालोंमें भी दोष उत्पन्न करनेमें निपुण ऐसे कणायरूपी मर्कटोंको यतिराज संयमरूप दोरीसे बांधते हैं। जिनसे वे कुछभी अपाय नहीं उत्पन्न करेंगे।

विदिवमिणहं उवसमसरोहिं साधूहि णाणसत्येहिं ॥

इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेहुंजे ॥ १४०५ ॥

महोपशमसत्त्वाद्यैर्ज्ञानास्त्रैर्धृतियभिर्तैः ॥

साधुयोर्धैर्विजीयन्ते कपायेन्द्रियचिद्विषः ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—विदियमिणहं धृतिसमर्थः, उपशमशरीरः साधुभिर्ज्ञानास्त्रैरप्युक्तैरिन्द्रियकपायशमनवो जेतुं शक्यः ॥

दुनकमयनिर्जयं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मृदाया—विदियमिणहं सतोपसन्नद्धः । णाणसत्तेहिं ज्ञानसत्तैः । जुत्तेहिं उण्युक्तैः ॥

अर्थ—मंतोयरूपी कवच पदेनकर हाथमें बिन्दुनें उपशमरूप नाण लिये हैं ऐसे साधु, भेदज्ञानरूपी द्रव्योंने इन्द्रियरुणायरूपी शत्रुको जीत लेंगे हैं।

इंदियकसायचोरा सुभात्रणमंकलाहिं वज्झंति ॥

ता ते ण विकुल्वंति चोरा जह संकलायका ॥ १४०७ ॥

कपायाक्षद्विपो धक्का भावनाभिस्तपक्षिना ॥

धृंग्यलाभिरिव स्तेना न दोपं जातु कुर्वन्ते ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—इंदियकसायचोरा इंदियरुणायचोराः शुभभागमायधृंग्यलाभिरिवधत्ते । वंध्यस्थाले न विकारं दृष्यन्ति धृंग्यलायचोरा इव ॥

मृदाया— न विकुल्वंति विरूपकं न हृवंति ॥

अर्थ—जैसे शूलकासे चक्रे हुए चोर स्वस्थानमें स्थिर बैठते हैं उनसे कुछ उपद्रव नहीं होता है वैसे इन्द्रियरूपवर्णी चोर सुषमायनारूपी शूलकाजैसे अब जलहकर बांधे जाते हैं तब वे रामादिक विकारको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

इन्द्रियकसायवग्धा संजमणघादणे अदिपसत्ता ॥

वेरमालोहदढपंजरोहिं सबका हु णियमेहुं ॥ १४०७ ॥

कपायास्समहाज्याघाः संयममाणभक्षिणः ॥

अधिरोग्य नियम्यन्ते वैराग्यदृढपञ्जरे ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायवग्धा इन्द्रियकपायवग्धा, संयममरभक्षणे अत्यासका वैराग्यलोहदढपंजरे नियन्तुं शक्या, शक्या यतो नेतुं ॥

मुलारा—अदिपसत्ता अतीवासत्ता ॥

अर्थ—इन्द्रियकपायरूपी व्याघ्र संयमरूप मनुष्यको भक्षण करनेमें अत्यासक्त होते हैं, इस लिये उनको वैराग्यरूप लोहेके पिंजरेमें बांधकर बन्ध किया जा सकता है,

इन्द्रियकसायहृत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण ॥

विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे काहुं ॥ १४०९ ॥

नीता ग्रतमहावारिं कपायाश्वमतंगजाः ॥

यद्वा संत्यवशाः सन्तो वद्धा विनयरदिमभिः ॥ १४१० ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायहृत्थी इन्द्रियकपायवदक्षिणः वतयारीमुष्मीताः विनयरवायद्धा अवसा अयि शक्या यतो नेतुं ।

मुलारा—वदयानि ग्रतमंघनावर्त्य । अदिणीदा प्रवेदिताः । उवाएण विशिष्टयविहस्तिनिदर्शनेन ॥

अर्थ—इन्द्रियकपायरूपी दाधीयाँको मत्तरूप बंधनस्थानमें ले जाकर विनयरूपी रज्जुसे बांधना चाहिये जिससे वे अबध होनेपर भी बन्ध हो जाते हैं,

इंद्रियकसायहत्यी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ॥
धीरेहिं हंभिदन्वा धिदिजमलारुपहरोहिं ॥ १४०९ ॥
कयायाधमजाः शीलपरिखालंघनेनिणिः ॥
पतन्व्याः सबसा धीरेधृतिकर्णप्रतोवनेः ॥ १४१० ॥

विजयोपेता—इंद्रियकसायहत्यी सीलपरिखालंघनेनिणिः रोचय्या धीरेधृतिकर्णतोदग्रहरो ॥

मूवरा—वोलेदु संयतिनु । कस्तिदं आगंदां । जमलार ऊपरपुगलं ॥

अर्थ—इंद्रिकषायरूपी हाथी जब शीलरूपी अर्गलको उल्लंघनकी अभिलाषा धारण करते हैं, तब धीर
पुरुष उनको पतोरूपी कर्णग्रहाणमें पड़ करते हैं.

इंद्रियकसायहत्यी दुस्सीलघ्नं जवा अहिलसेज्ज ॥

णार्णकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥ १४१० ॥

कपायाधद्विपा मत्ता दुःशीलयनकांक्षिणः ॥

ग्रानांकुदोर्ध्वीयन्ने तरसा वशवर्तिनः ॥ १४११ ॥

विजयोपेता—इंद्रियकसायहत्यी इन्द्रियकषायहत्यी दुःशीलयनं प्रवेदुं यद्वामिलवंति तया मवया अपि यत्रो
एतुं तामर्पेतां कुदेन ॥

मूवरा—अहिलसेज्ज प्रवेदुमिच्छेयुः ।

अर्थ—इंद्रियकषायरूपी हाथी जब दुःशीलरूप वनेमें श्रेष्ठ कले की इच्छा करता है तब भेदज्ञानरूप
अंगुलि प्रवण होने पर भी यत्र हो जाता है.

जदि विसयगंधहत्यी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ॥

विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण त्रिणा ॥ १४११ ॥

ध्यानयोधावशीयूता रागद्वेषमदाकुलाः ॥
ज्ञानाङ्कुरं विना याति तदा विषयकाननम् ॥ १४९७ ॥

पिञ्जवोदयः—अदि विस्मयनगहस्थी यद्यपि विषयगंधहस्तिनः स्वयं ग्रंथाटवौ प्रविशति रागद्वेषमज्ञा न तिष्ठेयु-
मिगानलानयोधस्त यद्ये ग्रानाङ्कुरेन विना ॥

मूलात्—वि एष । सर्वं स्वयं स्वयमेव । स्वाभिस्थानीयवीजप्रयोगं विनैव । गंगवर्णं प्रंथः संगः स आत्र द्वा-
स्तितीसोपागालेपनोपनसारणलक्ष्मो गृह्यते । अन्यो कनमिव हस्तिनामिबद्धियकपायाणां प्रचारयिष्यत्वात् । अदिगि-
नदि प्रविशति । इन्द्रियकपायहस्तिन इति यक्ष्यमाणेन संबंधः । चेदुज्ज ज्ञानजोहस्तयास वास इत्यात्र अकारप्रक्षेपः ।
तेन ध्यानयोपस्थायने सिद्धेयुर्गानवोधपक्षे न सुखित्यर्थः । भाणकुलेन विना रागद्वेषमंदाः संतो ध्यानयोधयुक्तं ध्या-
नोदुक्तमिदम् ग्रंथयते रागभिस्थानीयवीजप्रयोगं विना पंचेन्द्रियकपायहस्तिनो यदि प्रविशति संबंधः ।

अर्थः—यद्यपि विषयरूपी मत्त द्वायो स्वयं प्रेरकते विना परिग्रहरूपी जंगलमे प्रवेष्टु करते हैं, और वे राग
द्वेषने मग हो गये हैं तो भी वे ध्यानरूपी अङ्कुरके विना विज्ञान और ध्यानरूप योधाके वक्ष होते नहीं हैं.

विसयविरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहस्थी ते ॥

पसमे रामेदब्बा तो ते दोसं ण काहिंति ॥ १४९९ ॥

तदा तममने रम्ये कपायावमहागजाः ॥

रम्यमाणा न कुर्वन्ति दोषं साधोर्मनगपि ॥ १४६८ ॥

इति सामान्यकपायनिर्जयः ।

पिञ्जवोदयः—विसययविरमणलोला विषयवनरगणलोलाः बाला इन्द्रियकपायहस्तिनः ते रविमुपनेयाः प्रशमेन
तवस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥

कथंभूताः संत इत्याह—

मूलात्—विसयविरमणलोला विषयः अग्निन्यादिगताः काम्यरूपादयः । वनानि शल्यन्यादिकाननानि विद-
या पनानीय भोग्यत्वात् । पूर्व चनरुधेन विद्यादमी इह च उदन्मूर्धन्यशल्यन्यादिवने गृह्यते । पसमे आत्मदेहस्तस्मान्ना-

विभूतशामाविषयेत्येते । अत्र पुरीचाने इत्युपमानशब्देन । कादिति करित्वंति । एषा श्रीविजयाचार्यमतेन व्याख्या ।
यथा चोचम्—

यदि संगठयी याति रागद्वेषमदोद्धताः ।
भयानयोपपदा नैव संति ज्ञानाकुलं विना ॥
विषयारण्यसाक्षात्ते कषयाश्वस्तितः ॥
ततः समरति नेषा येन दोषं न कुर्वते ॥

अन्यस्येवमाह—

ध्यानयोपायसीमुक्ता रागद्वेषमदाकुलाः ॥
ज्ञानाकुलं विना याति यदा विषयकलनम् ॥
तदा समवने रम्ये कषयाश्वमहागताः ॥
रम्यमाणा न कुर्वति दोषं साधोर्मनागचि ॥

अस्ये पुल्लैरुपमाद्वयं दृष्टुं संवृज्जति तत्साठसंबन्धम्—अत्र विषयशब्देन तन्मोहादित्रियं स्मारयन्ति । अदि-
गिज्ञादि इत्यन्त्यातिक्रम्य याति इत्यर्थमाहुः । अपि दागर्हं च निवर्तार्हं । तथा च सर्वप्रथमः—

रागद्वेषमदोषः करणकरीन्द्रो विद्वान्विषयनिर्ध्वजम् ॥
ध्यानमुभटस्य यद्यो ज्ञानाकुलितो सचेन्नियतम् ॥
द्वितीयगथायां तु चयला स्थाने बाट्या इति पठति । तत्रापि तैरुक्तम्—
इन्द्रियरूपायरूपा विषयवने श्रीकृष्णकरसरसिकाः ॥
उपगतवने प्रवेदयाततो न दोषं करित्वंति ॥

इति गान्ध्याश्वकषागमिर्जयः ॥

अर्थ—विषय यन्मै व्रीडांकरनेमै आमक्तं और अत्र ऐसे इन्द्रिय कषामरूप हाथीको वैराग्यमें तत्पर करना चाहिये ऐसा करनेमें ये दोष नहीं करेंगे.

सदे रूढे गंधे रसे य फासे सुभेय असुमे य ॥
तद्भा रागदोसें परिहर तं इंद्रियजण ॥ १४१३ ॥

शब्दे वर्णे रसे गंधे स्पष्टे साधुः शुभाशुभे ॥

रागद्वेषपरित्यागी हृषीकविजयी मतः ॥ १४६९ ॥

चित्तयोद्धया—सदे रूढे गंधे रसे य शुभाशुभेषु शब्ददिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इंद्रिय जयेनेत्युक्तं सूत्रस्यार्थः ॥
सागतं सामान्येन इंद्रियजं गाथापंथकेन न्यायक्षणः प्रथमं कृत्वा येन सद्भासात्कदादि विषयरागद्वेषपरि-
लागे क्षपकं निरुद्धे—

मूलात्—उक्तं करजगृहमाणशब्दादि विषयामिष्यत्यमानरागद्वेषवशोऽपि वशात्कुदात्वेन सखपात्रानुप्रवेशविना-
शोद्भूतोः ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू शुभाशुभं शुद्ध, रस, गंध, और रूप इनमें राग द्वेष का निराकरण कर अर्थात् इंद्रियों को जीत कर शुभाशुभं शुद्धादिक निषेधोंमें उत्पन्न होनेसे राग द्वेष का तू नाश कर.

जहूणीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदस्थितो पिवदि ॥

कडुयं पि इंद्रियजं पिबुद्धेदं तह भजेज्ज ॥ १४१४ ॥

हृषीकविजयः सन्निः कडुकोऽपि निषेच्यते ॥

भेषजयमिव चांशुनिस्त्वसोऽहं ययांजसा ॥ १४७० ॥

पित्रयोद्धया—जहूणीरसं पि कडुयं तदुपहितं कडुक्रमवीरपणे जीवितार्थं पियति । तथा इंद्रियजं भजेते
कडुक्रमपि निर्मुक्तिहेतुम् ॥

निर्ममत्वयदुःखावदत्वात्सर्वजनायमभिमतमिंद्रियजं शब्दे नियोगेनोपदिश्यते इत्यन्वयसंतं दृष्टांतावद्वेभेन
ग्रहणे व्यवस्थापयति—

मूलात्—गीरसं स्वादुपहितं । कडुगंधं पीतुमपि । भजेज्ज सेवयात्वं ॥

अर्थ—जैसे रोगी पुरण स्वादुरहित व कडु ऐसा भी औषध जीनेके लिये पीता है, वैसे मोक्ष प्राप्तिके लिए
कडुन की इंद्रियजप करनेके लिये हे क्षपक ! तू हमेशा तत्पर रहना चाहिये.

इन्द्रियजने क उपाय इत्यांकायां इन्द्रियकपायविषयानां शुभाशुभयोः अनवस्थितः । ये शुभास्त एवेदानीं मनुजान् । अशुभा ये ते एव शुभाः । ये तु अनुवर्तया बोधा इदानीं ददि? से शुभा इति पृथीवा न त्वशुभा जातास्त यस्यामी- इति कथं जानुराशयस्य ये याऽशुभास्तेषु कथं द्वेषः शुभतां प्रतिपत्त्यग्रेषु इति निवेदयति—

जे आसि शुभा एहिं असुभा ते चैव पुगला जादा ॥

जे आसि तदा अयुभा ते चैव शुभा इमा इहिं ॥ १४१५ ॥

पुत्रला ये शुभाः पूर्वमशुभाः सन्ति तेऽशुभान् ॥

अशुभाः पूर्वमासन्त्ये सांप्रतं सन्ति ते शुभाः ॥ १४१६ ॥

विजयोदगा—जे भगति शुभ योजि ये पुत्रलाः शुभा भासयिदानीं त यथाशुभा जाताः । ये जखंस्तदा अशुभा मे दीव शुभा इदानीं इति न ती रागेदानीं युक्ती इति शिक्षयति ॥

यथायमिन्द्रियजनः सन्त्ये त्रिवेयवया निवृत्तत्वाहं कलत्रोपायो नीरुपायाः साध्यसिद्धेर्योगात् इत्यनुपुनानमनुशसि— पूर्वमदा—आसि पूर्वकाले भूताः । शुभा इष्टरामिन्याविरूपकामायाग भोग्यपुद्गिनावपान्ताः बोधना इति पृथीताः ।

अशुभा शुभवैपरीत्येन पृथीताः । तदा भासनपुत्रपुत्रकमजाले अशुभा अनिष्टरन्यादिरूपकामायागभोग्यमविमावन्त्यतोऽशोभना इति पृथीताः । अशुभा शुभजन्यभोजेन प्रतिपन्नाः । तदा तेव्यनपथिवशुभाशुभरूपेषु कलत्त्वविविदां रागद्वेषावधारप्रचार इमि निभाह्वयम् ॥

इन्द्रियैको जीवनेनं तीनसा उपाय है ऐसी शका होनेपर उत्तर देते हैं. इन्द्रिय और कणायोंके विषयमें शुभाशुभपना निमित्तरूपसे नहीं कहा जाता है. जो विषय शुभ थे वे वर्तमान समयमें अशुभ बनते हैं. और जो अशुभ थे वे शुभ भी होते हैं. अशुभ होनेमें निमगा यह जीव द्वेष करता था वे ही अब शुभ बननेपर उनमें यह जीव असुरक्त होता है. और जो अब अशुभ हैं वे कालांतरमें शुभ होनेवाले हैं इसलिये उन से द्वेष करना भी योग्य नहीं. नतर्पये यह है कि, जो अशुभ हैं वे शुभ बनने तथा जो शुभ हैं वे अशुभ बनने अतः इस जीवका रागद्वेष दृक् होना योग्य नहीं है यही अभिप्राय आगेकी गायामें स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जो पुद्गल शुभ थे वे ही अब अशुभ होगये हैं तथा जो पुद्गल अशुभ थे वे अब शुभरूप हुए हैं अतः इन के ऊपर रागद्वेष करना योग्य नहीं है.

सद्ये वि य ते मुच्चा चत्ता वि य तह आणंतसुत्तो मे ॥
 सव्वेसु एत्थ को मज्झ विमळो मुत्तविज्जेसु ॥ १४१६ ॥
 मुत्तोद्धिताः कृताः सर्वे पूर्वं तेऽ नन्तशोऽङ्गिना ॥
 को मे ह्येवो विपादो वा द्रव्ये प्राप्ते खुयाद्यमे ॥ १४७२ ॥

विज्जोदया—सत्ये वि य ते मुच्चा सर्वेऽपि च ते पुद्गलाः शुभाशुभरूपा अमुशूरास्त्वक्ता अनंतवारं मयः । तेषु द्रव्येषु मुक्तत्वेषु को विस्मयो भवेति त्वया चित्ता कार्या ॥

यदा च मया भाव्यमानेऽपि पुद्गलेष्वनाभविद्यावासना मयंसमासंबध्यति तदा मयैवं भावनीयमिति सत्या-
 सिनमुद्घोषयति—

मूढारा—भोग्यपुढार्यनिनिविश्य सानुरागं सेवमानः । मे मया । कस्य एतेषु भोगतया शूहीत्वा सेवयमानेषु पुद्गलद्रव्येषु । विमळो अमुक्यपुद्गला शूहीत्वाभार्यावताः ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्वे शुभाशुभ पुद्गल मेने अनंतवार भोगे हैं और अनंतवार उनका त्याग भी किया है. अतः भोगकर त्यागे मयें इन पदार्थोंमें विस्मित होना मेरे लिए अयोग्य है. ऐसा विचार है स्वपक ! तू हमेशा कर.

यदि सुखसाधनतया तेष्वनुरागो, यदि दुःखसाधनतया रोषः सैव सुखदुःखसाधनतया शुभाशुभादीनां रूपानां भैवाल्लि संकल्पमंतरणारम्भः इति यदिति—

त्वं सुमं च असुमं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि ॥

संकप्पविसिसेण ह सुहं च दुःखं च होइ जए ॥ १४१७ ॥

रूपे शुभाशुभे न स्ताः साधनं सुखदुःखयोः ॥

सङ्कल्पवशतः सर्वं कारणं जायते तयोः ॥ १४७३ ॥

विजयोदया—रूपं सुमं च रूपं शुभमशुभं वा किंचिदुत्तं सुखं च नैव करोति । संकल्पवशेनैव सुखं वा दुःखं भवति जगति ॥

किं च कामिन्म्यादिनि इन्द्रियमात्रे द्रव्ये यदि सुखसाधनतया तवानुरागो दुःखसाधनतया वा प्रद्वेषः संपद्येत तर्हि तस्यैवा सुखदुःखसाधनत्वा संकल्पपरतन्त्रपालन इति चित्तधित्युपदिशति—

मूढारा—स्वयं रूपं तयोप्यादिप्रियमायं यमिन्यादिपुद्गलद्रव्यं । संकल्पविद्येतेन इ शुभाशुभाकारोद्धेलि-
मानसाभ्यस्यसायपास्वरयेनेव । जेगं नदिरुजमग्निकेये ॥ समान्येन्द्रियनिर्जयः ।

ये पुद्गल पदार्थ सुलेख साधक हैं अतः इनमें भेदा अनुसारा है और अन्य पुद्गल दुःस्वके साधन होनेसे उन से मैं ड्रेप करता हूं ऐसा कहना भी योग्य नहीं है, शुभाशुभ रूप पुद्गल न दुःस्वके न सुखके साधन हैं, परन्तु तेरा संकल्प ही मुल और दुःखका साधन है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—शुभ रूप अशुभ रूप सुखका अथवा दुःखका उत्पादक नहीं है, परन्तु हे आत्मन् ! संकल्प से ही मुल और दुःख होता है.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू ॥

इदि अपणो गणिता णिज्जेवज्जो हवदि चक्खू ॥ १४१८ ॥

पिक्खयानि यत्तब्बधुर्महावोपमनिर्जितम् ॥

निर्जितव्यं ततः सद्भिः सर्वथा तदतंद्रितैः ॥ १४७४ ॥

पिक्खयोदया—एह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू ॥

अथुना लोकद्रव्यपुद्गले बहुतरभावनावैन्द्रियविद्येपनिर्जयं गाथाइयेन व्याकर्णकिय्यभावाविदुर्जयतमस्या-
बधुयो निर्जिते निरुपे—

मूढारा—णिज्जेवज्जो भोगादिभ्योऽस्तिदायेन निप्राकम् ॥

अर्थ—सुलोकमें और परलोकमें बधुर्गोदिय अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा जानकर बधुरि-
न्द्रिय पर विजय प्राप्त करलेना चाहिये.

एवं समं सद्वसंगंधासे विचारयित्वा ॥

सेसाणि इंद्रियाणि वि णिज्जेवज्जाणि बुद्धिमदा ॥ १४१९ ॥

शब्दगंधरसस्पर्शगोचराण्यपि यत्नतः ॥

जेतव्यानि ह्ययीकाणि योगिना शमभाणिना ॥ १४७५ ॥

दुर्जयाधरानिर्लिपमर्तृभिः पंच यो विजयतेऽक्षविद्विषः ॥
तस्य सन्ति सकलाः करस्थिताः संपदो भुवननाथपूजिताः ॥ १४७६ ॥

इति इंद्रियनिर्जयः ॥

विजयोद्भा—एवं तन्मं उभयजन्मगोचरानेन्दोपावहत्वं विचार्य स्वबुद्ध्या शेषाण्यपौन्द्रियाणि शङ्करसंगंध-
स्पर्शयिग्यानि निःशैतव्यानि बुद्धिमता । सद्दत्तसंगंधफलो इति वेगयिणी क्षमती ॥

मूढारा—एवं लोकद्वयगतनेकदोषावहत्वेन । सद्दत्तसंगंधफलो शङ्करसंगंधस्पर्शयिग्याणि ॥ इंद्रियविशेष
निर्जयः ।

अर्थ—इसी प्रकार स्पृष्टेर्नेन्द्रिय, स्मर्तेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय वगैरह इन्द्रियां भी इहपर लोकमें अनेक दोषोंको
उत्पन्न करती है ऐसी विचार कर उनको भी बुद्धिमान पुरुष जीतनेका प्रयत्न करें. अर्थात् इन इंद्रियोंके शब्द
त्वादिक निपयोगें शरीरेष्वपेक्षा संकल्प करना छोड़कर समयावना रत्ननी चाहिये.

प्रो घञ्जयोपायमाचष्टे—

जदिदा सवति असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति समिदव्वं ॥

अणुक्कं वा कुञ्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥ १४२० ॥

दत्ते शापं विना दोषं नायं सेऽस्सीति सखत्ते ॥

कृपा कूलेत्थयं पापं वराकः कथमर्जत्ति ॥ १४७७ ॥

विजयोद्भा—जदिदा सवति असंतेण यदि तावत्सता शोकेण शण्णति परः स दोषो न मयास्तीति क्षमा कार्या।
धम्मदोषमयापेनेनास्य मम किं नाष्टं इति । अथवातुक्कं अणुक्कं कुण्ठदण्ठकोऽसद्विचारेण समार्जयति पापमारं अनेक
दुःखायदं । मदीयं दोषैरस्य किञ्चिदायाति योगजतं । गुणैर्वा स्मिन्ने किञ्चिद्वचति ? प्राप्तिर्वा प्रतिनित्यया गुणदोयास्तत्त-
मेव मति सुपटु गयोजनास्ततो मुधानेन कर्मगंधः संपावते इति ॥

इदानीं कथयविज्ञेयनिर्जयं गायानामेकाग्रशित्या ज्याचक्षणः पूर्वं क्षयालक्षणं श्रुतिपक्षादिमात्रनास्वभावं
प्रोयनिर्जयोपायं गायामनेनाह—

मूढरा—सयदि आमोदसति । असंतेण अवियमानयोणेण अहेतुवा । तं णत्थि मेत्ति समिदव्वं स क्षापनिमित्त

मया परेणपण्डितो दोषो ऽपि नास्तिइति श्रमा कार्या । आरसेष्वप्यपत्तेनास्य मम ऽहं नष्टमिति । अणुकंठं अनुकंठं ।
अने षण्णोऽगन्तत्वेन भूतिगुणयहं उच्छ्रितभारं अर्जति, नहि मदीयेद्विरस्य किञ्चिदोषजातमायाति गुणैर्वा गुण
जातं । मतो गुणेनेन पारं कथये इति श्रमागन्वी चित्तो आक्रोशके कुर्वते । एवंभूते हि क्षान्त्यनुकंठयावने, सद्यः कोप-
मरमाररतः ॥

अर्थ—मैंने इसका अपराध किया नहीं तो भी यह पुरुष मेरेपर क्रोध कर रहा है मालि दे रहा है, मैं तो
निरपराधी हूं ऐसा विचार कर उमंग ऊपर श्रमा करनी चाहिये- हमने मेरे असदोषका कथन किया तो मेरी इसमें
कुछ भी हानि नहीं है, अगर प्रोष करनेपर दया करनी चाहिये, क्योंकि यह दीन पुरुष असत्य दोषोका कथन
का पापोपाजन कर रहा है, यह पाप उसको अनेक दुःखोंको देनेवाला होगा, मेरे दोषोंसे न इसमें दोष उत्पन्न
होने दें और न मेरे गुणोंसे इस में गुण पैदा हो जावे हैं, प्राणिओंके गुण दोष उनके साथ ही संबद्ध रहते हैं अतः
गुण दुःगन्ता मर्याद ही नियत प्राणिओंमें ही रहता है अतः दीन व्यर्थ ही कर्मबंध कर रहा है ऐसा विचार कर
अपदोष रहने पालेपर दयामान रहना चाहिए.

चिन्ता कठनात्मिका रोचं पुरुषमपसारयति—

अदि वा सवेज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिद्वन्नं ॥

सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिद्वत्ति ॥ १४२१ ॥

सत्वेऽपि सयत्तो दोवे सद्धनीयं मनीषिणा ॥

विशने ऽपि दोषोऽप्यं न मिथ्यानेन जल्पितम् ॥ १४७८ ॥

विजयोदया—अदि वा संजज यदि वा शयेष्व सता शयेष्व तथापि क्षमा कार्या । सोऽजेन कथ्यमानो दोषो
मार्गादि न स्वर्गीकं जेनोक्तमिति संकल्पयता । न हि संतो दोषाः परे चेद्वदुयन्ति विनश्यंति ॥

मूलरा—अदिता सवेज इत्यादि । ठोको हि श्रयेणास्तोऽपि दोषाश्चलन्ति । किं पुनः सत्तत्त्वोऽस्य दोषो न
च भिन्नदोषाये प्राणन्दुरैवानुभास्यो वेगाहमेवमिदं दोषं आनन्नपि न त्यक्तुं शक्नुयामिति तत्त्वज्ञानभावनामयी क्षमा
दुर्प्राप्तिनि नास्त्ये ॥

करुणात्मक विचार कठोर रोषको दूर करता है—

अर्थ—यदि मेरेमें दोष हैं और इसने मेरे लक्ष्य दोषोंका कथन किया है तो भी इसके ऊपर क्षमा करना मेरा कर्तव्य है. इसने जो दोष कहा है वह मेरा है ही. इसने असत्य तो कहा ही नहीं ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिये. विद्यमान दोषोंको कोई कहे तो क्या वे गप्ट होजाते हैं ?

जो पक्ष समुपकारं गदांतं चेतसि करोति स तत्प्रापरापं मह्यं सदेत इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—
सत्तो वि ण केव इद्धो हदो वि ण थ मारियो चि य खमेज्ज ॥

मारिज्जंतो विसहेज्ज केव धम्मो ण गद्धोचि ॥ १४२२ ॥

शमोजसिं न हतोज्जेन निहोडो स्मि न मारितः ॥

मरणेऽपि न मे धर्मो नश्यतीति विषद्धान्ते ॥ १४७९ ॥

विजयोद्घा—सत्तो चेद धातु पपासि न इतः इत्यहमं शुणं पुंश्चैतसि संस्थाप्य किमेनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षमार्थं । धर्ममितरगतिं योज्यं । इत क्व न दृष्टुं प्रापितः । मायमात्पोऽपि सदेत विपक्षिर्मूलनक्षमोऽभिलषितस्तुल्यं पावभौचतो धर्मो न विनाशित इति ॥

यो पर्याप्तं महान्तं उपकारं विधे करोति स तदीयमन्यवपरापं तद्वदे इति लोकप्रसिद्धेनैव मार्गेण क्रोधाद्वृज्या-
वंचति—

मूढारा—सखेगिह पेय एत एवास्मि । ण हरो न कश्चाविभिस्तादितः । एवमहमंतं महोतं शुणं चेतसि संस्थाप्य किमेनेनास्य शपनेन मम नष्टम् । पापञ्च तादयतीति वा अज्जोष्ठरि धर्मां कुर्वातु । एवमुत्तराच्चापि योज्यम् । धम्मो समस्तविषयपराजगणः सकलसुरासंगदोनोपतो दूयो यमानेत न नाशित इति ॥

जो जिसके ऊपर महान उपकार करता है वह उसका अल्प अपराध सहता है. यह लोकोक्ति जगतमें प्रसिद्ध ही है. इसीका विवेचन—

अर्थ—इसने मेरे को मालीही दी है. इसने मेरे को पीटा तो नहीं है. अर्थात् न मारना यह इसमें महान् गुण है इसने मालि दी है परंतु मालि देने से मेरा तो कुछ भी नुकसान नहीं हुआ अतः इसके ऊपर क्षमा करना ही मेरे लिए उचित है. ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिये. इसने मेरे को फक्त ताटन ही किया है. मेरा क्वथ तो

नहीं किया है. वध करने पर सौ जाता करनी चाहिये. मेरा धर्म संकटको दूर करनेवाला और शक्तिव सुख देने वाला है वह धर्म इसने नष्ट नहीं किया है इसने बड़ मदान् उपकार मेरे लिये किया है ऐसा मानकर क्षमा ही करना योग्य है.

वपार्यांतरमपि रोषविजये निरूपयति—

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं च अग्निणा सब्बो ॥

पावं च करिज्ज माहं बहुगंपि णरेण खमिदब्बं ॥ १४२१ ॥

क्रोधो नाशयते धर्मं विभावसुरिवेन्धनम् ॥

पापं च कुरुते घोरमिति स्मरया विपद्यते ॥ १४८० ॥

विजयोक्षया—रोसेण महाधम्मो दुर्लभतरो धर्मोऽनुयायी रोसेण मदीयो नश्यति ॥ अग्निना यजमिय ।
तथा वाग्यधायि—

अज्ञानकायुजवितस्त्वयमानवातेः ।

तैयुक्तिः पश्ययान्गुर्वचिस्कुलिगः ।

द्विसाक्षिद्रोऽपि भूतसुखितवैरधूमः ॥

क्रोधासिद्धहति धर्मवन नराणां ॥ इति ॥

पापं वा कुर्यान्ममायं क्रोपस्तद्वेकदुःखवीजमिति विष्टे वा क्षमा कार्या ॥

वपार्यांतरमपि रोषविजयेऽप्रीति—

मुखाद—महं मम दुर्लभो दुर्लभो दुश्चरोऽनुगामी य मे धर्मो निःशेषोऽपि रोसेण नश्यतीति भावयेत् ।

तथा श्रोतम्—

अज्ञानकायजवितस्त्वयमानवातेः

संभुक्षितः परुषवागुरविस्कुलिगः ॥

द्विसाक्षिद्रो भूतसुखितवैरधूमः ।

क्रोधोऽपि रूढहति धर्मवनं नराणाम् ॥

मोहं मम रोषो यूरिपापं कुर्वीत स्वानन्दमयदुःखमीडं इति चिंतया क्षमा कार्या । क्षयवा पावं करोञ्च माहं पापं मा युक्तो महारोगेनेति नियोन्वय ॥

और भी उपाय कहते हैं—
अर्थ—जैसे अग्निसे सर्व ठण नष्ट होता है तलकर स्वाक होता है वैसे अतिशय दुर्लभ, परमवैभवं साथ अनन्याला, पठे ऋतसे प्राप्त किया गया सदुर्भ कोधसे नष्ट होता है.

यूरोनार्य इस विषयसे ऐसा कहते हैं—
यह क्रोधरूप अग्नि अज्ञान रूपी श्वेतसे उत्पन्न होता है, अपमानवायुसे भस्मक ऊठता है, कठोर वचनरूपी स्फुलिंगसे युक्त है, हिंसा रूपी ल्वासासे युक्त है और अतिशय प्रगट ऐसा वैरही इसका धूम है ऐसा यह क्रोधाग्नि मनुष्यके धर्म रूपी वनीकेका क्षणात् नाश करता है. मे यदि क्रोध करूँगा तो मेरेसे पाप होगा. पाप अनेक दुःखोंका बीज है. इन प्रकारका विचार कर मनमें क्षमा करना चाहिये.

वयायंस्वरमपि पठति—

पुन्वकवमञ्जपात्रं पत्ते परदुःखकरणजादं मे ॥
रिणमोक्खो मे जावो मे अज्जत्ति य होदि खमिदब्बं ॥ १४२७ ॥

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥
क्षणमोक्षोऽयुना मासो विजायेति विपद्यते ॥ १४८१ ॥

चित्तयोदया—मुन्यभदमज्जपात्रं पापममद्वारमज्ञानता अनेनापि प्रमादिना पूर्व कृतं चरकं पापं पेरणां दुःखकारणं तदप्य निपातितं । क्षणमोक्षोऽय मम जात इति चिंतयताऽपमार्पितव्यो रोषः ।

मूहारा—मुन्यकदं पापात्तविकारणं ज्ञानताऽज्ञानतापि वा प्रमादवशा सता यत्सुरोपाजिव तदिदं पापमयोदिते-
ममेवि संवधः ॥ क्षणमोक्खरो क्षणमोचनं । अज्जत्ति यथेति । उक्तं च—

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥

क्षणमोक्षोऽयुना मासो विजायेति विपद्यते ॥

अर्ध—भैंसे पूर्व जन्ममें दूसरोंको दुःख देकर पापबंध प्राप्त लिया थां. पाप आनेका कारण नहीं जानते हुए इस प्रसादी मनुष्यने मेरा पाप अब उदयावस्थामें लाया है. अतः मैं इस ऋणसे आज मुक्त हो रहा हूं ऐसा विचार कर दुःख देनेवालोंपर क्षमा प्रारण करनी चाहिये. शरीर कोपको अपने मनसे हटाना चाहिये.

पुत्रं सयमुपमुचं काले पापेण तत्तियं वृत्तं ॥

को धारणीओ घणियस्स दित्तओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १४२५ ॥

अनुसुक्तं स्वयं यावत्काले न्यायेन तत्समम् ॥

अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥ १४२६ ॥

विजयोदया—पुण्यं सपमुपमुचं पूर्व समयमेव मुक्तं, अथयिक्काले प्राप्ते । णयेण मीत्तां । इत्थं अधमर्णे उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःखं करोति ॥

पूर्वजन्मविराद्धेन परेणोदीरितं तद्विराधनोपार्जितं पापमनुभवतो मे किं दुःखं स्वावधमर्णाय पूर्वमुणीकृत्य स्वयं मुक्तं इत्थं तापगन्तव्येय यथा व्यवहारमवधिकाले प्राप्ते ददत इत्येवमप्यर्थरि वीप्यमानस्य कोपस्य निमहायमुपायविर-मुपविशति—

मूढारा -- पापेण धर्माचारेण । धारणीओ ऋणिकः ॥

अर्थ—जैसे साहुकास्से द्रव्य लाकर उसका उपभोग लिया परंतु उसका धन मर्यादा काल आनेपरभी लौटाया नहीं. परंतु अब धन लौटानेका समय यदि प्राप्त हुवा है तो अवश्य साहुकारको उसका धन वापिस देना चाहिये. उसका धन उसको देनेमें कौन दुःख करेगा. वैसे इस मनुष्यको पूर्व जन्ममें दुःख देकर पापोपाज्जन किया था. अब यह मेरेको दुःख दे रहा है यह योग्य ही है. इसने दिया हुवा दुःख मैं यदि श्रांत भावसे सहन करूंगा तो मेरा पापकर्म तत्र नष्ट हो जायगा. मैं इस पाप ऋणसे रहित होकर सुखी होऊंगा ऐसा विचार कर रोप नहीं करना चाहिये.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ॥

इदि अप्पणो गणिता परिहिव्वो हवइ कोधो ॥ १४२६ ॥

निवेवित्तः कोपरिपुयतोऽद्भिनां ददाति दुःखान्पुमयत्र जन्मनि ॥

निकर्तनीयः शमस्वङ्गधारया तपोवियोयैः स ततोऽप्यदुर्जयः ॥ १४८३ ॥

इति क्रोधनिर्जयः ।

स्वित्तपोदण—स्पष्ट ॥

मूलरा—स्पष्ट । क्रोधनिर्जयः ॥

अर्थ—इम लोकमें और परलोकमें यह क्रोध अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा विचार कर क्रोधका

परिहार—त्याग करना चाहिये.

उत्तरा माया-क्रोधजयोपायभूताग्निरिवात्मादुपलक्ष्यं मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को पृथ मय्य माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तरस ॥

उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥ १४२७ ॥

नीचत्ते मम किं दुःखमुच्चत्ते को उत्र विस्मयः ॥

नीचत्वयोच्चत्वयोर्नास्ति निश्चयत्वं हि कदाचन ॥ १४८४ ॥

विजयोदया—को पृथ मय्य माणो कोऽत्रावकृत्यातेऽज्ञानीदेकरत्नव्यतसे यथो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपो
द्रविणप्रभुदेकरत्नां मासस्य मोमेऽप्युच्यताये अत्रवस्थाधिति सति उपस्थिते ओत्तरकालनीचत्वे ॥
मानजयोपायं गाथाचतुष्टयेणोपदिशति—

मूलरा—अत्र वर्तमाने ज्ञानदेकरत्नाय । अणिच्चे उच्चत्ते च वैववत्तातेऽज्ञवस्थाधिति सति । किं

मम पदुवारात्रीचत्वमपि प्राप्तस्यापि अस्मिन्नुच्चत्वे प्राप्ते सर्वे इति मार्दवं भावयेत् इति भावः ॥

उत्तरं च—

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः ।

नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति निश्चयत्वं हि कदाचन ॥

मानके प्रतिपक्ष श्रुत परिणायोका वर्णन करते हैं—

अर्थ—मैं इस संसारमें अनेकवार नीचावस्थामें उत्पन्न हुआ हूं, उच्चत्व और नीचत्व ये, दो अवस्थायें नित्य नहीं हैं, कुछ काल रहकर नष्ट होती हैं, ज्ञान, कुल, रूप, संपत्ति, प्रभुत्व ये अनेकवार इस जीवकी प्राप्त हुए हैं, ये प्राप्त होकर भी पुनरपि नष्ट हो चुके हैं, और पुनः नीचत्व प्राप्त हुआ है, अतः अभिमान करना फिजूल है.

अधियासु बहुसु संतेसु ममादो एत्य को महं माणो ॥

को विव्वओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥ १४२८ ॥

परेषु पियमानेषु किं दुःखमधिकेषु मे ॥

घोनिहीनेच्चदंकारः संसारे परिचलति ॥ १४८५ ॥

विजयोदया—रघुदा ॥

सूछारा—ममादो नस्तकाशान् । विव्वओ हर्षः ॥

अर्थ—कुल, रूप, संपत्ति इत्यादिक ज्ञानोंमें मेरेसेभी अधिक श्रेष्ठ लोक जगतमें हैं अतः इसमें मेरा अभिमान करना व्यर्थ है तथा ऐसा उच्चत्व मेरेको पूर्वकालमें अनेक बार प्राप्त हुआ था इसलिये इसमें आश्चर्य चकित होना भी मेरे लिये अयोग्य है.

उत्तरगाथा—

जो अवमाणकरणं दोसं परिहरइ निच्चमाउत्तो ॥

सो णाम होदि माणी ण दु गुणवत्तेण माणेण ॥ १४२९ ॥

स मानी कुरुते दोषमपमानकरं न यः ॥

न कुवाणः पुनर्मानमपमानविचर्दकम् ॥ १४८६ ॥

विजयोदया—जो अवमाणकरणं दोषं परिहरति निस्सुगुणः स मानी भवति । न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मामेन ॥

अदोकिन्मानिवेपदनिन्दारेणाहंकारनिराकरणं कारयितुमाह—

मृदारा—अवमाणजकरणं परिभक्करं स्वस्य परस्य वा । दोसं कुल्लपोषियादिगिराहोत्कर्षसंभावनं परप्रध-
वंनं वा । आउत्तो सर्वत्र समाहितः । सो धाम स एव भानी भवति । तन्माहात्म्यस्य केनापि खंडयितुमशक्यत्वात् ।
गुणरितेण सपरपराभयकारणकालवदोपेदोयनिलपरिपरणलक्षणगुणपरिहीनेन । माणेण स्रब्धत्वमात्रेण । तन्माहात्म्य-
तंदनस्य येन येनापि कर्तुं शक्यत्वात् ॥ ठळं य—

स भानी कुरते दोषमपमातकरं न यः ॥

न कुर्वाणः पुनर्यानिमपमानविवर्धकम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अपमानका कारण ऐसे दोषका त्याग करता है और हमेशा दोषरहित प्रवृत्ति रखता है उसको ही भानी समझना योग्य है. गुणरहित होनेपर भी मान करनेसे कोई भानी नहीं माना जासकता है.

इह य परत्तय लोए दोसे वहुगे य आवहदि माणो ॥

इदि अप्पणो गणिता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥ १४३० ॥

द्वितयलोकभयंकरमुत्तमो विविधदुःखशिलाततदुर्गमम् ॥

प्रचलभार्दवप्रविघाततो नृपति माननगं शतखड्गम् ॥ १४८७ ॥

इति माननिर्णयः ॥

विजयोदया—इह य परत्तय अन्यद्वये दोषाभ्यह्नावहति मानमिति विगण्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजनः ॥
मृदारा—एष्टम् । माननिर्णयः ॥

अर्थ—इस जन्ममें और परजन्ममें यह मानक्याव बहुत दोषोंको उत्पन्न करता है. ऐसा जानकर संपुरुष मानका निग्रह करते हैं. अर्थात् मानका त्याग करते हैं.

मायाभक्तिपदपरिणामस्वरूपं निन्दति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंदरेण णज्जंति ॥

मायाए पत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लब्धो ॥ १४३१ ॥

दोषो नियुक्तमानोऽपि स्पष्टतां याति कालतः ॥

निश्चितं हि जलेवर्चो न चिरं न्यथतिष्ठेत ॥ १४८८ ॥

विजयोदया—अदिगृहिदा वि दोषा धर्तीय मंत्रुता अपि दोषा जनेन प्रायंते कालांतरे भावया प्रयुक्तया को गुणो लप्स्य इति चितया निदिंति ॥

मायाजयोपायं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—अदिगृहिदा मुन्दु गोषिताः । उद्धो येन वंचना प्रयुज्यते इत्यार्जवभावनया भायां निर्जयेदिति तात्पर्यम् ॥

मायाका प्रतिपक्षी परिणामका स्वरूप आचार्य कहे हैं—

अर्थ—दोषोंको अविशय छिपाने पर भी कालांतरसे कुछ काल उषतीत होनेके बाद वे दोष लोफोंको नाश्वन पड़ते ही हैं, इसलिये मायाका प्रयोग करने पर भी क्या फायदा होता है ? ध्यानमें नहीं आता-

पञ्चिभोगमि असंते पियडिसहस्सेहि गूहमाणस्स ॥

चंदग्गाहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥ १४३९ ॥

जणपायडो वि दोसो दोसोसि ण घेप्पस्स सभागस्स ॥

जह समलत्ति ण विप्पदि समलं पि जए तलावजलं ॥ १४३३ ॥

प्रकटोऽपि जनैर्दोषः सभाग्यस्य न शुद्ध्यते ॥

समलं मलिनं केन शुध्यते सारत्वं जलम् ॥ १४८९ ॥

नीचेन छाद्यमानोऽपि स्पष्टतामेति निर्मलः ॥

राहुणा पिहितध्वजो भूयः किं न प्रकाशते ॥ १४९० ॥

विजयोदया—जणपायडो वि दोसो लोकमकटोऽपि दोषो दोष इति न शुध्येत भाग्यवतः । यथा समलमिति सदृश । एतदुक्तं भवति पुण्ययतोऽपि मायया न किंचित्साध्यं । प्रकटोऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषविनिग्रहने हि मान्यतायिनाशमयादिति भावः ॥

किं च कृतदोषादिर्मोक्षतिरोपायौ भाग्यशुद्धयोदयाधीनौ न पुरुषाकारयत्नौ सत्किमर्थं राक्षसीवाणशत्राया माया प्रतायते इति सिद्ध्यति—

मूढारा--अपिभोगस्मि पुण्ये । चंदमहो सोमग्रहणं । स्थां श्रीविलवो नेच्छति ॥

आप्यदाखिनो दोषपि दोष इत्यपृहीत्वा लोको माननां करोति इति पुण्यवतो मायवा न किञ्चित्साध्यं तथा-
प्यसौ यदुपपन्ना मान्यतामेव विनाशयेत् इति सिद्ध्यति--

मूढारा--राष्ट्रम् ॥

अर्थ--उत्कृष्ट भाग्य यदि न होया तो हलारो कपट करके दोषोंको छिपाने पर भी वे प्रगट होते ही हैं। जैसे चंद्रको राह ग्राम लेता है यह बात छिपती नहीं सर्व जनप्रसिद्ध होती है, ऐसे दोष छिपानेका कितना भी प्रयत्न करो परंतु यदि तुम पुण्यवान न होंगे तो तुम्हारे दोष लोगोंको मालूम होंगे ही।

अर्थ--जो मायवान मनुष्य है उसका दोष सर्व जनोंको अत्यन्त होनेपर भी लोक उसको दोष मानते नहीं हैं, जिस लालाचका पानी मलिन होनेपर भी उसके मलिनपनके तर्क जब लक्ष्य नहीं देते हैं, इससे यहां यह अभिप्राय समझना चाहिए--पुण्यवान् कपट करनेकी कुल भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दोष प्रगट होनेपर भी धीमान मान्य होते ही हैं, मान्यताका नाश होगा इस भयसे दोषोंको छिपाते हैं परंतु जब मान्यताका नाश होनेका भय ही नहीं है तो कपट करनेकी ॥॥ आवश्यकता है।

अथ भावां करोत्यर्थार्थं तथापि सान्निध्येति वदति--

हंससर्पहं बहुगोहं सुपटनेहिं अपडिभोगस्त ॥

हृत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥ १४३७ ॥

दंभेऽर्थः क्रियमाणेऽपि त्रिपुण्यस्य न जायते ॥

आयाति स्वयमेवासौ सुकृते विहिते सति ॥ १४३९ ॥

पितृयोदया--हंससर्पहं बहुगोहं दंभतैर्यदुभिः सुमुकुटपि अपुण्यस्य हस्तं नायत्यर्थः । अन्यस्मात्पुण्यात् ॥
त्रिपुण्यस्य मायाप्रयोगो धनसाधनायपि न स्यादिति बोधयति--

मूढारा--अपिभोगस्त अपुण्यस्य । अण्णादो अन्यस्मादंजनपयोक्तात् । सपडिभोगादो सपुण्यात् ॥
धनं किं लिये पाया करते हैं यह कहना भी व्यर्थ है ऐसा कहते हैं--

अर्थ—तैकडो कपट प्रयोग करने पर भी और चेलाख्य कपट प्रयोग करने पर भी पुण्यवान मनुष्यसे विद्य मनुष्यको अर्थात् पापी मनुष्यको धन प्राप्त नहीं होता है- तात्पर्य—कपट करनेसे धन प्राप्ति होती नहीं यह पुण्यसे ही मिलता है-

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ॥

इदि अप्पणो गणिता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥ १४३५ ॥

धितरनि बिपुला निकृतिघरित्री बहुविधमसुलं दुरितसावित्री ॥

इयमिति निहता बिपुलमनस्कै कज्जुणपविना बिमलयशस्कैः ॥ १४९२ ॥

इति मायानिर्जयः ॥

विलयोद्घा—इह य परत्त य इहपरत्तोक्तयोगेद्वन्द्वोपानवदति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहृतं भवति माया ॥

मूलारा—एष्टम् । मायानिर्जयः ॥

अर्थ—इपरमवर्गे भाषासे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा जानकर भाषाका त्याग करना चाहिये-

लोमे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस अपडिभोगस्स ॥

अकएवि हवदि लोमे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥ १४३६ ॥

संपयते सपुण्यस्य स्वयमेत्यान्यतो धनम् ॥

हस्तप्राप्तमपि क्षिप्रं विपुण्यस्य पलायते ॥ १४९३ ॥

विजयोद्घा—लोमे कदे लोमे कृतेष्वर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोमे पुण्ययुतः । ततः अर्थो-सत्किरर्षलोमे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमिलनया चितया लोमो निरकार्यः ॥

लोमजयोपार्थ गाथात्रयेणाह—

मूलारा—पडिभोगवंतस्स पुण्यवतः । अर्थात्किरर्षलोमनिमित्तमपि तु पुण्यं मिलनया चितया लोच-मनुजन्तु लोमं निराकुर्यादिति भावः ॥

अर्थ—लौम कल्पेसभी पुण्यप्राप्तित मनुष्यको द्रव्य मिलता नहीं है. और लौम न करनेपर भी पुण्यवान को धनकी प्राप्ती होती है इसलिये धनप्राप्ति होती है इसलिये धनप्राप्ति होनेमें धनासाक्ति कारण नहीं है परंतु पुण्य ही कारण है ऐसा विचार कर लौम का त्याग करना चाहिये.

अपि च अर्थमासये जनः प्रयत्ने कर्मा पुनरसृज्यमास्त्यकाम्य तेषु को विस्मय इति मनःप्रणिधानं कुरु लोमविजयवेति पक्षेति—

सब्ये वि जाए अत्या परिगहिदा ते अणंतधुचो मे ॥

अर्थेषु इत्य को मज्झ विमओ गहिदविजहेसु ॥ १४३७ ॥

सेसारेज्जात्यमानेन प्राप्ताः सर्वे सहस्रशः ॥

विस्मयो लब्धयुक्तेषु कस्तेषु मम सांप्रतम् ॥ १४९४ ॥

विजयोदधा—तन्ने पि लभे माया सर्वेऽपि जगत्प्राप्ता मयातंतवारं समार्थेण्यमीषु को विस्मयो पृथीतस्त्वेषु ॥

उपायांतरमाह—

मूढाटा—सपक्ष्म । लोभनिर्लेपः ॥

धन प्राप्त्यर्थं लोक यत्न करते हैं धन तो अनेकें धार मिल गया था और नष्ट भी हुआ था इसलिये धनमें आश्चर्य करना किञ्चल है लौम विषयकें लिये ही है क्षणकत् मनको स्थिर कर ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—
अर्थ—इन प्रलोभयमें मैंने अनंतवार धन प्राप्त किया है. अतः अनंतवार ग्रहण कर स्वामी हुए इस धनके विषयमें आश्चर्य चकित होना किञ्चल है.

इह य परस्म्य लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ॥

इदि अप्पणो गणिता गिज्जेदब्बो हवदि लोभो ॥ १४३८ ॥

लोकद्वये दुःखफलान् दत्ते गार्थक्यतोयेन विचर्द्धितोऽयम् ॥

स्तोपशखेण निकर्त्तनीयः स लोभधस्त्रो यदलः क्षणेन ॥ १४९६ ॥

कपायचौरानातिवृत्तकारिणः पवित्रचारित्रधनापहारिणः ॥
शृणोति यथाकृच्छरित्रमार्गैः करस्थितास्तस्य मनीषिताः श्रियः ॥ १४९६ ॥

इति लोभनिर्जयः ॥

पित्रयोदया—इन्द्रियस्वावलम्बं ।

मूलार—स्पष्टम् ॥ लोभनिर्जयः ॥

अर्थ—इष्टरत्नलोकमें यह लोभ अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा समझकर लोभकरायपर विजय प्राप्त करना चाहिये, इन्द्रिय और कर्पायोंका वर्णन समाप्त हुआ-

परमिन्द्रियकपायपरिणामनिरोधोपायभूताप्यरिणामनुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति स्मृतिः—

णिहं जिनाहि निच्यं णिदा हु नरं अचेयणं कुणइ ॥

घट्टिज हु पासुसो खवको सज्जेसु दोसेसु ॥ १४३९ ॥

निद्रां जय नरं निद्रा विदपाति विचेतनम् ॥

सुप्तः प्रवर्तते योगी दोषेषु सकलेष्वपि ॥ १४९७ ॥

पित्रयोदया—णिहं जिनाहि निद्रां जय । अजिता सा किमपकारं करोति इत्यासेक्य आह—णिदा हु नरं अचेयणं कुणइ निद्रा नरं अचेतनं करोति । सैतत्परहितपक्षभाषापरिमुच्यते अचेतनं करोतीति । अत्रोच्यते—वियेकमानरहितस्य भेषाद्यैवतमराहेनोच्यते । यत् एव योग्ययोग्यादियेकमानरहित अत एव । घट्टिज ॥ यतवे एव । पासुसो मकरेण सुता । खवको खपकः । सज्जेसु दोसेसु हितामनुगपरिग्रहभवेकेषु ॥

परमिन्द्रियकपायजयान्तरादेतनुपदिश्य कर्मकरणतुरोपायसप्तं निद्राजयोपायं सोपायं गाथादसकेनोपदिशति मशार—जिनाहि जय त्वं । अचेयणं युक्तकुणवियेकविमुक्तं । दोसेसु हिंसादिषु ॥

इन्द्रिय कपाय परिणामोंका निरोध करनेमें उपायभूत परिणामोंका यथातक आचर्यने विवेचन किया अब निद्राजयका क्रम कहते हैं—

अर्थ—हे खपक ! तू निद्राका जीत ले, निद्राको न जीतनेसे क्या हमने होती है इस संकाका उत्तर ऐसा है—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है, आराममें चेतन्यरहित अवस्थाका अभाव ही है अतः निद्रा अचेतन करती है, ऐसा क्यों

कदा है? उत्तर—वियेकज्ञानका अभाव निद्राके समय होता है. अतः निद्रा मनुष्य को अचेतन करती है ऐसा कहा है. योगयोग्यविवेकज्ञान न होनेसे आत्मा अचेतन होता है, ऐसा कह सकते हैं. गाढ़ निद्रित हुआ मनुष्य हिमा, मेथुन, परिग्रहादिक दोषोंमें प्रवृत्त होता है.

निद्रा कर्मोद्भवमाद्वयति कथं प्रयाणाकृतव्या इत्यत्राह—

अदि अधिवाधिञ्ज तुमं निद्रा तो तं करेहि सल्लसायं ॥

सुहुमत्ये वा चित्तेहि सुणव संवेगणिज्जेगं ॥ १७४० ॥

यदा प्रदाधत्ते निद्रा साध्यायं त्वं तदाश्रय ॥

अर्धोपणीयसो ध्यायन्कुरु संवेगनिर्विदो ॥ ४९८ ॥

विजयोदया—अदि अधिवाधिञ्ज तुमं पचापिधाधेत भवतं निद्रा । तत्तस्य कुरु स्वाध्यायं । सुहुमत्ये वा चित्तेहि सल्लसायं । सुणव संवेगनिज्जेगं शृणुय भवेज्जनीं निर्वेज्जनीं वा कथां ॥

दर्शनारण्योपदेशोत्रेकाहविंशती निद्रा कर्म मया निरोद्धुं दक्षयेत्यत्राह—

मृक्षारा—तुमं त्वं । सुण व शृणु वा । संवेगनिज्जेदं संवेज्जनीं निर्वेज्जनीं वा कथाम् ॥

निद्रा कर्मके उदय मे प्राप्ती है अतः वह मंत्रसे कर्मों दृष्टाई जा सकेगी इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—
अर्थ—यदि निद्रा तुमका सतावंगी तो तू स्वाध्याय कर, सुख पदार्थोंका विचार कर, संवेज्जनी और निर्वेज्जनी कथाओंका भी श्रवण कर ये निद्रा जीतनेके उपाय हैं.

प्रकरणतर्ग निद्राविजयोक्तुं निगदति—

पीदी मए य सेगे य तहा णिदा ण होइ मणुयाणं ॥

एदाण तुमं तिणिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥ १४४१ ॥

निद्रा प्रीतौ मये शोके यतः पुंसो न जायते ॥

निज्जयाय तत्तात्तस्यास्त्यपिदं चित्तयं यज ॥ १४९९ ॥

विजयोदया—भीती भय य सोमे प्रीत्या भये शोके ॥ इति निद्रा भुज्याणां न भवति । तेन प्रीत्याविशेषां कुरु
त्ये निद्राविविक्तये ॥

मलारा—प्रीत्यादिद्वये सति नोदेति ॥

निद्राविजयके लिप् दूसरा उपाय.

अर्ध-प्रीति, भय और शोक इनसे कोई भी विकार होनेपर निद्रा नहीं आती है- इसलिय निद्रा विज-
सायं तु प्रीत्यादिकला सेवन कर.

भीतिभयशोकानां भुज्यमाणमात्रकमार्द्रवाग्निमित्ता । निद्राया वा अविशिष्टाया कथं वा संभारयितो
निरच्यते प्रीत्यादिके इत्यादौकावां संवरहेतुभूततया सङ्गपदेनं प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदं च उचमहम्मि ॥

सोमं च पुरातुच्चरिवादो णिदाविजयहेतुं ॥ १४४२ ॥

ज्ञानाकाराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ॥

पापे पूर्वार्जिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥ १५०० ॥

विशयो—भयमागच्छसु भयं प्रतिपद्यत । संसारादो संसारात् पंचविधपरिवर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनायां ।
शोकं त्वेति पूर्वकृतानुस्मिताया । निद्रां विजेतुं नरकादिमतिव्यसङ्करपरिवर्तमानेन शरीरमागतुं, मानसिकं, सामाजिकं
च दुःखं विचित्रप्रभुभूतं तत्पुनरुत्पादायस्मि इति मनः प्राणिषेहि । सकलमापत्संहतिमुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिश्चयस-
हस्रमिमां, अन्तेषु भयेषु धनवशात्पूर्वो रत्नत्रयाराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसादुल्लेखेयाश्रयपरिग्रहेषु
विषयाप्यकरणेषुभुज्यमाणनोवाक्राययोगेषु च विचित्रकर्मजनमूलेषु कर्तुंविधेयधर्मायतिमिसेषु अन्तरत्वं मंदभाष्यः
प्रवृत्तोऽस्मि दितानि विचारणविमुग्धद्विस्तया सम्मार्गस्याप्येष्टृणागुणुलंभात्प्रवरक्रामावरोधोदयात्तदुदीरितार्थो-
नयवोधात् । भयगमे सत्यपधच्छायाः, चारिमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेषु दुःखान्भोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्दिष्टचित्ततया
च निद्रा प्रयाति ॥

संभारधं निद्रां निमीषता किं विषयं प्रीत्यादित्रयं विषेयमित्याह—

मलारा—अविषयस्य । नरकादिगादिषु अत्यसङ्करपरिवर्तमानेन शरीरमागतुं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं भयात्-
भूतं तत्पुनरपीदमायातीति चेत्तः प्रणिषेदीत्यायः ॥

उत्तन्दन्ति रत्नत्रयासाधनायां सर्वा विपदो निराकर्तुमशुद्धयनिःशेषसंपदः संपादयितुं, कर्मविपश्यन्मूलयितुं, अनंतज्ञानादिचतुष्टयभित्तानाकट्टं, असारशरीरभारमपसारयितुं न समर्थतमागमिमांसासंसारमप्राप्तरी रत्नत्रयासाधनां विषा-
तुमुपनोदयि, धन्योऽयि, क्लृप्तोऽयि, पुण्याहं भवेदमेवोति प्रीति भावयेदित्यर्थः। पुरा दुर्बलितो पूर्वचित्ति दुराचारे।
हा कष्टनामिकाळं निष्पात्तसंयमरूपाशुभयोगप्राप्तये चतुर्विधवर्षनिर्धनतया विविधचतुर्गतिदुःखप्रवंचवि-
भाटपु मंदभागः कथमहं प्रयुक्तः ? हिताहितमीनां सामुद्रतया सन्यागोपदेशं युक्तं लब्ध्यापि प्रवृत्तानां वरणोदयवशात्
तदुपविष्टात्पत्यत्नयोजेऽपि दुर्गमनिष्पात्तविपाकेनाश्रितोऽपि, दुर्बलचित्तमोहोद्रेकेण श्रेयोभार्गाप्रयुक्तं कथमहं
दुरंतसंसारपापवारदुःखार्थकलेषु सुखं दुर्गतिदुःखमस्तुद्विप्रहृदयो भवेदित्यर्थः।

मीति, भय और शोक ये अशुभ परिणाम हैं अतः अशुभ कर्मका आगमन होनेमें ये हेतु हैं, निद्राके
समान ये भी त्याग्य हैं तो भी संवसार्थिके लिए इन मयादिकोंका निरूपण आचार्य क्यों करते हैं ? इस शंकाका
परिहार करनेके लिए प्रीत्यादिकके विषयोका भी सुलासा करते हैं—

अर्थः—हे क्षपक ! तू पंच प्रकारके परिवर्तन रूप संसारसे भययुक्त हो, रत्नत्रयकी आराधना करने में तू
प्रेम युक्त हो और एवंकृतपापोंके विषयमें मनमें शोक कर, ऐसा करनेसे तू निद्रापर विजय पा सकेगा।

नरकादि मतिओंमें अनेक वार उत्पन्न होकर अनेक प्रकारके शारीरिक, आंगतुल्य, मानसिक दुःखोंका
तू अशुभय लिया है ये दुःख फिर भी मेरेको प्राप्त होंगे ऐसा विचार कर भययुक्त हो, और अपना मन ध्यानमें
एकान्त कर, यह रत्नत्रयासाधना सर्व संकटसमुदायका नाश करती है, अशुद्ध और मोक्षमुख देती है, असार
शरीरका भार इस रत्नत्रयासाधनासे दूर होता है, इससे जीवको अंगंश दर्शन और अनंतज्ञानकी प्राप्ति होती है,
यह कर्मरूप विपश्यन्को उपपादनेमें समर्थ है, इसकी अनंत भवोंमें कभी भी प्राप्ति नहीं हुई थी, मैं आज इसको
प्राप्त करनेमें उद्युक्त हुआ हूँ, ऐसा विचार करके रत्नत्रयासाधनामें प्रीतिकी भावना प्रतीति चाहिये।

इति, आराध्य भाषण, चोरी, मैथुन सेवन और ब्रह्मचर्य ये पांच कुरकार्य विचित्रकर्मवीर उत्पत्ति करनेसे
हेतु हैं निष्पात्त, कथाय, और अशुभ मनोवचन और काय इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका जीवमें आगमन होता
है, उपयुक्त कारणोंमें प्रकृति, स्थिति गैरत चार प्रकारके कर्म बंधकी उत्पत्ति होती है, मंदभाग्यवान में ऐसे का-
र्योंमें हमेशा प्रवृत्त हुआ था, हिताहितविचार करनेवाली बुद्धिकी मेरेमें कभी थी, सम्मार्गका उपदेशक न मिलेले,

तथा प्रानारण कर्मका उद्देश्य होनेमें भेदको हितज्ञान आजतक नहीं हुआ था. अथवा उपदेशक धित्तेपर भी उसके उपदेशका अभिप्रायही में नहीं जान सका. कभी ज्ञान होनेपर भी मैंने उस उपदेशपर विश्वास नहीं किया. विश्वास करनेपर भी चारित्र्योद्देश्यके वक्ष होकर चारित्र नहीं पाला. इसी कारणमें मैं संसारसमुद्रमें डूबा हूँ इस प्रकारके शोकविचारसे निद्रा नष्ट होती है.

जागरणत्थं इन्वेवमादिकं कुण कम्मं सदा उत्तो ॥

ज्ञाणेण विणा वंज्जो कालो हु तुमे ॥ कायव्वो ॥ १४४३ ॥

सदैवसुपयुक्तेन निद्रां निर्जयता त्वया ॥

न ध्यामेन विना स्थेयं पवित्रेण कदाचन ॥ १५०१ ॥

चिजयोदया—जागरणत्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुण कम्मं सदैवयुक्तं । ध्यानेन विना वंज्जो कालो न कर्तव्यस्तथा ॥

मूढारा—जागरणकथं निद्रानिरासार्थं । वंज्जो निष्कलः । सत्तदुपायसिद्धीपथप्रयोगैर्निद्रामहाव्याधिं जितवन्तानि स्वया सख्यपानशून्येन क्षणमपि न स्वातन्त्र्यम् । तथैव कर्मसंवरणविर्जरणकर्मणि पुरीणत्वात् शक्ति भावः ॥

अर्थ—निद्राका नाश करने के लिये इस प्रकारका उपयुक्त कर्म तू कर, और ध्यानके बिना एक कालकाल भी तुझको नष्ट करना योग्य नहीं है.

संसारोदविगित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहिं ॥

सोढुं ण खमो अहिमणणीय सोढुं व सधरम्मि ॥ १४४४ ॥

न दोपाननपाकृत्य खप्पुं जन्ममि युज्यते ॥

अनर्थकारिणो रौद्रान्पल्लगानिव मंदिरं ॥ १५०२ ॥

चिजयोदया—संसारोदविगित्थरणमिच्छदो संसारोदविनिश्चरणमिच्छजनपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्नुं क्षमः ॥ अहिं अनपणीय स्वप्नुमिव गृहे ॥

यावदोषा न निराकृतास्तावत्परिमितमिति स्वातः कर्तुं न युज्यते इति वक्रमणितया निद्राविवक्षायां सज्जयति ॥
 मूढार—इच्छादो इच्छम् । बांछतो वा । अन्ते किञ्चित्दो इति पठित्वा निश्चययुक्तो मुनिरित्यर्थमटुः । अणवणी
 ॥ स्वस्मादतिःसार्यः । दोसादि राणादिसर्वं । सोढुं स्वप्नुं । न यमो न बुद्धेऽसि त्वम् । न सममिति पाठे न युक्तं तवेति
 योष्यम् ॥ अहिं सर्वे ॥ उक्तं च ॥

न दोषाननपाकृत्य स्वप्नुं वन्यमि युज्यते ॥

अनर्थकारिणो रौद्रतन्त्रगान्तिव मंदिरे ॥

अर्थ—संसाररूप जंगलमेंसे निकलनेकी इच्छासे दोषोंको पिना दूर किए ही सोना योग्य नहीं है, क्या
 सर्वको घरमेंसे बाहर निकाले बिनाही घरमें सोना योग्य है ?

को नाम निरुज्येगो लोगे मरणादिअग्निपञ्जलिदं ॥

पञ्जलिद्विम्बि व णाणी धरमि सोढुं अभिलसिज्ज ॥ १४४५ ॥

संसारं युज्यते स्वप्नुं कस्य दोषैः प्रदीपितं ॥

महासापकरैर्महे पावकैरिव भ्रूपणे ॥ १५०३ ॥

विजयोदय—को नाम निरुज्येगो लोगे मरणादि अग्निपञ्जलिदं अतिउत्तमरूपव्यापयः, शोकानयति,
 प्रापितालाभो, अधिमत्तवियोग इत्यादिभाषिताना प्रवृत्तिः । णाणी सोढुमभिलसेउज्ज घ्राणे दस्तुमभिलयेत् । पञ्जलिद्विम्बि
 धरमि व प्रवृत्तिते गृह इय ॥

भयंतरेण जिद्रां निराकारवति—

मूजरा—अणुविचगो उद्धमरहितः ॥ मरणादि शतशुभाधिचारावन्मयमयमानभंगशोकादि । णाणी तस्यज्ञः ।

अर्थ—इस जगत्में कोन निश्चय है अर्थात् किसको भय है नहीं ? सभी मनुष्योंको वन्य, घृद्धावस्था,
 मरण, रोग, शोक, इच्छित वस्तुओंकी प्राप्ति न होना, इस वस्तुओंका वियोग होना एतत्स्वरूप अग्नीसे तब पीडित
 हो रहे हैं-ऐसा विचार कर घ्राणी सोनेकी इच्छा करेगा क्या ? कोनसा घ्राणी मनुष्य अग्निसे घर प्रवृत्तित होने
 पर सोनेकी इच्छा करेगा ?

को नाम निरुब्धेगो सुविज्ज दोसेसु अपुवसंतेषु ॥
महिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तुणं ॥ १४४६ ॥

को दोषेव्वप्रशांतेषु निरुद्धेगोऽस्ति पंडितः ॥

द्विपत्तियव समीपेषु विविधानर्थकारिषु ॥ १५०४ ॥

विजयोदया—को नाम निरुब्धेगो को नाम निरुब्धेगः स्वपेदागादिषु संसारमवर्द्धनेषु दोषेषु मनुपदांतेषु शुद्धीतायुधानां शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥

मूलाय—मज्झयारे मध्ये ॥

अर्थ—जैसे जिन्दोने हाथोंमें शस्त्रधारण करि हैं ऐसे छत्रुओंके बीचमें निर्भय होकर कोन स्थिर रह सकता है ? वैसे संसारको बंधनेवाले रागद्वेष दोष स्वांत नहीं होनेपर कोन स्वामी पुरुष निर्मयतासे सोचेगा, अर्थात् रागादिक विकार शत्रुके समान इस जीवको कष्ट दे रहे हैं ऐसे प्रसंगमें निद्राधीन होना क्या योग्य माना जायगा ?

णिदा तमस्स सरिस्सी अप्णो गत्थि तु तमो मणुस्साणं ॥

इदि णच्चा जिणसु तुमं णिदा ज्ञाणस्स विग्घयरी ॥ १४४७ ॥

नस्ति निद्रातमस्तुल्यं परं लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेवं सर्वदा ततः ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—णिदा निद्रा तमस्स इत्यादिमप्यसमो नस्ति मनुजानां इति ज्ञात्वा निद्रां ध्यानस्य विप्रकारिणीं जयेति ॥

मूलाय—गरिष निमिरांतरस्य सद्व्ययनप्रतिबंधात्मन्वात् ॥ उक्तं य—

नस्ति निद्रातमस्तुल्यं परं लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥

अर्थ निद्रारूप अंधकारक मयान जगत्तमो अन्य अंधकार है ही नहीं ऐसा समझकर ध्यानमें विघ्न डालनेवाली इस निद्राको तुम जीतो

कुण वा निद्रामोक्षं निद्रामोक्षस्त भणिद्वेलाण् ॥

जह वा होइ समाही खवणकिंलितस तह कुणह ॥ १४४८ ॥

निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंवायवा यन्ते ॥

यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥ १५०६ ॥

विजयोदया—कुण वा निद्रामोक्षं कुण वा निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रोमस्समीपे यामे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिथातस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुव ॥ निद्राविमोक्षं

एवं निद्रातिरासमुत्सर्गेणोपविश्य तदववाधमाह—

मूलारा—भणिद्वेलाह शान्तिद्वीयग्रहे । रवमणकिंलितस उपवासस्वाध्यायादिना क्लान्तिं गतस्य । उक्तं य—

निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंवायवा यन्ते ॥

यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥

अर्थ—निद्राका त्याग करनेकें समर्थमें अर्थात् रात्रीके तिसरे प्रहरमें हे क्षपक् ! तू निद्राका त्याग कर. अथवा उपवासमें धके हुए तुझको जिस प्रकारसे समाधान रद्दगा ऐसा निद्राका त्याग कर. निद्राका प्रकरण समाप्त.

उक्तार्थोपलक्षारं बह्वर्थात् वाधिकारं दर्शयत्युत्तराध्या—

एत उवाचो कस्मादवदारिणीरोहणो हवे सब्बो ॥

पोराणयरस कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥ १४४९ ॥

कर्मास्तवनिरोधेऽयमुपग्रहः कथितस्तव ॥

कल्मषस्य पुराणस्य तपसा निर्जरा पुनः ॥ १५०७ ॥

उदीयमानेन महोद्यमेन क्षेत्रेण ? निद्रा तमसां सवित्री ॥

प्रशस्तकर्मव्यवधानशक्ता विजीयते भानुमतेव राज्ञि ॥ १५०८ ॥

इति निद्रानिर्जयः ।

विजयोद्या—एतन् उवाचो कर्मणामस्त्रधरातिरोक्षे उवाचो उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । तौपजस्य कर्मण-
स्तपसा श्रयो भवति । संपरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपस्थातः ॥

एवं संवरपूर्विक निर्जरा निर्वाणाय प्रभवतीति संवरोपायान्तरं च सांप्रतं निर्जराभिषेचे उपसि गाथासनादि-
नरया श्रपनमुपभयनि—

मूढारा—यस मिण्डतस्य च वमणमित्यादिसूत्रममुदाबनिर्दिष्टः ॥

उपयुक्त अर्थसा उपमंदार अथवा आगे कहा हुआ अधिका उत्तर गाथासे कहते हैं—

अर्थ—जितना फलें कदा है वह सर्व कर्मायमनग निरोध करनेका उपाय है. तथा इस कर्तव्य-
का पालन करनेसे पूर्ववद् कर्मका अप भी होता है. तपसे पूर्व कर्मका क्षय होता है. संवरसहित निर्जरा कर्मका नाश
कर मोक्ष प्राप्तिका भी कारण होती है संवरहीन निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है यह दिखानेके लिये आचार्यने
प्रथम संपरका गाथामें उल्लेख किया है.

अब्धन्तरवाहिरगे तवग्नि सत्ति सगं अगूंहंतो ॥

उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणल्लभो तं ॥ १४५० ॥

यत्तस्वाभ्यन्तरे यासो स्वां शक्तिमनिगृहयन् ॥

तपट्ठयन्नलसः स त्वं देहसौख्यपरादमुल्लः ॥ १५०१ ॥

विजयोद्या—अब्धन्तरवाहिरगे अभ्यन्तरे यासो च तपस्युद्योगं कुरु स्वां शक्तिं गृहयमानः । सुते शरीरे
यान्नासक्तिः अमालसः । न हि शरीरे हृद्ये वा आसत्वांस्त्यतिपशुमूले तपसि प्रयतते । न चालसः प्रयतते तपसि ।
अगूंहयनेन स्थितं सुते शरीरे च प्रतिपक्षवामलसत्पमावेदितमनेन ॥

द्विविधे तपसि क्षयपूर्व परिहरन् स्वतन्त्रा तनुवच्छेत्त्यनुदाति—

मूढारा—अप्पडिपद्धो सुहे देहे यन्नासकः । न हि शरीरे सुते ग आसत्वांस्त्यतिपशुमूले तपसि प्रयतते
न नालसः ।

अर्थ—हे शपक ! तू अभ्यन्तर तप और चाल तपमें अपनी शक्ति न छिपाता हुआ उद्यम-प्रयत्न कर,
सुखमें और शरीरमें तू आसक्ति मत कर, आलस्यको बिसने छोड है वा शरीरमें और सुखमें आसक्त न होकर
१७२

सुख और शरीरके प्रतिपक्षभूत तपमें सदा उद्योग करता है- आलसी मनुष्य तपके विरुद्ध शरीर और सुखमें आसक्त होकर तपका त्याग करता है, अतः तू शरीर और सुखमें आसक्ति न करता हुआ तपमें उद्योग कर-

१३७०

पुलस्त्यपना

सुहृत्सीलदाए अलसत्तणेण देहपण्डित्वाए य ॥

जो सत्तीए संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥ १४५१ ॥

आलस्यसुखशीलत्वे शरीरप्रतिबंधने ॥

विदधानि तपो भवत्या स्वशक्तिसदृशं न यः ॥ १५१० ॥

विलस्योदया-सुहृत्सीलदाए सुखासक्ततया, मलसक्तया, देहप्रतिबद्धतया या या शक्तौ सत्यामपि तपोऽन करोति शक्तिसमं ॥

यद्योक्तमनापरतो दोषानुत्तरप्रबंधेनाह-

मूढारा-सत्तिसमं शब्दच्छक्तिः ॥

अर्थ-सुखसमावसे, आलस्यसे, और देहकी प्रीतिसे जो सामर्थ्य होनेपर भी शक्तपुस्तसार तप नहीं करता है-

तस्स ण भाओ सुद्धो तेण पठत्ता तदो हवदि माया ॥

ण य होइ धम्मसद्धा तित्था सुहदेहपिक्खवाए ॥ १४५२ ॥

तस्य सुद्धो न भावोऽस्ति माया तेन प्रकाशिता ॥

शरीरसौख्यसक्तस्य धर्मअद्धा न विद्यते ॥ १५११ ॥

विजयोदया-तस्स ण भावो तस्य परिणामो न सुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्वधर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भावः शुद्धः, धर्मो तीव्र न अद्धा न भवति । केन ? सुहदेहपिक्खवाए सुतेय वेहे च्छुप्रक्षया तत्र भा-सक्तया युद्धया हेतुभूतवा ॥

मूढारा-जदो नस्यात्तेन शक्तिसमे तपसि अप्रवर्तमानेन स्वशक्तिप्रच्छादितया माया प्रयुज्यते, यस्यासं सुख-

देहयोरासक्त्या तत्त्व धर्मे भ्रष्टा वीजा नारिणः, यत्मात्तव ह्यभस्तमोऽनुपगः ॥ कसो इति पाठे तपः वरुं शक्तिर्मेव नास्तीति प्रकाशयता तपोऽनुरूपारित्यर्थः ॥

अर्थ—उसका परिणाम निर्मल नहीं है ऐसा समझना चाहिये. शक्तयनुसार तपमें प्रवृत्त न होनेसे ज्ञानाभावी है ऐसा सिद्ध होता है. भायासे भावमें-परिणाममें झुट्ठता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्र भ्रष्टा उत्पन्न नहीं होती है. मुक्तमें और देहमें बुद्धि संलग्न होती है इससेभी परिणाममें निर्मलता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्रभ्रष्टा नहीं उत्पन्न होती है.

अप्या य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि ॥

सुहसीलदाए जीवो वंचदि हु असादेवणियं ॥ १४५३ ॥

वीर्यं निगूह्यते येन तेनात्मा वंच्यते स्वयम् ॥

सुन्दरशिलतया तेन कर्मासातं च यध्यते ॥ १५१२ ॥

पिजपोरका—अप्या य वंचिओ आत्मा वंचितरतेन । शक्तयनुसारे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादितामप्यति सुखासक्ततया जीवो वंचयसातयेदनीयं चानेकमेवेमु दुःखावहं ॥

मूला — स्पष्टम् ॥

अर्थ—शक्तयनुसृत्य तपमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है उसने अपने आत्माको फसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है ऐसा मानना चाहिये. सुखासक्त होनेसे जीवको असाता बंदनीयका अनेक भवमें तीव्र दुःख देनेवाला तीव्र बंध होता है.

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ॥

देहपडिवद्धदाए साधू सपरिग्रहो होइ ॥ १४५४ ॥

वीर्यान्तरायचारित्र्यमोहानर्जयतेऽलसः ॥

शरीरप्रतिबंधेन जायते सपरिग्रहः ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—विरिञ्चतरात्रं वीर्योत्तरायमलसतया वसति चारित्र्यमोदनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरिग्रहो भवति ॥

मुलात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—असती होनेसे वीर्योत्तराय कर्मका बंध होता है, और चारित्र्य मोदनीय कर्म का भी बंध होता है, शरीरमें आत्मिक होनेसे साधु परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता है, वह परिग्रह धारक होता है-

मायादोसा मायाए हंसि सञ्जे वि पुञ्चनिदिष्टा ॥

घममि निप्पिवातस्स होइ सो दुल्लहो घम्मो ॥ १४५५ ॥

मायादोषाः पुरोदिष्टाः समस्ताः सन्ति मायया ॥

घमैऽपि निःप्रियाशस्य धर्मोऽस्य सुलभः कथम् ॥ १५१४ ॥

विजयोदया—मायादोसा मायादोषाः सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टाः । मायायां तपसि स्वार्थकिमिगूढलक्षणार्थं भवति किं च घममि घमं तपोलक्षणे । निप्पिवासस्स अनादस्य जन्मनिरे दुल्लहो भवति घमः ॥

मुलात्—मायाए कपति स्वार्थकिमिगूढनेन । निप्पिवासस्स विरादस्स । दुल्लहो जन्मांतरदुर्लभं तपः ॥

अर्थ—तपमें अपनी शक्ति छिपाना ही माया है, माया करने से होनेवाले दोषोक्ता पूर्वमें वर्णन कर चुके हैं जो तप घममें अनादर करता है उसको अन्य जन्ममें घम दुर्लभ होता है-

दोषान्तरमपि निगमति—

पुद्गुत्ततवगुणणं चुक्को जं तेण वंचिओ होइ ॥

विरियणिगूही वंधदि मायं विरियंतरायं च ॥ १४५६ ॥

अकुर्वाणस्तपः सर्वैर्यंचितोऽस्ति तपोयुगेः ॥

मायावीर्यान्तरायौ च तीव्रो यच्छान्ति कर्मणी ॥ १५१६ ॥

विजयोदया—पुद्गुत्ततवगुणणं पूर्वोक्तस्वरनिर्जरा चेत्येयमादिभिस्तपःसाधैरुपकारैः । चुक्को व्युतः । जं यस्मान् । तेन तपःसाधोपकारव्युत्पन्नं । वंचिओ होदि वञ्चितो भवति । विरियणिगूही यंचदि मायं, संवरणपरो मायाकर्म, वीर्योत्तरायं च यच्छान्ति ॥

आर भी दोषोंका वगन करत हैं—

अर्थ—पूर्वमें तपश्चरणके संवर और निर्जरा गुणोंका वर्णन किया है, जो तपश्चरण नहीं करता है उसके कर्म का सयर और निर्जरा नहीं होगी, अर्थात् संवर और निर्जरासे बढ पुरुष हमेशा वंचित रहेगा, जो अपनी शक्ति छिपाता है उसके मावारुपायका और वीर्यावराय कर्मका बंध होता है—

तवमकर्तस्सदे दोसा अण्णे य होति संतरस्स ॥

होति य गुणा अणेया सत्तीए तवे क्करोतस्स ॥ १४५७ ॥

अकुर्वतस्तपोऽन्येऽपि दोषाः सन्ति तपस्विनः ॥

कुर्वाणस्य पुनः शक्त्या जायन्ते विविधा गुणाः ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—तवमकर्तस्स तपस्यब्रुयतस्वमे दोषा अन्ये च भवतीति दासभ्याः । भवति ज्ञानेकरुणाः शक्त्या तपसि यतमानस्य ॥

मूलारा—स्वष्टम् ॥

अर्थ—तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेवाले पुरुषको ये दोष तो होते ही हैं परंतु अन्य भी दोष उत्पन्न होते हैं, जो व्यक्ति तपश्चरणमें लक्ष्यब्रुयार प्रयुक्त होते हैं उन में अनेक गुणोंकी उत्पत्ति होती है.

तपोगुणप्रदयापनायोत्तरअधः—

इह य परस य लोए अदिसयपूयाओ ल्हइ सुतवेण ॥

आवज्जिज्जति तद्वा देवा वि संइदिद्या तवसा ॥ १४५८ ॥

लोकद्वये पराः पूजाः प्राप्यन्ते कुर्वता तपः ॥

आवर्ज्यन्तेऽम्बिला देवाः पुरंदरपुरःसरा ॥ १५१७ ॥

विजयोदया—इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आत्तर्ज्येति च तपसा देवाः संस्पृकाः ॥

तपोमाहात्म्यमाह—

मूढारा—पूजादि आदिशब्देन दुःखाद्यविशेषद्वितीत्यदि ॥ आबन्धित्वं प्रणामं कार्यते । अन्ये आकांक्षि इति पठित्वा अक्षोभदुःखयातीत्यर्थमाहुः । सदैविया सेन्द्राः ॥

तत्पुण्यका निरूपण करने के लिए उत्तर प्रश्न—

अर्थ—इह लोकमें और परलोकमें निरविचार तप करने से आत्मामें आविष्टय-शक्ति प्राप्त होती है और सर्वत्र महादर भी होता है. तप के माहात्म्यसे इंद्रादिक देव भी गंगा होते हैं.

अप्यो वि तवो बहुगं कष्टाणं फलद् सुखयोगकदो ॥

जह अप्यं बडवीजं फलद् बडमणेयपरोहं ॥ १४५९ ॥

तपः फलति कल्याणं कृतमल्पमपि स्फुटम् ॥

बहुशान्त्वोपयासाख्यं बटवीजं यथा वटम् ॥ १५१८ ॥

पित्रयोक्त्वा—अप्योपि तत्रो अल्पमपि तपः महाफलदायकं फलति सुसंपत्तिपक्षं । सुष्ठु प्रपुण्यते प्रयत्नेने-
तेति च विग्रहे सत्यम् सुमयोगशब्देनोच्यते । यथा ब्रह्ममणि वटमीजं फलति वटमनेकपरोहं अल्पमपि पृथुलं फलदावि-
तपः इत्येतद्व्याख्यातमत्रमा ॥

मूढारा—सुखयोगकदो यथाशक्ति संयमेनाचरितम् । निदानासयमरहितमिति वा । फलदि जनयति । अणेष-
योहं अनेकपरोहेभ्यः ॥

अर्थ—अल्प तपस्चरणसे भी महा फल्याण होता है संयम की मी उत्तम-निर्दोष सिद्धि होती है. जैसे
सस्रम बटवीज अनेक शाखाओंसे युक्त महान बटवृक्षको जन्म देता है. वैसे अल्प तप भी विपुल फल-स्वर्गादिक
सुखको उत्पन्न करता है.

सुष्ठु कदाण वि सस्सादीणं विग्घा हवंति अदिबहुगा ॥

सुष्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोदं वि जणं विग्घो ॥ १४६० ॥

विजयोव्या—सुदृ कदण वि सम्यक् हृलानामपि दास्यादीनां अतीव विद्या मध्येति । तपसः पुनः सम्यक् कृतस्व

तपसो विहितस्यास्ति प्रत्युहो न मनागपि ॥ १५१९ ॥
जगति न कश्चिद् विग्रहः फलदोने । निर्विग्रहफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितं जनया ॥

मलापा—सत्सादीनं धनधान्यादिनाम् ॥ स्वयम्बुं वृद्धो व्याधातः ॥

अर्थ—खेती बहुत परिश्रमसे करने पर भी उसका फल मिलने तक बहुत विघ्न उत्पन्न होते हैं परंतु निरविचार तप पादनेपर कोई भी विघ्न उत्पन्न होता नहीं- अर्थात् विघ्नके विना ही तपश्चरणसे स्वर्गोदि फल मिलता है- तप में निर्विघ्न फल देना गुण है ऐसा इस भाषासे सिद्ध होता है-

जणमरणादिरोगादुरस्स सुतनो वरोसधं होदि ॥

रोगादुरस्स अविचित्रियमोसधं सुप्पउत्तं वा ॥ १४६१ ॥

सुत्तुजन्मजरार्तस्य तपः सुखविधायकम् ॥

महारोगादुरस्स्येव मेघज्यं वीर्यसंयुतम् ॥ १५२० ॥

विजयोव्या—जणमरणादिरोगादुरस्स जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरीयधं भवति । रोगपीडितस्य सुम-
युक्तमतिवीर्यमपि । जन्ममरणादीनां विनाशकत्वे तत्कारणकर्तृविनाशादनेनाख्यायते ॥

मूलापा—वरोसधं जनमरणादिरोगकारणकर्तृविनाशकत्वात् ॥

अर्थ—जन्म, मरण वगैरह रोगोंसे पीडित इस प्राणीसे उतम तप उत्कृष्ट औपधके समान हितकर है, जैसे रोगसे पीडित मनुष्यका रोग उतम औपधके सेपनसे नष्ट होता है वैसे तपसे जन्ममरणादि रोगोंका नाश होता है, तपसे जन्ममरणके कारणभूत कर्मका नाश होता है अतः कारणका नाश होनेसे कार्यकाभी नाश होगाही-

संसारमहाडाहेण उज्झमाणस्स होइ सीयधरं ॥

सुतवोदाहेण जहा सीयधरं उज्झमाणस्स ॥ १४६२ ॥

संसारस्याविषेक्षेन ग्रीष्मकस्येव भास्वतः ॥

तापेन तप्यमानस्य तपो धाराश्रुहायते ॥ १५२१ ॥

विजयोदया—संसारमहासादेन संसारमहासादेन वृक्षमानस्य तपो भवति जलशृङ्गं । यथा वृक्षमानस्य सूर्याश्रु-
मिमांशशृङ्गं । संसारिरुदुःखनिर्मूलनकारिका तपस्योऽनेन सूचयते ॥

मूलारा—सीधरं पाराशरम् । तीव्रग्रीष्मार्कस्मिन्महासादेन संसारमहासादेन वृक्षस्य निर्मूलकत्वात् ॥

अर्थ—जैये सूफेके प्रबन्ध किरणसि संतप्त मनुष्य का शरीरदाह धाराश्रुद्वारे नष्ट होता है वैसे संसारके
महादाहसे दग्ध होनेवाले भयोंके लिये तप जलशृङ्गके समान श्रान्ति देनेवाला है. तपमें संसारिक दुःख निर्मूलन
करना यह गुण है ऐसा यह गाथा कहती है.

णीयल्लुओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुणियो पुरितो ॥

मायाव होइ विस्समण्डजो सुतवेण लोगस्स ॥ १४६३ ॥

विदधानस्तपो भक्त्या निरालस्यो विचामतः ॥

वेदान्तरमपि प्राप्तः स चंचुरिब शस्यते ॥ १५२२ ॥

विजयोदया—णीयल्लुओ व चंचुरिब लोगस्स भित्तरां प्रियो भवति पुरुषः । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियतां
करोति तप इत्यनेन आश्वासार्थं भवति । मायाव होइ विस्समण्डजो मायेन विभक्तनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगद्विभ्रा-
सार्थं तप. संपाद्यमानेन कथ्यते ॥

बुद्धारा—नष्टम् ॥

अर्थ—उपम तप करनेसे तपस्वी बुद्धि-पुरुष बंधुके समान सर्व लोगोंको अतिशय प्रिय होता है. उपम
तपमें सर्व जगत्प्रियता प्राप्त होती है ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है. माताके समान तप करनेवाला सर्व लोगोंको
विभक्तनीय होता है. तपका सर्व जगद्विभक्तनीयता गुण इस गाथासे कहा गया है-

कल्लणिहिंसुहाइं जाववियाइं छवे सुरणराणं ॥

जं परमणिबुद्धिसुहं व ताणि सुतवेण लब्भंति ॥ १४६४ ॥

मातेयास्ति सुविधास्यः पूज्यो गुरुविवाहिलः ॥
 महानिधिरिव आद्याः सर्वज्ञेय तपोधनः ॥ १५२१ ॥
 लभ्यन्ते नरदेवानां सर्वाः कल्याणसंपदः ॥
 परमं सिद्धिसौख्यं च कुर्वता निर्मलं तपः ॥ १५२२ ॥

पितृजयोदया—कृष्णजिह्वसुहादं कल्याणानि स्वर्गोक्तारणादीनि । कल्यो विभूतयश्चक्रांछितानां अर्द्धचक्रवर्तिनां
 सुपुत्रानि ॥ यानि देवानां मनुष्याणां च, यथा परमनिर्द्वैतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥

मूकपरा—कृष्णाय स्वर्गोक्तरणादीनि ॥ इष्टि चक्रवर्त्योदिविभूतयः ॥

अर्थ—स्वर्गसे धनकर मन्ताके गर्भमें आना, मेरु पर्वतपर इंद्रके द्वारा अग्निपेक किया जाना इत्यादिक
 कल्याणिकौकी प्राप्ति तपसे होती है। अनेक क्राद्धि संपत्ति, सकल चक्रवर्ति और अर्द्धचक्रवर्तिक सुख भी इससे जी-
 यको मिलते हैं। और मनुष्योंके जो सुख हैं वे मिलते हैं-और मुक्तिसुख भी इससे मिलता है।

कामदुहा धरधेणू णरस्स चिंतामणिञ्च होइ तओ ॥
 तिलओञ्च णरस्स तओ माणस्स विट्ठसणं सुतओ ॥ १४६५ ॥

चिन्तामणिस्तपः पुंसो धेनुः कामदुघा तपः ॥
 तिलकोजस्तपो भठ्यस्तपो मानविभूषणम् ॥ १५२५ ॥

विजयोदया—कामदुहा कामदुघा धरधेनुः, चिंतामणिश्च तथा यदभिलषितं तस्य दानम् । तिलकारध्यालंकारो
 मरल्य शोभने तपः मानस्य विभूषणं च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मानः शोभते इति ॥

मूला—माणस्स विभूषणं । तपसा हि सर्वजगन्मान्येन मानः शोभते ॥

अर्थ—तप इच्छित पदार्थ देता है अतः वह कामधेनु और चिंतामणि स्तनके समान माना गया है।
 तिलरु नामक अलंकार से जेमें मनुष्य सुंदर दीखता है वैसे सुंदर तप मानका अलंकार है। तपसे मनुष्य जग-
 न्मान्य होता है अतः उसका मान शोभने लगता है।

होइ सुतवो य दीओ अण्णतमंघयारचारिस्स ॥

सब्बावत्थासु तओ बहुदि य पिदा व पुत्तिस्स ॥ १४६६ ॥

अज्ञानतिमिरोच्चेदि जायते दीपकस्तपः ॥

पितेव सर्वावस्थासु करोति नृहितं तपः ॥ १४६७ ॥

विजयोदया—दोह सुतओ य बीओ सम्यक्त्वपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति सेचरतः । एतेन जगतोऽ
ब्रह्मण्ये तमो विनाशयति तपः इति सूचितं ॥ सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुनः ॥

मूलार—अण्णतमा प्रकृतमज्ञानं । तदि तपसा विनाश्यते वत्कारणकर्मक्षपणाय ॥

अर्थ—अज्ञानरूप अधकारमें संचार करनेवाले इस जगतको उत्तम तप दीपकके समान है, अर्थात्
अज्ञान नामका अधकार उपसे नष्ट होता है ऐसा सूचित हुआ, संपूर्ण अवस्था में तप पिता के समान हितकर
ही है.

विसयमहापंकाउलगासुए संकमो तवो होइ ॥

होइ य णावा तरिहुं तवो कसायातिचवलणदि ॥ १४६७ ॥

विभीमविषयामोघेस्तपो निस्तारेणे प्लवः

तप उत्तारकं श्रेयं विभीमविषयावदात् ॥ १४६७ ॥

विजयोदया—विसयमहापंकाउलगासुए विषयो महापंकाकुलगतं इव दुस्तरत्वात् । तस्मिन् संकमो भयति ।
तदुत्तरणे हेतुर्भवति तपः । तपो नौकतुंगवित्तु कषायतिचपलन्दर्दी ॥

मूलार—गशुए गते अवटे । लघुन्यामित्यन्यः । संकमो रेतुर्बन्धः । अविचलणदि महाजदी ।

अर्थ—ये पंचेंद्रियोंके विषय विभमें अतिशय कीचट है ऐसे गह्वोंके समान हैं, कीचट युक्त गह्वोंमें
फना हुआ आदमी उसमें से निकलकर बाहर आना अतिशय कठिन कार्य है, वैसे ही ये इंद्रियविषय भी हैं परंतु
उपके सामर्थ्यसे इन विषयरूप गह्वोंसे मनुष्य निकल सकता है- कषायरूपी अतिचपल नदी को उल्लंघनमें तप
नौकाके समान है-

फलिहो य दुग्गदीणं अणेयदुक्खज्जहाण होइ तवो ॥
 आमिसत्तण्हाछेदणसमत्थसुद्धकं च होइ तवो ॥ १४६८ ॥
 इंद्रियार्थमहातृप्याच्छेदकं सालिलं तपः ॥
 दुर्गतीनामगम्यानां निषेधे परिचस्तपः ॥ १५२८ ॥

मिजयोक्था—फलिहो च दुग्गदीणं दुर्गतीनां परिच ॥ १ ॥ कीदृशं दुर्गतीनां ? अनेकदुःखायहानां । किं च विषयतृप्याच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिथ तृप्याच्छेदने ॥

मूढारा—तलिहो अर्मेला । आमिसत्तण्हा विषयशुद्धिः । आहारशुद्धिरित्यम्यपक्षे तण्हा विपासा ॥
 अर्थ—अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली दुर्गतिओंको तप अर्गलाके समान है. अर्थात् तप करनेवाले मनुष्यको दुर्गतिका बंध होता नहीं है. पानीसे जैसी प्यास उपशान्त होती है वैसे तपसे तृप्या—स्नेह नष्ट होती है.

मणदेहदुक्खवित्तासिद्धाण सरणं गदी य होइ तवो ॥
 होइ य तवो सुत्तिथं सच्चायुहोसमलहरणं ॥ १४६९ ॥
 मनश्चायासुखव्याघ्रस्तानां शरणं तपः ॥
 कलमपाणामशेषाणां तीर्थं प्रक्षालने तपः ॥ १५२९ ॥

विजयोक्था—मणदेहदुक्खवित्तासिद्धाण मानसानां शरीरतणां दुःखानां ये विषयलाभेण शरणं गतिश्च तपः । मयति य तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलभिरासकारि ॥

मूढारा—वित्तासिद्धाण विषयतानाम् ॥ सरणं ब्रानं । गदी आश्रयणीयं । सुत्तिथं तथादिस्तानस्थानम् । असुह-
 दोस्त पापकर्मभयकारिणो रमादयः ॥

अर्थ—मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे जो दुःखित हैं उनको तपही रक्षक है और उपाय है. यह तप सर्व अशुभ परिणामरूप मलको दूर करनेमें तीर्थके समान है.

संसारविसमदुग्धो तवो णण्डुस्त देसओ होदि ॥

होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥ १४७० ॥

तपः संसारकान्तारे नष्टानां देशकं यतः ॥

दीर्घे भवपथे जन्तोस्तपः संवलकायते ॥ १५३० ॥

विजयोक्त्या—संसारविरामदुग्धो संसारो विषमदुग्धं इव दुरुत्तरणीयत्वात् । तस्मिन्मण्डपस्य दिग्भूदस्य । तयो देसगो होदि तप उपदेश्च भवति । संसारविसमदुग्धमुत्तारयतीति । होदि तवो पच्छयणं भवति तपः पच्छयणं भवकांतार-
म्मि भवकातरं । विघन्मि दीर्घे ॥

मूढारा—विनमदुग्धो दुरुत्तरण्ये । णण्डुस्त दिग्भूदस्य । देसओ मार्गदेशकः । पच्छयणं पश्यन्तं शब्दलं ।
कंतारे दुर्गममार्गे ॥

अर्थ—जैसे महारथमें प्रवेश किया हुआ मनुष्य दिग्भूद होता है, उससे निकलना कठिन होता है, वैसा यह संसारमी महावन के समान दुरुत्तर है-यह तप उसको उपदेशक है अर्थात् संसारवनसे वह तप प्राणीको निकालता है-यह तप इस दीर्घसंसारवनमें मार्गमें यथेन फलेन योग्य कलेवाके समान हैं-

रक्खा भण्णु सुतवो अम्भुदयाणां च आगरो सुतवो ॥

णिस्सणेी होइ तवो अक्खयतोक्खस्स मोक्खस्स ॥ १४७१ ॥

अयत्तामाकरो शेयं भयेम्पो रक्खकं तपः ॥

सोपाणमाक्खण्णुणामवाधं सिद्धिमांदिरम् ॥ १५३१ ॥

विजयोक्ता—रक्खा भण्णु सुतवो मयेषु ॥ सुतपः । अम्भुदयाणां वाकरः सुतपः । मोक्खस्स अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥

मूढारा—रणम् ॥

अर्थ—यह तप भयमें दीविका रक्षण करता है-यह सुतप अम्भुदय का आकर है अर्थात् स्वर्गादिमुक्तियों का उत्पत्तिस्थान है-और अक्षय सुख विसर्ग है ऐसे मोक्षके लिये यह तप नयेनीके समान है-

तै णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कणुण पुरिसस्स ॥
अग्गीव तणं जल्लिओ कम्मतणं उहदि य तवग्गी ॥ १४७२ ॥
तन्नास्ति सुवने वस्तु तपसा यन्न लभ्यते ॥
तपसा दहते कर्म वहिनेव तृणोत्करः ॥ १५३२ ॥

विजयोद्या—तणत्थि तयास्ति यद्य लभ्यते तपसा सम्यक्फलेन । तपोऽग्निः कर्मवृणं दहति तृणमियाग्निः
मरुपलितः ॥

मुखा—पुरिसस्स पुरुषेण । अथवा पुरुषस्य कर्मवृणमिति संबंधः ॥
अर्थ—निर्दोष तपसे जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जलतमें है नहीं। अर्थात् तपसे पुरुषको सर्व उत्तम
पदार्थोंकी प्राप्ति होती है जो प्रज्वलित अग्नि वृणको जलाती है वैसे तपस्वरूप अग्नि कर्मरूप तृणको जलाती है,

सम्मं कदस्स अपरिसवरस ण फलं तवस्स वण्णेहुं ॥
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भामयसहस्सं ॥ १४७३ ॥
चित्तिं यच्छते वस्तु सर्वं चित्तमणेखि ॥

तपसः शक्यते वक्तुं न माहारम्यं कथंचन ॥ १५३३ ॥
विजयोद्या—सम्मं कदस्स सम्यक् एतस्य विराक्षयस्य तपसः फलं वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वा-
सत सद्यस्ते यप्यस्ति ॥

मुखा—सम्मं कदस्स निराक्षयस्य । अपरिसयस्स अशोडितस्य ॥
अर्थ—उत्तम प्रकारसे किया गया और कर्माक्षय रहित तपका फल वर्णन करनेमें जिसको हजार जिह्वा
है ऐसा भी कोई शेषादि देव समर्थ नहीं है.

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ॥
तवसा भावेदन्ना अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥ १४७४ ॥

इति विलोक्य तपःफलमुत्तमं विमलधृतनिर्विशितमानसः ॥

तपसि पूतमतिर्यतते यतिः कुतपसः स फले विगतादरः ॥ १५३४ ॥

विजयोद्या—एवं पादूण एवं क्षात्वा तपो मद्दोषकारि संयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥

उपसंहारमार्ग—

सूक्ष्मा—दिवानं स्थित्वा । क्षुत्तेन उपयुक्तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार तप महा उपकारक है ऐसा जानकर संयममें स्थिर होकर हमेशा उपयुक्त तपके द्वारा आत्माका अभ्यास करना चाहिए ।

अहं गृहिद्वेषणो वि य अद्याक्ञ्जे णिउज्जदे भिन्धो ॥

तह चेय दमेयब्बो देहो मुणिणा तवगुणेषु ॥ १४७५ ॥

तपःक्रियायामनिग्रं स्वधियहो नियोजनीयो यतिना हितैविणा ॥

नियोज्यते किं न गृहीतवतनो मनीषिते कर्मणि न स्वषेदकः ॥ १५३५ ॥

विजयोद्या—अहं गृहिद्वेषणो वि य तथा गृहीतवतनोऽपि न दयाकार्यं नियुज्यते भुलकः । तथैव इमित्तव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उच्छरणं ॥

मूळारा—गृहिद्वेषणो गृहीतं वेतनं कर्ममूल्यं वेत । अद्याप निर्दयं । भवगो धुलकः कर्मकरः । इमेदब्बो हेरवः । तवगुणेषु तपोभेदेप्यन्यथादिपु । तपस्युत्तमः ॥

अर्थ—जिसको वेतन दिया है ऐसे नोकरको हमेशा कार्यमें नियुक्त करना चाहिये उसके ऊपर दया नहीं करना चाहिये, वैसे यह देह मुनिके द्वारा तपोगुणमें हमेशा लभाना चाहिये-

इच्चैव समणघमो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसे ॥

एतय तुममपमचो होहि समणगदसदीओ ॥ १४७६ ॥

गुणैरुच्यैः कलिते मनोरमैर्निरस्तवोये कथिते तयोधनैः ॥
सदात्र धर्मे शिवसीव्यकारणे प्रमादमुक्तैः क्रियतां महादरः ॥ १५३६ ॥

इति तपसःक्रमः ।

विजयोदण—इत्येव सद्यत्पथो रत्येवं धर्मलपमः दशविधः समुज्ज्वलः कथितो मया । परमं तुममप्यमत्तो
होदि तत्र दशविधं धर्मं मयममत्तो मयः । समायतस्मृतिकः इति मन्विना स्वदिक्षुपरित्समाप्तिरावर्जिता ॥

अनुत्त सूरिः रमतिस्नासमाप्तिमादौक्यनुपदिक्षार्थसारणद्रुद्धिननि सन्यासिनं प्रगुणयति—
मन्वरा—इत्येव इत्येवः । मे मया । धर्मविधौ उत्तमलपनीनां । यथास्थानं पूर्वनिरूपणात् । तुमे त्वं ।
ममगद्वदतादीनो समागतद्वदस्मृतिकः समुत्तमप्रवक्तारणः । सकल्यागदसवीजो इति पाठे समागतस्मृतिक इत्यर्थ-
माहुः ॥

अर्थ—इह प्रकार मैं इन प्रकारके धर्मों का उपके गुण और दोषों सहित वर्णन किया. इस दशविध
धर्मों में हे शपक ! तू हमेशा प्रमाद रहित प्रवृत्ति कर. जिसको स्मृति है ऐसे शपकको इस प्रकार उपदेश देकर
उपदेशकी आपावने समाप्ति की है.

तो खगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं ॥

चित्तपसायविमलं पफुल्लिं पीविमयरं ॥ १४७७ ॥

क्षपकाननराजीवं ततो भानि चिकित्सितम् ॥

हृतमोहतमरुण्डैः सुरियाक्यमरोचिभिः ॥ १५३७ ॥

पित्तोदया—तो मयमवयणकमलं ततः सिद्धान्तं तस्य क्षपकस्य धवनकमलं प्रफुल्लितं सुरिचमैरस्मेरैर्ये-
वनरदिभिः चित्तपसायविमलं प्रफुल्लिं पीविमयरं ॥

अथ शारत्तगाथाभिद्वूलिगमाचष्टे तयादौ निर्यापसावायसदुपदेशसंपादितं क्षपकस्य समायात्र धर्मरसात्या-
रगातिरूपं गमाद्वयेन व्यपगतुमायेन मयकृत्तमकति—

गूलारा—नो निशान्तं । वेदिं श्रुतावधारितेः । रस्सीहिं रदिभिः । विमलं विवर्णरहितं । प्रफुल्लिं विकसितं ॥

अर्थ—आचार्यरूप सूर्यके उपदेशरूप किरणोंसे क्षपकका मुलकमल प्रफुल्लित होता है-विष प्रसन्नतासे निर्मल होकर उसमेंसे प्रीतिरूपी मकरंद बहने लगता है-

११८४

-बृहदारण्यक

वयणवन्मलेहि गणिअभिमुहोहि सावत्थियदत्थियपचेहि ॥
सोभदि ससभा सरोदयस्मि फुल्लं व गल्लिणिवणं ॥ १४७८ ॥

सुरेभानि प्रभावेण तत्सवो मुखपंकजैः ॥

सरोयरमिवाकीर्णं पद्मवैकसितै रवैः ॥ १५३८ ॥

विजयोदया—वयणकमलेहि पवनकमलैः ।
म । सूर्योदये सूर्यपतनसमयवन्मसि ॥
मूलाय—सोभदि गोमते एव । सोहदि य इति पाठे तल्लाहापेक्षया चर्तमानता । वल्लं च—

शुभ येन बुद्धांभोर्बेर्दिल्लुताभिर्दलैः सदा ॥

शोभति स्मोदयं भानोः कुल पद्मवर्णं यथा ॥

अर्थ—आचार्यके समक्षमें जिनके नेत्रकी बाणती विस्मित हुई है ऐसे यत्थियोंके मुलकमलोंसे वह मुनि सभा द्रव्योदयमें प्रफुल्लित कमलमनके समान योग्या धारण करती है-

गणितवयसामवपाणएण पल्हादिदस्मि चित्तास्मि ॥

जाओ य णिवुदो सो पादूणय पाणयं तिसिओ ॥ १४७९ ॥

प्राप्योपदेशपीयूषं क्षपकोऽजानि निर्वृतः ॥

समस्तअमविध्वसि तृपार्तं हव पानकम् ॥ १५३९ ॥

विजयोदया—गणितवयसामवपाणएण गणित- उपदेशासृतपानकेन प्रच्छादिते त्रिषे ज्ञातोक्षी सुदु निर्वृतः
तुरितः पानकं पीत्वि ॥

सुरूपदेशकानां क्षपकस्य निर्धृतिं दृष्टत्वेन स्पष्टवति—

मूलाय—अमवपाणएण अमृतपाननेन ॥

अर्थ-जैसे पानकका आगन कर प्यासा हुआ मनुष्य आनन्दित होता है वैसे निर्यापकाचर्यके उपदेशासुल पानकको पीकर अंतःकरण प्रसन्न होनेसे यह क्षणक क्षुब्ध संतुष्ट हो गया।

तो सो खवओ तं अणुसाहिं सोऊण जादसंवंगो ॥

उड्डित्ता आयसियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥ १४८० ॥

ततोऽद्युं छासनें अन्यं श्रुत्वा संविप्रमानसः ॥

उत्स्राज्य वंदत्ते स्वरिं स नम्रीकृतविभ्रहः ॥ १५४० ॥

विजयोप्या-तो लो दग्गणे ततोऽस्सो क्षणकः तद्वदुत्सासनं कृत्वा जातसंवेग उत्स्राज्य भाचार्यं वंदत्ते विनयेन प्रणतार्कः ॥

एवमुदिदिग्धिवगोत्सकाधनंरक्तकृषोनासुरागेण अपकेण विधेयां निर्यापकाचार्यसपर्याचर्यां दर्शयति--

मूजारा-नं तो

अर्थ-आचार्यका उपदेश सुनकर जिसको घममें अतिशय श्रद्धा हुई है ऐसा वह क्षणक नम्र होकर उठकर आचार्यके चरणोंको विनयसे वंदन करता है।

भंते समं णाणे तिरत्ता य पडिच्छिदं मए एदं ॥

जं अह उत्तं तं तह काहेस्सि य सो तदो भणइ ॥ १४८१ ॥

तवेमां देशनां कृत्वा शेषामिदं शिरस्यहम् ॥

यथोक्तभाचरिप्यामि पराजितपरीपहः ॥ १५४१ ॥

विययोप्या-भंते समं णाण भगवन् सम्यग्दानं एतच्छिरसा मया परिगृहीतं । यवथोक्तं भयद्रित्तथा करिप्यामि इति वदति ॥

वेदनानंतरफरणीयं क्षणकस्य गुरुरग्रे शासनस्वीकारपुरःसरं वदयानुप्रासत्रयविविधानमवाह--

मूजारा-भंते भगवन् ! अणं आवां । एदं इयं । काहेस्सि करिप्यामीति ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपने जो सम्यग्ज्ञानका उपदेश भेरेको दिया है उसे मैं मस्तक नम्र कर ग्रहण करता हूँ. आपने जो ऐसा कहा है वैसे ही मैं प्रवृत्ति करूँगा.

अप्या निच्छद्मदि जहा परमा तुष्टी य हवदि जह तुग्ग ॥

जह तुग्ग य संघस्स य सफ़ल्लो हु परिस्समो होइ ॥ १४८९ ॥

यथा मे निस्तरत्यात्मा तुष्टिरस्ति यथा तव ॥

संघस्य सर्वस्य यथा तथास्ति सफलः अयमः ॥ १५४२ ॥

विजयोदया—अप्या निच्छद्मदि जहा अर्धं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारस्य । यथा युष्मान् परमा तुष्टिर्भवति । भवतां संघस्य वास्मदनुपदे प्रवृत्तानां अयस्य फलं भवति ॥

मूलार्थ—अप्या निच्छद्मदि अयं संसारोऽस्ति निस्तीर्णो भवामीत्यर्थः । तुम्हें युष्माकम् ॥

अर्थ—इस संसारसे मैं जिससे उर्चीन होऊँगा, जिससे आपको संतोष उत्पन्न होगा, मेरे उपर अनुग्रह करने में उद्युक्त हुए आपका और संघका परिश्रम जिससे सफल होगा ऐसे उपायका मैं अवलम्ब करूँगा.

जह अप्पणो गणस्य य संघस्स य विःसुदा हवदि किञ्ची ॥

संघस्स पसायेण य तहहं आराहइस्तमि ॥ १४८३ ॥

यथात्मनो गणस्यापि कीर्तिरस्ति प्रथीयसी ॥

अहमाराधयिष्यामि तथा संघप्रसादतः ॥ १५४३ ॥

विजयोदया—जह अप्पणो गणस्स यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिर्विद्युता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥

मूलार्थ—अप्पणो ममेत्वर्थः ॥

अर्थ—मेरी गणकी, और संघकी जिस उपायसे कीर्ति प्रसिद्ध होगी, गणकी कृपासे मैं उस उपायका जाश्रय कर रत्नत्रयाश्रयन करूँगा.

धीरपुरितेहिं जे आयसियं जे च ण तरंति कापुरिसा ॥
मणसा वि विचिंतेहुं तमहं आराहणं काहं ॥ १४८४ ॥
याराधिता महाधीरैरधीरैर्मनसापि नो ॥

अस्ताधां साधयिष्यामि देवीमारघनानामहम् ॥ १५४४ ॥

विजयोदया—धीरपुरितेहिं धीरैः पुरुषैर्वा आचरिता, यां च शक्नुवन्ति कापुरिया मनसापि न चिंतयितुं ताह
श्रीमारघनानामहं करिष्यामि ॥

मूलरा—ण तरन्ति न शक्नुवन्ति । काहं करिष्यामि ॥

अर्थ—जिसका धीरपुरुषोंनेही आचरण किया है, धैर्यहीन पुरुष जिसको धारण करनेमें बिलकुल अस्-
मर्थ हैं ऐसी आराधानाका हे प्रभो ! मैं मालन करूंगा।

एवं तुभ्यं उवाचसामिदमासादइत्तु को नाम ॥

वीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥ १४८५ ॥

तयोपदेवार्पणं पोत्वा को नाम पावनम् ॥

विभेतीह ध्रुदाविभ्यः कातरोऽपि नरः प्रभो १५४५ ॥

विजयोदया—एवं तुभ्यं एवं भक्तानुपदेशानुसामासाद्य को नाम विभेति कातरोऽपि नरः ध्रुवादीनां मूल्योक्तं ॥
मूलरा—असादइत्तु आत्माद्य । अत्र महापौरुषीणैर्यो मरणाद्या न भीतिः करिष्यत इति प्रतिका गम्यते ॥

अर्थ—उपश्रुत आपकं उपदेशानुसक्तका आत्माद लेकर कोनसा भययुक्त पुरुषमी ध्रुवादिकसे और मरणसे
दरेगा ? अर्थात् भययुक्त पुरुष भी आपका उपदेश सुनकर निर्भय होता है और मृत्युसे भी निडर होकर आराध-
नाओंका आराधन करता है

किं जंघिण चहुणा देवा वि सइंदिया महं विग्घं ॥

तुमहं पावेयगहयुणेण काटुं ण तरिंहति ॥ १४८६ ॥

पठालैरिव निःसारैर्बहुभिर्भाषितैः किम् ॥
मत्स्यरुकराणो शक्तौ न मे शक्नोऽपि निश्चितम् ॥ १५७६ ॥

विजयोदया—किं ज्ञेयिष्य वदुषा किं बहुना अल्पितेन देवा अपि नृपतमप्रमुखा मम विप्रं कर्तुं असमर्थाः
भयरादौपद्रवहणमुनेन ॥

आराधयन्ननिर्बहणस्तौघगणसामानिष्ठते—

मुह्यता—सदैविया राजमुत्पन्नमुत्थाः । पादावगाहणेन पादप्रसादानुग्रहेण । न त्रिहति न समर्था भविष्यति ॥
अर्थ—आधिक बोलेने वया मल्लष हें? इंद्रसहित देवभौ आपके चरणाशुग्रह होनेपर विप्र करनेमें अस-
मर्थ होते हैं.

किं पुन दुहा व तण्हा परित्समो वादियादि रोगो वा ॥

काहिंति इष्माणविघं इंदियविराया कसाया वा ॥ १४८७ ॥

ध्यानविमं करिष्यमि किं क्षुवादिपरीयज्ञः ॥

कपायाक्षद्विपो वा मे स्वल्पसादसुपेयुषः ॥ १५४७ ॥

विजयोदया—किं पुन किं पुनः कुवेति ध्यानस्य विमं क्षुधा वा, दुग्ध वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगो वा,
इंद्रियाणां विषयाः, कपाया वा ॥

मुह्यता—वादियादि वातिकपैतिकंश्लेषकादि । काहिंति मनागपि न करिष्यति इत्यर्थः ॥

अर्थ—क्षुधा, व्यास. परिश्रम, वातादिकसे होनेवाले रोग, इंद्रियोंके विषय और कपाय ये सब मेरे
ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकेंगे. इंद्रादिक देव भी मेरी आसथनामें आधा लानेमें असमर्थ हैं फिर ये क्षुद्र उपद्रव मेरा
क्या नुकसान कर सकते हैं?

ठाणा चलेज्ज मेरु भूमी ओमच्छिया भविस्सिद्धिदि ॥

न य दं गदभिमि किमिदि तत्त्वं पश्यपमापण ॥ १४८८ ॥

स्थानतद्व्यलत नाकपवतः पुच्छर चक्षुभात मय्यत ॥
 त्वत्प्रसादमुपगम्य न प्रभो ! जातु याभि विकृतिं मनगपि ॥ १५३८ ॥
 मनसा चक्षुषा घवसा भगवत्युशासनमेतदनन्यमतिः ॥
 तव यो विदधाति सदा विधिना शिवततिसुतेति स मुक्तमलः ॥ १५४९ ॥

इति अनुशिष्टिः ॥

विजयोदया—राणा चलिच्च स्वस्मात्स्थानाच्छलिष्यति मेकः । भूमिः परावृत्तमस्तिता मलिष्यति । नहि विकृतिं
 गमिष्यामि भवतां पापप्रसादेन ॥

दुष्टारा—चलेच्च चलिष्यति । ओमच्छिष्या अयोमत्तका । गच्छं गमिष्यामि । विनादि विकृतिं विराभना-
 मित्यर्थः ॥ चूलिका १२ अपरानुशिष्टिः ॥ सूततः ३२ ।

अर्थ—स्थानसे पर्वतभी हिल जायेगा, लयवा समस्त पृथ्वी यी ओधी हो जायसी. तो भी मैं आपसे
 चरणावृष्टये पिकारी नहीं होऊंगा.

इदं गणेशमुखचंद्रभयं समिच्छ-

दक्षायरेष्टमनुशिष्टचमृतं प्रयज्ये ॥

अद्यामियामनुसमयकने किलातो ॥

हृदयवर्लं अपकपुंगयपुंश्चकोराः ॥

इत्यादाभरातुस्सुतमंयसंदभं मूलाराधनापणे पद्ममेयार्थमकारीकारणवणे पष्ठ आश्वासः ॥

सतम आश्वासः ।

पंकोद्रेकठोपवेषेषु गुरुणा नीत्या स्तुतिं वर्णितः ।

संयत्सन्तान्मनचिष्ठिः पुन पिपन्सद्वयनक्षनसुत्तम् ॥

लेखयष्टिमित्तव्युर्विचमहासंपाभिकांभं पदं ।

यः प्राप्नोति महान्वमर्हति भट् देहोऽपि तस्यापहृत ॥ १ ॥

अथ यथोपदिष्टं स्वप्नस्वप्नविग्रहेन संस्तरस्तस्य जायोऽनुनिष्ठवः प्राक्तनदुर्दैवविषाकृशालुपरिधते कचिदसमाधि
विग्रहनिर्वापने निर्योपद्रापोऽप्यवाक्यगीयं सारणाक्रमं कथयितुं गार्थाविश्लेषक्रमते तत्रादौ प्रामुक्तमेवार्थमनुस्मरयितुं
उपन्यासयति—

एवं स्ववओ संधारगओ खवड् विरियं अगूहंतो ॥

देदि गणी वि सदा से तह् अणुसट्ठिं अवरिदंतो ॥ १४८९ ॥

निर्जरां गुरुते गुर्वां कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥

वत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णः मियंवदः ॥ १५५० ॥

नमस्तममनुशासनम् ॥

मूलारा—एवं यथोक्तदशध्वन्यमश्रयधर्माध्वरणक्रमेण । यद्यदि अपयति च बहुतरंगेकदेशेनाश्रुभं कर्म प्रागु-
पतिनं अभिनवं विकल्पनः । तथा पूर्वोक्तैरेव विधिना । अपरिदंतो अनिर्विण्णः । उक्तं च—

निर्जरां गुरुते गुर्वां कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥

वत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णः मियंवदः ॥

एतां श्रीविजयो नेष्टति—

अर्थ—इम प्रकार दश प्रकारके धर्मका आचरण करनेमें क्षपक पूर्ववद् कर्मका एक देश
फा धपण-धूप करता है और नियोपकाचार्यभी न धककर उसे सदा उपदेश देते रहते हैं-

सारणेऽप्येतामश्रुपदव्याख्यानमुत्तरम् ॥

अकहुगमतिचयमणं विलंब अकसायमल्लवणं मधुरं ॥

अत्रित मटुव्विगंधं अल्लमणुहं अणदिसीदं ॥ १४९० ॥

फट्टनित्तकपायाम्लवणस्वादुमीरसेः ॥

पानकं मध्यमेयुक्तं तस्मै क्षीणाय दीयते ॥ १५५१ ॥

विजयोक्ता—अकहुणं अकटुकं, अतिरक्तं, अनामलं, अकपायं, अल्लवणं, अमजुदं, अत्रितं, अटुरमिगंधं,
मृत्पादमनुष्णसीतं ॥

गत्यात्प्रबोधयेत् पात्रकं मायाद्वयेनामुस्माद्वयति—

मूढाया—अत्र दुर्गं खेपत्रये नय । तेन कटुतिनास्तृकपाशनागमयधुरोपगुणानामौरुद्वयेन त्रिवेद्यमतति
भीतमिति निर्देसन शान्तिरागन । अत्रिरत्नं अतिगतस्त्रं । मध्यममृदुकादिरसयुक्त इत्यर्थः । अदुर्गिरार्थं सुगंधि । उक्तं च—

कटुतिष्ठः प्रपाशमल्लवणस्वादुभी रसैः ॥

पात्रकं मध्यमं युक्तं त्रये ह्रीणाय दीयते ॥

अर्थ—जो आहार कटुक, तिक्त, आम्ल, कमायला नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गंध, अस्वच्छ,
उष्ण और छीत नहीं है ऐसा आहार धूपरुको देना चाहिये. अर्थात् मध्यम रसोका आहार देना चाहिये.

पाणगमसिंभलं परिपूयं स्त्रीणस्तस् तस्स दाद्व्यं ॥

अह वा पच्छं खवरस तस्स तह होइ दायस्व ॥ १४९१ ॥

पितृवोदया—पाणगमसिंभलं पात्रकमल्लवणकादि परिपूतं स्त्रीयाय क्षपकाय दातव्यं । पश्चात्तुलं वा क्षपकस्य
तस्य पच्छं तथा भूतं तत्तम्यम् ॥

मूलार्थ—असिंभलं कटुकं न करोति । परिपूयं गालितं । पच्छं समाध्वविरोधि ॥

अर्थ—जो पंच पदार्थ शीण क्षपकको दिया जाता है वह कफको उत्पन्न करनेवाला न होना चाहिये.
और वह स्पष्ट पवित्र होना चाहिये. क्षपकको जो देनेमें पच्छ-हितकर होगा ऐसा ही पात्रक देने योग्य है.

संयारत्यो खवओ जइया स्त्रीणो ह्वेज्ज तो तइया ॥

वोसरिद्वज्जो पुल्लविधिणेव सोपणगाहारो ॥ १४९२ ॥

यदासौ नितरां स्त्रीणस्तदपि त्याज्यते तदा ॥

पट्टोपासो न कुर्वन्ति निरर्थकं नियोजनम् ॥ १५५२ ॥

विज्ञयोश्वा—संघातयो संस्तरस्य क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा न्युत्सृष्टयोऽपानकविकल्पः पूर्वविधिर्भवेत् ॥

अतीक्ष्णस्य यमोक्तपानकत्वजननियमिनुस्मरयति —

नूत्ररा — अग्निहीन इत्यर्थः । तो तथाविधपानकदत्तात् । पोसरिद्व्यो लाबयितव्यः । पुण्यविधिणेव क्षानिसू-
त्रोपनयेन ॥

अर्थ—संस्तरपर सोया हुआ क्षपक जब क्षीण होमा तब पानकके विकल्पका भी 'हानि' नामक सूत्रके अनुसार त्याग करना चाहिये

एवं संधारणदस्स तस्स कमोदणुण खवरस ॥

अंगे कच्छइ उट्टिज्ज वेयणा ज्ञाणविग्ययरी ॥ १४९३ ॥

इत्थं शुश्रूषमाणस्य संस्तरस्थस्य वेदना ॥

पूर्वकमनुभावेन काय फाल्पस्य जायते ॥ १५५३ ॥

विज्ञयोश्वा—एवं संधारणदस्स एवं संस्तरगतस्य क्षपकस्य कमोदयेन कचिदुत्तेवमोपजायते ध्यानविग्रकारिणी ।
इत्थं शुश्रूषमाणस्यापि दुष्कृतोदयसत्कारकस्त्रिदगे वेदनोत्पद्यते इत्याह—

नूत्ररा—एत्थइ कचिदुत्तेवमोदयरी । वेयणा ज्ञाणविग्ययरी ॥

अर्थ—संस्तरपर आरुह हुए क्षपकके शरीरमें कर्मिक उदयसे ध्यानमे विघ्न उत्पन्न करनेवाली वेदना उत्पन्न होती है अर्थात् पेट रोगाह शरीरके किसी अवयवमें खुलादि पीडा कमोदयसे उत्पन्न होती है.

अद्वैतगुणसहस्रभरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे ॥

भिज्जदि हु रयणभरिया णावा व समुदमज्झम्मि ॥ १४९४ ॥

ददोनज्ञानचारित्रतपोरत्न भृतस्ततः ॥

संस्तरसागरे घोरे यतिपोतो निमज्जन्ति ॥ १५५४ ॥

विजयोदया—५ द्रुगुलसद्वस्तमर्दिता द्रुमिगुणसद्वर्त्मरिता संपूर्णा यतिनौजंमसागरे भीमे यदि भेकसुयेयात्
रत्नप्रपूणा नीलिय ममुद्रमप्ये ॥

तद्वेदनोदयात्सद्वर्मानविनाशेन दुर्धर्मानवेसात्सामुर्भियुग्य रत्नत्रयं शूलो चोरे संसारसागरे निमज्जतीति
दसंगवि—

मूलरा—जदिपाथा यतिनीः । पोत इय यलतः प्रणेयरादाश्रितानां तारकत्वाच्च । भिज्जिदि दैववक्काव्विचटते ।
यत्तिभावं नोधाप्यं दुंयनीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह यतिकरूप नौका हजारों गुणोंसे भरी हुई है कदाचित् मयंकुर संसारसमुद्रमें डूब जायगी. तात्पर्यं
प्रव, शील, समिति गुणि, रत्नत्रय इत्यादि गुणोंसे भरी हुई क्षयकरणी नौका रोगवेदनासे डूबनेका प्रसंग आनेपर
उसे बचाना चाहिये

गुणमरिदं जदि पावं दृष्टूण मवोदधिम्मि भिज्जंतं ॥

कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिच्छम्मो ॥ १४९५ ॥

निमज्जंतं मयाम्मोचो यो हट्ठु तमुपेक्षते ॥

अधार्मिको निराचारो नापरो विचयते ततः ॥ १५५५ ॥

विजयोदया—गुणमरिदं जदि पाव युगेः पूर्णो यतिनां भवसमुद्रमध्ये भिद्यमानां दृष्ट्वा यः करोत्युपेक्षां
तस्माकोऽन्यो भवेद्वर्त्मनि प्रोक्तः ॥

आराधयस्व मन्मथिविप्रनगरमप्रतिकुर्वणं प्रणिप्रति—

मूलरा—कुणमाणो कुर्माणत् । उवेक्खं दुर्दोदयजन्ममानश्लादिपीढाप्रतीकारभावं ॥

अर्थ—गुणोंसे परिपूर्ण यतिनौका यदि भवसमुद्रमें फूटवी हुई देखकर जो उसकी उपेक्षा करता है
उससे जगत्में अन्य अधार्मिक कौन होगा ?

वेज्जावच्चस्स गुणा जे पुब्बं विच्छेण अक्खादा ॥

तोसिं किडिओ सो होइ जो उवेक्खेज्ज तं खवयं ॥ १४९६ ॥

वैयावृत्यगुणाः पूर्वं कथिता ये प्रपञ्चतः ॥

तैरुपेक्षापूरो नीधस्त्यज्यते, निलिलैरपि ॥ १५५६ ॥

विजयोपेक्षा—वेदजायबस्तस गुणा वैवावृत्यस्य गुणा ये पूर्व विस्तरेण व्याख्यातास्तैव्यः प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षणकं ॥

आरायकवायामृगप्रतिहृत्निः स्तार्थप्रसोडपि स्यादित्याह—

मृदारा—पुनर्वं गुणावृत्तिव्ये गुणपरिणामो इत्यादिना । तेषि किबिदो वेधश्च्युतः ॥

अर्थ—रैवावृत्यके गुणोंका विस्तारसे पूर्वसे वर्णन किया है, जो क्षणकसी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भट होता है, अर्थात् क्षणकसी उपेक्षा करनेसे क्षणक संसारसमुद्रमें डूबेगा और उपेक्षकके भी गुण नष्ट होंगे उसमें पाल्त्यादि गुणोंका नाश होगा

तो तस्स तिगिछा जाणएण खवयस्स सञ्जसत्तीए ॥

विज्जादेसेण घसे पडिक्कम्मं होइ कायव्वं ॥ १५९७ ॥

वैयावृत्यं ततः कार्यं चिकित्सां जानता स्वयम् ॥

वैद्योपदेक्षानद्यास्य द्युक्तितो भक्तितः सदा ॥ १५९७ ॥

विजयोपेक्षा—जो तस्स तगास्सस्य क्षणकस्य चिकित्सां जानता सर्वशक्त्या प्रतिफलं कर्तव्यं वेद्यस्य बोधदेक्षेन ॥ एवं क्षणकैरेकत्रेण क्षतिप्रदं नैनादृशपूते निर्गोपकाचार्यं निमुक्ते—

मूलरा—जो अग्निधामस्वर्यभ्रंशद्वेतोः । तस्स तिगिछाजाणएण तस्य संबन्धितौ चिकित्सां स्वयं वैद्योपदेक्षेन वा जानता निर्गोपनाचार्येण सपडिक्कम्मं वस्य प्रतीमारः कायं इति संयमः ॥

अर्थ—क्षणकके रोगका निदान जाननेवाले यतीने वेद्यके उपदेक्षासुसार अपनी सर्व शक्तियोंसे उसके रोगका परित्सार करेगा चाहेय.

णाऊण विहारं वेदणाए तिससे करेज्ज पडियारं ॥

फासुगदच्चेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिवादं ॥ १५९८ ॥

। पश्याय विकृति तस्य वेदनायाः प्रतिक्रिया ॥

औषधैः पानकैः कार्या वातपित्तकफपहेः ॥ १५५८ ॥

पित्तयोदया—पादूण विकारं गत्या विकारं तस्या वेदनायाः ततः प्रतिकारं कुर्यात् । योग्येन्द्रियैर्वातकफ
पित्तप्रतिपत्तं ॥

मूला—विचार दोषवैषम्यं । वित्से तस्याः । पडिपादं शान्तिम् ॥

अर्थ—वातादिदमे उत्पन्न हुए विकार को जानकर योग्य पदार्थोंसे वेदनाका प्रविकार करना चाहिये,
जिसमें वातादिक विकार नष्ट होंगे।

चण्डीहि अवबवणतावणेहि आलेवसीदकिरियाहि ॥

अवमगणपरिमहण आदीहि तिगिछदे खवयं ॥ १४९९ ॥

अभ्यंगस्येदनालेपवस्तिकर्मांगमर्दनैः ॥

परिचर्यापरेणापि कुल्यास्य परिकर्मणा ॥ १५५९ ॥

पित्तयोदया—चण्डीहि वस्तिकर्मणि, मण्डपणतावणेहि ऊष्मकरणतापनेन, आलेपनेन, शीतकियणा, अभ्यंग
परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते शूलक ॥

मूला—चण्डीहि वस्तिकर्मणिः । बन्दीहि इति पाठे वर्तिभिरित्यर्थः । अवबवण उपनाहैः । तावणेहि स्वेदनेः
शीतकिरियाहि प्रादुर्गुणलसेवनादिभिः । परिसदण अंगमर्दनैः । तिगिछदे अपगतवेदनं करोति ॥

अर्थ—वस्तिकर्म (इनिमा करना) अभिते सेकना, शरीरमें उष्णता उत्पन्न करना, औषधीका लेप
करना, शीतपना उत्पन्न करना, सर्व अंगका मर्दन करना, इत्यादिके द्वारा क्षपकक्षी वेदनाका उपशम करना चाहिये-

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ॥

खवयरस पावकम्मोदएण तिव्वो ण हु ण होज्ज ॥ १५०० ॥

कस्यचिच्चिगमाणेअपि बहुधा परिकर्मणि ॥

पापकर्मोदये तीन्ने न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

मिजयोदया—पूरे नि कीरमाणे प्रतीकारे क्षणकस्य वेदनोपशमः तीव्रेण पापकर्मोदयेन नापि भवेदपि, नहि
वदित्रंरमादन्तरेनैव कर्मणि स्वफले न प्रयच्छन्ति । तदेव हि चरिद्रव्यं परस्य वेदानां प्रशमयति नापरस्येति प्रतीतेरितम् ॥
अभिभूतपापविपक्षे प्रतीकारैवार्थमाह—

मूलाया—विज्येण पोरेण । उक्तं च—

कृत्यविक्रियमाणेऽपि बहुधा परिकल्प्यणि ॥

पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशम्यति वेदना ॥

अन्ये पापकर्मोदयेन निरुग्रा य सा होत्व इति पठित्वा पापकर्मोदये सति वेदनोपशमो न भवेत्, कोत्रा वा
प्रेवना भवेदिति प्रतिपन्नाः ॥

अर्थ—इस प्रकार इलाज करनेपर भी, तीव्र कर्मका उदय होनेसे बाह्य उपचारसे वेदनाका उपशम होता
नहीं. बाह्य द्रव्यसे किसी की वेदनाका उपशम होता है और किसीकी नहीं भी अतः कर्मोदयकी विचित्रता
सिद्ध होती है.

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ॥

उवसगोहिंव खवओ अचेदणो ह्येज्ज अभिभूदो ॥ १५०१ ॥

क्षपको जायते मीमेरुपसर्गपरीयहै ॥

अभिभूतः परायसो विह्वलीभूतचेतनः ॥ १५६१ ॥

विजयोदया—अहवा तण्हादिपरीसहेहिं अथवा तडाविजिः परीयहेरभिभूतो भवेत्क्षपकः, उपसर्गोभिभूतो
निश्चेतनः स्यात् ॥

निमिच्चान्तरमणि समाधिविस्तार्यानिषचे—

मूलाया—अचेदणो विधान्तो मूदो वा ॥

अर्थ—अथवा भूक, प्यास इत्यादि परियहोसे पीडित होकर क्षपक निश्चेतन होगा अर्थात् मूर्च्छित होगा
अथवा शान्त होगा. तथा उपसर्गसे भी पीडित होनेपर मूर्च्छित होता है.

तो वेदणावसट्ठो वाउल्लिओ वा परीसद्वादीहिं ॥
खवओ अणणवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि ॥ १५०२ ॥
दयाकुल्लो वेदनाग्रस्तः परीपहकरालितः ॥

ग्रलपत्यनिचद्धानि वाक्यानि स विचेतनः ॥ १५६२ ॥
विजयोदया—ततो वेदनाग्रस्तावौ व्याकुलितः परीपहोपसर्गः क्षणकोऽसायनात्मपदो विप्रलभेचानि किञ्चित् ॥
विभ्रान्तत्वे विभ्रानाह—

मूढारा—सो निभ्रान्ताचैनन्तरात्पश्चात् । वेदणावसट्ठो वेदनावसट्ठो वाउल्लिओ व्याकुलीकृतः ।
विप्पलवेज्ज विविचं जनार्थकं जल्पेत् अं किञ्चि जनिबद्धं ॥

अर्थ—वेदनात्की असमतासे दुःखी होकर, परीपह और उपसर्गसे व्याकुल होकर क्षणक आपमें नहीं रहेगा
अर्थात् उत्तमं विचक्षी एकाग्रता भंग होगी जिससे वह पूर्वोपर संबंध विरहित बहस करेगा.

उब्भासेज्ज व गुणसेहीदो उदरणबुद्धिओ खवओ ॥

छट्ठं दोब्बं पढमं वसिया कुंठिलिदपदमिच्छंतो ॥ १५०३ ॥

अयोग्यमरानं पानं रात्रिसुत्तिं स कांक्षति ॥

वारिन्नलजनाकांधी जायते वेदनाकुलः ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—उब्भासेज्ज अयोग्यं, संयमगुणशेषितः कुलावतरणमुक्तिः, छट्ठं रात्रिमोक्षणं, दोब्बं पाणं, दिवसे
पढमं प मरानं पा । सिया कदाचित् । कुंठिलिदपदमिच्छंतो स्पलनपदं इच्छन् ॥

मूढारा—उभासेज्ज अयोग्यं वदेत् । गुणसेहीदो संयमगुणारोहणात् । उदरणबुद्धीओ अवतरणे कृतमतिः ।
छट्ठं रात्रिमोक्षणं । दोब्बं पाणं । पढमं मोक्षणं । सिया कदाचित् । अस्मले मोक्षणं पानं वेत्स्यते । कुंठिलिदपदं स्पलनपदं ।
दीनरपानमित्यन्यः ॥ उक्तं च—

यदेवमुचितं साधुः संयत्यवज्जनोन्मुक्तः ॥

अस्मले मोक्षणं पानं वा वातन्ततल्लिं पदम् ॥

अर्थ—अयोध्या ग्रासण बोलेला, संयमगुणसे उतरलेकी बुद्धि करेणा, अर्थात् संयम छोडनेका विचार उस-
के मतमें उत्पन्न होगा. रात्रिभोजन करना, अथवा रात्रौ पानी पीना, दिनमें प्रथम-भोजन करना, एतद्विषयक
विचार उसके मनमें उत्पन्न होंगे. इस प्रकारसे वह संयमसे स्खलित होनेकी इच्छा करेगा.

तह मुझंतो स्वर्गो सारेद्वयो य सो तयो गणिना ॥

जह सो विमुद्धलेसो पब्बागदेवदणो होज्ज ॥ १५०४ ॥

तथेति मोहसापक्षः सारणीयो गणेशिना ॥

यथास्मि मुदलेदयाकः स प्रत्यागन्तचतनः ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—तह मुझंतो स्वर्गो सारेद्वयो य सो तयो गणिना कथं ? यथा विमुद्ध-
लेसो भवति प्रत्यागन्तचतनम् ॥

वेदनादित्तर विज्जन्व विज्जन्वो भवके कि कार्यमित्यगाह—

मूढाता—तह मुझंतो स्वर्गो सारेद्वयो य सो तयो गणिना कथं ? सारेद्वयो सारवित्तव्यः सर्वः । गणो

■ । आसन्नचतुर्दशरिपयः । पद्मागदेवदणो क्वापुदित्तयार्थमुद्धिः सन् ॥

अर्थ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुए क्षणको आचार्य पूर्वाचरणका स्मरण दिलाते हैं. जिस उपायसे वह
निर्मल लेखाका ध्याक होगा और चैतन्यकी प्राप्ति करेगा ऐसा ही उपाय वे करते हैं.

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुमं किं नामो कत्थ वससि को व संपही कालो ॥

किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं नामो धाहं ॥ १५०५ ॥

कस्त्वं किं नाम ते कालः सांप्रतं कः क वर्तसे ॥

कोऽहं किं मन नामेति ते पृच्छति गणो यतिम् ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—कोऽसि तुमं कस्त्वं ? किं नामेध्वः ? कत्थ वससि कथं वससि ? को व संपर्दीकालो को वेदानीं
कालः ? किमयं दिवा रात्रिर्वा ? किं कुणसि तुमं किं करेतेति पद्यान् । कथं वा अत्थसि कथं वा विमुद्धि ? किं नामो
धाहं कथं वा किं नामधेयः ?

कृपमेव सारगित्तव इत्यग्राह—

मूढारा—तस्यदि गाले । इदानींवाला किमयं विवा रात्रितो ।

सारगोपाय रहते हैं—

अर्थ—हे दुने' तुम कोन हो ? तुमारा नाम क्या है ? तुम कहां रहते हो ? अब कोनसा काल है ? अर्थात् अब दिवस है या रात्री है ? तुम क्या कार्य करते हो ? और कैसे रहते हो ? मेरा नाम क्या है ?

एवं आउच्छिन्ना परिकल्हेदुं गणी तयं खवयं ॥

सारइ वच्छल्याए तस्त य कवयं करिस्संति ॥ १५०६ ॥

इत्थं क्षपकटापूच्छय चित्तं जिज्ञासता सता ॥

चरसलत्थेन कनेव्या सारणा तस्य सूरिणा ॥ १५०७ ॥

विजयोव्या—एवं आउच्छिन्ना धामधुररत्नं सारयति गणी तं दणकं । किं सचेतनो निवेसन इति परीक्षितु-
काया वरसलत्थया उपपत्ति चेत्तथा कवयं परिकामीति भाव्यो ॥

विमर्दमेव सार्वते इत्यग्राह—

मूढारा—अचोच्छिन्नं अनुपल । आपुच्छिता इति प्रायिकः पाठः । परिकल्हेदुं किमयं सचेतन उत नि-
वेसन इति परीक्षणार्थं । सरेदि स्थितिं प्राप्तावि । वच्छल्याए यास्तत्त्वेन । कवयं करिस्संति यद्यस्ति चेतनास्य तथा कवयं
करिष्यामीति नत्वा ॥

अर्थ—यह क्षपक रहतेन है आया अचेतन है अर्थात् यह सावधान है किंवा असावध है इसका परीक्षण करनेके लिये नवे प्रेमेसे उपपुक्त प्रश्न यास्पर समझो पूछते हैं यदि इसमें चेतना होगी अर्थात् यह सावध होगा तो मेरे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देगा. औरसावध है ऐसा मिद होनेपर इसको हम, कवच करेंगे ऐसा हेतु मनमें पारण कर आचार्य उपपुक्त प्रश्न क्षपकको करते हैं.

जो पुण एवण करिज्ज सारणं तस्स वियल्लवक्खुस्स' ॥

सो तेण होइ मिद्धमसेण खवओ परिचो ॥ १५०७ ॥

मुक्तः क्षपकृत्यं यः करोति न सारणम् ॥

तेनासौ यजितो नूनं जिनघर्मे हवोल्लवः ॥ १५६७ ॥

विजयबोधः—ओ पुन एवं न कठि यः पुनरेवं न दुर्गत्य सारणं । स्वस्तिविचक्षुषः ॥ क्षपकलेन परित्यक्तो भवति सारिणः ॥

तथा तत्पसारणे य वगाह—

मूलात्—विपक्षद्वयस्य रत्नविनिर्गच्छः । निर्वर्तने निर्देयः ॥

अर्थ—ओ निर्यापकाचार्य ऐसे मन्त्र नहीं पढ़ेगा और जिसकी विचक्षुषि अष्ट हुई है ऐसे क्षपकको

स्मरण दिलाकर रत्नघर्मे स्थिर न करेगा तो उस निर्देय निर्यापकाचार्यने क्षपकका त्याग किया है ऐसा माना जायेगा ।

एवं सारिजंते कोई कम्बुवसमेण लभति सदि ॥

तद् य न लभिल्लज सदि कोई कम्मे उविणम्मि ॥ १५०८ ॥

तस्येति सार्यमाणस्य कस्यचिज्जायते सृष्टिः ॥

नीग्ररुमोदये नान्यः स्मरणं प्रतिपद्यते ॥ १५१८ ॥

संततसारणवारणकारी कामकपाह्वपीकमियारी ॥

घर्भयतो विदधीत समर्थि सर्वमपास्य गणी तरसायिम् ॥ १५६९ ॥

इति सारणं

विजयोदया—एवं सारिजंते एवं सार्यमाणः कश्चिद् चारित्र्योद्देशणेन या सृष्टिं यो योग्यविक्रयं लभते । अयुक्तेयं मन इच्छा गकाले भोक्तुं पातुं या प्रत्यावृत्तं कथं कोलेडपि आर्ययामीति न लभते सृष्टिं कश्चित्कर्मण्युद्देशेन नो विदधेयमितिपादपरणे । सारणा ॥

तथा सारणायांमपि लघुक्रमेण एव सृष्टिः स्वान्तर्यस्येत्याह—

मथारा—कोई कश्चिन्नोद्देशियमविज्ञानावरणस्य गोपदमविशेषं प्रातः । कम्बुवसमेण चारित्र्योद्देशेन । अस्त-
देवोभयमेव या । सदि अयुक्तेयमिच्छा मय काले भोक्तुं पातुं । वा प्रत्यावृत्तं वा कथं कोलेडपि आर्ययामीति योग्यायो-

नृविषमां शुद्ध । नय वि मार्वेनानीडवि । कस्मे मोहंदिनसतिमानवरणे । उदिष्यन्मि कीयवेदनादिवसादुर्निवारयुदेति ॥
 तात्ता नृद्वयः ३४ अंकः २०

अर्थ—इस प्रकार अयोग्य इच्छाएं परावृत्त करनेपर भी कोई क्षुण्ण पापकर्मके उपद्रवसे योग्य विषयके मरण को प्राप्ति होता है। अर्थात् मैं अकालमें मौजान करनेकी और पंच पदार्थ पीनेकी इच्छा की थी- जिसका मैंने त्याग किया है उसका योग्य कालमें भी सेवन करना अनुचित है। ऐसा सारण उसको होकर वह अयोग्य आपराधिक परावृत्त होता है। परंतु जिसका पापकर्म उदयमें आता है और नो इंद्रियमतिज्ञानावरण कर्म उदयमें आता है यह स्मरणशून्य होता है। ॥ सारणा नायक प्रकरण समाप्त हुआ-

सदिमलभंतरस वि कादब्बं पडिकम्ममट्टियं गणिणा ॥

उग्रदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायब्बो ॥ १५०९ ॥

प्रतिकर्म विधातव्यं तस्य स्युतिमगच्छतः ॥

उपदेशोऽपि कर्तव्यः स्मरणारोपणधर्मः ॥ १५१० ॥

विजयोदया—सदिमलभंतरस वि स्युतिमलभन्तस्यापि गणिनाऽस्थिते कर्तव्यं । प्रतिकारः, उपदेशोऽपि मनुष्याः तदा तन्व कर्तव्यः ॥

अथ गथाहनसारणरथापकस्य वचनं गायानां पशुःसप्तत्यधिकेन श्रवेन व्यापिकयामुस्तदुपक्रमाय प्रथमं परमाणुः कथयति—

मुखात्—अदिर् निरंतरं । अनुलोमो स्मरणारोपणधर्मः । इदंनलुकायीत्यपटः ॥

अर्थ—जो स्युतिको प्राप्त होता नहीं है उसको भी निरंतर उपाय करना चाहिये उसको साक्ष्य करनेके उपाय करने चाहिये। वैसे उसको अनुकूल उपदेश भी हमेशा करना चाहिये।

चेर्यतोऽपि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरब्बो ॥

उग्गमसेज्ज वठक्कावेज्ज व मिदेज्ज व पडिणं ॥ १५१० ॥

परीषद्गतुरः कश्चिज्जानानोऽपि न बुध्यते ॥
आर्तः प्रकुञ्चते वीनो मर्यादां च विभित्सति ॥ १५७१ ॥

विजयेद्या—वेदतो पि चेतयमानोऽपि कर्मदेव कश्चित्परीषद्गतुराजितो यत्किञ्चिद्देव आटेव, भियादा स्वो प्रत्याख्यातप्रतिष्ठां ॥

जानतोऽपि दुःसाकुलवयनुचितार्थाचरतः कटुकवचनादिकं न शयोव्यमित्युपविशति—

मूलारा—परसो पराजितः । तस्कोवच्च आटेव । पदिणं प्रत्याख्यानप्रतिष्ठां ॥

अर्थ—कोई क्षणक समय होकर क्रमोदयसे परीषासे व्याकुल होकर जो भी कुछ बोलेगा अनुचित भाषण करेगा अथवा जो जो आहारके और पीनेके पदार्थ त्यागनेकी प्रतिज्ञा की थी वह उसका भग्य भी करेगा-

ण हु सो कडुवं फरुसं व भाणिदन्नो ण खीसिदब्बो य ॥

ण य वित्तासेदब्बो ॥ य वट्टुवि हीलणं काटुं ॥ १५११ ॥

न विमीपयः स नो वाच्यो वचनं कटुकादिकम् ॥

न स्यालयः स्मरिणा तस्य कर्तव्यासावना न च ॥ १५७२ ॥

विजयोद्या—ण हु सो कडुवं स एवं कुर्वन्स्वरुः न कर्तव्यः कटुकं वचनं या न भस्समीवं, स च नाहं नेतव्यः, न च युक्त परिभयः न तु तस्य ॥

मूलारा—ण खीसिदब्बो न निभेत्स्यैः । नोपहसनीय इत्यन्यः । न रोषयितव्य इत्यपरः । ण य वट्टुवि नापि युक्तं भवति । हीलणं अनादरः ॥

अर्थ—प्रतिज्ञा भंग करनेपरभी निर्यापिकाचार्य उसे कडवे और कठोर शब्द न बोले उसकी भर्त्सना न करे, उसको भय न दिखाये, अथवा उसका अपमान न करे-

परुपवत्तनादिभिः को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी विण्फुरिसिदो तगो संतो ॥

उट्ठाणमवक्कमणं कुञ्जा असमाधिकरणं च ॥ १५१२ ॥

विराधितो भवन्मानो वचनैः कटुकादिभिः ॥
 लिपुंक्षत्पसमाधानं श्रुत्याख्यानें लिङ्गासति ॥ १५७३ ॥

विजयोदया—परुषवचनानिदिगेहि परुषवचनविमर्शनी विराधितं सन् ॥

वानपाठव्यादिकयोगे दोषानाह—

मूढारा—विपुलरिसिद्धो विराधितः । उदाय गुणभेदितः पतनं । दुःस्थानं वा । अवकर्मणं सम्भक्तवत्यागं ।

कठोरादिक वचन मौलेनेस कीनला शेष उत्पन्न होवा है? इस प्रश्ना उत्तर—

अर्थ—परुषवचनानिदिगेहि यदि उसकी भासना की जावेगी तो वह संयमभेदे भ्रष्ट होगा, अथवा दुर्धर्मान को प्राप्त होगा, किंवा सम्यक् शका त्याग कर विध्यात्मी बनेगा.

तस्मै पदिष्णामेरं भित्तुं इच्छंतयस्स णिज्जवओ ॥

संस्वादरेण कवयं परीसहणिवारणे कुज्जा ॥ १५१३ ॥

निर्यापकेन मर्यादां तस्य मंशु युमुक्षतः ॥

कतंठयः कचथो गाढः परीपहनिवारणः ॥ १५७४ ॥

विजयोदया—तस्मै पदिष्णामेरं तस्य स्वप्रतिष्ठाव्यवस्थां भित्तुं चाच्छतो निर्वापकसूतिः कवचं कुर्याद्विचारणसमं ॥

तस्य प्रतिष्ठावर्धनोऽप्युद्यत्वे प्रतिविधानमनुशास्ति—

मूढारा—मेरं व्यवस्थागं ॥

अर्थ—जय क्षपक प्रतिष्ठाभाग करनेके लिये उद्युक्त होगा तब निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रतिज्ञा भंगसे निवृत्त करनेकेलिये कवच करे.

णिज्जं मधुरं पल्लादणिज्ज हिदयंगमं अतुखिं वा ॥

तो सीहवेदव्चो सो खवओ पणवन्तेण ॥ १५१४ ॥

गंभीरं मधुरं स्निग्धमादेयं हृदयंगमम् ॥

सुरिणा शिक्षणीयोऽसौ प्रज्ञापनपटीयसा ॥ १५७५ ॥

विजयोद्या—किंच स्नेहसहितं, मधुरं शोभायितं, हृदयसुखाविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्यरितं असौ शिक्षयि-
तव्यः शपकः प्रज्ञापयता ॥

मूलार—तो सीहृत्वेदव्यो विद्वयितव्यः । पणवतेण स्निग्धादिगुणयुक्तं वचनं वदता गणिना ॥

अर्थ—निरांपकाचार्य शपकको प्रेमसहित, कर्माश्रिय, हृदयको सुख देनेवाला, हृदयमें प्रवेश करनेवाला,
ऐसा उपदेश करे।

रोगादंके सुबिहिद विठलं ॥ वेवणं धिदियलेण ॥

तमदीणमसंभूढो लिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥ १५१५ ॥

संतोपचलतस्तीव्रास्ता रोगान्तकेवदनाः ॥

अकातरौ जयामूढो वृत्तविप्रं च सर्वथा ॥ १५७६ ॥

विजयोद्या—रोगादंके महतोत्पादय व्याधीन् । विपुलां वा चेदनां धृतिविलन अथ स्वमदीनोऽमूढवच प्रत्यु-
द्वाद् चारित्र्यम् । वीतरागकोपता हि चारित्रं । तस्माधिप्रतीकारार्थेषु आह्वयतो वेदनासु च हेतुवतो नश्यति । ततश्चा-
दित्रयिप्रास्थया जेतव्या इति भावः ॥

दुःखनिवारणी शिक्षां कथयपटनानीमिहः प्रबधेनाभिघत्ते—

मूलार—रोगादंके अस्यामहदश्च व्याधीन् । पच्चूहे विधाम् । वीतरागकोपता हि चारित्रं तद्व्याप्यादिप्रती-
कारार्थेषु वस्तुषु आह्वयतो व्याध्यादिषु हेतुवत्तज नश्यति ॥

अर्थ—हे अणक ! तू दीनता का छोट कर मोहका त्याग कर अल्प और बड़े दोनो प्रकारके व्याधिओं
को तथा वेदनाको धैर्यके पस्ते जीतले। चारित्रिके जो शत्रु हैं उनको भी तू जीतले। राग और कोपसे अपने आत्मा-
को अलग रखनाही चारित्र है। रोगका नाश करनेवाले पदार्थोंमें जो आदर करता है और वेदनाओंमें जो देय
रखता है उसका चारित्र नष्ट होता है। अतः चारित्रिके विधातक पदार्थोंको जीतना योग्य है।

सत्त्वे उपसर्गो परिसहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुमं ॥
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिमु आराहओ मरणे ॥ १५३६ ॥
त्वं पराजित्व निःशेषानुपसर्गपरीपदान् ॥
समाधानपरो भद्र ! मूल्यावाराधको भव ॥ १५३७ ॥

विजयोदया—सत्त्वे वि य उपसर्गो सत्त्वोऽप्युपसर्गान् परीपदांश्च मनोवाक्यैर्जय । उपसर्गपरीपदजयदुःखा-
भीरता मनसा जयः । यीतोऽयमिति ध्वया न दुःखानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकरिकारणमसदेष्टमुदयागतं अजि-
गर्गनीयं बलं प्रपच्छतेष्वेति धृतिबलेन यावन्त मनसा जयः । शान्तोऽस्मि चेदनादुःखदात्मतां पश्यत मदीयानिमां अतिकष्टा-
मब्रूयां । वरजोऽस्मि तादितोऽस्मि श्लेषमविदीनवचनानुधारणं । असकृदनुभूतायोः परीपदाः क्षुदादयः, उपसर्गाश्च पूर्वं ।
पृष्ठद्वन्द्वमपि नामी मुञ्चन्ति । केवलं धृतिरक्षितोऽयं वराको राट्टीति निघोते । न सन्मार्गाद्व्यावर्धितुं इमे क्षमा इति उदार
वचनवा वचनेन जयः । अदीनेक्षणमुत्तरावस्था अवलता च कायेन जयः । निज्जिणिय सम्ममेदे निज्जिणियं सम्पणे-
तानुपसर्गपरीपदाग्रमरणे मरणकाले । आराधओ होहिस्व एतज्जयपरिणतो मावेव्यसि । उपसर्गपरीपदव्याकुलितचेतसो
नैवाराधकवा ॥

मूला—तिविधेण द्रव्यादियोगवशादापकोऽयमवागर्धीर्यमसदेष्टमिमातुपसर्गपरीपदान्प्रसक्तकेन (?) निवार्येत ।
सदिदानीं दूरेण दुःखभीरता, न एतद् भीतोऽयमिति कृपया दुरात्मनि स्वजतीतीदृशी घृतिबलभावना मनसा तन्निर्जयः
शान्तोऽस्मि दुःसहा मे वेदना । पश्यत मदीयानिमामतिकष्टमवस्थां । हा वैय ! वैदव्योऽस्मीत्यादि दीनवचनानुधारणं ।
परीपदाश्च सर्वेण शरीरिणा आस्तसारभनुभूताः असकृदनुपसर्गाश्च । न चामी पृष्ठद्वन्द्वमपि मुञ्चन्ति केवलं निःसत्त्वोऽयं
कानुक्तो राट्टीति निघोते न वैते सन्मार्गाद्व्यावर्धितुं मां क्षमते इत्यादिभीरोदासवचनोद्धारणं च याथा वत्परजयः ॥

अदीनेक्षणं प्रदक्षिणमुत्तरावस्थानं कायेन तद्विजयः ॥ एदे एतान् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तूं मन वचन और शरीरसे सब उपसर्ग और परीपदोंको जीतले. जब इनको तू पूर्ण जी-
तनेमें समर्थ होगा तबही मरणसमयमें तूं स्तनव्यापाराधक होगा. अन्यथा नहीं.

विशेषार्थ—उपसर्ग और परीपदोंके दुःखोंसे भयभीत न होना गही मनसे उपसर्ग और परीपदोंको जीतना माना जाता
है. यह पुरुष मयबुद्ध है ऐसा समझकर उपसर्ग और परीपद तकलीफ उत्पन्न करनेका कार्य दयासे छोडते हैं. ऐसा
नहीं समझना चाहिये. समीपके द्रव्यादि पदार्थों से असाता वेदनीय कर्मका उदय आनेसे सहकारि कारण है जब

वेदनाय कर्म उदयमें आता है और उसका अनिवार्य सामर्थ्य है तब वह अपना फल देकर ही नष्ट होया ऐसा धैर्य धारण कर विचार करना यह मनके द्वारा उपसर्ग परीषदों का जय समझना चाहिये, मैं बक गया हूं, ये दुःख दुःसह हैं मैं अतिशय कष्टम अवस्था को प्राप्त हुआ हूं, मेरे शरीरमें आग लगी है, मैं पीटा जा रहा हूं इत्यादिक दीनता व्यक्त करनेवाले शब्द मुझे न निकालना यह वचनसे जय समझना चाहिये.

धुयादिक परीषदोंका अनंत बार अनुभव ले चुका हूं. अनेक बार घोर उपसर्ग भी भरोको प्राप्त हुए थे. जोरसे रोनेपरभी ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको क्या छोड़ देंगे? यह पुरुष धैर्यरहित है, यह दीन है, यागवार रोता है, बिछाता है ऐसी लोक मेरी निंदा करते. ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको सम्भाविते प्रद करनेमें असमर्थ हैं. ऐसे उदार वचन कहना यह भी वचनजय समझना चाहिये.

परीषदादिकोंसे दुःख होने परभी मुलमें दीनता न दिखाना, आत्मोंमें दीनता न धारण करना, मुल न झूलना, शरीरमें निश्चलता रहना, यह शरीरसे जय समझना चाहिये.

इन प्रकार उपसर्ग और परीषदोंको दृढ़तासे जीत कर भरणसमयमें हे क्षपक ! तू रत्नत्रयपाराधक हो.

मंभर सुविहित्य जं ते मञ्जस्मि च्चदुन्विहस्स संघस्स ॥

बूढा महापटिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥ १५१७ ॥

अहमाराधयिष्यामि प्रतिज्ञा या त्वया कृता ॥

मध्यं संघस्य सर्वस्य तां स्मरस्यचुना न किम् ॥ १५१८ ॥

विषयोदया—संगर स्मृति निधेहि । सुविहिद सुचारिच । किं स्मरामि इति चेत् तं तां प्रतिज्ञां कृतवानसि । मञ्जस्मि मध्ये । कस्य ? चदुन्विधस्स चतुर्निधस्य संघस्य । बूढा धृता । महापटिण्णा महती प्रतिज्ञा । अहयं अहं आराध-इस्सामि आराधयिष्यामि इति ॥

मूलार्थ—जं ते यत्कथा । बूढा कृता ॥

अर्थ—हे निदर्षचारित्र घातक क्षपक, तू चार प्रकारके संगमें अर्थात् उनके समक्ष बड़ी प्रतिज्ञा धारण की है अर्थात् मैं रत्नत्रयका आराधना करूंगा ऐसी यद्वाप्रतिज्ञा धारण की है उसका स्मरण कर.

को नाम भटो कुलजो माणी योलाइदूण जाणमज्झो ॥
जुज्यो पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥ १५१८ ॥
जनमध्ये जुजास्फालं विधाय बलगर्वितः ॥

कः कुलीनो रणे मानी शत्रुव्रस्तः पलायते ॥ १५१९ ॥

विजयोदया—को नाम भटो कः पलायते युद्धे भटः शत्रुः । कुलजो मानी । योलाइदूण भूजास्फालनं कृत्वा ।
जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजयं करिष्यमीति उद्गुप्य आवडिदमेत्तओ अभिमुखायासशत्रुत्वे भरिभीतः । कः पलायनं
करोति ॥

इतः क्षपकं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तं हत्वा प्रबर्धनं शोभाह्वयति—

मूळार—माणी यदाऽसंपादनाहंकारी । योलाइदूण आत्मानं सुत्वा । जुजास्फालनं कृत्वा । एवं शत्रुपराजयं
करिष्यामि इत्युद्योग्यंति यावत् । आवडिदमेत्तओ चेव मिलितमात्र एवारिणा सह धनया अभिमुखायासमाश्रयिरेरिति
वोग्यम् ॥

अर्थ—“मैं शत्रुको अवश्य पराजित करूंगा” ऐसी प्रशिक्षा जिसने जुजास्फालन करके सर्व जनसमूह
की है ऐमा फोन स्वामिमानो कुलीन शत्रु पुरुष शत्रु समीप आनेपर डरकर पलायन करेगा।

दार्शनिके योजयति—

योलाइदूण पुब्बं माणी संतो परीसहादीहिं ॥

आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो ह्वे साहु ॥ १५१९ ॥

कः कृत्वा स्वस्तवं मानी संघमध्ये तपोधनः ॥

परीपहरिपुत्रस्तः क्षिप्रन्यापातमाव्रतः ॥ १५२० ॥

विजयोदया—योलाइदूण पुब्बं जुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । परीसहादीहिं आवोद्धमेत्तगो चेव परीपहारा-
एवं दृष्टान्ते दशितमर्थं दार्शनिके योजयति—
मूळार—आवडिदमेत्तओ परीपहारीमिलितमात्रकः । विसण्णो दुःखितः ।

अर्थ—सर्वे संपत्ते समस्त परीषद् और उपसर्ग अनपरा भी मैं प्रत्याख्यान आहारादिक पदार्थोंका स्वीकार न करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा लेकर परीषदादिक आतेही कोनसा साधु दुःखी होकर स्वप्रतिज्ञाका त्याग करेगा ? अर्थात् अपनी प्रतिज्ञामें परीषदादिक अनपरा भी दृढता धारण कर उसको नष्ट न करेगा।

आवडिया पडिचूला पुरओ चेव कमंति रणभूमिं ॥

अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वडुंति ॥ १५२० ॥

प्रविशंति रणं पूर्वं शत्रुमर्दनलालसाः ॥

पच्छन्ति नास्तुनायोजि शत्रूणां प्रसरं पुनः ॥ १५८१ ॥

वित्तपोचरा—आपदिता पडिचूला अभिमुखापाताः शत्रवः । पुरदो चेव कमंति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्गान्ति रणभूमिं । अवि य मरिज्ज रणे यपानि रणे स्त्रियन्ते । ण य पसरमरीण वडुंति नैव प्रसरमरीणां वर्धयन्ति ॥

मूढारा—आवडिदपडिचूला आपविता अभिमुखा जातः प्रसिचूलाः शत्रवो येषां सुमदानां ते । पुरदो चेव पूर्वमेव शत्रुभिरनाकांक्षेवेति भावः ॥ कमंति आक्रमंति । रणभूमिं युद्धाय कल्पितां भूमिं । मरेज्ज भियेरन् । पसरं उत्साहं । वडुंति वर्धयन्ति ।

अर्थ—इच्छा कलेपाले शत्रु युद्धभूमिमें आगे आगे ही पैर बढाते हैं कदाचित् युद्धमें शत्रु प्रहारेसे मरणका स्वीकार करेंगे परंतु अपने प्रतिपक्षीका उत्साह भेदना ऐसा कार्य वे कदापि नहीं करेंगे अर्थात् रणभूमिसे पलायन नहीं करेंगे।

तद् आवडिदपडिचूलाए साह विमणिणो सूर ॥

अदितिव्वेयणाओ संहति ण य विगडिमुखयांति ॥ १५२१ ॥

मानिनो योगिनो धीराः परीषद्वनिपुद्दिनः ॥

सहन्ते वेदना घोराः प्रपद्यन्ते न विक्कियाम् ॥ १५८२ ॥

विजयोदय—तद् आवडिदपडिचूलाए तथा अदितिव्वेयणाओ । साधवो मानिनः सूरः । अदितिव्वेयदणाओ अतीव तीव्रवेदनाः । संहति संहते । ण य विगडिमुखयांति नैव विक्कितिसुपयांति ॥

मूलारा—आवर्तित्वपश्चिच्छेदनाय आपत्तितां दुर्दैव्यशानुपरिचिताः प्रविशुल्या उपसर्गोपरीपदा येषां ते आपत्तितमनि-
 श्च्यतास्तेषां भाव आपत्तिमयिभूतता तस्यां सत्त्वां । उपसर्गोपरीपदेषु सत्त्वियवि यावत् । अन्ये तु आवर्त
 पश्चिच्छेदनाय इति गटित्या आपत्तमिच्छत्यव्येत्यर्थमाहः । विनादि रत्नप्रवविराधनं ॥

अर्थ—येगे पूर्वकृत अशुभ कर्मके उदयसे परीषदादिक अति तीव्र दुःख देनेपर भी अर्थीव उनसे अति-
 तीव्र वेदना होनेपर भी सारिष्यन्ती साधुपण सब मढ़ेलेगे हैं परंतु वे विकार को प्राप्त होकर स्तब्धयाराधनाका
 त्याग नहीं करते हैं।

थीलाइयरस कुलजरस माणिणो रणमुहे धरं मरणं ॥

॥ १५२२ ॥

रणारंभं चरं नृत्यं भुञ्जार्फालनकारिणः ॥

यायज्वीयं कुलीनस्य न पुनर्जनजल्पनम् ॥ १५८३ ॥

पिउयोरया—योलापयश्च उतमुजाहफाछनश्च । गणिनी मानिकः । रणमुदे वरं मरणं युधमुने शोधनं मरणं । न न वरं नैव शोभनं । लज्जनयं भानुं जायस्त्रीयं च सुजन्ममग्ने सुजन्तमभ्ये पाधस्त्रीयं निदरकरणं ॥

मूलात्—घोलादरासं कुममुञ्जाकासनय । धरं शोभनं । लङ्गणपं लङ्गाकारकं । धर्मणसायनमित्यर्थः ॥

अर्थ--जितने भुण्डास्रॉट कर अनुको अतनेकी प्रतिष्ठा की है ऐसे कुलीन स्वाभियानी मनुष्यका रणमें मर जाना भी मला है. परंतु सज्जनमें क्षिमे निंदा होगी ऐसा कार्य अर्थात् रणसे भागना, शत्रुको पीठ दिखाना कभी भी मला नहीं है. क्यों कि ऐसे कार्यसे आलम्न निंदा होती है.

संभरणस्त माणिणो संजदस्त णिहणगमणं पि होइ वरं ॥

ण य लज्जणं कादुं कायरदावीणक्किणचं ॥ १५२३ ॥

संपत्तस्य यरं मृत्युमार्निर्नोऽसकतादिनः ॥

न वीनत्थविपणत्त्वे परीपहरिपुद्गय ॥ १५८४ ॥

विजयोदया—समकस्स समानस्य श्रयणस्य ॥। माणितो मानिनः, संजदस्स संयतद्वय । निधणमगणं पि होदि परं निधनमनमपि भवति वरं । य य लज्जमगं फाडुं नैव लज्जनैयकरणं शोभनं । कातरता न वरं । दीणकिविणत्तं वीनत्वं करणं तं च न परं ॥

पूछारा—निधणमगणं भरणपत्तिः । कादरवा चित्तधीक्ता । दीणकिविणत्तं दीनत्वं, वैषम्यं, कृपणत्वं किमपि धरुं न शक्नोमि इति पचनं ॥

अर्थ—सगदेष रहित, अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले ऐसे भुनिका भरण होना भी भला है. जिससे लज्जित होना पड़ेगा ऐसा कार्य-रत्नत्रयाभ्यासे व्युत्त होना-कभीभी योग्य नहीं है. चित्तमें भय उत्पन्न होना, मूल भयसे दूरता, मैं असमर्थ हूं. प्रतिज्ञा धारण करनेमें समर्थ नहीं हूं इत्यादिवचन बोलना निश्च है.

पूयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं ॥

पुत्तपटत्तादीणं रणे पलादो सजणलंछं ॥ १५२४ ॥

घरं मृत्युः कुलीनस्य पुत्रपौत्रादित्तंतः ॥

न पुट्टे नदयतोऽदिभ्यः कर्तुं स्वकुललंछनम् ॥ १५८५ ॥

विजयोदया—एवस्स अप्पणो एकस्यात्मनः । जीविदहेदुं जीवितनिमित्तं । को करिज्ज जंपणयं कः कुर्यादप-
पादं । पुत्तपटत्तादीणं पुत्रपौत्रादीनां । रणे पलादो रणायलागमानः । सजणलंछं स्वकुललंछनं ॥

मूछारा—जंपणयं अपवादं । पट्टादीणं पौत्रपौत्रादीनां । पत्तयो पलायमानः । अन्यः पलादो इति पठित्या
पलायनेत्यर्थमाह । सुणमलंछं ललाटे कुटुम्बादिसमानं ॥

अर्थ—अकेले अपने जीवितके लिये कौन मानी पुरुष अपवादका-निंदका कार्य करेगा. ऐसे अकार्य से अर्थात् रणसे भागने के कार्यसे पुत्र पौत्रादिक तक अभीर्ति रहा करती है. अर्थात् पुत्र पौत्रादिक भी अपने पूर्वजोंकी अभीर्तिसे दुःखी होते हैं. उनको लज्जित होना पड़ता है.

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीविदत्थं तं ॥

कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुब्बं सगणलंछं ॥ १५२५ ॥

विजयोदया—सुरदु वि आवरपचा नितरमषदे प्राप्ता अपि । सत्पुत्रिणा ण कायरत्ते करंति सरपुरुषा न कातरतां हुर्यन्ति । कषो पुण कादिंति कुतः पुनः करिव्यन्ति । दीनत्वं किंविचत्तं चापि दीनतां कुरुषतां च ॥

मूढारा—सुरकुवि आवदि पचा नितरां आपदं प्राप्ता अपि ॥

अर्थ—अतिशय विपत्ति प्राप्त होने पर भी सत्पुरुष दस्ते नहीं हैं तो वे असमर्थता और दीनता क्यों दिखायेंगे ?

कोई अग्निमदिगदा समंततो अग्निना वि ङ्गमता ॥

जलमङ्गुगदा व णरा अत्यंति अवेदणा चेव ॥ १५२८ ॥

अग्निमत्पगताः केचिदक्षमानाः समंततः ॥

अवेदना वित्तिष्ठन्ते जलमङ्गे गता इव ॥ १५८९ ॥

विजयोदया—कोई अत्यंति अवेदना चेव केचिदासते अचेतना इव । अग्निमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः । अग्निना वि ङ्गमता समंतात् अग्निना अपि । जलमङ्गुगदा व णरा जलमङ्गुगता वरा इव । अचेतना इव ॥
मूढारा—अग्निमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः ॥

अर्थ—किंतनेक पुरुष अधिक वीचमें पहनेपर और चारों तरफसे अग्नि लगने पर भी अर्थात् उसके दाह-से दग्ध होनेपर भी मानो जलमें मवेद किसे पुरुष के समान अथवा अचेतन पदार्थके समान स्थिर रहते हैं।

तत्थ वि ताहुकारं सगंगुलिचालणेण कुब्बंति ॥

केइं करंति घीरा उक्किं अग्निमङ्गुमि ॥ १५२९ ॥

सायुकारं परे तत्र कुर्वन्त्यंगुलिनर्तनैः ॥

आर्नेदितजनस्वान्ता उत्कृष्टि कुर्वन्ते परे ॥ १५९० ॥

विजयोदया—तत्थ वि ताहुकारं सगंगुलिचालणेण कुब्बंति सायुकारं कुब्बंति सायुकारं स्वांगुलिचालनया कुर्वन्ते । केइं अग्निमङ्गुगदा घीरा केचिद्वसिष्ठमगता धीराः । उक्किं करंति उक्कीयन्ते कुर्वन्ति ॥

मूलात्—तप वि य यथवि अभिषङ्गतात्त्वयसि । साधुष्काई अदकं सनलीद यदुशुभं कर्म क्षयं यातीति प्रशंसां ।
सगमंगुलिषादणेन स्यादुचिन्वनेन । नलच्छोटिकयेत्यन्यः । केई एतदुभयत्र योन्यं । उक्तिरिति उक्तोदयनं । विशिष्टदृक्कलकल-
मित्यर्थः ।

अर्थ—उस अग्नीमें भी अपनी अंगुलियां हिलाकर कोई धीर पुरुष अच्छा ही हुआ ऐसा सूचित करते हैं- इस उपसर्गसे मेरा कर्म क्षयको प्राप्त होगा। यह अग्नि मेरे कर्मको नष्ट करता है- इसका हमारे ऊपर बड़ा उपकार हो रहा है ऐसा अंगुलियां हिलाकर सूचित करते हैं- कोई धीर पुरुष आनंदसे विशिष्ट शब्द करते हैं-

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवहुणाए लेस्साए ॥

निव्वाए वेवणाए सुहसाउलया करिंति धिदि ॥ १५३० ॥

वेवणायांमसत्तायां कुर्वन्त्यज्ञानिनो धुत्तिम् ॥

लेदपया भववद्धिन्या सुखास्यावपरा यदि ॥ १५३१ ॥

विजयोवपा—जदिदा यदि क्षयम् । तह तथा भण्णाणीधिदि करिंति तथा अज्ञानिनो धुत्तिं कुर्वन्ति । संसारपवहु-
णाए लेस्साए संसारप्रपञ्चमकारिण्या लेदपया । सिव्याए वेदणाए तीमायां वेदनायां सत्तायां । सुहसाउलया सुखास्वादन
लेपदा ॥

मूलात्—तथ तेन साधुभारकरणाधिकारेण । संसारपवहुणाए संसारप्रवर्धनकारिण्या । सुहसाउलगा सुखा-
स्वादनलेपदाः ।

अर्थ—संसारको यदनेपाली लेस्यासे युक्त होकर भी उपसर्गसे वीत्र वेदना होनेपर भी यदि सुखास्वाद
करनेमें लंपट अज्ञानी पुरुष वैष धारण कर दुःख सहन करते हैं तो—

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खसक्खयं करंतेण ॥

वटुत्तिव्वदुक्खससजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥ १५३१ ॥

तदा धुत्तिं न कुर्वन्ति किं भवच्छेदनोयताः ॥

ज्ञातसंसारनैः सार्या वेदनायां तपोभनाः ॥ १५३२ ॥

विजयोद्वा—किं पुन जविणा ण करिळा इवदि सिद्धि किं पुननं कायां भवति घृतिः यतिना । कीदृशा ? संसारसव्यदुपलक्ष्यं करिणेण संसारसर्वदुःसक्षयं कुर्यात् । यद्वृत्तिव्यदुपलक्ष्यसमागणेण यद्व्यावृत्तुगतिगतानां दुःखानां रसं जानता ॥

मूढारा—रसजापण स्वार्थवेदिना । कुळा भवन्त्या ।

अर्थ—संपूर्ण दुःखोका रस जानवेवाले यति क्यों न धैर्य धारण करे, अर्थात् जब कोई अज्ञानी भी जीव धैर्य धारण कर दुःख सहते हैं तो वेताप्यशील यतियोंका दुःख सहन करना कर्तव्य ही उहारा दुःखसे मययुक्त होना उनके लिए भित्तां अयोग्य है.

असिधे दुष्मिक्खे वा कंतारे वा मएव आगाढे ॥

रोगोहे च अभिसूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥ १५१२ ॥

दुर्भिक्षे मरके कक्षमये रोगे दुरुत्तरे ॥

मानं कापि विमुंचंति कुलीना जातु मापवि ॥ १५१३ ॥

विजयोद्वा—असिधे मार्गो । दुर्भिक्षे या दुर्भिक्षे या । कंतारे भटव्यां वा । गाढे मये च । उपर्युपरि तिपतितभये वा । रोगोहे च अभिसूदा व्याधिभिर्वा अभिभूताः । ण विजहंति कुलजा माणं न विजहति कुलप्रसूता मानं ॥

मूढारा—असिधे मार्गो । आगाढे उपर्युपरि तिपतति सति । अनियोगेण ।

अर्थ—मारी, दुर्भिक्ष, गाढ़न अरण्य, पुनः पुनः मय प्राप्त होना, रोगोंसे पीडित होना इत्यादि प्रसंगपर कुलवान् मनुष्य अभिमान छोड़ते नहीं है.

ण पियंति सुं ण य संति गोभयं ण य पलंहुमादीयं ॥

ण य कुट्वंति विकम्पं तेहव अण्णपि लज्जणयं ॥ १५१४ ॥

सेवंते मथगोमांसपलांडूवि न मानिनः ॥

कर्मान्यदपि कुच्छेऽपि लज्जनीयं न कुर्वते ॥ १५१५ ॥

विजयोद्या—ए विवेति सुदं न विवेति सुरां । ए खंति न च अक्षयंति गोमांसं । ए य एलंडमाधीयं न एलंडं प्रभृतिर्कं प्रशयंति । ए ॥ कुलस्य विक्रमं देव कुचंति कुत्सितं कर्म परोच्छिद्यभोजनादिकं न कुर्वन्ति । तदेव अर्णपि लज्जणयं तथैव नाप्यदपि लज्जनीयं कुर्वन्ति ॥

मूढारा—ए यं खंति नष अक्षयंति भातिनः । गोमांसमित्यर्थः । एलंडमाधीयं लघुगुंजनप्रभृतिकं । वि-
कर्म कुत्सितं कर्म परोच्छिद्यभोजनादिकं ॥

अर्थ—कुलीन मनुष्य कभी भदिरापान नहीं करते हैं. गोमांस भक्षण नहीं करते हैं. प्याज, लहमन, वीरह कंदोला भक्षण नहीं करते हैं. तथा वे दूसरोंका उच्छिद्यश्च भक्षणादिक कर्म नहीं करते हैं. वैसा अस्य भी लज्जा उत्पन्न करनेवाले कर्म वे करते नहीं. तो—

किं पुण कुलगणसंघजसमाणिणो लोयपूजिता साधू ॥
माणं पि जहिय काहंति विक्रमं सुलगलज्जणयं ॥ १५३४ ॥
कुलसंघयशस्वकाः किं कर्म जगद्विहिताः ॥
मानं विमुच्य कुर्यन्ति लज्जनीयं तपोधनाः ॥ १५३५ ॥

विजयोद्या—किं पुण सग्ह वि कामे काहंति किं पुणः साधवः कुत्सितं कर्म करिष्यति । ललगुणसंघजसमाणिणो कुलस्य संघस्य च यदा संपादनाहंकारयंतः । लोयपूजिता साधू जाके कृतपूजाः । माणे विजहिय मानं त्यक्त्वा जणलज्जणयं साधु जनेन विलज्जनीयं कर्म ॥

मूढारा—जसमाणिणो यदा संपादनाहंकारवंतः ॥

अर्थ—कुल, गण, संघ इनकी पदोन्नति चाहनेवाले साधुगण क्या कुत्सित कर्म करी करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे. मनुष्योंके द्वारा निय एसा कर्म लोकव्य साधु मानका त्याग कर करेंगे क्या ? कभी भी नहीं करेंगे.

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्यं व आवदि पत्तो ॥
तं पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु संडुत्ति ॥ १५३५ ॥

लघ्वीं विपत्तिमुखीं वा यः प्रयातो विप्रीदति ॥

नरा वदन्ति तं पदं धीराः पुण्यकातरम् ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—जो गच्छिज्ज विखादं गो गच्छेद्विपादं । महल्लं अप्यं ॥ आपरं पत्तो महतो अल्पं वा आपदं शतः ॥ तं पुरिसकातरं पुण्येषु कातरं । धीरपुरिसा संदुचि विंति धीराः सुपुण्याः पदं इति मुचन्ति ॥

आपदि विप्रीदतोऽपवादं वक्ष्यति—

मूढारा—विखादं विपादं । आपदि आपदं । पुरिसकातरं पुण्येषु कातरं । संदोचि नपुंसकनिमि इवन्ति ॥

अर्थ—जो छोटी या बड़ी आपत्ति जानेपर सिन्ना होता है धीर पुरुष उसको कातर-डरपोक मनुष्य ऐसा कहते हैं तथा उसको पदं कहते हैं।

मेकञ्च गिण्यकंपा अवस्तोमा सागरुन्व गंभीरा ॥

धिदिवतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावर्द्धटु वि ॥ १५९७ ॥

समुद्रा इव गंभीरा निःकम्पाः पर्वता इव ॥

विपद्यादि महिष्ठायां न क्षुभ्यन्ति महाधियः ॥ १५९७ ॥

विजयोदया—मेकञ्च गिण्यकंपा मेहरिय निश्चलाः । अपतोमा अरुंणाः । सागरोव्य सागर इव धिदिवतो सप्पुरिसा धृतिर्मतः संतोपयताः सप्पुरिषाः । महल्लावर्द्धटु वि महत्त्वाभाषादि अपि ॥

सत्पुरुषसद्वृत्तव्यापनेन विपदि धैर्यमवलम्बयति—

मूढारा—महल्लावर्द्धटु वि महत्त्वाभाषादि । अक्षोभ्या क्षोभयितुमशक्याः । अवाल्पाविता भवन्तीति संबधः ।

उक्तं च—

समुद्रा इव गंभीरा निरुंणाः पर्वता इव ॥

विपद्यादि महिष्ठायां न क्षुभ्यन्ति महाधियः ॥

अर्थ—वेदों आपत्ति जानेपर भी धैर्ययुक्त, संतुष्ट सत्पुरुष मेरुके समान निश्चल रहते हैं और समुद्रके समान क्षोभरहित होते हैं।

केई विमुचसंगा आदारोविदमरा अण्डिकम्मा ॥
 गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥ १५३७ ॥
 स्वारापित्तभराः केचिन्निःसंगा निःप्रतिक्रियाः ॥
 गिरिप्राग्भारमापच्चाधिचन्वापदसंकटय ॥ १५९८ ॥

विजयोत्तरा—कैय उत्तमं संप्रति प्रति वक्तव्यमेषेन संबन्धः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नमयं साधयन्ति ।
 कीदृश्वृत्ताः ? विमुचसंगा निष्परिग्रहाः । आदारोविदमरा आत्मारोपितभराः । अपडिकम्मा निष्प्रतीकारा । गिरिपब्भारम
 भिगदा गिरिप्राग्भारमभिगताः । कीदृशे ? बहुसावदसंकडं बहुदुःखालम्बुगाकुलं । भीमं भयानकं ॥

महासत्त्वानां महोपसर्गोऽपि रत्नत्रयसाधननिर्वाहं गाथाद्वयेन प्रकाशयन्ति—

मूलारा—आदारोविदमरा आत्मन्यारोपितकणीयभाराः । अपडिकम्मा अप्रतीकाराः । गिरिपब्भारं पूर्वतशुहां ।
 अविगदा प्रविष्टाः

अर्थ—कितनेक मत्स्यरूप संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर तथा संपूर्ण कार्य अपने ऊपर लेकर आपसिको
 दूर करनेके लिए कुछ भी मयत्न नहीं करते हैं और जहां बहुत हिंस्रजीव निवास करते हैं ऐसे पर्वतोंकी
 गुरामें जाकर उत्तम वस्तुकी प्राप्ति कर लेते हैं, अर्थात् रत्नत्रयको साध लेते हैं.

भिविघणियवदकच्छा अणुतरविहारिणो सुवसहाया ॥

साहिति उत्तमं सावददांडतरगदे वि ॥ १५३८ ॥

राब्धान्नसचिवाः सन्तः सन्तुष्टाः शुद्धसूतयः ॥

साधयन्ति स्थिताः स्वार्थं व्यालवन्तान्तरेष्वपि ॥ १५९९ ॥

विजयोत्तरा—भिविघणियवदकच्छा पूर्या निवरां वदकच्छाः । अणुतरविहारिणो प्रकटचारित्राः । सुवस-
 हायाः सुतमानसहायाः । सापिन्ति उत्तमं साधक्युत्तमायं रत्नमयं । सावददांडतरगदा वि व्यापदं द्यूमध्यगता अपि ॥
 मूलारा—पदकच्छा स्वीकृत्यता । कृतप्रतिष्ठा वा । अणुतरविहारिणो प्रकटचारित्राः ॥

अर्थ—चिन्होंने अलौकिक धर्म चारण किया है, जिनका चारित्र उत्कृष्ट है, तिलमात्रभी जिसमें दोष नहीं

हे ऐसे चारिके धारकः श्रुतज्ञानकी मदल जिनको मिली है ऐसे सुनिराज क्रूर प्राणिजोंके दाढमें चले जाने पर भी रत्नत्रयकी सिद्धि कर ही लेवे हैं-

मह्यक्किट्ठ तिरत्तं खज्जंनो घोस्वेदणट्ठोऽपि ॥

आराधणं पवण्णो उज्जाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥

धीरोऽबन्तिकुमारोऽगाधिरात्रं शुद्धमानसः ॥

श्रुतासया न्वायमानोऽपि देवीमाराधनां प्रति ॥ १६०० ॥

चित्तयोदयः—मह्यक्किट्ठ तिरत्तं खज्जंनो श्रुतज्ञानेन श्रुतगुणैश्च तिरत्तु रात्रिषु भक्ष्यमाणः । घोस्वेदणट्ठो वि घोस्वेदना-
वाधितोऽपि । आराधनं पवण्णो उज्जाणेण सुमन्योनेनाराधनां प्रपन्नः । कः ? भवंतिसुकुमालो अर्थादिसुकुमारः ॥

उपसर्गसहात्मनर्थादयानान्युपन्यसति—

सूकारा—मह्यक्कीट्ठ श्रुतासया । तिरत्तं तिरात्रं । वेदणट्ठो वेदनार्तः । अबवि उज्जयिन्यां । सुकुमालो सुकुमारस्थानी ।

अर्थ—दृग्गालीके द्वारा तीन राश्रतक जो खाये गये, जिनके प्रत्यंगोंमें नीम वेदनायें हो रही थी, ऐसे भी अबंति सुकुमार मृनि शुभभयानसे रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हो गये. (इनकी कथा तथा आगेके उदाहरणोंकी कथायें आराधना कथाकोषमें हैं)

भोगिगिरिमि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ॥

वग्धीण वि खज्जंतो पट्टिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥

विआगाराधनां देवीं भुव्वलाद्रौ सुकोशलः ॥

भक्ष्यमाणो मुनिव्याख्या सैद्धार्थिरविपणधीः ॥ १६०१ ॥

विजयोदयः—भुव्वलधिरसुकोशलोऽपि सिद्धत्थस्य पुत्रो भगवान् व्याख्या जन्मीत्यर्थो भक्षितः सन् प्रतिपञ्च्य
उत्तमाय ॥

मूलरा—भोगिगिरिमि भुव्वलाधिमितौ । सिद्धत्थदइयं सैद्धार्थ्यं बह्मः पुत्रत्वात् । वि खज्जंतो खाद्यमानोऽपि
अर्थ—भुव्वल नामक पर्वत पर सिद्धार्थ राजाके पुत्र सुकोशल नामके मुनिराज को पूर्वं जन्ममें माता

धी धरी व्याप्ताने मक्षुण किया. वो भी उन्होंने शुभघ्नानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति की अर्थात् इस तिर्येक ॥॥ उपसर्गसे वे रत्नत्रयमे भ्रष्ट नहीं हुए.

भ्रमीए समं कीलाकोट्टिदेहो वि अलुचमं व ।

भयवं पि गयकुमारो पखिवणो उत्तमं अहं ॥ १५४१ ॥

घरणपामार्द्रन्मैव किल कीलितविग्रहः ॥

प्रापद्भजकुमारोऽपि स्वार्थं निर्मलमानसः ॥ १३०३ ॥

यिजवोदथा—धूमीय सयं धूसौ समै । कीलाकोटिदूरेवो कीलोत्तनवहः । अङ्गुलमं य आर्द्रलमीयत् । भयवंपि
मगावात् गजकुमारोऽपि । उक्तमपि प्रविपत्र ॥

मङ्गलार—कीलाकेंद्विष कीछिः प्रसार्य कीलितः ॥

अर्थ—गल्ले चमड़े के समान फीले ओकरर जिनको जमीनके साथ एक ढा दिया है ऐसे भगवान गज-
कुमार मुनीने उत्तमार्थ को रत्नत्रयको साथ लिया अर्थात् रत्नत्रय प्राप्तिके प्राप्त वे प्राप्त होगये.

कच्छुजरखाससोसो भस्तेच्छदुष्चिकुच्छिदुक्खाणि ॥

अधियासयाणि सम्भं सणक्कमारेण वामसयं ॥ १५४१ ॥

कासशोपाकसिद्धिर्दिकच्छुप्रभृतियेवनाः ॥

सोढाः सनत्कुम्भारेण यतिना नारवां शतम् ॥ १६०१ ॥

विजयोदयः—कृत्स्नपराससोसो कृत्स्न-वर्कासयोप । भवेच्छुद्धिर्बुद्धिबुद्ध्याणि तीयो लडरासि, भक्ति-
कुरिषु न य । अधिपासायाणि असहेयेन धृतानि सणपकुमारेण सनत्कमारेण । वाससन् दर्शयते ॥

मूलापा—कचूरु कट्टः । जर ग्वरः । भतेन ङ्गुन्डिङ्गुत्तुक्खानि तीमवठराग्गिनेत्रोदयथाः । अन्ये
पाङ्गुरि श्शि एवित्ता अभनरमक्खन्निः । उदि कुँदिस्सिअथेयादुः । अविक्खसिदुत्तु सोदग्गि । सुग्गं निःसंक्खेत्तु । वास-
मर्दं कपंयत्तम् ॥

अर्थ—कच्छु, ज्वर, खासी, स्वास, मसक व्याधि, आंखके रोग, इत्यादिक रोगोंसे होनेवाली पीड़ा-
सनचुमार धुननिं जो कि गृहस्थावस्थामें चक्रवर्ती ये सो वर्ष तक सङ्घ परित्यागके बिना धारण करी पड़तु रत्नत्र-
यत्ता त्याग नहीं किया.

पावाए गिबुडाए गंगामञ्जो अमुजझमाणमदी ॥

आराधणो पवणो कालगजो एणियापुत्तो ॥ १५४३ ॥

गंगायों नाबि मद्रायों एणिकातनयो यतिः ॥

असूडमानसः स्वार्थं साधयामास शम्भतम् ॥ १६०४ ॥

चित्रयोदया—काष्ठाए मिथुडाए नादि निमग्रायां व । गंगामञ्जो गंगया मण्ये । ममुजझमाणमदी ममुजझमाणमनतिः ।
भाराधनं पवणो आराधनी प्रतिपन्नः । कालगजो खर । काले गतः । एणियापुत्तो एणिकपुत्रमन्धेयो यतिः ॥

मूछाए—काळयई मल्लं प्राप्ताः । एणियापुत्तो एणिकापुत्राक्यो मुनिः ॥

अर्थ—एणिकापुत्र नामके यतिराज नाममें आरेहण कर मंगलके दूसरे किनारे पर जारहे थे तब पा नाव
गंगामें हूच गई परंतु मुनिराजकी बुद्धि में जरासाभी मोह उत्पन्न नहीं हुआ और वे आराचनाप्राप्ति कर मर गये.

ओमोदरिए धोराए मइवाहु असंकिलिठमदी ॥

धोराए तिगिन्छाए पडिवणो उत्तमं ठाणं ॥ १५४४ ॥

अवमोदर्यमंत्रेण मद्रवाहुर्महामनाः ॥

युमुक्षाराक्षसो जित्वा स्वीचकारार्थमुत्तमम् ॥ १६०५ ॥

चित्रयोदया—ओमोदरिए धोराए धोरेयाज्जमोदर्येण तपसा समन्वितः । मइवाहु असंकिलिठमदी मद्रवाहुर्लसं-
द्विएचित्तः । धोराए तिगिन्छाए धोरेया धुया याधितोऽग्रि । पडिवणो उत्तमं ठाणं प्रतिपन्न उत्तमाये ॥

मूछाए—ओमोदरिए अवमोदर्येण ययोविद्येयेण विविधः । तिगिन्छाए युमुक्षया ॥

अर्थ—धोर अवमोदर्य तप करनेवाले मद्रवाहु धुनि तीव्र भूत्से पंडित होनेपर भी संक्षेप परिणाम के
बच नहीं हुए और उन्होने रत्नत्रय को प्राप्त कर लिया.

कोत्सेवील्लिवधडा वृद्धा णइधूरण जलमल्लसे ॥

आराधणं पवणा पावोवगदा अमुढमदी ॥ १५४५ ॥

चैयाए मासत्तमणं करितु गंगातडम्मि तण्हाए ॥

घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥ १५४६ ॥

मासोपवाससंपद्यं पायां तुद्धत्तरादित्तः ॥

धम्मघोपो युनिः प्राप्तः स्वाथं गंगानदीतटे ॥ १६०६ ॥

विगयोएवा—अंवाए वंशानगयो । मासवणं करितु मासोपवासं कृत्वा । गंगातडम्मि गंगायाम् । तण्हाए
घोराए तृणया तीव्रया वादितोऽपि । धम्मघोसो धर्मघोषः । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ।

मूलार—कोत्सेवी कीर्त्तणं नगर्को । छलिययद्या सल्लिवाः सुखवर्द्धिवाः इंद्रदत्तादयो इन्द्रिदादिभ्याः आशकाः
तेन घटाः समुद्रायाः । जटिपूरेण यमुनाप्रवाहेण । पाओपगवा प्रायोपगमनमरणं प्राप्ताः । एतां भीविजयो नेच्छसि ॥

गुळारा—मासरमणं मासोपवासं । करितु कृत्वा ॥

अर्थ—कीर्त्तणी नगरीं ललित घट नामके मुनिओका समुदाय नदीके प्रवाहसे बह गया तो भी संल्लेख
परिणामके बराबर नही हुआ।

वात्पर्य—सुखने जिनके दिन ब्यतीत होगये थे ऐसे इंद्रदत्तादिक धर्त्तास श्रीमंत वैश्यपुत्र थे, उन्होंने
दीक्षा लेकर यमुना नदीके तटपर तप किया, एक दिन वे एता यमुनानदीके प्रवाहसे बह गये परंतु रत्नत्रयमें

स्तिर रहकर उन्होंने प्रायोपगमन मरण प्राप्त कर लिया।

वंपानगर्भीं एक महिनाके उपवास करके गंगानदीके किनारेपर तीव्र व्याससे पीडित होनेपर भी धर्म

पौष मुनिराजने असंमिलित परिणामसे उचमार्थ प्राप्त कर लिया।

सीदेण पुब्बवदरियदेवेण विमुञ्जिएण घोरेण ॥

संतचो सिरिदत्तो पडिवण्णो उचमं अट्ठं ॥ १५४७ ॥

अर्थ—दंश और मशकोंसे भक्षण किया गया विषुज्ज्वलात्मक शुनि वीव वेदनाओंको सहकर रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हुआ.

इत्याराधना

१४२४

हृदिपणपुरगुरुदत्तो सम्मलियाली व दोगिन्यंतस्मि ॥

इज्यंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५२ ॥

चास्तन्यो ह्यस्तिने चीरो द्रोणीमानिमहीधरे ॥

गुरुदत्तो यत्तिः स्वार्थं जग्राहानलयेष्टिस्सः ॥ १५५३ ॥

विज्योक्त्वा—हृदिपणपुरगुरुदत्तो ह्यस्तिमापुर्यास्तथ्यो गुरुदत्तः । संमलियालीय हस्तिसंकोश निरामाक [१] पूर्णभाजनं धर्मपत्रनिर्दितादि भयेमुत्तं संस्थाप्य उपरिभाजनस्य अभिप्रक्षेपः संवलीयुज्यते ॥ तद्वच्छिदरसि निक्षिप्ताग्निः । दोगिन्यंतस्मि द्रोणीमन्यते इत्युक्तानां भक्षणः उत्तमार्थः ॥

मूलात्—हृदिपणपुरगुरुदत्तो ह्यस्तिनं पुरं यस्यासौ ह्यस्तिनपुरो ह्यस्तिनागपुरस्याभी स चासौ गुरुदत्तश्च स शुनिः सत् । संमलियालीय शक्तिभिर्पूरितमर्कप्रच्छादितमथोमुत्तभाजनं सर्वत्राभिसंवेष्टितं संवलिस्थालीत्युच्यते ॥ दोगि-
न्यंतस्मि द्रोणिमवि पर्वते । अधियासिय तस्यदेवतां सदित्वा ॥

अर्थ—हस्तिना नगरके गुरुदत्त नामक शुनि द्रोणिमति पर्वतपर तप करतें थे. कोई द्रुष्टने संपली याली के समान उनके मस्तकपर अग्नि रत्नकर जलाया था. उसकी धोर वेदना सहकर वे रत्नत्रयको प्राप्त होगये. सड़ीके भाजनमें वालमी फड़ी भरकर चारों तरफ आंकेके पते भरना चाहिये अनंतर उस भाजनका मुंह नीचे करके उसके चारों तरफ अग्नि लगा देना चाहिये इसको ही संपलीयाली कहते हैं.

गाढण्णहारविद्धो पूहंगलियाहिं चालणीव कदो ॥

तथ वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५३ ॥

गाढग्रहारविद्धोऽपि कीटिकाभिरनाकुलः ॥

स्वार्थं चिलातपुत्तोऽग्राञ्चालनकृतविग्रहः ॥ १५५४ ॥

विजयोदय—गाढण्णहारविद्धो नितपमायुर्धेर्विदः । पूहंगलियाहिं कृष्णः स्फुलीचर्मनैः सिपीलिकाभिः । चालणीय कदो चालनीव फलवित्यतपुनस्तथापुत्तमायुष्युगतः ॥

मूलादा—गात्रण्यहारविदो निवराणामुपैर्षिताः । पूर्वमिडियाईहि स्थूलमस्तकशृण्वकीटिकाभिः । विस्वपुत्रो विद्या
तपुनो मुनिः ॥

अर्थ—वीथ गुरामहार होनेसे जो जलमी हुये थे और विनका भस्तक बड़ा है ऐसी काली चीटी-
ओंने खाकर जिनका शरीर चालनीके समान छिद्रमय किया था उसे विद्यातपुत्रनामक मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हो गये.

दंडो जठणावकेण तिवस्सकंडेहिं पूरिदंगो वि ॥

तं देयणमधियासिय पांडवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५४ ॥

यमुनायकनिक्षिप्तः कारपूरितविग्रहः ॥

अरुणारूप वेदनां चंडः स्वार्थं शिश्राय धीरधीः ॥ १६१४ ॥

विजयोद्या—दंडो वेडनामको यतिः । अमुणावकेण यमुनावकसंक्षिप्तः । तिवस्सकंडेहिं तीक्ष्णः शरीरः पूरिता-
नोऽस्ति रत्नमयं समाराधयति स्म ॥

मूलादा—पण्णो मन्यो नाम मुनिः । दंडो इत्यर्थः । जठणावकेण यमुनावकनाम्ना राक्षा ॥

अर्थ—दंड नामक मुनिराजके ऊपर यमुनावक नामक दुरसमुत्पन्ने बाणोंकी दृष्टि करके उनका सर्व
शरीर प्रणयुक्त कर दिया तो भी उस मुनिराजने रत्नप्रयुक्ती आराधना की ही.

अभिमण्डणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे ॥

आराधणं पक्खणा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥

यंत्रेण पीज्यमानांगाः प्राप्ताः पंचशतममाः ॥

कुंभकारकटे स्वार्थमभिनंदनपूर्वगाः ॥ १६१५ ॥

विजयोद्या—अभिमण्डणादिया अभिनंदनप्रयुक्तयः पंचशतसंख्याः, कुंभकारकटे गगरे यंत्रेण पीज्यमाना
मन्याराधनं प्राप्ताः ॥

मूलादा—कुंभकारकडे कुंभकारकटसंज्ञे ॥

पूर्वकारानिदेवेन कृतैः क्षीतोष्णमारुतैः ॥

श्रीदत्तः पीड्यमानोऽपि जत्राहाराधनां सुखीः ॥ १६०७ ॥

विजयोदया—सर्वेण क्षीतेन । संततो संतप्तः । पुण्यवश्रित्यदेवेण विपुलविषण पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोरपादितेन स्तिरिदत्तः श्रीदत्तः । उत्तमार्थमुपगतः ॥

मूढारा—विपुलविषेण उत्पादितेन । संतप्तो पीडितः । क्षिरिदिष्णो क्षीदत्तः ॥

अर्थ—पूर्वं जन्मका चेरी किसी देवने क्षीतजल द्रष्टि, व क्षीत हवा उत्पन्न कृता श्रीदत्तनामक मुनीको पोर दुःख दिया ॥ तो भी इस मुनीवरने उत्तमार्थ प्राप्त कर ही लिया.

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आववं च अदिउण्हं ॥

सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तमं अण्हं ॥ १५४८ ॥

मारुतं त्रैच्यकं तापं बहुततं शिलातलम् ॥

सोद्धा गुपमसेनोऽपि स्वापं प्रापवनाकुलः ॥ १६०८ ॥

विजयोदया—उण्हं वादं उण्हं यातं, उण्हं सिलादलं उण्हं शिलातलं ॥ आववं च अदिउण्हं आतापं वायुण्णे सहिदूण प्रसन्न गुपमसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥

मूढारा—शिलादलं शिलातलं । आववं आतापं । त्रैचयसेणो त्रुपभसेनः ॥

अर्थ—अतिदुःख उण्ण वायु, अग्रसि गरम किया हुआ पर्वतका शिलातल और उर्यसंताप इन तापत्रयसे पीडित होनेपर भी गुपमदत्तने यह सब सह लिया तथा उत्तमार्थ को वश किया.

रोहेडयस्मि सत्तीप्प हओ केविण अग्गिद्वदो वि ॥

तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अण्हं ॥ १५४९ ॥

अग्निराजमुता शकत्या विद्वः ऋचिन रंगयतः ॥

रोहेडकपुरे सोद्धा देवीमारामनां भितः ॥ १६०९ ॥

विजयोद्या—रोदेदगमि रोदेदगे नगरे । तत्तीय द्रवो शस्त्रा हतः । कौलेण कौचनानामधेयेन । अग्निदररोवि
मग्निराजगुतोऽपि । तं वेद्यमधिपानिय तां वेदनां प्रसह । उत्तमार्थं प्रतिपद्यः ॥

मूलारा—रोदेदगमि रोदेदगमि नगरे । मत्तीय द्रवो शस्त्रा हतः । कौलेण कौचनानाम् राज्ञा । अग्नि-
दररो अग्निराजान्मो राज्ञः पुनः कार्तिकेयसंज्ञः । अधिपानिय अग्न्यास्य प्रसहेत्यर्थः ।

अर्थ—रोदेद नगरमें कौच राजाने अग्निराजाका पुत्र कार्तिकेय मुनिको शक्ति नामक शस्त्रसे मारा था
तब मुनिराजने उस दुःखको सह कर स्तवत्रयही प्राप्ति की।

काईदि अभयघोसो त्रि चडवेगेण छिणसखंगो ॥

तं वेद्यमधिपानिय पंडिवणो उत्तम अट्ट ॥ १५५० ॥

कांकथां चंडवेगेन विनिःशंपविग्रहः ॥

विपत्त्याभयघोपोऽपि पीडामाराधनां गतः ॥ १५५० ॥

विजयोद्या—काईदि अभयघोसो
छिणसखंगो ॥

मूलारा— कांकदि कांकथां नगरां । अभयघोसो अभयघोषः ॥ चंडवेगेण चंडवेगनाम्ना राजपुत्रेण ॥

अर्थ—कांकदी नामक नगरमें चंडेग नामक दृष्ट राजपुत्रने अभयघोष मुनि के सर्व अंगोंको छेद डाला
था तो भी वह वीर्य वेदना उन्होंने सह कर उत्तमार्थही प्राप्त कर ली।

वंसेहिं य मसपुहिं य खजंतो वेदणं परं घोरं ॥

विजुखरोऽधियासिय पडिवणो उत्तमं अट्ट ॥ १५५१ ॥

प्रपदे मयकंदसौः स्वाद्यमानो महामनाः ॥

विजयोद्या—वंसेहिं य खजंतो वेदणं परं घोरं ॥

मूलारा—विजुखरो विजुखरः ॥

विजुखरो विजुखरः ॥

अर्थ—अभिनन्दनार्द्रि पांचसो मुनिओंको कुंभकरकट नामक नगरमें बंत्रोंमें पेलकर माता या तो भी उन्होंने आराधना का त्याग किया ही नहीं।

गोष्ठे पाओवगदो सुवंधुणा गोन्वरे पल्लिवदम्भिं ॥
हुड्ढेतो चाणाक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५६ ॥
वसदीए पल्लिविदाए सिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ॥
अराषण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्भि ॥ १५५७ ॥
कुलालेऽरिष्ठसंजेन दग्गयायं वसतों गणी ॥
सार्धं धूपमसेनोऽगादुत्तमार्धं तपोधनैः ॥ १६१६ ॥

पिज्जवोएदा—बखरीए पल्लिविदाए वसतों वग्गयायं । दिट्ठामासवत्तमच्चेवम कुपमसेनः सह मुनिपरिपदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥

मूलरा—गोष्ठे गोठुळे । पाओवगदो पावोगमनं भितः । सुवंधुणा सुबंधुनाम्ना मंत्रिणा । गोबरे करीये । पल्लिविदम्भि मंत्रीपिते । एतं श्री विठ्ठलो नेच्छति ॥

मूलरा—सिट्ठमच्चेण सिट्ठनाम्ना मंत्रिणा । परिसाए परिपदा । स्वशिव्वसमाजेतेत्यर्थः । कुणालम्भि कुणालपुरे ॥
अर्थ - गोठमें चाणक्य नामक मुनिने प्रायोपवेशन धारण किया था. सुबंधुनामक राजमंत्री उसका बैरी था. उनमें गोमय-कंदोड़ी राशिमें चाणक्य मुनिको अग्नि लगाकर जलाया. तो भी उन्होंने स्तनत्रयाराधनाका त्याग नहीं किया. और उत्तम अर्थ सो वे प्राप्त हुए।

अर्थ— कुणालनगरकी एक व्यक्तिकामें आग लगाकर सिट्ठ नामक राजमंत्रीने अनेक शिष्योंके साथ वृषभसेन नामक मुनिराजको जलाया तो भी संपूर्ण शिष्योंके प्राण मुनिराजने आराधना को धारण किया।

अदिदा एवं एदे अणगारा तिब्बवेदणद्धा वि ॥

एयागी भट्टियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥ १५५८ ॥

अथी तपोपन्नाः ग्रामाः स्वार्थमेकाकिनो ययि ॥

अप्यास्य वेदनास्तीयाः निःप्रतीकारविग्रहाः ॥ १६१७ ॥

विजयोदया—अर्धिया एवं यदि तावदेतदेत एतवस्तीयेवेदनापीडिता अरि एकाकिनोऽप्रतीकार उक्तमाद्यं प्रतिपद्याः ॥

मूलार—एगापी एकाकिनोऽसहायाः ॥

अर्थ—यदि ये उपर्युक्त रणतरुष पुर्नजोने तीव्र वेदनाओंसे पीडित होकर भी अकेल ही तीव्रवेदनाका कुछभी हलाज नहीं किया. और उसमार्थ की अर्थात् रत्नत्रयाराधना की प्राप्ति करी.

किं पुन अणयारसहायोगेण कीर्तयस्मि पडिकम्मे ॥

संघे ओलम्गते आराधेदुं ण सकेज्ज ॥ १५५९ ॥

चतुर्विधेन संघेन धिनत्तेन निषेवितः ॥

तद्वाराययसे न त्वं देधिमाराराधनां कथम् ॥ १६१८ ॥

विजयोदया—किं पुन अणयारसहायोगेण किं पुनर्न शक्यते आराधयितुं अणगरस्सहायेन भयता कियमाणे प्रयि कारे संघे चीनासनां कुर्वति सति ॥

मूलार—ओलम्गते उपाः न कुर्वति सति । ण सकेज्ज न शक्येत त्वया ॥

अर्थ—हे धूपक ! तुम सो अनैक मुनियोंकी सहायतासे युक्त हो और तुझारी तीव्र वेदनाका हलाजभी हो रहा है. संपन्न अनैक मुनि भी तुझारी श्रुद्धा करते हैं. अतः तुम आराधना देपीकी भक्ति क्यों नहीं करते हो ?

जिणवयणममिदभूदं महुं कण्णाहुदिं सुणंतेण ॥

सफा हु संघमज्जे सावेदुं उत्तमं अहं ॥ १५६० ॥

कर्णजलिपुटेः पीत्वा जिनेन्द्रचनममृतम् ॥

संघमध्यं स्थितः शक्तः स्वार्थं साधयितुं सुखम् ॥ १६१९ ॥

यितुं ।

विजयोद्या—विजयपणं विनामो यत्नं, । अमृतमृतं, मयुरं कर्णोद्भूतिं शृण्वता त्वया संयम्यो शक्यमापन्न-
मूलारा—कर्मपादुदिकं कर्मयोगादुत्तिरिव । तयोपभिरिव पाटवकारित्वात् । सखा शक्या त्वया ॥
अर्थ—जितेश्वरका वचन अमृतकें समान मीठा है, कर्णको श्रिय है इसका तुमको उपदेश प्रतिदिन
मिलता है अतः इस संपन्नं तुमको रत्नप्रयासाधना करना अशक्य नहीं है-

गिरयतिरिक्त्वगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ॥

जं पचं इह दुक्खं तं अणुचित्तेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥

श्वन्नतिर्यमरस्वर्गसुखदुःखानि सर्वथा ॥

तवं पित्तय महाबुद्धे भवललघान्यनेकञ्च ॥ १५६२ ॥

विजयोद्या—गिरयतिरिक्त्वगदीसु य नरकतिर्यगातिषु च । माणुसदेवत्तणे य संतेण माणुसदेवत्वयोक्त्य
सता यद्यतं इह सुपरान्तं दुःखं तं अणुचित्तेहि तच्चित्तसत्तदनुचित्तय ॥

एवं प्राणलक्ष्मसासत्यमुमुक्षुवर्गदुःखहृपीपद्मोपसर्गसद्वत्प्रदर्शनयवेवित्ताचकस्य धृतिवलयपानामुद्धोप सांम-
तमनारिकलादुभूतपादुर्गतिकदुःखमुलानुपित्तनवलेन तत्सद्वत् प्रबंधेनोपविरति-

मूलारा—संतेण सता भवता । तच्चित्तो वद्वत्तनताः ॥

अर्थ- नरकगति तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगतिशोभें है शक्य ! तुमने जो दुःख सहन किया है
उमका भी वो तुम कुछ विचार करो-

गिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादवहुलाओ ॥

कायणिमिच्चं पत्तो अणंतस्सुत्तो बहुविधावो ॥ १५६२ ॥

नरकं वेदनाधिघा द्रुःसहासातदायिनीः ॥
देहासक्तया प्राप्ताधिरं यास्ता विचित्तय ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—निरपसु नरकेषु । वेदनायो वेदना । अणोषमाओ अनुपमाः । तादृश्या वेदनायां अमलान्यस्या
अभावात् । असादृश्याओ असद्वैकर्म्यबुद्ध्याः । कारणबुद्धत्वेन कार्यानुपपत्तिराख्याता । कायणिमिषं पक्षो शरीर-
निमित्तासंयमानितकर्मनिमित्तत्वात्सूत्रकारणं निदिष्टं कायनिमित्तमिति । अणवलो अणवपारे । तं अयान् यद्विधाओ
यद्विधाः ॥

इतो नरकदुःखानुपपत्तये नायानामेकाग्रानिगता क्षपकं न्यापारयति—

मूला—अणोषमाओ अनुपमास्तादृश्याः पीडायास्त्रिषु लोकेष्वपि अन्यस्या अभावात् । असादृश्याओ अस-
द्वैकर्म्येदयस्येन निरंतरं प्रवर्तमाना इत्यर्थः । कायणिमिषं शरीररक्षाभिनिष्ठासंयमावितकर्मनिमित्तत्वात्तासां मूलकारण-
भावनार्थे इह । पक्षो शास्त्रत्वं जीव इति वा । यद्विधाओ उच्यतीतिनरकदिक्कारणान्नान्यत्वावनेकप्रकाराः ॥

अर्थ—नरकमें सुमने ऐसी तीव्रवेदनाओंका अनुभव लिया है कि जगतमें अन्यत्र कहीं भी ऐसी
वेदनाएँ नहीं हैं. असाता ऐदनीय कर्मका बहुत काल तक तीव्र उदय होनेसे नरकमें सतत दुःख भोगना
पड़ता है. हे क्षपक! शरीरके निमित्त अर्थात् शरीरके मोहमें पड़कर तू असंयमी हुआ था, इससे तेरे को दीर्घकालीन
असाताकर्मका वंध हुआ था. अनंत मर्वामें इस कर्मके उदयसे तूने दुःख भोगा है.

उपाननरकेषु उरणमहतास्त्वनाथोलया नाथा—

जदि कोहु मेरुमचं लोहुण्डं पक्खविस्स निरयमि ॥

उण्हे भूमिमपत्तो निमिसेण विलेज्ज सो तत्थ ॥ १५६१ ॥

क्षिप्तः स्वप्नायनी क्षिप्रं मेरुमात्रोऽपि सर्वथा ॥

उपानामुर्वीममासाद्य लोहपिंडो विलीयते ॥ १६२२ ॥

विजयोदया—निरयमि उणं लोहुण्डं मेरुमचं जदि कोर पक्खवेस्स उणनरके लोहपिंडं मेरुसमानं यदि
काश्चिदेवो दानवो वा प्राक्षेपेत् । सो तत्थ भूमिमपत्तो वेण विलेज्ज लोहपिंडो भूमिमग्राय एव इवत्वाद्युपपत्ति । उण्हेण
उत्पत्तेन नरकपित्तानां ॥

नारकाणामुपदुःखनिमित्तमुत्पत्त्यमहत्त्वमुपपत्तिरूपतया व्यापयति—

मूला—कोर कश्चिरेवो दानवो वा । लोहुण्डं लोहपिंडं । उण्हे उण्णे प्रकृत्या । आर्पत्वाउणमिति वा । भूमि-
मपत्तो मूलमभावेनैवार्थः । निमित्तेण निमित्तमात्रकालेन । विलेज्ज द्रवीभवेत् ॥

अर्थ—उष्ण नरकमें यदि देव अथवा राक्षस मेरुप्रमाण लोहका गोला फेंक देगा तो वह विलकी तलभूमीको प्राप्य होनेके पूर्वगंही विलकी उष्णतासे पिघलकर पानी होता है।

तह चेध य तदेहो पञ्जलिदो सीर्याणरयपविस्वत्तो ॥

सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सदिज्ज लोहण्डं ॥ १५६४ ॥

शिमस्त्वज्जाग्निना तहो मेरुमात्रः सहस्रधा ॥

भ्रीतामवनिमप्राप्य लोहापिंडो विधीयते ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—तह केय तपेव । तदेहो मेरुमात्रदेहः सोढुं लोहपिंडः । पञ्जलिदो प्रज्वलितः । सीवणिरयमि
लीतनरके । पविस्वत्तो पक्षितो भूमिमप्राप्त एव । सीदेण सदिज्ज शीतेन विधीयते ॥

तद्वच्छीततीक्ष्णं प्रवीति—

भूणरा—तद्वच्छीपिषय मेरुमात्र एव । पञ्जलिदो ज्वलनसंतप्तः । सीदो शीतं । सदेवज्ज खंडकं वी भवेत् ॥

अर्थ—यदि यही लोहका गोला उष्णतासे पिघला हुआ शीत नरक विलमें फेंक दिया जायगा तो यहाँ की शीत भूमीका स्पर्श होनेके पूर्वमें ही यंधति उसके टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे।

शीतोष्णजनिभेदनातिशयमुचिदय शरीरेभ्यः—

होदि य णरये तिब्बा समानदो चेव वेदणा देहे ॥

चुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स क्षारेण सिचस्स ॥ १५६५ ॥

तादृशी वेदना श्वेअं घोरदुःखं निसर्गजा ॥

यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तक्षारस्य चेतनः ॥ १६२४ ॥

विजयोदया—होदि य णरये तिब्बा भवति च नरको सीत्रे वेदनाः । देहे शरीरे । समानदो चेव समानवत् एव ।
चुण्णीकदस्स चूर्णीकृतस्येव । क्षारेण क्षारस्य क्षारेण सिकल्य । अमुच्छिदस्स अमुच्छिदस्य । यादृशी वेदना तादृयेव
शरीरे वेदनेति यावत् ॥

नरसेतु परमोष्णसीतमथवा वीजां वेदनां निवेद्य नैवमिहोत्ती नरीरपीडासुखमन्तलेन व्यनक्ति—
मृदाया—पुष्पीकटस्य युद्धपरिना शुष्कत्वमाद्युपाय यथा । अनुष्ठितस्य मृच्छोन्मत्ताप्रस्य चेतयमानस्येत्यर्थः ।

उक्तं च—

तादृशी वेदना श्रेष्ठं चोद्रे दुःखे निवर्तयन्ता ॥

आदृशी चूर्णितस्यालि क्षिप्तक्षारस्य चेततः ॥

शूलोष्ण वेदनात्ता वर्णनं हुआ अब आरीतिक वेदनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—युद्धरादिकोसि जिसको चूर्ण किया है, जिसके ऊपर क्षार जलका सिंचन किया है ऐसे अनुष्ठित
मनुष्यके शरीरमें वैसी वेदना होती है वैसी वेदना नरकमें जीवको स्वभावतः ही होती है.

गिरयकडयमि पत्तो जं दुक्खं लोहकंटएहिं तुमं ॥

जेरइएहिं य तत्तो पट्टिओ जं पाकिओ दुक्खं ॥ १५६५ ॥

यच्छुग्भावसथे भमिमे ग्रामोदुःखमनेकधा ॥

निश्चितैः कटकेलौहैस्तुचमानैः समन्ततः ॥ १६२५ ॥

विजयोदया—गिरयकडयमि नरकविलसमूहे-नरकदंष्ट्रावारे इति । केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरपगतै रिति ।
पत्तो जं दुक्खं यदु पट्टि एव प्राप्तः । लोहकंटएहिं निक्षिप्ततरलोहकंटकेः तुचमानसमे ॥

इतो नरसेतु विविमानि वीजदुःखांशराणि षडुक्तः प्रमाप्सोणि परीपहोपसंगदुःखतीव्रतावयिस्मरण्याय संन्या-
मिने रोपयति—

मृदाया—गिरयकडयमि रत्नप्रभादिभूमिबिलसमूहे अन्ये कटकेलौहेन रंजनावारमादुरवरे गर्तम् । जं दुक्खं
तं अनुचितेदि गिरसेमिति गत्या संबंधः कार्यः । लोहकंटयेहिं निक्षिप्ततरलोहकंटकेस्तुचमानसत्वं । यतो तस्मादोहक-
टकनिक्षिप्तभूमिमागानिप्लान्तः सन् । ष्या केणोविदाचार्योणां यतेन न्याय्या ॥ उक्तं च—

नररुटे तं प्रातो यदुदुःखं लोहकंटकेस्तीक्ष्णेः ॥

यत्कारलेन्मोडणि च पिप्पलान्तः प्रापितो घोरम् ॥

अन्येषां त्वयं पाठो गन्वते । “नेदृणहि य संतो पटितो विस्वोहि दुहंतो” पूर्वदिं तु समानम् कुरुतं—
आवसैःकंटकैः प्राप्तो यदुतुपं तरकावनौ ॥

नारकैस्तुयमानः सन्पतितो निशिवैर्बान् ॥

अर्थ—नरकके बिलोंमें आविश्य तीक्ष्ण लोहके कंटकोंसे जो दुःख तुमने प्राप्त किया है उसका इस समय तुम चिन्तन करो. अर्थात् वह श्रुत दुःखसे अनंत गुण बड़ा था ऐसा समझकर सांयतका दुःख तुम श्रांत भावसे महन करो.

जं कुरुतामलीपु दुक्खं पचोसि जं च सुलम्मि ॥
असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिदककंहि ॥ १५६७ ॥

यत्तल्ले कुरुतामस्यामसिपत्तवने गतः ॥
सर्वतो मध्यमागोऽयं कंककाकादिपक्षिभिः ॥ १५६८ ॥

विज्ञानोद्घा—जं कुरुतामलीपि य यद् यं प्राप्तोऽसि विप्रियाजितनिशातशाखमलीभिः । ऊर्ध्वैरजोमुखैश्च तीक्ष्णकंटकादीनां कुरुतामलीपरोद्वन् नारकमयाप । जं च सुलम्मि यद्य दुक्खमयासोसि दुःखप्राप्योत । असिपत्तवणम्मि य जं अस्य एव पयागि यस्मिन्ना तद्वसिप्रयत्नं । उष्णादिताम्रां पुरुषाणां नारकाणां अविपत्तवनेऽनेकासुरविक्रियादिनिर्मितविनिर्माद्युपपन्नाणि यस्मानि । जं च कयं यद्य दृढ । गिदककंहि ग्रहैः कंकैश्च यजमयैस्तुहैः तरलकोचमैस्तुवन्ति । तीक्ष्णकृतककयसहस्रैः पक्षैः प्रहरन्ति नित्यं । मक्षरफनेभ्यश्चार्णाकुटोस्तादृयन्ति ॥

महारा—कुरुतामलीप ऊर्ध्वार्धोमुखकंटकाकीर्णविक्रियाकुले शास्मलीपृष्ठे नारकैर्धूल्यमाणः सन् । तद्वयाद्या समारोहन् । सुलम्मि शूलमिवेतैः प्रोतः सन् ॥ असिपत्तवणाभि उष्णताम्रां पूतकवर्षां नारकाणां कृते संछिदासुरैर्निर्मिते यज्ञ-समानपट्टमुपसमूहे । य जम्बुद्वीपादित्रायुष पचवन्तु । गिदककंहि ग्रहैः कंकैश्च । ते हि वज्रमयतुर्गेतत्राणि तुवन्ति ॥ बीरणीकृतक-कपसप्तकैः प्रहरन्ति, निर्जलतरपकैश्चार्णाकुटोश्च साहवन्ति ॥

अर्थ—नरकमें विक्रियाने सामर्थ्यसे कुरुतामली नामक पक्ष असुर देव बनाते हैं. ॥॥ वृषको नीचेसे लेकर चौटीवक कटि रहते हैं. कोई झटोंका मुह ऊपर रहता है और कितनोंका मुह नीचे होता है. नारकीके मयसे दीन नारकी उस वृषपर चढ़ते हैं तब कोई नारकी जीव उनको ऊपर खींचते हैं और कोई नीचे खींचते हैं. ऐसे

कायते उन दीन नारकीओंका देह विदीर्ष्य होकर उनको घोर वेदना होती है- झूलपर चढ़ानेसे जो दुःख होता है- उगका हूं स्मरण कर- नरकमें असुरदेव विक्रियासे नाना प्रकारके शस्त्रोंके समान जिनके पत्र हैं ऐसे वन उत्पन्न करते हैं- उष्णतासे पीड़ित होकर रोते हुए नारकी जीव उसमें विश्रामके लिये जाते हैं परंतु वे शस्त्रमय पत्र पड़कर उनके अवयव टूटते हैं जिससे उनको घोर वेदना होती है- गीयपक्षी, और ॥ पक्षीमी अपने वज्रके समान मुंहसे और तीक्ष्ण चरण रुपी अंकुशोंसे नारकीओंको डुल उत्पन्न करते हैं,

सामसवलेहिं वीसं वइतरणीए य पावेओ जं मि ॥

पत्तो कयंवालुयमइगम्ममसायमवित्तन्वं ॥ १५६८ ॥

असुरचैतरण्यां च प्रापितो निर्घृणाद्ययैः ॥

कंदपवालुकापुंजं ग्राहमाना यदा मृतः (?) १५२७

विजयोपपन्ना—सामसवलेहिं इयमशयलसंछितैरसुरैः । दोसं दोषं दंडानां । वइतरणीए य पावेओ जं स्ति । चैतरण्यां नरां प्रापितो यवसि । वइभिन्दूतानां जलं मृगयतां विधु विन्यस्तदीमलौचमानां शुष्कतालुगलानां चैतरणी नदीमुपदर्शयंति । रंगचरणकुलां, भगाधनीलनीरभरितच्छ्रवां, विषयसेवय दुरन्तयुष्णानुसंधनोयतां, संसृतिरिच दुक्खरां, भावोप पिशाळां, कर्मपुत्रलक्कंधलवतिरिच विविन्नविपदिप्रियादिनीं, तद्धासनद्वाराभेयोपजातेकेटा स्रग्धजीविताः स इति मन्यामाना मृततरगतयस्तामगद्वैते । तदयमाह्वानंतरमेव कृतांजलयः पिपंति तादृशपस्रिभे तर्ध्वः । परपयचनमिय हृदयदाहविधादि, हा विमल्लप्याः सेति करणं रस्तां शिरांसि परपुल्लमसमीरणरेणोस्थिततरंगमसिधारा निकुन्तमिच करचरणानि च । तेनातिशारेणोष्णेन, कालकूटविषयमानेन जलेन, यनांतरयवेक्षिता बहामाना झटित घटितकल्परणा- सादमेव रटन्ताः समारोहन्ति । तेषां च ग्रीवासु दयामशयला महतीः शीला वज्रचूर्णयलामोता वचन्ति दुर्घेयोयाः । पक्षा च तस्यामेव घातयंति । पातितास्तः कृतोन्मल्लननिमल्लनानामुचमंगानि अक्षुरविक्रियाविर्गितमहामकरफरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतंति । पुनश्च तटमारुदगन्धस्तस्तांस्तकभूय निष्कलं वध्मंति । तानपरिस्वयमवस्थितान्त्वक्षीकृत्य विध्वंतीति निशातशरतसहस्रेः । पत्तो कलंववालुगामविगम प्राप्य कंदयप्रसूनाकारा गालुकाचितदुःप्रवेशाः, वज्रदलांछतवदि- रंगारकणप्रजरोपमनाः परिप्राप्य तत्र चलान्संचार्यमाणः यथातवानसि दुःखं तन्निवतय ॥

मूलारा—सामसवलेहिं इयमशयलसंछलसुरकुमारैः । दोसं दंडनं वइतरणीए चैतरण्यां च । जं मि यवुःसम- स्ति त्वं प्रापितः । ते हि नारकाणां शुद्धिभूतानां जलमन्वेपमाणानां । विधु विक्षिपदीनचपुणां । शुष्कवालुमूलानां । नरकनदी

रंगनरंगमाजकुचकंभीरुनीलनीलपूतितन्त्रां । विषयसुरसेवामिव दुरन्तवृणानुबंधोत्पत्तां । मंस्तुतिमिव दुरुत्तरमाशागमिवाति-
दिग्गतां । कर्मवृद्धसमंहेनिमिव निवित्रविकरणी दलेवंति । तदर्थनाथ ते दूरादेव यमुदयुतोत्कंठा लब्धजीविताः संजाताः रश्म-
इति मन्यजानाः । द्रुततरालयत्नसम्पन्नाहन्ते । उदन्तवत्सेव कुण्डांजलयः पयः पिवन्ति तप्तवायोद्भूतमिवात्यंतसर्वांगीण-
दाहकिमपि । नतश्च तेषां ह्य विप्रलब्ध्याः स्म इति ध्रुवणं रसतां शिरांसि करचरणं च परुषतमसमीरणमेरणोच्छ्रिततरंगान्ति-
विनिर्गमिपाता निरुन्नास्ति ॥ तेन च योजोपप्लारवारिणा फालकूटविषद्वर्णपद्धारिणा, त्रणांवरप्रवेदिना, दंष्ट्रहमाना
मदिति पुनर्पेदितशिरः करचरणस्तदमवर्तस्ते चर्दन्ति । ततश्च वेदसुरकुमारस्तान्धजंशूलयावद्धुर्विमोचमहाशिखामूढकंधरा-
स्तरागेनेव पालयन्ति । काय च तेषां कुतनियज्जनोन्यजनानां शिरांसि अमुनिमित्तमहामकरकरप्रक्षारेण जलैरीयूय निपत-
न्ति । तत्र च तदमालम्बाः पुनः संयोजितशिरसां तेषां काः शिलाः पुनर्निज्जलं वप्यन्ति । कण्ठबाहुयुग्मं कर्दवसुकुमारकाणिकी
यमरुत्पल्लवैः प्रदीप्तान्दिरोगादप्रमत्ताः । अद्विगम्य प्राप्य । सत्रागाल्पासुरैः संचार्यमाणो यत्र दुःखं शातस्तस्मात्सि (१) प्रति-
मनस्यपपापयेति अपचक्षिष्या संचार्दन् ॥

अर्थ—दय्यासमृद्धल नामके असुर देवोंके द्वारा वैतरणी नदीमें नारकिओंको जो दुःख दिया जाता है उसका
हे धृपक ! तू स्मरण कर. जिनकी तीव्र व्यास लगी है, जो पानीको हूँद रहे हैं, चारों दिशाओंमें दीन नेत्र लगाकर
जो देख रहे हैं, जिनकी ठाठ प्याससे सुख गई है, ऐसे नारकिओंको वे अदुरादेय वैतरणी नदी दिखाते हैं.

यह नदी अनेक तरंगोंसे उछलती है, इसमें अगाध पानीसे अनेकसेरोचर मरे हुए रहते हैं. विषयका सेवन
जैसे मृणाको पदाता है वैसी यह दुःखदायक नदी व्यास को वधती है. संसारसे निकलना जैसे काठिन है वैसे वैतरणी
नदीमें प्रवेश करनेसे उसमेंसे पाहर निकलना नितांत काठिन है. यह नदी आशोक समान विशाल है. कर्म के मुद्गल
वैसी अनेक तराही आपत्तियोंको उत्पन्न करते हैं वसी यह नदी भी नारकिओंको अनेक प्रकारके दुःख देती है.
इस नदी का दर्शन होत ही नारकिओंको इसमें प्रवेश करनेकी उत्कंठा उत्पन्न होती है. अब हमारे सब
दुःख नष्ट होंगे और हम सुखसे जीवेंगे ऐसा समझकर वे उसमें जलदी प्रवेश करते हैं.

उत्तम प्रवेश करते ही वे अपनी अंजलिओंसे ताँके द्रवकें समान लाल रंगका पानी पीना शुरू करते हैं. परंतु
जैसे कठोर मापण हृदय को संतप्त करता है वैया वह जल मनको अतिशय दुःख उत्पन्न करता है. तब द्राप्य द्राप्य!
इस गिलगुल फल मर्षे हैं ऐसा करण वचन बोलते हैं. अतिशय कठोर वायुसे उछले हुए जलतरंगरूप तरवारियोंसे

नारायणोंके मस्तक, हाथ, पाय टूट जाते हैं, अविश्वय क्षार और उष्ण जल कालकूट विषके समान जब ज्ञानोंमें प्रवेश करता है तब उनको अत्यंत दाहदुःख होने लगता है।

जब उनके हाथ और पैर खुद जाते हैं तब वे नदीके तटपर चबते हैं उस समय श्यामशुक्ल नामके असुर वज्रकी शंखलासे बंध हुए बड़े २ पत्थर उनके गलेमें बांधकर पुनः बँतारणमें उनको ढकेल देते हैं- पढ़ने पर वे ज्ञान नदीमें डूबकर पुनः उभर आते हैं और पुनः डूब जाते हैं, असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये भगर नामक प्राणी-ओंके हाथका आघात होनेसे उनका मस्तक फूट जाता है और वे पुनः नदीमें डूब जाते हैं,

पुनः जब वे तटपर आते हैं तब उनकी असुरदेव क्षात्रको निश्चल बांधते हैं और तीक्ष्ण लक्ष्मणवि बाणसे बिद्ध करते हैं,

नदनंतर वे नारकी जिसमें वज्रके टुकड़े भिरे हुये हैं, और जो खदिर की जमीन के समान लालरंगकी है ऐसी अग्निवत्त वास्तुकांमें उन नारायणोंको बलात्कारसे श्वर उभर बुलाते हैं, ऐसे समय जो दुःख उनको होता है वे क्षपका उसका हुन विचार करो,

जं गीलमंडवे तचलोहपडिमाउले तुमे पंचं ॥

जं पाइओसि क्षारं कडुयं तचं कलयलं च ॥ १५६९ ॥

तत्तायःप्रतिमाकीणें यत्प्राप्तो लोहमंडपे ॥

आयसं पायमानोऽपि प्रत्यंतं कटलं कडु ॥ १६२८ ॥

विजयोदयः—अं पसं सं चिंतेहि अथासं दुःखे सञ्चितय । पीलमंडवे कालोहपडिते मंडपे । तत्तलोहपडि माउले तत्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसंपाद्यमानस्तलोहप्रतिमायुत्पत्त्यादिगितो यदुःख प्राप्तवानसि तन्मनसि निधेहि । अं पाइओसि क्षारं यत्पायितोऽसि क्षारं । कडुयं कडुक । पंचं तसं ॥

मूलाशः—जं गीलमंडवे कालोहपडियमंडपे । तत्तलोहप्रतिमाकुले षष्मिलोहवर्णतल्लोहसकसुवसिंघाते । तुमं त्वया । पचं प्राप्तं । बलात्कारसंपाद्यमानस्तलोहप्रतिमायुत्पत्त्यादिनादिदुःखं । पञ्चिदो सि पायितोऽसि । कटलं ताम्रगीतकविष्ठसंज्ञरसमुगुलसिक्थकलधजसुषभलेभाः काथयित्वा मिलिवाः कलकल दसुच्यंते ॥

अर्थ—काले लोहसे बनाये बंदूपमें चहुवल्दी तपाये लोहकी श्रतिमाये रहती हैं। तुमको उनसे बलात्कारसे आलिंगन करानाये है। तब जो दुःख तुमको उत्पन्न होता ॥ उसको तुम ध्यानमें लाओ तथा क्षाण्, अग्निवत्तम और कड़वा रस तुमको बिलोले घे उसका भी तुम स्मरण करो।

जं स्वाविओसि अवसो लोहंगारे य पञ्जलंते तं ॥

कंदुसु जं सि रस्वो जं सि कच्छीणु तल्लिओ सि ॥ १५७० ॥

दुःस्पदर्यं नायमानो यल्लोहमंगारसंषयम् ॥

पञ्चपमानः कंदुकासु मंडका इथ रंधितः ॥ १६२९ ॥

विजयोद्या—अं स्वाविओसि यस्मादितोऽसि अवशोऽवशः । बलात्कृतविदारितात्मकः । लोहंगारे य पञ्जलंते तं लोहंगारान्गव्यलतः त्वं । कंदुसु जं सि रस्वो कंदुकासु यमंडका ॥ य पकं ॥

मूलारा—स्वविशो रंधितः । अवसो यल्लोहमंगारसंषयम् । लोहंगारे कोहसयोंगात् । तं त्वं कंदुसु मंडक पचनार्थं न्वेदनिष्ठासु । रस्वो मंडक इव पकः । कपटोप कृत्या कटादिक्षयमित्यर्थः ॥

अर्थ—उस नरकमें हे क्षपक! तुमको बलात्कारसे यंत्रके द्वारा मृत क्राडकर लोहके जलवे भंगार खिलाये थे, और तुमको यदिके समान कड़ाईमें बलाया था- उसका तुम विचार करो-

कुट्टकुट्टिं चुण्णाचुणिं मुग्गरमुसुंदिहत्थेहि ॥

जं वि सखंडो खंडिं कओ तुमं जणसमुहेण ॥ १५७१ ॥

चूर्णितः कुट्टितश्चिन्नो यन्मुद्ररसुसंहिभिः ॥

चल्लुशः खंडितो लोकैर्यच्छुभ्रस्यैरितस्ततः ॥ १६३० ॥

पित्तयोद्या—कुट्टकुट्टिं बहुओ यत्कुट्टितचूर्णितः मुद्ररसुसंहितस्तैः, यथा जनसमूहेन भवान् असह्यवेदित-सर्वतः करणे कुट्ट ॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सक्षति सुतवीलता ॥

तथा कृपा दमो कालं प्रसादो गर्हये क्षमा ॥ १ ॥
 इत्येवमाद्याः सुमुखाः प्रशस्त्वा ये शरीरिणां ॥
 तेषु ते तुलभा नित्यं कांतारेष्टित्व मातुषाः ॥ २ ॥
 शत्रुमित्र उदासीन इत्यन्यत्र विधा जनः ॥
 शत्रुरेव हि सर्वोऽयं जनः सर्वस्य नारकः ॥ ३ ॥
 कंचनैः कणधैर्यैर्नारकैः कणचैर्नरैर्यैः ॥
 मदाभिर्मुंदातैः शूलैः प्राचाः पापाणपट्टितैः ॥ ४ ॥
 सुष्टिमिर्यष्टिमिळीष्टैः संकुपिः शक्तिभिः शरीरैः ॥
 अस्तिभिः क्षुरिकाभिश्च कुंतैर्दंडैः सखोमरैः ॥ ५ ॥
 तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ॥
 भूखपापास्त्वयं जातिर्वैकिधैरपि आयुधैः ॥ ६ ॥
 नारकास्तत्र तेऽभ्योऽयं रोपयेनेन पुरिताः ॥
 पूर्वयैराण्यनुस्त्वय धर्मगणानसेयवान् ॥ ७ ॥
 मिति छिद्यति भिद्यति खाद्यति च तुदंति ॥
 विषयंति चापैर्मनंति ग्रहरोन्ध इरोन्धित्व च ॥ ८ ॥
 श्वशुरगणकुक्षुध्याश्वशुद्रमरूपपाणि वापेर ॥
 विहृत्य चिद्वं पाषा वाधतेऽयं परस्परं ॥ ९ ॥
 काष्ठरौकसिधाराकूपनिर्पतंति च केषु चित् ॥
 पततस्मान्मभीज्यति ते च शूलामसिस्थिताः ॥ १० ॥
 मज्जायंति जलीभूय वायुभूय तुदंति च ॥
 दहति दहमीभूय न दहति परस्परं ॥ ११ ॥
 तिष्ठ दासेय हन्मि त्वां त्वं कुतस्ताः पलायसे ॥
 निगदसे महागोदान्त्युस्त्यां समुपस्थितः ॥ १२ ॥
 छिदि छिदि तत्राकपं संदिदं विधानतः ॥
 यमोर्निनं मृदानाम्नु वद छळादय मात्य ॥ १३ ॥
 अंगरे पातयाप्येवं तुम्ह पिंडोऽप्रदीपय ॥
 विगसेति च संरम्य तं मुचेति गिरोऽप्युमाः ॥ १४ ॥
 मूलारा—इटाकुडि असीव कुडःकुलः । गुणलुणि असीव चूर्णकुलः । मोगर लोहकंटकिवगष्टि । सुमुंहि वज्र

मुष्टि । मुद्राहस्तैर्नारैर्वह्मत्वं कुट्टितो, रुक्म मुसुंक्षितस्तैः सुवर्णं चूर्णितत्वं तर्धिवेति संन्यः ॥ जं वाचि यच्चवसि ।
रंङासदि कदो रंङं लंङ कृत । जण नारकाः ॥

मूलारधना

१४३८

अर्थ—नरकमें मुद्रा, भूँडों वषट्क आयुषोद्धार उप अनेक नारकियों द्वारा चूर्ण किये गये थे. और अनेक नारकियोंने तेरे अनेक बार तुझे भी किये थे. उन दु खोंका तू स्मरण कर

१-२ अतुकल किया करना, और बोलना, नम स्वभाव, सुख स्वभाव, लज्जा, दया, प्रसन्नता, दान, देना, इन्द्रिय दमन करना, विनय धामा इत्यादिक जो उषम शुभ मनुष्योंमें होते हैं वे जंगलमें जैसे मनुष्य दुर्लभ होते हैं वैसे नारकियोंमें दुर्लभ होते हैं ३-८ इस जगतमें बटु, मित्र और उदासीन ऐसे तीन भेद हैं परंतु नरकमें मित्र और उदासीन वे भेद हैं ही नहीं किंतु सगरी नारकी जीव आपसमें छुटपना ही धारण करते हैं. याण, धक, नाराच, करौठ, नल, गदा गुडल, शूल, पाश पाषाण, पट्टिख, मूठ, लठी, मट्टीकें डेले, झील, शंखनामक आयुध, घागविधिप, तरवार, छुरी भाला, दंड तोमर इत्यादि अनेक आयुधोंसे नारकी जीव क्रोधसे सतत होकर परस्परमें लडा करते हैं नरक भूमीका भी घेसा स्वभाव है कि उपर्युक्त शस्त्र स्वयं उत्पन्न होते हैं नारकी भी अपनी विकि-यासे ऐसे शस्त्र उत्पन्न करते हैं विमंगलानसे भी पूर्व वैरोका स्मरण कर वे नारकी अन्योन्य को मारते हैं, छेदते हैं भिन्न करते हैं भक्षण करते हैं दुःख देते हैं वाणोंसे बख्सी करते हैं, प्रहार करते हैं. ९-१० कोई कोई दुष्ट पापी नारकी कुशा, सियाल, मेडिया, बाघ, गीब इत्यादि प्राणियोंका रूप धारण कर आपसमें लडते हैं. कोई २ नारकी लकड़ी और पर्वत वनकर अन्य नारकियोंको ऊपर धिर पडते हैं अथवा शूलके अग्रभागपर चढावे हुए नारकियोंके शरीरपर वे गिर पडते हैं ११ कितनेक नारकी जीव पानी होकर डुबाते हैं. वायु होकर उडाते हैं अग्नि होकर जलाते हैं परतु परस्परपर वे दया नहीं करते हैं १२-१४ अरे दास तू यहां खर में तेरेको मारुंगा, तू कहां भाग जाता है, महामोहसे तूं छिपना चाहता है परतु मैं तेरे लिये मृत्यु होकर आया हूं वे नारकी छेदन कर, भेदन कर, पीटा कर, खोंच, रोक, जलाव, बांध, चूर्णकर, ढकल, मार, प्राणले इत्यादि अशुभ मायण आपसमें बोलते हैं

अनेनेटया नारकेण प्राणितवेदनां शुद्धिं निरूपयति—

जं आवहादो उप्पाडिदाणि अच्छीणि निरयवासम्मि ॥

अवसत्ता उक्खया जं सत्तलमूलायते जिब्भा ॥ १५६४ ॥

उत्पाद्य चहुशो नेवे जिह्वा संखिच्च मूलतः ॥

यचीतो नारकैदुःखं दुःखादानविशारदैः ॥ १६११ ॥

पिजयोदया—जं आवहादो उप्पाडिदाणि चिर पृष्ठदेशादुत्पट्टिते । अच्छीणि लोत्रने । निरयवासे य नरक-
मासे च । अवसत्ता अयदास्य । जं यत् । सत्तलमूलायते जिब्भा निरवयोपा ते जिह्वा ॥

मूलारा—अष्टदुहो लघुद्रुतः । कुठरिफळः शीवापखिमभागादिलयः अन्यस्तु तसं तृतीयाधे मन्यते । उक्खयादा
उत्पत्ता । उत्पाटिता ॥

नारकी जीव और भी लो दुःख देते हैं आचार्य उनका वर्णन करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक! नरकमें मस्तकके पश्चिमभागेसे तेरी अंखि निकाली गई थी और परार्थीन हुए तेरी
जिह्वा भी मूलभागसे नारकिओंने उखाड़ी थी इसका भी मनमें विचार कर,

कुंभीपाप्सु तुमं उक्खडिओ जं चिरं पि वं सोल्लं ॥

जं सुठ्ठिउच्च निरयम्मि पठलिदो पावकम्महिं ॥ १५७३ ॥

कुंभीपाके महातापे कथितो यत्समंततः ॥

अंगारप्रकरैः पक्तो यच्चल्लप्रोतमांसवत् ॥ १६३२ ॥

विक्रयोदया—कुंभीपाप्सु तुमं कुंभीपाकेषु त्वं । उक्खडिओ उत्कथितः । जं सुठ्ठिउच्च शल्लप्रोतमांसवत् ।
निरयम्मि नरके । पोलिदो अंगारप्रकरे पक्कं । पावकम्महिं पावकमग्निः ॥

मूलारा—कुंभीपागेसु कुंभ्य चट्टिकाः । पाकाः पचनाधिकरणानि । कुंभ्यज्ज्वाः पाकाश्चते कुंभीपाकास्तेषु ।
सोढं धृतमिधित्तैलं, यज्जलेप इत्यन्यः ॥ सुठ्ठिउच्च शल्लप्रोतमांसं । पठलिदो अंगारप्रचारफळः । पावकम्महिं नारकैः ।

अर्थ—क्षपक! नरकमें अनेकवार तुम कुंभीपाकमें पकाये गये थे, तथा हुए नारकीओंके द्वारा शल्लमांसके

समान वीत्र अर्नीये जुने भी मयेये- इन वर्तिका भी-स्मरण करो-

जं भजिजदोसि भजिजदंगपि व जं गालिओसि रसयं व ॥

जं कपिओसि वल्दूरयं व जुण्णं व जुण्णकदो ॥ १५७४ ॥

शाकवद्धज्यमानो यत् गाल्यमानो रसेन्द्रवत् ॥

चूर्णवच्चूर्णमानो यद्वल्दूरमिव कर्तितः ॥ १६३३ ॥

विजयोदया—जं भजिजदोसि यद्वद्दुष्टो भजिजदंगपि भजिजदनामयेयशाकवत् । जं गालिओसि रसगोष्ठ्य यद्वुगाहितोऽसि रसयत् । जं कपिओसि यद्वर्तिकाः । जं डिओसि यत् छिन्नः । वल्दूरयं पि व वल्दूरयत् । जुण्णव चूर्णवत् जुण्णकदो चूर्णीकृतः ॥

मूलारा—भजिजदो दुष्टः । भजिजदंगपि व भजिजदनामयेयशाकवत् ॥ पचनीयमिद्वदन्यः ॥ रसयं गुड- रस इव । कपिओ अदवयोपु छिन्नः । वल्दूरयं व मांसदण्डमिव । वल्दूरं पि वेति पाठे शुद्धमांसमिवेत्यर्थः । जुणि- कदो चूर्णीकृतः ।

अर्थ—हे क्षपकः तुम नरकमें भजिजद नामक साग के समान अग्नीपर पकाये मये थे. तथा गुड के रस के समान तुम गाले मये थे. छुष्क मांसके समान तुम्हारे दुकड़े १ किये मये थे. और चूर्णके समान चूर्ण किये गया था.

चक्रेहिं करकचोहिं य जं ति णिकचो त्रिकसिओ जं च ॥

परसुहिं फाडिओ ताडिओ य जं तं मुसंडीहिं ॥ १५७५ ॥

दारितः ऋक्षचैदिउवः खड्गैर्विद्धः शरादिभिः ॥

यत्पाटितः परश्वान्यस्ताडितो मुद्ररादिभिः ॥ १६३४ ॥

विजयोदया—चक्रेहिं करकचोहिं चक्रेः करकचः । जं ति णिकचो यद्वसि निष्ठतः । त्रिकसिओ त्रिविधं कृतः । परसुहिं फाडिओ पशुभिः पाटितः । ताडिओ संहितः । जं तं त्वं मुसंडीहिं मुपुंडीभिः ॥

मूढारा—निकतो नियतं छिन्नशर्करैः । विकचिदो विविधं संवितः ककुचैः । परसुहिं परशुभिः । फाडिदो फाटितः । तं स्वम् ॥

अर्थ—चक्रमे हे क्षपक' तेरा छेदन किया गया था और करोतसे अनेक प्रकरसे तू चीरा गया था. कुन्हा-दीसे तू फाटा गया था. तथा भृशुंदी नामक शरके द्वारा बर्षाव सुद्रोसे तू पीटा गया था.

पासेहिं जं च गाढं बद्धो मिण्णो य जं सि दुघणेहिं ॥

जं खारकहसे खुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥ १५७६ ॥

पाणैर्यद्धोअभितो मिन्नो दृघणेरवशो घनैः ॥

दुग्गेमेऽधोयुत्तीवृतो यत्तिस्सः क्षारकर्म्ममे ॥ १६३६ ॥

विजयोदया—पासेहिं पाशैः । जं यत् । गाढं बद्धो दृढं बद्धः । मिण्णो ॥ मिश्रश्च । जं सि यद्वत्ति । दुघणेहिं घनैः । खारकहसे क्षारकर्म्ममे । खुप्पिदोसि मिखातोऽसि । ओमच्छिओसि अधोमस्तकः । अवसो परवशाः ॥

मूढारा—दुघणेहिं लोहकारचनैः । खारकहसे क्षारपंके । खुप्पिदो मिखातः । ओमच्छिओ अधोमस्तकः ॥

अर्थ—पाशसे नारफिओन तैरेको दृढ बांधा था. और तैरे मस्तक पर घनके प्रहार क्रिये थे. परयत्न होनेसे क्षारके कीचटमें नचि मस्तक और ऊपर पाय करके तुमको गाढ भी दिया था.

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फाडिओसि मल्लिदोसि ॥

जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिव्वेसु वेण ॥ १५७७ ॥

यदापन्नः परायत्तो नारकैः कुरक्कर्मभिः ॥

लोहचुंगगाटके तीक्ष्णे लोखमानोऽतिवेगतः ॥ १६३६ ॥

विजयोदया—यद्धमः, पातितः, मर्दितः, लोडितश्च तीक्ष्णेषु चुंगगाटकेषु वेगेन ॥

मूढारा—छोडिदो निसलीकृतः । आच्छ्र दलन्यः । मोडिदो नमचित्वा अमः । फाडिदो पातितः । मेलिदो मर्दितः पादैः । लोडिदो लोडितः । सिंघाडएहिं शृङ्गाटकेषु त्रिकोणकंदेषु लोहमयत्रिकोणकंदकेष्वित्यन्यः ।

अर्थ—नारकजोने तेरा जमीनपर पटककर मर्दन किया था, तबिन अन्न विनके है ऐसे लोहेके कंटकोपर तू बहे वेगसे पसीटा गया था तथा नमकर उन्होंने तुझको मोटा या.

१४४२

विच्छिण्णगोबंगो खारं सिच्चिनु वीजिदो जं सि ॥

सत्तीहिं विमुक्कीहिं य अद्याए खुंचिओ जं सि ॥ १५७८ ॥

नरद्वा लोकेऽन्विलं गात्र क्षुरभेर्मिशितैश्चिरम् ॥

वीजितः क्षारपानीयैः सिक्त्वा सिक्त्वा निरंतरम् ॥ १६३७ ॥

विजयोदया—विच्छिष्टगोबंगो विच्छिष्टगोपांशुः । खारं क्षियणु खारं क्षिप्त्वा । वीजिदो जं सि यमोपजितः । सत्तीहिं शक्तिभिः । विमुक्कीहिं य अयोमयबद्धाश्रये । अद्याए दयामंतरेण । खुंचिदो पराजितः ॥

मूलार—विच्छिण्णगोबंगो; विविधं संख्यानि हस्तादीन्युत्पादीति य यस्य । खारं क्षारेण । सिच्चिनु सिक्त्वा । सुतिक्लेहिं अतिनिक्षताभिः । वीविजयापांशु विमुक्कीहिं इति पठित्वा अयोमयकंटकाश्रयेऽदिरित्यर्थमकथयत् । खुंचिदो भिण्णः । परावर्तित इत्यन्वयः ॥

अर्थ—तुमारे भिन्न अवयवोंपर क्षार चूर्ण का जल संचिकार नारकी उपके ऊपर हवा कर देते थे. तदनंतरपुष्पि नामक शस्त्रसे और लोहेके कटि विनको लगे हैं ऐसी लाठियोंसे निर्दय होकर खींचकर लोटते थे.

पगलंतरुधिरधारो पलंबचमो पमिन्नपोट्सितो ॥

पठलिदृढिदओ जं फुडिदथो पडिचूरियंगो य ॥ १५७९ ॥

शक्तिभिः सुचाभिः खड्गैर्यदिच्छन्नाखिलविग्रहः ॥

विगलद्रक्तधाराभिः कर्दमीकृतभूतलः ॥ १६३८ ॥

विजयोदया—पगलंतरुधिरधारो प्रगल्भधिरधारः । पलंबचमो प्रलंबचक्र । पमिन्नपोट्सितो प्रमिन्नोदर शिराः । पठलिदृढिदओ प्रतप्तदधः । जं यत् । फुडिदच्छो स्फुटितलोचकः । पडिचूरियंगो य धत्तचूर्णितंगः । य मूलार—पेष्ट चदरं । पठलिदृढिदओ प्रतप्तचित्तः । फुडिदल्लो स्फोटितक्लेशः ॥

मूलाराधना

अर्थ—जिसके शरीरमें रक्तकी धारा बह रही है, शरीरका घमटा नीचे लटक रहा है, जिसका नेट और मस्तक फूट गया है, जिसका हृदय लम हुआ है, जिस फूट गई है, तथा सब शरीर चूर्ण हुआ है ऐसा न नरकमें अनेक मा दुःख भोगता ॥ उसका चिंतन कर.

जं चडयंडतकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिळ्वं ॥

गिरए अणंतखुत्तो तं अणुचितेहि गिस्सेसं ॥ १५८० ॥

यत्सफुटस्रोचनो वग्घो ज्वलिते वज्रपावके ॥

यद्विज्जन्तस्सपादादिदिण्णमानास्थिसंचयः ॥ १६३९ ॥

शोषणे पेपणे कर्पणे धर्पणे लोदने मोदने कुदने पाटने ॥

आसने ताडणे मर्दने चूर्णने छेदने भेदने मोदने यत्थित्तः ॥ १६४० ॥

दुःकृतकर्मविपाकवशोत्थं कालमपारमनंतमसखम् ॥

लोढमिदं हृदये कुरु सर्वं कातरतां विजहीहि सुणुद्धे ! ॥ १६४१ ॥

इति श्वप्रगतिः ॥

विजयोदया—अं यत् । चडयंडतकरचरणंगो येपमानकरचरणांयः । पत्तो सि वेदणं तिळ्वं । प्रसोऽस्ति वेवनां तीक्षां । गिरए नरके । अणंतपारं अनंतवारं बह् अणुचितेहि अणुकमेण वित्तय । गिस्सेसं निरवशेयं ॥ नरकगतिदुःखं पणितम् ॥

मूढरा—चडयंडत प्रकंपमानं । अणुचितेहि अणुकमेण वित्तय त्वं ॥ इति नरकगतिदुःखानुचितनं ॥

अर्थ—हे क्षपक! नरकमें जिसके हाथ पाय वेदनासे कंप रहे हैं ऐसे तूने अनंत बार जो दुःख भोगा है

उसका अणुकमसे पूर्वस्मरण कर-नरक गतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ.

तिरियगदि अणुपत्तो भीममहावेदणाउल्लमपारं ॥

जम्मणमरणरहटं अणंतखुत्तो परिगद्धो जं ॥ १५८१ ॥

जन्ममृत्युजरणीणां घोरां तिर्यगतिं गतः ॥

किं तीव्रां बहुशो लब्धां सरसि त्वं न वेदनाम् ॥ १६४२ ॥

पञ्चधा स्थावरा जीवा विमुडीभूतचेतनाः ॥

लभन्ते यानि दुःस्वानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥ १६४३ ॥

विजयोदया—तिरियगाँदं यणुपत्तो तिर्यगतिमनुगाहः । भीममहावेदनाउल्लसपारं । भीममहावेदनाकुलमपारं जन्ममरणरुदहं जन्ममरणघटीबन्धं । अणतसुप्तो अनंतपारं । परित्यक्तो परित्याप्तोऽसि । यत् चित्तेदि तं इति दक्षयमाणेन संबन्धः । तिर्यको हि बालाविधाः पृथिव्येतेषोवायुवनस्पतिप्रसभेन ॥

आत्मभूतभूतान्यपि न स्मरति दुःस्वानि केचिदि नराः प्रमत्ताः ॥

बहुधृतान्तर्याम्यसमुद्रबानि से विस्मरंतीति न विस्मयोऽत्र ॥ १ ॥

प्रमादलोपायमतो नरेभ्यो श्रान्तोऽपि सोऽयं परिकल्प्य पय ॥

लक्ष्मणानले प्रभवति यस्मिन्मुणा न दोषाश्च समुद्रयंतु ॥ २ ॥

होति भियातं सखिलादि बोणे क्षेमं भवे संधयितुं समर्थः ॥

ये जंगमस्ते न तु सांति क्षांतिरेकत्रियाणां यत् जीयस्यतां ॥ ३ ॥

सर्वेष्वसर्गनिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनयः सहेते ॥

सर्वेष्वसर्गानवशा वराका यर्केन्द्रिया ये न सदा सहेते ॥ ४ ॥

जालंघयूका यधिराश्र याला रथ्यास्तु रक्षासरणमहीणाः ॥

प्रमर्षमाणा गजयानियानैर्दया क्रियंते विषया वराकाः ॥ ५ ॥

तथा प्रकारो विकलैर्वियाणां प्रवर्तते नारकदुःखतुल्यः ॥

युष्मदुःखं सततं सुघोरो ग्रामेभ्यस्तेषु न निःशरण्यः ॥ ६ ॥

मोऽजाविकाशे परित्यज्यमाना यामाविक्रमैः परित्यज्यमाणाः ॥

अग्नौन्ययैः परित्यज्यमाणाः दुःखं च भुङ्क्ते ॥ हि ते लभन्ते ॥ ७ ॥

तिष्ठैः क्षिप्रोत्थितरणैश्च यक्षैः सजादितैश्चावययैस्तनूनां ॥

चिरं स्फुरंतः प्रतिकारहीनाः कुन्धेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥ ८ ॥

निमल्यमाणा उदधिदुनापि निज्यासवातैरपि चोद्यमानाः ॥

प्रचोद्यमाना लघुनोष्णानपि नश्यंति ये तेषु प्रयेत्कथा का ॥ ९ ॥

धरः प्रविश्येह यथा नरः समुद्रमज्जनं चैव निमज्जनं च ॥

भीडप्रसक्तो बहुजोऽपि कुप्यादन्यकार्यं स्ववशी वयस्यः ॥ १० ॥

अविश्य ज्ञ-भोवधिमप्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्मयुक्त्यन् ॥
 अस्त्युक्तैऽपि खगान्नुवन्ति पेरीयमानाः कहुदु-खतोयम् ॥ २१ ॥
 सूर्यैः शरैरपि ते मदाति दुःखानि नित्यं सगमानुवन्ति ॥
 स्थलेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिगर्भेभ्य हृष्ट ॥ २२ ॥
 देवो न मत्ता न विता न वञ्चुर्न चापि भिन्नं न सुखं नाथः ॥
 न श्रेष्ठो नाभिजनो न धर्क्यं न ज्ञानास्तेष्व कुतः सुखं स्यात् ॥ २३ ॥
 माया विद्योनेऽपि सतीह वायव दुःखानु उच्यते न जनो लभेत ॥
 माया विद्योगस्तु मयेव येषां स्थानं कथं ते न हि दुःखरागे ॥ २४ ॥
 मा मैष्ट मा भूत्तव दुःखजालं मा विष्ट मा चेति वतककार्णा ॥
 आवास्तको पापानुवन्ति या तेषां जनः कोऽस्ति यथा मरणा ॥
 तैस्तैः प्रकाशैः सर्वतः संवेदाच्छब्दयाना अपि मृत्युमुग्रं ॥
 करोति या को ग्रहणं विरीक्ष्य विमुच्य संयचयिदो मनुष्यान् ॥ २५ ॥
 अन्योन्यतो मर्यजनाश्च पापाश्च सुखवित्तश्चापि भवामवाप्ति ॥
 पंचेक्षिया याभिः समानुवन्ति दुःखानि तेषां भिन्नं कोपमा स्यात् ॥ २६ ॥
 स्नानं ध्यानास्त्राभ्यं भक्षयति भितास्ति रस्त्रोऽपि न निष्कृपाकाः ॥
 निहस्य सादरं परम्येषु तिर्यक्षु किं विरमपनोयमस्ति ॥ २७ ॥
 अन्योन्ययातार्थमनुग्रयति हंतुं समग्यः रूपणोऽनुयाति ॥
 तं कदिचदभ्यः सहसा निर्हता इी पिक्ततो भीमतरे किमभ्यत् ॥
 अन्योऽन्यद्विद्वज्जनपटनिद्रा अन्योन्यमाहस्य विजीविषन्तः ॥
 सस्था न येऽन्योन्यमवात्सर्पति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् २०
 ब्रमे मृगास्तोयतृष्यपुण्याः मृगसिद्धाया रतिपानुवन्ति ॥
 व्याधादिमिष्येद्रयमानुवन्ति निरेनसः कारणमत्र कमे ॥ २१ ॥
 विद्योजिता भक्तमस्तुतैश्च यादैर्भुक्तो भूयैश्च तस्मिन्नुक्तैः ॥
 विद्यास्तु दीनाभिः विरीक्ष्यमाणः सुदारुणं मारणमाप्नुवन्ति ॥ २२ ॥
 स्वमावपायाः कृकवीरिताभिः मोत्साहिता दुःश्रुतिभिः पुलस्य ॥
 अविभक्तो दुर्गतो यथेष्टं प्रन्तोऽभ्यर्क्ष्य हितान्नमन्ते ॥ २३ ॥
 ब्रमे मृगेभ्यः विविक्तस्नानेभ्यो ग्रामेषु मृग्यश्च तयाविष्यः
 ते विम्वते न कचिदाभ्यस्तो यदन्तर्या विप्रति जीवितानि २४

सर्वकुशादिग्रहैर्गजान्ध कशादिघनैश्च हवा हताश्याः
भावश्च तोमादिवधैः परेषां कुर्वन्ति कर्माभरणदकाभाः २५
प्रत्या युतानामलमेतदेव विरागमापन्नमेवे निमित्तम्
तादृग्विषयानां यद्वयो हि कोऽयः कथं प्रकुर्वन्त्यमितेतरस्य २६
दंष्ट्रामानाश्च द्वाविधेर्गोदाजलोधेस्तु समूहामानाः
श्रुवाः रज्ज्वाः सर्वसरीसृपाश्च सार्धं त्रिव्यते यद्वयो यतान्ये २७

इतानीं त्रिवर्गमातिदुःखानुचित्वेन गाथासप्तकेन क्षपणं व्यापारवति—

पृथगत—अणुपणो नरकगतः पञ्चाव्ययः । अपातं अतीतं विराजुर्वधिरुक्तात् । रघुं घटीयं च । परिगदो जं ।
मातो यदुदुःखं । पितेहि तं सज्जमिति वक्ष्यमाणेन संपन्नः ।

अर्थ—प्रयंकर वेदनाओंसे व्याकुल) पाररहित ऐसे त्रिपंथगतीको प्राप्त हुआ तू अनंतवार जन्मभरणरूप घटीयंत्र को प्राप्त हुआ था, उसका भी तू विचार कर, स्मरण कर, त्रिपंथोंके पृथिवी, वायु, जल, अपि, वनस्पति और ज्ञान ऐसे अनेक भेद हैं।

१-२ कितनेक उन्मत्त मनुष्य पूर्वजुभूत दुःख भी यदि भूल जाते हैं तो देखे हुए सुने हुए अन्य लोगोंके दुःख वे भूल जाते हैं इसमें क्या आश्चर्य है, अपना प्रमाद नष्ट होनेके लिये मनुष्योंको स्वयं के ज्ञात हुए भी अपराध कहनेही चाहिये, अपने दोषोंका स्मरण रखना और दूसरोंको कदना गुणोत्पत्तिके लिये कारण होता है दीपस्मरण करनेसे और कहनेसे गुणोंकी शुद्धि होती है।

३ मनुष्य ठंडीसे बाधा होनेपर निर्वातस्थलका आश्रय करते हैं, उष्णतासे भीहित होने पर ठंडा जल पीते हैं मय उत्पन्न होनेपर निर्भय स्थानका आश्रय लेते हैं द्वीन्द्रियादि जीव भी उपर्युक्त बाधाओंसे अपना रक्षण करनेमें समर्थ हैं, परंतु एकेन्द्रिय जीवोंमें वह सामर्थ्य नहीं है।

४ जैसे वैराग्ययुक्त मोक्षेच्छु शुनिगण सर्वप्रकारके उपसर्ग सहते हैं वैसे बुद्धादिक एकेन्द्रिय जीव पराधीन और दीन होनेसे हमेशा सर्व प्रकारके उपसर्ग सह लेते हैं।

५-९ जैसे जन्मांध, मूंगे, बहिरं लोक और बालक उनका कोई रक्षक न होनेसे दीन और परतंत्र होकर हाथी घोटे, यान वाहनादिकसे मर्दित होते हुए मरते हैं, वैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुर्गिन्द्रिय जीव भी उपर्युक्त प्रकारसे

मरते हैं उनकी नारकियोंके तुल्य दुःख भोगना पड़ता है। ये जीव गांवों अथवा अरण्यमें भी रहे परंतु सर्वत्र भयंकर मृत्यु हाथ धोकर उनके पीछे दौड़ता ही है। माघ, वक्रा, मेढा, वगैरे प्राणिओके हाथ पाजोंसे वे कुचले जाते हैं। रथादिकोंके पहियोंसे उनका नाश होता है। वे स्वयंभी अपने देहसे अन्योन्यको पीटा देकर मरते हैं। कितनेक जीवोंके मस्तक चूटते हैं, पाव टूट जाते हैं तथा शरीर के तंत्र अवयव रोगसे पीडित हो जाते हैं तब अधिक दुःखी होकर महाफटसे प्राण त्याग करते हैं। द्विद्विआदिक कोई जंतु इतने छोटे होते हैं कि वे एक पानीके बुंदमें भी डूब जाते हैं। निधासकी हवासे भी उड़ जाते हैं। योदीसी उष्णतासे भी उनको दुःख होता है। ऐसे प्राणिजोंको यदि उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति होगी तो कहना ही क्या ?

१०-११ क्रीडामें बहुर, तरुण, ऐसा कोई मनुष्य जैसे सरोवरमें प्रवेश करके चारोंवर उन्मज्जन निमज्जन करता है अनेक प्रकारसे क्रीडा करता है। स्वाधीन होकर और अन्य कायोंको छोड़कर जलक्रीडामें ही तत्पर होता है जैसे सर्व प्राणी भी जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेश कर एक अन्तर्बहूर्तमें भी अनेक जन्मसमुद्रके मध्यमें भवेद्यकर एक अन्तर्बहूर्तमें भी अनेक जन्म मरणोंको प्राप्त करते हैं। इस संसारसमुद्रमें उनको दुःखरूपी कदवा पानी चारोंवर पीना पड़ता है।

१२ उनके दृढ़म शरीर होनेपर भी उनको हमेशा तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं, जब उनको स्थूल शरीर प्राप्त होता है तब उनके दुःखादिक इतर स्थूलग्रस प्राणिओके समान ही देखे जाते हैं।

१३ इन द्विन्द्रियादिक प्राणिओको माता, पिता, वंशु, गुरु, स्वामी मित्र, कोई भी दितकर्ता नहीं रहते हैं। बीमार होनेपर न इनके कोई संबंधी भी है जो कि उनको अन्न खानेको देंगे इन जीवोंको ज्ञान भी नहीं रहता है तो सुखकी प्राप्ति इनको कैसा हो सकेगी।

१४-१५ माता का वियोग होनेपर भी दुःखरूपी समुद्र मनुष्य तीर नहीं सकता तो बिनको माता ही नहीं है वे अत्यंत दुःखके स्थान क्यों नहीं बनेंगे, और ये भीति छोड़ दे, तरेको कुछ दुःख नहीं होगा ऐसा आश्वासन मनुष्योंको मिलता है। इस प्रकार इन दीन प्राणिजोंको कोई भी आश्वासन देनेवाला नजर नहीं आता है, और उनके उपर कोई दया भी करनेवाला दीखता नहीं।

१६ उपर्युक्त प्रकारोंसे वे पशु चारों तरफमें उग्र मृत्युको धारण करते हैं, अर्थात् वे अनेक प्रकारसे मरण

के यष्ट हो जाते हैं, जिनकी पशुगतिके संबंध का ज्ञान हुआ है ऐसे मनुष्योंको छोड़कर अन्य कोई भी व्यक्ति उनका रक्षण करनेका प्रयत्न नहीं करती है।

१७ कोई पंचेन्द्रिय पशु आपसमें लड़ भिड़कर दुःखी होते हैं, कितनोंको तो मनुष्य दुःख देते हैं, कितने पशु पशोदयसे और धुषा वृषादिकसे पीड़ित होकर दुःखी होते हैं, नानाप्रकारके भय उनके उत्पन्न होते हैं, उनके दुःखोंको उपमा ही नहीं है ?

१८ कोई विवेच्य प्राणी इतने निर्दय होते हैं कि वे अपने चबोंको यी खाते हैं, तो वे अन्य प्राणिओंको खाते होंगे इसमें आश्चर्यावह क्या है।

१९ ये पशु आपसको मारनेके लिए दूट पड़ते हैं, कोई निर्दय प्राणी, उन दोनों को मारनेके लिए दौड़ता है, कोई अकस्मात् आकर उनको मार देता है।

२० ये सब पशु अन्योन्यको मारनेका योग्य मोका देखते रहते हैं, और अन्योन्यको खाकर जीने की अभिलाषा करते हैं, अन्य प्राणी मेरेको मारेंगे ऐसा ना। सभीके मनमें होनेसे उनके निद्रा आती नहीं इस विवेचनसे आपको माह्वम होगा कि क्या ये प्राणी दुःखी हैं ?

२१ वनमें हरिण पानी पीकर और वृण भक्षणकर पुष्ट होते हैं और हरिणीओंके साथ रहकर सानंदविन विताते हैं, ये किसीका कुछ छक्कसान तो करते ही नहीं परंतु व्याघ्राधिक दुष्ट मनुष्यसे इनको हमेशा भय उत्पन्न होता है इसमें पूर्वकृत पापकर्म ही कारण हैं।

२२ हरिण अपने बालक और हरिणीसे विपुक्त होते हैं, और हरिणी भी अपने बालक और अपने दूध हरिणीसे विपुक्त होकर दीननेत्रोंसे चारों दिशाओंको देखती हैं, इस रीतीसे दुःखित होकर भयंकर मृत्युके मालमें पोहोचते हैं।

२३ कितनेक मनुष्य स्वभावतः पापी होते हैं, कुक्करी शिकार चंगरहका महत्त्व बताकर और दुष्ट शार्ङ्गोंका प्रमाण दिखाकर पशुओंको मारनेमें मग्न करते हैं उत वे भी दुर्गतिसे भयग्रहित होकर प्राणिओंको भयेष्ट मारते हैं और उनको खाते हैं।

२४ हरिणादिक पशुओंको वनमें हिंस्र पशुओंसे तृण रहता है और ग्राममें भी वे आने तो दुष्ट लोकांस

उनको मय उत्पन्न होता है. अतः उनको कहाँ भी निर्भयता का अनुभव आता ही नहीं. विचारे किसी प्रकारसे अपने दिन व्यतीत करते हैं.

२५ हाथी वगैरह प्राणिओंको अंशुयादिकके आयत्तोसे दुःख भोगना पड़ता है. छड़ी वगैरहका आघात पोटे गहन करते हैं. पैल भ्रम वगैरह वज्र चातुक वगैरहका प्रहार सहन करते हैं. और आमरण मनुष्योंके वज्र होकर उनको कार्य करने पड़ते हैं.

२६ जो मनुष्य अद्विमान है वे इन दुःखों का विचार कर विरक्त होते हैं ऐसे मनुष्य इतर प्राणिओंको दुःख देनेका कार्य नहीं कर सकते हैं.

२७ बहुते प्राणी दयाधिके वज्र होकर मरते हैं, कोई जलप्रवाहमें बहते बहते रहलोकसी यात्रा पूर्ण करते हैं, कोई हरिण, पक्षी, सर्प, और उज्ज्वलीय बहुत प्राणी इसी प्रकार मृत्युवश होते हैं.

तादुणतासणवंधणवाहणलंछणविहेडणं दमणं ॥

कण्णच्छेदणणासावेहणणिहंशणं चैव ॥ १५८२ ॥

मदा परयसीमताअनुयां असकायिकाः ॥

दुःखं बहुविधं दीना लभन्ते पिरमुत्थणम् ॥ १६४४ ॥

ताबने याहने वंधने द्रासने नासिकातोवने कर्णयोः कर्तने ॥

लांछने दाहने देहने हेडने पीडने मर्दने हिंसने शातने ॥ १६४५ ॥

विशेषोदण—तादुणतासण तादुनभासनयंपनलोछनवाहविहेडनकण्छेदननसिकावेधनदीअपिवासानानि ॥

गूठाए—ताडण कष्टादिभिराघातः । वासण प्राप्तं भयापादनं । वंधण दृष्टगतिरोधाय रज्ज्वादिविध्वंजनं । द्रासण दंशपक्षाघातरेण दाहं । विहेडणं कर्षणं । दमणं कर्मप्रयोगाय ह्यच्छिद्यमानम् ।

अर्थ—छाठी वगैरहसे पीटना, मय दिताना, दोरी वगैरहसे बांधना, बोझा लादकर देशांतरमें ले जाना,

मंछपथादिक आकासे उनके अवयवपर दाह करना, तकलीफ देना, कान नाक छेदना, अंडका नाश करना इत्यादिक दुःख विर्यगतिमें भोगने पड़ते हैं-

छेदणमेदणद्धणं पिपीलणं गालणं छुहातण्हा ॥

भस्वणमदणमलणं विकत्तणं सीदण्हं च ॥ १५८३ ॥

ससिलमारुतशीतमहातपप्रमणभक्षणपाननिरोधनैः ॥

दमनतोदनगालनभंजनं जलवियोजनभोजनवर्जने ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—छेदनेमैदवहननिपीडनगालनानि छुट्टादयाप्रक्षमर्दनमलनायकतमानि । शीतमुष्णं च ॥

मूलार—द्धणं अभिपत्तादित्वा घृणानो दाहः । पिपीलण नाबीक्षणपीडनं । गालणं रोगादौ रक्तनिःसारणं ।

मछणं कणिकायन्मलनं । विकत्तणं वर्णविनां भिषिचं कर्तनं ।

अयं—अवयवोंका छेदन, भेदन करना, कुछ अवयवोंपर सखन चढ़नेपर उसको जलाना, नाबीमें ग्रथ होनेपर उसका मर्दन करना, रक्त निकालना, कणिकाके सभान मर्दन करना, भ्रूक और प्याससे दुःख होना, कान नाक वगैरह अवयवोंको अनेक प्रकारसे कतरना इत्यादि तिर्यंच गतिमें दुःख है-

जं अत्ताणो निप्पडियम्मो बहुवेदणुदिओ पडिओ ॥

वटुण्हि मदो दिवसेहिं चट्ठण्हंतो अणाहो ते ॥ १५८४ ॥

अत्राण-पतितः क्षोण्यां निःप्रतीकारविग्रहः ॥

दुःसहं वेदनां सोदत्वा बहुभिर्वासरैर्युतः ॥ १५८७ ॥

विजयोदया—जं अत्ताणो यदत्राणो निप्पडियम्मो निष्प्रतीकारः । बहुवेदणुदिओ बहुवेदनादितः । पडिओ पतितः । वटुण्हि मदो दिवसेहिं बहुभिर्मुक्तो दिवसः । चट्ठण्हंतो स्फुरदेहः । अणाहो अनायः । ते त्वं ॥

मूलार—अत्ताणो अक्षरणः । निप्पडियम्मो निष्प्रतीकारः । वेदणुदिओ वेदनादितः । चट्ठण्हंतो स्फुरदेहः । अणाहो अनायः । त्वं त्वम् ॥

अर्थ—इत पशुगतिमें, अरुहित, उपायपरहित, बहुवर्तीय वेदनाओंसे दुखित, शोक दे हुएकी तू जमीनपर अनेक बार पड़ा था ॥३॥ बहुत दिनतक अपने सर्व अवयव वेदनासे डिलावा हुआ अनाथ ऐसे तुझे प्राण छोड़ने थे उनका तू स्मरण कर.

रोगा विविहा चाघाओ तह य पिब्वं मयं च सज्वचो ॥

तिव्वाओ वेदणाओ घाडणपादाभिघादाओ ॥ १५८५ ॥

धुत्तुण्णादयाधिसंहारविह्वलीभूतमानसः ॥

पद्मं च बहुशः प्राप्तस्तत्सर्वं हृषये कुठ ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—रोगा विविहा व्याधयो नानाप्रकाराः । चाघाओ याघात् । तथा पिब्वं भयं च सज्वचो तिल्यं भयं च सज्वचः । तिव्वाओ वेदणाओ लीला वेदना घाटनपादाभियत्नात् ।

मूलात्—सम्यक्ते संपत्तः । वेदणाओ विविक्ता द्यूषादयः ॥ घाटणं घाटणं । परदाभिघादा चरणेत दाडनं । पाशमिषादा इति पाठे अभिघातः पीडामात्रं ।

अर्थ—इस पशुगतिमें नाना प्रकारके रोग, अनेक तरहकी वेदनायें, तथा नित्य चारों तरफसे भय भी प्राप्त होता है. अनेक-प्रकारके पावने रहना, ठोकना इत्यादि दुःखों की प्राप्ति पशु भविष्ये तुझको प्राप्त हुई थी.

सुविट्ठिय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ॥

जम्मणमरणमणंतं अणंतखुत्ता समणुभूवं ॥ १५८७ ॥

विजयोदया—सुविट्ठिद सुचारित्र ! अदीदकाले अतीतकाले । अणंतकायं तुमे अदिगदेण अणंतकायं स्वया प्रविष्टेन । जम्मणमरणमणंतं जन्ममरणं चाननं । अणंतखुत्ता अणंतव्यापक शक्तिः । समणुभूवं ॥ मूलात्—अणंतकायं आधारणदीरं । तुमे त्वया । अदिगदेण प्रविष्टेन ।

अर्थ—हे उचम चारित्र्यके धारक शपक ! अतीतकालमें अर्थात् भूते हुए कालमें अनंत खरीरोंको धारण करके अनंत जन्ममरणोंका अनंतवार अनुभव लिया है.

इवैवमाविदुस्त्वं अणंतसुतो तिरिस्खजोणीए ॥

जं पत्तोसि अदीदे काले चित्तेहि तं मव्वं ॥ १५८७ ॥

तिर्यग्गतिं तीव्रचिन्निवचनां गतो जराजन्मविपर्ययाकुलम् ॥

दुःस्वासिकां यां गतवाननारतं विंचितयेस्तामपहाय दीनताम् ॥ १६४९ ॥

इति तिर्यग्गतिः ।

वित्तयोदया—इच्छामादिदुष्यं इत्येवमाविदुःस्वं । अणंतसुतो अनेकवारं । तिरिस्खजोणीए तिर्यग्योनौ । जं पत्तोसि प्राप्तोऽसि । अदीदकाले अतोत्तफाले । चित्तेहि तं सव्वं तत्सर्वं चिंतय ॥ तिरियमदी ॥

मूढारा—मूढम् ॥ तिर्यग्गतिदुःखानुपिबन्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार तिर्यग्गतिमें अनंतवार जो दुःख तुझको भोगना पड़ाया उस सर्व दुःखका हे क्षपक ! तू बारंवार मनमें विचार कर इस प्रकार तिर्यग्गतिका दुःखवर्णन पूर्ण हुआ ।

देवत्तमाणुसत्तो जं ते जाएण सकयकम्मवसा ॥

दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतसुतो समणभूदं ॥ १५८८ ॥

मानुयीं गतिमापथा धानि दुःखान्यनेकशः ॥

त्वमथाम्निखिरं कालं तानि स्मर महानते ! ॥ १६५० ॥

निजयोदया—देवत्तमाणुसत्ते देवत्तमाणुसत्तोः । जाएण जातेन । सकयकम्मवसा स्वकृतकर्मपशान् । दुक्खाणि किलेसा वि य दुःखानि पलेनाद्य । अणंतसुतो अनंतवारं समणभूताः ॥

देवत्वमनुष्यत्वयोश्चिरानुभूतानि दुःखान्यनुचितविद्युमुपक्षिपति—

मूढारा—जादेण गतेन । सकद रत्तुं । दुक्खाणि कंतःपीचाः । किलेसा शरीरकष्टानि ॥

अर्थ—हे क्षपक! तूने कुछ पुण्य कर्म का उदय होनेसे देव और मनुष्य गतिमें भी जन्म धारण किया था. इन गतिओंमें भी तुम्हें अनंतवार दुःख और क्लेश सहन करने पड़े थे.

प्रियविष्ययोगदुःखं अप्रियसंवासज्वाद्दुःखं च ॥
जं वेमणसदुःखं जं दुःखं पच्छिदालाभे ॥ १५८९ ॥

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलाभे वाच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥ १६५१ ॥

विजयोदया—प्रियविष्ययोगदुःखं प्रियविष्ययोगत्वात् दुःखं । अप्रियसंवासज्वाद्दुःखं च अप्रियः सहचासेन
जानं च दुःखः । येन नामधेयणेऽपि सार शब्दे आयेते, येन दर्शनादर्शने धूमायेते । जं वेमणसदुःखं यद्वेगमनस्यदुःखं
पच्छिदालाभे प्राप्तिनालाभे यदुःखं ॥

मातृपगतिदुःखदुःखिते क्षणकं प्रयोक्तुं गाथा नय दिशन्नाहौ दुःखसहस्रत्वागमानसदुःखानि गाथात्रयेणानुस्मरयति—
मूढारा—प्रियविष्ययोगदुःखं यन्नामधेयणेऽपि सार्थयोगोपायाप्यव्ययमानो मनस्यात्तावो जायते । यदर्श-
ने च ऋषुषी वीरपुंसिके इव स चेत्ते प्रिय इत्युच्यते । प्रियेण विमयोगविषयत्वं । समाज्वावदुःखं सुखं वैद्योत्तस्तापः ॥
अप्रियमप्यातो यन्नामप्राप्तयेऽपि सिद्धः फलमूदेति यद्विदोक्तं च लोचने धूमायेते सोऽप्रिय इत्याकाशयेते ॥ अप्रियेण
मन्यातः सहस्रस्मानं संयोग इति वाणम् ॥ जं ते माणसदुःखं यत्त्वन्मा प्रियविष्ययोगदुःखादिविषयं मानसं दुःखं । मानुष
भापसंभ्रानं तत्त्वर्धमेव विवर्धेति यद्व्यमायेत संनधः । पच्छिदालाभो गार्ह्यमानस्य वस्तुवोऽप्राप्तौ जातः ॥ इत्तं च—

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलाभे वाच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥

अर्थ—प्रिय पुत्र, पत्नी वगैरहंका वियोग होनेसे तथा अप्रिय शत्रु, विष, कंटकादिकोंका संयोग होनेसे
हृत्तनो पटुव डाल मास हुआ था. अप्रिय पदार्थोंका नाम सुनते ही हृत्तको भस्मकमूल उत्पन्न होता था और अप्रिय
शत्रुओंका दर्शन होनेसे ही आँखें लाल हो जाती थी. तथा याचना करनेपर इच्छित वस्तुका जप लाभ न होता
था तब हृत्तको मनमें बहुत ॥॥ योगमा पढता था.

परमिचचदाए जंते असम्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ॥

णिज्मत्थणावमाणणत्तज्जणदुःखसाइं पत्ताइं ॥ १५९० ॥

कर्कशे निष्ठुरे मिश्रवे भाषणे तर्जने मत्सने ताडणे पीडने ॥
 अकने दंभने मुंडने सेवने बाधने वर्तने मर्दने छेवने ॥ १६५२ ॥
 दुःसंहं किंकरिभूतः करणे निंदकर्मणः ॥
 यदवापश्चिरं दुःस्वं तन्निवेद्याय मानसे ॥ १६५३ ॥

विप्रयोगेदयं—परमिच्छदस्य परश्रुत्यतया । असम्भवयोगेहि अशिष्टवचनैः । कद्वयकद्वेसीह कद्वकैः परह्यैश्च ।
 निम्नभाषणादभाषणतत्प्राप्तदुःखार्थं पचार्थं निर्वर्त्तसेनायमानवर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥

मूढारा—परैत्यादि परस्व राजादेशुल्लसंतीरां प्रेयतायां सत्यां अक्षिष्टवचनादिजनितं यान्तसं दुःस्वं तत्सव्या
 संग्रातं तर्पित्वदे ॥ उक्तं च—

दुःसहं किंकरिभूतः करणे निंदकर्मणः ॥
 यदवापश्चिरं दुःस्वं तन्निवेद्याय मानसे ॥

निरुभच्छणा पिक्वारातिरक्तारौ । अथभाषणा भट्टनो मध्ये अबद्धाकरणं । तच्छणा तर्जनीयुरिच्छिप्य ह्मास्यवे
 यत्ने करिष्यामीति कोपापेक्षामिग्रहवर्जनं ॥

अर्थ—श्रीमान लोक राजादिकोकी सेवा करते समय उनके अर्त्तम्य शब्द; कद्व, और कठोर शब्द सुन-
 कर तेरेको तीव्र मनोदुःख प्राप्त होता था- निर्मर्त्तना, अपमान, श्ल्यादिक का दुःस्व अनेकवार तुझको प्राप्त हुआ था-

दीणचरोसचित्तासोगामरिसिग्गिपठलिदमणो जं ॥

पत्थो घोरं दुक्खं भाणुसज्जोणीए संतेण ॥ १५९१ ॥

भीशोकमानमौत्सरगराद्धूपमदादिभिः ॥

तप्यमानो मतो दुःखं पाक्कैरिव चिंतय ॥ १६५४ ॥

विजयोदया—दीणचरोस—चित्तादीकवरोपचित्ताशोकामर्षाग्निभिः संतप्तमना यत् । पत्थो घोरं दुक्खं प्राप्ते
 घोरं दुःखं । भाणुसज्जोणीए संतेण मंथुरयोनी सत्त्वं मयता ॥

मूढारा—पठित्तिदमणो दीनत्वादिभिर्गिरिर्दिवं संवत्तं मनो येन यंत्रं वा । तन्मानसं दुःखं यथा यथा भाणुपथोनो
 मयता प्रातं तद्विन्त्यव । उक्तं च—

अर्थ—दीनपना, क्रीध, चिंता, शोक, असहनीयता, एतद्वय अगिओसे पीडित होकर हे क्षपका तुमको घोर दुःखोका अनुभव मिल चुका है.

भीतीकमानमास्वर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥
तत्पमानो गतो दुःखं पावकैरिव चित्तम् ॥

दंडणमुंडणताडणघरिसणपरिमोसंमकिलेसा य ॥
घणहरणदारघरिसणघराहजलादिघणनासं ॥ १५१२ ॥
स्तेनाग्निजलदायावपार्थिवैर्यनविह्वले ॥

निसरोरवा—इंडण मुंडण—इंडनमुंडणताडणदूयणपरिमोवणसंक्लेसाः परधनापहरणदारदूयणाणि शुद्धदारज-
न विभिन्नविणमत्तान् ॥

अथदुःखानुसरणाय गाथापदकमाह—

नूदारा—इंडण अपराधे ममि राजादिमिर्धनापहरणं । घरिसण साक्षेपवूयणारोमणं । घरिसोसे परद्रव्यहरणं
घरथरिवर्णं भाग्यविधर्षणं जलादिघणानामो जलान्ध्यादिभिर्धनविनाशः ॥

अर्थ—मदुष्य गतिमें अपराध होनेपर राजादिको घनापहार होता है. यह दंडनदुःख है. कुछ अपराध होनेपर मत्तारुके सर फेंग निकलगाना यह मुंडण दुःख है. ताडण दुःख-अपराध होनेपर सटके लगाना. घर्षण दुःख प्राथम्यहित दोषारोपण करनेमें मनमें दुःख उत्पन्न होता है. अपराध होनेसे राजा घन लुटवाता है तब जो डार होता है उगको परिमोष दुःख कहते हैं. घोर द्रव्य हरण करते हैं तब जो दुःख उत्पन्न होता है उसको घन हरण दुःख कहते हैं. भार्याको कोई हुए जवरदस्तीमें हरण करनेपर उत्पन्न हुए दुःखको दारहरण दुःख कहते हैं. पर जलनमें, घन नष्ट होनेमें इत्यादिक कारणोंमें मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं.

दंडकसाल्डिसदाणि डंयुराकंटमहणं घोरं ॥
कुंभीपाको मन्थयपलीवणं मत्तबुच्छेयो ॥ १५१३ ॥

मूर्ध्नि प्रज्वालने चङ्क्षुर्भक्तपानादिरोधने ॥

शुंखले रज्जुभिः काष्ठैर्हस्तपादादिवंधने ॥ १६५६ ॥

विजयोद्या—इंद्रकृतालमृत्तमणि इंद्रकृतागणधिशैल्लाडनानि इंद्रादिकार्यत्वाद्दशज्येनोच्यन्ते । इंद्रगुप्तमुष्टिप्रहारः । कंठमर्दनं कंठकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोरं । कुंभीपाकः । मन्त्रमणलीयनं मन्त्राके अग्निप्रज्वलनं । मन्त्रबुद्धेदो भ्रातारनिरोधः ॥

मृजरा—रसा धर्मयष्टिः । अत्र ईकादिकर्तृभिः इंद्रादिकार्यत्वात्ताडनान्मुच्यन्ते । इंद्रगुप्तमुष्टिप्रहारः । दोषपट्टद्वयान्ति या । कंठयमरणं कंठतोमरि प्रक्षिप्य मर्दनं । कुंभीपागो उष्ट्रिकायां प्रक्षिप्य पवनं । पलेयलं अग्निप्रज्वलनम् । मन्त्रबोध्यो आहारनिरोधः ॥

अर्थ—लाठी, चायुरु और बेंतमे ठोकना, मुष्टिआँसे छरीस्वर प्रहार करना, कंठोपर मुलाकार खूप मर्दन करना, कुंभीमें एकाना, मस्तकपर अग्नि जलाना, आहार पानी नहीं देना इत्यादिकोसे मनुष्य यतिमें दुःख होता था.

दमनं च हस्तिपादस्य गिगलअंद्वरचरज्जूहिं ॥

बंधगमाकोटणयं ओलंवणणिहणणं चेत ॥ १५९४ ॥

पराभंचे तिरस्कारं धृशशाखाचलंयने ॥

न्याघसपंविपारततिरोगादिभ्यो विपर्यये ॥ १६५७ ॥

विजयोद्या—दमनं च हस्तिपादस्य हस्तिपादेन नर्हन् । गिगलअंद्वरचरज्जूहिं निमलेन, अंद्रकाभिः, बर-
नाभिः, रत्नभिरन्य वंधन । आकोटणय हस्तो पृष्ठतो नीत्वा बंधन । ओलंवणं ग्रीवाचक्षुषायास्य तरुशाखाद्यु लयनं । गिह-
जनं गतं निक्षिप्य धूरणं ॥

मृदाराधना—दाणं च हस्तिपादस्य गजचरणतलप्रक्षेपः । जयथा दाणं खंडनं हस्तिपादेनैव । अन्ये यमनं
इति पाटितोन्मर्दनमित्यर्थमाहुः । कंठु ग्रंथला हृदि हलन्त्यः । अन्ये अंडु इति पाटित्वा चर्मबंधनमित्यर्थमाहुः ॥
आकोटणं हस्तो पृष्ठतो नीत्वा बंधनं । उक्तवन्धनं ग्रीवाचक्षुषायास्य तरुशाखायामवलंयनं ॥ गिहजनं गतं निक्षिप्य धूरणं ॥

अर्थ-हायकिं पायोंगे कुचलना, चेही, सुंलल, लर्मकी कादी ओर दोरी इनसे बांधना, हाथ पीठके तरफ चपना, चंडको पाशबद्ध कर दास्यपर लटकाना, यहुमें फेरकर ऊपर मढ़ी डालकर बंद कर देना इत्यादि दुःख योगे ये.

कृष्णोदसीसाम्पासाछेदणदंताण भंजणं चेव ॥

उत्पाडणं च अच्छीण तथा जिम्मायणीहरणं ॥ १५९४ ॥

जिह्वाकणोष्ठनरसाक्षिपाणिपादादिकर्तने ॥

श्रीस्तयात्तानपोषण्यपुसुखादिकर्तने ॥ १६५८ ॥

विजयोदया—कृष्णोदसीसाम्पासाछेदण कर्मयोरुद्योगः, शिरसो, नासिकापादाद्येव । भंताण भंजणं क्षेत्र भंतानो भंजने । उत्पाडणं च अच्छीण अस्फोटितत्वेन, तथा जिम्मायणीहरणं जिह्वादिहरणं ॥

मूलाया—हरणं निम्नगतनं ।

अर्थ-कृष्णच्छेद करना, होठोंको छेदना, नाकको काटना, मस्तक कोटना, दांत गिराना, आँसे निकालना, फोटना, जीम निकालना, जपोंत् घुंलमेंसे जीम बाहर खीचना इत्यादि दुःख प्राप्त हुए थे.

अग्निविससुत्तुसप्पादिवालसत्थामिषादघादेहि ॥

सीदुण्हुरोगदंसमसपूहि तण्णाछुहदीहि ॥ १५९६ ॥

पिच्छयोदया—अग्निविससुत्तुसप्पादिवालसत्थामिषादघादेहि अक्षिपल्य, शत्रूणां, सपदेस्वलमुगणां, दास्य प्रदारक्य च धातैः । सीदुण्हुरोगदंसमसपूहि शीतोष्णन, भंसमसाकं, तण्णाछुहदीदि चट्टमुघादिरिभिः ॥

मूलाया—सप्पादि सपर्युक्षियदुःखरुजोगोभक्षिपादयः । वाल व्याघ्रसिद्धादयः ॥

अर्थ-अग्नि, विष, शत्रु, सर्प, क्रूर मणी, और शूलप्रहार इनसे मी अनंत बार दुःख प्राप्त हुआ था. शीतसे, उष्णसे, रोगसे, दंसमशकसे अनंत बार दुःख प्राप्त हुए थे.

जे दुक्खं संपत्तो अणंतसुत्तो मणे सरिरे य ॥

माणुसमवे वि तं सव्वमेव चित्तेहि तं धीर ! ॥ ११९७ ॥

शरीरं मानसं दुग्धं साधो ! प्राप्तमनेकदाः ॥

यद्दुःसहं त्वया मृत्वे तत्त्वं चित्तय यत्नतः ॥ १६५९ ॥

मार्हितं दुरितकर्म निर्मितं मानुषीं गतिमुपेयुषा त्वया ॥

दुःसहं विरमवाप्तमूर्जितं किं न चित्तयसि तत्त्वतोऽमुस्म ॥ १६६० ॥

इति दृग्गतिः ।

विजयोक्ता—जे दुग्धो संपत्तो यद्दुग्धं प्राप्तः । अणंतसुत्तो अणंतवारं । मणे सरिरे य मनसि शरीरे च ।

माणुसे शरीरं च दुःखं प्राप्तः । माणुसमवे वि मनुष्यमविवेचि । तं सव्वमेव चित्तेहि तत्त्वमेव चित्तय । तं धीर त्वं धीरः ॥

मृशारा—सह्यम् । मनुष्यगतिदुःखानुविषयम् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! इत मनुष्यगतिमें भी अणंतवार जो मानसिक और शारीरिक दुःख तरेको प्राप्त हुआ था

हे धीर ! तू उसका चार २ चित्तन कर.

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेषु माणसं तिव्वं ॥

दुक्खं दुत्तसहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणत्तस्स ॥ १५९८ ॥

देवत्वे मानसं दुःखं धोरं कायिकत्तोऽग्निनः ॥

वराधीनस्य बाह्यात्वं नीयमानस्य जायते ॥ १६६१ ॥

विजयोक्ता—सारीरादो दुक्खादु शारीरादुःखात् । होइ भवति । देवेषु माणुसे तिव्वं देवेषु मानसं तीमं ।

दुःखं सोऽहमराग्यं । अयमस्स अवशस्य । परेण अभिजुज्जमाणस्स अनेन अभियुज्यमाणस्य यादंनतां नीयमाणस्य ।

देवगतिदुःखमापन्नमनुसाराणि गाथाचतुष्टयमाश्रयत्वाद्दौ तदुत्पत्तीत्यतस्त्वं सव्वेत्तुमुपदिशति—

मूलरा—परेण त्वेसाभिगंहेन देवेन । अभिजुज्जमाणस्स नाहंनतां नीयमाणस्य । क्खं चासत्त्वापदनद्वारावतारेण

मानसं दुःखं त्वं त्वं मूलरा । संसर्तां प्राप्तमवस्यदेवदानीमनुवर्ततेति विधिरत्र व्यर्थः ॥ १६

अर्थ—देवगतिमें आर्यादिक दुःखकी अपेक्षा मानसिक दुःख अतितीव्र है-जब अधिक पुण्यपाला अधिकारी देव हीन पुन्यके धारक देवको चाहमकर्म में निपुण करता है तब उसको महान् मानसिक कष्ट अनुभवमें आता है-

देवो माणी सत्तो' पांसिय देवे महहिणु अण्णो ॥

अं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५९९ ॥

दुर्घो दृष्ट्वामरो मानी महर्द्धिकसुराधियम् ॥

तदा स अयत्ते दुःखं मानभंगेन मानसम् ॥ १६६२ ॥

विक्रयोपपा—देवो माणी सत्तो देवो मानी सन् । पांसिय देवे देवान् इत्यादि । महहिणु महर्द्धिकान् । अण्णे सन्गन् । अं दुक्खं संपत्तो यत्पेरे दुःखं प्राप्त- । भग्गेण भग्गेण भोगेन मानेन ॥

सुरगतयेव प्रमत्तानरायप्राणि मानसदुःखान्यनुस्मारयितुं गाथात्रयमाह—

मूढारा—माणी स्वोत्कर्षसम्पन्नमाभिमिषेक्षेव साध्यमानः । पांसिय दृष्ट्वा । महिणिणु महती तित्तिदोरविक्रा दुर्घो क्षद्विगीमादिगुणमपद परिगमादिविशुभिष्ठ चेर्णं तान् । संपत्तो मानी देवः सत्तांमुल्लेख्येन आसत्त्वं यदुत्तुल्लं लक्षितयेति मर्षणः । न सत्यमेव चितेहि तं धीरेल्लुक्चिह्ननाथ सम्बन्धयत्य विप्रक्षितयान् । एवमुत्तरादिपि योग्यम् ॥

अर्थ—मानी देव अन्य महाक्षद्विशाली देवोंको देखकर जिस घोर दुःख को प्राप्त होता है वह मनुष्य गतिके दुःखांकी अपेक्षासे अनंत गुणित है-क्षद्विशाली देवोंको देखकर उसका गर्व क्षतयः पूर्ण होनेसे वह गता यष्टी होता है

दिव्ये भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सगगासं च ॥

पजहंतगस्स अं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥ १६०० ॥

सुंदरास्त्रिदिवयासिसुदरींशुचतो विचुयभोगसंपदः ॥

ध्यायतो भवति दुस्समुत्पणं गर्भवासवसतिं च निदितां ॥ १६३३ ॥

पिण्डयोवपा—दिव्ये भोगे दिव्यान्भोगान् । अच्छरसाओ देवकृत्यकाः । सगगासं च स्वर्गवासं च । पजहंत गस्स परित्यजतः । अयतस्स परत्यजस्य । अं ते दुक्खं जादं यच्चय दुःखं जातं । चयणकाले व्यथनकाले ॥

च्ययनसमयसकुलं दुःखमनुस्मारयति-

मूढारा -अवमस्त गत्यंतरनिर्वर्तककर्मपरतत्रस्य ॥

अर्थ-अब मृत्युके पाश गलेमें आ पड़ते हैं तब दिव्य भोग, देवांगना, और स्वर्गवास का त्याग करते गमप जो तुमको दुःख हुआ था, हे क्षणकाल तू उसे स्मरण कर-

अं गम्भवासकुणिमं कुणिमाहारं लुहादिवदुक्खं च॥

चित्तंतगरसा ये सुचि सुहृदयसस दुक्खं चयणकाले ॥ १६०१ ॥

पूर्वेभवाजित्तुच्छुक्तजातं । उत्पन्नं त्रिवशास्त्वमशस्त्रम् ॥

दुःखमसह्यमपरमयासम् । चित्तय भद्र विमुच्य विपावम् ॥ १६०२ ॥

इति देवगतिः ॥

विगमोदया-अं गम्भवासकुणिमं यद्वर्धयासकुलितं । कुणिमाहारं लुहिताहारं । लुहादिवदुक्खं च । चित्तंतगरस चित्तयत । सुचिसुहृदयसस दुक्खं-छुलितस्य । अं दुःखं चयणकाले बहूःप्रं चयणकाले स्वर्गोच्छयमकाले ॥ मूढारा-कुणिमं कुलितं । अशुचिमुत्तमार्थादि । सुविमुहृदयसस देवत्वे शुभेऽसुहितस्य सतः । द्युत्तम-

इतरेत्यदुर्मर्कपरपूणमणिचिष्णोद्यभूयाद-

स्त्राम्बान्यावरणापरगविमबच्छावाप्रभासवताम् ।

रुदयौदद्युगर्षिषा विनिष्पत्ता पय्यासक्षेपायुषाम् ॥

सदःशुभं प्रथते ग्रन्थित्विष्य सुखं श्रेष्ठेपि यज्ञेप्यते ॥

देवगतिदुग्गलुर्गतम् ॥

अर्थ-आतुष्यको मयागति समयमें आग यहांसे चयकर मेरेको माताके दुर्गंध गर्भमें रहना पड़ेगा, दुर्गंध पदार्थों का गर्भामेस्थानमें आहार लेना पड़ेगा और धुआ, प्यास वगैरह दुःखोंमें मेरे को पीना होगी, मैं इस देवपर्यायमें सुखी और पवित्र हूँ परंतु अब क्या करूँ यह आयासी परिस्थिति कैसे टल सकती है ऐसा विचार आनेपर जो दुःख तुमको प्राप्त हुआ था उसका हे क्षणकाल तू मनमें निवार कर

एवं एवं सर्वं दुस्व चदुग्दिगदं च जं पचो ॥

तचो अणंतभागो होज्ज ण वा दुस्वमिमंगं ते ॥ १९०२ ॥

दुर्गन्तो यत्त्वया प्राप्तमेवं दुःखमनेकशः ॥

न तस्यानंतभावोऽपि भद्र ! दुःखमिदं स्फुटम् ॥ १६६५ ॥

विजयोदया—एवं एवं सर्वं दुस्व चदुग्दिगदं दुःखं चतुर्गतिगतं । जं पचो यत्प्राप्तवान् । सचो तत्तचो अणंतभागो अणंतभागः । होज्ज ण वा मयेद्या न वा । दुस्वमित्यगते दुःखमिदं भवे मनुजजन्मनि ॥

एवं चतुर्गतिदुःखानि स्मारयित्वा ग्रहते योजयति—

मूलरा—दोषत्रयं यं यं भवेद्वा नया । इमंगं इदानीतनं ॥

अर्थ—इम प्रकार इन चतुर्गतिमें जो जो दुःख प्राप्त हुआ था, उसका विचार करनेसे ऐसा मालूम होता है कि जो मामतकालीन दुःख है वह एवं दुःखोंका अन्तर्गत होना या नहीं भी होना. अर्थात् यह दुःख अत्यंत अन्य है इसमें धरता कर व अपने शुद्ध स्वरूपसे च्युत होना अवश्य है.

संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताहं अविस्समंतेण ॥

दुक्खाहं सोढाहं किं पुण अदिअप्पकालमिस्सं ॥ १९०३ ॥

संख्यातमप्यतंख्यातं कालमध्यास्य तादृशम् ॥

अल्पकालमिदं दुःखं सहमानस्य का न्यथा ॥ १६६६ ॥

वित्तयोदया—संख्यातमंथितं कालं संख्यातमंतख्यातं वा कालं । ताहं दुष्पपाहं सोढाहं तानि दुःखानि सोढानि । अविस्समंतेण विधायमरहितेन । किं पुण किं पुनः सट्ठेते । अदिअप्पकालमिस्सं अत्यन्तकालमिदं दुःखं ॥

१६ परिमाणतः पूर्वमुक्तदुःखाचारमिच्छिद्दुःखस्यात्यन्तं समर्थं कालोऽपि तत्तत्संख्यात्पत्वं त्रयीवि—

मूलरा—संखेज्जं संख्यातं इतरपंचमस्यादिसंबन्धन्यस्थितेरोक्षया । असंखेज्जं एकसाधारोपममनुकृष्टसिधत्त-पेक्षया । अविस्समंतेण विधायमरहितं ॥

अर्थ—है धूपक ! नरकादिदुर्मतिओंमें तुझको संख्यात वा असंख्यात कालतक निरंतर दुःख भोगना पडा

या. वह भी तुमने भोगा है. पंखु आजका दुःख अत्यंत अल्प है. और वह अतिशय अल्पकाल पर्यंत ही रहने वाला है.

जदि तारिसाओ तुहो सोढाओ वेदनाओ अवसेण ॥

धम्मोसि इमा सबसेण कहं सोढुं ॥ तीरेज्ज ॥ १६०४ ॥

अयंसेन त्वया सोढास्ताह्वयो वेदना यदि ॥

किं तव धर्मबुद्धयेयं स्वचयेन न सञ्चते ॥ १६४७ ॥

पिञ्जवोदया—जदि तारिसाओ यदि तारिखो। तुहो सोढाओ वेदनाओ त्वया सोढा वेदना। परमोसेण परवशेन। धम्मोसि धर्म इति। इमा इयं वेदना। सबसेण समस्त सता। सोढुं न तीरेज्ज सोढुं न शक्यते। कपं वेदना धर्मा। उत्तमसुखमादावांजापदिभि. दशमकारो धर्म उच्यते। वेदनासहने धर्म इति कृत्वा कथ न शक्यते सोढुं संशयोऽयं ॥

धर्मादुपरमेण अनिवार्यदुःखसहनाय धर्मसुदीर्यादि—

पूजारा—तुमे त्वया। धम्मोसि वेदनासहन्नुत्तमसुखमादिलक्षणे धर्म इत्यनुष्यायता। न तीरेज्ज न शक्येत ॥

अर्थ—ऐसी घोर वेदना भी तुमने सहनी है क्यों कि तुम नरकादि कुपतिओं में परतंत्र थे जब परतंत्र हो कर इतना भारी दुःख सह लिया तो अब तो तुम स्वाधीन हो. स्वाधीनतामें शोदासा दुःख सहनेका समय प्राप्त होनेपर कायर नहीं होना चाहिये वे वेदनायें धर्मरूप हैं ऐसा समझकर वेदना दुःख सहना चाहिये. उचमसमादि भारोंको धर्म कहते हैं. वेदना धर्मरूप कैसी है. इसका उत्तर-वेदना का मतलब वेदना सहन करना ऐसा है अतः उममें धर्म दुःखका प्रयोग करना अयोग्य नहीं है.

तण्हा अणंत सुचो संसारे तारिती तुमं आसी ॥

जं. पसमेदुं सब्बोदधीणमुदंगं ॥ तीरेज्ज ॥ १६०५ ॥

आसी अणंतवृत्तो संसारे ते छयावि तारिसिया ॥

जं. पसमेदुं सब्बो पुमगल्लकाओ न तीरेज्ज ॥. १६०६ ॥

जदि तारित्या तण्हा लुघा य अवसेण ते तदा सोढा ॥
घम्मोत्ति इमा सबसेण ण कर्घं सोढु ण तीरेज्ज ॥ १६०७ ॥

सुइयाणएण अणुसट्ठिभोयेण य सदोवगहिण ॥

आणोसहेण निब्बा वि वेदणा तीरेदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥

संसारे भ्रमनस्तृष्णा दुरंता या तुवाभवत् ॥

न सा वमयितुं शक्या स्वांणोधिज्जल्लसि ॥ १६१८ ॥

पुमुखा नाखी जाता संसारे सत्तस्सव ॥

न शयया यादशी हंतुं सर्वपुत्तलराशिना ॥ १६१९ ॥

सोदवा तृष्णापुमुले ते त्वं नेमं सहसे कथम् ॥

स्थये धम्मवृद्धयर्थमल्पकाले महामत्ते! ॥ १६२० ॥

समुद्रो लंघितो येन मकरग्राहसंकुलः ॥

गोष्पदं लघतस्मस्य न लेदः कोऽपि चिंत्यते ॥ १६२१ ॥

श्रुतिपानकशिक्षाश्रुतध्यानोपघर्ष्यते । ॥

वेदनानुगृहीतेन सोढुं तीक्षापि शक्यते ॥ १६२२ ॥

विमलोदया—सुरपाणएण त्रिविधमंशुयाधुनपानेन । अणुसट्ठिभोयेण य अनुशासनभोजनेन । उदया-
दिरेण स्पष्टनिन । यानोसहेण अनुपयानोपघर्ष्य च । तिप्पात्रि धंदणा । तीव्यापि चक्षणा । तीरेदे सहिदुं वाञ्छयते सोढुं ॥

दुःमदृष्ट्यानुसरण्या तदशणोरीजंरुग्णानुपापरीयदौ तिरस्कावं धर्मावर्धनेन सत्वमुन्मुदयितुं गाथात्रयमाह—
मूलारा—नुमे तव । आभी मूला । मन्जोदवीणं सकलसमुद्राणां । उदय जलम् ॥

मुन्दारा—स्पष्टम् ॥

मुन्दारा—इमा इयं लुघा एप्पा ण ॥ एतद्गाथात्रयं श्रीविजयो नेच्छति ॥

वेदनानुदनापनुपायप्रथमाह—

सूत्रा—युधि आक्षेपणी, सेवेवनी, निर्वेदनी चेति त्रिविधकर्म-इयाश्रयणं । उवगहिदेण आहितवलेन त्वया ।
नश्यं वेदनासादण्यं सेवलेति विधिरज पर्यवस्यति । उक्तं च—

युत्तियानन्विद्याखानमुभयव्यानौपधैवति । ॥
वेदनामुपहृतेन सोढुं सीत्वापि शक्यते ॥

अर्थ—हे क्षयक' इस संसारमें अनन्तवार तुमको इतनी तीव्र व्यास लगती थी की उसके प्रशमन करनेके लिये मर्म समुद्रोंका जलभी असमर्थ था

अर्थ—हे क्षयक । भूत भी अनन्तवार इतनी तीव्र लगती थी की उसके मिटानेके लिये सर्व जगत्के पुद्गल भी अशक्त रहे

अर्थ—ऐसी तीव्रभूत और व्यास यदि तुमने परतन होकर सब ली थी तो अग्ली वेदना धर्म समस्तकर तुम स्वप्नरा हो कर क्यों न नष्टन कर सकोगे अगस्त्य सहन कर सकोगे ही.

अर्थ—मैंवेदनी, विवेकनी और आक्षेपणी इन तीन धर्म कथाओंका श्रवण करना ही जानी अमृत है. इस अनृतका प्राशन करके तथा निर्यापकाचार्यका उपदेश रूपी भोजन मक्षण कर तुम्हारा आत्मबल बढ़ेगा शुभ-प्रा-
नरूपी आर्षणीका भी सेवन कर तुम इस यदनात्मा अन्त कर सकते हो

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ॥
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णस्मि ॥ १६०९ ॥

पीडानामुपकारस्य तोषकारस्य चोदित्वा

नाभीतस्य न भीतस्य जंतोर्नश्यति कर्मणि ॥ १६०३ ॥

पिडयादया—भीदो व अभीदो वा भीतोऽर्थोतो वा । विप्पडियम्मो सज्जडियम्मो वा विप्पटिकारः समतिकारो वा । मुचदि ण वेदणाए जीवो न मुच्यते वेदनाया जीव । उदिण्णस्मि कम्मे कर्मण्यसहेये उदीये ।

जसदेनोदयसामुरये वेदनाविगोशानामावाह—

मुलारा—कम्मे असहेयान्ने ॥

अर्थ—मनुष्य दण्ड्य हो जयवा धनवान हो वह प्रतिकार करे अथवा न करे जब असातावेदनीय कर्मकी तीव्र उदीरणा होती है तब वेदना होगी ही. उसको दूर करनेका सामर्थ्य किसी भी उपायोंमें नहीं है.

पुरिसस्स पावकम्मोदण्ण ण करंति वेदणोवसमं ॥
सुहु पडत्ताणि वि ओसघाणि अदिवीरियाणी वि ॥ १६१० ॥

औपयानि सवीर्याणि प्रयुक्तान्यपि यस्ततः ॥

पापकर्मोदये पुंसःक्षमयन्ति न वेदनाम् ॥ १६७४ ॥

पिञ्जयोदया—पुरिसस्स पावकम्मोदण्णिमं पुरुषस्य पापकर्मोदये न करंति न कुर्वन्ति ॥ वेदणोवसमं वेदणो-
पयानि वि सुहु प्रयुक्तान्यपि : ओसघाणि अदिवीरियाणि औपयानि अतिवीर्याण्यपि ॥

पापोदये प्रयुक्तान्यपि प्रतीकाराणां अकिञ्चित्करत्वात्—

मूढारा—आदिवीरियानी वि वीर्योतिप्रयुक्तान्यपि ॥

अर्थ—पापकर्मोंके उदयेसे अतिशय सामर्थ्य युक्त उत्तम औपय भी वेदनाका उपशम करनेमें असमर्थ होते हैं. ये औपय निपुणतासे रोमीको देनेपर भी ये रोग दूर करनेमें असमर्थ होते हैं.

रायादिक्कुडुंवीणं अदयाए अंसजमं करंताणं ॥
धणंतरी वि काहुं ण समथो वेवणोवसमं ॥ १६११ ॥
असंयमप्रयुक्तानां पार्थियादिक्कुडुंबिनाम् ॥

पीटा धन्वन्तरिःशक्तो निराकर्तुं न कर्मजाम् ॥ १६७५ ॥

विजयोदया—रायादिक्कुडुंवीणं राजादीनां अनेक द्रव्यसंपत्तिरिचारकसंपत्त्युपगतानां । अदयाए असंजमं करंताणं दयामंतरणासंयमं कुर्वतां । धणंतरी वि धन्यन्तरिरपि कर्तुं असमर्थः । वेदणोवसमं वेदनाया उपशमं ॥
वेदयेपत्ता धन्यन्तरेमहेणेन सूचिता ॥

पापप्रक्षिपायां द्रव्यादिसंपदैक्यमाह—

मूढात—कुडुंवीणं एतेन द्रव्यसंपत्तिरिचारकसंपत्तः सूचिता ॥ अदयाए निर्देयत्वेन । असंयमं पशुजीवनि-
काययायां । धणंतरी वि धन्यन्तरिरपि । वैवसंपत्त्युपशमार्थमिदम् ॥

अर्थ—राजा को वह लोक अतिशय घनवान् होते हैं—उनकी शुश्रूषा करनेके लिये अनेक मनुष्य सदा तत्पर रहते हैं। रोग दूर करनेमें वे अत्यधिकी प्रस्ताह नहीं करते हैं। धनवतरीके समान चतुर हैं वे। उनके रोगका निदान कर आपधि देते हैं। परंतु वे भी वेदनाका उपशम करनेमें अत्यधिक होते हैं—तात्पर्य यह है कि, उदय आनेपर रोगही वेदना उत्तम औषधीसे भी शान्त नहीं होती है।

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लब्धेहिं ॥

फामुगदब्धेहिं करेति साहुणो वेवणोवसमं ॥ १६१२ ॥

दयालोःसर्वजीवानामौपघेन रूपथाश्रयम् ॥

प्रार्थनासेन किं साधोः प्रामुकेन करिष्याति ॥ १६७६ ॥

त्रिजयोदया—किं पुनः। जीवणिकाए जीवणिकायान्। दयंतया दयमाना। जादणेण लब्धेहिं प्राप्तया लब्धेहिं। फामुगदब्धेहिं प्रामुगदब्धेहिं। करेति कुर्यात्। साहुणो वेवणोवसमं साधोवेदनोपशमं ॥ परिचारकसंपन्नभावो दयंतसे जीवणिकाए दयंतया इत्येतत् यथा ध्यायेत्कृपाशमो भवति तथा कुर्वन्ति परिचारकाः। अस्मी पुनर्यतयः पञ्चजीवनिफाय साधपरिहारोपताः। स्वसंयमविनाशार्थयोः याचनेन लब्धेहिं श्रवणेन द्रव्यसंपन्नभाव आख्यायते ॥

निपयंये पापपरिहृतवेदनायाः सुतरां दुर्जयत्यमाह—

मृलारा—दयंतया उदायंतः। एतेन परिचारकसंपन्नभावो दृश्यते ॥ अन्येहिं परिचारका यथाकथं विद्वद्वाधि कदाप्यवति तथा कुर्वन्ते। यतयः पुनः स्वसंयमाविरोधेनैव तं प्रति व्यापिषिषंसनार्थसंयोगद्रव्यसेवा निराकरोति

अर्थ—मुनिराज तो छह प्रकारके र्ज-बोपर नित्य दया करते हैं वे याचनासे लाये हुए प्रामुक औषधोंसे स्वपक साधुकी अधवा सभी साधुकी रोगवेदना कैसी मिटा सकते हैं ? उनके पास द्रव्य नहीं रहता है और राजाके समान शुश्रूषा करनेवाले वैद्यादिक परिचारक भी नहीं रहते हैं, राजाकी वेदनाका उपशम जिस प्रकारसे होगा वह उपाय परिचारक करते हैं उममें असंयमका ध्यान ही वे नहीं रखते हैं—मुनि तो छह प्रकारके जीवोंको बाधा नहीं ही इसके तरफ ध्यान देते हैं, यदि वे नहीं ध्यान देंगे तो उनके संयमका नाश होगा, संयमके रक्षणके साथ रोगपरिहार यदि होगा तो वे आपथका समन करते हैं, यदि संयमरक्षण न होगा तो वे औषध ग्रहण नहीं करते हैं—

भोक्त्वाभिलासिणो संजदस्त गिघणगमणं वि ह्येदि वरं ॥
 न य वेदणाणिमित्रं अप्पासुगसेवणंकाहुं ॥ १६१३ ॥
 संयतस्य वरं साधोर्मरणं मोयकांधियः ॥

वेदनोपशमं कर्तुं नामासुकनियेवणम् ॥ १६७७ ॥

विजयोदया—मोक्षराभिलासिणो विरयशेषकर्मोपायभिलापिणः । संजदस्त प्राणसंयमयतः । गिघणगमणं वि
 होदि अरं मरणमपि वरं । न य द्वैय वरं । वेदणाणिमित्रं वेदनोपशमार्थं । अप्पासुगसेवणं काहुं अयोग्यद्रव्यसेवनं कर्तुम् ॥
 मूढारा—वेदनामित्रं वेदनोपशमनाथम् ॥

अर्थ—संपूर्ण यथैव विनाशकारी अभिलाषा करनेवाले सुनि भरणाको भी अच्छा समझते हैं, परंतु वेदना
 के उपशमके लिए अयोग्य द्रव्यका सेवन नहीं करते हैं, अर्थात् संयम बालकर योग्य प्राप्तुक जीवध मिलेगा तो
 लेने हैं अन्यथा नहीं।

गिघणगमो एयभवे पासो न पुणो पुरिच्छजम्भेसु ॥
 गाणं असंजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥ १६१४ ॥

एकत्र निधनं नाशो न तु भाविषु जन्मसु

असंयमः पुनर्नाशं दत्ते बहुषु जन्मसु ॥ १७७८ ॥

विजयोदया—गिघणगमो एयभवे विधनगमनमेकपदे । पासो न पुणो न पुनर्नाशः । पुरिच्छजम्भेसु भाविषु
 जन्मसु । असंजमो पुण भवसएसु जन्मसु । कुणइ भवसएसु बहुषु । गासं कुणर भासं करोति । वेदनाहि न
 संयतमनुयाति गमयभाषनीयत् । मा हि जन्मनं भवे करोति । भवदमः पुन भवदेवं बहुषु जन्मसु करोति । उक्तं च—
 दुःप्राप्ततामर्हदपधरिदियनान्तामपरिमयमन्यमहेत्यस्येति ॥

वेदनान्तामपरिमयमन्यमहेत्यस्य इत्याह ---

मूढारा—पासो अभावः । पुरिक्क अपेक्षेयम् ॥

अर्थ—मरणरूप नाश एक भवमे ही होता परंतु वह नाश नहीं है, क्योंकि उससे आत्माका अहित होता
 नहीं है, परंतु असंयमाचारणं भावि संकटो जन्मोका नाश होता है, जो सुनि रत्नत्रय भावनार्थे उत्तर रहते हैं

वेदना उनको नहीं अनुमती है. प्रत्युत वह मंद होती है. क्योंकि यह भावना असातावेदनीय कर्म का रस मंद करती है. अनेपममे असातावेदनीय कर्मका अनुभव तीव्र बनता है. आचार्य उपास्वामी महाराजने 'दुःखसो-
मतापाकंदनवपविदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसदेवस्य' इस श्लोकमें असाता वेदनीय कर्मके कारणोंका-दुःख शोक मगरद कारणोंका उल्लेख किया है.

ण करोति गिबुहुं इच्छया त्रि देवा सद्दिया सन्वे ॥
पुरिसस पावकमे अणवकमगे उदिणम्मि ॥ १६१५ ॥

कांक्षितोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षयाः ॥

वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ॥ १६७९ ॥

विजयोदया—ण करोति गिबुहुं न कुपन्ति निवृत्ति । पुरिसस पुरुषस्य । सद्दिया देवा सन्वे इच्छया वि-
सेवका। सर्वे देवा इच्छितोऽपि । पावकमे पापकर्मणि । अणुप्रमगे अट्टकमगे । उदिणम्मि उदयमुपगते ॥

न च फलेन पचपनागे दुर्निपारे असतोय कर्मणीद्रव्योऽपि पुरुषं सुखयितुं प्रसवतीत्युपविसति—

मूछरा—इच्छया वि वेरनां निराकर्तुमिच्छितोऽपि । अणवकमगे निजप्रतिकारे । उक्तं च—

न कुर्वति सुराः सर्वे प्रसन्ना अपि निवृत्तिम् ॥

पापकर्मोदये पुंसः सत्वेव निरुपकमे ॥

अपि च ॥

मोक्षतोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षयाः ॥

वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ॥

अर्थ—जब पाप कर्मका उदय पुरुषको क्रममें आता है तब सब देव मिलकर भी उस पुरुषको सुखी
बना नहीं सकते हैं. सुखी बनाने की तीव्र इच्छा होनेपर भी वे उसको सुख देनेमें असमर्थ होते हैं.

किं पुण अण्णो काहिदि उदिणकम्मस गिब्वुदि पुरिसो ॥
हत्थीहिं अतीरं तं अंतुं मंजिहिदि किं ससथो ॥ १६१६

उदीर्णकर्मणः पीडां दुमपिप्यति किं नरः ॥

अभयो दंतिना युतः शयकेन न भज्यते ॥ १६८० ॥

कर्मण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिपेदुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥ १६८१ ॥

यित्येवम्—किं पुन कथं पुन । अणो कादिदि बुद्धिः अन्यः करिष्यति मुख्यः । उदीर्णकर्मणस्तत्पुन्यमनासोऽप्ययम् । यित्युदि विदुः । इत्येहि अतीत्यं इतिमिदं वाक्यं कर्तुमशक्यं यद्वैजने । किं ससगो यतीदि कथं स्वल्पमाणो भवति नाराकः ॥

विषयशक्तेर्वैदनामतिचिद्विप्राहितस्य निरुक्तमपाकर्मविषाकिम्वैदनाभिराकृत्ये सुतरां सामर्थ्याभावं दृष्टीतेन प्रव्यति—

मूढाः—अणो विषयशक्त्या वैदनामतीकारेऽप्यप्यदितः । अहिनि करिष्यति । उदीर्णकर्मणस्तत्पुन्यमनासोऽप्ययम् । अनीरतं अशक्यं । मनुं भक्तुं । भञ्जिदिदि भक्ष्यति । सख्यो यशकः । अनुर्कपायामत्ये वा कः । महात्रैर्वैदुमिर्जैको भक्तुं न शक्यते स कथं यराकेनाहप्येनेकेन शक्तेन मज्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

कर्मण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिपेदुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥

अर्थ—अथ देव भी इच्छा होनेपर भी मुख्यके दःखको नष्ट कर सुखी करनेमें असमर्थ है तो अन्य मुख्य कर्मकी उदीरणा होनेपर केसा सुखी करने में समर्थ होगे । महासाधर्म्यसंपन्न हाथी भी जिस युद्धको सोरने में असमर्थ है उसको अल्प शक्तीका धारक खरगोश कैसे तोड सकेगा ।

ते अप्यणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ॥

चारुंदु ण समरया घणिदं पि विक्ख्वमाणा वि ॥ १६१७ ॥

ये युक्ताः पतनं शक्ता न धारयितुमात्मनः ॥

ते परित्रां करिष्यन्ति परस्य पततः कथम् ॥ १६८२ ॥

पितृणोदया—ये देवा अण्णो वि कम्मोदयण्यं भरणहुप्पं ते देवाः सेंद्रकाः कम्मोदयण्यं विश्वासं ।
भरणदुःखं शासनोऽपि । योरेणुं वा समत्तया निवारयितुं न समर्थाः । चण्डिं वि कुब्जमाणा भित्तां विजिगा कुर्वन्तोऽपि ॥

सेंद्रकीनां स्वपरग्रहदुःखानिराकरणशक्तित्वेकीतिकीमुपदिशति—
मूला—ते सेन्द्राः । कम्मोदयण्यं दुर्निवारसद्देयादिकर्मविपाकहेतुकं । भरणदुःखं मृत्युं पराविशयद्वि-
र्दानेदेवकर्मैव प्रयोगादिप्रभववन्तत्वात् च । अथवा भरणसमाप्तं दुःखं भरणदुःखं दुर्निवारविषयान्त्वर्मवन्तापमित्यर्थः ।
विजिगमणा विजिगम्यन्तुभाराद्विधिषां च क्वां पकायनात्मगोपनादिषां कुर्वतः । उक्तं च—

ये शक्षाः पवनं शक्ता न वारयितुमात्मनः ॥

ये परित्रां कटिष्यन्ति परस्म पवतः कथं ॥

अर्थ—देवमी कर्मिके उदयसे होनेवाले अपने भरणकं दुःखोको स्वयंभी दूर नहीं कर सकते हैं, अथवा
करने भी वे अपना भरण दाख दूर नहीं कर सकते हैं,

उज्झंति जत्थ हत्थी महावलपरक्कमा महाकाया ॥

सुत्ते तमि व्हंते ससया उदेळुया चेव ॥ १६१८ ॥

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंधराः ॥

राशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः ॥ १६८३ ॥

विजयोदया—उज्झंति यस्मिन् स्रोतसि दृष्टिनः दृष्टेते महाबलपरक्कमा महाकायाः । तस्मिन् स्रोतसि दृष्टि
शक्ता गता एव ॥

उत्तार्यसत्तर्जनार्थमाह—

मूला—तुज्झंति उल्लन्ते । स्वयमेव नदन्तो यांतीत्यर्थः । अथवा स्रोतसः स्वातंत्र्यविवक्षया जत्थेत्यत्र

वर्तते इतीया उक्तं च—

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंधराः ॥

सत्तर्जनमसाराणां च त्र स्रोतसि का स्थितिः ॥

पठं आहारादिजं सामर्थ्यं । परक्को नैसर्गिक नीये । यूदेळुया येव व्हंते गता एव । अनायासतत्पदमत्र व्यंजने ॥

अर्थ—जिग नदीके प्रवाहमें गहान् सरीरके धारक-जिनका शारीरिक बल और परक्रम महान् है ऐसे मनुष्य भी इस जाते हैं तो उसमें स्वर्गोद्य केसे स्थिर रह सकेंगे। अर्थात् वे तो अवश्य डूबेंगे ही।

किह पुण अण्णो सुब्बहिदि सगेण उदयमग्गेण कम्ममेण ॥

तेल्लोक्केण त्रि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥ १६१९ ॥

अिददा येन पात्तंते विक्कियावल्लालिनः ॥

नायासो विद्यते तस्य कर्मणोऽन्यनिपातने ॥ १६८४ ॥

पित्रयोदया—किह पुण अण्णो सुब्बहिदि कथं पुनरुत्थो मोक्षयेत्, सेन कर्मणा उदयान्तेन । त्रैलोक्येनापि कर्मो-
निरागम्यैव समुत्पत्ते ॥

मूलारा—पुण यावयाहंभरे । अण्णो त्रैलोक्यांतरयत्नी कश्चिदेकः कर्मो विद्यमस्ति न च व्यवहरीकारकारविबंभितः ।
गुणहिदि मोक्षयेत् । इत्यत्र नाद्युभाविष्यत इत्यर्थः । समुवेदं सम्पुण्यमुदयमागतं ।

अर्थ—देव भी कर्मके उदयवृत्त होकर भरण दुःखसे अलग नहीं रह सकते हैं तो अन्य प्राणी इस दुःखसे कैसे अपनी मुक्ता कर सकेंगे। सर्व त्रैलोक्यमें भी यदि उदयमें आये हुए कर्म को रोकनेका प्रयत्न किया तो भी यह उनमें नहीं कर जायगा अर्थात् चलवान् कर्म अनिवार्य है।

कह ठाड़ युष्कपत्तं नाएण पठंतयम्मि मेरुम्मि ॥

देवे वि य विहडयदो कम्मरस तुमम्मि का सण्णा ॥ १६२० ॥

कर्मणा पत्तनीन्द्रे तु परस्य क न्यचस्थितिः ॥

मेरो पत्तति यानेन युष्कपत्तं न तिष्ठति ॥ १६८५ ॥

वित्तयोदया—कह ठार युष्कपत्तं कथं तिष्ठत् युष्कपत्तं । वातेन पत्तति मेरो । अणिम्यायएयुषसंपथमदेवानपि
पुत्तरीयुत्तः कर्मणो भयत्यल्पयेत् ॥ संज्ञा ॥

एतत्समुपन्यस्य कर्मणोऽश्वत्थप्रतीकारतां दर्शयन्क्षुभकं वदुपेक्षायां सष्टमवस्थापयति—

मूढारा—पदमयमि पतति सति । देवे अग्निमाद्यष्टौषधैर्भयसंभ्रान्त्युपान । निहृदयदो अग्निमवतः । तुमन्मि
राये । आसन्नयुत्वौ मनुष्यमात्रे । का सण्या को विचारः । इच्छमानेनैदम्बसद्वेषयुपनीयमानं प्रतिबध्नुं शक्यते नेत्यमिति
चर्चोदितका युक्तिरिति साधन । लक्षणा ॥

अर्थ—जिस वायुसे गेह पर्वत भी स्थिर रह नहीं सकता है क्या उससे शुष्क पत्र स्थिर रहेगा? कर्मोदय
अग्निमादिक आठ गुणोंके धारक देवोंको बुझी बनाता है, हठर प्राणिवर्ग तो उनसे अत्यल्प शक्तिके धारक हैं क्या
उनको यद कर्म दुःख दिये बिना रहेगा?

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्माडु णत्थि कोइ जगे ॥

सज्जबलाइं कम्मं मलेवि हत्थीव णल्लिणिवर्णं ॥ १६२१ ॥

पलीयेभ्यः समस्तेभ्यो बलीयः कर्म निश्चितम् ॥

सद्वपलीयांसि सुद्राति कमलानीव कुंजरः ॥ १६८६ ॥

विजयोदय—कम्माइं कर्माणि यत्थति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कल्पायस्मात्सर्वेषां विंशुविद्याद्वय-
शरीरपरिवारादलानि भवन्ति । कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति ।

कर्मभलस्य सर्वयलोपमैकत्वमाह—

मूढारा—सज्जबलाइं पंचुविद्याद्वयशरीरपरिवारादिवलानि । मलेदि भवन्ति ॥

अर्थ—जगतमें कर्म ही अतिशय बलवान् हैं, उससे दूसरा कोई भी बलवान् नहीं है, जैसे हाथी कमलवनका
नाश करता है वैसे यह बलवान् कर्म भी सर्व वंशु, विद्या, द्रव्य, शरीर, परिवार, सामर्थ्य इत्यादिकोंका नाश करता है

इच्चेवं कम्मुदओ अवाराणिज्जोत्ति सुहु णारुण ॥

मा दुक्खायसु गणसा कम्ममि सगे उदिण्णमि ॥ १६२२ ॥

कर्मोदयमिति ज्ञात्वा दुर्निवारं सुरैरपि ॥

मा कार्पोमानसे दुःखसुदर्णे सति कर्मणि ॥ १६८७ ॥

विजयोदया—रथेयं कम्पुद्वयो इति शब्दः प्रकांतपरितस्मात्तिं सूचयति । एवं हस्त्युक्तपरामर्शो । कम्पुद्वयो कर्मोदयः । भयान्तिजोति अनिवाय इति । सुदुष्प्राप्य सख्यशक्त्या । दुष्कषायसु मणसा मा कार्पण्यं दुःखं मनसा । कर्ममिमि नगे उदिष्णमिय कर्मणि उदीर्णं ॥

प्रकृतं उपलब्धत्वं सपकमनसि निवेदयति—

मृत्पात्र—इच्छेयं इतिः मयाग्री । एवमुक्तपरामर्शो । उक्तप्रकारेण समानं कर्मोदयसाधनार्थवर्णनमिदमर्थः । सा दुःस्वप्नसु मा दुःस्वप्नसु मा दुःस्वप्नसु दुःस्वप्नसु मा मंसा इत्यर्थः । परमानंदमयो ब्रह्मस्येति भावः । मज्जमा । तदुदुःखमपि न दुःखं यत्र न संकुटिर्यते मनः । इति भावः ।

अयं—इस प्रकारेण कर्मका उदय दुर्निवार हे ऐसा समझकर स्वकीय कर्मका उदय होनेपर हे क्षपक ॥
तुं मननं दुर्गति मत्त हो.

पडिकूविदे वि सण्णे रडिदे दुक्खाविदे किल्लिठ्ठे वा ॥

ण य वेदणोवसामदि णेव विसंस्सो हवदि तिस्से ॥ १६१३ ॥

विपादे रोदने शोके संकुले विहिते सति ॥

न पडिोपशमं गति न विशेषं प्रपद्यते ॥ १६८८ ॥

विजयोदया—पडिहृषिदे परिदेयने कृते शोके । विपादे रदने, दुःखे, संकुले वा न वेदणोवसाम्भवति । अपि काधियतीनयो भवति वेदनायाः ॥

न च परिवेयनादिना दुःखस्योपशमोऽनकर्ण्यो या कश्चिद् भवति केवलमात्मनः क्लीवता प्रकारवत् इति सिध्यति—

मृत्पात्र—पडिकूविदे आर्तविलग्निति पुरुषे आर्तविलग्नये वा कृते । एवमुक्तस्यापि व्याख्येयं । विसण्णे शोके कृते । रडिदे रोदने कृते । दुष्कषादे दुःखे कृते । किल्लिठ्ठे स्वस्य परस्य चोपवागे कृते । विसेस्सो अतिशयः स च प्रकरणादिमर्क्यः । उक्तं य—

विपादे रोदने शोके संकुले विहिते सति ॥

न पीडोपशमं गति न विशेषं प्रपद्यते ॥

अर्थ—शक्ति, विवाद, दुःख, संकलेशपरिणाम करनेपर तथा खन करनेसे भी दुःखोंका क्षयन नहीं होता है. अथवा उसमें कुछ विशेषता भी नहीं होती है.

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संक्खिसेण होइ स्वयसरस ॥

अट्टं सुसंक्खिसे उच्चाणं तिरियाउगणिमित्तं ॥ १५२४ ॥

नान्योऽपि लभ्यते कोऽपि संक्खेशकरणे गुणः ॥

केवलं पश्यते कर्मे नियमगतिनिबंधनम् ॥ १६८९ ॥

विजयोऽस्या—अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ अन्योऽप्यत्र गुणो न संक्खिच्छोकादिना संक्खेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं नारभन्ते यस्य स्तार्यं फलं अस्ति । संक्खेशेन न किंचित्फलं अपि मुमुक्षोः, अत्र तु संक्खेशपरिणामो ह्यार्तं ध्यान मनोप्राप्तियोगोपायं तच्च तिरियागुणो निमित्त । ततोऽप्यत्र स्वमीधं भयं रथदीयः संक्खेशो दुःखस्य तिरियागयत् निपात-पतीति भयोपवर्शनं कृतं ॥

परिदेयनादिदुष्यतादुष्पकारांतरमपि मुमुक्षोर्न भवत्यपि महाननुपकारः स्यादित्योवेदयति —

सूक्ष्मारा—अण्णो वि प्रपृच्छदुःखोपद्रमापकार्यदिलक्षणतः गुणयंबंधसाधुकाराविकः । गुणो उपकारः । अस्य अत्र अनङ्करोद्वागवतिरे सति दुःखे । संक्खिसेण परिकृजितादिना । स्वयस्स अष्टुभयबंधपणोद्यतस्य । अट्टं वेदनास्सुखसि-न्नाहातन्यमार्तं ध्यानं । तिरियाउगणिमित्तं तिरियागुपद्रवबंधनिबंधनं । ततोऽस्मादल्पदुःखादुद्धिजननं भवंतं दुःखस्य तिरियागुपायत् संक्खेसः पातवतीति भयोपवर्शनार्थमिदं ।

अर्थ—शोभादिक मङ्गलेश परिणाम उत्पन्न करनेमें कुछ भी फायदा नहीं होता है. जिससे फायदा होता है शुद्धिमान लोक यही कार्य करते हैं. मङ्गलेश परिणामसे मुमुक्षुओंको कुछ भी फल प्राप्त होता नहीं उनमें तो उलटा अमनोत्तम मिश्रयोग नामक आर्तध्यान उत्पन्न होता है. अर्थात् विष, कंठक, अशु आदिक प्रणिहल-अनिष्ट पदार्थोंको प्राप्ति होनेपर वे पदार्थ जैसे कर्म अलग होंगे ऐसा बार बार चिंतन होना ही अमनोत्तम मिश्रयोग नामक आर्तध्यान है. इसकी उत्पत्ति संक्खेश परिणामसे होती है. यह ध्यान तिरियागुका बंध होनेमें कारण है. अतः हे छपक! यदि तू इस अल्प दुःखसे भयपुक्त होगा तो उत्पन्न हुए संक्खेश परिणाम तुझे दुर्निवार तिरियागतिमें गिरा देगा. अतः तू संक्खेशपरिणामोंको छोड़ दे.

हृदमाकासं भुङ्गीहि होइ तह कंठिया हुसा होति ॥
सिगदाओ पीलिदाओ घुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥ १६२५ ॥
हते सुष्टिभिराकाशं विहितं रुपसंडनम् ॥
स सिलं मयितं तेन संक्लेओ येन सेवितः ॥ १६२६ ॥

विजयोदया—हृदमाकासं हतं सुष्टिभिराकाशं ताडितं । रुपसंडनं तंडुलायं । सिक्कापीडनं तिलयंत्रे तैलार्थं ।
जलमंधनं च घृतार्थं यथापार्यकं तथानयकः सङ्क्षेपो वेदनाकुलस्य । वेदनायाः अनिराकरणत्वात् नैरर्थक्यसाम्यत्वात् प्रेदो-
पन्यासी इष्टान्शब्दाद्यौमित्तकयोः ॥

वेदनाकुलस्य संक्लेओऽर्थव्यर्थसमर्थनार्थं बहुवचने दृष्टान्तानाचष्टे—

मूलात्—हृदं अपनारज्याभिभवाय ताडितं । कंठिजा तंडुलार्थं कुट्टिताः । पीलिदाओ तिलयंत्रे निक्षिप्य तैलार्थं
पूर्णताः । घुमिलिरुदयं मथितमुदयं घृतार्थं । तेन येन वेदनासांस्वर्थं संक्लेओः कृत इति संबंधः । तं सत् । यतः संक्लेओ-
वेदनीयसमादेः, पुण्यर्थधादिषां प्रत्युत तिर्यगायुर्ध्वपः स्यात् । तत्कं च—

हत्वं सुष्टिभिराकाशं विहितं रुपकंदनं ॥

स सिलं मयितं तेन संक्लेओ येन सेवितः ॥

अर्थ—जैसे आकाशको सुष्टिजैसे मारना, तंडुलोंके लिये भूसा कुटना, तैलके लिये घाटु को यंत्रसे
पीतना और धीके लिये जलका मंथन करना जैसा व्यर्थ है वैसे दुःस्वानिराकरणके लिये संक्लेओपरिणाम उत्पन्न
करना व्यर्थ है, क्योंकि वेदनाकुल मनुष्योंके वेदनाओंका परिहार करनेमें संक्लेओ परिणाम असमर्थ है, वहां इष्टांत
आकाशादिकको कुटना और दाईर्घ्यत्वं संक्लेओपरिणाम इन दोनोंमें साम्य दिखाया है, निरर्थकत्वरूप धर्म दोनों में
होनेसे साम्य स्पष्ट है.

पुण्यं सयमुद्यमुत्तं काले णाएण तेत्थियं दब्बं ॥
को धारणीओ धणिदस्स वेतओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२६ ॥

पूर्वं मुक्तं स्वयं द्रव्य काले न्यायेन तत्स्वयं ॥

अधमर्णस्य किं तु स्वयुत्तमर्णाय यच्छत ॥ १६९१ ॥

विजयोदया—पुत्र्य सयमुपभुक्त पूर्व सयगुणयुक्त । काले जायेन न्यायेन । तेत्तिग द्रव्य तावद्द्रव्यं । को दुष्पराधो होला धाराणिगो को दु शितो भवेदधर्मण घण्डिदग्निम उत्तमवै । इदते स्व द्रव्य दृष्टि ॥

तयमादाय मुक्तं यावद्द्रव्यं तावदेव काले धनिकाय प्रयच्छतो धारणिकस्य स्वयमर्जितपूर्वस्य पापस्य फल-
मनुभवस्तत्तत्तस्य किं तु ये स्यादिति ज्ञात्वा पूर्वकर्मोद्भवछवैतद्द्रु तसहस्रगुणभोक्षमिव पश्यन्मास्य दुःखबलसो भूरिति

स्मरयिषुं प्रागुत्तमेन गाथात्रयमग्यात्वावि—

मूढात्रा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष योग्य कालमें स्वय धनिक से धन लेकर उसका उपभोग करता है परंतु जब वह धनिक उसमें योग्यकाल व्यतीत होनेपर धन लेता है तब वह पुरुष क्या लिख होता है? क्योंकि वह जानता है कि मैंने कर्मस्वप्ने लिया हुआ धन धनिकको लौटा देना मेरा कर्तव्य है

तद्देवेव संयं पुत्र्यं कन्दस कम्मस्स पाककालम्मि ॥

पायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होइज जाणंता ॥ १६९२ ॥

कृतस्य कर्मणाः पूर्वं स्वय पाकमुपेयुषः ॥

विहारं बुध्यमानस्य कस्य दुःखायते मन- ॥ १६९३ ॥

विजयोदया—तद्देवेव तथा देव । मय पुत्र्य कन्दस कम्मस्स पाकमात्रा पूर्वं कृतस्य कर्मण । पाककालम्मि फलदानकाले न्यायेनगते । को णाम दुष्पराधो होला जाबतो को नाम दु शितो भवेदधर्मात् ॥

मूढात्रा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसी प्रकार जो जीवने पूर्वजन्मे कर्म किये हैं तमका फलदानका काल आवश्यक प्राप्त होता ही है. उसके प्राप्त होनेपर कोन जाता पुरुष दु खी होता है अभिप्राय यह है कि कर्म जब फल देने लगेगा उस समय उनका ज्ञान परिणामोंमें अनुभूत करना चाहिये.

इय पुण्यकन्दे इण मज्ज महं कम्मणुगसि णाऊण ॥
 रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२८ ॥
 पूर्वकर्मगततासात् सत्त्वं त्वं महामते । ॥

ऋणमोक्षमिव ज्ञात्वा मा भूर्मानसि दुःखितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—इय पुण्यकन्द इय बयभूत । दुक्ख पुण्यकर्मणा कृतं । इणं इव दुःखं । अज अय ।
 मह कम्मणुगसि मम कर्मणासि । णाऊण ज्ञात्वा । रिणमुक्खण ऋणमोक्ष । दुक्खं पिच्छसु दुःखं मेक्षस्य । मा दुक्खिओ
 होज्ज दुःखितो मा भू ॥

मूढारा—इणं अमुभूयमानदुःखाभिख्यत्तपाकं । महं मम ॥ क्कं च—

पूर्वकर्मगततासात् सत्त्वं त्वं महामते । ॥

ऋणमोक्ष इति ज्ञात्वा मा भूर्मानसि दुःखितः ॥

अर्थ—जो दुःख में इस समय मोग रहा है वह पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही है- मेने पूर्व जन्ममें कुकर्म
 नहीं किये होते तो इस जन्ममें उनका फलमोग मेरेको कैसे ॥ हो जावा ? यह तो मैं ऋणमोक्ष कर रहा हूँ ऐसा
 चिन्तन हे क्षणिक' तू इदयमें कर और दुःखी मत हो ।

पुण्यकन्दमज्ज कम्मं फलितं दोसेण इत्य अण्णस्स ॥

इवि अण्णो पओगे णक्खा मा दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२९ ॥

स्वयं पुराकृतं कर्म ममाद्य फलितं स्फुटम् ॥

दोषो नैवात्र कस्यापि मत्वा दुःखासिकां त्यज ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—पुण्यकन्दमज्ज कम्म पूर्वकृत मदीय कर्म फलितं फलित । दोखो ण एत्थ अण्णस्स दोषो नैवाभ्यस्य
 इति । अण्णो पओगे णक्खा मा । मा दुक्खिओ होज्ज मा कृथा दुःख ।
 पुनस्तदेव भावयति—

मूढारा—अण्णो पओगे एय भोक्ख्य स्वयं कृतत्वात् ॥

अर्थ—मैंने किया हुआ पूर्वकर्म अब मुझको दुःख दे रहा है. इसमें अन्य किसीका भी कष्ट नहीं है. जन में स्वयं कर्म किया था तो अब उसका फल मेरेको ही भोगना पड़ेगा ऐसा विचार करके हे क्षयक! तू कष्टी मत हो.

मृगाराधना

१४७८

अविदा अभूदपुत्रं अण्णोसिं दुक्खमप्यणो चेव ॥

जावं वविज्ज तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं ॥ १६३० ॥

अमृतपूर्वमन्योपाभात्मनो यदि जायते ॥

तदा दुःखासिका कर्तुं भानसे युज्यते तत्र ॥ १६३५ ॥

विज्ञयोक्तव्या—अविदा यदि नायत् । दुःखमन्येवां भमूलपूर्वं । अण्णो येव जावं वविज्ज आत्मन एव जातं भवेत् । तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं । ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्तं ॥

किं च तर्पत्सारिसाधारणं पणविपक्तिं तत्र दुःखमनुभवतः का दुःखासिकेति सिध्यति—
मूढारा—अण्णो येव तर्पेत् । दुक्खाइदुं दुःखं कर्तुं । नक्तं च—

अनिष्टयोगनिवविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजौ ॥

इत्यतमनुद्वेषा विगणय्य भीमात्र सेदयत्यात्ममनो विपादैः ।

अर्थ—यदि हमने पूर्वजन्ममें तो दुःख देने वाला कार्य नहीं किया था और यदि इस समय हमको दुःख भोगना पड़ रहा है तो अवश्य दुःख करना अवस्था संकलशपरिणाम करना योग्य है.

सन्वेसिं सामण्णं अवससिदद्वव्यं करं काले ॥

णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥ १६३१ ॥

अवश्यमेव दातव्यं काले न्यायेन यच्छुतः ॥

सर्वसाधारणं वंदं दुःखं कस्य मनीषिणः ॥ १६३६ ॥

पिजयोक्ता—सन्वेसिं सामण्णं सर्वेषां मन्वानां धामण्यं । काले कर्मविनाशनकाले । अवससि दातव्यं अवश्य दातव्यं । यस्मात्समाप्तं । करं करणव्ययान् दाऊण दत्त्वा । णाएण य न्यायेन च को णरो दुक्खादि विलवदि वा को नरो दुःखं करोति विलपति वा ॥

मूलारा—करं सिद्धायं । इवसादि दुःखं करोति । विडवदि परिदेवनं ॥ तोषि ॥

अर्थ—मर्ग मर्व्योको मुनिव्रत कर्मविनाश करनेके समयमे अवश्य देना योग्य है- क्यों कि राजाको कर देनेसे क्या कोइ मनुष्य दुःख करेगा? विलाप-शोक करेगा? जेसा कर देना न्याय प्राप्त है वैसे मुनिव्रत धारण काला अथवा दूसरोको देना अवश्य कार्य है-

सन्वेत्ति सामणं करभूदमवत्सभाविकम्फलं ॥

इय मज्ज मेत्ति गच्छा लभसु सदि तं धिदि कुणसु ॥ १६३२ ॥

सर्वसाधारणं दुःखं दुर्नियारमुपागतम् ॥

सहमानो मुने मायूहेःखितस्वयं मज स्वस्तिम् ॥ १६३७ ॥

विलापोदया—सन्वेत्ति सर्वेषां विनेवानं । सामणं करभूदं अवत्स भाविकम्फलं अवश्यभाविकम्फलं । एणमज्जेनेदि इदं धामपथं मज करभूतं ममेति । गच्छा लभसु । लभसु सदि सृष्टिं मतिपपस्य ॥ तं वत् धिदि कुणसु पृति कुरु ॥

मूलारा—सदि सृष्टि । एकमात्राद्वारप्रलाह्यानविक्रयो । धिदि कुणसु

मुक्तेस्सिता मुद्धमोहान्मया सर्वेऽपि पुत्रकाः ।

उचिच्छेत्तिज तेत्पन्न मम विहस्य का सृष्टा ॥

समभयमहर्निद्रोऽनंतलोऽनंतवारात् ॥

पुनरपि च निगोदानंतशोन्ताविपृत्तः ॥

किमिह फलमसुखं तवदयापि भोक्त्वे ।

सकलफलपिपत्तेः कारणं देव! देयाः ॥

इत्येवमादिसंक्षोपमानवाक्यं भगवदनाद्वेदनामतिकाराधितपापौषधप्रणावभिलाषं मा कार्षीरित्यर्थः ॥

अर्थ—यह मुनिव्रत कर्म का फल है, यह करदानके समान है- ऐसा समझकर सर्व मर्व्योको अवश्य

धारण करना चाहिये. यह भेदा भुनियत कर के समान है ऐसा समझकर पूर्वमें जो आहारका त्याग किया था उसका स्मरण करो और धैर्य धारण करो.

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंधसन्निस्स ॥

पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो धरं मरणं ॥ १६३३ ॥

साक्षीकृत्य गृहीतस्य पंचापि परमेष्ठिनः

सयनस्य पर सुदुः परत्याख्यानस्य भंगतः ॥ १६२८ ॥

विशेषोपेक्षा—भगवत सिद्धकेवलि अविउत्ता सन्त्यस्यसन्निस्स । अर्हंत, सिद्धान्, केवलिन, तपस्वी देवता सर्वं च संघं साक्षितेनोपपादय हृतस्य । पचपञ्चाणस्स भंजणादो मत्त्याख्यानस्य विनाशनात् । धरं शोभनं मरणं मरणपरित्यागः ।

अप्यपि बोध्यमानो दुर्पारमोहोदयात्प्रत्याख्यानं यत्नामभ्युपवति तदा सर्वमहाबोधोपपन्नमेतन्नं प्रत्यक्षस्याख्यो गुरुणे सुपुनरेन्दुमाह—

मूलात्ता—अविउत्ता तत्तथानवाप्तिदेवताः । अर्हदादयः साक्षिणो यत्र तत्तत्साक्षि तस्य । पचक्खाणस्स पदस्स भंजणादो मत्त्याख्यानाद्वारसेरुनादित्यर्थः ।

अर्थ—अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सामान्य केनली, दीक्षास्थानस्थित देवता और सर्व संघ इनके साक्षीति जो आहार के त्यागका तब धारण किया जा उसका त्याग करना योग्य नहीं है. उससे तो मरनाही अच्छा है.

कथं मरणदशोभनता प्रत्यक्षानमस्येत्तादात्म्यामाचरे प्रपद्यमुत्तरं प्रत्याख्यानमंडवे दुष्टतां निवेदयितुम्—
आसादिदा ततो होति तेण ते अप्पमाणकरणेण ॥

राया निव सन्निवकदो विसंब संतेण कज्जम्मि ॥ १६३४ ॥

अग्रमाणयता तेन न्यक्कताः परमेष्ठिनः ॥

कार्याश्रितवर्तमानेन साक्षीकृतनृपा इव ॥ १६९९ ॥

विजयोद्या—आसादिवा परिभूताः । तदो ततः पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं । तेन प्रत्याख्यानभंग-
कारिणा । ते अर्हदादयः । अग्रमाणकरणेन अग्रमाणकरणेन तत्साक्षिकं कर्म प्रतिष्ठातं विनाशायता ते अग्रमाणीकृता भवन्ति ।
अग्रमाणकरणे च ते परिभूता भवन्ति । राजा विद्य साक्षिकको राजेव साक्षीकृतः । कर्ममि विस्वदेतेण कार्ये विसे-
यदता । एतदुक्तं भवति राजसाक्षिक प्रतिष्ठातं कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ।

इतः प्रत्याख्यानग्रहणदुष्टता प्रवर्धनायेष्ट—

मूल्यारा—आसादिदा अवशाहवाः कृताः । तदो प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं । तेण प्रत्याख्यानभंगकारिणा । अग्र-
माणकरणेन तत्साक्षिकप्रतिष्ठानानुष्ठाननिष्ठपणादिसंवादेन । यद्य यं विग्रहयते स तं परिभवतीति प्रतीतमेव । राजा
वि य दृष्ट इष्ट । विस्वदेतेण व्यभिचरता राजसाक्षिकं प्रतिष्ठातकर्मोक्तता राजा यथा परिभूतो भवत्येवमर्हदादयोऽपि इत्यर्थः॥

प्रत्याख्यानका भग करना मरणसे भी कैसा भुता है इस प्रश्नका उत्तर आपार्य सविस्तर देते हैं. प्रथमतः
प्रत्याख्यान का नाश करना क्यों भुग है? इसका सुलसा करते हैं—

अर्थ—प्रत्याख्यान ग्रहण कर जिसने उसका त्याग किया है उसने तो अरहंतादिकों को साक्षीभूत सम-
झकर उत्तन प्रत्याख्यान लिया था यदि उसने प्रत्याख्यानको नष्ट किया तो अर्हंतादिकों को उसने अग्रमाण माना
था ऐसा समझना चाहिये उनको अग्रमाण माननेसे उसने उनका तिरस्कार—अनादर किया है ऐसा भाव सिद्ध
होता है. जैसे किसी मनुष्य ने किसी कार्यमें राजाको प्रमाणभूत मानकर प्रतिज्ञा की थी परंतु उसने उस कार्यकी
प्रतिज्ञाका यदि भंग कर दिया तो उसने राजाको अग्रमाणभूत समझकर उसका अपमान किया ऐसा लोक समझते
हैं. इसी प्रकार प्रत्याख्यान लेकर उसको तोहनवाले पुरुषने अर्हंतादिकों को अग्रमाणभूत माना है उसने उनका
तिरस्कार किया है ऐसा समझना चाहिये.

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवण्ण ॥
तत्सत्त्वित्त्वं कयं सो पक्वक्खणं ण मंजिज्ज ॥ १६३५ ॥

प्रमाणीकुरुते भक्तो यो योगी परमेष्ठिनः ॥
तत्साक्षिकमसौ जातु प्रत्याख्यानं न मुंचति ॥ १७०० ॥

विजयशंकरा—जड़ दे ऊरा पथानं यदि ते कृताः प्रमाणं । अरहताधी अहंदादयः । भवेज्ज मवेज्जुः । खवणं भवेज्ज । नन्नादिमर्दं चडे कन्तं न्नायं तित्तासिके कृता प्रत्यख्यानं । सो ण मेलिज्ज क्षपको च नाप्रयेन् ॥

हराभिरैके दर्शयन्ती—

मूढारा—प्रमाणं अतिक्रमणाविश्रय । हवे-ज्ज भवेज्जुः ॥

अर्थ—यदि उमने अर्थांश्च क्षपकने अहंदादिकोंको समझाए ममान्मृत-वस्थान करनेवाले समझा है तो उनके प्रत्यक्षमें दिया हुआ प्रत्याख्यान नष्ट करना मयके लिए कैसा उचित हो सकता है ? अर्थात् अहंदादिकोंको नाशोभत ममसुतर किया हुआ प्रत्याख्यान तोड़ देने से मिथ्यात्वकी प्राप्ति होती है, जो कि अनंत संसारमें भ्रमण करानेमें हेतु है।

सविस्वकरायहलीलणमात्रहहं णरत्त जह महादोसं ॥

तह जिणवरादिआमादणा वि दोसं महे कुणदि ॥ १६३६ ॥

साक्षीकृत्य परायूयाः कुर्यते परमेष्ठिनः ॥

पुनःसर्वो मद्भक्तो भूमिपाला इव स्फुटम् ॥ १७०१ ॥

पितृयोदया—मज्झिमनिकायपुस्तकमें साक्षीकृत्यपदवाच्यत्वात् । अर्थात् यदि णरत्त जह महादोसं जानयति यथा मत्तस्य मत्तस्यं दोषं । तह जिणवरादि आमादणा तथा अहंदादिसादनायि । दोसं महे कुणदि दोषं महादोसं करोति ॥

विनायमात्राद्योपमहत्त्वं सर्वध्वजे—

मूढारा—लीलणं परिभक्तः । महे महादोसम् ॥

अर्थ—किमी आश्रम में राजाको साक्षी समझकर हमने यदि वह कार्य नहीं किया अर्थात् प्रतिज्ञाका नाश किया तो हमने राजाका परिभव किया ऐसा मझना चाहिये, प्रतिज्ञा भंग करनेवालोंको राजा दंडित करता है वह उसको मझान् अपराधी समझकर दंडका घोर दूख देता है, उसी प्रकार जिनेश्वरादिके सामने प्रतिज्ञात् प्रत्याख्यान का भंग करनेपर जिनेश्वरादिकोंका हमने घोर अभिनय किया है ऐसा समझना चाहिये, यह अभिनय महादोषोंको उत्पन्न करता है।

तं महा-तं वीरं कथयति—

निथयरपवयणमुदे आइरिए गणहरे महडीए ॥

एदे आसादंतो पबइ पारंचियं ठाणं ॥ १६३७ ॥

संघनीर्यकराचार्यश्रुतार्थिकमहर्द्धिकान् ॥

वराभवति योगी च स पगंचिकमंचति ॥ १७०२ ॥

विजयोदया—निथयरपवयणमुदे तीर्थकरान्, रत्नकरं, आगमं, । आर्यए आचार्यान् । गणहरे गणधरान् ।

महडीए महर्द्धिकान् । एदे एतान् असदंतो असादयन् । पबइ प्राप्तोति । पारंचियं ठाणं पारंविश्रामधेयं प्रायश्चित्तस्थानं ॥

तटोपमहर्त्तव्यं तत्परीकारशुक्लवपणवर्द्धनेन व्यवहराजयति—

मसार—पवयण रत्नकरं । पारंचियं ठाणं पारंचिकं नाम प्रायश्चित्तं ॥

उसी महान् दीपोंका आचार्य कथन करते हैं.

अर्थ—तीर्थकर, रत्नग्रन्थ, आगम, आचार्य, गणधर, और महर्द्धिक मुनिराज इनकी आसादना करने-

वाला पारंरिक नामक प्रार्थनको प्राप्त होता है. अर्थात् पारंरिक प्रार्थन लेने पर ही उसकी बुद्धि होती है.

सकलीकरायासादणं हु दोसं करे हु एयभवे ॥

भत्रकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥ १६१८ ॥

निरस्कृता मृषाः संतः साक्षित्वेऽस्य शरीरिणः ॥

एकत्र ददन्ते दुःखं जिनेन्द्रा भवकोटिषु ॥ १७०३ ॥

विजयोदया—साक्षीइतराजाभक्तजगतादोषवर्द्धदायकमानजितकोपो महानिति कुर्याति । स्पष्टार्थो नाथा ॥

रत्नायमाननआदोषाजिगायमाननदोषस्य महतां व्यनक्ति—

दूखरा—दोसं दुःखं, तत्कारणं च ।

अर्थ—साक्षीभूत राजाकी आसादना करनेसे एक भवमें ही माणीको हानि भोगनी पड़ती है अर्थात्

राजा एकही भवमें उसको दंड या शिखा देगा परंतु विनेधरादिकोंकी आसादना करनेसे इस जीवनको कोठारविधि

भगोमं दुःख भोगना पढता है. राजाकी आसादनाकी अपेक्षा जहंदादिकोकी आसादना महान् दुःख देती है ऐसी अभिप्राय ममक्षना चाहिए.

१४८४

मोक्त्वाभिलासिणो संजदस्त णिघणमणं पि होह वरं ॥
 पञ्चक्खणं भंजंतरस ण वरमरुहददिसविक्खदा ॥ १६३९ ॥
 णिघणमणमेयमेवे णात्तो ण पुणो पुरिहजम्मसु ॥
 णात्तं ययभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥ १६४० ॥
 ण तहा दोत्तं पावइ पच्चक्खणमकरित्तु कालगदो ॥
 जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खणं महावोत्तं ॥ १६४१ ॥
 मोक्षाभिलापिणः साधोभरणं शरणं वरम् ॥
 प्रत्याख्यानस्य न त्यागो जिनसिद्धादिसाधिणः ॥ १७०४ ॥
 एफन्न कुरुते दोषं मरणं न भवन्तरे ॥
 व्रतभंगः पुनर्जातो भवानां कोटिकोटिषु ॥ १७०५ ॥
 प्रत्याख्यानमनादाय त्रियमाणस्य देहिनः ॥
 न तथा जायते दोषः प्रत्याख्यात्यजने यथा ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—ज तहा दोत्तं पावदि न तथा दोष प्राप्नोति । पच्चक्खणमकरित्तु प्रत्याख्यात्यमहत्त्वा । काल-
 गदो भुक्तः । जह भंजतो पावदि यथा प्रत्याख्यानभंगमहत्त्वोपेयं प्राप्नोति ।
 सुसुखयत्नेः संन्यस्तचित्तत्वं भाषायुगेन पुनरेषुखत्वे—
 मूढात्—भंतुं यस्तुम् ।
 मूढात्—एषम् ॥ एते द्वे श्रीबिलयादयो नेच्छन्ति ॥
 अष्टवसंन्यासाद्वृत्तसंन्यासस्य मरणे सुतरां दोषमाह—

प्रत्याख्यानमदृश्य मूलस्तत्रैव दोषवान् ॥

प्रत्याख्यानं यथा भंजनं महान्तं दोषमाप्नुवान् ॥

अर्थ—मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा करनेवाले मुनिका मरण होना भी अच्छा ही है परन्तु अहंदादिकोको माधी कर लिए हुए प्रत्याख्यानका भंग करना कभी भी योग्य नहीं होमा- मरण होनेसे एक भयका ही नाश होगा अर्थात् आगेके जन्ममें पुनः माणी अपनी उन्नति कर संकेता परंतु व्रतयोग करनेसे ऐसी प्राणीकी हानि होती है कि प्राणके कोट्यारवि भयोंमें भी वह अपनी उन्नति करनेमें असमर्थ ही हो जाता है.

अर्थ—प्रत्याख्यान किए बिना ही जिसने प्राण छोड़े है वह उस दोषको प्राप्त नहीं होता है जिसको कि प्रत्याख्यान करके छोड़ने वाला प्राप्त होता है. अर्थात् आहारका त्याग करने की प्रतीक्षा किए बिना ही जिसने मरण किया होगा उसके मनमें प्रथमं करने लायक भाग नहीं रहते हैं इसलिए वह महान् दोषको प्राप्त होता नहीं परंतु आहारत्यागकी प्रतीक्षा ले चुकने पर फिर जो अपनी प्रतीक्षा तोड़ता है उसके इदमं संकेतशपारिणाम नीयतया उत्पन्न होते हैं अत एव वह महान् दोषी होता है.

प्रत्याख्यानान्नाहारमंगः स आहारः प्रार्थमानो हिंसादिदोषान्तरि लाभात्तथतीति विगदति—

आहारस्य हिंसइ भणइ असत्त्वं करेइ तेषकं ॥

रुसइ लुब्धइ मायां करेइ परिगिण्हइ य संगे ॥ १६४२ ॥

जिनस्ति देहिनोऽन्वार्थं भापते वितथं वनः ॥

परस्य हरते द्रव्यं स्वीकरोति परिग्रहम् ॥ १७०७ ॥

विजयोभवा—आहारस्य हिंसइ आहारस्य च जीवनिमायाहन्तिनस्ति । अमल्यं भणति, स्वीकरोति । रुप्यत्य-
नामे, रुप्यति नामे, मायां करोति, परिगृह्णाति संवाच ।
अपारोऽर्द्धादिमात्रिकं प्रत्याख्यानः स प्रार्थमानोऽहिंसादीनेषान्दोषान्दुर्गन्धति इति वक्तुमुत्तरप्रबंधमाह

मूला॥१—ईमदि पद्बीबत्तिकायादिनन्ति । रुसदि भोजनवदंगप्रतिपंकाय कुप्यति । लब्धमदि ग्रहं विधेये धनदवादातरसाग्ने । संगे यदयदिष्यादीन ।

छोटं दूण आहारका सेवन करनेसे प्रत्यास्थानमंग होता है- प्रत्यास्थानमंगो छोड़कर जो आहारकी अभि लाषा करता है वह हिंसादि मंगूषो दोषोंको उत्पन्न करता है इन अभिप्रायको प्रगट करते हैं—

अर्थ—यह ज़ीय आहारके लिये छद्मचय जीवोंको मारता है, असत्य वचन बोलता है, चोरी करता है, आहारका लाभ न होनेपर रुठ होता है, और होनेपर जादा लाभ पढ़ता है, आहारके वास्तो मनुष्य कपट करता है, तथा परिग्रहोंको पढ़ता है,

होइ णरो गिह्जो पयहइ तवणाणंदसणचरिन् ॥

आभिसकलिणा ठइओ छाये मइलेइ य कुलस्स ॥ १६४३ ॥

रत्नग्रयं जगत्सारमाहारार्थं चिद्विचसि ॥

निस्सपो सुवनल्यातं मलिनीकूत्ने कुलम् ॥ १७०८ ॥

विजयोदयः—नोइ णरो गिह्जो निर्लेज्जो भवति नरः । आहारार्थं पर्यायान्तरमात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञानं, दानं चारिने च । आभिसकल्येन कलिनायक-च, छायां कुलस्य मरिचनयति वरोधिदुषोदनादिना ॥

मूला॥२—गिह्जमो आहारार्थं परयांचादिरुत्पात् । आभिसकल्ये आहारसंभ्राम्येन कलिना पापरुमेणा । ठइओ वयाप्ताः । अन्ये कलिने आसक्तः । ठइओ वुत्तित इति व्यावकये । ज्ञायं ज्ञोभां महात्म्यं वा ॥

अर्थ—आहारके लिये मनुष्य धाचना करता है, जिससे उसको निर्लेज्जता प्रकट होजाती है, आहारके लिये वह तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यको तिलांजलि देता है, आहार मंत्रारूपी पापके वेश दोकर अपने कुलको मलिन करता है,

णाभदि बुद्धी जिम्भावसरस्स भंदा वि होदि तिक्त्वा वि ॥

जोणिगसिद्धेसलमो व होइ परिसो अणणवसो ॥ १६४४ ॥

जिह्वेन्द्रियवशात्प्राशु बुद्धिस्तीक्ष्णापि नश्यति ॥
संपद्यते परायत्तो योनिगच्छुपलम्बवत् ॥ १७०९ ॥

विजयोक्ता—प्रासदि बुद्धी बुद्धिर्नश्यति । आहारलम्बवत्प्राशु बुद्ध्यायुक्तविवेकाकरणत् । कस्य । जिह्वाप्राशस्य
तीक्ष्णापि मनी पूयं बुद्धिः कृडा भवति । स्मरणमलोपलम्बता अर्थयाथारूपं न पश्यतीति पारम्यीकप्रेलशलम्बाल्प्य इव
भवति पुनरोपलम्बवत् ॥

मूलरा—प्रासदि आहारलम्बवत्प्राशु बुद्ध्यायुक्तविवेकाकरणत् । मंदा स्मरणमलोपलम्बता । अर्थयाथारूपं न
पश्यतीत्यर्थः । लोपिगामितेसलम्बो वयलेगवत्प्राश इव ।

अर्थ—जो मनुष्य जिज्ञासके वश होता है, उसकी बुद्धि नष्ट होती है, अर्थात् वह आहार लुब्ध होकर
पुत्तायुक्त का विचार मनमें से निकाल देता है, जिज्ञासके वशीभूत हुए मनुष्य की बुद्धि, प्रथम यद्यपि तीक्ष्ण होगी
तो आग वा मलिन होती है, रन्ध्रों लुब्ध होकर पदार्थोंका यथार्थ निश्चय करनेमें वह असमर्थ होती है, आहारलो-
पुत्र मनुष्य वज्रके वधनेमें मानो वधा हुआ विलकुल अस्वतंत्र होता है,

धीरत्तणमाहृष्यं कदण्णवं विणयधम्मसत्तभावो ॥

पयद्वह कुणह अणत्थं गल्लग्गो मच्छओ वेव ॥ १६४५ ॥

धम्मधैर्यकृतज्जत्तमाह्मस्स्यानि निरस्यति ॥

महान्तं कुर्वतेऽनर्थं गल्लग्गो यथा अपः ॥ १७१० ॥

विजयोक्ता—धीरत्त धीरत्वं, माहात्म्य, उतकतां, विमयं, धर्मधर्मां च प्रजहति । करोत्यनर्थेऽहं च । प्रज-
हति करोत्यनर्थमात्मनः । गलान्द्रज्जमाहृष्य इव ॥

मूलरा—१ दण्डा कृतवत् । अजस्रं मरणात् दुःखमात्मनः । गल्लग्गो वहिशासकः । मच्छओ वेव
मरत्य इव ॥

अर्थ—आहारके वश होकर मनुष्य धर्म, महत्ता, कृतवत्ता, विनय, धर्मश्रद्धा, इन गुणोंको छोड़ देता है,
गलमें लगी हुई मछली जैसे अपने प्राणोंको छोड़ देती है वैसे आहारलुब्ध पुरुष भी अपने प्राणोंको छोड़ देते हैं,

आहारत्यं पुरितो माणी कुलजावि पहियकिची वि ॥

मुंजेति अमोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥ १६४६ ॥

कुलीनो धार्मिको मानी ख्यातकीर्तिर्विचक्षणः ॥

अभक्ष्यं वल्मते वस्तु विरुदां कुरुते क्रियाम् ॥ १७११ ॥

विजयोदया—आहारस्य आहारार्थं युक्ते अभोजनानि पुरुषो । मानी कुलीन , अशितकीर्तिरपि अकल्पीयं करोति ॥

मूजारा—माणी मानिनोऽपि । अकिच्चं च फलजायोग्यमपि ॥

अर्थ—आहारके वग होकर पुरुष अभक्ष्यभक्षण भी करता है मानी, कुलीन, कीर्तिमान भी पुरुष आहार लुब्ध होकर अक्षय्यं करते हैं

आहारत्यं मज्जारिंसुमागि अही मणुस्सी वि ॥

दुन्मिक्खादिसु खार्यति पुत्तभंडाणि दइयाणि ॥ १६४७ ॥

इहपरलोइयदुक्खाणि आवहते णरस्स जे दोसा ॥

ते दोसे कुणइ णरो सत्वे आहारगिच्चीए ॥ १६४८ ॥

दुर्भिक्षादियु मार्जरीशिशुमाराहिमानवाः ॥

वह्णमान्यपल्यानि नक्षयन्ति बुभुक्षिताः ॥ १७१२ ॥

ये जन्मद्वितये दोषा-केचनानर्थकारिणः ॥

ते जायन्तेऽलिला जन्तोर्राहारासक्तचेतसः ॥ १७१३ ॥

विजयोदया—स्पष्टम् ॥

अमत्यतमभक्षणं सुयार्चोना छद्मवति—

मूजारा—अही सर्पोः स्त्रीत्वद्वन्द्वतमा-। मणुस्सा मादुषीः सजातीयत्वात्प्रीत्याच्यमानं दन्तमा-। दुन्मिक्खादिसु दुर्भिक्षदुर्गोपरोपदिषु । पुत्तभंडाणि सुगान् ॥

आहारगृहेः सर्वापराधकारणत्वमाह—

मूलारो—गरस आत्मनः ।

अर्थ—मांजारी, जिंशुमारी, सर्पिणी, और स्त्री भी कुक्कालादिक प्रसंगमें अपने प्रिय बालकोंको भी खा जाते हैं. 'जिन दोपोंसे रहलोक और परलोकमें दुःस्वर्गकी प्राप्ति होनी है मनुष्य आहार उन्ध होकर उन सर्व दोषोंको कर दालवा है.

उत्तरभाषाद्वयम्—

आहारलोलुपतया स्वयमूरुजसमुद्रे तिमितिमिगिलादयो मस्या महाकाया योजनसहजायामाः दण्मासं विप्लवयन्ताः स्वपन्ति । निद्रापिमोक्षानन्दरे विदिताननाः स्वजठरमिषमस्यादीनाद्वारिकृत्य अवधिष्ठाननामधेये भवन् । तरुणोऽथलम्रमलाहाराः शालिसिक्थमाचननुवाक्य शालितिक्थसंज्ञकाः पक्षीदृशमसाकं शरीरे कथयति गायया—

अवधिष्ठाणं गिरयं मच्छा आहारेहेतु गच्छति ॥

तत्थेवाहारमिलासेण गदो शालिसिच्छो वि ॥ १६४९ ॥

अहारसंज्ञया श्वन्नं महान्तं सप्तमं परम् ॥

गच्छन्ति निमयो यातः शालिसिक्थोऽपि नष्टधीः ॥ १७११ ॥

त्रिजयोषया—अवधिष्ठानमियादिषा गायया ॥

चक्रधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीपृ वंचिओ संतो ॥

णटो समुद्रमञ्जरे सपरिजणो तो गओ गिरयं ॥ १६५० ॥

चतुरंगबलोपेतः सुभूमः फललालसः ॥

नटोऽभोधौ निजैः सार्यं ततोऽपि नरकं गतः ॥ १७१५ ॥

विजयोष्या—चक्रधरो वि सुभूमो नाम चक्रालंछनः फलरसमृदया वंचितः समुद्रमञ्जरे विनष्टः सपरिजनः ।

पद्याथ नरकं गतः ।

मन्त्रसमभौमरणान्भ्यां आहारगद्विदोपाज्जिदोसितुं गाथाद्वयमार--

मररमुधौमट्टांताभ्यां आहारपृष्ठिदोषाज्जिदोशितुं गाढाद्वयमाह—
 हेतुनिमित्तं यत्र गमने ।

मन्थरा - अयं पित्राणं सप्तयन्त्रकभूमौ अवविश्वानख्य प्रलार। आहिरगृह्णानपराधक २३३।

माद्विदयो दालिभिः क्रमागताऽत्याश्चालिसिक्धौ नाम शुद्धमस्तयः । तत्कथानकं यथा—स्वयं गुरुगणतत्पुत्राः

योजनमहम्रायागा योजनं चाशन्यात्राप्रविष्टं मानं, सादृग्योजनशतद्वयोच्छ्रया महानत्स्या आदि। रत्नाल्लुपस्वग

साम्बन्धं द्रष्टव्यं । नतो गुणं विधायां त्रयिष्टैरमृत्यादीन्भक्षयित्वा बहुप्राप्तमानाऽवाधस्थानं प्रजातं । तदुक्तं ।

गामिनभरहंपलाराभा तर्थांतराले निर्गन्तुये भास्वादीन् अवलोकय इमे अवलानिलो यन्मुखं पिशतु न जानाति

ममसाधुं तारिं प्रयेशिः समुत्तमोऽपि न लभेतेति ज्ञातुं श्रद्धायाः प्राप्तिरित्ययं अपि तदसह्यासिनो भवति ।।

मन्दारा—चक्षुरो अष्टमः । वंषिदो प्रत्तारितः । गिरयं सप्तमं ॥

जगप्रमाण माध्यम निर्मितीसाठी प्रशासनातून येईल. सरकार अशी व्यवस्था घ्यायला हवी. उरली

महाराष्ट्र

[illegible][illegible]

नामक नरकम प्रवेश करण हे इत नात्याना

कानम धालादय्य नामफ भरस्य रहत ह व उनक कानिका मल त्वा कर लावन निबाह कत ह. उनका धार

तदुल्लेख माधक प्रमाणका रहता ह अतएव उनको गालीबक्कुर एसा अन्यक नाम ह. व अपन मनन यात्रा

हमारा शरीर इन महामत्सयों के समान बड़ा होता तो हमारे मुहसे एक भी प्राणी निकल नहीं सकता. हम सपूर्ण

प्राणियों को खा जाते
एमा बिचार भूतत करते हैं. इम बिचारमे उत्पन्न हुए
पापोंसे वे भी उसी नरकम प्रवेश

कलह है- सही अभिप्राय आगन्ती गाथासे आचार्य कहते हैं—

अथ—आहारही अभिलाषामें मत्स्य अवधि स्यान् नामक सातवें नरकमें गमन करते हैं, इम आहार-

मितापस हा गालिमिकथक मस्य भी उमी नरकमं उत्पन्न हया. (इसकी कथा आगधना कथाकोषमें देखो)

अर्थ—फलों के रस का आस्वादन करने में आमक्त होकर सधम चक्रवर्ती भी लयने पायार सहित सभ-

द्रोपे गडकर मर गया और नरकमें उतपन्न हुआ.

आहारत्यं काल्प पावकम्माणि तं परिगञ्जो सि ॥

संसारमणादीयं तुक्खससहससाणि पावंतो ॥ १६५१ ॥

आहारसंज्ञया मद्र कृत्वा पापं दुरुत्तरम् ॥

चिरकालं मवाग्मोघी मातो दुःखमनारतम् ॥ १७१६ ॥

पित्रयोक्त्वा—आहारार्थं पापानि कर्मानि कृत्वा संसारमनादिक प्रविष्टो भवान्दुःखलक्षणाणि वेदयमानः ॥
पुनराह—परिलोको भ्रान्तः ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस आहारके वश होकर तूने अनेक पापकर्म कर अनादि संसारमें अमण किया था,

दे क्षपक ! अनादि कालपर्यन्त तूने आहार वश होकरही हजारों दुःख मह लिये थे.

पुनरपि तदेव तं संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं ॥

जे णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥ १६५२ ॥

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि अमितं भवकामने ॥

दुःखादामशनाकांक्षां येनाद्यापि न मुच्यसि ॥ १७१७ ॥

पित्रयोक्त्वा—पुनरपि पुनरपि । तथैव संसारममृतमदितुं किमिच्छसि ? यस्मादद्याध्याहारे कृष्णा न गच्छयति ॥
मूढारा—ण वोच्छिज्जइ न निराक्रियते । ते त्वया । उक्तं च—

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि अमितं भवकामने ॥

दुःखदामशनाकांक्षां येनाद्यापि न मुच्यसे ॥

अर्थ—हे क्षपक तेरी आहारामिलाया अद्यापि शांत नहीं हुई है अतः तू अभी भी पूर्ववत् अनंत संसारमें अमण करना चाहता है क्या ?

जीवस्स णत्थि तिच्ची चिरंप्पि भुंजंतयस्स आहारं ॥

तिच्चीए विणा चित्तं उन्वरं उद्धुदं होइ ॥ १६५३ ॥

आहारं चल्भमानोजपि चिरं जीवो न तृप्यति ॥

उद्धुदं सर्वदा चित्तं जायते तृप्पितो विना ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—जीवस्स णत्थि तिच्ची जीवस्स भास्ति कृत्ति, चित्तमप्याहारं भुंजानस्स । कृत्त्या च विना चित्तं नितरायुषालं भवति ॥

किं च—

मूलं रा—उन्वरं अत्यंतं । उद्धुदं आकुलं ॥

अर्थ—हे क्षणक ! चिरकालपर्यंत आहार ग्रहण करके भी यह जीव गुम नहीं हुआ है और तृप्तिके बिना यह चित्त अत्यंत आकुल रहता है.

जह इंधणेहिं अग्गी जह य समुदो णदीसहस्सेहिं ॥

आहारेण ण सक्को तह सिप्पेदुं इमो जीवो ॥ १९५४ ॥

इंधनेनैव सप्पाधिः सलिलेनैव वारिधिः ॥

अंधसा गृह्यमाणेन जीवो जातु न तृप्यति ॥ १७१९ ॥

विजयोदया—जह इंधणादि धम्मी यत्थेप्पेत्तस्मिन्निर्दीसद्वैद्वधिल्लययिमुत्ताकयत्तधाहारेण जीवः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे इंधनोसे अग्नि तप्त नहीं होता, वैसे हजारो नदीओसे समुद्र तप्त नहीं होता है तथा यह जीव भी आहारसे कभी भी तप्त नहीं होता है.

देविदच्चक्खट्ठी य वासुदेवा य भोगमूमा य ॥

आहारेण ण तिच्चा सिप्पदि कह भोगणे अण्णो ॥ १६५५ ॥

ओगिनआकिणो रामा वासुदेवाः पुरंदराः ॥

नाहरिस्तुमिमायातास्तुप्यं त्यत्र परे कथम् ॥ १७२-॥

विजयोदया—देवैर्वचनयद्वा य देवैश्च कामान्तरायक्षयोपशमकर्यत् आत्मीयवस्तुलेजोभिर्मितेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि पट्यधिकविगतश्चरुकरैर्वर्षमात्रैकदिमाहारेण संस्करणोचरतः द्विक्रितेन तथाऽवकाशार्थेनोऽपि । भोगभू-
मिता भोजनार्णवकल्पमयवेत न तैसाः । कथमस्यो जनस्तुप्यति ॥

मूलाया—देवैरेत्यादि सुरैश्च कामान्तरायक्षयोपशमकर्यत् आत्मीयवस्तुलेजोभिर्मितेनाहारेण न गुप्ताः । नाप्यु-
भयेऽपि चक्रिणः पट्यधिकविगतश्चक्रादौः वर्षमात्रेणैकदिनमाहारसंस्करणोचरतैर्द्विक्रितेन, नापि भोगभूमिजातभोजनार्ण-
वकल्पमयवेतन ॥

कल्पवृक्षमवेतन ॥

अर्थ—देवैर्द्वौ को कामान्तराय कर्षका तीव्र क्षयोपशम रहता है इस लिये उन शरीरमें कति स्थिर करने
वाला जो आहार उसकी प्राप्ति होती है उससे वे दृष्ट नहीं होते हैं. मकल चक्रवर्ती और त्रिलंब चक्रवर्तीके घरमें
सीनतो साठ सौएया रहते हैं वे सब मिलकर दररोज एक दिनका आहार तयार करते हैं उसका भोग लेकर
चक्रवर्तीओंकी भी वृष्टि नहीं होती है. भोगभूमि जीव भी भोजनार्णव नामक कल्पवृक्षसे दिव्य आहार की प्राप्ति
करके संतुष्ट नहीं होते है. उपर्युक्त देवैश्च, चक्रवर्ती और भोगभूमिज जीव कामान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे युक्त होते
हैं इनको स्पेच्छित आहारके पदार्थ मिलते हैं तो भी वे तृप्त नहीं होते हैं तो अन्य तुलसरीले जन कैसे तृप्त होते हैं ?

उध्दुदमणस्त ण रदी विणा रदीए कुदो हवन्ति पीदी ॥

पीदीए विणा ण सुहं उध्दुदचित्तस्स घण्णस्स ॥ २६५६ ॥

रत्ताकुलितचित्तस्य प्रीतिर्नास्ति रतिं विना ॥

प्रीतिं विना कुतः सौख्यं सर्वदा गृह्यतेतसः ॥ १७२१ ॥

विजयोदया—उध्दुदमणस्त इतो मद्रमतो मद्रमस्मात्चेदमिति परिच्छेदयमानचेतसो न रतिः, क च तथा विना
प्रीतिः । प्रीत्या च विना सुखं चतचित्तस्य तत्तदाहारटपटस्य ॥

मूलाया—उध्दुदमणस्त इदमिती मद्रमस्मात्चेदमिति परिच्छेदयमानचेतसः । घण्णस्स तत्तदाहारलंपटस्य ॥

अर्थ—यह आहार स्वादु है यह आहार मीठा है इससे मैं सुखी होता हूँ ऐसे विचारसे मनुष्यका मन

हमें ज्ञा चंचल होता है हमलिये रतिमें प्राप्ति होना नहीं। बिना स्वर्गिके प्रतिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? और मीरीके बिना आहार लुप्त शूलकी सुख नहीं होगा।

सव्वाहारविधाणेहिं तुमे ते सव्वपुग्गला वहुसो ॥
आहारिदा अदीदे काले तिप्पि च सि ण पत्तो ॥ १६५७ ॥
पुद्गला पियिचोपाये सकला भक्षितास्वयया ॥
अतिनेज्जंतकाः काले न च तृप्तिं मनः भिन्नम् ॥ १७२० ॥

विजयोदया—सव्वाहारविधाणेहिं अज्ञानपचपापेह्यगिकस्वैरुदया सर्वे पुद्गला गहुता आहारिता' अतीते काले वृत्ति व न च प्रसो भयान् ॥

मूलपा—विधाणेहिं अज्ञानविधिकल्पैः ।

अर्थ—हे हृषिक ! आजवरु जितना भूतशाल क्वतीत हुआ है उतने कालमें अन्न, पान, खाद्य और लेवा ऐसे चार प्रकारके आहार करने गहुतार भक्षण किये हैं तो भी वृत्ति नहीं हुआ है।

किं पुण कंठव्याणो आहारेदूण अज्जमाहारं ॥
लभिहिंसि तिप्पि पाज्जुदधि हिमलेहणेणव् ॥ १६५८ ॥
मोज्जं कंठगतघ्राणैरुस्त्वा प्रार्थनयाहृतं ॥
किमिदानीं पुनस्तुप्तिं सुबुद्धे ! त्वं गमिष्यसि ? ॥ १७२३ ॥
न वृत्तिर्यस्य संपन्ना पीते जलनिचेर्जले ॥
अवदयायकणैर्द्वित्रैः पीतैः किमु स तृप्यति ? ॥ १७२४ ॥

विजयो—किं पुण किं पुन कंठप्राणोव्याहार गृहीत्वा प्रीति रूप्यसे । पीत्वोदधि न दसो यथा हिमलेहनेन ॥
मूलपा—कंठव्याणो कंठगतप्राणः । लभिहिंसि प्राप्त्यसि त्वं । हिमलेहणे व अवश्ययायव जिह्वयास्वादनेन यथा न तृप्यति पीत्वोदधि न वृत्तिः सत्याया त्वमप्यव प्रवृत्तेनाहारेण न तृप्यसीलार्थः ।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य समुद्रको पीकर भी तृप्त नहीं हुआ तो वह क्या एकाद विमर्शितता आसरावन करनेसे तृप्त होगा? वैसे हे क्षणिक' तू आज तक आहार मक्षण कृत तृप्त नहीं हुआ है. आज तेरे कंठमें प्राण आये है तो आज आहार ग्रहण कर तू तृप्ति की प्राप्ति कर लेगा क्या ? विचार का और आहरेच्छा छोड़ दे

को एत्थ विमओ दे बहुसो आहारभुत्तपुब्बमि ॥

जुंजेज्ज हु अभिलासो अमुत्तपुब्बमि आहारे ॥ १६५९ ॥

सुत्तपूर्वें पने ! कोशिसिवाहारे तव विस्मयः ॥

अपूर्वें युज्यते कर्तुमभिलापो हि वस्तुनि ॥ १७०५ ॥

विजयोदया—को एत्थ विम तो कोइत्र विस्मय । आहारे बहुलो सुत्तपुब्बे युज्यते आहारार्थे अभिलापो भुक्तपूर्वें ॥

मूला—आहारा आहारे । जुजेज्ज मुक्तो मनेत् ।

अर्थ—जो आहार दूरकालमें अनेकवार मक्षण किया ॥ उसमें फिर अभिलाप तेरे मनमें उत्पन्न हुई है. इसमें आश्चर्य करता फिजूल है जिसका मक्षण किया नहीं था उसमें भी अभिलापा जीवको उत्पन्न होती है

आवादेत्तसोक्खो आहारेण हु सुलं वहुं अत्थि ॥

दुःखं चेवरथ बहु आहट्टतस्स गिन्दीए ॥ १६६० ॥

आपानसुखदे भोज्ये न सुखं वहु विच्यते ॥

रुद्धितो जायते भूरि दुग्गमेवामिलाप्यतः ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—आवादेत्तसोक्खो विद्याप्रपन्नमानसुख आहार । न सुखमत्र यदस्ति । दुग्गमेवान बहु अभिलपन्न आहारमृदया ॥

मूला—आवादेत्तसोक्खो विद्यामेलापकमा सुखः । आहट्टतस्स अभिलपतः । अर्बचतो वा ॥

अर्थ—जर विद्याके उपर आहार आता है तथा सुख होता है. वह भी सुख अत्यल्प है परंतु अतिशय

अमितायाम् आहार ग्रहण करनेमें सुखही अपेक्षासे दुःखही लादा है. अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक मष्ट करने पड़ते हैं अतएव आहारमें सुख कम है और दुःख अधिक है.

सुरस्यारसनायाः कारणमाचष्टे—

जिह्वामूलं चोलेइ वेगदो बरहओन्व आहारो ॥

तत्थेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥ १६६१ ॥

अतिक्रामति वाजीव जिह्वामूलं स वेगलः ॥

तत्रैव पृथगे स्वादं भुज्जानो न पुनः परे ॥ १७२७ ॥

विजयोदया—जिह्वाका मूलं वेगेनातिशयत्वाद्वातः जात्यस्य इव । जिह्वामान एव रसं वेत्ति जीवो न भावा गदुपरितः, न च पुरतोऽग्रतः । अथा च जिह्वा ॥

कुतो नो मुराक्षरासुखमस्यमिलनाह—

मूलाहा—बोलेहि ब्रह्मैव जिह्वां छंपयिष्या यागीत्यर्थः । तत्थेय जिह्वामान एव । अत्यैव विह्वा । रसं स्वादं जाणदि पेत्ति । भोज्य । पुरवो जिह्वायाः पूर्वमिन्न मुदयेसे । से जिह्वायाः । परदो परस्मिन्-भागे गडवेखावौ ॥ उक्तं च—

जात्यस्य इव वाहारो जिह्वामेत्यानिवहतः ॥

तत्रैव तत्रसं वेत्ति नैवावर्ण्यतलोऽपि वा ॥

अर्थ—जैसे उजम घोडा बड़ वेगमे दौहता है वैसेही यह आहार भी जिह्वाके ॥१॥ भागका उल्लंघन करके शीघ्र पेटमें प्रवेश करता है. जिह्वाके अग्रभागमेंही आहारका रस जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् संपूर्ण जिह्वा आहार का रस जाननेमें अप्रमथ है वंसा समझना चाहिये. आहार थालीमें परोसा है ऐसी अवस्थामें अथवा वह पेटमें लेजानेके अनंतर जीव उसका रसस्वाद लेनेमें अप्रमथ है. और जिह्वा अल्प भी है इस लिये आहार का सुखानुभव अत्यल्प है.

अच्छिणिमिसेणेचो आह्रासुहसस सो हवइ कालो ॥

गिन्दीए गिलइ वेगं गिन्दीए विणा ण होइ सुखं ॥ १६६२ ॥

निमेषमाधके सौख्यमाहारग्रहणे परं ॥

युद्धिनो भिलति क्षिप्रं तथा न हि विना सुखम् ॥ १७२८ ॥

विक्रयोद्या—अच्छिन्नमिषमन्त्रितो अक्षिनिमेषमाधः कालः । आहारसत्तेषाञ्जनिसुखस्य सुखया देगेन भिगति । यतो युद्धया च विना नालोद्विगुखं ॥

मृगार-आहारयुद्धस्य आहारसञ्जनिसुखस्य । वेगं क्षीमम् ॥

अर्थ—आहारके रसाभुषणसे जो सुख मिलता है उसका काल आलस्य मूंदकर फिर उषदनेमें जितना काल लग सकता है उतना है यह जीव अभिलाषासे आहारको शीघ्र निगल जाता है, और अभिलाषाके विना इन्द्रिय सुखकी प्राप्ति होती नहीं.

दुःखं गिद्धीघथस्साहट्टतस्स होइ ग्रहुगं च ॥

चिरमाहट्टियदुग्गायवेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥ १६३३ ॥

अशानं फांसतो नित्यं व्याकुलीभूतं चेत्ततः ॥

दरिद्र्येदकरयेव गृद्धस्यास्ति कुतः सुखं ॥ १७०९ ॥

विजयोद्या—दुःखं गिद्धीघथस्स दुःखं महादुःखि लंघतया प्रस्तस्यभिलषतः । चिरमाहट्टियदुग्गायवेडस्स य प्रणमिर्दीप्य भक्षपृथया सिद्धे व्याकुलस्य दरिद्र्यमधिगतो दासेरसेव ॥

मूलाग-गिद्धीघथस्य लंघतयाप्रसक्तस्य । आहट्टतस्स आहारमभिलषतः । आहट्टिइ व्याकुलस्यासपृथया । दुग्गा-रनेदस्य दरिद्र्यदासेरस्य ।

अर्थ—आहारमें लंघत होकर जो उमकी अभिलाषा करता है उसको वह घंटे दुःख भोगने पड़ते हैं, जो निरालसे अन्नकी अभिलाषामें पीडित हुआ है ऐसा दरिद्री पुरुष जैसे दुःख पाता है वैसे दुःखानुभव आहार नंपरीको भी होता है

को णाम अप्पयुक्खस्स कारणं बहुसुखस्स चुक्केज्ज ॥

सुखं इहु संक्खित्तेण सुणी सग्गापवग्माणं ॥ १६६४ ॥

को नामाल्पसुखस्यार्थे वंच्यते सुखतो बहोः ॥

संक्षेपार्थः क्रियते येन मृत्तिकादिषु द्विषया ॥ १७३० ॥

विजयोदया—अथ काम अल्पसुखस्तु कारणं को नामाल्पसुखविमितं महतोऽनिमित्तसुखात्प्रत्यवर्ते ॥ मुनिः

मरेणेन मरणपर्यन्तमुत्पाज्या ॥

मूढारा—मृदुसुखस्त निर्वृत्तिपुरात् । पुकेज प्रत्यवेत ॥

अर्थ—ज्ञानमा प्राप्ती शोदेस सुखके लिये बहुत सुख जिससे मिलवा है ऐसे निमित्तोंको छोड़ देगा-
अर्थात् हे क्षम ! तू अब भक्षण करके घोटासा सुख अल्पकालतक टिकनेवाला प्राप्त कर लेगा परन्तु इससे तुझको
व्यर्थमुक्त और मोक्षमार्गसे वंचित रहना पड़ेगा. आहाराभिलाषासे संक्षुब्ध परिणाम बुद्धिगत होते हैं और उनमें
स्वर्गापरिणाम सुखसे हाथ धोने पड़ते हैं.

मदुलितं असिधारं लेहइ मुंजइ य सो सविसमणं ॥

जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥ १६६५ ॥

मधुलिप्तमसेर्धारां नियातां स लिलिप्रति ॥

मुमुक्षुने विपं घोरं सन्यस्तो योऽनानायति ॥ १७३१ ॥

विजयोदया—मदुलितं मधुना लिप्तमसिधारं आशब्दयति । सविषमज्ञने भुंक्ते यो मरणवेशकाले अयोग्या
काममार्येन करोति ॥

मरणागतभक्षणस्यासन्नमृत्योर्दुर्गारोहोदयादहारमिच्छतो दृष्टांतद्वारेण महार्तं दोषमावेवयति—

मूढारा—मरणदेसयाले मरणं दिशति ददाति कथयति वा मरणवेदाः स चासौ कालश्च तस्मिन्मृत्युवेलायाभि
त्यर्थः । पच्छेज्ज पांजेय । अकप्पियाहारं अहंदादिसाक्षिकं प्रत्यावृत्त्यातत्त्वादयोग्यमाहारं ॥

अर्थ—जो धूपक भाषण मरणमें अबोधम् आहारको अभिलाषा रखता है वह शहदने लपेटी हुई तरवा-
रती धाराको जिह्वामें घाटना है ऐया समझना चाहिये. अथवा वह विषामेथ हुआ अन्न खाता है ऐसा समझना
चाहिये. वास्तव्यं यह है कि आहार की अभिलाषासे संक्षुब्ध परिणाम होते हैं जो कि दुर्गतीके कारण हैं.

असिधारं च विसं वा दोसं पुरिसस्स कुण्डं एयमवे ॥

कुण्डं दु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएसु ॥ १६६६ ॥

असिधारविषे दोषमेकञ्च कुरुतो मवे ॥

अशनायाः पुनर्जन्तोर्दुरितं भवकोटिषु ॥ १७३२ ॥

विजयोदया—असिधारं य असिधार वा विषं वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवार्थं भव-
नामगु मुंन्यां करोति ॥

गुह्यता — अरूपनेषा अवोगोपयोगः ॥

अर्थ—तत्पारकी धारा अथवा विष ये दोन चीजे एकभवमें ही पुरुषका दुःखसान करती है परंतु मुनिजों के लिये आयोग्य आहारका सेवन सैकड़ों भोज्यों दैनिकीक होता है. अर्थात् दुःखतिमें दुःख देनेवाला होता है.

जायंति किंचि दुक्खं सारिरे माणसं च संसारे ॥

पत्तो अणंतसुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण ॥ १६९७ ॥

शरीरं मानसं दुःखं हृदयेते यज्जगज्जे ॥

तद्भवति यतेः सर्वं अशनाया विसंशयम् ॥ १७३३ ॥

विजयोदया—जायंति किं चि दुक्खं यापरिकिदुःखं शरीरं मानसं वा संसारं स्वमनंतवारं प्राप्तवान् । तत्सर्वं
सर्वमममनारोपेणैव ॥

किं च कायनमनारोपे तत्पश्यते इष्टं प्रादुर्भवति तद्वत् संसारकारणकर्मबंधनिबंधनत्वाद्दुःखावर्त्तनिमित्तमत
स्तत्परिहाराय मततं प्रवृत्तयेति शिक्षयितुं उत्तमप्रबंधमाह —

मूलरा—ममत्तिदोसेण ममायमहमाय स्वामी उपलक्षणाद्यमेयाहमहमेवाम्यमिति च ममत्वं तथैव दोषो
दैवसारिकं रूपमहमनः । तेन हेतुना ।

अर्थ—हे धृषक ! इस अमादि ममारमें अनतवार जो शारीरिक अथवा मानसिक दुःख तुझको भोगने पड़े
हे उनका कारण एक दूरीरकं ऊपर ममता करना यही है. अर्थात् दूरीरसे प्रेम आबतक तेरा नहीं नष्ट हुआ इससे
ही मैं दुःखोंका तू पात्र बन चुका है

एण्हं पि जदि ममात्ति कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं ॥
 दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणंतयं कालं ॥ १६६८ ॥
 येतं देवममत्वेन प्राप्तं दुःखमनारतम् ॥

इदानीं सर्वथा साधो ! तव तत्त्वं निराकुरु ॥ १७३४ ॥

चित्रगोव्या—एण्हं पि इदानीमपि सरीरे करोमि ममतां तथैव त्वमि दुःखानि चतुर्गविषु परावर्तमानोऽनंतकालं प्राप्स्यसि ॥

मूलारा—संसारतो चतुर्गतिषु परिवर्तमानः ॥

अर्थ—एवंवत् इमं ममयमे भी यदि तू शरीरस्नेह को न छोडेगा तो चतुर्गवियोंमें अनंतकाल भ्रमण करता हुआ तू पुनः उनही दुखोंका स्थान होगा. अर्थात् अनंतकालतक शरीरस्नेह दुःख देगा ही. शरीरस्नेह छोड़ना ही दुःखसे छुटनेका उपाय है.

णदिथ मयं मरणसमं जम्मणसमं ण विज्जेवे दुःखे ॥

जम्मणमरणादकं छिण्ण ममात्ति सरीरादो ॥ १६६९ ॥

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ॥

जन्ममृत्युकरौ छिद्धि शरीरममतां ततः ॥ १७३५ ॥

चित्रगोव्या—णदिथ मयं मरणसमं मरणसदृशं मयं नास्ति । कुयोमिषु जन्मसमानं दुःखं न विद्यते । जन्ममरणकं छिद्धि शरीरममतां ।

मूलारा—जन्ममरणादकं जन्ममरणे आतंको मारणात्मकव्यपिरिव दुःखमवग्रथ्यतेत्वात् । तदेतदुत्पादकं वेदममत्वं तथोक्तम् । उक्तं च—

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं मयं ॥

जन्ममृत्युकरौ छिद्धि शरीरममतां ततः ॥

अर्थ—इमं वगतमे मरणके समान अन्य मय नहीं है. और कुयोनिषोंमें जन्म लेना महान् दुःख दायक

दे. शरीर समान भूरा दुःख है नहीं. इसलिये जन्ममरणरूपी व्याथीको उत्पन्न करनेवाली शरीरममता वृ अपने हृदयमें दूर कर.

अणो इमं शरीरं अणो जीवोसि पिच्छिदमदीओ ॥

दुःखसमयकिलेसयरी मा हु ममत्तिं कुण शरीरे ॥ १६७० ॥

परोऽयं विग्रहःआयो ! चेतनोऽयं यतःपरः ॥

सतस्संयं विग्रहस्तेनं भद्राङ्गैरुत्कर्षं त्यज ॥ १७३६ ॥

पिज्जोदया—अण्णे इमं शरीरं अण्वदिदं शरीरं भन्वो अंहुरिति निश्चितमसिदुःखसंस्पर्शसंपन्नमोचतांमा दृश्या शरीरे समगाम् ॥

महादुःखोपायकायसत्त्वव्याजनाय देहहर्मभेदभावधर्मा आययति—

मूढारा—दुःखपरिकिलेसयरी चित्ताप्रसादलब्धेन चित्तविशेषरूपेण ॥ दुरेत्य क्रियमाणः परिक्लेशः शारी-
रो मानसश्च संतापः । ग्रहरणकारणं ।

अर्थ—दे धूपक । यह शरीर भिन्न है और जीव इससे भिन्न है ऐसा निश्चयसे समझकर दुःख और संश्लेश रहित पणिगामोक्षी जननी देहममता वृ छोड़ दे.

सत्त्वं अधियासंतो उवसगविधिं परीसहविधिं च ॥

जित्संगदाए सखिह असंकिलेसेण तं मोहं ॥ १६७१ ॥

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीपहान् ॥

निःसंगस्त्वमसंकिष्टो देहमोहं तनूकुरु ॥ १७३७ ॥

पिज्जोदया—सद्यं उवसगविधिं सर्वं उगमगोविकल्पं परीपहविकल्पं च माहमानो मोहं भवांस्तनूकुरु ॥
जित्संगदाया धर्मेस्तेनेन च ॥

शमादिगन्तव्यभावनया आर्तैरौदपरित्यागभावनया पोषसर्गाभिभवं परिहरन शरीरममत्वं यासयेति
शिशुगर्भमाह—

मृदापः—विधिं विकल्पं । नित्यसंग्रहाण निःसंग्रहभावतया । सखिद्वं कृशीकुरु । अस्मिन्किलेसेण आर्चरोद्रभावनः

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीषहान् ॥

निःसंग्रहस्यसंस्क्रियो देहमोहं तलुं कुरु ॥

अर्थ—हे धारक सर्व प्रकारके उपसर्ग और सर्व प्रकारके परीषह सहकर निःसंग्रहत्वकी भावनासे और नैकैग्रहीत परिणामोसे तू मोह को क्षीण कर.

ण वि कारणं तृणादीसंथारो ण वि य संघसमवाओ ॥

साधुस्त संकिलेसो तास्त य मरणावसाणम्मि ॥ १६७१ ॥

तृणादिसंस्तरो योग्यश्चतुर्दो संघमीलनम् ॥

निःफलं जायते साधो ! मृत्यो संस्क्रियेवस्तसः ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—अपि कारणं तृणादी कैय कारणं तृणादिसंस्तरोः संघेवनाया, अपि संघलसुदायः मरणावसाने नैविलस्यता साधोः ॥

मरणादे नैवलेनमाविशतः संस्तरोदिविचिदैवध्वंमाह—

मूढारा—कारणं सम्भविनिमित्तं । मरणावसाणम्मि मृत्योर्निकटे सति ॥

अर्थ—यदि मरणके समयमें संपलेय परिणाम उत्पन्न हंगि. तो तृणादिकोंका संस्तर, और संघसमुदाय भी गच्छेवनाके प्रति कारण रूप नहीं होगे. क्योंकि ये बाल कारण हैं. अस्मिन्किलेय रूप परिणाम ही संछेवनाकेलिए उपपन्न कारण माने गये हैं. इसलिए परिणामोंमें संकलेय न उत्पन्न होगा ऐसा क्षणके प्रयत्न करना चाहिए अपाव्-अगममताका त्याग करना चाहिए.

जह वाणियगा सागरजलम्मि णवाहिं रयणपुण्णाहिं ॥

पत्तणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जति ॥ १६७३ ॥

रत्नसंयुतपात्रदथा चाणिजःआगरे यथा ॥

पत्तनं निरुपया साग्यो ? निमज्जंति प्रमादतः ॥ १७३९ ॥

त्रिजगोदया—जगत्त्रयत्रयया यथा यजिजो रतसंयुतमीभिः सह यिवश्यति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मृदा पणनानिजःआगत अग्निः ॥

मन्दरकूटप्राचीरमसेरुगावतां गतरसंययतामग्निं रादेयिभायपरिवहामहिणामसमाधिकरणं स्यादिति दृष्टान्तपुरः-
मग्निं मगाभिगएयाधितसमुभरति—

मृत्ताग—यत्तादृश्या विद्यादिया प्रमादेन दुर्वातमहामत्स्यपौस्तद्विद्विपिपत्तमन्तेबयंतः (१) विवज्जंति मरणांतं विपदनामद्वयेति । रत्नपूजाभिनीभिः सह ॥

अर्थ—जैग नीरामे देशांतरमें जाकर व्यापार करनेवाले वैश्य रत्नोंसे भरी हुई नौकाके साथ शहरके ममीप आरुत भी प्रमादवश होनेमें समुद्रमें डूबकर मरते हैं ऐसे—

संछेहणा विमुद्धा केई तह चेव विविहसंगेहि ॥

संथारे विहरता वि संकिलिद्धा विवज्जंति ॥ १६७४ ॥

तथा सिद्धिमभीपरयाः शुद्धसंस्तरयायिनः ॥

निपतंति मयायतं जीयाः संक्लेशयोगतः ॥ १७४० ॥

विजयोदया—संक्लेशा विमुद्धा रातीरस्मद्गतमायात् । संक्षेपमया विमुद्धा अग्नि संलः । एवं केचित् विवि-
धयोगेहि विविधे रागद्वेषादिभावप्रसिद्धः मद । संथारे विहरता वि संस्तेरे प्रवर्तमाना भवि । संकिलिद्धा विवज्जंति
संस्तरयायिनः विनश्यन्ति ॥

मृत्ताग—तद्वेदणा विमुद्धा वि मन्थककुलीकृतवपुरेऽपि । विविपसंगेहि । विविधे रागद्वेषादिभावपरिमहः
मद । संकिलिद्धा अन्तरीक्षरागाभ्यामाविष्टाः ॥

अर्थ—शरीरग्राह्यता को जिनकी निरतिचार हो रही है परंतु मनमें विविध रागद्वेषादि रूप भावपरिवह
निराग करने हैं ऐसे मृत्ति कणपण्डितता की शुद्धि नहीं होनेमें मंस्तरमें आलस होनेपर भी संक्लेश परिणामोंसे
प्लेजिन होकर मंमामगमुद्रमें डूबकर मरते हैं.

महोदध्याणापरिसममिं कयं दुक्करं च सामण्यं ॥

मा अल्पतोक्त्वहेतुं तिलोगसारं वि जासेह ॥ १६७५ ॥

सहेतुनाश्रमं साधो ! चारित्रं च सुदुश्चरम् ।

मा स्म त्वाद्योर्जगत्यारमन्सौख्यजिघृक्षया ॥ १७३१ ॥

विश्वयोदया—महोदध्याणापरिसममिं शरीरसहेतुनायां किञ्चमाणायां अनन्यवित्तपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यापरज्जीवं या यत्नपरिहारेण । जाते परिश्रममिमं । दुष्करं च सामण्यं दुष्करं कृतं च सामण्यं । शिरकालं त्रिलोकसारं कृतिसयिनस्तोत्रांगमुपदानात् । अल्पमुपदेहेतु अस्याहारस्वेवाजनितसुखनिमित्तं । मा दिणोसेहि नैव विनाशाय ॥

एवं रत्नाभादयैशरीरसम्यक्बुद्ध्या रत्नाहारमेवात्रमित्यसुखमिहोपेक्ष्यसुखमायत्नं विराम्यन्तदुष्करतपोरत्नं

मापूयैवेति शिक्षयति—

मूलात्—सहेतुणापरिसमं शरीरसहेतुनायां किञ्चमाणायां अनन्यवित्तपसा त्रिविधाहारत्यागेन यावज्जीवं वा यत्नपरिहारेण जातं केहेन्द्रियममतां येहं । त्रिलोकसारं सतिश्रयाम्युदयतिः भेदसमुद्रसंपादनत् ॥

अर्थ—शरीरमहोदध्याणां करोति ममय अनन्यनादि तत्र करनेसे, जलके बिना अन्य चीन प्रकारके आहारोंका त्याग करनेसे, तथा आसन्न भानाहारका त्याग करनेसे जो त्रय हे क्षपक ! तुलको हुआ है उससे तुलको यह मुनि ब्रत दुष्करसा दीखता है तो भी यह उत्कृष्ट स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाला होनेसे त्रिलोक्यका अपूर्व सार है. ऐसे लोकोत्तर मुनिव्रतको आहारजन्य अल्प सुख के लिये हे क्षपक ! तू मत छोड़द.

धीरपुनिसपण्णत्तं सपुनिसणिसेवियं उवणमिच्छा ॥

धण्णा गिरावयवत्वा संथारगथा णितज्जेति ॥ १६७६ ॥

पुन्यैःकथितं धीरेर्मार्गं यद्गुणितमित्यम् ॥

निरपेक्षाःश्रिता धन्याःसंस्तरस्था निचेरते ॥ १७४२ ॥

विद्वयोदया—धीरपुनिसपण्णत्तं उपसंगोष्णं परिपहणां चोपनिषयैः अविवल्लसुतयो ये धीरास्तैकपदिष्टं तास्यै । सपुनिसणिसेवियं सपुन्यगुणितमितं । मार्गे उवणमिच्छा आधित्य । धण्णा धन्याः पुण्यवंतः । गिरावयवत्वा निरपेक्षाः परित्यक्तप्रायः । संथारगत्वा संसारान्द्राः । विसज्जेति शरीरे ॥

मूलात्—धीरा उपमर्गोपनिषदोऽपि अविबलगतयः । तवणनिष्ठा काश्चित् मार्गः । गिरानयकत्वा प्रत्याख्यात—
मत्स्यनि रयेभ्यः संहतः । विसर्ज्येति निवेद्यते विमुक्तकंठोत्सर्गः । उक्तं च —

पुरुषैः कथितं धीरेर्मांशं समिद्रनिवेद्यितं ॥

निरपेक्ष्याश्रित्वा धन्याः सस्तरसा निवेद्यते ॥

अर्थ—महान् उपसंगं और परिपक्वसि पीडित होलेपर भी विनका धैर्यं निश्चल रहता है ऐसे धीर पुरुषोंने
इत प्रनिष्ठाका उपदेश दिया है. यह मुनिव्रत सत्पुरुषोंके द्वारा सेवन किया गया है. पुण्यवान् सुनीधर जिन
आहारोंका त्याग किया है उनका सेवन कभी भी नहीं करते हैं और मंस्तराज आरुह होकर इस मुनिव्रतकी पूर्ण
सप्ता मिद्धि नर लेने हैं

तम्हा कलेवरकुडी पव्योढव्यत्ति निम्ममो दुक्खं ॥

कम्मफलमुवेद्वसतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥ १६७७ ॥

कलेवरमिदं त्याज्यमिति विशास्य निःस्पृहः ॥

सहस्य कर्मजं दुःखं निर्वेदन इयास्मितम् ॥ १७४३ ॥

पित्तबोधेन—तद्वा तस्मात् । कलेवरकुडी शरीरकुडी । पव्योढव्यत्ति परित्याग्येति मत्वा । निम्ममो शरीरे
ममतारहितो । दुक्खं विसहसु दुःखं विसहस्य । कम्मफलमुवेद्वसतो कर्मफलमुपेक्षमाणो । णिव्वेदणो चेव निर्वेदनमेव ॥
उपसंहारमाह—

मूलात्—पव्योढव्यत्ति परित्याग्येति मत्वा । कम्मफलं निष्कामीकारमित्यर्थः । णिव्वेदणो चेव निर्वेदन इव ॥

अर्थ—इत्यलिये यह शरीररूपी शोषणं त्यागने योग्य है ऐसा समझकर हे क्षुपक ! शरीरमें तू ममता रहित
शरीर कर्मफलके विषयमें साधेपसदित हो. चैरास्यमे तत्पत्र होवा हुआ परीपहादिकसे उत्पन्न हुए दुःखोंको वेद-
नारहित समझकर सहन कर.

इय पणविज्जमाणो सो पुब्बं जायसंक्खिलेसादो ॥

विणियचंतो दुक्खं पस्सइ पवेहेदुक्खं वा ॥ १६७८ ॥

एवं प्रज्ञाप्यमानोऽसौ त्यक्तसंक्लेशवासनः ॥

अन्यदुःखमिवात्मीयं दुःखं पश्यति सर्वथा ॥ १७४४ ॥

विजयोदया—इय एतं । पणविज्जमाणो प्रज्ञाप्यमानः । सो पुब्बं जायसंक्खिलेसादो पूर्वं जातसंक्लेशात् । विजि-
यतंतो विजियंतमानः । दुक्खं पस्सवि ॥ ये पश्यति । किमिव ? पवेहेदुक्खं वा परशरीरगतमिव दुःखं ॥

सम्यग्दृष्टिदशमिने क्षपकं भूति तत्तादृक्पयोधनायाः फलवतां कथयति—

मूलार—सो शप्यसंसारआयितःसंन्यस्तः । पुब्बंजादं पूर्वोत्तरमाह । विणियचो विनिवृत्तः । विणियचो इति
नाडे विनियतमान इत्यर्थः ।

अर्थ—इम प्रकरसे जिसको उपदेश दिया जा रहा है ऐसा वह क्षपक उत्पन्न हुए संक्लेश परिणामोंको
अपने मनसे दृढता है. और परीषदादिकोंसे उत्पन्न हुए दुःखको यह दूसरोंके शरीरगत दुःखके समान समझने
लगता है. मानो मैं दुःखसे युक्तही हुआ हूं ऐसा मानने लगता है.

रायादिमहद्दिययागमणपओणेण चा वि माणिस्स ॥

माणजणेण कवयं कायन्वं तस्स खवयस्स ॥ १६७९ ॥

धन्यस्य पार्थिव्यादीनामागमादिप्रयोगतः ॥

क्षपकस्यापि दातव्यो मानिनः कयचो हृदः ॥ १७४५ ॥

पितयोदया—रायादिमहद्दिययागमणपओणेण राजादिमहादिकागमनप्रयोगेण । चावि माणिस्स मानिनोऽपि ।
माणजणेण मानजनेन । कवयं कायन्वं । कवचः कर्तव्यः । तस्स खवयस्स तस्य स्रपकस्य । मम धीरतां द्रष्टुं अमी
महोदकाः समाधाताः । अमीनां पुरस्तादपि प्राप्या याति यांतु कामं तथापि स्तां मनस्वितां नाहं त्यजामोति मानयनो
दुःखं खदते ॥ कुर्वते दातव्यं ॥

मानधनस्य प्रकारंतरेणापि कवचमितिर्क्वचव्यवयोपविलापि—

मूलार—महद्दिययागमण महदिकानां तत्समीपमननं । माणखणेण पूजामनसोत्पादनेन । तस्स दुर्निवारदुःखा-

नारय । मानपना दि मय भोरात् इदं मे महर्षिः संयागाला ययत्येवं पुरो वेदनायाः प्राणा याति कर्मं नोतु । तथाप्यहं मनश्चिन्तां न मुंवासीति स्वस्वधर्मो दुर्धरं सहते ॥

अर्थ—हे क्षपक ! राजा बभेह श्रीमान् लोक तेरी सल्लखाना देखने के लिये आये हैं ऐसा कहकर अभि-
मानी क्षपक तो मान उत्पन्न कर कवच करना चाहिये. अर्थात् जब राजादिक श्रीगार् पुरुष क्षपकदर्शन करनेके
लिये आते हैं तब उस क्षपकही अभिमानप्रज्ञता करनी चाहिये. मेरी दृढता तथा धैर्य देखनेके लिये ये राजादिक
पुरुष आये हैं इनके आगे मेरे प्राण चले जाने सो भी कुछ परवाह नहीं है. मैं अपना मान नहीं छोड़ूंगा. दुःख
महत्तर भी मैं अपने प्रतका नष्ट नहीं करूंगा ऐसे भाव क्षपकके मतमें राजादिकोंको रुझकर उत्पन्न करने चाहिये.

इद्वैवमाह्वकवचं भणिदं उत्सर्गियं जिणमवम्मि ॥

अववादिदं च कवयं आगाढे होइ कावन्नं ॥ १६८० ॥

इत्येव कवचोऽवाचि संश्लेषेण धुत्तरोदितः ॥

भियोपेणापि कर्तव्यो दुःखे सति दुरुत्तरे ॥ १७४६ ॥

विजयोदया—इथेयमादिकवचं भणिदं इत्येवमादिकः कवचः कथितो जिनमते । उत्सर्गियो औत्सर्गिकः
सामान्यभूतः । अववादिदं कावचं कावचं विदोपकूपोऽपि कवचः कर्तव्यो भवत्यागादे मरणे ॥

एवं दूरमरणस्य सामान्यरूपतया प्रवचन कवचमभिप्राय निकटमरणस्य तं विशेषरूपतया विषेयमनुशास्ति-
मूलरा—उत्सर्गियं सामान्यभूतः । अववादिदं विदोपरूपः । तत्कालोपपन्नानांतरावनिमित्तदुःखाविदुःखनिरा-
करणोपायतया यथायथं प्रयोग्य इत्यर्थः । आगाढे आसन्नमरणे ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीजिनमतमें कवचका औत्सर्गिक-सामान्यस्वरूप कहा है. तथा जब आगाढमरण
प्राप्त होता है तब विदोपरूप कवचभी करना चाहिये.

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तुणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥ १६८१ ॥

स्तोत्र्यतो क्षपकः तुरैर्वचनैर्हृदयंगमैः ॥

चंद्रस्येव कुरेः ब्रह्मैः शीतलैः कुमुदाकरः ॥ १७४७ ॥

क्षणेन दीपोपनयापसारिणः समेत्य धारयानि तमोऽपहारिणः ॥

जडोऽपि तुरैः क्षपको विबुध्यते महांसि भानोरिव नीरजाकरः ॥ १७४८ ॥

परीपहं प्रभवति संस्तरे स्थितो निकर्तितुं परमपराक्रमकमः ॥

निराकृतः कवचघरस्तपोधनो रणांगणे रिपुमिव कर्कशं भटः ॥ १७४९ ॥

इति कवचः ।

शितलोदयः—जड कवचेण यथा कथयेत् । अभितलेन कमेतेन । कथयिदो सप्तदशः । रणमुहे सप्तजमलंघितजो होरि रणमुगे मदनानमंस्तरो भवति । कम्ममन्मगो य मदनपादिक्रियामनर्थः । जिणदि य ते जयति य तामरीम् ॥

सप्तदशचट्टशूलैर्नाप्यामिच्छन्परं कर्तुं शुकुटवितुं गाथाद्वयमाह—

नूतनाः—अभेजेन भेतुमशक्येन । कथयिदो सप्तदशः । अलंघयिज्जो अनभिमाख्यः । कम्म प्रहरणक्रिया । ते

नरम् ॥

नर्थः—अमे अभेद करच पदना दुजा वीर पुरुष रणमे शुकुके सम्भुल निःशंक होकर जाता है और वह शत्रुको प्रतंपीनी होता है अर्थम् शत्रु उनको मारनेमें अनमर्थ होता है. अश्वप्रहारसे समर्थ वह वीरपुरुष शत्रु प्रहो जीयता है. वंमे—

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो उक्षाणसमत्थो च जिणदि य ते ॥ १६८२ ॥

विज्जोराजः—एवं मयणो एवं धापकः कवचेनोपशुद्धीतः परीपहसिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च मागासिहारिन् ॥ कवचम् ॥

नूतनाः—अमररितो अद्विगतिजयः । कवचः । सूनः ३५ । अंकनः १७४ ॥

नर्थः—इमं नक्षत्र खपक भी वा उपदेमरूपी करनमें युक्त होता है तब परीपहरूपी शत्रु उन्मत्ता पराजय

कान्तो भोगमर्थं होते है. इस कवचमें युक्त होकर शपक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर होकर परीषदरूप शत्रुको जीतता है. कन्याधिमरारु वर्णन पूर्ण हुआ.

एवं अधियासेतो समं खवओ परीसहे एदे ॥

सब्वत्थ अपडिवद्धो उवेदि सब्वत्थ समभावं ॥ १६८३ ॥

इत्थेयं क्षपकः सर्वान्सहमानः परीपहान् ॥

सर्वत्र निःस्पृहीभूतः प्रयाति समचित्तताम् ॥ १७५० ॥

मित्रबोधका—एवं अधियासेतो एवं सहमानः समग्रपरीषद्विजितः । सर्वत्र निःस्पृहीभूतः प्रयाति समचित्तताम् ॥ १७५० ॥
परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्ततां ॥

अथ तथानिश्चयपरीषद्विजितेन तादासिषपरीषद्विजितोः क्षपकस्य निर्वैत्यो सर्वोचरणदिरोमणिकल्पामभिल-
जमानसमाधिसापत्तपरित्यक्तलिप्ता समतां गाथाबोधनेन व्याख्ये—

मूला—यं पश्योपमहविभिन । अधियासेतो सहमानः । एदे तरुल्लोपरिखतान् । सुखदय शरीरयसस्तिगणपरि-
पारकाहो । अपडिवद्धो ममेदमहमस्येति संकल्पपरहितः । उवेदि प्रतिपणते । खवओ जीविस्मरणायी । समता वा रागहे-
तोषतमं । अवि च—

अर्थ—इम प्रकार समस्त परीषदोंमें अब्याकुलतामें सहन करनेवाला यह क्षपक शरीर, वसतिका, राग
और परिचारक मुनि इन सर्व वस्तुमें मग्नराहित होता है. रागद्वेषोंको छोड़कर समताभावमें तत्पर होता है.

सब्बेसु वज्जपज्जयविधीसु णिब्बं ममत्तिदो विजडो ॥

णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सब्वत्थ समभावं ॥ १६८४ ॥

समस्तद्रव्यपर्यायममत्वासंगवर्जितः ॥

निःप्रेमरागमोहोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ॥ १७५१ ॥

विजयोदय—सब्बेसु सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममतादोषः ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति
या । तिर्यग्यदोसमोहो निस्तेदो, निर्दोषो, निर्मादः सर्वत्र समतासुषेति ॥

मूढारा—विधीसु विकल्पेषु । ममत्तदो विज्ञानो मयेदं सुखसाधनं मदीयमिदमिति वा ममत्वेन त्यक्तः । गित्यन्तरोपमोदो मिलेदो, मिदेषो, ममेदमिदमिदं चानिष्टमित्यज्ञानरहितञ्च । उवेदि क्ताद्वयचोपगृहीतः सन् । क्षपक इति सर्वत्र गोज्यं ॥

अर्थ—संपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायमेदमें वह क्षपक ममतारहित होता है अर्थात् ये द्रव्य और पर्याय भरे सुखसाधन हैं ऐसा निश्चित्य उसके मनमें नहीं उत्पन्न होता है. वह स्नेह, मोह और द्वेषरहित होकर सर्वत्र मनतामान धारण करता है.

संजोगविष्यओगेसु जहदि इडेसु वा अणिडेसु ॥

रदि अरदि उत्सुगत्तं हरित्तं दीणत्तणं च तथा ॥ १६८५ ॥

त्रिषामिषयवार्थानां समागमवियोगयोः ॥

विजहीहि त्वमौत्सुक्यं दीनस्थमरतिं रतिं ॥ १७५२ ॥

विजगोदया—संयोगे रतिं, विषयोगे धर्तृत्वं, एते वस्तुन्युत्कंठं, इत्योगे रतिं रतिं, हर्षं, इष्टविषयोगे भरतिं शीततां । उत्सुगत्तं उत्सुगतां य तथा जहति क्षपकः कथेदेनोपगृहीतः ॥

मूढारा—रदि इष्टे वस्तुनि संयुग्ममाने, विष्टविश्रतिमनिष्टे वा विवुश्यमाने । अरदि अनिष्ट संयुग्ममाने इष्टे वा त्रियुग्ममाने विज्ञानपरिवर्ति । वस्तुगत्तं इष्टे वस्तुनि वत्कंठं, वदि तन्मे मिलति, भद्रकं भवेदिति हृदयोत्कलिका । हरित्तं इष्टसंयोगे रोमांचकचनप्रसारदित्याभिव्यक्तममानन्दं ॥ दीणत्तणं इष्टविषयोगे वैवर्ण्यादिना इष्टव्यमानं विपादं । क्वचोपगृहीतो यद्वाहीति संयंघः ।

अर्थ—इष्टास्तुका संयोग होनेसे चित्तमें प्रेम उत्पन्न होता है. अथवा अनिष्ट वस्तु अपनेसे हट जानेसे भी प्रेम उत्पन्न होता है. अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेसे अथवा इष्टवस्तुका वियोग होनेसे चित्तमें अस्थिरपना उत्पन्न होता है. इष्ट वस्तुमें उत्कंठा अर्थात् यदि इष्ट वस्तु मिलवाय तो बहुत ही अच्छा होगा ऐसा हृदयमें विचार उत्पन्न होना इनको उत्सुकता कहते हैं. इष्ट वस्तुका संयोग होनेसे रोमांच, वचनमें प्रसन्नता इत्यादिसे जो आनन्द उत्पन्न होता है उसको हर्ष कहते हैं. इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर प्रसन्नता होनेसे विवर्णता उत्पन्न होती है जिससे मनकी

विषयाणां अनुमान होता है इस लिखलाको दीनता कहते हैं- क्षपक क्षुनि क्वचत्से शुच होकर रवि अरवि, उत्सु-
यन्, हर्ष, दीनता इन मनोविकारोंका त्याग करता है-

मित्रियुयणाद्रीसु य सिरसे साधम्मिए कुले चावि ॥

रागं वा दोसं वा पुवं जायंवि सो जहइ ॥ १६८६ ॥

मित्रे शत्रौ कुले संचे सिज्ये साधम्मिके सुरी ॥

रागद्वेपं पुरोत्पन्नं त्रिमुंचस्य प्रवीर्यते ! ॥ १७१३ ॥

विजयोदया—मित्रैस्तुलनाद्रीसु य मित्रेऽनुपु वा । त्रिज्येपु व सधम्मणि कुले वा पूर्व आत्वं रागद्वेपं यातो
जगति ॥

मूमा—सुयणाद्रीसु षधुयानासिधुयानादिषु । पुवं जाइं प दीक्षाग्रहणाद्वा प्राणुरपसं संस्कारेणानुब्यध्यमानं । च
रागद्वेपं उत्पन्नं वा । सो क्वचोपगृहीतः ॥

अर्थ—मित्र, शत्रु-भाता, पिता, गुरु पंगरह, शिष्य, और साधर्मिक इनके ऊपर दीक्षा ग्रहणके पूर्वमे
अपरा कचने अनुगृहीत होनेके पूर्व जो रागद्वेप उत्पन्न हुए थे क्षपक उनका त्याग करता है-

भोगेसु देवमाणुसगेसु ण करइ पच्छणं स्वयओ ॥

मग्गो विरायणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥ १६८७ ॥

कुर्पादिज्यादिभोगानां क्षपकः प्रार्थनां न तु ॥

उक्ता विरापनामूलं विपयेषु स्पृहा यतः ॥ १७१४ ॥

विजयोदया—भोगेसु देवमाणुसगेसु देवमानवगोचरयोगप्रार्थनां न करोति क्षपको ज्यायसितकपचोप-
गृहीतः । विपयभिलासो मुक्तिमार्गविरायणया मूलमिति ज्ञात्वा ॥

मुद्रा—देवमाणुसगेसु गुरतरगोचरेषु । मग्गो कपयः । विरायणाय रत्नप्रवर्द्धिष्ठावनयोः ॥ अभिदा उक्त-
मते । विमयाभिलासोति विषयास्त्राभेति मन्यमानः । हेत्वर्थे वा इति ॥

अर्थ—इस कृतचये युक्त होकर क्षपक देव और मनुष्यके भोगों की अभिलाषा नहीं करता है. यह रिषेयञ्ज मुक्तिमार्गके विरुद्ध है. ऐसा समझकर क्षपक उसका त्याग करता है.

इडेमु अणिट्टेसु य सहफरितसररुवगंधेसु ॥

इहपरलोए जीविदमरणे भाणावमाणे च ॥ १६८८ ॥

सञ्जत्य णिविसेसो होदि तदो रागरोसरहिदंप्पा ॥

खवयरस रागदोसा दु उत्तमहुं विपवेंति ॥ १६८९ ॥

शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे साधो शुभेऽशुभे ॥

सर्वत्र समतामेहि तथा मानापमानयोः ॥ १७५५ ॥

समानो भव सर्वत्र निर्विशेषो महामते! ॥

रागद्वेषोदये जंतोरुक्तमार्थो विनश्यति ॥ १७५६ ॥

विलयवेद्या—स्पर्श.

मूषारः—इहपरलोके इहलोके इष्टे अनिष्टे वा गच्छपरलोकेऽपि अथवा इहलोके परलोके च सम इति माह्वाम् ।

मूलारा—णिविसेसो इष्टनिष्ठविरुद्धवियुक्तः । तदो निर्विशेषकात्क्षयोपगृहीत्वाद्वा । उत्तमहुं रत्नत्रयं, स-
द्धयानं, समाधिमरणं वा विरायेन्ति विनाशयत ॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट ऐसे शुद्ध, रस, गंध, स्पर्श, रूप त्रियोग्यं, इहलोक और परलोकमें. जीवित और मरणमें, मान और अपमानमें यह क्षपक समानभाव धारण करता है. अर्थात् रागद्वेष रत्नत्रय, उत्तम ध्यान और समाधिमरणका नाश करते हैं. इसीलिये क्षपक अपने हृदयेसे इनको दूर करता है.

उत्तरगाथाहर्यं—

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतिमसायं ॥

सो तह वि असंमूढो उवेदि सञ्जत्य सममावं ॥ १६९० ॥

सुखी यद्यपि पीडास्ति प्रकृष्टा मारणान्तिकी ॥

तथापि क्षपको याति सर्वत्र समचित्तताम् ॥ १७५७ ॥

विजयोदया—जदि यि ये से यद्यपि तस्य क्षपकस्य बरगकद्वयंते मारणांतिकं दुःखं मवेत् सो कवचोपोपगृहीतः सपक्षः तथापि धस्तमूढः समभावे सर्वत्रोपैति ॥

मारणांतिकेऽपि दुःखे समुदीर्णे कवचोपगृहीतः सामान्य प्रच्यवते इति कवचानुभावं भावयति—

मूढा—से कवचोपगृहीतस्य क्षपकस्य चरमकाळाते । मारणं विर्यं मरणं यावद्योग्यं तथाविधासङ्गे-
पोदयमं पालयाम् । आसार्त्तं दुःखं । अस्तंठो मरीचदध्युल्लासालक्ष्यातिः ॥

अर्थ—यद्यपि उम क्षपकसो अंतसमयं मरण प्राप्त होनेलक दुःख होभा सो भी कवचसे मुक्त होनेपर यह मोहरहित होजाता है. देह और आत्माकी भिन्नताका उसको सम्यग्ज्ञान हुआ है अतः वह सर्व देहादिक वस्तु-
ओंमें समभान धारण करता है.

एवं सुभाविदप्ता विहरद् सो जावदीरियं काये ॥

उद्वाने सयणे वा गिरीयणे वा अपरिंदतो ॥ १६९१ ॥

एवं भावित्पारिजो यावदीर्यं कलेवरं ॥

तावत्प्रवर्तते साधुस्थाय शयनादिषु ॥ १७५८ ॥

विजयोदया—एवं सुभाविदप्ता निर्वापेकन स्मरिणा गदितोयं एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भाविचित्तः सन्नि-
हरदि प्रवर्तते अणुस्थितः । आपदीरिदं काये यावच्छरीरे यत्नमस्ति उत्पाने, शवने आसने वा ॥

निर्वापकमूरितिरुवितार्थसम्यग्भाविचित्तस्य सर्वत्र देहाभावं यावदेहवत्तममित्यपि—

मूढा—एवं गुरुत्वायेन । सुभाविदप्ता सम्यग्भाविताः सर्व विहरति । सयणे शयने । गिरीयणे उपवेशने ।
अपरिंदतो अपरिधातः ॥

अर्थ—इस प्रकार निर्वापकाचार्यके कहे हुए उपदेशसे जिसने पदार्थोंका स्वरूप जानकर अपने आत्माको
गुप्तस्थित बनाया है ऐसा वह क्षपक जब तक देहमें सामर्थ्य रहता है तबतक ऊठना, सोना, और बैठना इन
क्रियाओंमें न धरता हुआ प्रयुक्ति करता है.

जाहे सरीरेचेढा विगदयामस्त से यदणुभूदा ॥

देहादि वि ओसगं सज्जतो कुणइ गिरवेक्खो ॥ १६९२ ॥

श्रीगणेशैर्यदा चेष्टा स्वत्पा भवति सर्वथा ॥

तदा देहप्रहाणाय यतते नि स्पृहाशायः ॥ १७९९ ॥

विजयोदया—जाहे सरीरेचेढा यदा शरीरेचेष्टा विगलकल्प्य तस्य स्वरूपा जाता, तथा शरीरादुरसंगं करोति सर्वतो मनोबाह्यैर्निरक्षेप ॥

गृहीतरूपवत्स्य मरुत्पेलाया करणीयमाह—

मूढारा—जाणे यदा । आत्म वळे । यदणुभूदा स्वत्पा जाता । विजससंगं वरित्तांगं । सवत्सो मनोचापण्येः ।

कुणवि लक्षितोप ॥

अर्थ—जब उसका देहसामर्थ्य नष्ट होता है तब उनकी स्वय उठना, बैठना, सोना वगैरह क्रियायें बंद होती हैं तब मनोवचन और शरीर से निरक्षेप होकर वह शरीर का त्याग करता है, उसके ऊपरका मोह पूर्ण तथा छोड़ देता है

तत्रैव शरीरादिकं त्याज्यमुत्तरमायया दर्शयति—

सेउजा संयारं पाणयं च उवधि तहा सरीरं च ॥

विउजावच्चकरा वि य दोसइ नमचमारुढो ॥ १६९३ ॥

उपर्येष संस्तरं छाट्यां पानं व्याधृत्तिकारिणः ॥

शरीरं मुंचते योगी सम्यक्त्यारुढमानसः ॥ १७६० ॥

विजयोदया—सेउजा चर्वाति । संस्तरं तृष्णादिकं, पान पिच्छ, शरीर च वेद्यावृत्तरांश्च व्युत्सृजति । समत्-
मारुढो समागत संपूर्ण रत्नत्रयमाह ॥

उत्तमं व्यवहरणार्थमाह—

मूढारा—साम्भवं संपूर्ण रत्नत्रयं, साम्भं वा ॥

धरु धरीरादिलोंका त्याग करता है इत विषयका विवेचन—
अर्थ—गंभीर रत्नग्रन्थपर आरुट होकर यह धरु वस्तुतिका, वृणादिकका संस्तर, पानाहार, अर्थात् जल पान, पिच्छ, धरीर आर वैवाश्रत्य करनेवाले परिचारक मुनि इनका निर्गोद होकर त्याग करता है.

अवहट्ट कायजोगे व विष्यओगे य तस्य सो सत्वे ॥

सुद्धे मण्यप्यओगे होइ गिरुद्धअवसियप्या ॥ १६९४ ॥

निराकृत्य यचोयोगं काययोगं च सर्वथा ॥

स यिशुद्धं मनोयोगे स्थिरात्मा ज्ययतिष्ठते ॥ १७६१ ॥

विनयोदया—अथदृष्टकायजोगे याव्योगात्कायचोचांघ सर्वाधिराकृत्य असायव मनोयोगे सुद्धे स्थितो भवति ।
विनयोत्तरसंचारादिरुद्धं मध्ययसितं च आत्मरूपं मानारण्यं यस्य सः ॥

मूलारा—अवहट्ट निराकृत्य । वविष्यओगे याव्ययापरात् । तस्य तस्मिन्मरणक्षणे । सो सत्त्वमाहवः । सुद्धे रागद्वेषमोदरहिते मनोयोगे स्थितो भवति ॥ गिरुद्धरूपसिद्ध्या निरुद्धो विषयान्तरसंचाराद्वयवर्तियोऽव्ययसितश्च पुनरुत्तरविवर्तकेण निश्चित आत्मा स्वरूपं ज्ञानारण्यं येन च यथाभूतः सत् । उक्तं च—

समस्तान्नायवागयोगाग्निरत्येकत्र संस्थितः ॥

मनोयोगोऽस्ति सर्वद्विनिश्चितात्मस्वरूपकः ॥

अर्थ—वाग्योग और काययोग ज्ञा पूर्ण त्याग कर अर्थात् धरीरकी प्रवृत्ति और चोलना बंदकर सुद्ध मनोयोगमें स्थित होता है. उसके मनसे इतर विषयोंका विचार हट जाता है और आत्मस्वरूप का विचार ही स्थान पता है.

पूर्वं सञ्चत्येसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्या ॥

मिच्छी करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥ १६९५ ॥

समस्यमिति सर्वत्र प्रपद्यामलमानसः ॥

स मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताः प्रतिपद्येते ॥ १७६२ ॥

विजयोदया—एवं सन्दर्भेभ्यः वि एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विजुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदिता-
मुपेक्षां च पञ्चादुपैति शपकः ॥

समत्परिणत्वपरिणयोवा नैश्चादिभावनाः प्रविनिर्दिष्टाति—

मुञ्जारा—उपेक्षा उपेक्षा । तदो यथावत् । एतेनाध्यात्मैकनिष्ठ वस्ताहोऽस्य विषयवयोपदिश्यते ॥

अर्थ—इस प्रकार संपूर्ण वस्तुओंमें समताभाव धारण कर यह शपक अन्तःकरणको निमग्न बनाता है
तथा उसमें मैत्री, प्रमोद, क्षारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंको स्थान देता है.

मैत्रीममृतीषां चिंतानां विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्रचिन्ता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ॥

मुदिता जदिगुणचिन्ता सुहृदुत्सवधियासणमुवेक्खा ॥ १५१६ ॥

जीवेषु सेक्त्या सकलेषु मैत्री परानुकंपा करुणा पवित्रा ॥

सुषैरूपेया सुखदुःखसाम्यं गुणानुरागो मुदितायगम्या ॥ १७६३ ॥

विजयोदया—जीवेषु मित्रचिन्ता जनतकालं यगत्सु गतिषु परिश्रमतो यदीयं चरसर्वं प्राणश्रुतोऽपि यदुदाः
कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रचिन्ता मैत्री । करुणा य होइ अणुकंपा शरीरं, मानसं, स्थावरिकं च दुःखमसंशाना-
पुण्यतो इच्छा वा पराका मिथ्यादर्शनेनाविदया कषयेणाक्षिपेन योयेम च समुपार्जिताशुभकर्मपर्याप्तपुद्गलकृतं यदु-
द्वयोदया विपदो विपदाः प्राप्नुयामि इति कठना अनुकंपा । मुदिता नाम यद्विगुणचिन्ता यतयो हि चिन्तिता, विरराणा,
विमया, विमाना, विरेया, विलोभा इत्यादिकाः सुखे अरता दुःखे वा अक्षेण उपेक्ष्यन्त्येते । समता यता ॥

मैत्र्यादीना लक्षणम्याह—

मूलांश—मित्रचिन्ता उपकारकायवसिद्धिः । आनंदारं नरकादिगतिषु यदीयं चरत्परिश्रमतो ममामी सर्वेऽपि
प्राणिनो यदुदाः कृतमहोपकारा इत्येतन्मित्रं इत्यर्थः । अथवा सर्वचलेषु दुःखानुत्पत्त्यभिलाषः । परमार्थसुखप्राप्त्याशंसनं
च । मित्रचिन्तनं मित्रचिन्ता मैत्रीत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

मा कार्ष्णिकोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः ॥

मुच्यतां जगत्प्रेया मतिर्वैत्री निगद्यते ॥

अणुकंपा—छिद्रममानजनवृद्धरमुदिः । वा वरमना इमे मिथ्यात्मायुषां चित्तदुष्कृतविपाकं पया विपदः

पारलंयेन प्राप्नुवतः कः गदिसौखं छभेरहित्वात्रैव. श्रोतःअनुक्तिरित्यर्थः । लदियुगपिता यवीनां युजा विनीतत्वविराग-
नयनपरहितैव रित्त्वात् । तेनां विता प्रमोदनिर्भरेण मनसादुर्लभानं । सुहृदुत्साधिविआसना सुहृदुःखयोः साग्येन
भावनं इत्थं न—

विनयितागिनां मैत्री करुणाप्यनुकंपनं ॥

मुदिता सद्गुणतोप उपेक्षा समचित्तवा ॥

तथा या तस्याधमतेनातोषाम धर्मायुवं तथा मेक्यावयो भाव्याः ॥ दृष्टं ।

मा भूस्कोपीह दुःखी भजतु जगद्वज्रमर्शमिति मैत्री ॥

न्यायो ह्येतु खलुभ्रयतमभियुगेष्वेति प्रमोदस् ॥

दुःखप्रलेयभातौऋथमिति कलनां भासि मामेहि शिक्षा ।

या इव्येत्पितृपुत्राणामपि परमपदाभ्युक्ता भावयन्तु ॥

मैत्री वरीरह भानतार्थक्रे त्रिययोका वर्णन—

अर्थ—अनंतकालमें भैरा आत्मा पटीयंत्रके समान इस चतुर्गतिमय संसारमें भ्रमण कर रहा है. इस
पंसारमें तंपूर्ण प्राणि-जों में ऊपर अनेकवार महान् उपकार किये हैं ऐसा मनमें जो विचार करना यह मैत्री
भावना है. अथवा तंपूर्ण प्राणिजोंमें किसीको भी दुःख न उत्पन्न हो ऐसी मनमें इच्छा रखना इसको भी मैत्री
भावना कहते हैं.

शारीरिक, मानसिक, और स्वाभाविक ऐसी असल दुःखराक्षी प्राणीजोंको सता रही है यह देखकर
ब्रह्म इन दीनप्राणिजोंमें मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अधुमयोगसे अनुभक्तों उत्पन्न किया था यह
क्रम उदयमें जाकर इन जीवोंको दुःख दे रहा है. ये कर्ममय होकर दुःख योग रहे हैं इनके दुःखसे दुःखित होना
करना है. ये इस दुःखसे कैसे मुक्त होंगे ऐसी मनमें आद्रता उत्पन्न होना करुणा है. यतिजोंके गुणोंका विचार
करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावना का लक्षण है. यतिजोंमें नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमान-
हिरण्यता, निर्दोषता और निर्लोभता ये गुण रहते हैं. सुख प्राप्त होने पर रागसहित रहना और दुःख प्राप्त होनेपर
देषभाव न होना यह उपेक्ष भावना है. ऐसी भावना क्षुपक अपने मनमें साता है. समताका वर्णन समाप्त.

दंसण्णणचरित्तं तवं च विरियं समाधिजोगं च ॥

तिविहेणुवसंपल्लिय सन्वुवरिहं कमं कुण्ह ॥ १६९७ ॥

वर्धनज्ञानचारित्रतपोवीर्यनिविष्टधीः॥

प्रकृष्टां कुरुते, चेष्टां मनोवाक्यकर्मभिः ॥ १७६४ ॥

चित्तयोदया—भंसण्णणचरित्तं तवं विरियं समाधिलोमे च तत्पथद्वयेन तत्परागतं, अशनखला-
किल्लं, स्पशकया निगूहने चित्तकाप्रयोगं । तिविहेणुवसंपल्लिय मनोवाक्यैः प्रतिपद्य । सन्वुवरित्तं सर्वेभ्यः पूर्वमनुत्त-
वर्धनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितकम् । कुरुते दर्शनादिपदव्यासं करोति ।

मैत्र्यादिमाशनाखलाद्वयहरयोक्षमार्गे प्रतिपद्य परमार्थयुक्तिप्रयत्नाय क्षणको यत्त इत्युपदिशति—
मूल्या—सर्वं अशनखागतिः । विरियं स्वशक्त्यनिगूहनं । समाधियोगं रत्नत्रयैकाग्रया सर्वपं द्रुढोपयोगं
या । अथवा समाध्याख्यो योगो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षणानामष्टानां योगांगानां मध्ये
अटनसंगं समाधियोगोत्र । तिविहेण मनोवाक्यैः एवसंपल्लिय प्रतिपद्य । सन्वुवरिहं सर्वेभ्यः पूर्वप्रकुत्तवर्धनादिपरिणामे-
भ्योऽतिशयितं । कम् दर्शनादिपरिणामपदव्यासं द्रुमतमभ्यासक्रमोद्यममिति यावत् ।

अर्थ—जीवादितत्त्वोपर श्रद्धा रत्नानां तत्त्वोका स्वरूप ज्ञान लेना, रागद्वेषादिव होना, अपनी शक्तिके
अनुसार आहारका त्याग करना, चित्तको एकाग्र करना, इत्यादि क्रियाओंका स्वीकार करके मनपचन काय
योगोंसे पूर्वके दर्शन ज्ञान चरित्र इत्यादिक शुष्कोंसे अधिकतासे उज्ज्वल परिणाम उत्पन्न कर प्रवेश करता है.

शुभ-भानमारुहताः परिकरमाच्छे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदिओ जिदभओ जिदकसाओ ॥

अरादिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥ १६९८ ॥

रागद्वेषकोवमात्सर्यमोदा येन खप्ता निर्जितोद्धेण सर्वे ॥

ध्यानं ध्यातुं योग्यता तस्य साधोः सामग्रीतो याति कार्यं प्रसिद्धि ॥ १७६५ ॥

इति समता ॥

विजयोपमा—विदरागो स्वलो व्यक्तिकित्तेषु जीवाजीवद्वयेषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शरसास्त्रेभ्यु विचित्र-
त्रयेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः ॥ जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोषु या प्रीतिः ॥ योऽय उच्यते ॥ च जितो येन
स जितदेशः । “केतुर्बुधिवृद्धस्त रेणुगो लग्ने जहा भेगे ॥ रागवीर्येणोद्दिष्टस्व कम्मासयो दोग्धि” इति जितवचन-
विग्रमाद् रासीदयति । सर्वदुःखानां मूलकारणभूतो रागोपायमिति मनसा विनिश्चित्य यस्तयोर्न विपरिणमते ततोऽभिधीयते
जितरागद्वेषः । तस्योपायो जितेति प्रियेत्याचष्टे—अद जिदिदिलो इति धाभ्यचोचं कृत्वा संवधः । जिदिदिओ इन्द्रियशब्देन
रूपापादलग्नोपयोगः परिगृह्यते स जितो येन ॥ उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत्
भूतज्ञानोपयोगे मातमन प्रवृत्तौ सत्त्वा, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्तेः न च वायव्यपालं रनमुपयोगमं-
तरणास्ति समर्थो रागद्वेषयोः । सकल्यपु रोगो हि नास्ति । निर्वकसागो क्षमाभारं वार्ज्यस्तोपपरिणामनिवृत्तकषायप-
रिणामप्रसक्तो जितकषाय इत्युच्यते । अत एव क्षमण इदमेव क्षमणो पदं निरस्तभानप्रतिपक्षपरिणामः । द्वाणोपपदो द्वौ हि ध्यानाप-
रिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्व्योक्तोऽस्तस्य अर्थवाच्यस्य ग्राहि भवति विद्वानं भविष्यतं च नापत्तिश्चेति ।
अविबलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानाभिपश्यते ।

मूलाह—जिदरागो इत्यो व्यक्तिकित्तेषु जीवाजीवद्वयेषु तत्पर्यायेषु च रूपरसगंधस्पर्शरसास्त्रेभ्यु विचित्रत्रयेषु
तत्संस्थानादिषु च यो रागः प्रीतिः स जितो येन । केतुर्बुधिवृद्धस्त रेणुणा लग्ने जहा भेगे ॥ तथा रागयोसणेहोक्षि-
स्त कम्मास्यो होरि ॥ इति जितवचनविग्रमाद् रासीदयति । सर्वदुःखानां मूलकारणभूतो रागद्वेषो इति मनसा निश्चित्य
यावद्योर्न परिणमते स जितरागद्वेष उच्यते । जिदिदिओ इन्द्रियशब्देन जितोऽभिभूतो रूपापादलग्नश्चतुर्गुण-
योगो येनासौ जितेन्द्रियः । अत एव जितरागद्वेषो वद्वद्व्यालंबोपयोगप्रपञ्चसंकल्पः सत्येन तयोः संभ्रमात् ॥ जिदभ-
वो न मे दृष्टुः कुतो भीति भित्तादि भावतया विरक्तभूतिः जिदरूसाको क्षमाभिभावनादतिरुक्षोपादिपारतंत्र्यः । मो-
हो निष्पाकात् तदगम्यं सत्यभ्रान्तसंस्कारेण साम्यभावनया रत्यरतिमयनयत् । सदा तथा निरस्तभानप्रतिपक्षपरि-
णामत्वात् । एतद्वाधाद्वयमन्ये पुनस्तत्पर्यवर्तिनः । समता सूततः १६ ॥ अंकतः १६ ॥

शुभधानपर आरूढ होनेवालेकी सामग्रीका वर्णन—

अर्थ—विदरागो जीवाजीव द्वय आत्मासे अर्थात् स्वस्वरूपसे भिन्न है. रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये
इन द्रव्योंके पर्याय हैं इनके भी अनेक उचरभेद हैं. तथा इन द्रव्योंकी अनेक प्रकारकी आकृतिवा दृष्टिगोचर होती
है. इन परसे जिसने अपनी प्रीति अलग की है अर्थात् जो इनसे मोहसहित हुआ है उसको ‘जितराग’ कहते हैं.
जीवादि द्रव्योंके अनिष्ट पर्यायोंको देखकर द्वेष करता जिसने छोट दिया है उसको ‘जितद्वेष’ कहते हैं.

अपने अंगको तेल लगाकर बैठे हुए यदुत्यके सर्वांगपर चाधुमे आये हुए घृति रेशु निषक जाते हैं वैसे राग, द्वेष और मोहोंसे लिप्ता हुए जीनेके संपूर्ण प्रदेशोंमें कर्मका आगमन होता है। विनयेसके उपदेशका स्वरूप जानकर दुर्गातिके दु खोंसे भययुक्त हुआ मन्व्य पुल्ल रागद्वेष ही सर्व दुःखोंके मूल कारण हैं ऐसा मनमें निश्चयकर रागद्वेषोंमें परिणत नहीं होता है, ऐसे पुरुषको 'चित्त रागद्वेष' कहते हैं इन रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय जितेन्द्रियता है।

रूपरस गौरव विषयोंके तरफ आत्माका उपयोग लगना यह शब्दिय शब्दका अर्थ यहाँ समझना चाहिए अर्थात् मतिज्ञानके उपयोग का नाम इन्द्रिय है, यह मतिज्ञान उपयोग ऊँसा जीता जासकता है।

इस प्रश्नका उत्तर—दुःखज्ञानके उपयोगमें आत्माको प्रवृत्ति होनेसे मतिज्ञानोपयोग जीता जासकता है—एक समयमें आत्मामें दोन उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि इन प्रवृत्तियोंमें नियोज पाया जाता है, चाब द्रव्यका आश्रय जिनको है ऐसे उपयोगोंके बिना रागद्वेषको उत्पत्ति नहीं होती है रागद्वेष संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए मतिज्ञानका उपयोग कुतज्ञानोपयोगमें आत्माको प्रवृत्त करनेसे जीता जाता है जिससे रागद्वेष का भी पराजय होता है

विदकसाय—धामा, मार्दव और संतोषरूप परिणामासि क्रोधादिक चारों कपाय भी जिते हैं अरति और रति कर्मका उपय होनेसे रति और अरति परिणाम उत्पन्न होते हैं मोह और मिथ्याज्ञानका सम्य-ज्ञानही भावनासे नाश होता है जब आत्मा जिहेंद्रिय होता है तब क्रोधादिक कपाय, रति, अरति मोह और मिथ्याज्ञान इनका नाश होता है और आत्मामें सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उपर्युक्त सब परिणाम ध्यानके गूढ हैं उनका नाश करनेपर आत्मा ध्यान नामक परिणामका आश्रय करता है, जब आत्मा रागादि कपायोंसे ब्याकुल होता है तब उसका ज्ञान पदार्थोंका यथार्थ ग्रहण नहीं करता है और निश्चलभी नहीं रहता है, जब ज्ञान निश्चल होकर वस्तुमें स्थिर होता है तब उसकोही ध्यान कहते हैं।

धम्मं चदुप्पयारं सुकं च चटुव्विघं किल्लेसहरं ।
संसारदुस्समीरो दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्ञादि ॥ १६१९ ॥

धर्मं चतुर्विधं द्यात्वा ससारासुखभीरुक ॥
शुक्ल चतुर्विधं ध्यान ध्यातु प्रकमते यति ॥ १७६६ ॥

विजयोदया—धमा चतुष्पथार चमोच्यन् चतु प्रसार । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मं स्वमायाति
नायादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिषु वस्तु भवति । अतिशयभावादेव वस्तु भण्यते न सरविषणादि, तेन धर्मशब्दो वस्तु-
समाववाची । धर्मोदस्तुरप्रभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यथेवभावादेरपि धर्मोदनेपेतत्वमस्ति । सप्रयुक्तान्नोक्त
वस्तुविशेष, विमुक्तमनोक्तवस्तुयोगं रोगातकादिप्रसमन, अभिमतमार्गं च धर्मभावित्रय प्रवर्तमानत्वाद्धर्मोदनपेततेति
नेव शेष विवक्षितधर्मविशेषोऽवबुद्धिधर्मनाम् अत एव आक्षेपायविपाकसंस्थानमित्यादिकेर्धर्मधर्मैरेनपेततेति
अथानायासविकारादिसंज्ञाभिरुच्यते । धर्म्यं ज्ञेयवस्तुलरूपं तदविविनामापि च ज्ञान ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येय ।
अने तु व्याचक्षते—धर्माभावाज्जायादिकाद्धर्मोदनपेतत्वादर्थ्यं इति । ननु च ध्यान ध्येयविनामापि न च क्षमादयो
धर्मो ज्ञेया येन तदपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको नृणांविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्याप्यत्राश्रये 'आक्षापाय
विपाकसंस्थानविषयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते उत्तमक्षमादिधर्मपरिणतात्पर्यमनोऽनपेतत्वात् । धर्मोदनपेततेति
धर्म्यमित्युच्यत इति केच शुक्लस्यापि धर्मोदनपेतत्वादप्यप्यनता स्यान्नोच्यते ॥ रुद्रिशब्देषु कश्चित्समाविर्नी क्रियात्माधित्य
वैतनेयतौ प्रवर्तते । तद्विद्वानि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते । धर्मोदयवाप्याज्जदो वर्तते । अथ किं ध्यान, उत्तमसहजमस्यै
कामादिनानिरोधो ध्यानमिति केच यद्वत् सहजनेपापसहनन च वज्ररिषभनारायणसहनन, वज्रनारायणहनन,
नारायणसहननमिति । नेतु त्रिषु एक सहजम यस्य स उत्तमसहननस्तस्य एकमेव मुखमस्येत्येकात्रे याद्विज्ञानविरोध स ध्यान
मित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोध चिन्ताया अभयस्तस्य का एकमुच्यता कथं या कर्मणा भावे अभये च निमित्तता आर्तरीद्र
बोरशुनकर्मनिमित्तमेव । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुत्वेन अनोच्यते । न निरोधशब्दोऽना
मानायाधी किंतु रोधवचनो यथा मनोनिरोध इति । ननु च परित्यक्तवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यभो-
ध्यते । केचिदप्यद्वि नानार्थावलम्बने चिन्ता परित्यक्तवती तस्या एकसिद्धये नियमाधितानिरोध इति त इदं प्रपञ्च्य ।
नानार्थाधया सिता सा कथमेकैव प्रवर्तते? एकैव चेत्तद्वृत्ता नानार्थावलम्बन परित्यक्तं नासाद्वर्ततीति निरोधवाच्यो युक्ति
रसंगता, तस्मादेवमत्र व्याख्यानं चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तथा चैतन्यमन्यग्रन्थं वार्यभयणकृता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते
इति परित्यक्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्थादि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते। उत्तमसहनन
प्रयोगादेवात्तरीद्रयोरनुत्तमसहननेन प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्वधानावलम्बनो गतिविभागो न स्यात्तथाप्यनुभवविरोधश्चेदानीं
तनानामपि तयोर्बुद्धे सुशतरविरोधश्च "तद्व्यतिरिक्ताविरतप्रमत्तस्यताम्" "हिंसावृत्तयेत्यस्यैव" यो रीद्रमविरतवैश-
विरतयो" इति गुणस्थानमाश्रयत्वेनैव स्वामिनिर्देशकतत्वात् । अत्र प्रतिविधीयते—निर्जराहेतुतया धिकल्पे ध्यानं, तत्र
सुते शुक्ल साक्षात् गुप्तस्य ध्यान निर्देष्टुमिति मन्यगानेन उत्तमसहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यत्वेव आर्तरीद्रधर्म्यमुक्ता-

नीतिं सत्यमुत्तरं शोषपचते न निर्वृताद्येवार्थस्यार्थौदयोतिरिति । अत्रोच्यते । उत्तमसंदनस्यैकामचितातिरोधो स्यात्-
मितीर्थं सूर्यं मुच्यं ध्यानं मुच्यं यमुदिश्य प्रवृत्तमुत्तरं ॥ सूत्रमार्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीत्येतेदेकाग्रचित्तासामन्येऽन्तर्भूते
अनभिमतमपि ध्याने निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानस्यविकल्परूपमभिगमयितुमतः प्राप्तमिच्छयोः आत्मे-
रौद्रयोरुत्तरन्यास इति न शेषः ॥ अथवोत्तमसंदनवद्रक्षं वीर्यविक्रयणम् आत्मनः उपलक्षणं, उत्तमसंदनस्य
वीर्यविक्रयणवतो आत्मनो वदेकपस्यानिष्ठं ध्यानं तत्र ध्यानमिति सूचयते ॥ मुक्तं च बहुविधं शुद्धं च ध्यानं चतुर्विधं
ध्यानं क्लेशहरं संसारदुःखघ्नकं चतुर्गोतिपरावर्तमेत यानि दुःखानि तेष्वो भोवाः । दोषिण वि श्लाघाणि सो ज्ञादि ध्याने
चर्यशुद्धे क्षपकः ह्यपि भवति ॥

अथ तत्परिहर्तव्याभ्यासस्तत्तुज्जादितवीर्यविक्रयः मन्थितमतः क्षपकः कर्मक्षपणप्रधानतमोपर्यपरीपहाद्यभिरय
तिरस्कारप्रबंधप्रतापमानंदसांद्रलयादुभायं मंदश्लिषत्रिजगत्सुखसाधनरूपं प्रकृतध्यानविक्षेपं यथाविभवमापश्यतोत्युपशेप-

पुरःसरं गाथाद्वयविक्रयिण्या ध्यानमाप्नुयति—

मूर्तारा—धर्मं धर्म्यं । धर्मोद्वेगव्येवस्तुत्यत्तपुत्रमममार्गदेवार्थोत्तमं ध्यानमुच्यते । धारपत्यवस्था-
पयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मो वस्तुवाच्यार्थः । वस्तुस्य भागातिशयादेव हि नैकन्यादिकाङ्गीयादिकं वस्तु भवति ।
स्य भागाविशेषाभावादेव काऽवस्तु भण्यते स्वरविषयादि । तेन धर्मोद्वेगो वस्तुवान्यरीदृ स्तुतिवशात्प्राप्तादिविविक्लिप्तधर्मवि-
क्षेपवृत्तिरूपे । अन्यथा आर्तरीदयोरेपि धर्म्यं तानुच्येव । वस्तुभाववाचनधर्मोत्तमसंदनस्यैव तस्यैव । उक्तं चार्थे—

प्रसस्ताप्रणिधानं यस्मिन्नेकत्र वस्तुनि ॥

तद्वयानमुक्तं मुक्त्यगं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥

तत्रानपेक्षं यद्वर्मात्तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते ॥

धर्मो हि वस्तुवाच्यस्तुत्यादिविज्ञातमर्कं ॥

चतुष्पथां चतुर्विधमाक्षेपावयिषाः संस्थानलक्षणव्येयविशेषविचयविकल्पात् । मुक्तं कथावरजसः क्षया-
दुपशमाद्या प्रतिसमयमात्रेणैवद्विर्धोत्तरं शुचिर्माः संयमविकल्पलक्षणैर्गुणैः संवध्यमानत्वाच्छुक्लमिति जगपदिश्यते
विशुद्धिस्त्वानिविशेषात्पल्लवस्तत्तं ध्यानं । अत एव धर्म्यार्थोत्तरत्वं । उक्तं च—

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कथावरजसः क्षयादुपशमाद्या ॥

माणिक्यशिलावदिदं सुनिर्मलं विष्णुकर्म्यं च ॥

पनुर्निधं प्रथमत्वात्किञ्चैकीपारमेष्ठ्यविवर्तकेनीचार्दं, सद्भक्तियोगप्रतिपादित्युपरपरत्तोकयात्रेषर्षिं चेति पनु-
 रिभेदेर्विकल्पनात् ॥ किलेसाहरं सहजसादीरगानसार्ग्यबुद्धः स्वकचेतनाव्यावर्तकत्वात्, तन्निमित्तकमुपकृतकर्मविपाकमु-
 दृत्तिनिरोपयत्सत्तयाविधुदुःसन्निभित्तर्गसंक्रातवनपरत्वाच्च, नलेद्योच्छेदकरं धर्मबहुवर्त्तं च द्वितये अपि । अत एव
 संसारदुःखभीषः कृतपरिहरः साधुसद्व्यापयति । अनयोऽत्र शूलस्य वलेऽहस्तरत्वेऽपि पञ्चावुपादानं धर्मपूर्वकस्यैदंयुगीन
 मुमुक्षुलनासाध्वन्यरापनार्थं सुरिकार्थीत् । तथा च भगवद्वत्समेनगादाः कांश्चनान्नेदानीं ध्याननिर्णयेकं तपरत्नपत्रालेभिरे ।

तथा—

वेदत्राहुर्न हि कालोऽयं ज्ञानस्य ध्यावतामिति ॥
 तेऽर्द्धमतानभिज्ञत्वे ज्ञापयन्त्यात्मनः स्वयम् ॥
 अत्रेदानीं निपद्यन्ति क्षुब्धध्यानं चित्तोपमाः ॥
 धर्म्येष्वानं युतः प्राहुः श्रेणीभ्या माश्रियवर्तिनाम् ॥

अज्ञानाणि ध्यातिध्यानमेकप्रवित्तामिरोधः । एकवस्तुनिष्ठमात्मनो ज्ञातवित्तर्यः । अत्र चित्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते
 तच्चैतन्यमन्यद्वयं पार्धमयगच्छता ज्ञानपयोवह्मणेण यत्वेति इति परिरं दशद्वयति । एकस्मिन्निवक्षितेऽये मुने कपालंयने
 चित्ताया यदोक्तपरिस्पर्धयैतन्त्याभिताया अन्तःकरणवृत्तेर्निरोधोऽवरोधो मानार्थव्यावर्तनेन तत्रैवावस्थापनमेकप्रवित्ता-
 निरोधो ध्यानायाङ्गो लक्षणसुखलक्षणीयम् ।

तदुच्यते—

इष्टे ध्येये विधत्ता मुद्विर्त्ता स्थापयन्तवर्तिनी ॥
 ज्ञानितरागरामृष्टा सा ध्यातिध्यानमीरिता ॥
 उद्यात्यपु मन्वेदेवल्लज्जं विभटस्यनाम् ॥
 योगप्रसक्तस्य संरोधे ध्यानलघुपचर्यते ॥

यथादि ध्यायति प्रणिपद्ये । सम्ये शुक्ले वा ध्याने परिणतो भवतीत्यर्थः । उक्तं च—
 प्रत्यगृह्य यथा चित्ता नागालंबनवर्तिनी ॥
 'एकालंबन एवैवां निरुणद्धि विमुद्वयोः ॥

तदास्य योगिनो योगश्रितैकाग्रनिरोधतः ॥

प्रस्थानं समाधिः स्वाद्वयानं स्पष्टफलप्रदम् ॥

अर्ध-धर्मध्यानके चारुदेव हैं और शुक्लाध्यानके भी चार भेद हैं. इन दो ध्यानोंसे संसारके बलेश दूर होते हैं अतः संसार से मग्नयुक्त क्षपक इन दोनों ध्यानोंका हृदयमें चिंतन करते हैं.

जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसको धर्म कहते हैं अर्थात् वस्तुका जो विशिष्ट स्वभाव उनको धर्म कहते हैं. चैतन्यादिक विशिष्ट स्वभाव होनेसेही जीवादिक पदार्थों को वस्तु कहते हैं. विशिष्ट स्वभावसे पदार्थको 'वस्तु' यह नाम प्राप्त हुआ है. स्वविषयादिकोंको कोई भी विद्वान् वस्तु नहीं कहते हैं क्योंकि उसमें कोई भी धर्म नहीं है. अर्थात् स्वविषयण चीज ही नहीं है अतः यहाँ धर्म यह शब्द वस्तुके स्वभावका वाचक है. इस धर्मसे अर्थात् वस्तुस्वभावसे ध्यानयुक्त रहता है उसको धर्मध्यान कहते हैं.

शंका—यदि आप वस्तुस्वभावसे युक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हो तो आर्चध्यान भी वस्तुस्वभावसे युक्त होनेसे उसको भी धर्मध्यान कही, क्यों कि इनमें संशुल हुए अनिष्ट वस्तुका वियोग, संयुक्त इष्टवस्तुका अधि योग, रोगपीडा धर्मरहका क्षमन, मात्सिकालमें इष्ट वस्तुकी प्राप्ति इत्यादि वस्तु धर्मोंका आश्रय लेकर ये ध्यान प्रवृत्त होते हैं अतः इनमें धर्मसे अनपेक्षित-सहितपना है. अतः इनको भी धर्मध्यान कहना चाहिये ?

उत्तर—यहाँ धर्म शब्द विशिष्ट अर्थात् विवक्षितधर्मका वाचक है इसलिये आज्ञा, अपाय, विषाक, सस्थान इत्यादि विशिष्ट धर्मोंसे जो युक्त है ऐसे आज्ञाविवक्षय, अपायविवक्षय वगैरह ध्यानोंको धर्मध्यान कहना चाहिये. आज्ञा, अपाय, विषाक वगैरह धर्म धर्मध्यानके ध्येय हैं. अर्थात् ध्येय ध्येय हैं. इन धर्मोंको धर्मध्यान विषय करता है. वस्तुस्वरूपही ध्येय और ध्येय बन सकता है. इन वस्तुस्वरूपके ग्राम अविनाभावी एकारूप जो ज्ञान उसको धर्मध्यान कहते हैं. इस प्रकार धर्मध्यान शब्दका अर्थ स्पष्ट करना चाहिये.

उत्तमश्रमा, मार्तद, आर्जव इत्यादिकोंको धर्म कहते हैं इन धर्मोंसे जो ध्यान युक्त है उसको धर्मध्यान कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं.

शंका—ध्यान तो ध्येयके साथ अविनाभावी है. अर्थात् वह ध्येयके बिना रहताही नहीं. क्षमादिक धर्म ध्येय नहीं हैं अतः ध्यान इनसे युक्त रहता है ऐसा उक्त्या गेयम् नहीं है. यदि ध्यान धर्म ध्येय है तो ध्यान धर्म ध्येय नहीं है

धर्मध्यानके ये सम्यक् धर्म ही विषय-व्येय ठहरने देखा होनेपर 'आश्रयापण्यविपाकसस्यनविचयाय धर्म्यम्' यह सूत्र विकट है ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि इस सूत्रमें आश्रय, विपाक और संस्थान ये धर्मध्यानके ध्येय विषय हैं ऐसा कहा है यदि उत्तम धर्मादि दश धर्मोंसे आत्मा युक्त है और उस आत्मामें वह ध्यान भी अभिन्न है अतः यह ध्यान शुभादि धर्मोंमें युक्त है ऐसा कह सकते हैं यह आपका भी कहना अनुचित है क्योंकि शुचल ध्यान मी इन धर्मों से क्या अभिन्न नहीं है ? अर्थात् शुचल ध्यानको भी धर्मध्यान कहना चाहिये, इस प्रकार शंकाकारका कथन है, अब आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

तुदि शब्दोंमें जो क्रिया दिखाकर शब्दार्थ कहते हैं वह केवल शुब्दश्रुत्याचैके लिये ही समझना चाहिये, उस लुदिशब्दोंमें वह क्रिया होती ही है ऐसा नियम नहीं है, 'आश्रु धमनादयः' अर्थात् जो शीघ्र गमन करता है—जाता है उसको अथ कहते हैं यह अथ शब्दकी श्रुत्युत्पत्ति दिखानेके लिये उसकी निहक्ति दिखाई है, परंतु यह अथ शब्द सोये हुए अथवा सड़े हुए घोंडेमें भी व्यनहित होता है वहे वेगसे दोड़नेवाले गरुड वगैरे प्राणिओंमें इस अथ शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है, वैसे इस शुक्लध्यानमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है धर्मध्यानसे भिन्न आर्त रोद्रध्यानमें भी इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है.

प्रश्न—ध्यान किमत्रो कहते हैं ? उत्तर— उत्तमसहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यायम्' अर्थात् उत्तमसहननपांलेके एकाग्रचित्तानिरोधको ध्यान कहते हैं छह सहननोंमें वषट्पुष्पमनसश्चसहनन, वज्रनाराचसहनन, और नाराच सहनन इन तीन सहननोंको उत्तम सहनन कहते हैं, इन तीनोंमें से एक सहनन जिसको है ऐसा पुरुष उत्तम सहनन धारक है वह पुरुष एकाग्रमें चित्ताका निरोध करता है इस चित्तोके निरोधको ध्यान कहना चाहिये.

शंका— चित्तोके अभावको चित्तानिरोध कहते हैं वह एकमुख कैसा होता है ? तथा वह कर्मोंके भाव अथवा अभावमें कैसा कारण होता है ? आतं ध्यान आर रोद्रध्यान अष्टमकर्मका निमित्त है, धर्मध्यान और शुचल ध्यान दश कर्मका तथा निर्जसका निमित्त है.

उत्तर—यहां निरोध शब्द अभावका वाचक नहीं है किंतु रोचका वाचक है जैसे मूत्रविरोध शंका—जो पदार्थ चंचल है उसका निरोध होता है परंतु चित्ताका निरोध कैसे हो सकता है ? उचर—चित्तोके चिदान अनेक पदार्थोंका आश्रय लेकर चित्ता चंचल होती है उसको एक विषयमें स्थिर करनाही चित्तानिरोध है ऐसा कहते हैं उनको ऐसा

पुछना चाहिये—यदि चिन्ता अनेक अर्थोंका—पदार्थोंका आश्रय लेती है तो वह एक वस्तुमें ही कैसी स्थिर होगी और यदि एकही पदार्थमें स्थिर होगी तो अनेक पदार्थोंका वह अवलंबन क्यों लेगी. इस वास्ते उसके निरोध का वर्णन करना असंगतसा दीखता है. चिन्तानिरोधका यहाँ ऐसा विवेचन करना चाहिये—

चिन्ता शब्दसे चैतन्य अर्थ समझ लेना. यह चैतन्य अन्य पदार्थको जानता हुआ ज्ञानपर्यायसे परिणत होता है. ऐसे परिस्यंदयुक्त चिन्ताका निरोध करना अर्थात् एकही विषयमें उसकी प्रवृत्ति होनाही चिन्ता निरोध समझना चाहिये. जो एक पदार्थमेंही निरुद्ध हुआ है वह वही प्रवृत्त हुआ है ऐसा कहा जाता है. उचम संहानवालोंको ध्यान होता है ऐसा सूत्रप्रयोग है इससे उचमसंहननरहित जीवोंमें आर्त रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति नहीं होगी. इससे इन ध्यान के आश्रयसे जो नरकादि गतिओंकी प्राप्ति का वर्णन आचार्योंने किया है वह अनुभवसे विरुद्ध होता है. इस कालमें भी इन ध्यानोंका सञ्ज्ञात है अतः अन्यथाज्ञाते भी उपयुक्त कथन विरुद्ध पड़ता है. यह कथन अन्यज्ञातोंमें भी विरुद्ध होता है. 'तद्विचरतेदेशनिरतप्रमत्तसंयतानाम्' 'हिसानृतस्त्वेषविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम- विरतदेशविरतयाः' 'इन सूत्रोंमें केवल गुणस्थानोंका आश्रय लेकर ही आर्त रौद्रध्यानके स्वाभीओंका वर्णन किया है. इससे भी ध्यान अनुत्तमसंहननवालोंको मी होता है यह सिद्ध होता है.

उपयुक्त आक्षेपका निराकरण—

निर्जराके कारण जो ध्यान है उनका यहाँ वर्णन है. इसवास्ते दुष्टताके लिये साधात्कारणभूत ध्यानका वर्णन करनेके लिये आचार्योंने 'सूत्रमें उचमसंहननस्य' ऐसा शब्द ग्रहण किया है.

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्रधर्म्यशुक्लानि' ऐसा आगेका सूत्र है यह असंगत है क्योंकि आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान निर्लेखके कारण नहीं हैं.

उत्तर—'उचमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानं' यह सूत्र मुख्य ध्यान जो कि मुक्तिका अंग है उसको उद्देश फरके प्रवृत्त हुआ है. और एका के आगेका 'आर्त रौद्रधर्म्यशुक्लानि' यह सूत्र एकग्रचित्तको सामान्यसे उद्देशकरके लिखा है. यह सूत्र अनभिमत अनिष्टध्यानका वर्णन करता है. प्रस्तुत ध्यान अनभिमत ध्यानसे-आर्त और रौद्रध्यानसे अलग है और इसका स्वरूप निलकुल आर्त रौद्र ध्यानसे उलटा है यह दिखानेके लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है. इसलिये प्रासंगिक आर्त रौद्रध्यानका मुख्यध्यानके आगे उद्देश किया है.

अथरा 'उपसमं हननस्य' यह मुन्द विग्रहित कीर्त्यवान् आत्माके लिए उपलक्षण है- अर्थात् उत्तमसंहनन निर्वाणप्रपञ्चान् आत्माया एवमस्तु मे स्थिर ऐसा जो ध्यान उमरों ध्यान कहना चाहिये ऐसा मन्त्रार्थ है.

गुप्तन ध्यान चान् प्रसारका है (इसका ग्रंथकार आगे वर्णन करेगा) यह ध्यान चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करना है चतुर्गति प्रमल करनेमें त्रियको सब उत्पन्न हुआ है अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंसे जो भयपुक्त है. ऐसा धारण परमेश्वर और गुप्तध्यान ऐसे दो ध्यानोका चिन्तन करता है.

ण परीसंदर्हि संताविउं वि सो झाइ अट्ठरुहाणि ॥
सुदुवहाणे सुखं पि अट्ठरुहा वि जासंति ॥ १७०० ॥

आनरीद्वद्वयं त्याज्यं सर्वथा दुःखदायकम् ॥

मेन विपश्यत्येतं ध्यानं दुर्नयेनेव सख्यः ॥ १७१७ ॥

वित्तवोरव—य परिकल्पितो न सखकः गरिक्सेतोद परीयदे । संतापितो वि साधितोऽपि अट्ठरुहाणि आसं रोहं य न सार साध्यानि । सुदुवहाणे सुखं उपपाने । सुदुमपि अट्ठरुहाणि जासंति पालंरीद्वद्वयमे वासायतः ॥

बीमदुःखानोऽन्वी मट्टधानं प्रतिषण्णे इति एकरुपातुवासाविषयकं दुर्धानं प्रविषेधमनुसासित—

दुन्दारा—यो मट्टधानोपाः मायुः । मुष्टिभाषे विमुद्रापि सुदुस्पर्धनसंकेतपरिणादेरिदुद्धं विशिष्टा द्रुद्धि बर्माचिंरत्तागिर्विद्विंश्चैरिपमपि मट्टगामानरीट्ठ नासक्यः । किं पुनरितरदिति त्वया संसारधीरुणा चोरपरीपतोपबृते- सादि ते दुष्पाने मनागपि नाशकनीये इति प्रतिषेधपरोक्तिः ॥

अर्थ—यह धपक परिषदोंके द्वारा पीडित होनेपर भी आगे ध्यान और संतुष्टिमानका चिन्तन नहीं करता है. गूढ परिणामोंके द्वारा उस धपकका ध्यान समन्वितता करनेमें समर्थ है तो भी ये आनंदीन्द्रध्यान उस उत्तम ध्यानका नाश करेगा है. इसलिये हे धपक! मंगारदुःख में भयपुक्त होकर परीषदोंसे पीडित होनेपर भी इन अनुभवाधिनोरा स्वीकार करना नरे लिये रित्तुल अयोग्य है.

अट्टे चउप्पयारे रुहे य चउव्विधे य जे भेदा ॥
ते सव्वे परिजानदि संथारगओ तओ खवओ ॥ १७०१ ॥

रौद्रं चतुर्विधं ध्यानं ये चातौ सन्ति केचन ॥

ते भेदा दूरतस्याज्या विज्ञाय विधिधेदिना ॥ १७०८ ॥

विजयोक्ता—अट्टे चउप्पयारे आतौ चतुःप्रकारे, जे भेदा रुहे य चउव्विधे ये भेदाः । ते सव्वे परिजानदि तान् ससोन् विजानामि । संथारगओ संस्तरगतः । तयो खवओ वसो खपक्कः । जो यत्तु परिहरे खुस्स कथं सत्त्वतोऽनवतुः । वमानो निमोगत्ता । परिहरेधि छदि ? । पत्थं आतैरौद्रं परिहृज्ज तस्मात् छातन्त्येति इति दशयति ॥

यो दक्षियोगतः परिजिहीषति स नित्यं तत्स्वरूपपरिज्ञानपरो मयतीति सविकल्पमपि दुर्ध्यानद्वयं क्षपणेन

विनर्शनैर्यभित्युत्प्रेष्टुमिदमाह—

मूळारा—परिजानदि लक्षणविधे चनेनेदस्यामिदेरुष्णलफलभागुणस्थानप्रभेदानामर्थनिर्णयविषयवलाधारेरातै

रौद्रं च अचक्षुष्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—आर्तध्यानके चार प्रकार है तथा रौद्रध्यानके चार भेद हैं. संस्तरपर पडा हुआ क्षपक इनके सर्व भेदोंका स्वरूप जानता है. यदि इनके भेदोंका परिज्ञान ठमको न होगा तो वह उसका त्याग नहीं कर सकेगा. आर्तरौद्रध्यानका त्याग करनेके लिये उसके स्वरूपका ज्ञान होना अवश्यंभावी है.

अमणुणसंपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे ॥

अट्ठं कसायसहिंयं ज्ञाणं मणियं समासेण ॥ १७०२ ॥

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेत्र छव्विहारभे ॥

रुद्धं कसायसहिंयं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥ १७०३ ॥

अवहट्ठ अट्ठरुहे महामये सुगदीए पच्चूसे ॥

धम्मो सुक्खे य सदा होदि त्थमण्णगदमदीओ ॥ १७०४ ॥

स्तेयासत्यचोरशायद्विघातंभवेदतः ॥

कपायसहितं रौद्रं ध्यानं श्रेयं समासतः ॥ १७६९ ॥

प्रियायोगप्रियप्रतिपरीषद्विदानतः ॥

कपायकलितं ध्यानमातं प्रोक्तं चतुर्विधम् ॥ १७७० ॥

रौद्रमातं त्रिधा त्यक्त्वा सुगतिप्रातिवंचकम् ॥

घर्मपशुकलद्वये योगी साम्यं कर्तुं प्रवर्तते ॥ १७७१ ॥

पितृयोक्त्या-अपदद्वयपहृत्य । अदृश्यं आर्चयेत् । मदलो अयस्य हेतुत्वान्मदामये । सुगतीन् पञ्चभूते सुगते-
विप्रभूते । घर्मे सुके वा घर्म्यं शुके वा ध्यानेऽसौ शरणः । लम्पणादमदी सौ होवि सम्यगनुरत्नमविर्भयति ॥
संक्षेपेणार्थव्यक्तिकल्पक्याचष्टे—

नूतारा-अहं श्रुते अमनोक्तसंयोगादिना यीदिते गुंसि भवमाहो । उक्तं चार्थे—

श्रुते भवमार्थं दयाद्वयानमार्थं चतुर्विधं ॥

दृष्टानवाप्यनिष्ठानिनिदानासाखेदुक्तम् ॥

कक्षावसदिहं प्रमादादिप्रित्वित्वात् ॥ समासेण संक्षेपेण । विस्तरस्त्वार्योक्तो यथा—

श्रुते विना मनोकार्थान्कृत्यमिष्टवियोगव्यम् ॥

निदानप्रत्ययं वैषम्यप्राप्तेष्टार्थैषितनात् ॥

श्रुते ह्यपगतेऽनिष्टे भवमाहं हृतीयकम् ॥

मयेषुतुर्धमप्येकं वेदनोपगमोद्वयम् ॥

प्राप्त्यप्ययोर्मनोज्ञेवपार्थयोः स्तुतियोजने ॥

निदानवेदनापानविषये चानुचितेन ॥

इत्युक्तमार्तमार्तवित्त्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥

प्रमादादिप्रित्वं तनुं षड्युगस्थानसंश्रितम् ॥

व्यप्रस्तुतमं तेष्यान्नवमाश्रित्य जंभितम् ॥

अन्युद्गर्तकाढं तदग्रस्तत्वाखलंनय ॥
 आश्विनोपलमिकोऽस्य स्यान्मज्जतिर्यग्भाविः फल्गुम् ॥
 तस्मादर्थान्नमात्तोख्यं देयं त्रेयोर्वैर्विनामिदम् ॥
 मूच्छाकौशील्यकैनादयकौसीद्यान्यतिगृध्रुता ॥
 भयोद्रेगानुशोकाश्च लिगान्यार्यै स्मृतानि वै ॥
 बाह्यं च लिगमातस्व गात्राब्जनिर्विवर्णता ॥
 हस्तन्यस्तकपोलत्वं साक्षुसान्यत्र तादृशम् ॥

रौद्रभेदानाह—

मूलाहा—सारकशनेषु सकादि गृहीत्वा स्वद्रव्यादिरक्षणे । छत्रिबधरंध्रे पृथ्वीवतिकायहिंसने । रुद्रं रोदयते

प्राणिन इति रदो हिंखो रुद्रे भयं रौद्रं ॥ समासेण संक्षेपेण, विस्तरस्त्वापेक्षो । यथा—

पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यातं चतुर्विधम् ॥

हिंसानंरक्षगानंदस्तेवसरक्षणात्मकम् ॥

पश्यातु तदुणत्सानात्वाद् पंचगुणभूमिकम् ॥

प्रकृष्टतदुल्लेखयान्नबोपोद्वल्यद्वितम् ॥

अथमुद्गर्तकालोत्थं पूर्ववद्भावमिष्यते ॥

वपयथाभिसंधानमंगच्छेद्योपवाप्ते ॥

ईदृशकृष्यमित्यादि हिंसानंदं स्त्वो जुष्यैः ॥

हिंसानंदं सम्यावाय हिंसाः प्राणिषु निर्वेणः ॥

हिंसस्यात्मानमेव प्राक् पश्चादन्यात्वा वा परान् ॥

पुरा किलारविदास्यः प्रख्यातः सचराधिपः ॥

रुधिरस्तनरौद्रमिसंधिः आस्त्री विवेस सः ॥

मिषगर्हिस्रया चेति लिङान्यस्य स्मृतानि के ॥

सूयन्मनो यथायाक्वैरतिर्तन्धानादितनम् ॥

वाक्पाठव्यादिलिङं तद्वितीयं रौद्रविष्यते ॥

सेवानन्दः परब्रह्मद्वारेण स्मृतिबोद्धवम् ॥

भवेत्संरक्षणानन्दः स्मृतिरयोजेनाविषु ॥

प्रवीतलिङ्गामैवैवद्वौद्रध्यानद्वयं भुवि ॥

भारकं तु रामस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरं ॥

भारकं तु लिङ्गभरणादुरसंगं मुखचिकियम् ॥

प्रत्येवभंगकं च नेत्रयोश्चैति ताम्रवाम् ॥

प्रयत्नेन विनैवेत्तद्वौद्रध्यानद्वयं भवेत् ॥

अनादिवासनोद्भूतमतस्वहितुलेनमुनिः ॥

अपि च—अतएवमित्यतस्वाश्रयैः परित्यजेन भाषयन् ॥

भीषधीतो समाधाय संक्षिप्तं ध्यानमृच्छति ॥

संकल्पो मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुत्पिप्पी ॥

सैव दुष्प्रणिधानं रयादपध्यानमतो विदुः ॥

स्वार्थधातुस्तदाधुष्यानिं त्यक्त्वा नित्यं सद्दयानैकगतो भवेत्सुपदैस्वार्थमाह—

मूलरा—अबहट् अपहृत्य । भगवते दुर्गेतिदुःसहोदुहितवर्धनदानत्वात् । सुगदीपं सुदेवत्वमुमानुपपन्न-

नागतित्त्वायाः सुगतेः । पञ्चदे विभक्त्यै तत्कारणपुण्यं यथाश्रयप्रतिबंधितत्वात् । समध्यानदम्दीप्तो सव्यगजुगतबुद्धिः ।

अर्थ—अमनोज्ञसंप्रयोग-अनिष्टपदार्थोका संयोग होनेपर उसका वियोग किस उपायसे होगा ऐसा चार

विचार करना अमनोज्ञ संप्रयोग नामक आर्तध्यान है, इष्टविषयमेव—स्त्रीपुत्रादिक पदार्थोका वियोग होनेपर

उसकी प्राप्ति की चार चार विचार करना, परीकृष्ट प्राप्ति होनेपर ये कैसे दूर होंगे ऐसा मनमें चार २ विचार करना,

आगेके भयमें मेरेको अच्छे २ पदार्थ प्राप्त होने चाहिये ऐसा विचार करना यह निदान नामक आतर्ध्यान है-
 चोरी करनेका बार २ विचार करना, चारसे घन न रहता जावे इस लिये उसका संरक्षण करनेके लिये
 शस्त्रादिक ग्रहणकर उनका रक्षण करनेके हृदपरिणाम वारंवार होना, छद्म प्रकारके आरंभ करना अर्थात्
 पद्मावलीवैली जिसमें हिंसा होती है ऐसा आरंभ करनेमें तल्लीन होना इसको रौद्रध्यान कहते हैं। हिंसा करनेमाले
 मनुष्यको हार कहते हैं ऐसे मनुष्यमें उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उसको रौद्रध्यान कहते हैं ऐसा रौद्र ध्यानका
 लक्षण संश्लेषसे फटा है। ये आर्त और रौद्रध्यान दोनों भी त्यागने चाहिये- क्योंकि ये महाभयके कारण हैं और
 सुगतिके प्रतिबंधक है अर्थात् दुर्गतिके कारण हैं- ये धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बाधक हैं ऐसा समझकर धर्म और
 शुक्ल ध्यानमें क्षणक सदा स्थिर रहता है।

क्लितधर्मसौ ध्यात्मयोः शुभयोर्द्वैतस्य इत्यादिवाक्यां ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगिणिरोधं इच्छं च गिज्जरं विउल्लं ॥

चित्तरस य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥ १७०५ ॥

ध्याने प्रवर्तते कांक्षन्कपायाश्रनिरोधनम् ॥

वदयत्तवं मनसो मार्गद्वंधं निर्जरां पराम् ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—इंदियकसायजोगिणिरोधं स्वर्गाविपुष्पात् उपयोगं इंदियशब्देनोच्यते । कपायाः क्रोधादिरात्रौ
 वीगः संवेधस्तस्य निरोधं निवारणमिच्छन्निर्जरां च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नैद्रियविषय
 ज्ञानोपयोगसंभवः, कपाशार्णां बोधनिः, चित्तस्त य वसियत्तं चित्तस्य स्वयंशब्दे इच्छन् स्वेषुविषये चित्तमस्तदुत्तरा-
 पयतोऽनिष्टान् व्यावर्तयतः स्ववशं मयति ॥ चित्तस्य मग्गादो अविप्पणासं च मार्गाद्वैतव्यवविप्रयाशे च वांछन्,
 मशुभध्यानप्रवृत्तौ रत्नत्रयात्स्वुतो मयामीति ध्यात्वे प्रवर्तते ।

धर्मेध्यानस्य प्रयोजनमात्रं परिकरं च निर्दिष्टं याथावत्तुष्टयमाचष्टे—

मूळारा—ओम संवेषः । इच्छं वांछन् । गिज्जरं श्रुयकैकेद्वैतसंश्रयं । विउल्लं शब्दाख्यतरुपोविक्लृप्ततरुसाध्य
 निर्जरातोऽतिशायिनी । वसियत्तं स्ववश्यतां । त्वेष्टेऽर्थे चित्तं स्थापयितुं अनिष्टान् च व्यावर्तयितुमिच्छति । मग्गादु अवि-
 प्पणासं रत्नत्रयादुप्रच्यवनम् ।

यह क्षपक शुभध्यानमें क्यों प्रवृत्त होता है इस अंशके उद्धारमें कारणका निवेदन करते हैं—
 अर्थ—स्पर्शादिक विषयोंमें उत्पन्न हुआ जो उपबोध उसको यहाँ इंद्रिय कहते हैं. इंद्रिय और कषायोंका संबंध नष्ट करनेकी यदि इच्छा हो, कर्मोंकी विपुल निर्बला करनेकी यदि इच्छा हो, तो तु अपनचित्त स्वाधीन रखने का प्रयत्न कर. वस्तुके यथार्थ स्वरूप को जाननेमें अपने मनको एकत्र कर. लव मन स्वाधीन होता है तब इंद्रियोंके विषयके प्रति उपबोध नहीं लगता है और कषायों की भी उत्पत्ति नहीं होती है. चित्तको अपने इस विषयमें अर्थात् उत्तम क्षमादिक धर्मोंमें स्थिर करना चाहिये. और अनिष्टविषयोंसे परावृत्त करना चाहिये. रत्नत्रयमार्गसे अपनी च्युति न हो ऐसी इच्छा करनेवाले क्षपक को अष्टम ध्यानका त्याग करना चाहिये. और शुभ ध्यानमें स्थिर रहना चाहिये.

ध्यानपरिष्कारप्रतिपादनाद्योत्तरभाषा—

किंचिदिद्विमुपायतद्विज्ञाने निरुद्धविद्विओ ॥
 अप्याणं हि सदि संघित्ता संसारमोक्षलडम् ॥ १७०६ ॥
 एकाग्रमानसश्चक्षुष्यविर्यं परवस्तुतः ॥

आत्मनि स्थितिमाधाय ध्यानं श्रयति मुक्तये ॥ १७०३ ॥
 विज्ञयोदया—किंचिदिद्विमुपायतद्विज्ञाने निरुद्धविद्विओ ॥ यद्यपि निरुद्धविद्विओ एकविषये परीक्षणमें निरुद्धवैतन्यः। तद्विनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिगोचरं युक्तः। अप्याणं हि आत्मनि। सदि स्मृति। संघित्ता संघाय। स्मृतिशब्देनात्र धृतज्ञानेमाधगतस्यावस्था स्मरणमुच्यते, संसारमोक्षलडं संसारविमुक्तये ॥ प्रयोजनमुक्त्वा परिफर्माह—

मूला—किंचिदिद्विमुक्तये। विद्वं चक्षुः। उच्यते चित्तु उपाकर्त्य। बाह्यद्रव्यालोकाभ्याकार्यं चात्मा हि दृष्टिगोचरः। निरुद्धविद्विओ एकविषये परीक्षणमें निरुद्धवैतन्यः दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिगोचरं प्रयुक्तः। अप्याणं स्मि स्मृतिविद्विओ दृष्टिगोचरे स्मृतावनि। सदि धृतज्ञानाधिगताव्यमरणं। उक्तं च—

पूर्वभुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः।
 तत्रैकग्रन्थं समसाध न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

अपि च—

गहिर्यं तं मुरगणाणा पच्छा संवेगणेण सावेज्ज ॥

जण्डु मुअमवंबदि योमच्छदि अपसन्मवे ॥

ध्यानका परिकर कहनेके लिये याया—

अर्थ—नेत्रोंको ॥१॥ पदार्थोंके अवलोकनसे इटाना चाहिये अर्थात् नाकके अग्रमासपर नेत्रोंको निश्चल करना चाहिये. तदनंतर एक विषयको धारण करनेवाले परोक्षज्ञानमें अपना ज्ञानोपयोग स्थिर करना चाहिये. स्वसंवेदनज्ञानसे जिसका अनुभव आता है ऐसे अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मामें श्रुतज्ञानके साहाय्यसे आगमसे जाने हुए पदार्थोंका स्मरण करना चाहिये. यह ध्यान धुनिषण संसारसे मुक्त होनेके लिये करते हैं.

पञ्चाहस्तिु विसयोहिं इंद्रियोहिं मणं च तेहिंतो ॥

अप्यणम्मि मणं तं जोगं णणिघाय धारेदि ॥ १७०७ ॥

प्रत्याहृत्य मनोऽक्षाणि विषयेभ्यो महाबलः ॥

प्रणिधानं विधत्तेसाधयत्समि ध्यानलालसः ॥ १७७४ ॥

विजयोदया—पञ्चाहस्तिु प्रत्याहृत्य । विद्येयोहिं विषयेभ्यः । इंद्रियाहं इंद्रियाणि मणं च मनश्च न्यायस्य । तेहिंतो विषयेभ्यः । मणं त धारेति समनो धारयति । ऋ भ्रम्याणंहि आत्मनि । जोगं योगं धीर्यतरायक्षयोपशमजपीर्यपरिणामं । णणिघाय प्रणिघावरथाव्य, एतदुक्तं भवति धीर्यपरिणामेन नोऽंद्रियमति धारयतीति ॥

मुरगतस्तेव परिकरौहिं—

मूलरा—पञ्चाहस्तिु ध्यायत्यर्थं । इंद्रियाहं बहुश्रुतपुष्योणम् । सणं नो इंद्रियमसि । तेहिंतो तेभ्यः । विषयीकृतं । जोगं णणिघाय वीर्योत्तरायक्षयोपशमजं वीर्यपरीणामसमष्टम्य वीर्यपरिणामविशेषेण शुद्धस्वात्मसि निर्दिष्टयो नोऽंद्रियमति धारयतीत्यर्थः । ॥ एणोऽन्तः परिकरः सूक्ष्मलोकः । वाह्यस्त्वयं—

पर्वतगुहायां, भिरिकंदरे, दर्या, तरुकोटेदे, त्वीपुल्लिगे, विषुवते, जीर्णोद्याने, शून्यागारे, वा अशालमृगायां पशूनां पक्षिणां, मनुष्याणा वा ध्यानविप्रकारिणां साक्षिचक्षुः, वरस्योरंगुलिभिरुप शुद्धाविवर्जिते उज्जयोतोने प्रचलादिविद्दिने निरलेन्द्रियमनोविषयेपेवौ, कुचवतुष्टस्यार्थमूषागे मंदमंदप्राणपानप्रचरो नाभेरुर्ध्वं, हृदि लटाटे या वज्र वा मनो-वृत्ति वयापरिचयं प्रविधाय ध्यायतीति तथेव चाक्षाचक्षुस्तत्र मंचयो मातृदाससेनपादाः—

ययोक्त्वक्षणे ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा ॥
 तदेदं परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥
 शून्यागारे गुहायां च दिवा वा यदि वा निशि ॥
 स्त्रीपशुकुलीयजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥
 खान्ध्र ॥ कविदेवो प्रसाते प्राप्नुके समे ॥
 श्वेतनयेतमज्ञेयध्यानविघ्नविवर्जिते ॥
 मूतके वा शिलापट्टे सुरासीनः स्थितोऽयवा ॥
 समदुःखाकृतं मात्रं निष्कृपाद्ययं वधत् ॥
 नासाग्रम्यस्तानिःस्पंदलोचनो मंदमुचुसन् ॥
 द्वात्रिंशदोपनिमुक्तकावोत्संगव्यवस्थितः ॥
 प्रत्याहत्याल्लुंटाणां सदैर्येभ्यः प्रयत्नतः ॥
 बिंशो वाहृष्य सर्वेभ्यो निरुष्य भ्येषयस्तुति ॥
 निरावनिप्रो निर्भितिर्निरादर्यो निरंतरः ॥
 स्वरूपं पररूपं वा भ्यायेदंतर्बिद्युद्वये ॥

किंच—वेहायथा पुनर्येन न स्वात्मानोपरोधिनी ॥

तदयस्यो मुनिर्भयोदस्थित्वास्तित्वाधिस्य वा ॥

देशादिनियमोऽत्येवं प्रायो वृत्तिव्युपाश्रयः ॥

कृतात्मनां तु सर्वोपि देशादियानसिद्धये ॥

अर्थ—विषयों इंद्रियों और मनको हटाना चाहिये. अर्थात् इंद्रियोंका उपयोग याह पदार्थमें समझेपने प्रयत्न होता है. उनको समझेपरहित होकर वहांसे हटाना चाहिये. और चीयंतरायकर्मके ध्योपययसामर्थ्यसे मनोबोधको अपने आत्मामें स्थिर करना चाहिये.

कृतमनोनिरोधः किं करोतीत्याहंभ्याह—

एवमेव मणं संभित्तुणा घमं चट्विहं श्रादि ॥

आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥ १७०८ ॥

ध्यायत्येकाग्रचेतस्को घर्म्यध्यानं चतुर्विधम् ॥

आज्ञापायविपाकानां संस्थाया विचयं सुचीः ॥ १७०९ ॥

विजयोदयः—एवमेव मणं संभित्तुणा घमं चट्विहं श्रादि ॥
 विचयं ॥ श्रादि ॥ ध्यायति । अर्धतत्परि कृतोयमुक्तः सूत्रकारेण । वाह्यपरिकर उच्यते । पर्वतशृङ्गां, निरिकंदेर, वयो, तद-
 कोटेर, नदीपुल्लिन, पितृवन, शीर्षां, शृंगारं वा व्यालसूत्राणां पट्टाणां, पक्षिणां, मनुष्याणां वा ध्यानविचकारिणां
 सन्निधानादौ, तदध्यायानुसिद्ध आसन्नचित्ते, उष्णशीतलपवातादिविपक्षिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुद्धाचतुर्गु-
 लस्यै ध्यायते मंदं मंदं प्राणपानविचारः नभिरूपं हृदि सल्लङ्घ्य वा मनोहृत्ति यथापरिचयं प्रणिदधातीति वाह्यपरिकरः ॥
 आणापायविपाकविचये आह विचयमपत्यविचयं, विपाकविचयं, संठाणविचयं च । तत्राह विचयो
 निरूप्यते—कर्मणि मूलोत्तरमकृतीनि तेषां चतुर्विधो पंचपर्याय उदयफलविकल्पः जीवद्रव्यं सुस्पष्टवर्ण्येति सारदीना
 मर्तोद्विषयाद् धृतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकार्यमापात्तं सुखयतिमये अस्ति तुरयोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं तथापि
 संप्रज्ञानप्राप्त्यान् आणमपि पठ्यते तथैव नान्येति निश्चयः । सत्यवर्णनसमावधानोक्ष-
 वेष्टुदित्याह विचारनिश्चयज्ञानं आह विचयः धर्मोऽर्थः । अर्थे तु बहंति त्वमाविगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं
 सिद्धांतनिरूपितार्थमतिपाठेष्टुभूतयुक्तिगवेषणापद्धतिश्चिन्ता सर्वज्ञानप्रकाशनपरः अतएव पुनरप्य इयं सर्वविदा-
 माहावयोचयिष्ठं शक्येति प्रवर्तमानत्वादज्ञाविचय इत्युच्यत इति ॥ अनादौ संसारे कैरे मनोवाक्यवृत्तेर्मम अशुभमनो
 पाप्मावस्थाऽपारः कथं स्यादिति अणये विचयो भीमांसासिञ्जलीस्यवविचयं द्वितीयं धर्मस्थानं । ज्ञातेयसंस्थानीया
 मिध्यादृष्टयः समीचीनमुक्तिमार्गपरिज्ञानात् दृग्मेवाप्येति मार्गोद्विष्टि सत्यामार्गपणे प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिन्तव-
 पापविचयं इत्युच्यत इति मिध्यादर्शनज्ञानचारित्र्यम्यः कथमिमे प्रपिन्नोऽप्येयुरिति स्मृतिसम्भवाद्धारोऽप्यायविचयः ॥
 विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरमकृतीनां कर्मणामष्टमकारणां चतुर्विधपंचपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीक्ष्ण-
 मधुमदपरिणामप्रपंचकृतानुभाषविशेषाणां द्रव्यशेषकालयावोपेक्षाणां पतसु यत्किपु योनिषु वा इत्येभूते फलमिति
 विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः ॥ येनासन्नशुद्धीमुदगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसं-
 स्थाने विचयोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥

एवं कृतपरिकर्मो युमुक्षुः किं करोतीत्याह—

मूलराः—एवमेव एकच्येयमुपलप्य । संभित्तुणा निरुध्य । ज्ञानेति विज्ञाद्विपु सिचयः सम्यग्निबचरणानिष्टं

ज्ञानं यस्मिन्नस्ति तदासाविषयमपयविषय, विपाकविषयं, संत्वानविषयं चेति षड्विधं धर्मध्यानं मुख्यं अविषयं । तस्य धर्मः—

अपदेदुत्प्रायान्तं वपुःखित्वात्मनो दयासूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टतोपरये सर्वत्र प्रणीतभाग्यं प्रभाणीकृत्य इत्य-
नेवेदं मान्यता आदितो जिना इति गहनपदार्थभक्तानादयवधारणमाज्ञाविषयः । अथवा स्वयं विद्विष्यदायैरत्यस्य सतः
परं प्रतिविपक्षविषयोः स्वसिद्धांताविरोधेन तत्त्वसमर्थतत्त्वकर्तव्यप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्व्याहारः सर्वमाज्ञाप्रदर्शनार्थैर्यदा-
क्षाविषय इत्युच्यते ॥ जालंधपदन्तिरप्याट्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गद्विगुणा भोक्षार्थिनः सन्मार्गापरिज्ञाकालुसुदूरमेवापयातीति
समार्गापयवित्तनपयविषयः । अथवा सिद्धार्थज्ञानचारित्र्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽप्येयुरिति स्मृतिसमन्वयाह-
रोऽपयविषयः ॥ फलमो ज्ञानारण्यीना ब्रह्मक्षेत्रकालव्यवहारवर्ध फलानुभवं प्रति विज्ञाप्रबंधो विपाकविषयः ॥
त्रिकोक्तसंस्थानस्वभावविचारप्रणिधानं संस्थानविषयः ॥ एवं संक्षेपेण धर्मध्यानभेदनिर्णयो विस्तरतत्त्वार्थोक्तं धर्म्यं

यथा—

तदज्ञापापसंस्थानविपाकविषयसर्वकं ॥
षड्विधकल्पमान्नातं ध्यानमान्नापवेदिभिः ॥
तत्राक्षेत्यगमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगच्छते ॥
दृश्यानुभवेयवर्ग्ये हि भदेयदि गतिः श्रुतेः ॥
जैनीं प्रमाणयत्तां योनी योगविदां परः ॥
ध्यायेद्भौतिककायादीग्भावात्सूक्ष्मान्वयागमम् ॥
आकाशविषय एव स्यादपयविषयः पुनः ॥
सापन्नयदिद्व्यन्माट्टिपमतपणयनिवित्तनम् ॥
तदपयप्रतीकारवित्रोपयानुचितनम् ॥
अत्रैवान्तर्गतं ध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणम् ॥
शुभाशुभविषयकामं कर्मणां परित्यक्तः
भगवतस्तस्य वैचित्र्यमयिसंघतो मुनेः ।
विपाकविषयं धर्म्यमायनंति कृतायमाः ॥

विपाकश्च द्विषान्नातः कर्मवामासस्त्वित्तु ॥
 यथाकालमुपायाय फलपक्विर्नस्यते ॥
 यथा तथैव कर्माणि फलं दत्ते शुभाशुभं ॥
 मूलोत्तरग्रहयुग्मादिबन्धसत्त्वाद्युपाययः ॥
 कर्मणामुदरध्वजः श्राव्य द्रव्यादिसन्निधि ॥
 यतश्च तद्विपाकफलदपायाय वेष्टते ॥
 ततो ध्येययिदं ध्यातुं युक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥
 संस्थानविषयं प्रातुल्योकाकारलुचितनम् ॥
 सवन्तभूतजीवादितत्त्वन्वीक्षणलक्षणम् ॥
 द्वीपान्निषल्लयानद्रीम्सरितश्च सरासि च ॥
 विमानभयनव्यंतरायासनरक्षिणीः ॥
 त्रिजगत्समिधेसेन सममेतान्यथागमम् ॥
 भावान्मुनिमुखायेरसंस्थानविषयोपगः ॥
 जीववेदांश्च तत्रत्याग्यायेन्युक्तेतरात्मकान् ॥
 ज्ञातुर्कृत्यमोक्तत्त्वद्रष्टृत्वादींश्च तद्गुणान् ॥
 तेषां संकृतं कर्मोत्तुमाद्योत्थमनिदुस्तरं ॥
 प्रधादिष्वव्यस्तनान्तं श्रेण्यादःकुञ्जकुलं ॥
 सञ्ज्ञाननावा संवर्त्यभवायं प्रथिग्नयभिः ॥
 अपारमतिगंभीरं ध्यायेदप्यात्मविरासि ॥
 किमत्र चहुनोत्तेन सर्वोप्यगमविरतः ॥
 नवभंगशतकोषो ध्येयोऽप्यात्मविरासि ॥
 तदप्रभक्तमालंबं स्थितिमातुर्गुह्यं तर्हि ॥

दधानमग्रमत्तेषु षट् कोटिमधिक्रियम् ॥
 सदृष्टिषु यथान्तर्यं दोषेष्वपि कृतस्थितिः ॥
 श्रष्टिष्टिभेदमेषेदयात्रयोपोद्बलदृष्टितम् ॥
 ज्ञावोपश्लिष्टं भावं स्वसात्कृत्य विजृम्भितं ॥
 मोहोदकं महाप्राज्ञैर्महर्षिभिरुपासितं ॥
 यस्तुयुर्मनुयायित्वात्मातान्त्वर्थेनिरुक्तिरुक्तम् ॥
 धर्म्यं ध्यानमनुव्येयं यथोक्त्येयवित्तरं ॥
 प्रसिद्धचित्ता धर्मसंवेगः शुभयोगता ॥
 शुद्धतत्वं समाधानमाप्ताधिगमजा रुचिः ॥
 भवन्त्येतेषां लिङ्गानि धर्म्यस्यांस्मृतानि वै ॥
 ज्ञानेभ्यश्चाथ पूर्वोक्ता विविधा शुभभावताः ॥
 बाह्यं हि लिङ्गमंगानां सन्निवेशः पुरोदितः ॥
 प्रसन्नवक्ता मौन्या दृष्टिभेदादिलक्षणं ॥
 फलं ध्यातव्यरयस्य विपुला निर्जरेनसां ॥
 शुभकर्मोदयोदमूलं सुतं च विबुधेशिनां ॥
 स्वर्गापवर्गभेदाति फलप्रसम प्रचक्षते ॥
 साक्षात्तर्गपरिप्राप्तिं पारंपर्यात्परं वदं ॥
 ध्यानेऽप्युपरते धीमानधीष्ट्यं भावयेन्मुनिः ॥
 भद्रुपेक्षाः शुभोदकां भयाभावाद्य भावनाः ॥ इति ॥
 व्याख्यातार्यसुलसृत्यर्थं वेद्यं गीतिरंतश्चिन्त्या—
 ध्यानस्य लक्ष्मिनिर्वचोधिपतिदेयलक्षणलभावाः ॥
 स्थानं प्रभेदगमार्थनिर्णयो गोचरो बलाधानम् ॥

मनका निरोध करनेके अनंतर ध्याताका कर्तव्य पतावे है.

अर्थ—एक विषयके तरफ मनको निश्चल कर चार प्रकारके वस्तु स्वभावोंका वह धूपक ध्यान करता है. यदांतक ध्यानका अन्त्यंतर परिकर कहा है. अब बाह्य परिकरका वर्णन आचार्य करते हैं. पर्वतकी गुहा, कंदरा, दरी, वृक्ष का कोटर, नदीका रेतीला किनारा, अमृदान, जीर्ण वसती, शून्य मकान. ऐसे स्थानोंमें तथा दुष्ट पशु, गाय, बिल, इतिय वगैरे भद्र प्राणी, पक्षी और मनुष्य जिनसे ध्यानमें विघ्न आसकता है ऐसे प्राणियोंसे वर्जित स्थानमें स्थान करना चाहिये. जहाँ स्थान करना हो वह स्थान आमतुल्य कुम्भीटादियोंसे रहित होना चाहिये, उष्ण, शीत, जोरदार वायु और धूप इत्यादि ध्यानमें विघ्न उत्पन्न करनेवाली अवस्थासे रहित ऐसे स्थानमें ध्यान करना चाहिये. जो स्थान शून्य और मनमें विकार उत्पन्न करेगा उसका त्याग करना चाहिये. पवित्र, अनुकूल, स्पर्शयुक्त ऐसा भूमिदेख ध्यानयोग्य है. ऐसे प्रदेशमें जाकर पद्मासनसे बैठकर आसोज्ज्वास धीरेधीरे करना चाहिये. नभके ऊपर, हृदयमें, ललाटपट्टमें अथवा अन्य स्थानमें अपनी मनोवृत्तियोंको यथाभ्यास एकाग्र करना चाहिये. यह सब ध्यानकी बाह्य सामग्री है.

धर्मध्यानके आज्ञाविषय, अर्थात् विषय, विषाक विचय और संस्थानविचय ऐसे चार भेद हैं. प्रथम आज्ञाविचयका वर्णन करते हैं—कर्मिक मूल कर्म और उत्तर कर्म ऐसे बहुत भेद हैं. इन कर्मोंके प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग पंच और प्रदेशबंध ऐसे पर्याय हैं. इन कर्मोंका उदय होना, फल मिलना ऐसे अनेक प्रकार हैं. जीवद्रव्यके मुक्कपवस्था पर्यन्त पर्याय होते हैं. ये सब अतीन्द्रिय हैं. ज्ञानावगमकर्मका विशिष्ट लक्षणचम नहीं होनेसे मंद बुद्धिके द्वारा इन पदार्थोंका निश्चय नहीं होता है. यदापि उपर्युक्त पदार्थोंका स्वरूप हमसे नहीं जाना जाता है. सर्वज्ञका ज्ञान ग्रामणा है और उपर्युक्त पदार्थ उसने कहे हुए आत्मके विषय हैं, जैसा विनिश्चयने इन वस्तुओंका स्वरूप कहा है वह सब सत्य ही है असत्य नहीं है ऐसा निश्चय करना यह निश्चय सम्यग्दर्शनका स्वभाव होनेसे मुक्तिका कारण है. इस प्रकार प्रभूके आज्ञाका विचार करना, निश्चय करना उसको आज्ञा विचय कहते हैं. वह आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है.

अन्य आचार्य इसी आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप इसप्रकार से भी कहते हैं—
स्वयं तो पदार्थोंका स्वरूप जानना है, सिद्धान्तोंमें कहे हुए जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान कर देने वाली सत्ययुक्तीका

अन्वेषण करने वाली, सर्वशक्ती आझाको मगट करनेवाली ऐसी तर्कशक्तिके द्वारा मैं भव्यजीवोंको जिनमतिपादित तत्त्वोंका स्वरूप कह सकूंगा ऐसा वस्तुस्वरूप जाननेवालेके मनमें जो चार बार विचार उत्पन्न होना यह भी आ-
ज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

मैं अतादिकाउत्पत्ति इस धोर संसारमें भ्रमण कर रहा हूँ, मेरे धनवचन और कल्पकी प्रगुप्ति स्वच्छंदसे होती है. इस अनुभव मन वचन काय शोभते मैं किस उपायसे अलग हो सकूंगा ऐसी अपायमें बार बार सृष्टि होना यह अपायविचय नामक धर्मध्यान है.

मिथ्यादृष्टि लोक उन्माध मनुष्यके समान है. उनको सत्य मोक्षमार्गका ज्ञान नहीं है इसलिए सन्मार्गसे वे बहुत दूर चारहे हैं. ऐसा उनके विषयमें बार बार विचार उत्पन्न होना इसको भी अपायविचय कहते हैं. ये मिथ्या दृष्टि लोक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे अलग होगे ऐसा बार बार मनमें चिंता होना यह भी अपायविचय ध्यान है.

कर्मके मूल भेद आठ हैं. उच्चरभेद एक सौ अष्टचालसि हैं. इन कर्मोंके प्रकृति बंधादिक बार भेद होते हैं. इनका मधुर और कड़ुक ऐसा फल मिलता है. आन्यामें सीमा, भेद, मध्यम रूप अनुभवबंध उत्पन्न होता है. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे इन कर्मोंमें विशेषता उत्पन्न होती है. विशिष्ट गतिमें और विशिष्ट चोनिजोंमें विशिष्ट कर्मका फलानुभव जीवको प्राप्त होता है. इस प्रकार विपाकका अर्थात् कर्मफलका बार बार विचार जिसमें उत्पन्न होता है उस ध्यानको विपाकाविचय ध्यान कहते हैं.

पेत्का आसन, झल्लरी और मुदंगके समान तीन लोकका आकार है ऐसा विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है ।

धर्मध्यानस्य लक्षणं निर्दिशति—

धम्मस लक्खणं से अज्जवल्लहुगसमद्वयौवसमा ॥

उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ १७०९ ॥

माईवार्जवनेःसंगयेह्योपादेयपाटयं ॥

क्षेयं प्रवर्तमानस्य धर्म्यध्यानस्य लक्षणं ॥ १७१६ ॥

आलंकरणं च वायणं पुच्छणं परिवट्टणानुपेक्षाओ ॥
धम्मसस तेण अविमुक्खाओ सन्वाणुपेक्षाओ ॥ १७१० ॥
वाचनानामच्छनान्मनायानुमेक्षाधर्मदेवानाः ॥

भगवत्यालंकरणं साधोर्ध्वमेध्यानं चिकीर्षितम् ॥ १७७७ ॥

विज्ञानोद्देशः—आलंपनं निवासनायायोगरमाया । आलंकरणं च आध्याय्य कस्तस धम्मसस धर्मध्यानस्य, वायणं पुच्छणं परिवट्टणानुपेक्षा, वाचनानामच्छनान्मनायानुमेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनानि स्वाध्यायाभावे यस्तुवाधा न्यतामयं साम्नीनि स्थानाभ्याः । मतिर्याप्यते मतिरित्यत्र विचलं ध्यानसंश्लिप्तमित्यालंमता स्वाध्यायस्य । तेन तेन धर्मस्य ध्यानोपेक्षायाः प्रवृत्तिरिति । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुपेक्षणं अनुमेक्षायाः पक्षे एवमिति । क्लेशानुमेक्षायाः स्थानेऽन्तः कालित्वमाचक्षणेनानुमेक्षोपन्यासे यीआधानं कृतम् ॥

धर्मध्यानधर्ममाह—

मुञ्जरा—आलंकरणं वाचनानिदवाध्यायाभावे यस्तुवाधासम्बन्धानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । सति स्वाध्याये भवति ज्ञानमविरलं ध्यानमेकित्वमित्यालंमता वाचनानिर्धर्मं प्रति । परिवट्टणं पाठगुणनं । अनुपेक्षा अविचलनं । वेण-
पमेण । अत्रिकल्पाओ अनित्यतादिपस्तुरमानुमेक्षणमाश्रित्य क्लेशवृत्तेस्त्वालंमतामनित्याद्यनुपेक्षाः संश्लेषाः ॥

धर्मध्यानने आधारभूतं कारण—

अध्यायना, मच्छना, अनुपेक्षा, आम्नाय और परिवर्तन ये स्वाध्यायके भेद हैं. ये भेद धर्मध्यानके आधार भी हैं. वाचनादिक स्वाध्यायके अभावे यस्तुका यथायथं ज्ञान ही नहीं होता है. ज्ञानके अभावमें धर्मज्ञान नहीं होता है अतः स्वाध्याय धर्मका अवलम्बन है. स्वाध्यायसे जो निश्चलज्ञान प्राप्त होता है उसको ध्यान कहते हैं. इस धर्मध्यानने माय अनुमेक्षायाँका अविरोध है. यस्तुके अनित्यादियहाँका धार = विचार करना. यह अनुमेक्षाका कारण है ये अनुमेक्षाए ध्यानके अर्थ आधार हैं इसलिये ध्यानमें इनका अन्तर्भाव होता है. इसीलिये ग्रंथकार प्राय अनुमेक्षायाँका नमिस्तर वर्णन करेंगे.

पूर्वोक्त धर्मस्य चतुरो भेदश्च ध्यानेषु चतसृभिर्गोचरिभिः । तन्नासाधिवच्यं निरूपयति—

पंचैव अत्यिकाया लब्धीवणिकाए दन्वमण्णं य ॥

आणामन्वे भावे आणाविचरणं विचिणादि ॥ १७११ ॥

पंचास्तिकायपट्टायकालद्रव्याणि यत्नतः ॥

आज्ञाग्राह्याणि दक्षेण विचार्याणि जिनाज्ञया ॥ १७७८ ॥

विजयोदया—पंचेव धनिकाया पंचास्तिकाया जीवाः पुद्गलधर्मस्तिकाया अधर्मास्तिकाया अक्ताशमिति तान् छन्द्रीयनिकायो पट्टीयनिकायाश्च कालद्रव्यं कालाख्यं । अन्ते य अन्याश्च कर्मधर्ममोक्षाधीन् । आणनेन्द्रे भवे स्वप्न-प्रागयामगम्यान्मात्रम् । अणाविवच्येण आज्ञाविवच्येत्यनेन धर्मध्यानेन विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विद्विरपास्तारगवैर्यैः परमज्ञानैकैः यथामीति निरुपितास्ते तथेति चित्तप्रबन्ध साक्षाद्विचय यावत् । आणापाययिवागविचय इत्यादि, स्मरणे समानविचयो नन धर्मस्थानमिति माथापूर्वोचन न्याये ॥

आज्ञाविवचयार्थेन्यक्रमेण व्याचष्टे—

मूलार—पंचरूपिकाय जीवपुद्गलधर्मोपमोक्षाशाच् ॥ जीवणिकाये पृथिव्येत्येवोवायुवनस्पतिवसान् अणो बंध-
मोक्षाधीन् । अणानन्ते सर्वसाक्षागम्यान् । विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विरपास्तारागवैर्यैः परमकारुणिकैर्यथामी-
निरुपितास्तथेति प्रथमेन चित्तयवीक्ष्यार्थः ॥

आज्ञाविवचय धर्मस्थानका वर्णन—

अर्थ—जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य इनको पंचास्तिकाय कहते हैं-
पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावर जीव हैं तथा द्रोणित्रेसे लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवोंको प्राप्त कह-
ते हैं. इनको आगममें पदकाय संज्ञा है. कालद्रव्य, कर्मवच, मोक्ष वगैरह अनेक पदार्थोंका स्वरूप समेक्ष जिनभर-
प्रणीत आगमसे जाना जाता है. इन तत्त्वोंका स्वरूप आज्ञाविवचय नामक ध्यानसे ध्याता बार २ स्मृतिमें लाता है.
जिनके रागद्वेष नष्ट हुए हैं, ऐसे परमदयालु श्री जिनभरमें जैसे इन तत्त्वोंका स्वरूप कहा है वैसाही उनका स्वरूप
है ऐसा बार २ स्मरण करना इसको आज्ञाविवचयनामक धर्मध्यान कहते हैं.

कछाणपावमाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच ॥

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुमे य असुमे य ॥ १७१२ ॥

कल्पपाणप्रापकोपायश्चित्तनीयो जिनागमे ॥

शुभाशुभचिकल्पानामपायः कर्मणां परम् ॥ १७७९ ॥

विप्रयोगः—काम्यवशात् प्रयोगे भीषकत्वं प्राप्तवत्तां कर्तव्यविशेषादीनामुपायान् नि गच्छतीति । त्रिभिः
 ॥ त्रिभिः विप्रयोगे उपदेशः । त्रिभिः विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे
 ॥ त्रिभिः विप्रयोगे उपदेशः । त्रिभिः विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे

अत्रात्रे विप्रयोगे उपदेशः । त्रिभिः विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे

मुद्राः—काम्यवशात् प्रयोगे भीषकत्वं प्राप्तवत्तां कर्तव्यविशेषादीनामुपायान् नि गच्छतीति । त्रिभिः
 ॥ त्रिभिः विप्रयोगे उपदेशः । त्रिभिः विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे विप्रयोगे वा अत्रात्रे

अर्थः—पञ्चदश अर्थाः श्लोके गुरा नि श्रवण मोक्षदुःखी प्राप्ति कर देने वाले दृष्टान्तविशुद्धपादिक
 गो रर कारा पञ्चान् मोक्ष दाना मोक्षर पदमी प्राप्ति कर देने हैं ऐसा विनाममत्ता उपदेश है इस उप-
 देशमा गंगार मरण रत्ना इनको उपाय विषय धर्मनान रहने हैं द्रव्य, धर्मादिकोका आश्रय लेकर हुम कर्म
 विवरक और भगवत्पदविषयक अपायोहो जीर प्राप्त होता है ऐसा गारवार विचार करना इनको अपायविषय
 नायक धर्मपदना भी रहने हैं

पुण्यानेयभगवद् जीमणं पुण्यपापकर्मफलं ॥

उदओदीरणमंस्मर्त्तं मोक्षं च त्रिभिः ॥ १७१३ ॥

अत्रनिश्चयतुलोः त्रिभिः सप्तजल सप्तजले ॥

पुण्ये य अणुगणओ अणुपेक्षाओ त्रि त्रिभिः ॥ १७१४ ॥

मरुतं रुमयोपात्तपुण्यपापकर्मफलं ॥

उदओदीरणमंस्मर्त्तं मोक्षं च त्रिभिः ॥ १७१५ ॥

पुण्ये य अणुगणओ अणुपेक्षाओ त्रि त्रिभिः ॥

विचिन्तयत्पुण्यपापकर्मफलं त्रिभिः ॥ १७१६ ॥

वित्तयोपेक्षा— भद्रतिरियदुल्लोप उपदेष्टव्यमित्यर्थः। विविचादि विचारयति । कीदृग्भूतान् । संपादय
मप्येवम् संस्तमसदितात् सपर्यायं सविशुद्धं संस्थानविचारविचारायं धर्मध्यानं । पर्येव भवेत् । अनुगमना
अनुगमना॥ अनुगमनायो वि अनुमेक्षा अपि । विविचादि विचारयति । अनित्यत्वादिसमावृत्तिवारं करोति धर्मध्याने इति
कार्त्तिकं भवति ॥

विपादविषयं व्यापदे—

मूला—उपब्रक्रमेण ऊर्ध्वोऽनुभवः । उदीरण अक्रमेण कर्मणां भुक्तिः । उक्तं च—

कर्मणां फलदातृत्वं द्रव्यक्षेत्राणि योगतः ॥

वदयं पादजं क्षेत्रमुदीरणमपादजम् ॥

समुदीर्युदीर्णानां स्वहरीकृतं स्थितिं शब्दात् ॥

कर्मणासुदयावत्यां प्रक्रमणमुदीरणं ॥

संक्रमः प्रकृतेः सजातीयप्रकृतिस्वरूपेण परिणमनम् ॥

संस्थानविषयं निर्दिशति—

मूला—संपञ्जय समेधान् । संसंठाण वैश्राम्यगच्छरीर्मुदगसमानाकारसहितात् । एतदेव अप्रैव धर्म्यध्याने ।

अनुगमनायो तत्सापेक्षतमनोनिर्जयांगत्वेन संयताः । तदुक्तम्—

संचितयन्मुपेक्षाः स्थाभाये नित्यसुखतः ॥

तयत्येव मनःसाधुरिन्द्रियार्थपराद्भुक्तः ॥

अर्थ—जीवोंको पुण्य और पाप कर्मका फलानुभवन संसारमें करना पड़ता है- इन कर्मका उदय, उदीरणा
मंक्रम, बंध और मोक्षका पारंवार विचार करना उसको विपाकविषय कहते हैं, द्रव्यक्षेत्रादिके आश्रयसे कर्मका
योग कालमें आत्माको फल मिल जाना उदय कहा जाता है, और उदयमें आनका जो निश्चित काल था उसके
पूर्व ही कर्म अपना फल जीवको देता है उसको उदीरणा कहते हैं, एक कर्मप्रकृति सजातीय कर्म के स्वरूपसे
परिणत होना संक्रमण कहते हैं, आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म आकर दूष और पापीके समान आत्म
प्रदेशसे मिल जाना बंध है और मंपूर्ण कर्म आत्माके अलग होकर आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूपधारक होता है यह मोक्ष
है, इस प्रकार पाप २ विचार करना विपाकविषय है,

अर्थ—यह जगत् अज्ञानों के, मध्य लोक के ऊर्ध्वलोक तथा तीन प्रकारका है. येवासन, सखरी और शुद्धक गमान धर्मों की लोकों का आकार है इनका बार बार विचार करना मस्थानविवेक नामक धर्मज्ञान है इन की धर्मज्ञानों अनुमेधाओं का भी अन्तर्भाव है

काला भक्तुवत्त इत्यादिकायामधुनादीन्तुनेह्ना निरूपयत्युत्तरप्रथमेन—

अदुवमसरणमंगत्तमणसंसारलोयमसुइत्ते ॥

आसवसंवाणिज्जार धम्म योधिं च चित्तिज्ज ॥ १७१५ ॥

लोगो विलोयदि इमो केणेव सदेवमाणुसत्तिरिक्खो ॥

रिक्खीओ सत्त्वाओ सिट्ठियसदसणसमाओ ॥ १७१६ ॥

अधुनाशरणेकान्यजन्मलोकविसूचिका ॥

आस्य संरदिन्त्यो निजरायमेवोषय ॥ १७८७ ॥

ट्टिडीरिपिडयहोक्क सकलोअपि चित्थोयत्ते ॥

समस्ता संपदश्चात्र स्वप्नभूतिसमागमा ॥ १७८८ ॥

विजयोदया—जैतो विजयदि इमो लोकः तिग्यमुपयति । किमिव केवोव केवत्त । सदेव माणुसतिरिक्खो वेदं पुरेनिर्वायिवा समाना इत्यनेन जैकप्रयग्याणि जन्तुविताभिहिता । रिक्खीओ सत्तामो सुदय सवी । सुप्पिणह सत्ताममो व्यस्रमत्तवमसा । 'तु जैतो विजयदि इत्यनेन संपन्नावित्थता व्यारणत्ता, सुदयादमोअपि लोकानभूता इति विगो भेदोणम्यास १ । धम्यावयत्त । समुत्तावम्यावयत्ता मक्रम्यावयत्तावित्थतामन्तेरेण तदवित्थता न सुवेनायवयत्त इति निर्दोणवयत्त ॥

अनुमेगा अधुपादिविगयत्तम द्वावत्त निवेदित्ताह—

मूला—अण वेदमत्ताअंइ । अमुइत्त अगुचिन्त । ग्वा चित्तो नेज्जति । अधुनानुमेगा जयोदशगाथाभिरनु

इत्ये नय गापय्ते—

समुत्तामस्यावित्थता निरूप्योत्तरप्रथमेन तदन्तर्भाववयवित्थता भावयति—

मूला—सिक्खियसदसणसमाओ रत्तमत्तवमत्ता ॥

अब अनुवाद अनुप्रासाओंका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अधुन, अधुना एकत्र, अन्यत्र, संसार, लोक, अशुचित, आसन्न, संघ, निर्जरा, धर्म और गोपि पंमे राए अनुप्रासाओंका भी चिंतन करना चाहिए

अर्थ—देव, मनुष्य और विषय सहित यह जगत् फेनके समान नष्ट होता है- मय ऋद्धिया भी स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान नष्ट होती हैं- शंका-सर्व लोकका नाश होता है इस कथनसे ही सर्व पदार्थोंकी अनित्यता निश्च हो गई अतः ऋद्धि भी लोकान्तर्भवही है उनके नाशका वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्यों भेदरूपमें उनका वर्णन किया गया है ? उत्तर—समुदाय जो कि अवश्यी है उसकी अनित्यता अवयवकी अनित्यता दिशायो बिना अवश्यी भूत पदार्थोंकी अनित्यता सुखमें ध्यानमें नहीं आसकती हैं- इस लिये भेदोपन्यास किया है-

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणक्षतां तन्मूलस्यादिद्रियसुरसाप्राणानव्ययं त्यजति उभयनिमित्तमतस्तदनिस्ततामह
मगुपदर्शनमिति । निरसंगताप्राप्ततः मेवादयितुं ॥

विज्ज्व चंचलाहं दिद्रुपण्डाहं सत्त्वसोकलाहं ॥

जलबुद्बुदोच्च अधुवाणि हुंति सत्त्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥

रष्टनष्टानि सौख्यानि स्फुरितानीव विद्युताम् ॥

युद्धयुदा इव निःशेषा नश्वराः सन्ति गोचराः ॥ १७८४ ॥

पिजयोदधौ—विज्ज्व चंचलाहं विद्युक्चि चंचलानि, दिद्रुपण्डाहं द्रुपण्डाहं लघोणि सुस्थानि धर्मितकरादिविषयचक्रस्य प्रपंचस्य सद्विधामादुपजानानि यानि मनः समुत्पद्यन्ति सर्वेषां वा मयमघानां तिरश्चां विविधानां वा सुराणि सुसलंपटतया जनः क्लेशाशिक्षितविषयमपि सहते, तानि च नीरपरिणतसंसारसंघीरधारपानीनीलनीरदोदरपरिस्फुरत्तद्विलेख, पतेनानिलतादोदोत्पटनेन सांसारिकसुखपरार्थमुल्लोपायो निगदितः । जलबुद्बुदोच्च जलमुद्रमुद्रयन् । अधुवाणि अधुवाणि । हुंति भवन्ति । ठाणाणि सत्त्वाणि सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि । प्राप्तमपरपरान्तमादीनि ॥ इदं नदीयं स्थानं जगद् यस्मादिति माह्वयाः संकल्पे । तानि यनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिपुद्गतानि विमर्शे मेधेदातामन्यनयेतीति कथितं ॥ अथवा तिष्ठन्त्येतेष्वल्लेखितविविचित्रकर्मोदयात्राणिन एतीदृशं, च मर्कटोद्यमं, गणाधिपतिर्यं वा पृथग्विन् श्रानान्यनित्यानि ॥

मूलानां—सर्वगतोऽवगाह मनः पञ्चपञ्चुदादिविषयानुभवमवधानि देवमातृपतिर्विष्णुर्ब्रह्मर्षीनि वा सुगमनि । अणानि
इन्द्रवादिषदाणि प्रामुख्यमासीन्नि यः ।

प्राणिओंसे मयसे वदा द्रव्यहीना लोभ है द्रव्य लोभमे इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है द्रव्यके निमित्त प्राणोंको भी
रमागते हैं इस लिए द्रव्यही अतित्यताका आचार्य प्रथमतः दिग्दर्शन करते हैं इस दिग्दर्शनसे द्रव्यमें आत्मा निःसंग
होता है—

अर्थ—मन प्रकारके सुख निर्वर्तक समान दौलत नष्ट हो जाते हैं इष्ट रूपादिक पांच प्रकारके नि-
र्णयोंके मोनिष्यते मनमे यन्तुप्य त्रिवेच और देवोंके सुखमें पाणी सुखलंघट होकर लुब्ध होता है इस सुखके लिये
हजारों हंश देवनाली आपत्ति भी भोगनेके लिये जीव तयार होते हैं परंतु ये सुख जलसे नम्र और गंभीर गर्जना
रुमेनाले नलि मेंयोंमें चमकनेवाली निर्वर्तक समान बचल हैं जहां जीव निवास करता है ऐसे ग्राम, नगर,
पत्तन प्रगट्ट स्थान अथवा अर्थात् मादुरंत हैं यह मेरा स्थान है, मैं यहां रहता हूं ऐसा मनमें तू संकल्प करना
छोड़दे क्यों कि ये स्थान अतित्य है परंतु इनमें नित्यपनाका संकल्प करके स्वीकार करनेपर उनका नाश होनेसे
मैंरहो मंद्रेण परिणाम उत्पन्न होते हैं अथवा इत्य जगत्में अपने किय हुए निचित कर्मके उद्वेगसे जीनोंको इंद्रप-
ना, चक्रात्पना, गणधारत्वं ऐसे स्थानोंकी प्राप्ति होती है परंतु इन स्थानोंकी अनित्यता ही है.

णावागदाव बहुगहपधाविदा हंतित सव्वसंवंधी ॥

सव्वेसिमासया नि अणिच्चा जह अव्वसंधाया ॥ १७१८ ॥

नानादिदागताः पंधा नौगता इव पंधाया ॥

सत्परा आश्रया सर्वे शारदा इव नीरदा ॥ १७८१ ॥

विचर्येदया—आवागदाव जलयागवागदा इव बहुगहपधाविदा इति सन्मयधी विचित्रप्रभामाशुप्रपरि
णामोपासयति कर्मवदात्तदुपजीवमानेदेवमानवनाकाकियेयारयमतिपर्यग्रहणाव हनप्रथाणपच सर्वेऽपि । एतेन
पधुताया भनित्यतोत्ता । उपसत्तमत्तरात्स्वामं यधुता श्रिता भवति, उपासा चेत् तत्तत्तया च ग्रहणा पितृपुत्रादीना मत्व-
नरमुपगमनामपि कष्टं न भवत्यनरजनत्रिके एव न स्यादिति मन्यते । सन्नेसिमासया वि सर्वेनामाश्रया अपि
यानाधित्य माणिनो जीविमुत्पद्यते मेव्याश्रया न्यामी मृत्य पुनो आतेत्येवमादयोऽनित्या यथा वत्ससयादा अश्रसया इय ॥
मूलात्—आवागदाव नानवागदा इव । बहुगहपधाविदा विचित्रप्रभामाशुप्रपरिणामोपासयति कर्मवदात्तदुपजी-

यमानदेवनातरकमानवतिर्वैभूतारव्यगतिपरिणामग्रहणाव प्रभूतमार्गगमनाय न कृतप्रयाणाः । नचंभी वांघवाः । आसया या-
नाधित प्राप्तिनो नीधितुमुल्लसते वे आश्रयाः स्वाभी, मृत्यः पुत्रो भ्रातेलेवमादयः ।

अर्थ—अज्ञानाश्रयकारके बुद्ध्याश्रयपरिणामों जिनकी विषय २ गतिबंध हुआ है ऐसे अपने बंधुगण कर्मके
वश होकर देवगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति और नरकगति एतत्स्वरूप पर्याय ग्रहण करने के लिये प्रयाण करते हैं-
इवल्लिय बंधुगण भी अनिरुद्ध हैं, उनके ऊपर मोहयुक्त होना अयोम्य ही है, जिस गतिको बंध हुआ है उसको
त्यागनेका सामर्थ्य इतने यदि होता तो ये स्थिर माने जाते थे, परंतु जो गति ग्रहण करी थी, उसको छोड़कर जीव
अन्य अन्य गति ग्रहण करते जाते हैं, पिता पुत्रादिक एवं पर्याय छोड़कर अन्यगतिको प्राप्त करते हैं तो भी
उनको बंधु ही माना जायगा तो ये मेरे स्वजन हैं ये परजन है इनका विवेक ही नहीं रहेगा

संवातो वि अणिच्चो पाहियाणे पिण्डणं व छाहीए ॥

पीदी वि अच्चिरामोच्च अणिच्चा सत्तजीवाणं ॥ १७१९ ॥

छायानामिष पांधानां संवातो नञ्चरोऽग्निनाम् ॥

चक्षुषामिष रागोऽन्न न स्नेहो जायते स्थिरः ॥ १७८६ ॥

विजयोद्वा—संवातो वि सहायस्थानमपि वंशुभिर्मित्रैः परित्तैर्वै, अणिच्चो अनित्यः । पधियाणं पिण्डणं इव-
छाहीए भानादिदेवागतानां पधिकाणां मित्रस्थानमपिनां मार्गोपकंडस्थितिविदत्तरत्नदिरपत्ताशालंकारविनतशा-
नाकृतातनियारितधर्मरक्षिमप्रत्तरत्तरदीतकार्त्तिकविपुलछायायां पांधानां समाज इव । शरीरिचि भीतिरपि । अचिड
रागोद्य प्रणयकद्वलं सुपतदृपितानियतमास्तुदुःखापीनोदरधवल्लोचनंतराण इव धनित्वा सचेकीवभा । तपाह्यभि-
याचरत्तिपरकजिक्ताप्रणयलोचनप्रत्यं संविदपातीति ग्राणमृतमनुभवसिद्धमेव ॥

मूला - संवातो वंशुभिर्परिव्रजनादिभिः सहस्रस्थानं । पधियाणं नानादिदेवागतानां मित्रस्थानमपिनां
पांधानां । पिण्डणं मोहजं । छाहीए मार्गोपकंडस्थवल्लितवज्रछायायां । अचिडरागोच्च प्रणयकद्वलं सुपतदृपितप्रियतमा-
स्तुदुःखापीनोदरधवल्लोचनगतो रागो लौहित्यं यथा ।

जितके आश्रयेभ प्राणी अपना जीवित धारण करनेमें समर्थ होते हैं वे मालिक, नौकर, पुत्र माई जैगरह
आश्रयस्थान भी यदिलोकें समुद्रागंक गमान चंचल है, अतः सबसे मोह त्याग करके निःश्रेय होना चाहिये,

अर्थ—पंगु, भिय और परिजनोंके माथ अपना रहना भी नित्य नहीं है जैसे रास्तेमें अनेक दिशा और दंगों प्रांग हुए पथिक भिय भिय स्थानके प्रति जाननाले होते हैं वस्तु मार्गके मभीषके सचन जो पलायन, खदिर द्योनी पूर्वाश्रितों को निमाग्य करनेवाली विस्तृत, शीतल, विपुल छायामें क्षुण्णपर्यंत बैठकर विश्रांति लेते हैं प्रत्येक ये भिय भिय स्थानको प्रमाण करते हैं तदा विवरादिक यशुअंका महाबासभी अनित्य है. वांसवोकी प्रति भी अनित्य है. प्रजगरलदरूपी धृत पदनेसे कुपित प्राणाग्रिम स्त्रीके कुदनेवाली मछलीके समान सफेत आत्माके जेमा लानयना पोटी देखत रहसा है क्या मित्रादिक पंगुओंका सहवास भी थोड़ी देरके लिये है. अप्रिय आचरण करी निरक्षणने प्रेमदरपी नेत्रका साग होला है. यह मंजुर्ण प्राणिजोंके अनुभयमें आई हुई बात है.

राति एगमि दुमे सउजाणं पिण्डुणं व संजोगो ।

परिवेसोव अपिच्चो इरसरियाणाधणारोगं ॥ १७२० ॥

संयोगो देहिनां वृक्षे शर्पयामिच पक्षिणाम् ॥

आङ्गिभयार्थदयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः । १७२७ ॥

विशेषोदया—राति रातौ । एगमि दुमे एव स्मिन् दुमे । सगुणत्वं परिश्रितां । पिण्डुर्णं व पिण्डुर्णमिव संजोगो सं-
योगो वस्त्रात्मनाद्रुममिदं गुणं तस्य एवं प्रत्यक्षमनोभ्योभ्यमित्युक्त्यनुरूपानां यथाकथंचिदुद्योगप्रतिस्तरित्यकाला तथा प्राणादृ-
तामपि गमान्तरावकाशमात्रेणैव रितानाम कस्मिन् कुलपिटमिति कतिपयविवेकसायीसंप्रयोगः । परिवेसो व परिवेष इव ।
अस्मिन् भक्तिः । किं ? इदमिदं दण्डाणारोगं । एष्यते अनुना आम्ना धनं आरोग्यं न्व ॥

पुनरा—दुमे वृक्षे । संजोगो अकृतसंस्पर्शानां प्राणिनां पृथक्संयुक्ते अन्योन्यप्राप्तिः । परिवेसो मूर्धपरिधिः ।
इरसरियाण प्रमुदयमानां वा ॥

अर्थ—जैसे रातमें एक वृक्षपर पार्थिवोंका समुदाय आकर बैठता है इस सब मिलकर एक वृक्षपर निवास
करांगे ऐसा मनमें मंकर्य कर ये वृक्षपर आकर नहीं बैठते हैं. रातमें निवासकर प्रातःकालमें वे यहति स्वेच्छासे
गमन करते हैं वैसे प्राणीभी गमन करलक्ष्य वायुमें अंतर होकर एक कुलरूप वृक्षपर कुट्टदि कालपर्यंत आकर उत्पन्न
होते हैं. जैसे गरुडें पारे तरफ परिवेस उत्पन्न होता है परंतु वह थोड़ा कालतक ही टिकता है वैसे जीवोंमें आरोह्य
नामध्वं, एष्यते थोड़ा दितका है.

इंद्रियसामग्री वि अणिच्चा संज्ञाव होइ जीवाणं ॥
 मझण्हं व पाराणं जोव्णमणवट्ठिदं लोए ॥ १७२१ ॥
 जीवानामधसामग्री शंपेवास्ति चला चलम् ॥
 विन-वरमशोषाणां मध्याह्न इव यौवनम् ॥ १७८८ ॥

पितृगोदया-इंद्रियसामग्रीयि शब्दियाणां सामान्यवि। अणिच्चा अनित्य। अंधता वधिरता च दृश्यत एव। मझण्हं व मरणाच्छया। पाराणं जोव्णमणवट्ठिदं लोए जीवोन्मेषस्थितं लोके यौवनोऽहमिति जनः स्फुटपते, यौवनइप-
 गिरादौप उपयमानोपि धर्मं न प्रवर्तते नदनित्यं मरणदृश्यम् ॥ क्षिप्रतरं स्वविषयिनि यौवने को यौवनकृतोत्तीर्णमयः
 व्याप्य मनस्वितम् ॥

मूढाया—अणयट्ठिदं क्षिप्रतरात्परं ॥

अर्थ—इंद्रियोंकी सामग्री भी, इस जीवको जूएण रहती है, कोई जीव अंधा रहता है तो कोई जीव बहुरा
 होता है, अर्थात् संस्थाकालके समान यह सामग्री अनित्य है, मनुष्योंका तारुण्य अस्थिर है परंतु मनुष्य में तरुण
 हूं ऐसी रूपं प्रदंसा करता है, तारुण्यके अभिमानमें आकर धर्ममें सरसर नहीं होता है, परंतु तारुण्य चिरकालतक
 नहीं रहता है वह भी मध्याह्न कालके समान जराही नष्ट होता है, ऐसे बल्दी नष्ट होनेवाले तारुण्यके विषयमें
 मैं काना क्या बुद्धिमानको योग्य है? कभी भी नहीं-

चंदो हीणो व पुणो विट्ठुदि एदि य उट्ठू अदीदो वि ॥

णट्ठु जोव्णं पियचइ णदीजलमदछिदं चेव ॥ १७२२ ॥

चंद्रमा वर्द्धते क्षीण ऋतुरेति पुनर्गतः ॥

नदीजलमिवातीतं भूयो नायाति यौवनम् ॥ १७८९ ॥

पितृगोदया—चंदो हीणो व पुणो विट्ठुदि नित्यरूपमुद्यच्छ्रव्येवाद्यानिमुपगतोऽपि निशानाचः कृष्णवक्ष
 क्षीयते ॥ हंतो भवति। पुणो एट्ठुदि पुनः शुक्लपक्षे वर्द्धते ॥ अविदितोऽप्यनीयमाभवात्। एदि य उट्ठू अदीदो वि हिमशिथिर
 यंतादयोऽतीता अपि कृतयः पुनरप्याग्निं न तु जोव्णं पियचोदि नैव यौवनं भिद्यतेति नित्यांतम्। तस्मिन्नेव मये नदीजल
 मदछिदं चेव मधोऽत्यन्तमिदं न पुनरेति ॥ तद्वदिदं यौवनमित्येनानित्यतातिशयो यौवनस्य दक्षितः ॥

मूलतः—दीप्ते नित्यगुह्यगुह्यरुद्धरयेनाद्यानि गताः । यदि य पुनरायाति च । उह देवंतादि मनुनैवेनं वा ।
नियदृदि पुनरायाति । अत्रिन्दुदे अतिमानं । चेष्ट यथा ।

अर्थ—इमंशा नित्य गुह्य के सुष्ठमें मवेश करनेसे हानिकों प्राप्त होता हुआ भी अर्थात् कृष्णपक्षमें प्रति-
दिन कम कम होता हुआ भी चद्र गुप्त पक्षमें बढ़ने लगता है. अर्थात् चंद्रकी एकांत रूपसे ठानि ही नहीं है.
उपरी वृद्धि भी है. हिम, मिश्रित रसतादिक बहुत व्यतीत होनेपर भी पुनः उनका आगम होता है परंतु तारुण्य
नीतनेपर पुनः लौटता नहीं है. उसभवमें तारुण्यकी पुनरावृत्ति होती नहीं है. जैसे नदीका गया हुआ पानी फिर
वही नहीं आता है वैसे यह तारुण्य पुनः आता नहीं है. इससे तारुण्यमें अनित्यताका अतिशय है यह सिद्ध
होता है.

धावदि गिरिगविसोदंख आउगं सच्चजीवलोगमि ॥

सुकुमालदा नि हीयदि लोमे पुठवणहलाही व ॥ १७२३ ॥

धावते देहिनामापुरापगानामिचोदकम् ॥

धिमें गलायते रूपं जलरूपमिवांविनाम् ॥ १७२० ॥

विनयोव्या—धावदि गिरिगविसोदंख धापति गिरिन्द्रीप्रवाह इव । किं ? आउगं आयुः । सच्चजीवलोगं हि
सर्वेक्षित् दीपलोकं । सुकुमालदा नि हीयदि सुकुमारस्तपि क्षीयते । पुठवण्ड छाही व पूर्वोक्षिताया इव । यथा यथोद्वच्छति
तामरलक्ष्मस्तथा तथोपलंहरति छायां शरीरादीनाम् ॥

मूलतः—पुष्पण्छाहीय पूर्वाद्छाया यथा । मूर्को हि यथा वयोदेति तथा तथोपलंहरति शरीरादीनां छायां ॥
अर्थ—पर्वतपरसे बढ़गमसे बढ़ने वाली नदीके प्रवाहके समान प्राणियोंका आयुप्रवाह क्षीप्त बढ़कर
समाप्त होता है. जैसे जैसे कमलपुष्प सूर्य ऊपर जाता है वैसे २ शरीरादिकोंकी छाया कम होती है. इस सर्व जी-
वोंके जगतमें प्राणिजालोंकी क्षोभलता भी पूर्वोक्षकी छायाके समान कम कम होती जाती है. अर्थात् प्राणिजालोंका सौ-
दर्य दृढांश्या अनेपर नष्ट होता है.

अवरणहृत्स्वछाही व अङ्गिदं बद्धदे जरा लोगे ॥

रुवं वि णासइ लहुं जलेव लिहिदेछयं रुवं ॥ १७२४ ॥

पौर्वाहिकी यथा छाया दीयते सुकुमारता ॥

पराहिकी यथा छाया सर्वदा वर्धते जरा ॥ १७२५ ॥

विजयोन्मा—अवरणहृत्स्वछाहीव अपराणहृत्स्वछायेव । अङ्गिदं बद्धदे अस्तित्वं वर्धते ॥ क्रियाविशेषणत्वा-
प्रमुक्ता । जरा लोगे लोक । सौकर्यपश्यवधानलक्षिता, सौभाग्यप्रसन्नकरावृष्टिः, युवतिद्वारेणाढीग्याप्ती, शानलोच-
नगुणदुष्टिलारत्नामरसकनस्य दियानी क्षीयताया जननी, परिभवस्य घात्री, युतेर्दूती, भोतेः प्रियसखी या जरा सा वर्धते ।
रूपेण णासइ लहुं रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरशतवर्णीरायमायै, चेतोवलक्षसुखमवसनर्जने कौसुमरसाय-
नानं, प्रीतिलक्षणाया मूलं, सौभाग्यवतकफलं, फलं पूज्यताया यद्गुं तद्वस्तु विनश्यति ॥ किमपि जलेव लिहिदेछयं कयं
जले लिपितरूपमपि ॥

मूळारा—अङ्गिदं बद्धदे अत्रातं वर्धते । लिहिदेछयं लिखितं ॥

अर्थ—विपसने उपचारायमे पृथक्की छाया जेनी वर्धने लगती है जरा वृद्धावस्था भी प्राप्त होनेपर प्रति दिन
वर्धने लगती है- यह वृद्धावस्था सौंदर्य रूप कोमल कोपलपर अग्नीकी ज्वालाके समान आक्रमण कर उसको जलाती
है- सौभाग्यरूपी पुष्पपर ओले की घट्टिके समान है- तात्पर्यरूपी हरिणपर यह व्याघ्री के समान दूट पडती है
ज्ञानरूपी नेत्रपर यह पृथ्वीघट्टिके समान है- तपस्वरूपी कमलवनके लिये यह वृद्धावस्था वर्णके समान है- अर्थात् वृद्धपना
तपस्यो नष्ट करता है- यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है- अपमानकी घाय है- मृत्युकी दूती है- मय की प्रिय सहेली
है- इस वृद्धावस्थाकी प्राप्ति होनेपर स्वप्न नाश होता है- यह रूप गुणसुन्दर स्त्रियोंके फटाक्ष घणोंका आश्रयस्थान
है- मनरूपी स्वच्छ वस्त्र का रंगानेके लिये कुसुमी रंगके समान है- प्रीतिलताका यह मूल है- सौभाग्य वृक्षका यह
फल है- पूज्यताका यह किनारा है- ऐमा भी उचम रूप पानीमें लिखे हुए चित्रके समान शीघ्र नष्ट होता है-

तेओ वि इंदधणुतेजसणिहो होइ सव्वजीवाणं ॥

दिट्ठण्णा बुद्धी वि होइ मुक्काव जीवाणं ॥ १७२५ ॥

मंजो मनुयति जीवानां त्रिलोक्यमनुयामिव ॥

उत्तरेणानन्वरी सुदिदृष्टनष्टा प्रजायते ॥ १७९२ ॥

त्रिलोक्येषा—जेतोपि ईश्वरपुत्रमगन्तव्यो त्रिलोक्य तेजोपि त्रिलोकीप्रियतमयापस्य तेज इव मज्जन्तः समन्तत्र ज्योत्स्नायि शोभत इत्यनुमज्जते ॥ त्रिलोक्य इत्युक्तं यत्सुखाद्यव्यापकं कुटुम्बानामनन्तमः पटल-
वाटजगदीयसी, त्रिलोक्य ममाहर्षकाकीर्णुगन्निविता त्रिनिजमाश्रयेनाशेषाणोचता, जगिष्यनिधिप्रकटनक्षमा-
वीनमर्तिः, अकटवैश्वर्यापार त्रिलोक्यनिधित्वत्वेकस्मी एवंमत्ता सुखिष्युत्तुवाद्यु मन्तुमनुयति ॥

मूला—मंजो देहज्जा । सुदि यथार्थमिति वचिः ।

अर्थ—मनुष्योक्तं दुर्गमं कति इन्द्रपुत्र्येकं समान क्षणपर्यंत त्रैलोक्यं लुभाती है परंतु अणुके अनंतर नष्ट होनी है, मनुष्य पदार्थ का यथांच स्वल्प दिगानेमाली, ज्ञानांधकारके समुद्रको नष्ट करनेवाली, अनेकदुःखरूपी मगतों की हुई इमानिष्ठ विद्याल नदीमें लीरके प्रेक्षको रोक्नेवाली, चारित्ररूपी निधिक्षो प्रकट करने की दीप के समान मनुष्य मनुष्यको उत्पन्न कृतं गती, मंत्रमियाके समान, युक्ति लक्ष्मी के दृष्टिके समान ऐसी सुदि नी स्पष्टिपारिमी शीके समान मनुष्यमे निदा लेनी है.

अद्विचद्व यलं खिलं रूपं धूलीकदंयं लाण ॥

वीचीच अष्टुवं वीरियंवि लोगम्मि जीवाणं ॥ १७९३ ॥

बलं पन्नागते रूपमिव रथ्यागतं रत्नः ॥

लाजानामिव कल्लोलो वीर्यं मन्धरमंगिनाम् ॥ १७९३ ॥

त्रिलोकेय—नित्तु १३ वत्त निजं विममनित्वमनि वलं, रूपं धूलीकदंयं लाण रथ्यायां पांशुराशितरूपमिव ॥
वीचीच मन्धरमन्धरनादिगन्तव्योपनिधित्वत्वेनमालेय, अष्टुवं अष्टु ३ । वीरियं वीर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता पले-
वीर्यमागमारेणामः ॥

मूला—अद्विचद्वि मन्धरि । धूलीरूपं रथ्यायां पानुरचित रूपमिव । वीची दृढरी । अष्टुवं अष्टुवं । लो-
गम्मि मोहं मिति ।

अर्थ—गन्धेन वायुनं धूली उठकर उमझी चहुंछाहति उत्पन्न होती है. परंतु वह शीघ्र ही नष्ट होती है वैसे मनुष्यदा यत्तभी जन्मी नष्ट होजा है. १३ मनुष्यो धूपरागेन प्रसन्न होते हैं. मनुष्योंका पराक्रम भी मंचेद हवाके

आपातसे उठी हुई लहरियों की पंक्तिके समान नष्ट हो जाता है। शरीरकी हड्डी को बल धरते हैं, आत्माके अदम्य उत्साह से-येँगे सो कीयें-पराक्रम रहते हैं

ह्रियणिचओ वि व गिहसयणासनसंदाणि होति अधुवाणि ॥

जसकिन्ती वि अणिच्चा लोए संज्झम्भरगोच्च ॥ १७२७ ॥

हिमपुला इवानित्था भवन्ति स्वज्जनावय-॥

जंतूनां गत्त्वरी कीर्तिं संप्याश्रीरिव सर्वथा ॥ १७२८ ॥

मूलार्थ—येष इय । जसकिन्ती यज्ञ कीर्तिः । संज्झम्भ दिनात्तेजः^(१) ।

अर्थ—वर्ष के समुदायके समान घट, झग्या, आसन, पात्र पैरत पदार्थ नश्वर हैं और यशकी प्रसिद्धि भी सप्याश्रीन मेवके समान नश्वर है।

स्वर्णोत्तरगाथा—

किहं दा मच्चा कम्मवत्ता सारदियमेहसरिमिणं ॥

ण मुणंति जगमणिञ्चं मरणभवसमुत्थिया संता ॥ १७२९ ॥

इदं जगच्छादवारिदोपमं न जानते नश्वरमंगिनः कथम् ॥

यमेन हंतुं सकला पुरस्कृता सुगाविपेनेव युगा बलीयसा ॥ १७३० ॥

इति अधुवम् ॥

विज्ञयोद्धया—किह कथ तावत् । अणिच्च जग ण मुणंति जगन्निव न जानति । के सत्तावी सीदति स्फुटपापव शापागु तसु योगित्यिति सत्त्वा । सारदियमेवसरिमिण शारदुसमुत्पन्न नेकवर्णविचित्रसत्त्वानजीमूतमालासदृश । मरणभवसमुत्थिदा सका मरण पिप धुपतमजीवित्त्य सरीरुत्त मियवियोगाभारकस्य, नोकागनेलदपटल, भद्रस्कानोप^(२) नु सल्लोदलपणे, वधुददोषपटला द्रव्यकमौपसमायतापदाभावतेन प्लव्यतमरकभयसमुत्थिता सत ॥ कथमन्ति^(३) ताममेवमस्तुविण्णा चोधादत्त प्रवर्तते धर्मं ध्यान ॥ अष्टुत्त ॥

भोग्यमर्थकर्मव्यपण्णा अभिना जगदन्तित्यत्वाद्यान् साध्वर्थमनुलोचति—

मूलरा—या नावत् । यावयालुकारे । सत्ता प्राणिनः । कम्पयसत्ता कृत्वादिष्वासर्का । सारद्वग शरद्वगभवः ।
समीष्टिदा आन्ध्यादिवा अपि । उक्तं च—

कर्मासक्ताः कथं सत्याः सरन्मेवसमं जगत् ॥

सर्वमेवञ्ज जानंति मृत्युभीतिमुक्ता अपि ॥

अविच—कथमिह दुरितव्यरणो भोगासक्ताः सररचनप्रसिद्धं ।

जानंति जगदन्तित्वं न जन्मिनो मरणभीतिभूतः ॥

अनित्यतानुयेका ॥

अर्थ—ये सर्व प्राणी मृत्युभयसे युक्त होकर भी अस्तकालके भयके समान इस विनश्वर जगत् को क्यों नहीं जानतें हैं यह बड़ा आश्चर्य है। ये सर्व प्राणी अपने किये पापों के आधीन होकर अनेक योनियों में दुःख पाते रहते हैं इसलिये 'सीदंतीति सत्याः' अर्थात् सत्य ऐसे अन्वयके नापको धारण करते हैं। शरंभुतमें उत्पन्न हुए अनेक रंगोंको, धारण करनेवाले, अनेक जाति युक्त परतु नखर ऐसे मेघसमूहको, समान यह जगत् नखर हैं, प्राणिजों को मरण विपके समान अप्रिय है। शोकरूपी यजपातको उत्पन्न करनेवाला मानो मेघ पटल ही है, दुःखरूप लोहको लीचने के लिये मरण लोहपुङ्के समान है, धुआँके हृदयरूपी पत्थरको द्रवयुक्त करनेमें औषधीके समान है, यह मरण दीर्घजाणतिजों का घर है। इस प्रकार मरणभयसे युक्त सत्पुरुष संपूर्ण विषय अनित्य धर्मसे युक्त है ऐसा समझकर उन वस्तुओंको धर्मध्यानका विषय करते हैं।

मदारणताकथनयोत्तरप्रबंध— । कर्मोपपत्त्यपरिणामोपभोगचिरकालस्थितौनि सन्निहितक्षेत्रकालमादाय सहकारिकारणानि यदा पादमधुमं प्रवृच्छति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्समर्थोऽस्ति तेनासक्तोऽस्म्यहमिति चिन्ता मर्षेण कायं इत्याद्ये—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मेण च तस्स दीसदि उवाओ ॥

अमदंपि विसं सच्छं तणं पिणीयं विहंति अरी ॥ १७२९ ॥

कर्मोदये सतिर्याति नोपायो विद्यतेऽङ्गिनाम् ॥

सुधा विपं वृणं शस्त्रं वंशुः शत्रुश्च जायते ॥ १७९६ ॥

विजयोदया—आसदि मदी नस्यति मतिः । उक्तेषु कस्मै उदीर्णं कर्मणि । बुद्धिश्चा स्वाभाविकी आगममवा
य तत्त द्यौ यरवासी हितयेति भेदः ॥ उक्तं च—विषह बुद्धिं प्रवर्तति संतः स्वाभाविकीमागमसंभवां च । बुद्धिद्वयी
यस्य शरीरिणः स्यात् प्रपुं हितं सोलमलं न चाभ्यः ॥१॥ स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थोद्वातं न तु शास्त्रमस्ति
द्रष्टुं हितं धर्ममसी न शक्तौ भागं विना रूपमिवाप्यबन्धः ॥२॥ तीर्थोद्वातं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशु-
द्धा, श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य इत्येदं सति यथांचः ॥ ३ ॥ किं दर्पिनावृतलोचनस्य विदातभोगस्य
भवेत् या किं । शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य सदैव किं मंदमेतैः श्रुतेन ॥ ४ ॥ ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानविरणायदे
कर्मण्युदयमुपागते । तस्य यानावरणं यन्नाति अंतुशान्तिनां ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणत्वां च ह्येपादिन्युदाहु-
पयातात् मात्स्यक्षिपनरूपावसादमाहूयणात् । ज्ञानोदेनिमिहकरणादुक्ताले पठनात् परं द्विगोपधातकरणार्जादिति,
अथयद्वाप्यवधारणावित्तयं मतिपानं युतादिक्ं वा मादायति ॥ उक्तं च ॥ अयमहीतुं च तथेदितुं च
सोचयितुं धारयितुं च सम्भगं । नालं भवयतिपानपुण्यः कर्मोपमं ज्ञानयुतेनिमिषं ॥ १ ॥ अथश्च पश्यन्
यधिरश्च धुणुन् विद्यां विना सौरसतांस्तपास्तन् । त्यगीतये सत्यं विप्यगेव न योविशेषातिवियेयु वेत्ति ॥ २ ॥ एकौद्वि-
यं प्रीतिर्यतां भयेषु स प्रीतिर्यतं शत्रुसिद्धिवाचं । तेनाश्रुतः कर्ममहोदयेन गप्नोति प्रीयो विमानस्कर्ता च ॥ ३ ॥ प्रपुं हितं
प्रोत्सरेदितुं च कर्तुं च शक्तुं विधिना ॥ भोक्तुं ॥ सः कर्मणा तेन नरो वृत्तसत्त्वं न बुध्यमानः । पशुमैति सारयं ॥ ४ ॥
स्वयुधिमात्रमपि शक्यमाप्तुं श्रेयः भूमिपत्यमिहाप्यविदात् । सुदूरस्थं च धृताभिरस्यं स केन विद्यात्परलोकपथं ॥५॥
महायुद्धाभीनतमः प्रवेशात् सदाप्यगाधाभ्रति मन्त्राण्य । यनाशिरं चारुतरोधभाष्य स्यादेक्षितः कष्टतरोऽशमाचः ॥ ६ ॥
तमःप्रवर्द्धाभ्रति मन्त्रं च स्याद्ऽप्युक्त्यात्करोयन् च ॥ ज्ञाताविदैक्य भवांसंयतानमानजं दुःखमनुमयाति ॥ ७ ॥ तांके
विद्यालं नवमं वृत्तीवं धृतं च मत्पारदितो प्रदीतुम् ॥ अथोपि यस्मिन् सति याति मानं श्रेमे सिधे मोक्षमहापुरस्य ॥८॥ एवं
भूतामशताम्राण्ययति मानारत्नं न किञ्चित्प्रतिवारणक्षमं शरणमस्ति ॥ न य सत्सर्वस्वसि उवाच, नैव तस्य कर्मणो
विचारणे उपायो दृश्यते । असंशयस्य कर्मण उवाचात् अमर्दं विस्तं होदि अश्रुतमपि विपं भवति । तथमपि स्रष्टुं शृणमपि
नात्रं भवति । जीआ वि य होति अरी वंशवोपि शस्त्रवो भवति ॥

पञ्चमोपपत्तुविषयमनित्यतां ध्येयौक्य प्रवर्तमानं निर्वर्ण्य तांप्रतयशरणां वद्वेयमापायमानामष्टादशगाथा-
भिर्मार्गशितुपुदिशति । सत्र क्रमयावेशवशाज्जीवेन वद्विकर्मोनि द्रव्यक्षेत्रादिसहकारिणसंनिधानादुपयुक्तं कटु-
तरमात्मकं नवच्छति न कश्चिद्विचारयितुं शक्नोति इत्यहमस्मिन्नशरणोऽस्मीति विवाधवंपो विधेय इति संमतः —

मृगास—मनो अवमहादिमविमानगातोपदेशभवं श्रुतं च । वद्वेयवोगादेव हि हितमहितं वा ज्ञानाति नान्य-
था । उक्तं च—

द्विषेद् बुद्धिं प्रवृत्त्यै संतःस्वभाविकीमागमसंभवां च ॥

बुद्धिद्वयी यस्यं शरीरिणः स्यात् द्रष्टुं हितं सालमलं च चान्यः ॥

हृदयं हि हितयी बुद्धिर्ज्ञानावरणविशेषे कर्मण्युहिते सति नश्यति । तस्मात्तत्तादृग्विधिविध्वंसनोद्यतस्य कर्मणो निवारणे । उवाचो प्रतीकारो । लोके च न दृश्यते इत्यशरणं बुद्धिविध्वंसि कर्मोत्सवं भावयेत् । सर्वं पुरुषार्थसिद्धिनिबंध-
नत्वाद्बुद्धेः प्रपन्नत्वत्वात्तद्विपासिकर्मानिवार्यत्वाभावात् प्रयुज्यदिष्टा । अमदंभीत्यादि सद्देशाख्यकर्मण्युदीर्णे सति इति
संबंधः ।

अशरणता भावनाका सर्विस्तर वर्णन आचार्य करते हैं । ज्ञानावरणादिकर्म आरम्परिणामसे उत्पन्न होते हैं । कषायसे इन कर्मोंमें अधिक स्थिति पड़ती है । जब धैर्य, काल भाव योगेन्द्र कारण आकर मिलते हैं तब अशुभ फल आत्मामो इनसे मिलता है । तब इन कर्मोंका निवारण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता है । इस वास्ते में अशरण हो ऐसा धार धार विचार करना योग्य है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—कर्मका उदय आनेपर विचार युक्त बुद्धि नष्ट होती है । अवग्रह ईहा इत्यादिरूप मति ज्ञान और और आत्मके उपदेशमें उत्पन्न हुआ क्षुब्धान इन दोनों से मनुष्य प्राणी हित और अहितका स्वरूप जान लेता है । अन्य उपायसे हिताहित नहीं जाना जाता है । शास्त्रों में इनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

१ सगुरुष स्वाभाविक बुद्धि और आगमजन्य बुद्धि ऐसे बुद्धिके दो भेद मानते हैं । जो मनुष्य इन दो बुद्धिओंको धारण करता है वहीं अपना हित जाननेमें समर्थ होता है अन्य समर्थ नहीं होता है ।

२ जिसकी स्वाभाविक बुद्धि तो निर्मल है । परंतु गुरुके मुखसे जिसने शास्त्राध्ययन नहीं किया है वह पुरुष जैसे नेत्रयुक्त मनुष्य रूपको देखकर भी भाषाके बिना उसका वर्णन नहीं कर सकता है वैसे हितकर धर्मका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है ।

३ जिसको शास्त्रज्ञान तो है परंतु स्वाभाविक निर्मल बुद्धि नहीं है वह श्रुतज्ञानका फल जो हित उसको नहीं प्राप्त कर सकती जैसे दीप हाथमें लेकर भी अंधा पुरुष अपनी इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकता है ।

४ जिसने अपना मुंह गहरे ढक लिया है उसको दर्पणकी क्या जरूरत है । जो दान देता नहीं और भोगता भी नहीं उसको घनकी क्या आवश्यकता है । जो दरपोक है युद्धमें वह पुरुष शस्त्र लेकर कोरा ही क्या ? वैसे जिसकी स्वाभाविक बुद्धि नहीं है वह शास्त्रसे अपना हित साध्य नहीं कर सकेगा ।

५ ज्ञानावरण कर्मका उदय आनेसे उपयुक्त बुद्धि नष्ट हो जाती है. ज्ञानी पुरुष, ज्ञान और उपकरण इनका श्रेय करना, इनको छिपाना इनका नाश करना, इनके ॥॥ यत्सरमाव रखना, इनमें विम उत्पन्न करना. इनको अयोप्य वतलाना, इनमें दोष लगाना, इनको पीटा देना, अकालमें अच्यवन करना दूसरों की हँदिया विद्या-दना. इत्यादि कारणाते ज्ञानावरणीय कर्मका वंश होता है यह वंश अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान अपवा श्रुत ज्ञानाविकला नाश करता है.

१ ज्ञानको आच्छादन करनेवाला कर्म जब यह अपुण्यवान जीव वंश लेता है तब अवग्रह ईहा, अवाय और धारण ऐसे चारों ज्ञानोंसे भी पदार्थोंका सत्त्वा स्वरूप जानने में असमर्थ होता है.

२ जो मनुष्य पदार्थोंके विशेषधर्मोंको नहीं जानता है वह नेत्रवान होकर भी अंधा है, सुनता हुआ भी बहिरा है, और शिवा शुक होनेपर भी रसोंको नहीं जानता है ऐसा समझना चाहिये.

३ कर्मसे इका हुआ यह कभी एकद्रिय, कभी द्वीद्रिय, चतुर्द्रिय और कभी असंखी पंचद्रिय बनता है.

४ कर्माच्छादित यह जीव हितभर यस्तु को न देख सकता है न सुन सकता है और न उसको विचार करनेमें समर्थ होता है. कर्मके वश होकर भी न दान देता है और न धनका स्वर्ण उपभोग ले सकता है इसलिये ऐसा कर्माच्छादित जीव पशुके वरावरीका समझना चाहिये.

५ अल्प बुद्धि होनेसे मनुष्य अपने समीपका भी हितकर पदार्थका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है. फिर जो श्रुतज्ञानमें ही जाना जाता है, जो परलोकमें हित करनेवाला है ऐसे पदार्थका स्वरूप वह अज्ञ कैसे जानेगा? ६ महाभयानक शुद्धके सचन अंधकारमें प्रवेश करनेसे, आमाश पानीमें प्रवेश करनेसे, दृढ ऐसे कैदस्त्रानेमें डाला जानेमें प्राणीको कुछ दायक लक्षणका अनुभव आता है.

७ अधकारमें प्रवेश, पानीमें डूबना, कैदस्त्रानेमें डाला जाना इन बातोंसे प्राणिजोंको एक जन्ममें ही यह योग पारित अज्ञानजन्य दुःख अनंत भवतक प्राणिजोंका साथ नहीं छोड़ता है.

८ जो पुरुष स्वाभाविक बुद्धिस रहित है वह विद्याल श्रुतज्ञान जो कि मनुष्यको तीसरी आंख है धारण करनेमें असमर्थ होता है.

विमर्शो यह श्रुतज्ञान है यह नेत्रसि अंध होनेपर भी योश नभसकि कल्याणकारक भाग्यमें सुखसे जा सकता है.

यह ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारका अज्ञान उत्पन्न कर देता है कि उसको हटानेमें कोई समर्थ नहीं है. हमका निवारण करनेमें कोई उपाय है नहीं असातावेदनीय कर्मके उदयेसे अमृत भी विष होता है और तृण भी छुरीका काम देता है पंधु भी शत्रु बन जाते हैं

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशान्ते किं स्यादित्याह—

मुच्यस्वस्तस्त्रि होदि मदी कम्मोवससे च वीसदि उवाओ ॥

णीन्ना अरी नि सच्छ नि तणं अमयं च होदि विसं ॥ १७३० ॥

अस्ति कर्मोदये बुद्धिरूपायमवलोकते ॥

विपक्षो लायते वंधुः सास्त्रं पुण्यं विदं सुधा ॥ १७१७ ॥

विद्योदया—सुकदास्त वि होदि मदी सूक्ष्मधापि भवति मतिः । कम्मोदये य वीसदि उवाओ कर्मोपशान्ते
ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशान्ते सति उवाओ ददयते । सुमगलपुण्यकर्मोदयान् । णीन्ना अरी नि सच्छोदपि यंधवो भवति
सच्छोदि तणं साट्टमपि तण भवति, अमद होदि जिते विपमव्यभूतं भवति सच्छोदये ॥

सद्विवर्धयज्ञानावरणस्य निवृत्तौ ता दृढयति—

सूक्ष्मा—सुकदास्त वि यथाजातस्य । कम्मोवससे तथाविधमिच्छावावरणक्षयोपशान्ते सति । उवाओ कर्मोप-
शान्त्य साधत । च विसं विपमवीत्यर्थः ॥ असह्योदयामात्रे सत्रयोदये वा सति द्वियदक्षोदपि धांधवविश्रानं भवति ।
तत्रावरणक्षयजनगुणकर्मण उपशान्ते उदये वा उपाशो छोके शास्त्रे च प्रतीयते इति समन्वयः ॥

ज्ञानावरणीय कर्म के धर्मापन्नमये क्या होता है इसका विवेचन—

अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्मका धर्मापन्न होनेपर मूलं भी विद्वान् होनेमें देर नहीं लगती है. ज्ञानावरण
क्षयोपशान्ते संकटसे पार पढ़नेका उपाय ध्यानमें आ सकता है. क्योंकि उस समय पुण्यकर्मका उदय होजाता है.
शत्रु भी मित्र होते हैं. शस्त्र भी हथतुल्य निष्कार होता है अर्थात् ब्रह्मस्त्रकार यही पुण्यपालके समान अनुभवमें
आ जाता है. विप भी जस्तु होता है.

पाओदण्ण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ॥

दूरादो वि सपुण्णस्स यदि अत्थो अयत्तेण ॥ १७११ ॥

अर्थः पापोदये पुंसो हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति ॥

दूरतो हस्तमायाति पुण्यकर्म्मोदये सति ॥ १७१८ ॥

पिअयोदया—पापोदयेण सामान्तरावस्य कर्मण उदयेन, अत्थो इत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति पुंसः । दूरादो वि दूरतोऽपि । सपुण्णस्स पुण्यवतः । यदि अत्थो अपांलयार्थः । अयत्तेण मयत्नेन ॥

नश्यति पुंसः । दूरादो वि दूरतोऽपि । सपुण्णस्स पुण्यवतः । अयत्तेण मयत्नेन ॥

मूलारा—पापोदयेण सामान्तरावस्यविशेषेन । सपुण्णस्स सद्रोषोदयवतः । अयत्तेण यत्ने विनापि ।

अर्थ—सामान्तरावस्य कर्मणा उदय आनेपर इव्य हस्तगत हांकर भी नष्ट होजाता है. और पुण्यवानको प्रपल के बिना ही दूर देखसं भी धन प्राप्ति होती है.

पाओदण्ण सुहु वि चेदुत्तो को वि पाउणदि दोसं ॥

पुण्णोदण्ण दुहु वि चेदुत्तो को वि लहदि गुणं ॥ १७३२ ॥

नरः पापोदये दोषं यत्नमानोऽपि गच्छति ॥

गुण पुण्योदये श्रेष्ठं यत्नहीनोऽपि तत्त्वतः ॥ १७३९ ॥

विअयोदया—पापोदयेण अयत्तः कीर्तिकर्मणकेन । सुहु वि चेदुत्तो मय्यत्तं अयत्तः । को वि पाउणदि दोसं कठिमाप्नोति दोषः । पुण्णोदयेण पुण्यकर्मण उदयेन । दुहु वि चेदुत्तो यत्किंचिदकार्यं कुर्मपि । को वि लहदि गुणं कश्चित्तमते गुणम् ॥

मूलारा—पापोदयेण अयत्तः कीर्तिकर्मणकेन । सुहु वि चेदुत्तो मय्यत्तं अयत्तः । दोसं बलमं । सुहु वि चेदुत्तो अत्यर्थं निरुतं चेष्टमानो यत्किंचिदकार्यं कुर्मपि इत्यर्थः । गुणं श्रेष्ठम् ।

अर्थ—पापक उदय आनेपर अथात् अयत्तस्थितं कर्मका उदय होनेपर सदानसी मनुष्य भी दोषी माना जाता है. पुण्यक उदयस असायं कर्त्तव्यता भी कोई मनुष्य प्रशंसा का पात्र बनता है.

पुण्योदपण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकिची ॥
 पाओदपण कस्सइ सुगुणरस वि होइ जसपाओ ॥ १७१३ ॥
 पुण्योदये परां कीर्तिं लभते सुणवज्जितः ॥
 पापोदयेऽनुजं सुर्वीमकीरिं शुणत्तानपि ॥ १८०० ॥

विजयोदया—पुण्योदपण पुण्योदयेन । कस्सइ होइ जसकिची कस्वचिद्रूपति यशस्वीतिञ्च । पापोदपण पापक्षोबदेन । कस्सइ सुगुणरस वि कस्वचिन् सुगुणवतोपि । जसपाओ होइ यशोघातो भवति ॥

मूढार—जसकिची यशःकीर्तिञ्च । एषादो छाणपावः यमोविनाश इत्यर्थः ।

अर्थ—पुण्योदयसे किसी मनुष्य का यह संबंध फल जाता है. पापके उदयसे गुणी सदाकारी मनुष्यका भी यह नष्ट होता है.

णिरुवक्खमग्गस कम्मस्स फले समुदट्ठिंदमि दुक्खंमि ॥

आदि त्रसामणहज्जातिताभयवेदणादीए ॥ १७३५ ॥

जन्मसृत्युज्जरानके दुःखसोकमयादिके ॥

दीयमाने विषक्षेण निरुपकमकर्मणा ॥ १८०१ ॥

विजयोदय—गिरयक्रमस नि मनीकारस्य कर्मणः । फले समुदट्ठिंददि दुक्खंमि समुपस्थिते दुःखे, जादि-जरामरणकमादिताभयवेदणादीनि जाती, जरायां, मरणे, व्याधी, वितायां, मये, वेदनायां ॥ समुपस्थिते ॥

दुर्षाकर्मोदयेदुःखे जात्यन्तो दुःखे मरणे कश्चित्कचिज्जाता आशको वा नास्तीति भावनां गाथाद्वयेनाइ—

मूढारा—गिरयक्रमस निपत्तीकारस्य । समुदट्ठिन्मि संग्राप्ते ।

अर्थ—उपायराहित कर्मका जब उदय जाता है तब उसका फल जो दुःख वह योगता पड़ता ही है. जर्षाद जन्म, जरा-मृदावस्था, मरण, रोग, चिंता, मय, वेदना चौराह दुःख भोगने पड़ते ही हैं.

जीवाण णत्थि कोहं ताणं सरणं च जो हवेज्ज इधं ॥
पायालमादिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥ १७१५ ॥

न कोऽपि विद्यते त्राणं देहिनो सुवनत्रये ॥

न प्रविष्टोऽपि पातालं मुच्यते कर्मणा जनः ॥ १८०२ ॥

विजयोदया—जीवाण जीवस्य । नत्थि कश्चिद्रक्षा शरणं वा । जो हवेज्ज यो भवेत् । पायालमदिगदो वि पातालं प्रविष्टोऽपि । न मुच्यते न पातः । सकम्मउदयस्ति स्वकर्मोदये सति ॥

भूलासा—ताणं रक्षणं । सरणं आश्रयः इधं अस्मिन् । मुच्येदमुच्यते । सोके । अपि ॥ अपि च । एतेन दुर्गम-क्षेत्रलक्षणेऽप्यर्थः समर्थयते । न मुच्यते न विद्यते जालाविरुद्धुःशात् ॥

अर्थ—प्राणिश्रेयो लक्षणमे कोहं भी शरणं नहीं है, यह जीव कर्मसे पिंड छुटानेके लिये पातालमें चला जाय तो यहाँ भी यह कर्म उसको छोड़ता नहीं, सबतक यह जीव स्वकर्मोदयसे अलग नहीं होगा तथा तन्त्र इतना दुःख से छुटकारा नहीं होगा.

गिरिकंदरं च अहविं सेलं भूमिं च उदधिं लोगतं ॥

अदिगंतूणं वि जीवो ण मुच्चदि उद्विणकम्मेण ॥ १७३६ ॥

नगदुर्गे क्षितौ शैले लोफति काननेऽम्भुधौ ॥

गमोऽपि कर्मणा जीवो नोदीपेन विसुच्यते ॥ १८०३ ॥

विजयोदया—गिरिकंदरं च गिरिकंदरं अदर्वी शैलभूमिसुदधि । लोफतिं प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते । उद-यागतेन कर्मणा ॥

भूयोऽपि क्षेत्रलक्षिणं प्रवृत्तेन विरहरोति —

भूलासा—गिरिकंदरं चर्वतणनीयविदारितस्थलं । अदिगंतूणं वि गत्वा पि सिद्धं ।

अर्थ—पर्वतश्रीं दरीमें, वंगलमें, पर्वतमें, वसीनमें, समुद्रमें इतना ही नहीं लोकके अंतमें भी जीव यदि जाकर वसना को भी उदयमें आपे हुए कर्मसे वह छुटकारा नहीं पाता है.

दुग्धचतुर्गुण्यया परित्यज्यादी य जंति भूमीओ ॥

मृच्छा जलमि पक्खी णममि कम्मं तु सञ्जथ ॥ १७३७ ॥

द्विचतुर्गुणादा ये ते गच्छंति महीतले ॥

जले मीनाः सगा व्योम्नि कर्म सर्वत्र सर्वदा ॥ १८०४ ॥

विज्ञयोदया—दुग्धचतुर्गुण्ययादा द्विचतुर्गुणादिभ्यः । परित्यज्यादी य जंति भूमीओ परित्यज्यादयश्च यांति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नमसि यांति ॥ कर्म सर्वत्र ॥

मूलादा—परित्यज्या अथादा इत्यादयः । कम्मं तु सञ्जथ स्वकृतकर्मविपाकेन जीवाः कश्चिदपि न मुञ्चते इत्यर्थः ।

अर्थ—दो पाँचके जीव, चार पाँचके जल, अनेक पाँचके जीव और सर्पादिक जीव जमीन पर नियास करते हैं. मत्स्य पानीमें रहते हैं. पक्षी आकाशमें रहते हैं. पशु कर्म सर्वत्र रहता है.

रविचंद्रादवेतस्त्रियाणमगमा वि अत्थि दु पवेत्ता ॥

ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इधं ॥ १७३८ ॥

अगम्या विपयाः संति रविचंद्रानित्यामरे ॥

प्रदेशो विद्यते कोपि नागम्यः कर्मेणा पुनः ॥ १८०४ ॥

विज्ञयोदया—रविचंद्रादवेतस्त्रियाणं सूक्ष्म, चंद्रेण, चातेन, देवध्यागम्यास्संति प्रदेशाः । न कर्मणा मगम्योऽत्र प्रदेशोऽस्ति लोके ॥

कुत इत्याह—

मूलादा—वेदस्त्रियाण वैद्विद्विक्काणां । देवविद्यापरादीनां । अगमा अगम्याः ।

अर्थ—धूर्य, चंद्र, वायु और देव भी जहाँ प्रवेश नहीं कर सकेंगे वैसे भी बहुतसे प्रदेश हैं. परंतु कर्मके लिए अगम्य प्रदेश कोई भी नहीं है.

विज्योसहमंतबलं चलवीरिय अस्सद्वत्थिरहजोहा ॥
समादितुवाया वा ण होति कम्मोदणु सरणं ॥ १७३९ ॥

न योथा रथहस्तादवा विद्यामंत्रौपधादयः ॥

सामावयोऽपि चोपयाः पान्ति कर्मोदयेऽद्विनाम् ॥ १८०५ ॥

चित्तपोदयः—विज्ञानमोक्षाधिबलवीर्यं त्रिया स्वादाकारांता लद्वदितता मंत्रस्य । पौर्यमात्मनः शस्त्रासिन्धयः ।
कलमाहात्म्यधामलं अरितस्य दारुणं, धनैकवच । साममेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतयो न शरणं ॥

दुष्टतपकोट्रेकसिराकरणविद्यामंत्राग्निमपि माहात्म्यप्रविश्यात्तमनुसंपत्तेः—

मूळरा—मल आहारव्यायामादि ज देहात्त्व । गोया व्यापवाः ।

अर्थ—जिसके अंतमें रंगहासार है वह विद्या है. मंत्र स्वादाकारसे रहित होता है. मंत्रकी शक्तिको वीर्य कहते हैं. अरितमें आहार और व्यायाम करनेसे जो हवना उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं. ये पदार्थ कर्मके उदयसे आत्माका रक्षण करनेमें असमर्थ हैं. घाद, हाथी, रथ, योद्धागण, साम दंडादिक उपाय, इनका भी सामर्थ्य कर्मोदय आनेपर नष्ट होता है. कर्म समझें बलवान है.

जह् आइच्चमुदंतं कोई चारंतउ जगे णत्थि ॥
तह कम्ममुदरंतं कोई चारंतउ जगे णत्थि ॥ १७४० ॥

कैनेट्टादीयमानानां कर्मणां ज्योतिषामिव ॥

निषेधः शक्यते कर्तुं स्वकीये समये सति ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—जह् आइच्चमुदंत यथा दिवमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयांत न निवारयति कश्चित्तथा
समधिगतसद्वक्तिकारणं कर्म न निषेद्युमस्ति समर्थं. ॥

विषयानु—

मूळरा—आइच्चं आदित्वं । उदीरंतं उदयावदिरूपप्रवेक्षोपतं ।

अर्थ जैसे उदयाचल पर आनेवाले सूर्यको कोई रोक नहीं सकता वैसे सहकारी कारण मिलनेपर उदयमें आने हुए कर्मको कोई भी जीव रोक नहीं सकता.

रोगाणं पडिगारो दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ॥
 कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव निरंकुतो मत्तो ॥ १७४१ ॥
 प्रतीकारोऽस्ति रोगाणां कर्मणां न पुनर्जने ॥
 कर्मं सुदगतिं हत्थीव लोकं मत्तो निरंकुत्तः ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—रोगाणं पडिगारो दिट्ठा व्याधीनां प्रतीकारा दृष्टा औपचारिक्यः । कर्मणां नास्ति प्रतीकारः जगद्वदोप
 मर्त्येति कर्मं मदगता इव निरंकुतो जातिर्नीजः ॥

सप्तलोकमेवायं दृष्टान्तद्वारेण निवृणक्तः—

मूलानां—रोगाण व्याधीनां अर्थादृष्टापचारजानां । कर्मजानां तु सञ्जानामेव प्रतीकारः ।
 अर्थ—रोगोंका प्रतीकार औपचारिक इलाज तो देखे गये हैं, कर्मका इलाज कियेने भी नहीं देखा है,
 उन्नत वायी अंकुशकी भी पक्वाह नहीं रहता हुआ कमलवनका मर्दन करता है वैसे ये कर्म भी संपूर्ण जगका
 मर्दन करते हैं.

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ॥
 रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥ १७४२ ॥
 प्रतीकारो न रोगाणां कर्मणामुदये सति ॥
 उपचारो भवं तेषामस्ति कर्मसमे सति ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—रोगाण पडिगारो व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसंदेहे प्राप्तोदये सति, एतयोपचारिभिरप्य-
 शमो रोगाधीनां सो वि कर्मण्युपरागं गत एव नावुपशान्तिऽञ्च ॥

मूलानां—समुदिण्णे समुद्योदये । उपशमंते उपशमं याति तदोदये अवतीत्यर्थः ।
 अर्थ—अब असाता वेदनीय कर्मका उदय आता है तब रोगोंका नाश करनेमें औपचारिकों असमर्थ हो जाती
 है, यद्यपि पथ्य और औपचारिकोंका संयत्न करनेमें रोगोंका शमन होना अनुभवमें आता है तो भी वहां कर्मका

उपश्रमन होना ही मूल कारण है, अंतरंग कारण कर्म जब उपश्रान्त होता है तब औषधि और पच्य सेवन रोगनाश करनेमें ममर्थ होने हैं अन्यथा वे निष्फल हो जाते हैं.

विज्जाहारा य बलदेवशामुदेवा य चक्रवट्टी वा ॥

देविदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए ह्येति ॥ १७४३ ॥

बलदेवशचक्रवट्टीदेवविद्याधरादयः ॥

सन्ति कर्मोदये क्यत्तं शरणं न शरीरिणाम् ॥ १८०९ ॥

नित्योदया—दिनादरा य विद्याधरादयो महाशरणपरमात्मा अपि न शरणं भवन्ति कर्मोदय इति माधार्थ्यः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जय कर्मोदय तीव्र होता है तब महापराक्रमी विद्याधर, बलदेव, शामुदेव और चक्रवर्ति भी प्राणीका रक्षण करने में ममर्थ नहीं होते हैं. इतनाही नहीं. देवेंद्रभी उस प्राणीका रक्षण करने में असमर्थ है,

बोल्लेज्ज च कम्मंतो भूमिं उदाथे तरिडज पवसाणो ॥

ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुविण्णस्स बोल्लेहुं ॥ १७४४ ॥

गच्छन्मुच्छन्ते क्षाणो नरस्सरति नीरधिम् ॥

नातिक्रान्तुं पुनः कोऽपि कर्मणामुदयं क्षमः ॥ १८१० ॥

विजयोदया—गोहृत्त उच्छेयेत् गच्छन् भूमि, समुद्रांतल्लम्बमानः । उदीनस्य फर्मणः फलमुच्छेयवितुं न चेत्ति कोऽन्यो वा महात्तोपि ॥

मूलारा—बोल्लेज्ज उच्छेययन् । चरुयं मे पद्व्यां गच्छन् । पवसाणो छवमानः । तीरदि सक्कोत्ति ।

अर्थ—भूमिपर चलता हुआ गायी भूगोके अंततक वा मकोपा. समुद्रको भी उलंघकर वा सकोपा. परन्तु कर्मका उदय आनेपर उसके उलंघनकी ताकद महाश्वचन पुरुषोंमें भी नहीं है. अत्यव्यक्तियोकी तो क्या कथा ?

सीहृत्तिमिगिलगहिदरस णत्थि मच्छो मगो व जय सरणं ॥
कम्मोदयग्भि जीवरस णत्थि सरणं तहा कोई ॥ १७४५ ॥
युगमीनो परो जन्तवोः सिहृमीनयुहीतयोः ॥

लायते रक्षकः कोऽपि कर्मयस्तस्य नो पुनः ॥ १८११

पिजयोदया—सीहृत्तिविगिलगहिदरस सिद्धेन तिमिपिलाख्येन यद्वाभस्त्रेन च युहीतव्य नैव शरणं भवति
अन्धो मन्त्रो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति पञ्चिउरणम् ॥

मूलार्थ—तिमिगिलो महावस्त्रः । मच्छो तिमिगिलाद्वयः ॥

अर्थ—सिंह किंवा तिमिगल (यद्वाभस्त्र नो) पकड़े हुए शायीको कोई पशु अथवा मत्स्य उससे नहीं छुड़ा
सकता है वैसे हीय कर्म के उदयसमयमें इन प्राणी को छोड़ भी व्यक्ति नहीं छुड़ा सकती है उसे उस कर्मका
फल भोगना ही पड़ता है.

व्याप्यर्णितानामशरणार्थं सनसापधार्थं इदं शरणमिति चित्तनीयमिति कथयति—

देसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ॥

जीवरस कम्मणासणहेटुं कम्मे उदिण्णस्मि ॥ १७४६ ॥

कर्मनाशनसहानि जनानां ज्ञानदर्शनचरित्रतपस्ति ॥

नापहाय सति कर्मणि पके रक्षकानि खलु सति पराणि ॥ १८१२ ॥

इति अशरणम्

चित्तपोदया—देसणणाणचरित्तं तवो य अतं दर्शनं चारित्तं तपस्व रक्षा शरणं वा भवति । जीवस्य कर्मणो
भावाहेतुः कर्मणुदीर्घत्वसंज्ञादी । पप्रमचारणाणुयेक्षा मत्ता ॥ अशरणम् ॥

असत्कर्मोन्ने प्रायुक्तानामशरणार्थतां प्रविधाय दर्शनादिकं शरण्यतया अभिप्रेतमित्युक्तास्ति—

मूलार्थ—कम्मणासणहेटुं अनुभूतव्यसपणकारणत्वात् । अशरणानुयेक्षा ॥

ऊपर चित्तका वर्णने किया गया है वे अशरणरूप हैं परंतु अभिप्रेतो भावार्थे अतिपादित पदार्थ अरण
मयज्ञात उनका चित्तन करना चाहिये वेसा आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—सम्पदार्जन, ज्ञान, चरित्र और तप ये चार आत्सुण ही आत्माके धारण—रखक हैं. जिनके क्रमों-
ना ये ही नाश करते हैं. अस्तवैदनायादि कर्मके उदय होनेपर भी उपर्युक्त चार पदार्थ ही आत्माका रक्षण करते हैं.
अध्वरानुपेक्षा समाप्त.

एकतृतीयमेक्षा उत्तरेण प्रवर्धेनोच्यते—

पावं करोदि जीवो बंधवहेतुं सरिरहेतुं च ॥
गिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥
करोति पानकं जन्तुर्देह्यांषवहेतवे ॥

अध्वरादिसु पुनर्देहमेकाकी सहते चिरम् ॥ १८११ ॥

विजयोदया—पावं करोति जीवो बंधवनिमित्तं सरिरनिमित्तं च । बंधवशरीरयोपणार्णं कृतस्य कर्मणः
फलं नरकादिव्येक एवानुभवति । नरकादिगमिषु प्राप्ते तु लभ्यष्टंतस्तत्रावततो बंधवाः किं कुर्वन्ति विभक्तिं निरस्यति-
तन्निहिताः पदपंतोऽध्याकैचित्करा इति कथनेन ॥

धर्मव्याप्तयेव तथा भावयितुमेकत्वं गायामसक्तेन वर्णयति—

मूलारा—नययेत्यादि बंधूनां त्वदेहस्य च योपणार्णं । एकको वेप एकक एव । असहाय एवेत्यर्थः ।
एकतृतीयमेक्षाका सविस्तर वर्णन.

अर्थ—अपने शरीरका योषण करनेके लिये तथा बंधवों के योषणार्थ यह जीव पाप करता है. किये हुए
कर्मका फलभी इस अकेले जीवको ही योग्यता पढ़ता है. नरकादिगतिके जो दुःख इस जीवको योग्यते पदेते हैं. बंधुजी
को उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है अतएव वे उसका दुःख बुर करनेमें असमर्थ होते हैं ऐसा कहना भी योग्य
नहीं है. क्यों कि जब इस प्राणी को इस लोकमें रोगादिसे दुःख होता था तब भी वे केवल देखकर भी दूर करते
थे असमर्थ थे तो परलोकका दुःख उनसे दूर होया ऐसी आशा करना कैसा योग्य होगा?

रोगादिविद्वणाजो वेदयमाणस गिययकम्मफलं ॥

पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से गियया ॥ १७४८ ॥

वेदनां कर्मणा वृत्तां रोगशोकभयादिकान् ॥

किं संजानस्य कुर्वन्तु पश्यन्त्यो ज्ञातयोऽङ्गिनः ॥ १८१४ ॥

विजयोदया—रोगविद्विद्वत् रोगविद्वद्भ्यानि । विषयकर्मफलं निजकर्मफलं स्वयोगप्रयोपचितकर्मणः फलं ।
वेदयमाणस्तस्य वेदयमानस्य । समक्षं चेच्छंतायि प्रत्यक्षं पश्यंतीति । गिनया निजका वांघवाः, ते तस्स किंचिदि न कर्तति
किंचिदपि मतीकारजातं न कुर्वति । परत्रेद वा जन्मन्येक एवानुभवति । जंतुने तदीयकर्मफलसंविभागकरणे समर्थः
कश्चिदिति भवति ॥

नरकादिदुर्गतिगतस्य दुःखमपश्यंतो

मूलारा—किंचिचि गतीकारजातं । परत्रेद वा जन्मनि स्वकर्मफलमनुभवतो जीवस्य न कश्चित्संविभागे

भगवतीति भावः ॥

अर्थ—इस जीवको रोगादिकसं जो वेदना होती है वह मन वचन और काययोगसे उपार्जन किये
पापकर्मका फल है, इस फलका अनुभव जब यह जीव लेता है तब उसका वंधुगण प्रत्यक्ष देखकर भी उस
दुःखका मतीकार नहीं कर सकता है, इस लोक हो चाहे परलोक हो अकेले प्राणीको ही दुःख भोगना पड़ता है,
उसने किये हुए कर्म का नार्गीदार कोई नहीं हो सकता है,

तद तथा यथा दुःखं स्वकर्मफलमेक एवानुभवति ॥—

तह भरइ एकओ खेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ॥

भोगे भोत्तुं गिनया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥

एकाकी त्रियते जीवो न द्वितीयोऽस्य कश्चन ॥

सहाया भोगसेवायां न कर्मफलसेवने ॥ १८१५ ॥

विजयोदया—तथा स्वायुर्गत्ने । पञ्चगो चेच भरदि एक एव प्राणांस्त्यजति ॥ विदिज्जयो ण कोई न सहायो
भवति कश्चिद् । तदीयं मरणं संविमन्य गृहीत्या सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः ॥ अन्यथा एक एव त्रियते इत्यवदमाने
यद्गतमप्येकदा मरणात् । भोगे भुज्येतेऽनुभूयत इति भोगाः द्रव्याणि अशनवसनसुखवासवादीनि । मोक्षमनुभवितुं
नितरा वांघवाः । विदिज्जया सहायाः । ण पुण न पुनः । कम्मफल भोत्तुं नीयथा विदिज्या, तदीयकर्मफलं भोत्तुं न
येधयस्सहायाः ॥

दुःखानुभूतिविवर्धनं मरणे सहायार्थं भावयति—
मृतरा—तव दुःखगुणनगर । न निश्चिन्तो न द्वितीयः । दुःखवन्मरणं विषय्य गृहीत्वा सहायो न कश्चि-
द्रूपनीलैः । भोगे अदम्यसनादीन् ॥

जोगे अपने द्विगे दुष्ट कर्मका दुःखरूपी फल यह जीव स्वयं ही भोगता है जैसे—

अपं—इस प्राणीका आयुष्य पूर्ण होनेपर उसको अकेलेकी ही मरण का स्वीकार करना पड़ता है-
अर्थात् मरणदुःखका निभाग लेकर उसको कोई साहायक नहीं होता है-अन्यथा एकही मरता है इस वचनकी
पठना ही अयुक्त दीर्घगी- क्योंकि बहुत जन एक समयमें मरेंगे- परन्तु ऐसा नहीं होता है अतः 'तव मरइ एकजो
जेन' यह वचन युक्तियुक्त है- अन्न, वस्त्र, ताँदुल, धन इनका उपयोग लेनेके लिए बांधव सहाय्य करते हैं परन्तु
कर्मफल का अनुभव अकेले जो ही लेना पड़ता है- अन्य बांधव उनको सहायक नहीं होते हैं-

प्रकारान्तरेणेकत्वमायमामाचष्टे—

णीया अरथा देहादिया य संगं ग कस्स इह होति ॥

परलोके अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुहु ॥ १७५० ॥

देहार्थार्थाचवाः सार्चं न केनापि भवानंतरम् ॥

वल्लभा अपि गच्छन्ति कुर्वन्तोऽपि महादरम् ॥ १८१६ ॥

स्यकीया देशिनोऽथैव देहार्थस्वजनादयः ॥

सर्वाकृताःसंभ्रमेणापि न कदाचिद्भवान्तरे ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—जीना अरथा रंचको धनं शरीरादिकांश्च परिमहाः कस्यचिदपि खंडेष्विदो न यांति परलोके प्रति-
प्रस्थितं । यदापि सुष्ठु काम्येते परिग्रहा । गृहीत्वा तान्यपि नामस्य मनुमुत्कंठा तथापि ते नागुगच्छेयैक एव यातीत्ये-
व न भवाम्ना ॥

ना भूयन्परिमहा परलोके भद्रगंतरः शुष्कगारस्तु भविष्यन्ति इति व्याकोट्यव्यपोहनायमाह—

मूलारा—अण्मेका अन्वेतारः । परलोकं गच्छत कस्यचित्प्राप्तमित्येव न सर्वतीत्यर्थः । दृष्टिर्जाति दृष्टिर्वा क्रियते कान्येते इत्यर्थः ।

अर्थ—बांधव, धन, दूरीर, पुत्र, स्त्री, वंगरह सम्बन्धीजन परलोक यात्रा करनेवाले प्राणीके साथ आते नहीं हैं. सुन्दर परिश्रमों पर हम जीव इस समय रहवा है और परलोकमें भी इनको ले जानेकी उदकण्ठा उसके मनमें उत्पन्न होती है परन्तु वे उसके साथ नहीं जाते हैं अर्थात् यह मोही जीव भी उनको ले जानेका सामर्थ्य अपनेमें नहीं रख सकता है ऐसी एकत्वभावना भानी चाहिए.

इहलोकगंधवा ते जियया ण परस्स होति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥
स्वकीयं परकीयं न विद्यते सुवनत्रये ॥
भेकस्याटाब्बमानस्य परमाणोरिवांशिनः ॥ १८१८ ॥

विज्ञयोदया—इहलोकगंधवा अस्मिन्नेव जन्मनि बांधवः । परस्स लोगस्स न कीयया होति अन्यस्य जन्मनो न गंधवो भवन्ति । तह चेव बांधवा इव धन देहो संगा सयणासणादी य भने शरीरं सयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मानि उपकारका भवन्ति ॥ एवं हि ते बांधवाः परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहीतुं शक्नते यद्यनयावितया उपकारिणः स्युः । इह जन्मन्येव ये भवन्ति ते परलोकं गच्छन्तमनुसरन्तीति का प्रत्याशा ॥

मूलारा—तत्र चेव बांधवा इदं हि कथनादयोदयि नामुद्रोषकारकाभ्युत्थित्यर्थः ॥

अर्थ—जो इह लोकमें अपने बांधव हैं वे इहलोकसम्बन्धी ही हैं. परलोकमें अर्थात् अन्यजन्म में वे अपने बांधव नहीं माने जाते हैं. इन बांधवोंके समान धन, दूरीर, परिग्रह,--अयनासनादिक परिग्रह भी इह लो-
कमें ही सम्पन्न हो जाते हैं. इन बांधवोंके इनसे सहाय होना ऐसा संकल्प मनसे हटाना चाहिए. इसलिये बांधव और
परिग्रह सहायक नहीं है ऐसा समझना चाहिए. इस जन्ममें भी इस प्राणीका सम्बन्ध ये बांधवादिक छोट देते हैं
ऐसा अनुभवं आता है तो परलोकमें जीव के साथ ये आँखें ऐसी आशा रखवा क्या अज्ञानताका खेल नहीं है.

पठते पांशवाद्यो न सहायाः कस्ताहिं सहाय इत्याशङ्कामाचरे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदुमइओ ॥

सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५१ ॥

अर्वांतरं समं गत्वा धर्म्मो रत्नत्रयात्मकः ॥

उपकारं परं नित्यं पितृव कुर्वते ऽङ्गुलः ॥ १८१९ ॥

तिस्रोदया—जो पुण यः पुनः । जीवेण कदो धम्मो जीवेन कृतो धर्मः, सम्मत्तचरणसुदुमइओ रत्नत्रयरूपो दुर्ग-
ति प्रविष्टो जीवं धारयति भवे वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रयं धर्म इत्युच्यते । सो सः व्यावर्तिनो धर्मः जीवस्स जीयस्य ।
परलोणे परजममि । गुणकारकः सहचरो भवति ॥ अभ्युदयभिक्षुसलसुखप्रदानात् ॥ तथा ब्रह्म—

इत्या यायापिच्छोर्ध्वरदिययर्तितं वीतमीडुगिवणादं, कथा लोकरूपैश्च सुतरत्ताभिः प्राप्य पूजां विचितां ॥
युगपुण्याधिपवृत्तिमिविगमजारादोगशोकप्रहीणे जोशे नित्योदलोस्ये क्षिपति निकपेभ चरत्त नोऽव्याप्तुधर्म इति ।
ननु अलहावात्पभाधमाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपपुच्यते ॥ नैव दोषः यो येन सहायत्येनापवसितो पांधवा-
दिरत्तो सहायो न भवतीति न दानादयः कार्यः । सम्यग्जन्तवशानिचारिततमकस्तु धर्मः । धर्म्मोपे जीवपरिणाम उपकारि
सहाय इति । तथादर्शो ज्ञायते सुखिणा । अतिशयितधर्म्मोयसहायनिरूपणेन अतिधनादीनां तथाभूतसहायता
समर्पिता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्पदादयः शुभपरिणामाः प्रशस्तवर्तिजातिमोऽसंपातसहनानां सहेयाधिक-
मात्मनि विधाय नश्यति तेन देवो वा नरः पण्डित्यः पयासकः कुलीनः शुभभीरोगशरीरखित्सीवी सुखी भविष्यति ॥
धर्मनुवर्धितः पुण्यस्योदयात् ॥ दीक्षाभिमुपा बुद्धिनिर्गतचारत्नवदसंपत्तिञ्च भविष्यतीति संभवयुपकारस्तद्वायता
धर्मस्य ॥ ननु यः ज्ञानपूर्वकत्याज्यलगास्य सम्मत्तचरणसुदुमइओ इति कथमुपपत्त्यते ? अपभिमिप्रायः सत्यपि श्रुतधाने
असंयतसम्यग्दृष्ट्यारिप्राभावात् महती संतर्पिर्नरे मुरयगुणे भवतः ॥ तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्तं प्रधानं, किञ्च तज्ज्ञा-
नमुपायचारित्रमुपेयं ततः परार्थत्वाज्ज्ञानं प्रधानं उपेतत्वाद्यर्थे प्रधानमिति ॥ जो पुण धम्मो जीवेण कदो इत्येतेन धर्मस्य
सपणा नित्यत्वं प्रतिवितं फलैरेचित्यमनुवाचिसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुच्यते । सुतरसाधनामां लीवस्रगच
आस्थादीनां वैचित्र्यात् । तत्कार्यसुखस्यापि यैरुक्त्यं नित्यत्वोपि धर्मस्य पठ्येदिति चेत् अत्रोच्यते ॥ अतिशयितान-
तिशयितसुखाधनतां ज्ञाय धर्महेतुता न चेत्तत्र विकल्पादये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे कार्यं न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो
हेतुः सहेतुसान्नाप्यचसुपसाधनानां सातिशयनिर्गतव्यतदायतः फलविभाग इति । धर्मस्थानर्थेकरमापचते ॥
ततो न धर्मस्य सर्वेषां निरयता ॥

कस्ताहिं भ्रेयोपकारीत्यत्राह—

मूलापा—गुणभारयसहाओ अभ्युदयभिः श्रेयसप्रदानादुपकारः सहागामी । एतत्तं य—

इत्याद्यावाप्युक्त्वोर्वराक्वियरति वीरभीशुनिषपादां ॥
 कृत्वा लोकश्रीं सुतरपरिभिः प्राप्य पूजां निश्चिष्टम् ॥
 मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियायिभजरोगजोक्ताप्रदीने ॥
 मोक्षे नित्योक्तसौख्ये स्थिति निरूपणे यः सो नोऽव्यात्सुख्यमः ॥

वांशपादयोऽशायुय परमार्थनोपकारकसहाय न सुविति तेषु न मनागत्यादरः कार्यः । धर्मं तु तद्विलक्षणत्वाद्भी-
 रमादरना भवितव्यमित्युदेदेनासहायवत्प्रकरणेऽपि धर्मस्योपकारकसहायतोक्तिरुपयोगिनी । ननु चारित्रप्रधानस्य
 धर्मस्य देवसहायशाभावात्तदाहतायुषप्रेति न संभवं । धर्मादुपनिषत्तदुत्तराजन्यसुकृतसम्भारस्य निःश्रेयसावसाना-
 न्मुदयसायनप्ररोपकारकसहायभावन्यगतिरोगात् ॥

अर्थ—तत्पददर्शन, सम्पत्ति चारित्र और सम्पत्तिरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म जो इस जीवने धारण
 किया था वही पर लोके हमका कल्याण करनेवाला सहायक होता है-यह रत्नत्रयात्मक धर्म दुर्गति के तरफ जानेवा-
 ले जीवको धारण करता है अर्थात् शुभ इंद्रादिधर्मों स्थापन करता है- इसलिये इस रत्नत्रयको धर्म यह अन्य
 नाम प्राप्त हुआ है- यह जीव इस जीवको परलोकमें कल्याण करनेवाला मित्र है क्योंकि यह अमृतदयसुख और
 मोक्षदुःख तो देनेवाला है ।

आगममें इस धर्म के विषयमें ऐसा कहा है --

मय, शोक और त्रिस्तताको दूर कर यह धर्म जीवको इस भूलके और स्वर्गिक सौख्यको अर्पण करता है-
 लोभप्रयत्ने ऐश्वर्य देकर यह धर्म देवेंद्र और राजेंद्रों के द्वारा जीवको पूजित करता है- यह जीव धर्म के मत्तादसे
 मृत्यु, रोग, इष्ट वृद्धावस्था, शोक इत्यादिक आपत्तियोंसे रहित होता है- और नित्य, उपमा-
 राहित और महान् मोक्ष विषयों में ऐसे मोक्षकी भी प्राप्ति कर लेता है- ऐसा अपूर्व हितकारक धर्म अर्थात् रत्नत्र-
 यात्मक धर्म हमारा नित्य रक्षण करे

चन्द्रो—अमहापत्य भागों के प्रकरणमें सहायका निरूपण करना कैसा योग्य दीखता है ?

उत्तर - इस जगत् जिन बांधोंको सहायक समझकर रक्का है वे वास्तवतया सहायक नहीं है इसलिये
 उनमें आदर नहीं करना चाहिये और सम्पत्ति, ज्ञान और चारित्रात्मक धर्म में आदर करना चाहिये क्योंकि यह

जीवपरिणाम है और उपकारक अर्थात् सहायक हैं। इस धर्म आचार्य आदर उत्पन्न करते हैं। धर्म ही सबसे उच्छेद सहायक है। जाति, धन वर्गसह पदार्थों से उत्कृष्ट सहायता कभीभी नहीं मिलती है और न मिलगी। इसलिये प्रकृत अयहायता-मही यह वर्णन हुआ।

सम्यक्त्वादिक शुभपरिणाम उत्तमगति, आति, गोत्र, संवाज, सहनन, आयुष्य, सातावेदनायादि शुभकर्म इत्यादिक उच्चय सामग्र्यक्षो देकर नष्ट हो जाते हैं। इन परिणामोंमें देवपना, मनुष्यपना, पंचेन्द्रियपूर्णता, पर्याप्तक, अस्वप्ना, कृतीनपणा, शुभ और नीरोपश्ररित, दीर्घजीवित्व और सुखामस्था प्राप्त होती है क्योंकि इन परिणामोंसे पुण्यका उदय होता है। इन परिणामोंसे दीक्षा लेनेके लिये आत्मा तयार होता है, और निरविवार रत्नप्रयकी प्राप्ति होती है, इसलिये धर्मसे उपकाररूप सहायता प्राप्त होती है।

इंका—चारित्र्य ध्यानपूर्वक होता है परंतु मायांग 'सम्यक्चरणसुदमहयो' ऐसा उलटा क्यों कहा है अर्थात् चारित्र्यपूर्वक ज्ञान होता है ऐसा क्यों उल्लेख किया है ?

उत्तर इस उल्लेख का अभिप्राय ऐसा है—सम्यग्ज्ञान होनेपर भी असंयत सम्यग्दर्शिको चारित्र्यका अभान रहता है इसलिये चारित्र्यके बिना महान संनर और निर्जराभी मुख्यगुण नहीं माने जाते हैं। इस लिये मुख्य-तारा अभिप्राय लेकर चारित्र्यको प्रधानता दी गई है। और इस विषयमें ऐसी युक्ति है—सम्यग्ज्ञान उपाय है और चारित्र्य उपेय है परार्थ की दृष्टिमें सम्यग्ज्ञान प्रधान है अर्थात् कारण की दृष्टिमें ज्ञान प्रधान है परंतु चारित्र्य प्राप्य है इस दृष्टिमें मुख्य है।

'जो पुण धम्मो जीणिण द्दतो' इस वाक्यसे धर्म सर्वथा नित्य है इस कल्पना का परिहार हुआ। क्योंकि धर्मान्तरणमें प्राणिशोंको जो निमित्त सुखादि फलों का अनुभूत आजाता है इसलिये धर्मका मर्मदा एक स्वरूप नहीं है अर्थात् रत्नत्रय रूप परिणाम जिनको धर्म मंडा आचार्योंने दी है उनमें तरतमता होनेसे उनसे प्राप्त हुए सुखादि फलोंमें भी तरतमता आनय अनुभूतमें आती है। इसके साथक स्त्री, वस्त्र, गन्ध, पुष्पमालादिक पदार्थोंमें विविधता देखी जाती है इसमें उमका कार्य जो सुख वह भी अनेक रूपका अनुभवमें आता है।

धर्म नित्य मानने पर भी ऐसी विविधता हो सकेगी ऐसा कहना योग्य नहीं है। अतिशय मुलके साथक अयमा अमानय ये स्त्री वंधादिक पदार्थ होते हैं उसके लिय धर्म कारण है या नहीं- ऐसे दो विकल्प यहां होते हैं।

यदि धर्म कारण है ऐसा मानते हो तो धर्म को निश्चिन्ता अर्थात् नानाविधता है ऐसा मानना होगा. यदि धर्म उसका हेतु नहीं है तो सामान्यकारणोंके आधीनता से कुलके साधनोर्म निर्यदिश्य और सातिशय ऐसा फल दियासा नहीं हो सकता है. अत एव धर्म ही कारण मानना चाहिये. नहीं तो धर्म की व्यर्थता होती है. इस बातसे धर्म को सर्वथा नित्य मानना योग्य नहीं है.

शरीर-द्रव्यिणावीनां वसहायताभाषनां सद्रोचयानुपगमनिवर्तनमुपेन स्तिरग्युचरमाया—

वदस्स वंधणे न ण रागो वेहमि होइ णाविस्स ॥
 विससस्सिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥
 भोगं रोगं पनं सल्लं गेहं सुखिः खिद्यो यथा ॥
 यंधुं च मन्थते यंधं साधुरेकत्वयासितः ॥ १८२० ॥
 पद्धरप यंधेनेव रागो यस्य न विग्रहे ॥
 स करोत्पावरं साधुः किमर्थं अर्थकारिणि ॥ १८२१ ॥
 यंधनतुल्यं धरणसहायं पश्यति गात्रं मथितकपायः ॥
 यो मुनिषयो जमघनसंगं तस्य ॥ रागःकुतहितभंगे ॥ १८२२ ॥

इति एकत्वम् ।

विजयोदया—वदस्स वंधणेव ण रागो रज्जुभरणलाभिवेदस्य यंधनीकपासापकत्वे रज्ज्वादी द्वास्तहेतो यथा न रागः । तथा वेहमि होइ णाविस्स सुखदुःखलाघनविशेषस्त्व दुःखहेतावसारेऽस्थिरेऽभुचिनि कथि न रागो भवति ॥ मुण्यणसण्णिनो ति आश्रयः । विससस्सिसेसु विपस्यशेष्यणि ण रागो जाणिस्स ज्ञानिनो नैव रागः । केसु ? आयेसु सत्थेसु ॥ कथमर्पानां विपस्यशेष्येति चेत् । यथा विप दुःखद्वयि प्राणान्वियोजयति तथाचर्योप्यनन्तरकृतादिषु दयापूत दुःखेन योजयति, प्राणानां न विनाशे निमित्तं भवति ॥ तथाहि ॥ आम्बिनोऽर्पथे एव परस्परं प्रधाते प्रयतन्ते अतएव महात्मनोर्दुःखानामहाभयतायां न मूयकारोत्पत्ता । यत्नेषु महाभयेषु इति यदि यस्यजुषकारि तस्य तस्मिन् विवेकिन्य सहायदुःखेयथा विपकंदगादौ, मयकारि शरीरद्रव्यिणाविक्रमिति पुनरु पुनरभ्यस्ततो नेतर सहायोऽयमिति चिन्तामयं धः भवत्येते ॥

बहुभन्तागदुरागानियरणद्वारेण अथ सहायवान्धावपितुमाह—
 मूढात्—धन्यो रज्जुशृंगरत्नादौ । न रागो न प्रीतिः दुःखहेतुत्वात् । नापिस्स सुखदुःखसाधनविचैकद्वयः ।
 विमसरिसेसु दुःखदुरागान्धावपितुमाह—
 पश्याति तत्र वयं न विचिन्विनाः सहायबुद्धिर्वा विपन्दत्वादि । अपकारि च शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरस्य पश्यतो
 यत्तरसहायोहमिति पित्तप्रवक्तव्यः प्रवर्तेते इति तात्पर्यम् “इत्येकत्वावुपेक्षा”

अर्थ—रज्जु अथवा शृंगरत्नासे बद्ध हुआ पुरुष धननिक्रिया करने में साधकत्वम् ऐसी रज्जु-दोरी और
 सोह की सांख्य में प्रेम नहीं करता है जैसे सुखदुःख के साधनोंका विवेकज्ञान खिनको है ऐसे पुरुष शरीर में
 स्नेह नहीं रखते हैं-यह शरीर, निःसार, अस्थिर, अपवित्र है ऐसा समझकर वे इससे विरक्त होते हैं-क्योंकि वे
 गुणोंसे पक्षपाती हैं-ज्ञानी पुरुष विषयके समान दुःखद ऐसे धर्मोंमें राग भाव नहीं रखते हैं-विषयके सद्यः धन दुःख
 दायक क्यों हैं इसका उत्तर ऐसा है-विषय दुःख देता है और प्राणोंका नाश करता है जैसे धन भी कमना, रक्षण
 करना इत्यादि कार्योंमें उत्तर पुरुष को दुःख उत्पन्न करता है—यह धन प्राणों का भी नाश करनेमें निमित्त है-
 इन धनके लिये प्राणी परस्पर घातपात करनेमें प्रयुक्त होते हैं-इस लिये यह सहायका कारण है-

जो जिसका नाश-अपान करता है उसमें उसकी-अर्थात् विषयकी सहायता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती
 है-विषयकद्विषयोंमें जैसे लोक ये भरे उपकारक है ऐसा नहीं समझते हैं जैसे शरीर, घनादिक पदार्थ भी अपकारी
 हैं ऐसे विषयों की जन मनश्चेत है-और बारबार इसी विषयका आत्म्यास कर बलि में अर्पण करते हैं-ऐसी चिन्ता करते हैं-
 एकत्वावुपेक्षाका वर्णन समाप्त-

अन्यथाधननिक्रियाधर्ममुत्तर ग्रंथ ॥ एकस-

किहदा जीवो अण्णो अण्णो सोयदि हु दुविसयं णियं ॥

ण य वहुदुक्खपुरक्कडयपाणं सोयदि अबुद्धी ॥ १७२४ ॥

दुःखव्याकुलितं दृष्ट्वा किमन्योऽन्येन शोच्यते ॥

किं नात्मा शोच्यते जन्ममृत्युदुःखपुरस्कृतः ॥ १८२३ ॥

पितृयोदय—किहदा अण्णो जीवो अण्ण णीमं किहदात्तोयदिति पदवचना । अन्यो जीवो नीमं स्वस्मादन्य-

कालिण्ये । पुत्रियत्तं दुःखेनाभिभूतं, कथं तावदलोचति । न य शोचति नैव शोचते ॥ कं अचलं अतमलं कीदृशभूतं
यदुपपन्नपुण्ड्रं शारीरैरानुभूतं, मानसी, स्वभाषिकैश्च बहुविधैर्दुःखैः पुरस्कृतं अनुस्मिन्पतिते काले चतसृषु भूतिषु वि-
विधामेवेतीदृशाम् प्रत्यक्षैव कालमायसककारिकारणसाध्यापिष्यस्यपुण्ड्रपल्लवापदः प्रसाः पुनरुत्थानमिष्यति मां
नलीकम् । न हि कारणान्मगलान्स्थितसहकारिणस्तथे सति कार्यसाधुद्रव्यो नाभासति, शो यद्विचि विनासादेदुदयं स कथ-
मिव तदेतुकाः, यथा स्वयमि यथवीजेऽनुपजायमानस्युतांकुरस्तथा सत्यसद्योदेये यदि न स्युर्दुःखादीन्यसिद्धेयकारणा-
नि न स्युर्न भवति च तस्माद्वत्समवेदावस्थितस्य दुःखयोजस्य केनोपयेनापयो अस्तिप्यतीत्युक्तवृत्तिः तथा यदुभ्दि ।
एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमप्युपैति तद्विनाशो न सततं भवत्यं च करोति तथा च
प्रयत्नमात्मस्य स्वदुःखस्य निवृत्तये न आरंभोऽस्ति ततोयं दुःखं मोक्षं पर्यटति न च परो दुःखान्मातुं शक्यते तेन हि
तेचित्तानि कर्मणि कथं कलं न प्रवर्तयति ॥ न हि परस्य शोकः कलशविनां कर्मणां प्रतिबंधकः, तथा चान्यथापि ॥ मीति
पूयै छनं कर्म मनोवाक्यकर्मभिः । न विचारयितुं शक्यं संहतविदेशोरपि । इति हेमाद्र्यदुःखापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः ॥
आत्मशोधनेन च स्वदुःखानुपपत्त्यं परदुःखस्योच्यते । अथवा परदुःखान्तस्थानुपेक्षणमन्यथायुगेष्टा एव परदुःखस्याप्य-
तामरं प्रेक्षमाणः परदुःखस्योपहननं कर्तुं न शक्यत इति न शोचति, स्वदुःखोभूतं प्रवतत इति भाष्योऽस्य सूत्रे ॥

धर्मं धेयतां प्राप्त्यितुं अन्तर्यं प्रबोधसमायाभिर्योपक्षणाः स्वदुःखान्तर्यदुःखमन्यविलयुद्धिः कथमन्यं दुःखार्थं

शोचनीति सदेवदमूतमिवसाह—

मूलारा—नीत्यं निजं ज्ञापिषं । पुरकां पुरस्कृतं । भाषविषिप्रदुर्गतिदुःखवीजस्यसदेवदेवत्समि अन्त-
रिधतत्वात् । अनुबो आत्मरम्यदुःखवीजाभावोपायविचारसूयत्वादनिरवधिपरदुःखलोभनानुवरणाच्छवापुद्धिः । एतदुक्तं
भवति—परस्य दुःखान्तमन एव मन्यमानः लोकमप्यमो लभो पाति । तदुच्छेदे च मिले प्रवत्ये । तथा चास्य न स्पष्टः लो-
च्छेदाय प्रयत्नः स्यात् । ततोऽयं दुःखं भोजं संशरति । न च परं दुःखान्मातुं शक्यते । न हि परस्य शोचनं तदुःखफलं
तद्वर्जितं प्रतिबंधकं । तथा वाग्धवायि—

मीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्यकर्मभिः ॥

न नियमयितुं शक्यं संहतविदेशोरपि ॥

एवं परदुःखस्य स्वदुःखान्तर्यदमन्यवामनुपेक्षमाणः परदुःखं नित्यकृतं न शक्यते । इति न शोचति परतुःखं । दुःख
या ऐतुं यत्त इत्यभिप्रायः ॥

अर्थ—अपने संबंधी अनोको दुःखसे पीडित देसकर यह अनुद्धि मतुप्य दुःख करता है शोक करने
लगता है. शोक करना उसके लिये अव्योप है. क्योंकि वह स्वयं अनेक दुःखाये पीडित हुआ है. अर्थात् अपना

दुःख दूर करनेमें अग्रमर्थ जिन दूतों का दुःख दूर करने में कैसा समर्थ होगा? शारीरिक, मानसिक और स्वामाधिक दुःखों में पीड़ित होकर वह अपने को सुखी समझ रहा है अत एव स्वयं अज्ञानी है-चारों गतिओं में नाना प्रकारके अगता वेदनीय कर्म के उदयसे और दुःख, वेद, कल, भाव रूप सहकारी कारणों की सहाय्यतासे अनेक आपत्तियाँ मेरे ऊपर आई हुई थी और भविष्यकालमें आवेगी, मेरे को दुःखित करेगी इसको वह स्वयं नहीं जानता है-उपादान कारणों को सहकारी कारणोंकी मदद होनेपर अवश्य कार्य होता है- जो मिलके होनेपरभी उत्पन्न नहीं होता है वह उसका कैसा कार्य माना जायगा? जैसे सातुका बीज होने पर भी आप्रवधता अङ्क उत्पन्न नहीं होता है क्यों कि वह यवबीजका कार्य नहीं है वैसा यदि असता वेदनीय कर्म का उदय होनेपर भी दुःख, लोक, तापादिक कार्य नहीं होंगे तो असता वेदनीय कर्म उदयका कारण नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा- परंतु दुःखादिक उत्पन्न होते है, इससे असता वेदनीय कर्म उनका उपादान कारण है ऐसा निश्च होता है-

इसलिए आत्मप्रदेशोंमें ठहरा हुआ, दुःखका कारणभूत असातावेदनीय कर्म किस उपायसे नष्ट होगा इसका ज्ञान हम जीवको नहीं है- इसलिये इसको अज्ञानी कहा है- यह जीव अन्यके दुःखोंको अपने ही समझकर शोकभी प्राप्त होता है और उसका नाश करनेका प्रयत्न सतत करता है- ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला यह अज्ञानी पर दुःख दूर करने के लिए प्रवृत्त होता है- परंतु स्वदुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता है जिससे संसारमें बार बार दुःख भोगता हुआ भ्रमण करता है- परंतु उससे दूसरा पुनः दुःखोंसे रहित नहीं किया जा सकता है- जिसने जो कर्म उत्पन्नित किए हैं वे उसको फल देते ही हैं शोक करनेपर क्या फल देने वाले कर्म रूक सकते हैं? अर्थात् शोक करने से स्वजनोंको दुःख देनेवाला कर्म कोई दूर नहीं कर सकते हैं- आगममें इस विषय में ऐसा कहा है-

प्रतिपूर्वक मन वचन और कायके द्वारा जो श्रणिजोने कर्मोर्षावर्जन किया है उसके फलको सर्व देव रूष्टे होकर भी दूर नहीं कर सकते हैं- इसलिये दूसरोंका दुःख देखकर शोक करना व्यर्थ है, अपने दुःखसे पर-कीय दुःख भिन्न है- ऐसा विचार करनेवाला जीव दुःखोंका दुःख दूर करना अशक्य है ऐसा समझकर शोक नहीं करता है- और अपने दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है ऐसा अभिप्राय आचार्यने व्यक्त किया है-

मयस्य जीविराशिरात्मनोऽन्यत्वेत्युक्त्यानुवृत्तेति कथयत्युच्यते—

संसारमि अणंते सगेण कमेण हीरमाणं ॥

को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणमि जणो ॥ १७५५ ॥

संसारे अममाणानामनंते कर्मणाद्धिनः ॥

कः कस्यास्ति निजो मूढः सज्जतेऽत्र जने जने ॥ १८१४ ॥

विलयोक्त्या—संसारमि अणंते अंतातीते पंचविधे संसारे परिवर्तने । सगेण कमेण आरभीयमिथ्यदर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मण्ययिण पुद्गलरूपेण हीरमाणं आरुध्यमाणानां बहुविधां गतिं प्रति । को कस्स होइ सयणो नयेतामिमत्तस्स तस्यैव सज्जनः सर्वदा भवेत् । परज्जो वा सज्जनतां नयेयात् ॥ न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परत्तयाणमतो न कश्चित् स्वो जनः परो वा ममास्ति । सर्वो जीविराशिरमिथ्याव्यादिगुणविकल्पोपनीतानास्योऽन्य एवेति कृतव्ययसाधस्य कश्चिदेव दया प्रीतिर्यां कश्चिद्वयं दत्तेरोऽसमाभ्यस्तारूपे न प्रादुर्भवति ॥ तत्रो विरागोऽप्यस्य चारित्र्यम-
विच्छेदं भवति । सज्जवि जणमि जणो आसक्तिं करोति जने जनोममायं भ्राता पिता पुत्रो भ्रात्रिनेयो शस्त्रास्वामीति वा मोहादुत्पन्नवस्य अमृतागात्रकूपस्य निरस्तासज्जनत्वस्य परिणामान् ॥

न कश्चित्कस्यापि स्वो जनः परो वास्तीति सर्वेभ्यःपृथक्त्वे भावयितुमाह—

मूढागा—हीरणाकणं तां तां गतिं नीयमानानां । को इत्यादि । यदि हि यो यस्य स्वजन्तत्वेनाभिमतः । स

तस्य स्वजन एव स्यात्तदा । परत्वेनाभिमतो वा कदापि क्वचि स्वात्म्ये गच्छेत् तदा स्वजनोऽयं परजनोऽयं इति नियमो दु-
र्बलः । तेषामोऽस्ति, स्वरयकर्मपरत्वं प्रत्यक्षसर्वेषां तर्हि कुवत्कोऽयं स्वरयविभाव इत्यत्राह—सज्जवि ममायं पुत्रो भ्रातेत्यादि
तथा प्रीतिविषयतया शत्रुरयण्येवादीनादिनिर्देयत्वेपविषयतया वा आसक्ति क्थनादि । मोहो मत्ताः । सर्वेऽप्यन्ये, सर्वेभ्यो
नि याहमन्य इति देयदानाभावात् । एवं च भावयतो यतोः स्वरविभागवुद्धिर्व्यपगमाद्भ्रातृभेदताद्वेषपरिणतेः
मयं नमतापरणमूढागमिः परिणमेते ।

संपूर्ण जीविराशि अपनेसे भिन्न है ऐसा विचार करना ही अन्यत्वावृत्त्या है ऐसा आगेकी मायामे
आचार्य कहते हैं—

अर्थ—पांच प्रकार के परिवर्तनोंसे युक्त इस अनंत संसार में मिथ्यादर्शन, अविरति, योगरह परिणामांसे

उत्पन्न हुए कर्मरूपी पुद्गल स्फूर्ति बद्ध होकर यह जीव अनेक गतिजोमें अग्रगण्य करता है इस लिये इस संसारमें कोई भी जीव किसी का नियमसे स्वजन है नहीं। यदि स्वजनसंबंध होता तो यह स्वजन है और यह परजन है ऐसा मानना योग्य होता। यदि जो जिसका स्वजन है वह उसका हमेशा ही स्वजन मानना पड़ेगा। जो परजन है वह कभी भी स्वजन नहीं होगा अतः यह नियमन नहीं है सब जीव कर्मसे परतंत्र हो रहे हैं अतः मेरा कोई स्वजन और परजन नहीं है सब जीवसमुदाय मिथ्यात्वादि विविध परिणामोंसे एक दूसरेसे भिन्न ही है ऐसा विचार कर है क्षणिक तू किसीमें प्रेम किसीमें निर्दयता, द्वेष ऐसी असमानता नहीं धारण करनी चाहिये। जब रागद्वेषरहित तू ही जावेगा तब निर्विकल्प चारित्रिका धारक बनेगा। मोहसे यह भेदा भाई है, पुत्र है भानजा है एसी कल्पना करके अन्यजनोपर आसक्ति करता है। मैं इनसे भिन्न हूं और ये मेरेसे भिन्न हैं ऐसा भेदज्ञान नहीं होनेसे अन्य जनोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है,

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभावं दर्शयत्युत्तरागथा ॥

सच्चो वि जणो सयणो सत्त्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।

पंते य तहाकाले होहिदि सज्जणो जणस्स जणो ॥ १७४६ ॥

काले ऽ नीतं ऽ भवत्सर्वः सर्वस्यापि निजो जनः ॥

तथा कर्मानुभावेन भविष्यति भविष्यति ॥ १८२५ ॥

विजयोदया—सच्चो वि जणो सयणो निवसेणो अंतुरंगतः स्वजनाः । सत्त्वस्स वि सर्वस्यापि प्राणभृत् । तीद-
कालम्मि अतीते काले आसि भासीत् । पंते य तथा काले भविष्यति तथा काले । होहिदि भविष्यति । सज्जणो जणस्स जणो
स्वजनो जनस्य जनः । पतदेनेनास्पायते ॥ अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वः स्वजन असीद्धविष्यति च ॥ तत्त-
स्सर्पसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य इति ममागं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । तेऽप्यन्ये ममाप्यन्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्य-
न्यत्वस्य स्वरूपविपरीतानुप्रदानमन्यत्वानुपेक्षा ॥

सर्वः सर्वस्य स्वजन आसीत्कर्मवशाद्भविष्यति भवति चेति सर्वसाधारणे स्वजनत्वे सति भवेवायं स्वजन इत्येव
संकलनो मम स्यात्, ते मदन्ये तेम्यथादसन्य इति स्वरूपविपर्यायत्वभावनायमाह—

मूलाग—जणो जणुः । सत्त्वस्स प्राणिनः । तीद अतीताः । पंते भविष्यति ।

स्वजन आर परजन इस लक्षकका अभाव प्रकारान्तरे दिखते है-

अर्थ—इस जगत्में जितने प्राणी है उनसे भूतकालमें मेरा चंचुत्यका संबंध था प्रविष्यकालमें भी इनसे स्वजन संबंध रहेगा अर्थात् संबंधन संबंधनके बंधुये और आगेभी अर्थात् प्रविष्य कालमें भी रहेंगे अर्थात् स्वजनत्व संबंध गर्व जरीके साथ सर्वजीवोंका सामान्य रूपसे होनेपरभी यही मेरा स्वजन है और ये मेरेसे मित्र है ऐसा समझना भूलसे खाली नहीं है. इसलिये ये प्राणी मेरेसे मित्र हैं और मैं इनसे मित्र हूं ऐसा विचार करना अन्य-त्याज्यमेका है.

रास्ति रस्ति रुक्खे जह् सलणयाण संगमणं ॥

जावीए जादीए जणरस तह संगमो होई ॥ १७५७ ॥

संगमोउत्ति साकुंतानां रात्रौ रात्रौ तरो तरो ॥

तथा तथा तन्माजां जातौ जातौ भवे भवे ॥ १८१६ ॥

विश्वबोधया—रास्ति रास्ति रात्रौ रात्रौ । रुक्खे रुक्खे पृथ्वे । जह् सलणयाण संगमणं यथा वसिष्ठां संगमणं । जादीए जादीए अस्मिन् जगत् । जणरस जगत् । तहा तथा संगमो होदि संगमो भवति । यथा रात्रायाश्चरमन्तरेण स्वा-
तुनममर्थाः वसिष्ठां योग्यं सुखमन्विष्य दीकते ॥ तद्वाग्मिनीभिर् नित्यशेषमद्विहत्सुःपुद्गलरूपैः परिरूपकमात्मनो-
द्विराः उपरीतरमद्विजायितः सरीरमहज्जागृहेण योनिवसितमाश्नुति ॥ तत्र ययोः शुक्रयोनिमतमयमाश्रितोऽनुधि-
तर्क नीः सितराशिनि संकल्पवति । तथाभूतगोरेष दुष्मन्तोनिवयोऽप्यस्त्येष्टा धातु इति ॥ अन्ये न एवंभूताश्च ह्यजनि-
नोऽपि सुखभाः ॥ कान्तिरे वसिष्ठां निवासपूरुषा इवेति भावः ॥

तत्रैव स्वजनाप्रतिनिवृत्तत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॥

मूलाया—जादीए लगमनि ॥

अर्थ—प्रत्येक रात्रीमें प्रत्येक पक्षपर जैसे पक्षी आकर बैठते हैं. वैसे प्रत्येक जन्ममें प्राणिजोंका संगम होता है. जैसे रात्रीमें आश्रमके बिना पक्षी ठहर नहीं सकते हैं इस लिये योग्य पक्षोंको शोधकर उसका आश्रय लेते हैं. वैसे प्राणी भी संपूर्ण असुख रूपी पुद्गलरूप नष्ट होने पर पूर्व शरीरका त्याग करते हैं. अन्य शरीरको धारण करने की इच्छा करते हुए शरीरग्रहणके योग्य प्रदेशकी जिसको योनि ऐसा नामान्तर है प्राप्त कर लेते हैं. वहां

जिनके एक और वीर्यका आश्रय इस को मिला है उनकी यह जीव मातापिता समझने लगता है, तथा जिन्होंने उनमें मयान जिनके रक्तवीर्य का आश्रय लेकर जन्म धारण किया है वे उसके माई है इस प्रकारसे स्वजनता सुप्त है, जैसे संग्रहमें पक्षियोंको रहने के लिये वृक्ष सुलभ है-

पद्विया स्वासये जह तौह तहिं अहियंति ते य पुणो ॥

छंडिसा जंति णरा तह णीयसमागमा सब्बे ॥ १७५८ ॥

अथयनीमा इवैकत्र प्राप्य संगं तप्तोऽग्निः ॥

स्थानं निजं निजं यान्ति हित्वा कर्मवशीकृताः ॥ १८.७ ॥

[illegible]

बंधुतां विपटनद्वारेणान्वृत्यं भाषयितुमाह-

मूलाङ्ग—उवासाय वसेरकस्थाने । तर्हि प्राग्गनागसुषोढवर्तिनि । अस्मिंयेति अन्योन्यं ढौकन्ते । तद्य पथिक-
नदसंगमसमा बंधुसम्यग्गना ययमी रतः पृथङ् न सुः कथं विषट्ठे इदमित्यत्वाद्दुप्रेक्ष्यम् ॥

अर्थ—दैसे किमी एक पर्यटालामें पयिक लोक आकर उहते हैं. तथा किसी ग्राम और फर मी जाते हैं पुनः ये पयिक भियुक्त होकर भी इधर उधर अपने इष्ट स्थान को जाते हैं. वैसा ही तब बंधुस-सागर में. इस माधसे बंधुसमागमकी अनिव्यवा स्पष्ट की गई है.

भिष्णुपयडिम्भि लोए को कस्त समावदो पिबो होञ्ज ॥

कज्जं पडि संवेचं चालुयमुढीव जगमिणमो ॥ १७५९ ॥

नानाप्रकृतिकैर्लोकैकस्य कस्तस्त्वतः प्रियः ॥

कार्यश्रुदिदय संबंधो बालुकामुष्टिवज्जनः ॥ १८२८ ॥

विनाशो नृपा—भिण्णपयट्ठिमि लोणे नानास्वभावे लोके । कस्स सभासदो पियो होल्ल कं कस्स स्वभावेन पियो भवेत् । समानशीलतायां हि सत्यं भवति । न च सर्वबंधवः समानशीलाः कथं वदंति तेषां वा स वांधवः । कज्जं ण्डि संपेत्ते कार्यसोदिद्वय संबंधः आसति कार्येऽस्ति संबंधः । वाहुकुमुदीय वाहुकुसुमिद्विष । जगमिणमो लोकोयं । यथा वाहुकुसुमो भिण्णपट्टीनां द्वयद्वयमंतरेण न स्वाभाविकः संबंधो येन संगता मुष्णिमुपयुग । उदकादिद्रव्योपनीतैव संगति-स्तासौ, एवं कार्योपनीतैव संगतिः सज्जनानां ॥

मा भूदुभयविरोधिना तदात्मनो धंभुभिः मंदबुधः । स्वाभाविकमेवादिभावेन भविष्यति इति मोक्षादभि-
निनिशमानमुद्रोपपत्तिः—

मूढारा—भिण्णपयट्ठिमि नानास्वभावे । को इत्यादि समानशीलतायां हि सत्यं । न च सर्वे बंधवः समान-
शीलाः । कथं वदंति तेषां संबंध इत्याह—कज्जं षडि कार्यमुद्दिश्य, स्वाभियससपथमवेक्ष्य । संबंधः प्रियत्वेन वृत्तिः । न कार्यं
स्वेभाय । यद्योक्तः—
गते ते लोकेने ताप ये लभे विफलारसे ॥

कार्यमुद्दिश्ये यत्नेन तद्विद्धि गतमेव हि ॥

वक्तुः किं स्थितमित्याह—जगमिणमो लोकोयं । वाहुकुमुद्रिष । यथा वाहुका द्रवद्रव्येणैव न स्वाभाविक
संबंधेन संगताः सत्यो मुष्णिमुपेयुस्तथा साधवः कार्योपेक्षयैव संयुक्ता एकत्वं गच्छेयुरिति भावः । एवं च साधवतः का-
र्योपनीतसंगतिविलम्बप्रसूता इत्ययं विभ्रमविभ्रमपुन्यत्वेकात्मनिर्बंधेन धर्मव्यवसाय बोधयता समुन्मीलति ॥

अर्थः—यह जग नाना स्वभाववात्क है- इसलिये कौन प्राणी स्वभावतः प्रिय है? समानशील प्राणीमेंही
मन्य रहता है- परंतु मर्ब वषु समानशील-समान सभाववाले नहीं होते हैं- किंतु कार्यके यश होकर ही संबंध होता
है- कार्य हो जानेपर संगंध नष्ट होता है- जैसे वाहुके कण भिन्नभिन्न रहते हैं परंतु उनमें जलादि द्रव्यवर्धाय ॥
प्रत्येय होनेपर ये कण अन्योन्य मिल जाते हैं अर्थात् स्वाभाविक संबंध उनमें नहीं हैं- उदकादि द्रव्यसे ही उनका
परस्पर संबंध होता है- उसी प्रकार कार्योपेक्षी स्वजनोके साथ संबंध है-

ते च कार्यहेतु संबंध स्पष्टयत्युत्तरमाथा—

माया पोसेद्द सुयं आघारो मे भविस्सदि इमोति ।

पोसेदि सुदो मादं गब्बे धरिओ इमाएत्ति ॥ १७६० ॥

माता पोषयते पुत्रमाचारोऽयं भविष्यति ॥

मातरं पोषयत्येव गर्भेऽहं विषृतोऽनया ॥ १८२९ ॥

विजयोद्या—माया पोसेदि सुदं माता पोषयति सुतं। आचारो मे भविष्यति इत्येति अयं मामाचारो भविष्य-
तीति। पोसेदि सुदो मां पोषयति सुतो मातरं। गन्धे धारितो इत्यादि गर्भे धारितोऽनयेति ॥

व्यापिष्वमेव सम्बन्धं निर्दिशति—

मृदारा—इमा ए स्ति अनया। मातरं पोषयतो मे कुवशलाविशयादुत्तकोऽन्योऽप्युपकाराय प्रवर्तिष्यत इति
तदाऽपोषणे च यो मातुरपि न प्रत्युपकरोति स कथमन्यथा कुवशः प्रत्युपकारित्वोत्पत्त्यर्थम् (१) सर्वोऽपि जनो मम
निष्पत्त्यर्थमेव प्रवर्तिष्यते वार्यादिष्वेव पुत्रो मातरं पुण्यातीति मन्यते।

इत संप्रथमो उदाहरणं स्पष्टं करोते—

अयं—माता यह मेरा लडका मेरा आचार होगा इस हेतुसे पुत्र का पोषण करती है। तथा इसने मेरेको
गर्भ मे नष्ट मदिने तरु धारण किया था ऐसा समझकर पुत्रभी माताका रक्षण करता है। अर्थात् कार्योद्देशसे स्वजन
परजन यह विभाग होता है। उपकारसे मित्रता और अपकारसे शत्रुता होती है।

उपकारपकारयोः प्रतिबंधात् शत्रुता मित्रता चेति कथयति—

होऊण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकरणा होइ ॥

पुत्तो वि खेणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥ १७६१ ॥

अभिन्नं जायते मिश्रमुपकारविघातः ॥

तनूजो जायते शत्रुरपकारविघातः ॥ १८३० ॥

विजयोद्या—होऊण अरी वि शत्रुरपि भूत्वा। पुणो पुनः। मित्तो होदि सुदृढवति स एवतिः। कुतः। उपकारकरणा
उपकारकरणेन। पुत्तेति खेणव अरी जायदि पुत्रोपि खेणेन शत्रुमभवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भस्तेन ताडनाद्यपकरण
क्रियायाः ॥ यस्मादेवं ॥

मित्रत्वच्छत्रुत्वस्याव्यौषाधित्वमेव बोधयति—

मृदारा—अरी अपमानायपकारकरणादपकारत्वेन शत्रुरपि भूत्वा। अत्र समर्थं शत्रुस्थपकार्यपकारकभावे-

नैव मयाये पुत्र शत्रुपक्षगोपितकारकभाषेनापि संशयस्यानवयितव्यात् एतुनेव पुत्रोवापि न स्वाभाविकः संभवोऽस्तीति भावनादोरप्यवगम्यन्निवृत्तावकीर्णते ।

इमंका विवेचन—

अर्थ—जो शत्रु है वही उपकार करनेसे मित्र बनता है. पुत्र भी एकक्षण में अपकार करनेसे शत्रु बनता है. अर्थात् निर्मलना करनी, ठोकरा इत्यादि अपकारसे पुत्र पिता ॥ शत्रु बन जाता है.

तथा न कोइ कसइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ॥
कज्जं पडि हुंति जगेणीयाव अरीव जीवाणं ॥ १७६२ ॥

न कोपि देहिनः शत्रुर्न मित्रं विद्यते ततः ॥

जायते कार्यमाश्रय शत्रुमित्रं विनिश्चितम् ॥ १८३१ ॥

निरूपोदया—तथा तस्मात् । नकोइ करतइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे नैव कथित्कस्यचित्संजनः परजनो निश्चये । कज्जं पडि हुंति जीना व अरी व जनः कार्यमेवोपकारणकारत्तराणे प्रति पंचयः शत्रुवध्य भवन्ति । न स्यमायिकी वंशुता शत्रुता ता जीयतामस्ति उपकारणकारकिययोरनपस्तितायास्तन्मूलोऽस्ति मित्रमावोप्यनयस्ति इति न रागेद्वयी दृष्टिर्न चानी । मनोऽन्ये तयं वयं प्रागभूत् इति कार्यमन्ययावेमेषेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसंबंधः ॥

एत एवम—

मृत्परा—मरणो व जलो व शत्रुतो ॥ शत्रुः । जलो ॥ सामर्थ्यात्परजनः । अथवा कालजो अपकर्ता जन इति ज्ञानम् । कज्जं उपकारणकारत्तराणे कार्य । एवं च शत्रुवध्यशत्रुत्वयोः अन्वविरक्तस्याध्यवसायाद्रागद्वेषोपरमात्मचोऽन्ये गर्वेऽपि नमिन्त इत्यन्यथागुनेऽर्थन्याभिसंबंधः ॥

अर्थ—इसलिये इन मंगारसे कोई किसीका स्वजन और परजन नहीं है. कार्य के बल होकर स्वजन और इन उपकार करने वही हमारा शत्रु होगा. स्वाभाविक वंशुता किसीमें नहीं है. शत्रुता भी किसी के साथ स्वाभाविक नहीं रहती है. उपकार और अपकार पर शत्रुत्व और मित्रत्वका व्यवहार निर्भर है ऐसा समझकर किसीमें भी रागद्वेष नहीं करना चाहिये. मर्षी प्राणी मेरेमें मित्र हैं यह भावना हृदयमें सदैव धारण करनी चाहिये

शत्रुभिर्न्योलक्षणाभावादे-

जो जस्स वट्ठदि हिंदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ॥
जो जस्स कुणदि अहिंदं सो तस्स रिबुत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥

हितं करोति यो यस्य स मतस्तस्य बांधवः ॥

स तस्य भणयते वैरी यो यस्याहितकारकः ॥ १८३२ ॥

विजयोदया—जो जस्स पट्ठदि हिंदे यो यस्य उपकारे यतंते । पुरिसो पुण्यः । सो तस्स बंधवो होदि स तस्य भणयति । जो जस्स कुणदि अहिंदं यो यस्य करोत्वहितं । सो तस्स रिबुत्ति णायव्वो स तस्य रिबुत्ति णायव्वः ॥

मित्रशत्रुत्व लक्षणाविच्छेदेन समर्थयते—

मूढारा—हिंदे उपकारे ॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य जिसका हितकार्य करता है वह मनुष्य उसको अपना बंधु समझता है. जो जिसका अहित करता है उसको वह अपना शत्रु समझता है. अभिप्राय यह है कि, उपकार और अपकार पर क्रमसे मित्रत्व और शत्रुत्व अवलंबित है.

शत्रुलक्षणं पंधुषु दशमिति—

णीया कर्तति विषं मोक्खल्लुदयावहस्स घम्मस्स ॥

कार्त्तिं य अइवहुंगं असंजमं तिब्बदुक्खकरं ॥ १७६४ ॥

कुर्वन्ति बांधवा विषं धर्मस्य शिवदायिनः ।

तीव्रदुःखकरं घोरं कारयन्लप्पसंयमम् ॥ १८३३ ॥

विजयोदया—णीया करेति विषं बंधवाः कुर्वन्ति विषं । कस्य ? घम्मस्स धर्मस्य, कीदृशः ? मोक्खल्लुदयावहस्स मित्रशत्रुदुःपकारिभ्यां वा सांसारिकमतिशयत्वं सुखं च संप्राप्त्यतो रत्नत्रयस्य । कार्त्तिं य कारयंति च । किं ? असंजमं । दिसान्धमस्तेयादिकं, वदियुगं मतीव महांतं । तिब्बदुक्खकरं नु सद्वनरकादिदुःखोत्थापनोद्यतं । हितस्य विप्रकरणादहिते च पर्यंतान् दक्षिता शत्रुता बंधुत्वमेतेन । अन्येषां बांधवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनाशुभेक्षणं अन्यत्वात्नु-
पेक्षेति कथितं भवति ॥

कर्मों दितविधादिद्वयवर्तःपरस्त्वेन शत्रुत्वावस्थपतदन्त्यं भावयन्नाह—
मृतात्—असंततमं दिसानुवलेपादिकं ॥

बंधुमी चास्तविक शत्रु है ऐसा अभिप्राय—

अर्थ—जिसका आचरण करने से संपूर्ण कर्मका नाश होकर आत्मा को मोक्षप्राप्ति होती है और मंगलिक उत्कृष्ट सुख की-अर्थात् अहमिन्द्र मुक्तकी जिससे प्राप्ति होती है ऐसा स्तत्रय धारण करने में बंधुगण विना उपस्थित करते हैं-इतनाही नदी पर्वत हिंसा, असत्य, चोरी वगैरह असंयमयी इस जीवसे ये कराते हैं-अति उप पीर, दुःसाह नरकादि दुःखोंसे प्राणीका उद्धार करनेवाले धर्ममें ये बंधु विद्य करते हैं और अधिकमें प्रदत्त करते हैं-इस लिये इन बंधुओंमें शत्रुता दीख पड़ती है-इस प्रकार बंधुओंके विषयमें विचार करना अन्यत्वात् प्रेक्षा है-

इदानीमन्यथायेन साधवो भव्यंते तेषामुपकारक्यरूपेणानुमेवेति चेत्तसि कृत्वा ध्यात्वेह—

धीया सत्तु पुरिसस हन्ति जदिधम्मविग्घकरणेण ॥

करेति य अत्तिवहुगं असंजमं तिब्बदुःखयरं ॥ १७६५ ॥

विजयोदया—अन्वेषणं यतीनां बंधुत्वं कथमप्रशुतायां अन्यत्वात्तुमेसायामुपगृह्यतेऽस्य ॥

अन्य शत्रुत्वे सत्पुरुषोंका ग्रहण होता है उनकी उपकारक समझकर चिंतन करना यह भी अन्यत्वात्तु-प्रेक्षा शब्दका अभिप्राय है-इसका सुझाव—

अर्थ—बंधुगण यथिधर्ममें विभक्त करनेमें प्रसूत होता है और नरकादि गतिजोंमें तीव्र दुःख देनेवाला अंगणम कराता है इस लिये यह ही शत्रु है-और सत्पुरुष—

पुरिसस पुणो साधू उज्जोवं संजणंति जदिधम्मं ॥

तथ तिब्बदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेति ॥ १७६६ ॥

वैभुरं साधवो धर्मं वर्षयन्ति शरीरिणः ।

संसारकारणं निर्धनं त्याज्यन्त्यप्यसंयमम् ॥ १८३१ ॥

विजयोक्त्या—पुरिसस्त पुरुषस्य । पुणो साधु पुनः साधवः । पुनः उक्तोक्त्यैव संजगति उद्योगं सम्यजनयति ॥ अदिधम्मे सर्वारंभपरित्यागलक्षणे यतिधर्मे, तद्य असंजगं परिहरयति तथा असंयमं परिहारयति । कीदृग्भूते ? तित्थदुस्सयारं वीज्जाणां दुःखानामुत्पादकं ॥

यत्वं संप्रणामपक्षरूपेणान्यत्वाभुयेक्य साधूनामुपकारकत्वेणान्यत्वंभुविचयति—
मूलार—उक्तमे उद्यमं । अदिधम्मे सर्वारंभपरित्यागलक्षणे मुनिधर्मे । परिहरयति त्याजयति । अत्रोपकारकभाववर्धनेनान्यत्वं वेद्यते

अर्थ—यति धर्ममे पुरुषको अतिशय हृदयिचवाला करते हैं तथा असंयमसे प्रयत्न पूर्वक हटाते हैं। सर्व आरंभ और परिग्रहोंका जिसमे पूर्ण त्याग हो जाता है ऐसे मुनिधर्मे तीव्र दुःख देनेवाले असंयमोंके त्यागमें जीवको मुनिगण प्रवृत्त करते हैं अतः वे ही परमार्थसे हित करनेवाले बांधव हैं-

उपसंहरति प्रस्युजमर्थं तथा हिते प्रवेनाददित्वाधिवर्तनात् ॥

तस्मा णीया पुरिसस्त होति साह्र अणेयसुहहेदु ॥

संसारमदीर्णता णीयां य णरस्त होति अरी ॥ १७६७ ॥

साधवो बांधवास्तस्मादेहिमः परमार्थतः ।

ज्ञातयः शत्रवो रौद्रमयाम्भोधिनिपाततः ॥ १८३५ ॥

शरीरादात्मनोजन्यत्वं निस्त्रिशस्येव कोशतः ।

परवत्तं न जानन्ति मोहान्यतमसाधृताः ॥ १८३६ ॥

अनधिनिबन्धो ज्ञानी कर्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥

सर्वेषां देहिनां ज्ञेयो मतो वेहस्ततोऽन्यथा ॥ १८३७ ॥

इति अन्यत्वं ।

विजयोदया—तस्या तस्मात् । हिते प्रवर्तनात् । जीवा पुरितस्स संभवः पुरुषस्य । के ? साधू साधवः । अमेगसुख
हेतु शंद्दियनिद्रियसकलमुपदेतवः । संसारमशीर्षता संसारमशीर्षता दुःप्राप्तकुलप्रत्यतारयतः । जीवा य नरस्स हस्ति
अरी शत्रयो भवति मनुष्यस्य संभवः । पतेन सूयण अन्येषां यतीनां वंशानां मित्रत्वशत्रुत्वानुपेक्षणं अन्यत्वाद्युपेक्षेति
कर्यते । एषमनुपेक्षमाणस्य धर्मं शत्रुदेशकारिणि च यतिजेन महानादरो भवति । अभिमतं सकलसुखमुपस्थापयतो
धर्मस्य विघ्नं भवति संयावयत्तु चतुर्विधघटीयन्त्रे दुःप्रकारे भारोदन्तु नितराप्रनादरो भवति ॥ अणत्वं ॥

यस्तुष्टस्या यतीनां य संयुत्वेनापि बंधूनां य शत्रुतयापि स्वस्मादन्यत्वं भावयितव्यमन्यथा विश्रमायेणविष्टसिद्धि
व्यापारतो भवेदित्यन्यत्वाद्युपेक्षामसर्वस्वमुपदेष्टुमाह—

मूलारा—अनेग वैद्वियिकमतीश्रियं च । अदीर्घता प्रवेशयंतः
अन्यत्वाद्युपेक्षा ॥

अर्थ—सत्पुरुष प्राणिओंको हितमार्ग में लगाते हैं इसलिए वे ही मुत्चे बांधव हैं, ये सत्पुरुष ही जीवों
को इंद्रिय सुल और अतीव्रिय सुखस्वी प्राप्ति होनेमें हेतु होते हैं, परंतु अपने जो बंधु हैं वे अनेक दुःखोंसे व्याप्त
अपार संसार में डूबते हैं इसलिए वे मनुष्यके शत्रु हैं, इस भाषासे अपनेसे भिन्न जो सत्पुरुष हैं वे बंधु हैं और
अपनेसे भिन्न पण्डवगण वास्तविक शत्रु हैं ऐसा विचार करना अन्यत्वाद्युपेक्षा है ऐसा कहा गया है, इस प्रकार
जो पुरुष विचार करता है उसके मनमें धर्मके विषयमें और उसका उपदेश करनेवाले सत्पुरुषोंमें महान् आदरभाव
उत्पन्न होता है, और बंधुओंमें अनादर होता है, क्योंकि वे इष्ट सुख देनेवाले धर्मोपचार में बाधा लाते हैं, संसार
वर्धक क्रियाओंमें जीवोंको लगाते हैं, चतुर्वर्गतिरूप घटी यंत्र जो कि दुःखका भार है उसपर स्वयं उन्होंने आरोहण
किया है, इस प्रकार अन्यत्वाद्युपेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ ।

संसारानुपेक्षा कथ्यते प्रबंधेनोत्तरेण—

मिच्छतमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ॥

जिणत्रयणविप्पण्हो महाडवीविप्पण्हो वा ॥ १७६८ ॥

मिथ्यात्वमोहितस्वान्तो भवे प्रमति दुर्गमे ॥
मार्गभ्रष्ट इवारण्ये भवेभारिभयकर ॥ १८३९ ॥

विजयोदय—मिच्छन्मोहितमदी यस्तुयायात्प्राथम्यं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोदयुगता मतिर्यस्यातो संसारमहादर्वी संसारो महादर्वी दुस्तत्त्वज्ञेन दुःखत्वाद्दुस्त्यादिताशयितुमुद्यतत्वाच्च तां नैतात्मनादर्वी । तदो तस्मात् मिथ्यात्वमृदमतिक्रान्तोति प्रविशति ॥ ननु मिथ्यात्वसमकशाययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूताः सृष्टिमुच्यते मिथ्यात्वमृदमतिः संसारमहादर्वी प्रविशतीति ॥ अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वमृदने भसंयमादीन् । जिनययणविरूपवद्दो द्रव्यभावकमरातिजयात् चिनास्तेषां यच्च जीवाद्यर्थयायात्समकशायनगुणत्वशक्तिमयान्वतविरोधि सतो विग्रहस्तद्वर्थापरिखान् यस्तथाश्रयानं तमिरूपितेन मार्गेणानावरणान्च महादर्वी प्रविशति । विष्णुद्वौ वा मार्गद्विग्रह इय । संसारमपिगम्य जीवरोतो ममदि संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ॥ क्रीडभूतं संसारमहोदयधि ॥

धर्मध्यानलब्धमत्वेन संसारकारणस्वरूपप्रकाटादिरिकरं गाणासप्तविंशत्यानुषेक्षयिष्यन्नादौ संसारप्रवेशपर्यटने गाथापनुद्वयेनातु चित्रवति—

मूलारा—मिच्छन्मोहितमदी यस्तुयायात्प्राथम्यं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोदयुगता मतिर्यस्यातो संसारमहादर्वी संसारो महादर्वी दुस्तत्त्वज्ञेन दुःखत्वाद्दुस्त्यादिताशयितुमुद्यतत्वाच्च तां नैतात्मनादर्वी । तदो तस्मात् मिथ्यात्वमृदमतिक्रान्तोति प्रविशति ॥ ननु मिथ्यात्वसमकशाययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूताः सृष्टिमुच्यते मिथ्यात्वमृदमतिः संसारमहादर्वी प्रविशतीति ॥ अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वमृदने भसंयमादीन् । जिनययणविरूपवद्दो द्रव्यभावकमरातिजयात् चिनास्तेषां यच्च जीवाद्यर्थयायात्समकशायनगुणत्वशक्तिमयान्वतविरोधि सतो विग्रहस्तद्वर्थापरिखान् यस्तथाश्रयानं तमिरूपितेन मार्गेणानावरणान्च महादर्वी प्रविशति । विष्णुद्वौ वा मार्गद्विग्रह इय । संसारमपिगम्य जीवरोतो ममदि संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ॥ क्रीडभूतं संसारमहोदयधि ॥

संसारानुमेधाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय से जीवादि पदार्थोंपर यथास्वरूप थदा जीव नहीं करता है. जीवके इस अश्रद्धारूप परिणामको मिथ्यात्व कहते हैं. इस मिथ्यात्व परिणामसे जिसकी बुद्धि मोहित हुई है ऐसा प्राणी दुस्तार नाश करनेमाला अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण और अपार ऐसे संसाररूपों जंगलमें भ्रमण करता है. अर्थात् जैसे मच्चे मार्गमें अट्ट हुआ पथिक भूल कर महावनमें प्रवेश करता है और दिक्पुष्ट होकर उसमें ही इतस्ततः भ्रमण करता है. ऐसे विनेश्वरके वचनोंका अभिप्राय न जाननेसे जीवादिक पदार्थोंके सत्य स्वरूप पर थदा न रत्ननेवाला और विनेश्वरके दिखाए हुए मार्गसे जानेवाला ऐसा प्राणी संसारवनमें भ्रमण करता है ।

ज्ञानावरणादि कर्मोंकी द्रव्यकर्म कहते हैं और राग, द्वेष मोह, क्रोधादिक मनोविकारको भावकर्म कहते हैं. जिनसे इन दोनों कर्मोंका अत्यंत नाश किया है ऐसे अहिंसरमात्माको जिन कहते हैं. उनके मुखसे जो

उपदेश निस्तता है यह सत्य और हिताकारक ही होता है. वह जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप दिखाता है और मत्परादि प्रमाणोंमें अवाधित है. परंतु ऐसे उपदेशका अनावर करनेवाला जीव मिथ्यात्वही होकर अत्रय संसार भ्रमण करेगा ही. 'मिच्छन्मोहिदयदी, ऐसा गायामं पद है- यहाँ मिथ्यात्व शब्द उपलक्षणात्मक है. इस शब्दसे अमयम, कषाय और योगोंका भी ग्रहण करना चाहिये.

यदुतिव्यदुस्त्वसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ॥

चदुपरिवट्टावचं चदुगदिवहुपट्टणमणंतं ॥ १७६९ ॥

अनेकदुःखपानीये नानायोनित्रमाकुले ॥

अनंतकायपाताले विपिन्नगतिपत्तने ॥ १८४० ॥

विप्रवीर्या—चदुतिव्यदुस्त्वसलिलं यहूनि सीमाणि सुराणि सतिष्ठन्ति यस्मिन्संसारमहोदये तं । अणंत-
कायप्पवेसपादालं अंतर्गतानां जीवानां कायः शरीरमनंतकायस्तत्र प्रवेशास्ते पातालखंडेषामीया यस्य तं ।
अथवा न विच्छेते भंतो निधयोऽस्थेय जीवस्येवं शरीरमिति यद्वान् साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनंतः कायोऽस्य
जीवस्येत्यनेनकायः । मन्तरेणपि भावप्रत्ययं भावप्रधानो निर्देशः । तेनारमर्थः अनंतकायत्वस्य प्रवेशः अनंतकाय-
प्रवेशः स पातालं यस्य तं । चदुपरिवट्टावचं चरयातः द्रव्यक्षेत्रकालायाख्यायां परित्यक्ताः आद्यतोऽर्थमिच्छन्तः । चदुगविपट्ट
पट्टने यत्ततो गतवो गृह्णति मदाति पत्तनानि बहिर्मस्तं । शर्षते अनेतं ॥

मूलारा—अर्णवेत्यादि अंगानां जीवानां कायस्तत्र प्रवेशः पातालानि यस्य । चदुपरिवट्टावचं द्रव्यक्षेत्रकाल-
भावपरिणामावस्यभ्रमं ॥

यह जीवरूपी नीका संसारसमुद्रमें प्रवेश कर उसमें भ्रमण करती है आचार्य संसारसमुद्रका विस्तारसे
वर्णन करते हैं—

अर्थ—संसारसमुद्र नानाविध दुःखरूपी पानीसे भरा हुआ है- अनंतजीवोंके जो शरीर उनमें प्रवेश करना थे ही
यहाँ पाताल हैं-साधारण जीन अर्थात् विगोदी जीवोंका जो निवासस्थान है वह ही इसमें पातालप्रदेश समझना चा-
हिये. साधारण जीवोंके शरीर को अनंतकाय कहते हैं-यह नाम अन्यर्थक है-इसही जीविका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं
कर सकते हैं क्योंकि यह साधारण होनेसे अनंत जीवोंका आश्रयस्थान बना है-ज्योंव एकही जीविका अथवा अमुक

जीवता यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं होगा है। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परि परिवर्तन और भागपरिवर्तनरूपी भोगोंरे इस संसारसमुद्रमें हमेशा अग्रण करते हैं। इस संसारसमुद्रमें चार गतिरूपी बड़े बड़े द्वीप हैं। और यह समुद्र अनंत है।

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवनबहुमच्छं ॥

जाइजरामरणोदयमरणेयजादीसुदुग्भीयं ॥ १७७० ॥

रागद्वेषमदकोधलोभमोहादियावसि ॥

अनेकजातिकल्लोले असस्यावरबुद्धे ॥ १८४१ ॥

पिअयोदया— हिंसादिदोसमगरादिसावदं हिंसानुलस्तयाग्रहपरिच्छिन्ना हिंसादिदोपास्ते मकराक्षयः आपदा यस्मिन्ते । दुविहजीवयुग्मायं द्विविधा स्यावरजोगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते यद्वयो मत्स्या यस्मिन्ते । जादिरामरणोदयं जातिरमितवशरीरग्रहणं, जरा नाम शुहीलस्य शरीरस्य तेजोयल्लादिभिरुत्पत्ता, मरणं शरीराद्वपगमः एतानि जातिजरामरणानि उदये उन्नतिर्यस्मिन्ते । जन्मजादीसुदुग्भीयं अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयोर्यस्मिन्ते । एक-द्विविधतुल्यं चन्द्रियजगतया । प्रत्येकमवतरेभ्योपेक्षया पृथिवीकायिका, अपूकायिकास्तेऽस्कारिकवनस्पतिकायिका इति ॥ एकैन्द्रियजातिरेका गन्धैश्यायिकरूपा पृथिवी । आयोऽपि वर्षेद्विमहिमानीकराकिमेवेद्विधा । अस्मिरपि प्रदीपोऽयुक्तमर्बिरित्येकैभेदः ॥ यायुरपि शुंजामण्डलिकादिधिकल्पः । वनस्पतयोपि तव्युत्पन्नवल्लीलतातृणादिभेदास्ततो जातिशताभीत्युक्तं ॥

मूलारा—दुविधा जीवा स्यावराक्षसाग्र । जादि अभिनवशरीरग्रहणं । उदयं अलं । जरादीसद जालीतानेकेन्द्रिया-दिजातिभेदानां पृथिवीकायिकाद्यायिकाद्यापरजातिप्रभेदयुक्तानां शतानि ।

अर्थ—हिंसा अतत्य, चोरी, कुशीलेस्वन्न और परिग्रहाभिलाषा इत्यादि पानकल्प सपर वीरसद क्रूर हिंस प्रणी जितमें हैं, असस्यावर जीव रूपी मत्स्य जितमें हैं। जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना, जरा—ग्रहण क्रिये हुए शरीरसे तेज, बल चैपरद शक्तिया कम होते जाना, मरण—शरीरसे आत्माका गमन होना इत्यादि असस्याओते यह संसार समुद्र उन्नत हुआ है। अनेक एकैन्द्रियादि सैकड़ों जातिरूपी वर्ग जितमें है ऐसा यह संसारसमुद्र महाभयानक है। जातिकर्मके एकैन्द्रिय, द्वैन्द्रिय, त्रैन्द्रिय, चतुर्गैन्द्रिय, पंचैन्द्रिय जाति ऐसे पांच भेद हैं। इन प्रत्येक जातिओंके अर्थांतर भेद बहुत हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक

ऐसे पक्षेत्रिय जातिके भेद हैं. उनमें भी अर्थांतर भेद इस प्रकार हैं- अर्थात् पृथिव्यादिके छन्वीस भेद हैं, जलके भी पृष्टि, हिम, पर्क, ओले इत्यादि भेद हैं. अग्निके भी प्रदीप, उल्लुक, ज्वाला इत्यादि अनेक भेद हैं. वायुके भी गुंजा, वायु, मंदलिक वायु वगैरह भेद हैं. इस तरह जाति कर्मके अनेक भेद होने से जातिरूपी तरंगों से यह संसारसमुद्र युक्त है ऐसा समझना चाहिये-

दुविहपरिणामवाचं संसारमहोदधिं परमभीमं ॥
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्ममण्डभरो ॥ १७७१ ॥
जीवपोतो भवांभोथो कर्मनाविकचोदितः ॥

जन्मसुखदुःखराचनें चिरं भ्राम्यति संतनम् ॥ १८४३ ॥
विजयोदया—दुविपरिणामयदं दिविपथः शुभाशुभपरिणामा याता यस्मिन्त्वं । परमभीमं अतिभयंकरं ।
अदिगम्म भविष्य । जीवपोदो जीवपोतः । भमइ चिरं चिरकालं भ्रमति । कम्ममण्डभरो कर्मद्विषणभाः । विमिः संवधाः ।
मवसेतारं निरूपयति ॥

मूढारा—दुविधा दुष्प्राशुभाः । अदिगम्म भविष्य । पोदं यातपोतं ।

अर्थ—यह संसारसमुद्र शुभ और अशुभपरिणामरूप हवासे युक्त है और अतिशय भयानक है. इसमें जीवरूपी नौका कर्मरूपी द्रव्यसे युक्त होकर जब प्रवेष्ट करती है तब चिरकालतक भ्रमण करती है.

एगविमिगवउपंचिदियाण जाओ हवीति जोणीओ ॥
सव्वाउ ताउ पत्तो अणंतसुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥
एकद्वित्रिचतुःपंचहृपीकाणामनंतथाः ॥

जातयः सकला आन्ता देहिना भ्रमता भवे ॥ १८४३ ॥

विजयोदया—एगविमिगवउपंचिदियाण नामकर्मगतितत्त्वविशेषविश्रब्धं तत्र जातिकर्म पंचविकल्पं एकद्वित्रिचतुःपंचैत्रियजातिकरेण तासां अतीनामुदयात् ॥ एकेन्द्रियत्वविस्फुर्यभाजो जीवाः परैन्द्रियादिसंवे-
नोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीनां योनय माश्रया वावरसहस्रपर्याप्तकाणां जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिताः ।

सचिपत्तदीतिसंयुक्ता सेतारा मिथ्याद्वेषकस्तचोन्नय इति सद्ये मे निर्दिष्टात्तरुषीतिशतसहस्रविकल्पास्त इह न शृङ्खले यतः ममन्तरे देयत्वन्तरकल्पमनुष्यत्वातिरिक्तत्वाक्या ग्रणपर्यायपरावृत्तिर्विवेकसार इत्युक्तः ॥ गिरयादिजह्नुणादिसु जाय तु जगतिर्नयानु रोपन्मा । मिच्छत्तत्तसंस्वेपेन तु भवद्विषी भजिज्वा चहुसो इति वज्रनाम् । येनयो न भवदश्वान्याः । जीवपर्यायो हि भयस्तत्र ग्रहस्तसारस्त्रिणादिषः—पृथिव्यमेजोवायुवनस्पतिकार्याः प्रत्येकं वादरसूक्ष्मपर्याप्तकापयसि विकल्पादिनातिविधाः । द्विचित्रद्विद्रियात्तत्तसंस्विकल्पाः पञ्चैद्रियाश्च पर्यायापयोक्तविकल्पा दशविधाः । अन्ये तु भयपरिवर्तनेनैवं पदंति । नरककस्तौ सयज्जगत्तमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुया तत्रोत्पन्नः पुनः परिस्त्राम्य तेनैवायुया तत्र जायते । एवं दशवर्षसहस्राण्यं यापेतः समयास्तापन्तुत्या तत्रैव ज्ञातो मृतः पुनरेकसमयाधिक्रमावेन त्रयस्त्रिंशत्साम्पारोपयानौ परिसमाप्तिवति ततः प्रन्युत्य तिर्यग्यतौ अंतर्मुहूर्तायुःसमुत्पन्नः पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परिस्त्राम्यति ततः प्रत्युत्य द्वयं मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अथ तु विशेषः, एकविंशत्सामारोपमणि परिसमाप्तिना नि पापसायद्वयपरिद्वर्तनाः सार्धोत्सा मवेति । भक्तधारमयं प्राप्तो जीवः ॥

मूढारा—अपसंसारमाह—जोभीजो लाध्रयाः । ते चेह जीवद्रव्याणां वादरसूक्ष्मपर्याप्तकायमौलिकाद्याः
स्यावर्णानां विसृष्टिः तन्नामं च वादरूपनियमाददेति त्रिशत्यन्या विवक्षिताः । चतुस्त्रीतिलसंख्याः सप्तिसाद्वियोनयः ।

गिरयादिजलदण्माभिसु ज्ञापयु चवरिहियाहु मेवेज्जा ॥

मिच्छन्संसिद्धेण तु भवद्दिवी मज्झिमा पहसो ॥

अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवमाहुः ॥ नरकगतौ सर्वजपन्यस्यापुर्वशेषसहसाणि । तेनद्युषा ततोत्पन्नः पुनः परित्रम्य
तेनैवाद्युषा धनैव जावो मृतः । पुनरेकसमयाधिकभावेन तत्रैव जावोः याथात् त्रयुल्लेखसागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः
मध्युत्थ तिर्यग्गतौ सर्वजपन्यास्तुद्व्युत्थोत्पत्तः । पूर्वोक्ति कमेण श्रीणि पत्योपमानि तेन परिसमापितानि, एवं मनुष्यगतौ
च । नैयगतौ नरकगतियत् । अयं तु विरोधः । एकत्रिसहसागरोपमाणि परिसमापितानि । एवं समुद्दिनं याथापाद्वद्व-
परिवर्तनं ॥

अर्थ—नामकर्मके गति जाति वगैरे अनेक भेद हैं- उसमें जातिकर्मके पांच भेद हैं इन जातिकर्मके उदयग पक्षेत्रियादि वर्णोक्तें लो आश्रय है उनकी योनि कहते हैं- वादर, मूस्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे इन योनिअके भेद हैं- चेरी बीयद्रव्योंको यहां आश्रयभूत समझने चाहिये. सचिक्योनि, शीबियोनि वगैरह चौरासी- लक्ष योनिभेद लो खद्यमें कहे हैं उनका यहां संबंध नहीं है. क्योंकि सूत्रांतरमें देवल, नारकत्व, मनुष्यत्व और

पशुत्वरूपने जो संसारमें पर्याप्त धारण करने पड़ेते हैं उनको भवसंसार कहते हैं- नरकगति, मनुष्यगति, पशुगति इन गतिओंमें जन्म आधुप्यसे उत्कृष्ट आधुप्यतक मिथ्यत्वका आश्रय करनेसे इस जीवने ब्रमण किया है- देव-गतिमें भी मिथ्यात्वयुक्त जनक जन्म आधुप्यसे नीचे श्रेष्ठतक उत्कृष्ट आधुप्य धारण कर इस जीवने ब्रमण किया है- ऐग्य भवसंसारका वर्णन किया है- इससे योनिओंका यहां भव शब्दसे संग्रह नहीं होता है- किंतु बादर दृश्यादि अवस्था जोही भवसंसार कहना चाहिये- जीवकी अवस्थाको भव कहते हैं- इस भवमें उत्पन्न हुए संसारीके १० भेद हैं-

दृष्टिर्वा, जल, अग्नि, वायु, पनस्पति इनके प्रत्येकके बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे भेद होनेसे मिलकर पाँच भेद होते हैं- द्रष्ट्रिय, श्रोत्रिय, चतुर्श्रिय, संक्षिपंचद्रिय, असंक्षी पंचद्रिय इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेदसे दस भेद होते हैं- दूसरे आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—नरकगतिमें सर्वसे जन्म आधुप्य दस हजार वर्षका है- उस आधुप्यसे छोड़ जीव पहिले नरकमें उत्पन्न हुआ- आयुसमाप्तिमें अनंतर संसारमें ब्रमण दस पुनः पूर्वोक्त आयुसेही यह जीव उसी नरकमें उत्पन्न होता है- इस प्रकार दस हजार वर्षके बितने समय होते हैं उतनी बार पहले नरकमें पूर्वोक्त आयुका धारक होता है- आयुसमाप्ति के अनंतर संसारमें ब्रमण कर उसी नरकमें फिर उत्पन्न होता है परंतु अबकी बार एक समपाधिक दस हजार वर्षका आयुप्य उसको प्राप्त होता है- इस प्रकार एक एक समय घटिगत होते २ इस जीवने तेहरास सामरोपम आधुप्यतक अंतरुपात बार जन्मभरण किया है-

उदनंतर सप्तदशनरकसे निकल कर यह जीव तिर्यचगतिमें उत्पन्न होता है- वहां उसका जन्म आधुप्य अनंतपूर्वतं प्रमाण का होता है- पूर्वक्रम के अनुसार तीन पल्योपम आधुप्य समाप्त किया- पदनंतर मनुष्यगतिमें भी उत्कृष्ट तीन पल्योपम आधुप्यतक तिर्यगतिके समानही क्रम जानना चाहिये- देवगतिमें नरक-गतिके समानही क्रम जानना चाहिये- परंतु इतनी विक्षुब्धता है—देवगतिमें एकतीस सामरोपम आधुप्य की समाप्ति होनेतकही भवपरिवर्तन हैं- ये सर्व परिवर्तन इस जीवके अनंतवार हो चुके हैं-

अण्यं गिण्हदि देहं तं पुण सुत्तण गिण्हदे अण्यं ॥

घटिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वंससारे ॥ १७७३ ॥

गृहीते मुंचमानोऽङ्गी शरीराणि सहस्रशः ॥

अमति द्रव्यसंसारे घटीयंजमिवानिशम् ॥ १८४४ ॥

विजयोदया—अण्यं गेण्हदि चेहं अन्यच्छरीरं गृह्णाति । तं पुण तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरप्यम् गृह्णाति । घटीयं-
मित्ति जीवो घटीयंजमिवजीव । यथा घटीयंजं अन्यज्जलं गृह्णाति त्वत् त्वत्त्वा पुनरन्यदमृते एवमयं शरीराणि गृह्णन्
मुंचय भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशेषेनोच्यते तत्स्थायमनं परिवर्तनं द्रव्यसंसार इति सुनकारस्यास्य श्याक्या
एतदुद्दिष्टिद्वय । एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं प्राणं । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र
नोकर्मपरिवर्तनं नाम प्रवर्णा शरीराणां पण्णा पर्यायीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्ध
रुस्रजर्जरेणाविभक्त्यामदेभ्यमभवेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीतान्तवारातलीस्य,
मिधकांश्च धामंतयारातलीय मये तेनैव प्रकारेण तद्वयेव जीवस्य नोकर्मभाषमाणपक्षे यावत्तापरत्समुचितं नोकर्मद्रव्य
परिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन भट्टवियकर्मभावेन ये ख गृहीताः समयाधिकारवलि
कामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा पूर्वोक्तैरेव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभाषमाणपक्षे यावत्-
तापरत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥

द्रव्यसंसारमाह—

मूढारा—पटिवर्तं पटीयंमिय जलं गृहीतं गृहीतं मुक्त्वा अन्यदव्यच्छरीरं गृह्णजीवो भ्रमति इति स्थूल-
मुदोदिरिय द्रव्यसंसारः सूतकारेणोक्तः ॥ एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं प्राणम् । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं—नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं
कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—यथाणां शरीराणां, पण्णा पर्यायीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवे-
न एकस्मिन्समये गृहीताः तिनपक्षशपर्यङ्गयादिभिस्तीव्रमदमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः ।
अगृहीतान्तं वारातलीय मिधकांश्च धामंतयारातलीय, मध्ये गृहीतांश्चान्तवारातलीय त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य
नोकर्मभाषमाणपक्षे यावत्तापरत्समुचितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविय-
कर्मभावेन गृहीताः समयाधिकारवलिक्वामीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः पूर्वोक्तैरेव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभा-
षमाणपक्षे यावत्तापरत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥ उक्तं च—

सर्वे वि पुण्ड्राय यल्लु कमतो मुत्तुसिया च लीवेण ॥
वसर् अण्वधुत्तो पुण्ड्रपरिग्रहसंसारे ॥

अर्थ—जैन षट्पायं पूर्ण जलका त्याग करके दूसरा दूसरा जल ग्रहण करता है जैसे यह आत्मा भी पूर्ण शरीर त्याग कर उचरोकर भिन्न भिन्न शरीर धारण करता है इस प्रकार यह जीव पूर्ण शरीरका त्याग कर और इसको धारण कर शरीर को संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है. नाना प्रकारके शरीर को द्रव्य कहते हैं जो समझनेके लिए आचार्यने द्रव्यसंग्रहण वर्णन किया है द्रव्यपरिवर्तनका इस प्रकारसे भी स्वरूप कहा है—

द्रव्यपरिवर्तनके नौ कर्म परिवर्तन और कर्मपरिवर्तन ऐसे दो भेद हैं—
नौ कर्म परिवर्तन—तीन शरीर (ओदारिक, बौद्धिक और बाह्यारक) और छह पर्याप्ति (आहार,

शरीर, इन्द्रिय, स्वातोन्ध्याम, भाषा और मन इनके योग्य पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये उनमें स्निग्ध रूप, स्पृश, वर्ण, गन्ध जैसा तीव्र, मंद, मध्यम मात्रसे धा द्वितीयादि समयमें वे पुद्गल निर्जीव हुए. सदनंतर ज-गृहीत पुद्गलोंको अनंतरा उलपकर, मिश्रगणको भी अनंतरा ग्रहण कर मध्ये गृहीत नामक वर्णणको भी अनंतरा ग्रहण कर पुनः वे ही वर्णणा उनी जीवको मध्यम समयमें जैसे ग्रहण की गई थी वैसी जय ग्रहण की जाती है तब नौकर्मपरिवर्तन होता है

कर्मद्रव्य परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—

एक समयमें एक जीवने आठ प्रकारके कर्म रूप से जो पुद्गल ग्रहण किए थे वे समयाधिक आचल प्रमाण काल व्यतीत होनेपर द्वितीयादिक समयमें निर्जीव हो गये. वदनन्तर पूर्वोक्त क्रयाजुसारही वे ही पुद्गल उनी जीवको जय कर्मरूप बन जाते हैं तब कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है

रगगदण्डो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूपाणि ॥
गिण्हदि मुच्चदि अठिदं जीवो संसारमावण्णो ॥ १७७४ ॥

बहुसंस्थानरूपाणि चित्रवेष्टाविधायकः ॥
रंगस्थनटवज्जीवो गृहीते मुंचते भवे ॥ १८१५ ॥

विजयोदय—रंगमण्डप रंगप्रविष्टनट इव । इमो अयं बहुविष्टनटानयनरूपवति बहुविधसंस्थानवर्णं समायान् । लिङ्गदि य मुञ्चति अटितं गृह्णाति मुंचति अवस्थितं । क्रियाविशेषमेतत् । जीवो संसारमावण्णो जीवो ब्रह्मसंसारमापन्नः ॥

विजयसरीरव्यपारिर्गणेनैव निर्देशनाद्रेण प्रणयति—

मूढारा—अटितं अनारम्भम् ॥

अर्थ—रामभूमिपर आया हुआ नट नाना प्रकारको आकृति, वर्ण, और स्वभाव को ग्रहण करता है और छोड़ देता है ऐसे द्रव्यमत्तारमें अयण करनेवाला यह जीव नानाप्रकारके आकार, वर्ण और स्वभाव को धारण करके बार बार छोड़ देता है।

क्षेत्रतत्सार निरूपयति—

जस्य ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चैव ॥
काले तीदमि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥

भूत्वा भूत्वा मृत्ते यन्न जीवो संपन्नमंतशः ॥

अणुमात्रोऽपि नो दंशो विद्यते स जगत्पथे ॥ १८१६ ॥

विजयोदय—जस्य ण जादो ण मदो हवेज्ज यन्न क्षेत्रं जालो सुतो वा न भवेज्जीवः । अणतसो चैव अणंतं पारम् । काले तीदमि इमो अत्थि कालेऽयं । न सो पदेसो अगे अत्थि नासो प्रदेसो जगति णित्ते । अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनमेव ध्वंशः—अगति जघन्यप्रदेशगरीरो लोकस्याष्टमप्यप्रदेशान् स्वगरीरमध्यप्रदेशान् ऊत्तोरप्य, शुद्धमवप्रदृणं जीवित्वा मृतः, स एव पुनर्लोकैवावगच्छेत् द्विकरणतया त्रिलतुरितं पञ्च यावतोऽगुलस्यासंख्येयप्रागग्रमिताकाशपेदेशास्तावच्छ्रुत्वा तेनैव अनित्य पुनरैकप्रदेशाधिकभाविन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपपद्य जीवो भवति यावत्साधत् क्षेत्रपरिवर्तनं ॥

उक्तं च—

सर्वमि लोकास्त्रिंशो कमसो तं णत्थि जम्म उप्पणं ॥
ओगाहणा य बहुसो गरिमिदो खित्तसंसारे ॥ १७७६ ॥

क्षेत्रसंसारमाह—

मूलार—जग लोकाकाशे । प्राग्वत्संक्षेपेनैवमुक्तम् । विस्तारवत्त्वेन क्षेत्रपरिवर्तनमाहुः—

मूक्षमनिगतजोबोउपर्याप्तकःसर्वज्ञपद्मप्रदेशसरीरो लोफव्याप्तमज्जप्रदेशान्तरसरीरसम्प्रदेशान्कृत्योत्पन्नःक्षुद्रमव-
प्रहणं जीवित्वा भूतः । स एव पुनस्तत्क्षेत्राभागेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रितया चतुरिति । एवं यावद्विभुलस्यसंख्येयभागप्रसिद्धा-
चाश्रप्रदेशावाङ्मयत्वमथैव खनित्वा भूतः । पुनरैकैकप्रदेशाधिकभागेन सषल्लोक आत्मनो जन्मक्षेत्रावाचमुपनीतो भवति
राजतज्जक्षेत्रपरिवर्तनम् ॥ उक्तं च—

सत्यग्निम लोगतत्ते कमसो रं जतिव जत्य न वृत्पण्यो ॥

ओगाहणेण चहुसो परिभमिदो क्षेत्रसंसारे ॥

क्षेत्रसंसारका निरूपण करते हैं—

अर्थ—यह जीव अतीतकालमें लोकके जिस प्रदेशमें अनंतवार जन्म लेकर मृत्युप्राप्त नहीं हुआ है ऐसा प्रदेशही न मिलेगा. अर्थात् लोकाकाशमें—प्रैलोक्ष्यमे सर्वत्र सर्व जीव अनंतवार जन्ममरण कर चुके हैं. यह क्षेत्र-परिवर्तनका स्वरूप है. अन्य आचार्य इस परिवर्तनका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं—

सर्वे अपन्य प्रदेशयुक्त सरीरका धारक, अपर्याप्तक यक्ष्मनिगोदी जीव, जगतके आठ माध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ. क्षुद्रमय ग्रहणसे जीकर सत्त्ववश हुआ अर्थात् आसके अठरावा हिस्सा प्र-
माण आद्य समाप्त होनेके अनंतर मर गया. पुनः उसी अवगाहनसे दूसरीवार तिसरीवार, चौथीवार उत्पन्न हुआ
इस प्रकार अंशुलासंख्यात भागसे नाये गये लोकके असंख्यात भागमें वित्ती प्रदेशसंख्या है उतनीवार उस
जीवनं वही जन्ममरण किया. तदनंतर एक एक प्रदेश अधिक आगे बढ़कर उसने सर्व लोक अपना जन्मक्षेत्र बना
लिया इसको एकक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं. ऐसे क्षेत्र परिवर्तन इस जीवके अनंतो होगये हैं. आगममें इस विषयमें दे-
सा कहा गया है—इस समस्त लोकक्षेत्रमें क्रमसे यह जीव जहां उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा क्षेत्रही नहीं है. यह जी-
व इस जगत्में इस अवगाहनसे बहुवार परिवर्तन कर चुका है.

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तत्कालतदाकालसमयसु जीवो अप्रतसो चैव ॥

जादो मदी य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥

ये कल्पानामनंतानां समयाः सन्ति भो यत्ने ! ॥

जातो मृतः समस्तेषु क्षरीरी तेष्वनेकशः ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—तथाहृतकालसमयेषु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसंश्रितयोः कालयोर्ध्वं समयास्तेषु । जीवो अणंत-
सो चेय जीतोऽ अनंतपारम् । जादो मदो य सन्धेसु जातो मृतश्च सन्धेसु समेषु । इमो तीर्द्धिम कालंभि अयमतीति काले ॥
इयमस्या गाथायाः प्रत्यक्षस्याख्या-उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिन्जीवः स्वाधुपः परिसमाप्तौ मृतः स एव पुनर्द्विती-
याया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वाधुपः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः ।
एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथावसर्पिणी । एवं जन्मानन्तर्यमुक्तं । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव प्राणोर्ध्वं
तावत्कालपरिवर्तनं ।

उक्तं च—

उद्यसर्पिणिअवसर्पिणिसमयावल्लिगासु निरवसेसासु ॥

जादो मदो य चहुसो भमणेण दु कालसंसार ॥ १७७८ ॥

कालसंसारमाह—

मूढारा—तव कालवृद्धा कालसमयेषु उत्सर्पिण्यवसर्पिण्याः समयेषु । अत्रापि प्रपेतेत्येव व्याख्या—

उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिन्जीवः स्वाधुपः परिसमाप्तौ मृतः । स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या
द्वितीयसमये जातः स्वाधुपः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातो मृतश्च स्वाधुपः क्षयात् । एवमनेन
क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता । तथा अवसर्पिणी च । एवं जन्मानन्तर्यमुक्तम् । तथैव मरणमपि प्राणम् । एतावत्कालपरि-
वर्तनम् । उक्तं च—

उद्यसर्पिणिअवसर्पिणिसमयावल्लिगासु निरवसेसासु ॥

जादो मदो य चहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥

कालपरिवर्तनमा स्वरूपं कहेतुं है—

अर्थ—यह जीव अतीत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयोंमें अनंतवार उत्पन्न हुआ है और मृत्युवश
हुआ है, ऐसा कालपरिवर्तनका संशेय है, इसका विस्तार इस प्रकार है—
पहिले उत्सर्पिणीके समयमें कोई जीव उत्पन्न हुआ अपुण्यक्षय होनेपर उसने मरण किया, वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी

के दुमरे समयमें उरपस हुआ. आपुण्य ममाप्य दोनेपर फिर मरा. वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ. इस प्रकार इस जीवने क्रमसे उत्सर्पिणी काल समाप्त किया. इसी प्रकार बन्मसे उसने अवसर्पिणी कालमी पूरा किया. मरणकी निरंतरता अनन्तरी निरन्तराके समान समझनी चाहिये. इतना यह स्वरूप कालपरि-पर्वेनका है ऐसा समझना चाहिये. आसममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी संपूर्ण समय पंक्तिओंमें कालसंसारमें भ्रमण करता हुआ अनंतनार भ्रमण कर चुका है.

सर्ववृत्तन्तारं निरुण्णयुत्तरमाथा—

अष्टपदेने मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ॥

तत्तैपि व अद्धरणं उब्बत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७९ ॥

प्रवेद्याष्टकमत्तयस्य जेपेयु कुरुते मवी ॥

उद्धर्त्तनपरायवै संतमाप्पिव्व तंदुलाः ॥ १८१८

पिउपोदथा—अष्टपदेसे मुत्तूण अष्टी प्रवेदान्कयकाकारान् मुक्कया । इमो अयं जीवः । सेसेसु सगपदेसेसु जेपेयु स्वजदेयेसु जेपेयु । संसारमागामनः । शेवनेसादयेनोच्यते ॥

अष्टपदेसावधणत्तेजससरक्कुरुषं शेवत्तसारत्तमकस्संदनसंसारमाह—

मूलारा—अष्टपदेसे अष्टी प्रवेदान्कयकाकारान् । तर्त्तपिअसहणं वत्तमिवविभ्रवणम् । वत्तजळमव्यरिधत्तंदुल-

वत्तित्थम् । तवत्तजणपरत्तणं उद्धर्त्तनपरायवेने । उक्तं च—

प्रवेदान्कमयत्तय जेपेयु कुरुते मवी ॥

उद्धर्त्तनपरायवै त्तास्वप्पिव्व तंदुलाः ॥

स्यंदन संसारका वर्णन—

अर्थ—रुचकाकार आठ प्रदेश छोटकर चाक्री के सर्व आत्म प्रदेश हमेशा चंचल रहते हैं और जैसे अग्नी-मे गरम जलमें डाले हुए चावल हमेशा उपर नीचे होते हैं वैसे इस संसारी जीवके आठ मध्यप्रदेश छोटकर चाक्री-के प्रदेश हमेशा ऊपर नचि हमेशा घूमते हैं.

लोगागासपणसा असंख्यगुणिदा हवन्ति जात्रदिया ॥
तात्रदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥
असंख्यलोकमानेषु परिणामेषु वर्तते ॥
शरीरी भवत्तंसारे कर्मभूषवधीकृतः ॥ १८७९ ॥
अन्या मध्यमा वर्या निविष्टाः स्थितयोऽस्त्रिधाः ॥
अस्मिन्तन्तशः काले भवभ्रमणकारिणा ॥ १८५० ॥

विजयोदया—लोगागासपणसा लोकसाक्षात्स्य प्रवेशाः । असंगुणिदा असंख्यगुणिताः । इवन्ति आवदिया
पादभो भवन्ति । तत्रदियाणि हु अज्झवसाणाणि तावदस्यवसायस्थानानि भवन्ति । इमस्स जीवस्स अस्य जीवस्य ।
जीपस्य मतस्यगतलोकमण्येभ्यः भवसायसंसितेषु योगेषु परावृत्तिर्भावसंसारः ॥

असंख्यलोकमण्यवसानरथानामिधानभावपरिवर्तनकथनं भावसंसारसाह—

मूढारा—१७८० ॥

अर्थ—लोकसाक्षात्के प्रदशांको असंख्यातसे गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न होगी जीवके उत्तरे
अप्यवसायस्थान होते हैं, अर्थात् असंख्यात लोकपरिमाण जिसके कृपायाध्यवसायस्थान, स्थिति बंधाध्यवसायस्थान,
योग और अनुभावाध्यवसायस्थान होते हैं.

अज्झवसाणट्ठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु ॥
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥
परिणामांतरेण्वंगी सर्वदा परिवर्तते ॥

वर्णेषु चित्ररूपेषु कूकलास इव स्फुटम् ॥ १८५१ ॥

विजयोदया—अज्झवसायस्थानंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु अज्झवसायस्थानंतराणि जीवः परिणमत्ययं ।
निच्चं पि नियमपि, २. या सरडो णाणाविहे वण्णे यथा मोक्षा नानाविधान्यवर्णानुपपत्ते । एवं संसारः ॥
अपरापरपरिणामपरिणममावतलमालनो ह्यष्टान्तेन स्पष्टयति—
मूढारा—विकुब्बदि विक्रोटति परिणमसीत्यर्थः । पथलासरडो कूकलासः ॥ उक्तं च—

भावस्थानान्तरागम्येवं देहबन्धस्य प्रपञ्चते ॥
कच्छेदुमो यथा नित्यं वर्णान्स्वीकुरुते बहूय ॥

भावपरिवर्तनप्रवृत्त्यवयवम्—

पदेन्द्रियः संशयि प्रयोगो मो मिथ्यादृष्टिः कञ्चित्तीयः सर्वज्ञानयो स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्त्रः कोटीकोटि-
संज्ञिकमापन्नते । तस्य कणायाम्यवसायस्थानान्यसंश्लेषलोकप्रभित्वानि यदुस्थानप्रभित्वानि तस्मिन्निचोपगम्यानि भवन्ति । तत्र
सर्वज्ञानयस्य कणायाम्यवसायस्थानानि मिथ्यात्वानुभावाप्यवसायस्थानान्यसंश्लेषलोकप्रभित्वानि भवन्ति । एवं सर्वज्ञान्यां स्थितिं,
सर्वज्ञानयं च कणायाम्यवसायस्थानं, सर्वज्ञानयमेवातुमागम्यवस्थानं आरम्भवत्त्वस्योभयं सर्वज्ञानयनेकं योगस्थानं भवति ।
हेतुमेव स्थितिरुपयानुभावास्थानानां द्वितीयधर्मेण समागच्छितुं योगस्थानं भवति । एवं तृतीयाविषु षण्णारथानपत्ति-
कानि तानि शेषसंश्लेषभारगममित्यानि भवन्ति । तथा सोमेव स्थितिं, तदेव कणायाम्यवसायस्थानं च त्रिषुपयमानस्य द्वितीय-
मातुभावाप्यवसायस्थानं भवति । तस्य च योगप्रधानानि पूर्ववद्देवितव्यानि । एवं तृतीयाविषु अनुभावाप्यवसायस्थानेषु आ-
जसंश्लेषलोकप्रभित्वानि भवन्ति । एवं सोमेव स्थितिमापयमानस्य द्वितीयं कणायाम्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभावाप्यवसा-
यस्थानानि पूर्ववद्देवितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि कणायाम्यवसायस्थानेषु शेषसंश्लेषलोकप्रभित्वमपिर्बुद्धिन्मो भवेदितव्यः ।
अत्रापि ज्ञानयाम्याः स्थितेः समयाधिकार्याः कणायारिथानानि पूर्ववदेव । एवं समयाधिकार्येण ॥। वत्कुरुद्विधेतेर्द्विधेतेर्द्वि-
गदोपमकोटीकोटीपदिमितायाः कणायारिथानानि पूर्ववदेव येदितव्यानि ॥ एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृती-
नां च परिवर्तनकर्मो येदितव्यः । तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनं । उक्तं च—

सन्ध्या पयदिदिशिबो अणुभागपदेसर्वभटाणाणि ॥

मिच्छत्तत्संक्षेपेण य अभिदा पुन भावसंसारं ॥

इमं प्रकार इमं जीविका भावपरिवर्तनरूप संसारका स्वरूप है.

अर्थ—जैसे सरद नामका प्राणी हमेशा अपने रंग बदलता है वैसे इस संसारी जीविके उपयुक्त परिणामों में हमेशा तरतम भाव होता ही रहता है. इस प्रकार पाँच प्रकारके संसारोका स्वरूप आचार्यने दिखाया है.

तस्य यन्मुपवर्धयति ॥

आगातस्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ॥

हिंसन्ति एकमेकं सञ्चत्य मयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥

आकाशे पक्षिणोऽन्योन्यं स्थले स्थलविवारिणः ॥

जले मीनाश्च हिंसन्ति सर्वत्रापि मयं मेव ॥ १८५२ ॥

पित्रयोवृषा—आगातस्मि वि पक्खी आकाशे संचरन्ते पक्षीयपक्षिणो विवाधन्ते । जलेवि मच्छा जलेवि मत्स्याः ।
महेवि थलचारी भूमायपि भूमिचरिणः । हिंसन्ति पातते । एकमेकं अन्योन्यं । सञ्चत्य मयं खु संसारे सर्वत्र मयं संसारे ॥
एवं पंचप्रकारं संसारं निरूप्य तदवस्थायादीन्पंचदशमायाभिहितयति—

मृत्पात—एकमेकं अन्योन्यम् ॥

अथ संसारं मयं दिशते है—

अर्थ—आकाशमें विहार करनेवाले छोटे २ पक्षियोंको बूखे भूर पक्षी पीटा देते हैं. अर्थात् उनको मारते हैं-त्वा जाते हैं. पानीमें बड़े मत्स्य छोटे मत्स्यको निपट जाते हैं. और भूतलपरमी हिंसप्राणी परस्परको मारते हैं अतः इस जगत्में सर्वत्र मयही मय है.

सप्तत वाहपरद्धो विलिचि णारुण अजगरस्स मुहं ॥

सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥

दायालोर्मुखमभ्येत्य व्याधारन्धो यथा शत्राः ॥

भन्वानो चिवरं दीनः प्रयाति यममंदिरम् ॥ १८५३ ॥

वित्तयोवृषा—सप्तगो वाहपरद्धो शत्रो व्याधेनोपद्रुतः, विलिचिणारुण अजगरस्स मुहं विलमिति ज्ञात्वा
अजगरस्स मुहं । सरणत्ति मण्णमाणो शरणमिति मन्यमानः । मच्चुस्स मुहं जह अदीदि मृत्योर्मुखं यथा प्रथियति ॥

मृत्पात—वाहपरद्धो व्याधेनोपद्रुतः । विलिचि विलमिति । सरणत्ति शरणमिति ।

अपे—पारपीसे पीडित हुआ सरणोशु अजगत्के सुखको विल समझकर उसमें प्रवेश करता है- इस विलमें
मैं रह संस्था इस अभिप्रायमें उसमें धुमना है. परंतु वहां वह सुखके वश होता है वैसे—

तद्व अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुद्धादिबाहेहिं ॥

अविगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥ १७८४ ॥

क्षुत्तृष्णादिमहाव्याघमारब्धश्चेतनस्तथा ॥

अजो दुःखकरं याति संसारमुज्जगाननम् ॥ १८०४ ॥

चिजयोव्या—तद्व अण्णाणी जीवा तथा अण्णानि जीवाः । परिद्धमाणच्छुद्धादियोहेहि अनुभाष्यमानाः शु द्धशिषिष्यभिः व्यापैद्य । अदिगच्छंति प्रविशन्ति । महादुहहेदुं महतो दुःखस्य निमित्तं । संसारसप्पमुहं संसारसर्पमुञ्जं ॥

मूढारा—अविगच्छंति प्रविशन्ति ॥

अयं—ये अत्र संसारी जीव शुधा,रुपा रूप व्याप्येति और व्याप्येति पीडित होकर महादुःखदायक संसा-
ररूपी सर्पके मुहमें प्रवेश करते हैं ।

आवदिथाइं सुहाइं हवंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ॥

ताइंपि बहुविथाइं अणंतसुत्तो इमो पत्तो ॥ १७८५ ॥

याचन्ति सन्ति सौख्यानि ठोके सर्वोसु योनिषु ॥

प्राप्तानि तानि सर्वाणि बहुवारं शरीरिणा ॥ १८५५ ॥

चिजयोव्या—आवदिथाइं प्राप्तंति । सुहाइं हंति लोगम्मि सुपावि भवंति ठोके । सव्वजोणीसु सर्वोसु योनिषु । ताइंपि बहुविथाइं तान्यपि बहुविधाणि । अणंतसुत्तो इमो पत्तो अंतंतवारमयं जीवः प्राप्तः ॥

मूढारा—स्पष्टम् ।

अयं—सर्व योनिओंमें जितने नानाप्रकारके सुख हैं वे भी हम जीवको अंतंतवार प्राप्त हो गये हैं ।

दुक्खं अणंतसुत्तो पावेसु सुहंपि पावदि कहिं वि ॥

तद्व वि य अणंत सुत्तो सव्वाणि सुहाणि पच्चाणि ॥ १७८६ ॥

अवाप्पानत्ततो दुःखमेकसो लभते यदि ॥

सुखं तथापि सर्वाणि तानि लब्धान्यनेकशः ॥ १८५६ ॥

विजयोदया—दुष्यं यणतबुद्धो भवेत्तु सुहृदि पवति कहिंनि दुःखमपि अन्तवारं प्राप्य सुखमपि प्राप्तोति कथंचित् । तथापि य अन्तर्बुद्धो तत्प्राप्तवन्तवारं सख्यणि सुग्राणि पत्तणि सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि ॥ गणधृतां चक्र-
वर्तिनां पंचानुत्तरदिमानशक्तिनां लोकांतिमानमहाविद्याणां च सुग्राणि सुख्या ॥

मूढारा—सन्नाणि गणधृता, चक्रवर्तिनां, अनुदिशानुतरविमानवासिनां, लोकांतिमादीनां च सुखानि सुख्या ॥

अर्थ—इस संसारमें गणधर, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, पंचानुत्तर निमानवासि देव, और लोकां-
तिक देव इतने सुखी हैं इन जीवोंको प्राप्ति नहीं हुई है. वाक्यके मंगल सुखोंके प्रभार इन जीवोंको अनन्तवार प्राप्त
हुये हैं.

करणेहिं होदि बिगलो बहुसो वचिचिचसोदणिचेहिं ॥

घाणेण य जिम्भाए चिद्वावलविरियजोगेहिं ॥ १७८७ ॥

स चतुर्भिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकनाक्षेण वलितः ॥

संसारसागरेऽनंतं जायतेऽनन्तशोऽसुमान् ॥ १८५७ ॥

विजयोदया—करणेहिं होदि बिगलो विकलैर्द्रियः क्वचिद्रवति । बहुसो बहुशः । वचिचिचसोदणिचेहिं मनसा
यकत्वा शोत्रेण नेत्रेण करेण हीनः । स्पृशेभिर्द्रियैरुत्पत्त्यस्तम्भवात् सदुत्पत्त्यासः ॥ योमेव य प्राप्तेन च । जिम्भाए ।
जिह्वाया चेद्वलविरियजोगेहिं केष्टया वलेन धीर्ये ५ च ॥

मूढारा—करणेहिं विचारिभिः कश्चिकलः स्यात् । स्पृशेर्द्रियस्य वैकल्यादभवादनुपन्वाचः ॥

अर्थ—यह जीव अनेकवार विकलैर्द्रिय हुआ है. कभी नेत्र रहित, कभी कान रहित हुआ था. कभी
असंज्ञी मन रहित और वचन रहित हुआ था. कभी इसको नाककी प्राप्ति नहीं हुई और कभी इसको शक्ति, बलः
पराक्रम इससे रहित होना पड़ा था. ऐसी अनेक दुरवस्थायें इस जीवकी अनन्त बार हुई हैं.

जन्वंधवहिंस्रमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ॥

भमइ सुचिंरपि जीवो जम्मवणे णट्टसिद्धिपट्टो ॥ १७८८ ॥

विषयधुर्धपितो मूको वामनः पामनः कुणिः ॥
 दुर्वर्णो दुःस्वरो मूर्खश्चन्द्रश्चिष्टिनासिकः ॥ १८५८ ॥
 न्यायितो न्ययनी शोकी मत्सरी पिशुनः शठः ॥
 दुर्भगो गुणविद्वेषी वंचको जायते भवे ॥ १८५९ ॥
 क्षुधितस्तृपितः श्रोत्रो दुःखमारवशीकृतः ॥

पृकाफी दुर्गमि दीनो विडते भवकानने ॥ १८६० ॥

य एतागी ममदि मलहायो यथा धने भवति । तथा सुचिरं विचिराद्यमपि । जादो सुदा पीडितः । विसिद्धो दयामिमूलः । यणे यदो न एतिदिमताः ॥ उक्तं च—कलुषचरितैर्मलानरसुसंचितकर्मभिः । करणविकलः कर्मोद्धतो भवान्यवपाततः । गुणिरसवशो दुःगामोऽने निर्मलितसौख्यो । भवति कृणो नष्टगणः शुभेतरकर्मफल ॥ अयणविकलौ पागधीनौऽसौ यथा-गुणमोयनः । दृष्टितमलिनो मलौऽदृष्ट्यां चोदयहावकः । मलहादलकृत् गुणहन्मुंखापारदेहाः । भवति सुचिरं जन्मादहर्षां तपायमेवताकः ॥ इति ॥

मल्लारा—जादो क्षुधितः । एतागी लसहायः ॥
 अर्थ—कभी यह जीव जन्मसेही अंधा, बहिरा, गूंगा होकर जन्मा था. अनंतवार भूल और व्याससे पी-

डित हुआ था. जैसा कोई मार्गभ्रष्ट जीव जंगलमें अकेलाही भ्रमण करता है वैसे यह संसारी जीव मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर गंगारयनमें सहायके बिना भ्रमण करता है. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—यह अज्ञजीव हिंसादिक पापोंमें कर्ममंचय करके भ्रमण करता है. कभी कभी यह जीव मंपूर्ण इंद्रियोस पूर्ण नहीं होता है अर्थात् नेत्रादिक इंद्रि-यके अभावमें यह अंधा, बहिरा, गूंगा वगैरे अवस्थाको प्राप्त होता है. इस संसारमें अशरण, दुःखपीडित और दीन होकर अशुभ कार्य करके भ्रमण करता है. जेम्मे बहिरा, मूक, अंध, अज्ञ ऐसा प्राणी वनमें भूल और व्याससे पीडित होकर गदाधरद्वित अशरण दीन होकर एकाकी भ्रमण करता है वैसे यह जीवसी ब्रत, स्थावर जीवोंके देह छो अरण करता है, कभी लोडता है. इस तरह विरक्तालसे जन्मवनमें भ्रमण कर रहा है.

एइंदियेसु पंचविधेषु वि उत्थाणवीरियविहूणो ॥
 भमदि अणंतं कालं दुःखसहस्साणि पावैतो ॥ १७८९ ॥

एकैत्रिंशेष्वयं जीवः पंचस्वपि निरंतरम् ॥

उत्थानवीर्यरहितो दीनो बंप्रमते चिरम् ॥ १८६१ ॥

विजयोदया—पगिदिवेसु पंचविधेषु चि एकैत्रिंशेऽपि पंच प्रकारेष्वपि । पृच्छपक्षेऽप्युवनस्पतिसारीरध्या-
रिपु । उत्थापनीरियचिदीनो पृथिव्यादिकायां पृथिव्यात् त्रसकायमातिनिमित्तोत्थानवीर्यरहितः । भ्रमदि अणंत
काले भ्रमति अंतर्काले । दुःपयसहृदसापि पावैतो दुःखसहृदसापि मान्दुवन ॥

मूढारा—उत्थापनीरियचिदीनो पृथिव्यादिकावत्यागेन त्रसकायमात्रे यदुल्लानवीर्यसुखयमकिततद्रहितः ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावरकायिक जीव हैं इनमें अपना पर्याय
रपाग कर प्रत्येक मानव कर्तव्य की शक्ति नहीं रहती है. इसलिये अंतर्कालतक ह्वागो दुःख सहन करते हुये ये जीव
इसही पर्यायमें भ्रमण करते हैं.

चतुद्विंशत्प्राण संसारणवीर्य पावकलुसाए ॥

भ्रमद् वरागो जीवो अण्णाणनिमीलितो सुचिरं ॥ १७९० ॥

विज्रदुःखमहावर्तमिमां संसृतिवादिनीम् ॥

अज्ञानमिलितो जीवो गाहते पापपाथसम् ॥ १८४२ ॥

विजयोदया—चतुद्विंशत्प्राण यद्दुःखमहावर्ताणां । संसारणवीर्य संसृतिनां । पावकलुसाए पापकलंकसहि-
तायां । वरागो जीवो भ्रमति । सुचिरं अण्णाणनिमीलितो अज्ञानेन निमीलितः ॥

मूढारा—१७८९ ॥

अर्थ—अनेक दुःखरूपी मोक्षे त्रिसर्ग हैं, पापरूपी मलिन पानीते जो युक्त है ऐसी इस संसारनदीमें यह
दीन जीव अज्ञानसे वेसुष होकर भ्रमण करता है-

विसयामिसारागढं कुजोणिणमिं सुहृदुक्खदढवीलं ॥

अण्णाणतुंवघरिदं कसायदढपट्टयाबंधं ॥ १७९१ ॥

इन्द्रियार्थाभिलाषारं चंचलं योनिनेमिकं

मिथ्याज्ञानमहातुल्यं दुःस्वकीलकयंत्रितम् ॥ १८६३ ॥

विजयोदया—विसर्गमिसाराणां विषयाभिलाषारैर्गठं स्तब्धं । कुञ्जोपैत्येति सुहृदुपखट्वलीलं कुत्सित
योनिनेमिकं । सुखदुःखदृष्टीनि । अण्णान्तेवधरिदे अज्ञानंतुल्यधारितं । कसापदृष्टद्विधावदं कयायदं पट्टिकाबंधं ॥

मूढारः—विसर्गमिसाराणां विषयाभिलाषारैरेव स्तब्धं निविष्टं वा ।

अर्थ—यह संसारचक्र विषयामिलाषारूपी आरोसे गा। अर्थात् मजबुत है। कुयोमिरूपी नेमिसे युक्त है अ-
र्थात् नरकादि दुर्गतिकरूप नेमिसे-पृथीसे यह संसारचक्र युक्त है। सुखदुःखरूपी कीलसे यह युक्त है तथा इसमें अ-
ज्ञानमायारूपी तुंवा है। कयायदी इय संसारचक्रपर लोहकी पट्टी है।

बहुजन्मसहस्राविसालवत्तर्णि मोहवेगमहिचवलं ॥

संसारचक्रमाकृष्य भ्रमदि जीवो जणप्पवसो ॥ १७९२ ॥

कयायपट्टिकायदं जराभरणयत्तनम् ॥

संसारचक्रमाकृष्य चिरं भ्राम्यति चेतनः ॥ १८६४ ॥

विजयोदया—बहुजन्मसहस्राविसालवत्तर्णि भ्रमेकजन्मसहस्राविसालमार्गं । मोहवेगं मोहवेतं । संसारचक्रमाक-
ृष्य पंचभूतं संसारचक्रमादृष्ट । अण्णवसो जीवो भ्रमदि भ्रमन्तस्त्वयो जीवो भ्रमति ॥

मूढारः—विसालवत्तर्णि विपुलमार्गं ॥

अर्थ—जनेक जन्मरूपी विशाल मार्गपर यह संसारचक्र भ्रमण करता है। मोहरूपी वेगसे यह चक्र अतिशय
चंचल दीखता है। ऐसे संसाररूपी चक्रपर आरोहण कर यह जीव परबल होकर भ्रमण करता है।

भारं णरो वहंतो क्वंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ॥

देहभरवाहिणो पुण ण ल्हंति खणं पि विस्समिंदुं ॥ १७९३ ॥

यहमानो नरो भारं कापि विआभ्यति पुचम् ॥

न देहभारमादाय विआभ्यति कदाचन ॥ १८६५ ॥

विजयोद्या—मारं धरो यदंगो भारं बहधराः कद्वेचि मारमोहयि कस्मिन्निदेशे काले च मारमवतार्य । विस्स-
मदि विश्राम्यति । देहधारयादिनो पुण देहधारोदाहिनो जीवाः पुनः । न लयंति खणं पि विस्समिदुं न लभंते क्षणमपि
विधानं क्त्तु । औदारिकवैकिस्मिच्चोर्विन्त्योरपि कामार्णवजस्योरयस्मानात् ॥

मूढारा- कदि पि देसे काले च । ओरुद्धिब अवतार्य । गोदस्यादि औदारिकवैकिस्मिच्चोर्विन्त्योरपि कामार्ण-
वजस्योरयस्मानात् ॥

अर्थ—बोझा उठानेवास्ता मनुष्य किसी स्थानमें कुछ कालतक बोझा अपने मस्तकपरसे उतार कर विश्रां-
ति लेता है. परंतु देहका भार बहनेवाला यह संसारी जीव एक क्षणमात्रभी देहभारको उतार कर विश्रांति नहीं
ले सकता है. यद्यपि औदारिक और वैकिस्मिक शरीर इस जीवके कुछ कालतक अर्थात् एकसे तीन सप्पतक नहीं
रहते हैं बोझी कामेण और कैजस शरीर इस जीवके साथ सतत रहते हैं इसलिये इसको सदाही विश्रान्तिका अभाव है.

कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहंधयारगाहणम्मि ॥

अंधोध दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥ १७९४ ॥

यंअमीति चिरं जीवो मोहांपतमसाधृतः ॥

संसारं दुःखितस्थान्तो विचक्षुरिव कान्ते ॥ १८६६ ॥

पिजयोद्या—कम्माणुभावदुहिदो असदेयादिपापकर्मभावात्स्थजित्तुःखा । एवमुक्तं क्रमेण । संसार
कंतारे भमदि संसारकंतारे भमति । कीदृशो मोहंधयारयद्वले मोहांपकारयद्वले । अंधो य दुग्गमग्गे संय इव दुर्गमार्गे ॥

मूलाश—कम्माणुभाव असदेयादि पापकर्मभावात्स्थम् ॥

अर्थ—अज्ञानादेवदनीयादि पापकर्मके प्रभावसे दुःखित होकर यह जीव एवोक्त क्रमसे संसारचक्रमें अग्रण
करता है. यह संसारचक्र मोहरूपी अधकारसे व्याप्त होनेसे अंधा मनुष्य जैसे खराब रास्तेमें जाता हुआ दुःख पाता
है संसारी मनुष्यभी इसमें दुःखी होता है.

दुक्खस्स पटिगरेतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ॥

पाणवधादीदोसे कवेइ मोहेण संछण्णो ॥ १७९५ ॥

भूतिः करोति दुःखेभ्यः सुखसंगमलाढसः ॥

अज्ञानतमसा छन्नो हिंसारंभादिपातकम् ॥ १८६७ ॥

विलयोदया—दुःखरसस पङ्क्तिगतो दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । सुखमिच्छतो य इन्द्रियसुखमभिलषन् । इमो जीवो अयं जीनः॥ पाण्यधात्रीनोस्ते हिंसादिदोषान् । करोति मोहेन संछण्णो करोति मोहेन संछयः । एतदुक्तं भवति—दुःख-भीमर्नरो विशेषदुःखालापनस्यापायं न वेत्ति ॥ दुःखमिराकरणार्थं हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुख-लंपटोऽपि तेभ्यः हिंसादिषु दुःखलंपटुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥

मूढारा—दुःखरायेत्यादि दुःखभीरुरपि नैव निःशेषदुःखापायोपायं वेत्ति । दुःखमिराकरणार्थं हिंसारोन्प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलंपटोऽपि तेभ्यः हिंसादिषु दुःखलंपटुषु वर्तते । ततोऽस्य सकलोपि व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति भावः ॥

अर्थ—यह जीव दुःखका नाश करनेकी इच्छा रखता है और सुखको चाहता है. परंतु मोहवश होकर हिंसादिक दीपाँकी करता है. वास्तव्य यह है कि संसारी जीव दुःखसे दूरता है परंतु दुःखके नाशका उपाय यह नहीं जानता है. दुःखका मिराकरण करनेकी इच्छा है परंतु दुःखोंके धारणोकाही आशय करता है. इन्द्रियसुखमें लंपट हो-कर हिंसादि दुःखोंके कारणमें प्रवृत्त होता है. इस वास्ते इसकी सब प्रशुति दुःखकाही मूल है.

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं वंधदि तदो णंव जीवो ॥

अथ तेण पच्चह पुणो पविसिच्चु व अग्गिमग्गीदो ॥ १७१६ ॥

हिंसारंभादिदोषेण गृहीतनवकरुमपः ॥

मदछाते प्रविष्टोऽङ्गी पावकादिव पावकम् ॥ १८६८ ॥

अथ कर्मबंधानंतरं । तेण पचादि तेन बंधनेन कर्मणा पच्यते । पविसिच्चु प्रविश्येव । किं अग्निं अग्निं । अग्नीदो अग्नेः । अमोरागत्य जलं प्रविश्य यथा पाच्यते । एवं पूर्वं कर्मवियोगधितः पुनः प्रत्ययकर्मजननेन (निबन्धेन) दहते इति ॥

अर्थ—यह जीव प्राणिवधादिक अनेक दोषोंसे महातपि कर्मका नयीन बंध करता है. जब उस कर्मका

उदय आता है तब एक अग्निहि निकल कर दूसरे अग्निमें पढ़नेवाला जीव जैसे घोर दुःखका अनुभव करता है। ऐसा इस जीवको भगोदयसे दुःख होता है- अर्थात् पूर्वकर्म उदयमें आकर वह स्थिर हो जाता है और उसी समय नवीन कर्म भी बंध जाता है- अतएव दुःखका कारण जो पूर्व कर्म उसका नाश होते समय ही नवीन कर्म बंध जाता है- इसलिये वह भी कर्म उसके अनंतर उदयमें आता है इसलिये इस जीवको सतत दुःखही दुःख भोगना पड़ता है-

ग्रंथतो मुच्यंती एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो ॥

सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥ १७९७ ॥

गृहता मुंचता दारुणं कल्मषं सौख्यकांक्षेण जीवेन मूढात्मना ॥

अभ्यन्ते संसृता सर्वदा दुःखिना पावनं मुक्तिमार्गं ततोऽपश्यता ॥ १८९९ ॥

इति जन्मानुप्रेक्षा ॥

विजयोदया—ग्रंथतो मुच्यंती मुंचन्ती ग्रंथम् मुंचन् । एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो कर्म पुनः पुनर्जीव । दत्तफलाभि मुंचति, कर्मफलानुभयकालोपजातरागद्वेषपरिणामिरभिनयति । कर्मोणि यप्ताति । सुहकामो सुखाभिरुपयात् । बहुदुक्खं विचित्रं दुःखं । संसारमणादिगं भनदि मनोदिसंसारं धमति । संसारद्विता ॥

मूढात्—ग्रंथतो पूर्वकर्मफलानुभयकाले जाताभ्यां रागद्वेषाभ्यां अभिनयं यप्तात् । सुचो उपयुक्तफलं प्राक्तनं मुंचन् ॥ संसारानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—विम कर्मोति आत्माको फल मिल चुका है वे कर्म गल जाते हैं- परंतु पूर्व कर्मके फलोंका अनुभव लेते समय यह जीव रागद्वेषयुक्त होता है अतः उसको नवीन कर्म बंध जाता है- इस जीवके मनमें सुखकी तीव्र अभिलाषा है परंतु वह सुख उसके उपायका ज्ञान न होनेसे प्राप्त नहीं होता है- उल्टे उपायोंमें यष्ट होनेसे इसको नानादुःखोंसे परिपूर्ण ऐसा बनादि घोर संसारमें अग्रण करना पड़ता है-

लोकांनुप्रेक्षा निरूप्यते नामस्यापनाद्रव्यादिविद्वत्तेन । यच्चयनेककारो लोकस्तथापीह लोकसन्नेन जीवद्वयं लोकं पश्योच्यते । कथं ? स्वयेण जीवभयप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात् ॥

आहिङ्यगुप्तसस्त व इमस्तणीया तहि तहि होति ॥

सन्वे वि इमो पत्तो संवेधे सव्वत्तीवेहि ॥ १७९८ ॥

सर्वे सर्वेः समं प्राप्ताः संवंधा जंतुनानिभिः ॥

भवति अमनः कस्य तत्र तत्रास्य चांचवाः ॥ १८०० ॥

विजयोदया—आहिङ्यगुप्तसस्त व देशोत्तरं अमनः पुंस इय । इमस्त णीया तहि तहि होति अस्य संवेधस्त्वत्र तत्र भवति । मन्देवि इमो पत्तो खयिन्ने प्राप्ताः । संवेधे संवंधाव् । सव्वत्तीवेहि सर्वजीवेः सव्व ॥
धर्म्येवचत्ता ढोकं पंचरत्नापाजित्तुभेधत्ते । नामस्थापनाइव्यादिबिहत्तेन यद्यपि चलेकप्रकारो लोफस्त्वथपि इह लोचनशदेत लोचद्रव्यलोच पयोच्यते । सूत्रेण लोचपर्मप्रवृत्तिकमनिरूपणात् ।

मूलापा—आहिङ्य देशात्तरभ्रमणपरः ।

लोकातुमैधका पर्णेन गात्रार्थं करोते ई. नाम. स्थापना, इच्य वर्गरे विकल्पांसि लोकके अनेक भेद हैं तस्यापि यह लोच शब्दसे इव्यलोच ही प्राप्त है, क्योंकि जीवकं धर्म प्रवृत्तिजा क्रम यहां कहा गया है.

अर्थ—एकदेशसे दूसरे देशको जानेवाले पुरुषके समान इस जीवको सर्व जगमें घंघुलाय होता है अर्थात् सर्व जीवोंसे अनादिकालसे हमका संबंध होता चला आया है. असुक्त जीवके साथ इसका पिता पुत्र वर्गरह रूपसे संबंध नहीं हुआ था ऐसा कालही नहीं था अतः सर्व जीव इसके संबंधी है.

भाया वि होइ भज्जा भायत्तणं पुणमुवेदि ॥

इय तंसारे सन्वे परिघट्टेते हु संबंधी ॥ १७९९ ॥

माता सुता स्तुपा भार्या सुता कांता स्वसा स्तुपा ॥

पिता पुत्रो नृपो दासो जायतेऽनंततो भवे ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—माता व होइ भज्जा मातुं भायां भवति । मायां मातुं पुनर्गच्छति । एवं संसारे सर्वे संवंधाः परिप्लवते इति गायार्थः ॥

मन्त्र—सप्तम् ॥

अर्थ—इस लोकमें माताभी पत्नी होती है और पत्नी भी माता होती है- अर्थात् स्वीयसे खुद उसमें उत्पन्न होकर यह पतिरूपवीच उसका पुत्र बनता है इस प्रकार इस संसारमें सर्व संबंधोंका परिवर्तन होता रहता है-

जगणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाउ ॥

घणदेवरस य एकस्मि भवे संसारवासि ॥ १८०० ॥

वसंततिलका माता भगिनी कमला च ते ॥

एकत्र धनदेवस्य भार्या जाना भवे ततः ॥ १८०२

विचयोदया—जगणी वसंततिलया धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भायें आते धन-
देवस्य । तस्मिन्नेव भये मातातरेषु संयुधान्ध्यामाये किमस्ति यावत् ?

धनदेवदेवस्यैव समेतोऽपवाद । तु स ततो व्यपगमुष भलं च पापं । नानासारीरवहेषु कथं न दुःखं । मामोति
केन विपयान्तिपापकर्म ॥

उक्तं च-कुर्यात् तन्मद्वयजोद्धतदत्तेयम् । कष्टो विरुद्धकलपाविषयुधधारः । कुर्वन् दुःखमधिकं विपया
नारणां तस्मात्पजति विषयान् परिहृष्टत्वा । एवमयं कष्टो लोकधर्मः ॥

मूलात्—आसि भज्जाओ लाते है अवि मातृस्वसारी भायें । तस्मिन्नेव भवे, किं भयतरेषु संबंधान्यस्ते कथमित्यर्थः ॥

अर्थ—एकही भयमें धनदेव नामक मनुष्यके वसंततिलका माता और कमला नामक भगिनी दोनों पत्नी हुई थीं जिन एकही भयमें ऐसे विचित्र संबंध होते हैं तो भवांतर के संबंधोंमें कदाही क्या? आगममें इसवि-
षयमें ऐसा कहा है—एकही भयमें एक शरीर धारण करनेमें भी इस जीवको नाना प्रकारके अपवाद सहन करने पड़ते हैं-
उसमें उसको दुःख क्यों न होगा अर्थात् अपवादसे इस जीवको तीव्रदुःखानुभव होता है विषयोपभोग करनेसे पापकर्म-
का बंध होता है-एक शरीरके साथ जीवका संबंध होनेसे इसको इतना कष्ट होता है तो अनेक जन्मोंमें इसने आज तक
अनंत शरीर धारण कर छोड़ दिये हैं तो इन देहोंके जाग्रसे अपवादजनित दुःख और अनंत दुःखदायक कर्मोंका
संपर्क होनेमें कितना कष्ट हुआ होगा इसका विचार विचारी पुरुष मनमें कर सकते हैं-

अर्थ—एडे पंगमे दोहनेवाला उन्मत्त हाथी, मनुष्यकी उतनी हानि नहीं करता है-बलवान पुरुषके हाथमें रहनेवाला वीर्य धारता तदर्थ मी लोगोंकी उतनी हानि नहीं करेगा. परंतु विषयसुख मनुष्योंकी उनसे भी अत्यंत अधिक हानि करता है. अतिशय दुःख देता है. इसलिये तत्त्वदर्शी लोग ऐसे विषयोंका त्यागकर सुखी होते हैं. इसप्रकार ये तीरूपमें छटदायक है.

राया वि होइ दासो दासो रायचणं पुणमुवेदि ॥

इय संसारे परिवट्ठते ठाणाणि सज्जानि ॥ १८०१ ॥

संसारे जायते यास्मि न्ययोऽपि सल्लु किंकरः ॥

कीटयोऽपि क्रियते तत्र रत्तिर्नैवामिधानके ॥ १८७३ ॥

विज्ञयेदया—राया वि होइ दासो राजा दासो भवति, मीचैर्गोचरान्, दासो राजां पुनरुपैति उच्चैर्गोत्रं कर्मण उदयान् । एवं संसारे परिवर्तते सर्वोणि स्थानानि ॥

मूलार्थ—दासो नीचैर्गोत्रोदयान् ।

अर्थ—राजा भी जब उसको नीच गोत्रका उदय होता है तब भर्चावरमें दास होता है. और दासभी उच्च-गोत्र कर्मका उदय होनेसे भर्चावरमें राजा होता है. इस प्रकार इस संसारमें सर्व स्थानोंमें परिवर्तन होता है.

कुलरुचतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी

वच्चघरमि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मैहि ॥ १८०२ ॥

विदेहाधिपती राजा तेजोरूपकुलाधिकः ॥

जातो वच्चोगे कीटः सुभोगः पूर्वकर्मभिः ॥ १८७३ ॥

विज्ञयेदया—कुलरुचतेयभोगाधिको वि कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोपि । विदेहाधिपती राजा सुभोगतया ॥ अध्यात्म एव पुनस्त्यगतिं भगवा हीना भवति कुलरूपधनप्रतापः । सर्वविदीप्त मूलार्थ—वचकुट्टिमि विद्यागृहे । सुभोगो सुभोगस्यो राजा सन् ॥

अर्थ—कुल, रूप, तेज, और योगसे इतर जनोंमें श्रेष्ठ ऐसा विदेह देवका अधिपति सुयोग नामका राजाभी मरुतर पेत्रवानमें गृध्रमें फीटक हुआ. अपने भ्रिये हुए कर्मके वश होकर सुभग राजाकी ऐसी दुर्दशा हो गयी. इसलिये कहा गी है कि,—देव और मनुष्योंमें श्रवान, सर्व ऋद्धिकी प्राप्ति होनीसे जिनका शरीर तेजस्वी और सुंदर दीप्तता था, जिनका रूपगुण चंद्रके समान आल्हादभरक था, वे भी मनुष्य ग्रह होकर अन्यगतिकी प्राप्त होकर कुल रूप, मयाप हत्यादिकोसे हीन होगये हैं.

होऊण महद्दीठ देवो सुमवण्णगंधरूखधरो ॥

कुणिमम्मि वसदि गम्भे चिगल्लु संसारवासस्स ॥ १८०३ ॥

देवो महर्द्धिको भूत्वा पवित्रगुणविग्रहः ॥

गम्भे वसति यीमस्से धिक्संसारमसारकम् ॥ १८०३ ॥

विजयोक्ता—होऊण महद्दीठ देवो महर्द्धिको देवो भूया । सुमवण्णगंधरूखधरो प्रशस्तैर्जोगंधरूपावित् ॥ इदं चापतविंशुचराणा यद्वशम् गगने सदस्येव ॥ तस्य संभवति तद्वदीयं अग्नं वेद्यमनुविम्विसुक्तं ॥ १ ॥ यातपिक्कफ्फो परिमुक्त व्याधिभिर्दिगतबोधमतीर्य, अश्नुते परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽविकलसुखमकति ॥ २ ॥ संपतञ्च विमलशरवणस्पशंगधरयास्त्रितहासं । सद्विलासगतिचेष्टितलील से शरीरमयञ्ज लभते ॥ ३ ॥ गीतपादतित्तुत्तिनादेस्कांस्तदुध समुपेत्य सहयोगः । देवदेवयोगिता प्रणिषत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेतं ॥ ४ ॥ कुत्तपंकनसमैर्य हस्तैर्नैदिलैः प्रथरत्नशृङ्गानिर्णैः । चारुवद्वचसा नतिभोगं सिन्धुघटिपिहसिताः प्रतियुह्य ॥ ५ ॥ मुपासनमस्तकोपिष्टान् मृगपानमृगतानि गच्छन्तान् । अथ तानपि रक्षापथंति मुदितास्तेन सुराः सुवर्णकुंभैः ॥ ६ ॥ प्रविकाशय चक्रपंकजानि सुरतापार्कगुणांशुभिः सुराणां । कुत न सुचिरं त्वमाधिपत्यमिति तान्याग्निमरभिष्टुयति शेष ॥ अश्वाय नैवापयंति शिर ॥ स्वस्तैरेवेतमुकुटानि भूत्वा । विधूयिताश्चाधमरुत्तैरन्धैरेव द्वायांशुदकुण्डलाद्यैः ॥ ८ ॥ ज्योतिर्विपुणम् गगनप्रदेशान्, विमुञ्चिन्त्यन् अचिरादुत्तं च, रत्नार्चितान् हेममद्भाषिरोऽथ विशेषयंतोऽभ्यधिकं विनोति ९ दिग्बदीर्घवलविक्रमाशुभे दिव्यदीप्तवपुषो दिवो वरा । आसयंति विमलं वरार्कवद्वल्मीकस्यपुपः प्रशोकवत् ॥ १० ॥ दूरप्यतिगतिं छाद्यमात् मौर्यप्रकिरित्मया यवंति च ॥ अर्णवमदतिविशंति मेदिनीं पार्थिवान्च महतोऽपि रंघंते ॥ ११ ॥ क्वाष्टनग्निर्मेनिर्लं जलं महीं संमपिद्य च तनूः शरीरिणां । निर्विशेषगुणकाः सहासितु ते भयंति सुचिरं सुशक्तयः ॥ १२ ॥ पानकाचरमुत्तं धनावनीसागतांश्च सहसा निषत्य ते ॥ स्थानभीष्मिक्ततमं अमाहिना यांति नामातहताशरीरवत् ॥ १३ ॥ अतिशयेनैवर्धनं महाबाधवत् पातयेयुपि मदरत्नैः । मंवरप्रादिशिखरं चरतिर्यक्ते स्मरेषुष्टुपि यद्यभीप्सितं ॥ १४ ॥

ईशितुं मरुतृणामयानतः कर्तुं गतस्य वशान्मुखात् नपि । रूपमज्ञानमज्ञा समीप्सितं स्पर्शपुत्रपञ्चमलसि सप्ततद्वया ॥ १५ ॥
 भंग्योऽस्मात् स्वयमग्निर्मर्षेणैव धृष्टेः शुभकुरुमेव ॥ संतानाद्योर्विचिन्तमाणा नित्यान्ध्यानाः परिवहमानाः ॥ १६ ॥
 मान्यैर्गणैः सुप्तमनुष्टिता वस्त्राण्यतिविह्वल्यसि वसतानाः । रंज्यंते रतिनिपुणामिस्स्वाभिः सार्द्धं धरयन्तिताभिः ॥ १७ ॥
 तुल्येनैव जीवं गतिं विवेकगृह्यते परितप्तं, तत्र महद्विभुता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा विप्रमायुष पत्य ॥ १८ ॥
 प्राणभूतासिंह मत्पमलोके तीमतरादिकयावचतुर्गुणं । स्वात्सुरसंततयाः समकालः, तत्र प्रवर्ति हि कर्मवशेन ॥ १९ ॥
 अज्युतमानितजीवितदेवे, श्री चिरजीवितव्यति तस्याः । पत्यमितं वत् जीवितकालं तेन वियोगमितः सुट्टोक्तः ॥ २० ॥
 मृत्युकृते न विवित्य सुदुःखं भागि सुराः शरिभीतमनस्कान् तत्र मर्जितं मृगा इव वला व्याहृतमीमुपेत्य समीकाः ॥ २१ ॥
 गभेष्टतामपि ते कुर्यात्सर्पा संगोरचित्य पुनः ॥ मवाण्य । शोकमये विपुले परिगतिं चारुकोष इवाभ्युपयाते ॥ २२ ॥
 मृगपयाश्चमुनेरतिदुःखे किंमते येति मयं विविजानां, स्वादधिकं तदवाप्य सुखं तत् ॥ २३ ॥
 तानपि चाद्युपेत्य सुखनिष्ठा पश्यत सर्वैर्यूरिष कथा, चर्यवहकमितिह गतेषु कालदूरे न जहात्यहमिदं ॥ २४ ॥
 चण्डयत्नं धमनं चूडेतरेषु पशुदितैर्दिदसैर्द्वि यति । काप्यसुरेषु कथा यत् लोके हा समयो जननार्णववासः ॥ २५ ॥
 रोगजराविकलत्वविदीनासग्य दुमग्न मज्जमुज्जानां तत्सहितं प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राणमवश्यमगच्छयुक्तमाहे ॥ २६ ॥
 मान्यपशाश्वपसा विह्वल्यो देशमिवाण्यमुपद्रवयुक्तं । संप्रतिपत्स्य उग्रभयं ते शोकवशा यदुसोऽपि संवति ॥ २७ ॥
 यस्तुरतीक्ष्णमयाण्य विमानैः भूतदमो अगतोरपि यति । तत्परिवर्तितवर्ता कुशलानां केन सुरेषु भवेद्बहुमानं ॥ २८ ॥
 तेऽप्यधिना विधिना यदुक्तं न दूरातावपि ज्ञानत एव । तेन मयाप्यनुभूय पुरस्तादश्नुयते भयकुञ्जद्वयभवात् ॥ २९ ॥
 यास्तद्वत्ता घटप्रभम्युपपाति पूर्ववत् न भवं स उपैति प्राग्विदितारमवधं सुनः प्राक् प्रत्य भयं वधेमिति हि पश्यतात् ॥ ३० ॥
 धर्तौ न लील्यं तद्विहासित किञ्चन विमृश्यमानं मनसा भयान्वेव । सुरेषु प्रवृत्तौ विपुले पुमानर्थं भजेत दुःखेन विभाजुनापि वस्तु ॥
 यथाशुक्लेशोपहृतेऽपि भोजने न तनयं रोचयते कुलोदितः तथारपदोयोग्यसुरेषु सुखे सति न तदुपयो रोचयते कदाञ्चन ३१
 प्रगीयमानं दुतिं पातितो यथा लघोपि भूयस्य नवं दृश्येत । तथा लघोऽप्यनुपपत्त्य सत्सुले करोति संधेस्य हृलस्य रूपणं ॥
 शुभैरनेकैरपि संकुतां स्त्रियं श्लाघयार्तां सरुदृश्यनिर्पुणः । नरो जहादेव यथा तथा दुधो न दृष्टिदोयादिष सोऽनुमिच्छति (?)
 कुणिमग्निं पसदि गभे कुधितमर्मे पसति ॥ धियात्यु संसारयावत्स विहास्तु संसार वासस्य ॥ उक्तं च—स्वर्गाद्गोमादेव
 तदुत्पन्नं मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपातं च समीक्ष्य । प्रस्तादेव देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भोविष्टा दुःखमिच्छंते नुमयंति ॥

मूढारा-स्पष्टम् ॥

अर्थः—देवगति नामक कर्मके उदयसे यह चीज महान् आदि धारक, झुग वर्ण, गंध, रूप इत्यादि उत्कृष्ट
 पुष्पोंका स्थान बनता है-अर्थात् स्वर्गीय देव बनता है-परंतु आपुण्य समाप्त होनेपर दुर्गेय युक्त गर्भावासमें उसको
 रहना पड़ता है इसलिये ऐसे विचित्र संसारको धिक्कार हो।

१ लोभे आकाशमें इंद्रधनुष्य, बिजली, और मेघ अकस्मात् उत्पन्न होते हैं वैसे देवोंका अकस्मात् जन्म होता है- इन देवोंका जन्म अद्युचितार्थे-अपवित्रार्थे रहित होता है ऐसा समझना चाहिये-

= वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे जो व्याधियां मनुष्य देहमें उत्पन्न होती हैं उनसे देवोंका शरीर रहित होता है खेद उनमें नाममात्र भी नहीं रहता है- मदा तत्पराताही रहती है- सर्वावयवरिपूर्णता और उत्तम कर्तृत्वे यह सदाही युक्त होता है-

१ उत्तम विलास, भक्ति, चेष्टा और लीलासे वह मन हरण करता है- निर्मल वस्त्र, वर्ण, स्पर्श, सुगंध, मिष्ट भाषण और हास्यसे उनको शोभा चित्तको अपने तरफ आकर्षित करती है- ऐसा शरीर शुभ कर्मके उदयसे देवोंको प्राप्त होता है-

४ जब उपपाद् अव्याप्य देवका जन्म होता है तब देव देवांगना हंसते उसके सामने आकर नमस्कार करते हैं- और गीत वाद्यादिक ध्वनिश्रुति उसका अभिनंदन कर अपना हर्ष भाव प्रकट करते हैं उसकी उपासना करते हैं-

५ उत्तम लक्षणोंसे युक्त, प्रफुल्ल कमल समान सुंदर ऐसे हाथोंसे किया हुआ नमस्कार ये उत्पन्न हुए देव प्राण करते हैं, चंद्रके समान सुंदर मुखवाले ये देव स्निग्ध दृष्टिसे हमको नमस्कारका स्वीकार करते हैं- ६ पर्वतके शिखरपर बैठे सिंहके समान सिंहासनपर बैठे हुए उन उत्पन्न हुए देवोंका आनंदित हुए देव सुवर्ण कलशसे अभिषेक करते हैं-

७ 'हे देवेंद्र' हर्षके समान गुणोंसे हमारे मुखकमलोंको आप प्रफुल्लित करो- और हमारे ऊपर आपका दीर्घमाल वर आधिपत्य रहे ऐसी देव उनकी वक्तोंके द्वारा स्तुति करते हैं-

८ वे देवेंद्र मानो ग्रीष्मकालके सूर्य ही हैं ऐसे रत्नोज्ज्वल मुकुट मास्तकपर धारण करते हैं- शिर, अंगद, इंद्रजल वगैरह जमूल्य रत्नाभरणोंसे वे अलंकृत रहते हैं-

९ बिजलीसे व्याप्त हुए सुंदर मेघोंको, रत्नोंसे चंडित सुवर्ण पर्वतोंको अलंकृत करते हुए वे देव अति-दुःख शोभाको धारण करते हैं-

१० तो दिव्य बल, वीर्य और पराक्रमसे युक्त हैं- चित्तका शरीर दिव्य और दीप्तियुक्त है- ऐसे देव

प्रमद आकाशस्थित सूर्यके समान दृढ़ दिशाओंको प्रकाशित करते हैं- तथा चंद्रके समान अपनी सौम्य कान्तीसे दृढ़ दिशाओंको सौम्यपुष्क बनाते हैं ।

११ अतिशय लघु होकर वे अतिशय दूर जाते हैं- और मुक्त होकर वे पर्यंतके समान विद्याल बनते हैं- जलके ममान होकर पृथ्वीमें प्रवेश करते हैं और पृथ्वीके समान अन्य पदार्थोंको रोष करते हैं ।

१२ लकड़ी, अग्नि, हवा, पानी, वृक्षों इनमें और प्राणिओंके शरीरोंमें वे प्रवेश करनेमें समर्थ होते हैं- उनके गुणके समान गुण और प्राणिओंके नहीं होते हैं- और वे समर्थ होते हैं ।

१३ वे देव अग्नि, पर्वत, जंगल, समुद्र समेतको एकदम उलंघनर विना परिश्रमके इच्छित स्थानपर पहुँच जाते हैं- सिद्धके समान उत्तरा किन्ती पदार्थसे बाधा नहीं पहुँचती हैं,

१४ उनमें पर्यंतोंको जमीनपर गिरा देनेका सामर्थ्य होता है- वे मंदर पर्वतोंको भी गिरा सकते हैं- जमीनपर उठर कर भी मंदर पर्यंतके शिखरको स्पर्श कर सकते हैं-

१५ देव और मनुष्योंपर विना प्रयत्नसे वे हंशस्य सत्व सकते हैं- और सर्व पशुओंको वश करते हैं- मनमें वे जिस रूपको चाहते हैं वकाल उसको धारण कर सकते हैं- वे जिस पदार्थको चाहते हैं वकाल उसको प्राप्त कर सकते हैं ।

१६ अपने शरीरकी सुगंधसे संपूर्ण दिशाओंको सर देते हैं- उनके गलेमें संतानकादि कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी आत्मान माला रहती है ।

१७ पुष्प, चंदोंसे सुगंधित वस्त्र वे धारण करते हैं- और समीपमें प्रवर्णि देवांगनओंके साथ वे हमेशा रतिक्रीडा करते हैं ।

१८ वे महान क्रोद्धिधारक देव और देवांगना विषमपुष्प होनेसे विशेष दुःखको प्राप्त होते हैं- अर्थात् देवको देवीका और देवीको देवका वियोग होता है ।

१९ इस मध्यमलोकमें प्राणिओंको तीव्रतर तीव्रतर वगैरह विकल्पोंके क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं- परंतु देवलोकमें कषायोंका तीव्रमान नहीं रहता है-

२० अत्युत्त स्तंगतक देवांगनका दीर्घकाल आयुष्य यद्यपि है तो भी वह वल्यप्रमाण ही है अर्थात्

सामर्गसि उनका आशुष्य नहीं नापा जाता है. और देवोंका आशुष्य सामराको होता है इस लिये देवोंको धारवार अनेक देवांगनाओंका नियोग होता है.

२१ मृत्युके समयमें होनेवाले दुःखोंका विचार कर उनके मनमें दुःख उत्पन्न होता है जैसे व्याघ्रके समीप बाँधे हुए हरिणको दुःख होता है वैसे इन देवोंको मृत्यु समय दुःख होता है.

२२ कैदी होनेका प्रसंग जानेपर जैसा मनुष्यको बहुत शोक और मय उत्पन्न होता है वैसे देवभी यहाँका अलुप्य समाप्त होनेपर हमको मनुष्यत्वीके गर्भमें जो कि कैदखानेके समान है रहना पड़ेगा ऐसा विचार कर बहुत शोकयुक्त और भयबान् होते हैं.

२३ गर्भके अनंतर अपवित्र ऐसै सूत्रमार्गसि हमको बाहर निकलना पड़ेगा. यह तो बहुत कष्टकी बात है. यह मनुष्य जन्म महान् अपवित्र है ऐसा विचार करनेसे उन देवोंको महान् भय होने लगता है.

२४ इस स्वर्गमें हवा से वर्ष धीतनेपर भी हमको धुँवा बाधा न होती थी. परंतु मनुष्यत्व प्राप्त होनेपर सार्वणीके समान यह धुँवानाथा हमको तकलीफ देगी ना यह बड़ा कष्ट है. २५ देव गर्वीमें एकपक्ष चीतनेपर उच्छ्वास लेते थे परंतु यहाँ मनुष्यगर्वीमें उच्छ्वासका भी परिश्रम होगा हाव हाव इससंसारसमुद्रमें रहना बड़ा कठिन है.

२६ इस देवावस्थामें रोम, जरा-श्रदानस्था, इंद्रियविकलता, इत्यादि दोष नहीं रहते हैं. परंतु मनुष्य-मनमें ये बाधाएँ अवश्य भोगनी पड़ेंगी ऐसा मनमें देव विचार करते हैं. यहाँसि हम ज्युत होनेके अनंतर दुःखद परिस्थिति प्राप्ति होगी ऐसा वे विचार करते हैं.

२७ यद्यपि देव परलंघ नहीं होते है. तथापि उपद्रवयुक्त देवको मानो हम प्राप्त हुए हैं ऐसा समझकर मनमें शोक उक्त होकर अतिशय तीव्र भीतिको प्राप्त होते हैं.

२८ विगको कभी भी रोम पीटा नहीं हुई थी ऐंसे भी देव आशुष्य समाप्तिके अनंतर इस मनुष्य लोकमें उत्पन्न होते हैं. ऐसा समझकर कोन विद्वान् देवावस्थाको अच्छी समझेगा ? अर्थात् वह भी कष्टयुक्त है ऐसा समझकर विद्वान् लोक उसमें अनादर करते हैं.

२९ ये देव अपने अवधिज्ञानसे बहुत दूर थीं जाता भी जानलेंते हैं. अतः आगे जानेवाली विपत्तिको जानपर वे प्रथम ही मययुक्त होते हैं. और तदनंतर वास्तविक मयका अनुभव करते हैं.

२९ जिसको अकस्मात् मय उत्पन्न होता है वा प्रथम ही अर्थात् भय प्राप्त होनेके पूर्वमें मय युक्त नहीं होता है. परंतु देव मयकी वार्ता प्रथमही जान लेते हैं अतः वे प्रथमही दुःखी होते हैं. जैसे अपने वध होनेकी गत जिसको प्रथमही मालूम पड़ी है वह मनुष्य प्रथम ही मयको याच होकर अनंतर वधयुक्त हो जाता है.

३० इसलिए इस संसारसामयमें विचार करनेवाले पुरुषको कर्ता भी सोख्य नहीं है ऐसा अनुभव आयेगा. अतिशय सुखमें आनंद ऐसे भी प्राणीको यदि अनुभाव भी दुःख हो जायेगा तो भी सुखमें न्यूनता है ऐसा मानना पड़ेगा. तत्पर्यं यह है कि जिसमें अनुभाव भी दुःख हो वह सुख है नहीं.

जैसे भोजन करते समय अचपे छोटासा भी केश निकला तो वह अब कुलीन मनुष्यको अप्रिय होता है. वैसा सुखमें यदि अल्प भी दोष होगा तो वह सुख दुर्दिमानोंको अप्रिय लगता है ।

१. यीनेक लिए जो पानी दिया गया है उसमें यदि छत्रका एक भी बिंदु पड़ेगा तो वह पानी दूषित होता है. ऐसे उत्तम सुखमें यदि थोडासा भी दुःख उत्पन्न होगा तो वह सुख दोषयुक्त ही मानना चाहिये.

२२ यदि अनेक गुणोंमें ही संपन्न है तो भी एक दूषक भी जिसने व्यभिचार किया है उसको दयादं मनुष्य भी छोड़ ही देगा. वैसे बुद्धिमान् लोग जिसमें दोष दीखता है ऐसे सुखकी इच्छा नहीं करते हैं.

अभिप्राय यह निकला कि यह संसार दुःखमय है. इस संसारमें कुचित भाँस रक्तादि से भरे हुए गर्भमें नियाम करना पड़ता है. इसलिए इस संसारवासकों धिक्कार हो. शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—इस मनुष्य जन्ममें आनेकेलिए गर्भमें रहना पड़ता है. इसका स्मरण होने से दुःख होता है. गर्भ में आकर भी कोई लोबिका पतन भी हो जाता है. यह शरीर भी अपवित्र है. और यहाँके भोग भी रोग के समान है. इत्यादि विचार करने से देवोंको गर्भ में प्रवेश करने के ममान दुःख होता है.

इय किं परलोके वा सत्तु पुरिसस्त हंति जीया वि ॥

इहहं परत्त वा खाइ पुत्तमंसाणि सयमादा ॥ १८०४ ॥

यत्र त्वादाने पुत्रस्य जनन्यापि कलेवरम् ॥

तत्तन्नामुत्र चा यंभौ शत्रुत्वे कोऽस्ति विस्मयः ॥ १८०५ ॥

विजयोदया—इधं परलोके वा, इहलोके परलोके वा, पुनिसस्स पीया वि सत्त्वं हति वंचयोपि शत्रवो भवन्ति पुरुरदय । इदं परत्वं वा ग्याइ इदं वा परत्वं ॥ अस्ति, पुनस्सत्ताणि सयमादा पुनस्स मांसं जालमीयजननी अस्ति किमलः परं कटं ॥

मलारा—इपइ इहलोके । परं कष्टमिति भावः ॥

अर्थ—इह लोकमें अथवा परलोक में वंधु भी पुरुषका अनुजका शत्रु होता है. इस लोकमें जननी भी माता भी अपने पुत्रका मांस खाती है. अइह—इस से अधिक कष्टकारक क्या होगा ?

होऊण रिऊ गहुदुक्खकारओ वंचवो पुणो होदि ॥

इय परियट्ठइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥ १८०५ ॥

पंधू रिप्पु रिपुंयुजायते कायंतस्सतः ॥

घत्तो रिपुस्त्वयधुत्वं संसारं न निसर्गतः ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—होऊण रिऊ रिपुंयुत्वा पूर्ण । गहुदुक्खकारो विचित्रदुःखकारी । स एव पुणो पञ्चद्वयो होदि मियबांधवो भवति । इय परियट्ठइ एव परियत्ते । णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च वंधुत्वं च शत्रुत्वं च । अये जीवलोके ॥

मूढारा—णीयत्तणं वंधुत्वम् ॥

अर्थ—जो अपना कष्टकर शत्रु है विसने नाना प्रकारके दुःख दिये थे वह भी वंधु—त्रिप बांधव होता है. इस प्रकार शत्रुत्व और वन्धुत्वका जगत्में परिवर्तन होता रहता है.

त्रिमलाहेदु वंकेण मारिओ णिययमारियागळेमे ॥

जाओ जाओ जादिमरो सुदिशी सकम्मोहिं ॥ १८०६ ॥

वक्केण विमलाहेतोः सुदृष्टिर्विनिपातितः ॥

निजांगनांगजो भूत्वा जातो जातिस्मरो वत्त ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—विमलाहेदुं विमलविमिर्त्त । वंकेण मारिओ वक्काख्येन शूलकेन मारितः । काः सुदिशी सुदृष्टितमधेयः । सकम्मोहिं जातनीधैः कर्मणिः । जाओ उत्पन्नः । क णिययमारियागळेमे निजभार्यागळेमे जादिमरो जाओ जातिस्मरन्त्य आतः ॥

मूढारा—भवेण यदाच्चेन स्पष्टिष्येण । मारिदो विमलानाम्ना स्वमार्यया सह मैयुनं कुर्वणो इतः ।
 भारिया भावो । जादिभरो जातिमदय जातः । सुदिही सुट्टिर्नोमनगरवैशानिकः
 अर्थ—विमला नामक स्त्रीके वडा होकर वक नामक गुरुने अपने स्नामीका वच किया. वह स्वामी उसही स्त्रीके उदरमें क्रमोदयेस गर्भ रूप होकर उसका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ. उसका सुदृष्टि नाम रक्वा गया. उसको बालावर्मे जातिस्मरण हो गया तब मैं अपनी स्त्रीमें ही पुत्र उत्पन्न हुआ हूं ऐसा उसको ज्ञान होगया.

होऊण वंभणो सोसिओ खु पावं करित्तु माणेण ॥
 सुणगो व सूररो वा पाणो वा होइ परलोपु ॥ १८०७ ॥
 ओच्चियो त्राणणो भूत्वा कुत्वा मानेन पातकम् ॥
 सूकरो मंडलः पाणो भूगालो आपने चकः ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—होऊण वंभणो सोसिओ ओच्चियो त्राणणो भूत्वा कुत्वा मानेन पातकम् । पाणे करित्तु पावे कृत्वा नीचैर्गोभमुगच्छित्व । सुणगो व सूररो वा पाणो वा होइ परलोप इवा शूलरथाण्डालो वा भयति परजग्गन्ति ॥

मूढारा--भाणेण जातिमदेन । गुणिज्जनिदादमानाभो नीचैर्गोभमुगच्छं शूलरथाण्डालो वा भयति
 अर्थ--यह जीव ओमिय त्राणण होकर जातिमदेस गुणिज्जयोका अपमान करता है, निंदाकरता है. इस कारणसे पापमंचय करके अर्थात् नीच गोत्र कर्मका पंच करके परमवर्मे कुत्ता, अथवा सुवर किंवा चांडाल होता है.

वारिहं अहुत्तं णिदं च थुदिं च वसणमब्बुदयं ॥
 पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणं वुंसयत्तं च ॥ १८०८ ॥
 निदां वारिद्वयमैत्थयं पूजामस्युदयं स्तुतिम् ॥
 खौणं पौस्सं चिरं जीवः पंडत्तं प्रतिपद्यते ॥ १८०९ ॥

विजोदया--वारिहं वारिदं । बहुसो जीवो पुरिसित्थिणं वुंसयत्तं च ॥ १८०८ ॥
 पुरंववेण संमपः पावदि बहुसो इमो हय्येन । त्थामंतरापस्योपसामदीप्पित्तानि इत्थानि उभवे, त्थानि च नयेति ॥

ततः यादवतां । निंवा भवपक्षोद्वलः कृष्णः काणो दुर्भगो मूर्खः कृष्ण इत्यादिकां ॥ धुई च स्तुतिं च कुलीनो रूपवान्, याम्भी आत्मः प्राप्त इत्यादिकां यशस्वीर्तेरुचयात् । एवं वसन्तं दुःख असंशयोदयात् । अस्तुदयं देवमनुजभवनं सुखं सद्योदयेन । पुरितिरियन्तुसयत्वं च पुण्यत्वं च स्त्रीत्वं च ननुसकत्वं च बहुताः प्राप्नोति ॥

मूलार्थः—अद्विक्तं आनन्दं लाभान्तराख्योपशान्तिमयत्वं प्राप्नोति । निर्दं खपाकः, पाणो, मूर्खः, कृष्ण इत्यादिषु निंदो प्राप्नोति अवनः नीतुर्दयात् ॥ वसन्तं दुःखं । अभ्युदयं उत्तमदेवत्वमानवस्त्वयवप्रमथं सुखं सद्योदयात् ॥

अर्थः—इस जीवको अनेकवार लाभान्तराख्य कर्मका उदय होनेपर दारिद्र्य प्राप्त होता है. वैसे इसको अनेकवार भनमान्ति होनेसे घनाख्यपनाभी हुआ था. लाभान्तराख्य कर्मके क्षयोपक्रमसे यह जीव घनाख्यपनाभी हुआ था. बहुतवार मिला हुआ घनभी नष्ट हुआ है. इसकी बहुतवार चूं चांचल है. लंगडा है. अंधा, कृष्ण, मूर्ख है. ऐसी निंदा भी हुई है. अयशस्वीति कर्मके उदयसे अगतम जीवकी निंदा होती है. इसी प्रकार असातापेदनीय कर्मके उदयसे अनेकप्रकारके संकटोंसे यह जीव ग्रस्त होता है. देवगतिके और मनुष्यके सुखोंको अभ्युदय कहते हैं. यह अभ्युदय नातापेदनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होता है यह जीव पुण्य, स्त्री और नपुंसक इन पथियोंकोभी अनेकवार प्राप्त हुआ है.

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ॥

कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥ १८०९ ॥

निर्दोषमपि निर्दोषं सद्योपं मन्यते जनः ॥

सद्योपमपि पुण्याख्यं निर्दोषं पुरुषः पुनः ॥ १८१० ॥

वित्तयोदया—अकारी अर्पि दोषमकुर्वन्पि कारी भवति, अप्पडिभोगो जणो पुण्यरहितो जणः। कारीपि कुर्वन्पुण्यमाचारं, जणसमप्य जनानां प्रत्यक्षं अकारी होति दुःखचारो न भवति । सपडिभोगो पुण्यवान् ॥

मूलार्थः—कारी दोषकर्ता । अकारी दोषनकुर्वन्नपि । अप्पडिभोगो अपुण्यः । कारी वि दोषं कुर्वन्नपि । सपडिभोगो सपुण्यः ॥

अर्थः—जो मनुष्य पुण्यरहित होता है वह उसने दोष नहीं भी किये हो तो भी वह दोषी माना जाता है तथा जम पुण्योदय होता है वह अमाचारी होकरभी निर्दोषी माना जाता है. लोक उसको निर्दोष समझते हैं.

सत्सिद्धिं चंद्रिमाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ॥

सत्सिद्धे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥ १८१० ॥

निसर्गनः कोपि समेअपि वल्लभो विचेष्टतेऽज्योऽसुमतामवल्लभः ॥

समानरूपे सति चंद्रिकोदये प्रियो हि पक्षो भवतः प्रियोऽपरः ॥ १८८१ ॥

विजयोद्या—सत्सिद्धिं चंद्रिमायं चंद्रिकायां समानतामयि । कालो वेस्सो कालपक्षो देव्यः । पिओ जहा जोण्हो गुणलपक्षो यथा प्रियः । सत्सिद्धे हि तहाचारे सत्सिद्ध्याचारे द्वयोः पुंसोः ॥ कोई वेस्सो पिओ कोई कश्चिच्च देव्यः नित्यः ॥

मूलात्—चंद्रियाए ज्योतनायां समानायां सत्तामपि । कालो कृष्णपक्षः । जोण्हो सितपक्षः । कोई दुर्भागनामः कर्तव्यं प्राप्तः ॥

अर्थ—चंद्रिका प्रकाश दोन पक्षमें समानही रहता है तोभी कृष्णपक्ष लोकोको अप्रिय लगता है और शुक्लपक्ष प्रियता मादूम पड़ता है। वैसे आचार समान होने परभी किसीको लोक अप्रिय समझते हैं और किसीको प्रिय समझते हैं।

इय एस लोगधम्मो चित्तिजंती करेइ णिब्बेदं ॥

धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥ १८११ ॥

विर्विस्त्य मानं जगतो विचेष्टितं विचित्ररूपं अथवापि दुर्गमम् ॥

कारेति वैराग्यमन्यगोचरं दुरीहितं पूर्वविबोदयं गतम् ॥ १८८२ ॥

विजयोद्या—इय एस लोगधम्मो अथवापि धर्माणि धर्मः । जे मुक्का लोगधम्मादो ये मुक्ताः प्राणिधर्माद्यामर्णितान् । धण्णा ते भयवंता पुण्यवंतस्ते यवयः । जे मुक्का लोगधम्मादो ये मुक्ताः प्राणिधर्माद्यामर्णितान् ।

प्राणिधर्मचिन्तामुपसंहरत्तदप्रलभाद्—

मूलार्थ—लोगधम्मादो प्राणवर्णितप्राणिस्वरूपे जनासक्तचित्ता इत्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार यह लोकोंका धर्म है- इसका विचार कर कोई महात्मा विरक्त होता है- वे पूज्य ऋषि पत्न्य हैं जिन्होंने लोकधर्मका त्याग किया है।

विज्जू व चंचलं फेणद्वलं वाचिमहियमच्चुहदं ॥

जाणी किह पेळ्ळंतो रमेज्ज दुस्सुद्धदं लोमं ॥ १८१२ ॥

लोकस्वभावं चपलं दुरंतं दुःखानि दातुं सकलानि शक्तम् ॥

निरीक्षमाणा न बुधा रमंते भयकरं व्याघ्रमिवानिवार्यम् ॥ १८१३ ॥

इति लोफानुप्रेक्षा ॥

विज्जोदया—विज्जू व चंचलं विजुदिव चंचलं, फेणुदुग्गलं फेनमिव दुर्बलं । वाघिमहिदमच्चुहदं व्याघ्रि-
भिमपितं मृत्युना शतं । लोमं पेळ्ळंतो लोकं गह्वरं । जाणी किच रमेज्ज जागो कथं तज रसिं कुर्यात् ॥

तदनासक्तिशरणं स्वनक्ति—

मूलाप—फेणद्वलं नीरहिडीरपन्निःसारम् । जाणी रत्तरविशरणज्जः । दुस्सुद्धदं दुःखेन कंपितं । इलं च—

तद्विद्वपलं फेनदुर्बलं व्याघ्रिपीडितम् ॥

जानी वधवरसिं कुवत्किं दुःखार्हितं जगत् ॥

लोफानुप्रेक्षा ॥—

अर्थ—यद् वगत् विल्लीके समान चंचल है, समुद्रके फेसके समान शल्वीन है, व्याघ्रि और मृत्युसे
पीडित हुआ है, जानी पुरुष दुःखोंसे भरा हुआ यह लोक देखकर उसमें कैसी श्रौति करते हैं, अर्थात् जानी इस लो-
कमें प्रेम नहीं करते हैं, इसके ऊपर वै माध्यस्थ भाव धारण करते हैं,

॥ लोगधम्मचिन्ता ॥ अमुप्रत्यनुप्रेक्षा प्रकल्पते ॥

असुहा अत्या कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ॥

एळो चैव सुमो णवरि सव्वसोक्खायरो घम्मो ॥ १८१३ ॥

अशुभाः सन्ति निःशेषाः पुंतां कामार्थविग्रहाः ॥

शुभोऽत्र केवलं घर्षो लोकद्वयसुसप्तदः ॥ १८१४ ॥

विलज्जोदया—अमुहा अत्या कामा य हुंति अमुमा वयोः कामाद्या भवति । देहो य सव्वमणुयाणं देहस्य सर्वं

मनुजानाम् ॥ परको दोष सुभी एक एव शुभः पुनः । सख्यसुखस्य ते धम्मो सर्वेषां सौख्यानामाकरो धर्मः ॥

धर्मध्यानमुद्धरणं अशुचित्वं मायाहेतुनाशुचित्यति-

अशुचिमाशुभो ऽव्येयश्च मावो यण्यते । तमादौ दुःखैकमूलत्वेन धर्मकायकथानामशुभत्वं व्यक्तरथाप्य लोकद-
रमुग्रमदत्तेन धर्मस्य शुभत्वं भावयति—

मूलारा —स्पष्टम् ॥

अशुचित्याशुमेलाका वर्णन-

अर्थ--अर्थ पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ अशुभ है. सर्व मनुष्योंका देर अपवित्र है. एक धर्मही पवित्र है
और वही सर्व मोक्षोंका दाता है.

धर्मव्याशुभतां दयाच्छे-

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरितस्स आयहइ गिक्वं ॥

अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ॥ १८१४ ॥

अर्थो मूलमनर्थानां निर्याणमतिबंधकः ॥

लोकद्वये महादोषं दसे पुंतां दुदत्तरम् ॥ १८१५ ॥

विजयोदया--इहलोगियपरलोगियदोसे येदिकात् परलौकिकांश्च दोषान् । पुरितस्स भावहर गिक्वं पुरुषस्य
आपदनि नित्यं । अत्थो अणत्थमूलं भयान्तराणां मूलं, महाभयस्य मूलस्यान्महाभयं । मुत्तिपडिपंथो मुक्तेरर्गलीभूतः ॥
अर्थस्याशुभत्वं समर्थयते--

मूलारा--दोसे दुःखानि । अणत्थमूलं अधर्मविषयविनिदानं । महाभयं विपुलभीतिनिमित्तत्वात् । मुत्तिप-
डिपंथो मुक्तेरर्गलीभूतः ॥

अर्थकी अशुभताका वर्णन--

अर्थ-इह लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पढेते हैं. अर्थ पुरुषार्थके
यज्ञ होकर पुरुष अन्याप करता है. चोरी करता है. और राजासे दंडित होता है और परलोकमें नरकमें नाना

दुःखोक्ता अनुभव लेता है इसलिए यह अर्थ अर्थात् घन अनर्थका कारण है, महामयका कारण है, मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गत्ताके समान परिवर्ध करता है.

कामस्यऽनुभूततायाश्चोद्रे—

कुणिमकुटिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ॥

उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥ १८१५ ॥

निपास्थानभवाः कामा भीमा लाघवर्हेतवः ॥

दुःखमदा द्वये लोके स्वरूपकालाः सुबुर्लभाः ॥ १८१६ ॥

विजयोदया—कुणिमकुटिभवा लहुगत्तकारया भगुविहुटिभवाः भलघुत्वकारिणः । अप्पकालिया कामा अल्प कालेदु भवाः । कामरूपा उवधो लोए लोभद्वये । दुःखावहाश्च । य इति ते सुलभाः नैव ते सुलभा भवेति ॥

कामाऽनुभवमाश्वासि—

मूलाया—कुणिमकुटिभवा भगुचित्तवपरदरीयभवाः । अप्पकालिया स्वीकृतालभवाः । कामा काम्यमानाः ।

इन्द्रियाणां तद्व्यभद्वीतयो वा । उवधो लोए लोभद्वये ॥

काम पुरुषार्थं अत्यंत अशुभ है—

अर्थ—यह काम पुरुषार्थं अपवित्र दरीरसे उत्पन्न होता है, इससे आत्मा हलकी होता है, इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुःख पाती है, यह पुरुषार्थं अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है, और प्राप्त होनेमें कठिन है.

अट्टिदलिया छिरावक्कव्हिया मंसभट्टियालिच्चा ॥

वहुकुणिममण्डभरिदा विहिंसणिज्जा सु कुणिमकुडी ॥ १८१६ ॥

मांसलिप्ता सिरावद्धा कुथितास्सियदलाचिता ॥

सतां कायकुटी कुत्स्या कुथितैर्विविधैर्मृता ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—अट्टिदलिया अस्सियदलनिपण्या छिरावक्कव्हिया सिरावक्कवद्धा । मंसभट्टियालिच्चा मांस मुचिकालिता । पण्डुकुणिममण्डभरिदा धनेकादधिद्वयपणो विहिंसणिज्जा सु कुणिमकुडी लघुमंसमयिणा वसन्ति ॥

देवमुत्पिबं धीलोमने—

मुञ्जता—अद्विद्विज्या अयोनि न यति पयानि यथां ना अरिचट्टिका शिरात्तरवट्टा । कुण्डिषकुली कुटीया
मन्त्रस्तद्वय गणपतःपादोऽयः ॥ १८६ ॥

अभिधजालद्वयः स्वायुक्ताव्यवधानिभिदिता ॥

अनुचर्यगकुटी यामिषुतेकाकुलेषया ॥

अयं—इम मायामं जलत्कयी सोपदीका यणनं करणे दे.

यद् दगीरत्कयी तालपरी द्रोशंगे पनी दे. अरियरूपी पक्षोंमं यह सोपदी रची भई दे. नया जालरूप
यद्दन्तमे बभीरी तई दे. भागम्की मडुंग ये लीषो मई दे. अपवित्र रक्तादि पदायेंसे भरी हुई दे और सुगुप्ता उत्पन्न
कामंरानी दे.

इंगालां धोव्वंतो ण सुद्धिमुचयादि जह् जलादीहिं ॥

तह् देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥ १८१७ ॥

निस्सर्गमलिनः कायो धाज्जमानो जलादिभिः ॥

अंगार इय मायानि स्फुटं सुद्धिं कदानन ॥ १८८८ ॥

पिलवोरया—(गान्धो पंथांमो अभात्यभावा मर्वा न शुद्धिमुचयति, न शुद्धिमुचयति । जह यथा । जलादी
दि जलादिभिः, तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं न याति सुद्धिं जलादिभिः ॥

देहसत्त्वबन्धोऽनन्नाद—

मृतात्—११२२ ॥

अर्थ—इंगारत्तो यानी अंगारकं इत्य धोनेपर भी यह अपना कालावर्ण छोडकर सफेद नहीं बनता है ।
येमं दगीरत्तो धोनेगे नुर नहीं होत्ता दे.

मल्लिज्जदीणि अमेइसं कुणइ अमेइयाणि ण तु जलादीणि ॥

मेइयममेइयो कुव्वंति सयमवि मेइयाणि संताणि ॥ १८१८ ॥

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्यं सद्यः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ॥ १८८९ ॥

अमेध्यमिध्यानि पुनः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ॥ १८८९ ॥
विजयोदया—सत्त्वित्वादीनि सत्त्वित्वादीनि द्रव्यानि शुद्धानि । अमेध्यं कुण्ठादि अमेध्यं करोति । अमेध्यानि अनुसृजति । न ह जलादीनि मेत्तुं कुण्ठादि नैव जलमदीनि शुद्धितामापादयन्तीति । अमेज्यानि अशुचीनि स्वयमेवेन्द्राणि मेताति अमेत्तययोगाद् रायमजुचीनि सति ॥

जलादिशुचियारेतादौ रायशुचित्वस्यावधे—

मूलादा—अमेध्यं स्वभावेनाशुचिभूतं शरीरं कर्तुं । उक्तं य—

अशुचि शरीरं तोवादिभ्यानि विदधात्यमेध्यरूपानि ॥

सत्त्वित्वादीनि न मेध्यं विदधति वेहं ह्यमेध्यमप्य ॥

एषा प्रावृद्धोदास्यारमोत्त आलस्य—अन्धे स्वयमेच्छणीति पठित्वा अन्धेऽवयोग्यत्वं स्वपशुवीति संवीत्यर्थमाहुः ॥

तदुक्तम् —

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्यं सद्यः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ॥

अमेध्यमिध्यानि पुनः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ॥

अपरे पुनः मत्त्वित्वादीनि सदादि सुतं सामान्येन व्याख्यायित्वा (सूत्रेण प्रकृतं) रेखाशुचित्वं अनुसंसृजते ।

अर्थ—पानी चगैरह पवित्र पदार्थोक्तो देह अपने संसर्गसे अपवित्र बना देता है. पानी स्वयं अपवित्र नहीं है. देहके संसर्गसे उसको अपवित्रता आती है.

तारिसयममेध्यमयं सरीरयं किहू जलादिलोकेण ॥

मेध्यं हवेज्ज मेज्जं ण हु होदि अमेज्जमयवट्ठओ ॥ १८९० ॥

अमेध्यनिर्मितो वेहः शोधयमानो जलादिभिः ॥

अमेध्यैर्विविधैः पूर्णो न कुम इव शुद्धयति ॥ १८९० ॥

विजयोदया—तारिसयममेध्यमयं शुचीवामशुचित्वाकरणसमर्थशुचिमयशरीरकं । किहू कयं । जलादिलोकेण जलादिसंस्पर्शेन । मेज्जं हवेज्ज शुचिर्भवेत् ॥ अमेध्यमय घटो यमेध्यमयो घटः । न ह्यु मेज्जो होदि नैव शुचिर्भवति ॥

मूढारा-वारिसिगमने-रामयं शुचिद्वन्वाणमधुपित्वाणान्नसमर्पणेनान्धेन पुल्लप्रचयेन निर्दुष्टं सत् । अन्ये तारि-
सयमने-नम्रये इति मत्पानुले-नम्राहुः । तद्यथा—

साटश्रममेध्वमयं शरीरकं किं जलादिबोगेन ॥

मेधं भवेद्विमेधेनान्धेनमेध्वमयो घटो भवति ॥

अर्थ—पवित्र पदार्थोंको अपवित्र बनानेवाला यह खरीर जलादिकोंके द्वारा कुछ कैसा हो सकता है ?
यिष्टासे भरा हुआ घट क्या पवित्र हो सकता है ? नहीं कभी नहीं.

यदि शरीरमनुषि किं तर्हि सुवीत्यत्राह—

नवरि दु धम्मो मेज्झो धम्मत्यस्स वि णमंति देवा वि ॥

धर्मेण चैव जादि खु साहू जल्लोसधादीया ॥ १८१० ॥

भवन्ति जल्लोपधयो सुनीन्द्रा धर्मेण देवाः प्रणमन्ति सेन्द्राः ॥

यतस्ततो नास्ति ततः प्रशस्तः कल्याणविश्राणनकल्पपुक्षः ॥ १८११ ॥

इति अशुरुपनुमेक्षा ।

विश्रयोपया—नवरि दु धम्मो मेज्झो धर्मः पुनः शब्धिः । कस्मात् खुशान्यो वरमादित्यर्थे यतते । धम्मत्यस्स धर्मेण चैव जादि तु साधू धर्मेणैव प्रानुयंति साधवाः । किं जल्लोसधादीया जल्लोपध्यादिकपुक्षयतिशयं ॥ अशुभत्वं यणेनबहुभिः फलः किं तर्हि परं शुचि इत्यत्राह—

मूढारा— नवरि केवलं । नवरि दु इति पाठे धर्म एव केवलं मेध्व इत्यर्थः । धर्मत्यस्स रत्नत्रये विद्यतः

साधोः । जल्लोसधादीया सर्वगोणमलौपधविशोपधप्रयुक्तिकाः ॥ अशुचित्वातुमेक्षा ॥

अर्थ—इस जगतमें धर्म ही पवित्रतम वस्तु है. जो रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थिर है उसको देव मी वंदन करते हैं. इससे संयोगसे आत्माभी पवित्र हुआ है. साधु धर्मके प्रसादसेही जल्लोपधादि कर्तृको प्राप्त कर सकते हैं. अनुचित्वातुमेक्षा समाप्त.

आशयानुयेक्षा निरूप्यते—

अमसमुदे बहुदोसवीचिण् दुक्खजलयरान्णो ॥
जीवस्स परिभमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥ १८२१ ॥

दुःखोदके भयम्भोचो कपायेंद्विसवाचरेः ॥

आस्रवः कारणं ह्येवं प्रमत्तो भयभाविनः ॥ १८२२ ॥

विजयोदया—अमसमुदे जन्मसमुदे । बहुदोसवीचिण् भित्तिवदोपतरंगे । दुक्खजलयराक्खिण्णो दुःखजलचरैरा-
कीर्णैः । ओपस्स पटित्थमणम्मि जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् आसवो आस्रवो भवति । ननु ख कर्मणि कारणानि
न-यास्तथा ॥ भयोच्यते ॥ कर्मणां परिभ्रमणकारणानां कारणवत्त्वात् । कारणमित्युक्तं ॥

धर्म्यप्याने आस्रव चतुरैस्सायाभिरनुचितयति—

मूला-संसारपरिभ्रमणकारणकर्मणां कारणत्वाद् ॥ आसवो विप्यात्मादिः ॥

आस्रवानुप्रक्षा का कर्मान—

अयं--वद खमसागर विचित्र दोषरूपी तरंगोति व्याप्त हुआ है. दुःखरूपी तन्मयकरादि जलचर प्राणि-
ओंमें यह भरा हुआ है. जीवके परिभ्रमणमें जो कारण है उसको आस्रव कहते हैं. कर्म जीवको संसारमें घुमाता
है परन्तु यह आस्रव उनका भी कारण है अतः यही संसारमें घुमाता है ऐसा आचार्यने कहा है.

संसारसागरे ते कम्मजलमसंबुडस्स आसवदि ॥
आसवणीणावाण् जह् सलिलं उदधिमज्झग्मि ॥ १८२२ ॥

कर्मास्रवति जीवस्य संसारे विपयादिभिः ॥

सलिलं विनिघे रन्ध्रेः पोतस्येव पयोनिघौ ॥ १८२३ ॥

विजयोद-१-संसारसागरे संसारसमुदे । से तस्य । असंबुडस्स संवरहितस्य सम्यक्त्वसंयमक्षमामार्गवानेव
सेतोपरिणामरहितस्य । कम्मजलमासयदि शानावरणादिकर्मजलमास्रवस्यामच्छति । आसवणीणावाण् आस्रवणीणायां
नापि यथा सलिलं प्रयिनति । उदधिमज्जे समुद्रमध्ये ॥

मूला-कर्मबलं कर्मदेवनाय कर्मपरिणामोन्मुलः पुण्ड्रस्कपो शुद्धे । कर्म बलमिवित्युपमासमासः । अस्-

पुनरन सन्धरण्यायात्मकमङ्करद्वितरय । आस यदि कर्मत्वपरिणवियोग्यतामागच्छति प्रविशति च । आसवणीयावाप्य
आमयणशीत्यावां नापि ॥

अर्थ—जो जीय इम संसारसमुद्रमें संवसरतिव प्रवृत्ति करता है. अर्थात् जो जीव सम्मकृत्य, संयम, उपासधमा, मादङ्ग, आजङ्ग, सतोष इन परिणामोंमें रहित है उसमें कर्मरूपी जल प्रवेश करता है. जैसे छिद्रसहित नौकामें पानीका प्रवेश होनेसे वह समुद्रमें डुबती है वैसे यह आत्माभी संसाररूपी समुद्रमें कर्मरूपी जल प्रवेश करने लग डुबता है

धूली गेहूँतुप्पिदग्गे लम्मा मलो जया होवि ॥
मिच्छत्तादिसिणेहोछिदस्त कम्मं तथा होवि ॥ १८२३ ॥
कर्मसंयथता जाता रागद्वेषपक्वचेतसः ॥
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रजोराशिरिवानिशम् ॥ १८२४ ॥

विजयोदया—धूलो गेहूँतुप्पिदग्गे लम्मा धूलो स्नेहाभ्यक्तशरीरलम्भा । जहा मलो होवि यथा मलं भवति ॥
मिच्छत्तादिसिणेहोछिदस्त मिच्छत्तासंयमकृपापरिव्यामेविहाभ्यक्तस्यासमनः प्रवेशेभ्यवरियतं कर्मयोग्यं द्रव्यं । तथा
तथा कम्मं होवि तथा कम्मं भवति । एतद्रुक्तं भवति—आत्मपरिणामाग्निमध्यावादिक्ताम् भिसिष्टं पुन्रलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणाम-
भीति कर्मत्वपर्यागहेतुरात्मनः परित्याग आत्मव इत्यर्थः ॥

मूकारा—गेहूँतुप्पिदग्गेति तैलाद्यभ्यक्ष्मरीरे । मिच्छत्तादिसिणेहोछिदस्त मिध्यात्वासंयमकपायस्नेहाभ्यक्तस्य
जीवस्य । कम्मं प्रवेशेभ्यवरियतं कर्मयोग्यं द्रव्यं मलो इत्यनुक्तेर्मलो भवतीति सम्बंधः । एतद्रुक्तं भवति—आत्मपरिणामा-
ग्निमध्यावादिक्ताम् भिसिष्टं पुन्रलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणामते तेन भिन्निद्रस्य पुन्रलद्रव्यस्य कर्मत्वपर्यागहेतुमिध्यात्वादिजीव-
परिणाम आश्रय इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसा जितने अपने सर्वांगमें तेल लमाया है ऐसे मनुष्यके शरीरपर धूली आकर चिपक जाती है.
और वह मल पतती है वैसे मिध्यात्वा, असंयम, कृपायात्मक परिणामरूपी तैलसे लिस हुए आत्मप्रदेशोंमें वैसा शुद्धा
कर्मत्त्व परिणविको प्राप्त होनेवाला पुन्रल द्रव्य कर्म बन् जाता है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—मिध्यात्वादि-

रूप आत्मपरिणामों का निमित्त पाकर निशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको धारण करता है- इस लिये कर्मात्मकपर्यायको आत्माका मिथ्यात्वादिरूप परिणाम कारण है- उसीको आत्मत्व भवात्मत्व कहते हैं-

ओगाढगाढनिचिद्रो पुगलद्रव्येहि सव्वदो लोगो ॥

मुहमेहि वादेरहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तेहेव ॥ १८२४ ॥

अवदयेथ्यधुपा हवैयैः स्पूलैः सूक्ष्मैश्च पुद्गलैः ॥

विचियेनिचिन्नो लोकः कुंभो घूमेरियाभित्तः ॥ १८२५ ॥

विज्ञेयत्व-ओगाढगाढनिचिद्रो भनुपवेशगाढं निचित । पुगलद्रव्येहिं पुद्गलद्रव्यैः, सव्वदो लोगो कात्स्न्येन लोकः । मुहमेहि वादेरहिं य सूक्ष्मैः स्पूलैश्च । दिस्सादिस्सेहिं यधुपा हवैयैरदृश्यैश्च । तेहेव तथैव । एतया गायद्या कर्मपर्यायपर्यायानां पुद्गलद्रव्याणां सर्वलोकाकारो यद्वनामस्तिरयमाकवातं ॥

कर्म जीवपर्यवेष्ट्यनश्चित्तत्वं कर्मोयोग्यपुद्गलाना संभवतोत्पादशंकागमाह—

मुढारा- ओगाढगाढनिचिद्रो अवगाहनवगाढं परत्तरानुप्रवेशः तेनागाढं निर्भरं निचिद्रो न्यासः । दिस्सा-

दिस्सेहिं पक्षुपा हवैरदृश्यैश्च ।

अर्थ—इस जगत्के प्रदेशोंमें पुद्गलद्रव्य अविश्वय निश्चिद्रूपसे भरा हुआ है- अर्थात् लोकाकाशका एक भी प्रदेश इस पुद्गलद्रव्यसे रिक्त नहीं है- इस लोकाकाशमें सूक्ष्म, स्पूल, नेत्रसे देखने योग्य व नहीं देखे जानेवाले ऐसे पुद्गल भरे हैं- इस गायमे कर्मपर्यायको प्राप्त होनेकी योग्यता रसनेवाले बहुतसे पुद्गलद्रव्योंका आकाशमें अस्तित्व है ऐसा द्रुचित होता है

के ते आत्मणा इत्यत्राह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होति ॥

अरहंतवुचअत्थेसु निमोहो होइ मिच्छत्तं ॥ १८२५ ॥

मिथ्यात्वाच्चतकोपविद्योगानत्रास्रवान्विदुः ॥

मिथ्यात्त्वमर्हदुक्तानां पदार्थानामरोचनम् ॥ १८२६ ॥

विजयोदया—मिच्छते अतिरसं कसाद्यजोगा य आसया दिति मिथ्यात्वमसंयमः कपाययोगाश्च आसया मयि । आसययोगच्छति । कर्मन्पर्यायं पुत्रला यमिः काष्णभूतिरिति मिथ्यात्वान्नय आसवशब्दयाच्या ॥ तेष्वा-
मयेषु मिथ्यात्वस्वरूपं कथयति । आसवसुचमयेषु अर्हदुक्तेषु भवन्तद्रव्यपर्यवहारकेषु विमोहो मिच्छच्छं होदि
अप्रज्ञां मिथ्यात्वं भवति । असंयममाचष्टे ॥

के ते आसया इत्यत्र—

मूढारा—आसया आसवंत्वागच्छति कर्मत्वपर्यायं पुत्रला यैरित्याख्या मिथ्यात्वाद्व्यवहारः प्रमादार्ज कपाया-
न्वर्थावस्थानुपादानं । अर्थेषु अन्तर्द्रव्यपर्यायत्वयु भावेषु । विमोहो विपरीताभिमितिव्यञ्जणमश्वानम् ।

ये आसव कोनसे है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग ये आसवके प्रकार हैं, जिनका निमित्त पाकर पुत्रलोकों
कर्मत्वपर्याय प्राप्त होता है ऐसे जो कारण उनको आसव कहते हैं- अर्थात् मिथ्यात्वादिको आसव कहना यह
अनर्थक है- इन आसवोंसे मिथ्यात्वनायक आसवका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—अर्हद्भगवानने अन्त
द्रव्यपर्यायारमक नीचादिक पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है उसमें विमोह अर्थात् अश्वान करना वही मिथ्यात्व है.

अविरमणं हिसादी पंच वि दोसा इवंति णायव्वा ॥

कोषादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥ १८२६ ॥

हिसादयो मत्ता दोषाः पंचाप्यवतसंज्ञकाः ॥

कोषादयः कपायाः स्यु रागद्वेषद्वयात्मकाः ॥ १८२७ ॥

विजयोदया—अविरमणं अविरमणं नाम । हिसादि पंच वि दोसा हिसाकृतस्तेयव्यसपरिग्रहरत्याः पंचापि दोषाः
इयेति आस्यया अपिष्णणं मयतीति ज्ञातव्याः । प्रमत्तयोगात्म्याण्यपरिष्णणं, असदभिधानं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म
विदोषः, मूर्खो येति पते पत्तिमा अविमणसद्वेदोच्यते । विमणं हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात् । प्रवृत्तिरूपा हिसादयः
अविरमणं स्युच्यते । कोषादीया भोघमानमाबोलोभाः चत्तारि चत्वारः कसाया कपाया इत्युच्यते । रागदोसमया राग
दोषात्मकाः ॥

मूढारा—रागदोसमया रागद्वेषात्मकाः ।

अर्थ—हिसा, असत्य भाषण, चोरी करना, मेथुन सेवन, परिग्रह ऐसे पांच दोषोंको अविरति कहना

पाहिय. फलामयुक्त होकर प्राणीके दस प्राणोंका नाश करता हिंसा है. प्राणीओं को पीटा देनेवाला माषण असत्य फटा जाता है. लेने देनेका व्यवहार जिस वस्तुमें होता है ऐसी अन्यकी नहीं दी गई वस्तु लेना उसकी चोरी कहते हैं. चारित्र्यमोहके उदयसे रागादि होकर परस्परोंको स्पर्शन करनेकी जो झगड़ोंमें इच्छा उत्पन्न होती है उसको मेधुन कहते हैं. चेतन, अचेतन और मिथ्य वदार्थोंमें और रागद्वेषादिकोंमें जो भ्रमत्वबुद्धि होती है उसको परिग्रह कहते हैं. इन परिणामोंको अनिरसि कहते हैं. क्रोध, भान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं ये सब परिणाम राग द्वेषमय हैं.

रागद्वेषलभ्योर्माहात्म्यं वर्णयति—

किहदा राओ रंजेदि नरं कुणिमिं वि जाणुगं देहे ॥

किहदा दोसो वेसं खणेण पीयंपि कुणइ नरं ॥ १८२७ ॥

जानंतं कुधिने काये रागो रंजयते कथम् ॥

पांचवं कुल्ले द्वेत्वं द्वेपो हीक्षणतः कथम् ॥ १८२८ ॥

मिजगोदया—किहदा राओ रंजेदि नरं कथं तावद्वत्तो रंजयति नरं । कुणिमिं वि देहे अशुचानपि देहे, अशुराल-
इरायोम्ये । जाणुगं नरीपमुचित्ये जानंतं अतं रंजयति, सोरे वस्तुति न रंजयतीति न अस्मिन् कतारमशुचिस्मत्सारे क्षरीरे
रंजयतीत्येतद्वस्तुमिति भावः, दोसो दोषः, किहदा दोषं कुणदि कथं तावदेत्वं करोति । खणेण क्षणमात्रेण । पीयंपि नरं
पांचममपि नरं । अनेगपि द्वेपमाहात्म्यमावयते । रागाद्यथानपि द्वेपू द्वेध्यान् करोतीति ॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्यमाह—

गूढारा किहदा कथमिति विस्मये । तावदिति वाक्यालंकारे । कुणिमे वि अशुच्यत्तारेपि । जाणुगं देहस्याशुचित्व-
महात्त्वं य ज्ञानां भाषारं अनुगमोऽयोग्येऽदुरलंघ्यत्वेतद्वस्तुनं इति भावः । वेसं द्वेषं पीयं वि रागाभयं वंधुमपि ॥

अर्थ—यह शरीर अपवित्र है इसके ऊपर प्रीति करना योग्य नहीं है. परंतु यह रागभाव अज्ञानी-
वत्तो इस शरीरपर अनुरक्त करता है. सार वस्तुमें इस जीवको अनुरक्त नहीं करता है. आश्चर्य यह है कि विद्वान
लोकों को भी अपवित्र और निःसार शरीरमें यह अनुरक्त करता है. यह रागभाव अपने निकट जनोको भी एक
क्षणमें द्वेषयोग्य करता है. अर्थात् विनये ऊपर प्रेम करना योग्य है उनके ऊपर भी यह द्वेष उत्पन्न करता है.

सम्मादिष्टी वि णरो जेतिस दोसेण कुण्ड पावानि ॥
 विजेतिसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाणं ॥ १८२८ ॥
 कल्मषं कार्यते घोरं सद्धट्टिरपि वैज्जनः ॥

रागदोषविपक्षास्तान्धिकसंज्ञागौरवात्मनः ॥ १८२९ ॥

विजयोदया—सम्मादिष्टी वि णरो तत्पञ्चातथदानसमन्वितोऽपि नः । जेतिस दोसेण कुण्डि भावानि देवो
 दोसेण करोति पावानि, विजेतिसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाणं चिकान्मौरवानिंदिकानि संज्ञामदान् रागदोषांश्च ॥

मूढारा—सम्मादिष्टी

कल्पज्ञानश्रद्धावान् । दोसेण अपराधेन विकलप्राणोदेत्यर्थः । विजेतिसि विस्तान् । एय
 वतान् । द्वितीयोऽत्र पट्टी ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान और श्रदान्तसे युक्त मी मध्य बीच जिनके दोषसे पाप करते हैं उन गोरव, इंदिय, संज्ञा
 रूप रागदोषोंको चिकार हो.

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुहं पुरित्तो ॥
 पावदि य कम्मबंधं पुरित्तो विसयाभिलासेण ॥ १८२९ ॥
 विपयेत्वभिलापो यः पुरुषस्य प्रवर्तते ॥
 न ततो जायते लीख्ये पातकं घट्यते परम् ॥ १९०० ॥

पिक्तयोदया—जो अभिलासो विसएसु तेण यो अभिलासो विपयेषु स्थाविषु । तेन विपयाभिलासेण य पावदे सुहं
 पुरित्तो तुभं प्राप्नोति नैव सुखं पुरुषः । पावदि य कम्मबंधं प्राप्नोति य कर्मबंधं पुरित्तो विसयाभिलासेण पुरुषो विपया-
 भिलासेण निमित्तेन । एतेन विपयाभिलासपरिणामस्य प्राणिनामसकृद् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति
 कर्मबंधकारणं तु भवतीति विपयाभिलासस्याख्यस्य स्वरूपं कथितं ॥
 विपयाभिलासः सुखं न प्रयच्छति कर्मबंधे च निमित्तं भवतीत्युपदिश्यते—

मूढारा—१९४५ ।

अर्थ—पंचेन्द्रियाँके विषयोंमें जो अभिलाषा उत्पन्न होती है वह प्राणिजोको सुख नहीं देती है. अर्थात्

उस अभिलाषासे कर्मबंध होता है जो कि दुःख देनेमें कारण है. यह विषयामिलाया प्राणियोंमें हमेशा उत्पन्न होती है परंतु वह सुखके बदले आत्माका अहितही करती है. यहाँ विषयामिलावरूप आसक्तका स्वरूप कहा है.

विषयामितासस्य दुष्टतां प्रकारान्तरेणान्वेष्टे—

कोइं ठहिज्ज जहं चंदणं णतो दारुणं च बहुमोहं ॥

णासेइ मणुस्समवं पुरिसो तहं विसयलोहेण ॥ १८३० ॥

इंद्रियापेक्षुत्वे येन मानुष्यं प्राप्य योरुच्यते ॥

‘मस्सार्थं प्लोपते काष्ठं महाभीत्यमसौ स्फुटय् ॥ १९०१ ॥

विजयोदया—कोई बहिज्ज जह चंदणं कथिपणा इहेच्छंदनं । यदुमोहं महामूल्यं । दारुणं च भयुपविश्व च, यथा इति मस्सार्थिक स्वचरे समुत्तिथ, तदा प्राप्तेदि मणुस्समवं तथा नाशयति मानुषमवं अतोन्द्रियानंतसुखकारणं । पुरिसो तह विसयलोहेण भनितुच्छदिवपवार्येण ॥ उक्तं च ॥ विषया अनितेन्द्रियोरुत्वा बहुभिख्यापि समभिधिता रसैः । विषगर्भसुखेदतापयत् परिशुकाः पारेणामदाक्याः विषयसुखमतिवक्तुलोसिचितो विषयविशेषमनिरुक्तं कृत्या विषय-सुराप्रविहीनजातिजालो विषयसुखं लभते न भा विपुष्यः ॥

भेदवर्तरेण विषयलोपत्यस्य दौष्टयमाचष्टे—

मूढारा—इहेज्ज भयमायुधं इहेज्ज । दारुणं काष्ठं बहुमूल्यमिति विज्ञेयेणानुबोदिकम् । मणुस्समवं बहुमूल्य-

मितसुखेदतीन्द्रियानंतसुखकारणसाम्यगाचरणमूलं मानुष जन्म ॥

अर्थ—कोई मनुष्य भग्नभादिकके लिये अतिशय मूल्यवान् अगुरुबंधनकी लकड़ी जला देता है. वैसे यह मनुष्य भी अतिशय तुच्छ विषयोंमें लंपट होकर अर्वाँन्द्रिय अनंत सुखको देनेवाले इस मनुष्य जन्मको नष्ट कर देता है. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—ये विषय इन्द्रियोंको आब्जाद उत्पन्न करते हैं और अनेक रसोंसे युक्त है परंतु जेने विषयभित्त अन्न बहुत रसोंसे युक्त होने पर भी मूढाण करनेसे प्राण लेता है वैसे ये विषय आत्माका नाश करते हैं अर्थात् दुर्गतिमें घुमाते हैं. जो मनुष्य विषयसुखमें आसक्त होता है वह उस विषयके लिये अनिष्ट कायं करता है. जिसमें विषयसुखरहित लोगोंमें जन्म लेता है. उचित ही है कि पुष्करहित मनुष्यको विषय मुक्तकी प्राप्ति होती नहीं.

धुष्टिय रयणाणि जहा। रयणहीवा हरेज्ज कट्ठाणि ॥
माणुसभवे वि धुष्टिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८३१ ॥

इत्थं योऽवसुत्तं मूढो धर्मं मुक्त्वा निपेवते ॥

लोष्ठं गृह्णात्यसौ मुक्त्वा रत्नदीपेऽन्नं मणिम् ॥ १९०२ ॥

विजयोदया—पुष्टिय रयणाणि जहा रयणाणि लभन्ता यथा, रयणहीवा हरेज्ज कट्ठाणि रत्नदीपाकाद्यान्यादरति । तथा माणुसभवे वि धुष्टिय धम्मं धर्मं धिदाय । भोगे भिलसदि भोगान्वाञ्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकसार तन्मादये रत्नदीपं मुद्रुत्तं माय सुधा लब्धवानपि रत्नान्यनुपायाय असत्समिधनं सुलभं साऽबुद्ध्या यथा कश्चिदाह रति जहा । तथा नेकगुणरत्नाकरं मनुष्यधरे दुरवापमयात् यत्तत्पक्वं पटाचीनं अस्त्राकारिकं विषयसुखमभिभवति ॥

अनेकगुणरत्नाकरं मुद्रुत्तं मनुष्यधरमासाय पराचक्षतत्पक्वं इत्यत्र लब्धं विषयसुखमभिलष्यतं अनुलोचति—

मूलात्—रयणाणि सुधा लब्धान्यपि होरकादीनि । रयणहीवा रत्नदीपान् । हरेज्ज सारबुद्धं मनुष्याऽनयेत् ॥

अर्थ—जैसे कोहें मनुष्य रत्नदीपमें जाकर मी रत्नोंका स्थाय कर काष्ठ लावा है वैसे मनुष्य भवमें भी कोई धर्मको छोड़कर भोगांकी अभिलाषा करता है। अभिप्राय यह है कि, अनेक उत्कृष्ट रत्नोंका स्थान जो रत्नदीप जो कि बहुत दुर्लभ है वही जाकर सहज प्राप्त हुए रत्नोंको ग्रहण न कर जो तुच्छ निःसार और अल्पमूल्य ईवनों को सापेक्ष समझकर उनका संग्रह करता है वह जैसा मूर्खशिरोमणि समझा जाता है वैसा अनेकगुणरत्नोंकी मनुष्यमा लान है। ऐसा अलभ्य मनुष्यजन्म पाकर यदि तृपि उत्पन्न नहीं करलेवाला, पराधीन अल्पकाल तक दिक्किनेवाला ऐसा विषयसुख मनुष्य चाहता है तो यह चाहना रत्नदीप में जाकर लब्धिओंका संग्रह करनेके समान है।

गंतुण गंदणवणं असयं छंडिय विसं जहा विषइ ॥

माणुसमेवे वि छुटिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८३२ ॥

यो नुत्वे सेयते भोगं हित्वा धर्ममकल्पयम् ॥

जसौ विमुच्य पीयूषं विषं गृह्णाति नंदने ॥ १९०३ ॥

विजयोदया—गंतुण गंदणवणं गत्वा नंदनवनं । असयं छुटिय असुत्तं स्वप्नत्वा । विसं जहा विषइ विषं यथा विपति कथियम् । माणुसमेवे वि छुटिय मनुष्यमेवेति स्वप्नत्वा । धम्मं धर्मं । भोगेभिलसदि तथा, भोगान्भिलाषयति तथा ॥

मञ्जरा—अमयं देवादारम् ॥

अर्थ—जैसे कोई मूल मनुष्य नन्दन वनमें जाकरभी वहाँ अमृतका त्याग कर विषपान करता है, वैसे कोई मनुष्य मनुष्यभवनमें भी धर्मको छोड़कर भोगोंकी अभिलाषा करता है।

योगशास्त्रार्थमाचष्टे—

पापपञ्चयोगा मणयचिकाया कम्मासर्वं पकुर्वन्ति ॥

सुञ्जन्तो दुष्मन्तं वणमि जह् आसत्तं कुणइ ॥ १८३३ ॥

योगः कर्मासत्तं दुष्टो मनोवाक्कायलक्षणः ॥

यथा सुत्तो दुराहारो विदधाति त्रणासवम् ॥ १९०४ ॥

विजयोदया—पापपञ्चयोगा पापे प्रयुज्यन्ते प्रत्येके परिभिरिति पापप्रयोगाः । मणयचिकाया मणोवाक्काया, कम्मासर्वं पकुर्वन्ति कर्मस्य पर्यायागमं पुद्गलानां भवेति । सुञ्जन्तो दुष्मन्तं भुञ्जन्तो दुराहारं । वणमि जह् आसत्तं कुणधि, द्वये यथा आसत्तं त्विति पूतीनां करोति ॥

योगान्दयाचष्टे—

मञ्जरा—पापपञ्चयोगा पापं दुरञ्जन्ते, कर्मासात्तं वा प्रयुज्यन्ते प्रत्येके वैरिणि पापप्रयोगाः । कर्मस्यपरिणमनशक्ति-मुष्ठा इत्यर्थः । कर्मासत्तं पुद्गलानां कर्मत्वपर्यायोपगमनं । भुञ्जन्तं भुज्यमानं । दुष्मन्तं अपप्यासगन्तं । वणमि जह् आसत्तं आश्रुतिं पूपादीनां ॥

योगान्दयाचष्टे—

अर्थ—जिनसे पापोंकी प्रवृत्ति की जाती है ऐसे मनोयोग, वचनयोग और क्वाययोग पुद्गलोंमें कर्मत्व पर्याय उत्पन्न करते हैं, वैसे अपप्याहारका भक्षण करनेसे त्रणमेंसे दुर्गम रक्त, पीव उत्पन्न होता है वैसे इन पाप-योगोंसे कर्म उत्पन्न होता है।

कर्माणि भुमाश्रुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मणः क आस्त्व इत्यत्राह—

अणुकंपासुद्धवज्रो गो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं ॥

तं विवरीदे आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥ १८३४ ॥

आस्यं कुक्ते योगो विमुक्तः पुण्यकर्मणाम् ॥
गिरिजः ॥ १ ॥

विद्ययोऽन्या—अन्येषां विपर्ययः परस्यः संचितः पापकर्मणाम् ॥ १९०५ ॥

पुण्यपथ्यायागमनगुरं सेदध सत्यम्बु रतिदास्युंवेदा शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं प्लेभ्योऽन्यानि पापानि ।
मनुकंया त्रिप्रकाट ॥ धर्मोक्तंया मित्रानुक्तंया सर्वानुक्तंया चेति ॥ तत्र धर्मोक्तंया नाम परित्यक्तासंयमेषु मानावमान
विपद्यु दिक्तेषु भोगेषु भोगान्मित्रित्य विरागतामुपगतोक्तु संसारमदासमुद्रमयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अंगीकृतनिस्स-
मयेतु, क्षमादिदत्तापधर्मपरित्यक्तंया वायुक्तंया सा धर्मानुक्तंया, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योगाजपानावस्येवणा-
दिर्क संयमत्तापरं यतित्यः प्रयच्छति । स्थमयिनिगुह्य शक्ति उपसर्गदोषानपसारयति आह्वयतामिति सेवां करोति
अथमाणां पंचानसुरंशयति । सैः प्रतयोनमपाव्य अहो सपुण्या वयमिति हयति, सभासु सेवां गुणास्कीर्तयति सेवां करोति
गुणमिप परयति सेवां गुणानात्यभीक्ष्णं स्मरति, महात्मयिः, कदा कु मम समागम इति ॥ तैः संयोगं समीपसति, सर्वोपाय
गुणान् परैरभिरिष्यन्महादिशस्य तुल्यति । इत्यमनुक्तंयापरः साधुगुणानुमनानुकारी भवति । त्रिधा च संतो मंध
मुपदितीति स्वयं कृते, कारणायाः, परैः कृतस्यानुमतेद्य ततो महागुणराशितदर्थतु महान् पुण्यास्तवः । मिथालुक्-
गोच्यते । दृष्टुपापकर्ममूलज्यो हिसादिन्यो र्वापृष्ठाः संतोषवैराग्यपरमविरताः दिग्विरति, देवाविरति, अनर्थदण्ड-
निरति चोपगतास्तीत्यवोगाद् भोगोपभोगादिपुल्य शेषे य भोगे कृतप्रमाणाः पापात्परिधीतचित्ताः, विशिष्टवेगे
काळे य निष्कृतसर्वसापचाः पर्यस्यात्भयोगं सफलं विपुल्य उपपातं ये कुर्वन्ति तेषु संपतासंदहेषु क्लियमा-
जानुक्तंया मिथानुक्तंयाच्यते ॥ जीयेषु तथा च कृता इतस्मान्मुपयमानाः विनवृत्ताहारा येऽभ्य पादे-
उत्ताविनीनाः कपानि तवमि कुर्वन्ति, तेषु निदमानानुक्तंया तथा सर्वोपि कर्तुंयं प्रचिनोति वेश
प्रकृतिर्येदिणामादहनवात् । मिथ्यात्वयोपेदतोम्यधर्म इत्येषु मिथो भवति धर्मो मिथ्यानुक्तंयामवगच्छेऽजंतुः ॥
नदहयो पापि कृदहयो या स्पभायतो मार्दवसंप्रयुक्ताः ॥ वां कुर्वते सर्वरापरणं सार्थानुक्तंयस्यभिधीयते सा ॥
विद्यान् पिद्यान् वद्यान् नहतवितुव्यमाग्रा नत्वांन्, सहेनसो भिरनैसो या परितद्व्य मृगाभिवद्यान् सरीसृपान् पशून्
मत्तादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोकं पररपत् वा ताव दित्सतो भक्षयतश्च इष्टया सूक्ष्मांकां कुंशुपिपीलिका प्रभृति
प्राणभूतो मनुजकरनसरदारभकरितुरगादिभिः संयुक्तमानानमिधीक्ष्य असाध्यतोभोरगत्सन्तान् परितप्यमानान् मृतोहिम
नयोस्वभियापतेति रोगानुभूयमानान्, स्वयुक्कलशदिभिरघातकालिः (?) सहसा विजुन्य कुर्वतो रुजा विक्रोशतः,
रयतामि रनतश्च, नोकेन उपाजितद्रविषैर्विजुन्यमानान् अनट्यंघूर्न धैर्वमित्यपिचाप्ययसायहीनान् यान् प्रघामराफ्त्या
यराद्यान् निरीक्ष्य दुःपमासस्थमिप विक्षित्य स्वास्थ्यमुपशानमनमुक्तंयाः सुदुर्लभं मानुषजन्यं लब्ध्वा मा क्लेशराधाणिनू-
भेय भूत ॥ धर्मं शुभे मृतादिते यतभ्यमिगेममातैरपि चोपवेदाः कृतकरिप्यमाणोपकारानपेक्षेत्तुक्तंया कृता भवति । पुण्यात्यवं
मा त्रिधियानुक्तंया भूतेषु पुनं जननी शुभेयतेनानुक्तंया मरुपादियुण्याभाके यता अम्युपपत्तिमीयुः १ शुद्धप्रयोगो निरूप्यते

[illegible]

कः पुण्यस्यासुनः कथं पापस्यासुनं इत्यत्राह—

मूढारा—अणुकंठा कृपा । सा च त्रिया । धर्ममिश्रसर्वानुकंपाभेदात् । तत्र धर्मानुकंपा नाम यथा प्रयुक्तो विवेकि
 होः सदास्य निगूढनेन संगमनिष्ठेभ्यस्तत्त्वयोग्यप्रपञ्चवसत्युपकरणौषादिह संभवसाधनं प्रयच्छति । तेषामुपसर्गोपसा-
 रयति । आशाद्यव्यभिचि सेना करोति । यथि विधान्वानां रंधानमुपदिशति । वस्तुप्रयोगमवाप्य सुपुण्योद्धमिति हृच्छति ।
 सनानु वहुजान्कीर्तयति । कीर्तमानाननुयोदेते, स्मरति चाभीक्ष्णं । वैमहृत्यभिः कदा नु अे सभाभावो यविष्यतीति तत्सम्भ-
 योगपर सोरंठः सुदयति । एवमदिग्दृष्टानुपरागिग्लहर्षप्रकर्षां गद्गन्धुणाश्रवणो भवति । यद्वत्संवदासंयेषु जिनसूत्र-
 याद्यश्चउपप्राप्तिरि तु च यथायोग्यं क्रियमाणानुकंठा मिश्रानुकंथेच्यते । ॥ च मिश्रपुण्यासवरः स्यात् । सद्दृष्टिभिः कुट्टिभि-
 र्पां क्रियमाणा क्रियमानसर्वश्रेणिषु अनुकंठा सर्वानुक्रमेणुच्यते । यथा प्रयुक्तोऽन्यदुःखं स्वात्मस्यमिव मन्यमानस्तत्त्वा-
 रण्याप श्रदुपकारनिरपेक्षं प्रयच्छेत् । सद्दपदेनं च ददाति । साधि पुण्यासवरैष्वैव स्यात् । सुलोपजोभो हृद्वज्ज परिणामः ।

त न दया मनियुक्तिगोपयेत् ॥ तत्र यद्विदुःखयोगो निमित्तजननीदृश्याध्यात्म्यानादिलक्षणः । गृहिदुःखयोगस्तु दित्ता-
वित्तिरुत्तमगुणानीनादिलक्षणः । पुण्यस्य सद्देवसम्बन्धकत्वविहास्यपुण्येव भावयुक्तगौरवरूपस्य कर्मणः । आसक्तदुष्टादं
गुणानां पुण्यतत्त्वार्थात्मनस्य ॥ आसक्तानुमेधा ॥

कर्मके शुभकर्म और अशुभ कर्म ऐसे दो भेद हैं उनमें किस कर्मका कोनसा आलस्य है इसका विवेचन
आनायें करते हैं--

अर्थ—अशुभकर्म-दया, शुद्धोपाय-आत्म्याके निर्मलपरिणाम ये पुण्यकर्मके आशयनदार हैं इन परिणा-
मोंमें पुण्यकर्मसंसा एषांपु पुण्यलमें उत्पन्न होता है. सात्वतदीय, सम्पत्कृतप्रकृति, रति, हास्य, पुण्ड, क्षुभनाम कर्म
और उल्ल गोन, शुभआयु इनको पुण्य कहते हैं. इनसे जो भिन्न कर्म हैं उसको बाप कहते हैं.

अशुभकर्म-दया-इसके तीन भेद हैं. धर्मानुकरणा, मिथानुकरणा और संपांनुकरणा, धर्मानुकरणाका स्वरूप
इस प्रकार है--

जिन्होंने अग्रपमता त्याग किया है. भान, अपमान, सुख दुःख, लाभालाभ, तृण सुवर्ण इत्यादिकोंमें
बिनाही बुद्धि रागद्वेषरहित हो गयी है, इन्द्रिय और मन जिन्होंने अपने वश किये हैं, उग्ररूपाय और विषयोंको
जिन्होंने छोड़ दिया है, दिव्यभोगोंके दोष देखकर जो वेगव्ययुक्त हो गये हैं, संसारसमुद्रकी भीतिसे रातमें भी
अल्पनिद्रा लेनेवाले, जिन्होंने संपूर्ण परिश्रमों को छोड़कर, निःसंगता धारण की है, जो समाधि दश प्रकारके
पर्मोंमें स्वने तत्पर रहते हैं कि मनो स्वयं समाधि दशधर्म स्वरूपही बनेहो ऐसे संयमी मुनियोंके ऊपर जो दया
करता उनको धर्मानुकरणा कहते हैं.

यह धर्मानुकरणा अंतःकरणमें लक्ष उत्पन्न होती है तब ब्रिन्की गृहस्थ यतियोंको योग्य अन्नपाणी,
वस्त्रादि, औषधादिक पदार्थ देता है. अपनी शक्तिको न छिपाकर वह मुनि के उपमर्गको दूर करता है. हे प्रभो !
आप आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थनाकर सेवा करता है. यदि कोई मुनि मार्गश्रष्ट होकर दिव्यदृष्ट हो गये हो तो
उनको मार्ग दिगता है. मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेसे हम धन्य है ऐसा मनमें समझ कर आनंदित होता है.
मनमें उनके गुणोंका कीर्तन करता है. मनमें मुनियोंको धर्मपिता, गुरु, समझता है. उनके गुणोंका चिंतन मनमें
हमेशा करता है. ऐसे महात्माओंका फिर कब संयोग होगा? ऐसा विचार करता है. उनका सद्भाव हमेशाही

होनेही इच्छा करता है- दूसरों के द्वारा उनके गुणोंका वर्णन सुनकर संतुष्ट होता है- इस प्रकार धर्मानुक्तोंका करनेवाला जीव साधुके गुणोंको अनुमोदन देनेवाला और उनके गुणोंका अनुकरण करनेवाला होता है- आचार्य पंचमे तीन प्रकार कहते हैं- अच्छे कार्य स्वयं करना, करना, और करनेवालों को अनुमति देना इससे महान् पुण्यस्रर होता है- क्योंकि महागुणोंमें प्रेम धारण कर जो कुछ कारित और अनुमोदन श्रवृत्ति होती है वह महापुण्यको उत्पन्न करती है-

मित्रानुक्तोंका वर्णन—महान् पातकोंके मूलकारणरूप हिंसादिकोंसे विरक्त होकर अर्थात् अशुद्धता पनकर संतोष और वैराग्यमें उत्तर रहकर जो दिग्विरति, देशविरति, और अनर्थ दंडत्याग इन गुणप्रतीकों धारण करते हैं, जिनके सेवनसे महादोष उत्पन्न होते हैं ऐसे भोगोपभोगोंका त्याग कर वाक्यके भोगोपभोग के वस्तुओंका जिन्होंने प्रमाण किया है, जिनका मन वापसे भययुक्त हुआ है- अर्थात् पापसे डरकर विविष्ट देश और कालकी मर्यादा कर जिन्होंने सर्व पापोंका त्याग किया है अर्थात् जो सामायिक करते हैं, यवोंके दिनमें संपूर्ण आरंभका त्याग कर जो उपवास करते हैं ऐसे संवत्संयत अर्थात् गृहस्थोंपर जो दया की जाती है उसको, मिश्रानुत्तरा कहते हैं, जो जीवोंपर दया करते हैं, परंतु दया का पूर्ण स्वरूप जो नहीं जानते हैं- जो जिनद्वारासे दया है, जो अन्य पालंद गुरूकी उपामना करते हैं, मत्त और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं इनके ऊपर कृपा करना यह भी मित्रानुक्तोंका है- क्योंकि गृहस्थोंकी एकदेशरूपतासे धर्ममें प्रवृत्ति है वे संपूर्ण चारित्ररूप धर्मका पालन नहीं कर सकते हैं- अन्य जनोंका धर्म मिथ्यात्वसे युक्त है- इसवास्ते गृहस्थधर्म और अन्यधर्म दोनोंके ऊपर दया करनेसे मित्रानुक्तोंका कहते हैं-

सुदृष्टि अर्थात् सम्मशष्टिजन, कुदृष्टि मिथ्यादृष्टि जन ये दोनों भी स्वभावतः मार्दवसे युक्त होकर संपूर्ण प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं इस दयाका नाम सर्वानुक्तोंका है-

जिनके अवयव दृढ गये हैं, जिनको जलम हुई है, जो बांधि गये हैं, जो स्पष्ट रूपसे खंड जा रहे हैं ऐसे मनुष्योंको देखकर, अपराधी अथवा निस्पराधी मनुष्योंको देखकर या जो अपनेको ही दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना यह सर्वानुक्तोंका है-

हरिण, पक्षी, पेटमें दीढ़नेवाले प्राणी, पशु इनको मांसादिकोंके लिये लोक भारते हैं ऐसा देखकर अथवा

आगममें उपर्युक्त माणी लटते हैं और भक्षण करते हैं ऐसा देखकर जो दया उत्पन्न होती है उसको सर्वायुक्ता कहते हैं, मृक्षम कुंभ, चींटी, वगैरह प्राणी, मनुष्य, छंद, मघा, श्रम, हाथी घोडा इत्यादिकोंके द्वारा मर्दित किये जा रहे हैं ऐसा देखकर दया करना चाहिये- असाध्य रोगरूपी सर्पसे काटे जानेसे जो दुःखी हुए हैं, भै मर रहा हूं, मेरा नाश हुआ, हे जनहो दौड़ो ऐसा जो दुःखसे खूब कहते हैं उनके ऊपर दया करनी चाहिये- पुत्र कलत्र- पत्नी वगैरहसे जिनका वियोग हुआ है- जो रोग पीडासे शोक कर रहे हैं- अपना मस्तक योगेद अवयव जो वेदनोसे पीटते हैं- कमाया हुआ धन नष्ट होनेसे जिनको शोक हुआ है- जिनके मांथव छोटकर चले गये हैं, जो धैर्य, धित्य, विद्या, व्यवसाय इत्यादिकोंसे रहित हैं उनको देखकर अपनेको इनका दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उन प्राणिओंको स्वस्थ करना उनकी पीडाका उपशम करना यह सर्वायुक्ता है-

यह मनुष्य जन्म अतिशय दुर्लभ है, सज्जनो ! इसकी प्राप्ति आपको दुर्लभ है इस वास्ते अकृत्स्न करके आप दुःखके पात्र मत बनो- कल्पण काफ़ छत्र ऐसे सत्य धर्ममें दृढ़ रहनेका आप प्रयत्न करो- इस प्रकारका उपदेश देना चाहिये, जो प्राणिओंपर दया करते हैं उनको इतने मेरे ऊपर उपकार किया है- यह मेरे ऊपर उपकार करेगा ऐसी आशा करना योग्य नहीं है- इस प्रकार प्राणिओंपर तीन प्रकारकी दया की जाती है- इस दयासे जो पुण्य संचित होता है उससे स्वर्गमें जन्म होता है- जब पुण्य प्रयोगका निरूपण करते हैं— यविका छुट्टमयोग और गृहस्थोंका छुट्ट प्रयोग ऐसे इसके दोन भेद है-

यतिके छुट्टप्रयोगका वर्णन इस प्रकार है—

‘ मैं जीवोंको नहीं मारूंगा, अस्तव्य भाषण नहीं बोलूंगा, और चौर्य नहीं करूंगा, भोगोंका उपभोग मैं नहीं करूंगा, धनका सेवन नहीं करूंगा और शरीरको अतिशय कष्ट होनेपर भी शतमें भोजन नहीं करूंगा, क्रोध, मान, माया और लोभसे बंधु दुःख देनेवाले आरंभ परिग्रहोंका सेवन नहीं करूंगा, मुनिदंडा धारण कर देसा कर्म करना मेरे लिये अर्थात् अयोग्य है-

जैसे जिसने अपने किरिटपर माला धारण की है, दाधमें घनुष्य और ब्रह्म धारण किये हैं ऐसा राजाके सदृश मनुष्य यदि भीख मांगता हो उसके लिये यह भीख मांगना विलकुल योग्य नहीं है- वैसे मैं भी दीक्षा लवजको छोड़कर आरंभ परिग्रहादिक फार्य करूंगा तो क्या वह मेरेलिय योग्य होगा ? कदापि नहीं- मेने घृण्य

महर्षियोंका लिंग धारण क्रिया है, मैंने यदि त्योंके नाशकी पूर्वा नहीं की तो यह योग्य नहीं होगा यदि मैं आरम्भकरादि पद कम भी नहीं किंचित तो यह मेरे लिए योग्य नहीं होगा। दीक्षा धारण कर काम विकार में मैं अपनी आपत्ति कैसी करूँ ? धर्म छोड़कर चाहे जैसी प्रवृत्ति करना यह अनार्यपना का सूचक है धर्म छोड़कर हीन होकर प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है, यदि मेरे देहमें विकार रहेगा ही तो व्यर्थ मलक भुँदकर यदि का आचरण करना व्यर्थ है इस प्रकार विचार कर आरंभ परिग्रहादिकोंमें चराम्भ उदाना चाहिए

सिद्ध, अर्हत्, आचार्य, उपाध्याय, विनम्रतिगा, संघ, विनयधर्म इनके ऊपर भक्ति करना, विषयेस विरक्त होना, इनके गुणोंपर प्रेम रखना, नम्रता, सयम, अग्रगण्य स्मृत्योंमें सावधान रहना, मोदक, क्षमा, आर्जव, सतोष ये गुण धारण करने चाहिये, आहारादिक चार संज्ञाओंको जेतना चाहिये, मुख्य और मासयोंका त्याग करना उपमग और परीपहोंको जितना, सम्पत्त्यजन, सम्पत्त्यजन, ससगसयम, दस प्रकाशका धर्मध्यान ये गुण धारण कर जिनमूकी दृष्टाका उपदेश करना, निमोक्षितादिक आठगुण, प्रशस्तरामसे तपोभावना अर्थात् मैं तपस्वरा नमोका ध्य करूँगा ऐसी उत्कृष्ट अभिलाषा, पांच समिति, तीन शुद्धि इत्यादिक सुनिवर्त्योका शुद्ध प्रयोगका वर्णन है

गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोगका वर्णन—

जो व्रत धारण क्रिया है उसको धारण करना और पालन करनेकी इच्छा रहना, एक क्षणतक भी व्रतका नाश होना अनिष्ट है, अकल्याण कारक है ऐसा समझना, इहेशा यतियोंके सहवास की इच्छा रखना, श्रद्धादि-निर्वाके अनुसार आहारादिभक्षण देना, श्रमपरिहार करनेकी इच्छासे भोगोंको भोगकरभी इनका मैं त्याग करनेमें असमर्थ हूँ ऐसी अपनी निंदा करना, सदा घरका त्याग करनेकी इच्छा रखना, धर्मधरण करने पर मनमें अत्यार्तद्विष्ट होना, भक्तीसे पंथ गुरुओंकी स्तुति करना, प्रणाम करना, पूजा करना, अन्य लोगों को भी जैनधर्म में स्थिर करना, उपगृह्यन करना, साधर्म्योपर प्रेम रखना, जिनद्वेके भक्तोंपर उपकार करना जिनशास्त्रका सत्कार पूजा करना, जिनधर्म की प्रभावना करना इत्यादिक गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोग है।

अनुक्रम और शुद्ध प्रयोगके विषयीन परिणाम होने से अशुभ कर्मके आसव जाते हैं,

अन संरातनुप्रेक्षा आचार्य वर्णन करते हैं—

प्रदलो में होनेवाले कर्मपर्याय जिस जीवपरिणामसे लभ जाते हैं उस परिणामको संवर कहते हैं,

अथवा जिस जीवके परिणामसे मिथ्यात्वादियरिणाम रुकजाते हैं उस सम्मयकत्वादि परिणामको आचार्य सत्वर कहते हैं। मिथ्यात्वादि परिणामोंको रोकनेसे सम्मयकत्वादि परिणामोंको संवर कहते हैं—

मिच्छत्तासवदारं रुंभद् सम्मचदिदकवाडेण ॥

हिंसादिदुवाराणि वि ददवदफलहेहिं रुंभंति ॥ १८३५

कुदशनावृत्तकपाययोगैर्जीवो भवे मज्जति कर्मपूर्णः ॥

दुरापपरि चिवरेरनेकैः पोतः पयोधविब वारिपूर्णः ॥ १९०६ ॥

इत्यात्मवानुमेक्षा ।

मिष्टपारवभासचद्वारं पिपेक्षे तत्त्वरोचनम् ॥

सुतमासेयमं सचो शुहीत्यारमिचाररे ॥ १९०७ ॥

मिच्छाबोधना—मिच्छत्तासवदारं तत्त्वाध्यानमात्मयद्धारं । रुंभंति संयते, सम्मचदिदकवाडेण तत्त्वध्यान कयटेन । हिंसादिदुवाराणि वि हिंसादिदुवाराण्यपि, ददवदफलहेहिं रुंभंति ददवदपरिवैः समर्पति ॥

धर्म व्यापविटु नापादशकैः संवरमनुमेक्षते—तत्र संनिपन्ने विरुध्यते प्रत्याभाः कर्मपर्यायाः पुत्रलानां येन जीवपरिणामेन मिथ्यात्वादिवर्णं येन निरुध्यते स संवर इति मिथ्यात्वादिपरिणामसंवरणाल्पान्येन सम्मयकत्वादीनां संवरणं निरूपयन्निषेधतः भावयति—

मूलात्—रुंभंति रुंभति के मुमुक्षवः । फलिहेहिं अर्गलाभिः ॥

इसीका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—तन्मार्थ श्रद्धानको सम्मयदर्शन कहते हैं, सम्मयदर्शनरूप मन्वयुत किताबकेद्वारा पुरुष मिथ्यास्वरूपी दराराजा जोकि पापकर्म आनेका कारण हैं बंदर देते हैं, दद अहिंसादि व्रतरूपी अमोक्षओंसे पुरुष हिंसादि दरवाजों को बंद कर देते हैं.

उपसंभमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं ॥

सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चौराणं ॥ १८३६ ॥

कृपायतस्करा रांद्रा दयादमनामायुधैः ॥

श्राव्यन्ते रक्षितुं दिव्यैसायुधैरिव तस्कराः ॥ १९०८ ॥

विजयोदया—उद्यमदयादमाउद्धरण उपनाम कृपालवेगनीयस्थ कर्मणस्तिरोधवनं, दया सर्वग्राणिप्रिया, वसः कृपायदोपभावना चित्तनिग्रह । एते धन आयुधाः करे यस्य तेन । कृपायचोरेहि कृपायचोरेभ्यः । रक्षा सखन कारुं रक्षा दायना कर्तुं, आयुधकरोष रक्षाल चोरेहि आयुधस्त्वेन चोरेभ्यो रक्षेय, कृपायदोपपरिज्ञानेनालकृत प्रचूतेन मोपादिनिमित्तवस्तुपरिवारेण तत्प्रतिपक्षसमाधिपरिणामेन च कृपायनिवारणं ॥ उक्तं च ॥ अयत्तदा कोधयुपाधितः खर्मा, अयेव्य मान समुपेत्य मार्गये । तथैव मायामपि याज्या-जयेत्, अयेव्य संतोषवशेन लुप्यतां । जितः कृपाया यदि किम तैर्जितं कृपायमूल सकलं हि धंधनमिति ॥

मूला—उद्यम-कृपायवेदनीयकर्मण उदयनिमित्तकर्मणैः समाधिभावनया वा तिरोभावदात्मनः प्रसन्तिः ॥
दमकृपायदोपभावना चित्तनिग्रहः ॥

अर्थ—कृपाय वेदनीय कर्मका उदय न होना उसको उपश्रम कहते हैं, सर्व प्राणिओंके ऊपर उनका दुःख देलकर अपना अंतःकरण आर्द्र होना दयाका लक्षण है, कृपायोंके दोषोंका विचारकर चित्तको स्वाधीन रखना निग्रह कहते हैं, उपश्रम, दया और निग्रह ये तीनगुण जिसने अपने हाथमें लिये हैं वह पुरुष कृपायरूपी चोरोसे सखल मनुष्य जैसा चोरोसे अपना रखण करता है रक्षण करता है-संवरकी ह्जा रखनेवालोंमें धारंवार कृपायोंके दोषोंका परिमान कर लेना चाहिये, जिन वस्तुओंका आश्रय करनेसे क्रोधादि कृपाय उत्पन्न होगे उनका त्याग करना चाहिये, और क्रोधादिकोंके प्रतिपक्षीरूप क्षमा, विनय, सरलपना, निर्विषयता योराह वरिणाम आत्मामें उत्पन्न कराने चाहिये, इसमें कृपायोंका अवश्य निवारण होगा, इस नियममें ऐसा कहा है—क्षमाका आश्रय लेकर क्रोधाको जीतना चाहिये, मार्दकके आश्रयसे मानकृपायका परामर्श करना चाहिये, आर्जव गुणसे मायाको और संतोष धारण कर लुप्यताका परिहार करना चाहिये, यदि जिसने कृपाय जीते हैं उसने सर्व जीति लिया ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि संपूर्ण कर्मवंपनकेलिये कृपायही कारण है,

मिष्टान्तसंबन्धं कृपायसंबन्धं निरूप्य इन्द्रियसंबन्धं ध्यात्वे—

इन्द्रियद्रुतस्या निगिष्यन्ति दममाणललिनेहिं ॥

उपहृगामी निगिष्यन्ति हु खल्लिनेहिं जह तुरया ॥ १८३७ ॥

इन्द्रियाश्वा नियम्यन्ते वैराग्यखलिनैर्देहैः ॥
उत्पद्यप्रस्थिता दुष्टास्तुरगाः खलिनैरिव ॥ १९०९ ॥

विजयोदया—इंद्रियदुष्टतरसा इंद्रियदुर्वृत्ताभ्याः चित्तिव्यपत्तिं निगृह्यते निरुध्यते, केन दमपानखलिनैर्देहैः दमपानानि दमयत्वानि, तावदेव चित्तितति शीः । शब्ददिषु वर्तमानानि इंद्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानीहैन्द्रियशब्दे-
नोच्यन्ते तेषां चास्वभावो निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । तयो रूपयोर्गुणपदेकस्मिन्भावमन्यभवेतः । उत्पद्यगामी
उन्मादगंयायिकः । अत्र तुरगा निगिप्यन्ति चक्राशया निगृह्यते । खलिनैर्देहैः खलिनैः ॥

एवं मिथ्यात्वासंबन्धनायसंस्कारानिरुप्य करणसंधर्गं व्यकरोति—

मूलाः—इंद्रिय इष्टानिष्टरूपादिषु प्रवर्तमानानि चक्षुरादिज्ञानानि । निगिप्यन्ति निगृह्यते । दमपानखलिनैर्देहैः दम-
पानानि ज्ञानानि नानाप्रभेदाः तानि खलीनानि इव दुष्टबाहिन्यामिष रत्नहेपेदिद्रवज्ञानानां निरोधनिमित्तत्वात् । इन्द्रि-

यज्ञानं हि इष्टानिष्टे वा स्वविषये वागं द्वेषं वा अनयत्तदुपेक्षाया ज्ञानेन प्रविचर्यते । इत्योरुपयोगयोर्गुणपदेकस्मिन्भावमन्य-
प्रवृत्तेः ॥

मिथ्यासंधर्ष और कषाय संवरका निरूपण किया. अथ इंद्रिय संवरका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इंद्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको दमगुणकी मुख्यधामे युक्त ऐसे ज्ञानरूपी लगामोंसे जो पुरुष दश करते हैं.
शब्द, स्पर्श, रस वगैरह विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाले इंद्रियज्ञानोंको रागद्वेषही कारण हैं. अर्थात् रागद्वेषसे इन्द्रियज्ञानकी
प्रवृत्ति स्पर्शादि विषयोंमें होती है. इस भावमें इंद्रियज्ञानको ही 'इंद्रिय' कहा है. इंद्रियज्ञानसे उत्पन्न हुए आलसोंका
विरोध तत्त्वज्ञानकी भावनानि होता है. स्वर्णादिविषयोंमें प्रवृत्ति और तत्त्वज्ञान ये दोन उपयोग एकसमय आत्मामें
नहीं होते हैं. एक समयमें दोन उपयोग उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा आगममें कहा है. उन्मादपर जानेवाले दुष्ट घोड़ों
का जैसे लगाम के द्वारा निग्रह करते हैं वैसे तत्त्वज्ञानकी भावनानि इंद्रियरूपी अशोक निग्रह हो सकता है.

अणिदुदमणसा इंद्रियसप्पाणि जिगेहिदुं ण तीरन्ति ॥

विज्जामंतोसधहीणेणव आसीविसा सप्पा ॥ १८३८ ॥

नाथसर्पा निगृह्यन्ते भीषणाञ्जलमानसैः ॥

वंदशुका इव ग्राह्या विद्यासंवावचर्जितैः ॥ १९१० ॥

१. द्रष्टव्यविशिष्टमोजनशियापेलक्ष्यपि मनोहरान् रसान् ॥ ६ ॥ निवेदितुं रमयणेन कांक्षति वदन्त्यथा या न निगेत्य-
स्त्वति रसान्तेकानमनोहरानपि न नेष्यदति द्रव्यशेन सेवितुं ॥ ७ ॥ निवेद्य न हेष्टि वदन्त्यपि न भवेत्स जेता रसनेष्टि-
पत्य च । मनोप्रशस्त्यस्तनोतयोर्योनितां, शुभांश्च यः स्पर्शविधीन् मनोहरान् ॥ ८ ॥ न सेवितुं रमयणेन वांछति
वदन्त्यथा ता न निषेद्य त्यति । प्रमदं नान्तरन्मार्जनानि वा शिल्पनाम्यंजनमार्जनानि च ॥ ९ ॥ शरीरलोभ्याय न यद्व-
त्सर्वतो विमुक्त्यैरागयुतो महायतिः । हिमोष्णयुगैश्चैतज्जगद्विजानतो भवान् स्वश्रेयिषीन् स्व संवेदा ॥ १० ॥
न नेच्छति त्वेष्टि न चाप्युपगतान् स्वोर्गद्विरस्येष भेद्विजिष्णुतां, रणे रिपुपण्विह निर्भयो जयेत् पथेप्रियाणां अप्रमार्दयतो
यतिरिति ॥ ११ ॥ निद्रायः प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनसनमवमोर्द्वै, रसपरिख्यागः, संसारद्वीतिनिद्रादोषविता रत्न-
ज्येष्ठनुलग्नः स्वदुष्टदरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमार्चिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावोभ्यते, धंयुताया अनवस्थितत्व-
भावनया, तदर्थनेकार्भपरिग्रहमयुनिश्चिता, धर्मविपदा, दोषानुपेक्षयमिकादिरुः । ध्वंभूतेनाप्रमादफलकेन प्रयत्ना
निवृत्तये । कीरति फलगेन जग्रा किञ्चेत् फलकेन यथा । आयाप जलासपयभिरौचो नावः कलासयभिरौचः ॥

प्रमादशब्दं सविस्तरं श्रवीति—

मूलरा—पापप्रयोगा विरुधादयः पंचदशप्रमादपरिणामाः । अल्पमादः कलागेन अल्पमादो विकल्पादिप्रभावप्रतिपक्ष-
भावना । सफलकमिव प्रमादसंपादकर्मणां प्रतिभट्टप्रहाराणामिव प्रतिबंधकवत् । सत्र विकल्पप्रतिपक्षाः सत्यासत्यसुवाभा-
पारणाभ्यासौ ध्यानं च । कपायप्रत्यनीकाः क्षमाद्वयतादुदयकारणविमुक्तदेशायस्थानं । वदोपापायावयभावना च । ईष्टियम-
तिपरिधत्तव्यवहानभापना रागाद्वेपनिर्भेद्विषयविपक्षविपक्षेऽप्यध्वानतद्विषयमभ्यरागाद्वेपामरणं विषयोपलब्धौ तेऽध्वना-
द्वयः । निद्राविरोधिनीं अतशनमवमोर्द्वै रसपरिख्यागः । संसारद्वीतिः, सम्यक्साधारणचे भ्रीविः । स्वदुष्टरक्षणसंरणा-
नुशोचनं, निद्रादोषानुचितं च । स्नेहविपक्षा धंयुत्वस्थानवस्थितत्वभावनां तदर्थनेकार्भपरिग्रहमयुनिश्चिता धर्मदति-
वर्षकत्वदोषानुपेक्षणं च ॥

प्रमादका संवर कित प्रकाशे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विकल्पादिक पंचरा प्रमाद हैं इनके द्वारा जो आत्मामें अशुभ परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग
कहते हैं । जैसे शत्रुके अस्त्रप्रहारको फलकेस [दालसे] वीर पुरुष रोकते हैं, वैसे कर्मोंका संवर चाहनेवाले पुरुष
स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिक ढाले हाथमें लेकर विकल्पादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं, स्वाध्याय
और ध्यानमें एकाग्रतारूपी अग्रमादसे-सावधानीसे विकल्पादि प्रमादका निरोध होनेसे प्रमादजनित कर्मोंका आग्नव
आत्मामें जाता नहीं, तन्मभाषा, असत्यमृषा भाषा, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकल्पा प्रमादके प्रतिपक्षी हैं.

महाभूतविशिष्टो जन्मिवायलेद्वापि ममोदरात् रसान् ॥ ६ ॥ निवेष्टितुं रागवशेन कायति यदृच्छया ॥ न निवेद्य
रजति रसानेनानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन लेपितु ॥ ७ ॥ निवेद्य न द्वेषि यदृच्छयापि न भवेत्स जेता रसमैष्टि
यस्य च । मनोमृशत्वात्समकालयोचितता, शुभाश्रयः ॥ स्वशोविधौ न मनोविराज ॥ ८ ॥ ॥ सेविष्यु रागवशेन वाछति
यदृच्छया ॥ न निवेद्य रजति । प्रसन्नं चच्छादनमार्जनादि वा विलेपनाभ्यन्तमाजयति च ॥ ९ ॥ शरीरसौन्दर्याय न यद्व
सेवते विषुदयैरपयुतो महायति । हिमोष्णभूतैश्चिलशिलादृणाविविजानशोभनान् स्पर्शयिषीश्च सर्वदा ॥ १० ॥
न नेच्छति द्वेषि न याचुपायतात् त्वर्गिन्द्रियस्यैव भोजेतिजिण्णुता, रणे रिपूणाभिद्विर्भयो जयेत् यसेन्द्रियाणां जयमास्थितो
कलिरिति ॥ ११ ॥ निद्राया प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदयै, रसपरित्याग, संसारद्वीतिनिद्रादोषविता रत्न-
त्रयऽनुसंग स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षमावर्तन्यते, संयुताया अनयस्थितय-
भायता, तदर्थनकारस्यविग्रहप्रवृत्तिरिति, धर्मेविग्रहा, दोषानुपेक्षकमित्यादिकः । धर्मभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता
निवृत्त्यते । कीरति कलनेन ज्ञाया निवेद्य फलकेन यथा । जायात् जलासवन्निरोधो नात्र जलासवनिरोधः ॥

प्रमादशब्द स विशदः प्रवीति—

मुखारा—पादपयोरा विक्रधादयः पंचदशप्रमादपरिणामाः । अप्रमादकङ्कणेन अप्रमादो विक्रधादिप्रमादप्रतिपक्ष-
भावना । स्रक्लकमिष प्रमादसंवापकर्मणां प्रतिभदप्रहाराणांमिष प्रविषंयकरात् । सत्र विक्रधाप्रतिपक्षाः सत्सासत्यश्रुयाना-
पासकाभ्यायो भवान् च । कषायप्रयत्नीकाः क्षमाद्वद्वत्तदुदयकारणविमुक्तदेशावस्थानं । ततोपापायावकाभादना ॥ । इन्द्रियप्र-
तिपक्षिस्तत्त्वज्ञानभायना रागद्वेषनिमित्तैर्द्रिक्विषयविविक्तदेशावस्थानाद्विषयप्रमथरागद्वेषास्तरणं विषयोपलब्धौ तेष्वना-
वरत्त । निद्राविरोपिनी जनशनमवमोदयै रसपरित्यागः । संसारपादभीतिः, सम्बन्ध-रसाचारान्धने प्रीतिः । स्वदुश्चरणभरणा-
दुद्योषनं, निद्रादोषानुपचितनं च । स्नेहविपक्षा बहुत्वस्यानवस्थितत्वभावनां तदर्थनिकारंभपरिग्रहप्रवृत्तिदोषविता धर्मप्रति-
पक्षकत्वदोषानुपेक्षणं च ॥

प्रमादका सत्वर किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विक्रधादिक पंपरा प्रमाद है इनके द्वारा जो आत्मामें अजुग परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग
कहते हैं, जैसे शुकें शस्त्रप्रहारको फलभेस [डालेस] वीर पुरुष रोक्ते हैं, वैसे कर्मोंका संवर चाहनेवाले पुरुष
स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिक डालें हाथमें लेकर विक्रयादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं, स्वाध्याय
और ध्यानमें एकाग्रतारूपी अग्रमादसे-सावधानीसे विक्रयादि प्रमादका निरोध होनेसे प्रमादजनित कर्मका आलव
आत्मामें आता नहीं, स-यथाया, असत्यपूषा माध, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विक्रया प्रमादके प्रतिपक्षी हैं-

धुमा, मादंद, आजंब, और संतोष ये कयाब नामक ग्रामाद के शत्रु हैं। ज्ञानका हमेशा अभ्यास करना, रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले इंद्रियोंके विषयोत्त अलग होकर एकान्त प्रदेशमें रहना, ज्ञानसे मनको स्वस्वरूपमें एकत्र करना, ये सब इंद्रिय नियंत्रणसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंका स्मरण न करना, विषयशान्ति होनेपर उत्तम आदर न करना, ये सब कारण इंद्रियग्रामादके शत्रु हैं। इन विषयोंका वर्णन इस प्रकार हैं- १ रागभावसे युक्त होकर ग्रामादहितयुनि सुंदर स्त्रीके अंग नदी देखते हैं। अथवा यदृच्छासे देखकर उनपर अनुरक्त नहीं होते हैं जेपके वश होकर वे अशुभरूप देखना चाहते नहीं हैं ऐसा नहीं। अर्थात् अशुभरूप देखनेपर उनके मनमें द्वेषभावना और सुंदररूप देखनेपर राग भावना उत्पन्न नहीं होती है यदृच्छासे अशुभरूप देखकर भी वे द्वेष नहीं करते हैं। ऐसे सुनिर्माण त्रिणोंके कंठसे जीव लिया है ऐसा समझना। उत्तम गायन और वाद्यके मनोहर स्वर और उत्तम युवतिओंके-स्त्रियोंके कंठसे निकले हुये मधुर भाषण जो आदरसे सुननेकी इच्छा नहीं रखते हैं और यदृच्छासे सुन पड़नेपर उनमें आसक्त नहीं होते हैं तथा अनेक अमनोहर-कंकड शब्द सुननेपर भी जिनको क्रोध आता नहीं है वे सुनि कर्णोंको जीवनेवाले समझने चाहिये, ३ कालाशुल, कुड; केशर, तमालपत्र, कमल, चंपक वगैरहके मनोहर सुवासको जो आदरसे चाहते नहीं हैं यदृच्छासे ऐसे पदार्थोंका सुवास गाना होनेपर जो उसमें आसक्त होते नहीं।

तथा अशुभ गंधका संकन्ध होनेपर जो उससे द्वेष नहीं रखते हैं अथवा शुभगंधका सेवन करनपर भी जो उत्तम आसक्त नहीं होते हैं, वे सुनिर्माण भ्रान्णेंद्रियको जीवनेवाले समझने चाहिये। जो अतिशय सुंदर और विशिष्ट मधुर भोजनोंके रसमें लोलुप नहीं होते हैं अथवा यदृच्छासे सेवन करके उसमें आसक्त नहीं होते हैं, अमनोहर रसोंकी सेवा करनेसे मनमें द्वेष भी उनकी नहीं उत्पन्न होता है। यदृच्छासे अमनोहर रस सेवन करनेका प्रसंग आपदनेपर जिनको द्वेष उत्पन्न नहीं होता है वे रमनेन्द्रियवता माने जाते हैं।

सुंदर कृपा, सुंदर स्त्रिया, और शुभ संबंध ये मन हरण करते हैं। परंतु सुनि रागवश होकर उनका सेवन करनेकी इच्छा नहीं रखते हैं। यदृच्छासे सुन्दरस्त्रियोंका सेवन करनेसे अनुरक्त नहीं होते हैं। सुनि मर्दन करना, चक्षुसे अंगको दृष्टना, अंगको स्पर्श करना, विलेपन लगाता, आँखोंमें अवन लगाना, ये कार्य नहीं करते हैं। इन कृत्योंमें दारीकी सुल होता है। परंतु वैराग्य युक्त सुनीम्बर इनसे विरक्त रहते हैं। शीतस्पर्श, उष्णस्पर्शसे युक्त ऐसी धूमि, पर्वत, शीला और तृण इत्यादिकोंके अमनोहर स्पर्शके विषयमें वे द्वेष नहीं करते हैं, जो सुनि अच्छे

रसगुण्युक्त पदार्थ की इच्छा नहीं करते हैं और अल्प स्वार्थके पदार्थ प्राप्त होनेपर द्वेष भी नहीं करते हैं वे स्पष्टाने-त्रियज्वयी माने जाते हैं। जैसे विभिन्न चीर पुरुष युद्धमें मनुष्यों की जीवता है वैसे ये महायुनि निर्भय और वैराग्ययुक्त इंद्रियों की जीवते हैं।

निद्राके प्रतिपक्षयुत अग्रमाद ये हैं—अनखन, अवमोदय, ससौका त्वाग करना, संसारसे भययुक्त रहना निद्राके दोषोंका विचार करना, रत्नत्रयमें प्रीति रखना, अपने दुष्कृत्योंका स्मरण कर शोक करना-

स्नेह के प्रतिपक्षी—यंप्रयुग्य अस्थिर है, उनके लिये अनेक आरंभ परिग्रह करनेकी विधा होती है जिससे मरकादि कुगतिकी प्राप्ति होती है। धर्ममें यंप्रयुग्य विघ्न उपस्थित करते हैं। इत्यादिक दोषोंका विचार करनेसे स्नेह प्रमादका नाश होता है।

इस प्रकार अग्रमादरूपी दाल दाढ़में लेकर यदि प्रमादरूपी मनुष्य लड़ते हैं, जैसे नौकाका छिद्र बंद करनेसे जल नहीं आता है वैसे अग्रमाद प्रवृत्तिसे प्रमाद जनिव आगमन बंद होता है-

गुत्तिपरिस्त्राहयुत्तं संजमणयरं ॥ फम्मरुत्तिसेणा ॥

बंधेइ सत्तुसेणा पुरं व परिस्त्रादिहिं सुमुत्तं ॥ १८४० ॥

कर्मभिः शक्यते भवतु न चारिन्नं कदाचन ॥

सम्पद्यगुत्तिपरिक्षिप्तं विपक्षैरिव पत्तनम् ॥ १९१२

विजयोदया—गुत्तिपरिस्त्राहयुत्तं गुत्तिपरिस्त्राहयुत्तं, संजमणयरं कर्मरिपुलेना ॥ भवतु द्योत्तेति । परिस्त्रादि-विशुद्धं शत्रुसेनेवेति । गुत्तेः संवत्तारण्यता ॥

गुप्तीनां संवत्तारमाश्रयति—

मूढारा—बंधेदि भवति ।

अर्थ—परिस्त्रा—स्त्राह, ठट योगरहोसे राक्षि व नगरका शत्रुसेना नाश नहीं कर सकती वैसे गुप्तिरूपी स्त्राहोसे रक्षित किया गया। यह संजमणयरगर कर्मरूप शत्रु के द्वारा स्वस्त नहीं किया जाता है-

समिद्धिदिग्नावमारुह्य अण्मत्तो भवोदधिं तरति ॥
छज्जीवणिकायवचाद्रिष्यमगरेहिं अञ्चिचो ॥ १८४१ ॥

गुणबंधनमारुह्य संयतः समितिप्लवं ॥

विंतादिमकराग्रस्तो जन्मांभोधिं विलंचते ॥ १८४२ ॥

विजयोद्या—समिद्धिदिग्नावमारुह्य समितिप्लवं इदमवमारुह्य । अण्मत्तो अण्मत्तो भवोदधिं तरति ।
समिद्धिदिग्नावमारुह्य—

समिद्धिदिग्नावमारुह्य—

मूलारा—अञ्चिचो अञ्चिचः ॥

अर्थ—जो समितिरूपी इह नावमें आरोहण करता है वह अण्मत्तशुनि पदकायजीविका बंध, असत्य
अण्मत्त इत्यादि पण्यरूप मगरेहिं पीरित नहीं होता है, और वह सुबसे संसारसमुद्रसे उच्छर्ण होता है, समितिसे
वेतर होता है यह हम सूत्रमें सिद्ध हुआ-

द्वारेव दारवालो हृदये सुष्यणिहिदा सदी जस्त ॥

बोसा धंसीति न तं पुरं सुगुचं जहा सत्तु ॥ १८४३ ॥

द्वारपाल इव द्वारे वस्यास्ति हृदये स्मृतिः ॥

दुपयंति न तं दोषा गुप्तं पुरमिवारयः ॥ १८४४ ॥

विजयोद्या—द्वारेव दारवालो द्वारे द्वारेपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता यस्तुतत्त्वानां स्मृतिर्यस्य तं दोषा ना
निर्भाति पुरं सुगुप्तं नाशय इव ॥

यस्तुतत्त्वानामुल्लेखः संयततां यच्छि—

मूलारा—मदी यस्तुतत्त्वानामुल्लेखः ॥ संयतिष नातिमन्वि ।

अर्थ—जैसे सुगुप्त नगरका अग्नौ विनाश नहीं कर सकते हैं वैसे जिसके हृदयमें दरवाजेपर द्वारपालके
ममान यस्तुतत्त्वानां एकाग्रस्मृति स्थिर रहने दे-दोष उसका पराभव नहीं करसकते हैं-

जो खु सदिविपद्मणो सो दोसारऊण गेज्झओ होई ॥
 ओवल्लगोव चंतो अरीणमविदिज्झओ चेव ॥ १८४३ ॥
 न यस्यस्ति स्मृतिश्चित्ते ॥ दोयेर्यस्येत स्फुटम् ॥
 असहायोऽखिलैः क्षिप्रं चिचक्षुरिव चैरिभिः ॥ १९१५ ॥

विजयोदयः—जो खु सदिविपद्मणो यः स्मृतिहीनः । जो दोसरऊण गेज्झओ होई वही दोपरिपुग्गिमोहो भवति । अरीणां मध्ये असहायोऽन्धः शत्रुप्राप्तो यथा ॥
 स्मृतिहीनरामायमाह—

मुळारा—गेज्झओ प्राप्ताः । अविविज्झओ असहायः ।

अर्थ—जिसकी स्मृति वस्तुवत्त्वोंमें एकाग्र स्थिर नहीं है ऐसा यदि दोषोंके आधीन होता है, अथ मनुष्य जैसे शत्रुप्राप्त होता है, वैसे तत्त्वज्ञानकी स्मृति जिसको नहीं है वह यदि दोषोंसे पराभूत होता है,

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहसमोगरे उवीरंतो ॥

जेव सदी मोचच्चा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥ १८४४ ॥
 ज्ञानवर्धनचरित्रसंपदं पूर्णतां नयति स व्रत्ती स्फुटम् ॥
 यो विमुञ्चति परीपहारिभिर्पाथितोऽपि न कदाचन स्मृतिम् ॥ १९१६ ॥

इति संवराजुप्रेक्षा.

विजयोदयः—अमुयंतो अनुब्रता । सम्मत्तं रत्नत्रयं परीसहसमोगरे, परीपद्मकरे अस्मिन्मार्ग्यपि नैव स्मृतिर्मात्रा अत्राराधना कथिता ॥ संवरः ॥

हीनदुःखकारणपरीपद्मव्यूहाभिभवेऽपि रत्नत्रयमत्यवता तत्त्वस्मृतिरनुसृतं ज्वेत्यनुज्ञास्ति—
 मुळारा—सम्मत्तं समस्तं रत्नत्रयं समत्वं वा साम्यं ॥ एत्थ विजिपातोपनिपातेऽपि रत्नत्रये वेष्टते तेन स्मृत्यव-

लंबने सति । संवरानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—परीपहेके समूहके द्वारा पीडा होनेपर भी रत्नत्रयको धारण करनेवाले यतिजोने स्मृतिका त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् तपके साथ रत्नत्रयकी आराधना करनी चाहिये. संवराजुप्रेक्षा समाप्त.

निर्जराजुप्रेक्षोच्यते—

इय सध्यासवसंवरसंखडकभासवो भवितु मुणी ॥

कुर्वन्ति तवं विविहं सुतुचं गिज्जराहेदुं ॥ १८४५ ॥

यो मुनिर्यदि शुद्धात्मा सर्वथा कर्मसंवरम् ॥

फरोति निर्जराकांक्षी सिद्धये विविधं तपः ॥ १९१७ ॥

विजगोदया—इय एवं । सध्यासवसंवर उक्तैः संवरप्रकारैः । संखडकभासवो भवितु मुणी संखलकमालवो भूया मुनिः करोति विविधं तप. सूजोक्तं निर्जराहेतु ॥

धर्मं प्यपविशुं इन्द्रशमथभिर्निर्जरामनुचितदिव्यज्ञादौ संभूतानां सुशोक्तविविन्नतपसा निर्जरां भावयति—

नृजरा—संयुक्त निरुद्धः । अभितु भूत्वा ॥

निर्जराजुप्रेक्षा का वर्णन—

अर्थ—इम प्रश्नार्थे संवरके प्रश्नार्थे जितने कर्मोंके आसव का निरोध किया है ऐसा मुनि निर्जराका धारण योगा सूत्रोक्त तप करता है.

तवसा विणा ण भोक्खो संवरमित्थेण होइ कम्मस्स ॥

उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु स्वीयदि सुसुचं ॥ १८४६ ॥

न कर्म्मनिर्जरा जन्तोर्जायते तपसा विना ।

संचितं धीयते घान्यमुपयोगं विना कुतः ॥ १९१८ ॥

विजगोदया—तपसा विणा तपसोत्तरेण न कर्मभोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुपक्षितमपि धनं नैव धीयते । उवभोगोदयेन । तथा तस्मात् तपोनुष्ठातव्यं निर्जरान् । का सा निर्जरा नाम पूर्वकृतकर्मव्यातनं न निर्जरा ॥

संवरणैव कर्मक्षय इति गत्वा तपस्यदुस्तद्वानुमुत्साहयति—
मृडरा—उपभोगादीहि स्वयमुपभोगमात्रविनियोगादिभिः ॥

अर्थ—तप से ही केवल कर्मके संवरण मोक्ष नहीं होता है. जिस धनका संरक्षण किया है वह धन उपभोग नहीं किया तो समाप्त नहीं होता इसलिए कर्मकी निर्जरा होनेके लिए उपभरण करना चाहिये.

पुण्यकर्मसमूहं तु विजरा मा पुणो हवे दुविहा ॥

पहमा विवागजावा विदिया अविवागजाया य ॥ १८४७ ॥

पूर्वस्य कर्मणः पुंसो निर्जरा द्विविधा मत्ता ॥

आथा विपाकजातात्र द्वितीया त्वविपाकजा ॥ १८४९ ॥

'विजयोदया—पुण्यकर्मसमूहं पूर्वगतकर्मपुण्यसंकषाययवामां जीवप्रदेशोभ्योऽप्यगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं । पुरुषेश्वरं वक्ष्यलक्षणा निर्जरेति । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम एहीताना-
नराभयानां द्रव्याणां पुरुषेश्वरावगमनं यमनादि । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविषयः पुण्यलानां । सा पुनर्द्विविधा,
जाया विपाकजाता द्वितीया विपाकजाता ॥

निर्जरा द्विविधत्वा निर्दिशति—

मूलारा—पुण्यकर्मसमूहं प्राक्संचितकर्मपुण्यसंकषाययवामां जीवप्रदेशोभ्योऽप्यगमनम् । विधाताज्ञा ररका-
लेन वचकानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा । अविवागजाया उपक्रमेण एतकतानां कर्मणां गलनमविपाकजा । उक्तं च

उह कोटिण वनेण य भुत्तरसं कम्पमुगलं जेण ॥

भाषेण सबदि येया तससदणं पेदि विक्करा दुविहा ॥

अर्थ—पूर्व कर्मके संक्षयोंसे थोडा थोडा कर्मका हिस्सा जीवके प्रदेशोंसे निकल जाना यह निर्जराका स्वरूप है. आगममें इस निर्जराका लक्षण ऐसा है—'एकदेशकर्मसंशुलक्षणा निर्जरा' अर्थात् कर्मके एक देशका क्षय होना यह निर्जराका लक्षण है. निर्जराके द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा. ऐसे दो भेद हैं. भक्षण किए हुए अन्नपानादि पदार्थोंका एक देशका क्षय होना यह द्रव्यनिर्जरा है. और यमन होना अथवा पूर्ण पचन होना यह

भावनिर्जरा है, पुद्गलका कर्मपर्याय नष्ट होना निर्जराका लक्षण है. इसके भी दो भेद हैं. विषाकृता निर्जरा और अविषाकृता निर्जरा.

अथ दृष्टान्ताद्युक्तिं निर्जराप्रवचयामि—

कालेण उवायेण य पचति जहा वणफदिफलाइं ॥

तद् कालेण तवेण य पचति कदाणि कम्माणि ॥ १८४८ ॥

नानाविधानि कर्माणि गृहीतानि पुराम्भवे ॥

फलानीच विपच्यन्ते कालेनोपक्रमेण च ॥ १९२० ॥

विजयोदया—कालेण उवायेण य यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीनां फलानि पचन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥

कर्माणां कालोपायानां पात्रयत्वं दृष्टान्तेन सुदृश्यति—

मूला—उवायेण उपक्रमपूर्वादिप्रयोगेन ।

दृष्टान्तके द्वारा इनका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे श्वेतके फल योग्य कालकी अपेक्षाकर अर्थात् योग्य काल प्राप्त होनेपर फल होते हैं अथवा उपायसे पक्कावस्था को प्राप्त होते हैं वैसे पूर्व कर्मभी योग्यकाल प्राप्त होनेसे तथा तपसे एक होते हैं.

तद्योर्निर्जरायोः का कस्य भवतीत्याशङ्क्यामावहे—

सन्वेत्ति उदयसमागदस्स कम्मास्स पिज्जरा होइ ॥

कम्मस्स तवेण पुणो सञ्चस्स वि पिज्जरा होइ ॥ १८४९ ॥

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जीविनेज्जिह्वम् ॥ १९२१ ॥

विजयोदया—सन्वेत्तिमुदयसमागदस्स सर्वेषां समयपूर्वके तपसि कृतानां कर्तृत्वानां अथवा मिथ्याह—प्रधादीनां समयपरिच्छादीनां वा उदयावच्छिन्नविच्छिन्नस्य दृष्टस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विषाकृतिरपि

स्मरतेत्याख्यातं भवति । कर्म न सर्पाणि कर्मोणि क्षिप्रस्त्वितिकानि सहकारिकाणाम् द्रव्यक्षेत्रादीनां शुचपदसाञ्जिघ्या-
 दुक्तं सर्वेभ्य नोपपजंति, ततो यदुक्तमाप्तं त्वेवागच्छति तैरुदिति । तत्रेण पुनो तपसा पुनः । कर्मरस सञ्चस्स वि
 कर्मणः सर्वेभ्यपि निर्जरा भवति ॥

सर्वसाधारण्या विपाकअनिर्जराया इतरानिर्जरायाः सुवतां विषेयतां वक्ष्यितुं विशिष्टतां माणयति—

मुखारा— उदयसमयादस जनुमवसमवाल्किप्रविष्टस इत्सच्छलेत्यर्थः । निजरा अपतामः । एतेन
 विपाकनिर्जरा स्वल्पेयुक्तं भवति । सत्परस वदितस्यासुदितस्य ॥ उक्तं न—

कालेन निर्जरा धनुमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्वायेडसिले ॥

एतेन—नायुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिद्वैरपि ॥

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म ह्यमाहुभम् ॥

इत्येकताः शैवसिद्धान्तोक्तः श्रुतः ॥

इन दो निर्जराओंमें कौन कितनी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो तपधरणमें प्रवृत्त हैं अथवा नहीं हैं ऐसे लोकोक्तो अर्थात् मिथ्याश्रयि वगैरह किंवा सम्यग्दर्शी
 वगैरहको कर्म उदयपंक्तिमें प्रवेशकर अपना फल देकर नष्ट होता है यह विपाकनिर्जराका स्वरूप है. यह विपाक
 निर्जरा अल्प होती है. क्योंकि सर्व कर्मोंकी भिन्न भिन्न स्थिति रहती है. द्रव्य क्षेत्रादिक सहकारी कारण सबके
 एकदम नहीं मिलते हैं इसलिये कर्म एकसाथ उदयमें आकर फल देकर नष्ट नहीं होता है. जो उदयमें आता है
 वही फल देकर नष्ट होता है अन्य नहीं. और तपधरणके द्वारा सर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है.

ण. तु कर्मस्य अवेदिफलस्य कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ॥

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा उज्झयाणस्स ॥ १८५० ॥

अभिर्दिष्टफलं कर्म तपसा दक्षते परम् ॥

सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदसुपार्जितम् ॥ १९२२ ॥

नित्योक्त्या—कर्मस्त ॥ इ ह्येकत्र परितोक्तो यन्नुक्तफलस्य कर्मणो नैव कस्य चित् मोक्षो भवति इति ततः गले प्रदायापयति । एतेन विपाकनिर्जरोक्ता, दोषत्रय तस्त कम्मस्य विपासो मेघदा तस्य कर्मणो विनाशः तपसिगता दन्तमानस्त तयोऽग्निना दहमानस्य पतेन हृतं कर्म तत्फलमश्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्तं ।

तत्कर्मैवार्थं उत्सर्गोक्त्याद्या दहयति—

मूलार—अवेदिदफलस्य असुफलस्य । एतेन स्वफल प्रदायापयति कर्मैति विपाकनिर्जरा सामान्येनोक्ता । इत्यभागास्त निर्दोशीक्रियमाणस्य । एतेन कुल कर्म यत्फलमश्वा न निवर्तते इत्येकान्तो निरस्तः ॥ उक्तं च—

अनिर्दिष्टं कर्म क्षपसा वृक्षते परं ॥

तस्यं हुताग्नेनेव बहुभेदयुषार्जिवम् ॥

अर्थ—जिस कर्मका फल जीवकेद्वारा नहीं मोगा गया है ऐसा कर्म नष्ट नहीं होता है. अर्थात् कर्म अपना फल जीवको देकर ही चला जाता है. इस विवेचनसे विपाक निर्बरा कही गयी. परंतु तपोमीसे जो कर्म दग्ध होता है वह कर्म आत्माको फल न देकर ही नष्ट होता है. इससे ' जो कर्म इस जीवने किया है वह फल जपतक नहीं देता है, तबतक नष्ट नहीं होता है. ऐसा एकान्त मत खंडित होता है. वात्सवं यह है कि, विपाक-निर्बरा जिस कर्मकी होती है वह कर्म आत्माको फल देता है. अविपाक निर्बराका कर्म फल नहीं देता है.

दहिष्ठण जहा अग्गी विद्धंसदि सुवहुगं पि तणरासी ॥

विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुवहुगं पि ॥ १८५१ ॥

तपसादीयमानेन नादयते कर्मसंचयः ॥

आशुशुसापिना क्षिप्रं दीहेनेव तूणोत्करः ॥ १९१३ ॥

यित्योक्त्या—दहिष्ठण जहा अग्गी यथाग्निर्दग्धा नाशयति महातमपि तणरासे तथा तपोसिः सुमहदपि कर्मणं पिनामयति ॥

वपसः कर्मगतनसागर्ज्यं समर्थयते—

मूलार—सष्टम् । उक्तं च—

वत्तलमपि तदुत्थानं ज्वलेदकप्रगतमग्नि ॥

त्वैः कर्मोन्मयं विधाद्वचं शैलमिव क्षणत् ॥

अर्थ—जैसे प्रज्वलित आगि चढ़ी गयी तूण राखिको भी जलाकर भस्म कर डालती है, वैसी तपरूकी अग्नि पट्टव मोटाभी कर्मतपूह तूण के समान नष्ट कर देती है.

तपसाः कर्मविनाशकमसुपदेशयत्युत्तरमाथा—

कर्मं विपरिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण ॥

तो तं सिणेहमुक्कं कर्मं परिसडवि धूलिव्व ॥ १८५२ ॥

स्वयं पलायते कर्मं तपसा चिरसीकृतम् ॥

रज्जोऽयमिष्टते कुत्र नीरसे स्फटिकेऽश्मनि ॥ १९२४ ॥

विजयोदया—कर्मं वि परिणमिज्जइ कर्मोपायि अयथा भावं नीयते, केण सुतेयेण ज्ञानदशेतच-
रणमइनायिना तपसा । सिणेहपरिसोसएण कर्ममुद्वलगतस्नेहपरिणामविशोयणकारिणा । सो पञ्चाव । स्नेहपरिणामयिना-
शोत्तरकालं । कर्म परिसडवि कर्मं परितोऽपयति, सिजेहमुक्कं स्वदमुक्कं धूलीय । इदमेत हि स्नेहाद्वैधमुपागतानां तत्कृते ।
परस्परतो वियोगः यथा जलेनैव विण्मृतागतानां सिक्तानां शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥

तपसाः कर्मविनाशनकर्मं कथयति—

मूढारा—विपरिणमिज्जइ अन्यथाभावं नीयते जीवपरतंजी करणशक्ति स्थायते इत्यर्थः । अन्ये परितोसिज्जइ
इति पठति । सिणेहपरिसोसएण कर्ममुद्वलगतस्नेहपरिणामविशोयणकारिणा । सुतवेण रत्नप्रयत्नदभावित्वा तपसा । धूलीव यथा
जळादूर्ध्वं गतानां सिक्तानां जले शुष्के परस्परतोऽपगमनं । एवं कथाविकृतस्नेहाज्जोवेन सदैकलोभीभावं गतानां कर्ममुद्वला-
नां तपसा रुक्षत्वं गमितानां ततोऽपगम इत्यर्थः ॥ उक्तं च—

स्वयं पलायने कर्मं तपसा चिरसीकृतं ॥

रज्जोऽयमिष्टेव कुत्र नीरसेस्फटिकेऽश्मनि ॥

तपश्चरण के कर्म विनाशकमका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तपश्चरणसे अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्रिके साथ रहनेवाले तपसे कर्ममें फरक किया जाता है, अर्थात्
जीवको पतंत्र करनेका स्वभाव कर्ममें रहता है तपके द्वारा उस स्वभावका नाश होता है. यह तपश्चरण कर्ममें
जो स्नेहशक्ति थी उसको नष्ट करता है. जिससे कर्म आत्मासे संपंथ छोटकर चला जाता है. जैसे स्नेहसे धूलि

एकत्र होती है. पातु स्नेहके हरनेमें धूली के कण त्रिसर जाते हैं उनका वंधन नहीं रहता है. पानीसे बालुका पिंड बनता है पातु पानी द्रव जानेपर बालुके कण अलग होते हैं. वैसी स्नेहशक्ति तपसे नष्ट होनेपर कर्म आरमासे अलग होता है. अर्थात् पुद्गलका कर्मत्वपर्याय नष्ट होता है.

धातुगदं जह कण्यं सुब्धइ धम्मंतमग्गिणा महदा ॥
सुब्धइ तवग्गिघंतो तह जीवो कम्मधातुगदो ॥ १८५३ ॥

तपसा र्नायमानोऽग्नी क्षिप्रं शुद्ध्यति कर्मभिः ॥

पापाणः पापकेनेव क्लानकः सकलैर्मलैः ॥ १९२५ ॥

त्रिजयोक्त्वा—धातुगदं यथा सुवर्णपापागतं क्लानकं महत्क्षान्तिना द्रव्यमानं शुद्ध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीवः कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना द्रव्यमानः शुद्ध्यति ॥

तपसा शुद्धस्यात्मनि दीव्यमानस्यात्मनः कर्मण्यः पृथग्भावं भावयति—

मूलार्ता—धातुगदं सुवर्णपापागाधं । सु-अग्नि पृथग्भवति । धम्मंतं साध्यमानं । तवग्गिघवो तपोऽग्निनाभातः तदस्वपिदूरे दीव्यमानः क्लानकः ।

तपसा ध्यायमानोऽग्नी क्षिप्रं शुद्ध्यति कर्मभिः ॥

धापाणः पापकेनेव क्लानकः सकलैर्मलैः ॥

अर्थ—महान् अग्निमे दग्ध होनेपर जैसे सुवर्णपापागाधसे सुवर्ण शुद्ध होता है अर्थात् मलसे अलग होता है. वैसे कर्मरूपी धातुगासे भिन्न हुआ यह जीवरूपों सुवर्ण तपस्वी अग्निमे जब दग्ध होता है तब यह निर्मल होता है.

यत्पंच तप यजगुप्रकल्प्य किं संवरेणेति शंकां निराकरोति—

तपसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवघेण ॥
ण तु सोत्ते यत्तिंसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥ १८५४ ॥

मोक्षः संवरहनिन तपसा न जिनागमे ॥

रचिणा शोप्यते नीरं प्रवेक्ष सति किं सरः ॥ १९२६ ॥

विजयोदया—तवसा श्रेय न मोक्षयो उपैत्य न सर्वकर्मोपायो भवति, संवत्सीनस्य विनवचने । सोवन्ति प्रविशन्ति ॥ जलादिर्जं हस्तने परिशुष्यति ॥

पयोर्बं तर्हि तवेवमुत्तये न संवर इत्यत्राह—

मूलात्—मोक्षो सर्वकर्मपिणसः ॥ उच्छं च—

योधः संवरहीनेन तपसा न जिनागमे ॥

रविणा शोध्यते नीरग्रवेशे सति किं सरः ॥

यदि तप से आत्मा शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए संवरकी क्यों आवश्यकता है ? आचार्य इस शंका का उत्तर देते हैं—

अर्थ—जो मुनि संवररहित है केवल तपश्चरणसे ही उसके कर्मका नाश नहीं हो सकता है ऐसा विनवचनमें फटा है. यदि जलप्रवाह आधा ही रहेगा तो तालाब कब सूखेगा ? अर्थात् नहीं सूखता है.

एवं पिण्डसंवरवर्मो सम्मत्तमाहृणारुडो ॥

सुदृग्गणममधयुगो ज्ञाणादितवोमयसरोहिं ॥ १८५५ ॥

विजयोदया—एवं पिण्डसंवरवर्मो एवं पिण्डसंवरकृष्णः, सम्यक्त्ववद्वतारुडः, सुतप्तानवापधरः, व्यक्तादितवोमयशरीः ॥

बहुविधारायनानिष्ठः संवरसहितया निर्लेस्या कर्मोश्चिन्मं निःशेषाव्यामर्शनवज्ञानाविराग्यश्रियं शान्तोति इति गायत्र्येनोपसंहरति—

मूलात्—पिण्डसंवरवर्मो बद्धात्मननिरोधसमाहः ।

अर्थ—जिम्हने संवररूपी बन्धुवर पहना है, जो सम्यग्दर्शनरूपी वाहनपर चढ़ा है. जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी शत्रुप्य हाथ में लेकर ध्यान और तपरूपी अर-बाण सम्यग्ज्ञानरूप शत्रुप्य के ऊपर जोड़ दिये हैं.

संजगरणभूमौए कम्मरिचमू पराजिणिय सत्त्वं ॥

पावदि संजमजोहो अणोक्कं मोक्खस्सज्जसिरे ॥ १८५६ ॥

धर्मानद्विपमविधितो जुषो लब्धवोधसचिवस्तपःशरैः ॥

कर्मशुश्रूषमपहत्य संधृतः सिद्धिसंपदमुपैति शान्धतीम् ॥ १९२७ ॥

इति निर्जरा ।

विजयोदया—संजमरणधूमिण संयमयुद्धांगणे कर्मरिचम् सर्वोममिभ्य प्राप्तोति संपतयोधः अनुपमां-
मोक्षतत्त्वधियं ॥ निर्जरा ॥

नूतनता—सद्यम् ॥ निर्जराशुश्रूषा ।

अर्थ—ऐसा शुनिरूपी वीर पुरुष संयमरणमें संपूर्ण कर्मसेनाका पराजय कर मुक्तिरूप शान्त्यलक्ष्मीकी प्राप्ति
कर लेता है ।

धर्मगुणानुश्रेयसव्योच्यते—

जीवो मोक्षस्वपुरस्कृष्टकल्याणपरंपरस्स जो भागी ।

भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिस्समुदारं ॥ १८५७ ॥

मोक्षामसानकरायाणभाजनेन शरीरिणा ॥

आहंतो भावनाधर्मो भावतः प्रतिपच्यते ॥ १९२८ ॥

विजयोदया—जीवो मोक्षस्वपुरस्कृष्टकल्याणपरंपरस्स जो भागी, वो जीव, मोक्षस्वासानकल्याणपरंपराया
माजमभूत । स धर्म भावेन प्रतिपच्यते, तं तादृशमुदारं सकलसुखसंपन्नक्षमं महातिं धर्मं ॥

धर्म्यप्यालसिद्धये गमातवनेन धर्ममहिमानमनुचितवयि—

मूलाया—मोक्षस्वपुरस्कृष्टकल्याणपरंपरस्स मोक्षेण पुरःसरता नीतानि यानि कल्याणानि सुखेवत्वमुमानुपत्त्य
पदगन्तुमेषुगुणानि मोक्षगुणानामसानाकारिकसुखादीत्यर्थः ॥ उत्तमवंधाय भागी भवत्ययोऽस्य, भावेणुववज्जदि परमार्थेन
प्रतिपच्यते । वदतं सकलगुणसंपन्नसमर्थत्वान्माहन्त्यं ।

उक्तं च—मोक्षानुसामकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥

आहंतः पावनो धर्मो भावतः प्रतिपच्यते ॥

अर्थ—मोक्षशान्ति वक्र जो जी कल्याणपरंपरा प्राप्त होती है वह सब धर्मकी सहायतासे ही होती है

अर्थात् धर्मसे अभ्युदय और मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है- इस उदार, सर्व सुखोंकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ धर्म को मध्यजीव इन्द्रियसे धारण करता है-

धर्मेण होदि पुञ्जो विस्ससजिज्जो पिओ जसंसी य ॥

सुहसञ्जो य णराणं धम्मो मणणिब्बुदिको य ॥ १८५८ ॥

यशस्वी सुभगः पूज्यो विन्वास्यो चर्मतः प्रियः ॥

सुसाध्यः सोऽन्यकार्येभ्यो मनोनिर्मुक्तिकारकः ॥ १९२९ ॥

विजयोदया—धर्मेण होदि पुञ्जो धर्मेण पूज्यो भवति । विस्ससजीवः प्रियो यशस्वी य भवति, सुलेनैव साध्वो-
नराणां धर्मः ॥ उक्तं च ॥ इष्टं सुतं च विदिते स्थिते च धर्मे फलदागमो भयतीति ममसो निर्मुक्तिं च करोति ॥

मूढारा—जसंसी कीर्तिमान् । सुकसक्को शुभपरिणाममात्रसाध्यः अथवा सुक्तेन साधयितुं शक्यः । ' इष्टे
भुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलदागमो भवति इति वचनान् ॥

अर्पे—इस धर्मके आचरणसे मनुष्य पूज्य, विश्वसनीय, प्रिय और शशस्वी होता है- यह धर्म सुखसे मनुष्य
जीव धारण कर सकते हैं। धर्म धारण करनेसे मनुष्योंका मन संतुष्ट होता है- धर्मका फल देखनेसे, सुननेसे, ज्ञान
सेनसे और स्मरण करनेसे मन प्रसन्न होता है- ऐसा शास्त्रोंमें कहा है-

जात्रदियाइं कल्लाणाइं सग्गे य मणुअल्लोगे य ॥

आवहद्वि ताण सज्जाणि मोक्खं सोक्खं वरधम्मो ॥ १८५९ ॥

धर्मः सर्वाणि सौख्यानि प्रदाय भुक्तेर्जितम् ॥

निघत्ते शान्ते स्थाने निर्वाधसुखसंकुले ॥ १९३० ॥

विजयोदया—जात्रदिगाइं कल्लाणाइं यत्नेति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सयोन्याकर्षयन्ति
धर्मो मोक्षं सुखं च ॥

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्वर्गलोकमें और भुव्यलोकमें वितने सुख प्राप्त होते हैं वे सब धर्मसे ही प्राप्त होते हैं. मोक्ष सुखको प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है.

ते घण्णा जिणधम्मं जिणदिठ्ठं सज्जदुक्खणासयरं ॥

पडिक्खणा दिट्ठिदिय्या विमुद्धमणसा गिरावेक्खा ॥ १८६० ॥

ते घन्या ये नरा धर्मं जैनं सर्वसुखाकरम् ॥

निरस्तनिस्तिलग्रंथाः प्रपन्नाः शुद्धमानसाः ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—ते प्रणवा पुण्यवंतः । जिनदण्डे धर्म संपदुःखभावाकरं प्रतिपन्नाः शुद्धेन मनसा दृढपूतिका, निर्वर्णकुलाः ॥

मूढारा—दृढविदिया अविचलधृत्वचः ।

अर्थ—जिनदण्डेने निर्मल मनसे निःस्पृह होकर धर्म धारण ॥ सवें दुःखोंका अन्त करनेवाला जिनेश्वर प्रतिपादित जिनधर्म धारण किया है वे पुरुष धन्य हैं.

विसयाडवीण उम्मगविहरिदा सुचिरमिदियस्सेहिं ॥

जिणदिट्ठणिब्बुविपहं घण्णा ओदरिय गच्छंति ॥ १८६१ ॥

ये च वीर्येन्द्रियाभ्यो नीता विपयकानने ॥

धर्ममार्गं प्रपद्यन्ते ते घन्या नरपुंगवाः ॥ १९३२ ॥

विजयोदया—विसयाडवीण विपयाटव्यां उन्मार्गविहारिच. सुचिरमिदियाभ्येर्वैकान्तीताः संतः ते जिनदण्डे निर्बुद्धिमार्गं गच्छंति घन्या इन्द्रियाभ्येणोऽवकण्ड ॥

मूढारा—उम्मगविहरिदा इन्द्रियाभ्येण्यत्कादिव्रयं निक्षेपेण नीताः । ओदरिय इन्द्रियाभ्योऽवकण्ड ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी मोटे इस जीवको उन्मार्ग में दौड़कर विषय रूपी जगलमें ले जाते हैं. ऐसी परिस्थितीमें जो इन्द्रियरूपी अस्मत्ते नीचे उतरकर जिनेश्वरने देखे हुए मोक्षमार्गपर जाते हैं वे पुरुष जगमें धन्य समझने चाहिये.

रामेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि वीदरामस्मि ॥
धम्मस्मि निरासावस्मि रदी अदिदुल्लंठा होइ ॥ १८६२ ॥

अहो द्वेयेण रामेण लोके 'क्रीडति सर्वदा ॥

वीनरामे निरास्वादे बोधिर्धम्मोऽतिबुद्धिमा ॥ १९३३ ॥

विजयोदया—रामेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि रामद्वेषान्यां सह जयति क्रीडति । वीनरामे धर्मे निरास्वादे रति-
पत्नीय बुद्धिमा भवति ॥ उक्तं च ॥ कुलं च रूपं च यद्युक्तं कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं ॥ लक्ष्मीः । आरोग्यमाशेषित-
संप्रयोगो द्वेयद्विषयोऽपि च दीर्घमायुः ॥ १ ॥ स्वर्गस्य मोक्षस्य भयोपदिष्टा माया इमेऽन्ये च जगत्प्रयुक्ततः । धर्मेण
राक्षसा जगतीदं लक्ष्णं, दिव्याय तं कर्तुमतीर्हसि त्वं ॥

त्रिनयनैरेतद्विबुधैर्भूतौ भावयति—

मूलारा—रामेणेत्यादि बहिरात्ममार्गान्मणो रामद्वेषाभ्या सह क्रीडति ॥ एतेन संसर्गजा दोषशुणा भवति इत्या-
श्रित्य कथमीदृशि लोके प्रवर्द्धमानानां रामायणप्रभुर्भोवलक्षणार्दिसात्मनि निरास्वादे वा मावितपूर्वत्वात्कथये धर्मे रतिं कर्तुं
शक्यते इति मन्यते ॥

अर्थ—राम और द्वेयके साथ यह जगत् रममाण हो रहा है इस लिये निरास्वाद वीनराम धर्मेमें प्रेम
हीना अलीय कठिन है- शत्रुमें इस विषयमें ऐसा कदा है—कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन विद्या, सुख, और संपत्ति,
आरोग्य, आत्मा, इच्छित पदार्थों की प्राप्ति, अनिष्ट पदार्थोंसे वियोग, दीर्घ आयुष्य, स्वर्ग मोक्ष इनका मैंने वर्णन
किया है- अतः हे भव्य जीव ! तू स्वादित के लिये धर्माचरण कर-

सहलं माणुसजम् तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ॥

संसारदुःखकारणकम्मागमदारसंरोधं ॥ १८६३ ॥

तवीयं सफलं जन्म तदीयं दृष्टधुल्लवलम् ॥

जन्ममृत्युजराकारिकमस्मिन्निरोधकम् ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—सहलं माणुसजम् तस्स यद्युष्यस्य जन्म सफलं भवति यद्व्य चरणमणवज्जं । कीदृशं संसारदुःख-
संपादनोद्यतकर्मोपमदारनिरोधकरी । अनेन चरित्रमिदं शब्दो धर्मसेनोप्यत इत्याख्यातं भवति ॥

१६ धर्मधारिप्रकृत्यानुसृतम्—

नृपरा—अथर्ववेदं निरुचिचरम् ।

अर्थ—वित्तदा चारित्र निर्देश हे, संसारदुःखाको कर्तव्योक्त कर्मका अनेका द्वाररूप जो अविरत्यादि परिणाम विगमे रंद पटता हैं ऐश्वर्या निर्देश चारित्र वित्तने धारण किया है उसी मनुष्यका जन्म सफल माना जाता है, उपर्युक्त चारित्रकोही यहाँ धर्म समझना चाहिये.

जह जह निर्वेदसमं वेत्तगदुयादमा पबहुंति ॥

तह तह अब्भासयंर निबध्वाणं होइ पुत्तिस्स ॥ १८१७ ॥

यथा यथा चिबद्धंते निर्वेदप्रशमादयः ॥

प्रयातयासन्नतां पुंसः सिद्धिलक्ष्मीस्तथा तथा ॥ १९३५ ॥

विजयोदयः—यथा यथा निर्वेद उपसमो दया विगतातिग्रहश्च प्ररतेते तथा तथा स्तमीपतरं भवन्ति निर्वाणं पुररदय ॥

मदुर्मैकसाप्यनिर्वाण्यर्णतरत्पछिगमाइ—

मृडा—अब्भासवरं सनीपसरम् ॥

अर्थ— तैमं २ वेराग्य, रमोद्वेयोका प्रथम, यथा, विवेकियता ये गुण बढेगे तैसे २ पुरुषके पास मोक्ष जाता है

धर्म स्तोति—

सम्मदंसणतुवं दुबालसंगारयं जिणिदानं ॥

वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्रं तवोधारं ॥ १८६५ ॥

द्वादशात्मकतपोरयंत्रितं तत्त्वबोधरुचिचिह्ननेमिकम् ॥

धर्मचक्रमनवधमार्हतं विष्टपे विजयतामनवरम् ॥ १९३६ ॥

॥ इति धर्मानुमेक्षा ॥

विजयोदया—समग्रसंख्यतुल्यं द्वापरांगारकं प्रवनेमिकं तयोधारे किमेषाणां धर्मचक्रं स्रसति अर्णवि ॥ धर्म ॥
धर्मं स्तोत्रुमाह—

मूलार—तुल्यं नाधिः । दुर्वास्तवात्यं मुन्याचारदीन्याचाराणि यस्य । तद्वेमिकं प्रतोमेव नेमिर्धारा यस्य ।
वयोधारे तप एव धारा वितीया नेमिर्यस्य । धर्मानुपेक्षा ॥

धर्मकी स्तुति करते हैं,

अर्थ—धर्मरूप चक्रमें सम्यग्दर्शन रूप तुल्य है, इस धर्मचक्रको द्वादशांगज्ञान रूप और है, जोच महाप्रत
नेमिके स्थानमें है, और तप धारा है, इसा विमेट्रोका यह धर्मचक्र जगतमें जबवान रहे.

नोधिदुर्लभानुपेक्षा कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयमि धम्ममि बुल्लहा चोही ॥

जीवरस कम्मसत्तरस संसरंतस्स संसारे ॥ १८५६ ॥

धर्मे भवति सन्यक्स्वज्ञानधुत्ततपोमये ॥

दुर्लभा अर्मतो नोधिः संसारे कर्मसोऽन्निनः ॥ १९३७ ॥

यिजयोदया—दंसणसुदतवचरणमइयमि दर्शनधुत्ततपधरकमये धर्मे दुर्लभा नोधिर्बोवरस कर्मसत्तदय
संसारे संसरतः ॥

धर्म्योर्जनत्वेन नोधि गाथाएकेन भाषयति—

मूलार—नोधी दीक्षाभिमुख्या बुद्धिः प्राप्तिरां नोधिसत्वेदोच्यते । रत्नत्रयप्राप्तिः सल्लु नोधिः प्रसिद्धा ।

धम्मसत्तरस कर्मसत्तरस कर्मणि ता कायादिज्यापारे सत्तरस प्रयत्तस्य ॥

नोधिदुर्लभानुपेक्षा का वर्णन—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तप और चारित्र एतत्स्वरूप धर्ममें नोधिकी प्राप्ति होना दुर्लभ है, यह
जीव कर्मसे लिप्त है और संसारमें अग्रण मात्र रहा है इसको नोधिप्राप्त होना कठिन है.

तस्या दुर्लभतां प्रकटयन्तुत्पद्यन्ते—

संसारमि अगते जीवाणं दुष्टहं मणुस्सत्तं ॥

जुगसमिलासं जोगो जह लवणजले समुहम्मि ॥ १८६७ ॥

संसारं देहिनोऽनन्ते मानुष्यमतिदुर्लभं ॥

समिलायुगसांगत्यं पयोधाविब दुग्गेमे ॥ १९३८ ॥

पितृयोदया—संसारमि अणते अनन्तसंसारं । जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं, पूर्वापरसमुद्रनिसिंसयुगतरसंयधि काहसंपोग इव ॥

‘कथं दुर्लभता योपेरित्ताह—

मूलाप—छयणजहे क्षतेन समुद्रांतरैः यः प्रसारसलिलेभ्यः सकाशात्तज्जोवसमुद्रस्य येकाकुलेन त्रैशिर्यं लक्ष-

यति । अथ एव पूर्वादिदिग्विभागप्रक्षिप्तपूषसमिलयोरतिदुर्लभतः संयोगः स्यात् ॥

नोचिकी दुर्लभताका आचार्यं सविस्तरं वर्णनं करोते हैं—

अर्प-इम अनन्त संसारमे जीवको मनुष्यपनाका लाभ होना कठिन है. जैसे पूर्वसमुद्र और अपरसमुद्रमें क्रमशः

जुग और उनकी लक्षद्वियां फेक देतेपर उनका पुनरपि संयोग होना अत्यंत कठिन है वैसे नष्ट हुआ मनुष्य जन्म

पुनःप्राप्त होना अतिदुर्लभ है.

मनुजताया दुर्लभाये कारणमाह—

असुहपरिणानवहुलत्तणं च लोगस्स अदिसहस्रत्तं ॥

जोणिवहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥ १८६८ ॥

प्राप्तुये गुणभावानां महत्तं जगतोऽहिनाम् ॥

विषत्ते योनिवाहुल्यं मानुष्यं जन्मदुर्लभ ॥ १९३९ ॥

पितृयोदया—यत्तुद्वारिणामसुलत्तणं च अनुमणरिणानां मिथ्यायासंयनरुगयजमादानां परिणामानां गहुत्वं मनुजयोनिदुर्लभतां करोति । मनुजराहितलोकर्यातिमहत्त्वं च तत् दुर्लभतां करोति । अत्यंतयेया हि द्वीपसमुद्र भारतापसाः, स्वर्गपटलादि, इतरथा लोकानाशमतिमदत् । योनीनां बहुतां चेतपसा नियंचनं तदुर्लभतायाः ॥

मानुषत्वमुल्लेख्यतेऽपि कारणादयमाह—

मूलात्—अनुभवरिणामाशुलक्षणं प्रयुज्य मिथ्यात्वादयः कुयोनिजन्मनिमित्तकमेवेत्यः परिणामा इत्यर्थः ॥
लोगस्य अदिग्दृष्टं । अनुवरद्विषयः लोकाकाशस्य विपुलत्वं । अणुद्वीपापर्यवर्तनीयद्वीपेष्वेव हि मनुजाः संभवन्ति ।
जोनिवद्वृत्तं मनुष्ययोनिभ्यश्चतुर्दशलक्षणैक्याभ्योऽप्या थोनयो बहवः सप्तविलक्षसंख्यात्वात् ॥

मनुष्यपना दुर्लभं कर्णे हं इसका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, असंयम, कपय, प्रमाद इत्येव युक्त परिणाम-अशुभ परिणामोत्पत्ते ही यह जगत् भरा हुआ है. इसमें मनुष्यजन्म प्राप्त होना कठिन है. मनुष्योत्पत्ते रहित लोकक्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है और मनुष्य युक्त लोकक्षेत्र अल्पत्व है इससे हि मनुष्यपना दुर्लभ है यह बात सिद्ध होती है. असंख्यात द्वीपसमुद्र मनुष्यविरहित ही है. नरकभूमि, स्वर्गभूमि और इतर लोकाकाश ये सब मनुष्यविरहित हैं. इतर पौन्याँकी बहुलता होनेसे मनुष्यपौनीकी दुर्लभता सिद्ध होती है.

अपरानपि दुर्लभतापर्ययं दर्शयत्युत्तराद्या—

देसकुलरुत्वमारोगमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ॥
लब्धे वि माणुसत्वे ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥ १८६९ ॥
देशो जातिः कुलं रूपमायुर्नरोगता मतिः ॥
अवर्णं ग्रहणं श्रद्धा नृत्वे सत्यपि दुर्लभम् ॥ १९० ॥

विजयोदया—देसकुलरुत्वमारोर्गं देशकुलरूपमारोर्गं । आयुगमायुष्कं । बुद्धिसवणपदद्वयं हि बुद्धिश्रवणग्रहणानि ।
लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकमोदयात्, तिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबुद्धौ देशो दुर्लभाः । अतर्द्धाणां शक्यपन्न
किरातपर्यपरसीकसिद्धादिदेशानां धर्मकमानवपटितानामतिबहुलत्वात् ॥ सम्येऽपि देशे सुजवायासे ब्राह्मणश्रद्धि-
यवैश्यादिकं कुलं दुरधिगमनीयं सरकुलानामस्तथात् । असकृज्जीवैर्गोत्रवंधनात् । मिथ्यात्वोक्त्यात् प्रायेण प्राणिनो
गुणान् गुणिजनं च निवर्त्यकोशति, निगुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहान्मुद्रदति, तेन नीचैर्गोत्रमुपजिनोति, गुणे गुणिजने-
चातुरताः कुलाभिमानतिरस्करणं या कदाचिदेव भवसि इति सोमनं कुलं ॥ चिदेव सम्यते, चादिप्रमोदोदयात् पञ्जीव-
निकायकापारणे सततमुपयतः तदीयरूपगोत्रोन्मूलनसंपादनेनोपातिनाशुभरूपगामकर्मणा विरूपो बहुसो भवति । जीव-

व्यां कदाचिदेव करोति । प्रशस्तरूपनामकमलम्बस्यैकौल्यमपि क्षेत्रेण लभ्यते । परजीवसेतापकरणे कृतोत्साहः सर्व-
देयेति रोगी भवति बहुधा, परसेतापरिहारं यैवावृत्तं च कदाचिदेव करोति इति बीरोगतापि कादाचित्का दुर्लभा । परेषां
प्रायेणानुर्दितीत्यन्तपुत्रेण जने आगते । कदाचिदेवाहिसानतपरिपाठनाञ्चिजीविता सदा न लभ्यते । समीचीन-
मग्निजननूपातुःमात्सर्यो न तद्विज्जरणासदासादनान्वस्युरादिद्विपोषयातकरणाञ्च मतिभ्रुतशानावरणे वराको वञ्चा
तीति दुर्गथा भवति । यद्यु जन्मगतसद्वेषेण मतिभ्रुतशानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेक
कारिणी वृद्धिर्भवति, सत्यामपि पुद्गे हिताहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञान-
प्रदानानोन्मूलितदुर्भेदमोदोषानानां, अशेषजीविकायदयक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनोपनीतगुणिजनहे-
नेव मिथ्याज्ञानयत्नामदुर्मिदधतया स्ववृद्धीततत्त्वपरवदातया आलस्येन वा यतीनां स्वपरोक्षरणप्रवीणतापरिज्ञानाञ्च न
हीकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभ्यता । कदाचिदेव पापोपशमाद्यतिजनगुद्दौक्येति नयपुरस्सरे संप्रज्ञेन प्रशस्तवाग-
नुवायिनि शुण्डने आभिमुखे सति अरण्ये भवतीति दुर्लभता अवनस्य, किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोपि यदृच्छया निद्रा-
ति, स्वयं परेषां यौक्ताविवक्षारं यदति, सुगन्धानां वा घटनं भूणोति न विनयेन होत इति या दुर्लभं अवनं । अवनं भूणोति
घटनं तत्तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं भूतबलावरणोदघातः । दुःकरणं भनःप्रणिधानस्य कदाचिद्व्यभूतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाञ्च जीवा-
वित्तपस्य भूतबलाधिकारेण क्षयोपशमे भनःप्रणिधानं यद्युत्पन्नसौम्यं चेति । सकलनिवमसुखलभिमिति घटनं नानं दुर्लभं ।
यतेपि धर्मे अस्ति घटो जीवपरिणामसम्यक्तज्ञानपरत्परोदानपूजाताकोऽभ्युदयनिश्रेयसफलदायी जिनैर्यथोपनिषत्तकप-
इति अद्यानं न सुप्रेम लभ्यते, दशार्नमोदोदघातः । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कदाचित्का इति ॥

मनुष्यत्वव्याभेदसि देशादीनां ययोचरं दुर्लभत्वमाह—

मूढारः—देशो जिनधर्मप्रशममानयवदुर्लभो विप्लो दुर्लभः । सकयवनाविदेशानां धर्मस्वरहितानामतिशुल-
त्वात् । कुत प्राणक्षत्रियवैदयंशः । सुकुलानामस्तत्वादसकुलीर्गोत्रवंशनाथ । मिथ्यात्वोदघादि प्रायेण निर्गुणोऽपि
कुलाभिमानमविभक्तान्तं लक्षगुमिनश्च निवृत्ति । तेन नीचैर्योनिं वञ्चापि गुणे गुणिनि चतुरायगः कुलाभिमानतिरस्करणं
वा । कदाचिदेव भयतीति शोभनं सुखं कदाचिदेव लभ्यते । स्वर्गसौख्यं जीवी हि चारित्रमोहोदघात्यद्विजीवशायकर-
जतिसोयोगवदुपशान्तिनीलनसंशयिगुभरुपनामकमविप्लवेन बहुसो विरुपः स्यात् जीवदयां कदाचित्कचित्करोतीति
शुभरुपनामकमनिर्मेयमौल्यमपि कलेयेन लभ्यते । आरोगं परजीवसंगमनसंततोत्साहवसद्वेषोदघादि जीवो
यदुलो रोगी भवति । परसेतापत्यानं गुणवद्वेयावृत्तं च कदाचिदेव करोतीत्येवमापि कादाचित्की । आयुगं चिरजीवि-
जनो हि परेषां प्रायेणयुःसंहरति इति बहुसाःस्तपयुरेव जायते । कदाचित्कचित्करोतीत्येवमापि न
सदलनी । युद्धि अयं सत्त्वव्या समीचीनज्ञानज्ञानिप्रदूषणनिवृत्तिप्रदूषणसुखादीद्विगोपपतसेपतनाञ्च वद्वयोर्भविष्यत

मानावरणयोः पदप्रादुर्भावो मतिशुलक्षणादानीं भवति । शुभपरिणामसंपादं सदावरणधरोपशमवित्तेषु कदाचित्कचिदिव प्राप्नोतीति तत्त्वविधेयकदुश्चिरत्वेन वराक्रेण दुरवापा । सवण यतीनां ध्रुतज्ञावप्रदीपनिरत्नांस्तमसां विरुगतेषाणां, करुणापर-तंत्राणां, परहितप्रतिपादनेककार्योणां अतिदुर्लभत्वाचीप्रमिच्छात्यक्छुगुणिजनहेषेण, मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विग्रहतया, स्वगृहीतवत्त्वपटनतया, अलसतया, यतीनां स्वपरोद्वरणप्रवीण्यापरिष्ठानाद्धा, प्रशयेण बहुपसर्पणाभावात्, कथंचित्पानोपशमा-तदुपसर्पणेऽपि विनयपुरःसरं संप्रभस्य कदाचिदिव संभवाच्च । मनुष्यत्वादिसाक्षात्प्राप्तवपि जीवस्य सद्धर्मश्रवणं दुष्प्रापं ॥ यतिजननिज्जने गतोऽपि यच्छृण्वा निद्रायति, स्वयं वा परेषां यत्किंचिदसारां वदति, सुगमनां वा वचनं शृणोति, विनयेन वा शौकते । इति दुर्लभा धर्मश्रुतिः । गद्याणि भुवेऽपि घर्मे वत्परिष्ठानं अव्यदुर्लभं । शुश्रूषणावरणोऽप्यावृत्तमनः प्रणिधानस्य हुत्करत्वाज्जीवावितत्त्वस्य कदाचिद्व्यश्रुतपूर्वत्वात्सुखमत्वाच्च । ज्ञातेऽपि धर्मेऽस्ति धर्मः सम्यक्स्वाद्यात्मकोऽभ्युदयनिःशेषसफलप्रदो जितोक्त इति श्रद्धानमनितुर्लभतमं कालादिलब्धीनां सुखयेंदवत्वात् ॥

और भी बातोंकी दुर्लभता आंगेकी भाषासे दिखते हैं—

अर्थ—देश, कुल, रूप आरोग्य, आशुष्य, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण, ये गते मनुष्य जन्म मिलनेपर भी दुर्लभ हैं. मनुष्यगति नायकर्मके उदयसे मनुष्यपना प्राप्त होता है. तो भी जिनमणति धर्मसे प्रारम्भ मानव जिनमें रहते हैं ऐसे देखमें जन्म होना बहुत दुर्लभ है. अंतर्दीर्घोंमें जन्म होकर भी मनुष्यता मिलती है. शुक, यवन, किरात, गर्वर, पारसीक, सिंहादिक देश धर्मज्ञ मनुष्योंति रहित है ऐसे ही देश बहुत हैं. जहां सज्जन रहते हैं ऐसा देश प्राप्त होनेपर श्राद्धाण, क्षत्रिय, वैश्यादिक कुलोंकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. क्योंकि उत्तम कुल दुनियामें अल्प हैं. पारथर नीचगोत्रका वंश होता है. प्रायः मिथ्यात्वका उदय होनेसे मनुष्य गुणोंकी और गुणिजनोंकी निंदा करने लगता है. निर्गुण होनेपर भी अपने कुलका अतिशय अभिमान धारण करता है. ऐसे अभिमानसे यह जीव नीच गोत्रका संचय करता है. गुणमें और गुणिजनमें प्रेम होना, अपने कुलाभिमानका विरस्कार होना यह गते अत्यल्प पानी जाती है इसलिय उत्तम कुलकी प्राप्ति कष्टित होती है.

चारित्र्यभोहनीयके उदयसे यह आत्मा हमेशा पट्काय जीवोंका नाश करनेमें हमेशा उद्युक्त होता है. उन जीवोंकी रूपशोभाको बिगाडता है इससे अशुभ नाम कर्मका वंश होता है. इस कर्मका उदय होनेपर यह जीव अनेक बार विरूप होता है.

जीवदया कभी कभी करता है। प्रशस्त रूप नाम कर्मके उदयसे सुंदर रूपकी आप्ति बहुत क्लेशसे प्राप्त होती है। परजीवोंको हमेशा संताप देनेमें ही तत्पर रहनेसे सर्वदा देहमें रोम उत्पन्न होता है। परसंतापको बुर करना, वैयावृत्य करना ये पाते कभी कभी करनेसे नीयोगतकी प्राप्ति होना दुर्लभ होगया है। प्रायः यह आत्मा दुसरान्नी आयुको नष्ट करता है। इस लिये यह स्वल्पायु हो जाता है। कदाचित् अहिंसा व्रतका पालन करनेसे यह पुरुष कभी २ चिरंजीवी होता है। इस लिये चिरजीविताभी दुर्लभ है।

समीचीन ज्ञानको दूषण देना, उससे भत्सर करना, ज्ञानमें विघ्न करना, उसका नाश करना, चक्षुरादिक इंद्रियोंका नाश करना, इन कार्योंसे इसको यतिज्ञानावरणका और सुवशानावरण कर्मका बंध होता है। जिसका उदय होनेसे यह जीव अतिमंदबुद्धि हो जाता है। लक्षावधि जन्मोंको प्राप्ति होनेपर मति सुवशानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेके योग्य शुभपरिणाम जब होते हैं ॥ कदाचित् भिक्वको उत्पन्न करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है।

बुद्धि उत्पन्न होने परभी हिताहितका विचार दुस्मानेवाला धर्मश्रवण प्राप्त होना अतिशय कठिन है। राम-देवपरहित, समीचीन ज्ञान प्रकाशके द्वारा दुर्भेद्य मोहांधकारको हटानेवाले, संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर दया करनेमें उत्पन्न रहनेवाले मुनिराज दुर्लभ हैं इस लिये धर्मश्रवणका पाना दुर्लभ हो रहा है।

तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे गुणित्वनौमें द्वेषभाव उत्पन्न होता है। मिथ्याज्ञानकी प्राप्ति होनेसे दुराग्रह रमें प्रवृत्ति रहते हैं इसका परिक्षान न होनेसे यह जीव यतिप्राप्तिके पास जाता नहीं है। इससे धर्मश्रवणसे इसको वंचित रहना पड़ता है।

कदाचित् पापका उपशम होनेपर यतिव्रतके पास यह पुरुष जाता भी है। वहां नयोंके अनुसार प्रश्रुण दुर्लभ है यह सिद्ध हुआ। यह जीव यतिके स्थानपर लाकर भी यथेच्छ सो जाता है। अथवा स्वतः दुसरोंके ताप निःसार मापण करने लगता है। मूलोंके मापण सुनता है। वित्तका आश्रय नहीं करता है, इस लिये भी आचार्यजीने धर्मश्रवणकी दुर्लभता दिखाई है।

धर्म सुननेपर भी उसका ज्ञान होता दुर्लभ है. क्योंकि श्रुतज्ञानावरण कर्मके उदयेसे उषदेयका अभि-
मान जाननेकी पात्रता नहीं रहती है. कभी गुरुका उपदेश नहीं सुना था, हसलिये मन
एकाग्र नहीं होता है. जीवादिक तत्व ग्रहण हैं इसलिये भी मन एकाग्र नहीं होता है. श्रुतज्ञानका आधारभूत
धुपोपशम प्राप्त होनेपर मन एकाग्र हो सकता है. वक्तोके वर्चनमें सुंदरता होनेसे भी मनमें एकाग्रता उत्पन्न
होती है. संपूर्ण देश, कुल, आरोग्य दीर्घायु इत्यादिक उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ऐसा ज्ञान होना कठिन है.
धर्मका स्वरूप जानने पर भी सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान, सम्पदचारित्र, तप, दान, पूजा एतत्स्वरूपी
आत्मपरिणाम ही धर्म हैं यही धर्म अभ्युदय व मोक्षमुखको देता है ऐसी श्रद्धा होना कठिन है. दर्शनमोहनीय
का उदय होनेसे श्रद्धान नहीं होता है. उपदेश, काल, कारणलब्धि ये चारों कमी जीवोंको प्राप्त होती हैं
सर्वदा नहीं है.

लब्धेसु वि तेषु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा ॥

कुपधाकुल्लो य लोगो जं वल्लिया रागदोसा य ॥ १८७० ॥

वेद्यादिष्वपि लब्धेषु दुर्लभा बोधिरंजसा ॥

क्षुपधाकुल्लिते लोके रागद्वेषवशीकृते ॥ १९४१ ॥

विजयोदया—लब्धेसु वि तेषु पुणो लब्धेयपि तेषु भट्टजनयादियु बोधिरंक्षाभिमुक्ता बुद्धिर्न सुलभा भयलज्जयासे-
यमयातिकर्मणः । कुपमाकुल्लवात् लोकस्य यद्गन्माचरणमेष भगणयन् यत्किञ्चनाचरति, यत्सर्वतश्च रागद्वेषाः ज्ञानधर्मा-
नोपेतमपि न सन्मार्गे भौतिकं ददति ॥

भूला—क्षुपधाकुलो लोको हि कदूनामेवाचरणं प्रमाणवत् यत्किञ्चनाचरति । हृष्टबुद्धीषी य प्रायेण जनः
स्वकार्ये मुह्यति । वल्लिया तत्त्वज्ञानभद्यानतोतिस्वदाचरणानुचरणप्रतिबंधकत्वात् ॥

अर्थ—मनुजमय वगैरहकी प्राप्ति होनेपर भी जिनधर्ममें दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती
है. संयम धारण करनेकी बुद्धि प्राप्त होना बहुत कठिन है क्योंकि संयमभाव करनेवाला कर्म प्रबल रहता है.
लोक प्रायः बहुत लोगोंका आचरण देखकर वेसा स्वयं भी आचरण करते हैं. अन्य जनोंका आचरण योग्य है

या नही हमसा विचार ही नहीं करते हैं. लोग कुमार्गपर चलते हैं उस कुमार्गसे वे आकुल हो रहे हैं. उनकी चलेने देखकर यह अब भी वैसा ही कुछ भी आचरण करता है. जीवमें समक्षेण प्रचल है वे सम्मार्ग पर इसको चलेने नहीं देते हैं. ज्ञान और श्रद्धासे युक्त होनेपर भी यह जीव सम्मार्ग से पापशुल होता है.

इय दुल्लहा पयोदीप जो पमाइउज कह वि लक्ष्माणु ॥

सो लछट्टइ दुक्खेण रदणगिरि सिहरमारुहिय ॥ १८७१ ॥

इत्थं यो दुर्लभां योषिं लब्ध्वा तत्र प्रमायति ॥

एतन्पर्वतमारुह्य वतः पतति नटुचीः ॥ १९४२ ॥

विजयोद्या—एय दुल्लहा पयोदीप उक्केन क्खेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुपायां बुद्धो लब्ध्वायामपि यः प्रमायतग-
सौ एतन्गिरिदिगम्भारय ततः पतति प्रमायी ॥

एवं दुर्लभां योषिं लब्ध्वापि प्रमार्गवन्मुहोपति—

मूढारा—वट्टदि पवति । रणगिरिसिहरं मेरुर्गमम् ॥

अर्थ—ऊपर कहे मुजब दीक्षाभिमुख बुद्धि दुर्लभ है. उसकी प्राप्ति होनेपर भी यदि कोई जीव प्रमादी बनैगा तो एतन्पर्वतके शिखरपर चढ़कर फिर उससे यह गिरता है ऐसा समझना चाहिये.

किडिदा संती वोधी ण य सुलहा होह संसरंतस्स ॥

पडिदं समुद्दमज्जे रदणं व तमंघयारम्भि ॥ १८७२ ॥

नष्टा प्रमादतो वोषिः संसारे दुर्लभा भवेत् ॥

नष्टं तमसि सद्रत्नं पयोषी लम्प्यते कणम् ॥ १९४३ ॥

विजयोद्या—किडिदा संती योषिधिक्खण खती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा मयति संसरतः । अंयकोरे तमसमये पवति तमसिपि ।

अर्थ—यह दीक्षाकी बुद्धि नष्ट होनेपर फिर मिलती नहीं है अथकारमें समुद्रमें रत्न फेंक देनेपर जैसे पुनः रत्न नहीं मिलता है, वैसे दीक्षासे बुद्धि हट जानेपर पुनः दीक्षा धारण करना दुर्लभ है.

ते घण्णा जे जिणवर विट्ठे घम्मस्मि होति संबुद्धा ॥

जे य पवण्णा घम्मं भावेण उवट्ठिमदीया ॥ १८७३ ॥

चिपुलसुफलानां करुपने कल्पवल्लीं भवसरणतरूणां कल्पने या कुठारी ॥

भवति मनसि शुद्धा सा सिधरा शुद्धयोपिः फलममलमलंभि प्राणितव्यस्य तेन ॥ १९४४ ॥
इति बोधिः ।

विजयोदया—स्फोटिता गण ॥ बोधित्ति ॥

विनोक्तयत्ते संबुद्धाग्भावेन परिणतं च परिणोदि—

मूलारा—सप्तम् ॥ बोधव्यनुमेक्षा ॥

अर्थ—जो पुत्र जिनेश्वरने कहे हुए धर्ममें प्रसुद्ध होते हैं वे धन्य हैं, तथा विन्हीने प्रसुद्ध होकर जैन धर्मका आचरण किया है—फरते हैं अर्थात् हृदयसे विन्हीने जैन धर्मको अपनाया है ऐसे महात्मा इस संसारमें घन्यताके पात्र हैं, अनुमेक्षाओंका धर्मेन समाप्त हुआ.

प्रसुतमर्थमुपसंहरति—

इय आलंघणमणुरेहाओ घम्मस होति ज्ञाणरस ॥

ज्ञायंतो ण वि णस्सदि ज्ञाणे आलंघणेहिं मुणी ॥ १८७४ ॥

द्वादशापीत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानानवलंबनम् ॥

नालंबनं विना चित्तं स्थिरतां प्रतिपद्यते ॥ १९४५ ॥

वित्तयोद्गता—इय आलंबनं पञ्चमालंबनं भवत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य ध्याने प्रवृत्तौ च विप्रणश्यति ध्यातनिमित्ता-
लंबनेभ्यो यतिः । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तः सततं वस्तुधायात्मात्मव्यवर्ते तस्य विस्मरणात् ॥

एवं द्वादशाप्यनुप्रेक्षा निरूप्य प्रत्युतेन योजयति ॥

मूढारा—आध्याने आलंबणेहि ध्याननिमित्तालंबनान्यामित्य भ्यासश्च विनश्यति । ध्यानात् प्रकवचते इत्यर्थः ।

इती विषयका उपसंहारः—

अर्थ...धर्मध्यानमेव जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप है, अनुप्रेक्षाको बलपर ध्यासा
धर्मध्यानमे स्थिर रहता है, जो निम वस्तुसंस्वरूपमे एकाग्रचित्त होता है यह विस्मरण होनेपर उससे विभक्ता है
परंतु पार पार उसको एकाग्रताके लिए आलंबन मिल जावेगा तो नही चिन्तेगा.

ध्यातुलंबनबाहुल्यं वसोवस्तुचरमाया—

आलंबनं च वायण पुच्छणपरिवट्टणानुपेक्षाओ ॥

धम्मस्स तेण अविहङ्गाओ सम्भाणपेहाओ ॥ १८७५ ॥

आलंबनोहिं भदिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयरस्स ॥

अं जं मणसा पेच्छदि तं तं आलंबनं हवइ ॥ १८७६ ॥

आलंबनैर्भूतो लोको ध्यातुकामस्य योगिनः ॥

यदेवालोकते सम्पक् तदेवालंपनं मतम् ॥ १९४६ ॥

पिञ्जयोद्गता—धम्मस्स आलंबनोहिं भदिदो ध्यातुलंबनैः यूनो लोको ध्यातुकामस्य रूपकस्य यद्यन्मनसा
पश्यति तत्तदालंबनं भवति ॥

दिप्पासोरालंबनबाहुल्यमाह—

मूढारा—संशयम् ॥

ध्याताको ध्यानके लिए अनेक आलचनोंकी आवश्यकता है इस विषयका विवेचन—
 अर्थ—वाचना, इच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेषा ये सब धर्मध्यानके आलवन हैं. इनके आश्रयसे धर्मध्यान
 उन्नत दशाकी प्राप्ति नर लेता है. इस लिए पूर्वोक्त द्वादशानुश्रयायें भी धर्मध्यानके अनुकूल ही हैं धर्मध्यान
 करनेकी इच्छा करनेवाले यतिराजमें यह सपूर्ण लोक भी आलवन है श्रवणक जो जो नीज देखेगा वह २ ध्यानकी
 आलंनभूत होगी.

धर्मध्यान ध्यात्वाय ध्यामातर ध्यात्वातुमुत्तरप्रवच —

इच्छेवमदिकृतो धम्मभ्रानं जदा हवइ खवओ ॥

सुक्कश्चाणं ज्ञायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥ १८७७ ॥

धर्मध्यानमनिकातो यदा भवति शुद्धधी ॥

शुद्धलेदयस्तदा ध्यानं शुद्धं ध्यायति सिद्धये ॥ १९४७ ॥

विजयोदया—इच्छेवमदिकृतो धर्मध्यानेमेव ध्यायतिः करमनिकातो यदा भवेत् श्रवणक शुक्लरूपानमलौ
 ध्याति सुविशुद्धलेदयासमन्वित ॥ परिणामधेयया हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित । क्रमेणैव प्रवर्तते न हि प्रथमे सोपाने
 रथावितचरण द्वितीयादिक सोपानमारोहो सम्भवति ॥ एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमहतीति सूत्रेणा
 तेन कथित ॥

एवं धर्मध्यानं व्यावसाय शुक्ल प्रवर्णेन व्याधिरूपासुरप्रमत्तो धर्म्यं शुक्लमर्हतीति श्रावयति —

मूलारा—सुविशुद्धलेस्साओ परिणामधेयया हुत्तरोऽनुगुणतया स्थितोऽक्रमेणैव प्रवर्तमानो न हि प्रथमे सोपाने
 रथावितपादो द्वितीयादिकं सोपानमारोहो भवते—

धर्मध्यानके अनंतर शुक्ल ध्यानका सविस्तर आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिसका स्वरूप पूर्वमें वर्णित हुआ है ऐसे धर्मध्यान के अनंतर श्रवणक शुक्लध्यानका चिंतन
 करता है न कि विशुद्ध लेश्यायुक्त होता है अर्थात् उस ध्याताके परिणामोंमें क्रमसे अधिकाधिक निर्मलता
 आती है. जैसे जिसने प्रथम सोपान पर पैर रखा है वह दूसरे सोपानपर आरुढ़ नहीं हो सकता है अर्थात् प्रथम
 सोपानपर आरुढ़ होकर ही द्वितीय सोपानपर सिटीपर अनंतर पैर रख सकता है वैसे यहाँ भी धर्मध्यान के

अनंतर अग्रमत्त मुगस्थानवर्ती क्षणक शुक्लध्यानमे प्रवेश कंता है- विना धर्मध्यानके शुक्लध्यानका चिंतन ध्यादा नहीं कर सकता है.

चतुर्विधमुक्लध्यानं नामतो दशंयति गाथाहयम् ॥

द्व्याणं पुधत्तसवितकसवीचारं हवे पढमसुक्कं ॥

सवितककेक्कचावीचारं उक्षाणं विदियसुक्कं ॥ १८७८ ॥

वित्तपोदया—उक्षाणं पुधत्तसवितकसवीचारं ह्याणं पुधत्तसवितकसवीचारं प्रथमशुक्लं भवति । सवि-
तककचावीचारं सवितकैकचावीचारं द्वितीयं शुक्लध्यानं ॥

शुक्लध्यानस्य चतुरो भेदाभ्यामतो दशंयितुं गायान्धमाह—

सूताः—पुधत्तसवितकसवीचारं पुधत्तस्य वितकं सविचारं यत्र सवुधत्तससवितकंसविचारं । पुधत्तस्य-
वितकवीचारमिति प्रथमशुक्लध्यानार्थं नामेत्यर्थः । उक्तं चाप्ये—

पुधत्तयेन वित्तपोदयेन वीचारो धेत्त तद्विदुः ॥ सवितकसवीचारं पुधत्तसावैपयहये ॥

सवितकैकचावीचारं सवितकैकचावीचारं यत्र तत्सवितकं कचावीचारं एकसवितकं सवीचारमिति द्वितीयशुक्ल-
रान्वयार्थः ।

उक्तं चाप्ये—एकमेव वित्तपोदयं स्याद्यत्र विचरिणुता ॥ सवितकं सवीचारं सवितकसावैपयहये ॥

सुद्धमकिरियं सु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पणचं ॥

वेति चतस्रं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥ १८७९ ॥

गद्यं पुधत्तसवितकवीचारं कत्तचित्तकावीचारसूक्ष्मकियासमुच्छिन्नक्रिया-

णि ज्येकयोगकायोगायोगधेयानि चत्वारि शुक्लानि संधार्यानि ॥ १४८८ ॥

विजपोदया—सुद्धमकिरियं तु तदियं तवीयं शुक्लध्यानं जिणं प्रथमं सुद्धमकिरियं, यत्त चतस्रं सुक्कं
पुणत्त चतुस्रं जिनाः समुच्छिन्नक्रियाः ॥

एवं द्विमेदं शुक्लं निरूप्य द्विविधं परमशुक्लं निरूपयति—

मृदागा—मुद्रमक्षिरिपं मृदेया क्रिया कावल्यापाते यत्र वत्संभ्रमक्रियमन्वयेत्याम्ना पृथ्वीयशुक्लं ब्रुते यत्सिद्धं ।
ममृदिगुमन्त्रियनिलः यथं ययुषं शुक्लमाकयवते ॥

चारं शुक्लध्यानोक्तं नाम दो गाथात्रये कर्तते है—

अथ—पृथग् सत्तकं ततोचारं नामक प्रथमं शुक्लध्यानं, सवितर्ककृत्यवीचारं नामक दूसरा शुक्ल-
ध्यानं, मृदमक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यानं, मधुजिह्व क्रिया नामक चौथा शुक्लध्यानं ऐसे चार ध्यान हैं जो चार
रतानके चार भेद कहें हैं.

पृथक्पृथक् सवितर्कसंकीर्णारं ध्यात्वेष्टे गाथाचयेन—

दृढ्याइं अणेयाइं तीहिं वि ओमेहिं जेण ज्ञायंति ॥

उद्यमं तमोहिं गिज्जा तंण पुथत्तंति तं मणिआ ॥ १६८० ॥

वित्तसो भणयते तत्र धुत्तध्यानापिचक्षणैः ॥

अव्यक्तपञ्चजनयोगानां चीनारः संक्रमो युधेः ॥ १९४२ ॥

तत्र द्रव्याणि सूर्याणि ध्यायता पूर्ववादिना ॥

भवेन प्रथमं शुक्लं शान्तमोहेन लभ्यते ॥ १९५० ॥

विजयोदय—इत्याइं अणेयाइं तीहिं वि ओमेहिं जेण ज्ञायंति इत्यारभ्येतामि निमित्तयोगैः परावर्तमाना येन
नितर्कगुणशान्तमोहनीयान्तेन गृहकृत्यमिति प्रथमपञ्चजनमुक्ते, पतवर्धे कथयति—अथ दृश्य द्रव्यस्य पलं ध्य प्रयुक्तेनाभेमान्येन
योगेन मृदुस्वरसागमो भवतीति पृथक्पृथग्पदेनो ध्यानस्येति ॥

प्रथमशुक्लनाम गाथात्रयेण निर्दिष्टिषुः प्रथमे सप्तपञ्चकस्य स्ववर्थापयति—

मृदागा—अणेयाइं द्विध्यादीनि । तीहिं वि ओमेहिं निमित्तरिति सोमंमनोवाकावज्जापारैः परावर्तमानाः । उद्यमं

मोहनिगजा उपशान्तमोहनीयकर्मणः । त्रियोमीरुपसंस्तपोदेः प्रथमं शुक्लं साध्यते इत्यर्थः । पुष्पंति अन्वदन्त्यद्रव्यर-
पदं न प्रयुक्तेनोदितान्तेनयोगेन प्रयुक्तस्यात्मनो मयति इति प्रयक्त्वमित्युक्तमित्यर्थः ॥

पहिते शुक्लध्यानसा तीन गाथात्रांते आचार्य निरूपण करते हैं—

अथ—१म पृथक्स्व सवितर्कं सविचारध्यानमं अनेक द्रव्य विषय होते हैं और इन विषयोंका विचार

चिन्तन करते समय मनोयोग वचन योग और कापयोग इन योगोंका परिवर्तन होता है- अर्थात् उपशांत मोहनीय मुनि कभी मनोयोगके आश्रयले, कभी वचनयोगसे और कभी काययोगसे भिन्न भिन्न द्रव्योंका विचार करता है. ध्यानमें विषयभिन्नता, योगाभिन्नता और वचनभिन्नता रहती है. इस वास्ते इस ध्यानको प्रथमत्व सवितर्क सविचार ऐसा आचार्य कहते हैं.

अग्रा सुदं वितर्कं जग्धा पुण्यगदअत्यकुसलो य ॥

अजायदि ज्ञाणां एदं सवितर्कं तेण तं ज्ञाणं ॥ १८८१ ॥

पिजयोदया—अग्रा सुदं वितर्कं यस्मात् धृतं वितर्कं यस्मात् पूर्वज्ञाणकुसलो ध्यानेमेताग्रवर्तयति । तेन तत्त्वं एतत् सवितर्कं । शतुरंगपूर्याणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टेयः ॥ सादृश्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्केणार्थश्रुतेन ध्येयेन सह पतंत इति श्रुतज्ञानमेवापलप्य सवितर्कमित्युच्यते अथवा वितर्कशब्दः धृतं वक्तुंवात् । श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन धृतेन पतंत इति सवितर्कः ॥

सवितर्कमिति समर्थवते—

मूवारा—पुण्यगदअत्यकुसलो सफलसुश्रार्थं पटुः । सवितर्कं वितर्कोऽथ श्रुतत्वाच्चतुर्दशपूर्वाणि सत्साहचर्याच्च शतुरविष्टोऽर्थो वितर्कमनेष्टः । सह वितर्केण चतुर्दशपूर्वोपदिष्टार्थभूतेन ज्येयं वर्तते इति सवितर्कम् ॥ अथवा वितर्कः । शब्दश्रुतं वक्तुम् । शब्दश्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं । सह वितर्केण कारणेन धृतेन वर्तते इति सवितर्कं ॥

अर्थ—इस ध्यानका स्वामी १४ पूर्वोक्त ज्ञाना मुनि होते हैं. श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं. अर्थात् चौदा पूर्वोक्ता जो ज्ञान उसको श्रुतज्ञान करना चाहिये. पूर्वोक्त जो विषय कहा गया है उसकोभी ज्ञान के सहचर्यसे श्रुत कहते हैं. ज्येसे यदि सहाचर्यसे उल्लेखकोभी यदि कहते हैं. इस श्रुतविषयकोभी वितर्क कह सकते हैं. यह विषय स्पष्ट है. तात्पर्य—यह है कि श्रुतशब्द पूर्वज्ञानका व तद्वत् विषयकोभी वाचक है ऐसा समझना चाहिये. यह उल्लेख ज्ञान इस ध्यानका कारण है इसलिये इसकोभी ध्यान कहा सकते हैं.

अत्राथा वंजणाण य जोगाण प संकमो दु वीचरो ॥

तस्स य भावेण तयं सुत्ते उच्चं सवीचारं ॥ १८८२ ॥

विजयोदया—अस्याज वंजणां अर्थानां व्यञ्जनां ये व्यञ्जनाः शब्दास्तेषामिति, धैर्यधिकरणेन संयमः, न पुनरर्थानां व्यञ्जनां चेति समुच्चयः । अर्थपृथक्त्वशब्देनोपादानात् योगानां च संक्रमो वीचारः तस्य य भावेण वीचारस्य सद्भावेन । तयं तदिदं शुफलभ्याने सूत्रे सवीचरमित्युक्तं । अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला इत्येवमादिपरिमितोक्तद्रव्यप्रत्ययपरश्रुतवाक्योद्भूतं ध्यानमिति वृथभूतद्रव्यालंबनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालंबनान् एकत्ववितर्काद्विद्यते योगत्रयसहायत्वावेकयोगाद्विचारपद्धितीयध्यानान्निवृत्त्ये । उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात् क्षीणकणायस्यामिकादधानान्निवृत्त्ये । सचित्कृत्येन अचित्कर्माभ्यां एवीयचतुर्थाभ्यां विलक्षणं । अत एव नामनिर्देशेनैव स्थानांतरविलक्षणे वृथक्त्यसंवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्तं ॥

सविचारमिति विवृणोति—

सूत्रारः—अस्याज वंजणां अर्थानां व्यञ्जनां व्यञ्जनां, सत्पर्यायानां वा यानि व्यञ्जनानि व्यञ्जकाः शब्दास्तेषां इति वैयधिकरणेन संयमेन पुनरर्थानां व्यञ्जनां चेति समुच्चयः । अर्थपृथक्त्वशब्देनोपादानात् । संक्रमो परावर्तनम् ॥

वर्कं च—योगयोगांतरं वायाद्व्यञ्जनाद्व्यञ्जनांतरम् ॥
पर्वोवादिपि पर्वोवं इत्याणोर्धितवेदजम् ॥

भावेण सद्भावेन एतेन भ्यानांतरवैलक्षण्यं प्रथमशुक्लस्योक्तं । इदं हि वीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला इत्येवमादिपरिमितैकद्रव्यप्रत्ययनपरश्रुतवाक्योद्भूतं ध्यानमिति वृथभूतद्रव्यालंबनत्वेन रूपेणैकद्रव्यालंबनान्वेकत्ववितर्की-योगत्रयसहायत्वावैकयोगास्तद्विचारवाचाविचारपद्धितीयशुक्लध्यानान्निवृत्त्ये । यद्यप्युपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वाभ्योप-शमकक्षपक्षत्वाद्वा स्वीयमोहनीयस्वामिकान्तेपक्षविश्रयापातिवृत्त्यवस्थापकद्वितीयादिसुषुप्तावस्थिते । सचित्कृतवाचा-वितर्कान्त्यशुक्लकक्षान्त् ॥

वर्कं चार्थे—वृथक्त्यं विद्वि नानात्वं वितर्कःश्रुतमुच्यते ॥

अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारःसंक्रमो मतः ॥

अर्थादर्थोतरं गच्छन्त्यञ्जनाद्व्यञ्जनांतरं ॥

योगयोगांतरं गच्छन्त्यायतीदं वक्षी मुनिः ॥

त्रियोगः पूर्वविषयस्माद्व्यायत्नेन मुनीश्वरः ॥

सचितर्कं सवीचारमतः स्वाच्छुक्लमादिभम् ॥

ध्येयमस्य श्रुतसंयमोर्धोर्गवैविस्तरः ॥

फलं स्वान्मोहनीयस्य प्रक्षयः भक्षमोऽपि वा ॥
 भ्रशान्त्वधीणमोहेषु श्रेष्ठोः शेषरूपेषु च ॥
 यथानामभिर्दं ध्यानमागमनंति मनीषिणः ॥

भवति चान् धृतम्—

द्रव्य भावम गतिस्वल्भमधिगम्यकृत्वा वित्तकं स्फुरन् ॥
 अर्धव्यवनमंगीररपि धृक्स्तेनोपि सांक्रामता ॥
 नमोऽज्ञाननवस्थितेन मनसापूर्णार्थिकोत्साहवत् ।
 कुठेन दुभिक्षाणुजः परकुला छिदन्वर्तिर्मे गतिः ॥

निचार शुद्धका स्पष्टीकरण—

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थ के वाचक जो शब्द उनका विचार होता है. अर्थात् सक्रमण होता है. जैसे योगोंके सक्रमणको योगमंक्रमण योगीचार कहते हैं ऐसे पिचारोंका सङ्कल होनेसे इस ध्यान को सजीचार कहते हैं. जीव, धर्म, अर्थमें आकाश, पुरल इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेवाला जो शब्दशुद्ध वाक्य उस से यह ध्यान उत्पन्न होता है यह ध्यान एकरूप वित्तक ध्यानसे भिन्न है क्योंकि एकरूपवित्तक ध्यान एक द्रव्यका ही आलन लेकर उत्पन्न होता है. यह प्रथम ध्यान तीन योगोंके सहायसे उत्पन्न होता है और दूसरा शुक्लपान फल एक योगसे ही उत्पन्न होता है उपधात मोहनीय पुनि इस ध्यानका स्वामी है और इतर ध्यानोंके स्वामी क्षीणरूपस्य सुनि हैं. यह ध्यान सवित्तक है इसलिये अवित्तकं युक्त जो तीसरा और चौथा ध्यान बह इम ध्यानमें भिन्न माना जाता है इम ध्यानका धृक्स्व सवित्तकं सजीवार ऐसा नाम है नामसे ही अन्य ध्यानों से यह विलक्षण है ऐसा माहुरम पढता है

जोगेमेव दन्वं जोगेगेमेण अण्णदुरगेण ॥

क्षीणकसाओ, ज्ञायदि तेणेगचं तयं मणिं ॥ १८८३ ॥

ध्यायता पूर्ववैक्षण क्षीणमोहेन साधुना ॥

एकं द्रव्यमेवमेदेन द्वितीयं ध्यानमाप्यते ।, १९५१ ॥

विज्ञानोदया— ज्ञेयत्वमेव दृष्टं ज्ञोयोगेण अणुद्वयेण यदैवेव द्वयं अन्तरेणैकेन पुरादुत्तरं, एकीण कपायो भवति तेभिरुत्तरं तद्वर्जितं एकद्वयत्वं न क्वात् । अन्यतरयोगबुद्धेरेवात्मन उत्पत्तेरेकत्वं भवान् एकीणकपाय स्वाभिरुक्तं भवेत् ॥

द्वितीयशुक्लनाम चतुर्थादधिकारस्यैकत्वं समर्थयते—

चूलाया—एगमेव पण्या मध्ये यद्विचिचिद्विद्वं अथवा एकशब्दोऽत्र प्रपानार्थत्वेन सर्वसद्वद्वत्वेष्ट्वेकं प्रपानमप्रधान

नेवेत्यर्थः

७कं च—

विधिचारावतारास्तु वेलाः श्रोताः सृष्टिपु ॥

आस्तन्येव गुरुराध्या ससद्वयानमवीजकम् ॥

एतेन प्रपानवयोपत्तेन । अणुरद्वयेण प्रपानार्थं मध्ये येन देनापि सद्वद्वत्तम् । तेन एकद्व्यालंबनमेकयो-
गवृत्तिर्द्वीणकपायद्वयमिकत्वेन च । त्वं तद्वृत्तिर्यं शुक्लं एतेन परिनिवातेकसर्वपर्यायद्व्यालंबनाद्विचयोपपत्तौवनोद-
प्रथमशुक्लसमस्तपदुविद्वयार्थां संबोगायोगकेचछिरमायिकार्यां वृत्तीयचतुर्थशुक्लार्थ्यां चास्य भेदः ।

अर्थ—एकस्य वित्तर्कं आविचारं नामकं दुसरे भ्यानका स्वरूप इम प्रकर है—इस भ्यानके द्वारा एकही योगका आश्रय छिपर एकही द्रव्यका भ्याता चिंतन करता है इसलिये यहाँ अर्थसंक्रमण, योरासंक्रमण और एतदसंक्रमण नहीं हैं । इस भ्यानका स्वामी धीण कर्पायी मुनि है । तीनबोरांपेसे एक ही योग यहाँ है । इससे ही यह भ्यान उत्पन्न होता है । एक ही द्रव्य इस भ्यानका आलंन है ।

जम्हा सुदं वित्तकं जम्हा पुव्वगदभयकुसलो य ॥

ज्मायदि ज्ञानं एवं सवितकं तेण तं ज्ञानं ॥, १८८४ ॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमोःहु वीचारो ॥

तस्स अभावेण त्वं ज्ञाणं अविचारमिति जुत्तं ॥ १८८५ ॥

विज्ञानोदया—एकद्वयत्वंयत्नेन परिमिततेक्तसर्वपर्यायद्व्यालंनान् प्रपानावतात्सत्यस्तुधिपयान्यां वृत्तीयचतुर्थार्थां च विद्वत्क्षणता द्वितीयस्याज्या गामना निवेयिता । एकीणकपायद्वयेन उपपत्तौतमोद्वस्वभिरुत्तरात् । सयोगयोगवृत्तिस्वामिकार्यां च भेदः सवितर्कता पूर्वदेव । पूर्वव्याधान्तरीचाराभावाद्बीचारत्वं ॥

द्वितीयस्य सवितर्कत्वनाह—

मल्लभारती-स्य प्रथमः ॥

अर्थ—यह ध्यान एक द्रव्य का ही आश्रय करता है इसलिये परिमित अनेक पर्यायों सहित अनेक द्रव्यों का आश्रय लेनेवाले प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है, तसिरा और चौथा ध्यान सर्व वस्तुओंको विषय करते हैं अतः इनसे भी यह दूसरा शुक्ल ध्यान भिन्न है, ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है. ॥॥ ध्यानका स्वामी क्षीण कषायवाला मुनि है. पहिले ध्यानका स्वामी उपशान्त कषायवाला मुनि है, और तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यानका स्वामी सयांग केवली और अयोग केवली मुनि हैं अतः स्वाधित्यकी अपेक्षासे दूसरा शुक्ल ध्यान इन ध्यानोंसे भिन्न है.

सुतीन्यध्यानमाचष्टे ॥

अवित्तवकमवीचारं सुदुभकिरियबंधणं तद्वियसुक्कं ॥

सुहमस्मि कायजोगे भणिदं तं सव्यभावगदं ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—वर्षितपद्मपीचारं धृतानालंबनत्वादपितृर्हं स्वर्गं भुक्तज्ञानं भवतीति वा अदितर्कं पूर्वमालंघी-
 एतादृशार्थोत्तरालंबनत्वं नाम पीचारो बालीयदिचारं, सुदुमकितियवेषणं सूक्ष्मक्रियासेति सूक्ष्मक्रियः आत्मसंघन-
 नाधर्गोऽस्मेति सूक्ष्मक्रियवर्धनः, इतीयशुक्लं, सुदृशमग्निं काययोगे सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्तेः, भगितं सूक्ष्मक्रियमिति
 तौ सप्तमत्वागदं इतीयं शुक्लध्यानं त्रिकाङ्गोच्चरानंतसामान्यविशेषात्मकद्वयशब्दकृत्युपपत्त्यकाशातत्वरूपे, युगपत्प्र-
 क्ताशनमेकमग्रं सुखमर्देयति ॥ एकमुद्यतपि विद्यत इति ध्यानशब्दस्वार्थोऽयमुच्ये विद्यते ॥ एकाग्रचित्तानिरोधो
 ध्यानमित्यत्र तस्ये चित्तादादौ ध्यानसामान्यजननः । तेन युक्तज्ञानं कविध्यात्वमित्युच्यते, कवित्वेवलक्ष्णं कविचिदुदाहानं
 कचिन्मतिज्ञानं मतपज्ञानं वा, यतोऽपिचिद्वत्त्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तत्स्यपिचिद्वत्त्वे साधारणं सर्वज्ञानोपयोगानां ॥

नारद्वैवाचीप्यारह्यं पृते-

नूतनारा-रषष्टम् ॥

नीसरे ध्यानका स्वरूप कहते हैं—

अयं—वीमरा मृदंगकिपा नामक शुद्ध ध्यान विवर्तकहित अर्थात् श्रुतज्ञान रहित होता है. श्रुतज्ञान

का आलंपन इस ध्यान में नहीं रहता है. संयोग केवली मुनि ज्ञान ध्यान अभीचार है अर्थात् इस ध्यान में एक पदार्थ का आशय लेकर उसको छोड़कर दूसरे पदार्थका आश्रय लेना यह किया नहीं होती है. अर्थात् संपूर्ण पदार्थ उनके केवल ज्ञानमें प्रतिक्षण युगपत् खाने जाते हैं अतः यह ध्यान 'अबीचार' है. सूक्ष्म क्रिया करने वाला आत्मा इस ध्यान का स्वामी है. अर्थात् इस ध्यानमें आत्मा मनोयोग, वचनयोगको सूक्ष्म करता है. यह ध्यान सूक्ष्म काययोग से प्रवृत्त होता है. त्रिकालको विषय होनेवाले जीवादि छह पदार्थोंको युगपत्प्रगट करनेका इस ध्यानका स्वभाव है. युगपत् सर्व पदार्थोंको प्रगट करना यही एकप्रता इस ध्यान में है. पदार्थ के अभिमुख होना यह ध्यान शब्दका अर्थ है. 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्रमें चित्त शब्द ज्ञानसामान्यका वाचक है. इसलिए क्वचित् धृतज्ञानको ध्यान कहते हैं, क्वचित् केवल ज्ञानको और क्वचित् मतिज्ञानको तथा मत्तज्ज्ञानको और धृतज्ञानको भी ध्यान कहते हैं एक पदार्थ पर स्थिर होना यह ध्यान का लक्षण है. यह स्थिरत्व सर्व ज्ञानोपयोगमें है.

सुहृमस्मि कायजोगे वृद्धतो केवली तदियसुक्कम् ॥

झायदि निरुंमिदुंजे सुहृमत्तणकायजोगंमि ॥ १८८७ ॥

सर्वभाषणं सुक्कलं विलोकितजगत्त्रयं ॥

सर्वसूक्ष्मक्रियो योगी तृतीयं ह्याययति प्रभुः ॥ १८९२ ॥

विजयोदया—सुहृमंमि कायजोगे सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमानः केवली वृत्तीयं सुक्कलं भवति निरोधंतमपि सुहृमकाययोगं ॥

प्रथमं परमसुक्कलं अग्न्यर्थसंख्या लक्षयति—

मूलार—सुहृमकिरियकंचयं सूक्ष्मा क्रिया आत्मा स वंषवभाषयो वत्येति सूक्ष्मक्रियबंधनं । भविदं सूक्ष्मे काययोगे सति प्रवृत्तेस्तत्सूक्ष्मक्रियमिति मणितमिति संबंधः । सत्त्वभाषणं त्रिकालोचरत्नंतसामान्यविशेषात्मक द्रव्यपद्व्युगपत्प्रकाशनस्वरूपं एकग्र्यं सुखं यत्स्वेत्येकग्र्याप्यस्य नियते इति ध्यानशब्दोऽपि सुखो पठ्यते ॥ परामर्शितानिरोधो ध्यानमित्यत्र च सूत्रे विज्ञानयो ज्ञानसामान्यवचनः । तेन धृतज्ञानं क्वचिद्धानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं, क्वचिन्मतिज्ञानं, क्वचित् सुवाज्ञानं, मतिज्ञानं वा यतोऽविचलमेव ज्ञानं ध्यानम् । तदुक्तम्—

एकान्तमहर्षेण भाव्य वैयग्न्याविनिवृत्तये ।

व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्वास्वधानमेकाग्रशुच्यते ॥

स्वमर्थं केवली सूक्ष्मनिर्माणवृत्तिः सवृत्त्यावतीत्यत्राह—

मृदात्—विशंभिर्दुष्के विनासयितुं । तां तमपि । उक्तं च ज्ञानार्णवे वित्तरेण—

यदायुर्दधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ॥

समुद्चावविधिं साध्यात्मनोवारमते सदा ॥

अनंतवीर्यैश्वर्याजिह्वंशो दंढं कपाटं प्रवरं विधाय ॥

न सोऽमानं समर्थैश्चतुर्भिः निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥

लोकरूपमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः ॥

आयुःसमानि कर्माणि युक्तिमानीय तत्क्षणे ॥

वतःक्रमेण तानेव स पञ्चाद्विनियतैरे ॥

लोकरूपतः श्रीमांश्चतुर्भिः समर्थैः पुनः ॥

काययोगविधिं कृत्वा यादरेऽ वित्तवेष्टितः ॥

सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरप्

काययोगे ततःसूक्ष्मे पुनः कृत्वा स्थितिं क्षणात् ॥

योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तमर्चयति ॥

सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं समभ्यो ध्यातुमर्हति ॥

सूक्ष्मेकनययोगस्थवरीयं तद्विषयते ॥

अर्थ—इस सूक्ष्म काययोगमें रहनेवाले केवली तृतीय शुक्लध्यानके धारक है. उस समय सूक्ष्मकाय-योगका चे निरोध करते हैं.

अविवक्कमवीचारं आणियट्टिमकिरियं च सीलसिं ॥

ज्झाणं पिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुवक्कं ॥ १८८ ॥

अधोगमकेवली शुक्लं सिद्धिसौधविधायसया ॥
अधुर्थं ध्यायति ध्यानं समुच्छिन्नक्रियो खिनः ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—अधिद्वन्द्वमयीत्वात् पूर्वोक्तविकर्षीचारवित्तन्यात् अवितर्कमयीत्वात्, अग्नियष्टि सकलकर्म-
साततमस्या ॥ नियतं इत्यनिवर्ती । अक्षिरिय समुच्छिन्नप्रभापातप्रचारसर्वकावयार्थमनोयोगरिरुपद्वन्द्वक्रियावपाणा
रत्न्यात् अत्रिय । सीलसि नीलानामोश झीलेत् यथादृष्टवतकारित्वा शीलेष्वस्य भावः शीलेष्व, तत्सद्व्याप्ति ध्यानमपि
शीलेष्व । निरुद्धयोग अपाङ्गिम न विद्यते यथाङ्गाविध्यधनस्मादित्यपङ्गिम । उत्तम सुक परम सुकल ॥

द्वितीय परमशुक्ल लक्षकति—

मूलात् — सकलकर्मज्ञानमकुत्वा न निवर्तते इत्यविचरि । अक्षिरिय अक्षिय समुच्छिन्नप्रभापातप्रचारं सर्वका-
यवाङ्मनोयोगसर्ववैलपरित्यक्तक्रियावपाणरत्न्यात् । सेलेसि नीलानामोश झीलेष्व स्यात्कयातवारिन् ।
तस्मात्तत्पर्योक्तध्यानमपि शयोक्तम् । निरुद्धयोग सित्खनि ज्ञेयकर्मस्यम् । अपाङ्गिम न विद्यते यथाङ्गाविध्यधनस्मादिति
अपङ्गिमम् । उत्तम उत्कृष्टं ससारकारणकर्मनिर्मुक्तम् ॥

अर्थ—यह ध्यान क्लृप्तकं और विचारशील है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं जबतक संपूर्ण कर्मका नाश यह
नहीं करता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता है इस ध्यानमें सब आसोच्छ्वासका प्रचार बंद होता है. सर्व काय-
योग, वचनयोग और मनोयोग यहा नष्ट होते हैं. इस लिये ॥ ध्यान निष्क्रिय माना गया है यहाँ अठारह हजार
शीलकै भेद नष्ट होते हैं इन लिये इस ध्यानको ध्याता शीलेश्व वनते हैं अर्थात् यथाख्यात चारित्रिके धारक होते
हैं यह ध्यान संपूर्ण योगोक्ता विरोध करनेवाला है इससे संपूर्ण कर्मोंके आस्रव यहाँ यद होते हैं इसको सबसे
उत्तम शुक्ल ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान है

त पुन निरुद्धजोगो सरीरतियणासणे करेमाणो ॥

सवण्हु अपडिवादी ज्ञायदि ज्ञाणं चरिमसुवर्कं ॥ १८८९ ॥

विजयोदया—य पुन तन्त्रसुखं शुक्लपुष्प । निरुद्धयोग सर्वेष्व अग्रतियतिध्यानं ध्याति शरीरक्रियनश सुयंन,
अयोगात्मपरिणाम केवलक्षणं कर्तुं शुक्ल, वृत्तं, तत्समकाययोगपरिणाम केवलमिति मेवस्तुतीक्ष्णतुर्गयो ।

तत्त्वमिफले निर्दिशति—

मूलात्—सरीसृपि औदारिकीयस्य शार्ङ्गानि शरीराणि तन्नाशमेव हि वृत्तं । अण्डिगदी अग्रतिपाति । अयोगात्मपरिणामः । केवलज्ञानं चतुर्थं शुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणामस्वदिनि तयोर्भेदः । इत्थं वार्ये—

ततो निरुद्धयोगः सन्योगी विगतास्त्रयः ॥

समुच्छिन्नक्रियं ध्यातमनिर्वर्ति तथा भजेन् ॥

अन्तर्मुहूर्तवतन्वत्तद्व्यानमतिनिर्मलम् ॥

निधूनादेयकर्मणो विनो निर्वात्यन्तरम् ॥

त्रयोदशास्य कर्मांशः तक्षीणाश्चरमक्षणे ॥

दासप्रतिष्ठायां श्रुत्योगपरमेश्वरि ॥

उभयं जग्यारवभानुपास्तमयैतय नीरजा ॥

लोकगत प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धरूपवर्णीयते ॥

अर्थ—यहां संपूर्ण योगोक्ता निरोध होनेसे औदारिक, वैजस और कार्यण शरीरोंका नाश होता है. ये सर्व जिनेश्वर अयोगपरिणामात्मक बनते हैं वहां केवलज्ञान योगसहित होता है. ऐसा इन दो ध्यानोमें अंतर है यह चतुर्थध्यान अग्रतिपाति है अर्थात् हमेशा अयोग स्वरूप-मेंही रहता है

इयं सो खवओ उद्भाणं एयग्गमणो समसिद्धो सम्मं ॥

विबुलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेट्ठिमारुढो ॥ १८९० ॥

इत्थं यो ध्यायति ध्यानं गुणत्रेणिगतः शुभम् ॥

निर्जरां कर्मणामेव क्षपकः कुरुते पराम् ॥ १९०४ ॥

विजयोद्धा—इयं सो खवओ एयमसौ क्षपक, पक्षाच्चित्त सम्यग्ध्यान समाहितस्य विबुलस्य कर्मनिर्जरायां वर्तते. गुणसेट्ठिमारुढो गुणत्रेणीमाकूढ उपशान्तकथायादिकां ॥

महत आनन्द-सुख-सहस्रस्य—

मूलारा—समासितो समाश्रितः । गुणसेवि उपगतकृपायादिकां ॥

अर्थ—इत प्रकार यह यह श्रवण कदाचित्त होकर उपशान्त कृपायादि गुणस्यानोपर क्रमसे आरोहण करता हुआ सम्बन्धानके आश्रयसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है—

१. आनन्दसहस्रस्य स्वभावार्थ उत्तरप्रबंधः ॥

सुखिम् वि संकिलिष्टं विहरंतं ज्ञाणसंवरविहृणं ॥

ज्ञाणेण संबुद्धत्वां जिणदि महोरत्तमेतेण ॥ १८९१ ॥

तत्पश्यवस्थितं स्थितं चिरं निर्य्यानि संवरम् ॥

ध्यानेन संपुतः क्षिप्रं जयति क्षपकः स्फुटम् ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—सुखिरमवि संकिलिष्टं विहरंतं पूर्वकोटिकालं देशानं क्षेत्रसहितचारिणोपतं ज्ञाणसंवरविहृणं ॥ आभाष्येन संघरेण विहीनं । जिणदि जयति । ऊ महोरत्तमेतेण ज्ञाणेण संबुद्धत्वां महोरत्तमविण श्रवणेन तपुतात्मा ॥ ध्यानमाहृत्य प्रवर्धयेन स्तोत्रमाह—

मूलारा—सुखिरमवि देशेनपूर्वकोटिरालम्बवि । संकिलिष्टं विहरंतं । कसेनसहितचारिणोपतं । सुमुहं संबुद्धत्वा संपुतविणो सुमुहः । जिणदि न्यवरोति ।

ध्यानमाहृत्यस्मिन् स्तुति करनेके लिये उत्तर प्रबंध—

अर्थ—कुछ कम कोटि पूर्व वर्षतक क्षेत्रसहित चारित्र धारण करनेवाला सुमुह सुनि ध्यानरूपसंवरसे रचित है इस लिये रातदिन ध्यानसे जिनका आत्मा एकाग्र हुआ है उनको नवीन कर्मका संवर होता है. ऐसे सुनि संवररहित सुनि की अपेक्षासे श्रेष्ठ है.

एवं कसायजुहंभि हवदि सवयस आउचं ज्ञाणं ॥

उज्ञाणविहृणो सवयो जुहेव गिरावुधो होदि ॥ १८९२ ॥

आयुधं योगिनो ध्यानं कथायसमेरे परम् ॥

निर्ध्यानः संसारे युद्धे निरस्त्रमटसन्निभः ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—एवं कसायजुर्ज हि कथयसमदारे ध्यानमयुधं क्षणकस्य भवति । ध्यानहीनः क्षणकः युद्धे निरालुप्य ह्य न प्रतिपक्षे ग्रंथुमलं कथायविनाशक्यति ध्यानस्यानया कथिते ॥

ध्यानस्य कथायविनाशक्यमाह—

मूढारा—आवर्त्तं प्रहरणम् ॥

अर्थ—कथायके साथ युद्ध करते समय ध्यान मुनिको शस्त्रके समान उपयोगी होता है अर्थात् ध्यान-रूप स्वतुल्य संयमी मुनि फर्मोका सार और निर्बारा करते हैं-शस्त्ररहित वीर पुरुष युद्धमें शत्रुका नाश नहीं कर सकता है, वैसे ध्यातके बिना फर्गंशुको मुनि नहीं जीत सकते हैं-कथायको नष्ट करनेका सामर्थ्य ध्यानमेंही है ऐसा इन गाथाका अभिप्राय है

रणभूमीए कवचं होदि उद्याणं कसायजुद्धमि ॥

जुद्धे व गिरावरणो ज्ञानेण विणा हवे खवओ ॥ १८९३ ॥

कथायसंयुगे ध्यानं सुशुद्धोः कवचो हृदः ॥

ध्यानहीनस्तदा युद्धे निःकण्टमटोपमः ॥ १९५७ ॥

विजयोदया—रणभूमीए युद्धमेंही कथयककथाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति एतेन कथायपीठारक्षो करेति ध्य(न)मिताकथाते । ध्याताभावे क्षणमावर्त्ते । युद्धे व गिरावरणो युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षणकः ॥

ध्यानस्य कथायपीठारमकत्वमाह—

मूढारा—गिरावरणे सत्ताहरहितः ।

अर्थ—रणभूमीमें कवच जैसा रक्षण करता है वैसे कथायके साथ युद्ध करते समय कवचके समान ध्यान मुनिका रक्षण करता है,

कथायके होने वाली पीडाका नाश ध्यान करता है इसलिये ध्यानमें रखकर युग है ऐसा इत गाथासे सिद्ध

होता है, युद्धमें कबचरदित मुरुषका घाणादिकोंके पदरसे रक्षण नहीं हो सकता है ऐसे भयानसहित मुनि कषायशत्रुसे अपना रक्षण नहीं कर सकते हैं.

ज्ञानं करेद् स्वयस्सोवर्द्धनं विहीणचेष्टरस ॥

श्वरस जहा जंतस्स कुणदि जही उवहंमं ॥ १८९४ ॥

भ्यानं करोत्तपवष्टमं क्षीणचेष्टस्य योगिनः ॥

वेदः प्रवर्तमानस्य स्वविरस्येव पावनः ॥ १९५८ ॥

विजयोदया—ज्ञान करेदि भ्यानं करोति क्षपकस्योपष्टमं हीनचेष्टस्य स्वविरस्य गच्छतो यथा करोति यद्विरस्यं ॥

भ्यानस्य बलवश्यायिणं गात्राद्वेगं सद्युत्थनं सुदुष्यति--

मूढरा--उवर्द्धनं कषायनिज्ये पलावानं । विहीणचेष्टरस मनोयाक्ताधेश्वरिणं साययितुमशक्नवस्य ।

अर्थ--जैसे निर्मल बूंदको गमन करते समय लाठी मद्ध करवी है वैसे मन बचन और शरीरसे चारित्र साधनेमें असमर्थ मुनिको भ्यान मद्ध करता है.

मल्लरस भेदपाणं व कुणइं स्वयथस्स दढवलं झार्णं ॥

ज्ञानविहीणो स्ववओ रंगे व अपोसिवो मल्लो ॥ १८९५ ॥

बलं ध्यानं यतेधत्ते मल्लस्येव घृततित्तिक्कम् ॥

स माऽपुटेन मल्लेन ध्यानहीनो यत्तिर्मनः ॥ १९५९ ॥

विजयोदया--मल्लरस भेदपाणं व मल्लस्य स्नेदयानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति, ध्यानहीनः क्षपको रंगे अपोसितो मल्ल इव ॥ प्रतिपन्नं जयति ॥

मूढरा--रंगे पादुयुद्धोपक्रमे ॥

अर्थ--भूच, वी वंगरह स्नेहयुक्त वदार्ण स्वानेमें मल्ल जेमे पुष्ट होता है और पादुयुद्धमें अपने प्रति-

पक्षीको धराशायी करता है, वैसे ध्यानशी योगी मुनिओंमें बल उत्पन्न करता है जिससे वे कर्मशुद्धि का नाश करनेमें समर्थ होते हैं, स्नेह पदार्थके ज्वावसे कुछ हुआ मछ शुद्धको नहीं जीत सकता है वैसे ध्यानहीन क्षणिक कपाय शुद्धको—कर्म शुद्धको नहीं जीत सकते हैं—

बड़रं रत्नेषु जहा गोसीसं चंदणे व गन्धसु ।

वेरुलियं व भणीणं तह उक्षाणं होइ खत्रयस्स ॥ १८९६ ॥

बज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चंदने व यथा मतम् ॥

क्षेपं मणिषु वेदुर्यं यथा ध्यानं ज्ञतगदिषु ॥ १९६० ॥

विजयोदया—वेरं रत्नेषु अथा रत्नेषु बलं गंधत्रयेषु गोशीर्षं चंदनं । मणिवैदुर्यमिव क्षणकस्य ध्यानं । सर्वे—
दृष्टंगवदित्यतएव सारभूते ॥

ध्यानस्य दर्शनवार्त्तावस्य सारभूतरत्नं दृष्टांश्चयंजं सोत्तमसि—

मूढारा—बड़रं हीरकं । रत्नेषु यद्यरागादिषु । गोलीसं गोशीर्षकं गंधेषु गंधद्रव्येषु । खारभूले । वेरुलियं वैदुर्यं । मणीर्षं मोक्षिनीदीनां । क्षाणं सन्वत्सरादिषु मुक्त्योगेषु मध्ये प्रवृत्तम् ॥

अर्थ—जैसे रत्नमे वज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुमंघि पदार्थमें गोशीर्षं चंदन उत्कृष्ट है, मणिओंमें वैदुर्यं रत्न उत्तम है वैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपोंमें ध्यानही सारभूत—सर्वोत्कृष्ट है—

ज्ञाणं किलेससाधदवस्थां रल्लसाव सावधमयमि ॥

क्षाणं किलेसवसणे मित्तं मित्तं वसणमि ॥ १८९७ ॥

कपायव्यसने भिन्नं कपायव्यालरक्षणम् ॥

कपायव्यसने गंहं कपायज्वलने हृदः ॥ १९६१ ॥

मित्तं यस्मिन्—क्ष्णं किलेससाधदवस्था ध्यानं दुःखव्यापधानं रक्षा ध्यापदमेव रक्षेव ध्यानं स्नेहाध्यक्षेन भिन्नं यस्मिन् भिन्नमिव ॥

अर्थ—यद् ध्यानं संक्षेपपरिणामरूपं व्यापदति गुणिजोकी रक्षा करता है- जैसे व्यापदों के भयसे हम अपनी रक्षा कर लेते हैं- जैसे संकटों में मित्र सहायक होकर संकटों से बचाता है वैसे संकलेय परिणामरूप संकटोंसे ध्यान आत्माका रक्षण करता है.

ज्ज्ञाणं कसायवादे गम्भधरं मारुदेव गम्भधरं ॥

ज्ञाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥ १८९८ ॥

ज्ञाणं कसायडाहे होदि वरवहो व्होव डाहम्मि ॥

ज्ञाणं कसायसिंचे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥ १८९९ ॥

ज्ञाणं कसायपरचक्कमए बलवाहणहुओ राया ॥

परचक्कमए बलवाहणहुओ होइ जह राया ॥ १९०० ॥

ज्ञाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिग्गिछिदे कुसलो ॥

रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्त तिग्गिछिदे कुसलो ॥ १९०१ ॥

ज्ञाणं विसयहुहाए य होइ अण्णं जहा हुहाए वा ॥

ज्ञाणं विसयतिमाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥ १९०२ ॥

कपायाकर्तणे ज्ञाया कपायविशिरेऽजलः ॥

कपायपरिमये त्राणं कपायव्ययधिमेषजम् ॥ १९११ ॥

तोयं विषयतृष्णायामाहारो विषयक्षुदि ॥

जायते योगिनो ध्यानं सर्वोपद्रवसुवनम् ॥ १९६२ ॥

स्पष्टार्थोत्तरागम ॥

मूढारा—गन्धमरं गृहार्थवर्षपरकः ॥

मूढारा—स्यष्टम् ॥

मूढारा—बलवाहणद्वयो रागो सैन्वेत इत्यादिवाहनेन च स्यष्टो द्रुपः ॥

मूढारा—विशिच्छिदे चिकित्साया ॥

मूढारा—स्यष्टम् ॥

अर्थ—जैसे हयसे गर्भगृह बचाता है वैसे कषायरूपी हवासे ध्यान मुनिको गर्भगृहके समान बचाता है। सूर्यके संतारसे छाया प्राणिओंका रक्षण करती है वैसे ध्यान कषायरूपी संतापसे आत्माको बचाता है। जैसे अग्नि संतापसे पानीका द्रव पुरणोंका बचाता है वैसे क्षयाग्निके सवापसे ध्यानरूपी द्रव मुनिओंका रक्षण करता है, जैसे जाँटसे होनेवाली पीड़ा आग्नि दूर करता है वैसे कषायरूपी आदसे होनेवाली संक्षेपपीड़ा ध्यानान्नि क्षण मरमें नष्ट कर देता है। जैसे सैन्यसे अर्धान् हाथी, रथ, घोड़े वगैरह सेनासे परिपूर्ण राजा परबक्रके भयसे प्रजाकी रक्षा करता है वैसे कषायरूपपरबक्रसे होनेवाली पीड़ा ध्यानरूपी राजा क्षणमें दूर करता है।

अर्थ—जैसे रोगको परीक्षा करनेमें इलाज नैद्य तोय दूर कर मनुष्यको सुली करता है, वैसे ध्यानभी वैद्यके समान कषायरूपरोगकी परीक्षाकर उसको नष्ट करता है, जैसे अन्नसे भूक नष्ट होती है वैसे विषयलुधामी ध्यानरूपी अमसे दूर होती है, वैसे पानीसे प्यास बुझती है वैसे ध्यानरूपी पानीसे विषयरूपी प्यास शांत होती है।

इयं ज्ञायन्तो स्वयञ्चो जह्या परिहीणवायिञ्चो होइ ॥

आराधणाए तह्या इमाणि लिंमाणि दंसेइ ॥ १९०३ ॥

आराधनावचोघार्थं योगी व्यावृत्तिकारणम् ॥

तदा करोति चिन्धानि निक्षेष्टो जायते यदा ॥ १९६४ ॥

चित्तयोदयः—इयं ज्ञायन्तो स्वयञ्चो एव ध्यानेन प्रवर्तमान क्षयकः । यदा वस्तुमसमर्थो भवति तदा आराधणाए रत्नत्रयपरिणतान्मनो लिंमाणीमानि दंशयति ॥

ध्यानपरिणतस्य आसन्नभरणस्य चाभावे प्रकाशान्वयाराधनापिहान्याह—

मूढारा—परिहीणवाचिञ्चो वस्तुमसमर्थः ।

अथ---इस प्रकार ध्यानसे प्रभुषि करनेवाला क्षपक जब चोलेनेमें असमर्थ होता है तब रत्नत्रयमें से परिणति होरही है ऐसा अपना अभिप्राय वह हुंकारादिकविद्यसे नियमिकाचार्य की बतलाता है.

हुंकारंजलिममुहंगुलीहिं अन्धीहिं वीरमुट्टीहिं ॥

सिरचालणेण य तथा सण्णं दावेदि सो खन्नओ ॥ १९०४ ॥

हुंकारांगुलिजत्रसूद्वंकपांजलिक्रियाः ॥

यथासंकेतमन्यथाः क्षपकाः कुरुते सुधीः ॥ १९०५ ॥

विजयोक्त्या—हुंकारंजलिममुहंगुलीहिं अन्धीहिं हुंकारेण ता अंजलिरचनया, अक्षेणेण, अंगुलिपंचकवर्धनेन उपवेष्टादं मति प्रसन्नतया इत्यादि किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकण्ठमेव संसां वर्धयति क्षपकः ॥

मूढारा—अंजलिं हस्तद्वयमुकुलीकरणं । अमुहं भूक्षेपः । अंगुलीहिं अंगुलिपंचकेन । सण्णं प्रसन्नतया दृष्टया । किं समाहितचित्तोऽसीति नियमिकेण वृष्टे सति स्पष्टेकनाम् ॥

अर्थ—हुंकारसे, हाथ जोढनेसे, मोहे उठाकर, हाथके पाँचों अंगुलिया दिलाकर उपदेशकको अपनी प्रसन्नता दिलाता है. तथा अपना मस्तक हिलाकर, य दृष्टिके द्वारा ' क्या तुम्हारा मन प्रसन्न है न इस प्रश्नका उत्तर देता है.

तो पडिबरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं ॥

जाणंति सुदरहत्सा कदसण्णा कायखवण ॥ १९०५ ॥

संकेतवतः परिधारकास्ते वेष्टाविशेषेण विदन्ति साधोः ॥

आराधनोयोगमवेतशास्त्रा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलन्तम् ॥ १९०६ ॥

इति ध्यानम्

विजयोक्त्या—तो पडिबरया ततःप्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्यापराधनामुपयोगं जानंति सुतरहत्साः क्षपकेण श्रुतसंकेताः ॥ श्राणन्ति

मूलात्—वो हुंकारादिक्रमात् । सुदृष्टस्मा द्वावशास्त्रान्तस्तत्त्वाः । कदसकित्वा वस्तुमशुकोऽहं निजरत्नत्रयपरि
नति सुमान्दुःखरायन्यमेन क्षापयिष्यामीति कृतः प्रागेव विहितः संकेतः समयः येषां ते कृतसंकेताः । तत्तं च—

संकेतवतः परिचारकास्तो घेष्टविश्लेषेण विदंति साधोः ॥

आगपनोद्योगमवेवशाखा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलंतम् ॥

ध्यानं । सूत्रतः ३७ । अंकतः २०२ ॥

अर्थ—जिनको शास्त्रका अंतस्तत्त्व महत्त्व हुआ है ऐसे परिचारक मुनि क्षपकके संकेतोंसे धारो आराधना-
ओंमें क्षपकका उपयोग है ऐसा जानते हैं, ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ.

लेख्ययां सवंधं करोति—

इय समभावमुवगदो तद ज्ञायतो पसत्क्षणं च ॥

लेखसाहिं विमुज्जंतो गुणसेहिं सो सभाकहंदि ॥ १९०९ ॥

इत्थं समन्वमापन्नः शुभध्यानपराधनः ॥

आरोहति गुणश्रेणीं शुद्धलेखयो महामनाः ॥ १९६७ ॥

विजयोदया—इय समभावमुवगदो एवं समचित्तता गतः प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेत्, लेख्यसिद्धिं शुचिगुणश्रेणी-
माप्नोति ॥

अय दपोक्तविधिना साम्यमभिप्राय तथा प्रशस्तध्यातैक्यानमानसीभवता क्षपकेण समधियस्यां लेख्याविशुद्धि
मायानो सप्तदशकेन स्मरिष्यन्मुरादो तत्फलसंबंधमभिपद्ये—

मूलात्—हु प्रशस्तध्यानमेव ज्येष्ठं न मनागव्यात्तरोद्रे इत्यर्थः । लेखसाहिं विमुज्जंतो तेजःपद्मशुक्ललेख्यसु
प्रत्येन परिणममाणः कथायामात्रैर्विदुस्तत्परिणमो भवजित्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार समताभावको धारण करनेवाला वह क्षपक प्रशस्त ध्यानमें प्रवृत्त होता है. लेख्य-
ओंमें तेज, पद्म और शुक्ललेख्यओंमें परिणत होकर गुणश्रेणीपर आरोहण करता है अर्थात् उचसेचर अधिक
निर्मल परिणामका धारक होता जाता है.

अहं बाहिरलेखाओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ॥

अब्भंतरेखाओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥ १९०७ ॥

किण्हा णीला काओ लेखाओ तिण्णि अपसत्थाओ ॥

पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०८ ॥

सत्ताभ्यंतरभेदेन द्वेषा लेख्या निवेदिता ।

शुभाशुभविभेदेन पुनर्द्वेषा जिनेश्वरैः ॥ १९०८ ॥

कृष्णत नीला च कापोती तिस्रो लेख्या विमर्हिताः ॥

धीरो वैराग्यमापन्नः स्वैरिणीरिच्य संचते ॥ १९०९ ॥

विजयोदया—अहं बाहिरलेखाओ कृष्णनीलाकापोताद्येति तिस्रः अग्रसत्ताः प्रजहाति वैराग्यभावनायान् संसारस्मीरतां परमुपागतः ॥

प्रसिद्धपादकृष्णादिलेखाग्रवर्णेन तद्वितरास्ताः साधयति—

मूलाय—किण्हादी भिज्याद्यादिकान्तीव्रवमादिसंस्कारा जीवस्य कृष्णदयः पदभावेलेख्या भवन्ति ॥

योगाविरतिमिष्यास्यकपायलजितास्तु यः ॥ संस्कारा आगिता भावलेखासौ रुधिरावमे ॥

वीजो लेख्या स कापोता नीला वीजतरङ्ग सः ॥ कृष्णा वीजतमः पीता संस्कारो मंद इष्यते ॥

यथा रंजितराशुक्ला स स्यान्मंदवमस्तिवमाः ॥ पटस्थानगतबो वृद्धा प्रलेकं पटपीरिताः ॥

कलाविनो वृक्षनिर्मूलोच्छेदादिषु वीजतमादिकपायानुरंजिता बाष्पायमनःश्रवणयो भावलेख्या व्यवच्छिद्यन्ते तत्र बाधि यथा—

निर्मूलकं यशादोपशारोच्छेदे वरोर्वचः ॥ उरूपये पवितादाने भावलेख्या कलाधियाम् ॥

एवं कायेन मनसि काऽभ्यूहम् । तत्कर्मणि यथा—

दुर्मदो दुष्टचित्तश्च रागद्वेषादिभिर्बुधैः ॥ कुन्मानवंचनालोभैस्त्रयानंतानुबंधिभिः ॥

पंचः सततवैरश्च निर्देयः कलहधियः । मधुर्मांससुरासकः कृष्णलेखो यतोऽसुमान् ॥

निर्मुक्तिर्मानवान्मागी भंदो विषयलंपटः ॥ निर्विज्ञानोऽखसो भीतनिद्राबुधः परवंचकः ॥
 नानादिपे पने पान्ने सर्वेधाविमृच्छयः । सारंभो नीलया प्रामी लेखया संयुतो गवेत् ॥
 पटुनः नोकभीमस्तो रुष्यदापि च निर्द्वि । जसूयन्मूयभित्तं परं परिभबत्वपि ॥
 आत्मानं वदुनः स्तोति स्तुत्यमानश्च सुध्यति । मन्यमानः परं स्वग्वा न प्रत्येवि कुवश्चितः ॥
 क्षानि नाथेति वृद्धिन्वा वष्टि स्युं रणांगे । ग्लाध्यमानस्ततं वृष्टे जीवः कापोतलेखया ॥
 सर्वेन समदवेचि कृताकृत्यं दिवाहितम् । दयादानरतो विद्धांतेजोलेखयावसोऽसुमान् ॥
 लागी क्षातिपरखोले भद्रात्मा सरलक्रियः । साधुपूजोपयो जीवोऽधिष्ठितः पचलेखया ॥
 सर्वेनापि क्षमोपेतत्वकृपायाविदानकः । रागद्वेषव्यपेवात्मा स्यात्तमापी दुस्सलेखया ॥
 रयकृष्णादिरेखयाकाः सिद्धिं याता निरापवाः । अंतावीचसुखा बीवा निर्वेदयाः परिकीर्तिताः ॥

कृष्णापशुभभानलेखनायत्यागयोग्यतां दर्शयति—

मूढारा--कावो कापोती विरागकरजो वैराग्यभाननावाच । चित्तैद्वियो वा ।

अपं--जैसे पुरुष के पादोंमें अर्थात् शरीरमें कृष्ण, नीलादिक रंग दीखते हैं वैसे पुरुषके अर्म्यतरमें कृष्ण नीलादिक लेख्येयें रहती हैं.

अर्थ-- कृष्ण लेख्या , नील लेख्या और कापोत लेख्या ये तीन लेख्यायें अशुभ हैं. शुक इनका त्याग कर वैराग्यवान होकर संसारसे अत्यंत भय युक्त होता है.

तेजो पम्मा सुक्का लेखाओ तिणि विदुपसत्ताओ ॥

पडिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०९ ॥

तेजः पद्मा तथा सुक्कला तिथो लेख्याः मियंकराः ॥

निधुत्तिभिन गृह्णाति निर्याचसुखदापिनीं ॥ १९७० ॥

पित्तयोग्यता--तेजो परमा सुक्का तेज पचशुभलेख्याः प्रतिपद्यते परिपाट्या ॥

मूलारा—तेज तेजोलेदया । कम्भा फललेदया ॥

अर्थ—तेजो लेदया, फललेदया और शुक्ल लेदया ये तीन लेदया प्रशस्त लेदया है. उत्कृष्ट वैराग्यसे संसारभयको धारण कर यह श्रवक इन तीन लेदयाओंको क्रमसे धारण करता है.

एतेसिं लेस्साणं विसोयणं पडि उवक्कमो इणमो ॥

सत्वेसिं संगणं विवज्जणं सत्त्वहा होई ॥ १९१० ॥

कुरुक्व सुल्लहेतुनां सल्लेदयानां विजोषनम् ॥

यत्संगानामशेषाणां सर्वथापि विवर्जनम् ॥ १९११ ॥

विजयोक्ता—एतेसिं लेस्साणं यतासां शुभलदयानां शुद्धिं प्रत्ययमुपक्कमः याद्याभ्यन्तरसर्धपरिग्रहत्यामः ।

शुभलदयाविशुद्धयुपायमाह—

मूलारा—उवक्कमो कणायः ॥

अर्थ—संपूर्ण परिग्रहोंका अर्थीय भाव और अर्भ्यन्तर परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करनेसे इन लेदयाओंसे विशुद्धि होती है अर्थात् परित्ग्रहत्यागही लेदया विशुद्धिका उपाय है.

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ॥

अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादब्बा ॥ १९११ ॥

लेदयानां जायते शुद्धिः परिणामविशुद्धितः ॥

विशुद्धिः परिणामानां कापायोपशमे सति ॥ १९१२ ॥

विजयोक्ता—लेस्सासोधी लेदयानां शुद्धिः । अज्झवसाणविसोधीए होदि परिणामविशुद्धया भवति । अज्झवसाणविशुद्धी परिणामविशुद्धि । मंदकसायस्स मंदकपायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥

उत्तार्यसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—अज्झवसाण परिणामः ॥

अर्थ—परिणाम निमित्त होनेसे लेख्याजार्थ उत्तरोत्तर निर्मलता होती जाती है. तथा मंदकपायी पुरुषके निमित्त रहते हैं.

कपायार्णो मंदता कदाप्रित्याग्राह—

मंदता हुंति कसाया याहिरसंगविजडस्स सच्चस्स ॥

गिण्हइ कसायवहुल्लो चेव हु सच्चंवि गंधकलिं ॥ १९१२ ॥

मंदीभवन्ति जीवस्य कपायाः संगवर्जने ॥

कपायपहुलः सर्पं गृह्णन्ति हि परिग्रहम् ॥ १९०३ ॥

विज्ञयोदया—मंदता हुंति कसाया कपाया मंदता गर्वांति, छलवाहसंगपरित्यागस्य । कपायवहुल एवायं सर्वो जीवा सर्वे ग्रंथकलिं गृह्णाति ॥

कपायसौचोपायनाह—

मूलार—सच्चस्य मनोपाकरोधैः । गंधकलिं ग्रंथ एवासौ कलिश्च पापबंधनिबंधतत्वात् ॥

कपायौफी मंदता कैसी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जितने वाहपरिग्रहोंका त्याग किया है उसके कपाय मंद होते हैं. कपायोंसे मरत हुआ जीव ही सम्पूर्ण परिग्रहरूप पातकका स्वीकार करता है.

जह इंधणेहि अग्गी बहुइ विझाइ इंधणेहि विणा ॥

गंधेहि तह कसाओ बहुइ विझाइ तेहि विणा ॥ १९१३ ॥

वृद्धिरानी कपायाणां संगग्रहणमोक्षयोः ॥

अग्नीनामिव काष्ठादिप्रक्षेपणनिरासयोः ॥ १९१४ ॥

पित्तयोदया—जह इंधणेहि अग्नी इंधनैर्यादिवदंते तैर्विना प्रशाम्यन्ति ग्रंथैस्तथा कपायो वर्द्धन्ते, तैर्विना मंदो भवति ॥

ग्रंथानां मायाभावयोः कपायवृद्धत्वाद्यप्यभिहितत्वं समर्थयते—

मूलार—स्पष्टम् ॥

अर्ध-लक्ष्मीयोरसि अग्निं वृद्धिं गत होता है पशु उनके अभावमें बह अंत होता है. तथा परिमहोसे कपाय पड़ते हैं और उनके अभावमें वे नष्ट होते हैं.

अह पत्यरो पडंतो खोभेइ दहे पसुणमवि पंकं ॥

खोभेइ पसंतंवि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥ १९१४ ॥

कपायो ग्रंथसंगेन खोभ्यते तनुवारिणाम् ॥

प्रशान्तोऽपि प्लवदादीनां पापाणेनेय कर्दमः ॥ १९१५ ॥

विज्ञोदया—अह पत्यरो पडंतो यथा पापाणः पश्य इदे प्रशान्तमपि पंकं खोभयति, तथा जीवस्य कपाय प्रेयाः खोभयंति ॥

प्रधानां कपायसोऽगणसामर्थ्यं दृढयति—

मूढारा—लोभेदि लवीत्यति ॥

अर्प—जैसे चूदमें पापाण पडनेसे तलभागमें दना हुआ भी कीचट क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीवके प्रशान्त कपायोंको भी प्रगट करते हैं.

अब्भंतरसोधीए गंथे नियमेण बाहिरे चयदि ॥

अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे नेण्ढदि हु गंथे ॥ १९१५ ॥

अब्भंतर सोधीए बाहिरसोधी वि होदि नियमेण ॥

अब्भंतरदेसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥ १९१६ ॥

अंतर्विशुद्धितो जीवो बहिर्ग्रंथं विमुंचति ॥

अंतरामलिनो वासं गृहीते हि परियहम् ॥ १९१६ ॥

अंतर्विशुद्धितो जन्तोः बुद्धिः संपद्यते बहिः ॥

वासं हि कुस्ते दोषं सर्वमांतरदोषतः ॥ १९१७ ॥

विजयोदया—अभ्यन्तरसोचोप अभ्यन्तरजुलुषा नियमेन याज्ञान्यरिद्रांस्यलति, अभ्यन्तरदोषेणैव याज्ञान्य
कायगतान् दोषान् करोति ।
पाशमंषहानादलयेरैवःशुद्धयशुष्यधीनत्वं आह—

मूलाना—सदृशम् ॥

मनःशुद्धयधीनता वाक्याशुद्धयोरभिधये—

मूलाना—वाहिरे वाक्यगतान् ॥

अर्थ—अंतरंग शुद्धिसे अर्थात् परिणामोंकी निर्मलतासे वाक्य परिशुद्धि का नियमसे त्याग होता है. अभ्यन्तर
अशुद्ध परिणामोंसे ही पचन और शरीरसे दोषोंकी उत्पत्ति होती है. अंतरंग शुद्धि होनेसे यहिरंग शुद्धि भी नियम
पूर्वक होती है. यदि अंतरंग परिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य शरीरसे और कबजोंसे अवश्य दोष उत्पन्न करेगा.

अथ तंदुलस्त कोण्डुयसोधी सतुसस्त तीरदि ण कादुं ॥

तद् जीवस्स ण ॥आ लिस्तासोधी ससंगस्स ॥ १११७ ॥

ससंगस्याङ्गिनः कर्तुं देश्याहुदिर्न शक्यते ॥

अंतरागोच्यते केन तुषयुक्तोऽपि तंदुलः ॥ १११८ ॥

विजयोदया—जह तंदुलस्त यथा तंदुलस्य अभ्यन्तरजुलुषिः कर्तुं न शक्यते याज्ञान्यसहितस्य । तथा
जीवस्य न शक्या देश्याहुदिः कर्तुं लपरिग्रहस्य ।

समंयत्वं देश्यानामव्ययशोपनत्वमाह—

मूलाना—सदृशम् ।

अर्थ—जैसे याज्ञान्यसहित तंदुलकी अभ्यन्तर शुद्धि नहीं होती है. अर्थात् तुष हटनेपर ही तंदुल स्वच्छ
होता है वैसे परिशुद्धित नापके परिणामोंकी अर्थात् लक्ष्यजोंकी विशुद्धि नहीं होती है.

इत उत्तरं देश्याद्येणसाधनविकृत्यो निरूप्यते—

सुक्काए छेस्ताए उक्कस्सं असयं परिणमिन्ता ॥

जो मरदि तो हु णियमा उक्कत्साराधओ होई ॥ १११८ ॥

शुक्लेदयोत्तमांशं तः प्रसिष्यति ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य ज्ञायते पुण्यकर्मणः ॥ १९९९ ॥

विजयोक्ता—मुक्ताप लेखसाय शुक्लेदस्याया उत्कृष्टां परिणतो यो भूतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टायाचको भवति ।
उदयाविशेषयोगाराधनाविकल्पं प्रवेधन त्रयीति—

मूळारा—चक्रसं अंसवं उत्तमभासं । एतस्मात्पराजो । इत्योत्कृष्टाराधनेत्यर्थः । वचं च—

शुक्लेदयोत्तमांशं यः प्रसिष्यति ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य ज्ञायते पुण्यकर्मणः ॥

संस्थाके आश्रयसे आराधनाके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—शुक्लेदयाके उत्कृष्ट अंशसे परिणत होकर जो क्षपक मरणको प्राप्त होता है उस महात्माको नियमसे उत्कृष्ट आराधक समझना चाहिये.

खाद्यवृत्तसणचरणं खज्रोवृत्तमिव च पाणमिदि मग्गो ॥

तं होइ स्त्रीणमोहो आरादिता य जो हु अरहंतो ॥ १९१९ ॥

जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य यम्मलेत्साए ॥

तेह्हेत्सापरिणामो दु मद्धिमाराधणा मरणे ॥ १९२० ॥

शेषांशान् शुक्लेदस्यायाः पद्मायाश्च तथा भित्तः ॥

त्रियते मध्यमा तस्य साधोराधना मता ॥ २००० ॥

विजयोक्ता—जे सेसा सुक्काए दु अंसया उत्कृष्टादस्ये ये शुक्लेदस्याया अंश ये क्वापि पञ्चलेस्याया अंशः
परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥

मूळारा—सेसा मध्यमाधमौ । जे य जे च त्रयोप्यतकः ॥

अर्थ—आधिक सम्पत्त्व, और चारित्र और धायोपशुभित्र सम्पत्त्वान इन की आराधना करने आत्मा धीणमोही बनता है और तदन्तर ब्रह्म होता है. (क्षेपक)

अर्थ—छुड़ लेस्यके गन्धय और उपन्य लंछये तथा पबलेस्यके अंशोंसे जो आराधक मरणको प्राप्त करते हैं वे च मध्यम आराधक माने जाते हैं—

तेजाए लेस्साए वे अंसा तेसु जो परिणिमत्ता ॥

कालं करेइ तत्स हु जहणियाराधणा भणदि ॥ १९२१ ॥

तेजोलेइयामधिष्ठाय क्षपको यो विपयते ॥

अवन्याराधना तस्य वर्णिता पूर्वसूरिभिः ॥ २००१ ॥

विजयोव्या-तजाए लेस्साए तेजोलेइयाया ये अंशात्सेयु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य अवन्याराधना भवति ॥
मूढारा- स्पष्टम् ॥

अर्पे—पीत लेस्यके जो अंश हैं उनसे परिणत होकर जो मरणवश होते हैं वे अवन्याराधक माने जाते हैं—

जो जाए परिणिमत्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ॥

तछेसो उवक्कजइ तछेस्से चैव सो सग्गे ॥ १९२२ ॥

प्रतिपद्य तपोवाही यो यां लेइयां विपयते ॥

तछेइये जायते स्वर्गे तछेइयः ॥ सुरोत्तमः ॥ २००२ ॥

विजयोव्या—जो जाए यो गया लेइया परिणतः कालं करोति, स तछेइय एवोपयायते, तछेइयसमन्विते स्वर्गे ॥

लेइयाविशेषवशेन स्वर्गविशेषपादमाह—

मूढारा— तछेसा इत्यादि । यत्र यत्र देवलोके सा सा लेइया तत्र तत्रोत्पत्ते इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो जीव जिस लेइयासे परिणत होकर मरणको प्राप्त होता है ॥ उचर भवर्गे उसही लेइयाका धारक होकर स्वर्गमें उत्पन्न होता है—

अथ तेउपउभमुक्कं अदिच्छिदो जाणदंसणसमग्गो ॥

आउवस्सया दु सुद्धो गळ्ळदि सुद्धिं चुयक्खिलेसो ॥ १९२३ ॥

सर्वलेदयाविनिर्मुक्तः प्राणांस्त्वजति यो यतिः ॥

आयुषो बधनेनैव मुक्तो याति न निर्धृतिम् ॥ २००३ ॥

शुद्धतमा गुणवृद्धिगतिं भव्यपाररिनिवेशितचेष्टाः ॥

दूरनिवारितसंस्तुतिवेश्याः कस्य सुखं जनयन्ति न लेख्याः ॥ २००४ ॥

इति लेख्याः ।

विजयोदया—अथ तेलपत्रमुपकं अथ तेजःपत्रमुपलेदया अतिमांतः अलेख्यतामुपगतः ज्ञानदर्शनसमग्र आयुः क्षयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलेपायमद्विमुक्तो निरस्तागोपक्लेशः ॥ लेख्येति ॥

निर्लेख्यस्य सिद्धिप्राप्तिमाह—

मूषारा—अतिच्छिन्ना अतिक्रान्ताः । अलेख्यतां गत इत्यर्थः ॥

लेख्या सूत्रतः १८ - लंकतः १७ ॥

अर्थ—तेजो लेदया, पञ्चलेदया और शुक्ल लेखासे अतिक्रांत हुआ अर्थात् जो लेख्यारहित अयोगाव-
स्याको प्राप्त हुआ है. जिसके ज्ञान और दर्शन परिपूर्ण होगये हैं ऐसा जीव सर्वकर्मका विनाश होनेसे संपूर्ण
संसारक्लेश रहित होकर आयुष्मके धनसे सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है.

एवं सुभाषिदप्या ज्ञानोद्यगओ पसत्थलेस्साओ ॥

आराधनापटायं हरद् अविश्वेण सो खवओ ॥ १९२४ ॥

अविश्वेन विशुद्धात्मा लेख्याशुद्धिमधिष्ठितः ॥

प्रवर्तितशुभध्यानो शुद्धात्माराराधनाखजाम् ॥ २००५ ॥

विजयोदया—एवं सुभाषिदप्या एवं शुद्ध भाषितात्मा ध्यानमुपगतः प्रशस्तलेख्यापरिणत आराधनापताको
दत्तयचित्तेन ॥

अभाराधनाविरागयोः फलं गद्याभिरुच्यत्वारिज्ज्ञा व्यावित्यसुखादावापनफलं गद्याचतुर्विधस्य निरूप्य
नृणां योपसंशतपुरःसरं सामान्येन तत्फलं निर्दिशति—

मूलरा—एवं अर्हत्किमादिपटुर्निशक्रियाविशेषविधिना ॥ यतः ॥

अर्थ—इस प्रकारसे जिसने अपने आत्माको सुखस्तुत किया है शुक्ल भवानको प्राप्त हुआ, शुभलेख्यासे परिणत हुआ ऐसा वह क्षणके निर्विघ्नतासे आराधना पताकाको हस्तमें ग्रहण करता है.

तेलोकसच्चसारं चठगइससारदुक्खणासयरं ॥

आराहणं पवणो सो भयत्तं मुखपडिमुल्लं ॥ १९२५ ॥

दयति चित्तिं सौख्यं छिन्नं भवपादपयं ॥

इत्थमाराधना देवीं भव्येनाराध्यते सदा ॥ २००६ ॥

चैरेपाराधना देवी सिद्धिसौचप्रवेशिनी ॥

आराधिता न तैर्लभः को लब्धो भुवनत्रये ॥ २००७ ॥

पिजयोदया—तेलोकसच्चसारं त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूतं बहुगुणिससारदुःखनाशकरणीमापयनां प्रप-
द्योऽंसी भगवान् मोक्षमार्तिनीत्यर्थः ॥

मूढारं—सो अद्वैतिक्याकुलपरिणामो, दुःखव्यानैकतानयानसो विमुक्तेश्वरापराधनां प्रयतो यत्तत्तत्तत्सर्वकारं
निर्विज्जेन इरतीति पञ्चाक्षेन संबन्धः—भोक्तृपडिमोहं मोक्षस्य नेतव्यस्य परिपूर्णधैर्यवत् ॥

अर्थ—इस त्रैलोक्यमें सारभूत, चतुर्गतिरूप संसारदुःखोंका नाश करनेवाली आराधनाको जिसने
प्राप्त किया है उसे भगवानने जिसका मूल्य नहीं है ऐसा मोक्ष प्राप्त किया है.

एवमधमखादविधिं संपत्ता सुद्धमणधरित्ता ॥

केदं खवंति खयया मोहावरणंतरायानि ॥ १९२६ ॥

यंधीमण्यंतविधिं मतीं विहीद्वेत्तनमदशोभाः ॥

बहन्ति धार्तिदंस्त्रिण केचिद्वयानकुसुमं ॥ २००८ ॥

पिजयोदया—एवमधमपंचादविधिं एवं यथाव्यतीतिविधिं संपात्तां. सुद्धमणधरित्ता. केचिरक्षयका धार्ति-
पान्तिं क्षययति ॥

मूला—अथकर्मद्विषि यथाकृतचारित्रम् । केहं चरमदेहम् ॥ आचरणं ज्ञानदर्शनचरणे हे ॥

अर्थ—जिन्दगेने यथाकृत चारित्रिको प्राप्त किया है, निर्गल सम्पददर्शन चारित्रिको जो प्राप्त हुए हैं वे क्षपक धार्मिकोंका नाश करते हैं।

केवलकल्पं लोगं संपुणं दृन्वपञ्जयविधीहि ॥

इक्षार्यता पृथमणा जहति आराहया देहं ॥ १३२७ ॥

तपजंस्पायीयका देहं ध्यायन्तो सुवनञ्जयम् ॥

द्रव्यपयायसंपूर्णं केवलालोकलोकितम् ॥ २००९ ॥

विजयोदया—केवलकल्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेपत्वेन योग्यं लोकं संपूर्णं द्रव्यपयायविकल्पैः परिच्छिन्दतः जहति ते स्वदेहं ॥

एवं श्रीयन्मुक्तिर्नततचतुष्टयारिभ्यकामुल्लाराधनाकलमुक्त्वा परममुक्तिमपि वस्तुतत्वेनाह—

मूला—केवलकल्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेपत्वेन योग्यं । विधीहि भेदे : । ज्ञापयता ज्ञानतः । एयमणा विमुद्ध-
रिथरुहनाः । सो यस्मात् स्वाध्यायानंतरमित्यर्थः । सर्वं निर्वनं ॥

अर्थ—केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य जगत्के संपूर्ण द्रव्यपयायों के विकल्पोंके साथ जानते हुए वे क्षपक आराधक अपना देह छोड़ देते हैं।

सन्वृक्ससं जोगं जुंजता दंसणे चरित्ते य ॥

कम्मरयत्रिप्पमुक्त्वा हवंति आराधया सिद्धा ॥ १९२८ ॥

रत्नत्रयकुठारेण जित्वा संसारकाननं ॥

भवन्ति सहसा सिद्धा न्मुखरासुरवंदिताः ॥ २०१० ॥

चिजयोद्या—सन्नुष्करसं सर्वोच्छष्टं दर्शनेवाचितयोयोगं प्रतिपद्यमानाः कर्मज्योव्यो विममुक्ता आराधकाः सिद्धा प्राप्ति ॥

मूलतः—सर्वोच्छष्टम् । परमैः कर्म्यपरिणामात् । जोगं संवर्षं । जुंजंवा प्रतिपद्यमानाः । कर्मरयविष्पमुक्ता

अपाविर्कर्मचतुःकारच्युतीः ॥

अर्थ—सर्वोच्छष्ट सम्यग्दर्शनं और चारित्रिको प्राप्त कर कर्मरूप रजसे रहित होकर वे क्षणक आराधक मुक्तावस्थाको प्राप्त होते हैं.

इयमुक्तास्ति यमाराधणमणुपलेनु केवली भविया ॥

लोगमगसिहरवासी हवंति सिद्धा ध्रुयकिलेसा ॥ १९२९ ॥

आराध्याराधनामेवमुच्छष्टं धृतकल्मषाः ॥

भूत्वा केवलिनः सिद्धाः सन्ति लोकाग्रवासिनः ॥ २०११ ॥

चिजयोद्या—इय उक्तास्ति य एषमुच्छष्टमात्माधनानुगत्य केवलिनो भूत्वा निरस्तकेशाः लोकाग्रवाशि रासिना सिद्धा भवन्ति ॥

उच्छष्टोपसप्तदशमाह—

मूलतः—दम्भीसर्वं कच्छष्टं । अणुपलेनु आराधय । भविय भूत्वा ॥

अर्थ—इस प्रकार उच्छष्ट आराधनाका पालन कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं. संपूर्ण कर्म क्लेशसे मुक्त होकर लोकाग्रवासी सिद्ध परमेश्वर होते हैं.

अहं सावसेसकम्मा मल्लिकसाया पणट्टमिच्छत्ता ॥

हासतइअरदमयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥ १९३० ॥

अवशेषितकर्माणः पवित्रागममातृकाः ॥

कामकोपादिद्वारस्यादिभिच्छयावर्धनमोचिनः ॥ २०१२ ॥

लोकगुणोद्देश्या—अहं साधसेत्कम्मा अथ सायणेपकमांणो मयितकपायाः अथाहमिध्यात्वाहास्यस्वरतिभय-

विजयोदया—अहं साधसेत्कम्मा अथ सायणेपकमांणो मयितकपायाः अथाहमिध्यात्वाहास्यस्वरतिभय-

मध्यमाराधनाकलं गथावरोकेनादिरति—

मूढारा—अप । मध्यमाराधनाकलमधिक्रियते इत्यर्थः । मलिद् अभिभूताः ॥

अर्थ—जिनके कर्म बचे हैं, जिन्होंने अनंतानुबन्धादि कथयोंका मथन किया है, जिनका मिथ्यात्वकर्म नष्ट हुआ है. हास्य, रति, अराति, भय, शोक, लुगुप्सा, गुणवेद और स्त्रीवेद, नृपुंसकवेदोंका विन्द्नेने मथन किया है—

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंबुद्धा सब्वसंगउम्मुक्का ॥

धीरा अदीणमणसा समसुहहुक्का असंमूढा ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—पंचसमिदा समित्तिपेक्ककोपेता गुत्तिचयोपेताः सुसंबुद्धा अपाफुत्तसयसंगता धीरा यदीनमनसाः समसुहहुक्का असंमूढाः ॥

मूढारा—सुसंबुद्धा भ्यानाप्यप्रधानसंबरोपेताः ॥

अर्थ—जिन्होंने पांच समितियां पाली हैं, जो तीन गुप्तिओं में तत्पर हैं, जिन्होंने कर्मोंका संवर किया है, अर्थात् संवरका प्रधान कारण जो भ्यान उससे जो युक्त है, जो परियहोंसे दूर है, धीर हैं, जिनके मनमें दीनता नाम-मात्र भी नहीं रही है. जो दुःख सुखमें समान बुद्धि रखते हैं, तथा जो मोहसहित हुए हैं.

सब्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिद्धिवा सम्मं ॥

धम्मं वा उवजुत्ता ज्ञाणे ताह पटमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥

सुल्लदुःखसहा वृत्तज्ञानदर्शनसंस्थिताः ॥

संयुक्ताः ससमाधाना शुभध्यानपरायणाः ॥ २०१३

विजयोदया—सब्वसमाधाणेण सर्वेण समाधानेन चारित्ते सम्यगपस्थिता धर्मेध्याने श्रयमशुपेले वा उपयुक्ताः ॥

मूढारा—सब्वसमाधाणेण मनोवाकाव्यप्रणिधानेन ।

अर्थ—मन, वचन, और शरीर इन त्रिनि योगों से जो आत्मास्वरूप से स्थिर हुए हैं, अर्थात् चारित्र्य में जो उत्तर रहते हैं, जो धर्मस्थान तथा, प्रथम अथवा दूसरे शुक्लपद में उत्तर हो गये हैं.

इय मब्धिमारगधमणुपालिचा सरीरयं हिचा ॥

हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १९३३ ॥

विद्यायाराधनां वेधीं मध्यमां मुक्तविग्रहाः ॥

शुद्धलेक्ष्यान्यमा देवाः सन्त्यनुत्तरवासिनः ॥ २०१४ ॥

विजयोदया—इय मब्धिमे पदे मध्यमाराधनामनुशास्य शरीरं स्वकस्या विशुद्धलेक्षयाधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥

मूढारा—हिचा लक्ष्म्या । अणुत्तरवासी पंचानुत्तरवासिनः ॥

अर्थ—इस प्रकार मध्यमाराधनाका फलनकर शरीरका त्याग करनेवाले मुनिराज विशुद्धलेक्षयाको धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेक्षयाके त्यागी बनकर अनुत्तरवासी देवों में उत्पन्न होते हैं.

दंसणणाणचरित्ते उविकट्ठा उत्तमोपघणा य ॥

इरियावहणडिणणा हवंति लवसत्तमा देवा ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—दंसणणाचरित्ते सम्पद्दर्शनज्ञानधारिणे प्रकृष्टा उत्तमाभिप्राहा ईर्यापयं प्रपणा लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥

मूढारा—उविकट्ठा कट्योपधारितस्तरागारधकेय उत्कृष्टाः । उत्तमोपघणा प्रधानाभिप्राहाः । इरियावहणडिणणा उद्योग्यदुष्टतकारणशुभासवाग्रिताः । लवसत्तमा अहर्निद्राः । प्रवेयकानुदितविमानमस्ति इत्यर्थः ॥

अर्थ—सम्पद्दर्शन, सम्पद्ज्ञान और सम्पद्चरित्र फलने में पूर्ण देख अर्थात् कत्योपपन्न देवों में जिस स्तर, त्रय से जन्म होता है उससे भी उत्कृष्ट स्तनत्रयको धारण करनेवाले, उत्कृष्ट तप, ध्यान चरीर नियमों के धारक द्योपपन्नो जिन-ने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पतीत देवत्व प्राप्त होने के लिये योग्य ऐसे शुभासवको जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज लवसत्तम देव होते हैं अर्थात् मरकर गयेक, अतुदिशविमानमें निम्नवाले देव हो जाते हैं ।

कण्योवगा सुराजं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥
तत्तो अणेतगुणिदं सुहं दु लवसचमसुराणं ॥ १९३५ ॥
सुखं साप्सरसो देवाः कल्पया निविशति यत् ॥
नतोऽन्त गुणं स्वस्थं लभन्ते लवसचमाः ॥ २-१५ ॥

विजयोवया—कण्योवगा सुराजं कल्पोवगाः सुराः अप्सरोभिस्वहितां यस्तुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनंतगुणितं लवसचमवयानां ॥

तत्सुतपरिमाणाद—

मुञ्जरा—जटोवगा कल्पोवगाः ।

अर्थ—अप्सराओंके साथ सौधर्मादिक कल्पवासी देव जिस सुखका अनुभव लेते हैं उससे भी अनंत गुणित सुख अर्थात् देवोंको मिलता है.

गाणस्मि दंसणस्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ॥
वड्ढिवत्तवोवधाणा अवहियेलेस्सा सवदमेव ॥ १९३६ ॥

विशुद्धवर्धनज्ञानाः सयधाय्यातसंयमाः ॥

दान्वाग्निर्मलेश्याका वर्द्धमानतपोगुणः ॥ २-१६ ॥

विजयोवया—गाणस्मि दंसणस्मि य ज्ञानवर्धनवोर्धथावयाते व संयमे आयुक्ता वार्धितरोऽभिग्रहाः क्षतदं विगुच्छेदयाः रूपकाः ॥

मुञ्जरा—आउचो कासकाः । अवहियेलेस्सा संशुद्धेदयाः ॥

अर्थ—सम्पद्ज्ञान, सम्पदवर्धन और यथाकथित धारित्र इनमें हमेशा तत्पर रहनेवाले तथा तपोंके नियम विन्दौने पढाये हैं, जिनकी शुभलेख्यायें उत्तरोत्तर विशुद्ध होती हैं ऐसे धूपक—

पञ्जहिय सम्मं देहं सवदं सज्जगुणावड्ढिवगुणद्धा ॥
दोर्मिदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥ १९३७ ॥

अदीनमनसो मुञ्चत्वा कचाराभिव विग्रहम् ॥

देवेंद्रचरमस्थानं प्रपद्यन्ते बुधार्चिताः ॥ २०१७ ॥

विजयोद्या—पञ्चद्विद देहं पिताम देहं सम्पत्सदा सर्वगुणवर्धनगुणल्ला देवेंद्रचरमस्थानं लभते ॥

मूढारा—सन्वयुगवद्विगुण्डा सर्वगुणेन सर्वस्वगुणकारेण नञ्चितेयुगैरणिमादिभिः समृद्धाः । अरिमठाणं उपरिसत्त्वगोपानम् ॥

अर्थ—आदार्तिक शरीरका त्याग कर संपूर्ण गुणोंके कारणोंसे अणिमादिक गुणोंकी उनको प्राप्ति होती है तथा देवेंद्ररा अन्तिम पद उनको प्राप्त होता है,

सुयभचीष्ट विसुद्धा उमातवोणियमजोगसंसुद्धा ॥

लोगंतिया सुरवरा हवन्ति आराधया धीरा ॥ १९३८ ॥

जावदिया रिद्धीओ हवन्ति इंदियगवाणि य सुहाणि ॥

ताइं लहंति ते आगमेसि भद्दा सया खवया ॥ १९३९ ॥

यम्यन्नययोगाः कपायारानिमर्द्दिनः ॥

सन्ति लोकांतिका येया रेहोयोतितपुष्कराः ॥ २०१८ ॥

ऋदयः संति या लोके पार्नीद्वियसुत्वानि च ॥

क्षपकास्तानि लप्सपन्ते सयोगेप्यपनेष्टसि ॥ २०१९ ॥

विजयोद्या—आवदिया रिद्धीओ यावत्तः ऋदयो भवति यवन्तीद्वियसुत्वानि च भवन्ति तानि सयोगि लप्सवन्ते भद्राशया" क्षपकाः ॥

नूलारा—गियम अवग्रहविज्ञेयः । जोग ध्यानमात्मपनादिबो ।

मूढारा—लहंति लप्सवन्ते । वे यध्यमावधनाराधकाः ॥ आगमेसि आगमिनि काले । भद्रासया प्रज्ञास्तचिप्राः ।

अर्थ—धुतभक्ति-सम्यग्दानाराधनासे विनका मन निर्मल बना है; उग्रतप, विविष्ट नियम, आतापनादिक योग और ध्यानसे विनका आत्मा निर्मल बना है ऐसे धीर आराधक लोकांतिक नामक उत्कृष्ट देव होते हैं, हम जगदम सितनी ऋदिया और इंदियसुत हैं वे सब निर्मल परिणामके धूपकोंसे अवश्य प्राप्त होते हैं,

ओ वि हु जहणियं तेउलेसमारहणं उवणमंति ।
 ते वि हु सोयम्माइसु हवंति देवा ॥ हेडिल्ला ॥ १९४० ॥
 जयन्याराधनां देवीं तेजोलेश्यापरायणाः ॥
 आराध्य क्षपकाः संति सौधर्मादिषु नाकिनः ॥ २०२० ॥
 चितयोदया—ओ वि हु जहणियं येऽपि जयन्याराधनां तेजोलेश्याप्रदुत्तामुपनमंति चेऽपि सौधर्मादिषु देवा-
 भवंति ॥ नाचोमयिनो देवाः ॥

जयन्याराधनाफलमाह—

मृगार—तेउलेसं तेजोलेश्यामवृणां । ण हेडिल्ले माघोभाविनः ।
 अर्थ— तेजोलेश्याके धारक ऐसे क्षपका आराधनाको जयन्याराधना कहते हैं इस आराधनाके आरा-
 धक क्षपक सौधर्मादिस्वर्गों में देव होते हैं. इन देवोंसे हीन देवोंमें इनका जन्म नहीं होता है.

किं जंविणं बहुणा जो सारो केवलस्स लोगरस्स ॥
 तं अचिरेण लहंते फासिचाराहणं निखिलं ॥ १९४१ ॥
 यहुनात्र किमुक्केन यत्सारं सुवनजये ॥
 अराध्याराधनां देवीं लभंते तन्मनीयिणः ॥ २०२१ ॥

पिजयेदया—किं जंविणं बहुणा किमुक्केन यत्सारं सुवनजये लोकाय सारभूतं तदचिरेण लभंते आराधनां प्रपन्नाः ॥
 त्रिक्रिधाया अप्याराधनाया माहात्म्यमभिद्वेषि—

मृगार— केवलस्स सर्वस्य । फासिचा आराध्य । लके व-
 गहुनोक्तेन किं सारो लोकस्य सकलस्य यः ॥ तं लभंते विरात्सृष्ट्या सर्वव्यारायनाविधिषु ॥

अर्थ—अब हम और जादा नहीं कहते हैं जो संपूर्ण लोकत्रय सारभूत पदार्थ है वह आराधनाओंको प्राप्त
 हुए दीर्घोंको दीर्घ ही प्राप्त होता है. इसमें संदेह नहीं है.

भोगे अणुत्तरे मुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्ते ॥

इद्धिमलुलं चइचा चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥ १५४२ ॥

मुक्त्वा भोगं च्युताः सन्तो भूत्वा सुवि नरोत्तमाः ॥

विहाय महतीं भूतिं भूत्वा सिष्यन्ति साधवः ॥ २०२२ ॥

विजयोदया-भोगे अणुत्तरे भोगाच्छुद्धात् मुक्त्वा सगच्छुता मनुष्यभेदेऽपि प्राप्य सकलसुखं तं च तपसा
तिनामिहितं धर्मं चरंति ॥

पण्यमारण्यमन्यपन्यासायकानां स्वर्गदुर्लभसुखतरकालभोग्यसुखं कृत्यं चोपदिशति-

मूढाण-अणुत्तरे अरुहणम् । लभो भुत्वा स्वर्गदिवलीनाः । यइचा लक्खा । धम्मं पारिग्रहम् ॥

अर्थ-श्रमशक्तीर्वाको स्वर्गमे भोग्येकीं प्राप्तिं होती है । उनका भोग लेकर आयुष्य समाप्त होनेपर
वे स्वर्गमें च्युत होकर इस मनुष्यभवमें लब्ध धारण करते हैं । इस मनुष्यभवमें भी संपूर्ण आदिकी उनको
प्राप्ति होती है । उसको छोड़कर वे जिनधर्मका पावन करते हैं अर्थात् मुनि होकर तप, स्वाध्याय
और ध्यान करते हैं ।

सदिमंतो धिदिमंतो सद्वासवेगवीरियोवगथा ॥

जेदा परीसहाणं ऊयसग्गाणं च अभिभविय ॥ १५४३ ॥

धृतिस्मृतिमतिश्रद्धावीर्यसंवेगभागीनः ॥

परीपहोपसर्गाणां जेतारो विजितेन्द्रियाः ॥ २०२३ ॥

विजयोदया-सदिमंतो स्मृतिमंतः धृतिस्ममन्विताः श्रद्धासंवेगवीर्यसहिताः परीपद्धानां विजेतारः उपसर्गा-
णामभिभवितारः ॥

धर्मं परं वलत्पीडनाः सुखिहाह-

मूढाण-सदिमंता स्मृतिगुणः । जेदा जेताः । अभिभवित्ता अभिभवकर्ताः ।

अर्थ-वे आग्रह अत्यपन करके उपर्युक्तो वर्ग ध्यानमें रखते हैं- परीपद् और उपसर्ग प्राप्त होने-

पर भी धैर्यसे द्दिगते नहीं। अद्वा, संवेग-संसारभय, और बाँधे आत्मसामर्थ्यसे वे च्युत नहीं होते हैं। वे उपसर्ग और परीणहों को सह लेते हैं।

इय चरणमधवखादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ॥

सोधिंति ज्याणजुत्ता लेस्साओ संकिल्हिद्वाओ ॥ १९४४ ॥

सयथास्यातचारिच्चाः पवित्रज्ञानदर्शनाः ॥

चित्रोप्य मलिनां लेस्वां सुद्धध्यानविचर्द्दिनः ॥ २०२४ ॥

पिजपोव्वा—इय चरणमधवखादं एवं यथाख्यातचारित्वं प्रतिपन्नाः शुद्धदर्शनमुपगता स्थानाकाः संकिल्ह
लेस्वा पिताशयंति ॥

मुत्तारा—इय एवं धर्तः । सोधिंति नाशयन्ति ।

अर्थ—इस प्रकारसे यथाख्यात चारित्रिका लाभ कर वे शुद्ध दर्शनको प्राप्त होकर ध्यानमें वत्पर होते हैं और अपने संकिल्ह लेश्याओका-मलिन परिणामोंका खूब करते हैं-

सुककं लेस्समुवग्गहा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ॥

सम्भुक्ककम्मकवथा सविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥ १९४५ ॥

शुक्कलेश्यागनान्छिष्टा द्यस्तनिःशेषकस्मयाः ॥

भवन्ति सहसा सिद्धा भुवनोत्पन्नवर्दिताः ॥ २०२५ ॥

पिजयोव्वा—सुककं लेस्समुवग्गहा शुक्कलेश्यागनान्छिष्टा द्यस्तनिःशेषकस्मयाः शुक्लध्यानेन क्षणितसंसारा लम्बुककर्मकवचा दूरीकृत
कलेसाः सिद्धिसुपयंति ॥

मुत्तारा—सद्यम् ।

अर्थ—शुक्क लेश्याकी प्राप्ति ने आराधक शुक्लध्यानसे संसारका नाश करते हैं, कर्मरूप कवचको फोड़कर संपूर्ण क्लेशोंका अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करके सुक्त होते हैं-

एवं संशारगदो विसोधइत्ता वि दसणचरितं ॥

परिवहन्ति पुणो कोई झापंतो अट्टरुहाणि ॥ १९४६ ॥

इत्थं संस्तरमापन्ना रौद्रात्सिक्खवर्तिनः ॥

रत्नत्रयं विशोच्यापि भूयो भद्रयन्ति केचन ॥ २०२६ ॥

विजयोद्या—एवं संशारगदो विसोधइत्ता वि दसणचरितं ॥
पात्तिरीद्वपरिणतः पतति ॥ तत्र दोषमालये ॥

एवं साक्षात्पारंपर्येण च आर्यभट्टारापनाफले व्याख्येयं दुर्लभबलेन दुर्ध्वनाद्विराषतां प्राप्स्य कष्टं प्रयवेनाह—

मूढारा—परिवहन्ति रत्नत्रयमव्ययवते ।

अर्थ—कोई सुनि संसारका आधय करने पर भी सम्यदर्शन और चारित्रिकी श्रद्धि करने पर भी पूर्वकर्म के भारसे आते ध्यान, रौद्रध्यानमें परिणत होकर अपने दुष्टस्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुहं च चरिमकालमि ॥

जो जहइ संयं देहं सो ण लहइ सुग्गादें खवओ ॥ १९४७ ॥

आर्त्तरौद्रपरः साधुर्यो मुंचति फलेवाम् ॥

कृतां दुःखप्रदामेप वेददुर्गतिमृच्छति ॥ २०२७ ॥

विजयोद्या—ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुहं च चरिमकालमि ॥
सुगतिं लभते ॥

विराज्य विजयमानस्य दोषमर्थ—

मूढारा—समष्टम् ॥

आर्त्त रौद्रमें परिणति होनेसे क्या दानि होती है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मरणके फलमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानका आश्रय करने से वह एक आयुष्यकी समाप्ति होनेपर सुगति को प्राप्त नहीं कर सकता है-

जदि वा सुभाविदप्या वि चरिमकालमि संकिलेसेण ॥
परिवडदि वेदणट्ठो खवओ संथारमारुढो ॥ ११४८ ॥

चिराम्यस्ताचरिओऽपि कपायाक्षवलीकृतः ॥

मृत्युकाले ततःसद्यो यदि अश्रयति संयतः ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—जदि वा सुभाविदप्या वि यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारुढः वेदनातेः क्षणकः संकलेसेण हेतुना समार्गतरिपतति ॥

चिराभ्यस्तचारिओऽपि क्षणको यदि मरणक्षणे वेदनायसात्मातसंकल्लः सन्मार्गोत्पथ्ययते तथा नित्यावसमा-
दीनां तत्पर्यवने किमाभयं वाच्यमित्यभिधातुं प्रबंधमभिवक्षे—

मूलात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जिसने आत्माको आराधनाओसे सुसंस्कृत किया था तो भी मरणसमयमें संकलेशपरिणामोंकी उत्पत्ति होने से यह संस्तरपर आरुढ हुआ भ्रमण सन्मार्गसे अष्ट होता है.

किं पुन जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ॥

जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाडंदा ॥ ११४९ ॥

अवसन्नो यथाछंदो यः पार्श्वस्थः कुशीलकः ॥

संस्तरश्च तथा किं न स अश्रयति कुमानसः ॥ २०२९ ॥

विजयोदया—किं पुन किं पुनर्न परिपतति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुसीलाः संसत्ता वा स्पन्दन्दाः ॥

अथ अपसन्नाः निरुन्धेते—

गच्छंति केदं पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ॥

मारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पविहरंति ॥ ११५० ॥

विजयोदया—यथा पक्ष्मे क्षुण्णः मगार्दीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः । मावाचसन्नः अशुद्धचरित्रः सीदति उपकरणे, यत्तिसंस्तरप्रतिष्ठेयान्, स्वाध्याये, विहारयुक्तियोंघने, गोचारशुद्धौ, ईर्ष्यासमित्यादिषु, एवाध्यायका-

[illegible]

भूमीय शूलीय वा सिद्धार्थम् पुष्पफलसुखादीर्षे । रक्त्वं चसिगरणं ॥ करोति जो भूदिगकुसीलो कश्चिद-
सेनिकाकुशीला, अंगुष्ठमनेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, राशिप्रसेनी, सर्वप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनै-
रंजयति यः सोऽभिषेयते प्रसेनिकाकुशील इति । कश्चिदप्रसेनिकाकुशीलः पिपाभिर्मनौषधमयोर्गोर्वा असंयत-
विक्षिप्तां करोति सोऽप्रसेनिकाकुशीलः ॥ कश्चिन्निमित्तकुशीलः अशर्गनिमित्तं द्रव्या यो लोकस्यादेशं करोति
त निमित्तकुशीलः । आरमनो जति कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिमुत्पादयति त आजीपकुशीलः । केनचिदुपद्रुतः
परं शरणं ग्रथिताति, अनापशालां वा प्रविश्य आरमनश्चिक्षिप्तां करोति ॥ यः आजीपकुशलः । पिपायोर्मादिभिः
पत्त्राण्यपहरणश्चमर्द्यानवरः ककुशीलः, ईद्वालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिषेयते कुहलकुशील इति ।
पृथगुत्तमादीनां पुष्पाणां, फलानां च संवयमुपदर्शयति, गर्भस्थापनादिकं च करोति यः त संमूर्छेनाकुशीलः । वसानां,
बीयादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पाफलादीनां, गर्भस्थ परिशतानं अभिसारिकं च यः करोति शापं च प्रपच्छति त प्रपातनकुशीलः
उक्तं च । काञ्चोत्तिकभूषकमे पक्षिणा पक्षिणे निमित्तमाजीपे, कलकुहल समुच्छन्त पपादपादीकुसीलो उ ॥ इति ॥
आदिशब्दपरिहृतीनां कुशीला उच्यते—क्षेत्रं दिरण्यं चतुष्पदं च परिग्रहं ये युद्धंति हरितकंदफलभोजिनः कृतकारि-
तानुमतपिण्डोपधिपसत्सिवापराः, स्त्रीकन्यास्तयः, मैथुनसेवापरायणाः, विवेकाकवादिअधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः ।
धृष्टः प्रमत्तपिण्डोपेयश्च कुशीलः । संखको निरुच्यते—शिवचारित्रे अयिचारित्रः अयिचारित्रे दृष्टे अग्रिपचारित्रः,
नटयदनैकरूपमाही संसक्तः, पतैश्चियेष प्रसक्तः त्रिजिघ्रसैवैयप्रतिपक्षः, स्त्रीसिप्ये संप्लेक्षसहितः शुद्धस्थजनप्रियश्च

मार्गों की जानता हुआ भी कोई अन्य पुरुष के साथ उस मार्ग के समीप जाता है उसको जैसे मार्गपार्थस्य कहते हैं ऐसे अतिचाररहित संयममार्ग का स्वरूप जानकर भी उसमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है पांडु संयममार्ग के पाम ही रह रहा है। यद्यपि वह एकान्त रूप से असंयमी नहीं है परंतु निरतिचा संयम का पालन नहीं करता है। श्रमछिड़े उसको पार्थस्य कहना चाहिये। वसति का को बनबनेवाला, उसकी मरम्मत करनेवाला, और यहां आप ठहरो ऐसा कहकर मुनियों को वसति का देनेवाला इन तीनों को अग्र्याधर कहते हैं। इनके यहां आहार लेने के पूर्व करना मुनियों को निषिद्ध है। परंतु इनके यहां जो हमला आहार ग्रहण करते हैं। दाता की आहार लेने के पूर्व और आहार लेने के अनंतर ग्रहण करते हैं। उत्पादन दोष, एषणा दोष सहित आहार को ग्रहण करते हैं। हमला पुरुषी वसति का रहे हैं। एक ही संस्तर में हमला सोते हैं, एक ही क्षेत्र में रहते हैं, गृहस्थों के घर में अपनी बैठक लगाते हैं, गृहस्थों पर गणों से अपनी ओर चादि किया करते हैं। जिसकी शोधना अशुभ है अथवा जो सोचा नहीं गया है उसको ग्रहण करते हैं। धूर्त, फैली, नल छेदन का शत, सांडस (जिसको चिमटा कहते हैं) वस्त्रा वीक्षण पनाने का परस्पर, वस्त्रा, फंगमल निकालने का साधन, इन वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। सीना, घोंना, उसको श्र दमना, रंगाना इत्यादि कार्यों में जो तत्पर रहते हैं ऐसे मुनियों को पार्थस्य मुनि कहते हैं। जो अपने पास क्षारचूर्ण सोरास चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होने पर भी रखते हैं उनको भी पार्थस्य कहना चाहिये। जो रात में बड़े-सोते हैं, अपनी इच्छा के अनुसार विछाना भी बड़ा पनाते हैं, उपकरणों का संग्रह करते हैं, उनको उपकरण पुरुष कहते हैं।

जो दिन में सोता है उसको देहपुरुष कहते हैं ऐसे पार्थस्य के भेद हैं। कारण के बिना पाव घोंना अथवा खेल लगाना, गण के ऊपर उपजीविका करना, तीन अथवा पांच मुनियों की सेवा करना ? ऐसे जो कार्य करता है वह भी पार्थस्य है।

जिनका आचरण कुत्सित है दोष युक्त है उस मुनि को कुत्सित कहते हैं। यदि ऐसा कुशील मुनिका लक्ष्य किया जायेगा तो असंभ्रादिक मुनियों को भी कुशील ही कहना होगा ? उत्तर— जिसका बुरा आचरण लोक में प्रगट हुआ है उसको कुशील कहते हैं ऐसा अभिप्राय यदा समझना चाहिये।

इस कुशील मुनि के अनेक प्रकार हैं। कोई क्रोसुकुशील है— औषध, विलेपन और विद्यो के प्रयोग से ही राजादर में फौत क दिसाना, लोक में मितता संपादन करना।

भूतकुशील—श्रुति शब्द यहाँ उपलक्षण है इसालेय भूतिका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—अभिर्मन्त्रित किये गये धूल, सफेद सरसों, पुष्प, फल, पानी इत्यादिकोंके द्वारा किसीका रक्षण करना, किसीको चय करना, ऐसे कार्य करने वालेको भूतिकुशील कहते हैं— उपर्युक्त अभिप्राय 'सूदीय धूलियं वा' इस गायामें भी व्यक्त किया है, प्रसेनिका कुशीलका लक्षण इसप्रकार है—अंगुष्ठ प्रसेनिका, अक्षप्रसेनिका, प्रदीपप्रसेनी, क्षिप्रसेनी, और स्वप्नप्रसेनी इत्यादि विषयोंसे जो लोगों का मन अनुरंजित करता है उसको प्रसेनिकाकुशील कहते हैं—अप्रसेनिका कुशील—विद्याओंसे और औषधोंसे असंयोंकी जो चिकित्सा करता है वह अप्रसेनिका कुशील है।

अष्टांगनिमित्तको ध्यानकर जो लोगोंको उनका उपदेश करता है वह निमित्त कुशील है।

अपजी, जाति प कुल प्रकाशित करके जो शिक्षादिककी उत्पत्ति करता है उसको आजीयकुशील कहते हैं।

किशोके द्वारा उपद्रव होनेपर दुसरोको जो कारण जाता है—जयवा अनापशालामें प्रवेश कर अपनी चिकित्साको करवाता है उसको आजिविकुशील कहते हैं।

विद्या मंत्रादिकोंके द्वारा परद्रव्यापहरण करके दंस प्रदग्नेन करनेवाला उसको कक्षकुशील कहते हैं।

ईंद्रजालादिकोंके द्वारा जो जनोंको आश्चर्यचकित करता है वह कुरनाकुशील है।

वृक्ष, छोटे छोटे पेठ वगैरहोंको पुष्प और फलोंकी उत्पत्ति का उपाय बतलाता है—गर्भस्थापनादिक कार्य जो करते हैं उसको सम्मूर्लनाकुशील कहते हैं।

जस जातिके कीटादिक, बृद्ध, छोटे पेठ इनके पुष्प फलादिकोंका जो नाश करते हैं, गर्भका जो नाश करते हैं, जो शाप देते हैं उनको प्रघातनकुशील कहते हैं।

इन सब कुशीलोंका आचार्यने 'काप्रोत्तिक भूति कर्म' इस गायामें नाम निर्देश किया है—गायामें आदि शब्द आया है इससे और भी कुशीलोंके भेद होते हैं—उनका स्वरूप इस प्रकार—जो क्षेत्र—जमीन, छुवणों, चतु-पदशानी इन परिग्रहोंका स्वीकार करते हैं, हरित, कंद, और कच्चे फल भक्षण करते हैं, कृत, कारित, और अनुसृत ऐसी वसतिका, आहार उपाधि—इनका सेवन करते हैं; स्त्रियोंकी कथाओंमें प्रेम रखते हैं—मेषुन सेवामें तत्पर होते हैं;

अविनी होते हैं आसबके अधिकरणों में हमेशा उद्युक्त रहते हैं इनको भी कुशील कहते हैं जो पृष्ट, निर्लज्ज, प्रमत्त, और विस्मयुक्त वेग धारण करते हैं- उनको भी कुशील कहें हैं.

मंसक्त मुनिका वर्णन—

ऐसे मुनि चारित्रिय मुनिके सहवासमें जब रहते हैं तब चारित्रिय ये भी बन जाते हैं- जिनको चारित्रिय नहीं है ऐसे मुनिके सहवासमें रहनेपर जो चरित्रको अधिय मानने लगते हैं- मटक समान इनका आपण रहता है- ये संसक्त मुनि पंचद्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं- तीन प्रकारके मोरवोंमें-ऋद्धिगौरव, रमंगौरव और सातगौरव इनमें आसक्त होते हैं- स्त्री के विषयमें इनके परिणाम संक्लेश युक्त होते हैं- गृहस्थोपर इनका अविद्याय प्रेम रहता है- अवसन्न मुनिसंलग्ने ये अवसन्न बनते हैं- पार्श्वस्थके संसर्गसे पार्श्वस्थ हो जाते हैं- कुशीलके मंसर्ग से कुशील और स्वच्छंदके संयोग होनेपर वेसे बनते हैं- अर्थात् नटवत् इनका आचरण है.

पचाछंद मुनिका वर्णन— जो मुनि आगमके विरुद्ध आगमन न कडा हुआ और स्वेच्छाकोविपत पदा- योंका स्वरूप कहते हैं उनको पचाछंद मुनि कहते हैं.

वर्पाफालमें जो पानी गिरता है उसको धारण करना यह असंभव है- वस्तरा और कँचीसे केश निका- तना ही योग्य है- फेद्यलोच करनेमें आत्मविराधना होती है- सचिवतृणपुंजपर बैठनेसे भी भूमिशय्या मूलगुण पाला जाता है- तृणपर बैठनेसे भी जीवोंको बाधा नहीं होती है- उद्देशादिक दोषसाहित भोजन करना दोषास्पद नहीं है- आहारके लिये सब ग्राममें घूमनेसे अनेक जीवोंका घात होता है- घरमें दि भोजन करना अच्छा है- अपांत् वमविकांम ही भोजन करना अच्छा है- हाथमें आहार लेकर भोजन करनेसे जीवोंको बाधा भेदोंचती है- ऐसा घे उद्व्यय रहते हैं- इस फालमें यवोक्त आचरण करनेवाले मुनि कोई नहीं हैं ऐसा कथन करना इत्यादि प्रकारसे विरुद्ध मापण करनेवाले मुनियोंके पचाछंद अर्थात् स्वच्छंदी मुनि कहते हैं.

अविमुहभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा ॥

अच्चासादणसीला मायावहुला पिदानकदा ॥ १९५१ ॥

असुहृदमनसो वक्ष्याः कथायेन्द्रियविद्विषाप् ॥

पूज्यात्पासावनाशिला नीचा मायानिदानिनः ॥ २०३० ॥

विज्ञयोदया—अभिपुष्टमावदोसा भवाः सम्बन्धोपधानचरित्रपरिणामाः, तेषां दोषाः शंकादयः ते अभिगुञ्जा अनिराकृता येस्ते अपिपुष्टमावदोषाः । फलसाधवसिवा कृपाययशयवर्तिनः । मन्त्रसेवेयाः । अकृतासादणसीला गुणानां गुणिनां चापनानकारिणः । प्रचुरमायानिदाने यताः ॥

कुतस्ते मृत्युकास्ते सन्यागोतिपच्ययंते इत्यत्र मायापट्टकमाह—

मूढारा—अभिपुष्टमावदोसा अनिराकृतस्त्वत्रयाविकाराः । अवासादणसीला गुणानां गुणिनां चावमानकारिणः ।

अर्थ—सम्बद्ध्यने, सम्पन्नान और सम्यक् चारित्रिकी आचार्य भाव कहते हैं, इनके शंकादिक दोष है, इन दोषोंकी न हटानेसे सम्बद्ध्यनादिक निमित्त नहीं होते हैं, अर्थात् अवसन्नादिक मुनिओंका रत्मत्रय निर्दोष नहीं रहता है, वे कृपायके वक्ष हो जाते हैं, उनमें धर्ममेव मंद पाया जाता है, वे गुणोंका और गुणिकनो—का अपमान करते हैं, उनमें माया और निदान ये दो शस्त्र प्रचुर पाये जाते हैं.

सुहृसादा किमञ्जा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ॥

विसयासापडिचङ्का गारवगह्या पमाइल्ला ॥ १९५२ ॥

धर्मकार्यपराधीनाः पापसूत्रपरायणाः ॥

संयकृत्ये ममानेन किं कृत्यमिति वादिनः ॥ २०३१ ॥

सर्वव्रतानिचारस्थाः सुत्वास्वावन्लालसाः ॥

अनाराधितचारिजाः परचित्तशूलोद्यमाः ॥ २०३२ ॥

विज्ञयोदया—सुहृसादा सुधस्वावन्लालसाः । किमञ्जा कि मलो केनचिदिति सर्वेषु संवक्तार्येव्यतादत्ताः । गुण सायी गुणेषु सगमदर्शनादिषु येरत एव निरुत्साहाः । पावसुत्तपडिसेवी आत्मनः परेषां वा अनुभवरिणामस्य मिथ्यात्वा- संयमकपापानां प्रयत्नं शाल पापसूत्रे निमित्तं, चैवकं, कौटिल्यं, स्वोपपलक्षणं, घातुवादः, काव्यनाटकानि, चौरनात्वं शाललस्यं प्रहरजिययाचित्रकलागंधर्षणपयुषस्यादिकं पट्टशिव पापसूत्रे कृतादराभ्यासाः, विसयासापडिचङ्का अभिमतविषयपरिग्रान्दर्थार्थं यं आत्मा तस्यां प्रतिवक्ष्या, तिगारवगुहका गारवत्रयैगुरुवः । पमाइल्ला विकथविषयदरा ममादसुहितः ॥

मृगारा—मुदखाद्या सुखास्वादिपराः । किमन्या किं मम केनविदिति सर्वेषु संवकायेष्वनाहताः । गुणसाधो गुणेषु सम्पददर्शनादिषु येन इव । सम्पत्कामिनिहृत्साहा इत्यर्थः । पावस्तुत्तपहिसेवी स्वपरयोर्मिथ्यात्वादिति वेदकनिमित्तं कौटिल्यहीनुरुपलक्षणं, धातुवात्कान्यनाटकचौर्यैरन्वचित्त्रगीतवृत्तबाधंगंधुपस्याविद्याजेषु कृतादराभ्यासाः । पमादिह्या विकथादिप्रमादयताः ॥

अर्थ—इन पुनिजाँका स्वभाव सुसिया बनता है इसलिये मेरा कितासि कुल भी संबंध नहीं है ऐसी कल्पना करके सबके कागोंसे वे उदासीन रहते हैं. सम्पददर्शनादि गुणोंमें वे निरुत्साह रहते हैं अर्थात् इनकी वृद्धि करनेकी उनको इच्छा नहीं होती. अपने अथवा अन्यजनकी अधुम परिणाम बनानेवाले अर्थात् जो मिथ्यात्व, असंयम, कृपायरूप परिणामोंकी उत्पत्ति करते हैं ऐसे शास्त्रोंका पाप कहते हैं, जैसे निषिद्ध, वैधक, कौटिल्य (पाणकपका अर्पनाह) स्त्रीपुरुषलक्षण, अर्थात् साधुद्विक, यातुबाद, काव्य, नाटक चोरआस्त्र, शस्त्रलक्षण, शास्त्रविद्या, चित्रकला, गोधन, गंधयुक्त्यादिक इन शास्त्रों को पापकृत्र कहते हैं. ये पार्श्वस्यादि मुनि इन शास्त्रोंका आदरसे अभ्यास करते हैं. इष्ट विषयकी प्राप्ति करनेवाली जो आज्ञा है उससे वे बंध गये हैं. तीन भारतसे ये सदा युक्त रहते हैं. विरुधादिक पंदरह प्रमादोंमें ये पूर्ण रहते हैं.

समिदीमु य गुचीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेषु ॥

परतचीसु पसचा अणाहिदा भावसुद्धीए ॥ १५३ ॥

विमयवेष्या—समिदीसु य समितिषु गुणिषु च संवमगुणेषु भावनारहिता. परवभाषारेऽनु प्रवृत्ता भावशुभा-पमाहताः ॥

मृगारा—परतचीसु परवभाषारचिन्तासु धणादिना जवाहता कसिचय वा ।

अर्थ—समिति, गुणि, इनकी भागनाओंसे-अभ्याससे ये दूर रहते हैं. संवमके भेद जो उत्तमगुण शील वगैरह इनसे ये दूर रहते हैं. दूसरोंके कार्योंकी चिन्तामें लगे रहते हैं. और आत्मकल्याणके कागोंसे कौनों दूर रहते हैं. इमतिष इनके स्तत्रपमें निमलता नहीं रहती है.

गंधाणियत्तप्प्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ॥

सद्धरत्तरूपांघे फासेसु य मुल्लिदा घडिदा ॥ १९५४ ॥

इहलोककियोमुत्ताः परलोकक्रियालसाः ॥

मोहिनाः साबलाः क्षुद्राः संविल्लिदा दीनवृत्तयः ॥ २०३३ ॥

विजयोदया—गंधाणियत्तप्प्हा अतपपरिग्रहतप्णा, बहुमोहा, अज्ञानबहुलाः, सबलसेवनापराः, शब्दादिषु विषयेषु मूर्खता, आलस्यवर्तिनाः ॥

मूळारा—गंधाणियत्तप्प्हा अनिष्टचपरिग्रहस्थूहाः । बहुमोहा अज्ञानबहुलाः । सबलसेवणासेवी गृहस्वार्भसेविनः । मुल्लिदा वृद्धि गताः । घडिदा संबद्धाः ॥

अर्थ—परिग्रहमें इनकी अभिलाषा वृत्त होती नहीं रहती ही रहती है. ये आज्ञानसे धिरे रहते हैं. अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान इन को नहीं होता है. गृहस्थोंके आरंभादि धर्म ये करते रहते हैं. छन्द, रस, गंध, रूप, स्पर्श इन विषयोंमें वे अस्यासक्त होते हैं.

परलोगनिष्पिपासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा ॥

सञ्जयादीसु य जे अणुद्विदा संकिल्लिद्धमदी ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—परलोगनिष्पिपासा परलोकनिस्पृहाः, वेदिकेतेन काँपु ग्रथिषयाः, स्वाध्यायादिष्वनुष्ठिताः, संकल्लिद्धमतयः ॥

मूळारा—निष्पिपासा निस्पृहाः । अणुद्विदा अत्युत्थताः ॥

अर्थ—ये परलोकके विषयमें निस्पृह होते हैं. परंतु वेदिक कर्मों में ही इनका मन तत्पर रहता है. स्वाध्याय, जालोचनादिक कार्योंमें इनका मन लगता नहीं है, इनके बुद्धीमें संकेश परिणाम रहते हैं.

सत्त्वेसु य मूलचरणेषु तद्ध ते सदा अद्भरंता ॥
ण लहेति स्वोवसमं चरित्तमोहरत कमस्स ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—मूलोत्तरगुणेषु सदा सावित्रा न लभते चारित्रमोदस्य क्षयोपशमं ॥
 नूना—ने नित्यायसञ्चादयः समाधिरणोपेताः । अदिपरंता अन्तर्हस्या व हृत्स्वा या संजतः । अन्ये विच-
 रन्ता इति पठित्वा सर्वसिन्धुतोत्तरगुणेषुऽवर्तमाना इत्यर्थमाहुः ॥ गेत्वादि असंयता एव ते भवन्वीत्यर्थः ॥
 अर्थ—मूलगुण और उत्तरगुणोंमें हमेशा अविचार युक्त ही रहते हैं. अर्थात् इन गुणोंमें इनको हमेशा
 अविचार लगते हैं. उनको चारित्र मोहनीय कर्मका ध्योपशम नहीं रहता है. अर्थात् वे असंयत ही होते हैं.

एवं मूढमदीया अवंसदोसा करेति जे कालं ॥
 ते देवदुग्धमगत्त मायामोसेण पावंति ॥ १९५७ ॥
 अलोचनामनाथाय ये त्रियेते कुबुद्धयः ॥
 त्रिदिचे निविताचारा दुर्भगाः संति ते सुराः ॥ २०३३ ॥

विजयोदया—एवं मूढमदीया एवं मूढबुद्धयो ज्ञानपास्तबोया ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुग्धमगत्तां प्राप्नुवन्ति
 मायसा ॥

सद्रूपसंदं प्राप्यं दर्शयन्ति—

मूलरा—अवंसदोसा अनिराकृताविचाराः । देयस्य ते दुर्भगाश्च देवदुग्धमास्तदायं । उक्तं च—
 अलोचनामनाथाय ये त्रियेते कुबुद्धयः ॥ त्रिदिचे निविताचारा दुर्भगाः सन्ति ते सुराः ॥
 अर्थ—इस प्रकार मूढमति ये अवसनादिक मुनि अपने दोषों को नहीं हटाते हुए अपना सर्व आयुष्य
 पौही ज्योतिष करते हैं, बिमये मायाचारी इन मुनिआँको देव दुर्गंतिकी प्राप्ति होती है

किमस्य गिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जसु ॥
 ते देवसमिदिचल्ला कण्ठे हुंति सुरेच्छा ॥ १९५८ ॥
 संघकृत्य निरुत्साहाः किमेन ममेति ये ॥
 ते मज्जन्ति सुरा म्हेच्छा मायवादिदिवीकसां ॥ २०३५ ॥

निजयोदया—किं मण्डपिच्छादा किं मण्डपिच्छि ॥ सख्यमिति ये सर्वसंभवस्यैष्यन्तात्प्राप्ते देयस्यभित्तिवासाः कल्पानामते
सुरस्तेन्यम भवति ॥

संप्रकार्योन्माहतानां देवदुर्गतिमाह—

मूढारा—किं मूढा निदृच्छाद्वा किं ममेतनादकाः ॥ सगिदि समायां । कथ्यते सौधैर्वादिक्त्पानां प्रत्यंते ।
सुरमेच्छा देवमेच्छाः कर्मचोदावा इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो संपर्क कायोंका अनादर करते हैं ऐसे मुनि सौधर्मादिक स्वर्गके अंतर्मे सुरस्तेच्छ अर्थात्
जीवालके समान देव होते हैं.

कंदर्पमभावणाए देवा कंदर्पिया मदा ह्येति ॥
स्विस्विमसयभावणाए कालगदा ह्येति स्विस्विमसया ॥ १९५९ ॥
अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुंति ॥
तह आसुरीए जुत्ता हवति देवा असुरकाया ॥ १९६० ॥
सम्मोहणाए कालं करिनु दो हुंदुगा सुरा हुंति ॥
अण्णंवि देवदुग्गाइ उवर्यति विराघया मरणे ॥ १९६१ ॥
कंदर्पभावनासीलाः कंदर्पाः संति त्राकिनः ॥
निंथाः किस्विपिकाः संति मृताः किस्विपभावनाः ॥ २०३६ ॥
अभियोग्यक्रियासत्ता अभियोग्याः सुरा मृताः ॥
आसुरीभावनाः कृत्वा मृत्वा सन्त्यसुराः पुनः ॥ २०३७ ॥
सम्मोहभावनोदृत्ताः सम्मोहस्त्रिदशा मृताः ॥
वितायकैः पराप्येवं प्राप्यते देवदुर्गतिः ॥ २०३८ ॥

पित्रयोदया—सगशर्ममुत्तरगाथाश्रयं ॥

कन्दर्पादिभावनामृतानां तथाविषदेवभूयमभिषेचे—

मृत्पारा—मदा मृदाः ॥

मृत्पारा—अमुरकाया असुराः ॥

मृत्पारा—परितु कृत्वा । माद्वपदमासकु रुरुपायागदुहरभाणाः । कामातुलया शुनीनामिव देवीनां अभिनिच

पुरोडुल्लादिचक्षाकारिण इत्यर्थः ॥ अण्णं च अपरसपि । उचयंति प्राज्जुवन्ति ॥

अर्थ—कंदर्प भावनाके वडा होकर ये मुनि कंदर्प जाति के देव होते हैं, कित्तिवपभावनाके वडा होनासे माणोघर कित्तिव देवपर्यायकी मान्ति इनको होती है, आभियोग्य भावनासे जो मुनि मरण करते हैं वे स्वर्गमें आभियोग्य देव अर्थात् याहनदेव होते हैं, आसुरीभावनासे प्राणत्याग करनेवाले मुनि असुर देव होते हैं, सम्मोह भावनाके वडा होकर मरण करनेवाले मुनि स्वर्गमें सम्मोह नामक देव होते हैं, कामविकारके बाहुल्यसे ये देव देवीके प्राण हमेशा कामसेवन करते हैं, मरणकालमें जो आराधानाकी विराधना करते हैं ऐसे मुनि अन्यभी देवदुर्गादी न जन्ममें लेवे हैं.

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ॥

तं तेलि बालमरणं होइ फलं तस्स पुट्ठत्तं ॥ १९१२ ॥

इत्थं विराध्य ये जीवा त्रियन्ते-संयमादिकम् ॥

तेषां बालसृतिस्तस्याःफलं पूर्वञ्च वर्णितम् ॥ २०३९ ॥

विद्ययोदया—इय जे विराधयित्ता एयं ये रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना सृतिमुपचति तेषां बालमरणं भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥

रत्नत्रयं विराध्य मृगानां फलमन्यमरणं स्यादित्यवह—

गुल्लरा—मरेज्जण्ह झियेत्त ॥ तं असमाधिमरणं ॥

अर्थ—जो इम प्रकार रत्नत्रयका नाश कर मरणको प्राप्त होते हैं, अर्थात् असमाधिसे मरण करते हैं, उनका यह मरण बालमरण है ऐसा आचार्य कहते हैं, बालमरणके फलका वर्णन पूर्वमें आ चुका है.

जे सम्मचं खवया विराघयिचा पुणो मरेज्जण्ह ॥

ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होति ॥ १९६३ ॥

विराघ्य ये विपद्यंते सम्मक्त्वं नष्टबुद्धयः ।

ज्योतिर्धर्मानभौमेषु ते जायन्ते वितेजसः ॥ २०२० ॥

विजयोदया—जे सम्मचं यमगा ये क्षपकाः सम्मक्त्वं धिनास्य क्षियंते सयनवासिनो ज्योतिष्का व्यंतर्षा भवन्ति ॥

सम्मक्त्वं विरापनायरणफलमाह—

मूढारा—भोमेज्जा व्यंतराः ॥

अर्थ—जो क्षपक सम्मक्त्वं नाम नाश कर कर मरण को प्राप्ता होते हैं उनकी सचनवासि, व्यंतर अथवा ज्योतिष्क देवों में उत्पत्ति होती हैं.

दंसणणविहणा तदो बुदा दुक्खवेदणुस्मीए ॥

संसारमण्डलगावा भमंति भवसागरे मूढा ॥ १९६४ ॥

दण्डनज्ञानहीनास्ते प्रच्युता देवलोक्तः ॥

संसारसागरे घोरे यंघ्रमन्ति निरन्तरम् । २०४१ ॥

विजयोदया—दंसणणविहणा सम्मदर्शनशमहीनास्ततः स्वर्गाच्युता दुःखवेदनामीके भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, मंडले गताः ॥

विरापनाधिगतदेयभायधंदोर्दुर्जन्मपरंपरां ध्रवीति—

मूढारा—वदो बुदा वषट्ठेयभावभयाः । दुक्खवेदणुस्मीए क्लेशानुगृहिणीचिके । मंडल आवर्तः ॥

अर्थ—सम्पददर्शन, सम्पद्ग्यान इन गुणों से रहित देव आधुप समाप्त होने पर स्वर्गसे भ्रष्ट होकर दुःखानुभयरूप तर्ंगमें से भरे हुए संसारसमुद्रमें अज्ञानसे अचेत होकर घ्रमण करते हैं.

जो मिच्छतं गंतूण किण्हलेस्सादियणिणदो मरदि ॥
तद्धेरसो सो जायइ जेइस्सो कुणदि सो कालं ॥ १९६५ ॥

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेइयादिभाविताः ॥
तथादेइया भवान्भोवो ते भ्रमन्ति दुरुचरे ॥ २०४२ ॥
निवेअपंती शुबनाधिपत्ये न्नीपितं कामदुघेव पेनुः ॥
आतापिता किं न दयाति पुंसामारचना सिदिबधूअयस्या ॥ २०४३ ॥

इति फलम् ॥

विजयोदया—जो भिच्छतं गंतूण वा कृष्णलेइयादिपरिणतो भिज्यात्वं गत्या क्रियते तद्धेरसो जायते, पर-
न च योइस्स, कालं कृतपाव । फलसि ॥

भिज्यात्वंपरिणतस्य मरणप्राप्त्यदुल्लेखपरिणामाना संस्मरणानुसंगमभिधये—
बुद्धारा—जायदि परं न कथयते । कर्त्तं च—

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेइयादिभाविताः ।
तथादेइया भवान्भोवो ते भ्रमन्ति दुरुचरे ॥

फलं । दृग्धः २९ अंकतः ४१ ॥

अर्थ—जो मुनि कृष्ण लेइया परीसह लेइयाओके वग होकर भिज्यात्वी बन कर मरण करते हैं वे पर-
लोकमें भी उसी ठेइया के धारक होते हैं, तात्पर्य जिस ठेइया से मरण होता है परलोकमें भी वही ठेइया उस
जीवकी रहती है- इस प्रकार फल का वर्णन हुआ।

पित्राहणा निरूप्यते—

एवं कालगदसा दु सरीरमंतोवहिज्ज वाहिं वा ॥

विज्जावज्जकरा तं मयं भिक्खिं च नि जइयाए ॥ २०४६ ॥

एवं कालगतस्यास्य यहिरंतनिवासिनः ।

स्यजंति यत्नतो गात्रं वैषावृत्त्यकराः स्वयम् ॥ २०४४ ॥

पित्रयोध्या-एवं कालगतस्य एवं कालगतस्य शरीरमंतर्निहितवैश्वानरस्य वैषावृत्त्यकराः स्वयमेवापनयंति यत्नेन ॥

अथ शरीरगतस्य वैश्वानरस्य त्वजनविधिं गायान्बुद्धिगता न्यायते—

मूढारा—एवं यथोक्तसंन्यासविधिना । मूढारादस्य मूलस्य सुषुप्तस्य । अतो मध्ये मगदादेः स्थितस्य । बाहि
महिः । तं निस्तरणोत्समस्तथाधारयान्। शिखरपरमविज्रमात्रं । विक्लिबन्ति अपतवन्ति । जयजाल यत्नेन परस्वमायेन ॥

अर्थ—जो क्षयक लोकांतर को प्राप्त हुआ है अर्थात् मर गया है ॥१॥ वैषावृत्त्य करने वाले मुनि उत्तका
शरीर जो कि नगरादिमें अथवा बाहर यस्तत्किंम पडा रहता है उसे आगे कहे हुए प्रपत्नसे ले जाते हैं. अभिप्राय
यह है कि-पूर्वोक्त संन्यास विधीसे जो क्षयक सम्यक्स्यादिक चार आराधनाओंकी निस्तरण पर्यंत शक्तिकर पवित्र
हुआ है वह नगरादिके बीचमें अथवा बाहर जब मरण करता है तब वैषावृत्त्य करने वाले मुनिगण उसके शयको
एडे प्रपत्नसे स्वयमेव ले जाते हैं.

सयणार्ण ठिदिकण्यो वासावासे तर्हेव च्छुबंघे ॥

पडिलिह्दिद्व्या णियमा भिसीहिद्या सव्वसाधूहि ॥ १९६७ ॥

सोपूनां स्थितिकरुणोऽयं धर्पोसु ऋतुबंधयोः ॥

समस्तेः साधुभिर्यत्नायाग्निरुच्या निपयता ॥ १९४५ ॥

विशयोध्या—समणार्ण ठिदिकण्यो अमणानां स्थितिकण्यो धर्पोवासो ऋतुप्रारंभे ॥ नियमेन सर्वेः साधुभि-
निधीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥

सर्वेदेडपि निरीहाः सुसुषुब्धः कुतस्तच्छरीरत्वयाय स्वयं भर्तते इत्यारेकायास्तुत्तरयति—

मूढारा—ठिदिकण्यो एष स्थितिकण्योऽयं एव चचनान्यासपञ्चास्यस्थितिकल्पद्वयान्तर्गतत्वेन भवति ।
वासावासे धर्पोसु ऋतुप्रारंभोऽयं वासे प्रतिपद्यमाने धातुमौलिकयोगप्रारंभ इत्यर्थः । छुबंघेव ऋतुप्रारंभे । पडिलिहि
द्वया यदि विशेषः भिसीधिया आराधकशरीरस्थापनस्थानम् ॥ उक्तं च —

साधुनां शिवविक्त्योऽयं वर्षाबासातुल्ययोः ॥ समस्तैः साधुभिर्दत्तावाप्तिरूपा निपद्यकाः ॥
अन्ये तु वापे वासे इति गच्छित्वा वर्षे वर्षे इत्यर्थं व्याचक्रुः । अपरे मासे मासे इति पाठं मत्वा एवमवदं

विद्वत्पार्थसारथीः । तथा चोक्तम्—

अवधानां शिवविक्त्यो मासे मासे तपतुर्विधे ॥ ॥

प्रतिस्वर्गेषा नियतं निपद्यका सर्वसंवसिभिः ॥

यस्मात्त्रिपञ्चादत्तेन कालैस्तत्तेन सूत्रे साधूनामवदयकैस्तत्तवगोपविष्टं तस्मात्त्रिपञ्चाधिपानाय सुसुष्ठुभिः स्वयं प्रय
तितव्यमिति भावः ॥

अर्थ—साधुभ्योऽसिक्त योगको प्रारम्भकालेन तथा ऋतुप्रारंभेय जहां आराधकके दुरीर का स्थापन किया है
॥ ॥ स्थानकी प्रति लेखना सर्व साधुओं को निषमसे करनी चाहिये. अर्थात् उस स्थानका दर्शन करना चाहिये,
दीर्घासे उसको स्पष्ट करना चाहिये. ऐसा यह मुनिओका स्थित कल्प है.

तस्या लक्षणमाद्ये—

एवंता सालोगा णादिविकिटा ण चावि आसण्णा ॥

वित्थिण्णा विट्ता णिसीहिद्या दूरमागढा ॥ १९६८ ॥

निपया नातिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ॥

कर्तव्यमस्ति परामग्न्या बालवृद्धगणोचिता ॥ २०४६ ॥

विजयशेखा—एवंता सालोभा एकांता परैः प्रायेणादस्था नातिदूर नात्यासता विस्तीर्णा शविष्यस्ता दूरमव-
गाढा ॥

किं लक्षणेण निपया स्यादित्यत्राह—

मूलरा—एवंता एकांतप्रेदेशत्वा । सालोगा सप्रकटा । णादिविकिटा नातिदूर नगराचयेक्षया । ण चादिया-

सण्णा नाप्यत्यासता विस्तिण्णा विपुला । विट्ता णिसीहिद्या । दूरमागढा अवलिढा । उक्ते च—

निपया नातिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ।

कर्तव्यमस्ति परामग्न्या बालवृद्धगणोचिता ॥

अन्धे एवांता साळोया इति पठित्वा एकांतपरैः मायेणाटस्या इत्यर्थं प्रतिपन्नाः । एकांतैरेकांतवादिभिः न सम्यक्
सुतेनाळोयते इत्यस्ते इति व्युत्पत्तेः ॥ वदुष्कम्—

नातिदूरं न आसन्ना विपुलस्तत्र प्रायशः परैः ॥ अटस्या तु तथा दूरगमगता विपदाका ॥
अपरे ॥ दूरमोगता इत्यस्य विपदास्थानसम्भारपेक्षया बहुप्रायः प्रवेशेत्यर्थमाहुः । टिप्पणके ॥ दूरे दूरे प्रच्छेदेत्यर्थो व्याख्यायि ॥

निर्वीथिकाया लक्षणं कहते हैं—

अर्थ—निर्वीथिका एकान्तप्रदेशमें अन्यजनों को दील न पड़ेगी ऐसे प्रदेश में हो. प्रकाशसहित होनी
चाहिये. वह नगरादिकों से अतिदूर न हो. न अति समीप भी हो. वह दूरी हुई, विध्वस्त की गई ऐसी न हो.
वह विस्तीर्ण प्रासक और रह होनी चाहिये.

अभिमुख आसुसिरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा ॥

णिज्जंतुगा अहरिदा अविळा य तहा अणावाधा ॥ १९६९ ॥

आ अवरदविलणाए व दविलणाए व अघ व अवाए ॥

लसधीदो वणिज्जवि णिसीभिया सा पसत्थसि ॥ १९७० ॥

वसनेनैकते भागे वधिणे पञ्चिमेऽपि वा ॥

निपयका स्थिता या सा प्रशरणा परिकीर्तिता ॥ २०४७ ॥

विजयोद्या—आ अवरदक्खिणाए अवरदक्खिणाशायां, दक्खिणस्सं, अवरस्सं वा यिनि वसतितः विदी-
पिका प्रदास्ता ॥

तत्तत्रअणशोपमाद—

मूलाः—अभिमुखा उद्देहकारहिता । असुप्पिआ अघःप्रवेशेच्छिद्ररहिता । कवसा पुप्पटिप्परहिता । उज्जोवा
सोचोवा । बहुसमा बहुसभाभूमिका । असिणिद्धा अनारो । अविळा विर्यगिवररहिता । अणावाधा बाधारहिता एतां
श्रीविजयो तच्छति ॥

मूलात्—अवरदक्खिणाए नैहत्थादिशि । अवराण पश्चिमदिशि । वसधीदो क्षुण्णवसवोः सकारात् ।
यज्जिगत्तदि प्रदिगमत्ते पूर्वोचार्यैः ॥

अर्थ—यह निषिधिका चीटियोंसे रहित, छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये किसी दुई न होना चाहिये प्रकान्तदित होवे समान भूमिके स्थानपर होवे. निर्जन्तुक बाधासहित होवे वह गीली तथा इधर उधर हिलने वाली नहीं होवे वह निषिधिका क्षणिकी वसविकासे नैहृत्य दिशामें, दक्षिण दिशामें अथवा पश्चिम दिशामें होनी चाहिये. ऐसी हन दिशाओंमें निषिधिका की रचना करना पूर्व आचार्यों ने प्रशस्त माना है

सव्यसमाग्री पढमाए दक्खिणाए तु मत्तगं सुलमं ॥

अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लामो य ॥ १९७१ ॥

सर्वस्यापि समाधानं प्रथमायां तथान्यतः ॥

आहार सुलभोऽप्यस्यां श्वेतसुखविहारिता ॥ २०४८ ॥

विज्ञयोपपा—सव्यसमाग्री पढमाए सव्येण समाधिर्भवति पढमाए अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषिधिकाया, दक्षिणदिगवस्थितायानाहार सुलभं पश्चिमाया सुखविहार उपकरणलामाश्च ॥

पूर्वोक्तद्विज्ञयविषयाकरणे शुभफलविशेषोपायप्रकाशयति—

मूलात्—सव्यसमाग्री सर्वेषां सप्तातर्वर्तिभमणादीनां समाधानं । भक्षण अन्नपान । सुहविहारो सुप्तप्रवर्तना ।

वयधिरस सुलकायुपकरणाय ॥

अर्थ—नैऋत्यदिशाकी निषिधिका सर्वं सर्वत्र समाधिके लिये कारण हो जाती है अर्थात् इस दिशाकी निषिधिका संघका हित कानेवाली होती है दक्षिण दिशाकी निषिधिकासे आहार सुलभतासे संघको मिलता है. पश्चिमदिशामें निषिधिका होनेसे संघका दुखसे विहार होता रहेगा और उनको पुस्तकादिक उपकरणोंका लाभ होता रहेगा

जदि तेसिं वाधादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ॥

अगरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥ १९७२ ॥

तदभावेऽनलाशयां वायव्यायां दुरोर्विशि ॥

निपयकोत्तरस्यां वा मत्तेशानस्य ना दिशि ॥ २०४९ ॥

विजयोदया—जदि तासि वायव्यो यदि ता निषीधिका न छान्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका इष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वो या उर्वीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥

आग्नेयादिदिक्षु निपयाधिपाने ययोत्तरोत्तरकलाणि दर्शयन् गाथाद्वयेन नियेषं व्यनक्ति—

मूढारा—तासि वापरो प्रायुक्तनिपयानां प्रतिबंधः । अपरदक्षिणादिदिक्षु निषीधिकाः कर्तुं न छान्यते इत्यर्थः ॥ एद्वयानिपयानयोत्तरोत्तरकलाद्वयानि निरूपया भवन्ति । पुनर्वदक्षिणा आग्नेयी दिक् ।

अथकृत्वा वायवी दिक् । उर्वीचि उत्तरा । पुनर्वतरा ऐशानी दिक् ॥

अर्थ—यदि नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशामें निषीधिका बनवाने में कुछ बाधा उपस्थित होगी तो आग्नेय दिशामें, वायव्य दिशामें, ऐशान्य दिशामें व उत्तर दिशामें इन दिशाओंमें से जिस दिशामें दुर्भीता हो वहां पनबानी चाहिये.

एदासु फलं कमतो जाणेऽज तुमंतुमा य कलहो य ॥

भदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कट्टे अण्णं ॥ १७३३ ॥

क्रमेण फलमेतासु स्पद्धो राटिअ जस्यते ॥

अवच्छादि तथा व्याघिन्यस्याप्यपकर्षणम् ॥ २०५० ॥

पित्तयोदया—एदाह एतासु निषीधिकासु । फलं कमतो विजानीयात् तुमंतुमा य पूर्वदक्षिणस्यां स्पद्धो, अपरोत्तरस्यां कलहः पूर्वस्यां भेदः उर्वीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्येनापृच्छ्यते ॥

मूढारा—तुमंतुमा स्पद्धो अहमेवंभूतस्त्वमेवंभूतोऽन्वे वा ईदृग्यता इत्यादिसंप्रपञ्चः । कलहो राटिः । भदो संप्रपञ्च परस्पर द्विधाभावः । गिलाणं व्याधिः । चरिमा ईशानदिक् । कट्टे आकर्षति । पूर्वोत्तरदिग्निपयाकरणैः परो दुर्निर्दिष्यते इत्यर्थः । एतेनैवदुपदिष्टं भवति । प्रागेव तथा अपक्षय वसतिः कस्यथा यथा तन्निपया नैऋत्यादिदिग्बन्धनस्य तथां वक्तुं शक्यते इति ॥

अर्थ—परंतु इन दिशाओंकी निर्भीधिकाओंका फल इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये. पूर्व दक्षिण दिशामें स्पष्टता, अर्थात् मैं ऐसा हूँ ऐसा तू है, दूसरे इस प्रकारके हैं ऐसी स्पष्टता, उत्पन्न होगी. पार्श्वोत्तरदिशामें कलह होगा, पूर्व दिशामें संघर्षे फूट पड़ेगी, उत्तर दिशामें व्याधि उत्पन्न होगी, ईशान्य दिशामें संघर्ष परस्पर स्वीचतानी होगी. पूर्वोत्तर दिशामें निर्भिधिका क्रमसे प्रथमतः मुनियरण होगा ऐसा इन दिशाओंका फल है.

जं बेलं कालगदो भिक्खू तं बेलमेव णीहरणं ॥

जगणवंचणछेदणविधी अवेलाए कदव्या ॥ १९७४ ॥

यदैव त्रियत्ते काले त्यजानीयस्तदैव सः ॥

अवेलायां विधातव्या छेदबंधनजागराः ॥ २०५१ ॥

विजयोपया—जं बेलं कालगदो भिक्खू तं बेलमेव णीद्वहणं यस्यां वेलायां मृतो भिक्षुः तस्यां वेलायभिघापन-यनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बंधनं छेदने ता कर्तव्यं ॥

निरुकासनं लघोभवेलायां मृतस्य कार्यमन्यदा जागरणाधिकविलुपयिष्यति—

मूलारा—जं बेलं यस्यां वेलायां । तं बेलमेव तस्यां वेलायामेव । णीहरणं यथासंभविचोदापनयनं यतिभिः कर्तव्यम् । अवेलाए अवेलायां मृतस्य ॥

अर्थ—जित समय भिक्षुका मरण हुआ होगा उसी बेलामे उसका श्रेत ले जाना चाहिये. यदि अवेलामें मर जानेपर जागरण, बंधन, अथवा छेदन करना चाहिये.

के जागरणं कुर्वतीत्याचष्टे—

बाले बुद्धे सीसे तवासिभीरुगिलाणए दुहिदे ॥

आयरिणु य विक्किचिय घीरा जग्गंति जिदणिट्ठा ॥ १९७५ ॥

भीरुसौक्ष्मगणिगलानचात्तबुद्धतपस्विनः ॥

अपाकुत्थापारपीरा जितनिद्राःप्रजाग्रति ॥ २०५२ ॥

विजयोदया—यत्ने बुद्धे बालबुद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीकन, व्याधितान्, दुःखितान् चार्थोक्त्य अवाष्टाद्य धीरा लितनिद्रा जागरणे कुर्वन्ति ॥

मृतमिश्रुसमीपे जागरणादिशरण्यानि निर्दिशन्ति—

मृच्छरा—मिलनार्थं—व्याधितान् । विधिक्रिय युक्त्या—

अर्थ—बालमुनि, वृद्धमुनि, शिक्षकपुनि, तपस्वी मुनि, मयबुक्त मुनि, रोगीमुनि, दुःखपीडित मुनि और आचार्य इनको परवर्कर धीर, निद्राको जिन्होंने जीता है ऐसे मुनिओको जागरण करना चाहिये.

के परमर्षीस्वाकष्टे—

भीदरथा कदकज्जा महाबलपरकमा महासत्ता ॥

बंधंति य छिदंति य करचरणमुद्वयपदेसे ॥ १९७६ ॥

छुनकुत्त्या गृहीतार्थो महाबलपराक्रमाः ॥

हस्तांगुष्ठादिदेशेषु पंचं छेदं ना कुर्वन्ते ॥ २०५३ ॥

पिजयोदया—भीदरथा गृहीतार्थोः छुनकरणे महाबलपराक्रमा महाबलत्वा बध्नेति छिदंति य करचरणं अंगुष्ठजैवसो वा ॥

के छुन बंधच्छेदो कुर्वन्तीतिवन्नाह—

मृच्छरा—कवकरणे असक्तजनक्षपककृत्याः । कठेयादि हस्तं, पदपंगुष्ठपदेसं वा ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थका सत्य स्वरूप जाना है और क्षपकके कृत्य जिन्होंने

जिनमें महाबल, पराक्रम और धैर्य है ऐसे मुनि क्षपकके हाथ और पाव तथा अंगुठा इनका अथवा छेदते हैं.

परमकरणे को कोच हत्यबंधकायं दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधी तो तस्य देवदा कोई ॥

आदाय तं कलेवरमुद्धिज्ज रमिज्ज बोधेज्ज ॥ १९७७ ॥

विधीयते न यथेवं तदा काचन देवता ॥

कठेवर तदादाय विधत्ते भीषणक्रियां ॥ २०५४ ॥

विजयोपेया—जदि वा एस कथेय विधिनिं कियते कदाविदेवता कोडनशीला मृतकमाशय उभेष्टय मघावे-
त्रमेत या वाघेयदा तदर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभाः पलायनं मरणं वा भवेत् ॥

उक्तविध्यविधाने दोषमाह—

मूलरा—वा अहो । न कीरेज न क्रियेज । ततय तस्मिन् स्थाने । रेवदा कोई कोडनशीलो भूतः पिशाचो
वा । बहुत्यानादिदर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभाः, पलायनं मरणं वा भवेत् ।

अर्थ—यदि यह विधि न की जावेगी तो उस मृतकअरोरमें क्रीडा करनेका स्वभाववाला कोई भूत अथवा
पिशाच प्रवेश करेगा. उस प्रेतको लेकर यह ऊडेगा, यागेगा. क्रीडा करेगा. इस कार्यको देवकर बालमुनि, भीरु-
मुनि इनके मनमें क्षीय उत्पन्न होकर वे भागेगे अथवा मरण होगा इस लिये श्रावणाय व अंगुठा बांधना चाहिये
अथवा उनके कुछ प्रवेशोंका छेदन करना चाहिये.

उयसयपडिदावणं उवसंगहिदं तु तत्थ उवकरणं ॥

सागारियं च दुबिहं पडिहरियमपडिहारिं वा ॥ १९७८ ॥

जदि विस्खादा भत्तपइण्णा अउजाव होज कालगदो ॥

देउलसागारिस्सि व सिवियाकरणं पि तो होउज ॥ १९७९ ॥

यस्योपकरणं किञ्चित्कृत्वा यांचां यदाहृतम् ॥

कृत्वा संबोधनं सर्वं तत्तस्याप्यर्थं विधानतः ॥ २०५५ ॥

प्रसिद्धो यदि संन्यासे स्थानस्वार्थिका यदि ॥

विपश्चा निधिना कार्यां तदानीं शिथिकोत्तमा ॥ २०५६ ॥

विजयोपेया—जद विपत्तादा भत्तपडिण्णा यदि सर्वेज्जप्रकटा खेउजना कार्विका वा भवेत् कालगतास्थानर-
क्षका शुद्धसा या ठम सिविका कठेव्या ॥

क्षपकोपचारार्थं उपकरणप्रकारान्प्रतिनिविदति—

मूलारा—उपसम्पत्तिव्यवस्थां वसतिप्रतिबद्धं । तदथ क्षपकनिमित्तं । सागारिं गृहस्थसंगंश्च । पट्टिहारिं अरण्यजनीयं । अप्पाट्टिहारिं त्यजनीयं यत्वं श्रीविजयो नेच्छति ।

एवं यद्येकसंन्यासनिधियुतस्य संबतजनविशेषं यथाकर्मचिद्विद्वानयनं विधाय सांप्रतं प्रसिद्धसंन्यासविभीनां आर्थिकादीनां तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—अज्ञा अविशोकावपि स्थानस्थार्थिषा ग्राह्या । साहचर्योत्त ॥ तथा चोक्तम्—

प्रसिद्धा यदि संन्यासे स्थानरक्षार्थिका यदि ॥ निपत्रा विधिना फलार्थं वदन्ती शिविकोत्तमा ॥

वेदक मठपतिः । सागारिश्च । सागार इति । एवं प्रकारो गृहस्थः झुल्लको या । तदुक्तम्—

भक्तत्यागः कयातो यद्यर्थो झुल्लकोऽथ सागारः ॥ काष्ठमनो देवकुली शिविकाकरणं ततोयुक्तम् ॥

सर्वजनप्रकटभक्तवत्वावस्थानेन यज्ञानां आर्थिकादीनां निरन्तरानर्थं सिबिन्नायाः कुटोविशेषस्य निर्माणं यदि शब्दादिमानमपीति केचित् ॥

अर्थ—क्षपक की दुध्रूपा करने के लिये जिन उपकरणोंका संग्रह किया जाता था उनका वर्णन—
वसतिका सम्पन्नी उपकरण, कुछ उपकरण गृहस्थोंसे लाये जाते थे जैसे ओषध, जलपात्र, थाली वगैरह. कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते हैं. जो त्याज्य नहीं है वे गृहस्थोंको वापिस दिये जाते हैं. कुछ फपदा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है. यदि सर्वजनोंको सिद्धित ऐसी किसी आर्थिकाने अथवा झुल्लरूने सहेखना धारण कर मरण किया होगा तो उच्च पालसी अथवा विमानमें उसके शवको स्थापन कर ले जाना चाहिये. संन्यास स्थानका रखण करनेवाली आर्थिका, गृहस्थ, मठपति, झुल्लक इनका मरण होनेपर शिविका अथवा विमानमें इनका शव आरोहण कर गृहस्थ ग्रामके बाहर ले जाते हैं.

तेण परं संठाविथ संथारगदं च तत्थ वंघिच्चा ॥

उद्धतरक्खण्डं गामं तच्चो सिरं किच्चा ॥ १९८० ॥

संस्तरेण समं बद्ध्वा मृतकं विधिना दहय् ॥

विधायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्य विमुलं शिरः ॥ २०५७ ॥

विज्ञयोद्वा—तेन परं संस्वाप्य तेन सुतेकेन संस्तरंघात्तनो सुतत्वंधनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा वत्पानरक्षणार्थं ॥

मृदकनिष्कासनविधानं गाढानयेथाह—

मूत्रारा—तेन परं शिवितानिष्पादनानंतरं । संठाविद्य शिविकाया प्रवेदय । वविथा संस्तरेण समं वदू-वेत्यर्थः । वट्टेवरसलण्डं दन्तिष्ठनो मृदकस्य निवारणार्थं खन्यमा शिरसि कृते कदाविचदुत्तिष्ठेदिति भावः । गामं ततो ग्रामाभिमुत्तं ॥

अर्थ—शिविकाको रचना करनेके अनंतर विछानेके साथ उस श्वको बांधकर, शिविकामें उसको सुलाना चाहिये ग्रामके सन्मुख उसका सस्तक करना चाहिये. ग्रामके सन्मुख ही सस्तक करनेका कारण यह है कि कदाचिद् वह उठेगा तो उसका मुख ग्रामके तरफ नही होगा और ग्रामके तरफ पैर करके शिविकामें स्थापन करनेसे वह उठनेपर ग्राममें प्रवेश करेगा इसलिये ग्रामके तरफ शिर करनेका विधान लिखा है

पुण्याभोगिय ममगेण आपु गच्छति तं समादाय ॥

अट्टिमणियत्तंता य विट्ठो ते अनिबंता ॥ १९८१ ॥

क्षिममावाय गच्छंति वीक्षितेनात्थना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थान त्यक्त्वा पूर्वार्चिलोकनम् ॥ २०५८ ॥

विज्ञयोद्वा—पुण्याभोगियमगेण पूर्वार्चिलोकेन मार्गेण आशु गच्छति तस्मादाय अस्थितं अनिवर्तमानाः पृष्ठ धालोक्तं मुमत्था ॥

मूत्रारा—पुण्याभोगिय प्राप्तः । अट्टिदं अविश्रान्तं । अणियत्ततो अव्यापुत्तं पट्टिदो अणित्तंतो अत्तालोकमानाः ।

उक्तं च—

सस्तरेण समं वदू-वा सुतक विधिना दृढ ॥

विषायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्याभिमुत्तं शिरः ॥

क्षिममादाय गच्छंति वीक्षितेनात्थना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वार्चिलोकनम् ॥

अर्थ—पूर्वसे देखे हुए मार्गसे वह श्व शीघ्र लेकर जाना चाहिये. रास्तेमें न लहे होना चाहिये न पोछे लोटकर देखना भी चाहिये

कुसमुद्धिं घेत्तूण य पुरवो एगेण होइ गंतव्वं ॥
अट्टिअणियत्तेण पिठवो लोयणं मुच्चा ॥ १९८२ ॥

पुरो गन्तव्यमेकेन गृहीतकुशमुष्टिना ॥

पूर्वावलोकनस्थाननिवर्तनविवर्जिना ॥ २०५९ ॥

विजयोदया—कुसमुद्धिं घेत्तूण कुसमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गंतव्वं, अस्थितं अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकित्वा ।
मूलारा—कुसमुद्धिं मुष्टिगृह्णन् । पुरदो अग्रे । मुच्चा त्यक्त्या ॥

अर्थ—उत्त श्रवके आगे एक भजुण्य मुष्टिमें कुशदर्म लेकर जावे, वह पीछे न देखे न मार्गमें ठहरे,

तेण कुसमुष्टिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ॥
संधारो कादव्वो सव्वत्थ समो सार्गे तत्थ ॥ १९८३ ॥

कृत्यस्तत्र समस्तेन संस्तरः कुशधारया ॥

अच्छिन्नया सक्कुदेशे वीक्षिते समपातया ॥ २०६० ॥

विजयोदया—तेण कुसमुष्टिधाराए तेन पुरस्तादेन पूर्वमभितथितमिषीधिकारद्वयेन
च्छिन्नया समनिपातया सर्वत्र सम. संस्तर. कार्यः ॥
कुसमुद्धिद्वयमाह—

मूलारा—तेण पुरोगतेन । धाराए धारया निक्षेपेण । अव्वोच्छिण्णाए निरसृत्या । समणिपादाए सदृशं

पर्वता । कादव्वो अतरितव्यः । सार्गे एकवारेण । तत्थ पूर्वमभितथितमिषीधिकारस्थाने ॥
अर्थ—जिसने निषीधिका स्यात् पूर्वमें देखा है वह मनुष्य वहाँ जाकर दर्ममुष्टिकी समान धारासे
सर्वत्र सम ऐसा संस्तर करना चाहिये.

जत्थ ण होज्ज तणाइं खुण्णेहिं वि तत्थ केसरोहिं वा ॥
संधरिदव्व्या लेह्या सव्वत्थ समा अव्वोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

स चूर्णः केशरैर्वापि कुशाभावे विधियते ॥

समानःसर्वतोऽच्छिन्नो घोमवा विधिना सकृत् ॥ २०६१ ॥

विजयोदया—अथ ण होल्य तणाई यत्र न छयते कुशवणानि तत्र चूर्णैर्वा केशरैर्वा संस्तरः कर्पः सर्व समोऽप्युच्छिन्नः ॥

कुशालाभे संस्तरितमाह—

मूढारा—तणाई कुशाः । पुण्णेहि प्रासुक्खंदुलमसूरादिनिष्ठैः । केशरेहि प्रासुकपद्मादिक्वित्तकैः । छेदा रेखा ।

सबस्य सलकावाधलि पावते यावत् । समा धान्युत्कर्षरहितम् ॥

अर्थ—यदि दमं तृण नहीं मिला तो प्रासुक सेंडुल, मसूरकी दाल इत्यादिकोंके चूर्णसे, कमलकेअर वगैरहसे मस्तकसे लेकर पाँचतक समान, नहीं रुढ़ी हुई रेखाएँ लिखनी चाहिये.

असमत्वे दोषमाचष्टे—

अदि विसमो संधारो उवारे मध्ये व होल्य हेट्टा वा ॥

मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण पायन्वं ॥ १९८५ ॥

आदौ मध्येवसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमभास्तुने ॥ २०६२ ॥

वितयोदया—अदि विसमो संघारो यदि मध्ये व होल्य हेट्टा वा । मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण पायन्वं ॥ १९८५ ॥ आदौ मध्येवसाने च विपमो यदि जायते ॥

विजयोदया—अदि विसमो संघारो यदि मध्ये व होल्य हेट्टा वा । मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण पायन्वं ॥ १९८५ ॥ आदौ मध्येवसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमभास्तुने ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमभास्तुने ॥

तिष्ठन्नेकं धैर्यमस्मिन्नेवम् । तपरि धैर्यमे गणिनो मरणं । मध्यवैषम्ये एलाचार्यस्य व्याधिः । ज्योतेष्वप्ये यती-
नो व्याधिः स्यात् ॥

यदि अस्य रैलाए लिखी जाय तो दोष है इसका विवेचन—

अर्थ—ऊपर, मध्यमें अथवा नीचे रेखाओंमें यदि नियमता होगी तो वह अनिष्टक्षक है ऊपरकी रेखायें विषम होगी तो गणीका-आचर्मका मरण अथवा व्याधि सूचित होता है. मध्यकी रेखा विषम होनेपर एलाचार्यमरण अथवा व्याधि सूचित होता है और नीचेकी रेखा विषम होनेपर सामान्य यतीका मरण अथवा व्याधिकी सूचना मिलती है.

जसो विसाए गामो तसो सीसं करित्तु सोवधिं ॥

उद्धुतरक्खणहुं नोसरिद्व्यं सरीरं तं ॥ १९८६ ॥

ग्रामस्याग्निमुलं कृत्वा शिरस्पाज्यं कलेवरम् ॥

उत्थानरक्षणं कर्तुं मस्तकं क्रियते तथा ॥ २०६३ ॥

पिण्डयोदया—जसो विसाए गामो वर्यां दिशि शिरःपाज्यं शिरः शिरः कलेवरम्, उत्था-
नरक्षणार्थं ग्रामादिसमन्निमुखस्य शिरोरज्ज्वा ॥

एकउरीरशिरःस्पावनदिक्षं निष्कमयति—

मूर्छरा—जसो विसाए वर्यां दिशि । सोवधिं सविधकं शिरःस्पायधिया । ग्रामवैषुल्येन शिरसि स्थापिते

कदाचिद्वृद्धकमुत्तिष्ठेवपीत्यभिमानं शिरः क्रियते । एवं च—

सद्व्यामश्च दिक्षं केन कृत्वा सोवधिकं शिरः ॥ तदुत्थाननियेधाय व्यवसष्टव्यं कलेवरम् ॥

अन्ये तु दक्षिणदक्षे पिण्डं स्थाप्यते इत्याह । तथा चोक्तम्—

ग्रामपराद्मुखवदनं संयमसाधनसमन्वितं कृत्वा ॥ उत्तिष्ठेद्व्यायं विसर्जनीयं वपुस्तस्य ॥

अर्थ—जिस दिशामें ग्राम होगा उस दिशामें मस्तक कर पिण्डोंके साथ उस शवको उस स्थान पर रखना चाहिये. ग्रामके समुल मस्तक करनेका अभिप्राय पूर्वमें लिख चुके हैं.

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करितु होज्ज सुरो ॥

सो वि विबुद्धदि दठ्ठण सवेहं सोवधिं सज्जो ॥ १९८७ ॥

विजयोदया—जो वि विराधिय गोऽपि वर्धन विनाश्याते कालगतसुरो भवेत् सोपि जानति सोपकरणं सवेहं ददत्तवा गगह संयत इति ॥

तत्र किमयं पिंडं स्थाप्यते इत्याह—

मूळत्वा—विबुद्धदि प्रागहं संयवोऽयं सम्पत्स्वविराधनामुगतमरणादीदृशीं गर्हि प्राप्ता इति बोधिं लभते ।

सज्जो तपिष्ठमाकनस्ववैददरैर्नानंतमेव ॥

‘विछिंकी स्थापना करेका जेईस यतावे है—

अर्थ—जिसने सम्पददर्शनकी विराचनाते मरण कर देवपर्याय पाया है. वह भी पिछीके साथ अपना देह देखकर मैं पूर्वभवेमं मुनि या ऐसा जान सकेंगा.

अतः भाष्टु रिक्खे जदि कालगदो सिंयं तु सच्च्वेसिं ॥

एको दु तमे खेत्ते दिक्खुखेत्ते मंति दुवे ॥ १९८८ ॥

सदभिसभरणा अहा सादा असलेस्स जिटु अवरवरा ॥

रोहिणिधिसाहपुणव्वसु चिउचरा भस्सिमा सेत्ता ॥ १९८९ ॥

शांतिर्भवति सर्वेषामृक्षेत्स्ये क्षपके मृते ॥

अध्यमे सृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥ २०६४ ॥

विजयोदया—अतः प्रागे रिक्खे अस्त्यक्षेत्रे यदि क्षपक कालं गतः सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनसत्वे यदि मृत. अन्येष्वेको मृतिमुपैति, मदस्त्यक्षेत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥

अपन्वमध्यमोऽकुटनक्षेत्रेषु क्षपकमरणे फलानि कथयति—

मूलात्वा—अतः प्रागे रिक्खे अपन्वे पंचवत्सहस्रवर्तिके सतिपिण्णपरण्यट्ठास्वात्थारोपणव्येष्ठाना यत्थानं मध्ये एक-सिमसधने तदधे वा क्षपके मृते सर्वेणा श्रेयः स्यात् ॥ तमे खेत्ते मध्यमे त्रिदन्त्युहर्तिके अग्निदीक्षुपिकामृगधितः पुण्यमपा-

पूर्वांशान्तुनीहस्तावित्रादुराधागुल्फपूर्वापादाश्रवणघनिष्ठापूर्वमाद्रपदारेवतीनां मन्त्रे एकस्मिन्नक्षत्रे सदंते वा मृते एकोऽन्योऽपि मुनिप्रियते । दिवदुल्लेसे उत्कृष्टे पंचपत्वारिंशन्मुहूर्तिके उत्तरफल्गुन्युत्तराषाढोत्तरभाद्रपुनर्वसुदोहिणीविशालानां मन्त्रे एकस्मिन्नक्षत्रे तदंते वा क्षपके मृते क्षान्त्यावपि मुनी प्रियेते ॥ उक्तं च—

शांतिर्भवति सर्वेषामुल्लेख्ये क्षपके मृते ॥ मन्त्रयो मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥

अर्थ—अल्प नक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होगा तो वह सबको सुखदायक होगा. मध्यमक्षत्रमें मरण होवे और एक मुनिका मरण होता है. महानक्षत्रपर मरण होनेसे दो मुनियोंका मरण होता है.

जो नक्षत्र पंचरा मुहूर्तके रहते हैं उनको जयन्यमुहूर्त कहते हैं. क्षतभिषक्, मरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, इन छह नक्षत्रोंमें किसी एक नक्षत्रपर अथवा उसके अक्षर यदि क्षपकका मरण होगा तो सर्व संयका क्षेम होता है. तीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको मध्यम नक्षत्र कहते हैं. अश्विनी, कृत्तिका, श्रुगाक्षीर, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वा, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा, और रेवती इन पंचरा नक्षत्रोंपर अथवा उसके अक्षरोंपर क्षपकका मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है. उत्कृष्ट पंचिचालीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं. उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी इन छह मुहूर्तमेंसे किसी मुहूर्तपर अथवा उसके अक्षरोंपर क्षपकका मरण होनेसे और दो मुनियोंका मरण होता है.

गणरक्षस्यं तस्मा तणमयपडिर्धिवयं सु कादूण ॥

एकं तु ममे खेप्ते दिक्दुखेप्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥

महन्मध्यममन्त्रे मृते क्षान्तिर्वधीयते ॥

यत्नतो गणरक्षार्थं जिगान्नाकरणाविभिः ॥ २०६५ ॥

विशयोद्देश—गणरक्षार्थं गणरक्षणार्थं तस्मान्गुणमयं प्रतिविषकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तम-
नक्षत्रे प्रतिदिपद्वयं ॥

मध्यमोत्कृष्टनक्षत्रक्षपकमारणोत्पाते संयक्षांविधानाभिधानां गाथान्नयमाह—
भूवारा—तस्मा एकद्विसरणादेतोः । दुवे दे देणमयमतिविषके । देज्ज दयात्संयक्षांस्वर्गं ।

अर्घं—भास्करे रक्षण हेतुसे मध्यमनक्षत्रमें तृणका एक श्रुतिर्विन्न कर रत्नना चाहिये तथा उत्तम नक्षत्रपर दोन तृणके श्रुतिर्विन्न करके अर्पण करना चाहिये.

श्रुतिर्विद्यमानमाचष्टे—

तदृष्टाणसावणं त्रिय तिमस्तुचो ठविय मडयपासम्मि ॥

त्रिदियवियपिय भिक्खू कुञ्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥

विज्योद्या—तद्वृणसावणं मृतपाश्वे तन्मतिपिणं स्वाय त्रिकमुबैर्नोपयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोर्वित इति एकापनेऽपे ज्ञातः । इदयोः श्रुतिर्विद्योर्वणे द्वितीयद्वतीयौ दत्ताविति त्रिः श्रावयेत् ॥

श्रुतिर्विद्यमानविधानमाह—तद्वृणसावणं तस्मान्भावनं कुर्यात् । मृतकपाश्वे तन्मतिर्विन्नं संस्थाप्य तस्य स्थानेऽप्यं द्वितीयो मयापितः । स चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति त्रिकमुबैर्नोपयेदित्यर्थः एष एकापने क्रमः । उक्तपिदो समर्पितः । मृतकपाश्वे एतं तन्मतिर्विन्नं स्थापयित्वा तस्यैकस्य स्थाने मया द्वितीयोऽप्यमर्पितः स चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति त्रीन्वा-एतुदीर्योदित्यर्थः । विदियतदियाणं द्वितीयद्वतीययोस्तत्स्थानभाजनं दद्या कुर्यात् ॥ मृतकपाश्वे द्वे तन्मतिर्विन्ने स्थापयित्वा तयोर्द्वयोः स्थाने द्वाद्विभौ मयापितौ तौ चिरं तिष्ठतां तपो वा कुरुतां इति त्रिकमुबैर्नोपयेत् इत्यर्थः । वक्तं च—

संस्थाप्य मृतकपाश्वे त्रिस्तत्स्थाने नमयमानमुक्तः ॥ इत्यप्येते द्वितीयो विधिरयमग्नय च क्रयः ॥

श्रुतिर्विद्यमर्थं कुणालभे प्रकारांतरेण शौचिकमौचदिसदि—

वक्तं च—

संस्थाप्य मृतकपाश्वे त्रिस्तत्स्थाने मयावमानमुक्तः ॥

इत्यप्येते द्वितीयो विधिरयमग्नय च क्रयः ॥

अर्घं—मृतकके पास श्रुतिर्विन्न स्थापन कर उसे मुनीके स्थानमें भेन यह यह दूसरा अर्पण किया है यह चित्रात यहाँ रहे अपवा तप करे ऐसा जोरसे तीन पाठ उच्चारण करना चाहिये. एकका अर्पण करनेसे यह क्रम बढ़ा है. मृतकके पास दोन तृणमतिर्विन्न स्थापन करके दोनोंके स्थानमें भेन ये दो अर्पण किये हैं ये यहाँ चित्रात रहे अपवा तप करे ऐसा जोरसे तीनबार बोलना चाहिये.

असदि तणे चुणोहिं च कंसरच्छरिद्रियादिबुणोहिं ॥
कादब्बोथ ककारो उवारिं हिहा यकारो से ॥ १९९२ ॥

विजयोदया—असदि मणे प्रतिविकरकार्यमसति एणे चूँकः पुणकेउरैवा भरमना इकाचूणैवां उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्तात् यकारं सुयात् काय इति लिखेदित्यर्थः ॥

प्रतिधियावं गुणालाभे प्रकारावरेण श्राविकमोपदिशति —

मूलारा—कंसर पुणकेसरैः । छार सस्मना । इद्रियादिबुणोहिं इद्रकापापणाविचूँकैः । संघशान्त्यधिना । अस्य अत्र क्षपके स्थावयिष्यसके पूर्ववत्प्राप्तुक्तधान्यचूर्णोदिना कं लिखित्वा तदुपरि क्षपकं स्थापयेत् इत्यर्थः । से तस्योपरि लिखितत्वं ककारस्याधस्तादो लिखितव्य इत्यर्थः । एतेन फ्लेति ह्यंजनद्वयं लेकवमान्गतम् । अर्हत्पूसादिना याव शान्तिरिति । यदुक्तम्—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते श्राविर्विधीयते । यत्ततो गजरक्षायं जिनाचोकरणाविभिः ॥

अर्थ—प्रतिधियं करनेके लिए यदि वृण नहीं होमा तो तंदुलचूर्ण, पुणके केसर, मस्म, अथवा इंदोका चूर्ण इसमेंसे जो कुछ प्राप्त होगा उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार लिखना चाहिये. अर्थात् ' काय ' ऐसा शब्द लिखना चाहिये. संघ श्राविके लिये ऐसा कार्य करना चाहिये. (क्षपकको स्थापन करनेके पूर्वमें प्राप्तुक्तधान्य चूर्णोदिकसे त्र लिखकर उसके ऊपर क्षपकको स्थापन करना चाहिये. क कारके नीचे यकार भी लिखना चाहिये, अर्हन्तकी पूजा समैरहसे भी श्रुति करते हैं ऐसा मूलाराधनामें उल्लेख है)

उवगाहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ॥
पडिचोधिच्चा सम्मं अप्पेदब्बं तयं तेसिं ॥ १९९३ ॥

विजयोदया—उवगाहिदं उवकरणं मूलकाशये यद्गृहीतमुपकरणं वलकाप्रादिकं यदस्थयांजां इत्या तत्रोपकरणं यत्प्रतिनिवर्तनीयं वलार्थिकं तत्पाडिहारिकमियुच्यते । तदुपयितव्यं तेषां यदस्थानां सम्यक्प्रतियोच्यम् ॥
उवकनयने यद्गृहीतयेभ्यो यास्त्वानीतमुपकरणं वलत्पर्येषविधिमाह—

मूलारा—तत्थ तस्मिन् वलकाप्रादौ पडिहरियं पाडिहारिकं व्याप्योऽत्र समर्पणायोम्यं इत्यर्थः । सम्मं यथा विधि-
किसा तस्वामिनां न मयति तथा तान्प्रविचोभ्य । वेसि वेभ्यः प्राध्वानीतं तेषां । उक्तं च—

यदुपार्जं तु वस्त्रादि नयनवसरे व्यसोः ॥ मत्स्वादिभ्यस्तद्वर्त्ये स्मात् कृत्वा सन्त्यक्प्रबोधनम् ॥
अर्थ—मृतकः शो निषीधिकाङ्गे मातुं ले जानेके समय जो कृत्वा वस्त्रकाष्ठान्तिक उपकरण गृहस्थसि याचना
करके साया गया था उसमें जो कुछ खौटकर देने योग्य होगा वह गृहस्थोको समझाकर देना चाहिये.

आराधणपत्तीयं काउसगं करोति तो संघो ॥

अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्त वसवीए ॥ १९९४ ॥

संपयतां नोऽपि विनां तारायमागवैपेति गणेन कार्यः ॥

यदुर्विसर्गः क्षुपकाधियासे एच्छा च तस्मिन्नाधिदेवतानाम् ॥ २०६६ ॥

विजयोद्या—आराधणपत्तीयं आराधनात्मकमित्येवं यथा स्यादिति संघः कायोस्त्वर्गं करोति, क्षपकस्य
पलतो अपिपुकोदपतो मति इच्छाकारः कार्यः युष्माकमिच्छया संघोऽत्रावितुमिच्छतीति ॥

आराधकप्रहस्तं संपत्ता एव नैतदुक्तमनुमानित—

मूखारा—आराधणपत्तीयं आराधनाय ॥ अस्माकमव्येवमागवता भवत्विति । अधिउत्ताए वदन्तिष्ठितदेवतानां ।

इच्छाकारं युष्माकमिच्छया संघोऽत्रावितुमिच्छतीत्यपिच्छितदेवता अनुमतिं कारयितुं उपरोधं च संघः करोतीति सन्त्यक्ः ।

अर्थ—चार आराधनाओंकी यासि हमको होवे ऐसी इच्छासे संपको एक कायोस्त्वर्ग करना चाहिये.
क्षपकसे यमविराडी जो आधिदानदेवता होगी उसमें संघ बैठना चाहते हैं ऐसा इच्छाकार करना चाहिये.

सगणत्ये कालगदे समणमसस्त्राड्यं च तद्वित्तं ॥

सत्त्वाइ परगणत्ये भयणिज्जे स्वमणकरणेपि ॥ १९९५ ॥

उपवाधिमनध्यायं कुर्वन्तु स्वगणस्थिताः ॥

अनध्यायं मृतेऽन्यस्मिन्नुपवासो विकल्प्यते ॥ २०६७ ॥

पिजयोद्या—सगणत्ये कालगदे आत्मीयगणस्येयं यतो कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्त-
स्मिन्निने । परगणत्ये कालं गते पठने उपवाधिमनध्यायं मात्तं । अन्ये ॥ पठति, च ज्ञात् परगणत्ये न स्वाध्यायः
कर्तव्यः परगणत्ये मृते उपवासकालीनं मात्तमिति तेषां ध्याय्या ।

आत्मीयसमुदाहरण्यतौ मते तस्मिन्दिने संवेतोपवासोऽन्वयजनं च कार्यं चत्वारण्यस्य ॥ मृतेऽन्वयजनमजयं
कार्यमुपवाससु विकल्प्य दत्तुमर्हन्माह—

मूढारा—असंख्यादय अव्ययजनं संवेतं कार्यं । ण ज्ञादि न पठति सांघः ।

अर्थ—अपने सणका पुनि मरण को प्राप्त होनेपर उपवास करना चाहिये. और उसदिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिये. परमणके पुनिका मृत्यु होनेपर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये. उपवास करना विकल्प्य है अर्थात् उपवास करे अथवा न करे.

एवं षड्विंशत्ता पुणो वि तदियदिबसे उवेक्खन्ति ॥

संपरस सुहविहारं तस्स गदी चेव णाहुंजे ॥ १९९६ ॥

गत्वा सुखविहाराय संचस्य विधिकोविदेः ॥

द्वितीयेऽङ्किं पृतीये वा द्रष्टव्यं तत्फलवरम् ॥ २०६८ ॥

विजयोवया—एवं षड्विंशत्ता उक्तेन क्रमेण क्षपकण्ठीरं प्रविशाम्य पुनस्तृतीये विबसे गत्वा पदंति,
संचस्य सुखविहारं तस्य न गतिं णाहुं ॥

पृतीयदिनछत्वनमाह—

मूढारा—षड्विंशत्ता क्षपकण्ठीरं प्रमुच्य । उवेकरंयति तत्र गत्वा वस्यति विधिना । सुहविहारं सुखाय वेक्षांतरे
गमनं । येन वद्वान्यमुनिश्चादिकं देवतेयमर्चोऽत्र च । णाहुंजे णाहुं । केचित्पुणोवीत्यन अपिशब्दमनुक्तसुखवार्धमभिनेत्य
द्वितीयदिनेऽपीति पतिपत्ताः ॥ तदुक्तम्—

मरया सुखविहाराय संचस्य विधिकोविदेः । द्वितीयेऽङ्किं पृतीये वा तद्द्रष्टव्यं फलेवरम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त क्रमसे क्षपकके शरीरको स्थापना कर पुनः तीसरे दिन वहां जाकर देखने हैं. अर्थात् संच-
का सुखसे विहार योगा या नहीं और उसको कोमती मति हुई है इसका परिज्ञान करनेकेलिये तीसरे दिन फिर वहां
पुनि जाते हैं.

जदिविचसे संचिट्टदि तमणालळं च अक्खदं मडयं ॥

तादिवरिसाणि सुभिक्खं खेमसिवं तमिह रज्जमि ॥ १९९७ ॥

यावन्तो धासरा गात्रयिवं तिष्ठत्यविश्वतम् ॥

शिवं तावन्ति वर्षाणि तत्र राज्ये विनिश्चितम् ॥ २०६९ ॥

विजयोदया—अदि दिवसे यावतो दिवसा. शृगालवृक्षादिभिरस्तृणमूलं च तन्मूलकं तादिवरिसाणि तावन्ति वर्षाणि सुमिश्र देशे दिप च तस्मिन् राज्ये ॥

तद्राज्यमुनिश्चारिकालेयसा निर्णयार्थं तावदाह—

मूला—नदि दिवसे तावन्ति दिनानि । अणालद्ध अस्तृष्टम् । शृगालादिभिरजोहितमिलन्ये । अक्खदं अक्खवर्गि-
दम् । अद्वटितमिलन्ये । यदि तावन्ति । लेय क्षेत्रे लब्धपरिरक्षणं । सिद्धं सुखं । तस्मिन् अक्षरकरणविषयभूते ।

अर्थ—जितने दिनतक धृमादिक यन्त्र पक्षियोंके ॥१॥ यह अक्षरकक्षरीर स्पर्शित नहीं होता और
अक्षर रंग उतने वर्षतक उस राज्यमें सुख रहेगा ऐसा समझना चाहिये.

जं वा विसमुबणीदं सरीरयं खगचतुष्पदगणेहिं ॥

खेमं सियं सुभिक्खं विहरिजो ते विसं संघो ॥ १९९८ ॥

आकृष्य भीयते यस्यां तद्वगं ध्यापवादिभिः ॥

विहर्तुं युर्यते तस्यां संप्रस्य ककुभि स्फुटम् ॥ २०७० ॥

विजयोदया—अं वा विसमुबणीदं वां वा विसमुपनीतं शरीरं पक्षिमिश्रतुष्पदैर्गो तां विसं संघो विहरेत् क्षेत्र-
विकं तत्र भावा ॥

संप्रविहरणोक्तिदिग्गिण्यार्थं तावदाह—

मूला—जं वा या च । देशमित्यादि क्षेत्रादिकं ज्ञात्वेत्यर्थः । वृक्षं च—

उपभीतं विसं या वा मूलकं शकुनादिभिः ॥

वा विसं विहरेत्संघो विज्ञाय कुलजालिकम् ॥

अर्थ—पृथी अथवा पृथुष्वद प्राणी त्रिम दिशामें उभय क्षपकता उत्तर ले गये होंगे उस दिशामें संघ
विदार करे उभय दिगमें के वरक धेयादेक समझना चाहिये—

अदि तरस उत्तमंगं दिस्सन्नि दंता च उवरीरिस्सिद्धरे ॥

कम्ममलविषयमुत्तो सिद्धिं पत्तोत्ति णादब्बो ॥ १९९९ ॥

यदि तरस शिरो दन्ता इष्येरन्नगमूर्धनि ॥

तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसोगतः ॥ २०७१ ॥

विनिर्गमोऽयम्—अदि तरस उत्तमंग यदि तस्य शिरो दन्ता या निश्चिरात्तरस्योपदि कर्ममलविषयमुक्ताः
निश्चिन्तनी भवन्तीति ज्ञेयः ॥

क्षपकविनिर्गमोऽयम्—

यथा—उत्तमंगं शिर । मगमादुगल एवमुक्ता सः । क्षपिक्वपस्य दिस्सन्नि दंता य उपरीति पाठे मन्यमानो

भाव्यते तथा पौन्यम्—

यदि तरस शिरो दंता इष्येरन्नगमूर्धनि ॥ तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौ गतः ॥

यन्नेत्यादि अत्र स्वयंनय विगमवादिभ्योऽन्तर्भाषि । सिद्धिं सर्वार्थसिद्धिमिति जयनंविदित्यप्ये व्याख्या । प्राकृत
दीक्षायां तु स्वमतविविक्तुर्दोः कर्ममलान् मुक्तिर्दोः । निदिदि निद्वयान् । पक्षोत्ति प्राप्त इति ।

अर्थ—क्षपकता मन्त्रक अथवा द्रुतर्पित परंतके शिखरपर दील पर्वणी तो यह क्षपक कर्ममलसे
वन्य होकर मुक्त होगया है ऐसा समझना चाहिये—

वैमाणिओ धलमदी समम्भि जो दिसि य वाणवैतरओ ॥

गुणगु भयणवासी एस गदी से मगासणे ॥ २००० ॥

वैमानिकःस्थलं यातो उपोनिष्को न्यंतरःसमम् ॥

गतां च भागनस्तस्य गतिरेषा समास्ततः ॥ २०७२ ॥

इदं विधानं जिननाथदेशितं ये कुर्वन्ते श्रद्धयते च भक्तितः ॥
आदाय कल्याणपरंपराभिमे प्रयाति निष्ठाभयनीतकल्मषाय ॥ २०७३ ॥

इति आराधकांगत्यागः ॥

विजयोद्या—वेमाणिओ थलगदो चैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थो उत्तमोने, समभूमिदेशो यदि इदयते ज्योतिष्को अतरो जात, गर्ते यदि दृश्यते भयनवासी देवो जात, एषा गतिस्तस्य सक्षेपेण निरूपिता । विजहणाति सन्-
पुं गते । विजहणा ॥

मूढारा—थलगदे वल्लप्रदेशमस्तके इदयमाने विमानवासी देवो जात इति ज्ञातव्यम् । समम्भि समभूमि-
देशवर्तते वाग बानोद्भव इति जयनदी । अन्ये तु वाणवितरको इत्यनेन ज्वंरत्मानमाहुः । तदुक्तम्—

वेमानिक स्वलगते ज्योतिष्को ज्वंरत्था समभागे ॥

गर्ते भयनदेवो गतिरेषा सत्य संक्षेपात् ॥

आराधकगत्यागः । सूत्रतः ४० अंकतः ३७ ॥

अर्थ—क्षपकना मस्तक उच्च स्थलमें दीसेगा तो वह वैमानिक हुआ है ऐसा समझना चाहिये. समभूमि-
में यदि दीसेगा तो ज्योतिष्क अथवा ज्वंरत्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये मझे यदि दीसेगा तो भयनवासी
हुआ है ऐसा मानना चाहिये. इस प्रकार क्षपकके गतिना संक्षेपते वर्णन किया है. विजहणा सूत्रपदका निरूपण
समाप्त हुआ.

आराधकस्तपनमुत्तरं ते सृता भगवंता—

ते सृता भयवंता आहञ्चइदृण संघमज्झमि ॥

आराधणापढायं चउपयारा हिदा जेहि ॥ २००१ ॥

भगवंतोऽत्र ते श्राराञ्चतुर्दाराधनां मुदा ॥

संघमच्चे प्रतिज्ञाय निर्विघ्नां साधयन्ति ये ॥ २०७४ ॥

पितृपोरणा—ते सृता भगवंत. आहञ्चरूप प्रतिज्ञा कृत्या संघमच्चे चतुष्पकाराधना एताका धैरायुदीप्ता ॥
६६ सदीपारभक्ष्यत्वाख्यानं प्रवंचेन व्याख्याय साधनमाराधकादीन्प्रवंचेन बुद्धियुगाराधकस्तवर्तनं गाथात्रयेण

विपत्तै—

मूसाय—आरुण्यदृष्ट्य प्रतिज्ञा कृता । दित्त गृहीता ॥
अये—ये धुषक धूर और भगवान् अर्थात् पूज्य हे विन्हीने संप्रभे प्रतिज्ञा कर आराधना पताका
प्रसन्न की थी.

ते घण्णा ते णाणी लब्धो लभो य तेहिं सज्जेहिं ॥

आराधणा भगवद्दी पडिक्कणा जेहिं संपुण्णा ॥ २००२ ॥

ते पन्था ज्ञानिनो पीरा लब्धनिःशेषचित्तिताः ॥

धैरेयपरायणा देवी संपूर्णा स्वजडीकृता ॥ २०७५ ॥

वित्तलोपना—ते घण्णा पुण्ययोगः ते ज्ञानिनः ते मायलभाः सर्वेभ्यो धैर्यापना भगवती संपूर्णा प्रक्तिपन्ना ॥
मूसाय—सदृश्य ॥

अये—ये आराधक पुण्यरंभ और ज्ञानी समस्तने चाहिये विन्हीने उच्चम पुण्य देनचाली भगवती आरा-
पताका स्वीकार किया था. इन आराधकोनेही वास्तविक जी माप्त करते योग्य था वह प्राप्त किया है.

किं नाम तेहिं लोणे महाणुभायेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।

आराधणा भगवद्दी सबला आराधिदा जेहिं ॥ २००३ ॥

किं न तैरुपने प्राप्तं पदनीये महोदयैः ॥

लीलपरायणा प्राप्ता धैरेया सिद्धिसंफली ॥ २०७६ ॥

वित्तलोपना—किं नाम जेहिं लोभ किंताम तेजोके महापुनर्निष्ठातं धैर्यापिता सकला आराधना भगवती ॥
मूसाय—सदृश्य ॥

अये—इन महाभागोंने संपूर्ण भगवता आराधना की असाधना की है. अतः इन्हीने कोनसा अत्राप्त पदार्थ
नही प्राप्न किया है ? अर्थात् मुने लोभोत्तर पदार्थ उनको प्राप्त हुए हैं ऐसा समझना चाहिये.

ते वि य महाणुभावा घण्णा जेहिं च तस्स खवयरस ॥

सन्वादरतत्तीए उवविहिदाराघणा सयला ॥ २००४ ॥

धन्या महानुभावास्ते भक्तितः क्षपकस्य येः ॥

द्वौकिताराधना पूर्णा कुर्वङ्किः परमादरम् ॥ २००७ ॥

निजयोद्या—ते वि य महाणुभावा सेवि च महाभामा धन्या येस्मया तस्य क्षपकस्य सर्वोदरेण शक्त्या च सक-
लाराधना उपविहिता ॥

आरापकसहायानभिष्टौति—

मूलाए—ते वि य क्षपकस्य महाष्टुभाक्त्वधन्यरयोः कर्मो विस्मयः कर्तव्य इत्यपि चेलनेन निरूप्यते । उच-
विहिता संपादिता ॥

अर्थ—ये निर्यापक भी धन्य है महापुण्यमान हैं किन्तुनि चदे आदरसे और पूर्ण प्रयत्नसे क्षापकको
मन आराधनाको पूर्ण प्राप्त होनेमें अच्छी सहायता दी है.

निर्यापकानं फलमाचष्टे—

जो उवविघेदि सन्वादेरेण आराधणं खु अणयरस ।

संपब्जदि णिव्विग्गया सयला आरावणा तस्स ॥ २००५ ॥

परस्य दौकित्ता येन धन्यस्साराधनाङ्गिनः ॥

निर्विन्ना तस्म सा पूर्णा सुख संपद्यते मृतौ ॥ २००८ ॥

पित्रयेन्द्रया—उवविघेदि यो दौकपति सर्वोदरेण अन्यस्याप्यर्णा तस्य आराधना सकला विविन्ना संपद्यते ॥
आरापकदुःश्रुयफलमादौक्यनुत्कर्षं समर्थयते—

मूलाए—उवविघेदि दौकयति ॥

निर्यापकको क्या फल मिलता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—हो पूर्ण आदरभावसे जन्मों को संपूर्ण आराधनाओंकी प्राप्ति कर देते हैं- उनको सर्व आराधनाओंकी निर्विघ्न प्राप्ति होती है.

ये क्षपकप्रेक्षणाय यांति तानपि स्तोति—

ते वि कद तथा घण्णा य हुंति ओ पावकम्ममलहरणे ।

०ह्रायंति खययतित्ये सव्यादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥

स्मांति क्षपकत्तीर्थे ये कर्मकर्मसुदने ॥

पापप्रेक्षन् सुच्यन्ते धन्यास्तपि शरीरिणः ॥ २००७ ॥

विजयोदया—ते वि कद तथा तेपि कृतार्थः धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकत्तीर्थे पापकर्मवक्ष्यादरूपे सर्वाङ्गराभियुक्ताः

स्मांति ॥

क्षपकप्रेक्षणयात्रिकादिव कथ्यते—

मुक्षारा—ते वि नि पुनर्नियोगा इत्यभिप्रेक्षदेनोच्यते । यदायन्ति स्तत्वि । क्षपकप्रेक्षणप्राप्त्यादिवाः स्वात्मानोपपन्वीत्यर्थः । तदवयवित्थं क्षपकत्तीर्थे संसारसरिदुष्काराणि निमित्तत्वात् ॥

जो क्षपकके दर्शन करनेके लिये जाते हैं उनकी स्तुति—

अर्थ—जो पूर्ण संपूर्ण पापरूपी मलहरण करनेमें समर्थ ऐसे क्षपकरूपी तीर्थ में अतिशय भक्तीसे स्नान करते हैं वे क्षपक पदना करनेवाले मध्यजीव कृतार्थ और धन्य हैं.

क्षपकस्य तीर्थं ध्याये—

गिरिगिर्यादिपदेसा तित्याणि तवोषणेहि जदि उसिदा ।

तित्यं कथं ण हुज्जो तवगुणससी सयं खवड ॥ २००७ ॥

पर्यतादीनि तीर्थानि सेविताग्नि तपोबनेः ॥

जायंते यदि सत्तीर्थं कथं न क्षपकस्तदा ॥ २००८ ॥

विजयोदया—गिरिणिदयारिपदेता गिरितलाद्विपदेता यदि तपोवनैरुपितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षणस्तनोपुणरासिः ॥

क्षपकस्य तीर्थतो मुल्लवयोपपादयति—

मूढारा—उसिदा आभिताः । न होओ न भवेत् । सयं परनिरपेक्षवया ॥

क्षपत क्यों तीर्थं माना जाता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पर्यट, नदी चरोह प्रदेश जहां तपोवन मुनिओने निवास किया था वे भी यदि तीर्थं है. तो तपस्वी और मुनोका राशि स्वरूप क्षपक क्यों न तीर्थ माना जायगा. अर्थात् क्षपकको तो अवश्य तीर्थं समझना चाहिये.

पुण्यरिसीणं वडिमाओ वंदमाणस्त होइ जदि पुणं ॥

खययस्तं वंदओ किह पुणं विडलं न पाविशज ॥ २००८ ॥

वंदमानोऽश्रुते पुणं योगिनां प्रतिमा यदि ॥

भक्तितो न तपोराशिस्तदानीं क्षपकः कथम् ॥ २००९ ॥

विजयोदया—पुण्यरिसीणं पदिमाट पूर्वतं करीष्यं प्रतिमा वंदमानस्य यदि पुण्यं भवति रूपके वंदनोद्यतः कथं निपुलं पुणं न प्राप्नुयात् ॥

क्षपकयंदारोर्षिपुलपुण्यतामशुपपादयति—

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—प्राचीनमुनिओं के प्रतिमाओंकी वंदना करने वालोंको यदि पुण्य प्राप्त होता है तो क्षपककी वंदना करने वाले क्यों न पुण्यलाभ होगा! अर्थात् क्षपकवंदनसे अवश्य पुण्यप्राप्ति होती है.

जो कोलमदि आराधयं सदा तिव्वमचिसंजुचो ॥

संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२०१०॥

सेव्यते क्षपको येन शक्तितो भक्तिः सदा ॥
तस्याप्याराधना देवी प्रत्यक्षा जायते मृतौ ॥ २०८२ ॥
विजयोद्या—जो मोलमदि आराधनं यस्सेवते आराधकं तथा तीययकिंसयुक्तः, संपद्यते निर्विघ्ना तस्या-
प्याराधना सकला ॥

क्षपकोचाम्निफलमनुश्रुति -

मन्त्रारा—ओलगाइ सेवते ॥

अर्थ—जो भग्य जीव क्षपक की उपासना करता है. अंतःकरण में तीव्रभक्ति धारण करता है. उसको भी
संपूर्ण आराधनाए प्राप्त होती हैं.

सविचारभक्तबोसरणेभवमुववण्णिदं सवित्थारं ॥

अविचारभक्तपञ्चवस्त्राणं पुत्तो परं बुच्छं ॥ २०१० ॥

भक्तत्यागः सबाचीरो विस्तरणेति चर्णितः ॥

अधुना तमवीचारं वर्णयामि समासतः ॥ २०८३ ॥

भक्तत्यागः ।

विजयोद्या—सविचारभक्तबोसरणं सविचारभक्तप्रत्याख्यानेभवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्याने
भक्तः परं प्रवक्ष्यामि ॥

प्रकृतीपसंशारपुरःसरं अवीचारभक्तप्रत्याख्याने व्याख्यातुमुपक्षिपति—
नूतार—पुत्तो इतः । इति सविचारभक्तप्रत्याख्यातव्याख्याने समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार सविचार भक्तप्रत्याख्यान का हमने सविस्तर वर्णन किया है. ॥११॥ यहाँसे अवीचार

भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करते हैं.

तस्य अविचारभक्तपट्टण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ॥
अपरक्कम्मस मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

भक्तत्यागोस्त्यविचारो निश्चेष्टस्य दुस्तरः ॥

सहसोपस्थितेन मृत्योर्वा योगिनो वीर्यधारिणः ॥ २०८४ ॥

विज्ञयोद्वा—अविचारभक्तपदिष्टा अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्तमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य फाले असति ॥

एष अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य स्वामिसमवर्णिगैर्योग्यमाह—

मूढारा—तस्य गदचने प्रकृतो । आगळे सहसोपस्थिते । अपराक्तमस्य निश्चेष्टस्य । फालमिव असंपुष्टमिव ।

सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य फालेऽसति । लोकवीथिवक्त्रे सवीत्यर्थः । उक्तं य—

भक्त्यागो ह्यविचारो मरणे सहसागते ॥ भक्त्युत्साहहीनस्य यजेः फाले बृहसीयसि ॥

अर्थ—सविचारभक्त प्रत्याख्यानकाल नही होने पर अर्थात् अकस्मात् मरण उपस्थित होनेपर असमर्थ भूनि हो अविचारभक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है—

तस्य पटनं गिरुद्धं गिरुद्धतरयं तद्वा ह्रवे चिदियं ।

तदियं परमगिरुद्धं एवं त्रिविधं अवीचारं ॥ २०१२ ॥

गिरुद्धं प्रथमं तत्र गिरुद्धतरमूर्चिरे ॥

द्वितीयं तु तृतीयं च गिरुद्धतममुत्तमाः ॥ २०८५ ॥

विज्ञयोद्वा—तस्य पटनं गिरुद्धं तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं गिरुद्धं, द्वितीयं गिरुद्धतरकं, तृतीयं परम-गिरुद्धं एवं त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥

अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य गिरुद्धगिरुद्धतरपरमगिरुद्धमेवोपविध्यमुद्दिशति—

मूलारा—तस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥

अर्थ—अविचार भक्त प्रत्याख्यानके गिरुद्ध, गिरुद्धतर और परमगिरुद्ध ऐसे तीन भेद हैं—

गिरुद्धमेवंमूलस्य भवतीत्याद्ये—

तस्स गिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो सममिमूढो ॥

जंघावल्परिहीणो परगणगमणमिव ण समत्यो ॥ २०१३ ॥

निरुद्धं कथितं तस्य रोगातंकादिपीडितं ॥

जंघावलचिह्नो यः परसंयममाश्रमः ॥ २०८६ ॥

विजयोदया—तस्स निरुद्धं भणितं तस्य निरुद्धमुक्तं रोगेण वातंकेन ॥ यस्सममिमृतः जंघावलपरिचीनो
या पराणमनासमर्थो यः ॥

निरुद्धं माभापचकेन ब्वाचये—

मूला—॥ सप्तको रोगेणातंकेन वा संसर्गमिमं याजंघावलपरिचीनतया वा पराणं गंतुमशक्त इत्यर्थः ॥

निरुद्धमक्त प्रत्याख्याय किमको होता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—छोटे रोग अथवा बड़े रोगसे पीडित होनेपर तथा वैरोह चलने का सामर्थ्य जिसको नहीं है, जो
पराणमें जाने में असमर्थ है वह मुनि निरुद्धअविचारभक्तप्रत्याख्यान करते हैं.

जाघय बलविरियं सं सो विहरदि ताव निष्पडीयारो ॥

पच्छा विहरदि षडिजगिज्जंतो तेण समणेण ॥ २०१४ ॥

यायदस्ति बलं वीर्यं स्वयं तावत्प्रयत्नते ॥

क्रियमाणोपकारस्तु तदभाये गणेन सः ॥ २०८७ ॥

विजयोदया—जाघय बलविरियं यायदलपीर्यं चास्ति । से तस्य । सो विहरति स तावद्वशुषे प्रयत्नते निष्पटीकारः
यत्ता शक्तिस्तीमन्पूना तथा पच्छादिहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकारः ॥

निरुद्धध्यामिमः प्रवृत्तौ परामर्शेष्टावयेष्टावसरो निर्विसति—

मूला—पच्छा अतीव अल्पियुक्तानां । षडिजगिज्जंतो उपक्रियमाणः ।

अर्थ—जबतक देहमें बल, वीर्यं या उक्तक यह गुणोंमें प्रवृत्ति करता है जब शक्ति तीव्रतासे कम होती
जाती है तब स्वगणसे उपरुह होता हुआ अपने रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है. अर्थात् अत्यंत अशक्त होनेपर स्वगण
मुनि उनकी सेवा करते हैं.

इय सणिरुद्धमरणं सणियं अणिहारिमं अवीचारं ॥
 सो चेव जघाजोगं पुब्बुत्तविधी हवदि तस्स ॥ २०१५ ॥
 सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितारित्तम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥ २०८८ ॥

नित्योदया—इय सणिरुद्धमरणं यण्णिदं एवं सन्निरुद्धमरणं अणितं, अंशवलयपरिहीनतया उदाभ्यभिमेन
 पा स्थित्तिनये निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं अणिहारिमं सविचारमकप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परि-
 त्यागादीनं अनित्यविहारदिगिप्रिविचारणाभावात्तुोचारं । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रत्ययातीचारं उक्तवा
 निभागद्वारेण प्रत्यतिक्रमः कृतमयाधित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निरुद्धाकारो विहरति, यदा हीनसर्वाचष्टकदा परै-
 रनुपशमानो विहरति ॥

मूढारा—सन्निरुद्धमरणं जघाजोगपरिहीनतया । योगांशकाभिमेन वा स्वगणे सन्निरुद्धस्य प्रतिबद्धमरण-
 गमनासमर्थस्य मरणं । अणिहारिमं सविचारमकप्रत्याख्यानोक्तमरणपरित्यागाभावात् । अवीचारं अनियताविहारादिविचा-
 रणातिरहात् । सो इत्यादि । स्वगण एव गणितमरणमूले प्रक्रमयावविचारमालोक्य निवागद्वारेण कृतप्रतिक्रममायश्चित्तो
 पावद्वीर्यमस्ति तावन्निरुद्धाकारो विहरति । सर्ववेष्टापरिक्षये पुनः परैरनुपशमान इत्येवोक्त्यो यथोक्तो विधिः पूर्वोक्त
 एतत्पर्यः ।

अर्थ—इह प्रकार सन्निरुद्ध मरण का स्वरूप कहा है. पैरोंका सामर्थ्य कम होनेसे अथवा रोगपीडित
 होनेसे अपने गणमें ही जिसको रहना पड़ता है अन्य गणमें जो नहीं जा सकता है ऐसे मुनिको सन्निरुद्ध मुनि
 करते हैं. ऐसे मुनिके मरणको सन्निरुद्ध मरण कहते हैं. सविचारमकके प्रत्याख्यानमें स्वगणका परित्याग कर
 परागणमें जानेका विधि यतलाया है. वह इसमें नहीं है इधलिये इसको 'अणिहारिम' अनियत विहा-
 रादि विधि इसमें नहीं है इस लिये इसको अवीचार कहते हैं. यह मुनि स्वगणमें ही रहकर आचार्यके चरणमूलमें
 दीर्घासे आततक हुए अपराधों का आलोचना करता है. निंदा और गद्गोल करता है. प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त
 लेकर अततक सामर्थ्य है तबतक दूसरोंके सहायक पिना रत्नत्रयाचरणमें तत्पर रहता है- जब प्रवृत्ति करने में विल-
 कुल असमर्थ होता है तब अन्यमुनियोंसे श्रृङ्गा साहाय्य लेकर रत्नत्रयमें तत्पर होता है.

दुविधं तं वि अणीहारिणं पगासं च अप्पगासं च ॥
जणणादं च पगासं इदं च जणेण अणणादं ॥ २०१३ ॥
प्रकाशमप्रकाशं च स्वगणस्थमिति द्विधा ॥
जनज्ञाते मतं पूर्वं जनाज्ञातं परं पुनः ॥ २०८९ ॥

विजयोदया—दुविधं तं वि अणीहारिणं द्विविधं तदपि जणीहारसंज्ञितं भक्तप्रत्याख्यातं प्रकाशरूपमप्रकाशा-
रूपमिति जनेन ज्ञातं प्रकाशरूपमित्यदप्रकाशात्मकं ॥

निरुद्धावीचारमक्तप्रत्याख्यानस्य प्रकाशप्रकाशभेदमद्वैतविषयमभिपद्यते—

मुढारा—अणीहारिणं अनिहारसंज्ञं । स्वगणनिर्गमरहितत्वात् । अत एवान्वये स्वगणस्थमित्यसौदमध्यधुः । तदुक्तम्—

सन्नित्वद्वयबीचारं स्वगणस्थमितीरिषम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वैः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

निरुद्धावीचारमक्तप्रत्याख्यानके प्रकाश और अप्रकाश ऐसे दो भेद हैं. इनका आचार्य स्वरूप कहते हैं.
अर्थ—अनिहार नामक इस भक्त प्रत्याख्यानके प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप ऐसे दो भेद हैं. जो जनोंके
जाना गया है उसको प्रकाशरूप कहते हैं और जो नहीं जाना गया है उसको अप्रकाशरूप कहते हैं.

स्ववयस विससारं सिंचं कालं पडुच्च सज्जनं वा ॥

अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥ २०१७ ॥

द्रष्टव्यं क्षेत्रं यत् कालं कालं ज्ञात्वा क्षपकमानसं ॥

अप्रकाशं मतं हेतावन्यत्रापि सतीदृशे ॥ २०९० ॥

इति निरुद्धं

विजयोदया—स्ववयसस्व विससारं क्षपकस्य वृद्धिः, यत्, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे
कारणे जाते अप्रकाशमक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः शुद्धविषयीकृतः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अविविक्तो, वयवो
वा यदि परित्यागविभ्रं भवेति न प्रकाशः कार्यः । निरुद्धं गदं ॥

अप्रकाशाय कारणान्वाह—

मूलात्—चित्तसारं मनोबलं । पदञ्च प्रतीत्य । स्वयं चण्डुलोकं । अल्पयासं यदि क्षपकः क्षुदादिस्त्रीपद्मासहो, पसाविद्यो अविचित्र्य, कालो वातिरुक्तः, वांरवा वा संन्यासं विप्रयति तदा न प्रकाशः कर्णोऽस्मिन्नित्यप्रकाशकं । निरुद्धम् ।

अर्थ—क्षपकत्वा मनोबल, अर्थात् धैर्य, श्रेत्र, काल, उसके शोधव अथवा अन्य भी कारण का विचार कर क्षपक के निरुद्धावीचारभक्त प्रख्यानको प्रगट करते हैं अथवा अप्रगट करते हैं, यदि क्षपक क्षुधादि परीपहोते परीहित होगा, अथवा चसतिका एकान्त स्थानमें न होगी, यदि काल समय अति रूध्र होगा, यदि वधुगुण इस परित्याग विधोमें बापा करनेवाले होंगे तो यह प्रत्याख्यान-मरण प्रकाशित नहीं करना चाहिये.

निरुद्धतरंगे व्यावृत्ते—

गालगिबगधमहिसगयरिछ पडिणीय सेण मेच्छेहिं ॥
मुच्छाविसूचियादीहिं होउन सज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥

जालानलविपद्यालसन्निपातविसूचिकाः ॥

हरति जीवितं साधोर्मानूखा इव तामसम् ॥ २०१९ ॥

पित्तयेवया—गालगिबगधमहिम ध्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, मदिरेण, गवेन, कक्षेण, शत्रुणा, स्तेभेन, न्लेच्छेन, मृदुण्या, विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्मेयेत् ।

अथ निरुद्धतरा वीपारभक्तप्रत्याख्यानं गावाचतुष्टयेन व्यापितयामुदाशवाधुरपरवर्तिन्याः सद्यो व्यापत्तेः संभयनमिषत्ते—

मूलात्—नाल सर्पाः । वडिणीय शत्रुः । विसूचियादीहिं विसूचिक्या दंढकालशकृतीवमूखादिभिश्च । यावन्ती सद्यो मरणकारणवेदना, मरणं वा ।

निरुद्धतर विधीका स्वरूप कर्तते हैं—

अर्थ—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैसा, दायी, रौछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूच्छाँ, ताँत्र शूलरोम इत्यादिते उत्क्रांत मरण का प्रसंग प्राप्त होता है.

जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरिय च जाव कायस्मि ॥
 तिज्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१९ ॥
 यावन्न खीयते वाणी यावदिद्वियपाटवम् ॥
 यावद्वैयं बलं चेद्वा देयादेयविबेचनम् ॥ २०२० ॥

विजयोदया—अल ण थाया पिप्पदि यदि यावद्वाता विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया देवल-
 या पावयित्तं न व्याप्तिम भवति तावत् ॥

वःखणे सुदुधुणा यत्करणीयं तदुपविसति—

मूलारा—पित्तपि विनश्यति । विबिलच व्याप्तिमम् ।

अर्थ—अतक पचन सुदले निकलता है अतक शरीरमें बल और वीर्य है और अतक शरीरमें होनेवाली
 तीव्र वेदनासे चित्त आकुलित तहों हुआ है अतक—

णच्चा संवट्ठिजं तमाउगं सिग्येमेव तो भिक्खू ॥
 गणियादीणं सणिहिदाणं आलोचाए सम्मं ॥ २०२० ॥
 ताथद्वेदनया ज्ञात्वा विहयमाणं स्वज्जिवित्तम् ॥
 आलोचनां दुरो कृत्वा धीरा मुचन्ति विमहम् ॥ २०२१ ॥

विजयोदया—णच्चा सवट्ठिजं शालोपसन्निध्यमाणमाहुः शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यदीनां सखिद्विदानामा-
 लोचनां सवट्ठिजं सनन्धाराधनत्वादा परिणतं व्युत्पन्नं वसति, संस्तत्माद्वारमुपाधिं शरीरं परिचारकान्, बलवीर्यं
 हाने परगणमननसमर्थं । निरुद्धं प्रवेदा प्रत्येकं निरुद्धं इति निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥

मूलारा—संवट्ठिजं अतकसन्निध्यमाणं । धीमेवेदनाया अन्वमुद्धर्तमानभोग्यदत्ताया प्रवेसयान् ॥ तो ततः ।

अर्थ—अतक अपना आयुष्य प्रतिसमयमें खीण हो रहा है ऐसा जानकर आचार्यदिकोंके पास शीघ्र
 अपने सपूर्ण पूर्व दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये. स्तवयाराधनामें तत्पर होकर वसति, संस्तर आहार, उपधि,
 आपुरप्रवर्तनद्वितोः आपार्यादीनामर्थे ॥

द्वारीत परिचारक इन सयोगों का त्याग करना चाहिये. अर्थात् इनके ऊपरसे समत्व हटाना चाहिये. तत्पर्य-जब बल और वीर्यकी हानि होती है तब परगणमें गमन करनेमें असमर्थ मानिको निरुद्ध कहते हैं. इससे भी जो अधिक असमर्थ होता है उनको निरुद्धतर कहते हैं.

एवं निरुद्धतरं विदियं अणिहारिमं अवीचारं ॥

सो चैव जघाजोगो पुब्बुत्तविबी हवदि तस्स ॥ २०२१ ॥

स्वगणस्थमिति माज्ञेनिरुद्धतरमीरितम् ॥

अवशयो चिधिस्सस्स ज्ञेयः पुंश्च दक्षितः ॥ २०२२ ॥

इति निरुद्धतरम् ।

विजयोदया—स्पर्धार्थगाथा ॥ निरुद्धतर ॥

मूढारा—निरुद्धतरं तस्यो मरणकारणोबनिपातेन सुखतं बलवीर्यद्वानेः परगणगमनेऽसमर्थान्निरुद्धात्मक्येणासमर्थो निरुद्धतरस्तयोगान्मरणमपि निरुद्धतरं ततः संज्ञायाम् क ॥ निरुद्धतरम् ॥

अर्थ—उत्काल आयुका नाश करनेके कारण प्राण होनेपर बल और वीर्यकी अतिशय हानि जब होती है तब परगणमें जानेके लिये जो सुनि अर्थात् असमर्थ होता है. अब ऐसे साधुके मरणकोभी आचार्य निरुद्धतरक मरण कहते हैं. निरुद्धतर मरणका वर्णन हुआ.

वालादिपुंदिह जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ॥

तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥ २०२२ ॥

यदा संक्षिप्यते वाणी व्याधिब्यालीविपादिभिः ॥

तदा शुद्धयिः साधोर्निरुद्धतममिष्यते ॥ २०२५ ॥

विजयोदया—वालादिपुंदि व्याकादिभिः पूर्वोक्तैः यदोषहतस्य चाग्निनष्टा यदा परमनिरुद्धमरणं चाग्निरोधोऽत्र परमगतेनेष्यते ॥

अथ परमानिरुद्धावीचारभक्तमहात्म्यार्त्तं गाथासप्तकेन व्याख्यास्यन् पूर्वं गायानचेन तद्वक्ष्यसि—
मुञ्जारा—यत्नादिपदि व्याख्यादिभिः । पूर्वोक्तेरुपद्रुतस्य असिखत्वा विनष्टा । परमनिरुद्धं परमेण वागिनरोधेन

निरुध्यस्य साप्यत्यतपरमनिरुद्धमित्याख्यायते । उक्तं च—

यदा संश्लिष्यते वणी ज्यापिव्याख्याविषादिभिः ॥ तदा शुद्धविषयसाधोविरुद्धतरमिष्यते ॥

अर्थ—सर्वे व्याघ्रादिदे वीदित्तु हुए साधुके अंगमें विषका संचार होकर उसका मापण भी खन्न बंद होता है. तम परमनिरुद्ध नामका मरण प्राप्त होता है. वचननिरोध होनेपर परमनिरोध माना जाता है.

णत्वा संवद्विज्जं तमाउयं सिग्धमेव तो भिक्खू ॥

अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगे सिग्धमालोचे ॥ २०२३ ॥

हरंती जीविनं वृद्ध्वा घेदनामनिचारणाय ॥

जिन्मादीनां पुरो धरिः करोम्यालोचनां लज्जु ॥ २०२४ ॥

पिजयोदया—णत्वा संवद्विज्जं तं आउयं साधोवसंविद्यमाणमायुः अहंतां सिद्धतां साधूनां चांसिके दीप्य
मालोचनाः कुपय ॥

मुञ्जारा—अंतिगे सन्निधौ । मयस्वर्द्धादीन्सन्निहितान्कुलेत्यर्थः । आलोचे आलोचनां कुपय ।

अर्थ—उत्त समय वह मुनि अपना आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है ऐसा जानकर मनमें अहंता और
सिद्धादि परमदुर्जोको धारण कर शीघ्र आलोचना करता है.

आराधणाविधी जो पुण्यं उक्त्वणिदो सवित्यारो ॥

सो चैव जुज्जमाणो एत्थ विही होवि णादब्बो ॥ २०२४ ॥

आराधनाविधिः पूर्वं कथितो विस्तरेण यः ॥

अत्रापि पुण्यमानोऽसौ द्रष्टव्यः श्रुतपारंगैः ॥ २०२५ ॥

पिजयोदया—आराधणाविधी आराधनाविधेयः पूर्वं विस्तरे व्यापणितः स एवात्रापि पुण्यमानो नातव्यः ॥

मन्त्रा—जुजमानो प्रयुग्मानः । सहसा मरणराधनाया चैकस्यादां कामयाकरोवि—
अर्थ—आराधना विधीया वो पूर्वमे सविस्तर वर्णन किया है उसीकीही इस मरणमे योजना करनी चाहिये

एवं आशुक्लमरणे वि सिद्ध्यन्ति केहं घुदकम्मा ॥

आराधयित्तु केहं देवा वेमाणिया होति ॥ २०२५ ॥

आराध्याराधनोदधीं आशुक्लं मृतावपि ॥

केचित्सिच्यन्ति आयन्ते केचिद्वैमानिकाः सुराः ॥ २०९८ ॥

यिज्योदया—एवं आशुक्लमरणे वि एवं सहसा मरणेऽपि सिध्यन्ति विधुतकर्मसंवलयः केचिद्वाराभ्य धैमा-
निका देवा भवन्ति ॥

मन्त्रा—एवं अनेन विधिना । चतुर्विधाराधनादुपक्रम्य । आशुक्ले मरणे श्रद्धेति प्राणत्यागे । घुदकमे परी-
कृतं सारवसा निरामकर्मसंवलयः संतः पंडितपंडितमरणेन सिद्धिं गच्छन्तीत्यर्थः । आराधयन् भक्तप्रत्याख्यानेन मरणेनैव
चतुर्विधाराधनानाराध्य मृताः संतः ॥

अर्थ—इस प्रकार चार प्रकारकी आराधनाका आरंभ करनेपर उपर्युक्त कारणोंसे यदि क्षीय प्राणत्यागाका
ममय प्राप्त हुआ तो कोई साधु संपूर्ण कर्मोंका नाश करके पंडितमरणसे मोक्षकी प्राप्ति कर लेवे है और कोई
मुनि इन आराधनाओंकी आराधना कर वैमानिक देव होते हैं।

आराधणाए तस्य इ कालस्स बहुत्तणं ण तु पमाणं ॥

बहवो सुहुत्तमत्ता संसारमदृणवं तिण्णा ॥ २०२६ ॥

प्रमाणं कालवाहुत्थमस्य नाराधनाविधेः ॥

तीर्णां मुहूर्तमात्रेण बहवो भवनीरधिम ॥ २०९९ ॥

यिज्योदया—कथमनेन फालेन विधुतिर्मान्यत्यादेका न कार्यति धदति । आराधणाए तस्य तु तस्यामा-
राधनायां कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं । बहवो मुहूर्तमात्रेण संसारमदृणवं तीर्णाः ॥

कथमस्य न भवतु निवृत्तिः साधयेत्यत्र—
मुनरा—नरस वर्याः । परार्णं मायकलमं । मुहुषुच्युतं मुहूर्तमापनायां रिक्ताः ।

अर्थ—इतने अल्पकालमें छेना मोछ प्राप्त होता है ऐसी दुहा नही करना चाहिये. अर्थात् आराधनाका माल बराबरी देना चाहिये ऐसा कुछ नियम नहीं है. मुहूर्तमानगही कोई रत्नत्रय की आराधना करके संसार स-
मुद्रको लीप गये हैं.

खणमेत्तेण अणादियमिच्छदिट्ठी वि वट्ठणो राया ॥
उसहस्स पादमूले संघुस्सिचा गवो सिद्धि ॥ २०२७ ॥
सिद्धो विवट्ठेनो राजा चिरं मिथ्यात्वमायित्त ॥
पृथग्भस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकलमपः ॥ २१०० ॥
इति निरुद्धतमम् ।

विरवोरुपा—एणमेत्तेण क्षणमपिणानादिमिथ्यादिरपि वट्ठेनमापयेयो राजा नरसस्य पादमूले संघुद्धो
गता रिक्ति ॥

क्षणमापनापनायाः सिद्धिमापनपमयोस्यानेन समर्थयते—

मूळारा—विरवद्धो विपर्धेनो नाम । समुत्तिष्ठा सम्यागात्मानं आत्मवारासति संयेय ॥

अर्थ—अनादि मिथ्यादिरि ऐसा वर्धन नामका राजा नरस्य भगवानके चरणमूलमें आत्मस्वरूपका क्रातर
दोकर खणमात्रमें निराण की मात हुआ.

सोत्तसतिथयराणे तिरयुपणस्स पटमविवसम्भि ॥

सोमण्णजाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०१८ ॥

विरवोरुपा—परमणिः ॥

मूळारा—सोत्तसतिथयराणं श्रुपमादितांतिवर्ग्यन्तानाम् । तिरयुपणस्स वचनोत्पत्तेः । सोमण्णजाणसिद्धि

हेयदत्तानं निर्वाणायमं च ॥ विष्णुदुहेषेण स्त्रोत्रं श्रोत्रेण संपत्ता संपत्ता बहवः । अन्यस्तु सामण्येति चरित्रममस्त । उक्तं च—
 बोधमतीर्थं करणा तोयोत्तमस्य वासरे प्रथमे ॥ श्रामण्यवोपि विधिभिर्ब्रह्मसुर्वेन सपृचा ॥

एता शीघ्रतरो नेच्छन्ति ॥

अर्थ—ऋषभनाथसे लेकर श्रावितोर्वंकरपर्यंत सोलह तर्धिंकरोंको जिस दिन दिव्य ध्वनिकी प्राप्ति हो गयी थी उस दिन गृह्य सुनिश्चयोंके केवलज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति भिन्नयुद्धोंमें हुई थी इस प्रकार परमनिरुद्ध त मरणरा वर्णन समाप्त हुआ.

एसा भक्तपट्टणा वाससमासेण वणिग्वा विधिणा ॥

इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णोसिं ॥ २०१९ ॥

प्रोक्ता भक्तप्रतिज्ञेति समासव्यासयोगतः ॥

इदानीं भगिनी यक्ष्ये अन्मकथं कुठारिकाम् ॥ २१०१ ॥

विजयोदया—यथा भक्तपट्टेणा एतद्वक्तव्यात्पाम व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं यत् ऊर्ध्वं साध्यासि
 कर्मिणिनीमरणं वाससमासांश्च वर्णयिष्यामि ॥

प्रस्तुतोपसंहारपुरःसरं व्याख्येयान्तरमुपलक्ष्यति—

मूढारा—विधिना पूर्ववत्प्रकरणे । बल्लेसि व्याख्यास्यामहम् ॥ वृत्तम्—

एवं वीक्षादिकाढोषितविधियुचितज्ञानभक्तप्रतिज्ञा—

प्रौढिव्यूहोत्तमार्थं करणलकटिकापधनाकेतवकीः ॥

कोऽप्यत्रोत्तमार्थविरहितप्रयोगानरत्नमुमुक्षुः

मद्भिस्तु स्वर्गलक्ष्मीप्रणयद्विविधक्रीडाशोत्सवः स्यात् ॥

इत्याशापराशुशूलमथर्धमं मूनापधनादर्पणे पद्ममेयार्थप्रकाशोत्सवो सप्तम आश्वासः ॥ ७ ॥ इति
 भक्तप्रत्यापानमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इम भक्तप्रत्यारपान मरणका विस्तारसे और संक्षेपसे वर्णन किया है, अब सन्यास मरणरूप इंगिणी मरणका विस्तार और मध्येमं वर्णन करताहूँ

जो भक्त्यदिष्णाए उवक्तमो वणिदो सवित्यारो ॥
सो चेव जायजोगो उवक्तमो इंगिणीए वि ॥ २०३० ॥
उक्तो भक्तप्रतिज्ञाया विस्तारो यंच कथन ॥

इंगिनीमरणेऽप्येव यथायोगे विबुध्यताम् ॥ २१०२ ॥

विजयोपया—जो भक्त्यदिष्णाए यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्तमो न्यवर्धिताः स्यिस्ताः स एव यथासंगम
गुरुक्तमो इंगिनीमरणेऽपि ॥

अष्टमं आध्यासः ॥

अश्रयैरपुनातवैरवि यैः साध्यादितेरवाहितो । भक्त्यागधुवस्तथा निगदितो न्यासासमासादये ॥

सकृत्सालमदोयकपयनुगुणे गुणव्यर्थिनामित्यथ । न्यासशस्यैव इवः सुसुलुब्धियस्येऽपिगिणीपूर्वकाः ॥

अथातः एकतुल्यैवाष्टुल्यमात्रावेद्यालक्षणं संकितसरणस्य द्वितीयकल्पमिनिनीमरणं साधात्रयस्त्रिरता प्रवंचेन न्यास-
ध्यानः प्रथमे बहुपक्तमाविदेसायै इदमाह—

मुञ्जारा—उपक्तमो प्रयोगविधिः ॥

अर्थ—भक्तप्रतिज्ञा मरणमें जो प्रयोगविधि कहा है वही यथासंभन इत इंगिनीमरणमें भी समझना
पादिये.

पवत्रज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिमकणं च ॥

पवयणमोगादिचा विणयसमाधीए विहरिता ॥ २०३१ ॥

प्रवज्याग्रदणे योग्यो योग्यं लिममधिप्रितः ॥

भूतप्रवचनाभ्यासो विनयस्थःसमाहितः ॥ २१०३ ॥

विजयोपया—पवत्रज्जाए सुद्धो यज्यायां सुद्धो दीक्षाग्रदणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हता निरूपिता । उप-
संपज्जितु प्रतिपद्य । लिमकणं च योग्यं लिमं इत्यनेन सूचितम् । पवयणमोगादिचा भूतप्रवचना एतेन निश्चा-
उपन्यस्ता, विनयसमाधीए विहरिता विनयसमापी विदुषः ॥

तदुपक्रमवर्धौचित्यविवेचनार्थमाह—

मृदाय—ध्वजश्चाए सुद्धो वीक्षामहणयोग्यः । जहर्त्तवल्यापनार्थमिदं ॥ एवमुत्तरपदानामपि लिङादिविकल्प-
विरलयादेत साफल्यमवच्छेद्यम् । उवसंपवित्तु प्रतियत् । लिङकृत्यं निर्मन्मानुष्ठानम् । विनयसमाधोए पितये समाधौ
५ । विहरित्वा परित्तो भूत्वा । अत्रार्हदादिपंचतयो विधिरुकाः ।

अर्थ—जो दीक्षायज्ञ करने योग्य है. ऐसा सुनि योग्य लिङ धारण ॥ उत—आगममें अवगाहन
करता है. तथा पितये और समाधिमें विहार करता है. तात्पर्य यह है कि, सविचारमत्तप्रत्याख्यान मरणमें
जैसा प्रयोग विधि स्नानके लिये अर्ह, लिङ, शिखा वगैरह चालित स्रष्टोंका पूर्वमें वर्णन किया है. वैसा यहां भी
परी वर्णन समझना चाहिये.

णिष्पादिच्चा सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ॥

सिदिमाहदित्तु भाविय अप्पणं सल्लिहत्ताणं ॥ २०३२ ॥

निष्पाय सकलं संपं इंगिनीगतमानसः ॥

अतिस्थो भारितस्वान्तः कृतसल्लेखनाविधिः ॥ २१०४ ॥

विजयोद्या—णिष्पादिच्चा सकलं योग्यं कृत्वा स्वमयं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, सिविमाहदित्तु
परिणामधेनिमाहदा । भाविय भावनां प्रतिपद्य । अप्पणं सल्लिहत्ताणं आत्मानं संलेख्य ॥

मृदाय—णिष्पादिच्चा योग्यं कृत्वा । इंगिणीविधिसाधनायामित्यत्रापि योग्यं । परिणमिय परिणम्य । साधयि-
त्यामहनिगिनीविधिमिति निश्चलं केनासं निवेष्टयेत्यर्थः । सिदि क्षुमपरिणामधेनी । भाविय कंदर्पादिदुर्भेदनात्प्रागेन
नयःपुनरिमात्रनाभिः संरुह्य । संलिहत्ताणं संवक्तव्ययो कुरीकृत्य ।

अर्थ—अपने यणको मुनित्र्योके आचरणमें योग्य बनाकर तदनंतर इंगिणी मरण साधनेके लिये वह सुनि
परिणति करता है. तदनंतर परिणामके श्रेणीपर आरोहण कर कंदर्पादि भावनात्र्योका त्याग कर उपोभाचना, क्षुत
मानना, इत्यादि माननात्र्योका अभ्यास करता है और शरीरके साम कपाय कुछ करता है.

परियाद्गमालोचिय अणुजाणित्ता दित्सं महज्जणस्स ॥
 तिविषेण खमावित्ता सवालवुद्धाउलं गच्छं ॥ २०३३ ॥
 संस्थाप्य गणिनं संघे क्षमयित्वा त्रिधाखिलं ॥

यायज्जीवं वियोगार्थी दत्त्वा शिक्षां प्रियंकराम् ॥ २१०५ ॥

वियोगोदया—परियाद्गमालोचिय क्रमेण स्तनत्रयज्जामलोच्य । अणुजाणित्ता अणुज्ञाय । दित्सं गणधरं । महज्जणस्स महाजनस्य बहुविधसंघदेत्यर्थः । तिविषेण समाधित्ता त्रिविधेन क्षमां प्राद्वयित्वा । सवालवुद्धाकुलं गच्छं ॥
 मूलारा—परियादयं स्तनत्रयसिंघारपरिष्ठादी । दित्सं आचार्यं परित्थाप्य । महज्जणस्स महाजनस्य बहुविध संघत्वेत्यर्थः । दयमार्येणा धर्मां प्राद्वयित्वा ।

अर्थ—स्तनत्रयैः पालनं करोते समयं जो अतिचार लगे थे उनको आलोचना कर संयक्ता त्याग करनेके पूर्वमें अपने स्थानमें दूसरे आचार्य की स्थापना करनी चाहिये. अर्थात् बहुविध संघको नवीन आचार्यके स्थायीन कर देना चाहिये. उस समय पालयनि, वृद्धशुनि वगैरह संपूर्ण धर्माके लिये प्रार्थना करनी चाहिये.

अणुसाहू दादूण य जात्रजीचाय विप्पजोगच्छी ॥

अरुभदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥ २०३४ ॥

कृतार्थतां समापन्नो हर्षाकुलितमानसः ॥

निर्यतो गणतः सूरिगुणकीलविभूषितः ॥ २१०६ ॥

विज्जणोदया—अणुसाहू दादूणय शिक्षां दत्त्वा गणपदेर्गलदव च । जात्रजीचाय विप्पजोगच्छी यापस्सीवं विज्ज-
 योमार्थी । अरुभदिगजादहासो रुताद्योऽस्मीति जातद्वयः । णीदि गणादो निर्वर्ति यस्मिन्नात् । गुणसमग्गो संपूर्णगुणः ॥
 मूलारा—दादूण गणपदे गणाय च दत्त्वा । जात्रजीचाय यापस्सीवं । विप्पजोगच्छी गमेच वियोगनिच्छम् ।
 अरुभदिगजादहासो कृताद्योऽस्मीति निर्भरोत्पन्नप्रीतिः । णीदि निमग्नकवि ।

अर्थ—आचार्य स्थापनाके अनंतर आचार्य और गणको भी उपदेश देना चाहिये और तदनंतर अथ यापस्त्रीय में आपसे अलग होना चाहता हूं येगा कहकर गणसे मगान करना चाहिये. आज मैं कृतार्थ हुआ ऐसा मान कर संपूर्ण गणयुक्त एकाचार्यता वह आचार्य त्याग करे.

एवं च शिवकर्मिणा अतो चाहं च थंडिले जोगे ॥

पुढवीसिलासए वा अप्पाणं जिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥

निःकम्प स्यंडिलादौ स विविक्ते वाहिरंतरे ॥

भूथिलासंस्तरस्थायी स्वं निर्यापयति स्वयम् ॥ २१०७ ॥

विजयोदया—एवं च शिवकर्मिणा एवं धिनिष्कम्प । थंडिले जोगे सगे समुज्ज्वले कठिने जीवरहिततया योगे । अतो पाहं च अंतरेदियां । पुढवीसिलासए वा पुढवीसंस्तरे सिलामये वा । अप्पाणं जिज्जवे एक्को आत्मानं निर्जयेदसहायः । तस्य संस्तरारोहणविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूळारा—अतो पाहं च गुरादेरुज्ज्वले वाहिरेंया । थंडिले समसमुज्ज्वलकठिनभूमिरेयो । जोगे जीवरहितत्वेन योगे । पुढवीसिलासए पृथिवीसंस्तरे दिलासंस्तरे वा । जिज्जवे संज्ञाणं शक्तिर्गमयति । एक्को देहमात्रसहायः ॥

अर्थ—स्वर्गमे निकलकर अंदर और बाहर जो समान ऊंचा और कठिन है ऐसे भूमिप्रदेशमें अर्थात् स्यंडिलमें जो कि जीवरहित होना चाहिये. उसका आश्रय करे. तथा निर्वन्तुक जमीन अथवा शिलाका भी संस्तर के लिये आश्रय करे. उम समय यह गुरीरमात्र शिवका सहायक है ऐसा होता है.

पुण्डुत्ताणि तणाणि य जाचिन्ता थंडिलमि पुण्डुत्ते ॥

जदणाए संघरिन्ता उत्तरसिरमधव पुण्डुसिरं ॥ २०३६ ॥

योग्यं पूर्वोदितं कृत्वा संस्तवं स्यंडिले तृणैः ॥

पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा गिरो दिशि करोति सः ॥ २१०८ ॥

विजयोदया—पुण्डुत्ताणि तणाणि य पूर्वोक्तानि तृणानि निस्संधिचिद्रजंजतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमात्रानि शृद्दन्ति गतिरहिततापोभयानि प्रापेयं नगरं वा प्रविश्य यांचया शृद्धेतानि पूर्वोक्ते स्यण्डिले कोऽसौ सालोकः प्रिस्तीणो विप्रस्तः गतुविरोऽपिदः निजंतुक्तस्मिस्थंडिले जदणाए संघरिन्ता यत्नेन संस्तवं कृत्वा, को यत्नः तृणानां पुष्पकरणं संस्तवभूमिप्रतिदेयानं, उत्तरसिरमधव पुण्डुसिरं संघारं संघरिन्ता य पूर्वोक्तयांगमुत्तरोचभांगं वा संस्तवीर्य शिरमश्रुति प्रापे पात्री च यत्नेन प्रमान्यं ॥

पृथिवीविद्यासंस्तरासंपत्तौ तृणसंस्तरविधानमुपदिशति—

भूलाय—पुण्ड्रालि संस्तरयुजोभामि । निःसंधिनिश्चिद्धनिर्विज्वन्ति, सुदृग्नि, प्रतिलेखनयोग्यानि । सरीरद्विधिति
साधनमाश्रयि ५ । आविष्ता प्राग् नगरं वा प्रविश्य प्राग्मं दृष्टीयानि । पुन्तुये सल्लोकविस्वीर्णनि-नखाधुपिरनिर्विलनिर्जटके ।
अध्वनाए तृणपृथक्प्रत्यक्षमंस्तरपृथिव्यतिलेखनलक्षणेन यत्नेन । संघारित्वा यथाधीये तृणसंस्तरं उत्तराग्निरहकं पूर्वशिरहकं वा
उत्तरा यथागमानं निर्योग्यतीति पूर्वैव संशेषः ।

अर्थ—पूर्वोक्त स्थंडिलपर तृणको पसारना चाहिये। यह तृण आग्नेय अथवा नगरमें लाकर याचना करके
सना चाहिये, छिद्ररहित, जंतुरहित, दृढ़, असीरक्षितको लिये कारण, प्रतिलेखनाके योग्य ऐसा वह तृण उस स्थ-
ंडिलपर प्रयत्नसे पसारना चाहिये, यह स्पष्टिक भी प्रकटपुक्त, विस्तारित, छिद्ररहित, थिलरहित, निर्जंतुक होना चाहिये-
उम स्थंडिलपर यत्नेसे तृण बिछाना चाहिये, अथवा तृणको पृथक्करण करना, संस्तराकी भूमिका प्रतिलेखन करना,
सादर स्पर्श करना चर्चा इन ठसोंको यत्न कइये ई. एवं दिशा अथवा उत्तर दिशाको मस्तक करने योग्य तृणकी
रचना करनी चाहिये, उदन्तर मस्तक वगेर सरीरके अवयव और पांश पिच्छसे प्रयोजित करने चाहिये,

पाथीणाभिमुहो वा उवीचिदुहो वा तस्य सो ठिच्चा ॥

सीसे कदंजलिपुडो भावेण विमुदलेसेण ॥ २०३७ ॥

भावशुद्धिप्रधिष्टाय लेखपाशुद्धिविधर्द्धितः ॥

कर्मविष्यसनाकांक्षी मूर्धन्यस्तकरद्वयः ॥ २०९ ॥

वितपोदया—पाथीणाभिमुहो वा उवीचिदुहो वा तस्य सो ठिच्चा प्रादुर्भूतो उत्तराभिमुहो वा भूत्वा तत्र
संस्तरं संदिधत्ता । सीसे कदंजलिपुडो मस्तकं कर्ताजतिः । अरिण विमुदलेस्तेष्व विमुदलेष्वप्यसमन्वितेन भवेपेन ॥
सर्वं रत्रिर्गणविधिं गार्वायं पद्मेनोपविशति—

मूढारा—पाथीणाभिमुहो पूर्वभिमुहः । उवीचिदुहो उत्तराभिमुहः । तस्य प्रतिलेखनयत्नसंस्तरे । सो ङ्गि-
नीमणो गनः सपुः । डिक्का उव्वरिधत्ता, पूर्वकायासनेनेर्याधंशुयेनेन वा यथाशक्त्यवसाय । विमुदलेस्तेष्व पीठा-
दिदेवयासमन्वितेन ।

अर्थ—उस संस्तरण वह हंमिणीभरणकी श्रुतिज्ञा करनेवाला मुनि पूर्वं दिशा उत्तर दिशाके तरफ मुख करने सदा हो जाता है. अपने मस्तकपर हाथ बोटकर रहता है. अंतःकरणमें परिणामोंकी निमोलता उत्पन्न करता है.

अरहादिअंतिगं तो किञ्चा आलोचनं सुपरिसुद्धं ॥

दंमणणाचरित्तं परिसारेदूण गिस्सेसं ॥ २०३८ ॥

विधायालोचनमग्रे जिनादीनामदूयणाद् ॥

दशौनज्ञानचारिअत्तपत्तां कृतशोधनः ॥ २११० ॥

विज्ञानयोग्या—अरहादिअंतिगं अहंदापत्तिकं । तो पश्चाद् आलोचनां कृत्वा सुपरिसुद्धं, दंमणणाचरित्तं पण्डितोऽपि दूयणादौपचारिकं ।

मूढाण—अरहादिअंतिगं अहंदादिपापं । पश्चात्सारेदूण निमलीकृत्य ॥

अर्थ—तदनंतर अहंदादिकों के समीप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें लगे हुए दोषोंकी चे मुनि आलोचना करते हैं. और संपूर्णतासे शनप्रयत्नो संस्कृत करते हैं अर्थात् निर्मल करते हैं.

सत्त्वं आहारविधिं आवग्जीवाय वोसरिच्छाणं ॥

वोसरिदूण असेसं अभेतवाहिरे गंये ॥ २०३९ ॥

यावज्जीवं त्रिधाहारं प्रत्याख्याय चतुर्विधं ॥

यासमाभ्यंतरं ग्रंथमणकृत्य विशेषतः ॥ २१११ ॥

विशेषोदया—सर्वे आहारविधिं सर्व आहारविकृत्यं । यावज्जीवं परित्यज्य वास्त्राभ्यंतरागशेषान् परिभ्रष्ट्वा तपस्या ॥

मूढारा—विधिं अस्त्राभ्यंतरं ।

अर्थ—संपूर्ण आहारोंके विफल्लोका चे यावज्जीवं त्याग करते हैं. तथा संपूर्ण वास्त्र न अभ्यंतर परिभ्रष्टोका त्याग करते हैं.

सन्धे विणिज्जिज्जंतो परीपहे धिदिवलेण संजुत्तो ॥
 लेरसाए विमुज्जंतो धम्मं ज्ञाणं उवणमित्ता ॥ २०४० ॥
 परीपहोपसर्गोणां कुर्वाणो निज्जयं परम् ॥

गाहमानः परां शुद्धिं धर्मेध्यानपरायणः ॥ २११२ ॥

विजयोक्त्वा—सन्धे विणिज्जिज्जंतो सर्वाद्य जयन् परिपहन् धूतिबलसमन्यतः लेख्याभिर्विशुद्धः सन् धर्मेध्यानं

प्रतिपद्य ॥

मूढात्ता — वपणमिता प्रविष्य ॥

अर्थ—वे मुनि सर्व परिपहोक्तो अपने धर्म बलसे सहन करते हैं. विशुद्ध लेखायुक्त परिणामोक्ते धर्म-
 ध्यानका आश्रय करते हैं.

ठिच्चा णिसिदिच्चा वा तुवट्टिट्ठणव सकायपडिचरणं ॥
 सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सौ भयवं ॥ २०४१ ॥
 निपयोत्थाय निःशेषामात्मनः कुरुते क्रियाम् ॥
 विहरन्पुपसर्गेऽसौ प्रसाराकुंचनादिकम् ॥ २११३ ॥

विजयोक्त्वा—ठिच्चा दिपया आसित्वा जयन् वा कृत्या स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति ।
 स्वयमेवात्मनः करोत्पराकुंचनादिकाः क्रियाः, उद्यारकादिकं वा निराकरोति प्रविष्टापनासमितिसमन्वितः । यदि पुन उवस-
 गा परा पुनरुपसर्गं देयमुपयतिर्यकृता भवति तथा निप्यतीकारस्ताव सद्गते विपतय्यः । आदितिगसुसंघटणो
 मापेसु विपु संवत्तनेषु सम्यक्तमसंज्ञनः शुभसंस्कारानोऽभेद्यष्टविकचो जितकरणो जितानिद्रो महाबलो नितरं शूरः ॥

मूढात्ता—ठिच्चा उद्भवाद्येवमेव विपत्ता । पर्यङ्गादिना आसित्वा । तुवट्टिट्ठण एकपाशोदिना पतित्वा । सकाय-
 परिपत्तं सप्तदोषविकर्मे शौचत्रिलेखेनार्द्रादिकं । विहारमि निरुपसर्गे संन्यासे सति । सो ठिच्चा इत्यत्र निर्दिष्टं स इत्येत-
 तत्वं करोतीत्यनेन संन्यस्य वाक्यसमाप्तिः कर्त्तव्या ॥ कुत्र एवं करोतीत्याह सो भयवं स तथा कुतो गणी परिकरो भगवा
 न्माशात्प्रातिसरोयेतो यत् इति वाक्यभेदेन संन्यस्योऽत्र विधेयः ।

अर्प— सहे कायोत्सर्गसे सहे होकर, अथवा पयंकादि कायोत्सर्गसे घेठकर, किंवा अयन कर एक यज्ञ पर पड़े हुए वह मुनिसाज स्वयं ही अपनी श्रीर किया करते हैं. अर्थात् उपसर्ग रहित अवस्थामें वे शौच, प्रति-
स्तेतनादि क्रिया स्वयं ही करते हैं. ये क्रिया करते समय प्रतिष्ठापनासमित्तमें तत्पर रहते हैं. यदि देव मनुष्य और त्रिवैचोक द्वारा उपसर्ग होने लगा तो वे उसका प्रतिकार नहीं करते हैं. उनका धैर्यरूपी कवच अमेय रहता है. अंतःकरणमें त्रासा भी भ्रम नहीं रहता है. इयिनीमणके धारक मुनि पहिले तीन संहननोंमें कोई एक संहननके धारक रहते हैं. उनका शुभ संस्थान सहना है. वे निद्राको जीतते हैं, महाबली व शूर रहते हैं.

सयमेव अप्णो सो करेदि आउंटाणावि किरियाओ ॥

उच्चारदीणि तथा सयमेव विक्किचिदे विधिणा ॥ २०४२ ॥

जाये पुण उवसग्गे देवा माणुस्सिया व तेरिन्हा ॥

ताथे णिण्हियस्मो ते अधियासेदि विगदस्सओ ॥ २०४३ ॥

आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिविकवचो ॥

जिदकरणो जिदणिहो ओषवलो ओषसूरो य ॥ २०४४ ॥

श्रीमत्यभीमदरितणविगुब्बिदा भूदरक्खसपिसाया ॥

खोभिज्जो जदि वि तयं तथवि ण सो संभं कुणइ ॥ २०४५ ॥

स्वयमेवात्मनः सर्वं प्रतिकर्म करोति सः ॥

आकांक्षति महासत्त्वः परतोऽनुग्रहं न हि ॥ २१२४ ॥

देवमानवतियग्गम्यः संपद्यमतिवारुणम् ॥

उपसर्गं महासत्त्वः सहेतुऽसो निराकुलः ॥ २११५ ॥

दुःशीलपूतयेतालशाकिनीग्रहराक्षसेः ॥

न संमीपपितुं शक्यो भीमेरणि कथंचन ॥ २११६ ॥

विजयोद्या—शीतपयमीमंस्त्रणविमुक्तिवरा धीमत्समीमद्वर्शनविक्रिया भूतराखन्नीपशाचा यच्चरि शोभं
 पुर्येति तावा व्यसो न संभ्रमं करोति ॥

अन्यथादुपसंगस्य तत्कृत्वमाह—

मूढारा—आवटणादि आकुंचनप्रसारणादि । विर्किचदे स्फटयति । विधिणा प्रतिष्ठापयनिष्कसमितिविधानेन ।
 उपसंगसंभवे स किं करोतीत्याह—

मूढारा—जागे यदा । य अचेतनकुवाअवि समुचिनोत्पयं च । चाये वरा । निष्पद्वियम्भो प्रतिकाररहितः ।
 अपियासेदि सहते ।

तदुपसंगसहनसामर्थ्यसमर्थनार्थमाह—

मूढारा—आदिदियसुसंपद्वनो यअपुषयनाराचं, यअनाराचं नाराचं वेत्वापेदु त्रिपु शोभनसंहनेतेपु मध्येउपयसम
 संहनन इत्यर्थः । सुभसंठाणो समचतुरजसंस्थान । अभयं जमेयं । ओषवलो महाबळः । ओषवूरो निवरा शूरः अत एव
 देवादिछाणुपसंगप्रिभयसन्सहते इति पूर्वेष समन्वयः ।

पुनस्तस्य महासात्विकत्वं प्रविष्कूलोपसंगसंशोभातुद्रवमुत्पन्नं व्यनक्ति—

मूढारा—बीमचछभीमदंसनविट्टिद्विद्वरा विछवमयंकददर्शनविधियकिपाः । खोभियजो खोभियेयुः । छंभस संकोमं ॥
 अर्थ—बीमत्स और भय दिखानेवाला भिनका दर्शन और विक्रिया हे ऐसे भूत, राखस और सिधाचोके
 द्वारा यदि शीम उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जानेपर मी उनके मनमें भय उत्पन्न नहीं होता है.

इष्टिमदुलं वि उद्विय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ॥

लोलंति जद्वियसगं तधवि ण सो विम्भयं जाई ॥ २०४६ ॥

त्रिदशोर्विक्रियावज्जिथेतथोरणकारिणी ॥

प्रदश्यं मएतीसुद्धिं लोभ्यमानो न लुभ्यति ॥ २११७ ॥

विजयोद्या—इष्टिमदुलं पिगुद्विय ऋदिमदुलं विरुत्स किण्णरकिंपुरिदिवकन्या यथापुपलालनं कुर्वति-
 तराप्यसो न विभयं याति ॥

किंनरादिकन्याप्रत्येकं लक्षणानुसृतोपसर्गेऽपि तस्य विस्मयगतत्वं ब्रूते ॥
 मृदाराम—इति श्रद्धा । लालति लोभयति । विषयं विस्मयं ॥ किंनरुणा ॥
 अर्थ—अनुपम श्रद्धा प्रपट करके किन्नर किंशुलमादिकभी देवकन्याएँ उनको लुब्ध करनेका प्रयत्न भी
 करतीं तो भी उनका मन आश्चर्यचकित नहीं होता है-

सत्त्वो योगलकाञ्चो दुःखलचाए जवि तमुवणमेज्ज ॥
 तथवि य तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोचिया को वि ॥ २०४७ ॥
 संपयतेऽस्सिलास्सस्य दुःखाय यदि पुद्गलाः ॥
 तथापि जायते जातु ध्यानविमो न धीमतः ॥ २११८ ॥

विजयोद्वा—सत्त्वो योगलकाञ्चो सर्वे पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि समभिहितं तथपि तस्य न जायते ध्यान-
 स्यान्व्यावृत्तिः ॥

मृदाराम—सत्त्वो त्रेलोक्योदरवर्ती । योगलकाञ्चो पुद्गलद्रव्यं । दुःखलचाएँ दुःखतया । दुःखोत्पादरूपतयैत्यर्थः ।
 इवणमेज्ज उपलब्धेयः । विसोचिया अन्यधामानः । आर्तरीत्रपरिणतिरित्यर्थः ।

अर्थ—जगतके संपूर्ण पुद्गल दुःखरूप परिणतिको प्राप्त होकर उनको पीडा करनेके लिये उद्यत होनेपर
 भी उनका मन ध्यानसे व्युत्त नहीं होता है-

सत्त्वो योगलकाञ्चो सोक्खचाए जवि वि तमुवणमेज्ज ॥
 तथ वि त्थु तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोचिया को वि ॥ २०४८ ॥
 सुखाय यदि लभ्यते सर्वे पुद्गलसंघायाः ॥
 तथापि धीरधीर्नासौ ध्यानतश्चलति स्फुटय् ॥ २११९ ॥

विजयोद्वा—स्वर्गोत्तराणां ॥
 मृदाराम—सोक्खचाएँ सुखावद्वा ।

अर्थ—सर्व जगत्के शुद्धत यदि सुखरूप बनकर उनको सुखी करनेके लिए उपयगी होनेपर भी इन मुनिराजस मान उनमें सुख होता नहीं अर्थात् अपने आत्मप्याप्तमें ही स्थिर रहता है-

सच्चिचे साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसन्वंगो॥

तवसगगे ॥ पसंते जदणाए थण्डिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥

उपेक्षते विनिश्चितः सच्चित्तहरितादियु ॥

उपसमर्गधमे मूयो योग्यं स्थानमियत्ति सः ॥ २१२० ॥

पिजयोद्या—सच्चिचे साहरिदो व्यापारिभिः सच्चिचे निश्चितः स उपेक्षोपेक्षते त्यक्तसर्वांगः । उपसर्गमे मर्याते पारमेम स्पण्डिलमुवेति ॥

भवाप्रादिभिः प्राणिसंकुलभूतले प्रस्थितोऽसौ कि करोतीत्याह—

मुळारा—सच्चिचे हरितवृणारिप्राणिबुल्लो देखे सा हरिदो व्याप्रादिभिर्नीत्या प्रक्षिप्तः । तत्थ तत्रैव स्वेच्छदि विष्टलुपसर्गातं रापत् । विपत्तसन्वंगो त्यक्तसर्वकायः । पसंते स्वयमेव प्रशंस गते ॥

अर्थ—इरा वृण वरीरह प्राणिओंसे व्याप्त ऐसे भूप्रदेशमें यदि व्याप्रादिकोंने लेजाकर फेंक दिया तो भी उपसर्ग दूर होने तक वे मुनि ब्रह्मभाव धारण कर करीरमोहसे रहित होकर वहां ही रहते हैं. उपसर्ग दूर होनेपर पलने स्पंडिलके तरफ आते हैं.

इवं उव सगविधिं परिसहविधिं च सोधिआ संतो ॥

मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदक्कसाओ ॥ २०५० ॥

परीपहोपसर्गणामेवं विपद्दुनोद्यतः ॥

मनोवाक्कायगुतोऽसौ निःकपायो जितेंद्रियः ॥ २१२१ ॥

पिजयोद्या—एवं तवसगविधिं पवगुपसर्गात् परिपदांश्च सदमानास्त्रियुतः सुनिश्चितो निजितरूपयः ॥
मुळारा—सष्टम् ॥

अर्थ—इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और परीषद् को जीतते हैं- मन बचन और शरीरकी क्रियायें घंद करते हैं अथान् तीन शुभियोंको पालनरू क्रीयादिक कर्मायोंको जीवते हैं- आत्मस्वरूपमें स्थिर रहते हैं.

इहलौए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ॥

णिण्णडिबद्धो विहरदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥ २०५१ ॥

इहामुज्ज सुखे दु-खे जीविते मरणे सुधीः ॥

सर्वथा निःप्रतीकारश्चतुरंगं प्रवर्तते ॥ २१२२ ॥

विश्वोदया—इहलोमे परलोमे इह परन् च जीविते मरणे सुखे दु-खे च अप्रतिबन्धो विहरति अित्तदु-पा परिधमः पृतिमान् ॥

मूलात्—निपट्टिबद्धो इण्डोपरहितः । धिदिमं धृतिमान् ।

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें, जीवित और मरणमें, सुख और दुःखमें वे इच्छा और द्वेष नहीं रखते हैं. ईश्वर धारण करते हैं और दुःखोंके परिश्रमसे वे पीड़ित नहीं होते हैं.

वायणपरियट्ठणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मयुदि ॥

मुत्तच्छणोरिसीसु वि सरेदि मुत्तत्यमेयमणो ॥ २०५२ ॥

वायनापुच्छनाम्मायधर्मदशनचजित्ताः ॥

धीरः सूत्रार्थयोः सम्यग्ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥ २१२३ ॥

पित्तगोदया—वायणपरियट्ठणपुच्छणाओ वाचनं, परिवर्तनं, यज्ञं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं मयस्यायं स्य पा स्मरत्येकचित्तः ॥

वायनादिरयाचयाभेदेषु मध्ये सूत्रार्थानुष्ठापेवासौ-करोतीत्यनुशास्ति—

मूलात्—परियट्ठण आगनायः । धम्मयुदी धर्मोपदेशं देववदनं च । मुत्तत्यणोरिसीसु एवंसु स्वाध्यायभेदेषु मध्ये ययपा पूर्वोद्भवाद्वादीपात्रमयेषु चतुर्षु परत्पट्टिवादीयेकत्वननिर्गच्छन्ति चेव्यपि अस्याध्यायकोष्ठेवपि इत्यर्थः । नरोरि पित्तमि । उक्तं च—

बापतावृच्छतामनाययमेवसमन्वितः ॥

धीरः सुतर्मयोः तन्पक्ष्यायत्वेनाममनसः ॥

अर्थ—ये युनि पाचना, ग्रन्थना, परिवर्तन और धर्मोपदेश इस रूपसे चार प्रकारके स्वाध्यायकराय कर दूत और अर्पण एकाग्रतासे स्मरण करते हैं- अथवा दिनका पूर्वभाग, मध्यभाग, अन्तभाग तथा अर्धरात्र एते चार समयोंमें तीर्थङ्गरोपी दिव्यध्वनि निकलती है- ये काल स्वाध्यायके नही हैं- ऐसे कालमें भी वे अनुपेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं.

एवं बह्वि जामे अनुचट्टो तच्च ज्ञादि एयमणो ।

जदि आपच्चा णिद्धा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥ २०५३ ॥

पथमएतु यामेयु निनिन्दो ध्यानलालसः ॥

भयन्तीं हठतो निद्रां न निषेवत्पत्तो पराम् ॥ २१२४ ॥

विजयोष्या—एवं बहुवि जामे एयमेपाएतु यामेयु निरस्तशयनकियो ध्यात्येकचित्तः, यथाहृत्य निद्रा भयेत् तत्र भयन्तिनोऽन्तो ॥

करर त्नामक्रियो निदिष्य दृढायतुज्जगति—

मूलारा—अनुरहो बनिद्राः सन् । एण तत्तं । आपच्चा आहृत्य दृढात । अपदिण्णो प्रतिहारदितः । दृढाद्वर्तनी भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—एण प्रकार आदो ग्रहोंमें निद्राका परित्याग करके एकाग्रचित्त होकर वे युनि तत्त्वोंका विचार करते हैं. यदि पतात् निद्रा आगई तो निद्रा छेते हैं.

तत्सायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ॥

जम्हा दुसाणमज्जे तरस य ज्ञाणं अपहिसिद्धं ॥ २०५४ ॥

स्वाध्यायकाले विक्षेपाद्यन्तास्तस्य न च क्रियाः ॥

ध्यानं दमभानमभ्येऽपि कुर्वानस्य निरंतरम् ॥ २१२५ ॥

चित्तयोदयः—सद्व्यायकालपटिलेहणादिकाञ्चो स्वाध्यायकालप्रतिलेखनाविकाः क्रिया न संति यस्मात् इमंशः
नयस्येति तस्य ध्यानं न प्रतिपिदं ॥

रमाध्यायकालवेपणादिना विचारविषयमभवे क्षेत्राशुद्धौ वा ध्यानाप्रवृत्तौ कथं तस्याहोरात्रिकमहामध्यानं

रमादिलगाद—

मूढात—पटिलेहणा गवेषणा शुद्धिर्वा । सुखाण इयज्ञानं । व्यपट्टिसिद्धं न प्रतिपिदं ॥

अर्थ—स्वाध्याय काल और शुद्धि वगैरे क्रियायें उनका नहीं हैं- इयज्ञानमें भी उनको ध्यानके लिये
निषेध नहीं है.

आवासरं च कुण्डरे उवधोकात्मि जं जहं कमदि ॥

उवकरणं पि पटिलिहद् उवधोकात्मि जदणाए ॥ २०५५ ॥

यथोक्तं कुरुते सर्वमाद्यद्यकमन्तद्वितः ।

विपत्ते स द्वयं कालं उपधिप्रतिलेखनय ॥ २१२६ ॥

विजयोदया—आवासरं च कुण्डरे आषट्पकं न करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखन-
मपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥

एवं वार्हि नाश्वकादिकमप्यसौ विधास्वतीत्यानंरामपादरोति—

मूढात—य पुनः । उवधोकात्मि रात्रिद्विगोः । कमदि प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो आवश्यकक्रमें जिस कालमें करनेका विधान कहा गया है उस कालमें ये पुनि वह क्रम
करते हैं- उपकरणोंका प्रतिलेखन-शुद्धि भी प्रयत्नसे स्यादिय और स्यास्ता समयमें अवश्य करते हैं.

सहसा तुक्करकलिंदे जिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ॥

आसिअजिनीसीधियाओ णिगमणपवेसणे कुणइ ॥ २०५६ ॥

सहसा स्खलने जाते भिरयात्कारं करोति सः ॥

आसीनिपयकाशद्वौ विनिःक्रांतिप्रवेशयोः ॥ २१२७ ॥

विजयोदयः—सहसा बुद्धरक्तछिदे सहसा स्कलने जाते भिद्यता मया कृतमिति प्रतीयति, निष्कृमणप्रवेसयोऽन्तस्ति कानिपीधिकाशब्दप्रयोगं करोति ॥

मूला—बुद्धरक्तछिदे अरुणे किञ्चिद्वर्णं वा संयमे सति । भिच्छाकारो भिच्छा तत्रा कृतमिति भाषणं । आसि-
न निर्गमने 'आसिका' शब्दोच्चारणं निसिधियावो । प्रवेशे 'निपीधिका' शब्दोच्चारणं ॥

अर्थ—कुल स्वतन्त्र होनेपर अर्थात् आवश्यककर्म शोदासा किया गया नहीं किया गया हो मैंने भिद्या किया 'भिद्यता मया कुल' ऐसा मोलते हैं. वंदनादि कार्यके लिये जाते समब और प्रवेश करते समय असहि और निगूही ऐसा शब्दोच्चार क्रमसे करते हैं.

पादे कंटयमार्दि अच्छिस्म रजादियं जदवेज्ज ॥

गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य तुसिणीओ ॥ २०५७ ॥

पादयोः कंटके भग्ने रजसिक्षणयोगेति ॥

तूष्णीमास्ते स्वयं पीरो परेणोद्धरणेऽपि सः ॥ २१२८ ॥

विजयोदयः—पादे कंटयमार्दि पादयोः कंटकप्रवेशे भेदयोः रजःप्रभृतिप्रवेशेपि तूष्णीमास्ते, परनिष्करणेपि स तूष्णीमास्ते ॥

पापादौ शंढकादिप्रवेशनस्योपेक्षाशुचिदिति—

मूला—कंटयमादौ कंटकशीलकादिकं । आमेज्ज प्रविशेत् । अथाविधि यथाविधि । शोक्तविधिना याति निराकर्तुं न प्रयति इत्यर्थः । परणीहरणे परेण निष्ठास्यमाने पादभग्नकंटके इत्यर्थः । हुण्दीय मोनेन विव्रति । तुसिणीओ इति पाठे तूष्णीको मोनशीलो भयनीत्यर्थः ॥

अर्थ—पैरोमें कांटा चुभ गया और नेत्रमें रज-धूलीका कण चला गया तो भी ये अपने हाथसे नहीं नि-
काशते हैं. दूसरोंके द्वारा निकाला जानेपर मोन मोन घारण करते हैं.

केतव्वणमाहारयचारणक्षीरासवादिच्छीसु ॥

तवसा उप्पण्णासु वि विरागमावेण सेवदि सो ॥ २०५८ ॥

मानविषासु आतासु लब्धिष्वेव महामनाः ॥

न किंचित्सेवते जातु चिरागीभूतमानसः ॥ २१२९ ॥

वित्तयोदया—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो आहारकदो चारणकदो क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-
वि विरामतया न किंचित्सेवते सः ॥

विधियाक्रदो—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो

मृत्प्रा—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो आहारकदो चारण कदो क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-
क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-

अर्थ—तपके द्वारा वैश्विक शक्ति, आहारक शक्ति, चारण शक्ति, क्षीरास्रावित्वादि लब्धि प्राप्त होनेपर
भी निरक्तता युक्त श्रमिणम होनेसे ये उनका सेवन नहीं करते हैं. अर्थात् उसका उपयोग नहीं करते हैं.

मोणाभिगहणिरदो रोगार्कदिवेदणाहेतुं ।

ण कुणदि पडिकारं सो तहेव तण्हासुहादीणं ॥ २०५९ ॥

वेदनानां प्रतीकारं क्षुदादीनां च धीरधीः ॥

न जातु कुल्लो किंचिन्मौनव्रतमवस्थितः ॥ २१३० ॥

पित्तयोदया—मोणाभिगहणिरदो मौनव्रतोपपन्नः रोगार्कदिवेदनाहेतुं प्रतीकारं न करोति तथैव शुद्धा-
धीनामपि ॥

रागदुःखीकारमपि तस्याह—

मूढारा—मोणाभिगह मौनस्वीकारः ॥

अर्थ—मौन व्रतको धारण करते हैं. रोगादिकोसे पीडा होने पर उनका प्रतीकार इत्याज नहीं करते हैं.
भूरा, प्यास, शीत, उष्ण, इत्यादिकोका भी वे प्रतीकार नहीं करते हैं.

उद्यमसो पुन आहरियाणं इंमिणिमदो वि छिण्णकधो ॥

देवेहिं माणुसेहिं च पुटो घमं कचेदिति ॥ २०६० ॥

उपदेवोऽन्यस्तुरीणार्मिगिनीमरणेऽपि सः ॥

त्रिदशैर्मनुजैः दृष्टो विद्यते धर्मवेदानाम् ॥ २१३१ ॥

गिलायोदया—अथसो पुन आइरियाणं उपदेशः पुनः आचार्याणां इंगिणीयतोपि धर्मं कथयति देवैर्मनुजै-
र्यां दृष्टः । कथं कथयति उल्लेखं प्रवर्तते न मन्त्रता ॥

केचिद्धर्मदेसनमिगिण्यामप्युपनिर्बोधि दर्शयन्ति—

मूढारा—आवरियाणं आचार्यविराजाम् । विट्ठिउण्यकयो विच्छिन्ना स्तोका कथा यस्यासौ विच्छिन्नकथः स्यात् ।
उण्यकयो इति वा शेषः । देवैर्मनुजैर्वा धर्मं कथयति दृष्टः सन्निगिणीगतोऽपि स्तोकां धर्मकथां करोति । इलान्येपां
मन्त्रित्वैः ॥

अर्थ—इंगिनीमरणे तत्पर रहकर भी वे मुनि देव अथवा मनुष्यके द्वारा श्रुत जानेपर योडासा धर्मो-
पदेश भी करते हैं ऐसा अन्य आचार्यों का मत है.

एवमधक्खादविधिं साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा ॥

सिज्झंति केह केहं हवंति देवा विमाणेसु ॥ २०६१ ॥

इंगिनीमरणेऽप्येवमाराध्याराधनां युधाः ॥

केचित्सिख्यन्ति केचिच्च सन्ति येमानिकाः सुराः ॥ २१३२ ॥

इंगिनीमूर्तिं सुखानुवंगिणीं निर्मलां कपायनाक्षकौशलाम् ॥

प्रविता भजन्ति विम्वर्जिता ये नरा भवंति तेऽजरामराः ॥ २१३३ ॥

इति इंगिणीमरणम् ॥

विजयोदया—एवमधक्खादविधिं एवं यथाख्यातक्रमेण इंगिणीं प्रसाध्य विरस्तकलेसाः केचित्सिख्यन्ति,
कचिद्धैरामिगिन्देया भवंति ॥

इंगिणीमाश्रित्यमभिष्टौति—

मूढारा—अधक्खादविधिं ययोकत्तम् । धुदकिलेसा ययोकत्तमेगिणीं प्रसाध्य जीवन्मुखाः संव इत्यर्थः ।
सिज्झंति मञ्जीणकृत्स्नकर्माद्यः पंडितपंडितमरणेन निर्वाणवीत्यर्थः ।

अर्थ—यहाँ तक जो इंगिनीमरणका विधि है उसको सिद्ध करके कोई भुनि संपूर्ण कर्मक्लेशोंको दूर करके मुक्त होते हैं, और कोई वैयानिक देव होते हैं.

१५९०

एवं इंगिनिमरणं वाससमासेण वणिज्जं विधिणा ॥

पाओगमणणिगिचो समासदो चेव वण्णोसिं ॥ २०६२ ॥

इंगिनीमरणं प्रोक्तं समासव्यासयोगतः ॥

प्रायोपगमनं वक्ष्ये व्यासेन विधिनायुना ॥ २१३४ ॥

विसयोवपा—स्पष्टायों गाय ॥ इंगिनी ॥

मठउमुरसंहत्तुपदेशांतरमुपक्षिपति—

मुढारा—वाससमासेण समासवर्णनाय 'को भक्षयदिब्बाए' इत्यादिसूत्राविशेषासामर्थ्याद्विज्ञावद्वर्गंतव्या ॥

एदनिगिनीमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इंगिनी मरणका विधि विस्तारसे और सफासुते-संक्षेपसे हमने वर्णन किया है. अब आगे प्रायोपगमन मरणका संक्षेप से वर्णन करते हैं. इंगिनी मरणका वर्णन समाप्त हुआ.

पाओवगमणमरणस्त होदि तो खेव बुवक्कमो सव्वो ॥

युचो इंगिमणमणस्सुक्कमो जो सवित्थातो ॥ २०६३ ॥

इंगिनीमरणेऽवाचि प्रकमो यो विशेषतः ॥

प्रायोपगमनेऽप्येव द्रष्टव्यः श्रुतपारमैः ॥ २१३५ ॥

पित्तयोदण—स्पर्शायः ॥

अर्थावः परतैरायुष्यनपेक्षाऽश्रणं शंखिमरणं स्वतृतीयविकल्पं प्रायोपगमनमरणं गायानवकेन व्याचि-
क्यामुण्णो बहुप्रक्रममतिदिरुति-

मुढारा—स्पष्टम् ॥

मूलाराधना

अर्थ—इंगिणीमरणका जो सविस्तर विधि बता है वही प्रायोपगमन मरणका भी विधि समझना चाहिये-

णवर्णिं तणसंयारो पाओवगदस्स होदि पडिसिच्चो ॥

आदपरपओगेण य पडिसिच्चं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥

संस्तरः क्रियते नात्र तृणकाष्ठारदिनिर्मितः ॥

स्वकीयमन्यवपियं च वैषाद्युत्पं न विद्यते ॥ २१२६ ॥

विजयोवया—णवर्णिं तणसंयारो णवरं तुणसंस्तरः प्रायोपगमनगतस्य प्रतिपिद्यः, मास्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिपिद्यः तयः प्रतीकारः । स्वरसंयारप्रतीकारोपेक्षः भक्तप्रत्याख्यानाविधिः, परनिरोक्षमात्मसंयारप्रतीकारविधिगीमरणं, सर्वमतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यर्थो भेषः ॥

लसर्मेणीपदिषवापवादमाह—

यूछारा—णवर्दि किंतु । पाओवगदस्स संयारपादाभ्यां योग्यदेसमुपगतस्य शुद्धिगुणन्यासे सतीत्यर्थः । पडिसिच्चो निविद्यः । णोदेत्यादि सर्वप्रतीकाररहितमिति स्वर्थः । एतेन भक्तप्रतिगिणीभ्यामस्य भेदो दृश्यते ॥

अर्थ—इस प्रायोपगमनमरणमें लूणकें संस्तरका निषेध है. क्योंकि यह प्रायोपगमन करनेवाले मुनि स्वतः और परतः शुद्धया नहीं करते हैं. स्वयं भी अपनी शुद्धया नहीं करते हैं और दूसरोंको भी शुद्धया नहीं करने देते हैं. भक्तप्रत्याख्यानाविधीमें स्वयंशुद्धया विधिकी अपेक्षा है. इंगिनी मरणमें परशुद्धयाका निषेध है, परंतु स्वयं अपनी शुद्धया करते हैं. ऐसा इन तर्गि मरणोंमें आपसमें भेद है.

सो सहेदिदेहो जम्हा पाओवगमणमुवजाधि ॥

उच्चारानिर्विकचणमवि णत्थि पवोपादो तम्हा ॥ २०६५ ॥

करोत्येनं ततो योगी कृतसल्लेखनाविधिः ॥

उच्यारप्रसवावीनां ततो नास्ति निराक्रिया ॥ २१३७ ॥

त्रिनयोरदया—सो सत्प्रेमिन्दुषो स सम्यस्तनूतनभारीयो यस्मात्प्रायोपममनुपपत्तिरसमादुञ्च्यतादितिरा
 क्राजमपि नास्ति प्रयोगवत् ।

अभिषेकसमयाने पितृगरीं स्लाद्विष्णुमन्त्राद्यपनयनमाजस्रस्वयं परेण वा न स्यादित्यह--

मूलात्—एवौगदोस्वपरव्यापारणया ॥

मूलतः—स्वाभ्यासः कर्मस्य कौशलम् ।

पुढरी आऊतेंकणफदितंससु जदि त्रि साहसिदो ॥

बोमट्टचत्तर्दो अघाउगं पालणु तत्थ ॥ २०६६ ॥

पृथ्ग्वीवायुग्निरायादौ निक्षिप्तस्तथैकविग्रहः ॥

आयुः पालयमानोऽसावुदासीनोऽवतिष्ठते ॥ २१३८ ॥

निजयोदया—पुढयी आऊनेऊनपकवितसेतु तनि वि साहसिदो पृथिव्यादिपु अथनिरायेपु यद्यपि केनचि-
वारदस्ताथि श्युलमन्थरीएतत्कारस्यनेदेह द्यमायु पात्येव ॥

प्रथिभ्यादिभूतिषि त्रौयत्रिकीयेषु केनचित्प्रतिद्वन्द्वेनैव सर्वं चिदीयुषा प्रतिक्षितोऽवसौ वत्रैव भिबदे इत्युपदिशति—
मूला—योऽष्टपत्तयेहो सरकारमकाराविषयीकृतसरीर । अयाम्ग पाण्डय यथायु प्रवीक्षते । स्वायु क्षयं
यापयपतिष्ठते इत्यर्थः ॥

अर्थ—सर्वितृ शुची, अग्नि, जल, ननस्पति इत्यादि जीविनिर्माणम् यदि किञ्चिन् उनको फेंक दिया तो वे शरीरें ममत्व छोड़कर अपनी आप्रमर्माणि होनतक वहाही निश्चल रहते हैं

मज्जनयंगंघणुप्फोवयारण्डिचारणे वि कीरते ॥

बोसट्टचत्तदेहो अघाठगं पालए तधमि ॥ २०६७ ॥

गद्यमसूनधूपान्ये क्रियमाणेऽन्युपग्रहे ॥

तपस्केतुहृतयोदास्तं स सग्रीवितपालक ॥ २१३९ ॥

संस्तुतस्तथापि शुभसुखलक्षणरीरो न रूपयति न तुष्यति न निवारयति ॥
केनचिदभिव्यक्तदिनोपनयनमणोप्यसौ न दुष्यति न रूपयति नापि निवारयतीत्यनुस्मृत्योपसंगोपसंगमुपदेष्टुमाह—
मूलारा—तथैव प्रतिशूलोपसंगेनदेवैर्लभ्यः ।

अर्थ—यदि कोई उनका अभिषेक करेगा अथवा उनको गंध पुष्पादिच्छेसे पूजा करेगा तो वे उनके ऊपर न क्रोध करते हैं न प्रसन्न होते हैं, तथा उनका निवारण भी नहीं करते हैं.

वोसदृचचदेहो दु गिक्खिबंजो जहिं जथा अंगं ॥

जावज्जीवं तु सये तहिं तमंगं ण चालेज्ज ॥ २०६८ ॥

यत्र निक्षिपते देहं निःस्पृहः शान्तमानसः ॥

ततश्चलयते नासौ यावज्जीवं मनागपि ॥ २१४० ॥

विजयोप्या—वोसदृचचदेहो

स्तमंगं न चालयति ॥

यत्र यथा यत्तर्वांगं प्राप्तिक्षिप्तं ततस्तथाभावात्तत्र तत्स्वयं यावज्जीवं न चालयतीत्याचष्टे—
मूलारा—गिक्खिबंजो निक्षिपेत् । अहिं यत्र स्यात् । तदि तस्मात् । स्थानादवस्थानात् ।

अर्थ—जिस के ऊपर इन मुनिने अपना अंग रख दिया है उसपरसे वे मुनि स्वयं यावज्जीव अपना अंग हिलाते नहीं हैं.

एवं गिप्पडियमं भणंति पाओवगमणमरहंता ॥

गियमा अणिहारं तं तिया य णीहारमुवसगो । २०६९ ॥

इत्युक्तं निःप्रतीकारं प्रायोपगमनं खिनैः ॥

नियमेनावलं श्रेयंसुपसर्गे पुनश्चलम् ॥ २१२१ ॥

विजयोद्या—एवं विजयद्विद्वारं एवं स्वप्रकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं जिना चंदेति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-
मतीहारमपत्तं स्यात्तत्त्वमपि उपसर्गं परकृतचलनमपश्य ॥

उच्छासोपसंग्रहमाह—

मूलरा—जियमा अणीहार निश्चयेनाचल स्वकृतदरीरचलनाभावात् । सियाय स्वादयि । अहीहारमुवसगमे
अपसर्गे परकृतचलनमपश्य चलमपि मयेदित्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार स्वयं प्रतिभार किया जाना और अन्यके द्वारा प्रसिद्ध किया जाना इन दोनों प्रतीका-
रोंसे रहित इस मरणको प्रायोपगमन नामक मरण कहते हैं. निश्चयसे यह मरण अनीहार अचल है. परन्तु उपसर्ग
अपेक्षसे इसको चल भी माना जाता है.

उवसगमेण य साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं ॥

तम्हा वुत्ते णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥ २०७० ॥

उपसर्गवृत्तः कालमन्यत्र कुरुते यतः ॥

ततो अतं चलं प्राज्ञैरुपसर्गवृत्ते स्थिरम् ॥ २१४२ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलरा—अण्णत्थ स्वापान्नस्यानापरत्त । अदो अतः ॥

अर्थ—उपसर्ग के बन्ध होने पर स्वस्थानको छोड़कर यदि अन्यस्थानमें मरण हो जाता है तो उसको नीहार
प्रायोपगमनमरण कहते हैं. और जो उपसर्ग के अभाव में स्वस्थान में ही हो जाता है उसको अनीहार कहते हैं.

यत्तदेयोत्तरमात्रया स्पष्टयति—

यडिमायडिवण्णा वि दु कंरंति पाओवगमणमप्येगे ॥

दीहदं विहरंता इंगिणिमरणं च अप्येगे ॥ २०७१ ॥

प्रायोपगमनं केचित्कुर्वन्ते प्रतिमास्थिताः ॥

प्रपयाराधनां देवीमिगिनीमरणं परे ॥ २१४३ ॥

इति प्रायोपगमनम् ॥

विजयोद्वा—पट्टिसिद्धवर्णा सि दु प्रतिमाप्रतिपद्या अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वति, एके इतिमिभरणं ॥
प्रायोपगमनं केचित्तुल्यवस्तुत्वं कायोत्सर्वं प्रतिपद्या अपि कुर्वन्त्ये पुनश्चिरमुपवासं कृत्वाप्येवमिगिणी
मयीति विभक्तिं दर्शयति—

मृदारा—पट्टिसा फागेत्सर्गः । दीहदं चिरकाळं । विहरिता उपवासं कृत्वा । इत्तं ॥—

प्रायोपगमनं केचिद्विश्रवप्रविद्या अपि ।

कुर्वन्त्ये विद्वद्योर्धेदिगिणीमरणं वया ॥

इति प्रायोपगमनमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

इसी प्रायोपगमनमरणका स्पष्टिकरण करते हैं—

अर्थ—फापीस्सर्ग को धारण कर कोइ मुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं, और कोइ दीर्घकाळतक उपवास कर इस मरणसे छरीरका त्याग करते हैं, इसी प्रकार इगिनीमरणके भी वेद समझने चाहिये.

आगाडे उपसग्नो दुब्बिक्खे सव्वदो विदुत्तरे ॥

कदल्लोमिसमधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥ २०७२ ॥

उपसंगं सनि प्राप्ते दुब्बिक्खे न्नुत्तरे ॥

कुर्वन्ति मरणे बुद्धिं परीपहसिहणवः ॥ २१४४ ॥

विजयोद्वा—आगाडे उपसग्नो उपसग्नो महति दुग्धिं दुर्गच्छते अस्ते कृतयेमिनाः परीपहसदः कारणजातमाश्रित्य मरणे क्लेशादा भवति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरमाध्यामिस्मृत्यन्ते ॥

पर्व पठितमरणविकल्पभक्तदयाख्याजदीक्षीनपि निरुप्य मद्येपसर्गदो सति कारणजातमाश्रित्य सुभावितात्मानः क्लेशदिवमरणेत्सादा भवन्ति इत्युपदेशार्थं चूडिकागाथापट्कमाह—

मृदारा—दुत्तरे दुर्गच्छते । कदलोमी रत्नत्रयमुक्ताः । समाधिविशिष्य उपसर्गोदिसदनमर्थोः । कारणजादेहिं वि अपराधपि मरणकारणानि वतमान्याश्रित्य । जन्वस्तु कारणे जाते इति मन्यते । उदुत्तं—

मद्येपसर्गं दुग्धिं सर्वेऽपि दुर्गच्छते । विन्ते कारणे जाते कृतबोध्यपियासिनः ।

प्रायेणामन मरण वर्णन समाप्त हुआ.

अर्थ--महान् उपसर्ग प्राप्त होनेपर तथा बिसकी गल्ल होनेकी आशा नहीं है ऐसा भयंकर दुष्काल आ-
पदेनपर रत्नत्रयगुक्त, उपसर्ग सहन करनेमें समर्थ-ऐसे मुनिसाज मरणमें उत्साहयुक्त हो जाते हैं-

कोसल्य धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिच्छपुट्ठेण ॥
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरं विप्पज्जहिट्ठण ॥ २०७३ ॥
पाडलिपुत्ते धूदाहेट्ठं मामयकदम्मि उवसमो ॥
साधेदि उसमसेणो अट्ठं विक्खाणसं किञ्चा ॥ २०७४ ॥
अहिमारणुण णियदिम्मि मारिदे गहिदसमणल्लिगेण ॥
उदाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि मणी २०७५ ॥
सगडालएण वि तथा सत्तग्गहणेण साधिवो अरयो ॥
वरुहपओगहेट्ठं रुहे णंदे महापडमे ॥ २०७६ ॥
एवं पण्डियमरणं सन्निययं वणिणं सवित्थारं ॥
सुल्लामि बालपण्डियमरणं एत्तो समोसेण ॥ २०७७ ॥
कोशल्लो धर्मसिहोऽयं सखाय भ्वासरोघतः ॥
कोष्णतीरे पुरे भीरो हित्वा चंद्रअियं नृपः ॥ २१४५ ॥
सुतार्थ पाटलीपुत्रे मातुलेन कदर्थितः ॥
जन्नाहर्षमसेनोऽयं वैखानसमृत्ति अितः ॥ २१४६ ॥
नृपे हते हि चोरेण यत्तिल्लिगमुपेयुषा ॥
आचार्यःसघञान्त्यथं शालग्रहणतो मृतः ॥ २१४७ ॥

शुक्लप्रहणतः स्वार्थःशुक्लदालेन साधितः ॥
 कुतोऽपि हेतुतः कुब्जे नंदे सति महीपती ॥ २१४८ ॥
 अकारि पंडितस्येति सप्रपंचा निरूपणा ॥
 इदानीं वर्णयिष्यामि मरणं बालपंडितम् ॥ २१४९ ॥

इति पंडितमरणम्

चित्तयोद्धा—वधितमरणं ॥ एवं पण्डितमरणं सविकल्पं सविस्तरं व्याचर्षितं, यद्यपि बालपण्डित-
 मरणमित्थं संक्षेपेण ॥

उपाधेसमर्थनार्थेयद्योऽन्यानपुष्टयमाचष्टे—

मूढारा—कोसलक अयोध्यायां । यन्मसीहो धर्मसिंहो नाम राजा । अहं आराधनां । साधेहि साधयति ।
 बत्कालापेक्षया वर्तमाना, साधयति रमेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । गङ्गकुण्डेन हस्तिक्षेत्रवरप्रवेष्टेन । कोल्लगिरे कोल्लगिरि-
 नाम्नि । बंसिदि चंद्रश्रीसंज्ञितां स्वभार्यां । विष्वज्जहिदूजं त्यक्त्वा ॥

मूढारा—भूदावेष्टुं पुत्रीनिर्मितं । मातयकदम्भि अशुरेण कृते । विक्साणसं वैरदानसं श्वाखतिरोपभित्त्यर्थः ।

मूढारा—अदिमाराण अहिमारकतान्ता दुष्टोपासकेन । निबदिमि साबस्तिक्कलारीनारे जयसेनात्यये ।
 उद्गाहपसमर्थनं श्वाभवाइनिषारणार्थः । अकसि छत्तवान् । गणी यतिवृषयनामाचार्यः ।

मूढारा—सगङ्गाक्षेपणं सकटाक्षमाग्ना मुनिना । सत्यग्राहणेण छुरिकया जठरविदारणेन । वररविपज्जोनेष्टुं
 वररविप्रयोगेण हेतुना । महापद्मे महापद्मे महापद्मपर्माचार्यस्य समीपे प्रतिपन्नश्रीक्षेपेत्यर्थः ।

महोपसंहारपुरःसरं व्याख्येयौत्तरमुपक्षिपति—

मूढारा—सविमर्षं भक्तप्रदाकृत्यानेगिनीप्रायोपगममेवेदमयसहितं । वूडिळा ॥ ६ ॥ इति पंडित मरणव्याख्यानं
 समाप्तम् ॥

इतरे कुछ उदाहरण वर्तावे हैं—

अर्थ—अयोध्या नगरीमें कोल्लगिरिपर्वतपर धर्मसिंह नामक राजाने अपनी पत्नी चंद्रश्रीका त्यागकर हा-
 धीके शरीरमें प्रवेशकर व्याघ्रानाकी सिद्धि की है. पाटलिपुत्र नगरमें अपनी पुत्रीके लिये मामाके द्वारा उपसर्ग

क्रिया जानेपर इपमसेन नायक पुलने खासरोध करके आराधना की सिद्धि की है- अहिमास्त्वनामक बुद्धधर्मका उपासक पुरुष था उसने मुनिका रूप धारण किया था, उसने सावस्वी नगरीके जयसेन राजा को मार दिया- उस समय अपने ऊपर राजाको मारनेका अपवाद आयेगा ॥ हेतुते इपमसेन नामक आचार्यने इसके द्वारा अपना घातकर आराधनाकी सिद्धि की है- शुकटाल नामक मुनिने महपद्म नामक धर्मोचार्यके समीप दीक्षा धारण की थी इस शुकटाल मुनिने वरुणिके कारण शस्त्रसे अपना मात कर आराधनाओंकी सिद्धि की है-

इस प्रकार संदित मरणका विकल्पके साथ आचार्यने सबिल्लर वर्णन किया है, अब यहाँसे बालपंडित मरणका संक्षेपमें वर्णन करते हैं-

देसेकदेसविरदो सम्मादिद्वी मरिज्ज जो जीवो ॥

तं होदि बालपण्डितमरणं जिणसासणे दिहं ॥ २०७८ ॥

संपत्तासंयतो जीवः सम्यग्दर्शनभूषितः ॥

यस्य मरणं प्रोक्तं धृतशैर्बालपंडितम् ॥ २१५० ॥

विजयोदया—देसिषकेदसविरदो सव्यासंयमप्रत्याक्यावसासमर्णः हिंसायिक्तेशद्विरतः स्थूलभूतमाणाधिपातादिपंचकादेशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरतमेनेपि एकदेशाद्यावृत्तः सम्यग्दर्शिनो विपश्ये तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥

अथातो बालपंडितमरणं गाथादशकेन न्यायिण्यासुतादी स्वाभिमतिर्देशुस्वेतं श्लक्षयति—
मूलारा—देसेकदेसविरदो भूबर्द्धिसाविपंचकमग्नोवाक्कायकृतादिना न्यावृजो देशविरत इत्युच्यते । एकदेश-विरतस्तु देशभिरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः । स्वज्ञपञ्चसुसारेण कृतहिंसादिनिवृत्तिरित्यर्थः । एतेन सकलेन विकलेन च सा-गारपरमेष्ठे युक्तः आत्मको निर्दिष्टः । तं तस्य ॥

अर्थ—स्थूलहिंसादि पापोंसे मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन इनके द्वारा जो विरक्त हुआ है उसको देशविरत कहते हैं- और एक देशविरत उसको कहते हैं कि जो एक देशविरातिके भी एक देशसे विरक्त

भोगाणं परिसंखा सामाद्यमतीहिसंविभागो य ॥
 पोसहाविधी य सन्वो चदुरो सिक्खाव बुत्ताओ ॥ २०८२ ॥
 आसुकोरे मरणे अज्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ॥
 णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ॥ २०८३ ॥
 हिंसामसुनृतं स्तेयं परनारीनियेषणम् ॥
 चिसुचतो महालोभं पंचधाणुवतं मतम् ॥ २१५२ ॥
 दिग्देवानर्थदंढानां त्यागस्त्रेषा गुणव्रतम् ॥
 शिक्षाव्रतमिति प्राज्ञेद्यतु भेदमुदाहृतम् ॥ २१५३ ॥
 भोगोपभोगसंख्यानां सामायिकप्रसङ्गितम् ॥
 संविभागोऽतिथीनां च प्रोपयोपोपितव्रतम् ॥ २१५४ ॥
 सहसोपस्थिते मृत्यौ महारणे वुरुत्तरे ॥
 स्वर्वाधैरनुज्ञातो याति सल्लेखनामसी ॥ २१५५ ॥

विजयोव्या—आसुकोरे मरणे सहसा मरणे अछिण्णायां जीविताशायां वंशुभिर्वा न मुक्ताः पश्चिमसल्लेख-
 भागकृत्या छतालोचनो निरुपयः स्वगृह एव संस्तरमाकल्य देशांतरतस्य मृतिवालवणिद्वतमिरुच्यते ॥

पंचाणुव्रतमिदंसायमाह—

मूलाए—दिसाधिरव्रणं सर्वैर्दिसादिनिवृत्यर्थं विमिद्विमानं परिमाणवधारणं । अणुर्यदंहेहिं
 पकरणदानापथ्यानकुलाश्रयणप्रमादाचरणेभ्यः पंचभ्यः । देसावगासिंयं गृहक्षेत्रादिषु हिंसादिनियत्यर्थं
 परिमाणकारणम् ॥

शिक्षाव्रतचतुष्टयं दर्शयति—

मूलाए—भोगाणं परिसंखा भोगोपभोगपरिमाणं । सामायिकं । त्रिकाण्डेपचंदनादिर्हं । अद्विषि पात्रं । पोस-
 भक्तिरी पर्वचतुष्टये उपवासैकमकादिवपधारणं । सिक्खातो सिद्धाष्टधानि ।

यथोक्तमात्रं करणकृण्वन्सङ्केतनस्तत्र मरणं बालपंक्तिवमरणसंज्ञया व्यपवेष्टुं भाष्यद्वयमाह—
मूढारा—आसुकारे सहसोपस्थिते । अन्वोच्छिद्यन्नाष्ट खट्विष्टमार्गो ॥

गृहस्थको वारा व्रतोंका वर्जन.

अर्थ—आणोंका घात करना, अतत्त्व चोखना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, परिग्रहमें अमर्याद दृष्ट्या रखना, इन पापोंसे विरक्त होना अनुव्रत है. तब हिंसादि पातकोंका त्याग करनेके लिये दिशा तथा विदिशामें यमन का परिमाण करना विव्रत है. पापोंदेख, हिंसादान, अपचयन, कुशासत्यवण और प्रमादयुक्त आचरण इन पांच प्रकारोंसे विरक्त होना अनर्थद्वन्द्वत कहा जाता है. घर, लेत शरीर की मर्यादा का हिंसादिनिवृत्ति करना अर्थात् क्षेत्रादि मर्यादाके घातूर जानेका त्याग करना, मर्यादामें ही रहना दंडावकाशित मत है. भोग और उपभोगोंका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण मत है. व्रिकालमें देवचंदनादिक करना सामयिक है. वारों पंचविधियोंमें उपवास करना, एकदफे भोजन करना इत्यादि तप करना प्रोपचोपवात मत है. पातको दान देना आतीपसीविस्मगावत है, ये चार शिक्षाव्रत हैं. इन व्रतोंको बालनेवाले गृहस्थ सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर, अथवा बंधुओंने जिसको दीक्षा लेनेको सम्मति नहीं दी है ऐसे प्रमंगमें मरीरसंछेखता और कण्ठपसंदुबना न करके भी आलोचना कर, निःशुल्क होकर परमें ही संस्तरपर आरोहण करता है. ऐसे गृहस्थकी वस्तुको बालपंडित मरण कहते हैं.

आलोचिद्विणिससङ्घो सधरे चेवाकृद्विदु संथारं ॥

जदि मरदि देसविरदो तं बुत्तं बालपण्डित्थं ॥ २०८४ ॥

जो अचतपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिदिट्ठो ॥

सो चेव बालपण्डित्थमरणे केओ जहाजोगो ॥ २०८५ ॥

वेमाणिएसु कण्ठोवगेसु गियमेण तस्स उवकादो ॥

णियमा तिग्घादि उक्कस्सएण वा सत्तममि भवे ॥ २०८६ ॥

इय बालपंडित्यं होदि मरणमर्हंतसासणे विट्ठुं ॥

पुत्तौ पण्डितदण्डिदमरणं वोच्छं समासेण ॥ २०८७ ॥

विवायालोचनां सम्पक् प्रतिपद्य च संस्तरम् ॥

श्रियते यो गृहस्थोऽपि तस्योक्तं बालपण्डितं ॥ २१५६ ॥

प्रोक्तो भक्तप्रतिज्ञायाः प्रक्रमो यः सविस्तरम् ॥

अत्रापि स यथायोग्यं द्रष्टव्यः श्रुतपारंगो ॥ २१५७ ॥

येन देवयतिना निषेव्यते बालपंडितमृतिनिर्निराकुला ॥

भोगसौख्यकमनीयतावधिः कल्पवासिविद्युयः स जायते ॥ २१५८ ॥

एकदा शुभमना विपद्यते बालपंडितमृतिं समेत्य यः ॥

स प्रपद्य नरदेवसंपदं सप्तमं भवति निर्धृतो भवे ॥ २१५९ ॥

इति बालपंडितम् ॥

एवं समासतोऽवाचि मरणं बालपंडितम् ॥

अधुना कथयिष्यामि मृत्यु पंडितपंडितम् ॥ २१६० ॥

विजयोदया—स्पर्धार्थं नया माथा ॥ बालपण्डितं ॥

मूलारा—आलोचिद विधिवत्कृतालोचनः । गिस्सहो मायानिदानमिध्यात्वमुक्तः । सचरे वेव सगुहरे गय,

न चैवात्यदादौ ।

दत्तयोगविधिमितिदिदति—

मूलारा—अभावोक्तो यो यो योगः आत्मकारणप्रयोषितः । श्रीकवित्वसमाध्यादिः स स इत्यर्थः ।

तत्कलमभ्युदयपुरःसरं निःशेषसमवयवतया निरूपयति—

मूलारा—कविवेगेषु सोधमार्तिकस्तोपपन्नेषु देवेषु मध्ये । वरस बालपंडितवृत्तस्य ।

प्रस्तुतोपसंहारापुरस्सरं व्याख्येयान्वत्सुपक्षिपति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ इति बालपंडितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ-भक्तप्रत्याख्यान मरणमें जो प्रयोज्यविधि निस्सारते हुये कहा है- वही इस बालपंडितमरणमें गृहरथ के योग्य समझना चाहिये. भावकके रत्नत्रय को योग्य ऐसा जो जो निवध, सप्ताधि वगैरह विधि है वह यहाँ भी समझना चाहिये. बालपंडित मरणमें भरण करनेवाला श्रावक नियमसे सौधमोदिकृत्योंमें उत्पन्न होता है. तदनंतर उत्कृष्टदासे सात प्रयोगों यह नियमसे भिन्न होता है. इस प्रकार अरहंतके आगममें बालपंडित मरणका स्वरूप कहा है. अब यहाँसे आगे पंडितपंडितमरणका स्वरूप हम (आचार्य) कहते हैं.

साह जघुत्तचारी वट्टतो अप्पमत्तकालमि ॥

ज्झाणं उवोदि धम्मं पबिहुकामो स्ववग्गसेट्ठि ॥ २०८८ ॥

अग्रमत्तगुणस्थाने वर्तमानस्तपोपनः ॥

आरोहुं क्षयकथेर्णो धर्मस्थानं प्रपद्यते ॥ २१६१ ॥

विकसोदया -- साह जघुत्तचारी बालोक्तन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाळे धर्म्यं स्थानं
मुपैति क्षयकथेर्णि प्रवेष्टुकाम. ४

अर्थ- बालका लमरणानि चतुष्टयं प्रणिगद्य पंडितपंडितमरणं भाषाद्वयसत्वा निरूपयन्-जीवन्मुक्तिप्राप्तुर्मात्र-
मौपक्रमं पंचदशगाथाभिरभिवर्णते--

मूळारा -- पवि सिट्ठकामो प्रवेष्टुमिच्छन् ।

अर्थ-शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण करनेवाले शुभिराथ अग्रमत्तगुण स्थानमें क्षयकथेर्णीकी प्राप्ति कर लेनेके
सिधे धर्मस्थानको धारण करते हैं.

ध्यात्वापरिकरं बालं प्रतिगन्धवति--

सुचिप्पं समे विचिप्पे देसे णिज्जंतुए अणुणाए ॥

उज्जुअआपददो अचलं बंधेचु पल्लिकं ॥ २०८९ ॥

अनुज्ञाते समे देसो विविक्के जंतुवर्जिते ॥

अलयायतवपुर्गच्छिः कृत्वा पर्यंकबंधनम् ॥ २१६२ ॥

विजयोदया—सुविण समे शुभौ समे एकाते देशे निज्जुके अनुज्ञाते तत्त्वामिभिः ऋचायतवेद पत्यं कमचलं
कर्त्तव्या ॥

धर्म्यत्वानस्य बाह्यपरिकर्मानुस्मरयितुं गायत्र्यवगाह—

मूलादा—यिर्विभक्ते एकान्ते । अणुण्णादे तद्विष्णुदेवत्वाभिरनुग्रहे ।

धर्म्यध्यानके बाह्यपरिकरका वर्णन—

अर्थ—पवित्र, सभ, निर्बन्तुक, देवतादिकसे अनुमति जहाँ ली गई है ऐसे स्थानपर मुनि निश्चल
खटे होकर अथवा पर्यंकासनसे ध्यान करते हैं

वीरासनमादीर्यं आसनसमपादमादियं ठाणं ॥

सम्मं अधिष्ठितो अथ वसेज्जमुत्तानसयणादि ॥ २०९० ॥

वीरासनादिकं यदुवा समपादादिकां स्थितिम् ॥

आश्रित्य वा सुधीः शय्यामुत्तानशयनादिकम् ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—वीरासनादिषु बीरासनादिकमासन यद्भ्या समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानशयननिदिना
वा ह्युच ॥

मूलादा—सध्यादी आदिशय्येनैकगार्भादिशयन ।

अर्थ—वीरासनादिक आसनसे बैठकर अथवा समपादादिकसे खटे होकर किंवा उत्तान शयनादिकसे सोते
हुए धर्मध्यान करते हैं

पुण्यमणिदेण विधिणा ज्यायवि ज्ञाणं विसुद्धलेस्साओ ॥

पवयणसंभिणमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥ २०९१ ॥

पूर्वोक्तविधिना ध्याने शुद्धलेशयः प्रवर्तते ॥

योगी प्रचचनाभिज्ञो मोहनीयक्षयोद्यतः ॥ २१६४ ॥

विजयोदया—पुण्यमणिदेण विधिणा पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याते प्रवर्तते विसुद्धलेक्ष्य । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमिति ।
मोहनीयं क्षयं गतमुद्यत ॥

मुद्रारा—पययणसेमिषणनदी चयुरंगपूर्वोर्ध्वमुखद्वयमिष्टबुद्धिः ॥

अर्थ—मोहनपिकर्मका श्रय करनेमें उद्युक्त होकर चौदहपूर्वमि कहे गये जीवादिक पदार्थोंके वरफ अपनी बुद्धिका उपयोग लगाते हैं. और परिणामोंको निर्मलकर पूर्वोक्त विधीसे धर्मध्यान करते हैं.

संज्ञोयणाकसाए खवेदि ज्ञाणेण तेण सो पढमं ॥

विच्छत्ते सम्मिस्सं कमेण सम्मचमवि य तदो ॥ २०९२ ॥

पूर्वं संयोजनान्हन्ति तेन ध्यानेन शुद्धधीः ॥

मिथ्यात्वमिश्रसम्पक्स्वचित्तयं क्रमतस्ततः ॥ २१६५ ॥

पिण्डोदया—संज्ञोयणाकसाए अनंतानुबंधितः क्षोपमानमाश्लोमान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रथमं मिथ्यात्वं, सम्पञ्चिध्यात्वं, सन्त्यक्तं ॥ क्रमेण एवं प्रकृतिसत्तकं विनाशय सायिकसम्पद्दित्तेत्यत्र सप्तकथेऽप्यधिरोद्धा-
मिमुणोऽवद्यप्रभृत्करणे अयमसंस्थाने प्रतिपद्य ॥

धर्मध्यानशुष्णीषसम्पक्स्वचित्तिमोदप्रकृतिसप्तकक्षपयद्युच्यते ॥

मुद्रारा—संज्ञोयण श्रवणसंसारकारणभावनं मिथ्यात्वं अनुबन्धीत्यंतानुबंधितः । क्षोपादीनामवस्थाविशेषा-
कसाए। संयोजनान्हनोच्यते । वेण धर्मेण । मिच्छत्ते मिथ्याधर्ममिनिवेशनिमित्तं दृष्टोद्दनीयं । सम्मिस्सं सम्पद्-
मिथ्यात्वं सामिच्छत्तरसं मिथ्याप्रवित्तयैः सम्मत्तं सम्पक्त्वं क्षुभपरिणामनिबद्धशरत्तं मिथ्यात्वमित्यर्थः । तदु-
च्येति सप्तवर्षध्यानं स्मार्त्तं ॥

अर्थ—मिथ्यात्वको संसारका कारण होनेसे अनंत कहते हैं. इस अनंतका अर्थात् मिथ्यात्वका संबन्ध
करा देने वाले कर्मापेक्षो-क्षोभ, मान, माया और लोभको अनंतानुबधी कपाय कहते हैं. धर्मध्यानसे हत कर्मापेक्षा
मुक्तिराव नाश करते हैं. तत्त्वोंपर मिथ्याग्रहान् कराने वाली कर्म प्रकृतिको मिथ्यात्व कहते हैं. जिसमें आधी शु-
द्धता उत्पन्न हुई है ऐसे कर्मको सम्मिश्र अर्थात् सम्पद् मिथ्यात्व कहते हैं. इस कर्मके उदयसे एक समयमें मिथ्या-
ता और सम्पक्त्व परिणाम युगपत् उत्पन्न होते हैं. क्षुभपरिणामसे अवश्यश्रद्धान् परिणाम उत्पन्न करनेवाली शक्ति
जिसकी नष्ट हो गई है ऐसे मिथ्यात्व प्रकृतिको सम्पक्त्व कहते हैं. इन सात्विक श्रय करके अग्रपक्ष गुणस्थानवर्ती
पुनि शायिक सम्पक्त्वी होने हैं. तदनंतर धर्मध्यानसे क्षयकथेणीपर आरोहण करनेकोलिये उन्मुख होते हैं.

सायिक सम्पददृष्टि होकर क्षपक श्रेणिपर चढ़नेके लिए उद्युक्त होते हैं तब प्रथमतः अप्रमत्त गुणस्थानमें अवः करणको प्राप्त होते हैं.

अथ स्वययंसेद्वियधिगमम कुण्ड साधू अपुव्वकरणं सो ॥

होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥ २०९३ ॥

आरुत्ता क्षपकश्रेणीमपूर्वकरणो यतिः ॥

सूत्रा प्रपद्यते स्थानमनिष्टुत्तिगुणामिधम् ॥ २१६६ ॥

विशदोदया—अथ स्वयंसेद्वियधिगमम अथ क्षपकश्रेणीमधियग्य करोति साधुराष्टरुणमस्तौ । किं तदपूर्व करणमित्याहा तापसुप्रपद्यते । होदि तमपुव्वकरणं भवति तदपूर्वकरणं, कदाह अप्पत्तपुव्वंति कदाचिद्विद्यमातपूर्वमिति ॥

धर्मध्यानतः स्वयवसम्पददृष्ट्यादिषु बहुलसंयतमस्थितः सम्बन्धव्यातिप्रकृतिवस्तुतः निरास्तव क्षापिकसम्यक्स्थमध्यास्य क्षपकश्रेण्यारोहणामिमुलाः सप्तप्रथमकारणानि तथा प्रष्टुमकरणमधिगम्य साधुराष्टरुणं क्षपकश्रेणिप्रथमसोपानमारोहतीत्युपदेष्टुमाह—

सूत्रारो— अथ क्षपकश्रेण्यारोहणमधिगच्छते इत्यर्थः । सो धर्मध्यानसाधिनश्च यथशुद्धध्यानोपक्रमः । कयाइ क्त्वाचित् । धर्मादिकालं । अप्पत्तपुव्वंति पूर्वं कप्राप्ता परिणामा यन्मिमास्तदिदं अप्राप्तपूर्वं यतः ।

अर्थ—क्षपक श्रेणिकी प्राप्ति होनेके अनन्तर ये मुनिराज अपूर्व करणको करते हैं. यह अपूर्वकरण पूर्वमें कभी प्राप्त नहीं हुआ था अतः इसको अपूर्वकरण यह अन्यर्थक नाम है. अन्नादिकालमें ये परिणाम इस जीवको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि धर्मध्यानके अनन्तर प्रथम शुक्लध्यानकी प्राप्ति पूर्वकालमें कभी नहीं हुई थी.

॥ अणिविचिकरणणमं णवमं गुणठाणयं च अधिगमम ॥

णिद्धानिहा पयलापयला तव धीणगिद्धं च ॥ २०९४ ॥

॥ दिप्पणी—अथ सो एतेन विभक्तु अणिवद्विष्टुण्युपगमिस्तात् ॥ इति मूलापधनार्थं पठः ॥

सूक्ष्मसाधारणोद्योतस्त्यानयद्विभ्रयात्तपान् ॥

एकादशविकलारूपानां जातिं तिर्यग्द्वयं युनिः ॥ २१६७ ॥

विजयोदया—अभिव्यक्तिकरणानाम् भवमेव गुणलक्षणमपिगम्य अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य निद्राणिद्रा प्रचलाय-
यत्ता निद्रानिद्रां प्रचलाप्रचलां स्मरानपुर्वं च ।

अनिवृत्तिबादरसांपरायणपदस्थानं आद्य क्रमेण क्षणणीयानि कर्माणि गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूढारा—अयं अप्रवेक्षरणांतरं । सो पृथक्त्ववितर्कनीचाराख्यकुलध्यानप्रविष्टः । एषवेदि वक्ष्यमाणान्निद्रा
निद्रादीनस्तन्निद्रात्मविशेषात् । योऽस्यष्टैकेकं संलग्नक्रमेण विक्षेपयतीति ससुदायार्थः । अनियद्विद्वान्मुखगयित्ताग्रं अनि-
द्राचिह्नरूपान्ता अविवृत्तिबादरसांपरायणपदस्थानं आद्य क्रमेण क्षणणीयानि कर्माणि गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—
निद्राव्यवर्तनावरणकर्मविशेषविधानिनिमित्तो जीवसंक्षिप्तस्वप्नसंज्ञा—नरत्त्वस्योपरयालक्ष्यः स्वापो निद्रा । निद्राया उपरि
उपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा । निद्रानिद्रावर्तनावरणकर्मविशेषोदयजन्यव्यवर्तनस्य दुःखप्रयोजकसांपरायणस्य इति यावत् ॥ तर्कं च—

निद्रा मुद्वेषविशेषा निद्राणिद्रा यं युक्त्यवादिहोहा ॥

प्रचला होइ दिशस्त वि पयलापचला यं चकमंतरस ॥

प्रचलाप्रचला या क्रियाशमानं प्रचलयति पूर्णयति सा प्रचला प्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकप्रचलस्य
जीवरणसीनस्यानि शोकशमनमदादिप्रयत्नो नेत्रप्रभ्रविश्रियासूचितः स्नापनरिनाम इत्यर्थः । प्रचलेष पुनःपुनरावर्तमाना
प्रचलाप्रचला । चकमंतरस आत्मनः प्रचलाप्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविकलविपाकप्रचलाप्रचलावे । योऽपिनिद्रा स्वप्ने
यथा सीर्यविशेषाविर्भावः सा संज्ञाव्युत्थितं नारण कर्मविशेषः । स्थाने स्वप्ने गूढयति यदुदयादात्मा रोद्रे बहु कर्म करोति ।
अत्र निद्राविश्ववर्देदुक्कप्रभावापन्नार्थवत्त्वभावदर्शनावरणकर्मविकल्पाः पुद्गलजीवविषयतां गृह्णन्ते ॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरणं नामक नवमे गुणस्थानको प्राप्त होनेपर मुक्तिराज निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला,
स्वप्नादि इनका नाश करते हैं ।

विशेषार्थ—पृथक्त्व वितर्क विचार नामक ध्यानमें प्रवेश करनेपर निद्रा निद्रादिक सद्वीस कर्म प्रक-
तिव्योका क्षय करते हैं, उस समय वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें रहते हैं ।

निद्रा—मोजन किए हुए लक्षका मद उत्पन्न होनेसे, तथा सेद, क्रम इनको नष्ट करनेके लिये सो
जाना उसको निद्रा कहते हैं, जब निद्रा नामक दर्शनावरण कर्मविशेषका उदय होता है तब जीवके इंद्रिय

और मन तथा आसोन्वासकी सृष्टि प्रवृत्ति होती है. पुनः पुनः निद्रा जब आती है. तब उसको निद्रानिद्रा कहते हैं. अर्थात् निद्रानिद्रा नामक दर्शनावरण कर्मके उदय से बड़े कष्टसे जागृतावस्था उत्पन्न होती है. परन्तु निद्रा खन्दी रहती है. बंट हुए मनुष्य के अंगमें, नेत्रोंमें जो विक्रिया उत्पन्न होती है उसको प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचलादर्शनावरण कर्मके उदयसे होती है. ऐसी अवस्था पुनः पुनः उत्पन्न होना उसको प्रचला प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचलाग्रचला दर्शनावरण कर्मोदयसे होती है.

निद्रामें जिसके उदयसे वीर्यविशेष प्रगट होता है तब कर्मको स्यान्मार्गद्वे दर्शनावरण कर्म कहते हैं. इसके उदयमें रौद्ररूप आत्मा करता है निद्रादिरूप परिणति जो होती है. उसको भाव निद्रा, भाव प्रचला वगैरे कहते हैं. और निद्रादि कर्मोंको जो उदय है वह पुद्रल द्रव्यकी विशेष अवस्था है.

गिरयगदियानुपूर्व्यं गिरयगदिं यावरं च सुहुमं च ॥

साधारणादनुजोधतिस्यगदिं आणुपुन्वीए ॥ २०१५ ॥

स्यावरं नारकद्वंद्वं पोडश प्रकृतीरिमाः ॥

प्लोपते प्रथमं तत्र शुक्लव्यानकुसानुना ॥ २१९८ ॥

विजयोदयः—गिरयगदियानुपूर्व्यं नारकव्यानुपूर्व्यं, नरकगति, स्वावरं, सूदनं, साधारणं, आतर्क्य, उद्योत तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यं ॥

मूला—गिरयगदिं आणुपूर्व्यं यदुदवादात्मा भर्वावरं गच्छति सा गतिः । नरकस्य गतिर्नरकगतिरात्मनो नारकभावनिमित्तं नामकर्मविशेषः । पूर्वसारीराकाराविनाशो यस्योदवादावति तदनुपूर्व्यार्थं नाम । यदात्पूर्वसारीराकारादिनाश्य तीर्षेण सह नरकादियावदेव बोधापरकवद्वच्छति तन्नरकादियावयोग्यानुपूर्व्यार्थिभेदाच्चतुर्विधं, तन्मध्यावधं नरकगतिनायोग्यानुपूर्व्यं अप्यतीति संशयः । यावरं स्यावराख्यं जीवस्यैकैद्विषेयु ग्राहुर्मात्रकारणं नामकर्म । सुहुमं सूक्ष्ममयं पदानुपपातकम्भूतसारीरनिर्वर्तकं नामकर्म । साधारणं बहुनामात्मनो उपभोगोत्पुल्लेख साधारणं सरीरं यवो भवति तत्साधारणसरीरत्वात् । आदय यदुदवादावपनं निष्पद्यते तदात्म्यं नाम तच्छ प्रसोदयगदित्वे वर्तते ॥

प्रज्ञेनो—उद्योतननिमित्तमुद्योतनात् तद्वदुदवादादियु स्वफलाभिगच्छकं वर्तते ॥ तिरियगदिं आणुपुन्वीओ विरिन्गदिनामोय्यानुपूर्व्यं ॥

अर्थ—इस अनिवृत्तिरूप गुणस्थानमें जैसे निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, और स्थानगुद्धि इनका नाश होता है. वैसे नरकगदगदपूर्वी, नरकगति, स्वात्तर, सुस्थ, साधारण, आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी इन कर्मोंका भी नाश होता है

जिसके उदयसे आत्मा भर्वात्तको प्राप्त होता है उस कर्म को यतिकर्म कहते हैं. आत्माको नरकग-
स्यात्ती प्राप्ति जिस कर्म के उदयमे होती है उस कर्म को नरकगति नामकर्म कहते हैं. पूर्वं शरीराकार ॥ नाश
जिन कर्म के उदय से नहीं होता है उस कर्म को आनुपूर्वी कर्म कहते हैं. पूर्वशरीरका नाश न कर जो कर्म जीवके
साथ नरक तक जाता है. उसको नरकगत्यानुपूर्वी कर्म कहते हैं. जो जीवको एकद्वित्र प्राणिमें उत्पन्न करता है
ऐसे कर्म को एकद्वित्र कहते हैं. दूसरों जो जिससे गथा नहीं होती है ऐसे मूल्य शरीरको निर्माण करनेवाले
कर्म को सुस्थ नामकर्म कहते हैं जो शरीर बहु आत्माओं को उपभोग्य बनता है अर्थात् जिसमें अनंत जीव रहते
हैं वेसा जो निगोदशरीर उसको साधारण शरीर करते हैं. ऐसा शरीर जिससे जनता है उस को साधारण नाम
कर्म कहते हैं जिसके उदय से संताप उत्पन्न होता है ऐसे कर्म को आवपनाम कर्म कहते हैं. इस कर्मका उदय
उर्य के गिहामे रहता है. उद्योत को निमित्त जो कर्म है उसको उद्योतनाम कर्म कहते हैं. इस कर्मका उदय चंद्र
चिह्न, तपोत-खगनु इत्यादिकों में गथा जाता है. तिर्यग्गति प्रयोग्यानुपूर्व्य—जिसके उदयसे जीव के पूर्व शरीरा-
कारका नाश नहीं होता है तथा जो जीवको निर्वच गतिरक ले जाता है उसको तिर्यग्गति आनुपूर्वी कहते हैं.

इगविगतिगचदुरिदिवणामां तथ तिरिखगदिणामं ॥

स्वययित्ता मझिण्हे खवेदि सो अटुवि कसाण् ॥ २०१६ ॥

कपायान्मध्यमानणो वंदवेदं निकुन्तति ॥

खीयेदं कमतः पट्ठं हास्यादीनां ततःपरम् ॥ २१६९ ॥

वितयोदया—इष्टविषय एकद्वित्रिचतुर्द्वित्रिजाती, तिर्यग्गति, अलसस्थानचतुर्कं, प्रत्याख्यानचतुर्कं च
सप्तगति ॥

मूलारा—धर्मवितिसचतुर्द्वित्रिदिवणामां जो एकेन्द्रियविजातीअवस इत्यर्थः । नरकादिगविष्यव्यभिचारिणा साह-

दर्शनेदीकृतोऽर्थात्मा जातिः । तत्कानं जातिनामकर्म तत्वेकेन्द्रियाविजातिविकल्पात्पंचा । यदुच्चात्मा एकैन्द्रिय इति शब्देन तदेकेन्द्रियजातिनाम । एवं द्वेष्टेष्वपि योव्याम् । क्षययिजा विद्वानिन्द्रिया यथोक्ता योत्तुष्ट कर्मप्रकृतीर्युगा- यद्विज्ञेय । अद्विष्ट द्वैष्टत्वाख्यानमप्रत्याख्यानं देशसंयमाद्युपयन्ति निरुद्धन्धीत्यप्रत्याख्यानावरणाः कोधमानभाया कोमाः । अन्यस्यापि देशसंयमाय शक्ति र्बोधेन हतारः । प्रत्याख्यानं सकलसंयमं आणुबन्वीति प्रत्याख्यानारणाः को- पादयः इत्यनमेयमज्ञसिपानिविदाकाः । वान्छापि यन्मयकयायान्दुष्यतीति संवेधः ।

अयं—इम ही गुणस्थानों में एकैन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुर्द्रिय जाति, तिर्यग्गति नाम कर्म, अप्रत्यारूपान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इतने कर्मोंका क्षय होता है.

एकैन्द्रियादि चार जातिकर्मोंका इस गुणस्थानमें क्षय होता है. नस्कादि गतिओंमें अधिकद्व ऐसे सादृश्यसे एक रूप दिखानेवाला जो यदर्थका धर्म उसको जाति कहते हैं. इसीको सामान्य भी कहते हैं. यह सामान्यारस्या जिनसे उत्पन्न होती है ऐसे कर्मोंको जाति नामकर्म कहते हैं. उसके एकैन्द्रिय जाति वगैरह पांच भेद हैं. जिसके उदयसे आत्मा एकैन्द्रिय माना जाता है ऐसे कर्मोंको एकैन्द्रिय जातिकर्म कहते हैं. इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि जातिनाम कर्मोंका स्वरूप जानना चाहिए.

निद्रा निद्रादिक सोलहश्रुतियोंका इस गुणस्थानमें युगपत् नाश होता है. जो देशसंयमको होने नहीं देते हैं ऐसे कषायोंको अप्रत्याख्यानारण कहते हैं. इसके प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं. इनका जर उदय होता है तब जीवकी देशसंयम धारण करनेकी शक्ति नष्ट होती है. जो प्रत्याख्यानको अर्थात् सकल संयमको नष्ट करते हैं उनके प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया लोभ ऐसे नाम हैं. इनमें सकल संयमका- महाप्रवर्तका घात करनेका सामर्थ्य है. इन आठ मध्यम कषायोंका इस गुण स्थानमें नाश होता है.

ततो णपुंसगित्यीवेदं हासादिछक्कपुवेदं ॥

कोधं माणं मायं लोभं च खवेदि सो कमसो ॥ २०९७ ॥

पुवेदं क्षमतच्छिद्धत्वा शुक्लध्यानमहासिना ।

कोधं संज्वलनं मानं मायां संज्वलनाभिषाम् ॥ २१०० ॥

विद्ययोऽप्या—ततो नपुंसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्याविपदकं, पुंवेदं, संज्वलनकोषमाननायाः क्षपयति ।
पद्यासोमसंज्वलनम् ॥

तदनंतरक्षपणीयान्कोषाह—

मूलारा—नपुंसगितिवेदं नपुंसकवेदं मनुष्यकभावप्राप्तिनिमित्तोद्यकपायवेदनीयविशेषम् । एवं स्त्रीवेदं स्त्रीमा-
वपरिणतिकारणदिगादम् । हासादिभ्यः हास्याविषयकं हास्यं । येषां वरौचानौस्तुभयवित्तोदयः रतिः । तद्विच्छिन्नाऽ
रतिः । अनुपादकसंवेदिचिच्छेदे वैषट्ज्यविशेषः शोकः यद्विषयाकाञ्चायते स शोकः । लगेदेवदुःखं भयं । यदुदनादात्मदोष
संवरणं अन्वयोपमाभारण सा जुगुप्सा चित्तिमाहङ्गः ॥ एतौ कपायवेदनीयपदं पुंवेदे प्राक्षिप्य क्षपयति, पुंवेदं पुंभाषा-
पत्तिनिमित्तं पुंवेदार्क्यं लोकपायवेदनीयं । क्रोषसंज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति । शोचमिहादि । संयमेन सहावरयानावैषीभूता
व्यवहृति, सयमो वा व्यवहारो सत्यवधीति संज्वलनाः क्रोधादयोऽत्र पारिस्वेपादृहीताः तत्र क्रोधसंज्वलनं, मानसंज्वलनं ।
तं मानसंज्वलने तं च लोभसंज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति । ततो कारकद्विविभागेन च लोभसंज्वलनं च क्षपयति ।

इनके अनंतर नाव होनेवाली मरुतिओंका उल्लेख—

अर्थ—तदनंतर नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, संज्वलन क्रोध,
मान, माया और लोभ इन ग्यारह कर्मोंका नाश करता है।

जिसके उदयसे नपुंसक भावकी प्राप्ति होती है ऐसा अकपाय वेदनीयका एक विशेष भेद है। उसको नपुंसक वेद
कहते हैं। स्त्रीके समान परिणाम उत्पन्न करना यह जिसका फल है उस कर्मको स्त्रीवेदनीय कहते हैं। जिससे हास्य उत्पन्न
होता है वह हास्यवेदनीय है। देयांतर, उद्यान वगैरह पदार्थोंके सफ जानेके लिये जो मनमें उत्कंठा जग कर्मके
उदयसे उत्पन्न होती है उसको रति कहते हैं, अरतिको स्वरूप इससे विलक्षण है अनुग्रह करनेवाले पदार्थोंका संवेध
विच्छेद होनेपर मनमें जो रोद उत्पन्न होता है उसको शोक कहते हैं। जिससे भयमें उद्वेग-दर उत्पन्न होती है
उसको भय कहते हैं। जिसके उदयसे अपने दोष छिपाकर दूसरोंके दोष प्रगट करना वह जुगुप्सा कर्म है। इन
अकपाय वेदनीय की छहों मरुतिओंका पुंवेदमें मध्येन करते हैं-पुरुषके परिणामोंकी उत्पत्ति जिसके उदयसे
होती है ऐसे कर्मको-पुंवेदको भी क्रोषसंज्वलनमें क्षेपण करते हैं-ये संज्वलनकोषादिक कपाय संपन्नके साथ रद-
कर ज्वलित होते हैं अथवा संयम इनके रहनेपर भी प्रज्वलित होता है-क्रोषसंज्वलनको मान संज्वलनमें, मानको

माया संज्वलनमें और मायाओं लोभ संज्वलनमें धेषण करते हैं, इसके अनंतर चादरकृष्टि विभागसे लोभकी भी हृद्य करते हैं—

अथ लोभसुहुमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायचं ॥
पावदि पावदि य तथा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥ २०९८ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निवृत्तमिति ॥

प्राप्नोति सयमं सुद्धं तदा तदभिधानकम् ॥ २१७१ ॥

विज्ञानोद्भा—अथ लोभसुहुमकिट्टि अथ पञ्चाङ्गादरकृष्टपरकाले लोभसूक्ष्मकृष्टिं वेदयमान सुहुमसंपरायचं पावदि सूक्ष्मसंपरायता प्राप्नोति ॥ पावदि य तथा भाष्योति च तथा तद्वामकं संवर्धं सुद्धं सूक्ष्मसंपरायतां अधिगच्छति ॥

तदनन्तरप्राप्यसूक्ष्मसंपरायसंयमप्राप्त्युपपत्तिं कथयति—

मूढारापना । अप संज्वलनलोभपादरकृष्टिपरेलोभरक्षालं । किट्टिं कृष्टिं । तैलपायसविवलकिट्टिकाफल्यं । सुहुमसंपरायचं सूक्ष्मसंपरायकृष्टकर्मजं । दत्तमगुणस्थानम् । तण्णामं । सूक्ष्मसंपरायसंज्ञं । सुद्धं प्रथमसूक्ष्मकृष्टिप्राप्त्यनवर्धप्रतिबद्धमूलोभकृष्टिगतिरूपपायस्यावाप्त्युद्धर्तयमोक्षमिति तत्तादा विच्छेदकम् ॥

अर्थ—तदनन्तर अर्थात् लोभकी चादरकृष्टि के अनंतर लोभकी सूक्ष्म कृष्टिका अनुभव करनेवाले मुनि-प्राप्त सूक्ष्म संपराय नामक दमये गुणस्थानका आश्रय करते हैं, तब उनको सूक्ष्म संपराय नामक चारित्रिकी प्राप्ति होती है, प्रथमसूक्ष्मकृष्टिप्राप्तके सामर्थ्यसे चादर संज्वलन लोभ कथाय सूक्ष्म होता है, इससे उनको सूक्ष्मसंपराय चारित्र प्राप्त होता है,

तो सो स्त्रीकसाओ जायदि स्त्रीणासु लोभकिट्टीसु ॥

एवंच वितक्कावीचारं तो ज्ञादि सो ज्ञाणं ॥ २०९९ ॥

स्त्रीणासु लोभकृष्टिषु नष्टकृपागो यदा यतिर्येवति ॥

पकत्त्वमवीचारं सवितक्कं ध्यानमश्नुते स तदा ॥ २१७२ ॥

विजयोदय—तो खो धीणकसाओ जायदि ततः सुखमसंपरायत्ववद्वैतर्तं धीणकसाओ जायदि धीणकसाओ जायते । सोणसु सोमकिट्टिसु संवत्तललोमसुखमकट्टियु धीणमसु । तो तत्तः एकत्तविषयकाधीचार झाणं तो झादि एकत्तवित्तकाधीचारं ध्यानं ध्याति ॥

तदनंतरप्राप्यधीणकपायत्वयुगस्थानसाध्यशुक्लभयानविस्रयोपदेयार्थमाह—

गुहारा—दोभकिट्टिसु संवत्तललोमसुखमकट्टियु ।

अर्थ—सुखसंपराययुगस्थानके अनंतर धीणकपाययुगस्थान प्राप्त होता है, अर्थात् जब संवत्तलन लोम की वृत्तमकट्टि हो जाती है तब ये युगिराज एकत्तवित्तक विचार नामक ज्ञान करते हैं.

झाणेण य तेण अद्यवसादेण य संजमेण घादेवि ॥

सेसाणि घादिकम्माणि समयमवर्जजाणि मदी ॥ २१०० ॥

तेन ह्यानेन तदा सयथाह्यातेन रोपघातानि ॥

अवकारणानि युगपत्प्रणिदन्ति सुनीश्वरस्तूर्णम् ॥ २१०३ ॥

विजयोदय—झाणेण य तेण ठेण ठेण भ्यानेन । तो तेनैकत्तवित्तकाधिकारेण यथाक्यातेन चारिजेण रोपघातिकां समाकालमेव क्षपवति । अवर्जजाणि जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥

तद्व्याप्तविरागसंयमसाधये जीवस्यभावप्रतिबंधकापायमावेदयति—

गुहारा—अद्यवसादेण यथाक्यातेन वीतरागेणेत्यर्थः । अवोभयकट्टेरि वृत्तीया । परमार्थवीतरागसंयमसद्वृत्तीची नैकत्तवित्तकाधीचारशुक्लध्यानेन तथाविधध्यानसहायेन संयमेन वा कर्त्तव्यं पातयतीत्यर्थः ॥ सेसाणि वक्ष्यमाणानि निष्प्रादीनि रोचस । समयं युगपत् । एककालात् । यात्र निर्दोषोच्छेदविषयाभासुपात्तवचरसमययोरतिसुखमतेनाभेदो विद्वद्विहितः । शक्तिवादनविषयायां तु संज्ञानवकाळ एव । अथवा समवसवर्तजाणि युगपज्जीवस्वभावचात्तकानीति व्याख्येयं । वर्तमानावरणवीर्यान्वताया हानवर्तमानतानवीर्यात्साकं पारमार्थिकमत्तस्वभावोक्तलमेव प्रविबभूवति । शतुच्छं—

भ्यानेन वे वीतरागसंयमेन च हंतति सः ॥ एकदा पातिकर्माणि ज्ञेपाणि च घटतः परम् ॥

अर्थ—॥१॥ एकत्तवित्तक वीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानसे यथाक्यात चारित्र प्राप्त होता है. इस चारित्रसे युगपत् बाकी के पाति कर्मोंका अर्थात् ज्ञानावरण, और अन्तराय इन कर्मोंका नाश होता है. जीवका स्वरूप इन

कर्मोने विपरीत कर दिया था. क्षीणकथाय गुणस्थानमें सोलह प्रकृतिओंका अर्थात् ज्ञानावरणकी पाँच मति ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ, अंतराय कर्म की दानांतराय, लागांतरायादि पात्रा प्रकृतियाँ, निद्रा, प्रचला, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिर्दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण ऐसी छह दर्शनावरणकी प्रकृतियाँ इन सोलह प्रकृतिओंका नाश संपूर्ण मोहनीय कर्मका नाश होने के बाद होता है.

मत्थयत्सूचीए जघा हृदाए कसिणो हवो भवदि तालो ॥

कम्माणि तथा गच्छंति स्वयं मोहे हवे कसिणे ॥ २१०१ ॥

मोहनीये हते शेषचानिकर्मकथंयकम् ॥

तुगराज्ज इवाग्नेपसूचीयथे प्रणश्यति ॥ २१०४ ॥

वित्तयोदया—अथयत्सूचीए जघा हृदाए मत्तकसूत्र्यां यथा हतायां कसिणो तालो हवो भवति कृजस्तालद्रुमो हतो भवति । कम्माणि तथा कर्मण्यणि तथैव स्वयं गच्छति स्वयमुपयाति । मोहे हरे कसिणे मोहे हते कृत्तेने ।

ननु च बाह्यवात्सल्यभाजोर्लभे सत्येव तत्प्रतिवर्तकप्रक्षयत्वप्रक्षये च तदुपलंभ इत्यन्योन्याश्रयावतारादनातोपनिवेदभाभास्तरे इत्याशंकायाभिर्माह—

मूलाए—तालो तालयुधः । स्वयं जीवस्वभावयावत्त्वशक्तिविनाश । मोहनीयसहस्रान्येव हि ज्ञानावरणादीनि जीवस्वभावोपपत्ताय प्रभवन्ति । प्रक्षीणे च तत्सहकारिणि मोहकर्मणि सानि प्रक्षीणकस्यान्येव स्वभावसिंवाद्भक्त्यात् । मत्तकसूचीविनाशे प्रथमपत्रपुष्पफलादिस्वकार्योत्तमार्थतालवत् । ततः सत्त्वसि तेषु बाह्यवात्मस्वरूपोपलंभो निर्गंधराजस्यास्य न विरुध्यते इत्यातोपक्रमेवेत्यमिति स्मिन् । उक्तं च—

तालसूच्या विनष्टत्वां वंशा तालो विनश्यति ॥ तथा कर्म क्षवं याति मोहनीये क्षवं गते ॥

अर्थ—मत्तक सूचीका नाश होनेसे संपूर्ण तालयुधका नाश होता हैसे मोहनीय कर्मका नाश होने पर कर्मों का भी नाश होता है.

जिदापचलाग दुवे इचरियसमयमि तस्स खीयंति ॥

सेसाणि यादिकम्माणि चरियसमयमि खीयंति ॥ २१०२ ॥

सूक्ष्मलोमशुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निशुंभति ॥
॥ निद्राप्रचले क्षीणसौहस्योपान्तिमे ततः ॥ २१७५ ॥

पंचज्ञानाधुनीस्तत्र वतस्रो दर्शनाधुनीः ॥

पंच विज्ञानसौ हन्ति परमांशो चतुर्दश ॥ २१७६ ॥

शिशयोदया—निद्रा प्रचला य दुष्य निद्राप्रचला च दे तस्य क्षीणकपायस्य उपांश्वसमे नश्यतः । सेसाणि घादि-
कर्मण्यपि अयदिशुष्टानि घातिकर्मणि श्रीणि तस्य परमसमये गच्छन्ति, पंच ज्ञानावरणानि, अर्थादि दर्शनावरणानि, पंचो-
त्तरावाह ॥

सौपयति कर्मनिर्मूलोच्छेदकं कथयति —

मूला-दुषे हे अयि । बुचरिमसमवर्तिन परमसमयावपश्चिमे समये । स्त्रीदंति निर्मूलं नश्यतः । सर्वारम्भा-
जीवातिक्रियत इत्यर्थः ॥ सेसाणि मलिधुतावधिमकः पर्वयकेवलज्ञानावरणविकल्पात्यंशविधं ज्ञानावरणं । चक्षुरचक्षुर-
वधिकेवलदर्शनावरणभेदावधुर्जिपं दर्शनावरणं । दानलाभभोगोपयोगीयांतावमेदात्यंशविधज्ज्ञानावरण इति श्रीणि घाति-
कर्मणि । इत्थं धर्मव्ययेन नामकर्मप्रकृतीः प्रयोदशावरणप्रकृतीस्तिस्रश्चारित्र्यतोदस्य च प्रकृतीरेकविक्रान्तिनेकविक्रान्ति-
कीचारावपद्वितीयवृक्षध्यानेन च यद् दर्शनावरणप्रकृतीः पंच, ज्ञानावरणप्रकृतीः पंच, पंचान्दगायप्रकृतीः अप-
यतीलुणापेक्षप्रदः । नारकतिर्थदेवामुर्णो च रंधाकारणमेव क्षुण्णं, ततश्चिपिद्विमेताः कर्मप्रकृतीः क्षुण्णित्वा पंडितपंडितसर-
णोपयो दुसुक्षुरनैतदर्शनज्ञानदीर्घसुखस्य भावं जीवन्मुक्तिं विरमपि अनुभवतीति प्रतिपस्ययम् ॥ भवतश्चात्र युये-

सम्यग्दृष्टिगुणान्नतश्चुमोत्साहेषु विष्टमकचित् । धर्मव्ययानवदात्यन्तगहिताभायुःक्षयः सप्त यः ॥

दष्टिगप्रकृतीः समलक्षचतुर्नातिनिनिद्राद्विधा । आत्र स्वावरसुसमिपिगुभयोद्योदा कपायाकम् ।

न्यैत्वं क्षेणमथादिभेन नभमे दास्यादिपट्टकं वृता । क्षिप्तोदीवि प्रयक्नुदादिसमी लोभं कपायान्वकः ॥

निद्रां सप्रचलागुणस्यसमये दृगित्वविज्यांश्चतु । द्विःपंचाक्षपयत्तरेण चरमे सुखेन सोर्क्षपयुः ॥

अर्थ—क्षीणकपाय शुषारथानके उपांत्य समयमें निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतिजोका नाश होता है-
और अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराष इन तीनों कर्मोंका नाश होता है.

ततो णंतरसमष्टु उपपञ्जदि सव्यपञ्जयणिविधं ॥
 केवलमाणं सुखं तद्य केवलदंसणं चैव ॥ २१०३ ॥
 हुत्वेकत्ववितर्काग्रौ घातिकर्मेन्धनं सुधीः ॥
 दय्यकं सर्वसाधनां केवलज्ञानमश्नुते ॥ २१०७ ॥

विजयोऽथा—ततो ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् यन्तरसमये उपपत्ते केवलज्ञानं सर्वपायाया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिपन्नं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्याविशयो वस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वा विद्यागतां भवति । केवलं रंद्रियसहायानपेक्षयात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभायात् । सुखं तथा केवलदर्शनं च ॥
 लीयन्मुक्तिमदुपपन्नमोषक्रमवर्णनं—इह वस्तु प्रवयेन वायेव जीवन्मुक्तिं माय/बहुविधत्वबुवर्णयित्वावो केवलज्ञानदर्शनेत्यभिप्रायविसयसंपत्तौ यथेष्टम्—

मूलारा—ततो ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् । सद्यपयप्रयणिरुद्धं सर्वेषां द्रव्याणां पर्यायास्त्रिकालविषयाणि विरोधरूपाणि तत्र निबद्धं परिच्छेदकत्वेन संयुक्तं । एतेन वस्तुगतरूपपरिच्छेदो ज्ञानस्याविशयो निरूप्यते । सामान्यरूपपरिच्छेदस्य सुगमतादुक्तिः । केवलं रंद्रियाद्यन्पेक्षयादसहायं । सुखं रागादिमलरहितम् ।

अर्थ—तदनंतर समयमें संपूर्ण द्रव्योंके सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती पर्यायोंको विषय करनेवाला, रागादिदोषोंका अभाव होनेसे निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है- वस्तुका सामान्य स्वरूप सुगम है, उसको जाननेमें ज्ञानका अतिशय प्रगट नहीं होता है, वस्तुके विदोष रूप पर्यायोंको जाननेमें ज्ञानका अतिशय प्रगट होता है, अतः ' सद्यपयजनयणिश्च ' ऐसा मायामें धर है, इन्द्रियो की सहायताके बिना यह ज्ञान होता है इसलिये इस को केवलज्ञान कहते हैं, केवलज्ञान के समान केवलदर्शन भी रागादिमलोंसे रहित और इन्द्रियापेक्षारहित है.

अव्याधयदमसंदिग्धमुत्तमं सव्यदो असंकुडिदं ॥

एवं सत्पलमाणं अपियत्तं केवलं पाणं ॥ २१०४ ॥

अनंतप्रगतीबधं निःसंकोचमनिद्रियम् ॥

निरूप्य केवलज्ञाने निरुपायमकल्पम् ॥ २१०८ ॥

विज्ञयोदया—अज्ञायाय न विद्येत प्रत्ययान्तरेण व्याप्यतो वाधात्येव्यथायातं । निश्चयात्मकस्यावसंदिग्धं ।
 सर्वस्यो मानेभ्य उपरमं प्रथमं भुतादिभिरिदं केवलं साध्यत इति ।
 समुद्रदिदं न मायाविषयविषयमिति । एकं एकस्मिन्मात्रमनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । सकलं संपूर्णमात्मनः
 स्वरूपमिति । नान्यादीनि यथाऽदंष्ट्रणीनि न तथेदं । अथत् अन्तर्प्रमाणापेक्ष्यं । अण्वत्तं न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्त्येः
 त्वनिवृत्तं केवलप्रधानं ॥

केवलप्रधानादिग्रन्थसममिष्टौति—

युगाय—अवस्थायाव नान्यि व्याप्यतो नितिलद्रव्यपर्यायतासात्कारप्रतिबंधः प्रत्ययान्तरेण यस्य । असंदिग्दं
 निश्चयप्रधानरसंशयिनं । उक्तं सर्वज्ञानप्रधानं । सत्यदो असंकुलितं सत्त्वेषु द्रव्यपर्यायेषु प्रवर्तमानत्वात् । एतं एकस्मिन्-
 प्रायमनि शयमेव वर्तते इत्येकं भेदहीनं वा । सत्यं संपूर्णं । अण्वत् अन्तर्प्रमाणापेक्ष्यं । निरवधीत्यर्थः । अण्वित्येतं
 अविनाशमान प्रकीर्तयति (?) ॥

अर्थ—यह केवलप्रधान किमी कारणोंसे कहुता नहीं है. अव्याप्यता ही है. निश्चयात्मक होनेसे संप्रसारित है.
 सर्व प्रानोंमें धृष्ट है. भुतादिक प्रानोंसे यह केवल ज्ञान प्राप्त होता है. मत्स्यादिज्ञानों के समान इसका विषय अल्प
 नहीं है अतः इसको अपकृदित कहते हैं. यह एक है अर्थात् यह आत्मामें स्वय प्रवृत्त होता है. मत्स्यादिक ज्ञान
 मंगुलं नहीं है परंतु यह वैना नहीं है. यह आत्माका संपूर्ण स्वरूप है. इसलिये इसका संपूर्ण कहते हैं.
 यह अनिरागि है अविनाशी है.

चित्तपटं व विचित्तं तिकालसहितं तदो जगमिणं सो ॥
 सत्त्वं जुगवं पत्सदि सव्यमलोगं च सत्त्वतो ॥ २१०५ ॥
 फरस्थितमिवाशेषं लोकालोकं विलोकते ॥

युगपत्तेन योघेन योगी विश्वप्रकाशिना ॥ २१०६ ॥

विज्ञयोदया—चित्तपटं व विचित्तं चित्तपटयमिति चित्रमिव चित्रं चित्रमिव चित्रपर्यायरूपेण प्रत्ययभासनात् । तिकाल
 तदिरं कालव्यवसहितं जगदिदं, ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पदयत्नलोकं हृत्स्वं सर्वतः समंतात् ॥
 मूढात्—विचित्तं नामाप्रकारागारं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण अत्यवभासनात् । तदो तेन केवलज्ञानेन । परसदि
 माशाकरोति । सव्यको सर्वतः समंतात् । सव्यण्ड इत्यन्ये पठन्ति ॥

अर्थ—इस केवलज्ञानमें विचित्र द्रव्य और पदार्थों प्रतिमासित होते हैं इस लिये अनेक रंगोंसे रंगे हुए वस्तुके समान यह केवलज्ञान है. तीन कालके साथ इस त्रैलोक्यको और लोकोक्तो केवलज्ञान युगपत् देखता है.

वीरियमणंतरायं होह् अणंतं तधेव तस्स तदा ॥

कण्पातीदस्स महासुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥ २१०६ ॥

विजयोक्त्या—वीरियमणंतरायं होदि निर्विघ्न वीर्यं भवति । क्षायोपशान्तिकस्य हि वीर्यस्य पुन वीर्योत्तरादो-
वये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवशेषशून्यः । अन्तः । कण्पातीदस्स उग्रस्वकल्पना अपीतस्य महाभुजेर्विघ्ने विनष्टे ।
तदन्तरयोर्विघ्नविनष्टिपक्षे—

मुत्तारा—अणन्तराय निर्विघ्नं । कण्पातीदस्स उग्रस्वकल्पनारहितस्य । विग्घम्मि अवतरायकर्मणि । एवविघ्नाना-
विनयसाहचर्योक्तानंतरमुत्तारविगमो भवति । इति तदनिर्देशः ।

अर्थ—केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे आत्मामें जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह अंतराय-विघ्न-रहित होता है क्षायोपशान्तिक शक्ति वीर्योत्तराय कर्म के उदय से विघ्नयुक्त होती है सम्पूर्ण वीर्योत्तरायकर्मकाही केवल ज्ञानके समय नाश होनेसे प्राप्त हुए अनन्त शक्तिको बाधित करनेवाला पदार्थ ही नहीं रहा है अतः वह शक्ति-
गुण अनन्त हुआ है

तो तो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्मणि ॥

जावसमची वेदिज्जमाणयस्साउगस्स भवे ॥ २१०७ ॥

ततो वेदयमानोऽ सौ श्रेयापातिचतुष्टयम् ॥

क्षुर्वाणो जनतानंद भ्रमत्येष सुरार्चितः ॥ २१८० ॥

विजयोक्त्या—तो सो वेदयमाणो केवलज्ञानादिपरिग्रह्यन्तरकाल वेदयमानो विहरति, खेसाणि ताव कम्मणि
अवशिष्टानि तामर्कमणि । जावसमची यावत्परितस्मादि । वेदिज्जमाणयस्स आउगस्स भवे अलुभ्यमानस्य
मनुष्यायुगो भवेत् ॥

सर्वज्ञविहारलीभानमाह---

मुञ्जरा—नो के वटमाना विपति प्राप्त्यन्तं रम् । निहरति यमालालपारिजमभिकर्षयति । सेषाणि क्षणतीति ।
 देवकीयतामसोऽनासंयि । आङ्गारस मन्त्र्यायत्कर्मणः ।

अर्थ—जबतक पुज्यमान आयुर्म्मकी समाप्ति नहीं होती है तबतक चास्कीके अधाति कमालों भोगते हुए कैतलीं मरणान् यथास्मात् चास्त्रिको वृद्धिगत करते हैं-

वंसेणणाणसमगो बिहरदि उन्चावयं तु परिलायं ॥

जोगणिरोधं पारमदि कम्मणिड्डेवणहाए ॥ २१०८ ॥

यिष्यन्द्भुमानचारिणो ज्ञानदर्शनभूयितः ॥

शेषकर्मविधाताय योगरोधं करोति सः ॥ २१८१ ॥

पिण्णदोषा—इंसंभवाणसमगो क्षापिकेण सोमं कृत्तमि ।। समप्रो, विह्वल उल्हासवं पर्यायं, चारित्र्यमभि-
पर्यधन् योगनिरोधे आरम्भे, कर्मणाभयातिनामवहरणार्थे ।।

[illegible]

मृता—इषा पर्यं अकर्मण एतेन पूर्वकोटिमानं । जघन्येन च अन्तर्मुखमित्यर्थः । परियायं केवलसंगमकालं ।

योगनिर्णये सल्लभमप्यव्यक्तमस्यपुनरुपपन्नमिति श्रुत्वा पारलक्ष्येणानि समानानि योगान्तं निप्रहं ।
कामनिर्देशेणद्राप अयाचितमितिभेदोपेक्षेदनाथे ।

अर्थ—धार्मिक दर्शन और धार्मिक ज्ञानसे पूर्ण वह केवली भगवान् उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकीटिकाल तक और अपन्यसे श्रुत्युद्धृततक यथाव्याप्त संयमावस्थाको धारण कर विहार करते हैं. तदनन्तर अपातिकर्मका नाश करनेके लिये योगनियोग करते हैं. अर्थात् सत्पबचन योग, अनुभय वचनयोग, सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, औदारिक क्षययोग, औदारिकमिश्र और कार्पणयोग ऐसे सात योगोंके व्यापारको वे शोचते हैं.

उद्यत्सपुण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ॥

वच्चंति समुग्धादं सेसा भज्जा समुग्धादे ॥ ३१०९

यः पणमासावशेषायुः केवलज्ञानमश्नुते ॥

अवश्यं स समुद्धानं याति श्रेयो विकल्प्यते ॥ २१८२ ॥

विरजयोदया—उत्तरस्तरणे उत्कर्षेण पणमासावशेषे आयुषि जाते केवलज्ञानो ज्ञातास्ते समुद्धानमुपयांति । श्रेयाः समुद्धान्ते भान्याः ॥

योगनिरोगोन्मुक्तानां केवलज्ञानं समुद्धानाविवेचनियमविकल्पौ निर्दिशति—

मूलारा—यश्चरति गच्छति । समुद्धान् जीवज्ज्ञानां स्मरणाद्विद्वद्वाचाकारेण निःसरणं । भज्या विकल्प्याः । दृष्टान्तिसमुद्धानं प्रजति न वेत्यर्थः ॥ इत्थं च—

यदायुरधिकाणि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः । समुद्धानविविधि साक्षात्प्रागेवात्मते तदा ॥

पणमासायुषि श्रेयो रथायुष्मन् यत्र केवलम् । समुद्धानावमसौ याति केवली या परः पुनः ॥

अर्थ—उत्कर्षसे ज्ञानका आयु छद्म मदिनेका अवशिष्ट रहा है ऐसे समयमें जिनको केवलज्ञान हुआ है वे केवली नियमसे समुद्धानको प्राप्त होते हैं. आत्माके प्रदत्त शरीरके बाहर दंडादिके आकारसे निकलते हैं ऐसी ज्ञात स्थाप्ता नाम समुद्धान हैं. वाक्यके केवलीओंको आयुष्य अधिक होनेपर समुद्धान होना अवश्य नहीं मी होगा. नियम नहीं है.

जोसिं अउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ॥

ते अकदसमुग्धादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ २११० ॥

आयुषा सह्यं यस्य जायते कर्मणां त्रयम् ॥

स निरस्तसमुद्धानः श्लेश्यं प्रतिपद्यते ॥ २१८३ ॥

अनंतं दर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यमनन्तरम् ॥

जायते तरसा तस्य चतुष्टयमख्यतम् ॥ २१८४ ॥

विरजयोदया—जोसिं अउसमाइं येनामपि आयु समाप्तिं श्रेयाव्ययति कर्मणि तेऽल्लसमुद्धाना एव प्रतिपद्यते ॥

समुद्रपातमेवरेण दीहेदयोगमसे कारणमनाविषतुष्टयसमस्थितिरसामान्ये—
मूढारा—उपपन्नमिति—आशयान्ति । सेहेसि श्रीलघुणसंपूर्णता ॥

अर्थ—अपुने ममानही अन्य कर्मकी स्थिति भारण करनेवाले केवली समुद्रात किये बिना संपूर्ण शालीनि धारक बनते हैं.

जोमि हवंति विसम्पानि णामगोदाउवेदणीयाणि ॥

ते दु कदसमुग्धावा जिणा उवणमंति सेलेसि ॥ २१११ ॥

ठिदिसंतकम्मसमकरणदयं सवेसि तेसि कम्माणं ॥

अंतोमुहुत्त सेसे अंति समुग्धावमाउमि ॥ २११२ ॥

यवायुयोऽधिकं कर्म जायते त्रितयं परम् ॥

समुद्रातं तदाभ्येति तत्समीकरणाय सः ॥ २१८५ ॥

अंतर्मुहूर्तशेषायुर्व्या भवति संयमी ॥

समुद्रातं तदा धीरो विधत्ते कर्मधूतये ॥ २१८६ ॥

विजयोदया—ठिदिसत्तकम्म सारकर्मणां स्थिति समीकृतुं चतुर्णां अंतर्मुहूर्तावशेये मायुषि समुद्रातं यांति ॥
व्यतिरेकेणाह—

मूढारा—एतदम् ॥ एतां धीविजयो नेच्छति ॥

रंदादिसमुद्रपातविधाभप्रयोजनमादिसति—

मूढारा—ठिदिसत्तकम्मसमकरणद्व । स्थित्या कृत्वा सर्वां विद्यमानानां चतुर्णां कर्मणां समयरिजायत्तां कर्तुं ॥

अर्थ—जिनके वेदनीय नाम, और गोत्रकर्मकी स्थिति अधिक रहती है वे कयलि यगवान समुद्रवातके द्वारा उनकी आयुक्रमके बापरीही स्थिति करते हैं इस प्रकार वे संपूर्ण शीलके धारक बनते हैं.

अर्थ—आयुक्रम अंतर्मुहूर्तमात्र जब रहता है तब नाम गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुके समान करने के लिए समुद्रात करते हैं.

ओष्ठं संतं वयं विरुद्धिदं जघ लहु विणिब्बादि ॥
संवेडियं तु ण तथा तथेव कम्मं पि णदब्बं ॥ २११३ ॥
अविकीर्णं यथा चरुं विञ्चुव्यति न संवृतम् ॥

तथा कर्मापि वोद्धव्यं कर्मविचस्कारिभिः ॥ २१८ ॥

विजयोद्या—ओष्ठं संतं आर्द्रं सलया चरुं विप्रकीर्णं लघु दुष्पति न तथा संवेष्टितं प्लेनेष कर्मापि घातस्यम् ॥
आत्मप्रदेशात् देहाद्द्विर्दायाकारेण प्रसारणाय कर्मसित्यनर्कणट्टयान्तेनोपादयति—

मूढारा—ओष्ठं आर्द्रं । विरुद्धिदं प्रसारितं । विणिब्बादि विज्ञेयेण द्रुव्यति । संवेडिदं संवृतं ॥

अर्थ—गौला चरु प्रसारनेसे जल्दी शुष्क होजा है. परंतु वेष्टित चरु जल्दी सूखना नहीं उसी प्रकार समुद्रपातसे कर्म विरल होकर उनका स्थिति कम होती है.

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेट्ट खीयदि य सो समुद्धस्स ॥

सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥ २११४ ॥

समुद्धाने कृते स्नेहस्थितिहेतुर्विनश्यति ॥

धीणस्मेहं ततः शेषमल्पीयः स्थिति जायते ॥ २१८८ ॥

विजयोद्या—ठिदिबंधस्स स्थितिबंधस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुदाहं गते सति च खीणस्नेहं शेषं कर्मांतरस्थितिकं भवति ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूढारा—सिणेहो स्नेहः । हेट्ट खीयेन सह कर्मणः कालवधारणमंसंश्लेषणे निमित्तं भवति । समुद्धस्स देवा-
याकारेण सरीराद्द्विर्निष्ठवप्रदेशस्य पुंसः । सडदि शटति, प्रच्यवते । सेसं अखीणस्नेहं कर्म ।

अर्थ—स्थिति बंधका कारण जो स्नेहगुण वह एव समुद्धानसे नष्ट होता है इस समुद्रपातसे कर्मका स्नेहगुण कम होनेसे उसकी कल्प स्थिति होती है.

चतुर्हि समष्टिर्हं दंडं कवाड पदरजगपूरणाणि तदा ॥
कमसो करोदि तह चैव णियत्ती चतुर्हि समष्टिर्हं ॥ २११५ ॥

दंडं कपाटकं कृत्वा प्रतरं लोकपूर्णं ॥

चतुर्भिः समयैर्योगी तावद्विष्य निवर्तने ॥ २१८९ ॥

विज्ञयोव्या—चतुर्दि चतुर्दिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा कमसो निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥
दंडादिप्रवर्तननिपतवकालपरिमणावधारणार्थयाह—

मूढारा—चतुर्दि इत्यादि एकैकेन समयेन दंडादीन् कृत्वा, क्रमेणैकेनैव लोकपूर्णतो निवर्तयतीत्यर्थः ।

अर्थ—चार समयोंमें क्रमशः दंडादिक समुदयात् केवली करते हैं, अर्थात् प्रथम समयमें दंड समुदयात्, दूसरे समयमें कवाड, तीसरे में प्रतर और चौथेमें लोकपूर्ण समुदयात् करते हैं, तदनंतर उठकर अर्थात् पांचवें समयमें प्रतराकार, छठे समयमें कपाटाकार, सातवें समयमें दंडाकार और आठवें समयमें मूलवेह प्रमाण आत्माके प्रवेश होते हैं.

काकणाडसमई णामागोदाणि वेदणीयं च ॥

सेलेसिमच्चुवेतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥ २११६ ॥

वेद्यायुर्नामगोत्राणि समानानि विधाय सः ॥

प्राप्तुं सिद्धिचपूं धीरो विधसे योगरोधनम् ॥ २१९० ॥

विज्ञयोव्या—काऊण नामगोत्रेयदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमप्युपभयन् योगनिरोधं करोति ॥
समुद्र्याजानुःसंगीकृतकर्मत्पातंतरकरणीययाह—

मूढारा—अनुवेतो आश्रयन् ॥

अर्थ—नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मांकी स्थिति आयुके समान कर योगनिरोधसे मुक्तिको प्राप्त करते हैं.

बादरवचिजोगं बादरेण कायेण बादरमणं च ॥

बादरकार्यं च तथा रुंभदि सुहमेण काएण ॥ २११७ ॥

स्थूलौ मनोवचोयोगौ रुणद्धि स्थूलकायतः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन स्थूलयोगं च कायिकम् ॥ २११८ ॥

विजयोद्या—बादरो चाब्जतोयोसौ बादरकायेण रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥

दोषानिरोधकं अभियत्ते—

मूलात्—बादरेण कायेण स्थूलकाययोगे स्थित्येत्यर्थः । रुंभदि निगृह्णाति ॥

अर्थ—बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको बादरकाययोगमें स्थिर होकर [निरोध करते हैं] तथा बादरकाय योगको सूक्ष्म काययोगमें रोकते हैं,

तथ चैव सुहुममणवाचिजोगं सुहमेण कायजोगेण ॥

रुंभितु जिणो चिद्धि सो सुहमे काइए जोगे ॥ २११८ ॥

सूक्ष्मौ मनोवचोयोगौ रुंद्धे कर्मस्वचैजिनः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन सेतुमेव जलसूक्ष्मम् ॥ २११९ ॥

विजयोद्या—तथ चैव तथैव सूक्ष्ममणवाचोयोगं सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ।

मूलात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं और उसकाययोगमें वे जिनमगगान् स्थिर रहते हैं

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियंघजो तगो तावे ॥

काइयजोगे सुहुममि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥ २११९ ॥

लेदयानारीरोगाभ्यां सूक्ष्माभ्यां कर्मबंधकः ॥

मुनलं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं कर्तुमारभते जिनः ॥ २१९३ ॥

सूक्ष्मकाययोगस्य सूक्ष्मक्रियाया बंधकत्वदायी सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥

पिण्डयोदया—सूक्ष्मलेदयया सूक्ष्मक्रियाया करणीयद्वयवधारयति—

मूढारा—देहसारा इच्छुद्रुश्लेष्मद्वया । सुदुर्गतिरिवबंधयो सूक्ष्मकाययोगेन सातवेदनीयस्य बंधकः ॥ तांश्च तदा ।

मुननक्तिरिव सूक्ष्मक्रियं नाम परममुन्मूलं ॥

अर्थ—उत्कृष्ट शुक्ललंघ्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगेन सातावेदनीयकर्मका बंध करनेवाले वे जिनभगवान् 'सूक्ष्मक्रिय' नामक तीसरे शुक्ललंघ्यानका आश्रय करते हैं, सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्ललंघ्यानकी प्राप्ति होती है.

सुदुर्गमकिरणेण ज्ञाणेण निरुद्धे सुदुर्भकाययोगे वि ॥

सेलेसी होदि तदो अबंधगो निरुचलपदेसो ॥ २१२० ॥

सूक्ष्मक्रियेण रुद्धोऽसौ ध्यानेन सूक्ष्मविग्रहः ॥

स्थिरीमृतपदेसोऽस्ति कर्मबंधविपरिणतः ॥ २११४ ॥

पिण्डयोदया—सुदुर्गमकिरणेण तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे विच्छिन्नप्रदेशोऽपबंधको भवति । बंधनिमित्तानामभावात् ॥

तद्व्यानकलमाप्यमेतर्भाकिनी संधिद्विकीनयस्थो पुरुषस्त्वोपदिशति—

मूढारा—तदो अलेशयात् । अर्बपओ समस्तबंधनिमित्तानामभावात् ॥

अर्थ—सूक्ष्मक्रिय शुक्ललंघ्यानके द्वारा ये सूक्ष्मकाय योगका निरोध करते हैं, तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते हैं और उनको अब साता वेदनीय कर्मका भी बंध होता नहीं है, क्योंकि बंधके कारणही उस समय नष्ट हो गये हैं, अर्थात् बंधका कारण योग भी उस समय नष्ट होता है.

माणुसगदितज्जादिं पञ्जचादिज्जसुभगजसकिंतिं ॥
अण्णदरवेदणीयं तसवादरमुच्चगोदं च ॥ २१२१ ॥

अयोगोऽन्यतरद्वेय नरायुद्धय ब्रसम् ॥

सुभगादेयपर्याप्तं पंचाक्षोच्चयस्यांसि सः ॥ २१२२ ॥

विजयोदया—माणुसगदि मनुष्यगति, पंचोदियजाति, पर्याप्तमादेयसुभगं, यक्षस्त्रीतिमन्यतरवेदनीयं, ब्रसबादरं, वृक्षवैगोदं वेदयते ॥

तत्कालभोग्या मुंक्षुं यस्मिन्ः एकादशमर्ममकुलीस्तीर्थेकरय द्वादश विशति—

मूला—रात्रादि पंचेन्द्रियजाति । पञ्च अष्टादशदिपर्याप्तिनिर्धतकं पर्याप्तक्यं नामकर्थ । आदेय आदेयं प्रभो-
पेवद्वरीताकारणं नाम कर्म । सुभय पराश्रीतिप्रभयकलं सुभगास्यं नाम । अस्मद्विती पुण्यपुण्यपनकारणं यशःकीर्तिनाम ।
अण्णदरवेदनीयं बहुदयादेवार्थिगतिषु शारीरमानसबुलप्रानितस्तच्छेदं । बरफल दुःखमनेकविधं तदसत्त्वं । तयोर्मध्ये एव-
तरं । तम द्वीन्द्रियाधिषु अन्तर्निमित्तं ज्ञानाद्यं नाम । वापरं अन्यथाचाकरसरीरकारणं नाम । वृक्षगोदं लोकपूजिष्यु कुलेषु
जन्मकारणमुच्चर्चनीयम् ॥

अर्थ—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यक्षःकीर्ति, साता चेदनीय और अमाता
वेदनीय इन दोनोमेंसे कोई एक, ब्रस, बादर और उच्च गोत्र इन कर्मोका अनुभव करते हैं.

मणुसाजगं च वेदेदि अजोगी होहिदूण तं कालं ॥
तित्थयरणामसहिदाओ ताओ वेदेदि तित्थयो ॥ २१२२ ॥

बादरं तीर्थकुत्तैतास्तीर्थकारी त्रयोदश ॥

न परो चंचयते सायुस्तदानीं द्वादश स्फुटय ॥ २१२३ ॥

यिजयोदया—मनुष्यायुक्ष वेदयते अथोयो मूल्या तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥

मूला—मणुसानां मनुष्येषु भवधारणकारणं कर्म । होहिदूण भूत्वा । तित्थयरणाम आर्हन्त्यधारणं तीर्थकराय
नाम । वाओ मनुष्यगत्यादिंका एकादश ॥

अपं-मनुष्यावुके माय ऊपरके दत्त प्रकारके फलोंका अयोगि मुनि अनुभवन करते हैं. जो तीर्थंकर हैं उनको तीर्थंकरके माय ऊपरके ग्यारह प्रकाशियोंका उदय होता है और मुंडकेवलीको ग्यारह प्रकाशियोंका उदय होता है.

देहति यंच परमो वदत्यं केवली अजोगी सो ॥

उवपादि समुच्छिन्नकिरियं तु ज्ञानं अपडिवादी ॥ २१२३ ॥

देहेन्नितयंचस्य एवंसायायोगकेवली ॥

समुच्छिन्नक्रियं ध्यातं निश्चलं प्रतिपद्यते ॥ २१२७ ॥

विजयोदया—देहति य देहविकल्पपरिसोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यातं ध्याति ॥

तत्कालकरणीयमदरीत्तकारणं परमतरशुक्लध्यानसंविधये—

मूढारा—देहविय परमोदरिक्तं, वैजलं, कासं येति श्रीणि दरीराणि । अपडिवादी य समुच्छिन्नक्रियानतिपाति व्युत्पत्तिक्रियानिषत्तत्परावयव ॥

अपं—औदारिकशरीर, वैजल य कामंणशरीर इन यौन दरीरोंका वस्त्रनाश करनेके लिये वे अयोगी-केवली नगवान् समुच्छिन्नक्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं.

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरियज्झाणेण ॥

अणुदिण्णाओ दुच्चरिमसमये सत्त्वाओ पयडीओ ॥ २१२४ ॥

मात्रापंचककालेन तेन ध्यानेन वर्तते ॥

प्रकृतीनामपदानां द्वारसंस्तुतिमसौ समम् ॥ २१२८ ॥

विजयोदया—सो तेण स तेन पंचमात्रकालेनानेन ध्यानेन क्षण्यति द्विचरमसमये अनुदीर्घाः सर्वाः प्रकृतीः ॥

पंचावशरोच्चरणकालमायिना उदयानेन करणीयामनुदीर्घेति सप्ततिर्कर्मप्रकृतिक्षयणाच्छयति—

मूढारा—पंचमणकालेन ॥ इ च अहं इति पंचमात्रोच्चरणकालप्रमाणेन । अणुदिण्णाओ अनुदयं प्राप्ताः ।

[illegible]

अर्थ—ये अपौगि जिन पंचदस्वर उच्चारण मात्र कालमें उदयमें नहीं आने हुई सब प्रकृतिओंका इस गुणस्थानके उपानयनसमकर्म क्षय करते हैं. अर्थात् तिष्ठत्तर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

चरिसममयमि तो सो खवेदि वेदिअमाणपयडीओ ॥
 धारस तितययरजिणो एक्कारस्त सेससव्वण्हू ॥ २१३५ ॥
 दारीरं पंचधा तन्न पञ्चधा देहबन्धनम् ॥
 संघातः पञ्चधा पोढा संस्थानममरद्वयम् ॥ २१९९ ॥
 अंगोपांग त्रिसंख्यानं पोढा संतृप्तनक्षणे ॥
 पंच यणी रसाः पंच गंधरूपशो द्विधाष्टधा ॥ २२०० ॥
 क्षीयते शुक्लच्छादिचतुष्कं द्वे नभोगती ॥
 शुभद्रपं स्थिरद्वन्द्वं प्रत्येकं सुस्वरद्वयम् ॥ २२०१ ॥

देवदुय पण छरीरं पंच सरीस्स पंचपंच वेव ॥
 पंचेव य संघायं संघाणं ण्ह य छकं च ॥
 तिणिण य अंगोवंगं संघयणं वट्ठ ॥ होइ छकं च ॥
 पंचेव य वण्णरसं हो गंधं अट्ठफासं च ॥
 अणुठल्लदुयपउत्तकं विहायगदिदुग यिराविरं चेव ॥
 सुहसुरसराजुयला वि य पंचेयं दुल्लभां अजसं ॥
 अणदेवउं निमिणं च अपज्जत्तं ॥ य पीवगोयं च ॥
 अण्णदरवेकणीयं अज्जोगादुचरिममिंम वोत्थिण्णया ॥
 अण्णयरवेकणीयं मणुयाउ मणुयदुगं च बोइत्था ॥
 पवेदिवजादे वि य उससुअगादेवज पउअत्तं म
 यादरजसकित्तोवि य तित्यपरं उचगोयरो वेव ॥
 एर ठेरसपयडी अमोइद्विव समवोत्थिण्णया ॥

अनादेयापशो निर्माणे चापूर्णाणि दुर्मगम् ॥

वेद्यमन्यतरस्तस्य द्वासासप्ततिरुपान्तिमे ॥ २२०२ ॥

अंतिमे समये हत्वा प्रकृतीः स त्रयोदश ॥

वैद्यमानः सदाऽयोगः प्रयाति षट्समयम् ॥ २२०३ ॥

विज्ञयोदया—चरित्समयमिमं कृत्ये समये क्षणपति वेद्यमानाः प्रकृतीर्द्वैतं तीर्थकरजिनः । शेपस्यैवः
एकावश । मानकवपण नानो चिनायोग तैजसहारीरचो नश्यति । अक्षुप क्षयेण औदारिक्यं घनताः ॥

तीर्थकरेतरचरमक्षयक्षणीवाः प्रकृतीः सैक्याविशेषणवधारयति—

मूलात्—वारसमपुरसगदिभित्यादिना प्रागुक्ताः ॥

अर्थ—अन्यसमयं तृप्तिकरेकवली अनुभवमे आनेवाली चारा प्रकृतिजोका क्षय करते हैं और
सानान्य केवली ग्यारह प्रकृतिजोका क्षय करते हैं.

णामक्खण तेजोसरीरबंधो वि स्वीयेदे तस्त ॥

आउक्खण ओराहियस्त बंधो वि स्वीयदि ते ॥ २१२६ ॥

तं सो बंधणमुक्को उहुं जीवो पओगदो जादि ॥

जह् एण्हयवीयं बंधणमुक्कं समुप्पदि ॥ २१२७ ॥

नामकर्मक्षयात्तस्य तेजोबन्धः प्रलीयते ॥

औदारिकवपुर्बधो न सत्यायुःक्षये सति ॥ २२०४ ॥

एण्डयीजवलीनो बन्धन्यपगमे सति ॥

उद्ध्वं याति निसर्गेण शिखेव विपमार्चिपः ॥ १२०५ ॥

विज्ञयोदया—स्वशेखरगायाह्वयं ॥

वेजसौदारिकरीरबंधेदेनित्त्वपनविशेषनिर्द्वयानमाह—

मूलात्—वेद्य वैजसं । ओपलिदस्त औदारिकहरीरव्य । बधो अन्योन्यप्रदेशमुपदेक्षेनकृत्वापस्यावस्थानम् ।
दवि जीवमुत्तिर्णनम् ॥

६१: प्रवर्धेन गार्ध्वजिन्ना परममुष्टिं वर्षे विष्वक्नाहौ संभ्रजेत्तन्तर्भाविनी लोकान्वापणीमेकसमयिणी नैस-
निकी जीवरोर्द्ध्वगतिं दृष्टान्तेन समर्थयते—

मृत्तारा—पयोगो प्रकृष्टवेगेन । मधुलपदि यथा धीजकोशनायारेरब्धीजमात्रबेवोर्द्ध्वं गच्छति तथा मधुव्यादि-
मयमासकवृत्तादिभ्रमवर्धेत्तदवस्थायीत्यर्थः ॥

अर्थ—नाम कर्मके धूपते तैजस बन्धका नाश होता है और आयुर्कर्मके क्षयसे औदारिकबन्धका भी
नाश होता है. इस प्रकार बंधमुक्त हुआ यह जीव परंदर का बीज जैसे बंधनमुक्त होकर ऊपर जाता है वैसे उत्कृष्ट
वेगेमे जाकर युक्तिस्थानमें स्थिर होता है.

अथो गिह्वरेली उपान्त्य समयमें वेहत्तर प्रकृतिजोंका धूप करते हैं उन प्रकृतिजोंके नाम इस प्रकार हैं—
१ देवगति २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ३ मधुप्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी. ५ औदारिकादिक पांचशरीर, औ-
दारिकादि तानि अगोपांग, निर्माण नामकर्म, धंधननामकर्मके पांचप्रकार, सघातके पांचभेद, छंद सस्थान, १००
गहनन, स्वर्ग नामकर्मके आठभेद, रमनामके ५ भेद, गंधनामकर्म के दो भेद, वर्षके पांचभेद, अगुरुलघु, उपघात,
पराघात, उच्छ्राम, प्रगृह्य निहायोगति, अग्रवृत्त विहायोगति, प्रत्येकशरीर, दुर्भग, द्युस्वर, दुग्धस्वर, शुभ, अशुभ,
अपपाप्म, भ्रष्ट, अस्तिरा, अनोदय, अग्रवृत्त कीर्ति, अन्यतरंगदनीय और नीचोत्तम ऐसी तिहत्तर प्रकृति हैं उनमें
मधुप्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी कर्मरा नाश अन्त्य समयमें होता है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं उनके मतसे उपान्त्य
समयमें ७२ वहत्तर प्रकृतिजोंका धूप होता है तीर्थंकरके तेरा प्रकृतिजोंका अन्त्य समयमें धूप होता है
और अन्य मुनिजोंके पतरा प्रकृतिजोंका धूप होता है.

संगजह्वरेण बलहृदयाए उद्धूं पयावि सो जीवो ॥

जघ लाजो अलेओ उपपदि जले णिवुजो वि ॥ २१२८ ॥

आयेधेनाश्रुगमिय सण्णेन नियोजितः ॥

अलायुरिव निलेपो मत्वा मोक्षेज्वत्तिष्ठते ॥ २२०६ ॥

पित्रयोदया—संगग्रहणेन संगत्यामाह्वयुतयोर्दे प्रयाति जलनिमग्नानिलेपाख्युपप ।

मुगलमा संगत्यामाह्वयुतयोर्दे गच्छतीत्येवदृष्टान्तेन द्रष्टव्यि —

मूला—संगग्रहणेन शरीरत्रयसंगत्यागेन । लागो तुल्यं । जलबो मृदादिलेपमुक्तं । गिबुदो निमग्नं । यथा मृदादिलेपजनितावमहापुद्रव्यं जलेऽप्यः पक्षिं जलबलेद्विदिल्लमृदादियं नं उधुसद्वृत्तेन गच्छति । तथा फलमरात्राविधरीकृत आत्मा तदावेदवशात्संसारनिवर्तेन गच्छति । तत्समदिविप्रमुक्त उपवेद्य यातीत्यर्थः ।

अर्थ—कीचदक्षा सेप हटेने पर लैसा तुलीका फल जलमें ऊपर कुदकर आता है वैसे औदारिक, तेजस और कामंज इन तीन शरीरोंका संग हटेनेपर यह आत्मा हलका होकर मुक्तिस्थानपर चला जाता है-

ज्ञाणेण य तह अप्पा पउइदो जेण जादि सो उहुं ॥

वेगेण पूरितो जह ठाइदुक्कामो वि य ण ठादि ॥ २१२९ ॥

ध्यानमयुक्तो यात्पूर्वमात्मार्चनेन पूरितः ॥

नया प्रयत्नमुक्तोऽपि स्वातुक्कामो न तिष्ठति ॥ २१३० ॥

पित्रयोदया—ज्ञाणेन य ध्यानमात्मा प्रयुक्तो यात्पूर्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्वातुक्कामोऽपि ।

पुनरपरादरणात्तेन मुक्तात्मनोऽस्मिन्नलिप्तोऽपि विमुक्तपादयवि—

मूला—यउदो प्रेरितः । तेण अपवर्गप्राप्तये बहुशः पूर्वं छेनेन प्राणिचानेन पूरितो निर्मेराविष्टः । ठाह्व

यामो वि स्वातुक्कामो वि । उक्तं य —

ध्यानमयुक्तो यात्पूर्वमात्मा वेगेन पूरितः ॥

तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्वातुक्कामो न तिष्ठति ॥

अर्थ—कत्वार्थोऽपि दृष्टान्तयुक्तिश्चिरया । यथा कुलाढ्ययोगापादिवहस्तद्वचनसंयोगपूर्वकं चक्रप्रमणमुपर-
तेऽपि तस्मिन्पुनर्योगादांसंसारश्रयान्द्रव्यं भगवन्तत्त्वनापयगप्राप्तये बहुशो यत्प्रणियतं कुतं सद्धमयेऽपि सदापेक्षा
पूर्वकं सुगस्वोद्भूतमनं अवसीयते इति ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बड़े वेगसे दौड़ रहा है. वह ठहरना चाहता है तथापि ठहर नहीं सकता है क्योंकि वह वेगके आधीन हो चुका है. वैसे यह आत्मा यह अत्यन्त ध्रुवलभ्यान्ते ऊर्ध्वगमन करता है. लोकके अंततक उसकी गति होकर मिद्वान्तिके उपर वह ठहरता है.

उह वा अगिगस्त सिद्धा सट्टावदो चेव ह्योहि उदुगदी ॥

लीवस्त तह सभावो उदुगमणमपवसियस्स ॥ २१३० ॥

यथानलशिखा नित्यमूर्ध्वं पाति स्वभावतः ॥

तथोर्ध्वं पाति जीयोऽपि कर्ममुक्तो निसर्गतः ॥ २२०८ ॥

पिज्जयोदया—सप्तोत्तरगाथा ॥

गुणमुत्तरगमनः स्वाभाविकोद्गमननियमं निदर्शनेन व्यवस्थापयति—

मूढारा—जैसेत्यादि तथागतिपरिणामद् वया त्रिपेक्कल्लस्यभावसमीरणसंबन्धनिकत्सुला प्रदीपशिला स्वभावादुत्तरवति तथा उपरतमापि नामगतिविकारकारणकर्मनिवारणे सत्पुद्गलविरचनावत्वाद्भूमेवरोहतीत्यर्थः ।

अर्थ—जैसी आग्नि की ज्वाला स्वभावसे ऊर्ध्व गमन करती है वैसे यह आत्मा स्वभावतः उर्ध्वगमन करता है.

तो सो अविगगहाए गदीए समए अणंतरे चेव ॥

पावदि जयस्त सिहरं खित्तं कालेण ण फुसंतो ॥ २१३१ ॥

यात्यविग्रहया गत्या निन्याधातः त्रिचास्पदम् ॥

एकेन समयेनासौ न मुक्तोऽप्यत्र तिष्ठति ॥ २२०९ ॥

गिज्जयोदया—तो सो अविगगहाए ततोऽस्तावयिग्रहया यस्या अणंतरसमय एव अमलक्षितपारं प्राप्नोति ॥ तरेकसमयिकाविग्रहगतिशून्यं स्थानमाह—

मूढारा—अविगगहाए अयकया । वाणिधुक्कलंगलीगोयुविकाभ्यो गतिभ्योऽन्वया । अणंतरे कर्मश्रयानंतर

माविनि समये । जयस्य सिद्धं लोभन्तं । तथा च सूर्य—‘तदनंतरमुक्तं मन्त्रुल्यालोभंतादिति’ सेत्तमित्यादि कालकल-

यार्थनरात्रे सप्तः पुत्रप्राप्त्याकाशप्रदेशमस्तुशब्द । उक्तं च—

सोऽदिमस्य गत्या समयेनेकेन भाति लोकम् ॥ कालकलयापि लोकं न मोलयन्वेगयोगेन ॥

भीर्यंरतु समयेणभरेणवेति पाठं यत्वा भोलोणेत्यन्येन संबंधमदर्शयत् । अनंतरसमयमात्रेण कालेन लोकांतं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह क्षमंरहित आर्या अविग्रह गतिके द्वारा अनंतर समयमें सप्तस्तु प्रमाण आकाशको स्पष्ट करता हुआ लोक शिखरको प्राप्त होता है-

पुंवं इहहं पयहिय देहतिगं सिद्धलेत्तमुवगम्भ ॥

सत्त्वपरियायमुक्को सिद्धिदि जीवो समावत्यो ॥ २१३३ ॥

चिन्तिष्ठ ध्यानश्च्रेण देहन्नितययंचनम् ॥

सर्वद्विद्विनिमुक्तो लोकाग्रमधिरोहति ॥ २२१० ॥

पिप्रयोधया—यद्यं एहं पयमिह देहतिकं विद्याय सिद्धेश्चमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीयाः स्वमापस्य ॥

मनुवोपमंहारयाह—

मूढात्—इपयं इह अरिमन्पंचत्वारिजस्तुषोथनश्रमितामनुषोपरदेलाते मनुष्यक्षेत्रे । सिद्धिलेचं तनुवातय-
लपयन्वावयवावकादयेनं । उवगम्य प्राप्य । सत्त्वपरियायमुक्को सकलवैभाविकभावपरित्यक्तः ॥ अन्ये परियायदत्तवेन
प्रपारस्यादुः । सिक्तादि टोत्कीणैकप्रायकभावत्वात् स्वात्मानमुपलभमानः, कृतार्थतया निर्वृतास्ते । समावत्को अनंत-
प्राप्तादिपुष्ट्यामकादतमस्वरूपादनपगच्छन् ॥

अर्थ—इम प्रकार इस पैतालिस लक्ष प्रमित मातुगोचरपर्वतपर्वतके क्षेत्रमें औदारिक, तैजस और कामाणि
ऐसे तीन देशोंका त्याग करते तनुमानवलपयपर्वतके आकाश देशमें प्राप्ता होता सर्व वैभाविक अवस्थाओंका त्याग
कर स्वभावतः जीव सिद्ध होता है-

ईतिष्पन्भाराष्ट उर्ध्वं अत्यदि सो ज्योणम्मि सीदाए ॥
धुवधचलमज्जटाणं लोमसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥

ईपत्प्रागभारसंज्ञार्यां घटिन्यामुपरि स्थिताः ॥

घटोत्थयाग्रेऽवतिष्ठन्ति ते किंचिन्मन्योजने ॥ २१११ ॥

पिजयोद्वा—ईतिष्पन्भाराष्ट उर्ध्वं अत्यदि सो ज्योणम्मि सीदाए ॥
सिद्धिसेप्राधोवधिवामाश्रमी धृषिणी निर्दिष्टव तद्वेषेभ्योऽन्यमाचष्टे—

मूढारा—ईतिष्पन्भाराष्ट ईपत्प्रागभाराभिधायकाः सिद्धिदिक्षायाः । ज्योणम्मि किंचिदुनैक्योजने । सीदाए पृथि-
व्याः । वत्तगुरुत्वरूपक आगमो यथा—

ईपत्प्रागभारसंज्ञा सावष्टमी पृथिवी लुता । अष्टयोजनवाहस्या मध्ये हीनक्रमावतः ।

पर्वन्तेशुलसंवेपभागाभ्रान्तुरिषतिः । सोत्तानितमहावृक्षा श्वेतच्छत्रोपमाकृतिः ॥

परवादिषु पित्तारो लक्षाः वर्षाभिरान्विताः । योजनानि क्षितेस्तस्या विद्वद्भिराभिधीयते ॥ ४५०००००० ॥

कोटी तु वरिधिर्लक्षा द्वापरवार्दितादिपते । द्विजस्येकाग्रप्रपासाविसहस्री वृक्षाद्वला ॥ १४२३०२४९ ॥

अबलं निरुद्धं । अजरं जराहितं क्षीरसंयमाभावात् ॥

उक्तं च—ईपत्प्रागभारसंज्ञाया उर्ध्वं न्यूनयोजने । लोकाग्रमचलं स्थानं सिद्धस्तवधिविपुलि ॥

अर्थ—विद्वद्भूमौका ईपत्प्रागभारा पृथ्वी एसा नाम है, एक योजनमें वह कुछ कम है, ऐसे निष्कंप, स्थिर
स्थानमें, सिद्ध प्राप्ति होकर विपुले हैं.

धम्मभावेण तु लोगगे पडिहम्मदे अलोगेण ॥

गदिसुवकुणदि तु धम्मो जीवाणं पोमगलाणं च ॥ २१३४ ॥

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः ॥

धर्मो हि सर्वदा कर्ता जीवपुद्गलयो-र्गतेः २११२ ॥

पिजयोद्वा—धम्मभावेण तु धर्मास्तिकापस्यामागे लोकगमे प्रतिहन्यते अलोकगे, यतो जीवपुद्गलानां गते-
रपरकारको धर्मः स योगेति नास्ति ॥

मुक्तता यग्यविस्मयानियतो निश्चितार्हो लोकत्वादर्थमपि कस्मान्नोत्पत्ति इत्यरेकं निराकरोति—
मूलात्—एवमाभावेण गत्युपमाहकपर्मद्रव्ययुक्ततया । पविद्रुम्भे लोकं अतिक्रम्य गच्छन्मुक्तात्मा प्रतिबभूवो ।
अतो गेग पर्मद्रव्यरहितत्वात्केवलत्वाभावेन । तद्यक्युनि उपकरोति । युगपद्भाषयतिपरिणामोन्मुक्तानां जीवपुद्गलानां गतये
पटापाने करोतीत्यर्थः ॥

गदपरिणवाण प्रभ्यो युगलजीवाण गमणसहचारी ॥

तौ य जद मण्डणं अण्डंता येव सो गेहे ॥

स चेपरि नास्ति इति साधारणचद्विरंगमनकारणमावाचलोककाले मुक्तत्वतो गमनाभावात् सिद्धः ॥

अर्थ—द्वैलोक्यके अन्तरक भर्मासिकाय हे इसलिय सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है.
अलोक्त में जीव और पुद्गलकी गतिको उपकारक धर्म द्रव्य नहीं है इसलिय सिद्ध जीवोंकी ऊपर गति नहीं होती है.

जं जरस दु संठाणं चरिमसररिस्स जोगजहणम्मि ॥

तं संठाणं तस्स दु जीवधणे होइ सिद्धस्स ॥ २१३५ ॥

इसविषयाणाभावो कम्माभावेण होइ अण्वन्ते ॥

अण्वन्तिगो य सुहदुक्खभावो विगदेहस्स ॥ २१३६ ॥

निष्ठितान्येषकृत्यानां गमनागमनावयः ॥

व्यापारा जातु जायन्ते सिद्धानां न सुखात्मनाम् ॥ २१३७ ॥

कर्मभिः क्रियन्ते पातो जीवानां भवसागरे ॥

तेषामभावात्तेषां पातो जातु न विद्यते ॥ २१३८ ॥

क्षुधानृणादयस्तेषां न कर्माभावतो यतः ॥

आहाराद्यैस्ततो नार्थस्तत्पतीकारकारिभिः ॥ २१३९ ॥

यत्सर्वेषां समीक्ष्यानां सुवनत्रयवर्तिनाम् ॥

ततोऽन्तर्गुणं तेषां सुममस्त्यविनश्वरम् ॥ २१४० ॥

अंत्यविग्रहसंस्थानसहस्राकृतयः स्थिराः ॥

मुग्धदुःखविनिर्मुक्ता भाविनं कालमासते ॥ २२१७ ॥

तेषां कर्मच्यपयेन भाणाः संति यथापि नो ॥

न योगाभायतो जातु विद्यते स्पंदनादिकम् ॥ २२१८ ॥

विशेषोक्त्या—दशविधानां भाणानामत्यंतामयेन भवति आत्यंतिकस्य सुखदुःखमाया ॥

मुक्ता—जीवजहणमि

मनोबाह्यव्यवसायपरिहरसमये । जीवणं जीवस्वरूपनिर्भरवृत्ते । एतां श्रीविजयो

नेच्छति ॥

मुग्धस्य निमिषाध्यादावर्तिकं भाणानां सुखदुःखयोद्यामात्रं भावयति—

मुक्ता—दशविपल्नाभावो पंचेन्द्रियाणि मनोवाक्पापज्वलि आयुरुच्छ्वासश्च । अर्धं सर्वथा । विगर्भदेहस्त

इन्द्रियाविद्यानैशानाचारैः सुखदुःखे च मुक्तस्य न स्त इत्यर्थः ॥

अर्थ—मन पचन और शरीर इनके योगोंका त्याग करते समय चरमशरीर धारकोंके शरीरका जो आशय रहता है यही आफत पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हुए सिद्धों का रहता है. दस प्रकारके प्राण सिद्धों को नहीं रहते हैं अर्थात् पांच इन्द्रिय प्राण, मनोपल, वचनबल, कायबल, आपुष्य, उच्छ्वास इन दस प्राणोंका सिद्धपरमेष्ठी में अत्यन्त अभाव रहता है. इन्द्रियोंको आश्रय देने वाला देह नहीं होनेसे इन्द्रिय जनिव सुख दुःखोंका भी अभाव रहता है. इन्द्रियोंके अभाव में भी उनको अर्थाद्विष अतन्त्र सुख प्राप्त हुआ है.

• ओं णरिथ वंधेहेतुं देहमग्रहणं ण तस्स तेण पुणो ॥

कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥ २१३७ ॥

न कर्माभावतो मूयो विषते विग्रहग्रहः ॥

शरीरं श्रयते जीवः कर्मणा कलुपकृतः ॥ २७१९ ॥

विजयोक्त्या—ओं अरिथ वंधेहेतुं यथास्ति वंधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्म कलेहनाग्नौ ॥

शुक्लस्य पुनः शरीरप्रद्वानाभावे शुद्धिमाह—

मूलारा—चंपेदेह वंशस्य हेतुमिथ्यात्वादिः । स च शुक्लस्य नास्तीति पुनः कर्मवंधामावात् । बद्धेतुकेदेहप्रद्वाना-
भावाः । अथवा चंपेद्वानासौ हेतुश्च पुनः शरीरप्रद्वाने निमित्तमिति भाव्यम् ॥

अर्थ—उन सिद्ध परमेश्वर के कर्मवंधन के कारण रूप मिथ्यात्वादिकोका अथाव हो चुका है इस लिए पुनः
उनको नवीन कर्मपन्थ नहीं होता है- कर्म के बन्धनसे देहका ग्रहण होता था. अब कर्मबन्ध ही नहीं तो नवीन
देहकी माति कहाँसे हो सकेगी. जो जीव कर्मसे मलिन हुआ है. उसके ही नवीन देहकी उत्पत्ति होती है. अन्य
को नहीं होती है.

कञ्जामात्रेण पुणो अरुचंचं णत्थि पंदणं तस्स ॥

ण पओगदो वि पंवणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥ २१३८ ॥

पितृयोदया—कञ्जामात्रेण पुणो कार्पाभावेन तत्संबन्धं नास्ति तस्य पटप्रयोक्तव्यमपि स्पंदनमस्थोद्देश्य
सिद्धस्य ॥

सिद्धास्य सुखकलकस्य । प्रयोजकमात्रादेहेद्वयस्य च कार्पादिप्रयोगाग्रमन्वत्कारकवचिद्विषि सतश्चलनं नास्तीत्यव-

गमयति—

मूलारा—कञ्जामात्रेण प्रयोजकभावेन । अरुचं सर्वकाष्ठं । पंदणं चलनं । पञ्चोगदो वि वातावेरपि । अदेहिणो
देहसंयोगशुक्लस्य अमूर्तत्वार्थः ।

अर्थ—कुछ भी प्रयोजन नहीं होनेसे सिद्ध परमेश्वर के प्रदेष्टासे परिसंदन-चंचलपना नहीं होता है
तथा वातादिके संयोग से भी उन में चंचलपना नहीं है, क्योंकि उन के देहका ही अभाव हुआ है.

कालमणंतमधमोपगहिदो ठादि गयणमोगाढो ॥

सो उवकारो द्हो अठिदि समानेण जीवाणं ॥ २१३९ ॥

अर्षर्षधशतः सिद्धास्तत्र तिष्ठन्ति निश्चलाः ॥

सर्वदान्युपकर्तासो जीवपुद्गलयोः स्थितेः ॥ २१४० ॥

पिण्योद्या—आलम्ब्यते अर्गतकाले अधर्मास्तिकाद्योपगृहीतः गगनमनुमसिष्टः तिष्ठति । उपकाये रहते अधर्मा-
स्त्रिकालेन संपादमानोपकारः मरणपर्यन्तमुक्त इत्येव यस्माच्च जीवस्य स्थितिस्त्वभाष्येन्यादिवत् ॥

सिद्धाय लोकाम्नादशेषापरमानित्यतामुपपत्तिमाह—

मूलारा—अपरमोपगृहीतो अधर्मास्तिकाद्येन स्थितो नादित्यवच्छेदः आगाढो अनुपविष्टः । सो अवर्मेत्तपायापरधानं
लक्षणः । अतिदिसन्नायेन स्थितिरयमावाभायेन । न हि जीवस्य स्थितिरवभाष्येनैवतत्वादिवत् । ततः स्थितिः सिद्धयाधर्मे-
कृतैव । कचिन् हिदिसहायेन जीवतेति पठः ॥

अर्थ—सिद्धजीव अनेककाल तक अधर्म द्रव्यमे अनुग्रहसे आकाशमे रहते हैं. अबेतनके समान जीवका
स्थितित्वमान नहीं है अर्थात् जीवमे चेतन्य जैसा समाव है वैसा स्थितित्वमाव नहीं है. अतः अधर्म द्रव्यके
अनुग्रहमे ही सिद्धजीव स्थिर रहते हैं.

तेलोकमत्यथयो तो सो सिद्धो जगं गिरवसेसं ॥

सत्वेहिं पतजएहिं य संपुणं सच्चद्व्येहिं ॥ २१४० ॥

लोकमूर्धनि तिष्ठन्ति कालत्रितययतिनं ॥

जानानां धीश्रमाणास्ते द्रव्यपर्यायविस्तरम् ॥ २१४१ ॥

पिण्योद्या—तेलोकमत्यथयो धैलोक्यमस्तकस्य. ततोऽसं जगत्स्वतोयं सर्वे. पर्यायेस्सर्वेद्रव्यैस्संपूणे ॥

परसन्नि जाणदि य तद्वा तिणिण वि काले, सपज्जए सत्वे ॥

तद्वा वा लोभमेसंस परसन्नि भयवं विगदमोहो ॥ २१४२ ॥

पिण्योद्या—परसन्नि जाणदि परसन्ति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषांस्तथा बालोक्तमशेषं परसन्ति
भगवान् विगतमोहः ॥

सिद्धाय दर्शनज्ञानमदिमानवमिष्टोति—

मूलारा—जगं लोकं ॥

मूलारा—जिणो जीवमुक्तम् । मयत्तर पर्यायसहितांसीनपि कथञ्चन । एतेन वैद्वेषिकादिकल्पिता ज्ञानाद्विगुणा-
स्त्यनोपिच्छित्तलधुना परममुक्तिः प्रवृत्ता ॥

अर्थ—सिद्ध परमेश्वरी ब्रह्मलोकके मस्तकपर आरुढ़ हुए हैं—वे यहाँसिन्ही संपूर्ण ब्रह्म और उनके पर्यायोंसे भरे हुए संपूर्ण जगत् को दोनों कालोंमें जानते हैं और देखते हैं, तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं,

भावे सगविसयत्ये सुरो जुगवं जहा पयोसेह ॥

सत्त्वं वि तथा जुगवं कंचलणाणं पयोसेदि ॥ २१४२ ॥

युगपत्कंचलाद्योको लोकं भासयतेऽखिलम् ॥

यनाचरणनिर्मुक्ताः स्वगोचरमिवांशुमान् ॥ २१४३ ॥

विजयोदया—भावे सगविसयत्ये आत्मगोचरस्यान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि वेपं युगपदेवैवमानं प्रकाशयति ॥

कंचलजानस्य युगपदपेक्षाप्रकाशश्च दृष्टत्वेन स्पष्टयति—

मूलारा—भावे पदार्थादि । सगविसयत्ये आत्मगोचरस्यान् ॥

अर्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाशमें जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत्प्रकाशित करता है वैसे सिद्ध परमेश्वरीका केवलज्ञान संपूर्ण ब्रह्मको—पदार्थोंको युगपत् जानता है,

गदरागदोसमोहो विभवो विमओ विरुस्सओ विरओ ॥

युधजणवग्गिदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥ २१४३ ॥

रागद्वेपसदक्रोधलोभमोहविवर्जिताः ॥

ते नमस्याखिलोकस्य ध्रुवन्ते कल्मषं स्मृताः ॥ २१४३ ॥

विजयोदया—गदरागदोसमोहो दृष्टीभूतरागद्वेपमोहः, विभवो विवतभयः विमओ विमत्तमहः, कचिद्व्यय-उत्पुको, निरुत्तकर्मज्ञ पटलाः, युधजनभित्तोजगुणः विष्णुपदेय नमस्करणीयः ॥

सुधाधमनः सफलविभारजिराधिराधिरगन्धमात्तं कमन्यच्छत्रं परमस्वच्छन्यावेदयति—

मूलारा—निरुत्सुगो कचिद्व्ययुत्पुः ।

अर्थ—विन्दोने रागद्वेप और मोह आत्मासे दूर किये हैं जो निर्भय, भद्ररहित और उत्कण्ठारहित हैं-

त्रिन्होने अपनी आत्माने कमरूपी भूल अलग की है, त्रिनके गुणोंका वर्णन गणधरादिक विद्वन्मंडली करती है ऐसे सिद्ध परमेश्वरी अलोक्य के द्वारा बंदनीय है-

णिन्वाचइत्यु संसारमहर्षिग परमणिबुद्धिजलेण ॥

णिन्वादि समावृत्यो गदजाइजामरणरोगो ॥ २१४४ ॥

जन्ममृत्युलरारोगशोकांतंकाविद्याचयः ॥

विपद्याताः सकलास्तेषां निर्वाणक्षरचारिभिः ॥ २१४५ ॥

विजयोदया—निष्पाधराण्डु क्षयमुपमोय संसारमहर्षि परमनिर्मुक्तिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-
जरापरणरोगः ॥

मूलारा—निदमायण्डु किञ्चाय । परमणिबुद्धि परमानंदमयी बुद्धिः । निष्ठवावि चविबोदिवसुखो भवति ॥

अर्थ—इन सिद्ध परमेश्वरी संसाररूपी महाप्रिको अनंतसुखरूप जलसे दुझाया हैं और वे अपने स्वरूपमें ही हमेशा तृप्त रहते हैं। जन्म, जरा, मरणरूपी रोगोंका उन्होंने नाश कर दिया है।

जावं तु किंचि लोए सारीरं माणसं च सुहृदुक्खं ॥

तं सब्बं णिडिजणं अमेसदो तस्स सिद्धस्स ॥ २१४५ ॥

शारीरं मानसं सौख्यं विचयते घट्ठजगत्त्रये ॥

तथोंगाभावतस्तेषां न मनागपि जायते ॥ २२२५ ॥

विजयोदया—जावं तु किंचि लोए यावत् किंचिहोके शारीरं मानसं वा यत्सुखं दुःखं च तत्सर्वं निर्जालं निरस-
दोयं प्रकारकारत्वर्यनिरासार्थमशेषप्रद्वनं ॥

वयौपायिकमुपदुःखप्रत्ययमात्मयवि—

मूलारा—सुहृदुखं सिधमिति शेषः । णिजिणं नष्टम् । असेखदो सबंधकास्तः । प्रकारकात्वर्यनिरासार्थ-
मशेषप्रद्वनम् ॥

अर्थ—इस जगत्में जो कुछ शारीरिक और मानसिक सुख अथवा दुःख होता है वह अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ नष्ट हुआ है. अर्थात् सिद्धोंको शारीरिक और मानसिक दुःखोंका सर्वथा अभाव है. क्योंकि उनको देह और मन नहीं है. वे अक्षरीर और अमनस्क हैं.

अं गतिं सत्त्ववाधाउ तस्स सत्त्वं च जाणइ जदो से ॥

अं च गदब्धवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥ २१४६ ॥

जानतां पश्यतां तेषां विद्याधरहितात्मनाम् ॥

सुखं वर्णयितुं केन शक्यते हतकर्माणाम् ॥ २१४६ ॥

विजयोदया—अं गतिं सत्त्ववाधाउधो यद्ग सन्नि सर्ववाधा, सर्व च यतो जानाति, यद्वापगताभ्यवसानः, तेनासौ सिद्धः परमसुखी भवति ॥

वत्परमसुखित्वं समर्थयते—

मूलारा—यथाजो करीरादिदुःखानि ना । यदग्गवसाणो निश्चितः ॥

अर्थ—इन सिद्धोंको सम्पूर्ण वाधा नहीं रहती है. जाननेकी इच्छाके बिना ही सर्व जगत् जानते हैं. इसलिये ये सिद्धबीज परमसुखी हैं.

परमिद्धं पत्ताणं मणुसाणं गतिं ते सुहं लोए ॥

अब्बावाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥ २१४७ ॥

भोगिनो भानवा देवा यत्सुखं सुज्जेतम्बिलम् ॥

तद्वापाभात्मनीनस्य सुखस्यांशोऽपि विद्यते ॥ २२२७ ॥

विजयोदया—परमिद्धं पत्ताणं परमागुह्यं चक्रालंछनतादिक्रियं प्राप्तानामपि मनुजानां नास्ति यत्सुखं लोके यत्सुखं पमं तस्य सिद्धस्य मणुसग्यापधं ॥

वत्सुखस्यानुपमत्वभाद—

मूलारा—परमिद्धं चक्यविदिविपुलं ॥

अयम्—इमं जगत्तमं उत्कृष्टं श्रद्धाका अयात् चक्रचातपद् वगरहका सम्पाच्च ग्राह्यं होने पर भी मनुष्यों को वह सिद्धोक्त अनुपम सुख प्राप्त नहीं होगा है. अतःश्च सिद्धोक्ता सुख अव्यापार्य है.

देविदचक्रवृष्टी इन्दियसोक्त्वं च जं अणुहवन्ति ॥

सहस्रस्रुवर्गधण्डसिप्ययमुत्तमं लोपु ॥ २१४८ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दैर्यत्सेवितैः सुखम् ॥

तदेतदीयसौख्यस्य नानन्तांशोऽपि जायते ॥ २२२८ ॥

विजयोद्या—देविकृष्णपट्टी देवेंद्राश्रमवर्तिनश्च यद्विद्विद्यसुखमनुभवन्ति सान्द्रसरूपगंधस्पर्शोत्पन्नं लोके प्रयाने ॥

अव्यापार्यं च सुहं सिद्धा जं अणुहवन्ति लोगम्गे ॥

तस्मिन् हु अणंतभागो इन्दियसोक्त्वं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥

विजयोद्या—अव्यापार्यं सुहं अव्यापार्यात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकोप्रेऽनुभवन्ति तस्यान्तभागो भवति यद्विद्विद्य एतत् पूर्यव्यापार्यं ॥

मूढाः—हरिसत्पत्यं श्वशरिणं शक्यापुपयोगमभवत्वात् ।

इन्द्रादिमुत्तरय सिद्धसुखानंदभावात् ॥

मूढाः—मूढम् ।

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इत्यादिको से जो सुख देवेन्द्र चक्रवर्ति चौरहों का प्राप्त होता है. जो कि इस लोकमें श्रेष्ठ माना जाता है. वह सुख सिद्धोक्ते सुलका अनन्तवा हिस्सा है. सिद्धोक्ता सुख वाधारहित है वह उनकी लोकप्रप्ते प्राप्त होगा है.

जं सत्त्वे देवगणा अच्छरसहिद्या सुहं अणुहवन्ति ॥

तच्चो वि अणंतगुणं अव्यापार्यं सुहं तस्म ॥ २१५० ॥

विवर्णोदया—अं सत्ये ऐश्वर्याना यत्सुरायामुपयति साप्तरोग्यः। सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धयसा-
व्याप्यपसुरे ॥

सर्वदेवसुराणां सदनं त्वमागत्वमाह—

मूढारा—सञ्चरद्वयमा अन्तरसा गणेः सद्विवाः ॥

अर्प—अप्सरारोंके साथ देव भित्त सुलका अदुभय लेते हैं सिद्धोक्ता सुख उससे भी अनंत गुणित है
और आधारित है

तीसु त्रि कालेषु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ॥

सव्याणि ताणि ण समणि तस्स खणमिच्चसोक्खेण ॥ २१५१ ॥

फालत्रितयपावीनि यानि सौख्यानि विष्टये ॥

सिद्धैकक्षणसौख्यस्य तानि यांति न तुल्यताम् ॥ २१२९ ॥

विजयोदया—तीसु त्रि कालेषु त्रिविध तांति यांति न तुल्यताम् ॥ २१२९ ॥
समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुरेण ॥

त्रैलोक्यसासारिणमुत्पन्ना क्षणमात्राविनापि सिद्धसुखेनाहुल्यमाह—

मूढारा—ण समणि । उक्तं य—

यद्गत्र पात्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवीकृतां ॥ कलयापि न वज्रस्य परमात्मनाम् ॥

अर्थ—वीन कालमें मनुष्य, तिर्यच और देवोंको जो सुख मिलते हैं वे सब मिलकर भी सिद्धके एक
क्षणके सुखकी भी बराबरी नहीं करते हैं।

ताणि तु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ॥

ण हु अत्थि रागमवदत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥ २१५२ ॥

रागहेतु परार्थीनं सर्वं वैषयिकं सुखम् ॥

स्वाधीनिन विरागेण सिद्धसौख्येन भो समम् ॥ २१३० ॥

विष्णोऽप्या—तांनि रागवियसक्तानि रागस्य दुःखदेवोर्जनकादि, योनं दुःखानुसीधिर्य-
नामैन्द्रियगुणानां दोषोऽभिहितः । दुःखपूर्वाणि न हि शुभाविदुःखमंतरेण अस्मादिकं प्रीतिं जनयति ॥ न चास्ति रागम-
न्या इत्युक्तं नाम किंचित् ॥

नया इत्यस्य सूरस्य नाम । कवियु ॥
 भूतारा — रागविद्यानां रागस्य सुरसंज्ञातेजनाकां । एतेन दुःखानुभवेति त्रिगुणं दोषोऽभिहितः । दुःखकारणं
 दुःखानुभवं निषेधनपादगकारत्वात् । दुःखस्य पुत्राणि न हि क्षुद्रादिदुःखमन्तरेण भोजनादिकं प्रीतिं जनयति । अथ ह
 स्थितुं तन्मत्या । अक्षयसुखस्य स्वत्वाद्वाप्यनाकारताविवक्षायां रूपराशिपञ्चगतप्रीतिरूपरागात्मिका मीद्रियमनःप्रसादा-
 न्प्रकृत्यविपक्षाणां न तथाविधरागागम्यवैकृत्यं प्रतीयते ॥

अर्थ—उपयुक्त सर्व सुख रागविपाकज हैं. यह रागभाव दुःखको उत्पन्न करता है. अर्थात् इन्द्रियसुख दुःखानुबन्धि है ऐसा सिद्ध होता है. भूतल, प्यास, थँधी, उष्णताके बिना अन्नादिक पदार्थ ग्रीति उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं. इन पदार्थोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको ही इन्द्रियसुख कहते हैं.

रंद्रियपुस्तकसंरक्षणमभिषाण अकिन्द्रियपुस्तकं दद्यापञ्चयति—

अण्वममनेयमवखयममलमजरमरुजमभयमभवं च ॥

एयंतियमच्चंतियमन्वावाधं सुहमजेयं ॥ २१५३ ॥

अक्षयं निर्मलं स्वस्थं जन्ममृत्युजरतिंगं ॥

सिद्धानां स्थावरं सौख्यमात्मनीनं जनार्चितम् ॥ २२३१ ॥

विज्ञयेत्प्रा—मनुष्यममेयं तत्तमानस्य तदधिकरण्याभावात् सुप्रसन्नं तदनुपमं, छत्रस्यज्ञानमिहोमशक्यत्वाद्-
मेयं, अतिप्रभूतत्वं दुःप्राप्त्यभावात्, सामादिविच्छेदमात्रमलं, जरास्तिव्यावृत्तं, रोमाभावाद्भजे, भयाभावाद्भयं,
भयाभावाद्भयं, ऐकान्तिकं दुःप्राप्तं तद्व्यावृत्तमादिक्रमसङ्ख्यं अख्यायाश्चत्वं तत्सङ्ख्यं ॥

इन्द्रियभुगं एतद्वपतो न्यावर्णयतीन्द्रियभुगएतद्वपतो न्यावर्णयति—

मूलात् — अणुपमं हस्तमानस्य तदधिकृत्य कस्यापि सुखाभावात् । अमेयं सुखस्थानिर्ज्ञातुं परिभाषुं वा शक्यम् । अस्मिन् नतिपक्षभूतस्य दुःखस्थभावात् । अमलं रागादिमलानुपपत्त्यात् । सिद्धं विपक्षभग्न्यत्यात् । अचरन्तित्यादि उत्तराशयभावाद् उत्तरादिबिभक्ष्यं । एयं विषयं असहायं । आत्मसमुत्पत्त्यात् । अत्यन्तं अन्तःकालभाषि । पदं गिद्धं ।

अर्थ—सिद्धमुक्तके समान अथवा दसते अधिक सुख जगतमें दुसरा नहीं है। अतः सिद्धोंका सुख अनुपम है। उपस्थ जीव अपने ध्यानसे आननेमें अथवा उसका परिमाण करनेमें असमर्थ है। अतः वह सिद्धसुख अभेद्य है। प्रतिपक्षरूप दुःखका स्वयं अभाव है अतः वह अशुभ है। रागादिदोषोंसे रहित है अतः वह अमल है। जरावस्थासे रहित होनेमें इसको अजर कहते हैं। योगरहित होनेसे यह अरुच है। मय रहित होनेसे अभय है। संसारभ्रमणसे मुक्त होनेसे इसको अप्रम कहते हैं। यह मिद्धसुख फल आत्मसाक्षी उत्पन्न होता है इस लिये यह ऐकान्तिक असहाय है। इस प्रकार यह मिद्ध सुख अव्याबाध कहा जाता है।

विसर्गहिं से ण कज्जं जं णट्ठि छुदादियाउ वाधाओ ॥

रागादिया य उवमोगहेदुगा णट्ठि जं तस ॥ २१५४ ॥

विजयोवपा-विसर्गहिं से ण कज्जं अन्नादिभिरिष्यैः न कल्पं यतः सिद्धस्य न संति छुधादिया वाधाः, रागादिया विजयोवमोगहेतवो न संति यस्मात्तस्य ॥

प्रतिकार्योपमोगहेतवभावान्निरुद्धात्मनो विषयानर्थित्वमाह—

मूत्रारा—विसर्गहिं कप्रपन्नादिभिः । उवमोगहेदुगा अनुभवकारणानि । रागादिमहाविद्यो हि विषयाननुभुङ्के । वेदनाप्रतीकारार्थं वा न च सिद्धस्य संदुहयमप्यस्ति ॥

अर्थ—शुद्ध, अज्ञानादिक विषयोंसे सिद्धसुख नहीं उत्पन्न होता है। क्यों कि, भूल, व्यास, रागादिक विचार जो कि विषयोपमोगके हेतु हैं वे सिद्धोंके नहीं हैं।

एतेण चेत्त भणिदो भासणचंक्रमणचित्तणादीणं ॥

चेदुणं सिद्धमि अभावो हृदसच्चकरणम्मि ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—एतेण चेत्त भणिदो एतेन चोक्तः भासणं चंक्रमणं चित्तणादीनामभावः सिद्धे हृतसर्वेन्द्रिये । सिद्धाय सर्वेन्द्रियोच्छेदमतिदिशति—

मूत्रारा—हृदयव्यकरणमि विहितमर्थेन्द्रिय । सर्वेन्द्रियासायनतीते या ॥

अर्थ—आपण, गर्जन, विजय योगरह क्रियायें सिद्धांत नहीं हैं क्योंकि उन्होंने सर्व इंद्रियोंके व्यापारोंसे नाश किया है. यह सब उपलुक्त अभिप्रायसे मित्र होता है.

इय सो खाद्वयसम्मचसिद्धदिविरियदिष्टिणाणेहि ॥

अन्वचेतिगोहि जुचो अज्वावोहेण य सुहेण ॥ २१५६ ॥

कर्मोष्टकविनाशेन ते गुणाष्टकचेष्टिताः ॥

संतिष्ठन्ते स्थिराभूताः सुवनचयचंदिताः ॥ २२३२ ॥

विज्ञतोद्वा—इय सो पादय एवमसौ क्षापिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया योग्येन अनंतप्राज्ञार्थनंतदृष्टेन दृष्टत्वेन विज्ञितेन गुणोऽव्याप्येन नृनेन ॥

तथावद्विज्ञादौकिककर्मकलापं समुल्लसति—

मूलादा—सिद्धत्वं । स्वात्मलाभमाश्रयम् ।

अर्थ—इस प्रकार धार्मिक सम्यक्त्व, स्वरूपकी प्राप्ति, अनंतवीर्य, अनंतज्ञान, अनंत दर्शन और अन्यापय तुल्य इन गुणोंसे मित्र विराजमान हुए हैं.

अकसायन्मवेदत्तमकारकदाविदेहदन्वेच ॥

अचलचमलेवचं च हुंति अन्वंचितियाइं से ॥ २१५७ ॥

विज्ञतोद्वा—अकसायन्मवेदत्तमकारकदा विदेहता अवलम्बमलेषवे च आत्यंतिकं च तत्त्वमसि । कोपादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादभिनयानां वाऽभावाद्दृकपापवनात्यंतिकं एवेमेवोदेदत्वं । साध्य-
रथाश्रयार्थाभावाद्कारकत्वं । प्राक्तनस्य तारीरस्य चिह्नोत्पत्त्येदं तत्कारिणः कर्मणोऽभावाच्चिदेहता. अयस्मांतरस्यासिनि-
मित्तमाभावात्तत्त्वत्वं । कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् । प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादलेष्यमन्यत्वंति ॥

मूलादा—अकसायन्मवेदत्तं श्रूयमादिरुतं प्राक्तनानां विनाशादभिनयानां चानुत्पत्त्यात् अकपापवोदेदत्वेनाश्रयिदे । अशरणदा साध्यस्वाश्रयस्याभावाच्चित्यन्कारकत्वं । विदेहता प्राक्तनस्य देहस्य चिह्नोत्पत्त्येदं तत्त्वत्वाभावा-
त्तत्त्वमसिनिमित्तमाभावात् । अणकत्वं अयस्मांतरस्यासिनिमित्तमाभावात् अजन्ममचलत्वं । अलेषत्वं कर्मनिमित्तपरिणामाभावात्तत्त्वत्वं ।

विज्ञतापण्य शाश्वतमवेदत्तम् ॥

अर्थ—कृपायोंसे रहित, स्त्री, पुला, और नुसल इन तीन वेदोंसे रहित, ऐसी सिद्धोंकी अवस्था है. सिद्ध कारकत्वरहित, अवल और अलेप हैं. इनकी ये अवस्थाएँ अविनाशी हैं. क्रोधादिक कृपाय तो नष्ट होनेसे और नवीन कृपाय उत्पन्न नहीं होनेसे वे अकृपाय और अवैद हैं. अब कुछ साध्य करना नहीं रहा है इस लिये वे अकारक हैं. मोक्षरूप साध्यही अन्तिम साध्य था वह उन्होंने प्राप्त कर लिया इस लिये वे अकारक हैं. पूर्व शरीर नष्ट होगया है और नवीन देह उत्पन्न करनेवाले नाम कर्मका नाश हुआ है अतः वे अवेद ही हैं. जो उनका स्वरूप है उसमें कभीभी अवस्थांतर नहीं होगा क्योंकि, स्वरूपांतर उत्पन्न करनेवाले कर्मका अत्यंत क्षमा होगया है. अब सिद्धमें नवीन कर्मका अभाव है और पूर्वकर्म नष्ट हुआ है इसलिये वे सर्वदा अलेप हैं.

जम्भणसरणजल्लोचं दुक्खपरिकिल्लेससोगवीचीयं ॥

इय संसारसमुद् तरोति चटुरंगणावाए ॥ २१५८ ॥

संसारार्णयमुत्तीर्णं दुःखमक्रतुलाकुलं ॥

ये सिद्धिस्तापमापन्नास्ते सन्तु मम सिद्धये ॥ २२३३ ॥

विजयोपया—जम्भणसरणजल्लोचं जम्भणरजजलोच दुःखसंक्षेपाकथयिषिकं संसारसमुद्गं । सम्भवद्दान भानकारितवत्सहितचतुरंगणावा तरोति ॥

परममुक्तिवर्जनम्—संसारोच्छेदपूर्वकृपा-परममुच्छेदकुच्छेदोपायमनुशाति—

मूला—परिकिल्लेस परितपिः । चटुरंग सम्भवद्दानज्ञानपारिव्रजपति व्यवहारेण संसारलंचनोपायः परमार्थेन ॥ तन्मय जातमेव ॥

अर्थ—यह संसारसमुद्र जम्भ और भरण रूपी पानीसे भरा हुआ है, दुःख, संक्षेपपरिणाम और धोक रूपी लहरें इसमें नित्यही उछलती हैं. सम्भवद्दान, सम्भयदान, सम्यक्चारित्र और तप इन धार अवयवोंसे बनी हुई आराधना रूप नौकासे सत्पुरुष इस संसारसमुद्रेगे उचीर्ण होते हैं.

एवं पण्डितपण्डितमरणेन कर्तुं सत्त्वदुस्साणं ॥

अंतो निर्गतराया निव्याणंमणुचरं पचा ॥ २१५९ ॥

भरति पण्डितपण्डितमृत्युना सपदि सिद्धिवर्धवर्तिनी ॥

विमलसौरूपविधानपटीयसी सुभगतेव गुणेन निरेनसा ॥ २२३४ ॥

इति पण्डितपण्डितम् ॥

विप्रयोदया - एष पण्डितपण्डितमरणेन एषमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेन सर्वेदुःखानामंतं कुर्येति ।
निरतराया निर्विघ्ना निर्विघ्नमुत्तरायाः । एतेन पण्डितपण्डित मरणं व्याख्यातम् ॥ पण्डितपण्डितमरणं गदं ॥

मृगतमुपसंहरति -

मृगारा - अंतं विनाशः । निरतराया निर्विघ्नाः । संतो भव्याः । पचा भक्त्युमारब्धाः । जीवन्मुक्ता इत्यर्थः ।

इति पण्डितपण्डितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ - इस प्रकार इस पण्डितपण्डित मरणके द्वारा महापुरुष केवल जानी अपने सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं जिसने उनको निर्माण और संग्रह उत्कृष्ट ऐसा बोध प्राप्त होता है, इस प्रकार पण्डितपण्डितमरण का वर्णन समाप्त हुआ ।

एवं आराधिका उक्तरसाराहणं चतुस्त्वंधे ॥

कामरथविष्णुमुक्ता तेनेव भवेण सिद्धंति ॥ २१६० ॥

विप्रयोदया - एष आराधिका एषमाराधय । उक्तरसाराधण उत्कृष्टाराधना । चतुस्त्वंधे समीचीनदर्शनज्ञान
निरगतोभिधान उत्कृष्टम् । कामरथविष्णुमुक्ता कर्मरजोविष्णुमुक्तास्तेनैव भवेन सिद्धंति ॥

अथ चतुर्गिरिभाराधना उक्तरसाराधणं चतुस्त्वंधे आराधनायाः सिद्धिर्वाप्याराधनायाः आराधनेन चतुस्त्वंधे आराधनायाः

मृगारा - चतुस्त्वंधे चतुर्गिर्याम् ॥

अर्थ - जिसके चार भेद हैं ऐसी उत्कृष्टाराधनाकी अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनको आराधना
करके जो महापुरुष कर्मरजसे मुक्त हुये हैं अर्थात् विन्हीं याविकर्माका नाश किया है वे उसी भवमें मुक्त होते हैं ।

आराधयितुं धीरा मङ्गिममाराहणं चतुर्वर्धं ॥
कर्मरयविष्णुमुक्ता तच्चेण भवेण सिद्धंति ॥ २१६१ ॥
आराधयितुं धीरा जहणमाराहणं चतुर्वर्धं ॥
कर्मरयविष्णुमुक्ता सत्तमजस्मेण सिद्धंति ॥ २१६२ ॥

आराधना जन्मवत्तत्तुर्धा निषेव्यमाणा प्रथमे प्रकृष्टा ॥

अथे तृतीये विदधाति मध्या सिद्धिं जयन्या खलु सप्तमे मा ॥ २१३५ ॥

मिजयोदया—आराधयितुं धीरा माराधय धीरा जयन्यामाराधनां चतुर्वर्धां कर्मरजोविप्रमुक्ताः सत्तमेन जन्मना सिध्यति ॥

मुष्टारा—भोगेन हृतीयेन ॥

मूला—एष्टम् ॥ पूष्टिका ॥

अर्थ—धीर पुरुष इमं चार भेदवाली मध्यम आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे रहित होकर तृतीय भवेत्ते पुक्त होते हैं. तथा कोई धीर पुरुष चार भेदवाली जयन्या आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे मुक्त होकर सातेव भर्मे मिद्ध होते हैं.

एवं एसा आराधणा सभेदा समासदो वृत्ता ॥

आराधणाणिबद्धं सर्वं पि दु होदि सुदणानं ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—एवं एसा एमेया आराधना सभेदा समासतो निरूपिता आराधनायावस्यां तिबद्धं सर्वंमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥

मष्टवेषभंशरपुरःसरमाराधनाविस्तरानभिधाने निषेधनमालनः समर्पयते—

मूला—आराधणाणिबद्धं आराधनायां प्रतिपाद्यमानायां प्रतिपादकत्वेन संबद्धं यतो द्वादशोगमपि श्रुतं ॥
धनः को मानरातां न्यसेन न्याकर्णयितुं प्रमक्तीत्युत्तरागादैन संपन्नः ॥

अर्थ—इस प्रकार इस आराधनाके मेद संक्षेपसे येने कहे हैं क्योंकि इसमें आराधना प्रतिपाद्य विषय है और प्रतिपादक धुनवान है. यह धुनवान मेरे में अल्प है अतः येने आराधनाका संक्षेपसे वर्णन किया है.

आराधनं असेसं वर्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ॥

सुदेकेवली वि आराधनं असेसं ण वण्णिज्ज ॥ २१६४ ॥

आराधनेया कथिता समासतो ददातु सिद्धिं मम मंदमेघसः ॥

अयुध्यमानैरस्थितं जिनगमं न शक्यते चिस्तरतो हि भाषितुं ॥ २२३६ ॥

पित्रयोदया—आराधनं असेसं निरत्येयमाधना वर्णयितुं कसमर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेयं न वर्णयेत् मूलाग—हो न इतिरस्यधुतो निःशेषमाधनां वर्णयितुं भवते इत्यर्थः ॥ तर्हि श्रुतकेवली वा समस्तो पदेयितुं प्रभवित्वतीत्याह—सुरेत्यादि एतेन भगवान्सर्वस्य दवापधनासर्वरक्षायर्णने समर्थ इति गमयति—

अर्थ—इस आराधनाका सारिस्तर वर्णन करनेमें कोन समर्थ है ? क्योंकि श्रुतकेवल्यमी संपूर्ण आराधनाका वर्णन नहीं कर सकेगे, अपौरु केवल्यानी अद्वंद्वगवात् ही इसका वर्णन करनेमें समर्थ है. अन्य नहीं है.

अजजिण्णविगणि, सब्बगुत्तगणि, अज्जमित्थनं दीणं ॥

अवगमिय पादमूले तम्मं सुत्तं च अत्थं ॥ २१६५ ॥

विजयोदया—अजजिण्णं वि काचार्यजिनानं विषयिक, सब्बगुत्तगणिना, आचार्यमिश्रनेदिनका पादमूले सन्यगधं धृतं वाचयाम्य ॥

एवमीमात्मनः सौप्रदायिकत्वमवधानपरत्वं च प्रकाशयामासकटुकेवेनास्य साकस्य विनेजयनविश्वासानाय प्रमाणतां त्यक्त्वापापितुं माधाद्वयमाह—

नूढरा—अजजिण्णं विगणि गुणुज्जनाभिगम्य आर्यजिनानं धार्याः । सब्बगुत्तगणि सब्बगुत्तापार्याः । अज्ज-मिश्रणीनं आचार्यमिश्रनंदी । अजगमिय पठित्वा एतेनात्मनः सुदार्याविसंबादकत्वमुक्तम् ॥

अर्थ—आर्य जिनानं विगणि, आर्य सब्ब गुत्तगणी, तथा आर्य मित्रानं विगणी इनके चरणमूलमें येने उत्तम रीतीसे धृत और उसके अर्पका अप्ययन किया है. तदनंतर—

पुत्रायययिरिणिन्का उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ॥
आराधणा सिवउजेण पाणिदलमोइणा रइदा ॥ २१६६ ॥

१८५२

मूलाराधना

विजयोदया—पुण्यापत्यि पुर्योचार्यकृतमिव उवजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवात्मार्जेण रचिता पाणि-
हलप्रीतिना ॥

मूलारा—कृपाणि आराधनाशक्त्याभीति स्तेषः ॥ इवजीवित्ता स्त्रोहं स्त्रोकं तदर्थगुणसमृद्ध । ससत्तीए
एवेनात्मनोऽवपातपरत्वाप्रतिपवनद्वारेणैकदावावागमिषे यस्य च परमभाभीर्यं दर्शितम् ॥ सिवउजेण शिव-
कोटनापार्जेण मयेति छलमिति । पाणिदलमोइणा हस्ततलमोहनमयेन यस्मिन्नेत्यर्थः । एवेन प्रवारकत्वाशङ्का-
निरासः ॥

अर्थ—पूर्वाचार्यैके वनाये हुए शान्नासें योदा योदा अर्थ संगृहीत करके हस्तरूपी पात्रसें भोजनकरनेवाले
अर्थात् मुनि ऐसे शिवार्थ-शिवकोटी आचार्यने यह आराधना नामक महाशास्त्र रचा है

छदुमत्तयदाए एत्थ दु जं वद्धं होउज पवयणविरुद्धं ॥

सोधेंतु सुगीदत्त्या तं पवयणवच्छलत्ताए ॥ २१६७ ॥

विशेष्य सिद्धांतविरोधिषदं ग्राह्या मुनज्ञैः शिवकारिणीयम् ॥

पलालमदस्य ॥ किं पवित्रं गृह्णाति सस्य जनतोपकारि ॥ २२१७ ॥

विजयोदया—छदुमत्तयदाए छदस्त्यतया यद्वच प्रवचननिर्देशनवद्ध भवेत् तत्सुगृहीतायो शोधयंतु प्रवचन-
पत्तस्तरतया ॥

अधुना त्वस्य वाचभावावच्छादनेनैरुगीनश्रुतधरधुरीणानामनुपदेन स्वशास्त्रप्रामाण्यप्रतिष्ठार्थं सधर्मवत्सलता-
मुनासयति—

मूलारा—छदुमत्तयदाए सावरणज्ञानतया । एवम एतास्मिन् आराधनासोत्रे । पवयणवच्छलत्ताए मयि सधर्मणि
निगम्ये मा नैसर्गिकानुरागपरवचया ॥

अर्थ—मैं (शिरमौटि आचार्य) छत्रस्य होनेसे मेरे द्वारा जो प्रवचनका वर्णन किया गया है यह यदि रिख्द होगा तो जिन्दगेने आगमके अर्थका सम्यक् निर्णय किया है वे साधार्मिक प्रेमसे उस अर्थका संशोधन करें.

आराधना भगवद्दी एवं मत्पीष्ट वणिदा संती ॥

संपरस सिवजस्तस य समाधिवरमुचमं देठ ॥ २१६८ ॥

आराधना भगवती कायिता स्वयंख्या चितामणिर्वितरितुं बुधचिंतितानि ॥

अहाय जगज्जलधि तरितुं तरणं भव्यात्मनां धुणवती दवतां समाधिं ॥ २१६८ ॥

करोति यशवर्तिनीस्त्रिदशपूजिताः संपदो ॥

नियेषायति श्रावते यतिमेते पदे पावने ॥

अनेकभयसंचितं हरति कल्मषं जन्मनाम् ॥

विदग्धमुखमंदनी सपदि सेधिताराधना ॥ २१६९ ॥

विदग्धोदया—आराधना भगवद्दी आराधना भगवती एवं भक्त्या क्रीलिता सर्वगुणगणिता संपरस शिवा-
चार्यस्य च विदुर्लोकलज्जतमार्गशीनां भक्त्यापयसुदां सिद्धिं मयच्छनु ॥

शास्त्रार्थं भक्त्या परमाराधनां व्यावर्त्ये स्वव्यापार्जनफलं प्राप्तेयते—

मूला—समाहिचरं दुष्टदधनं । उक्तं व्युपगतक्रियानिवर्तिनामपेयमिति भद्रम् ॥

अर्थ—इस प्रकारसे भक्तिवत होकर वर्णन की गई यह भगवती पूज्य आराधना सर्व संपको और शिरमौटि आचार्यको एवं जीव जिसकी अभिलाषा करते हैं, जो अव्याबाध सुख देती है ऐसी अनन्त मुक्तिको प्रदान करे.

असुरसुरमणुयकिण्णररविसिक्किप्पुस्सिमहिंयवरचरणो ॥

दिसउ मम वोहिल्लाहं जिणवरवीरो तिहुवर्णिदो ॥ २१७९ ॥

समवर्णियमधरणं धुदस्यसुहृद्वस्त्रविष्णुत्तानं ॥

पाणुञ्जोदियसहोदृणमि सुणमो जिणवराणं ॥ २१७० ॥

अर्थ—अक्षर, सुर स्वर्गवासी देव, मनुष्य, किन्नर, खर्ब, चंद्र किंशुख इनके द्वारा जिनके चरण पूजे गये हैं, जो त्रैलोक्यके नाथ हैं ऐसे श्रीवीर जिनेश्वर मेरेको रत्नप्रथका लाभ करदे-

अर्थ—दुसरा, जितेन्द्रियता, और नियमोंको धारण करनेवाले, कर्मफलको नष्ट करनेवाले, शारीरिक और मानसिक सुखदुःखसे रहित, केवल ज्ञानसे बिन्द्वेन सहेलनाको प्रगट किया है ऐसे संपूर्ण जिनेश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूँ-

श्रीमदपराजितसूरीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशनमहोजसे ॥

भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥ १ ॥

श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्दर्माशिवे तथा ॥

केवलज्ञानसाम्राज्यभोज भव्यैकवंधवे ॥ २ ॥

चंद्रतंत्रविमलार्कभंगछायाचार्यशिवेय आरातीयसूरिचूलामयिता नागनंदिराजिपदप्रदोरेत्सपात्रात्मतिलेयम
दलदेवसूरिदिग्येन जितशासनोदरतटधारेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितधरिणा धीनरानंदितजिवावबोधिनेन रचिता
आराधनाटीका धीविजयोदयानाम्ना समस्ता ॥

॥ एवं भगवती आराधना समाप्ता ॥

टीकाकार श्रीअपराजितसूरीकी प्रशस्ति-

अर्थ—संपूर्ण जीवादि तत्त्वार्थोंको प्रगट करनेमें जो अविश्वय समयें है जो भव्यसमृद्धायको महावृद्धाम-
निके उत्पन्न है और जो सुखदायक है ऐसे श्रुतज्ञानको मैं नमस्कार करता हूँ अर्थात् श्रुतकवलीको मैं वंदन
करता हूँ-

अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करनेमें जो उल्लेख हुए सूर्यके समान हैं- विन्दोने केवलज्ञानरूपी सात्रा-
ज्यपद धारण किया है जो मन्व्यके अद्वितीय भिन्न हैं ऐसे जिन समबानको मैं नमस्कार करता हूँ.

श्री अपसहित शूरि, चंद्रनंदि और महाप्रकृत्याचार्य नामक सुनिरालोंके प्रशिक्षण थे, आरातीय विद्वानोंमें चूदाभित्ति समान श्रेष्ठ थे इन्होंने नामनंदि आचार्यके चरणकमलोंकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था. ये चलेदेव सूर्यके शिष्य थे. जिनश्यामनका उद्धार करनेमें ये धीर समर्थ थे. इनको खूब वश प्राप्त हुआ था. इन्होंने नामनंदि आचार्यकी प्रेरणासे विजयोदया नामकी यह आराधना टीका रचकर समाप्त की है.

ये वितर्कित वक्त्ररूप विदित्यशाराधनागुप्तमनुष्यविकल्पकल्पं ॥

वेदं दुर्गीमयुगयोऽहं दुष्टतेनेन संतुष्टदुताभ्युदयमुक्तिमुदीक्षितरते ॥ १ ॥

इमान्ष्टान्गामीमसकुरतुर्लं त्रिक्लिबतुरे । निषन्धैष्टीकार्यैः स्वविरवचनैरप्यवित्तैः ॥

कुना संपद्योन्वये शिष्यपचनभीक्ष्णं हृदये । प्रज्यंस्त्र्यक्षार्थांसाचरपुरुषदूरं पवनिसिमे ॥

इत्याशाघटादुत्सृज्यमंपसंदर्भे मूलराधनादर्पणे वधमेवार्थप्रकाशोऽकरणप्रवणेऽष्टम आचवासः ॥६॥

म्वरिण स्यात्कारकेतनाय भीमदनेकान्तश्यासनाय ॥

अथ आरूपनिर्विज्यपरितप्तमाप्तिप्रभोदमरातुविद्वज्भक्तिपरवश्यामनसो मंथकृत्स्नसाराधनां भगवतीशाराधनान-
भिष्टोगुनिर्गं दूतदशकपाटीन् ॥

उक्त्या लक्ष्यपरिशिरेण रुचिताः शालाविलम्बीः सतां । भित्तिराशकतां विद्वुद्विमहती भवया भवद्विन्वयतः ॥

शाम्भाराय निपाद्यशृङ्गिमसिधसिधयन्त्रि सेस्त्यंति वा । तां रंदि ज्यवशरनिधयमयीमारोपनादेवताम् ॥ १ ॥

सर्वज्ञांभयद्विग्यभूतपदोद्भूतेन याचुन्मोक्षता । तद्वस्तुवितरयिधिसंगसुभगेनासंगकुंडलिता ॥

मज्जान्धः पुनतात्रिमांशविलसद्ब्रह्मरूढौजसा ॥ चिरसिधुं श्रुपती धुमेसु सद्यचान्यापनास्वधुनी ॥ २ ॥

या नश्यत्तदनुलेन शोधकपुणोगोतादिशोर्विमति-भीसारंण वप्यत्रिचरणेनोत्तिसक्तचिच्छकिना ॥

रूपेणाधिगतानि भास्वरुज्जने संयोजयंत्यंजसा ॥ तामानंदसुधाधिदैवतसुषेयाराधनां प्रथयान् ॥ ३ ॥

दीनास्तिष्यकिरीटियामुपशमशक्तोरहारां सुदुर्निस्सिंभुविभीतिं कुंडलं चि स्फूर्तेच्छासुद्रिकाम् ॥

सस्यारिदानसुहृदस्वरक्तानां संतोषपादागदाम् ॥ योग्यीकृतभावनां प्रणिपताम्याराधनामस्विकाम् ॥ ३ ॥
 नदीनादी त्रिकोत्तरीवकीर्णतं योयौल्लसत्पुष्पाम् ॥ श्रवणप्रदोन्नतोलं सुविमलरथाश्वायलीलास्तुलाम् ॥
 महेश्वरद्विचन्द्रं नन्दं नन्दं नन्दं साम्यावतंसोत्सवाम् ॥ वर्षेती हृदि मे सुधा भगवतीमाराधनां धारये ॥ ५ ॥
 चेतःपञ्चमसिद्धिश्चा सुतिमुयेनाविद्वद् यच्चुम्भसे भक्त्याना सरणक्षणे निमुनश्रीणां तदप्युल्लङ्घ्यम् ॥
 किंचित्पार्श्वमधनव्यपुनरगमन्येन धाम्ना वृद्धा । तात्कालव्यवहारे चिनोपि वरदे मा तात्विकी पुंरुधिषिः ॥ ६ ॥
 यद्वात्येवमसीमममदपपोक्षाक्षारभासात्मनः ॥ स्वं ह्येन सत्त्वेन स्वदृग्गतमना बिभ्रद्विन्मन्त्रात्मकायात्मने ॥
 पश्यन्नात्मनि निस्तरंगमदनि स्वा निज्याराधने । मातस्तेवदुस्तिहराम्यपुनरापृष्टया कृतायौडहिम तत् ॥ ७ ॥
 किं चिन्ने जिनसूरिसायुगुणा रम्यकलिवेषाणुषाम् ॥ संस्कारेण पवित्रिताः सुरवैरिण्याद्यो बह्वयः ॥
 पूज्यते द्विलसत्तमैर्विधियदापनादिकृत्येषु यत् । तस्मिन् स्वति यत्पुनरपि गिरि प्रायो जगत्पुङ्गवः ॥ ८ ॥
 एकानेकभेषयाम्परमरनैः सत्त्व्यास्त्रिभयासिते । आप्यां पञ्चिचन्द्रिदैः सकलबिम्बकर्मबोक्त्रेविनीं
 हूतं विद्वद्भवती यथात्र भवतीमाजानमयी पाकुरन्यायेनपुनरिदमेरुसुभिर्मुष्येजुत्पर्वयथा ॥ ९ ॥
 हस्तुदामलसपरापरकलालीलाविद्यासावित्रिकेन्द्रा । कल्पसपवर्णपराभाराधनां संस्तौति यः ॥
 स प्रणोदयोरदजातवदुपरकारः क्षिप्रान्नाथैर्यत्पराशक्तमपङ्कजोऽप्यटपिरानन्दे तदास्ते पदे ॥ १० ॥

हरग्याराधनास्तवः ॥

५ अष्टाधरस्त्रीने मूलाराधना नाम्नी टीका भगवती आराधनाके उपर लिखी है, उस की निवेष्टि समाप्ति होनेसे उनको रवा आनंद हुआ तब भक्तिमय होकर उन्होंने ॥१॥ आराधनीय पदे भगवती आराधनाकी स्तुति करनेके दृढ़ शोक रचे हैं उसका अनुवाद हम यहाँ पाठकोंके लिये देते हैं—

१ सत्पुरुषोंको मान्य ऐसी कालादि लब्धि पाकर भव्य जगत्संसारमे भययुक्त होते हैं, और सम्यक्-गुनाराधनादिचार प्रकारकी आराधनाओंका आराधन करके आपने परिणाम अतिशय निर्मल बनाते हैं, ये आराधनायें मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होने वाले भव्य लोगोंको कलेवाके समान हैं, इनकी आराधनासे ही पूर्व कालमें बहुत भव्य लोगोंने मुक्तिकी प्राप्ति करली है, मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं व करण्ये अबः व्यवहाराधनेदेवता-प्रेम स्तनत्रयरूपी आराधना और अमेद रत्नत्रयरूपी विद्याराधना मानो देवता ही है, इस देवताको मैं मस्तक नमस्कार करता हूँ-

० यह आराधनारूपी महागंगा नदी संयुक्त विनयरूपी पद्म सरोवरसे उत्पन्न हुई है। दिव्यधन्यरूपी जल प्रवाहनें सुंदर दीनगी है इसका यह दिव्यधन्यरूपी ललप्रवाह तत्त्वज्ञानस्वरूपी आकाशसे उत्पन्न विग्रहभारूपी कुंडनें पड़ता है रत्नप्रभरूपी वेदालय पर्वतके पास आगे हुए इसकी तेजस्विता बहुत बढ गई है। यह गंगानदी ज्ञानगुप्तको पूर्ण भरती है। मन्व्योंको पवित्र करनेवाली यह आराधनारूप गंगा मेरे पापोंका नाश करे

१ इस आराधना देवीका सम्यक्प्रतीति मुख है। सम्यग्ज्ञान ही शरीर है। उद्योग, निर्वोह, सिद्धि और निष्कारणरूपी योग बाहुओंकी योगसे यह आराधना देवता वही सुंदर दीखती है। प्रत्येक आराधनामें ये उद्योगादिक षण्च व्यास हैं चार आराधनाने मिलकर उद्योगादिक बीस भेद होते हैं। तब और चारित्ररूपी सुंदर चरणोंमें वही गुहाननी दीखती है। पड़ी हुई चेतन्य शक्तिरूपी सौंदर्यसे यह युक्त है। ऐसी यह आराधना आनंद गुणानी व्याप देवता है। मैं इस देवताको दिनरसे धारण जाता हूँ।

४ इस आराधनारूपी अभिष्ठाको मैं वंदन करता हूँ। इसने उज्ज्वल आस्तिक्यरूपी किरीट अपने मस्तक पर धारण किया है। रुद्रायोवदमत्स्यी परतिमंजन यदा हार मलेमें धारण किया है। वैराग्य और संसारभय रूपी रुद्रल श्मने अपने दोनों कानोंमें धारण किये हैं। ठुपारूपी अंगुली अपने करंगुलीमें धारण की है। तत्त्व-पर्यायकी रचना-करपनी श्मने धारण की है। संतोषरूपी नूपुर अपने पावोंमें धारण किये हैं। अहिंसादिक श्रुतौकी माननात्म्य सुत्रालंकार श्मने धारण किये हैं ऐसी इस आराधनारूप अम्बिकाको मैं नमस्कार करता हूँ।

५ मैं इस भगवती आराधनाको अपने हृदयमें धारण करता हूँ। इसने लज्जारूपी साठौं पेहेनी है, तथा निम्नरूपी ऊपरका रग धारण किया है शक्तिरूपी कंबुलसे यह सुंदर दीखती है। पुण्यरूपी पत्रलतासे यह उज्ज्वल दीखती है। निर्मल स्वाध्यायरूपी क्रीडाकमल इसने अपने कसमे धारण किया है। शीत पद्मादि शुभ लेख्यारूपी पंदतनचर्चंगे इसका शरीर सुंदर दीखता है। साम्यरूपी कर्णभूषणोंसे इसका मुख उज्ज्वल है। ऐसी यह आराधना देवता मेरे हृदयपर मानामृत की वर्षा करे।

६ हे जननी, तू पवनरुमारके मिय से मरणके समय मन्व्योंके अन्तःकरण में कर्षणद्वारा प्रवेश करती है, जब तू उनके अन्तःकरणमें प्रवेश करती है तब वे मरणोत्तर जलोकलक्ष्मीके उत्कृष्ट पात्र बन जाते हैं। हे भगवति!

तेरा ऐसा प्रभार है कि उमरा में कत्तों के द्वारा वर्णन करनेमें असमर्थ हूं हे जननि ! जो तेरा आराधन करते हैं-
उनसे अचल अनन्त—विनाशरहित ऐसा पुरुषपद प्राप्त होता है- अर्थात् उनको मोक्ष मिलता है।

७ हे आत्मन् ! तू इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंको छोटकर निर्मल चैतन्यरूप क्षीर धारण करने-
वाला आत्माही प्राप्ति होने के लिये उसको स्वाध्याय के द्वारा देख ले जिससे तुझको असीम-अमर्याद आनन्द
प्राप्त होगा। यह आत्मा आनन्दरूप है ऐसी वृ श्रद्धा कर, हे जननी आराधने ! तुझको निश्चल वेदः स्वरूप अपनी आ-
त्मामें देख लेता हूं, मैं तेरेको स्वस्वरूपमें समं तरफ फेलावा हूं जिससे मेरा संसारमें पुनरागमन न होगा और मैं
ठठार्य होऊंगा।

८ हे माता ! तेरी शक्ति करनेसे साधुगण का चैतन्य स्वरूप शुद्ध हो जाता है, इंद्रादिक अष्ट देवीने दक्षि-
र्गम, आनन्दनीय व सार्वभौम ऐसे तीन अधि साधुओंके क्षीरस्पर्शसे पवित्र किये हैं, यर्माधनादिक कार्योंके समय
ये तीनों अधि गृहस्थाचार्योंके द्वारा पूजे जाते हैं, इसमें आश्चर्य क्या है ?

९ हे आराधना माता, पंडितपरित अर्थात् केवल ज्ञानी मुनि तेरी प्राप्ति कर लेते हैं, तूं भवका-संसारका
नाश करने वाली है जो तेरी शक्ति करता है उसको निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है, हे माता ! मैं भी तेरी सेवा करूंगा
जिसमें संसारमें जग तक मैं रहूंगा तब तक पीवांछुरन्यासे भोगे साथमें रहनेवाले इन प्राणोंमें मैं स्वस्वरूपकी
प्राप्ति होने के अनन्तर रहित होऊंगा।

१० जिसमें सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त हुआ है ऐसा मुक्तिपद अर्पण करने वाली इस आराधना जननीकी
जो स्तुति करता है उसके प्राणोंका त्याग होने से वह मुक्त हो जाता है, उसके चरण कमलोंको मोक्षच्छु मन्त्र पूजते
हैं और ये भी अबत ज्ञानरूपी आनन्द विमल भरा हुआ है ऐसे मोक्षपदमें सदा ही निवास करते हैं, इस प्रकार आ-
राधनाही स्तुति समाप्त हुई-(इस स्तुतिके श्लोकोंका अर्थ ठीक हम नहीं लगा सके जैसा हमको जवा वैसा लिला है.)

अथ परममुखावसानमंगलं सिद्धस्तवः ॥

यस्यानुपदतो दुराग्रहपरित्यागकृत्यात्मनः । सद्गुणं चिदचिकित्सकविषयं स्वैस्त्वेरगीकृत्यं शुभैः ॥
भार्यज्वलनपर्यवेः सन्नियैर्बोनाति बोधः समं । परमस्य कृत्यभेदेषकर्मभिदुरं सिद्धाः परं नोमि चः ॥ १ ॥

धरतामान्यविद्योपयोः सहस्रमयस्वान्यस्यथोद्विषयत् । पितृ योतकमुद्रिरन्युदमरं नो रज्यति देहि न ॥
 धारावाहति वस्रतिक्षणनवीनयोःपुराचोपित-आभाष्यं प्रणमामि वागफलितवह्मन्त्युक्तिमुक्तित्रये ॥ २ ॥
 सत्ताडोवनमममित्यपि निवाधरं मतं दर्शनम् । साधरं च विदेकगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ॥
 ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां भेदशिके सर्वदा । स्फूर्जन्ती गुणस्युत्पत्तिरत्नार्ता शुभाकर्मगातिमाः ॥ ३ ॥
 अस्तिव्यक्तिमत्तविश्रमविद्याकारौपयिकेर्भौरियान्तान्तवमवरयमुत्पुरुषोत्पादव्यचभ्रौव्यवत् ॥
 एवं रसं तत्त्वमसंहरव्यतिकरं कर्तव्यं पत्यवो भोक्तृन्वयवः शराभि परमाश्रयस्य वीर्यस्य वः ॥ ४ ॥
 पद्मवाहनि न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचित् । यन्निष्पीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि ॥ स्पृश्यते ॥
 यातवैकुण्ठसमक्षमव्यविषयस्तस्यापि चाधोद्विरं । तद्वः सूक्ष्मममं स्वतस्त्वमभि वा भावा भवोच्छित्तये ॥ ५ ॥
 गत्वा, लोफशिरस्सर्वमवशतद्वोषमे सन्मुखप्राग्भावावशितलावलोपरि मनागुनैकमन्युतिके ॥
 भोगोलांगद्वोरनमित्यपि मियो संवाधमेकत्र बह्वधानं वमितिऽपि तिष्ठति स वः स्तुत्योऽवगाहो गुणः ॥ ६ ॥
 सिद्धाच्छेदुरवो निराभयतवा भयसंनयः पिकथन् । तेऽप्यश्लेषचोऽर्कतूलवदितश्वेतश्च च्चेन तत् ॥
 क्षिरयन्ते तदुपातवातपलेयेत्युक्तिमुक्तुद्वैतैर्नमोपक्षमवीच्यतेऽगुरुषुः हृद्रेः कथं यो गुणः ॥ ७ ॥
 यथापश्यमेति भैरवभवोदधिःशमाय भवो । पुष्पमाभिविदेयं कथयन्त सद्यथापश्यमेवभुद्वयम् ॥
 येनोद्वेक्षुखानुतार्णवनिराशंकमिषेकोलस- चिरायातकठयापि यः कञ्चिद्विभ्रामयन्ति योतीश्वराः ॥ ८ ॥
 एतेऽनंतगुणोद्गताःस्फुटमयोऽद्वैतविद्या मयत । तस्याद्वावशिं सुतो ज्यवहविभाषान्यतस्ताविकैः ॥
 एतद्वाचनया निरंतरगलद्वीकल्पजालस्य मे । स्तावस्यंतलयः सनातनविदानंदस्मिन् स्वात्मनि ॥ ९ ॥
 जलकीर्णमिव यस्मिन्मिव हवि न्यतरतामिवालोचयन् । एतो चिद्वृणसेस्तुति पठति यः प्रपञ्चिवासाधरः ॥
 रूपातीतसमाधिसाधितवपुःपातःपतदुत्कृत-आतः सोऽभ्युदयोपमुक्तमुक्तोद्रेकेन किं सिध्यति ॥ १० ॥

इति सिद्धतवः ॥

१ जब पं. आशाधर जी परमगुरुव और अन्तिम मंगल ऐसी सिद्धपरमेश्विओंकी स्तुति करते हैं—सम्य-
 दर्शन संपूर्ण कर्मसमुदायका नाश करनेवाला है. यह दुराग्रहरहित आत्माका स्वरूप दर्शनिवाला है. इसका
 अनुग्रह तब आत्मापर हो जाता है अर्थात् यह सम्यक्त्व जब आत्मामें प्रगट होता है तब ज्ञानगुणका पूर्ण विकास

होता है। वह केवलज्ञानकी अवस्थाको धारण करता है ता इस आत्मामें संपूर्ण गुणोंसे हमेशा परिपूर्ण, और सूक्ष्म व्यंजन पर्याय और स्पष्ट नर नारकादि पर्याय जिसमें उत्पन्न होते हैं ऐसे जीवपुद्गलादि पदद्रव्योंको जाननेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। मंपूर्ण भूत भविष्यद्वर्तमानकाल संबंधी पर्यायों सहित जाननेका सामर्थ्य प्राप्त होता है। सिद्धोंमें ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हुआ है अतः मैं उनको नमस्कार करता हूँ।

२ दीपक जैसा सामान्य और विशेष पदार्थोंको एकदम और अलगभी प्रगट करता है वैसा केवलज्ञान भी वस्तुके सामान्य और विशेष पर्याय सुषण्त् और कथंचिद् भिन्नरूप अपने और तमाम पदार्थोंको प्रगट करता है। यह केवलज्ञान अनंत सुख देनेवाला है, इसकी प्राप्ति होनेपर संपूर्ण पदार्थ आत्मा जान लेनी है तो भी वह उन पदार्थोंमें आसक्त नहीं होता है और देखी मी नहीं होती है।

यह केवलज्ञान धारावाही ज्ञानके समान होकर भी प्रत्येक क्षणमें नवीन पर्यायोंको धारण करने वाले पदार्थ इसका विषय बनते हैं अतः इसमें प्रामाण्य प्राप्त होता है अनंत दर्शनके साथ यह केवलज्ञान मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति कर देता है। हे सिद्ध परमेश्वर ! ये दो गुण आपमें सदाके रहते हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

३ दर्शन सत्ताको विषय करता है और ज्ञान पदार्थ की विशेषताको दिखाता है। ये दर्शन और ज्ञान संपूर्ण जीवोंको नेत्रसमान समझने चाहिये। परंतु दोनोंमें इस प्रकार अंतर है—जो जीव कर्मसहित है अर्थात् जो ज्ञानारण और दर्शनापण कर्मसे सहित है उनको ये नेत्र दर्शन पूर्वक वस्तुका स्वरूप दिखाते हैं। अर्थात् छद्मस्व जीवोंको प्रथम दर्शनोपयोग होता है अनंतर ज्ञानोपयोग होता है। वह भी संपूर्ण पदार्थोंमें नहीं होता है। परंतु जिनका ज्ञानारण और दर्शनापण कर्म नष्ट होगया है उनके ज्ञान दर्शनमें ऐसा सामर्थ्य प्रगट हुआ है कि जिसके सामर्थ्य से वे गुणसत्संपूर्ण पदार्थोंको देखते हैं और जानते हैं हे सिद्ध भगवन् ! आप शरीररहित हुए हैं और आपको ऐसे अद्वितीय नेत्र प्राप्त हुए हैं। इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

४ सिद्धपरमेश्वरोंको अनंत शक्ति नामक आत्मगुण प्रकट होता है। इसके सामर्थ्यसे उनका ज्ञान आत्मतत्त्व को जानता है। सिद्ध पुरुषोंमें आत्माकी नानाप्रकारकी शक्ति अर्थात् गुण प्रगट हुए हैं। ये सर्व गुण आपसमें मिले रहनेपर भी सिद्धों को इनके स्वरूपका स्पष्ट अनुभव आता है। अपने उत्पाद, व्यय, और प्रौढ्यके साथ ससारी जी-नोंके मपस्त शक्तिरूपमें रहनेवाले गुणोंको भी सिद्धपरमात्मा जानते हैं। उनके जाननेमें संकर व्यतिकर दोष उत्पन्न नहीं होता है। ये इन गुणोंके स्वी और शोका है। अतः ऐसे सिद्ध परमात्मा मैं मनमें स्मरण करता हूँ।

५ सिद्धोंमें दृश्यता नामक गुण है उस गुणसे श्वर जीवोंको प्रतिबंध नहीं होता है और न ये इसको प्रतिबंध बना सकते हैं। समस्त वस्तुओंको वह स्पर्श करती है परंतु कोई भी उसको स्पर्श करनेमें असमर्थ है। भगवान् इस गुणको जान तो लेते हैं परंतु उनके भी वचन संपूर्णतया इसके वर्णनमें असमर्थ है। अर्थात् यह दृश्यतागुण इतना सूक्ष्म है कि सूक्ष्मा जिनपाणी भी इसको ग्रहण नहीं करती है। हे सिद्धपरमात्मन् मैं संसारनाशके लिए तब तुझारे सूक्ष्म गुणका चिंतन करता हूँ।

६ सिद्ध परमेश्वर लोकके अग्रभागमें ऊर्ध्व गति स्वभावसे जाकर वहाँ चन्द्रसमान शुभ्र ऐसी मोक्ष शिला पर विछूटे हैं। इस शिलाको प्राग्भास ऐसा नाम है। वह एक योजनमें कुछ कम ऐसे लोकाग्रमें है। और वातवलयमें विराजमान है जो सिद्ध परमेश्वर सर्व योगोंसे रहित हो जाते हैं तब उनका आकार अन्तिमशरीरसे कुछ कम ऐसा होता है। उस समय उनमें पवित्र अग्नाह नामक गुण उत्पन्न होता है। इस गुणके बलसे एक स्थानमें भी बाधरहित अनंतसिद्धोंके साथ वे रहते हैं यद्यपि अनन्त गुणोंका आश्रय स्थान है तो भी ये निराकुल अनन्त सिद्धोंके साथ रहते हैं यह सप हे सिद्धात्मन् ! आपके अग्नाहगुणका ही प्रभाव है।

७ कोई धुत्र वादी लोक ऐसा कहते हैं—यदि सिद्धात्मायें भारी वजनदार हैं तो निराधार लोहेके पिंड समान नीचे गिरने चाहिये और यदि वे हलकी हैं तो आँकके कार्यास समान प्रचण्ड तनुवातवलयके द्वारा इधर उधर फेंके जाने चाहिये, परंतु जिनैत्र भगवान् सिद्धोंको लघु अबचा गुरुभी नहीं मानते हैं, वे अगुरुलघु नामक गुणके धारक हैं ऐसा कहते हैं। इस गुणका स्वरूप वे धुत्रलोक क्या जान सकते हैं ?

८ शारीरिक, मानसिक तथा वाचनिक दुःस्वरूपी शक्तोंका आघात होनेसे जो भयंकर मंसाररूपी अग्नि प्रकट हुआ था उसके नाशके लिये हे सिद्धपरमात्मन् ! आपने जो तपरूपी परिधम किया था उससे आपको अब्या बाध नामक गुण प्राप्त हुआ है। तटकी उर्ध्वधर बहनेवाले सुरवसधुद्रके द्वारा आपका चैतन्यमय शरीर अभिविक्त हो रहा है। आपके तब अव्याबाध गुणकी अंशमात्र भी आप्ति हमको होवे इस हेतुसे योगीधर धम करते हैं अर्थात् तप करते हैं।

९ सिद्धपरमेश्वरीओंमें यद्यपि अनंत गुण हैं तोभी उनमेंसे ये आठगुण अलग आचार्योंने वर्णन किये हैं। अर्थात् व्यवहारको प्रधानता देनेवाले विद्वानोंने सिद्धोंका स्वरूप सत्पुरुषोंके द्वारा भाया जावे इस हेतुसे इन गुणों-

॥ अलग स्वरूप कहा है. इन गुणोंकी भावना में करता हूं जिससे मेरे सर्व विकल्पोंका नाश होकर चित्स्वरूपी अनाद्यनंत ऐसे आत्मामें मेरा अत्यंत लय होवे.

१० चेतन्यानुभवमय ऐसे सिद्धों के गुणोंकी स्तुति जो महात्मा अपने हृदयमें मानो उकीरी गई, अथवा लिखी गई, हृदयमें मानो स्थापित की गई है इस प्रकार हमेशा मोक्षकी इच्छाकरके करता है वह निर्विकल्प शुस्तध्यानसे शरीरके त्यागके साथ संपूर्ण पापराशिका नाश करता है. जबतक ऐसा महात्मा संसारमें रहता है तबतक पुण्योदयसे संसारके वैभवोंको भोगता है. योग्य ही हैं कि पुण्योदयसे क्या हस्तगत नहीं होता है ?

इस प्रकार सिद्धस्तव समाप्त हुआ.

अथ प्रशस्तिः ।

भीमात्मरित सपादलक्षविषयः शाकं परीभूषणः । ॥ श्रीरत्नियामर्मद्वयकरं नामास्ति दुर्गे महत् ॥

भीरान्यानुदुषपादि तत्र विमलव्याघ्रोरवालाब्जव्या । च्छ्रीसलक्षणतो जिनंद्रसमवबद्धाच्छुरासाधरः ॥ १ ॥

सरारवस्यामिषहमानं सरस्वत्यामजीजनत् । यः पुत्रं छाहं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥

व्याघ्रोरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यायूतौ परसपानमुत्तमाग्रः ॥

सहस्रक्षयस्य वनयो नयमिश्रबध्नुदासापरो विजयतां कलिशालिदासः ॥ ३ ॥

इत्युदयकीर्तिमुनिना कविमुद्रदा योऽमिन्विताः प्रीत्या ॥ प्रशार्पुलोऽसीति च दोऽसिहितो सवतफीर्तियविपतिना ॥

स्वेच्छेदेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुदृक्कृति- ॥ आसाहिन्ध्यनरेन्द्रयोः परिमलस्कूर्चशिवगौकति ॥

प्राप्तो माछधर्मदठे यदुपरीभारः पुरीमाधवसन् ॥ यो घाराभगवद्विजयप्रतिविषयव्यूहाले महावीरतः ॥

प्रशस्ति अपूर्ण है.

पं. आशाधरजीने अपनी प्रशस्तीका जो परिचय दिया है उसका वर्णन इसप्रकार—

१ नां पर सरोवर निमका भूषण स्वरूप है ऐसा सपादलक्ष नामका देख है वह विषयें संपत्तिसे युक्त है, मंदलतर नामका लक्ष्मीका प्रीतिमुद्रके समान एकवटा कीला है. इस कीले में बंधेवाल नामक बंधमें जिनेंद्रगतमें अद्यानु ऐसे पं. आशाधरजी उत्पन्न हुए. इनके पिताका नाम सहस्रक्षय या और माताका नाम श्रीरत्नी था.

२ पं० आशाधरलाल पल्लिका नाम सरस्वती था- धामदेवतामें अर्पित सरस्वती में जैसा पंडितजीने अपने को उत्पन्न किया था वैसे सरस्वती नामक अपने पत्नी में उन्होंने छद्म नामका पुत्र उत्पन्न किया- यह पुत्र गुणवान था और इसने अर्जुन नामक मालवदेशके राजाको संतुष्ट किया था-

१-४ वर्षेवाल वंश रूपी कमलमें जो हंसके समान है, कन्यामृत रसका पान करने से जिसका शरीर पुष्ट हुआ है, जो नयरूपी आत्मोत्ति युक्त है, सद्युक्तके सत्पुत्र ऐसे इस आशाधर कविको हम 'कलिकालिदास' इस उपाधिसे भूषित करते हैं- ऐसा कहकर कविके मित्र उदयकीर्ति मुनीने वहे प्रेमसे जिसका आदर किया है ऐसे आशाधर कवि जगतमें हमेशा विजयी होये- इसी तरह मदनकीर्ति यतीधरने मन्नापुंज ऐसा विरुद्ध देकर इनको भूषित किया था-

५ साहिबुद्दीन नामक यवनराजाने सपादलक्ष नामक देख अब अपने कब्जे में कर लिया तब अपने सदा चारका विनाश होगा इस दस्तवे विष्णुराजाके पाहुनवाप से जिसका रक्षण हो रहा था ऐसे मालव देशमें अपने वहे परिवारके साथ प्रवेश करके धारा नगरी में उन्होंने निवास किया- यहाँ वादिराज पंडितके शिष्य श्रीधरसेन ये और उनके शिष्य नहानीर ये उनसे इन्होंने कैलाश स्नान किया- (यहाँ) यहा यह प्रशस्ति है- अत एव अर्पण है- विशेष विशालुओंको सागर धर्मायुत अनगार धर्मायुत की प्रशस्ति देखलेना चाहिए-

श्रीमदभितगतियतिपतिप्रशस्तिः ।

श्रीदेवसेनोज्जनि माधुरार्णा गणी यतीनां चिहितप्रमोदः ॥

तरयावभासी निहतप्रदोषः सरोकहाणामिव तिग्मरादिमः ॥ २२४० ॥

वृत्तजिनसमयोज्जनि महनीयो गुणमणिजलधस्तबलु यतिभिः ॥

शून्यमनिलयोऽभितगतिस्त्रिःप्रदलितभदनः पवनतसूरिः ॥ २२४१ ॥

सर्वशास्त्रजलराशिपारगो नेमिपेणमुनिनायकस्ततः ॥

सोऽजनिष्ट सुवने तपोपट्टः शीतरादिमस्त्रि यो जनप्रियः ॥ २२४२ ॥

मायवसेनोज्जनि मुनिनाथो ध्वंसितमायामदनकदर्धः ॥

तस्य गरिष्ठो गुरुवि शिष्यस्तस्यविचारप्रवणमनरिपः ॥ २२४३ ॥

श्रित्यस्तस्य मनीषिणोऽमितगतिर्मग्नयत्रयालंबिनीम् ॥
 पनां कल्पमोषिणीं भगवतीमाराधनां स्वयसीम् ॥
 लोकांनामुपकारकोऽकृत सतीं विध्वस्ततापां हृदः ॥
 पद्माः सत्वनिषेवितस्य विमलां गंगां हिमाद्रेरिव ॥ २२४४ ॥
 आराधनैषा यदकारि पूर्णां भाषैश्वर्यतुर्भिनं तवस्ति चित्रम् ॥
 मद्भोचमानां जिनभाक्तानां सिध्यन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः ॥ २२४५ ॥
 रज्जुदीकृता पूर्वजिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवं परम् ॥
 प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना महार्यतां गच्छति दुग्धतो घृतम् ॥ २२४६ ॥
 याचसिष्ठति पांडुकंचलशिला देवाद्रिसूचिं स्थिरा ॥
 याचास्तिब्धिरा पिलोकशिलरे सिद्धेः समास्यासिता ॥
 ताचात्तिष्ठतु भूतले भगवती विध्वंसयंती तमः ॥
 सा चैषा श्रमदुःखनोदनपरा चंद्रप्रभेयोऽस्वला ॥ २२४७ ॥

श्रीमदमितगतिस्त्रिप्रशस्तिः ॥

! माधुरमहके यतिओंके आचार्य, सप मुनिओं को आनन्द प्रद ऐसे देवसेन आचार्य होगये, जैसे सूर्य कमलोंको निकसित करता है, रात्रीका नाश करता है और पदार्थोंको दिसाता है वैसे ये देवसेन आचार्य निहृत प्रदीप थे अर्थात् दोषरहित थे और अन्यष्टुनिओंको दोषोंसे रहित करते थे, जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप इन्होंने भण्य लोगोंको दिखाया था।

१ देवसेनाचार्य के शिष्य आसितगति नामक मुनि थे, वे गुणममुद्र, श्रम और त्रुत्तोंका आधारभूत थे, मदनका नाशकरनेवाले थे उनको बड़े विद्वानभी वंदन करते थे, आचार्य जैनमतकी प्रभावना करनेवाले हुये हैं-

१ इनके अनन्तर हम माधुर संघमें नेमिपेज नामक आचार्य हुए हैं, सर्व शास्त्रसमुद्रके दूसरे किनारेके थे प्रायः हुए थे, चंद्र जैमा लोचप्रिय रहता है, वैसे ये आचार्य लोकप्रिय व अज्ञानांचक्राका नाश करनेवाले थे।

४ नेमिपेण आचार्यके शिष्य माधवसेन नामक आचार्य थे. इन्होंने माया और मदनका नाश किया था. ये बृहस्पतिके समान चतुर थे और इनकी बुद्धि उत्त्वविचारमें प्रवीण थी.

५ माधवसेन आचार्यके शिष्य अशितगति हुए हैं. उन्होंने यह भगवती आराधना बनायी है. यह पाप नाशिनी, संसारताप हर्ण करनेवाली गंगानदीके समान है. गंगानदी हिमाद्रिसे उत्पन्न हुई है. यह भगवती आराधना अशितगत्याचार्यरूपी हिमाचलसे उत्पन्न हो गई है.

६ आचार्यशैले ने यह ग्रंथ केवल चार महिनेमें बनाया है. इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है. क्यों कि महाप्रयत्नशाली जिनमक्त सोनसे कार्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं ?

७ पूर्व दिनारमका [शिवकोट्याचार्य का भगवती आराधना ग्रंथ] आधार लेकर मैंने यह ग्रंथ रचा है. मेरा यह ग्रंथ विद्वज्जनोंमें आदरणीय होगा. जैसे दूधसे निकाला हुआ घृत मोक्षवान् और आदरणीय होता है.

८ जब तक मेरु पर्वतके शिखरपर पांडुखिला रहेगी, जब तक सिद्धों से अधिष्ठित सिद्धदिला शैलोक्य के शिखरपर विराजमान रहेगी, तब तक चन्द्रकांतिके समान उज्ज्वल, श्रमदुःख का हरिहार करने वाली, अज्ञानांधकार का नाश करने वाली यह भगवती आराधना इस संसार में स्थिर रहे.

आराधनास्तवनम् ।

बंधुःस्वर्गाप्यर्गप्रभवसुखफलप्रापणे कर्मबल्ली ॥

नानावाधाविधाविप्रचितकालिमलक्षालने जहनुकन्या

रागद्वेषादिभाविव्यसनधनबन्धेदने छेदनी ॥ ॥

सारामाराधनासौ वितरतु तरसा शान्धर्ती वो विभूतिम् ॥ २४८ ॥

१ यह आराधना स्वर्ग और मोक्ष का सुखफल देने में बंधुके समान है. नाना प्रकारकी वाधाओं को उत्पन्न करने वाले पापरूपी कीचड़को घोलने के लिए यह आराधना गंगानदी के समान है. समुद्रप्रादि विक्षरों से उत्पन्न होनेवाले संकटरूपी वनको तोड़ने वाली कुल्हाड़ी के समान यह आराधना ग्रंथ है, ऐसी यह आराधना तुम लोगों की इच्छित फल देनेमें समर्थ हो.

यासावाचनमन्त्रिदशपतिशिरोधृश्रुपावाराविन्दाः ॥
 सद्यः कुंदाचदानस्थिरपरमयशःशोधिताक्षेपादिकाः ॥
 जायते जनबोध्री जनजनितमुदः केवलज्ञानभाजो ॥
 मृपादाराधना सा भवभयमचनी भूयसे श्रेयसे वः ॥ २२४९ ॥

१० इस गी आराधना से मन्त्रबन इंद्रों के द्वारा पूजे जाते हैं- इस आराधनाके माहात्म्य से तत्काल भयभजन के समान अपने गुरुके द्वारा त्रैलोक्य भर देते हैं- इस आराधनाका साहाय्य मिलनेसे भव्योंको आर्जित करनेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ऐसी यह आराधना तुम लोगों को विपुल श्रेयः संपत्ति प्रदान करे-

यासाराध्याशु गन्ता शुक्लितविषदः पंचकल्याणलक्ष्मीम् ॥

प्राप्या पुण्यैरपां त्रिभुवनपतिभिर्निर्मितां भक्तिमङ्गिः ॥

सम्पदच्यक्षानदृष्टिप्रसूतगुणमणिप्राजितां यान्ति मुक्ति ॥

सा चंदा ह्यव्ययैविलसतु हृदये सर्वदाराधना वः ॥ २२५० ॥

११ इस आराधनाकी आराधना से विपत्तिओंका नाश होता है और देवेंद्र, धर्मेन्द्र और यक्षचर्चिद्वारा भय भव्योंको पंचकल्याणकी विभूति प्राप्त होती है, सम्पत्ति, दण्डन, चारित्र्य इत्यादि सहस्रगुणमणिओंसे अलंकृत होकर वे मुक्तिके नाथ बन जाते हैं- इस अज्ञानी हैं हम इस आराधनादेवीको बंदन करते हैं- वह हमारे हृदय में सर्वदा निवास करे-

या सौभाग्यं विधत्ते भवति भवभिवे भक्तिः सेव्यमाना ॥

या छिन्ते मोहदैत्यं भुवनमधभृतां साध्यसे ख्वंसेयसी ॥

यां चानासाद्य देही भ्रमति भववने भूरिभावाद्विरौद्रे ॥

सा भद्राराधना वो भवतु भगवती वैभवोद्गावनाय ॥ २२५१ ॥

१२ जो आराधना सौभाग्यको उत्पन्न करती है, भक्तीसे इसकी सेवा करनेसे यह संसारका नाश करती है- मोहरूपी दैत्यका विध्वंस करके संसारमें प्राणिजोंके भयको दूर भगाती है- इसकी प्राप्ति नहीं होनेपर प्राणी-जोंको नाना प्रकारके कुमालरूप पर्यंतोंसे घिरे हुए संसारजंगलमें भ्रमण करना पड़ता है- अतः यह कल्याण कर-नेवाली आराधना हमको पंथमें प्राप्तिमें सहायक बने-

या कामकीयलोभप्रभृतियहुविधग्राहनकावकीर्णों ॥

संसारपापार्सिधोर्भवमरणजरार्बतगतादुपेत्य ॥

गच्छत्युत्तरीयं सिद्धिं सपदि भवभृतः शब्दतानंतसौरुपम् ॥

भर्ष्यदाराधनानौशुणगणकलिता नित्यमारुहतां सा ॥ २२५२ ॥

१३ यह संसारसमुद्र काम, क्रोध, लोभ, वीरह नाना प्रकारके ग्राह और नफोसे भरा हुआ है. इसमें जन्म, मरण और जरारूपी भोचरे हैं ऐसे संसार समुद्रमें पड़ा हुआ प्राणी सहजोसे बनी हुई आराधनाका आश्रय लेकर उससे उच्चीर्ण होता है तथा नित्य अन्त सुख देनेवाले मोक्षको प्राप्त कर लेता है.

या मैत्रीरूपानिकांसितुल्यमभिसुगतिश्रीविनीत्यादिकांताम् ॥

संयोज्योपार्जनीयामवहितमतिभिर्मुक्तिकांतां युनक्ति ॥

दुक्ताहारभिरामा यम यवजमनी सम्यगाराधनाली ॥

भूयान्नेदीयसी सा विमलितमनसां साधयन्तीप्सितानि ॥ २२५३ ॥

नम्रता इत्यादि स्त्रियोंके साथ संयुक्त करती है. और अन्तमें अवश्य प्राप्त करनेके योग्य ऐसी श्रुति भी देती है. यह आराधना मोतिजोंकी मालाके समान सुंदर है. भरे मदको नष्ट करके विमल विषवाले सुलभोंको इस पदार्थ तथा र्वण प्रकटी हुई भरे तक्षिण हमेशा रहनेकी कृपा करें.

स्वांतस्था या दुरापा नियमितकरणा सृष्टसर्वोपकारा ॥

माता सर्वोश्रमाणां भवमथनपराजंगसंगोपहारा ॥

सत्या चित्तापहारी बुबहितजननी ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥

दयावाराधना सा सफलगुणवती नीरजा वः सुखानि ॥ २२५४ ॥

१५ यह आराधना दुर्लभ है. जब प्राणियोंके मनमें यह मुक्ताम करती है तब उसको जितेन्द्रिय बनाती है. सर्व प्रकारके उपकार करती है. ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंकी यह माता है. संसारका नाश करके, काम-विकारको दूर भगाती है. सत्यही इसका स्वरूप होनेसे चिन्मय आत्माके संसारतापको दूर करती है. विद्वानोंका

वैत करती है संपूर्ण दीपोंको हटाती है और चंद्रकी शोभाको नष्ट करती है. अर्थात् चंद्रकी शोभा भी इसके सामने फीकी मात्राम पड़ती है. सकलगुणसंपन्ना आपरहित यह आराधना हम लोगोंको सदा सुखी करे.

उद्यद्गुलागदुर्गं गुरुदुरितदवं दग्धुमग्नीयमाना ॥

हतुं मोहान्धकार कवलितनिखिला तिग्मरश्मीयमाना ॥

निःशेषं वस्तु दातुं भवभृदभिमतं कामधेनूयमाना ॥

निर्वाया या विधत्ताममितगतिमुखं शीघ्रमारारधना वः ॥ २२५५ ॥

१६ जो अत्युच्च दुःस्वरूपी पर्वतोंसे घिरा हुआ है ऐसे पापरूपी बड़े बजसो भस्म करनेमें यह आराधना अधिकें समान है. मोहरूपी अंधकारको नष्ट करनेके लिये यह हर्ष के तुल्य है. संपूर्ण इच्छित वस्तु देनेमें यह काम धेनूकी दारायी करती है. ऐसी यह आराधना निर्वाण अनंत ज्ञान जिसमें भरा हुआ है ऐसा सुल हृम लोगोंको प्रदान करे

श्वभ्रभूमिज्वलद्गुह्यैर्योऽविच्छिन्नजलोद्भूतिः ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५६ ॥

१७ नरकधूमिमें प्रज्वलित अग्निको शान्त करनेके लिये यह आराधना अविच्छिन्न मेधाक समान है. ऐसी रत्नत्रयसे निर्मलरूप आराधना हमको प्राप्त हो.

यैषा कुक्षालिका नाता निर्यग्बुःस्वाङ्कुरोद्भूतौ ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५७ ॥

१८ तिर्यग्गार्धिके दुर्गस्वरूपी रुपाङ्कुरों उत्पादनेके लिये जो कुदात्मकतुल्य है. ऐसी यह आराधना हमारा प्राण करे.

मर्त्यचिन्तितलामाय यैषा कल्पवृषमायते ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५८ ॥

१९ मनुष्योंको चिन्तित पदार्थ देनेके लिये जो कल्पवृक्षके तुल्य मानी गई है ऐसी रत्नत्रयसे विशुद्ध हुई यह आराधना हमारा रक्षण करे.

दृष्टिका हृत्तेये येयं महर्द्धिकसुरश्रियः ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५९ ॥

२० महान्तदिशास्त्री, देवोंकी लक्ष्मीको तुलानेके लिये जो दूतीके समान है ऐसी यह रत्नत्रयसे निर्मल बनी हुई आराधना हमारा रक्षण करे-

मुक्तिदाने क्षमा यास्ति विरतिर्भवसन्ततः ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता, ॥ २२६० ॥

२१ जो मुक्तिप्रदान करनेमें समर्थ है, जो भवपरंपराका नाश करती है ऐसी यह रत्नत्रयनिर्मल आराधना हमारा संरक्षण करे-

एवैव परमो धर्म एवैव परमं तपः ॥

एवैवार्हव्यो वाक्यमेवैव ध्यानसंगतिः ॥ २२६१ ॥

एवैव परमो लाभ एवैव परमं मतम् ॥

एवैव परमं तत्त्वमेवैव परमा गतिः ॥ २२६२ ॥

एतस्या दुर्लभं गृहि स्थितिके कलमतसुखम् ॥

अतः शरणमेवैका भवतान्मे मवे मवे ॥ २२६३ ॥

२०-२१ यह आराधनाही उत्कृष्ट धर्म है, उत्कृष्ट तप है, जिनेश्राने अपनी दिव्यध्वनीसे इसकाही वर्णन किया है, इसकोही ध्यान की माप्ति होनेमें कारण मानना चाहिये, जगतमें आराधनाकी प्राप्ति होना ही परम लाभ है यही उत्तम मत है, यही उत्तम तत्व है और यही हमारी परम संरक्षिका है, इसकी जिसकी प्राप्ति हुई है उसको जगतमें कोनसा सुख परम दुर्लभ है ? इसलिये प्रत्येक भवमें मैं इसका ही आश्रय ग्रहण करूंगा,

या सर्वज्ञहिमाचलादपथुता शिलाप्रवाहात्मिका ॥

या सर्वद्विंसमर्थितेगणधैराराधिता निर्मला ॥

या दुर्धरमवासुखाहतनुणां निर्वापणी स्वयुनी ॥

सा वः पापविशोधनाय शुभदा भूयात्सदाराधना ॥ २२६४ ॥

२४ सर्वज्ञ जिनस्वरूपी हिमाचलसे इस आराधनारूपी गंगा नदीक्षी उत्पत्ति हुई है, यह क्षीलरूपी प्रवाहसे युक्त है, सर्व शक्ति के धारक गणधरों से यह सानी गई है, यह निर्मल है, दुर्गार संसार के असुख से पीडित पुरुषोंको आर्तदित करनेवाली, ऐसी यह आराधना गंगा पापनाश करनेके लिए कारण होवे, और हमारा हमेशा कल्याण करे

या सञ्ज्ञानसमृद्धिनालकालिता सम्यक्त्वसत्कारिका ॥

॥ चारित्र्यपलाशसंचयचिता द्वेषा तपोभासुरा ॥

या मन्योत्तमपदपदैः पारिता नैःसंगपक्वाकुला ॥

सा बोद्ध्याङ्गवतापमुल्लसलधुनेराधना पविनी ॥ २२६५ ॥

२५ सम्यग्ज्ञानकी उन्नति होना ही जिसका नालद्व है, सम्यक्त्वरूपी कर्णिका से जो युक्त है, तेरा प्रकारका चारित्र्य ही जिसके पत्र हैं, दो प्रकार के तप से जो प्रफुल्लित है, जो भव्य पुलरूपी उत्तम प्रमर्शसे वेष्टित हुई है, और निष्पन्निहता रूप फलसे जो सुन्दर दीखती है ऐसी यह आराधनारूप पविनी-कमलिनी अपने उज्ज्वल गुणों से आराधक ऐसे तुम लोगों का भवसंताप दूर करे,

या सर्वालवरोधिनी कलिमलं दूर निरस्यार्गजम् ॥

सैव चारुपद नयैर्गुणवतो मन्थात्मनो वाञ्छितम् ॥

बक्रेद्यादिसुखं दुरैरभिनुतं संयोज्य संन्यस्यतां ॥

सा वः स्यान्मुनिर्हृत्सेवितरसा देवापगाराधना ॥ २२६६ ॥

२६ यह आराधनारूप गंगा नदी संपूर्ण आत्मोंको रोकती है, शरीर में उत्पन्न हुए रागद्वेषादिक मल नष्ट कर गुणवान् भव्य जीवको इष्ट सुन्दर ऐसा सिद्धपद अर्पण करती है, सोष्टवस्तु भरणका जिन्होंने आश्रय लिया है ऐसे सत्पुरुषोंको देवोंके द्वारा बन्दनीय ऐसा चक्रवर्त्यदिकोंका सुख देती है, मुनिहंस जिसके रसका पान करते हैं ऐसी आराधना रूप गंगा आपको प्राप्त होवे,

या शीतोज्ज्वलपुष्पगंधगुमगा सद्ग्यानसत्पल्लवा ॥

मास्वहर्षनसंभवा वरतपःपञ्चोचयेनाचिता ॥

सम्यग्दृष्टतत्त्वमहाफलवती गन्धालिङ्गकारिता ॥

॥ यो ध्यानसंभूतल प्रसतादाशयनावहृति ॥ २२६७ ॥

२७ यह आराधना लता शीलरूपी उज्ज्वल पुष्पगंध से सुसज्ज दीखती है, धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूपी पाद्योंगे युक्त है, निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी धीजसे इसकी उत्पत्ति हुई है, उत्कृष्ट तपस्वी पत्नों से भर गयी है; गन्धरुचारीय रूपी महाफल इसको उत्पन्न हुए हैं अन्य शुक्लरूपी अथवा इस के ऊपर सुंजारव कर रहे हैं, ऐसी यह आराधनारूप यज्ञी तुष्टारे मनोमूषी में खूब प्रसारको प्राप्त होवे-

या धीमच्छुतशीलनीरकलिता निर्वाणदानक्षमा ॥

या दुष्पद्मोपधितारिणी द्युचितया रंगस्तरंगाकुला ॥

या निर्पुण्य कलेयराणि महतः संस्थापयेत्सत्पुत्रे ॥

सा यो मंगलमातनोतु नितरामाराधनास्वधुनी ॥ २२६८ ॥

२८ यह आराधना रूप गंगा नदी शुद्धमान और शीलरूप पानी से भरी रहती है- निर्वाणमोक्ष देनेमें समर्थ है, पुष्पमयद्रुको प्राप्त होती है, दोषरहित है, शुक्ल ध्यानरूपी वरगोंसे युक्त है- सत्पुत्रोंके क्षीरिका नाम फलके जो उनको उत्कृष्ट मोक्ष तुल्य देती है ऐसी यह आराधनागंगा तुम लोगोंका पूर्ण कल्याण करे-

या मोक्षसुरसंगलब्धविजया सर्वार्थसंपादनी ॥

शराणामसंश्रधिनानधिया कार्तित्रयाणां स्तताम् ॥ (?)

या दुर्वांरमदोपसर्गमथनी सिद्धिप्रियाणां सती ॥

सा यः पातु भवाटवीं प्रतिगता नाराधनाभ्यंघिका ॥ २२६९ ॥

२९ यह आराधनारूप अंधिका देवी मोक्षसुरका पराजय करके विजयी हुई है, इसकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको गर्व इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, यह देवी परीयहसहिष्णु शूर मुनिओंका दुःख नष्ट कर समाधिकी प्राप्ति कर देती है, मुनिओंके उपगर्ग फल नष्ट करके सिद्धिका प्राप्ति कर देती है, ऐसी यह आराधना देवता संसार यन्में भटकनेवाले हम लोगोंका रक्षण करे-

या दुद्रुपष्टकचाकमौक्तिकफलैर्गन्धस्यदिल्लनायकैः ॥

भास्वद्वोधोचिचित्रसूचरचितेध्वारित्रसहस्रक्षणैः ॥

श्रीमदुत्तिसमुज्ज्वलैर्विरचिता दोषोत्तरोत्तरोपहा ॥

सा वास्तिष्ठतु चक्षुसीह सुतरामाराधनाकण्टिका ॥ २२७० ॥

३० यह आराधना रूप नायकत्वोंकी रचना की गयी है। उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी स्वतः के द्वारा यह आराधनारूप वीचमें दृगलक्षण रूप नायकत्वोंकी रचना की गयी है। उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी स्वतः के द्वारा यह आराधनारूप मुक्ताहार रचा गया है। चारित्र्य और श्रुति एतत्स्वरूपी मौक्तिक भी इसमें हैं। ऐसी यह आराधना कंठी आप लोगोंके यक्षस्थलपर हमेशा रहे।

या निःशेषपरिग्रहेयदलने दुर्बारसिंहायने ॥

या कुञ्जानतमोषदाविचटने चञ्चलशूरोन्मीयते ॥

या चिंतामणिरेश चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा या श्रीबसुनंदिन्योगिमहिता पायात्सदाराधना ॥ २२७१ ॥

११ यह आराधना सर्व परिग्रहरूपी हाथियोंका घात करनेके कार्य में सिंह समान है। अश्वानांघकारका तद्दृग् नष्ट करनेके लिये सूर्यकांतिके समान है। चिंतितफलोंके देनेके लिये वह सब जनोंको चिन्तामणि रत्नरूप है। श्रीबसुनंदि आचार्यसे पूजित ऐसी यह आराधना आप लोगोंका नित्य रक्षण करे।

या संसारमहोदधेः प्रतरणी नौरेव भव्यात्मनाम् ॥

या दुःखज्वलनाबलीढवपुर्षा निर्वापणी स्वपुंजी ॥

या चिंतामणिरेश चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा निःशेषसहेतुरस्तु भवतामाराधना देवता ॥ २२७२ ॥

१२ मन्व्य जीर्णो मंगारसमुद्र तनेके लिये यह आराधना नौकाके समान है। दुःखरूपी अग्नीसे जलनेवाले लोगोंको शान्तिमुख देनेवाली समुद्राग्नी समान है। जो चिंतित इष्टफलोंसे लोगोंको संयुक्त कर देती है वह आराधना हम लोगोंको मोक्ष देनेमें हेतु बने।

या पुण्यासवभूर्तिरेकपदवी स्वर्गालयारोहिणाम् ॥

या मांगत्रयचर्तिनीति विदिता निर्वृतनानारत्नाः ॥

यस्याः सद्गुरुपर्वतः प्रभव इत्याहुः पुरावेदिनः ॥

ता वः पापमलानि गालयतु स्वत्पाराधनास्वधुनी ॥ २२७३ ॥

३३ पुण्यासवरी मानो मूर्ति ऐसी यह आराधना यगा स्वर्गोदय करनवालकी भार्गवस्वरूप होत्रे. स्नत्ररूप होनेमें लोग इसको त्रिमार्गगा कहते हैं. इसकी सेवासे नानाप्रकारके पापक नाष्ट होते हैं. सद्गुरुरूपी पर्वतसे इस आराधनागंगाका जन्म हुआ है ऐसे प्राचीन आचार्य कहते हैं. अतः पापमलसे रहित यह गंगानदी तुझारे अन्तःकरणमें बस करे.

या सर्वश्रद्धिद्याबलात्प्रगलिता पुण्यांघुपूर्णा श्रुचिः ॥

या सवज्ञानचरिघटोचनचरैर्घूर्णा गणीन्द्रैर्धृता ॥

या कर्मानलघर्मपीडितशुनीत्रिभावगाहकृमा ॥

सा वो मंगलभातनोतु भगवत्पाराधनास्वधुनी ॥ २२७४ ॥

३४ यह आराधनागंगा सर्वज्ञ जिनैथरूपी हिमालयसे उत्पन्न हुई है. पुण्यरूपी जलसे भरी है और पवित्र है. तन्मग्नान और चारित्ररूप लोचन-ओंखे धारण करनेवाले गणधर्मोंने जिसको अपने मस्तकपर धारण किया है. कर्मरूपी अग्निसिं पीडित शुनीत्रयपीडितशुनीत्रिभावगाहकृमा ॥

या पुण्यांघुधिपूरणी कलिमलप्रक्षालनैकोद्यमा ॥

या निर्धूय कलेवराणि विमलीकतं क्षमाराधकान् ॥

यामासाय शुनीमयूथपतयो निर्वान्त्वापकास्त्रिकायू ॥

सा वोऽन्तर्मलदाहमाशु निहतादाराधनास्वधुनी ॥ २२७५ ॥

३५ यह नदी पुण्यसमुद्रको पूर्ण करती है. पापमल योगके कार्यमें यही समर्थ है. यही शुनिओंके शरीरका नाश करके उनको निर्मल बनाती है. पापरूपी कविहसे रहित ऐसी इस नदीको प्राप्त करके शुनिरूपी हाथीके नायक प्रभोदयुक्त होते हैं. ऐसी यह आराधनानदी हमारी आत्माके अन्तःस्थित कर्ममलके दाहका नाश करे.

या संसारमहाविषापहरणे सन्त्यजविचारते ॥

या कर्मादृतताटवीप्रदहने वावानलोर्वापते ॥

या द्युर्गोहतमोघटाविघटने चंदायुरोचीयते ॥

सा वः पापमलानि हंतुं रुचिरा रत्नत्रयाराधना ॥ २२७६ ॥

१६ जो संसाररूपी तीव्र विषका इत्य कर्तनमें उत्तम विद्याके समान हैं, जो कर्मरूपी बलीका वन जलानेमें दासानीके समान है, जो मिथ्यामोहांधकार को नष्ट करनेमें धर्मज्ञान्तीके समान आचरण करती है ऐसी यह मनोहर रत्नत्रयाराधना हमारे पापमलोंका नाश करे.

धर्मोत्तममहातमोः फलवती या पुण्यसम्पन्नम् ॥

मुक्तिश्चीललनाभिसारणपटुर्धृष्टाक्षरा शंफली ॥

स्वर्गाग्रप्रविभासिसौषणित्तरारोहैकनिःश्रेणिका ॥

सा वः पातु पवित्रमूर्तिरमला रत्नत्रयाराधना ॥ २२७७ ॥

१७ यह आराधना धर्मरूपी बगीचे के बड़े वृक्षको फलयुक्त उत्तम मंत्रों है यह आराधना मुक्तिरूपी सुंदरी को अभिसरण करने लिये प्रवृत्त करनेवाली स्पष्ट और मधुर चोलनेवाली दासी है. स्वर्गके अग्रभागपर गोमेवाले मौक्षरूप प्रासादके उपरके भागपर आरोहण करनेके लिये यह आराधना नसैनीके समान है. ऐसी यह पवित्र और निर्दोष आराधना तुल्यता संरक्षण करे.

या सदृष्टिचिप्रभास्वरतनुः संज्ञानेनम्रोऽऽवला ॥

सञ्चारित्रविभूषणा मुचितपःशीलोद्यमात्यांबरा ॥

मुक्तिश्रीवरकाभिनीप्रियसखी पुरुषपुत्रिद्वेषिणी ॥

सा धीरैरभिधंक्षिता मम हृदि स्तान्त्रित्यमारारधना ॥ २२७८ ॥

१८ यह आराधना समग्रदर्शनरूपी सांविधे सुंदर दीसती है. पवित्र तप और शीलसमुदायरूपी पुष्पमाला और वस्त्र धारण करनेवाली है. मुक्तिरक्ष्मीरूपी सुंदर स्त्रीकी यह प्रियसखी है. यह प्रियसखी है. यह मदनका द्वेष करती है. विद्वान् पुरुषोंने जिसको बर्द्धन किया है ऐसी यह आराधना मेरे हृदयमें नित्य वसती करे

या शुद्धपटकयुक्तदर्शनदलं ज्ञानोल्लसत्कार्णिकम् ॥

चारित्र्योल्लवलीर्धनालममलं शीलोल्लसत्केसरम् ॥

मुक्तिशीलतननिवासकमलं घत्ते गुणोर्निर्वित्तम् ॥

॥॥ मे ह्रत्सरसि स्फुटं विकसतादारगयनापदिनी ॥ २२७९ ॥

३९ शुद्धयत्केके साध रहनेवाला सम्यग्दर्शन ही जिसके दल हैं, अर्थात् निःशुक्तिवादिक आठ अंग ही इस कमलदे दल हैं, यानही जिसकी उज्ज्वल कर्णिका है, चारित्रही जिसका उज्ज्वल और दीर्घनाल-दंड है, निर्मल शील समुदायही जिसका फेसर है, जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका निवास स्थान है ऐसे कमलको धारण करने वाली, गुणोंसे उत्पन्न हुई ऐसी यहा आराधनारूप कमलिनी मेरे हृदयरूप सरोवरमें हमेशा विकास युक्त रहे.

इसप्रकार श्री अमितगत्पाचार्यविरचित आराधनास्तव समाप्त हुआ.

नक्षत्रगुणान्वर्णयिष्यामि ।

- १ तं जथा । अस्तिगणिकत्वत्ते जह संथारं गेणहदि तो साविणकत्वत्ते रत्ते कालं करेवि ॥
- २ भरणिणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो रेवदिणकत्वत्ते पळवूत्ते मरदि ॥
- ३ किंतिगणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि उत्तरफागुणिणकत्वत्ते मज्झणहे मरह ॥
- ४ रेहिणीणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो सवणणकत्वत्ते अद्धरत्ते मरदि ॥
- ५ मियसिरणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो पुब्बफगुणणकत्वत्ते मरदि ॥
- ६ अराणकत्वत्ते जदि संथार गेणहदि तो उत्तरदियत्ते मरदि । जदि ण मरेदि तदा तस्मि पुरोगदे णकत्वत्ते मरिस्सदि ॥

॥ पुनर्वसुणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तदा अस्सणिणकत्वत्ते अवरणहे मरदि ॥

८ पुस्सणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो मियसिरणकत्वत्ते मरदि ॥

९ असत्तिस्सणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो वित्तणकत्वत्ते मरदि ॥

१० मघणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो तदिवत्ते मरदि यदि ण मरदि तदा तस्मि पुरोगदे णकत्वत्ते मरदि ॥

११ पुब्बफगुणिणकत्वत्ते यदि तो घणिहाणकत्वत्ते दिवत्ते मरदि ॥

- १२ उत्तरफरगुणिणक्खत्ते यदि तो मूलणक्खत्ते पदोसे मरदि ॥
 १३ हत्थणक्खत्ते यदि तो मरणिणक्खत्ते विवसे मरदि ॥
 १४ चित्ताणक्खत्ते यदि तो मियसिरणक्खत्ते अदूरत्ते मरवि ॥
 १५ सादिणक्खत्ते यदि तो रेचदिणक्खत्ते पभादे मरदि ॥
 १६ विसाहणक्खत्ते यदि तो असिलेसाणक्खत्ते मरदि ॥
 १७ सिलेसाणक्खत्ते यदि तो पुब्बभट्ठणक्खत्ते विवसे मरदि ॥
 १८ मूलणक्खत्ते यदि तो जेठुणक्खत्ते पभादवेलाए मरदि ॥
 १९ पुब्बासाहणक्खत्ते यदि तो मियसिरणक्खत्ते पदोसेवेलाए मरदि ॥
 २० उत्तरासाहणक्खत्ते यदि तो तद्विवसे चैव अहवा भट्ठणक्खत्ते अवरण्हे मरदि ॥
 २१ सबगणक्खत्ते यदि तो उत्तरभट्ठणक्खत्ते तद्विवसे काळं करेदि ॥
 २२ वणिट्ठाणक्खत्ते यदि तो तद्विवसे काळं करेदि, यदि तद्विवसे काळं न करेदि तो पुण तद्विवसे चैव आगंदे मरदि ॥
 २३ सदभिसणक्खत्ते यदि गिण्हदि जेठुणक्खत्ते अत्थवणवेलाए मरदि ॥
 २४ पुब्बभट्ठणक्खत्ते यदि तो पुणवसुणक्खत्ते रत्ति मरदि ॥
 २५ उत्तरभट्ठणक्खत्ते यदि तो विवसे वहमाणे वा पुण रादो वा मरदि ॥
 २६ रेवतिणक्खत्ते यदि तो मघणक्खत्ते मरदि ॥

इति मरणकंडिका णक्खरागणनया सम्मत्तर ॥

नक्षत्रगुणोंका वर्णन—

१ यदि अधिनी नक्षत्रके ममय क्षयने संस्तर ग्रहण किया होगा तो स्वाति नक्षत्रके समय रातमें उसको ममाधिमरण प्राप्त होता है.

२ यदि मरणि नक्षत्रके समय धयक्खने समाधि मरणके लिये संस्तरका-विधानेका आशय किया होगा तो रेवती नक्षत्रके ममय दिनके श्रावण समयमें उसको समाधिमरण प्राप्त होगा.

३ कृत्तिका नक्षत्रके समयपर यदि बुनि बिछानेपर शयन करेंगे तो उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रपर मध्यान्ह कालमें उनका मरण होगा।

४ रोहिणी नक्षत्रपर संस्तर ग्रहण करनेवाले मुनिजोंको श्रवण नक्षत्रमें आधी रातके समय मरण प्राप्त होगा।

५ मृगशिर नक्षत्रपर सहेस्तनाका आश्रय करनेसे पूर्व फाल्गुनि नक्षत्रपर मुनिका देहान्त होगा।

६ आर्द्रा नक्षत्रमें यदि संस्तर ग्रहण किया जायगा तो उत्तरा नक्षत्रके दिन मरण होगा यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें उसकी मृत्यु होगी।

७ पुनर्वसुनक्षत्र पर बिछाना ग्रहण करने से अश्विनी नक्षत्रपर अपराह्नकालमें मरण होगा।

८ पुष्यनक्षत्रपर श्रृंग्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर मरण होता है।

९ आश्लेषानक्षत्रके समय श्रुत्याका स्वीकार करनेसे चित्रानक्षत्रपर मरण होता है।

१० मघानक्षत्रके समय श्रुत्याका स्वीकार करनेसे उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होता है यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें होता है।

११ पूर्वफाल्गुनिनक्षत्रमें यदि संन्यास ग्रहण करनेके छिथे श्रुत्याका स्वीकार किया होगा तो धनिष्ठानक्षत्रके समय दिनमें मरण होगा।

१२ उत्तर फाल्गुनि नक्षत्रमें यदि श्रुत्या ग्रहण की होगी तो मूलनक्षत्रपर सार्यकाल में मरण होगा।

१३ हस्तनक्षत्रपर यदि संन्यास ग्रहण किया जायगा तो भरणी नक्षत्रपर दिनमें मरण होगा।

१४ चित्रानक्षत्रमें यदि संन्यास ग्रहण किया हो तो मृगशिर नक्षत्रपर आधीरातमें मरण होगा।

१५ स्वातीनक्षत्र पर श्रुत्याग्रहण करनेसे रेवतीनक्षत्रके समय प्रभात कालमें मरण होगा।

१६ विशाखा नक्षत्रपर श्रुत्या धारण करनेसे आश्लेषा नक्षत्रपर मरण होता है।

१७ आश्लेषा नक्षत्रपर श्रुत्या ग्रहण करनेसे पूर्वभाद्रनक्षत्रमें दिनमें मरण होगा।

१८ मूलनक्षत्रपर श्रृंग्या ग्रहण करनेसे ज्येष्ठानक्षत्रपर प्रभात कालमें मरण होता है।

१९ पूर्वाषाढानक्षत्रमें श्रुत्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर रातके प्रारंभके समय मरण होता है।

२० उत्तरायणा नक्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेसे उत्ती दिनमें अथवा भाद्रपदा नक्षत्रमें अपराण्ड कालमें मरण होता है-

२१ श्रवणनक्षत्रमें यदि शुक्र्या ग्रहण की जाय तो उत्तरभाद्रपदनक्षत्रमें दिनमें काल होगा-

२२ घनिष्ठा नक्षत्रपर शुक्र्याग्रहण करनेसे उत्ती नक्षत्रके दिनमें मरण होगा यदि न होमा तो आनेके

उत्ती नक्षत्रके दिनमें मरण होगा-

२३ श्रुतभिवनक्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेवाले मुनीका ज्येष्ठानक्षत्रपर द्योस्ति समयमें मरण होता है-

२४ पूर्वभाद्रपदनक्षत्रमें यदि शुक्र्या ग्रहण की जाय तो पुनर्वसुनक्षत्रपर रातमें मरणकाल होगा-

२५ उत्तर भाद्रपदनक्षत्रमें संस्तर ग्रहण करनेपर उस दिनमें अथवा रातमें मरण होगा-

२६ रेवती नक्षत्रपर संस्तरग्रहण करनेवाले धूपकका मृगनक्षत्रपर मरण होता है-

नक्षत्रगणनाके अनुसार यह मरणकालिका समाप्त हुई है-

श्रुतं यवतु पाठकानुवादकप्रकाशकमुद्रकाणामित्याशासे ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥



श्रीविजयोदयामूलाराधनासहिता हिंदीभाषोपेता
भगवती आराधना समाप्ता ।